आदिपुराण.



स्याद्वादग्रंथमाला नंबर ४.

श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्य और भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित

महापुराणांतर्गत.

आदिपुराण.



अनुवादक और प्रकाशक

चावली (आगरा) निवासी पंडित लालाराम जैन.

मालिक ग्रंथप्रकाशक कार्यालय इंदोर.



प्रथमावृत्ति १००० | वीर निर्वाण संवत् २४४२ विक्रम संवत् १९७३. | न्योछावर. १६) रुपये.

Published by Pandit Lalaram Jain.

Proprietor Granth Prakasha Karyalaya Indore



Printed in pages 296 in Lazerous Press Benares Camp.

From 297 to 332 Jainendra Press Kolhapur.

From 333 to 524 Pragati and Jinvijay Press Kolhapur.

From 525 to end in Lakshmivilas Steam Press by Madhorao Indore.

Prastavana 16 pages in Jain Vijaya Press Surat.

प्रस्तावना ।

प्यारे पाठकोंको यह बतलानेकी आवश्यकता नही है कि जैन साहित्यमे आदिपुराण सबसे ऊँचे दरजेका ग्रंथ है। इसको छपते हुए आज चार वर्ष हो गये। छपनेका प्रारंभ करते समय इसे बहुत शीघ्र पूरा करनेका प्रबध किया गया था, परतु मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है, इसी कहावतके अनुसार मुझे बहुतसे विघ्नोंने आ घेरा। बनारससे कोल्हापुर, इदोर दो स्थान बदलने पडे, सब जगह नये टाइप और प्रेसका प्रबध करना पडा, इसलिये ही इसमें इतना लबा समय लग गया इसके लिये मै अपने ग्राहकोंसे क्षमा मॉगता हूॅ। वास्तवमें इसके पूर्ण होनेमें ग्राहकोंकी सहायता और उनका धैर्य ही कारण है, इसलिये मै उनका आभारी हूॅ।

इसका अनुवाद चार प्रतियोसे किया गया है। पहिली प्रति बम्बईके दिगम्बरजैनमदिरकी थी, यह प्रति सटिप्पण है, बहुत प्राचीन है और प्रायः बहुत शुद्ध है। दूसरी प्रति शेठ माणिकचद पानाचंद चौपाटी बम्बईके पुस्तकालयसे आई थी, यह संस्कृत टीकासहित है, प्राचीन है और प्राय. शुद्ध है। तीसरी प्रति मराठी भाषासहित कोल्हापुरकी छपी हुई थी और चौथी पं० नरसिहदासजीके यहॉकी भाषाकी प्रति थी। अनुवाद करते समय जहॉतक बना है, मूलकी कोई बात छोडी नही है और न बाहरकी कोई बात मिलाई है, परंतु भाषाको वर्तमान शैलीके अनुसार बनानेकेलिये कुछ स्वतंत्रतासे अवश्य काम लिया गया है।

धन्यवाद और आभार।

प्रारभ करते समय मान्यवर प० पन्नालालजी बाकलीवालने इसमें बडी भारी सहायता दी थी। यहॉतक कि कुछ दिनोंतक इसका सब काम उन्होंने ही सॅभाला था, इसलिये वे बहुत बहुत धन्यवादके पात्र हैं और उनका मै बहुत आभारी हूॅ। इसके प्रकाश होनेका सब श्रेय प्राय उन्हीका समझना चाहिये।

पुस्तक प्रदान करनेवाले प० धन्नालालजी, शेठ माणिकचदजी, भाई नाथूरामजी प्रेमी छगनमलजी और पं० नरसिहदासजीका भी मै बहुत बहुत आभारी हूॅ।

मि० अण्णापा बाबाजी लट्ठे एम्० ए०, कोल्हापुरने सहायता देनेमें कोई कसर नहीं उठा रक्खी थी—सब तरहसे सहायता दी थी तथा पं० कल्लापा भरमप्पा निटवे भी सहायक हुए थे, इसलिये मै इन दोनों महाशयोंका बहुत ही कृतज्ञ हूॅ।

लक्ष्मीविलास प्रेस, इंदोरके मालिक रा० रा० माधोरावने भी इसके छपनेमें बहुत कुछ सहायता दी है, इसलिये इनका भी मै बहुत कुछ आभार मानता हूॅ।

अंतमें इस ग्रंथमें मेरे प्रमाद वा अज्ञानसे जो कुछ अशुद्धियॉ या भूलें रह गई हों, उनके लिये मैं क्षमा मॉगता हूॅ और प्रार्थना करता हूॅ कि सज्जन पाठक उन्हें सुधार कर पढ़ें।

विनीत—लालाराम जैन

॥ १ ॥

ॐ

जिनसेन और गुणभद्राचार्य ।

वंशपरिचय ।

इन महामुनियोंने किस जाति वा कुलमें जन्म लिया था इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। इन्होंने स्वयं अपने ग्रंथोंमें इस बातका कोई उल्लेख नहीं किया है। अनुमानसे हम इतना कह सकते हैं कि या तो ये किसी उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए होंगे या इन्होंने जैन ब्राह्मण (उपाध्याय) और चतुर्थ, पंचम आदि तीन चार जातियोंमेंसे किसी एकको वा दोनों अपने जन्मसे पवित्र किया होगा. क्योंकि जिस प्रांतमें ये रहे हैं तथा जहाँ इनके जन्मकी संभावना है वहाँ इन्हीं जातियोंमें जैनधर्म पाया जाता है। भगवान् जिनसेनके विषयमें तो निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है, परंतु गुणभद्रस्वामीके विषयमें द्राविड भाषाके चूडामणि नामक ग्रंथसे पता लगता है कि ये तिरुनरुङ्कुंडम् (Tirunarunkundan) नामके ग्रामके रहनेवाले थे जो कि इस समय दक्षिण अर्काट जिलेके (South Arcot District) अंतर्गत समझा जाता है। इसके सिवाय यह भी सुना जाता है कि कर्नाटक या द्राविड भाषामें भी इन महात्माओंने कई ग्रंथोंकी रचना की है, इससे भी जाना जाता है कि ये कर्नाटक वा द्राविड देशवासी होंगे।

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके गृहस्थावस्थाके वंशका भले ही कुछ पता न लगे, परंतु इनके मुनिवंशका परिचय इनके ग्रंथोंसे तथा दूसरे उल्लेखोंसे भलीभाँति मिलता है। उन्होंने सेनसंघ नामके वंशमें दीक्षा ली थी और स्वामी समन्तभद्रकी परिपाटीमें अवतीर्ण हुए थे। इनके किसी भी ग्रंथसे यह पता नहीं लगता कि आपका गण गच्छ कौन था। उन्होंने जहां जहां अपना उल्लेख किया है वहां केवल सेनसंघ ही लिखा है—गणगच्छ नहीं। आश्चर्य नहीं जो उस समय गण और गच्छोंकी स्थापना ही न हुई हो।

हमारे चरित्रनायकोंकी गुरुपरंपराका क्रमबद्ध पता चित्रकूटपुरनिवासी एलाचार्यसे प्रारंभ होता है। एलाचार्यके पास वीरसेनस्वामीने संपूर्ण सिद्धांत शास्त्रोंका अध्ययन करके उपरितम आदि आठ अधिकारोंको लिखा था। वीरसेनस्वामीके विनयसेन, जिनसेन और दशरथगुरु नामके तीन शिष्योंका पता लगता है। इनमेंसे विनयसेनका उल्लेख जिनसेनस्वामीने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यकी प्रशस्तिमें किया है—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृंगः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् । तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥७१॥

और जिनसेनस्वामीके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है—

अभवदिह हिमाद्रेर्देवसिंधुप्रवाहो ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्ति । उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमान मुनिरनुजिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥

अर्थात् जिस तरहसे हिमालयसे गंगा नदीका प्रवाह निकलता है अथवा सर्वज्ञदेवके शरीरसे उनकी दिव्यध्वनि होती है किंवा उदयाचल पर्वतसे प्रकाशमान सूर्य उदय होता है, उसी प्रकार वीरसेन भगवानके पीछे सर्व शास्त्रोंकी मूर्तिके समान श्रीजिनसेनाचार्य हुए।

इसके सिवाय आदिपुराणके पहिले पर्वके ५५—५६—५७—५८ श्लोकोंमें जिनसेनस्वामीने वीरसेनस्वामीको गुरु कहकर उनका बहुत ही गौरवके साथ स्मरण किया है।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने जिनसेनस्वामीकी प्रशंसा कर चुकनेके पीछे दशरथगुरुकी प्रशंसा की है और अपनेको जिनसेन और दशरथगुरु दोनोंका शिष्य बतलाया है। इससे दो बातें मालूम होती हैं। एक तो यह कि दशरथगुरु जिनसेनस्वामीके सतीर्थ थे और दूसरे यह कि गुणभद्रस्वामीके वे गुरु थे। बहुत करके गुणभद्रस्वामीके विद्यागुरु दशरथगुरु होंगे और दीक्षागुरु जिनसेनस्वामी होंगे। इस तरह वीरसेनस्वामीके तीन शिष्योंका उल्लेख मिलता है। कौन कह सकता है कि उनके ऐसे ऐसे महाविद्वान् और कितने शिष्य थे?

जिनसेनस्वामीके शिष्योंमें केवल गुणभद्रस्वामीका ही उल्लेख मिलता है और इन्हींकी सबसे अधिक प्रसिद्धि है अथवा दूसरे गृहस्थ शिष्य जगद्विख्यात महाराजाधिराज अमोघवर्ष थे जिन्होंने कि राज्यका परित्याग कर दिया था। इनका विशेष परिचय हम आगे चलकर करावेंगे।

गुणभद्रस्वामीके अनेक शिष्योंमेंसे केवल दो शिष्योंके विषयमें हम कुछ जानते हैं। एक तो लोकसेन जिनके उपकारके लिये 'आत्मानुशासन' नामक ग्रंथकी रचना हुई है और दूसरे मंडलपुरुष[1] जिन्होंने 'चूडामणि निघंटु' नामक द्राविड भाषाका कोश बनाया है। लोकसेनके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इस प्रकार लिखा है—

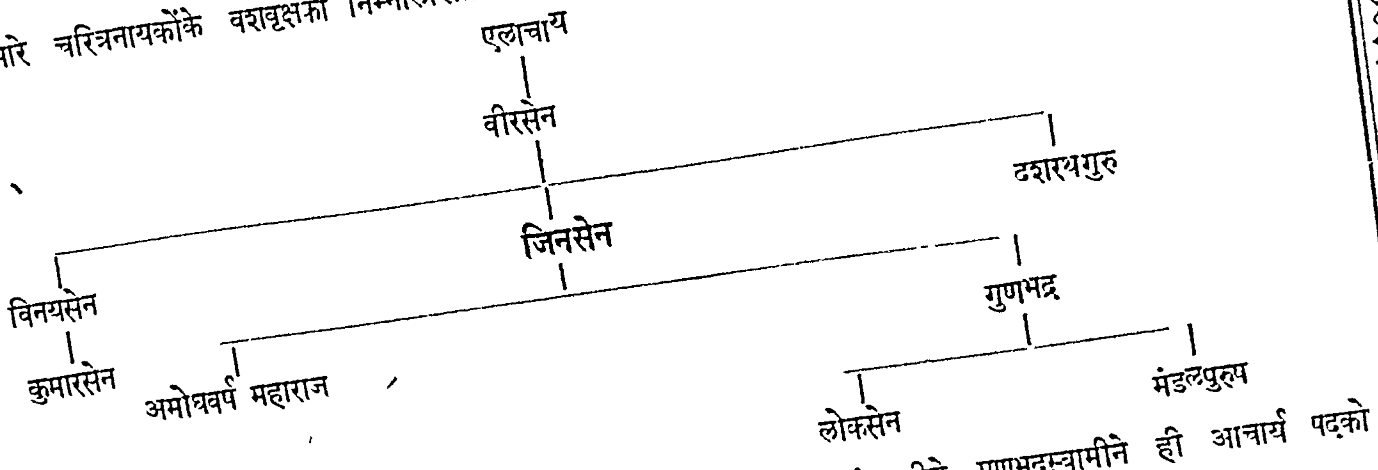
विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
सततमिह पुराणे प्राप्य साहाय्यमुच्चैर्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥२५॥

अर्थात्—उन गुणभद्रसूरिके संपूर्ण शिष्योंमें लोकसेन नामके मुनीश्वर मुख्य शिष्य हुए जो कि कवि हैं और सकल चारित्रके पालन करनेवाले हैं तथा इस पुराणके रचनेमें गुरुविनयरूप बड़ी भारी सहायता देकर जो विद्वानोंके द्वारा मान्य हुए हैं। मंडलपुरुषने अपने कोशमें स्वयं लिखा है कि गुणभद्रस्वामी मेरे गुरु हैं।

१—मंडलपुरुष यह नाम मुनि अथवा आचार्य सरीखा नहीं मालूम होता है बहुत करके मंडलपुरुष विद्वान् गृहस्थ ही होंगे।

॥ ३ ॥

इस तरह हमारे चरित्रनायकोंके वंशवृक्षका निम्नलिखित रूप होता है।



यहाँपर एक बात यह विचारणीय है कि वीरसेनस्वामीके पीछे जिनसेन और जिनसेनके पीछे गुणभद्रस्वामीने ही आचार्य पदको सुशोभित किया था या अन्य किसीने? देवसेनसूरिने अपने दर्शनसार ग्रंथमें काष्ठासंघकी उत्पत्तिमें लिखा है कि—

सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी। सिरिपउमणंदि पच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो ॥ ३१ ॥
तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्व णाणपरिपुण्णो। पक्खोववासमंडिय महातवो भावलिंगो य ॥ ३२ ॥
तेण पुणोवि य मिच्चु णेऊण मुणिस्स विणयसेणस्स। सिद्धंत घोसित्ता सयं गयं सग्गलोयस्स ॥ ३३ ॥

अर्थात्—वीरसेनाचार्यके शिष्य जिनसेन जो कि संपूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे श्रीपद्मनंदिके पश्चात् चारों संघके स्वामी (आचार्य) हुए। फिर उनके शिष्य गुणवान् गुणभद्र हुए जो कि दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण, एक एक पक्षका (१५ दिनका) उपवास करनेवाले, बडे भारी तपस्वी और सच्चा मुनिलिंग धारण करनेवाले थे। उन्होंने श्रीविनयसेन मुनिकी मृत्यु होनेपर सिद्धांतोंका उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्गलोकको सिधारे।

इससे यह जान पडता है कि वीरसेनस्वामीके पश्चात् पद्मनंदि नामके मुनि और फिर उनके पीछे जिनसेनस्वामी आचार्य पदपर सुशोभित हुए थे। इसी प्रकारसे जिनसेनस्वामीके पश्चात् विनयसेन और फिर गुणभद्राचार्य पट्टाधीश हुए थे। पद्मनंदि आचार्य कौन थे? इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता है। जिनसेन और गुणभद्रके प्राप्य ग्रंथोंमें उनका कोई उल्लेख नही मिलता है, परंतु यदि पद्मनंदि एलाचार्यका ही

॥ ४ ॥

नामांतर हो जैसा कि प्रसिद्ध है तो ऐसा हो सकता है कि वीरसेनके गुरु जो एलाचार्य थे जिसका कि उल्लेख श्रुतावतार कथामें है वे ही वीरसेनके पीछे संघाधिपति हुए होंगे और उनके पीछे जिनसेन हुए होंगे। विनयसेन जिनसेनस्वामीके सतीर्थ थे और विद्वान् थे, इसलिये उनके पश्चात् वे आचार्य हुए ही होंगे इसमें कोई सदेह नहीं है। विनयसेनका उल्लेख पार्श्वाभ्युदय काव्यमे मिलता भी है। गुणभद्रस्वामीके पश्चात् आचार्यका पद बहुत करके उनके मुख्य शिष्य लोकसेनने सुशोभित किया होगा।

स्थानपरिचय।

जान पडता है कि भगवान् जिनसेन और गुणभद्र स्थायीरूपमें तो नही, परंतु अधिकतर कर्णाटक और महाराष्ट्र देशके ही भीतर, जहॉ कि राष्ट्रकूट राजाओंका राज्य था, रहे होगें, क्योंकि वहॉके तात्कालीन राजा अमोघवर्ष, अकालवर्ष और सामंत लोकादित्य इनके भक्त थे। गुणभद्रस्वामीने उत्तरपुराणकी समाप्ति बंकापुरमें की थी, जो कि बनवास देशकी राजधानी था और जहॉ अकालवर्षका सामत लोकादित्य राज्य करता था। बंकापुर इस समय धारवाड प्रातमें एक कस्बा है। पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेटमे हुई होगी ऐसा जान पडता है।

मान्यखेट उस समय कर्णाटक और महाराष्ट्र इन दो विस्तृत देशोंकी राजधानी था इससे पाठक जान सकते है कि इस नगरका वैभव कितना बढा चढा होगा। उस समय उक्त देशोंमें और कोई भी शहर मान्यखेट सरीखा धनजनसपन्न नहीं था। तात्कालीन कई एक दानपत्रों और शिलालेखोंमें उसे इद्रपुरकी हॅसी करनेवाला बतलाया है, परंतु इस समय उसी मान्यखेटको देखिये तो इस बातका विश्वास ही नही होता है कि यह कभी एक बडा भारी नगर रहा होगा। मान्यखेटको इस समय मलखेड कहते हैं और हैदराबाद रेल्वे लाईनपर मलखेड रोड स्टेशनसे ४-५ मील है।

समयविचार।

भगवज्जिनसेनका जन्म जहॉतक हमने विचार किया है शक सम्वत् ६७५ (वि० स० ८१०) के लगभग होना चाहिए, क्योंकि हरिवंशपुराणके कर्त्ता द्वितीय जिनसेनने उनका स्मरण किया है और हरिवंशपुराण शक सवत् ७०५ मे समाप्त हुआ है। उस समय उनकी अवस्था लगभग २५–३० वर्षकी अवश्य होगी। वे वर्द्धमानपुराण नामक ग्रन्थ बनाचुके थे। और आपकी मृत्युका समय लगभग शकसंवत् ७६५ निश्चित होता है। शक सवत् ७५९ तक तो आपकी स्थितिका निश्चितप्रमाण मिलता है, क्योंकि इस संवत्मे आपने सिद्धांतशास्त्रकी जयधवला टीका पूर्ण की थी। इस टीकाके बाद आदिपुराण लिखा गया है। आपके रचित आदिपुराणकी श्लोक संख्या करीब दश हजार है। उस समय भगवज्जिनसेन वृद्धावस्थाको पहुँच गये थे, इसलिये यदि आदिपुराण दश वर्षमें पूर्ण किया गया हो तो आपकी स्थिति शक सवत् ७७० तक निश्चित होती है, पर यदि इससे पहिले ही आदिपुराणकी पूर्णता मान ली जाय तो निदान संवत् ७६५ तक तो आपकी स्थिति मानना ही पडेगी, क्योंकि इतना बडा ग्रंथ एक वृद्ध और आत्मध्यानी महात्मासे छह वर्षसे कम समयमें बन जाना संभव नहीं मालूम होता।

गुणभद्रस्वामीने अपना महापुराण शक संवत् ८२०में समाप्त किया है। मालूम नही, इसके बाद वे कितने समयतक और भी इस धराधामको पवित्र करते रहे। उनके जन्मसमयके विषयमें कोई निश्चय नहीं हो सका।

ग्रंथरचना।

जिनसेनस्वामीके बनाये हुए **आदिपुराण** और **पार्श्वाभ्युदय काव्य** ये दो ग्रंथ तो प्रसिद्ध तथा प्राप्त हैं। **जयधवला टीका** (शेष भाग) सर्वत्र प्राप्त नहीं है, परंतु उसका अस्तित्व है। मूडविद्रीके सुप्रसिद्ध सिद्धांतमंदिरमे उसकी दो प्रतियाँ हैं। **जिनेंद्रगुणस्तुति** तथा **वर्द्धमान-पुराण** नामके दो ग्रंथोंका पता हरिवंशपुराणकी प्रस्तावनासे लगता है, परंतु अभीतक इन ग्रंथोंका अस्तित्व कहींपर सुननेमें नहीं आया। शायद किसीको यह भी ज्ञात भी नहीं है कि जिनसेनस्वामीके बनाये हुए वर्द्धमानपुराण तथा जिनेंद्रगुणस्तुति नामके भी कोई ग्रंथ हैं। इन ग्रंथोंके सिवाय सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराण भी जिनसेनस्वामीका बनाया हुआ कहलाता है। परंतु विचार करनेसे यह अच्छी तरह निश्चय हो गया है कि आदि-पुराणके कर्ता जिनसेनसे हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन जुदे थे। आदिपुराणके कर्ता सेनसंघमें हुए हैं और हरिवंशके कर्ता पुन्नाट संघमें हुए हैं।

हरिवंशपुराणके सिवाय अलंकार चिंतामणिनामका एक अलंकारविषयक ग्रंथ भी भगवज्जिनसेनके नामसे प्रसिद्ध होगया है। परंतु सिवाय इसके कि उसके छपानेवालोंने उसके टाइटल पेजपर भगवज्जिनसेनाचार्यकृत लिख दिया है और कोई प्रमाण उसके जिनसेनाचार्यकृत होनेमें नही है। लगभग २० वर्ष पहिले इस ग्रंथका काव्यांबुधि नामक संस्कृत मासिकपत्रमें प्रकाशित होना शुरू हुआ था जो कि सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् पद्मराज पंडितके द्वारा बेंगलोरसे निकलता था। उसमे उन्होंने इसे अजितसेनाचार्यकृत लिखा था। इससे निश्चय होता है कि वह उक्त आ-चार्य कृत ही होगा, और यदि अजितसेनाचार्यकृत नहीं है तो भी इसमें तो किसी प्रकारका संदेह नहीं है कि वह भगवज्जिनसेनकृत नही है। क्योंकि उसमे—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितं।
इति भाषा चतस्रोपि याति काव्यस्य कायतां ॥

आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जो कि वाग्भटालंकारके हैं और वाग्भटालंकारके कर्ता वि०सं०११७९में अणहिल्लपुर पाटणमें जिनसेनस्वामीसे तीनसौ वर्ष पीछे हुए हैं। इसके सिवाय—

श्रीमत्समंतभद्राचार्यजिनसेनादिभाषितं।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम् ॥

इस श्लोकमें स्वयं कवि ही कह रहा है कि जिनसेनाचार्य मुझसे भिन्न है।

॥ ६ ॥

इस तरह जिनसेनस्वामीके बनाए हुए वर्द्धमानपुराण, पार्श्वस्तुति, जयधवला टीका, आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदय काव्य इन पाँच ग्रंथोंका निश्चितरूपसे पता लगता है। इनके सिवाय द्रोपदीबंध आदि दो चार ग्रंथ जिनसेनाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु जबतक स्वत अच्छी तरहसे न देख लिये जावे तबतक यह कहना कठिन है कि वे वास्तवमें किसके बनाये हुए हैं, क्योंकि जिनसेन नामके और भी अनेक विद्वान् आचार्य हो गये हैं।

उपर्युक्त पॉच ग्रथोंमेंसे इस समय पार्श्वाभ्युदय और आदिपुराण ये दो ही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्राप्य हैं। इसलिये हम अपने पाठकोंको यहॉपर उन्हीका थोडासा परिचय करा देना चाहते हैं।

पार्श्वाभ्युदय—यह ३६४ मंदाक्राता वृत्तोका एक खंडकाव्य है। सस्कृतसाहित्यमें अपने ढॅगका यह एक ही काव्य है। इसमें महाकवि कालिदासका सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत सवका सव वेष्टित है। मेघदूत काव्यमें जितने श्लोक हैं और उन श्लोकोके जितने चरण हैं, वे सब एक एक वा दो दो करके इसके प्रत्येक श्लोकमे प्रविष्ट कर लिये गये हैं अर्थात् मेघदूतके प्रत्येक चरणकी समस्यापूर्ति करके यह कौतुकावह ग्रंथ रचा गया है। संस्कृतमें मेघदूतके श्लोकोंका अंतिम चरण ले लेकर तो अनेक ग्रथ रचे गये हैं, जैसे नेमिदूत, शीलदूत, हसपादाकदूत आदि, परंतु सपूर्ण ग्रथको वेष्टित करनेवाला यह एक ही काव्य है। मेघदूतके कथानकमे और पार्श्वचरित्रके कथानकमें जमीन-आस्मानका अतर है। ऐसी दशामें मेघदूतके चरणोंको लेकर पार्श्वचरित्रका रचना कितना कठिन कार्य है? इसे काव्यरचनाके मर्मज्ञ पाठक अच्छी तरहसे समझ सकते हैं। ऐसी रचनाओंमें क्लिष्टता और नीरसता आनेकी बहुत बडी संभावना है, परंतु पार्श्वाभ्युदय इन दोषोंसे साफ बच गया है। आप इसके किसी भी श्लोकको पढेंगे तो यह नहीं मालूम होगा कि हम किसी काव्यकी समस्यापूर्ति पढ रहे हैं, आपको एक नवीन ही शैलीके काव्यका आस्वाद मिलेगा।

प्रो० के० बी० पाठकने "रायल एशियाटिक सोसायटी" मे कुमारिलभट्ट और भर्तृहरिके विषयमे जो निबंध पढा था उसमें जिनसेन-स्वामीके विषयमें देखिए क्या राय दी थी—

जिनसेन Lived on into the reign of Amoghawarsha, as he tells us himself in the पार्श्वाभ्युदय. This poem is one of the Curiosities of Sanskrit Literature It is atonce the product and the mirror of the literary taste of the age The first place among Indian poets is alloted to कालिदास by consent of all जिनसेन however claims to be considered a higher genius than the author of cloud Messenger (मेघदूत).

इसका अभिप्राय यह है कि जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्यकालमे हुए हैं, जैसा कि उन्होंने पार्श्वाभ्युदयमें कहा है। पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्यमें एक कौतकजनक उत्कृष्ट रचना है। यह उस समयके साहित्य स्वादका उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्व-

॥ ७ ॥

साधारणकी-सम्मतिसे भारतीय कवियोंमें कालिदासको पहिला स्थान दिया गया है, तथापि जिनसेन मेघदूतके कर्ताकी अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जानेके अधिकारी हैं।

पार्श्वाभ्युदयके टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्यने कहा है—

श्रीपार्श्वात्साधुत. साधु· कमठात्खल· त्र ।
पार्श्वाभ्युदयत. काव्य न च कचिदपीप्यते ॥ ७५ ॥

अर्थात्—श्रीपार्श्वनाथसे बढकर कोई साधु, कमठसे बढकर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदयसे बढकर कोई काव्य नहीं दिखलाई देता है।

पार्श्वाभ्युदयकी रचनाके संबधमे योगिराट् पंडिताचार्यने एक कथा लिखी है जिसमें कालिदास और जिनसेनका संबंध बतलाया गया है, परतु वह निरी कल्पना जान पडती है, क्योंकि मेघदूत आदिके कर्ता कालिदास भगवज्जिनसेनसे लगभग ९०० वर्ष पहिले हो गये हैं। और भोजके समयमें जो कालिदासका होना माना जाता है सो भोजका समय भी जिनसेनसे लगभग २०० वर्ष पीछे है।

आदिपुराण—महापुराणके दो भाग हैं। पहिले भागका नाम आदिपुराण है और दूसरेका उत्तरपुराण। आदिपुराणमें मुख्यत प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीका चरित्र है और उत्तरपुराणमें शेष तेईस तीर्थंकरोंका तथा चक्रवर्ती नारायण आदि शलाका पुरुषोंका चरित्र है। पूरे महापुराणमें चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र इन तिरेसठ शलाका पुरुषोंका चरित्र है। दिगंबर सम्प्रदायमें प्रथमानुयोगका यह सबसे प्रधान ग्रथ है। हमारे यहां जितने पुराण, काव्य, नाटक आदिके ग्रथ हैं उन सबकी कथाएं प्राय इसी महापुराणसे ली गई हैं। महापुराणकी श्लोकसंख्या बीस हजार है जिसमेंसे बारह हजार श्लोकोंमें आदिपुराण पूर्ण हुआ है और शेष आठ हजार श्लोकोंमें उत्तरपुराण समाप्त हुआ है। आदिपुराणमें ४७ पर्व या अध्याय हैं जिनमें ४२ पर्व पूरे और ४३वें पर्वके तीन श्लोक जिनसेनस्वामीके बनाये हुए हैं। शेष ५ पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्रस्वामीके बनाये हुए हैं। भगवान् जिनसेन ४३वें पर्वके केवल तीन श्लोक ही बना पाये थे कि उनका देहोत्सर्ग हो गया। शेष ग्रथ गुणभद्राचार्यने पूर्ण करके अपनी गुरुभक्तिका परिचय दिया।

आदिपुराण जैनसाहित्यका एक परमोत्तम ग्रन्थ है। यह केवल पुराण ही नहीं है, इसमें कविने अपने रचना कौशल्यसे जैनियोंके कथा, चारित्र, भूगोल और द्रव्य इन चारों ही अनुयोगोंके विषय सग्रह कर दिये हैं। जैनधर्मके जितने मान्य तत्त्व हैं, प्राय वे सब ही इसमें कहीं न कहीं कथाका संबंध मिलाकर किसी न किसी रूपमें कह दिये गये हैं। इसकी प्रमाणता भी बहुत है। पीछेके ग्रथकारोंने इस ग्रथके प्रमाण 'आर्ष' कहकर बडे आदरके साथ उद्धृत किये हैं। पौराणिकोंके सिवाय कवियोंमें भी इसका बडा आदर है, वे इसे एक अद्वितीय महाकाव्य समझते आ रहे हैं, और है भी ऐसा ही। महाकाव्यके सारे लक्षण इसमें मिलते हैं। यह शृंगारादि नवों रसोंसे ओतप्रोत भरा हुआ है। इसकी कविता बहुत

॥ ८ ॥

ऊँचे दर्जेकी है। पद-लालित्य, अर्थ-सौष्ठव, सरलता, गंभीरता, कोमलता आदि कविताके समस्त गुणोंसे यह परिपूर्ण है। प्राकृतिक दृश्योंके तथा मानसिक विचारोंके भी इसमे अच्छे चित्र खीचे है। यह कविता न केवल पाठकोंके मनोरंजनकी शक्ति रखती है किंतु मनोरंजनपूर्वक सुखका मार्ग दिखाती है और संसारके कष्टोंसे छूटनेके लिये उत्साहित करती है। यदि वर्तमान रुचिके पाठकोंको प्रसन्न न कर सकनेका इस ग्रंथमें कुछ दोष है तो वह यही कि इसकी कविता शृगारादि रसोमे तन्मय करके भी उसमें स्थिर नही रहने देती है--कुछ ही समय पीछे उन रसोंमें विरसताका भान करा देती है। ग्रथकर्ताको इस बातकी कुछ परवा नही है। वे अपने इस दोषको ही गुण समझते हैं। वे कहते है—

धर्मानुबंधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते। शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥६३॥

परे तुष्यतु वा मा वा कवि स्वार्थं प्रतीहताम्। न पराराधनाच्छ्रेय श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥७६॥ (प्रथम पर्व)

अर्थात्—जो कविता धर्मसंबधी है उसीकी प्रशंसा की जाती है और जो धर्मसबधी नहीं है वह चाहे जैसी अच्छी बनी हो पापका आस्रव करनेवाली ही होगी। दूसरे लोग चाहे प्रसन्न हों चाहे न हो कविको अपना स्वार्थ (आत्महित) देखना चाहिये क्योंकि दूसरेकी आराधना करनेसे वा उन्हे राजी रखनेसे कल्याण नही होता है, कल्याण होता है सच्चे धर्मका उपदेश देनेसे। अभिप्राय यह कि कविको धर्मोपदेशमय कविता करनी चाहिये, इस बातकी परवा नही करना चाहिये कि इससे कोई प्रसन्न होगा या नही, और सब कोई प्रसन्न हो भी नही सकते हैं क्योंकि लोगोकी रुचि ही भिन्न २ होती है। किसीको शब्द-सौंदर्य प्रिय है, कोई भाव-सौष्ठवको पसद करता है, किसीको बडे बडे समास अच्छे लगते हैं, कोई छोटे २ सरल पदोंसे प्रसन्न होता है, किसीको श्लेषादि अलंकारोसे ढकी हुई कविता प्यारी लगती है, किसीका मन उसके प्राकृतिक स्पष्टरूपपर मोहित होता है और कोई इन गुणोंसे भिन्न जुदी ही बातोंके प्रेमी हैं, फिर सबके प्रसन्न करनेकी इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है? आदिपुराण जैसे काव्यकी कविताकी उत्तमता दूसरेके कहनेकी अपेक्षा स्वयं अनुभव करनेसे ही भलीभाँति मालूम हो सकती है। इसलिये हम अपने पाठकोंसे प्रेरणा करते हैं कि वे इस अद्वितीय ग्रथको स्वयं विचारपूर्वक स्वाध्याय करके देखे, और इसकी मधुर तथा सरस कविताका आस्वादन अवश्य करें।

गुणभद्राचार्यके बनाये हुए अभीतक तीन ग्रथ प्राप्य हैं एक आदिपुराणका शेष भाग (९ सर्ग) तथा उत्तरपुराण, दूसरा आत्मानुशासन और तीसरा जिनदत्तचरित्र। इनमेसे आदिपुराणके विषयमें तो ऊपर कहा जा चुका है। उत्तरपुराणकी भी कविता वैसी ही है जैसी आदिपुराणके शेष भागकी। तंजौरके श्रीयुक्त कुप्पूस्वामी शास्त्रीने जीवंधरचरित्रको उत्तरपुराणसे जुदा निकालकर छपावाया है उसे विद्वानोंने बहुत पसंद किया है, इससे भी उत्तरपुराणके कवित्वकी उत्तमताका अनुमान होता है। उसमें तेईस तीर्थंकरोंका और उनके तीर्थमें होनेवाले शलाका पुरुषोंका चरित्र है। जितनी संक्षेपतासे यह ग्रंथ पूर्ण किया गया है यदि उतनी संक्षेपतासे नहीं किया जाता--आदिपुराणके समान विस्तारसे रचा जाता

॥ ९ ॥

तो इससे कई गुणा होता, पर जितना है उतना भी कुछ थोडा नहीं है, आठ हजार श्लोकोंमें है। आदिपुराणके समान यह भी छपने ही वाला है, थोडे ही दिन पीछे पाठक महाशय इसके भी स्वाध्यायका लाभ उठावेंगे।

आत्मानुशासन—यह २७२ पद्योंका छोटासा परतु बहुत ही उत्तम ग्रंथ है। इसकी रचना कब हुई है? इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। क्योंकि इसके अन्तमें सिवाय निम्न लिखित श्लोकके जिसमें कि ग्रंथकर्ताका और उसके गुरुका उल्लेख है और कुछ भी नहीं लिखा है—

जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम् । गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम् ॥

आत्मानुशासन आत्माका शासन करनेके लिये—उसको वशीभूत करनेके लिये न्यायी शासकके समान है। अध्यात्मके प्रेमी इसके अध्ययनसे अभूतपूर्व शाति लाभ करते है।

जिनदत्तचरित्र—बडनगरमें मलूकचदजी हीरानंदके मंदिरमें है। उसकी सस्कृत शैली बडी अच्छी और प्रौढ है, इस छोटेसे नव सर्गात्मक काव्यसे गुणभद्राचार्यके पाडित्यका पूर्ण परिचय मिलता है। यह सारा काव्य अनुष्टुप् श्लोकोंमें लिखा गया है। अनुष्टुप् होकर भी यह गभीर है। इसकी भाषा पडित बख्तावरमल रतनलालने बनाई है। यह भाषा मुशी अमनसिंहजीने छपाई थी। अनुवादक महाशय संस्कृतके विद्वान् नही थे, इसलिये अनुवाद जैसा होना चाहिये वैसा नही हुआ है और बहुतसी जगह भाव भी लिखनेसे रह गया है।

एक 'भावसग्रह' नामका ग्रथ भी गुणभद्राचार्यका बनाया हुआ कहा जाता है, परन्तु अभीतक हमें उसके दर्शन नहीं हुए है।

समकालीन राजाओंका परिचय.

अमोघवर्ष.

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके समयमें जितने राजा हो गये है उन सबमें महाराजा अमोघवर्ष जैनधर्मके परम श्रद्धालु सहायक और उपासक समझे जाते है। जिनसेनस्वामीके ये परम भक्त थे।

प्राचीन लेखों और पुस्तकोंमें अमोघवर्षका उल्लेख तीन नामोंसे मिलता है—अमोघवर्ष, नृपतुगदेव और शर्वदेव। अपनी उदारता दानशीलता और न्यायपरायणतासे अमोघवर्षने अपने अमोघवर्ष नामको इतना प्रसिद्ध किया कि पीछेसे यह एक प्रकारकी पदवी समझी जाने लगी और उसे राठौर वशके तीन चार राजाओंने तथा परमारवशीय महाराज मुजने भी अपनी प्रतिष्ठाका कारण समझकर धारण की। इन पिछले तीन चार अमोघवर्षोंके कारण इतिहासमे ये अमोघवर्ष 'प्रथम अमोघवर्ष'के नामसे उल्लिखित होते हैं। ये राष्ट्रकूट वा राठौर वशके राजा थे।

अमोघवर्ष अपने समयके एक सम्राट थे। वे जैसे वीर तथा उदार थे उसी प्रकारसे विद्वान् भी थे। उन्होंने संस्कृत और कानडी भाषामे अनेक

॥ १० ॥

ग्रंथोकी रचना की है। जिसमेंसे एक 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' है जो छप चुकी है। दूसरा प्राप्य ग्रंथ 'कवि-राजमार्ग' है। यह अलंकारका ग्रंथ है और कानडी भाषाके उत्कृष्ट ग्रंथोमें गिना जाता है। इनके सिवाय और भी कई ग्रंथ अमोघवर्षके सुने जाते हैं परन्तु वे अप्राप्य हैं। अमोघवर्षका राज्यकाल शक सवत् ७३६ से ७९९ तक निश्चय किया है। जिनसेनस्वामीका स्वर्गवास शक स० ७६५के लगभग निश्चित किया जा चुका है। इससे समझना चाहिये कि जिनसेनके शरीर त्यागके समय अमोघवर्ष महाराज राज्य ही करते थे। राज्यका त्याग उन्होंने शक सं० ८००में किया है जब कि आचार्यपदपर गुणभद्रस्वामी विराजमान थे। यह बात विवादापन्न ही है कि अमोघवर्षने राज्यको छोड-कर मुनि-दीक्षा ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमाका चारित्र ग्रहण किया था? हमारी समझमे यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती तो 'प्रश्नोत्तररत्नमाला'मे वे अपना नाम अमोघवर्ष न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करते समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना सभव प्रतीत नहीं होता है।

अकालवर्ष—अमोघवर्षके पीछे उनका पुत्र अकालवर्ष जिसको कि द्वितीय कृष्ण भी कहते है, सार्वभौम सम्राट् हुआ था; परन्तु अकाल-वर्षका राज्यकाल शक ८११से ८३३ तक निश्चय किया गया है। इससे मालूम होता है कि अमोघवर्ष और अकालवर्षके बीचमे १०—११ वर्ष-तक किसी दूसरे राजाने राज्य किया है और वह बहुत करके अमोघवर्षका पितृव्य (काका) इंद्रराज था। अकालवर्ष भी अपने पिताके समान बडा भारी वीर और पराक्रमी राजा था, पर यह नही कहा जा सकता है कि अमोघवर्षके समान अकालवर्ष भी जैनधर्मका श्रद्धालु था या नही? क्योंकि इस विषयका हमें अभीतक कोई उल्लेख नही मिला है, पर उसका सामंत लोकादित्य जो कि वनवास देशका राजा था और वकापुरमे जिसकी राजधानी थी, जैनधर्मका भक्त रहा है।

जिनसेनस्वामीका जन्म समय शक स० ६७५ और मृत्युसमय शक सं० ७७० निश्चित किया जा चुका है और उनके पश्चात् गुणभद्र-स्वामी निदान शक सं० ८२० तक जीवित रहे हैं। इस बीचमें अर्थात् शक सं० ६७५ से ८२० तकके समयमे राष्ट्रकूटवंशके चार पॉच राजा राज्य कर चुके है। जिनमेंसे तीनका समय तो निश्चित है--श्रीवल्लभ शक सं० ७०५ से ७३६ तक, अमोघवर्ष ७३६ से ७९९ तक और अकालवर्ष ८०० से ८३३। तक श्रीवल्लभसे पहिले शुभतुंग दंतिदुर्ग आदि राजा हुए हैं परंतु उनका निश्चित समय विदित नही है।

पूर्वके कवि वा आचार्य।

जिनसेनस्वामीने आदिपुराण व महापुराणकी भूमिकामें जिन बहुतसे कवियों तथा आचार्योंका स्मरण किया है, यहॉ हम उनका उल्लेख कर देना भी ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयोगी समझते हैं—

सिद्धसेन कवि--इन्हे 'प्रवादिकरिकेसरी' विशेषण दिया है। जिससे मालूम होता है कि ये बडे भारी नैयायिक व तार्किक विद्वान् होंगे। कई लोगोका अनुमान है कि ये प्रसिद्ध श्वेतावर तार्किक 'सिद्धसेन दिवाकर' ही होंगे जिन्होंने अनेक न्याय ग्रथोंकी रचना की है।

समतभद्र--इनकी कवियोंके, वादियोंके, गमकोंके और वाग्मी जनोंके शिरोमणि कहकर स्तुति की है। गंधहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरडश्रावकाचार और देवागम आदि ग्रथोंके कर्ता ये ही गिने जाते हैं। न्यायशास्त्रके ये अद्वितीय विद्वान् हुए हैं।

श्रीदत्त--इन्हे वडे भारी तपस्वी और वादीरूपी सिंहोके भेदन करनेवाले वतलाये है।

यशोभद्र--इनके विषयमे कहा है कि विद्वानोकी सभामें इनका नाम सुनते ही वादियोका गर्व गलित हो जाता था।

प्रभाचद्र कवि--जिन्होंने चद्रोदय (न्यायकुमुदचद्रोदय) करके जगतको आल्हादित किया। प्रमेयकमलमार्तडके कर्ता भी ये ही समझे जाते है।

शिवकोटि मुनीश्वर--जिसके आराधना चतुष्टय (भगवती आराधना) का आराधन करके यह संसार शीतीभूत वा शात हो गया।

जटाचार्य--काव्यका अनुचितन करते समय जिनकी जटायें चचल होकर ऐसी मालूम होती थी मानों अर्थका व्याख्यान कर रही हों। जटाचार्यका दूसरा नाम 'सिहनदि' भी है ऐसा आदिपुराणकी टिप्पणीमें लिखा है।

काणभिक्षु--कथालकारके बनानेवाले।

देव--कवियोंके तीर्थकर। बहुत करके यह आचार्य देवनदिका सक्षिप्त नाम होगा।

भट्टाकलंक--श्रीपाद-पात्रकेसरी--इनके अतिशय निमल गुण विद्वानोके हृदयमे हारके भावको प्राप्त होते है।

वादिसिह--कवित्व, वाग्मित्व और गमकत्वकी सीमापर पहुँचे हुए। आश्चर्य नही कि वादीसिह यह 'वादिभसिह'का ही नामातर हो। जिस तरह वादीभसिहके कवित्वको प्रगट करनेवाले गद्यचिंतामणि और क्षत्रचूडामणि ये दो ग्रथ प्रगट हो चुके हैं उसी प्रकारसे अपने नामानुसार तार्किकत्वको प्रगट करनेवाली उन्होने आप्तमीमासाकी भी कोई टीका लिखी है जिसका उल्लेख अष्टसहस्रीकी उत्थानिकामे (श्रीमता वादीभसिहेनोपलालितामाप्तमीमासा) मिलता है।

वीरसेन--जिनसेनस्वामीके गुरु, प्रसिद्ध कवि और सिद्धात ग्रंथोके टीकाकार।

जयसेन--तपस्वी, शातमूर्ति, शास्त्रज्ञ, पडिताग्रणी।

कविपरमेश्वर--कवियोंद्वारा पूज्य और वागर्थसग्रहपुराणके रचनेवाले।

नोट--यह लेख मित्रवर भाई नाथूरामजी प्रेमीकृत विद्वद्रत्नमालासे सक्षिप्त करके लिया गया है। इस विषयमें जो भाई विस्तारसे देखना चाहें वे उक्त पुस्तक 'जैनमित्र कार्यालय' हीरावाग, वम्बईसे मॅगाकर पढें।

विषयानुक्रमणिका ।

॥ १३ ॥

॥ १९ ॥

॥ १६ ॥

॥ १७ ॥

॥ १८ ॥

॥ १९ ॥

॥ २० ॥

॥ २१ ॥





श्रीमहापुराण ।

स्याद्वादग्रन्थमाला ।
(४)
तदंतर्गत श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्यविरचित

श्रीआदिपुराण ।

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे । धर्मचक्रभृते भर्त्रे नमः संसारभीमुषे ॥ १ ॥

नमस्तमःपटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे । जिनेंद्रांशुमते तत्त्वप्रभाभारभासिने ॥ २ ॥ जयत्यजय्यमाहात्म्य विशासितकुशासनं । शासनं

मंगलाचरण दोहा ।

श्रीयुत केवलज्ञानप्रभु, धर्मचक्रधर ईश । जगभयनाशक वृषभ जिन, नमौ धारि कर शीश ॥ १ ॥
शिवसाधक गुरुचरण नमि, जिनवानी उरधारि । भाषा महापुराणकी, लिखूं स्वपरहितकारि ॥ २ ॥

ग्रन्थकर्त्ता श्रीमद्भगवज्जिनसेनाचार्य ग्रंथके निर्विघ्न पूर्ण होजानेकी अभिलाषासे अथवा उत्तम पुरुषों की इसीप्रकारकी पद्धति होनेसे इस महापुराणकी आदिमें इष्टदेवको नमस्कारपूर्वक मंगलाचरण करते हैं—

जो अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतवीर्य और अनंतसुखरूप अंतरंग लक्ष्मीके तथा समवशरणादि बाह्यलक्ष्मीके स्वामी हैं, जो लोकअलोकके जाननेवाले केवलज्ञानरूपी विशाल राज्यपदको प्राप्त होकर धर्मचक्रको धारण करनेवाले हैं और पंचपरावर्त्तनरूप संसारका भय नाश करनेवाले हैं ऐसे त्रैलोक्यनाथ श्रीअरहंत भगवानको मेरा नमस्कार है ॥ १ ॥ अज्ञानांधकाररूपी वस्त्रसे आच्छादित

जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्येकशासन ॥ ३ ॥ रत्नत्रयमय जैन जैत्रमस्त्रं जयत्यदः । येनाव्याजं व्यजेष्टार्हन्दुरितारातिवाहिनीं ॥ ४ ॥ य. साम्राज्यमध स्थायि गीर्वाणाधिपवैभव । तृणाय मन्यमान सन्प्राव्राजीदग्रिम' पुमान् ॥ ५ ॥ यमनुप्राव्रजन् भूरि सहस्राणि महीक्षिता । इक्ष्वाकुभोजमुख्याना स्वामिभक्त्यैव केवल ॥ ६ ॥ कच्छाद्या यस्य सद्वृत्त निर्वोढुमसहिष्णव. । वसानाः पर्णवल्काद्यान्वन्या वृत्तिं प्रपेदिरे ॥ ७ ॥ अनाश्वान्यस्तपस्तेपे चिर सोढ्वा परीषहान् । सर्वसहत्वमाध्याय निर्जरासाधन पर ॥ ८ ॥ चिर तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि रमुस्तरा। ध्यानाग्नि

इस जगतको प्रकाश करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानरूपी प्रकाशके समूहसे अतिशय शोभायमान श्रीवृषभजिनेंद्ररूपी सूर्यको नमस्कार हो ॥ २ ॥ जिसकी महिमा अजेय है जो मिथ्याशास्त्रोंका खंडन करनेवाला है, सदा प्रकाशरूप और मोक्षलक्ष्मीका अद्वितीय कारण है ऐसे जिनशासनकी सदा जय हो ॥ ३ ॥ श्रीअरहंतभगवानने जिसके द्वारा पापरूपी शत्रुकी सेना सहजहीमें जीत ली ऐसा जयनशील रत्नत्रयरूपी शस्त्र सदा जयवंत रहो ॥ ४ ॥ जिस पुरुषोत्तमने इंद्रकी विभूतिके लजानेवाले अपने राजपदको तृणके समान तुच्छ मानकर छोड़ दिया और मुनिदीक्षा धारण करली ॥ ५ ॥ तथा जिनके दीक्षित होनेके साथ ही साथ और भी हजारों इक्ष्वाकुवंशी बड़े बड़े राजा महाराजा केवल अपने स्वामीकी भक्तिसे ही दीक्षित होगये थे, फिर भगवानके समान भूख पियासादिकी कठिन परिषहोंको सहन नहिं कर सकनेके कारण निर्दोष चारित्र धारण करनेमें असमर्थ होनेपर उनमेंसे कच्छ महाकच्छादि राजाओंने वृक्षोंके पत्ते और छाल आदिके वस्त्र धारण करके कंद मूल फलफूल आदिका भक्षण करना प्रारंभ कर दिया था ॥ ६-७ ॥ जिस भगवानने छह महीनेके उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर पृथ्वीकी तरह समस्त प्रकारके उपद्रवोंके सहनका दृढ़ संकल्प कर नानाप्रकारकी कठिन परिषह सही थीं और कर्मोंकी अत्यंत निर्जराके कारण बहुत समय पर्यंत दुर्द्धर तपश्चरण किया था ॥ ८ ॥ और चिरकाल तक तपश्चरण करनेके कारण जिनकी बढ़ी हुई जटायें ऐसी शोभायमान होने लगीं

दग्धकर्मेंधननिर्यद्धूमशिखा इव ॥ ९ ॥ मर्यादाविष्क्रियाहेतोर्विहरंतं यदृच्छया । चलंतमिव हेमाद्रिं ददृशुर्यं सुरासुरा. ॥ १० ॥ श्रेयसि प्रयते दानं यस्मै दत्वा प्रसेदुषि । पचरत्नमयीं वृष्टिं ववृषु सुरवारिदाः ॥ ११ ॥ उदपादि विभोर्यस्य घातिकर्मारिनिर्जयात् । केवलाख्य परं ज्योतिर्लोकालोकावभासनं ॥ १२ ॥ येनाभ्यधायि सद्धर्मः कर्मारातिनिवर्हण' । सद.सरोमुखाभोजवनदीधितमालिना ॥ १३ ॥ यस्मात्स्वान्वयमाहात्म्यं शुश्रुवान् भरतात्मज. । सलीलमनटच्चारुचचच्चीवरवल्कलः ॥१४॥ तमादिदेव नाभेय वृषभ वृषभध्वजं । प्रणौमि प्रणिपत्याह प्रणिधाय मुहुर्मुहुः ॥१५॥

मानो शुक्लध्यानरूपी अग्निकेद्वारा जलाये हुये कर्मरूपी ईंधनसे निकली हुई धूमकी शिखाही है ॥ ९ ॥ यद्यपि भगवानके शरीरका संहनन इतना सुदृढ़ था कि जिससे उन्हें आहार करनेकी इच्छा नहीं होती थी परंन्तु फिर भी भगवानको केवल जिनमार्गकी मर्यादा प्रगट करनेके अभिप्रायसे आहारके लिये नगरोंमें विहार करना पड़ता था उस समय स्वच्छंद चलते हुये भगवान देवोंकी दृष्टिमें ऐसे जान पड़ते थे मानों सुवर्णमय मेरुपर्वत ही चल रहा है ॥ १० ॥ तथा जिस भगवानको हस्तिनापुरके विनीत श्रेयांस महाराजने आहारदान देकर युगकी आदिमें दानतीर्थकी प्रवृत्ति की थी यह देखकर देवोंने महाराज श्रेयांसके घरपर पांच प्रकारके रत्नोंकी वर्षा करके आनंद प्रगट किया था ॥ ११ ॥ और कुछ दिनों बाद जिन्हें ध्यानकेद्वारा घातियाकर्मोंको नाश करदेनेपर लोकालोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति प्राप्त हुई थी ॥ १२ ॥ उस समय जो भगवान समवशरणसभारूपी सरोवरमें बैठे हुये भव्यपुरुषोंके मुखरूपी कमलोंको विकसित करनेवाले सूर्यकी तरह शोभायमान थे जिन्होंने कर्मरूपशत्रुओंको नाश करनेवाले पवित्रधर्मका उपदेश दिया था ॥ १३ ॥ और जिनके मुखसे अपने कुलकी प्रशंसा सुन कर वृक्षकी वल्कल पहने हुये मरीचिने (भगवानके पौत्र भरतपुत्रने) आनंदके साथ नृत्य किया था ॥ १४ ॥ इन सब कारणोंसे जगत्प्रसिद्ध नाभिराजाके पुत्र वृषभचिह्न सहित आदिब्रह्मा श्रीवृषभनाथ (आदिनाथ) तीर्थंकर भगवानको मैं नम्रीभूत होकर एकाग्रचित्तसे

अजितादीन् महावीरपर्यंतान्परमेश्वरान् । जिनेंद्रान्पर्युपासेह धर्मसाम्राज्यनायकान् ॥ १६ ॥ सकलज्ञानसाम्राज्ययौवराज्यपदे स्थितान् । तोष्टवींमि गणाधीशानासज्ञानकठिकान् ॥ १७ ॥ अनादिनिधनं तुगमनल्पफलदायिन । उपाध्व विपुलच्छाय श्रुतस्कंधमहाद्रुम ॥ १८ ॥ इत्याप्तसवचः-स्तोत्रैः कृतमगलसत्क्रिय' । पुराण सग्रहीष्यामि त्रिषष्ठिपुरुषाश्रित ॥ १९ ॥ तीर्थेशामपि चक्रेशां हलिनामर्द्धचक्रिणा त्रिषष्ठिलक्षण वक्ष्ये पुराण तद्द्विषामपि ॥ २० ॥ पुरातन पुराण स्यात्तन्महन्महदाश्रयात् । महद्भिरुपादिष्टत्वान्महाश्रेयोनुशासनात् ॥ २१ ॥ कविं पुराणमाश्रित्य प्रसृतत्वात्पु

वारंवार साष्टांग नमस्कार करता हूं ॥ १५ ॥ इनके पश्चात् धर्मसाम्राज्यके नायक श्रीअजितनाथको आदि लेकर श्रीवर्द्धमानपर्यंत जो और भी तेईस तीर्थंकर हुये हैं उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूं ॥ १६ ॥ तत्पश्चात् केवलज्ञानरूपी साम्राज्यके युवराजपदको प्राप्त हुये तथा सम्यग्ज्ञानरूपी कंठाभरणको धारण करनेवाले श्रीगणधर स्वामीकी बारंबार स्तुति करता हूं ॥ १७ ॥ भो भव्य हो जो अनेकप्रकारके फलोंको देनेवाला है जिसकी वहुत बड़ी घनी छाया है और जो अनादिनिधन और बहुत ऊंचा है ऐसे श्रुतस्कंधरूप महावृक्षकी तुम सब सेवा करो ॥ १८ ॥ इसप्रकार देवगुरुशास्त्रका स्तवनरूप मंगल करके चतुर्विंशति तीर्थंकर, बारह चक्रवर्त्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र इन त्रेसठ महापुरुषोंके पवित्र चरित्रका इस ग्रंथमें संग्रह करूंगा ॥ १९-२० ॥ अत्यंत प्राचीनकालसे इस ग्रंथकी प्रसिद्धि हो रही है इसलिये इसको पुराण कहते हैं इस पुराणमें महापुरुषोंका चारित्र वर्णन किया गया है, अथवा ऋषभादि महापुरुषोंने इसका उपदेश दिया है, अथवा इसके पठन पाठनसे बड़ा कल्याण होता है, इसलिये इसका नाम [1]महापुराण पड़ गया है ॥ २१ ॥ अथवा अत्यंत प्राचीनकालके कवियों द्वारा इसका प्रचार हुआ है इसलिये इसकी पुराणता प्राचीनता जगतप्रसिद्ध है तथा इसका महत्त्व

---

१ वास्तवमें इसका नाम महापुराण ही है परतु इसमें प्रथम तीर्थंकरका चरित्र होनेसे तथा पूर्वार्द्ध होनेसे इसका नाम लोकप्रसिद्धिमें 'आदिपुराण' कहते हैं, और उत्तरार्धको उत्तरपुराण कहते है । किंतु दोनोंके मिलनेपर वास्तविक नाम इसका महापुराण ही होता है ।

राणतां । महत्त्वं स्वमहिम्नैव तस्येत्यन्यैर्निरुच्यते ॥ २२ ॥ महापुरुषसंबंधि महाभ्युदयशासनं । महापुराणमाम्नातमत एतन्महर्षिभिः ॥ २३ ॥ ऋषिप्रणीतमार्षं स्यात्सूक्तं सूनृतशासनात् । धर्मानुशासनाच्चेद धर्मशास्त्रमिति स्मृत ॥२४॥ इतिहासमितीष्ट तदितिहासीदिति श्रुतेः । इति वृत्तमथैतिह्यमृषयोवा मनति तत् ॥ २५ ॥ पुराणमितिहासाख्य यत्प्रोवाच गणाधिपः । तत्किलाहमधीर्वक्ष्ये केवल भक्तिचोदित. ॥ २६ ॥ पुराण गणभृत्प्रोक्त विवक्षोर्मे महान्भरः । विवक्षोरिव दम्यस्य पुगवैर्भारमुद्धृत ॥२७॥ क्व गभीर· पुराणाब्धि. क्व मादृग्बोधदुर्विधः । सोहं महोदधिं दोर्भ्यां तितीर्षुर्यामि हास्यतां ॥ २८ ॥ अथवास्त्वेतदल्पोपि यद्धटेह स्वशक्तितः । लूनवालधिरप्युक्षा किं नोत्पुच्छयतेतरां ॥ २९ ॥ गणाधीशैः

इसकी महिमासे ही प्रसिद्ध है इसीलिये ही इसको महापुराण कहते हैं ॥ २२ ॥ इसमें महापुरुषोंका संबंध है तथा स्वर्गादि अनेक कल्याणोंका यह कारण है इसीलिये महर्षिलोग इसे महापुराण कहते हैं ॥ २३ ॥ यह ग्रंथ ऋषिप्रणीत है इसालिये आर्ष कहलाता है इसमें सत्यार्थका निरूपण है इसलिये सूक्त अर्थात् सत्यार्थ कहलाता है तथा धर्मका निरूपण करनेवाला है इसलिये धर्मशास्त्र कहा जाता है और "इति इह आसीत्" 'अर्थात् इहां ऐसा हुआ था' ऐसी ऐसी अनेक कथाओंका निरूपण करनेसे इतिहास, इतिवृत्त ऐतिह्य, आदि नामोंसे भी ऋषिलोग पुकारते हैं ॥ २४ । २५ ॥ जिस इतिहास नामक महापुराणको स्वयं गणधरदेवने निरूपण किया है उसीको अल्पज्ञानी मैं केवल भक्तिकी प्रेरणासे कहना चाहता हूं, क्योंकि ॥ २६ ॥ किसी बड़े बैलके द्वारा उठाने योग्य भारको स्वयं उठानेकी इच्छा करनेवाले छोटे बछड़ेको जितनी कठिनता पड़ती है उसीप्रकार गणधरदेवके कहे हुये पुराणके कहनेमें उतनी ही कठिनता मुझे पड़ रही है ॥ २७ ॥ कहां तो अति गंभीर पुराणरूपी समुद्र ? और कहां मुझ सरीखा अल्पज्ञ ? मैं केवल अपनी भुजाओंसे महासमुद्रको तिरना चाहता हूं इसलिये मेरी हंसी अवश्य होगी ॥ २८ ॥ अथवा ऐसा समझना चाहिये कि मैं अल्पज्ञानी हूं तथापि अपनी शक्तिप्रमाण कहनेकेलिये यत्न कर रहा हूं। जैसे पूंछवाले बैलोंको पूंछ उठाते देखकर कटी पूंछवाला बैल भी अपनी कटी पूंछको उठाता ही है ॥ २९ ॥ यद्यपि यह पुराण

प्रणीतेपि पुराणेऽस्मिन्नहं यते। सिंहैरासेविते मार्गे मृगो यान् केन वार्यते ॥ ३० ॥ पुराणकविभिः क्षुण्णे कथामार्गेऽस्ति मे गतिः। पौरस्त्यैः शोधितं मार्गं को वा नानुव्रजेज्जनः ॥ ३१ ॥ महाकरींद्रसमर्दविरलीकृतपादपे। वने वन्येभकलभाः सुलभा स्वैरचारिणः ॥ ३२ ॥ महातिमिपृथुप्रोथपथीकृतजलार्णवे। यथेष्ट पर्यटत्येव ननु पाठीनशावकाः ॥ ३३ ॥ महाभटास्त्रसपातनिरुद्धप्रतियोद्धृके। भटब्रुवोपि निःशकं वल्गत्येव रणांगणे ॥ ३४ ॥ तत्पुराणकवीनेव मत्वा हस्तावलंबन। महतोऽस्य पुराणाब्धेस्तरणायोद्यतोऽस्म्यह ॥ ३५ ॥ महत्यस्मिन्पुराणाब्धौ शाखाशततरंगके। स्खलितं यत्प्रमादान्मे तद् बुधा क्षंतुमर्हथ ॥ ३६ ॥ कविप्रमादजान्दोषानपास्यास्मात्कथामृतात्। सतो गुणान् जिघृक्षंतु गुणगृह्या

गणधरदेवने कहा है तथापि मैं इसीके कहनेका प्रयत्न करता हूं। क्योंकि जिस मार्गसे सिंह निकल जाता है उस मार्गसे हरिणोंका निकलना कौन रोक सकता है ॥३०॥ अभिप्राय यह है कि वृषभसेनादि प्राचीन कवियोंने इस कथामार्गको सुगम कर दिया है इसलिये इस मार्गसे जानेमें अब मुझे कठिनता नहीं पड़ेगी। बड़े और मुख्य मनुष्योंद्वारा संशोधित मार्गमें भला कौन नहीं जा सकता है? तथा बड़े बड़े हाथियोंके मर्दन करनेसे जहांके वृक्ष टूट कर बहुत थोड़े रह गये हैं मार्ग साफ होगया है ऐसे बनमें हाथियोंके बच्चे सुलभतासे इधर उधर फिरते ही हैं। जिस समुद्रमें महातिमि जातिके बड़े बड़े मच्छोंने निकल कर मार्ग साफ कर दिया है उसमें छोटे छोटे मगरमच्छोंके बच्चे भी अपनी अपनी इच्छानुसार इधर उधर फिरते रहते ही हैं। जिस युद्धस्थलमें बड़े बड़े शूरवीरोंने शस्त्रोंकेद्वारा प्रतिपक्षियोंके योद्धाओंको रोक दिया है उसमें एक कायर पुरुष भी अपनेको योद्धा समझ कर तथा निःशंक हो कर गर्जना करता ही है॥ ३१। ३२। ३३। ३४॥ इसलिये मैं प्राचीन कवियोंके ही हाथका सहारा लेकर इस महापुराणरूपी समुद्रको तिरनेकेलिये उद्यमी हुआ हूं॥ ३५॥ सैकड़ों कथारूप तरंगोंसे भरे हुये इस पुराणरूप महासागरमें कदाचित् मैं स्खलित हो जाऊं तो आशा है कि पंडित जन मुझे क्षमा ही करेंगे॥ ३६॥ अतएव प्रार्थना है कि सज्जनजन कविके प्रमादसे उत्पन्न हुए दोषोंको छोड़कर इस

हि सज्जना॰ ॥ ३७ ॥ सुभाषितमहारत्नसंभृतेस्मिन्कथांबुधौ । दोषग्रहाननादृत्य यतध्व सारसंग्रहे ॥ ३८ ॥ कवय. सिद्धसेनाद्या वयं च कवयो मता. । मणय॰ पद्मरागाद्या ननु काचोपि मेचक ॥ ३९ ॥ यद्वचोदर्पणे कृत्स्नं वाङ्मय प्रतिबिंबित । तान्कवीन्बहुमन्येऽह किमन्यै॰ कविमानिभि ॥ ४० ॥ नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती । येषामन्यकवित्वस्य सूत्रपातायित वच. ॥ ४१ ॥ प्रवादिकरियूथाना केसरी नयकेसर. । सिद्धसेनकविर्जीयाद्विकल्पनखराकुर ॥ ४२ ॥ नम समंतभद्राय महते कविवेधसे । यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना. कुमताद्रय॰ ॥ ४३ ॥

कथारूप अमृतसे केवल गुणोंकाही ग्रहण करें। क्योंकि, गुण ग्रहण करना ही सज्जनोंका मुख्य लक्षण है ॥३७॥ यह कथारूपी समुद्र उत्तम २ उपदेशरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है। सज्जनोंको इस समुद्रमेंसे दोषरूपी मगरमच्छोंको छोड़कर उपदेशरूपी सार वस्तु ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ३८ ॥ पूर्वकालमें अनेक ग्रंथोंके कर्त्ता 'सिद्धसेन' आदि अनेक कवि होगये हैं एक तो वे भी कवि थे एक मैं भी कवि हूं परंतु उनकी मेरी सामानता ऐसी ही है जैसे पद्मरागमणि और काचकी हो ॥ ३९ ॥ अत एव जिनके वचनरूपी दर्पणमें संपूर्ण शास्त्र प्रतिविंवित थे, ऐसे कवियोंको मैं बहुत आदरकी दृष्टिसे देखता हूं। मुझे ऐसे कवियोंसे क्या प्रयोजन है जो स्वयं कवि तो बन बैठे हैं परंतु जिनमें कविपनेकी योग्यता है ही नहीं ॥ ४० ॥ मैं तो ऐसे पुराण रचनेवालोंको यहां नमस्कार करता हूं कि जिनके मुखरूपी कमलमें सरस्वती निरंतर निवास करती है तथा जिनके वचन अन्य कवियोंकेलिये सूत्रधारके सूत्र के समान पथप्रदर्शक होते हैं ॥ ४१ ॥ ऐसे कविसमूहमेंसे प्रथम ही मैं महाकवि सिद्धसेनको स्मरण करता हूं अर्थात् महाकवि सिद्धसेनकी जय हो जोकि परवादीरूपी हाथियोंकेलिये सिंहके समान हैं नैगमादि नय ही जिनके केसर (गर्दनपरके वाल) हैं और अनेकांत ही जिनके तीक्षण नख हैं ॥ ४२ ॥ इनके पश्चात् मैं समंतभद्रस्वामीको नमस्कार करता हूं। ये समंतभद्रस्वामी कवियोंमें आदिकवि अर्थात् मुख्य कवि थे। इनके वचनरूपी वज्रपातसे मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर चूर हो जाते थे। चाहे

कवीनां गमकाना च वादिनां वाग्मिनामपि । यशः सामंतभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥ श्रीदत्ताय नमस्तस्मै तपःश्रीदीप्तमूर्तये । कंठीरवायित येन प्रवादीभप्रभेदने ॥ ४५ ॥ विदुष्विणीषु ससत्सु यस्य नामापि कीर्तितं । निखर्वयति तद्गर्वं यशोभद्र स पातु न. ॥ ४६ ॥ चंद्रांशुशुभ्रयशस प्रभाचंद्रकविं स्तुवे । कृत्वा चद्रोदय येन शश्वदाल्हादितं जगत् ॥ ४७ ॥ चद्रोदयकृतस्तस्य यश· केन न शस्यते । यदाकल्पमनाम्लायि सतां शेखरता गत ॥ ४८ ॥ शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाराध्यचतुष्टय । मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिर्मुनीश्वरः ॥ ४९ ॥

कोई नवीन कविता करनेवाला कवि हो, चाहे वह कवियोंकी कवितामें मर्म शोधनेवाला (टीकाकार) गमक हो, चाहे वह संसारमें जय प्राप्त करनेवाला वादी हो और चाहे मनोरंजक व्याख्यान देनेवाला वाग्मी हो किंतु समंतभद्रस्वामीका यश सबके मस्तकपर मुकुटके समान ही सुशोभित होता है। ॥ ४३-४४ ॥ इनके पश्चात् मैं श्रीदत्तको नमस्कार करता हूं जोकि परवादीरूपी हाथियोंको भेदन करनेकेलिये सिंहके समान हैं तथा तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे अतिशय सुंदर हैं ॥ ४५ ॥ तत्पश्चात् वे यशोभद्र स्वामी हमारी रक्षा करें कि जिनका विद्वानोंकी सभामें नाम मात्र कहदेनेसे संपूर्ण लोगोंका गर्व नष्ट हो जाता है ॥ ४६ ॥ तदनंतर मैं प्रभाचंद्र कविकी स्तुति करता हूं जिनका यश चंद्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है तथा जिन्होंने चंद्रोदय (चंद्रोदय नाम का ग्रंथ) निर्माण कर जगतको अत्यंत आल्हादित किया है। सच पूछिये तो चंद्रोदय सरीखे अति उत्तम नाटक ग्रंथको निर्माण करनेवाले प्रभाचंद्र स्वामीके कल्पांतकालतक टिकनेवाली, सज्जनोंके मुकुटभूत यशकी प्रशंसा कौन नहीं करता ? अर्थात् सब ही करते हैं ॥ ४७ । ४८ ॥ इसीप्रकार शिवकोटि मुनीश्वर भी हमारी रक्षा करें जिनके बचनोंसे प्रगट हुये चारों आराधनारूप मोक्षमार्गको (आराधनासार नामक ग्रंथको) चिंतवन और सेवन करके संसारके जीव सुखी होते हैं ॥४९॥ वे जटाचार्य(सिंहनंदि) भी हमारा सदा रक्षा करें जिनकी जटारूप प्रवल वृत्तियां (टीकायें) काव्योंके चिंतवन करनेमें ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानों हम लोगोंको

काव्यानुचिंतने यस्य जटा प्रबलवृत्तय. । अर्थान्स्मानुवदंतीव जटाचार्य. स नोऽवतात् ॥ ५० ॥ धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः । कथालकारता भेजु' काणभिक्षुर्जयत्यसौ ॥ ५१ ॥ कवीना तीर्थकृद्देव' किं तरां तत्र वर्ण्यते । विदुषां वाङ्मलध्वसि तीर्थं यस्य वचोमयम् ॥५२॥ भट्टाकलकश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणा । विदुषां हृदयारूढा हारायंतेतिनिर्मला. ॥ ५३ ॥ कवित्वस्य परा सीमा वाग्मित्वस्य पर पदम् । गमकत्वस्य पर्यंतो वादिसिहोऽर्च्यते न कै. ॥ ५४ ॥ श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ. । स नः पुनातु पूतात्मा कविवृंदारको मुनिः ॥ ५५ ॥ लोकवित्त्व कवित्व च स्थित भट्टारके द्वयम् । वाङ्मिता वाग्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥ सिद्धातोपनिबंधानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।

उन काव्योंका अर्थ ही बतला रही हों ॥५०॥ तदनंतर वे काणभिक्षु मुनि भी विजयी हो जिनके धर्मरूपी सूत्रोंमें पोये हुये अत्यंत मनोहर वचनरूपी निर्मलमणि कथाको सुशोभित करते हैं ॥ ५१ ॥ इसीप्रकार देवाचार्यका वर्णन भी कौन कर सकता है जोकि कवियोंमें तीर्थंकरके समान थे। अब भी जिनके वचनरूपी तीर्थ विद्वानोंके वाक्यसंबधी संपूर्ण दोषोंको दूर करते हैं ॥५२॥ तथा इनके अतिरिक्त भट्टाकलंक श्रीपाल पात्रकेसरी आदि आचार्योंके निर्मल गुण तो विद्वानोंके हृदयोंको रत्नहारके समान सुशोभित करते हैं ॥५३॥ इसीप्रकार वादिसिंहाचार्य भी किसको पूज्य नहीं जोकि कवि, व्याख्यान देनेवालों और टीकाकारोंमें सर्वोत्कृष्ट थे ॥५४॥ अनंतर वे वीरसेन महाभट्टारक हमें पवित्र करो जिनकी आत्मा स्वयं पवित्र है और जो कवियोंमें अति श्रेष्ठ हैं कवित्व (काव्य) और लोकस्वरूपके उत्तम ज्ञाता हैं जिनकी वाणीके सामने बृहस्पतिकी वाणी भी तुच्छ जान पड़ती है ॥५५-५६॥ जिन्होंने धवलादिक सिद्धांत ग्रंथोंपर अनेक प्रकरणग्रंथ लिखे। ऐसे मेरे गुरुवर्य श्रीवीरसेन भट्टारकके सुकोमल चरणकमल मेरे मनरूपी सरोवरमें सदा निवास करो ॥ ५७ ॥ श्रीवीरसेनगुरुकी वाणी और कीर्ति दोनों ही समान हैं वाणी भी धवल अर्थात् पवित्र है, चंद्रमाके समान निर्मल है और संपूर्ण जगतको पवित्र करनेवाली है और कीर्ति भी धवल अर्थात् शुभ्र है चंद्रमाके समान निर्मल है और संपूर्ण जगतको शुभ्र करनेवाली है ऐसी

मन्मन.सरासि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥ धवलां भारतीं तस्य कीर्त्तिं च विधुनिर्मलाम् । धवलीकृतनिःशेषभुवनां नन्नमीम्यहम् ॥ ५८ ॥ जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्या. श्रुतप्रशमयोर्निधि । जयसेनगुरु पातु बुधवृंदाग्रणी स नः ॥ ५९ ॥ स पूज्य. कविभिर्लोके कवीना परमेश्वर । वागर्थसग्रह कृत्स्न पुराण य समग्रहीत् ॥ ६० ॥ कवयोऽन्येऽपि सत्येव कस्तानुद्देष्टुमप्यलम् । सत्कृता ये जगत्पूज्यास्ते मया मगलार्थिना ॥६१॥ तएव कवयोलोके तएव च विचक्षणा' । येषा धर्मकथागत्व भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥ धर्मानुवधिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते । शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥ केचिन्मिथ्यादृश काव्य ग्रथ्नति श्रुतिपेशलं । तत्त्वधर्मानुवधित्वान्न सता प्रीणनक्षम ॥ ६४ ॥ अव्युत्पन्नतरा केचित्कवित्वाय कृतोद्यमा । प्रयाति हास्यता लोके मूकाइव विवक्षवः ॥ ६५ ॥ केचिदन्यवचोलेशानादाय कविमानिन । छायामारो-

---

श्रीवीरसेनगुरु की वाणी और कीर्त्तिको मैं बारंबार नमस्कार करता हूं ॥ ५८ ॥ तत्पश्चात् वे श्रीजयसेन गुरु भी हमारी रक्षा करो जोकि तपोलक्ष्मीको जन्म देनेवाले अर्थात् मेरे दीक्षागुरु थे, शास्त्र और शांतिके भंडार थे, विद्वानोंमें शिरोमणि थे, कवियोंके परमेश्वर और पूज्य थे, तथा जिन्होंने शब्द और अर्थका समूहरूप संपूर्ण पुराण संग्रह किया था ॥ ५९-६० ॥ इन उपर्युक्त कवियोंके समान और भी अनेक कवि हैं जिनका नाममात्र कहनेको भी कोई समर्थ नहीं है ऐसे जो जो जगतपूज्य कवि हुये हैं उन सबको मैं अपनी मंगलकामनाकेलिये नमस्कार करता हूं ॥ ६१ ॥ जिनकी वाणीमें धर्मकथा भरी हुई है संसारमें वे ही कवि हैं और वे ही चतुर हैं ॥६२॥ कविता भी वही प्रशंसनीय गिनी जाती है जिसमें कि धर्मशास्त्रका वर्णन किया जाता है। जिसमें धर्मशास्त्रका वर्णन नहीं है ऐसी मनोहर कविता भी केवल पापाश्रवकी कारण है ॥६३॥ कितने ही मिथ्यादृष्टी मधुर और मनोहर कविता करते हैं परंतु उसमें धर्मशास्त्रका निरूपण न होनेसे वह कविता सज्जनोंको संतुष्ट नहीं कर सकती ॥ ६४ ॥ तथा संसारमें कितने ही ऐसे भी कवि हैं जिनमें कविता करनेकी शक्ति तो नहीं है किंतु कविता करनेका उद्यम करते ही हैं परंतु ऐसे लोग बोलनेकेलिये उद्यम करनेवाले गूंगेके समान हंसीके पात्र ही

पयत्यन्या वस्त्रेष्विव वणिग्ब्रुवा. ॥ ६६ ॥ संभोक्तुमक्षमाः केचित्सरसां कृतिकामनीम् । सहायान्कामयंतेन्यानकल्पा इव कामुकाः ॥६७॥ केचिदन्यकृतैरर्थैः शब्दैश्च परिवर्तितै । प्रसारयति काव्यार्थान्प्रतिशिष्टेचेव वाणिजाः ॥ ६८ ॥ केचिद्वर्णोज्ज्वलां वाणीं रचयत्यर्थदुर्बलाम् । जातुषी कठिकेवासौ छायामृच्छति नोच्छ्रिखाम् ॥ ६९ ॥ केचिदर्थमपिप्राप्य तद्योगपदयोजनैः । न सता प्रीणनायालं लुब्धा लब्धश्रियो यथा ॥ ७० ॥

होते हैं ॥ ६५ ॥ तथा कितने ही कवि अन्य कवियोंके थोड़ेसे बचनोंको ही लेकर कवि बन बैठते हैं जैसे नाममात्रके नकली दुकानदार दूसरोंके थोड़ेसे कपड़े रखकर दुकानदारी करने लग जाते हैं ॥ ६६ ॥ अन्य कितने ही कवि शृंगारादि रसोंसे रसीली कवितारूपी कामिनीको स्वयं नहीं भोग सकते अर्थात् रसीली कविता नहिं कर सकते अतएव वे अन्य लोगोंकी सहायता चाहते हैं जैसे कामी जन जब स्त्रीसहवास नहीं कर सकते तब औषधादिककी सहायता चाहते हैं ॥ ६७ ॥ कितने ही ऐसे कवि हैं जो दूसरेके काव्योंको कहीं अर्थसे और कहीं शब्दोंसे बदल कर अपने नामसे प्रकाश करदेते हैं। जैसे नीच व्यापारी अधिक मूल्यकी वस्तुमें कम मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेचा करते हैं ॥ ६८ ॥ कोई कोई कवि ऐसी कविता भी किया करते हैं जिसके शब्द बहुत सुंदर होते हैं परंतु अर्थ बिलकुल नहीं होता अथवा होता है तो बहुत थोड़ा। ऐसी कविता भी ऊपरसे सुंदर किंतु अर्थ (सार) रहित लाखकी कंठीके समान सर्वमान्य नहीं होती ॥ ६९ ॥ कितने ही काव्योंका अर्थ मनोरंजक और अलंकार युक्त होता है परंतु उसमें पदयोजना अर्थात् स्थानयोजना अथवा शब्दयोजना अच्छी नहीं होती इसलिये वह भी सज्जनोंको प्रसन्न नहीं कर सकती। जैसे कृपणपुरुष भाग्यसे प्राप्त हुई लक्ष्मीकी यथायोग्य योजना न करनेसे किसीको प्रसन्न नहीं कर सकता ॥ ७० ॥ इसीप्रकार कितने ही कवि किसी काव्यके बनानेका प्रारंभ तो कर देते हैं परंतु अवकाश न मिलनेसे अथवा बुद्धिकी विशदता न होनेसे उसे पूर्ण नहीं कर सकते। अतएव वे ऐसे दुखी होते हैं कि जैसे बड़े कुटुंबवाला किसान अधिक

यथेष्टं प्रकृतारंभा' केचिन्निर्वहणाकुला' । कवयो बत सीदंति कराक्रांतकुटुंबिवत् ॥ ७१ ॥ आप्तपाशमतान्यन्ये कवय' पोषयंत्यलम् । कुकवित्वा-द्वर तेषामकवित्वमुपासितम् ॥ ७२ ॥ अनभ्यस्तमहाविद्याः कलाशास्त्रबहिष्कृताः । काव्यानि कर्तुमीहते केचित्पश्यत साहसम् ॥ ७३ ॥ तस्मादभ्यस्य शास्त्रार्थानुपास्य च महाकवीन् । धर्म्यं शस्य यशस्य च काव्य कुर्वंतु धीधना' ॥ ७४ ॥ परेषा दूषणाज्जातु न विभेति कवीश्वरः । किमुलूकभयाद्धुन्वन् ध्वांतं नोदेति भानुमान्॥ ७५ ॥ परे तुष्यतु वा मा वा कवि. स्वार्थं प्रतीहता । न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेय. सन्मार्गदेशनात् ॥ ७६ ॥ पुराणकवयः केचित्केचिन्नवकवीश्वराः । तेषां मतानि भिन्नानि कस्तदाराधने क्षमः ॥ ७७ ॥ केचित्सौशब्द्यमिच्छंति केचिदर्थस्य

भूमिकर देनेसे दुखी होता है॥ ७१॥ कितने ही कवि कविता तो अच्छी करते हैं परंतु उससे केवल मिथ्यामार्गकी ही पुष्टि करते हैं। ऐसे कवियोंको कविता न करना ही अच्छा है। क्योंकि मिथ्या मार्गकी पुष्टि करके कुकवि कहलानेकी अपेक्षा अकवि कहलाना अच्छा है ॥ ७२॥ कितने ही ऐसे भी हैं जिन्होंने विद्याका अभ्यास किया नहीं कला चतुराई जानते नहीं परंतु काव्य करनेकी इच्छा करते ही हैं। देखो ऐसे लोगोंका कैसा चढ़ा बढ़ा साहस है ? ॥ ७३ ॥ इसलिये उपर्युक्त हास्यास्पद स्थानोंसे बचनेकेलिये बुद्धिमानोंको शास्त्र और अर्थका पूर्ण अभ्यास कर महाकवियों की उपासना कर ऐसा काव्य बनाना चाहिये जो धर्मका उपदेश देनेवाला हो, प्रशंसनीय और यश बढ़ानेवाला हो ॥ ७४॥ काव्य बनाते समय स्मरण रखना चाहिये कि जो उत्तम कवि हैं वे दूसरोंके द्वारा निकाले हुए दोषोंसे कभी नहीं डरते हैं। क्या कभी उलूकके भयसे अंधकारको नाश करनेवाला सूर्य्य उदय नहीं होता ? ॥ ७५ ॥ अन्यजन प्रसन्न हों अथवा न हों कवियोंको केवल अपना प्रयोजन देखना चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठमार्गका उपदेश देनेसे ही कल्याण होता है दूसरोंके प्रसन्न करने से नहीं होता ॥ ७६ ॥ संसारमें कितने ही प्राचीन कवि होगये हैं और कितने ही नवीन हैं तथा सबके भिन्न भिन्न मत हैं। किसीको कोई मत पसंद है और किसी को कोई। ऐसा कोई भी पुरुष नहीं

संपदं। केचित्समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां पदत्वलीं ॥ ७८ ॥ मृदुबंधार्थिनः केचित्स्फुटबंधैषिणः परे। मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिरन्यैव लक्ष्यते॥७९॥ इति भिन्नाभिसधित्वाद्दुराराध्या मनीषिणः । पृथक्जनोपि सूक्तानामनभिज्ञः सुदुर्ग्रहः ॥ ८० ॥ सतीमपि कथा रम्यां दूषयत्येव दुर्जनाः । भुजगा इव सच्छाया चदनद्रुममंजरीं ॥ ८१ सदोषामपि निर्दोषां करोति सुजनः कृतिं । घनात्यय इवापकां सरसीं पकदूषितां ॥ ८२ ॥ दुर्जना दोषमिच्छति गुणमिच्छति सज्जना । स तेषां क्षेत्रजो भावो दुश्चिकित्स्यश्चिरादपि ॥ ८३ ॥ यतो गुणधना संतो दुर्जना दोषवित्तका. । स्व धन

है जो इन सबको एक ही कवितासे प्रसन्न करदे क्योंकि ॥ ७७ ॥ किसीको शब्दोंकी सुंदरता पसंद है किसीको अर्थकी उत्तमता और कोई अधिक समास ही पसंद करते हैं और कोई पदोंका पृथक् पृथक् रहना ही अच्छा समझते हैं। कोई कोई सरल कविता ढूंढते हैं। किसीको ऐसी मध्यम कविता पसंद है जो न बहुत कठिन हो और न बहुत सरल हो। कोई ऐसे हैं जिन्हें उन सबकी अपेक्षा कुछ विलक्षण ही चमत्कार पसंद है ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ कहां तक कहा जाय सब ही बुद्धिमानोंके भिन्न भिन्न मत हैं इसलिये सबको प्रसन्न करना अत्यंत कठिन है । इतनी कठिनता पड़ने पर भी बुद्धिमान प्रायः सब ही प्रसन्न हो सकते हैं परंतु सुभाषित न जाननेवाले मूर्ख पुरुषको प्रसन्न करना अत्यंत ही कठिन है ॥ ८० ॥ तथा दुष्टपुरुष सुंदर और निर्दोष कथाको भी दोष लगादेते हैं। जैसे चंदनके वृक्षपर लगी हुई लताको तथा चंदनकी छायाको सर्प बिगाड़देते हैं ॥ ८१ ॥ किंतु सज्जनोंका स्वभाव इनसे उलटा होता है वे सदोष कविताको भी निर्दोष बना लेते हैं । जैसे शरदऋतु पंकसहित सरोवरको भी निर्मल बना लेता है ॥ ८२ ॥ दोष ग्रहण करना दुर्जनोंका स्वभाव है और गुणग्रहण करना सज्जनोंका स्वभाव है और वह ऐसा है जिसके छूटनेका कोई उपाय ही नहीं है ॥ ८३ ॥ सज्जनोंका धन गुण ही है दुर्जनोंका धन दोष ही है। उन्हें अपना अपना धन ग्रहण करलेनेमें भला कौन विद्वान् बाधक होगा ? ॥ ८४ ॥ अथवा अच्छा ही होगा कि हमारे काव्यके दोष दुर्जनलोग ग्रहण

गृह्णतां तेषां कः प्रत्यर्थी बुधो जनः ॥ ८४ ॥ दोषान् गृह्णतु वा कामं गुणास्तिष्ठंतु न. स्फुटं। गृहीतदोषं यत्काव्यं जायते तद्धि पुष्कलं ॥८५॥ असता दूयते चित्त श्रुत्वा धर्मकथां सतीं । मन्त्रविद्यामिवाकर्ण्य महाग्रहविकारिणा ॥ ८६ ॥ मिथ्यात्वदूषितधियामरुच्य धर्मभेषज । सदप्यसदिवाभाति तेषा पित्तजुषामिव ॥ ८७ ॥ सुभाषितमहामंत्रान्प्रयुक्तान्कविमन्त्रिभि । श्रुत्वा प्रकोपमायाति दुर्ग्रहा इव दुर्जना. ॥ ८८ ॥ चिरप्ररूढदुर्ग्रंथिवेणुमूलसमोऽनृजु. । नर्जू कर्तुं खलः शक्य· श्वपुच्छसदृशोऽथवा ॥ ८९ ॥ सुजन. सुजनीकर्तुमशक्तो यच्चिरादपि । खलः खलीकरोत्येव जगदाशु

करलें और केवल गुण ही गुण रह जांय । क्योंकि जिसके संपूर्ण दोष निकाल लिये जांय ऐसा निर्दोष काव्य बहुत ही उत्तम होजायगा ॥ ८५ ॥ तथा पवित्र धर्मकथाके सुननेसे दुष्टोंका चित्त खिन्न हुआ ही करता है । जैसे मंत्रविद्याको सुनकर भूत पिशाच आदिसे पीड़ित मनुष्यका चित्त दुःखी होता है ॥ ८६ ॥ जिन पुरुषोंकी बुद्धि मिथ्यात्वसे दूषित होती है उन्हें यह धर्मरूप औषधि बुरी जान पड़ती है इतना ही नहीं किंतु और भी अच्छे २ पदार्थ उन्हें सब बुरे जान पड़ते हैं । जैसे पित्तज्वरवाले पुरुषको मीठे पदार्थ सब ही कड़ुवे जान पड़ते हैं ॥ ८७ ॥ कविरूपी मंत्रवादियोंके द्वारा कहे हुये सुभाषितरूप महामंत्रोंको सुनकर दुष्ट पुरुष क्रोधित होते ही हैं । जैसे महामंत्रको सुनकर भूतपिशाचादि क्रोधित होते हैं ॥ ८८ ॥ जैसे बहुत दिनके जमे हुये बांसकी जड़ गांठ गांठपर टेढ़ी होती है और वह जन्मसे ही टेढ़ी होती है उसे कोई सीधी नहीं कर सकता । ठीक इसीप्रकार दुष्टपुरुष भी पदपदपर वक्रता धारण करते हैं उन्हें भी कोई सीधा नहीं कर सकता है । अथवा यों समझलेना चाहिये कि कुत्तेकी पूंछके समान दुष्टपुरुष कभी सीधे नहीं होसकते ॥ ८९ ॥ संसारमें यह भी एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि सज्जन पुरुष अनेक दिनतक प्रयत्न करनेपर भी जगतको अपने समान सज्जन नहीं बना सकते परंतु दुष्ट पुरुष शीघ्र ही सबको दुष्ट बना लेते हैं ॥ ९० ॥ किसीसे इर्षा नहीं करना, सब जीवोंपर दयाभाव तथा गुणोंमें अनुराग रखना ही सज्जनताकी हद्द है और इससे विपरीत

तदद्भुतम् ॥ ९० ॥ सौजन्यस्य पराकोटिरनसूया दयालुता । गुणपक्षानुरागश्च दौर्जन्यस्य विपर्ययः ॥ ९१ ॥ स्वभावमितिनिश्चित्य सुजनस्येतरस्य च । सुजनेष्वनुरागो नो दुर्जनेष्ववधीरणा ॥ ९२ ॥ कवीनां कृतिनिर्वाहे सतो मत्वाऽवलंबनं । कवितांभोधिमुद्वेलं लिलंघयिषुरस्म्यहं ॥ ९३ ॥ कवेर्भावोऽथवा कर्म काव्यं तज्ज्ञैर्निरुच्यते । तत्प्रतीतार्थमग्राम्यं सालंकारमनाकुलं ॥ ९४ ॥ केचिदर्थस्य सौंदर्यमपरे पदसौष्ठवं । वाचामलंक्रियां प्राहुस्तद्द्वयं नो मतं मतं ॥ ९५ ॥ सालंकारमुपारूढरसमुद्भूतसौष्ठवं । अनुच्छिष्टं सतां काव्यं सरस्वत्या मुखायते ॥ ९६ ॥ अस्पृष्टवंधलालित्यमपेतं रसवत्तया । न तत्काव्यमिति ग्राम्यं केवलं कटु कर्णयोः ९७॥ सुश्लिष्टपदविन्यासं प्रबंधं रचयंति ये । श्रव्यबंधं प्रसन्नार्थं ते महाकवयो मताः ॥९८॥

सबसे ईर्षा करना निर्दयी होना तथा गुणोंमें अनुराग न करना दुर्जनताकी हद है। सज्जनता करना सज्जनोंका स्वभाव है और दुर्जनता करना दुर्जनों का स्वभाव है ऐसी अवस्थामें सज्जनोंसे अनुराग रखनेमें कोई लाभ नहीं और दुष्टोंको धिक्कार देनेसे भी कोई लाभ नहीं ॥९१-९२॥ कवियोंके कर्त्तव्यको पूरा करनेकेलिये मैं सज्जन पुरुषोंका (पूर्वकवियोंका) सहारा लेकर अनेक अलंकाररूप लहरोंसे भरे हुये इस कवितारूप समुद्रके पार होना चाहता हूं ॥९३॥ कविता जाननेवाले विद्वान पुरुष कविके अभिप्रायको अथवा कविकी कृतिको काव्य कहते हैं । वह काव्य ऐसा होना चाहिये जिसमें सर्वसम्मत प्रसिद्ध अर्थ हो, शब्द अर्थ ग्रामीण न हों, तथा अलंकारसहित और प्रसादगुणयुक्त हो॥ ९४॥ कोई कोई कवि अर्थकी सुंदरताको ही वाणीका अलंकार मानते हैं और कितने ही कवि पदोंकी सुंदरताको । किंतु हमारा मत है कि पद और अर्थ दोनोंकी सुंदरता ही वाणीका अलंकार है ॥ ९५ ॥ सज्जनोंका बनाया हुआ जो काव्य अलंकारसहित, रसीला, सज्जनोंके चित्तको आनंद देनेवाला और उच्छिष्टरहित (विना चुराया) हो । वह काव्य सरस्वतीके मुखके समान सबको संतोषजनक होता है ॥ ९६ ॥ जिस काव्यमें न तो पदलालित्य है न जिसकी रचना ही अच्छी है और न जिसमें कोई रस ही है उसे काव्य नहीं कहना चाहिये । वह केवल कर्णकटु ग्रामीण भाषा कही जा सकती है ॥ ९७ ॥ जिन काव्योंकी पदरचना

महापुराणसंबंधि महानायकगोचरं । त्रिवर्गफलसदर्भं महाकाव्यं तदिष्यते ॥९९॥ निस्वनन्कतिचिच्छ्लोकान्सर्वोपि कुरुते कवि । पूर्वापरार्थघटने प्रवधो 'दुष्करो मत' ॥१००॥ शब्दराशिरपर्यंत' स्वाधीनोर्थ' स्फुटाः रसा । सुलभाश्च प्रविच्छदा कवित्वे का दरिद्रता ॥ १०१ ॥ प्रयान्महति वाङ्मार्गे खिन्नोऽर्थगहनाटनै । महाकवितरुच्छायां विश्रामायाश्रयेत्कवि' ॥ १०२ ॥ प्रज्ञामूलेगुणोदग्रस्कधो वाक्पल्लवोज्ज्वल. । महाकवितरुर्धत्ते यश' कुसुममजरीं ॥ १०३ ॥ प्रज्ञावेल प्रसादोर्मिर्गुणरत्नपरिग्रह. । महाध्वानः पृथुश्रोता कविरंभोनिधीयत ॥१०४॥ यथोक्तमुपयुंजीध्वं बुधा.

अनेक अर्थोंको सूचित करनेवाली है जो सुननेमें अतिशय मधुर हैं और जिनका अर्थ सर्वथा स्पष्ट है ऐसे काव्योंके बनानेवाले कविगण महाकवि कहलाते हैं ॥ ९८ ॥ महाकाव्य उसे कहते हैं जिसमें प्राचीनकालका कुछ इतिहास हो, तीर्थंकर आदि वड़े वडे पुरुषोंका चरित्र हो और धर्म अर्थ काम इनका फल दिखलाया गया हो ॥ ९९ ॥ कोई एक विषय लेकर थोड़ेसे श्लोक वना लेना सहज है इसे हर कोई कवि कर सकता है परंतु पूर्वापर संवंध मिलाकर सुवोध निवंध लिखना अति कठिन है ॥ १०० ॥ इस संसारमें अनंतानंत शब्द हैं, इच्छानुसार सवका अर्थ होता है, शृंगारादि रस सव प्रसिद्ध हैं और छंद सव सहज हैं फिर भी कविता करनेमें दरिद्रता किस वातकी? अर्थात् इच्छानुसार सव सामग्री होनेपर भी क्यों न अच्छी कविता की जाय ॥ १०१ ॥ जो कवि इस विशाल शब्दमार्गमें जा रहा है और अर्थरूपी वनमें इधर उधर घूमनेसे अतिशय खिन्न होगया है उसे विश्राम लेनेकेलिये महाकविरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेना चाहिये ॥ १०२ ॥ प्रतिभारूप वुद्धि ही जिस महाकवि-रूप वृक्षकी जड़ है, औदारिक आदि गुण ही जिसकी शाखा हैं और उत्तम वाक्य ही जिसके उज्वल पत्ते हैं ऐसा यह महाकविरूपी वृक्ष यशरूपी पुष्पमंजरीको धारण करता है ॥ १०३ ॥ अथवा वुद्धि ही जिसके किनारे हैं, उपमा आदि अलंकार ही जिसकी लहरें हैं, जो गुणरूपी रत्नोंसे भरा हुआ है, उच्च और मिष्ट शब्दोंसे गरज रहा है तथा जिसमें गुरु परंपरारूप महाप्रवाह चला आरहा है। ऐसा

काव्यरसायन । येन कल्पांतरस्थायि वपुर्वः स्याद्यशोमयं ॥ १०५ ॥ यशोधनं चिचीर्षूणां पुण्यपण्यं पणायिना । परं मूल्यमिहाम्नातं काव्यं धर्मकथामय ॥ १०६ ॥ इदमध्यवसायाह कथां धर्मानुबंधिनीं । प्रस्तुवे प्रस्तुता सद्भिर्महापुरुषगोचरा ॥ १०७॥ विस्तीर्णानेकशाखाढ्या सच्छाया फलशालिनीं । आर्यैर्निषेविता रम्या सतीं कल्पलतामिव ॥ १०८ ॥ प्रसन्नामतिगम्भीरा निर्मलां सुखशीतला । निर्वापितजगत्तापा महतीं सरसीमिव ॥ १०९ ॥ गुरुप्रवाहसंभूतिमपंका तापविच्छिदां । कृतावतारा कृतिभि पुण्या व्योमापगामिव ॥ ११० ॥ चेत. प्रसादजननीं कृतमंगलसंग्रहां ।

यह महाकवि वास्तवमें एक अगाध महासागरके समान है ॥ १०४ ॥ स्वामी जिनसेनाचार्य्य विद्वानोंसे अनुरोधपूर्वक कहते हैं कि तुमलोग ऊपर कहे अनुसार काव्यरूपी रसायनका उपयोग करो ऐसा करनेसे तुम्हारा यह यशरूपी शरीर कल्पांतकाल पर्यंत टिका रहैगा ॥ १०५ ॥ जो पुरुष यशरूपी धन कमाना चाहते हैं और पुण्यरूप पदार्थोंकी दुकान खोलना चाहते हैं उनकेलिये धर्मकथाको निरूपण करनेवाले काव्यरूप मूलधनकी बहुत भारी आवश्यकता है । यही समझकर मैं यह ऐसी धर्मकथा प्रारंभ करता हूं कि जो गणधरादि अनेक सज्जनपुरुषोंने कही है और जिसमें वृषभादि अनेक महापुरुषोंका वर्णन है ॥ १०६ ॥ १०७ ॥ अनेक बड़ी बड़ी कथारूप शाखाओंसे सुशोभित, अनेक जीवोंको सुख देनेवाली छाया सहित, स्वर्गादि अनेक फल देनेवाली, आर्यपुरुषोंके सेवन करने योग्य अतिशय सुंदर और उत्तम होनेसे यह धर्मकथा ठीक कल्पलताके समान है ॥ १०८ ॥ अथवा स्वच्छ, अतिशय गंभीर निर्मल, सुशीतल और जगतके सपूर्ण संताप दूर करनेवाली होनेसे किसी बड़े सरोवरके समान भी है ॥ १०९ ॥ अथवा जिसका गुरुपरंपरारूप प्रवाह चला आ रहा है, जो दोष रूपी कीचड़से रहित है, जन्ममरणरूप संतापको दूर करनेवाली है गणधरादि पुण्यपुरुषोंके द्वारा जिसका अवतार हुआ है तथा जो स्वयं पुण्यरूप है ऐसी यह धर्मकथा आकाशगंगाके भी समान सुशोभित है ॥ ११० ॥ अथवा चित्तको प्रसन्न करनेवाली है, सब प्रकारके मंगल करनेवाली है, संपूर्ण जगत जिसमें

क्रोडीकृतजगद्बिंबा हसंती दर्पणश्रियं ॥ १११ ॥ कल्पांघ्रिपादिवोत्तुंगादभीष्टफलदायिनः । महाशाखामिवोदग्रां श्रुतस्कंधादुपाहृतां ॥ ११२ ॥ प्रथमस्यानुयोगस्य गंभीरस्योदधेरिव । वेलामिव महाध्वानां प्रसृतार्थमहाजला ॥ ११३ ॥ आक्षिप्ताशेषतत्त्वार्थां विक्षिप्तपरशासनां । सतां संवेगजननीं निर्वेदरसबृंहिणीं ॥ ११४ ॥ अद्भुतार्थामिमां दिव्या परमार्था बृहत्कथा । लभैरनेकैः सद्गंधा गुणाढ्यैः पूर्वसूरिभि ॥ ११५ ॥ यश.श्रेयस्करीं पुण्या भुक्तिमुक्तिफलप्रदा पूर्वानुपूर्वामाश्रित्य वक्ष्ये श्रणुत सज्जना ॥ ११६ ॥ **नवभिः कुलकम्** । कथाकथकयोरत्र श्रोतॄणामपि लक्षणं । व्यावर्णनीय प्रागेव कथारंभे मनीषिभि ॥ ११७ ॥ पुरुषार्थोपियोगित्वात्त्रिवर्गकथन कथा । तत्रापि सत्कथा धर्म्यामामनति मनीषिण ॥ ११८ ॥

प्रतिबिंबित हो रहा है ऐसी यह धर्मकथा दर्पणकी शोभाकी भी हंसी उड़ाती हुई सुशोभित हो रही है ॥ १११ ॥ अथवा इच्छानुसार फल देनेवाले, अतिशय उन्नत ऐसे श्रुतस्कंधरूपी कल्पवृक्षकी बड़ी शाखाके समान सुशोभित हो रही है ॥ ११२ ॥ अथवा यों कहिये कि यह धर्मकथा प्रथमानुयोगरूप गंभीर समुद्रका किनारा ही है जोकि अनेक गंभीर शब्दोंसे शोभायमान है और अर्थरूपी महाजल जिसपर चारोंओर फैला हुआ है ॥ ११३ ॥ इसके अतिरिक्त यह धर्म्मकथा स्वर्गमोक्षादिके संपूर्ण उपाय निरूपण करनेवाली है, मिथ्यामतोंका खंडन करनेवाली है, सज्जनोंके लिये संवेग उत्पन्न करनेवाली है और वैराग्यरूप परमरसको बढ़ानेवाली है ॥ ११४ ॥ जिसमें अनेक अद्भुत अर्थ भरे हुये हैं जो स्वर्गादिको देनेवाली है परमार्थभूत अनेक कथाओंसे सुशोभित है अनेक गुणवान बुद्धिमान् पूर्वाचार्य्योंने जिसकी रचना की है जो यश बढ़ानेवाली है अनेक प्रकारके कल्याण करनेवाली है पुण्य बढ़ानेवाली है स्वर्गमोक्षरूप उत्तम फल देनेवाली है, ऐसी इस धर्मकथाको मैं जिनसेनाचार्य पूर्वाचार्योंके वचनोंके अनुसार कहूंगा । सो सज्जन पुरुषोंको ध्यान देकर सुनना चाहिये ॥ ११५-११६ ॥ बुद्धिमानोंको कथा प्रारंभ करनेके पहले कथा, वक्ता और श्रोताओंके लक्षण अवश्य कहने चाहिये । इस कारण इनका स्वरूप कहा जाता है ॥ ११७ ॥ मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी धर्म अर्थ और कामकी

तत्फलाभ्युदयांगत्वादर्थकामकथा कथा । अन्यथा विकथैवासावपुण्यास्रवकारिणी ॥ ११९ ॥ यतोऽभ्युदयनि श्रेयसार्थसंसिद्धिरंजसा । सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता ॥ १२० ॥ प्राहुर्धर्मकथांगानि सप्त सप्तर्द्धिभूषणाः । यैर्भूषिता कथाऽऽहार्यैर्नटीव रसिका भवेत् ॥ १२१ ॥ द्रव्य क्षेत्र तथा तीर्थं कालो भावः फलं महत् । प्रकृत चेत्यमून्याहु. सप्तांगानि कथामुखे॥ १२२ ॥ द्रव्य जीवादि षोढा स्यात्क्षेत्र त्रिभुवनस्थितिः। जिनेंद्रचरितं तीर्थं कालस्त्रेधा प्रकीर्त्तितः ॥१२३॥ प्रकृतं स्यात्कथावस्तु फल तत्त्वावबोधन। भाव. क्षयोपशमजस्तस्य स्यात्क्षायिकोऽथवा ॥१२४॥

कथा कहना ही वास्तवमें कथा कहलाती है और उसमें भी जिसमें धर्मका निरूपण किया जाता है उसे बुद्धिमानलोग सत्कथा कहते हैं ॥ ११८ ॥ धर्मके फलस्वरूप जो जो अभ्युदय प्राप्त होते हैं उनमें अर्थ और काम भी मुख्य हैं इसलिये धर्मपूर्वक इन दोनोंकी कथा कहना कथा कहलाती है । जो अर्थकथा तथा कामकथा धर्मसे रहित है वह कथा नहीं किंतु विकथा कहलाती है उससे केवल पापका ही आश्रव होता है ॥ ११९ ॥ जिससे जीवोंको शीघ्र ही स्वर्ग मोक्षादिकी सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं और जिस कथामें उपर्युक्त धर्मका संबंध (वर्णन) रहता है उसे ही सद्धर्मकथा कहते हैं ॥ १२० ॥ सप्त ऋद्धियोंके धारक गणधरदेवने इस धर्म्मकथाके सात अंग निरूपण किये हैं। जैसे अंग उपांग अलंकार आदिसे विभूषित नटी सुशोभित होती है ठीक उसीप्रकार यह धर्मकथा भी इन सात अंगोंसे सुशोभित होती है ॥ १२१ ॥ वे अंग ये हैं—द्रव्य १, क्षेत्र २, तीर्थ ३, काल ४, भाव ५, महाफल ६, और प्रकृत ७ । ये सात अंग कथाके प्रारंभमें अवश्य होने चाहिये ॥ १२२ ॥ जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल यह छह प्रकारका द्रव्य है । उद्र्ध्व अधो और मध्यकी रचनारूप यह लोकाकाश क्षेत्र है । जिनेंद्रदेवका चरित्र ही तीर्थ है । भूत भविष्यत वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका काल है । क्षायोपशमिक तथा क्षायिक ये दो प्रकारके भाव कहलाते हैं। तत्त्वज्ञानका होना ही महाफल है और कथाकी सत्यताको प्रकृत कहते हैं ॥१२३-१२४॥ इसप्रकार कथाके ये सात अंग कहे जाते हैं।

इत्यमूनि कथांगानि यत्र सा सत्कथा मता । यथावसरमेवैषा प्रपञ्चो दर्शयिष्यते ॥१२५॥ तस्यास्तुकथक· सूरिः सद्वृत्तः स्थिरधीर्वशी । कल्येंद्रिय प्रशस्ताग स्पष्टमृष्टेष्टगीर्गुण· ॥१२६॥ यः सर्वज्ञमताम्भोधिवार्धौतविमलाशय । अशेषवाङ्मलापायादुज्ज्वला यस्य भारती ॥१२७॥ श्रीमाञ्जितसभो वाग्मी प्रगल्भ· प्रतिभानवान् । य· सता संमतव्याख्यो वाग्विमर्दभरक्षम· ॥ १२८ ॥ दयालुर्वत्सलो धीमान्परेंगितविशारदः । योऽधीती विश्वविद्यासु स धीर· कथयेत्कथा ॥१२९॥ नानोपाख्यानकुशलो नानाभाषाविशारदः । नानाशास्त्रकलाभिज्ञ· स भवेत्कथकाग्रणी· ॥१३०॥ नागुली

जिसमें ये सातों अंग रहते हैं वही सत्कथा कहलाती है । समयानुसार हम इस ग्रंथमें इन सातों अंगोंका विस्तारसे वर्णन करेंगे ॥ १२५ ॥ अब आचार्य महाराज वक्ताका लक्षण कहते हैं—इस उपर्युक्त कथा का कहनेवाला आचार्य सदाचारी हो, स्थिरबुद्धि और जितेंद्रिय हो, जिसकी इंद्रियें सब समर्थ हों, जिसके अंग सुडौल सुंदर हों, जिसके वचन स्पष्ट मीठे और सबको प्रिय हों, जिसके परिणाम सर्वज्ञ वीतरागप्रणीत आगमरूपी समुद्रके जलसे धुले हुए अतिशय निर्मल हों, जिसकी वाणी निर्दोष और उज्ज्वल हो, जो तेजस्वी और अनेक सभाओंको जीतनेवाला हो, जो श्रेष्ठ वक्ता और गंभीर हो, प्रत्येक विषयमें जिसकी बुद्धि प्रवेश कर सकती हो, जो सत्पुरुषोंके योग्य व्याख्यान देनेवाला हो, अनेक प्रश्न तथा अनेक तर्क कुतर्कोंको सहन करनेवाला हो और दयालु, सबपर प्रेम रखनेवाला, बुद्धिमान् थोड़ेसे इशारे या चेष्टासे ही दूसरोंके हृदयके संपूर्ण भाव समझनेवाला हो, जो संपूर्ण विद्याओंमें निपुण और धीरवीर हो ऐसा पुरुष ही कथा कहने योग्य गिना जाता है ॥ १२६ । १२७ । १२८ । १२९ ॥ इसके सिवाय जो अनेकप्रकारके उपदेशोंपर अनेकप्रकारकी कथायें कहनेमें कुशल है जो प्राकृत संस्कृत आदि अनेक भाषाओंमें निपुण है तथा जो अनेक शास्त्र और अनेक कलाओंको जानता है वही उत्तम वक्ता गिना जाता है ॥ १३० ॥ प्रत्येक वक्ताको उचित है कि वह व्याख्यान देते समय न तो चुटकी बजावे न भौंह चलावे, न किसीपर आक्षेप करे, न हंसे, न जोरसे बोले, और न बहुत धीरे बोले ॥१३१॥

भंजनं कुर्यान्न भ्रुवौ नर्तयेद्ब्रुवन् । नाधिक्षिपेन्न च हसेन्नात्युच्चैर्न शनैर्वदेत् ॥१३१॥ उच्चैः प्रभाषितव्यं स्यात्सभामध्ये कदाचन । तत्राप्यनुद्धतं ब्रूयाद्वच सत्यमनाकुल ॥ १३२ ॥ हित ब्रूयान्मित ब्रूयाद्ब्रूयाद्धर्म्यं यशस्करं । प्रसगादपि न ब्रूयादधर्म्यमयशस्करं ॥ १३३ ॥ इत्यालोच्य कथा युक्तिमयुक्तिपरिहारिणीं । प्रस्तूयाद. कथावस्तु स शास्ता वदता वरः ॥ १३४ ॥ आक्षेपिणीं कथां कुर्यात्प्राज्ञ स्वमतसग्रहे । विक्षेपिणीं कथा तज्ज्ञः कुर्याद्दुर्मतनिग्रहे ॥ १३५ ॥ संवेदिनीं कथा पुण्यां फलसपत्प्रपचने । निर्वेदिनीं कथा कुर्याद्वैराग्यजनन प्रति ॥ १३६ ॥ इति धर्मकथांगत्वादर्थाक्षिप्तां चतुष्टयीं । कथा यथार्हं श्रोतृभ्यः कथक. प्रतिपादयेत् ॥ १३७ ॥ धर्मश्रुतौ नियुक्ता ये श्रोतारस्ते मता बुधैः । तेषा च सदसद्भावव्य-

कदाचित् किसी सभामें जोरसे बोलनेका काम पड़जाय तो भी सभ्यताके साथ उद्धतपना छोड़कर इस प्रकार व्याख्यान दे कि जो किसीको बुरा न लगे ॥ १३२ ॥ वह सद्वक्ता सदा ऐसा व्याख्यान दे जो हित-रूप हो, थोड़ा हो, धर्मका निरूपण करनेवाला और यश बढ़ानेवाला हो । चाहे जैसा प्रसंग क्यों न आ जाय उसे अधर्मका निरूपण करनेवाला और अपयश उत्पन्न करनेवाला व्याख्यान कभी नहीं देना चाहिये ॥ १३३ ॥ इसप्रकार संपूर्ण अयुक्तियोंको दूर करनेवाली कथाकी युक्तियोंपर विचार कर जो विद्वान् कथामें कहनेयोग्य विषयको कहता है वह वक्ताओंमें प्रशंसनीय वक्ता गिना जाता है ॥१३४॥ जहां केवल अपना मत स्थापन करना है वहां बुद्धिमानोंको आक्षेपिणी कथा कहना चाहिये । जहां मिथ्या मतोंका खंडन करना है वहां विक्षेपिणी, जहां पुण्यका फल विभूति आदि दिखाना है वहां संवेदिनी और जहां केवल वैराग्य दिखलाना है वहां निर्वेदिनी कथा कहना चाहिये ॥१३५-१३६॥ इसप्रकार आक्षेपिणी विक्षेपिणी संवेदिनी और निर्वेदिनी ये चार कथाके अंग हैं उपदेश देनेवाले वक्ताको उचित है कि वह श्रोताओंकी योग्यता देखकर यथायोग्य चारों कथाओंका उपदेश दे ॥ १३७ ॥ अब आचार्य श्रोताओंका लक्षण कहते हैं । जो सदा धर्मश्रवण करते रहते हैं उन्हें श्रोता कहते हैं कोई श्रोता अच्छे होते हैं और कोई बुरे होते हैं उन सबके अच्छे बुरे भाव जाननेकेलिये नीचे लिखे दृष्टांत समझलेना चाहिये ॥१३८॥ मिट्टी, चालनी, बकरी, बिल्ली, तोता,

क्त्यै दृष्टांतकल्पना ॥ १३८ ॥ मृच्चालिन्यजमार्जारशुककंकशिलाहिभिः । गोहंसमहिषच्छिद्रघटदंशजलौककैः ॥ १३९ ॥ श्रोतारः समभावाः स्युरुत्तमाऽधममध्यमाः । अन्यादृशोपि सत्येव तत्किं तेषामियत्तया ॥ १४० ॥ गोहंससदृशान्प्राहुरुत्तमान्मृच्छुकोपमान् । मध्यमान्विदुरन्यैश्च समकक्ष्योऽधमो मतः ॥ १४१ ॥ तथाद्यन्द्वतुलादडनिकषोपलसन्निभाः । श्रोतारः सत्कथारत्नपरीक्षाव्यक्तका मताः ॥ १४२ ॥ श्रोता न चैहिकं किंचित्फल वाञ्छेत्कथाश्रुतौ । नेच्छेद्वक्ता च सत्कारधनभेषजसश्रयान् ॥ १४३ ॥ श्रेयोऽर्थं केवल ब्रूयात्सन्मार्गं शृणुयाच्च वै । श्रेयोऽर्था

वगुला, पत्थर, सर्प, गाय, हंस, भैंसा, फूटाघड़ा, डांस और जोंक। इसतरह चौदहप्रकारके श्रोता होते हैं। जिनके परिणाम शास्त्र श्रवण करते समय कोमल हो जांय परंतु फिर सदा कठिन ही रहें वे मिट्टीके समान हैं। जो गुणोंको सर्वथा छोड़ कर अवगुण ग्रहण करें वे चालनीके ममान हैं। अतिशय कामी हैं वे बकरेके समान हैं। जो दुष्ट और घातक हैं वे विल्लीके समान हैं। जो स्वयं अज्ञानी हैं केवल दूसरेके कहे अनुसार चलते हैं वे तोतेके समान हैं जो बाहरसे अच्छे भद्र परिणामी दिखें परंतु जिनका अंतरंग अतिशय मलिन हो, वे वगुला के समान हैं। जिनके परिणाम सदा कठोर रहते हैं जिनके हृदयमें जिनवाणी कभी प्रवेश नहीं कर सकती उन्हें पत्थरके समान समझना चाहिये। जिनको अमृत पिलायाजाय और विष हो जाय अर्थात् जो सारको असार और सीधेको उलटा समझें वे सर्पके समान हैं। जो तृण खाकर दूध दें अर्थात् थोड़ा सुनकर जिन्हें वहुतसा ज्ञान हो जाय वे गायके समान हैं। जो केवल सारपदार्थोंका ग्रहण करें वे हंसके समान हैं। जो व्याख्यानमें उपद्रव करें वे भैंसाके समान हैं। जिनके हृदयमें कोई उपदेश न ठहरे वे फूटे घड़ेके समान हैं। जो सभाको व्याकुल कर दें वे डांसके समान हैं और जो गुणोंको छोड़कर केवल अवगुण ग्रहण करें वे जोंकके समान हैं। इन उपर्युक्त श्रोताओंके संक्षेपसे उत्तम मध्यम और जघन्य ये तीन भेद होते हैं। इनके सिवाय और भी अनेक प्रकारके श्रोता हैं परंतु उन सबकी गिनती गिननेसे क्या प्रयोजन ॥ १३९-१४० ॥ इन श्रोताओंमें जो गाय और हंसके समान हैं वे उत्तम श्रोता गिने जाते हैं जो मिट्टी और तोतेके समान हैं वे मध्यम गिने जाते हैं और शेष

हि सतां चेष्टा न लोकपरिपंक्तये ॥ १४४ ॥ श्रोता शुश्रूषताद्यैः स्वैर्गुणैर्युक्तः प्रशस्यते । वक्ता च वत्सलत्वादियथोक्तगुणभूषणः ॥ १४५ ॥ शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । स्मृत्यूहापोहनिर्णीतीः श्रोतुरष्टौ गुणान् विदुः ॥ १४६ ॥ सत्कथाश्रवणात्पुण्यं श्रोतुर्यदुपचीयते । तेनाऽभ्युदयससिद्धिः क्रमान्नैश्रेयसी स्थितिः ॥१४७॥ इत्याप्तोक्तयनुसारेण कथितं व कथामुखं। कथावतारसबंधं वक्ष्यामः शृणुताधुना ॥ १४८॥

सब अधम श्रोता माने जाते हैं ॥ १४१ ॥ इनके सिवाय जो श्रोता नेत्र तराजू दर्पण और कसौटीके समान गुणदोष बतलानेवाले समालोचक हैं, वे इस कथारूपी रत्नके परीक्षक कहे जाते हैं ॥ १४२ ॥ श्रोताओंको उचित है कि वे शास्त्र सुननेके बदले इस लोकसंबंधी किसी सुखकी चाह न करें। इसीप्रकार वक्ताओंको भी चाहिये कि वे सुननेवालोंसे किसीप्रकारका सत्कार, धन, औषध और आश्रय आदिकी इच्छा न करें ॥ १४३ ॥ किंतु केवल स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होनेके लिये वक्ता सन्मार्गका उपदेश दे और श्रोता उसे सुने क्योंकि सज्जन पुरुषोंके आचरण केवल अपना और दूसरोंका कल्याण करनेके लिये होते हैं लोगोंके लिये नहीं॥१४४॥ इस संसारमें श्रोता वेही प्रशंसनीय हैं जिनमें शुश्रूषा आदि गुण पाये जांय तथा वक्ता वे प्रशंसनीय हैं जिनमें वात्सल्य आदि ऊपर कहेहुये संपूर्ण गुण पाये जांय ॥ १४५ ॥ शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, स्मृति, ऊह, अपोह और निर्णीति ये श्रोताओंके आठ गुण कहे हैं। सुननेकी इच्छा करना सो शुश्रुषा गुण है। सुनना सो श्रवण गुण है। समझकर ग्रहण करना सो ग्रहण गुण है। ग्रहण कियेहुयेका संसर्ग रहना सो धारण गुण है। सदा स्मरण रखना स्मृति गुण है। स्मरण किये हुये पदार्थोंमें न्यूनाधिकताका विचार करना ऊह गुण है। हेय पदार्थोंका त्याग करना अपोह गुण है और पदार्थोंका अथवा सुनेहुये किसी विषयका निर्णय करना सो निर्णीतिगुण है ॥ १४६ ॥ श्रोताओंको इस उत्तम कथाके सुननेसे जो पुण्य प्राप्त होता है उससे प्रथम ही उन्हें इंद्र चक्रवर्ती आदि सांसारिक उत्तम सुख प्राप्त होते हैं और फिर क्रमसे मोक्षरूप परम निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ॥ १४७ ॥ इसप्रकार अवतक जो कुछ कहा गया है वह शास्त्रानुसार कथाका प्रारंभ

इत्यनुश्रूयते देव पुरा कल्पे स नाभिज । अध्युवास भुवो मौलिं कैलासाद्रिं यदृच्छया ॥१४९॥ तत्रासीनं च तं देवाः परिचेरु सपर्यया । तुष्टु वुश्च किरीटाग्रसदष्टकरकुड्मला ॥ १५० ॥ सभाविरचना तत्र सुत्रामा त्रिजगद्गुरो । प्रीत प्रवर्तयामास प्राप्तकैवल्यसपद. ॥ १५१ ॥ तत्र देवसभे देव स्थितमत्यद्भुतस्थितिम् । प्रणनाम मुदाभ्येत्य भरतो भक्तिनिर्भर. ॥ १५२ ॥ स तं स्तुतिभिरर्थ्याभिरभ्यर्च्य नृसुरार्चितम् । यथोचित सभास्थानमध्यास्त विनयानत.॥ १५३ ॥ सभा सभासुरसुरा पीत्वा धर्मामृत विभो । पिप्रिये पद्मिनीवोद्यदंशुजालमल रवे ॥ १५४ ॥

है। अव इस कथाके कहनेका संवंध कहते हैं, सो सुनिये ॥ १४८ ॥ गुरुपरंपरासे यह वात सुनते आये हैं कि इस गत चतुर्थकालके प्रारंभमें महाराज नाभिरायके सुपुत्र श्रीवृपभनाथ प्रथम तीर्थकर इच्छानुसार विहार करते हुये इस पृथिवीके मुकुटभूत कैलाशपर्वतपर आ विराजमान हुये ॥ १४९ ॥ उस समय भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी इन चारों प्रकारके देवोंने जल गंधाक्षतादि अष्ट द्रव्योंसे उन भगवान श्रीवृषभनाथकी पूजा की और हाथ जोड़ मस्तकपर रखकर अनेकप्रकारसे उनकी स्तुति की ॥ १५० ॥ जव उन त्रिजगद्गुरु भगवानको केवलज्ञान प्राप्त हुआ उस समय इंद्रने अतिशय हर्षित और प्रसन्न होकर समवसरण सभाकी रचना कराई ॥ १५१ ॥ जव भगवान वृपभतीर्थ-कर अनंतचतुष्टय अष्ट प्रातिहार्य और चौंतीस अतिशय इन आश्चर्यकारक विभूतियोंके साथ उस सभामें विराजमान थे उस समय गाढ़ भक्तिमें डूवे हुये महाराज भरत वड़े हर्षके साथ आये और भगवानको वारंवार नमस्कार किया ॥ १५२ ॥ महाराज भरतने स्वर्गमोक्षके देनेवाले अनेक स्तोत्रोंसे, देवमनुष्यों द्वारा पूजित उन वृपभनाथ तीर्थंकरकी पूजा की और वे वड़ी नम्रताके साथ उसी सभामें अपने योग्य स्थानपर जा वैठें ॥ १५३ ॥ वह देदीप्यमान मनुष्यदेवोंकी सभा भगवान वृपभनाथसे धर्म रूपी अमृत का पान कर अतिशय संतुष्ट हुई । जैसे सूर्यका तेज किरणोंको देखकर कमलिनी प्रफुल्लित होती है ॥ १५४ ॥ इसके अनंतर शरीरधारण कियेहुये विनयके समान महाराज भरत हाथ जोड़कर सभामें खड़े हो

मध्ये सभमथोत्थाय भरतो रचितांजलिः । व्यजिज्ञपदिदं वाक्यं प्रश्रयो मूर्तिमानिव ॥ १५५ ॥ ब्रुवतोऽस्य मुखाभोजाल्लसद्दंताशुकेसरात् । निर्ययौ मधुरा वाणी प्रसन्नेव सरस्वती ॥ १५६ ॥ त्वत्त प्रबोधमायांती सभेयं ससुरासुरा । प्रफुल्लवदनांभोजा व्यक्तमंभोजिनीयते ॥ १५७ ॥ तम·प्रलयलीनस्य जगत. सर्जन प्रति । त्वयामृतामिवासिक्तमिदमालक्ष्यते वच. ॥ १५८ ॥ नोदभास्वन् यदि ध्वातविच्छिदस्त्वद्वचोंशव· । तमस्यधे जगत्कृत्स्नमपतिष्यदिदं ध्रुवम् ॥१५९॥ युष्मत्सदर्शनादेव देवाभून्मे कृतार्थता। कस्य वा न कृतार्थत्व सन्निधौ महतो निधेः ॥१६०॥ श्रुत्वा पुनर्भवद्वाच कृतार्थतरकोऽस्म्यहम् । दृष्ट्वामृतं कृती लोकः किं पुनस्तद्रसोपभुक् ॥ १६१ ॥ इष्ट एव किलारण्ये वृष्टो देव इति श्रुति । स्पष्टी

कर नीचे लिखी प्रार्थना करने लगे ॥ १५५ ॥ महाराज भरत जिस समय प्रार्थना करते थे उस समय उनके दांतोंकी किरणरूपी केसरसे शोभायमान उनके मुखरूपी कमलसे निकलते हुये मधुर शब्द ऐसे शोभायमान होते थे मानो उनके मुखरूपी कमलसे प्रसन्न होकर सरस्वती ही निकल रही हो ॥१५६॥ भरत प्रार्थना करने लगे—हे जिनेंद्र यह देव और मनुष्योंकी सभा आपके निमित्तसे मोहरूपी निद्रासे प्रबोध को प्राप्त हुई है । इस समय इसका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है । मानो यह सभा साक्षात् कमलिनीके समान शोभायमान हो रही है ॥ १५७ ॥ हे भगवन् यह जगत अज्ञानांधकाररूपी प्रलयमें पड़ा हुआ नष्ट होरहा था इसके पुनरुद्धार करनेकेलिये आपके उपदेशरूपी बचन सींचे हुये अमृतके समान शोभायमान हो रहे हैं ॥ १५८॥ हे देव यदि अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेवाले आपके बचन-रूपी किरण प्रगट न होते तो अवश्य ही यह संपूर्ण जगत अज्ञानरूपी अंधकारमें ही पड़ा रहता ॥ १५९ ॥ हे नाथ आज मैं आपके दर्शन करनेमात्रसे कृतार्थ हो गया हूं । सो ठीक ही है एक महा-निधिको पाकर कौन कृतार्थ नहीं होता और ॥ १६० ॥ आपके बचन सुनकर तो मैं और भी अधिक कृतार्थ हो गया सो भी ठीक है क्योंकि लोग अमृतको देखकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं फिर भला उसका स्वाद लेकर क्यों न अधिक कृतकृत्य होंगे ॥ १६१ ॥ हे देव बनमें पानीका बरसना सबको इष्ट है

भूताद्य मे देव वृष्टं धर्मांवु यत्त्वया ॥ १६२ ॥ त्वयोपदिशता तत्त्वं किं नाम परिशेपितम् । धूताधतमसो भास्वान्भास्य किमवशेपयेत् ॥ १६३ ॥ त्वयोपदर्शिते तत्त्वे सता मोमुह्यते न धी' । महतादर्शिते वर्त्मन्यनध क' परिस्खलेत् ॥ १६४ ॥ त्वद्वचो विस्तरे कृत्स्न वस्तुर्विंत्र मयेक्षितम् । त्रैलोक्यश्रीमुखालोकमगलाब्दतलायिते ॥१६५॥ तथापि किमपि प्रष्टुमिच्छा मे हृदि वर्त्तते । भवद्वचोऽमृताभीक्ष्णपिपासा तत्र कारणम् ॥ १६६ ॥ गणेशमथवोल्लंघ्य त्वा प्रष्टु क इवाहक । भक्तो न गणयामीदमतिभक्तिश्च नेष्यते ॥ १६७ ॥ किं विशेपैपितैपा मे किमनीपल्लभादर । श्रद्धो-

किंतु मेघ नगर वा बनमें सर्वत्र ही वरसता है अर्थात् कहीं न्यूनाधिक नहिं वरसता यह कहावत आजतक केवल सुननमें ही आती थी परंतु हे देव आज इसपरवतपर आपके धर्मरूपी जलकी वर्षाको देखकर यह कहावत मुझे प्रत्यक्ष हो गई है ॥ १६२ ॥ हे देव आपने जो तत्त्वोंका उपदेश दिया उसमें कौनसा तत्त्व बाकी रहगया अर्थात् कोई नहीं, क्या गाढ़ अंधकारको दूर करनेवाला सूर्य प्रकाश करनेसे किसी पदार्थको छोड़ देता है ? भावार्थ-जैसे सूर्य किसी पदार्थको प्रकाश विना किये नहीं छोड़ता सबको समान रीतिसे प्रकाशित करता है उसीप्रकार आपने भी संपूर्ण तत्त्वोंका उपदेश दिया कोई पदार्थ शेष नहीं रक्खा ॥ १६३ ॥ हे नाथ आपके दिखलाये हुये तत्त्वोंमें सम्यग्दृष्टी जीवोंकी बुद्धि कभी मोहको प्राप्त नहीं होती अर्थात् उन्हें कभी संदेह नहीं होता । क्या वड़े पुरुषोंके द्वारा दिखाये हुये मार्गमें चक्षुवाला पुरुष भी कभी गिरता है? ॥ १६४ ॥ हे स्वामिन् यह आपके वचनोंका विस्तार तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेकेलिये मंगलदर्पणके समान है। यद्यपि इसमें प्रतिबिंबित हुये संसारके समस्त पदार्थ मुझे दृष्टिगोचर हो रहे हैं तथापि ॥ १६५ ॥ मेरे हृदयमें आपसे कुछ पूछने की इच्छा हो रही है और इस इच्छाका कारण आपके वचनरूपी अमृतके वार वार पीनेकी लालसा ही समझनी चाहिये ॥ १६६ ॥ हे देव वहुतसे लोग कहेंगे कि वृषभसेन ऐसे गणधरको छोड़कर साक्षात् भगवानसे पूछनेवाला यह कौन आया परंतु मैं आपका एक भक्त हूं इसलिये मुझे इस परिपाटीके

त्कर्षश्चिकीर्षा नु मुखरी कुरुतेऽद्य माम् ॥१६८॥ भगवन् श्रोतुकामोऽस्मि विश्वमुग्धर्मसंग्रहम् । पुराणं महतां पुंसां प्रसीद कुरु मे दयाम् ॥ १६९ ॥ त्वत्समा कति सर्वज्ञा मत्समा कति चक्रिणः । केशवा कति वा देव सरामा कति तद्द्विष ॥१७०॥ कीदृश वृत्तक तेषां वृत्त वर्त्स्यंच्च सांप्रतम् । तत्सर्वं श्रोतुकामोस्मि वद मे वदता वरः ॥ १७१ ॥ युग्मम् ॥ किं नामानश्च ते सर्वे किं गोत्राः किं सनाभय. । किं लक्ष्माण' किमाकारा किमाहार्याः

उल्लंघनका कुछ भी भय नहीं है अथवा यों समझना चाहिये कि आपकी अतिशय भक्ति ही आपसे पूछनेकेलिये मुझे प्रेरणा करती है अथवा ॥ १६७ ॥ आपने जो तत्त्वोंका सामान्य निरूपण किया है उसके विशेष जाननेकी इच्छा अथवा विशेष लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा किंवा तत्त्वज्ञानकी इच्छा अथवा श्रद्धाकी उत्कर्षता इनमेंसे कोई एक आपसे पूछनेकेलिये आज मुझे बाचाल कर रही है ॥ १६८ ॥ हे भगवन् आज मैं तीर्थंकर आदि बड़े पुरुषोंका ऐसा पुराण सुनना चाहता हूं जिसमें सर्वज्ञप्रणीत समस्त धर्मोंका निरूपण किया गया हो । हे नाथ मुझपर प्रसन्न हूजिये दया कीजिये और-॥ १६९ ॥ कहिये कि आपके समान सर्वज्ञ तीर्थंकर कितने होंगे । कितने चक्रवर्ती, कितने बलभद्र, कितने नारायण और कितने प्रतिनारायण होंगे । उनके पूर्वचरित्र कैसे थे और वर्त्तमान तथा भविष्यमें कैसे चरित्र होंगे ये सब मैं सुनना चाहता हूं । नाथ ! आप वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये कृपाकर इन सबका सविस्तर वर्णन कीजिये तथा-॥ १७० ॥ १७१ ॥ यह भी कहिये कि उनके क्या २ नाम होंगे, वे किस किस गोत्रमें उत्पन्न होंगे, कौन कौन उनके कुटुंबमें होगा, उनके क्या क्या लक्षण होंगे, क्या क्या आकार होगा, क्या क्या आभरण होंगे, क्या क्या आयुध होंगे । उनकी आयु और शरीरकी उंचाई कितनी होगी । एक तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिके उत्पन्न होनेसे दूसरे तीर्थंकर चक्रवर्ती आदिके उत्पन्न होनेमें कितने समयका अंतर होगा, वे किस युगमें होंगे, युग कितने हैं और उनके कितने खंड होते हैं, युगांतर क्या है, युगोंका परिवर्तन कितने कालके द्वारा होता है, युगका कितना भाग बीत जाने पर कुलकर उत्पन्न होते हैं,

किमायुधा ॥ १७२ ॥ किं तेषामायुषो मानं किं वर्ष्म किमथातरम् । कुतूहलमिद ज्ञातुं विश्वं विश्वजनीन मे ॥१७३॥ कस्मिन्युगे कियतो वा युगाशा किं युगातरम् । युगाना परिवर्तो वा कातिकृत्त्व. प्रवर्त्तते ॥१७४॥ युगस्य कथिते भागे मनवो मन्वते च किम् । किं वा मन्वतर देव तत्त्वं मे ब्रूहि तत्त्वत ॥ १७५ ॥ लोक कालावतार च वशोत्पत्तिलयस्थिती । वर्णसमूतिमन्यच्च वबुत्सेऽह भवन्मुखात् ॥ १७६ ॥ अनादिवासनोद्भूत मिथ्याज्ञानसमुत्थितम् । नुद मे सशयध्वातं जिनार्कवचनाशुभि· ॥ १७७ ॥ इति प्रश्नमुपन्यस्य भरत· शातमातुर· । विरराम यथास्थानमासीनश्च कथोत्सुक· ॥ १७८ ॥ लब्धावसरमिद्धार्थं सुसबद्धमनुद्धतम् । अभ्यनदत्सभा कृत्स्ना प्रश्नमस्येशितुर्विशाम् ॥ १७९ ॥ तत्क्षण सत्कथाप्रश्नात्तदर्पितदृश· सुरा । पुष्पवृष्टिमिवातेनु· प्रतीर्ता भरत प्रति ॥ १८० ॥ साधु भो भरताधीश प्रतीक्ष्योसि त्वमद्य न· । प्रशशसुरितीं

और वे क्या क्या जानते हैं। एक कुलकर उत्पन्न होनेके समयसे दूसरा कुलकर उत्पन्न होंने तक कितना अंतर रहता है हे सर्वज्ञ ये सब जाननेका मुझे एक कौतुक उत्पन्न हुआ है। हे देव ये सब तत्त्व मुझे यथार्थ रीतिसे कहिये ॥ १७२ ॥ १७३ ॥ १७४ ॥ १७५ ॥ इसके सिवाय लोकका स्वरूप, कालका अवतरण होना वंशों की उत्पत्ति स्थिति और नाश तथा क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि वर्णोंकी उत्पत्ति भी मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूं ॥ १७६ ॥ हे स्वामिन् ! मेरे हृदयमें अनादिकालकी वासनासे उत्पन्न हुये मिथ्याज्ञानकेद्वारा अतिशय बढ़ा हुआ यह संशयरूपी अंधकार भरा हुआ है। हे जिनेंद्र आप सूर्यके समान हैं अतएव अपने बचनरूपी किरणोंकेद्वारा शीघ्र ही इसे नष्ट कीजिये ॥१७७॥ महाराज भरत जिस समय इसप्रकार प्रश्नकर चुप हो रहे और कथा सुननेकी इच्छा करते हुये अपने स्थान पर जा बैठे, उस समय महाराज भरतने समयानुसार, अनेक गौरवशाली अर्थोंसे भरा हुआ, संबंध सहित और अभिमान रहित जो प्रश्न किया था उसे सुनकर संपूर्ण सभा बड़ी प्रसन्न हुई ॥ १७८-१७९ ॥ उनके इस प्रश्नको सुनकर सब देवता लोगों के प्रेम भरे नेत्र महाराज भरतके ऊपर पड़ने लगे और वे नेत्र ऐसे शोभायमान होने लगे मानो देवता-लोग महाराज भरत पर पुष्पवृष्टि ही कर रहे हैं ॥ १८० ॥ महाराज ! आप धन्य हैं आज आप हमारे भी पूज्य हुये हो इसप्रकार इंद्रलोग महाराज भरत चक्रवर्तीकी प्रशंसा करने लगे सो ठीक ही है विनय

द्रास्तं प्रश्रयात्को न शस्यते ॥ १८१ ॥ प्रश्नाद्विनैव तद्भावं जानन्नपि स सर्ववित् । तत्प्रश्नांतमुदैक्षिष्ट प्रतिपत्रेऽनुरोधतः ॥ १८२ ॥ इति विज्ञापितस्तेन भगवानादितीर्थकृत् । व्याजहार पुराणार्थमतिगभीरया गिरा ॥ १८३ ॥ अपरिस्पदताल्वादेरस्पष्टदशनद्युतेः । स्वय भुवो मुखांभोजाज्जाता चित्र सरस्वती ॥ १८४ ॥ प्रसवागारमेतस्या. सत्य तद्वक्त्रपकजम् । तत्र लब्धात्मलाभा सा यज्जगद्वशमानयत् ॥ १८५ ॥ विवक्षया विनैवास्य दिव्यो वाक्प्रसरोऽभवत् । महता चेष्टित चित्र जगदभ्युज्जिहीर्षताम् ॥ १८६ ॥ एकरूपापि तद्भाषा श्रोतृन्प्राप्य पृथग्विधान् । भेजे नानात्मता कुल्या जलस्रुतिरिवांघ्रिपान् ॥ १८७ ॥ परार्थं स कृतार्थोऽपि यदैहिष्ट जगद्गुरु. । तन्नूनं महता चेष्टा परार्थैव निसर्गत. ॥ १८८ ॥

गुणसे कौन प्रशंसाका पात्र नहीं होता है ॥१८१॥ यद्यपि श्रीवृषभनाथ सर्वज्ञदेव प्रश्न किये बिना ही महामहाराज भरतके सब अभिप्राय जान गये थे तथापि वे श्रोताओंके अनुरोधसे प्रश्नके पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १८२ ॥ इसप्रकार महाराज भरतकी प्रार्थना सुनकर श्रीवृषभदेव प्रथम तीर्थंकर भगवान् अपनी अतिशय गंभीरवाणीके द्वारा पुराणका अर्थ कहने लगे ॥ १८३ ॥ उस समय श्रीवृषभदेवके मुखरूपी कमलसे जो वाणी निकलने लगी वह बड़ा ही आश्चर्य करनेवाली थी क्योंकि उसके निकलनेमें न तो कंठ तालु ही चलाने पड़ते थे और न दांतोंकी कोई किरण ही दीख पड़ती थी ॥ १८४ ॥ अथवा यों कहना चाहिये कि सचमुच ही भगवानका मुखरूपी कमल इस सरस्वतीका जन्मस्थान था। इस सरस्वतीने वहीं जन्म लेकर संसारको वश किया है ॥ १८५ ॥ यद्यपि श्रीजिनेंद्रदेवके कोई भी इच्छा नहीं होती, अतएव कहनेकी भी कुछ इच्छा नहीं थी तथापि उनके मुखसे दिव्य वाणी अपने आप निकलने लगी । सो ठीक ही है संसारको उद्धार करनेवाले महापुरुषोंकी समस्त चेष्टायें प्रायः आश्चर्यकारक हुवा करती हैं ॥ १८६ ॥ यद्यपि भगवानकी भाषा एक प्रकारकी ही थी तथापि वह अनेक प्रकारके पृथक् २ श्रोताओंको प्राप्त होकर अनेक प्रकारकी हो गई थी। जैसे कृत्रिम नदीका (नहरोंका) प्रवाह अनेक प्रकारके खेतों वा वृक्षोंमें जाकर अनेक प्रकारका हो जाता है ॥ १८७ ॥ वे भगवान जगतगुरु कृतार्थ होकर

तन्मुखात्प्रसृता वाणी दिव्या तां महतीं सभाम् । प्रीणयामास सौधीव धारा संतापहारिणी ॥ १८९ ॥ यत्पृष्टमादितस्तेन तत्सर्वमनुपूर्वशः । वाचस्पतिरनायासाद्भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥ १९० ॥ प्रागेवोत्सर्पिणीकालसंबंधिपुरुषाश्रयम् । पुराणमतिगभीरं व्याजहार जगद्गुरुः ॥ १९१ ॥ ततोऽवसर्पिणीकालमाश्रित्य प्रस्तुता कथा । प्रस्तोऽप्यन्स पुराणस्य पीठिका प्राक्समादधे ॥ १९२ ॥ इति वृत्त पुरा कल्पे यत्प्रोवाच गिरांपति. । गणी वृषभसेनाख्यस्तत्तदाधिजगेऽर्थत· ॥ १९३ ॥ तत. स्वायंभुवीं वाणीमवधार्यार्थतः कृती । जगद्धिताय सोऽग्रंथीत्तत्पुराणं गणाग्रणी ॥ १९४ ॥ शेषैरपि तथा तीर्थकृद्भिर्गणधरैरपि । महर्षिभिर्यथाम्नायं तत्पुराण प्रकाशितम् ॥ १९५ ॥ ततो युगांते भगवान्वीरः सिद्धार्थनंदनः ।

भी धर्मोपदेश देकर दूसरोंका हित करते थे इससे सिद्ध होता है कि बड़े पुरुषोंके संपूर्ण कार्य स्वभावसे ही परोपकारकेलिये होते हैं ॥ १८८ ॥ भव्य जीवोंके जन्म मरणरूप संतापको दूर करनेवाली और भगवानके चंद्रमुखसे निकली हुई वह दिव्य वाणी अमृतकी धाराके समान उस संपूर्ण सभाको संतुष्ट करने लगी ॥ १८९ ॥ महाराज भरतने जो कुछ पूछा था वह सब भगवान वृषभदेव विना किसी प्रयासके अनुक्रमसे कहने लगे ॥ १९० ॥ जगतगुरु भगवान् वृषभदेवने प्रथम ही उत्सर्पिणी कालसंबंधी तरेसठ शलाका पुरुषोंके चरित्र निरूपण करनेवाला अतिशय गंभीर पुराण कहना प्रारंभ किया ॥ १९१ ॥ अनंतर अवसर्पिणी कालसंबंधी तरेसठ शलाकापुरुषोंकी वह कथा प्रारंभ करने लगे जो महाराज भरतने पूछी थी और उसमें पीठिका सहित सब पुराण कहा ॥१९२॥ भगवान श्रीवृषभदेवने चतुर्थकालके प्रारंभमें जो कुछ अनादिकालका प्राचीन इतिहास कहा था वही इतिहास श्रीवृषभसेन गणधरने अर्थरूपसे उसी समवसरणमें सब लोगोंको सुनाया ॥ १९३ ॥ तदनंतर उन्हीं गणधरदेवने उन्ही भगवानकी वाणीको अर्थरूपसे हृदयमें धारणकर संसारका उपकार करनेकेलिये पुराणरूपमें रचना की ॥१९४॥ वही पुराण अजितनाथ आदि शेष तीर्थकरोंने गणधरोंने और बड़े बड़े महर्षियोंने भी गुरुपरंपराके अनुसार प्रकाशित किया ॥१९५॥ तदनंतर चतुर्थकालके अंतमें एक समय महाराज सिद्धार्थके पुत्र भगवान महावीर स्वामी सर्वज्ञ-

विपुलाद्रिमलङ्कुर्वन्नेकदास्ताखिलार्थदृक् ॥ १९६ ॥ अथोपसृत्य तत्रेन पश्चिमं तीर्थनायकम् । पप्रच्छामुं पुराणार्थं श्रेणिको विनयानतः ॥ १९७ ॥ त प्रत्यनुग्रह भर्तुरवबुध्य गणाधिप. । पुराणसग्रह कृत्स्नमन्ववोचत्स गौतमः ॥ १९८ ॥ तत्तदानुस्मृत तत्र गौतमेन महर्षिणा । ततोऽत्रोधि सुधर्मोऽसौ जबूनाम्ने समर्पयत् ॥ १९९ ॥ ततः प्रभृत्यविच्छिन्नगुरुपर्वक्रमागतम् । पुराणमधुनास्माभिर्यथाशक्ति प्रकाश्यते ॥ २०० ॥ ततोऽत्र मूलतत्रस्य कर्त्ता पश्चिमतीर्थकृत् । गौतमश्चानुतत्रस्य प्रत्यासत्ति क्रमाश्रयात् ॥ २०१ ॥ श्रेणिकप्रश्नमुद्दिश्य गौतमः प्रत्यभाषत । इतीदमनुसध य प्रवधोऽयं निबध्यते ॥ २०२ ॥ इद प्रतिमुखं नाम कथासबंधसूचनम् । कथाप्रामाण्यससिद्धावुपयोगीति वर्णितम् ॥ २०३ ॥ पुराण

देव विहार करते हुये विपुलाचल पर्वतपर आ विराजमान हुये ॥ १९६ ॥ जब राजगृह नगरीके महाराज श्रेणिकने सुना कि अंतिमतीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामी विपुलाचल पर्वतपर विराजमान हुये हैं तब वह शीघ्र ही उनके दर्शन करनेकेलिये वहां उपस्थित हुआ और बड़ी विनयके साथ उनसे तरेसठशलाकापुरुषोंका चरित्र पूछा ॥ १९७ ॥ उस समय गौतम गणधरने देखा कि महाराज श्रेणिकपर भगवान वीरनाथका पूर्ण अनुग्रह है तब उन्होंने उसे अनुक्रमसे समस्त तरेसठ शलाकापुरुषोंका चरित्र कहा ॥ १९८ ॥ इसी प्रकार परंपरासे चला आया यह पुराण गौतम गणधरने सुधर्माचार्यसे और सुधर्माचार्यने जंबू स्वामीसे कहा॥ १९९ ॥ उसी समयसे लेकर आजतक यह पुराण गुरुपरंपरापूर्वक बराबर चला आ रहा है वही पुराण आज मैं भी अपनी शक्तिके अनुसार कहूंगा ॥२००॥ इस उपर्युक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि इस पुराणके मूल-कर्त्ता श्रीमहावीर स्वामी हैं और उत्तरकर्त्ता श्रीगौतमस्वामी हैं ॥ २०१ ॥ विपुलाचल पर्वतपर श्रीवर्द्धमान स्वामीके समवसरणमें महराज श्रेणिकके प्रश्नके अनुसार भगवान गौतम गणधरने जो पुराण कहा था उसीका अनुसंधानकर मैं यह पुराण प्रारंभ करता हूं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखी हुई इस पुराण की जो कुछ पीठिका लिखी गई है वह इस कथाका संबंध सूचन करनेवाली है और कथाकी प्रमाणता सिद्ध करनेकेलिये उपयोगी है अर्थात् गुरुपरंपरासे सर्वज्ञप्रणीत है स्वकपोल कल्पित नहीं है ॥ २०३ ॥

ऋषिभिः प्रोक्तं प्रमाणं सूक्तमंजसा। ततः श्रद्धेयमध्येयं ध्येयं श्रेयोर्थिनामिदम् ॥ २०४ ॥ इदं पुण्यमिदं पूतमिदं मांगल्यमुत्तमम्। इदमायुष्य मग्र्यं च यशस्यं स्वर्ग्यमेव च ॥ २०५ इदमर्चयतां शांतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च पृच्छताम्। पठतां क्षेममारोग्यं शृण्वतां कर्मनिर्जरा ॥ २०६ ॥ इतो दुःस्वप्ननिर्णाशः सुस्वप्नस्याप्तिरेव च। इतोऽभीष्टफलव्यक्तिर्निमित्तमभिपश्यताम् ॥ २०७ ॥ वृषभकविभिर्यात मार्गं व ं च किलाधुना। व्रजतुमनसो हास्य लोके किमन्यदतः परं। घटितमथवा नैतच्चित्रं पतत्रपतिलंघितं गगनमितरे नाक्रामेयुः किमल्पशकुंतयः ॥ २०८ ॥ इति

यह पुराण बड़े बड़े ऋषियोंने कहा है इसलिये यह प्रमाण है और सत्य है अतएव आत्मकल्याण करनेवालोंको इसका श्रद्धान करना चाहिये अध्ययन करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये ॥ २०४ ॥ यह पुराण पुण्य बढ़ानेवाला है, पवित्र है, उत्तमोत्तम कल्याण करनेवाला है, आयु बढ़ानेवाला है श्रेष्ठ है यश बढ़ानेवाला है तथा स्वर्ग देनेवाला है ॥ २०५ ॥ जो पुरुष इस पुराणकी पूजा करते हैं उनके संपूर्ण विघ्न शांत हो जाते हैं जो पुरुष अपने संदेह निवारण करनेकेलिये इसमें कुछ प्रश्न करते हैं उनका कल्याण होता है तथा वे सर्वथा संतुष्ट रहते हैं। जो पुरुष इसे पढ़ते हैं वे सदा निरोगी और सुखी रहते हैं और जो इसे सुनते हैं उनके अनेक कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है ॥ २०६ ॥ इस पुराणके पठन पाठन करनेसे तथा सुनने सुनानेसे दुःस्वप्न सब नष्ट हो जाते हैं और सुखदेनेवाले अच्छे स्वप्न आते रहते हैं। इससे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है और इसमें शुभ अशुभ आदि शकुन भी देखे जाते हैं ॥२०७॥ जिस मार्गसे वृषभसेन गणधर सदृश पुरुष गये थे उसी मार्गसे मैं जाना चाहता हूं अर्थात् जो पुराण वृषभसेन आदि गणधरोंने कहा है उसे ही मैं कहना चाहता हूं परंतु ऐसा करनेसे संसारमें केवल मेरी हंसी होगी अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है क्योंकि जिस आकाशमें गरुड़ सरीखे बड़े २ पक्षी उड़ते हैं क्या उसी आकाशमें अन्य तोते कबूतर आदि छोटे २ पक्षी नहीं उड़ते? अवश्य उड़ते हैं ॥ २०८ ॥ यह पुराणरूपी मार्ग वृषभसेन गणधरादिकोंने जिसप्रकारसे प्रकाशित किया है उसीप्रकार मैं भी अपनी शक्ति

वृषभकवींद्रैर्द्योतितं मार्गमेनं वयमपि च यथावद् घोतयामः स्वशक्त्या ।। सवितृकिरणजालैर्द्योतितं व्यौममार्गं विरलमुडुगणोऽयं भासयेत्किं न लोके ॥ २०९ ॥ श्रीमद्भव्याब्जिनीना हृदयमुकुलित धुन्वदाधाय बोधं मिथ्या वादाधकारस्थितिमपघटयद्वाङ्मयूखप्रतानैः । सद्वृत्तं शुद्धमार्गप्रकटनमहिमालविंयवप्रबिंबप्रस्पर्द्धीर्द्धर्द्धिजैन जगति विजयता पुण्यमेतत्पुराणं ॥ २१० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथामुखव्यावर्णनं नाम प्रथम पर्व ॥ १ ॥

के अनुसार इसे प्रकाश करना चाहता हूं। क्योंकि जो आकाश सूर्यकी किरणसमूहोंसे प्रकाशित होता है क्या वही आकाश थोड़ा थोड़ा नक्षत्रगणोंसे प्रकाशित नहीं होता? अवश्य होता है॥ २०९॥ यह पुराण ठीक सूर्यके प्रतिबिंबकी स्पर्धा करनेवाला अर्थात् उसके समान है। क्योंकि सूर्य कमलोंकी संकोचता दूर करता है यह अतिशय सुशोभित भव्य पुरुषोंके हृदयरूपी कमलोंकी संकोचताको दूर करता है। सूर्य कमलोंको प्रफुल्लित करता है यह भव्योंके हृदयमें ज्ञान प्राप्त कराकर उन्हें प्रफुल्लित करता है। सूर्य अपनी किरणोंसे अंधकारको दूर करता है यह पुराण अपने वचनरूपी किरणसमूहोंसे मिथ्यामतरूपी अंधकारकी सत्तामात्रको भी नष्ट करदेता है। सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल होता है और यह पुराण सद्वृत्त अर्थात् उत्तम चारित्र देनेवाला है। सूर्य संसारका मार्ग प्रगट करता है यह पुराण मिथ्यात्व आदि दोषोंसे रहित शुद्ध मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाला है। सूर्य अपनी कांतिसे देदीप्यमान है यह पुराण शब्द और अर्थकी कांतिसे देदीप्यमान है। ऐसा यह श्रीजिनेंद्रदेवका चरित्र निरूपण करनेवाला और पुण्यरूप पुराण संसारमें सदा जयशील रहै॥ २१०॥

इति श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यविरचित संस्कृतमहापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें कथामुखवर्णनवाला प्रथमपर्व समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अथ द्वितीय पर्व ।

तमादिदेव देवानामधिदेवं स्वयभुवं । प्रणम्य तत्पुराणस्य वच्म्युपोद्घातविस्तरं ॥ १ ॥ अथातो धर्मजिज्ञासासमाहितमति कृती । श्रेणिकः परिपप्रच्छ गौतमं गणभृत्प्रभु ॥२॥ भगवन्नर्थतः कृत्स्नं श्रुतं स्वायभुवान्मुखात् । प्रथतः श्रोतुमिच्छामि पुराणं त्वदनुग्रहात् ॥३॥ त्वमकारणबंधुर्नेस्त्वमकारणवत्सलः । त्वमकारणवैद्योऽसि दुःखातकार्दितात्मना ॥ ४ ॥ पुण्याभिषेकमभित कुर्वतीव शिरस्सु नः । व्योमगंगाबुसच्छाया युष्मत्पादनखांशवः ॥ ५ ॥ तव दीप्ततपोलब्धेरंगलक्ष्मीः प्रतायिनी । अकालेऽप्यनुसधत्ते सान्द्रबालातपश्रियं ॥ ६ ॥ त्वया जगदिदं कृत्स्नमविद्या-

अथ द्वितीय पर्व ।

अब मैं देवाधिदेव स्वयंभू श्रीवृषभदेवको नमस्कार कर इस महापुराणका उपोद्धात कहता हूं । एक समय राजगृह नगरीके अधिपति महाराज श्रेणिकने धर्मका स्वरूप जाननेकी इच्छासे श्रीवर्द्धमानस्वामीके समवसरणमें जाकर गौतम गणधरसे प्रश्न किया ॥ २ ॥ भगवन् ! श्रीवर्द्धमानस्वामीके मुखसे यह तरेसठ शलाका पुरुषोंका संपूर्ण पुराण अर्थरूपसे मैंनें सुना है अब आपकी कृपासे इसे ग्रंथरूपसे सुनना चाहता हूं ॥ ३ ॥ हे देव ! आप हमलोगोंकेलिये बिना कारण बंधु हैं बिना कारण ही हमलोगोंपर प्रेम करनेवाले हैं और अनेक दुःख और जन्म मरण आदि रोगोंसे पीड़ित इन संसारी जीवोंकेलिये विना कारण ही वैद्य हैं ॥ ४ ॥ हे देव ! इस समय मेरे मस्तकपर आकाशगंगाके जलके समान पड़ती हुई आपके चरणोंके नखोंकी स्वच्छ किरणें ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानों चारों ओरसे मेरा पुण्याभिषेक ही कर रही हों ॥ ५ ॥ हे देव आपके शरीरकी शोभा अनेक प्रकारके उग्र तपश्चरणकी लब्धियोंसे बढ़ रही है अतएव वह असमयमें भी प्रातःकालके सूर्यकी समान शोभायमान हो रही है ॥ ६ ॥ हे भगवन् ! जैसे सूर्य रातमें मुदित हुये कमलसमूहको शीघ्र ही प्रफुल्लित कर देता है उसीप्रकार यह संपूर्ण संसार मिथ्याज्ञानरूपी निद्रामें सो रहा था उसे आपने शीघ्र ही प्रबोधित करदिया ॥ ७ ॥ हे स्वामिन् जो हृदयका

मीलितेक्षणं । सद्यः प्रबोधमानीतं भास्वतेवाब्जिनीवनं ॥ ७ ॥ यन्नेंदुकिरणैः स्पृष्टमनालीढं रवे करैः । तत्त्वया हेलयोदस्तमंतर्ध्वांतं वचोंऽशुभिः ॥८॥ तवोच्छिखाः स्फुरत्येता योगिन्सप्तमहर्द्धयः । कर्मेंधनदहोद्दीप्ताः सप्तार्चिष इवार्चिषः ॥९॥ इदं पुण्याश्रमस्थान पवित्र त्वत्प्रतिश्रयात् । रक्षारण्यमिवाभाति तपोलक्ष्म्या निराकुल ॥ १० ॥ अत्रैते पशवो धन्याः पुष्टा मृष्टैस्तृणाकुरैः । न क्रूरमृगसबाधा जानत्यपि कदाचन ॥ ११ ॥ पादप्रधावनोत्सृष्टकमडलुजलैरिमे । अमृतैरिव वर्द्धते मृगशावाः पवित्रिताः ॥ १२ ॥ सिंहस्तनधयानत्र करिण्यः पाययंत्यमूः । सिंहधेनुस्तन स्वैरं स्पृशंति कलभा इमे ॥ १३ ॥ अहो परममाश्चर्यं यदवाचोऽप्यमी मृगाः । भजंति भगवत्पादच्छायां मुनिगणाइव ॥ १४ ॥ अक्लृप्तवल्कलाश्चामी प्रसूनफल

अज्ञानरूपी अंधकार चंद्रमाकी किरणोंसे स्पर्श तक नहीं किया जा सकता और न सूर्यकी किरणें ही जिसे छू सकती हैं उसे आप अपने बचनरूपी किरणोंसे लीलामात्रमें नष्ट कर देते हैं ॥ ८ ॥ हे योगिन्! आपमें जो बुद्धि, तप, चारण, औषधि, रस, बल और अक्षीणता ये सात ऋद्धि विद्यमान हैं वे ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानों कर्मरूपी ईंधन जलानेसे उद्दीपित हुई उज्ज्वल अग्निकी सात प्रकारकी शिखा ही हों ॥ ९ ॥ हे देव! यह समवसरण आपके आश्रयसे ही पवित्र और पुण्यका आश्रमस्थान हो रहा है अथवा ऐसा शोभायमान हो रहा है मानों तपश्चरणरूपी लक्ष्मीका निराकुल एक रक्षित बन ही हो ॥१०॥ समवसरणमें बैठे हुये वे पशु धन्य हैं जो मीठी घास खा खा कर ही पुष्ट हुये हैं। दुष्ट मृगोंसे कैसी पीड़ा होती है यह बात ये बिचारे कभी जानते ही नहीं ॥ ११ ॥ आपके पादप्रक्षालन करनेसे इधर उधर फैले हुये आपके कमंडलुके जलसे पवित्र हुये ये हिरनोंके बच्चे रातदिन ऐसे बढ़ते रहते हैं मानों अमृत पीकर ही बढ़ते हों ॥ १२ ॥ इधर देखिये यह हथिनी सिंहके बच्चोंको अपना दूध पिला रही है और ये हाथीके बच्चे सिंहनीका दूध पी रहे हैं ॥१३॥ यह देखो कैसे आश्चर्यकी बात है जिन हिरनोंको बोलनातक नहीं आता है वे मुनियोंके समान भगवानके चरणकमलोंकी छायाका आश्रय ले रहे हैं॥ १४ ॥ जिनकी छालें किसीने छूई तक नहीं हैं ज्यों की त्यों बनी हैं तथा जो फल और फूलोंसे शोभायमान हैं ऐसे ये बनके

शालिनः । धर्मारामतरूयंते परितो वनपादपाः ॥१५॥ इमा वनलता रम्याः प्रफुल्ला भ्रमरैर्वृताः । न विदुः करसंबाधां राजन्वत्य इव प्रजाः ॥१६॥ तपोवनमिदं रम्य परितो विपुलाचलं । दयावनमिवोद्भूतं प्रसादयति मे मनः ॥ १७॥ इमे तपोधना दीप्ततपसो वातवल्कलाः । भवत्पादप्रसादेन मोक्षमार्गमुपासते ॥ १८ ॥ इति प्रस्पष्टमाहात्म्यः कृती जगदनुग्रहे । भगवन्भव्यसार्थस्य सार्थवाहायते भवान् ॥ १९ ॥ ततो ब्रूहि महायोगीन्न ते कश्चिदगोचरः । तव ज्ञानांशवो दिव्याः प्रसरति जगत्त्रये ॥ २० ॥ विज्ञाप्यमन्यदप्यस्ति समाधाय मनः शृणु । यतो भगवतश्चित्तं दृढ स्यान्मदनुग्रहे ॥ २१ ॥ पुरा चरितमज्ञानान्मया दुश्चरितं महत् । तस्यैनसः प्रशांत्यर्थं प्रायश्चित्त चराम्यह ॥ २२ ॥ हिंसानृतान्यैरामारत्यारंभपरिग्रहैः ।

वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों धर्मरूपी बागके ही वृक्ष हों ॥ १५ ॥ इधर देखिये ये फूली हुई और भ्रमरोंसे घिरी हुई वनलतायें कैसी शोभायमान हैं। ये सब करबाधा (हाथसे फूल तोड़नेका दुःख) तो कभी जानती ही नहीं जैसे न्यायवान् राजाकी प्रजा अधिक करका दुःख (महसूलका दुःख) नहीं जानती ॥ १६ ॥ यह आपका जो तपोवन अतिशय सुंदर है, दयाकी रक्षा करनेसे ही मानों उत्पन्न हुआ है और जिसके चारोंओर विपुलाचल पर्वत शोभायमान हो रहा है यह मेरे मनको बहुत ही प्रसन्न कर रहा है ॥ १७ ॥ हे देव ! तीव्र तपश्चरण करनेवाले और दिगंबर ये तपस्वीजन केवल आपके चरण कमलोंके अनुग्रहसे ही मोक्षमार्गकी उपासना कर रहे हैं ॥ १८ ॥ हे भगवन् आपका माहात्म्य किसीसे छिपा नहीं है संसारके उपकार करनेमें आप सदा कुशल हैं अतएव आप संसारसे पार करनेकेलिये भव्यजनोंके सार्थवाह (नायक) गिने जाते हैं ॥ १९ ॥ हे योगीश्वर संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसे आप न जानते हों, संसारको प्रकाश करनेवाली आपके ज्ञानकी किरणें तीनों लोकोंमें फैल रही हैं इसलिये हे देव ! आप ही तरेसठ शलाकापुरुषोंका पुराण मुझसे कहें ॥२०॥ हे देव ! एक बात और निवेदन करना है उसे भी ध्यान देकर सुन लीजिये क्योंकि उसके सुननेसे मेरा उपकार करनेमें आपका चित्त और भी दृढ़ हो जायगा ॥२१॥ वह निवेदन यह है कि मैंने पहले अज्ञानवश अनेक बड़े बड़े दुराचरण किये हैं उन सब

मया संचितमज्ञेन पुरैनोऽतिनिकाचितं ॥ २३ ॥ कृतो मुनिवधानंदस्तीव्रो मिथ्यादृशा मया । येनायुःकर्म दुर्मोचं बद्धं श्वाभ्रीं गतिं प्रति ॥ २४ ॥ तत्प्रसीद विभो वक्तुमामूलात्पावनीं कथां । निष्क्रयो दुष्कृतस्यास्तु मम पुण्यकथाश्रुतिः ॥ २५ ॥ इति प्रश्रयिणीं वाचमुदीर्य मगधाधिपः । व्यरमद्दशनज्योत्स्नाकृतपुष्पार्चनस्तुतिः ॥ २६ ॥ ततस्तमृषयो दीप्ततपोलक्ष्मीविभूषणाः । प्रशशंसुरिति प्रीता धार्मिकं मगधेश्वरं ॥ २७ ॥ साधु भो मगधाधीशं साधु प्रश्नविदांवर । पृच्छताद्य त्वया तत्त्वं साधु नः प्रीणितं मनः ॥ २८ ॥ पिपृच्छिषितमस्माभिर्यदेव परमाक्षरं । तदेवाद्य

पापोंकी शांति होनेकेलिये यह पवित्र पुराण सुनकर मैं प्रायश्चित्त ले रहा हूं॥२२॥ हे नाथ ! मैंने पहले अज्ञानवश हिंसा झूठ चोरी स्त्रीसेवन और अनेकप्रकारके आरंभ परिग्रहादिकेद्वारा अतिशय घोर पाप उपार्जन किये हैं ॥ २३ ॥ इनके सिवाय मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मैंने मुनिके वध करनेमें तीव्र आनंद माना है जिससे मेरे नरकायुका ऐसा अशुभ बंध हुआ है जो कभी छूट नहीं सकता ॥२४॥ इसलिये हे प्रभो ! आप मुझपर प्रसन्न हूजिये और मुझे पवित्र करनेवाली तरेसठ शलाका पुरुषों की पवित्र कथा मुझे प्रारंभ से सुनाइये । क्योंकि इस पवित्र कथाके सुननेसे मेरे संपूर्ण पाप अवश्य ही निराकरण हो जायंगे ॥ २५ ॥ इसप्रकार अपने दांतोंकी कांतिरूपी पुष्पोंके द्वारा पूजा और स्तुति करते हुये महाराज श्रेणिक बड़ी विनयके साथ ऊपर कहे हुये बचन कहकर चुप हो रहे ॥ २६ ॥ तदनंतर श्रेणिकके प्रश्नसे प्रसन्न हुये और उग्र तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे शोभायमान ऐसे ऋषिगण नीचे लिखे वाक्योंके द्वारा उन धर्मात्मा महाराज श्रेणिककी प्रशंसा करने लगे ॥ २७ ॥ वे कहने लगे हे श्रेणिक आज तुम धन्य हो प्रश्न करनेवालोंमें तुम अतिशय श्रेष्ठ हो अतएव और भी धन्य हो । आज तुमने महापुराणसंबंधी प्रश्न पूछकर हमलोगोंका चित्त बहुत ही प्रसन्न किया ॥ २८ ॥ हे श्रेणिक उत्तमवाक्योंद्वारा प्रतिपादन करनेयोग्य जो पुराण हम पूछना चाहते थे वही आज तुमने पूछा । देखो यह कैसा अच्छा संबंध मिला है ॥ २९ ॥ तुम्हारे जो जाननेकी इच्छा हुई है और उस इच्छाको प्रगट करनेवाला जो प्रश्न तुमने किया है उससे सिद्ध होता

त्वया पृष्टं सवादः पश्य कीदृश' ॥ २९ ॥ बुभुत्सावेदनं प्रश्नः स ते धर्मो बुभुत्सितः । त्वया बुभुत्सता धर्म विश्वमेव बुभुत्सितं ॥ ३० ॥ पश्य धर्मतरोरर्थः फल कामस्तु तद्रस' । सत्रिवर्गत्रयस्यास्य मूल धर्मकथाश्रुति ॥ ३१ ॥ धर्मादर्थश्च कामश्च स्वर्गश्चेत्यविगानत' । धर्म कामार्थयोः सूतिरित्यायुष्मान्विनिश्चिनु ॥ ३२ ॥ धर्मार्थी सर्वकामार्थी धर्मार्थी धनसौख्यवान् । धर्मो हि मूल सर्वासां धनर्द्धिसुखसपदां ॥ ३३ ॥ धर्मः कामदुधाधेनुर्धर्मश्चिंतामणिर्महान् । धर्मः कल्पतरु स्थेयान्धर्मोऽय निधिरक्षय ॥ ३४ ॥ पश्य धर्मस्य माहात्म्य योऽपायात्परिरक्षति । यत्र स्थितं नर

है कि अवश्य ही तुमने धर्म जाननेकी इच्छा प्रगट की है। यह तुम्हारी धर्म जाननेकी इच्छा संसारके जानने की इच्छाको सूचित करती है ॥ ३० ॥ हे श्रेणिक ! देखो यह धर्म एक वृक्ष है अर्थ ही इसका फल है और काम इसके फलका रस है। धर्म, अर्थ, काम इन तीनोंको त्रिवर्ग कहते हैं। इस त्रिवर्गके प्राप्त होनेका मूल कारण धर्मकथाका सुनना ही है॥ ३१॥ हे आयुष्मन्! तुम यह निश्चय जानो कि अनुक्रमसे अर्थ, काम और स्वर्गकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है। यह धर्म अर्थ और कामका जन्मस्थान है ॥ ३२ ॥ हे राजन् ! जिसे धर्मकी इच्छा है समझना चाहिये कि उसे संपूर्ण इष्ट पदार्थोंकी इच्छा है संसारमें वही धनी और सुखी है। क्योंकि धन ऋद्धि सुख संपत्ति आदि सबका मूल कारण धर्म ही है ॥ ३३ ॥ इष्टपदार्थोंके प्रदान करनेकेलिये यह धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही महान् चिंतामणि है धर्म ही स्थिर कल्पवृक्ष है और यह धर्म ही अक्षय निधि है ॥ ३४ ॥ हे श्रेणिक ! देखो धर्मका कैसा माहात्म्य है जो पुरुष इस धर्मका सेवन करता है धर्ममें सदा दृढ़चित्त रखता है उसे यह धर्म सर्वप्रकारके अनिष्टोंसे रक्षित रखता है कोई देवता भी उसपर किसी प्रकारका आक्रमण नहीं कर सकता ॥ ३५ ॥ विचार, राजनीति, लोकप्रसिद्धि, आत्मानुभव और ज्ञानादिकी प्राप्तिसे भी इस धर्मका माहात्म्य अकथनीय जान पड़ता है। भावार्थ—जब जीव अजीव आदि यथार्थ तत्त्वोंका विचार किया जाता है जीवकी अनंत शक्तियां जानी जाती है तब इस धर्मका अद्भुत माहात्म्य प्रगट होता है। राजदरबारमें भी धर्मात्मा पुरुषोंका मान सन्मान होता है, लोकमें भी

दूरान्नातिक्रामंति देवताः ॥ ३५ ॥ विचारनृपलोकात्मादिव्यप्रत्ययतोऽपि च । श्रीमन्धर्मस्य माहात्म्यं निर्विचारमवैहि भो ॥ ३६ ॥ स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात्संधारयेन्नर । धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये ॥ ३७ ॥ स च धर्म. पुराणार्थ. पुराण पचधा विदु' । क्षेत्र कालश्च तीर्थं च सत्पुंसस्तद्विचेष्टित ॥ ३८ ॥ क्षेत्र त्रैलोक्यविन्यास' कालस्त्रैकाल्यविस्तरः । मुक्त्युपायो भवेत्तीर्थं पुरुषास्तन्निषेविणः ॥ ३९ ॥ न्याय्यमाचरितं तेषां चरितं दुरितच्छिदां । इति कृत्स्न' पुराणार्थः प्रश्ने संभावितस्त्वया ॥ ४० ॥ अहो प्रसन्नगंभीर प्रश्नोऽय विश्वगोचर' । क्षेत्रक्षेत्रज्ञसन्मार्ग-कालसच्चरिताश्रय ॥ ४१ ॥ इदमेव युगस्यादौ पप्रच्छ भरत' पुरु। ततोऽनुयुयुजे सम्राट् सगरोऽजितमच्युतं ॥४२॥ इति प्रमाणभूतेय वक्तृश्रो-

धर्मात्मा अतिशय प्रसिद्ध और पूज्य माना जाता है। उसे आत्माका यथार्थ अनुभव होता है और श्रुत ज्ञान तथा अवधिज्ञान आदिकी प्राप्ति होती है। इन सब बातोंसे धर्मका अद्भुत माहात्म्य अवश्य सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥ हे श्रेणिक ! यह धर्म नरक निगोद आदि नानाप्रकारके दुःखोंसे इस जीवकी रक्षा करता है तथा जिस जगहका सुख कभी नष्ट नहीं होता ऐसे मोक्ष स्थानमें इस जीवको पहुंचा देता है इसलिये ही इसे धर्म कहते हैं ॥ ३७ ॥ जो पुराणका अर्थ है वही धर्म है पुराण पांच प्रकारका है क्षेत्र, काल, तीर्थ, सत्पुरुष और उनकी क्रियायें ॥ ३८ ॥ जो यह तीनों लोकोंकी रचना है वह क्षेत्र कहलाता है। भूत भविष्यत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका काल कहलाता है । संसारसे पार करनेवाले और मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीर्थ कहलाते हैं। इस तीर्थको सेवन करनेवाले तरेसठ शलाका पुरुष सत्पुरुष कहे जाते हैं और संपूर्ण पापोंके नाश करनेवाले उन सत्पुरुषोंके न्यायपूर्वक आचरण ही उनकी क्रियायें कहलाती हैं। हे श्रेणिक ! यह उपर्युक्त पुराणका अर्थ है जो तुमने अपने प्रश्नमें सब प्रगट कर दिया है ॥३९–४०॥ हे श्रेणिक ! तुमने जो प्रश्न किया है वह बहुत सरल है परंतु इसका अर्थ बहुत गंभीर है। इस तुम्हारे प्रश्नमें संसारके सब तत्त्व आगये क्षेत्र, क्षेत्रको जाननेवाला आत्मा, सम्यग्दर्शन आदि मोक्षमार्ग, काल और सत्पुरुषोंका चरित्र आदि पुराणका सब अर्थ इसमें आगया ॥४१॥

तृपरंपरा । त्वयाद्यालंकृता धीमन्पृच्छतेम महाधिय॥४३॥ त्वं प्रष्टा भगवान्वक्ता सह शुश्रूषवो वयं। सामग्री नेदृशी जातु जाता नैव जनिष्यते ॥४४॥ तस्मात्पुण्यकथामेनां शृणुयामः सम वय । प्रज्ञापारमितो देवो वक्तुमुत्सहतामय ॥४५॥ इति प्रोत्साह्य त धर्मे ते समाधानचक्षुष । ततो गणधर-स्तोत्र पठेरित्युच्चकैस्तदा ॥४६॥ त्वां प्रत्यक्षविदा बोधैरप्यबुद्धमहोदय । प्रत्यक्षस्तवनै स्तोतुं वय चाद्य किलोद्यता ॥४७॥ चतुर्दशमहाविद्यास्था-नाकूपारपारगं । त्वामृषे स्तोतुकामा स्म· केवल भक्तिचोदिता· ॥४८॥ भगवन् भव्यसार्थस्य नेतुस्तव शिवाकर । पताकेवोच्छ्रिता भाति कीर्तिरेषा

हे बुद्धिमान् श्रेणिक ! पहले चतुर्थकालके प्रारंभमें महाराज भरतने श्रीवृषभदेवसे यही प्रश्न किया था और यही प्रश्न महाराज सगरने श्रीअजितनाथ तीर्थंकरसे किया था । आज तुमने भी अतिशय बुद्धिमान् गौतम गणधरसे यही प्रश्न किया । इस प्रकार प्रमाणभूत जो वक्ता और श्रोताओंकी परंपरा चली आई थी वह आज तुमने अवश्य ही सुशोभित करदी है ॥ ४२ । ४३ ॥ हे श्रेणिक ! तुम प्रश्न करनेवाले, भग-वान वर्द्धमान स्वामी उत्तर देनेवाले और तुम्हारे साथ हम सब लोग सुननेवाले । इस प्रकारका उत्तम संबंध न तो आजतक कभी मिला है और न कभी मिलेगा ॥ ४४ ॥ इसलिये अतिशयज्ञानको धारण करनेवाले ये गौतमस्वामी इस पुण्यकथाका कहना प्रारंभ करें और तुम्हारे साथ हम सब लोग सुनें॥४५॥

इसप्रकार उन सब ऋषियोंने महाराज श्रेणिकको धर्ममें उत्साहित किया और सब एकचित्त होकर बड़े ऊंचे शब्दोंसे गणधरस्वामीका नीचे लिखा हुआ स्तोत्र पढ़ने लगे ॥४६॥ हे स्वामिन् ! आपका अभ्यु-दय बड़े बड़े मुनियोंके प्रत्यक्षज्ञानके भी अगोचर है तथापि आज हम लोग प्रत्यक्षस्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुति करनेकेलिये उद्यत हुये हैं यह एक आश्चर्यकी बात है ॥४७॥ हे ऋषे ! आप चौदह महाविद्यारूपी महासागरके पारंगत हुये हो। हम लोग केवल आपकी भक्तिकी प्रेरणासे ही आपकी स्तुति करना चाहते हैं ॥ ४८ ॥ हे भगवन् ! आप भव्यजीवोंकेलिये मोक्ष देनेवाले और सबके नायक हैं । चंद्रमाके समान आपकी यह निर्मल कीर्त्ति उड़तीहुई पताकाके समान शोभायमान हो रही है ॥४९॥ हे देव ! चारोंओर

विधूज्ज्वला ॥४९॥आलवालीकृतांभोधिवलयाकीर्तिवल्लरी। जगन्नाडीतरोरग्रमाक्रामति तवोच्छिखा ॥५०॥ त्वामामनंति मुनयो योगिनामधियोगिन। त्वा गण्य गणनातीतगुण गणधर विदु' ॥५१॥ गोतमा गौ. प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती। ता वेत्सि तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मत ॥५२॥ गोतमादागतो देव' स्वर्गाग्राद्गौतमो मत। तेन प्रोक्तमधीयानस्त्वचासीगौंतमश्रुति ॥५३॥ इंद्रेण प्राप्तपूजर्द्धिरिंद्रभूतिस्त्वमिष्यसे। साक्षात्सर्वज्ञपुत्रस्त्वमाप्तसंज्ञानकठिक' ॥५४॥ चतुर्भिरमलैर्बोधैरबुद्धास्त्व जगद्यत.। प्रज्ञापारमित बुद्धं त्वा निराहुरतो वुधा ॥५५॥ पारेतम. परज्योतिस्त्वामद्द-

---

फैलीहुई इस कीर्त्तिरूपी लताने समुद्रको ही गोल २ स्तंभ बना लिया है अब यह कीर्त्तिलता लोकनाड़ी रूपी वृक्षके शिखरपर चढना चाहती है ॥५०॥ हे स्वामिन्! मुनीश्वर लोग भी यह सर्वथा जानते हैं और स्वीकार करते हैं कि आप योगियोंमें भी महा योगीश्वर हैं सबके नायक हैं सबके अधिपति हैं। हे देव! आपके गुणोंकी गणना असंख्यात है उन्हें कोई गिन नहीं सकता ॥ ५१ ॥ हे भगवन्! आपका गौतम यह नाम सार्थक है क्योंकि 'गो' वाणीको कहते हैं और उत्तम वाणी 'गोतमा' कहलाती है यह 'गोतमा' उत्तम वाणी तीर्थंकर सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि ही हो सकती है। उस दिव्यध्वनिको आप जानते हैं और सबको उसका उपदेश देते हैं इसलिये लोग आपको 'गौतम' (गोतमा-दिव्यध्वनिको जाननेवाले) कहते हैं ॥५२॥ अथवा यों कहना चाहिये कि श्रीवर्द्धमानस्वामी गोतम अर्थात् उत्तम सोलहवें स्वर्गसे अवतीर्ण हुये हैं इसलिये श्रीवर्द्धमानस्वामीको गौतम कहते हैं। इन गौतम अर्थात् वर्द्धमान स्वामीकी कही हुई दिव्यध्वनिको आप जानते हैं पढ़ते हैं उपदेश देते हैं इसलिये लोग आपको गौतम कहते हैं ॥५३॥ इंद्रने स्वयं आकर आपकी पूजा की है इसलिये आपको इंद्रभूति भी कहते हैं। उत्तम अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान रूपी कंठाभरण आपको प्राप्त हुआ है इसलिये आप साक्षात् तीर्थंकर सर्वज्ञदेवके पुत्रके समान हैं ॥५४॥ हे देव! आपने मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानके द्वारा संसारके संपूर्ण पदार्थ जान लिये तथा आप बुद्धिके पारंगत होगये इसलिये पंडितजन आपको बुद्ध भी कहते हैं ॥ ५५ ॥ हे देव!

प्ट्वा दुरासदं । ज्योतिर्मयः प्रदीपोऽसि त्वं तस्याभिप्रकाशनात् ॥ ५६ ॥ श्रुतदेव्या हितस्त्रैणप्रयत्ना वोधदीपिका । तवैषा प्रज्वलत्युच्चैर्योतयंती जगद्गृहं ॥ ५७ ॥ तव वाक्प्रसरो दिव्यो विधुन्वन् जगतां तमः । प्रकाशयति सन्मार्गं रवेरिव करोत्करः ॥ ५८ ॥ तव लोकातिगा प्रज्ञा विद्यानां पारदृश्वरी । श्रुतस्कंधमहासिंधोरभजद्यानपात्रतां ॥ ५९ ॥ त्वयावतारिता तुगान्महावीरहिमाचलात् । श्रुतामरसरित्पुण्या निर्धुनानाखिलं रजः ॥ ६० ॥ प्रत्यक्षश्च परोक्षश्च द्विधा ते ज्ञानपर्ययः । केवलं केवलिन्येकस्ततस्त्वं श्रुतकेवली ॥ ६१ ॥ पारेतमः परंधाम प्रवेष्टुमनसो वयं । तद्-

---

आप पापरहित हैं आपको विना देखे केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योतिका जानना अति कठिन है। हे नाथ! आप उस ज्योतिको प्रकाश करनेवाले हैं इसलिये आप ज्योतिस्वरूप एक अपूर्व दीपक हैं ॥ ५६ ॥ हे स्वामिन्! श्रुतदेवताके द्वारा स्त्रीरूपको धारण करनेवाली आपकी ज्ञानरूपी दीपिका संसाररूपी घरको प्रकाश करती हुई वड़ी ही देदीप्यमान हो रही है॥ ५७॥ हे देव! आपकी दिव्यवाणीका समूह संसारके मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नाश करता हुआ सूर्यकी किरणोंके समान सन्मार्गका प्रकाश करता है ॥५८॥ आपकी यह प्रज्ञा (तीक्ष्ण बुद्धि) तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट है चौदह महाविद्याओंके पारंगत हैं और श्रुतस्कंधरूपी महासागरमें बड़े जहाजका काम देती है ॥ ५९ ॥ हे देव! आपने श्रीवर्द्धमान स्वामीरूप अतिशय ऊंचे हिमाचल पर्वतसे श्रुतज्ञानरूपी आकाशगंगाको अवतरण किया। यह आकाशगंगा अतिशय पवित्र है और समस्त पापरूपी मैलको धोनेवाली है ॥६०॥ हे देव! केवली भगवान एक केवल ज्ञानको ही धारण करनेवाले हैं और आप प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो प्रकारका ज्ञान धारण करनेवाले हैं इसीलिये आप श्रुतकेवली कहलाते हैं ॥ ६१ ॥ हे स्वामिन्! हम सवलोग संसाररूपी अंधकारके पार जो मोक्षस्थान है वहां जाना चाहते हैं और आपकी उपासना कर आपसे उस मोक्षस्थानके द्वार उघाड़नेका कारण (कुंजी) प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ६२ ॥ श्रीसर्वज्ञदेवने जो संपूर्ण विद्यायें निरूपण की हैं उन्हें आप जानते हैं इस लिये आप ब्रह्मसुत कहलाते हैं। हे देव! परब्रह्म सिद्धात्माकी प्राप्ति होना आपके आधीन है योगीश्वर

द्वारोद्घाटनं बीजं त्वामुपास्य लभेमहि ॥ ६२ ॥ ब्रह्मोचा निखिला विद्वांस्त्वं हि ब्रह्मसुतो मुनि । परंब्रह्म त्वदायत्तमतो ब्रह्मविदो विदुः ॥६३॥ मुनयो वातवशनाः पदमूर्ध्वं विधित्सव । त्वां मूर्द्धवंदिनो भूत्वा तदुपायमुपासते ॥६४॥ महायोगिन्नमस्तुभ्यं महाप्रज्ञ नमोस्तु ते । नमो महात्मने तुभ्य नमस्त्रात्रे महर्द्धये ॥ ६५ ॥ नमोवधिजुषे तुभ्य नमो देशावधित्विषे । परमावधये तुभ्य नमः सर्वावधिस्पृशे ॥ ६६ ॥ कोष्टबुद्धे नमस्तुभ्य नमस्ते बीजबुद्धये । पदानुसारिन् सभिन्नश्रोतस्तुभ्यं नमोनम ॥ ६७ ॥ नमोस्त्वृजुमते तुभ्य नमस्ते विपुलात्मने । नमः प्रत्येकबुद्धाय

लोग भी ऐसा ही जानते हैं ॥ ६३ ॥ हे नाथ! जो दिगंबर मुनि हैं और मोक्षस्थान प्राप्त करना चाहते हैं वे आपको मस्तक नवाकर बारंबार नमस्कार करते हुये मोक्ष प्राप्त होनेके उपायोंकी उपासना करते हैं ॥ ६४ ॥ हे देव ! आप महायोगीश्वर हैं, अतिशय ज्ञानी हैं महात्मा हैं, अनेक ऋद्धियोंके धारण करनेवाले और अनेक जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको बारंबार नमस्कार हो ॥६५॥ हे स्वामिन्! आप देशावधि परमावधि और सर्वावधि आदि सर्वप्रकारके अवधिज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको बारंबार नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ हे नाथ ! आप कोष्टबुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं। जैसे कोठेमें बहुतसे धान्य भरे रहते हैं उसी प्रकार आपमें भी अनेक पदार्थोंका ज्ञान भरा हुआ है। इसलिये आपको नमस्कार हो। आप बीजबुद्धि नामकी ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं 'जैसे एक भी बोया हुआ बीज अच्छी जमीन और क्षेत्रपाल आदिकी सहायतासे अनेक बीज उत्पन्न कर देता है। इसीप्रकार आपकी बुद्धि एक बीजरूप पदको ग्रहणकर अनेक पदपदार्थोंका ज्ञानसंपादन कर लेती है' इसलिये आपको नमस्कार हो। आप पदानुसारि ऋद्धिको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो। 'पदानुसारि ऋद्धि उसे कहते हैं जो आदि अंत अथवा जहां कहींसे किसी एक पदको ही ग्रहण करके संपूर्ण ग्रंथको जान ले'। हे नाथ! आप संभिन्नश्रोतृऋद्धिके भी धारण करनेवाले हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो। 'संभिन्नश्रोतृऋद्धि उसे कहते हैं जिसके निमित्तसे यह जीव बारह योजन लंबे नौ योजन चौड़े क्षेत्रमें

स्वयंबुद्धाय वै नमः ॥ ६८ ॥ अभिन्नदशपूर्वित्वात्प्राप्तपूजाय ते नमः । नमस्ते पूर्वविद्यानां विश्वासां पारदृश्वने ॥ ६९ ॥ दीप्तोग्रतपसे तुभ्यं नमस्तप्तमहातप । नमो घोरगुणब्रह्मचारिणे घोरतेजसे ॥ ७० ॥ नमस्ते विक्रियर्द्धीनामष्टधा सिद्धिमीयुषे । आमर्षक्ष्वेलवाग्विप्रुड्जल्लसर्वौषधे नमः ॥ ७१ ॥ नमोमृतमधुक्षीरसर्पिरास्रविणेऽस्तु ते । नमो मनोवचःकायबलिनां ते बलीयसे ॥ ७२ ॥ जलजंघाफलश्रेणीततुपुष्पाम्बरश्रयात् ।

रहनेवाले चक्रवर्तीकी सेनासंबंधी मनुष्य तिर्यंचोंके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक मिलेहुये शब्दोंको एकसाथ अलग अलग सुन सकता है ॥ ६७ ॥ हे देव ! आप ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । आप प्रत्येकबुद्ध तथा स्वयंबुद्ध हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ६८ ॥ हे स्वामिन् ! आप दश पूर्वोंको पूर्णरीतिसे जानते हो इसीलिये संसारमें पूज्य हुये हो। इसके सिवाय आप समस्त चौदह पूर्वोंके भी पारंगत हो इसलिये भी आपको बारंबार नमस्कार हो ॥ ६९ ॥ हे देव ! आप पक्षोपवास मासोपवास आदि घोर तपश्चरण करनेवाले हैं । अनेक परीषहोंको जीत कर महातपश्चरण धारण करनेवाले हैं तथा अनेक कर्मोंके नष्ट करनेवाले अठारह हजार दूषणरहित महा ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले महातेजस्वी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ७० ॥ हे देव ! आपको अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व वशित्व ये आठ * विक्रियाऋद्धि सिद्ध हुई हैं ।

* जिसके निमित्तसे सूक्ष्म शरीर हो जाय उसे अणिमाऋद्धि कहते है । जिसके निमित्तसे स्थूल शरीर कर सकें वह महिमाऋद्धि है । जिसके निमित्तसे शरीरको भारी कर सकें वह गरिमाऋद्धि और जिसके निमित्तसे हलका शरीर करसकें वह लघिमाऋद्धि है । जिसके निमित्तसे मेरुकी चूलिका स्पर्श करे अथवा देवोंके विमान कंपायमान करे वह प्राप्तिऋद्धि है । जिसके निमित्तसे थलमें जलके समान और जलमें थलके समान गमनागमन कर सके अथवा अढाईद्वीपमें इच्छानुसार चाहे जहा जा सके वह प्राकाम्यऋद्धि है। जिसके निमित्तसे चक्रवर्तीके समान विभूति कर सके वह ईशित्वऋद्धि है । जिसके निमित्तसे सबको वश कर सके वह वशित्वऋद्धि है ।

इनके सिवाय आप आमर्ष[1] क्ष्वेल[2] वाग्विप्रुट्[3] जल्ल[4], सर्वौषधि[5] आदि ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ७१ ॥ हे देव आप अमृतस्रावणी[6], मधुस्रावणी[7], क्षीरस्रावणी[8], सर्पिस्रावणी[9] आदि रसऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो । इसके सिवाय आप मनोबल, वचनबल, कायबलसे अतिशय बलवान हैं इसलिये आप को नमस्कार है ॥ ७२ ॥ हे स्वामिन् आप जलचारण[10], जंघाचारण[11], फलचारण[12], श्रेणीचारण[13], तंतुचारण[14] पुष्पचारण[15], अंबरचारण[16] आदि चारणऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं तथा अक्षीण[17] ऋद्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको

१ जिनके किये हुये वमनकी वायु समस्त रोगोंको नष्ट करदे उसको आमर्षऋद्धि कहते हैं। २ जिनके मुखसे निकलेहुये कफको स्पर्श करनेवाली वायु सब रोगोंको दूर कर दे उसे क्ष्वेलऋद्धि कहते है। ३ जिनके मुखकी निकली हुई वाफ सर्वरोगापहारी हो उसे वाग्विप्रुट्ऋद्धि कहते है। ४ जिनके मलको स्पर्शन की हुई वायु सब रोगोंको नष्ट करदे उसे जल्लऋद्धि कहते है। ५ जिनके शरीरकी स्पर्श की हुई वायु सपूर्ण रोग दूर करसके वह सर्वौषधिऋद्धि है। ६ यदि भोजनमें विष भी हो परंतु जिसके निमित्तसे वह सब अमृतरूप हो जाय उसे अमृतस्रावणीऋद्धि कहते हैं। ७ जिसके निमित्तसे भोजनशालामें मीठा न रहते भी मीठा हो जाय उसे मधुस्रावणीऋद्धि कहते है। ८ जिसके निमित्तसे भोजनशालामें दुग्ध होजाय वह क्षीरस्रावणीऋद्धि है ९ और जिसके निमित्तसे भोजनशालामें घृत हो जाय वह सर्पिस्रावणीऋद्धि है। १० जिसके निमित्तसे थलके समान जलपर चले जाय और जलकायके वा जलमें रहनेवाले जीवोंको किसी प्रकारकी बाधा न हो वह जलचारणऋद्धि है। ११ जिसके निमित्तसे पद्मासन, अर्द्धपद्मासन बैठे हुये ही जहां चाहें आकाशमें होकर चले जाय उसे जंघाचारणऋद्धि कहते है। १२ जिसके निमित्तसे फलोंपर होकर चल जासकें फल टूटै नहीं उसे फलचारणऋद्धि कहते है। १३ जिसके निमित्तसे आकाशमें श्रेणीबद्ध गमनागमन कर सकें पर्वत आदिसे भी न रुकें उसे श्रेणीचारणऋद्धि कहते है। १४ जिसके निमित्तसे मकडीके तंतुओंपर होकर गमनागमन कर सकें उसे तंतुचारणऋद्धि कहते है। १५ जिसके निमित्तसे पुष्पोंपर होकर चले जांय पुष्पाश्रित जीवोंको कोई बाधा न हो उसे पुष्पचारणऋद्धि कहते है। १६ जिसके निमित्तसे आकाशमें सर्वत्र गमनागमन करसके और किसी भी जीवको बाधा न हो उसे अबरचारणऋद्धि कहते है। इसीप्रकार अंकुरचारण,- बीजचारण आदि भी ऋद्धिया होती है। १७ अक्षीणऋद्धि दोप्रकारकी होती है। एक अक्षीणमहानस और दूसरी अक्षीणमहालय। जिसके निमित्तसे मुनिके आहार लेनेबाद भोजनशालाकी बचीहुई सामग्री उस दिनकेलिये अक्षय हो जाय उसको अक्षीणमहानसऋद्धि कहते है और जिसके निमित्तसे मुनिके आहार लेनेका स्थान छोटासा भी हो तो उसमें चक्रवर्तीके कटक तक बैठ जानेका अवकाश हो जाय उसे अक्षीणमहालयऋद्धि कहते है।

चारणर्द्धिजुषे तुभ्यं नमोऽक्षीणमहर्द्धये ॥ ७३ ॥ त्वमेव परमो बंधुस्त्वमेव परमो गुरुः । त्वामेव सेवमानानां भवंति ज्ञानसंपदः ॥ ७४ ॥ त्व-यैव भगवन् विश्वा विहिता धर्मसंहिता । अत एव नमस्तुभ्यममी कुर्वंति योगिनः ॥ ७५ ॥ त्वत्त एव परं श्रेयो मन्यमानास्ततो वयं । तव पादा-ङ्घ्रिपच्छायां त्वय्यास्तिक्यादुपास्महे ॥ ७६ ॥ वाग्गुप्तेस्त्वत्स्तुतौ हानिर्मनोगुप्तेस्तव स्मृतौ । कायगुप्तेः प्रणामे ते काममस्तु सदापि नः ॥ ७७ ॥ स्तुत्वेति स्तुतिभिः स्तुत्य भवत भुवनाधिक । पुराणश्रुतिमेवैना तत्फलं प्रार्थयामहे ॥ ७८ ॥ पुराणश्रुतितो धर्मो योऽस्माकमभिसंस्कृतः । पुरा-णकवितामेव तस्मादाशास्महे वयं ॥ ७९ ॥ त्वत्पादाराधनात्पुण्यं यदस्माभिरुपार्जितं । तवैव तेन भूयान्नः परार्थाः सपदूर्जिता ॥ ८० ॥ त्वत्प-

---

बारंबार नमस्कार हैं ॥ ७३ ॥ हे नाथ ! संसारमें आप ही परम बंधु हैं आप ही परमगुरु हैं । जो लोग आपकी सेवा करते हैं उन्हें ज्ञानरूपी संपत्ति अवश्य ही प्राप्त होती है ॥ ७४ ॥ हे देव ! संसारमें समस्त धर्म-शास्त्रका निरूपण आपने ही किया है इसीलिये योगीश्वर लोग आपको नमस्कार करते हैं ॥ ७५ ॥ हे नाथ ! उत्तम कल्याणकी प्राप्ति आपसे ही होती है यही समझकर हम लोग आपसे श्रद्धा रखकर आपके चरणरूप वृक्षोंकी छायाकी उपासना करते हैं ॥ ७६ ॥ हे नाथ ! यद्यपि आपकी स्तुति करनेसे वाक्-गुप्तिकी-हानि होती है आपका स्मरण करनेसे मनोगुप्तिकी हानि होती है और आपको नमस्कार करनेसे कायगुप्तिकी हानि होती है तथापि हमलोगोंको इसकी कुछ चिंता नहीं है तीनों गुप्तियोंकी हानि होते हुये भी हम लोग सदा आपकी स्तुति करेंगे आपका स्मरण करेंगे और सदा आपको नमस्कार करेंगे ॥ ७७ ॥ हे गौतम स्वामिन् ! हमलोग प्रार्थना करते हैं कि हम लोगोंने संसारमें श्रेष्ठ और स्तुति करने योग्य आपकी जो कुछ उपर्युक्तप्रकार स्तुति की है उससे तरेसठ शलाकापुरुषोंका जीवन चरित्र सुनना यही फल हम लोगोंको मिले ॥ ७८ ॥ हमलोग आशा करते हैं कि हमें पुराण सुननेसे जो कुछ धर्मकी प्राप्ति होगी उससे हमें कवितारूप पुराण रचनेकी शक्ति हो अर्थात् हम भी आपके कहेहुये पुराणकी कविता कर सकें ऐसी शक्ति हमलोगोंको प्राप्त हो ॥ ७९ ॥ हे नाथ ! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हमें जो

सादादिय देव सफला प्रार्थनास्तु न । सार्धं राजर्षिणानेन श्रोतृननुग्रहाण नः ॥ ८१ ॥ इत्युच्चै स्तोत्रसंपाठैस्तत्क्षणं प्रविजृंभितः। पुण्यो मुनिसमाजेस्मिन्महान्कलकलोभवत् ॥ ८२ ॥ इत्थं स्तुवद्भिरोघेन मुनिवृंदारकैस्तदा । प्रसादितो गणेंद्रो भूद्भक्तिग्राह्या हि योगिन ॥ ८३ ॥ तदा-प्रशांतगंभीरं स्तुत्वा मुनिभिरार्थित । मनोव्यापारयामास गौतमस्तदनुग्रहे ॥ ८४ ॥ तत. प्रशांतसजल्पे प्रव्यक्तकरकुड्मले । शुश्रूषावहिते साधुस-

---

कुछ पुण्यप्राप्त होगा उससे हमें भी आपकी यह उत्कृष्ट महा संपत्तिकी प्राप्ति हो ॥ ८० ॥ हे देव ! आपके प्रसादसे हम लोगोंकी यह उपर्युक्त प्रार्थना सफल हो। आप महाराज श्रेणिकके साथ साथ हम सब श्रोताओंपर कृपा करें ॥ ८१ ॥ इसप्रकार मुनियोंने जो बड़े ऊंचे शब्दोंसे गणधरदेवकी स्तुति की थी उससे उस समय उस मुनिसमाजमें एक बड़ा भारी पुण्यरूप कोलाहल शब्द हो रहा था ॥ ८२ ॥ इसप्रकार जब मुनियोंने इकट्ठे होकर गणधरदेवकी स्तुति की तब वे प्रसन्न हुये सो ठीक ही है योगीश्वर लोग भक्तिके वशीभूत होते ही हैं ॥ ८३ ॥ इसप्रकार जब मुनियोंने शांतता और गंभीरतापूर्वक गणधरदेवकी स्तुति और प्रार्थना की, तब वे उनपर अनुग्रह करनेकेलिये दत्तचित्त हुये ॥ ८४ ॥ जब वह मुनियोंका समूह स्तुति कर चुप होगया, सबलोग हाथ जोड़ कर एकाग्रचित्त हो सुननेकेलिये सावधान हुये, तब वे भगवान् गौतम गणधर स्वामी श्रोताओंको संबोधन करके गंभीर उदार और मधुरवाणीसे कहने लगे। गणधरदेवके मुखसे निकली हुई वह सरस्वती देवी सर्वथा निर्दोष और अतिशय निर्मल थी और ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो वह गणधरस्वामीके दांतोंकी किरणोंके बहानेसे साक्षात् प्रगट ही हो रही हो। उपदेश देतेहुये वे गणधर स्वामी भी उस समय ऐसे शोभायमान होने लगे मानो जो योगीश्वर भक्तिरूप मूल्य देकर अपनी इच्छानुसार मोल लेना चाहते हैं उन्हें अनुक्रमसे रक्खे हुये अनेकप्रकारके सुभाषित रूपी रत्न ही दिखा रहे हों अथवा उस सभामें अपने शोभायमान दांतोंकी दैदीप्यमान किरणरूपी फूलोंको इधर उधर फैलाकर सरस्वती प्रवेश करनेकेलिये मानो रंगभूमि ही तैयार कर रहे हों अथवा सबके

माजे निभृत स्थिते ॥ ८५ ॥ वाङ्मलानामशेषाणामपायाददतिनिर्मलां । वाग्देवीं दशनज्योत्स्नाव्याजेन स्फुटयन्निव ॥ ८६ ॥ सुभाषितमहारत्नप्रसारमिव दर्शयन् । यथाकाम जिघृक्षूणां भक्तिमूल्येन योगिनां ॥ ८७ ॥ लसद्दशनदीप्तांशुप्रसूनैराकिरन्सदः ॥ सरस्वतीप्रवेशाय पूर्वरंगमिवाचरन् । ८८ ॥ मन.प्रसादमभितो विभजद्भिरिवायतैः । प्रसन्नैर्वीक्षितै' कृत्स्ना सभा प्रक्षालयन्निव ॥ ८९ ॥ तपोनुभावसंजातमध्यासीनोपि विष्टर । जगतामुपरीवोच्चैर्माहिम्ना घटितास्थिति ॥ ९० ॥ सरस्वतीपरिक्लेशमनिच्छन्निव नाधिक । तीव्रयन्करणस्पदमभिन्नमुखसौष्ठवं. ॥ ९१ ॥ न स्विद्यन्न परिश्राम्यन्नो त्रस्यन्न परिस्खलन् । सरस्वतीमतिप्रौढामनायासेन योजयन् ॥ ९२ ॥ सममृज्वायतस्थानमास्थाय रचितासनः । पल्यकेन परां कोटीं वैराग्यस्येव रूपयन् ॥ ९३ ॥ कर वाम स्वपर्यंके निधायोत्तानित शनै' ॥ देशनाहस्तमुत्क्षिप्य मार्दव नाटयन्निव ॥ ९४ ॥ व्याजहाराति-

---

मन को प्रसन्न करनेवाली अपनी स्वच्छ और लंबी दृष्टि चारों ओर डालकर संपूर्ण सभाका प्रक्षालन ही कर रहे हों अथवा तपश्चरणकी सामर्थ्यसे जो ऊंचा सिंहासन प्राप्त हुआ है उसपर विराजमान होकर मानो जिन्होंने संपूर्ण संसारपर अपनी उच्चस्थिति प्रगट की हो। वे गौतमस्वामी उपदेश देते समय न तो सरस्वतीको ही कष्ट देना चाहते थे और न अधिक इंद्रियोंको ही चलायमान करना चाहते थे। उस समय उनके मुखका सौंदर्य भी नष्ट नहीं होता था। उपदेश देते समय भगवान गौतमस्वामीको न पसीना ही आता था न परिश्रम ही होता था। न उन्हें कुछ भय ही लगता था और न कभी उनकी इंद्रिया हीं शिथिल होती थीं। वे बिना किसी परिश्रमके अतिशय प्रौढ सरस्वतीका उपभोग (प्रकाश) करते थे। समान और सरल स्थानपर पर्यंकासनसे विराजमान होकर वे भगवान् ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो केवल शरीरसे ही वैराग्यकी चरम सीमाका उपदेश दे रहें हों। उस समय उनका बांयां हाथ पर्यंकासनके वायें घोंटूपर था और दांयां हाथ धीरेसे थोड़ासा ऊंचा होकर उठा हुआ था उस समय वे ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो मार्दवधर्मको ही नृत्य करा रहे हों अर्थात् मार्दवधर्मको अतिशय प्रगट कर रहे थे ॥ ८५–९५॥ इसप्रकार भगवान गौतमस्वामी उपदेश देने लगे और कहने लगे कि भो बुद्धिमान ! आयुष्मान्

गभीरमधुरोदारया गिरा। भगवान् गौतमस्वामी श्रोतॄन्संबोधयन्निति ॥ ९५ ॥ श्रुतं मया श्रुतस्कंधादायुष्मंतो महाधियः। निबोधत पुराणार्थं यथावत्कथयामि व ॥ ९६ ॥ यत्प्रजापतये ब्रह्मा भरतायादितीर्थकृत्। प्रोवाच तदहं तेद्य वक्ष्ये श्रेणिक भो. शृणु ॥ ९७ ॥ महाधिकाराश्चत्वारः श्रुतस्कधस्य वर्णिताः। तेषामाद्योऽनुयोगोऽय सतां सच्चरिताश्रयः ॥ ९८ ॥ द्वितीयः करणादि स्यादनुयोगः स यत्र वै। त्रैलोक्यक्षेत्रसंख्यान कुलपत्रेधिरोपितं ॥ ९९ ॥ चरणादिस्तृतीयः स्यादनुयोगो जिनोदित। यत्र चर्याविधानस्य परा शुद्धिरुदाहृता ॥ १०० ॥ तुर्यो द्रव्यानुयोगस्तु द्रव्याणां यत्र निर्णयः। प्रमाणनयनिक्षेपैः सदाद्यैश्च किमादिभिः ॥ १०१ ॥ आनुपूर्व्यादिभेदेन पंचधोपक्रमो मत। स पुराणा-

---

भव्यजन हो श्रुतस्कंधानुसार जैसा कुछ यह पुराण मैंने सुना है वह ज्योंका त्यों तुम्हारेलिये कहता हूं तुम लोग ध्यान देकर सुनो ॥ ९६ ॥ श्रीप्रथम तीर्थंकर आदिब्रह्मा श्रीवृषभदेवने महाराज भरतकेलिये जो पुराण कहा था वही पुराण आज मैं कहता हूं। श्रेणिक ! तुम ध्यान देकर सुनो ॥ ९७॥

श्रुतस्कंधके चार महा अधिकार वर्णन किये हैं जिसमें पहला अधिकार प्रथमानुयोग कहलाता है। जिसमें तीर्थंकर आदि महापुरुषोंके चरित्र निरूपण हों उसे प्रथमानुयोग कहते हैं॥९८॥ दूसरे महाधिकारका नाम करणानुयोग है। जैसे किसी ताम्रपत्रपर किसीकी वंशावली लिखी होती है उसीप्रकार जिसमें पृथक् पृथक् तीनों लोकोंके क्षेत्रोंका निरूपण हो उसे करणानुयोग कहते हैं॥९९॥ श्रीजिनेंद्रदेवने तीसरा महाअधिकार चरणानुयोग बतलाया है। जिसमें मुनि और श्रावकोंके चारित्रकी शुद्धि निरूपण की गई हो वह चरणानुयोग कहलाता है॥१००॥ इसीप्रकार चौथे महाधिकारका नाम द्रव्यानुयोग है जिसमें प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव, अल्पबहुत्व, निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान आदिसे द्रव्योंका निर्णय किया जाता है उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं॥१०१॥ आनुपूर्वी आदि पांच प्रकारका उपक्रम माना है जोकि इस पुराणके प्रारंभमें शास्त्रानुसार योजना कर लेना चाहिये॥१०२॥ जिस पदार्थके निरूपण करनेकी प्रतिज्ञाकी है श्रोताओंको उसका स्वरूप समझा देना उपक्रम कह-

७

वतारेस्मिन्योजनीयो यथागमं ॥ १०२ ॥ प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणं । उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपोद्घात इत्यपि ॥ १०३ ॥ आनुपूर्वी तथा नाम प्रमाण साभिधेयक । अर्थाधिकारश्चेत्येव पचैते स्युरुपक्रमा· ॥ १०४ ॥ पूर्वानुपूर्व्या प्रथमश्चरमोय विलोमत. । यथा तथानुपूर्व्या च या काचिद्गणना श्रित· ॥ १०५ ॥ श्रुतस्कंधानुयोगाना चतुर्णां प्रथमो यत । ततोनुयोग प्रथम प्राहुरन्वर्थसज्ञया ॥ १०६ ॥ प्रमाणमधुना तस्य वक्ष्यते ग्रथतोर्थतः । ग्रंथगौरवभीरूणा श्रोतृणामनुरोधत ॥ १०७ ॥ सोऽर्थतोपरिमेयोऽपि सख्येय शब्दतो मत । कृत्स्नस्य वाङ्मयस्यास्य सख्येयत्वानतिक्रमात् ॥ १०८ ॥ द्वे लक्षे पचपचाशत्सहस्राणि चतु शत । चत्वारिंशत्तथा द्वे च कोट्योस्मिन्ग्रथसख्यया ॥ १०९ ॥

लाता है। इसका दूसरा नाम उपोद्घात भी है ॥१०३॥ इस उपक्रमके पांच भेद हैं आनुपूर्वी १ नाम २ प्रमाण ३ अभिधेय ४ और अर्थाधिकार ५ ॥१०४॥ यदि चारों अनुयोगोंको अनुक्रमसे गिनाजाय तो प्रथमानुयोग पहला अनुयोग होता है और यदि इसको उलटा गिना जाय तो यही प्रथमानुयोग अंतका अनुयोग ठहरता हैं अर्थात् इन अनुयोगोंकी गिनती प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग द्रव्यानुयोग इसप्रकार भी होती है और द्रव्यानुयोग चरणानुयोग करणानुयोग प्रथमानुयोग इसप्रकार भी होती है । इन दोनोंमें से कोई भी एक प्रकारकी गणना करना आनुपूर्वी कहलाती है। १०५। ग्रंथके नाम कहनेको नाम कहते हैं। इस ग्रंथका नाम प्रथमानुयोग है जो कि सार्थक गिना जाता है क्योंकि चारों अनुयोगरूप श्रुतस्कंधमें यह सबसे पहला है ॥ १०६ ॥ कदाचित् किसी श्रोताको यह भय लगता होगा कि यह ग्रंथ बहुत बड़ा होगा इसलिये ऐसे श्रोताओंके अनुरोधसे इस ग्रंथका प्रमाण अक्षरोंकी संख्या और अर्थका परिमाण दोनों प्रकारसे कह देते हैं ॥ १०७ ॥ यद्यपि इसका अर्थ अपरिमाण है अर्थात् यह अर्थसे अपरिमेय है तथापि शब्द और अक्षरोंसे इसकी संख्या हो सकती है क्योंकि शब्द और अक्षरोंसे संपूर्ण द्वादशांगकी संख्या भी संख्यातके भीतर ही है। संख्यातके बाहर नहीं है ॥ १०८ ॥ यदि अनुष्टुप् श्लोकोंसे इस प्रथमानुयोग ग्रंथकी संख्या की जाय तो वह दो लाख करोड़ पचपनहजार करोड़ चारसौ व्यालीस

एकत्रिंशच्च लक्षा: स्युः शतानां पंचसप्ततिः । ग्रथसंख्या च विज्ञेया श्लोकेनानुष्टुभेन हि ॥ ११० ॥ ग्रथप्रमाणं निश्चित्य पदसंख्योपवर्ण्यते । पंचैवेह सहस्राणि पदाना गणना मता ॥ १११ ॥ शतानि षोडशैव स्युश्चतुस्त्रिंशच्च कोटय । त्र्यशीतिलक्षाः सप्तैव सहस्राणि शताष्टक ॥ ११२ ॥ अष्टाशीतिश्च वर्णा: स्यु सहता मध्यम पदं । पदेनैतेन मीयते पूर्वांगग्रथविस्तरा ॥ ११३ ॥ द्रव्यप्रमाणमित्युक्त भावतस्तु श्रुताह्वय । प्रमाणम-विसवादि परमर्षिप्रणेतृकं ॥ ११४ ॥ पुराणस्यास्य वक्तव्य कृत्स्न वाङ्मयमिष्यते । यतो नास्माद्बहिर्भूतमस्ति वस्तु वचोपि वा ॥ ११५ ॥ यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकराकरात् । तथैव सूक्तरत्नाना प्रभवोस्मात्पुराणत. ॥ ११६ ॥ तीर्थकृच्चक्रवर्तींद्रबलकेशवसपद । मुनीनामृद्धय-

---

करोड़ इकतीस लाख सातहजार पांचसौ (२५५४४२३१०७५००) श्लोक होते हैं ॥ १०९ । ११० ॥ इस-प्रकार ग्रंथका प्रमाण कहकर अब इसके पदोंकी संख्या कहते हैं । इस प्रथमानुयोग ग्रंथकी पदसंख्या पांच हजार जानना ॥ १११ ॥ और एकएक मध्यम पदमें सोलहसौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षर होते हैं । ग्यारह अंग चौदहपूर्वोंकी ग्रंथसंख्या इसी मध्यम पदसे की जाती है ॥ ११२-११३ ॥ यह जो ऊपर परिमाण कहा गया है वह अक्षर पदरूप द्रव्यश्रुतज्ञानका है उसके अर्थका नहीं । उसका अर्थ श्रुतज्ञानरूप है जोकि सत्यार्थ, केवलीप्रणीत और केवलज्ञानगोचर है ॥ ११४ ॥ इस पुराणका जो संपूर्ण अंग प्रकीर्णकरूप श्रुतज्ञान है वह वक्तव्य कहलाता है। उसमें भी दृष्टिवादका जो तीसरा प्रथमानुयोग भेद है जिसके ५००० पद हैं एक एक पदमें १६३४८३०७८-८८ अक्षर हैं पांचहजार पदोंके सब अक्षर १६३४८३०७८८८×५०००=८१७४१५३९४४०००० हुये। इनमें ३२ का भाग देनेसे २५५४४२३१०७५०० श्लोक हुये। यह सब प्रथमानुयोगमें कथन करने योग्य हैं। क्योंकि इस पुराणके बाहर न तो कोई पदार्थ ही है और न कोई वाक्य हैं ॥ ११५ ॥ जैसे बहुमूल्य रत्नोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है उसीप्रकार सुभाषितरूपी रत्नोंकी उत्पत्ति इस पुराणसे समझना चाहिये ॥ ११६ ॥ चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, सौ इंद्र, नौ बलदेव, नौ नारायण इन सबकी विभूति और मुनियोंकी ऋद्धियां

श्चास्य वक्तव्या' सहकारणे' ॥ ११७ ॥ बद्धो मुक्तस्तथा वंधो मोक्षस्तद्द्वयकारणं। षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च नवेत्यस्यार्थसंग्रहः ॥११८॥ जगत्त्रय-निवेशश्च त्रैकाल्यस्य च संग्रहः । जगतः सृष्टिसंहारौ चेति कृत्स्नमिहोच्यते ॥ ११९ ॥ मार्गो मार्गफलं चेति पुरुषार्थसमुच्चयः । यावान्प्रविस्तरस्तस्य धत्ते सोस्याभिधेयतां ॥ १२० ॥ किमत्र बहुनोक्तेन धर्मसृष्टिरविप्लुता । यावती साऽस्य वक्तव्यपदवीमवगाहते ॥ १२१ ॥ सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितं । सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥ १२२ ॥ यदत्र सुस्थितं वस्तु तदेव निकषक्षमं । यदत्र दुःस्थितं नाम

आदि सब इस पुराणमें कही जायंगी और यह भी बतलाया जायगा कि जीवोंको ये सब विभूति और ऋद्धियां किस प्रकार प्राप्त होती हैं अर्थात् यह सब कथन करना इस पुराणका अभिधेय है ॥ ११७ ॥ और इसीप्रकार संसारीजीव तथा मुक्तजीव, बंध, मोक्ष, बंधका कारण और मोक्षका कारण जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य अथवा जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ पदार्थ ये सब मिलकर इस पुराणका अर्थसंग्रह समझना चाहिये ॥ ११८ ॥ इस पुराणमें तीनों लोकोंकी रचना निरूपण की जायगी भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंका कथन कहा जायगा। तथा संसारकी उत्पत्ति विनाश आदि सब कुछ कहा जायगा ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग, मोक्षरूप इसका फल तथा धर्म, अर्थ, काम, ये पुरुषार्थ इन सबका जो कुछ विस्तार है वह सब इस ग्रंथका अभिधेय है॥ १२० ॥ अधिक कहांतक कहाजाय सबका अभिप्राय यही है कि जो कुछ निर्बाध धर्मका विस्तार है वह सब इस ग्रंथमें कहा जायगा ॥ १२१ ॥ जो सुभाषित दूसरी जगह अधिक ढूंढनेपर भी नहीं मिल सकता वह इस ग्रंथमेंसे इच्छानुसार सहज रीतिसे संग्रह किया जा सकता है। क्योंकि इस ग्रंथमें ऐसे सुभाषित पदपदपर मिलते हैं॥ १२२॥ इस ग्रंथमें जो पदार्थ उत्तम गिना गया है, वह सब जगह कसौटीके द्वारा परीक्षा किये सुवर्णके समान उत्तम ही समझना चाहिये और जो पदार्थ इस ग्रंथमें बुरा बताया गया है वह सब जगह बुरा ही पाया जायगा॥ १२३॥ इसप्रकार इस ग्रंथका

तत्सर्वत्रैव दु:स्थित ॥ १२३ ॥ एव महाभिधेयस्य पुराणस्यास्य भूयस । क्रियतेर्थाधिकाराणामियत्तानुगमोधुना ॥ १२४ ॥ त्रय.षष्टि-रिहार्थाधिकारा प्रोक्ता महर्षिभि । कथापुरुषसख्यायास्तत्प्रमाणानतिक्रमात् ॥ १२५ ॥ त्रिषष्ट्यवयव· सोय पुराणस्कध इष्यते । अवातराधि-काराणामपर्यतोत्र विस्तर· ॥ १२६ ॥ तीर्थकर्तृपुराणेषु शेषाणामपि सग्रहात् । चतुर्विंशतिरेवात्र पुराणानीति केचन ॥ १२७ ॥ पुराण वृष-भस्याद्य द्वितीयमजितेशिन· । तृतीय शभवस्येष्ट चतुर्थमभिनदने ॥ १२८ ॥ पचम सुमते· प्रोक्त षष्ठ पद्मप्रभस्य च । सप्तम स्यात्सुपार्श्वस्य चद्रभासोष्टम स्मृत ॥ १२९ ॥ नवम पुष्पदतस्य दशम शीतलेशिन: । श्रेयास च पर तस्माद् द्वादश वासुपूज्यग ॥ १३० ॥ त्रयोदश च विमले ततोनतजित. पर । जिने पचदश धर्मे शाते षोडशमीशितु. ॥ १३१ ॥ कुथोः सप्तदशं ज्ञेयमरस्याष्टादश मतं । मल्लेरेकोनविंश स्याद्विंशं च

महान् प्रयोजन है बड़े बड़े पुरुषोंका इसमें चरित्र है इसलिये अब इसके अर्थाधिकारोंकी संख्याका नियम कहदेते हैं ॥ १२४ ॥ इस ग्रंथमें तिरेसठ महापुरुषोंका चरित्र निरूपण किया है इसलिये इसी संख्या के अनुसार बड़े बड़े आचार्योंने इसके तिरेसठ ही अधिकार निरूपण किये हैं ॥ १२५ ॥ इसप्रकार इस पुराणस्कंधके तिरेसठ अधिकार वा तिरेसठ अवयव समझना चाहिये परंतु इसके अंतर्गत अवांतर अधिकारोंका विस्तार अमर्याद है ॥ १२६ ॥ कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि तीर्थंकरोंके पुराण कहनेमें ही चक्रवर्ती बलदेव आदि सब महापुरुषोंका चरित्र आजाता है इस हिसाबसे इस ग्रंथमें चौबीस ही पुराण समझना चाहिये और वे चौबीस पुराण इसप्रकार हैं। पहला पुराण वृषभनाथका, दूसरा अजितनाथका, तीसरा शंभवनाथका, चौथा अभिनंदन स्वामीका पांचवां सुमतिनाथका, छठा पद्मप्रभका, सातवां सुपार्श्वनाथका, आठवां चंद्रप्रभका, नौवां पुष्पदंतका, दशवां शीतलनाथका, ग्यारहवां श्रेयांसनाथका, बारहवां वासुपूज्यका, तेरहवां विमलनाथका, चौदहवां अनंतनाथका, पंद्रहवां धर्मनाथका, सोलहवां शांतिनाथका, सत्रहवां कुंथुनाथका, अठारहवां अरनाथका, उन्नीसवां मल्लिनाथका, बीसवां मुनिसुव्रतका, इक्कीसवां नमिनाथका, बावीसवां नेमिनाथका, तेईसवां पार्श्वनाथका और चौवीसवां महावीर स्वामी

मुनिसुव्रते ॥१३२॥ एकविंश नमेर्भर्तुर्नेमेर्द्वाविंशमर्हतः । पार्श्वेशस्य त्रयोविंशं चतुर्विंशं च सन्मते ॥१३३॥ पुराणान्यैवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हतां । महापुराणमेतेषा समूहः परिभाष्यते ॥ १३४ ॥ पुराण महदाद्यत्वे यदस्माभिरनुस्मृत । पुरा युगाते तन्नून कियदप्यवशिष्यते ॥ १३५ ॥ दोषाद्दुःषमकालस्य प्रहास्यते धियो नृणा । तासा हाने पुराणस्य हीयते ग्रथविस्तर ॥ १३६ ॥ तथाहीद पुराण न. सधर्मा श्रुतकेवली.। सुधर्मः प्रचय नेष्यत्यखिल मदनतर ॥ १३७ ॥ जबूनामा तत कृत्स्न पुराणमपि शुश्रुवान् । प्रथयिष्यति लोकेस्मिन्सोंत्य केवलिनामिह ॥ १३८ ॥ अह सुधर्मो जब्वाख्यो निखिलश्रुतधारिण । क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य निर्वास्यामस्ततो वय ॥ १३९ ॥ त्रयाणामस्मदादीनां कालः केवलिनामिह । द्वाषष्टिवर्षपिडः स्याद्भगवन्निर्वृते. पर ॥ १४० ॥ ततो यथाक्रम विष्णुर्नंदिमित्रोपराजितः । गोवर्धनो भद्रबाहुरित्याचार्या महाधिय. ॥

का ॥ १२७—१३३ ॥ इसप्रकार चौवीस तीर्थकरोंके ये उपर्युक्त चौवीस पुराण हैं और इन चौवीस पुराणों का समूह ही महापुराण कहलाता है ॥ १३४ ॥ जो महापुराण हमने आज कहा है वह इस अवसर्पिणी कालके अंतमें बहुत ही स्वल्प रह जायगा ॥१३५॥ क्योंकि पांचवें दुःखमकालके दोषसे मनुष्योंकी बुद्धि बराबर घटती चली जायगी और बुद्धिके घटनेसे ग्रंथका विस्तार भी कम हो जायगा ॥१३६॥ और वह इसप्रकार कम होगा कि जो पुराण मैंने कहा है उसे मेरे पीछे श्रुतकेवली श्री सुधर्माचार्य ज्योंका त्यों प्रकाश करेंगे ॥ १३७ ॥ उनसे यह संपूर्ण पुराण श्रीजंबूस्वामी सुनेंगे और वे अंतिम केवली होकर इस संसारमें उस संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥ १३८ ॥ इस समय मैं, सुधर्माचार्य और जंबूस्वामी तीनों ही पूर्ण श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले श्रुतकेवली हैं। हम तीनों ही एकके बाद एक इस क्रमसे केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जायंगे ॥१३९॥ भगवान् श्रीवर्द्धमानस्वामीके मुक्त होनेके अनंतर बासठ वर्षमें हम तीनों ही मुक्त होजायंगे ॥१४०॥ तदनंतर सौ वर्षमें यथाक्रमसे विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये महा बुद्धिमान् आचार्य होंगे । ये आचार्य ग्यारह अंग और चौदह पूर्वके पारगामी अर्थात् श्रुतकेवली होंगे और संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥ १४१-१४२ ॥ तदनंतर एकसौ तिरासी वर्षमें अ-

१४१ ॥ चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे । पुराणं द्योतयिष्यंति कात्स्न्र्येन शरदः शतं ॥ १४२ ॥ विशाखप्रोष्ठिलाचार्यौ क्षत्रियो जयसाह्वयः । नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेणस्तथैव च ॥ १४३ ॥ विजयो बुद्धिमान् गंगदेवो धर्मादिशब्दतः । सेनश्च दशपूर्वाणां धारका स्युर्यथाक्रम ॥ १४४ ॥ त्र्यशीत शतमब्दानामेतेषां कालसग्रहः । तदा च कृत्स्नमेवेद पुराण विस्तरिष्यते ॥ १४५ ॥ ततो नक्षत्रनामा च जयपालो महातपाः । पाडुश्च ध्रुवसेनश्च कसाचार्य इति क्रमात् ॥ १४६ ॥ एकादशागविद्याना पारगाः स्युर्मुनीश्वरा । विंश द्विशतमब्दानामेतेषा काल इष्यते ॥ १४७ ॥ तदा पुराणमेतत्तु पादोन प्रथयिष्यते । भाजनाभावतो भूयो जायेताङ्गाकनिष्ठता ॥ १४८ ॥ सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः । लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमागाब्धिपारगाः ॥ १४९ ॥ समाना शतमेषा स्यात् कालोष्टादशभिर्युत । तुर्यो भागः पुराणस्य तदास्य प्रतनिष्यते ॥ १५० ॥ तत क्रमात् प्रहायेद पुराण स्वल्पमात्रया । धीप्रमोषादिदोषेण विरलैर्धारयिष्यते ॥ १५१ ॥ ज्ञानविज्ञानसपन्नगुरुपर्वान्वयादिदं । प्रमाणं

नुक्रमसे विशाखाचार्य, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रियाचार्य, जयाचार्य, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिषेण विजय, बुद्धिमान् गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह आचार्य ग्यारह अंग दश पूर्वके धारण करनेवाले होंगे और इस संपूर्ण पुराणका प्रकाश करेंगे ॥१४३ । १४४ । १४५॥ इनके बाद दोसौ वीस वर्षमें अनुक्रमसे नक्षत्र, जयपाल, पांडु, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये पांच महातपस्वी मुनि होंगे जो कि ग्यारह अंगके पारगामी होंगे। इनके समयमें पुराणका तीन चतुर्थांश अर्थात् पौनभाग प्रकाश होगा। क्योंकि फिर उत्तरोत्तर बुद्धि कम होनेसे इस श्रुतज्ञानको धारण करनेवाला कोई पात्र नहीं रहेगा इसलिये भगवानका कहा हुआ यह पुराण अवश्य ही कम होता चला जायगा ॥ १४६ । १४७ । १४८ ॥ कंसाचार्यके बाद एकसौ अठारह वर्षमें सुभद्र यशोभद्र भद्रबाहु और लोहाचार्य ये चार महा यशस्वी आचार्य होंगे जो कि प्रथम अंगके पारगामी होंगे। इनके समयमें पुराणका चतुर्थांश (चौथाई) भाग प्रकाश होगा ॥ १४९ । १५० ॥ श्रीवर्द्धमानस्वामीके मुक्त होनेके छः सौ तिरासी वर्ष बाद यह पुराण अनुक्रमसे थोड़ा थोड़ा घटता चला जायगा क्योंकि लोगोंकी बुद्धि बराबर घटती चली जायगी इसलिये इसे फिर कोई कोई आचार्य ही धारण कर सकेंगे ॥ १५१ ॥ उस समय शास्त्रज्ञानको धारण करनेवाले तथा उसका अनुभव करनेवाले ऐसे अनु-

यच्च यावच्च यदा यच्च प्रकाशर्त ॥ १५२ ॥ तदापीदमनुस्मर्तुं प्रभविष्यंति धीधना. । जिनसेनाग्रगाः पूज्या' कवीनां परमेश्वरा. ॥ १५३ ॥ प्रमाणमिदमेवाद्य यदाम्नात स्वयभुवा । पुराणाभासमन्यत्तु केवलं वाङ्मलं विदु. ॥ १५४ ॥ नामग्रहणमात्र च पुनाति परमेष्ठिना । किं पुनर्मुहुरापीत तत्कथाश्रवणामृत ॥ १५५ ॥ ततो भव्यजनै श्राद्धैरवगाह्यमिदं मुहुः। पुराण पुण्यपुरत्नैर्भृतमब्धीयित महत् ॥ १५६ ॥ तच्च पूर्वानुपूर्व्येद पुराणमनुवर्ण्यते । तत्राद्यस्य पुराणस्य सग्रहे कारिका विदुः ॥ १५७ ॥ स्थिति. कुलधरोत्पत्तिर्वंशानामथ निर्गम । पुरो साम्राज्यमार्हत्य निर्वाण युगविच्छिद' ॥ १५८ ॥ एते महाधिकारा' स्युः पुराणे वृषभेशिन । यथावसरमन्येपु पुराणेष्वपि लक्षयेत् ॥१५९॥ कथोपोद्घात

क्रमसे होनेवाले आचार्योंके द्वारा जितना जो कुछ यह पुराण प्रकाशित होता रहैगा उसको स्मरण करनेकेलिये जिनसेनको आदि लेकर पूज्य, बुद्धिमान् और मुख्यकवि उत्पन्न होगे ॥ १५२-१५३ ॥ जिस पुराणका लक्षण ऊपर कहा गया है और जो श्रीवर्द्धमान स्वामीने निरूपण किया है वही पुराण प्रमाण है इसके सिवाय और पुराण सब पुराणाभास हैं वे केवल वाणीके दोषमात्र हैं ॥१५४॥ हे श्रेणिक ! पंच परमेष्ठियोंका नाम लेनेमात्रसे यह जीव पवित्र हो जाता है तो फिर उनकी कथारूप अमृतके बारबार पीनेसे तो कहना ही क्या है। अर्थात् उनकी कथा सुननेसे अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होता है ॥१५५॥ इसलिये यह पुराण जो पुण्यपुरुषरूपी रत्नोंसे भरा हुआ एक महासागरके समान हैं इसे श्रद्धालु श्रावकोंको तथा भव्यजनोंको बारंबार अवगाहन करना चाहिये अर्थात् इसका पठनपाठन मनन आदि नित्य करते रहना चाहिये ॥ १५६ ॥ जिस पुराणका वर्णन ऊपरसे करते चले आये हैं वही पुराण अब अनुक्रमसे कहेंगे और उसमें भी पहले श्रीवृषभनाथ पुराणकी कारिका कहेंगे । कारिका उसे कहते हैं, जिसमें शब्द थोड़े हों और अर्थ बहुत हो ॥१५७॥ इस वृषभनाथपुराणमें कालका निरूपण, कुलकरोंकी उत्पत्ति, वंशोकी उत्पत्ति, श्रीवृषभनाथका साम्राज्य, अरहंत अवस्था, निर्वाण और युगका विच्छेद होना ये महाधिकार हैं। इसीप्रकार अजितनाथपुराण आदि शेष तेईस पुराणोंमें जो जो अधिकार होंगे वे सब समयानुसार कहे जांयगे॥१५८।१५९॥ यह उपर्युक्त इस कथाका उपोद्धात कहा है अब आगे इस कथाकी

एषोऽस्या कथाया. पीठीकामित. । वक्ष्ये कालावतारं च स्थितिं कुलभृतामपि ॥ १६० ॥ प्रणिगदति सतीत्थं गौतमे भक्तिनम्रा मुनिपारिषद्-शेषा श्रोतुकामा पुराण । मगधनृपतिनामा सावधाना तदाभूत् हितमवगणयेद्वा क· सुधीराप्तवाक्य ॥ १६१ ॥ इत्याचार्यपरपरीणममल पुण्य पुराण पुरा कल्पे यद्भगवानुवाच वृषभश्चक्रादिभर्त्रे जिन । तद्वः पापकलकपकमाखिल प्रक्षाल्य शुद्धिं परां देयात्पुण्यवचोजलं परमिद तीर्थं जगत्पावन ॥ १६२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे कथोपोद्घातवर्णनं नाम द्वितीयं पर्व ॥ २ ॥

पीठीका कालावतार और कुलकरोंकी स्थिति आदि कहेंगे ॥ १६० ॥ इसप्रकार जब गौतम गणधरने पुराण कहनेकी प्रतिज्ञा की तब वह मुनियोंकी संपूर्ण सभा पुराण सुननेकी इच्छासे भक्तिवश अतिशय नम्र होकर मगधाधिपति महाराज श्रेणिकके साथ साथ अतिशय सावधान हुई । सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान है जो हितरूप आप्त वाक्योंकी अवहेलना करें ॥ १६१ ॥ इसप्रकार आचार्य परंपरासे प्राप्त हुआ तथा निर्दोष और पुण्यरूप जो पुराण इस युगके प्रारंभमें भगवान श्रीवृषभनाथ स्वामीने भरतचक्रवर्त्तिकेलिये कहा था, वह पुण्यवचनरूपी जल संसारको पवित्र करनेवाला उत्कृष्ट तीर्थके समान है। वही पुण्यवचनरूपी तीर्थ तुमलोगोंके समस्त पापकलंकरूपी कीचड़ धोकर तुम्हें परम शुद्ध करें॥१६२॥

इसप्रकार श्रीभगज्जितसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें
कथोपोद्घातवर्णन नामका दूसरा पर्व समाप्त हुआ ॥ २ ॥

—:0.—

अथ तृतीयं पर्व ।

पुराण मुनिमानम्य जिनं वृषभमच्युत । महतस्तत्पुराणस्य पीठिका व्याकरिष्यते ॥ १ ॥ अनादिनिधनः कालो वर्त्तनालक्षणो मत । लोकमात्र सुसूक्ष्माणुपरिच्छिन्नप्रमाणक' ॥ २ ॥ सोऽसख्येयोऽप्यनतस्य वस्तुराशेरुपग्रहे । वर्त्तते स्वगतानतसामर्थ्यपरिबृहित ॥ ३ ॥ यथा कुलालचक्रस्य भ्रातेर्हेतुरध शिला । तथा काल. पदार्थाना वर्तनोपग्रहे मत' ॥ ४ ॥ स्वतो विवर्त्तमानाना सोऽर्थाना परिवर्त्तक' । यथास्वगुण-

अथ तीसरा पर्व ।

श्रीवृषभनाथ स्वामी इस अवसर्पिणीकालके सबसे प्राचीन और अविनाशी मुनि हैं इसलिये उन्हें नमस्कार कर इस महापुराणकी पीठिका प्रारंभ करते हैं ॥ १ ॥ यह काल अनादिनिधन है वर्त्तना ही इसका लक्षण है। जो जीव पुद्गलादि द्रव्योंको एक पर्यायसे दूसरे पर्यापरूप परिणत करावे उसे वर्त्तना कहते हैं। यह वर्त्तना निश्चयकालका लक्षण है। निश्चयकाल अतिशय सूक्ष्म परमाणुमात्र है, और वे परमाणु असंख्यात हैं जो कि समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं ॥२॥ उन प्रत्येक परमाणुओंमें अनंत पदार्थोंके परिणमन करानेकी शक्ति है इसलिये वे असंख्यात होकर भी अनंत पदार्थोंके परिणमन होनेमें उपकारी होते हैं ॥ ३ ॥ जैसे कुंभारके चाकके फिरनेमें उसके नीचे लगी हुई लोहेकी कीली कारण है। यद्यपि फिरने की शक्ति चाकमें है तथापि वह बिना कीलीके नहीं फिर सकता। ठीक इसीप्रकार पदार्थोंके परिणमन होनेमें पदार्थोंमें ही शक्ति विद्यमान है तथापि वे बिना कालके परिणत नहीं हो सकते इसलिये पदार्थोंके परिणमन होनेमें काल निमित्त कारण है ॥ ४ ॥ संसारमें जितने पदार्थ हैं वे सब अपने आप एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त होते रहते हैं और यह उनकी अवस्था निज निज गुणपर्यायोंके द्वारा ही बदलती रहती है, उसमें काल केवल निमित्तकारण है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अपने आप परिणत होते हुये पदार्थोंके लिये काल निमित्त कारण होकर भी वह अन्य पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न है । अर्थात्

पर्यायैरतो नान्योऽन्यसंप्लवः ॥ ५ ॥ सोऽस्तिकायेष्वसंपाठान्नास्तीत्येके विमन्वते । षड्द्रव्येषूपादिष्टत्वाद्युक्तियोगाच्च तद्गति ॥ ६ ॥ मुख्यकल्पेन

किसी पदार्थसे परस्पर मिलता नहीं है ॥ ५ ॥ बहुतसे लोगोंका मत है कि काल पंचास्तिकायोंमें नहीं गिनाया है क्योंकि जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पांच ही अस्तिकाय कहे हैं इनमें काल कहा नहीं इसलिये वह कोई भिन्न पदार्थ नहीं है परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि काल [1]एकप्रदेशी है बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिये उसे अस्तिकायमें नहीं गिनाया। परंतु छह द्रव्योंमें उसे ग्रहण किया है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं इनमें काल गिनाया ही है इसलिये उसकी सत्ता अवश्य माननी चाहिये। दूसरी बात यह है कि युक्तिसे भी काल सिद्ध होता है और वह इसप्रकार कि संसारमें घड़ी घंटा आदि व्यवहारकाल प्रसिद्ध ही है और वे पर्यायरूप हैं पर्यायका कोई न कोई पर्यायी अवश्य होना चाहिये । क्योंकि बिना पर्यायीके पर्याय हो नहीं सकती इसलिये मानना चाहिये कि पर्यायरूप व्यवहारकालका पर्यायी मुख्यकाल है। यह व्यवहारकाल उसी मुख्यकालसे उत्पन्न हुआ है क्योंकि बिना मुख्यके किसी भी गौणपदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे किसीने कहा कि यह बालक सिंहके समान तेजस्वी है। संसारमें जब कोई सिंह पदार्थ सिद्ध है तभी उसका तेजधर्म किसी बालकमें आरोपण कर सकते हैं यदि सिंह कोई पदार्थ ही न हो तो उसका कोई धर्म भी किसीमें आरोपण नहीं कर सकते। इसी

१ काल एकप्रदेशी है इसमें प्रमाण यह है कि मुख्यकालसे जो व्यवहारकाल उत्पन्न होता है उसका छोटेसे छोटा भाग समय ही उत्पन्न होता है और वह समय केवल एक कालाणुसे उत्पन्न होता है समयोंके समूहसे ही फिर घडी घंटा आदि बनते हैं। यदि वह मुख्यकाल एक अणुरूप न होकर प्रदेशोंके समूहरूप होता तो उससे घड़ी घटा आदि समूहरूप व्यवहारकाल भी उत्पन्न होना चाहिये परतु उससे समूहरूप व्यवहारकाल उत्पन्न नहीं होता। इसलिये सिद्ध होता है कि वह एक प्रदेशी ही है बहुप्रदेशी नहीं है और इसीकारण ही इसे अस्तिकायमे नहीं गिना है। सत्तामात्रको अस्ति और प्रदेशोंके समूहको काय कहते है। यद्यपि कालकी सत्ता है तथापि वह बहुप्रदेशी न होनेसे कायरूप नहीं है इसलिये अस्तिकाय भी नहीं है।

कालोऽस्ति व्यवहारप्रतीतितः । मुख्याद्दते न गौणोऽस्ति सिंहो माणवको यथा ॥७॥ प्रदेशप्रचयापायात्कालस्यानास्तिकायता । गुणप्रचययोगोऽस्य द्रव्यत्वादस्ति सोऽस्त्यत. ॥८॥ अस्तिकायश्रुतिर्वाक्ति कालस्यानास्तिकायता । सर्वस्य सविपक्षत्वाज्जीवकायश्रुतिर्यथा ॥ ९ ॥ कालोऽन्यो व्यवहारात्मा मुख्यकालव्यपाश्रयः । परापरत्वसंसूच्यो वर्णित सर्वदर्शिभि ॥ १० ॥ वर्त्तितो द्रव्यकालेन वर्त्तनालक्षणेन य । काल पूर्वापरीभूतो व्यवहाराय

प्रकार मुख्यकालके होनेसे ही व्यवहारकालकी प्रतीति हो सकती है । व्यवहारकाल प्रसिद्ध है । इसलिये उसका उत्पादक पर्यायी मुख्यकाल भी अवश्य मानना पड़ेगा ॥ ६ । ७ ॥ यह मुख्यकाल केवल एक प्रदेशरूप है । अनेक प्रदेशोंके समूहरूप नहीं है इसलिये इस अस्तिकायमें नहीं गिना है । परंतु द्रव्योंमें अवश्य गिना गया है क्योंकि इसमें अगुरुलघुत्व गुण है वर्त्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वादिक पर्य्याय हैं । जिस में गुणपर्याय हों वह द्रव्य कहलाता है। इसमें अगुरुलघुत्वादि गुण हैं और उन गुणोंके विकार पर्याय हैं इसलिये वह द्रव्य है और द्रव्य होनेसे उसकी सत्ता अवश्य माननी चाहिये इससे सिद्ध हुआ कि संसार में काल कोई पदार्थ अवश्य है ॥ ८ ॥ जैसे जीव कहनेसे जीवसे विपक्षी पुद्गल धर्म अधर्म आदि अजीव कहलाते हैं ठीक इसीप्रकार जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाशको अस्तिकाय कहनेसे ही यह सिद्ध होता है किं काल अस्तिकाय नहीं है क्योंकि पुद्गलादि अस्तिकाय सव वहुप्रदेशी है और यह उनसे सर्वथा विपरीत है अर्थात् एकप्रदेशी ही है । अतएव सिद्ध हुआ कि मुख्यकाल कोई पदार्थ है और वह एक-प्रदेशी है । तथा उसके भिन्न भिन्न असंख्यात प्रदेश समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं ॥ ९ ॥ इस मुख्य-कालसे जो पर्य्याय उत्पन्न होता है उसे व्यवहारकाल कहते हैं जैसे समय आवली घड़ी घंटा आदि । तथा वह परिणाम क्रिया परत्वापरत्व आदिसे जाना जाता है । जैसे पंद्रह वर्षका वालक छोटा और बीस वर्षका बडा गिना जाता है। प्रातःकालादि होनेसे लोग आने जाने आदि क्रियाओं में लगजाते हैं इत्यादि श्रीसर्वज्ञदेवने कहा है ॥ १० ॥ यह व्यवहारकाल वर्त्तनालक्षणरूप निश्चयकालके अनुसार ही प्रवर्त्तन

कल्प्यते ॥ ११ ॥ समयावलिकोच्छ्वासनालिकादिप्रभेदत. । ज्योतिश्चक्रभ्रमायत्तं कालचक्रं विदुर्बुधा. ॥ १२ ॥ भवायु कायकर्मादिस्थितिसंकलनात्मक. । सोऽनतसमयस्तस्य परिवर्त्तोऽप्यनंतधा ॥ १३ ॥ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ । उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणां ॥ १४ ॥ कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमा सागरसख्यया । शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥ १५ ॥ षोढा स पुनरेकैको भिद्यते स्वभिदात्मभि । तन्नामान्यनुकीर्त्यंते शृणु राजन्यथाक्रम ॥ १६ ॥ द्विरुक्तसुषमाद्यासीत् द्वितीया सुषमा मता । सुषमादु·षमातान्या सुषमाता च दु·षमा ॥ १७ ॥

होता है और वह भूत भविष्यत वर्त्तमानरूपसे व्यवहारकेलिये कल्पना किया गया है ॥ ११ ॥ इसी व्यवहारकालके समय आवलिका उच्छ्वास घड़ी घंटा आदि अनेक भेद होते हैं और वे सब भेद ज्योतिश्चक्रके फिरनेसे होते हैं तथा वे सब व्यवहारकाल कहलाते हैं ॥ १२ ॥ यदि भवस्थिति आयुस्थिति कायस्थिति कर्मस्थिति आदि सबका समय जोड़ा जाय तो वह अनंत समयरूप होता है और उसका परिवर्त्तन भी अनंतप्रकारसे होता है ॥१३॥ इस व्यवहारकालके मुख्य दो भेद हैं एक उत्सर्पिणीकाल और दूसरा अवसर्पिणीकाल । जिसमें मनुष्योंका बल आयु और देहका परिमाण क्रमसे बढ़ता जाय उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें ये सब घटते जायं उसे अवसर्पिणीकाल कहते हैं ॥ १४ ॥ उनमेंसे उत्सर्पिणीकालका समय दश कोड़ाकोड़ी सागर है तथा अवसर्पिणीकालका समय भी दश कोड़ाकोड़ी सागर है । ये दोनों उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकाल मिलकर अर्थात् बीस कोड़ाकोड़ी सागरका एक कल्पकाल होता है ॥ १५ ॥ इन उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकालके प्रत्येकके छह छह भेद होते हैं । हे राजन् उन सबके नाम यथाक्रमसे कहे जाते हैं तुम ध्यान देकर सुनो ॥ १६ ॥ अवसर्पिणीकालके छह भेद ये हैं- पहला काल सुषमासुषमा, दूसरा सुषमा, तीसरा सुषमादुःषमा, चौथा दुःषमासुषमा, पाचवां दुःषमा और छट्ठा काल अतिदुःषमा अथवा दुःषमादुःषमा है । जैसे अवसर्पिकालके ये छह भेद होते हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणी कालके भी इनसे विपरीत छह भेद होते हैं और वे ये हैं, पहला अतिदुःषमा, दूसरा

पचमी दुःषमा ज्ञेया समा पष्ठ्यातिदुःपमा । भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्यया ॥१८॥ समा कालविभाग स्यात्सुदु सावर्हगर्हयो । सुपमा दुःपमेत्येवमतोऽन्वर्थत्वमेतयो ॥ १९ ॥ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सांतर्भिदाविमौ । स्थित्युत्सर्पावसर्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥ २० ॥ कालचक्रपरिभ्रात्या पट्समापरिवर्त्तनै । तावुभौ परिवर्त्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥ २१ ॥ पुरास्यामवसर्पिण्यां क्षेत्रेऽस्मिन्भरताह्वये । मध्यम खड-माश्रित्य ववृधे प्रथमा समा ॥ २२ ॥ सागरोपमकोटीना कोटी स्याच्चतुराहता । तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरिय मता ॥ २३ ॥ देवोत्तर-

दुःषमा, तीसरा दुःषमासुपमा, चौथा सुपमादुःपमा, पांचवां सुपमा और छठा सुपमासुपमा ॥ १७ । १८ ॥ उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकालके प्रत्येकके जो ये उपर्युक्त छह छह भेद किये हैं वे सव सार्थक हैं क्योंकि काल के विभागको समा कहते हैं तथा सु उपसर्गका अर्थ अच्छा और दुः उपसर्गका अर्थ वुरा है। सु और दुःये दोनो उपसर्ग पृथक् पृथक् समाके साथ जोड़नेसे व्याकरणके नियमानुसार समाके सकारको पकार हो कर सुपमा और दुःपमा वनते हैं। इसप्रकार अच्छे कालविभागको सुपमा और वुरे कालविभागको दुःषमा यह उनका सार्थक नाम है ॥ १९ ॥ इसीप्रकार छह भेदसहित उत्सर्पिणी और छह भेदसहित अवसर्पिणी ये दोनों भी अन्वर्थसंज्ञक हैं क्योंकि जिसमें स्थिति आदिकी वृद्धि होती रहे उसे उत्सर्पिणी कहते हैं और जिसमें स्थितिआदिकी घटती होती रहे उसे अवसर्पिणी कहते हैं ॥२०॥ इसप्रकार छह समयोंके द्वारा यह कालका परिभ्रमण निरंतर होता रहता है और वह इसप्रकार होता है जैसे कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष। अर्थात् जैसे कृष्णपक्षके वाद शुक्लपक्ष और शुक्लपक्षके वाद कृष्णपक्ष आता है इसीप्रकार उत्सर्पिणीके वाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणीके वाद उत्सर्पिणी इसप्रकार कालका परिभ्रमण वरावर हुआ करता है ॥ २१ ॥ इस भरतक्षेत्रमें वर्त्तमानमें यह अवसर्पिणीकाल चल रहा है। इसमें सवसे पहले सुपमासुपमा नामका पहला काल इस भरतक्षेत्रके मध्यके खंड आर्यक्षेत्रमें था ॥२२॥ यह पहला काल चारकोड़ाकोड़ी सागरका था। उस समय यहांकी और सव अवस्था नीचे लिखे प्रमाण थीं ॥ २३ ॥ देवकुरु और उत्तर

कुरुक्ष्मासु या स्थिति समवस्थिता । सा स्थितिर्भारते वर्षे युगारंभे स जायते ॥ २४ ॥ तदा स्थितिर्मनुष्याणां त्रिपल्योपमसमिता । षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुष. स्मृत ॥ २५ ॥ वज्रास्थिबंधनाः सौम्या सुदराकारचारव । निष्टप्तकनकच्छाया दीप्यते ते नरोत्तमा ॥२६॥ मुकुट कुडल हारो मेखला कटकांगदौ । केयूर ब्रह्मसूत्र च तेषा शश्वद्विभूषणं ॥ २७ ॥ एते पुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यसपदः । ररम्यते चिर स्त्रीभि सुरा इव सुरालये ॥ २८ ॥ महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः । महानुभावास्ते सर्वे महीयते महोदयाः ॥ २९ ॥ तेषामाहारसप्रीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभि । कुवलीफलमात्र च दिव्यान्न विष्वणति ते ॥ ३० ॥ निर्व्यायामा निरातका निर्णीहारा निराधय । नि:स्वेदास्ते निरावाध जीवति पुरु

कुरु उत्तमभोगभूमियोंमें सदा जैसी स्थिति रहती है ठीक वैसी ही स्थिति इस भरतक्षेत्रमें इस अवसर्पिणीकालके प्रारंभमें थी ॥२४॥ उस सयय यहां मनुष्योंकी आयु तीन पल्यकी होती थी और शरीरकी उंचाई छह हजार धनुष थी ॥२५॥ उनके अस्थिबंधन वज्रके समान सुदृढ़ थे। वे मनुष्योत्तम अतिशय सौम्य तथा सुंदर आकारके अतिशय मनोहर थे। उनका शरीर तपाये हुये सुवर्णके समान अतिशय दैदीप्यमान था॥२६॥ वे अपने शिरमें मुकुट, कानोंमें कुंडल, कंठमें हार, कमरमें करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद कड़े और वक्षःस्थलमें यज्ञोपवीत ये आभूषण सदा धारण किये रहते थे॥ २७॥ उन्हें पुण्योदयसे अद्भुत रूप अद्भुत लावण्य और अद्भुत संपदायें प्राप्त होती थीं। इसलिये स्वर्गोंमें देवोंके समान ये पुरुष भी अपनी अपनी स्त्रियों के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते रहते हैं॥ २८॥ वे पुरुष बड़े बलशाली होते हैं, बडे धीरवीर होते हैं, विशाल वक्षःस्थलवाले होते हैं बड़े तेजस्वी बड़े सामर्थ्यवान् और बड़े भाग्यशाली होते हैं तथा वे सब संसारमें पूज्य समझे जाते हैं॥ २९॥ उन्हें तीन दिन बाद भोजन करनेकी इच्छा होती है उस समय बद्रीफलके बराबर कल्पवृक्षसे प्राप्त हुआ दिव्य भोजन करते हैं ॥ ३० ॥ न तो उन्हें आने जाने आदि का कोई परिश्रम करना पड़ता है न उन्हें कोई रोग होता है। मलमूत्रादिकी बाधा भी उनके नहीं होती। मानसिक पीड़ा और पसीना आदि भी उनके नहीं होता। न वे परस्पर एक दूसरेको कभी दुःख

पायुषा ॥ ३१ ॥ स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः । कल्पद्रुमेषु संसक्ताः कल्पवल्ल्य इवोज्ज्वलाः ॥ ३२ ॥ पुंस्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः । यावज्जीवमसंक्लिष्टा भुञ्जते भोगसंपदः ॥ ३३ ॥ स्वभावसुन्दरं रूपं स्वभावमधुरं वचः । स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गजुषामिव ॥ ३४ ॥ रुच्याहारगृहातोद्यमाल्यभूषाम्बरादिकं । भोगसाधनमेतेषां सर्वं कल्पतरूद्भवं ॥ ३५ ॥ मंदगन्धवहाधूतचलच्छाखांशुकपल्लवाः । नित्यालोका विराजंते कल्पोपपदपादपाः ॥ ३६ ॥ कालानुभवसंभूतक्षेत्रसामर्थ्यबृंहिताः । कल्पद्रुमास्तदा तेषां कल्पंतेऽभीष्टसिद्धये ॥ ३७ ॥ मनोऽ-

---

पहुंचाते हैं और न कभी अकालमृत्यु ही होती है। किंतु सुखसे अपनी आयुप्रमाण जीवित रहते हैं ॥ ३१ ॥ वहांकी स्त्रियोंकी आयु भी पुरुषोंके समान होती है शरीरकी उंचाई भी उतनी ही होती है जेसे कल्पवृक्षोंपर लगी हुई निर्मल कल्पलतायें शोभायमान होती हैं उसीप्रकार ये स्त्रियां भी उन पुरुषोंके साथ अतिशय शोभायमान होती हैं ॥ ३२ ॥ वे स्त्रियां अपने अपने पुरुषोंमे अनुरक्त रहती हैं और पुरुष अपनी अपनी स्त्रियोंमें अनुरक्त रहते हैं वहांके स्त्री पुरुष दोनों ही अपनी आयुपर्यंत क्लेशरहित निरंतर भोग और संपदाओंका उपभोग करते रहते हैं ॥ ३३ ॥ देवोंके समान उनका रूप स्वाभाविक ही सुंदर होता है। उनकी वाणी स्वभावसे ही मीठी होती है और उनकी चेष्टा भी स्वभावसे ही चतुर होती है ॥ ३४ ॥ इच्छानुसार भोजन, गृह, बाजे, माला, आभूषण और वस्त्र आदि जितने कुछ भोगोपभोगके साधन हैं, वे सब उन्हें इच्छा करते ही कल्पवृक्षोंसे प्राप्त होते हैं ॥ ३५ ॥ जिनके पत्ते सुगंधित और मंद मंद वायुके द्वारा कपड़ेके समान हिल रहे हैं तथा जो स्वयं सदा प्रकाशमान रहते हैं ऐसे वहांके कल्पवृक्ष बड़े ही शोभायमान रहते हैं ॥ ३६ ॥ सुषमासुषमाकालके प्रभावसे वहांके क्षेत्रमें जो सामर्थ्य होती है उससे वे कल्पवृक्ष बढ़ते हैं और वहांके जीवोंको अभीष्ट पदार्थ देनेकेलिये समर्थ होते हैं ॥ ३७ ॥ वे कल्पवृक्ष वहां उत्पन्न हुये अति पुण्यवान् मनुष्योंको उनके मनोनुकूल अनेकप्रकारकी भोगोपभोग संपदायें सदा देते रहते हैं इसलिये गणधरादि देवोंने इनका कल्पवृक्ष ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥ ३८ ॥

भिलषितान्भोगान् यस्मात्पुण्यकृतां नृणां। कल्पयति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः ॥ ३८ ॥ मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहांगकाः । भाजनामत्रवस्त्रांगा दशधा कल्पशाखिनः ॥ ३९ ॥ इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वतोऽर्थक्रियाममी । सज्ञाभिरेव विस्पष्टास्ततो नातिप्रतन्वते ॥ ४० ॥ तथा भुक्त्वा चिरं भोगान्स्वपुण्यपरिपाकजान् । स्वायुरते विलीयते ते घना इव शारदा ॥ ४१ ॥ जृंभिकारंभमात्रेण तत्कालोत्थक्षुतेन वा । जीवितांते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यात्यनेनसः ॥ ४२ ॥ स्वभावमार्दवायोगावक्रतादिगुणैर्युता । भद्रकास्त्रिदिवं यांति तेषां नान्या गतिस्ततः ॥ ४३ ॥ इत्याद्यकालभेदोऽवसर्पिण्या वर्णितो मनाक् । उदक्कुरुसमः शेषो विधिरत्रावधार्यताम् ॥ ४४ ॥ ततो यथाक्रमं तस्मिन्काले गलति मदतां । यातासु वृक्षवीर्यायुः

ऐसे वे कल्पवृक्ष दशप्रकारके होते हैं, और वे ये हैं-मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, स्रगंग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, पात्रांग और वस्त्रांग। ये सब कल्पवृक्ष अपने अपने नामके अनुसार ही समस्त पदार्थों को देते हैं इसलिये इनका अधिक विस्तार नहीं कहा है केवल नाममात्र कह दिया है ॥ ३९ । ४० ॥ इस प्रकार वहांके स्त्री पुरुष अपने पूर्वपुण्यकर्मोंके उदयसे उपर्युक्त कल्पवृक्षोंकेद्वारा चिरकालतक अनेक प्रकारके भोगोपभोग भोगते रहते हैं तथा आयु समाप्त हो जानेपर वे शरदऋतुके मेघके समान विलय हो जाते हैं ॥ ४१ ॥ जीवनके अंत समयमें पुरुषको जंभाई आती है और स्त्रीको छींक आती है उसीसे वे पुण्यवान पुरुष अपना अपना शरीर छोड़कर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं ॥ ४२ ॥ इस प्रथमकालमें उत्पन्न हुये स्त्री पुरुष स्वभावसे ही कोमल परिणामी होते हैं इनके मन बचन काय बड़े ही सरल होते हैं इसलिये ये भद्रपुरुष मरकर स्वर्गमें ही उत्पन्न होते हैं स्वर्गके सिवाय इन्हें अन्य कोई गति प्राप्त नहीं होती है ॥ ४३ ॥ इसप्रकार यह उपर्युक्त अवसर्पिणीकालके प्रथम सुषमासुषमा कालका थोड़ासा स्वरूप वर्णन किया है। यहांकी और सब विधि उत्तरकुरु क्षेत्रकी भोगभूमिके समान समझना चाहिये ॥४४॥ उपर्युक्त क्रमसे जब प्रथमकाल पूर्ण हुआ और वहांके कल्पवृक्ष, मनुष्योंकी आयु शरीरकी उंचाई आदि सब घट चले तब द्वितीय सुषमाकालकी प्रवृत्ति हुई। इस द्वितीयकालकी स्थिति तीन कोड़ाकोड़ी सागरकी

शरीरोत्सेधवृत्तिपु ॥ ४५ ॥ सुषमालक्षण कालो द्वितीयः समवर्त्तत। सागरोपमकोटीना तिस्र. कोट्यो ऽस्य समितिः ॥ ४६ ॥ तदास्मिन्भारते वर्षे मध्यभोगभुव स्थितिः । जायते स परा भूतिं तन्वाना कल्पपादपै. ॥४७॥ तदा मर्त्या ह्यमर्त्याभा द्विपल्योपमजीविन । चतु सहस्रचापोच्चविग्रहा शुभचेष्टिता ॥ ४८ ॥ कलाधरकलास्पर्धिदेहजोत्स्नासितोज्ज्वला । दिनद्वयेन तेऽश्नति वार्क्षमथोन्नमात्रक ॥ ४९ ॥ शेषो विधिस्तु नि.शेषो हरिवर्षसमो मत । ततः क्रमेण कालेऽस्मिन्नवसर्पत्यनुक्रमात् ॥ ५० ॥ प्रहीणा वृत्तवीर्यादिविशेषा प्राक्तना यदा । जघन्यभोगभूमीना मर्यादाविरभूत्तदा ॥ ५१ ॥ यथावसरसम्प्राप्तस्तृतीय कालपर्यय.। प्रावर्तत सुराजेव स्वा मर्यादामलघयन् ॥ ५२ ॥ सागरोपमकोटीनां कोट्यौ द्वौलब्धस स्थितौ । कालेऽस्मिन्भारते वर्षे मर्त्या पल्योपमायुषः॥५३॥ गव्यूतिप्रमितोच्छ्राया प्रियगुश्यामविग्रहा.। दिनांतरेण सम्प्राप्तधात्रीफलमिताशना ॥५४॥ ततस्तृतीयकालेऽस्मिन्व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् । पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन्परिशिष्यते ॥ ५५ ॥ कल्पानोकहवीर्याणा क्रमादेव परिच्युतौ । ज्योति-

होती है ॥ ४५ । ४६ ॥ उस समय इस भारतवर्षमें मध्यमभोगभूमिकी व्यवस्था प्रचलित हुई और वह कल्पवृक्षोंकी उत्कृष्ट विभूतिके द्वारा सर्वत्र विस्तृत हुई ॥ ४७ ॥ उस समय यहांके मनुष्य देवोंके समान सुंदर थे। दो पल्यकी उनकी आयु थी और उनके शरीरकी उंचाई चारहजार धनुषकी थी ॥ ४८ ॥ उनके शरीरकी कांति चंद्रमाकी कलाओंके समान उज्ज्वल थी। वे थोड़ा हंसते थे परंतु उनका वह थोड़ा हंसना भी उज्ज्वल और मनोहर था। वे दो दिन पीछे वहेड़ेके समान केवल कल्पवृक्षसे प्राप्त हुआ अन्न खाते थे ॥ ४९ ॥ उससमय यहांकी शेष सब विधि हरिक्षेत्रकी मध्यमभोगभूमिके समान थी। फिर धीरे २ क्रमसे काल घटने लगा तब यहां तृतीय जघन्य भोगभूमिकी मर्यादा प्रगट हुई ॥ ५० । ५१ ॥ जैसे नीतिमान् राजा अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता उसी प्रकार अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करता हुआ यथाक्रमसे तृतीय सुषमादुषमा काल प्रारंभ हुआ ॥५२॥ इसकी स्थिति दो कोड़ाकोड़ी सागरकी है। तथा उससमय इस भरतक्षेत्रके मनुष्योंकी आयु एक पल्यकी थी और ॥ ५३ ॥ उनके शरीरकी उंचाई एक कोशकी थी शरीरकी कांति मेहदीके पत्तेके समान श्यामवर्ण थी। वे एक दिन वाद आंवलेके समान भोजन ग्रहण करते थे ॥ ५४ ॥ इसप्रकार अनुक्रमसे जब तृतीयकालका समय भी व्यतीत होने लगा, और

रंगास्तदा वृक्षा गता मंदप्रकाशतां ॥ ५६ ॥ पुष्पवंतावथाषाढ्या पौर्णमास्यां स्फुरत्प्रभौ । सायाह्ने प्रादुरास्तां तौ गगनोभय भागयो ॥५७॥ चामीकरमयौ पोताविव तौ गगनार्णवे । वियद्गजस्य निर्याणचंद्रकाविव लक्षितौ ॥ ५८ ॥ पौर्णमासीविलासिन्या क्रीड्यमानौ समुज्ज्वलौ । परस्परकराश्लिष्टौ जातुषाविव गोलकौ ॥ ५९ ॥ जगद्गृहमहाद्वारि विन्यस्तौ कालभूभृतः । प्रत्यग्रस्य प्रवेशाय कुंभाविव हिरण्मयौ ॥६०॥ ताराफेनग्रहग्राहवियत्सागरमध्यगौ । चामीकरमयौ दिव्यावभ क्रीडागृहाविव ॥ ६१ ॥ सद्वृत्तत्वादसंगत्वात्साधुवर्गानुकारिणौ । शीततीव्रकरत्वाच्च सदसद्भूमिपा-

---

पल्यका आठवां भागमात्र बाकी रहगया उससमय ॥ ५५ ॥ कल्पवृक्षोंकी सामर्थ्य बहुत ही घटने लगी और ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश अतिशय मंद पड़गया था ॥ ५६ ॥ निदान एक दिवस आषाढ़ सुदी पौर्णमासीके दिन सायंकालके समय पूर्व दिशाकी ओर उदय होता हुआ देदीप्यमान चंद्रमा दिखलाई पड़ा और उसी समय पश्चिम दिशाकी ओर अस्त होता हुआ प्रकाशमान सूर्य दिखलाई पड़ा ॥ ५७ ॥ उस समय वे सूर्य और चंद्रमा ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो आकाशरूपी समुद्रमें सुवर्णके बने हुये दो जहाज ही हों, अथवा आकाशरूपी हाथी के गमन करते समय उसकी दोनों आखोंके समीप मानो सिंदूरके बने हुये दो चंद्रमा ही हों अथवा ॥ ५८ ॥ पौर्णमासीरूपी स्त्रीके दोनों हाथोंमें रक्खे हुये खेलनेके प्रकाश मान लाखके बने हुये दो गोले ही हों अथवा ॥ ५९ ॥ अब संसारमें दुःषमसुषमकालरूपी नवीन राजाका प्रवेश होगा इसलिये संसाररूपी घरके बड़े द्वारपर ये दोनों सुवर्णकलश ही रक्खे हों अथवा ॥ ६० ॥ तारारूपी फेन और बुध मंगल आदि ग्रहरूपी मगरमच्छोंसे शोभायमान इस आकाशरूपी महासागरके मध्यभागमें जलके भीतर सुवर्णके बने हुये मनोहर दो क्रीडागृह ही हों अथवा ॥ ६१ ॥ यों कहना चाहिये कि ये दोनों ही मुनियोंका अनुकरण कर रहे हों क्योंकि मुनि भी सद्वृत्त अर्थात् सदाचरणी होते हैं और ये दोनों भी सद्वृत्त अर्थात् गोल थे तथा मुनि भी असंग अर्थात् परिग्रहरहित होते हैं और ये दोनों भी असंग अर्थात् अकेले थे अथवा सूर्य तीव्रकर अर्थात् तेज किरणवाला है, इसलिये वह तीव्रकर अर्थात्

विव ॥६२॥ प्रतिश्रुतिरिति ख्यातस्तदा कुलधरोऽग्रिम । बिभ्रल्लोकातिगं तेजः प्रजानां नेत्रमुद्बभौ ॥६३॥ पल्यस्य दशमो भागस्तस्यायुर्जिनदेशित । धनु सहस्रमुत्सेधः शतैरधिकमष्टभि ॥६४॥ जाज्वल्यमानमुकुटो लसत्कनककुंडल । कनकाद्रिरिवोत्तुगो बिभ्राणो हारनिर्झर ॥६५॥ नानाभरणभा-मारभासुरोदारविग्रह । प्रोत्सर्पत्तेजसा स्वेन निर्भर्त्सितरविग्रह ॥ ६६ ॥ महान्जगद्गृहोन्मानमानदंड इवोच्छ्रित । दधज्जन्मातराभ्यासजनित बोधमिद्धधी. ॥ ६७ ॥ स्फुरद्दताशुसलिलैर्मुहु. प्रक्षालयन्दिशः । प्रजानां प्रीणन वाक्य सौध रसमिवोद्गिरन् ॥ ६८ ॥ अदृष्टपूर्वौ तौ दृष्ट्वा स-

---

अधिक कर लेनेवाले अन्यायी राजाके समान था और चंद्रमा शीतकर अर्थात् ठंढी किरणवाला था इस लिये वह शीतकर अर्थात् अल्प कर लेनेवाले न्यायी राजाके समान जान पड़ता था ॥६२॥ जिस समय ये उपर्युक्त सूर्य चंद्रमा दिखाई पड़े थे उस समय इस क्षेत्रमें जो भोगभूमिज रहते थे वे सब प्रायः समान थे। उन सबमें प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ही ऐसे थे जो कि सबसे अधिक तेजस्वी थे और उस समयकी प्रजामें नेत्रके समान उत्कृष्ट थे ॥ ६३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने इनकी आयु पल्यके दशवें भाग कही थी और शरीरकी उंचाई एक हजार आठ सौ धनुष थी ॥ ६४ ॥ इनके मस्तकपर दैदीप्यमान मुकुट लगा हुआ था । कानोंमें सुवर्णके सुंदर कुंडल शोभायमान थे। ये स्वयं मेरुपर्वतके समान ऊंचे थे इसलिये इनके गले में पड़ा हुआ हार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो मेरुपर्वतपर स्वच्छ पानीका निर्झरना ही वह रहा हो ॥ ६५ ॥ वे प्रतिश्रुति अनेक आभरण पहने हुये थे इसलिये उनका उदार शरीर उन आभरणोंकी कांतिसमूहसे बड़ा ही दैदीप्यमान हो रहा था। उनके बढ़ते हुये प्रतापके सामने सूर्यका प्रताप कुछ भी नहीं था ॥ ६६ ॥ वे बहुत ऊंचे थे इसलिये ऐसे जान पड़ते थे मानो इस संसाररूपी घरको नापनेका एक डंडा ही हो। उन्हें इस भवमें पूर्वभवका अवधिज्ञान प्राप्त था इसलिये वे सबमें अतिशय उत्कृष्ट बुद्धिमान गिने जाते थे ॥ ६७ ॥ असाढ़ सुदि पौर्णमासीके दिन जो एक साथ सूर्य और चंद्रमा दिखलाई पड़े थे उन्हें देखकर उस समयके भोगभूमिज अतिशय भयभीत हुये थे क्योंकि उन्होंने ये पहिले

भीतान्भोगभूमिजान् । भीतेर्निर्वर्त्तयामास तत्स्वरूपमिति ब्रुवन् ॥ ६९ ॥ एतौ तौ प्रतिदृश्येते सूर्याचंद्रमसौ ग्रहौ । ज्योतिरंगप्रभापायात्कालन्हा-सवशोद्भवात् ॥ ७० ॥ सदाप्यधिनभोभागं भ्रमतोऽमू महाद्युती । न वस्ताभ्या भयं किंचिदतो माभैष्ट भद्रका ॥ ७१ ॥ इति तद्वचनाद्वेषा प्रत्याश्वासो महानभूत् । क्षेत्रे सोऽत पर चास्मिन्नियोगान्भाविनोऽन्वशात् ॥ ७२ ॥ प्रतिश्रुतिरय धीरो यत्र. प्रत्यशृणोद्वचः । इतीडां चक्रिरे नाम्ना ते त सप्रीतमानसाः ॥ ७३ ॥ अहो धीमन्महाभाग चिरजीव प्रसीद न. । यानपात्रायित येन त्वयास्मद्व्यसनार्णवे ॥ ७४ ॥ इति स्तुत्वार्य-

कभी नहीं देखे थे। इसलिये वे सबलोग प्रतिश्रुतिके समीप आये। प्रतिश्रुतिने सबको आश्वासन दिया और अपने प्रकाशमान दाँतोंकी किरणरूपी जलकेद्वारा सब दिशाओंको प्रक्षालन करते हुये अमृत-रसके समान प्रजाको प्रसन्न करनेवाले वचन कहे और आगे लिखा हुआ सूर्य चंद्रमाका स्वरूप बतला-कर उनलोगोंका सब भय दूर किया ॥ ६८ । ६९ ॥ प्रतिश्रुति कहने लगे—भो भद्र पुरुषो! आपलोगोंको जो ये दिख रहे हैं सो ये दोनों सूर्य और चंद्रमा नामके दो ग्रह हैं। ये दोनों ही बड़े प्रकाशमान हैं और आकाशके मध्यभागमें सदा भ्रमण किया करते हैं। यद्यपि ये पहले भी यहां थे परंतु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृत्तोंके प्रकाशके सामने इनका प्रकाश दब जाता था इसलिये दिखलाई नहीं पड़ते थे किंतु अब ज्योतिरंग वृक्षोंका प्रकाश अतिशय मंद पड़गया है इसलिये ये दिखलाई देने लगे हैं। इनसे तुमलोगोंको कोई हानि नहीं हो सकती इसलिये तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं करना चाहिये। ७० ॥ ७१ ॥ इस-प्रकार प्रतिश्रुतिके वचन सुनकर उन भोगभूमिजोंको अतिशय आश्वासन हुआ। तदनंतर प्रतिश्रुतिने इस भरतक्षेत्रमें उस समयसे होनेवाली कर्मभूमिकी रचनाके सब समाचार कह सुनाये ॥ ७२ ॥ इस धीर वीर प्रतिश्रुतिने उन भयभीत भोगभूमिजोंके वचन सुने थे इसीलिये उन्होंने प्रसन्न होकर प्रतिश्रुति नामसे ही इनकी स्तुति की और ॥ ७३ ॥ कहने लगे कि हे महाभाग! हे बुद्धिमन् आप चिरंजीव रहें तथा हमपर सदा प्रसन्न रहें। इस समय आपने हमारे इस दुःखरूपी समुद्रसे पार करनेकेलिये नौकाके समान

कास्ते तं सत्कृत्य च पुन पुन । लब्धानुज्ञास्तत स्वंस्वमोको जग्मु सजानय ॥ ७५ ॥ मनौ याति दिवं तस्मिन्काले गलति च क्रमात् । मन्वतरमसख्येया वर्षकोटीर्व्यतीत्य च ॥ ७६ ॥ सन्मति. सन्मतिर्नाम्ना द्वितीयोऽभून्मनुस्तदा । प्रोत्सर्पदंशुकः प्रांशुश्चलत्कल्पतरूपम ॥ ७७ ॥ स कुतली किरीटी च कुडलीहारभूषित. । स्रग्वी मलयजालिप्तवपुरत्यतमावभौ ॥ ७८ ॥ तस्यायुरममप्रख्यमासीत्सख्येयहायनं । सहस्र त्रिशतीयुक्तमुत्सेधो धनुषा मत ॥ ७९ ॥ ज्योतिर्विटपिना भूयोऽप्यासीत्कालेन मंदिमा । प्रहीणाभिमुख तेजो निर्वास्यति हि दीपवत् ॥ ८० ॥ नभोऽगणमथापूर्य तारका प्रचकाशिरे । नात्यधकारकलुषा वेला प्राप्य तमीमुखे ॥ ८१ ॥ अकस्मात्तारका दृष्ट्वा सभ्रातान्भोगभूभुवः । भीति-

काम दिया है ॥ ७४ ॥ इसप्रकार प्रतिश्रुतिकी स्तुतिकर तथा वारंवार उनका सत्कार कर उनकी आज्ञानुसार अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ वे सव आर्य पुरुष अपने अपने घर गये ॥ ७५ ॥ इस घटनाके अनंतर क्रमसे काल व्यतीत होने लगा प्रतिश्रुति कुलकरका भी स्वर्गवास हो गया और उनके वाद जव असंख्यात करोड़ वर्ष व्यतीत होगये तव बुद्धिमान सन्मति नामके दूसरे कुलकर उत्पन्न हुये। इनके वस्त्र बड़े ही शोभायमान थे तथा ये वड़े ही ऊंचे थे। ऐसे जान पड़ते थे मानो किसी चलते हुये कल्पवृक्षके समान ही हों ॥ ७६ । ७७ ॥ इनके केश वड़े ही सुंदर थे, इनके मस्तकपर मुकुट, कानोंमें कुंडल, वक्षस्थलपर हार, गलेमें माला और तमाम शरीरपर चर्चित किया हुवा चंदन वड़ा ही शोभायमान होता था तथा इन सवसे ये स्वयं वड़े ही शोभायमान थे ॥ ७८ ॥ इनकी आयु 'अमम'[१] के समान संख्यात वर्षकी थी तथा शरीरकी उंचाई एकहजार तीनसौ धनुषकी थी ॥ ७९ ॥ इनके समयमें ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश बहुत ही मंद होगया था और वह बुझनेके सन्मुख दीपकके समान धीरे धीरे समाप्त ही होता जाता था ॥ ८० ॥ निदान जव ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंका प्रकाश सर्वथा समाप्त हो गया तव एक दिन रात्रिके प्रारंभमें जिस दिन थोड़ा थोड़ा अंधकार था उसदिन समस्त आकाशमें

१ अमम अटट आदिका परिमाण इसी पर्वके अतमें कहा गया है ।

विंचलयामास प्राणिहत्येव योगिन' ॥ ८२ ॥ स सन्मतिरनुध्याय क्षणं प्रावोचतार्यकान् । नोत्पात' कोऽप्ययं भद्रास्तन्मागात भियो वशं ॥८३॥ एतास्तास्तारका नामैतच्च नक्षत्रमडल । ग्रहा इमे सदोद्याता इद तारकित नभः ॥ ८४ ॥ ज्योतिश्चक्रमिद शश्वद्व्योममार्गे कृतस्थिति। स्पष्टता-मधुनायात ज्योतिरंगप्रभाक्षयात् ॥ ८५ ॥ इत प्रभृत्यहोरात्रविभागश्च प्रवर्तते । उदयास्तमयैः सूर्याचद्रयोः सहतारयो. ॥ ८६ ॥ ग्रहणग्रह-विक्षेपदिनान्ययनसक्रमात् । ज्योतिर्ज्ञानस्य बीजानि सोऽन्ववोचद्विदावर ॥ ८७ ॥ अथ तद्वचनादार्या जाता. सपदि निर्भया । स हि लोकोत्तरं

फैले हुये तारे दिखाई देने लगे ॥ ८१ ॥ उस समयके भोगभूमिज अकस्मात् उन तारोंको देखकर बड़े ही भ्रममें पड़गये बड़े ही भयभीत हुये और उस भयसे एक साथ ही ऐसे कंपायमान होगये जैसे योगी लोग प्राणियोंकी हत्यासे कंपायमान हो जाते हैं । ८२ ॥ वे सब मिलकर सन्मतिके समीप आये । सन्मति थोड़ासा विचार कर उन आर्योंसे कहने लगे कि भो भद्र पुरुष हो यह कोई उपद्रव नहीं है तुम लोग इनसे डरो मत ॥ ८३ ॥ ऐसा कहकर वे सन्माति उन तारोंका स्वरूप अलग अलग वतलाने लगे और कहने लगे कि देखो ये तारे हैं, ये अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र हैं ये बुध गुरु आदि सदा प्रकाशरूप रहनेवाले ग्रह हैं और यह सब तारोंसे भरा हुआ आकाश है ॥ ८४ ॥ यह तारे ग्रह नक्षत्र आदिका समूह सब ज्योतिश्चक्र कहलाता है यह आकाशमें सदा विद्यमान रहता है। अवसे पहले भी था परंतु ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके प्रकाशसे दवा हुआ था दिखाई नहीं पड़ता था । अव उन कल्पवृक्षोंका प्रकाश नष्ट होगया है इसलिये अव यह ज्योतिश्चक्र स्पष्ट दिखाई देने लगा है ॥ ८५ ॥ आजसे सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र तारे आदिकोंका बराबर उदय और अस्त होना होता रहेगा और इनके उदय अस्त होनेसे रातदिनका भी विभाग होता रहेगा ॥ ८६ ॥ अवसे सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, ग्रहोंका एक राशिसे दूसरी राशि पर जाना, दिन, उत्तरायण दाक्षिणायन आदि सबका संक्रमण दिखाई देगा । इनका संक्रमण ज्योतिषविद्याका मूल कारण है इसलिये अवसे ज्योतिषविद्याकी भी प्रवृत्ति होगी । इत्यादि सब वातें उन

ज्योतिः प्रजानामुपकारक ॥ ८८ ॥ अयं सन्मतिरेवास्तु प्रभुर्नः सन्मतिप्रद । इति प्रशस्य संपूज्य ययुस्ते तं स्वमास्पदं ॥ ८९ ॥ ततातरमसंख्येया कोटीरुल्लंघ्य वत्सरान् । तृतीयो मनुरत्रासीत्क्षेमकरसमाह्वय ॥९०॥ युगबाहुर्महाकाया पृथुवक्षा. स्फुरत्प्रभः । सोऽत्यशेत गिरि मेरु स्फुरन्मुकुटचूलिक ॥ ९१ ॥ अटटप्रमीत तस्य बभूवायुर्महौजस. । देहोत्सेधश्च चापानाममुष्यासीच्छताष्टक ॥ ९२ ॥ पुरा किल मृगा भद्रा. प्रजाना हस्तलालिताः । तदा तु विक्रृतिं भेजुर्व्यात्तास्या. भीषणस्वना ॥ ९३ ॥ तेषा विक्रियया सातर्गर्ज्जया तत्रसु प्रजाः । प्रपच्छुश्च तमभेत्य मनु स्थितमविस्मित ॥ ९४ ॥ इमे भद्रमृगाः पूर्व स्वादीयोभिस्तृणाकुरै. । रसायनरसैः पुष्टा सरसा सलिलैरपि ॥ ९५ ॥ अकाधिरोपणैर्हस्तला-

---

आर्य लोगोंसे सन्मतिने कहीं ॥८७॥ वे आर्यलोग भी उनके सब बचन सुनकर शीघ्र ही निर्भय होगये। वास्तवमें सन्मतिने उस समय ये सब बातें कह कर एक अपूर्व लोकोत्तर ज्योतिके समान प्रजाका उपकार किया था ॥ ८८ ॥ वह सब प्रजा भी मुक्तकंठसे सन्मतिकी प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि आजसे हम लोग सुमति देनेवाले इन सन्मतिको ही अपना स्वामी मानेंगे । इसप्रकार सन्मतिकी प्रशंसा और पूजा करके वे सब लोग अपने अपने स्थान पर चले गये॥ ८९ ॥ तदनंतर असंख्यात करोड़ वर्ष बीतजानेपर इस भरतक्षेत्रमें क्षेमंकर नामके तीसरे मनु हुये ॥ ९० ॥ ये मनु मेरुपर्वतसे भी अधिक शोभायमान थे क्योंकि इनकी भुजायें बड़ी ही लंबी थीं, शरीर बहुत बड़ा था, वक्षःस्थल चौड़ा था, शरीरकी कांति दैदीप्यमान थी और मस्तकपर चूलिकाके समान मुकुट शोभायमान था ॥ ९१ ॥ इस तेजस्वी पुरुषकी आयु अटट वर्षोंकी थी और शरीरकी उँचाई आठसौ धनुषकी थी ॥ ९२ ॥ मृग सिंह आदि पशु जो पहले बड़े शांत थे प्रजा जिन्हें हाथसे खिलाती पिलाती तथा प्यार करती थी वे सब पशु क्षेमंकरके समयमें अपना शांतभाव छोड़कर भयंकरता धारण करनेलगे मुह फाड़ने लगे और भयंकर गर्जने लगे ॥९३॥उनकी इस भयंकर गर्जना और भयंकररूपसे उस समयकी सब प्रजा डरने लगी तथा निर्भय निश्चल बैठे हुये क्षेमंकरके समीप आई और पूछने लगी ॥९४॥ हे देव ! ये मृग सिंह आदि पशु जीव

लनैरपि सात्विताः । अस्माभिरितीविश्रब्धाः संवसंतोनुपद्रवाः ॥९६॥ इदानीं तु विना हेतोः शृंगैरभिभवंति नः । दंष्ट्राभिर्नखराग्रैश्च विभिः त्सति च दारुणाः ॥ ९७ ॥ कोऽभ्युपायो महाभाग ब्रूहि नः क्षेमसाधने । क्षेमकरोहि स भवान् जगत. क्षेमचिंतनैः ॥ ९८ ॥ इति तद्वचनाज्जात सौहृदों मनुरब्रवीत् । सत्यमेतथत्तापूर्वमिदानीं तु भयावहा. ॥ ९९ ॥ तदिमे परिहर्तव्या. कालाद्विकृतिमागताः । कर्तव्यो नैषु विश्वासो बाधां कुर्वत्युपेक्षिता ॥ १०० ॥ इत्याकर्ण्य वचस्तस्य परिजर्हुस्तदा मृगान् । शृंगिणो दंष्ट्रिणः क्रूरान् शेषैः संवासमाययुः ॥१०१॥ व्यतीयुषि तत

जो कि पहले बड़े शांत थे जिन्हें हम लोगोंने स्वादिष्ट घास खिला कर रसायनोंके रससे पुष्टकर सरोवरोंका जल पिलाकर पाला है, तथा गोदीमें लेकर हाथ फेर कर लाड प्यार किया है, जो हम लोगों पर अतिशय विश्वास करते थे बिना किसी उपद्रवके निरंतर हमारे समीप रहते थे वे ही मृगसिंह आदि पशु अब विना कारण ही हमलोगोंको सींगोंसे मारते हैं भयानक दाढ़ पंजे और नख आदिसे डराते हैं अब वे बड़े ही भयंकर देख पड़ते हैं ॥ ९५ । ९६ । ९७ ॥ हे महाभाग ! अब इनका क्या उपाय करना चाहिये। आप सबका कल्याण चिंतवन करते हैं इसलिये आप वास्तविक क्षेमंकर अर्थात् सबके प्रिय हैं । अतएव हम लोगोंको इनसे बचनेका कोई कल्याणकारक उपाय बतलाइये ॥ ९८ ॥ उन आर्योंके ये सब वचन सुनकर क्षेमंकरके भी उनसे मित्रभाव उत्पन्न हुआ और वे कहने लगे कि तुमलोग जो कह रहे हो सो सब ठीक है । वास्तवमें ये पशु पहले बड़े शांत थे किंतु अब ये भयंकर होगये हैं । समयके प्रभावसे अब ये विकृत होगये हैं इसलिये अब इनसे अलग रहना चाहिये और इनका विश्वास नहिं करना चाहिये । यदि तुम लोग इस बातकी उपेक्षा करोगे अर्थात् इनके साथ रहोगे और इनका विश्वास करोगे तो ये तुम्हें अवश्य पीड़ा देंगे ॥ ९९ । १०० ॥ क्षेमंकरकी यह बात सुनकर उनलोगोंने क्रूर हरिणोंका साथ छोड़ दिया तथा क्रमसे क्रूर सींगवाले और क्रूर दाढवाले सब पशुओंका साथ छोड़ दिया । केवल निरुपद्रवी शेष पशुओंके साथ वे लोग रहने लगे ॥ १०१ ॥ क्रमसे काल व्यतीत होने लगा

काले मनोरस्य व्यतिक्रमे.। मन्वतरमसंख्येया. समाकोटीर्विलध्य च ॥ २ ॥ तत्रांतरे महोदग्रविग्रहो दे षनिग्रहः। अग्रेसरः सतामासीन्मनुः क्षेमंधराह्वयः ॥ ३ ॥ तुटिकाब्दमित तस्य बभूवायुर्महात्मनः। शतानि सप्त चापानां सप्ततिः पच चोच्छ्रिति ॥ ४ ॥ यदा प्रबलतां याता॰ पाकसत्त्वा महाक्रुध । तदा लकुटयष्ट्याद्यैः स रक्षाविधिमन्वशात् ॥ ५ ॥ क्षेमधर इति ख्यातिं प्रजाना क्षेमधारणात्। स दध्रे पाकसत्त्वेभ्यो रक्षोपायानुशासनात् ॥ ६ ॥ पुनर्मन्वनर तत्र संजात पूर्ववत् क्रमात्। मनु सीमकरो जज्ञे प्रजाना पुण्यपाकत ॥७॥ स चित्रवस्त्रमाल्यादिभूषित वपुरुद्वहन्। सुरेंद्र· स्वर्गलक्ष्म्येव भोगलक्ष्म्योपलालित. ॥ ८ ॥ कमलप्रमित तस्य प्राहुरायुर्महाधियः। शतानि सप्त पंचाशदुच्छ्रायो धनुषा मत. ॥९॥

क्षेमंकरकी आयु समाप्त हुई इसके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष व्यतीत होगये तब चौथे क्षेमंधर मनु हुये। ये मनु सज्जनोंमें अग्रसर और निर्दोष थे। इनका शरीर अतिशय ऊंचा था। आयु तुटिकप्रमाण वर्षोंकी थी तथा इन महात्माके शरीरकी उंचाई सातसौ पिचहत्तर धनुषकी थी ॥१०२। १०३। १०४ ॥ इनके समयमें मृग सिंह आदि क्रूर पशु बड़े क्रोधी और बड़े प्रबल होगये थे उससमय क्षेमंधरने लकड़ी लाठी आदि उपायोंसे इनसे बचनेका उपदेश दिया और ॥ १०५ ॥ इसीलिये इनका क्षेमंधर यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ क्योंकि इन्होंने क्रूर जीवोंसे रक्षा करनेके उपायोंका उपदेश देकर प्रजाका कल्याण किया था ॥ १०६ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जानेपर प्रजाके पुण्यकर्मके उदयसे पांचवें सीमंकर नामके कुलकर उत्पन्न हुये ॥ १०७ ॥ इनका शरीर अनेक प्रकारके विचित्र वस्त्रोंसे तथा माला आदि आभरणोंसे शोभायमान था। जैसे इंद्र स्वर्गकी लक्ष्मीका अनुभव करता है इसीप्रकार सीमंकर भी अनेक प्रकारकी भोगोपभोग लक्ष्मीका अनुभव करते थे ॥ १०८ ॥ तथा बड़े बुद्धिमान थे। इनकी आयु कमलप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई सातसौ पचास धनुषकी थी ॥ १०९ ॥ इनके समयमें कल्पवृक्ष थोड़े रह गये और थोड़ा फल देनेलगे तब उन भोगभूमिजोंमें परस्पर विवाद होने लगा। उस समय सीमंकर मनुने बड़े सोच विचारके साथ केवल बचन द्वारा उन कल्पवृक्षों

कल्पांघ्रिपा यदा जाता विरला मंदका फलै. । तदा तेषु विसंवादो बभूवैषां परस्परं ॥ १० ॥ ततो मनुरसौ मत्वा वाचा सीमविधिं व्यधात् । अत. सीमकराख्या तैर्लभितोऽन्वर्थता गता ॥ ११ ॥ पुनर्मन्वंतरं प्राग्वदतिलंघ्य महोदय. । मनु सीमंधरो नाम्ना समजायत पुण्यधी. ॥ १२ ॥ नलिनप्रमितायुष्को नलिनास्येक्षणद्युति. । धनुषा पचवर्गाग्रमुच्छ्रितः शतसप्तक ॥ १३ ॥ अत्यतविरला जाताः क्ष्माजा मदफला यदा । नृणां महान्विसवादः केशाकेशि तदावृधत् ॥ १४ ॥ क्षेमवृत्तिं ततस्तेषां मन्वानः स मनुस्तदा । सीमानि तरुगुल्मादिचिन्हितान्यकरोत्कृती ॥ १५ ॥ ततोंतरमभूद्भूयोऽप्यसंख्या वर्षकोटयः । हीयमानेषु सर्वेषु नियोगेष्वनुपूर्वशः ॥ १६ ॥ तदंतरव्यतिक्रांतावभूद्विमलवाहनः । मनूना सप्तमो भोगलक्ष्म्यालिंगितविग्रह. ॥ १७ ॥ पद्मप्रमितमस्यायुः पद्माश्लिष्टतनोरभूत् । धनुःशतानि सप्तैव तनूत्सेधोऽस्यवर्णित ॥ १८ ॥ तदुपज्ञं गजादीनां

की सीमा नियत करदी और इसलिये इनका सीमंकर नाम सार्थक प्रसिद्ध हुआ ॥ ११० । १११ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष बीतजाने पर छठे सीमंधर मनु हुये। ये बड़े ही बुद्धिमान् और भाग्यशाली थे। इनका मुख और नेत्र कमलके समान सुंदर था इनकी आयु नलिनप्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी उंचाई सातसौ पचास धनुषकी थी ॥ ११२ । ११३ ॥ इनके समयमें कल्पवृक्ष बहुत ही थोडे रह गये थे। तथा वे बहुत थोड़े फल देते थे। उस समय यहांके भोगभूमिजोंमें कल्पवृक्षोंके लिये एक भारी विवाद उपस्थित हुआ और वह यहां तक बढ़ गया कि परस्पर एक दूसरेको बाल पकड़ पकड़ कर मारने लगे ॥ ११४ ॥ उस समय सब जगह शांति और कल्याण स्थापन करनेके लिये सीमंधरने छोटे बड़े वृक्षोंके चिन्ह बनाकर सब कल्पवृक्षोंकी अलग अलग सीमा नियत कर दी ॥ ११५ ॥ इनके बाद जब असंख्यात करोड़ वर्ष बीतगये और कल्पवृक्षोंकी शक्ति मनुष्योंकी आयु काय बुद्धि आदि क्रमसे घटने लगे तब सातवें मनु विमलवाहन हुये । भोगोपभोग लक्ष्मीका भोग करनेवाला इनका शरीर बड़ा ही शोभायमान था ॥ ११६ । ११७ ॥ इनकी आयु पद्मप्रमाण वर्षोंकी थी शरीर लक्ष्मीसे अतिशय सुशोभित था और वह सातसौ धनुष ऊंचा था ॥ ११८ ॥ इन्होंने हाथी घोड़ा आदि सवारीके योग्य

बभूवारोहणक्रम । कुठारांकुशपर्याणमुखभांडाद्युपक्रमैः ॥ १९ ॥ पुनरंतरमत्राभूदसंख्येयाब्दकोटयः । ततोऽष्टमो मनुर्जातश्चक्षुष्मानिति शब्दितः ॥ २० ॥ पद्मांगप्रमितायुष्कश्चापाना पचसप्ततिः । षट्छतान्यप्युदग्रश्रीरुच्छ्रितांगो बभूव स ॥ २१ ॥ तस्य कालेऽभवत्तेषा क्षण पुत्रमुखेक्षण । अदृष्टपूर्वमार्याणा महदुत्त्रासकारण ॥ २२ ॥ ततः सपदि सजातसाध्वसानार्यकास्तदा । तद्याथात्म्योपदेशेन स सत्रासमथौज्झयत् ॥ २३ ॥ चक्षुष्मानिति तेनाभूत्तत्काले ते यतोऽर्भकाः । जनयित्रोः क्षण जाताश्चक्षुर्दर्शनगोचर ॥ २४ ॥ पुनरप्यंतर तावद्वर्षकोटीर्विलध्य सः । यशस्वानित्य भून्नाम्ना यशस्वी नवमो मनुः ॥ २५ ॥ कुमुदप्रमित तस्य परमायुर्महीयस । षट्छतानि च पचाशद्धनूषि च तनूच्छ्रिति ॥ २६ ॥ तस्य काले

पशुओंपर अंकुश लगाम तोबरा मुसीका आदि लगाकर सवारी करनेका उपदेश दिया ॥ ११९ ॥ इनके बाद असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जानेपर चक्षुष्मान नामके आठवें कुलकर उत्पन्न हुये ॥ १२० ॥ इनकी आयु पद्मांगप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई छःसौ पिचहत्तर धनुषकी थी । उनके शरीरकी शोभा बड़ी ही सुंदर थी ॥ १२१ ॥ इनके समयसे पहलेके लोग पुत्रका मुख नहीं देखते थे तत्काल ही उनकी मृत्यु हो जाती थी परंतु अब इनके समय क्षणभर पुत्रका मुख देखकर मरने लगे । उन आर्योंके लिये यह बात नई थी इसलिये वे अपने शरीरसे उत्पन्न हुई संतानको देखकर डरने भी लगे ॥ १२२ ॥ वे सब लोग इसका कारण पूछनेकेलिये चक्षुष्मान कुलकरके (मनुके) समीप आये । चक्षुष्मानने भी उन आर्य और आर्यिकाओंको संतान होनेका यथार्थ वर्णन किया तथा उनका सब भय दूर किया ॥ १२३ ॥ चक्षुष्मानके समयमें उन भोगभूमिजोंकी संतान उनके मा बापको क्षणभरके लिये चक्षुर्गोचर हुई थी इसीलिये उनको चक्षुष्मान यह सार्थक नाम पड़ा था ॥ १४४ ॥ तदनंतर असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जानेपर बड़े यशस्वी यशस्वान नामके नवमें मनु उत्पन्न हुये ॥ १२५ ॥ इन महात्माकी आयु कुमुदप्रमाण वर्षोंकी थी और शरीरकी उंचाई छःसौ पचास धनुषकी थी ॥ १२६ ॥ इनके समयमें यहांकी प्रजा अपनी संतानका मुख देखकर उन्हें आशीर्वाद देकर तथा थोड़ी देर और

प्रजा जन्यमुखालोकपुरःसर । कृताशिषः क्षणं स्थित्वा लोकांतरमुपागमन् ॥ २७ ॥ यशस्वानित्यभूत्तेन शशंसुस्तद्यशो यतः । प्रजाः सुप्रजसः प्रीताः पुत्राशासनदेशनात् ॥ २८ ॥ ततोंतरमतिक्रम्य तत्प्रायोग्याब्दसमित । अभिचन्द्रोऽभवन्नाम्ना चन्द्रसौम्याननो मनुः २९ ॥ कुमुदांगप्रमायुष्को ज्वलन्मुकुटकुंडलः । पंचवर्गाग्रषट्चापशतोत्सेधः स्फुरत्तनु. ॥ १३० ॥ कल्पद्रुम इवोत्तुंगफलशालो महाद्युतिः । स बभार यथास्थान नानाभरणमंजरी. ॥ १३१ ॥ तस्य काले प्रजा. स्तोकमुखं वीक्ष्य सकौतुकं । आशास्याक्रीडन चक्रुर्निशि चन्द्राभिदर्शनैः ॥ १३२ ॥ ततोऽभिचंद्र इत्या-

ठहरकर तब परलोकगमन करती थी ॥ १२७ ॥ इन्होंने अपनी प्रजाको सिखलाया था कि तुम अपनी अपनी संतानको आशीर्वाद दो इसलिये वह सुंदर संतानवाली प्रजा इनसे प्रसन्न होकर इनका यश वर्णन करने लगी। अतएव इनका यशस्वान यह सार्थक नाम पड़ा ॥ १२८ ॥ इनके पश्चात् असंख्यात करोड़ वर्ष बीत जाने पर अभिचंद्र नामके दशवें मनु हुये। इनका मुख चंद्रमाके समान अतिशय सौम्य था। मस्तकपर मुकुट और कानोंमें कुंडल बड़े ही शोभायमान थे। शरीर कांतियुक्त था और वह छःसौ पच्चीस धनुष ऊंचा था। इनकी आयु भी कुमुदांगप्रमाण वर्षोंकी थी ॥ १२९ । १३० ॥ ये अभिचंद्र मनु कल्पवृक्षके समान अतिशय कांतियुक्त और छहसौ पच्चीस धनुष प्रमाण ऊंचे थे। जैसे कल्पवृक्षों पर मंजरी शोभायमान होती है उसीप्रकार इनके शरीरपर यथायोग्य स्थानोंमें अनेक प्रकारके आभरण शोभायमान थे ॥ १३१ ॥ इनके समयमें यहांकी प्रजा अपनी २ संतानका मुख देखने लगी तथा उसे कुछ शिक्षा भी देने लगी। तथा कौतुकके साथ रात्रिमें चंद्रमा दिखलाकर उसके साथ क्रीड़ा भी करने लगी ॥ १३२ ॥ महाराज अभिचंद्रके उपदेशसे ही यहांकी प्रजा चंद्रमाको दिखलाकर पुत्रोंके साथ क्रीड़ा करने लगी थी। इसलिये ही इनका अभिचंद्र यह यथार्थ नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥ १३३ ॥ इनके बाद भी अनुक्रमसे सैकड़ों वर्ष व्यतीत हो जानेपर चंद्राभ नामके ग्यारहवें मनु उत्पन्न हुये। इनकी आयु नयुत प्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी ऊँचाई छःसौ धनुषकी थी। ये देश कालके जाननेवाले थे चंद्रमाके समान

सीघतश्चद्रमभिस्थिताः । पुत्रानाक्रीडयामासुस्तत्काले तन्मताज्जनाः ॥ १३३ ॥ पुनरंतरमुल्लंघ्य तत्प्रायोग्यसमाशतैः । चंद्राभ इत्यभूत्ख्यातश्चंद्रास्यः कालविन्मनुः ॥ १३४ ॥ नयुतप्रमितायुष्को विलसल्लक्षणोज्ज्वलः । धनुषा षट्शतान्युच्चैः प्रोद्यदर्कसमद्युतिः ॥ १२५ ॥ स पुष्कला कला बिभ्रदुदितो जनताप्रियः । सितज्योत्स्नाभिराल्हादं शशीव समजीजनत् ॥ १३६ ॥ तस्य कालेऽतिसप्रीता पुत्राशासनदर्शनैः । तुग्भिः सह स जीवति दिनानि कतिचित्प्रजाः ॥ १३७ ॥ ततो लोकांतरप्राप्तिमभजत यथासुखं । स तदाल्हादनादासीच्चंद्राभ इति विश्रुतः ॥ १३८ ॥ मरुदेवो भवत्कांतः कुलकृत्तदनंतरं । स्वोचितांतरमुल्लंघ्य प्रजानामुत्सवो दृशां ॥ १३९ ॥ शतानि पंच पंचाग्रसप्ततिश्च समुच्छ्रितिः । धनूषि नयुतांगायुर्विव-

इनका मुख था । इनके शरीरमें अनेक शुभ लक्षण थे जिनसे ये वहुत ही शोभायमान जान पड़ते थे। इनके शरीरकी कांति तेजस्वीसूर्यके समान दैदीप्यमान थी ॥ ३४ । ३५ ॥ ये चंद्राभ मनु ठीक चंद्रमाके समान सवको प्रसन्न करनेवाले थे। चंद्रमा अपनी किरणोंसे सवको प्रसन्न करता है ये अपने थोड़ेसे हास्यरूपी किरणोंसे सवको आल्हादित करते थे। चंद्रमा सोलह कलायें धारण करता है ये अनेक कलायें धारण किये थे। चंद्रमा भी सवको प्रिय होता है और ये भी सवको प्रिय थे। चंद्रमा भी उदय होता है और ये भी उदयरूप थे ॥ ३६ ॥ इनके समयमें यहांके सव लोग अपनी अपनी संतानको आशीर्वाद देकर वहुत ही प्रसन्न होते थे तथा थोड़े दिन उनके साथ आनंदसे रहकर तत्पश्चात् सुखपूर्वक स्वर्गवास करते थे। महाराज चंद्राभने अपनी सव प्रजाको आल्हादित किया था इसलिये इनका चंद्राभ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ १३७ । १३८ ॥ अनंतर कुछ काल व्यतीत होनेपर मरुदेव नामके बारहवें कुलकर हुये । इनकी आयु नयुतांगप्रमाण वर्षोंकी थी तथा शरीरकी उंचाई पांचसौ पचहत्तर धनुषकी थी । ये लोगोंके नेत्रोंको बड़ा ही आनंद देनेवाले थे तथा बड़े ही सुंदर और सूर्यके समान तेजस्वी थे ॥ १३९ । १४० ॥ ये मरुदेव एक विलक्षण ही सूर्य थे क्योंकि सूर्य प्रतापी होता है ये भी प्रतापी थे। सूर्यको कोई देख नहीं सकता इन्हें लोग सुखपूर्वक देखते थे। सूर्य प्रतिदिन उदय होता है

स्वानिव भास्वरः ॥ १४० ॥ स तेजस्वी सुखालोकः सोदयोऽनस्तसंगतिः । भूमिस्थोऽप्यंबरोद्भासी भास्वानिति विलक्षण ॥ १४१ ॥ तस्य काले प्रजा दीर्घं प्रजाभि स्वाभिरन्विताः । प्राणिपुस्तन्मुखालोकतदंगस्पर्शनोत्सवैः ॥ १४२ ॥ स तदुच्छ्वसित यस्मात्तदायत्तस्वजीविकाः । प्रजा जीवति तेनाभिर्मरुद्देव इतीरितः ॥ १४३ ॥ नौद्रोणीसंक्रमादीनि जलदुर्गेष्वकारयत् । गिरिदुर्गेषु सोपानपद्धती सोधिरोहणे ॥ १४४ ॥ तस्यैव काले कुच्छैला, कुसमुद्राः कुनिम्नगाः । जाता, सासारमेघाश्च किंराजान इवास्थिराः ॥ १४५ ॥ तत, प्रसेनजिज्जज्ञे प्रभविष्णुर्मनुर्महान् । कर्मभूमिस्थितावेवमभ्यर्णायां शनैः शनैः ॥ १४६ ॥ पर्वप्रमितमाम्नात मनोरस्यायुरजसा । शतानि पंच चापाना शतार्द्धं च तदुच्छ्रितिः ॥१४७॥

इनका भाग्योदय सदा बना रहता था। सूर्यका अस्त होता है ये अनस्तसंगति थे अर्थात् इनका मैत्री भाव कभी भंग नहीं होता था। सूर्य आकाशमें प्रकाशित होता है ये भूमिपर रहकर भी अंवरोद्भासी अर्थात् वस्त्रोंसे अतिशय शोभायमान थे ॥ १४१ ॥ इनके समयमें यहांके लोग वहुत दिन तक अपनी संतानके साथ जीवित रहते थे और उनका मुख देखकर तथा उनका अंग स्पर्शकर पुत्रसुखका अनुभव करते थे ॥ १४२ ॥ उस समय यहांके भोगभूमिजोंकी व्यवस्था केवल मरुद्देवके ही आश्रय थी इसलिये ये मरुद्देव ही उस समयके लोगोंके प्राण थे। उस समयके लोग इनसे जीते थे इसलिये वे इन्हें मरुद्देव कहते थे ॥ १४३ ॥ इन्हीं मरुद्देवने उस समय जलमार्गमें गमन करने के लिये छोटी बड़ी नाव चलानेका उपदेश दिया तथा पर्वतपर चढनेकेलिये सीढी वनानेका उपदेश दियाथा ॥१४४॥ इन्हींके समयमें अन्य छोटे पर्वत उपसमुद्र और छोटी बड़ी अनेक नादियां उत्पन्न हुई तथा नीच राजाके समान मेघ भी कभी कम और कभी अधिक वरसने लगे ॥ १४५ ॥ इनके बाद क्रमसे काल व्यतीत होनेपर जव कर्मभूमि की स्थिति धीरे धीरे अतिशय समीप आ रही थी उस समय बड़े भाग्यशाली तेरहवें बड़े कुलकर प्रसेन-जित उत्पन्न हुये ॥१४६॥ इनकी आयु पर्वप्रमाण थी और शरीरकी ऊंचाई पांचसौ पचास धनुषकी थी ॥ १४७ ॥ उस समय महाराज प्रसेनजित ठीक सूर्यके समान प्रजाकेलिये मानो तीसरे नेत्र थे क्योंकि

प्रजानामधिक चक्षुस्तमोदोषैरविप्लुतः । सोऽभाद्रविरिवाभ्युद्यत्पद्माकरपरिग्रहात् ॥ १४८ ॥ तदाभूदर्भकोत्पत्तिर्जरायुपटलावृता । ततस्तत्कर्पणोपायं स प्रजानामुपादिशत् ॥ ४९ ॥ तनुसवरण यत्तज्जरायुपटल नृणा । स प्रसेनो जयात्तस्य प्रसेनजिदसौ स्मृतः ॥ १५० ॥ प्रसा प्रसूति संरोधादिनस्तस्या प्रसेनक. । तद्धानोपायकथनात्तज्जयाद्वा प्रसेनजित् ॥ १५१ ॥ तदनंतरमेवाभून्नाभि. कुलधरः सुधी । युगादिपुरुषै पूर्वैरुदूढां धुरमुद्वहन् ॥ १५२ ॥ पूर्वकोटीमितं तस्य परमायुस्तदुच्छ्रय· । शतानि पञ्च चापाना पंचवर्गाधिकानि वै ॥ १५३ ॥ मुकुटोद्भासिमूर्द्धासौ

सूर्य भी उदय होता है और ये भी सदा उदयरूप थे। सूर्य कमलोंको प्रफुल्लित करता है ये भी अतिशय शोभायमान थे। सूर्य राहुसे आच्छादित हो जाता है ये दीनतारूपी दोषसे कभी आच्छादित नहीं होते थे ॥ १४८ ॥ इनके समयमें जरायुसे ढकी हुई वालकोंकी उत्पत्ति होने लगी। इन्होंने अपनी प्रजाके लिये उस जरायुके फाड़नेका उपाय वतलाया ॥ १४९ ॥ जव वालक उत्पन्न होता है उस समय उसका शरीर लोहू मांससे वने हुये एक प्रकारके जालसे आच्छादित होता है उसी जालको जरायु कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रसेन भी है। महाराज प्रसेनजितने इस प्रसेन अर्थात् जरायुके फाड़ने और उसमेंसे वालक निकाल लेनेका उपदेश दिया था इसीलिये इनका नाम प्रसेनजित पडगया था ॥ १५० ॥ अथवा प्रसा शब्दका अर्थ प्रसूति अथवा जन्म लेना है। इन शब्दका अर्थ स्वामी है। यह जरायु जन्म लेते समय वालकको आच्छादित करलेता है इसलिये इसीको जन्मका स्वामी अथवा प्रसेन कहते हैं। महाराज प्रसेनजितने इसी प्रसेन अर्थात् जरायुके दूर करनेका उपाय वतलाया था अथवा इसके जीतनेका उपाय वतलाया था इसीलिये लोग इन्हें प्रसेनजित कहते थे ॥ १५१ ॥ इनके वाद ही महाराज नाभिराय चौदहवें कुलकर हुये। ये वड़े बुद्धिमान थे तथा इस युगके प्रारंभमें पूर्व पुरुषोंने सवसे अग्रसर होनेका जो भार धारण किया था उसके धारण करनेमें भी ये पूर्ण समर्थ थे ॥ १५२ ॥ इनकी आयु एक करोड़ पूर्वकी थी और शरीरकी उंचाई पांचसौ पच्चीस धनुपकी थी। इनका मस्तक सुवर्णमय मुकुटसे वड़ा ही शोभा-

कुंडलाभ्यामलंकृत. । सुमेरुरिवचंद्रार्कसंश्लिष्टाधित्यको बभौ ॥ १५४ ॥ पार्वणं शशिनं गर्वात्स्खलयत्तन्मुखाबुजं । सितोल्लसितदंतांशुकेसरं भृशमावभौ ॥ १५५ ॥ स हारभूषित वक्षो बभाराभरणोज्ज्वल । हिमवानिव गगाबुप्रवाहघटित तट॥ १५६ ॥ सदगुलितलौ बाहू सोऽधान्नागाविवोत्फणौ । केयूररुचिरौ चासौ साही निधिघटाविव ॥ १५७ ॥ सुसहत दधौ मध्य स्थेयो वज्रास्थिबधन । लोकस्कध इवोर्ध्वाधोविस्तृतश्चारुनाभिक ॥ १५८ ॥ कटीतट कटीसूत्रघटित स्म विभर्त्ति सः । रत्नद्वीपमिवाम्भोधिः पर्यतस्थितरत्नक॥ १५९ ॥ वज्रसारौ दधावूरू परिवृत्तौ सुसंहतौ । जग-

यमान था इसके दोनों ओर कानोंमें जो कुंडल लगे थे उनसे वह मुकुट सहित मस्तक ऐसा शोभित होता था मानो मेरुपर्वतकी ऊपरकी भूमि दोनो ओर फिरते हुये सूर्य चंद्रमासे सुशोभित हो रही हो ॥१५४॥ साधारण रीतिसे चंद्रमा कमलको तिरस्कृत किया करता है परंतु इनका मुखकमल ऐसा शोभायमान था कि वह अपने गर्वसे पौर्णमासीके पूर्ण चंद्रमाको भी तिरस्कृत करता था। इनके अल्प हास्यसे कांतियुक्त जो दांतोंकी किरणें निकल रही थीं वे इनके मुखकमलमें केसरके समान सुशोभित हो रही थी ॥ १५५ ॥ वे महाराज नाभिराय अनेक दैदीप्यमान आभरण पहने हुये थे। हारसे सुशोभित इनका वक्षःस्थल ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों गंगानदीके प्रवाहसे बना हुआ हिमवान पर्वतका किनारा ही हो ॥ १५६ ॥ अंगुली और हथेलियों सहित जिनकी दोनों बाहू ऐसी शोभायमान हो रही थीं मानो अपना अपना फण ऊंचा किये हुये दो सर्प ही हों। तथा केयूरोंसे सुशोभित दोनों कंधे ऐसे लगते थे मानो सर्पसहित दोनों निधियोंके घड़े ही हों ॥ १५७ ॥ इनका कटिभाग भी अत्यंत सुदृढ़ और स्थिर था। वज्रमय जिसके अस्थिबंधन थे। जिसके समीप ही बहुत सुंदर नाभि थी और वह ऐसा शोभायमान था जैसे सुविस्तृत ऊर्द्ध्वभाग और अधोभागवाले लोकाकाशका मध्यभाग ही हो ॥ १५८ ॥ तथा कमरमें पड़ी हुई रत्नमय करधनीसे इनका कटिभाग ऐसा शोभायमान हो रहा था मानो जिसमें सर्वत्र रत्न पडे हुये हैं ऐसा समुद्रसे घिरा हुआ रत्नद्वीप ही शोभित होता हो ॥ १५९ ॥ इनकी जंघा भी वज्रमय

दृगृहांतर्विन्यस्तसुस्थितस्तंभसन्निभौ ॥ १६० ॥ मत्वोर सिलमस्योर्ध्वकायं वेधा महाभर । उपाजेकर्तुमध्यूरू स्थिरे जघे न्यधाद् ध्रुवं ॥ १६१ ॥ चन्द्रार्कसरिदभोधिमत्स्यकूर्मादिलक्षण । दधेधिचरणं भक्तु चराचरमिवाश्रित ॥ १६२ ॥ इति स्वभावमाधुर्यमौदर्यघटित वपु. । मन्येतादृक्सुरेंद्राणामपि जायेत दुष्कर ॥ १६३ ॥ तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत । स तन्निकर्त्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत् ॥ १६४ ॥ तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विष । प्रादुरासन्नभोभागे साद्रा सेंद्रशरासना ॥ १६५ ॥ नभोनीरध्रमारुधजजृम्भेऽम्भोमुचा चय । कालाद्वृद्धसामर्थ्यैरारब्ध सूक्ष्म-

सुदृढ़ और गोल थीं और वे ऐसी लगती थीं मानों संसाररूपी घरके भीतर मजबूत दो खंभे ही लगे हों ॥ १६० ॥ इनके शरीरका ऊपरी भाग वक्षःस्थलरूपी शिलाके बोझसे अतिशय भारी था और कदाचित् यह समझ कर ही उसके निश्चल करनेकेलिये नामकर्मने इनकी जंघाके नीचेका भाग गोल और बहुत ही मजबूत बनाया था ॥ १६१ ॥ इनके चरणतलमें सूर्य चंद्रमा नदी समुद्र मत्स्य कच्छप आदि अनेक शुभ लक्षण थे और वे ऐसे शोभायमान होते थे मानो चर अचररूप यह सब संसार इनके चरणकमलोंकी सेवा करनेकेलिये ही आया है ॥१६२॥ इसप्रकार महाराज नाभिरायका शरीर स्वाभाविक मधुरता और सुंदरतासे बना हुआ था। इनके शरीरकी स्वाभाविक शोभा देखकर यह अवश्य कहना पड़ता था कि ऐसा शरीर देवोंके स्वामी इंद्रको भी प्राप्त होना अति कठिन है ॥ १६३ ॥ इनके समयमें उत्पन्न होतेसमय बालककी नाभिमें नाल दिखाई देने लगा था। महाराज नाभिरायने इस नालके काटनेका उपाय बतलाया था इसीलिये इनका 'नाभि' यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥१६४॥ इन्हींके समयमें आकाशमें कुछ सफेदी लियेहुये घनीभूत काले बादल दिखाई पड़ने लगे थे तथा उनमें इंद्रधनुष भी दिखाई देने लगा था ॥१६५॥ उस समय कालके अनुसार सूक्ष्म पुद्गल द्रव्योंमें बादल बननेकी सामर्थ्य उत्पन्न होगई थी इसलिये उन पुद्गलोंसे बने हुये छिद्ररहित बादलोंके समूह आकाशको घेरे हुये इधर उधर फैल गये थे ॥ १६६ ॥ उन बादलोंमें कहीं कहीं बिजली भी चमक रही थी, वे गरज रहे थे और बरस भी रहे थे।

पुद्गलै. ॥ १६६ ॥ विद्युद्वंतो महाध्वाना वर्षंतो रेजिरे घनाः । सहेमकक्ष्या मदिनो नागा इव सबृंहिता ॥ १६७ ॥ घनाघनघनध्वानै प्रहता गिरिभित्तयः । प्रत्याक्रोशमिवातेनुः प्ररुष्टा प्रतिशब्दकै ॥१६८॥ ववाववाततान्कुर्वन्कलापौघान्कलापिना । घनाघनालिमुक्ताभ कणवाही समीरणः ॥ १६९ ॥ चातका मधुर रेणुरभिनद्य घनागमं । अकस्माच्चांडवारभमातेने शिखिनां कुल ॥ १७० ॥ अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनभोमुचां चया. । मुक्तधार प्रवर्षंतः प्रसरद्धातुनिर्झरान् ॥ १७१ ॥ क्वचिद्गिरिसरित्पूराः प्रावर्तंत महारयाः । धातुरागारुणा मुक्ता रक्तमोक्षा इवाद्रिषु ॥१७२॥ ध्वनतो

इसलिये ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो जिसकी सूंडपर सुवर्णका पट्टा पड़ा हुआ है और जिससे मद बह रहा है ऐसा गर्जता हुआ हाथी ही सुशोभित होता हो ॥ १६७ ॥ उस समयके जो घनीभूत बादल गरज रहे थे उनके शब्द पर्वतोंकी दीवालों पर टकराते थे और उन पर्वतोंकी गुफाओंमेंसे उन्हीं शब्दोंकी प्रतिध्वनि निकल रही थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानो वे पर्वतकी दीवालें उन शब्दोंकी टक्करसे रुष्ट होकर बदलेमें आक्रोश बचन ही कह रही हों ॥१६८॥ उस समय वहां घनीभूत बादलोंके जलबरसने से ठंडा हुआ तथा मोरोंके पंखोंको फैलाता हुवा वायु भी चल रहा था ॥ १६९ ॥ आकाशमें बादल देखकर चातक पक्षी भी प्रसन्न हुये और मीठे २ शब्द बोलने लगे थे । उसी बादलको देखकर मोरोंके झुंडके झुंड अकस्मात् तांडव नृत्य करने लगे ॥ १७० ॥ तथा जो बादल धाराप्रवाह बरस रहे थे ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनसे धातुओंके निर्झरने निकल रहे हैं उन पर्वतोंका अभिषेक ही कर रहे हों ॥ १७१ ॥ पर्वतोंपर कहीं कहीं गेरूके रंगसे लाल हुये नदियोंके पूर बड़े वेगसे बह रहे थे वे पूर ऐसे मालूम पड़ते थे मानों मेघोंसे ताड़ित हुये पर्वतोंसे निकलकर रक्तका प्रवाह ही बह रहा हो ॥ १७२ ॥ वे बादल गरजते हुये मोटी धारसे बरस रहे थे, जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों ये कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेसे दुःखी हुये हैं और शोकसे रुदन करते हुये आंसू ही बहा रहे हैं ॥ १७३ ॥ वे बादल जब वायुसे टकराते थे तब उनसे ऐसा गंभीर शब्द होता था मानो बजानेवालेके हाथकी धीमी चोटसे

वव्रुपुर्मुक्तस्थूलधारा पयोधरा.। रुदंत इव शोकार्तो कल्पवृक्षपरिक्षये ॥ १७३ ॥ मार्दंगिककरास्फालादिव वातविघट्टनात् । पुष्करेष्विव गंभीर ध्वनत्सु जलवाहिषु ॥ १७४ ॥ विद्युन्नटी नभोरंगे विचित्राकारधारिणी । प्रतिक्षणविवृत्तांगी नृत्तारंभमिवातनोत् ॥ १७५ ॥ पय पयोधरासक्तै पिवद्भिरवितृप्तिभि । कृच्छ्रलब्धमिवप्रीतैश्चातकैरर्भकायित ॥ १७६ ॥ तडित्कलत्रसंसक्तै कालापेक्षैर्महाजलै । कृषिप्रवृत्तकैर्मेघैर्व्यक्त पामरकायितं ॥१७७॥ अवुद्धिपूर्वमुत्सृज्य वृष्टिं सद्य पयोमुच.। नैकधा विक्रिया भेजुर्वैचित्र्यात्पुद्गलात्मन ॥ १७८ ॥ तदा जलधरोन्मुक्ता मुक्ताफलरुचो छटाः।

मृदंगका शब्द ही होता हो। उसी समय आकाशमें चारों ओर विजली भी चमक रही थी और वह ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक रूप धारण करती हुई तथा क्षण क्षणमें इधर उधर अपना शरीर घुमाती हुई विजली रूपी नटी उस वाजेके साथ नृत्य ही कर रही हो॥ १७४॥ ॥ १७५ ॥ उस समय चातक पक्षी ठीक वालकके समान हो रहे थे। जैसे वालक पयोधर अर्थात् माताके स्तनमें आसक्त रहते हैं उसी प्रकार चातक भी पयोधर अर्थात् मेघोंमें आसक्त हो रहे थे तथा वालक जैसे बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुआ पय अर्थात् दूध पीते रहते हैं और तृप्त नहीं होते, उसी प्रकार चातक भी कठिनतासे प्राप्त हुआ पय अर्थात् मेघजल पीते रहते थे और तृप्त नहीं होते थे। वालक जैसे माता पितासे प्रेम रखते हैं उसीप्रकार वे चातक भी मेघोंसे प्रेम रखते थे॥१७६॥ अथवा यों भी कह सकते हैं कि वे वादल पामर पुरुषोंका अनुकरण कर रहे थे। पामरगण जैसे स्त्रीमें आसक्त रहते हैं उसीप्रकार वे भी सदा विजुली रूपी स्त्रीमें आसक्त रहते थे। पामर जन (नीच वा शूद्रजन) जैसे कुछ न कुछ अपेक्षा रखते हैं वादल भी कालकी अपेक्षा रखते थे। पामरगण जड़ अर्थात् मूर्ख होते हैं वे भी महाजड़ अर्थात् जलसे खूव भरे हुये थे। पामर पुरुष भी प्रायः खेती करनेवाले होते हैं और ये बादल भी खेती करानेवाले थे॥१७७॥ वे वादल अचेतन थे उनमें कुछ वुद्धि नहीं थी परंतु जिन पुद्गल परमाणुओंसे वे वने थे उनकी विचित्र परिणतिके कारण वे शीघ्र ही वरस कर अनेक आकारके हो जाते थे॥ १७८॥ उस समय जो पानीकी

मही निर्वापयामासुर्दिवाकरकरोष्मत ॥१७९॥ ततो ऽब्दमुक्तवारिक्ष्माखानिलातपगोचरान् । क्लेदाधारावगाहांतर्नीहारोष्मत्वलक्षणान् ॥ १८० ॥ गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणा । सरूढान्यकुरावस्थाप्रभृत्याकणिशासित ॥ १८१ ॥ शनै शनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेष्वविरल तदा । सस्यान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वत ॥ १८२ ॥ प्रजाना पूर्वसुकृतात्कालादपि च तादृशात् । सुपक्वानि यथाकाल फलदायीनि जज्ञिरे ॥१८३॥ तदा पितृव्यतिक्रातावपत्यानीव तत्पद । कल्पवृक्षोचितस्थान तान्यध्यासिषत स्फुट ॥ १८४ ॥ नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत्किंतु मध्यमा । वृष्टिस्ततसर्वधान्याना फलावाप्तिरविप्लुता ॥ १८५ ॥ षाष्ठिकाः कलमव्रीहियवगोधूमकगव. । श्यामाककोद्रवोदारनीवारवरकास्तथा ॥ १८६ ॥ तिला-

बूंदें बादलोंसे गिर रही थीं वे मोतीके समान सुंदर सुशोभित हो रहीं थीं जिससे सूर्यकी किरणोंसे तप्त हुई यह संपूर्ण पृथिवी शांत हो गई थी ॥ १७९ ॥ तदनंतर मेघोंसे पड़ा हुआ जल, पृथिवी, आकाश, वायु और सूर्यकी धूप इन सबके गुण परस्पर मिले अर्थात् जलकी आर्द्रता, पृथिवीका आधार, आकाशकी अवगाहन शक्ति, वायुका अंतर्नीहार अर्थात् अंकुर वढ़ने केलिये जो परमाणु चाहिये उन्हें इकट्ठा कर एक जगह जमने देना, और धूपकी उष्णता इन सब गुणोंसे द्रव्य क्षेत्रआदि सब सामग्री इकट्ठी हुई और उनसे अंकूरे उत्पन्न हुये। वे अंकूरे बहुत दूर दूर नहीं थे किंतु पास पास थे। वे धीरे धीरे बढ़ने लगे और फल लगने तक बराबर बढ़ते चले गये। इसीतरह अनेक प्रकारके धान्य भी जो किसीने बोये नहीं थे सब जगह अपने आप उत्पन्न होने लगे, वे सब धान्य उस समयकी प्रजाके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे तथा उसीप्रकारके समयके प्रतापसे अपने आप ही यथायोग्य समयपर पक गये और फलदेनेयोग्य होगये ॥ १८० ॥ १८१ ॥ १८२ ॥ १८३ ॥ जिसप्रकार माता पिताके मरनेपर उनके स्थानपर उनकी संतान कायम रहती है ठीक इसीप्रकार कल्पवृक्षोंके स्थानपर वे नये उत्पन्न हुये धान्य कायम हुये थे ॥ १८४ ॥ उस समय न तो अधिक वृष्टि होती थी और न कम, किंतु जितनी चाहिये उतनी मध्यम वृष्टि होती थी। इसलिये वे सब धान्य निर्विघ्नरीतसे पककर फलसहित हो गये थे ॥ १८५ ॥ साठी चावल, कलम वा

तस्यौ मसूराश्च सर्षपो धान्यजीरकौ । मुद्गमाषाढकीराजमाषनिष्पावकाश्चणाः ॥ १८७ ॥ कुलित्थत्रिपुटौ चेति धान्यभेदास्त्विमे मता. । सकुसुंभाः सकर्पासाः प्रजाजीवनहेतव ॥ १८८ ॥ उपभोग्येषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजा । तदुपायमजानाना स्वताऽमूर्मुमुहुर्मुहु ॥ १८९ ॥ कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रया. । युगस्य परिवर्त्तेऽस्मिन्नभूवन्नाकुलाकुला. ॥ १९० ॥ तीव्रायामशनायायामुदीर्णाहारसञ्ज्ञया । जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः ॥ १९१ ॥ युगमुख्यमुपासीना नाभिं मनुमपश्चिम । ते त विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नरा. ॥ १९२ ॥ जीवाम. कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः । कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यका ॥ १९३ इमे केचिदितो देव तरुभेदा समुत्थिताः । शाखाभिः

रसाल जातिके चावल, जौ, गेंहू, कांगनी, तृणोंसे उत्पन्न हुये धान्य, कोदों, जंगली चांवल, वटाने, तिल, तिसी वा अलसी, मसूर, सरसों, धनियां, जीरा, मूंग, उड़द, अरहर, रमास, मोठ, चना, कुलथी, तेउरा कुसुम, कपास इत्यादि उस समयकी प्रजाके जीवित रहनेके कारणभूत अनेक प्रकारके धान्यादि उत्पन्न हुये थे। ॥ १८६ ॥ १८७ । १८८ ॥ इसप्रकार भोग उपभोगके योग्य ऊपर कहे हुये सब धान्यादि उपस्थित थे परंतु उस समयकी प्रजा उन्हें काममें लानेका उपाय नहीं जानती थी इसलिये वह स्वभावसे ही वार वार मोहित होती थी अर्थात् उन्हें देखकर वह भ्रममें पड़गई थी ॥ १८९ ॥ उस समय युगका परिवर्त्तन हो रहा था अर्थात् भोगभूमिसे बदलकर कर्मभूमिका समय आ रहा था। कल्पवृक्ष पूर्णरीतिसे नष्ट हो चुके थे। इसकारण ऐसे कठिन समयमें यहांके सब लोग निराधार और अतिशय व्याकुल हो रहे थे ॥ १९० ॥ आहारसंज्ञाके उदय होनेसे उन्हें तीव्र भूख भी लग रही थी किंतु उसके शांत करनेका उपाय कुछ नहीं जानते थे इसलिये अपने जीवित रहनेमें भी संदेह कर आतिशय व्याकुल चित्त होकर वे सब लोग उस युगके मुख्य नायक श्रीनाभिराय अंतिम मनुके समीप आये और बड़ी दीनताके साथ प्रार्थना करने लगे कि ॥१९१ । १९२॥ हे नाथ ! इष्ट फल देनेवाले कल्पांतकालतक स्मरण करने योग्य कल्पवृक्ष सब नष्ट होगये अब पुण्यहीन अनाथ हमलोग किसप्रकार जीवित रहें॥१९३॥ हे देव! देखिये! ये अनेकप्रकारके

फलनम्राभिराह्वयतीव नोऽधुना ॥ १९४ ॥ किमिमे परिहर्त्तव्या किं वा भोग्यफला इमे । फलेग्रहीनिं मेऽस्मान्वा निगृह्णंत्यनुपांति वा ॥ १९५ ॥
अमीषामुपशल्येषु केऽप्यमी तृणगुल्मकाः । फलनम्रशिखा भाति विश्वदिक्वामितोमुतः ॥ १९६ ॥ क एषामुपयोग. स्याद्विनियोज्याः कथं नु वा ।
किमिमे स्वैरसग्राह्या न वेतीद वदाद्य नः ॥ १९७ ॥ त्व देव सर्वमप्येनद्वेत्सि नाभेऽनभिज्ञका. । पृच्छामो वयमद्यार्त्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद न' ॥ १९८ ॥
इति कर्तव्यतामूढानतिभ्रातास्तदार्यकान् । नाभिर्न भेयामित्युक्त्वा व्याजहार पुनः स तान् ॥ १९९ ॥ इमे कल्पतरूच्छेदे द्रुमा' पक्वफलानताः ।
युष्मानद्यानुगृह्णंति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥ २०० ॥ भद्रकास्तदिमे भोग्या. कार्या न भ्रातिरत्र वः । अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥ २०१ ॥

वृक्ष उत्पन्न हुये हैं जो कि शाखा और फलोंके बोझसे झुक रहें हैं सो ऐसे मालूम होते हैं मानो हमें बुला रहे हैं ॥ १९४ ॥ परंतु ये त्याज्य हैं ? या इनके फल सेवन करने योग्य हैं ? यदि हम इनके फल ग्रहण करें तो ये हमें मारेंगे या हमारी रक्षा करेंगे ? ॥ १९५ ॥ तथा इन वृक्षोंके समीप ही चारों दिशाओंमें जो छोटे छोठे गुच्छे उग रहे हैं जो कि अपनी शिखा और फलोंसे नम्र हुये बड़े ही शोभायमान हो रहे हैं सो ये सब क्या हैं ? ॥१९६॥ इनका क्या उपयोग है ? ये किस प्रकार भोगोपभोगमें आ सकते हैं। हमारी इच्छानुसार उनका संग्रह हो सकता है या नहीं ? हे स्वामिन् आज ये सब बातें कहिये ॥ १९७ ॥ हे महाराज नाभि ! आप ये सब बातें जानते हैं । हम लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं और दुखी हैं इसी कारण आपसे पूछते हैं इसलिये हे देव ! हमपर आप प्रसन्न हूजिये और ये सब वृत्तांत कहिये ॥ १९८ ॥ इसप्रकार जो आर्यपुरुष कर्त्तव्यमूढ़ और अतिशय भ्रांत हो रहे थे उन्हें महाराज नाभिराय धैर्य देने लगे और 'डरो मत, यह कहकर नीचे लिखे हुये वाक्य कहने लगे ॥ १९९ ॥ अब कल्पवृक्ष नष्ट होगये हैं इसलिये फलों से नम्रीभूत हुये ये साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे जैसे कि पहले कल्पवृक्ष करते थे ॥२००॥ इसलिये हे भद्र पुरुष हो ये वृक्ष तुम्हारे भोग्य हैं इसमें तुम्हें किसी प्रकारकी भ्रांति नहीं करना चाहिये । परंतु इधर देखो! ये सब विषवृक्ष हैं इनसे दूर रहना ॥ २०१ ॥ ये चांवल जौ आदि एकप्रकारकी औषधि हैं ।

इमाश्च काश्चनौषध्य स्तवकार्यादयो मता । एतासा भोज्यमन्नाद्यं व्यंजनाद्यै सुसम्कृत ॥ २०२ ॥ स्वभावमधुराश्चैते दीर्घा पुड्रेक्षुदण्डका. । रसीकृत्य प्रपातव्या दतैर्यंत्रैश्च पीडिता' ॥ २०३ ॥ गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्तितानि च । पात्राणि विविधान्येषा स्थाल्यादीनि दयालुना ॥२०४॥ इत्याद्युपायकथनै प्रीता सत्कृत्य त मनु । भेजुस्तद्दर्शिता वृत्ति प्रजाः कालोचिता तदा ॥ २०५ ॥ प्रजाना हितकृद्भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ । नाभिराजस्तदोद्भूतो भेजे कल्पतरुस्थिति ॥ २०६ ॥ पूर्वं व्यावर्णिता ये ते प्रतिश्रुत्यादय क्रमात् । पुरा भवे बभूवुस्ते विदेहेषु महान्वया ॥ २०७ ॥ कुशलै. पात्रदानाद्यैरनुष्ठानैर्यथोचितै. । सम्यक्त्वग्रहणात्पूर्वं बद्धायुर्भोगभूमुवा ॥२०८॥ पश्चात्क्षायिकसम्यक्त्वमुपादाय जिनान्तिके ।

इनमें मसाला आदि पदार्थ मिलाकर इनका पाक करनेसे अन्न आदि खाने योग्य स्वादिष्ट पदार्थ तैयार होते हैं ॥ २०२ ॥ ये जो लंबे दंडे सरीखे दिखते हैं सो पोंड़े (ईख) हैं ये स्वाभावसे ही मीठे हैं। इन्हें दातोंसे अथवा यंत्रसे पेलकर इनका रस निकालकर पीना चाहिये ॥ २०३ ॥ दयालु महाराजनाभिरायने उन आर्योंको ये सब उपाय बतलाये तथा हाथीके कुंभस्थलपर थाली आदि अनेक प्रकारके मिट्टीके वर्त्तन बनाकर इन्हें दिये और आगें इसीप्रकार बनानेका उपदेश दिया ॥ २०४ ॥ इसप्रकार महाराज नाभिरायने सब उपाय बतलाये जिससे वे आर्य लोग बहुत प्रसन्न हुये उन्होंने नाभिराय मनुका अतिशय आदर सत्कार किया। मनुने उस कालके योग्य जो कुछ मार्ग दिखलाया था उसीके अनुसार वे लोग चलने लगे ॥ २०५ ॥ उस समय इस भरतक्षेत्रमें भोगभूमिकी स्थिति नष्ट हो चुकी थी प्रजाका हित करनेवाले केवल नाभिराय ही उत्पन्न हुये थे। इसलिये उस समय वे ही कल्पवृक्षका काम दे रहे थे ॥ २०६॥ ऊपर जो प्रतिश्रुतिसे लेकर नाभि पर्यंत चौदह कुलकर (मनु) कहें हैं वे सब पूर्वभवमें विदेह क्षेत्रोंमें महापुरुष (अतिशय पुण्यवान) थे ॥ २०७ ॥ इन्होंने उस भवमें अनेक पुण्य बढ़ानेवाले पात्रदान दिये थे। अनेक यथायोग्य व्रताचरण आदि अनुष्ठान किये थे जिससें सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे पहले ही उनकी भोगभूमिकी आयु बंध चुकी थी ॥ २०८ ॥ अंतमें इन्हें श्रीजिनेंद्रदेवके समीप क्षायक सम्यक्त्वकी

अत्रोदपत्स्यत स्वायुरते ते श्रुतपूर्विण ॥ २०९ ॥ इमान्नियोगानाध्याय प्रजानामित्युपादिशन्। केचिज्जातिस्मरास्तेषु केचिच्चावधिलोचना ॥२१०॥ प्रजाना जीवनोपायमननान्मनवो मता । आर्याणा कुलसस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥ २११ ॥ कलाना धारणादेते मता कुलधरा इति । युगादिपुरुषाः प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णव. ॥ २१२ ॥ वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलकृच्चैव समत । भरतश्चक्रभृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णित. ॥ २१३ ॥ तत्राद्यै पचभिर्नृणा कुलभृद्भि कृतागसा । हाकारलक्षणो दड समवस्थापितस्तदा ॥ २१४ ॥ हामाकारो च दंडोऽन्यै पचभि. सम्प्रवर्तित. । पचभिस्तु तत: शेषैर्हामाधिकारलक्षण ॥ २१५ ॥ शारीर दडन चैव वधबधादिलक्षण । नृणा प्रबलदोषाणा भरतेन नियोजितं ॥ २१६ ॥ यदायुरुक्त-

---

प्राप्ति और श्रुतज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। तथा वे अपनी आयु पूर्णकर यहां इस आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न हुये थे ॥ २०९ ॥ इन चौदहमेंसे कितने ही मनुओंको तो जातिस्मरण था और कितनोंहीको अवधिज्ञान था इन्होंने प्रजाकेलिये ऊपर कहे हुये पृथक् पृथक् नियोग बतलाये और उन्हें ऊपर कहे हुये अनेक उपदेश दिये थे ॥२१०॥ वे उस समयकी प्रजाके जीवनका उपाय जानते थे इसलिये मनु कहलाते थे। तथा उन आर्यपुरुषोंको इकट्ठे होकर एक जगह रहनेका उपदेश दिया था इसलिये वे कुलकर कहलाते थे ॥२११॥ इन्होंने अनेक वंश स्थापन किये थे इसलिये वे कुलधर भी कहलाते थे। तथा युगके प्रारंभमें ये ही प्रतापी और बुद्धिमान् हुये थे इस लिये युगादिपुरुष कहलाते थे ॥२१२॥ श्रीवृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी कहलाते थे। तथा इन के पुत्र भरत महाराज चक्रवर्त्ती भी थे और कुलधर भी थे ॥२१३॥ इन कुलकरोंने दोषी मनुष्योंको दंड देने का विधान भी चलाया था और वह इस तरहसे कि जो पहलेके पांच मनु थे उन्होंनें कोई दोष होनेपर 'हा' इसप्रकार शोक प्रगट करनेरूप दंड देना प्रारंभ किया तथा—॥ २१४ ॥ अन्य पांच मनुओंने 'हा, मा' इसप्रकार शोक प्रगट करनेरूप और उस कामको निषेध करनेरूप दंड दिया। तथा अंतके पांच मनुओंने 'हा, मा और धिक् ये तीनप्रकारके दंड देना प्रारंभ किया ॥ २१५ ॥ महाराज भरतके समयमें लोग अधिक दोष और अन्याय करने लगे थे इसलिये महाराज भरतने उन्हें कारागार

मेतेषाममादिप्रसंख्यया । क्रियते तद्विनिश्चित्यै परिभाषोपवर्णनं ॥ २१७ ॥ पूर्वांग वर्षलक्षाणामशीतिश्चतुरुत्तरा । तद्वर्गितं भवेत्पूर्वं तत्कोटी पूर्वकोट्यसौ ॥ २१८ ॥ पूर्वं चतुरशीतिघ्न पर्वांगं परिभाष्यते । पूर्वांगताडित तत्तु पर्वांग पर्वमिष्यते ॥ २१९ ॥ गुणाकारविधि सोऽय योजनीयो यथाक्रम । उत्तरेष्वपि सख्यानविकल्पेषु निराकुल ॥ २२० ॥ तेषा संख्यानभेदाना नामानीमान्यनुक्रमात् । कीर्त्यंतेऽनादिसिद्धाते पदरूढानि यानि वै ॥ २२१ ॥ पूर्वांग च तथा पूर्वं पर्वांग पर्वसाह्वय । नयुताग पर तस्मान्नयुनं च तत. पर ॥ २२२ ॥ कुमुदागमतो विद्धि कुमुदाह्वमत

में रखना उनका वध करना आदि शारीरिक दंड भी देनेकी प्रणाली चलाई थी ॥२१६॥ ऊपर कितने ही मनुओंकी आयु 'अमम' आदि परिभाषारूप संख्यासे कही है इसलिये अब उनका निश्चय करनेकेलिये उन परिभाषाओंका अर्थ लिख देते हैं ॥ २१७ ॥ चौरासी लाख वर्षोंका एक पूर्वांग कहलाता है। चौरासी लाखका वर्ग करनेसे जो संख्या आती है उसे पूर्व कहते हैं अर्थात् ८४००००० × ८४००००० = ७०५६०००० ०००००० वर्षोंका पूर्व होता है। इस संख्याको करोड़से गुणा करनेसे एक करोड़ पूर्व संख्या कहलाती है ॥ २१८ ॥ इस पूर्वको चौरासीसे गुणा करनेसे पर्वांग कहलाता है तथा पर्वांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे पर्व कहलाता है ॥ २१९ ॥ आगे जो नयुतांग नयुत आदि जो संख्या कही हैं उनमें यही गुणाकार विधि करना चाहिये । भावार्थ—पर्वको चौरासीसे गुणा करनेसे नयुतांग, नयुतांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे नयुत, नयुतको चौरासीसे गुणा करनेसे कुमुदांग, कुमुदांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे कुमुद, कुमुदको चौरासीसे गुणा करनेसे पद्मांग, पद्मांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे पद्म, पद्मको चौरासीसे गुणा करनेसे नलिनांग, नलिनांगको चौरासीलाखसे गुणा करनेसे नलिन आदि इसीप्रकार गुणा करनेसे आगेकी संख्याओंका परिमाण निकलता है ॥ २२० ॥ अब हम अनुक्रमसे उस संख्याके भेदोंके नाम कहते हैं जो अनादिनिधन सिद्धांतमें प्रसिद्ध हैं ॥ २२१ ॥ पूर्वांग, पूर्व, पर्वांग, पर्व, नयुतांग, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, तुट्यंग, तुटिक, अटटांग,

परं। पद्मांगं च ततः पद्मं नलिनांगमतोऽपि च ॥ २२३ ॥ नलिनं कमलांगं च तथान्यत्कमलं विदुः । तुट्यंगं तुटिकं चान्यदटटांगमथाटटं ॥ २२४ ॥ अममांगमतो ज्ञेयमममाख्यमतः परं । हाहांगं च तथा हाहा हूहूश्चैव प्रतीयताम् ॥ २२५ ॥ लतांगं च लताह्वं च महत्पूर्वं च तद्द्वयं । शिरःप्रकंपितं चान्यत्ततो हस्तप्रहेलितं ॥ २२६ ॥ अचलात्मकमित्येवंप्रकारः कालपर्ययः । सङ्ख्येयो गणनातीतं विदुः कालमतः परं ॥ २२७ ॥ यथासंभवमेतेषु मनूनामायुरूह्यतां । सङ्ख्याज्ञानमिदं विद्वान्सुधीः पौराणिको भवेत् ॥ २२८ ॥ आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तो द्वितीयः सन्मतिर्मतः । तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः ॥ २२९ ॥ सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः षष्ठः सीमधृदिष्यते । ततो विमलवाहाङ्कश्चक्षुष्मानष्टमो मतः ॥ २३० ॥ यशस्वान्नवमस्तस्मान्नभिचन्द्रोऽप्यनन्तरः । चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो मरुद्देवस्ततः परः ॥ २३१ ॥ प्रसेनजित्परस्तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः । वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृतौ मनू ॥ २३२ ॥ प्रतिश्रुतिः प्रत्यश्रृणोत्प्रजाना चन्द्रार्कसदर्शनभीतिभाजां । स सन्मतिस्तारकिताभ्रमार्गसदर्शने भीतिमपा-

---

अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहू-अंग, हूहू, लतांग, लता, महालतांग, महालता, शिरःप्रकंपित हस्तप्रहेलित और अचल ये सब उक्त संख्याके नाम हैं और ये सब कालके भेद वा पर्याय हैं। इनसे आगेकी संख्या असंख्यात कहलाती है ॥ २२२—२२७ ॥ पहले मनुओंकी जो अमम अटट आदि आयु कही है उसका परिमाण ऊपर लिखे प्रकारसे निकाल लेना चाहिये । जो विद्वान् इन सब संख्याओंको जानता है वही बुद्धिमान पौराणिक गिना जाता है ॥२२८॥ जिन कुलकरोंका ऊपर वर्णन किया गया है अनुक्रम से उनके नाम ये हैं। पहला प्रतिश्रुति, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमंकर, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर, छठे सीमंधर, सातवें विमलवाहन, आठवें चक्षुष्मान्, नवमे यशस्वान्, दशवें अभिचंद्र, ग्यारहवें चद्रांभ, बारहवें मरुद्देव, तेरहवें प्रसेनजित् और चौदहवें नाभिराज। नाभिराजके पुत्र श्रीवृषभदेव तीर्थंकर भी थे और कुलकर भी थे तथा महाराज भरत चक्रवर्ती भी थे और कुलधर भी थे ॥ २२९-२३२ ॥ जिन्होंने सूर्य चंद्रमाको देखकर डरनेवाले लोगोंके बचन सुने थे वे प्रतिश्रुति थे । जिन्होंने आकाशमें चमकते हुये तारोंसे भयभीत लोगोंका भय दूर किया था वे सन्मति थे ॥ २३३ ॥ जिन्होंने आर्य लोगोंका कल्याण किया था वे क्षेमंकर थे । जिन्होंने प्रजामें शांतता स्थापनकर कल्याण धारण किया था वे क्षेमंधर थे ।

चकार ॥ २३३ ॥ क्षेमंकर क्षेमकृदार्यवर्गे क्षेमंधर क्षेमधृते प्रजानां । सीमंकरः सीमकृदार्यनृणां सीमंधरः सीमधृतेस्तरूणां ॥ २३४ ॥ वाहोपदेशाद्विमलादिवाह' पुत्राननालोकनसप्रदायात् । चक्षुष्मदाख्यो मनुरग्रगोऽभूद्यशस्वदाख्यस्तदभिष्टवेन ॥ २३५ ॥ सोऽक्रीडयच्चद्रमसाभिचद्र श्चंद्राभकस्तै' कियदप्यजीवीत् । मरुत्सुरोऽभूच्चिरजीवनात्तै प्रसेनजिद्गर्भमलापहारात् ॥ २३६ ॥ नाभिश्च तन्नाभिनिकर्तनेन प्रजासमाश्वासनहेतुरासीत् । सोऽजीजनच्च वृषभ महात्मा सोऽप्यग्रसूनु मनुमादिराज ॥ १२७ ॥ इत्थ युगादिपुरुषोद्भवमादरेण तस्मिन्निरूपयति गौतमसद्ग-

जिन्होंने आर्य लोगोंकी सीमा नियत की थी वे सीमंकर थे और जिन्होंने कल्पवृक्षोंकी सीमा नियत की थी वे सीमंधर थे ॥ २३४ ॥ जिन्होंने हाथी घोड़े आदि पशुओंपर सवारी करनेका उपदेश दिया था वे विमलवाहन थे। जिनके समयसे संतानके मुख देखनेका संप्रदाय प्रारंभ हुआ था वे सबसे अग्रेसर चक्षुष्मान थे। तथा सब लोग जिनका स्तवन करते थे वे यशश्वान् थे ॥ २३५ ॥ जिन्होंने चंद्रमाको दिखलाकर छोटे बच्चोंको क्रीड़ा करानेका उपदेश दिया था वे अभिचंद्र थे। जिनके समयमें अपने बच्चोंके साथ कितने ही दिन तक लोग जीवित रहते थे वे चंद्राभ थे। जिनके समयमें वहांके आर्य बहुत दिनों तक अपने बच्चोंके साथ जीवित रहते थे वे मरुद्देव थे और जिन्होंने जन्म होते समय बच्चेके ऊपर लगे हुये जरायुके हटानेका उपदेश दिया था वे प्रसेनजित थे ॥ २२६ ॥ जिन्होंने जन्म होते समय बच्चोंकी नाभि काटनेका उपदेश देकर प्रजाको आश्वासन दिया था वे नाभिराय थे। नाभिरायके प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभनाथ उत्पन्न हुये और वृषभनाथके प्रथम राजा, तथा सोलहवें मनु महाराज भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुये ॥ २३७ ॥ इस प्रकार गौतम गणधरने बड़े आदरके साथ इस युगके प्रारंभमें होनेवाले उत्तम पुरुषोंकी उत्पत्ति निरूपण की। उसे सुनकर मगधाधिराज श्रीश्रेणिकराजके साथ साथ वह श्रीमहावीर स्वामीके समवसरणमें सुशोभित मुनियोंकी सभा बड़ी शीघ्रतासे अतिशय प्रसन्न हुई ॥ २३८ ॥ श्री महावीर स्वामीके समवसरणमें जितने भव्य पुरुष थे उन सबमें श्रीगौतम गणधर ही मुख्य थे। इसलिये

णद्र । सा साधुसंसदखिला सह मागधेन राजा प्रमोदमचिरात्परमाजगाम ॥ २३८ ॥ सकलमनुनियोगात्कालभेदं च षोढा परिषदि **जिनसेनाचार्यमुख्यो** निरूप्य । पुनरथ पुरुनाम्न. पुण्यमाद्य पुराण कथयितुमुदियाय श्रेणिकाकर्णयेति ॥ २३९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पीठिकावर्णन नाम तृतीयं पर्व ॥ ३ ॥

इन्होंने ही उस समवसरणरूपी सभामें उपर्युक्त क्रमसे छहप्रकारके कालका निरूपण किया तथा चौदहों कुलकरोंके समयमें क्या क्या हुआ था वह भी सब कहा । तदनंतर वे पुण्य बढ़ानेवाले श्रीवृषभदेवका पवित्र पुराण कहनेकेलिये उद्यत हुये और महाराज श्रेणिकसे कहने लगे कि हे श्रेणिक तुम ध्यान देकर सुनो । (इस श्लोकमें ग्रंथकर्ताने गणधरके लिये 'जिनसेनाचार्यमुख्य' यह नाम दिया है । यही नाम ग्रंथ कर्ताका है । ग्रंथकर्ता भगवाज्जिनसेनाचार्यने अपना नाम प्रगट करनेकेलिये ही ऐसा किया है ।) ॥२३९॥

इति श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यविरचित संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें पीठिका वर्णनवाला तृतीयपर्व समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थं पर्व ।

यस्त्रिपर्वीमिमां पुण्यामधीते मतिमान्पुमान् । सोऽधिगम्य पुराणार्थमिहामुत्र च नदति ॥ १ ॥ अथाद्यस्य पुराणस्य महत. पीठिकामिमां । प्रतिष्ठाप्य ततो वक्ष्ये चरित वृषभेशिनः ॥ २ ॥ लोको देश पुर राज्य तीर्थं दानतपोद्वय । पुराणेष्वष्टधाख्येय गतयः फलमित्यपि ॥ ३ ॥ लोकोद्देशनिरुक्त्यादिवर्णन यत्सविस्तर । लोकाख्यान तदाम्नात विशोधितदिगतर ॥ ४ ॥ तदेकदेशदेशाद्रिद्वीपाब्ध्यादिप्रपचनं । देशाख्यान तु तज्ज्ञेयं तज्ज्ञै सज्ज्ञानलोचनै. ॥ ५ ॥ भरतादिषु वर्षेषु राजधानीप्ररूपण । पुराख्यानमितीष्ट तत्पुरातनविदा मते ॥ ६ ॥ अमुष्मिन्नधिदेशोऽयं नगर

अथ चौथा पर्व ।

जो बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त तीनों पर्वोंका अध्ययन करता है, वही संपूर्ण पुराणका अर्थ समझता है तथा वह दोनों लोकोंमें सुखी होता है ॥ १ ॥ इसप्रकार महापुराणकी उपर्युक्त पीठिका कहकर अब श्रीवृषभदेव प्रथम तीर्थंकरका चरित्र कहते हैं ॥ २ ॥ प्रत्येक पुराणमें लोक, देश, पुर, राज्य, तीर्थ, दान तथा तप, गति और फल इन आठ बातोंका वर्णन अवश्य करना चाहिये ॥ ३ ॥ लोकका नाम कहना, उसकी निरुक्ति दिखलाना, प्रत्येक दिशाकी लंबाई चौड़ाई बतलाना तथा और भी उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करना लोकाख्यान कहलाता है ॥ ४ ॥ लोकके किसी एक भागमें देश पर्वत द्वीप समुद्र आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेको बुद्धिमान सम्यग्ज्ञानी पुरुष देशाख्यान कहते हैं ॥ ५ ॥ भारतवर्ष आदि क्षेत्रोंमें राजधानीका निरूपण करना वह पुराण जाननेवाले आचार्योंके मतमें पुराख्यान अर्थात् पुरका व्याख्यान करना कहलाता है ॥ ६ ॥ यह देश अथवा इस देशका यह भाग अमुक राजा के आधीन है अथवा अमुक राजाका यह नगर है इत्यादि वर्णन करना जैनशास्त्रोंमें राज्याख्यान अर्थात् राज्यका वर्णन करना कहलाता है ॥ ७ ॥ जो अपरिमित इस जन्म मरणरूपी संसारसे पार करे उसे तीर्थ कहते हैं । श्रीजिनेंद्रदेवके चरित्र श्रवण करनेसे यह प्राणी संसारसे पार हो जाता है इसलिये उन

वेति तत्पतेः । आख्यानं यत्तदाख्यातं राज्याख्यानं जिनागमे ॥ ७ ॥ संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते । चेष्टित जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसकथा ॥ ८ ॥ यादृश स्यात्तपोदानमनीदृशगुणोदय । कथनं तादृशस्यास्य तपोदानकथोच्यते ॥ ९ ॥ नरकादिप्रभेदेन चतस्रो गतयो मता. । तासा सकीर्तन यद्धि गत्याख्यान तदिष्यते ॥ १० ॥ पुण्यपापफलावाप्तिर्जंतूना यादृशी भवेत् । तदाख्यानं फलाख्यान तच्च नि.श्रेयसावधि ॥ ॥ ११ ॥ लोकाख्यानं यथोद्देशमिह तावत्प्रतन्यते । यथावसरमन्येषा प्रपचो वर्णयिष्यते ॥ १२ ॥ लोक्यतेऽस्मिन्समीक्ष्यते जीवाद्यर्था सपर्यया. । इति लोकस्य लोकत्व निराहुस्तत्त्वदर्शिन. ॥ १३ ॥ क्षिपति निवसत्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः। इति क्षेत्र निराहुस्त लोकमन्वर्थसज्ञया ॥ १४ ॥ लोकोह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहकः । नित्यः स्वभावनिर्वृत्तः सोऽनताकाशमध्यग ॥ १५ ॥ स्रष्टाऽस्य जगत कश्चिदस्तीत्येके जगुर्जडाः ।

का चरित्र ही तीर्थ है। उसका वर्णन करना तीर्थाख्यान कहलाता है ॥ ८ ॥ जीवोंको तप और दानसे जो अनुपमेय फल मिलता है उसके साथ साथ तप और दानका वर्णन करना तपदानकथाका वर्णन कहलाता है ॥ ९ ॥ नरकगति तिर्यंचगति मनुष्यगति और देवगति इसप्रकार गतिके चार भेद हैं। उन का वर्णन करना गत्याख्यान कहलाता है ॥१०॥ संसारी जीवोंको जो कुछ पुण्यपापका फल प्राप्त होता है उसका मोक्ष प्राप्त होने तक वर्णन करना फलाख्यान कहलाता है ॥ ११ ॥ इसप्रकार ये उपर्युक्त आठ आख्यान कहलाते हैं । इनमें सबसे पहिले लोकाख्यान कहा है इसलिये पहिले उसीका वर्णन करते हैं। अन्य सातों आख्यानोंका वर्णन समयानुसार किया जायगा ॥ १२ ॥

जिसमें जीव अजीव आदि पदार्थ अपनी अपनी पर्याय सहित देखे जांय उसे लोक कहते हैं। तत्त्व वेत्ता विद्वानोंने लोक शब्दकी यही निरुक्ति बतलाई है ॥ १३ ॥ जिसमें अपनी अपनी पर्याय सहित जीव अजीव आदि द्रव्य निवास करें वा रहें उसे क्षेत्र कहते हैं। वास्तवमें क्षेत्र ही लोक कहलाता है ॥ १४ ॥ जीव अजीव आदि संपूर्ण पदार्थोंका अवकाश देनेवाला यह लोक अकृत्रिम है किसीका बनाया हुआ नहीं है तथा नित्य है कभी इसका नाश नहीं होता, यह स्वाभाविक और अनंत आकाशके मध्य

तद्दुर्णयनिरासार्थं सृष्टिवादः परीक्ष्यते ॥१६॥ स्रष्टा सर्गबहिर्भूत क्वस्थ सृजति तज्जगत। निराधारश्च कूटस्थः सृष्ट्वैव क्व निवेशयेत् ॥ १७ ॥ नैको विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने पटुः । वितनोश्च न तन्वादिमूर्तमुत्पत्तुमर्हति ॥ १८ ॥ कथ च स सृजेल्लोक विनान्यै. करणादिभिः । तानि

भागमें स्थित है ॥ १५ ॥ कोई कोई नैयायिक वैशेषिक आदि लोग कहते हैं कि इस जगतको बनाने-वाला कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। इनलोगोंका यह दुराग्रह दूर करनेकेलिये प्रथम यही विचार करते हैं कि वास्तवमें इस जगतका कोई कर्ता है या नहीं ॥ १६ ॥ यदि मान लिया जाय कि इस जगतका कोई कर्त्ता है तो यह विचार करना चाहिये कि जब पहले सृष्टि नहीं थी तब वह कर्त्ता सृष्टिके बाहर कहां रहता था। कहां बैठकर उसने यह जगत बनाया था। यदि वह निराधार और नित्य था तो उसने यह सृष्टि कैसे बनाई और बनाकर कहां रक्खी ॥ १७ ॥ दूसरी बात यह है कि--'इस संपूर्ण जगतका बनानेवाला एक ईश्वर है उसीसे यह संपूर्ण सृष्टि बनी है' यह बात असंभव है। क्योंकि आप का माना हुआ वह जगतकर्त्ता ईश्वर शरीररहित निराकार है। वह शरीररहित होकर शरीर आदि मूर्त्तिमान् पदार्थोंको कभी उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि संसारमें यह नियम है और सबलोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि मूर्त्तिमान पदार्थकी उत्पत्ति मूर्त्तिमान् द्रव्यसे ही होती है अमूर्त द्रव्यसे कभी नहीं होती। जैसे मूर्त्तिमान् घड़ा मिट्टी कुम्हार आदि मूर्तिमान् पदार्थसे ही उत्पन्न हो सकता है वह आकाश आदि अमूर्त्त द्रव्यसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। इसीप्रकार शरीर आदि मूर्त्तिक पदार्थ भी अमूर्त्त और अशरीरी ईश्वरसे कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते ॥ १८ ॥ और एक बात यह भी है कि सृष्टि रचनेसे पहले ईश्वर अकेला था जगत बनानेकी कोई कारणसामग्री तो थी ही नहीं। फिर बिना कारणसामग्रीके उसने यह जगत कैसे बनाया ? कुंभार जो घड़ा बनाता है वह मिट्टी और चाक पानी आदि कारणसामग्रियोंके होनेसे ही घड़ा बना सकता है बिना मिट्टी आदिके वह किसी प्रकार भी घड़ा नहीं बना सकता। इसीप्रकार ईश्वर

सृष्ट्वा सृजेल्लोकमिति चेदनवस्थितिः ॥ १९ ॥ तेषां स्वभावसिद्धत्वे लोकेऽप्येतत्प्रसज्यते । किं च निर्मातृवद्विश्वं स्वत सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ २० ॥
सृजेद्विनापि सामग्र्या स्वतन्त्र. प्रभुरिच्छया । इतीच्छामात्रमेवैतत्कः श्रद्दध्यादयुक्तिक ॥ २१ ॥ कृतार्थस्य विनिर्मित्सा कथमेवास्य युज्यते ।

भी बिना अन्य कारण सामग्रीके सृष्टि कदापि नहीं बना सकता । यदि कहोगे उसने पहले सृष्टि बनाने की कारणसामग्री बना ली थी तो अनवस्था दोष आजायगा क्योंकि वह कारणसामग्री भी बिना किसी अन्य कारणसामग्रीके नहीं बन सकती और फिर उस कारणसामग्रीकेलिये अन्य कारणसामग्री चाहिये और उसकेलिये अन्य, इसप्रकार इस दोषका कभी अंत नहीं आवेगा ॥ १९ ॥ यदि कहोगे वह कारण सामग्री स्वतःसिद्ध थी उसी सामग्रीसे ईश्वरने यह सृष्टि बनाई है तो फिर कारणसामग्रीके समान इस जगतको भी स्वतःसिद्ध माननेमें क्या हानि है ? इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जैसे वह सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर स्वतःसिद्ध है उसे किसीने नहीं बनाया है उसीप्रकार यह भी मानना पड़ेगा कि यह जगत भी स्वतःसिद्ध है इसे भी किसीने नहीं बनाया है ॥ २० ॥ यदि कहोगे 'ईश्वर स्वयं समर्थ है उसने विना सामग्रीके भी केवल अपनी इच्छामात्रसे यह जगत निर्माण किया है । इस जगतका निर्माण होना केवल उसकी इच्छामात्र है ।' तो इस प्रकारके इन युक्तिशून्य आपके वचनोंपर भला कौन श्रद्धान कर सकता है ? ॥ २१ ॥ इसके सिवाय यह भी तो विचार करना चाहिये कि यदि वह ईश्वर कृतकृत्य है तो फिर उसे जगत बनानेकी इच्छा वा आवश्यकता कैसे उत्पन्न हुई ? क्योंकि कृतकृत्यके कोई इच्छा होती नहीं है । यदि कहोगे वह कृतकृत्य नहीं है इसलिये इच्छानुसार सृष्टि उत्पन्न करता है तो फिर यह भी कहना चाहिये कि कुंभारके समान वह जगतको बना भी नहीं सकता है । अर्थात् जैसे कुंभार अकृतकृत्य है इसलिये वह कारणसामग्री मिलनेपर थोड़ेसे घड़े आदि बना लेता है इसीप्रकार ईश्वर भी जब कृतकृत्य

अकृतार्थोऽपि न स्रष्टुं विश्वमीष्टे कुलालवत् ॥ २२ ॥ अमूर्तो निष्क्रियो व्यापी कथमेष जगत्सृजेत् । न सिसृक्षापि तस्यास्ति विक्रियारहितात्मन ॥ २३ ॥ तथाप्यस्य जगत्सर्गे फलं किमपि मृग्यतां । निष्ठितार्थस्य धर्मादिपुरुषार्थेष्वनर्थिनः ॥ २४ ॥ स्वभावतो विनैवार्थान्सृजतोऽनर्थसंगति । क्रीडेयं क्वापि चेदस्य दुरता मोहसंततिः ॥ २५ ॥ कर्मापेक्षं शरीरादि देहिना घटयेद्यदि । न त्वेवमीश्वरो न स्यात्पारतंत्र्यात्कुविंदवत्

नहीं है तो वह भी कारणसामग्री मिलने पर अपनी सामर्थ्यके अनुसार थोड़ीसी चीजें बना सकेगा। वह यह संपूर्ण जगत कदापि नहीं वना सकता है ॥ २२ ॥ इसके सिवाय तुम्हारा माना हुआ जगतकर्त्ता ईश्वर अमूर्त निष्क्रिय और व्यापक है। जो अमूर्त निष्क्रिय और व्यापक होता है वह कभी जगतको उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि संसारमें जो कुछ वस्तु उत्पन्न होती है वह मूर्त क्रियावान् और किसी एक देशमें रहनेवाले पुरुष आदिसे ही उत्पन्न होती है जैसे कुंभारसे घट। तथा आकाश अमूर्त्त निष्क्रिय और व्यापक है परंतु उससे कभी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि जब ईश्वर निर्विकार है तो उसके जगत वनानेकी इच्छा ही नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा होना एक विकार है और निर्विकारके विकार होना असंभव है ॥२३॥ तथा जब ईश्वर कृतकृत्य है, धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंमेंसे किसीकी भी इच्छा नहीं रखता तव फिर जगत बनानेसे इसे क्या फल मिलेगा इसका भी तो कुछ विचार करना चाहिये ? क्योंकि विना प्रयोजन मूर्ख भी कोई क्रिया नहीं किया करता है ॥ २४ ॥ यदि यह मान लिया जाय कि वह विना प्रयोजन ही केवल स्वभावमात्रसे सृष्टि उत्पन्न करता है तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर व्यर्थ ही इतना कष्ट उठाता है। क्योंकि विना प्रयोजन कोई भी क्रिया करना अप्रसंग और व्यर्थ है। यदि कहोगे कि यह जगत बनाना उसकी एक क्रीड़ा है अर्थात् केवल क्रीड़ामात्रसे उसने यह जगत बनाया है तो यह भी कहना पड़ेगा कि वह आपका सृष्टिकर्त्ता ईश्वर वालकके समान अज्ञानी है क्योंकि अज्ञानी वालक ही क्रीड़ा करनेमें आनंद मानते

॥ २६ ॥ निमित्तमात्रमिष्टश्चेत्कार्ये कर्मादिहेतुके। सिद्धोपस्थाय्यसौ हंत पोष्यते किमकारणं ॥ २७ ॥ वत्सल' प्राणिनामेकः सृजन्ननुजिघृक्षया। ननु सौख्यमयीं सृष्टिं विदध्यादनुपप्लुतां ॥ २८ ॥ सृष्टिप्रयासवैयर्थ्यं सर्जने जगतः सतः। नात्यतमसत' सर्गो युक्तो व्योमारविंदवत् ॥ २९ ॥

हैं ॥ २५ ॥ कदाचित यह कहो कि ईश्वर संसारी जीवोंके शरीरादिक उनके कर्मानुसार बनाता है अर्थात् जिसने जैसे कर्मका बंध किया है उसीके उदयके अनुसार यह ईश्वर उनके शरीर आदिक बना देता है आपका यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता क्योंकि यदि आप ऐसा मानेंगे तो आपका मानाहुआ वह ईश्वर वास्तविक ईश्वर (समर्थ) नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे वह ईश्वर जुलाहेके समान परतंत्र हो जायगा। अर्थात् कारण सामग्रीके आधीन होजायगा। जैसे जुलाहा सूतके अनुसार ही कपड़े बनाता है वह स्वतंत्र कुछ नहीं कर सकता, इसी प्रकार ईश्वर भी जीवोंके पुण्यपापानुसार ही शरीरादि बनाता है वह स्वतंत्र कुछ नहीं कर सकता इसलिये वह ईश्वर ही नहीं हो सकता ॥ २६ ॥ कदाचित् यह कहो कि यह संसार तो अनादि है इसमें रहनेवाले जीवोंके अपने अपने कर्मोंके अनुसार जो सुख दुःखादि कार्य उत्पन्न होते हैं उनमें यह ईश्वर केवल निमित्तमात्र है। आपका यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि जब जगतके सब कार्य अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न हो ही जाते हैं तब फिर कार्य सिद्ध हो जाने पर कारणसामग्रीमें ईश्वरकी व्यर्थ कल्पना क्यों करते हो? कार्य सिद्ध हो जाने पर फिर ईश्वर क्या करता है? ॥ २७ ॥ कदाचित् यह कहो कि ईश्वर दयालु है, वह प्राणियोंपर प्रेम रखता है, जीवोंका उपकार करनेकेलिये ही उसने यह सृष्टि बनाई है तो फिर उसने यह सब सृष्टि उपद्रवरहित सुखरूप ही क्यों न बनाई? किसीको दुःखी और किसीको सुखी ऐसा भेद क्यों किया? दयालु होकर भी जीवोंको दुःखी क्यों बनाया? ॥२८॥ इसके सिवाय यह भी तो बिचार करना चाहिये कि बनानेसे पहिले यह जगत था या नहीं। यदि था तो उसके बनानेका परिश्रम व्यर्थ हुआ अर्थात् जो पहले था ही तो ईश्वरने

नोदासीनः सृजेन्मुक्त' संसारी सोऽप्यनीश्वरः । सृष्टिवादावनारोऽयं ततश्च न कुतश्च न ॥ ३० ॥ महानधर्मयोगोऽस्य सृष्ट्वा संहरतः प्रजाः । दुष्टनिग्रहबुध्या चेद्वर दैत्याद्यसर्जन ॥ ३१ ॥ बुद्धिमद्धेतुसान्निध्ये तन्वाद्युत्पत्तुमर्हति । विशिष्टसानिवेशादिप्रतीतेर्नगरादिवत् ॥ ३२ ॥ इत्यसाध-

---

बनाया क्या ? यदि बनानेसे पहले कुछ भी नहीं था तो वह उसे बना भी नहीं सकता । क्योंकि संसारमें यह नियम है कि सत्‌की ही उत्पत्ति होती है जैसे मिट्टी है तो उसका घड़ा भी वन सकता है । और जो पदार्थ सर्वथा असत् है बिलकुल है ही नहीं उसकी उत्पत्ति कभी नहीं होसकती । जैसे आकाश-पुष्प अथवा गधेके सींग उत्पन्न करनेवाली कोई सामग्री नहीं है तो उसका उत्पन्न करना भी असंभव है। इस प्रकार जगतकर्त्ता किसीतरह सिद्ध नहीं होसकता ॥२९॥ इसके सिवाय जगत बनानेवाला वह ईश्वर यदि मुक्त है कर्ममलकलंकादिसे रहित है तब भी वह सृष्टि नहीं बना सकता क्योंकि जो कर्ममलकलं-कादिसे रहित मुक्त होता है वह रागद्वेषरहित वा प्रवृत्तिनिवृत्तिशून्य उदासीन होता है इसलिये वह जगत बनानेका प्रयत्न कर नहीं सकता । यदि वह जगत बनानेवाला पुरुष मुक्त नहीं है संसारी है तो भी वह इस जगतको नहीं बना सकता क्योंकि संसारी जीव ईश्वर नहीं है । इसलिये उसमें ऐसे विचित्र जगत बनानेकी सामर्थ्य नहीं हो सकती । इसप्रकार यह तुमारा सृष्टिवाद किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ३० ॥ इसके सिवाय यह भी विचार करना चाहिये कि वह ईश्वर इस जगतको बनाता है इसलिये इस जगतके सब जीव ईश्वरकी संतानके समान हुये । फिर वही ईश्वर इस जगतको नाश करता है इसलिये उसे अपनी संतान नाश करनेका भारी पाप लगता है । कदाचित ईश्वरको इस पापसे बचानेकेलिये यह कहो कि दैत्य आदि दुष्ट जीवोंको निग्रह करनेकेलिये ही वह जगतका नाश करता है तो इससे तो यह अच्छा हो कि वह दैत्य आदि दुष्ट जीवोंको उत्पन्न ही न करता ॥३१॥ कदाचित् यह कहो

नमेवैतदीश्वरास्तित्वसाधने । विशिष्टसन्निवेशादेरन्यथाप्युपपत्तितः ॥ ३३ ॥ चेतनाधिष्ठितं हीदं कर्मनिर्मातृचेष्टितं । तन्वक्षसुखदुःखादिवैश्वरूपाय कल्प्यते ॥ ३४ ॥ निर्माणकर्मनिर्मातृकौशलापादितोदय । अंगोपांगादिवैचित्र्यमगिना सगिरामहे ॥ ३५ ॥ तदेतत्कर्मवैचित्र्याद्भवन्नानात्मकं

कि ईश्वर सरीखे अतिशय बुद्धिमान पुरुषके संयोग होनेसे ही शरीर आदिकी उत्पत्ति हो सकती है। क्योंकि शरीर आदिका उत्पन्न होना यह एक विशेष रचना है जो जो विशेष रचना होती है वह किसी न किसीके निमित्तसे ही होती है। जैसे नगरमें बावड़ी तालाव मकान आदिकी रचना किसी कारीगरके निमित्तसे होती है। इसी विषयको इसप्रकार भी कह सकते हैं कि जो जो विशेष रचना होती है वह विना किसी बुद्धिमान पुरुषके संयोगके नहीं हो सकती। इस जगतमें शरीर आदिकी जो विशेष रचना होती है वह भी विना किसी बुद्धिमान् ईश्वरके नहीं हो सकती इसलिये इस जगतका वनानेवाला कोई न कोई अवश्य है और वही ईश्वर है ॥ ३२ ॥ परंतु आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरके अस्तित्व सिद्ध करनेमें आपने जो उपर्युक्त हेतु दिया है वह वास्तविक हेतु नहीं है किंतु हेत्वाभास है। क्योंकि किसी वस्तुकी विशेष रचना दूसरी तरहसे भी हो सकती है ॥ ३३ ॥ इस संसारमें जो ज्ञानके आधारभूत शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदि देखे जाते हैं वे सब कर्मरूपी विधाताके वनाये हुये हैं और ये शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदि सब मिलकर ही जगत रूपताको धारण करते हैं। भावार्थ—शरीर इंद्रियां सुख दुःख आदिका उत्पन्न होना ही जगत है और ये सब शरीरादि कर्मके उदयसे उत्पन्न हुये हैं ॥३४॥ इसलिये हमें प्रतिज्ञापूर्वक कहना पड़ता है कि संसारी जीवोंके जो अंग उपांग आदिकी विचित्रता होती है वह सब निर्माणनामकर्मरूपी विधाताकी कुशलतासे ही उत्पन्न होती है ॥ ३५ ॥ वे कर्म अनेक प्रकारके हैं उनके भिन्न भिन्न अनेक भेद होनेसे यह शरीर सुख दुःखादिरूप जगत भी अनेकप्रकारका

जगत् । विश्वकर्माणमात्मानं साधयेत्कर्मसारथिं ॥ ३६ ॥ विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतं । ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेया कर्मवेधस. ॥ ३७ ॥ स्रष्टारमतरेणापि व्योमादीना च संगरात् । सृष्टिवादी स निग्राह्य. शिष्टैर्दुर्मतदुर्मदी ॥ ३८ ॥ ततोऽसावकृतोऽनादिनिधनः कालतत्त्ववत् । लोको जीवादितत्त्वानामाधारात्मा प्रकाशते ॥ ३९ ॥ असृज्योऽयमसंहार्य. स्वभावनियतस्थितिः । अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्भेदैः समन्वितः ॥ ४० ॥

दिखाई पड़ता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सुखदुःखादिरूप संपूर्ण जगतको उत्पन्न करनेवाले ये संसारी जीव हैं और कर्म उनके सहायक हैं अर्थात् ये संसारी जीव ही अपने कर्मके उदयसे शरीर सुख दुःखादिरूप जगतको उत्पन्न करते हैं इनके सिवाय इस जगतको उत्पन्न करनेवाला और कोई नहीं है॥ ३६॥ विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृतकर्म और ईश्वर ये सब कर्मरूपी ब्रह्माके पर्यायवाचक शब्द हैं। कर्मके सिवाय इस जगतको बनानेवाला और कोई ईश्वर नहीं है ॥ ३७ ॥ क्योंकि जो जगतका कर्त्ता ईश्वर मानते हैं वे भी आकाश काल आदि पदार्थोंकी सृष्टि कर्त्ताके बिना किये स्वतःसिद्ध मानते हैं। जैसे आकाश काल आदि पदार्थ स्वतःसिद्ध हैं उसीप्रकार यह जगत भी स्वतःसिद्ध है। इसलिये शिष्ट पुरुषोंको उचित है कि वे इस उपर्युक्त कथनके द्वारा मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उन्मत्त हुये सृष्टिवादियोंका निग्रह करें ॥ ३८ ॥ अतएव मानना चाहिये कि जैसे कालतत्त्व अकृत्रिम और आदि अंत रहित है उसीप्रकार यह लोक भी अकृत्रिम है इसे कोई बना नहीं सकता न इसका आदि है न अंत है। तथा जीव अजीव आदि तत्त्वोंका आधार है ऐसा यह लोकाकाश सदा विद्यमान रहता है॥ ३९॥ न इसे कोई बना सकता है न कोई नाश ही कर सकता है। यह स्वाभाविक सदा विद्यमान रहता है। अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक ऐसे इसके तीन भेद हैं ॥ ४०॥ अधोलोक वेत्रासनके समान है अर्थात् नीचे चौड़ी ऊपर कम चौड़ी चार पैरकी जैसी तिपाई होती है ठीक इसी आकारका है। मध्यलोक झल्लरी या थालीके समान सपाट और गोल है ऊर्ध्वलोकका आकार ठीक मृदंग (पखावज) के

वेत्रविष्टरझल्लर्यो मृदंगश्च यथाविधा॰ । सस्थानैस्तादृशान्प्राहुस्त्रींल्लोकाननुपूर्वश. ॥ ४१ ॥ वैशाखस्थ कटीन्यस्तहस्त स्याद्यादृश पुमान् । तादृश लोकसस्थानमामनति मनीषिणः ॥ ४२ ॥ अनतानतभेदस्य वियतो मध्यमाश्रितः । लोकास्त्रिभिर्वृतो वातैर्भाति शिक्यैरिवाततैः ॥ ४३ ॥ वातरज्जुभिरानद्धो लोकास्तिस्रभिराशिख । पटात्रितयसवीतसुप्रतिष्ठकसन्निभ॰ ॥ ४४ ॥ तिर्यग्लोकस्य विस्तार रज्जुमेका प्रचक्षते । चतुर्दशगुणा प्राहु रज्जु लोकोच्छ्रितिं बुधा. ॥ ४५ ॥ अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कंभरज्जवः । ससैका पच चैका च यथाक्रममुदाहृता ॥ ४६ ॥ द्वीपा-

समान है ॥४१॥ अथवा कोई पुरुष खड़ा होकर अपने पैर खूब फैलादे और अपने दोनो हाथ कमरपर रख ले । ऐसा करनेसे उसका जो आकार वनता है पंडितलोग ठीक वैसा ही आकार इस लोकका मानते हैं ॥ ४२ ॥ यह आकाश अनंत है इसके ठीक मध्यभागमें यह लोक स्थित है । घनोदधि, घनवात और तनुवात इन तीन प्रकारके वायुमंडलसे चारों ओरसे घिरा हुआ लोक यह ऐसा सुशोभित है मानो अनेक रस्सियोंका बना हुआ छींका ही लटक रहा हो ॥४३॥ तथा उपर्युक्त तीन प्रकारके वायुमंडलसे नीचेसे ऊपरतक घिरा हुआ यह लोक ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो तीन कपड़ोंसे ढका हुआ सुप्रतिष्ट (ठौणा) नामका मंगल द्रव्य ही हो ॥ ४४ ॥ श्रीगणधरादि देवोंने इस लोककी उंचाई चौदह राजू कही है । तथा मध्यलोकका विस्तार एक राजू कहा है ॥ ४५ ॥ इसलोककी चौड़ाई अधोभागमें सात राजू है । मध्यभागमें एज राजू है । ऊर्ध्वलोकके मध्यभागमें पांच राजू है और सबसे ऊपर एक राजू है ॥ ४६ ॥ इस लोकाकाशके बीचमें एक त्रसनाली है जो कि एक राजू लंवी एक राजू चौड़ी और चौदह राजू ऊंची है । इसी त्रसनालीके मध्यभागको मध्यलोक कहते हैं । यह एक राजू लंबा और एक राजू चौड़ा है इसमें असंख्यात द्वीप समुद्र हैं जो कि एक दूसरेसे वेष्ठित हैं । जैसे सबके मध्यभागमें जंबूद्वीप है उसके चारों ओर जंबूद्वीपको घेरेहुये लवणसमुद्र है लवणसमुद्रको घेरे हुये धातकी द्वीप और धातकी द्वीपको घेरे हुये कालोदधि समुद्र है । इसीप्रकार असंख्यात द्वीप समुद्र हैं इनकी चौडाई क्रम

ंद्विभिरसंख्यातैर्द्विर्द्विविंष्कंभमाश्रितैः । विभाति वलयाकारैर्मध्यलोको विभूषितः ॥ ४७ ॥ मध्यमस्यास्य लोकस्य जंबूद्वीपोऽस्ति मध्यगः । मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणांभोधिवेष्टितः ॥ ४८ ॥ सप्तभि क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः । प्रविभक्ताः सगिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः ॥ ४९ ॥

से दूनी दूनी है अर्थात् जंबूद्वीपसे लवणसमुद्रकी चौडाई दूनी है । लवणसमुद्रसे धातकी द्वीपकी और धातकीद्वीपसे कालोदधि समुद्रकी दूनी चौडाई है । इसीप्रकार सब समुद्र द्वीपोंकी चौडाई पहिले २ के द्वीप समुद्रोंसे दूनी दूनी है। ये सब द्वीप समुद्र बीचमें पोले कंकणके समान हैं । इस प्रकार यह मध्यलोक बहुत ही शोभायमान है॥ ४७ ॥ इस मध्यलोकके ठीक मध्यभागमें जंबूद्वीप है। यह जंबूद्वीप गोल है और लवण समुद्रसे घिरा हुआ है । इसके ठीक बीचों बीचमें नाभिके समान मेरु पर्वत है॥ ४८ ॥ इस जंबूद्वीपकी चौड़ाई एक लाख योजन है । इसमें छह कुलाचल पर्वत हैं जो की पूर्व पश्चिम लंबे लवण समुद्रके तट तक चले गये हैं। इन पर्वतोंसे जंबूद्वीपके सात विभाग हो गये हैं जो कि सात क्षेत्र कहलाते हैं । इन क्षेत्रोंके नाम क्रमसे भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, और ऐरावत, हैं। तथा पर्वतोंके नाम हिमवन, महाहिमवन, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी हैं। भरतक्षेत्रकी चौड़ाई पांचसौ छब्बीस योजन छह कला है इससे दूनी हिमवनपर्वतकी और उससे दूनी हैमवतक्षेत्रकी है। इसीप्रकार विदेहक्षेत्रतक दूनी दूनी चौड़ाई है और फिर आगे क्रमसे आधी आधी है। इन सातों क्षेत्रोंमें चौदह नदियां हैं जो कि गंगा, सिंधु, रोहित, रोहितास्या, हरित, हरिकांता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकांता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त छह कुलाचलोंके मध्यभागमें क्रमसे छह द्रह वा कुंड हैं जो कि पद्म महापद्म तिगंछ केसरि महा पुंडरीक और पुंडरीक नामसे कहे जाते हैं। इन्ही छहों द्रहोंसे वे उपर्युक्त चौदह नदियां निकलती हैं और वे इस प्रकार कि गंगा नदी पद्मद्रहके पूर्वद्वारसे निकलकर दक्षिणकीओर मुड़कर भरतक्षेत्र में

स मेरुमौलिराभाति लवणोदधिमेखलः । सर्वद्वीपसमुद्राणां जंबूद्वीपोऽधिराजवत् ॥ ५० ॥ इह जबूमतिद्वीपे मेरोः प्रत्यग्दिगाश्रितः । विषयो

बहती हुई पूर्व समुद्रमें जा मिलती है। सिंधुनदी इसी पद्मद्रहके पश्चिम द्वारसे निकलकर भरतक्षेत्रमें बहती हुई पाश्चिमसमुद्रमें जा मिलती है। रोहितास्या भी इसी पद्मद्रहके उत्तरद्वारसे निकलकर हैमवतक्षेत्रमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें मिलती है। रोहित नदी महापद्मके दक्षिणद्वारसे निकलकर हैमवतक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसमुद्रमें जा मिलती है। इसी महापद्मद्रहके उत्तरद्वारसे हरिकांता निकलती है जो कि हरिक्षेत्रमें बहतीहुई पाश्चिमसमुद्रमें गिरती है। हरित नदी तिगंछद्रहके दक्षिणद्वारसे निकलकर इसी हरिक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है। इसी तिगंछद्रहके उत्तरद्वारसे सीतोदा नदी निकलती है जो कि विदेहक्षेत्रमें बहती हुई पश्चिम समुद्रमें गिरती है। सीता नदी केसरिद्रहके दक्षिण द्वारसे निकलकर विदेहक्षेत्रमें बहतीहुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है। इसी केसरिद्रहके उत्तरद्वारसे नरकांता नदी निकलती है जो कि रम्यकक्षेत्रमें बहती हुई पाश्चिम समुद्रमें गिरती है। नारी नदी महापुंडरीकद्रहके दक्षिणद्वारसे निकल कर इसी रम्यकक्षेत्रमें बहतीहुई पूर्वसमुद्रमें मिलती है। इसी महापुंडरीक द्रह के उत्तरद्वारसे रूप्यकूला निकलती है जो कि हैरण्यवतक्षेत्रमें बहतीहुई पश्चिमसमुद्रमें गिरती है। सुवर्णकूला पुंडरीकद्रहके दक्षिणद्वारसे निकलकर इसी हैरण्यवतक्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसमुद्रमें गिरती है। इसी पुंडरीक द्रहके पूर्वद्वारसे रक्ता और पश्चिमद्वारसे रक्तोदा नदी निकलती है जो कि ऐरावत क्षेत्रमें बहती हुई रक्ता पूर्व समुद्रमें और रक्तोदा पश्चिम समुद्रमें गिरती है। इसप्रकार इन उपर्युक्त क्षेत्र पर्वत और नदियोंसे यह जंबूद्वीप बहुत ही शोभायमान है ॥ ४९ ॥ इस जंबूद्वीपके मध्यभागमें अतिशय ऊंचा मेरुपर्वत ऐसा शोभायमान है मानो इसका मुकुट ही हो तथा इसके चारों ओर लवणसमुद्र ऐसा

गधिलाभिख्यो भाति स्वर्गैकखडवत् ॥ ५१ ॥ पूर्वापरावधी तस्य देवाद्रिश्चोर्मिमालिनी । दाक्षिणोत्तरपर्यंतौ सीतोदा नील एव च ॥ ५२ ॥ यत्र कर्ममलापायाद्विदेहा मुनय सदा । निर्वातीति गता रूढिं विदेहान्वर्थतामिय ॥ ५३ ॥ नित्यप्रमुदिता यत्र प्रजा नित्यकृतोत्सवा । नित्य सन्निहितैर्भोगै. सत्य स्वर्गेऽप्यनादर· ॥ ५४ ॥ निसर्गसुभगा नार्यो निसर्गचतुरा नरा । निसर्गललितालापा बाला यत्र गृहे गृहे ॥ ५५ ॥ वैदग्धि चतुरैर्वेषैर्भूषणैश्च धनर्द्धय । विलासैर्यौवनारभाः सूच्यते यत्र देहिना ॥ ५६ ॥ यत्र सत्पात्रदानेपु प्रीति पूजासु चार्हता । शक्ति-

शोभायमान है मानों इसकी करधनी हो । तथा इन दोनोंसे यह जंबूद्वीप ऐसा शोभायमान हो रहा है मानों संपूर्ण द्वीप समुद्रोंका महाराजा ही हो ॥५०॥ इसी जंबूद्वीपमें मेरुपर्वतके पश्चिम दिशाकी ओर विदेहक्षेत्रके अंतर्गत एक गंधिला नामका देश है जो कि स्वर्गके एक टुकडेकी समान शोभायमान है ॥ ५१ ॥ इस देशके पूर्व दिशामें मेरु पर्वत है पश्चिम दिशामें उर्मिमालिनी नामकी विभंगा नदी है । दक्षिण दिशामें सीतोदा नदी है और उत्तर दिशामें नीलपर्वत है ॥ ५२ ॥ यह गंधिला देश विदेहक्षेत्रके अंतर्गत है । यहांसे मुनि लोग कर्मरूपी मलको नष्ट कर शरीररहित होकर सर्वदा मुक्त (देहरहित) होते रहते हैं । इसलिये इसका विदेह यह नाम सार्थक और रूढि हो गया है ॥ ५३ ॥ इस गंधिलादेशकी प्रजा सदा प्रसन्न रहती है तथा अनेकप्रकारके उत्सव किया करती है और भोगोपभोगोंसे सदा भरपूर रहती है इसलिये वह स्वर्गको भी अच्छा नहीं समझती है ॥५४॥ उस देशके प्रत्येक घरमें स्वाभाविक सुंदर स्त्रियां हैं, स्वाभाविक चतुर मनुष्य हैं, और स्वाभाविक सुंदर और मीठे वचन कहनेवाले बालक हैं ॥५५॥ उस गंधिलादेशके मनुष्योंकी चतुरता उनके सुचतुर वेषसे प्रगट होती है । उनके आभूषणोंसे उनकी विपुल संपत्तिका ज्ञान होता है और भोगविलासोंसे उनके यौवनका प्रारंभ जान पडता है ॥ ५६ ॥ वहांके मनुष्य सदा पात्रदान देनेमें ही प्रेम रखते हैं । अथवा अरहंत भगवानकी पूजा करना ही अच्छा समझते हैं । वे लोग शील पालन करनेमें ही अपनी प्रबल शक्ति दिखलाते हैं और प्रोषधोपवास धारन करनेमें

रात्यतिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणा ॥ ५७ ॥ न यत्र परलिंगानामस्ति जातुचिदुद्भवः । सदोदयाज्जिनार्कस्य खद्योतानामिवाहनि ॥ ५८ ॥ यत्रारामा सदा रम्यास्तरुभिः फलशालिभिः । पथिकानाह्वयतीव परपुष्टकलस्वनैः ॥ ५९ ॥ यस्य सीमविभागेषु शाल्यादिक्षेत्रसंपदः । सदैव फलशालिन्यो भाति धर्म्या इव क्रियाः ॥ ६० ॥ यत्र शालिवनोपांते खात्पततीं शुकावलीं । शालिगोप्योऽनुमन्यते दधतीं तोरणश्रियं ॥ ६१ ॥ मदगंधवहाधूता शालिवप्राः फलानताः । कृतसराविणो यत्र छोत्कुर्वंतीव पक्षिणः ॥ ६२ ॥ यत्र पुंड्रेक्षुवाटेषु यंत्रचीत्कारहारिषु । पिवंति पथिकाः स्वैरं रसं सुरसमैक्षवं ॥ ६३ ॥ यत्र कुक्कुटसंपात्या ग्रामाः संसक्तसीमकाः । सीमानः सस्यसंपन्ना निःफलाचिफलोदयाः ॥ ६४ ॥ कलासमा-

---

ही सदा रुचि रखते हैं ॥५७॥ उस गंधिलादेशमें श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है। इसलिये वहां मिथ्यादृष्टियोंका प्रादुर्भाव कभी नहीं होता जैसे कि दिनमें सूर्य उदय होनेपर खद्योतोंका प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ ५८ ॥ फलशाली वृक्षोंसे सुशोभित वहांके वाग बड़े ही अच्छे लगते हैं। जिनमें कोकिलायें मधुर शब्द कर रही हैं सो ऐसा मालूम पडता है मानो वे वाग उन शब्दोंकेद्वारा पथिकोंको बुला ही रहे हों ॥ ५९ ॥ उस देशके सीमातटपर चावल आदि धानोंके खेत सदा फूले फले शोभायमान रहते हैं। जैसे कि धार्मिक क्रियायें स्वर्गादि फल देती हुई सदा शोभायमान रहती हैं ॥६०॥ चावलके खेतोंके समीपवर्त्ती देशोंमें आकाशसे जो शुकोंकी पंक्ति नीचे उतरती थी वह उन खेतोंकी रक्षा करनेवाली गोपियोंको ऐसी मालूम पडती थी मानो बना हुआ एक तोरण ही उतर रहा है ॥६१॥ तथा फलोंसे नम्रीभूतहुये अनेक चावलोंके खेत खडे हैं जो कि मंद और सुगंधित वायुसे धीरे २ हिल रहे हैं। उनके हिलनेसे उन खेतोंमें चारों ओर एक प्रकारका शब्द हो रहा है जिससे ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे खेत उस शब्दके द्वारा पक्षियों को ही उडा रहे हों ॥६२॥ उस देशमें ईखोंके अनेक खेत हैं। जिनमें रस निकालनेकेलिये विचित्र शब्द करतेहुये अनेक कोल्हू चल रहे हैं। जहां अनेक पथिक लोग आते हैं और इच्छानुसार स्वादिष्ट इक्षु रस पीते हैं ॥ ६३ ॥ उस देशके गांव बहुत समीप समीप हैं जिनकी सीमायें परस्पर मिली हुई हैं। सीमाओंपर

सिपु प्राय· कलांतरपरिग्रह· । गुणाधिरोपणौद्धत्यं यत्र चापेषु धन्विनां ॥ ६५ ॥ मुनीनां यत्र शैथिल्यं गात्रेषु न समाधिषु । निग्रहः करणग्रामे भूतग्रामे न जातुचित् ॥ ६६ ॥ कुलायेषु शकुताना यत्रोद्वासध्वनिः स्थित. । वर्णसंकरवृत्तातश्चित्रादन्यत्र न क्वचित् ॥ ६७ ॥ यत्र भगस्तरगेषु गजेषु मदविक्रिया । दडपारुष्यमब्जेषु सर सु जलसग्रह ॥ ६८ ॥ स्वर्गावाससमाः पुर्यो निगमाः कुरुसान्निभा । विमानस्पर्द्धिनो गेहाः प्रजा यत्र

अनेक धान्योंके खेत खडे हुये हैं जो कि थोडेसे परिश्रमसे ही फूल फल जाते हैं ॥ ६४ ॥ वहांके लोग एक विद्या या कला समाप्त कर दूसरी विद्या या कला सीखना प्रारंभ करते हैं । अर्थात् वहां के लोग केवल दिखानेकेलिये अनेक विद्यायें प्रारंभ कर अधूरे पंडित बनना नहीं जानते तथा गुणाधिरोपणौद्धत्य अर्थात् अपनेमें गुण तो न हों तथापि मिथ्या गुण दिखानेकेलिये उद्धतपना करना वहां सर्वथा नहीं है । किंतु गुणाधिरोपणौद्धत्य अर्थात् धनुषपर डोरी चढानेकी उद्धत्ता करना यह बात केवल धनुष धारण करनेवालोंके धनुषमें ही है । भावार्थ-वहांके लोग शूर बीर हैं मायावी नहीं हैं ॥६५॥ उस देशमें शिथिलता केवल मुनियोंके शरीरमें ही है उनकी समाधि ध्यान आदिमें नहीं हैं । तथा निग्रह (दमन) केवल इंद्रियोंका किया जाता है । जीवोंको कोई प्रकारकी पीड़ा कभी नहीं होती ॥६६॥ उस देशमें उद्वासध्वनि (कोलाहल) केवल पक्षियोंके घोंसलोंमें है अन्यत्र कहीं नहीं है तथा वर्णसंकरता केवल चित्रोंमें है मनुष्योंमें नहीं ॥ ६७ ॥ इसीप्रकार उस देशमें भंग (टूटना) केवल जलकी तरंगोंमें है, किसी मनुष्यके सुखमें किसी प्रकारका भंग (विछोह) नहीं है । मदोन्मत्तता केवल हाथियोंमें है किसी धनी वा विद्वानमें नहीं । कठोरदंड केवल कमलोंमें है प्रजामें नहीं । जलसंग्रह केवल तालावोंमें है वहांके मनुष्योंमें जडसंग्रह (मूर्खता) नहीं है ॥ ६८ ॥ उस देशके नगर स्वर्गके समान हैं, गांव उत्तरकुरुभोगभूमिके समान हैं, घर स्वर्गोंके विमानोंकी स्पर्द्धा करते हैं और मनुष्य देवोंके समान हैं ॥६९॥ तथा उसदेशके हाथी ऐरावत पुंडरीक आदि प्रसिद्ध दिग्गजों के समान हैं स्त्रियां दिक्कन्यकाओंके समान सुंदर हैं और राजा लोग दिक्पालदेवोंके समान दिग्विजय करने

सुरोपमा. ॥ ६९ ॥ दिग्नागस्पर्द्धिनो नागा' नार्यो दिक्कन्यकोपमा' । दिक्पाला इव भूपाला यत्राविष्कृतदिग्जया' ॥ ७० ॥ जनतापच्छिदो यत्र वाप्य' स्वच्छांवुसभृता' । भाति तीरतरुच्छाया निरुद्धोष्णा बहुप्रपाः ॥ ७१ ॥ यत्र कूपतटाकाद्या. काम् सतु जलाशया । तथापि जनताताप हरति रसवत्तया ॥७२॥ विपका ग्राहवत्यश्च स्वच्छा' कुटिलवृत्तय' । अलघ्या सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नागा' ॥७३ ॥ सरसा तीरदेशेपु रुत हसा विकुर्वते । यत्र कठविलालग्नमृणालशकलाकुला' ॥७४॥ वनेपु वनमातगा मदामीलितलोचनाः । अमत्यविरत यास्मिन्नाह्वातुमिव दिग्गजान्

वाले हैं ॥७०॥ इसीप्रकार उस देशमें लोगोंका संताप दूर करनेवाली और निर्मल जलसे भरी हुई अनेक बावड़ी हैं। जिनके किनारोंपर मनोहर वृक्षोंकी सघन छाया है जिससे वहां कभी गर्मी नहीं होती तथा अनेक लोग आकर जिनका पानी पीते हैं ऐसी अनेक प्याऊ भी लगी हैं ॥ ७१ ॥ उस देशके कूआ तालाव आदि यद्यपि जलाशय (जड़ाशय) अर्थात् जड़रूप हैं तथापि अपने मधुर जलसे लोगोंका संताप दूर करते हैं ॥७२॥ तथा उस देशकी नादियां वेश्याओंके समान हैं वेश्यायें जैसे विपंका अर्थात् रजोधर्मशून्य होती हैं, उसी प्रकार नादियां भी विपंका अर्थात् कीचड़ रहित हैं। वेश्यायें जैसे ग्राहवती अर्थात् धनसंचय करनेवाली होती हैं, उसीप्रकार नादियां भी ग्राहवती अर्थात् मगरमच्छोंसे भरी हुई हैं। वेश्यायें जैसे नहा धोकर ऊपरसे स्वच्छ रहती हैं उसीप्रकार नादियां भी ऊपरसे निर्मल हैं। वेश्यायें जैसे कुटिलवृत्ति अर्थात् मायाचारिणी होती हैं उसीप्रकार नादियां भी कुटिलवृत्ति अर्थात् कुटिलगामिनी (वक्रगामिनी) हैं। वेश्यायें जैसै व्यसनियोंके द्वारा उल्लंघित (वशीभूत) नहीं होती, उसीप्रकार नादियां भी वर्षा ऋतुमें किसीसे उल्लंघित अर्थात् तैर कर पार होने योग्य नहीं होतीं। वेश्यायें जैसे ऊंच नीच सव मनुष्योंके द्वारा भोग्य होती हैं उसीप्रकार नादियां भी पशु पक्षी आदि सव जीवोंके द्वारा भोग्य हैं। वेश्यायें जैसे अनेकवर्णकी होती हैं उसीप्रकार नादियां भी अनेक वर्णकी होती हैं और वेश्यायें जैसे नीचपुरुपोंकी ओर जाती हैं उसीप्रकार नादियां भी नीचेकी ओर ही बहती हैं ॥ ७३ ॥ उसदेशमें तालावोंके किनारोंपर हंस विचरते हैं और वे कंठप्रदेशमें

॥७५॥ यत्र शृगाग्रसंलग्नकर्दमा दुर्दमा भृशं । उत्खनंति वृषा दृप्ता' स्थलेषु स्थलपद्मिनीं ॥७६॥ जैनालयेषु संगीतपटहांभोदनिस्वनैः । यत्र नृत्यंत्यकालेऽपि शिखिन. प्रोन्मदिष्णवः ॥७७॥ गवां गणा यथाकालमात्तगर्भा कृतस्वना. । पोषयति पयोभिः स्वैर्जन यत्र घनै समाः ॥७८॥ वलाकालिपताकाढ्या. स्तानिता मद्रबृंहिता' । जीमूता यत्र वर्षतो भाति मत्ता इव द्विपा. ॥७९॥ न स्पृशति करावाधा यत्र राजन्वतीः प्रजा. । सदा सुकालसा-

कमलनालके तंतु लग जानेसें व्याकुल होकर अनेक प्रकारके शब्द किया करते हैं ॥ ७४ ॥ उस देशके बनोंमें मदसे संकुचितनेत्र हुये हाथी निरंतर ऐसे भ्रमण करते हैं मानों दिग्गजोंको ही बुला रहे हों ॥ ७५ ॥ जिनके सीगोंपर कीचड़ लगी हुई है और जो बड़ी कठिनतासे शांत किये जा सकते हैं ऐसे उन्मत्त वृषभ (सांड) उस देशमें स्थलकमलोंको उखाड़ते हुये दृष्टिगोचर होते हैं ॥ ७६ ॥ तथा उस देशके जिनालयोंमें निरंतर संगीत होते रहते हैं और मेघोंकी गर्जनाके समान शब्द करते हुये दुंदुभी बाजे बजते रहते हैं। उन बाजोंकी ध्वनि सुनकर उन्मत्त हुये मोर वर्षाऋतुके विना ही नृत्य करते हैं ॥ ७७ ॥ उस देशकी गायें मेघोंके समान हैं। जैसे मेघ यथासमय जलधारण करके गरजते हुये वरसकर अपने जलसे सबका पालन पोषण करते हैं, उसीप्रकार गायें भी यथासमय गर्भ धारण करके नानाप्रकारके मधुर शब्द करती हुई अपने दूधसे सबका पालन पोषण करती हैं ॥ ७८ ॥ तथा उसदेशमें बरसते हुये बादल मदोन्मत्त हाथियोंके समान मालूम होते हैं। हाथी जैसे सफेद पताकाओंसे सुशोभित हैं उसीप्रकार मेघ भी बलाकाओंकी (क्रौंचपक्षियोंकी) अनेक पंक्तियोंसे सुशोभित होते हैं। हाथी जैसे गंभीर शब्दोंसे गरजते हैं उसीप्रकार मेघ भी गंभीरध्वनिसे गरजते रहते हैं और हाथियोंसे जैसे मद झरता है उसीप्रकार मेघोंसे पानी बरसता है ॥७९॥ उस देशके मनुष्य धर्मनिष्ठ नीतिमान राजाकी प्रजा हैं इसलिये उन्हें कर देनेका कोई कष्ट नहीं होता और सदा सुकाल होनेसे वहांपर टिड्डी, दुष्काल, ईतिभीति आदि कुछ नहीं है और न किसी प्रकार का अन्याय है ॥८०॥ ऐसे गंधिला देशके ठीक मध्यभागमें एक विजयार्द्ध नामका

त्रिध्यान्तेतयो नाप्यनीतय· ॥८०॥ विषयस्यास्य मध्येऽस्ति विजयार्द्धो महाचल· । रौप्य· स्वैरशुभि शुभ्रैर्हसन्निव कुलाचलं ॥८१॥ यो यौजनानां पचाशा विंशतिं धरणीतलात् । उच्छ्रित शिखरैस्तुगैर्दिव स्प्रष्टुमिवोद्यत. ॥८२॥ द्विस्तौग्याद्विस्तृतो मूलात्प्रभृत्या दशयोजन । मध्ये त्रिंशत्पृथुर्योऽग्रे दशयोजनविस्तृति ॥८३॥ उच्छ्रायस्य तुरीयाशमवगाढश्च य क्षितौ । गधिलादेशविष्कभमानदड इवायत ॥८४॥ दशयोजनविस्तीर्णश्रेणीद्वय-समाश्रयान् । यो धत्ते खेचरावासान्सुरवेश्मोपहासिन. ॥ ८५ ॥ खेचरीजनसचारसक्रातपदयावकै· । रक्ताबुजोपहारश्रीर्यत्र नित्य वितन्यते ॥८६॥

रजतमय श्वेत पर्वत है। वह ऐसा मालूम पड़ता है मानो अपनी श्वेत किरणोंसे कुलाचल पर्वतोंकी हंसी ही उड़ा रहा हो ॥८१॥ वह विजयार्द्ध पर्वत भूमितलसे पचीस योजन ऊंचा है जिसके शिखर बहुत ऊंचे हैं देखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह पर्वत स्वर्गलोकको स्पर्श करनेका ही उद्यम कर रहा हो ॥८२॥ वह पर्वत मूलसे लेकर दश योजनकी ऊंचाईतक पचास योजन चौड़ा है । मध्यमें तीस योजन चौड़ा है और ऊपर केवल दश योजन चौड़ा है । ॥ ८३ ॥ उसकी जितनी उंचाई है उसका चतुर्थांश भाग अर्थात् सवा छह योजनका पृथ्वीके भीतर मूलभाग है। तथा गंधिला देशकी चौड़ाईके बराबर लंबा है जिससे ऐसा मालूम होता है मानों गंधिलादेशके नापनेकेलिये एक डंडा ही पड़ा हो ॥ ८४ ॥ इस पर्वतके ऊपर दो समतल भूमि हैं जोकि दक्षिणश्रेणी और उत्तरश्रेणीके नामसे प्रसिद्ध हैं । प्रत्येक श्रेणी दश दश योजन चौड़ी है। उन दोनों श्रेणियोंमें विद्याधरोंके निवासस्थान वा बड़े बड़े नगर हैं जो कि अपनी सुंदरताके गर्वसे स्वर्गका भी उपहास कर रहे हैं॥ ८५ ॥ उस परवतपर विद्याधरों की स्त्रियां सदा इधर उधर फिरती रहती हैं उनके पैरोंमें लगाहुआ महावर छूट छूटकर पर्वतपर पड़ता है जिससे वह पर्वत ऐसा सुशोभित होता है मानो उसके उपहारमें रक्त कमल ही प्रदान किये गये हों ॥ ८६॥ अथवा वह पर्वत सिद्धात्माके समान हैं क्योंकि सिद्धात्माकी शक्ति किसीसे भेदन नहीं की जा सकती, उसीप्रकार उस पर्वतकी शक्ति भी किसीसे भेदन नहीं की जासकती। सिद्धात्मा नित्य हैं वह पर्वत भी नित्य अर्थात् अनादिनिधन

अभेद्यशक्तिरत्यय्यः सिद्धविद्यैरुपासितः । दधदात्यतिकीं शुद्धिं सिद्धात्मेव विभाति य' ॥ ८७ ॥ योऽनादिकालसवधिशुद्धिशक्तिसमन्वयात् । भव्यात्मनिर्विशेषोऽपि दीक्षायोगपराङ्मुख ॥ ८८ ॥ विद्याधरै सदाराध्यो निर्मलात्मा सनातनः । सुनिश्चितप्रमाणो यो धत्ते जैनागमस्थिति ॥८९॥

है। सिद्धभगवान् की उपासना सम्यग्ज्ञानको धारण करनेवाले भव्य जीव करते हैं उसीप्रकार पर्वतकी उपासना भी अनेक विद्याओंको धारण करनेवाले विद्याधर लोग करते हैं। सिद्धात्मा कर्ममलकलंकरहित अत्यंत शुद्धताको धारण करते हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी अत्यंत निर्मलताको धारण करता है ॥ ८७ ॥ अथवा वह पर्वत भव्यपुरुषके समान है क्योंकि भव्यपुरुष अनादिकालसे विशुद्धता अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेकी शक्ति धारण करता है और वह पर्वत भी अनादिकालसे विशुद्धता अर्थात् निर्मलताकी शक्ति धारण करता है। अंतर केवल इतना ही है कि पर्वत जड़ होनेसे भव्यपुरुषके समान दीक्षा धारण नहीं कर सकता ॥ ८८ ॥ तथा वह पर्वत ठीक जैनागमकी स्थितिको भी धारण करता है। क्योंकि जैनागम विद्याधर अर्थात् पूर्ण विद्वानोंद्वारा ही सेवन किया जाता है और उसको भी विद्याधर लोग सेवन करते हैं। जैनागम जैसे निर्मल अर्थात् निर्दोष है उसीप्रकार यह भी निर्मल अर्थात् उज्ज्वल है। जैनागम जिसप्रकार सनातन हैं अनादिकालसे चला आया है उसीप्रकार यह भी सनातन है। जैनागममें जिसप्रकार प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण सुनिश्चित हैं उसीप्रकार इसकी लंबाई चौड़ाई आदिका प्रमाण भी सुनिश्चित है ॥८९॥ तथा उस पर्वतपर चारण मुनि सदा सिंहके समान विहार करते रहते हैं। जैसे सिंह अकेला रहता है उसीप्रकार ये भी अकेले (एकाकी) विहार करते हैं। सिंहको इधर उधर घूमनेमें कोई भय नहीं होता, उसीप्रकार इन्हें भी किसीप्रकारका भय नहीं होता। सिंह भी धीर वीर हैं ये भी धीर वीर हैं। सिंहके नख बड़े होते हैं उसीप्रकार बहुत दिन तपश्चरण करनेसे इनके नख भी बहुत बढ़े हुये हैं ॥ ९० ॥ तथा इस पर्वतपर जो दो बड़ी बड़ी श्रेणियां हैं वे फैले हुये

भर्जत्येकाकिनो नित्यं वीतसंसारभीतयः। प्रवृद्धनखरा धीरा यं सिंहा इव चारणाः ॥९०॥ यो वितत्य पृथुश्रेणीद्वयं पक्षद्वयोपमं। समुत्पित्सुरिवा भाति नाकलक्ष्मीदिदृक्षया ॥९१॥ यस्य सानुषु रम्येषु किन्नरा सुरपन्नगाः। ररम्यमाणाः सुचिरं विसरन्ति निजालयान् ॥९२॥ यदीया राजतीर्भित्तीः शरन्मेघावलीश्रिता। व्यज्यते शीकरासारैः स्तनितैश्चलितैरपि ॥९३॥ यस्तुंगैः शिखरैर्धत्ते देवावासान्स्फुरन्मणीन्। चूडामणीनिवोदग्रान्सिद्धायतनपूर्वकान् ॥९४॥ दधात्युच्चैः स्वकूटानि मुकुटानीव भूमिभृत्। परार्ध्यरत्नचित्राणि यः श्लाघ्यानि सुरासुरैः ॥९५॥ गुहाद्वयं च यो धत्ते हटद्वज्रकपाटकं।

दो पंखोंके समान मालूम होती हैं जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानों यह पर्वत स्वर्गलोककी शोभा देखनेके लिये पंख फैलाकर उड़ना ही चाहता हो ॥ ९१ ॥ तथा इस पर्वतके मनोहर शिखरोंपर किन्नरजातिके व्यंतरदेव पन्नगजातिके भवनवासीदेव निरंतर क्रीड़ा करते रहते हैं और क्रीड़ा करते करते कभी २ अपने घर तकको भूल जाते हैं ॥ ९२॥ इस पर्वतके पार्श्वभाग श्वेत हैं उनपर शरदऋतुके श्वेत बादल आश्रय लेते हैं परंतु वे जब छोटी छोटी बूंदोसे वरसते हैं गरजते हैं अथवा चलते हैं तव ही मालूम पड़ते हैं अर्थात् पर्वतकी श्वेत भित्तियोंमें श्वेत बादल सर्वथा मिल जाते हैं ॥ ९३ ॥ इस विजयार्द्ध पर्वतके बड़े ऊंचे ऊंचे शिखर हैं जिनपर अनेक मणियोंसे स्फुरायमान देवोंके आवास हैं जो कि उत्कृष्ट चूड़ामणिके समान शोभायमान है, उन शिखरोंपर अनेक सिद्धायतन (चैत्यालय) भी सुशोभित हो रहे हैं ॥९४॥ यह विजयार्द्धपर्वतरूपी राजा मुकुटके समान अत्यंत ऊंचे कूट (शिखर) धारण करता है, वे मुकुट और कूट दोनो ही ऐसे हैं जिनमें वैमानिक भवनवासी आदि सब देवोंसे आदरणीय और प्रशंसनीय अनेक प्रकारके अमूल्य रत्न लगे हुये हैं ॥ ९५ ॥ इस पर्वतमें दो गुफायें हैं जिनमें चमकते हुये दैदीप्यमान वज्रमय फाटक लगे हुये हैं जिससे वे दोनों गुफायें ऐसी मालूम पड़ती हैं मानो इस पर्वतने अपना साररूप धन रखनेकेलिये एक लंबा चौड़ा किला ही बनाया हो ॥९६॥ यह पर्वत अतिशय विशुद्ध और अलंघ्य है इसीलिये मानो दो बड़ी बड़ी नदियोंने नील पर्वतके ऊपरी भागसे निकलकर इस पर्वतके चरण कमलोंका आश्रय

स्वसारधननिक्षेपमहादुर्गमिवायत ॥९६॥ उत्सगादेत्य नीलाद्रेर्गंगासिंधू महापगे। विशुद्धत्वादलंघ्यस्य यस्य पादांतमाश्रिते ॥९७॥ यस्तटोपांतसंरूढ-वनराजीपरिष्कृत॑ । नीलांबरधरस्योच्चैर्धत्ते लागलिन॑ श्रिय ॥९८॥ वनवेदीं समुत्तुगा यो बिभर्त्यभितोवन । रामणीयकसीमानमिव केनापि निर्मिता ॥ ९९ ॥ सचरत्खचरीपादनूपुरारावकर्षक॑ । यत्र गधवहो वाति मद मदारवीथिषु ॥१००॥ य॑ पूर्वापरकोटीभ्या दिक्तटानि विघट्टयन् । स्वगत वक्ति माहात्म्य जगद्गुरुभरक्षम ॥१०१॥ अनायतो यदि व्योम्नि व्यवर्धिष्यत हेलया । तदा जगत्कुटीमध्ये सममास्यत्क्व सोऽचल ॥ १०२ ॥ सोऽचलस्तुगवृत्तित्वाद्विशुद्धित्वान्महोच्छ्रये॑ । कुलाचलैरिव स्पर्द्धा शिखरै कर्तुमुद्यत ॥१०३॥ तस्यास्त्युत्तरत श्रेण्यामालकेति परा पुरी । सालकै:

लिया है। इन नदियोंका नाम भी गंगासिंधु प्रसिद्ध है ॥ ९७ ॥ इस पर्वतके चारोंओर किनारोंके समीप ही अनेक बन खड़े हुये हैं वे सब नील रंगके हैं और यह पर्वत स्वेत है इसलिये उनके बीचमें यह पर्वत ऐसा शोभायमान हो रहा है मानो नीलांवर पहनेहुये बलभद्र ही खड़े हो ॥९८॥ उन बनोंके चारोंओर बड़ी ऊंची वनकी वेदिका है जो कि ऐसी शोभायमान हो रही है मानो किसीने इस वनकी सुंदर सीमा ही निर्माण की हो ॥९९॥ जिस वायुमें उस पर्वतपर इधर उधर फिरनेवाली विद्याधरोंकी स्त्रियोंके पैरोंमें लगे हुये नूपुरोंके मधुर शब्द भी मिले हुये हैं ऐसा मंद सुगंधित वायु उस पर्वतपर लगेहुये वृक्षोंके मध्यवर्त्ती मार्गमें सदा बहा करता है ॥ १०० ॥ उस पर्वतके पूर्व और पश्चिमके किनारे इतने लंबे हैं कि वे दिशाओंके किनारोंको भी मर्दन करते हैं जिससे ऐसा मालूम पडता है कि वह पर्वत अपना यह माहात्म्य ही प्रगट कर रहा हो कि मैं संसारका सब भार सह सकता हूं॥ १०१ ॥ वह पर्वत जितना लंबा है उतनाही यदि क्रीडामात्रसे आकाशमें ऊंचा बढे तो वह इस जगतरूपी कुटीमें कहां समावे? ॥ १०२ ॥ तथा वह पर्वत इतना ऊंचा और इतना विशुद्ध है कि मानो अपने ऊंचे २ शिखरोंकेद्वारा कुलाचलोंकी स्पर्द्धा करनेकेलिये तैयार हुआ हो ॥१०३॥ इसप्रकारके उस विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें अलका नामकी एक सुंदर नगरी है और वह ऐसी शोभायमान है मानो सुंदर केशवालीं विद्याधरियोंके मुखके साथ साथ

खेचरीवक्त्रैः साकं हसति या विधुं ॥१०४॥ सा तस्यां नगरी भाति श्रेण्यं प्राप्तमहोदया । शिलायां पाण्डुकाख्यायां जैनी वाऽभिषवक्रिया ॥१०५॥ महत्यां शब्दविद्याया प्रक्रियेवातिविस्तृता । भगवद्दिव्यभाषायां नानाभाषात्मतेव या ॥१०६॥ या धत्ते सालमुत्तुंगगोपुरद्वारमुच्छ्रितं । वेदिकावलयं प्राते जम्बूद्वीपस्थली यथा ॥ १०७ ॥ सत्खातिका भ्रमद्भृंगरुचिराजनराजितैः । पयोजनेत्रैराभाति वीक्ष्यमाणेव खेचरान् ॥१०८॥ शोभायै केवलं यस्याः सालः सपरिखावृतिः । तत्पालखगभूपालभुजरक्षाधृताः प्रजाः ॥ १०९ ॥ यस्याः सौधावलीशृंगसंगिनी केतुमालिका । कैलासकूटनिपत-

---

चंद्रमाकी हंसी उडा रही हो ॥ १०४ ॥ जैसे पांडुक शिलापर श्रीजिनेंद्रदेवकी अभिषेक क्रिया शोभायमान होती है ठीक उसी प्रकार उस, उत्तरश्रेणीमें सदा उन्नत और उदयरूप होनेवाली वह नगरी शोभायमान है ॥१०५॥ तथा वह अलका नगरी किसी बड़े व्याकरणकी महावृत्ति वा प्रक्रियाके समान विस्तृत है अथवा यों कहना चाहिये कि वह भगवानकी दिव्यध्वनिमें अंतर्भूत अनेकभाषाओंके समान है। भावार्थ—वह नगरी बहुत बडी है और उसमें अनेक भाषाओंके जाननेवाले मनुष्य रहते हैं ॥ १०६ ॥ उस अलका नागरीके चारोंओर बहुत ऊंचा कोट है जिसके बहुत ऊंचे २ द्वार हैं तथा उसकोटके चारों ओर छुटी हुई जो गोल वेदिका है वह ठीक जंबूद्वीपकी वेदिकाके समान मालूम होती है। उस वेदिकाके चारोंओर खाई है जिसमें अनेक कमल खिले हैं और उन कमलोंपर चारों ओर भ्रमर फिर रहे हैं जिससे ऐसा मालूम पड़ता है मानों यह खाई इधर उधर भ्रमण करते हुये भ्रमररूपी सुंदर अंजनसे सुशोभित कमलरूपी नेत्रोंकेद्वारा वहांके विद्याधरोंको निरख ही रही हो ॥ १०७–१०८ ॥ तथा उस नगरीके चारोंओर गहरी खाईसे घिरा हुआ जो ऊंचा कोट है वह केवल उस नगरीकी शोभा बढ़ानेकेलिये ही बनाया गया है प्रजाकी रक्षा करने-केलिये नहीं, क्योंकि उस नगरीके पालन करनेवाला विद्याधर नरेश केवल अपनी भुजाओंके बलसे ही प्रजाकी रक्षा करता है ॥ १०९ ॥ उस नगरीके बड़े २ मकानोंके शिखर पर अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं, वे ऐसी शोभायमान हो रही हैं मानों कैलाशपर्वतके शिखरोंपर उतरती हुई हंसोंकी पंकतिको तिर-

द्धसमालां विलषते ॥ ११० ॥ गृहेषु दीर्घिका यस्याः कलहसाविकूजितै । मानस व्याहसंतीव प्रफुल्लांभोरुहश्रियः ॥ १११ ॥ स्वच्छांबुवसना वाप्यो नीलोत्पलावतसकाः । भांति पद्माननना यत्र लसत्कुवलयेक्षणा. ॥ ११२ ॥ यत्र मर्त्या न सत्यज्ञा नागना' शीलवर्जिताः । नानारामा निवेशाश्च नारामा' फलवर्जिता ॥ ११३ ॥ विनाऽर्हत्पूजया जातु जायते न जनोत्सवा. । विना संन्यासविधिना मरण यत्र नांगिना ॥ ११४ ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि यत्र नित्य चकासते । प्रजाना सुकृतानीव वितरति महत्फल ॥ ११५ ॥ यत्रोद्यानेषु पाय्यते पयोन्यैर्बालपादपा । स्तनधया

स्कार ही कर रही हों ॥ ११० ॥ उस नगरीके प्रत्येक घरमें वावड़ी हैं, जिनमें अनेक कमल खिले हुये हैं, कलहंस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं, जिससे ऐसा मालूम पड़ता है मानों वे वावड़ी उन कलहंस पक्षियोंके मधुरशब्दोंद्वारा मानसरोवरकी हंसी ही उड़ा रही हो तथा ॥ १११ ॥ उस नगरीकी अनेक वावड़ी स्त्रियोंके समान शोभायमान हैं क्योंकि वे स्वच्छ जलरूपी वस्त्र धारण किये हुये हैं नीलकमल ही जिनके कर्णफूल हैं, प्रफुल्लित कमल ही जिनके मुख हैं और स्वेतकमल ही जिनके नेत्र हैं तथा ॥ ११२ ॥ उस अलकानगरीमें कोई पुरुष ऐसा नहीं है जो अज्ञानी हो, कोई ऐसी स्त्री नहीं है जो शीलरहित हो, कोई ऐसा स्थान नहीं है जो वाग वगीचोंसे रहित हो और कोई बाग वागीचा भी ऐसा नहीं है जो फलरहित हो ॥ ११३ ॥ उस नगरीके मनुष्य कभी कोई ऐसा उत्सव नहीं करते हैं कि जिसमें श्रीअरहंत भगवानजी पूजा न की जाती हो और न कभी किसी मनुष्यका ऐसा मरण होता है जिसमें संन्यास (समाधिमरण) ग्रहण न किया जाता हो। भावार्थ--वहां के मनुष्य सव उत्सवोंमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करते हैं और प्रायः समाधिमरणपूर्वक ही शरीर छोड़ते हैं ॥ ११४ ॥ तथा उस नगरीके चारोंओर अनेक विना बोये धान्योंके खेत शोभायमान हैं जो कि विना परिश्रमके ही पकजाते हैं और पुण्यके समान प्रजाकेलिये महाफलदायक होते हैं तथा ॥ ११५ ॥ उस नगरीके बगीचोंमें ऐसे अनेक छोटे छोटे वृक्ष हैं जो कि अभी पूरे जमे नहीं हैं जिन्हें अन्य लोग अपने पुत्रके समान रक्षा करते हुये जल पिलाते रहते

इवाप्रासस्थेमानो यत्नरक्षिता ॥ ११६ ॥ महाब्धाविव सध्वाने स्फुरद्रत्ने वणिक्पथे । विचरति जना यस्यां यादासीव समंततः ॥ ११७ ॥ पद्मेष्वेव विकोशत्व प्रमदास्वेव भीरुता । दतच्छदेष्वधरता यत्र निस्त्रिंशतासिषु ॥११८॥ याच्ञाकरग्रहौ यस्या विवाहेष्वेव केवल । मालास्वेव परिम्लानिर्द्विरदेष्वेव बधन ॥ ११९ ॥ जनैरत्युत्सुकैर्वीक्ष्य वयस्कात सपुष्पक । बाणाकित यदुद्यान वधूवरमिव प्रिय ॥ १२० ॥ इति प्रतीतमाहात्म्या विज-

हैं ॥ ११६ ॥ उस अलका नगरीके बाजार ठीक समुद्रके समान मालूम होते हैं। समुद्रमें जिसप्रकार गंभीर शब्द होते रहते हैं और वह रत्नोंसे भरा रहता है उसीप्रकार वहांके बाजारोंमें भी सदा गंभीर शब्द होते रहते हैं और विक्रीकेलिये जगह जगह रत्न रक्खे रहते हैं। समुद्रमें जलजंतुओंका संचार है और इस नगरीके बाजारोंमें मनुष्य घूमते रहते हैं ॥ ११७ ॥ उस नगरीमें विकोशत्व अर्थात् अच्छी कर्णिका केवल कमलोंमें ही है। विकोशत्व अर्थात् कोश वा द्रव्यसंचयका अभाव सर्वथा नहीं है। इसीप्रकार भीरुता केवल स्त्रियोंमें ही है। अधरता (नीचता) केवल ओठोंमें ही है अर्थात् ओठ ही अधर कहलाते हैं अन्यत्र अधरता (नीचता) कहीं नहीं है। इसीप्रकार क्रूरता केवल तलवारोंमें ही है अन्यत्र कहीं भी नहीं है ॥११८॥ तथा याचना करना और (करग्रह) हाथ पकड़ना केवल विवाहोंमें ही देखा जाता है अन्यत्र न कोई किसीसे याचना करता है और न कोई किसीसे करग्रहण करता है। तथा म्लानता (मुरझाना) भी केवल पुष्पमालाओंमें है मनुष्योंमें कभी कोई उदास नहीं दिखता। इसीप्रकार बंधन भी केवल हाथियोंमें है अर्थात् वहां केवल हाथी ही बांधे जाते हैं मनुष्य ऐसा कोई अपराधी ही नहीं है जो बांधा जावे ॥ ११९ ॥ उस अलका नगरीके बाग ठीक दंपतिके समान शोभायमान हैं। जैसे दंपतिको लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं उसीप्रकार वहांके बागोंको भी सब लोग बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं। दंपति जैसे वयस्कांत अर्थात् जवान और मस्तकपर पुष्प धारण किये हुये होते हैं उसीप्रकार वे बाग भी वयस्कांत अर्थात् पक्षियोंसे मनोहर और पुष्पोंसे सुशोभित हैं। इसी प्रकार दंपति धनुष बाण लगाये रहते हैं

यार्द्धमहीभृतः । सद्वृत्तवर्णसंकीर्णा सा पुरी तिलकायते ॥ १२१ ॥ तस्याः प्रभुरभूत्खेंद्रमुकुटारूढशासन. । खगेंद्रोऽतिबलो नाम्ना प्रतिपक्षबलक्षय ॥ १२२ ॥ स धर्मविजयी शूरो जिगीषुररिमंडले । षाड्गुण्येनाजयत्कृत्स्न विपक्षमनुपेक्षित ॥ १२३ ॥ म कुर्वन्वृद्धसंयोग विजितेंद्रियसाधन' । साधनै' प्रतिसामतान् लीलयैवोदमूलयत् ॥ १२४ ॥ महोदयो महोत्तुगवंशो भास्वन्महाकरः । महादानेन सोऽपुष्णादाश्रितानिव दिग्द्विपः ॥ १२५ ॥ लसद्दताशु तस्यास्य सज्ज्योत्स्न विंबमैदव । जित्वेव भ्रूपताकाभ्यामुत्क्षिप्ताभ्या व्यराजत ॥ १२६ ॥ सपुष्पकेशमस्याभादुत्तमाग सदा-

और उन वागोंमें बाण जातिके वृक्ष हैं। दंपति भी सबको प्रिय होते हैं और वे वाग भी सबको प्रिय हैं ॥ १२० ॥ इसप्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है और जिसमें अनेकप्रकारके सच्चरित्र ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्ण निवास करते हैं ऐसी वह अलका नगरी उस वियार्द्धपर्वतरूपी महाराजके मस्तकपर गोल और उत्तम वर्ण तिलकके समान सुशोभित होती थी ॥ १२१ ॥ उस नगरीका अधिपति अतिबल नामका विद्याधर था जो कि शत्रुओंका बल क्षय करनेमें अति निपुण था और जिसकी आज्ञा समस्त विद्याधर राजाओंको स्वीकार करनी पडती थी ॥ १२२ ॥ वह अतिबल राजा धर्मसे ही सब विजयलाभ प्राप्त करनेवाला था शूरवीर और शत्रुसमूहको जीतनेवाला था, तथा अपने सावधान समस्त शत्रुओं को केवल षाड्गुण्यरूप दैवबलसे ही जीत लेता था। संधि विग्रह यान आसन संश्रय और द्वैधीभाव ये छह षाड्गुण्य कहलाते हैं। जयलाभ करनेकेलिये राजाओंकी यैही कूटनीति हैं ॥ १२३ ॥ उस राजाने इंद्रियोंके सब विषय जीतलिये थे और सदा अनुभवी वृद्धपुरुषोंकी संगतिमें ही रहता था इसीकारण ही अपने शत्रुओंकी बलवान सेनाको अपनी सेनाद्वारा लीलामात्रमें नाश कर देता था ॥१२४॥ जिसप्रकार दिग्गज हाथी अपने मदसे अपने आश्रित भ्रमरोंको संतुष्ट करता है उसीप्रकार वह राजा भी अपने आश्रितजनोंको अतिशय दान देकर पालनपोषण करता था। तथा जिसप्रकार दिग्गज हाथी बड़ा और दैदीप्यमान होता है उसके पीठकी रीढ और सूंड बडी होती है उसीप्रकार वह राजा भी सदा उदयरूप

नवं । त्रिकूटाग्रमिवोपातपतच्चामरनिर्झरं ॥ १२७ ॥ पृथुवक्षःस्थलं हारि हारवल्लीपरिष्कृतं । क्रीडाद्वीपायितं लक्ष्म्याः स बभार गुणांबुधि ॥१२८॥ करौ करिकराकारावूरू कामेषुधीयितौ । कुरुविंदाकृती जंघे क्रमावंबुजसच्छवी ॥ १२९ ॥ प्रतिप्रतीकमित्यस्य कृत वर्णनयानया । यद्यच्चारूपमावस्तु तत्तत्स्वांगैर्जिगीषत ॥ १३० ॥ मनोहरांगी तस्याभूत्प्रिया नाम्ना मनोहरा । मनोभवस्य जैत्रेषुरिव या रूपशोभया ॥ १३१ ॥ सितपुष्पो-

और तेजस्वी था। अतिशय उच्चवंशमें उत्पन्न हुआ था तथा उसकी भुजायें भी बहुत लंबी थीं ॥ १२५ ॥ उस राजाके मुखसे दांतोंकी किरणे निकल रहीं थीं दोनों भौंहें कुछ टेडी होकर उठी हुई थीं इसलिये उसका मुख ऐसा शोभायमान होता था मानों उसने प्रकाशमान चंद्रमाको जीत लिया है और इसीलिये ही उसने अपनी भौंहरूप दोनों पताकायें फहरा रक्खी हैं ॥ १२६ ॥ उस राजाका मस्तक ठीक त्रिकूटाचलके समान माल्म होता था क्योंकि जैसे त्रिकूटाचल सपुष्पकेश अर्थात् पुष्पकविमानके स्वामी महाराज रावणसे शोभायमान था, उसीप्रकार महाराज अतिबलका मस्तक भी सपुष्पकेश अर्थात् पुष्पलगेहुये केशोंसे शोभायमान था, त्रिकूटाचल जैसे सदानव अर्थात् राक्षस वंशमें उत्पन्न हुये लोगोंसे शोभायमान था, उसी प्रकार उस राजाका मस्तक भी सदानव अर्थात् सदा नवीन श्याम केशोंसे शोभायमान था। त्रिकूटाचल पर्वतके शिखरसे जैसे स्वच्छ पानीके निर्झरने पड़ते हैं उसीप्रकार उस राजाके मस्तकके दोनों ओर चमर ढुल रहे थे ॥ १२७ ॥ वह अतिबल राजा गुणोंका समुद्र था। उसका वक्षःस्थल बहुत बड़ा, सुंदर, और हाररूपी बेलसे ढका हुआ ऐसा माल्म होता था, मानो लक्ष्मीका क्रीड़ा करनेकेलिये एक द्वीप ही हो ॥ १२८ ॥ उस राजाकी दोनों भुजायें हाथीकी सूंडके समान थीं। जंघाका ऊपरी भाग तरकसके समान था, जंघा पद्मरागमणिके समान मजबूत थी और चरण, कमलोंकी सुंदरकांतिके समान थे ॥ १२९ ॥ राजा अतिबलके प्रत्येक अंगका वर्णन कहां तक किया जाय किंतु थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि संसारमें अंग उपांगकी उपमाके योग्य जो जो सुंदर वस्तु हैं वे सब इसके अंग उपांगोंकी सुंदरताके सामने

ज्ज्वला भर्तुः प्रियासीह्लतिकेव सा । हितानुबंधिनी जैनी विद्येव च यशस्करी ॥ १३२ ॥ तयोर्महाबलख्यातिरभूत्सूनुर्महोदयः । यस्य जातावभूत्प्रीतिः पिंडीभूतेव बंधुषु ॥ १३३ ॥ कलासु कौशलं शौर्यं त्यागः प्रज्ञा क्षमा दया । धृतिः सत्यं च शौचं च गुणास्तस्य निसर्गजाः॥ १३४ ॥ स्पर्द्धयेव वपुर्वृद्धौ विवृद्धाः प्रत्यहं गुणाः । स्पर्द्धा ह्येकत्र भूतानां क्रियासाम्याद्विवर्द्धते ॥ १३५ ॥ राजविद्याश्चतस्रोऽपि सोऽध्यैष्ट गुरुसन्निधौ । स ताभिर्विबभौ भाभिः स्वाभिरुद्यन्निवांशुमान् ॥ १३६ ॥ सोऽधीयन्निखिला विद्या गुरुसंस्कारयोगतः । दिदीपेधिकमर्चिष्मानिवानिलसमागमात् ॥ १३७ ॥ प्रश्रयाद्यान्गुणानस्य मत्वा योग्यत्वपोषकान् । यौवराज्यपदं तस्मै सोऽनुमेने खगाधिपः ॥ १३८ ॥ संविभक्ता तयोर्लक्ष्मीश्चिर रेजे

कुछ भी नहीं थीं ॥१३०॥ उस राजाके मनोहरा नामकी सुंदर और अतिशय प्रिय रानी थी। वह अपने रूप और शोभासे कामदेवको विजयप्राप्त करनेकेलिये एक बाणके समान थी ॥ १३१ ॥ वह रानी अपने पतिकेलिये मंदहास्यरूपी उज्वल पुष्प धारण करनेवाली एक लताके समान थी अथवा वह रानी यश बढानेवाली तथा सबका हित करनेवाली जिनवाणीके समान थी ॥१३२॥ उन दोनोंके अतिशय भाग्यशाली महाबल नामका पुत्र था, जिसके उत्पन्न होनेपर उसके अन्य सब भाइयोंमें परस्पर बड़ा प्रेम हो गया ॥ १३३ ॥ समस्त कलाओंमें कुशलता, युद्धमें शूरता, दान देना, बुद्धि, क्षमा, दया, धैर्य, सत्य, और शौच ये सब उसके स्वाभाविक गुण थे ॥ १३४ ॥ उस महाबलका शरीर ज्यों ज्यों बढता था त्यों त्यों उसके गुण भी प्रति दिन बढते ही जाते थे, मानो शरीरके साथ ईर्षा करके ही बढ रहे हों। सो ठीक ही है जिनकी क्रियायें समान होती हैं औरजो एक जगह साथ साथ रहते हैं उनमें परस्पर स्पर्द्धा बढती ही है ॥१३५॥ वह राजपुत्र महाबल गुरुके समीप चारों प्रकारकी राजविद्यायें पढ़कर अपनी किरणोंसे सुशोभित उदय होतेहुये सूर्यके समान उनविद्यावोंसे अतिशय सुशोभित होने लगा। इनके सिवाय गुरु की कृपासे उसने अन्य समस्त प्रकारकी विद्यायें पढ़ लीं, जिनसें वह वायुके निमित्तसे अग्निकी समान और भी दैदीप्यमान होगया ॥ १३६-१३७ ॥ महाराज अतिबल विद्याधरने अपने पुत्र महाबलमें समस्त

घृतायतिः । हिमवत्यंबुराशौ च व्योमगंगेव संगता ॥ १३९ ॥ स राजा तेन पुत्रेण पुत्री बहुसुतोऽप्यभूत् । नभोभागो यथार्केण ज्योतिष्मान्नापरैर्ग्रहैः ॥ १४० ॥ अथान्येद्युरसौ राजा निर्वेदं विषयेष्वगात् । वितृष्णः कामभोगेषु प्रव्रज्यायै कृतोद्यमः ॥ १४१ ॥ विषपुष्पमिवात्यंतविषमं प्राणहारकं । महादृष्टिविषस्थानमिव चात्यंतभीषणं ॥१४२॥ निर्भुक्तमाल्यवद्भूयो न भोग्यं मानशालिना । दुष्कलत्रमिवापायि हेयं राज्यममस्त सः ॥ १४३ ॥ भूयोऽप्यचिंतयद्धीमानिमां संसारवल्लरीं । उत्सेत्स्यामि महाध्यानकुठारेण क्षमीभवन् ॥ १४४ ॥ मूलं मिथ्यात्वमेतस्याः पुष्पं जात्या-

---

विद्या और योग्यता प्राप्त करनेवाले और भी अनेक गुण देखकर युवराजपद भी उसकेलिये समर्पण कर दिया ॥ १३८ ॥ इसप्रकार युवराजपद देनेसे राज्यलक्ष्मी पिता पुत्र दोनोंमें बँट गई। उसके बँटनेसे उसका आकार कुछ कम नहीं हुआ किंतु जिसप्रकार हिमवान पर्वतसे निकलकर समुद्रमें मिलने तक गंगाका प्रवाह बढता जाता है उसीप्रकार और भी बढ गया ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार आकाश केवल सूर्यसे ही प्रकाशमान होता है अन्य ग्रहोंसे नहीं होता उसीप्रकार अतिवल महाराज अन्य अनेक पुत्रोंके होते हुये एकमात्र उसी पुत्रसे ही अपने को पुत्रवान समझता था ॥ १४० ॥ इसप्रकार राज्य करते हुये बहुत दिन व्यतीत होगये। एक दिन अकस्मात् राजा अतिबल विषय भोगोंसे विरक्त हुये। उन्होंने कामभोगोंसे तृष्णा छोड दी और दीक्षा ग्रहण करनेकेलिये उद्यम करने लगे, वे उस समय-॥१४१॥ विचार करने लगे कि यह राज्य विषपुष्पके समान अत्यंत विषम और प्राण हरण करनेवाला है। सर्पके समान अत्यंत भयानक है कुलटा स्त्रीके समान नाशकारक है और भोगीहुई पुष्पमालाके समान उच्छिष्ट है इसलिये ऐसा यह राज्य सर्वथा त्याज्य है स्वाभिमानी पुरुषोंकेलिये यह भोग करने योग्य नहीं है ॥ १४२ ॥ ॥ १४३ ॥ इसप्रकार वे बुद्धिमान् महाराज अतिवल इस संसाररूपी वल्लरीका (वेलका) स्वरूप बार बार चिंतवन करने लगे और विचार करने लगे कि मैं उत्तमक्षमा धारणकर महाध्यानरूपी कुठारसे इस संसाररूपी वल्लरीको शीघ्रही उखाड फेंकूंगा ॥ १४४ ॥ इस संसाररूपी वेलकी मिथ्यात्व

दिक फलं । व्यसनान्यसुभृद्भृंगै· सेव्येय विषयासवे ॥ १४५ ॥ यौवन क्षणभंगीदं भोगा भुक्ता न तृप्तये । प्रत्युतात्यंतमेवैतैस्तृष्णार्चिरभिवर्द्धते ॥ १४६ ॥ शरीरमिदमत्यतपूतबीभत्सवशाश्वत । विनश्यतेऽद्य वा श्वो वा मृत्युवज्रविचूर्णित ॥ १४७ ॥ शरीरवेणुरस्वतफलो दुर्ग्रंथिसततिः । प्लुष्ट· कालाग्निना सद्यो भस्मसात्स्यात्स्फुरद्ध्वनि ॥ १४८ ॥ बधवो बधनान्येते धन दु.खानुबधन । विषया विषसपृक्तविषमाशनसन्निभा· ॥१४९॥ तदल राज्यभोगेन लक्ष्मीरतिचलाचला । सपदो जलकल्लोलविलोला· सर्वमध्रुव ॥ १५० ॥ इति निश्चित्य धीरोऽसावभिषेकपुरःसर । सूनवे राज्य-

ही जड़ है जन्म मरण होना ही इसके पुष्प हैं और अनेक व्यसन (दुःख) प्राप्त होना ही इसके फल हैं । केवल विषयरूपी रस पान करनेकेलिये ही ये प्राणीरूपी भ्रमर इसकी सेवा किया करते हैं ॥ १४५॥ यह यौवन क्षणभंगुर है ये भोग चाहे जितनीबार भोगे जांय परंतु इनसे कभी तृप्ति नहीं होती । इनसे तृप्ति होना तो दूर रहो किंतु ज्यों ज्यों ये सेवन किये जाते हैं त्यों त्यों इनसे तृष्णारूपी अग्नि बढ़ती ही चली जाती है ॥ १४६ ॥ यह शरीर भी अत्यंत अपवित्र और नाशमान है । आज वा कल ही मृत्युरूपी वज्रसे पिसकर नष्ट हो जायगा ॥ १४७ ॥ अथवा यों कहिये कि यह शरीर एकप्रकारका बांस है दुःख ही इसके फल हैं । इसमें परिग्रहरूपी अनेक गांठे हैं । जब यह शरीररूपी बाँस कालरूपी अग्निसे जलेगा तब वह एकप्रकारका शब्द करता हुआ बहुत शीघ्र भस्म हो जायगा ॥ १४८ ॥ ये जो बंधुजन दिखते हैं वे सब मोहपासमें डालनेवाले बंधनके समान हैं । यह धन केवल दुःख उत्पन्न करनेवाला है और ये पंचेंद्रियोंके विषयसुख विष मिले हुये विषम भोजनके समान हैं ॥ १४९ ॥ लक्ष्मी अतिशय चंचल है संपदायें जलकल्लोलके समान क्षणभंगुर हैं । यह संसार सर्वप्रकारसे अस्थिर है, इसमें कोई वस्तु स्थिर नहीं है । इसलिये अब इस राज्यका भोग करना अच्छा नहीं । इसे सर्वथा छोडदेना ही कल्याणकारी है ॥१५०॥ इसप्रकार निश्चयकर धीर वीर महाराज अतिबलने अपने प्रियपुत्र महाबलका राज्याभिषेक किया और उसे अपना सब राज्य समर्पण करादिया ॥ १५१ ॥ तदनंतर महाराज अतिबल

सर्वस्वमदितातिबलस्तदा ॥ १५१ ॥ ततो गज इवापेतबधनो नि सृतो गृहात् । बहुभि· खेचरैः सार्द्धं दीक्षां स समुपाददे ॥ १५२ ॥ जिगीषु बलवद्गुप्त्या समित्या च सुसवृत । महानागफणारत्नमिव चान्यैर्दुरासद ॥ १५३ ॥ नाभिकालोद्भवकल्पतरुजालमिवाबरै· । भूषणैश्च परित्यक्तमपेत दोषवत्तया ॥ १५४ ॥ उदर्कसुखहेतुत्वाद् गुरूणामिव सद्वच. । नियतावासशून्यत्वात्पततामिव मंडल ॥ १५५ ॥ विषादभयदैन्यादिहानेः सिद्धास्पदोपम । क्षमाधारतया वातवलयस्थितिमुद्वहन् ॥ १५६ ॥ नि सगत्वादिवाभ्यस्तपरमाणुविचेष्टित । निर्वाणसाधनत्वाच्च रत्नत्रयमिवा-

---

घरसे इसप्रकार निकले जैसे बंधनसे छूटकर हाथी निकलता हो। बनमें जाकर अनेक विद्याधरोंके साथ उन्होंने दीक्षा ग्रहण की ॥ १५२ ॥ तत्पश्चात् महाराज अतिबलमुनि घोर तपश्चरण करने लगे। उनका वह तपश्चरण मानों शत्रुको जीतनेवाली एक सेनाके समान था। सेना जिसप्रकार गुप्ति अर्थात् बरछा आदि शस्त्रोंसे सुसज्जित रहती है तथा समिति अर्थात् समूहरूप रहती है उसीप्रकार उनका तपश्चरण भी तीन गुप्ति और पांच समितियोंसे शोभायमान था, अथवा यों कहना चाहिये कि उनका वह तपश्चरण महासर्पके फणमें लगे हुये रत्नकी प्राप्तिके समान अति कठिन था क्योंकि अन्य साधारणजन ऐसा घोर तपश्चरण नहीं कर सकते ॥ १५३ ॥ तथा उनका वह तपश्चरण दोषरहित था और नाभिराजाके समय उत्पन्न होनेवाले वस्त्राभूषणरहित कल्पवृक्षोंके समान मालूम होता था ॥ १५४ ॥ अथवा यों कहिये कि वह तपश्चरण सद्गुरुके बचनोंके समान प्रतिभास होता था। जिसप्रकार सद्गुरुके बचन आगामीकालमें सुख देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वह तपश्चरण भी आगामीकालमें मोक्षादिके सुख देनेवाला था। वे मुनि पक्षियोंके समान एक जगह कभी निवास नहीं करते थे ॥ १५५ ॥ उनके तपश्चरणमें न तो विषाद था न भय था और न दीनता आदि दोष थे इसलिये वह तपश्चरण सिद्धोंके निवासस्थानके समान मालूम होता था। और उत्तमक्षमाका आधार होनेसे क्षमा अर्थात् पृथ्वीको धारण करनेवाले वातवलयके समान था ॥ १५६ ॥ अथवा उनका वह तपश्चरण बाह्य आभ्यंतर परिग्रह रहित था इसलिये

मलं ॥ १५७ ॥ सोऽप्युदारगुणं भूरितेजोभासुरमूर्जितं । पुण्यं जैनेश्वरं रूपं दधत्तेपे चिरं तपः ॥ १५८ ॥ ततः कृताभिषेकोऽसौ बलशाली महाबल । राज्यभारं दधे नम्रखेचराऽभ्यर्चितक्रमः ॥ १५९ ॥ स दैवबलसंपन्नः कृतधीर्वीरचेष्टितः । दोर्बलं प्रथयामास संहरन्द्विषतां बलं ॥१६०॥ मत्रशक्त्या परिध्वस्तसामर्थ्यास्तस्य विद्विषः । महाहय इवाभूवन्विक्रियाविमुखास्तदा ॥ १६१ ॥ तास्मिन्नारूढमाधुर्ये दधुः प्रीतिं प्रजादृशः । चूतद्रुम इव स्वादुसुपक्वफलशालिनि ॥ १६२ ॥ नात्यर्थमभवत्तीक्ष्णो न चातिमृदुता दधे । मध्यमां वृत्तिमाश्रित्य स जगद्वशमानयत् ॥ १६३ ॥

वह निःसंग अर्थात् किसीमें न मिले हुये परमाणुके समान था । तथा वह मोक्षका कारण था इसलिये वह निर्मल रत्नत्रयके समान था ॥ १५७ ॥ उनके उस तपश्चरणमें अनेक उदार गुण थे, और अपने प्रतापसे वह अत्यंत दैदीप्यमान था । वे अतिबलमुनि संचय किये हुये पुण्यके समान और साक्षात् श्रीजिनेंद्रदेवके रूपके समान दिगंबरता धारणकर चिरकालतक तपश्चरण करते रहे ॥ १५८ ॥ इस-प्रकार अतिबलके दीक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् उसका पुत्र बलशाली महाबल राज्यभार ग्रहण करके राज्य करने लगा । अनेक विद्याधर अतिशय नम्र होकर उसके चरणकमलोंकी सेवा किया करते थे ॥ १५९ ॥ वह भाग्यशाली अतिशय बुद्धिमान था । उसकी सब क्रियायें वीरपुरुषोंके समान थीं । शत्रुओं की सेनाका नाश करता हुआ वह सदा अपनी भुजाओंका पराक्रम दिखाया करता था ॥१६०॥ जिस-प्रकार मंत्रशक्तिके प्रभावसे बड़े बड़े सर्प भी निरुपाय हो जाते हैं उसीप्रकार महाबलकी मंत्रशक्तिके प्रभावसे भी उसके समस्त शत्रुओंकी सामार्थ्य नष्ट हो जाती थी ॥१६१॥ जिसप्रकार पके हुये स्वादिष्ट फलोंसे शोभायमान आम्रवृक्षपर सबकी दृष्टि लालायित होकर प्रेमयुक्त पड़ती है, उसीप्रकार राजा महा-बलमें माधुर्यादि अनेक गुणोंके होनेसे उसपर सब प्रजाकी दृष्टि प्रेमयुक्त ही पड़ती थी ॥ १६२ ॥ वह राजा न तो किसीकेलिये कठोर था और न किसीकेलिये अतिशय कोमल ही था किंतु मध्यमवृत्ति धारण करके उसने संपूर्ण जगतको वश करलिया था ॥ १६३ ॥ जिसप्रकार ग्रीष्मऋतुकी उड़ती हुई

उभयेऽपि द्विषस्तेन शमिता भूतिमिच्छता । कालादौद्धत्यमायाता जलदेनेव पांसवः ॥ १६४ ॥ सिद्धिर्धर्मार्थकामानां नाबाधिष्ट परस्परं । तस्य प्रयोगनैपुण्याद्धधुभूयमिवागताः ॥ १६५ ॥ प्रायेण राज्यमासाद्य भवति मदकर्कशाः । नृपेभा' स तु नामाद्यत्प्रत्युतासीत्प्रसन्नधी ॥ १६६ ॥ वयसा रूपसपत्त्या कुलजात्यादिभि' परे । भजति मदमस्यैते गुणाः प्रशममादधुः ॥ १६७ ॥ राज्यलक्ष्म्या' पर गर्वमुद्वहति नृपात्मजाः । कामविद्येव निर्मोक्षो' साऽभूत्तस्योपशातये ॥ १६८ ॥ अन्यायध्वनिरुत्सन्नः पाति तस्मिन्सुराजनि । प्रजानां भयसक्षोभा' स्वप्नेऽप्यासन्न जातुचित् ॥ १६९ ॥

धूलिको बादल शांत कर देता है उसीप्रकार समृद्धि चाहनेवाले उस राजाने समयानुसार उद्धत हुये अंतरंग (कामक्रोधादि) और बाह्य दोनों प्रकारके शत्रुओंको दमन कर दिया था ॥१६४॥ वह महाबल राजा धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थोंका बराबर सेवन करता था परंतु इन तीनोंमेंसे परस्पर किसी का घात नहीं होता था। जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों इसके कार्योंकी चतुरतासे ये तीनों ही परस्पर मित्रता धारण करके यहां आये हैं ॥१६५॥ राज्य पाकर राजारूपी हाथी प्रायः मदोन्मत्त हो जाते हैं परंतु यह महाबल राज्य पाकर मदोन्मत्त नहीं हुआ था किंतु सदा उत्तम विचारोंपर आरूढ़ रहता था॥ १६६ ॥ अन्य राजा लोग जवानी, रूप, ऐश्वर्य, कुल, जाति आदि गुणोंसे उन्मत्त हो जाते हैं परंतु इसराजाके ये सब गुण प्रच्छन्न थे। किसीके सामने प्रगट नहीं होते थे॥१६७॥ प्रायः राजपुत्र राज्यसंपदा पाकर अतिशय अहंकार करने लगते हैं परंतु वह राज्य पाकर भी सदा शांत रहता था। जैसे कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनि कामविद्यासे भी सदा निर्विकार और शांत रहते हैं ॥ १६८॥ राजा महाबलके सुराज्यमें 'अन्याय' यह शब्द ही नष्ट हो गया था। भय और क्षोभ प्रजाको कभी स्वप्नमें भी दिखाई नहीं पड़ते थे ॥ १६९ ॥ वह राजा अपने गुप्तचर (गुप्त रीतिसे जगह जगह फिरकर खबर लेनेवाले दूत) और विचारोंसे ही सब राज्यकार्य देखता था किंतु नेत्रोंसे नहीं । नेत्र तो केवल उसके मुखकी शोभाकेलिये थे अथवा सुंदर दृश्य देखनेके लिये थे ॥१७०॥ जिस समय उसका यौवन प्रारंभ हुआ था उस

चक्षुश्चारो विचारश्च तस्यासीत्कार्यदर्शने । चक्षुषी पुनरस्यास्यमंडने दृश्यदर्शने ॥ १७० ॥ अथास्य यौवनारंभे रूपमासीज्जगत्प्रियं । पूर्णस्येव शशाकस्य दधतः सकला कला. ॥ १७१ ॥ अदृश्यो मदनोऽनंगो दृश्योऽसौ चारुविग्रह. । तदस्य मदनो दूरमौपम्यपदमत्यगात् ॥ १७२ ॥ तस्याभादालिसकाशमृदुकुंचितमूर्द्धज । शिरो विन्यस्तमुकुट मेरो' कूटमिवाश्रित ॥ १७३ ॥ ललाटमस्य विस्तीर्णमुन्नतं रुचिमादधे । लक्ष्म्या विश्रांतये क्लृप्तमिव हैमं शिलातल ॥ १७४ ॥ भ्रूरेखे तस्य रेजाते कुटिले भृशमायते । मदनस्यास्त्रशालाया धनुषोरिव यष्टिके ॥ १७५ ॥ चक्षुषी रेजतुस्तस्य भ्रूचापोपातवर्त्तिनी । विषमेषोरिवाशेषाजिगीषोरिषुयत्रके ॥ १७६ ॥ स कर्णपालिके चारू रत्नकुंडलमडिते । श्रुतांगनासमा-

---

समय इसका रूप जगतको अतिशय प्रिय था संपूर्ण कलाओंको धारण करता था। इसलिये ठीक पूर्णचंद्रमाके समान मालूम होता था ॥ १७१ ॥ राजाका शरीर भी अतिशय सुंदर था सुंदरतामें उपमा कामदेवकी दी जाती है परंतु कामदेव अदृश्य होगया जिससे ऐसा मालूम होता है मानों कामदेव अपनेको इस राजाके शरीरकी उपमाके योग्य न समझ कर ही लज्जा वश अदृश्य होगया है ॥१७२॥ उसराजाके मस्तकपर भ्रमरके समान काले, कोमल और घूंघरवाले बाल थे ऊपरसे मुकुट लगा हुआ था । जिससे वह मस्तक ऐसा मालूम होता था मानों काले आकाशमें सुवर्णमय मेरुपर्वतका शिखर ही हो ॥१७३॥ उस राजाका ललाट ऊंचा और विस्तीर्ण होनेसे बहुत ही सुंदर था जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों लक्ष्मीके विश्राम करनेकेलिये एक सुवर्णमय शिला ही बनाई हो ॥ १७४ ॥ उसकी लंबी और कुटिल भोंहें बड़ी ही सुशोभित थीं और ऐसी मालूम पड़ती थीं मानों कामदेवकी अस्त्रशालामें ये ही दोनों धनुष बनानेकी लकड़ी हों ॥ १७५ ॥ भोंहरूपी चापके समीपदेशमें रहनेवाले उसके दोनों नेत्र बड़े ही सुंदर थे और वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों संपूर्ण जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाण चलानेके यंत्र ही हों ॥ १७६ ॥ तथा रत्न जड़ित कुंडलोंसे सुशोभित उसके दोनों कर्ण ऐसे मालूम होते थे मानों सरस्वती देवीके झूलनेकेलिये दो झूले ही पड़े हों ॥ १७७ ॥ दोनों नेत्रोंके बीचमें लंबी और ऊंची

क्रीडलीलादोलायिते दधौ ॥ १७७ ॥ दधेऽसौ नासिकावंशं तुंगं मध्ये विलोचन । तद्वृद्धिस्पर्द्धरोधार्थं बद्धं सेतुमिवायत ॥ १७८ ॥ मुखमस्य लसद्दतदीप्तिकेसरमाबभौ । महोत्पलमिवामोदशालि दतच्छदच्छद ॥ १७९ ॥ पृथुवक्षो बभारासौ हाररोचिर्जलप्लवं । धारागृहमिवोदार लक्ष्म्या निर्वापण पर ॥१८०॥ सकेयूररुचावंसौ तस्य शोभामुपेयतु । क्रीडाद्री रुचिरौ लक्ष्म्या विहारायेव निर्मितौ ॥ १८१ ॥ युगायतौ विभर्त्ति स बाहू चारुतलाकितौ । स सुराग इवोद्भविटपौ पल्लवोज्ज्वलौ ॥ १८२ ॥ गंभीरनाभिक मध्य स वली ललित दधौ । महाब्धिरिव सावर्त्त सतरग च सैकत ॥ १८३ ॥ घन च जघन तस्य मेखलादामवेष्टित । बभौ वेदिकया जबूद्वीपस्थलमिवावृत ॥ १८४ ॥ रंभास्तभनिभावूरू स धत्ते स कन-

---

उसकी नाक ऐसी शोभायमान थी मानों परस्परकी स्पर्द्धासे वढ़नेवाले दोनों नेत्रोंके रोकनेकेलिये बीचमें पुल ही बांध दिया हो ॥१७८॥ उसराजाका मुख सुगंधितकमलके समान शोभायमान था। जिसमें दांतोंकी किरणें ही केसर थीं और ओठ ही जिसके पत्ते थे ॥ १७९॥ हारसे सुशोभित उसका विस्तीर्ण वक्षःस्थल ऐसा मालूम होता था, मानों जलसे भरा हुआ विस्तीर्ण और उत्कृष्ट लक्ष्मीका स्नान करनेका घर ही बनाया गया हो ॥ १८० ॥ उसके दोनों कंधे केयूरकी (भुजबंधकी) कांतिसे बड़े ही सुशोभित थे। वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानों लक्ष्मीके विहार करनेकेलिये दो सुंदर क्रीड़ापर्वत ही बनाये गये हों ॥१८१॥ कल्पकालके समान लंबी और सुंदर हथेलीसहित उसकी दोनों भुजायें ऐसी सुंदर थीं मानो उज्ज्वल पल्लवसहित कल्पवृक्षकी दो बड़ी २ शाखा ही हों ॥१८२॥ उस वली गंभीर राजाका नाभिसहित मध्यभाग ऐसा शोभायमान था मानों तरंगसहित भंवर और बालूके टीलोंसे समुद्र शोभायमान होता है ॥ १८३ ॥ करधनीसे घिरा हुआ और घनीभूत उसका जघनभाग ऐसा मनोहर दिखता था मानो वेदिकासे घिरा हुआ जंबूद्वीप ही शोभायमान हो ॥ १८४ ॥ सुवर्णकी कांतिके समान कांतिको धारण करनेवाले तथा कदलीस्तंभके समान उसके दोनों उरु (जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे शोभायमान थे मानो स्त्रियोंके दृष्टि-रूपी बाण चलानेकेलिये दो निशाने ही खड़े किये गये हों ॥ १८५ ॥ और उसकी दोनों सुंदर जंघायें

दृभुती । कामिनीदृष्टिनाणाना लक्ष्याविव निवेशितौ ॥१८५॥ वज्रशाणाशिरे जंघे सोऽधत्त रुचिराकृती । मनोजजैत्रबाणानां निशानायेव कल्प्यते ॥ १८६ ॥ पदतामरसद्वद्व लसदगुलिपत्रक । नखाशुकेसर दध्रे लक्ष्म्याः कुलगृहायित ॥ १८७ ॥ इत्यस्य रूपमुद्भूतनवयौवनविभ्रम । कामनीयकमैकध्यमुपनीतमिवाबभौ ॥१८८॥ न केवलमसौ रूपशोभयैवाजयज्जगत् । व्यजेष्ट मत्रशक्त्यापि वृद्धसयोगलब्धया ॥ १८९ ॥ तस्याऽभूवन्महाप्रज्ञाश्चत्वारो मंत्रिपुगवा । वहिश्चरा इव प्राणा. सुस्निग्धा दीर्घदर्शिनः ॥ १९० ॥ महामतिश्च सभिन्नमति. शतमतिस्तथा । स्वयबुद्धश्च राज्यस्य मूलस्तभा इव स्थिराः ॥ १९१ ॥ स्वयबुद्धोऽभवत्तेषु सम्यग्दर्शनशुद्धधी । शेषा मिथ्यादृशस्तेऽमी सर्वे स्वामिहितोद्यता ॥ १९२ ॥ चतुर्भि' स्वै-

---

वज्रकेसमान स्थिर और मजबूत थीं। जिनसे ऐसा मालूम होता था मानों उसकी वे दोनों जंघायें कामदेवके विजय प्राप्त करनेवाले बाणोंको तीक्ष्ण करनेकेलिये दो शाण ही बनाये गये हों ॥१८६॥ उसके दोनों चरण दो कमलोंके समान भासते थे। अंगुली ही जिनमें पत्ते थे और नखोंकी किरणें ही जिनमें केसर थी जिससे ऐसे मालूम होते थे मानों लक्ष्मीके निवास करनेकेलिये कुल परंपरासे चले आये दो घर ही हों ॥१८७॥ इसप्रकार महाबल राजाका रूप बहुत ही सुंदर था उसके रूपमेंसे नवयौवनके विलास निरंतर उत्पन्न होते रहते थे। जिससे ऐसा प्रतिभास होता था मानों सब जगहकी सुंदरता यहांपर इकट्ठी हुई हो ॥ १८८ ॥ उस राजाने केवल अपने रूपकी अद्भुत शोभासे ही जगतको जीतलिया हो ऐसा नहीं था किंतु वृद्ध (अनुभवी) पुरुषोंके संगतिसे प्राप्त हुई मंत्रशक्तिके प्रभावसे भी उसने समस्त जगतको जीत लिया था ॥१८९॥ उसके चार उत्तम मंत्री थे वे चारों ही बड़े विद्वान् और दीर्घदर्शी थे। उनपर राजाका अतिशय प्रेम था जिससे ऐसा मालूम पड़ता था मानों वे चारों ही मंत्री राजाके बाह्य प्राण हों ॥ १९० ॥ उनके नाम क्रमसे महामति,संभिन्नमति,शतमति और स्वयंबुद्ध थे। ये चारों ही मंत्री उसराज्यके स्थिर मूलस्तंभके समान थे ॥ १९१ ॥ उन चारोंमें स्वयंबुद्ध नामका मंत्री शुद्ध सम्यग्दृष्टी था और अन्य तीनों मंत्री मिथ्यादृष्टी थे। यद्यपि उनमें इसप्रकारका मतभेद था परंतु स्वामीके हितसाधन करने

रमात्यैस्तैः पादैरिव सुयोजितैः । महाबलस्य तद्राज्यं पप्रथे समवृत्तवत् ॥१९३॥ स मंत्रिभिश्चतुर्भिस्तैः कदाचिच्च समं त्रिभि । द्वाभ्यामेकेन वा मन्त्रमविसंवादिनाऽभजत् ॥१९४॥ स्वयं निश्चितकार्यस्य मन्त्रिणोऽस्यानुशासन । चक्रुः स्वयंप्रबुद्धस्य जिनस्येवामरोत्तमाः ॥१९५॥ न्यस्तराज्यभरस्तेषु सः स्त्रीभि. खचरोचितान् । बुभुजे सुचिर भोगान्भोगानामधीशिता ॥ १९६ ॥ मृदुसुरभिसमीरै. मांद्रमदारवीथीपरिचयसुखशीतैर्धूतसंभोगखेद'।

में वे चारों ही सदा उद्यत रहते थे ॥ १९२ ॥ वे चारों ही मंत्री उस राज्यके चारपांवके समान थे । उन चारों मंत्रियोंसे राजा महाबलका वह राज्य उत्तम आचरणोंके समान अतिशय विस्तृत हुआ था ॥१९३॥ राजा महाबल कभी चारों मंत्रियोंके साथ कभी तीन मंत्रियोंके साथ कभी दो मंत्रियोंके साथ और कभी यथार्थवादी एक स्वयंबुद्ध मंत्रीके साथ अपने राज्यका विचार किया करता था ॥ १९४ ॥ वह राजा भी स्वयं प्रबुद्ध था अर्थात् स्वयं राज्यके सब कार्य वह विचार लेता था । जब वह किसी कार्यका निश्चय कर लेता था तब वे मंत्री आकर केवल उस विचारे हुये कार्यकी प्रशंसामात्र ही करते थे, जैसे कि तीर्थंकर देव जिससमय स्वयं विरक्त हो जाते थे तब लौकांतिक देव आकर केवल उनके वैराग्यकी प्रशंसामात्र ही करते हैं । भावार्थ-राजा महाबलके विचार इतने सुदृढ़ और प्रबलयुक्तिवाले थे कि उन्हें कोई भी मंत्री बदल नहीं सकता था ॥ १९५ ॥ अनेक विद्याधरोंका स्वामी वह राजा महाबल उन चारों मंत्रियोंको अपने राज्यका भार सौंपकर अनेक स्त्रियोंके साथ चिरकालतक विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगोंका सेवन कर रहा था ॥ १९६ ॥ जो उपवनोंके प्रदेश कामदेवके निवासस्थानको भी जीतते थे, जो साक्षात् नंदन वनके समान थे, जिनमें पास पास अनेक घनीभूत मंदार नामके वृक्ष लग रहे थे उन वृक्षोंके मध्यवर्त्ती मार्गमें अतिशय सुख देनेवाली शीतल मंद सुगंधित पवन आ रही थी जो कि राजा महाबलके संभोग-जनित खेदको बहुत शीघ्र नष्ट कर देती थी, ऐसे उपवनके प्रदेशोंमें वह राजा महाबल अपनी स्त्रियोंके साथ वार वार विहार किया करता था ॥१९७॥ उसके पुण्यकर्मके उदयसे अनेक विद्याधर आकर उसकेलिये

मुहुरुपवनदेशान्नंदनोद्देशदेश्याम् जितमदननिवेशान्स्त्रीसहायः स भेजे ॥ १९७ ॥। इति सुकृतविपाकादानमत्खेचरोद्यन्मकुटमकरिकाग्रस्पृष्टपादारविंदः । चिरमरमत तस्मिन्खेचराद्रौ सुराद्रौ । सुरपतिरिव सोऽय भाविभास्वज्जिनश्रीः ॥ १९८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमहाबलाऽभ्युदयवर्णन नाम चतुर्थं पर्व ॥ ४ ॥

नमस्कार करते थे। उससमय उनके उठेहुये मुकुटोंमें सुवर्णके बने हुये जो मगर मत्स्य आदिकी मूर्तियां जड़ी हुई थीं उनके अग्रभागसे राजा महाबलके चरणकमल बारंबार स्पर्श किये जाते थे। तथा जिसकी शोभा आगामी कालमें होनेवाले तीर्थंकरकी शोभाके समान थी ऐसा वह राजा महाबल मेरुपर्वतपर क्रीड़ा करनेवाले इंद्रके समान विजयार्द्ध पर्वतपर अनेक दिनों तक क्रीड़ा करता हुआ राज्य करता था ॥१९८॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य विरचित संस्कृतमहापुराणके नवीनहिंदीभाषानुवादमें राजामहाबलका अभ्युदय वर्णनवाला चतुर्थ पर्व समाप्त॥ ४ ॥

❀ अथ पंचमं पर्व ❀

कदाचिदथ तस्याऽऽसीद्वर्षवृद्धिदिनोत्सवः । मंगलैर्गीतवादित्रनृत्यारंभैश्च संभृतः ॥ १ ॥ सिंहासने तमासीनं तदानीं खचराऽधिपं । दुधुवुश्चामरैर्वारनार्यः क्षीरोदपाण्डुरैः ॥ २ ॥ मदनद्रुममंजर्यो लावण्याम्भोधिवीचयः । सौंदर्यकलिका रेजुस्तरुण्यस्तत्समीपगाः ॥ ३ ॥ पृथुवक्षःस्थलच्छन्नपर्यंतैर्मकुटोज्ज्वलैः । खगेंद्रैः परिवव्रेऽसौ गिरिराज इवाद्रिभिः ॥ ४ ॥ तस्य वक्षःस्थले हारो नीहारांशुसमद्युतिः । बभासे हिमव-

---

पांचवां पर्व ।

तदनंतर किसी एक दिन राजा महाबलका जन्मदिन आया। वर्षगांठका उत्सव होने लगा। मंगल गीत, वादित्र नृत्य आदि अनेक प्रकारसे आनंद मनाया जाने लगा ॥ १ ॥ उस समय विद्याधरोंका स्वामी राजा महाबल सिंहासनपर विराजमान था। अनेक वारांगनायें उसपर क्षीरसमुद्रके जलके समान स्वेत चमर ढाल रहीं थीं ॥ २ ॥ उसके समीप खड़ी हुई वे तरुण स्त्रियां ऐसी मालूम होती थीं मानों कामदेवरूपी वृक्षकी मंजरियां ही हों अथवा लावण्यरूपी समुद्रकी तरंगें हीं हों अथवा सुंदरताकी कलियां ही हों ॥ ३ ॥ महाराज महाबलके चारों ओर बड़े २ वक्षःस्थलवाले और उज्ज्वल मुकुटोंसे शोभायमान अनेक विद्याधर बैठे हुये थे, उनके मध्यभागमें विराजमान राजा महाबल ऐसा शोभायमान था जैसे अनेक पर्वतोंके मध्यभागमें सुमेरुपर्वत शोभायमान होता है ॥४॥ उसके वक्षःस्थलपर जो हिमकी किरणोंके समान उज्ज्वल और स्वेत हार पड़ा था, वह ऐसा मालूम होता था मानो हिमवन् पर्वतके शिखरपरसे पानीका स्वेत निर्झरना ही गिरता हो ॥ ५ ॥ जैसे जलकाकके इधर उधर हंसोंकी पंक्ति विस्तीर्ण आकाशमें शोभायमान होती है उसीप्रकार राजा महाबलके वक्षःस्थलपर इंद्रनीलमणि सहित

त्सानौ प्रपतानिव निर्झरः ॥ ५ ॥ तद्वक्षसि पृथाविद्रनीलमध्यमणिर्बभौ । कंठिका हंसमालेव व्योम्नि दात्यूहमध्यगा ॥ ६ ॥ मंत्रिणश्च तदाऽमात्यसेनापतिपुरोहिता । श्रेष्ठिनोऽधिकृताश्चान्ये तं परीत्याऽवतस्थिरे ॥ ७ ॥ सितैः संभाषितैः स्थानैर्दानैः संमाननैरपि । तानसौ तर्पयामास वीक्षितैरपि सादरैः ॥ ८ ॥ स गोष्ठीर्भावयन्भूयो गधर्वादिकलाविदां । स्पर्द्धमानाश्च तान्पश्यन्नुपश्रोतृसमक्षत. ॥ ९ ॥ सामतप्रहितान्दूतान्द्वाःस्थैरानीयमानकान् । सभावयन्यथोक्तेन समानेन पुनः पुन. ॥ १० ॥ परचक्रनरेंद्राणामानीतानि महत्तमै । उपायनानि सपश्यन्यथास्वं ताश्च पूजयन् ॥ ११ ॥ इत्यसौ परमानंदमातन्वन्नद्भुतोदयः । यथेष्ट मंत्रिवर्गेण सहास्तानदमंडपे ॥ १२ ॥ त तदा प्रीतमालोक्य स्वयबुद्धः समिद्धधी

श्वेत मोतियोंकी माला भी सुशोभित हो रही थी ॥ ६ ॥ उस समय राजा महाबलके चारों ओर मंत्री अमात्य सेनापति पुरोहित शेठ तथा अन्य सब अधिकारी लोग बैठे हुये थे ॥ ७ ॥ वह राजा किसीके साथ हंसकर, किसीके साथ संभाषणकर, किसीको यथायोग्य स्थान देकर, किसीको दान देकर, किसी का सन्मानकर, किसीको देखकर और किसीका आदर सत्कारकर उन आये हुये समस्त सभासदोंको संतुष्ट कर रहा था ॥ ८ ॥ गंधर्व आदि अनेक कलाओंके जाननेवालोंकी मंडलीका भी वह बार बार अनुभव करता जाता था। वह मंडली सब सभाके सामने जो परस्पर स्पर्द्धा कर रही थी उसे भी देखता जाता था ॥ ९ ॥ अन्य राजा लोगोंने जो अपने प्रतिष्ठित राजदूत भेजे थे द्वारपालके द्वारा उन्हें बुलवा कर तथा यथायोग्य उनका आदर सत्कारकर बार बार संतुष्ट करता था ॥ १० ॥ बराबरीवाले अन्य राजाओंने अपने प्रतिष्ठित पुरुषोंके द्वारा जो भेट भेजी थी उसे भी देखता जाता था। तथा भेट लानेवालोंका यथायोग्य सत्कार भी करता जाता था ॥११॥ इस प्रकार अतिशय भाग्यशाली वह राजा महाबल आनंदमंडपमें परम आनंद मनाता हुआ अपने इष्ट मंत्रियोंके साथ विराजमान था ॥ १२ ॥ उस समय अतिशय बुद्धिमान् स्वयंबुद्ध मंत्रीने राजाको अतिप्रसन्न देखकर केवल अपने स्वामीका हित करनेके लिये इष्ट और मिष्ट वाणीसे नीचे लिखे वाक्य कहे ॥ १३ ॥ स्वयंबुद्ध कहने लगा-हे प्रभो ! हे विद्याधरों-

स्वामिने हितमित्युच्चैरभाषिष्टेष्टमृष्टवाक् ॥ १३ ॥ इतः शृणु खगाधीश वक्ष्ये श्रेयोऽनुबंधि ते। वैद्याधरीमिमां लक्ष्मीं विद्धि पुण्यफलं विभो ॥१४॥ धर्मादिष्टार्थसंपत्तिस्ततः कामसुखोदयः। स च संप्रीतये पुंसां धर्मात्सैषा परंपरा ॥ १५ ॥ राज्यं च संपदो भोगाः कुले जन्म सुरूपता। पाण्डित्यमायुरारोग्यं धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥ १६ ॥ न कारणाद्विना कार्यनिष्पत्तिरिह जातुचित्। प्रदीपेन विना दीप्तिर्दृष्टपूर्वा किमु क्वचित् ॥ १७ ॥ नांकुरः स्याद्विना बीजाद्विना वृष्टिर्न वारिदात्। छत्राद्विनापि न च्छाया विना धर्मान्न संपदः ॥ १८ ॥ नाऽधर्मात्सुखसंप्राप्तिर्न विषादस्ति जीवितं। नोषरात्सस्यनिष्पत्तिर्नाग्नेराल्हादनं भवेत् ॥ १९ ॥ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता। स धर्मस्तस्य धर्मस्य विस्तरं शृणु

के स्वामी जरा इधर सुनिये मैं आपके पुण्यसंबधी कुछ वचन कहना चाहता हूं। हे प्रभो ! आपको जो यह विद्याधरोंकी इतनी विभूति प्राप्त हुई है वह केवल पुण्योदयसे ही हुई है ॥ १४ ॥ हे देव इस संसारमें धर्मसे इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होनेसे इच्छानुसार सुख मिलता है और इच्छानुसार सुख मिलनेसे ही मनुष्य प्रसन्न रहते हैं। यह परंपरा केवल धर्मसे ही सिद्ध होती है॥ १५ ॥ राज्य, संपदायें और भोगोपभोगकी प्राप्ति होना, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, सुंदरता और पांडित्यका प्राप्त होना, पूर्ण आयु और नीरोग शरीरका मिलना आदि सब धर्मका ही फल समझिये ॥ १६ ॥ हे प्रभो ! जिस प्रकार बिना कारणके कभी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, बिना दीपकके आजतक कभी किसीने प्रकाश नहीं देखा, बीजके विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। बिना बादलके वृष्टि नहीं होती और बिना छत्रके छाया नहीं होती, उसी प्रकार बिना धर्मके कभी सुख संपदायें प्राप्त नहीं होती हैं ॥ १७-१८ ॥ जैसे विष खानेसे जीवन नहीं रहता, ऊषर भूमिसे अन्न उत्पन्न नहीं होते, और अग्निसे प्रसन्नता (शीतलता) प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार अधर्मसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ १९ ॥ जिससे स्वर्ग मोक्षादि के सुख अवश्य ही प्राप्त हों, उसे धर्म कहते हैं। हे राजन् ! मैं उसी धर्मका कुछ वर्णन करता हूं आप सुनिये ॥ २० ॥ धर्म वही कहलाता है जो दयासे उत्पन्न हो और संपूर्ण जीवोंके प्राणोंपर कृपा करना ही

सांप्रतं ॥ २० ॥ दयामूलो भवेद्धर्मो दया प्राणानुकंपनं । दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥ २१ ॥ धर्मस्य तस्य लिंगानि दमः क्षान्तिरहिंसता । तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेवच ॥ २२ ॥ अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता । निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः ॥ २३ ॥ तस्माद्धर्मफलं ज्ञात्वा सर्वं राज्यादिलक्षणं । तदार्थिना महाभाग धर्मे कार्या मतिः स्थिरा ॥ २४ ॥ धीमन्निमां चलां लक्ष्मीं शाश्वतीं कर्तुमिच्छता । त्वया धर्मोऽनुमतव्यः सोऽनुष्ठेयश्च शक्तितः ॥ २५ ॥ इत्युक्त्वाथ स्वयंबुद्धे स्वामिश्रेयोऽनुबंधिनि । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वचो विरतिमीयुषि ॥ २६ ॥ ततस्तद्वचनं सोढुमशक्तो दुर्मतोद्धतः । द्वितीयः सचिवो वाचमित्युवाच महामतिः ॥ २७ ॥ भूतवादमथालम्ब्य स लौकायतिकीं श्रुतिं । प्रस्तुवञ्जीवतत्त्वस्य दूषणे मतिमातनोत् ॥ २८ ॥ सति धर्मिणि धर्मस्य घटते देव चिंतन । स एव तावन्ना-

---

दया है इस दयाकी रक्षा करनेकेलिये ही उत्तमक्षमा आदि अन्य संपूर्ण गुण कहे गये हैं ॥ २१ ॥ इंद्रियोंका दमन करना, उत्तम क्षमा धारण करना, हिंसाका त्याग करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य ये सब दयारूप धर्मके चिन्ह हैं ॥ २२ ॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यका धारण करना, और परिग्रहका त्याग करना ये सब सनातन (अनादिकालसे चला आया) धर्म कहलाता है ॥२३॥ हे महाभाग! राज्य आदिकी प्राप्ति होनेके लिये अपनी बुद्धि सदा धर्ममें स्थिर रखना चाहिये ॥२४॥ हे धीमन् यह लक्ष्मी चंचल है यदि आप इसे स्थिर करना चाहते हैं तो इसे अहिंसादिरूप धर्मको स्वीकार कीजिये तथा अपनी शक्तिके अनुसार इसे पालन कीजिये ॥ २५ ॥ अपने स्वामीका कल्याण चाहनेवाला स्वयंबुद्ध मंत्री इसप्रकार धर्म, अर्थ और यशके बढ़ानेवाले बचन कहकर चुप होगया ॥२६॥ परंतु स्वयंबुद्धके इन बचनोंको मिथ्यामतसे उद्धत दूसरा महमति नामका मंत्री सहन न कर सका इसलिये वह तत्काल ही नीचे लिखे वाक्य कहने लगा ॥ २७ ॥ महामति मंत्री केवल भूतवादका आश्रय लेकर लौकायित मतके शास्त्रोंको पुष्ट करता हुआ प्रथम ही जीवतत्त्वके अस्तित्वमें दोष देने लगा अर्थात् प्रथम ही जीवतत्त्वका अभाव सिद्ध करने लगा ॥२८॥ वह महामति मंत्री राजा महाबलको संबोधन पूर्वक कहने लगा कि हे राजन्! किसी धर्मी के

स्त्यात्मा कुतो धर्मफलं भवेत् ॥ २९ ॥ पृथिव्यप्पवनाग्नीनां संघातादिह चेतना । प्रादुर्भवति मद्यागसंगमान्मदशक्तिवत् ॥ ३० ॥ ततो न चेतना कायतत्त्वात्पृथगिहास्ति नः । तस्यास्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेः खपुष्पवत् ॥ ३१ ॥ ततो न धर्मः पापं वा परलोकश्च कस्यचित् । जलबुद्बुदवज्जीवा

सिद्ध होनेपर उसके धर्मका विचार किया जाता है । यदि कोई धर्मी पदार्थ सिद्ध ही न ठहरे तो फिर धर्मका विचार करना व्यर्थ है । इस संसारमें जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है फिर उसे धर्मका फल किस प्रकार मिल सकता है ॥ २९ ॥ जैसे जल गुड़ महुआ आदि पदार्थोंके मिलनेसे मद्य तैयार हो जाता है अर्थात् मादकशक्ति न तो जलमें है न गुड़में है और न महुआमें हैं किंतु इनके मिलानेसे उत्पन्न हो जाती है । ठीक इसीप्रकार पृथ्वी जल तेज वायु इन चारों पदार्थोंके मिलनेसे ही जीव उत्पन्न हो जाता है । यदि वास्तवमें देखा जाय तो चेतनाशक्ति पृथ्वी जल तेज वायु इन चारों पदार्थोंमेंसे किसीमें भी नहीं है किंतु इन चारोंके यथायोग्य संयोग होनेसे मद्यके समान वह उत्पन्न हो जाती है ॥ ३० ॥ इसलिये मानना चाहिये कि वह चेतनाशक्ति पृथ्वी जल तेज वायुसे बने हुये इस हमारे शरीरसे पृथक् नहीं है । क्योंकि वह चेतना शरीरके सिवाय कहीं दूसरी जगह नहीं देखी जाती । संसारमें जो जो पृथक् पदार्थ नहीं देखे जाते हैं वे पृथक् माने भी नहीं जाते हैं जैसे—आकाशका फूल, अर्थात् संसारमें आजतक किसीने भी आकाशका फूल नहीं देखा है इसलिये उसे पृथक् पदार्थ भी कोई नहीं मानता । ठीक इसीप्रकार शरीरसे भिन्न चेतना शक्ति भी आजतक किसीने नहीं देखी, इसलिये वह भी कोई पृथक् पदार्थ नहीं है । वह केवल शरीरके साथ ही देखी जाती है और शरीर पृथ्वी जल तेज वायुरूप है इसलिये वह चेतनाशक्ति भी इन चारोंके संयोगसे ही उत्पन्न हुई है ॥ ३१ ॥ जब चेतनाशक्तिरूप जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तब किसी का पुण्य पाप और परलोक आदि भी सिद्ध नहीं हो सकता । इन जीवोंका जब शरीर नष्ट हो जाता है तब ये भी जलके बबूलेके समान उसी-

विलीयते तनुक्षयात् ॥ ३२ ॥ तस्माद्दृष्टसुखं त्यक्त्वा परलोकसुखार्थिन. । व्यर्थक्लेशा भवंत्येते लोकद्वयसुखच्युता' ॥ ३३ ॥ तदेषां परलोकार्था समीहा- क्रौष्टुरामिष ।- त्यक्त्वा मुखागतं मोहान्मीनाशोत्पतनायते ॥ ३४ ॥ पिंडत्यागाल्लिहंतीमे हस्त प्रेत्यसुखेप्सया । विप्रलब्धाः समुन्सृष्टदृष्टभोगा विचेतसः ॥ ३५ ॥ स्वमते युक्तिमित्युक्त्वा विरते भूतवादिनि । विज्ञानमात्रमाश्रित्य प्रस्तुवञ्जीवनास्तिता ॥ ३६ ॥ संभिन्नो वादकण्डूयाविजृंभितमथोद्वहन् । स्मित स्वमतसासिद्धिमित्युपन्यस्याति स्म स' ॥ ३७॥ जीववादिन्न ते कश्चिज्जीवोऽस्त्यनुपलब्धित. । विज्ञप्तिमात्र-

में विलय हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी जल तेज वायुके संबंधसे शरीर बनता है और उसीमें जीवत्वशक्ति उत्पन्न होती है। जब उनका संयोग विघट जाता है तब शरीर भी नष्ट हो जाता है और उसके साथ २ जीवत्वशक्ति भी नष्ट हो जाती है ॥३२॥ इसलिये जो पुरुष उपस्थित सुखोंको छोड़कर परलोकके सुख चाहते हैं वे दोनों लोकोंके सुख छोड़ते हैं और व्यर्थ ही क्लेश सहन करते हैं क्योंकि वे वर्त्तमानके सुख छोड़कर तपश्चरणादि करते हैं किंतु परलोक कोई पृथक् वस्तु न होनेसे उसके सुख उन्हें मिलते नहीं, इसलिये उन्हें दोनों लोकोंके सुख छोड़ने पड़ते हैं और व्यर्थ ही तपश्चरणादि कायक्लेश सहन करने पड़ते हैं ॥३३॥ इसलिये वर्त्तमान सुखोंको छोड़कर परलोकके सुखोंकी इच्छा करना ऐसा है जैसे अत्यंत लुब्ध होकर मछलीको पकड़नेकी इच्छासे शृगाल मुखका मांस पानीमें बहाकर पछताता है ॥ ३४ ॥ जो लोग उपस्थित सुखोंको छोड़कर परलोकके सुख चाहते हैं वे थालीमें परोसे हुये भोजनोंको छोड़कर केवल हाथ चाटनेवाले मूर्खके समान वंचित होते हैं ॥ ३५ ॥ इसप्रकार अपना मत स्थापन करनेकेलिये अनेक युक्तियां देकर भूतवादी वह महामति मंत्री चुप होगया । तदनंतर वाद करनेकी खुजलीसे उत्पन्न हुये किंचित् हास्यको धारण करता हुआ संभिन्नमति तीसरा मंत्री भी केवल विज्ञानमात्रका आश्रय लेकर जीवका नास्तित्व सिद्ध करने लगा तथा अपने मतकी पुष्टि करने लगा ॥३६॥ ॥ ३७ ॥ वह कहने लगा भो जीवको सिद्ध करनेवाले स्वयंबुद्ध ! आपका कहा हुआ जीव कोई पृथक्

संतानावस्थिते-मेवेद क्षणभंगि यतो जगत् ॥ ३८ ॥ निरंशं तच्च विज्ञानं निरन्वयविनश्वरं । वेद्यवेदकसंवित्तिभागैर्भिन्न प्रकाशते ॥ ३९ ॥ संतानावस्थिते- यथा ऌलपुनर्जा-स्तस्य स्मृत्याद्यपि घटामटेत् । सवृत्या स च संतानः संतानिभ्यो न भिद्यते ॥४०॥ प्रत्यभिज्ञादिकं भ्रांतं वस्तुनि क्षणनश्वरे ।

यह पदार्थ नहीं है क्योंकि वह दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि वह होता तो दृष्टिगोचर भी अवश्य होता। यह जगत केवल ज्ञानका विकार है क्योंकि वह क्षणभंगुर है। जो जो क्षणभंगुर होते हैं वे सब ज्ञानके विकार होते हैं यदि वे ज्ञानके विकार न होते स्वतंत्र पृथक् पदार्थ होते तो वे नित्य होने चाहिये परंतु संसारमें कोई नित्य पदार्थ ही नहीं हैं सब क्षणभंगुर हैं। इसलिये सब ज्ञानके विकारमात्र हैं ॥ ३८ ॥ जगतके ये सब पदार्थ जिसके विकार हैं वह विज्ञान निरंश है उसके अंश वा टुकड़े नहीं हो सकते, तथा वह विना अपनी परंपरा उत्पन्न किये ही नष्ट हो जाता है और वेद्यवेदकज्ञानसे वह सर्वथा भिन्न है अर्थात् न तो वह किसी अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है और न वह किसीको जानता है वह एक क्षण रहकर ही पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता है ॥३९॥ परंतु ऐसा माननेसे एक प्रश्न उपस्थित होता है और वह यह है कि जब वह विज्ञान न वेद्य है न वेदक है और केवल क्षणमात्र रह कर नष्ट हो जाता है तब संसारमें किसीको कुछ भी स्मरण नहीं होना चाहिये। क्योंकि स्मरण स्थायी वा नित्य पदार्थोंका होता है। आपका माना हुआ विज्ञान स्थायी नहीं है इसलिये उससे स्मरण भी नहीं होना चाहिये। किंतु इस प्रश्नका उत्तर यह है कि नष्ट होनेसे पहले उस विज्ञानकी संतान उत्पन्न हो जाती है एक विज्ञान दूसरा संतान उत्पन्नकर नष्ट होता है और दूसरा विज्ञान तीसरी संतान उत्पन्नकर नष्ट होता है अर्थात् अपने सदृश दूसरा विज्ञान उत्पन्न होनेको संतान कहते हैं। इसप्रकार संतान प्रतिसंतान उत्पन्न होनेसे ज्ञान ज्योंका त्यों बना रहता है और फिर उसीसे स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। यहांपर इतना और समझलेना चाहिये कि वह संतान अपने संतानी विज्ञानसे भिन्न नहीं

तनखकेशादिषु क्वचित् ॥ ४१ ॥ विज्ञानं वेदना सज्ञा संस्कारो रूपमेव च । पचेंद्रियाणि शब्दाद्याः विषयाः पच मानस ॥४२॥ धर्मायतनमेतानि द्वादशायतनानि च । समुदेति यतो लोके रागादीना गणोऽखिल ॥ ४३ ॥ स चात्मात्मीयभावाख्यः समुदाय उदाहृतः । क्षणिकाः सर्वे सस्कारा इत्येव वासना यकाः ॥ ४४ ॥ सन्मार्गे इह विज्ञेयो निरोधो मोक्ष उच्यते । ततो विज्ञानसतानव्यतिरिक्तो न कश्चन । जीवसंज्ञः पदा-

है किंतु अभिन्न है ॥४०॥ अब यहांपर कोई यह शंका करे कि नष्ट होनेसे पहले विज्ञानकी संतान प्रतिसंतान उत्पन्न होनेसे स्मरणज्ञान तो उत्पन्न हो जाता है परंतु प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्व कालमें देखी वा अनुभव की हुई वस्तु सामने आनेसे 'यह वही है' ऐसा जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञान क्षणभंगुर पदार्थमें वा उसकी संतान प्रतिसंतानमें उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इसकेलिये वही पदार्थ अनेकक्षणस्थायी चाहिये। आपका माना हुआ विज्ञान अनेक क्षणस्थायी नहीं है इसलिये उससे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता तो इसका समाधान यह है कि क्षणभंगुर पदार्थोंमें जो प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है वह केवल भ्रम है वास्तविक नहीं। क्योंकि जो नख और केश काट लिये जाते हैं तथा फिर बढ़ जाते हैं उनमें "ये वही नख केश हैं" ऐसा भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञान होता है। जैसे यह प्रत्यभिज्ञान भ्रमरूप है वास्तविक नहीं उसीप्रकार क्षणिक पदार्थोंमें उत्पन्न हुआ प्रत्यभिज्ञान भी भ्रमरूप ही होता है वास्तविक नहीं ॥ ४१ ॥ विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार ये सब विज्ञानके ही रूप हैं। पांचों इंद्रियां तथा शब्द आदि पांचों इंद्रियोंके विषय मन और धर्मायतन (शरीर) ये बारह आयतन कहलाते हैं। संसारमें इन बारह आयतनोंसे ही संपूर्ण रागादिक उत्पन्न होते हैं ॥४२ ४३॥ इन आयतनोंसे उत्पन्न हुये रागादिकोंका समुदाय ही आत्मा कहा जाता है अर्थात् संसारमें आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है इन रागादिकोंका समुदाय ही आत्मा है। ये ऊपर कहे हुये विज्ञान आदि सब संस्कार क्षणिक हैं। क्षण क्षणमें नष्ट होते रहते हैं ॥ ४४ ॥ ऊपर कहे हुये आयतन आदिकोंका निरोध

थोंऽस्ति प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ४५ ॥ तदमुत्रात्मनो दुःखजिहासार्थं प्रयस्यतः । टिट्टिभस्येव भीतिस्तं गगनादापतिष्यत ॥ ४६ ॥ इत्युदीर्य स्थिते
तस्मिन्मंत्री शतमतिस्ततः । नैरात्म्यवादमालंब्य प्रोवाचेत्थ विकत्थनः ॥ ४७ ॥ शून्यमेव जगद्विश्वमिदं मिथ्यावभासते । भ्रांते. स्वप्नेंद्रजालादौ
हस्त्यादिप्रतिभासवत् ॥ ४८ ॥ तत कुतोऽस्ति वा जीवः परलोक कुतोऽस्ति वा । असत्सर्वमिदं यस्माद्गंधर्वनगरादिवत् ॥ ४९ ॥ अतोऽमी

हो जाना अर्थात् सवका केवल विज्ञानरूपसे रहना मोक्ष कहलाता है और यही सुमार्ग है। इसलिये
वास्तविक मत (विज्ञानवादियोंका मत) यह ठहरा कि संसारमे जीव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। वह
केवल विज्ञानकी संतानमात्र है। जब जीव कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तो फिर परलोकके सुख भोग-
नेवाला भी कोई नहीं है॥ ४५ ॥ इसलिये जीवको माननेवाले जो पुरुष परलोकमें आत्माके दुःख दूर
करनेकेलिये प्रयत्न करते हैं उनका वह परलोकसंवंधी भय ऐसा है जैसा टिड्डीको अपने ऊपर आकाश
के पड़नेका भय रहा करता है। भावार्थ— जैसे टिड्डीको आकाशके पड़नेका भय मिथ्या है उसीप्रकार
परलोकके दुःखोंका भय भी मिथ्या है। क्योंकि जीव कोई पृथक् पदार्थ है ही नहीं तव फिर दुःख किस
को होगा॥ ४६ ॥ इसप्रकार विज्ञानवादी संभिन्नमति मंत्री अपना विज्ञानवादमत स्थापन करके चुप
होगया। तदनंतर शतमति चौथा मंत्री अपनी प्रशंसा करता हुआ उठा और नैरात्म्यवादका (शून्य-
वादका) आश्रय लेकर इसप्रकार कहने लगा कि ॥ ४७ ॥ यह संपूर्ण जगत शून्य है। इस जगतमें जो
घट पट आदि पदार्थ देख पड़ते हैं वे सव मिथ्या हैं केवल भ्रांतिसे देख पड़ते हैं जैसे कि स्वप्नमें अथवा
इंद्रजालमें केवल भ्रांतिसे हाथी घोड़े आदि देख पड़ते हैं॥ ४८ ॥ जव यह संसार शून्य है तब तुम्हारा
जीव कैसा और परलोक कैसा। जीव परलोक दोनों ही मिथ्या हैं। जैसे—शरदऋतुके अनेक आकाररूप
बने हुये बादलोंमें यह गंधर्वोंका नगर है इत्यादि कल्पना करना मिथ्या है॥ ४९ ॥ इसलिये जो पुरुष
परलोकमें सुखी रहनेकेलिये तपश्चरण करते हैं अनेक अनुष्ठान करते हैं वे व्यर्थ ही अनेक क्लेश उठाया

परलोकार्थं तपोऽनुष्ठानतत्पराः । वृथैव क्लेशमायांति परमार्थानभिज्ञका ॥५०॥ घर्मारंभे मृगा यद्वद्दृष्ट्वा मरुमरीचिकाः । जलाशयाऽनुधावंति तद्वद्भोगार्थिनोऽप्यमी ॥ ५१ ॥ इत्युद्ग्राह्य कुदृष्टांतकुहेतुभिरपार्थकं । व्यरमत्सोऽप्यतो वक्तुं स्वयंबुद्धः प्रचक्रमे ॥ ५२ ॥ भूतवादिन्मृषा वक्ति स भवानात्मशून्यतां । भूतेभ्योऽव्यतिरिक्तस्य चैतन्यस्य प्रतीतितः ॥ ५३ ॥ कायात्मकं न चैतन्यं न कायश्चेतनात्मकः । मिथो विरुद्धधर्मत्वात्तयोश्चिदचिदात्मनोः ॥ ५४ ॥ कायचैतन्ययोर्नैक्यं विरोधिगुणयोगतः । तयोरंतर्बहीरूपनिर्भासाच्चासिकोशवत् ॥ ५५ ॥ न भूतकार्यं चैतन्यं

करते हैं वास्तवमें वे तत्त्वज्ञानरहित हैं ॥ ५० ॥ जैसे मरुदेशमें गर्मीके दिनोंमें हरिण दूरसे चमकती हुई बालूको पानी समझ दौड़ा करते हैं और व्यर्थ क्लेश सहन करते हैं ठीक उसीप्रकार भोगोपभोग चाहनेवाले ये जीव भी व्यर्थ ही तपश्चरण आदिके अनेक क्लेश सहन किया करते हैं ॥ ५१ ॥ इसप्रकार असद्धेतु और कुदृष्टांतोंके द्वारा ऊपर कहा हुआ सर्वथा व्यर्थ कथन कहकर वह शतमति मंत्री भी चुप हो गया। तदनंतर इन सबका उत्तर देनेकेलिये स्वयंबुद्धने फिर कहना प्रारंभ किया ॥५२॥ वह कहने लगा कि हे भूतवादी ! आप जो आत्माका अभाव सिद्ध कर रहे हैं सो यह आपका कहना सब मिथ्या है क्यों कि पृथिवी जल तेज वायु इनके सिवाय भी ज्ञान दर्शन रूप चैतन्य शक्तिकी प्रतीति सबको होती है॥५३॥ वह चैतन्य शरीररूप सिद्ध नहीं हो सकता और न शरीर ही चैतन्यरूप सिद्ध हो सकता है क्योंकि उन दोनोंका ही परस्पर विरुद्ध स्वभाव है चैतन्य ज्ञानस्वरूप है और शरीर जड़ है ॥ ५४ ॥ तथा शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक भी नहीं हो सकते, क्योंकि दोनोंमें परस्पर विरोधी गुण रहते हैं, जिनमें परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं वे जल और अग्निके समान कभी मिलकर एक नहीं हो सकते किंतु प्रतिभास (ज्ञान) काय और चैतन्य दोनोंका होता है। कायका प्रतिभास बाहरसे होता है और ज्ञानरूप चैतन्यका प्रतिभास शरीरके भीतर होता है । जैसे तलवारका म्यान बाहरसे दिखता है और प्रकाशमान तलवार उसके भीतर रहती है तथा जैसे तलवार और म्यान दोनों भिन्न २ हैं कभी एक नहीं हो

घटते तद्गुणोऽपि वा । ततो जात्यंतरीभावात्तद्विभागेन तद्ग्रहात् ॥ ५६ ॥ न विकारोऽपि देहस्य संविद्भवितुमर्हति । भस्मादितद्विकारेभ्यो वैधर्म्यान्मूर्त्यनन्वयात् ॥ ५७ ॥ गृहप्रदीपयोर्यद्वत्संबंधो युतसिद्धयो. । आधाराधेयरूपत्वात्तद्वद्देहोपयोगयो. ॥ ५८ ॥ सर्वांगीणैकचैतन्यप्रतिभासाद-

---

सकते। इसीप्रकार शरीर और चैतन्य भी कभी एक नहीं हो सकते हैं ॥५५॥ आपने यह जो कहा है कि यह चैतन्य पृथिवी जल तेज वायुसे बनता है अथवा पृथिवी जल तेज वायुका गुण है सो भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि दोनों ही भिन्न २ प्रकारके हैं। पृथिवी जल तेज वायु जड़ है और चैतन्य ज्ञानस्वरूप है। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदिका ग्रहण केवल इंद्रियोंसे होता है और ज्ञानरूप चैतन्यका स्वरूप अतींद्रिय है ज्ञानमात्रसे ही जाना जाता है, इसलिये न तो चैतन्य पृथिवी आदिका कार्य है और न उनका गुण है ॥५६॥ कदाचित् यह कहा जाय कि वह चैतन्य शरीरका विकार है सो भी नहीं हो सकता। क्योंकि भस्म आदि शरीरके जितने विकार होते हैं उन सबसे यह चैतन्य विलक्षण है। यदि वह शरीरका विकार होता तो शरीरके किसी विकारसे अवश्य मिल जाता परंतु वह शरीरके सब विकारोंसे नहीं मिलता है तब वह शरीरका विकार भी नहीं हो सकता। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि शरीरके जितने विकार हैं वे सब मूर्त्त हैं और चैतन्य अमूर्त्त है। इसकारण भी वह चैतन्य शरीरका विकार सिद्ध नहीं हो सकता ॥५७॥ शरीर आत्माका संबंध ऐसा है जैसे घर और दीपकका होता है। जैसे घर पृथक् पदार्थ सिद्ध है और दीपक पृथक् पदार्थ सिद्ध है घर आधार है और दीपक आधेय है यदि घर और दीपक पृथक् २ पदार्थ न होते तो उन दोनोंका आधाराधेयभाव भी नहीं हो सकता था क्योंकि आधाराधेयभाव पृथक् सिद्ध पदार्थोंका ही होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर और आत्मा भिन्न २ पदार्थ हैं यदि वे भिन्न २ नहीं होते तो उनका घरदीपकके समान संबंध नहीं हो सकता था ॥ ५८ ॥

बाधितात् । प्रत्यंगप्रविभक्तेभ्यो भूतेभ्यः संविदो भिदा ॥ ५९ ॥ कथं मूर्तिमतो देहाच्चैतन्यमतदात्मकं । स्याद्धेतुफलभावो हि न मूर्तामूर्तयोः क्वचित् ॥ ६० ॥ अमूर्तमत्तविज्ञान मूर्तादक्षकदंबकात् । दृष्टमुत्पद्यमानं चेन्नास्य मूर्तत्वसंगरात् ॥ ६१ ॥ बंधं प्रत्येकतां बिभ्रदात्मा मूर्तेन कर्मणा । मूर्तः कथंचिदात्तो ऽपि बोधः स्यान्मूर्तिमानत. ॥ ६२ ॥ कायाकारेण भूताना परिणामोऽन्यहेतुकः । कर्मसारथिमात्मानं व्यतिरिच्य स

दूसरी बात यह है कि शरीरके संपूर्ण अंग उपांगोमें यह चैतन्य प्रतिभासमान होता है। अंग उपांग सब भिन्न २ हैं और चैतन्य सबमें एकसा प्रतिभासमान होता है तब फिर वह चैतन्य शरीरसे भिन्न क्यों न माना जाय ? अर्थात् वह अवश्य शरीरसे भिन्न है। पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येक अंग उपांगमें भिन्न २ हैं और चैतन्य सबमें एक है इसलिये वह चैतन्य पृथिवी आदिसे भी सर्वथा भिन्न पदार्थ है॥५९॥ इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि शरीर मूर्त्तिमान् पदार्थ है जिसमें रूप रस गंध स्पर्श ये गुण पाये जांय उसे मूर्त्तिमान् कहते हैं। चैतन्यमें रूप रस गंध स्पर्श पाये नहीं जाते, इसलिये वह अमूर्त्त है। मूर्त्तसे अमूर्त्तकी उत्पात्ति हो नहीं सकती इसलिये सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिमान् शरीरसे अमूर्त्त चैतन्यकी उत्पात्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६० ॥ कदाचित् आप (भूतवादी) यह कहें कि मूर्त्तसे भी अमूर्त्तकी उत्पात्ति होती है जैसे इंद्रियां सब मूर्त्तिमान् हैं उनसे जो ऐंद्रियिक ज्ञान उत्पन्न होता है वह अमूर्त्त है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि मूर्त्तिमान् इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ऐंद्रियिक ज्ञान भी मूर्त्तीक ही है ॥६१॥ इसका भी कारण यह है कि यह आत्मा मूर्त्त कर्मोंके साथ बंधको प्राप्त होकर उनके साथ एकरूप हो गया है। इसलिये कथंचित् यह आत्मा भी मूर्त्तीक ही कहा जाता है जब आत्मा ही कथंचित् मूर्त्तीक कहा जाता है तो इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ उस मूर्त्तीक आत्माका ज्ञान भी मूर्त्तीक ही कहा जायगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्त्तिमान् इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी मूर्त्तीक है तथा मूर्त्तसे अमूर्त्तकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ६२॥ एक बात यह भी विचारणीय है कि पृथिवी जल तेज वायु जो शरीररूप परिणत हुये हैं वे अवश्य ही

कोऽपर ॥६३॥ अभूत्वा भवनादेहे भूत्वा वा भवनात्पुन । जलबुद्बुदवज्जीवं मामंस्थास्तद्विलक्षणं ॥ ६४ ॥ शरीरं किमुपादानं संविद' सह- कारि वा । नोपादानमुपादेयाद्विजातीयत्वदर्शनात् ॥६५॥ सहकारीति चेदिष्टमुपादान तु मृग्यता । सूक्ष्मभूतसमाहारस्तदुपादानमित्यसत् ॥६६॥ ततो भूतमयादेहाद्व्यतिभिन्न स्वलक्षणं । जीवद्रव्यमुपादानं चैतन्यस्येति गृह्यतां ॥ ६७ ॥ एतेनैव,प्रतिक्षिप्तं मदिरांगनिदर्शन । मद्यांगेष्व-

किसी न किसीके निमित्तसे हुये हैं। किसी अन्य निमित्तके विना भिन्न २ पृथिवी आदिके एक विलक्षण और चारोंके समुदायरूप शरीरके आकार कभी परिणत नहीं हो सकते। यदि उस निमित्तपर विचार किया जायगा तो कर्मसहित आत्माके सिवाय अन्य कोई नहीं हो सकता। यह कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदिको शरीररूप परिणत कर लेता है ॥६३॥ यदि कहो कि यह जीव पहले नहीं था शरीरके साथ उत्पन्न हुआ है तथा शरीर नाश होनेके बाद वह नष्ट हो जायगा इसलिये वह जलके बबूलेके समान है। जैसे जलका बबूला जलसे उत्पन्न होता है और जलमें ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार वह जीव भी शरीरसे ही उत्पन्न हुआ है और उसीमें नष्ट हो जाता है। इसप्रकार मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जीव ज्ञानस्वरूप है शरीर जड़ है। इसालिये मानना पड़ेगा कि वह जीव शरीरसे विलक्षण और भिन्न है ॥ ६४ ॥ यदि यह भी मानालिया जाय कि चैतन्य शरीरसे उत्पन्न होता है तब यह विचार करना चाहिये कि वह शरीर चैतन्यका उपादान कारण है या सहकारी कारण है। उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उसका चैयन्य ज्ञानस्वरूप है और शरीर जड़ है चैतन्यका उपादान कारण जड़ नहीं हो सकता क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादान कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर चैतन्यका उपादान कारण नहीं है ॥ ६५ ॥ कदाचित् उसे सहकारी कारण मानो तो ठीक है जब शरीर चैतन्यका सहकारी कारण है तब फिर उसका उपादान कारण कौन है यह विचार करना चाहिये। कदाचित् यह कहो कि पृथिवी जल तेज वायुका सूक्ष्मभूत संयोग ही चैतन्यका उपादान

।विरोधिन्या मदशक्तेर्विभावनात् ॥ ६८ ॥ सत्यं भूतोपसृष्टोऽय भूतवादी कुतोऽन्यथा । भूतमात्रमिदं विश्वमभूत प्रतिपादयेत् ॥ ६९ ॥ पृथिव्यादिष्वनुद्भूत चैतन्यं पूर्वमस्ति चेत् । नाचेतनेषु चैतन्यशक्तेर्व्यक्तमनन्वयात् ॥ ७० ॥ आद्यंतौ देहिना देहौ न विना भवतस्तनू । पूर्वोत्तरे सविद-

कारण है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि पृथिवी जल तेज वायु इनके संयोग रूप शरीरसे वह ज्ञानस्वरूप चैतन्य भिन्न ही प्रतिभासमान होता है । यदि इन चारों पदार्थोंका संयोग ही उपादान कारण माना जाय तो जो जड़ता आदि गुण चारोंके संयोगमें हैं वे ही चैतन्यमें होने चाहिये परंतु चैतन्यमें वे गुण हैं नहीं । इसलिये चैतन्यका उपादान कारण पृथिवी आदि चारोंका संयोग भी नहीं हो सकता है । किंतु उस चैतन्यका उपादान कारण पृथ्वी आादि के समूह रूप शरीरसे सर्वथा भिन्न ऐसा जीव द्रव्य ही मानना पडेगा । जीव द्रव्य ही उसका उपादान कारण हो सकता है । अन्य कोई नहीं । ॥ ६६–६७ ॥ इस उपर्युक्त कथनसे यह भी सिद्ध होगया कि भूतवादीने जो पुष्प गुड पानी आदिके मिलनेसे मदशक्तिके उत्पन्न होनेका दृष्टांत दिया था वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि मद्यके कारण पुष्प गुड पानी आदि भी जड़ हैं और उनसे उत्पन्न हुई मादकशक्ति भी जड़ है । दोनों ही अविरोधी हैं शरीर और चैतन्यके समान विजातीय और विरोधी नहीं हैं। इसलिये यह बिषम दृष्टांत होनेसे युक्तिसंगत नहीं है ॥ ६८ ॥ यदि देखाजाय तो वास्तवमें यह भूतवादी भूतपिशाचोंसे ग्रसित हुआ जान पड़ता है क्योंकि यदि वह पिशाचग्रसित न होता तो वह इस संसारको जीवरहित केवल पृथिवी जल तेज वायुरूप ही कैसे कहता ॥ ६९ ॥ कदाचित् भूतवादी यह कहे कि जिस पृथिवी जल वायुसे शरीर बनता है उसमें पहलेसे ही वह चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूपसे रहती है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि पाषाण आदि अचेतन पदार्थोंमें चैतन्यशक्ति कभी किसीने नहीं देखी ॥ ७० ॥ इससे सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न

धिष्ठानत्वान्मध्यदेहवत् ॥ ७१ ॥ देहौ तौ यत्र त विद्धि परलोकमसंशय । तद्वाश्च परलोकी स्यात्प्रेत्यभावफलोपभुक् ॥ ७२ ॥ जात्यनुसरणा-ज्जीवगतागतविनिश्चयात् । आप्तोक्तिसंभवाच्चैव जीवास्तित्वविनिश्चय. ॥ ७३ ॥ अन्यप्रेरितमेतस्य शरीरस्य विचेष्टित। हिताहिताभिसंधानाद्य-

---

पदार्थ है और ज्ञान ही उसका लक्षण है। इस शरीरमें उसका आस्तित्व ज्ञानसे ही पाहिचाना जाता है जन्म होते ही इसे दूध पीने आदिका स्मरण होता है वह स्मरण विना पूर्व अनुभवके हो नहीं सकता क्योंकि कोई भी स्मरण बिना पूर्वअनुभवके नहीं होता है । इसलिये मानना पड़ेगा कि जन्म लेनेसे पहिले भी इस जीवका कोई शरीर था, यदि वह न होता तो इस शरीरमें जन्म होते ही स्मरण आदि नहीं होना चाहिये परंतु वह स्मरण सबको होता है। इसलिये जन्मसे पहिले भी सशरीर जीव था। तथा इसीप्रकार वर्त्तमान शरीर छोडनेके वाद भी यह जीव कोई न कोई शरीर धारण करेगा। क्योंकि ऐंद्रि-यिकज्ञानसहित आत्मा विना शरीरके रह नहीं सकता जैसे ज्ञानाधिष्ठित वर्त्तमान शरीर है उसीप्रकार ज्ञानाधिष्ठित आगामी शरीर भी होना चाहिये ॥ ७१ ॥ तथा वर्त्तमान शरीरसे पहिले इस जीवका जो शरीर था और आगामी कालमें जो शरीर वह धारण करेगा वस वही इस जीवका परलोक है और उन शरीरोंमें रहनेवाला आत्मा ही परलोकी गिना जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोकसंवंधी पुण्य पापोंके फल भोगा करता है ॥ ७२ ॥ इसके सिवाय इस जीवको कभी २ जातिस्मरण हुआ करता है अर्थात् इसे पूर्वभवके सब विषयोंका स्मरण हो जाता है तथा यह जीव आता है जाता है अर्थात् जन्म लेता है मरता है इससे निश्चय होता है कि जीव कोई पृथक् पदार्थ अवश्य है। इन सव हेतुओंके सिवाय श्रीवीतराग सर्वज्ञने जीवका अस्तित्व कहा है। इससे भी जीवकी सिद्धि निरावाध होती है। क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ रागद्वेषरहित होनेसे तथा संपूर्ण पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेसे कभी अन्यथा नहीं कह सकते

त्रस्येव विचेष्टितं ॥ ७४ ॥ चैतन्यं भूतसंयोगाद्यदि चेत्थ प्रजायते। पिठरे रंधनायाधिश्रिते स्यात्तत्समुद्भवः ॥ ७५ ॥ इत्यादिभूतवादष्टिमतदूषण सभवात्। मूर्खप्रलपित तस्य मतमित्यवधार्यता ॥ ७६ ॥ विज्ञप्तिमात्रससिद्धिर्न विज्ञानादिहास्ति ते । साध्यसाधनयोरैक्यात्कुतस्तत्त्वाविनिश्च-

इसलिये मानना पड़ेगा कि जीव कोई पृथक् पदार्थ अवश्य है ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार किसी यंत्रकी प्रेरणासे अचेतन पदार्थोंमें भी हलन चलनादि क्रिया हुआ करती है उसीप्रकार इस शरीरमें जो गमन आगमन आदि क्रिया हुआ करती हैं वह भी किसीकी प्रेरणासे होनी चाहिये। क्योंकि अचेतन शरीरमें वह क्रिया विना किसी प्रेरणाके नहीं हो सकती। इसके सिवाय वह क्रिया हिताहितरूप होती है सुख दुःखादिके अनुभव करनेरूप होती है। ऐसी क्रिया न तो अचेतन पदार्थमें स्वयं हो सकती है और न किसी अन्य अचेतनकी प्रेरणासे हो सकती है किंतु इस क्रियाका प्रेरक कोई ज्ञानवान् ही होना चाहिये और वह केवल जीव ही हो सकता है। शरीरकी हिताहितरूप गमन आगमनादि क्रियायें सव उसीके निमित्तसे होती है ॥ ७४ ॥ यदि केवल पृथिवी जल तेज वायुके संयोगसे ही चैतन्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो जिस समय दाल या भातका पाक होता है उससमय वटलोईमें पृथिवी जल तेज वायु चारोंका संयोग विद्यमान है फिर वहां भी चैतन्यकी उत्पत्ति होनी चाहिये परंतु वहां चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये अवश्य मानना पड़ेगा कि पृथिवी जल तेज वायुके संयोगसे चैतन्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती ॥ ७५ ॥ इस उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि इस भूतवादीका माना हुआ मत अनेक दोषोंसे भरा हुआ है। इसलिये अव यह निश्चय मानलेना चाहिये कि यह भूतवादियोंका मत निरे मूर्खोंका कहा हुआ है इसमें कुछ सार नहीं है ॥ ७६ ॥ इसप्रकार भूतवादीका मत खंडन करके स्वयंबुद्ध मंत्री विज्ञानवादीसे कहनेलगा कि आप इस जगतको केवल

तिः ॥ ७७ ॥ विज्ञानव्यतिरिक्तस्य वाक्यस्येह प्रयोगतः । बहिरर्थस्य ससिद्धिर्विज्ञानं तद्वचोऽपि चेत् ॥ ७८ ॥ किं केन साधितं तत्स्यान्मूर्ख

विज्ञानमात्र मानते हैं। विज्ञानके सिवाय अन्य कोई पदार्थ नहीं मानते परंतु केवल विज्ञानसे ही विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि साध्यसाधन दोनों ही एक हो जाते हैं विज्ञान ही साध्य होता है और विज्ञान ही उसका साधन पड़ता है। जहां साध्यसाधन दोनों एक होते हैं वहां किसी पदार्थका निश्चय नहीं हो सकता। इसलिये केवल विज्ञानसे विज्ञानकी सिद्धि होना असंभव है ॥७७॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि इस संसारमें बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि वाक्योंसे होती है। यदि वाक्य न मानेजांयगें तो घट पट आदि बाह्य पदार्थोंकी सिद्धि ही नहीं हो सकेगी और इनकी सिद्धि हुये विना संसारका सब व्यवहार बंद हो जायगा। इसलिये वाक्योंकी सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी, तथा वे वाक्य विज्ञानसे भिन्न हैं। इसलिये संसारमें एक विज्ञान ही नहीं किंतु विज्ञानके सिवाय वाक्योंकी सत्ता भी अवश्य माननी पड़ेगी। कदाचित् यह कहो कि वे वाक्य भी विज्ञान ही हैं विज्ञानसे भिन्न नहीं हैं सो कह नहीं सकते, क्योंकि वे वाक्य विज्ञानसे भिन्न न माने जायं तो संसारमें विज्ञानकी सिद्धि भी किसकेद्वारा की जायगी? अर्थात् "यह संसार विज्ञानमय ही है विज्ञानके सिवाय इसमें और कुछ नहीं है" इसकी सिद्धि भी तो वाक्योंसे ही की जाती है इसलिये वाक्योंको विज्ञानमय नहीं मान सकते, विज्ञानसे भिन्न ही मानने पड़ेंगे। इसके सिवाय यह भी विचार करना चाहिये कि यदि संसारमें एक निरंश (विभागरहित) विज्ञान ही माना जायगा तो ग्राह्यग्राहक भाव किसप्रकार सिद्ध होगा। विज्ञान ग्राहक है सब पदार्थोंको ग्रहण करता है अर्थात् जानता है, परंतु बिना पदार्थोंके वह किसको ग्रहण करेगा? यदि वह किसीको ग्रहण नहीं करेगा तो वह ग्राहक अर्थात् जाननेवाला विज्ञान कैसे कहा जायगा? इसलिये विज्ञानको सिद्ध

विज्ञप्तिमात्रकं । कुतो ग्राह्यादिभेदोऽपि विज्ञानैक्ये निरंशके ॥ ७९ ॥ विज्ञप्तिर्विषयाकारशून्या न प्रतिभासते । प्रकाश्येन विना सिद्ध्येत्क्वचित्किं नु प्रकाशक ॥ ८० ॥ विज्ञप्त्या परसंवित्तेर्ग्रह स्याद्वा न वा तव । तद्ग्रहे सर्वविज्ञाननिरालम्बनताक्षतिः ॥ ८१ ॥ तदग्रहेऽन्यसंतानसाधने का

करनेकेलिये ग्राह्य पदार्थोंको भी अवश्य मानना पड़ेगा । ग्राह्य पदार्थोंको स्वीकार किये विना ग्राहक विज्ञानकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती इससे द्वैतभाव ही सिद्ध होता है ॥७८–७९॥ संसारमें जो ज्ञानका प्रतिभास होता है उसमें उस ज्ञानका विषय भी अवश्य रहता है । प्रकाशित होनेवाले विषयके विना ज्ञानका प्रतिभास कभी नहीं हो सकता । क्या कभी प्रकाशित होनेवाले पदार्थोंके विना प्रकाशकरनेवाले किसी पदार्थकी सिद्धि हो सकती है ? कभी नहीं । भावार्थ—जैसे दीपक वा सूर्य घट पट आदि पदार्थोंको प्रकाशित करता है इसलिये उसे प्रकाशक कहते हैं यदि वह किसी अन्य पदार्थको प्रकाशित न करे तो उसे घटके समान प्रकाशक नहीं कह सकते । इसीप्रकार यदि ज्ञानके विषयभूत घट पट आदि पदार्थ न माने जांयगे तो विज्ञान किन्हें जानेगा, विना किसी पदार्थके जाने उसे विज्ञान कैसे कह सकते हैं । इसलिये विज्ञान माननेवालोंको घट पट आदि पदार्थ भी अवश्य मानने पडेंगे इनके माने विना विज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ८० ॥ इसके सिवाय इस वातपर भी विचार करना चाहिये कि आपके मतमें एक विज्ञानसे दूसरे विज्ञानका ग्रहण होता है या नहीं । यदि कहोगे एक विज्ञानसे परविज्ञानका ग्रहण होता है तो वह आपका माना हुआ विज्ञान निरालंव नहीं ठहरा अर्थात् आपका माना हुआ विज्ञान अन्यको भी ग्रहण करता है इसलिये संसारमें वह अद्वैतरूपसे एक ही नहीं है किंतु ग्राह्यग्राहकरूपसे उभयरूप है । इसप्रकार भी यह जगत विज्ञानमय है ऐसा आपका मत नहीं ठहरता है । कदाचित् यह कहो कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञानको ग्रहण नहीं करता है तव फिर आपके मतमें विज्ञानकी

गतिस्तव । अनुमानेन तत्सिद्धौ ननु बाह्यार्थसस्थितिः ॥ ८२ ॥ विश्व विज्ञप्तिमात्रं चेद्वाग्विज्ञान मृषाखिल । भवेद्वाह्यार्थशून्यत्वात्कुतः सेत्यतर-स्थिति ॥ ८३ ॥ ततोऽस्ति बाहिरर्थोऽपि साधनादिप्रयोगतः । तस्माद्विज्ञप्तिवादोऽय बालालपितपेशल. ॥ ८४ ॥ शून्यवादेऽपि शून्यत्वप्रति-

---

संतान सिद्ध करनेके लिये क्या उपाय होगा ? अर्थात् विज्ञानकी संतान बराबर उत्पन्न होती रहती है यह किससे सिद्ध होगा। क्योंकि विज्ञानकी संतान भी विज्ञानमय है उसे दूसरा विज्ञान ग्रहण नहीं करता। इसलिये उसके सिद्ध करनेकेलिये अवश्य ही कोई प्रमाण मानना पडेगा। कदाचित् अनुमानसे उसे सिद्ध करो तो घट पट आदि बाह्य पदार्थोंकी स्थिति भी अवश्य माननी पड़ेगी। क्योंकि जब साध्यसाधनरूप अनुमान ही मानालिया तो फिर उससे सिद्ध होनेवाले घट पट आदि पदार्थ भी अवश्य मानने पड़ेंगे ॥ ८१-८२ ॥ यदि यह संसार केवल विज्ञानमय ही हो तो फिर वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान भी सब मिथ्या मानना पड़ेगा। क्योंकि संसारमें घट पट आदि बाह्य पदार्थ तो हैं नहीं। जब वाच्य-रूप बाह्य पादर्थ ही नहीं है तो उनके वाचक वाक्य कहांसे हो सकते हैं ? इसलिये वाच्यरूप पदार्थोंके समान उनके वाचक वाक्य भी मिथ्या हैं और उनसे उत्पन्न हुआ विज्ञान भी मिथ्या होनेसे सत्य असत्य की कल्पना भी नहीं हो सकती अर्थात् यह सत्य है यह असत्य है यह कल्पना भी नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें यह संसार विज्ञानमय है यह कल्पना भी सत्य नहीं ठहर सकती और इसप्रकार आप का मत क्षणभर भी नहीं ठहर सकता ॥ ८३ ॥ तथा जब आप साधनआदिको स्वीकार करते हैं तब साधनसे भिन्न साध्य भी स्वीकार करना पड़ेगा तथा साध्य घट पट आदि बाह्यपदार्थ ही पड़ेंगे तब आपको सब पदार्थ स्वीकार करने पड़ेंगे। ऐसी अवस्थामें यह आपका माना हुआ विज्ञानवाद केवल बालकोंकी बोलीके समान मनोहर होगा। भावार्थ-जैसे बालकोंकी बोली मीठी तो लगती है परंतु वह

पादि वचस्तव। विज्ञान चास्ति वा नेति विकल्पद्वयकल्पना ॥ ८५ ॥ वाग्विज्ञानं समस्तीदमिति हंत हतो भवान्'। तद्वक्तृत्वस्य संसिद्धेरन्यथा शून्यता कुत ॥ ८६ ॥ तदस्यालपित शून्यमुन्मत्तविरुतोपम । ततोऽस्ति जीवो धर्मश्च दयासयमलक्षण' ॥ ८७ ॥ सर्वज्ञोपज्ञमेवैतत्तत्त्व तत्त्वविदा मत। आप्तमन्यमतान्यन्यान्यवहेयान्यतो बुधै. ॥८८॥ इति तद्वचनाज्जाता परिषत्सकलैव सा। निरारेकात्मसद्भावे सप्रीतश्च सभापति.॥

निःसार और निष्प्रयोजन होती है। इसीप्रकार आपका माना हुआ यह विज्ञानवाद भी निःसार और निष्प्रयोजन ठहरेगा ॥ ८४ ॥ इसप्रकार विज्ञानवादीका मत खंडनकर स्वयंबुद्ध मंत्री शून्यवादीसे कहने लगा कि आप जो इस संसारको शून्य मानते हैं सो आपके मतमें शून्यत्वको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं या नहीं और उन वाक्योंसे यह संसार शून्य है ऐसा ज्ञान होता है या नहीं ऐसी दो कल्पनायें आपकें मतमें उत्पन्न होती हैं ॥ ८५ ॥ इन कल्पनाओंके उत्तरमें कदाचित् आप यह कहें कि शून्यताको प्रतिपादन करनेवाले वाक्य हैं और उन वाक्योंसे ज्ञान भी होता है तो दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आप खूब फंसे क्योंकि जैसे आपने वाक्य और विज्ञान माने हैं उसीप्रकार जीवादि पदार्थ भी मानने पड़ेंगे। यदि वाक्य और विज्ञान न मानेंगे तो शून्यता किसप्रकार सिद्ध हो सकेगी इसलिये शून्यता सिद्ध करनेकेलिये वाक्यविज्ञान मानने पड़ेंगे और जब वाक्यविज्ञान मानेंगे तो शून्यता नहीं ठहर सकती ॥८६॥ ऐसी अवस्थामें आपका यह शून्यबादका प्रतिपादन करना उन्मत्तपुरुषके रोनेके समान व्यर्थ है। इसलिये यह अवश्य मानना होगा कि जीव भी कोई पृथक् पदार्थ है तथा दया संयमको प्रतिपादन करनेवाला धर्म भी अवश्य है ॥ ८७ ॥ तत्त्वज्ञ पुरुष उन्हीं तत्त्वोंको मानते हैं जो वीतराग सर्वज्ञके कहे हुये हैं। जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञ तो नहीं है किंतु अपनेको आप्त मानते हैं उनके कहे हुये तत्त्वोंको विद्वान् लोग कभी स्वीकार नहीं करते उन्हें वे सदा त्याज्य ही समझते हैं ॥८८॥ इसप्रकार जब स्वयंबुद्ध मंत्रीने आत्माका अस्तित्व

॥ ८९ ॥ परवादिनगास्तेऽपि स्वयबुद्धवचोऽशने । निष्ठुरापातमासाद्य सद्य प्रम्लानिमागताः ॥ ९० ॥ पुनः प्रशांतगभीरे स्थिते तस्मिन्सद-स्यसौ । दृष्टश्रुतानुभूतार्थसंबधीदमभाषत ॥ ९१ ॥ शृणु भोस्त्वं महाराज वृत्तमाख्यानक पुरा । खेंद्रोऽभूदरविंदाख्यो भवद्वशशिखामणि ॥ ९२ ॥ स इमा पुण्यपाकेन शास्ति स्म परमा पुरीं । उद्वृत्तप्रतिसामतदोर्दर्पानवसर्पयन् ॥ ९३ ॥ विषयानन्वभूद्दिव्यानसौ खेचरगोचरान् । अभूता हरि-चद्रश्च कुरुविदश्च तत्सुतौ ॥ ९४ ॥ स बह्वारभसरभरौद्रध्यानाभिसधिना । ववध नरकायुष्य तीव्रासातफलोदय ॥ ९५ ॥ प्रत्यासन्नमृतेस्तस्य दाहज्वरविजृंभित. । ववृधे तनुसतापः कदाचिदतिदु.सह ॥९६॥ कल्हारवारिभिर्धूतशीतशीतलिकानिलैः । न निर्वृतिमसौ लेभे हारैश्च हरिचदनै

निरूपण किया तब वह संपूर्ण सभा संदेहरहित हो गई अर्थात् सबने निःसंदेह आत्माका अस्तित्व स्वीकार करलिया तथा सभापति महाराज महाबल भी बहुत प्रसन्न हुये ॥ ८९ ॥ वे परवादीरूपी पर्वत (तीनोंमंत्री) स्वयंबुद्ध मंत्रीके वचनरूपी वज्रकी भारी चोट खाकर तत्काल ही म्लान हो गये ॥९०॥ तत्पश्चात् सबलोग चुप होगये सभा शांत होगई तब वह स्वयंबुद्ध मंत्री एक देखी सुनी और अनुभव की हुई कथा कहने लगा कि-॥ ९१ ॥ हे महाराज मैं एक कथा कहता हूं उसे कृपाकर सुनिये। कुछ ही दिन पहिले आपके ही वंशमें चूडामणिके समान एक अरविंद नामका विद्याधर होगया था ॥ ९२ ॥ वह विद्याधर अपने पुण्यकर्मके उदयसे शत्रुओंके उन्मत्त योद्धाओंकी भुजाओंका गर्व नष्ट करता हुआ इस उत्कृष्ट अलकानगरीका शासन करता था ॥ ९३ ॥ वह राजा विद्याधरोंके योग्य अनेक मनोहर भोगोपभोगोंके सुख अनुभव करता हुआ राज्य करता था। उसके दो पुत्र हुये थे। एकका नाम हरिचंद्र और दूसरेका नाम कुरुविंद था ॥ ९४ ॥ उस राजा अरविंदने अनेक मानासिक संकल्परूप आरंभसे तथा हिंसा आदिकेलिये विचार करनेरूप संरंभसे और रौद्रध्यानादिकसे तीव्र दुःख देनेवाले नरक आयुका बंध करलिया था ॥ ९५ ॥ समयानुसार जब उसके मरनेके दिन समीप आगये तब उसे दाहज्वर उत्पन्न हुआ दिनोदिन शरीरका संताप बढ़ने लगा। यहां तक कि उसकी वेदना अति दुस्सह होगई ॥ ९६ ॥ उसकी

॥ ९७ ॥ विद्यासु विमुखीभाव स्वासु यातासु दुर्मदी । पुण्यक्षयात्परिक्षीणमदशक्तिरिवेभराट् ॥ ९८ ॥ दाहज्वरपरीताग संताप सोढुमक्षम । हारिचंद्रमथाहूय सुतमित्यादिशद्वच ॥ ९९ ॥ अग पुत्र ममागेषु सतापो वर्द्धते तरा । पश्य कल्हारहाराणा परिम्लानिं तदर्पणात् ॥ १०० ॥ तन्मामुदक्कुरून्पुत्र प्रापयाशु स्वविद्यया । ताश्च शीतान्वनोद्देशान्सीतानद्यास्तटाश्रितान् ॥ १०१ तत्र कल्पतरून्धुन्वन्सीतावीचिचयोत्थित' । दाहान्मा मातरिश्वास्मादुपशांतिं स नेष्यति ॥ १०२ ॥ इति तद्वचनाद्विद्या प्रैषिषद्व्योमगामिनीं । स सूनु' साप्यपुण्यस्य नाभूत्तस्योपकारिणी ॥ १०३ ॥

वह वेदना न तो लालकमलके अर्कसे भीगे हुये कपड़ेकी वायुसे दूर हुई न फूलोंकी मालासे शांत हुई और न वह शीतल चंदनसे शांत हुई ॥ ९७ ॥ उस समय उसके पुण्य क्षय होनेसे उसकी समस्त विद्यायें भी उसे छोड़कर चली गई थीं । जैसे कोई बड़ा हाथी मदशक्तिके नष्ट हो जानेसे असक्त हो जाता है उसीप्रकार वह नितांत अशक्त होगया था ॥ ९८ ॥ इधर उसके शरीरमें दाहज्वर भी बराबर बढ़ता जाता था जब वह उस संतापको सह नहीं सका तब एकादिन उसने अपने हरिचंद्र पुत्रको बुलाकर नीचेलिखी हुई आज्ञा दी कि ॥ ९९ ॥ हे पुत्र मेरे शरीरमें यह संताप प्रतिदिन बढ़ता जाता है । देखो तो जो लाल-कमलोंकी मालायें संताप दूर करनेकेलिये शरीरपर रक्खीगई थीं, वे इस शरीरका संताप लगनेसे कैसी मुरझा गयी हैं ॥ १०० ॥ इसलिये हे पुत्र तुम अपनी विद्यासे मुझे शीघ्र ही उत्तरकुरु देशमें पहुंचा दो और उत्तरकुरुमें भी किसी ऐसे प्रदेशमें पहुंचाना कि जहां सीतानदीके किनारे अनेक शीतल बन हों ॥ १०१ ॥ सीता नदीकी लहरोंसे उठीहुई तथा कल्पवृक्षोंको हिलानेवाली वहांकी वायु मेरे इस संतापको अवश्य शांत करदेगी ॥ १०२ ॥ राजपुत्र हरिचंद्रने भी अपने पिताकी आज्ञानुसार उसे उत्तरकुरुदेशमें पहुंचादेनेकेलिये आकाशगामिनी विद्या भेजी परंतु राजा अरविंदका पुण्य शेष हो चुका था, इसलिये वह विद्या भी उसका कुछ उपकार न कर सकी अर्थात् वह उसे वहां न ले जा सकी ॥ १०३ ॥ जब विद्या भी काम न कर सकी तब हरिचंद्रने समझलिया कि अब पिताजीका रोग असाध्य है । इससे वह बहुत

विद्यावैमुख्यतो ज्ञात्वा पितुर्व्याधेरसाध्यता । सुत· कर्त्तव्यतामूढ· सोऽभूदुद्विग्नमानस· ॥ १०४ ॥ अथान्येद्युरमुष्यांगे पेतु शोणितबिंदव· । मिथ कलहविश्लिष्टगृहगोधिकवालधे ॥ १०५ ॥ तैश्च तस्य किलागानि निर्ववुः पापदोषत । सोऽतुष्यच्चेति दिष्ट्याद्य पर लब्ध मयौषधं ॥१०६॥ ततोऽन्य कुरुविंदाख्य सूनुमाहूय सोऽवदत् । पुत्र मे रुधिरापूर्णा वाप्येका कार्यतामिति ॥ १०७ ॥ पुनरप्यवदल्लब्धविभगोऽस्मिन्वनातरे । मृगा· बहुविधा सति तैस्त्व प्रकृतमाचर ॥ १०८ ॥ स तद्वचनमाकर्ण्य पापभीरुर्विचिंत्य च । तत्कर्मापारयन्कर्त्तु मूकीभूत क्षण स्थित ॥ १०९ ॥ प्रत्यासन्नमृतिं बुध्वा त बद्धनरकायुष । दिव्यज्ञानदृश. साधोस्तत्कार्येऽभूत्स शीतकः ॥११०॥ अनुल्लंघ्य पितुर्वाक्य मन्यमानस्तथाप्यसौ । कृत्रिमै·

उदास हुआ तथा अब क्या करना चाहिये यह भी विचार न कर सका ॥ १०४ ॥ तत्पश्चात् एकदिन दो छिपकली परस्पर लड़ रही थीं। लड़ते २ उनकी पूछ टूटगई उनकी पूछमेंसे निकले हुये थोड़ेसे रुधिरके विंदु राजा अरविंदके शरीरपर आकर पड़े ॥ १०५ ॥ उन दो चार रुधिरबिंदुओंसे उसका शरीर कुछ एक शांत हुआ पापकर्मके उदयसे वह उससे बहुत संतुष्ट हुआ और विचार करने लगा कि दैवयोगसे आज मुझे यह बड़ी अच्छी औषधि मिल गई है ॥ १०६ ॥ तुरंत ही उसने अपने कुरुविंद नामके दूसरे पुत्रको बुलाया और उसे आज्ञा दी कि हे पुत्र मेरेलिये एक बावड़ी बनवाकर उसे रुधिरसे भरदो क्योंकि उसमें स्नान करनेसे मेरा संताप दूर हो जायगा ॥१०७॥ राजा अरविंदको विभंगावधिज्ञान था इसलिये वह विभंगावधि जोड़कर फिर कहने लगा कि इस समीपवर्त्ती वनमें अनेकप्रकारके हिरण रहते हैं उन्हींसे तू अपना काम करना अर्थात् उन्हें मारकर उनके रुधिरसे वावड़ी भरदेना ॥ १०८ ॥ वह पापभीरु कुरुविंद अपने पिताके ऐसे पापमय बचन सुनकर ऐसा पापकार्य करनकेलिये सर्वथा असमर्थ होकर क्षणभरकेलिये चुप होकर निश्चल हो रहा ॥ १०९ ॥ अनंतर पिताकी आज्ञानुसार बनमें गया वहां उसे एक अवधिज्ञानी मुनिके दर्शन हुये। उसने उन मुनिसे अपने पिताका सब हाल पूछा। मुनि कहने लगे कि अब तुम्हारे पिताका मरणसमय समीप है तथा उसने नरकायुका बंध किया है। मुनिके ये बचन सुनकर वह

त्ततैः पूर्णां वापीमेकामकारयत् ॥ १११ ॥ स तदाकर्णनात्प्रीतिमगमत्पापपंडितः । अलब्धपूर्वमासाद्य निधानमिव दुर्गतः ॥ ११२ ॥ कारिमारुणरागेण वारिणा विप्रतारितः । बहुमेने स ता वापीं पापी वैतरणीमिव ॥ ११३ ॥ तत्रानीतश्च तन्मध्ये यथेष्ट शयितोऽमुतः । चिक्रीडि कृतगण्डूषं कृतकं तदबुद्ध च ॥ ११४ ॥ नरकायुरपर्यंतं पर्याप्तिपिपयिषन्निव । दधे स तुग्वधे चित्तमधी पापोदधेर्विधुः ॥ ११५ ॥ स रुष्टः पुत्रमाहतुमाधावन्पतितोऽतरे । स्वासिधेनुकया दीर्णहृदयो मृतिमासदत् ॥ ११६ ॥ स तदा दुर्मृतिं प्राप्य गतः श्वाभ्रीमधर्मतः । कथेयमधुनाप्यस्या नगर्या

कुरुविंद राजपुत्र उस पापकार्यके करने से रुक गया परंतु ॥११०॥ पिताकी आज्ञा उल्लंघन करना भी उचित नहीं, ऐसा समझ कर उसने एक बावड़ी वनवाई और उसे कृत्रिमरुधिरसे अर्थात् लाखके रंगसे भरवादिया॥ १११ ॥ तथा बावड़ी तैयार होनेका समाचार पिताजीको कहला भेजे। पापकार्य करनेमें अति निपुण वह राजा अरविंद उस समाचारको सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ जैसे कोई दरिद्र पुरुष पाहिले कभी न देखा ऐसा अपूर्व और उत्तम निधान पाकर प्रसन्न होता है ॥ ११२ ॥ जिसप्रकार नारकी जीव वैतरणीनदीको देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार वह पापी अरविंद उस लाखके रंगसे भरी हुई बावडी को अतिशय प्रिय मानने लगा ॥११३॥ अनंतर वह उस बावडीके पास लाया गया। आते ही वह उसमे सोगया और अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करने लगा। परंतु जब उसने कृत्रिम रुधिरसे कुरले किये तब उसे मालूम होगया कि यह वास्तवमें रक्त नहीं है किंतु कृत्रिम रंग है ॥११४॥ यह जानकर पापरूपी समुद्रको बढानेके लिये चंद्रमाके समान वह निर्बुद्धि राजा अरविंद मानों नरककी संपूर्ण आयु पूर्ण करनेकी इच्छासे ही रुष्ट होकर अपने पुत्रको मारनेके लिये दौड़ा किंतु मार्गमें दौड़ते हुये वह इसप्रकार गिरा कि उसका हृदय उसीकी तलवारकी धारसे विदीर्ण हो गया तथा उसीसमय वह मरगया ॥ ११५-११६ ॥ और कुमरणसे मरकर पापके निमित्तसे वह नरक गया। हे राजन् यह कथा इस नगरीमें आजतक लोगोंको याद है ॥११७॥ जिसप्रकार हाथीका एक दांत टूटजानेसे वह अपना मुख नीचा कर लेता है और सब

स्मर्यते जनैः ॥ ११७ ॥ ततो भग्नैकरदनो दंतीवानमिताननः । उत्खातफणमाणिक्यो महाहिरिव निष्प्रभः ॥ ११८ ॥ पितुर्भानोरिवापायात्कुरुविंदोऽरविंदवत् । परिम्लानतनुच्छायः स शोच्यामगमद्दशा ॥ ११९ ॥ तथात्रैव भवद्वंशे विस्तीर्णे जलधाविव । दंडो नामाऽभवत्खेंद्रो दंडिताऽरातिमंडलः ॥१२०॥ मणिमालीत्यभूत्तस्मात्सूनुर्मणिरिवाम्बुधेः । नियोज्य यौवराज्ये तं स्वेष्टान्भोगानभुक्त सः ॥१२१॥ भुक्त्वापि सुचिरं भोगान्नातृप्यद्विषयोत्सुकः । प्रत्युतासक्तिमभजत्स्त्रीवस्त्राभरणादिषु ॥ १२२॥ सोऽत्यतविषयासक्तिकृतकौटिल्यचेष्टितः । बबंध तीव्रसंक्लेशात्तिरश्चामायुरासंधीः ॥ १२३ ॥ जीविताते स दुर्ध्यानमार्त्तमापूर्य दुर्मृतेः । भाडागारे निजे मोहान्महानजगरोऽजनि ॥ १२४ ॥ स जातिस्मरता गत्वा भाडा-

---

तेज जाता रहता है अथवा जिसप्रकार सर्पके फणका मणि निकाल लेनेसे तेजरहित हो जाता है अथवा सूर्यके अस्त होनेसे कमल मुरझा जाते हैं उसीप्रकार राजपुत्र कुरुविंदने अपने पिताकी मृत्युके शोकसे अपना मुख नीचा करलिया और उसका सब शरीर मुरझागया ॥ ११८-११९ ॥ हे राजन् ! यह कथा प्रसिद्ध है तथा इसके सिवाय एक दूसरी कथा सुनिये वह यह है कि-समुद्रके समान विस्तीर्ण ऐसे आपके इसी वंशमें एक दंड नामका विद्याधर होगया है । उसने अपने समस्त शत्रुओंको दंड दे कर सीधा किया था ॥१२०॥ जिसप्रकार समुद्रमेंसे उत्तम मणिकी प्राप्ति होती है उसीप्रकार इसको भी एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई जिसका नाम मणिमाली था । वह राजा दंड अपने राजपुत्र मणिमालीको यौवराज्य पद देकर स्वयं इच्छानुसार भोगोपभोगोंके सेवन करनेमें लगा रहता था ॥१२१॥ वह विषयलंपट चिरकालतक नानाप्रकारके विषयभोग सेवन करता हुआ भी कभी तृप्त नहीं होता था । ज्यों ज्यों वह विषय सेवन करता था त्यों त्यों वह स्त्री वस्त्र आभरण आदि सबमें अधिक २आसक्त होगया ॥ १२२ ॥ अत्यंत विषयाशक्त होनेसे मायाचारी चेष्टासे आर्त्तध्यानी होकर तीव्र संक्लेश परिणामोंसे उसने तिर्यंच आयुका बंध किया ॥ १२३ ॥ मरतेसमय उसने आर्त्तध्यानसे प्राण छोड़े तथा वह कुमरणसे मरा था इसलिये वह मरकर गाढ़ मोहके उदयसे अपने ही खजानेमें एक बड़ा अजगर हुआ ॥ १२४ ॥ दैवयोगसे उसे जातिस्मरण भी होगया

गारमवन् भृशं । तत्प्रवेशे निजं सूनुमन्वमंस्त न चापरं ॥ १२५ ॥ अन्येद्युरवधिज्ञानलोचनान्मुनिपुंगवात् । मणिमाली पितुर्ज्ञात्वा तद्वृत्तांतमशेषत ॥ १२६ ॥ पितृभक्त्या स तन्मूर्च्छामपहर्तुमना सुधीः । शयोरग्रे शनैः स्थित्वा स्नेहार्द्रां गिरमभ्यधात् ॥ १२७ ॥ पितः पतितवानस्यां कुयोनावधुना त्वक । विषयासगदोषेण धृतमूर्च्छो धनर्द्धिषु ॥ १२८ ॥ ततो धिगिदमत्यतकटुक विषयामिष । वमैतद्दुर्ज्जरं तात किंपाकफलसन्निभ ॥ १२९ ॥ रथांगमिव ससारमनुवध्नाति सतत । दुस्त्यजं त्याज्यमप्येतत्कठस्थमिव जीवितं ॥ १३० ॥ प्रकटीकृतविश्वास प्राणहारि भयावह । मृगयोरिव दुर्गीत नृगणौणप्रलंभक ॥ १३१ ॥ तांबूलमिव संयोगादिद रागाविवर्द्धन । अधकारमिवोत्सर्पत्सन्मार्गस्य निरोधनं ॥ १३२ ॥

था इसलिये वह अपने खजानेकी रक्षा बड़ी सावधानीसे करताथा अपने पुत्रके सिवाय अन्य किसीको वह अपने खजानेमें नहीं आने देता था ॥१२५॥ एक दिन राजा मणिमालीने किसी अवधिज्ञानी उत्तममुनिसे इस अजगरका वृत्तांत पूछा और मुनिराजने सब ज्योंका त्यों कह सुनाया जिससे उसे अपने पिताका सब हाल मालूम होगया ॥ १२६ ॥ राजा मणिमाली अपने पितापर बहुत भक्ति रखता था इसलिये वह बुद्धिमान उस सर्पका ममत्व दूर करनेकेलिये धीरेसे उसके समीप बैठकर नीचे लिखे हुये स्नेहयुक्त बचन कहने लगा कि ॥ १२७ ॥ हे पिता देखो तुमने धन ऋद्धि आदिमें आतिशय ममत्व किया था अतिशय विषय सेवन किये थे इसी दोषसे तुम अब इस कुयोनिमें उत्पन्न हुये हो ॥ १२८ ॥ इसलिये ये विषयरूपी विष अत्यंत कटुक हैं। इन्हें बार बार धिक्कार देना चाहिये । हे पिता ये विषय किंपाकफलके (विषफलके) समान दुःख देनेवाले हैं इसलिये अब इन्हे छोड दो ॥ १२९ ॥ हे तात जैसे गाडीका पाहिया निरंतर चलता रहता है इसीप्रकार ये विषय भी निरंतर संसारका बंध करने वाले हैं । जैसे कंठस्थ प्राण वडी कठिनतासे छोडे जाते हैं इसीप्रकार ये विषय भी बड़ी कठिनतासे छोड़ेजाते हैं परंतु वे त्याज्य अवश्य हैं ॥ १३० ॥ ये विषय ठीक व्याधके गानेके समान हैं । जो कि मनुष्य-रूपी हरिणोंको ठगनेकेलिये उन्हें प्रथम ही विश्वास दिलाते हैं और फिर अंतमें अतिशय भयानक होकर उनके प्राण हरण किया करते

जैनं मतमिव प्रायः परिभूतमतांतरं । तडिल्लसितवल्लोलं वैचित्र्यात्सुरचापवत् ॥ १३३ ॥ किं वात्र बहुनोक्तेन पश्येद विषयोद्भवं । सुखं संसारकातारे परिभ्रमयतीप्सित ॥ १३४ ॥ नमोऽस्तु तद्रसासगविमुखाय स्थिरात्मने । तपोधनगणायेति निर्निंद विषयानसौ ॥ १३५ ॥ अथासौ पुत्रनिर्दिष्टधर्मवाक्यांशुमालिना । गलिताशेषमोहाधतामसः समजायत ॥ १३६ ॥ ततो धर्मौषध प्राप्य स कृतानुशयः शयु । ववाम विषयौत्सुक्य महाविषमिवोल्वणं ॥ १३७ ॥ स परित्यज सवेगादाहार सशरीरक । जीविताते तनुं हित्वा दिविजोऽभून्महर्द्धिकः ॥ १३८ ॥ ज्ञात्वा च

हैं ॥ १३१ ॥ इनके साथ संबंध रखनेसे ये तांबूलके समान राग वढाते रहते हैं तथा फैले हुये अंधकारके समान सन्मार्गका (मोक्षमार्गका) निरोध करते रहते हैं ॥ १३२ ॥ जिसप्रकार जैनमत अन्य सब मतोंका निराकरण कर देता है उसीप्रकार ये विषय भी सब विवेक नष्ट करदेते हैं तथा विजलीकी चमकके समान चंचल हैं और इंद्रधनुषके समान अनेक रंग (अवस्था) धारण करनेवाले हैं ॥ १३३ ॥ अधिक कहनेसे क्या लाभ ! इस थोड़ेसे कथनसे ही समझें और देखें कि ये विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख इस जीवको संसाररूपी वनमें अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कराते रहते हैं ॥ १३४ ॥ इसलिये ऐसे मुनियोंको नमस्कार है कि जो इस विषयरसकी संगातिसे सदा विमुख रहते हैं और अपनेको केवल अपने आत्मामें ही स्थिर रखते हैं। इसप्रकार राजा मणिमालीने विषयोंकी निंदा की ॥१३५॥ तदनंतर अपने पुत्र मणिमालीके कहे हुये धर्मवाक्यरूपी सूर्यके द्वारा उस अजगरका संपूर्ण मोहरूपी अंधकार नष्ट होगया जिससे ॥ १३६ ॥ वह अजगर भी स्वयं पश्चात्ताप करने लगा । उसने धर्मरूपी औषधि ग्रहण की और तीव्र महाविषके समान विषयोंकी इच्छा सर्वथा छोड़दी ॥ १३७ ॥ उसे यह संसार दुःखमय जानपड़ा इसलिये उसने आहार और शरीरसे भी ममत्व छोड़दिया । आयु पूर्ण होनेपर शरीर छोड़कर वह बड़ी ऋद्धिका धारक एक देव हुआ ॥ १३८ ॥ अवधिज्ञानके द्वारा उसे अपने पहले भव मालूम हुये । इसलिये वह मणिमालीके समीप आया और उसका भारी आदर सत्कारकर उसे प्रका-

भवमागत्य संपूज्य मणिमालिने । मणिहारमदत्तासावुन्मिषन्मणिदीधितिं ॥ १३९ ॥ स एष भवतः कंठे हारो रत्नांशुभासुरः । लक्ष्यतेऽद्यापि यो लक्ष्म्या प्रहास इव निर्मलः ॥ १४० ॥ तथैवमपर राजन्यथावृत्त निगद्यते । संति यद्दर्शिनोऽद्यापि वृद्धाः केचन खेचरा. ॥ १४१ ॥ आसीच्छतवलो नाम्ना भवदीय. पितामहः । प्रजा राजन्वतीः कुर्वन्स्वगुणैराभिरामिकैः ॥ १४२ ॥ स राज्यं सुचिरं भुक्त्वा कदाचिद्भोगनिःस्पृहः ॥ भवत्पितरि निक्षिप्तराज्यभारो महोदयः ॥ १४३ ॥ सम्यग्दर्शनपूतात्मा गृहीतोपासकव्रतः । निबद्धसुरलोकायुर्विशुद्धपरिणामतः ॥ १४४ ॥ कृत्वानशनसच्चर्यामवमोदर्यमप्यदः । यथोचितनियोगेन योगेनातेत्यजत्तनु ॥ १४५ ॥ माहेंद्रकल्पेऽनल्पर्द्धिरभूदेषः सुराग्रणीः । अणिमादिगुणोपेतः सप्तांबुधिमितस्थितिः ॥ १४६ ॥ स चान्यदा महामेरौ नदने त्वामुपागत । क्रीडाहेतोर्मया सार्द्धं दृष्ट्वातिस्नेहनिर्भर. ॥ १४७ ॥ कुमार

शमान मणियोंसे दैदीप्यमान एक मणियोंका हार समर्पण किया॥ १३९॥ वह रत्नोंकी किरणोंसे प्रकाशमान तथा लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल हार आज भी आपके कंठमें शोभायमान है॥ १४०॥ हे राजन् इसके सिवाय एक वृत्तांत और है उसे भी मैं ज्योंका त्यों कह सुनाता हूं उस वृतांतके देखने वाले कितनेही वृद्ध विद्याधर आज भी विद्यमान हैं॥ १४१॥ आप जानते हैं कि आपके दादाका नाम शतबल था। वे अपने आदरणीय गुणोंसे प्रजाको सदा सुखी रखते थे॥ १४२॥ उन भाग्यशाली शतबलने अनेक दिनतक राज्य किया और अंतमें भोगोंसे उदास होकर आपके पिताको राज्यका सब भार सौंप दिया॥ १४३॥ तथा स्वयं सम्यग्दर्शनसे पवित्र होकर श्रावकके व्रत धारण किये तथा परिणामोंकी विशुद्धता होनेसे देवायुका बंध किया॥ १४४॥ उपवास अवमोदर्य आदि चारित्र धारणकर यथायोग्य रीतिसे समाधिमरण पूर्वक शरीरका त्याग किया जिससे॥ १४५॥ चौथे माहेंद्र स्वर्गमें सात सागरकी आयु पाकर अणिमा महिमा आदि गुणयुक्त तथा बड़ी विभूतिका स्वामी उत्तम देव हुआ॥ १४६॥ एक दिन वह देव सुमेरुपर्वतके नंदनबनमें क्रीड़ा करनेकेलिये आया था तथा आप भी मेरे साथ वहां गये थे। उस देवने आपको देखकर तथा अपना पोता समझकर अत्यंत स्नेहसे यह उपदेश दिया था

परमो धर्मो जैनोऽभ्युदयसाधनः । न विस्मार्यस्त्वयेत्येवं त्वां तदाऽन्वशिषत्तरां ॥ १४८ ॥ नमत्खेचरराजेंद्रमस्तकारूढशासन. । सहस्रबल इत्यासीद्भवात्पितृपितामहः ॥ १४९ ॥ स देवदेवे निक्षिप्य लक्ष्मीं शतबले सुते । जग्राह परमा दीक्षा जैनीं निर्वाणसाधनीं ॥ १५० ॥ विजहार महीं कृत्स्नां द्योतयन्स तपोंऽशुभि । मिथ्याधकारघटना विघटय्याशुमानिव ॥ १५१ ॥ क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य पूजितो नृसुरासुरै । ततोऽनतमपार च समाप्तच्छाश्वत पद ॥ १५२ ॥ तथा युष्मत्पितायुष्मन् राज्यभूरिभर वशी । त्वयि निक्षिप्य वैराग्यान्महाप्राव्राज्यमास्थित ॥ १५३ ॥ पुत्रनप्तृभिरन्यैश्च नभश्चरनराधिपैः । सार्द्धं तपश्चरन्नेप मुक्तिलक्ष्मीं जिघृक्षति ॥ १५४ ॥ धर्माधर्मफलस्यैते दृष्टातत्वेन दर्शिता. । युष्मद्वश्या. ख-

---

कि यह जैनधर्मही उत्तम धर्म है। यही जीवका कल्याण करनेवाला है। पुत्र! तू इसे कभी मत भूलना १४७-१४८ ॥ यह कथा कहकर स्वयंबुद्ध फिर कहने लगा कि आप के पिताके दादाका नाम सहस्रबल था। अनेक राजा महाराजा विद्याधर उन्हें नमस्कार करते थे तथा अपने अपने मस्तकपर उनकी आज्ञा धारण करते थे ॥ १४९ ॥ उन्होंने भी अपने पुत्र महाराज शतबलको राज्य देकर मोक्ष देनेवाली श्री जिनेंद्रदेवकी कही हुई उत्तम दीक्षा धारण की थी ॥ १५० ॥ तथा अपने तपश्चरणरूपी किरणोंसे समस्त पृथ्वीको प्रकाश करते हुये तथा मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नष्ट करते हुये सूर्यके समान विहार करते रहे ॥ १५१ ॥ तथा क्रमसे चार घातिया कर्म नष्ट होनेसे उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। वे मनुष्य देव विद्याधर आदि सबके पूज्य हुये थे और अंतमें नित्य अनंत तथा अपार ऐसे मोक्षपदको प्राप्त हुये हैं ॥ १५२ ॥ हे आयुष्मन् इसीप्रकार जितेंद्रिय आपके पिताने भी अपने राज्यका भारी बोझ आपको सौंपकर तथा सबसे विरक्त होकर महाव्रत धारण किया है और पुत्र पौत्रके साथ तथा अन्य अनेक विद्याधर राजाओंके साथ तपश्चरण कर रहे हैं और मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिये इच्छा कर रहे हैं ॥ १५३-१५४ ॥ हे देव! ऊपर कहे हुये वृतांत धर्म अधर्मके साक्षात् दृष्टांतरूपसे दिखलाये गये हैं और वे दृष्टांत भी केवल आपके वंशमें ही होनेवाले उन राजा लोगोंके हैं कि जिनके कथारूपी दुंदुभी

गाधीशा सुप्रतीतकथानका. ॥ १५५ ॥ विद्धि ध्यानचतुष्कस्य फलमेतन्निदर्शितं । पूर्वं ध्यानद्वयं पापं शुभोदर्कं परं द्वयं ॥१५६॥ तस्माद्धर्मजुषा पुंसा भुक्तिमुक्ती न दुर्लभे । प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामिदं निश्चिनु धीधन ॥ १५७ ॥ इति प्रतीतमाहात्म्यो धर्मोऽयं जिनदेशितः । त्वयापि शक्तितः सेव्यः फलं विमलमिच्छता ॥ १५८ ॥ श्रुत्वोदारं च गंभीरं स्वयंबुद्धोदितं तदा । सभा सभाजयामास परमास्तिक्यमास्थिता ॥ १५९ ॥ इदमेवार्हतं तत्त्वमितोऽन्यन्न मतांतरं । प्रतीतिरिति तद्वाक्यादाविरासीत्सदः सदा ॥ १६० ॥ सुदृष्टिर्व्रतसंपन्नो गुणशीलविभूषितः । ऋजुर्गुप्तौ

अतिशय प्रसिद्ध हैं ॥ १५५ ॥ हे राजन् ! आप ऊपर कहे हुये चारों दृष्टांतोको चारों ध्यानका फल ही समझिये क्योंकि राजा अरविंद रौद्रध्यानसे नरक गया, राजा दंड आर्त्तध्यानसे सर्प हुआ, राजा शतवल धर्मध्यानसे देव हुआ और राजा सहस्रवल शुक्लध्यानसे मोक्ष गया तथा महाराजा अतिवल मोक्ष जायगा । इन चारों ध्यानोंमेंसे आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान अशुभ हैं क्योंकि ये दोनोंही अशुभगतिके कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों ही शुभ हैं क्योंकि ये दोनों ही स्वर्ग मोक्षके कारण हैं ॥१५६॥ इसलिये हे बुद्धिमान्! धर्मात्मा पुरुषोंकेलिये इंद्र चक्रवर्त्ती आदिके सुख तथा मोक्ष कुछ कठिन नहीं है यह बात प्रत्यक्षप्रमाणसे भी निश्चय कर सकते हैं और सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशसे भी निश्चय कर सकते हैं ॥ १५७ ॥ यह श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म अति प्रसिद्ध है इसका माहात्म्य भी प्रसिद्ध है । हे राजन्, यदि आप भी उत्तम और वहुत फल चाहते हैं तो यथाशक्ति इसका सेवन कीजिये ॥ १५८ ॥ इसप्रकार स्वयंबुद्धके कहे हुये उदार और गंभीर वचन सुनकर वह सभा वड़ी संतुष्ट हुई तथा संपूर्ण सभासदोंने आस्तिक्यमत स्वीकार किया अर्थात् जीव है इह लोक परलोक भी है यह सबने निश्चय करलिया ॥ १५९ ॥ स्वयंबुद्धके ऊपर कहे हुये वाक्योंसे उस सभाके समस्त सभासदोंको यह विश्वास होगया कि जो स्वयंबुद्धने कहा है यही श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ सत्यार्थ तत्त्व है इसके सिवाय अन्य कोई मत मतांतर नहीं है ॥ १६० ॥ तत्पश्चात् सब सभासद स्वयंबुद्धकी प्रशंसा करने लगे और कहने लगे कि

गुरौ भक्त श्रुताभिज्ञ' प्रगल्भधीः ॥ १६१ ॥ श्लाघ्य एष गुणैरेभिः परमश्रावकोचितैः । स्वयबुद्धो महात्मेति तुष्टुवुस्तं सभासद ॥ १६२ ॥ प्रशस्य खनराधीश' प्रतिपद्य च तद्वच' । प्रीतः संपूजयामास स्वयबुद्ध महाधिय ॥ १६३ ॥ अथान्यदा स्वयंबुद्धो महामेरुगिरिं ययौ । विवदिषुर्जिनेंद्राणा चैत्यवेश्मानि भक्तित ॥ १६४ ॥ वनैश्चतुर्भिराभातं जिनस्येव शुभोदय । श्रुतस्कधमिवानादिनिधनं सप्रमाणकं ॥ १६५ ॥ महीभृतामधीशत्वात्सुवृत्तत्वात्सदास्थिते । प्रवृद्धकटकत्वाच्च सुराजानमिवोन्नत ॥ १६६ ॥ सर्वलोकोत्तरत्वाच्च ज्येष्ठत्वात्सर्वभूभृतां । महत्त्वात्स्व-

---

यह स्वयंबुद्ध सम्यग्दृष्टी, व्रती गुणवान और शीलवान है। मन वचन कायका सरल और गुरुभक्त है। अतिशय बुद्धिमान और अनेक शास्त्रोंका जानकार है। श्रावकमें जितने उत्कृष्ट गुण होने चाहिये वे सब इसमें हैं इसलिये यह प्रशंसनीय और महात्मा है ॥ १६१–१६२ ॥ महाराज महाबलने भी उस महा बुद्धिमान स्वयंबुद्धकी प्रशंसा की। उसके कहे हुये सब विषय स्वीकार किये तथा प्रसन्न होकर उसका बड़ा आदर सत्कार किया ॥ १६३ ॥ इस घटनाके कितने ही दिन बाद एकदिन वह स्वयंबुद्ध मंत्री सुमेरु-पर्वतपर वहांके चैत्यालयोंमें विराजमान श्रीजिनेंद्रदेवकी भक्तिपूर्वक बंदना करनेकेलिये गया ॥ १६४ ॥ प्रथम ही सुमेरुपर्वतके दर्शन हुये। वह पर्वत श्रीजिनेंद्रदेवके शुभोदयरूप समवसरणके समान चार वनोंसे सुशोभित है अर्थात् जैसे समवसरण अशोक सप्तच्छद आम्र और चंपकवनसे सुशोभित होता है उसी प्रकार वह मेरु भी भद्रशाल नंदन सौमनस और पांडुकवनोंसे सुशोभित है। अथवा यों कहना चाहिये कि वह एक लाख योजन ऊंचा आदिअंतरहित श्रुतस्कंधके समान है ॥ १६५ ॥ अथवा वह मेरु किसी बड़े महाराजके समान उन्नत है। क्योंकि महाराज भी महीभृत अथात् राजाओंके स्वामी होते हैं और वह पर्वत भी महीभृत अथात् अनेक पर्वतोंका स्वामी है। महाराज सुवृत्त अर्थात् सच्चरित्र होते हैं और वह पर्वत भी सुवृत्त अर्थात् गोल है महाराज सदास्थिति अर्थात् सज्जनोंकी सभामें विराजमान रहते हैं और वह पर्वत भी सदास्थिति अर्थात् नित्य है। महाराज प्रवृद्धकटक अर्थात् अपार सेनाके

र्णवर्णत्वात्तमाद्यमिवपूरुष ॥ १६७ ॥ समासादितवज्रत्वादप्सर:संश्रयादपि । ज्योति:परीतमूर्त्तित्वात्सुरराजमिवापरं ॥ १६८ ॥ चूलिकाग्रसमासन्नसौधर्मेंद्रविमानक । स्वर्लोकधारणे न्यस्तमिवैक स्तंभमुच्छ्रित ॥ १६९ ॥ मेखलाभिर्वनश्रेणीर्दधान कुसुमोज्ज्वला. । स्पर्धयेव कुरुक्ष्माजै: सर्वर्तुफलदायिनी ॥ १७० ॥ हिरण्मयमहोदग्रवपुष रत्नभाजुषं । जिनजन्माभिषेकाय वद्ध पीठमिवामरै ॥ १७१ ॥ जिनाभिषेकसवधाज्जिनायतनधा-

---

स्वामी होते हैं और वह पर्वत भी प्रवृद्धकटक अर्थात् ऊंची चूलिकासे शोभायमान है ॥१६६॥ अथवा वह पर्वत आदिपुरुष श्रीवृषभदवके समान जान पड़ता है क्योंकि आदिपुरुष श्रीऋषभदेव लोकोत्तर अर्थात् समस्त लोगोंसे उत्तम हैं और वह पर्वत भी लोकोत्तर अर्थात् सबजगहसे उत्तर दिशामें ही स्थित है, आदि पुरुष भी सब राजाओंसे बड़े और पूज्य हैं और वह पर्वत भी सब पर्वतोंसे बड़ा और मान्य है, आदिपुरुषका रूप सुवर्ण सरीखा था और वह पर्वत भी सुवर्णमय है ॥ १६७ ॥ अथवा वह मेरु इंद्रके समान मालूम होता है क्योंकि इंद्र भी वज्रसहित है और वह पर्वत भी वज्रा पृथिवीतक चलागया है। इंद्र अनेक अप्सराओंसे सुशोभित रहता है और वह पर्वत भी अप्सर अर्थात् अनेक जलके भरे हुये सरोवरोंसे सुशोभित है। इंद्र चारोंओर फैली हुई अपनी कांतिसे शोभायमान रहता है और वह पर्वत भी चारों ओरसे ज्योतिषी जातिके देवोंसे शोभायमान है ॥ १६८ ॥ पहला सौधर्मस्वर्ग इस पर्वतकी चूलिकाके अग्रभागसे अत्यंत समीप है। इसलिये वह पर्वत ऐसा जान पडता है मानों स्वर्गलोकको धारण करनेकेलिये एक ऊंचा स्तंभ ही खडा हो ॥१६९॥ उस पर्वतकी चारोंओर कटनियोंपर वनपंक्ति लगी हुई हैं जोकि फूलोंसे अत्यंत शोभायमान हैं, तथा सब ऋतुओंके फलफूल देनेवाली हैं जिससे ऐसा जान पडता हैं मानों वे उत्तम भोगभूमिके कल्पवृक्षोंकी स्पर्द्धा करनेकेलिये ही सब ऋतुओंके फलफूल दे रही हैं ॥ १७० ॥ अथवा वह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानों देवोंने श्रीजिनेंद्रदेवका अभिषेक करनेकेलिये एक सिंहासन ही बनाया हो। क्योंकि सिंहासन भी रत्नजड़ित सुवर्णमय और ऊंचा होता है और वह पर्वत भी रत्नजड़ित

रणात् । स्वीकृतेनेव पुण्येन प्राप्तस्वर्गमनर्गलं ॥ १७२ ॥ लवणांभोधिनीलांभोवलयश्लक्ष्णवाससः । जंबूद्वीपमहीभर्तुस्तिरीटमिव सुस्थितं ॥ १७३ ॥ कुलाचलपृथूत्तुंगवीचीभगोपशोभिनं । सगीतप्रहतातोद्यविहगरुतशालिनं ॥ १७४ ॥ महानदीजलालोलमृणालविलसद्द्युतेः । नंदनादिमहोद्यानविसर्पत्पत्रसंपदः ॥ १७५ ॥ सुरासुरसभावासभासितामरसश्रियं । सुखासवरसासक्तजीवभृंगावलीभृतः ॥१७६॥ जगत्पद्माकरस्यास्य मध्ये कालानिलोद्धत । विवृद्धमिव किंजल्कपुंजमापिंजरच्छविं ॥१७७॥ सरत्नकटकं भास्वच्चूलिकामुकुटोज्ज्वलं । सोऽदर्शाद्रिराजं तं राजतं जिनमंदिरैः ॥

सुवर्णमय और अत्यंत ऊंचा है ॥ १७१ ॥ उस पर्वतपर श्रीजिनेंद्रदेवका अभिषेक होता है तथा उसपर अनेक जिनालय विद्यमान हैं। इन्हीं कारणोंसे उसने जो पुण्योपार्जन किया है उसीसे मानों वह विना किसी रोकटोकके स्वर्गतक चला गया है ॥ १७२ ॥ अथवा वह मेरुपर्वत लवणसमुद्रके नीले जलरूप सुंदर वस्त्र पहने हुये जंबूद्वीपरूपी महाराजके मुकुटके समान मालूम होता है ॥ १७३ ॥ अथवा यह संसार एक सरोवरके समान है। क्योंकि इस सरोवरमें कुलाचल ही बड़ी ऊंची लहरें हैं, संगीतके साथ बजनेवाले बाजे ही सुंदर पक्षियोंके शब्द हैं, गंगासिंधु आदि महानदियोंका जल ही जिसमें चंचल कमलनालके समान जान पड़ता है, नंदन पांडुक आदि बड़े बड़े वन ही इसके समीप फैले हुये पत्ते हैं, सौधर्म तथा भवनवासी आदि देवोंके सभाभवन ही खिले हुये कमलोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं, इंद्रियोंके सुखरूप पुष्परसमें आसक्त हुये जीव ही इसमें सब ओर भरे हुये भ्रमर हैं। ऐसे इस संसाररूप सरोवरमें वह पीतरंगका सुवर्णमय मेरुपर्वत प्रलयकालकी वायुसे उडा हुआ तथा एकजगह इकट्ठा हुआ कमलोंकी केसरके समूहके समान जान पड़ता है ॥ १७४-१७५-१७६-१७७ ॥ वह मेरु पर्वत वास्तवमें पर्वतोंका राजा है। क्योंकि राजाके हाथमें भी रत्नजड़ित कड़े रहते हैं और इसके शिखर रत्नजड़ित हैं। राजाके मस्तकपर गुमटीदार मुकुट रहता है और इसके मस्तकपर चूलिकारूप मुकुट शोभायमान है। इस-प्रकार वर्णना युक्त तथा अनेक जिनमंदिरोंसे शोभायमान वह मेरु पर्वत स्वंयबुद्ध मंत्रीने देखा।

॥ १७८ ॥ तमद्भुतश्रियं पश्यन्नगमत्स परां मुदं । न्यरूपयच्च पर्यंतदेशानस्येति विस्मयात् ॥ १७९ ॥ गिरींद्रोऽयं स्वशृंगाग्रैः समाक्रांतनभोंऽगणः । लोकनाडीगतायाम मिमान इव राजते ॥ १८० ॥ अस्य सानूनिमे रम्यच्छायानोकहशोभिनः । सार्द्धं वधूजनै' शश्वदावसति,दिवौकस' ॥ ॥१८१॥ अस्य पादाद्रयोऽप्यस्मादानीलनिषध गता' । महतां पादससेवी को वा नायातिमाप्नुयात् ॥ १८२ ॥ गजदताद्रयोऽस्यैते लक्षते पादसश्रिताः । भक्त्या निषधनीलाभ्यामिव हस्ताः प्रसारिता. ॥ १८३ ॥ इमे चैन महानद्यौ सीतासीतोदकाह्वये । क्रोशद्वयादनास्पृश्य यातोंऽभोधिं

॥ १७८ ॥ अद्भुत शोभायुक्त उस पर्वतको देखकर यह बहुत ही प्रसन्न हुआ । तथा बड़े आश्चर्यसे उसके समीपवर्त्ती प्रदेशोंकी प्रशंसा करने लगा ॥ १७९ ॥ वह कहने लगा कि देखो इस पर्वतने अपने शिखरोंके अग्रभागसे समस्त आकाशरूपी आंगन घेर रक्खा है । जिससे ऐसा जान पड़ता है मानों लोकनाड़ीकी लंबाई नापनेकेलिये एक दंडा ही हो ॥ १८० ॥ इस पर्वतके शिखर मनोहर और घनी छायावाले वृक्षोंसे शोभायमान हैं जिनपर ये देव लोग अपनी अपनी देवियोंके साथ सदा निवास करते हैं ॥ १८१ ॥ इसके समीपवर्त्ती छोटे २ पर्वत उत्तरकी ओर नीलपर्वततक और दक्षिणकी ओर निषधपर्वततक चले गये हैं । सो ठीक ही है जो बड़ोंकी चरणसेवा करता है वह अवश्य ही बड़ा हो जाता है ॥१८२॥ इसके चरणोंके आश्रित ये गजदंत पर्वत ऐसे जान पड़ते हैं मानों निषध और नील पर्वतने भक्तिपूर्वक इसकी सेवा करनेकेलिये अपने हाथ ही फैलाये हों ॥ १८३ ॥ ये देखो सीता सीतोदा दोनों महानदियां इसके डरसे दो कोशकी दूरीसे समुद्रकी ओर जा रही हैं ॥ १८४ ॥ इस पर्वतके चारों ओर यह भद्रसाल बन है जोकि अपनी शोभासे देवकुरु उत्तरकुरुकी लक्ष्मीको भी तिरस्कार कर रहा है तथा इस पर्वतके चारों ओरके प्रदेशको अपने वृक्षोंसे सदा सुशोभित रखता है ॥ १८५ ॥ यह देखो इधर यह नंदनवन शोभायमान है यह सौमनस वन और यह पांडुक वन शोभायमान है ये तीनों ही बन पुष्पसहित वृक्षों से सदा सुशोभित रहते हैं ॥ १८६ ॥ इधर देखो ये अर्धचंद्राकार देवकुरु और उत्तरकुरु शोभायमान हैं।

भयादिव ॥ १८४ ॥ अस्य पर्यंतभूभागं सदालकुरुते द्रुमैः । भद्रसलिपारण्पः कुरुलक्ष्मीमधिक्षिपन् ॥ १८५ ॥ इतो नंदनमुद्यानमितः सौमनस वन । इत. पांडुकमाभाति शश्वत्कुसुमितद्रुम ॥ १८६ ॥ इतोर्द्धचद्रवृचागा कुरवोऽमी चकासते । इतो जबूद्रुम श्रीमानितः शाल्मलिपादप. ॥ १८७ ॥ अमी चैत्यगृहा भांति वनेष्वस्य जिनेशिना । रत्नभाभासिभिः कूटैर्द्योतयतो नभोऽगण ॥ १८८ ॥ शश्वत्पुण्यजनाकीर्ण सोद्यानः साजिनालयः । पर्यंतस्थसरित्क्षेत्रो नगोऽयं नगरायते॥१८९॥ सगतस्यांगभृद्भृगै· क्षेत्रपत्रोपशोभिन । जंबूद्वीपांबुजस्यास्य नगोऽय कर्णिकायते॥१९०॥ इति प्रकटितोदारमहिमा भूभृतां पति । मन्ये जगत्त्रयायाममद्याप्येष विलघते ॥१९१॥ तामित्यावर्णयन् दूरात्स्वयबुद्धः समासदत् । ध्वजहस्तैरिवाहूत. सादर जिनमंदिरै. ॥ १९२ ॥ अकृत्रिमाननाद्यंतान्नित्यालोकान् सुरार्चितान् । जिनालयान् समासाद्य स परा मुदमाययौ ॥१९३॥ सपर्यया

और ॥ १८७ ॥ यह देखो इस पर्वतके इधर सुशोभित यह जंबूवृक्ष है और इधर यह शाल्मलिवृक्ष है और चारों बनोंमें श्रीजिनेंद्रदेवके चैत्यालय शोभायमान हैं जो कि रत्नोंकी कांतिके समान देदीप्यमान अपने शिखरोंसे आकाशरूपी आंगनको प्रकाशित कर रहे हैं ॥ १८८ ॥ अथवा यह पर्वत एक नगरके समान जान पड़ता है जैसे नगरमें सदा पुण्यवान् लोग निवास करते हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी सदा पुण्यवान लोगोंसे व्याप्त रहता है। नगरोंमें उद्यान और जिनालय रहते हैं इसपर्वतपर भी उद्यान और जिनालय विद्यमान हैं। नगरके समीप ही नदी और क्षेत्र होते हैं इसके समीप भी नदी और क्षेत्र विद्यमान हैं ॥१८९॥ अथवा यह पर्वत संसारीजीवरूपी भ्रमरोंसे घिरे हुये और भरत आदि क्षेत्ररूपपत्तोंसे शोभायमान इस जंबूद्वीपरूपी कमलकी एक कर्णिकाके समान जानपड़ता है ॥ १९० ॥ इसप्रकार संसारमें जिसकी महिमा प्रसिद्ध है ऐसा यह पर्वतोंका स्वामी सुमेरु ऐसा मालूम होता है मानों आज भी यह तीनों जगतकी लंबाईका उल्लंघन कर रहा है ॥ १९१ ॥ इसप्रकार दूरसे ही उस पर्वतका वर्णन करता हुआ वह स्वयंबुद्ध मंत्री सुमेरु पर्वतपर इसप्रकार जा पहुंचा मानों जिनमंदिरोंने ध्वजारूपी हाथोंसे आदर सहित बुलाया ही हो ॥ १९२ ॥ इस सुमेरुपर आदिअंतरहित, नित्य प्रकाशित रहनेवाले और देवोंसे सदा पूज्य ऐसे अकृत्रिम जिनमंदिरोंमें जाकर वह स्वयंबुद्ध मंत्री बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १९३ ॥ प्रथम ही वह भद्रसाल

स पर्येत्य भूयो भक्त्या प्रणम्य च । भद्रसालादिचैत्यानि वंदते स्म यथाक्रमं ॥ १९४ ॥ स सौमनसपौरस्त्यदिग्भागजिनवेश्मनि । कृतार्चनाविधिर्भक्त्या प्रणम्य क्षणमासितः ॥ १९५ ॥ प्राग्विदेहमहाकच्छविषयारिष्टसत्पुरात् । आगतौ सहसैक्षिष्ट मुनी गगनचारिणौ ॥१९६॥ आदित्यगतिमग्रण्य तथारिंजयशब्दन । युगधरमहातीर्थसरसीहसनायकौ ॥ १९७ ॥ तावभ्येत्य समभ्यर्च्य प्रणम्य च पुन. पुनः । पप्रच्छेति सुखासीनौ मनीषी स्वमनीषित ॥ १९८ ॥ भगवतौ युवां ब्रूत किंचित्पृच्छामि हृद्गत । भवतौ हि जगद्बोधविधौ वचोऽवधित्विषं ॥ १९९ ॥ अस्मत्स्वामी खगाधीशः ख्यातोऽस्तीह महाबलः । स भव्यसिद्धिराहोस्विदभव्यः संशयोऽत्र मे ॥ २०० ॥ जिनोपदिष्टसन्मार्गमस्मद्वाक्यं प्रमाणयन् । स किं

वनके चैत्यालयोंमें गया । यथाक्रमसे उसने पहले प्रदक्षिणा दी, उसके बाद भक्तिपूर्वक वारंवार प्रणाम किया, पूजा की तथा बंदना की ॥ १६४ ॥ फिर वह सौमनसवनके पूर्व दिशाकी ओरके चैत्यालयमें दर्शन करनेकेलिये गया । वहां भी उसने भक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा पूजा वंदना प्रणाम आदि सव विधिपूर्वक किये और वहां थोडी देरकेलिये बैठगया ॥ १६५ ॥ इतनेमें ही उसने वहां पूर्वविदेहक्षेत्रके महाकक्षा देशके अरिष्टपुर नगरसे आते हुये अकस्मात् दो चारणमुनि देखे ॥ १६६ ॥ उनमेंसे एकका आदित्यगति नाम था और दूसरेका नाम अरिंजय था । ये दोनों ही महामुनि युगंधर तीर्थंकरके समवसरणरूपी सरोवरके मुख्य हंस थे ॥ १६७ ॥ जब ये दोनों मुनि सुखपूर्वक विराजमान होगये तव वह बुद्धिमान् स्वयंबुद्ध मंत्री उन दोनोंके समीप गया । दोनोंकी बार बार पूजाकी प्रणाम किया और अपना मनोरथ उनसे पूछने लगा कि ॥ १६८ ॥ हे भगवन् आप इस समस्त संसारको जाननेकेलिये अवधिज्ञान धारण करते हैं । इसीलिये मैं अपना कुछ मनोरथ पूछना चाहता हूं उसे कृपा कर आप कहिये ॥ १६९ ॥ हे भगवन् ! संसारमें अति प्रसिद्ध विद्याधरोंका स्वामी राजा महाबल मेरा स्वामी है वह भव्य है या अभव्य यह मुझे संदेह है ॥ २०० ॥ एकदिन मैंने श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये सन्मार्गका स्वरूप दिखाया था वह उसने प्रमाण तो कर लिया है परंतु वह उसपर श्रद्धा करता है या नहीं यह बात मैं आपके अनुग्रहसे जानना चाहता

श्रद्धास्यते नेति जिज्ञासे वामनुग्रहात् ॥ २०१ ॥ इति प्रश्नमुपन्यस्य तस्मिन्विश्रांतिमीयुषि । तयोरादित्यगत्याख्यः समाख्यदवधीक्षणः ॥ २०२ ॥ भो भव्य भव्य एवासौ प्रत्येष्यति च ते वच. । दशमे जन्मनीतश्च तीर्थकृत्त्वमवाप्स्यति ॥ २०३ ॥ द्वीपे जंबूमतीहैव विषये भरताह्वये । जनितैष्यत्युगारंभे भगवानादितीर्थकृत् ॥ २०४ ॥ इतोऽतीतभव चास्य वक्ष्ये शृणु समासतः । धर्मबीजमनेनोप्त यत्र भोगेच्छयान्वित ॥ २०५ ॥ इहैवापरतो मेरोर्विदेहे गंधिलाभिधे । पुरे सिंहपुराभिख्ये पुरदरपुरोपमे ॥ २०६ ॥ श्रीषेण इत्यभूद्राजा राजेव प्रियदर्शन. । देवी च सुंदरी तस्य बभूवात्यतसुदरी ॥ २०७ ॥ जयवर्माह्वयः सोऽस्य तयो. सूनुरजायत । श्रीवर्मेति च तस्याभूदनुजो जनताप्रियः ॥ २०८ ॥ पित्रोरपि निसर्गेण कनीयानभवत्प्रियः । प्रायः प्रजात्वसाम्येऽपि कचित्प्रीतिः प्रजायते ॥ २०९ ॥ जनानुरागमुत्साह पिता दृष्ट्वा कनीयसि । राज्यपट्टं बबंधास्य

हूं ॥ २०१ ॥ जब वह स्वयंबुद्ध मंत्री अपना प्रश्न कर चुका और चुप हो रहा तब उन दोनोंमेंसे आदित्यगति नामके अवधिज्ञानी मुनि कहने लगे कि ॥ २०२ ॥ भो भव्य तुम्हारा महाबल राजा भव्य है और वह तुम्हारे कहे हुये वाक्योंपर विश्वास करता है। केवल इतना ही नहीं किंतु इससे दशवें भवमें वह तीर्थंकर पदवीको प्राप्त होगा ॥ २०३ ॥ वह इसी जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमें इसी आनेवाली कर्मभूमिके प्रारंभमें श्रीवृषभदेव प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न होगा ॥ २०४ ॥ हे भव्य ! मैं संक्षेपसे उसके बीते हुये भव भी कहता हूं तू सुन। उससे यह भी मालूम हो जायगा कि उसने भोगोंकी इच्छा करते हुये धर्मका बीज कहां और किसप्रकार बोया था ॥ २०५ ॥ इसी जंबूद्वीपके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें एक गंधिला नामका देश है और उसमें इंद्रके नगरके समान एक सिंहपुर नामका नगर है। उसमें चंद्रमाके समान सबको प्रिय श्रीषेण नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम सुंदरी था वह रानी वास्तवमें अत्यंत सुंदरी ही थी। ॥२०६-२०७॥ उन दोनोंके जयवर्मा नामका पहला पुत्र उत्पन्न हुआ और सब लोगोंको प्रिय श्रीवर्मा नामका एक छोटा भाई भी हुआ ॥ २०८ ॥ माता पिता दोनों स्वभावसे ही इस छोटे पुत्रपर अधिक प्रेम रखते थे सो ठीक ही है संतान समान होनेपर भी किसीपर प्रेम अधिक होता ही है ॥२०९॥ राजा श्रीषेणने श्रीवर्मापर प्रजाका अनुराग और उत्साह देखकर अपने बड़े पुत्र जयवर्माकी अवहेलना पूर्वक श्रीवर्माकोही युवराजपद-

ज्यायांसमवधीरयन् ॥ २१० ॥ जयवर्माथ निर्वेदं परं प्राप्य तपोऽग्रहीत् । स्वयंप्रभगुरो पार्श्वे स्वमपुण्यं विगर्हयन् ॥ २११ ॥ नवसयत एवासौ यातमृद्धया महीधर । खे खेचरेशमुच्चक्षुवीक्ष्यासीत्सनिदानक ॥ २१२ ॥ महाखेचरभोगान्मे भूयासुर्मेऽन्यजन्मनि । इति ध्यायन्नसौ दष्टो वल्मीकाद्भीमभोगिना ॥ २१३ ॥ भोगकाम्यन्विसृष्टासुरिह भूत्वा महावल । सोऽनाशितभवान्भोगानभुंक्तेऽद्य खचरोचितान् ॥ २१४ ॥ ततो भोगेष्यसावेव चिरकालमरज्यत । भवद्वचोऽधुना श्रुत्वा क्षिप्रमेभ्यो विरंस्यति ॥ २१५ ॥ सोऽद्य रात्रौ समैक्षिष्ट स्वप्ने दुर्मंत्रिभिस्त्रिभि । निमज्यमानमात्मान बलात्पंके दुरुत्तरे ॥२१६॥ ततो निर्भर्त्स्य तान्दुष्टान्दु पकादुद्धृत त्वया । अभिषिक्त स्वमौक्षिष्ट निविष्टं हरिविष्टरे ॥२१७॥

दिया जिससे जयवर्माको अत्यंत वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह अपने पापोंको धिक्कार देता हुआ स्वयंप्रभ गुरुके समीप दीक्षा लेकर तपश्चरण करने लगा ॥२१०-२११॥ एक दिन महीधर नामका विद्याधर अपनी समस्त विभूतिके साथ आकाशमार्गसे जा रहा था और उससमय वह जयवर्मा मुनि नवीन ही दीक्षित हुआ था। इसलिये उसने आंख उठाकर ऊपरकी ओर देखा और उस विद्याधरको देखकर निदान किया कि-॥२१२॥ मुझे आगेके जन्ममें इस विद्याधरके समान बड़े बड़े विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगकी सामग्री मिले। वह ऐसा सोच ही रहा था कि अकस्मात् वामीसे निकलकर एक सर्पने उसे डसलिया ॥ २१३ ॥ भोगोंकी इच्छा करते हुये उसने प्राण छोडे थे इसलिये वह मरकर महावल राजा हुआ है और कभी तृप्त न करनेवाले ऐसे विद्याधरोंके योग्य भोगोपभोगोंका उपभोग कर रहा है ॥ २१४ ॥ वह अबतक भोगोपभोगोंमें फंसा हुआ था किंतु अब वह तुम्हारे वचन सुनकर शीघ्र ही इन भोगोंसे विरक्त होगा ॥ २१५ ॥ उसने आज ही रातको स्वप्नमें देखा है कि अन्य तीन मंत्रियोंने एक बड़ी भारी कीचड़में उसे बलात्कार फंसा दिया है और तुमने उन तीनों दुष्ट मंत्रियोंको धिक्कार देकर उसे उस भारी कीचड़मेंसे निकाला है तथा सिंहासनपर विराजमानकर उसका अभिषेक किया है ॥ २१६ ॥ २१७ ॥ दूसरे स्वप्नमें उसने देखा है कि एक अग्निकी प्रज्वलित ज्वाला बिजलीके समान चंचल और प्रतिस-

दीप्तामेकां च सज्ज्वालां क्षीयमानामनुक्षणं । क्षणप्रभामिवालोलामपश्यत्तल्पगदात्यये ॥ २१८ ॥ दृष्टा स्वप्नावतिस्पष्ट त्वामेव प्रतिपालयन् । आस्ते तस्मात्त्वमाश्वेव गत्वैन प्रतिबोधय ॥२१९॥ स्वप्नद्वयमद. पूर्व त्वत्त. श्रुत्वातिविस्मितः । प्रीतो भवद्वच' कृत्स्न स करिष्यत्यसशय ॥२२०॥ तृषित पयसीवाब्दात्पतिते चातकोऽधिक । जनुषाध इवानध-करणे परमौषधे ॥ २२१ ॥ रुचिमेष्यति सद्धर्मे त्वत्तः सोऽद्य प्रबुद्धधीः । दूत्येव मुक्तिकामिन्याः काललब्ध्या प्रचोदित. ॥ २२२ ॥ विद्धि तद्भाविपुण्यर्द्धिपिशुन स्वप्नमादिम । द्वितीय च तदीयायुरतिन्हासनिवेदक ॥ २२३ ॥ मासमात्रावशिष्ट च जीवित तस्य निश्चित । तदस्य श्रेयसे भद्र घटेथास्त्वमशीतक. ॥ २२४ ॥ इत्युदीर्य ततोऽतर्विमगात्सोऽवरचारण । सम

मय क्षय होती चली जा रही है। ये दोनों स्वप्न उसने आज ही प्रातःकालके समय देखे हैं ॥ २१८ ॥ अत्यंत स्पष्टरीतिसे इन दोनों स्वप्नोंको देखकर इससमय वह तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है इसलिये तुम शीघ्र जाओ और उसे समझाओ ॥२१९॥ उसके कहनेके पहले तुम ये दोनों स्वप्न उसे सुना देना। इन्हें सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य होगा और वह संतुष्ट होकर तुम्हारी सब बातोंपर विश्वास करलेगा ॥ २२०॥ जैसे मेघसे पड़े हुये जलसे प्यासा चातक संतुष्ट होता है अथवा जन्मांधपुरुष परम औषधिके द्वारा नेत्र उघड़जानेपर आनंद मानता है ठीक उसीप्रकार काललब्धिकेद्वारा अथवा मुक्तिरूपी स्त्रीकी दूतीके द्वारा प्रेरणा किया हुआ वह बुद्धिमान् राजा महाबल आज केवल तुम्हारे बचन सुनकर ही सद्धर्ममें विश्वास करने लग जायगा ॥ २२१-२२२ ॥ राजा महाबलने जो पहला स्वप्न देखा है वह आगामी कालमें होनेवाले पुण्य और विभूतिका सूचक है तथा उसका दूसरा स्वप्न उसकी अतिशय अल्प रहजानेवाली आयुका सूचक है ॥ २२३ ॥ अब उसकी आयु केवल एक महीनेकी शेष रहगई है। इसलिये हे भद्र अब तुम जाकर अतिशीघ्र उसके कल्याण करनेका प्रयत्न करो ॥२२४॥ यह सब विषय कहकर तथा स्वयंबुद्ध मंत्रीको आशीर्वाद देकर श्रीआदित्यगति चारणमुनि श्रीअरिंजयमुनिके साथ अंतर्धान होगये अर्थात् आकाश-मार्गसे विहार करगये ॥ २२५ ॥ इधर स्वयंबुद्ध मंत्री श्रीमुनिराजके वाक्य सुनकर कुछ व्याकुल हुआ

सधर्मणादित्यगतिराशास्य मन्त्रिण ॥ २२५ ॥ स्वयंबुद्धेऽपि तद्वाक्यश्रवणात्किंचिदाकुलः । द्रुत प्रत्यावृतत्तस्य प्रतिबोधविधायक ॥ २२६ ॥
सत्वर च समासाद्य स तं दृष्ट्वा महावल । चारणर्षिवचोऽशेषमाख्यत्स्वप्नफलावधि ॥ २२७ ॥ हत दु.खानुवधाना हता धर्मो जिनोदित ।
तस्माचस्मिन्मतिं धत्स्व मतिमन्निति चान्वशात् ॥२२८॥ ततः स्वायु त्क्षय वुध्वा स्वयवुद्धान्महावल.। तनुत्यागे मतिं धीमानधत्त विधिवत्तदा॥२२९॥
कृत्वाऽष्टाह्निकमिद्धर्द्धिर्महामहमहापयत् । दिवसान्स्वगृहोद्यानजिनवेश्मनि भक्तित. ॥ २३० ॥ सुतायातिवलाख्याय दत्वा राज्य समृद्धिमत् ।
सर्वानापृच्छ्य मन्त्र्यादीन्परं स्वातन्त्र्यमाश्रित ॥२३१॥ सिद्धकूटमुपेत्याशु परार्घ्यं जिनमदिर । सिद्धार्च्यास्तत्र सपूज्य स सन्यास्थदसाध्वसः॥२३२॥

परंतु महाराज महाबलको समझानेकेलिये शीघ्र ही वह अपने नगरको लौटा ॥ २२६ ॥ तत्काल ही महाराज महाबलके समीप पहुंचा और उन्हें देखते ही श्रीमुनिराजके कहे हुये स्वप्न और उनके फल आदि सब बचन कह सुनाये ॥ २२७ ॥ तदनंतर वह स्वयंबुद्ध खेदके साथ कहने लगा कि हे महाराज समस्त-दुःखोंका दूर करनेवाला यह श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ धर्म ही है। इसलिये हे बुद्धिमन् आप इसीमें अपना चित्त लगाइये इसीका पालन कीजिये ॥ २२८ ॥ अतिशय समृद्धशाली बुद्धिमान् महाराज महाबलने स्वयंबुद्धके मुखसे अपनी आयुका अंत समझकर विधिपूर्वक समाधिमरण धारणकर शरीर छोड़ना निश्चय किया तथा अपने उद्यानके जिनालयमें अष्टाह्निक महायज्ञ कराना प्रारंभ किया और वह भक्ति-पूर्वक वहीं अपने दिन व्यतीत करने लगा ॥ २२९ ॥ २३० ॥ उसने अपना समृद्धशाली राज्य अपने पुत्र अतिबलकेलिये सोंपदिया। तथा मंत्री कुटुंबी आदि सब लोगोंसे आज्ञा लेकर उत्कृष्ट स्वाधीनता धारण की ॥ २३१ ॥ अनंतर वह अति शीघ्र परमपूज्य सिद्धकूट जिनमंदिरमें पहुंचा। वहां उसने सिद्धपरमेष्ठीकी पूजा की तथा निर्भय होकर समाधिमरण धारण किया ॥ २३२ ॥ उस बुद्धिमान महाबलने गुरुकी साक्षी पूर्वक अपने जीवनपर्यंत आहार और शरीरसे ममत्व त्याग करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण की और वीरशय्या आसन धारण किया ॥ २३३ ॥ महाराज महाबल संसारसागरसे पार होनेके लिये आराधनारूपी नाव-

यावज्जीवं कृताहारशरीरत्यागसंगरः । गुरुसाक्षि समारुक्षद्वीरशय्यामसूद्धीः ॥ २३३ ॥ आरुह्याराधनानावं तितीर्षुर्भवसागरं । निर्यापकं स्वयंबुद्धं बहुमेने महाबलः ॥ २३४ ॥ सर्वत्र समतां मैत्रीमनौत्सुक्यं च भावयन् । सोऽभून्मुनिरिवासंगस्त्यक्तबाह्येतरोपधिः ॥ २३५ ॥ देहाहारपरित्यागव्रतमास्थाय धीरधीः । परमाराधनाशुद्धिं स भेजे सुसमाहितः ॥ २३६ ॥ प्रायोपगमनं कृत्वा धीरः स्वपरगोचरान् । उपकारामसौ नैच्छच्छरीरेऽनिच्छता गत ॥ २३७ ॥ तीव्र तपस्यतस्तस्य तनिमानमशातनुः । परिणामस्त्ववर्धिष्ट स्मरत. परमेष्ठिनां ॥ २३८ ॥ अनाशुषोऽस्य गात्रणां पर शिथिलताऽभवत् । नारूढायाः प्रतिज्ञाया व्रतं हि महतामिदं ॥ २३९ ॥ शरद्घनइवारूढकार्श्योऽभूत्स रसक्षयात् । मासासृजवियुक्तं हि

पर आरूढ हुआ तथा स्वयंबुद्ध मंत्रीको निर्यापकाचार्य (नावचलानेवाला खेवटिया) बनाकर उसे बहुत कुछ मानने लगा ॥२३४॥ वह सुख दुःख आदि सब विषयोंमें समता धारण करने लगा सव जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करने लगा। उसने उत्सुकता छोड़दी और बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका भी त्याग करदिया इसलिये वह परिग्रहरहित मुनिके समान प्रतिभासित होने लगा ॥ २३५ ॥ उस धीर वीर बुद्धिमान् महाराज महाबलने शरीर और आहार त्याग करनेका व्रत धारण किया सब इंद्रियां वश कीं और ज्ञानदर्शन चारित्र तप इन चारों आराधनाओंकी परम विशुद्धि धारण की तथा ॥ २३६ ॥ जीवनपर्यंत अन्नजलका त्याग किया शरीरसे ममत्व छोडदिया इसलिये वह शरीरकी रक्षा करनेकेलिये न तो स्वयं ही कुछ उपाय करता था और न दूसरोंसे किसी उपकारकी इच्छा रखता था ॥ २३७ ॥ उसने तीव्र तपश्चरण किया इसलिये उसका शरीर अतिशय कृष होगया था परंतु वह निरंतर अरहंत आदि पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करता था इसलिये उसके परिणामोंकी विशुद्धि निरंतर बढती जाती थी ॥ २३८ ॥ निरंतर उपवास करनेके कारण उसका शरीर अति शिथिल होगया था परंतु उसकी ग्रहण की हुई प्रतिज्ञामें रंचमात्र भी शिथिलता नहीं आई थी, सो ठीक ही है प्रतिज्ञामें शिथिलता न करना ही महापुरुषोंका उत्कृष्ट व्रत है ॥ २३९ ॥ उसके शरीरका रक्त मांस सब सूख गया था इसलिये वह शरदऋतुके बादलके समान

देह सुर इवाबिभ· ॥ २४० ॥ गृहीतमरणारम्भव्रतं तं वीक्ष्य चक्षुषी । शुचेव क्वापि संलीने प्राग्विलासाद्विरेमतु· ॥ २४१ ॥ कपोलावस्य संशुष्यदसृग्मांसत्वचावपि । गढा कांत्यानपायिन्या नौज्झिष्टां प्राक्तनीं श्रिय ॥ २४२ ॥ नितांतपविरावसौ केयूरकिणकर्कशौ । तदाऽस्योज्झितकाठिन्यौ मृदिमानमुपेयतुः ॥ २४३ ॥ आभुग्नमुदर चास्य त्रिबलीभगसगम । निवातनिस्तरगाबुसर· शुष्यदिवाभवत् ॥ २४४ ॥ तपस्तनूनपात्तापाद्दिदीपेऽधिकमेव सः । कनकाश्म इवाध्मात परा शुद्धिं समुद्वहन् ॥ २४५ ॥ असह्य तनुसताप सहमानस्य हेलया । ययु· परीषहा भग-

---

अत्यंत कृष होगया था। अथवा रक्तमांसरहित वह शरीर सप्तधातुरहित देवोंके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था ॥ २४० ॥ महाराज महाबलने मरणसमयमें कठिन व्रत धारण किये हैं यह देखकर उसके दोनों नेत्र शोकसे ही अदृश्य होगये थे तथा उन्होंने पहलेके हाव भाव विलास आदि सब छोड दिये थे ॥ २४१ ॥ उसके दोनों गालोंके रक्त मांस चमड़ा आदि सब सूख गये थे इसलिये वे दोनों गाल बैठगये थे तथापि अविनाशिनी कांतिके द्वारा बढी हुई उनकी पहली शोभा कम नहीं हुई थी ॥ २४२ ॥ उसके जो कंधे बाजूबंदके कारण अत्यंत कर्कश और नितांत कठिन थे, उन्होंने उस समाधिमरणके समय अपनी सब कठिनता छोडदी थी तथा वे अत्यंत कोमल वा सिथिल हो गये थे ॥ २४३ ॥ उसके उदरकी त्रिबली सब नष्ट होगई थी तथा उदर भी कुछ संकुचित हो गया था इसलिये वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों वायुके न चलनेसे तरंगरहित सूखता हुआ तालाव ही हो ॥ २४४ ॥ जिसप्रकार अग्निसे तपाया हुआ कनकपाषाण अतिशय शुद्धता धारण करता हुआ अधिक सुशोभित होता है उसीप्रकार तपरूपी अग्निसे तप्त हुआ वह राजा महाबल और भी अधिक सुशोभित होने लगा था ॥२४५॥ जो राजा अनेक असह्य शरीरसंताप लीलामात्रमें सहन करता था जो कभी किसी युद्ध वा प्रतिज्ञासे परान्मुख नहीं हुआ था उसके साथ ऐसी अवस्थामें युद्ध करते हुये परिषहोंको भी हार माननी पड़ी थी ॥२४६॥ यद्यपि उसके शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डीमात्र रहगई थी तथापि वह अपने समाधिरूपी बलसे सब परिषहोंको जीतता था इसयिले

मर्मभंगस्यास्य संगरे ॥ २४६ ॥ त्वगस्थीभूतदेहोऽपि यद्वयजेष्ट परीषहान् । स्वसमाधिबलाद्व्यक्त स तदाऽऽसीन्महाबलः ॥२४७॥ मूर्ध्नि लोकोत्तमान्सिध्दान्स्थापयन्हृदयेऽर्हतः । शिरःकवचमस्त्र च स चक्रे साधुभिस्त्रिभि· ॥२४८॥ चक्षुषी परमात्मानमद्राष्टामस्य योगतः । अश्रौष्टा परमं मत्र श्रोत्रे जिह्वा तमापठत् ॥ २४९ ॥ मनोगर्भगृहेऽर्हत विधायासौ निरजन । प्रदीपमिव निर्धूतध्वातोऽभूद्ध्यानतेजसा ॥२५०॥ द्वाविंशतिदिनान्येष कृतसल्लेखनाविधिः । जीवितांते समाधाय मन स्वं परमेष्ठिषु ॥ २५१ ॥ नमस्कारपदान्यंतर्जल्पेन निभृत जपन् । ललाटपटविन्यस्तहस्तपकजकुड्मलः ॥ २५२ ॥ कोशादसेरिवान्यत्व देहाज्जीवस्य भावयन् । भावितात्मा सुख प्राणानौज्झत्सन्मत्रिसाक्षिक ॥ २५३ ॥ मंत्रशक्त्या

ही उसके महाबल नाम की सार्थकता प्रगट होती थी ॥२४७॥ उसने मस्तकपर लोकोत्तम श्रीसिद्धभगवानको और हृदयमें अरहंत भगवानको स्थापन किया था । तथा आचार्यपरमेंष्ठीके ध्यानका टोप, उपाध्यायपरमेष्ठीके ध्यानका कवच और साधु परमेष्ठीके ध्यानका अस्त्र धारण किया था । इसप्रकार उसने अपने पांचों स्थान पंच परमेष्ठियोंसे आच्छादन किये थे ॥२४८॥ ध्यानके द्वारा उसके दोनों नेत्र केवल परमात्माको ही देखते थे कान केवल परममंत्र पंचनमस्कारमंत्रको ही सुनते थे और जिह्वा केवल उसी पंचनमस्कारमंत्रका पाठ करती थी ॥ २४९ ॥ महाराजमहाबलने अपने मनरूपी गर्भगृहमें निर्धूम दीपकके समान कर्मकलंकादिरहित श्रीअरहंतभगवानको स्थापनकर ध्यानरूपी तेजके द्वारा अज्ञानांधकाररहित अवस्था धारण करली थी ॥ २५० ॥ इसप्रकार विधिपूर्वक समाधिमरण धारण करते हुये महाराज महाबलको बाईस दिन व्यतीत होगये आयुके अंतसमयमें उसने अपना मन पंच परमेष्ठियोंके ध्यानमें लगाया, अपने हस्तरूपी कमल मुकुलितकर अपने विस्तीर्ण ललाटपर स्थापन किये और अपने अंतःकरणमें पंचनमस्कारमंत्रका निश्चल जप करते हुये, म्यानसे तलवारके समान शरीरसे जीवको सर्वथा भिन्न चिंतवन करते हुये तथा अपने आत्माका निरंतर चिंतवन करते हुये स्वयंबुद्ध मंत्रीके समीप सुखपूर्वक प्राण त्याग किये। ॥२५१-२५२-२५३॥ स्वयंबुद्ध मंत्री जिसप्रकार पहले महाराज महाबलकी राज्यावस्थामें अपनी मंत्रशक्तिके

यथा पूर्वं स्वयंबुद्धो न्यधाद्बलं । तदापि मंत्रशक्त्यैव बलं न्यास्थन्महाबले ॥२५४॥ साचिव्यं सचिवेनेति कृतमस्य निरत्ययं । तदा धर्मसहायत्व निर्व्यपेक्ष प्रकुर्वता ॥२५५॥ देहभारमथोत्सृज्य लघूभूत इव क्षणात् । प्रापत्स कल्पमैशानमनल्पसुखसान्निधिं ॥२५६॥ तत्रोपपादशय्यायामुदपादि महोदय । विमाने श्रीप्रभे रम्ये ललितांग. सुरोत्तम. ॥२५७॥ यथा वियति वीताभ्रे साभ्रा विद्युद्विरोचते । तथा वैक्रियिकी दिव्या तनुरस्याचिरादभात् ॥२५८॥ नवयौवनपूर्णो ना सर्वलक्षणसभृत' । सुप्तोत्थितो यथा भाति तथा सोंतर्मुहूर्ततः ॥२५९॥ ज्वलत्कुडलकेयूरमुकुटांगदभूषणः । सृग्वी सदंशुकधर. प्रादुरासीन्महाद्युति. ॥२६०॥ तस्य रूप तदा रेजेऽनिमेषालसलोचन । झषद्वयेन निष्कपस्थितेनेव सरोजल ॥२६१॥ बाहुशाखो-

---

द्वारा बल अर्थात् चारों प्रकारकी सेना तैयार करता था ठीक उसी प्रकार उसने समाधिमरणके समयमें भी पंचनमस्कार मंत्रकी शक्तिके द्वारा ही महाराज महाबलमें दर्शन ज्ञानचारित्र और तपरूपी बल स्थापन किया ॥ २५४ ॥ इसप्रकार अपेक्षारहित धर्मसहाय करनेवाले स्वयंबुद्ध मंत्रीने महाराज महाबलके समाधिमरणके अंतसमयतक निरंतर अपने मंत्रीपनेका काम किया ॥ २५५ ॥ इधर महाराज महाबलका जीव शरीरका भार वहां पर छोड़ देनेके कारण मानों हलका होकर क्षणभरमें अनेक सुख सामग्रियोंसे भरे हुये द्वितीय ऐशानस्वर्गमें जा पहुंचा और ॥ २५६ ॥ वहां उपपाद शय्यामें उत्पन्न होकर अति सुंदर श्रीप्रभविमानमें बड़ी ऋद्धिका धारक ललितांग नामका उत्तम देव हुआ ॥ २५७ ॥ जैसे बादलरहित स्वच्छ आकाशमें स्वेत बादलों सहित बिजली शोभायमान होती है ठीक उसीप्रकार उसका वैक्रियिकशरीर तत्काल ही अतिशय सुंदर होगया ॥ २५८ ॥ जैसे कोई पुरुष सोतेसे उठता है उसीप्रकार वह उपपादशय्यासे उठ कर अंतर्मुहूर्त्तमें संपूर्ण लक्षणोंसहित पूर्ण नवयौवनकी सुंदरता धारण करता हुआ ॥ २५९ ॥ कानोंमें दैदीप्यमान कुंडल, भुजाओंमें केयूर बाजूबंद और मस्तकपर मुकुट आदि आभूषण पहने हुये गलेमें माला और शरीरपर दिव्य वस्त्र धारण किये हुये अतिशय कांतिमान् वह ललितांग देव उत्पन्न हुआ ॥ २६०॥ उसके दोनों नेत्र टिमकाररहित थे इसलिये उसका रूप ऐसा दिखता था जैसे निश्चल बैठी हुई दो

ज्ज्वलं श्रीमत्तलपल्लवकोमलं । नेत्रभृंगं वपुस्तस्य भेजे कल्पाग्रिपश्रियं ॥२६२॥ ललितं ललितांगस्य दिव्य रूपमयोनिजं । इत्येव वर्णना ऽस्यास्तु किं वा वर्णनयान्यया ॥२६३॥ पुष्पवृष्टिस्तदा ऽपप्तन्मुक्ता कल्पद्रुमै. स्वयं । दुदुभिस्तनितं मद्रं जजृंभे रुद्धादिक्तटं ॥२६४॥ मृदुराधूतमंदारनंदनादाहृत्रज. । सुगंधिराववौ मंदमनिलो ऽवुकणान्किरन् ॥२६५॥ ततो ऽसौ वलिता किंचिद्दृश व्यापरयन् दिशः । समंतादानमद्देवकोटिदेहप्रभाजुषां ॥२६६॥ अहो परममैश्वर्यं किमेतत्को ऽस्मि के त्विमे । आनमत्येत्य मा दूरादित्यासीद्विस्मितः क्षण ॥२६७॥ क्वायातो ऽस्मि कुतो वा ऽद्य पप्रसीदति मे मन ।

मछलियोंसे तालावका जल सुंदर दिखता हो अथवा ॥ २६१ ॥ यों कहना चाहिये कि उसका शरीर ठीक कल्पवृक्षकी शोभाको धारण करता था क्योंकि उसकी दोनों लंबी भुजायें उज्ज्वल शाखाके समान थीं अतिशय सुंदर हाथोंकी हथेली कोमल पत्तोंके समान थीं और दोनों नेत्र भ्रमरोंके समान थे ॥२६२॥ ऐसे ललितांग देवके रूपका वर्णन और कहांतक किया जाय केवल इतनेमें ही समझलेना चाहिये कि विना योनिके उत्पन्न हुये उस ललितांगदेवका दिव्य रूप अत्यंत ही सुंदर था ॥ २६३ ॥ जिससमय वह उत्पन्न हुआ था उससमय वहां अपने आप कल्पवृक्षोंसे पुष्पवृष्टि होने लगी दुंदुभि वाजे बजने लगे जिनके मधुर और गंभीर शब्द सब दिशाओंमें व्याप्त होने लगे तथा ॥ २६४ ॥ अतिशय छोटी २ पानीकी बूंदें डालता हुआ तथा नंदनवनके हिलते हुये कल्पवृक्षोंसे पुष्पपराग ग्रहण करता हुआ अतिशय कोमल मंदसुगंध वायु बहने लगा ॥२६५॥ तदनंतर उस ललितांगदेवने इधर उधर दृष्टि घुमाकर सब दिशाओंको अवलोकन किया और देखा कि सब दिशायें चारों ओरसे नमस्कार करते हुये करोड़ों देवोंके शरीरकी कांतिसे देदीप्यमान हो रही हैं ॥ २६६ ॥ यह सब सामग्री देखकर ललितांगदेव क्षणभरके लिये चकित होगया और सोचने लगा कि यह सब परम ऐश्वर्य क्या है ? मैं कौन हूं ? ये सब कौन हैं जो दूर दूरसे आकर मुझे नमस्कार करते हैं ? ॥ २६७ ॥ मैं कहां आगया ? आज मेरा मन अतिशय प्रसन्न क्यों है ? यह शय्या स्थान किसका है ? और यह मनोहर आश्रम कौनसा है ॥ २६८ ॥ इसप्रकार चिंतवन कर ही रहा था

शय्यातलमिदं कस्य रम्यः कोऽयं महाश्रमः ॥२६८॥ इति चिंतयतस्तस्य क्षणादवधिरुद्ययौ । तेनाबुद्ध सुरः सर्वं स्वयंबुद्धादिवृत्तक ॥२६९॥ इदं तपःफल दिव्यमय स्वर्गो महाद्युतिः। इमे देवास्समुत्सर्पद्देहोद्योता प्रणामिन. ॥२७०॥ विमानमेतदुद्भासि कल्पपादपवेष्टित । इमा मजुगिरो देव्य शिंजानमणिनूपुरा ॥२७१॥ अप्सरःपरिवारोऽयमितो नृत्यति सस्मित । गीयत कलमामद्रमितश्च मुरजध्वनि. ॥२७२॥ इति निश्चित्य तत्सर्वं भवप्रत्ययतोऽवधेः । शय्योत्सगे सुखासीनो नानारत्नाशुभासुरे ॥२७३॥ जयेश विजयिन्नद नेत्रानंद महाद्युते। वर्धस्वेत्युद्गिरो नम्रास्तमासीदन्दिवौकसः ॥२७४॥सप्रश्रयमथोपेत्य स्वनियोगप्रचोदिताः । ते त विज्ञापयामासुरिति प्रणतमौलयः ॥२७५॥ प्रतीच्छ प्रथम नाथ सज्ज मज्जनमगलं । तत. पूजां

कि उसे उसी क्षण अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे तत्काल ही स्वयंबुद्धके उपदेशसे मुझे यह देवपद प्राप्त हुआ है इत्यादि सब समाचार जानलिये और ॥ २६९ ॥ यह भी निश्चय करलिया कि यह मनोहरता केवल तपका फल है, यह महा देदीप्यमान स्वर्ग है, ये प्रणाम करते हुये तथा अपने शरीरकी कांतिसे चारों ओर प्रकाश करते हुये देव हैं। यह प्रकाशमान और कल्पवृक्षोंसे सुशोभित श्रीप्रभ नामका विमान है। यह देखो जिनके पैरोंमें मणिमय नूपुर लगे हुये हैं ऐसी ये मधुर और सुकोमल भाषण करनेवाली देवी हैं, इधर यह मृदंग बजरहा है, इधर यह अप्सराओंका समूह है जो कि किंचित् हंसता हुआ नृत्य कर रहा है तथा मनोहर और गंभीर गीत गा रहा है। इत्यादि सब बातें उसने भवप्रत्यय अवधिज्ञानसे निश्चय करलीं तथा अनेक रत्नकिरणोंसे प्रकाशमान् शय्यासनपर यह सुखसे बैठा ही था कि वहां अनेक देव विनय करते हुये आये और कहने लगे कि हे स्वामिन्! आपकी जय हो, हे विजयशील! नेत्रोंको आनंद देनेवाले! अतिशय कांतिमान् आप सदा वृद्धिंगत हों ॥ २७०-२७४ ॥ तदनंतर अपने अपने नियोगसे प्रेरित हुये अनेक देव उसके समीप आये और अतिशय विनयपूर्वक नमस्कार करके निवेदन करने लगे कि ॥ २७५ ॥ हे नाथ स्नान करनेकी सामग्री तैयार है स्नान कीजिये और फिर पुण्यकर्मका बंध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा कीजिये ॥ २७६ ॥ अनंतर आपके भाग्यसे प्राप्त हुई तथा

जिनेंद्राणा कुरु पुण्यानुबंधिनीं ॥ २७६ ॥ ततो बलमिदं दैवं भवद्दैवबलार्ज्जितं । समालोकय संघट्टे समापतदितस्ततः ॥ २७७ ॥ इतः प्रेक्षस्व सुप्रेक्ष्या प्रेक्षागृहमुपागत । सलीलभ्रूलतोत्क्षेप नटतीः सुरनर्त्तकी ॥ २७८ ॥ मनोज्ञवेषभूषाश्च देवीर्देवाद्य मानय । देवभूयस्य सप्राप्तौ फलमेतावदेव हि ॥ २७९ ॥ इति तद्वचनादेतत्स सर्वमकरोत्कृती । स्वनियोगानतिक्रातिर्महता भूषण पर ॥ २८० ॥ निष्टप्तकनकच्छाय ससहस्तोच्चविग्रह. । वस्त्राभरणमालाद्यै सहजैरिव भूषितः ॥२८१॥ सुगन्धिमधुरामोदनिश्वासो लक्षणोज्ज्वल. । स दिव्यानन्वभूद्भोगानणिमादिगुणैर्युत ॥ २८२॥ भेजे वर्षसहस्रेण मानसीं स तनुस्थितिं । पक्षेणैकेन चोच्छ्वास प्रवीचारोऽस्य कायिकः ॥ २८३ ॥ तनुच्छायामिवाम्लानिं दधान. स्रजमुज्ज्वला।

अति संघट होनेके कारण इधर उधर पड़ी हुई इस देवोंकी सेनाका निरीक्षण कीजिये ॥ २७७ ॥ तथा नाट्यशालामें जाकर लीलासहित भोंह नचाकर नृत्य करती हुई देखनेयोग्य अतिशय सुंदर अप्सराओंको देखिये ॥ २७८ ॥ हे देव ! आज मनोहर वेष और अभूषणोंसे सुसज्जित इन देवियोंका सत्कार कीजिये क्योंकि देवपर्याय प्राप्त होनेका यही निश्चय फल है ॥ २७९ ॥ इसप्रकार उन देवोंके वचन सुनकर उस पुण्यवान् ललितांगदेवने उनके कथनानुसार सब कुछ किया सो ठीक ही है अपने नियोगका (पूर्वानुगत नियमोंका) उल्लंघन न करना ही महापुरुषोंका उत्कृष्ट भूषण है ॥ २८० ॥ उस ललितांगदेवका शरीर ताये हुये सुवर्णके समान दैदीप्यमान सात हाथ ऊंचा था तथा वस्त्र आभरण माला आदि साथ साथ उत्पन्न होनेवाले आभूपणोंसें सुशोभित था ॥२८१॥ उसका निश्वास अतिशय सुगंधित और मनोहर था तथा अनेक शुभलक्षणोंसे सुशोभित होकर अणिमा महिमा आदि अनेक गुणसहित दिव्य भोगोंका अनुभव करने लगा था ॥ २८२ ॥ एकहजार वर्ष व्यतीत होनेपर वह देव मानासिक आहार लेता था एक पक्ष वीत जानेपर उच्छ्वास लेता था और उसका संभोग शरीरद्वारा होता था ॥ २८३ ॥ वह शरीरकी उज्ज्वल कांतिके समान जो कभी नहीं मुरझाती थी ऐसी माला और शरदऋतुके आकाशके समान निर्मल दिव्य वस्त्र धारण करता था ॥ २८४ ॥ उस ललितांगदेवके चार हजार देवियां थीं और सुंदर

शरत्काल इवाधत्त स दिव्यमरजोऽम्बरं ॥ २८४ ॥ सहस्राण्यभवद्देव्यश्चत्वार्यस्य परिग्रह । चतस्रश्च महादेव्यश्चारुलावण्यविभ्रमाः ॥ २८५ ॥ स्वयम्प्रभाग्रिमा देवी द्वितीया कनकप्रभा । कनकादिलतान्यासीद्देवी विद्युल्लतापरा ॥ २८६ ॥ रामाभिरभिरामाभिराभिर्भोगाननारत । भुञ्जानस्यास्य कालोऽगादनल्प पुण्यपाकजान् ॥ २८७ ॥ तदायुर्जलधेर्मध्ये वीचीमाला इवाकुलाः । विलीयते स्म भूयस्यो देव्य. स्वायु स्थितिच्युते ॥ २८८ ॥ पल्योपमपृथक्त्वावशिष्टमायुर्यदाऽस्य च। तदोदपादि पुण्यै स्वै प्रेयस्यस्य स्वयप्रभा ॥ २८९ ॥ अथ सा कृतनेपथ्या प्रभातरल विग्रहा । पत्युरङ्कगता रेजे कल्पश्रीरिव रूपिणी ॥ २९० ॥ सैषा स्वयप्रभाऽस्याऽऽसीत्परा सौहार्दभूमिका । चिर मधुकरस्येव प्रत्यग्रा चूतमञ्जरी

हाव भाव लावण्य आदि सहित चार महादेवियां थी ॥ २८५ ॥ इन चारमहादेवियोंमें सबसे प्रधान देवी स्वयंप्रभा थी दूसरी कनकप्रभा तीसरी कनकलता और चौथी विद्युल्लता थी ॥ २८६ ॥ इन सुंदर स्त्रियोंके साथ पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाले अनेक प्रकारके भोगोपभोग निरंतर अनुभव करते हुये इस ललितांगदेवका बहुत काल व्यतीत होगया ॥ २८७ ॥ उसके एकसागरकी आयुरूपी समुद्रमें चंचल तरंगोंके समान अनेक देवियां अपनी पल्योपमकी छोटी आयु पूर्ण होनेपर विलीन हो जाती थीं ॥ २८८ ॥ जब ललितांगदेवकी आयु [1]पृथक्त्व पल्यके समान शेष रहगई तब उसके पुण्योदयसे एक स्वयंप्रभा देवी उत्पन्न हुई थी ॥ २८९ ॥ अनेक आभरण पहने हुये तथा अपनी कांतिसे चंचल शरीर धारण किये हुये वह स्वयंप्रभा ललितांगके समीप ऐसी सुंदर मालूम होती थी मानों रूप धारणकरके स्वर्गकी लक्ष्मी ही आई हो ॥ २९० ॥ उस स्वयंप्रभासे ललितांगदेवका चित्त अतिशय प्रसन्न होता था जैसेकि नवीन आम्रकलिकासे भ्रमरका चित्त प्रसन्न होता है ॥ २९१ ॥ वह ललितांगदेव स्वयंप्रभाकामुख देखकर तथा उसके शरीरका स्पर्शकर हथिनीमें आसक्त हुये हाथीके समान चिरकाल तक क्रीड़ा करता था ॥ २९२ ॥ उस स्वयंप्रभाके साथ साथ जहां मनोहर चंद्रकांत शिला पडी हुई है जहां भ्रमर कोकिल आदि

---

१ दोसे नौ तककी गिनतीको पृथक्त्व कहते हैं ।

॥ २९१ ॥ स्वयंप्रभाननालोकतद्गात्रस्पर्शनोत्सवै । स रेमे करिणीसक्त करीव सुचिरं सुरः ॥ २९२ ॥ स तया मंदरे कांतचंद्रकाताशिलातले । भृंगकोकिलवाचालनंदनादिवनान्विते ॥ २९३ ॥ नीलादिष्वचलेंद्रेषु खचराचलसानुषु । कुंडले रुचके चाद्रौ मानुषोत्तरपर्वते ॥ २९४ ॥ नदी श्वग्महाद्वीपे द्वीपेष्वन्येषु चाब्धिषु । भोगभूम्यादिदेशेषु दिव्य देवोऽवसत्सुखं ॥ २९५ ॥ इति परमसुदार दिव्यभोग महर्द्धिं सममरवधूभिः सोन्वभूदद्भुतश्री । स्मितहसितविलासस्पष्टचेष्टाभिरिष्टं स्वकृतसुकृतपाकात्साधिकं वार्द्धिमेकं ॥ २९६ ॥ स्वतनुमतनुतीव्रासह्यतापैस्तपोभिर्यदयमकृतधीमान्निष्कलंकाममुत्र । तदिह रुचिरभाभिः स्वर्वधूभिः सहाय सुखमभजत तस्माद्धर्म एवार्ज्जनीयः ॥२९७॥ कुरुत तपसि तृष्णा भोगतृष्णा-

---

पत्तियोंके मनोहरशब्दोंसे बाचालित नंदन पांडुक आदि बन शोभायमान हैं ऐसे सुमेरुपर्वतपर, कभी निषध नील आदि बड़े बड़े पर्वतोंपर कभी विजयार्द्धपर्वतके शिखरोंपर कभी कुंडलगिरिपर कभी रुचकगिरिपर, कभी मानुषोत्तरपर्वतपर, कभी नंदीश्वर महाद्वीपमें, कभी अन्य अनेक द्वीपोंमें, कभी समुद्रोंमें और कभी भोगभूमिके उत्तमप्रदेशोंमें क्रीड़ा करता हुआ सुखपूर्वक निवास करता था ॥२९३-२९४-२९५॥ इसप्रकार अद्भुत शोभा और अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाले उस ललितांगदेवने अपने किये हुये पुण्यकर्मके उदयसे गर्वसहित हास्य और विलासके द्वारा अनेकप्रकारकी स्पष्ट चेष्टा करनेवालीं उपमारहित अनेक देवियोंके साथ कुछ अधिक एकसागरवर्षप्रमाण अपनी इच्छानुसार उत्कृष्ट और बड़े २ दिव्य भोगोंका अनुभव किया था ॥ २९६ ॥ उस बुद्धिमान ललितांगदेवने पूर्व जन्ममें दुर्धर तीव्र और असह्य संताप उत्पन्न करनेवाले तपश्चरणोंके द्वारा अपना शरीर निष्कलंक किया था इसकारण ही उसने देदीप्यमान सुंदर देवागनाओंके साथ अनेकप्रकारके सुख भोगे। अतएव आचार्योंका सदा यही उपदेश है कि सुख चाहनेवालोंको सदा धर्म उपार्जन करना चाहिये धर्मसे ही सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २९७ ॥ भो भव्यपुरुष हो यदि सबसे अधिक संपत्ति चाहते हो तो भोगोपभोगोंकी तृष्णा छोडकर तपश्चरण करनेमें तृष्णा करो तथा कर्ममलकलंकादिरहित, सबके नायक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करो तथा उन्हींके

मपास्य श्रियमधिकतरां चेद्वांछथ प्रांचतेशं । जिनमवृजिनमार्यास्तद्वचः श्रद्दधीध्वं कुकविविरुतमन्यच्छासनं माधिगीध्वं ॥ २९८ ॥ इत्थं विकथ्य-पुरुषार्थसमर्थनो यो धर्मः कुकर्मकुटिलाटविसत्कुठार । त सेवितु बुधजना प्रयतध्वमाध्वं जैने मते कुमतिभेदिनि सौख्यकामाः ॥२९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे ललितांगस्वर्गभोगवर्णनं नाम पचमं पर्व ।

अथ षष्ठं पर्व ।

कदाचिदथ तस्यासन्भूषासबंधिनोमलाः । मणयस्तेजसा मदा निशापायप्रदीपवत् ॥ १ ॥ माला च सहजा तस्य महोरस्थल-

बचनोंमें श्रद्धान करो । इनके सिवाय अन्य कुकवियोंके कहे हुये मिथ्यामतोंका आदर और ग्रहण कभी मत करो ॥२९८॥ भो पंडितजन हो यदि आपलोग सुख चाहते हो तो अति प्रशंसनीय धर्म अर्थ काम और मोक्ष प्रदान करनेवाला तथा पापकर्मरूपी विषमवनके नाश करनेकेलिये कुठारके समान जो यह जैन धर्म है इसके सेवन करनेके लिये कुमतिको नाश करनेवाले इस जैनमतके ही पालन करनेका शीघ्र प्रयत्न करो ॥ २९९ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणके नवीन हिन्दीभाषानुवादमें ललितांगदेवकी स्वर्ग-प्राप्तिवर्णनवाला पांचवां पर्व समाप्त हुआ ॥

छठा पर्व ।

इसप्रकार वह ललितांगदेव अनेक भोगोंका अनुभव कर रहा था जब उसकी आयु केवल छह महीनेकी रहगई तव उसके आभूषण संबंधी निर्मल मणि अकस्मात् ऐसे तेजरहित होगये जैसे रात्रि व्यतीत होनेपर दीपककी प्रभा मंद पड़जाती है ॥ १ ॥ जन्मसमयसे ही उसके विस्तीर्ण वक्षःस्थलपर पड़ी

सगिनी । म्लानिमागादमुष्यैव लक्ष्मीर्विश्लेषभीलुका ॥ २ ॥ प्रचकंपे तदावाससबंधी कल्पपादपः । तद्वियोगमहावातधूतः साध्वसमादधत् ॥३॥ तनुच्छाया च तस्याऽऽसीत्सद्यो मंदायिता तदा । पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया कावतिष्ठता ॥ ४ ॥ तदालोक्य तमाध्वस्तकांतिं विच्छायतां गत । न शेकुर्द्रष्टुमैशानकल्पजा दिविजा. शुचा ॥ ५ ॥ तस्य दैन्यात्परिप्राप्ता दैन्य तत्परिचारका. । तरौ चलति शाखाद्या विशेषान्न चलति किं ॥ ६ ॥ आजन्मनो यदेतेन निर्विष्टं सुखमामर । तत्तदा पिंडित सर्वं दु खभूयमिवागत ॥ ७ ॥ तत्कंठमालिकाम्लानिवच. कल्पातमानशे । शीघ्ररूपस्य लोकातमणोरिव विचेष्टितं ॥ ८ ॥ अथ सामानिका देवास्तमुपेत्य तथोचित । तद्विपादापनोदीद पुष्कलं वचन जगुः ॥ ९ ॥ भो धीर

हुई वह माला ऐसी मलिन होगई मानौं ललितांगदेवके होनेवाले वियोगसे भयभीत हुई लक्ष्मी ही मलिन पड़गई हो ॥ २ ॥ उसके विमानसंबंधी कल्पवृक्ष भी सब ऐसे कांपने लगे मानों उसके वियोगरूपी महावायुसे कंपायमान हुये भयभीत ही हो रहे हों ॥ ३ ॥ उससमय उसके शरीरकी कांति भी मंद पड़गई सो ठीक ही है पुण्यरूपी छत्रके वियोग होनेपर भला उसकी छाया कहां ठहर सकती है ॥ ४ ॥ उससमय कांति रहित और मलिनताको प्राप्त हुये ललितांगको देखकर ईशानस्वर्गके देव अतिशय शोकके कारण उसे देख न सके ॥५॥ उसकी उदासीनता देखकर परिवारके सव लोग उदास होगये सो ठीकही है वृक्षके हिलने पर उसकी शाखा प्रशाखा आदि क्या विशेषरूपसे नहीं हिलते हैं? अर्थात् हिलते ही हैं ॥६॥ उससमय ऐसा जान पड़ता था कि उसने जन्मसे लेकर आजतक जो देवसंबंधी अनेक सुख अनुभव किये थे वे सव मिलकर मानों दुःखरूप होकर ही आये हों ॥ ७ ॥ 'ललितांगदेवकी माला प्रभाहीन होगई है' यह वाक्य तत्कालही ईशानस्वर्गमें, ऐसे व्याप्त होगया जैसे कि शीघ्रगतिवाला परमाणु समयमात्रमें लोकके अंतपर्यंत चला जाता है ॥ ८ ॥ यह समाचर पाते ही सामानिक जातिके देव तत्काल उसके समीप आये और उसके सुनने योग्य तथा उसका विषाद दूर करनेवाले अनेक बचन कहने लगे ॥ ९ ॥ वे उसे समझाने लगे कि हे धीर आज तुम्हें अपने दृढ़ धैर्यका स्मरण करना चाहिये उसे छोड़ना नहीं चाहिये तथा शोक

धीरतामेव भावयाद्य शुचं त्यजे । जन्ममृत्युजरातंकभयानां को न गोचरः ॥ १० ॥ साधारणीमिमां विद्धि सर्वेषां प्रच्युतिं दिवः । धौरायुषि परिक्षीणे न वोढुं क्षमते क्षण ॥ ११ ॥ नित्यालोकोऽप्यनालोको द्युलोकः प्रतिभासते । विरामात्पुण्यदीपस्य समतादधकारितः ॥ १२ ॥ यथा रतिरभूत्स्वर्गे पुण्यपाकादनारत । तथैवात्रारतिर्भूयः क्षीणपुण्यस्य जायते ॥ १३ ॥ न केवल परिम्लानिर्मालायाः सहजन्मन । पापातपे तपत्यते जतोर्म्लानिस्तनोरपि ॥ १४ ॥ कपते हृदय पूर्वं चरम कल्पपादपः । गलति श्री. पुरा पश्चात्तनुच्छाया सम ह्रिया ॥ १५ ॥ जनापराग एवादौ जृंभते जृंभिका पर । वाससोरपरागश्च पश्चात्पापोपरागत. ॥ १६ ॥ कामरागाऽवमगश्च मानभगादनतर । मन' पूर्वं तमो रुधे दृशौ पश्चादनीदृश

सर्वथा छोड़देना चाहिये क्योंकि जन्म मरण बुढ़ापा रोग और भय आदि किसको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १० ॥ स्वर्गसे च्युत होना यह सबकेलिये एक साधारण बात है क्योंकि जिसकी आयु समाप्त हो जाती है उसे यह स्वर्ग फिर एक क्षण भरभी धारण नहीं कर सकता ॥ ११ ॥ जब इस जीवका पुण्यरूपी दीपक शांत हो जाता है तब चारोंओर इसे अंधकार ही दिखलाई पड़ता है उससमय नित्य प्रकाशमान रहनेवाला यह स्वर्गलोक भी अंधकारमय प्रतिभासित होता है ॥ १२ ॥ जिसप्रकार पुण्यकर्मके उदयसे स्वर्गमें निरंतर प्रीति होती है उसीप्रकार पुण्यकर्मके नाश होनेसे फिर उसी स्वर्गमें अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥ १३ ॥ आयुके अंतसमयमें देवोंके साथ उत्पन्न होनेवाली केवल माला ही मलिन हो जाती है ऐसा न समझिये किंतु पापरूप आतपके तप्तायमान होते हुये इस जीवका शरीर भी प्रभाहीन हो जाता है ॥ १४ ॥ देवपर्यायके अंतसमयमें प्रथम ही हृदय कंपायमान होता है फिर कल्पवृक्ष कंपायमान होते हैं अनंतर शोभा नष्ट होती है और फिर लज्जाके साथ साथ शरीरकी कांति भी नष्ट हो जाती है ॥ १५ ॥ पापकर्मके उदयसे देवोंके अंत समयमें सबसे पहिले परिवार कुटुंवी आदिके लोगोंसे प्रेम नष्ट हो जाता है फिर जंभाई आने लगती हैं और अनंतर शरीपर धारण किये हुये कपड़ोंसे भी अप्रीति उत्पन्न हो जाती है ॥ १६ ॥ तथा प्रथम ही मानभंग होता है पश्चात् विषयभोगोंकी इच्छा नष्ट होती है । अज्ञानांधकार प्रथम ही मनकी गतिको रो

॥ १७ ॥ प्रत्यासन्नच्युतेरेवं यद्दौःस्थ्यं त्रिदिवौकसः । न तत्स्यान्नारकस्यापि प्रत्यक्षं तच्च तेऽधुना ॥१८॥ यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः पुरा । तथा पातोन्मुखः स्वर्गे जंतोरभ्युदयोऽप्ययं ॥ १९ ॥ तस्मान्मा स्म गमः शोकं कुयोन्यावर्त्तपातिन । धर्मे मतिं निधत्स्वार्य धर्मो हि शरणं पर ॥ २० ॥ कारणान्न विना कार्यमार्य जातुचिदीक्ष्यते । पुण्यं न कारणं प्राहुर्बुधाः स्वर्गापवर्गयो. ॥ २१ ॥ तत्पुण्यसाधने जैने शासने मतिमादधे । विषादमुत्सृजेर्नूनं येनानेना भविष्यसि ॥ २२ ॥ इति तद्वचनाद्धैर्यमवलम्ब्य सधर्मधीः । मासार्द्धं भुवने कृत्स्ने जिनवेश्मान्यपूजयत् ॥२३॥ ततोऽच्युतस्य कल्पस्य जिनविंबान्यपूजयत् । तच्चैत्यद्रुममूलस्थ. स्वायुरंते समाहित ॥ २४ ॥ नमस्कारपदान्युच्चैरनुध्यायन्नसाध्वसः । साध्वसौ

कता है और फिर नेत्रोंपर ऐसा असर करता है जो कहनेमें भी नहीं आसकता ॥ १७ ॥ कहां तक कहा-जाय आयु समाप्त होनेपर देवोंको जो दुःख होता है वह नारकियोंको भी नहीं हो सकता । इससमय वही प्रत्यक्ष दुःख तुम्हें प्राप्त हुआ है ॥ १८ ॥ जिसप्रकार उदय होते हुये सूर्यका अस्त होना निश्चित है उसीप्रकार स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके इस अभ्युदयका नष्ट होना भी निश्चित ही है ॥ १९ ॥ इस-लिये हे आर्य ! कदाचित् तुम्हें कुयोनियोंमें पड़नेका डर होगा सो तुम्हें यह शोकभी छोड़ देना चाहिये और अपनी बुद्धि धर्ममें लगानी चाहिये क्योंकि इससंसारमें जीवोंको एक धर्म ही परम शरण है ॥ २० ॥ हे आर्य ! विना कारणके कभी कोई कार्य नहीं देखा जाता है और विद्वान् लोग स्वर्ग मोक्षका कारण पुण्य ही बतलाते हैं ॥२१॥ इसलिये तुम पुण्य उपार्जन करनेकेलिये जैनमतमें ही अपनी बुद्धि लगाओ और विषाद सर्वथा छोड़दो । ऐसा करनेसे तुम निश्चय ही पापरहित हो जाओगे ॥ २२ ॥ इसप्रकार उन सामा-निक जातिके देवोंके बचन सुनकर ललितांग देवने धैर्य धारण किया और धर्मसेवन करनेमें अपनी बुद्धि लगाई और पंद्रह दिनतक तीनों लोकोंके जिनमंदिरोंकी पूजा की ॥२३॥ अनंतर [1]अच्युत स्वर्गके जिन-बिंबोंकी पूजा की और आयुके अंतसमयमें वहीं एक चैत्यवृक्षके नीचे निर्भय और सावधानचित्त होकर

---

१ सोलहवें अच्युत स्वर्गका इंद्र इसका मित्र था वही इसे वहां ले गया था।

मुकुलीकृत्य करौ प्रायाददृश्यतां ॥ २५ ॥ जम्बूद्वीपे महामेरोर्विदेहे पूर्वदिग्गते । या पुष्कलावतीत्याऽऽसीज्जनभूमिर्मनोरमा ॥ २६ ॥ स्वर्गभूनिर्विशेषा ता पुरमुत्पलखेटक । भूषयत्युत्पलच्छन्नशालिवप्रादिसंपदा ॥ २७ ॥ वज्रबाहुः पतिस्तस्य वज्रीवाज्ञापरोऽभवत् । कांता वसुंधरा स्यासीद्द्वितीयेव वसुंधरा ॥ २८ ॥ तयो सूनुरभूद्देवो ललितागस्ततश्च्युत । वज्रजघ इति स्यातिं दधदन्वर्थता गता ॥ २९ ॥ स बंधुकुमुदानदी प्रत्यह वर्द्धयन्कला । संकोचयन्द्विपत्पद्मान्ववृधे बालचंद्रमा ॥ ३० ॥ आरूढयौवनस्यास्य रूपसंपदनीदृशी । जाता कांतिरिवापूर्णमड-

---

बैठगया तथा दोनों हाथ जोड़े हुये जोरसे पंचनमस्कारमंत्रका जप करता हुआ वह ललितांग देव अदृश्य होगया ॥ २४-२५ ॥

इसी जंबूद्वीपमें सुदर्शनमेरुके पूर्व दिशाकी ओर एक विदेहक्षेत्र है जिसमें एक पुष्कलावती नामका अति सुंदर देश है वह देश साक्षात् स्वर्गके समान है। उसी देशमें एक उत्पलखेटक नामका नगर था जो कि कमलोंसे अच्छादित चांवलके खेतों और कोट खाई आदिकी शोभाओंसे समस्त पुष्कलावती देशको सुशोभित कर रहा था ॥ २६-२७॥ इंद्रके समान आज्ञा करने वाला राजा वज्रबाहु उस नगरका शासन करता था। उसकी रानीका नाम वसुंधरा था जोकि सहनशील आदि गुणोंसे वसुंधरा अर्थात् पृथ्वीके समान थी ॥ २८ ॥ जो ललितांगदेव अपनी आयु समाप्त होनेसे अदृश्य हो गया था वह वहांसे चयकर इन्हीं दोनोंके वज्रजंघ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। इसकी जंघाये वज्रके समान थीं इसलिये इसका वज्रजंघ यह सार्थक नाम प्रसिद्ध था ॥ २९ ॥ यह वज्रजंघ कुटुंबरूपी कमोदिनियोंको प्रसन्न करता हुआ तथा शत्रुरूपी कमलोंको संकोच करता हुआ और प्रतिदिन कलाओंकी वृद्धि करता हुआ द्वितीयाके चंद्रमाके समान बढ़ने लगा ॥३०॥ बढ़ते २ जब वह यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ तब उसकी रूपसंपदा उपमारहित अतिशय सुंदर होगई जैसे कि चंद्रमा बढ़ते २ पूर्ण हो जाता है तब उसकी कांति उपमा रहित अति सुंदर हो जाती है ॥ ३१ ॥ इसके शिरके कुटिल लंबे और काले बाल ऐसे शोभयमान होते

लस निशाकृत ।। ३१ ।। शिरस्यस्य बभुर्नीला मूर्द्धजाः कुंचितायताः । कामकृष्णभुजगस्य शिशवो नु विजृंभिता ।। ३२ ।। नेत्रभृंगेमुखाब्जेऽस्य मिताशूत्करकेसरे । धत्ते स्म मधुरा वाणीं मकरंदरसोपमा ।। ३३ ।। नेत्रयोर्द्वितयं रेजे ससक्तं तस्य कर्णयो । सश्रुती ताविवाश्रित्य शिक्षितु सूक्ष्मदर्शिता ।। ३४ ।। उपकंठमसौ दध्रे हारं नीहारसच्छविं । तारानिकरमास्येंदोरिव सेवार्थमागतं ।। ३५ ।। वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चंदनचर्चिका । मेरुर्निजतटे लग्ना शारदीमिव चांद्रिका।।३६।। मुकुटोद्भासिनो मेरुमन्यस्य शिरसोऽतिके । बाहू तस्यायितौ नीलनिषधाविव रेजतु ।।३७।। सरिदावर्त्तगंभीरा नाभिर्मध्येऽस्य निर्बभौ । नारीदृक्करिणीरोधे वारिखातेव हृद्भुवा ।। ३८ ।। रसनावेष्टितं तस्य कटीमंडलमाबभौ । हेमवेदीपरि-

---

थे मानों कामरूपी काले सर्पके बच्चे ही बढ़ गये हों ।। ३२ ।। उसका मुख मानों एक कमलके समान था जिसपर नेत्र ही भ्रमर थे उसकी हंसनेकी किरणें ही केसरके समान थीं और उस मुखरूपीकमलसे निकलती हुई मधुर वाणी परागरसके समान मालूम होती थी ।। ३३ ।। तथा कानतक लंबायमान उसके दोनों नेत्र ऐसे सुशोभित होते थे मानों अनेक शास्त्र श्रवण किये हुये दोनों कानोंके समीप जाकर सूक्ष्मदर्शिताका अभ्यास ही कर रहे हों ।। ३४ ।। उसके कंठके समीप पड़ा हुआ बरफके समान स्वेतवर्णका हार ऐसा सुंदर जान पड़ता था मानों उसके मुखरूपी चंद्रमाकी सेवा करनेकेलिये ताराओंका समूहही आया हो ।।३५।। उसके विस्तीर्ण वक्षस्थल पर चर्चित किया हुआ चंदन ऐसा मालूम होता था मानों मेरु पर्वतके तटभागमें शरदऋतुकी चांदनी ही फैल रही हो ।। ३६ ।। मुकुटसे शोभायमान उसका मस्तक ठीक चूलिकासहित मेरुके समान जान पड़ता था और उसके समीप ही लंबायमान दोनों भुजायें निषध और नील पर्वतके समान सुशोभित होती थीं ।। ३७ ।। उसके शरीरके मध्यभागमें नदीके भ्रमरके समान गंभीर नाभि ऐसी मालूम होती थी मानों कामदेवने स्त्रियोंके नेत्ररूपी हथिनियोंके रोकनेकेलिये गढ्ढा ही खोदा हो ।। ३८ ।। सुवर्णकी करधनीसे वेष्ठित उसका कटिमंडल ऐसा सुशोभित होता था मानों सुवर्णकी वेदीसे घिरी हुई जंबूवृक्षकी वेदिका ही हो ।। ३९ ।। स्थिर गोल और सटे हुये उसके दोनों ऊरु ऐसे

दिप्तमिव जवूद्रुमस्थलं ॥ ३९ ॥ ऊरुद्वयमभात्तस्य स्थिर वृत्तं सुसंहतं । रामामनोगजालानस्तंभलीला समुद्वहत् ॥ ४० ॥ जंघे वज्रस्थिरे नास्य व्यावर्ण्येते मयाऽधुना । तन्नाम्नैव गतार्थत्वात्पौनरुक्त्यविशंकया ॥ ४१ ॥ चरणद्वितय सोऽधादारक्तं मृदिमान्वित । श्रितं श्रियाऽनपायिन्या सचारीव स्थलाबुजं ॥ ४२ ॥ रूपसंपदमुष्यैषा भूषिता श्रुतसंपदा । शरच्चंद्रिकयेवेंदोर्मूर्तिरानंदिनी दृशां ॥ ४३ ॥ पदवाक्यप्रमाणेषु परं प्रावीण्यमागता । तस्य धी सर्वशास्त्रेषु दीपिकेव व्यदीप्यत ॥ ४४ ॥ स कलाः सकला विद्वान्विनीतात्मा जितेंद्रियः । राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यतामागमत्कृती ॥ ४५ ॥ निसर्गजा गुणास्तस्य विश्वं जनमरंजयन् । जनानुरागः सोऽपुष्णान्महतीमस्य योग्यता ॥ ४६ ॥ अनुरागं सरस्वत्यां कीर्त्यां

शोभायमान थे मानों स्त्रियोंके मनरूपी हाथियोंके बांधनेकेलिये दो स्तंभ ही हों ॥ ४० ॥ उसके वज्रके समान स्थिर जंघाओंका तो मैं वर्णन ही नहीं करता क्योंकि वह तो उसके वज्रजंघ नामसे ही प्रसिद्ध है यदि फिर भी कहा जायगा तो कदाचित् लोग पुनरुक्ति दोष समझलेंगे ॥ ४१ ॥ लाल और कोमल उसके दोनों चरण ऐसे सुशोभित थे मानों अविनाशिनी लक्ष्मीसे आश्रित और भूमिपर गमन करनेवाले दो स्थलकमल ही हों ॥ ४२ ॥ श्रुतज्ञानरूपी संपदासे विभूषित उसके रूपकी संपदा नेत्रोंको इसप्रकार आनंद देनेवाली थी जैसे कि शरदऋतुकी चांदनीके साथ २ चंद्रमाकी मूर्त्ति आनंद देनेवाली होती है ॥ ४३ ॥ उसकी बुद्धि शब्दागम युक्त्यागम परमागम आदि सबमें अति प्रवीण होगई थी इसलिये वह समस्त शास्त्रोंको प्रगट करनेकेलिये दीपकके समान दैदीप्यमान थी ॥ ४४ ॥ वह विद्वान् अतिशय नम्र, जितेंद्रिय और समस्त विषयोंमें कुशल था तथा संपूर्ण कलाओंसे सुशोभित था इसलिये राज्यलक्ष्मी भी उसपर अपना कटाक्ष करने लगी थी ॥ ४५ ॥ उसके स्वाभाविक गुण संसारके सब लोगोंको प्रसन्न करते थे तथा मनुष्योंपर उसका स्वाभाविक प्रेम उसकी महती योग्यताको पुष्ट करता था ॥ ४६ ॥ वह वज्रजंघ सरस्वतीमें (शास्त्रोंमें) अनुराग रखता था कीर्तिसे स्नेह रखता था और राज्यलक्ष्मीपर अपने उपभोग करनेका अधिकार रखता था, इन कारणोंसे वह विद्वानोंमें भी श्रेष्ठ गिना जाता था ॥ ४७ ॥ यद्यपि

प्रणयनिघ्नता । लक्ष्म्यां वाल्लभ्यमातन्वन्विदुषां मूर्ध्नि सोऽभवत् ॥ ४७ ॥ स तथापि कृतप्रज्ञो यौवनं परमापिवान् । स्वयंप्रभानुरागेण प्रायो-भूत्स्त्रीषु निस्पृहः ॥ ४८ ॥ तस्येति परमानंदात्काले गच्छति धीमत । स्वयप्रभा दिवश्च्युत्वा क्वोत्पन्नेत्यधुनोच्यते ॥ ४९ ॥ अथ स्वयप्रभा देवी तस्मिन्प्रच्युतिमीयुषि । तद्वियोगाच्चिर खिन्ना चक्राह्वेव विभर्तृका ॥ ५० ॥ शुचाविव च सतापधारिणी मूरभूदमा । समुज्झितकलालापा कोकिलेव घनागमे ॥ ५१ ॥ दिव्यस्येवौषधस्यास्य विरहार्त्तां तथा सतीं । आधयोऽपीडयन्गाढ व्याधिकल्पा सुदुःसहाः ॥ ५२ ॥ ततोऽस्या दृढधर्माख्यो देवोऽत परिषद्भव । शुच व्यपोह्य सन्मार्गे मतिमासंजयत्तरा ॥ ५३ ॥ सा चित्रप्रतिमेवासीत्तदा भोगेषु निःस्पृहा । विमुक्तमृ-

---

पुण्याचरण करनेवाला वह वज्रजंघ यौवन अवस्थाको प्राप्त होगया था तथापि स्वयंप्रभाके अनुरागसे प्रायः अन्यास्त्रियोंमें निस्पृह ही था ॥ ४८ ॥ इसप्रकार उस बुद्धिमान राजकुमारका काल बड़े आनंदके साथ व्यतीत हो रहा था । इधर स्वयंप्रभा महादेवी स्वर्गसे चयकर कहां उत्पन्न हुई सो अव कहते हैं ॥ ४९ ॥ जब आयु समाप्त होनेपर ललितांगदेव अदृश्य होगया था तब वह स्वयंप्रभा उसके वियोगसे बहुत ही खेद खिन्न हुई थी जैसोंकि चकवाके वियोगसे चकवी खेद खिन्न होती है ॥५०॥ अथवा असाढ़मासमें जिस प्रकार पृथ्वी प्रभारहित होकर संतापको धारण करती है उसीप्रकार यह स्वयंप्रभा भी ललितांगके वियोगसे प्रभारहित होगई थी तथा संताप धारण करने लगी थी और जैसे वर्षाऋतुमें कोकिल अपना मधुरभाषण छोड़देती है उसीप्रकार उसके वियोगसे इसनेभी अपना मधुरभाषण छोड़ा दिया था ॥५१॥ दिव्य औषधिके समान ललितांगदेवके विरह होनसे अत्यंत दुःखिनी सती उस स्वयंप्रभाको अति दुःसह व्याधियोंके समान मानसीक पीड़ा दुःख देने लगी थी ॥ ५२॥ तब उसकी अंतःपारिषदके (सभाके) एक दृढ़धर्म नामके देवने उसे समझाकर उसका शोक दूर किया तथा धर्ममार्गमें उसका चित्त आसक्त कराया ॥ ५३ ॥ अनंतर वह स्वयंप्रभा चित्रकी प्रातिमाके समान अथवा जिसने मरनेका भय छोड़दिया

तिभीशूरपुरुषस्येव शेमुषी ॥ ५४ ॥ श्रीमती सा भविष्यती भव्यमालेव धर्मभाक् । षण्मासान् जिनपूजायामुद्यताऽभून्मनस्विनी ॥ ५५ ॥ ततः सौमनसोद्यानपूर्वदिग्जिनमदिरे । मूले चैत्यतरो. सम्यक्स्मरती गुरुपचक ॥ ५६ ॥ समाधिना कृतप्राणत्यागा प्राच्यौष्ट सा दिवः । तारकेव निशापाये सहसाऽदृश्यता गता ॥ ५७ ॥ प्राग्भाषिते विदेहेऽस्ति नगरी पुडरीकिणी । तस्या. पतिरभून्नाम्ना वज्रदतो महीपतिः ॥ ५८ ॥ लक्ष्मीरिवास्य कांतांगी लक्ष्मीमतिरभूत्प्रिया । स तया कल्पवल्ल्येव सुरागोऽलकृतो नृप ॥ ५९ ॥ तयो पुत्री बभूवासौ विश्रुता श्रीमतीति या । पताकेव मनोजस्य रूपसौंदर्यलीलया ॥ ६० ॥ नवयौवनमासाद्य मधुमासमिवाधिक । लोकस्य प्रमद तेने बाला शशिकलेव सा ॥ ६१ ॥ नखैरापा-

---

है ऐसे शूरवीर पुरुषकी बुद्धिके समान समस्त भोगोंसे निस्पृह होगई ॥ ५४ ॥ आगामीकालमें श्रीमती उत्पन्न होनेवाली तथा भव्यमालाके समान धर्मसेवन करनेवाली वह बुद्धिमती स्वयंप्रभा छह महीनेतक बराबर जिनपूजा करनेमें तत्पर रही ॥ ५५ ॥ तदनंतर आयुके अंतसमयमें उसने सौमनसबनमें पूर्वदिशाके जिनमंदिरमें चैत्यवृक्षके नीचे उत्तमरीतिसे पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुये समाधिपूर्वक प्राण त्याग किये तथा वह स्वर्गसे च्युत होकर जैसे रात्रिके अंतसमयमें सब तारे नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार अदृश्य होगई ॥ ५६-५७ ॥ ऊपर कहे हुये पूर्व विदेहक्षेत्रमें एक पुंडरीकिणी नगरी है जिसका अधिपति महाराज बज्रदंत नामका चक्रवती था ॥ ५८ ॥ उसकी रानीका नाम लक्ष्मीमति था । वह रानी लक्ष्मीके समान अति सुंदरी थी । उसके साथ राजा बज्रदंत ऐसा सुशोभित होताथा जैसे कल्पलतासे कल्पवृक्ष शोभायमान होता है ॥ ५९ ॥ वह स्वयंप्रभा स्वर्गसे चयकर इन्हीं दोनोंके श्रीमती नामकी पुत्री हुई । यह श्रीमती रूप और सुंदरताकी शोभासे कामदेवकी पताकाके समान दिखती थी ॥ ६० ॥ जब यह श्रीमती यौवन अवस्थाको प्राप्त हुई तब चैत्रमासमें चंद्रमाकी कलाके समान लोगोंको और भी अधिक आनंदित करती थी ॥ ६१ ॥ उसके रक्तवर्ण नख लाल कुरवक जातिके पुष्पकी शोभाको जीतते थे तथा

टलैस्तस्या जिग्ये कुरबकच्छविः । अशोकपल्लवच्छाया पादभासाधरीकृता ॥ ६२ ॥ रणन्नूपुरमत्तालिझंकारमुखरीकृते । पादारविंदे साऽधत्त लक्ष्म्या शश्वत्कृतास्पदे ॥ ६३ ॥ चिरं यदुदवासेनदधत्कंटकिता तनुं । व्रतं चचारि तेनाब्जं मन्येऽगात्तत्पदोपमां ॥ ६४ ॥ जंघे रराजतुस्तस्याः कुसुमेषोरिवेषुधी । ऊरुदंडौ च विभाते कामेभालानयष्टिता ॥ ६५ ॥ नितंबबिंबमेतस्या सरस्या इव सैकतं । लसद्दुकूलनीरेण स्थगितं रुचिमानशे ॥ ६६ ॥ बलितं दक्षिणावर्त्तनाभिमध्यं बभार सा । नदीव जलमावर्त्तसशोभिसतरंगकं ॥ ६७ ॥ मध्यं स्तनभराक्रांतिर्चितयैवाचतामनव । रोमावलिच्छलेनास्या दधेऽवष्टभयष्टिका ॥ ६८ ॥ नाभिरध्रादधस्तन्वीं रोमराजीमसौ दधे । उपघ्नांतरमन्विच्छोः कामाहेः पदवीमिव

पैरोंके तलवा अशोकवृक्षके नवीन पत्तोंकी कांतिको भी नीचा दिखाते थे ॥ ६२ ॥ रुणझुण शब्द करते हुये नूपुररूपी मत्त भ्रमरोंके झंकारोंसे शब्दायमान और लक्ष्मीके सदा निवासस्थान ऐसे इसके दोनों चरणकमल बड़े ही सुंदर थे ॥ ६३ ॥ मैं समझता हूं विचारे कमलोंने अनेक दिन पानीमें निवासकर कंटकित अर्थात् हर्षसहित अथवा कांटोंसहित शरीर धारणकर किसीप्रकार अपना व्रत पूरा किया था इसलियेही उन्हें इस श्रीमतीके चरणोंकी उपमा प्राप्त हुई है ॥ ६४ ॥ उसके दोनों जंघा कामदेवके तरकसके समान और दोनों ऊरुदंड (घोंटूके ऊपरका भाग) कामदेवरूप हाथीके बांधनेके खंभेके समान बहुत ही सुंदर मालूम होते थे ॥ ६५ ॥ इसके दोनों निश्चल नितंब वस्त्ररूपी जलसे सुशोभित नदीकी बालूके टीलेके समान विचित्र शोभाको धारण करते थे ॥ ६६ ॥ त्रिवलियोंसे सुशोभित और दक्षिणावर्त गंभीरनाभिको धारण करता हुआ इसका मध्यभाग ऐसा मालूम होता था मानो तरंगोंसे सुशोभित और भंवर पड़ता हुआ नदीका जल ही हो ॥ ६७ ॥ रोमावलि सहित और अत्यंत कृश इसका मध्यभाग ऐसा शोभायमान था मानों स्तनोंके बोझ बढ़जानेकी चिंतासे ही अत्यंत कृश होगया हो और इसलिये ही उसने रोमावलिके बहाने से सहारेकी लकड़ी धारण की हो ॥ ६८ ॥ इसकी नाभिरंध्रके नीचे जो एक पतली रोमराजि थी वह ऐसी सुशोभित थी मानों किसी समीपवर्त्ती प्रदेशमें जानेकी इच्छा करनेवाले काम-

॥ ६९ ॥ लतेवासौ मृदू बाहू दधौ विटपसच्छवी । नखांशुमंजरी चास्या धत्ते स्म कुसुमाश्रियं ॥ ७० ॥ आनीलचूचुकौ तस्या' कुचकुंभौ विरेजतुः । पूर्णौ कामरसस्येव नीलरत्नाभिमुद्रितौ ॥ ७१ ॥ स्तनांशुकं शुकच्छाय तस्या स्तनतटाश्रित । बभासे रुद्धपंकेजकुड्मलं शैवलं यथा ॥ ७२ ॥ हारस्तस्याः स्तनोपाते नीहाररुचिनिर्मल । श्रियमाधत्त फेनस्य कंजकुड्मलसंस्पृश' ॥ ७३ ॥ ग्रीवास्या राजिभिर्भेजे कम्बुबधुरविभ्रम । शस्तावसौ च हसीव पक्षती सा दधे शुची ॥ ७४ ॥ मुखमस्या दधे चद्रपद्मयो श्रियमक्रमात् । नेत्रानंदि स्मितज्योत्स्न स्फुरद्दन्तांशुकेसरं ॥ ७५ ॥

देवरूपी सर्पका मार्ग ही हो ॥ ६९ ॥ वह श्रीमती कन्या एक लताके समान मालूम होती थी जिसकी कोमल दोनों भुजायें ही लताकी शाखाके समान थीं और नखोंकी किरण ही पुष्पकी शोभाको धारण करती थीं ॥७०॥ मुखपर नीलिमाको धारण करनेवाले उसके दोनों स्तन ऐसे सुंदर थे मानों कामरससे भरे हुये और नीलरत्नोंकी मुद्रासे अंकित पूर्ण कलश ही हों तथा ॥ ७१ ॥ उसके स्तनोंके तटभागसे सटी हुई हरितवर्णकी कंचुकी ऐसी जान पड़ती थी मानों मुकुलितकमलोंपर शैवाल ही रुकगया हो ॥ ७२ ॥ स्तानोंके समीपभागपर पड़ा हुआ बरफके समान श्वेत और निर्मल हार मुकुलितकमलको स्पर्श करनेवाले फेनकी शोभाको धारण करता था ॥ ७३ ॥ तथा उसकी ग्रीवा रेखाओंसे ऐसी सुंदर दिखती थी मानों रेखासहित सुंदर शंख ही हो । तथा सामुद्रिकमें कहे हुये दोषोंसे रहित और प्रशंसनीय उन्नत दोनों कंधे ऐसे सुंदर थे जैसे कि हंसिनीके मूलभागके पंख सुंदर होते हैं ॥ ७४ ॥ उसका मुख एक-साथ चंद्रमा और कमल दोनों की शोभाको धारण करता था क्योंकि उसकी किंचित् हास्यरूपी चांदनी चंद्रमाकी चांदनीके समान नेत्रोंको आनंद देती थी और देदीप्यमान दांतोंकी किरणें कमलकी केसरके समान सुंदर दिखती थीं ॥ ७५ ॥ आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि चंद्रमाने अपने कलाओंकी वृद्धि हानि करते हुये चिरकालतक चांद्रायण व्रत किया था उस व्रतके फलसे ही मानों उसे इस श्रीमतीके मुखकी उपमा प्राप्त हुई है ॥ ७६ ॥ उसके नेत्र बहुत बड़े थे इसलिये ऐसे जान पडते थे मानों उनकी लंबाई रोकने

स्वकलावृद्धिहानिभ्यां चिरं चांद्रायणं तपः । कृत्वा नूनं शशी प्रापत्तद्वक्त्रस्योपमानतां ॥ ७६ ॥ कर्णौ सहोत्पलौ तस्या नेत्राभ्यां लंघितौ भृशं । स्वायत्यारोधिनं को वा सहेतोपातवर्तिनं ॥ ७७ ॥ कर्णपूरोत्पलं तस्या नेत्रोपांते स्म लक्ष्यते । दिदृक्षमाणमस्येव शोभां स्वश्रीविहासिनीं ॥ ७८ ॥ मुखपंकजसंसक्तामलकालीं बभार सा । मलिनानपि नो धत्ते कः श्रितानननपायिनः ॥ ७९ ॥ धम्मिल्लभारमासक्त सा दधे मृदु कुंचितं । चंदनद्रुमवल्लीव कृष्णाहेर्भोगमायतं ॥ ८० ॥ इत्यसौ मदनोन्मादजनिका रूपसंपदं । बभार स्ववधूरूपसारांशैरिव निर्मिता ॥ ८१ ॥ लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदागो वेधसाऽर्जितं । तन्निर्माणेन तन्नूनं तेन प्रक्षालितं तदा ॥ ८२ ॥ पितरौ तां प्रपश्यतौ नितरां प्रीतिमापतुः । कलामिव सुधा-

---

वाले कर्णभूषणसहित उसके कानोंको उलंघन ही कर गये हों सो ठीक ही है क्योंकि यदि समीपवर्ती ही अपना विस्तार रोकनेवाला बनजाय तो फिर उसे कौन सहन करसकता है ॥७७॥ इसके नेत्रोंके समीप ही कर्णफूलरूपी कमल शोभायमान थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानों अपनी शोभापर हंसनेवाली नेत्रोंकी शोभाको देखनेकेलिये ही आये हों ॥ ७८ ॥ इस श्रीमतीने अपने मुखकमलके ऊपर मस्तकपर काली अलकावलीको भी स्थान दिया था सो ठीक ही है यदि निरुपद्रवी मलिन पुरुषभी आश्रय चाहें तो उन्हें भला कौन स्थान नहीं देता है ॥ ७९ ॥ मोती आदिसे गुथा हुआ तथा कोमल और कुटिल उसका केशपाश ऐसा सुशोभित था मानों चंदनवृक्षकी लतापर काले सर्पका चौड़ा किया हुआ फण ही हो ॥ ८० ॥ परम सुंदर साक्षात् कामदेवको भी उन्मत्त करनेवाली इसकी रूपसंपदाका वर्णन कहांतक किया जाय । केवल इतनेसे ही समझलेना चाहिये कि उसकारूप कदाचित् देवांगनाओंके रूपके सारभूत अंशोंसे ही बना था ॥ ८१ ॥ ऐसा मालूम पड़ता था मानों विधाताने (कर्मने) जो पहले लक्ष्मीको चंचल बनाकर पाप किया था वह उसने इस श्रीमतीको बनाकर ही धो डाला था ॥८२॥ संसारको आनंद करने वाली चंद्रमाकी कलाके समान इस श्रीमतीको देखकर इसके माता पिता बहुत ही प्रसन्न होते थे ॥८३॥ एकदिन वह श्रीमती हंसोंकी किरणोंके समान निर्मल, अमूल्य रत्नोंसे सुशोभित और स्वर्गके विमानों

सूतेर्जनतानंदकारिणीं ॥ ८३ ॥ अथाऽन्येद्युरसौ सुप्ता हर्म्ये हंसांशुनिर्मले । परार्घ्यरत्नसंशोभे स्वर्विमानापहासिनि ॥ ८४ ॥ तदैतदभवत्तस्या सविधानकमीदृश । यशोधरगुरोस्तस्मिन्पुरे कैवल्यसंभवे ॥ ८५ ॥ मनोहराख्यमुद्यानमध्यासीन तमार्चितु । देवा सम्प्रापुरारूढविमाना सह संपदा ॥ ८६ ॥ पुष्पवृष्टिर्दिशो रुद्धा तदाऽपसत्सहालिभि । स्वर्गलक्ष्म्येव त द्रष्टु प्रहिता, नयनावली ॥ ८७ ॥ मंदमाधूतमंदारसान्द्रकिंजल्कपिंजर । पुंजितालिरुतामंजुरागुंजन्मरुदाववौ ॥ ८८ ॥ दध्वनद्दुदुभिध्वानैरारुधस्तद्दिशो दश । सुराणा प्रमदोद्भूतो महान्कलकलोऽप्यभूत् ॥ ८९ ॥ सा तदा तद्ध्वनिं श्रुत्वा निशाते सहसोत्थिता । भेजे हंसीव सत्रास श्रुतपर्ज्जन्यनिस्वना ॥ ९० ॥ देवागमेक्षणात्तस्या प्राग्जन्मस्मृतिराश्वभून् ।

को भी लज्जित करनेवाले राजमहलमें सो रही थी ॥ ८४ ॥ उसी दिन नीचे लिखी हुई एक विचित्र घटना हुई। उसी नगरके मनोहर नामके उद्यानमें श्रीयशोधर तीर्थंकर विराजमान थे उन्हें उसीदिन केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था इसलिये स्वर्गके समस्तदेव अपनी २ विभूतिके साथ विमानोंपर चढ़कर उनकी पूजा करनेकेलिये आये थे ॥ ८५-८६ ॥ उस समय चारोंओर पुष्पवृष्टि हो रही थी उन वरसते हुये पुष्पोंपर भ्रमर भी बैठे हुये थे इसलिये वे आकाशसे पड़ते हुये भ्रमरसहित पुष्प ऐसे जान पड़ते थे मानों श्री यशोधरके दर्शन करनेके लिये स्वर्गकी लक्ष्मीने अपने नेत्र ही भेजे हों ॥ ८७ ॥ उससमय धीरे २ हिलते हुये कल्पवृक्षोंके घनीभूत केशरोंसे कुछ पीला हुआ तथा भ्रमर समूहोंके मनोहर शब्दोंसे गुंजार करता हुआ शीतल मंद सुगंध वायु वह रहा था ॥ ८८ ॥ दुंदुभि बाजे बड़े ज़ोरसे बजरहे थे जिनके शब्दोंसे दशों दिशायें व्याप्त हो रही थीं तथा देव बड़े हर्षसे जय जय शब्द कर रहे थे जिनसे एक बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ८९ ॥ वह श्रीमती भी प्रातःकालके समय अकस्मात् उस कोलाहलको सुनकर उठी और जैसे मेघोंकी गर्जना सुनकर हंसिनी डरती है उसीप्रकार डरने लगी ॥ ९० ॥ उससमय देवोंका आगमन देखकर शीघ्रही उसे पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और वह पूर्व जन्मके ललितांगदेवका स्मरण-कर तथा बार बार उत्कंठित होकर मूर्छित होगई ॥ ९१ ॥ अनंतर सखियोंने अनेक शीतलोपचार और

सा स्मृत्वा ललितांग तं मुमूर्च्छोत्कंठिता मुहुः ॥ ९१ ॥ सखीभिरथ सोपायमाश्वास्य व्यजनानिलैः । प्रत्यापत्तिं समानीता साभूद्भूयोऽप्यवाङ्मुखी ॥ ९२ ॥ मनोहर प्रभोद्भासि सुदर चारुलक्षण । तद्वपुर्मनसावास्या लिखित निर्वभौ तदा ॥ ९३ ॥ परिपृष्टापि साशक सखीभिर्जोषमास्त सा । मूकीभूता किलाप्राप्तेस्तस्य मौन ममेत्यल ॥ ९४ ॥ ततः पर्याकुला सत्यस्तमुदतमशेषत. । गत्वा पितृभ्यामाचख्युः सख्यो वर्षधरैः सम ॥ ९५ ॥ तद्वार्त्ताकर्णनात्तूर्णं तदभ्यर्णमुपागतौ । पितरौ तदवस्था च दृष्ट्वैना शुचमीयतु ॥ ९६ ॥ अग पुत्रि परिष्वग विधेह्युत्सगमेहि नौ । इति निर्बोध्यमानापि मोमुह्येव यदास्त सा ॥ ९७॥ लक्ष्मीमतिमथोवाच प्रभुरिंगितकोविद । जाता ते पुत्रिका तन्वि सेयमापूर्णयौवना ॥

पंखाकी वायुसे आश्वासन देकर सचेत किया वह सचेत तो होगई परंतु फिर भी उसने अपना मुख नीचा ही करलिया ॥ ९२ ॥ उस समय अतिशय दैदीप्यमान, मनोहर, सुंदर और सामुद्रिकके अनेक लक्षणोंसे सुशोभित ललितांगका शरीर इस श्रीमतीके हृदयमें अंकित हो रहा था और वह उसे बहुत ही सुशोभित जान पड़ता था ॥ ९३ ॥ अनेकप्रकारकी शंका करती हुई सखियोंने इसका कारण पूछा परंतु श्रीमतीने कुछ उत्तर नहीं दिया और जबतक ललितांगकी प्राप्ति न हो तबतक मौन धारण करना ही अच्छा समझकर वह चुप हो रही ॥ ९४ ॥ तदनंतर सब सखियां व्याकुल होकर कंचुकियोंके (रणवासके पहरेपर जो हिजड़े होते हैं वे कंचुकी कहलाते हैं) साथ उसके माता पिताके समीप गईं और उन्हें आदि से अंततक सब समाचार कह सुनाया ॥ ९५ ॥ सखियोंकी बात सुनकर उसके माता पिता बहुत शीघ्र उसके समीप आये और उसकी वह अवस्था देखकर अत्यंत शोक करने लगे ॥ ९६ ॥ और कहने लगे कि हे अंग ! हे पुत्रि ! उठ मिल गोदमें आ इसप्रकार बड़े प्रेमसे समझाई तथापि वह चुप ही रही ॥ ९७ ॥ तब समस्त चेष्टा और चित्तके विकारोंको जाननेवाले महाराज बज्रदंत रानी लक्ष्मीमतीसे कहने लगे कि हे तन्वि ! अब यह तेरी पुत्री पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त होगई है ९८ ॥ हे सुदति ! (सुंदर दांतोंवाली) देख यह इसका शरीर कैसा निरुपम कांतियुक्त होगया है। ऐसा शरीर देवांगनाओंको भी प्राप्त होना लभंदु

९८ ॥ अस्याः सुदति पश्येदं वपुरत्यंतकांतिमत् । अनीदृशममूत्स्वर्गनारीभिरपि दुर्लभं ॥ ९९ ॥ ततो विकृतिरेषास्या न दुष्यत्यद्य सुंदरि । तेन मा स्म भय देवि शंकमानान्यथा गमः ॥ १०० ॥ प्राग्जन्मानुभव कोऽपि नूनमस्या हृदि स्थित । सस्कारान्प्राक्तनान्प्राय स्मृत्वा मूर्च्छंति जतव ॥ १०१ ॥ इति ब्रुवाण एवासावुत्तस्थौ सह कातया । नियोज्य पडिता धात्रीं कन्याश्वासनसविधौ ॥ १०२ ॥ तदा कार्यद्वय तस्य युगपत्समुपस्थितं । कैवल्य स्वगुरोश्चक्रसमूतिश्चायुधालये ॥ १०३ ॥ तत्कार्यद्वैतमासाद्य वभूव क्षणमाकुल. । प्राग्विधेयं किमत्रेति स निश्चेतुमशक्नुवन् ॥ १०४ ॥ ततः किमत्र कर्त्तव्यमित्यसौ सम्प्रधारयन् । गुरो' कैवल्यसपूजामादौ निश्चितवान्सुधी ॥ १०५ ॥ यतो दूरात्समा-

---

है ॥ ९९ ॥ इसलिये हे सुंदरि इसका यह विकार इसकेलिये कुछ हानिकारक नहीं हो सकता । अतएव हे देवि तू कुछ रोग आदिकी व्यर्थ शंकाकर भय मत कर ॥ १०० ॥ अवश्य ही आज इसे कोई पूर्व भवका भोगोपभोग स्मरण हो आया है इसलिये ही इसकी यह ऐसी अवस्था होगई है। प्रायः संसारी जीव पूर्व भवके संस्कार स्मरणकर मूर्छित होते ही हैं ॥ १०१ ॥ इतना कहकर राजा वज्रदंत उस कन्याको संभालने और आश्वासन देनेकेलिये अति चतुर पंडिता धायको रखकर रानी लक्ष्मीमतिके साथ उठकर बाहर आया ॥ १०२ ॥ वाहर आते ही एक साथ उसे दो समाचार मिले उनमेंसे एक तो अपने पूज्य-पिता यशोधर तीर्थंकरको केवलज्ञानकी प्राप्ति होना तथा उनकी पूजा करना था और दूसरा समाचार आयुधशालामें चक्ररत्नका उत्पन्न होना था ॥ १०३ ॥ एक साथ इन दोनों कार्योंको सुनकर वह राजा वज्रदंत क्षणभरकेलिये आकुलित हो गया और प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये सो कुछ भी निश्चय नहीं कर सका ॥ १०४ ॥ परंतु प्रथम कौनसा कार्य करना चाहिये यह उसने एक क्षणके अनंतर ही निश्चय करलिया । उस बुद्धिमानने प्रथम श्रीयशोधर तीर्थंकरके उत्पन्न हुये केवलज्ञानकी पूजा करना ही निश्चय किया ॥ १०५ ॥ क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष चिरकालतक स्थिर रहनेवाले और समीपवर्त्ती कार्यको ही प्रथम करते हैं अनंतर नश्वरकार्य किया करते हैं । इसलिये जिस अरहंतपूजासे शुभ होता

सन्न कार्यं कार्यं मनीषिभि ।-व्यतिपाति ततस्तस्मात्प्रधानं कार्यमाचरेत् ॥ १०६ ॥ ततः शक्यं शुभं तस्मात्तस्माच्च विपुलोदयं । धर्मात्मकं च यत्कार्यमर्हत्पूजादिलक्षण ॥ १०७ ॥ मनसीत्याकलय्यासौ यशोधरगुरो' परा । पूजा कर्तुं समुत्तस्थौ नृपः पुण्यानुबंधिनीं ॥ १०८ ॥ ततः पृतनया सार्द्धमुपसृत्य जगद्गुरु । पूजयामास सप्रीतिप्रोत्फुल्लमुखपकज. ॥ १०९ ॥ तत्पादौ प्रणमन्नेव सोऽलब्धोऽवधिमिद्धधीः । विशुद्धपरिणामेन भक्तिः किं न फलिष्यति ॥ ११० ॥ तेनावुद्धाच्युतेंद्रत्वमात्मन' प्राक्तने भवे । ललितागप्रियायाश्च दुहितृत्वमिहाजसा ॥ १११ ॥ कृताभिवंदनस्तस्मान्निवृत्य कृतधीः सुतां । पडितायै समर्प्याशु प्रतस्थे दिग्जयाय स' ॥ ११२ ॥ चक्रपूजा ततः कृत्वा चक्री शक्रसमद्युतिः । प्रस्थितोसौ

है जिससे अनेकप्रकारके सुख और भोगोपभोग प्राप्त होते हैं तथा जो अत्यावश्यक और मुख्य धर्मकार्य है ऐसा अरहंतपूजा करनेका प्रधानकार्य सबसे प्रथम करना चाहिये ॥ १०६-१०७ ॥ यही मनमें विचारकर वह राजा बज्रदंत प्रथम ही पुण्य बढानेवाली श्रीयशोधर तीर्थंकरकी उत्तम पूजा करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ १०८ ॥ अनंतर सेनाके साथ वह राजा जगतगुरु श्रीयशोधरतीर्थंकरके समीप आया और प्रीतिपूर्वक अपने मुखकमलको प्रफुल्लित करता हुआ उनकी पूजा करने लगा ॥ १०९ ॥ ज्यों ही इस बुद्धिमान् बज्रदंतने देवाधिदेव श्रीयशोधरतीर्थंकरके चरणकमलोंको नमस्कार किया उसी समय इसे अवधिज्ञान प्राप्त होगया, सो ठीक ही है जो भक्ति विशुद्ध परिणामोंसे की गई है वह क्या फलीभूत नहीं होगी ? ॥ ११० ॥ उस अवधिज्ञानसे राजा बज्रदंतने यह जानलिया कि पूर्वभवमें मैं अच्युतस्वर्गका इंद्र था और यह मेरी पुत्री श्रीमती ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा देवांगना थी ॥ १११ ॥ वह बुद्धिमान राजा वज्रदंत पूजा बंदना स्तुति आदिकर वहांसे लौटा और अपनी पुत्री श्रीमतीको पंडिता धायको सोंपकर स्वयं दिग्विजय करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ ११२ ॥ इंद्रके समान कांतिको धारण करनेवाले उस चक्रवर्तीने प्रथम ही चक्रकी पूजा की और फिर हाथी घोड़े रथ पियादे देव विद्याधर इसप्रकार छह प्रकारकी सेना साथ लेकर सब दिशाओंके जीतनेकेलिये प्रस्थान किया ॥ ११३ ॥ तदनंतर वह अति

दिशो जेतु ध्वजिन्या सषडंगया ॥ ११३ ॥ अथ पंडितिकाऽन्येद्युर्निपुणा निपुणं वचः । श्रीमत्याः प्रतिबोधाय रहस्येवमभाषत ॥ ११४ ॥ अशोकवनिकामध्ये चन्द्रकांतशिलातले । स्थित्वा सस्नेहमंगानि स्पृशती मृदुपाणिना ॥ ११५ ॥ मुखपंकजससर्पद्दशनांशुजलप्लवैः । तस्या हृदयसंतापमिव निर्वापयत्यसौ ॥११६॥ अह पंडितिका सत्य पंडिता कार्ययुक्तिषु । जननी निर्विशेषासि तव प्राणसमा सखी ॥ ११७ ॥ ततो ब्रूहि मिथः कन्ये धन्ये त्व मौनकारण । नामयो गोपनीयो हि जनन्या इति विश्रुत ॥११८॥ मया सुनिपुण चित्ते पर्यालोचितमीहित । तवासीन्न तु विज्ञात तन्मे वद पतिंवरे ॥११९॥ किमेष मदनोन्मादः किमालि ग्रहविप्लवः । प्रायो हि यौवनारंभे जृंभते मदनग्रह ॥१२०॥ इति पृष्टा तया किंचिदानम्य

चतुर पंडिता धाय एकदिन किसी एकांत स्थानमें बैठकर श्रीमतीके समझानेकेलिये नीचे लिखे हुये बड़ी बुद्धिमानीके बचन कहने लगी ॥ ११४ ॥ उसने श्रीमतीको अशोकवनके मध्यभागमें पड़ी हुई एक चंद्रकांतशिलापर विठाया और बडे प्रेमसे उसके शरीरपर अपने कोमल हाथ फेरने लगी। समझाते समय श्रीमतीके मुखकमल पर जो उसके दांतोंकी किरणसमूहरूपी जलका पूर वह रहा था उससे वह पंडिता मानों उसके हृदयका संताप ही दूर करती जाती थी ॥ ११५-११६ ॥ वह पंडिता धाय श्रीमतीसे कहने लगी कि हे श्रीमते ! तू जानती है कि मैं समस्तकार्योंके करनेमें बड़ी चतुर हूं इसलिये ही मेरा पंडिता यह सार्थक नाम रक्खा गया है। इसके सिवाय मैं तेरी माताके समान हूं तथा तेरे प्राणोंके समान सदा तेरे साथ रहनेवाली प्रियसखी हूं ॥ ११७ ॥ इसलिये हे प्रियपुत्री ! इस एकांतस्थानमें तू अपने मौन रहनेका ठीक कारण कह। क्योंकि यह नीति तू जानती है कि रोग कैसा ही क्यों न हो अपनी मातासे कभी छिपाना नहीं चाहिये ॥ ११८ ॥ मैंने अपने चित्तमें अनेक प्रकारसे इस तेरी चेष्टाका कारण सोचा परंतु कुछ मालूम नहीं हुआ। इसलिये हे पातिंवरे इसका ठीक कारण तू मुझसे कह ॥११९॥ हे सखि ! क्या तुझे यह कामदेवका उन्माद हुआ है या किसी भूतपिशाचका उपद्रव है। यौवनके प्रारंभ समयमें प्रायः कामदेवरूपी पिशाचका उपद्रव हुआ ही करता है ॥ १२० ॥ इसप्रकार जब पंडिताने पूछा

मुखपकजं । पद्मिनीव दिनापाये परिम्लानं महोत्पलं ॥१२१॥ जगाद श्रीमती सत्यं न शक्तास्मीदृशं वचः । कस्यापि पुरतो वक्तुं लज्जाविवशमानसा ॥१२२॥ किंतु तेऽद्य पुरो नाहं जिन्हेम्यार्चा लपत्यल। जननी निर्विशेषा त्व चिरं परिचिता च मे ॥१२३॥ तद्वच्ये शृणु सौम्यागि महतीयं कथा मम । मया प्राग्जन्मचरितं स्मृत देवागमेक्षणात् ॥ १२४ ॥ तत्कीदृश कथा वेति सर्वं वक्ष्ये सविस्तर । स्वप्नानुभूतमिव मे स्मृतौ तत्प्रतिभासते ॥ १२५ ॥ अह पूर्वभवेऽभूव धातकीखडनामनि । महाद्वीपे सरोजाक्षि स्वर्गभूम्यतिशायनि ॥ १२६ ॥ तत्रास्ति मदरात्पूर्वाद्विदेहे प्रत्यगाश्रिते । विषयो गधिलाभिख्यो यः कुरूनपि निर्जयेत् ॥ १२७ ॥ तत्रासीत्पाटलीग्रामे नागदत्तो वणिक्सुतः । सुमतिस्तस्य काता-

---

तब इसने अपना मुखरूपी कमल कुछ ऐसा नीचा करालिया जैसे सूर्यास्त होनेपर कमलिनी (कमलकी वेल) अपने कमलको संकुचित करलेती है ॥ १२१ ॥ अपना मुख नीचा किये हुये ही वह श्रीमती कहने लगी कि हे मातः ! सचमुच लज्जाके विवश होकर मैं किसीके सामने ऐसे वचन नहीं कह सकती हूं ॥ १२२ ॥ किंतु आज मैं तेरे सामने ऐसे वचन कहनेमें लज्जित भी नहीं होती हूं छिपानेकी बात तो दूर ही रहो क्योंकि तू मेरी माताके समान है तथा चिरकालसे परिचित है ॥ १२३ ॥ इसालिये हे मनोहरांगी सुन मैं कहती हूं। यह मेरी कथा बहुत बड़ी है। देख देवोंका आगमन देखकर मुझे पूर्व भवके सब चरित्र स्मरण हो आये हैं ॥ १२४ ॥ वे सब चारित्र कैसे हैं अथवा वह कथा कौनसी है सो सब मैं सविस्तर कहती हूं। वह सब विषय मेरी स्मृतिमें ऐसा प्रतिभासित हो रहा है मानों मैंने स्वप्नमें ही अनुभव किया हो ॥१२५॥ हे कमलनयने ! इसी मध्यलोकमें एक धातकीखंड नामका महाद्वीप है जो कि स्वर्गभूमिके समान अति सुंदर है। इसी द्वीपसंबंधी पूर्वमंदराचलपर्वतके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें एक गंधिला नामका देश है जो कि अपनी शोभासे देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको भी मात करता है ॥ १२६-१२७ ॥ उसी देशके पाटली ग्राममें एक नागदत्त नामका वणिकपुत्र रहता था जिसकी स्त्रीका नाम सुमति था और उन दोनोंके नंद, नंदिमित्र, नंदिषेण, वरसेन तथा जयसेन ये पांच पुत्र क्रमसे हुये थे, और मदनकांता

भूत्तयोर्जाताः सुता इमे ॥ १२८ ॥ नंदश्च नंदिमित्रश्च नदिषेणाह्वयः परः । वरसेनो जयादिश्च सेनस्तत्सूनवः क्रमात् ॥ १२९ ॥ पुत्रिके च तयोर्जाते मदनश्रीपदादिके । काते तयोरह जाता निर्नामेति कनीयसी ॥ १३० ॥ कदाचित्कानने रम्ये चरिते चारणादिके । गिरावंवरपूर्वेऽह तिलके पिहितास्रव ॥ १३१ ॥ नानार्द्धिभूषण दृष्ट्वा मुनिं सावधिवोधन । इदमप्राक्षमानम्य सवोध्य भगवन्निति ॥ १३२ ॥ केनासि कर्मणा जाता कुले दौर्गत्यशालिनि । ब्रूहीदमतिनिर्विण्णां दीनामनुग्रहाण मां ॥ १३३ ॥ इति पृष्टो मुनींद्रोऽसौ जगौ मधुरया गिरा । इहैव विषयेऽमुत्र पुत्रि जाताऽसि कर्मणा ॥ १३४ ॥ पलालपर्वतग्रामे देविलग्रामकूटकात् । सुमतेरुदरे पुत्री धनश्रीरिति विश्रुता ॥ १३५ ॥ अन्येद्युश्च त्वमज्ञानाच्छुन॰ पूति कलेवर । मुनेः समाधिगुप्तस्य पठतोऽते न्यधामुदा ॥ १३६ ॥ मुनिस्तदवलोक्यासौ त्वामित्यन्वशिपत्तदा । त्वयेद वालिके

श्रीकांता दो पुत्री हुई थीं। पूर्वभवमें मैं भी इन्हींके घर निर्नामा नामकी सबसे छोटी पुत्री हुई थी॥ १२८-१२९-१३० ॥ एक दिन मैंने अंवरतिलकपर्वतपर अनेक चारण आदि मुनियोंके विहार करनेयोग्य मनोहर वनमें अवधिज्ञान और अनेक ऋद्धियोंसे विभूषित पिहितास्रव मुनि देखे। उन्हें देखकर नमस्कार किया और पूछा कि हे भगवन् मैं किस कर्मके उदयसे इस दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई हूं। हे प्रभो ! मैं वड़ी दीन हूं मुझे वड़ा उद्वेग हो रहा है इसलिये मुझपर अनुग्रहकर इसका कारण वतलाइये ॥१३१-१३२-१३३॥ यह सुनकर वे मुनिराज मधुर वाणीसे कहने लगे कि हे पुत्रि तू पूर्वभवमें अपने कर्मोदयसे इसी देशमें पलालपर्वत ग्राममें देविलग्राम नामके पटैलके घर सुमतिके उदरसे धनश्री नामकी पुत्री हुई थी॥ १३४-१३५ ॥ एकदिन तूने अपने अज्ञानसे जिनसूत्रका पाठ करते हुये श्रीसमाधिगुप्त मुनिके समीप वड़े हर्षसे मरे हुये कुत्तेका अपवित्र कलेवर डाला था ॥ १३६ ॥ तेरा वह कृत्य देखकर दयालु मुनिराजने तुझे उपदेश दिया था कि हे पुत्रि ! तूने यह वहुत ही अनुचित कर्म किया है॥ १३७ ॥ भविष्यमें यह कर्म तुझे वहुत ही दुःखदायी और कटुक फल देगा क्योंकि पूज्यपुरुषोंकी अवज्ञा करना परभवमें अतिशय संतापकारक होती है ॥ १३८ ॥ मुनिराजके ऐसा कहनेपर वह धनश्री उन मुनिराजके समीप पहुंची

कर्म विरूपकमनुष्ठितं ॥ १३७ ॥ फलिष्यति विपाके ते दुरंतं कटुकं फलं । दहत्यधिकमन्यस्मिन्माननीयविमानना ॥ १३८ ॥ इति ब्रुवंतमभ्येत्य क्षमामग्राहयत्तदा । भगवन्निदमज्ञानात्त्वमस्व कृतमित्यर ॥ १३९ ॥ तेनोपशमभावेन जाताऽल्प पुण्यमाश्रिता । मनुष्यजन्मनीहाद्य कुले परमदुर्गते ॥ १४० ॥ तत कल्याणि कल्याण गृहाणोपोषित व्रत । जिनेंद्रगुणसपत्ति श्रुतज्ञानमपि क्रमात् ॥ १४१ ॥ कृताना कर्मणामार्ये सहसा परिपाचन । तपोनशनमाम्नातं विधियुक्तमुपोषित ॥ १४२ ॥ तीर्थकृत्त्वस्य पुण्यस्य कारणानीह षोडश । कल्याणान्यत्र पचैव प्रातिहार्याष्टक तथा ॥ १४३ ॥ अतिशयांश्चतुस्त्रिंशादिमानुद्दिश्य सद्गुणान् । यासाऽनुष्ठीयते भव्यै संपज्जिनगुणादिका ॥ १४४ ॥ उपवासदिनान्यत्र त्रिषष्टिर्मुनि-

---

तथा उनसे क्षमा मांगी और कहने लगी कि हे भगवन् यह दुष्कृत्य मुझसे अज्ञानववश वन पड़ा है आप इसे शीघ्र ही क्षमा कर दीजिये ॥ १३९ ॥ इसप्रकार शीघ्र ही उन मुनिराजसे क्षमा मांगलेनेसे जो कुछ थोड़ा पुण्य प्राप्त हुआ था उससे तू अब इस मनुष्ययोनिमें अति दरिद्रकुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४० ॥ इसलिये हे कल्याणि ! कल्याण करनेवाले प्रथम जिनेंद्रगुणसंपत्ति और फिर श्रुतज्ञान इसप्रकार ये दोनों उपवास करनेवाले व्रत ग्रहण कर ॥ १४१ ॥ हे आर्ये ! किये हुये कर्मोंको बहुत शीघ्र नाश करनेवाला अनशन तप ही है। यह अनशन तप तब ही कहा जाता है जब कि इसमें विधिपूर्वक उपवास कियेजांय॥१४२॥ तीर्थंकरपदको प्राप्त करानेवाले पुण्यके सोलह कारण हैं जो कि दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंके नामसे प्रसिद्ध हैं, इनके सिवाय तीर्थंकरके पांच कल्याणक होते हैं, आठ प्रातिहार्य होते हैं तथा चौंतीस अतिशय होते हैं । ये सब मिलकर तीर्थंकरके तिरेसठ गुण कहलाते हैं। भव्यपुरुष जो इन तिरेसठ गुणोंको मुख्यकर उपवासव्रत करते हैं उसे जिनगुणसंपत्ति कहते हैं ॥ १४३-१४४ ॥ गणधरादिमुनियोंने जिनगुणसंपत्ति व्रत करनेकेलिये तिरेसठ[1] दिन उपवास करना कहा है। श्रुतज्ञान व्रतके उपवास

---

१ तिरेसठ उपवासोंकी विधि यह है-सोलहकारण भावनाओंकी सोलह प्रतिपदा, पचकल्याणकोंकी पांच पचमी, आठ प्रतिहार्योंकी आठ अष्टमी और चौतीस अतिशयोंकी वीस दशमी तथा चौदह चतुर्दशी । इसप्रकार तिरेसठ उपवास होते हैं ।

भिर्मता । श्रुतज्ञानोपवासस्य स्वरूपमधुनोच्यते॥ १४५ ॥ अष्टाविंशतिमप्येकादश द्वौ च यथाक्रमं। अष्टाशीतिमथैकं च चतुर्दश च पचक ॥१४६॥ विद्धि षड्व्येकसल्याश्च मत्यादिज्ञानपर्ययान् । नामोद्देशक्रमश्चैषा ज्ञानानामित्यनुस्मृत. ॥ १४७ ॥ मतिज्ञानमथैकादशांगानि पारिकर्म च । सूत्र-माद्यनुयोग च पूर्वाण्यपि च चूलिका ॥ १४८ ॥ अवधिं च मन पर्ययाख्य केवलमव च । ज्ञानभेदान्प्रातीत्येमान् श्रुतज्ञानमुपोष्यते ॥ १४९ ॥ दिनानां शतमत्रेष्टमष्टापंचाशताधिक । विधी त्वमेतावालव्य तपोऽनशनमाचर॥ १५० ॥ उशति ज्ञानसाम्राज्य विध्योः फलमैनयो । स्वर्गाद्यपि फल प्राहुरनयोरनुषगज ॥ १५१ ॥ मुनयः पश्य कल्याणि शापानुग्रहयोः क्षमाः । अतिक्रातिरतस्तेषा लोकद्वयाविरोधिनी ॥ १५२ ॥ वाचां-

---

करनेका स्वरूप अब इसप्रकार कहा जाता है कि॥ १४५ ॥ अट्ठाईस, ग्यारह, दो, अठासी, एक, चौदह पांच, छह, दो, एक इसप्रकार यह एकसौ अट्ठावन संख्या मतिज्ञान आदि ज्ञानके भेदोंकी होती है, और उनका क्रम इसप्रकार है कि मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद हैं (मतिज्ञानके मुख्य चार भेद हैं अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये प्रत्येक पाचों इंद्रियों और मनसे होते हैं इसलिये इनके चौवीस भेद हुये। व्यंजनावग्रह चार ही इंद्रियोंसे होता है इसलिये उसके चार ही भेद लिये। इसप्रकार सबमिलाकर अट्ठाईस भेद हुये।) ग्यारह अंगोंके ग्यारह, परिकर्मके दो, सूत्रके अट्ठासी, अनुयोगका एक, पूर्वके चौदह, चूलिकाके पांच अवधिज्ञानके छह, मनःपर्ययज्ञानके दो और केवलज्ञानका एक, इसप्रकार ज्ञानोंके इन एकसौ अट्ठावन भेदोंको मुख्यकर श्रुतज्ञानकी उपासना की जाती है ॥१४६-१४७-१४८-१४९॥ इसप्रकार श्रुतज्ञानव्रतमें एकसौ अट्ठावन उपवास किये जाते हैं। हे पुत्रि ! तू भी जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान इन दोनों व्रतोंको धारणकर अनशन व्रत स्वीकार कर ॥ १५० ॥ हे पुत्रि ! विधिपूर्वक किये हुये इन दोनों व्रतोंका फल केवलज्ञानकी प्राप्ति होना कहा है। इस फलके साथ २ स्वर्गादिकी प्राप्ति विना प्रयास किये स्वभाव से ही हो जाती है ॥१५१॥ हे कल्याणि ! देख मुनिराज शाप देनेमें भी समर्थ हैं और अनुग्रह करनमें भी समर्थ हैं। इसलिये मुनियोंकी अवज्ञा करना दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाली होती है ॥ १५२ ॥ जो

तिलघन वाचं निरुणाद्धि भवे परे। मनसोल्लघनं चापि स्मृतिमाहंति मानसीं ॥ १५३ ॥ कायेनातिक्रमस्तेषां कार्ति सा या न ढौकते। तस्मात्तपोधनेंद्राणां कार्यो नातिक्रमो बुधै. ॥ १५४ ॥ क्षमाधनाना क्रोधाग्निं जना. संधुक्षयति ये। क्षमाभस्मप्रतिच्छन्न दुर्वचोविस्फुलिंगक ॥१५५॥ समोहकाष्ठजनितं प्रातीप्यपवनेरितं। किं तैर्न नाशित मुग्धे हितं लोकद्वयाश्रित ॥ १५६ ॥ इत्थ मुनिवच पथ्यमनुमत्य यथाविधि। उपोष्य तद्द्वय स्वायुरते स्वर्गमयासिष ॥ १५७ ॥ ललितागस्य तत्रास कांता देवी स्वयप्रभा। सार्द्ध सपर्ययागत्य ततो गुरुमपूजय ॥ १५८ ॥ कल्पेऽनल्पर्द्धिरैशाने श्रीप्रभाधिपसयुता। भोगान्भुक्त्वाऽत्र जातेति कथापर्यवसानक ॥ १५९ ॥ ललितागच्युतौ तस्मात् षण्मासान् जिनपूजन।

जीव वचनद्वारा मुनियोंकी अवज्ञा करते हैं वे परभवमें वचनरहित गूंगे हो जाते हैं जो केवल मनसे निंदा करते हैं उनकी स्मरण आदि मानसिक सब शक्तियां नष्ट हो जाती हैं। जो केवल शरीरसे मुनियोंकी अवज्ञा करते हैं उन्हें ऐसे कौनसे दुःख हैं जो प्राप्त न होते हों। इसलिये बुद्धिमानपुरुषोंको मुनियोंका निरादर कभी नहीं करना चाहिये। ॥ १५३--१५४ ॥ हे मुग्धे जो जीव क्षमारूपधनको धारण करनेवाले मुनियोंके मोहरूपकाष्ठसे उत्पन्न हुई, विरोधरूपी वायुसे झकोरी हुई, दुर्वचनरूपी फुलिंगोंसे भरी हुई, और क्षमारूपी भस्मसे ढकी हुई, क्रोधरूपीअग्निको उद्दीपन करते हैं वे अपने दोनों लोकोंमें होनेवाले कौनसे हितका नाश नहीं करते हैं? ॥ १५५-१५६ ॥ इसप्रकार मैं हितकरनेवाले मुनियोंके वचन स्वीकारकर तथा जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान दोनों व्रतोंके विधिपूर्वक उपवास करके अपनी आयु पूर्णकर स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥ १५७ ॥ द्वितीयस्वर्गके ललितांगदेवकी स्वयंप्रभा नामकी मुख्य देवांगना हुई तथा अपने स्वामी ललितांगदेवके साथ इस मध्यलोकमें आकर व्रत देनेवाले पिहितास्त्रवमुनिकी पूजा की ॥ १५८ ॥ अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाली मैंने उस ईशान स्वर्गमें श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांगदेवके साथ अनेकप्रकारके भोग भोगे तथा वहांसे चयकर यहां महाराज वज्रदंतचक्रवर्त्तीकी पुत्री श्रीमती हुई हूं। हे मात! यही मेरी पूर्व भवकी कथा है ॥ १५९ ॥ हे कृषोदरि। जब ललितांगदेव

कृत्वा प्रच्युत्य सभूतिमिहालप्से तनूदरि ॥ १६० ॥ तमिदानीमनुस्मृत्य तदन्वेषणसविधौ । यतेऽहं प्रयता तेन वाचं यमविधिं दधे ॥ १६१ ॥ उत्कीर्ण इव देवोऽसौ पश्याद्यापि मनो मम । अधितिष्ठति दैवेन रूपेणानगता गत ॥ १६२ ॥ ललितागवपु सौम्य ललित ललितानने । सहजातावरस्रग्वी स्फुरदाभरणोज्ज्वल ॥ १६३ ॥ पश्यामीव सुखस्पर्शं तत्करस्पर्शलालित । तदलाभे च मद्गात्र क्षामता नैतदुज्झति ॥ १६४ ॥ इमेऽश्रुविंदवोऽजस्र निर्यांति मम लोचनात् । मद्दु खमक्षमा द्रष्टु तमन्वेष्टुमिवोद्यता ॥ १६५ ॥ इत्युक्त्वा पुनरप्येवमवादीच्छ्रीमती सखीं । शक्ता त्वमेव नान्याऽस्ति मत्प्रियान्वेषण प्रति ॥ १६६ ॥ त्वयि सत्या सरोजाक्षि कुतोऽद्य स्यान्ममाकुल । नलिन्या. किमु दौस्थित्य तपत्यां

वहांसे च्युत हुआ था तव मेरी आयु केवल छह महीनेकी शेप रह गई थी। सो मैं छह महीनेतक जिन-पूजनकर वहांसे चयकर यहां उत्पन्न हुई हूं॥ १६० ॥ हे मात ! इससमय मुझे उसी ललितांगदेवका स्मरण हुआ है वह अव कहां उत्पन्न हुआ है यही अन्वेपण करनेकेलिये मैं सावधान होकर उपाय सोच रही हूं और इसलिये ही मैंने मौन धारण किया है ॥ १६१ ॥ हे मात ! यह देख वह ललितांगदेव मुझे प्रत्यक्षके समान साक्षात् दिखाई दे रहा है। यद्यपि वह दिव्यशरीरसे रहित हो गया है तथापि वह शरीररहित अर्थात् कामदेव होकर ही मानों आज भी मेरे मनमें निवास कर रहा है ॥ १६२ ॥ हे ललितानने ! मैं इससमय साथ साथ उत्पन्न हुये वस्त्र माला तथा स्फुरायमान अनेक आभरणोंसे देदीप्यमान, अति मनोहर और सौम्य ऐसे ललितांगके शरीरको मानों साक्षात् देख रही हूं तथा उसके कोमल हाथके स्पर्शसे लालित हुये सुखदस्पर्शको भी मानो साक्षात् देख रही हूं। परंतु हे मात ! उसकी प्राप्ति के विना मेरा यह शरीर कृषता नहीं छोड़ता है ॥ १६३-१६४ ये अश्रुविंदु वरावर मेरे नेत्रोंसे निकल रहे हैं मानों ये मेरा दुःख देख नहीं सकते इसलिये ललितांगदेवको ढूंढनेकेलिये ही उद्यत हुये हैं ॥ १६५ ॥ यह सब कहकर फिर भी वह श्रीमती अपनी पंडितासखीसे कहने लगी कि हे सखि ! तू ही मेरे स्वामीको ढूंढ सकती है। तेरे सिवाय अन्य कोई इस कार्यको नहीं कर सकता ॥ १६६ ॥हे कमलनयने ! तेरे रहते

तपनद्युतौ ॥ १६७ ॥ सत्यं त्वं पंडिता कार्यघटनास्वतिपंडिता । तन्ममैतस्य कार्यस्य संसिद्धिस्त्वयि तिष्ठते ॥ १६८ ॥ ततो रक्ष मम प्राणान्प्राणेशस्य गवेषणात् । स्त्रीणां विपत्प्रतीकारे स्त्रिय एवावलंबनं ॥ १६९ ॥ तदुपायं च तेऽद्याहं ब्रुवे प्रस्तुतसिद्धये । मया विलिखितं पूर्वभवसंबधिपट्टकं ॥ १७० ॥ क्वचित्किंचिन्निगूढार्थं प्रकृतं चित्तरंजनं । तद्व्रजादाय धूर्तानां मनःसंमोहकारणं ॥ १७१ ॥ पतिब्रुवाश्च ये मिथ्या वैय्यात्योद्धतबुद्धयः । तान् स्मिताशुपटच्छन्नान्कुरु गूढार्थसंकटे ॥ १७२ ॥ इत्युक्त्वा पंडितावोचच्चित्ताश्वासनं वचः । स्मितांशुमंजरीपुंजैः किरंतीवोद्गमांजलिं ॥ १७३ ॥ मयि सत्यां मनस्तापो माभूत्ते कलभाषिणि । लसत्यां चूतमंजर्यां कोकिलायाः कुतोऽसुखं ॥ १७४ ॥ कवेर्धीरिव सुश्लिष्टमर्थं ते

हुये आज मुझे दुःख क्यों होना चाहिये । सूर्यका प्रकाश देदीप्यमान होते हुये क्या कभी नलिनीको (कमलोंकी वेलको) दुःख होता है !॥ १६७ ॥ हे पंडिते सचमुच ही तू समस्त कार्योंके करनेमें पंडिता अर्थात् अतिनिपुण है ! इसलिये हे सखि ! मेरे इस कार्यकी सिद्धि तेरे ही हाथमें है ॥ १६८ ॥ इसलिये हे सखि ! मेरे स्वामिको ढूंढकर मेरे प्राणोंकी रक्षाकर । क्योंकि स्त्रियोंकी विपत्ति दूर करनेकेलिये स्त्रियां ही सहायक होती हैं ॥ १६९ ॥ इस कार्यको सिद्ध करनेकेलिये मैं तुझे एक उपाय वतलाती हूं। आज मैंने एक चित्र बनाया है जिसमें पूर्वभवकी सब बातें लिखीं हैं ॥ १७० ॥ कहीं कहीं उसमें चित्त प्रसन्न करनेवाले गूढविषय भी लिखे गये हैं । वह चित्र धूर्त्तपुरुषोंके चित्तोंको अत्यंत मोहितकरनेवाला है । उसे लेकर तू जा ॥ १७१ ॥ मदोन्मत्त होकर विपरीतबुद्धिको धारण करनेवाले जो पुरुष झूठमूठ ही पति बनना चाहें उन्हें ये गूढ विषय पूछकर ईषत् हास्यरूपीवस्त्रसे आच्छादन कर लज्जित करना ॥ १७२ ॥ इसप्रकार जब श्रीमती कह चुकी तब ईषतहास्यरूपी पुष्पमंजरीके समूहोंसे निर्मापित हुई अंजलि वखेरती हुई पंडितासखी श्रीमतीके चित्तको आश्वासन करनेवाले वचन कहनेलगी ॥ १७३ ॥ कि हे मधुरभाषणकरनेवाली मेरे होते हुये तेरे चित्तको संताप नहीं हो सकता । क्या आम्रमंजरीके रहते हुये कोकिलाको किसीप्रकार दुःख हो सकता है ॥? १७४ ॥ हे सखि ! जिसप्रकार कविकी

मृगये पतिं । सखि लक्ष्मीरिवोद्योगशालिनं पुरुषं परं ॥ १७५ ॥ घटयिष्यामि ते कार्यं पटुधीरहमुद्यता । दुर्घटं नास्ति मे किंचित्प्रतीहीह जगत्त्रये ॥ १७६ ॥ नानाभरणविन्यासमतो धारय सुंदरि । वसततिलकेवोद्यत्प्रवालाकुरसंकुल ॥ १७७ ॥ तदत्र सशयो नैव कार्य कार्यस्य साधने । श्रीमतीप्रार्थितार्थाना ननु सिद्धिरसशय ॥ १७८ ॥ इत्युक्त्वा पडिताश्वास्य तां तदर्पितपट्टक । गृहीत्वाऽगमदाश्वेवं महापूतजिनालय ॥ १७९ ॥ य· सुदूरोच्छ्रितै· कूटैर्लक्ष्यते रत्नभासुरै· । पातालादुत्फणस्तोषात्किमप्युद्यान्निवाहिराट् ॥ १८० ॥ वर्णसांकर्यसभूतचित्रकर्मान्विता अपि । यद्भित्तयो जगच्चित्तहारिण्यो गणिका इव ॥१८१॥ दिवामन्यां निशां कर्तुं त्तमैर्मणिविचित्रितै· । तुगै· श्रृगै·स यो भाति दिवमुन्मलिय-

---

बुद्धि उत्तम अर्थ ढूंढ लाती है अथवा जिसप्रकार लक्ष्मी उद्योगशाली उत्तमपुरुषको ढूंढ लाती है उसीप्रकार मैं भी तेरे पतिको अवश्य ढूंढ लाऊंगी ॥ १७५ ॥ हे सखि मैं प्रत्येक कार्य करनमें चतुर हूं और सदा उद्यत रहती हूं इसलिये मैं तेरा यह कार्य अवश्य कर दूंगी । तू निश्चयजान कि इन तीनों जगतोंमें मेरेलिये कोई काम कठिन नहीं है ॥ १७६ ॥ इसलिये हे सुंदरि! जैसे माधवीलता निकले हुये नये पत्ते और अकूरोंको धारण करती है उसीप्रकार अब तू अनेकप्रकारके आभरणोंका विन्यास धारण कर ॥ १७७ ॥ हे सखि ! अब तू इस कार्यके सिद्ध होनेमें संशय मत कर । जिस कार्यकेलिये श्रीमती इच्छा करती है वह कार्य निःसंदेह अवश्य ही सिद्ध होता है ॥ १७८ ॥ वह पंडिता सखी इसप्रकार कह-कर तथा उस श्रीमतीको अनेकप्रकारसे आश्वासन देकर उसके दियेहुये चित्रको लेकर बहुत शीघ्र महापूत नामके चैत्यालयमें गई ॥ १७९ ॥ वह महापूत चैत्यालय रत्नोंकी किरणोंसे तथा अत्यंत ऊंची शिखरोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अपना फण ऊंचा कियेहुये नागराज ही संतुष्ट होकर पाता-लसे निकला हो ॥ १८० ॥ जिसकी दीवालें ठीक वेश्याके समान थीं क्योंकि जैसे वेश्यायें वर्णसंकरतासे उत्पन्नहुई और अनेकप्रकारके पापकर्मकरनेवालींहोकर भी संसारका चित्त हरण करतीं हैं उसीप्रकार ये दीवालें भी अनेकप्रकारके मिलेहुये वर्णोंसे बनायेहुये अनेकचित्रोंसे शोभायमान थीं इसलिये वे

त्रिव ॥ १८२ ॥ पठाद्भिरानिशं साधुवृंदैरामंद्रानिस्वनं । प्रजल्पान्निव यो भव्यैर्व्यमाव्यत समागतैः ॥ १८३ ॥ यस्य कूटाग्रसंसक्ताः केतवोऽनिल घट्टिताः । विवमुर्वंदनाभक्त्यै व्याह्वयत इवामरान् ॥ १८४ ॥ तद्वातायननिर्याता धूपधूमाश्चकासिरे । स्वर्गस्योपायनीकर्तुं निर्मिमाणा घनाइव ॥ १८५ ॥ यस्य कूटतटालग्नास्तारास्तरलरोचिषः । पुष्पोपहारसमोहमातन्वंत नभोजुषां ॥ १८६ ॥ सद्वृत्तसगतश्चित्रसदर्भरुचिराकृतिः । य

संसारमात्रका चित्त हरण करती थीं ॥ १८१ ॥ उनके शिखर बहुत ऊंचे थे और उनपर ऐसे प्रकाशमान विचित्र मणि लगे हुये थे जो रात्रिमें भी दिनकी शंका उत्पन्न कराते थे। ऐसे उनशिखरोंसे वह चैत्यालय ऐसा जानपडता था मानों अपने प्रकाशमान ऊंचे शिखरोंसे स्वर्गको ही दिखा रहा हो ॥ १८२ ॥ चैत्यालयमें अनेकमुनियोंके समूह सदा गंभीरशब्दोंसे पाठ करते थे इसलिये वह चैत्यालय उन शब्दोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानों आयेहुये भव्यपुरुषोंसे संभाषण ही कररहा हो ॥ १८३ ॥ उसकी ऊंची शिखरोंपर लगी हुई तथा वायुकेद्वारा हिलती हुई ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों वंदना भक्ति आदि करनेकेलिये देवोंको ही बुला रहीं हों ॥ १८४ ॥ उस चैत्यालयके झरोखोंसे निकलता हुआ धूपका धूआं ऐसा जान पडता था मानों स्वर्गको भेट देनेकेलिये नवीन बने हुये बादल ही जा रहे हों ॥ १८५ ॥ उस चैत्यालयकी शिखरोंके चारोंओर प्रकाशमान तारे खिल रहे थे और वे देवोंको ऊपरसे ऐसे जान पडते थे मानों उस शिखरकी पूजा में चढाये हुये पुष्प ही हों ॥ १८६ ॥ वह चैत्यालय संसारमें एक महाकाव्यके समान शोभायमान था, जिसप्रकार महाकाव्य उपजाति आदि उत्तमछंदोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी उत्तमचारित्रके धारण करनेवाले मुनि श्रावकोंसे सुशोभित रहता था। महाकाव्य जिसप्रकार अनेकप्रकारकी रचनासे उत्तम गिना जाता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी अनेक प्रकारके चित्रोंकी रचनासे सुंदरता धारण करता था। जिसप्रकार महाकाव्यमें उत्तम शब्द होते हैं उसी प्रकार उस चैत्यालयमें भी भक्ति, स्तोत्र, आदिके उत्तम २ शब्द हो रहे थे ॥ १८७ ॥ अथवा यों कहना

सुशब्दी महान्मद्यां कोप्यवंध इवाबभौ ॥ १८७ ॥ सपताको रणद्घंटो यो दृढस्तंभसंभृतः व्यभाद्गंभीरनिर्घोषैः सबृंहित इवेभराट् ॥ १८८ ॥ पठता पुण्यनिर्घोषैर्वंदारूणा च निस्वनै । य. सदधावकालेऽपि मदारंभ शिखाडिषु ॥ १८९ ॥ यस्तुगशिखर. शश्वच्चारणैः कृतसंस्तवः । विद्याधरैः समासेव्यो मदराद्रिरिवाद्युतत् ॥ १९० तत्र पट्टकशालाया पडिता कृतवंदना । प्रसार्य पट्टक तस्थौ परिचिच्छिपुरागतान् ॥ १९१ ॥ प्रैक्ष्यंत केचिदागत्य सावधान महाधियः । केचित्किमेतदित्युच्चैर्जजल्पुर्वीक्ष्य पट्टक ॥ १९२ ॥ तेषा समुचितैर्वाक्यैर्ददती पडितोत्तर । तत्रास्ते स्म स्मितोद्योतैः

चाहिये कि वह चैत्यालय मानों गंभीर शब्द करते हुये एक बडे हाथीके समान था। जैसे हाथीपर पताका उडाई जाती है उसीप्रकार इस चैत्यालयपर भी पताकायें उडरहीं थीं जिसप्रकार हाथीपर लटकते हुये घंटे बजते हैं उसीप्रकार इस चैत्यालयमें अनेक घंटे बजते थे और जैसे हाथी मज़बूत खंभोंसे बंधा रहता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी अनेक मजबूत खंभोंसे स्थिर था॥ १८८॥ उस चैत्यालयमें अनेक जन बंदना करनेकेलिये आते थे और अनेक पुण्यस्तोत्रोंका पाठ पढते थे, उनके उस पुण्यपाठके गंभरि शब्दोंसे मयूरोंको असमयमे ही मदोन्मत्तताका प्रारंभ हो जाता था॥ १८९ ॥ वह चैत्यालय ठीक मंदराचल पवर्तके समान शोभायमान था, जिसप्रकार मंदराचल पर्वतका शिखर बहुत ऊंचा है उसीप्रकार इस चैत्यालयका शिखर भी बहुत ऊंचा था, जिसप्रकार चारण भाट मंदराचलपर्वतकी सदा स्तुति किया करते हैं उसीप्रकार इस चैत्यालयमें भी अनेक चारणमुनि देवाधिदेव श्रीअरहंतदेवकी सदा स्तुति किया करते थे तथा जैसे मंदराचलपर्वत विद्याधरोंसे सदा सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह चैत्यालय भी शब्दागम परमागमके जाननेवाले मुनि और श्रावकोंसे तथा विद्याधरोंसे सदा सुशोभित रहता था॥ १९०॥ इत्यादि वर्णनायुक्त उस महापूतचैत्यालयमें वह पंडिता सखी पहुंची और बंदना नमस्कारादिकर वहांकी चित्रशालामें वह अपना चित्र फैलाकर आये हुये लोगोंकी परीक्षा करनेके लिये बैठगई॥ १९१॥ कितने ही बुद्धिमान् पुरुष आकर बड़े आदरसे उस चित्रको देखने लगे और

किंरंती पंडितायितान् ॥ १९३ ॥ अथ दिग्विजयाच्चक्री न्यवृतत्कृतदिग्जयः । प्रणतीकृतनि:शेषनरविद्याधरामरः ॥ १९४ ॥ ततोऽभिषेकं द्वात्रिंशत्सहस्रधरणीश्वरैः । चक्रवर्ती पर प्रापत्पुण्यै किं नु न लभ्यते ॥१९५॥ स च ते च समाकाराः करांघ्रिवदनादिभि. । तथापि तैः समभ्यर्च्य. सोऽभूत्पुण्यानुभावत. ॥ १९६ ॥ अनीदृशवपुश्चन्द्रसौम्यास्यः कमलेक्षण । पुण्येन स बभौ सर्वानतिशय्य नरामरान् ॥ १९७ ॥ शंखचक्रांकुशादीनि लक्षणान्यस्य पादयोः । बभुरालिखितानीव लक्ष्म्या लक्ष्माणि चक्रिण ॥ १९८ ॥ अमोघशासने तस्मिन्भुवं शासति, भूभुजि । न दंड्य-

कितने ही उसे देखकर यह क्या है इसप्रकार जोरसे चिल्लाने लगे ॥ १९२ ॥ पंडिता सखी समुचित वाक्योंसे उन सबका उत्तर देती जाती थी और अपनेको स्वयं पंडित माननेवाले मूर्ख लोगोंपर ईषत् हास्यरूपी प्रकाश डालती जाती थी अर्थात् उनका तिरस्कार करती जाती थी। इसप्रकार वह पंडिता वहां रहती थी ॥ १९३ ॥ इधर वज्रदंत चक्रवर्त्ती सब दिशाओंको जीतकर दिग्विजयसे वापिस लौटा उससमय उसे देव विद्याधर मनुष्य आदि सब नमस्कार कर रहे थे ॥ १९४ ॥ उससमय बत्तीसहजार राजाओंकेद्वारा उस चक्रवर्त्तीका अभिषेक किया गया था सो ठीक ही है पुण्यसे किस २ वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ १९५ ॥ यद्यपि वज्रदंतचक्रवर्त्ती और वे बत्तीसहजार राजा हाथ पांव मुख आदि शरीरके अवयवोंसे समान आकारके थे तथापि वह चक्रवर्त्ती अपने पुण्यकर्मके उदयसे उन राजाओंके द्वारा पूज्य हुआ था ॥ १९६ ॥ इसका शरीर, उपमा रहित था, मुख चंद्रमाके समान सौम्य था। और नेत्र कमलके समान सुंदर थे। पुण्यकर्मके उदयसे वह चक्रवर्त्ती समस्त देव और मनुष्योंसे अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ १९७ ॥ इसके पांवमें शंख चक्र अंकुश आदि शुभ लक्षण ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानों लक्ष्मीने ही चक्रवर्तीके ये सब लक्षण आंकित किये हों ॥ १९८ ॥ इसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं होती थी इसप्रकार वह पृथिवीका शासन करता था। इसके शासनकालमें इसकी प्रजा कभी कोई अपराध नहीं करती थी इसलिये इसके राज्यमें कोई पुरुष दंड देने योग्य नहीं था ॥ १९९ ॥ वह चक्रवर्त्ती वक्षःस्थलपर

पत्त्व: कोऽप्यासीत्प्रजानामकृतागसां ॥ १९९ ॥ स बिभ्रद्वत्सा लक्ष्मीं वक्त्राब्जेन च वाग्वधूं । प्राणाय्यामिव लोकात प्राहिंणोत्कीर्तिमेकिका ॥ २०० ॥ सुधासूतिरिवोदशुरशुमानिव चोत्कर । स कांतिं दीप्तिमप्युच्चैरधादप्यद्भुतोदयः ॥ २०१ ॥ पुण्यकल्पतरोरुच्चै फलानीव महात्यलं । बभूवुस्तस्य रत्नानि चतुर्दश विशा विभोः ॥ २०२ ॥ निधयो नव तस्यासन्पुण्यानामिव राशय. । यैरक्षय्यैरमुष्यासीद्गृहवार्ता महोदया ॥२०३॥ षट्खडमाडिता पृथ्वीमितिसपालयन्नसौ । दशागभोगसभूतिमभुक्त सुकृती चिर ॥२०४॥ इति कतिपयैरेवाहोभि कृती कृतादिग्जयो । जयपृतनया

लक्ष्मीको धारण करता था और मुखरूपी कमलपर सरस्वतीको धारण करता था। अतिशयप्रिया किंतु एकाकिनी (अकेली) कीर्तिको धारण करनेकेलिये कोई उत्तम स्थान ही नहीं था इसलिये उसे लोकके अंततक पहुंचा दिया था। भावार्थ-उसके समीप लक्ष्मी और सरस्वती सदा निवास करती थीं और उसकी कीर्ति संसार भरमें फैली हुई थी ॥ २०० ॥ वह चक्रवर्ती चंद्रमाके समान कांतिमान् था और सूर्यके समान तेजस्वी था। आश्चर्यजनकभाग्योदयको धारण करनेवाला वह राजा कांति और तेज दोनोंको एक साथ बड़ी उत्तमतासे धारण करता था ॥ २०१ ॥ पुण्यरूपी कल्पवृक्षके बड़ेसे बड़े फल इतने ही बड़े होते हैं इससे बड़े नहीं होते यही दिखानेकेलिये मानों उस चक्रवर्तीके चौदह रत्न उत्पन्न हुये थे ॥ २०२ ॥ अनेक पुण्यराशियोंके समान इसके यहां नौ निधि उत्पन्न हुई थीं और वे अक्षय थीं इसलिये इसके घरका भंडार सदा भरा हुआ रहता था, किसी बातकी कमी नहीं थी ॥ २०३ ॥ अति पुण्यवान उस चक्रवर्तीने इसप्रकार छह खंड पृथिवीका परिपालन करते हुये चिरकालतक दशप्रकारके भोगोपभोग अनुभव किये थे। चौदह रत्न, नौ निधि, सुदर स्त्रियां, नगर, आसन, शय्या, सैन्य, भोजन, पात्र और नाट्यशाला ये दशप्रकारके भोगोपभोग गिने जाते हैं ॥ २०४ ॥ देदीप्यमान मुकुट और मणियोंके कुंडल धारण करनेवाला तथा कृतकृत्य वह बज्रदंत चक्रवर्ती कितनेही दिनोंमें सब दिशाओंको जीतकर वापिस लौटा और जैसे देदीप्यमान मुकुट और प्रकाशमान मणियोंके कुंडल धारणकरनेवाला इंद्र अपनी देवसेनाके

सार्द्धं चक्री निवृत्य पुरीं विशन् । सुरपृतनया साकं शक्रो विशन्नमरावतीमिव स रुरुचे भासन्मौलिर्ज्वलन्मणिकुंडल ॥२०५॥ विहितनिखिलकृत्योप्यात्मपुत्रीविवाहव्यतिकरकरणीये, किंचिदंतः सचिंतः । पुरमाविशदुदारश्रीपराध्यैं पुरुश्रीर्मृदुपवनविधूतप्रोल्लसत्केतुमालं ॥ २०६ ॥ क्षुदतो लवलीलतास्तटवने सिंधोर्लवगातते तत्रासनिसुरांगनालसलसन्नेत्रैः शनैर्वीक्षिताः । आभेजुर्विजयार्द्धकंदरदरीरामृज्य सेनाचरा यस्यासौ विजयी स्वपुण्यफलितां दीर्घं भुनक्ति स्म गां ॥ २०७ ॥ आक्रामन्वनवेदिकांतरगतस्तां वैजयार्द्धीं तटीमुल्लंघ्याब्धिवधू तरगतरलां गगां च सिंधुं धुनीं

साथ इंद्रपुरीमें प्रवेश करता हुआ सुशोभित होता है उसीप्रकार वह भी अपनी विजयकरनेवाली सेनाके साथ अपने नगरमें प्रवेश करता हुआ सुशोभित हुआ॥ २०५ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती अपने समस्तकृत्य कर चुका था तथापि उसके अंतःकरणमें अपनी पुत्रीके विवाहकरनेकी किंचित् चिंता वनी हुई थी। इस चिंतासे चिंतातुर किंतु अत्यंत शोभायमान उस चक्रवर्तीने मंदवायुके द्वारा हिलती हुई अत्यंत सुशोभित ध्वजाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान तथा अन्य अनेक उत्तम २ शोभाओंसे सुशोभित अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ २०६ ॥ जिसकी सेनाके लोग, लवंगकी लताओंसे परिपूर्ण ऐसे समुद्रके तटभागके वनोंमें, चंदनलताओंका चूर्ण करते हुये तथा वहां बैठी हुई देवांगनाओंके आलस्य भरे हुये सुशोभित नेत्रोंके द्वारा धीरे २ देखे गये थे तथा विजयार्द्धपर्वतके गुफामार्गको पारकर सुशोभित हुये थे ऐसा वह सर्वत्र विजयकरनेवाला चक्रवर्ती अपने पुण्यसे प्राप्त हुई पृथिवीको चिरकालतक भोग रहा था ॥ २०७ ॥ और वह चक्रवर्ती समुद्रके समीप वनवेदिकाके मध्यभागमें भी प्राप्त हुआ, विजयार्द्धपर्वतके तटभागपर भी उसने आक्रमण किया, तरंगोंसे अति चंचल ऐसी समुद्रकी वनितारूप गंगा और सिंधु नदियोंको भी उल्लंघन किया और हिमवन कुलपर्वतकी उन्नति (उंचाई) को भी उसने तिरस्कृत किया इसप्रकार संपूर्ण

जित्वाशां कुलभूभृदुन्नतिमपि न्यक्कृत्य चक्रांकितां । लेभेऽसौ जिनशासनार्पितमतिः श्रीवज्रदंतः श्रियं ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे ललितांगस्वर्गच्यवनवर्णनं नाम

षष्ठं पर्व ।

॥ श्रीः ॥

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥

अथ सप्तमं पर्व ॥

अथाहूय सुतां चक्री तामित्यन्वाशिषत्कृती । स्मितांशुसलिलैः सिंचन्निवैनामाधिबाधितां ॥ १ ॥ पुत्रि मा स्म गम शोकमुपसंहर मौनितां ।

दिशाओंको जीतकर पूर्णरूपसे जैनमतकी आज्ञामाननेवाला वह वज्रदंत राजा, चक्रवर्तीकी पूर्णविभूतिको प्राप्त हुआ ॥ २०८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतमहापुराणके नवीन हिन्दीभाषानुवादमें ललितांगदेवके स्वर्गसे च्युत होनेतकका वर्णन करनेवाला छठापर्व समाप्तहुआ ।

अथ सप्तमपर्व ।

अनंतर उस चतुरचक्रवर्तीने अपनी पुत्री बुलाई और मानसिकपीडासे पीड़ितहुई उस पुत्रीको मानों ईषतहास्यकी किरणरूपी जलसे सिंचनकरतेहुये नीचे लिखे अनुसार उपदेश दिया ॥ १ ॥ वह चक्रवर्ती उसे समझाने लगा कि हे पुत्री ! तू शोक मत कर अपना मौन छोड़ । मैं अपनें अवधिज्ञानसे तेरे पतिका सब वृत्तांत जानता हूं ॥ २ ॥ हे पुत्री ! तू शीघ्र ही सुखपूर्वक स्नानकर अलंकार धारणकर

जानामि त्वत्पतेः सर्वं वृत्तांतमवधित्विषा ॥ २ ॥ त्वरं पुत्रि सुखं स्नाहि प्रसाधनविधिं कुरु । चंद्रबिंबायिते पश्य दर्पणे मुखमंडनं ॥ ३ ॥ आशन मधुरालापैस्तर्पयेष्ट सखीजनं । त्वदिष्टसगमोऽवश्यमद्य श्वो वा भविष्यति ॥ ४ ॥ यशोधरमहायोगिकैवल्यै स मयाऽवधिः । समासादि ततोऽजानमभिन्नसमयावधि ॥ ५ ॥ शृणु पुत्रि तवास्माकं त्वत्कांतस्यापि वृत्तकं । जन्मांतरनिबद्धं ते वक्ष्यामीदं तथा पृथक् ॥ ६ ॥ इतोऽहं पंचमेऽभूव जन्मन्यस्यां महाद्युतौ । नगर्यां पुंडरीकिण्यां स्वर्णगर्यामिवार्द्धिभिः ॥ ७ ॥ सुतोऽर्द्धचक्रिणश्चंद्रकीर्त्तिरित्यात्तकीर्त्तनः । जयकीर्त्तिर्वयस्यो मे तदाऽऽसीत्सहवर्धित. ॥ ८ ॥ पितुः क्रमागतां लक्ष्मीमासाद्य परमोदयां । समं वय वयस्येन चिरमत्रारमामहि ॥ ९ ॥ गृहमेधी गृहीताणुव्रतः सोऽहं क्रमात्तत कालांते चंद्रसेनाख्यं गुरुं श्रित्वा समाधये ॥ १० ॥ त्यक्ताहारशरीरः सन्नुद्याने प्रीतिवर्द्धने । संन्यासविधिनाऽजावे कल्पे-

और चंद्रबिंबके समान विस्तीर्णदर्पणमें अपने मुखकी शोभा देख ॥ ३ ॥ तू शीघ्र भोजनकर और मधुरवचनोंसे अपने इष्ट सखीजनोंको संतुष्ट कर। तेरे इष्टपतिका समागम आज या कल अवश्य हो जायगा ॥ ४ ॥ जब मैं श्रीयशोधरतीर्थंकरके ज्ञानकल्याणके समय उनकी पूजा करनेकेलिये गया था उस समय मुझे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था उसीसे मैं द्रव्य क्षेत्र काल भावकी मर्यादा लिये हुये थोड़ासा वृत्तांत जानता हूं ॥ ५ ॥ हे पुत्रि ! तू अपने मेरे और अपने पतिके वृतांत सुन पहले मैं तेरे पूर्वभवके वृत्तांत कहता हूं सो सुन ॥ ६ ॥ पहले मैं इसभवसे पांचवें भवमें अनेकप्रकारकी विभूतियोंसे स्वर्गपुरीकेसमान शोभायमान और महा देदीप्यमान ऐसी इस पुंडरीकिनी नगरीमें अर्द्धचक्रवर्तीका पुत्र चंद्रकीर्तिके नामसे प्रसिद्ध हुआ था। उससमय मेरे साथ २ वृद्धिको प्राप्त होता हुआ जयकीर्ति नामका मेरा एक मित्र था ॥ ७८ ॥ समयानुसार मेरे पितासे मुझे कुलपरंपरासे चली आई अति उत्कृष्ठ राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई थी उससमय मैंने इस नगरमें अपने मित्रके साथ चिरकालतक क्रीड़ा की थी ॥ ९ ॥ उससमय मैं अणुव्रतको धारण करनेवाला एक गृहस्थ श्रावक था। क्रमसे कालव्यतीत होनेपर आयुके अंतसमयमें समाधिमरण धारण करनेकेलिये मैं चंद्रसेनगुरुके समीप पहुंचा ॥ १० ॥ और प्रीतिवर्द्धन नामके उद्यानमें विधिपूर्वक आहार शरीरका त्यागकर समाधिपूर्वक शरीर छोड़ चौथे माहेंद्रस्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥ वहां मैं सामा-

माहेंद्रसंज्ञिते ॥ ११ ॥ सप्तसागरकालायु:स्थितिः सामानिकः सुरः । जयकीर्त्तिश्च तत्रैव जातो मत्समशद्धर्द्धिकः ॥ १२ ॥ ततः प्रच्युत्य कालांते द्वीपे पुष्करसञ्ज्ञके । पूर्वमंदरपौरस्त्यविदेहे प्राजनिष्वहि ॥ १३ ॥ विषये मगलावत्यां नगरे रत्नसञ्चये। श्रीधरस्य महीभर्त्तुस्तनयौ बलकेशवौ ॥ १४ ॥ मनोहरातद्रमयो श्रीवर्मा च विभीषण. । ततो राज्यपदं प्राप्य दीर्घ तत्रारमावहि ॥ १५ ॥ पिता तु मयि निक्षिप्तराज्यभार सुधर्मत. । दीक्षित्वोपोष्य सिद्धोऽभूदुपवासविधीन्वहून् ॥ १६ ॥ मनोहरा मयि स्नेहात्स्थिताऽगारे शुचिव्रता । सुधर्मगुरुनिर्दिष्टमाचरती चिर तप. ॥१७॥

निकजातिका देव हुआ था और सातसागरकी मेरी आयु थी। मेरा मित्र जयकीर्त्ति भी वहां ही मेरे समान ऋद्धियोंको धारण करनेवाला देव उत्पन्न हुआ था ॥ १२ ॥ आयु समाप्त होनेपर हम दोनों वहांसे चयकर पुष्करद्वीपमें पूर्वमेरुसबंधी पूर्वविदेहक्षेत्रमें मंगलावतीदेशके रत्नसंचयपुरनगरमें महाराज श्रीधरके पुत्र उत्पन्न हुये। मैं श्रीधरकी मनोहरा नामकी रानीसे उत्पन्न हुआ था श्रीवर्मा मेरा नाम था और बलभद्रका पद मुझे प्राप्त था। मेरा मित्र जयकीर्तिका जीव श्रीधरकी मनोरमा नामकी दूसरी रानीसे उत्पन्न हुआ था विभीषण उसका नाम था और नारायणका पद उसे प्राप्त था। हम दोनों भाइयोंने राज्यपाकर चिरकालतक वहां क्रीड़ा की थी ॥१३-१४-१५॥ हमारे पिता महाराज श्रीधर अपना राज्य भार मुझे सोंपकर श्रीसुधर्माचार्यसे दीक्षा लेकर और अनेकप्रकारके अनेक उपवास धारणकर सिद्धपदको प्राप्त हुये ॥ १६ ॥ मेरी माता मनोहराका मुझपर बहुत प्रेम था इसलिये वह प्रेमवश पवित्रव्रतपालन करती हुई घर ही रही। गुरुवर्यश्रीसुधर्माचार्यने जो कुछ व्रत और तपश्चरणकरना वतलाया था वह सब उसने घर रहकर ही बहुत दिन तक किया था ॥ १७ ॥ उसने विधिपूर्वक अति उत्तम कर्मक्षपण नामक व्रतके उपवास[१] किये थे और आयुके अंत समयमें समाधिमरणपूर्वक शरीरका त्यागकर ललितांग

१ कर्मक्षपणके एकसौ अडतालीस उपवास होते है और वे इसप्रकार किये जाते है सात चतुर्थी, तीन सप्तमीं, छत्तीस नवमी एक दशमी, सोलह द्वादशी, और पिचासीं चतुर्दशी ॥ एकसौ अडतालीस कर्मप्रकृतियोंके नाश करनेकेलिये ये एकसौ अड़तालीस उपवास किये जाते हैं।

उपोष्य विधिवत्कर्मक्षपणं विधिमुत्तमं । जीविताते समाराध्य ललितागसुरोऽभवत् ॥ १८ ॥ ललितागस्ततोऽसौ मा बिभीषणवियोगतः । शुचमापन्नमासाद्य सोपाय मत्यबोधयत् ॥ १९ ॥ अग पुत्र त्वर मागा शुचमज्ञो यथा जन । जननादिभियोऽवश्य भावुका विद्धि ससृतौ ॥ २० ॥ इति मातृचरस्यास्य ललितागस्य बोधनात् । शुचमुत्सृज्य धर्मैकरसोऽभूव प्रसन्नधीः ॥ २१ ॥ ततो युगधरस्यांते दीक्षा जैनेश्वरीमह । नृपैर्दश-

देव हुआ था। (यह ललितांगदेव स्वयंप्रभाके पति ललितांगदेवसे भिन्न था) ॥ १८ ॥ तदनंतर कितने ही दिनोंके पश्चात् मेरे भाई विभीषणकी मृत्यु हुई उसके वियोगसे में बहुत ही शोककर रहा था। उस समय उस ललितांगदेवने आकर अनेक उपायोंसे मुझे इसप्रकार समझाया था ॥ १९ ॥ कि हे अंग ! हे पुत्र ! तू मूर्खपुरुषोंके समान शोक मत कर तू इसे शीघ्रही छोड़ और निश्चयसमझ कि इससंसारमें जन्म मरणका भय अवश्य ही होता है ॥ २० ॥ इसप्रकार मेरी माताका जीव जो ललितांगदेव हुआ था उसके उपदेशसे मैंने अपना शोक छोड़ा और प्रसन्नचित्तहोकर धर्मध्यानमें अपना चित्त लगाया ॥ २१ ॥ तदनंतर मैंने श्रीयुगंधरमुनिराजके समीप पांचहजारराजाओंके साथ जैनीश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २२ ॥ अत्यंतदुर्धर परंतु अत्युत्तम फल देनेवाले [1]सिहनिष्क्रीडित और [2]सर्वतोमद्र इन

१ सिंह निष्क्रीडित तपमें एकसौ पैतालीस उपवास किये जाते है और उनका क्रम इसप्रकार है १। २। १। ३। २। ४। ३। ५। ४। ६। ५। ७। ६। ८। ७। ९। ८। ७। ८। ६। ७। ५। ६। ४। ५। ३। ४। २। ३। १। २। १। इस यंत्रमें अंकोंकी सख्याके समान उपवास करना चाहिये और खडीलकीरकी संख्याओंके समान पारना करना चाहिये। जैसे एक उपवास एक पारना दो उपवास एक पारना आदि। सब उपवासोंकी संख्या एकसौपैंतालीस होती है और पारनाओंकी सख्या वत्तीस होती है। इसप्रकार सब दिनोंकी सख्या एकसौ सतहत्तर होती है। उपर्युक्त क्रमसे १७७ दिन निरतर उपवास और पारना करना सिंहनिष्क्रीडिततप कहलाता है ॥

२ सर्वतोभद्र तपके उपवास करनेका क्रम यह है १। २। ३। ४। ५। ३। २। १। ५। ४। २। ३। ४। ५। १। ४। ३। २। १। ५। ३। ४। ५। १। २। इसप्रकार उपवासोंकी संख्या पिचहत्तरि पारनाओंकी सख्या पच्चीस और मिलकर सब दिनोंकी सख्या सौ होती है। उपर्युक्त क्रमसे सौ दिनतक निरंतर उपवास और पारना करना सर्वतोभद्र तप कहलाता है।

सहस्रार्द्धमितैः सार्द्धमुपादिषि ॥ २२ ॥ यथाविधि ततस्तप्त्वा सिंहनिष्क्रीडितं तपः । सुदुश्चरं महोदर्कं सर्वतोभद्रमप्यदः ॥ २३ ॥ त्रिज्ञानविमलालोककलाते ऽप्रापमिंद्रतां । कल्पेऽच्युते ह्यनल्पर्द्धौ द्वाविंशत्यब्धिजीवित. ॥ २४ ॥ दिव्याननुभवन्भोगास्तत्र कल्पे महाद्युतौ । गत्वा च जननीस्नेहाल्ललितांगमपूजय ॥ २५ ॥ प्रीतिवर्द्धनमारोप्य विमानमतिभास्वर । नीत्वाऽस्मत्कल्पमेवास्य कृतवानस्मि सत्क्रिया ॥ २६ ॥ स[1] नो मातृचरस्तस्मिन्कल्पेऽनल्पसुखोदये । भोगाननुभवन्दिव्यानसकृच्च मयाऽर्चितः ॥ २७ ॥ ललितांगस्ततश्चुत्वा जबूद्वीपस्य पूर्वके । विदेहे मंगलावत्या रौप्यस्याद्रेरुदक्तटे ॥ २८ ॥ गधर्वपुरनाथस्य वासवस्य खगेशिन । सूनुरासीत्प्रभावत्या देव्या नाम्ना महीधरः ॥ २९ ॥ महीभरे

दोनों व्रतोंके उपवास मैंने विधिपूर्वक पालन किये ॥ २३ ॥ इन तपश्चरणोंके करनेसे मुझे निर्मल अवधिज्ञान भी प्राप्तहुआ और आयुके अंतसमयमें समाधिमरणपूर्वक शरीरका त्याग कर अच्युत स्वर्गमें वाईससागरकी आयु पाकर बड़ी ऋद्धिका धारक इंद्र हुआ ॥ २४ ॥ अत्यंत देदीप्यवान उस सोलहवें स्वर्गमें मैं अनेक दिव्य भोगोपभोगोंका अनुभव करता था। एक दिन मैं पूर्वभवके मातृत्वस्नेहके कारण ललितांगदेवके समीप गया और उसकी पूजा की ॥ २५ ॥ मैंने उसे अत्यंत देदीप्यमान प्रीतिवर्द्धन नामके विमानमें विठाया और अपने सोलहवें स्वर्गमें लेजाकर अनेक प्रकारसे उसका आदर सत्कार किया ॥ ३६ ॥ इसप्रकार जितने दिनतक मेरी माताके जीव ललितांगदेवने अतिशय सुखसंयुक्त उसस्वर्गमें दिव्यभोगोंका अनुभव किया था उतने ही दिनोंमें मैंने उसका कईवार पूजा सत्कार किया था ॥ २७ ॥ आयुसमाप्त होनेपर वह ललितांगदेव वहांसे चयकर जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें मंगलावतीदेशके विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें गंधर्वपुरनगरके स्वामी महाराज वासव नामके विद्याधरके घर महारानी प्रभावतीदेवीके उदरसे महीधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था॥२८-२९॥ राजा वासव अपना सब राज्यभार अपने पुत्र महीधरको सौंपकर अरिंजयमुनिके निकट दीक्षालेकर तथा

---

१ रेमे, इत्यपिपाठ.

निजं राज्यभारं निक्षिप्य वासवः । निकटेऽरिञ्जयाख्यस्य तप्त्वा मुक्तावलीं तपः ॥ ३० ॥ निर्वाणमगमत्पद्मावत्यार्यां च प्रभावती । समाश्रित्य-तपस्तप्त्वा परं रत्नावलीमसौ ॥ ३१ ॥ अच्युतं कल्पमासाद्य प्रतींद्रपदभागभूत् । महीधरोऽपि ससिद्धविद्योऽभूदद्भुतोदय. ॥ ३२॥ कदाचिदथ गत्वाऽह पुष्करार्द्धस्य पश्चिमे । भागे पूर्वविदेहे तं विषयं वत्सकावतीं ॥ ३३ ॥ तत्र प्रभाकरीपुर्यां विनयधरयोगिन. । निर्वाणपूजा निष्ठाप्य महामेरुमथागमं ॥ ३४ ॥ तत्र नदनपूर्वाशाचैत्यालयमुपाश्रितं । महीधर समालोक्य विद्यापूजोद्यत तदा ॥ ३५ ॥ प्रत्यबूबुधमित्युच्चैरहो भद्र

मुक्तावली नामका तपश्चरणकर सिद्धपदको प्राप्त हुआ था। रानी प्रभावती पद्मावतीआर्यिकाके समीप दीक्षालेकर तथा अत्युत्तम र[2]त्नावली तपश्चरका पालनकर आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीर छोड़ स्त्रीलिंगका विनाशकर सोलहवें अच्युतस्वर्गमें प्रतींद्रपद पाकर उत्पन्न हुई थी। इधर राजा महीधर भी अनेक विद्याओंको सिद्धकर और अद्भुतऐश्वर्य संपादनकर राज्य करने लगा था ॥३०-३१-३२॥ तदनंतर किसी एकादिन मैं पुष्करार्द्धद्वीपके पश्चिममेरुसंबंधी पूर्वविदेहक्षेत्रके वत्सकावलीदेशमें गया था वहां प्रभाकरीनगरमें श्रीविनयंधरकेवलीभगवानकी निर्वाणकल्याणकी पूजाकी थी और तदनंतर सुदर्शन नामक महामेरुपर गया था ॥३३-३४॥ उससमय उस महामेरुसंबंधी नंदनवनकी पूर्वदिशाके चैत्यालयमें मेरी माता और ललितांगदेवका जीव राजा महीधर विद्या सिद्ध कररहा था उसे देखकर मैंने उसे इसप्रकार समझाया था कि हे विद्याधर राजा महीधर! मुझे पहचान मैं अच्युत स्वर्गका इंद्र हूं और तू पूर्वभवमें ललितांगदेव था ॥ ३५-३६ ॥ तू मेरी माताका जीव है इसलिये तुझपर मेरी बहुत प्रीति है

१ मुक्तावली तपश्चरणके उपवास करनेका विधान इसप्रकार है—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ४ । ३ । २ । १ । इसप्रकार उपर्युक्त क्रम से पच्चीस उपवास नौ पारना मिलकर चौंतीस दिन लगातार व्रत करनेसे मुक्तावली तप होता है

२ रत्नावलीतपकी विधि यह है—१ । २ । ३ । ४ । ५ । ५ । ४ । ३ । २ । १ । इसप्रकार तीस उपवास दश पारना मिलाकर चालीस दिनतक लगातार करनेसे रत्नावली तप कहलाता है ॥

महीधरं । विद्धि मामच्युताधीश ललितागस्त्वमप्यनो ॥ ३६ ॥ लब्धनागारणी प्रीतिर्निर्मान्ति जननीनरे । तद्भद्र विरामंगाद्दुरंताद्विरमाशु- ना ॥ ३७ ॥ इत्युक्तमार एवासौ निर्विण्णः कामभोगतः । मही‍कंपे सुते ज्येष्ठे राज्यभार समर्पयन् ॥ ३८ ॥ मानि नेनरे मार्द जगनंदन- शिष्यतां । प्रपद्य कनकावल्या प्राणतेंद्रोऽभवद्विभुः ॥ ३९ ॥ विंशत्यब्धिस्थितिस्तत्र भोगानिर्विश्य निश्च्युतः । धातकीखण्डप्राग्पश्चिमेऽथविदे- हगे ॥ ४० ॥ गंधिले विषयेऽयोध्यानगरे जयवर्मणः । सुप्रभायाश्च पुत्रोऽभूदजितंजय नामतः ॥ ४१ ॥ जयवर्माऽथ निक्षिप्य स्वं राज्यमजितं

इसलिये हे भद्र! अब तू अनेकप्रकारके दुःख देनेवाले इन विषयोंका संगम छोड़ ॥ ३७ ॥ इसप्रकार मेरे समझानेपर वह तुरंत ही काम भोगसे विरक्त हुआ और अपने ज्येष्ठ पुत्र महीकंपको राज्यका भार सोंप कर अनेक विद्याधरोंके साथ जगतनंदनमुनिराजके समीप दीक्षा धारण की थी। कनका[1]वली आदि अनेकप्रकारके तपश्चरणकर समाधिमरणसे शरीरका त्यागकर चौदवें प्राणतस्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक इंद्र उत्पन्न हुआ था ॥ ३८-३९ ॥ बीससागरकी उसकी स्थिति थी सो बीससागरतक भोगोपभोगोंका अनुभवकर वहांसे च्युत हुआ था और धातकीखंडद्वीपके पूर्वमेरुसंबंधी पश्चिमविदेहक्षेत्रमें गंधिलादेश के अयोध्यानगरमें महाराज जयवर्मा और रानी सुप्रभाके अजितंजयनामका पुत्र उत्पन्न हुआ था॥४०- ४१॥ राजा जयवर्माने अपना सब राज्य अजितंजयको सोंपकर अभिनंदनमुनिके समीप दीक्षा धारण की थी तथा [2]आम्लवर्द्धननामका तपश्चरण पालन किया था ॥ ४२ ॥ और आठो कर्मबंधनोंसे छूटकर,

१ कनकावलीतपमें बहत्तरि उपवास होते हैं और उनके करनेकी विधि यह है कि प्रत्येक मासके शुक्लपक्षमें प्रतिपदा, पंचमी, दशमी तथा कृष्णपक्षमें द्वितीया, षष्ठी और द्वादशी इसप्रकार प्रत्येक मासमें छह छह उपवासकर लगातार एकवर्षपर्यंत करनेसे बहत्तरिउपवास पूर्ण होते हैं। इसप्रकार बहत्तरिउपवास करना कनकावली तप है।

२ आम्लवर्द्धनतपकी विधि यह है १ । २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ९ । ८ । ७ । ६ । ५ । ४ । ३ । २ । १ । इस यंत्रमें अंकोंकी संख्याके समान आचाम्ल करना चाहिये भेदेगे चावलगिलेहुये भातके मांडपीनेको आचाम्ल कहते हैं । नियतदिन तक आचाम्ल करनेके बाद एक पारना करना चाहिये जैसे एक आचाम्ल एक पारना दो आचाम्ल एक पारना तीन आचाम्ल एक पारना आदि । सब १०० आचाम्ल और १९ पारना इसप्रकार ११९ दिनमें यह तप किया जाता है।

पार्श्वेऽभिनदनस्याधात्तपस्याचाम्लवर्द्धनं ॥ ४२ ॥ कर्मबंधननिर्मुक्तो लेभेऽसौ परमं पदं । यत्रात्यातिकमत्त्य्यमव्याबाधं परं सुखं ॥ ४३ ॥ सुप्रभा च समासाद्य गणिनीं ता सुदर्शना । रत्नावलीमुपोष्याभूदच्युतानुदिशाधिपः ॥ ४४ ॥ ततोऽजितजयश्चक्री भूत्वा भक्त्याभिनदन । विवादिपुर्जिन जात. पिहितास्रवनामभाक् ॥ ४५ ॥ तदा पापास्रवद्वारपिधानान्नाम तादृश । लब्ध्वाऽसौ सुचिर काल साम्राज्यसुखमन्वभूत् ॥ ४६ ॥ प्रबोधितश्च सोऽन्येद्युर्मयैव स्नेहनिर्भर । भो भव्य मा भवान् साक्षीद्विषयेष्वपहारिषु ॥ ४७ ॥ पश्य निर्विषया तृप्तिसुशत्यात्यातिकीं बुधाः । न सास्ति

वह सिद्ध पद प्राप्त किया था जहां अतिशय, अविनाशीक, अव्याबाध और उत्कृष्टसुखकी प्राप्ति होती है ॥ ४३ ॥ रानी सुप्रभाने सुदर्शना नामकी अर्जिकाके समीप जाकर दीक्षा धारण की थी [1]रत्नावलीतपश्चरण पालन किया था और आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीरका त्यागकर स्त्रीलिंगका विनाशकर सोलहवें अच्युतस्वर्गके अनुदिश विमानमें देव उत्पन्न हुई थी ॥ ४४ ॥ इधर राजा आजितंजयको चक्रवर्त्तीकी विभूति प्राप्त हुई थी। एकदिन वह वडी भक्तिसे श्री अभिनंदन जिनेंद्रदेवकी बंदना करनेकेलिये गया था। दर्शन करतेसमय उसने अनेक पापास्रवोंके कारण दूर किये थे इसलिये उसका पिहितास्रव (आस्रवको रोकनेवाला) यह सार्थक नाम पड गया था। पिहितास्रव नाम पाकर उसने चिरकालतक अपने साम्राज्यके सुख अनुभव किये थे ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ अत्यंत स्नेहके कारण एक दिन मैंने ही उसे उपदेश दिया था और समझाया था कि हे भव्य ! तू इन नष्ट होनेवाले विषयोंमें आसक्त मत हो ॥ ४७ ॥ देख पंडितलोगोंनें अतिशयसुख विषयभोगरहित ही बतलाया है वह सुख देव और मनुष्योंके विषयभोगोंसे कभी नहीं हो सकता है ॥ ४८ ॥ ये भोगेपभोग वे ही हैं जो बार बार भोगे

---

१ रत्नावलीका दूसरा प्रकार यह भी है कि प्रत्येक महीनेके प्रत्येक पक्षकी तृतीया पचमी अष्टमीका उपवास लगातार बारह महीनेतक करे। इसप्रकार १२ महीनेके ७२ उपवास करना रत्नावली तप है।

विषयैर्भुक्तैर्दिव्यमानुषगोचरै. ॥ ४८ ॥ भूयो भुक्तेषु भोगेषु भवेन्नैषु रसांतरं । स एव चेद्रसः पूर्वं किं तैश्चर्वितचर्वणैः ॥ ४९ ॥ भोगैरैंद्रैर्न यस्तृप्त. स किं तप्स्यसि मर्त्यजै । अनाशितभवैरेभिस्तदल भंगुरै सुखै ॥ ५० ॥ इत्यस्मद्वचनाज्जातवैराग्य. पिहितास्रव· । सहस्रगुणविंशत्या सम पार्थिवकुंजरै· ॥ ५१ ॥ मदरस्थविरस्याते दीक्षामादाय सोऽवधिं । चारणर्द्धिं च सम्प्राप्य तिलकातेंऽवरे गिरौ ॥ ५२ ॥ तपो जिनगुणर्द्धिं च श्रुतज्ञानविधिं च ते । तदादादाददानायै स्वर्गाग्रसुखसाधनं ॥ ५३ ॥ ततोऽसद्गुरुरेवासीत्त्वाप्यभ्यर्हितो गुरुः । द्वाविंशतिं गुरुस्नेहाल्ललितांगानथार्चय ॥ ५४ ॥ तेष्वत्यो भवतीभर्त्ता प्राग्भवेऽभून्महाबल । स्वयंबुद्धोपदेशेन नोऽन्वभूदामरीं श्रियं ॥ ५५ ॥ ललितागश्च्युत स्वर्गान्मर्त्य-

हुये हैं इनमें कुछ रस भी नहीं बदलता है जब इनमें वही पहलेका रस है तो फिर चर्वण किये हुये को पुनः चर्वण करनेमें क्या लाभ है ॥ ४९ ॥ जब स्वर्गमें इंद्र पद पाकर इन भोगोंसे तृप्त नहीं हुआ तब क्या मनुष्योंके भोगोंसे तृप्त होगा? इसलिये अब तू इन क्षणभंगुर सुखोंको छोड़ ॥५०॥ इसप्रकार मेरे बचन सुनकर राजा पिहितास्रवको वैराग्य उत्पन्न हुआ था और उसने वीसहजार राजाओंके साथ मंदरस्थविरनामक मुनिके समीप दीक्षा ग्रहण की थी। तथा तपश्चरण करते हुये क्रमसे अवधिज्ञान और चारणऋद्धि उन्हें प्राप्त हुई थी। उन्हीं पिहितास्रव मुनिराजके दर्शन अंवरातिलक पर्वतपर तुझे हुये थे और उन्होंने ही उससमय तुझे स्वर्गमोक्षके सुख प्राप्त करानेवाले जिनगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान ये दोनों व्रत दिये थे ॥५१-५२-५३॥ इसप्रकार जो पिहितास्रव मुनि पहले मेरे गुरु थे वे ही तेरे भी पूज्य गुरु हुये थे। मेरी माता मनोहराके जीव ललितांगदेवने मुझे आकर उपदेश दिया था इसलिये मैने गुरुके स्नेहसे मेरे समयमें होनेवाले वाईस ललितांगदेवोंकी पूजा की थी ॥ ५४ ॥ इन वाईस ललितांगदेवोंमेंसे पहिला ललितांग तो मेरी माता मनोहराका जीव था जो कि जन्मांतरमें पिहितास्रव मुनि हुआ और अंतका ललितांगदेव तेरा पति था जो कि पहले भवमें राजा महाबल था और स्वयंबुद्धमंत्रीके उपदेशसे स्वर्गकी लक्ष्मीका अनुभव करनेवाला ललितांगदेव हुआ था ॥ ५५ ॥ वह अंतका ललितांगदेव स्वर्गसे चयकर

भावे स्थितोऽद्य नः । प्रत्यासन्नतमो बंधुः स ते भर्ता भविष्यति ॥ ५६ ॥ तवाभिज्ञानमन्यच्च वक्ष्ये पद्माननेे शृणु । ब्रह्मेंद्रलांतवेशाभ्यां भक्त्या पृष्टस्तदेत्यहं ॥ ५७ ॥ युगंधरजिनेशस्य तीर्थेलप्स्वहि दर्शनं । ततस्तच्चरितं कृत्स्नं संबुभुत्सावहेऽधुना ॥ ५८ ॥ ततोऽवोचमहं ताभ्यामिति तच्चरितं तदा । दंपतीभ्यां समेताभ्यां युवाभ्यां च यदृच्छया ॥ ५९ ॥ जंबूद्वीपस्य पूर्वस्मिन्विदेहे वत्सकाह्वये । विषये भोगभूदेश्ये सीतादक्षिणदिग्गते ॥ ६० ॥ सुसीमानगरे नित्यं वास्तव्यौ ज्ञानविच्तकौ । जातौ प्रहसिताख्यश्च तथा विकसिताह्वय. ॥ ६१ ॥ तत्पुराधिपतेः श्रीमदजितंजयभूभृतः । नाम्नामतिमातिर्मंत्री सत्यभामा प्रियास्य च ॥ ६२॥ तयोः प्रहसिताख्योऽयममूत्सूनुर्विचक्षणः । सखा विकासितास्योऽसौ

आज मनुष्यलोकमें विराजमान है वह हमारा अत्यंत निकट संबंधी है और वही तेरा पति होगा ॥५६॥ हे कमलमुखि ! उसी विषयको स्मरण करानेवाली एक कथा और कहता हूं उसे भी सुन । जब मैं सोलहवें स्वर्गमें इंद्र था तब एकवार ब्रह्म और लांतवस्वर्गके दोनों इंद्रोंने भक्तिपूर्वक आकर मुझसे पूछा था कि ॥ ५७ ॥ हम दोनोंने श्रीयुगंधर तीर्थंकरके समीप सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है इसलिये इससमय हम दोनों उनका पूर्ण चरित्र जानना चाहते हैं ॥ ५८ ॥ उससमय मैंने दंपति सहित आये हुये उन दोनोंको श्रीयुगंधर तीर्थंकरका चरित्र कहाथा, उससमय वहां तुम दोनों भी (ललितांगदेव और स्वयंप्रभा) उपस्थित थे इसलिये तुम दोनोंने भी वह चरित्र सुना था ॥ ५९ ॥ उससमय मैंने वह चरित्र इसप्रकार कहा था कि जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें एक वत्सकावती देश है जोकि भोगभूमिके समान सुंदर है । इसी देशमें सीतानदीकी दक्षिणदिशाकी ओर एक सुसीमा नगर है । इसी नगरमें रहनेवाले तथा पठन पाठन आदिकर सदा ज्ञानसे ही जीविका करनेवाले प्रहसित और विकासित नामके दो विद्वान् रहते थे ॥ ६०-६१ ॥ श्रीयुक्त अजितंजय राजा इस नगरका शासन करता था । उसके एक मंत्रीका नाम अमितमति था अमितमतिकी सत्यभामा स्त्रीसे अत्यंत बुद्धिमान् और विचक्षण यह प्रहसित नामका पुत्र हुआ था । विकासित इसी प्रहसितका मित्र था और ये दोनों सदा साथ २ रहते थे ॥ ६२-६३ ॥ ये दोनों विद्वान्

सदेमौ सहचारिणौ ॥ ६३ ॥ जातौ हेतुतदाभासच्छलजात्यादिकोविदौ । तीर्णव्याकरणाभोधी सभारंजनतत्परौ ॥ ६४ ॥ तौ राजसंमतौ वादकंडूयाकाडपाडितौ । विद्यासवादगोष्ठीषु निकषोपलता गतौ ॥ ६५ ॥ कदाचिच्च नरेंद्रेण समं गत्वा मुनीश्वरं । मतिसागरमद्राष्टाममृतस्रवणर्द्धिकं ॥ ६६ ॥ नृपप्रश्नवशाचस्मिन्जीवतत्त्वनिरूपण । कुर्वाणे चोद्यचंचुत्वादित्यब्रूता प्रसह्य तौ ॥६७॥ विनोपलब्ध्या सद्भाव प्रतीम. कथमात्मनः ।

हेतु,[1] हेत्वाभास, छल, जाति आदि सबमें निपुण थे, व्याकरणरूपी समुद्रके पारगामी थे और सभाको प्रसन्न करनेमें भी वड़े चतुर थे ॥ ६४ ॥ ये दोनों विद्वान् राजमान्य थे, वाद विवाद करनेमें वड़े निपुण पंडित थे तथा विद्वानोंकी सभाओंमें सबकी यथार्थ परीक्षा करनेवाले कसौटीके समान थे ॥ ६५ ॥ किसी एकदिन वे दोनों विद्वान् राजा अजितंजयके साथ गये थे और वहां उन्होंने अमृतस्राविणी ऋद्धिको धारण करनेवाले श्रीमतिसागर मुनिराजको देखा था ॥ ६६ ॥ राजाने जीवतत्त्वका स्वरूप पूछा । उत्तर में वे मुनिराज जीवतत्त्वका निरूपण करने लगे । उपदेश समाप्त होनेपर आक्षेप करने और दोष देनेमें अति निपुण उन दोनों विद्वानोंने हठ पूर्वक नीचे लिखे वाक्य कहे थे ॥ ६७ ॥ कि जव जीव कहीं देखा ही नहीं जाता है तब उसके होनेमें क्यों विश्वास करना चाहिये और जव जीवके होनेका ही निश्चय

१ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतु अर्थात् साध्यके अविनाभावसे जिसका निश्चय किया गया हो उसे हेतु कहते हैं । जो वास्तवमें हेतु न हो किंतु हेतुसदृश प्रतिभासित होता हो उसे हेत्वाभास कहते हैं।

"कमप्यर्थमभिप्रेत्य प्रवृत्ते वचने पुन' । अनिष्टमर्थमारोप्य तन्निषेध' छल मत ।" अर्थात् किसी अर्थका कहनेवाला कोई वचन कहा गया हो उसका अन्य अनिष्ट अर्थ लगाकर निषेध करदेना छल कहलाता है । "प्रवृत्ते स्थापनाहेतौ दूषणासक्तमुत्तर । जातिमाहुरथान्ये तु स्वव्याघातकमुत्तरं ॥" अर्थात् । किसी पदार्थके सिद्ध करनेकेलिये कहे हुये हेतुको दूषित करनेवाला उत्तर कहना जाति है अथवा अन्य किसीके मतमें स्वव्याघातक उत्तर देना अर्थात् वादीके कहे हुये वचनोंसे ही वादीके मतका खडन करना जाति है । आदिशब्दसे निग्रहस्थानादिका ग्रहण किया जाता है । "अखडिताहक्रतिना पराहकारखडन । निग्रहस्तन्निमित्तस्य निग्रहस्थानतोच्यते ॥" अर्थात् अपना अहकार वचाकर दूसरेके अहकारका खडन करना अथवा वादीका निग्रह करना निग्रहस्थान कहलाता है ॥

स नास्त्यत॰ कुतस्तस्य प्रेत्यभावफलादिकं ॥ ६८ ॥ तदुपालभमित्युच्चैराकर्ण्य मुनिपुंगव. । वचनं तत्प्रबोधीद धीरधी. प्रत्यभापत ॥ ६९ ॥ यदुक्त जीवनास्तित्वेऽनुपलब्धि प्रसाधन । तदसद्धेतुदोषाणा भूयसा तत्र सभवात् ॥ ७० ॥ छद्मस्थानुपलब्धिश्चेत् सूक्ष्मादिपु कुतो गति॰ । अभावस ततो हेतु साध्य व्यभिचरत्यय ॥ ७१ ॥ भववा किंनु दृष्टोऽसौ त्वात्पितुर्य पितामह॰ । तथापि सोऽस्ति चेदस्तु जीवस्याप्येवम-स्तिता ॥ ७२ ॥ अभावेऽपि विवक्षूणा जीवस्यानुपलब्धित॰ । स नास्तीति मृषास्तित्वात्सूक्ष्म्यस्येह विवक्षा ॥ ७३ ॥ जीवशब्दाभिधेयस्य

नहीं है तब किये हुये पुण्य पापोंका फल उसे परभवमें भोगना पड़ता है यह बात भी असंभव है ॥ ६८ ॥ अत्यंत धीर वीर वे मुनिराज उन विद्वानोंके ऐसे उपालंभरूप बचन सुनकर उन दोनोंको समझानेकेलिये नीचे लिखे हुये बचन कहने लगे ॥ ६९ ॥ कि तुम लोगोंने जीवके नास्तित्व सिद्ध करनेकेलिये जो अनुपलब्धि रूप हेतु दिया है वह सद्धेतु नहीं है किंतु हेत्वाभास है । क्योंकि इस हेतुमें अनेक दोष भरे हुये हैं ॥ ७० ॥ पहला दोष यह है कि पदार्थोंके आस्तित्वमें दृष्टिगोचर होना कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अल्पज्ञानियोंको परमाणु आदि अनेक सूक्ष्म पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तथापि उनका अस्तित्व तुम लोग मानते ही हो। इसलिये जीवके अभाव सिद्ध करनेमें यह अनुपलब्धिरूप हेतु व्याभिचारी हुआ ॥ ७१ ॥ दूसरी बात यह है कि तुम लोगोंने अपने पिताके पितामह देखे थे या नहीं । यदि कहोगे नहीं देखे थे तो वे थे या नहीं । यदि नहीं थे तो तुम लोगोंकी उत्पत्ति कैसे हुई । यदि कहोगे कि वे थे तो तुम लोगोंने तो वे देखे ही नहीं थे, विना दृष्टिगोचर हुये उनका आस्तित्व कैसे मानते हो। इसलिये जैसे तुम लोग अपने पिताके पितामहका अस्तित्व विना दृष्टिगोचर हुये ही मानते हो उसीप्रकार दृष्टिगोचर न होते हुये ही जीवका अस्तित्व भी अवश्य मानना पड़ेगा ॥७२॥ यदि वास्तवमें जीव कोई पदार्थ न हो तो केवल अनुपलब्धिमात्रसे जीवका नास्तित्व सिद्ध करना भी व्यर्थ है । क्योंकि संसारमें ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ हैं जिनका अस्तित्व तो है किंतु उपलब्धि नहीं होती ॥७३॥ जैसे जीव शब्दका अस्तित्व प्रसिद्ध

वचस. प्रत्ययस्य च। यथास्तित्वं तथा वाह्योऽप्यर्थस्तस्यास्तु काऽन्नमा ॥ ७४ ॥ जीवशब्दोऽयमभांत वाह्यमर्थमपेन्नते। संज्ञात्वाल्लौकिका-श्रातमत हेत्वादिशब्दवत् ॥ ७५ ॥ इत्यादियुक्तिभिर्जीवतत्त्व स निरणीनयत्। तावपि ज्ञानजं गर्वमुज्झित्वा नेमतुर्मुनिं ॥ ७६ ॥ गुरोस्तस्यैव

है जीव इस वाक्यका अस्तित्व प्रसिद्ध है और जीव इस वाक्यके ज्ञानका अस्तित्व प्रसिद्ध है इसीप्रकार इन सबका वाच्य जीव पदार्थ भी अवश्य होना चाहिये। यदि जीव पदार्थ ही न होता तो उसके वाचक शब्द वाक्य आदि कहांसे होते। इसलिये जीव पदार्थके माननेमें कोई आपत्ति नहीं आ सकती ॥ ७४ ॥ जीव यह प्रसिद्ध शब्द ही निःसंदेह वाह्य पदार्थकी अपेन्ना रखता है क्योंकि वह संज्ञावाचक शब्द है जो जो संज्ञावाचक शब्द होते हैं वे किसी न किसी पदार्थकी अपेन्ना अवश्य रखते हैं जैसे धूम आदि हेतु-वाचक शब्द धूम पदार्थकी अपेन्ना रखते हैं। लौकिक जन भी इस मतमें कोई संदेह नहीं करते। यदि कोई किसीसे घट मगाता है तो वह लानेवाला भी निसंदेह घटका वाच्य मिट्टीका घड़ा उठा लाता है और मगानेवाला भी उससे संतुष्ट हो जाता है इसीप्रकार जीव शब्द भी संज्ञावाचक प्रसिद्ध है इसका वाच्य भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिये और वह जीव पदार्थ ही है इसमें कोई संदेह नहीं ॥ ७५ ॥ इसप्रकार मुनिराजने अनेक युक्तियोंसे जीवतत्त्वका निर्णय किया उसे सुनकर उन दोनों विद्वानोंको भी अपने ज्ञानका अहंकार छोड़ना पड़ा और उन्होंने सादर उन मुनिराजको नमस्कार किया ॥ ७६ ॥ उन दोनों विद्वानोंने उन्हीं मुनिराजके समीप तपश्चरण ग्रहण किया तथा [1]सुदर्शन और आचाम्लवर्द्धन इन

१ सुदर्शन तपकी विधि यह है-सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं औपशमिक न्नायिक और न्नायोपशमिक। प्रत्येक सम्यग्दर्शनके निःशंकितादि आठ अंग होते हैं इसलिये तीनों सम्यग्दर्शनोंके चौवीस अंग हुये। इन चौवीस अंगोंके चौवीस उपवास करना चाहिये। मध्यमें एक एक पारना करना चाहिये अर्थात् एक उपवास एक पारना एक उपवास एक पारना आदि। इसप्रकार चौवीस उपवास और चौवीस पारना करना सुदर्शन व्रत कहलाता है।

पार्श्वे तौ गृहीत्वा परमं तप. । सुदर्शनमथाचाम्लवर्द्धनं चाप्युपोषतु' ॥७७॥ निदान वासुदेवत्वेव्यधाद्विकसितोऽप्यभूत् । कालेते तावआयेतां महाशुक्रसुरोत्तमौ ॥ ७८ ॥ इद्रप्रतींद्रपदयो षोडशाब्ध्युपमस्थिती । तौ तत्र सुखसाद्भूतावन्वभूता सुरश्रिय ॥ ७९ ॥ स्वायुरते ततश्च्युत्वा धातकीखडगोचरे । विदेहे पुष्कलावत्यां पश्चिमार्द्धपुरोगते ॥ ८० ॥ विषये पुंडरीकिण्या पुर्यां राज्ञो धनजयात् । जयसेनायशस्वत्योर्देव्योर्व्यत्या-सितक्रमौ ॥ ८१ ॥ जज्ञाते तनयौ रामकेशवस्थानभागिनौ । ज्यायान्महावलोऽन्यश्च स्यातोऽतिबलसज्ञया ॥ ८२ ॥ राज्याते केशवेऽतीते तपस्तप्त्वा महावल. । पार्श्वे समाधिगुप्तस्य प्राणतेंद्रस्ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥ मुक्त्वामरीं श्रिय तत्र विंशत्यब्ध्युपमात्यये । धातकीखंडपश्चार्द्धपु-

---

दोनों व्रतोंके उपवास किये ॥ ७७ ॥ विकासितने वासुदेव पद प्राप्त होनेका निदान किया । आयुके अंतसमयमें समाधिमरणसे शरीर छोड़कर महाशुक्र स्वर्गमें दोनों उत्तम देव हुये ॥७८॥ इस दशवें स्वर्गमें प्रहसितका जीव इंद्र हुआ था और विकसितका जीव प्रतींद्र हुआ था। उन दोनोंकी आयु सोलह सागर की थी। सोलहसागरतक उन्होंने वहां बड़े सुखसे स्वर्गलक्ष्मीका अनुभव किया था ॥ ७९ ॥ आयुके अंतसमयमें वे दोनों वहांसे चयकर धातकीखंडद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिनी नगरीमें राजा धनंजयके दोनों पुत्र हुये थे। प्रहसितका जीव रानी जयसेनादेवीसे उत्पन्न हुआ था, महाबल इसका नाम था, यही दोनोंमें बड़ा था और बलभद्रका पद इसे प्रप्त था। विकासितका जीव रानी यशस्वतीदेवीसे उत्पन्न हुआ था, अतितल इसका नाम था और वासुदेवका पद इसे प्राप्त था। अबसे इन दोनोंके उत्पन्न होनेका क्रम भी बदलगया था अर्थात् यह नियम है कि वासुदेव अधोगति (नरक) को ही जाता है और बलभद्र उर्ध्वगति (स्वर्ग अथवा मोक्ष) ही प्राप्त करता है ॥ ८०-८१-८२ ॥ धनंजयके बाद अतिबलको राज्य मिला था। इसका राज्यकाल वीतजानेपर अर्थात् अतिबल वासुदेवकी आयु समाप्त होनेपर महाबलने श्रीसमाधिगुप्तमुनिके निकट दीक्षा ग्रहण की थी और अनेकप्रकारके तपश्चरणकर समाधिमरणसे शरीर छोड़ चौदहवें प्राणत स्वर्गमें इंद्र उत्पन्न हुआ था ॥ ८३ ॥ वहां वह

रोवर्त्तिविदेहगे ॥ ८४ ॥ विषये वत्सकावत्यां प्रभाकर्यां पुरं प्रभो । महासेनयस्य भूभर्तुः प्रतापानतविद्विपः ॥ ८५ ॥ देव्या वसुधराख्यायां जयसेनाह्वयोऽजनि । प्रजाना जनितानदश्चंद्रमा इव नदन ॥ ८६ ॥ क्रमाच्चक्रधरो भूत्वा प्रजा स चिरमन्वशात् । विरक्तधीश्च भोगेषु प्रव्रज्यामार्हतीं श्रितं ॥ ८७ ॥ सीमंधरार्हत्पादाब्जमूले षोडशकारण । भावयन्सुचिर तेपे तपो निरतिचारक ॥ ८८ ॥ स्वायुरतेऽहमिंद्रोऽभूद्ग्रैवेयेपूर्ध्वमध्यमे । त्रिंशदब्ध्युपमं कालं दिव्य तत्रान्वभूत्सुख ॥ ८९ ॥ ततोऽवतीर्य स्वर्गाग्रात्पुष्करार्द्धपुरोगते । विदेहे मंगलावत्या प्राक्पुरे

वीस सागरपर्यंत स्वर्गलक्ष्मीका अनुभवकर धातकीखंडद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें वत्सकावतीदेशके प्रभाकरी नगरीके स्वामी महाराज महासेनके पुत्र उत्पन्न हुआ था। वे महाराज महासेन अपने प्रतापसे संपूर्ण शत्रुओंको वश करनेवाले थे उन्हींकी रानी वसुंधरा देवीसे वह पुत्र हुआ था और जयसेन उसका नाम था। वह जयसेन चंद्रमाके समान सब प्रजाको आनंदित करता हुआ क्रमसे बढ़ता जाता था ॥ ८४-८५-८६ ॥ अनुक्रमसे चक्रवर्तीकी विभूति पाकर उसने चिरकालतक प्रजा पालन किया था और अंतमें विषयभोगोंसे विरक्त होकर श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी ॥ ८७ ॥ श्रीसीमंधर तीर्थंकरके चरणकमलोंके समीप दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन किया था और इसप्रकार उसने बहुतदिनतक अतिचाररहित तपश्चरण पालन किया था ॥ ८८ ॥ आयु समाप्त होने पर वह समाधिमरणसे शरीर छोडकर उपरिम ग्रैवेयकके मध्यमभागमें अहमिंद्रदेव उत्पन्न हुआ था और वहां उसने तीस सागर पर्यंत स्वर्गोंके उत्तमसुखोंका अनुभव किया था ॥ ८९ ॥ अनंतर वह वहांसे चयकर पुष्करार्द्ध द्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्नसंचयपुर नगरमें राजा अजितंजय और रानी वसुमतीके तीर्थंकरपदको धारण करनेवाला युगंधर नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। समस्त देव मनुष्योंने उनकी पूजा की। इनके गर्भ,जन्म, तप इन तीनों कल्याणोंमें इंद्रादि उत्तम देवोंने भी आकर इनकी पूजा की। अनुक्रमसे इन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और समवसरणमें विराजमान होकर आज

रत्नसंचये ॥ ९० ॥ अजितंजयभूपालाद्वसुमत्याः सुतोऽभवत् । युगंधर इति ख्यातिमुद्वहन्नृसुरार्चितः ॥ ९१ ॥ कल्याणत्रितये वर्यां स सपर्यामवापिवान् । क्रमात्कैवल्यमुत्पाद्य महानेष महीयते ॥ ९२ ॥ शुभानुबंधिना सोऽय कर्मणाभ्युदय सुख । षट्षष्टचब्ध्युपम काल मुक्त्वार्हंत्यमथासदत् ॥ ९३ ॥ युग्यो धर्मरथस्याय युगज्येष्ठो युगधर. । तीर्थकृत्त्रायता सोऽस्मान्भव्याब्जवनभानुमान् ॥ ९४ ॥ तदेति मद्वच· श्रुत्वा बहवो दर्शन श्रिता । युवा च धर्मसवेग परम समुपागतौ ॥ ९५ ॥ पिहितास्रवभट्टारकैवल्योपजनक्षणे । सम गत्वार्चयिष्यामस्तदा पुत्रि सरस्यद. ॥ ९६ ॥ अभिजानासि तत्पुत्रि स्वयभूरमणोदधिं । क्रीडाहेतोर्व्रजिष्यामो गिरिं चांजनसंज्ञकं ॥९७॥ श्रीमती गुरुणेत्युक्ता

भी ये धर्मरथको चलाते हुये संसारमें पूज्य हो रहे हैं ॥ ९०-९१-९२ ॥ इसप्रकार उस प्रहसितके जीवने अपने शुभ कर्मोंके अनुसार छयासठ सागरतक उत्तम स्वर्गोंका सुख भोगकर युगंधर तीर्थंकर होकर अरहंत पद प्राप्त किया है ॥ ९३ ॥ इस समय सबसे उत्कृष्ट ये युगंधरस्वामी धर्मरूपी रथको चलानेवाले हैं तथा सूर्यके समान भव्यरूपी कमलवनको प्रफुल्लित करनेवाले हैं। ऐसे ये तीर्थंकरदेव हमारी रक्षा करें ॥ ९४ ॥ उस समय मेरे ये वाक्य सुनकर अनेक देव श्रीयुगंधरस्वामीके दर्शन करनेकेलिये आये थे। उस समय तुम दोनोंको भी (ललितांग और स्वयंप्रभाको) धर्मसे बड़ा प्रेम हुआ था इसलिये तुम दोनों भी इनके दर्शन करनेकेलिये आये थे ॥९५॥ हे पुत्रि यह बात भी तुझे याद होगी कि जब श्रीपिहितास्रव भट्टारकको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उससमय हम सब लोगोंने आकर उनकी पूजा की थी ॥ ९६ ॥ हे पुत्रि ! इसके सिवाय यह भी तुझे याद होगा कि हम सब लोग क्रीडा करनेकेलिये स्वयंभूरमण समुद्रमें जाते थे तथा अंजनपर्वतपर भी जाते थे ॥ ९७ ॥ इसप्रकार वज्रदंत चक्रवर्तीके कह चुकनेपर श्रीमती कहने लगी कि हे तात ! आपके प्रसादसे मैं आपकी कही हुई सब बातें जानती हूं ॥ ९८ ॥ गुरुवर्य श्रीपिहितास्रवमुनिके केवलज्ञान उत्पन्न होते समय जो उनकी पूजा की थी वह भी मुझे याद है तथा अंबरतिलक पर्वतपर, अंजनपर्वतपर और स्वयंभूरमणसमुद्रमें जो जो विहार किये थे

नात युष्मत्प्रसादतः । अभिजानामि तत्सर्वमित्यसौ प्रत्यभापत ॥ ९८ ॥ गुरो' सरामि कैवल्यपूजां द्युतिलके गिरौ । विहृतिं चांजने शैले स्वयंभूरमणे च यत् ॥ ९९ ॥ प्रत्यक्षमिव तत्सर्वं परिस्फुरति मे हृदि । किं तु कात. क्व मे जात इति दोलायते मन' ॥ १०० ॥ इति ब्रुवाणां ता भूय प्रत्युवाच नराधिपः । पुत्रि स्वर्गस्थयोरेव युवयो प्राक्च्युतोऽच्युतात् ॥ १०१ ॥ नगर्यामिह धुर्योऽह यशोधरमहीपते । देव्या वसुधरायाश्च वज्रदत सुतोऽभव ॥ १०२ ॥ वियुताद्धप्रसंख्यानि पूर्वाण्यायु स्थितौ यदा । भवतो. परिशिष्टानि तदाहं प्रच्युतो दिव. ॥ १०३ ॥ युवा च परिशिष्टायुर्भुक्त्वाते त्रिदिवाच्च्युतौ । जातौ यथास्वमत्रैव विपये राजदारकौ ॥ १०४ ॥ जनितेतस्तृतीयेऽह्नि ललितांगचरेण ते । सगमोऽद्यैव तद्वार्ता पडितानेष्यति स्फुट ॥ १०५ ॥ पैतृष्वस्रीय एवायं तव भर्त्ता भविष्यति । तदिय मृग्यमाणैव वल्ली पादेऽवसज्यते

वे सब मुझे याद हैं ॥ ९९ ॥ हे तात ! ऊपर कही हुई सब बातें मेरे हृदयमें प्रत्यक्षके समान प्रतिभासित हो रही हैं परंतु मेरा पति ललितांगदेव कहां उत्पन्न हुआ है यही मुझे संदेह है ॥ १०० ॥ श्रीमतीके इस प्रकार कहनेपर महाराज वज्रदंत फिर कहने लगा कि हे पुत्रि ! जब तुम दोनों ही स्वर्गमें थे तब मैं तुम्हारे च्युत होनेके पहले ही अच्युतस्वर्गसे च्युत होगया था और इस नगरीमें महाराज यशोधरके रानी वसुंधरादेवीसे सर्वश्रेष्ठ वज्रदंत नामका पुत्र हुआ हूं ॥ १०१-१०२ ॥ जब तुम दोनोंकी आयु पचासहजारपूर्व शेष रही थी तब मैं स्वर्गसे चयकर यहां उत्पन्न हुआ था ॥ १०३ ॥ तुम दोनों भी अपनी आयु समाप्तकर स्वर्गसे च्युत हुये और इसी देशमें यथायोग्य राजपुत्र तथा राजपुत्री उत्पन्न हुये हो (ललितांगदेवका जीव पुष्कलावती देशमें राजपुत्र हुआ है और स्वयंप्रभाका जीव तू मेरे पुत्री हुई है) ॥ १०४ ॥ आजसे तीसरे दिन ललितांगचर राजपुत्रके साथ तेरा समागम हो जायगा । तेरी पंडिता सखी आज ही उसके समाचार लावेगी इसमें कोई संदेह नहीं ॥ १०५ ॥ हे पुत्रि ! वह ललितांगदेवका जीव मेरी बहिनके ही पुत्र हुआ है और वही तेरा पति होगा । यह समागम ऐसा आ मिला है मानों जिस वेलको ढूंढ रहे हों वह अपने पांवमें अपने आप ही लग गई हो ॥ १०६ ॥ हे पुत्रि ! तेरी मामी भी

॥ १०६ ॥ मातुलान्यास्तवायांत्या वयमप्यद्य पुत्रिके । प्रत्युद्गच्छाम इत्युक्त्वा राजोत्थाय ततोऽगमत् ॥ १०७ ॥ पंडिता तत्क्षणं प्राप्ता प्रफुल्लवदनाबुजा । मुखरागेणसलक्ष्यकार्यसिद्धिरुवाच ता ॥ १०८ ॥ त्व दिष्ट्या वर्द्धसे कन्ये पूर्णस्तेऽद्य मनोरथ. । सप्रपंचं च तद्वाच्मि सावधानमित. शृणु ॥ १०९ ॥ तदा पट्टकमादाय गताऽह त्वन्निदेशत. । तदाश्चर्यां विपुलाश्चर्ये महापूताजिनालये ॥ ११० ॥ मया तत्र विचित्रस्य पट्टकस्य प्रसारणे । बहवस्तदविज्ञाय गताः पडितमानिन ॥ १११ ॥ तौ तु बासवदुर्दांतौ यावलीकविचक्षणौ । दृष्ट्वाऽसत्पट्टक हृष्टौ स्वानुमानादवोचता ॥ ११२ ॥ पट्टकार्थं स्फुट विद्वो जातिस्मृतिमुपेयुषी । व्यलिखद्राजपुत्रीद स्वपूर्वभवचेष्टितं ॥ ११३ ॥ इति नागरिकत्वेन प्रवृत्तौ

आज आ रही है उसीके लानेकेलिये अब मैं उसके सन्मुख जाता हूं। इसप्रकार कहकर वह राजा वज्रदंत उठकर बाहर चला गया ॥ १०७ ॥ इतनेमें ही पंडिता सखी आ पहुंची, उससमय उसका मुखकमल प्रफुल्लित हो रहा था और उसके मुखकी प्रसन्न कांति कार्यकी सिद्धिको सूचित कर रही थी। वह आकर श्रीमतीसे कहने लगी कि ॥ १०८ ॥ हे कन्ये ! तू आनंदसे वृद्धिंगत हो आज तेरा मनोरथ सफल होगया। उसके सफल होनेकी सविस्तर कथा मैं कहती हूं तू सावधान होकर सुन ॥ १०९ ॥ जबसे मैं तेरी आज्ञानुसार तेरा चित्र लेकर गई हूं तबसे अनेक आश्चर्योंसे भरे हुये महापूत चैत्यालयमें ही बराबर रही हूं ॥ ११० ॥ मैंने वहां जाकर वहांकी चित्रशालामें तेरा विचित्र चित्र लटका दिया था। अनेक भोले मनुष्य तो उसका आशय ही नहीं समझ सके थे और वे केवल देखकर ही वापिस लौट गये थे ॥ १११ ॥ अनेक देखनेवालोंमें वासव और दुर्दांत नामके दो मनुष्य भी आये थे। वे दोनों मिथ्याभाषण करनेमें बड़े ही निपुण थे। हमारे चित्रपटको देखकर पहले तो वे दोनों प्रसन्न हुये थे और फिर अपने मिथ्या अनुमानसे कहने लगे थे कि ॥ ११२ ॥ इस चित्रपटका यथार्थ आशय हम दोनों ही जानते हैं, किसी राजपुत्रीको जातिस्मरण हुआ है इसालिये उसने इस चित्रपटमें अपने पूर्वभवकी सब चेष्टायें लिखी हैं ॥ ११३ ॥ इसप्रकार कहते कहते उन्होंने बड़ी चतुरतासे कहा कि इसके पूर्वभवके

नायकत्रुवौ । तावबोचं विहस्याहं चिरात्स्यादिदमीदृशं ॥ ११४ हठात्प्रकृतगूढार्थे संप्रश्ने च मया कृते । जोषमास्तां विलक्षौ तौ मूकीभूय ततो गतौ ॥ ११५ ॥ श्वशुर्यस्ते युवा वज्रजघस्तत्रागमत्तत । दिव्येन वपुषा कात्या दीप्त्या चानुपमो भुवि ॥ ११६ ॥ अथ प्रदक्षिणीकृत्य भव्य-स्ताज्जिनमंदिरं । स्तुत्वा प्रणम्य चाभ्यर्च्य पट्टशालामुपासदत् ॥ ११७ ॥ निर्वर्ण्य पट्टक तत्र श्रीमानिदमवोचत । ज्ञातपूर्वमिवेदं मे चरितं पट्टकस्थित ॥ ११८ ॥ वर्णनातीतमत्रेद चित्रकर्म विराजते । मानोन्मानप्रमाणाढ्यं निम्नोन्नतविभागवत् ॥ ११९ ॥ अहो सुनैपुणं चित्रकर्मेद विलसच्छवि । रसभावान्वित हारि रेखामाधुर्यसगत ॥ १२० ॥ अत्रास्मद्भवसंबंधं पूर्वोऽलेखि सविस्तर । श्रीप्रभाधिपता साक्षात्पश्यामीवेह

पति हम ही हैं । यह सुनकर मैंने हंसते हंसते उनसे कहा कि कदाचित् ऐसा ही होगा ॥ ११४ ॥ अनंतर मैंने उनसे उस चित्रपटके अनेक गूढ़ प्रश्न किये । प्रश्न सुनकर तो वे चुप होगये वड़े लज्जित हुये और चुप चाप वहांसे चले गये ॥ ११५ ॥ अनंतर तेरे श्वसुरका पुत्र युवराज वज्रजंघ भी वहां आया था । वह दिव्य शरीर, कांति और प्रतापसे संसारमें उपमारहित था ॥ ११६ ॥ उस भव्यने आकर प्रथम ही जिन मंदिरकी प्रदक्षिणा दी, अनंतर श्रीदेवाधिदेव अरहंतदेवकी स्तुतिकर उन्हें प्रणामकर और उनकी पूजा कर चित्रशालामें आया था ॥ ११७ ॥ वह श्रीमान् चित्र देखकर कहने लगा कि ऐसा मालूम होता है मानों इस चित्रमें लिखा हुआ विषय मेरा पहलेका जाना हुआ हो ॥ ११८ ॥ वास्तवमें इस चित्रकी चित्रकला वाणीके अगोचर शोभायमान हो रही है । लंवाई चौड़ाई उंचाई आदि प्रमाणोंके विभाग ऐसे सुंदर हैं कि कुछ कहनेमें नहीं आ सकते ॥ ११९ ॥ अहा इस चित्रकी चित्रकला बहुत ही निपुणताके साथ की गई है इसकी सुंदरता बहुत ही शोभायमान है । इसमें रस, भाव और रेखाओंकी मधुरता आदि बहुत ही मनोहर दिखाये गये हैं ॥ १२० ॥ इस चित्रमें मेरा पूव भवका संबंध विस्तारके साथ लिखा गया है । ऐसा मालूम पड़ता है मानो मैं अपने पूर्व भवमें होनेवाले श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांग-देवको इस चित्रमें साक्षात् देख रहा हूं ॥ १२१ ॥ अहा देखो इस स्त्रीका रूप कैसा सुंदर लगता है

नामका ॥१२१॥ अहो स्त्रारूपमत्रेद नितरामभिरोचते । स्वयंप्रभागसंवादि विचित्राभरणोज्ज्वलं ॥१२२॥ किंत्वत्र कतिचित्कस्माद्गूढानि प्रकृतानि भो । मन्ये संमोहनायेद जनानामिति चित्रित ॥ १२३ ॥ ऐशानो लिखित कल्प श्रीप्रभ च प्रभास्वर । श्रीप्रभाधिपते. पार्श्वे दर्शितेय स्वयप्रभा ॥१२४॥ कल्पानोकहवीथीयमिदमुत्पकज सरः । दोलागृहमिद रम्य रम्योऽय कृतकाचलः ॥१२५॥ कृतप्रणयकोपेयं दर्शिताल पराङ्मुखी । मदारवनवीथ्यते लतेव पवनाहता ॥१२६॥ कनकाद्रितटे क्रीडा ललिता दार्शितावयो.।इतोमणितटोत्सर्पत्प्रभाकाडपटावृते ॥१२७॥ निगूढप्रेमसद्भावकैतवापादितेर्ष्यया । शय्योत्सगेमदुत्संगाद्धलात्पादोऽर्पितोऽनया ॥ १२८ ॥ मणिनूपुरझकारचारुणा चरणेन मा । ताडयंतीह सरुद्धा काच्या

मानों अनेक आभरणोंसे सुशोभित स्वयंप्रभाके शरीरका ही स्मरण कराता हो ॥ १२२ ॥ परंतु इस चित्रमें अनेक गूढ़ विषय दिखाये गये हैं सो क्यों ? जान पड़ता है अन्य लोगोंको मोहित करनेकेलिये ही वे अंकित किये गये हैं ॥ १२३ ॥ इधर देखो यह ईशान स्वर्ग अंकित किया गया है, यह देदीप्यमान श्रीप्रभविमान लिखा है, यह श्रीप्रभविमानके स्वामी ललितांगदेवके समीप बैठी हुई स्वयंप्रभा दिखलाई गई है ॥१२४॥ यह कल्पवृक्षोंकी पंक्ति है, यह सरोवर है जिसमें कमल खिले हुये हैं, यह सुंदर दोलागृह (झूलनेका घर) है और यह मनोहर कृत्रिम पर्वत अंकित किया है ॥ १२५ ॥ इधर देखो प्रणयकोप करती हुई और परान्मुख बैठी हुई यह स्वयंप्रभा दिखाई है यह ऐसी शोभायमान हो रही है मानों कल्पवृक्षोंके समीपमें वायुसे झकोरी हुई लता ही हो ॥ १२६ ॥ और इधर देखो सुमेरु पर्वतके तटभागपर जो अनेकप्रकारके मणि लगे हुये हैं उनके फैलते हुये प्रभासमूहरूप वस्त्रसे ढके हुये सुमेरुपर्वतके तटभागपर हम दोनोंकी यह बड़ी ही सुंदर क्रीड़ा दिखलाई है ॥ १२७ ॥ यह देखो अंतःकरणमें छिपे हुये प्रेमके साथ कपटसे कुछ ईर्ष्या करती हुई स्वयंप्रभाने यह अपना पैर हठपूर्वक मेरी गोदीसे हटाकर शय्यापर रक्खा है ॥ १२८ ॥ यह देखो यह स्वयंप्रभा मणिमय नूपुरोंके झंकार शब्दोंसे मनोहर ऐसे अपने चरणकमलसे मुझे ताडन करना चाहती है परंतु कुछ गौरवका विचारकर ही मानों

सख्येव गौरवात् ॥ १२९ ॥ कृतव्यलीककोपं मां प्रसादयितुमानता । स्वोत्तमागेन पादौ मे घटयंतीह दर्शिता ॥ १३० ॥ अच्युतेंद्रसमायोग-गुरुपूजादिविस्तरः । दर्शितोऽत्र निगूढस्तु भावः प्रणयजो मिथः ॥ १३१ ॥ इह प्रणयकोपेऽस्याः पादयोर्निपतन्नहं । कर्णोत्पलेन मृदुना ताड्यमानो न दर्शितः ॥ १३२ ॥ सालक्तकपदागुष्टमुद्रयाऽसदुर स्थले । वाल्लभ्यलाञ्छनं दत्तं प्रियया नात्र दर्शितं ॥ १३३ ॥ कपोलफलके चास्या फलिनीफलसात्विषि । लिखन्नालेख्यपत्राणि नाहमत्र निदर्शित ॥ १३४ ॥ नूनं स्वयप्रभाचर्यां हस्तनैपुण्यमीदृश । नान्यस्य स्त्रीजनस्येदृक्प्रावीण्य

सखी समान यह करधनी उसें रोक रही है ॥१२९॥ अहा इधर यह कैसा अच्छा भाव दिखलाया है, देखो यह मैं बनावटी कोप किये हुये वैठा हूं और मुझे प्रसन्न करनेकेलिये अति नम्रीभूत हुई यह स्वयंप्रभा अपना शिर मेरे पैरोंमें रख रही है ॥१३०॥ और इधर देखो यह अच्युतस्वर्गके इंद्रके साथ की हुई भेट दिखलाई है, यह गुरुवर्य श्रीपिहितास्रवकी पूजाका समारंभ दिखलाया है तथा उस समयकी और भी अनेक वातें दिखलाई हैं। और इस स्थानपर हम दोनोंके प्रेमका एक गूढ भाव दिखलाया गया है ॥ १३१ ॥ यद्यपि इस चित्रमें अनेक वातें दिखला दी गई हें तथापि वहुतसी वातें छूट भी गई हें। देखो एक दिन इस स्वयंप्रभाने प्रणयकोप किया था उसदिन मैं इसके पैरोंपर पडा था और इसने अपने कोमल कर्णफूलसे मुझे ताडना की थी परंतु यह विषय इसमें दिखाया ही नहीं है ॥ १३२ ॥ एक दिन इसने मेरे वक्षःस्थल पर महावर लगे हुये अपने पांवके अंगूठेकी छाप लगाई थी वह छाप क्या थी मानों इसने अपने पतित्वका चिन्ह ही वनाया था। परंतु यह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया गया है ॥ १३३ ॥ एक दिन मैंने इसके प्रियंगुफलके समान अति कांतिमान् गुलावी वर्णके कपोलफलकपर पत्ररचना की थी परंतु यह विषय भी इस चित्रमें नहीं दिखाया गया है ॥ १३४ ॥ मुझे तो यही निश्चय होता है कि इस चित्रके वनानेमें यह हाथकी ऐसी चतुरता अवश्य ही स्वयंप्रभाके जीव की है। क्योंकि चित्रकलामें ऐसी चतुरता अन्य किसी स्त्रीकी हो ही नहीं सकती है ॥ १३५ ॥ इसप्रकार तर्क वितर्क करता हुआ तथा

स्यात्कलाविधौ ॥ १३५ ॥ इति प्रतर्कयन्नेव पर्याकुल इव क्षणं । शून्यांतःकरणोऽध्यासीत्किमप्यामीलितेक्षण ॥ १३६ ॥ उदश्रुलोचन-श्चाय दशामत्यामिवोपयन् । दिष्ट्या सधारितोऽभ्येत्य तदा सख्येव मूर्च्छया ॥ १३७ ॥ तदवस्थ तमालोक्य नाहमेवोन्मनायिता । चित्रस्था-न्यपि रूपाणि प्रायन्प्रायोतरार्द्रता ॥ १३८ ॥ प्रत्याश्वासमथानीत सोपाय परिचारिभिः । त्वदर्पितमनोवृत्तिः सोऽदर्शत्त्वन्मयीर्दिश ॥ १३९ ॥ आचिराल्लब्धसञ्ज्ञश्च पृष्टवानिति मामसौ । भद्रे केनेदमालेख्ये लिखित न पुरेहित ॥ १४० ॥ प्रत्युक्तश्च मयेत्यस्ति स्त्रीसर्गस्यैकनायिका । दुहिता मातुलान्यास्ते श्रीमतीति पतिंवरा ॥ १४१ ॥ ता विद्धि मदनस्येव पताकामुज्ज्वलाशुका । स्त्रीसृष्टेरिव निर्माणरेखा माधुर्यशा-

---

देरतक व्याकुलके समान होता हुआ वह राजकुमार शून्यहृदय होकर और नेत्र वंदकर न जाने क्या चिंतवन करने लगा ॥ १३६ ॥ उससमय उसके नेत्रोंसे आंसू वह रहे थे वह अंतकी मरणावस्थाको प्राप्त होना ही चाहता था कि दैवयोगसे उसीसमय उसकी सखी मूर्छाने आकर उसे पकडलिया अर्थात् उसे तुरंत मूर्च्छा आगई ॥ १३७ ॥ उसकी वह अवस्था देखकर केवल मुझे ही आश्चर्य नहीं हुआ था किंतु चित्रमें अंकित की हुई मूर्तियोंका हृदय भी प्रायः पसीज गया था ॥ १३८ ॥ अनंतर उसके सेवकोंने अनेक शीतोपचारोंसे उसे सचेत किया, वह सचेत तो हुआ किंतु उसकी चित्तवृत्ति तेरी ओर ही लगी हुई थी और उसे सब दिशाओंमें तू ही तू दिखाई पडती थी ॥ १३९ ॥ अनंतर वह राजकुमार बहुत शीघ्र सचेत हुआ और मुझसे पूछने लगा कि हे भद्रे इस चित्रमें किसने हमारे ये पूर्व भवकी सब चेष्टायें लिखी हैं ॥ १४० ॥ इस प्रश्नके उत्तरमें मैंने उससे कहा कि एक श्रीमती नामकी तुम्हारी मामीकी पुत्री है वह स्त्रियोंकी सृष्टिमें मानों मुख्य नायिका है और इससमय वह विवाह योग्य यौवनवती है ॥ १४१ ॥ हे राजकुमार ! उसे तुम उज्ज्वल कांतियुक्त कामदेवकी पताकाके समान ही समझो अथवा स्त्रीसंसारकी मधुरशालिनी सुंदरताकी चरमसीमाके समान ही समझो ॥ १४२ ॥ अब उसके सब ओरसे यौवन-अवस्थाका प्रारंभ हो गया है उसीको सूचित करनेवाले उसके लंबायमान कटाक्षोंके द्वारा ही मानों

लिनी ॥ १४२ ॥ समग्रयौवनारम्भसूत्रपातैरिवायतैः । दृष्टिपातैः स्वभूस्तस्याः श्लाघते शरकौशलं ॥ १४३ ॥ लक्ष्मीकराग्रसंसक्तलीलांबुजजिगीषया । तद्वक्त्रेंदुः सदा भाति नून दतांशुपेशलः ॥ १४४ ॥ तस्याश्चरणविन्यासे लाक्षारक्ता पदावलीं । भ्रमरा लघयत्याशु रक्ताबुजविशकया ॥ १४५ ॥ कामविद्यामिवादेष्टु भ्रमर्य कलनिस्वना । तस्याः कर्णोत्पले लग्ना नापयात्यपि ताडिता ॥ १४६ ॥ देवस्य वज्रदतस्य प्रियपुत्र्या तयादरात् । कलाकौशलमात्मीयमिहालेख्ये प्रदर्शित ॥ १४७ ॥ लक्ष्मीरिवार्थिना प्रार्थ्या सैषा कन्या घनस्तनी । मृग्या मृगयते त्वाद्य नान्यस्त्वामिव पुण्यवान् ॥१४८॥ ललिताग ब्रवीति त्वा प्रिया दिव्येव तन्मृषा । येनेहापि भवान्सौम्यो लक्ष्यते ललितागकः ॥१४९॥ इत्युक्तस्तु

कामदेव अपने तीक्ष्ण बाणोंकी प्रशंसा करता है ॥ १४३ ॥ लक्ष्मीके हाथमें लगे हुये लीलाकमलको जीतनेकेलिये ही मानों दांतोंकी उज्ज्वल किरणोंसे शोभायमान उसका मुखरूपी चंद्रमा सदा सुशोभित रहता है ॥ १४४ ॥ जब वह चलती है उस समय लाक्षारससे (मावरसे) सुशोभित उसके दोनों चरणों को भ्रमर लालकमल समझकर बहुत शीघ्र ही घेर लेते हैं ॥ १४५ ॥ उसके कर्णरूपी कमलके समीप उड़ती हुई और मनोहर शब्द करती हुई भ्रमरियां ऐसी शोभायमान होती हैं मानो वे उसे कामविद्याका उपदेश ही दे रही हों और इसीलिये वे मानों ताड़ना करने और हटाई जानेपर भी नहीं हटती हैं ॥ १४६ ॥ हे राजकुमार ! महाराज वज्रदंतकी उसी प्रियपुत्री श्रीमतीने अपनी चित्रकलाकी चतुरता इस चित्रमें दिखलाई है ॥ १४७ ॥ जैसे धनार्थी लोग लक्ष्मीकी प्रार्थना करते हैं उसीप्रकार प्रार्थनाके योग्य तथा अवलोकन करने योग्य वह यौवनवती कन्या आज आपका अवलोकन करना चाहती है। इसलिये समझना चाहिये कि संसारमें आपके समान अन्य कोई पुण्यवान् नहीं है ॥ १४८ ॥ वह प्यारी श्रीमती सखी आपका स्वर्गका नाम ललितांग बतलाती है परंतु उसकी यह बात झूठ है क्योंकि आप इस मनुष्य भवमें भी अतिशय सौम्य और सुंदर अंग उपांग सहित साक्षात् ललितांग दिखाई पड़ते हैं ॥ १४९ ॥ इसप्रकार जब मैं कह चुकी तब वह राजकुमार कहने लगा कि हे पंडिते तूने बहुत

मया साधु पंडिते साधु जल्पितं । विधेर्विलसितं चित्रमभीष्टार्थप्रसिद्धिषु ॥ १५० ॥ पश्य जन्मांतराज्जंतूनानीयैवमनंतरे । भवे संघट्टयत्याशु विधिर्यातोऽनुलोमता ॥ १५१ ॥ द्वीपांतराद्दिशामंतादंतरीपादपांनिधेः । विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयान्वीयतां गतः ॥ १५२ ॥ इतीरयन्वचो भूयः प्रास्विद्यत्करपल्लव । तदस्मत्पट्टकं पाणौ कृतवान्स कुतूहली ॥ १५३ ॥ स्वपट्टकमिदं चान्यन्मम हस्ते समार्पिपत् । यत्र त्वच्चित्रसंवादि सर्वमालक्ष्यते स्फुटं ॥ १५४ ॥ सूत्रक्रम स्फुटोंत्रास्ति व्यक्तोवर्णक्रमोऽप्यय । क्रमो भावानुबंधस्य प्रत्याहार इवास्त्यहो ॥ १५५ ॥ इदमर्पयता नूनमनुरागो मनोगतः । त्वन्मनोरथसंसिद्धौ सत्यकारेऽर्पितोमुना ॥ १५६ ॥ ततः कर प्रसार्यार्ये पुनर्दर्शनमस्तु ते । व्रज व्रजाम इत्युद्गीर्निरगात्स

अच्छे समाचार सुनाये हैं। अभीष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होनेमें भी कर्मोंका उदय बड़ा ही विचित्र हुआ करता है ॥ १५० ॥ देखो! यदि कर्मोंका उदय अनुकूल होता है तो वह प्राणियोंको जन्मांतरसे लाकर इस दूसरे भवमें भी बहुत शीघ्र संयोग करा देता है ॥ १५१ ॥ यदि दैव (कर्मोंका उदय) अनुकूल होता है तो वह अभीष्ट पदार्थको किसी द्वीपसे, दिशाओंके अंतिमभागसे, किसी छोटे द्वीपसे वा समुद्रसे लाकर भी उसका संयोग अवश्य कराता है ॥ १५२ ॥ वह राजकुमार वज्रजंघ इसप्रकार कह रहा था उसके हाथ से पसीना भी निकल रहा था और उसे कुछ आश्चर्य भी हो रहा था। अंतमें उसने वह हमारा चित्र अपने हाथमें लेलिया ॥ १५३ ॥ और अपना यह चित्र मुझे सौंप दिया। देख इस चित्रमें तेरे चित्रोंको सूचित करनेवाले सब चित्र स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं ॥ १५४ ॥ देखो जैसे व्याकरणमें अक् अच् हल् आदि प्रत्याहारोंके अनुसार ही सूत्रक्रम, वर्णक्रम और धातुओंके अनुबंध होते हैं उसीप्रकार इस चित्रमें भी चित्रशास्त्रके अनुसार ही जहां जो चाहिये वह वहां ही लिखा गया है जहां जो वर्ण (रंग) चाहिये वहां वही रंग दिया गया है और जहां जैसा भाव चाहिये वहां वैसा ही भाव दिखाया गया है ॥ १५५ ॥ अवश्य ही इस चित्रको अर्पण करते हुये उस राजकुमारने तेरे समस्त मनोरथ सिद्ध करनेकेलिये अपने मनका अनुराग ही अर्पण कर दिया है ॥ १५६ ॥ अपना चित्र मुझे सोंप देनेके अनंतर उस राजकुमारने हाथ

जिनालयात् ॥ १५७ ॥ गृहात्वीहं च तद्वार्तामिहागामिति पंडिता । प्रसारितवती तस्याः पुरस्ताच्चित्रपट्टकं ॥१५८॥ तन्निर्वर्ण्य चिरं जातप्रत्यया सासमाश्वसीत् । चिरोढप्रौढसतापा चातकीव घनागमं ॥१५९॥ यथा शरन्नदीतीरपुलिन हसकामिनी । भव्यावली यथाध्यात्मशास्त्रं प्राप्य प्रमोदते ॥ १६० ॥ यथा कुसुमितं चूतकानन कलकंठिका । द्वीपं नंदीश्वर प्राप्य यथा वा पृतनामरी ॥ १६१ ॥ तथेदं पट्टक प्राप्य श्रीमत्यासीदनाकुला । मनोज्ञेष्टार्थसंपत्ति कस्य नोत्कंठता हरेत् ॥ १६२ ॥ ततः कृतार्थता तस्या समर्थयितुकामया । प्रोचे पंडितया वाच श्रीमत्यवसरोचितं ॥ १६३ ॥ दिष्ट्या कल्याणि कल्याणान्याचिरात्त्वमवाप्नुहि । प्रतीहि प्राणनाथेन प्रत्यासन्न समागम ॥ १६४ ॥ मागमस्त्वमनाश्वास स जोष

फैलाकर कहा कि हे आर्ये ! अब फिर कभी तेरा दर्शन होगा, इससमय तू जा और मैं भी जाता हूं। इसप्रकार कहकर वह राजकुमार उस जिनालयसे निकलकर चला गया ॥१५७॥ और मैं यह सब समाचार लेकर यहां आई हूं। इसप्रकार कहकर उस पंडिता सखीने बज्रजंघका दिया हुआ वह चित्र श्रीमतीके सामने फैला दिया ॥ १५८ ॥ उसे देखकर श्रीमतीको विश्वास हो गया तथा वह बहुत सुखी हुई जैसे चिरकालसे अति संतापित हुई चातकी बादलको देखकर सुखी होती है ॥ १५९ ॥ जैसे शरदऋतुमें नदीके किनारेकी निकली हुई जमीन देखकर हंसिनी प्रसन्न होती है, अथवा जैसे अध्यात्मशास्त्रोंको देखकर भव्यजीवोंकी पंकति प्रसन्न होती है, अथवा जैसे फूले हुये आम्रवृक्षको देखकर कोयल प्रसन्न होती है, अथवा जैसे नंदीश्वरद्वीपको देखकर देवोंकी सेना प्रसन्न होती है उसीप्रकार उस चित्रको देखकर वह श्रीमती भी प्रसन्न हुई थी। सो ठीक ही है मनोज्ञ और इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होनेपर किसकी उत्कंठा दूर नहीं होती है ॥ १६०-१६१-१६२ ॥ अनंतर इच्छानुसार वर प्राप्त होनेसे श्रीमती कृतार्थ हो जायगी इसीको समर्थन करनेकी इच्छासे वह पंडिता सखी श्रीमतीको उससमय कहने योग्य वचन कहने लगी ॥ १६३ ॥ कि हे कल्याणि ! शुभ कर्मोंके उदयसे तुझे अब शीघ्र ही अनेक आनंद मंगल प्राप्त होंगे। तू विश्वास रख कि तेरे प्राणनाथसे तेरा समागम बहुत शीघ्र होगा ॥ १६४ ॥ हे पुत्रि ! राजकुमार वज्रजंघ

गतवानिति । मया सुनिपुणं तस्य भावस्त्वय्युपलाक्षितः ॥ १६५ ॥ चिरं विलंबितो द्वारि वीक्षते स्मा मुहुर्मुहुः । ब्रजन्नपि सुगे मार्गे स्खलत्येव पदे पदे ॥ १६६ ॥ स्मयते जृमते किंचित्स्मरत्याराद्विलोकते । श्वासित्युष्णं च दीर्घं च पटुरस्मिन्स्मरज्वरः ॥ १६७ ॥ तमेव बहुमन्येते पितरौ ते वरोत्तम । नृपेंद्रो भागिनेयत्वाद्भ्रात्रीयत्वाच्च देव्यसौ ॥ १६८ ॥ लक्ष्मीवान्कुलजो दक्ष स्वरूपोभिमतः सतां । इत्यनेकोगुणग्रामस्तस्मिन्नस्ति वरोचितः ॥ १६९ ॥ सपत्नी श्रीसरस्वत्योर्भूत्वा त्व तदुरोगृहे । चिरं निवस कल्याणि कल्याणगतभागिनी ॥ १७० ॥ सामान्येनोपमानं ते लक्ष्मीर्नैव सरस्वती । यतोऽपूर्वैव लक्ष्मीस्त्वमन्यैव च सरस्वती ॥ १७१ ॥ भिदेलिमदले शश्वत्सकोचिनि रजोजुषि । सा श्रीरश्रीरिवोद्भूता कुशेश-

चुपचाप वहांसे चलागया यह समझकर तू अविश्वास मत कर। क्योंकि जाते समय भी उसका चित्त तुझमें ही लगा हुआ था यह बात मैंने बहुत अच्छी तरह निश्चय कर ली है ॥ १६५ ॥ देख जाते समय वह दरवाजे पर बहुत देरतक खड़ा रहा था वार वार मुझे देखता था और सरल मार्गमें चलता हुआ भी वह पदपदपर ठोकरें खाता था ॥ १६६ ॥ वह हंसता था, जंभाई लेता था, कुछ स्मरण करता था, चारों ओर थोड़ी थोडी दूरीतक कुछ देखता था, तथा उष्ण और दीर्घ श्वास छोड़ता था। इन सब कारणों से स्पष्ट मालूम होता था कि उसे कामज्वर बहुत जोरसे चढ़ा हुआ है ॥ १६७॥ तेरे माता पिता भी तेरे उस प्राणनाथको बहुत मानते हैं। क्योंकि वह राजकुमार वज्रजंघ तेरे पिता महाराज वज्रदंतका भानजा है और तेरी माता लक्ष्मीदेवीका वह भाईका पुत्र है ॥ १६८॥ वह लक्ष्मीवान् है, उत्तमकुलमें उत्पन्न हुआ है, चतुर है, रूपवान है और सज्जन पुरुषोंके द्वारा मान्य है। वरके लिये जो जो उत्तम गुण होने चाहिये वे सब गुण उसमें विद्यमान हैं ॥ १६९ ॥ हे कल्याणि ! तू लक्ष्मी और सरस्वतीकी सपत्नी होकर सैकड़ों सुखोंका अनुभव करती हुई चिरकालतक राजकुमार वज्रजंघके हृदयरूपी घरमें निवास कर॥१७०॥ यदि गुणोंकी तुलना की जाय तो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही तेरी उपमाको प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् तेरे समान नहीं हो सकतीं। क्योंकि तू एक अपूर्व लक्ष्मी है और अपूर्व ही सरस्वती है ॥ १७१ ॥ लक्ष्मी

यकुटीरके ॥ १७२ ॥ सरस्वती च सोच्छिष्टे चलाज्जिह्वाग्रपल्लवे । लब्धजन्मा तयो' क्वत्यस्त्वैवाभिजनः शुचिः ॥ १७३ ॥ लतांगि ललितांगस्य विविक्ते तस्य मानसे । रमस्व राजहंसीव लतागमिव वत्सरान् ॥ १७४ ॥ युवयोरुचित योग कृत्वा यातु कृतार्थतां । विधाता जननिर्वादान्मुच्येत कथमन्यथा ॥ १७५ ॥ समाश्वसिहि तद्भद्रे क्षिप्रमेष्यति ते वरः । त्वद्वरागमने पश्य पुरमुद्वेलकौतुक ॥ १७६ ॥ इत्यादितद्गतालापैः श्रव्यैस्तां सुखमानयत्। पंडिता सा तु तत्प्राप्त्यै नाद्याप्यासीन्निराकुला ॥ १७७ ॥ तावच्च चाक्रिणा बधुप्रीतिमातन्वता परा । गत्वार्धपथमानीतो

कमलसे उत्पन्न हुई है कमल एक प्रकारके पत्तोंकी झोंपड़ी है जिसके पत्ते फटे हुये हैं सदा जिसका संकोच होता रहता है और सदा जिसपर पराग रूपी धूल पड़ी रहती है ऐसे घरमें उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी लक्ष्मी नहीं कही जा सकती किंतु उसे एक दरिद्रा कह सकते हैं। इसीप्रकार सरस्वती भी जिह्वाके अग्रभागरुपी पत्ते पर उत्पन्न होती है वह जिह्वाका अग्रभागरूपी पत्ता भी सदा चंचल रहता है और सदा उच्छिष्ट रहता है इसप्रकार अशुद्ध कुल में उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी और सरस्वती तेरी समानता कैसे कर सकती हैं, क्योंकि तू अतिशुद्ध कुल में उत्पन्न हुई है॥१७२-१७३॥ हे लताके समान सुंदरी! मानसरोवरमें जैसे राजहंसी क्रीड़ा करती है उसीप्रकार अब तू उस ललितांगके एकांत हृदयमें अनेक वर्षोंतक क्रीड़ा कर॥१७४॥ विधाताने (शुभकर्मोंके उदयने) जो तुम दोनोंका योग्य संयोग किया है इसलिये वह कृतार्थ हो। यदि वह ऐसा योग्य संयोग न करता तो वह लोकापवादसे कैसे छूटता अर्थात् ऐसा योग्य संयोग किये विना लोग उसकी निंदा अवश्य ही करते ॥१७५॥ इसलिये हे भद्रे तू विश्वास रख तेरा पति बहुत शीघ्र आवेगा। देख तेरे पतिके आनेके लिये ही इस नगरमें कैसा उत्साह बढ़ रहा है॥१७६॥ इसप्रकार वज्रजंघसंबंधी अनेक सुखदेनेवाली बातें कहकर पंडिता सखीने श्रीमतीको सुखी किया परंतु वह श्रीमती वज्रजंघकी प्राप्तिकेलिये अबतक भी निराकुल नहीं हुई थी ॥१७७॥

इधर महाराज वज्रदंत चक्रवर्ती अपने बहनोईको सामने जाकर लानेकेलिये गया था सो बड़े बंधु

वज्रबाहुर्महीपतिं ॥ १७८ ॥ स्वसुः पतिं स्वसारं च स्वस्रीयं च विलोकयन् । प्रापच्चक्री परां प्रीतिं प्रेम्णो दृष्टा हि बंधुता ॥ १७९ ॥ सुख-
मकथया कांचित्स्थित्वा कालकलां पुनः । प्राघूर्णकोचितां तेऽमी सत्क्रियां तेन लंभिताः ॥ १८० ॥ चक्रवर्तिकृतां प्राप्य वज्रबाहुः स मानतां ।
पिप्रिये ननु सप्रीत्यै सत्कारः प्रभुणा कृतः ॥ १८१ ॥ यथासुखं च संतोषात्स्थितेष्वेव सनाभिषु । ततश्चक्रधरो वाचमित्यवाचत्स्वसुः पतिं ॥ १८२ ॥
यत्किंचिद्रुचितं तुभ्यं वस्तुजातं ममालये । तद्गृहाण यदि प्रीतिर्मयि तेऽस्त्यनियंत्रणा ॥ १८३ ॥ प्रीतेरद्य परां कोटिमधिरोहति मे मनः ।
त्वं सतुक्कः सदारश्च यन्ममाभ्यागतो गृहं ॥ १८४ ॥ त्वामिष्टबंधुरायातो गृहं मेऽद्य सदारकः । सविभागोचितः कोऽन्यः प्रस्तावः स्यान्ममे-

प्रेमके साथ आधी दूरतक जाकर अपने बहनोई राजा वज्रबाहुको ले आया ॥ १७८ ॥ राजा वज्रदंत अपने बहनोई राजा वज्रबाहुको तथा अपनी बहिन वसुंधराको और उनके पुत्र राजकुमार वज्रजंघको देखकर बहुत ही संतुष्ट और प्रसन्न हुआ और उसे प्रसन्न होना ही चाहिये क्योंकि प्रेमपूर्वक देखना ही बंधुता कहलाती है १७९ ॥ तदनंतर थोड़ी देरतक परस्पर कुशलमंगलकी बातें होती रहीं । और फिर चक्रवर्तीकी ओरसे इन सबका आदरदृष्टिसे देखना आदि योग्य सत्कार किया गया ॥१८०॥ चक्रवर्ती ने स्वयं उसका सत्कार किया है यह देखकर राजा वज्रबाहु बहुत प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है अपने स्वामीके द्वारा सत्कार प्राप्त होनेपर अधिक प्रसन्नता होती ही है ॥ १८१ ॥ इसप्रकार संतुष्ट होकर कुटुंबी और बंधुवर्गके सब लोग जब सुखपूर्वक बैठ गये तब चक्रवर्तीने अपने बहनोईसे नीचे लिखे हुये वाक्य कहे ॥१८२॥ यदि आप मुझपर मर्यादारहित अतिशय प्रेम रखते हैं तो मेरे घरकी जो कुछ वस्तु आप-को पसंद हो वही ले लीजिये ॥१८३॥ आज आप पुत्र और स्त्रीसहित मेरे घर आये हुये हैं इसलिये आज मेरा मन प्रेमकी चरम सीमातक चढ रहा है अर्थात् आज मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १८४ ॥ आप मेरे इष्ट बंधु हैं और आज स्त्रीसहित मेरे घर आये हुये हैं इसलिये देनेकेलिये इससे बढ़कर और ऐसा कौनसा समय मुझे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् अपनी संपत्ति का यथार्थ उपयोग करनेकेलिये मुझे सब

रत्नं प्रदीयतां ॥ १९८ ॥ इति विज्ञापितस्तेन चक्रभृत्प्रत्यपद्यत । तथास्तु संगमो यूनोरनुरूपोऽनयोरिति ॥ १९९ ॥ प्रकृत्या सुंदराकारो वज्रजघोऽस्त्वयं वर. । पतिंवरा गुणैर्युक्ता श्रीमती चास्तु सा वधूः ॥ २०० ॥ जन्मान्तरानुबद्ध च प्रेमास्त्येवानयोरतः । समागमोऽस्तु चद्रस्य ज्योत्स्नायास्तु यथोचितः २०१ ॥ प्रागेव चिंतित कार्यं मयेदमतिमानुष । विधिरस्तु प्राक्तरामेव सावधानोऽत्र के वयं ॥ २०२ ॥ इति चक्रधरेणोक्तां वाच सपूज्य पुण्यधीः । वज्रबाहु. परां कोटिं प्रीतेरध्यारुरोह सः ॥ २०३ ॥ वसुधरा महादेवी पुत्रकल्याणसपदा । तया प्रमद-पूर्णांगी न स्वांगे सममात्तदा ॥ २०४ ॥ सा तदा सुतकल्याणमहोत्सवसमुद्गतं । रोमांचमंचित भेजे प्रमादांकुरसन्निभं ॥२०५॥ मन्त्रिमुख्यमहा-

---

बाहुने जो प्रार्थना की थी वह चक्रवर्तीने स्वीकार की और कहा कि आप कहते हैं सो सब स्वीकार है युवावस्थाको प्राप्त हुये इन दोनोंका योग्य समागम होना अच्छा ही है ॥ १९९ ॥ स्वाभाविक सुंदर शरीरको धारण करनेवाला यह बज्रजंघ वर हो और अनेक गुण युक्त युवती श्रीमती मेरी कन्या इसकी अर्धांगिनी हो ॥ २०० ॥ पूर्व भवसे भी इन दोनोंका प्रेम बराबर चला आता है इसालिये चंद्रमा और चांदनीके समान इन दोनोंका यथायोग्य समागम होना अच्छा ही है ॥ २०१ ॥ यह कार्य मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है तथापि मैंने पहलेसे ही इसप्रकार करनेकेलिये विचार कर रक्खा है । अथवा इस कार्य के करनेकेलिये इन दोनोंके पूर्वकर्मोंका उदय पहले ही सावधान हो रहा है इसमें हम लोग क्या कर सकते हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीके कहे हुये बचनोंको आदरपूर्वक सुनकर वह पुण्यवान राजा वज्रबाहु अत्यंत प्रसन्न हुआ ॥ २०३ ॥ तथा बज्रजंघकी माता वसुंधरा महादेवी अपने पुत्रकी विवाहरूप संपदा पाकर आनंदसे इतनी हार्षित हुई कि वह उससमय अपने शरीरमें भी नहीं समाती थी ॥ २०४ ॥ जिससमयसे वज्रजंघके विवाहका समारंभ प्रारंभ हुआ था तबसे वसुंधराके समस्त शरीरमें रोमांच खडे हो गये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों आनंदके अंकुरे ही हों ॥ २०५ ॥ मंत्री, महा-मंत्री, सेनापति, पुरोहित, योद्धा और नगरनिवासी आदि सब लोगोंने इस संबंधकी प्रशंसा की ॥ २०६ ॥

मात्यसेनापतिपुरोहिताः । सामंताश्च सपौरास्तत्कल्याणं बहुमेनिरे ॥ २०६ ॥ कुमारो वज्रजंघोऽयमनंगसदृशाकृतिः । श्रीमतीयं रतिं रूपसंपदा निर्जिगीषति ॥ २०७ ॥ अभिरूपः कुमारोऽयं सुरूपा कन्यकानयोः । अनुरूपोऽस्तु संबंधः सुरदंपतिलीलयोः ॥ २०८ ॥ इतिप्रमदविस्तारमुद्वहत्तत्पुरं तदा । राजवेश्म च संवृत्तं श्रियमन्यामिवाश्रित ॥ २०९ ॥ विवाहमंडपारंभं चक्रवर्तिनिदेशतः । महास्थपतिरातेने परार्घ्यमणिकांचनैः ॥ २१० ॥ चामीकरमयाः स्तंभास्तलकुंभैर्महोदयैः । रत्नोज्ज्वलैः श्रियं तेनुर्नृपा इव नृपासनैः ॥ २११ ॥ स्फाटिक्यो भित्तयस्तस्मिन् जनानां प्रतिबिंबकैः । चित्रिता इव रेजुः प्रेक्षिणां चित्तरंजिकाः ॥ २१२ ॥ मणिकुट्टिमभूरस्मिन्नीलरत्नैर्विनिर्मिता । पुष्पोपहारैर्न्यरुचत् द्यौरिवाततितारका

तथा यह राजकुमार वज्रजंघ भी कामदेवके समान सुंदर है और यह श्रीमती राजकन्या भी अपनी रूपसंपत्तिसे रतिको जीत रही है ॥ २०७ ॥ यह कुमार भी सुंदर है और यह कन्या भी सुंदरी है। इसलिये देवदेवियोंके समान क्रीडा करनेवाले इन दोनोंका संबंध होना अत्यंत योग्य और बहुत अच्छा है ॥ २०८ ॥ इसप्रकारके अनेक आनंदसमूहोंसे वह नगर बहुत ही सुशोभित हुआ था और राजमहल तो ऐसा शोभायमान हुआ था मानों इसकी शोभा पहलेसे सर्वथा ही बदल गई हो ॥ २०९ ॥ चक्रवर्तीकी आज्ञासे महास्थपतिने (विश्वकर्मा नामके मनुष्यरत्नने) बहुमूल्य मणियों और सुवर्णसे विवाहका मंडप तैयार किया था ॥ २१० ॥ उस विवाहमंडपमें सुवर्णके स्तंभ लगे हुये थे और स्तंभोंके नीचे जड़भागमें देदीप्यमान उज्वल रत्नोंके घड़ेके आकार गोल २ थांभले लगे हुये थे। उन थांभलोंसे वे सुवर्णमय स्तंभ ऐसे शोभायमान होते थे जैसे सिंहासनपर विराजमान राजराजेश्वर शोभायमान होता है ॥ २११ ॥ उस मंडपमें स्फटिकमणिकी दीवालें लगी हुई थीं जिनमें अनेक मनुष्योंके प्रतिविंव पड़ते थे। उन प्रतिबिंबोंसे वे दीवालें ऐसी शोभायमान होती थीं मानों उनपर अनेक चित्र ही अंकित किये हों और इसलिये ही वे देखनेवालोंको बड़ी मनोहर लगती थीं ॥ २१२ ॥ उस मंडपकी भूमि नीलमणि रत्नोंसे वनी हुई थी और उसपर चारोंओर शुभकामनासे फेंके हुये पुष्प पड़े हुये थे । उन पुष्पोंसे वह

॥ २१३ ॥ मुक्तादामानि लंबानि तद्गर्भे व्यद्युतचरां । सफेनानि मृणालानि लंवितानीव कौतुकात् ॥ २१४ ॥ पद्मरागमयस्तासिन्वेदीवर्धोऽभवत्पृथु' । जनानामिव चित्तस्थो रागस्तन्मयता गत' ॥ २१५ ॥ सुधोज्ज्वलानि कूटानि पर्यंतेष्वस्य रेजिरे । तोषात्सुरविमानानि हसतीवात्मशोभया ॥ २१६ ॥ वेदिकाकटिसूत्रेण पर्यंते स परिष्कृत । रामणीयकसीम्नेव रुद्धादिक्केन विश्वत' ॥२१७॥ रत्नैर्विराचित तस्य वभौ गोपुरमुच्चकै. । प्रोत्सर्पद्रत्नभाजालरचितेंद्रशरासन ॥ २१८ ॥ सर्वरत्नमयस्तस्य द्वारवधो निवेशितः । लक्ष्म्या प्रवेशनायैव पर्यंतार्पितमगल ॥ २१९ ॥ स तदाष्टाह्निकीं पूजां चक्रे चक्रधर' परां । कल्पवृक्षमहारूर्द्धि महापूतजिनालये ॥ २२० ॥ तत' शुभादिने सौम्ये लग्ने शुभमुहूर्त्तके । चन्द्रतारावलो-

भूमि ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे तारोंसे आकाश शोभायमान होता है ॥ २१३ ॥ तथा उस मंडपके भीतर लटकती हुई मोतियोंकी माला ऐसी अच्छी जान पड़ती थी मानों कौतुक करनेकेलिये फेन सहित कमलतंतु ही लटकाये गये हों ॥ २१४ ॥ उसके मध्यभागमें पद्मराग मणियोंकी बहुत वड़ी एक वेदी बनी हुई थी और वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों लोगोंके चित्तोंका अनुराग ही इकट्ठा होकर वेदीमय परिणत हो गया हो ॥ २१५ ॥ तथा उस मंडपकी छतपर चारों ओर अतिशय श्वेतवर्णकी शिखरें ऐसी शोभायमान थीं मानों वे अपनी शोभासे संतुष्ट होकर देवोंके विमानोंकी ओर हंस रहीं हों ॥ २१६ ॥ उस मंडपके चारों ओर एक छोटीसी वेदिका बनी हुई थी उस वेदिकारूपी कटिसूत्रसे घिरा हुआ वह मंडप ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों वह चारोंओरसे दिशाओंको रोकनेवाली सुंदरताकी सीमासे ही घिरा हो ॥ २१७ ॥ अनेक प्रकारके रत्नोंसे बहुत ऊंचा बना हुआ उसका वाहरी दरवाजा ऐसा सुशोभित होता था मानों उन रत्नोंकी फैलती हुई कांतिसमूहसे बना हुआ इंद्रधनुष ही हो ॥२१८॥ उसका भीतरी दरवाजा भी सब प्रकारके रत्नोंसे वनाया गया था उसके समीप ही अष्टमंगलद्रव्य रक्खे हुये थे इसलिये वह ऐसा सुशोभित होता था मानों लक्ष्मीके प्रवेश करनेकेलिये ही वह वनाया गया हो ॥ २१९ ॥ इसीसमय वज्रदंत चक्रवर्तीने महापूत चैत्यालयमें आष्टाह्निक यज्ञ किया था तथा कल्प-

पेते तज्ज्ञैः सम्यग्निरूपिते ॥ २२१ ॥ कृतोपशोभे नगरे समंताद्बद्धतोरणे । सुरलोक इवाभाति परां दधति संपद २२२ ॥ राजवेश्मांगणे सांद्रचंदनच्छटयोक्षिते । पुष्पोपहारैरागुजदलिभिः कृतरोचिषि ॥ २२३ ॥ सौवर्णकलशैः पूर्णैः पुण्यतोयैः सरत्नकैः । अभ्यषेचि विधानज्ञैर्विधिवच्चद्वधूवरं ॥ २२४ ॥ तदा महानकध्वानः शखकोलाहलाकुलः । घनाडबरमाक्रम्य जजृंभे नृपमदिरे ॥ २२५ ॥ कल्याणाभिषवे तस्मिन् श्रीमतीवज्रजंघयोः । स नातर्वौशिकस्तोषनिर्भरं न ननर्त यः ॥ २२६ ॥ वारांगनाः पुरध्यूश्च पौरवर्गश्च तत्क्षणं । पुण्यै पुष्पाक्षतैः शेषां साशिष तावलंभयन् ॥ २२७ ॥ श्लक्ष्णपट्टदुकूलानि निष्प्रवाणीनि तौ तदा । क्षीरोदोर्मिमयानीव पर्यधत्तामनतर ॥ २२८ ॥ प्रसाधनगृहे रम्ये प्राङ्मुख

वृत्त महायज्ञ भी किया था ॥ २२० ॥ तदनंतर जो दिन ज्योतिषियोंने शुभ बतलाया था तथा जिसदिन चंद्रमा और ताराओंका पूर्ण बल था उसदिन नगर सजाया गया था चारों ओर तोरण लगाये गये थे। उसदिन नगरकी शोभा चरमसीमातक पहुंच गई थी वह स्वर्गके समान सुशोभित किया गया था । राजमहलके आंगनमें चारों ओर चंदन छिड़का गया था वह अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुसज्जित किया गया था उन पुष्पोंपर भ्रमर गुंजार कर रहे थे। ऐसे उस शुभदिन सौम्य लग्न और शुभ मुहूर्तके समय विधिविधान जाननेवाले गृहस्थाचार्यके द्वारा रत्नसहित पुण्यजलसे भरे हुये सुवर्णके पूर्ण कलशोंसे उन दोनों वर बधूका अर्थात् राजकुमार वज्रजंघ और श्रीमतीका विधिपूर्वक अभिषेक किया गया था ॥ २२१-२२२-२२३-२२४ ॥ उस समय राजमंदिरमें दुंदुभी और शंख बजनेका भारी कोलाहल हो रहा था और वह बढते २ आकाशको भी उल्लंघन कर चारों ओर फैल गया था ॥ २२५ ॥ श्रीमती और वज्रजंघके उस विवाहाभिषेकके समय अंतःपुरका ऐसा कोई मनुष्य नहीं था जो उस अभिषेकसे संतुष्ट होकर नृत्य न कर रहा हो ॥ २२६ ॥ उस समय बारांगनायें कुलवधूयें और समस्त पुरवासीजन उन दोनों वर वधुओंको आशीर्वादके साथ २ पवित्र पुष्पाक्षतोंके द्वारा प्रसाद अर्पण कर रहे थे ॥ २२७ ॥ अभिषेक हो जानेके अनंतर उन दोनों वर कन्याओंने क्षीरसमुद्रकी लहरोंके समान महीन और नवीन वस्त्र

सुनिवेशितौ । तावलंकारसर्वस्वं भेजतुर्मंगलोचितं ॥ २२९ ॥ चंदनेनानुलिप्तौ तौ ललाटेन ललाटिकां । चंदनद्रवविन्यस्तां दधतु कौतुकोचितां ॥ २३० ॥ वक्षसा हारयष्टिं तौ हरिचंदनशोभिना । अधत्ता मौक्तिकैः स्थूलैर्वृत्ततारावलिश्रिय ॥ २३१ ॥ पुष्पमाला वभौ मूर्ध्नि तयोः कुंचितमूर्द्धजे । सीतापगेव नीलाद्रिशिखरोपातवर्त्तिनी ॥ २३२ ॥ कर्णिकाभरणन्यास कर्णयोर्निरविद्यता । यद्रत्नाभीशुभिर्भेजे तद्वक्त्राब्ज परां श्रिय ॥ २३३ ॥ आजानुलवमानेन तौ प्रालवेन रेजतु. । शरज्ज्योत्स्नामयेनेव मृणालच्छविचारुणा ॥ २३४ ॥ कटकागदकेयूरमुद्रिकादिविभूषणैः । वाहू व्यरुचतां कल्पतरुशाखाच्छवी तयोः ॥ २३५ ॥ जघन रसनावेष्ट' किंकिणीकृतानि.स्वन । तावनगद्विपस्येव जयडिंडममूहतु'

धारण किये थे ॥ २२८ ॥ तदनंतर वे दोनों वर बधू अति मनोहर अलंकार करनेके घरमें जाकर पूर्व दिशाकी ओर मुखकर बैठे और वहां उन्होंने उस मंगलसमयके योग्य सब अलंकार धारण किये ॥२२६॥ प्रथम ही उन्होंने अपने सब शरीरमें चंदन लगाया था और फिर ललाटपर उस विवाहोत्सवके योग्य पतले चंदनका एक तिलक लगाया था ॥२३०॥ सफेद चंदनसे सुशोभित वक्षःस्थलपर उन दोनोंने गोल नक्षत्रमालाओंके समान अत्यंत सुशोभित बड़े २ मोतियोंकी मालायें पहनी थीं ॥ २३१ ॥ कुटिल वालोंसे सुशोभित उनके मस्तकपर धारण की हुई पुष्पमाला ऐसी शोभायमान हो रही थी मानों नीलपर्वतके शिखरपर सीता नदी ही वह रही हो ॥ २३२ ॥ उन्होंने कानोंमें कर्णभूषण पहने थे उन कर्णभूषणोंमें अनेक रत्न लगे हुये थे जिनकी पड़ती हुई प्रभाकी किरणोंसे उनका मुखकमल वड़ा ही शोभायमान हो रहा था ॥ २३३ ॥ शरद ऋतुकी चांदनीके समान किंवा कमलतंतुके समान अत्यंत सुशोभित और सफेद पुष्पमालायें उनके घुटनोंतक पड़ी हुई थीं जिनसे वे दोनों बड़े ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २३४ ॥ उन्होंने भुजाओंमें बाजूबंद, अनंत हाथोंमें कड़े और उंगलियोंमें अगूठियां पहनी थीं जिनसे उनकी वे भुजायें ऐसी शोभायमान हो रहीं थीं मानों कल्पवृक्षकी शाखा ही हों ॥ २३५ ॥ उन दोनोंने अपनी २ कमरमें करधनी पहनी थी जिसमें लगी हुई छोटी २ घंटियों से मीठे २ शब्द हो रहे थे। उन करधनियोंसे वे

॥ २३६ ॥ मणिनूपुरझंकारै क्रमौ शिश्रियतु श्रिय । श्रीमत्याः पद्मयोर्भृंगकलनिःक्वाणशोभिनोः ॥ २३७ ॥ महालङ्कृतिमाचार इत्येवं बिभ्रत स्म तौ । अन्यथा सुंदराकारशोभैवालङ्कृतिस्तयोः ॥ २३८ ॥ लक्ष्मीमतिः स्वयं लक्ष्मीरिव पुत्रीमभूषयत् । पुत्रं च भूषयामास वसुधेव वसुंधरा ॥ २३९ ॥ प्रसाधनविधेरंते यथास्वं तौ निवेशितौ । रत्नवेदीतटे पूर्वं कृतमंगलसत्क्रिये ॥ २४० ॥ मणिप्रदीपरुचिरा मंगलैरुपशोभिता । बभौ वेदी तदाक्रांता सामरेवाद्रिराट्तटी ॥ २४१ ततो मधुरगंभीरमानकाः कोणताडिताः । दध्वनुर्ध्वनदंभोधिगंभीरध्वनयस्तदा ॥ २४२ ॥ मंगलो-

दोनों ऐसे शोभायमान होते थे मानों उन दोनोंने कामदेवरूपी हाथीके जय जयकार करनेवाले बाजे ही धारण किये हों ॥ २३६ ॥ श्रीमतीने अपने पैरोंमें मणियोंके नूपुर पहने थे जिनसे मनोहर झंकार शब्द हो रहे थे और इसलिये वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंसे शोभायमान कमल ही हों ॥ २३७ ॥ विवाहोत्सवमें अलंकार धारण करना चाहिये केवल इसी नियोगको पालन करनेकेलिये उन्होंने अलंकार धारण किये थे नहीं तो उनके सुंदर शरीरकी आकृति ही उनका अलंकार था अर्थात् वे दोनों विना अलंकारके भी केवल शरीरकी सुंदरतासे ही अत्यंत शोभायमान लगते थे ॥ २३८ ॥ साक्षात् लक्ष्मीके समान लक्ष्मीमतिने अपने हाथसे अपनी पुत्री श्रीमतीको विभूषित किया था और अनेक रत्नोंसे सुशोभित साक्षात् वसुधाके समान वसुंधराने अपने पुत्र वज्रजंघका अलंकार किया था ॥ २३९ ॥ इसप्रकार अलंकार धारण करनेके अनंतर वे दोनों विवाहमंडपमें गये और जिसकी मंगलाक्रिया पहलेसे की जा चुकी है ऐसी उस रत्नवेदीपर अपने २ योग्य स्थानपर बैठ गये ॥ २४० ॥ वह वेदी मणियोंके प्रकाशसे सुशोभित और मंगलद्रव्योंसे शोभायमान हो ही रही थी तथापि इन दोनोंके बैठ जानेसे वह ऐसी शोभायमान होने लगी मानों देव देवियों सहित सुमेरु पर्वतका तटभाग ही हो ॥ २४१ ॥ जिस समय ये दोनों वेदीपर बैठे थे उस समय गंभीर शब्द करते हुये समुद्रके समान डंडोंसे बजायेगये नगाड़े बड़ा ही मधुर शब्द कर रहे थे ॥ २४२ ॥ वारांगनायें मधुर शब्दोंसे मंगलगीत गा

द्वानमातेनुर्वारवध्व' कलं तदा । उत्साहान्पेठुरमितो वंदिन' सह मागधैः ॥ २४३ ॥ वर्द्धमानलयैर्नृत्तमारेभे ललितं तदा । वारांगनाभिरुद्भ्रूभी रणन्नूपुरमेखल ॥ २४४ ॥ ततो वधूवर सिद्धज्ञानाभ.पूतमस्तक । निवेशित महाभासि सच्चामीकरपट्टके ॥ २४५ ॥ स्वय स्म करक धत्ते चक्रवर्ती महाकरः । हिरण्मय महारत्नखाचित मौक्तिकोज्ज्वल ॥ २४६ ॥ अशोकपल्लवैर्वक्त्रनिहितै करको बभौ । करपल्लवसच्छायामनुकुर्वन्निवानयो ॥ २४७ ॥ ततो न्यपाति करकाद्धारा तत्करपल्लवे । दूरमावर्जिता दीर्घं भवतौ जीवतामिति ॥ २४८ ॥ तत. पाणौ महाबाहुर्वज्रजघोऽग्रहीन्मुदा । श्रीमतीं तन्मृदुस्पर्शसुखामीलितलोचन ॥ २४९ ॥ श्रीमती तत्करस्पर्शाद्घर्मबिंदूनधारयत् । चद्रकांतशिलापुत्री चद्रांशुस्पर्शनादिव

रहीं थीं तथा वंदीजन और राजाओंकी स्तुति करनेवाले मागधजन चारों ओर खड़े हुये मंगलाष्टक पढ़ रहे थे ॥ २४३ ॥ नृत्यकारिणी वारांगनायें खिंची हुई भौंहें, गीत, वादित्र, और ताल आदिकोंसे अत्यंत मनोहर तथा नूपुर और करधनीके मनोहर शब्दोंसे शोभायमान नृत्य कर रहीं थीं ॥ २४४ ॥ ऐसे उत्सवके समय प्रथम ही उन दोनों वरवधुओंका मस्तक भगवानके चरणोदकसे पवित्र किया गया था और फिर वे दोनों अतिशय देदीप्यमान सुंदर सुवर्णके पटेपर बैठाये गये थे ॥२४५॥ उससमय घुटनोंतक लंबी भुजाओंसे सुशोभित चक्रवर्तीने स्वयं अपने हाथमें भृंगार लिया था वह सुवर्णमय भृंगार मोतियोंके समान उज्वल और जड़े हुये अनेक रत्नोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ २४६ ॥ मुखपर रक्खे हुये अशोकवृक्षके पत्तोंसे वह भृंगार ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों इन दोनों वरवधुओंके हाथरूपी पल्लवोंकी समानताका ही अनुकरण कर रहा हो ॥ २४७ ॥ तदनंतर तुम दोनों चिरकालतक जीवित रहो ऐसा शुभाशीर्वाद देते हुये ही मानों चक्रवर्तीने वज्रजंघके करपल्लवपर बहुत ऊंचेसे उस भृंगारसे जलधारा छोड़ी थी ॥ २४८ ॥ अनंतर अनेक सुलक्षणोंसे सुशोभित वज्रजंघने बड़े हर्षसे श्रीमतीका हाथ अपने हाथपर रक्खा था, उस समय श्रीमतीके कोमल हाथके स्पर्शसे उत्पन्न हुये सुखसे इसके दोनों नेत्र बंद होगये थे ॥ २४९ ॥ वज्रजंघके हाथके स्पर्शसे श्रीमतीको भी स्वेदबिंदु हो

॥ २५० ॥ वज्रजंघकरस्पर्शात्तनुतोऽस्याश्चिरं धृतः । संतापः क्वापि याति स्म भूमेरिव घनागमे ॥२५१॥ वज्रजंघसमासंगाच्छ्रीमती व्यद्युतत्तरां । कल्पवल्लीव सश्लिष्टतुंगकल्पमहीरुहा ॥ २५२ ॥ सोऽपि पर्यंतवर्त्तिन्या तया लक्ष्मीं परामधात् । संसृष्टे परया कोट्या रत्येव कुसुमायुधः ॥ २५३ ॥ गुरुसाक्षि तयोरित्थं विवाह परमोदयः । निरवर्त्तत लोकस्य परमानदमादर्धत् ॥२५४॥ तत. पाणिगृहीतां ता ते जना बहुमेनिरे । श्रीमती सत्यमेवेयं श्रीमतीत्युद्गिरस्तदा ॥ २५५ ॥ तौ दंपती सदाकारौ सुरदंपतिविभ्रमौ । जनानां पश्यतां चित्त निर्ववारामृतायितौ ॥ २५६ ॥ तत्कल्याण समालोक्य देवलोकेऽपि दुर्लभ । प्रशशंसुर्मुद प्राप्ता परमा प्रेक्षका जना. ॥ २५७ ॥ चक्रवर्त्ती महाभाग स्त्रीरत्नमिदमूर्जित ।

आये थे जैसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चंद्रकांतमणिकी बनी हुई पुतलीसे जल छूटने लगता है ॥ २५० ॥ जैसे मेघोंकी वृष्टि होनेसे पृथ्वीका संताप नष्ट हो जाता है उसीप्रकार श्रीमतीके शरीरमें चिरकालसे जो संताप दुःख दे रहा था वह वज्रजंघके हाथके स्पर्शमात्रसे न जाने कहां चला गया ? ॥२५१॥ उससमय वज्रजंघके समागम होनेसे वह श्रीमती ऐसी शोभायमान हो रही थी जैसे किसी वड़े कल्पवृक्षसे लिपटी हुई कल्पलता सुशोभित होती है ॥ २५२ ॥ वह वज्रजंघ भी समीप बैठी हुई उस श्रीमतीसे ऐसा अच्छा सुशोभित होता था जैसे संसारकी स्त्रियोंमें अति उत्तम रतिसे कामदेव सुशोभित होता है ॥ २५३ ॥ इसप्रकार लोगोंको परमानंद देनेवाला उन दोनोंका वह विवाह माता पिता आदि गुरुजनोंकी साक्षी पूर्वक बड़े धूमधामके साथ समाप्त हुआ था ॥ २५४ ॥ उससमय देखनेवाले सब लोग उस विवाहिता श्रीमतीको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देखते थे और कहते थे कि यह श्रीमती वास्तवमें ही श्रीमती अर्थात् ऐश्वर्यशालिनी है ॥ २५५ ॥ देव देवांगनाओंके समान क्रीडा करनेवाले अमृतके समान आनंद देनेवाले और अत्यंत सुंदर वे दोनों वर वधू उससमय देखनेवाले लोगोंको बहुत ही संतुष्ट कर रहे थे ॥ २५६ ॥ स्वर्गलोकमें दुर्लभ ऐसे उस विवाह महोत्सवको देखकर देखनेवाले लोग बड़े ही हर्षित हुये थे और सब ही उनकी प्रशंसा करते थे ॥ २५७ ॥ वे सब कहते थे कि यह चक्रवर्ती बड़ा

योग्ये नियोजयामास जनश्लाघास्पदे पदे ॥ २५८ ॥ जननी पुण्यवत्यस्या मूर्ध्नि सुप्रजसामसौ । सत्प्रसूतिरियं सूता यया लक्ष्मीसमद्युतिः ॥ २५९ ॥ कुमारेण तपस्तप्तं किमेतेनान्यजन्मनि । येनासादि जगत्सारं स्त्रीरत्नममितद्युतिः ॥२६०॥ धन्येयं कन्यका मान्या नान्या पुण्यवतीदृशी । कल्याणभागिनी येषा वज्रजंघं पतिं वृता ॥ २६१ ॥ उपोषितं किमेताभ्यां किं वा तप्तं तपो महत् । किं नु दत्तं किमिष्टं वा कीदृग्वाचरितं व्रतं ॥ २६२ ॥ अहो धर्मस्य माहात्म्यमहोसत्साधनं तपः । अहो दत्तिर्महोदर्का दयावल्ली फलत्यहो ॥ २६३ ॥ नूनमाभ्यां कृता पूजा महतामर्हतां परा । पूज्यपूजानुसध्नत्ते ननु सपत्परंपरा ॥२६४॥ अतः कल्याणभागित्वं धनर्द्धिविपुलं सुखं । वाञ्छद्भिरर्हतां मार्गे मतिः कार्या महाफले ॥२६५॥

ही पुण्यवान् है जिससे यह ऐसा स्त्रीरत्न उत्पन्न हुआ है और वह उसने सब लोगोंसे प्रशंसित ऐसे उत्तम स्थानमें नियुक्त किया है ॥ २५८ ॥ इसकी यह माता भी बड़ी पुण्यवती है वास्तवमें यह पुत्रवतियोंमें सबसे श्रेष्ठ है जिसने लक्ष्मीके समान कांतियुक्त यह ऐसी उत्तम स्त्री उत्पन्न की है ॥ २५९ ॥ क्या इस वज्रजंघ राजकुमारने पूर्व जन्ममें कठिन तपश्चरण किया था जिससे इसको यह अतिशय कांतियुक्त और संसारका सारभूत स्त्रीरत्न प्राप्त हुआ है ॥२६०॥ तथा इस कन्याने वज्रजंघको अपना पति बनाया है इसलिये यह कन्या बड़ी ही धन्य है बड़ी ही मान्य है और बड़ी ही कल्याणशालिनी है अन्य कोई कन्या इसके समान पुण्यवती नहीं हो सकती ॥२६१॥ पूर्वभवमें इन दोनोंने न जाने कौनसा उपवास किया था, कौनसा भारी तपश्चरण किया था, कौनसी उत्तम वस्तु दान दी थी अथवा कौनसा व्रत पालन किया था ॥ २६२ ॥ अहा ! धर्मका बहुत बड़ा माहात्म्य है, तपश्चरणका बड़ा भारी प्रभाव है, अहा दान देनेसे बड़े ही उत्तम फल मिलते हैं दयारूपी वेलपर बड़े ही मोटे फल लगते हैं ॥२६३॥ अवश्य ही इन दोनोंने पूर्वभवमें महापूज्य श्रीअरहंतदेवकी उत्तम पूजा की होगी। क्योंकि पूज्यपुरुषोंकी पूजा करनेसे अवश्य ही अनेक संपत्तियां एकके बाद एक इसप्रकार निरंतर प्राप्त होती रहती हैं ॥ २६४ ॥ इसलिये जो पुरुष अपना कल्याण चाहते हैं धन ऋद्धि और बहुत सुख चाहते हैं उन्हें स्वर्गादि अनेक महाफल देनेवाले

इत्यादि जनसंजल्पैः संश्लाघ्यौ दंपती तदा । सुखासीनौ प्रशस्यायां वधुभिः परिवारितौ ॥ २६६ ॥ दीनैर्दैन्यं समुत्सृष्टं कार्पण्यं कृपणैर्जहे । अनाथैश्च सनाथत्व भेजे तस्मिन्महोत्सवे ॥ २६७ ॥ बंधवो मानिताः सर्वे दानमानाभिजल्पनैः । भृत्याश्च तर्पिता भर्त्रा चक्रिणास्मिन्महोत्सवे ॥ २६८ ॥ गृहे गृहे महास्तोषः केतुबंधो गृहे गृहे । गृहे गृहे वरालापो वधूशंस्या गृहे गृहे ॥ २६९ ॥ दिने दिने महांस्तोषो धर्मभक्तिर्दिने दिने । दिने दिने महेंद्रर्ध्या पूजते स्म वधूवर ॥ २७० ॥ अथापरेद्युरुद्यावमुद्योनयितुमुद्यमी । प्रदोषे दीपिकोद्योतैर्महापूतं ययौ वर. ॥ २७१ ॥

श्रीअरहंत भगवानके कहे हुये जैनमार्गमें ही अपनी बुद्धि स्थिर करनी चाहिये ॥ २६५ ॥ इसप्रकार अनेक बचनोंके द्वारा देखनेवाले लोग उससमय उन दोनों वरवधुओंकी प्रशंसा करते थे। वे दोनों वर वधू आरामसे बैठे हुये थे और पासमें बैठे हुये भाई बंधु आदि परिवारके लोग भी उन्हें बधाई दे रहे थे ॥ २६६ ॥ उस विवाहमहोत्सवमें दरिद्र लोगोंने सदाकेलिये अपनी दारिद्रता छोड़ दी थी कृपण लोगोंने अपनी कृपणता छोड़ दी थी और अनाथ लोग सब सनाथ होगये थे ॥ २६७ ॥ चक्रवर्तीने अपनी इस पुत्रीके विवाहोत्सवमें सब भाइयोंका सन्मान किया था किसीको दान देकर किसीका सन्मानकर और किसीसे मिष्ट भाषणकर सब संतुष्ट किये थे तथा दास दासी आदि भृत्य लोग भी सब दान सन्मान और मिष्टभाषणके द्वारा संतुष्ट किये गये थे ॥ २६८ ॥ उसदिन घर घर बड़ा भारी संतोष हुआ था, घर घर ध्वजा पताकायें फहराईगई थीं, घर घर वज्रजंघकी प्रशंसा और घर घर श्रीमतीकी प्रशंसा हो रही थी ॥ २६९ ॥ सब लोग प्रतिदिन संतुष्ट रहते थे प्रतिदिन धर्मभक्ति करते थे और प्रतिदिन इंद्रकेसमान बड़ी विभूतिके साथ उन दोनों वर वधूओंका आदर सत्कार करते थे ॥ २७० ॥

विवाह हो जानेके अनंतर दूसरेदिन ही अपना उत्साह प्रगट करनेकेलिये उद्युक्त हुआ वज्रजंघ सायंकालके समय अनेक दीपकोंका प्रकाशकर महापूत चैत्यालयके दर्शन करनेकेलिये निकला था ॥२७१॥ अतिशय कांतियुक्त उस वज्रजंघके पीछे २ श्रीमती भी जा रही थी जैसे प्रकाश करती हुई प्रभा अंध-

प्रयांतमनुयाति स्म श्रीमती त महाद्युतिं । भास्वंतमिव रुद्धांधतमस भासुरा प्रभा ॥ २७२ ॥ पूजाविभूतिं महतीं पुरस्कृत्य जिनालयं । प्रापदुतुंगकूटाग्र स सुमेरुमिवोच्छ्रित ॥ २७३ ॥ स त प्रदक्षिणीकुर्वन्सजानिर्निर्विभौ नृप । मेरुमर्कइव श्रीमान्महादीप्त्या परिष्कृत ॥ २७४ ॥ कृतेर्याशुद्धिरिद्धर्द्धिः प्रविश्य जिनमदिर । तत्रापश्यद्दषीन्दीप्ततपस कृतवदनः ॥ २७५ ॥ ततो गधकुटीमध्ये जिनेंद्रार्चा हिरण्मयीं । पूजयामास गधाद्यैरभिषेकपुर सर ॥ २७६ ॥ कृतार्च्चनस्ततः स्तोतु प्रारेभेऽसौ महामतिः । अर्थ्याभि. स्तुतिभिः साक्षात्कृत्य स्तुत्य जिनेश्वर । ॥ २७७ ॥ नमो जिनेशिने तुभ्यमनभ्यस्तदुराधये । त्वामद्याराधयामीश कर्मशत्रुविभित्सया ॥ २७८ ॥ अनतास्त्वद्गुणा· स्तोतुमशक्या गण-

कारको दूरकरनेवाले सूर्यके पीछे २ जाती है ॥ २७२ ॥ वह महापूत चैत्यालय सुमेरुपर्वतके समान ऊंचा था उसके शिखर भी बहुत ऊंचे थे उसी चैत्यालयमें वह वज्रजंघ बड़ी भारी पूजाकी सामग्री लेकर पहुंचा ॥ २७३ ॥ प्रथम ही जाकर श्रीमतीके साथ २ उसने उस चैत्यालयकी प्रदाक्षिणा दी । प्रदक्षिणा देते समय वह ऐसा शोभायमान हो रहा था जैसे महाकांति युक्त सूर्य मेरुपर्वतकी प्रदाक्षिणा देते हुये शोभायमान होता है ॥ २७४ ॥ प्रदक्षिणाके बाद उसने ईर्यापथशुद्धि की, अनंतर जिनमंदिरमें प्रवेश किया तथा अनेक विभूतियोंको धारण करनेवाले उसने वहां भारी तपश्चरण करनेवाले मुनियोंके दर्शन किये और उनकी बंदना की ॥ २७५ ॥ तदनंतर वह देवाधिदेव श्रीअरहंतभगवानकी गंधकुटीके समीप पहुंचा, वहां उसने भगवान श्रीअरंहतदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमाका अभिषेक किया और फिर जल चंदनादि अष्ट द्रव्योंसे उनकी पूजा की ॥ २७६ ॥ पूजन करनेके अनंतर महा बुद्धिमान उस वज्रजंघने अतिशय स्तुति करनेयोग्य ऐसे श्रीअंरहतदेवको साक्षात्कर उत्तमोत्तम अर्थोंसे भरे हुये स्तोत्रोंसे स्तुति करना प्रारंभ किया ॥२७७॥ हे देव ! आप जिनेंद्रदेव हैं, मानासिक व्यथाओंसे सर्वथा रहित हैं, इसलिये आपको नमस्कार हो । हे प्रभो ! आज मैं कर्मरूपी शत्रुको नाश करनेकी इच्छासे ही आपको आराधन करता हूं ॥ २७८ ॥ हे देव । आपमें अनंत गुण हैं, स्वयं गणधरदेव भी उन सबकी स्तुति नहीं कर सकते

पैरपि । भक्त्या तु प्रस्तुवे स्तोत्रं भक्तिः श्रेयोऽनुबंधिनी ॥ २७९ ॥ त्वद्भक्तः सुखमभ्येति लक्ष्मीस्त्वद्भक्तमश्नुते । त्वद्भक्तिर्भुक्तये पुंसां मुक्तये च स्थवीयसी ॥ २८० ॥ अतो भजन्ति भव्यास्त्वां मनोवाक्कायशुद्धिभिः । फलार्थिभिर्भवान्सेव्यो व्यक्तं कल्पतरूयते ॥ २८१ ॥ त्वया प्रवर्षता धर्मवृष्टिं दुष्कर्मघर्मतः । प्रोदन्यद्भवभृद्वारिस्पृहां नवघनायितं ॥२८२॥ त्वया प्रदर्शितं मार्गमासेवन्ते हितैषिणः । भास्वता द्योतितं मार्गमिव कार्यार्थिनो जनाः ॥ २८३ ॥ संसारोच्छेदने बीजं त्वया तत्त्वं निदर्शितं । आत्रिकामुत्रिकार्थानां यतः सिद्धिरिहाङ्गिनां ॥ २८४ ॥

हैं, तथापि मैं केवल भक्तिके वशसे ही आपका स्तोत्र प्रारंभ करता हूं। क्योंकि आपकी भक्ति ही स्वर्ग मोक्ष देनेवाली है ॥ २७९ ॥ हे प्रभो ! आपका भक्त सदा सुखी रहता है, लक्ष्मी भी आपके भक्तके समीप ही दौड़कर जाती है। आपमें अत्यंत स्थिरभक्ति करनेसे स्वर्गादिकोंके सुख भी प्राप्त होते हैं और अंतमें मोक्ष भी प्राप्त होती है ॥२८०॥ इसलिये ही भव्यपुरुष शुद्ध मन वचन कायसे आपकी सेवा करते हैं। हे देव ! फल चाहनेवाले जो पुरुष आपकी सेवा करते हैं उनके लिये तो आप साक्षात् कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल देते हो ॥२८१॥ हे प्रभो ! मोक्षमार्गका उपदेश देकर धर्मवृष्टिकी वर्षा करके तो मानों आपने दुष्ट कर्मरूपी संतापसे अत्यंत प्यासे ऐसे संसारी जीवरूपी चातकोंको नवीन बादलोंके समान आनंदित किया है ॥२८२॥ जैसे अपने कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले लोग सूर्यके द्वारा प्रकाश किये हुये मार्गका अवलंबन करते हैं उसीप्रकार अपने आत्माका हित चाहनेवाले जीव भी आपके द्वारा निरूपण किये हुये मोक्षमार्गका ही सेवन करते हैं ॥२८३॥ हे स्वामिन् ! आपने जिस आत्मतत्त्वका निरूपण किया है वह जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेका कारण है तथा प्राणियोंको उसी तत्त्वसे इस लोक संबंधी कार्योंकी सिद्धि होती है और उसीसे परलोक संबंधी कार्योंकी भी सिद्धि होती है ॥ २८४ ॥ हे प्रभो ! यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि आपने संपूर्ण लक्ष्मीका भंडार तथा अति उत्कृष्ट विभूति सहित ऐसे साम्राज्यका तो त्याग कर दिया तथापि आपकी इच्छा बनी ही रही, क्योंकि इच्छा होनेसे ही सबको छोड़कर भी आप मुक्तिरूपी लक्ष्मी

लक्ष्मीसर्वस्वमुज्झित्वा साम्राज्य प्राज्यवैभवं । त्वया चित्रमुदूढासौ मुक्तिश्रीः स्पृहयालुना ॥ २८५ ॥ दयावल्लीपरिष्वक्तो महोदर्को महोन्नतः । प्रार्थितार्थान्प्रपुष्णाति भवान्कल्पद्रुमो यथा ॥ २८६ ॥ त्वया कर्ममहाशत्रूनुच्चैरुच्छेत्तुमिच्छता । धर्मचक्र तपोधार पाणौ कृतमसभ्रम ॥ २८७ ॥ न बद्धो भ्रुकुटिन्यासो न दष्टौष्ठ मुखाबुजं । न भिन्नसौष्ठव स्थानं व्यरच्यरिजये त्वया ॥ २८८ ॥ दयालुनापि दुःसाध्यमोहशत्रुजिगीषया । तप·कुठारे कठिने त्वया व्यापारित कर. ॥ २८९ ॥ त्वया संसारदुर्वल्ली रूढा ज्ञानजलोत्करै । नानादु खफला चित्र वर्धितापि न वर्धते ॥ २९० ॥ प्रसीदति भवत्पादपद्मे पद्मा प्रसीदति । विमुखे याति वैमुख्य भवन्माध्यस्थ्यमीदृश ॥ २९१ ॥ प्रातिहार्यमयीं भूतिं त्व दधानोऽप्य-

---

के स्वामी हुये हैं ॥२८५॥ हे देव ! आप दयारूपी वेलसे वेष्ठित हैं, स्वर्गादि महाफल देनेवाले हैं, अतिशय उन्नत हैं और प्रार्थना करनेवालोंको अभीष्ट पदार्थ देनेवाले हैं इसलिये आप साक्षात् कल्पवृक्षके समान हैं ॥ २८६ ॥ हे देव ! आपने महा प्रवल कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेकेलिये तपश्चरणरूपी तीक्ष्ण धारसे दैदीप्यमान धर्मरूपी चक्रको अपने हाथमें बड़े धैर्यके साथ धारण किया है ॥ २८७ ॥ हे देव ! कर्मरूपी शत्रुओंको जीतते समय न तो आपने अपनी भ्रकुटी ही चढ़ाई, न ओठ चबाये, न अपना मुखरूपी कमल कुछ विकृत किया और न अपना सज्जनताका स्थान ही परित्याग किया ॥ २८८ ॥ हे प्रभो ! दयालु होकर भी आपने अतिप्रवल मोहरूपी शत्रुको जीतनेकेलिये अत्यंत कठिन ऐसे तपश्चरणरूपी कुठारको अपने हाथमे लिया है ॥ २८९ ॥ हे नाथ अज्ञानरूपी जलसे सींची हुई और अनेक दुःखरूपी फल देनेवाली यह संसाररूपी बेल आपने ऐसी नष्ट की कि जो अव कभी नहीं वढ़ सकती ॥ २९० ॥ हे स्वामिन् ! आपके चरणकमल प्रसन्न होनेसे लक्ष्मी अपने आप प्रसन्न हो जाती है तथा आपके चरणकमलोंकी अप्रसन्नता होनेसे लक्ष्मी भी अप्रसन्न हो जाती है। हे देव ! आपकी यह मध्यस्थ वृत्ति भी ऐसी ही विलक्षण है ॥ २९१ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! जो अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकती ऐसी प्रातिहार्यरूप महाविभूतिको आप धारण करते हैं तथापि संसारमें आप परम वीतराग कहलाते हैं यह वड़े आश्च-

नन्यगां । वीतरागो महाश्चासि जगत्येतज्जिनाद्भुत ॥ २६२ ॥ तवायं शिशिरच्छायो भात्यशोकतरुर्महान् । शोकमाश्रितभव्याना विदूरमपहस्तयन् ॥ २९३ ॥ पुष्पवृष्टि दिवो देवा किरंति त्वा जिनाभित । परितो मेरुमुत्फुल्ला यथा कल्पमहीरुहा. ॥ २६४ ॥ दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । विकरोति मनोध्वातमवाचामपि देहिना ॥ २९५ ॥ प्रकीर्णकयुग भाति त्वा जिनोभयतो धुत । पतन्निर्झरसवादि शशाककरनिर्मल ॥ २६६ ॥ चामीकरविनिर्माण हरिभिर्धृतमासन । गिरीन्द्राशिखरस्पार्द्धि राजते जिनराज ते ॥ २९७ ॥ ज्योतिर्मंडलमुत्सर्पत्तवालकुरुते तनु । मार्त्तडमडलद्वेषि विधुन्वन्जगता तम' ॥२९८ ॥ तवोद्घोषयतीवोच्चैर्जगतामेकभर्तृतां । दुदुभिस्तनित मद्रमुच्चरत्पथि वार्मुचा ॥२६६॥

येकी बात है ॥ २६२ ॥ देखिये ! आपके पीछे शीतलच्छायायुक्त और अतिशय उन्नत यह अशोकवृक्ष कैसा अच्छा शोभायमान हो रहा है, जो भव्यजीव आपका आश्रय लेते हैं उनका शोक यह अवश्य ही दूर कर देता है ॥ २६३ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! जैसे फूले हुये कल्पवृक्ष मेरुपर्वतके चारोंओर पुष्पोंकी वर्षा करते हैं उसीप्रकार ये देव लोग भी आपके चारों ओर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥ २६४ ॥ हे देव ! संसारकी समस्त भाषामय परिणत होनेवाली आपकी दिव्यध्वनि वचनरहित ऐसे पशु आदि जीवोंके मनका भी अज्ञानांधकार दूर करती है ॥ २६५ ॥ हे जिन ! चंद्रमाकी किरणोंके समान अत्यंत निर्मल जो दोनों चमर आपके दोनों ओर ढुलाये जा रहे हैं वे ऐसे शोभायमान हो रहे हैं मानों ऊपरसे पानीका निर्झरना ही पड़ रहा हो ॥ २९६ ॥ हे जिनराज ! मेरुपर्वतकी शिखरकी स्पर्द्धा करनेवाला और सुवर्णका वना हुआ यह आपका सिंहासन वड़ा ही शोभायमान हो रहा है॥ २६७ ॥ हे देव ! सूर्यमंडलको भी तिरस्कृत करनेवाला, संसारके अंधकारको दूर करनेवाला और अतिशय देदीप्यमान यह आपका प्रभामंडल आपके शरीरको वहुत ही सुशोभित कर रहा है ॥ २९८ ॥ हे प्रभो ! आकाशमें व्याप्त होता हुआ जो अति गंभीर दुंदुभि वजता है वह मानों संसारके एकमात्र स्वामी आप ही हैं यही आपकी घोषणा वड़े ऊंचे शब्दोंसे करता है ॥२९६॥ हे देव ! चंद्रमाके प्रतिबिंबकी स्पर्द्धा करनेवाले तथा

तवाविष्कुरुते देव प्राभव भुवनातिग । विधुबिंबप्रतिस्पर्द्धि छत्रत्रितयमुच्छ्रितं ॥ ३०० ॥ विभ्राजते जिनैतत्ते प्रातिहार्यकदंबकं । त्रिजगत्सारसर्वस्वमिवैकत्रसमुच्चित ॥ ३०१ ॥ नोपरोध्दुमलं देव तव वैराग्यसंपद । सुरैर्विरचितो भक्त्या प्रातिहार्यपरिच्छद ॥ ३०२ ॥ करिकेसरिदावाहिनिषादविषमाब्धय । रोगा बंधाश्च शाम्यंति त्वत्पदानुस्मृतेर्जिन ॥ ३०३ ॥ करटक्षरदुद्दाममदाबुकृतदुर्दिन । गजमाघातकं मर्त्या जयंति त्वदनुस्मृते ॥ ३०४ ॥ करींद्रकुंभनिर्भेदकठोरनखरो हरि । क्रमेऽपि पतितं जंतुं न हंति त्वत्पदस्मृतेः ॥ ३०५ ॥ नोपद्रवति दीप्ता-

अतिशय ऊंचे आपके तीनों छत्र आपका लोकोत्तर प्रभुत्व प्रगट करते हैं ॥ ३०० ॥ हे जिनेंद्रदेव ! आपके ये ऊपर कहे हुये आठ प्रातिहार्य ऐसे अच्छे शोभायमान होते हैं मानों तीनों लोकोंके उत्तम उत्तम सार पदार्थ ही एक जगह इकट्ठे हुये हों ॥ ३०१ ॥ हे देव ! यह प्रतिहार्योंका समुदाय आपकी वैराग्यरूप संपत्तिको नहीं रोक सकता है अर्थात् इस महाविभूतिसे आपका वैराग्यभाव कुछ कम नहीं हो सकता है क्योंकि यह प्रातिहार्यका समुदाय तो भक्तिवश देवोंने निर्माण किया है ॥ ३०२ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! केवल आपके चरणकमलोंके स्मरण करनेमात्रसे हाथी, सिंह, दावानल अग्नि, सर्प, दुष्टभील, विषमसमुद्र, रोग और वध वंधनादि सब शांत हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥ जिसके गंडस्थलसे मदका भारी प्रवाह वह रहा है जिस मदके वहनेसे मेघ वरसनेके समान कीचड़ हो रही है तथा जो आघात करनेके लिये सामने आ रहा है ऐसे भयंकर हाथीको भी आपके चरणकमलोंको स्मरण करनेवाले मनुष्य जीत लेते हैं ॥३०४॥ अनेक मदोन्मत्त हाथियोंके कुंभस्थल विदारण करनेसे जिसके नख अति कठिन होगये हैं ऐसे सिंहके पैरोंमें पड़ा हुआ जंतु भी यदि आपके चरणकमलोंका स्मरण करे तो वह सिंह फिर उसे कभी नहीं मार सकता है ॥ ३०५ ॥ हे देव ! जिसकी ज्वाला वड़ी उद्दीपित हो रही है और जिसकी लौ वड़ी ऊंची उठ रही है ऐसी तीव्र अग्निकी ज्वाला भी यदि आपके चरणकमलोंके स्मरणरूपी शीतल जलकी धारासे शांत कर दी जाय तो फिर वह अग्नि भी कुछ उपद्रव नहीं करती है ॥३०६॥ तथा जिसने अपना फण

चिरप्यार्च्चिष्मान्ममुच्छ्रित । त्वत्पदस्मृतिशीताम्बुधाराप्रशमितोदय. ॥ ३०६ ॥ फणी कृतफणोरोषादुद्गिरन्गरमुल्वण । त्वत्पदागदसंस्मृत्या सद्यो भवति निर्विषः ॥ ३०७ ॥ वने प्रचण्डलुटाककोदण्डग्वभीषणे । सार्था. सार्थाधिपा स्वैर प्रयाति त्वत्पदानुगा ॥ ३०८ ॥ अपि चंडानि· लाकाण्डजृंभणाघूर्णितार्णस। तरत्यर्णवमुद्वेल हेलया त्वत्क्रमाश्रिताः ॥ ३०९ ॥ अप्यस्थानकृतोत्थानतीव्रव्रणरुजो जना. । सद्यो भवत्यनातका. स्मृतत्वत्पादभेषजा ॥ ३१० ॥ कर्मबधविनिर्मुक्त त्वामनुस्मृत्य मानव. । दृढबधनबद्धोऽपि भवत्याशु विशृखलः ॥ ३११ ॥ इति विघ्नितविघ्नौघ भक्तिनिघ्नेन चेतसा । पर्युपासे जिनेंद्र त्वा विघ्नवर्गोपशातये ॥३१२॥ त्वमेको जगता ज्जोतिस्त्वमेको जगता पति. । त्वमेको जगता बधुस्त्वमेको

ऊंचा कर लिया है और जो क्रोधसे विष उगल रहा है ऐसा सर्प भी आपके चरणरूपी औषधिके स्मरण करनेमात्रसे तत्काल ही निर्विष हो जाता है ॥ ३०७ ॥ हे नाथ ! आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले धनी व्यापारीजन प्रचंड चोरोंके धनुषटंकारोंसे अत्यंत भयानक वनमेंभी निर्भय होकर धन जन सहित चले जाते हैं । ३०८ ॥ तथा जो समुद्र प्रचंड वायुके अत्यंत प्रकोपसे ऊपरको उठ रहा है तथा जिसकी तरंगें बड़ी प्रवल हो रही हैं ऐसे भयानक समुद्रको भी आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाला पुरुष लीलामात्रमें पार हो जाता है ॥ ३०९ तथा जो पुरुष संधि जंघा आदि गुप्त स्थानमें उत्पन्न हुये बड़े २ फोड़ोंसे रोगी हो रहे हैं वे भी केवल आपके चरणरूपी औषधिका स्मरण करनेमात्रसे ही तत्काल नीरोग हो जाते हैं ॥ ३१० ॥ हे देव ! यद्यपि आप कर्मबंधनसे रहित हैं तथापि आपको स्मरण करनेमात्रसे कठोर बंधनोंसे बंधा हुआ भी यह मनुष्य शीघ्र ही उन बंधनोंसे छूटजाता है ॥ ३११ ॥ हे जिनेंद्रदेव ! आप विघ्नोंको भी विघ्न करनेवाले हैं अर्थात् विघ्नोंको नाश करनेवाले हैं इसलिये मैं अपने सब विघ्न दूर करनेकेलिये गाढ़ भक्तिसे भरे हुये चित्तसे आपकी सेवा करता हूं ॥ ३१२ ॥ हे देव । इस जगतको प्रकाश करनेवाले केवल आप ही हैं संसारके स्वामी भी एक आप ही हैं तथा संसारके बंधु और संसार के गुरु भी एक आप ही हैं ॥ ३१३ ॥ संपूर्ण विद्याओंके उत्पन्न करनेवाले भी आप हैं और आप ही

जगतां गुरु' ॥ ३१३ ॥ त्वमादि' सर्वविद्याना त्वमादि सर्वयोगिना । त्वमादिर्धर्मतीर्थस्य त्वमादिर्गुरुरंगिना ॥ ३१४ ॥ त्वं सार्व' सर्वविद्येश सर्वलोकानलोकथाः । स्तुतिवादस्त्वैतावानलमास्ता प्रविस्तरः ॥ ३१५ ॥ त्वा देवामित्थमभिवद्य कृतप्रणामो नान्यत्फल परिमित परिमार्गयामि । त्वय्येव भक्तिमचला जिन मे दिश त्व सा सर्वमभ्युदयमुक्तिफल प्रसूते ॥३१६॥ इत्युच्चै प्रणिपत्य त जिनपतिं स्तुत्वा कृताभ्यर्चनं स श्रीमान्मुनिवृदमप्यनुगमात्सपूज्य निष्कल्मष । श्रीमत्या सह वज्रजंघनृपतिस्तामुत्तमार्द्धिं पुरीं प्राविक्षत्प्रमदोदयाज्जिनगुणान्भूय. सरन्भूतये ॥ ३१७ ॥

संपूर्ण योगियोंमें प्रथम योगी हैं। धर्मरूप तीर्थको प्रगट करनेवाले भी आप हैं और आप ही प्राणियोंको हितोपदेश देनेवाले प्रथम गुरू हैं ॥ ३१४ ॥ हे स्वामिन् ! आप समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं संपूर्ण विद्याओंके स्वामी हैं और सव लोकालोकको देखनेवाले हैं। हे प्रभो! आपकी स्तुतिका विस्तार कहांतक किया जाय अबतक जितना कुछ कहा गया है उतना ही कहकर इसे समाप्त करता हूं ॥३१५॥ हे देव ! इसप्रकार मैं आपकी स्तुति कर बारंबार आपको प्रणाम करता हूं। मैं आपसे अन्य कुछ परिमित फल नहीं मांगता हूं किंतु हे जिन आपमें मेरी भक्ति सदा अचल रहे यही मुझे प्रदान कर दीजिये क्योंकि आपमें रहनेवाली अचल भक्तिसे समस्त स्वर्ग मोक्षादिके उत्तमफल प्राप्त होजाते हैं ॥ ३१६ ॥ इसप्रकार श्रीमान् बज्रजंघ राजकुमारने उस महापूत जिनालयमें श्रीअरंहत भगवानको उत्तमरीतिसे नमस्कार किया उनकी स्तुति की पूजा की और फिर उसने वहां विराजमान रागद्वेषरहित मुनियोंको अनुक्रमसे नमस्कार किया तथा उनकी पूजा की। तदनंर श्रीजिनेंद्रदेवके गुण बारबार स्मरण करते हुये उस वज्रजंघने राज्यादिक विभूति धारण करनेकेलिये बड़े हर्षसे श्रीमतीके साथ साथ अनेक ऋद्धियों और विभूतियोंसे शोभायमान उस पुंडरीकिणी नगरीमें प्रवेश किया था ॥ ३१७ ॥ नगरमें आते ही छहों खंड भारतवर्षके वत्तीसहजार मुकुटवद्ध राजाओंने लक्ष्मीवान् उस वज्रजंघका राज्याभिषेक किया था तथा सबने उसे पूज्य माना था। इसप्रकार प्रतिदिन श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजन करते

लक्ष्मीवानभिषेकपूर्वकमसौ श्रीवज्रजंघो भुविद्वात्रिंशन्मुकुटप्रबद्धमहितक्ष्माभृत्सहस्रैर्मुहुः । तां कल्याणपरंपरामनुभवन्भोगानपरान्निर्विशन् श्रीमत्या सह दीर्घकालमवसत्तासिन्पुरेऽर्च्चन् जिनान् ॥ ३१८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमती-वज्रजंघसमागमनवर्णन नाम सप्तम पर्व ॥ ७ ॥

अथ अष्टमं पर्व ।

अथ तत्रावसद्दीर्घं स कालं चक्रिमंदिरे । नित्योत्सवे महाभोगसंपदा सोपभोगया ॥ १ ॥ श्रीमतीस्तनसंस्पर्शात्तन्मुखाब्जावलोकनात् । तस्यासीन्महती प्रीतिः प्रेम्णे वस्त्विष्टमाश्रितं ॥२॥ तन्मुखाब्जाद्रसामोदमाहरन्नातृपन्नृप । मधुव्रत इवांभोजात्कामसेवा न तृप्तये ॥ ३ ॥

हुये तथा हजारों राजाओंके द्वारा प्राप्त हुये अनेक कल्याण परंपराओंका अनुभव करते हुये और प्रिय-पत्नी श्रीमतीके साथ अनेकप्रकारके भोगोंका अनुभव करते हुये वज्रजंघने अनेक दिनोंतक उस पुंडरीकिणी नगरीमें निवास किया था ॥ ३१८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें वज्रजंघ और श्रीमतीके समागमवाला यह सातवां पर्व समाप्त हुआ

अथ अष्टम पर्व ।

विवाह हो जानेके अनंतर वज्रजंघ राजकुमारने निरंतर उत्सव होनेवाले चक्रवर्तीके राजमहलमें बहुत दिनोंतक निवास किया था वह वहां अनंत भोगोपभोगसंपदाओंके द्वारा अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था ॥ १ ॥ श्रीमतीके कठिनस्तनोंका स्पर्श करनेसे तथा उसके मुखरूपीकमलको देखनेसे उसे बहुत ही संतोष होता था । सो ठीक ही है इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर किसे संतोष नहीं होता है ॥ २ ॥ जैसे भ्रमर कमलसे रस ग्रहण करता हुआ कभी तृप्त नहीं होता उसीप्रकार वह राजकुमार भी श्रीमतीके मुखरूपीकमलसे रसका आनंद ग्रहण करता हुआ तृप्त नहीं होता था । सो ठीक ही

मुखेंदुमस्या' सो पश्यन्निर्निमेषोत्कया दृशा । कांतिमद्दशनज्योतिर्ज्योत्स्नया सततोज्ज्वलं ॥ ४ ॥ अपागवीक्षितैर्लीलास्मितैश्च कलभाषितैः । मनो बबंध सा तस्य स्वासिन्नत्यतवधुरैः ॥ ५ ॥ त्रिवलीवीचिरम्येसौ नाभिकावर्त्तशोभिनि । उदरे कृशमध्याया रेमे नद्या इवाह्रदे ॥ ६ ॥ नितंबपुलिने तस्या' स चिरं धृतिमातनोत् । कांचीविहगविरुते रम्ये हंसयुवायित. ॥ ७ ॥ तत्स्तनांशुकमाहृत्य तत्र व्यापारयन्कर । मदेभ इव सोभासीत्पाद्मिन्याः कुड्मलं स्पृशन् ॥ ८ ॥ स्तनचक्राह्वये तस्याः श्रीखंडद्रवकर्दमे । उर'सरसि रेमे ऽसौ सत्कुचांशुकशैवले ॥९॥ मृदुबाहु-लते कंठे गाढमासज्य सुंदरी । कामपाशायिते तस्य मनोवध्नान्मनस्विनी ॥ १० ॥ मृदुपाणितले स्पर्शं रसगंधौ मुखाबुजे । शब्दमालपिते

है कामसेवनसे कभी तृप्ति नहीं होती है ॥ ३ ॥ श्रीमतीका मुखरूपी चंद्रमा उसके कांतियुक्त दांतोंके प्रकाशरूपी चांदनीसे सदा उज्ज्वल रहता था और इसलिये ही उसे राजकुमार बज्रजंघ टिमिकाररहित उत्कंठित दृष्टिसे देखता रहता था ॥ ४ ॥ श्रीमतीने अत्यंत मनोहर कटाक्ष, लीलापूर्वक मृदु हास्य और मनोहर मधुर भाषणोंके द्वारा वज्रजंघका चित्त अपने स्वाधीन करलिया था ॥ ५ ॥ जैसे जिस नदीका मध्यभाग कृश होगया है ऐसी नदीके किसी गहरे कुंडमें लोग क्रीडा किया करते हैं उसीप्रकार वह वज्रजंघ त्रिवलीरूपी लहरोंसे शोभायमान और नाभिरूपी भ्रमरोंसे सुशोभित ऐसे कृशीभूत मध्यभाग युक्त श्रीमतीके उदरपर क्रीडा करता था ॥ ६ ॥ अथवा राजहंसके समान वह बज्रजंघ करधनीरूपी पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान और अतिसुंदर ऐसे उस श्रीमतीके नितंवरूपी तटभागपर बहुत देरतक संतुष्ट रहता था ॥ ७ ॥ तथा उसके स्तनभागसे वस्त्र हटाकर उसपर हाथ फेरता हुआ वह ऐसा सुशोभित होता था जैसे कमलिनीकी कलीको स्पर्श करता हुआ मदोन्मत्त हाथी शोभायमान होता है ॥ ८ ॥ श्रीमतीका वक्षःस्थल एक सरोवरके समान शोभायमान हो रहा था क्योंकि वहां स्तनरूपी चक्रवाक पक्षी उपस्थित थे वक्षःस्थलपर लगी हुई घिसी केशर ही कीचड़ थी और कुचोंपर पड़ाहुआ हरे रंगका वस्त्र ही शैवाल था उसी सरोवरपर वह वज्रजंघ क्रीडा किया करता था ॥ ९ ॥ सदा सुखी

तस्यास्तनौ रूपं निरूपयन् ॥ ११ ॥ सुचिरं तर्पयामास सोऽक्षग्राममशेषतः । सुखमैंद्रियकं प्रेप्सोर्गतिर्नातः परांगिनः ॥ १२ ॥ कांचीदाममहानागसरुद्धेऽन्यैर्दुरासदे । रेमे तस्या. कटिस्थाने महतीव निधानके ॥ १३ ॥ कचग्रहैर्मृदीयोभि. कर्णोत्पलविताडितैः । अभूत्प्रणयकोपोस्या यूनः प्रीत्यै सुखाय च ॥ १४ ॥ गलिताभरणन्यासे रतिघर्माबुकर्दमे । तस्यासीद्धृतिरंगेऽस्याः सुखोत्कर्षः स कामिनां ॥ १५ ॥ सौधवातायनोपांतकृतशय्यौ रतिश्रम । अपनिन्यतुरास्पृष्टौ तौ शनैर्मृदुमारुतैः ॥१६॥ तस्या मुखेंदुराल्हाद लोचने नयनोत्सवं। स्तनौ स्पर्शसुखासंगमस्य तेनुर्दुरासदं

रहनेवाली उस सुंदरी श्रीमतीने कामपाशके समान अपनी कोमल भुजलताओंको वज्रजंघके गलेमें डालकर उसका मन अपने वश कर लिया था ॥ १० ॥ राजकुमार वज्रजंघ श्रीमतीकी कोमल हथेलीके स्पर्शसे स्पर्शनेंद्रियके सुखका अनुभव करता था, उसके मुखरूपी कमलसे मधुररस और सुगंधिका आस्वादन लेता हुआ रसना और घ्राण इंद्रियको तृप्त करता था, उसके मधुर शब्द सुनकर कर्णोंको तृप्त करता था और शरीरका रूप देखकर नेत्रोंको तृप्त करता था इसप्रकार वह अपनी पाचों इंद्रियोंको चिरकालतक तृप्त करता रहता था। सो ठीक ही है ऐंद्रियक सुख चाहनेवाले जीवोंको इसके सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है ॥ ११-१२ ॥ करधनीरूपी महासर्पसे घिरे हुये और इसलिये ही अन्यपुरुषोंकेद्वारा अप्राप्य ऐसे किसी वड़े खजानेके समान उसके कटिभागपर भी वह वज्रजंघ क्रीडा करता था॥१३॥ अत्यंत कोमल केशोंके पकड़नेसे तथा कोमल कर्णफूल रूपी कमलोंकी ताड़नासे श्रीमतीको जो प्रणयकोप होता था उससे वज्रजंघको वहुत ही संतोष और सुख होता था ॥ १४ ॥ जिसके आभरण सव शिथिल होगये हैं तथा जो रतिसमयके प्रस्वेदाविंदुओंसे कर्दमयुक्त होगया है ऐसे श्रीमतीके शरीरमें भी वह वज्रजंघ संतुष्ट रहता था। सो ठीक ही है कामीजनोंको ऐसा शरीर ही सुखप्रद होता है। भवार्थ-ऐसे ग्लानियुक्त शरीरसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिये परंतु कामीजनोंको उससे वैराग्य न होकर उलटा सुख होता है यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ १५ ॥ राजमहलमें झरोखेके समीप ही इन

॥ १७ ॥ तत्कन्यामृतमासाद्य दिव्यौषधमिवातुरः । स काले सेवमानोभूत्सुखी निर्मदनज्वरः ॥ १८ ॥ कदाचिन्नंदनस्पर्द्धिपरार्ध्यतरुशोभिषु । गृहोद्यानेषु रेमेसौ कातयामा महर्द्धिषु ॥ १९ ॥ कदाचिद्वहिरुद्याने लतागृहविराजिनि । क्रीडाद्रिसहितेदीव्यत्प्रियया स समुत्सुकः ॥ २० ॥ नदीपुलिनदेशेषु कदाचिद्विजहार सः । स्वयं गलितमफुल्ललताकुसुमशोभिषु ॥ २१ ॥ कदाचिद्दीर्घिकाभस्सु जलक्रीडां समातनोत् । मकरंदरजःपुंजपिंजरेषु स सप्रियः ॥ २२ ॥ चामीकरमयैर्यंत्रैर्जलकेलिविधावसौ । प्रियामुखाब्जमभोभिरसिंचत्कोणितेक्षणं ॥ २३ ॥ साप्यस्य मुखमासेक्तुं

दोनोंकी शय्या थी झरोखेसे मंद मंद वायु आती थी जिससे उनका रतिश्रम दूर होता था ॥ १६ ॥ श्रीमतीके मुखरूपी चंद्रमासे वज्रजंघको अत्यंत आनंद होता था उसके नेत्रोंसे नेत्रोंको सुख मिलता था और उसके स्तनोंसे स्पर्शसुखका अपूर्व आनंद प्राप्त होता था ॥ १७ ॥ जैसे कोई रोगी पुरुष दिव्य औषधि पाकर और उसे समयपर सेवनकर सुखी होता है उसीप्रकार वह वज्रजंघ भी उस कन्यारूपी अमृतको पाकर और उसे समयानुसार सेवनकर कामज्वरसे मुक्तहोकर सुखी हुआ था ॥ १८ ॥ वह राजकुमार वज्रजंघ कभी तो नंदनवनकी स्पर्द्धा करनेवाली उत्तमवृक्षोंकी शोभासे सुशोभित और महा विभूति संयुक्त घरके उद्यानोंमें श्रीमतीके साथ क्रीडा करता था और ॥ १९ ॥ कभी अत्यंत उत्सुक होकर अपनी प्रियाके साथ साथ लाताओंके बने हुये घरोंसे शोभायमान और क्रीडा करनेकेलिये बने हुये कृत्रिमपर्वतोंसहित वाहरके उद्यानोंमें क्रीडा करता था ॥ २० ॥ वसंतऋतुमें कभी वह लताओंसे गिरे हुये खिले हुये फूलोंसे शोभायमान नदियोंके तटभागपर विहार करता था ॥ २१ ॥ और ग्रीष्म ऋतुमें कभी २ अपनी प्रियाके साथ कमलोंकी परागरजके समूहसे कुछ २ पीले हुये वावडीके जलमें जलक्रीड़ा करता था ॥ २२ ॥ कभी वह जलक्रीडा करते समय जलयंत्रोंसे (पिचकारियोंसे) गिरे हुये स्वेत चमरके समान सुशोभित जलसे किंचित् संकुचितयुक्त प्रियाके मुखरूपी कमलको सिंचन करता था ॥ २३ ॥ उससमय श्रीमती भी उसका मुख सिंचन करनेकेलिये इच्छा करती थी परंतु वह उसे

कृतवांछापि नाशकत् । स्तनांशुके गलत्याविर्भवद्व्रीडापराङ्मुखी ॥ २४ ॥ जलकेलिविधौ तस्या लग्नं स्तनतटेंऽशुकं । चलच्छाया दधे श्लक्ष्ण स्तनशोभामकर्षयत् ॥ २५ ॥ स्तनकुड्मलसशोभा मृदुबाहुमृणालिका । सा दधे नालिनीशोभां मुखाबुजविराजिनी ॥२६॥ कर्णोत्पल स्वमित्यस्या विलोलैरादधे जलै· । तन्मुखाबुरुहच्छायां स्वाब्जैर्जेतुमिवाक्षमै ॥२७॥ धारागृहे स निपनद्धाराबद्धघनागमे । प्रियया विद्युतेवोच्चैश्चिक्रीड सुख-निर्वृत ॥२८॥ कदाचित्सौधपृष्ठेषु तारकाप्रतिबिंबितै. । कृतार्च्चनेष्वसौ रेमे ज्योत्स्नां रात्रिषु निर्विशन् ॥२९॥ इति तत्र चिर भोगैरुपभोगैश्च हारिभिः ।

सिंचन कर नहीं सकती थी क्योंकि ज्यों ही वह सिंचन करनेकेलिये तैयार होती थी त्यों ही उसके स्तन-भागका वस्त्र गिरजाता था और वह लज्जित होकर उसकार्यसे विमुख हो जाती थी ॥ २४ ॥ जलक्रीडा करते समय श्रीमतीके स्तनभागपर जो महीन वस्त्र पानीसे भीगकर चिपक गया था वह स्तनोंकी ओर अधिक शोभा वढ़ाता हुआ जलकी छायाके समान सुशोभित होता था ॥ २५ ॥ इसके स्तन कलियोंके समान सुशोभित होते थे कोमल भुजायें कमलनालके समान थीं और मुख कमलके समान जलके ऊपर शोभायमान था इसप्रकार पानीमें खड़ीहुई वह श्रीमती कमलिनीके (कमलकी वेल) समान सुशोभित होती थी ॥ २६ ॥ अपने कमल श्रीमतीके मुखकमलकी शोभा जीत नहीं सकते हैं यह समझकर मानों तरंगोंके द्वारा हिलते हुये चंचल जलने श्रीमतीके कानोंमें लगे हुये कमलोंको अपने समझ कर हरण करलिये थे। भवार्थ—चंचलजलमें कानोंमें लगे हुये कमलोंकी परछाहीं पड़ती थी उसे देखकर ही आचार्यने ऊपर लिखी उत्प्रेक्षा की है ॥ २७ ॥ ऊपरसे पड़ती हुई जलधारासे जिसमें वर्षा ऋतु ही जान पड़ती है ऐसे लतामंडपसे बने हुये धारागृहमें विजलीके समान प्रतिभासित होनेवाली श्रीमतीके साथ साथ वह राजकुमार वज्रजंघ सुख पूर्वक क्रीडा करता था ॥ २८ ॥ और कभी शरद ऋतुमें फूलोंके द्वारा की हुई पूजाके समान ताराओंसे प्रतिबिंबित स्फटिकमणिकी बनी हुई राजमहलकी छतपर रात्रियोंमें चांदनीका अनुभव करता हुआ क्रीड़ा करता था ॥ २९ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार स्वर्गोंके भोगोंसे भी

वधूवरमरंस्तैतत्स्वर्गभोगातिशायिभिः ॥ ३० ॥ तयोस्तथाविधैर्भोगैर्जिनेंद्रमहिमोत्सवैः । पात्रदानविनोदैश्च तत्र कालोगमद्बहु ॥ ३१ ॥ तस्य प्रसादलाभेन तयोर्नित्यमहोत्सवै । पुत्रोत्पत्यादिसर्गैश्च स कालोविदितोगमत् ॥ ३२ ॥ वज्रजंघानुजा कन्यामनुरूपामनुधरीं । वज्रबाहुर्विभूत्यासावदितामिततेजसे ॥ ३३ ॥ चाक्रिसूनु तमासाद्य सुतरा पिप्रिये सती । अनुधरी नवोढासौ वसतमिव कोकिला ॥ ३४ ॥ अथ चक्रधरः पूजासत्कारैरभिपूजित । स्वपुर प्रतियानाय व्यसृजत्तद्वधूवरं ॥ ३५ ॥ हस्त्यश्वरथपादात रत्न देश सकोशकं । तदान्वायिनिकं पुत्र्यै ददौ चक्र-

---

अत्यंत मनोहर ऐसे भोग और उपभोगोंको अनुभव करते हुये वे दोनों वर बधू चिरकालतक क्रीड़ा करते हुये निवास करते थे ॥ ३० ॥ ऊपर कहे अनुसार भोगोंका अनुभव करते हुये जिनेंद्रदेवकी पूजा आदि अनेक उत्सव और पात्रदान आदि अनेक मंगलकार्य करते हुये उन दोनोंका बहुतसा समय वहीं व्यतीत हो गया था ॥ ३१ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा आदि होनेवाले अनेक उत्सवोंसे उन दोनोंका चित्त सदा प्रसन्न रहता था तथा पुत्रोत्पत्ति आदिके भी अनेक उत्सव होते थे जिससे उन दोनोंको व्यतीत होता हुआ समय भी जान नहीं पड़ता था ॥ ३२ ॥

अनुंधरी नामकी वज्रजंघकी एक छोटी बहिन थी जो कि वज्रजंघके समान ही सुंदरी थी वह राजा वज्रवाहुने बड़ी विभूतिके साथ चक्रवर्तीके वडे पुत्र अमिततेजकेलिये दे दी थी ॥ ३३ ॥ जैसे बसंतऋतुको पाकर कोयल प्रसन्न होती है उसीप्रकार वह सती नवोढा अनुंधरी चक्रवर्तीके पुत्र अमित तेजका समागम पाकर बहुत ही संतुष्ट हुई थी ॥ ३४ ॥ इसप्रकार चक्रवर्ती जब सब कार्य कर चुका और राजा वज्रवाहुने घर जानेकेलिये आज्ञा मांगी तब उसने वज्रवाहुके साथ आनेवाले सब लोगोंका तथा वधूवरका यथायोग्य आदरसत्कारकर सवको विदा किया था ॥ ३५ ॥ उससमय चक्रवर्तीने अपनी पुत्री श्रीमतीकेलिये हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, रत्न, देश और खजाना आदि वंशपरंपरासे चलाआया बहुतसा धन दिया था ॥ ३६ ॥ इधर जब नगरवासियोंने वज्रजंघके गमन करनेके चोभका-

धरो महत् ॥ ३६ ॥ अथ प्रयाणसंक्षोभाद्दपत्योस्तत्पुर तदा । परमाकुलता भेजे तद्गुणैरुन्मनायितं ॥ ३७ ॥ ततः प्रस्थानगभीरभेरीध्वानै. शुभे दिने । प्रयाणमकरोच्छ्रीमान्वज्रजघ. सहागन' ॥३८॥ वज्रबाहुमहाराजो देवी चास्य वसुधरा । वज्रजव सपत्नीक व्रजतमनुजग्मतु. ॥ ३९ ॥ पौरवर्गं तथा मन्त्रिसेनापतिपुरोहितान् । सोनुव्रजतुमायातान्नातिदूराद्व्यसर्जयत् ॥ ४० ॥ हस्त्यश्वरथभूयिष्ठ साधन सहपत्तिक । सवाहयत्स संप्रापत्पुरमुत्पलखेटक ॥ ४१ ॥ परार्ध्यरचनोपेत सोत्सव प्रविशन्पुर । पुरदर इवाभासीद्वज्रजघोमितद्युतिः ॥ ४२ ॥ पौरांगना महावीथीविशंतं त प्रियान्वितं । सुमनोऽजलिभिः प्रीत्या चाकिरु' सौधसश्रिता ॥ ४३ ॥ पुष्पाक्षतयुता पुण्या शेषा पुण्याशिषा समं । प्रजा. समंततोऽभेत्य

एक समाचार सुने तब वे उनके गुणोंसे उत्कंठित होकर बड़े ही व्याकुल हो उठे थे ॥ ३७॥ निदान किसी शुभदिन श्रीमान् राजा वज्रजंघने अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ २ तथा प्रस्थानसमयमें होनेवाले भेरियोंके गंभीर शब्दोंके साथ २ उस नगरसे प्रस्थान किया था ॥३८॥ अपनी पत्नी श्रीमतीसहित राजकुमार वज्रजंघ आगे आगे चलता था और महाराज वज्रबाहु अपनी देवी वसुंधरासहित उनके पीछे २ चलते थे ॥ ३९ ॥ अनेक नगरवासी लोग तथा मंत्री सेनापति पुरोहित आदि राजकुमारने नगरके थोड़ी ही दूर वाहर जाकर सबको वापिस विदा कर दिया था ॥४०॥ हाथी घोड़े रथ पियादे आदिकी बड़ी भारी सेना साथ लेकर वह बहुत शीघ्र अपने उत्पलखेटक नगरमें जा पहुंचा ॥४१॥ इसके आनेके समाचार सुनकर नगरकी बड़ी भारी सजावट की गई थी लोग अनेकप्रकारके उत्सव मना रहे थे ऐसे नगरमें प्रवेश करता हुआ और अतिशय कांतियुक्त राजकुमार वज्रजंघ ठीक इंद्रके समान सुशोभित होता था ॥ ४२ ॥ जिससमय वज्रजंघने श्रीमतीसहित राजमार्गमें प्रवेश किया था उससमय नगरमें रहनेवाली अनेक स्त्रियोंने अपने २ महलकी छतोंपर खड़े होकर बड़े प्रेमके साथ उन दोनोंपर फूलोंकी वर्षा की थी ॥४३॥ उससमय चारोंओरसे प्रजाके अनेक लोग आते थे और शुभ आशीर्वादके साथ २ पुष्प और अक्षतोंसे मिला हुआ पुण्यरूप अपना २ प्रसाद (वधाईके पुष्पाक्षत) उन दोनों वर वधु-

दपती तावलभयन् ॥ ४४ ॥ तत प्रहतगभीरपटहध्वानसकुलं । पुरमुत्तोरणं पश्यन्स विवेश नृपालयं ॥ ४५ ॥ तत्र श्रीभवने रम्ये सर्वर्तुसुखदायिनि । श्रीमत्या सह सप्रीत्या वज्रजघोऽवसत्सुख ॥ ४६ ॥ स राजसदनं रम्य प्रीत्यामुष्यै प्रदर्शयन् । तत्र तां रमयामास खिन्ना गुरुवियोगत ॥ ४७ ॥ पंडिता सममायाता सखीनामग्रणी सती । तामसौ रजयामास विनोदैर्नर्त्तनादिभि ॥४८॥ भोगैरनारतैरेव काले गच्छत्यनुक्रमात् । श्रीमती सुषुवे पुत्रान्व्येकपचाशत यमान् ॥ ४९ ॥ अथान्येद्युर्महाराजो वज्रवाहुर्महाद्युति । शरदभ्रधरोत्थान सौधाग्रस्थो निरूपयन् ॥ ५० ॥ दृष्ट्वा तद्विलय सद्यो निर्वेद परमागत । विरक्तस्यास्य चित्तेऽभूदिति चिंता गरीयसी ॥ ५१ ॥ पश्य न. पश्यतामेव कथमेष शरद्-

ओंके समीप पहुंचाते थे ॥ ४४ ॥ इसप्रकार सबका किया हुआ आदरसत्कार स्वीकार करते हुये और नगरकी शोभा देखते हुये वज्रजंघने वजते हुये नगाड़ोंके गंभीर शब्दोंसे शब्दायमान और ऊंचे २ तोरणोंसे शोभायमान ऐसे राजमहलमें प्रवेश किया ॥ ४५ ॥ वह राजमहल बड़ा ही सुशोभित था बड़ा ही सुंदर था और सब ऋतुओंके सुख देनेवाले सामान उसमें उपस्थित थे । उसी राजमहलमें वह राजकुमार वज्रजंघ श्रीमतीके साथ २ बड़े प्रेम और बड़े सुखसे निवास करता था ॥ ४६ ॥ यद्यपि पिताके वियोगसे श्रीमतीको कुछ दुःख हुआ था परंतु वज्रजंघ बड़े प्रेमसे अतिमनोहर राजमहलोंको दिखलाकर उसे वहीं प्रसन्न रखता था ॥ ४७ ॥ सब सखियोंमें मुख्य सखी सती पंडिता भी उसके साथ आई थी वह भी नृत्य आदि अनेकप्रकारके विनोदोंसे उसे प्रसन्न किया करती थी ॥ ४८ ॥ इसप्रकार निरंतर भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुये उन दोनोंका समय व्यतीत होता चला जाता था । इसी लंबे समयमें श्रीमतीसे अनुक्रमसे अठानवे पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ ४९ ॥

किसी एकदिन महा देदीप्यमान महाराज वज्रबाहु अपने राजमहलकी छतपर बैठे हुये शरद ऋतुके उठे हुये बादलोंकी शोभा देख रहे थे ॥ ५० ॥ जिस बादलको वे देख रहे थे वह उनके देखते २ ही नष्ट होगया था उसे नष्ट होता देखकर महाराज वज्रबाहुको उसीसमय वैराग्य उत्पन्न हुआ था उसी-

घन· । प्रासादाकृतिरुद्भूतो विलीनश्च क्षणांतरे ॥५२॥ संपदश्चविलायं नः क्षणादेषा विलास्यते । लक्ष्मीस्तडिद्विलोलेयमित्वर्यो यौवनश्रिय ॥५३॥ आपातमात्ररम्याश्च भोगा पर्यंततापिनः । प्रतिक्षण गलत्यायुर्गलन्नालिजल यथा ॥ ५४ ॥ रूपमारोग्यमैश्वर्यमिष्टबंधुसमागम । प्रियांगना रतिश्चेति सर्वमप्यनवस्थितं ॥ ५५ ॥ विर्चिंत्येति चलां लक्ष्मीं प्रजिहासु· सुधीरसौ । अभिषिच्य सुत राज्ये वज्रजंघमतिष्ठिपत् ॥ ५६ ॥ स राज्यभोगनिर्विण्णस्तूर्णं यमधरांतिके । नृपै सार्द्धं सहस्रार्द्धमितैर्दीक्षामुपाददे ॥ ५७ ॥ श्रीमतीतनयाश्चामी वीरवाहुपुरोगमा. । सम राजर्षिणा·

समय वे सब संसारके भोगोंसे विरक्त हुये थे और उनके चित्तमें नीचे लिखी हुई बड़ी भारी चिंता उत्पन्न हुई थी ॥ ५१ ॥ उस समय वे सोचने लगे थे कि देखो हमारे देखते २ यह शरद ऋतुका वादल कैसा राजमहलके आकारका दिखाई दियाथा और क्षणभरमें हमारे देखते २ ही नष्ट होगया ॥ ५२ ॥ ठीक इसीप्रकार यह संपदा भी क्षणनश्वर है क्षणभरमें नष्ट हो जायगी । यह लक्ष्मी विजलीके समान चंचल है यह यौवनकी शोभा भी थोड़ेदिन ही रहकर चली जाती है ॥ ५३ ॥ ये भोग सेवन करतेसमय ही मनोहर जान पड़ते हैं परंतु फल देते समय वड़ा ही दुःख देते हैं । जैसे अरहटकी घड़ीका जल प्रतिक्षण नष्ट होता है उसी प्रकार यह आयु भी प्रतिक्षण नष्ट होती चली जाती है ॥ ५४ ॥ रूप, आरोग्य, ऐश्वर्य इष्टवंधुओंका समागम और प्रियांगनाप्रेम आदि सव कुछ क्षणनश्वर है ॥ ५५ ॥ इसप्रकार विचारकर तथा लक्ष्मीको चंचल समझकर और उसे छोड़नेकी इच्छाकर उस बुद्धिमानने अपने पुत्र वज्रजंघका राज्याभिषेककर उसे राज्यसिंहासनपर विठाया ॥ ५६ ॥ और स्वयं राज्य और भोगोंसे विरक्त होकर श्रीयमधरमुनिके समीप पहुंचे और पांचसौ राजाओंके साथ २ उनसे श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ ५७ ॥ उसीसमय वीरवाहु आदि श्रीमतीके अठानवे पुत्रोंने भी श्रीवज्रवाहु राजऋषिके साथ २ दीक्षा ग्रहण की थी ॥ ५८ ॥ श्रीवज्रवाहुमुनिराजने अनेक कर्मोंके नाश होनेसे परम शुद्ध हुये ऐसे वीरवाहु आदि मुनियोंके साथ अनेक दिनोंतक विहार किया और फिर अनुक्रमसे केवलज्ञान

नेन तदा सयमिनोभवन् ॥ ५८ ॥ यमै. समभुपारूढशुद्धिभिर्विहरन्नसौ । क्रमादुत्पाद्य कैवल्यं परं धाम समासदत् ॥ ५९ ॥ वज्रजंघस्ततो राज्यमपदं प्राप्य पैतृकीं । निरविक्षच्चिर भोगान्प्रकृतीरनुरजयन्॥ ६० ॥ अथान्यदा महाराजो वज्रदंतो महर्द्धिकः । सिंहासने सुखासीनो नरें द्रै परिवेष्टित. ॥ ६१ ॥ तदासीनस्य चोद्यानपाली विकासित नव । सुगंधिपद्ममानीय तस्य हस्ते ददौ मुदा ॥ ६२ ॥ पाणौ कृत्य तदाजिघ्रन्स्वाननामोदसुदर । सप्रीत· करपद्मेन सविभ्रममविभ्रमन् ॥ ६३ ॥ तद्गंधलोलुप तत्र रुद्ध लोकातराश्रित । दृष्ट्वालि विषयासगाद्विरराम सुधीरसौ ॥ ६४ ॥ अहो मदालिरेषोत्र गंधाकृष्टो रस पिवन् । दिनापाये निरुद्धोऽभूद्व्यसुर्धिग्विषयैषिता ॥ ६५ ॥ विषया विषमाः पाके

प्राप्तकर सिद्धपद प्राप्त किया ॥ ५९ ॥ इधर महाराज वज्रजंघ वंश परंपरासे चलीआई राज्यसंपदाको पाकर प्रजाको प्रसन्न करता हुआ अनेकप्रकारके भोग भोगने लगा था ॥ ६० ॥

किसी एक दिन अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित तथा अनेक राजाओंसे वेष्ठित महाराज वज्रदंत अपने सिंहासन पर बड़े आनंदसे वैठा हुआ था ॥ ६१ ॥ कि इतनेमें ही बनका माली तुरंतका खिला हुआ एक सुगंधित कमल लाया और बड़े हर्षसे महाराजके करकमलोंमें उसे अर्पण किया ॥६२॥ अपने मुखपरकी सुगंधिसे वह कमल बहुत ही सुंदर था महाराजने उसे अपने हाथमें लिया और अपने करकमलसे उसे फिराता हुआ तथा आश्चर्य करता हुआ बड़ी प्रसन्नताके साथ वह उसे सूंघ रहा था ॥ ६३ ॥ सूंघते सूंघते उसने देखा कि कमलकी सुगंधिका लोलुपी एक भ्रमर उसमें मरा हुआ पडा है । उसे देखकर उस बुद्धिमानको विषयभोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥ ६४ ॥ और वह विचार करने लगा कि देखो यह मदोन्मत्त भ्रमर इसकी सुगंधसे आसक्त होकर इसमें आया था और रस पीते २ ही सूर्य अस्त होनेसे वह इसमें घिर गया और मरगया ऐसी विषयलोलुपताको भी धिक्कार हो ॥ ६५ ॥ ये विषयभोग ठीक किंपाकफलके (इंद्रायण) समान विषम हैं सेवन करते समय तो ये अच्छे लगते हैं परंतु फल देते समय अत्यंत दुःख देनेवाले अनिष्ट फल देते हैं इसलिये इन्हें बार बार धिक्कार है ॥ ६६ ॥

किंपाकसदृशा इमे । आपातरम्या धिगिमानिष्टफलदायिनः ॥ ६६ ॥ अहो धिगस्तु भोगांगमिदमंगं शरीरिणां । विलीयेत शरन्मेघविलायमतिपेलव ॥ ६७ तडिदुन्मिषिता लोला लक्ष्मीराकालिकं सुखं । इमाः स्वप्नार्द्धदेशीया विनश्वर्यो धनर्द्धयः ॥ ६८ ॥ भोगान्भो गाढमीहते कथमेतान्मनस्विनः । ये विलोभायितु जतूनायांति च वियति च ॥ ६९ ॥ वपुरारोग्यमैश्वर्यं यौवन सुखसपदः । वस्तुवाहनमन्यच्च सुरचापवदस्थिर ॥ ७० ॥ तृणाग्रलग्नवार्बिंदुर्विनिपातोन्मुखो यथा । तथा प्राणभृतामायुर्विलासो विनिपातुकः ॥ ७१ ॥ अग्रेसरीजरातंकाः पार्ष्णिग्राहास्तरस्विनः । कषायाटविकैः सार्द्धं यमराड्डमरोद्यमी ॥७२॥ अक्षग्रामं दहत्येते संतर्षविषमार्च्चिषा । विषया विषमोत्थानवेदना लूषयंत्यसून् ॥७३॥

विषय भोगोंको सेवन करनेवाले प्राणियोंके इस शरीरको भी बार बार धिक्कार हो । क्योंकि यह शरीर भी अत्यंत अस्थिर है शरद ऋतुके मेघके समान नश्वर है किसी न किसी दिन अवश्य ही नष्ट होता है ॥ ६७ ॥ यह हाथी घोड़े आदि राज्यसंपदा विजलीके समान चंचल है इंद्रियसंबंधी सुख भी अस्थिर हैं यह धन ऐश्वर्य आदिक भी स्वप्नमें प्राप्त हुई संपत्तिके समान शीघ्र ही नाश होनेवाला है ॥ ६८ ॥ भो विद्वज्जन हो तुम लोग इन भोगोंके सेवन करनेकी इच्छा क्यों करते हो ये भोग तो केवल संसारी प्राणियोंको लोभ उत्पन्न करानेकेलिये आते हैं और उन्हें मोहितकर तुरंत ही चले जाते हैं ॥ ६९ ॥ शरीर, आरोग्य, ऐश्वर्य, यौवन, सुखसंपत्ति, यान, वाहन, रत्न आदि संसारके सब पदार्थ इंद्रधनुषके समान अस्थिर हैं ॥ ७० ॥ जैसे तृणके अग्रभागपर लगा हुआ जलका विंदु शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार यह प्राणियोंके आयुका विलास भी क्षणनश्वर है ॥ ७१ ॥ वृद्धावस्थाको आगे कर तथा अनेक रोगरूपी योद्धाओंको अपने चारोंओरकर और कषाय रूपी भीलोंको साथ लेकर यह यमराज संसारी जीवोंके साथ अब युद्ध करनेकेलिये तैयार हुआ है अर्थात् अब यह अवश्य ही सबका प्राणनाश करेगा ॥ ७२ ॥ ये विषय वांछारूपी विषम वन्हिके द्वारा इंद्रियोंको जला देते हैं और विषमरूपसे उत्पन्न हुई यह वेदना प्राणोंको चुरालेती है ॥ ७३ ॥ इस संसारमें प्राणियोंको सुख तो बहुत थोडा है

प्राणिना सुखमल्पीयो भूयिष्ठं दु:खमेव तु । संसृतौ तदिहाश्वास: कस्क कौतस्कुतोथवा ॥ ७४ ॥ तनुमान्विषयानीप्सन्क्लेशैः प्रागेव ताम्यति । भुजानस्तृप्त्ययोगेन वियोगेनुशयानकः ॥ ७५ ॥ यदद्याढ्यतर तृप्त श्वस्तदाढ्यचर भवेत् । यच्चाद्य व्यसनैर्भुक्त तत्कुल श्वोवसीयस ॥ ७६ ॥ सुख दु खानुबधीद सदा सानिधन धन । सयोगा विप्रयोगाता विपदताश्च सपदः ॥ ७७ ॥ इत्यशाश्वतिक विश्व जीवलोक विलोकयन्'। विषयान्विषवन्मेने पर्यतविरसानसौ ॥ ७८ ॥ इति निर्विद्य भोगेषु साम्राज्यभरमात्मन । सूनवेऽमिततेजोऽभिधानाय स प्रदित्सति ॥ ७९ ॥ प्रदित्सतामुना राज्य भूयोभूयोनुबध्नता । समादिष्टोऽप्यसौ नैच्छत्सानुजो राज्यसपद ॥ ८० ॥ स देव यदिद राज्य युष्माभि: प्रजिहासित ।

और दुःख बहुत भारी है। तब फिर इस संसारमें विश्वास कैसा ? अथवा क्यों करना चाहिये ॥ ७४ ॥ विषयोंकी इच्छा करता हुआ यह प्राणी प्रथम ही तो अनेक क्लेशोंको सहन करता हुआ दुःखी हो लेता है। यदि कदाचित दैवयोगसे विषयोंकी प्राप्ति भी हो जाय तो फिर यह उन्हें सेवन करता हुआ कभी तृप्त ही नहीं होता इतनेमें ही नाशमान स्वभावहोनेसे उनका वियोग हो जाता है तब फिर यह प्राणी सदा पश्चात्ताप किया करता है ॥ ७५ ॥ जो कुल आज ऐश्वर्यशाली गिना जाता है वह दूसरे दिन ही दरिद्र हो जाता है और जो कुल आज अत्यंत दुःखी है वह दूसरे दिन ही अत्यंत सुखी माना जाता है ॥ ७६ ॥ यह सांसारिक सुख अवश्य ही दुःख उत्पन्न करनेवाला है धन भी अवश्य नष्ट होनेवाला है संयोगके बाद वियोग अवश्य होता है और संपत्तियोंके बाद ही आपत्तियां आती हैं ॥ ७७ ॥ इस प्रकार उस वज्रदंत चक्रवर्तीको यह समस्त संसार अनित्य दिखाई पड रहा था और अंतमें नीरस होने-वाले ये विषय विषके समान जान पडते थे ॥ ७८ ॥ इसप्रकार वह भोगोंसे विरक्त होकर अपने राज्यका भार अपने पुत्र अमिततेजको देना चाहता था ॥ ७९ ॥ राज्य देनेकेलिये उससे बार बार आग्रह भी किया गया था तथापि वह राज्य लेनेकेलिये राजी नहीं हुआ। इसके राजी न होनेपर अन्य पुत्रोंसे कहा गया परंतु वे भी उसे स्वीकार करनेकेलिये राजी न हुये ॥ ८० ॥ और सब एक साथ कहने लगे

नेच्छाम्यलमनेनार्य मा भूदाज्ञाप्रतपिता ॥ ८१ ॥ युष्माभि सममेवाह प्रयास्यामि तपोवन । यौष्माकीया गति' सर्वै ममापीत्यभणीद्विर ॥ ८२॥ ततस्तान्निश्चय ज्ञात्वा राज्य तत्सूनवे ददौ । पुडरीकाय वालाय सतानस्थितिपालिने ॥ ८३ ॥ स यशोवरयोगींद्राशिष्य गुणधर श्रित: । सपुत्र-दारो राजर्षिरदीदिष्ट नृपै सम ॥ ८४ ॥ देव्य' षष्टिसहस्राणि तत्त्र्यशप्रमिता नृपा' । प्रभुं तमन्वदीक्षत सहस्र च सुतोत्तमा ॥८५॥ पडिता-पि तदात्मानुरूपां दीक्षा समाददे । तदेव ननु पाडित्य यत्ससारात्समुद्धरेत् ॥ ८६ ॥ ततश्चक्रधरापायाल्लक्ष्मीमतिरगाच्छुच । अनुधर्या सहो-

कि हे देव यदि आप ही इस राज्यको छोडते हैं तो यह हमें भी नहीं चाहिये अव हमें इससे कुछ प्रयो-जन नहीं है। हे पिता इसमें आपकी आज्ञा भंग करनेका दोष भी नहीं लग सकता है क्योंकि हम सब लोग आपके साथ साथ ही तपोवनको चलेंगे जो आपकी गति है वही हम लोगोंकी गति है॥ ८१-८२ ॥ इसप्रकार पुत्रोंके वचनोंसे उनके विरक्त परिणामोंका दृढ़ निश्चयकर बज्रदंतने अपने राज्यका भार अमिततेजके पुत्र अल्पवयस्क पुंडरीक बालकको समर्पण कर दिया॥ ८३ ॥ और आपने राजर्षि होकर भी श्रीयशोधर तीर्थंकरके शिष्य श्रीगुणधरमुनिके समीप पुत्र स्त्री और अनेक राजाओंके साथ दीक्षा धारण की ॥ ८४ ॥ महाराज वज्रदंतके साथ साथ बीस हजार राजाओंने और एक हजार पुत्रोंने दीक्षा धारण की थी तथा साठहजार रानियोंने अर्जिकाके व्रत धारण किये थे॥८५॥ श्रीमतीकी धाय पंडिताने भी अपने योग्य दीक्षा धारण की अर्थात् शूद्री होनेके कारण वह अर्जिका नहीं हो सकी थी इसलिये सातवीं प्रतिमा धारणकर ब्रह्मचारिणी श्राविका होगई थी। सो ठीक ही है पांडित्य वही है जो संसारसे पार करदे ॥ ८६ ॥

अथानंतर जैसे सूर्यके वियोगसे नलिनीको दुःख होता है उसीप्रकार वज्रदंत और अमिततेजके वियोगसे लक्ष्मीमति और अनुंधरीको भी बहुत ही शोक हुआ था ॥ ८७ ॥ अनंतर जिन्होंने दीक्षा नहीं ली थी वे सब प्रजाके लोग मंत्रियोंके साथ २ राजपुत्र पुंडरीक वालकको साथ लेकर नगरमें आये

ष्णांशुवियोगान्नलिनी यथा ॥ ८७ ॥ पुंडरीकमथादाय बालं मंत्रिपुरस्कृतं । ते प्रविष्टाः पुरीं शोकाद्विच्छायत्वमुपागतं ॥ ८८ ॥ ततोऽभून्महती चिंता लक्ष्मीमत्या महाभरे । राज्ये बालोऽयमव्यक्त. स्थापितो नप्तृभाडक ॥ ८९ ॥ कथ नु पालयाम्येनं विना पत्त्वलादहं । वज्रजंघस्य तन्मूल प्रहिणोम्यद्य धीमतः ॥ ९० ॥ तेनाधिष्ठितमस्येद राज्य निष्कटकं भवेत् ॥ अन्यथा गतमेवैतदाक्रांत वलिभिर्नृपैः ॥ ९१ ॥ निश्चित्येति समाहूय सुतौ मदरमालिनः । सुदर्याश्च खगाधीशौ गधर्वपुरपालिन ॥ ९२॥ चिंतामनोगती स्निग्धौ शुची दक्षौ महान्वयौ । अनुरक्तौ श्रुताशेषशास्त्रार्थौ कार्यकोविदौ ॥ ९३ ॥ करंडस्थिततत्कार्यपत्रौ सोपायनौ तदा प्राहिणोद्वज्रजघस्य पार्श्वे सदेशपूर्वकं ॥ ९४ ॥ चक्रवर्ती वन यातः

उस समय वे सब शोकसे उदास हो रहे थे ॥ ८८ ॥ उससमय अधिक चिंता लक्ष्मीमतीको हो रही थी वह सोच रही थी कि यह राज्य बहुत बड़ा है पुंडरीक निरा अबोध बालक है हमलोगोंकेलिये वही एक मात्र पौत्र सहायक है और उसे ही इतने बड़े राज्यपर स्थापन किया है ॥ ८९ ॥ इससमय मुझे अन्य कोई सहायक भी नहीं दिखाई पड़ता है । किसीकी सहायताके बिना मैं इसका पालन कैसे कर सकूंगी । इसलिये आजही अति बुद्धिमान् वज्रजंघके समीप इसके समाचार भेजने चाहिये ॥ ९० ॥ यदि वह हमारा जंवाई वज्रजंघ इस राज्यका प्रबंध कर देगा तो अवश्य ही यह हमारा राज्य निष्कंटक होजायगा अन्यथा बलवान राजा लोग अवश्य ही इसपर आक्रमण करेंगे और इसे नष्टभ्रष्ट करदेंगे ॥ ९१ ॥ इसप्रकार निश्चयकर लक्ष्मीमतीने दो विद्याधर बुलाये ये दोनों ही विद्याधर गंधर्वपुरनगरके राजा मंदरमाली और रानी सुंदरीके पुत्र थे ॥९२॥ चिंतागति और मनोगति इन दोनोंका नाम था, ये दोनो ही चक्रवर्तीके साथ अत्यंत प्रेम रखते थे, कार्य करनेमें निपुण थे, हृदयसे पवित्र थे, बड़े वंशमें उत्पन्न हुये थे, दोनों ही परस्पर प्रेम रखते थे, नीतिशास्त्र आदि अनेक शास्त्रोंके जानकार थे और बड़े ही चतुर थे ॥९३॥ इन दोनोंको एक पिटारेमें रखकर समाचार पत्र दिया तथा धन वस्त्र आदि दामादको देनेकेलिये भेट दी और सब संदेशा कहकर उन दोनोंको वज्रजंघके समीप भेज दिया ॥ ९४ ॥ जो

सपुत्रपरिवारकः । पुंडरीकस्तु राज्येऽस्मिन्पुंडरीकाननः स्थितः ॥ ९५ ॥ क्व चक्रवर्तिनो राज्यं क्वायं बालोऽतिदुर्बलः । तदयं पुंगवोद्धार्ये भारे दम्यो नियोजित ॥ ९६ ॥ बालोऽयमबले चावां राज्यं चेदमनायकं । विशीर्णप्रायमेतस्य पालनं त्वयि तिष्ठते ॥ ९७ ॥ अकालहरणं तस्मादागंतव्यं महाधिया । त्वया त्वत्सान्निधानेन भूयाद्राज्यमविप्लवं ॥ ९८ ॥ इति वाचिकमादाय तौ तदोत्पेततुर्नभ. । पयोवास्त्वरया दूरमाकर्षंतौ समीपगान् ॥ ९९ ॥ क्वचिज्जलधरांस्तुंगान्स्वमार्गपरिरोधिनः । विभिदतौ पयोर्विदून्क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥ १०० ॥ तौ पश्यतौ नदी-

---

संदेशा लक्ष्मीमतीने वज्रजंघके लिये भेजा था वह यह था कि तुम्हारे मामा वज्रदंत चक्रवर्ती अपने पुत्र और परिवारको साथ लेकर दीक्षित होगये हैं और उनके विस्तृत राज्यपर कमलके समान सुंदर मुखयुक्त यह पुंडरीक बालक ही बिठाया गया है ॥ ९५ ॥ परंतु कहां तो चक्रवर्तीका विशाल राज्य और कहां यह अति दुर्बल बालक । सचमुच ही एक बड़े बैलके द्वारा धारण करने योग्य भार एक छोटेसे बच्चेपर लाद दिया गया है ॥ ९६ ॥ यह पुंडरीक अभी बालक है हम दोनों ही सास पतोहू स्त्री हैं इसलिये विना स्वामीका यह राज्य प्रायः नष्ट हो रहा है अब इसकी रक्षा करना केवल आपके हाथमें है ॥ ९७ ॥ अतएव आपसे जितनी शीघ्रता हो सके उतना ही शीघ्र चले आइये आप अतिशय बुद्धिमान हैं आशा है कि आपके संबंधसे यह राज्य अवश्य ही निष्कंटक हो जायगा ॥९८॥ इसप्रकार समाचारपत्र लेकर वे दोनों ही विद्याधर आकाशमार्गसे चलने लगे । मार्गमें जो जो बादल समीप आते जाते थे उन्हें वे बहुत शीघ्र दूर करदेते थे अर्थात् मार्गमें वे बहुत शीघ्रगतिसे जा रहे थे ॥९९॥ कहींपर अपने मार्ग को रोकनेवाले बड़े ऊंचे बादलोंको भी भेदन करते हुये जाते थे उनके भेदन करनेसे आंसुओंके समान जो थोड़ीसी पानीकी बूंदे पड़ती थीं उन्हें भी देखते जाते थे । मार्गमें आनेवाली नदियोंकी शोभा भी देखते थे ऊपरसे वे नदियां अत्यंत कृश और बड़ी ही सफेद जान पड़ती थीं मानो मेघरूपी पतिके वियोगसे ही कृश और सफेद पड़गई हों ॥ १००-१०१ ॥ वे दोनों भाई पर्वतोंको

दूरात्तन्वीरत्यंतपाण्डुराः । घनागमस्य कांतस्य विरहेणेव कार्शिता ॥ १०१ ॥ मन्वानौ दूरभावेन पारिमांडल्यसगतान् । भूमाविव निमग्नांगान-र्ककर्तापभयाद्गिरीन् ॥ १०२ ॥ दीर्घिकाभो भुवो न्यस्तामिवैकमातिवर्तुल । तिलक दूरताहेतो प्रेक्षमाणावनुक्षण ॥ १०३ ॥ क्रमादवापतामेतौ पुर-मुत्पलखेटक । मद्रसगीतनिर्वोपचधिरीकृतदिङ्मुख ॥ १०४ ॥ द्वा.स्थै मणीयमानौ च प्रविश्य नृपमंदिर । महानृपसभासीन वज्रजंघमदर्शता ॥ १०५ ॥ कृतप्रणामौ तौ तस्य पुरो रत्नकरडक । निचिक्षिपतुरतस्थपत्रक सदुपायन ॥ १०६ ॥ तदुन्मुच्य तदतस्थ गृहीत्वा कार्यपत्रकं । निरूप्य विस्मितश्चक्रवर्त्तिप्राव्राज्यनिर्णयात् ॥१०७॥ अहो चक्रधर पुण्यभागी साम्राज्यवैभव । त्यक्त्वा दीक्षामुपायस्त विविक्तामिवधूमिव॥ १०८॥

भी देखते जाते थे ऊपरसे उन्हें वे पर्वत गोल और अत्यंत सूक्ष्म जान पड़ते थे तथा ऐसे मालूम पड़ते थे मानों सूर्यके संतापके भयसे उन्होंने अपना शरीर भूमिमें ही छिपालिया है ॥ १०२ ॥ पृथिवीमें जो चौकोर वावड़ी थीं वे उन्हें ऊपरसे गोल जान पड़ती थीं और वे दूरसे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों पृथिवीने एक गोल तिलक ही दिया हो । मार्गकी यह सव शोभा देखते हुये वे दोनों भाई अनुक्रमसे गीत वाद्य आदिके गंभीर शब्दोंसे अन्य दिशाओंको वधिर करनेवाले उत्पलखेटक नामके नगरमें जा पहुंचे ॥ १०३-१०४ ॥ क्रमसे वे दोनों भाई राजमंदिरके समीप पहुंचे द्वारपालोंने उन्हें राजमंदिरमें प्रवेश कराया । राजमंदिरमें जाकर वज्रजंघके दर्शन किये ॥ १०५ ॥ उसे प्रणाम किया और उसके सामने लाई हुई भेट अर्पण की तथा पत्र रक्खा हुआ वह रत्नयुक्त पिटारा भी सामने रखदिया ॥ १०६ महाराज वज्रजंघने वह पिटारा खोला और अपनेलिये जो आवश्यक पत्र आया था वह पढा उसमें महाराज वज्रदंत चक्रवर्तीके दीक्षा ग्रहण करनेके समाचार पढ कर उसे वड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ १०७ ॥ वह विचार करने लगा कि अहो चक्रवर्ती वड़ा ही पुण्यात्मा है जिसने इतने बड़े साम्राज्यकी विभूति छोड़कर पवित्र स्त्रीके समान दीक्षा स्वीकार की ॥ १०८ ॥ अहा चक्रवर्तीके पुत्र भी वड़े ही पुण्यवान् हैं बड़े ही साहसी हैं देखो इन्होंने इतने वड़े साम्राज्यका तिरस्कारकर अपने पिताके साथ

अहो पुण्यघनाः पुत्राश्चक्रिणोऽचिंत्यसाहसाः । अवमत्याधिराज्य ये समं पित्रा दिदिक्षिरे ॥ १०९ ॥ पुंडरीकस्तु सफुल्लपुंडरीकाननद्युतिः । राज्ये निवेशितो धुर्ये रूढभारे स्तनंधय ॥ ११० ॥ मामी च सान्निधानं मे प्रतिपालयति द्रुत । तद्राज्यप्रशमायेति दुर्बोध कार्यसंभवः ॥ १११ ॥ इति निश्चितलेखार्थं कृतधी कृत्यकोविदः । स्वय निर्णीतमर्थं त श्रीमतीमप्यबोधयत् ॥ ११२ ॥ वाचिकेन च सवाद लेखार्थस्य विभावयन् । प्रस्थाने पुडरीकिण्यामतिमाधात्स धीधनः ॥ ११३ ॥ श्रीमतीं च समाश्वास्य तद्वार्ताकर्णनाकुलां । तया सम समालोच्य प्रयाणं निश्चिचाय स ॥ ११४ ॥ विसृज्य च पुरो दूतमुख्यौ तौ कृतसत्क्रियौ । स्वय तदनुमार्गेण प्रयाणायोद्यतो नृप ॥ ११५ ॥ ततो मतिवरानदौ

दीक्षा धारण की है ॥ १०९ ॥ जिसके मुखकी कांति फूले हुये कमलके समान सुशोभित है ऐसा यह पुंडरीक बालक ही बड़े प्रभावशाली पुरुषोंके द्वारा नीति और विवेकसे चलाने योग्य राज्यसिंहासनपर नियुक्त किया है ॥ ११० ॥ तथा लक्ष्मीमति मामी राज्यका काम चलाना अत्यंत कठिन समझकर अपने राज्यमें शांति रखने और सब उपद्रव दूर करनेकेलिये शीघ्र ही मुझे बुला रही है ॥ १११ ॥ कार्य करनेमें अत्यंत चतुर और तत्पर उस वज्रजंघने उस पत्रका अर्थ स्वयं समझा और समझकर जो कुछ निर्णय किया था वह श्रीमतीको भी समझाया ॥ ११२ ॥ पत्र लानेवाले चिंतागति और मनोगतिसे भी लक्ष्मी-मतिका कहा हुआ सब संदेशा सुना । सब सुनकर तथा कुछ सोच विचारकर उस बुद्धिमानने पुंडरी-किणी जानेका ही अपना विचार निश्चय किया ॥ ११३ ॥ अपने पिताके दीक्षित हो जानेके समाचार सुनकर श्रीमतीको भी बहुत शोक हुआ था परंतु वज्रजंघने उसे समझाया और उसके साथ भी सबप्र-कारका विचारकर उसने वहां जानेका ही निश्चय किया ॥ ११४ ॥ तदनंतर आये हुये उन दोनों विद्या-धरोंका यथेष्ट आदरसत्कारकर उन्हें आगे भेजदिया और उनके पीछे ही अपने चलनेकी तैयारी की ॥११५॥ जैसे देव लोग प्रस्थान करते हुये इंद्रके समीप इकट्ठे हो जाते हैं उसीप्रकार मतिवर आनंद धनमित्र और अकंपन ये चारों महामंत्री पुरोहित राजश्रेष्ठी सेनापति तथा और भी चलनेको तैयार हुये अनेक

धनमित्रोऽप्यकंपनः । महामन्त्रिपुरोधोऽग्यश्रेष्ठिसेनाधिनायका' ॥ ११६ ॥ प्रधानपुरुषाश्चान्ये प्रयाणोद्यतबुद्धय' । परिवव्रुर्नरेंद्रं तं शतक्रतुमिवामरा ॥ ११७ ॥ तस्मिन्नेवाह्नि सोऽह्नाय प्रस्थानमकरोत्कृती । महान्प्रयाणसंक्षोभस्तदाभूत्तन्नियोगिनां ॥ ११८ ॥ यूयमाबद्धसौवर्णग्रैवेयादि-परिच्छदा' । करेणूर्मदवैमुख्यात्सती कुलवधूरिव ॥ ११९ ॥ राज्ञीनामधिरोहाय सज्जा प्रापयत द्रुतं । यूयमश्वतरीराशु पर्याणयत शीघ्रगाः ॥ १२०॥ नृपवल्लभिकाना च यूयमर्पयताश्विमाः । काचवाहजनान्यूयं गवेषयत दुर्दमान् ॥१२१॥ तुरगमकुलं चेदमापाय्योदकमाशुगं । वद्धपर्याणकं यूयं कुरुध्व सुवयोऽन्वित ॥ १२२ ॥ भुजिष्या सर्वकर्मीणा यूयमाह्वयत द्रुत । पाकधान्यपरिक्षोदशोधनादिनियोगिनी ॥१२३॥ यूयं सेनाग्रगा

प्रधान पुरुष राजा वज्रजंघके समीप आकर इकट्ठे हुये ॥ ११६-११७ ॥ उस पुण्यवानने बहुत शीघ्र उसी दिन प्रस्थान किया अर्थात् उसने न तो विचार करनेकेलिये ही एक दो दिनका समय दिया और न सामग्री इकट्ठी करनेकेलिये ही देर की उसके पुण्यके प्रभावसे उसीदिन चलनेकी सब सामग्री इकट्ठी होगई थी उसदिन कर्मचारी लोगोंमें महाराजके प्रस्थान करनेका बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥११८॥ अधिकारी लोग अपने २ सेवकोंसे कह रहे थे कि तुम लोग महाराणीके सवार होनेकेलिये शीघ्र ही ऐसी हथिनियां तैयार करो जिनपर सुवर्णमय झूल पड़ी हो गलेमें सुवर्णकी माला पड़ी हो और जो मदरहित कुलबधुओंके समान साध्वी हों । तुम लोग शीघ्र चलनेवाली खच्चरियोंको जीन कसकर तैयार करो । तुम स्त्रियोंके चढ़नेकेलिये पालकी लाओ और तुम पालकी लेजानेवाले मजबूत कहारोंको ढूंढ कर लाओ ॥ ११९-१२०-१२१॥ तुम अच्छे २ शीघ्रगामी जवान घोड़ोंको छांटकर पानी पिलाकर और जीन कसकर शीघ्र ही उन्हें तैयार करो ॥१२२॥ तुम ऐसी दासियोंको शीघ्र बुलाकर लाओ जो सब काम कर सकें तथा जो गेहूं चांवल आदि धान्यों को शोधना बीनना पीसना आदि कार्य कर सकें ॥ १२३ ॥ तुम सेनाके आगे २ जाओ और मार्गमें जहां २ ठहरनेका स्थान हो वहांपर डेरा तंबू आदि तैयार करो तथा घास भुस आदि के ढेर लगाकर भी तैयार करो ॥ १२४ ॥ तुम हमारे विश्वासपात्र हो तथा बहुतसी संपत्तिके अधिकारी

मूत्वा निवेश प्रति सूच्छ्रिता । अनुतिष्ठत सत्कायमानगर्भा महावृती ॥ १२४ ॥ यूयं महानसे राज्ञो नियुक्ताः सर्वसपदा । समग्रयत तद्योग्यां सामग्रीं निरवग्रहां: ॥ १२५ ॥ यूय गोमडलं चारु वात्सक बहुधेनुक । सोदकेषु प्रदेशेषु सच्छायेष्वभिरक्षत ॥ १२६ ॥ यूयमारक्षत स्त्रैणं राजकीय प्रयत्नतः । सपाठीना इवांभोधेस्तरगाभासुरासयः ॥ १२७ ॥ यूय कचुकिनो वृद्धा मध्येऽत पुरयोषितां । अगरक्षानियोग स्वमशून्यं कुरुताद्दताः ॥ १२८ ॥ यूयमत्रैव पाश्चात्यकर्मण्येवानुतिष्ठत । यूय समं समागत्य स्वान्नियोगान्प्रपश्यत ॥ १२९ ॥ देशाधिकारिणो गत्वा यूयं चोदयत द्रुत । प्रतिग्रहीतुं भूनाथ सामग्र्या स्वानुरूपया ॥ १३० ॥ यूय विभृत हस्त्यश्च यूय पालयतौष्ट्रकं। यूयं सवात्सक भूरिक्षीर रक्षत धैनुकं॥ १३१ ॥ यूय जैनेश्वरीमर्च्यां रत्नत्रयपुरस्सरा । यजेत शांतिक कर्म समाधाय महीक्षितः ॥ १३२ ॥ कृताभिषेचनाः सिद्धशेषा गंधाम्बुमिश्रितां ।

हो इसलिये तुम महाराजकी भोजनशालाके अधिकारी बनाये जाते हो तुम मार्गमें भोजनशालाकी सब सामग्री तैयार करना ॥ १२५ ॥ तुम बहुतसा दूध देनेवाली और बच्चोंसहित सुंदर २ गायें साथ साथ ले जाओ मार्गमें उन्हें किसी जलाशयके किनारे छायामें सुरक्षित रखना ॥ १२६ ॥ तुम लोग हाथमें ढाल तलवार लेकर मछलियोंसहित समुद्रकी लहरोंके समान सुशोभित होते हुये बड़े प्रयत्नके साथ महाराजके रणवासकी रक्षा करना ॥ १२७ ॥ तुम वृद्ध कंचुकी लोग अंतःपुरकी स्त्रियोंमें रहकर बड़े आदरके साथ निर्विघ्न उनके शरीरकी रक्षा करना ॥१२८॥ तुम लोग यहां ही रहना और महाराजके पीछे बड़ी सावधानीसे अपना काम करना । तुम महाराजके साथ जाओ और सावधानीसे अपना २ काम देखो ॥ १२९ ॥ तुम लोग अलग २ देशोंके अधिकारी हो इसलिये अपने २ अधिकृत देशोंमें जाकर वहांके लोगोंसे शीघ्र प्रेरणा करो जिससे कि वे लोग अपनी योग्यतानुसार सामग्री लेकर महाराज वज्रजंघको लेनेके लिये सामने आवें ॥ १३० ॥ मार्गमें तुम हाथी घोड़े और ऊंटों की रक्षा करना । तुम बहुत दूध देनेवाली बच्चोंसाहित गायोंकी रक्षा करना ॥१३१॥ तुम महाराजकेलिये शांतिकर्म करके रत्नत्रयकी पूजाके साथ २ श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाकी पूजन करो ॥१३२॥ तुम प्रथम ही श्रीजिनेंद्रदेवका

यूयं क्षिपेत पुण्याशी:शांतिघोषैः सम प्रभो. ॥ १३३ ॥ यूयं नैमित्तिका सम्यग्निरूपितशुभोदया । प्रस्थानसमयं ब्रूत राज्ञो यात्राप्रसिद्धये ॥ १३४ ॥ इति तंत्रनियुक्ताना तदा कोलाहलो महान् । उदतिष्ठत्प्रयाणाय सामाग्रीमनुतिष्ठतां ॥ १३५ ॥ तत. करींद्रैस्तुरगैः पत्तिभिश्चोद्यतायुधैः । नृपाजिरमभूद्रुद्धं स्यदनैश्च समततः ॥ १३६ ॥ सितातपत्रैर्मायूरपिच्छच्छत्रैश्च सूच्छ्रितै । निरुद्धमभवद्व्योम घनैरिव सितासितै. ॥ १३७ ॥ छत्राणा निकुरवेण रुद्ध तेजोऽपि भास्वतः । सद्वृत्तसन्निधौ नूनं नाभा तेजस्विनामपि ॥ १३८ ॥ रथाना वारणाना च केतवोऽन्योऽन्यमालि-

---

अभिषेक करो और फिर शांतिपाठ पढ़ते हुये तथा पुण्यरूप अनेक आशीर्वाद देते हुये गंधोदक मिले-हुये सिद्धोंके शेषाक्षतोंको महाराजके मस्तकपर क्षेपण करो॥ १३३ ॥ तुम ज्योतिषी लोग ग्रहोंका शुभोदय आदि वहुत अच्छा जानते हो इसलिये महाराजकी यात्रा करनेकेलिये प्रस्थानका समय वतलाओ ॥ १३४ ॥ इसप्रकार उसदिन वहां महाराज वज्रजंघकी यात्राकेलिये सामग्री इकट्ठी करनेवाले कर्मचारी लोगोंका वड़ा भारी कोलाहल हो रहा था ॥१३५॥ थोड़ी ही देर वाद महाराजके राजमहलके सामनेका चौक हाथी घोड़े रथ और शस्त्र धारण करनेवाले योद्धाओंसे चारोंओरसे खूव भरगया ॥ १३६ ॥ मणिमय सफेद छत्रोंसे तथा ऊंचे उठे हुये मयूर पिच्छिकाके छत्रोंसे आकाश व्याप्त होगया और वह ऐसा शोभायमान होने लगा मानों कुछ सफेद और कुछ काले वादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ १३७ ॥ उस-समय वहां इतने छत्र लगे हुये थे कि उनसे सूर्यका प्रकाश भी रुक गया था। सो ठीक ही है जो सद्वृत्त अर्थात् शांति क्षमा आदि सदाचार सहित होते हैं उनके समीप तेजस्वी पुरुषोंका भी तेज ठहर नहीं सकता। छत्र भी सद्वृत अर्थात् गोल थे इसलिये उनसे भी सूर्यका प्रकाश रुक गया था ॥ १३८ ॥ उस चौकमें जो रथ और हाथी इकट्ठे हुये थे उनपर लगी हुई ध्वजायें वायुसे हिलती हुई परस्पर मिलरही थीं और इसलिये ही वे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों वहुत दिनोंके वाद एक दूसरेको देखकर तथा संतुष्ट होकर परस्पर मिल रही हों ॥ १३९ ॥ घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूल आगे २ उड रही थी मानों

षन् । पवनांदोलिता दीर्घकालाद्दृष्टवेव तोषिर्णः ॥ १३९ ॥ तुरंगमखुरोद्धूताः प्रासर्पद्रेणवः पुरः । मार्गमस्येव निर्देष्टु नमोमार्गविलंघिनः ॥ १४० ॥ करिणां मदधाराभि शीकरैश्च करोज्झितैः । हयलालाजलैश्चापि प्रणनाश महीरजः ॥ १४१॥ ततः पुराद्विनिर्याती सा चमूर्व्यरुचद्भृश । महानदीव सच्छत्रफेना वाजितरंगिका ॥ १४२ ॥ करींद्रपृथुयादोभिस्तुरगमतरगकैः । विलोलासिलतामत्स्यै. शुशुभे सा चमूधुनी ॥ १४३ ॥ तत· समीकृताशेषस्थलनिम्नमहीतला:। अपर्याप्तमहामार्गा यथास्व प्रसृता चमूः ॥ १४४ ॥ वनेभकटमुज्झित्वा दानशक्ता मदालिन. । न्यलीयत नृपेभेंद्रकरटे प्रक्षरन्मदे ॥ १४५ ॥ रम्यान्वनतरून्हित्वा राजस्तवेरमानमून् । आश्रयन्मधुपाः प्राय. प्रत्यग्र लोकरजन ॥१४६॥ नृप वनानि

महाराज वज्रजंघको मार्ग दिखलानेकेलिये ही आकाशका उल्लंघन कर रही हो ॥ १४० ॥ उस सेनाके हाथियोंसे मदकी धारा वह रही थी। उनकी सूंडसे पानीके छींटे उड रहे थे और घोड़ोंके मुंहसे फेन गिर रहा था जिससे वह पृथिवीकी सब धूल शांत होगई थी ॥ १४१ ॥ तदनंतर वह सेना शहरसे वाहर निकली उससमय वह छत्ररूपी फेनसे और घोडेरूपी तरंगोंसे सुशोभित होती हुई एक महानदीके समान शोभायमान हो रही थी ॥ १४२॥ अथवा बड़े २ हाथी ही जिसमें बड़े २ मत्स्य थे, चंचल घोड़े ही तरंगे थीं और चमकती हुई चंचल तलवारें ही जिसमें मछलियां थीं ऐसी वह सेनारूपी नदी वड़ी शोभायमान हो रही थी ॥१४३॥ वह सेना ऊंची नीची सब जमीनको समान करती जाती थी। चलतेसमय वह विशाल मार्गमें भी नहीं समाती थी इसलिये वह इच्छानुसार चली जा रही थी ॥ १४४॥ चलते २ जब वह सेना किसी बनमें जा रही थी उससमय जंगली हाथियोंके मदमें आसक्त हुये मदोन्मत्त भ्रमर उन जंगली हाथियोंका गंडस्थल छोड़कर महाराज वज्रजंघके हाथीके गंडस्थलसे झरते हुये मदमें निमग्न होगये थे ॥ १४५ ॥ अनेक भ्रमर बनके मनोहर वृक्षोंको छोड़कर महाराजके हाथियोंपर आ लगे थे। सो ठीक ही है प्रायः नई वस्तुसे लोगोंका मन प्रसन्न होता ही है ॥ १४६ ॥ मार्गमें अनेक मनोहर बन फल और पुष्पोंके भारसे नम्रीभूत हुये तथा घनीभूत छायासे शोभायमान ऐसे अनेक बड़े २ वृक्षोंके

रम्याणि प्रत्यगृण्हन्निवाध्वानि । फलपुष्पभरानम्रैः सांद्रच्छायैर्महाद्रुमैः ॥ १४७ ॥ तदा वनलतापुष्पपल्लवान्करपल्लवैः । आजहारावतंसादिविन्यासाय वधूजनः ॥ १४८ ॥ ध्रुवमक्षीणपुष्पर्द्धिप्राप्तास्ते वनशाखिनः । यत्सैनिकोपभोगेऽपि न जहुः पुष्पसंपद ॥१४९॥ हयहेषितमातंगबृहद्बृंहितनिस्वनैः । मुखर तद्बलं शष्पसरोवरमथासदत् ॥ १५० ॥ यदबुजरज पुंजपिंजरीकृतवीचिक । कनकद्रवसच्छाय बिभर्ति स्माबुशीतलं ॥१५१॥ वनखडवृतप्रांत यदर्कस्यांशवो भृश । न तेपुः सवृत को वा तपेदार्द्रीतरात्मक ॥ १५२ ॥ विहगमरुतैर्नून तत्सरो नृपसाधन । आजुहाव निवेष्टव्यामिहेत्युद्वीचिबाहुक ॥ १५३ ॥ ततस्तास्मिन्सरस्यस्य न्यविक्षत बल प्रभोः । तरुगुल्मलताच्छन्नपर्यंतमृदुमारुते ॥ १५४ ॥ दुर्बलाः स्व जहुः

द्वारा मानों महाराज वज्रजंघका सत्कार ही करते थे ॥ १४७ ॥ उससमय अंतःपुरकी स्त्रियोंने भी अपने कर्णफूल आदि अनेक आभरण बनानेकेलिये अपने करपल्लवोंसे उन वनोंकी लताओंमेंसे वहुतसे फूल पत्ते तोडलिये थे ॥ १४८ ॥ कहना चाहिये कि उन वनोंके वृक्षोंको अवश्य ही अक्षीणपुष्पऋद्धि प्राप्त होगई थी । क्योंकि महाराज वज्रजंघकी सेनाने वहुतसे फूल तोड़लिये थे तथापि उनके फूलोंकी शोभा कम नहीं हुई थी ॥ १४९ ॥ घोड़ोंके हींसने और हाथियोंके महा चिंघाडके शब्दोंसे वह सेना शब्दायमान हो रही थी और इसप्रकार चलते २ वह शष्प नामके सरोवरपर जा पहुंची थी ॥ १५० ॥ उस तालावकी लहरें कमलोंकी परागसमूहसे पीली पड़ रही थीं और इसालिये ही उस तलावका शीतल जल सुवर्णजलके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १५१ ॥ उस तालावके किनारे चारोंओर बन था इसलिये सूर्यकी किरणें उस तालावके जलको संतप्त नहीं कर सकती थीं । सो ठीक ही है जिसका अंतःकरण शीतल है आर आचरण उत्तम हैं उसे कोई संतप्त नहीं कर सकता ॥ १५२ ॥ उस तालावमें लहरें उठ रही थीं और किनारेपर अनेक पक्षी मधुर भाषण कर रहे थे । इसालिये वह तालाव ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों अपनी लहरेंरूपी हाथोंको उठाता हुआ और पक्षियोंके द्वारा मधुर शब्द करता हुआ महाराज वज्रजंघकी सेनाको ठहरनेकेलिये बुला रहा हो ॥ १५३ ॥ तदनंतर छोटे वड़े वृक्ष और लताओंसे

स्थान बलवद्भिरभिद्रुताः । आदेशैरिव संप्राप्तैः स्थानिनो हनिपूर्वकाः ॥ १५५ ॥ विजहुर्निजनीडानि विहगास्तत्रसुर्मृगाः । मृगेंद्रा बलसंक्षोभाच्छनैः समुदमीलयन् ॥ १५६ ॥ शाखाविषक्तभूषादिरुचिरा वनपादपाः । कल्पद्रुमश्रियं भेजुराश्रितैर्मिथुनैर्मिथः ॥ १५७ ॥ कुसुमापचये तेषां पादपा विटपैर्नताः । आनुकूल्यमिवातेनुः समतातिथ्यसत्क्रियाः ॥ १५८ ॥ कृतावगाहनाः स्नातुं स्तनदघ्ने सरोजले । रूपसौंदर्यलाभेन तदगारी दिवागनाः ॥ १५९ ॥ किणीभूतदृढस्कंधान्विशतः काचवाहकान् । स्वाभोऽतिव्ययभीत्येव चकंपे वीक्ष्य तत्सरः ॥ १६० ॥ विष्वग्दद्दशिरे दूष्य-

घिरे हुये और मंद वायुके वहनेसे सुशोभित उस तालावके किनारे महाराज वज्रजंघकी सेना विश्राम करनेकेलिये ठहर गई ॥ १५४ ॥ जैसे आदेश होनेपर हन् अद् आदि धातुओंका स्थान वदल जाता है अर्थात् उनके स्थानमें वध घस्लृ आदि आदेश हो जाते हैं उसीप्रकार उस तालावके किनारे सेनाके बलवान योद्धाओंसे ताडित हुये हरिण आदि दुर्वल जीवोंने अपना स्थान छोड़ दिया था और उनके स्थानपर सेनाके लोग निवास करने लगे थे ॥१५५॥ उस सेनाके क्षोभसे पक्षियोंने अपने घोंसले छोड़दिये थे, हरिण बड़े ही भयभीत हुये थे ओर सिंहोंने धीरे २ अपनी आंखे खोली थीं ॥१५६॥ सेनाके स्त्रीपुरुषोंने उस बनमें वृक्षोंके नीचे विश्राम किया था उन्होंने अपने आभूषण उन वृक्षोंपर टांग दिये थे इसलिये वे वृक्ष ऐसे शोभायमान होते थे मानों साक्षात् कल्पवृक्ष ही हों ॥१५७॥ जिससमय स्त्रीपुरुष उन वृक्षोंसे पुष्प तोड़ते थे उससमय वे वृक्ष अपनी शाखाओंसे झुक जाते थे। मानों उनका आदर सत्कार करनेकेलिये अपनी अनुकूलता ही दिखलाते थे ॥ १५८ ॥ सेनाकी अनेक स्त्रियां उस तालावके पानीमें वक्षस्थलतक प्रवेशकर स्नान कर रहीं थीं उससमय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानों उस तालावका जल अपूर्व रूपसौंदर्यका लाभ समझकर उन्हें निगल रहा ही हो ॥ १५९ ॥ भार ढोनेसे जिनके कंधे घिसगये हैं ऐसे कहार लोग जिससमय उस तालावमें घुसते थे उससमय व्यर्थ ही अपना जल खर्च होनेके डरसे उन्हें देखकर ही मानों वह तालाव थर थर कांपने लगता था ॥ १६० ॥ उस तालावके चारों-

कुटीभेदा निवेशिताः । क्लसा वत्स्यज्जिनस्यास्य वनश्रीभिरिवालयाः ॥ १६१ ॥ निपत्य भुवि भूयोऽपि प्रोत्थाय कृतवल्गनाः । रेजिरे वाजिनः स्नेहैः पुष्टा मल्ला इवोद्धता ॥ १६२ ॥ मधुपानादिव क्रुद्धा वद्धा शाखिषु दंतिन । सुवंशा जगता पूज्या वलादाधोरणैस्तदा ॥ १६३ ॥ यथास्व सन्निविष्टेषु सैन्येषु स ततो नृप । शिविर प्रापदध्वन्यैर्हयैरविदितातर ॥१६४॥ तुरगमखुरोद्धूतरेणुरूपितमूर्त्तयः । स्विद्यत सादिन प्राप्तास्ते ललाटंतपे रवौ ॥ १६५ ॥ कायमाने महामाने राजा तत्रावसत्सुख । सरोजलतरगोत्थमृदुमारुतशीतले ॥१६६ ॥ ततो दमधराभिख्यः श्रीमानवरचारण । सम सागरसेनेन तन्निवेशमुपाययौ ॥ १६७ ॥ कातारचर्यां सगीर्य पर्यटतो यदृच्छया । वज्रजघमहीभर्तुरावास तावुपेयतु ॥१६८॥

ओर कपड़ोंके बने हुये तंबू ऐसे शोभायमान होते थे मानों वनलक्ष्मीने आगामीकालमें तीर्थंकर होनेवाले महाराज वज्रजंघकेलिये मंदिर ही तैयार किये हों ॥ १६१ ॥ सेनाके घोड़े जमीनमें लोटते थे और फिर खड़े होकर हींसते थे उससमय वे ऐसे शोभायमान होते थे मानों तेल लगाकर पुष्ट हुये मदोन्मत्त मल्ल ही हों ॥ १६२ ॥ जो हाथी जगतपूज्य अर्थात् वहुत वड़े थे तथा जो सुवंश अर्थात् ऊंची पीठवाले थे वे भी भ्रमरोंके गुंजार शब्दोंसे क्रोधित होगये थे इसलिये महावतोंने वलात्कार उन्हें वृक्षोंसे बांध दिया था जैसे उत्तम वंशमें उत्पन्न हुये जगतपूज्य पुरुष भी मद्यपान करनेसे क्रोधित होते हैं और वांधे जाते हैं ॥ १६३ ॥ इसप्रकार जव सव सेना अपने २ स्थानपर ठहरगई तब महाराज वज्रजंघ तेज घोड़ेपर सवार होकर बहुत शीघ्र अपने तंवूमें जा पहुंचे थे ॥ १६४ ॥ घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे घुडसवार लोग पसीनासे तरवतर हुये ठीक दोपहरके समय वहां पहुंचे थे ॥ १६५ ॥ जहां तालावके जलकी तरंगोंसे उठी हुई शीतल और मंद पवन चल रही है ऐसे उस तालावके किनारेपर वड़े ऊंचे तंवूमें महाराज वज्रजंघने सुखपूर्वक निवास किया था ॥१६६॥ तदनंतर आकाशमें गमन करनेवाले श्रीमान् दमधर चारणमुनिने सागरसेन मुनिराजके साथ २ महाराज वज्रजंघके पडावमें शुभागमन किया ॥ १६७ ॥ उन दोनों मुनियोंने वनचर्या (वनमेंही विधिपूर्वक आहार लेनेकी) करनेकी

दूरादेव मुनींद्रौ तौ राजापश्यन्महाद्युती । स्वर्गापवर्गयोर्मार्गाविव प्रक्षीणकल्मषौ ॥ १६९ ॥ स्वांगदीप्तिविनिर्धूततमसौ तौ ततो मुनी । ससंभ्रमं समुत्थाय प्रतिजग्राह भूमिप ॥१७०॥ कृताजलिपुटो भक्त्या दत्तार्घ्यं प्रणिपत्य तौ । गृहं प्रवेशयामास श्रीमत्या सह पुण्यभाक् ॥१७१॥ प्रक्षा-लिताध्री सपूज्य मान्ये स्थाने निवेश्य तौ । प्रणिपत्य मन कायवचोभिः शुद्धिमुद्वहन् ॥१७२॥ श्रद्धादिगुणसंपत्या गुणवद्भ्यां विशुद्धिभाक् । दत्वा

प्रतिज्ञा की थी। इसलिये वे दोनों इच्छानुसार विहार करते हुये महाराज वज्रजंघके तंबुओंके सामने आ निकले ॥ १६८ ॥ वे दोनोंही मुनिराज बड़े दैदीप्यमान, पपकर्मोंसेरहित तथा स्वर्गमोक्षके साक्षात् मार्गके समान सुशोभित थे। महाराज वज्रजंघने दूरसे ही उन्हें देखा ॥ १६९ ॥ उनके शरीरकी कांतिसे बनका अंधकार नष्ट हो गया था ऐसे उन दोनों मुनियोंको महाराज वज्रजंघने बड़े संभ्रमके साथ उठकर पड़गाहन किया ॥ १७० ॥ पुण्यशाली महाराज वज्रजंघने रानी श्रीमतीके साथ २ बडी भक्तिसे उन दोनों मुनियोंको हाथ जोड़े अर्घ दिया नमस्कार किया और उन्हें अपनी भोजनशालोमें लेगया ॥१७१॥ वहां ले जाकर उन्हें ऊंचे आसनपर विराजमान किया उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की नमस्कार किया और मन बचनकायकी शुद्धिपूर्वक तथा श्रद्धा भक्ति आदि [1]गुणोंसे विभूषित होकर और उन दोनों गुणवान् मुनियोंके संयोगसे अत्यंत विशुद्ध होकर महाराज वज्रजंघने उन दोनों मुनियोंको विधिपूर्वक आहार दिया। जिससे वज्रजंघके घर पंचाश्चर्यकी वृष्टि हुई। पंचाश्चर्योंके नाम इसप्रकार हैं देवलोग आकाशसे रत्नोंकी वर्षा करते थे पुष्पोंकी वर्षा करते थे आकाशगंगाके जलसे सींचा हुआ शीतल मंद वायु वहता था दुंदुभियोंके गंभीर शब्द हो रहे थे और देव लोग अहोदान अहोदान इसप्रकार ऊंचे शब्दोंसे दानकी प्रशंसा कर रहे थे। उससमय इन सब शब्दोंसे आकाश व्याप्त

१-प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और भोजनशुद्धि यह नवधा भक्ति कहलाती है। श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, अलोभ क्षमा ज्ञान और शक्ति ये सात दाताके उत्तम गुण कहलाते हैं ॥

विधिवदाहारं पचाश्चर्याण्यवाप सः ॥१७३॥ वसुधारा दिवो देवा पुष्पवृष्ट्या सहाकिरन्। मंद व्योमापगावारिकणकीर्मरुदाववौ ॥१७४॥ मन्द्रदुन्दुभिनिर्घोषैर्घोषणा च प्रचक्रिरे। अहो दानमहो दानमित्युच्चैरुद्धदिग्मुखं ॥१७५॥ ततोऽभिवंद्य संपूज्य विसर्ज्य मुनिपुंगवौ। कांचुकीयादबुद्धैनौ चरमावात्मन. सुतौ ॥१७६॥ श्रीमत्या सह संश्रित्य सप्रीत्या निकट तयो।स धर्ममश्रृणोत्पुण्यकाम सद्गृहमेधिना ॥१७७॥ दानं पूजां च शील च प्रोषधं च प्रपचत.। श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छत्सकातः स्वां भवावलीं ॥१७८॥ मुनिर्दमवरः प्राख्यत्तस्य जन्मावलीमिति। दशनांशुभिरुद्योतमातन्वन्दिङ्मुखेषु स ॥ १७९ ॥ चतुर्थे जन्मनीतस्त्व जंबूद्वीपविदेहगे। गंधिले विषये सिंहपुरे श्रीषेणपार्थिवात् ॥ १८० ॥ सुदर्यामतिसुदर्यां

हो रहा था ॥ १७२-१७३-१७४-१७५ ॥ आहार ग्रहण करलेनेके अनंतर वज्रजंघने उन्हें नमस्कार किया पुष्पादिकसे उनकी पूजा की और इसप्रकार भोजनकार्यसे उन्हें निवृत्त किया। कंचुकीके कहनेसे वज्रजंघको यह भी मालूम होगया कि ये दोनों ही उसके अंतिम पुत्र हैं ॥ १७६ ॥ राजा वज्रजंघ श्रीमतीके साथ २ बड़े प्रेमसे उन दोनों मुनियोंके समीप बैठा और अपना पुण्य बढ़ानेकी इच्छा कर सद्गृहस्थोंका धर्म श्रवण करने लगा ॥ १७७ ॥ उसने विस्तारपूर्वक दान पूजा शील और प्रोषध आदि धर्मोंका स्वरूप सुना और तदनंतर अपने तथा श्रीमतीके पूर्व भव पूंछे ॥ १७८ ॥ उन दोनों मुनियोंमेंसे दमवर नामके मुनि अपने दांतोंकी किरणोंसे संपूर्ण दिशाओंको प्रकाशमान करते हुये नीचे लिखे अनुसार उन दोनोंके पूर्व भव कहने लगे ॥ १७९ ॥

हे राजन् तू इस जन्मसे चौथे जन्ममें जंबूद्वीपके पश्चिमविदेहक्षेत्र गंधिला देशके सिंहपुर नगरमें राजा श्रीषेण और अत्यंत रूपवती सुंदरी रानीके जयवर्मा नामका ज्येष्ठ पुत्र हुआ था। कारणवश भोगोंसे विरक्त होकर तूने श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी और द्रव्यलिंगी मुनि होकर तथा विद्याधरोंके भोग प्राप्त होनेका निदान कर शरीर छोड़ा था। उस निदानके निमित्तसे तू उसी गंधिलादेशके विजयार्द्धपर्वतकी उत्तरश्रेणीमें अलका नगरीमें विद्याधरोंका स्वामी महाबल नामका राजा हुआ था।

विद्याधरेंद्रभोगेषु न्यस्तधीर्मृतिमापिवान् । प्रागुक्ते गंधिले रूप्यगिरेरु- ज्यायान्सूनुरजायथाः । निर्वेदादार्हतीं दीक्षामादायाव्यक्तसयतः ॥ १८१ ॥ चरसत्तटे ॥ १८२ ॥ नगर्यामलकाख्यायां व्योमगानामधीशिता । महाबलोऽभूर्भोगांश्च यथाकामं त्वमन्वभू. ॥ १८३ ॥ स्वयंबुद्धात्प्रबुद्धात्मा जिनपूजापुरःसर । त्यक्त्वा सन्यासतो देह ललिताग' सुरोऽभव' ॥१८४ ॥ ततश्च्युत्वाधुनाभूस्त्व वज्रजघमहीपतिः । श्रीमती च पुरैकस्मिन्भवे द्वीपे द्वितीयके ॥ १८५ ॥ प्राग्मेरोर्गंधिले देशे प्रत्यक्पुत्री कुटुविन. । पलालपर्वतग्रामे जाताल्पसुकृतोदयात् ॥ १८६ ॥ तत्रैव विषये भूयः पाटलीग्रामकेऽभवत् । निर्नामिका वणिक्पुत्री संश्रित्य पिहितास्रव ॥ १८७ ॥ विधिनोपोष्य तत्रासीत्तव देवी स्वयप्रभा । श्रीप्रभेऽभूदिदानीं च श्रीमती वज्रदततः ॥ १८८ ॥ श्रुत्वेति स्वान्भवान्भूयो भूनाथः प्रियया सम । पृष्टवानिष्टवर्गस्य भवानतिकुतूहलात् ॥ १८९ ॥ स्ववधुनिर्विशेषा

वहां तूने अपनी इच्छानुसार अनेक भागोपभोगोंका अनुभव किया था ॥ १८०-१८१-१८२-१८३ तथा वहां स्वयंबुद्ध मंत्रीके उपदेशसे तुझे आत्मकल्याणका वोध हुआ था और अंतमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा-कर समाधिमरण धारणकर शरीर छोड़ा था जिससे दूसरे स्वर्गमें ललितांग देव हुआ था ॥ १८४ ॥ और वहांसे चयकर अब तू वज्रजंघ राजा हुआ है। यह श्रीमती भी पहले भवमें धातकी द्वीपमें पूर्व-मंदराचलपर्वतके पश्चिमविदेहक्षेत्रमें गंधिलादेशके पलालपर्वत नामके ग्राममें देविल नामके गृहस्थीके धनश्री नामकी पुत्री हुई थी ॥ १८५-१८६ ॥ वहां उसने मुनिका अपमानकर भारी पाप किया था परंतु तुरंत ही उन्हीं मुनिके उपदेशसे पश्चात्तापकर अपनी निंदा की थी इसलिये उस थोड़ेसे पुण्यकर्मके उदयसे अपनी आयु समाप्तकर उसीदेशके पाटली ग्राममें निर्नामिका नामकी वणिक्पुत्री हुई थी वहां उसने श्रीपिहितास्रव मुनिके समीप विधिपूर्वक जिनेंद्रगुणसंपत्ति और श्रुतज्ञान इन दोनों व्रतोंके उपवास किये थे। उस पुण्यके प्रभावसे वह दूसरे स्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें स्वयंप्रभा देवी हुई थी और वहांसे चयकर राजा वज्रदंतके यह श्रीमती पुत्री हुई है ॥ १८७-१८८ ॥ इसप्रकार राजा वज्रजंघने अपने तथा श्रीमतीके पूर्व भव सुने और फिर एक कौतूहलमात्रसे अपने इष्ट संवंधियोंके पूर्व भव पूछने लगा ॥ १८९ ॥ वह

मे स्निग्धा मतिवरादयः । तत्प्रसीद भवानेषां ब्रूहींत्याख्यच्च तान्मुनिः ॥ १९० ॥ अयं मतिवरोऽत्रैव जंबूद्वीपे पुरोगते । विदेहे वत्सकावत्यां विषये त्रिदिवोपमे ॥ १९१ ॥ तत्र पुर्यां प्रभाकर्यामतिगृध्रो नृपोऽभवत् । विषयेषु विषक्तात्मा बह्वारंभपरिग्रहैः ॥ १९२ ॥ बध्वायुर्नरक यात श्वभ्रे पंकप्रभाह्वये । दशाब्ध्युपमित काल नारकीं वेदनामगात् ॥ १९३ ॥ ततो निर्गत्य पूर्वोक्तनगरस्य समीपगे । व्याघ्रोऽभूत्प्राक्तनात्मीयधननिक्षेपपर्वते ॥ १९४ ॥ अथान्यदा पुराधीशस्तत्रागत्य समावसत् । निवर्त्य स्वानुजन्मान व्युत्थित विजिगीषया ॥ १९५ ॥ सानुजन्मानमत्रस्थ नृपमाख्यत्पुरोहितः । अत्रैव ते महाल्लाभो भविता मुनिदानतः ॥ १९६ ॥ स मुनि कथमेवात्र लभ्यश्चेच्छृणु पार्थिव । वक्ष्ये तदागमोपायं

कहने लगा कि हे स्वामिन् मतिवर मंत्री, आनंद पुरोहित, धनमित्र श्रेष्ठी और अकंपन सेनापति ये चारों ही मुझे भाईके समान प्रिय हैं इसलिये आप प्रसन्न होकर इनके भी पूर्व भव कहिये इसप्रकार वज्रजंघके निवेदन करनेपर मुनिराज कहने लगे कि ॥ १९० ॥ यह मतिवर मंत्री पूर्व भवमें इसी जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें स्वर्गके समान अति सुंदर वत्सकावती देशकी प्रभाकरी नगरीमें अतिगृध्र नामका राजा था। वह विषयोंमें वहुत ही आसक्त था वहुत आरंभ और बहुत परिग्रहके द्वारा उसने नरक आयुका बंध किया था और मरकर चौथे नरकमें नारकी उत्पन्न हुआ था। वहां उसने दश सागरतक नारकियोंके दुःख भोगे थे ॥ १९१-१९२-१९३ ॥ वहांसे निकलकर उसी प्रभाकरी नगरीके समीप एक पर्वतपर कि जहां उसने पूर्वभवमें अपना बहुतसा धन गाढ रक्खा था व्याघ्र उत्पन्न हुआ ॥ १९४ ॥ उससमय प्रभाकरी नगरीमें राजा प्रीतिवर्द्धन राज्य करता था उसका छोटा भाई उससे प्रतिकूल होगया था उसे जीतनेकेलिये वह निकला था सो उसे जीतकर लौटकर एकदिन वहां भी विश्राम किया था। किसी समयपर वहां ये दोनों ही भाई बैठे थे कि इतनेमें ही पुरोहितने आकर राजासे निवेदन किया कि महाराज यहांपर आज आपको मुनिदानके निमित्तसे बड़ा भारी लाभ होनेवाला है ॥ १९५-१९६ ॥ परंतु हे राजन् ! वे मुनिराज यहां किसप्रकार पधारेंगे इसका उपाय मैं निमित्तज्ञानसे जानकर आपसे निवेदन करता हूं

दिव्यज्ञानावलोकित ॥ १९७ ॥ महानद्य नरेंद्रस्य प्रमदस्तेन नागरा । सर्वे यूय स्वगेहेषु बध्वा केतून्सतोरणान् ॥ १९८ ॥ गृहागणानि रथ्याश्च कुरुताशु प्रसूनकै । सोपहाराणि नीरध्रमिति दद्म प्रघोषणा ॥१९९॥ ततो मुनिरसौ त्यक्त्वा पुरमत्रागमिष्यति । विचिंत्याप्रासुकत्वेन विहारायोग्यमात्मन ॥ २०० ॥ पुरोधोवचनात्तुष्टो नृपोऽसौ प्रीतिवर्धन । तत्तथैवाकरोत्प्रीतो मुनिरप्यागमत्तदा ॥ २०१ ॥ पिहितास्रवनामासौ मासक्षपणसयुत । प्रविष्टो नृपते सद्म चरश्चर्यामनुक्रमात् ॥ २०२ ॥ ततो नृपतिना तस्मै दत्त दान यथाविधि। पातिता च दिवो देवैर्वसुधारा कृतारव ॥ २०३ ॥ ततस्तदवलोक्यासौ शार्दूलो जातिमस्मरत् । उपशातश्च निर्मूर्च्छः शरीराहारमत्यजत् ॥ २०४ ॥ शिलातले निविष्टं च

आप सुनिये ॥१९७॥ हम लोग नगरमें यह घोषणा करदें कि आज महाराजके हर्षका दिन है इसलिये नगरके सब लोग अपने २ घरमें तोरण ध्वजा पताका आदि लटकाओ तथा अपने घरके आंगनमें गलियोंमें सड़कोंमें सबजगह जल सींचकर इसप्रकार फूल विछादो कि जिसमें वीचमें कहीं जगह खाली न रहे ऐसा करनेसे जो मुनि चर्या करनेकेलिये शहरमें जाने वाले होंगे वे सबजगह अप्रासुक जगह देखकर वहां नहीं जा सकेंगे और फिर वे लौटकर अवश्य ही यहां आवेंगे ॥ १९८-१९९-२०० ॥ पुरोहितके बचन सुनकर राजा प्रीतिवर्द्धनको भी संतोष हुआ और उसने प्रसन्न होकर वैसा ही किया। तथा वैसा करनेसे मुनिराज भी लौटकर वहां आये ॥ २०१ ॥ श्रीपिहितास्रव मुनि एक महीनेका उपवासकर चर्या करनेकेलिये निकले थे सो क्रमसे चर्या करते हुये महाराज प्रीतिवर्द्धनके घर आये ॥ २०२ ॥ राजाने भी उनका पडगाहन किया और विधिपूर्वक उन्हें आहार दिया। जिससे देवोंने प्रसन्न होकर पंचाश्चर्यकी वृष्टि की ॥ २०३ ॥ मतिवरके जीव सिंहने भी वह पंचाश्चर्यकी वृष्टि और मुनिराजकी पूजा देखी। उसे देखकर उसे जातिस्मरण (पूर्वभवका स्मरण) हो आया, तत्काल ही वह क्रोधादिक छोड़कर शांत होगया, उसका मोहनीयकर्म अतिशय मंद पड़ गया और शरीर तथा आहारसे भी उसने अपना ममत्व छोड़ दिया अर्थात् आहारादिकका भी उसने त्याग कर दिया ॥२०४॥ वह सिंह जन्मपर्यंत आहारका

संन्यस्तनिखिलोपधिं । दिव्यज्ञानमयेनाद्दणा सहसाबुद्ध तं मुनिः ॥ २०५ ॥ ततो नृपमुवाचेत्थमस्मिन्नद्रावुपासकः । संन्यासं कुरुते कोऽपि स त्वया परिचर्यता ॥ २०६ ॥ स चक्रवर्तितामेत्य चरमाग. पुरा पुरेः । सूनुर्भूत्वा पर धाम व्रजत्यत्र न संशय ॥ २०७ ॥ इति तद्वचनाज्जातविस्मयो मुनिना समं । गत्वा नृपस्तमद्राक्षीच्छार्दूल कृतसाहस ॥ २०८ ॥ ततस्तस्य सपर्यायां साचिव्यमकरोन्नृपः । मुनिश्चास्मै ददौ कर्णजाप स्वर्गी भवत्यसौ ॥ २०९ ॥ व्याघ्रोऽष्टादशभिर्भक्तमहोभिरुपसहरन् । दिवाकरप्रभो नाम्ना देवोऽभूत्तद्विमानके ॥ २१० ॥ तदाश्चर्यं महद्दृष्ट्वा नृपस्यास्य चमूपति. । मत्री पुरोहितश्च द्रागुपशांतिं परा गताः ॥ २११ ॥ नृपदानानुमोदेन कुरुष्वार्यास्ततोभवन् । कालांते ते ततो गत्वा

त्यागकर सन्यास धारणकर एक शिलापर बैठगया । मुनिराज श्रीपिहतास्रवने भी अपने अवधिज्ञानरूपी नेत्रसे अकस्मात् उस सिंहका सब हाल जानलिया ॥ २०५ ॥ मुनिराजने राजा प्रीतिवर्द्धनसे कहा कि हे राजन् ! इस पर्वतपर कोई जीव श्रावकके व्रत ग्रहणकर सन्यास धारण कर रहा है इसलिये तू जाकर उसकी सेवा कर ॥ २०६ ॥ वह आगामी कालमें भरतक्षेत्रमें प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवका चरमशरीरी और चक्रवर्ती पुत्र होगा तथा उसी भवसे मुक्त होगा इसमें किंचित भी संदेह नहीं है ॥ २०७॥ मुनिराजके ये बचन सुनकर राजा प्रीतिवर्द्धनको आश्चर्य हुआ वह मुनिराजके साथ वहां गया और अतिशय साहस करनेवाले सिंहको वहां देखा ॥ २०८ ॥ राजाने उसकी सेवामें यथोचित सहायता की। तथा धर्मके प्रभावसे यह देव होगा यही समझकर मुनिराजने उसे नमस्कार मंत्र सुनाया ॥ २०९ ॥ वह सिंह अठारहदिनका उपवासकर अंतमें समाधि पूर्वक शरीर छोड़ दूसेर स्वर्गमें दिवाकरप्रभ नामके विमानमें दिवाकरप्रभ नामका देव हुआ ॥ २१० ॥ उस सिंहकी इस आश्चर्यजनक घटनाको देखकर राजा प्रीतिवर्द्धनके सेनापति मंत्री और पुरोहितके परिणाम भी बहुत शीघ्र उपशांत होगये थे ॥ २११ ॥ इन सबने राजा प्रीतिवर्द्धनके दिये हुये दानकी अनुमोदना की थी इसलिये आयु समाप्त होनेपर वे तीनों ही उत्तरकुरु भोगभूमिमें आर्य हुये थे । वहांकी भी आयु समाप्तकर वे तीनों दूसरे ऐशान स्वर्गमें

श्रीमदशैानकल्पजा· ॥ २१२ ॥ सुरा जाता विमानेशा मंत्री कांचनसज्ञके । विमाने कनकामोऽभूद्रुषिताल्ये पुरोहितः ॥ २१३ ॥ प्रभंजनोऽभूत्सेनानी प्रभानाम्नि प्रभाकर । ललितागभवे युष्मत्परिवारामरा इमे ॥ २१४ ॥ ततः प्रच्युत्य शार्दूलचरो देवोऽभवत्स ते । मंत्री मतिवरः सूनु श्रीमत्या मतिसागरात् ॥ २१५ ॥ अपराजितसेनान्यश्च्युत स्वर्गात्प्रभाकरः । आर्जवायाश्च पुत्रोऽभूदकंपनसमाह्वय. ॥ २१६ ॥ श्रुतकीर्तेरथानतमत्याश्च कनकप्रभः । सुतोभूदयमानद पुरोधास्तव समतः ॥ २१७ ॥ प्रभजनश्च्युतस्तस्माच्छ्रेष्ठिचभूद्धनमित्रक· । धनदत्तोदरे जातो धनदत्ताद्धनर्द्धिमान् ॥ २१८ ॥ इति तस्य मुनींद्रस्य वचः श्रुत्वा नराधिपः । श्रीमती च तदा धर्मे पर संवेगमापतु. ॥ २१९ ॥ राजा सवि-

---

बड़ी ऋद्धिको धारण करनेवाले देव हुये थे। उनमेंसे मंत्री कांचन नामके विमानमें कनकाभ नामका देव हुआ था, पुरोहित रुषित नामके विमानमें प्रभंजन नामका देव हुआ था और सेनापति प्रभा नामके विमानमें प्रभाकर नामका देव हुआ था। जव तू दूसरे स्वर्गमें ललितांग देव था तव ये सव ही तेरे परिवार देव थे ॥ २१२-२१३-२१४ ॥ सिंहका जीव वहांसे चयकर मतिसागर और श्रीमतीके पुत्र हुआ है जो कि यह तेरा मतिवर मंत्री है ॥ २१५ ॥ प्रभाकरका जीव देवपर्यायको समाप्तकर अपराजित सेनापति और आर्जवाके पुत्र हुआ है जो कि यह अकंपन सेनापति कहलता है ॥ २१६ ॥ कनकप्रभका जीव वहांसे चयकर श्रुतकीर्ति और अनंतमतीका पुत्र हुआ है जोकि आनंद नामका तेरा प्रिय पुरोहित है ॥ २१७ ॥ तथा प्रभंजनका जीव वहांसे चयकर शेठ धनदत्त और धनदत्ताके धनमित्र नामका पुत्र हुआ है जो कि धन विभूति आदिसे सुशोभित राजश्रेष्ठी हुआ है ॥ २१८ ॥ इसप्रकार मुनिराजके कहे हुये ये उपर्युक्त वचन सुनकर राजा वज्रजंघ और श्रीमतीको धर्ममें वहुत भारी प्रेम उत्पन्न हुआ ॥ २१९ ॥ अनंतर राजा वज्रजंघने फिर भी वड़े आश्चर्यके साथ मुनिराजसे प्रश्न किया कि हे देव ! ये नकुल (नौला) सिंह, वंदर और सूकर ये चारों जीव आपके मुखरूपी कमलको देखनेकेलिये गाढ़ दृष्टि लगाये हुये इस मनुष्योंसे भरे हुये स्थानमें भी निर्भय होकर वेठे हैं इसका क्या कारण है

सय सूर्योप्यपृच्छत्त मुनीश्वर । अमी नकुलशार्दूलगोलागूला' सशूकरा' ॥ २२० ॥ कस्मादस्मिन् जनाकीर्णे देशे तिष्ठत्यनाकुलाः । भवन्मुखार-बिंदावलोकने दत्तदृष्टय ॥ २२१ ॥ इति राज्ञानुयुक्तोऽसौ चारणर्षिरवोचत । शार्दूलोऽय भवेऽन्यस्मिन्देशेऽस्मिन्नेव विश्रुते ॥ २२२ ॥ हस्तिनाख्यपुरे ख्याते वैश्यात्सागरदत्तत. । धनवत्याममूत्सूनुरुग्रसेनसमाह्वय ॥ २२३ ॥ सोप्रत्याख्यानत क्रोधात्पृथिवीभेदसान्निभात् । तिर्यगा-युर्ववधाज्ञो निसर्गादतिरोषण ॥ २२४ ॥ कोष्ठागारनियुक्तांश्च निर्भर्त्स्य घृततन्डुल । बलादादाय वेश्याभि' सम्प्रायच्छत दुर्मदी ॥ २२५ ॥ तद्वा-र्त्ताकर्णनाद्राज्ञा बधितस्तीव्रवेदन । चपेटाचरणाघातैर्मृत्वा व्याघ्र इहाभवत् ॥ २२६ ॥ वराहोऽय भवेऽतीते पुरे विजयनामनि । सूनुर्वसतसेनाया महानदनृपादभूत् ॥ २२७ ॥ हरिवाहननामासावप्रत्याख्यानमानत' । मानमस्थिसम बिभ्रत्पित्रोरप्यविनीतक. ॥ २२८ ॥ तिर्यगायुरतो बध्वा

२२०-२२१ ॥ इसप्रकार राजाके प्रश्न कर चुकनेपर चारण ऋद्धिको धारण करनेवाले मुनिराज कहने लगे कि यह सिंह इसभवसे पहले भवमें इसी पुष्कलावती देशके हस्तिनागपुर नगरमें सागरदत्त नामके वैश्यसे उसकी धनवती स्त्रीसे उत्पन्न हुआ उग्रसेन नामका पुत्र था ॥ २२२-२२३ ॥ उग्रसेन स्वाभाविक क्रोधी था इसलिये उस मूर्खने पृथिवीभेदके समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके निमित्तसे तिर्यंच आयुका बंध किया था ॥ २२४ ॥ एक दिन उस दुष्टने राजाके कोठारकी रक्षा करनेवाले लोगोंको खूब तर्जना की तथा उस कोठारमेंसे बलपूर्वक बहुतसा घी चांवल आदि निकालकर वेश्याओंको दे दिया ॥ २२५ ॥ वहांके राजाने यह समाचार सुनकर उसे पकड़ बुलाया और बंधवाकर लात घूंसे थप्पड आदिकी बहुतसी मार दिलाई । जिससे वह बहुत दुःख सहकर मरा और यहां यह व्याघ्र हुआ है ॥ २२६ ॥ यह सूकर इसभवसे पहले भवमें विजयपुर नामके नगरमें राजा महानंद और रानी बसंतसेनाके हरिवाहन नामका पुत्र था । यह बड़ा ही अभिमानी था इसके हड्डियोंके थंभेके समान अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय था । इसलिये यह अपने पिताका विनय भी नहीं करता था ॥ २२७-२२८ ॥ अप्रत्याख्याना-वरण कषायके उदय होनेसे ही उसने तिर्यंच आयुका बंध किया था । एकदिन वह अपने माता पिता

नैच्छत्पित्रनुशासन । धावमान शिलास्तम्भजर्जरीकृतमस्तक ॥२२९॥आर्त्तो मृत्वा वराहोऽभूद्वानरोऽयं पुरा भवे । पुरे धन्याह्वये जातः कुबेराख्यवणि-क्सुत ॥२३०॥ सुदत्तागर्भसंभूतो नागदत्तसमाह्वयः । अप्रत्याख्यानमाया ता मेषशृंगसमा श्रित ॥२३१॥ स्वानुजाया विवाहार्थं स्वापणे स्वापतेयक । स्वाम्बायामाददानाया सुपरीक्ष्य यथेप्सित ॥ २३२ ॥ ततस्तद्वचनोपायमजानन्नार्त्तधीर्मृतः । तिर्यगायुर्वशेनासौ गोलाङ्गूलत्वमित्यगात् ॥ २३३ ॥ नकुलोऽय भवेऽन्यस्मिन्सुप्रतिष्ठितपत्तने । अभूत्कादविको नाम्ना लोलुपो धनलोलुप ॥ २३४ ॥ सोऽन्यदा नृपतौ चैत्यगृहनिर्मापणोद्यमे ।

की आज्ञासे विरुद्ध होकर दौडा जा रहा था कि मार्गमें ही एक पत्थरके खंभेमें उसका शिर जा लगा जिससे उसके शिरके टुकडे २ हो गये और आर्तध्यानसे मरकर यह सूकर हुआ है ॥ २२९ यह वंदर भी इस भवसे पहले भवमें धन्यपुर नामके नगरमें कुवेर नामके वैश्यके घर उसकी स्त्री सुदत्तासे नाग-दत्त नामका पुत्र हुआ था। वह मेडेके सींगके समान अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे स्वाभाविक मायावी था ॥ २३०-२३१ ॥ उसने अप्रत्याख्यानावरणकषायके उदयसे ही तिर्यंच आयुका वंध किया था। एकदिन उसकी माता अपनी पुत्री नागदत्तकी छोटी वहिनके विवाहकेलिये अपनी इच्छानुसार देख देख कर वाजारसे सामान खरीद रही थी। नागदत्त उस सब सामानको स्वयं लेलेना चाहता था लेनेके लिये उसने मायाचारी भी वहुत की परंतु वह उसे ले न सका इसलिये आर्त्तध्यानसे मरकर यहां यह वंदर हुआ है ॥ २३२-२३३ ॥ इसीप्रकार यह न्योला भी इस भवसे पहले भवमें इस सुप्रतिष्ठित नगरमें लोलुप नामका धनका अत्यंत लोभी पूआ वडे आदि वेचनेवाला छोटासा हलवाई था ॥ २३४ ॥ इसके समयमें वहांका राजा एक जिनालय वनवा रहा था,उसकेलिये मजूरलोग ईटें ढो रहे थे,उस समय उस मूर्ख महालोभी लोलुपने मजूर लोगोंको थोड़ेसे पूआ देकर अधिकारी लोगोंसे छिपाकर थोडीसी ईटें अपने घरमें डलवा लीं थीं। उन ईटोंके फोडनेपर उनमेंसे थोडासा सुवर्ण निकला, तव तो इसे और भी लोभ वढा और फिर उसने उन मजूरोंको वहुतसे पूआ और भोजन आदि देकर छिपा छिपाकर

इष्टकाविष्टिपुरुषैरानाययति लुब्धधी॰ ॥ २३५ ॥ दत्वा पूपं निगूढ स्वं मूढः प्रावेशयद्गृहं । इष्टकास्तत्र कासाचिद्भेदेऽपश्यच्च कांचन ॥ २३६॥ तल्लोभादिष्टका भूयोऽप्यानाययितुमुद्यतः । पुरुषैर्वैष्टिकैस्तेभ्यो दत्वा पूपादिभोजन ॥२३७॥ स्वसुताग्राममन्येद्यु स गच्छन्पुत्रमात्मनः । न्ययुंक्त पुत्रकाहार दत्वानाय्यास्त्वयेष्टका॰ ॥ २३८ ॥ इत्युक्त्वास्मिन् गते पुत्रस्तथा नाकरोदतः । स निवृत्य सुत पृष्ट्वा रुष्टोऽस्मै दुष्टमानस॰ ॥ २३९ ॥ शिरः पुत्रस्य निर्भिद्य लकुटोपलताडनैः । चरणौ स्वौ च निर्वेदाद्भभज किल मूढधीः ॥ २४० ॥ राज्ञा च घातितो मृत्वा नकुलत्वमुपागमत् । अप्रत्याख्यानलोभेन नीत सोऽय दशामिमां ॥ २४१ ॥ युष्मद्दान समीक्ष्यैते प्रमोद परमागता । प्राप्ता जातिस्मरत्व च निर्वेदमधिक श्रिता॰ ॥ २४२ ॥ भवद्दानानुमोदेन वद्धायुष्काः कुरुष्वमी । तनोऽमी भीतिमुत्सृज्य स्थिता धर्मश्रवार्थिन ॥ २४३ ॥ इतोऽष्टमे भवे

अपने घर ईंटें डलवाना प्रारंभ किया ॥ २३५-२३६-२३७ ॥ एकदिन उसे अपनी पुत्रीके गांव जाना पड़ा था इसलिये वह अपना सब काम अपने पुत्रको सोंप गया था और कह गया था कि हे पुत्र उन मजूरोंको भोजनादि देकर अपने घर ईंटें डलवा लेना ॥ २३८ ॥ यह कहकर वह तो चला गया परंतु उसकी आज्ञानुसार उसका पुत्र अपने घर उन मजूरोंसे ईंटें न डलवा सका जब वह दुष्ट लौट कर घर आया और पूछनेसे उसे मालूम हुआ कि उसके पुत्रने घर ईंटें नहीं डलवाई हैं तब तो उसके क्रोधका ठिकाना न रहा ॥ २३९ ॥ मारे क्रोधके लकडी और पत्थरोंकी मारसे अपने उस पुत्रका शिर तोड डाला तथा उसमूर्खने उस दुःखसे दुःखी होकर अपने भी पैर तोड लिये ॥ २४० ॥ अंतमें वहांके राजाने भी ये सब समाचार सुनकर उसे कठोर दंड दिया जिससे मरकर अप्रत्याख्यानावरण लोभकषायके उदयसे यह न्योला हुआ है ॥ २४१ ॥ हे राजन् ! तेरे दिये हुये दानको देखकर इन चारोंको ही बड़ा भारी हर्ष हुआ है, तथा इन्हें जातिस्मरण भी हुआ है जिससे अब ये संसारसे विरक्त भी हुये हैं ॥ २४२ ॥ इन्होंने तेरे दिये हुयें दानकी अनुमोदना की है इसलिये इन्हें उत्तमभोगभूमिका बंध हुआ है और इसलिये ही ये सब डर छोड़कर धर्मश्रवण करनेकेलिये यहां हमारे पास बैठे हुये हैं ॥ २४३ ॥ हे राजन् ! इस भवसे

भाविन्यपुनर्भवतां भवान् । भवितामी च तत्रैव भवे सेत्स्यत्यसंशयं ॥ २४४ ॥ तावच्चाभ्युदयं सौख्यं दिव्यमानुषगोचरं । त्वयैव सममेतेऽनुभोक्तारः पुण्यभागिनः ॥ २४५ ॥ श्रीमती च भवत्तीर्थे दानतीर्थप्रवर्त्तक । श्रेयान्भूत्वा परं श्रेयः श्रयिष्यति न संशयः ॥ २४६ ॥ इति चारणयोगींद्रवच श्रुत्वा नराधिपः । दधे रोमाचित गात्रं ततं प्रेमाङ्कुरैरिव ॥ २४७ ॥ ततोऽभिवंद्य योगींद्रौ नरेंद्रः प्रिययाऽन्वितः । स्वावासं प्रत्यगात्प्रीतैः समं मतिवरादिभिः ॥ २४८ ॥ मुनी च वातवसनौ वायुमन्वीयतुस्तदा । मुनिवृत्तेरसंगत्वं ख्यापयंतौ नभोगती ॥ २४९ ॥ नृपोऽपि तद्गुणध्यानसुत्कंठितमानसः । तत्रैव तदहःशेषमतिवाह्य ससाधनः ॥ २५० ॥ ततः प्रयाणकैः कैश्चित्संप्रापत्पुंडरीकिणीं । तत्रापश्यच्च

आठवें भवमें जब तुम वृषभदेव तीर्थंकर होकर सिद्ध होओगे उससमय ये भी तुम्हारे ही पुत्र होकर निःसंदेह सिद्ध होंगे ॥ २४४ ॥ और तबतक ये पुण्यवान् जीव तुम्हारे साथ साथ ही देव और मनुष्योंके उत्तम उत्तम सुख और विभूतिओंका अनुभव करते रहेंगे ॥ २४५ ॥ इस श्रीमतीका जीव भी तुम्हारे तीर्थंकर होनेके समय दानतीर्थको प्रवर्तन करनेवाला राजा श्रेयान होगा और तपश्चरणकर सिद्ध होगा इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ २४६ ॥ इसप्रकार उन चारण मुनिराजके बचन सुनकर राजा बज्रजंघका शरीर हर्षसे रोमांचित हो गया था और उससमय वह शरीर ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों प्रेमसे उत्पन्न हुये अंकूरोंका समूह ही हो ॥ २४७ ॥ तदनंतर बज्रजंघने उन दोनों मुनिराजोंको नमस्कार किया और रानी श्रीमती तथा अति प्रसन्न हुये मतिवर आदि मंत्री पुरोहितादिकोंके साथ साथ अपने डेरेपर लौट आया ॥ २४८ ॥ तदनंतर वायुरूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाले वे दोनों ही चारणमुनि मुनिके परिग्रहरहित आचरणको साक्षात् प्रगट करते हुये वायुके साथ साथ ही आकाशमार्गसे गमन कर गये ॥ २४९ ॥ महाराज बज्रजंघने भी उन मुनिराजका ध्यान करते हुये तथा उनके ध्यानसे उत्कंठित चित्त होकर सेनाके साथ साथ बचे हुये उस दिनको वहीं व्यतीत किया ॥ २५० ॥ तदनंतर सबने वहांसे प्रस्थान किया और कितने ही दिन चलकर पुंडरीकिणी नगरीमें जा पहुंचे । वहां जाकर राजा

शोकार्त्तां देवीं लक्ष्मीमतीं सतीं ॥ २५१ ॥ अनुधरीं च सोत्कंठां समाश्वास्य शनैरसौ । पुंडरीकस्य तद्राज्यमकरोन्निरुपप्लवं ॥२५२॥ प्रकृतीरपि सामाद्यैरुपायैः सोऽन्वरजयत् । सामंतानपि सम्मान्य यथापूर्वमतिष्ठपत् ॥ २५३ ॥ समलिक ततो राज्ये बाल बालार्क्कसप्रभं । निवेश्य पुनरावृत्तः प्रापदुत्पलखेटक ॥ २५४ ॥ अथ परमविभूत्या वज्रजघ क्षितीश· पुरममरपुराभ स्वं विशत्कातयामा । शतमख इव शच्या सभृतश्री· स रेजे पुरवरवनिताना लोचनैः पीयमान ॥ २५५ ॥ किमयममरनाथ किंस्विदीशो धनना किमुत फणिगणेशः किं वपुष्माननगः । इति पुरनरना-

वज्रजंघने शोकसे व्याकुल हुई सती लक्ष्मीमती देवीको देखा ॥ २५१ ॥ तथा भाईके मिलनेकी उत्कंठासे बैठी हुई अपनी छोटी वहिन अनुंधरीको भी देखा। वज्रजंघने दोनोंको धीरे २ समझाकर आश्वासन दिया तथा उस राज्यमें जो कुछ उपद्रव थे उन सवको दूरकर पुंडरीकका वह राज्य सर्वथा उपद्रवरहित कर दिया ॥ २५२ ॥ वज्रजंघने साम दाम दंड भेद आदि उपायोंसे सव प्रजाको प्रसन्न किया तथा शूरवीर राजाओं और शत्रुओंको भी साम दामादि यथायोग्य उपायोंसे आदर सत्कारकर सवको पहिलेके समान (चक्रवर्तीके समयके समान) स्थापन किया ॥२५३॥ तदनंतर वाल सूर्यके समान तेजस्वी वालक पुंडरीकको राज्यसिंहासनपर बिठाकर और राज्यका सव भार वहांके मंत्रियोंको सोंपकर राजा वज्रजंघ अपने उत्पलखेटक नामके नगरमें वापिस लौटकर आ पहुंचा ॥ २५४ ॥ जैसे इंद्र अपनी शचीसहित स्वर्गपुरीमें प्रवेश करता हुआ शोभायमान होता है उसीप्रकार उत्कृष्ट शोभासे सुशोभित होनेवाला राजा वज्रजंघ भी लक्ष्मी और अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ साथ स्वर्गपुरीके समान अपने उत्पलखेटक नगरमें बड़ी विभूतिके साथ २ प्रवेश करता हुआ सुशोभित हो रहा था। जिससमय वह नगरमें होकर अपने राजमहलको जा रहा था उससमय नगरकी अनेक सुंदर स्त्रियां अपने २ नेत्रोंके द्वारा उसकी सुंदरताका पान कर रहीं थीं ॥ २५५ ॥ क्या यह कोई इंद्र है अथवा कुवेर है अथवा धरणींद्र है अथवा कामदेव ही साक्षात् शरीर धारणकर आ गया है। इसप्रकार उस नगरकी स्त्रीपुरुषोंकी परस्पर बातचीतके

रीजल्पनैः कथ्यमानो गृहमविशदुदारश्रीः परार्ध्यं महर्द्धिः ॥ २५६ ॥ तत्रासौ सुखमावसत्स्वरुचितान्भोगान्स्वपुण्योर्जितान् भुंजानः षड्ऋतु-प्रमोदजनने हर्म्ये मनोहारिणि । सभोगैरुचितैः शचीमिव हरिः सभावयन्प्रेयसीं जैनं धर्ममनुस्मरन्स्मरनिभः कीर्तिं च तन्वन्दिशि ॥ २५७॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे श्रीमतीवज्रजंघपात्रदानानुवर्णनं नामाष्टमं पर्व ।

द्वारा चारों ओर जिसकी प्रशंसा हो रही है तथा जो अनेक महा ऋद्धिओंको धारण करनेवाला है ऐसे उस राजा वज्रजंघने अतिउत्कृष्ट शोभा और बहुतसी संपत्तिओंसे शोभायमान ऐसे अपने घरमें प्रवेश किया ॥ २५६ ॥ वह राजमहल बहुत ही मनोहर था छहों ऋतुओंके अनुकूल सुख देनेवाले सब सामान जिसमें उपस्थित थे ऐसे उस राजमहलमें अपने पुण्योदयसे प्राप्त हुये इच्छानुसार अनेक भोगोपभोगोंका अनुभव करता हुआ राजा वज्रजंघ सुखसे निवास करता था । तथा जैसे संभोगादि उचित उपायोंके द्वारा इंद्र शचीको प्रसन्न करता है उसीप्रकार कामदेवके समान अतिशय सुंदर वह राजा संभोगादि समुचित उपायोंके द्वारा अपनी प्रियतमा श्रीमतीको प्रसन्न करता था । तथा सदा जैनधर्मको स्मरण रखता था और सब दिशाओंमें अपनी कीर्त्तिका विस्तार करता रहता था ॥२५७॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें श्रीमती और वज्रजंघके पात्रदानका वर्णन करनेवाला यह आठवां पर्व समाप्त हुआ ।



अथ नवमं पर्व ।

अथ त्रिवर्गसंसर्गरम्यं राज्यं प्रकुर्वतः । तस्य कालोगमद्भूयान्भोगैः षड्तुसुंदरैः ॥ १ ॥ स रेजे शरदारंभे प्रफुल्लाब्जसरोजले । वनेष्वयुक्छदामोदसुभगेषु प्रियान्वितः ॥ २ ॥ सरित्पुलिनदेशेषु प्रियाजघनहारिषु । राजहंसो धृतिं लेभे सध्रीचीमनुयन्नय ॥ ३ ॥ कुर्वन्नीलोत्पल कर्णे स कातायां वतसक । शोभामिव दृशोरस्यास्तेनाभूत्सन्निकर्षयन् ॥ ४ ॥ सरसाब्जरजःपुंजपिंजरं स्तनमडल । स पश्यन्बहुमेनेस्याः कामस्येव करडकं ॥ ५ ॥ वासगेहे समुत्सर्पद्धूपामोदसुगाधिनि । प्रियास्तनोष्मणा भेजे हिमतौं स परां धृतिं ॥ ६ ॥ कुंकुमालिप्तसर्वांगीमन-

अथ नवम पर्व

तदनंतर वह राजा बज्रजंघ धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंके संबंध प्राप्त होनेसे अतिशय मनोहर राज्यका सुख अनुभव करने लगा तथा छहों ऋतुओंके सुंदर भोग भोगने लगा। इसप्रकार राज्य और भोगोंका अनुभव करते हुये उसका बहुतसा समय व्यतीत हो गया था ॥ १ ॥ अपनी प्रियतमा श्रीमतीके साथ वह राजा शरदऋतुके प्रारंभसमयमें खिले हुये कमलोंसे अत्यंत सुशोभित तालावोंमें क्रीडा करता था अथवा सप्तच्छद जातिके वृक्षोंसे अत्यंत सुगंधित और सुहावने बनोंमें क्रीडा करता था ॥ २ ॥ कभी राजहंसके समान श्रीमतीके पीछे पीछे गमन करता हुआ श्रीमतीके जघनस्थलोंके समान मनोहर नदियोंके किनारेपर क्रीडा करता हुआ संतुष्ट होता था ॥ ३ ॥ कभी श्रीमतीके कानोंमें नील कमलोंके आभूषण पहनाता था मानों उन नीलकमलके आभूणोंके बहानेसे श्रीमतीके नेत्रोंकी शोभा ही स्थापन करता हो ॥४॥ श्रीमतीके दोनों ही स्तनमंडल उन तालावोंके कमलोंकी परागरजके समूहसे पीले पडगये थे जिससे वे दोनों ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवके केसर रखनेके पिटारे ही हों। राजा वज्रजंघ उन दोनों स्तनमंडलोंको देखता हुआ बहुत ही प्रसन्न होता था ॥५॥ हिमऋतुमें वह धूपकी मधुर सुगंधिसे अत्यंत सुगंधित ऐसे शय्यागृहमें श्रीमतीके स्तनोंकी उष्णतासे ही अत्यंत प्रसन्न होता

म्लानमुखाबुजां । प्रियामरमयद्गाढमाश्लिष्यन् शिशिरागमे ॥ ७ ॥ मधौ मधुमदायत्तकामिनीजनसुंदरे । वनेषु सहकाराणां स रेमे रामया समं ॥ ८ ॥ अशोककलिका कर्णे न्यस्यन्नस्या मनोभवः । जनचेतोभिदो दध्यौ शोणिताक्ताः स तीरकाः ॥ ९ ॥ घर्मे घर्मांबुविच्छेदिसरोनिलहृतक्लमः । जलकेलिविधौ कांतां रमयन्विजहार सः ॥ १० ॥ चंदनद्रवसिक्तांगीं प्रियां हारविभूषणा । कंठे गृह्णन् स घर्मोत्थं नाज्ञासीत्कमपि श्रम ॥ ११ ॥ शिरीषकुसुमैः कांतामलंकुर्वन्वतंसितै । रूपिणीमिव नैदाघीं श्रिय तां बहुमंस्त स ॥ १२ ॥ घनागमे घनोपात्तस्फुरत्तडितिसाध्वसात् । कांतयाश्लेष विश्लेषभीतया घनमेव सः ॥ १३ ॥ इंद्रगोपचिता भूमिरामद्रस्तनिता घनाः । ऐंद्रचापं च पाथनां चक्रुरुत्कंठितं मनः

था ॥ ६ ॥ तथा शिशिरऋतुमें जिसका संपूर्ण शरीर केशरसे लिप्त हो रहा है तथा जिसका मुखकमल प्रसन्नतासे किंचित् खिल रहा है ऐसी श्रीमतीको गाढ आलिंगनकर प्रसन्न करता था॥७॥ वसंतऋतुमें वह श्रीमतीके साथ २ मद्यके (पौष्टिकपदार्थोंके) मदसे मदोन्मत्त हुई स्त्रियोंसे अत्यंत सुंदर ऐसे आम्रवृक्षोंके बनोंमें क्रीड़ा करता था॥८॥ कभी वह श्रीमतीके कानोंमें अशोक वृक्षकी नई कली पहनाता था। मानों मनुष्योंके चित्तको भेदन करनेवाले तथा रक्तसे रंगे हुये कामदेवके वाण ही स्थापन करता हो ॥ ९ ॥ गीष्मऋतुमें पसीनेको सोखलेनेवाली ऐसी तालावोंके समीपवर्ती वायुसे जिसकी सब खिन्नता दूर हो गई है ऐसा वह राजा वज्रजंघ जलक्रीडाकर श्रीमतीको प्रसन्न करता हुआ विहार करता था ॥ १० ॥ तथा घिसे हुये चंदनसे जिसका संपूर्ण शरीर लिप्त हो रहा है और जो गलेमें सुंदर हार डाले हुये है ऐसी श्रीमतीका आलिंगन करता हुआ वह राजा गर्मीके किसी भी परिश्रमको नहीं जानता था ॥११॥ इन्हीं गर्मियोंके दिनों में वह सरसोंके फूलोंके आभूषण बनाकर उनसे श्रीमतीको अलंकृत करता था और फिर उस श्रीमतीको ही साक्षात् रूपधारण करनेवाली ग्रीष्म ऋतुकी शोभाके समान सब कुछ मानता था ॥ १२ ॥ इसीप्रकार वर्षा ऋतुमें जबकि बादलोंके किनारेपर विजली चमकती थी उससमय वियोगके भयसे अत्यंत भयभीत हुई श्रीमतीके साथ वह राजा वज्रजंघ स्वयं विजलीके डरसे डरकर

॥ १४ ॥ नभः स्थगितमस्माभिः सुरगोपैस्तथा मही । क्व याथेति न्यषेधन्नु पथिकान्गर्जिता घना ॥ १५ ॥ विकासिकुटजच्छन्ना भूधराणामुपत्यकाः । मनोऽस्य निन्युरौत्सुक्यं स्वनैरुन्मदकेकिना ॥ १६ ॥ कदंबानिलसंवाससुरभीकृतसानवः । गिरयोऽस्य मनो जह्रु काले नृत्यच्छिखावले ॥ १७ ॥ अनेहसि लसद्विद्युद्द्योतितविहायसि । स रेमे रम्यहर्म्याग्रमधिशय्य प्रियासखः ॥ १८ ॥ सरितामुद्धतांभोभिः प्रियामानप्रभाविभिः । प्रवाहैर्धृतिरस्यासीद्वर्षर्तौ समुपागमे ॥ १९ ॥ भोगान्षडृतुजानित्थं भुंजानोऽसौ सहांगनः । साक्षात्कृत्येव मूढानां तपःफलमदर्शयत् ॥२०॥

गाढ आलिंगन करता था ॥ १३ ॥ वर्षा ऋतुमे पृथिवी वीरवहूटियोंसे (एकप्रकारके लालरंगके छोटे छोटे कीडे) भरगई थी, वादल गंभीरशब्दोंसे गरज रहे थे और चारों ओर इंद्रधनुप दिखाई दे रहे थे इन सव कारणोंसे उससमय पाथिकोंका मन अत्यंत उत्कंठित होता था ॥ १४ ॥ जो वादल गरज रहे थे वे मानों यह कहकर ही पथिकलोगोंको गमन करनेसे रोक रहे थे कि आकाश तो हम लोगोंने घेर लिया है और पृथिवी वीरवहूटियोंसे भरी हुई है अव तुम कहां जाओगे ? ॥ १५ ॥ इसी वर्षाऋतुमें फूले हुये कुटज जातिके वृक्षोंसे (कुरैया) अत्यंत शोभायमान पर्वतकी तराईकी भूमि उन्मत्त हुये मयूरोंके सुंदर शब्दोंसे राजा वज्रजंघका मन उत्कंठित कर रही थी ॥ १६ ॥ तथा जिससमय मयूर नृत्य कर रहे थे उस समय जिनके शिखर कदंव पुष्पोंकी सुगंध वायुसे अत्यंत सुगंधित हो रहे हैं ऐसे पर्वत राजा वज्रजंघका मन हरण कर रहे थे ॥१७॥ जिसदिन चमकती हुई विजलीसे आकाश चमक रहा था उसदिन दिनमें ही वह राजा अपने सुंदर राजमहलके ऊपरीभागमें प्रियाके साथ शयन करता हुआ क्रीडा करता था ॥१८॥ वर्षाऋतुमें स्त्रियोंका आभिमान दूर करनेवाले और उछलते हुये जलसे सुशोभित ऐसे नदियोंके प्रवाहसे ही उसे संतोष होता था ॥ १९ ॥ इसप्रकार वह राजा वज्रजंघ अपनी प्रिया श्रीमतीके साथ साथ छहों ऋतुओंके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था। मानों अज्ञानी लोगोंको पूर्व जन्ममें किये हुये तपश्चरणका फल प्रत्यक्ष ही दिखला रहा हो ॥ २० ॥

अथ कालागुरूद्दामधूपधूमाधिवासिते । मणिप्रदीपकोद्योतदूरीकृततमस्तरे ॥ २१ ॥ प्रतिपादुकविन्यस्तरत्नमंचोपशोभिनि । दधत्यालंबिभिर्मुक्ताजालकैर्हसितश्रिय ॥ २२ ॥ कुंदेंदीवरमंदारसांद्रमोदाश्रितालिनि । चित्रभित्तिगतानेकरूपकर्ममनोहरे ॥ २३ ॥ वासगेहेऽन्यदा शिश्ये तल्पे मृदुनि हारिणि । गंगासैकतनिर्भासिदुकूलप्रच्छलोज्ज्वले ॥ २४ ॥ प्रियास्तनतटस्पर्शसुखामीलितलोचनः । मेरुकंदरमाश्लिष्यन्साविद्युदिव वारिदः ॥ २५ ॥ तत्र वातायनद्वारापिधानारुद्धधूमके । केशसंस्कारधूपोद्यध्दूमेन क्षणमूर्च्छितौ ॥ २६ ॥ निरुद्धोच्छ्वासदौःस्थित्यादंतःकिंचिदिवाकुलौ । दंपती तौ

एकदिन वह राजा वज्रजंघ अपने शय्यागृहमें कोमल शय्यापर शयन कर रहा था, जिस महलमें वह सो रहा था वह महल कृष्ण अगुरुकी बनी हुई तेज धूपके धूमसे अत्यंत सुगंधित था। उसमें दीपककी जगहपर अनेक मणि रक्खे हुये थे जिनके प्रकाशसे अंधकार दूर जा खडा हुआ था। जिनके प्रत्येक पायोंमें रत्न लगे हुये हैं ऐसे अनेक मंचोंसे वह महल शोभायमान था। उसमें चारों ओर जो मोतियोंके गुच्छे लटक रहे थे उनसे उस महलकी शोभा बहुत वढगई थी। कुंद, नीलकमल और पारिजात जातिके फैले हुये पुष्पोंकी सुगंधिसे लुब्ध हुये भ्रमर उस महलमें गुंजार शद्ध कर रहे थे। उसकी दीवालोंपर जो अनेक प्रकारके चित्र बने हुये थे उनसे वह महल बहुत ही मनोहर जान पडता था। इसप्रकार सब तरहसे सुंदर उस महलमें कोमल मनोहर और गंगाकी वालूके समान शोभायमान स्वच्छ वस्त्रसे आच्छादित शय्यापर राजा वज्रजंघ शयन कर रहा था ॥ २१-२२-२३-२४ ॥ जैसे विजलीसहित वादल मेरुपर्वतकी गुफाओंका स्पर्श करते हुये सुशोभित होते हैं। उसीप्रकार वह वज्रजंघभी अपने दोनों नेत्र बंदकर श्रीमतीके स्तनोंके स्पर्शसे उत्पन्न हुये सुखका अनुभव करता हुआ निद्रा ले रहा था ॥ २५ ॥ सेवक लोग धूपघडोंमें धूप डालकर वाहर निकल गये थे। वे लोग झरोखोंके द्वार खोलना भूलगये थे इसलिये उनका धूआं उसी मकानमें रुककर भरगया था। उस धूपमेंसे जो केशोंको संस्कार करनेवाला धूपका समूह था उसके धूमसे वे

निशामध्ये दीर्घनिद्रामुपेयतु ॥ २७ ॥ जीवापाये तयोर्देहौ क्षणाद्विच्छायतां गतौ । प्रदीपापायसरुद्धतमस्कंधौ यथा गृहौ ॥२८ ॥ वियुतासुरसौ छाया न लेभे सह कांतया । पर्यस्त इव कालेन सलतः कल्पपादप. ॥ २९ ॥ भोगागेनापि धूपेन तयोरासीत्परासुता । धिगिमान्भोगिभोगाभान्भोगान्प्राणापहारिणः ॥ ३० ॥ तौ तदा सुखसाद्भूतौ सभोगैरुपलालितैः । प्रासावेकपदे शोच्या दशा धिक्संसृतिस्थितिं ॥ ३१ ॥ भोगागैरपि जंतूनां यदि चेदीदृशी दशा । जनाः किमेभिरस्वतै. कुरुतासमते रति ॥ ३२ ॥ पात्रदानाचपुण्येन वद्धोदक्कुरुजायुषौ । क्षणात्कुरून्समासाद्य तत्र तौ जन्म

दोनों ही पतिपत्नी क्षणभरमें मूर्च्छित होगये ॥ २६ ॥ उन दोनोंके श्वास रुकगये जिसके दुःखसे उन दोनोंके अंतःकरणमें कुछ व्याकुलता हुई । अंतमें उसी रात्रिमें वे दोनों ही पति पत्नी सदाके लिये सोगये ॥ २७ ॥ जैसे दीपक वुझजानेसे वढे हुये अंधकारसमूहसे घर मलिन हो जाते हैं उसीप्रकार जीवके निकलजानेसे उन दोनोंके शरीर क्षणभरमें ही प्रभाशून्य मलिन हो गये थे ॥ २८ ॥ जैसे समय पाकर जडउखडकर नष्ट भ्रष्ट हो जानेसे लतासहित कल्पवृक्ष भी सुशोभित नहीं होते हैं उसीप्रकार प्राणरहित हो जानेसे प्रियाके साथ रहनेपर भी वह सुशोभित नहीं होता था ॥ २९ ॥ देखो! जो धूप भोगोपभोग सेवन करनेमें कारण है उसीसे इन दोनोंकी मृत्यु हुई । इसलिये सर्पके फणाके समान प्राण हरण करनेवाले इन भोगोंको बार बार धिकार हो ॥ ३० ॥ जो श्रीमती और वज्रजंघ सदा ऊपर कहे हुये सुखोंका अनुभव करते थे तथा जो संभोग अथवा उत्तम भोगोपभोगादिके द्वारा अनेक प्रकारकी क्रीडा करते थे वे क्षणभरमें ही इस शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गये? इसलिये इस संसारकी ऐसी स्थितिको बार बार धिक्कार हो ॥ ३१ ॥ भो भव्यजन हो देखो जो भोगोंके साधनोंसे ही प्राणियोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है तो फिर अंतमें सदा दुःख देनेवाले इन भोगोंसे क्या प्रयोजन? अर्थात् इन्हें छोडो और श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये वीतरागमार्गमें श्रद्धान करो ॥ ३२ ॥ इन दोनोंने मुनियोंको जो दान दिया था और उससे जो

भेजतु. ॥ ३३ ॥ जंबूद्वीपमहामेरोरुत्तरां दिशमाश्रिताः । संत्युदक्कुरवो नाम स्वर्गश्रीपरिहासिनः ॥ ३४ ॥ मद्यातोद्यविभूषास्रग्दीपज्योतिर्गृहांगकाः । भोजनामत्रवस्त्रागा इत्यन्वर्थसमाह्वयाः ॥ ३५ ॥ यत्र कल्पद्रुमा रम्या दशधा परिकीर्तिताः । नानारत्नमयाः स्फीतप्रभोद्योतितदिङ्मुखाः ॥ ३६ ॥ मद्यागा मधुमैरेयसीध्वरिष्टासवादिकान् । रसभेदांस्ततामोदान्वितरत्यमृतोपमान् ॥ ३७ ॥ कामोद्दीपनसाधर्म्यान्मद्यमित्युपचर्यते । तारवो रसभेदोऽयं य. सेव्यो भोगभूमिजै ॥ ३८ ॥ मदस्य करण मद्य पानशौडैर्यदादृतं । तद्वर्जनीयमार्याणामतःकरणमोहदं ॥ ३९ ॥ पटह्यान्मर्दलास्तालं झल्लरी-

कुछ पुण्य प्राप्त हुआ था उससे इन दोनोंके उत्तरकुरु भोगभूमिका बंध हुआ था इसलिये इन दोनोंने क्षणभरमें ही उत्तरकुरुमें पहुंचकर वहां जन्म धारण करलिया ॥ ३३ ॥ जंबूद्वीपके अंतर्गत सुदर्शन नामक महा मेरुपर्वतकी उत्तर दिशाकी ओर उत्तरकुरु नामकी एक भूमि है जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी शोभाकीओर भी हंस रही है ॥ ३४ ॥ जहांपर मद्यांग, वादित्रांग, भूषणांग, मालांग, दीपांग, ज्योतिरंग, गृहांग, भोजनांग, भाजनांग और वस्त्रांग ये अपने २ सार्थक नामको धारण करनेवाले दशप्रकारके मनोहर कल्पवृक्ष हैं, ये कल्पवृक्ष अनेक रत्नमय हैं अपनी उज्ज्वल प्रभाके प्रकाशसे दशों दिशाओंको प्रकाश करनेवाले हैं ॥ ३५-३६ ॥ इनमेंसे मद्यांग जातिके वृक्ष अमृतके समान मीठे तथा जिनकी सुगंधि चारोंओर फैल रही है ऐसे मैरेय सीधु अरिष्ट और आसव आदि इक्षुरसके समान अनेक प्रकारके रस देते हैं ॥ ३७ ॥ जैसे मद्यमें कामोद्दीपन धर्म रहता है। उसीप्रकार इन रसोंमे भी कामोद्दीपन धर्म रहता है इसलिये इनमें मद्यका केवल एक धर्म रहनेसे उपचारसे इन रसोंको मद्य कहते हैं। वास्तवमें ये वृक्षोंके एकप्रकारके रस हैं जिन्हें आर्य भोगभूमिजलोग सेवन करते हैं ॥ ३८ ॥ उन्मत्त पुरुष मद उत्पन्न करनेवाले तथा अंतःकरणको मोहित करनेवाले जिस मद्यका सेवन करते हैं वह मद्य आर्यपुरुषोंकेलिये सर्वथा त्याज्य है भावार्थ— मद्यांग जातिके वृक्ष केवल पौष्टिक रस देते हैं मद उत्पन्न करनेवाला और अंतःकरणको

शखकाहलं । फलंति पणवाद्याश्च वाद्यभेदांस्तदंघ्रिपाः ॥ ४० ॥ तुलाकोटिककेयूररुचिकांगदवेष्टिकान् । हारान्मकुटभेदांश्च सुवते भूषणांगकाः ॥४१॥ स्रजो नानाविधाः कर्णपूरभेदाश्च नैकधा । सर्वर्तुकुसुमाकीर्णा. सुमनोंऽगा दधत्यलं ॥ ४२ ॥ मणिप्रदीपैराभाति दीपांगाख्या महाद्रुमाः । ज्योतिरंगा' सदोद्योतमातन्वति स्फुरद्रुचः ॥ ४३ ॥ गृहागाः सौधमुत्तुंगं मडप च सभागृह । चित्रनर्त्तनशालाश्च सन्निधापयितुं क्षमाः ॥ ४४ ॥ भोजनागा वराहारानमृतस्वादुदायिनः । वपुष्करान्फलंत्यात्तषड्रसानशनादिकान् ॥ ४५ ॥ अशनं पानक खाद्यं स्वाद्यं चान्नं चतुर्विधं । कट्वाम्लतिक्तम-

---

मोहित करनेवाला मद्य न तो उन वृक्षोंसे उत्पन्न ही होता है और न भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले आर्यलोग ऐसा मद्य पीते हैं। वह रस केवल पौष्टिक होनेसे ही मद्य कहलाता है ॥ ३९ ॥ मद्यांगके समान वादित्रांग वृक्ष दुंदुभी, मृदंग, ताल झलरी शंख भेरी चंग आदि अनेकप्रकारके वाजे देते हैं ॥ ४० ॥ भूषणांग जातिके वृक्ष नूपुर (पाजेव) वाजूवंद गलेमें पहननेके आभूषण, भुजाओंमें पहननेके अनंत, करधनी, हार और मुकुट आदि अनेक प्रकारके आभूषण देते हैं ॥ ४१ ॥ मालांग जातिके वृक्ष छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंकी वनी हुई अनेकप्रकारकी मालायें और छहों ऋतुओंके पुष्पोंसे बने हुये अनेक प्रकारके कर्णफूल आदि वहुतायतसे देते हैं ॥ ४२ ॥ दीपांग जातिके कल्पवृक्ष मणिमय अनेक प्रकारके दीपोंसे सुशोभित रहते हैं। ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्ष अपनी कांतिसे दैदीप्यमान रहते हुये सदा प्रकाश किया करते हैं ॥ ४३ ॥ गृहांग जातिके कल्पवृक्ष ऊंची ऊंची शिखरवाले, राजभवन, मंडप, सभाभवन, चित्रशाला नृत्यशाला आदि अनेकप्रकारके मकान स्थापन करनेकेलिये समर्थ होते हैं ॥ ४४ ॥ भोजनांग जातिके वृक्ष अमृतके समान स्वादिष्ट, शरीरको पुष्ट करनेवाले और छहों रससहित अशनादि उत्तमोत्तम आहार अर्पण करते हैं ॥४५॥ अशन अथात् रोटी दाल भात आदि खानेकी चीजें पानक अर्थात् दूध पानी आदि पीनेकी चीजें खाद्य अर्थात् रवडी आदि चाटनेकी चीजें और स्वाद्य अर्थात् पान सुपारी आदि स्वाद लेनेकी

धुरकषायलवणा रसाः ॥ ४६ ॥ स्थालानि चषकान् शुक्तिभृंगारकरकादिकान् । भाजनागा दिशंत्याविर्भवच्छाखाविषंगिणः ॥ ४७ ॥ चीनपट्टदुकूलानि प्रावारपरिधानकं । मृदुश्लक्ष्णमहार्घाणि वस्त्रागा दधति द्रुमाः ॥ ४८ ॥ न वनस्पतयोऽप्येते नैव देवैरधिष्ठिताः । केवलं पृथिवीसारस्तन्मयत्वमुपागताः ॥ ४९ ॥ अनादिनिधनाश्चैते निसर्गात्फलदायिनः । न हि भावस्वभावानामुपालंभः सुसगतः ॥ ५० ॥ नृणां दानफलादेते फलंति

चीजें, इसप्रकार यह चारप्रकारका आहार कहलाता है। कडवा, खट्टा, चरपरा, मीठा, कषायला और लवण ये छह प्रकारके रस कहलाते हैं ॥ ४६ ॥ भाजनांगजातिके वृक्ष थाली, कटोरा, सीपके आकारके बर्तन झारी करका (करवा) आदि अपनी शाखाओंपर लगे हुये अनेकप्रकार बर्तन देते हैं ॥ ४७ ॥ इसीप्रकार वस्त्रांगजातिके वृक्ष रेशमी वस्त्र, दुपट्टे, धोती आदि अनेकप्रकारके कोमल चिकने और बहुमूल्य वस्त्र देते हैं ॥४८॥ ये कल्पवृक्ष न तो कोई वनस्पति हैं और न देवोंने स्थापन किये हैं। किंतु केवल पृथिवीका सार अर्थात् भूगर्भके रसविशेष सार पदार्थ ही कल्पवृक्षरूप और भोजन वस्त्र वादित्र आदि पदार्थरूप परिणत हो जाते हैं ॥४९॥ ये कल्पवृक्ष अनादिनिधन हैं अर्थात् नित्य रहते हैं। अपने २ नामके अनुसार फल देना इनका स्वाभाविक धर्म रहता है किसी पदार्थके किसी स्वभावमें दोष देना युक्तिसंगत नहीं है। भावार्थ— कदाचित् कोई पुरुष कल्पवृक्षोंको साधारण वृक्ष मानकर उनमें भोजन वस्त्र आदि पदार्थोंका लगना असंभव मानकर दोष दे अथवा इन कल्पवृक्षोंको पार्थिव ही मानकर इनमें भोजन वस्त्रादिका लगना असंभव मानकर दोष दे उसकेलिये आचार्य कहते हैं कि जिसका जो स्वभाव है उसमें कोई किसीतरहका दोष देना युक्तिशून्य है। जैसे नीम कडवा होता है उसके कडवेपनमें कोई किसीतरहका दोष नहीं दे सकता इसीप्रकार पृथिवीके साररूप रसविशेषसे बने हुये पार्थिव कल्पवृक्षोंमें भोजन वस्त्र आदि भिन्न २ पदार्थोंके लगनेका स्वभाव है। उसमें भी कोई किसीप्रकारका दोष नहीं दे सकता। जैसे आजकलके वृक्ष समय

विपुलं फल । यथाऽन्यपादपा काले प्राणिनामुपकारिण. ॥ ५१ ॥ सर्वरत्नमय यत्र धरणीतलमुज्ज्वलै ॥ प्रसूनै. सोपहारत्वान्मुच्यते जातु न श्रिया ॥ ५२ ॥ यत्र तृण्या महीपृष्ठ चतुरंगुलसंमिता । शुकच्छायाशुकेनेव प्रच्छादयति हारिणी ॥ ५३ ॥ मृगाश्चरंति यलत्या कोमलास्तृणसपद· । स्वाद्वी मृदायमी हृद्या रसायनरसास्वया ॥ ५४ ॥ सोत्पला दीर्घिका यत्र विद्वलत्कनकाबुजा. । हंसाना कलमंद्रेण विरुतेन मनोहरा ॥ ५५ ॥ सरास्युत्फुल्लपद्मानि वनमुन्मत्तकोकिलं । क्रीडाद्रयश्च रुचिरा· संति यत्र पदेपदे ॥ ५६ ॥ यत्राभूय तरून्मदमावाति मृदुमारुत । पटवासमिवातन्वन्मकरदरजोऽभित ॥ ५७ ॥ यत्र गंधवहाधूतैराकीर्णा पुष्परेणुभि । वसुधा राजते पीतकौमेणेव कुठिता ॥ ५८ ॥ यत्रामोदितदिग्भागैर्मरुद्भि

पाकर प्राणियोंका उपकार करते हैं उसीप्रकार ये कल्पवृक्ष भी मनुष्योंके दान देनेके फलसे अनेक फलोंसे फलते हैं । ५१ । वहांकी पृथिवी सवतरहके रत्नोंसे वनी हुई है और उसपर उज्ज्वल फूल सदा पडे रहते हैं इसलिये वहांकी पृथिवीकी शोभा कभी कम होती ही नहीं है ॥ ५२ ॥ वहांकी भूमिपर सदा चार अंगुल ऊंची घास जमी रहती है उस घाससे वह पृथ्वी ऐसी शोभायमान होती है मानों इसने तोतेके रंगके समान हरितवर्णके वस्त्रसे अपनी पीठ ही ढक ली हो ॥ ५३ ॥ वहांके हरिण अमृतरसके समान अतिशय स्वादिष्ट कोमल और मनोहर तृणरूपी कोमल संपत्तिका स्वाद लेते हैं ॥ ५४ ॥ वहां अनेक वावडी हैं जो कि सव कमलोंसे सुशोभित हैं जिनमें सुवर्णके समान पीले रंगके कमल फूल रहे हैं वे वावडियें हंसोंके मधुर और गंभीर शब्दोंसे वडी ही मनोहर जान पडती हैं ॥ ५५ ॥ उस देशमें जगह जगह तालाव हैं जिनमें कमल फूल रहे हैं जगह २ उन्मत्त कोयलोंसे भरे हुये वन हैं और जगह २ वडे ही मनोहर क्रीडापर्वत हैं ॥ ५६ ॥ उस देशमें सुगंधित चूर्णके समान चारों ओर परागरजको फैलाता हुआ कोमल वायु वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे २ वहता है ॥ ५७ ॥ वायुके द्वारा उड·२ कर आये हुये परागरजसे आच्छादित हुई वहांकी पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही है मानों वह पीले रंगके पाटके वने हुये वस्त्रसे ही ढकी हो ॥ ५८ ॥ उस देशमें संपूर्ण दिशाओंको

पुष्पजं रज॑ । नभसि श्रियमाधत्ते वितानस्याभितो हृतं ॥ ५९ ॥ यत्र नातपसंबाधा न वृष्टिर्न हिमादयः । नेतयो दंदशूका वा प्राणिनां भयहेतव. ॥ ६० ॥ न ज्योत्स्ना नाप्यहोरात्रविभागो नर्तुसंक्रम. । नित्यैकवृत्तयो भावा यत्रैपा सुखहेतव ॥ ६१ ॥ वनानि नित्यपुष्पाणि नलिन्यो नित्यपङ्कजा । यत्र नित्यसुखा देशा रत्नपांसुभिराचिताः ॥ ६२ ॥ यत्रोत्पन्नवता दिव्यमगुल्याहारमुद्रसं । वर्दंत्युत्तानशय्यायामासप्ताहव्यतिक्रमात् ॥ ६३ ॥ ततो दशांतर तेषामामनंति मनीषिण॑ ॥ दंपतीनां महीरंगरंगिणां दिनसप्तक ॥ ६४ ॥ सप्ताहेन परेणाथ प्रोत्थाय कलभाषिण॑ ।

सुगंधित करनेवाले वायुके द्वारा उडउडकर आकाशमें भरा हुआ पराग रज ऐसा सुशोभित होता है मानों चारों ओरसे तना हुआ सुगंधित चंदोवा ही हो ॥५९॥ उस देशमें न तो कभी गर्मीका क्लेश होता है न पानी वरसता है और न शीत आदिका दुःख सहना पडता है । प्राणियोंको भय उत्पन्न करनेवाले सर्प आदिक अथवा किसीप्रकारकी ईति भीती भी वहां कभी नहीं होती हैं ॥६०॥ वहां न चांदनी है न दिनरातका विभाग है और न ऋतुओंका संक्रमण होता है । वहांके सब पदार्थ वहांके आर्यपुरुषोंको सुख देनेवाले सदा एकसे रहते हैं ॥ ३१ ॥ वहांके वन सदा फूले फले रहते हैं नलिनियोंपर (कमलोंकी लताओंपर) सदा कमल लगे रहते हैं । और रत्नोंकी धूलसे व्याप्त हुये वहांके देश सदा सुखदायी रहते हैं ॥ ६२॥ उस देशमें उत्पन्न हुये आर्यपुरुष प्रथम सात दिनतक तो अपनी शय्यामें ही ऊपरको मुंह किये हुये पडे रहते हैं और अपना अंगूठा चोखनेसे जो दिव्य रस निकलता है उसीसे जीवित रहते हैं ॥ ६३ ॥ तदनंतर दूसरे सप्ताहकेलिये पंडित लोग ऐसा मानते हैं कि दूसरे सप्ताहमें उन दोनों दंपातियोंमें एक स्थानसे दूसरे स्थानतक जानेकी सामर्थ्य हो जाती है और वे दोनों ही पृथ्वीरूपी रंगभूमिमें घुटनोंके बल इधरसे उधरतक फिरा करते हैं ॥ ६४ ॥ तीसरे सप्ताहमें वे लोग खडे हो जाते हैं मीठी २ बातें कहने लगते हैं और क्रीडा करते हुये गिरते पडते स्खलितगतिसे पृथ्वीपर विहार किया करते हैं ॥ ६५ ॥ चौथे सप्ताहमें वे अपने पैर स्थिरतासे

स्खलद्गति सहेलं च संचरंति महीतले ॥ ६५ ॥ ततः स्थिरपदन्यासैर्व्रजंति दिनसप्तकं । कलाज्ञानेन सप्ताहं निर्विशंति गुणैश्च ते ॥ ६६ ॥ परेण सप्तरात्रेण संपूर्णनवयौवनाः । लसदंशुकसद्भूषा जायते भोगभागिन. ॥ ६७ ॥ नवमासं स्थिता गर्भे रत्नगर्भगृहोपमे । यत्र दंपतितामेत्य जायते दानिनो नराः ॥ ६८ ॥ यदा दंपतिसंभूतिर्जनयित्रोः परासुता । तदैव तत्र पुत्रादिसंकल्पो यत्र देहिना ॥ ६९ ॥ क्षुतजृंभितमात्रेण यत्राहुर्मृतिमगिना । स्वभावमार्दवाद्याति दिवमेव यदुद्भवाः ॥ ७० ॥ देहोच्छ्राय नृणा यत्र नानालक्षणसुदरं । धनुषा षट्सहस्राणि विवृण्वंत्याप्तसूक्तयः

रखकर चलने लगते हैं। तथा पांचवें सप्ताहमें उन्हें चौंसठ कलाओंका ज्ञान हो जाता है और वे अनेक गुणोंसे सुशोभित हो जाते हैं ॥ ६६ ॥ छठे सप्ताहमें वे संपूर्ण नव यौवनसे सुशोभित हो जाते हैं और सातवें सप्ताहमें वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित होकर अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंको अनुभव करनेवाले हो जाते हैं ॥ ६७ ॥ जो पुरुष पूर्व भवमें उत्तम दान देते हैं वे उस भोगभूमिमें आकर उत्पन्न होते हैं उन्हें गर्भमेंभी दुःख नहीं होता जैसे कोई रत्नोंके महलमें निवास करे उसीप्रकार वे नौ महीनेतक गर्भमें रहते हैं और फिर स्त्रीपुरुष दोनोंही साथ साथ जन्म लेकर तथा दोनों ही दंपतिपनेको प्राप्त होकर वहां निवास करते हैं ॥६८॥ वहां जिस समय दंपतिका जन्म होता है उसीसमय उनके मातापिताका मरण हो जाता है इसलिये वहांके जीवोंमें पुत्र[1] पुत्री आदिका संकल्प भी नहीं होता है ॥६९॥ केवल छींक और जंभाई लेनेसे ही वहांके जीवोंकी मृत्यु हो जाती है अर्थात् संतान उत्पन्न होनेके समय ही स्त्रीको छींक और पुरुषको जंभाई आती है और उसीसे उन दोनोंकी मृत्यु हो जाती है। उस देशके उत्पन्न होनेवाले जीव स्वभावसे ही कोमल परिणामी होते हैं इसलिये वे मरकर स्वर्गमें ही उत्पन्न होते हैं ॥ ७० ॥ उनका शरीर सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये अनेक लक्षणोंसे सुशोभित होता है गणधरादि देवोंने उनके शरीरकी उंचाई छह हजार धनुष कही है ॥ ७१ ॥ वहांके

१ पुत्र पुत्री आदिका संकल्प न होनेसे उन दोनों दंपतियोंमें साथ साथ उत्पन्न होनेपरभी भाई बहिनका संकल्प नहीं होता है.

॥ ७१ ॥ पल्यत्रयमितं यत्र देहिनामायुरिष्यते । दिनत्रयेण चाहारः कुवलीफलमात्रकः ॥ ७२ ॥ यद्भुवा न जरातंका न वियोगो न शोचनं । नानिष्टसंप्रयोगश्च न चिंता दैन्यमेव च ॥ ७३ ॥ न निद्रा नातितंद्राणं नात्युन्मेषनिमेषणं । न शरीरमलं यत्र न लाला स्वेदसंभवः ॥ ७४ ॥ न यत्र विरहोन्मादो न यत्र मदनज्वरः । न यत्र खंडना भोगे सुखं यत्र निरतरं ॥ ७५ ॥ न विषादो भयं ग्लानिर्नारुचिः कुपितं च न । न कार्पण्यमनाचारो न बली यत्र नावलः ॥ ७६॥ वालार्कसमनिर्भासा निःस्वेदा नीरजोऽवराः । यत्र पुण्योदयान्नित्यं रंरम्यंते नरा॰ सुखं ॥ ७७ ॥ दशागतरुसंभूतभोगानुभवनोद्भवं । सुख यत्रातिशेते ता चक्रिणो भोगसंपदं ॥ ७८ ॥ यत्र दीर्घायुषा नृणा नाकाडे मृत्युसंभवः । निरुपद्रवमायु

जीवोंकी आयु तीन पल्य होती है और वे तीन दिन वाद वदरीफलके (छोटे वेरके) समान आहार लेते हैं ॥ ७२ ॥ वहांके उत्पन्न हुये जीवोंके न तो बुढापा आता है, न रोग होता है, वियोग, शोक, अनिष्टसंयोग, चिंता आदि भी नहीं होते हैं ॥ ७३ ॥ उन्हें न निद्रा आती है न अतिशय तंद्रा आती है उनके न आलस ही होता है और न उनकी आखोंकी टिमिकार लगती है उनके शरीरमें मल मूत्र भी नहीं होता और न लार पसीना आदि होता है ॥ ७४ ॥ वहां किसी विरहसे उत्पन्न होनेवाला उन्माद भी नहीं होता और न वहां किसीके कामज्वर होता है । वहांपर किसीके भोगोपभोगमें कभी विच्छेद भी नहीं होता । केवल वहां निरंतर सुख ही सुख रहता है ॥ ७५ ॥ वहां न किसीको विषाद है न भय है न ग्लानि है न अरुचि है न क्रोध है न कृपणता है न अनाचार है न कोई वलवान है और न कोई निर्वल है ॥ ७६ ॥ वहांके मनुष्य प्रातःकालमें उदय होते हुये सूर्यके समान दैदीप्यमान होते हैं। उनके शरीरपर पसीना नहीं आता वे सदा निर्मल वस्त्रोंसे सुशोभित रहते हैं और अपने पुण्यकर्मके उदयसे सदा सुखपूर्वक क्रीडा किया करते हैं ॥ ७७ ॥ उन्हें दश प्रकारके कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुये भोगोंके अनुभव करनेसे जो सुख मिलता है वह चक्रवर्तीके भोग और संपत्तिकाभी उलंघन करता है । भावार्थ— भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंको जो भोगोप-

स्व जीवंत्युक्तप्रमाणकं ॥ ७९ ॥ सर्वेऽपि समसंभोगाः सर्वे समसुखोदयाः । सर्वे सर्वर्तुजान्भोगान्यत्र विंदंत्यनामयाः ॥ ८० ॥ सर्वेऽपि सुंदराकाराः सर्वे वज्रास्थिबंधनाः । सर्वे चिरायुषः कांत्या गीर्वाणा इव यद्भुवः ॥ ८१ ॥ यत्र कल्पतरुच्छायामुपेत्य ललितास्मितौ । दंपती गीतवादित्रै रमेते सततोत्सवैः ॥ ८२ ॥ कलाकुशलता कल्पदेहत्वं कलकंठता । मात्सर्येर्ष्यादिवैकल्यमपि यत्र निसर्गजं ॥ ८३ ॥ स्वभावसुंदराकाराः स्वभावललितेहिताः । स्वभावमधुरालापा मोदंते यत्र देहिनः ॥ ८४ ॥ दानाद्दानानुमोदाद्वा यत्र पात्रसमाश्रितात् ।

भोगोंके सुख प्राप्त होते हैं वे चक्रवर्तीको कभी नहीं मिल सकते ॥ ७८ ॥ वहांके मनुष्य दीर्घायुवाले होते हैं तथापि वीचमें उनका कभी मरण नहीं होता, वे सदा अपनी पूर्ण आयुको भोगकर ही मरते हैं और ऊपर कही हुई तीन पल्यकी पूर्ण आयुतक उपद्रवरहित सुखसे जीवित रहते हैं ७९ वहांके सब लोगोंकी समान आयु होती है सव समान सुखी होते हैं और सव समान ही नीरोग रहकर सब ऋतुओंके भोगोपभोगोंका अनुभव करते हैं ॥ ८० ॥ वहां उत्पन्न होनेवाले जीव सव सुंदर होते हैं सबके वज्रवृषभ नाराच संहनन होता है सब दीर्घजीवी होते हैं और कांतिसे सब देवोंके समान होते हैं ॥ ८१ ॥ वहांके स्त्रीपुरुष कल्पवृक्षकी छायामें वैठकर कुछ कुछ हंसते हुये गीत वादित्र आदि निरंतर उत्सव करते हुये सदा क्रीडा किया करते हैं ॥ ८२ ॥ वहांपर सब कलाओंमें कुशल होना, दिव्य शरीर प्राप्त होना, मधुर कंठ होना, मात्सर्य ईर्ष्या आदि दोषोंका अभाव होना आदि सब गुण स्वभावसे ही होते हैं ॥ ८६ ॥ वहांके जीवोंका आकार स्वभावसे ही सुंदर होता है उनकी चेष्टा भी स्वभावसे ही सुंदर होती है और उनकी वाणी भी स्वभावसे ही मीठी होती हैं। इस प्रकार वहांके सब जीव सदा प्रसन्न चित्तसे क्रीडा किया करते हैं ॥ ८४ ॥ जो जीव उत्तम पात्रोंको दान देते हैं अथवा उत्तमपात्रको दिये हुये दानकी अनुमोदना करते हैं वे जीव उपर्युक्त भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं और जीवनपर्यंत नीरोग रहकर सदा सुखोंका अनुभव किया करते हैं

प्राणिन. सुखमेधते यावज्जीवमनामयाः ॥ ८५ ॥ कुदृष्टयो व्रतैर्हीनाः केवलं भोगकांक्षिणा । दत्वा दानान्यपात्रेषु तिर्यक्त्वं यत्र यांत्यमी ॥ ८६ ॥ कुशीलाः कुत्सिताचाराः कुवेषा दुरुपोषिता. । मायाचाराश्च जायंते मृगा यत्र व्रतच्युता: ॥ ८७ ॥ मैथुनं मिथुनं तेषां मृगाणामपि जायते । न मिथोऽस्ति विरोधो वा वैरं वैरस्यमेव वा ॥ ८८ ॥ इत्यत्यतसुखे तस्मिन् क्षेत्रे पात्रप्रदानतः । श्रीमती वज्रजघश्च दंपतित्वमुपेयतु' ॥ ८९ ॥ प्रागुक्ताश्च मृगा जन्म भेजुस्तत्रैव भद्रका. । पात्रदानानुमोदेन दिव्यं मानुष्यमाश्रिता ॥ ९० ॥ तथा मतिवराद्याश्च तद्वियोगाद्गता शुचं । दृढधर्मांतिके दीक्षा जैनीमाशिश्रियन्परां ॥ ९१ ॥ ते सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राचारसंपदं । समाराध्य

॥ ८५ ॥ जो जीव मिथ्यादृष्टि और व्रतरहित होते हैं तथा जो केवल भोगोंकी आकांक्षा करके ही अपात्रोंको दान देते हैं वे मरकर उस भोगभूमिमें तिर्यंच उत्पन्न होते हैं ॥ ८६ ॥ जो जीव कुशील हैं अर्थात् जिनका शास्त्रज्ञान नीच कार्योंमें काम आतां है जो हिंसा झूठ चोरी आदि नीच आचरण पालन करते हैं जो कुवेषी हैं मिथ्या उपवास करनेवाले हैं जो मायाचारी और व्रतरहित हैं वे जीव मरकर कुदान और कुतपके प्रभावसे भोगभूमिमें हरिण आदि पशु होते हैं ॥ ८७ ॥ वहांके पशुभी स्त्रीपुरुषके जोडेसे ही उत्पन्न होते हैं उनमें चूहे विल्लीके समान वा सर्प न्योलेके समान परस्पर विरोध भी नहीं होता और न किसीके मानासिक द्वेष रहता है वहांके पशुओंमें नीरसता भी नहीं होती है ॥ ८८ ॥ इस प्रकार अनेक सुखोंसे भरपूर उस भोगभूमिमें पात्रदानके प्रभावसे वे दोनों ही श्रीमती और वज्रजंघ स्त्रीपुरुष होकर उत्पन्न हुये थे ॥ ८९ ॥ पहले कहे हुये नाहर सूकर न्योला और वंदर इन पशुओंने जो पात्रदानकी अनुमोदना की थी वे उस अनुमोदनाके प्रभावसे उसी भोगभूमिमें आकर दिव्य शरीरको धारण करनेवाले भद्र मनुष्य उत्पन्न हुये थे ॥ ९० ॥ इसीप्रकार मतिवर मंत्री आनंद पुरोहित धनमित्र शेठ और अकंपन सेनापति ये चारों ही जीव श्रीमती और वज्रजंघके वियोगसे बडे दुःखी और शोकाकुल हुये थे तथा चारोंने ही दृढधर्म नामके आचार्यके समीप उत्कृष्ट

यथाकालं स्वर्गलोकमयासिषुः ॥ ९२ ॥ अधोग्रैवेयकस्याधो विमाने तेऽहमिंद्रतां । प्राप्तास्तपोऽनुभावेन तपो हि फलतीप्सितं ॥ ९३ ॥ अथातो वज्रजंघार्यः कातया सममेकदा । कल्पपादपजां लक्ष्मीमीक्षमाणः क्षणं स्थितः ॥ ९४ ॥ सूर्यप्रभस्य देवस्य नभोयायि विमानकं । दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा प्रबुद्धः प्रियया समं ॥ ९५ ॥ तावच्चारणयोर्युग्मं दूरादागच्छदैक्षत । तं च तावनुगृह्णंतौ व्योम्नः समवतेरतुः ॥ ९६ ॥ दृष्ट्वा तौ सहसाऽस्यासीदभ्युत्थानादिसंभ्रमः । संस्काराः प्राक्तना नूनं प्रेरयंत्यंगिनो हि ते ॥ ९७ ॥ अभ्युत्तिष्ठन्नसौ रेजे मुनींद्रौ सह कांतया । नलिन्या दिवसः सूर्यप्रतिसूर्याविवोद्गतौ ॥ ९८ ॥ तयोराधिपदद्वंद्वं दत्तार्घः प्रणनाम सः । आनंदाश्रुलवैः सार्द्रैः

जैनेश्वरी दीक्षा धारण की थी ॥ ९१ ॥ इन चारोंने ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयरूप संपत्तिका आराधन किया था इसलिये वे चारों ही अपनी २ आयुके अनुसार शरीर छोड़कर स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये थे ॥९२॥ वे चारों ही तपश्चरणके प्रभावसे अधोग्रैवेयकके सबसे नीचेके विमानमें अहमिंद्र हुये थे। सो ठीक ही है तपश्चरणके प्रभावसे अभीष्ट फलोंकी प्राप्ति होती ही है ९३

अथानंतर एक दिन यह वज्रजंघ आर्य अपनी प्रियतमाके साथ २ कल्पवृक्षकी शोभा देखता हुआ क्षणभर बैठा ही था ॥ ९४ ॥ कि इतनेमें ही सूर्यप्रभ नामके देवका विमान आकाशमें जाता हुआ वहांसे निकला उसे देखकर उन दोनोंको जातिस्मरण (पूर्वभवका स्मरण आजाना) हुआ और साथ २ संसारके स्वरूपका ज्ञान भी उन्हें हुआ ॥ ९५ ॥ वह वज्रजंघका जीव संसारका स्वरूप विचार ही रहा था कि इतनेमें ही उसे दूरसे आते हुये दो चारणमुनियोंके दर्शन हुये। वे दोनों मुनि भी वज्रजंघके जीवपर अनुग्रह करते हुये आकाशसे उतरपडे ॥ ९६ ॥ वज्रजंघने भी उन दोनोंको देखकर बहुत शीघ्र खडे होकर आदरसत्कार कर आसन दिया ॥ ९७ ॥ सो ठीक ही है जीवोंको अपना हित करनेमें पूर्वभवके लगे हुये संस्कार ही प्रेरणा करते हैं ॥ ९८ ॥ मुनिराजका आदर सत्कार करता हुआ वह वज्रजंघ अपनी प्रियतमा श्रीमतीके साथ २ ऐसा शोभायमान होता

क्षालयन्निव तत्क्रमौ ॥ ९९ ॥ तमाशीर्भिरथाश्वास्य प्रणतं प्रमदान्वितं । यतेः समुचितं देशमध्यासीनौ यथाक्रमं ॥ १०० ॥ ततः सुखोपविष्टौ तौ सोऽपृच्छदिति चारणौ । लसद्दंतांशुसतानैः पुष्पांजलिमिवाकिरन् ॥ १०१ ॥ भगवंतौ युवां कत्यौ कुतस्त्यौ किन्तु कारणं । युष्मदागमने ब्रूतमिदमेतत्तथाऽद्य मे ॥ १०२ ॥ युष्मत्संदर्शनाज्जातसौहार्दं मम मानसं । प्रसीदति किमु ज्ञातपूर्वौ ज्ञाती युवां मम ॥ १०३ ॥ इति प्रश्नावसानेऽस्य मुनिर्ज्यायानभाषत । दशनांशुजलोत्पीडैः क्षालयन्निव तत्तनुं ॥ १०४ ॥ त्वं विद्धि मां स्वयंबुद्धं यतोऽबुद्धाः प्रबुद्धधीः ।

था जैसे उदय होते हुये सूर्य और प्रतिसूर्यके समीप नलिनीके साथ दिवस सुशोभित होता है ॥९८॥ वज्रजंघने उन दोनों मुनिराजोंके चरणकमलोंमें अर्घ दिया और उन्हें प्रमाण किया। अर्घ देते और प्रणाम करते समय वज्रजंघके नेत्रोंसे आनंदसे निकला हुआ वहुतसा आंसुओंका पानी निकल रहा था उससे वह ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों उस अश्रुजलसे मुनिराजके चरणकमलोंका प्रक्षालन ही कर रहा हो ॥ ९९ ॥ उन दोनों मुनियोंने श्रीमतीके साथ २ प्रणाम करते हुये वज्रजंघको आशीर्वाद देकर आश्वासन दिया और वे दोनों ही यथाक्रमसे अपने २ योग्य स्थानपर विराजमान हो गये ॥ १०० ॥ जब वे दोनों ही चारण मुनि सुखसे विराजमान होगये तब सुशोभित दांतोंकी किरणसमूहसे मानों पुष्पांजलिको वखेरता हुआ वज्रजंघ उन मुनियोंसे इसप्रकार पूछने लगा ॥१०१॥ कि हे भगवन्! आपका निवास कहां है यहां आप कहांसे आये हैं आपके आनेका मुख्य कारण क्या है यह सब आज मुझसे कहिये ॥ १०२ ॥ हे प्रभो आपके दर्शन करनेसे मेरा चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ है ऐसा जान पडता है कि आप मेरे पूर्वभवके परिचित बंधु हैं ॥ १०३ ॥ वज्रजंघके इसप्रकार प्रश्न कर चुकनेपर अपने दांतोंकी किरणरूपी जलसमूहसे वज्रजंघके शरीरका प्रक्षालन करते हुये ज्येष्ठ मुनि कहने लगे ॥ १०४ ॥ कि हे आर्य! तू मुझे स्वयंबुद्ध मंत्रीका जीव जान, जिससे तूने इस भवसे चौथे भवमें राजा महाबलकी पर्यायमें प्रसन्न चित्त होकर कर्मोंको नाश करनेवाले

महावलभवे जैनं धर्मं कर्मनिवर्हणं ॥ १०५ ॥ त्वद्वियोगादहं जातनिर्वेदो बोधमाश्रितः । दीक्षित्वाऽभूवमुत्सृष्टदेहः सौधर्मकल्पजः ॥१०६॥ स्वयंप्रभविमानेग्रे मणिचूलाह्वयः सुर. । साधिकाब्ध्युपमायुष्कस्ततश्च्युत्वा भुवं श्रितः ॥ १०७ ॥ जंबूद्वीपस्य पूर्वस्मिन्विदेहे पौष्कलावते । नगर्यां पुंडरीकिण्यां प्रियसेनमहीभृतः ॥ १०८ ॥ सुंदर्याश्च सुतोऽभूवं जायान्प्रीतिकराह्वय. । प्रीतिदेवः कनीयान्मे मुनिरेष महातपा । १०९ ॥ स्वयंप्रभजिनोपाते दीक्षित्वाऽऽवामलप्स्वहि । सावधिज्ञानमाकाशचारणत्वं तपोवलात् ॥ ११० ॥ बुध्वाऽवधिमयं चक्षुर्व्यापार्योजयसंगतं । त्वामावामिह संभूतं प्रबोधयितुमागतौ ॥ १११ ॥ विदाकुरु कुरुष्वार्य पात्रदानविशेषतः । समुत्पन्नामिहात्मानं विशुद्धाद्दर्शनाद्विना ॥ ११२ ॥

जैनधर्मका स्वरूप जाना था ॥ १०५ ॥ उस भवमें तेरे स्वर्गवासके अनंतर तेरे वियोगसे विरक्त होकर मैंने दीक्षा धारण की थी और सम्यग्ज्ञान प्राप्तकर शरीर छोडकर सौधर्म स्वर्गके स्वयंप्रभविमानमें मणिचूल देव हुआ था। वहांसे चयकर यहां मनुष्य हुआ हूं ॥ १०६–१०७ ॥ जंबूद्वीपके पूर्वविदेह क्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा प्रियसेन रानी सुंदरीके प्रीतिंकर नामका मैं जेष्ठ पुत्र हुआ हूं। यह प्रीतिदेव नामका महातपस्वी मेरा छोटा भाई है ॥ १०८–१०९ ॥ हम दोनों भाइयोंने श्रीस्वयंप्रभ जिनेंद्रके समीप दीक्षा ली है और तपश्चरणके प्रभावसे हम दोनोंको ही अवधि ज्ञान और आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त हुई है ॥ ११० ॥ हे आर्य ! हम दोनोंने अवधिज्ञानरूपी चक्षुको उसके पूर्ण विस्तार होनेतक फैलाया और देखा कि तू यहां आकर उत्पन्न हुआ है इसलिये तुझे समझानेकेलिये ही हम दोनों यहां आये हैं ॥१११॥ हे आर्य ! तू निश्चय समझ कि विशुद्ध सम्यग्दर्शनके विना ही केवल पात्रदान देनेसे तू यहां उत्तरकुरुमें आकर उत्पन्न हुआ है ॥११२॥ महाबलकी पर्यायमें तेने हमसे ही जैनधर्मका स्वरूप समझकर (समाधिमरण पूर्वक) शरीर छोडा था परंतु उससमय तेरी भोगोंकी आकांक्षा नहीं छूटी थी इसलिये उससमय तुझे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता प्राप्त नहीं हुई थी ॥ ११३ ॥ अब हम दोनों सर्वोत्कृष्ट और स्वभावसे ही स्वर्गमोक्षका कारण ऐसे सम्यग्दर्शनको तुझे

महाबलभवेऽस्मचो बुध्वा त्यक्ततनुस्थितिः । नालब्धो दर्शने शुद्धिं भोगकांक्षानुबंधतः ॥ ११३ ॥ तस्मात्ते दर्शनं सम्यग्विशेषणमनुत्तरं । आयातौ दातुकामौ स्वः स्वर्मोक्षसुखसाधनं ॥ ११४ ॥ तद्गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एष ते । काललब्ध्या विना नार्य तदुत्पत्तिरिहांगिनां ॥ ११५ ॥ देशनाकाललब्ध्यादिबाह्यकारणसंपदि । अंतःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्याद्विशुद्धदृक् ॥ ११६ ॥ शमाद्दर्शनमोहस्य सम्यक्त्वादानमादितः । जंतोरनादिमिथ्यात्वकलंककलिलात्मनः ॥ ११७ ॥ यथा पित्तोदयोद्भ्रांतस्वांतवृत्तेस्तदत्ययात् । यथार्थदर्शनं तद्वदंतमोहोपशांतितः ॥ ११८ ॥ अनिर्धूय तमो नैशं यथा नोदयतेंऽशुमान् । तथाऽनुद्भिद्य मिथ्यात्वतमो नोदेति दर्शनं ॥ ११९ ॥ त्रिधा

देनेकी इच्छासे ही यहां आये हैं ॥ ११४ ॥ इसलिये हे आर्य! आज तू सम्यग्दर्शन स्वीकार कर उसके ग्रहण करनेका यह समय है। काललब्धिके विना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति कभी नहीं होती है ॥११५॥ जब गुरुका उपदेशरूप देशनालब्धि तथा काललब्धि आदि वाह्य कारणरूप संपत्तिकी प्राप्ति होती है और दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अतरंगकारणरूप सामिग्रीकी प्राप्ति होती है तब इस भव्यजीवको विशुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ॥ ११६ ॥ जिस जीवके सम्यग्दर्शनको घात करनेवाले मोहनीयकर्मका उदय है तथा जिसका आत्मा अनादिकालसे लगे हुये मिथ्यात्वरूपी कलंकसे दूषित हो रहा है ऐसे इस जीवको प्रथम ही दर्शनमोहनीयका उपशमकर सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये ॥ ११७ ॥ जैसे पित्तका विकार उत्पन्न होनेसे चित्तकी वृत्ति भ्रांत हो जाती है और चित्तकी वृत्ति भ्रांत होनेसे यथार्थ दर्शन नहीं होता है जब पित्तका विकार दूर हो जाता है तब अपनेआप यथार्थ दर्शन हो जाता है। उसीप्रकार अंतरंगकारणरूप मोहनीयकर्मके उपशम होनेसे यथार्थ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ॥ ११८ ॥ जैसे सूर्य रात्रिका अंधकार दूर किये विना उदय नहीं होता है उसीप्रकार सम्यग्दर्शन भी मिथ्यात्वरूप अंधकारको नष्ट किये विना प्राप्त नहीं होता है ॥ ११९ ॥ यह भव्यजीव अधःकरण, अपूर्वकरण और

विपाट्य मिथ्यात्वप्रकृतिं करणैस्त्रिभिः । भव्यात्मा ह्रासयन् कर्मस्थितिं सम्यक्त्वभाग्भवेत् ॥ १२० ॥ आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं तन्मूले ज्ञानचेष्टिते ॥ १२१ ॥ आत्मादिमुक्तिपर्यंततत्त्वश्रद्धानमंजसा । त्रिभिर्मूढैरनालीढमष्टांगं विद्धि दर्शनं ॥ १२२ ॥ तस्य प्रशमसंवेगावास्तिक्यं चानुकंपनं । गुणाः श्रद्धारुचिस्पर्शप्रत्ययाश्चेति पर्ययाः ॥ १२३ ॥ तस्य निःशंकितत्वादीन्यष्टावंगानि निश्चिनु । यैरंशुभिरिवाभाति रत्नं सद्दर्शनाह्वयं ॥ १२४ शंका जहीहि सन्मार्गे भोगकांक्षामपाकुरु । विचिकित्साह्वयं हित्वा

अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंके द्वारा मिथ्यात्व समयमिथ्यात्व और समयप्रकृतिमिथ्यात्व इस तीनों प्रकारके मिथ्यात्वको नष्टकर तथा कर्मोंकी स्थितियोंको अत्यंत सूक्ष्मकरके सम्यग्दर्शनका ग्रहण करता है ॥ १२० ॥ श्री अरहंतदेवके कहे हुये आगम और पदार्थोंका अत्यंत प्रसन्नचित्तसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, सम्यग्दर्शनके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं ॥१२१॥ तीन मूढता रहित और आठ अंगसहित जीवादिमोक्षपर्यंत सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥ १२२॥ प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार सम्यग्दर्शनके गुण हैं तथा श्रद्धा, रुचि, स्पर्श और प्रत्यय (प्रतीति) ये सम्यग्दर्शनके पर्याय हैं ॥ १२३ ॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ सम्यग्दर्शनके अंग हैं, जैसे किरणोंसे रत्न सुशोभित होता है उसीप्रकार इन अंगरूपी किरणोंसे यह सम्यग्दर्शनरूपी रत्न सदा सुशोभित रहता है ॥ १२४ ॥ हे आर्य ! तू इस श्रेष्ठ जिनमार्गमें (जैनमतमें) कोई संदेह मत कर अर्थात् निःशंकित अंग धारण कर, भोगोपभोगोंकी आकांक्षा छोडकर निःकांक्षित अंग धारण कर, अपने शरीरकी ग्लानि तथा अन्य पदार्थोंकी ग्लानि छोडकर निर्विचिकित्सा अंग धारण कर । कुमार्ग और कुमार्गको सेवन करनेवाले पुरुषोंकी प्रशंसा आदिका त्यागकर अमूढदृष्टि चौथा अंग स्वीकार कर, किसी अशक्त वा बालकके द्वारा उत्पन्न हुये दोषोंको छिपाकर धर्मकी सहायता

भजस्वामूढदृष्टिता ॥ १२५ ॥ कुरूपवृंहण धर्मे मलस्थाननिगूहनै. । मार्गाच्चलति धर्मस्थे स्थितीकरणमाचर ॥ १२६ ॥ रत्नत्रितयवत्यार्यसंघे वात्सल्यमातनु । विधेहि शासने जैने यथाशक्ति प्रभावना ॥ १२७ ॥ देवतालोकपार्षंडव्यामोहाश्च समुत्सृज । मोहांधो हि जनस्तत्वं पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १२८ ॥ प्रतीहि धर्मसर्वस्व दर्शनं चारुदर्शन । तस्मिन्नाप्ते दुरापाणि न सुखानीह देहिना ॥ १२९ ॥ लब्धं तेनैव सज्जन्म स कृतार्थः स पंडित. । परिस्फुराति निर्व्याज यस्य सद्दर्शनं हृदि ॥ १३० ॥ सिद्धिप्रासादसोपानं विद्धि दर्शनमाग्रिमं दुर्गतिद्वारसरोधि कवाटपटमूर्जितं ॥ १३१ ॥ स्थिरं धर्मतरोर्मूल द्वारं स्वर्मोक्षवेश्मनः । शीलाभरणहारस्य तरलं तरलोपमं ॥ १३२ ॥ अलंकरिष्णु

कर अर्थात् उपगूहन अंग धारण कर। यदि कोई जीव किसीकारणसे इस पवित्र जैनमार्गसे चलायमान होता हो वा इसे छोडना चाहता हो तो उसे धर्ममें स्थिर करके स्थिरीकरण वा स्थितीकरण अंगका पालन कर ॥ १२५–१२६ ॥ इसीप्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले जीवोंमें तथा मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका इन चारोंप्रकारके संघोंमें प्रेम धारणकर वात्सल्य अंगका पालन कर। तथा विद्या तपश्चरण आदिके द्वारा जैनमतका माहात्म्य प्रगटकर प्रभावना अंगका पालन कर ॥ १२७ ॥ इन आठ अंगोंके पालन करनेके साथ साथ देवमूढता लोकमूढता और पाखंडिमूढता इन तीनों मूढताओंकाभी त्याग कर। क्योंकि इन तीनों मूढताओंसे अंधा हुआ मनुष्य तत्त्वोंको देखता हुआ भी नहीं देखता है अर्थात् तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है इसलिये तीनों मूढता अवश्य छोडनी चाहिये ॥ १२८ ॥ हे आर्य! सम्यग्ज्ञानकर सहित इस सम्यग्दर्शनको धर्मका सारभूत पदार्थ समझ। सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे फिर संसारमें ऐसा कोई सुख नहीं है जो जीवोंको दुर्लभ हो ॥ १२९ ॥ इस संसारमें जिसके हृदयमें कपटरहित सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उसीका जन्म सफल है संसारमें वही कृतार्थ है और वही पंडित है ॥ १३० ॥ यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहलमें चढनेकेलिये प्रथम सीढी है तथा नरकादि दुर्गतियोंके द्वार रोकनेकेलिये बंद

रोचिष्णु रत्नसारमनुत्तरं । सम्यक्त्वं हृदये धत्स्व मुक्तिश्रीहारविभ्रमं ॥ १३३ ॥ सम्यग्दर्शनसद्रत्नं येनासादि दुरासदं । सोऽचिरान्मुक्तिपर्यंता सुखतातिमवाप्नुयात् ॥ १३४ ॥ लब्धसद्दर्शनो जीवो मुहूर्तमपि पश्य यः । संसारलतिकां छित्वा कुरुते ऱ्हासिनीमसौ ॥ १३५ ॥ सुदेवत्वसुमानुष्ये जन्मनी तस्य नेतरत् । दुर्जन्म जायते जातु हृदि यस्यास्ति दर्शनं ॥ १३६ ॥ किं वा बहुभिरालापैः श्लाघैवैवास्तु दर्शने । लब्धेन येन ससारो यात्यनतोऽपि सातता ॥ १३७ ॥ तत्त्वं जैनेश्वरीमाज्ञामस्मद्वाक्यात्प्रमाणयन् । अनन्यशरणो भूत्वा

किये हुये मजबूत कपाट (किवाड) है ॥ १३१ ॥ तथा धर्मरूपी वृक्षकी मजबूत जड है, स्वर्गलोकरूपी घरमें जानेकेलिये खुलाहुआ द्वार है और शीलरूपी आभरणका दैदीप्यमान मुख्य रत्न है ॥१३२॥ यह सम्यग्दर्शन इस जीवको सुशोभित करनेवाला है, सन्मार्गमें रुचि वढानेवाला है, समस्तरत्नोंका सारभूत है, उपमारहित है और मुक्तिरूपीलक्ष्मीके हारमें विलास करनेवाला है। हे आर्य! ऐसे इस सम्यग्दर्शनको तू अपने हृदयमें धारण कर ॥ १३३ ॥ जिन पुरुषोंको अत्यंत दुर्लभ यह सम्यग्दर्शनरूपी उत्तमरत्न प्राप्त हो जाता है उन्हें इंद्र चक्रवर्ती आदि मोक्षपर्यंतके समस्त सुख वहुत शीघ्र ही प्राप्त होते हैं ॥ १३४ ॥ हे आर्य! देख! यदि मुहूर्त्तमात्रके लिये भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाय तो यह जीव संसाररूपी लताको काटकर उसे बहुत छोटी कर देता है ॥१३५॥ जिसके हृदयमें सम्यग्दर्शन विराजमान है वह इंद्रादिक देवपर्यायमें वा चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि उत्तम मनुष्य पर्यायमें ही जन्म धारण करता है उसे अन्य नारकी और तिर्यंचोंके खोटे जन्म कभी धारण नहीं करने पडते ॥ १३६ ॥ इस सम्यग्दर्शनकी अधिक प्रशंसा करना व्यर्थ है इसकी केवल एक यही प्रशंसा बहुत है कि इसके प्राप्त होनेसे इस अनंत संसारका भी अंत हो जाता है अर्थात् उसका संसारपरिभ्रमण छूटकर उसे शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १३७ ॥ हे आर्य! तू श्रीजिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको तथा मेरे कहे हुये वाक्योंको प्रमाण मानकर और अन्य देवोंका शरण छोडकर सम्यग्दर्शन स्वीकार कर

प्रतिपद्यस्व दर्शनं ॥ १३८ ॥ उत्तमागमिवाङ्गेषु नेत्रद्वयमिवानने । मुक्त्यङ्गेषु प्रधानाङ्गमाप्ताः सद्दर्शनं विदुः ॥ १३९ ॥ अपास्य लोकपाषांडिदेवतासु विमूढता । परतीर्थैरनालीढमुज्ज्वलीकुरु दर्शनं ॥ १४० ॥ संसारलतिकायाम छिंदि सद्दर्शनासिना । नासि नाऽऽसन्नभव्यस्त्वं भाविष्यत्तीर्थनायक. ॥ १४१ ॥ सम्यक्त्वमविकृत्यैवमाप्तसूक्त्यनुसारत. । कृतार्थं देशनाऽस्मामिर्ग्राह्यैषा श्रेयसे त्वया ॥ १४२ ॥ त्वमप्यंबावलंबेथाः सम्यक्त्वमविलंबितं । भवाबुधेस्तरंड तत्स्त्रैणात्किं बत खिद्यसि ॥ १४३ ॥ सद्दृष्टे स्त्रीष्वनुत्पात्तिः पृथिवीष्वपि षट्स्वधः । त्रिषु देवनिकायेषु नीचेष्वन्येषु वाङ्गिके ॥ १४४ ॥ धिगिदं स्त्रैणमश्लाघ्यं नैर्ग्रंथ्यप्रतिबंधि यत् । कारीषाग्निनिभं तापं निराहुस्तत्र

॥ १३८ ॥ जैसे शरीरके अंगोंमे शिर प्रधान है और मुखमें नेत्र प्रधान हैं उसीप्रकार गणधरादिक देव मोक्षके कारणोंमें सम्यग्दर्शनको ही प्रधान कारण मानते हैं ॥ १३९ ॥ हे आर्य! तू लोकमूढता पाखंडिमूढता और देवमूढता इन तीनों मूढताओंका त्याग कर और मिथ्यादृष्टी जीव जिसे कभी स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ऐसे इस सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर ॥ १४० ॥ सम्यग्दर्शनरूपी तलवारसे संसाररूपी लताओंके बनको काट। हे आर्य! तू आसन्नभव्य है और आगे तीर्थंकर होनेवाला है ॥ १४१ ॥ इसलिये श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुसार सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर और मोक्षरूप कल्याण प्राप्त करनेकेलिये हमारा यह उपदेश स्वीकार कर ॥ १४२ ॥ इसप्रकार वे मुनिराज वज्रजंघके जीवको समझाकर श्रीमतीके जीवसे भी कहने लगे कि हे मातः तूभी बहुत शीघ्र ही संसाररूपी समुद्रसे पार करनेवाले इस सम्यग्दर्शनको स्वीकार कर। वृथा ही स्त्रीपर्यायमें क्यों खेद-खिन्न हो रही है ॥ १४३ ॥ हे मातः! सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रीपर्यायमें उत्पन्न नहीं होता तथा दूसरेसे सातवें तक नीचेके छह नरकोंमें, भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क इन तीनों प्रकारके देवोंमें और एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय असेनी पंचेंद्रिय आदि अन्य नीच कुलोंमें भी कभी उत्पन्न नहीं होता है ॥ १४४ ॥ इस निंद्य स्त्रीपर्यायको धिक्कार हो। यह स्त्रीपर्याय निर्ग्रंथ मुनियोंका धर्म पालन करनेके

तद्विदः ॥ १४५ ॥ तदेतत्स्त्रैणमुत्सृज्य सम्यगाराध्य दर्शनं । प्राप्ताऽसि परमस्थानसप्तकं त्वमनुक्रमात् ॥ १४६ ॥ युवा कतिपयैरेव भवैः श्रेयोऽनुबंधिभिः । ध्यानाग्निदग्धकर्माणौ प्राप्तास्थः परमं पदं ॥ १४७ ॥ इति प्रीतिंकराचार्यवचनं स प्रमाणयन् । सजानिरादधे सम्यग्दर्शनं प्रीतमानसः ॥ १४८ ॥ स सद्दर्शनमासाद्य सप्रियः प्रिप्रिये तरां । पुष्णात्यलब्धलाभो हि देहिना महतीं धृतिं ॥ १४९ ॥ प्राप्य सूत्रानुगां हृद्यां सम्यग्दर्शनकंठिकां । यौवराज्यपदे सोऽस्थान्मुक्तिसाम्राज्यसंपदः ॥ १५० ॥ साऽपि सम्यक्त्वलाभेन नितरामतुषत्सती । विशुद्धपुस्त्वयोगेन निर्वाणमभिलापुका ॥ १५१ ॥ अलब्धपूर्वमास्वाद्य सद्दर्शनरसायनं । प्रापतुस्तौ परां पुष्टिं धर्मे कर्मनिवर्हणे ॥ १५२॥

लिये प्रतिवंधक है और इस पर्यायमें विद्वानोंने कारीष जातिकी अग्निके (सूके गोवरकी अग्निके) समान तीव्र कामका संताप निरूपण किया है ॥१४५॥ हे मातः! अब तू सम्यग्दर्शनका आराधनकर और इस निंद्य स्त्रीपर्यायको छोडकर अनुक्रमसे 'उत्कृष्टजाति' श्रावकके व्रत, यतिके व्रत, इंद्रपद, चक्रवर्तीका पद, केवलज्ञान और निर्वाण इन सातों परमस्थानोंको प्राप्त होगी ॥ १४६ ॥ तुम दोनों ही जीव कल्याण करनेवाले थोडेसे भव धारणकर और अंतमें ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको नष्टकर मोक्षस्थानको प्राप्त होओगे ॥ १४७ ॥ इसप्रकार श्रीप्रीतिंकर आचार्यके वचनोंको प्रमाण मानकर वज्रजंघके जीवने अपनी स्त्री श्रीमतीके जीवके साथ साथ प्रसन्न चित्त होकर सम्यग्दर्शन धारण किया ॥ १४८ ॥ वह वज्रजंघका जीव अपनी प्रियाके साथ २ सम्यग्दर्शन धारण कर वहुत ही प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है अपूर्व वस्तुका लाभ होनेसे प्राणियोंको अपार संतोष होता ही है ॥ १४९ ॥ जैसे कोई राजकुमार सूत्रमें पोई हुई मालाको पहनकर युवराजकी पदवीको सुशोभित करता है उसी-प्रकार वह आर्य जैनसिद्धांतके सूत्रोंमें पोये हुये और अति मनोहर ऐसे कंठाभरणको पाकर मुक्तिरूपी राज्यसंपदाके युवराजपदको सुशोभित करने लगा ॥ १५० ॥ विशुद्ध पुरुषपर्याय पाकर मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा करती हुई वह सती आर्या भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेसे बहुत ही संतुष्ट हुई ॥ १५१ ॥

शार्दूलार्यादयोऽप्याभ्यां समं सद्दर्शनामृतं । तथा भेजुर्गुरोरस्य पादमूलमुपाश्रिताः ॥ १५३ ॥ तौ दंपती कृतानंदसंदर्शितमनोरथौ । मुनींद्रौ धर्मसंवेगाच्चिरस्यास्पृक्षता मुहु ॥१५४॥ जन्मांतरनिबद्धेन प्रेम्णा विस्फारितेक्षण. । क्षणं मुनिपदांभोजसंस्पर्शात्सोऽन्वभून्धृति ॥ १५५ ॥ कृतप्रणाममाशीर्भिराशास्य तमनुस्थितं । ततो यथोचितं देशं तावृषी गंतुमुद्यतौ ॥ १५६ ॥ पुनर्दर्शनमस्त्वार्य सद्धर्मं मा स्म विस्मरः । इत्युक्त्वाऽतर्हितौ सद्यश्चारणौ व्योमचारणौ ॥ १५७ ॥ गतेऽथ चारणद्वंद्वे सोऽभूदुत्कंठितः क्षणं । प्रेयसां विप्रयोगो हि मनस्तापाय

वे दोनों ही दंपती अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी रसायन पाकर कर्मको नाश करनेवाले जिनधर्ममें वडे ही दृढ होगये ॥ १५२ ॥ पहले कहे हुये सिंह वानर न्योला और सूकरके जीव जो कि इसी भोगभूमिमें आर्य हुये थे वे भी इसीप्रकार श्रीप्रीतिंकर गुरुके चरणकमलोंका आश्रय लेकर श्रीमती और वज्रजंघके जीवके साथ सम्यग्दर्शनरूपी अमृतको सेवन करने लगे ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही दंपती आनंद रूप मनोरथकी सिद्धिको प्राप्त हुये थे और वे दोनों ही चारणमुनि केवल धर्मप्रेमसे उन दोनोंके शिरपर बार बार हाथ फेरते थे ॥ १५४ ॥ पूर्व जन्मकी महावलपर्यायके समय स्वयंबुद्ध मंत्रीके साथ जो प्रेम था उसी प्रेमके संस्कारसे वह वज्रजंघका जीव श्रीप्रीतिंकर आचार्यके चरणकमलोंको आंखे फाड फाडकर देखता था और क्षणभर उनका स्पर्श करनेसे वडा ही आनंदित होता था ॥१५५॥ तदनंतर वे दोनों ही चारणमुनि अपने योग्य देशमें जानेके लिये तैयार हुये, उससमय वज्रजंघके जीवने भी उन्हें प्रणाम किया तथा थोडीदूरतक उनके पीछे २ चलनेके लिये तैयार हुआ, चलते समय दोनों मुनियोंने भी उसे आशीर्वाद देकर आश्वासन दिया और कहा कि हे आर्य ! फिर भी तेरा दर्शन हो, तू इस सम्यग्दर्शनरूप उत्तम धर्मको भूलना मत। यह कहकर वे दोनों ही चारण मुनि बहुत शीघ्र आकाशमार्गसे गमन करगये ॥ १५६--१५७ ॥ उन दोनों चारणमुनियोंके चलेजानेके वाद वह वज्रजंघका जीव क्षणेक उत्कंठित हुआ सो ठीक ही है प्रेमकरनेवाले मनुष्योंके वियोग

कल्प्यते ॥ १५८ ॥ मुहुर्मुनिगुणाध्यानैरार्दयन्नात्मनो मनः । इति चिंतामसौ भेजे चिरं धर्मानुबंधिनीं ॥ १५९ ॥ धुनोति दवथुं स्वाताच्चनोत्यानंदथुं परं । धिनोति च मनोवृत्तिमहो! साधुसमागमः ॥ १६० ॥ मुष्णाति दुरितं दूरात्परं पुष्णाति योग्यतां । भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति, प्रायः साधुसमागमः ॥ १६१ ॥ साधवो मुक्तिमार्गस्य साधनेऽर्पितधीधनाः । लोकानुवृत्तिसाध्याशो नैषा कश्चन पुष्कलः ॥ १६२ ॥ परानुग्रहबुध्या तु केवलं मार्गदेशनं । कुर्वतेऽमी प्रगत्यापि निसर्गोऽय महात्मना ॥ १६३ ॥ स्वदुःखे निर्घृणारंभाः परदुःखेषु दुःखिताः । निर्व्यपेक्ष परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥ १६४ ॥ क्व वयं निःस्पृहाः क्वेमे क्वेयं भूमिः सुखोचिता । तथाऽप्य-

---

होनेपर मनको संताप होता ही है ॥१५८॥ वह बार बार मुनियोंके गुण चिंतवनकर मनको सुकोमल करनेलगा और बडी देरतक धर्मको वढानेवाले नीचे लिखे हुये विचारोंका चिंतवन करने लगा ॥ १५९ ॥ वह सोचने लगा कि देखो मुनियोंका समागम कैसा आश्चर्यजनक है। वह हृदयका सब संताप दूर कर देता है आनंदको वढाता है और मनकी वृत्तिको प्रसन्न कर देता है ॥ १६० ॥ मुनियोंका समागम करनेसे पाप सब दूरसे ही भाग जाते हैं। मोक्ष पास होनेकी उत्कृष्ट योग्यता और भी वढ जाती है और आत्माको बार बार सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १६१ ॥ ये साधुजन मोक्षमार्गको सिद्ध करनेमें बडे ही सावधान रहते हैं। सांसारिक लोगोंको प्रसन्न करनेके लिये इन्हें कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता है ॥ १६२ ॥ ये मुनि केवल जीवोंका कल्याण करनेकेलिये उनके समीप जाकर भी मोक्षमार्गका उपदेश दिया करते हैं सो ठीक ही है केवल अनुग्रहबुद्धिसे सन्मार्गका उपदेश देना महात्मापुरुषोंका स्वभाव ही है ॥ १६३ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले ये साधुजन अपने ऊपर दुःख आजानेपर कोई किसीप्रकारका उद्यम नहीं करते हैं दूसरेके दुःखमें सदा दुःखी रहते हैं और दूसरोंके कार्यसिद्ध करनेमें सदा अपेक्षा रहित होकर कमर कसकर तैयार रहते हैं ॥ १६४ ॥ देखो! कहां तो निस्पृह हमलोग? कहां ये सिंह, शूकरादिके जीव और कहां यह केवल सुखमय भोग-

नुग्रहेऽस्माकं सावधानास्तपोधनाः ॥ १६५ ॥ भवंतु सुखिनः सर्वे सत्त्वा इत्येव केवलं। यतो यतंते तेनैषा यतित्वं सन्निरुच्यते ॥ १६६ ॥ एवं नाम महीयासः परार्थे कुर्वते रतिं । दूरादपि समागत्य यथैतौ चारणावुभौ ॥ १६७ ॥ अद्यापि चारणौ साक्षात्पश्यामीव पुरःस्थितौ । तपस्तनूनपाचापतनूकृततनू मुनी ॥ १६८ ॥ चारणौ चरणद्वंद्वे प्रणतं मृदुपाणिना । स्पृशंतौ स्नेहनिघ्नं मा व्यधाताधिमस्तकं ॥ १६९ ॥ अपिप्यता च मा धर्मतृषित दर्शनामृतं । अपास्य भोगसंतापं निर्वृतं येन मे मनः ॥ १७० ॥ सत्यं प्रीतिंकरो जायान्मुनिर्योऽस्मास्वदर्शयत् ॥ प्रीतिं सर्वत्रगः प्रीतः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ १७१ ॥ महाबलभवेऽप्यासीत्स्वयंबुद्धो गुरुः स

भूमि। उन मुनियोंने इनका कुछ भी विचार नहीं किया। देखो! वे तपस्वी केवल हमारा कल्याण करनेकेलिये कैसे सावधान हैं ॥ १६५ ॥ वे साधुजन सदा यही प्रयत्न किया करते हैं कि संसारके समस्त जीव सुखी हों और इसलिये ही लोग उन्हें यति कहते हैं ॥ १६६ ॥ जैसे इन दोनों चारणमुनियोंने दूरसे आकर मेरा उपकार किया है इसीप्रकार महापुरुष दूरदूरसे आकर भी दूसरोंका उपकार करनेमें सदा आसक्त रहते हैं ॥ १६७ ॥ जिनका शरीर तपश्चरणरूपी अग्निसे अत्यंत कृश होगया है ऐसे उन दोनों चारणमुनियोंको मैं अब भी साक्षात् देख रहा हूं मानों वे अब भी मेरे सामने विराजमान होकर मुझे उपदेश दे रहे हैं ॥१६८॥ मैं उनके चरणकमलोंमें प्रणाम कर रहा हूं और वे दोनों ही चारण मुनि अपना कोमल हाथ मेरे मस्तकपर फेरते हुये मेरा प्रेम वढा रहे हैं ॥ १६९ ॥ मैं धर्मका अभिलाषी था सो उन दोनों मुनियोंने मेरी भोगोंकी तृष्णा दूरकर मुझे सम्यग्दर्शनरूपी अमृत पिलाया जिससे मेरा मन बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १७० ॥ वे प्रीतिंकर नामके वडे मुनि यथार्थमें प्रीतिंकर हैं क्योंकि उन्होंने परभवके प्रेमसे ही मोक्षमार्गका उपदेश देकर हमलोगोंको प्रीति दिखलाई है ॥ १७१ ॥ जब मैं राजा महाबल था तब भी ये स्वयंबुद्ध मंत्री होकर मेरे गुरु हुये थे और अब मुझे सम्यग्दर्शन स्वीकार कराया है इसलिये अब मेरे विशेष गुरु हुये हैं ॥ १७२ ॥ यदि

न. । वितीर्य दर्शन सम्यगधुना तु विशेषतः ॥ १७२ ॥ गुरूणां यदि संसर्गो न स्यात्रस्याद्गुणार्जनं । विना गुणार्जनात्पश्य जंतोः सफलजन्मता ॥ १७३ ॥ रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णता । तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति ॥ १७४ ॥ न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः । नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः ॥ १७५ ॥ यथांधतमसच्छन्नानर्थान्दीपाद्विनेक्षते । तथा जीवादिभावांश्च नोपदेष्टुर्विनेक्षते ॥ १७६ ॥ बंधवो गुरवश्चेति द्वये सप्रीतये नृणां । बंधवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च ॥ १७७ ॥ यतो गुरुनिदेशेन जाता नः शुद्धिरीदृशी । ततो गुरुपदे भक्तिर्भूयाज्जन्मातरेऽपि न ॥ १७८ ॥ इति चिंतयतोऽस्यासीद् दृढा सम्यक्त्वभावना।

संसारमें गुरुकी संगति न हो तो सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती है और सम्यग्दर्शनादि गुणोंकी प्राप्तिके विना इस जीवका मनुष्यजन्म सफल नहीं हो सकता है? ॥ १७३ ॥ जैसे रसायनके संयोगसे तांबा भी सुवर्ण हो जाता है उसीप्रकार गुरुके द्वारा उपदेश दिये हुये सम्यग्दर्शनादि गुणोंके संयोगसे यह भव्य जीव भी शुद्ध हो जाता है ॥ १७४ ॥ जैसे जहाजके विना कोई मनुष्य समुद्रसे पार नहीं हो सकता उसीप्रकार गुरुके उपदेश विना भी कोई जीव संसाररूपी समुद्रसे पार नहीं हो सकता है ॥ १७५ ॥ जैसे कोई पुरुष विना दीपकके गाढ अंधकारमें छिपे हुये घट पट आदि पदार्थोंको नहीं देख सकता उसी प्रकार यह जीव भी उपदेश देनेवाले गुरुके विना जीव अजीव आदि पदार्थोंका स्वरूप नहीं जान सकता है ॥ १७६ ॥ इस संसारमें मनुष्योंके हित करनेवाले या तो भाई बंधु आदि कुटुंबीजन हैं अथवा गुरु हैं इन दोनोंमें इतना विशेष है कि कुटुंबीजन केवल इसलोकमें ही सुख देनेवाले होते हैं और गुरु इसभव परभव दोनों लोकोंमें सुखदायी होते हैं ॥ १७७ ॥ हम लोगोंको गुरुके उपदेशसे ही जन्म मरण दूर करनेवाले शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई है इसलिये परभवमें भी हमें गुरुके चरणकमलोंमें भक्ति प्राप्त हो ॥ १७८ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे वज्रजंघकी सम्यक्त्वभावना दृढ होगई। यही सम्यक्त्वभावना इस वज्रजंघकेलिये समस्त इष्टफल देने

सा तु कल्पलतेवास्मै सर्वमिष्ट फलिष्यति ॥ १७९ ॥ समानभावनाऽनेन साऽप्यभूच्छ्रीमती चरी । समानशीलयोश्चासीदच्छिन्ना प्रीतिरेनयोः १८० दंपत्योरिति संप्रीत्या भोगान्निर्विशतोश्चिरं । भोगकालस्तयोर्निष्ठा प्रापत्पल्यत्रयोन्मित ॥ १८१ ॥ जीविताते सुखं प्राणान् हित्वा तौ पुण्यशेषतः । प्रापतुः कल्पमैशानं गृहादिव गृहांतरं ॥ १८२ ॥ विलीयते यथा मेघा यथाकाल कृतोदया. । भोगभूमिभुवा देहास्तदते विशरारवः ॥ १८३ ॥ यथा वैक्रियिके देहे न दोषमलसंभवः । तथा दिव्यमनुष्याणा देहे शुद्धिरुदाहृता ॥ १८४ ॥ विमाने श्रीप्रभे तत्र नित्यालोके स्फुरत्प्रभः । स. श्रीमान् वज्रजघार्यः श्रीधराख्यः सुरोऽभवत् ॥ १८५ ॥ साऽपि सम्यक्त्वमाहात्म्यात्स्त्रैणाद्विश्लेषमीयुषी । स्वयप्रभविमानेऽभूत्तत्सनामा सुरोत्तमः

वाली होगी ॥ ॥ १७९ ॥ वज्रजंघके जीवके साथ २ श्रीमतीके जीवने भी सम्यक्त्वभावना दृढ की। इन दोनोंका स्वभाव एकसा था इसलिये इन दोनों पति पत्नियोंमें अखंड प्रीति हो गई थी ॥१८०॥ इसप्रकार प्रेमपूर्वक चिरकालतक भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये इन दोनों जीवोंका तीन पल्यका समय व्यतीत होगया, आयुके अंतसमयमें इन दोनोंने सुखपूर्वक प्राण छोडे और जैसे कोई एक घर छोड कर दूसरे घरमें जा वसता है उसीप्रकार ये दोनों शेष वचे हुये पुण्यकर्मके उदयसे दूसरे ऐशान स्वर्गमें उत्पन्न हुये ॥ १८१-१८२ ॥ जैसे वर्षाऋतुमें मेघ उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका शरीर भी उत्पन्न होता है और अंतमें अपने आप नष्ट हो जाता है ॥ १८३ ॥ जैसे देवोंके वैक्रियक शरीरमें मल मूत्रादिक नहीं होता है उसीप्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीरमें भी मलमूत्रादिक नहीं होता है उनका शरीर भी सदा शुद्ध रहता है ॥१८४॥ वह वज्रजंघ आर्य दूसरे स्वर्गमें सदा प्रकाशमान ऐसे श्रीप्रभनामके विमानमें दैदीप्यमान कांति और बडी ऋद्धिको धारण करनेवाला श्रीधर नामका देव हुआ ॥ १८५ ॥ और वह श्रीमतीका जीव सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे स्त्रीलिंगको नष्टकर उसी दूसरे ऐशान स्वर्गके स्वयंप्रभ विमानमें स्वयंप्रभनामका उत्तम देव हुआ ॥ १८६ ॥ इसीप्रकार सिंह बानर न्योला और शूकरके

॥ १८६ ॥ शार्दूलार्यादयोऽप्यस्मिन्कल्पेऽनल्पसुखोदये । महर्द्धिकाः सुरा जाताः पुण्यैः किन्नु दुरासदं ॥ १८७ ॥ ऋते धर्मात्कुतः स्वर्गः कुतः स्वर्गादृते सुखं । तस्मात्सुखार्थिनां सेव्यो धर्मकल्पतरुश्चिरं ॥ १८८ ॥ शार्दूलभूतपूर्वो यः स विमाने मनोहरे । चित्रांगदे ज्वलन्मौलिरभूच्चित्रांगदोऽमरः ॥ १८९ ॥ वराहार्यश्च नंदाख्ये विमाने मणिकुंडली । ज्वलन्मुकुटकेयूरमणिकुंडलभूषितः ॥ १९० ॥ नंद्यावर्तविमानेऽभूद्वानरार्यो मनोहरः । सुरागनामनोहारिचतुराकारसुंदरः ॥ १९१ ॥ प्रभाकरविमानेऽभून्नकुलार्यो मनोरथः । मनोरथशतावासदिव्यभोगामृताशनः ॥ १९२ ॥ इति पुण्योदयाच्चेषा स्वर्लोकसुखभागिना । रूपसौदर्यभोगादिवर्णना ललितागवत् ॥ १९३ ॥ इत्युच्चैःप्रमदोदयात्सुरवरः श्रीमानसौ श्रीधरः । स्वर्गश्रीन-

---

जीव भी अत्यंत सुखमय ऐसे इसी दूसरे स्वर्गमें बडी वडी ऋद्धियोंके स्वामी देव हुये । सो ठीक ही है पुण्यकर्मके उदयसे कौनसी वस्तु दुर्लभ है? ॥ १८७ ॥ इस संसारमें विना धर्मके स्वर्ग कहां? और विना स्वर्गके सुख कहां? इसलिये सुख प्राप्त होनेकी इच्छा रखनेवाले जीवोंको सदा धर्मरूपी कल्पवृक्षका सेवन करना चाहिये ॥ १८८ ॥ जो जीव पहिले भवमें सिंह था वह चित्रांगद नामके मनोहर विमानमें दैदीप्यमान मुकुट धारण किये हुये चित्रांगद नामका देव हुआ ॥ १८९ ॥ शूकरका जीव नंद नामके विमानमें दैदीप्यमान मुकुट, वाजूवंद और अनेक मणि जडेहुये कुंडलोंसे शोभायमान ऐसा मणिकुंडली नामका देव हुआ ॥ १९० ॥ वानरका जीव नंद्यावर्त नामके विमानमें देवांगनाओंके चित्तको हरण करनेवाले सुंदर रूपसे शोभायमान ऐसा मनोहर नामका देव हुआ ॥ १९१ ॥ और नकुलका जीव प्रभाकर नामके विमानमें सैकडों मनोरथोंके द्वारा दिव्य भोगोपभोगोंका सेवन करनेवाला मनोरथ नामका देव हुआ ॥ १९२ ॥ इसप्रकार पुण्यकर्मके उदयसे ये छहों जीव स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुये इनका रूप सौंदर्य भोग आदिका वर्णन सब ललितांगदेवके समान जानना ॥ १९३ ॥ इसप्रकार वह श्रीधर देव अपने उत्कृष्ट पुण्यकर्मके उदयसे बडी विभूतिका स्वामी उत्तम देव हुआ । इसका शरीर देवांगनाओंके नेत्रोंको आनंद देनेवाला, अत्यंत पवित्र और दैदीप्यमान था । मधुर-

यनोत्सवं शुचितरं बिभ्रद्वपुर्भास्वरं ॥ कांताभिः कलभाषिणीभिरुचितान्भोगान्मनोरंजना- । न्भुंजानः सततोत्सवैररमत स्वस्मिन्विमानोत्तमे ॥१९४॥ कांताना करपल्लवैर्मृदुतलैः सवाह्यमानक्रम- । स्तद्वक्त्रेंदुशुचिस्मिताशुसलिलैः संसिच्यमानो मुहुः॥ सभ्रूविभ्रमतत्कटाक्षविशिखैर्लक्ष्यीकृतोऽनुक्षणं । भोगांगैरपि सोऽतृपत्प्रमुदितो वर्त्स्यज्जिनः श्रीधरः ॥ १९५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमतिवज्रजंघार्यसम्यग्दर्शनोत्पत्तिवर्णनं नाम नवमं पर्व ॥

भाषण करनेवाली अनेक देवांगनाओंके साथ वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले अनेक भोगोपभोगोंका सेवन करता था और अपने उत्तम विमानमें निरंतर उत्सव करता हुआ काल व्यतीत करता था ॥ १९४ ॥ कभी देवांगनायें अतिशय कोमल करपल्लवोंसे उसके चरणकमल दावतीं थीं कभी अपने मुखरूपी चंद्रमासे निकलती हुई श्वेत मंदहास्यरूपी किरणोंकी छोटी २ बूंदोंसे उसे बार बार सिंचन करती थीं और कभी उसे प्रत्येक क्षणमें सुंदर भ्रूयुक्त नेत्रोंके विलास और कटाक्षरूपी वाणोंका निशाना बनाती थीं इसप्रकार भोगोपभोगोंका सेवन करता हुआ वह आगामीकालमें श्रीजिनेंद्र-देव होनेवाला और सदा प्रसन्न रहनेवाला श्रीधरदेव सदा संतुष्ट रहता था ॥ १९५ ॥

इसप्रकार भगवाज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें श्रीमतीवज्रजंघका भोगभूमिमें जन्म लेना सम्यक्त्वकी प्राप्ति और स्वर्गगमनका वर्णन करनेवाला नौवां पर्व समाप्त हुआ ॥

अथ दशमं पर्व.

अथाऽन्येद्युरबुद्धासौ प्रयुक्तावधिरंजसा । स्वगुरुं प्राप्तकैवल्यं श्रीप्रभाद्रिमधिष्ठितं ॥१॥ जगत्प्रीतिंकरो योऽस्य गुरुः प्रीतिंकराह्वयः । तमर्चितुम-भीयाय वर्यया स सपर्यया ॥ २ ॥ श्रीप्रभाद्रौ तमभ्यर्च्य सर्वज्ञमभिवंद्य च । श्रुत्वा धर्मं ततोऽपृच्छादित्यसौ स्वमनीषितं ॥ ३ ॥ महाबलभवे येऽस्मन्मंत्रिणो दुर्दृशस्त्रयः । क्वाद्य ते लब्धजन्मानः कीदृशीं वा गतिं श्रिताः ॥ ४ ॥ इति पृष्टवते तस्मै सोऽवोचत्सर्वभाववित् । तन्मनोध्वांतसं-तानमपाकुर्वन्वचोंऽशुभिः ॥ ५ ॥ त्वयि स्वर्गंगतेऽस्मासु लब्धबोधिषु ते तदा । प्रपद्य दुर्मृतिं याता वियाता बत दुर्गतिं ॥ ६ ॥ द्वौ निगोदास्पदं

अथ दशम पर्व

तदनंतर किसी एक दिन इस श्रीधरदेवको अवधिज्ञानसे अकस्मात् मालूम हुआ कि उसके गुरु श्रीप्रभ नामके पर्वतपर विराजमान हैं तथा उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ॥ १ ॥ समस्त प्राणि-योंसे प्रेम रखनेवाले जो प्रीतिंकर नामके आचार्य थे वे ही इसके गुरु थे। उन्हींकी पूजा करनेके लिये पूजाकी उत्तमोत्तम सामग्री लेकर वह श्रीधर देव आया ॥ २ ॥ आते ही उसने श्रीप्रभपर्वतपर विराजमान श्रीसर्वज्ञदेवकी पूजा की, नमस्कार किया, धर्मश्रवण किया और फिर वह अपने मनकी बात इसप्रकार पूछने लगा ॥ ३ ॥ कि हे भगवन् जब मैं राजा महाबल था और उससमय जो मेरे तीन मिथ्यादृष्टि मंत्री थे उन्होंने अब कौनसी गतिमें कहां जन्म लिया है? ॥ ४ ॥ इसप्रकार जब श्रीधरने पूछा तब वे सर्वज्ञदेव अपने वचनरूपी किरणोंसे उसके हृदय का समस्त अज्ञानांधकार दूर करते हुये उससे कहने लगे ॥ ५ ॥ कि हे वत्स! जब तू महाबलकी पर्याय छोडकर स्वर्गमें उत्पन्न हुआ था और मैंने संसारको अनित्य समझकर दीक्षा धारण करली थी तब वे तीनों ही धृष्ट मंत्री आर्त और रौद्रध्यानसे मरकर दुर्गतिको प्राप्त हुये थे ॥ ६ ॥ इन तीनोंमेंसे महामति और संभिन्न

यातौ तमोंधं यत्र केवलं । तप्तादिश्रयणोद्वर्त्तेभूयिष्ठैर्जन्ममृत्युभिः ॥ ७ ॥ गतः शतमतिः श्वभ्रं मिथ्यात्वपरिपाकतः । विपाकक्षेत्रमाम्नातं तद्धि दुष्कृतकर्मणा ॥ ८ ॥ मिथ्यात्वविषसंसुप्ता ये मार्गपरिपंथिनः । ते यांति दीर्घमध्वानं कुयोन्यावर्त्तसंकुलं ॥ ९ ॥ तमस्यधे निमज्जंति सज्ज्ञानद्वेषिणो नराः । आप्तोपज्ञमतो ज्ञानं बुधोऽभ्यस्येदनारतं ॥ १० ॥ धर्मेणात्मा व्रजत्यूर्ध्वमधर्मेण पतत्यधः । मिश्रस्तु याति मानुष्यमित्याप्तोक्ति विनिश्चिनु ॥ ११ ॥ स एष शतबुद्धिस्ते मिथ्याज्ञानस्य दार्ढ्यतः । द्वितीयनरके दुःखमनुभुंक्तेऽतिदारुणं ॥ १२ ॥ सोऽयं स्वयंकृतोऽनर्थो जतोरविजिता-

---

मति ये दो तो निगोदमें पडे हैं जहां केवल गाढ अंधकार रहता है और जिसमें अतिशय उष्णजलमें उठती हुई खलबलाहटके समान अनंत जन्म मरण धारण करने पडते हैं ॥७॥ तथा शतमति मंत्री मिथ्यात्व कर्मके उदयसे नरक गया है, सो ठीक ही है क्योंकि अशुभ कर्मोंका फल भोगनेके-लिये एक नरक ही मुख्य स्थान है ॥ ८ ॥ जो जीव सन्मार्गके (जैनमार्गके) विरोधी हैं और मिथ्यात्वरूपी विषसे मूर्छित हैं वे कुयोनिरूपी भंवरोंके समूहमें पडकर अनंतकालतक दुःख सहन किया करते हैं ॥९॥ जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानके विरोधी हैं वे अवश्य नरकमें पडते हैं। इसलिये बुद्धिमानपुरुषोंको अरहंत देवके कहे हुये शास्त्रोंका निरंतर अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥ यह जीव धर्मके निमित्तसे ऊर्ध्वलोकमें जाकर स्वर्गादिकोंके सुख भोगता है और पापके निमित्तसे नरकादि अधोगतिमें पडता है तथा पुण्य पाप दोनोंके संयोगसे मनुष्यपर्याय धारण करता है। हे भद्र तू निश्चय रख यही श्रीजिनेंद्रदेवका कहा हुआ वचन है ॥ ११ ॥ वह तेरा शतबुद्धिमंत्रीका जीव मिथ्याज्ञानकी अत्यंत दृढतासे दूसरे नरकमें पडा हुआ अत्यंत दारुण दुःख भोग रहा है ॥ १२ ॥ यह जीव अपने आत्माका स्वरूप नहीं जानता इसलिये यह धर्मसे द्वेष करता है और अधर्मसे प्रेम रखता है परंतु यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह इसप्रकारका अनर्थ न तो किसीने कराया है न किसीने प्रेरणा की है किंतु इसने स्वयं किया है ॥ १३ ॥ 'इस संसारमें धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है

त्मनः । यदयं विद्विषन्धर्ममधर्मं कुरुते रतिं ॥ १३ ॥ धर्मात्सुखमधर्माच्च दुःखमित्यविगानतः । धर्मैकपरतां धत्ते बुधोऽनर्थजिहासया ॥ १४ ॥ धर्मः प्राणिदया सत्यं क्षांतिः शौचं वितृष्णता । ज्ञानवैराग्यसंपत्तिरधर्मस्तद्विपर्ययः ॥ १५ ॥ तनोति विषयासंगः सुखसंतर्षमांगिनः । स तीव्रमनुसंधत्ते तापं दीप्त इवानलः ॥ १६ ॥ संततस्तत्प्रतीकारमीप्सन्पापेऽनुरज्यते । द्वेष्टि पापरतो धर्ममधर्माच्च पतत्यधः ॥ १७ ॥ विपच्यते यथाकालं नरके दुरनुष्ठितं । अनेहसि समभ्यर्णे यथाऽलर्कशुनो विषं ॥ १८ ॥ यथोपचारितैर्जंतुं तीव्रं ज्वरयति ज्वरः । तथा दुरीहितैः पाप्मा गाढीभवति दुर्दृशः ॥ १९ ॥ दुरंतः कर्मणा पाको ददाति कटुकं फलं । येनात्मा पतितः श्वभ्रे क्षणं दुःखान्न मुच्यते ॥ २० ॥ कीदृशं नरके दुःखं तत्रोत्पत्तिः

और अधर्मसे दुःख मिलता है ' यह समझकर ही बुद्धिमान् पुरुष दुःखोंके छोडनेकी इच्छाकरके केवल धर्म सेवन करनेमें ही तल्लीन हो जाते हैं ॥१४॥ हे भव्य! प्राणीमात्रपर दया करना, सत्य बोलना, क्षमा धारण करना, शरीरकी शुद्धता रखना अथवा लोभका त्याग करना, तृष्णा घटाना और सम्यग्ज्ञान तथा वैराग्यरूप संपत्तिका धारण करना ही धर्म है । अधर्मका स्वरूप ठीक इससे उलटा है १५ जैसे प्रज्वलित हुई अग्निसें अधिक संताप होता है उसीप्रकार जीवोंको विषयोंमें आसक्त होनेसे सुखकी तृष्णा और अधिक वढती है तथा तृष्णासे संतप्त होकर वे जीव उस संतापको दूर करनेकी इच्छा करते हुये पापमें तल्लीन हो जाते हैं और जो पापमें तल्लीन होते हैं वे अवश्य ही धर्मसे द्वेष रखते हैं। इसप्रकार धर्मसे द्वेष रखने और अधर्म सेवन करनेसे वे अधोगतिको प्राप्त होते हैं ॥ १६-१७ ॥ जिस प्रकार वर्षाऋतुका समय पाकर पागल कुत्तेका विष चढता है उसीप्रकार किये हुये पाप भी समय पाकर नरकोंमें दारुण दुःख देते हैं ॥ १८ ॥ जैसे अपथ्य भोजन करनेसे मूर्ख पुरुषोंके ज्वरका संताप और अधिक वढजाता है उसीप्रकार पापाचरण करनेसे मिथ्यादृष्टियोंके पाप भी बहुत दृढ हो जाते हैं ॥ १९ ॥ उपार्जित किये हुये कर्मोंका परिपाक बहुत ही बुरा है । यह जीवोंको अनेक कटुक फल देता है तथा इसी कटुकफलके निमित्तसे यह जीव नरकमें पडता है और फिर वहां क्षणभरभी दुःखसे नहीं छूट

कुर्तोगिना। इति चेच्छृणु तत्सम्यक्प्रणिधाय मनः क्षणं ॥ २१ ॥ हिंसाया निरता ये स्युर्ये मृषावादतत्पराः । चुराशीलाः परस्त्रीषु ये रता मद्यपाश्च ये ॥ २२ ॥ ये च मिथ्यादृश क्रूरा. रौद्रध्यानपरायणाः ।सत्त्वेषु निरनुक्रोशा बह्वारंभपरिग्रहाः ॥ २३ ॥ धर्मद्रुहश्च ये नित्यमधर्मपरितोषकाः । दूषकाः साधुवर्गस्य मात्सर्योपहताश्च ये ॥ २४ ॥ रुष्यंत्यकारणं ये च निर्ग्रंथेभ्योऽतिपातकाः । मुनिभ्यो धर्मशीलेभ्यो मधुमासाशने रताः ॥२५॥ वधकान्पोषयित्वाऽन्यजीवानां येऽनितिर्घृणाः । खादका मधुमासस्य तेषा ये चानुमोदकाः ॥ २६ ॥ ते नराः पापभारेण प्रविशंति रसातलं । विपाकक्षेत्रमेतद्धि विद्धि दुष्कृतकर्मणां ॥ २७ ॥ जलस्थलचराः क्रूराः सोरगाश्च सरीसृपाः । पापशीलाश्च मानिन्यः पक्षिणश्च प्रयात्यधः ॥ २८ ॥

सकता ॥ २० ॥ हे भव्य! नरकोंमें कैसे कैसे दुःख हैं, किन किन कारणोंसे वहां जीव उत्पन्न होते हैं आदि जाननेकी जो तेरी इच्छा हो तो क्षणभर मनको स्थिरकर सुन ॥ २१ ॥ जो जीव हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, परस्त्रीसेवन करते हैं, मद्यपान करते हैं, जो मिथ्यादृष्टी हैं, क्रूर हैं, रौद्रध्यानी हैं, जो प्राणियोंमें सदा निर्दयी रहते हैं, जो अधिक आरंभ करते हैं, बहुत परिग्रह रखते हैं, धर्मसे द्रोह रखते हैं, अधर्मका पालन करते हैं, मुनियोंकी निंदा करते हैं, सबसे ईर्ष्या करते हैं, तथा जो अतिशय पापीजीव परिग्रहरहित सदा धर्मसेवन करनेवाले मुनियोंसे विनाकारण ही क्रोध करते हैं, जो शहत और मांस खाते हैं, जो निर्दयी वाज कुत्ता आदि हिंसक जीवोंका पालन पोषणकर अन्य जीवोंकी हिंसा कराते हैं, जो शहत तथा मांस खाते हैं, और जो शहत तथा मांस खानेवालोंकी अनुमोदना करते हैं, वे मनुष्य पापके भारसे नरकमें पडते हैं। यह नरक अशुभकर्मोंके फल देनेका स्थान है ॥ २२-२७ ॥ मगर मत्स्य आदि जलचर सिंहादिक थलचर, सर्प, सरीसृप, पापाचारिणी स्त्रियां और पक्षी आदि क्रूर जीव नरकमें पडते हैं ॥ २८ ॥ एकेंद्रिय द्वींद्रिय त्रींद्रिय चतुरिंद्रिय और असेनी पंचेंद्रिय जीव घर्मा नामकी पहली पृथ्वी (नरक) तक जाते हैं, सरीसृप जातिके जीव वंशा नामकी दूसरी पृथ्वीतक जाते हैं, पक्षी तीसरे

प्रयांत्यसंज्ञिनो घर्मां तां वंशां च सरीसृपाः । पक्षिणस्ते तृतीयां च तां चतुर्थीं च पन्नगाः ॥२९॥ सिंहास्तां पंचमीं चैव ताश्च षष्ठीं च योषितः । प्रयांति सप्तमीं ताश्च मर्त्या मत्स्याश्च पापिनः ॥ ३० ॥ रत्नशर्करवालुकाः पंकधूमतमःप्रभाः । तमस्तमःप्रभा चेति सप्ताधः श्वभ्रभूमयः ॥ ३१ ॥ तासां पर्यायनामानि घर्मा वंशा शिलांजना । अरिष्टा मघवी चैव माघवी चेत्यनुक्रमात् ॥ ३२ ॥ तत्र बीभत्सुनि स्थाने जाले मधुकृतामिव । तेऽधोमुखाः प्रजायंते पापिनामुन्नतिः कुतः ॥ ३३ ॥ तेंऽतर्मुहूर्ततो गात्रं पूतिगंधि जुगुप्सितं । पर्याप्नुयंति दुष्प्रेक्षं विकृताकृति दुष्कृतात् ॥ ३४ ॥ पर्याप्ताश्च महीपृष्ठे ज्वलति व्यतिदुःसहे । विच्छिन्नबंधनानीव पत्राणि विलुठत्यधः ॥३५॥ निपत्य च महीपृष्ठे निशितायुधमूर्द्धसु । पूत्कुर्वंति दुरा-

---

नरकतक जाते हैं, सर्प चौथे नरकतक जाते हैं, सिंह पांचवे नरकतक जाते हैं, स्त्रियां छठे नरकतक जाती हैं और पापी मनुष्य तथा मत्स्य सातवें नरकतक जाते हैं ॥ २९-३० ॥ रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सातों नरकोंकी सात भूमि हैं। ये सातों भूमियां क्रमसे नीचे नीचे हैं ॥ ३१ ॥ घर्मा, वंशा, शिला वा मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये उन सातों पृथ्वियोंके नामांतर हैं अर्थात् अनुक्रमसे सातों नरकोंके नाम हैं ॥३२॥ उन नरकोंमे नारकी जीव मधुमक्खियोंके छत्तेके समान अत्यंत घृणित स्थानमें अधोमुख होकर [नीचेकी ओर मुंह करके] उत्पन्न होते हैं। सो ठीक ही है पापी जीवोंकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ३३ ॥ पापकर्मके उदयसे अत्यंत दुर्गंध, घृणित, वुरी आकृतिका और देखनेके सर्वथा अयोग्य ऐसा उन नारकीयोंका शरीर जन्मके अंतर्मुहूर्त वाद ही पूर्ण हो जाता है ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार पत्ते वृक्षसे टूटकर नीचे जमीनपर गिर पडते हैं उसीप्रकार वे नारकी भी शरीरकी पूर्णता होते ही उस उत्पन्न होनेके स्थानसे जलती हुई अत्यंत दुस्सह नरककी भूमिपर गिर पडते हैं ॥ ३५ ॥ वहांकी भूमिपर बडे पैने शस्त्र पडे हुये हैं उन्हींपर वे नारकी पडते हैं । उन शस्त्रोंसे उनके शरीरके टुकडे हो जाते हैं जिससे वे पापी बडे ही दुःख भरे शब्दोंसे चिल्लाते हैं ॥ ३६ ॥

त्मानश्छिन्नसर्वांगसंधयः ॥ ३६ ॥ भूम्युष्मणा च संतप्ता दुस्सहेनाकुलीकृताः । तप्तभ्राष्ट्रे तिला यद्वन्निपतंत्युत्पतंति च ॥ ३७ ॥ ततस्तेषां निकृतंति गात्राणि निशितायुधैः । नारकाः परुषक्रोधास्तर्जयंतोऽतिभीषणं ॥ ३८ ॥ तेषां छिन्नानि गात्राणि संधानं याति तत्क्षणात् । दंडाहतानि वारीणि यद्वद्विक्षिप्य शल्कशः ॥ ३९ ॥ वैरमन्योऽन्यसबंधि निवेद्यानुभवाद्गत । दडास्तदनुरूपास्ते योजयंति परस्पर ॥ ४० ॥ चोदयत्यसुराश्चैतान्यूय युध्यध्वमित्यरं । संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक्चतुर्थ्या. सुदारुणा. ॥ ४१ ॥ वज्रचचुपुटैर्गृध्राः कृंतंत्येतान्मयंकराः । श्वानेश्वानर्जुना. सूना दणंति नखैः खरैः ॥ ४२ ॥ मूषाक्वथिततास्रादिरसान्केचित्त्रपायिताः । प्रयाति विलयं सद्यो रसंतो विरसस्वन ॥ ४३ ॥ इक्षुयंत्रेषु निक्षिप्य

वहांकी भूमि भी अत्यंत उष्ण है जिसकी उष्णतासे अत्यंत संतप्त होकर तथा उसके दुस्सह दुःखसे व्याकुल होकर वे नारकी गरम भाडमें डाले हुये तिलोंके समान उछलते पडते रहते हैं ॥ ३७ ॥ वहां पडते ही अत्यंत भयंकर ताडना करते हुये नारकी अतिशय क्रुद्ध होकर बडे पैने शस्त्रोंसे उन नये नारकियोंका शरीर छिन्न-भिन्न कर डालते हैं ॥ ३८ ॥ जैसे किसी दंडेकी चोटसे बूंद २ होकर विखरा हुआ जल मिलकर एक हो जाता है उसीप्रकार उन नारकियोंका छिन्नभिन्न हुआ शरीर भी उसी क्षणमें मिलकर एक हो जाता है ॥ ३९ ॥ वे सब नारकी परस्पर एक दूसरेको अपना पूर्व भवका बैर जतलाकर उसीके अनुसार एक दूसरेको दंड देते हैं ॥ ४० ॥ पहलेके तीन नरकोंतक संक्लेशपरिणामोंको धारण करनेवाले अतिशय भयंकर असुरकुमारजातिके देव जाते हैं और वहांके नारकियोंको उनके पूर्वभवके वैर स्मरण कराकर परस्पर लडनेकेलिये प्रेरणा करते हैं ॥ ४१ ॥ उन नारकियोंके शरीरको वहांके भयंकर गिद्ध अपनी वज्रके समान तीव्र चोंचोंसे फाडते हैं और बडे काले कुत्ते अपने पैने नखोंसे फाड डालते हैं ॥ ४२ ॥ कितने ही नारकियोंको तांवा आदि धातुयें गलागलाकर पिलाई जाती हैं जिसके दुःखसे वे बडी बुरीतरह चिल्लाते हैं और तत्कालही उनका शरीर भस्म हो जाता है ॥ ४३ ॥ कितने ही नारकियोंके शरीरके टुकडे कर आर उन्हें

पीड्यंते खंडशः कृताः । उष्ट्रिकासु च निष्क्वाथ्य नीयंते रसतां परे ॥ ४४ ॥ केचित्स्वान्येव मांसानि खाद्यंते वलिभिः परैः । विशस्य निशितैः शस्त्रैः परमांसाशिनः पुरा ॥ ४५ ॥ संदंशकैर्विदार्यास्यं गले पादिकया बलात् । ग्रास्यते तापिताल्लोहपिंडान्मासप्रियाः पुरा ॥ ४६ ॥ सैषा तव प्रियेत्युच्चैस्तप्तायःपुत्रिकां गले । आलिंग्यंते बलादन्यैरनलार्च्चिःकणाचिता ॥ ४७ ॥ संकेतकेतकोद्याने कर्कशक्रकचच्छदे । त्वामिहोपह्वरे कांताह्वयत्यभिसिसीर्षया ॥ ४८ पुरा परांगनासंगरतिदुर्ललितानिति । संयोजयंति तप्तायःपुत्रिकाभिर्बलात्परे ॥ ४९ ॥ तास्तदालिंगनासंगात्क्षणमूर्च्छामुपागतान् । तुदंत्ययोमयैस्तोत्रैरन्ये मर्मसु नारकाः ॥ ५० ॥ तदंगालिंगनासंगक्षणामीलितलोचना. । निपतंति महीरंगे तेंऽगाराकितविग्रहाः ॥५१॥

कोल्हूमें डालकर पलेते हैं और किन्हींके शरीरको मिट्टीकी कढाईमें ओटाकर उसका रस निकालते हैं ॥ ४४ ॥ जिन जीवोंने पूर्वभवमें मांसभक्षण किया है उन नारकियोंके शरीरको अन्य जवर्दस्त नारकी पैने शस्त्रोंसे काटकाटकर मांस निकालते हैं और वह उन्हें ही खिलाते हैं ॥ ४५ ॥ जो जीव परभवमें मांस खानेके बडे शौकीन थे उनके गलेपर पैर रखकर और सडासीसे उनका मुख फाडकर जवर्दस्ती गरम किये हुये लोहेके गोले उनके मुखमें डाले जाते हैं ॥ ४६ ॥ वहांके नारकी अग्निके फुलिंगोंसे भर पूर रासी गरम की हुई लोहेकी पुतली जवर्दस्ती गलेसे आलिंगन कराते हैं और कहते हैं कि देखो यह तुह्मारी पूर्व भवकी प्रिया है ॥ ४७ ॥ जिन्होंने पूर्वभवमें परस्त्रियोंके साथ क्रीडा की है ऐसे नारकीजीवोंको अन्य नारकीजीव आकर कहते हैं कि 'चलो तुह्में तुह्मारी प्रिया संकेत किये हुये केतकीबनके एकांत स्थानमें बुला रही है' इसप्रकार कहकर उसे कठोर करोंतके पत्तेवाले बनमें लेजाते हैं और जवर्दस्ती गर्म की हुई लोहेकी पुतलीसे आलिंगन कराते हैं ॥ ४८-४९ ॥ उस गर्म की हुई लोहेकी पुतलीके आलिंगन करनेसे वे नारकी तत्काल ही मूर्छित हो जाते हैं और फिर उन्हें अन्य नारकी जीव लोहेके सांटेसे उनके मर्मस्थानोंको विदारण करते हैं ॥ ५० ॥ गर्म की हुई लोहेकी पुतलीके आलिंगन करनेके दुःखसे वे क्षणमात्रमें अपने नेत्र बंद कर लेते हैं उनका शरीर

भस्त्राग्निदीपितान्केचिदायसान् शाल्मलिद्रुमान् । आरोप्यंते हठात्कैश्चित्तीक्ष्णोर्ध्वाधोग्रकंटकान् ॥ ५२ ॥ ते तदारोपणोर्ध्वाधःकर्षणैरतिकर्षिताः । मुच्यंते नारकैः कृच्छ्रात्क्षरत्क्षतजमूर्त्तयः ॥ ५३ ॥ अरुष्करद्रवापूर्णनदीरन्ये विगाहिताः । क्षणाद्विशीर्णसर्वांगा विलिप्यंतेऽब्बुवीचीभिः ॥ ५४ ॥ विस्फुलिंगमयीं शय्या ज्वलतीमधिशायिताः । शेरते प्लुष्यमाणागा दीर्घनिद्रासुखेप्सया ॥ ५५ ॥ असिपत्रवनान्यन्ये श्रयंत्युष्णार्दिता यदा । तदा वाति मरुत्तीव्रो विस्फुलिंगकणान् किरन् ॥ ५६ ॥ तेन पत्राणि सात्यते सर्वायुधमयान्यरं । तैश्छिन्नभिन्नसर्वांगाः पूत्कुर्वंति वराककाः ॥ ५७ ॥

अग्निके समान लाल हो जाता है और वे तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पडते हैं ॥ ५१ ॥ कितनेही नारकी जिनपर नीचेसे ऊपरतक पैने कांटे लगे हुये हैं ऐसे लोहेके बने हुये शाल्मलीवृक्षोंको धोंकनीके द्वारा अग्निसे गरमकर उनपर जवर्दस्ती नारकियोंको चढाते हैं ॥ ५२ ॥ वे नारकी उन वृक्षोंपर चढते हैं और फिर उतरते हैं, उन वृक्षोंके गर्म किये हुये पैने कांटोंसे उनका सब शरीर छिल जाता है, अनेक घावोंसे रक्त बहने लगता है तब कहीं जाकर वडी कठिनतासे वे छुट्टी पाते हैं ॥ ५३ ॥ कितनेही नारकियोंको भिलावेके तेलसे भरी हुई नदीमें पटकते हैं जिससे क्षणभरमें उनके शरीरके टुकडें टुकडे हो जाते हैं और फिर उस नदीकी खारी लहरोंसे उनके घावोंको बहुतही दुःख पहुंचता है ॥ ५४ ॥ कितनेही नारकियोंको अन्य नारकी जीव जलती हुई अग्निकी शय्यापर सुलाते हैं दीर्घ निद्रा लेकर (मरकर) सुखानुभव करनेकी इच्छासे वे नारकी उसपर सोते हैं और तत्कालही भस्म हो जाते है ॥ ५५ ॥ जब वे नारकी उष्णतासे अत्यंत व्याकुल होते हैं तब वे किसी बनका आश्रय लेते हैं वहांके बनोंके वृक्षोंके पत्ते तलवारके समान पैने हैं नारकियोंके वहां पहुंचतेही अग्निके फुलिंगोंकी वर्षा करता हुआ तीव्र वायु वहता है जिससे शीघ्रही तलवार बरछा आदि अनेक आयुधमय वे पत्र गिर पडते हैं जिनसे उनका संपूर्ण शरीर छिन्न भिन्न हो जाता है और वे दीन नारकी वडे जोर शोरसे चिल्लाने लगते हैं ॥ ५६-५७ ॥ कितनेही नारकियोंका मांस लोहेकी सलाईपर सुखाये हुये

वल्लूरीकृत्य शोष्यंते शूल्यमासीकृता परे । पात्यंते च गिरेराद्रा [illegible] परे ॥ ५८ ॥ [illegible] केचिन्नखाग्रेषु । तप्त-
सूचिनिर्भिन्ननखाग्रोल्वणवेदनाः ॥ ५९ ॥ काश्चित् [illegible] ॥ ६० ॥
व्रणजर्जरितान्काश्चित्सिंचति क्षारवारिभि । [illegible] मूर्च्छा [illegible] ॥ ६१ ॥ [illegible] निष्ठुराः । नारका-
पतत [illegible] शतशो वज्रमुष्टिभि. ॥ ६२ ॥ अन्यानन्ये [illegible] ॥ ६३ ॥ [illegible]
रणेऽन्यान्योन्ययति मिथोऽसुरा. । [illegible] ॥ ६४ ॥ [illegible] । [illegible]

मांसके समान सुखाते हैं और कितनोंहीको नीचेकी ओर मुंह करके पहाडकी चोटीपरसे पटक देते हैं ॥ ५८ ॥ कितने जीवोंके मर्मस्थान और हड्डियोंके संधिस्थानोंको [हड्डियोंके जोडको] पैने करोतोंसे काट डालते हैं तथा उनके नखोंके अग्रभागमें गर्मकी हुई लोहेकी सुइयां चुभाकर उन्हें तीव्र दुःख देते हैं ॥ ५९ ॥ कितनेही जीवोंको तीक्ष्ण की हुई शूलीकी नोकपर चढाकर फिराते हैं जिससे उनकी अंतडी निकलकर लंबी हो जाती है और निकले हुये रक्तसे उनका सब शरीर डूब जाता है ॥ ६० ॥ इसप्रकार अनेक घावोंसे भरे हुये उनके शरीरको खारे जलसे सींचते हैं। जो नारकी अनेक घावोंके लगनेसे मूर्छित हो जाते हैं खारे पानीसे तुरंतही उनकी मूर्छा दूर हो जाती है ॥ ६१ ॥ कितनेही नारकी जीवोंको बडी ऊंची पहाडकी चोटीसे पटक देते हैं और ज्योंही वे नीचे गिरते हैं त्योंही अनेक निर्दय नारकी मिलकर बडी निर्दयताके साथ वज्रमय सैकडों मुट्टियोंसे (घूंसोंसे) उन्हें मारते हैं ॥ ६२ ॥ कितनेही निर्दय नारकी अन्य नारकियोंके मस्तकपर मुद्गरोंकी मार मारते हैं जिससे उनके चक्षु बहुत शीघ्र निकलकर बाहर गिर पडते हैं ॥ ६३ ॥ तीसरे नरकतक असुरकुमार जातिके देव नारकियोंको मेंढा बनाकर परस्पर लडाते हैं जिससे उनके मस्तक बडी आवाजके साथ फट जाते हैं और उनसे रक्त मांस आदि बहुतसा मल बाहर निकल पडता है ॥६४॥

विविन्यासैः शितायःकंटकास्तरे ॥ ६५ ॥ इयंपन्नतरा घोरां नारकीं प्राप्य यातनां ॥ उद्विग्नानां मनस्येषामेषा
चिंतोपजायते ॥ ६६ ॥ अहो दुरासदा भूमिः प्रदीप्ता ज्वलनार्चिषा ॥ वायवो वांति दुःस्पर्शाः स्फुलिंगकणवाहिनः ॥ ६७ ॥
दीप्ता दिशश्च दिग्दाहशंकां संजनयत्यमूः ॥ तप्तपांसुमयीं वृष्टिं किरत्यमुमुचोंऽबरात् ॥ ६८ ॥ विषारण्यमिदं विष्वग्विषवल्लीभिराततं ॥
असिपत्रवनं चेदमसिपत्रैर्भयानकं ॥ ६९ ॥ मृषामिसारिकाश्चैतास्तप्तायोमयपुत्रिकाः ॥ कामंमुदीपयंत्यस्मानालिंगंत्यो बलाद्गले ॥ ७० ॥
योधयंति बलादस्मानिमे केऽपि महत्तराः ॥ नूनं प्रेताधिनाथेन प्रयुक्ताः कर्मसाक्षिणः ॥ ७१ ॥ खरारटितमुत्थोत्थं ज्वलज्ज्वालाकरालितं ॥

जो जीव पूर्वभवमें बडे उद्धत थे उन्हें वे असुरकुमारदेव गर्म किये हुये लोहेके सिंहासनपर बिठालते हैं तथा विधिपूर्वक तीक्ष्ण कांटोंके बिछौनेपर सुलाते हैं ॥ ६५ ॥ इसप्रकार नरककी अत्यंत असह्य और घोर वेदना पाकर उदास हुये उन नारकियोंके चित्तमें इसप्रकारकी चिंता उत्पन्न होती है कि ॥ ६६ ॥ देखो जलती हुई अग्निसे तप्तायमान यह भूमि कैसी कठिन है यहांपर सदा अग्निके फुलिंगोंकी वर्षा करता हुआ वायु वहा करता है जिसका स्पर्श भी सहन नहीं किया जा सकता ॥६७॥ इन तप्तायमान दिशाओंको देखकर संपूर्ण दिशाओंमें अग्नि लगनेकी शंका उत्पन्न होती है तथा आकाशसे ये वादल गरम वालूकी वरसा करते हैं ॥ ६८ ॥ यह देखो चारोंओरसे विषलताओंसे भरा हुआ यह विषवृक्षोंका वन है और यह तलवारके समान तीक्ष्ण पत्तोंसे अत्यंत भयानक असिपत्रवन (तलवारके समान पत्तेवाले वृक्षोंका वन) है ॥ ६९ ॥ नीच दुराचारिणी स्त्रियोंके समान ये गरम की हुई लोहेकी पुतलियां जवर्दस्ती आकर गलेसे आलिंगन करती हैं और हम लोगोंको अतिशय संताप देती हैं ॥ ७० ॥ ये कोई महा बलवान पुरुष (असुरकुमार) हमारी विना इच्छाके भी हमें परस्पर लडाते हैं और ऐसे जान पडते हैं मानों हमारे अशुभकर्मोंकी साक्षी देनेकेलिये यमराजने ही भेजे हों ॥ ७१ ॥ जो मुखकी जाज्वलमान अग्निसे अत्यंत भयानक दीख पडते हैं, जिन्होंने

गिलितुमनलोद्गारि खरोष्ट्रं नोऽभिधावति ॥ ७२ ॥ अमी च भीषणाकाराः कृपाणोद्यतपाणयः ॥ पुरुषास्तर्जयंत्यस्मानकारणरणोद्धुराः ॥ ७३॥ इमे च पतत्पाताता गृध्रा नोऽभिद्रवत्यर ॥ भषतः सारमेयाश्च भीषयंतेतरामिमे ॥ ७४ ॥ नूनमेतन्निभेनास्मद्दुरितान्यत्र निर्दयं ॥ पीडामुत्पादयत्येवमहो व्यसनसान्निधिः ॥ ७५ ॥ इतः स्वरति पद्घोषो नारकाणा प्रधावतां ॥ इतश्च करुणाक्रदगर्भः पूत्कारनिस्वनः ॥ ७६॥ इतोऽयं प्रध्वनद्ध्वाक्षः कठोरारावमूर्छितः ॥ शिवानामशिवाध्वानः प्रध्वानयति रोदसी ॥ ७७ ॥ इतः परुषसपातपवनाघूननोत्थित. ॥

अपनी नासिकायें ऊपर उठा रक्खी हैं जिनके मुखसे अग्नि निकल रही है और जो भयानक शब्द कर रहे हैं ऐसे ये ऊंट और गधे हमलोगोंको निगलनेकेलिये ही मानों हम लोगोंके पीछे पीछे दौडे फिरते हैं ॥ ७२ ॥ ये देखो जिन्होंने हाथमें तलवार उठा रक्खी है जिनकी सूरत भी अत्यंत भयंकर है और जो विनाकारण ही लडनेकेलिये तैयार हो रहे हैं ऐसे ये पुरुष भी हमलोगोंको कैसी ताडना कर रहे हैं ॥ ७३ ॥ भयंकर रीतिसे आकाशसे पडते हुये गीध कितनी जल्दी हमपर टूटते हैं और ये भोंकते हुये कुत्ते हमें कितना और कैसा दुःख देते हैं ॥ ७४ ॥ अवश्य ही इन दुष्ट प्राणियोंके बहानेसे पूर्व भवमें किये हुये हमारे पाप ही निर्दय होकर हम लोगोंको पीडा देते हैं इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं। बडे आश्चर्यकी बात है कि हमलोगोंको चारोंओरसे दुःखोंने घेर रक्खा है ॥ ७५ ॥ और देखो इधर यह दौडतेहुये नारकियोंके पैरोंकी आवाज कैसा संताप उत्पन्न कर रही है इधर यह करुणा उत्पन्न करनेवाली विलाप करनेकी आवाज आरही है ॥ ७६ ॥ इधर देखो ये अमंगल करनेवाले शृगालोंके शब्द आकाश पाताल दोनोंको शब्दायमान कर रहें हैं इन शब्दोंमें कांव कांव करते हुये कौवोंके कठोर शब्द भी मिले हुये हैं ॥ ७७ ॥ इधर देखो ये असिपत्रबनमें (तलवारके समान पत्तेवाले वृक्षोंके बनमें) कठिन और बडे वेगसे चलनेवाली वायुके चलनेसे उत्पन्न हुये शब्द तथा उस वायुके वेगसे गिरते हुये तल-

असिपत्रवने पत्रनिर्मोक्षपरुषध्वनि ॥ ७८ ॥ सोऽयं कंटकितस्कंधः कूटशाल्मलिपादपः ॥ यस्मिन्स्मृतेऽपि नोंऽगानि तुदंत इव कटकै ॥ ७९ ॥
सैना वैतरणी नाम सरित्साऽरुष्करद्रवा ॥ आस्ता तरणमेतस्याः स्मरण च भयावह ॥ ८० एते चे नरकावासा प्रज्वलंत्यतरूष्मणा ॥ अधमूपा-
स्त्रिवावर्तं नीयते यत्र नारकाः ॥ ८१ ॥ दुस्सहा वेदनास्तीव्राः प्रहारा दुर्धरा इमे ॥ अकाले दुस्त्यजा प्राणा दुर्निवाराश्च नारकाः ॥ ८२ ॥
क यामः क नु तिष्ठामः कासमहि क नु शेमहि ॥ यत्र यत्रोपसर्पामस्तत्र तत्राधयोऽधिकाः ॥ ८३ ॥ इत्यपारमिद दुःख तरिष्याम कदा वय ॥

वारके समान पत्तोंके काठिन शब्द कैसा त्रास उत्पन्न कररहे हैं ॥ ७८ ॥ और देखो जिसके स्कंधभागपर कांटे लगे हुये हैं ऐसा यह वही टेडा शाल्मलि वृक्ष है जिसके स्मरण करनेमात्रसे हमलोगोंके समस्त अंग अनेक कांटे चुभनेके समान दुःखित होते हैं ॥ ७९ ॥ इधर यह वही वैतरणी नामकी नदी है जिसमें सब जगह भिलावेका तैल भरा हुआ है इसमें स्नान करना वा तैरना तो दूर रहो, केवल इसका स्मरण करने मात्रसे अत्यंत भय लगता है ॥ ८० ॥ ये वही नारकियोंके रहनेके आवास (बिले) हैं जोकि अतिशय तीव्र गर्मीसे जल रहे हैं और जिनमें नारकी जीव इसप्रकार भ्रमण कराये जाते हैं जैसे छिद्ररहित सोना चांदी तांबा आदि गलानेके पात्रमें गला हुआ धातु इधरसे उधर फिरा करता है ८१ अहो यह तीव्र वेदना भी अत्यंत दुस्सह है किसीसे सहन नहीं की जा सकती यहांकी मार भी अत्यंत दुर्धर है। ये प्राण विना आयु पूरी हुये छूट नहीं सकते अर्थात् आयु पूर्ण हुये विना मरण हो नहीं सकता और दुःख देते हुये ये नारकी किसीसे किसीप्रकार भी रोके नहीं जा सकते ॥८२॥ ऐसे समयमें हम लोग कहां जायं, कहां बैठें, कहां सोवें कहां रहें। हम लोग जहां जहां जाते हैं वहां अधिक ही अधिक दुःख पाते हैं ॥ ८३ ॥ इसप्रकार यहांका यह दुःख अपार है न जाने हम लोग कब इससे पार होंगे। हम लोगोंकी आयु भी इतनी बडी है कि इसकी उपमा सागरोंको भी नहीं दे

नान्वयोप्युपमामं नो जीवितस्याल्पीयसः ॥८४॥ इत्यनुध्यायता तेषां योऽतस्तापोऽनुसंततः 'स एव प्राणसंशीतिं तानारोपयितुं क्षम. ॥८५॥ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यद्दुःखं सुदारुणं ॥तत्तत्पिंडीकृत तेषु दुर्मोचैः पापकर्मभि.॥ ८६ ॥ अक्ष्णोर्निमेषमात्रं च न तेषा सुखसगतिः॥ दुःखमेवानुबधीद्दग् नारकाणामहर्निश ॥८७॥ नानादु.खशतावर्त्ते मग्नाना नरकार्णवे ॥ तेषामास्ता सुखावाप्तिस्तत्स्मृतिश्च दवीयसी ॥ ८८ ॥ शीतोष्णनरकेष्वेषा दुःखं यदुपजायते ॥ तदसह्यमचिंत्यं च बत केनोपमीयते ॥८९॥ शीतं षष्ठ्यां च सप्तम्यां पचम्यां तद्द्वय सम ॥ पृथिवीषूष्णमुदिष्टं चतसृष्वादिमासु च ॥९०॥ त्रिंशत्पचहता. पच त्रिपंचदश च

सकते हैं अर्थात् वह सागरोंसे भी बडी बडी जान पडती है ॥ ८४ ॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे उन नारकियोंको निरंतर संताप उत्पन्न होता रहता है और वही संताप उनके प्राणोंको सदा संदेहमें डालता रहता है ॥ ८५ ॥ यहां अब बहुत कहनेसे क्या लाभ? जो बडी कठिनतासे दूर हो सकते हैं ऐसे पापकर्मोंके उदयसे जो जो दारुण दुःख होते हैं वे सब इकठ्ठे होकर ही मानों नारकियोंको प्राप्त होते हैं ॥ ८६ ॥ नरकमें रहनेवाले नारकियोंको एक निमेषमात्र (जितनी देरमें आंखके ऊपरका पलक नीचेके पलकसे लगता है उतनी देरको निमेष कहते हैं) भी सुख नहीं है उन्हें रातदिन सदा ऊपर लिखे अनुसार दुःख ही दुःख भोगना पडता है ॥ ८७ ॥ अनेक प्रकारके सैकडों दुःखरूपी भंवरोंसे भरे हुये उस नरकरूपी समुद्रमें डूबे हुये नारकियोंको सुखकी प्राप्ति होना तो दूर रहो उन्हें सुखका स्मरण होना भी बहुत दूर रहता है ॥ ८८ ॥ जिन नरकोंमें अत्यंत शीतता ही है अथवा जिनमें अत्यंत उष्णता ही है ऐसे उन नरकोंमें उस शीतता और उष्णतासे नारकियोंको जो दुःख होता है वह सर्वथा असह्य (सहन करने अयोग्य) और अचिंत्य (चिंतवन करने अयोग्य) है उस दुःखकी उपमा देने योग्य भी संसारमे कोई पदार्थ नहीं है ॥ ८९ ॥ सातों नरकोंमेंसे पहलेके चार नरकोंमें उष्ण वेदना है पांचवेंमें ऊपरके दो लाख बिलोंमें उष्ण वेदना है और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत वेदना है छठे नरकमें शीतवेदना है और सातवें नरकमें महा शीत वेदना है ॥ ९० ॥ पहले नरकमें तीस लाख

क्रमात् । तिस्रः पञ्चभिरूनैका लक्षाः पंच च सप्तसु ॥९१॥ नरकेषु बिलानि स्युः प्रज्वलंतिमहांति च ॥ नारका यत्र पच्यंते कुंभीष्विव दुरात्मकाः ॥९२॥ एकं त्रीणि तथा सप्त दश सप्तदशापि च ॥ द्वाविंशतिस्त्रयस्त्रिंशदायुस्तत्राब्धिसंख्यया ॥ ९३ ॥ धनूंषि सप्त तिस्रः स्युररत्न्योऽङ्गुलयश्च षट् । प्रथमायां नारकोत्सेधो द्विद्विःशेषासु लक्ष्यते ॥ ९४ ॥ पोगंडा हुंडसंस्थाना, षंढकाः पूतिगंधयः ॥ दुर्वर्णाश्च दुःस्पर्शा दुःस्वरा दुर्भगाश्च ते ॥ ९५ तमोमयैरिवारब्धा विरूक्षैः परमाणुभिः ॥ जायंते कालकालाभा नारका द्रव्यलेश्यया ॥ ९६ ॥ भावलेश्या तु कापोती

बिले हैं, दूसरेमें पच्चीस लाख, तीसरेमें पंद्रह लाख, चौथेमें दश लाख, पांचवेंमें तीन लाख, छट्ठेमें पांच कम एक लाख और सातवेंमें पांच बिले हैं। इसप्रकार ये सब चौरासी लाख बिले हैं। ये सब बिले बहुत बडे हैं और सदा जाज्वल्यमान रहते हैं इनमें पापी नारकी जीव किसी वर्तनमें औटाये हुये जलके समान सदा सीजते रहते हैं ॥९१--९२॥ पहले नरकमें एक सागरकी उत्कृष्ट आयु है, दूसरेमें तीन सागर, तीसरेमें सात सागर, चौथेमें दश सागर, पांचवेंमें सत्रह सागर, छट्ठेमें बाईस सागर और सातवेंमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु है ॥ ९३ ॥ पहले नरकके नारकियोंके शरीरकी उत्कृष्ट उंचाई सात धनुष तीन हाथ और छह अंगुल है। दूसरे तीसरे आदि नरकोंमें क्रमसे शरीरकी उंचाई इससे दूनी दूनी है अर्थात् दूसरे नरकमें पंद्रह धनुष दो हाथ बारह अंगुल है, तीसरे नरकमें इकतीस धनुष एक हाथ, चौथे नरकमें बासठ धनुष दो हाथ, पांचवें नरकमें एकसौ पच्चीस धनुष, छट्ठेमें दोसौ पचास धनुष और सातवें नरकमें पांचसौ धनुष है ॥ ९४ ॥ वे सब नारकी विकलांग हुंडकसंस्थानवाले और नपुंसक होते हैं उनका शरीर बुरीदुर्गंधमय होता है, उनका वर्ण बुरा और काला, स्पर्श नितांत कठिन और स्वर अतिशय कठोर होता है, वे देखनेमें भी बहुत बुरे जान पडते हैं ॥ ९५ ॥ उन नारकियोंका शरीर गाढ अंधकारके समान काले और रूखे परमाणुओंसे बना हुआ है। उनकी द्रव्यलेश्या भी महाकृष्ण है ॥ ९६ ॥ इसीप्रकार भावलेश्या भी पहले नरकमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके जघन्य कापोती ले-

जघन्या मध्यमोत्तमा ॥ नीला च मध्यमा नीला नीलोत्कृष्टा च कृष्णया ॥ ९७ ॥ कृष्णा च मध्यमोत्कृष्टा कृष्णा चेति यथाक्रमं ॥ घर्मादिसप्तमीं यावत्तावत्पृथ्वीषु वर्णिता. ९८. यादृशः कटुकालावुकाञ्जीरादिसमागमे ॥ रस. कटुरनिष्टश्च तद्गात्रेष्वपि तादृशः ॥ ९९ ॥ श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ ॥ यद्दौर्गन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा ॥ १०० ॥ यादृश· करपत्रेषु गोक्षुरेषु च यादृशः ॥ तादृश. कर्कश. स्पर्शस्तदङ्गेष्वपि जायते ॥ १०१ ॥ अपृथग्विक्रियास्तेषामशुभाद्दुरितोदयात् ॥ ततो विकृतबीभत्सविरूपात्मा[illegible] ॥ १०२ ॥ विभङ्गोऽस्ति विभङ्गाख्यस्तेषां पर्याप्त्यनन्तरं ॥ तेनान्यजन्मवैराणां स्मरन्त्युद्भावयन्ति च ॥ १०३ ॥ यदमी [illegible]

श्या है, दूसरेमें मध्यम कापोती लेश्या है. तीसरेमें उत्कृष्ट कापोती और मध्यम नीललेश्या है चौथेमें जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट तीनों प्रकारकी साधारण नील लेश्या है, पांचवेंमें उत्कृष्ट नील और जघन्य कृष्ण लेश्या है, छट्ठेमें कृष्णलेश्या है और सातवेंमें उत्कृष्ट कृष्णलेश्या है। इसप्रकार सातों नरकोंमें भावलेश्या समझना ॥ ९७–९८ ॥ जिसप्रकार कडवी तूंबी और कांजीरके संयोगसे नितांत कडवा और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है उसीप्रकार नारकियोंके शरीरका रस भी अतिशय कडवा और अनिष्ट होता है ॥ ९९ ॥ कुत्ता बिल्ली गधा ऊंट आदि जीवोंके मृतक शरीरोंको इकट्ठा करनेसे जो दुर्गंध उत्पन्न होती है वह भी नारकियोंके शरीरकी स्वाभाविक दुर्गंधके सामने कुछ नहीं है ॥१००॥ करोंत गोखुरू आदि पदार्थोंका स्पर्श जैसा कठिन और घाव उत्पन्न करनेवाला है उसीप्रकारका कठिन और अनेक व्रण (घाव) उत्पन्न करनेवाला स्पर्श नारकियोंके शरीरका होता है ॥ १०१ ॥ पापकर्मके उदयसे नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभ ही होती है और वह भी अपृथक्रूप ही होती है अर्थात् एक नारकी एक समयमें अपने शरीरका एक ही आकार वना सकता है, देवोंके समान वह अनेक रूप नहीं वना सकता। उनकी वह एक विक्रिया भी महा वीभत्स कुरूपा और विकाररूप होती हैं ॥ १०२ ॥ जन्म होनेके अंतर्मुहूर्त वाद पर्याप्त होते ही उन्हें विभंगावधिज्ञान उत्पन्न होता है जिससे उन्हें पूर्वभवके वैर स्मरण हो आते हैं और वे परस्पर एक दूसरेको मारने लगते हैं ॥ १०३ ॥

सन्पापेषु पंडिताः ॥ कद्वदाश्च दुराचारास्तद्विपाकोऽयमुल्बणः ॥ १०४ ॥ ईदृग्विधं महादुःखं द्वितीयनरकाश्रितं ॥ पापेन कर्मणा प्राप्तच्छतबुद्धिरसौ सुर ॥ १०५ ॥ तस्माद्दुःखमनिच्छूना नारकं तीव्रमीदृश ॥ उपास्योय जिनेंद्राणां धर्मो मतिमता नृणा ॥ १०६ ॥ धर्मः प्रपाति दुःखेभ्यो धर्मः शर्म तनोत्ययं ॥ धर्मो नैःश्रेयसं सौख्यं दत्ते कर्मक्षयोद्भवं ॥ १०७ ॥ धर्मादेव सुरेंद्रत्वं नरेंद्रत्वं गणंद्रता ॥ धर्मात्तीर्थकरत्वं च परमानंत्यमेव च ॥ १०८ ॥ धर्मो बंधुश्च मित्रं च धर्मोऽयं गुरुरंगिना ॥ तस्माद्धर्ममतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि ॥ १०९ ॥ तदा प्रीतिंकरस्येति वचः श्रुत्वा जिनेशिनः ॥ श्रीधरो धर्मसंवेगं परं प्रापत्स पुण्यधीः ॥ ११० ॥ गत्वा गुरुनिदेशेन शतबुद्धिम

जो जीव पहले भवमें पापकार्योंके करनेमें बड पंडित थे जो दुर्वचन कहनेमें बडे चतुर थे और बडे दुराचारी थे उन्हें नरकमें आकर सब पापोंका ऊपर कहा हुआ कटुक फल भोगना पडता है ॥१०४॥ हे श्रीधर देव ? वह शतबुद्धि मंत्रीका जीव अपने पाप कर्मके उदयसे दूसरे नरकमें पडकर ऊपर लिखे अनुसार अनेक बडे बडे दुःख भोग रहा है ॥ १०५ ॥ इसलिये जो जीव ऊपर लिखे हुये नरकोंके तीव्र दुःख भोगना नहीं चाहते उन बुद्धिमान मनुष्योंको इस जैनधर्मकी उपासना करना चाहिये ॥ १०६ ॥ यह जैनधर्म ही जीवोंको दुःखोंसे बचाता है, यही धर्म सुखोंको बढाता है, और इसी धर्मके प्रभावसे कर्मोंके क्षय होनेसे प्राप्त होनेवाले मोक्षके सुखकी प्राप्ति होती है ॥ १०७ ॥ इस जैनधर्मके प्रभावसे ही इंद्र चक्रवर्ती और गणधरादिके उत्तम पद प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर पद भी धर्मसे ही प्राप्त होता है और सिद्धपद भी इसीसे मिलता है ॥ १०८ ॥ यह जैनधर्म ही जीवोंका वास्तविक हित करनेवाला बंधु है यही मित्र है और यही गुरु है इसलिये हे श्रीधरदेव ! स्वर्ग और मोक्षके सुख देनेवाले इस जैनधर्ममें तू अपना चित्त लगा ॥ १०९ ॥ इसप्रकार अपने गुरु श्रीप्रीतिंकर जिनेंद्रदेवके वचन सुनकर वह पुण्यवान् श्रीधर देव धर्ममें बहुत बडा प्रेम धारण करने लगा ॥ ११० ॥ वह अपने गुरुकी आज्ञानुसार दूसरे नरकमें गया और वहां जाकर शतमति मंत्रीके जीवको इसप्रकार समझने लगा कि भद्र!

...भीरगत् ॥ किं मद मुग्ध मां वेत्सि शतबुद्धे महाबलं ॥ १११ ॥ तदासीत्तव मिथ्यात्वमुद्रिक्तं दुर्नयाश्रयात् ॥ पश्य तत्परिपाकोऽयम- स्वांतसौ पुरःस्थितः ॥ ११२ ॥ इत्यसौ बोधितस्तेन शुद्धं दर्शनमग्रहीत् ॥ मिथ्यात्वकलुषापायात्परां शुद्धिमुपाश्रितः ॥ ११३ ॥ ... काल्लोते नरकाद्दीर्घान्निर्गत्य शतधीचरः ॥ पुष्कराद्वीपपूर्वार्द्धप्राग्विदेहमुपागतः ॥ १४ ॥ विषये मंगलावत्यां नगर्यां रत्नसंचये ॥ ... महाजयसेनसंज्ञश्च सुतोऽभवत् ॥ १५ ॥ जयसेनस्तु ... विवाहसमये सुरात् ॥ श्रीधरात्प्राप्तबोधः सन् गुरु यमधर ... ॥ १६ ॥ नारकी वेदना घोरा तेनासौ किल बोधितः ॥ निर्विद्य निर्ययावमगात्तपो दुश्चरमाचरत् ॥ १७ ॥ ततो ब्रह्मेंद्रतां सोऽगाज्जीवितान्ते समाहितः ॥

हे मूर्ख! शतबुद्धि! क्या तू मुझे जानता है मैं राजा महाबलका जीव हूं ॥ १११ ॥ पहले ... खोटी युक्तियोंके आश्रयसे तेरा मिथ्यात्व बहुत ही प्रबल था। देख! उसी मिथ्यात्वका यह भयंकर फल तेरे सामने उपस्थित है ॥ ११२ इसप्रकार श्रीधरदेवके उपदेशसे शतमतिके जीवने शुद्ध सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और मिथ्यात्वरूपी मल दूर हो जानेसे उसने एकप्रकारकी परमविशुद्धता धारण की ११३ अनंतर वह शतमतिका जीव समयानुसार अपनी आयु समाप्त होनेपर उस भयानक दूसरे नरकसे निकला और पुष्करार्द्ध द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें मंगलावती देशके रत्नसंचयपुर नगरमें चक्रवर्ती महाराज महीधरके रानी सुंदरीसे जयसेन नामका पुत्र हुआ किसी एकदिन जबकि उसका विवाह होने वाला ही था उससमय श्रीधरदेवने आकर उसे समझाया जिससे प्रबुद्ध होकर उसने यमधर मुनिके निकट दीक्षा धारण की ११४-११५-११६ श्रीधरदेवने जयसेनको विवाहसमयमें नरकोंके घोर दुःखोंकी याद दिलाई जिससे वह तत्काल ही विषयोंसे विरक्त हुआ और दीक्षा धारणकर महातपश्चरण करने लगा ११७ आयुके अंतसमयमें उसने समाधिमरणपूर्वक प्राण छोडे इसलिये वह पांचवें ब्रह्म-स्वर्गमें जाकर इंद्र हुआ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक देख कहां तो नारकी होना और कहां इंद्रपदकी प्राप्ति होना। वास्तवमें इन कर्मोंकी गति बडी ही विचित्र है ॥११८॥

यह जीव अधर्मकार्य (हिंसा चोरी आदि निषिद्ध कार्य) करनेसे नरकादि नीच गतियोंमें उत्पन्न होता है और अहिंसा सत्य आदि भले योग्य धर्मकार्य करनेसे स्वर्गादिक उच्चगतियोंको प्राप्त होता है इसलिये जो जीव स्वर्गादि उच्चगतियोंमें प्राप्त होना चाहते हैं उन्हें धर्मसाधनकरनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये ॥११९॥ ब्रह्मस्वर्गमें उत्पन्न होते ही जयसेन वा शतमतिके जीवको अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ जिससे उसने अपने परम उपकारक श्रीधरदेवको भी जानलिया तथा वह तुरंत ही उस पांचवें स्वर्गसे चलकर दूसरे स्वर्गमें आया और उसे अपना कल्याणमित्र मानकर उसकी बडी प्रतिष्ठा आदि की ॥१२०॥

अथानंतर—वह श्रीधरदेव स्वर्गसे चयकर जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें स्वर्गके समान सुशोभित होनेवाले महावत्स नामके देशमें सुसीमानगरके महाराज सुदृष्टिके रानी सुंदरनंदादेवीसे पुण्यवान् सुविधि नामका पुत्र हुआ ॥ १२१–१२२ ॥ वह सुविधिकुमार बाल्यावस्थासे ही चंद्रमाके समान संपूर्ण कलाओंको धारण करता था और संसारके संपूर्ण नेत्रोंको आल्हादन करनेवाला था ॥१२३॥ बालक अवस्थामें ही उसकी बुद्धि स्फुरायमान थी और वह सद्धर्मका स्वरूप अच्छीतरह जानता था । सो ठीक ही है बुद्धिमान् पुरुषोंका चित्त प्रायः आत्माके कल्याण करनेमें ही प्रसन्न होता है ॥ १२४ ॥ बालक अवस्थामें ही उसे लोगोंको आनंद देनेवाला मनोहररूप प्राप्त था और वह यौवनावस्थामें और भी मनोहर होगया था ॥ १२५ ॥ जैसे कुलपर्वतोंके बीचमें चूलिका सहित मेरुपर्वत उच्चता धारण

चित्तमात्मश्रेयसि रज्येत ॥ २४ ॥ शैशवेऽपि स संप्रापज्जनतानंददायिनीं ॥ रूपसंपदमापूर्णयौवनस्तु विशेषत ॥ १२५ मकुटालङ्कृतमूर्धा प्रोच्चैरि मादधे ॥ भेजे कुलमहीध्राणामिव मध्ये स भूभृता ॥ २६ ॥ कुण्डलोद्भासि तस्याभान्मुखमुद्भ्रूविलोचन ॥ सचन्द्रार्कं सतारं च सेन्द्रचापमिवाम्बरं ॥ २७ ॥ मुखं सुरभिनिश्वासं कान्ताधरममाद्दिनो ॥ महोत्पलमिवोद्भिन्नदलं सुरभिगन्धि च ॥ २८ ॥ नासिका प्रतनुमस्येव गंधमाघ्रातिमादधे ॥ अवाङ्मुखी विरेकाभ्यामापिवतीव तद्रस ॥ २९ ॥ कंधरस्तन्मुखाब्जस्य नालर्लीला दधे परा ॥ मृणालवलयेनेव हारेण परिराजित ॥ ३० ॥ महोर स्थलमस्याभा-

करता है उसीप्रकार अन्य सब राजाओंके वीचमें उन्नत मस्तकपर मुकुट धारण किये हुये वह सुविधि कुमार उच्चता धारण करता था ॥ १२६ ॥ उसका मुख सूर्यचंद्रमा तारे और इंद्रधनुषसे सुशोभित आकाशके समान शोभायमान होता था क्योंकि उसके दोनों कानोंमें दो रत्नमय कुंडल शोभायमान थे वे सूर्य और चंद्रमाके समान थे और किंचित् ऊंची उठी हुई भोंओंसहित चमकते हुये नेत्र शोभायमान थे वे इंद्रधनुष और तारोंके समान थे ॥१२७॥ अथवा उस सुविधिकुमारका मुख खिले हुये कमलके समान सुशोभित होता था जैसे खिले हुये कमलमें उसके दल विकसित हो जाते हैं उसीप्रकार उसके मुखमें मनोहर अधर शोभायमान थे और जिसप्रकार कमलमें सुगंध रहता है उसीप्रकार उसके मुखका निश्वास भी अतिशय सुगंधित था ॥ १२८ ॥ उसकी नाकने मानों उसके मुखकमलकी सुगंध सूंघनेकेलिये ही लंबाई धारण की थी और अपने दोनों छिद्रोंके द्वारा उस मुखकमलका रस पीनेके लियेही मानों उसने अपना मुख नीचेकी ओर करलिया था ॥ १२९ ॥ उसके कंठमें जो कमलनालके समान सफेद हार पडा हुआ था उससे वह कंठप्रदेश ऐसा सुशोभित होता था मानों मुखरूपी कमलका उत्तम नाल ही हो ॥ १३० ॥ अनेक रत्नोंकी किरणोंसे अत्यंत मनोहर ऐसा उसका विशाल वक्षःस्थल ऐसा सुशोभित होता था मानों कमलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीका अनेक जलते हुये दीपकोंसे शोभायमान निवासस्थान ही हो ॥ १३१ ॥ उसके ऊंचे उठे हुये दोनों कंधे दिग्गजके कुंभस्थलके समान सुशो-

न्महारत्नांशुपेशलं ॥ उवहद्वीपामिवाभोजवासिन्या वासगेहकं ॥ ३१ ॥ अंसावभ्युन्नतौ तस्य दिग्गजस्येव सद्गते. ॥ कुंभाविव रराजेते सुवंशस्य महोन्नते- ॥ ३२ ॥ व्यायामशालिनास्य रेजतुर्भूभुजो भुजौ ॥ भूलाकापायरक्षार्थं क्लृतौ वाज्राविवार्गलौ ॥ ३३ ॥ नखताराभिरुन्दूनचंद्रार्कस्फुटलक्षण ॥ चारुहस्ततलं तस्य नभस्थलमिवाबभौ ॥ ३४ ॥ मध्यमस्य जगन्मध्याविभ्रमं विभ्रयुदतत् ॥ वृततानवमूर्ध्वाधोविस्तीर्णपरिमंडलं ॥ ३५ ॥ जघनाभोग- मामुक्तकटिसूत्रमसौ दधे ॥ मेरुर्नितंबमालंविसेंद्रचापाबुद यथा ॥ ३६ ॥ सोधात्कनकराजीवकिंजल्कपरिपिंजरौ॥ ऊरू जगद्गृहोदग्रतोरणस्तंभसंन्निभौ॥३७॥

भित होते थे क्योंकि जिसप्रकार दिग्गज सद्गति अर्थात् अच्छी चालवाला होता है उसीप्रकार वह सुवि- धि भी सद्गति अर्थात् श्रेष्ठ आचरणोंको धारण करनेवाला था दिग्गज जिसप्रकार सुवंश अर्थात् ऊंची उठी हुई पीठकी रीढसहित होता है उसीप्रकार वह भी सुवंश अर्थात् उत्तम वंशमें उत्पन्न हुआ था। और दिग्गज जिसप्रकार सबसे उन्नत अर्थात् ऊंचा होता है उसीप्रकार वह भी सबसे उन्नत अर्थात् श्रेष्ठ था ॥ १३२ ॥ इसीप्रकार उसकी दोनों लंबी भुजायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारमें होनेवाले अनेक अपायोंको (नाशको) रोकनेकेलिये वज्रके बने हुये मजबूत दो अर्गल ही हों ॥ १३३ ॥ उसके दोनों हाथोंकी सुंदर हथेलियां आकाशके समान शोभायमान होती थीं, क्योंकि जिसप्रकार आकाशमें तारे चमकते हैं उसीप्रकार उसकी हथेलियोंमें नखरूपी तारे चमकते थे और जिसप्रकार आकाशमें सूर्य चंद्रमा होते हैं उसीप्रकार उसकी हथेलियोंमें भी सूर्य चंद्रमाके चिन्ह विद्यमान थे ॥ १३४ ॥ उसका मध्यभाग [कमर] लोकाकाशके मध्यभागके समान सुशोभित होता था । क्योंकि जिसप्रकार लोकाकाशका मध्यभाग अत्यंत कृश है उसीप्रकार उसका मध्यभाग भी अत्यंत कृश था और जिसप्रकार लोकाकाशका ऊपर नीचेका भाग विशाल (चौड़ा) होता है उसीप्रकार उसके ऊपर नीचेका भाग भी विशाल था । १३५ । जिसप्रकार मेरु पर्वत इंद्रधनुषसहित बादलसे घिरेहुये नितंबभागको धारण करता है उसीप्रकार वह सुविधि भी सुवर्णकी करधनीसे अत्यंत सुशोभित हुये नितंवस्थलोंको (कमरके

[illegible]द्वय च सुश्लिष्ट नृणां चित्तस्य रंजक ॥ सालंकारं व्यजेष्टास्य सुकवेः काव्यबंधन ॥ ३८ ॥ तत्क्रमाब्ज मृदुस्पर्शं लक्ष्मीसंवाहनोचितं ॥ शोणिमानं दधे लग्नमिव तत्करपल्लवात् ॥ ३९ ॥ इत्यविष्कृतरूपेण हारिणा चारुलक्ष्मणा ॥ मनांसि जगतां जह्रे स बलाद्बालकोऽपि सन् ॥ ४० ॥ स तथा यौवनारंभे मदनोत्कोचकारिणि ॥ वशी सुतरमासीदरिषड्वर्गनिग्रहात् ॥ ४१ ॥ सोनुमेने यथाकालं सत्कलत्रपरिग्रहं ॥ उपरोधाद्गुरोः प्राप्तराज्यलक्ष्मीपरिच्छदं ॥ ४२ ॥ चक्रिणोभयकोपस्य स्तनंधयोऽस्य यत्नो युवा ॥ ततश्चक्रिसुताऽनेन पारिणिन्ये मनोरमा ॥ ४३ ॥ तयानुकूलया सख्या

पीछेके भागको) धारण करता था ।१३६। सुवर्णकमलकी केसरके समान पीले ऐसे उसके दोनों ऊरु [जंघाके ऊपरी भाग] ऐसे शोभायमान होते थे मानों इस संसाररूपी वरघर तोरण बांधनेके लिये दो ऊंचे खंबे ही खडे किये गये हों ॥ १३७ ॥ उसकी दोनों जंघायें किसी अच्छे कविकी काव्यरचनाको भी जीतती थीं क्योंकि जिसप्रकार काव्यरचना अलंकार सहित होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी अलंकार सहित थीं, काव्यरचना जिसप्रकार मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी मनुष्योंके चित्तको प्रसन्न करनेवाली (सुंदर) थीं और काव्यरचना जिसप्रकार सुश्लिष्ट अर्थात् श्लेषादि गुणसहित होती है उसीप्रकार उसकी जंघायें भी सुश्लिष्ट अर्थात् संगठनमें सुंदर और गोल थीं ॥ १३८ ॥ उसके दोनों चरणकमल बडे ही कोमल और लक्ष्मीके द्वारा सेवा करने योग्य थे । उनपर धारण की हुई स्वाभाविक लालिमा ऐसी जान पडती थी मानों सेवा करतीहुई लक्ष्मीके करपल्लवसे ही छूटकर लगगई हो ॥ १३९ ॥ इसप्रकार वह सुविधिकुमार बालक होकर भी अपने प्रगट हुये सुंदर रूपसे और अनेक सुंदर लक्षणोंसे संसारमात्रके हृदयोंको बलात्कार हरण करता था ॥ १४० ॥ कामदेवको उद्रेक करनेवाले यौवन अवस्थाके प्रारंभ समयमें संपूर्ण इंद्रियोंको वश करनेवाला वह कुमार काम क्रोध लोभ मान मद हर्ष इन छह अंतरंग शत्रुओंको निग्रह करनेसे तरुण अवस्थामें ही वृद्धोंके समान

न रेमे सुचिरं नृप ॥ सुशीलमनुकूलं च कलत्र रमयेन्नर ॥ ४४ ॥ ततो स्वयंप्रभो दिवश्च्युत्वा केशवाख्य. सुतो-
जनि ॥ ४५ ॥ वज्रजंघभवे यासौ श्रीमती तस्य वल्लभा ॥ सैवास्य पुत्रता याता संसृतिस्थितिदर्शी ॥ ४६ ॥ तस्मिन्पुत्रे नृपस्यास्य प्रीतिरासीद्गरी-
यसी ॥ पुत्रमात्र च सप्रीत्यै किमु तेष्वङ्गनाचर. ॥ ४७ ॥ शार्दूलार्यचराद्याश्च देशेऽत्रैव नृपात्मजा ॥ जाताः समानपुण्यत्वादन्योन्यसदृशर्द्धय ॥४८ ॥
विभीषणनृपात्पुत्रः प्रियदत्तोदरेजनि ॥ देवश्चित्राङ्गदश्च्युत्वा वरदत्ताह्वयो दिवः ॥ ४९ ॥ नंदिषेणनृपानंतमत्यो. सूनुरजायत ॥ मणिकुंडलनामासौ

जान पडता था ॥ १४१ ॥ यथायोग्य समयपर माता पिताके हठसे उसने विवाह किया तथा राज्य-लक्ष्मीके चिन्ह चमर छत्रादि भी धारण किये अर्थात् उसने राज्यभार भी स्वयं धारण किया ॥ १४२ ॥ वह सुविधिकुमार अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था इसलिये उस चक्रवर्तीकी मनोरमा नामकी कन्यासे उसने पाणिग्रहण किया था ॥ १४३ ॥ वह मनोरमा बडी साध्वी और अपने स्वामीकी आज्ञाकारिणी थी इसलिये वह राजा सुविधि चिरकालतक उसके साथ क्रीडा करता था, सो ठीक ही है जो स्त्री सुशील और पतिकी आज्ञाकारिणी होती है वही मनुष्यको प्रसन्न करसकती है ॥ १४४ ॥ इसप्रकार प्रीतिपूर्वक क्रीडा करते हुये उन दोनोंका बहुत कुछ समय व्यतीत होगया तब श्रीमतीका जीव जो स्वयंप्रभ देव हुआ था वह आयु समाप्त होनेपर स्वर्गसे चयकर उन दोनोंके केशव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १४५ ॥ देखो महाराज वज्रजंघके भवमें जो उसकी श्रीमती नामकी प्यारी रानी थी उसीका जीव इसभवमें आकर उसके पुत्र हुआ है इसलिये कहना पडता है कि इस संसारकी स्थिति बडी ही विचित्र है । १४६ । महाराज सुविधिकी उस पुत्रपर बडी भारी प्रीति थी सो ठीक ही है पुत्रपर पिताकी प्रीति होती ही है यदि पूर्व भवका प्रेमपात्र अतिशयं प्रिय ऐसी अपनी स्त्रीका जीव ही आकर पुत्र उत्पन्न हो तो फिर कहना ही क्या है उसपर सबसे अधिक प्रेम होता ही है । १४७ पहले कहे हुये सिंह शूकर न्योला और बंदरके जीव जो दूसरे स्वर्गमें देव

वरसेनसमाह्वयः ॥ ५० ॥ रतिषेणमहीभर्तुश्चंद्रमत्या सुतेऽजनि ॥ मनोहरो दिवश्च्युत्वा चित्रांगदसमाख्यया ॥ ५१ ॥ प्रभंजननृपाच्चित्रमालिन्यां स मनोरथः ॥ प्रशांतमदन सूनुरजनिष्ट दिवश्च्युत ॥ ५२ ॥ ते सर्वे सदृशाकारा रूपलावण्यसंपदः ॥ स्वोचितां श्रियमासाद्य चिरं भोगानभुंजत ॥ ५३ ॥ ततोऽमी चक्रिणाऽन्येद्युरभिवंद्य समं जिनं ॥ भक्त्या विमलवाहाख्यं महाप्राव्राज्यमाश्रिताः ॥ ५४ ॥ नृपैरष्टादशाभ्यस्तसहस्रप्रमितैरमी ॥ महस्रैः पंचभिः पुत्रैः प्राव्राजीच्चक्रवर्तिनौ ॥ ५५ ॥ परं संवेगनिर्वेदपरिणाममुपागताः ॥ ते तेपिरे तपस्तीव्रं मार्गं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ५६ ॥ संवेग

हुये थे वे भी वहांसे चयकर इसी वत्सकावती देशमें महाराज सुविधिके समान पुण्याधिकारी होनेसे उसीके समान विभूतिको धारण करनेवाले राजपुत्र हुये । १४८। पहले जो जीव व्याघ्र था और दूसरे स्वर्गमें चित्रांगद नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर महाराज विभीषणके रानी प्रियदत्तासे वरदत्त नामका राजपुत्र हुआ ॥ १४९ ॥ जो जीव पहले शूकर था और मणिकुंडल नामका देव हुआ था वह राजा नंदिषेण रानी अनंतमतिके वरसेना नामका पुत्र हुआ॥१५०॥जो जीव पहिले बंदर था और मनोहर नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर राजा रतिषेण रानी चंद्रमतीके चित्रांगद नामका पुत्र हुआ ॥ १५१ ॥ इसीप्रकार पहले जो नकुल था और मनोरथ नामका देव हुआ था वह स्वर्गसे चयकर राजा प्रभंजन रानी चित्रमालिनीके प्रशांतमदन नामका पुत्र हुआ ॥१५२॥ उन सबका रूप, आकार, लावण्य और संपत्ति आदि सब समान थे सब ही अपने अपने योग्य विभूतिको पाकर चिरकालतक भोगोंका अनुभव कररहे थे ॥१५३॥ एक दिन वे चारों ही राजा अभयघोष चक्रवर्तीके साथ श्री विमलवाह जिनेंद्रदेवकी वंदना करनेकेलिये गये, वहां सबने वंदना की धर्मश्रवण किया और सब ही विरक्त होकर दीक्षित होगये ॥ १५४ ॥ वह अभयघोष चक्रवर्ती अठारह हजार राजा और पांच हजार पुत्रोंके साथ दीक्षित हुआ । उन सब राजाओंमें ऊपर कहे हुये वरदत्त, वरसेन चित्रांगद और प्रशांतमदन नामके राजाभी शामिल थे ॥ १५५ ॥ वे चारों ही जीव उत्कृष्ट संवेग और निर्वेद परिणामोंको प्राप्त होकर

परमा प्रीतिर्धर्मे धर्मफलेषु च ॥ निर्वेदो देहभोगेषु संसारे च विरक्तता ॥ ५७ ॥ नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद्गार्हस्थ्यमत्यजन् ॥ उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरं ॥ ५८ ॥ सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समता प्रोषधव्रतं ॥ सचित्तसेवाविरतिमह स्त्रीसंगवर्जनं ॥ ५९ ॥ ब्रह्मचर्यमथारंभपरिग्रहपरिच्युतिं ॥ तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनं ॥ ६० ॥ स्थानानि गृहिणां प्राहुरेकादश जिनाधिपाः ॥ स तेषु पश्चिमं स्थानमाससाद क्रमान्नृपः ॥ ६१ ॥ पंचैवाणुव्रतान्येषां त्रिविधं च गुणव्रतं ॥ शिक्षाव्रतानि चत्वारि व्रतान्याहुर्गृहाश्रमे ॥ ६२ ॥ स्थूलात्प्राणातिपाताच्च मृषावादाच्च चौर्यतः ॥

स्वर्ग और मोक्षका कारण ऐसा तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥ १५६ ॥ धर्म और धर्मके फलमें गाढ प्रेम होनेको संवेग कहते हैं और शरीर, विषय भोग व संसारसे विरक्त होनेको निर्वेद कहते हैं ॥ १५७ ॥ राजा सुविधि केवल पुत्रके गाढ स्नेहके कारण गृहस्थ धर्मका त्याग नहीं कर सका था परंतु श्रावकके उत्कृष्ट स्थानमें रहकर अर्थात् उत्कृष्ट प्रतिमाओंको धारणकर अति कठिन तपश्चरण करता था ॥ १५८ ॥ श्रावककी सब ग्यारह प्रतिमा हैं पहली दर्शन प्रतिमा दूसरी व्रतप्रतिमा तीसरी सामयिक चौथी प्रोषधोपवास पांचवीं सचित्तत्याग षष्ठी दिवामैथुनत्याग सातवीं ब्रह्मचर्य आठवीं आरंभ-त्याग नौवीं परिग्रहत्याग दशवीं आरंभ और परिग्रहमें अनुमतिका त्याग और ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग। इसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवने श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमा वा ग्यारह स्थान कहे हैं। इनमेंसे राजा सुविधिने अनुक्रमसे अंतकी ग्यारहवीं उद्दिष्टत्याग प्रतिमा धारण की थी ॥ १५९–१६०–१६१ ॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंके सिवाय पांच अणुव्रत श्रावकोंके और कहे हैं ॥ १६२ ॥ स्थूल हिंसाका त्याग करना अर्थात् त्रसजीवोंकी हिंसाका त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है, स्थूल असत्यका त्याग करना सत्याणुव्रत है स्थूल चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है परस्त्री सेवनका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और तीव्र तृष्णाका घटाना वा परिग्रहका परिमाण करना परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है ॥१६३॥ इसप्रकार गृहस्थोंके ये पांच व्रत हैं इनकी रक्षा करनेकेलिये प्रत्येककी पांच पांच भावना हैं। यदि

परस्त्रीसेवनात्तृष्णाप्रकर्षाच्च निवृत्तय ॥ ६३ ॥ व्रतान्येतानि पंच स्युर्भावनासंस्कृतानि वै ॥ सम्यक्त्वशुद्धियुक्तानि मनोदर्काण्यगारिणा ॥ ६४ ॥ दिग्देशानर्थदंडेभ्यो विरति स्याद्गुणव्रत ॥ भोगोपभोगसंख्यानमप्याहुस्तद्गुणव्रत ॥ ६५ ॥ समता प्रोषधविधिं तथैवातिथिसंग्रह ॥ मरणांते च सन्यास प्राहु शिक्षाव्रतान्यपि ॥ ६६ ॥ द्वादशात्मकमेतद्धि व्रत स्याद्गृहमेधिना ॥ स्वर्गसौधस्य सोपान विधानमपि दुर्गते ॥ ६७ ॥ ततो दर्शन सपूता व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥ उपाशिष्ट स मोक्षस्य मार्गं राजार्षिरूर्जित ॥ ६८ ॥ अथावसाने नैर्ग्रंथ्ये प्रव्रज्यामुपसेदिवान् । सुविधिर्विधिनाराध्य

भावना और शुद्ध सम्यग्दर्शनसहित ये पांचों ही व्रत पालन किये जायं तो इनसे गृहस्थोंको बडे बडे उत्तम फलोंकी प्राप्ति होती है ॥ १६४ ॥ दिग्विरति देशविरति और अनर्थदंडविरति ये तीन गुणव्रत कहलाते हैं कोईकोई आचार्य भोगोपभोगपरिमाणको भी गुणव्रत कहते हैं ॥ १६५ ॥ साम्यिक प्रोषधोपवास अतिथिसंविभाग और मरणसमयमें समाधिमरण करना ये चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं ॥ १६६ ॥ इसप्रकार पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये गृहस्थोंके बारह व्रत कहलाते हैं ये व्रत स्वर्गरूपी राजभवनपर चढनेकेलिये सीढीके समान हैं और नरकादि दुर्गतियोंसे बचानेकेलिये अर्गलके समान हैं ॥ १६७ ॥ तदनंतर राजा सुविधिने सम्यग्दर्शनकरसहित ऊपर कहे हुये बारह व्रतोंकी पूर्ण शुद्धता धारण की और उत्तम ऋषियोंके द्वारा सेवन करने योग्य ऐसे मोक्षमार्गकी आराधना की ॥१६८॥ अनंतर आयुके अंतसमयमें संपूर्ण वाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्यागकरके उसने निर्गंथ दीक्षा धारण की और उत्कृष्टरीतिसे विधिपूर्वक मोक्षमार्गका अराधनकर तथा समाधि पूर्वक शरीरका त्यागकर वह सोलहवें अच्युतस्वर्गका स्वामी इंद्र उत्पन्न हुआ । उसकी वाईससागरकी आयु थी और वह अनेक बडी ऋद्धियोंका स्वामी हुआ था ॥१६९–१७० ॥ राजा सुविधिके पुत्र केशवने भी वाह्य आभ्यंतर संपूर्ण परिग्रहोंका त्यागकर जैनेश्वरी निर्गंथदीक्षा धारण की और आयुके अंत समयमें शरीरका त्यागकर वह उसी अच्युतस्वर्गमें प्रतींद्र उत्पन्न हुआ ।१७१।

मुक्तिमार्गमनुत्तरं ॥ ६९ ॥ समाधिना तनुत्यागादच्युतेंद्रोऽभवद्विभु ॥ द्वाविंशत्यब्धिसंख्यातपरमायुर्महर्द्धिक ॥ ७० ॥ केशवश्च परित्यक्तकृत्स्नबाह्येतरो-पधि ॥ नै संगीमाश्रितो दीक्षा प्रतींद्रोभवदच्युते ॥ ७१ ॥ पूर्वोक्ता नृपपुत्राश्च वरदत्तादय क्रमात् ॥ समजायत पुण्यै. स्तैस्तत्र सामानिकाः सुराः ॥७२॥ तत्राष्टगुणमैश्वर्यं दिव्य भोग च निर्विशन् ॥ स रेम सुचिर कालमच्युतेंद्रोऽच्युतश्रिति ॥ ७३ ॥ दिव्यानुभावमस्यासीद्वपुरव्याजसुंदर ॥ विषशस्त्रादिवा-धाभिरस्पृष्टमतिनिर्मलं ॥ ७४ ॥ सतानकुसुमोत्तसमसौ वत्ते स्म मौळिना ॥ तप फलमनिस्सीन मूर्ध्नैवोद्धृत्य दर्शयन् ॥ ७५ ॥ सहजैर्भूषणैरस्य रुरुचे रुचिर वपुः ॥ दयावल्लीफलैरुद्धैः प्रत्यगमिवसगतै ॥ ७६ ॥ समसु विभक्तांग म रेजे दिव्यलक्षणै. ॥ सुरद्रुम इवाकीर्ण. पुष्पैरुच्चावचात्ममि ॥ ७७ ॥

पहले कहे हुये व्याघ्रादिके जीव वरदत्त आदि राजपुत्र भी आगमे अपने किये हुये पुण्य कर्मके उदयसे उसी अच्युत स्वर्गमें सामानिक जातिके देव (इंद्रके गुरु उपाध्याय आदि आज्ञाके विना जिनकी ऋद्धि आदि सब इंद्रके समान हों) उत्पन्न हुये ॥ १७२ ॥ आयु पूर्ण हुये विना जिसकी आयु कभी कम नहीं हो सकती ऐसा वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अणिमादि आठ गुण बडे ऐश्वर्य और स्वर्गसंबंधी अनेक भोगोपभोगोंका अनुभव करता हुआ चिरकालतक क्रीडा करता था ॥ १७३ ॥ उसका शरीर अतिशय प्रभाव युक्त, अतिशय निर्मल और स्वाभाविक सुंदर था उसपर विष शस्त्र अग्नि आदिकी कोई बाधा भी असर नहीं कर सकती थी ॥ १७४ ॥ उसके मस्तकपर विराजमान कल्पवृक्षोंके पुष्पोंका शेखर ऐसा जानपडता था मानों वह किये हुये तपश्चरणके अतिशय बढे हुये फलको मस्तकपर सबको दिखलाता हो ॥ १७५ ॥ जन्मसे उत्पन्न होनेवाले स्वाभाविक आभूषणोंसे उसका सुंदर शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों उसके प्रत्येक अंगपर दयारूपी प्रशंसनीय फल ही आकर लगे हों ॥ १७६ ॥ उसके शरीरका समचतुरस्रसंस्थान था अर्थात् उसके शरीरका संगठन ऐसा अच्छा था कि जहां जितनी उंचाई निचाई वा मोटाई चाहिये वहां उतनी ही थी उसके शरीरपर अनेक दिव्य लक्षण

शिर. सकुतलं तस्य रेजे सोष्णीषपट्टकं ॥ सतमालमिवाद्रींद्रकूटं व्योमापगाश्रितं ॥ ७८ ॥ मुखमस्य लसन्नेत्रभृंगसंगतमाबभौ ॥ स्मितांशुभिर्जलाक्रांतं प्रबुद्धमिव पकज ॥ ७९ ॥ वक्ष स्थले पृथौ रम्ये हारं सोऽधत्त निर्मल ॥ शरदंभोदसंघातमिव मेरोस्तटाश्रित ॥ ८० ॥ लसदंशुकसंवीत जघनं तस्य निर्बभौ॥ तरगाक्रातमभोधेरिव सेकतमडल ॥ ८१ ॥ सुवर्णकदलीस्तंभविभ्रम रुचिमानशे ॥ तस्योरुद्वितय चारु सुरनारीमनोहरं ॥ ८२ ॥ तस्य पादद्वये लक्ष्मी. काप्यभूदब्जशोभिनि ॥ नखांशुस्वच्छसलिले सरसीव झषाकिते ॥ ८३ ॥ इत्युदारतर बिभ्रद्दिव्यं वैक्रियिक वपुः ॥ स तत्र बुभुजे भोगानच्युतेंद्रः

भी थे जिनसे वह शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों ऊंचे नीचे अनेक पुष्पोंसे शोभायमान कल्पवृक्ष ही हों ॥ १७७ ॥ काले सुंदर केश और वांधनेके सफेद वस्त्रसे शोभायमान उसका शिर ऐसा जान पडता था मानों तंवाकूके काले पत्तों सहित आकाशगंगाके समीपतक पहुंचा हुआ किसी पर्वतका शिरवर ही हो ॥१७८॥ उसका मुख खिले हुये कमलके समान सुशोभित था क्योंकि जिसप्रकार खिले हुये कमलपर भ्रमर बैठते हैं उसीप्रकार उसके मुखपर नेत्ररूपी भ्रमर सुशोभित थे और कमल जिसप्रकार जलसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार उसका मुख भी मंदहास्यरूपी किरणोंसे सुशोभित था ॥ १७९ ॥ उसके विशाल और मनोहर वक्षःस्थलपर धारण किया हुआ सफेद निर्मल हार ऐसा जान पडता था मानों सुमेरुपर्वतके तटपर शरदऋतुके सफेद वादलोंका समूह ही हो ॥ १८० ॥ सुंदर चमकते हुये वस्त्रोंसे ढके हुये उसके दोनों जघन ऐसे सुशोभित होते थे मानों समुद्रकी लहरोंसे ढके हुये बालके पुंज ही हों ॥ १८१ ॥ देवांगनाओंके चित्तको आकर्षण करनेवाले और अत्यंत सुंदर ऐसे उसके दोनों ऊरु (दोनों जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे सुशोभित होते थे मानो सुवर्णमय केलेके स्तंभ ही हों ॥ १८२ ॥ उसके दोनों चरण एक सरोवरके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार सरोवर जलसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार उसके चरण भी नखोंकी किरणरूपी स्वच्छ जलसे सुशोभित थे, सरोवरमें जिसप्रकार मत्स्यादिक होते हैं उसप्रिकार उसके चरणोंमें भी मत्स्यादिकके चिन्ह थे और

स्वकल्पजान् ॥ ८४ ॥ इतो रज्जू षडुत्पत्य कल्पोस्त्यच्युतसंज्ञकः ॥ सोस्य भुक्तिरभूत्पुण्यात्पुण्यैः किं नु न लभ्यते ॥ ८५ ॥ तस्य भुक्तौ विमा: नाना परिसंख्या मता जिनैः । शतमेकमथैकोनषष्टिश्च परमागमे ॥ ८६ ॥ त्रयोविंश शतं तेषु विमानेषु प्रकीर्णका. । श्रेणीबद्धास्ततोऽन्ये स्युरतिरुंद्राः सहेंद्रकाः ॥ ८७ ॥ त्रयस्त्रिंशदथास्य स्युस्त्रायास्त्रिंशाः सुरोत्तमाः ॥ ते च पुत्रीयितास्तेन स्नेहनिर्भरया धिया ॥ ८८ ॥ अयुतप्रमिताश्चास्य सामानिकसुरा मताः ॥ ते ह्यस्य सदृशा. सर्वैर्भोगैराज्ञा तु भिद्यते ॥ ८९ ॥ आत्मरक्षाश्च तस्योक्ताश्चत्वार्येवायुतानि वै । तेष्वगरक्षकैस्तुल्या विभवायैव वर्णिता.

सरोवर जिसप्रकार कमलोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार उसके चरण भी सामुद्रिक शास्त्रमें कहे हुये अनेक प्रकारके कमलोंके चिन्होंसे सुशोभित थे इसप्रकार उसके दोनों चरणोंमें एक अपूर्व ही शोभा दिखलाई पडरही थी ॥ १८३ ॥ इसप्रकार अतिशय सुंदर, अतिशय मनोहर ऐसे वैक्रियिक शरीरको धारण करता हुआ वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अपने स्वर्गमें उत्पन्न हुये अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करता था ॥ १८४ ॥ देखो वह अच्युतस्वर्ग इस मध्यलोकसे छह राजू ऊंचा है तथापि राजा सुविधिके पुण्यकर्मके उदयसे वह उसके भोगोपभोगका स्थान हुआ, सो ठीक ही है पुण्यकर्मके उदयसे किस वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ! ॥ १८५ ॥ अच्युतेंद्रके उपभोग करनेके विमानोंकी संख्या जैनशास्त्रोंमें श्रीजिनेंद्रदेवने एकसौ उनसठ कही है ॥ १८६ ॥ इन एकसौ उनसठ विमानोंमेंसे एकसौ तेईस तो प्रकीर्णक विमान होते हैं एक इंद्रक विमान और शेष बडे २ पेंतीस विमान श्रेणीवद्ध होते हैं ॥ १८७ ॥ उसके तेतीस त्रायस्त्रिंश जातिके मंत्री पुरोहित आदिके समान उत्तम देव होते हैं उन्हें वह इंद्र सदा पुत्रके समान स्नेहभरी दृष्टिसे देखता है ॥१८८॥ उसके सामानिक जातिके देव दशहजार हैं भोगोपभोगोंसे वे सब इंद्रके समान हैं केवल आज्ञामात्रका अंतर है अर्थात् इंद्रकी सबपर आज्ञा चलती है और सामानिक देवोंकी आज्ञा नहीं चलती, आज्ञाके सिवाय और सबकी विभूति इंद्रके समान ही रहती है ॥ १८९ ॥ इसीप्रकार अच्युतेंद्रके चालीस हजार आत्मरक्षक हैं, वे सब

॥ ९० ॥ अंत. परिषदस्याद्या सपादं शतमिष्यते । मध्यमार्द्धतृतीयं स्याद्बाह्या तद्द्विगुणा मता ॥ ९१ ॥ चत्वारो लोकपालाश्च तस्यैकांतप्रपाठकाः ॥ प्रत्येकं च तयैतेष देव्यो द्वात्रिंशदेव हि ॥ ९२ ॥ अष्टावस्य महादेव्यो रूपसौंदर्यसंपदा ॥ तन्मनोलोहमाकृष्टु कल्पनायस्कांतपुत्रिकाः ॥ ९३ ॥ अन्या वल्लभिकास्तस्य त्रिषष्टि परिकीर्तिता ॥ एकशोऽग्रमहिष्यर्द्धतृतीयत्रिशतैर्वृता ॥ ९४ ॥ द्वे सहस्रे तथैकाग्रा सप्ततिश्च समुच्चिताः । सर्वा देव्योऽस्य या स्मृत्वा याति चेतोऽस्य निर्वृतिं ॥ ९५ ॥ तासा मृदुकरस्पर्शैर्वक्त्राब्जनिरीक्षणै ।स लेभेऽभ्यधिका तृप्तिं संभोगैरपि मानसै. ॥ ९६ ॥ षट्चतुष्क

राजाओंके अंगरक्षकोंके समान हैं यद्यपि स्वर्गमें किसीका डर नहीं तथापि इंद्रकी केवल विभूति दिखलानेके लिये ही वे सब हें ॥ १९० ॥ इंद्रकी तीन सभायें हैं एक अंतःपरिषद दूसरी मध्यमापरिषद और तीसरी वाह्य परिषद। अंत.परिषदमें एकसौ पच्चीस सभासद होते हैं मध्यमा परिषदमें दौसौ पचास और वाह्य परिषदमें पांचसौ सभासद होते हैं ॥ १९१ ॥ अच्युत स्वर्गकी सभातक रक्षा करनेवाले चार लोकपाल होते हैं और प्रत्येक लोकपालके वत्तीस वत्तीस देवांगनायें होती हैं ॥ १९२ ॥ अच्युतेंद्रके आठ महादेवी होती हैं जो कि अपने रूप और सुंदरतारूपी संपत्तिके द्वारा इंद्रके मनरूपी लोहेके आकर्षण करनेकेलिये चुंवकपत्थरकी पुतालियोंके समान जान पडती हैं ॥ १९३ ॥ इन आठ महादेवियोंके सिवाय उसके तिरेसठ देवांगनायें और होती हैं तथा प्रत्येक महादेवीके साथ दोसौपचास अन्य देवांगनायें रहती हैं ॥ १९४ ॥ इसप्रकार ८ × २५० = २००० । २००० + ६३ + ८ = २०७१ सब देवांगनाओंकी संख्या दोहजार इकहत्तर होती है। इन सब देवियोंका स्मरण करनेमात्रसे उस इंद्रका चित्त शांत हो जाता है ॥ १९५ ॥ वह अच्युत स्वर्गका इंद्र उन देवांगनाओंके कोमल हाथोंके स्पर्श करके, उनके मुखरूपी कमलोंका निरीक्षण करके और मानसिक संभोगके द्वारा अत्यंत तृप्त रहता है ॥ १९६ ॥ इस इंद्रकी प्रत्येक देवी अपनी विक्रिया शक्तिके द्वारा दशलाख चौवीस हजार प्रकारके सुंदर स्त्रियोंके रूप वना सकती है ॥ १९७ ॥ इसीप्रकार अच्युतेंद्र की सेना

सहस्राणि निपुणानि दशैव च ॥ विकरोत्येकशो देवी दिव्यरूपाणि योषितां ॥ ९७ ॥ चमूना सप्तकक्षा सुरेन्द्रस्याच्युतयोर्द्वयं । द्विर्द्विः शेषानीकेषु महाब्धिरिव वीचयः ॥ ९८ ॥ हस्त्यश्वरथपादातवृषगन्धर्वनर्तकी ॥ सप्तानीकान्युशत्यस्य प्रत्येकं च महत्तर ॥ ९९ ॥ एकैकस्याश्च देव्याः स्यादप्सरः परिषत्त्रय ॥ पंचवर्गैश्च पंचाशच्छतं चैव यथाक्रमं ॥ २०० ॥ इत्युक्तपरिवारेण सार्द्धमच्युतकल्पजा । लक्ष्मीं निर्विशतस्तस्य व्यावर्ण्यास परश्रिय ॥ २०१ ॥ मानसोस्य प्रवीचारो विश्राणोप्यस्य मानसः । द्वाविंशतिसहस्रैश्च समाना सकृदाहरेत् ॥ २०२ ॥

भी हाथी घोडे रथ पियादे बैल गंधर्व और नृत्य कारिणी इनके भेदसे सातप्रकारकी होती है। इनमें हाथियोंकी संख्या वीस हजार, घोडोंकी संख्या चालीस हजार, रथोंकी संख्या अस्सी हजार, पियादों की संख्या एकलाख साठहजार, बैलोंकी संख्या तीनलाख वीस हजार, गंधर्वोंकी संख्या छहलाख चालिस हजार और नृत्यकारिणियोंकी संख्या बारहलाख अस्सी हजार होती है। यह सब बडी भारी सेना महासागरकी लहरोंके समान जान पडती है ॥ १९८-१९९ ॥ इसकी देवियोंमेंसे प्रत्येक देवीकी तीन तीन सभा हैं, पहली अंतपरिषदमें पचीस अप्सरा होती है दूसरी मध्यमा परिषदमें पचास और तीसरी बाह्य परिषदमें सौ अप्सरायें होती हैं ॥ २०० ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये परिवारके साथ साथ वह अच्युतेंद्र अच्युतस्वर्गमें उत्पन्न होनेवाली अपार संपत्तिका उपभोग करता था। उसकी पूर्ण शोभाका वर्णन करना भी बहुत कठिन है ॥ २०१ ॥ अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होनेवाले देवोंका प्रवीचार (मैथुन) केवल मनके संकल्पमात्रसे होता है उनका आहार भी मानसिक (मनके संकल्पमात्रसे) होता है और बाईस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर उन्हें एकवार भूखकी इच्छा होती है ॥ २०२ ॥ ग्यारह महीने पीछे उनका एकवार उच्छ्वास होता है और अत्युत्तम शरीरकी उंचाई केवल तीन हाथकी होती है ॥ २०३ ॥ देखो केवल धर्म सेवन करनेसे ही अच्युत स्वर्गके इंद्रको ऐसी उत्तमोत्तम संपत्तियां प्राप्त हुईं इसलिये

तथैकादशभिर्मासैः सकृदुच्छ्वसितं भजेत् ॥ स्वरत्निप्रमितोत्सेधदिव्यदेहधरः स च ॥ २०३ ॥ धर्मेणेत्यच्युतेन्द्रोऽसौ प्राप्तस्तत्परंपरां तस्मात्तदर्थिभिर्भव्यैर्मतिः कार्या जिनोदिते ॥ २०४ ॥ अथ सुललितवेषा दिव्ययोषाः सभूषाः सुरभिकुसुममालाः स्रस्तचूलाः सलील. मधुरविरुतगानारब्धतानाः समानाः प्रमदभरमनून निन्युरेनं सुरेन्द्रं ॥ २०५ ॥ ललितपदविहारैर्भ्रूविकारैरुदारै— र्नयनयुगविलासैरंगलासैः सुहासैः प्रकटितमृदुभावैः सानुभावैश्च भर्विजगृहुरथ मनोऽस्याब्जोपमास्या वयस्याः ॥ २०६ ॥ तासामिंदुकलामले स्ववदनं पश्यन्कपोलाब्दके । तद्वक्त्राबुजभृंगता च

जो जीव उत्तमोत्तम संपत्तियोंको प्राप्तकरना चाहते हैं उन्हें श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये सद्धर्ममें ही अपनी बुद्धि लगानी चाहिये ॥ २०४ ॥ उस अच्युत स्वर्गमें जिनके वेष बहुत ही सुंदर हैं जो मनोहर अलंकार पहने हुये हैं सुगंधित पुष्पोंकी मालायें डाले हुये हैं जिनके खुले केश लटकरहे हैं जो मोठी आवाजसे गाती हुई राग रागनियोंका प्रारंभ कररही है जो अनेकप्रकारके हाव भाव विलास करनेवाली और सबतरह समान हैं ऐसी देवांगनायें उस अच्युत स्वर्गके इंद्रको निश्चय ही वडा आनंद दे रही थीं ॥ २०५ ॥ वे कमलमुखी देवांगनायें मनोहर पैरोंके विहार, सुंदर भोओंके विकार, मनोहर दोनों नेत्रोंके कटाक्ष, सुंदर शरीरकी मोड, मनोहर हास्य व्यक्त और कोमल हाव मान तथा स्वेद और रोमांच आदि उत्पन्न करनेवाले लास्य और मुखविकारादिके द्वारा उस अच्युतद्रेक मनको आकर्षण करती थीं ॥ २०६ ॥ वह अच्युतेंद्र कभी तो उन देवांगनाओंके चंद्रमाकी कलाओंके समान अतिशय निर्मल कपोलरूपी दर्पणमें अपना मुख देखता था, कभी उनके मुखकी सुगंध ग्रहण करता हुआ उनके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान क्रीडा करता था और कभी उन देवियोंके भोंहरूपी चापसे छोडे हुये कामदेवके वाणोंके समान नेत्रोंके कटाक्षोंसे घायल हुये अपने हृदयको उन्हीं देवांगनाओंके कोमल हाथोंका स्पर्श करके धैर्य वंधाता हुआ सुखी करता था ॥ २०७ ॥ कभी वह अपनी देवियोंके मुखरूपी चंद्रमाकी कांतिके समान अतिशय दैदीप्यमान

घटयन्नाघ्रातवक्त्रानिलः । तन्नेत्रैश्च मनोजबाणसदृशैर्भ्रूचापमुक्तैर्भृशं । विद्धं स्वं हृदयं तदीयकरसंस्पर्शैः समाश्वासयन् ॥२०७॥ रेमे रामानर्नेर्दुद्युतिरुचिरतरे स्वे विमाने विमाने । भुजानो दिव्यभोगान्नमरपरिवृतो यान् सुरेभैः सुरेभैः ॥ जैनीं पूजां च तन्वन्मुहुरतनुरुचा भासमानोऽसमानो । उद्भ्रान्त्यानच्युतेंद्रः सुचिरमुरुतरस्वासकात स्कात ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे श्रीमदच्युतेंद्रैश्वर्यवर्णनं नाम दशमं पर्व १०.

और असंख्यात योजन लंबे चौडे अपने विमानमें क्रीडा करता था, कभी अनेक देवोंके साथ साथ उत्तमोत्तम शब्द करते हुये हाथीके रूपमें वने हुये देवोंपर चढकर गमन करता था कभी अनेक प्रकारके स्वर्ग संवंधी भोगोपभोगोंका अनुभव करता था और कभी श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता था। उससमय उसस्वर्गमें उसके समान कोई नहीं था, वह अपनी सबसे वढी हुई कांतिसे वहुत ही शोभायमान था, ऊंचे उठे हुये कंधोंसे बहुत ही सुशोभित था और वडा ही संपत्तिशाली था। इस प्रकार वह अच्युत स्वर्गका इंद्र अपनी देवांगनाओंके साथ चिरकालतक क्रीडा करता था ॥२०८॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें अच्युतस्वर्गके इंद्रका ऐश्वर्य वर्णन करनेवाला दशवां पर्व समाप्त हुआ

एकादशं पर्व.

स्फुरति यस्य वाक्पूजाप्राप्त्युपायगुणांशव ॥ स वः पुनातु भव्याब्जवनबोधी जिनांशुमान् ॥ १ ॥ अथ तस्मिन्दिव मुक्त्वा गुरुमेष्यति तत्तनौ ॥ म्लानिमायात्किलम्लानपूर्वा मंदारमालिका ॥ २ ॥ स्वर्गप्रच्युतिलिंगानि यथान्येषां सुधाशिनां ॥ स्पष्टानि न तथेंद्राणां किंतु लेशेन केनचित् ॥ ३ ॥ ततोऽवोवि सुरेंद्रोऽसौ स्वर्गप्रच्युतिमात्मन । तथापि न व्यषीदत्स तद्धि धैर्य महात्मना ॥ ४ ॥ षण्मासशेषमात्रायुः सपर्यां

अथ ग्यारहवां पर्व

अव ग्यारहवें अध्यायके प्रारंभमें आचार्य श्रीजिनेंद्रदेवको नमस्कार करते हैं । जिसके स्तोत्रोंके द्वारा की हुई पूजासे प्राप्त होनेवाले और मोक्षके साक्षात् कारण ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुण ही जिसकी किरणें स्फुरायमान हो रही हैं और जो भव्यरूपी कमलोंके वनको प्रफुल्लित करनेवाला है ऐसा वह श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य तुम श्रोता लोगोंको सदा पवित्र करो ॥ १ ॥

अथानंतर—जव उस अच्युतेंद्रकी आयु थोडी रह गई और वह स्वर्ग छोडकर इस मध्यलोकमें आनेके सन्मुख हुआ तव उसके शरीरपर पडी हुई कल्पवृक्षोंकी पुष्पमाला कुछ कुछ ऐसी मुरझागई जैसी पहले कभी नहीं मुरझाई थी ॥ २ ॥ स्वर्गसे च्युत होनेके चिन्ह जैसे अन्यदेवोंके स्पष्ट दिखाई पडते हैं वैसे इंद्रोंके स्पष्ट दिखाई नहीं पडते किंतु लेशमात कुछ २ चिन्ह जान पडते हैं ॥३॥ कल्पवृक्षोंकी माला मुरझानेसे उस अच्युतेंद्रने अपने स्वर्गसे च्युत होनेके समाचार जानलिये तथापि वह कुछ खेदखिन्न न हुआ सो ठीक ही है महापुरुषोंका ऐसा ही धैर्य होता है ॥ ४ ॥ जव उसकी आयु केवल छह महीनेकी शेष रह गई तवसे वह पुण्यवान् अच्युतेंद्र वरावर श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करने लगा सो भी ठीक ही है प्रायःमरनेके सन्मुख होते हुये भी बुद्धिमान् पुरुष अपने आत्माके कल्याण करनेमें ही तत्पर रहते हैं दुःखी नहीं होते ॥ ५ ॥ आयुके अंतसमयमें उसने अपना चित्त पंच परमेष्ठियोंके गुण

महतामसौ । प्रांगि. पुण्यधीः कर्तुं प्रायः श्रेयोऽर्थिनो बुधाः ॥ ५ ॥ स मन. प्रणिधायांते पदेषु परमेष्ठिना । निष्ठितायुरभूत्पुण्यैः परिशिष्टैरधिष्ठितः ॥ ६ ॥ तथापि सुखमादूभूना महाधैर्यो महर्द्धयः । प्रच्यवंते दिवो देवा धिगेना संसृतिस्थितिं ॥ ७ ॥ ततोऽच्युतेंद्रः प्रच्युत्य जंबूद्वीपे महाद्युतो । प्राग्विदेहाश्रिते देशे पुष्कलावत्यभिख्ये ॥ ८ ॥ नगर्यां पुंडरीकिण्या वज्रसेनस्य भूभुजः । श्रीकांतायाश्च पुत्रोऽभूद्वज्रनाभिरिति प्रभुः ॥ ९ ॥ तयोरेव सुता जाता वरदत्तादयः क्रमात् । विजयो वैजयन्तश्च जयंतोऽप्यपराजितः ॥ १० ॥ तदाऽभूवंस्तयोरेव प्रियाः पुत्रा महोदयाः । पूर्वोद्दिष्टाहमिंद्रास्तेऽप्यधोग्रैवेयकाच्च्युता ॥ ११ ॥ सुबाहुरहमिंद्रोऽभूत् प्राग्मतिवर. कृती । आनंदश्च महाबाहु पीठाख्योऽभूदकंपन ॥ १२ ॥ महापीठोऽभवत्सोऽपि धनमित्रचरः सुरः । संस्कारैः प्राक्तनैरेव

स्मरण करनेमें लगाया और आयु समाप्त होनेपर शेष बचे हुये पुण्यकर्मोंको साथ लिये हुये वह इंद्र अदृश्य होगया ॥ ६ ॥ देखो स्वर्गोंके देव बडे सुखी हैं बडे धीर वीर हैं और बडी २ ऋद्धियोंके स्वामी हैं तथापि उन्हें स्वर्गसे च्युत होना पडता है इसलिये संसारकी इस ऐसी स्थितिको वार २ धिक्कार हो ॥७॥ वह अच्युतेंद्र स्वर्गसे चयकर अतिशय शोभायुक्त ऐसे जंबूद्वीपके पूर्वविदेहक्षेत्रमें पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा वज्रसेन रानी श्रीकांताके वज्रनाभिनामका सत्वाधिकारी पुत्र हुआ॥ ८--९॥ तथा पहले जो व्याघ्रादिके जीव थे और अंतमें वरदत्त आदि राजा होकर सोलहवें स्वर्गमें सामानिक जातिके देव हुये थे वे भी वहांसे चयकर उन्हीं राजा वज्रसेन और रानी श्रीकांताके विजय वैजयंत जयंत और अपराजित नामके पुत्र हुये ॥ १० ॥ पहले कहे हुये मतिवरमंत्री आदिके जो जीव थे और जो अधोग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुये थे वे भी वहांसे चयकर उन्हीं दोनों राजा रानियोंके बडे प्रभावशाली और प्रिय पुत्र उत्पन्न हुये ॥ ११ ॥ जो महाराज वज्रजंघके समयमें मतिवर मंत्री था और अधोग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर सुबाहु नामका पुत्र हुआ, आनंद पुरोहितका जीव उसी अधोग्रैवेयकसे चयकर महाबाहु नामका पुत्र हुआ और धनमित्र सेठका जीव उसी अधोग्रैवेयकसे चयकर महापीठ नामका पुत्र हुआ । इसप्रकार वे सब जीव एकही वंशमें उत्पन्न हुये

...नैकत्र देहिना ॥ १३ ॥ नगर्यां ... त्रैव धनदेवाह्वयोऽप्यभूत् ॥ कुबेरदत्त... नंदन ॥ १४ ॥ वज्रनाभिरथापूर्णयौवनो ...रुचे भृशं ॥ बालार्क इव निष्टप्तचामीकरसमद्युतिः ॥ १५ ॥ विनीलकुटिलैः केशैः शिरोऽस्य ... ॥ प्रावृषेण्यघनच्छन्नमिव शृंगं महीभृतः ॥ १६ ॥ कुंडलार्ककरस्पृष्टगंडपर्यंतशोभिना ॥ स बभासे मुखाब्जेन पद्माकर इवोन्मिषन् ॥ १७ ॥ ललाटाद्रितटे तस्य भ्रूलते रेजतुस्तरां ॥ नेत्रांशुपुष्पमंजर्यौ मधुपायिततारया ॥ १८ ॥ कामिनीनेत्रभृंगालिमाकर्षन्मुखपंकजं ॥ स्वामोदमाविरस्याभूत् स्मितकेसरनिर्गमं ॥ १९ ॥

सो ठीक ही है एक देश वा एक वंशमें जो जीव इकट्ठे होते हैं वे पहलेभवके संस्कारोंसे ही होते हैं ॥ १२–१३ ॥ श्रीमतीका जीव जो केशव हुआ था वह भी अच्युतस्वर्गके प्रतींद्रकी पर्याय छोडकर उसी पुंडरीकिणी नगरीमें शेठ कुवेरदत्तके उसकी स्त्री अनंतमतीसे धनदेव नामका पुत्र उत्पन्न हुआ था ॥ १४ ॥ इधर राजकुमार वज्रनाभि पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हुआ उसका शरीर उदय होते हुये सूर्यके समान तपाये हुये सुवर्णकी कांतिको धारण करता हुआ नितांत ही सुशोभित होता था ॥ १५ ॥ अतिशय काले और कुटिल केशोंसे उसका मस्तक ऐसा सुशोभित होता था मानों वर्षा ऋतुके काले बादलोंसे ढका हुआ किसी पर्वतका शिखर ही हो ॥ १६ ॥ कानोंमें पहने हुये कुंडलरूपी सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेसे कपोलपर्यंत अत्यंत सुशोभित हुये अपने मुखरूपी कमलसे वह राजपुत्र खिले हुये कमलोंसे सुशोभित किसी सरोवरके समान बहुत ही सुंदर जान पडता था। भावार्थ– उसका मुख कमलके समान सुशोभित था ॥ १७ ॥ उसके ललाटरूपी पर्वतके तटपर दोनों भौंहरूपी लतायें बहुत अच्छी जान पडती थीं जिनपर नेत्रोंकी सफेद किरणें (कटाक्ष) ही पुष्पमंजरीके समान और काले तारे ही भ्रमरोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १८ ॥ उसका मुख ठीक कमलके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार कमलपर पराग रहता है उसीप्रकार उसके मुखपर मंदहास्यरूपी पराग था जिसप्रकार कमल सुगंधित होता है उसीप्रकार उसके मुखके निश्वाससे भी सुगंधि

निकलती थी और कमल जिसप्रकार भ्रमरोंको अपनी ओर खींच लेता है उसीप्रकार उसका मुख भी कामिनी स्त्रियोंके नेत्ररूपी भ्रमर समूहोंको अपनी ओर खींच लेता था ॥१९॥ उसका मुखरूपी कमल सदा प्रफुल्लित रहता था इसलिये लोगोंके नेत्ररूपी भ्रमरोंके समूह मानों उसके मुखकमलके कांतिरूपी रसको पीनेकेलिये ही उसपर टूट टूटकर पडते थे और कांतिरूपी रस पीकर बडे ही तृप्त होते थे ॥ २० ॥ दोनों नेत्रोंके मध्यभागमें उसकी नासिका ऐसी सुशोभित होती थी मानों दोनों नेत्र अपने क्षेत्रको उल्लंघन न कर जावें इसलिये नामकर्मरूपी ब्रह्माने उन दोनोंके बीचमें सीमा ही बना दी हो ॥ २१ ॥ उसके कंठमें लटकता हुआ हार ऐसा सुशोभित होता था मानों लक्ष्मीको आलिंगन करनेवाला गोल किया हुआ सफेद कमलनाल ही हो ॥ २२ ॥ हारमें लगी हुई पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे सुशोभित उसका वक्षःस्थल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों उदय होते हुये सूर्यकी किरणोंसे सुशोभित सुमेरुपर्वतका तट ही हो ॥ २३ ॥ वक्षःस्थलके आसपास दोनोंओर उसके ऊंचे कंधे ऐसे सुशोभित होते थे मानों लक्ष्मीकी क्रीडा करनेके लिये ऊंचे ऊंचे दो क्रीडापर्वत ही बनाये गये हों ॥ २४ ॥ उसकी लंबी २ दोनों भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों वक्षःस्थलरूपी घरके दोनों ओर हाररूपी तोरणको धारण करनेवाले तोरण बांधनेके दो खंभे ही हों ॥ २५ ॥ उसके शरीरका संगठन वज्रके समान मज़बूत था उसशरीरके मध्यभागमें वज्रके चिन्ह रहित व्यक्त नाभि ऐसी जान

वज्रागबंधनस्वास्य मध्यनाभि समैक्ष्यत ॥ वज्रालांछनमुद्भूतं बत्स्यैतत्साम्राज्यलांछनं ॥ २६ ॥ छमद्दुकूलपुलिनं रतिहंसीनिषेवितं ॥ पर श्रियमधादस्य कटिस्थानसरोवरं ॥ २७ ॥ सुवृत्तमसृणावूरू तस्य कांतिमवापतां ॥ संचरत्कामगंधेभरोधे स्तम्भाविवार्गलौ ॥ २८ ॥ जानुगुल्फस्पृशौ जंघे तस्य शिश्रियतुः श्रियं ॥ संधिमेव युवां धत्तमित्यादेष्टुमिवोद्यते ॥ २९ ॥ पद्मकांतिश्रितावस्य पादावंगुलिपत्रकौ ॥ सिषेवे सुचिरं लक्ष्मीर्नखेंदुद्युतिकेसरौ ॥ ३० ॥ इति लक्ष्मीपरिष्वंगादस्यातिरुचिरं वपुः ॥ नूनं सुरांगनानां च कुर्यात्स्वे स्पृहयालुतां ॥ ३१ ॥

पडती थी मानों आगामीकालमें प्राप्त होनेवाले साम्राज्यका चिन्ह ही हो और उसी वज्रमय नाभिसे वज्रनाभि यह उसका सार्थक नाम प्रसिद्ध था ॥ २६ ॥ उसका मध्यभाग (कमर) ए.. सरोवरके समान बडी अच्छी शोभा धारण करता था क्योंकि जिसप्रकार सरोवरके सुंदर त.. होते हैं उसीप्रकार उसके मध्यभागपर सुंदर वस्त्ररूपी तट थे और जिसप्रकार सरोवरपर हंसि.. क्रीडा किया करती हैं उसीप्रकार उसके मध्यभागपर रति रूपी हंसिनी क्रीडा किया करती थी ॥ २७ ॥ गोल और कोमल ऐसे उसके दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरी भाग) ऐसे अच्छे जान प.. थे मानों इधर उधर फिरनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके रोकनेकेलिये दो अर्गल [आड देनेके डंडा] ही बनाये गये हों ॥ २८ ॥ जानु [घुटना] और गुल्फों [पैरके ऊपरकी दोनों ओरकी गांठे] से मिले हुये उसके दोनों जंघे ऐसे सुशोभित होते थे मानों अन्य लोगोंको यह उपदेश देनेकेलिये ही तैयार हुये हों कि हमारे समान तुम भी संधि धारण करो । भावार्थ-तुम लोग संधि करो यह चक्रवर्ती किसीसे संधि नहीं करेगा ॥ २९ ॥ उसके दोनों चरण कमलकी शोभाको धारण करते थे और इसलिये ही लक्ष्मी बहुत दिनोंसे उनकी सेवा करती थी कमलमें जिस-प्रकार पत्ते होते हैं उसीप्रकार उसके चरणोंमें भी अंगुलीरूपी पत्ते थे और कमलमें जिसप्रकार केसर होती है उसीप्रकार उसके चरणोंमें भी नखरूपी चंद्रमाकी कांति ही केसरके समान थी ॥ ३० ॥

तथापि यौवनारंभे मदनज्वरकोपिनि ॥ नाभाजनि मदः कोऽपि स्वभ्यस्तश्रुतसंपदः ॥ ३२ ॥ सोऽधीते स्म त्रिवर्गार्थसावनीर्विपुलोदयाः ॥ समग्रा राजविद्यास्ता लक्ष्म्याकर्षविधौ क्षमाः ॥ ३३ ॥ तस्मिंल्लक्ष्मीसरस्वत्योरतिवाल्लभ्यमाश्रिते ॥ ईर्ष्ययेवाभजत्कीर्तिर्दिगंतान्विधुनिर्मला ॥ ३४ ॥ नूनं तद्गुणसंख्यान वेधसा सविधित्सुना ॥ शलाका स्थापिता व्योम्नि तारकानिकरच्छलात् ॥ ३५ ॥ तस्य तद्रूपमाहार्यं सा विद्या तच्च यौवन ॥ जनानावर्जयति स्म गुणैरावर्ज्यते न कः ॥ ३६ ॥ गुणैरस्यैव शेषाश्च कुमाराः कृतवर्णना. ॥ ननु चंद्रगुणानशेभेजन्युडुगणोऽप्ययं ॥३७॥

इसप्रकार लक्ष्मीके आलिंगन करनेसे उसका शरीर बहुत ही सुंदर था और वह अपनेमें देवांगनाओं-की भी स्पृहा उत्पन्न करता था ॥ ३१ ॥ यद्यपि उसका शरीर बहुत ही सुंदर था तथापि मदनज्व-रका वेग वढानेवाले यौवनके प्रारंभ समयमें भी उसे कोई किसीप्रकारका मद उत्पन्न नहीं हुआ था और इसका भी कारण उसका शास्त्ररूपी संपतिका अभ्यास करना ही था ॥ ३२ ॥ जो धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंको सिद्ध करनेवाली हैं जो अनेक वडे फल देनेवाली हैं और जो लक्ष्मीको अपनी ओर खींचनेकेलिये पूर्ण समर्थ हैं ऐसी आन्वीक्षिकी त्रयी दंडनीति वार्ता आदि समस्त राजविद्यायें उसने मंत्र सहित पढलीं थीं ॥ ३३ ॥ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही उसपर बहुत प्रेम रखती थीं और इन्हीं दोनोंकी ईर्ष्यासे ही मानों चंद्रमाके समान निर्मल कीर्ति दशों दिशाओंको भाग गई थी । भावार्थ—लक्ष्मी और सरस्वती सदा उसके समीप रहती थीं और कीर्ति दशों दिशा-ओंमें फैली हुई थी ॥ ३४ ॥ उसके गुणोंको देखकर कहना पडता था कि अवश्य ही ब्रह्माने उसके गुणोंकी संख्या निर्धारित करनेके लिये ही ताराओंके समूहके बहानेसे आकाशमें यह तारोंकी लंवी रेखा बनाई हो भावार्थ-उसके गुणोंकी संख्या आकाशके तारोंसे भी अधिक थी ॥३५॥ उसका वह मनोहर रूप वह विद्या और वह यौवन ये सबकुछ लोगोंको मोहित करता था सो ठीक ही है गुणोंसे कौन मोहित नहीं होता है ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार आकाशका तारामंडल चंद्रमाके एकदेश

ततोऽस्य योग्यता मत्वा वज्रसेनमहाप्रभुः ॥ राज्यलक्ष्मीं समग्रां तामासमन्तेव न्ययोजयत् ॥ ३८ ॥ नृपोऽभिषेकमस्यांगे स्वसमक्षं चारयत् ॥
पट्टबन्धं च राजभिर्मुकुटबद्धैः ॥ ३९ ॥ नृपासनस्थमेनं च वीजयति स्म चामरे ॥ गंगातरंगसच्छायैर्गिभिर्ललितागनाः ॥ ४० ॥
धुन्वानाथ महाराज्य ता गोतेक्षते मनः ॥ जनापवादजं लक्ष्या रजोणमितुमुद्यता ॥ ४१ ॥ व सि प्रणय लक्ष्मीर्दृढमस्याकरोत्तदा ॥
पट्टबन्धापदेशेन तस्मिन्प्राग्बद्धकृतेव सा ॥ ४२ ॥ मुकुटं मूर्ध्नि तस्याधान्नृपैर्नृपवरः समं ॥ स्वं भारमवतार्यास्मिन्मसाक्षिकमिवार्पयन् ॥४३॥
हारेणालंकृतं वक्षो भुजावस्यांगदादिभिः ॥ पट्टिकाकटिसूत्रेण कटी पट्टांशुकेन च ॥ ४४ ॥ कुर्वी कृतानिधिकाय सोऽस्मै नार्पयमार्पयत् ॥

गुणोंको धारण करता है उसीप्रकार केवल उस वज्रनाभिके गुणोंसे ही उसके अन्यभाई भी प्रशंसनीय गिने जाते थे ॥ ३७ ॥ महाराज वज्रसेननेभी इसकी पूर्ण योग्यता जानकर अपनी संपूर्ण राजलक्ष्मी इसे ही सोंप दी अर्थात् अपना संपूर्ण राज्य इसे दे दिया ॥ ३८ ॥ और अपने सामने ही बडी धूमधामके साथ इसका राज्याभिषेक कराया तथा अनेक मुकुटवद्ध राजा और अमात्य आदि प्रधान राजपुरुषोंके द्वारा पट्टबंध कराया ॥ ३९ ॥ जब यह राजसिंहासनपर विराजमान हुआ तब अनेक सुंदर स्त्रियें गंगाकी लहरोंके समान निर्मल और कुछकुछ टेडे होकर ऊपर और नीचेकी ओर आते जाते हुये चमर ढाल रही थीं ॥ ४० ॥ जो वे सुंदर स्त्रियां चमर ढाल रहीं थीं उन्हें देखकर मेरा मन यही कल्पना करता है कि मानों इस वज्रनाभिपर राजलक्ष्मीके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाली जो लोकापवादकी धूलि पडगई है उसे झाडदेनेकेलिये ही वे स्त्रियां तैयार हुई हों ॥४१॥ उससमय राजलक्ष्मी भी इसपर अपना बडा प्रेम प्रकट कर रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों पट्टबंधके वहानेसे इसके वक्षःस्थलपर बांध दी गई हो ॥ ४२ ॥ अतिशय श्रेष्ठ महाराज वज्रसेनने सब राजाओंके सामने अपना मुकुट महाराज वज्रनाभिके मस्तकपर स्थापन किया मानों सबकी साक्षीपूर्वक अपना भार ही उतारकर उसे समर्पण किया हो ॥ ४३ ॥ उससमय राजा वज्रनाभिका

वक्षःस्थल हारसे सुशोभित हो रहा था. दोनों भुजायें केयूर भुजवंध आदि आभूषणोंसे सुशोभित हो रही थीं और कमर करधनी तथा रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित हो रही थी ॥ ४४ ॥ महाप्रवीण महाराज वज्रसेनने सब राजाओंके सामने वज्रनाभिका राज्याभिषेककर तथा 'तू वडा भारी चक्रवर्ती राजा हो' ऐसा आशीर्वाद देकर उसे अपना व राज्य सौंप दिया ॥ ४५ ॥ जिससमय महाराज वज्रसेनने राज्यभार समर्पण किया उसी समय लौकांतिक देव आये और महाराज वज्रसेनको प्रबोध कराते हुये उनकी स्तुति करने लगे। महाराज वज्रसेन भी दीक्षा ग्रहण करनेके लिये तैयार हुये ॥ ४६ ॥ उससमय इंद्रादिक उत्तमोत्तम देवोंने भी आकर यथायोग्य भगवानकी पूजा की और भगवान वज्रसेनने भी दीक्षा ग्रहणकर मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्रसन्न किया ॥ ४७ ॥ उससमय भगवान वज्रसेनके साथ साथ आम्रवनके वडे भारी उद्यानमें एक हजार राजाओंने दीक्षा धारण की ॥ ४८ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि निष्कंटक रीतिसे राज्यका पालन करता था और उधर भगवान वज्रसेन मुनिराज निर्दोष तपश्चरण करते थे ॥ ४९ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि राज्यलक्ष्मीके समागम होनेसे
था और उधर उसके पिता भगवान वज्रसेन तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके समागम होनेसे
॥ इधर महाराज वज्रनाभि अपने संमिलित भाइयोंसे प्रसन्न होता था

जग्राममनो नत् ॥५२॥ निजे राज्याश्रमे पुत्रो दुरंताश्रमे स्थित । परार्थबद्धकक्षौ तौ पालयामासतुः प्रजा. ॥५३॥ वज्रनाभेर्नृपागारे चक्रं भास्वरमुद्बभौ, ॥ योगिनापि मनोगारे ध्यानचक्रं स्फुरद्युतिः ॥५४॥ ततो व्यजेष्ट निःशेषां महीमिम महीपतिः ॥ मुनिः कर्मजयात्प्राप्तमहिमा जगतीत्रयं ॥५५॥ स्पर्द्धमानाविवान्योन्यमित्यास्तां तौ जयोद्धुरौ । जितैकस्य जयोऽन्यस्य परस्तु भुवनातिगः ॥५६॥ धनदेवोपि तस्यासीच्चक्रिणो रत्नमूर्जितं । राज्यां

और उधर योगिराज श्री वज्रसेन कल्याण करनेवाले उत्तमक्षमा आदि अनेक संमिलित गुणोंसे प्रसन्न होते थे ॥ ५१ ॥ इधर महाराज वज्रनाभि अपने मंत्रियोंके द्वारा संपूर्ण राजाओंके समूहको अपने अनुकूल करता था और उधर मुनिराज वज्रसेन भी अनेक प्रकारके तपश्चरणोंके द्वारा अनेक गुणोंके समूहको पालन करते थे ॥ ५२ ॥ महाराज वज्रनाभि अपने राज्याश्रममें स्थित थे और भगवान् वज्रसेन अंतके मुनिआश्रममें विराजमान थे। इसप्रकार पिता पुत्र दोनोंने ही परोपकार करनेकेलिये कमर बांधी थी और दोनों ही प्रजाका पालन करते थे। भावार्थ-महाराज वज्रनाभि प्रजाका पालन करते थे और भगवान वज्रसेन सब जीवोंकी रक्षा करते थे ॥ ५३ ॥ महाराज वज्रनाभिकी आयुधशालामें देदीप्यमान चक्र उत्पन्न हुआ था और योगिराज वज्रसेनके मनरूपी घरमें स्फुरायमान ध्यानरूपी चक्र उत्पन्न हुआ था ॥५४॥ महाराज वज्रनाभिने उस चक्रके प्रभावसे छहों खंडोंकी संपूर्ण पृथ्वी जीत ली थी और मुनिराज वज्रसेनने ध्यानरूपी चक्रके प्रभावसे संपूर्ण कर्मोंको जीतकर तथा अतुल महिमा प्राप्तकर तीनों लोक जीतलिये थे ॥ ५५ ॥ इसप्रकार विजय प्राप्त करनेमें अत्यंत प्रधान ऐसे वे दोनो ही पिता पुत्र परस्पर एक दूसेरकी स्पर्द्धा करनेवालोंके समान जान पडते थे, परंतु उन दोनोंका वह विजय प्राप्त करना बडा ही विषम था क्योंकि महाराज वज्रनाभिके विजय प्राप्त करनेका फल बहुत थोडा था और भगवान वज्रसेनके विजय प्राप्त करनेका फल संसारमात्रको उलंघन करगया था, अर्थात् सबसे अधिक था ॥ ५६ ॥

गृहपत्याख्य निधौ रत्ने च योजित ५७। तत श्रुतमतिर्भुक्त्वा चिरं पृथ्वीं पृथूदयः। गुरोस्तीर्थकृतोबोधि बोधिमत्यतदुर्लभां ॥५८॥ सद्दृष्टिज्ञानचारित्रत्रय यः सेवते कृती ॥ रसायनमिवातर्क्यं सोमृतं पदमश्नुते ॥५९॥ इत्याकलय्य मनसा चक्री चक्रे तपोमतिं॥ जरत्तृणमिवाशेष साम्राज्यममस्त स. ॥६०॥ वज्रदन्ताह्वये सूनौ कृतराज्यसमर्पणः ॥ नृपै. स्वमौलिबद्धादृैस्तुभिश्च दशभिः शतै. ॥ ६१ ॥ समं भ्रातृभिरष्टाभि र्धनदेवेन चादधे। दीक्षां भव्यजनोदीक्ष्या मुक्त्यै स्वगुरुसंनिधौ ॥६२॥ तमन्वीयुर्नृपा जन्मदुःखार्त्तास्तपसे वनं ॥ शीतार्त्तः को न कुर्वीत सुधीरातपसेवनम् ॥६३॥ त्रिधा प्राणिवधान्मिथ्यावादात्तेयात्परिग्रहात् ॥

जो पहले केशव था और अब आकर धनदेव नामका श्रेष्ठिपुत्र हुआ था वह उस चक्रवर्तीके नौ निधि और चौदह रत्नोंमें शामिल होनेवाला और राज्यका अंगभूत ऐसा महातेजस्वी गृहपति नामका रत्न हुआ ॥५७॥ इसप्रकार उस बुद्धिमान और अतिशय प्रभावशाली महाराज वज्रनाभि ने चिरकालतक राज्यका उपभोग किया। एकदिन अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप उसने अत्यंत दुर्लभ ऐसे रत्नत्रयका स्वरूप जाना। ५८। रत्नत्रयका स्वरूप जानकर वह विचार करने लगा कि देखो जो बुद्धिमान रसायनके समान सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका सेवन करते हैं उन्हें अचिंत्य ऐसे मोक्षरूपी अमृतकी प्राप्ति होती है। ५९। इसप्रकार चिंतवनकर वह चक्रवर्ती अपने इतने वडे संपूर्ण साम्राज्य को जीर्ण तृणके समान मानने लगा और सवको छोडकर तपश्चरण करनेकेलिये तैयार हुआ ॥ ६० ॥ उसने वज्रदंत नामके अपने पुत्रको राज्य समर्पण किया और सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं एकहजार पुत्रों आठ भाइयों और धनदेवके साथ साथ मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप भव्यजीवोंको सदा ग्रहण करने योग्य ऐसी श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ ६१–६२ ॥ जन्ममरणादि अनेक दुःखोंसे दुःखी ऐसे अनेक राजालोग तपश्चरण करनेकेलिये उसके साथ वनमें गये सो ठीक ही है शीतके दुःखसे दुःखी हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो धूप वा अग्निका सेवन न करे? ॥ ६३ ॥ उसने जीवन-

विरतिं स्त्रीप्रसंगाच्च स यावज्जीवमग्रहीत् ॥ ६४ ॥ प्रतस्थ. भावनाभिर्गुप्तिरादरतो समाहृताः ॥ मात्राष्टकमिदं प्राहुर्मुनेरविसनावना: ॥ ६५ ॥ उत्कृष्टतपसो धीरान्मुनीन्ध्यायन्ननेनसः ॥ एकचर्यां ततो भेजे युक्तः सद्दर्शनेन सः ॥ ६६ ॥ स एकचरतां प्राप्य चिरं गज इवागजः ॥ मंथरं विजहारोर्वीं प्रपश्यन्सवनं वनं ॥ ६७ ॥ ततोऽसौ भावयामास भावितात्मा सुधीरधीः ॥ स्वगुरोर्निकटे तीर्थकृत्त्वस्यागानि षोडश ॥ ६८ ॥ सद्दृष्टिं विनयं शीलव्रतेष्वनतिचारता । ज्ञानोपयोगमाभीक्ष्ण्यात्संवेगं चाप्यभावयत् ॥ ६९ ॥ यथाशक्ति तपस्तेपे स्वयं वीर्यमहापयन् ॥ त्यागे च

पर्यंत मन वचन कायसे संपूर्ण हिंसा झूठ चोरी स्त्रीसेवन और परिग्रहका त्याग किया अर्थात् पांचों महाव्रत धारण किये। तथा पांचों महाव्रतोंकी पचीस भावनाओंका चिंतवन किया। ईर्या, भाषा-एषणा, आदाननिक्षेपण उत्सर्ग ये पांचो समिति और मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति ये तीनों गुप्ति धारण कीं। पांचों समति और तीनों गुप्ति मिलकर मात्राष्टक या प्रवचनमातर [जिनप्रवचनकी मातृका मूल] कहलाती हैं मुनियोंको ये अवश्य धारण करना चाहिये ऐसी इंद्रकी सभा समोसरणकी रक्षा करनेवाले गणधर देवोंकी आज्ञा है ॥ ६४-६५ ॥ तदनंतर उत्कृष्ट तपश्चरण करनेवाले धीर वीर और निष्पाप मुनियोंका चिंतवन करता हुआ और सम्यग्दर्शन करके सहित वह चक्रवर्ती मुनि एकाकी विहार करने लगा ॥ ६६ ॥ जैसे किसी पर्वतपर उत्पन्न हुआ हाथी जलाशयोंसे सुशोभित वन उपवनोंको देखता हुआ धीरे २ पृथ्वीपर विहार करता है उसीप्रकार चिरकालतक वह मुनिराज भी एकाकी विहार करता हुआ जलाशयोंसे सुशोभित ऐसे वन उपवनोंकी शोभा देखता हुआ (ईर्यासमितिसे) पृथ्वीपर विहार करता था ॥ ६७ ॥ तदनंतर उस धीर वीर और सुबुद्धिमान् वज्रनाभि मुनिने अपने पिता श्रीवज्रसेन तीर्थंकरके समीप तीर्थंकर पदके प्राप्त होनेके कारण ऐसी सोलहकारण भावनाओंका चिंतवन किया ॥ ६८ ॥ उसने शंकादि पचीस दोषरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन धारण किया, दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार ये चारोंप्रकारकी विनय धारण की, अति-

मनिमधत्त ज्ञानसंयमसाधने ॥ ७० ॥ आवश्चन समाध्याने साधूना सोऽमवत्नुद्ध ॥ समाधेर्ह हि सर्वोऽयं परिस्पन्दो हितार्थिना ॥ ७१ ॥ स वयावृत्यमातेने व्रतस्थेष्वामयादिषु । अनात्मा ॥ ना भूत्वा तप ो ह्यदय हि तत् ॥ ७२ ॥ स तेने भक्तिमर्हत्सु पूजामर्हत्सु निश्चला । आचार्यानश्च मेंज मुनीनपि बहुश्रुतान् ॥ ७३ ॥ प्र० प्रवचने भक्तिगते वक्रे ततान सः । न पारयति रागादीन्विजेतुं संततानम ॥ ७४ ॥ अवश्यमवशोऽप्य वशी स्वावश्यकं दधौ । षड्भेद देशकालादि न्वय नमनूयन् ॥ ७५ ॥ मार्गं प्रकाशयामास तपोज्ञानादिदीधितीः । ददानोऽसौ मुनीनेनो मन्याकजाना

चार रहित शील और व्रत पालन किये, निरंतर पठन पाठन आदि ज्ञान उत्पन्न करनेवाले कार्योंमें अपना चित्त लगाया और जन्ममरणरूप संसारसे भय उत्पन्न करनेवाला संवेग धारण किया ॥६९॥ स्वयं अपनी शक्तिको नहीं छिपाता हुआ अपनी पूर्ण शक्तिके अनुसार उसने तपश्चरण पालन किया तथा ज्ञान और संयममें सहायता देनवाले रागद्वेषादिके त्याग वा ज्ञानदानादिमें अपनी बुद्धि लगाई ॥ ७० ॥ मुनियोंके व्रतशीलादिकमें किसीप्रकारका विघ्न उपस्थित होनेपर उसके दूर करनेकेलिये वह सदा सावधान रहता था सो ठीक ही है हितैषीलोगोंकी संपूर्ण चेष्टायें दूसरोंके विघ्न दूर करनेकेलिये ही होती हैं ॥ ७१ ॥ किसी मुनिके रोगादि हो जानेपर अपने आत्मासे अभिन्न मानता हुआ वह उनकी सेवा सुश्रूषा और औषधदान आदिके द्वारा वैयावृत्य करता था सो ठीक ही है मुनियोंकी वैयावृत्य करना ही मुख्य तपश्चरण है ॥ ७२ ॥ इंद्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसे अरहंत भगवानमें वह निर्मल भक्ति करता था आचार्योंकी विनय करता था तथा अंगपूर्वादिको जाननेवाले बहुश्रुत मुनियोंका भी विनय और भक्ति करता था ॥ ७३ ॥ इसीप्रकार वह अरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें परम भक्ति करता था सो भी ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष प्रवचन भक्ति नहीं करता है वह बढे हुये रागादिकोंको भी नहीं जीत सकता है ॥ ७४ ॥ वह अवश (वश रहित) अर्थात् इच्छा रहित होकर भी वशी अर्थात् इंद्रियोंको वश करनेवाला था और संपूर्ण देश तथा संपूर्ण कालमें समता

प्रबोधकः ॥ ७६ ॥ वात्सल्यमधिकं चक्रे स मुनिर्धर्मवत्सलः । विनेयान्स्थापयन्धर्मे जिनप्रवचनाश्रितान् ॥ ७७ ॥ इत्यमूनि महाधीरो मुनिश्चिरमभावयत् । तीर्थकृत्वस्य संप्राप्तौ कारणान्येष षोडश ॥ ७८ ॥ ततोऽमूर्भावना सम्यग्भावयन्मुनिसत्तम । स बबन्ध महत्पुण्यं त्रैलोक्यक्षोभकारणं ॥ ७९ ॥ स कोष्ठबुद्धिममलां बीजबुद्धिं च शिश्रिये । पदानुसारिणीं बुद्धिं संभिन्नश्रोतृतामिति ॥ ८० ॥ ताभिर्बुद्धिरिद्धर्द्धिः परलोकगतागतं । राजर्षी राजविद्याभिरिव सम्यगबुद्ध स ॥ ८१ ॥ स दीप्ततपसा दीप्तिं भेजे तप्ततपाः परं । तेपे तपोऽप्यमुग्रं च घोराघोरातिनिर्ममनित् ॥ ८२ ॥ स तपोमंत्रिभि

वंदना स्तुति प्रतिक्रमण स्वाध्याय और व्युत्सर्ग इन छहों आवश्यकोंको पूर्ण रीतिसे पालन करता था ॥ ७५ ॥ भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाला और तपश्चरण ज्ञान आदि अनेक किरणोंको धारण करनेवाला वह मुनीश्वररूपी सूर्य जैनमार्गका प्रकाश करता था ॥ ७६ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुकूल चलनेवाले शिष्योंको धर्ममें स्थापन करता हुआ और धर्ममें प्रेम रखनेवाला वह वज्रनाभि मुनि सबसे अधिक वात्सल्य (धर्मप्रेम) रखता था ॥ ७७ ॥ इसप्रकार महा धीर वीर उस वज्रनाभि मुनिने तीर्थंकरपदके प्राप्त होनेके कारण ऐसी ऊपर लिखी सोलह कारण भावनाओंका चिरकालतक चिंतवन किया ॥ ७८ ॥ और उत्तमरीतिसे उन भावनाओंका चिंतवन करनेसे उस मुनिराजने तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाला और तीर्थंकर पदको देनेवाला महापुण्यका बंध किया ॥७९॥ निर्मल कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारिणी बुद्धि और संभिन्नश्रोतृबुद्धि ये चार ऋद्धिभी उसे प्राप्त हुई ॥ ८० ॥ जिसप्रकार कोई उत्तम राजा राजविद्याओंके द्वारा अपने शत्रुओंका गमनागमन जान लेता है उसीप्रकार अनेक उत्तम ऋद्धियोंको धारण करनेवाले उस मुनिराजने भी ऊपर कही हुई चारों ऋद्धियोंके द्वारा परलोक संबंधी सब गमनागमन जानलिया था ॥८१॥ दीप्त ऋद्धिके द्वारा उसका शरीर सूर्यकेसमान अतिशय दैदीप्यमान होगया था । तप्तऋद्धिके द्वारा वह मलमूत्रादिसे रहित होकर बडे कठिन तपश्चरण करता था,

द्वंद्वममंत्रयत मंत्रवित् । परलोकजयोयुक्तो विजिगीषुः पुरा यथा ॥ ८३ ॥ अणिमादिगुणोपेता विक्रियर्द्धिरभूत्तस्य ॥ पद वाछन्न तामिच्छन्न ... गरिमास्पदं ॥ ८४ ॥ जल्लाद्यौषधिसंप्राप्तिरस्यासीज्जगतीहिता ॥ कल्पद्रुमफलावाप्तिः कस्य वा नोपकारिणी ॥ ८५ ॥ रसत्यागप्रतिज्ञस्य रससिद्धिरभून्मुने. सूते निवृत्तिरिष्टार्थादधिकं हि महत्फलं ॥ ८६ ॥ स बलर्द्धिबलादानादसोढोग्रान्परीषहान् ॥ अन्यथा तादृश द्वंद्व कः सहेत सुदुस्सहं ॥ ८७ ॥ सोऽ

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदिको प्राप्त करानेवाला और श्रेष्ठ ऐसा उग्रतपश्चरण (उग्रऋद्धिसहित तपश्चरण) करता था और भयानक कर्मोंके मर्मको नाश करनेवाला ऐसा मनवचनकायकी क्रियाको सर्वथा रोकनेवाला घोर ऋद्धिसहित घोर नामका तपश्चरण करता था ॥ ८२ ॥ मंत्रको जाननेवाला वह वज्रनाभि जिसप्रकार पहले राज्यावस्थामें शत्रुओंको जीतनेके लिये मंत्रियोंके साथ सलाहकर शत्रुओंके साथ युद्ध करता था उसीप्रकार अव मुनिराजअवस्थामें भी नमस्कारादि अनेक मंत्रोंको जाननेवाला और परलोकको जीतनेकेलिये तैयार हुआ वह वज्रनाभि मुनि ऊपर कहे हुये तपश्चरणरूपी मंत्रियोंसे सलाहकर समता आदि इष्ट पदार्थोंको ग्रहण करता था ॥ ८३ ॥ यद्यपि वह केवल मोक्ष प्राप्त होनेकी इच्छा रखता था और अतिशय गौरव युक्त ऐसे सिद्ध पदकी वांछा करता था। ऋद्धियोंकी इच्छा उसे कभी नहीं हुई थी तथापि अणिमा महिमा आदि अनेक ऋद्धियों सहित विक्रिया ऋद्धि उसे प्राप्त हुई थी ॥ ८४ ॥ इनके सिवाय जल्ल आदि अनेक औषधि ऋद्धियां उसे प्राप्त हुई जो कि संपूर्ण जगतका हित करती थीं सो ठीक ही है यदि कल्पवृक्षपर फल लगें तो उससे किसका उपकार नहीं होता है अर्थात् उससे सबका उपकार होता ही है ॥ ८५ ॥ यद्यपि उसके दूध दही घी नमक आदि सब रसोंका त्याग था तथापि उसे अमृतस्राविणी आदि अनेक रसऋद्धियोंकी प्राप्ति हुई थी सो भी ठीक है इष्ट पदार्थोंके त्याग करनेसे उससे भी अधिक महाफलोंकी प्राप्ति होती ही है ॥ ८६ ॥ वलऋद्धिके प्राप्त होनेसे उसके शरीरमें बडी भारी सामर्थ्य

क्षीणार्द्धिप्रभावेणाक्षीणावसथोऽभवत् । ध्रुवं तपोऽक्षयं तस्य फलं ॥ ८८ ॥ विशुद्धभावनः सम्यग्विशुध्यन् सविशुद्धिभिः । वज्रनाभिर्मुनीश्वरः ॥ ८९ ॥ अपूर्वकरणं श्रित्वाऽनिवृत्तिकरणोऽभवत् । स सूक्ष्मसांपरायस्तु प्रशान्तकषायता ॥ ९० ॥ कृत्स्नस्य मोहनीयस्य प्रशमादुपपादितं । तत्रौपशमिकं प्राप चारित्रं सुविशुद्धिकं ॥ ९१ ॥ मुहूर्तात् स्वस्थानमुपयाति । [illegible] निसर्गस्थितिरात्मनः ॥ ९२ ॥ सोऽबुद्ध परमं मंत्रं सोऽबुद्ध परमं तपः । सोऽबुद्ध परमामिष्टिं सोऽबुद्ध परमं पदं ॥ ९३ ॥ ततः काले स्वयं धीमान्

हो गई थी जिससे वह कठिन कठिन परिषहोंको जीतता था यदि बल ऋद्धि प्राप्त न हो तो शीत उष्णकी ऐसी कठिन बाधाओंको भला कौन सहन कर सकता है ॥ ८७ ॥ अक्षीण ऋद्धिके प्रभावसे वह अक्षीण अन्नका स्थान ही बन गया था अर्थात् जिसके यहां वह आहार लेता था उसदिन उसके यहां वह अन्न अक्षय हो जाता था सो ठीक ही है जो उग्रतप करता है उसे अक्षयफलकी प्राप्ति होती ही है ॥ ८८ ॥ विशुद्ध भावनाओंसहित वह वज्रनाभि मुनीश्वर जब अपने विशुद्ध परिणामोंसे विशुद्ध हुआ तब उसने उपशम श्रेणीका प्रारंभ किया (जिसमें मोहनीयकर्मका उपशम होता जाय उसे उपशमश्रेणी कहते हैं ॥ ८९ ॥ क्रमसे अधःप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण अर्थात् सात आठ नौ इन तीनों गुणस्थानोंको प्राप्त होकर दशवें सूक्ष्मसांपराय और ग्यारहवें उपशांतकषायगुणस्थानमें जा पहुंचा ॥ ९० ॥ ग्यारहवें गुणस्थानमें संपूर्ण मोहनीयकर्मके उपशम होजानेसे अतिशय विशुद्ध ऐसा औपशमिक चारित्र प्राप्त हुआ ॥ ९१ ॥ ग्यारहवें गुणस्थानमें अंतर्मुहूर्त रहकर फिर वह मुनि सातवें स्वस्थानअप्रमत्त गुणस्थानमें आया क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थानमें आत्माके ठहरनेकी स्वाभाविक स्थिति अंतर्मुहूर्तसे आगे है ही नहीं ॥ ९२ ॥ वह वज्रनाभि मुनि परम मंत्रको जानता था परम तपश्चरणको जानता था उत्कृष्ट भावपूजाको जानता था और परमपद अर्थात् सिद्धपदको जानता था ॥ ९३ ॥ तदनंतर आयुके अंतसमयमें श्रीप्रभ नामके बडे ऊंचे पर्वतपर उसबुद्धिमानने प्रायोपवेशन

श्रीप्रभाद्रौ मुनीन्द्रः । प्रायोपगमनं कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥ ९४ ॥ रत्नत्रयमयीं शय्यामधिशय्य तपोनिधिः । प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमवाप तत् ॥ ९५ ॥ प्रायेणोपगमो यस्मिन्रत्नत्रयगोचरः । प्रायेणापगमो यस्मिन्दुरितारिकदम्बकात् ॥ ९६ ॥ प्रायोपगमनं तज्ज्ञैर्निरुक्तं श्रमणोत्तमैः । प्रायाद्वापसृत्य गमो वा ॥ ९७ ॥ स्वपरोपकृता देहे सोऽनिच्छन्प्रतिक्रियाम् । रिपोरिव शवं त्यक्त्वा देहमस्थान्निराकुलः ॥ ९८ ॥

[सन्यास] धारणकर शरीर और आहारका त्याग [शरीर और आहारसे ममत्वका त्याग] किया ॥९४॥ प्रायोग्यवेशन धारण करनेमे प्रायः तपस्वियोंको रत्नत्रय रूपी शय्यापर बैठकर रहना पडता है इसलिये उसका प्रायोग्यवेशन यह सार्थक नाम पडा है ॥ ९५ ॥ इसका दूसरा नाम प्रायेणोपगमन है। प्रायेण शब्दका अर्थ 'बहुत करके' है और उपगमन शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' है, इसके धारण करनेसे बहुलकरके रत्नत्रयकी प्राप्ति अवश्य होती है इसलिये इसे प्रायेणोपगमन कहते हैं। अथवा इसका तीसरा नाम 'प्रायेणापगम' भी है अपगम शब्दका अर्थ नाश है। सन्यास धारण करनेसे बहुत करके पापरूप शत्रुसमूहोंका नाश हो जाता है इसलिये इसे प्रायेणापगम कहते हैं ॥ ९६ ॥ अथवा प्रायोपगमका स्वरूप जाननेवाले गणधरादिदेवोंने इसका नाम प्रायोपगमन भी रक्खा है और उसका अर्थ यह है कि जिसमें प्रायः अर्थात् बहुत करके संसारी जीवोंके रहने योग्य ग्राम नगर आदि स्थानोंसे अपसृत्य अर्थात् हटकरके किसी वनमें गमन अर्थात् जाना हो उसे प्रायोपगमन कहते हैं ॥ ९७ ॥ इसप्रकार उस वज्रनाभि मुनिने प्रायोपगमन धारण किया, वह न तो स्वयं कुछ शरीरका उपचार करता था और न किसी दूसरेसे उपचार करानेकी इच्छा रखता था। जैसे किसी शत्रुके मृतक शरीरको छोडकर निराकुल हो जाते हैं उसीप्रकार वह भी अपने शरीरसे ममत्व छोडकर बिलकुल निराकुल होगया था ॥ ९८ ॥ उसका उदर नितांत कृश होगया था समस्त शरीरमें केवल चमडा और हड्डीमात्र ही रहगया था तथापि उस मुनिराजने निष्कंप होकर केवल

त्यागादिभूतसर्वांगो मुनिः परिक्लेशोदयः । दृढमेवानलस्याहशाद्दृगरात्रानकंप्रयोः ॥ ९९ ॥ क्षुधं पिपासां शीतं च तथोष्णं दंशमक्षिकं । नाग्न्यं मथा रतिस्त्रैण चर्यां शय्या निषद्यकाः ॥ १०० ॥ आक्रोश वधयाचे च तथा लाभमदर्शन । रोग च सतृणस्पर्शं प्रज्ञाज्ञाने मल तथा । १ ससत्कारपुरस्कार-मसोढैतान्परीषहान् । मार्गाच्च्यवनमाशङ्कुर्महती निर्जरामपि ॥ २ ॥ स भेजे मतिमान् क्षान्ति पर मार्दवमार्जव । शौच च संयम सत्यं तपस्त्यागौ च निर्मद. ॥ ३ ॥ आकिंचन्यमथ ब्रह्मचर्यं च वदता वरः । धर्मो दशतयाय हि गणेशामपि सम्मत ॥ ४ ॥ सोनुदध्यावनित्यत्व सुखायुर्बलसंपदा । तथा

धैर्यका सहारा लेकर कितने ही दिन व्यतीत किये थे ॥ ९९ ॥ मैं इस जैनमार्गसे कभी च्युत न हो जाऊं अथवा मेरे वहुतसे कर्मोंकी निर्जरा होजाय " ऐसी इच्छा करता हुआ वह वज्रनाभि मुनि क्षुधा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निशद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, अदर्शन, रोग, तृणस्पर्श, प्रज्ञा, अज्ञान, मल और सत्कारपुरस्कार इन वाईस परिषहोंका सहन करता था ॥ १००–१०१–१०२ ॥ अतिशय वुद्धिमान् मदरहित और पंडितोंमें श्रेष्ठ ऐसे उस वज्रनाभिने उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म धारण किये सो ठीक ही है ये दशप्रकारके धर्म गणधरदेवोंको भी वहुत प्रिय हैं ॥ १०३–१०४ ॥ इसीप्रकार उस योगिराजने वारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया। संसारसंवंधी सुख, आयु, वल और संपदा आदि सव अनित्य हैं जन्म मरण वुढापा भय आदि उपस्थित होनेपर मनुष्योंको कोई शरण नहीं है २ द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव आदिके परिवर्तनोंसे यह संसार नितांत दुःखस्वरूप है ३ ज्ञानदर्शन स्वरूप यह आत्मा सदा अकेला रहता है ४ शरीर धन भाई वंधु स्त्री आदि सवसे यह आत्मा भिन्न है ५ इस शरीरके मुख नाक कान आदि नौ द्वारोंसे सदा मल निकला करता है इसलिये यह शरीर सदा अपवित्र है ६ इस जीवके पुण्यपापरूप कर्मोंका सदा आस्रव होता रहता है गुप्ति समिति आदिसे संवर होता है ८ तपश्चरणादिकोंसे कर्मोंकी निर्जरा होती है ९ इस संसाररूपी समुद्रमें रत्नत्रयकी प्राप्ति

शरणतां मृत्युजराजन्मभये नृणा ॥ ५ ॥ संसृतेर्दुःस्वभावत्वं विचित्रपरिवर्तनैः ॥ एकत्वमात्मनो ज्ञानदर्शनात्मत्वमीयुषः ॥ ६ ॥ अन्यत्वमात्मनो देहधनबंधुकलत्रतः ॥ तथाऽशौच शरीरस्य नवद्वारैर्मलस्रुतः ॥ ७ ॥ आस्रव पुण्यपापात्मकर्मणा सह सर्वरं ॥ निर्जरा विपुला बोधेर्दुर्लभत्व भवाबुधौ ॥ ८ ॥ धर्मस्वाख्याततता चेति तत्त्वानुध्यानभावना ॥ लेश्याविशुद्धिमधिका दधान· शुभभावन. ॥ ९ ॥ द्वितीयवारमारुह्य श्रेणीमुपशमादिकां ॥ पृथक्त्वध्यानमापूर्य समाधिं परम श्रित. ॥ १० ॥ उपशातगुणस्थाने कृतप्राणविसर्जनः । सर्वार्थसिद्धिमासाद्य संप्रापत्सोऽहमिंद्रतां ॥ ११ ॥ द्विषट्कयोजनैर्लोकाग्रातमप्राप्य यत्स्थित । सर्वार्थसिद्धिनामाग्र्य विमान तदनुत्तर ॥ १२ ॥ जंबूद्वीपसमायामविस्तारपरिमंडलं ।

होना अत्यंत दुर्लभ है यह लोक वातवलयके आधार है अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक ऐसे तीन इसके भेद हैं इसमें सब जगह जीव भरे हुये हैं ११ और संसारमें सुख देनेवाला दयामय धर्म ही है १२ इसप्रकार तत्वोंका विचार करते हुये उसने बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया । शुभ परिणाम धारण किये और लेश्याओंकी परम विशुद्धि धारण की ॥ १०५--१०६--१०७--१०८--१०९ ॥ वह मुनिराज फिर दूसरीवार उपशमश्रेणी चढा पृथक्त्ववितर्क नामका पहला शुक्लध्यान पूर्ण किया और परम समाधिको प्राप्त हुआ ॥११०॥ उपशांत नामके ग्यारहवें गुणस्थानमें उसने प्राण छोडे और सर्वार्थसिद्धिमें जाकर अहमिंद्रपद प्राप्त किया ॥१११॥ यह सर्वार्थसिद्धिविमान सिद्धशिलासे बारह योजन नीचा है सबसे श्रेष्ठ और सबसे उत्कृष्ट है ॥११२॥ इसकी लंबाई चौडाई और परिधि सब जंबूद्वीपके समान है स्वर्गके तिरेसठ पटलोंके अंतमें यह चूडामणि रत्नके समान विराजमान है ॥११३॥ जोजीव सर्वार्थसिद्धिमें उत्पन्न होते हैं उनके संपूर्ण प्रयोजन विना प्रयत्न किये ही सिद्ध हो जाते हैं इसलिये ही मानों उसने अपना सर्वार्थसिद्धि ऐसा सार्थक नाम धारण कर रक्खा है ॥ ११४ ॥ यह विमान बहुत बडा है बहुत ऊंचा है और ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों सुख देनेकी इच्छासे अपनी शिखरपर फहराती हुई दैदीप्यमान ध्वजाओंके द्वारा मुनियोंको बुला रहा ही हो ॥ ११५ ॥ वहांकी भूमि इंद्रनी-

त्रिषष्टिपटलप्रांते चूडारत्नमिव स्थितं ॥ १३ ॥ यत्रोत्पन्नवतामर्थाः सर्वे सिध्यन्त्ययत्नतः ॥ इति सर्वार्थसिध्याख्यां याद्बिभर्त्यर्थयोगिनीं ॥ १४ ॥ महाधिष्ठानमुत्तुंगशिखरोल्लासिकेतनैः । समाहूयदिवाभाति यन्मुनीन्सुखदित्सया ॥ १५ ॥ इंद्रनीलमयी यत्र मुत्र पुष्पोपहारिणीं । दृष्ट्वा तारांकितं व्योम स्मरति त्रिदिवौकसः ॥ १६ ॥ सुसदा प्रतिबिंबानि धारयत्यश्वकासति॥ सिसृक्षव इवापूर्वं स्वर्गं यन्मणिभित्तयः ॥ १७ ॥ किरणैर्यत्र रत्नानां तमो धूतं विदूरतः ॥ पदं न कुरुते सत्यं निर्मला मलिनैः सह ॥ १८ ॥ रत्नांशुभिर्जटिलितैर्यत्र शक्रशरासनं । पर्यंते लक्ष्यते दीप्तसाललीला विलंबयत् ॥ १९॥

लमणिकी वनी हुई है और उसपर पुष्प विखरे हुये हैं इसलिये देवोंको वह ऐसी जान पडती है मानों खिले हुये तारोंसहित आकाश ही हो ॥११६॥ जिनमें देवोंके प्रतिविंब पड रहे हैं ऐसी मणियोंकी वनीहुई वहां की दीवालें ऐसी सुशोभित हो रहीं हैं मानों एक अपूर्व स्वर्गका निर्माण ही कर रही हों ॥११७॥ वहां रत्नोंकी किरणोंसे अंधकार विलकुल दूर भाग गया है सो ठीक ही है ऐसे लोग दुष्टपुरुषोंका संसर्ग कभी नहीं करते हैं ॥ ११८ ॥ उस सर्वार्थसिद्धिके प्रांतभागमें दैदीप्यमान कोटकी शोभाको धारण करता हुआ ऐसा अनेक वर्णोंकी किरणोंसे वना हुआ इंद्रधनुप वहुत सुशोभित जान पडता है ॥ ११९ ॥ वहांपर अतिशय कोमल और सुगंध युक्त लटकती हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालायें ऐसी अच्छी जान पडती हैं मानों वहांके अहमिंद्रोंके सौमनस्य (पुष्पोंकावना हुआ) उत्तम मनका परिचय ही दे रही हों॥१२०॥ उस सर्वार्थसिद्धि विमानमें मोतियोंके वंदनवार सदा ऐसे सुशोभित रहते हैं मानों वहांकी शोभाका दांतोंकी किरणोंसे स्पष्ट दिखाई पडनेवाला हंसना ही हो ॥ १२१ ॥ इसप्रकार जिसमें संपूर्ण उत्कृष्ट और सुंदर रचना अनादिकालसे स्वयं वनी हुई है ऐसे उस सर्वार्थसिद्धि विमानमें उपपाद शय्यापर वह वज्रनाभि चक्रवर्तीका जीव उत्पन्न हुआ ॥ १२२ ॥ धातु उपधातुओंके संपूर्ण दोषोंसे रहित और अनेक सुंदर लक्षणोंसहित ऐसा उसका शरीर क्षणभरमें पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो गया ॥ १२३ ॥ जिसकी शोभा कभी मलिन नहीं होती, जो स्वाभाविक सुंदर और नेत्रोंको आनंद

भाति पुष्पस्रजो यत्र लंबमाना सुगंधयः । सौमनस्यमिवेंद्राणां सूचयंत्योऽतिकोमलाः ॥ २० ॥ मुक्तामयानि दामानि यत्राभाति निरंतरं । विस्पष्टदशनाशूनि हसितानीव तच्छ्रियः ॥ २१ ॥ इत्यकृत्रिमनिःशेषपरार्ध्यरचनाचिते । तत्रोपपादशयने स पर्याप्तिं क्षणादयौ ॥ २२ ॥ दोषधातुमल-स्पर्शवर्जितं चारुलक्षणं । क्षणादाविरभूदस्य रूपमापूर्णयौवनं ॥ २३ ॥ अम्लानशोभमस्याभाद्वपुरत्यासुंदरं । दृशोरुत्सवमातन्वत्सृष्टेनेव निर्मितं ॥ २४ ॥ शुभाः सुगंधयः स्निग्धा लोके ये केचनाणवः । तैरस्य देहनिर्माणमभूत्पुण्यानुभावतः ॥ २५ ॥ पर्याप्त्यनंतरं सोऽभात्स्वदेहज्योत्स्नया वृतः । शय्योरंगेन मोरंगे शशीवाखंडमंडलः ॥ २६ ॥ दिव्यहंसः स तत्तल्पमावसन्क्षणमावभौ । गंगासैकतमाश्लिष्यन्निव हंसयुवैककः ॥ २७ ॥ सिंहासनमथाभ्यर्णमध्यकुर्वे-

---

देनेवाला है ऐसा उसका शरीर ऐसा जान पडता था मानों अमृतसे ही बनाया गया हो ॥ १२४ ॥ उसके पुण्योदयसे संसारमें जो कुछ शुभ सुगंधियुक्त चिकने परमाणु हैं उन्हींसे मानों उसका शरीर बनाया गया था ॥ १२५ ॥ जन्म होनेके अनंतर उपपाद शय्यापर उसके शरीरकी कांतिसे घिरा हुआ उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों आकाशमें पूर्णमंडल [चंद्रमाके चारों ओरकी सफेद रेखा] सहित चंद्रमा ही हो ॥ १२६ ॥ उपपाद शय्यापर बैठा हुआ वह उत्तम देव क्षणभरके लिये ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों गंगाकी वालूके टीलेपर कोई एक तरुण हंस ही सुशोभित हो रहा हो ॥ १२७ ॥ उपपाद शय्याके समीप ही पडे हुये सिंहासनपर विराजमान हुआ वह देव ऐसा सुशोभित होता था मानो अत्युत्कृष्ट निषध पर्वतपर विराजमान सूर्य ही हो ॥ १२८ ॥ उसने केवल अपने पुण्यरूपी जलसे स्नान ही नहीं किया था किंतु आभूषणोंके समान शरीरमें उत्पन्न होनेवाले अनेक गुणोंसे अलंकार भी किया था ॥ १२९ ॥ वक्षःस्थलपर केवल पुष्पमाला ही धारण नहीं की थी किंतु आयुपर्यंत निर्बाध रहनेवाली और जन्मसे ही अपने आप प्राप्त होनेवाली स्वर्गकी लक्ष्मी भी धारण की थी ॥१३०॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिंद्र देवोंके मस्तकपर स्वर्गलोकके एक शिखामणि सूर्य-के समान दैदीप्यमान होता था। जिसप्रकार सूर्य स्वाभाविक आकाशरूप आभूषणोंसे सुशोभित होता

न्यभादसौ । परार्घ्यनिषधोत्संगमाश्रयन्निव भानुमान् ॥ २८ ॥ स्वपुण्यानुभिरेकाग्रमभ्यपोचि न केवलं । अलंचक्रे च शारीरैर्गुणैरिव विभूषणैः ॥ २९ ॥ सोऽविवक्ष स्थल दध्रे स्रजमेव न केवल । सहजा दिव्यलक्ष्मी च यावदायुरविप्लुता ॥ ३० अस्नातालिप्तदीप्ताग सहजवरभूषण. । सो द्युमन् युसदा मूर्ध्नि द्युलोकैकशिखामणि ॥ ३१ ॥ शुचिस्फटिकनिर्भासिनिर्मलोदारविग्रह । स बभौ प्रज्वलन्मौलि पुण्यराशिरिवोच्छिख ॥ ३२ तिरीटांगदकेयूरकुडलादिपरिष्कृत स्रग्वी सदंशुक श्रीमान्सोऽधात्कल्पद्रुमाश्रिय ॥ ३३ ॥ अणिमादिगुणै श्लाघ्य दधद्वैक्रियिकीं तनु । स्वक्षेत्र विजहारासौ जिनेंद्रार्चाः समर्चयन् ॥ ३४ ॥ सकल्पमात्रनिर्वृत्तैर्दिव्यैर्गंधाक्षतादिभिः । पुण्यानुबंधिनीं पूजां स जैनीं विधिवन्व्यधात् ॥ ३५ ॥ स्वस्थ एव चाजैषभुवने दरजैनी. । आनचार्चा

है उसीप्रकार वह अहमिंद्र भी स्वाभाविक वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित होता था और सूर्य जिसप्रकार विना स्नान लेपन आदि किये ही देदीप्यमान रहता है उसीप्रकार वह अहमिंद्र भी विना स्नान लेपन आदि किये ही देदीप्यमान रहता था ॥ १३१ ॥ जिसके मस्तकपर मुकुट प्रकाशमान हो रहा है और जो शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा उसका उदार शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों जिसकी शिखर ऊंची उठी हुई है ऐसी पुण्यकी राशि ही हो ॥ १३२ ॥ अथवा वह किसी कल्पवृक्षके समान सुशोभित होता था जिसप्रकार कल्पवृक्ष मुकुट, बाजूबंध, केशर कुंडल माला और वस्त्र आदिकोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह श्रीमान् अहमिंद्र भी मुकुट बाजूबंध केशर कुंडल पुष्पमाला और वस्त्रोंसे सुशोभित था ॥ १३३ ॥ उसका वैक्रियक शरीर भी अणिमादि गुणोंके संयोगसे अत्यंत प्रशंसनीय था। वह भी श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंका पूजन करता हुआ केवल अपने क्षेत्रमें ही विहार करता था।। १३४ ॥ और संकल्प करनेमात्रसे प्राप्त हुये दिव्य गंध अक्षत आदि द्रव्योंसे विधिपूर्वक पुण्यकर्मोंका बंध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता था ॥ १३५ ॥ पुण्यवानोंमें भी अत्यंत श्रेष्ठ ऐसा वह अहमिंद्र अपने सर्वार्थसिद्धिविमानमें रहकर ही समस्त संसारमें विराजमान ऐसी संपूर्ण जिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंकी पूजन करता था ॥ १३६ ॥ वह पुण्यवान् अहमिंद्र

जिनेंद्राणां सोऽग्रणीः पुण्यकर्मणा ॥ ३६ ॥ जिनार्चास्तुतिवादेषु वाग्वृत्तिं तद्गुणस्मृतौ । स्वं मनस्तन्नतौ कायं पुण्यधीः संन्ययोजयत् ॥ ३७ ॥
धर्मगोष्ठीष्वनाहूतामिलितैः स्वसमृद्धिभिः ॥ सभापणादरोस्यासीदहमिंद्रैः शुभेयुभिः ॥ ३८ ॥ क्षालयन्निव दिग्भित्तीः स्मितांशुसलिलप्लवैः । सह हमिंद्रैः रुद्रश्री.
स चक्रे धर्मसंकथां ॥ ३९ ॥ स्वावासोपान्तिकोद्यानसरःपुलिनभूमिषु । दिव्यहंसश्चिरं रेमे विहरन्स यदृच्छया ॥ ४० ॥ परक्षेत्रविहारस्तु नाहमिंद्रेषु
विद्यते । शुक्लेश्यानुभावेन स्वभोगैर्धृतिमीयुषा ॥ ४१ ॥ स्वस्थाने यात्र सुप्रीतिर्निरपायसुखोदये । न सान्यत्र ततो नैषां रिरंसा परभुक्तिषु ॥ ४२ ॥
अहमिंद्रोस्मि नेंद्रोन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकत्थनाः । अहमिंद्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥ ४३ ॥ नासूया परनिंदा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः ॥

अपने वचनोंकी प्रवृत्ति श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाओंकी स्तुति करनेमें लगाता था । अपना मन उनके गुण स्मरण करनेमें लगाता था और अपना शरीर उनको नमस्कार करनेमें लगाता था ॥ १३७ ॥ धर्मगोष्ठीमें विना बुलाये आनेवाले, अपने समान अणिमा आदि ऋद्धियोंको धारण करनेवाले और शुभ परिणाम युक्त ऐसे अन्य अहमिंद्रोंके साथ संभाषणकर वह उनका आदर सत्कार करता था तथा ॥ १३८ ॥ अपने मंद हास्यके किरणरूपी जलसमूहसे संपूर्ण दिशारूपी दीवालोंका प्रक्षालन करता हुआ और महा शोभाकर सहित वह अहमिंद्र अन्य अहमिंद्रोंके साथ धर्मचर्चा करता था और ॥ १३९ ॥ कभी राजहंसके समान अपने निवासस्थानके निकटवर्ती उद्यानके सरोवरके किनारेकी भूमिमें अपनी इच्छानुसार चिरकालतक विहार करता हुआ क्रीडा करता था. ॥ १४० ॥ शुक्लेश्याके प्रभावसे अहमिंद्रोंके अपने ही क्षेत्रमें परम संतोष रहता है इसलिये उनके परक्षेत्रमें विहार करनेका सर्वथा अभाव है ॥ १४१ ॥ अहमिंद्रोंके अपने क्लेशरहित सदा सुखमय स्थानमें जैसी अच्छी प्रीति होती है वैसी प्रीति उन्हें अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त होती इसलिये अन्यक्षेत्रमें क्रीडा करनेकी उनकी इच्छा भी नहीं होती है ॥ १४२ ॥ वे सदा अपनी यह ही प्रशंसा किया करते हैं कि "मैं ही इंद्र हूं मेरे सिवाय अन्य कोई इंद्र नहीं है" और इसलिये ही

केवलं सुखसादभूता दीव्यंते ते प्रमोदिनः ॥ ४४ ॥ स एव परमानंद स्वसाद्भूतं समुद्वहन् । त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिप्रमितायुर्महाद्युति. ॥ ४५ ॥ समेन चतुरस्रेण संस्थानेनातिसुंदर । हस्तमात्रोच्छ्रित देहं हसाभ धवलं दधत् ॥ ४६ ॥ सहजांशुकदिव्यस्रग्विभूषाभिरलंकृत । सौंदर्यस्येव संदोह दधानो रुचिरं वपु· ॥ ४७ ॥ प्रशान्तललितोदात्तधीरनेपथ्यविभ्रम· । स्वदेहप्रसरज्ज्योत्स्नाक्षीराब्धौ मग्नविग्रह. ॥ ४८ ॥ स्फुरदाभरणोद्योतद्योतिताखिलदिङ्मुख । तेजोराशिरिवैकध्यमुपनीतोतिभास्वर ॥ ४९ ॥ विशुद्धलेश्यः शुद्धदेहदीधितिदिग्धदिक् । सौधेनेव रसेन तनिर्माण. सुखानिर्वृत ॥ ५० ॥ सुखाब्धिनां सुना

वे देवोत्तम अहमिंद्र नामसे कहे जाते हैं ॥ १४३ ॥ उनके परस्पर न तो असूया (गुणोंमें दोषारोपण करना) है न निंदा है न आत्मप्रशंसा है और न ईर्ष्या है सदा हर्षयुक्त और केवल सुखस्वरूप क्रीडा किया करते हैं ॥ १४४ ॥ वह वज्रनाभिका जीव अहमिंद्र अपनी स्वाधीनतासे उत्पन्न हुये परमानंदको धारण करता था तेतीस सागरकी उसकी आयु थी शरीर महा देदीप्यमान था ॥१४५॥ समचतुरस्रसंस्थान होनेसे वह अतिशय सुंदर जान पडता था, इसके शरीरावयवोंके समान श्वेत था और उसकी उंचाई केवल एक हाथकी थी ॥ १४६ ॥ साथ २ उत्पन्न होनेवाले दिव्य वस्त्र दिव्य माला और दिव्य अलंकारोंसे अलंकृत हुआ उसका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सुंदरता का समूह ही हो ॥ १४७ ॥ वह अहमिंद्र प्रशांत अर्थात् परिणाम शांत रखना, ललित अर्थात् सुंदरता, उदात्त अर्थात् उच्चता और धीर अर्थात् धीरता ये चारों ही वेश धारण करता था और अपने शरीरकी फैली हुई सफेद कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों क्षीरसमुद्रमें डूबा ही हो ॥ १४८ ॥ उसके शरीरपर जो देदीप्यमान आभरण थे उनके प्रकाशसे दशों दिशायें प्रकाशादान हो रहीं थी और वह ऐसा जान पडता था मानों एक जगह इकठा किया हुआ अतिशय देदीप्यमान तेजका समूह ही हो ॥ १४९ ॥ उसकी लेश्यायें अत्यंत विशुद्ध थीं उसकी शुद्ध और निर्मल शरीरकी कांति सब दिशाओंमें फैली हुई थी वह अत्यंत सुख-

सीरप्रमुखाणामगोचरं । संप्राप्तः परमानंदप्रदं पदमनुत्तरं ॥ ५१ ॥ त्रिभिहस्ताधिकं- त्रिंशत्सहस्राब्दव्यतिक्रमे । मानसं दिव्यमाहार स्वसात्कुर्वन्स्मृतिं दधौ ॥ ५२ ॥ मासै षोडशभि पंचदशभिश्च दिनैर्मतैः । प्राप्तोच्छ्वासस्थितिस्तत्र सोहमिंद्रोऽस्तसुख ॥ ५३ ॥ लोकनाडीगतं योग्य मूर्तद्रव्य सपर्ययं । स्वावधिज्ञानदीपेन घोतयन्सोद्युतत्तरा ॥ ५४ ॥ तन्मात्रा विक्रियां कर्तुमस्य सामर्थ्यमस्त्यद. । वीतरागस्तु तन्नैवं कुरुते निष्प्रयोजन. ॥ ५५ ॥ नलिनाभ मुखं तस्य नेत्रे नीलोत्पलोपमे । कपोलाविंदुसच्छायौ बिंबकातिधरोधर ॥ ५६ ॥ इत्यादिवर्णनातीतं वपुरस्यातिभास्वर । कामनीयकसर्वस्वमेकीभूतमिवाभवत् ॥ ५७ ॥ आहारकशरीरं यच्चिरलकारभास्वर । योगिनाम् द्विजं तेन सदृगस्याचकाद्गु: ॥ ५८ ॥ एकातंशातरूप यत्सुखमाप्तैर्निरूपित । तदंकस्य

स्वरूप था और ऐसा जान पडता था मानों अमृतके रससे ही बनाया गया हो ॥ १५० ॥ इसप्रकार वह वज्रनाभिका जीव ऐसे उत्तम पदको प्राप्त हुआ कि जो इंद्रादिक मुख्य २ देवोंके भी अगोचर है परमानंद देनेवाला है और सबसे श्रेष्ठ है ॥ १५१ ॥ अहमिंद्र पद पाकर वह तेतीस हजार वर्ष व्यतीत होनेपर दिव्य मानसिक आहार ग्रहण करके संतुष्ट रहता था और ॥ १५२ ॥ तेतीस पक्ष अर्थात् सोलह महीने पंद्रहदिन व्यतीत होनेपर श्वास लेता था, इसप्रकार वह सुखसे निवास करता था ॥१५३॥ अपने अवधिज्ञानरूपी दीपकसे समस्त लोकनाडीमें रहनेवाले मूर्तीक द्रव्योंको उनकी पर्यायोंसहित प्रकाश करता हुआ अतिशय सुशोभित होता था ॥ १५४ ॥ उसके अवधिज्ञानका जितना क्षेत्र था उसके समान विक्रिया करनेकी भी उसकी सामर्थ्य थी परंतु वह सबसे विरक्त था इसलिये बिना प्रयोजन कभी विक्रिया नहीं करता था ॥ १५५ ॥ उसका मुख गुलाबी कमलके समान था, नेत्र नीलकमलके समान थे, कपोल चंद्रमाके समान थे और अधर-बिंबाफलकी शोभाको धारण करते थे ॥ १५६ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये वर्णनसे भी अत्यंत सुंदर और अतिशय देदीप्यमान उसका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों सुंदरताका सब सार ही एक जगह इकट्ठा करके रक्खा हो १५७ उसका शरीर ऐसा देदीप्यमान था जैसा

मिवापन्नमभूत्तस्मिन्नुत्तमे ॥ ५९ ॥ तेप्यष्टौ भ्रातरस्तस्य धनदेवोप्यनल्पधीः ॥ जातास्तत्सदृशा एव देवाः पुण्यानुभावतः ॥ ६० ॥ इति तत्राहमिंद्रास्ते सुखं मोक्षसुखोपमं । भुंजाना निष्प्रवीचाराश्चिरमासन्प्रमोदिनः ॥ ६१ ॥ पूर्वोक्तसप्रवीचारसुखानंतगुणात्मकं । सुखमव्याहतं तेषां शुभकर्मोदयोद्भवं ॥ ६२ ॥ संसारे स्त्रीसमासंगादंगिनां सुखसंगमः । तदभावे कुतस्तेषां सुखमित्यत्र चर्च्यते ॥ ६३ ॥ निर्द्वंद्ववृत्तितामाप्ताः शमुशंतीह देहिनां । तत्कुतस्त्यं सरागाणां

कि आहारक ऋद्धिसे उत्पन्न हुआ और मुनियोंके मस्तकसे निकला हूआ आहारक शरीर दैदीप्यमान होता है। अंतर केवल इतना ही था कि आहारक शरीर विना अलंकारोंके प्रकाशमान रहता है और उसका शरीर अनेक अलंकारोंसे प्रकाशमान था ॥ १५८ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने जो निरतिशय सुख एकांत और शांतरूप निरूपण किया है वह सब इकट्ठा होकर ही मानों उस अहमिंद्रको आ प्राप्त हुआथा ॥ १५९ ॥ वज्रनाभिके जो आठ भाई थे और अत्यंत बुद्धिमान धनदेव-नामका गृहपति रत्न था वे सब अपने २ पुण्यकर्मके उदयसे उसी सर्वार्थसिद्धि विमानमें आकर उसी वज्रनाभिके जीव अहमिंद्रके समान ऋद्धि विभूति आदिको धारण करनेवाले अहमिंद्र उत्पन्न हुये ॥ १६० ॥ इसप्रकार कभी किसी प्रकारका भी मैथुन न करनेवाले और सदा प्रसन्न रहनेवाले वे सब अहमिंद्र चिरकालतक मोक्षके समान सुखोंका अनुभव करते थे ॥ १६१ ॥ यद्यपि अहमिंद्रोंके प्रवीचार (मैथुन) नहीं है तथापि उनके शुभ कर्मोंके उदयसे जो निर्बाध सुख उन्हें प्राप्त होता है वह पहिले कहे हुये प्रवीचारसुखसे अनंतगुना होता है ॥ १६२ ॥ कदाचित् यहां कोई यह शंका करै कि संसारमें जीवोंको स्त्री संसर्गसेही सुखकी प्राप्ति होती है अहमिंद्रोंके स्त्रीसंसर्ग है नहीं इसलिये उन्हें सुखकी प्राप्ति किसप्रकार हो सकती है तो इसका विचार वा समाधान इसप्रकार किया जाता है कि ॥१६३॥ इस संसारमें सर्वज्ञदेवने निर्द्वंद अर्थात् निराकुलरूप परिणामोंका धारण करना ही जीवोंका सुख निरूपण किया है। वह निराकुल परिणाम चित्तमें सदा आकुलता धारण करनेवाले सरागी जीवोंके हो नहीं सकता इस-

द्वन्द्वोपहतचेतसां ॥६४॥ स्त्रीभोगो न सुखं चेतःसमोहाद्गात्रसादनात् । तृष्णानुबंधात्संतापरूपत्वाच्च यथा ज्वरः ॥ ६५ ॥ मदनज्वरसंतप्तस्तत्प्रतीकारवांछया । स्त्रीरूपं सेवतेऽत्यार्तो यथा कट्वपि भेषजं ॥ ६६ ॥ मनोज्ञविषयासेवा तृष्णायै न वितृप्तये । तृष्णार्चिषा च सततं कथं नाम सुखी जनः ॥ ६७ ॥ रुजो यन्नोपघाताय तदौषधमनौषधं । यन्नोदन्याविनाशाय नांजसा तज्जलं जलं ॥ ६८ ॥ न विहत्यापदं यच्च नार्थ्यतस्तद्धनं धनं ॥ तथा तृष्णाछिदे यन्न

लिये प्रतीचार करनेवाले सरागी जीवोंके सुखकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती ॥ १६४ ॥ दूसरी बात-यह है कि स्त्री भोग सुख नहीं है क्योंकि स्त्रीसंभोग करनेसे चित्त मोहित हो जाता है शरीर शिथिल हो जाता है तृष्णा वढती है और संताप होता है। जिससे चित्त मोहित हो शरीर शिथिल हो तृष्णा वढै और संताप हो वह कभी सुखरूप नहीं हो सकता जैसे ज्वर। भावार्थ–जिसप्रकार ज्वरसे चित्त मोहित होता है शरीर शिथिल हो जाता है तृष्णा वढती है और संताप होता है उसीप्रकार स्त्रीसंभोगसे भी होता है इसलिये जिसप्रकार ज्वर सुखरूप नहीं है उसीप्रकार स्त्रीसंभोग भी कभी सुखरूप नहीं हो सकता ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार कोई रोगी पुरुष कडवी औषधिका भी सेवन करता है उसीप्रकार कामज्वरसे संतप्त हुआ यह प्राणी उसके दूर करनेकेलिये स्त्रीका सेवन करता है। १६६। परंतु चित्तको प्रसन्न करनेवाले मनोज्ञ विषयोंके सेवन करनेसे कुछ तृप्ति नहीं होती किंतु उल्टी तृष्णा वढती है और तृष्णारूपी अग्निसे जो पुरुष संतप्त हो रहा है वह सुखी कैसे हो सकता है। १६७। जिसप्रकार जो जल प्यास दूर नहीं करसकै वह जल नहीं कहला सकता उसीप्रकार जो औषधि रोग दूर न करसकै वह औषधि नहीं कहला सकती है। १६८। तथा जिस धनसे आपत्तियां दूर न हो सकें वह वास्तविक धन नहीं कहला सकता उसीप्रकार जिस सुखसे तृष्णा दूर न हो सके वह विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख कभी वास्तविक सुख नहीं कहला सकता। १६९। जब यह स्त्रीसंभोगसे उत्पन्न हुआ सुख केवल कामज्वरके दूर करनेका उपायमात्र ही है तब फिर यह जीव उसे दूर करनेकेलिये

न तद्विषयज सुखं ॥ ६९ ॥ रुजामेव प्रतीकारो यत्स्त्रीसंभोगजं सुखं ॥ निर्व्याधि. स्वास्थ्यमापन्नः कुरुते किं नु भेषजं ॥ ७० ॥ परं स्वास्थ्यं सुखं नैतद्विषयेष्वनुरागिणां । ते हि पूर्वं तदात्वे च पर्यंते च विदाहिनः ॥ ७१ ॥ मनोनिर्वृत्तिमेवेह सुखं वांछंति कोविदाः ॥ तत्कुतो विषयांधानां नित्यमाव्यस्तचेतसां ॥ ७२ ॥ विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमंगिनां ॥ साबाधं सांतरं बंधकारणं दुःखमेव तत् ॥ ७३ ॥ आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणाः ॥ तदुद्भवं सुखं नृणां कडुकंडूयनोपमं ॥ ७४ ॥ दग्धव्रणे यथा साद्रचंदनद्रवचर्चनं । किंचिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखं ॥ ७५ ॥

ऐसी औषधि क्यों नहीं करता जिससे फिर कभी उसे यह रोग ही न हो और वह सदा नीरोग बना रहे। १७०। विषयोंमें अनुराग करनेवाले जीवोंको उन विषयोंसे जो सुख प्राप्त होता है वह कुछ भी शांति देनेवाला नहीं है। क्योंकि विषय सेवन करनेसे पहले, सेवन करते समय और अंतमें केवल संताप ही देते हैं सुख नहीं।१७१। विद्वान् लोग उसी सुखको चाहते हैं जिसमें मनके संकल्प विकल्प न हों अर्थात् मन सदा तृप्त बना रहे। जिनके चित्त विषयोंके अनेक संकल्प विकल्पोंसे सदा खिन्न रहते हैं ऐसे विषयांध जीवोंको वह तृप्तिरूप सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ १७२ विषयोंके अनुभव करनेसे जीवोंको जिससुखकी प्राप्ति होती है वह पराधीन है उसमें अनेक बाधायें हैं वह निरंतर नहीं रहता और बंधका कारण है इसलिये वह सुख नहीं कहा जा सकता उसे केवल दुःख ही कहना चाहिये ॥ १७३ ॥ ये विषय विषके समान अतिशय भयंकर हैं सेवन करते समय तो अच्छे लगते हैं परंतु फल देते समय वडा ही दारुण दुःख देते हैं। इन विषयोंसे उत्पन्न हुआ मनुष्योंका सुख भी ठीक दादकी खुजलीके समान है जिसप्रकार दादकी खुजली खुजातेसमय तो बहुत अच्छी लगती है परंतु उस खुजानेका फल बहुत बुरा और दुखदायी होता है उसीप्रकार इन विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख भी सेवन करतेसमय अच्छा जानपडता है परंतु उसका परिणाम बहुत बुरा होता है ॥ १७४ ॥ जिस-प्रकार जले हुये फोडेपर घिसे हुये चंदनका लेप करनेसे कुछ देरकेलिये थोडा आरामसा जान पडता

॥ दुष्प्रणे यथा क्षारशस्त्रपातादुपक्रमः ॥ प्रतीकारो रुजा जंतोस्तथा विषयसेवनं ॥ ७६ ॥ स्त्रियंगनानां संगाद्यदीह सुखमंगिनां । ननु पक्षिमृगादीनां तिरश्चामस्तु तत्सुखं ॥ ७७ ॥ शुनीमिहमहे पूतिव्रणीभूतकुयोनिकां । अवशं सेवमानः श्वा सुखी चेत्स्त्रीजुषां सुखं ॥ ७८ ॥ निम्बद्रुमे यथोत्पन्नः कीटकस्तद्रसोपभुक् । मधुरं तद्रसं वेत्ति तथा विषयिणोऽप्यमी ॥ ७९ ॥ संभोगजनितं खेदं श्लाघमानाः सुखास्थया । तत्रैव रतिमायाति भवावस्करकीटकाः

है परंतु उससे वास्तविकमें आराम नहीं होता उसी प्रकार विषयसेवन करनेसे भी थोडी देरकेलिये ही सुखसा जान पडता है ॥ १७५ ॥ जिसप्रकार पीवसे भरे हुये फोडेको क्षारयुक्त शस्त्रसे चीरनेसे उसका घाव और अधिक हो जाता है उसीप्रकार विषयसेवन करनेसे प्राणियोंका तृष्णारूपी रोग कुछ घटता नहीं है किंतु और अधिक बढता है ॥ १७६ यदि इस संसारमें प्रिय स्त्रियोंके कुच आदि अंगोंके आलिंगन करनेसे ही प्राणियोंको सुख मिलता हो तो वह सुख पक्षी हरिण आदि तिर्यंचोंको भी मानना चाहिये । भावार्थ—यदि स्त्रियोंके आलिंगन करनेसे ही सुख माना जाय तो पशु पक्षियोंको बहुत सुखी कहना चाहिये अथवा ऐसे सुखको सुख माननेवाले मनुष्यको भी पशुओंके समान ही मानना चाहिये ॥ १७७ ॥ यदि स्त्री सेवन करनेवाले ही सुखी माने जायं तो कार्तिक महीनेमें जिसकी योनि अतिशय दुर्गंधयुक्त फोडोंसे बहरही है ऐसी कुत्ती.को स्वतंत्रतासे सेवन करते हुये कुत्तेको भी सुखी मानना चाहिये । भावार्थ— जिसप्रकार कुत्तीके संयोगसे कुत्तेको दुःख हुआ करता है उसीप्रकार स्त्रीसंयोगसे भी दुःख ही होता है सुख नहीं ॥ १७८ ॥ जिसप्रकार नीमके वृक्षमें उत्पन्न हुआ कीडा उसी नीमके कडवे रसको पीता है और उसे मीठा मानता है उसीप्रकार संसाररूपी विष्ठामें उत्पन्न हुये ये विषय सेवन करनेवाले मनुष्यरूप कीडे संभोगसे उत्पन्न हुये खेदको ही सुख मानकर उसकी प्रशंसा करते हैं और बारबार उसीमें तल्लीन रहते हैं ॥ १७९-१८० ॥ विषयोंका अनुभव करनेसे प्राणियोंको केवल प्रेम उत्पन्न होता है और वही सुख

॥ ८० ॥ विषयासुखवान्पुंसो रतिमात्रं प्रजायते । रतिश्चेत्सुखमायातं ननु विष्ठादनेऽपि तत् ॥ ८१ ॥ यथाऽमी रतिमाधाय विषयाननुभुञ्जते । तथा सम्भ्रमकुलं तत्स्वैरात्म्यमेध्यकं ॥ ८२ ॥ गूथकृमेर्यथा गूथरससेवा परं सुखं । तथैव विषयासक्तेः सुखं जतोर्विगर्हितं ॥ ८३ ॥ विषयाननुभुञ्जानः स्त्रीश्वासान् सवेपथुः । स्विन्नसर्वांगः सुखी चेदसुखीह कः ॥ ८४ ॥ आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते । विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशन् ॥ ८५ ॥ तत स्वाभाविकं कर्मक्षयाच्चोपशमादपि । यदाह्लादनमेतत्स्यात्सुखं नान्यन्यपाश्रयं ॥ ८६ ॥ परिवारर्द्धिसामग्र्या सुखं स्यात्कल्पवासिनां । तदभावेऽहमिन्द्राणां कुतस्त्यमिति चेत्सुखं

माना जाता है परंतु यदि केवल प्रेममात्र ही सुख माना जाय तो यह भी मानना पडेगा कि विठा खानेमें भी सुख होता है। क्योंकि जैसे कामी पुरुष प्रेममें तल्लीन होकर विषयोंका सेवन करते हैं उसीप्रकार कुत्ता शूकर आदि प्राणी भी बडे प्रेमसे विष्ठाभोजन करते हैं ॥ १८१--१८२ ॥ अथवा जिसप्रकार विष्ठाका कीडा विष्ठाका रस पीनेमें परम सुख मानता है उसीप्रकार विषयसेवनकी इच्छा करनेवाला यह जंतु भी निंद्य विषयसेवन करनेको ही सुख मानता है ॥१८३॥ स्त्रीसंबंधी विषय सेवन करनेसे सब शरीर कंपने लगता है श्वास बढ जाता है और सब शरीर पसीनेसे डूब जाता है यदि संसारमें ऐसा प्राणी ही सुखी माना जाय तो फिर दुःखी किसे कहेंगे? ॥ १८४ ॥ जिसप्रकार कोईएक कुत्ता दांतोंसे हाड चबाता हुआ अपनेको सुखी मानता है उसीप्रकार विषयोंकी आशासे मोहित हुआ यह मूर्ख पुरुष भी विषयसेवन करनेसे उत्पन्न हुये परिश्रममात्रको ही सुख मानता है ॥ १८५ ॥ इसलिये पुण्यपाप-रूप कर्मोंके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे अपने आप जो आल्हाद उत्पन्न होता है वही सुख है किसी अन्य वस्तुके आश्रयसे कभी सुख उत्पन्न नहीं हो सकता है ॥ १८६ ॥ इसप्रकार यह निर्बाध सिद्ध होगया कि स्त्रीसेवनसे कभी सुख नहीं मिल सकता और स्त्रियोंके न होनेसे ही अहमिंद्र परम सुखी रहते हैं। अब कदाचित् कोई यह शंका करे कि सोलहवें स्वर्गपर्यंत कल्पवासी देव परि-वार ऋद्धि आदि सामिग्रीसे बहुत सुखी रहते हैं अहमिंद्रोंके परिवार आदि सामग्री है नहीं, इस-

॥ ८७ ॥ परिवारर्द्धिसत्तैव किं सुखं किमु तद्वता। तत्सेवा सुखमित्येवमत्र स्यात् द्वितयी गतिः ॥ ८८ ॥ सतःपुरो धनर्द्धिद्धपरिवारो ज्वरी नृप. सुखी स्याद्यदि सन्मात्राद्विषयात्सुखमीप्सितं ॥ ८९ ॥ तत्सेवासुखमित्यत्र दत्तमेवोत्तरं पुरा। तत्सेवी तीव्रमायस्तः कथं वा सुखभाग्भवेत् ॥ ९० ॥ पश्यैते विषयाः स्वप्नभोगाभा विप्रलम्भकाः। अस्थायुकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्त्तधियां नृणां ॥ ९१ ॥ विषयानर्जयन्नेव तावत् दुःखं महद्व्रजेत् ॥ तद्रक्षाचिन्तने भूयो भवेदत्यतमार्त्तधीः ॥ ९२ ॥ तद्वियोगे पुनर्दुःखमपारं परिवर्त्तते। पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वावसीदतः ॥ ९३ ॥ अनाश्रितभवानेतान्विषयान्विगमपायिनः।

लिये उन्हें सुख भी नहीं मिलता होगा? तो इसका समाधान यह है कि ॥ १८७ ॥ जो लोग परिवार ऋद्धि आदिसे सुख मानते हैं वे परिवार ऋद्धि आदिकी सत्तामात्रसे ही सुख मानते हैं या उनकी सेवा करनेसे सुख मानते हैं इसप्रकार परिवारादिसे सुख माननेवालोंकेलिये दो प्रश्न उपस्थित होते हैं ॥ १८८ ॥ कदाचित् परिवार आदिकी सत्तामात्रसे ही सुख माना जाय तो जिस राजाको ज्वर चढ रहा है और अनेक रानियां धन ऋद्धि परिवार आदि सब सामिग्री उसके समीप ही उपस्थित हैं उसे भी बहुत सुखी मानना चाहिये ॥ १८९ ॥ कदाचित् परिवारकी सेवा करनेसे ही सुख माना जाय तो इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि परिवारकी सेवा करनेवालेको तीव्र परिश्रम होता है और परिश्रम करनेवाला कभी सुखी नहीं हो सकता है ॥ १९० ॥ देखो ये विषय स्वप्नमें प्राप्त हुये विषय भोगोंके समान अस्थिर और ठगनेवाले हैं। इन विषयोंके सेवन करनेसे आर्तध्यान होता है और आर्तध्यान करनेवाले मनुष्योंको कभी सुख नहीं हो सकता ॥ १९१ ॥ प्रथम तो इन विषयोंके संग्रह करनेमें बडा भारी दुःख होता है यदि किसीप्रकार इनका संग्रह भी हो जाय तो फिर इनकी रक्षा करनेकी चिंता करनेमें बडा भारी दुःख होता है ॥ १९२ ॥ रक्षा करते हुये भी ये विषय नष्ट हो ही जाते हैं और नष्ट होनेसे फिर उनके वियोगसे अपार दुःख होता है क्योंकि पहले भोगे हुये विषयोंको बार बार स्मरण करता हुआ वह प्राणी बहुत ही दुःखी होता है ॥ १९३ ॥

येषामासेवनं जंतोर्न संतापोपशांतये ॥ ९४ ॥ वह्नेरिंधनैः सिंधोः स्रोतोभिरिव सारितैः । न जातु विषयैर्जंतोरुपभुक्तैर्वितृष्णता ॥ ९५ ॥ क्षारमंबु यथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः । तथा विषयसंभोगैः परं संतर्पमृच्छति ॥ ९६ ॥ अहो विषयिणां व्यापदं येंद्रियवशात्मना ॥ विषयामिषगृध्नूनामचिंत्यं दुःखमीदृशं ॥ ९७ वने वनगजास्तुंगा यूथपाः प्रोन्मादिष्णवः ॥ अवपातेषु सीदंति करिणीस्पर्शमोहिताः ॥ ९८ ॥ सरस्सरसि संफुल्लकह्लारशादुर्वारिणि । मत्स्यो बडिशमांसार्थी जीवनाशं प्रणश्यति ॥ ९९ ॥ मधुव्रतो मदामोदं जिघ्रन्मददंतिनां ॥ मृत्यु- ह्वयते गुंजन् कर्णतालाभिताडनैः ॥ २०० ॥

इन विषयोंसे जन्म मरणरूप संसार कभी नष्ट नहीं होता, किंतु प्रतिदिन उल्टा बढता है इसके सिवाय इन विषयोंसे अनेक प्रकारके नाश होते हैं इसलिये इन्हें वार वार धिक्कार हो । इनके सेवन करनेसे प्राणियों के संताप कभी शांत नहीं होते हैं १९४ ॥ जिसप्रकार ईंधनसे अग्निकी तृष्णा नहीं घटती, नदियोंके प्रवाहसे समुद्रकी तृष्णा नहीं घटती उसीप्रकार विषयोंके सेवन करनेसे भी कभी प्राणियोंकी तृष्णा दूर नहीं होती है ॥ १९५ ॥ जिसप्रकार खारे जलके पीनेसे और अधिक तृष्णा बढती है उसीप्रकार विषय सेवन करनेसे भी मनुष्योंकी विषयाभिलाषा और अधिक बढती है ॥ १९६ ॥ देखो विषयरूपी मांस-भक्षणकी आकांक्षा करनेवाले और इसलिये ही अचिंत्य दुःख पानेवाले ऐसे पंचेंद्रियोंके वशीभूत हुये विषयाभिलाषी जीवोंका दुःख बडा ही भयंकर है ॥ १९७ ॥ वनोंमें बडे २ ऊंचे हाथी जो सब हाथियोंके अधिपति होते हैं और बडे मदोन्मत्त होते हैं वे भी मायामयी हथिनीके स्पर्श करनेकी इच्छासे मोहित होकर गड्ढेमें पडजाते हैं और वहां अनेक प्रकारके दुःख पाते हैं ॥ १९८ ॥ केवल जिव्हेंद्रियके विषयोंका लोलुपी और खिले हुये कमलोंसे अत्यंत स्वादिष्ट जलवाले सरोवरमें इच्छानुसार इधर उधर फिरता हुआ मत्स्य धीवरकी वंशीमें लगे हुये मांसकी अभिलाषासे ही उस वंशीमें आकर फंस जाता है और अपने प्राण खो बैठता है ॥ १९९ ॥ इसीप्रकार सुगंधिका लालची भ्रमर मदोन्मत्त हाथियोंके मदका रस ग्रहण करता हुआ उन हाथियोंके कानोंके समीप जाकर गुंजार करता है और हाथियोंके

पतंगः पवनालोलदीपार्चिषि पतन्मुहुः ॥ मृत्युमिच्छन्ननिच्छोऽपि मषिमाद्भूतविग्रहः ॥ १ ॥ स्वेष्टगतिका पुष्टा मृदुस्वादुतृणाङ्कुरैः । गीतामगान्मृनि
याति मृगीमृगयोषिनः ॥ २ ॥ इत्येकशोऽपि विषया द्वायो निषेवित. ॥ किं पुनर्विषयाः पञ्च सामस्त्येन निषेविताः ॥ ३ ॥ हृतोऽयं विषयैर्जन्तु
स्रोतोभिः सरितामिव । श्वभ्रे पतित्वा गभीरे दुःखावर्तेषु सीदति ॥ ४ ॥ विषयैर्विप्रलब्धोऽयमर्थैरनिच्छनायति । धनागमायासितो जन्तुः क्लेशानाप्नोति
दुःसहान् ॥ ५ ॥ क्लिष्टो मुहुरार्तः स्यादिष्टालाभे शुचं गतः ॥ तस्य लाभेऽप्यसंतुष्टो दुःखमेवानुधावति ॥ ६ ॥ ततस्तद्गतदुर्ध्यानदूषितात्मा जडाशयः ॥

कर्णरूपी ताडके वीजनोंसे ताडित हुआ मृत्युको प्राप्त होता है॥ २०० ॥ तथा पतंग नेत्रेंद्रियके वशी-
भूत होकर वायुसे हिलती हुई दीपककी शिखापर वार वार पडता है जिससे उसका शरीर काजलके
समान काला होजाता है और वह मृत्युकी इच्छा नहीं करता हुआ भी मर ही जाता है ॥ २०१॥
और जो हिरिणियां कोमल और स्वादिष्ट घास चरकर पुष्ट रहती हैं और अपनी इच्छानुसार इधर
उधर क्रीडा करती हैं वे कर्णेंद्रियके वशीभूत होकर केवल व्याधके गीत सुनकर ही
मृत्युको प्राप्त हो जाती हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार जब एक एक इंद्रियके एक एक
विषयके सेवन करनेसे अनेकप्रकारके दुःख होते हैं तो फिर जो पांचों इंद्रियोंको एकसाथ सेवन करते
हैं उनके दुःखोंका क्या ठिकाना है ! ॥ २०३ ॥ जिसप्रकार नदियोंके प्रवाहसे खींचा हुआ जल किसी
गहरे गड्ढेमें पडकर उसके भंवरोंमें फिरा करता है उसीप्रकार इंद्रियोंके विषयोंसे खिंचा हुआ यह
प्राणी नरकरूपी गहरे गढेमें पडकर दुःखरूपी अनेक आवर्तोंमें परिभ्रमण किया करता है॥२०४ विषयोंसे
ठगा हुआ यह मूर्ख प्राणी प्रथम ही बहुतसे धनकी इच्छा करता है और उस धनकेलिये अतिशय दुखी
होकर अनेक बडे २ दुरसह क्लेशोंको सहन करता है। जब यह क्लेश सहन करता है तब इसे बारबार
आर्तध्यान भी होता है, यदि कदाचित् उसकार्यमें इष्टपदार्थकी प्राप्ति न हुई तो फिर शोक करता
है यदि उसमें इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होगई तो उतनेसे संतुष्ट नहीं होता और असंतुष्ट होकर फिर उसी

कर्म बध्नाति दुर्मोचं येनामुत्रावसीदति ॥ ७ ॥ कर्मणानेन दौस्थित्यं दुर्गतावनुमाश्रित । दुःखासिकामवाप्नोति महतीमतिगर्हितां ॥ ८ ॥ विषयानीहते दुःखी तत्प्राप्तावतिगृद्धिमान् ॥ ततोतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदं ॥ ९ ॥ इति भूयोपि तेनैव चक्रकेण परिभ्रमन् । संसारापारदुर्वार्द्धौ पतत्यत्यतदुस्तरे ॥ १० ॥ तस्माद्विषयजामेनां मत्वानर्थपरंपरां । विषयेषु रतिस्त्याज्या तीव्रदुःखानुबंधिषु ॥ ११ ॥ कारीषाग्नीष्टकापाकतार्णाग्निसदृशा मताः । त्रयोमी

दुःखकेलिये दौडता है ॥ २०५–२०६ ॥ इसप्रकार जडबुद्धि यह जीव इष्ट पदार्थोंमें राग करने और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष करनेसे, अपने आत्माको कलंकित करता है तथा बडे २ तीव्र अशुभकर्मों का बंध करता रहता है और फिर उन कर्मोंके उदय होनेपर परलोकमें अनेक प्रकारके दुःख भोगता है ॥ २०७ ॥ उन्हीं अशुभ कर्मोंके उदयसे नरकादि दुर्गतियोंमें पडकर बहुत बुरी अवस्था-को प्राप्त होता है और वहां बहुत दिनोंतक इसे अतिशय निंद्य और बडे २ अनेक दुःख भोगने पडते हैं ॥ २०८ ॥ इसप्रकार दुःखी होता हुआ भी यह जीव विषयोंकी इच्छा करता है तथा उसे पूरी करनेकेलिये बडे २ दुष्कर्म करता है और उनसे फिर दुःख देनेवाले तीव्र अशुभकर्मोंका बंध करता है २०९ इसप्रकार दुःखी होकर विषयोंकी स्पृहा करना और उसके लिये दुष्कर्म और अशुभकर्मोंका बंध करना तथा फिर उनके उदयसे दुःख भोगना इसप्रकारके चक्रमें पडकर वार वार परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अत्यंत दुस्तर (जिससे पार होना नितांत कठिन है) और अपार ऐसे संसाररूपी कुसमुद्रमें पडता है ॥२१०॥ इसलिये मानना चाहिये कि संसारमें जितने अनर्थ हैं वे सब विषयोंसे ही उत्पन्न होते हैं और ऐसा निश्चयकर तीव्र दुःख देनेवाले इन विषयोंकी इच्छा करनेका त्याग कर देना चाहिये ॥ २११ ॥ स्त्रीवेदका संताप सूके गोवरकी अग्निके समान है नपुंसकवेदका संताप भीतर ही भीतर सुलगनेवाली ईंटोंके पजावाकी अग्निके समान है और पुरुषवेदका संताप तृणोंकी अग्निके समान है। जब ये तीनों ही वेद संतापकारक हैं तब फिर इनको धारण करनेवाले

वेदसंतापः स्तद्धंजंतु कथं सुखी ॥ १२ ॥ ततोधिकमिदं दिव्य सुखमप्रविचारकं । देवानामहमिंद्राणामिति निश्चिनु मागध ॥ १३ ॥ सुखमेतेन सिद्धानामत्युक्त विषयातिग । अप्रमेयमनंत च यदात्मोत्थमनीदृश ॥ १४ ॥ यद्दिव्यं यच्च मानुष्य सुखं त्रैकाल्यगोचरं ॥ तत्सर्वं पिंडितं नार्थं सिद्धक्षणसुखस्य च ॥ १५ ॥ सिद्धाना सुखमात्मोत्थमव्याबाधमकर्मजं । परमाह्लादरूपं तदनौपम्यमनुत्तर ॥ १६ ॥ सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्ताः शीतीभूता निरुत्सुकाः । सिद्धाश्चेत्सुखिन. सिद्धमहमिंद्रास्पदे सुख ॥ १७ ॥ निरतिशयमुदार निष्प्रवीचारमाविष्कृतसुकृतफलानां कल्पलोकोत्तराणां । सुखममरवराणां

जीव भला सुखी कैसे हो सकते हैं ॥ २१२ ॥ इसलिये हे श्रेणिक ! तू निश्चयकर कि अहमिंद्र देवोंके प्रवीचार रहित जो दिव्य सुख है वह विषयोंके अनुभव करनेरूप सुखसे अनंत गुना है ॥ २१३ ॥ इसप्रकार जो विषयरहित अहमिंद्रोंका सुख वर्णन किया है उससे विषयरहित, प्रमाणरहित, अंतरहित, उपमारहित और केवल आत्मासे उत्पन्न ऐसा सिद्धोंका सुख बहुत ही अधिक समझना चाहिये ॥ २१४ ॥ जो स्वर्गलोक और मनुष्यलोक संबंधी भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंका इकठ्ठा किया हुआ सुख है वह भी सिद्धोंके एक क्षणमात्रके सुखके समान नहीं हो सकता है ॥ २१५ ॥ सिद्धोंका सुख केवल आत्मासे उत्पन्न होता है उसमें कभी किसीतरहकी बाधा नहीं, वह कर्मसे भी उत्पन्न नहीं होता और परम आनंदरूप होता है इसलिये वह उपमा रहित है और सबसे उत्कृष्ट है ॥२१६॥ श्रीसिद्धभगवान् समस्त परिग्रह रहित हैं संपूर्ण उत्कंठा रहित हैं और परम शांत हैं यदि वे परम सुखी कहलाते हैं तो अल्पपरिग्रही शांत और अभिलाषारहित ऐसे अहमिंद्रोंके भी अवश्य सुख मानना चाहिये ॥ २१७ ॥ जिनके पुण्यका फल साक्षात् प्रगट हुआ है ऐसे कल्पातीत अहमिंद्र देवोंके जो सुख होता है वह ऐसा जान पडता है मानों मोक्षका सुख ही सामने आया हो। क्योंकि जिसप्रकार मोक्षका सुख अतिशयरहित उदार और प्रवीचाररहित है उसीप्रकार अहमिंद्रोंका सुख भी अतिशयरहित उदार और प्रवीचाररहित है जिसप्रकार सिद्धोंका सुख किसी अन्य

दिव्यमन्यागरयं दिव्यमुत्तममिन तेषां संमुजातमासीत् ॥ २१८ ॥ सुखमसुखमितीदं संसृतौ देहभाजां द्वितयमुदितमासैः कर्मबंधानुरूप । सुकृतदुरितभेदाच्च कर्म द्विधोक्तं मधुरकटुकपाकं भुक्तमेकं यथान्नं ॥ १९ ॥ सुकृतफलमुदारं विद्धि सर्वार्थसिद्धौ दुरितफलमुदग्रं सप्तमीनारकाणां । शमदमयमयोगैरप्रिमं पुण्यभाजामशमदमयमाना कर्मणा दुष्कृतेन ॥२०॥ कृतमतिरिति धीमान् शकरीं श्रीजिनाज्ञा शमदमयमशुध्यै भावयेदस्ततंद्रः । सुखमतुलमभीप्सुर्दु खभार जिहासु निकटतरजिनश्रीर्वज्रनाभिर्यथायं ॥ २१ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवद्वज्रनाभिसर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनं नाम एकादश पर्व ॥ ११ ॥

वस्तुके संबंधसे उत्पन्न नहीं होता उसीप्रकार अहमिंद्रोंका सुख भी अन्य किसी वस्तुके निमित्तसे नहीं होता है। सिद्धोंका सुख दिव्य अर्थात् उपमा रहित है और अहमिंद्रोंका सुख भी दिव्य कल्पातीत स्वर्गमें उत्पन्न होनेसे हुआ है ॥ २१८ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक संसारमें प्राणियोंके जो सुख और दुख होते हैं वे दोनों ही पूर्वोपार्जित कर्मोंके अनुसार ही होते हैं ऐसा श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है। जिसप्रकार एकही अन्नके खानेसे मीठा और कडवा दोनोंतरहका विपाक होता है उसीप्रकार उसकर्मके भी दो भेद हैं एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। पुण्यरूप कर्मका फल मधुर अर्थात् सुखरूप होता है और पापरूप कर्मका फल कडवा अर्थात् दुःखरूप होता है ॥ २१९ ॥ पुण्यरूप कर्मोंका उत्कृष्ट फल सर्वार्थसिद्धिमें प्राप्त होता है और पापरूप कर्मोंका उत्कृष्ट फल सातवें नरकमें मिलता है। परिणामोंको शांत रखने इंद्रियोंके दमन करने और निरतिचार व्रत पालन करनेसे पुण्यवान् जीवोंके पुण्यकर्मोंका बंध होता है और परिणामोंको शांत न रखने इंद्रियोंका निग्रह न करने तथा व्रतोंका पालन न करनेसे पापकर्मोंका बंध होता है ॥ २२० ॥ जिसप्रकार बहुत शीघ्र तीर्थंकर पदको प्राप्त करनेवाले वज्रनाभिने शम (शांतपरिणाम) दम (इंद्रियनिग्रह) और यम (जीवनपर्यंत व्रत पालन करना) को शुद्धरीतिसे पालन करनेके लिये

॥ अथ द्वादशं पर्व. ॥

अथ तस्मिन्महाभागे स्वर्लोकाद्भुवमेष्यति । यद्वृत्तक जगत्यस्मिंस्तद्वक्ष्ये शृणुताधुना ॥ १ ॥ अत्रांतरे पुराणार्थकोविदं वदतांवरं । पप्रच्छुर्मुनयो नम्रा गौतमं गणनायक ॥ २ ॥ भगवन्भारते वर्षे भोगभूमिस्थितिच्युतौ । कर्मभूमिव्यवस्थायां प्रसृतायां यथायथं ॥ ३ ॥ तदा कुळधरोत्पत्तिस्त्वया

श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाका पालन किया था उसीप्रकार अपार सुख चाहनेवाले, दुःखोंसे बचनेकी इच्छा करनेवाले, बुद्धिमान् विद्वान् पुरुषोंको शम दम यमको शुद्धरीतिसे पालन करनेकेलिये प्रमाद-रहित होकर सबतरहसे कल्याण करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाका चिंतवन और पालन करना चाहिये ॥ २२१ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवान वज्रनाभिके सर्वार्थसिद्धिके सुख वर्णन करनेवाला ग्यारहवां पर्व समाप्त हुआ.



अथ बारहवां पर्व.

अथानंतर—श्रीगौतमस्वामी कहने लगे कि जब सर्वार्थसिद्धिमें वज्रनाभिके जीव अहमिंद्रकी आयु थोडी रहगई और वह वहांसे चयकर मध्यलोकमें जन्म लेनेके सन्मुख हुआ उससमय इस संसारमें जो वृत्तांत हुआ था वही अब कहा जाता है तुमलोग सावधान होकर सुनो ॥ १ ॥ इसी बीचमें समवसरणकी सभामें विराजमान मुनियोंने नम्रीभूत होकर पुराणके पूर्ण अर्थको जाननेवाले और वक्ताओंमें अतिशय श्रेष्ठ ऐसे गौतम गणधरसे एक प्रश्न किया ॥ २ ॥ कि हे भगवन्! जब इस भरतक्षेत्रमें भोगभूमिकी स्थिति व्यतीत होगई थी और समयानुसार घटते घटते कर्मभूमिकी अवस्था प्रगट हुई थी उससमय यहां जो चौदह कुलकर हुये थे सो तो आप

प्रागेव वर्णिता । नाभिराजश्च तत्रांत्यो विश्वक्षत्रगणाग्रणी: ॥ ४ ॥ स एष धर्मसर्गस्य सूत्रधारं महाधियं । इक्ष्वाकुज्येष्ठमृषभं काश्रमे समजीजनत् ॥ ५ ॥ तस्य स्वर्गावतारादिकल्याणर्द्धिश्च कीदृशी । इदमेतत्त्वया बोद्धुमिच्छामस्त्वदनुग्रहात् ॥ ६ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थ व्याजहार गणाधिपः । म नान् विक ल्मषान्कुर्वन् शुचिभिर्दशनांशुभिः ॥ ७ ॥ इह जंबूमति द्वीपे भरते खचराचलात् । दाक्षिणे मध्यमे खंडे कालसंधौ पुरोदिते ॥ ८ ॥ पूर्वोक्तकुलकृत्स्वंत्यो नाभिराजोऽग्रिमोऽप्यभूत् । व्यावर्णितायुरुत्सेधरूपसौंदर्यविभ्रमः ॥ ९ ॥ सनाभिर्मौलिना राज्ञा सनाभिः स्वगुणांशुभिः । भास्वानिव बभौ लोके भास्वन्मौलि महाद्युतिः ॥ १० ॥ शशीव स कलाधारस्तेजस्वी भानुमानिव । प्रभु शक्र इवाभीष्टफलदः कल्पशाखिवत् ॥ ११ ॥ तस्यासीन्मरुदेवीति देवी देवीव

वर्णन कर ही चुके हैं। उन चौदह कुलकरोंमें सबसे अंतमें संपूर्ण क्षत्रियोंमें मुख्य ऐसे महाराज नाभिराज हुये थे और उनके जो धर्मरूप सृष्टिको प्रवर्तन करनेवाले, बडे बुद्धिमान और इक्ष्वाकु-वंशमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीऋषभदेव उत्पन्न हुये थे वे कहां उत्पन्न हुये थे, और स्वर्गावतार आदि उनके पांचों कल्याणोंका ऐश्वर्य कैसा था, हे भगवन्! आपके अनुग्रहसे हम लोग यह सब बात जानना चाहते हैं ॥ ३-४-५-६ ॥ इसप्रकार जब वे मुनिराज कहचुके तब श्रीगौतमस्वामी अपनी निर्मल दांतोंकी किरणोंसे उन मुनियोंके पापोंका प्रक्षालन करते हुये कहने लगे कि ॥ ७ ॥ भोगभूमिके अंतमें और कर्मभूमिके प्रारंभसे कुछ समय पहले इसी जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रमें विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणदिशाकी ओर आर्यखंडमें पहले कहे हुये तेरह कुलकरोंके अंतमें चौदहवें मुख्य कुलकर महाराज नाभिराज हुये थे उनकी आयु, शरीरकी उंचाई, रूप, सुंदरता और विलास आदि सबकुछ पहले वर्णन कर चुके हैं ॥ ८-९ ॥ जिसका मुकुट अतिशय प्रकाशमान हो रहा है ऐसा महा तेजस्वी वह नाभिराज आगामीकालमें उत्पन्न होने वाले राजाओंका बंधु था और अपने गुणरूपी किरणोंसे संसारमें सूर्यके समान दैदीप्यमान हो रहा था ॥ १० ॥ वह चंद्रमाके समान अनेक कलाओंका आधार था, सूर्यके समान तेजस्वी था, इंद्रके समान प्रभु था और कल्पवृक्षके समान अभीष्ट फल

सा शची । रूपलावण्यकांतिश्रीमतिद्युतिविभूतिभि ॥ १२ ॥ सा कलेवेंदवी कान्त्या जनतानंददायिनी । स्वर्गस्त्रीरूपसर्वस्वमुच्चित्येव विनिर्मिता ॥१३॥ तन्वंगी पक्वबिंबोष्ठी सुभ्रूश्चारुपयोधरा । मनोभुवा जगज्जेतु सा पताकेव दर्शिता ॥ १४ ॥ तद्रूपसौष्ठवं तस्या हावं भावं च विभ्रमं । भावयित्वा कृती कोपि नाट्यशास्त्रं व्यधाद्ध्रुवं ॥ १५ ॥ नूनं तस्याः कलालापे भावयन् स्वरमंडलं । प्रणीतगीतशास्त्रार्थो जनो जगति सम्मतः ॥ १६ ॥ रूपसर्वस्वं

देनेवाला था ॥ ११ ॥ उसके मरुदेवी नामकी रानी थी जो कि रूप (सुंदरवर्ण) लावण्य, [अवयवोंकी मनोहरता] कांति (वस्त्र आभूषण और पुष्पादिकोंका चाकचिक्य) यथायोग्य अवयवोंकी सुंदरता, बुद्धि द्युति और विभूति आदि गुणोंसे इंद्राणी देवीके समान थी ॥ १२ ॥ वह चंद्रमाकी कलाके समान अपनी कांतिके द्वारा सब लोगोंको आनंदित करनेवाली थी और ऐसी जान पडती थी मानों स्वर्गकी संपूर्ण देवांगनाओंके रूपका सार इकठ्ठा करके ही बनाई गई हो ॥ १३ ॥ उस मरुदेवीका शरीर बहुत ही कृश था उसके अधर पके हुये बिंबीफलके समान सुंदर थे उसकी भौंहें भी बहुत ही अच्छी थीं और उसके दोनों कुच भी बडे ही सुंदर थे। वास्तवमें वह ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवने संसारको जीतनेकेलिये एक पताका ही दिखलाई हो ॥ १४ ॥ ऐसा जान पडता है मानों अवश्य ही किसी चतुर कारीगरने उसके रूपकी सुंदरता उसके हाव [मुखके विकार] भाव [हृदयके विकार] और विलास [नेत्रोंके विकार] इन सबको पूर्ण रीतिसे विचार करके ही संगीतशास्त्रकी रचना की है ॥ १५ ॥ अथवा जिसने संगीतशास्त्रकी रचना की है उसने अवश्य ही उस मरुदेवीकी मिष्ट वाणीमें ही संगीतके सब स्वरोंका विचार करलिया था और इसलिये ही वह संगीतशास्त्रकी रचना करनेवाला संसारमें प्रसिद्ध हुआ है ॥ १६ ॥ उस मरुदेवीने मानों किसी दुष्ट राजाकी अवस्था धारण की थी जैसे कोई दुष्ट राजा अन्य लोगोंका संपूर्ण धन हरणकर उन्हें दरिद्र बना देता है उसीप्रकार उस मरुदेवीने भी अन्य संपूर्ण स्त्रियोंका रूप हरण कर उन्हें

हरणं कृत्वान्यत्र जनस्य सा । वैरूप्यं कुर्वती व्यक्तं किराझ वृत्तिमन्वियात् ॥ १७ ॥ सा दधेधिपदद्वंद्वं लक्षणानि विचक्षणा । प्रणिन्युर्लक्षण स्त्रीणां यैरुदाहरणीकृतैः ॥ १८ ॥ मृद्ंगुलिदले तस्याः पादाब्जे श्रियमूहतुः । नखदीधितिसतानलसत्केसरशोभिनी ॥ १९ ॥ जिया रक्तब्जमेतस्याः क्रमौ सप्रासनिर्वृती । नखांशुमंजरी व्याजात् स्मितमातेनतुर्न्स ॥ २० ॥ नखैः कुरबककच्छाया क्रमौजित्वाप्यनिर्वृतौ । निजिग्याते गतेनास्या हंसीनां गतिविभ्रम ॥ २१ ॥ मणिनूपुरझंकारमुखरौ सुभ्रुवः क्रमौ । पद्माविव रणद्भृंगसंगतौ रुचिमापतु ॥ २२ ॥ निगूढगुल्फसंधि वाव्यक्तपार्ष्णिपरिग्रहात् । श्रितौ याना-

---

कुरूपा बनादिया था ॥ १७ ॥ अतिशय कुशल ऐसी उस मरुदेवीके दोनों चरणोंमें सामुद्रिकशास्त्रमें कहे हुये अनेक लक्षण थे उन लक्षणोंको उदाहरण मानकर ही मानों आचार्योंने अन्य स्त्रियोंके लक्षण निरूपण किये हैं ॥ १८ ॥ उसके दोनों ही चरण कमलके समान थे और उनमें साक्षात् लक्ष्मी [शोभा] निवास करती थी क्योंकि उन चरणोंकी कोमल अंगुलियां ही कमलकी पंखुरियोंके समान थीं और नखोंकी कांतिका समूह ही दैदीप्यमान केसरके समान सुशोभित था॥ १९ ॥ अवश्य ही उसके चरण लालकमलोंको जीतकर बडे आनंदित हुये थे और नखोंकी किरणरूप मंजरियोंके बहानेसे वे कुछ कुछ हंस रहे थे ॥ २० ॥ यद्यपि उसके दोनों चरणोंने अपने नखोंकी कांतिके द्वारा कुरवक जातिके वृक्षोंकी (कुरंटोंकी) शोभा जीत ली थी तथापि वे संतुष्ट नहीं हुये थे और इसलिये ही उन्होंने अपनी मनोहर चालसे हंसनियोंकी चालके सुंदर विलासको भी जीतलिया था ॥ २१ ॥ सुंदर भौंहवाली उस मरुदेवीके पैरोंमें लगे हुये इंद्रनीलमणियोंके नूपुरोंसे [विछुओंसे] रुणझुण शब्द करते हुये दोनों चरण ऐसे सुशोभित होते थे मानों जिनपर बैठे हुये भ्रमर गुंजार कर रहे हैं ऐसे दो कमल ही हों ॥ २२ ॥ उसके पैरोंकी बनावट ऐसी सुंदर थी कि उसमें गुल्फोंकी संधि तो दिखाई नहीं पडती थी परंतु ऐडी साफ दिखाई पडती थी । इसलिये जैसे कोई राजा संधि पार्ष्णिपरिग्रह [किसी युद्धके समय अपने नगरकी रक्षा करनेके लिये छोडी हुई अवशिष्ट सेना]

सनाभ्या च तक्रमौ विजिगीषुना ॥ २३ ॥ शोभा जंघाद्वये या स्यात्काप्यन्यत्र न सास्त्यतः ॥ अन्योन्योपममेवास्तद्वर्णनं तत्र वर्ण्यते ॥ २४ ॥ जानुद्वयमाश्लिष्ट यदस्या कामनीयक । तदेवाल जगज्जेतु किं तरा चिंतयानया ॥ २५ ॥ ऊरुद्वयमुदारश्रि चारु हारि सुखावह । स्पर्द्धयेव सुरस्त्रीभिरतिरम्यबभार सा ॥ २६ ॥ वामोरूरिति या रूढिस्ता स्वसात्कर्तुमन्यथा । वामवृत्ती कृतावूरू मन्येन्यस्त्रीजयेमुया ॥ २७ ॥ कलत्रस्थानमेतस्याः स्थानीकृत्य

यान आसन आदि गुणोंसे अन्य राजाओंके जीतनेकी इच्छा करता है उसी प्रकार छिपी हुई गुल्फोंकी संधि और पार्ष्णिपरिग्रह [एडी] से यान अर्थात् गमन करने और आसन अर्थात् वैठनेमें उसके दोनों पैर अन्य सब पैरोंके जीतनेकी इच्छा करनेके समान जान पडते थे ॥२३॥ उसके जंघाओंमें जो शोभा थी वह अन्यत्र कहीं नहीं थी उन दोनोंकी उपमा परस्पर ही दी जाती थी अर्थात् एक जंघा उसीकी दूसरी जंघाके समान सुंदर थी और इसलिये ही उन दोनोंका वर्णन अन्य किसीकी उपमा देकर नहीं किया जा सकता ॥ २४ ॥ "अतिशय सुंदर और परस्पर सटे हुये ऐसे उसके दोनों ही घुटने क्या अकेले ही संसारके जीतनेको समर्थ हैं" ऐसी चिंतासे भी कोई लाभ नहीं था क्योंकि अपनी सुंदरतासे वे स्वयं संसारको जीत ही रहे थे ॥ २५ ॥ उसके दोनों ऊरु[जंघाके ऊपरी भाग] वडे ही सुशोभित थे वडे ही सुंदर थे वडे ही मनोहर और वडे ही सुखदायी थे। ऐसा जान पडता था मानों देवांगनाओंसे स्पर्द्धा करके ही उसने ऐसे सुंदर ऊरु धारण किये हों ॥ २६ ॥ उसके दोनों ही सुंदर ऊरुओंको देखकर मुझे तो यह ही कल्पना होती है कि वामोरु (जिसके वहुत मनोहर ऊरु हों) इस नामको केवल अपने ही स्वाधीन करनेकेलिये अन्य स्त्रियोंके विजय करनेमें उसने ऐसे सुंदर और गोल ऊरु करलिये हैं जैसे कि और जगह कहीं नहीं पाये जाते ॥ २७ ॥ इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं कि कामदेवने मरुदेवीके नितंबस्थानको ही अपना स्थान कायम कर इतने वडे विस्तृत संसारको अपने वश कर लिया है ॥ २८ ॥ करधनीरूपी कोटसे घिरा हुआ उसका कटिसं-

मनोभुवा । वीचीनिर्तं जघन्यन्तमनूनपरिमंडलं ॥ २८ ॥ वटीमंडलमेतस्याः काञ्चीसान्तपरिष्कृतं ॥ मन्ये दुर्गमनंगस्य जगज्जनरकारिणः ॥ २९ ॥ लसद्-दुकूलसक्त काञ्चीयष्टि बभार सा । फणिनं स्रस्तनिर्मोकमिव चंदनवल्लरी ॥ ३० ॥ रोमराजी विनीलास्या रेजे मध्येतनूदरं । हरिनीलमयीवावष्टंभयष्टिर्म-नोभुवः ॥ ३१ ॥ तनुमध्यं बभारासौ वलिभं निम्ननाभिकं । शरन्नदीव सावर्त्तं स्रोत प्रतनुवीचिकं ॥३२॥ स्तनावस्या समुत्तुंगौ रेजतु परिणाहिनौ । यौवनश्रीविलासाय क्लृप्तौ क्रीडाचलाविव ॥ ३३ ॥ धृतांशुकमसौ दधे कुंकुमार्कं कुचद्वयं । वीचिरुद्धमिवानोंगमिथुनं सुरनिम्नगा ॥ ३४ ॥ स्तनाव-

---

डल (कमर) ऐसा जान पडता था मानों संसारभरमें उपद्रव करनेवाले कामदेवका किला ही हो ॥ २९ ॥ जिसप्रकार चंदनकी लतापर जिसकी कांचली निकल गई है ऐसा सर्प सुशोभित होता है उसीप्रकार सुंदर वस्त्रोंसे सटी हुई करधनी भी उसके शरीरपर बहुत ही सुशोभित होती थी ॥३०॥ अत्यंत दुवले पतले ऐसे मरुदेवीके उदरभागपर अतिशय काली रोमोंकी रेखा ऐसी सुशोभित होती थी मानो सहारा लेनेके लिये इंद्रनीलमणिकी वनीहुई कामदेवके हाथकी लकडी ही हो ॥ ३१ ॥ जिसप्रकार शरदऋतुकी कृश नदी जिसमें वडे २ भंवर पडरहे हैं और वडीलहरें उठरही हैं ऐसे प्रवाहसे सुशोभित होती है उसीप्रकार वह मरुदेवी भी त्रिवली और गंभीरनाभि सहित अतिशय कृश ऐसे अपने मध्यभागसे सुशोभित होती थी ॥ ३२ ॥ अतिशय ऊंचे और विशाल उसके दोनों स्तन ऐसे सुशोभित होते थे मानों यौवन अवस्थाकी शोभाके क्रीडा करनेकेलिये दो क्रीडापर्वत ही बनाये गये हों ॥ ३३ ॥ जिनपर कुंकुम लगी हुई है और जो वस्त्रसे ढके हुये हैं ऐसे उसके दोनों स्तन ऐसे जान पडते थे मानों आकाशगंगामें लहरोंसे रुके दो चक्रवाक ही हों ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार कमलकी पंखुरियोंके समीपमें लगे हुये फेनसे कमलिनी [कमलकी वेल] सुशोभित होती है उसी प्रकार उसके स्तनोंके मध्यभागमें पडे हुये सफेदहारकी कांतिसे वह मरुदेवी वडी ही सुशोभित हो रही थी ॥ ३५ ॥ अत्यंत सूक्ष्म रेखाओंसे सुशोभित ऐसा उसका

लग्नसंलग्नहाररोचिरसौ बभौ । सरोजकुड्मलाभ्यर्णेरितफेना यथाब्जिनी ॥ ३५ ॥ व्यराजि कंधराऽस्यास्तनुराजीविभासिना । उल्लिख्य घटितेनेव धात्रा
निर्माणकौशलात् ॥ ३६ ॥ अधिकंधरमाबद्धहारयष्टिर्व्यभादसौ ॥ पतन्निर्झरसंरत्स्रोताः सानुलेखेव शृङ्गिणः ॥ ३७ ॥ शिरीषसुकुमाराङ्ग्यास्तस्या बाहू विरे
जतुः । कल्पवल्या इवाग्र्यौ विटपौ मणिभूषणौ ॥ ३८ ॥ मृदुबाहुलते तस्याः करपल्लवसंश्रिता । नखांशुमञ्जरीव्याजाद्दधतुः पुष्पमंजरीं ॥ ३९ ॥
अशोकपल्लवच्छाय बिभ्रती करपल्लवं । पाणौ कृतमिवाशेष मनोरागमुवाह सा ॥ ४० ॥ सा दधे किमपि स्रस्तांसौ हंसीव पक्षती । आस्रस्तकबरी

कंठ बहुत ही अच्छा लगता था और ऐसा जान पडता था मानों नामकर्मरूपी ब्रह्माने अपना निर्माण करनेका कौशल दिखानेके लिये ही सूक्ष्म रेखायें उकेरकर सुंदर कंठ बनाया हो ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार ऊपरसे पडते हुये नदीके प्रवाहसे पर्वतका मध्यभाग सुशोभित होता है उसीप्रकार गलेमें लटकते हुये सफेद हारसे वह मरुदेवी भी बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ३७ ॥ सरसोंके फूलके समान अतिशय कोमल अंगको धारण करनेवाली उस मरुदेवीकी मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित दोनों भुजायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मणियोंके आभूषणोंसे सुशोभित ऐसी कल्पलताकी दो मुख्य शाखा ही हों ॥ ३८ ॥ उसकी दोनों कोमल भुजायें लताओंके समान थीं जिनपर हाथ ही पत्ते लग रहे थे और उनके समीप ही देदीप्यमान नखोंकी किरणोंके वहानेसे पुष्पमंजरियां लगरही थीं ॥३९॥ उसके दोनों ही हाथ अशोक वृक्षके कोमल पत्तोंके समान जान पडते थे और उनपरकी ललाई ऐसी जान पडती थी मानों उसके मनका संपूर्ण अनुराग हाथमें ही आकर इकट्ठा हुआ हो ॥४०॥ जिसप्रकार हंसिनीके ढालवां (कुछ नीचे) पंख सुशोभित होते हैं उसीप्रकार मरुदेवीके कुछ कुछ निचाई धारण करते हुये कंधे भी सुशोभित हो रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों फैले हुये केशपाशोंका भार धारण करनेसे कुछ खेदखिन्न होकर ही कुछ २ नीचे होगये हों ॥ ४१ ॥ उस कमलनयनी मरुदेवीका मुख अपनी सुंदरताके सामने चंद्रमाकी भी हंसी उडा रहा था क्यों-

भारवाहिकाखेदिताविव ॥ ४१ ॥ मुखमस्याः सरोजाक्ष्या जहास शशिमंडलं । सकलं विकलंकं च विकलं सकलंककम् ॥ ४२ ॥ वैधव्यदूषितेंदुश्रीरब्जश्रीः पंकदूषिता । तस्याः सदोज्ज्वलास्यश्रीर्वद केनोपमीयते ॥ ४३ ॥ दशनच्छदरागोस्याः स्मितांशुभिरनुद्रुतः । पयःकणावकीर्णस्य विद्रुमस्याजयत् श्रियं ॥ ४४ ॥ सुकंठ्याः कंठरागोस्या गीतगोष्ठीषु पप्रथे । मौर्वीरव इवाकृष्टधनुषः पुष्पधन्वनः ॥ ४५ ॥ कपोलावलकानस्या दधतुः प्रतिबिंबितान् । शुद्धिभाजोनुगृह्णाति मलिनानपि साश्रितान् ॥ ४६ ॥ तस्या नासाग्रमन्यग्रं बभौ मुखमभिस्थितं । तदामोदमिवाघ्रातुं तन्निःश्वसितमुत्थितं ॥ ४७ ॥

कि चंद्रमामें कलंक है और वह कलंकरहित था और चंद्रमा पौर्णमासीको छोडकर सदा अपूर्ण ही उदय होता है और वह सदा पूर्ण उदयरूप ही रहता था ॥ ४२ कविलोग मुखकेलिये चंद्रमा या कमलकी उपमा देते हैं परंतु मरुदेवीके मुखकेलिये ये दोनों ही उपमा योग्य नहीं थीं क्योंकि चंद्रमाकी शोभा न तो दिनमें ही रहती है और न अपूर्ण उदयमें रहती है इसलिये वह वैधव्य [विधवापन] दोषसे दूषित है और मरुदेवीके मुखकी शोभा सदा बनी रहती है इसलिये वह सदा सुहागरूप रहती थी। इसीप्रकार कमल कीचडके संबंधसे दूषित है और मरुदेवीका मुख निर्दोष था इसप्रकार मरुदेवीका मुख उपमारहित था उसकेलिये उपमा देने योग्य संसारमें कोई वस्तु नहीं थी ॥४३॥ उसके मंदहास्यकी सफेद किरणोंकर सहित दोनों होठोंकी लाली जलकी बूंदोंसे सुशोभित ऐसे मूंगाकी शोभाको भी जीत रही थी ॥ ४४ ॥ उसका स्वरभी अत्यंत मधुर था और इसलिये ही उसके कंठका मधुर राग संगीतशास्त्रमें ऐसा प्रसिद्ध था मानों धनुष चढानेवाले कामदेवके धनुषकी डोरीका शब्द ही हो ॥ ४५ ॥ उसके दोनों कपोल भी बडे ही निर्मल और बडे ही देदीप्यमान थे और इसलिये ही उनमें काले बालोंका प्रतिबिंब पडता था सो ठीक ही है जिनका अंतःकरण शुद्ध है वे अपने आधीन आये हुये मलिन (कलंकी) पुरुषोंको भी अनुग्रह पूर्वक स्वीकार करते ही हैं ॥ ४६ ॥ अतिशय प्रशंसनीय और मुखके सन्मुख स्थित हुआ ऐसा उसके नासिकाका अग्रभाग

नयनोत्पलयोः कांतिस्तस्याः कर्णांतमाश्रयत् ॥ कर्णेजपत्वमन्योन्यस्पर्धयेव चिकीर्षतोः ॥ ४८ ॥ श्रुतेनालङ्कृतावस्याः कर्णौ पुनरलङ्कृतौ ॥ कर्णाभरणविन्यासैः श्रुतदेव्या इवार्चनैः ॥ ४९ ॥ ललाटेनाष्टमींचंद्रचारुणास्या विदिद्युते ॥ मनोजश्रीविलासिन्या दर्पणेनेव हारिणा ॥ ५० ॥ विनीलैरलकैरस्या मुखाब्जे मधुपायित ॥ भ्रूभ्यां विनिर्जिता सज्या मदनस्य धनुर्लता ॥ ५१ ॥ कचभारो बभौ तस्या विनीलकुटिलायतः ॥ मुखेंदुग्रासलोभेन विधुंतुद इवाश्रितः ॥ ५२ ॥ विस्रस्तकबरीबन्धविगलत्कुसुमोत्करैः ॥ सोपहारामिव क्षोणीं चक्रे चंक्रमणेषु

ऐसा अच्छा सुशोभित होता था मानों उस नासिकाके निश्वाससे निकली हुई सुगंधिको सूंघनेके लिये ही वहांतक आया हो ॥ ४७ ॥ कमलके समान अत्यंत सुंदर ऐसे उसके दोनों नेत्रोंकी कांति कानतक पहुंच गई थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों दोनोंमें परस्पर स्पर्द्धा होनेसे वे दोनों ही कानतक पहुंचकर एक दूसरेकी चुगली खाना चाहते हों ॥ ४८ ॥ यद्यपि उसके कर्ण शास्त्रोंके श्रवण करनेसे अलंकृत थे तथापि सरस्वती देवीकी पूजाके सफेद पुष्पोंके समान कर्णभूषण पहनाकर फिर भी और अलंकृत [सुशोभित] किये गये थे॥ ४९ ॥ अष्टमीके चंद्रमाके समान उसका सुंदर ललाट ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अनेक प्रकारके विलास करनेवाली कामदेवकी शोभाका मनोहर दर्पण ही हो ॥ ५० ॥ उसके शिरपर अतिशय काले केशपाश ऐसे सुशोभित होते थे मानों उसके मुखरूपी कमलपर भ्रमरोंका समूह हो तथा उसकी दोनों भोंहें तो इतनी सुंदर थीं कि वे डोरी सहित कामदेवके धनुषको भी जीत रहीं थीं ॥ ५१ ॥ कुटिल विस्तृत और अतिशय काला ऐसा उसका केशसमूह ऐसा सुशोभित होता था मानों उसके मुखरूपी चंद्रमाको ग्रास करनेके लोभसे राहु ही आकर बैठगया हो ॥ ५२ ॥ जब वह मरुदेवी चलती थी उससमय फूलोंसे गुथी हुई उसकी चोटी कुछ ढीली हो जाती थी और उससे अनेक फूल बिखर बिखर कर पृथ्वीपर गिर पडते थे। उससमय उन फूलोंसे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों फूलोंसे

ना ॥ ५३ ॥ समसुप्रविभक्तांगमिलस्या वपुरूर्जितं ॥ स्त्रीसर्गस्य प्रतिच्छंदभावेनेव विधिर्व्यधात् ॥ ५४ ॥ सुप्रजाः सुचिरायुश्च सुप्रजाश्च सुमंगला ॥ पतिवत्नी च या नारी सा तु तामनुवर्णिता ॥ ५५ ॥ सा खनिर्गुणरत्नाना साऽवनि. पुण्यसंपदां ॥ पावनी श्रुतदेवी च साऽनधीत्यैव पंडिता ॥ ५६ ॥ सौभाग्यस्य परा कोटिः सौरूप्यस्य परा भृतिः ॥ सौहार्दस्य परा प्रीति. सौजन्यस्य परा गतिः ॥ ५७ ॥ प्रसूति. कामतत्त्वस्य कलागमसरित्स्रुतिः ॥ प्रसूतिर्यशसा साऽऽसीत्सतीत्वस्य परा धृति. ॥ ५८ ॥ तस्या. किल समुद्वाहे सुरराजेन चोदिताः ॥ सुरोत्तमा महाभूत्या चक्रुः कल्याणकौतुक ॥ ५९ ॥ पुण्यसंपत्तिरिवास्या जननीत्वमुपागता ॥ सखीभूय गता लज्जा गुणाः-

उसपर सांथिया आदि अनेक तरहकी रचना की गई हो ॥ ५३॥ इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार जिसका प्रत्येक अंग उपांग सुंदर है ऐसा उस मरुदेवीका सुंदर शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों नामकर्म रूपी ब्रह्माने स्त्रियोंकी सृष्टि निर्माण करनेकेलिये एक सुंदर नमूना ही बनाया हो ॥ ५४ ॥ संसारमें जो स्त्रियां यशस्विनी, [जिनका यश फैल रहा हो] दीर्घ आयुवाली, सुपुत्रोंको उत्पन्न करनेवाली, मंगलरूपिणी और भाग्यवती हैं वे सब मरुदेवीसे पीछे थीं अर्थात् मरुदेवी उन सबमें मुख्य थी ॥ ५५ ॥ वह मरुदेवी गुणरूप रत्नोंकी खानि थी, पुण्यरूप संपत्तियोंके निवास करनेवाली पृथ्वी थी, अतिशय पवित्र, साक्षात् सरस्वती देवी और विना पढे ही सब शास्त्रोंके अधिकार रखनेवाली पंडिता थी ॥ ५६ ॥ वह सौभाग्यकी परम सीमा थी सुंदरताकी उत्कृष्ट निवासस्थान थी सुहृदपनेकी उत्कृष्ट प्रीतिभाजन थी और सुजनताकी परम शरण थी ॥ ५७ ॥ इसीप्रकार वह कामशास्त्रके उत्पन्न होनेका स्थान थी कलाओंके शास्त्ररूप नदीके प्रवाहके समान थी कीर्तिके उत्पन्न होनेका स्थान थी और सतीत्व गुणकी परम सीमा थी ॥ ५८ ॥ उस मरुदेवीके विवाहके समय इंद्रकी प्रेरणासे समस्त उत्तम देवोंने वडी विभूतिके साथ उसका विवाहोत्सव किया था ॥ ५९ ॥ उसका जन्म मानों पुण्यरूप संपत्तिसे ही हुआ था, लज्जा उसकी सखीके समान सदा साथ रहती थी और

परिजनायिताः ॥ ६० ॥ रूपप्रभावविज्ञानैरितिरूढिं परां गता ॥ भर्तुर्मनोगजालाने भेजे साऽऽलानयष्टिता ॥ ६१ ॥ तद्वक्त्रेंदोः स्मित_ज्योत्स्ना तन्वती नयनोत्सव ॥ भर्तुश्चित्तोऽबुधेः क्षोभमनुवेलं समातनोत् ॥ ६२ ॥ रूपलावण्यसपत्त्या पत्या श्रीरिव सा मता ॥ मताविव मुनिस्तस्यामतानीत्स परा धृतिं ॥ ६३ ॥ परिहासेष्वमर्मस्पृक्संभोगेष्वनुवर्त्तिनी ॥ साचिव्यमकरोत्साऽस्य नर्मणः प्रणयस्य च ॥ ६४ ॥ साऽभवत्प्रेयसी तस्य प्राणेभ्योपि गरीयसी ॥ शचीव देवराजस्य परा प्रणयभूमिका ॥ ६५ ॥ स तया कल्पवल्ल्येव लसदंशुकभूषया ॥ समाश्लिष्टतनुः श्रीमान्कल्पद्रुम इवाद्युतत् ॥ ६६ ॥ स एव पुण्यवाँल्लोके सैव पुण्यवती सती ॥ ययोरयोनिजन्मा सौ वृषभो भविता मजः

गुण भी परिवारके समान सदा साथ रहते थे ॥६०॥ रूप प्रभाव और विज्ञानके द्वारा वह बहुत ही प्रसिद्ध थी और अपने पति महाराज नाभिरायके मनरूपी हाथीको बांधनेकेलिये हाथीके बांधनेके खंभेके समान जान पडती थी ॥६१॥ उसके मुखरूपी चंद्रमासे निकली हुई मंदहास्यरूपी चांदनी नेत्रोंको आनंदित करती थी तथा अपने पतिके चित्तरूपी समुद्रको आनंदरूप लहरोंसे क्षोभित करती थी ॥ ६२ ॥ महाराज नाभिराय रूप और लावण्यरूप संपत्तिके द्वारा उसे लक्ष्मीके समान मानते थे और उससे इतने भारी संतुष्ट होते थे जैसे कोई मुनि निर्मल बुद्धि पाकर संतुष्ट होता है ॥ ६३ ॥ परिहास करते समय वह अपने पतिके मर्मस्पर्श करनेवाले (बुरे लगने वाले) वाक्य कभी नहीं कहती थी और संभोगादि क्रीडा करतेसमय वह पतिकी आज्ञानुसार चलती थी इसप्रकार महाराज नाभि-राजके हास्य और प्रणय (प्रेम) करनेमें वह मंत्रीका काम करती थी अर्थात् हरतरहसे उनको सहायता करती थी ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार इंद्रके इंद्राणी बडी ही प्रिय होती है उसीप्रकार महा-राज नाभिरायके वह बडी ही प्रियथी और वे उसे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे ॥६५॥ अतिशय शोभा युक्त महाराज नाभिराय उस मरुदेवीके साथ एक कल्पवृक्षके समान सुशोभित होते थे, क्योंकि जिसप्रकारकल्पवृक्षकाशरीर वस्त्र आभूषणोंसे सुशोभित कल्पलताके समागमसे सुशोभित

॥ ६७ ॥ तौ दंपती तदा तत्र भोगैकरसतां गतौ ॥ भोगभूमिश्रियं साक्षाच्चक्रतुर्विच्युतामपि ॥ ६८ ॥ ताभ्यामलङ्कृते पुण्ये देशे कल्पाङ्घ्रिपात्यये ॥ तत्पुण्यैर्मुहुराहूतः पुरुहूतः पुरीं व्यधात् ॥ ६९ ॥ सुराः ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात् ॥ तां पुरीं परमानंदाद्व्यधुः सुरपुरीनिभां ॥ ७० ॥ स्वर्गस्यैव प्रतिच्छंदं भूलोकेस्मिन्निधित्सुभिः ॥ विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी ॥ ७१ ॥ स्वस्वर्गस्त्रिदशावासः स्वल्प इत्यवमत्य तं ॥ परःशतजनावासभूमिकां तां नु ते व्यधुः ॥ ७२ ॥ इतस्ततश्च विक्षिप्तानानीयानीय मानवान् ॥ पुरीं निवेशयामासुर्वि-

---

होता है उसीप्रकार नाभिरायकाशरीर भी वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित मरुदेवीकेसमागमसे सुशोभित होता था ॥६६॥संसारमें महाराज नाभिरायही सबसे अधिक पुण्यवान् थे और मरुदेवी ही सबसे अधिक पुण्यवती थी क्योंकि जिनके स्वयंभू भगवान वृषभदेव सदृश पुत्र होंगे उनके समान पुण्यवान् और कौन हो सकता है ॥ ६७ ॥ उससमय वे दोनों ही दंपती भोगोपभोगोंमें अतिशय निरत होकर इसप्रकार काल व्यतीत कर रहे थे मानों नष्ट हुई भोगभूमिकी शोभाको ही साक्षात् दिखला रहे हों ॥ ६८ ॥ जिस पुण्यस्थानमें वे दोनों रहते थे वहांके कल्पवृक्ष जब भोगभूमिके अभावसे नष्ट होगये तब इनके पुण्यके द्वारा बार बार बुलाये हुये इंद्रने वहीं एक नगरीकी रचना कराई ॥ ६९ ॥ इंद्रकी आज्ञासे शीघ्र ही नगरकी रचनाकरनेवाले देव बडे उत्साहके साथ आये और बडे प्रसन्न होकर उन्होंने इंद्रपुरीके समान नगरीकी रचना की ॥ ७० ॥ उनदेवोंने वह नगरी इतनी विशेप सुंदर बनाई थी मानों इस मध्यलोकमें भी स्वर्गका एक प्रतिनिधि रखनेकी इच्छासे ही स्वर्गके समान बनाई हो ॥७१॥ देवोंने समझा था कि यह हमारा स्वर्ग बहुत ही थोडा है क्योंकि यह त्रिदशावास (देवोंका निवासस्थान) अर्थात् केवल त्रि×दश तीस आदमियोंके रहनेकी जगह है [त्रिदश देवोंका नाम है और तीस संख्याका वाचक भी है) इसलिये उन्होंने सैकडों हजारों मनुष्योंके रहने योग्य वह नगरी बनाई थी ॥ ७२ ॥ उससमय जो लोग इधर उधरके प्रदेशोंमें जहां तहां निवास करते थे देवोंने

न्यासैर्विविधै सुरा ॥ ७३ ॥ नरेंद्रभवनं चास्याः सुरैर्मध्ये निवेशितं ॥ सुरेंद्रनगरस्पर्धि परार्ध्यविभवान्वितं ॥ ७४ ॥ सुत्रामा सूत्रधारोस्याः शिल्पिनः कल्पजाः सुराः । वास्तुजातं महीकृत्स्ना सोद्या नास्तु कथं पुरी ॥ ७५ ॥ सचरकरुश्च ता वप्रप्राकारपरिखादिभिः ॥ अयोध्या न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ॥ ७६ ॥ साकेतरूढिरप्यस्या श्लाघ्यैव स्वानिकेतनैः । स्वर्निकेतमिवाव्हातु साकूतैः केतुबाहुभिः ॥ ७७ ॥ सुकोशलेति च ख्यातिं सा देशाभिख्यया गता । विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता ॥ ७८ ॥

उन सबको लाकर उस नगरीमें वसाया और अनेक प्रकारकी रचनाकर उस नगरीकी शोभा बढाई ॥ ७३ ॥ उन देवोंने उस नगरीके मध्यभागमें इंद्रपुरीकी स्पर्द्धा करनेवाला और बहुमूल्य अनेक विभूतियोंसे विभूषित ऐसा एक राजभवन बनाया ॥ ७४ ॥ इस नगरीकी रचना करनेकेलिये कारीगर सौधर्मादि स्वर्गोंके देव थे, और उनका अधिकारी सूत्रधार इंद्र था तथा मकान बनानेके लिये संपूर्ण पृथ्वी पडी हुई थी फिर भी वह नगरी प्रशंसनीय क्यों नहीं हो सकती अर्थात् वह अतिशय प्रशंसनीय थी ॥७५॥ छोटे बडे कोट खाई आदिकोंसे वह नगरी बहुत ही सुशोभित की गई थी तथा उसका नाम अयोध्या रक्खा था। वह केवल नाममात्रसे ही अयोध्या नहीं थी किंतु गुणोंसे भी अयोध्या अर्थात् (अ-योध्या] कोई भी शत्रु जिससे युद्ध न करसके ऐसी थी ॥ ७६॥ वह नगरी सुंदर मकानोंसे बडी ही प्रशंसनीय थी और इसलिये ही उसका साकेत (स आकेत। आकेत अर्थात् मकान। साकेत अर्थात् सुंदर मकानोंसहित)नाम प्रसिद्ध होगया था। उन सुंदर मकानोंसे वह ऐसी जान पडती थी मानों किसी अभिप्रायसे अपनी ध्वजारूप भुजाओंको ऊंचा उठाकर स्वर्गके विमानोंको ही बुला रही हो ॥ ७७ ॥ वह सुकोशल देशके मध्यभागमें थी इसलिये उस देशके संबंधसे सुकोशला कहलाती थी तथा उसमें रहनेवाले लोग सब विनयवान थे इसलिये वह विनीता भी कहलाती थी ॥ ७८ ॥ वह राजधानी सुकोशला बडी ही प्रसिद्ध थी और आगामी कालमें होनेवाले बडे देशके नाभिके समान मध्यभागमें थी इसलिये वह बडी ही

बभौ सुकोशला भाविविषयस्याऽऽधीयस. । नाभिलक्ष्मीं दधानासौ राजधानीसुविश्रुता ॥ ७९ ॥ सनृपालयमुद्वप्रं दीप्तशालं सखातिकं । तद्वस्त्रेऽनारारभे प्रतिच्छन्दायित पुरं ॥ ८० ॥ पुण्येहनि मुहूर्ते च शुभयोगे शुभोदये । पुण्याहघोषणा तत्र सुराश्चक्रु. प्रमोदिन ॥ ८१ ॥ अध्यवास्ता तदानीं तौ तामयोध्या महर्द्धिका । दम्पती परमानन्दावाप्तसम्पत्परम्परौ ॥ ८२ ॥ विश्वदृश्वैतयोः पुत्रो जनितेति शतक्रतु । तयो पूजा व्यधत्तोच्चैरभिषेकपुर सरा ॥ ८३ ॥ षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति ॥ रत्नवृष्टिं दिवो देवाः पातयामासुरादरात् ॥ ८४ ॥ सक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता । साभात्स्वसम्पदौत्सुक्यात्प्रस्थितेवाग्रतो विभोः ॥ ८५ ॥ हरिन्मणिमहानीलपद्मरागांशुसंस्तरैः । साद्युतत् सुरचापश्रीः प्रगुणत्वमिवाश्रिता ॥ ८६ ॥

सुशोभित होती थी ॥७९॥ उस नगरीमें राजभवन भी था और तारण, कोट तथा खाई भी थी उन सबसे वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों आगामी कर्म भूमिके समयमें होनेवाली नगरी आदिकोंका प्रतिबिंब ही हो ॥ ८० ॥ इसप्रकार सर्वशोभायुक्त उस अयोध्यानगरीमें सब देवोंनें मिलकर किसी शुभदिन, शुभ-मुहूर्त, शुभयोग और शुभलग्नमें वडे हर्षके साथ पुण्याहवाचन मंत्रका पाठ किया अर्थात् शुभकामना और आशीर्वादपूर्वक महाराज नाभिरायके निवास करनेका मुहूर्त किया ॥ ८१ ॥ उससमय महाराज नाभिराय और मरुदेवी दोनों ही अतिशय विभूति और ऋद्धि युक्त उस अयोध्यामें निवास करनेलगे उससमय उन्हें अनेक प्रकारकी संपत्तियां प्राप्त हुई थीं और इसलिये वे वडे ही आनंदित हो रहे थे ॥८२॥ इन दोनोंके भगवान सर्वज्ञदेव जन्म लेंगे यही समझकर इंद्रने वडे आदरसे इन दोनोंका महाभिषेक कर पूजा की ॥ ८३ ॥ अब वज्रनाभि अहमिंद्र छठे महीने बाद ही स्वर्गसे चयकर महाराणी मरुदेवीके गर्भमें विराजमान होंगे यही जानकर देवोंने वडे आदरसे रत्नोंकी वर्षा की ॥ ८४ ॥ इंद्रकी आज्ञासे कुवेरने जो रत्नवृष्टि की थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों भगवान् श्रीऋषभ-देवकी विभूति उनके आनेके पहिले ही उत्कंठा पूर्वक आगई हो ॥ ८५ ॥ उन रत्नोंमें हरिन्मणि इंद्रनीलमणि पद्मरागमणि आदि अनेकप्रकारके रत्न थे उनके किरणोंकी समूहसे वह रत्नवृष्टि

रैधारैरावतस्थूलसमायतकराकृति. । बभौ पुण्यद्रुमस्येव पृथु: प्ररोहसंतति. ॥ ८७ नीरंध्र रोधमी रुद्ध्वा रार्या धारा पतत्यभात् ॥ सुरद्रुमैरिवोन्मुक्ता सा प्ररोहपरपरा ॥ ८८ ॥ रेजे हिरण्मयी वृष्टि खांगणात्निपतत्यनो । ज्योतिषां प्रभेवोच्चैरायाती सुरसद्मा · ॥ ८९ ॥ खदूद्गृष्ठा रत्नवृष्टि' मा क्षणमुत्प्रेक्षिता जनैः । गर्भस्रुतिर्निधीना कि जगत्क्षोभादभूदिति ॥ ९० । खांगणे विप्रकीर्णानि रत्नानि क्षणमावभु ॥ वृशाखिना फलानीव शातितानि सुरद्विपै ॥ ९१ ॥ खागणे गणनातीता रत्नधारा रराज सा ॥ विप्रकीर्णेव कालेन तरला तारकावली ॥ ९२ ॥ विगुदिद्रयुत्रं किंचिज्जटिले सुरनायकै. । दिवो विगलितं स्यातामित्यसौ क्षणमैक्षत ॥ ९३ ॥ किमेषा वैद्युती दीप्ति किमुत द्युसदा द्युति ॥ इति व्योमचरैरैक्षि क्षणमाशस्य सान्वरे ॥ ९४ ॥

ऐसी सुशोभित होती थी मानों एकरेखामें सीधी होकर इंद्रधनुषकी शोभा ही आ रही हो॥८६॥ ऐरावत हाथीकी सूंडके समान मोटी और गोल वह रत्नोंकी धारा वरस रही थी और वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों पुण्यरूप वृक्षकी मोटी जटाओंका समूह ही हो ॥ ८७ ॥ अथवा अतिशय सघन और दशों दिशाओंको रोककर वरसती हुई वह रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों कल्पवृक्षोंसे निकली हुई जटाओंका समूह ही हो ॥ ८८ ॥ अथवा स्वर्गरूपी आंगनसे पडती हुई वह सुवर्णमयी वृष्टि ऐसी सुशोभित होती थी मानों स्वर्गसे ज्योतिषी देवोंकी उत्कृष्ट प्रभा ही आ रही हो ॥ ८९ ॥ अथवा आकाशसे पडती हुई उस रत्नवृष्टिको देखकर लोग यही उत्प्रेक्षा करते थे कि क्या जगतमें कोई क्षोभ होनेसे निधियोंका यह गर्भपात हुआ है ॥ ९० ॥ अथवा आकाशरूपी आंगनमें इधर उधर फैले हुये वे रत्न क्षणभरके लिये ऐसे सुशोभित होते थे मानों देवोंके अनेक हाथियोंने कल्पवृक्षोंके फल ही तोड तोडकर डाले हों ॥ ९१ ॥ आकाशरूपी आंगनमें असंख्यात रत्नोंकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों समयानुसार इधर उधर फैली हुई नक्षत्रोंकी पंक्ति ही हो ॥ ९२ ॥ अथवा उस रत्नवृष्टिको देखकर क्षणभरकेलिये यही कल्पना होती थी कि स्वर्गसे मानों परस्पर सघन मिलेहुये विजली और इंद्रधनुषको ही श्रेष्ठ देवोंने फेंकदिया हो ॥ ९३ ॥ अथवा देव

सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता । विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥ ९५ ॥ षण्मासानिति सापसत् पुण्ये नाभिनृपालये । स्वर्गावतरणाद्भर्तुः प्राक्तरां द्युम्नसंततिः ॥ ९६ ॥ पश्चाच्च नवमासेषु वसुधारा तथा मता । अहो महान् प्रभावोस्य तीर्थकृत्त्वस्य भाविनः ॥ ९७ ॥ रत्नगर्भा धरा जाता हर्षगर्भाः सुरोत्तमाः । क्षोभमायाज्जगद्गर्भो गर्भादानोत्सवे विभोः ॥ ९८ ॥ सिक्ता जलकणैर्गांगैर्मही रत्नैरलङ्कृता । गर्भादाने जगद्भर्तुर्गर्भिणीवाभवद्गुरुः ॥ ९९ ॥ रत्नैः कीर्णा प्रसूनैश्च सिक्ता गंधाम्बुभिर्बभौ । तदा स्नातानुलिप्तेव भूषितांगी धरांगना ॥ १०० ॥ सम्मता

विद्याधर तो उसे देखकर क्षणभरकेलिये यही कल्पना करते थे कि क्या यह विजलीकी कांति है अथवा देवोंकी प्रभा है ॥ ९४ ॥ । कुवेरने जो वह हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वर्षा की थी वह ऐसी जान पडती थी मानों संसारमें भगवानका 'हिरण्यगर्भ' यह नाम प्रसिद्ध करनेकेलिये ही की हो ॥ ९५ ॥ इसप्रकार श्रीवृषभदेवके गर्भावतरणसे पहिले छह महीने तक अतिशय पुण्यवान् महाराज नाभिराजके घरपर रत्न और सुवर्णकी वर्षा हुई थी ॥ ९६ ॥ जिसप्रकार छह महीनेतक रत्नोंकी वर्षा हुई थी उसीप्रकार गर्भधारणके पीछे भी बराबर नौ महीनेतक होती रही थी। जिसे देखकर लोग आश्चर्यके साथ कहते थे कि होनेवाले श्रीवृषभदेव तीर्थकरका बडा भारी प्रभाव है ॥ ९७ ॥ जिससमय श्रीवृषभदेव मरुदेवीके गर्भमें पधारे थे उससमय यह समस्त पृथ्वी रत्नमयी हो गई थी देव सब हर्षित हो गये थे और यह समस्त संसार आनंदित हो गया था ॥ ९८ ॥ भगवान श्रीवृषभदेवके गर्भोत्सवके समय यह पृथ्वी भी गर्भिणी स्त्रीके समान भारी होगई थी। क्योंकि उस-समय यह गंगाके शीतल जलबिंदुओंसे सींची गई थी और अनेक प्रकारके रत्नोंसे सुशोभित की गई थी ॥ ९९ ॥ उससमय यह पृथ्वीरूपी नायिका ऐसी जान पडती थी मानों स्नानकर चंदनविले-पनकर और वस्त्राभूषण पहन कर ही सुसज्जित हुई हो। क्योंकि उससमय यह अनेक प्रकारके रत्न और पुष्पोंसे सुसज्जित की गई थी और गंधोदकसे सींची गई थी ॥ १०० ॥ उससमय यह पृथ्वी श्री-

नाभिराजस्य पुण्यवत्यरजस्वला । वसुंधरा तदा मेजे जिनमातुरनुक्रियां ॥ १ ॥ अथ सुप्तैकदा देवी सौधे मृदुनि तल्पके । गंगातरंगसंछाये दुकूलप्रच्छदोज्ज्वले ॥ २ ॥ साऽपश्यत् षोडश स्वप्नानिमान् शुभफलोदयान् । निशायाः पश्चिमे यामे जिनजन्मानुशंसिन ॥ ३ ॥ गजेंद्रमैंद्रमामंद्रबृंहित त्रिमदस्रुत । ध्वनंतमिव सासार सा ददर्श शरद्घन ॥ ४ ॥ गवेंद्र दुंदुभिस्कंधं कुमुदापांडुरच्छविं । पीयूषराशिनीकाशं साऽपश्यन्मंद्रनिःस्वनं ॥ ५ ॥ मृगेंद्रमिंदुसच्छायवपुषं रक्तकंधरं । ज्योत्स्नया संध्यया चैव घटितांगमिवैक्षत ॥ ६ ॥ पद्मां पद्ममयोत्तुंगविष्टरे सुरवारणैः । स्नाप्यां हिरण्मयैः

ऋषभदेवकी माता मरुदेवीके समान जान पडती थी। क्योंकि जिसप्रकार मरुदेवी श्रीनाभिराजको अभीष्ट सुख देनेवाली थी उसीप्रकार पृथ्वी भी नाभिराजकेलिये अभीष्ट सुख देनेवाली थी और मरुदेवी जिसप्रकार रजस्वला न होकर भी पुष्पवती थी उसीप्रकार पृथ्वी भी रजस्वलारहित अर्थात् धूलिरहित होकर भी पुष्पवती अर्थात् अनेक प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित थी ॥ १०१ ॥

अथानंतर— किसी एकदिन श्रीमती मरुदेवी सुंदर राजभवनमें गंगाकी लहरोंके समान सफेद और निर्मल वस्त्रोंसे ढकी हुई अतिशय कोमल शय्यापर सो रही थी। सोते ही सोते उसने रात्रिके पिछले पहरमें श्रीजिनेंद्रदेवके जन्मको सूचित करनेवाले और अतिशय उत्तम फल देनेवाले नीचे लिखे हुये सोलह स्वप्न देखे ॥ १०२--१०३ ॥ प्रथम ही उसने सफेद ऐरावत हाथी देखा वह हाथी बडे गंभीर शब्दोंसे गरज रहा था और उसके दोनों कपोलों तथा सूंडसे मद वह रहा था इसलिये वह ऐसा जान पडता था मानों जलसे भरा हुआ और गर्जता हुआ शरद् ऋतुका सफेद बादल ही हो ॥१०४॥ दूसरे स्वप्नमें उसने एक बैल देखा, वह बैल सफेद कमलके समान कुछ सफेद था अमृतके समूहके समान वा चंद्रमाके समान देखनेमें मनोहर था उसका कंधा ठीक नगाडेके समान ऊंचा उठा हुआ था और वह धीरे २ गंभीर शब्द कर रहा था ॥१०५॥ तीसरे स्वप्नमें उसने एक सिंह देखा उस सिंहका शरीर चंद्रमाके समान सफेद था और कंधे उसके लाल थे इसलिये वह ऐसा

कुबेरदर्शत्स्वमिव श्रियं ॥ ७ ॥ दामनी कुसुमामोदममलभ्रमहालिनी । तज्झंकारैर्वारब्धगाने सानंदमैक्षत ॥ ८ ॥ समग्रबिंबमुद्यज्ज्योत्स्नं, ताराधीशं सतारकं । स्मेरं स्वमिव वक्त्राब्जं समौक्तिकमलोकयत् ॥ ९ ॥ विधूतध्वान्तमुद्यं भास्वन्तमुदयाचलात् । शातकुंभमयं कुंभमिवाद्राक्षीत्स्वमाले ॥ १० ॥ कुंभौ हिरण्मयौ पद्मापिहितास्यौ व्यलोकत । स्तनकुम्भाविवात्मीयौ समासक्तकराम्बुजौ ॥ ११ ॥ झषौ सरसि संफुल्लकुमुदोत्पलपंकजे । सापश्यन्नयनायाम

जान पडता था मानों चांदनी और संध्या दोनोंके मिलनेसे ही उसका शरीर बना हो ॥ १०६ ॥ श्रीमती मरुदेवीने चौथे स्वप्नमें अपनी शोभाके समान लक्ष्मी देखी । उससमय वह लक्ष्मी कमलमय ऊंचे सिंहासनपर बैठी हुई थी और देवोंके दो उत्तम हाथी अपनी सूंडमें दबाये हुये सुवर्णके बने हुये दो घडोंसे उसका अभिषेक कर रहे थे ॥ १०७ ॥ तदनंतर पांचवें स्वप्नमें उस महारानीने आनंद पूर्वक दो लटकतीहुई पुष्पमालायें देखीं । उन दोनों पुष्पमालाओंपर फूलोंकी अतिशय सुगंधिके वशीभूत होकर अनेक भ्रमर आलगे थे और वे मनोहर झंकार शब्द कर रहे थे जिससे वे मालायें ऐसी जान पडती थीं मानों उन्होंने गाना ही प्रारंभ किया हो ॥ १०८ ॥ छठे स्वप्नमें उसने ताराओंसहित और जिसकी चांदनी चारों ओर फैल रही है ऐसा पूर्ण चंद्रमंडल देखा। उससमय वह चंद्रमंडल उसे ऐसा जान पडता था मानों मंदहास्य और अनेक मोतियोंसहित अपना (मरुदेवीका) मुखकमल ही हो ॥१०९॥ सातवें स्वप्नमें उसने अपने मंगलकार्यमें सुवर्णमय कलशके समान अंधकारको नष्ट करते हुये और उदयाचल पर्वतसे उदय होते हुये सूर्यको देखा ॥ ११० ॥ आठवें स्वप्नमें उसने करकमलोंसे आच्छादित अपने दोनों कुचरूपी कलशोंके समान मुखपर कमलसे ढके हुये ऐसे दो सुवर्णमय कलश देखे ॥ १११ ॥ नौवें स्वप्नमें उसने जिसमें कमोदनी (चंद्रविकासी कमल) और कमल दोनों ही खिल रहे हैं ऐसे किसी सरोवरमें क्रीडा करती हुई मछलियां देखीं । महादेवीको स्वप्नमें वे दोनों ही मछलियां ऐसी देख पडी थीं

दर्शयताविगतमन' ॥ १२ ॥ तरत्सरोजकिंजल्कपिंजरोदकमैक्षत । सुवर्णद्रवसंपूर्णमिव दिव्यं सरोवरं ॥ १३ ॥ क्षुभ्यंतमब्धिमुद्वेल चलत्कल्लोलकाहल । सादर्शच्छीकरैर्मोक्तुमट्टहासमिवोद्यत ॥ १४ ॥ सैंहमासनमुत्तुंग स्फुरन्मणिहिरण्मय । साप३यन्मेरुशृगस्य वैदग्ध्यीं दधदूर्जिता ॥ १५ ॥ नाकालय व्यलोकिष्ट परार्ध्यमणिभासुर । स्वसूनो प्रसवागारमिव देवैरुपाहृत ॥ १६ ॥ फणींद्रभवन भूमिमुद्भिद्योद्गतमैक्षत । प्राग्दृष्टस्वर्विमानेन स्पर्द्ध

मानों वे दोनों अपने (मरुदेवीके) नेत्रोंकी लंबाई और चंचलता ही दिखला रही हो ॥ ११२ ॥ दशवें स्वप्नमें उसने एक दिव्य सरोवर देखा । उससमय उस सरोवरपर अनेक कमल तैर रहे थे और उनकी पीली परागसे उसका सब पानी पीला हो रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों वह संपूर्ण सरोवर तपाकर पानीके समान पतले किये हुये सुवर्णसे भरा हो ॥ ११३ ॥ ग्यारहवें स्वप्नमें उसने समुद्र देखा उससमय उस समुद्रमें लहरें उठ रहीं थीं उन लहरोंके चलनेसे धीरे २ गंभीर शब्द भी हो रहा था और पानीकी छोटी बूंदे भी लहरोंसे उड २ कर किनारोंपर पड रहीं थीं जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों वह जोरसे हंस रहा ही है ॥ ११४ ॥ बारहवें स्वप्नमें उसने एक सिंहासन देखा वह सिंहासन बहुत ही ऊंचा था सुवर्णका बना हुआ था और अनेक प्रकारके देदीप्यमान मणि उसमें जडे हुये थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों सुमेरु पर्वतके शिखरकी उत्तम शोभा ही उसने धारण कर ली हो ॥ ११५ ॥ तेरहवें स्वप्नमें उसने अनेक बहुमूल्य मणियोंसे देदीप्यमान ऐसा एक स्वर्गका विमान देखा मानों देवोंके द्वारा भेटमें आया हुआ ऐसा होनेवाले अपने पुत्रके लिये प्रसूतिगृह (जिसघरमें पुत्रका जन्म होता है) ही हो ॥ ११६ ॥ चौदहवें स्वप्नमें उसने पृथ्वीको फाडकर ऊपर आया हुआ नागेंद्रका भवन (नागकुमारजातिके भवनवासी देवोंके इंद्रका भवन) देखा मानों वह भवन पहिले देखे हुये स्वर्गके विमानकी स्पर्द्धा करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ११७ ॥ पंद्रहवें स्वप्नमें उसने रत्नोंकी राशि (समूह) देखी उस रत्नराशिकी निकलती

च्छुरितांबरं ॥ १७ ॥ रत्नानां राशिमुत्सर्पदंशुपल्लवितांबरं । सा निदध्यौ धरादेव्या निधानमिव दर्शितं ॥ १८ ॥ ज्वलद्भासुरनिर्धूमवपुषं विभावसुं । प्रतापमिव पुत्रस्य मूर्तीभूतं न्यचायत ॥ १९ ॥ न्यशामयच्च तुंगांगं पुंगवं रुक्मसच्छविं । प्रविशंतं स्ववक्त्राब्जं स्वप्नांते पीनकंधरं ॥ २० ॥ ततः प्राबोधिकैस्तूर्यध्वनैः प्रत्यबुद्ध सा । वंदिनां मंगलोद्गीतीः शृण्वतीति सुमंगलाः ॥ २१ ॥ सुखप्रबोधमाधातुमेतस्याः पुण्यपाठकाः । तदा प्रपेठुरित्युच्चैर्मंगलान्यस्खलद्गिरः ॥ २२ ॥ प्रबोधसमयोऽयं ते देवि सम्मुखमागतः । रचयन्नंजलिं दूराद्विकसत्पंकजांजलिं ॥ २३ ॥ विभावरी विभात्येषा दधती विधुमंडलं । जितं त्वन्मुखकांत्येव गलज्ज्योत्स्नापरिच्छदं ॥ २४ ॥ निच्छायतां गते चंद्रबिंबे मंदीकृतादरं । जगदानंदयत्यद्य विधु

हुई किरणोंसे आकाश पल्लवित हो रहा था और वह ऐसी जान पडती थी मानों पृथ्वी देवीने अपना खजाना ही दिखाया हो ॥ ११८ ॥ सोलहवें स्वप्नमें उसने धूमरहित और जलती हुई दैदीप्यमान वन्हि देखी उससमय वह अग्नि ऐसी जान पडती थी मानों होनेवाले पुत्रके प्रतापने मूर्तिमान रूप ही धारण किया हो ॥ ११९ ॥ इसप्रकार ये ऊपर लिखे हुये सोलह स्वप्न देखनेके अनंतर उसने देखा कि जिसकी कांति सुवर्णके समान है कंधे वहुत मोटे हैं और जिसका शरीर भी बहुत ऊंचा है ऐसा एक बैल उसके मुखरूपी कमलमें प्रवेश कर रहा है ॥ १२० ॥ इसके देखनेके बाद ही प्रबोधकरानेवाले प्रातःकालके बाजे बजने लगे जिसे सुनकर वह जग गई और वंदीजन जो मंगल करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे उसे सुनने लगी ॥ १२१ ॥ महारानी मरुदेवी सुखपूर्वक जग जांय जगनेमें उन्हें किसीप्रकारका क्लेश न हो इसलिये ही प्रातःकालके समय मंगलपाठ पढनेवाले बंदीजन ऊंची और स्पष्ट वाणीसे नीचे लिखा हुआ मंगलपाठ पढने लगे ॥ १२२ ॥ हे देवि ! किंचित् खिले हुये कमलोंके द्वारा दूरसे ही हाथ जोडता हुआ यह तेरे जगनेका समय सामने आ रहा है ॥ १२३ ॥ चंद्रमंडलकी चांदनी सब नष्ट हो गई है और वह ऐसा कांतिरहित हो गया है मानों तेरे मुखकी कांतिसे जीता गया ही हो, ऐसे कांतिरहित चंद्रमंडलको धारण करती हुई यह चांदनी

न्मुखाबुजं ॥ २५ ॥ दिगंगनामुखानींदुः संस्पृशन्नस्फुटैः करैः । आपिपृच्छिषते नूनं प्रवसन्स्वप्रियांगनाः ॥ २६ ॥ ताराततिरियं व्योम्नि विर लक्ष्यतेऽधुना । विप्रकीर्णेव हारश्रीर्यामिन्या गतिसंभ्रमात् ॥ २७ ॥ रूयते कलमामंद्रमितः सरसि सारसैः । स्तोतुकामैरिवास्माभिः समं त्वामात्तमंगलै ॥ २८ ॥ उच्छसत्कमलास्येयमितो विगृहदीर्घिका । भवंतीं गायतीवेद्धैरलिनी भ्रमरारवैः ॥ २९ ॥ निशाविरहसंतप्तमितश्चक्राह्वयोर्युगं । सरस्तरंगसंस्पर्शाद्विदमाश्वसितेऽधुना ॥ ३० ॥ रथांगयुगलैरद्य प्रार्थ्यते मित्रसन्निधिः । तीव्रमायासितैरत्र करैरिंदोर्विदाहिभिः ॥ ३१ ॥ दुनोति कुकवाकूनां

कैसी विचित्र सुशोभित हो रही है ॥ १२४ ॥ हे देवि ! अब चंद्रमाकी शोभा नष्ट हो गई है संसार भी उसे अब अनादरकी दृष्टिसे देखने लगा है इसलिये प्रफुल्लित हुआ तेरा मुख कमल ही अब संसारको आनंद देनेवाला हो ॥१२५॥ यह चंद्रमा अब छिपी हुई किरणोंसे अपनी दिशारूप स्त्रियोंके मुखका स्पर्श कर रहा है मानों अब परदेश गमन करनेकेलिये अपनी प्यारी स्त्रियोंसे आज्ञा लेनाही चाहता हो॥१२६॥ आकाशमें ताराओंका समूह अब वहुतकम कहीं २ पर दिखाई देरहा है और ऐसा जानपडता है मानों अब जानेकी जल्दीमें रात्रिके हारकी शोभा ही विखरकर कहीं २ पर गिर गई हो ॥ १२७ ॥ हे देवि? इधर देख तालावोंपर ये सारस पक्षी भी कैसा मधुर और गंभीर शब्द कर रहे हैं मानों मंगलपाठ पढते हुये हमारे साथ साथ तेरी स्तुति ही करना चाहते हों ॥ १२८ ॥ इधर घरकी वावडियोंमें भी कमलिनियोंके [कमलकी वेलके] कमलरूपी मुख प्रफुल्लित होगये हैं और उनपर भ्रमर गुंजार शब्द कररहे हैं जिससे वह कमलिनी ऐसी जान पडती है मानों तेरा यश ही गा रही हो ॥ १२९ ॥ इधर रात्रिमें परस्पर वियोग होनेसे अतिशय संतप्त हुआ चकवा चकवी पक्षियोंका जोडा भी अब सरोवरकी तरंगोंके स्पर्श होनेसे कुछ कुछ शांत हो रहा है ॥ १३० ॥ अतिशय दाह करनेवाली चंद्रमाकी किरणोंसे अत्यंत क्लेशित [दुःखी) हुये चकवा चकवी दोनों ही अब सूर्यके साथ समागम करनेकी प्रार्थना कर रहे हैं भावार्थ-अब सूर्य उदय

ध्वनिरेष समुच्चरन् ॥ कांतासन्नवियोगार्तिपिशुन. कामिना मन. ॥ ३२ ॥ यदिदं प्राप्तमांदस्य नोदस्तं मृदुभिः करैः ॥ तत्प्रहीनं तमो नैश खराशावुदयोन्मुखे ॥ ३३ ॥ तमः शार्वरमुद्रिय करैर्भानोरुदेष्यत । नेतेः...तो संध्या रक्तत्वेनानुरागिणी ॥ ३४ ॥ मित्रमंडलमुद्गच्छदिदमातनुते द्वय । विकाशमब्जिनीखंडे म्लानिं च कुमुदाकरे ॥ ३५ ॥ विकस्वर समालोक्य पद्मिन्या पंकजानन । सासूयेव परिम्लानिं प्रयात्येषा कुमुद्वती ॥ ३६ ॥ पुर प्रसारयन्नुच्चैः करानुद्याति भानुमान् । प्राचीदिग्गनागर्भात्तेजोगर्भ इवार्भकः ॥ ३७ ॥ लक्ष्यते निषधो...गे भानुरारक्तमंडलः । पुंजीकृत इवैकत्र

होना ही चाहता है ॥ १३१ ॥इधर देखो बहुत शीघ्र होनेवाले स्त्रियोंके वियोगसे उत्पन्न होनेवाले दुःखकी सूचना करनेवाली यह मुरगोंकी तेज आवाज आरही है और वह कामी पुरुषोंके मनको खेदखिन्न भी कर रही है ॥ १३२ ॥ रात्रिके अंधकारको मंद करनेवाले चंद्रमाकी कोमल किरणोंसे जो अंधकार नष्ट नहीं हूआ था वह अब तीव्रकिरणवाले सूयके उदय होनेके सन्मुख होते ही नष्ट हो गया है ॥ १३३ ॥ केवल अपनी किरणोंसे ही रात्रिके समस्त अंधकारको नष्ट करनेवाला सूर्य अभी उदय भी नहीं हुआ है परंतु उससे अनुराग करनेवाली संध्या (सूर्योदय होनेसे पहिलेका लालिमासहित्त प्रकाश) पहिलेसे ही आगई है । मानों उदय होनेवाले कयेसू आगे आगे चलनेवाली उसकी सेना ही हो ॥ १३४ ॥ हे देवि! यह उदय होता हुआ सूर्यमंडल एक साथ दो काम करता है एक तो कमलोंको प्रफुलित करता है और द्वितीय कमोदिनियोंके समूहको मलिन करता है ॥ १३५ ॥ अथवा कमलिनीके कमलरूपी मुखको प्रफुलित देखकर वह कमोदिनी मानों कमलिनीसे ईर्ष्या करके ही स्वयं मलिन हो गई जान पडती है ॥ १३६ ॥ यह सूर्य अपने ऊंचे कर (हाथ) अर्थात् किरणोंको सामने फैलाता हुआ उदय हो रहा है मानों पूर्वदिशारूपी स्त्रीके गर्भसे अत्यंत तेजस्वी बालक ही निकल रहा हो ॥ १३७ ॥ निषध पर्वतके समीप यह अतिशय आरक्त (लाल) हुआ सूर्यमंडल ऐसा जान पडता है मानों इंद्रोंने संध्याका सब अनु-

जगत् ॥ ३९ ॥ ममतादापतत्येव प्रभाते शिशिरो मरुत्
साध्यो राग. सुरेश्वरे ॥ ३८ ॥ तमो विधुनमुद्भूतश्चक्रवाकारिक्त । प्रबोकिनाब्जिनी भानोर्जन्मनोन्मीलित जगत् ॥ ३९ ॥ ममतादापतत्येव प्रभाते शिशिरो मरुत् ॥ ४१ ॥ सुप्रातमस्तु
कनलामोदमाकर्षन्प्रफुल्लादब्जिनीवनात् ॥ ४० ॥ इति प्रस्पष्ट एवाय प्रबोधसमयस्तव । देवि मुंचाधुना तल्प शुचि ह िव सैकत ॥ ४१ ॥ सुप्रातमस्तु
ते निश्र कल्याणशतभाग्भव । प्राचीवार्कं प्रसौषीष्ठाः पुत्रं त्रैलोक्यदीपक ॥ ४२ ॥ स्वप्नसदर्शनादेव प्रबुद्धा प्राक्तरा पुनः ॥ प्रबोधितेत्यदर्शत्सा
सप्रमोदमयं जगत् ॥ ४३ ॥ प्रबुद्धा च शुभस्वप्नदर्शनानदनिर्भरा ॥ तनुं कटकितामूहे साब्जिनीव विकासिनी ॥ ४४ ॥ ततस्तद्दर्शनानंदं वोढु

सूर्यके उदय होते ही अंधकार सब नष्ट हो गया चकवा चकवीका सब क्लेश दूर हुआ कमलिनी प्रफुल्लित होगई और संसार सब प्रकाशमान होगया ॥ १३९ ॥ अब प्रभातके समय खिले हुये कमलवनसे कमलोंकी सुगंध ग्रहण करता हुआ यह शीतल पवन सब जगह वह रहा है ॥ १४० इसलिये हे देवि! अब तेरे उठनेका ठीक समय होगया है । जिसप्रकार निर्मल वालूके टीलोंको हंसिनी छोडदेती है उसीप्रकार तू भी अब अपनी निर्मल शय्या छोड ॥ १४१ ॥ तेरा प्रभातसमय सदा मंगलमय हो तुझे अनंतकल्याण प्राप्त हों और जिसप्रकार पूर्व दिशासे सूर्य उदय होता है उसीप्रकार तेरेभी तीनों लोकोंको प्रकाश करनेवाले दीपकके समान पुत्र हो ॥ १४२ ॥ वह श्रीमती देवी स्वप्न देखनेके अनंतर मंगलपाठ पढनेसे पहिले ही जाग्रत हो चुकी थी परंतु मंगलपाठ होनेके वाद वह उठी और समस्त संसारको आनंदमय देखने लगी ॥ १४३ ॥ जिसप्रकार प्रफुल्लित कमलिनीका शरीर कंटकित हो जाता है उसीप्रकार मरुदेवीका शरीर भी स्वप्न देखनेके आनंदसे आनंदित होकर रोमांचित हो गया था ॥ १४४ ॥ तदनंतर वह मरुदेवी अपने स्वप्न देखनेके आनंदको मानों अपने शरीरमें धारण नहीं करसकी थी इसलिये ही वह मंगलमय स्नानकर और वस्त्राभूषणसे सुसज्जित होकर अपने पतिके समीप प्राप्त हुई थी ॥ १४५ ॥ उससमय महाराज नाभिराज राज्यकी छत्र चामरादि विभूतिसहित राज्यासिंहासनपर विरा-

स्नानेष्विवाक्षमा । कृतमंगलनेपथ्या सा भेजे पत्युरंतिकं ॥ ४५ ॥ दावितेन नियोगेन दृष्ट्वा सा नाभिभूभुजं । तस्मै नृपासनस्थाय सुखासीना व्यजिज्ञपत् ॥ ४६ ॥ देवाद्य यामिनीभागे पश्चिमे सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडशस्वप्न निमानत्यद्‌भुतोदयान् ॥ ४७ ॥ गजेंद्रमादातात वृष दुंदुभिनिस्वन । सिंहमुल्लंघिताग्रं लक्ष्मीं स्नाप्या सुरद्विपैः ॥ ४८ ॥ दामनी लम्बमाने खे शीतांशु द्योतिताम्बर । मोचनमविजनीवधु वपुर झषयुग्मकं ॥ ४९ ॥ कलशावमृतापूर्णौ सर स्वच्छ बु सांबुज । वाराशिं क्षुभितावर्त्त सैंह भामुरमासनं ॥ १५० ॥ विमानमापतत्स्वर्गात् भुवो भवनमुद्भवत् । रत्नराशिं स्फुरद्रश्मिं ज्वलन प्रज्वलद्युतिं ॥ ५१ ॥ दृष्टेवान्षोडशस्वप्नानादर्शं महीपते । वदन मे विशन्त त गजेंद्र कनकच्छविं ॥ ५२ ॥

जमान थे उन्हें देखकर वह भी उसी सिंहासनपर जा बैठी और महाराजसे इसप्रकार निवेदन करने-लगी कि ॥ १४६ हे देव ? आज मैं सुखसे सो रही थी सोते ही सोते रात्रिके पिछिले पहरमें अद्‌भुत फल देनेवाले ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥ १४७ ॥ पहले स्वप्नमें सफेद ऐरावत हाथी देखा है, दूसरे स्वप्नमें दुंदुभिके समान शब्द करता हुआ बैल देखा है, तीसरे स्वप्नमें पर्वतकी शिखरको उल्लंघन करता हुआ सिंह देखा है, चौथे स्वप्नमें देवोंके हाथियों द्वारा स्नान करती हुई लक्ष्मी देखी है, पांचवें स्वप्नमें आकाशमें लटकती हुई दो मालायें देखी हैं। छठे स्वप्नमें आकाशको प्रकाशित करता हुआ चंद्रमा देखा है, सातवें स्वप्नमें कमलोंको प्रफुल्लित करता हुआ सूर्य देखा है, आठवें स्वप्नमें मनोहर मछलियोंका जोडा देखा है, नौवें स्वप्नमें अमृतसे भरे हुये दो पूर्ण कलश देखे हैं, दशवें स्वप्नमें स्वच्छ जलसे भरा हुआ और कमलोंसे सुशोभित सरोवर देखा है, ग्यारहवें स्वप्नमें तरंगोंकी अनेक मालाओंसहित समुद्र देखा है, बारहवें स्वप्नमें देदीप्यमान सिंहासन देखा है, तेरहवें स्वप्नमें स्वर्गसे उतरता हुआ विमान देखा है, चौदहवें स्वप्नमें पृथ्वीसे निकलता हुआ भवन देखा है, पंद्रहवें स्वप्नमें अपनी किरणोंसे अतिशय प्रकाशमान रत्नोंकी राशि देखी है और सोलहवें स्वप्नमें जलती हुई निर्धूम अग्नि देखी है । १४८--१४९--१५०--१५१ ॥ हे राजन् ? आज मैंने ये सोलह स्वप्न देखे

वदैतेषां फलं देव शुश्रूषा मे विवर्द्धते । अपूर्वदर्शनात्कस्य न स्यात्कौतुकवान्मनः ॥ ५३ ॥ अथासावधिबोधेन विबुद्धस्वप्नसत्फलः । प्रोवाच तत्फलं देव्यै लसद्दशनदीधितिः ॥ ५४ ॥ शृणु देवि महान्पुत्रो भविता ते गजेक्षणात् । समस्तभुवनज्येष्ठो महावृषभदर्शनात् ॥ ५५ ॥ सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ दाम्ना सद्धर्मतीर्थकृत् ॥ लक्ष्म्याभिषेकमाप्तासौ मेरोर्मूर्ध्नि सुरोत्तमैः ॥ ५६ ॥ पूर्णेन्दुना जनाह्लादी भास्वता भास्वरद्युतिः । कुंभाभ्यां निधिभागी स्यात्सुखी मत्स्ययुगेक्षणात् ॥ ५७ ॥ सरसा लक्षणोद्भासी सोऽब्धिना केवली भवेत् । सिंहासनेन साम्राज्यमवाप्स्यति जगद्गुरुः ॥ ५८ ॥

हैं और स्वप्न देखनेके वाद ही सुवर्णके समान कांतिको धारण करनेवाला एक उत्तम बैल अपने मुखमें प्रवेश करता हुआ देखा है ॥ १५२ ॥ हे देव? आप इन स्वप्नोंका फल कहिये इनके फल सुननेकी मेरी बड़ी ही उत्कट इच्छा है। सो ठीकभी है क्योंकि अपूर्व वस्तुके देखनेसे भला किसका चित्त उत्कंठित नहीं होता है? अर्थात् सबका होता है ॥ १५३ ॥ मरुदेवीके ये वचन सुनकर और अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका उत्तम फल जानकर महाराज नाभिराज अपने दांतोंकी किरणोंसे सुशोभित होते हुये मरुदेवीकेलिये उन स्वप्नोंका फल कहने लगे कि ॥ १५४ ॥ हे देवि! सुन स्वप्नमें हाथीके देखनेसे तेरे उत्तम पुत्र होगा, उत्तम वृषभके देखनेस वह समस्तसंसारमें ज्येष्ठ अर्थात् गुरु होगा, ॥ १५५ ॥ सिंह देखनेसे वह अनंतवलशाली होगा, पुष्पमालायें देखनेसे वह उत्तमधर्मरूपी तीर्थका चलानेवाला होगा, लक्ष्मीके देखनेसे सुमेरु-पर्वतके मस्तकपर इंद्रादिक देव भी उसका अभिषेक करेंगे ॥ १५६ ॥ पूर्ण चंद्रमाके देखनेसे वह संसारको आनंदित करनेवाला होगा, सूर्यके देखनेसे वह सूर्यके समान तेजस्वी होगा, दो मछलियोंके देखनेसे वह बहुत सुखी होगा ॥ १५७ ॥ सरोवरके देखनेसे वह अनेक शुभलक्षणोंसे सुशोभित होगा, समुद्रके देखनेसे वह जगतका गुरु होकर साम्राज्यका अधिकारी होगा, ॥ १५८ ॥ देवोंका विमान देखनेसे वह स्वर्गसे चयकर अवतार लेगा, नागेंद्रका भवन देखनेसे वह अवधि

स्वर्विमानावलोकेन स्वर्गादवतरिष्यति ॥ फणींद्रभवनालोकात्सोवधिज्ञानलोचनः ॥ ५९ ॥ गुणानामाकरः प्रोद्यद्रत्नराशिनिशामनात् । कर्मेंधनधगप्यत्र निर्धूमज्वलनेक्षणात् ॥ ६० ॥ वृषभाकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे वृषभो देव. स्वमाधास्यति निर्मले ॥ ६१ ॥ इति तद्वचसा देवी द्ध रोमाचित वपुः । हर्षांकुरैरिवाकीर्णं परमानदनिर्भर ॥ ६२ ॥ तृतीयकालशेषेसावशीतिश्चतुरुत्तरा । पूर्वलक्षा त्रिवर्षाष्टमासपक्षयुता तदा ॥ ६३ ॥ अवतीर्य सुराधते अखिलार्थविमानतः । आषाढासितपक्षस्य द्वितीयाया सुरोत्तम. ॥ ६४ ॥ उत्तराषाढनक्षत्रे देव्या गर्भे सम.श्रि . । स्थितो यथ

ज्ञानी होगा, ॥ १५९ ॥ देदीप्यमान रत्नराशि देखनेसे वह अनेक गुणोंका खजाना होगा और निर्धूम अग्निके देखनेसे वह कर्मरूपी ईंधन को जलानेवाला होगा ॥ १६० ॥ इसप्रकार सोलह स्वप्नोंका फल कहकर श्रीनाभिराज फिर कहने लगे कि हे देवि ? तेरे मुखमें जो वृषभका रूप धारणकर प्रवेश किया है उसका फल यह है कि तेरे निर्मल गर्भमें श्रीवृषभदेव अपना शरीर धारण करेंगे ॥ १६१ ॥ इसप्रकार महाराज नाभिराजके वचन सुनकर वह महादेवी बहुत प्रसन्न हुई उसका शरीर ऐसा रोमांचित हो गया मानों परम आनंदसे भरा हुआ हर्षके अंकूरोंसे व्याप्त ही हो ॥ १६२ ॥ जब अवसर्पिणी कालके तीसरे सुखमदुःखमकालमें चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष साढे आठ महीना बाकी रहे थे उससमय असाढ शुक्ला द्वितीयाके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें वज्रनाभि अहमिंद्र अपनी आयु पूर्णकर सर्वार्थसिद्धि विमानसे चयकर श्रीमती मरुदेवीके गर्भमें आये और जिसप्रकार सीपके संपुटमें मोती रहता है उसीप्रकार सबतरहकी बाधारहित वहां विराजमान हुये ॥१६३-१६४-१६५॥ इंद्रादिक देवोंने अपने२ चिन्होंसे*भगवानके गर्भमें आनेके समाचार जानलिये और तुरंत ही वे आये। प्रथम

---

* भगवानके कल्याणोके समय सब देवोके आसन कंपायमान होने लगते हैं तथा कल्पवासी देवोके विमानोमे अपने आप घंटा बजने लगता है ज्योतिषियोके विमानोमें सिंहनाद गर्जना होने लगती है भवनवासियोके विमानोंमे शख बजने लगता है और व्यंतरोंके यहां तासे बजने लगते हैं । इन २ कारणोंको देखकर और अवधिज्ञान जोडकर सब देव भगवानके कल्याणका समय जानलेते हैं ।

विवासोसौमौक्तिक शुक्तिसपुटे ॥ ६५ ॥ ज्ञात्वा तदा स्वचिह्नैः सर्वेऽप्यमु. सुरेश्वराः । पुरं त्रिःपरिक्रम्य तद्गुरूंश्च ववन्दिरे ॥ ६६ ॥ संगीतक समारब्ध वज्रिणा हि सहामरै. । कचिद्गीतं कचिद्वाद्य कचिन्नृत्य मनोहरं ॥ ६७ ॥ तत्र गण समाक्रान्त नाकलोकैरिह गते ॥ कृत्वा गर्भकल्याण पुनर्जग्मुर्यथायथ ॥ ६८ ॥ तदा भृति सुत्रमागमनात्ताः । पितरे । दिक्कुमार्योऽनुचारिण्यस्तत्कालोचितकर्मभिः ॥ ६९ ॥ श्रीर्ह्रीर्धृतिश्च कीर्तिश्च बुद्धिलक्ष्म्यौ च देवता. ॥ श्रियं लज्जां च धैर्यं च स्तुतिं बोधं च वैभव ॥ ७० ॥ तस्यामादधु स्वर्गसन्निधि. स्वानिमान् गुणान् । तत्संस्कारात्च सा रेजे संस्कृतेवाग्निना मणिः ॥ ७१ ॥ तुस्तस्याः परिचर्यादा गर्भशोधनमादितः । प्रचक्रु शुचिभिर्द्रव्यैः स्वर्गलोकादुपाहृतै ॥ ७२ ॥ स्वभावनिर्मल

ही आकर उन्होंने नगरकी प्रदक्षिणा दी तथा भगवानके माता पिताको नमस्कार किया ॥१६६॥ सौधर्म इंद्रने देवोंके साथ २संगीत प्रारंभ किया, कहीं गीत होने लगे कहीं वाजे बजने लगे और कहीं मनोहर नृत्य होने लगा ॥ १६७ ॥ महाराज नाभिराजका आंगन स्वर्गसे आये हुये देवलोगोंसे भरगया । वे देव भगवानका गर्भकल्याणका उत्सवकर अपने २ स्थानपर चले गये ॥ १६८॥ उसीदिनसे लेकर इंद्रकी आज्ञानुसार दिक्कुमारी देवी उससमयमें होने योग्य उचित कार्योंके द्वारा दासीके समान माताकी सेवा करनेलगीं ॥ १६९ ॥ श्री ह्री आदि षट्कुमारिका देवियां माताके समीप रहकर अपने २ गुणों-से माताकी सेवा करनेलगीं । श्री देवीने माताकी शोभा बढादी; ह्री देवीने लज्जा बढादी, धृति देवीने धैर्य गुण बढाया, कीर्ति देवीने स्तुति करना प्रारंभ किया, बुद्धिदेवीने बुद्धिको निर्मल करदिया और लक्ष्मीदेवीने विभूति वढाई । इसप्रकार उससेवाके संस्कारसे वह माता ऐसी सुशोभित होनेलगी जैसे अग्निके संस्कारसे मणि सुशोभित होने लगता है ॥ १७०–१७१ ॥ उन सब देवियोंने स्वर्गलोकसे लाये हुये पवित्र द्रव्योंसे प्रथम ही माताका गर्भशोधन किया और फिर वे अनेक तरहसे माताकी सेवा करने लगीं ॥ १७२ ॥ वह माता मरुदेवी स्वभावसे ही निर्मल और सुंदर थी और फिर देवि-योंके द्वारा विशुद्ध किये जानेपर वह ऐसी सुशोभित होनेलगी मानों उसका शरीर शुद्ध स्फटि

चांभी भू स्तानिर्विशेषिती । सा शुचिस्फटिकेनेव घटितागी तदा बभौ ॥ ७३ ॥ काश्चिन्मंगलधारिण्यः काश्चित्ताबूलदायिका. ॥ काश्चिन्मज्जनपालिन्य. काश्चिद्वासन् प्रसाधिका ॥ ७४ ॥ काश्चिन्महानसे युक्ताः शय्याविरचने परा. ॥ पादसंवाहने काश्चित्काश्चिन्माल्यैरुपाचरन् ॥ ७५ ॥ प्रसाधनविधौ काचित्स्पृशंता तन्मुखाम्बुजं । सानुरागं व्यधात्तेऽरीं प्रबुद्धं सरोरुहं ॥ ७६ ॥ ताबूलदायिनी काचिद्दधौ पत्रैः करार्पितैः । शुकाध्यासितशाखाग्रा लतेवामरकामिनी ॥ ७७ ॥ काचिदाभरणान्यस्यै ददती मृदुपाणिना । विबभौ कल्पवल्लीव शाखाग्रावलम्बिभूषणा ॥ ७८ ॥ वास क्षौम स्रजो दिव्या. सुमनोमंजरीरपि । तस्यै समर्पयामासुः काश्चित्कल्पलता इव ॥ ७९ ॥ काश्चित्सौगन्धिकाकृष्टमधुव्रतविलेपनं । स्वकरस्थैः ...

कमणिसे ही बनाया गया हो ॥ १७३ ॥ माताकी सेवा करनेवाली देवियोंमेंसे किसीने तो दर्पण आदि अष्ट मंगल द्रव्य धारण किये, कोई माताको तांबूल देनेके कामपर, कोई माताको स्नान करानेके कामपर और कोई माताको आभूषण पहनानेके कामपर नियुक्त हुई ॥ १७४ ॥ कोई भोजन तैयार करनेके कामपर और कोई शय्या बिछोना आदि बिछानेपर नियुक्त हुई । कोई पांव दाबकर और कोई पुष्पमाला पहनाकर माताकी सेवा करने लगी ॥ १७५ ॥ जिसप्रकार सूर्यकी प्रभा कमलिनीके कमलको अनुराग अर्थात् लालिमासहित प्रफुलित बना देती है उसीप्रकार जो देवियां माताका अलंकार कर रहीं थीं वह उसके मुखरूपी कमलको स्पर्श करती हुई उसे अनुराग सहित प्रफुलित कर रही थीं ॥ १७६ ॥ जो तांबूल देनेवाली देवी थी वह हाथमें पान लिये ऐसी सुशोभित होती थी मानों जिसकी शाखाके अग्रभागपर शुक (तोता) बैठा हो ऐसी कोई लता ही हो ॥ १७७ ॥ जो अपने कोमल हाथोंसे माताके लिये आभूषण दे रही थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों जिसकी शाखाके अग्रभागपर अनेक आभूषण लगे हों ऐसी कोई कल्पलता ही हो ॥ १७८ ॥ माता मरुदेवीके लिये कोई देवी तो कल्पलताके समान रेशमी वस्त्र दे रही थी कोई दिव्य मालायें दे रही थी और कोई फूलोंके गुच्छे दे रही थी ॥ १७९ ॥ कोई देवी अपने हाथपर रक्खे हुये शरीरपर लेपन करने योग्य अति

॥ ८० ॥ अंगरक्षाविधौ काश्चिदुत्खातासिलता बभुः । सरस्य इव विस्त्रस्तपाठीनाः सुरयोषितः ॥ ८१ ॥ संममार्जुर्महीं काश्चिदाकीर्णां पुष्परेणुभिः । तद्गंधासगिनो भृंगानाधुनानास्तनांशुकैः ॥ ८२ ॥ कुर्वंति स्मापराः साद्रचंदनच्छटयाक्षिता । क्षितिमार्द्रांशुकैरन्या निर्ममार्जुरतंद्रिताः ॥ ८३ ॥ कुर्वते बलिविन्यासं रत्नचूर्णैः पुरोपराः । पुष्पैरुपहरंत्यन्यास्ततामोदैर्द्रुशाखिनां ॥ ८४ ॥ काश्चिदर्शितदिव्यानुभावाः प्रच्छन्नविग्रहाः । नियोगैरुचितैरेनामनारतमुपाचरन् ॥८५॥ प्रभातरलिता काश्चिद्दधानास्तनुयष्टिका । सौदामिन्य इवानिन्युरुचितं रुचितं च यत् ॥८६॥ काश्चिदंतर्हिता देव्यो देव्यै दिव्यानुभावतः ।

शय सुगंधित द्रव्यको दे रही थी उसकी सुगंधिसे आकर्षित हुये अनेक भ्रमर आकर उसपर गुंजार शब्द कर रहे थे जिससे वह देवी ऐसी सुशोभित होती थी मानों सुगंधि द्रव्यकी उत्पत्तिको निरूपण करनेवाले शास्त्रकी युक्ति ही हो ॥ ॥ १८० ॥ अनेक देवियां हाथमें नंगी तलवार लेकर माताकी रक्षा करती हुई ऐसी सुशोभित होती थीं मानों मछलियोंसे भरा हुआ कोई छोटासा सरोवर ही हो ॥ १८१ ॥ कितनीं देवियां पुष्पकी परागसे भरे हुये आंगनमें बुहारी दे रही थीं और उस परागकी सुगंधसे आकर बैठे हुये भ्रमरोंको अपने स्तन ढकनेके अंचलसे उडाती भी जाती थीं ॥ १८२ ॥ कितनी ही देवियां सावधान होकर पहिले दिनकी चंदन छिडकी हुई भूमिको गीले कपडेसे साफ करती थीं और कितनी ही घिसे हुये गाढे चंदनसे उसपर छिरकाव करती थीं ॥ १८३ ॥ कोई देवी माताके सामने रत्नोंके चूर्णसे रंगावलीकी रचना करती थी और कोई चारों ओरां सुगंधिको फैलानेवाले कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे माताकी पूजा करती थी ॥ १८४ ॥ कितनी ही देविय मनुष्योंकी स्त्रियोंके रूप धारणकर और अपनी दिव्य सामर्थ्य प्रगटकर नियुक्त किये हुये अपने कार्योंके द्वारा माताकी निरंतर सेवा किया करती थीं ॥ १८५ ॥ कितनी ही देवियां अतिशय प्रकाशमान शरीरको धारण करती हुई बिजलीके समान माताके योग्य और अच्छे लगनेवाले पदार्थ देती थीं ॥ १८६ ॥ कितनी ही देवियां अदृश्य होकर अपनी अलौकिक शक्तिके प्रभावसे माताके

स्रज दुकमहारं भूषां चाग्मै समर्पन् ॥ ८७ ॥ अतरिक्षस्थिता. काश्चिदनालक्ष्य मूर्तय । यत्नेन रक्ष्यता देवीत्युच्चैर्गिरमुदाहरन् ॥ ८८ ॥ ग. व्यत्रुक्रमधानमासितंब्वासन चार्नि । स्थित्रु परितः सेवा चतुरस्राः सुरागनाः ॥ ८९ ॥ काश्चिद् चित्रिपुर्गीतेमरत्र मणिदीपिका. । निशामुखेषु हर्म्याग्रा द्विधुन्वान स्तमोमित ॥९०॥ काश्चिनीराजयामासुरुचितैर्बलिभिर्मनि. ॥ न्य स्तमन्त्राक्षरे काश्चिद्रक्षामुचा क्षपन् ॥९१॥ नित्य जागर्ता तैः काश्चि त्रिमेषा लसलोचना । ज्ञासाच क्रिरे नक्त ता देव्यो विभूतायुधाः ॥९२॥ कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा ॥ कथागोष्ठीभिरन्येद्युर्देव्यस्तां धृतिं दधु. ॥९३॥

लिये माला वस्त्र आहार आभूषण आदि पदार्थ देती थीं ॥ १८७ ॥ कितनी ही देवियां ऊपर आकाशमें अदृश्य होकर बडे ऊंचे शब्दोंसे कहती थीं कि माता मरुदेवीकी रक्षा बडे यत्नसे करना ॥ १८८ ॥ वे देवियां अनेक प्रकारसे माताकी सेवा करती थीं जब माता चलती थीं तब वे देवियां उसके कपडे ऊपर उठा लेती थीं जब वह बैठना चाहती थी तब वे सिंहासन ला देती थीं और जब वह खडी होती थी तब वे देवियां उसके चारों ओर खडी होकर अनेक प्रकारसे माताकी सेवा करती थीं ॥ १८९ ॥ कितनी ही देवियां रात्रिके समय राजमहलकी ऊपरी छतपर अतिशय प्रकाशमान अनेक मणियोंके दीपक रखती थीं जिनसे चारों ओरका सब अंधकार नष्ट हो जाता था ॥ १९० ॥ कितनी ही देवियां सायंकालके समय यथायोग्य वस्तुओंके द्वारा माताकी आरती उतारती थीं अथवा किसीका दृष्टिदोष [नजर] न लगजाय इसलिये उचित वस्तुओंके द्वारा उतारना उतारती थीं और कितनी ही देवियां किसी मंत्रके कुछ अक्षर पढकर इसके रक्षाबंधन बांधती थीं ॥१९१॥ प्रतिदिन जागरण करनेसे जिनके नेत्रोंमें खूब आलस भरा हुआ है अथवा उस आलससे जिनके नेत्र टिमिकार रहित हो गये हैं ऐसी कितनी ही देवियां रात्रिमें शस्त्र धारणकर माताकी सेवा करती थीं ॥ १९२ ॥ वे देवांगनायें किसीदिन जलक्रीडा और किसीदिन वनक्रीडा कर कर तथा किसीदिन मनोहर कथायें कहकर माताको संतुष्ट करती थीं ॥ १९३ ॥ तथा किसीदिन गीतोंकी चरचा किसी

कदाचिद्वृत्तगोष्ठीभिर्वाद्यगोष्ठीभिरन्यदा । काश्चिन्नृत्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तां पर्युपासत ॥ ९४ ॥ काश्चित्प्रेक्षणगोष्ठीषु सलीलानर्तितभ्रुवः । वर्धमानलयैर्नेटु-
मागहारं सुरांगनाः ॥ ९५ ॥ काश्चिन्नृत्यन्तिवैतेषु रेजिरे कृतरेचकाः । नभोभागे विलोलाङ्ग्यः सौदामिन्य इवोद्युताः ॥ ९६ ॥ काश्चित्ताराचितैः
स्थानैर्वपुर्भिः सवाहवः । शिक्षमाणा इवानङ्गाद्धनुर्वेदं जगज्जये ॥ ९७ ॥ पुष्पाञ्जलिं किरन्त्येका परितो रंगमण्डलं । मदनग्रहनावेशे योक्तुकामेव लक्षिता
॥ ९८ ॥ तदुरोजसरोजातमुकुलानि चकम्पिरे । अनुवर्तितुमेतासामिव नृत्तं कुतूहलात् ॥ ९९ ॥ अपाङ्गशरसंधानैर्लीलाचापकर्षणैः । धनुर्गुणनिकिता-

---

दिन बाजोंको चलाकर और किसी दिन नृत्योंको चलाकर वे देवांगनायें माताकी सेवा करती थीं । १९४ कितनी ही देवांगनायें नेत्रोंके द्वारा ही अपने अभिप्राय बतलानेके लिये बडी लीलाके साथ अपनी भौंहें नचाती थीं और बढते हुये तालके साथ शरीरको मोडती हुई नृत्य करती थीं । १९५॥ कितनी ही देवांगनायें नृत्य करते समय ऊपर आकाशमें जाकर फिरकी लेती थीं और उससमय अपनी शरीरकी कांति और चंचल अंगोंके द्वारा वे ठीक बिजलीके समान जान पडती थीं । १९६ ॥ नृत्य करते समय नाट्यशास्त्रकी आज्ञानुसार जहां जहां चाहिये वहीं वहीं अपने हाथोंको फैलाती हुई वे देवांगनायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारको जीतनेके लिये साक्षात् कामदेवसे धनुषविद्या ही सीख रही हों । १९७ ॥ कोई देवांगना रंगावलीके चारोंओर हाथमें लेलेकर फूल बखेर रही थी और उससमय ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवको प्रवेश करानेके लिये ही वह नियुक्त की गई हो । १९८ ॥ नृत्य करती हुई उन देवांगनाओंके स्तनरूपी मुकुलित कमल हिलते थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों नृत्य करती हुई उन देवांगनाओंका अनुकरण कर कौतूहलवश नृत्य ही कर रहे हों ॥ १९९ ॥ देवांगनाओंकी वह नृत्यगोष्ठी ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवकी धनुषविद्याका बार बार किया हुआ अभ्यास ही हो । क्योंकि जिसप्रकार धनु-षविद्याके सीखनेमें बार २ बाणोंका निशाना छोडना पडता है और बार २ चाप खींचना पडता है

सीन्नृत्तगोष्ठी मनोपुरः ॥ २०० ॥ स्मितमुद्भिन्नदन्तांशु पाठत्र कटाक्षैः कुकं । नानागतीभि चमु [illegible] ॥ १ ॥ [illegible] धत्तेनगशरांगतां । क्रिमगसंगतं भांरागिकिरमतां गते. ॥ २ ॥ चारिनि [illegible] मानहारेश [illegible] । [illegible] मध्र प्रणानुकं ॥ ३ ॥ काश्चित्सुगीतगोष्ठीषु दरोद्भिन्नस्मितैर्मुखैः । वसु [illegible] ॥ ४ ॥ [illegible] । मदनाग्नि [illegible]

उसीप्रकार उस नृत्यगोष्ठीमें भी वार वार कटाक्षरूपी बाणोंका [illegible] रहा था और वार वार लताके समान टेडे ऐसे भौंहरूपी चाप खींचे जाते थे । २०० । नृत्य करते समय वे सब देवियां अपने दांतोंकी किरणें फैलाकर मंदरूपसे किंचित् हंसती जाती थीं, स्पष्ट और मधुर गीत गाती थीं, नेत्रोंसे कटाक्ष फेंकती थीं और तालके साथ साथ पैर उठाती थीं । उन देवियोंका वह ऐसा नृत्य तथा और भी अनेक हाव भाव विलास आदि सब कामदेवके बाणोंके सहायक जान पडते थे और शृंगारके परमरसको प्राप्त हुई ऐसी उनकी शरीरसंबंधी चेष्टाओंसे मिलकर बना हुआ उनका शरीर सर्वथा अवर्णनीय (कहनेमें न आवे) हो रहा था ॥ २०१-२०२ ॥ वे नृत्य करनेवाली देवियां अनेक प्रकारकी गति, पुष्पोंपर नृत्य, और विचित्र शरीरकी चेष्टासहित फिरकी आदिके द्वारा माता मरुदेवीका मन उस नृत्यके देखनेके लिये उत्कंठित करती थीं ॥ २०३ ॥ कितनी ही देवांगनायें गीत गाते समय मंद मंद हंसते हुये मुखसे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों जिसपर थोडीसी केशर निकली है अर्थात् जो किंचित् प्रफुल्लित हुआ है ऐसे कमलसे कमलिनी (कमलकी वेल) ही सुशोभित हो रही हो ॥ २०४ ॥ जिनकी भौओंके बाल बहुत छोटे छोटे हैं ऐसी कितनी ही देवांगनायें अपने ओठोंसे वीणा दबाकर बजाती हुई ऐसी सुशोभित होती थीं मानों कामदेवरूपी अग्निको जाज्वल्यमान करनेकेलिये उसे बडे यत्नसे फूंक रहीं हों ॥ २०५ ॥ वीणा बजानेवाली कितनी ही देवांगनायें यह एक बडे आश्चर्यका काम कर रहीं थीं

गातुं कृतयत्ना. सङ्कतं ॥ ५ ॥ वेणुध्मा वैणवीर्यष्टीर्मा॰ॅत्सः करपल्लवैः ॥ चित्र पल्लवितॉश्चक्रु. प्रेक्षकाणां मनोद्रुमान् ॥ ६ ॥ संगीतकविधौ काश्चित मसृत्य पारिवादिनी. ॥ करांगुलीभिरातेनुर्गानिमामद्रमूर्छनाः ॥ ७ ॥ तन्त्र्योमधुरमारेणुस्तत्करांगुलिताडिता । अयं तान्त्री गुण. कोऽपि ताडनात्‍यति यद्गुग ॥ ८ ॥ वंशी. संदष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदं ॥ वीणालाबुभिराश्लेषि घनं तत्स्तनमंडलं ॥ ९ ॥ मृदंगवादनैः काश्चिद्भुजाः... ॥ तत्... कौशले श्लाघां कर्तुकामा इवात्मनः ॥ १० ॥ मृदंगास्तत्करस्पर्शात्तदा मंद्र विसस्वनुः ॥ तत्कलाकौशलं तासामुत्कुर्वाणा इवोच्चकैः ॥ ११ ॥ मृदंगा

कि वे अपने करपल्लवोंसे (हाथरूपी कोमल पत्तोंसे) वीणाकी लकडीको साफ करती हुई देखनेवालोंके मन रूपी वृक्षोंको भी पल्लवित [कोमलपत्तोंसहित] अर्थात् हर्षित कर रहीं थीं । भावार्थ-उनके हाथकी चंचलता और सुंदरता देखकर ही लोग बहुत हर्षित हो जाते थे ॥ २०६ ॥ इसी प्रकार अनेक देवियां गानेतत्पर हाथमें इक्कीस प्रकारके गंभीर शब्द करनेवाली वीणा लेकर अपने हाथकी उंगलियोंसे बजाती हुई गा रही थीं ॥ २०७ ॥ उन देवियोंके हाथकी उंगलियोंसे ताडित हुई वीणा बहुत ही मीठे स्वरसे बजरही थी । सो ठीक ही है संसारमें वीणामें ही यह एक अद्भुत गुण है कि जो ताडन करनेसे ही वश होती है अर्थात् मीठे स्वरसे बजती है ॥ २०८ ॥ वीणामें लगे हुये तूंबोंने देखा कि बांस (बजानेकी बंशी) उन देवांगनाओंके ओठोंसे लग गया है यह देखकर वे तूंबे भी उन देवांगनाओंके कठिन स्तनमंडलसे जा लगे थे । भावार्थ--अनेक देवांगनाओंको बंशी बजाते देखकर अन्य अनेकदेवांगनायें बीणा बजाने लगीं थीं ॥ २०९ ॥ जो देवियां अपनी भुजाओंको ऊंची उठाकर मृदंग बजा रही थीं वे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों अपने कलाकौशलकी प्रशंसा करनेके लिये ही भुजायें उठाकर तैयार हुई हों ॥ २१० ॥ उन बजानेवाली देवियोंके हाथके स्पर्शसे वे मृदंग भी बडे ही मीठे और गंभीर शब्दोंसे बज रहे थे मानों ऊंचे स्वरसे उन बजानेवालोंके कला कौशल की घोषणा ही कर रहे हों ॥ २११ ॥ उन देवियोंके हाथसे

न वयं सत्यं पश्यतास्मान् हिरण्मयान् ॥ इतीवारासितं चञ्चुरे मुहुर्मरुरुगाहता ॥ १२ ॥ मृगाः कुरा नैते वादनीया [illegible] ॥ इतीव [illegible] पणवाद्या सुगनकाः ॥ १३ ॥ प्रभातमगळे काश्चित् शंखानाध्माशिषु पृथून् तत्करं पीडन न दनक्षम निन तारान् ॥ १४ ॥ काश्चिन्न वाधैर्नै तूर्यै समभुत्तालतालकैः ॥ जगु' कलं च मंद्रं च मगलानि सुरागनाः । १५ ॥ [illegible] तक्रमा देवी मा बभौ परिवर्धिता ॥ त्रिजगच्छ्रीरिवैकध मुरर्नाता कथचन ॥ १६ ॥ दिक्कुमारीभिरित्यात्तसंभ्रम समुपासिता ॥ [illegible] ॥ १७ ॥ अतर्वत्निमथास्यर्णे नवमे मासि सादरा॥

बार २ ताडित हुये मृदंग ऐसी मिष्टध्वनि कर रहे थे मानों लोगोंको यही कह रहे हों कि देखो हम केवल मृदंग [मृत्‌अंग] अर्थात् मिट्टीके बने हुये नहीं हैं किंतु सुवर्णके बने हुये हैं ॥ २१२ ॥ उन देवियोंके द्वारा पणव नगाडे आदि कितने ही जातिके देवोंके बाजे वडे गंभीर और [illegible] ध्वनिसे बज रहे थे मानों लोगोंको यही कह रहे हों कि देखो हम सदा मीठे शब्दोंसे ही बजा करते हैं कडवे और बुरे शब्द हमसे कभी नहीं निकलते और हमलोग [illegible] बजाये जाते हैं ॥ २१३ ॥ प्रातःकालके समय जो देवियां वडे वडे शंख [illegible] द्वारा वे शंख ऐसे बज रहे थे मानों उन देवियोंके हाथकी पीडा सहन न कर [illegible] पुकार हा कर रहे हों ॥ २१४ ॥ प्रातःकालके समय माता मरुदेवीको जगानेके [illegible] कालके साथ तूर्य [तुरई] जातिके बाजे बज रहे थे उनके साथ कितनी ही देवांगनायें मिष्ट [illegible] गंभीर शब्दोंसे मंगलगीत गारहीं थीं ॥ २१५ ॥ इसप्रकार वह माता मरुदेवी उन देवियोंकी [illegible] ऐसी सुशोभित होती थी मानों तीनों जगतकी लक्ष्मी [illegible] एकजगह आकर ही इकट्ठी हुई हो ॥ २१६ ॥ इस प्रकार वडे संभ्रमके साथ दिक्कुमारी देवियां जिसकी सेवा कर रही हैं ऐसी उस मरुदेवीने वडी ही उत्कृष्ट शोभा धारण की थी और वह ऐसी जान पडती थी मानो शरीरमें प्रवेश किये हुये देवियोंके प्रभावसे ही उसने ऐसी शोभा धारण की हो ॥ २१७ ॥

विशिष्टकाव्यगोष्ठीभिर्देव्यस्तामियरञ्जयन् ॥ १८ ॥ निगूढार्थक्रियापादैर्बिंदुमात्राक्षरच्युतैः ॥ देव्यस्तां रंजयामासुः श्लोकैरन्यैश्च केश्चन ॥ १९ ॥ किमि दुरेको लोकेस्मिं स्त्वया मृदु [illegible] ॥ अ[illegible] नलिन [illegible] यदशेष कलाधन ॥ २० ॥ (व्याजस्तुतिः) मुखेंदुना जिन नूनं तव [illegible] से [illegible] जितप्रायेः [illegible] ॥ २१ ॥ राजीवमलेभिजुष्टं साळकेन मुखेन ते ॥ जितं भीत[illegible] यात संकोचन मुद्य ॥ २२ ॥ आनि

अथानंतर-जब नौवां महीना लगनेके दिन समीप आगये तब वे देवियां नीचे लिखे हुये विशेष विशेष काव्यकी कथाओंके द्वारा गर्भिणी माता मरुदेवीका चित्त प्रसन्न करती थीं ॥ २१८ ॥ जिनमें अर्थ गूढ है क्रिया गूढ है पाद गूढ है अथवा बिंदु छूटा हुआ है मात्रा छूटी हुई है वा अक्षर छूटा हुआ है ऐसे कितने ही श्लोकोंसे तथा अन्य कितने ही प्रकारके श्लोकोंसे वे देवियां माता मरुदेवीका चित्त प्रसन्न करती थीं ॥ २१९ ॥ वे देवियां कहने लगीं कि हे माता क्या आपने इससंसारमें एक चंद्रमा ही दुर्बल देख पाया है जो इसके समस्त कलारूपी धनको बलात्कार ग्रहण किये जा रही हो। भावार्थ--यह निंदास्तुति है ऊपरसे निंदासी जान पडती है परंतु वास्तवमें स्तुति है। वे देवियां कहती हैं कि आपके मुखकी शोभा ज्यों २ बढती जाती है त्यों २ चंद्रमाकी कलायें घटती जाती हैं इससे जान पडता है कि आपने इसकी सब कलायें ग्रहण करली हैं ॥ २२० ॥ हे माता आपके मुखरूपी चंद्रमासे यह कमल अवश्य ही जीता गया है क्योंकि इसलिये ही वह सदा संकुचित होता रहता है। कमलको इस हारको चंद्रमंडल भी नहीं देख सका है और न आपके मुखको जीत सकता है इसलिये कमलके समान होनेसे वह भी सदा संकुचित होता रहता है। २२१। हे माता केशपाशसहित आपके मुखसे यह भ्रमर सहित कमल अवश्य ही जीता गया था और इसी डरसे डरकर मानों आजतक भी वह बार बार संकुचित होता रहता है ॥ २२२ ॥ हे माता ये भ्रमर आपके मुखको कमल समझकर बार

त्वन्मुखरभ्येत्य त्वन्मुखं कमलास्थया ॥ नाभ्येति जनी समभ्येति सशंक इव षट्पदः ॥ २२३ ॥ नाभिराजं [illegible] नलिननलिनानने ॥ [illegible] कृतार्थीय मधुव्रत ॥ २२४ ॥ (प्रहेलिका) नभिरभिनतो राजस्त्वयि रक्तो न कामुकः ॥ न कु[illegible] कान्ता [illegible] ॥ २२५ ॥

वार इसके समीप आकर इसे सूंघते हैं और फिर आपके मुखको देखकर संकुचित होनेवाली कमलिनीसे अपने मरनेकी शंका करते हुये कभी उसके समीप नहीं जाते हैं ॥ २२३ ॥ हे कमलनयनी ये भ्रमर आपके मुखरूपी कमलको सूंघकर कृतार्थ होते हुये आपके पति महाराज नाभिराजका अनुकरण ही करते हैं अथवा आपके मुखकमलको सूंघकर ही वे कृतार्थ हो जाते हैं और इसलिये ही पृथ्वीसे उत्पन्न हुये कमलपर फिर कभी नहीं जाते हैं ॥ २२४ ॥ इसप्रकार व्याजस्तुति कर वे देवांगनायें कुछ प्रहेलिकायें पूछने लगीं। उन्होंने प्रथम ही पूछा कि मात ! जो आपमें आरक्त अर्थात् आसक्त है और आपमें आसक्त होकर भी आपके पति महाराज नाभिराजको अतिशय प्रिय है इससे सिद्ध होता है कि वह कोई कामी वा जार नहीं है क्योंकि किसी स्त्रीका जार उसके पतिको कभी प्रिय नहीं होता। कदाचित् यह कहा जाय कि वह कामी न होकर भी नीचता करता होगा सो भी नहीं है, क्योंकि वह किसी जाति वा कर्मसे नीच नहीं है। कदाचित् यह कहाजाय कि वह पंड (नपुंसक) होगा सो भी नहीं है क्योंकि वह अपनी कांतिसे सदा तेजस्वी रहता है अब आप बताइये कि वह कौन है ? इसके उत्तरमें माता कहती हैं कि वह मेरा अधर (ओठ) ही है। क्योंकि वही आरक्त अर्थात् रक्तवर्ण है नाभिराजको प्रिय है कामी भी नहीं है शरीरके ऊपरी मुखभागपर है और सदा तेजस्वी रहता है। (इसश्लोकमें अधर शब्द रहनेसे इसे अंतर्लापिका भी कह सकते हैं)। २२५ ॥ दूसरा प्रश्न—अनेक सुंदर विलास करनेवाली और पतली भौंहोंको धारण करनेवाली मात ! आपके शरीरके किस अंगमें कैसी रेखा प्रशंसनीय गिनी जाती

…कोटिक् शस्यते रेखा तवाणुश्रसुविभ्रमे ॥ कारेणी च वदान्येन पर्यायेण करेणुका ॥२२६॥ किमाहुः सरलोत्तुंगसच्छायतरुमकुरं । कलभाषिणि किं कांतं तवांगे सालकानन ॥२२७॥ नयनाऽऽनंदिनीं रूपसंपदं ग्लानिमबिके ॥ आहररतिमुत्सृज्य नानाशानामृत सति ॥२२८॥ अधुनादरमुत्सृज्य केसरी गिरिकंदर '

है और हथिनीका दूसरा नाम क्या है इन दोनों प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिये। माता इन दोनो प्रश्नोंका उत्तर देती हैं " करेणुका " भावार्थ--पहले प्रश्नका उत्तर करे अर्थात् हाथमें अणुका अर्थात् महीन रेखायें प्रशंसनीय गिनी जाती हैं और हथिनीका दूसरा नाम भी ' केरणुका ' है। यह एकालापक श्लोक है दो वा अधिक प्रश्नोंका एक ही उत्तर देना एकालापक कहा जाता है ।२२६ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे मधुरभाषिणी माता सीधे, ऊंचे और छायासहित वृक्षोंके समूहको क्या कहते हैं और आपके शरीरमें सबसे मनोहर अंग कौनसा है दोनोंका एक ही उत्तर दीजिये। माता दोनोंका एक ही उत्तर देती है ' सालकानन ' अर्थात् सीधे, ऊंचे और छाया सहित वृक्षोंके समूहको ' साल-कानन ' सालवृक्षोंका वन कहते हैं और मेरे शरीरमें सबसे मनोहर अंग ' सालकानन (स--अलक--आनन) केशपाशसहित मेरा मुख है । यह भी एकालापक है। २२७॥ हे माता ! हे सति ! आप आनंद देनेवाली अपनी रूपसंपदाको मलिन मत होने दीजिये और अब आहारसे ममत्व छोड़कर अनेक प्रकारका अमृत भोजन कीजिये। इसश्लोकमें ' नय ' और ' अशान ' ये दोनों क्रियायें गुप्तरूपसे रक्खी गई हैं इसलिये यह क्रियागुप्त श्लोक कहलाता है ॥ २२८ ॥ हे माता ! अब यह सिंह शीघ्र ही पर्वतकी गुफाको छोडकर पर्वतकी शिखरपर चढना चाहता है और इसलिये ही अपने कंधेके भयानक केशोंको हिला रहा है भावार्थ--अब भगवान जन्म लेना ही चाहते हैं। इस श्लोकमें ' अधुनात् ' यह क्रिया गूढ रीतिसे रक्खी गई है इसलिये यह गूढक्रियावाला श्लोक कहलाता है। अधुनात् यह धूञ् कंप-

पर्गुप्तिमुगिररम्र स्टाभार भयानक ॥ २९ ॥ अधुना जगरस्या परमुग गर्भजन्मना ॥ त्वं देवि जगतामेका पावनी भुवनांबिका ॥ ३० ॥ अधुनामरवत्स वर्द्धतेविकसुत्सव ॥ अधुनामरसर्गस्य दैत्यचक्रे घटामिति ॥ ३१ ॥ वटवृक्ष पुरोप ते घनच्छाय स्थितो महान् ॥ इयुक्तो पि न तद्धर्मे श्रितः वै प वदाद्भुत ॥ ३२ ॥ मुक्ताहाररुचिः सोष्मा हरिचंदनचर्चित ॥ आपांडुरविराभाति विरहीव तव स्तन ॥ ३३ ॥ जनता जनितानंदा निरम्बुद्धी

नेका ध्वत्वादिका रूप है । २२९ ॥ हे देवि आप एक ही संसारको पवित्र करनेवाली हैं और जगतकी माता हैं इसलिये आपने ही अपने गर्भसे उत्पन्न होनेवाले इसपुत्रके द्वारा संसारका संताप दूर किया है । इस श्लोकमें भी 'अधुनाः' यह क्रिया गूढरीतिसे रक्खी गई है ॥२३०॥ हे देवि ! आज देवोंका उत्सव बहुत वढ रहा है अतएव दैत्योंकेलिये आरसर्ग अर्थात् चक्रकी रचना करना मैं विलकुल वंद करदेता हूं । इसश्लोकमें भी 'अधुनाम्' यह क्रिया गुप्त रीतिसे रक्खी गई है॥२३१॥ 'ये सब क्रियागुप्तश्लोक कहलाते हैं' ॥ ॥ हे मातः । किसीने सामनेवाले दो चार आदमियोंसे कहा कि देखो यह तुह्मारे सामने घनी छायावाला वडा भारी वडका पेड खडा है ऐसा कहनेपर और कडी धूप पडनेपर भी उसके पास कोई नहीं गया यह आश्चर्यकी वात क्या है ! माता इसके उत्तरमें कहतीं हैं कि इसश्लोकमें वटवृक्ष की संधि वटो ऋक्षः ऐसी निकालनी चाहिये और इसका अर्थ इसप्रकार करना चाहिये कि हे शिष्य! तेरे सामने गर्मीसे हांपता हुआ यह वडा भारी रीछ वैठा हुआ है । ऐसा समझनेपर और कडी धूपमें कोई भी मनुष्य उसके समीप क्यों जायगा । (यह स्थाधिक श्लोक है) ॥ २३२ ॥ हे देवि! आपका स्तन ठीक विरही पुरुषके समान जान पडता है क्योंकि जिसप्रकार विरहीपुरुष मुक्ताहाररुचि अर्थात् आहार पानीसे रुचि छोडदेता है उसीप्रकार आपका स्तन भी मुक्ताहाररुचि अर्थात् मोतियोंकी मालाओंसे सुशोभित हो रहा है जिसप्रकार विरहीपुरुष कामज्वरकी उष्णतासे उष्ण होता है उसीप्रकार आपका स्तन भी उष्ण हो रहा है। जिसप्रकार विरही पुरुष संताप दूर करनेके

तेंधनः ॥ संततसकनकच्छायो जनिता ते स्तनंधयः ॥ ३४ ॥ (निरौष्ठ्यं) जगज्जयी जितानंगः सतां गतिरनंतदृक् ॥ तीर्थकृत्कृतकृत्यश्च जयतात्तनयः स ते ॥ ३५ ॥ स ते कल्याणि कल्याणशत सदर्श्य नंदनः ॥ यास्यत्यनागतिस्थानं धृतिं चैहि ततः सति ॥ ३६ ॥ (बिन्दुमान्) द्वीप नदीश्वरं

लिये मलयागिरि चंदनसे लिप्त रहता है उसीप्रकार आपका स्तन भी मलयागिरिचंदनसे लिप्त है और विरही पुरुष जिसप्रकार विरहकी पीडासे कुछ सफेद पड जाता है उसीप्रकार आपका स्तन भी कुछ सफेद पड गया है। इस श्लोकमें श्लेषोपमा है ॥ २३३ ॥ हे देवि! संसारको आनंद उत्पन्न करनेवाला, कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाला और तपाये हुये सुवर्णके समान सुशोभित ऐसा पुत्ररत्न आपके उत्पन्न होगा। इस श्लोकके चौथे पादके सब अक्षर पहलेके तीन पादोंमें ही छिपे हुये हैं इसलिये इसे गूढचतुर्थक कहते हैं। जैसे-- जगतां जनितानंदो निरस्तदुरितेंधन संततसकनकच्छायः
१ २ ३ ६ ५ ४ ७ ८

॥२३४॥ हे देवि! कामदेवको जीतनेवाला, संसारपर विजय प्राप्त करनेवाला, सज्जनोंका आधार, धर्मरूपी तीर्थको प्रगट करनेवाला, सर्वज्ञ और कृतकृत्य ऐसा आपका पुत्र सदा जयशील हो। यह निरौष्ठ्य श्लोक है इसमें ओठसे उच्चारण होनेवाले उ ऊ प फ ब भ म अक्षर नहीं हैं ॥ २३५ ॥ हे पतिव्रते! हे कल्याणि! आपका पुत्र सैकडों कल्याणोंको दिखलाता हुआ मोक्षस्थानको प्राप्त होगा। इसलिये आपको वहुत सन्तुष्ट रहना चाहिये। यह श्लोक भी ऊपरके समान निरौष्ठ्य है इसके पढनेसे भी ओठसे ओठ नहीं लग सकता ॥ २३६ ॥ हे सुंदर दांतोंको धारण करनेवाली देवि। देखो ये देव अपने इंद्रोंके साथ अपनी अपनी देवांगनाओंको साथ लिये हुये वडे उत्साहसे नंदीश्वर द्वीप और सुमेरुपर्वतपर क्रीडा करनेकेलिये जा रहे हैं। यह बिंदुमान श्लोक है अर्थात 'सुदतींद्रैः, की जगह 'सुदंतींद्रैः' ऐसा दकारपर

देवा मंदरागं च सेवितुं ॥ सुदंतींद्रे समं यांति सुंदरीभिः समुत्सुकाः ॥ ३७॥ (विंदुच्युत) लसद्विंदुभिराभाति मुखैरमरवारणा ॥ घटावद्गनया व्योम्नि विचरत-
त्रिधा श्रुताः ॥ ३८ ॥ मकरदारुण तोय धत्ते तत्पुरखातिका ॥ साम्बुज क्वचिदुद्विंदु जल मकरंदारुण ॥ ३९ ॥ (मात्रान्युतकप्रश्नोत्तर) सामज

अनुस्वार रखकर पाठ दिया गया है इसलिये इसका दूसरा ऐसा अर्थ होता है कि हे देवि ये देवदंती अर्थात् हाथियोंके इंद्र ऐरावत हाथियोंपर चढकर अपनी देवांगनाओंके साथ वडे उत्साहसे नंदीश्वर द्वीप और सुमेरुपर्वतपर क्रीडा करनेकेलिये जारहे हैं। २३७ ॥ हे देवि ! जिनके दोनों कपोलों और सूंडसे मद वह रहा है तथा जो वादलोंकी काली घटाके समान आकाशमें इधर उधर विहार करते हैं ये ऐसे ये देवोंके हाथी मुखपर लगे हुये सफेद विंदुओंसे वडे ही सुशोभित होते हैं। यह विंदुच्युतक श्लोक है इसमें विंदु शब्दपरका अनुस्वार निकालदेनेसे और घटा शब्दके घकारपर अनुस्वार रखदेनेसे दूसरा अर्थ होजाता है और वह यह है कि हे देवि ! दो, अनेक तथा वारहभेदरूप श्रुतज्ञानको धारण करनेवाले तथा घंटानाद करते हुये आकाशमें विहार करने वाले ये उत्तम देव ज्ञानको धारण करनेवाले अपने सुंदर मुखसे वडे ही सुशोभित होते हैं। २३८ ॥ हे देवि ! देवोंके नगरकी खाईमें ऐसा जल भरा हुआ है जो लाल कमलोंकी परागसे कुछ कुछ लाल हो रहा है जिसमें कमल खिल रहे हैं पानीकी छोटी बूंदें लहरोंके साथ उछल रही हैं और जो मगर मच्छ आदि जलचर जीवोंसे भयानक है। इस श्लोकमें जलके वाचक तोय और जल दो शब्द हैं इन दोनोंमें एकको व्यर्थ अवश्य मानना पडेगा । इसलिये जलशब्दके अनुस्वारको निकालकर 'जलमकरदारुणं' यह एक पद वना लेते हैं ऐसा करनेसे अर्थ भी नहीं बदलता है और यह श्लोक भी विंदुच्युतक कहा जाता है। २३९ ॥ हे माता सिंह अपने ऊपर घात करनेवाले हाथियोंके समूहकी क्षणभर भी उपेक्षा नहीं करता है अर्थात् उसे तुरंत

घातुकं बालं क्षणं नोपेक्षते हरि ॥ का तु कं स्त्री हिमे वाञ्छेत्समजंघा तुकं बल ॥ ४० ॥ (व्यंजनच्युतक) जग्ले कापि सोत्कंठं किमप्याकुलमूर्च्छनं । विरहेंगनया कांतसमागमनिराशया ॥ ४१ ॥ [अक्षरच्युतकप्रश्नोत्तर] कः पंजरमध्यास्ते कः परुषनिस्वनः ॥ कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योक्षरच्युतः ॥ ४२ ॥ शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः ॥ लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योक्षरच्युत ॥ ४२ ॥ [अक्षरच्युतप्रश्नो-

---

ही मारता है। तथा हे देवि ! शीत ऋतुमें कौनसी स्त्री क्या इच्छा करती है। माताने उत्तर दिया कि समजंघा अर्थात् गरीब स्त्री शीत ऋतुमें अपने पुत्रकी ही इच्छा करती है। यह मात्राच्युतक श्लोक है इसमें पहिले पादके बाल शब्दमे आकारकी मात्रा निकालकर बल अर्थात् समूह वा सेना ऐसा पाठ पढना चाहिये और अंतके बल शब्दमें आकारकी मात्रा जोडकर बाल अर्थात् पुत्र ऐसा पाठ पढना चाहिये। एक जगह मात्रा च्युत करनेसे दोनों ही जगह मात्राच्युतक कहलाता है ॥ २४० ॥ हे देवि! कोई स्त्री अपने पतिके विरह होनेपर और फिर उसके समागमसे निराश होकर तथा व्याकुल और मूर्छित होकर गदगदस्वरसे कुछ भी क्रोशित हो रही है। इस श्लोकका ऐसा अर्थ करनेसे असंगतसा जान पडता है क्योंकि क्रोशित न तो गदगदस्वरसे ही हुआ जाता है और न उसके साथ 'कुछ भी' यह विशेषण लग सकता है इसालिये इस श्लोककी 'जग्ले' क्रियामेंसे लकारको निकालकर जगे पढना चाहिये और उसका अर्थ यह करना चाहिये कि वह गदगदस्वरसे कुछ भी गा रही है। इस श्लोकमें लकार व्यंजन च्युत किया गया है इसालिये इसे व्यंजनच्युतक कहते हैं ॥ २४१ ॥ इसप्रकार अनेकतरहके चित्रश्लोक सुनाकर वे देवियां फिर चित्र श्लोकोंसे ही पूछने लगीं कि हे माता पिंजरेमें कौन रहता है, कठोरशब्द कौन बोलता है, जीवोंका आधार क्या है और पढने योग्य अक्षरच्युत अर्थात् एक दो अक्षररहित क्या है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें माता मरुदेवीने कः इस प्रश्नवाचक अक्षरके पहिले एक एक अक्षर लगाकर ही उत्तर दे दिया और श्लो-

त्तर]॥ के मधुरारावाः के हारिकंधरे ॥ केनोह्यते गंधः केनाखिलार्थदृक् ॥ ४३ ॥ केकिनो मधुराराव: केसरा हरिकंधरे ॥ केतकेनोह्यते गंधः केवलेन
खिलार्थदृक् ॥ २४३ ॥ को मञ्जुलालापः को विटपी जरन् ॥ को नृपतिर्वर्ज्यः । को विदुषां मतः ॥ ४४ ॥ कोकिलो मधुरालाप: कोटरी विटपी जरन् ।
कोपनो नृपतिर्वर्ज्यः कोविदो विदुषां मतः ॥ २४४ ॥ का स्वरभेदेषु का रुचिहा रुजा ॥ का रमयेत्कांतं का तारनिस्वना ॥ २४५ ॥

कके प्रत्येक पादमें जो एक २ अक्षर कम था वह भी पूरा कर दिया। यथा- पिंजरेमें शुक (तोता) रहता है काक कठोर शब्द बोलता है जीवोंका आधार लोक है और अक्षरच्युत पढने योग्य श्लोक है ॥ १४२ ॥ देवियोंने फिर पूछा कि हे माता मधुरशब्द किसके होते हैं, सिंहके कंधेपर क्या होते हैं दूरसे ही किसकी गंध जान ली जाती है और किस ज्ञानसे संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञान होता है। माता ऊपरके समान प्रश्नमें ही दो दो अक्षरजोडकर उत्तर देती है कि केकी अर्थात् मयूर ही मधुर शब्दोंसे बोलते हैं, सिंहके कंधेपर केशर (वालोंका समूह) होती है, केतकीकी गंध दूरसे जान ली जाती है और केवलज्ञानसे संपूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। श्लोकके इस प्रत्येक पादमें दो दो अक्षर कम हैं जो कि उत्तरके दो दो अक्षर मिलानेसे पूरे हो जाते है ॥२४३॥ इसीप्रकार वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि मधुरध्वनि किसकी होती है, सबसे पुराना वृक्ष कौनसा है, कैसा राजा छोडदेने योग्य है और विद्वान् लोग किसको मान्य समझते हैं। माता इसी श्लोकके दो दो कम अक्षरोंको पूराकर उत्तर देती है कि कोकिलकी मधुरध्वनि होती है सबसे पुराना वृक्ष वही है जिसमें कोटर (खोल) हो, क्रोधी राजा छोड देने योग्य है और विद्वान् लोग पूर्ण विद्वान्को ही मान्य समझते हैं। २४४ ॥ देवियां फिर पूछती है कि हे माता स्वरके अनेक भेदोंमें उत्तम स्वर कौनसा है शरीरकी कांति नष्ट कर देने वाला रोग कोनसा है पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्दोंसे वजनेवाला वाजा कौनसा है। इन प्रश्नोंके उत्तरमें भी माता दो दो अक्षर जोडकर और श्लोकके अक्षर पूर्ण कर उत्तर देती

काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिहा रुजा ॥ कामिनी रमयेत्कातं काहला तारनिस्वना ॥ २४५ ॥ काकली स्वरभेदेषु का मता रुचिहा रुजा । का
वधू रमयेत्कात काहला तारनिस्वना ॥ ४६ ॥ का कः श्रयते नित्य का कीं सुरतप्रिया ॥ कानने वदेदानीं चरक्षरविच्युतं ॥ २४७ ॥ कामुकः
श्रयते नित्य कामुकीं सुरतप्रिया ॥ कातानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युत ॥ २४७ ॥ तवात्र किं वसत्यंत. का नास्त्यविभवे त्वयि ॥ का हति जनमापून

है कि स्वरोंके अनेक भेदोंमें वीणाका स्वर उत्तम होता है शरीरकी कांति नष्ट करने वाला कामला अर्थात् पीलिया रोग है, कामिनी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्दोंसे वजनेवाला बाजा काहला (भेरी नगाडा) है ॥ २४५ ॥ देवियां फिर पूछतीं हैं कि हे माता ! स्वरके भेदोंमें कौनसा स्वर अच्छा है, कांतिको नष्ट करनेवाला रोग कौनसा है, कोनसी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और गंभीर शब्द करनेवाला बाजा कौनसा है । इस श्लोकमें पहिले ही प्रश्न है तथा वे प्रत्येक पादमें दो दो अक्षर और बढाकर कियेगये हैं और इनके उत्तर भी वे ही हैं जो पहले श्लोकमें कहे गये हैं ॥ २४६ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता ! 'किसी जंगलमें एक कौवा संभोगप्रिय कागलीको सदा सेवन करता है' परंतु यह बात असंभव है इसलिये इस श्लोकमें जो चार अक्षर कम हैं उन्हें पूराकर अर्थात् प्रत्येक चरणमें एक एक अक्षर बढाकर उत्तर दीजिये । तव माताने उत्तरमें कहा कि हे कांतानने अर्थात् सुंदरमुखी 'कामी पुरुष संभोगप्रिय ऐसी कामिनीको सदा सेवन करता है । इस **श्लोकमें** देवियोंने जो प्रत्येक चरणमें एक एक अक्षर कम कहा था उसे पूराकरके माताने यथार्थ **अर्थ कहा** है । २४७ ॥ वे देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता आपके गर्भमें कौन निवास करता है, **हे सौभाग्यवती** ऐसी कौनसी चीज है जो आपके पास नहीं है और बहुत भूखे मनुष्यको मारनेवाला **कौन** है । इन प्रश्नोंका एसा उत्तर दीजिये जिनमें अंतका अक्षर तो सबमें एकसा हो और वह व्यंजन हो परंतु पहिलेके अक्षर भी व्यंजन हों और

वदार्थैर्व्यंजनैः पृथक् ॥ ४८ ॥ वराशनेषु को रुच्यः को गंभीरो जलाशय ॥ कः कांतस्तव तन्वंगि वदाद्विव्यंजनैः पृथक् ॥ ४९ ॥ क समुत्सृज्यते धान्ये घटयत्यत्र को घट ॥ वृषान्दशति कः पापी वदार्थैरक्षरैः पृथक् ॥ २५० ॥ सबोध्यमे कथ देवि किमस्त्यस्ति क्रियापद । शोभा च कीदृशे व्योम्नि

अलग अलग हों। माताने उत्तरमें कहा कि तुक्, शुक्, रुक्। इनमें अंतके अक्षर एकसे हैं और पहिलेके अलग २ हैं इनका अर्थ यह है कि मेरे गर्भमें तुक् अर्थात् पुत्र है, मेरे समीप शुक् अर्थात् शोक नहीं है और भूखे मनुष्यको रुक् अर्थात् रोग मार देता है ॥२४८॥ इसीप्रकार वे देवियां फिर पूछने लगीं कि हे तन्वांगि! उत्तम भोजनोंमें भी रुचि उत्पन्न करनेवाला क्या है, अत्यंत गहरा जलाशय (जिसमें पानी हो) कौनसा है और आपका पति कौन है! इन प्रश्नोंका उत्तर भी उसी प्रकार दीजिये कि जिनमें प्रथम अक्षर अलग२हों। माताने उत्तर दिया कि सूप, कूप, भूप। अर्थात् भोजनोंमें रुचि उत्पन्न करनेवाली सूप अर्थात् दाल है गहरा जलाशय कूप अर्थात कूआ है, मेरा पति भूप अर्थात् महाराज नाभिराज है। २४९ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता धानोंमेंसे कौनसी चीज छोड दी जाती है, घडेको कौन वनाता है और कौनसा पापी चूहोंको खाता है। इनका उत्तर भी उसीप्रकार दीजिये जिनमें प्रथम अक्षर अलग अलग हों। माताने उत्तरमें कहा कि पलाल, कुलाल, बिडाल। भावार्थ—धानोंमेंसे पलाल अर्थात् तृण वा भूसी छोड दी जाती है घडेको कुलाल अर्थात् कुंभार बनता है और चूहोंको बिडाल अर्थात् बिलाव खा जाता है।२५०॥ देवियां फिर पूछती हैं कि दे देवि! आपका संबोधन क्या है, अस्ति अर्थात् है इसको कहनेवाला अन्य क्रिया पद कौनसा है और कैसे आकाशमें शोभा जान पडती है आप इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर दीजिये। माताने उत्तर दिया कि इस श्लोकमें जो भवति शब्द है वही तीनों प्रश्नोंका उत्तर है अर्थात् मेरा संबोधन भी भवति अर्थात् हे भवति (भवती-शब्दका संबोधन) हे पूज्य है। अस्तिका वाचक भी भवति (भू धातुका वर्त-

भवतीदं निगद्यतां ॥ ५१ ॥ (बहिर्लापिका ॥) जितमानम्रनाकौकोनायकार्चितसत्क्रमं । कमाह्व: कारिणं चोचलक्षणं कीदृशं विदु: ॥ ५२ ॥ भो केतकादिवर्णेन सध्यादिसजुषामुना ॥ शरीरमध्यवर्णेन त्व सिंहत्वमुपलक्षय ॥ ५३ ॥ (शब्दप्रहेलिका) आसादयति यद्रूप करेणुः करणैर्विना । तत्ते

मान प्रथमाका एकवचन) है और भवति (जिसमें भ अर्थात् नक्षत्र हों उसे भवत् अर्थात् आकाश कहते हैं भवत् शब्दके सप्तमीका एकवचन भवति बनता है) अर्थात् नक्षत्र सहित आकाशमें अच्छी शोभा जान पडती है। यह निन्हतैकालापक श्लोक कहलाता है। ऐसे श्लोकके प्रश्नोंका उत्तर उसीमें छिपा रहता है ॥ २५१ ॥ वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि हे माता ! देवोंके स्वामी इंद्र भी अतिशय नम्र होकर जिनके उत्तम चरणोंकी सेवा करते हैं ऐसे जिनेंद्रदेवको क्या कहते हैं और जिसके सब लक्षण अच्छे हैं ऐसे हाथीको किस नामसे पुकारते हैं माताने उत्तर दिया ' सुरवरद ' अर्थात् जिनेंद्रदेवको सुरवरद अर्थात् देवोंको वर देनेवाले कहते हैं और सुलक्षण हाथीका नाम भी सु-रव-रद (अर्थात् जिसका शब्द और दांत दोनों ही अच्छे हों) है। यह बहिर्लापक श्लोक कहाजाता है इसमें बाहरसे उत्तर देना पडता है । २५२ ॥ वे देवांगनायें फिर पूछती हैं कि हे माता केतकी कुंद आदि पुष्पोंके वर्णके समान, संध्याके सुवर्णके समान और शरीरके मध्यवर्ती एक वर्णके समान इस अपने पुत्रको तू सिंह ही समझ। यह सुनकर माताने उत्तर दिया कि ठीक है केतकी शब्दका पहला अक्षर के, संध्या शब्दका पहिला अक्षर ' स ' और शरीरका मध्यवर्ण (बीचका अक्षर) ' री ' इन तीनों को मिलानेसे ' केसरी ' यह शब्द सिंहका वाचक ही बनता है और इस श्लोकका यह ही अर्थ है। इसे शब्द प्रहेलिका कहते हैं ॥ २५३ ॥ देवियां फिर कहती हैं कि हे कमलों के दलके समान सुंदर नेत्रोंको धारण करनेवाली देवि! करेणु शब्दमेंसे करण शब्दको घटादेनेसे बचे हुये शेष

करपदन्नक्षि नवत्वक्षरमव्ययं ॥ ५४ ॥ (आदिविषममंतरालापकं प्रश्नोत्तरं) क. कीदृग् नृपैर्दंड्यः क खे भाति कुतोऽत्र भी. ॥ भीरो. कीदृग्निवेशस्ते नानागारविराजित. ॥ ५५ ॥ [बहिर्लापकमतविषमप्रश्नोत्तरं] त्वत्तनौ काव गभीरा राज्ञोदोर्लंव आकुतः । कीदृक्किंतु विगाढव्य त्वं च श्लाघ्या कथ सति

अक्षरोंसे जो रूप बनता है वह आपके लिये अक्षय आर अविनाशीक हो । हे माता बताइये वह क्या है । माताने उत्तर दिया कि करेणुः-- करण = अ ए उः इन तीनों अक्षरोंकी संधि होनेसे अ + अय् + उः = आय् उः = आयुः । अर्थात् करेणु शब्दमेंसे करण घटा देनेसे आयुः बच रहता है । २५४ ॥ देवियां फिर पूछती हैं कि हे माता । राजाओंके द्वारा कौन दंडनीय नहीं है, आकाशमें कौन सुशोभित होता है भय किससे लगता है और भयवाला पुरुष कहां निवास करता है । इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने श्लोकका चौथा चरण कहा और उसमें सब प्रशनोंका उत्तर आगया । यथा- अनागा [जिसके आगः अर्थात् अपराध न हो] अर्थात् अपराध रहित पुरुष दंडनीय नहीं है, आकाशमें रविः अर्थात् सूर्य सुशोभित होता है, भय आजितः अर्थात् युद्धसे लगता है और भयवान पुरुष नानागारविराजितः अर्थात् अनेक घरोंमें निवास करता है । यह आदिविषम अंतरालापक श्लोक है ॥ २५५ ॥ वे देवांगनायें फिर प्रश्न करने लगीं कि हे माता ! आपके शरीरमें गंभीर क्या हैं महाराज नाभिरायकी भुजायें कहांतक लंबी हैं, कितने गहरे जलमें प्रवेश करना चाहिये और हे पतिव्रते आप किसप्रकार अधिक प्रशंसनीय हैं । इन प्रश्नोंके उत्तरमें माताने अपनी ओरसे श्लोकका एक चरण बनाकर कहा और उसमें सब प्रश्नोंका उत्तर आगया। वह चरण यह है ' नाभिराजानुगाधिकं ' अर्थात् मेरे शरीरमें गंभीर नाभि है, महाराजकी भुजायें आजानु अर्थात्, घोंटूतक लंबी हैं, गाधिक अर्थात् नाभिपर्यंततक जलमें स्नान करना अच्छा है और नाभिराजानुगाधिकं अर्थात् महाराज नाभिराजकी अज्ञाकारिणी होनेसे मै अधिक प्रशंसनीय

॥ ५६ ॥ त्वा विनोदयितु देवि प्राप्ता नाकालयादिमा । नृत्यंनि करणैश्चित्रैर्नभोरंगे सुरांगना ॥ ५७ ॥ [गोमूत्रिका] त्वमत्र रोचितं पश्य नाटके सुरसान्वित । त्वमत्र रोचित वैश्यपेटक सुरसारित ॥ ५८ ॥ वसुधा राजते तन्वि परितस्त्वद्गृहागण । वसुधारानिपातेन दधतीव महानिधिं ॥५९॥ वसुधारानिभेनारात्स्वर्गश्रीस्त्वामुपासितु ॥ सेयमायाति पश्यैना नानारत्नांशुचित्रिता ॥ ६० ॥ (अर्धभ्रमः) मुदेस्तु वसुधारा ते देवताशीस्तताबरा ।

गिनी जाती हूं। यह बहिर्लापक अंतविषम प्रश्नोत्तर है । इसमें बाहरसे उत्तर देना पडता ॥ २५६ ॥ इसप्रकार उन देवियोंने अनेक चित्र विचित्र प्रश्न किये और सबके यथेष्ट उत्तर मातासे पाये तब वे फिर चित्रवद्ध श्लोकोंसे माताकी स्तुति करनेलगीं कि—हे देवि ! देखो ये देवांगनायें आपको प्रसन्न करनेकेलिये स्वर्गलोकमे आकर आकाशरूपी रंगभूमिमें संगीतशास्त्रमें कहे हुये स्वस्तिक आदि अनेक प्रकारके करणोंके द्वारा नृत्य कर रही हैं॥ २५७ ॥ हे देवि ! आपके आंगनके ऊपर जो नाटक हो रहा है उसमें हाव भाव विलासआदि रससहित यह नृत्य देखिये तथा हे माता देवोंके द्वारा लायागया और एक जगह इकट्ठा हुआ यह अप्सराओंका समूह देखिये । इस श्लोकमें देवियोंनें गोमूत्रिकावद्ध श्लोकसे नृत्य देखनेकेलिये मातासे प्रार्थना की है ॥ २५८ ॥ हे तन्वि ! रत्नोंकी वर्षासे यह आपके घरके आंगनके चारोंओरकी भूमि ऐसी सुशोभित होरही है मानों इसने कोई बडा भारी खजाना इकट्ठा किया हो ॥ २५९ ॥ हे देवि ' रत्नोंकी वर्षाके बहानेसे यह स्वर्गकी लक्ष्मी आपकी सेवा करनेकेलिये आई है अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे यह कैसी चित्रविचित्र हो रही है इसे देखिये ॥ २६० ॥ हे स्तुतादेशे अर्थात् जिसकी आज्ञा प्रशंसनयि है ऐसी तथा हे वशीशे ' अर्थात् इंद्रिय वश करनेवालोंमें भी मुख्य ऐसी हे मरुदेवी ' जिसने देवताओंके आशीर्वादसे आकाशको व्याप्त कर रक्खा है, जो अत्यंत सुशोभित है जो प्राणियोंके परिभ्रमण रूप दरिद्रताको नाश करनेवाली है और नम्रीभूत होकर आकाशसे पडरही है ऐसी

स्तुतादेशे नता ताथा वशीशे स्वस्वनस्तसुः ॥ ६१ ॥ इति ताभिः प्रयुक्तानि दुष्कराणि विशेषतः ॥ जानाना सुचिरं भेजे सांतर्वत्नी सुखासिकां॥६२॥ निसर्गाच्च धृतिस्तस्याः परिज्ञानेभवत्परा ॥ प्रज्ञामय परज्योतिरुद्वहन्त्या निजोदरे ॥ ६३ ॥ सा तदात्मीयगर्भांतर्गतं तेजोतिभासुर ॥ दधानार्कांशुगर्भेव प्राची प्राप परा रुचिं ॥ ६४ ॥ सूचिता वसुधारोरुदीपेनाध. कृतार्चिषा ॥ निधिगर्भस्थलीवासौ रेजे राजीवलोचना ॥ ६५ ॥ महासत्वेन तेनासौ गर्भस्थेन परा श्रिय । बभार रत्नगर्भेव भूमिराकरगोचरा ॥ ६६ ॥ स मातुरुदरस्थोपि नास्याः पीडामजीजनत् । दर्पणस्थोपि किं वन्हिर्दहेत्तं प्रतिबिं-

---

आपके घर होनेवाली रत्नवृष्टि जीवोंको आनंद देनेवाली हो । २६१ ॥ इसप्रकार उन देवियोंने जो कठिन २ श्लोक पूछे थे उन सबके अर्थोंको विशेष रीतिसे जानती हुई वह मरुदेवी माता बडे सुखसे अपने दिन व्यतीत करती थी ॥ २६२ ॥ वह माता मरुदेवी स्वभावसे ही सदा आनंदित रहनेवाली थी फिर जब उसे यह मालूम हो गया कि मेरे गर्भमें ज्ञानस्वरूप और परम ज्योतिरूप श्रीवृषभदेव विराजमान हैं तब उसे और भी अधिक आनंद हुआ ॥ २६३ ॥ जिसप्रकार प्रातःकालके समय सूर्यकी किरणोंको धारण करनेवाली पूर्व दिशा सुशोभित होती है उसीप्रकार उससमय अतिशय दैदीप्यमान गर्भके अंतर्गत तेजको धारण करनेवाली वह मरुदेवी भी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २६४ ॥ अन्य सब कांतियोंको मंद करनेवाली ऐसी आकाशसे पडती हुई रत्नोंकी धारारूपी दीपकसे जिसकी पूर्ण अवस्था जानली गई है ऐसी कमलके समान सुंदर नेत्रोंको धारण करनेवाली मरुदेवी ऐसी सुशोभित होती थी मानों किसी दीपकसे जानी गई ऐसी किसी खजानेको धारण करनेवाली भूमि ही सुशोभित हो रही हो ॥ २६५ ॥ जिसप्रकार रत्नोंको धारण करनेवाली किसी खजाने की भूमि सुशोभित होती है उसीप्रकार गर्भमें विराजमान अतिशय बलशाली महाराज वृषभदेवके निमित्तसे महारानी मरुदेवीने भी बडी अच्छी शोभा धारण की थी ॥ २६६ ॥ वे श्रीवृषभदेव अपनी माता मरुदेवीके उदरमें रहकर भी उसे किसीप्रकारकी पीडा नहीं देते थे सो ठीक

बितः ॥ ६७ ॥ त्रिबलीभंगुर तस्यास्तथैवास्थात्तनूदरं ॥ तथापि ववृधे गर्भस्तेजसः प्राभव हि तत् ॥ ६८ ॥ नोदरे विकृतिः कापि स्तनौ न नीलचू चुकौ । न पांडुवदन तस्या गर्भोऽप्यववृधद्भुत ॥ ६९ ॥ स्वामोद मुखमेतस्या राजा घ्रायैव सोतृपत् ॥ मदालिरिव पाद्मिन्याः पद्ममस्पष्टकेसरं ॥ ७० ॥ सोभाद्विशुद्धगर्भस्थस्त्रिबोधविमलाशय ॥ स्फटिकागारमध्यस्थ प्रदीप इव निश्चलः ॥ ७१ ॥ कुशेशयशय देवं सा दधानोदरेशयं ॥ कुशेशयशयेवासी-न्माननीया दिवौकसा ॥ ७२ ॥ निगूढ च शची देवी सिषेवे किल साप्सरा ॥ मघोनाघविनाशाय प्रहिता ता महासतीं ॥ ७३ ॥ सानसत्ति पर कि-

---

है दर्पणमें प्रतिबिंबित हुई अग्नि क्या दर्पणको जला सकती है? ॥ २६७ माता मरुदेवीका कृश उदर जैसे पहिले त्रिवलियोंसे सुशोभित था वह वैसा ही बना रहा तथापि भगवानका शरीर बढता ही गया । यह भी भगवानके प्रतापका एक अतिशय था ॥ २६८ ॥ इसके सिवाय एक आश्चर्यकी बात यह भी थी कि न तो माताके उदरमें किसीप्रकारका विकार हुआ, था न स्तनोंके चूचुक (मुह) ही नीले हुये थे और न मुखपर कुछ सफेदी आई थी तथापि गर्भ [बालक] बढता ही रहा ॥ २६९ ॥ जिसप्रकार मदोन्मत्त भ्रमर कमलिनीके कमलकी परागको विना स्पर्श किये ही केवल उसकी सुगंध सूंघकर ही तृप्त हो जाता है उसीप्रकार महाराज नाभिराज भी उस-समय केवल मरुदेवीके सुगंधसहित मुखकी सुगंध लेकर ही तृप्त हो जाते थे ॥ २७० ॥ जिस प्रकार स्फटिकमणिके बने हुये घरके वीचमें रक्खा हुआ निश्चल (स्थिर) दीपक सुशोभित होता है उसीप्रकार विशुद्ध गर्भाशयमें विराजमान और मतिश्रुतअवधिज्ञानकेद्वारा विशुद्ध अंतःकरणको धारण करनेवाले श्रीवृषभदेवभी अतिशय सुशोभित हो रहे थे ॥ २७१ ॥ अनेक देव देवियां जिसकी सेवा कर रही हैं और जिसके उदरमें नाभिकमलके ऊपर श्रीभगवान वृषभदेव विरा-जमान हैं ऐसी वह मरुदेवी माता साक्षात् लक्ष्मीके समान सुशोभित होती थी ॥ २७२ ॥ इंद्रने अपने समस्त पाप शांत करनेकेलिये महासती माता मरुदेवीकी सेवाके लिये इंद्राणीको भेजा

चिन्नम्यते स्म स्वय जनैः । चाद्री कलेव रुंद्रश्रीर्देवीव च सरस्वती ॥ ७४ ॥ बहुनात्र किमुक्तेन श्लाघ्या सैका जगत्त्रये । या स्रष्टुर्जगता स्रष्ट्री नम्भु भुवनाबिका ॥ ७५ ॥ सातिप्रभावभिरामतरागी श्रीभिरुपासितमूर्तिरमूर्मिं । श्रीभवने भुवनैकललाम्नि श्राभृति भूभृति तन्वति सेवा ॥ ७६ ॥ अतिरुचिरतरागी कल्पवल्लीव साभूत् स्मितकुसुममनून दर्शयती फलाय ॥ नृपतिरपि तदास्या पार्श्वगो रराजे सुरतरुरिव तुंगो मगलश्रीविभूय ॥७७॥

था इसलिये वह इंद्राणी भी अनेक अप्सराओंके साथ साथ छिप छिपकर माताकी सेवा किया करती थी ॥ २७३ ॥ जिसप्रकार अतिशय शोभाको धारण करनेवाली चंद्रमाकी कला अथवा सरस्वती देवी किसीके आगे नम्रीभूत नहीं होती है और अन्य सब लोगोंको नम्रीभूत कर देती है उसी-प्रकार माता मरुदेवी भी किसीके आगे नम्रीभूत नहीं होती थी अर्थात् किसीको नमस्कार नहीं करती थी किंतु अन्य सब लोगोंको नम्रीभूत करदेती थी अर्थात् उसे देखकर अन्य सब लोग स्वयं नमस्कार करने लग जाते थे ॥ २७४ ॥ अधिक कहांतक कहा जाय केवल इतने-से ही समझ लेना चाहिये कि तीनों जगतोंमें वह एक ही प्रशंसनीय थी । क्योंकि संसारमें कर्मभूमि अथवा पुनः धर्मकी सृष्टि करनेवाले श्रीऋषभदेवकी जननी थी और इसलिये ही वह तीनों लोकोंकी जननी थी ॥ २७५ ॥ इसप्रकार जो स्वभावसे ही अतिशय सुंदर है श्री ह्री आदि अनेक देवियां जिसकी सेवा करती हैं तथा अनेक प्रकारकी शोभाको धारण करनेवाले महाराज नाभिराज स्वयं जिसकी सेवा करते हैं ऐसी वह मरुदेवी माता तीनों लोकोंमें अतिशय सुंदर ऐसे श्रीभवनमें निवास करती हुई बहुत ही सुशोभित होती थी ॥ २७६ ॥ अतिशय मनोहर अंगोंको धारण करनेवाली वह मरुदेवी एक कल्पलताके समान सुशोभित होती थी और मंदहास्यरूपी पुष्पोंसे लोगोंको दिखला रही थी कि अब शीघ्र ही फल लगनेवाला है अर्थात् त्रैलोक्यनाथ शीघ्र ही उत्पन्न होंगे । इसके समीप ही विराजमान हुये महाराज नाभिराज

ललिततरमथास्यावक्त्रपद्म सुगंधि स्फुरितदशनरोचिर्मंजरीकेसराढ्यं ॥ वचनमधुरसाशांसजद्राजहंस भृशमनयत बोधं बालभानुः समुद्यन् ॥ ७८ ॥
मुहुरमृतमिवास्या वक्त्रपूर्णेंदुरुद्यत् वचनमसृजदुच्चैर्लोकचेतोभिनंदी ॥ नृपतिरपि सतृष्णस्तत्पिपासन् स रेमे स्वजनकुमुदखंडैः स्व विभक्त यथास्वं ॥७९॥
इत्याविष्कृतमंगला भगवती देवीभिरात्तादरं । दध्रेत. परमोदय त्रिभुवने साश्चर्यभूत महः । राजेनं जिनभाविन सुतरविं पद्माकरस्यानुयन् साकांक्ष प्रतिपालयन्धृतिमधात्प्रासोदया भूयसीं ॥ ८० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्स्वर्गावतरणवर्णन नाम द्वादश पर्व ॥ १२ ॥

एक ऊंचे कल्पवृक्षके समान सुशोभित होते थे क्योंकि जिसप्रकार कल्पवृक्ष अनेक तरहकी शोभासे विभूषित रहता है उसीप्रकार महाराज नाभिराज भी अनेक मंगलीक शोभाओंसे विभूषित हो रहे थे ॥ २७७ ॥ उससमय माता मरुदेवीका मुख एक कमलके समान था क्योंकि वह बहुत ही सुंदर था बहुत ही सुगंधित था, प्रकाशमान दाँतोंकी किरणरूप मंजरी ही जिसकी केशर थी और वचनरूपी परागरसकी आशासे उसमें अत्यासक्त हुये महाराज नाभिराज ही उसके समीप बैठे हुये हंस थे। इसप्रकारके माता मरुदेवीके मुखरूपी कमलको उत्पन्न होनेवाला वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही प्रफुल्लित कर रहा था॥ २७८ ॥ माता मरुदेवीका मुख पूर्ण चंद्रमाके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार चंद्रमा लोगोंके चित्तको अतिशय आनंदकारी होता है उसीप्रकार माता मरुदेवीका मुख भी लोगोंके चित्तको अतिशय आनंदकारी था और चंद्रमासे जिसप्रकार अमृत उत्पन्न होता है उसीप्रकार माता मरुदेवीके मुखसे बारं बार निकलते हुये बचन ही अमृतके समान बरस रहे थे, महाराज नाभिराजको इन वचनरूपी अमृतके पीनेकी बडी ही लालसा थी और वे अपने कुटंबरूपी कुमुदसमूहको [चंद्रविकासी कमलोंके समूहको] यथायोग्य उस वचनामृतका विभागकर तथा अपने भागको इच्छानुसार पीते हुये बडे ही सुखसे निवास करते थे।२७९। इसप्रकार

अथ त्रयोदशं पर्व ।

अथातो नवमासानामत्यये सुषुवे विभु ॥ देवी देवीभिरुक्ताभिर्यथास्व परिवारिता ॥ १ ॥ प्राचीव बंधुमब्जाना सा लेभे भास्वर सुत ॥ चैत्रे मास्यसिते पक्षे नवम्यामुदये रवे. ॥ २ ॥ विश्वे ब्रह्ममहायोगे जगतामेकवल्लभ ॥ भासमान त्रिभिर्बोधै. शिशुमप्यशिशु गुणै. ॥ ३ ॥ त्रिबोधकिरणोद्भासि-

देवियोंके द्वारा बडे आदरसत्कारसे प्राप्त हुये अनेक मंगलोंका अनुभव करती हुई वह माता मरुदेवी अत्यंत सुखदेनेवाले और तीनोंलोकोंको आश्चर्य करनेवाले तेजःपुंज श्रीवृषभनाथको धारण करती थी और कमलवनसे सुशोभित सरोवरके समान महाराज नाभिराज उदय होनेवाले श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्यकी अभिलाषा करते हुये उनका अनुनय और पालन करते हुये अतिशय संतोष देनेवाले बडे भारी धैर्यको धारण करते थे ॥२८० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें
स्वर्गावतार वर्णन करनेवाला बारहवां पर्व समाप्त हुआ ॥१२॥

अथ तेहरवा पर्व.

अथानंतर—जिसप्रकार पूर्वदिशासे अनेक कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाले सूर्यका उदय होता है उसीप्रकार नौवां महीना व्यतीत हो जानेपर ऊपर कही हुई श्री ह्री धृति आदि अनेक देवांगनाओंके द्वारा पूजित हुई उस मरुदेवीकेगर्भसे चैत्रकृष्ण नवमीके दिन सूर्योदयके समय उत्तराषाढ ❀ नक्षत्र और ब्रह्म महायोगमें मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको धारण करनेसे अतिशय प्रकाशमान, तीनों लोकोंके एक मात्र स्वामी और बालक होकर भी गुणोंसे वृद्ध ऐसे श्रीऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर उत्पन्न हुये ॥ १-२-३ ॥ अत्यंत कांतिको धारण करनेवाला, मतिश्रुतअवधिज्ञान रूपी किरणोंसे देदीप्यमान और सबका स्वामी तथा नाभिराजारूपी उदयाचलपर्वतसे उदय

बालार्कोमौ स्फुरद्द्युति· ॥ नाभिराजोदयाद्रींद्रादुदितो विबभौ विभु ॥ ४ ॥ दिश. प्रसत्तिमासेदुरासीन्निर्मलमबरं ॥ गुणानामस्य वैमल्यमनुकर्तुमिव प्रभो· ॥ ५ ॥ प्रजाना ववृधे हर्षः सुरा विस्मयमाश्रयन् ॥ अम्ळानिकुसुमान्युच्चैर्मुमुचु सुरभूरुहाः ॥ ६ ॥ अनाहता· पृथुध्वाना दध्वनुर्दिविजानका· ॥मृदु· सुगंधिः शिशिरो मरुन्मद तदा ववौ ॥ ७ ॥ प्रचचाल मही तोषात् नृत्यतीव चलाद्रिरे ॥ उद्वेलो जलधिर्नूनमगमत्प्रमद पर ॥ ८ ॥ ततोबुद्ध सुराधीशः सिंहासनविकंपनात् ॥ प्रयुक्तावधिरुद्भुतिं जिनस्य विजितैनसः ॥९॥ ततो जन्माभिषेकाय मतिं चक्रे शतक्रतु. । तीर्थकृद्भाविभव्याब्जबधौ तस्मि·

हुआ वह बालकरूपी सूर्य बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ४ ॥ उससमय सब दिशायें निर्मल थीं आकाश सब साफ था ऐसा जान पडता था मानो उत्पन्न हुये भगवान ऋषभदेवके गुणोंकी निर्मलता प्रगट करनेकेलिये ही उसका अनुकरण कर रहे हों ॥ ५॥ उससमय प्रजामें हर्ष वढ रहा था देव सब आश्चर्यान्वित हो रहे थे और कल्पवृक्ष वडे ऊंचेसे अपने नये पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे॥ ६ ॥ स्वर्गोंके दुंदुभी बाजे विना बजाये ही ऊंचे शब्द कर रहे थे और वायु भी उससमय शीतल कोमल सुगंधित और मंद मंद बह रहा था॥ ७॥ उससमय संतुष्ट होकर पृथ्वी भी हिलने लगी मानों नृत्य ही कर रही हो पर्वत भी डगमगागये और अतिशय आनंदित होकर समुद्र भी अपनी लहरोंसे उछलने लगा ॥८॥ तथा इंद्रका सिंहासन कंपायमान होने लगा जिससे तुरंत ही उसने अवधिज्ञानसे जान लिया कि संपूर्ण पापोंको नाश करनेवाले भगवान जिनेंद्रदेव उत्पन्न हुये हैं ॥ ९ ॥ आगामी कालमें उत्पन्न होनेवाले भव्यजीवरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले भगवान तीर्थंकर वृषभदेव जिससमय उत्पन्न हुये थे उसीसमय इंद्रने उनका जन्माभिषेक करनेकेलिये विचार करलिया था

* उत्तराषाढके अंतिम पाद अभिजिन्नक्षत्रमें भगवानका जन्म हुआ था। उससमय उत्तराषाढका स्वामी विश्व और अभिजितके स्वामी ब्रह्म इन दोनोंका योग प्राप्त था । उत्तराषाढकी अंतकी पंद्रह घडी और श्रवण नक्षत्रकी पहिली चार घडी अभिजित कहलाता है।

न्युदेयुषि ॥ १० ॥ तदासनानि देवानामकस्मात्प्रचकंपिरे ॥ देवानुच्चासनेभ्योधः पातयंतीव संभ्रमात् ॥ ११ ॥ शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधु ॥ सुरासुरगुरोर्जन्म भावयतीव विस्मयात् ॥ १२ ॥ घंटाकंठीरवध्वानभेरीशंखाः प्रदध्वनुः ॥ कल्पेशज्योतिषां वन्यभावनानां च वेश्मसु ॥ १३ ॥ तेषामुद्भिन्नवेलानामब्धीनामिव निःस्वन ॥ श्रु त्वा बुबुधिरे जन्म विबुधा भुवनेशिनः ॥१४॥ ततः शक्राज्ञया देवपृतना निर्ययुर्दिवः ॥ तारतम्येन सध्वाना महाब्धेरिव वीचयः ॥ १५ ॥ हस्त्यश्वरथगंधर्वनर्तकीपत्तयो वृषाः ॥ इत्यमूनि सुरेंद्राणां महानीकानि निर्ययुः ॥ १६ ॥ अथ सौधर्मकल्पेशो महैरावतदं-

---

॥ १० ॥ उससमय सब देवोंके आसन अकस्मात् कांपने लगे थे मानों उन देवोंको बडे संभ्रमके साथ उस ऊंचे आसनसे नीचे उतार रहे हों ॥ ११ ॥ जिनके मुकुटोंमें लगेहुये मणि कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे देवोंके मस्तक अपने आप ऐसे नम्रीभूत होगये थे मानों बडे आश्चर्यसे सुर असुर आदि सबके गुरु श्रीवृषभदेवके जन्मकी सूचना ही कर रहे हों ॥ १२ ॥ भगवानके जन्म होनेके समय कल्पवासी देवोंके विमानोंमें अपने आप घंटा बजने लगा, ज्योतिषियोंके विमानोंमें सिंहनाद होने लगा, व्यंतरोंके आवासोंमें भेरी बजने लगी और भवनवासियोंके भवनोंमें शंख बजने लगे ॥ १३ ॥ उठी हुई लहरोंसे गरजते हुये समुद्रके समान उन बाजोंके गंभीर शब्द सुनकर सब देवोंने समझलिया कि तीनों लोकोंके स्वामी श्रीवृषभदेव का जन्म हुआ है ॥ १४ ॥ जिसप्रकार शब्द करती हुई महासागरकी लहरें अनुक्रमसे आती हैं उसीप्रकार इंद्रकी आज्ञासे देवोंकी सेना भी शब्द करती हुई अनुक्रमसे स्वर्गसे निकली ॥ १५ ॥ हाथी, घोडे, रथ, गंधर्व, नृत्यकरनेवाली, अप्सरायें और बैल इसप्रकार इंद्रकी यह सातप्रकारकी महासेना निकली ॥ १६ ॥

अथानंतर—सौधर्म स्वर्गके इंद्रने इंद्रानी सहित ऐरावत हाथीपर चढकर अनेक देवों सहित स्वर्गसे प्रस्थान किया ॥ १७ ॥ इंद्रके चारों ओर सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद आत्मरक्ष और लोकपाल जातिके देव चल रहे थे ॥ १८ ॥ उससमय दुंदुभी वाजे भी बडे जोरसे बज रहे थे

तिन । समाम्हा मम शन्या प्रनरधे विबुधैर्वृतैः ॥ १७ ॥ ततः । सामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदामराः । आत्मरक्षैः समं लोकपालाश्च परिवव्रिरे ॥ १८ ॥ दुन्दुभीनां महाध्वानैः सुराणां जयघोषकैः । महानभूत्तदा ध्वानः सुरानीकेषु विस्फुरन् ॥ १९ ॥ हसंति केचिन्नृत्यंति वल्गन्त्यन्ये स्फोटयन्त्यपि । पुरो धावन्ति गायति सुरस्तत्र प्रमोदिनः ॥ २० ॥ नभोंगणं तदा कृत्स्नम रुध्य त्रिदशाधिपाः । स्वैः स्वैर्विमानैर्वाहनैश्च पृथग्विधैः ॥ २१ ॥ तेषामापततां व्योमविमानैराततं नभः । त्रिषष्टिपटलैर्भेदैः स्वर्गान्तरमिवासृजत् ॥ २२ ॥ नभः सरसि नाकीन्द्रदेहोद्योताच्छवारिणि । स्मेरवक्त्राण्यप्सरसां वक्त्राण्येनु पंकजश्रियं ॥ २३ ॥ नभोम्बुधौ सुराधीशपृतनाचलवीचिके । मकरा इव सरेजुरुत्करा सुरवारणाः ॥ २४ ॥ क्रमादथ सुरानीकान्यवरादचिराद् भुव ।

और देव भी जय जय शब्द कर रहे थे जिससे देवोंकी उस सेनामें उत्तरोत्तर बडा भारी कोलाहल बढता जाता था॥ १९ ॥ उससमय आनंदित हुये कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे, कितने ही उछल रहे थे, कितने ही गरज रहे थे, कितने ही आगे आगे दौडे जा रहे थे उस समय—॥ २० ॥ वे सब देव पृथक् पृथक् अपने अपने विमान और वाहनों पर चढकर संपूर्ण आकाशरूपी आंगनको घेरकर आ रहे थे ॥ २१ ॥ अपने अपने विमान और वाहनोंके द्वारा नीचे उतरते हुये उन देवोंसे आकाश व्याप्त हो गया था और ऐसा जान पडता था मानों तिरेसठ पटल वाले स्वर्गसे यह कोई दूसरा स्वर्ग ही बन रहा है ॥२२॥ उस समय वह आकाश एक सरोवरके समान जान पडता था, क्योंकि इंद्रके शरीरका शीतल प्रकाश ही उसमें स्वच्छ जलके समान जान पडता था और अप्सराओंके मंदमंद हंसते हुये मुख ही कमलकी शोभा धारण करते थे ॥२३॥ अथवा वह आकाश समुद्रके समान जान पडताथा क्योंकि इंद्रकी चलती हुई सेना ही उसमें तरंगोंके समान जान पडती थी और ऊपरको सूंड किये हुये देवोंके हाथी ही उसमें बडे बडे मगरमच्छोंके समान जान पडते थे ॥ २४ ॥ इसप्रकार अनुक्रमसे चलती हुई वह देवोंकी सब सेना बहुत शीघ्र जमीनपर उत्तर पडी और अनेक उत्कृष्ट ऋद्धियोंसे सुशोभित अयोध्या नगरीमें जा पहुंची ॥ २५ ॥ उस समय देवोंकी

अवतीर्य पुरीं प्रापुरयोध्यां परमर्द्धिनीं ॥ २५ ॥ तत्पुरं विष्वगावेष्ट्य तदास्थु. सुरसैनिकाः । राजांगणं च संरुद्धमभूदिंद्रैर्महोत्सवै ॥ २६ ॥ प्रसवागारमिंद्राणी तत प्राविशदुत्सवात् । तत्रापश्यत्कुमारेण सार्द्धं ता जिनमातरं ॥ २७ ॥ जिनमाता तदा शच्यां दृष्टा सा सानुरागया । सध्येव हरित्प्राची सगता बालभानुना ॥ २८ ॥ मुहु. प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च जगद्गुरुं । जिनमातु पुर स्थित्वा श्लाघते स्मेति ता शची ॥२९॥ त्वमवभुवनांबासि कल्याणी त्व सुमगला । महादेवी त्वमेवाद्य त्व सपुण्या यशस्विनी ॥ ३० ॥ इत्यभिष्टुत्य गूढांगी ता मायानिद्रयायुजत् । पुरो निधाय सा तस्या मायाशिशुमथापर ॥ ३१ ॥ जगद्गुरुं समादाय कराभ्या सागमन्मुद । चूडामणिमिवोत्सर्पत्तेजसा व्याप्तविष्टप ॥ ३२ ॥ तद्गात्र-

---

सेना सब ओर उस अयोध्या नगरीमें फैल गई और वडे उत्सवके साथ आयेहुये इंद्रोंके द्वारा महाराज नाभिका आंगन खूब भरगया ॥ २६ ॥ तदनंतर इंद्रानीने वडे हर्षके साथ प्रसूतिगृहमें प्रवेश किया और वहां कुमार श्रीऋषभदेवके साथ साथ जिनमाता श्रीमरुदेवीके दर्शन किये ॥ २७ ॥ जिसप्रकार लालिमा सहित संध्या उदय होते हुये सूर्यसहित पूर्वदिशाको देखती है उसीप्रकार उस समय इंद्रानीने जिनमाताको वडे प्रेमसे देखा था ॥ २८ ॥इंद्रानीने वहां जाकर पहिले ही प्रदक्षिणा दी फिर जगतगुरु श्रीऋषभदेवको नमस्कार किया और तदनंतर माताके सामने खडे होकर वह इसप्रकार उसकी स्तुति करने लगी कि-॥ २९ ॥ हे माता आज तू तीनों लोकोंकी माता हुई है संसारका कल्याण और मंगल करनेवाली तू ही है, तुझे ही महादेवी कहना चाहिये, पुण्यवती भी तू ही है और संसारमें यशस्विनी भी तू ही है ॥३०॥ इसप्रकार इंद्रानीने गुप्तरूपसे जाकर जिनमाताकी स्तुति की और उसे मायामयी निद्रासे अचेत कर दिया, तदनंतर एक दूसरे मायामयी वालकको माताके सामने रखकर अपने शरीरसे निकलते हुये तेजसे संसारको व्याप्त करनेवाले चूडामणिरत्नके समान जगतगुरु श्रीऋषभदेवको दोनों हाथोंसे उठाया और वह वडी प्रसन्न हुई ॥ ३१-३२ ॥ अत्यंत दुर्लभ ऐसे भगवानके शरीरको स्पर्श कर वह इंद्रानी उस समय ऐसी प्रसन्न

स्पर्शमासाद्य सुदुर्लभमसौ तदा । मेने त्रिभुवनैश्वर्यं स्वसात्कृतमिवाखिलं ॥ ३३ ॥ मुहुस्तन्मुखमालोक्य स्पृष्ट्वाघ्राय च तद्वपु. । परा प्रीतिमसौ भेजे हर्षविस्फारितेक्षणा ॥ ३४ ॥ तत कुमारमादाय व्रजंती सा बभौ भृश । द्यौरिवार्कमभिव्यासनभस भासुरांशुभि ॥ ३५ ॥ तदा मंगलधारिण्यो दिक्कुमार्य पुरो ययु । त्रिजगन्मंगलस्यास्य समृद्धय इवोच्छ्रिता. ॥ ३६ ॥ छत्र ध्वज सकलशं चामरं सुप्रतिष्ठक । भृंगारं दर्पण तालमित्याहुर्मंगलाष्टक ॥ ३७ ॥ स तदा मंगलाना च मंगलत्व पर वहन् । स्वदीप्तया दीपिकालोकानरुणत्तरुणांशुमान् ॥ ३८ ॥ तत करतले देवी देवराजस्य त न्यधात् । बालार्कमौदये सानौ प्राचीव प्रस्फुरन्मणौ ॥ ३९ ॥ गीर्वाणेंद्रस्तमिंद्राण्या. करादादाय सादर । व्यलोकयत्स तद्रूप

हुई मानों तीनों लोकोंका संपूर्ण ऐश्वर्य उसने अपने आधीन ही कर लिया हो ॥ ३३ ॥ उसने कईबार भगवानका मुख देखा कईबार उनके शरीरको स्पर्श किया और उसकी सुगंध ग्रहण की । इन सब कारणोंसे उत्पन्न हुये हर्षसे उसके नेत्र प्रफुल्लित होगये थे और वह बहुत ही संतुष्ट होती हुई ॥ ३४ ॥ तदनंतर भगवानको गोदीमें लेकर वह चलने लगी उस समय वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों अपनी प्रकाशमान किरणोंसे आकाशको व्याप्त करनेवाले सूर्यको ले जाता हुआ आकाश ही सुशोभित हो रहा हो ॥ ३५ ॥ तीनोंलोकोंमें मंगल करनेवाले भगवानके आगे आगे अष्टमंलद्रव्यको धारण करनेवालीं दिक्कुमारी देवियां चलने लगीं उस समय वे ऐसी जान पडती थीं मानों इकठ्ठी की हुई भगवानकी ऋद्धियां ही हों ॥ ३६ ॥ छत्र ध्वजा, कलश, चामर सुप्रतिष्ट (ठौना) झारी, दर्पण ताडका पंखा ये आठ मंगलद्रव्य कहलाते हैं ॥ ३७॥ मंगलोंमें भी उत्तम २ मंगलोंको देनेवाले और तरुण सूर्यके समान वे भगवान उससमय अपनी कांतिसे दीपकोंको भी मंद कर रहे थे ॥ ३८ ॥ जिसप्रकार पूर्व दिशा अनेक मणियोंसे प्रकाशमान उदयाचल पर्वतके शिखरपर उदय होते हुये प्रातःकालके सूर्यको विराजमान करती है उसीप्रकार इंद्रानीने भी उस समय इंद्रकी हथेलीपर भगवान वृषभदेवको विराजमान किया ॥ ३९ ॥ सौधर्मस्वर्गके इंद्रने बडे

सन्नीतिस्फारितेक्षणः ॥ ४० ॥ त्वं देव जगतां ज्योतिस्त्वं देव जगतां गुरुः । त्वं देव जगतां धाता त्वं देव जगतां पतिः ॥ ४१ ॥ त्वामामनंति सुधियः केवलज्ञानभास्वतः । उदयाद्रिं मुनींद्राणामभिवंद्य महोन्नतिं ॥ ४२ ॥ त्वया जगदिदं मिथ्याज्ञानांधतमसावृतं । प्रबोधं नेष्यते भव्यकमलाकरबन्धुना ॥ ४३ ॥ तुभ्यं नमोधिगुरवे नमस्तुभ्यं महाधिये । तुभ्यं नमोस्तु भव्याब्जबन्धवे गुणसिंधवे ॥ ४४ ॥ त्वत्तः प्रबोधमिच्छंतः प्रबुद्धभुवनत्रयात् । तव पादाबुजं देव मूर्ध्ना दध्मो धृतादराः ॥ ४५ ॥ त्वयि प्रणयमाधत्ते मुक्तिलक्ष्मीः समुत्सुका । त्वयि सर्वे गुणाः स्फीतिं यान्त्यब्धौ मणयो यथा

आदरसे इंद्राणीके हाथसे भगवानको अपनी गोदीमें लिया और अतिशय प्रसन्न होकर तथा नेत्रोंको प्रफुल्लित कर वह भगवानका रूप देखने लगा और ॥ ४० ॥ भगवानकी स्तुति करने लगा कि- हे देव आप इस जगतको प्रकाश करनेवाले हैं, जगतके गुरु हैं आप ही इस जगतके विधाता हैं और आप ही इस जगतके स्वामी हैं ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! विद्वान लोग आपको ही मुनियोंके द्वारा वंदना करने योग्य और अतिशय ऊंचा ऐसा केवलज्ञानरूपी सूर्यको उदय होनेके लिये उदयाचल पर्वत मानते हैं ॥ ४२ ॥ हे देव ! भव्यरूपी कमलसमूहको प्रफुल्लित करनेके लिये आप सूर्यके समान हैं, मिथ्याज्ञानरूपी गाढ अंधकारसे ढकाहुआ यह संसार अब आपके द्वारा ही प्रकाशमान होगा ॥ ४३ ॥ हे देव ! आप गुरुओंके भी गुरु हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भूत भविष्यत वर्तमान तीनोंकालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाले महाबुद्धिमान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेवाले सूर्य हैं और गुणोंके समुद्र हैं इसलिये आपको वारंवार नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे देव ! आप तीनोंलोकोंको जाननेवाले हैं आपसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुये हम लोग आपके चरणकमलोंको बडे आदरसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥ ४५ ॥ हे नाथ ! मुक्तिरूपी लक्ष्मी बडी उत्कंठित होकर आपसे स्नेह रखती है और जिसप्रकार समुद्रमें मणि बढते रहते हैं उसीप्रकार संपूर्ण गुण आपमें सदा बढते

॥ ४६ ॥ स्तुत्वेति स तमारोप्य स्वमंकं सुरनायकः । हस्तमुच्चालयामास मेरुप्रस्थानसभ्रमी ॥ ४७ ॥ जयेश नंद वर्द्धस्व त्वमित्युच्चैर्गिरः सुरा । तदा कलकलं चक्रुर्बधिरीकृतदिङ्मुखं ॥ ४८ ॥ नभोंगणमथोत्पेतुरुच्चरज्जयघोषणाः । सुरचापानि तन्वंतः प्रसरद्भूषणांशुभिः ॥ ४९ ॥ गंधर्वारब्धसंगीता नेटुरप्सरसः पुरः । भ्रूपताकाः समुत्क्षिप्य नभोरंगे चलत्कुचाः ॥ ५० ॥ इतो मुतः समाकीर्णं विमानैर्व्युसदां नभः ॥ सरत्नैरुन्मिषन्नेत्रमिव रेजे विनिर्मलं ॥ ५१ ॥ सिताः पयोधरा नीलैः करींद्रैः सितकेतनैः । सबलाकैर्विनीलाभ्रैः सगता इव रेजिरे ॥ ५२ ॥ महाविमानस-

---

रहते हैं ॥४६॥ इसप्रकार इंद्रने भगवानकी स्तुति की और उन्हें, अपनी गोदीमें विराजमान कर सब-सेनाको मेरुपर्वतपर प्रस्थान करनेकी सूचना देनेकेलिये अपना हाथ ऊंचा उठाकर इशारा किया ॥ ४७ ॥ उस समय देवोंमें बडा भारी कोलाहल हो रहा था ' हे स्वामिन् आपकी सदा जय हो आप सदा आनंदरूप रहें' इसप्रकार देव लोग बडे जोरसे कलकल शब्द कर रहे थे जिनसे सब दिशायें भर गईं थीं किसीको कुछ भी सुनाई नाहिं पडता था ॥ ४८ ॥ इंद्रकी आज्ञा पाते ही जयजय शब्द करते हुये और अपने आभूषणोंकी फैली हुई किरणोंसे अनेक इंद्रधनुष बनाते हुये वे सब देव आकाशमें चलने लगे ॥ ४९ ॥ उस आकाशरूपी रंगभूमिमें सबसे आगें अनेक अप्सरायें नृत्य करती हुई जा रहीं थीं उस समय उनके साथ साथ गंधर्वदेव अपना संगीत प्रारंभ कर रहे थे, उन अप्सराओंके स्तन कुछ कुछ हिल रहे थे और वे अपनी मोहरूपी पताकायें इधर उधर उडा रही थीं ॥ ५० ॥ रत्नजडित देवोंके विमानोंसे इधर उधर सब जगह व्याप्त हुआ निर्मल आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों भगवानको देखनेके लिये ' उसने अपने नेत्र ही प्रफुल्लित किये हों ॥ ५१ ॥ आकाशके सफेद बादल सफेदध्वजाओंसहित काले हाथियोंसे मिलकर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वे क्रौंचपक्षियोंसहित काले बादलोंसे ही मिलरहे हों ॥५२॥ कहीं कहींपर अनेक बादल देवोंके बडे बडे विमानोंकी टक्करसे चूरचूर हो नष्ट हो गये थे सो ठीक

वर्ते क्षुण्णा जलधरा क्वचित् । प्रणेमुर्महतां रोधान्नश्यंत्यवे जडात्मका ॥ ५३ ॥ सुरभकटदानवुगधाकृष्टमधुव्रता । वनाभोगान्जहुर्लोकस्सच्छमनवाप्रियं ॥ ५४ ॥ अगभाभि सुरेंद्राणा तेजोर्कस्य पराहत । निलिल्ये क्राप्यविज्ञात लज्जामिव परा गत ॥ ५५ ॥ दिवाकर कराश्लेष विच्युत्य सुरेशिना । देहोद्योता दिशो भेजुर्भोग्या हि बलिना स्त्रिय ॥ ५६ ॥ सुरेभरदनोभूतसरोम्बुजदलाश्रित । नृत्तमप्सरसा देवानकरोद्रासिकान्मृश ॥ ५७ ॥ शृण्वत कलगीतानि किन्नराणा जिनेशिन । गणैर्विरचितान्यापुरमरा कर्णयो फल ॥ ५८ ॥ वपुर्भगवतो दिव्य

ही है क्योंकि जो जड (जल) रूप होकर भी वडोंसे विरोध करते हैं वे नष्ट होते ही हैं ॥५३॥ देवोंके हाथियोंके गंडस्थलसे जो मद झर रहा था उसकी सुगंधसे अनेक भ्रमर वनोंके अच्छे २ प्रदेशोंको छोडकर वहां आगये थे। सो ठीक ही है क्योंकि यह कहावत सत्य है कि लोगोंको नईनई वस्तु अच्छी लगती है ॥ ५४ ॥ उस समय इंद्रोंके शरीरोंकी कांतिसे सूर्यका प्रकाश भी मंद पड गया था और इसलिये ही वह मानों अतिशय लज्जित होकर न जाने कहां छिप गया था ॥ ५५ ॥ इंद्रोंके शरीरोंका उद्योत सूर्यकी किरणोंका (हाथोंका) आलिंगन छोडकर सब दिशाओंके समीप जा पहुंचा था सो ठीक ही है स्त्रियां बलवान पुरुषोंके ही योग्य होती हैं । भावार्थ—इंद्रोंकी कांति सूर्यकी कांतिको भी मंद्कर सब जगह फैल गई थी ॥ ५६ ॥ ऐरावत* हाथीके दांतोंपर सरोवर बने हुये थे उनमें कमल खिल रहे थे और उनकी कलियोंपर अप्सराओंका नृत्य हो रहा था। वह नृत्य उस समय देवोंको भी रसिक बना रहा था ॥ ५७ ॥ किन्नर जातिके देव भगवानके गुणोंसे भरे

---

* सौधर्म स्वर्गका इंद्र भगवानकी जन्मोत्सवकी सवारीकेलिये एक मायामयी ऐरावत हाथी बनाता है जो कि एक लाख योजनका होता है उसके सौ मुह होते हैं प्रत्येक मुखमें आठ आठ दात होते हैं, प्रत्येक दातपर एक एक सरोवर होता है एक एक सरोवरमें एकसौपच्चीस कमलिनी (कमलकी बेल) होती हैं. प्रत्येक कमलिनीपर पच्चीस २ कमल होते हैं, एक एक कमलकी एकसोआठ कलिया होती हैं और एक एक कलीपर एक एक अप्सरा नृत्य करती है। इसप्रकार सब सत्ताईस करोड अप्सरायें हाथीके दांतोंपर नृत्य करती है । १००×८×१×१२५×२५×१०८×१=२७००००००० ।

न्यतोनिमिषेक्षणा । नेत्रयोरनिमेषासौ फलं प्रापुस्तदानरा ॥ ५९ ॥ स्वकारोप सितच्छत्रपतिं चामरधूनन ॥ कुर्वत स्ववरोवेऽग्र प्राहरस्य स्म वैभव ॥ ६० ॥ सौधर्माधिपतेरकमध्य ॰ नमधीशेन ॥ भेजे सितातपत्रेण तदैशानसुरेश्वर ॥ ६१ ॥ सनत्कुमारमाहेन्द्रनायकौ धर्मनायक । चामरैरत व्यधुन्वाता वहुक्षीराब्धिवीचिभि ॥ ६२ ॥ दृष्ट्वा तदातनीं भूतिं कुदृष्टिमरुतो परे । सन्मार्गरुचिमातेनुरिन्द्रप्रामाण्यमास्थिता ॥ ६३ ॥ क्रृतं सोपानमामेरोरैंद्रनीलैर्व्यराजत । भक्त्या खमेव सोपानपरिणाममिवाश्रित ॥ ६४ ॥ ज्योतिःपटलमुल्लंघ्य प्रययु सुरनायका । अवस्ताराकिता

हुये बडे मधूर गीत गा रहे थे जिन्हें सुनकर अन्य देवलोग भी अपने कानोंको सफल कर रहे थे ॥ ५८ ॥ वे देवगण टिमकार रहित दृष्टिसे भगवानका दिव्य शरीर देख रहे थे और उसी समय अपने टिमिकार रहित नेत्रोंकी प्राप्तिका यथेष्ट फल भोग रहे थे ॥ ५९ ॥ भगवानको गोदमें लेना, सफेद छत्र धारण करना और चमर ढुलाना आदि समस्तकार्य स्वयं इंद्रलोग कर रहे थे । सो ठीक ही है वैभव इसीका नाम है ॥ ६० ॥ भगवान श्री वृषभदेव सौधर्म स्वर्गके इंद्रकी गोदमें विराजमान थे, ऐशान स्वर्गका इंद्र उनपर सफेद छत्र लगाये हुये था और ॥ ६१ ॥ सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गके इंद्र तीर्थंकर भगवानके दोनों ओर खडे होकर क्षीरसागरकी अनेक लहरोंके समान चमर ढुला रहे ॥ ६२ ॥ अन्य कितने ही मिथ्यादृष्टी देव श्रीजिनेंद्रदेवके जन्मसमयकी भारी विभूति देखकर और इंद्रोंकी भक्ति तथा कर्तव्यपर विश्वास रखकर सद्धर्ममें श्रद्धा करने लगे थे ॥६३॥ इंद्रनीलमणिकी मेरुपर्वतपर्यंत बनाई हुई सीढियां ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों आकाश ही भक्तिवश सीढीरूप परिणत होकर उपस्थित हुआ हो ॥ ६४ ॥ अनुक्रमसे वे इंद्र ज्योतिषमंडलको उल्लंघनकर उपरके मार्गकी ओर जाने लगे । उनके नीचे ताराओंसहित आकाश उन्हें ऐसा जान पडता था मानों खिली हुई कमोदिनियों सहित सरोवर ही हो ॥ ६५ ॥ चलते चलते वे सब इंद्र निन्यानवें हजार योजन ऊंचे गिरिराज मेरुपर्वतपर जा

वीथिं गन्यमाना कुमुद्वती ॥ ६५ ॥ तत प्रापु सुराधीशा गिरिराजं समुच्छ्रितम् । योजनानां सहस्राणि नवतिं च नवैव च ॥ ६६ ॥ मुकुटश्रीरिवाभाति चूलिका यस्य मूर्द्धनि । चूडारत्नश्रियं धत्ते यस्यामृजुविमानकं ॥ ६७ ॥ यो धत्ते स्वनितम्बेन भद्रशालवनं महत् । परिधानमिवालीनं वनच्छायैर्महाद्रुमैः ॥ ६८ ॥ मेखलायामथाद्यायां विभाते नंदनं वनं । यः कटीसूत्रदामेव नानारत्नमयाङ्घ्रिपं ॥ ६९ ॥ यश्च सौमनसोद्यानं बिभर्ति शुकसच्छवि । सपुष्पमुपसंव्यानमिवोल्लसितपल्लवं ॥ ७० ॥ यस्यालंकुरुते कूटपर्यंतं पाण्डुकं वनं । आहूतमधुपैः पुष्पैः धत्ते शेखरश्रियं ॥ ७१ ॥ यस्मिन्नतिवने दिक्षु चैत्यवेश्मानि भान्त्यलं । हसन्तीव सुरेशानां विमानानि प्रोन्मिषन्मणिदीप्तिभिः ॥ ७२ ॥ हिरण्मयं समुत्तुंगो धत्ते

पहुंचे ॥ ६६ ॥ उस पर्वतके मस्तक परकी चूलिका मुकुटके समान सुशोभित है और उसके ऊपर सौधर्मस्वर्गका ऋजु विमान चूडामणि रत्नकी शोभा धारण करता है ॥६७॥ उस पर्वतके नितंब भागके नीचे घनी छायावाले अनेक बडे बडे वृक्षोंसे सुशोभित भद्रशाल महा वन ऐसा जान पडता है मानों उस मेरु पर्वतने हरित वर्णकी धोती ही पहनी हो ॥६८॥ उसकी पहिली मेखलापर (कटनीपर) अनेक रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित नंदन वन ऐसी शोभा धारणकर रहा है मानों उसकी करधनी ही हो ॥ ६९॥ तोतेके समान हरितवर्णके अनेक पत्र और पुष्पोंसे सुशोभित सौमनस वन ऐसा अच्छा जान पडता है मानों हरितवर्णके पत्ते और पुष्पोंसे सुशोभित मेरु पर्वतका दुपट्टा ही हो ॥ ७० ॥ आये हुये भ्रमरोंसे सुशोभित अनेक पुष्पोंके द्वारा मुकुटकी शोभा धारण करता हुवा पांडुक वन उसके शिखरपर्यंतके ऊपरी भागको सुशोभित कर रहा है ॥ ७१ ॥ इसप्रकार उसपर चार वन हैं प्रत्येक वनकी एक एक दिशामें एक एक जिन मंदिर है सब मिलकर सोलह जिनमंदिर हैं और वे देदीप्यमान मणिकी कांतियोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों स्वर्गोंके विमानोंकी ओर हंस रहे ही हों ॥ ७२ ॥ वह पर्वतस्ववर्णमय है और बहुत ऊंचा है इसलिये ऐसा जान पडता है मानों लवणसमुद्ररूपी वस्त्र पहने हुये जंबूद्वीपरूपी महाराजका मुकुट ही हो ॥ ७३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवके पुण्य

यो मौलिविभ्रम । जंबूद्वीपमहीभर्तुर्लवणाभोधिवाससः ॥ ७३ ॥ ज्योतिर्गणश्च सातत्यार्थं पर्येति महोदयं । पुण्याभिषेकसंभारं पवित्रीकृतमहत

॥ ७४ ॥ आराधयति य नित्य चारणा पुण्यवांछया । विद्याधराश्च मुदिता जिनेंद्रमिव सून्नत ॥ ७५ ॥ देवोत्तरकुरून्यश्च स्वपादगिरिभिः

सदा । आवृत्य पाति निर्बाध तद्धि माहात्म्यमुन्नते ॥ ७६ ॥ यस्य कंदरभागेषु निवसंति सुरासुरा । सांगनाः स्वर्गमुत्सृज्य नाकशोभापहासिषु

॥ ७७ ॥ य पांडुकवनोद्देशे शुची स्फटिकनिर्मिताः । शिला बिभर्ति तीर्थेशामभिषेकक्रियोचिता. ॥ ७८ ॥ यस्तुंगो विबुधाराध्यः सततर्तुसमाश्रय ।

रूप अभिषेककी सामिग्री धारण करनेसे वह सदा पवित्र रहता है और अतिशय समृद्धशाली है
इसलिये ही मानों ज्योतिषी जातिके देव सदा उसकी प्रदक्षिणा दिया करते हैं॥ ७४ ॥ वह पर्वत श्रीजि-
नेंद्रदेवके समान उन्नत (श्रेष्ठ) है इसलिये ही अनेक चारणमुनि पुण्यकी इच्छा करतेहुये ही सदा उस-
पर विहार किया करते हैं और विद्याधर लोग वडे हर्षसे उसकी सेवा किया करते हैं ॥७५॥ वह पर्वत अपने
आश्रित देवकुरु उत्तरकुरु भोगभूमियोंको अपने समीपवर्ती गजदंत आदि पर्वतोंसे घेरकर सदा निर्वा-
धरीतिसे उनकी रक्षा किया करता है सो ठीक ही है अपने आश्रितकी रक्षा करना ही वडे पुरुषोंका माहात्म्य
है ॥७६॥ उसकी गुफाओंके प्रदेश इतने सुंदर हैं कि स्वर्गकी शोभाको भी लज्जित कर रहे हैं और इस
लिये ही अनेक देव और भवनवासी आदि असुर अपने स्वर्ग और भवनोंको छोडकर अपनी
देवांगनाओंसहित वहां आकर निवास करते हैं ॥ ७७ ॥ उस पर्वतके पांडुक बनसंबंधी प्रदेशोंमें
अत्यंत निर्मल स्फटिक मणिकी वनी हुई और तीर्थंकरोंके अभिषेक करने योग्य ऐसी पांडुक
शिलायें वडी अच्छी सुशोभित हो रही हैं ॥७८ ॥ वह मेरुपर्वत ठीक सौधर्म स्वर्गके समान जान
पडता है क्योंकि जिसप्रकार सौधर्म स्वर्ग बहुत ऊंचा है उसीप्रकार वह पर्वत भी बहुत ऊंचा है
सौधर्मस्वर्गमें जिसप्रकार देवलोग सदा निवास किया करते हैं उसीप्रकार उस पर्वतपर भी देवलोग
सदा निवास किया करते हैं सौधर्मस्वर्ग जिसप्रकार ऋजुविमानसे सुशोभित है उसीप्रकार वह

सौधर्मेंद्र इवाभाति ससेव्योऽप्सरसां गणैः ॥ ७९ ॥ तमासाद्य सुरा प्रापुः प्रीतिमुन्नतिशालिनं । रामणीयकसंभूतिं स्वर्गस्येवाधिदैवत ॥ ८० ॥ तत. परीत्य त प्रीत्या सुरराजः सुरैः सम । गिरिराजं जिनेंद्रार्कं मूर्द्धन्यस्य न्यधान्मुदा ॥ ८१ ॥ तस्य प्रागुत्तराशाया महती, पांडुकाह्वया । शिलास्ति जिननाथानामभिषेक विभर्ति या ॥ ८२ ॥ शुचिः सुरभिरत्यतरामणीया मनोहरा । पृथिवीवाष्टमी भाति या युक्तपरिमंडला ॥ ८३ ॥ शतायता तदर्द्धं च विस्तीर्णाष्टोच्छ्रिता मता । जिनैर्योजनमानेन सा शिलार्द्धेंदुसंस्थितिः ॥ ८४ ॥ क्षीरोदवारिभिर्भूयः क्षालिता या सुरोत्तमैः । शुचित्वस्य परा काष्ठां संविभर्ति सदोज्वला ॥ ८५ ॥ शुचित्वान्महनीयत्वात्पवित्रत्वाच्च भाति या । धारणाच्च जिनेंद्राणा जिनमातेव

पर्वत भी छहों ऋतुओंसे सदा सुशोभित है अथवा सौधर्मस्वर्गमें जिसप्रकार सदा सब ऋतुओंकी शोभा रहती है उसीप्रकार मेरुपर्वतपर भी सबऋतुओंकी शोभा रहती है, सौधर्मस्वर्ग जिसप्रकार अनेक अप्सराओंसे सेव्य है उसीप्रकार वह पर्वत भी अनेक अप्सराओंसे सेव्य है अथवा वह पर्वत अनेक जलाशयोंसे सुशोभित है ॥ ७९ ॥ इसप्रकार अतिशय मनोहर, अतिशय उन्नत, स्वर्गके अधिष्ठाता देवताके समान उस सुमेरुपर्वतको पाकर देवलोग बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ ८० ॥ तदनंतर इंद्रने सब देवोंके साथ साथ बडे प्रेमसे उस गिरिराज सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा दी उसके मस्तकपर बडे हर्षसे श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्यको विराजमान किया ॥ ८१ ॥ उस मेरु पर्वतके पांडुकवनमें उत्तर दिशाकी ओर एक बडी भारी पांडुकशिला है ॥ ८२ ॥ वह शिला अत्यंत पवित्र है अत्यंत सुंदर और अत्यंत मनोहर है तथा अपनी गोलपरिधिसे अष्टमी पृथ्वी सिद्धशिलाके समान सुशोभित होती है ॥ ८३ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने उसकी लंबाई सौ योजन चौडाई पचास योजन और उंचाई आठ योजन कही है तथा उसका आकार ठीक अर्द्धचंद्राकार कहा है ॥ ८४ ॥ वह पांडुकशिला सदा निर्मल रहती है और सदा पवित्र रहती है तिसपर भी इंद्रोंने क्षीरसमुद्रके जलसे अनेक बार उसका प्रक्षालन किया है इसलिये वह पवित्रताकी चरमसीमाको प्राप्त हो गई है ॥ ८५ ॥ वह

निर्मला ॥ ८६ ॥ यस्यां पुष्पोपहारश्रीर्व्यज्यते जातु नांजसा । सावर्ण्यादमरोन्मुक्तमुक्ताव्यक्तफलच्छविः ॥ ८७ ॥ जिनानामभिषेकाय यां धत्ते सिंहविष्टर । मेरोरिवोपरि पर परार्ध्यं मेरुमुच्चकैः ॥ ८८ ॥ तत्पर्यंते च या धत्ते सुस्थिते दिव्यविष्टरे । जिनाभिषेचने क्लृप्ते सौधर्मैशाननाथयोः ॥८९॥ नित्योपहाररुचिरा सुरैर्नित्य कृतार्चना । नित्यमगलसगीतनृत्तवादित्रशोभिनी ॥ ९० ॥ छत्रचामरभृंगारसुप्रतिष्ठकदर्पण । कलशध्वजतालानि मगला-

पांडुकाशिला सदा जिनमाताके समान सुशोभित रहती है क्योंकि जिसप्रकार जिनमाता शुचि अर्थात् स्वच्छ है उसी प्रकार पांडुकशिला भी श्वच्छ है जिनमाता जिसप्रकार महनीय अर्थात् पूज्य है उसीप्रकार वह पांडुकशिला भी महनीय अर्थात् पूज्य और निर्मल है, जिनमाता जिसप्रकार अपने गर्भमें श्रीजिनेंद्रदेवको धारण करती हैं उसीप्रकार वह शिला भी जन्माभिषकके समय श्रीजिनेंद्रदेवको धारण करती है ॥ ८६ ॥ वह शिला साक्षात् मुक्ताफलके समान निर्मल है देव-लोग उसपर जो सफेद पुष्प चढाते हैं वे उस शिलाके समान ही सफेद होनेसे उसीके रंगमें मिल जाते हैं तुरंत पहिचाने नहीं जा सकते ॥ ८७ ॥ उस पांडुक शिलापर श्रीजिनेंद्रदेवके अभिषेक करनेकेलिये अति उत्तम और बहुत ऊंचा एक सिंहासन रक्खा हुआ है जो कि ऐसा जान पडता है मानों एक मेरुके ऊपर दूसरा मेरुपर्वत ही रक्खा हो ॥ ८८ ॥ उस सिंहासनके इधर उधर दोनोंओर सुंदर दो सिंहासन और रक्खे हुये हैं जिनपर सौधर्म और ऐशान स्वर्गके इंद्र खडे होकर भगवानका अभिषेककरते हैं ॥ ८९ ॥ देवलोगोंके द्वारा चढाई हुई उत्तम सामिग्रीसे वह शिला बडी ही मनोहर जान पडती है देव लोग सदा उसकी पूजा किया करते हैं मंगल गीत नृत्य वादित्र आदिस वह सदा सुशोभित रहती है ॥ ९० ॥ उसके समीप ही छत्र, चामर, झारी, सुप्रतिष्ठ, दर्पण कलश, ध्वजा और तालवृंत (ताडका पंखा) ये आठ मंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं ॥९१॥ वह पांडुकशिला मुनियोंकी शीलमाला(शीलव्रतकी परंपरा)के समान

नि बिभर्ति या ॥ ९१ ॥ यामला शीलमालेव मुनीनामभिसंमता । जैनी तनुरिवात्यंतभास्वरा सुरभिः शुचिः ॥ ९२ ॥ स्वयं धौतापि या धौता शतशः सुरनायकैः । क्षीरार्णवाम्बुभिः पुण्यैः पुण्यस्येवाकरक्षितिः ॥ ९३ ॥ यस्याः पर्यंतदेशेषु रत्नालोकैर्वितन्यते । परितः सुरचापश्रीरन्योन्यव्यतिषंगिभिः ॥ ९४ ॥ तामावेष्टय सुरास्तस्थुर्यथास्वं दिक्ष्वनुक्रमात् । द्रष्टुकामा जिनस्यामुं जन्मकल्याणसंपदं ॥ ९५ ॥ दिक्पालाश्च यथायोग्यदिग्विदिग्भागसंश्रिताः । तिष्ठंति स्म निकायैः स्वैर्जिनोत्सवदिदृक्षया ॥ ९६ ॥ गगनांगणमारुध्य व्याप्य मेरोरधित्यकां । निवेशः सुरसैन्यानामभवत्पांडुके वने ॥ ९७ ॥ पांडुकं वनमारुद्धं समंतात्सुरनायकैः । जहासेव दिवो लक्ष्मीं क्ष्मारुहां कुसुमोत्करैः ॥ ९८ ॥ स्वस्थानाचलितः स्वर्गः सत्यमुद्वासि-

---

निर्मल और मान्य है तथा श्रीजिनेंद्रदेवके शरीरके समान अत्यंत देदीप्यमान सुगंधित और पवित्र है ॥ ९२ ॥ यद्यपि वह शिला स्वयं धौत अर्थात् श्वेतवर्णकी है तथापि पुण्य उत्पन्न करनेके लिये खानिकी पृथ्वीके समान उसे इंद्रोंने पुण्यरूप क्षीर सागरके जलसे सैकडोंवार प्रक्षालन किया है ॥९३॥ उस शिलाके समीपवर्ती प्रदेशोंमें परस्पर खूब मिला हुआ अनेकप्रकारके रत्नोंका प्रकाश पडता है जिससे उस शिलाके चारों ओर सदा इंद्रधनुष सुशोभित रहता है ॥ ९४ ॥ ऐसी उस शिलाको घेरकर श्रीवृषभदेवके जन्मकल्याणकी विभूतिको देखनेकी इच्छा करते हुये वे सब देवलोग अनुक्रमसे सब दिशाओंमें अपने अपने योग्य स्थानपर बैठ गये ॥ ९५ ॥ दिक्पाल जातिके देव भी अपने अपने परिवार सहित श्रीजिनेंद्रदेवका जन्मोत्सव देखनेके लिये दिशा विदिशाओंमें यथायोग्य स्थानपर जा बैठे ॥ ९६ ॥ देवोंकी सेना भी उस पांडुक वनमें आकाशरूपी आंगनको रोककर और मेरुपर्वतके ऊपरीभागमें व्याप्त होकर जा ठहरी ॥ ९७ ॥ इसप्रकार चारोंओरसे देव और इंद्रोंसे भरा हुआ वह पांडुकवन ऐसा जान पडता था मानों अपने वृक्षोंके पुष्पसमूहोंसे स्वर्गकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ ९८ ॥ उस जन्माभिषेकके समय मेरुको देखकर कहना पडता था कि स्वर्ग अवश्य ही अपने स्थानसे च्युत होकर शून्य हो गया है और इंद्रकी सब वि-

तस्तदा । मेरुस्तु स्वर्गतां प्राप धृतनाकेशवैभव ॥ ९९ ॥ ततोऽभिषेचनमर्त्तुं कर्तुमिंद्र प्रचक्रमे । निवेश्याधिशिलं सैहे विष्टरे प्राङ्मुख प्रभु ॥ १०० ॥ नभोशोष तदापूर्य सुरदुदुभयोध्वनन् । समतात्सुरनारीरारेभे नृत्यमूर्जित ॥ १ ॥ महाःकालागरूद्दामधूपधूमस्तदोदगात् । कलंक इव निर्धूत पुण्यैः पुण्यजनाशयात् ॥ २ ॥ विक्षिप्यंते स्म पुण्यार्घा साक्षतोदकपुष्पका: । शांतिपुष्टिवपुष्कामैर्विष्वक्पुण्यांशका इव ॥ ३ ॥ महामंडपविन्यासस्तत्र चक्रे सुरेश्वरै. । यत्र त्रिभुवन कृत्स्नमासे स्माबाधित मिथ. ॥ ४ ॥ सुरानोकहसंभूता मालास्तत्रावलंबिता' । रेजुर्भ्रमरसगीतैर्गातुकामा

भूति इस मेरुपर्वतपर ही आगई है इसलिये यह मेरु ही स्वर्ग हो गया है ॥ ९९ ॥ तदनंतर सौधर्मस्वर्गके इंद्रने भगवान वृषभदेवको पूर्वदिशाकी ओर मुख करके पांडुकशिलाके सिंहासननपर विराजमान किया और स्वयं उनका अभिषेक करनेकेलिये तैयारी करने लगा ॥ १०० ॥ जिससमय इंद्रने भगवानको सिंहासनपर विराजमान किया था उससमय देवोंके दुंदुभी संपूर्ण आकाशमें व्याप्त होकर बजने लगे थे और अप्सराओंने चारों ओर महानृत्य करना प्रारंभ कर दिया था ॥ १०१ ॥ उसीसमय कालागुरु नामकी अतिशय सुगंधित धूपका धूआं भी खूब निकलने लगा था और वह ऐसा जान पडता था मानों भगवानके जन्मोत्सवमें संचय किये हुये पुण्यसे पुण्यवान लोगोंके अंतःकरणसे निकला हुआ कलंक ही हो ॥ १०२ ॥ उसीसमय शांति पुष्टि और शरीरकी कांतिकी इच्छा करते हुये अनेक देवलोग चारों ओरसे अक्षत पुष्प और जल सहित अनेक पुण्यरूप अर्घ चढा रहे थे जो कि ऐसे जान पडते थे मानों पुण्यके अंश ही हों ॥ १०३ ॥ उस अभिषेकके समय इंद्रोंने वहां एक बडा भारी मंडप बनाया था । वह मंडप ऐसा था कि उसमें यह संपूर्ण तीनों लोक परस्पर बाधारहित समा सकता था ॥ १०४ ॥ उस मंडपमें कल्पवृक्षके पुष्पों की अनेक मालायें लटक रहीं थीं जिनपर बैठे हुये भ्रमर गा रहे थे उन गातेहुये भ्रमरोंसे वे मालायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों भगवानका यश ही गा रहीं हों ॥ १०५ ॥

इवेशिनं ॥ ५ ॥ अथ प्रथमकल्पेंद्रः प्रभोः प्रथममज्जने । प्रचक्रे कलशोद्धारं कृतप्रस्तावनाविधिः ॥ ६ ॥ ऐशानेंद्रोपि रुंद्रश्रीः सांद्रचंदनचर्चितं । प्रोदास्थात्कलशं पूर्णं कलशोद्धारमंत्रवित् ॥ ७ ॥ शेषैरपि च कल्पेंद्रैः सानदजयघोषणैः । परिचारकता भेजे यथोक्तपरिचर्यया ॥ ८ ॥ इंद्राणीप्रमुखा देव्यः साप्सरःपरिवारिकाः । बभूवुः परिचारिण्यो मंगलद्रव्यसंपदा ॥ ९ ॥ शातकुम्भमयैः कुंभैः क्षीराब्धेः शुचि । सुराः श्रेणीकृतास्तोयादानेतु प्रसृतास्ततः ॥ १० ॥ पूतं स्वायंभुवं गात्रं स्प्रष्टुं क्षीराच्छशोणितं । नान्यदस्ति जलं योग्यं क्षीराब्धिसलिलादृते ॥ ११ ॥ मत्वेति नाकिभिर्नूनमनूनप्रमदोदयैः । पंचमस्यार्णवस्याम्भः स्नानीयमुपकल्पितं ॥ १२ ॥ अष्टयोजनगंभीरैर्मुखे योजनविस्तृतैः । प्रारेभे काचनैः कुंभैर्जन्माभि-

---

अथानंतर-- प्रथम सौधर्मस्वर्गके इंद्रने भगवानका प्रथम अभिषेक करनेकेलिये प्रथम ही भगवानकी स्तुति कर पहला कलश उठाया और ॥ १०६ ॥ उसीप्रकार उत्तम शोभा युक्त और कलशोंद्धारा मंत्रको जाननेवाले ऐशान स्वर्गके इंद्रने घनीभूत चंदनसे चर्चित हुये दूसरे पूर्ण कलशको उठाया ॥ १०७ ॥ शेष इंद्रोंने आनंदके साथ जय जय शब्द किये और उन दोनों इंद्रोंके कथनानुसार सेवा करते हुये उनकी सहायता करने लगे ॥ १०८ ॥ अपनी अपनी सहायक अप्सराओंके साथ इंद्राणी आदि मुख्य देवियां भी मंगलद्रव्य धारणकर इंद्रकी सहायता करने लगीं ॥ १०९ तदनंतर वहुतसे देव श्रेणीबद्ध होकर सुवर्णके कलश लेकर क्षीरसमुद्रका पवित्र जल लानेकेलिये बडे संतोषसे निकले ॥ ११० ॥ देवोंने समझा कि भगवान स्वयंभू हैं अतिशय पवित्र हैं उनके शरीरका रुधिर भी दूधके समान सफेद और स्वच्छ है इसलिये उनके शरीरको स्पर्श करनेके लिये क्षीरसागरके जलके सिवाय अन्य कोई जल योग्य नहीं है यही विचारकर देवोंने बडे हर्षके साथ भगवानका अभिषेक करनेकेलिये पांचवें क्षीरसागरका जल लाना निश्चय किया ॥ १११-११२ ॥ उन देवोंने सुवर्णके जिन कलशोंसे भगवानका जन्माभिषेक करना प्रारंभ कियाथा वे कलश आठ योजन गहरे थे और उनका मुख एक योजन चौडा था । (उनका उदर भी चार

नवणोत्सव' ॥ १३ ॥ महामाना विरेजुस्ते सुराणामुद्धृता' करैः । कलशा' कलमषोन्मेषमोषिणो विघ्नकर्षिण' १४ ॥ प्रादुरासन्नभोभागे स्वर्ण कुम्भाधृतार्णसः। मुक्ताफलाचितग्रीवाश्चदनद्रवचर्चिता' ॥ १५ ॥ तेषाम योन्यहस्ताग्रसक्रातैर्जलपूरितै । कलशैर्व्यानशे व्योम हैमै साध्यैरिवाबुदै ॥१६॥ विनिममे बहून्बाहून्तानादित्सु शताध्वर । स तै साभरणैर्भेजे भूषणाग इवाङ्घ्रिप ॥ १७ ॥ दो' सहस्रोद्धृतै कुम्भैरौक्ममैर्मुक्ताफलाचितैः । भेजे पुलोमजाजानिर्भाजनागसमोपमा ॥ १८ ॥ जयेति प्रथमा धारां सौधर्मेंद्रो न्यपातयत् । तथा कलकलो भूयान्प्रचक्रे सुरकोटिभि. ॥ १९ ॥ सैषा

योजन चौडा था) ॥ ११३ ॥ भगवानके अभिषेकके समय छिद्रकालिमा आदि दोषोंसे रहित, अनेक विघ्नोंको दूर करनेवाले और देवोंके द्वारा हाथों हाथ उठाये हुये वे वडे भारी कलश बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ ११४ ॥ अब वे सुवर्णकलश जलसे भरे हुये आकाशमें दिखाई देने लगे, उनके कंठभाग अनेक प्रकारके मोतियोंसे जडेहुये थे और चारोंओरसे घिसे हुये चंदनसे चर्चित हो रहे थे ॥ ११५ ॥ जलसे भरे हुये उन सुवर्णकलशोंको देवलोग परस्पर एक दूसरेके हाथसे ले रहे थे उससमय उन कलशोंसे आकाश ऐसा व्याप्त होगया था मानों वह संध्याकी कुछ २ लालिमा युक्त वादलोंसे ही व्याप्त हो गया हो ॥ ११६॥ इंद्रने एक साथ उन सब कलशोंको हाथमें लेनेके लिये अपने विक्रियाबलसे अनेक भुजायें निर्माण करलीं । उस समय आभूषणसहित उन अनेक भुजाओंसे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११७ ॥ अथवा मोतियोंकी मालाओंसे सुशोभित सुवर्णमय हजार कलशोंको एक साथ हजार हाथोंसे उठाये हुये वह इंद्र ऐसा सुशोभित होता था मानों भाजनांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥ ११८ ॥ सौधर्म स्वर्गके इंद्रने जयजय शब्द करते हुये भगवानके मस्तकपर पहिली धारा छोडी उसीसमय जय जय शब्द करते हुये अन्य करोडों देवोंने भी एक वडा भारी कोलाहल कर दिया था ॥ ११९ ॥ भगवानके मस्तकपर पडती हुई वह जलकी धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों हिम-

धारा जिनस्याविमूर्द्ध्नि रेजे पतत्यपां । हिमाद्रे शिरसीवोच्चैरच्छिन्नांबुर्धुनिम्नगा ॥ २० ॥ तत कल्पेश्वरैस्सर्वैस्समं धारा निपातिता । संध्याभ्रैरिव सौवर्णे कलशैरबुसभृतैः ॥ २१ ॥ महानद्य इवापप्तन्धारा मूर्धनीगितुः । हेलयैव महिम्नासौ ताः प्रत्यैच्छद्गिरींद्रवत् ॥ २२ ॥ विरेजुरप्छटा दूरमुच्चलन्त्यो नभोगणे । जिनागस्पर्शससर्गात्पापान्मुक्ता इवोर्ध्वगा ॥ २३ ॥ काश्चनोच्चालिता व्योम्नि विबभुः शीकरच्छटा । छटामिवामरावासप्रागणेषु तितासव ॥ २४ ॥ तिर्यग्विसारिण. केचित्स्नानाम शीकरोत्करा । कर्णपूराश्रिय तेनुर्दिग्वधूमुखसगिनीं ॥ १२५ ॥ निर्मले श्रीपतेरगे पतित्वा

वान पर्वतके मस्तकपर बडे ऊंचेसे अखंड जलसे पडती हुई आकाशगंगा ही हो ॥ १२० ॥ सौधर्म इंद्रकी पडी हुई धाराके अनंतर कल्पवासी देवोंके अन्य सब इंद्रोंने मिलकर संध्यासमयकी कुछ कुछ ललाई लियेहुये बादलोंके समान जलसे भरे सुवर्णके कलशोंसे भगवानके मस्तकपर एक साथ जलधारा छोडी । यद्यपि वह धारा भगवानके मस्तकपर ऐसी पडरही थी मानों गंगासिंधू आदि सब महानदियों की मिली हुई एक धारा ही हो तथापि मेरुपर्वतके समान भगवान वृषभदेव अपने माहात्म्यसे लीलामात्रमें ही सब सहन कररहे थे ॥ १२१-१२२ ॥ उस जलधाराकी बहुतसी बूंदे भगवानके शरीरपर पडकर फिर ऊपर आकाशकी ओर दूरतक उछलती थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानका शरीर स्पर्शकर पापरहित होनेसे ऊपरको ही जा रही हों ॥ १२३ ॥ उससमय आकाशमें उछलती हुई कितनी ही पानीकी बूंदे ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों देवोंके निवास करनेवाले विमानोंके आंगनोंमें छींटे देकर उन्हें पवित्रही करना चाहती हों ॥ १२४ ॥ भगवानके स्नान किये हुये जलकी कितनी ही बूंदे दिशा विदिशाओंमें तिरछी जा रही थीं और वे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों दिशारूपी स्त्रियोंके मुखपर कर्णफूलकी शोभा ही हो ॥ १२५ ॥ भगवानका शरीर अत्यंत निर्मल था उसपर पडकर उसमें प्रतिबिंबित हुई जलकी धारायें ऐसी सुंदर जान पडती थीं मानों भगवानके शरीरका स्पर्श बडे ही भाग्यसे होता है इस-

प्रतिबिंबिता । जलधारा स्फुरंति स्म दिष्टिवृद्ध्येव संगताः ॥ २६ ॥ गिरेरिव विभोर्मूर्ध्नि सुरेंद्राभ्रैर्निपातिताः । विरेजुर्निर्झराकारा धारा क्षीरार्णवांभसा ॥ २७ ॥ तोषादिव खमुत्पत्य भूयोऽपि निपतत्यध । जलानि जहसुर्नूनं जडता स्वा स्वशीकरै. ॥ २८ ॥ स्वर्धुनीशीकरै. सार्द्धं स्पर्द्धां कर्तुमिवोर्ध्वगैः । शीकरैर्द्राक्पुनाति स्म स्वर्धामान्यमृतप्लव ॥ २९ ॥ पवित्रो भगवान्पूतैरंगैस्तदपुनाज्जल । तत्पुनर्जगदेवेदमपावीद्व्याप्तादिङ्मुख ॥ ३० ॥ तेनाम्भसा सुरेन्द्राणा पृतनाः प्लाविता. क्षण । लक्ष्यते स्म पयोवार्द्धौ निमग्नाग्य इवाऽकुला ॥ ३१ ॥ तदम्भ. कलशास्यस्थै. सरोजैः सममापतत् ।

समय भगवानके शरीरका स्पर्श करती हुई हम बडी ही भाग्यशालिनी हैं' इसप्रकार अपने भाग्यकी प्रशंसा करती हुई भगवानके शरीरसे मिल रही हों ॥१२६॥ पर्वतरूपी भगवानके मस्तकपर इंद्ररूपी बादलोंसे निर्झरनेके समान एक साथ पडती हुई क्षीरसमुद्रके जलकी धारा बडी ही अच्छी जान पडती थी ॥ १२७ ॥ भगवानके अभिषेकका जल संतुष्ट होकर प्रथम तो आकाशकी ओर उछलता था और फिर नीचे गिर पडता था। नीचे पडते समय वह ऐसा जान पडता था मानों अपनी छोटी छोटी सफेद बूंदोंसे अपनी मूर्खतापर ही हंस रहा हो क्योंकि मूर्ख ही ऊपर जाकर नीचे पडता है ॥१२८॥ वह क्षीरसागरका जल आकाशगंगाके जलबिंदुओंसे स्पर्द्धा करनेकेलिये ही मानों ऊपर उछलते हुये अपने जल बिंदुओंसे स्वर्गके विमानोंको बहुत शीघ्र पवित्र कर रहा था ॥ १२९ ॥ भगवानका शरीर स्वयं पवित्र था उसपर पडकर वह जल भी पवित्र हो गया था और वह पवित्र हुआ जल सब दिशाओंमें भरगया था इसलिये उसने यह समस्त संसार पवित्र कर दिया था ॥ १३० ॥ उस अभिषेकके जलमें देवोंकी सब सेना डूब गई थी और क्षणभरके लिये ऐसी दिखाई दे रही थी मानों क्षीरसागरमें डूबकर व्याकुल ही हो रही हो ॥ १३१ वह अभिषेकका जल मेरुपर्वतके मस्तकपर कलशोंके मुखपर रक्खे हुये कमलोंसहित पड रहा था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों वह हंसोंके समूह सहित ही पड रहा हो ॥१३२॥ उस जलके साथ साथ कलशोंके मुखपर रक्खे हुये अशोक

हसैरिव परां कांतिमवापाद्रींद्रमस्तके ॥ ३२ ॥ अशोकपल्लवैः कुंभमुखमुक्तैस्ततं पयः । सच्छायमभवत्कीर्णं विद्रुमाणामिवांकुरैः ॥ ३३ ॥ स्फाटिके स्नानपीठे तत्स्वच्छशोभमभाज्जलं । भर्तुः पादप्रसादेन प्रसेदिवदिवाधिकं ॥ ३४ ॥ रत्नांशुभिः क्वचिद्व्याप्तं विचित्रैस्तद्बभौ पयः । चापमैंद्रं द्रवीभूय पयोभावमिवागतं ॥ ३५ ॥ क्वचिन्महोपलोत्सर्पप्रभाभिररुणीकृतं । सध्यांबुदद्रवच्छायां भेजे तत्पावनं वनं ॥ ३६ ॥ हरिनीलोपलच्छायाततं क्वचिददो जलं । तमोघनमिवैकत्र निलीनं समदृश्यत ॥ ३७ ॥ क्वचिन्मरकताभीपुप्रतानैरनुरंजितं । हरितांशुकसच्छायमभवत्स्नपनोदकं ॥ ३८ ॥ तदंबुशीकरैर्व्योम समाक्रामद्भिराबभौ । जिनांगस्पर्शसंतोषात्प्रहासमिव नाटयत् ॥ ३९ ॥ स्नानांबुशीकराः केचिदानुसीमविलंघिनः । व्यात्युक्षीं स्वर्गल-

---

वृक्षोंके पत्ते भी पडते थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानों मूंगाके अनेक अकूरोंसे व्याप्त ही हो रहा हो ॥१३३॥ भगवानके विराजमान होनेका सिंहासन स्फटिकमणिका बना हुआ स्वच्छ था इसलिये उसपर पडता हुआ क्षीरसागरका स्वच्छ जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भगवानके चरणकमलके प्रसादसे वह और भी अधिक स्वच्छ हो गया हो ॥ १३४ ॥ कहीं कहीं चित्र विचित्र रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ वह जल ऐसा मनोहर जान पडता था मानों गलकर जलरूप हुआ इंद्रधनुष ही आगया हो ॥ १३५ ॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी उत्कटकांतिसे कुछ कुछ लाल हुआ वह पवित्र जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानो संध्यासमयका कुछ कुछ लाल बादल ही गलकर जलरूप हो गया हो ॥ १३६ कहीं कहींपर इंद्रनीलमणिकी कांतिसे व्याप्त हुआ वह अभिषेकका जल ऐसा दिखाई दे रहा था मानों अंधकारका समूह ही एक जगह आकर छिप गया हो १३७ ॥ और कहीं कहींपर हरितवर्णकी मरकतमणियोंकी किरणोंके समूहसे मिला हुआ वह अभिषेकका जल ठीक हरे वस्त्रके समान जान पडता था ॥ १३८ ॥ भगवानके अभिषेककी छोटी छोटी बूंदोंसे भरा हुआ आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भगवानके शरीरके स्पर्शसे अतिशय संतुष्ट होकर हंस ही रहा हो ॥ १३९ ॥ भगवानके अभिषेककी कितनी ही बूंदें आकाशकी सीमाका उलंघन करती हुई ऐसी सुशो-

क्ष्म्येव कर्तुकामाश्वकाशिरे ॥ ४० ॥ विष्वगुच्छलिता काश्चिदच्छदा रुद्धदिक्तटाः । व्यापहासीमिवानंदाद्दिग्वधूभिः समं व्यधुः ॥ ४१ ॥ दूर-मुत्सारयन्स्वैरमासीनान्सुरदंपतीन् । स्नानपूरः स पर्यंतान्मेरोराशिश्रियत् द्रुतं ॥ ४२ ॥ उदभार पयोवार्द्धेरापतन्मंदराद्ध्वं । आमूतलं तदुन्मानमिमानं इव दिग्गुते ॥ ४३ ॥ गुहामुखैरिवापीतः शिखरैरिव खात्कृतः । कंदरैरिव निष्ठगूत प्राघ्नोन्मेरौ पयःप्लवः ॥ ४४ ॥ किं गौर्यस्त्रिदशैर्मुक्ता मे स्वर्गताधुना । नूनमित्यकपीन्मेरुर्दिव स्नानांबुनिर्झरैः ॥ ४५ ॥ अहूलगीदाखिलं व्योम ज्योतिश्चक्रं समस्थगीत् । प्रौर्णवीन्मेरुमारुधन्क्षी-

भित हो रही थीं मानों स्वर्गकी लक्ष्मीके साथ परस्पर जलक्रीडा करना ही चाहती हों ॥ १४० ॥ उस जलकी कितनी ही बूंदें सब दिशाओंको रोककर सबओर उछल रही थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों हर्षसे दिशारूपी स्त्रियोंके साथ हास्य ही कर रहीं हों ॥ १४१ ॥ वह भगवानके अभिषेक-जलका भारी प्रवाह अपनी इच्छानुसार बैठे हुये सुरदंपतियोंको (देवदेवियोंको) दूर हटाता हुआ बहुत शीघ्र मेरुके अंत पर्यंत पहुंच गया था तथा ॥ १४२ ॥ मेरुपर्वतसे नीचे भूमिपर्यंत पडता हुआ वह क्षीरसागरका जलप्रवाह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मेरुपर्वतको नापनेका एक (रस्सी) ही हो ॥ १४३ ॥ मेरु पर्वतपर जलका प्रवाह इतना बढ गया था कि शिखरोंपर आकाशके समान जान पडता था, कंदराओंसे निकल रहा था और गुफाओंके द्वारोंपर रुका हुआ ऐसा जान पडता था मानों उसे मेरुपर्वत पान ही कर रहा हो ॥१४४॥ अभिषेकजलके जो निर्झरने पड रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वह पर्वत स्वर्गको धिक्कार देता हुआ यही कह रहा हो कि अब तो स्वर्गको देवोंने भी छोड दिया अब वह क्या चीज है अब देव सब मेरे यहां आगये हैं इसलिये अब तो-साक्षात् स्वर्ग मुझे ही कहना चाहिये ॥१४५॥ उस क्षीरसागरके प्रवाहने समस्त आकाशको आच्छादन करलिया था, ज्योतिश्चक्रको घेर लिया था मेरुको ढकलिया था और पृथ्वी आकाश सबको रोक लिया था ॥ १४६॥ उस अभिषेकके जलके प्रवाहने मेरुपर्वतके वनोंमें जाकर देखा कि वहांके वृक्ष कभी

रपूर: स रोदसी ॥ ४६ ॥ क्षणमक्षीणनीथेषु वनेषु कृतविश्रम. । प्रासक्षण इवान्यत्र व्याप सोंभःप्लव. क्षणात् ॥ ४७ ॥ तरुखण्डनिरुद्धत्वार्दत्तवेग- मनुल्बणः । वनवीथीरतीत्यारात्ससार महाप्लव ॥ ४८ ॥ स बभासे पय पूर प्रसर्पन्नधिशैलराट् । सितैरिवांशुकैरेन स्थगयन्स्थगिताबर ॥ ४९ ॥ विष्वगद्रींद्रमूर्णुत्वा पयोर्णवजलप्लव । प्रवहन्नवहच्छाया स्व स्रवत्या पय स्रुते ॥ १५० ॥ शब्दाद्वैतमिवातन्वन्कुर्वन्सृष्टिमिवाप्मयी । विलसत् पय पूर. प्रध्वनन्नद्रिकुक्षिषु ॥ ५१ ॥ विष्वगाप्लावितो मेरुरपप्लवैरामहीतल । अजातपूर्वता भेजे मनसा ज्ञायिनामपि ॥ ५२ ॥ न मेरुरयमुत्फुल्लन-

नष्ट नहीं होते यह देखकर उसने वहां क्षणभर विश्राम किया और फिर संतुष्ट होकर दूसरे ही क्षणमें वह सब जगह व्याप्त हो गया ॥ १४७ ॥ वह जल जबतक वनमें था तबतक तो वृक्षोंके समूहसे रोका गया था इसलिये वहां उसे बहुत धीरे धीरे चलना पडा था परंतु बनसे निकलते ही वह बहुत शीघ्र फैल गया था ॥ १४८ ॥ मेरुपर्वतको सुशोभित करनेवाला और आकाशको आच्छादन करनेवाला वह जलका प्रवाह ऐसा सुशोभित होता था मानों मेरुपर्वतको सफेद वस्त्रसे आच्छादन ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥ वह क्षीरसागरके जलका प्रवाह मेरुपर्वतको चारोंओरसे आच्छादनकर बहता हुआ ऐसा जान पडता था मानों आकाशगंगाके जलकी मोटी धारा ही हो ॥ १५० ॥ अथवा वह जलका प्रवाह मेरुपर्वतकी गुफाओंमें गंभीर शब्द करता हुआ ऐसा जान पडता था मानों वैयाकरणके द्वारा मानेहुये स्फोटवादकी (संसारको शब्दमय मानना स्फोटवाद कहलाता है) सिद्धि ही कर रहा हो अथवा इस संसारको जलमय ही करना चाहता हो ॥ १५१ ॥ वह पर्वत ऊपरसे नीचे पृथ्वीतक चारों ओरसे उस जलके प्रवाहसे ढक गया था इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी देवोंको भी वह एक अपूर्व ही जान पडा था। क्योंकि वह मेरु पहिले सुवर्णमय पीला था और अब सर्वथा सफेद जान पडता था ॥ १५२ ॥ उस समय वह पर्वत कमलनालके तंतुओंके समान अथवा खिले हुये सफेद फूलोंसे सुशोभित नमेरु जातिके वृक्षोंके (देववृक्षोंके)

मेरुतरुराजित । राजतो गिरिरेष स्यादुल्लसाद्रिसपांडुर. ॥ ५३ ॥ पीयूषस्यैव राशिर्नु स्फाटिको नु शिलोच्चयः । सुधाधवलितः किं तु प्रासादास्त्रिजगच्छ्रियः ॥ ५४ ॥ वितर्कमिति तन्वानो गिरिराजे पय प्लव । व्यानशे विश्वदिक्कांतो दिक्कांता स्नपयन्निव ॥ ५५ ॥ ऊर्ध्वमुच्चलिताः कोचिच्छीकरा विश्वदिग्गता । श्वेतच्छत्रश्रिय मेरोरातेनुर्विधुनिर्मला ॥ ५६ ॥ हारनीहारकल्हारकुमुदाभोजसात्विष । प्रावर्तत पय पूरा यशःपूरा इवार्हतः ॥ ५७ ॥ गगनागणपुष्पोपहारा हारामलत्विष । दिग्वधूकर्णपूरास्ते बभु स्नानाम्बुशीकरा ॥ ५८ ॥ शीकरैराकिरन्नाकमालोकांतविसर्पिभि । ज्योतिर्लोकमनुप्राप्य जजृम्भे सोऽम्भसा प्लव ॥ ५९ ॥ स्नानपूरे निमग्नाग्यस्तारास्तरलरोचिष । मुक्ताफलश्रिय भेजुर्विप्रकीर्णाः समतत ॥ १६० ॥

समान सफेद हो रहा था इसलिये वह मेरु नहीं जान पडता था किंतु रजतमय (चांदीका) कोई अन्य पर्वत ही जान पडता था । १५३ ॥अथवा क्या यह अमृतकी राशि है अथवा स्फटिकपाषाणकी शिलाओंका ढेर है अथवा चूनेसे सफेद किया हुआ तीनों जगतकी लक्ष्मीका राजभवन है इसप्रकार अनेक तर्क वितर्क उत्पन्न करता हुआ वह जलका प्रवाह उस मेरुपर्वतकी सब दिशाओंमें इसप्रकार फैल गया था मानों दिशारूप स्त्रियोंका अभिषेक ही करा रहा हो ॥ १५४-१५५ ॥ चंद्रमाके समान निर्मल उस अभिषेकके जलकी कितनी ही बूंदें सब दिशाओंकी ओर ऊपरको उछलती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मेरुपर्वतपर सफेद छत्र ही लगा हो ॥ १५६ ॥ वह जलका प्रवाह मोतियोंका हार, बरफ, सफेद कमल और कमोदिनियोंके समान सफेद था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों भगवान अरहंतदेवके यशका समूह ही हो ॥ १५७ ॥हारके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाले वे आकाशमें उछलतेहुये जलबिंदु ऐसे सुशोभित होते थे मानों आकाशरूपी आंगनमें पूजाके पुष्प ही फैले हों अथवा दिशारूप स्त्रियोंके कर्णफूल ही हों ॥ १५८ ॥ वह जलका प्रवाह लोकपर्यंत उछलनेवालीं बूंदोंसे स्वर्गलोकमें भी व्याप्त हो गया था और नीचेकी ओर ज्योतिर्मंडलतक पहुंचकर सबओर फैल गया था तब ॥ १५९ ॥ भगवानके अभिषेकजलके प्रवाहमें डूबकर सब ताराओंकी कांति चंचल हो

'तारकाः क्षणमध्यास्य स्नानपूरं विनिःसृताः । पयोलवस्रुतो रेजुः करकाणामिवालयः ॥ ६१ ॥ स्नानांभसि बभौ भास्वांस्तत्क्षणं कृतनिर्वृतिः । तप्तः पिंडो महालौहः पानीयमिव पायितः ॥ ६२ ॥ पयःपूरे वहत्यस्मिन् श्वेतभानुर्व्यभाव्यत । जरद्धंस इवोदूढजाडिमा मथर तरन् ॥ ६३ ॥ ग्रहमंडलमाकृष्टं पर्यन्तैः सलिलप्लवैः । विपर्यस्तां गतिं भेजे वक्रचारमिवाश्रितं ॥ ६४ ॥ भगणः प्रगुणीभूतकिरणः जलविप्लुतः । सिषेवे पूषण मोहात्प्रालेयांशुविशंकया ॥ ६५ ॥ ज्योतिश्चक्रं क्षरज्ज्योतिः क्षीरपूरमनुभ्रमत् । वेलातिक्रमभीत्येव नास्थादेकमपि क्षणं ॥ ६६ ॥ ज्योतिः पटलमित्या-

---

गई थी और इसलिये वे ऐसे सुशोभित होते थे मानों सब ओर भरेहुये मोती ही हों ॥१६० ॥ वे तारे क्षणभर उस जल प्रवाहमें रहकर तुरंत ही अलग होगये थे। जलप्रवाहसे अलग होनेपर भी उनसे थोडा थोडा पानी टपक रहा था इसलिये उस समय वे ऐसे जान पडते थे मानों गलती हुई ओलोंकी पंक्ति ही हो ॥ १६१ ॥ सूर्य भी क्षणभर उस जलप्रवाहमें रहकर और उससे अलग होकर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों एक बडा भारी लोहेका गोला अग्निमें तपाकर और पानीमें डालकर निकाला गया हो ॥ १६२ ॥ उस जलप्रवाहके बहते समय स्वेत किरणयुक्त चंद्रमा भी ऐसा सुंदर जान पडता था मानों अत्यंत कमजोर और धीरे धीरे तैरता हुआ बूढा हंस ही हो ॥ १६३ ॥ उस समय ग्रहमंडल (नक्षत्र तारे आदि) भी ऐसा जान पडता था मानों चारों ओर फैले हुये जलप्रवाहके खिंचावसे विपरीत गतिको प्राप्त हो गया हो और इसलिये ही उसने वक्रगतिका (गोलाईरूप टेडी गतिका) आश्रय लिया हो ॥ १६४ ॥ उस समय सूर्य भी उस जलप्रवाहमें डूब गया था उसकी किरणें भी शीतल और सीधी हो गई थीं इसलिये नक्षत्र मंडल भी उसे चंद्रमा समझकर उसकी सेवा करने लगा था ॥ १६५ ॥ समस्त ज्योतिश्चक्र भी उस जलप्रवाहमें डूबकर और कांतिरहित होकर उस जलप्रवाहके साथ साथ बहने लगा था मानों अस्त होनेका समय व्यतीत हो जानेके भयसे एक क्षण भी न ठहर सका हो ॥ १६६ ॥ जिसप्रकार

प्रील्लानौघे क्षणमाकुलं । कुलालचक्रमाविद्धमिव तिर्यक्परिभ्रमं ॥ ६७ ॥ पर्यापतद्भिरुत्संगाद्गिरेः स्वर्लोकधारिणः । विरलैः स्नानपूरैस्तैर्नृलोकः पावनीकृत ॥ ६८ ॥ निर्वापिता मही कृत्स्ना कुलशैलाः पवित्रिता । कृता निरीतयो देशाः प्रजा क्षेमेण योजिता ॥ ६९ ॥ कृत्स्नामिति जगन्नाडीं पवित्रीकुर्वतामुना । किं नाम स्नानपूरेण श्रेय शेषितमगिना ॥ ७० ॥ अथ तस्मिन्महापूरे ध्वानापूरितादिङ्मुखे । प्रशाते शमिताशेषभुवनोष्मण्यशेषत ॥ ७१ ॥ रेचितेषु महामेरो कंदरेषु जलप्लवै । प्रत्याश्वासमिवायाते मेरौ सवनकानने ॥ ७२ ॥ धूपेषु दह्यमानेषु सुगंधीधनयोनिषु । ज्वलत्सु मणिदीपेषु भक्तिमात्रोपयोगिषु ॥ ७३ ॥ पुण्यपाठान्पठत्सूच्चैः संपाठ सुरबंदिषु । गायंतीषु सुकंठीषु किन्नरीषु क्रलस्वनं ॥ ७४ ॥

फिराया हुआ कुंभारका चाक टेडा फिरता है उसीप्रकार उस जलप्रवाहके द्वारा क्षणभरके लिये व्याकुल हुआ ज्योतिश्चक्र भी टेडा (तिरछा) फिरने लगा था ॥ १६७ ॥ स्वर्गलोकको धारण करनेवाले मेरु पर्वतके मस्तकपरसे वह अभिषेकजलका प्रवाह छितिर वितिर होकर पड रहा था और समस्त मनुष्यलोकको पवित्र कर रहा था ॥ १६८ ॥ उस जलप्रवाहने समस्त पृथ्वी सुखरूप कर दी थी, कुलपर्वत सब पवित्र कर दिये थे, देशोंकी अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि सब ईति भीति दूर कर दी थीं और सब प्रजाको सुखी करदिया था। इसप्रकार उसने यह समस्त लोकनाडी ही पवित्र कर दी थी फिर भला जीवोंका ऐसा कौनसा कल्याण था जो उसने बाकी छोड दिया हो। भावार्थ- उसने जीवोंके सब कल्याण पूर्ण कर दिये थे ॥ १६९-१७० ॥

अथानंतर जिस समय दशों दिशाओंको शब्दायमान करनेवाला और संपूर्ण संसारकी समस्त उष्णता शांत करनेवाला वह जलप्रवाह शांत होगया ॥ १७१ ॥ जब मेरु पर्वतकी गुफाओंमेंसे सब जलका प्रवाह निकल गया, मेरु जल और वन सबने थोडा विश्राम लिया और ॥१७२॥ देवोंने अगुरु चंदन आदि सुगंधित लकडियोंकी अग्निमें धूप डालना प्रारंभ किया, और केवल भक्ति वश होकर ही मणियोंके दीपक जलाये, ॥ १७३ ॥ जब देवोंके बंदीजन बडी अच्छीतरह

जिनकल्याणसंबंधिमंगलोद्गीतिनिस्स्वनैः । कुर्वाणे विश्वगीर्वाणलोकस्य श्रवणोत्सवं ॥ १७५ ॥ जिनजन्माभिषेकार्थप्रतिबद्धार्थनिदर्शनैः । नाट्यवेद प्रयुञ्जाने सुरशैलूषपेटके ॥ १७६ ॥ गंधर्वारब्धसंगीतमृदंगध्वानिमूर्छिते । दुंदुभिध्वनिते मंद्रे श्रोत्रानंद प्रतन्वति ॥ १७७ ॥ कुचकुंभैः सुरस्त्रीणां कुंकुमाक्तैरलंकृते । हाररोचि प्रसूनौघकृतपुष्पोपहारके ॥ १७८ ॥ मेरुरंगेऽप्सरोवृंदे सलील परिनृत्यति । करणैरंगहारैश्च सलयैश्च परिक्रमैः ॥१७९॥ शृण्वत्सु मंगलोद्गीती सावधानं सुधाशिषु । वृत्तेषु जनजल्पेषु जिनप्राभवशंसिषु ॥ १८० ॥ नादीतूर्यरवे विष्वगापूरयति रोदसी । जयघोषप्रति-

---

और जोर जोरसे पुण्य उत्पन्न करनेवाला पाठ पढ रहे थे, मनोहर कंठवाली किन्नरी देवियां मधुर गीत गा रहीं थीं, ॥१७४॥ भगवानके कल्याणसंबंधी मंगल गीतोंके+ शब्द जब समस्त देवलोगोंके कानोंको सुखी कर रहे थे, ॥ १७५ ॥ जब अनेकप्रकारके नृत्य करनेवाले देवोंके समूह भगवानके जन्म कल्याणके अर्थोंसे भरे हुये अनेक दृष्टांतोंके द्वारा नृत्य कर रहे थे, ॥१७६॥ जब गंधर्वदेवोंके द्वारा गाये हुये गीत और मृदंगकी मधुर ध्वनिसे मिले हुये दुंदुभी बाजोंके गंभीर शब्द कानोंको आनंद पहुंचा रहे थे ॥ १७७ ॥ जब कुंकुम लगे हुये देवियोंके कुचरूपी कुंभोंसे सुशोभित और हारोंकी किरणरूपी पुष्पोंके द्वारा विखरे हुये पुष्पोंके समान अलंकृत ऐसे मेरुपर्वत रूपी रंगभूमिमें अनेक अप्सराओंका समूह हाथ उठाकर शरीर हिलाकर, अद्भुत रीतिसे पैर उठाकर और तालके साथ अनेक लीलायें करता हुआ नृत्य कर रहा था तथा ॥ १७८-१७९ ॥ देवलोग सावधान होकर मंगल गीत सुन रहे थे और अनेक जन भगवानके जन्म कल्याणकी प्रशंसा करते हुये अनेक श्लोक पढ रहे थे, ॥ १८० ॥ जब मंगलकारक बाजोंके शब्द पृथ्वी और आकाशमें सब ओर भरगये थे, जब जय जय शब्दोंकी प्रतिध्वनियोंसे मानों मेरुपर्वत ही भगवानकी स्तुति

+ हे देव आपकी जय हो, आप सदा जीवित रहें, सदा बढते रहें, सदा विजय प्राप्त करते रहें, शत्रुओंको जीतते रहें, चिरकालतक आपका प्रताप बढता रहे, आपका कल्याण हो, मंगल हो, आप दीर्घायु हों इत्यादि मंगलगीत कहलाते हैं ।

ध्वानैःस्तुवान इव मंदरे ॥ ८१ ॥ संचरत्खेचरीवक्त्राम्बुकणचुंबिनि । धूतोपांतवने वाति मंदं मंद नभस्वति ॥ ८२ ॥ सुरदौवारिकैश्चित्रवेत्रदंडत्र-रैर्उद्. । सामाजिकजने विष्वक्सार्यमाणे सहुंकृत ॥ ८३ ॥ तत्समुत्सारणत्रासान्मूकीभावमुपागते । अनियुक्तजने सद्यश्चित्रार्पित इव स्थिते ॥८४॥ शुद्धाम्बुस्नपने निष्ठा गते गंधाम्बुभिः शुभैः । ततोऽभिषेक्तुमीशान शतयज्वा प्रचक्रमे ॥ ८५ ॥ श्रीमद्गंधोदकैर्दिव्यैर्गंधाकृष्टमधुव्रतैः । अभ्यषिंचद्विधानज्ञो विधातारं शताध्वरः ॥ ८६ ॥ पूता गंधाम्बुधारासावापतंती तनौ विभोः । तद्गंधातिशयात्प्राप्तलज्जेवासीदवाङ्मुखी ॥ ८७ ॥ कनत्कनकभृंगारनालाद्धारा पतत्यसौ । रेजे भक्तिभरेणेव जिनमानमुचता ॥ ८८ ॥ विभोर्देहप्रभोत्सर्पैस्तडिदापिंजरैस्तता । साभाद्विभावसो दीप्ते प्रयुक्तेव घृता-

---

कर रहा था, ॥ १८१ ॥ जब इधर उधर फिरती हुई विद्याधरियोंके मुखके पसीनेके जलबिंदुओंको स्पर्श करता हुआ वायु अपने समीपवर्ती बनके वृक्षोंको हिलाता हुआ धीरे धीरे बह रहा था, ॥ १८२ ॥ जब अनेक चित्र विचित्र बेंत हाथमें लिये देवोंके द्वारपाल चारों ओर फैले हुये सभाके लोगोंको हुंकार (हुं हुं) शब्दोंके द्वारा बार बार कुछ पीछेकी ओर हटा रहे थे ॥ १८३ ॥ उन द्वारपालोंके डरसे जब अनेक सभासद अपने आप ही चित्रमें लिखी हुई मूर्तिके समान निश्चल और चुप हो गये थे ॥ १८४ ॥ और जब शुद्धजलका अभिषेक समाप्त हो गया था तब इंद्रने पवित्र गंधोदकसे भगवान वृषभदेवका अभिषेक करना प्रारंभ किया ॥ १८५ ॥ जिसकी सुगंधसे लुब्ध होकर अनेक भ्रमर चारोंओर उड रहे हैं ऐसे उत्तमोत्तम गंधोदक द्रव्यसे विधिविधान जाननेवाले इंद्रने भगवान वृषभदेवका अभिषेक किया ॥ १८६ ॥ वह पवित्र गंधोदककी धारा भगवानके शरीरपर पडती हुई ऐसी जान पडती थी मानों भगवानके शरीरकी अतिशय सुगंधि देखकर लज्जावश उसने अपना मुख नीचा ही कर लिया हो ॥ १८७ ॥ देदीप्यमान सुवर्णमयी झारीकी नालसे वेगसे पडती हुई वह धारा ऐसी सुशोभित होती थी मानों भक्तिवश वह भगवानको नमस्कार ही कर रही हो ॥ ८८ ॥ बिजलीके समान कुछ कुछ पीले ऐसे भगवानके शरीरकी कांतिके समूहसे मिली

हुति ॥ ८९ ॥ निसर्गसुरभिण्यगे विभोरत्यतनावने । पतित्वा चारितार्थ्यं सा स्वसात्कृत तद्गुणान् ॥ ९० ॥ सुगंधिकुसुमैर्गंधद्रव्यैरपि सुवासिता । सा नात्यातिशयं कंचिद्विभोरगेंभसा ततिः ॥ ९१ ॥ समस्ताः पूरयत्याशा जगदानददायिनी । वसुधारेव धारासौ क्षीरधारा मुदेऽस्तु नः ॥ ९२ ॥ या पुण्यास्रवधारेव सूते संपत्परंपरा । सास्मान्गंधपयोधारा विनोत्ज्ञानियनैर्धनैः ॥ ९३ ॥ या निशाता-सिधारेव विघ्नवर्गं विनिघ्नती । पुण्यगंधाम्भसां धारा सा शिवाय सदास्तु नः ॥ ९४ ॥ माननीया मुनींद्राणा जगतामेकपावनी । सा

हुई वह गंधोदककी धारा ऐसी जान पडती थी मानों दैदीप्यमान जलती हुई अग्निमें घीकी आहूति ही पड रही हो ॥ १८९ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुगंधित था अत्यंत पवित्र था इसलिये वह गंधोदककी धारा उस शरीरपर पडकर स्वयं कृतार्थ हो गई थी और भगवानके शरीरकी सुगंधता और पवित्रता ये दोनों गुण भी उसने ग्रहण कर लिये थे ॥ १९० ॥ यद्यपि वह जलसमूह अतिशय सुगंधित पुष्पोंसे और अनेक सुगंधित द्रव्योंसे सुवासित किया गया था तथापि वह भगवानके शरीरपर कुछ भी अधिक अतिशय नहीं कर सका था, क्योंकि भगवानका शरीर स्वभा-वसे ही सर्वोत्कृष्ट था ॥ १९१ ॥ दुग्धधारारूप परिणत हुई वह गंधोदककी धारा हम भक्तजनोंकेलिये रत्नधाराके समान संतोषकारक हो, क्योंकि जिसप्रकार रत्नधारा समस्त आशा अर्थात् इच्छाओंको पूर्ण करती है उसीप्रकार वह गंधोदककी धारा भी समस्त आशा अर्थात् दिशाओंमें व्याप्त हो रही थी और रत्नधारा जिसप्रकार संसारको आनंद देनेवाली होती है उसीप्रकार वह धारा भी समस्त संसारको आनंद देनेवाली थी ॥ १९२ ॥ जो सुगंध जलकी धारा पुण्यकर्मोंकी आस्रवधाराके समान अनेक संपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाली है वह कभी जन्ममरण उत्पन्न न करनेवाले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी धनसे हम भक्तजनोंको संतुष्ट करो ॥ १९३ ॥ अथवा जो तलवारके समान तीक्ष्ण होकर विघ्नसमूहको नाश करनेवाली है वह पुण्य

व्याद्गंधांबुधारासानुया स्म व्योमापगायते ॥ ९५ ॥ तनुं भगवतः प्राप्य याता यातिपवित्रतां । पवित्रयतु नः स्वांतं धारा गंधांभसामसौ ॥९६॥ कृत्वा गंधोदकैरित्थमभिषेकं सुरोत्तमाः । जगतां शांतये शांतिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥ ९७ ॥ प्रचक्रुरुत्तमांगेषु चक्रुः सर्वांगसंगतं । स्वर्गलोपायनं चक्रुस्तद्गंधांबु दिवौकसः ॥ ९८ ॥ गंधांबुस्नपनस्यांते जयकोलाहलैः समं । व्यात्युक्षीममराश्चक्रुः सचूर्णैर्गंधवारिभिः ॥ ९९ ॥ निवृत्तावभिषेकस्य कृतावभृथमज्जनाः । परीत्य परमं ज्योतिरानर्चुर्भुवनार्चितं ॥ २०० ॥ गंधैर्धूपैश्च दीपैश्च साक्षतैः कुसुमोदकैः । मंत्रपूतैः फलैः सार्धैः सुरेंद्रा विभुमीजिरे ॥ १ ॥ कृतेष्टयः कृतानिष्टविघाताः कृतपौष्टिकाः । जन्माभिषेकमित्युच्चैर्नाकेंद्रा निरतिष्ठिपन् ॥ २ ॥ इंद्रेंद्राण्यौ समं देवैः परमानंददायिनं ।

उत्पन्न करनेवाली गंधोदककी धारा हमलोगोंके लिये सदा मोक्ष सुख देनेवाली हो ॥ १९४ ॥ जो गंधोदककी धारा मुनियोंको भी मान्य है, संसारको पवित्र करनेवाली एक ही वस्तु है और इसलिये ही जो आकाशगंगाके समान जान पडती है वह धारा हमलोगोंकी सदा रक्षा करो ॥१९५ ॥ जो गंधोदककी धारा भगवानके शरीरको पाकर अतिशय पवित्र हो गई है वह हम लोगोंके अंतःकरणको पवित्र करो ॥ १९६ ॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवान वृषभदेवका गंधोदकसे अभिषेक किया और तदनंतर वे संसारकी शांतिके लिये बडे जोरसे शांति करनेवाले मंत्र पढने लगे ॥ १९७ ॥ शांतिपाठ पूर्ण होने पर सब देवोंने प्रथम ही वह गंधोदक अपने २ मस्तकपर लगाया फिर अपने सब शरीरसें लगाया और फिर भी जो वचा उसे स्वर्गको ले जानेके लिये रख लिया ॥ १९८ ॥जब गंधोदकसे भगवानका अभिषेक हो चुका तब सब देव एकसाथ जयजय शब्द करतेहुये चूर्ण मिला हुआ सुगंध जल परस्पर एक दूसरेके ऊपर डालने लगे ॥ १९९ ॥ इसप्रकार अभिषेकक्रिया समाप्त होनेपर सब देवोंने जलस्नान किया और फिर त्रिलोकपूज्य और परम ज्योतिस्वरूप भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा देकर पूजा की ॥ २०० ॥मंत्रसे पवित्र कियेहुये जल चंदन अक्षत पुष्प नैवेद्य दीप धूप फल और अर्घ इन सब द्रव्योंसे सब इंद्रोनें भगवानकी पूजा की ॥२०१॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवानकी पूजा की उस पूजाके

क्षण चूडामार्णि मेरोः परीत्यैनं प्रणमेतु ॥ ३ ॥ दिवोपप्तत्तदा पौष्पी वृष्टिर्जलकणैः समं । मुक्तानंदाश्रुबिंदूना श्रेणीव त्रिदिवश्रिया ॥ ४ ॥ रजः-पटलमाधूय सुरागसुमनो व । मातरिश्वा ववौ मद स्नानाभ शीकरान्किरन् ॥ ५ ॥ सज्योतिर्भगवान्मेरो कुलशैलायिता सुराः । क्षीरैनाविता कुभा. सुरनार्योप्सरायिता ॥ ६ ॥ शक्रः स्नापयितादींद्र स्नानपीठ सुरांगना. । नर्तक्य किंकरा देवा. स्नानद्रोणी पयोर्णवः ॥ ७ ॥ इति श्लाघ्यतमे मेरौ निर्वृत्तः स्नपनोत्सव । स यस्य भगवान्पूयात्पूतात्मा वृषभो जगत् ॥ ८ ॥ अथ पवनकुमाराः स्वामिवमान्यभक्तिं दिशि दिशि

द्वारा अपने सब अनिष्टोंका नाश किया और अंतमें पौष्टिककर्म करके बडे समारोहके साथ भगवा-नका जन्माभिषेक समाप्त किया ॥ २०२ ॥ अनंतर सौधर्म स्वर्गके इंद्र और इंद्राणीने सब देवोंके साथ सब जीवोंको आनंदित करनेवाले और क्षणभरकेलिये मेरुपर्वतकी चूडामणिके समान सुशोभित होनेवाले भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा दी और उन्हें नमस्कार किया ॥२०३॥ उस समय स्वर्गसे पानीकी छोटी २ बूंदोंके साथ पुष्पवृष्टि हो रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानो स्वर्गकी लक्ष्मीकी आनंदाश्रुकी बहुतसी बूंदें ही पड रही हों॥२०४॥उससमय कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे उत्पन्नहुये परागसमूहको हिलाता हुआ और भगवानके अभिषेकजलकी बूंदोंको वरसाता हुआ वायु भी मंद मंद रीतिसे वह रहा था ॥२०५॥ उससमय भगवान ऋषभदेव मेरुके समान जान पडते थे, देव कुलपर्वतोंके समान जान पडते थे, कलश दूधके मेघसमान मालूम हो रहे थे और देवांगनायें सरोवरोंके समान जान पडती थीं ॥ २०६ ॥ जिस भगवानके अभिषेकोत्सवमें इंद्र स्वयं अभिषेक करानेवाला था, मेरुपर्वत स्नानकरनेका सिंहासन था, देवांगनायें नृत्य करनेवाली थीं, देव सब किंकर थे और स्नान-करनेका जलपात्र क्षीरसमुद्र था । इसप्रकार अतिशय प्रशंसनीय मेरुपर्वतपर जिसका अभिषे-कोत्सव समाप्त हुआ था वह महापवित्र भगवान ऋषभदेव संसारको पवित्र करो ॥ २०७-२०८ ॥

अथानंतर—पवनकुमार जातिके देव भगवानकी उत्कृष्ट भक्तिको अपनी समझकर ही

विभजंतो मदमद विचेरु. । मुमुचुरमृतगर्भा. सीकरासारधाराः किल जलदकुमारा मेरवीष्ठ स्थलीषु ॥ ९ ॥ सपदि विधुतकल्पानोकहैर्व्योमगंगा शिशिरतरतरंगोत्क्षेपदक्षैर्मरुद्भिः । तटवनमनुपुष्पाण्याहरद्भि समतात् परिगतिमिव कर्तुं बभ्रमे शैलभर्तुः ॥ १० ॥ अनुचितमशिवानां स्थातुमद्य त्रिलोक्या जनयति शिवमास्मिन्नुत्सवे विश्वभर्तु । इति किल शिवमुच्चैर्घोषयन् दुंदुभीना सुरकरनिहताना शुश्रुवे मद्रनादः ॥ ११ ॥ सुरकुजकुसुमानां वृष्टिरापतदुच्चैरमरकरविकीर्णा विष्वगाकृष्टभृगा । जिनजननसपर्यालोकनार्थं समतात् नयनततिरिवाविर्भाविता स्वर्गलक्ष्म्या ॥ १२ ॥ इत्थ यस्य सुरासुरै प्रमुदितैर्जन्माभिषेकोत्सवश्चक्रे शक्रपुरस्सरै सुरगिरो क्षीरार्णवस्याम्बुभि. । नृत्यतीषु सुरागनासु सलय नानाविधैर्लास्यकै

सब दिशाओंमें बांटते हुये मंद मंद रीतिसे वायु चलाने लगे और मेघकुमार जातिके देव-उस मेरुपर्वतकी भूमिपर अमृतसे भरी हुई जलवृष्टि करने लगे ॥ २०९॥ जो वायु शीघ्रशीघ्र कल्पवृक्षोंको हिला रहा था, आकाशगंगाकी अत्यंत शीतल तरंगोंको उडा रहा था और मेरुपर्वतके समीपवर्ती बनोंके पुष्पोंको ग्रहण कर रहा था वह चारों ओर भ्रमण करता हुआ ऐसा शोभायमान हो रहा था मानों भगवान ऋषभदेवकी प्रदक्षिणा ही दे रहा हो ॥ २१०॥ देवोंके हाथोंसे बजाये हुये दुंदुभी बाजोंके गंभीर शब्द ऐसे सुनाई दे रहे थे मानों अनेक कल्याणोंकी घोषणा ही कर रहे हों और साथ साथमें यह भी कह रहे हों कि अब विश्वनाथ भगवान ऋषभदेवके जन्मोत्सवमें अनेक कल्याण हो रहे हैं, अब तीनों लोकोंमें कहीं भी अकल्याणोंका ठहरना उचित नहीं है ॥२११॥ आकाशसे देवोंके द्वारा छोडेहुये कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी वर्षा हो रही थी और उन पुष्पोंपर चारोंओरसे भ्रमर पड रहे थे इसलिये वे भ्रमरों सहित पुष्प ऐसे जान पडते थे मानों स्वर्गकी लक्ष्मीने भगवानके जन्मोत्सवका पूजन देखनेकेलिये चारों ओरसे अनेक नेत्र ही बनाकर भेजे हों ॥२१२॥ इसप्रकार जिससमय अनेकदेवांगनायें ताल और नानाप्रकारकी नृत्यकलाके साथसाथ नृत्यकररही थीं उस-समय इंद्रादि देव और भवनवासी आदि असुरोंने बडे हर्षसे मेरुपर्वतपर क्षीरसागरके जलसे जिनका जन्मा-

स श्रीमान्वृषभो जगत्त्रयगुरुर्जीयाज्जिनः पावनः ॥ १३ ॥ जन्मानंतरमेव यस्य मिलितैर्देवा सुराणा गणैर्नानायानविमानपात्तिनिवहव्यारुद्धरोदोगणै. । क्षीराब्धे समुपाहृतै शुचिजलै कृत्वाभिषेक विभोर्मेरोर्मूर्धनि जातकर्म विदधे सोव्याज्जिनो वोग्रिम ॥ १४ ॥ सद्यः संहृतमौष्ण्यमुष्णकिरणैराम्रेडित शीकरैः शैत्यं शीतकरैरुदूढमडुभिर्वद्धोडुपै. क्रीडितं । तारौघैस्तरलैस्तरद्भिरधिक डिंडीरपिंडायित यस्मिन्मज्जनसविधौ स जयताज्जैनो जगत्पावन ॥ २१५ ॥ सानद त्रिदशेश्वरै सचकित देवी[illegible]रुत्पुष्कै सत्रास सुरवारणै प्रणिहितैराप्तादर चारणैः । साशङ्क गगनेचरै. किमिदमित्यालोकितो य स्फ[illegible] मूर्ध्नि स चोवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाभ प्लुव ॥ २१६ ॥

इत्य [illegible] [illegible]महापुराणसंग्रहे भगवज्जन्माभिषेकवर्णन नाम त्रयोदश पर्व ॥१३॥

भिषेकका उत्सव किया था वे परम पवित्रजगतके गुरु भगवान वृषभदेव जिनेंद्र सदा जयशील हों ॥ २१२ ॥ जन्म होनेके बाद ही अनेकप्रकारके आसन विमान आदिके समूहोंसे आकाशमें व्याप्त होकर सब मिलकर आये हुये देव और असुरोंके समूहोंने मेरुपर्वतके मस्तकपर क्षीरसागरका पवित्र जल लाकर जिन भगवानका अभिषेक और नामकर्म किया था वे प्रथम जिनेंद्रदेव भगवान वृषभदेव तुम श्रोता लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ २१४ ॥ जिस भगवानके जन्माभिषेकके समय सूर्य आदि उष्णकिरणवाले पदार्थोंने वहुत शीघ्र उष्णता छोड दी थी, अभिषेककी छटायें वारं वार उछल रहीं थीं, चंद्रमा आदि शीतलकिरणवाले पदार्थोंमें अत्यंत शीतलता आगई थी, नक्षत्रगण परस्पर बंधी हुई छोटी छोटी नावोंके समान इधर उधर तैरते हुये क्रीडा कर रहे थे और ताराओंके समूह अतिशय चंचल होकर तैरते हुये मक्खनके (लोनी वा नवनीतके) पिंड समान जान पडते थे ऐसे वे जगतको पवित्र करनेवाले भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ २१५ ॥ मेरुपर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होते हुये जिसे इंद्रोंने बडे आनंदसे देखा था, देवियोंने आश्चर्यकी दृष्टिसे देखा था, ऐरावत हाथियोंने अपनी सूंड ऊंचीकर बडे त्राससे देखा था, चारण मुनियोंने एकाग्रचित्त होकर

अथ चतुर्दशं पर्व

अथाभिषेकनिर्वृत्तौ शची देवी जगद्गुरो । प्रसाधनविधौ यत्नमकरोत्कृतकौतुका ॥ १ ॥ तस्याभिषिक्तमात्रस्य दधत पावनीं तनु । सांगलग्नान्ममार्जाभ कणान्स्वच्छामलांशुके ॥ २ ॥ स्वासन्नापागसक्रातासितच्छाय विभोर्मुख । प्रमृष्टमपि साऽप्राक्षीत् भूयो जलकणास्थया ॥ ३ ॥ गधै सुगाधिभि सान्द्रैरिंद्राणी गात्रमीशितु । अन्वालिंपत लिंपद्भिरिवामोदेस्त्रिविष्टप ॥ ४ ॥ गवेनामोदिना भर्तु शरीरसहजन्मना । गधास्ते न्यत्कृ-

---

वडे आदरसे देखा था और विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शंका करते हुये देखा था ऐसा वह भगवानके जन्माभिषेकके जलका प्रवाह हमारी रक्षा करो ॥ २१६ ॥

इसप्रकार श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृतमहापुराणकी नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानके जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला तेरहवा पर्व समाप्त हुआ ॥

अथ चौदहवां पर्व ।

अथानंतर—अभिषेक समाप्त हो चुकनेपर इंद्रानीने वडे हर्षके साथ जगतगुरु भगवान वृषभदेवको आभूषण पहिनानेका प्रयत्न किया ॥ १ ॥ जिनका अभिषेक किया जा चुका है तथा जिन्होंने पवित्र शरीर धारण किया है ऐसे भगवान वृषभदेवके शरीरमें लगे हुये जलविंदुओंको इंद्रानीने स्वच्छ और निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥ २ ॥ भगवानके मुखपर जो इंद्रानीके निकटवर्ती कटाक्षोंकी सफेद छाया पड रही थी उसे जलकी बूंदे समझकर वह इंद्राणी पोंछे हुये मुखको भी वार वार पोंछ रही थी ॥ ३ ॥ अपनी सुगंधिसे स्वर्गलोकको भी लेप करनेवाले, अतिशय सुगंधित और गाढे सुगंध द्रव्योंसे इंद्राणीने भगवानके शरीरपर लेप किया ॥ ४ ॥ यद्यपि वह इंद्राणीका किया हुआ लेप अनेक सुगंधित द्रव्योंसे मिला हुआ था तथापि भगवानके शरीरके साथ २ उत्पन्न हुये अतिशय सुगंधित गंधसे वह लज्जित ही हो गया था ॥ ५ ॥ इंद्राणीने वडे आदरसे भगवानके ला-

ता एव सौगध्येनापि संश्रिताः ॥ ५ ॥ तिलकं च ललाटेस्य शची चक्रे किलादरात् । जगतां तिलकस्तेन किमलंक्रियते विभुः ॥ ६ ॥ मंदारमालयोत्तंसमिंद्राणी विदधे विभो । तयालंकृतमूर्द्धासौ कीर्त्येव व्यरुचद् भृश ॥ ७ ॥ जगच्चूडामणेरस्य मूर्ध्नि चूडामणिं न्यधात् । सता मूर्द्धाभिषिक्तस्य पौलोमी भक्तिनिर्भरा ॥ ८ ॥ अनंजितासिते भर्तुर्लोचने सांद्रपक्ष्मणी । पुनरंजनसंस्कारमाचार इति लंभिते ॥ ९ ॥ कर्णाववविद्धसच्छिद्रौ कुंडलाभ्यां विरेजतु । कांतिदीप्तिमुखे द्रष्टुमिंद्वर्काभ्यामिवाश्रितौ ॥ १० ॥ हारिणा मणिहारेण कंठशोभा महत्यभूत् । मुक्तिश्रीकंठिकादामचारुणा त्रिजगत्पते. ॥ ११ ॥ बाह्वोर्युगं च केयूरकटकांगदभूषितं । तस्य कल्पाङ्घ्रिपस्येव विटपद्वयमावभौ ॥ १२ ॥ रेजे मणिमय दाम किंकिणीभिर्विरा-

---

टपर तिलक लगाया परंतु संसारके तिलकभूत भगवान क्या उस तिलकसे सुशोभित हो सकते-हें? ॥ ६ ॥ इंद्रानीने भगवानके मस्तकपर कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी मालाओंसे बना हुआ मुकुट पहनाया । उन मालाओंसे मस्तकको सुशोभितकर भगवान ऐसे सुशोभित होने लगे मानों कीर्तिसे ही अलंकृत किये गये हों ॥ ७ ॥ यद्यपि भगवान तीनों लोकोंके चूडामणि थे सज्जनोंमें मुख्य और क्षत्रियोंके नायक थे तथापि इंद्रानीने केवल अपनी भक्तिसे ही भगवानके मस्तकपर चूडामणि स्थापन किया ॥ ८ ॥ यद्यपि भगवानके दोनों नेत्र विना अंजन दिये ही श्याम थे उनकी दोनों विरूनी (बाफणी) सघन थीं तथापि इंद्रानीने केवल नियोग पूरा करनेकेलिये भगवानके नेत्रोंमें काजल लगाया ॥ ९ ॥ भगवानके दोनों कान जन्मसे ही छिद्रसहित थे उनमें पहनाये हुये कुंडल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों कांति और दीप्ति सहित भगवानके कानोंके दोनों छिद्रोंको देखनेकेलिये सूर्य और चंद्रमाके प्रतिबिंब ही आये हों १० ॥ मोक्षलक्ष्मीकी कंठमालाके समान अतिशय सुंदर और मनोहर मणियोंके हारसे त्रिजगतपति भगवान वृषभदेवके कंठकी शोभा बहुत ही अच्छी हो गई थी ॥ ११ ॥ केयूर कटक अंगद आदिसे सुशोभित दोनों भुजायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों वृषभदेवरूपी कल्पवृक्षकी दोनों शाखायें हीं हों ॥ १२ ॥

जित । कटीतटेस्य कल्पांगप्रारोहश्रियमुद्वत् ॥ १३ ॥ पादौ गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य रेजतुः । वाचालितौ सरस्वत्या कृतसेवाविवादरात् ॥१४॥ लक्ष्म्या. पुज इवोद्भूतो धाम्ना राशिरिवोच्छिख । भोग्यानामिव सपातस्तदाभाद्भूपितो विभुः ॥ १५ ॥ सौंदर्यस्येव सदोह सौभाग्यस्येव सन्निधि । गुणानामिव सवासः सालंकारो विभुर्बभौ ॥ १६ ॥ निसर्गरुचिरं भर्तुर्वपुर्भेजे सभूषण । सालकार कवे काव्यमिव सुश्लिष्टबधन ॥१७॥ प्रत्यगमिति विन्यस्तै पौलोम्या मणिभूषणै । स रेजे कल्पशाखीव शाखोल्लासिविभूषणः ॥ १८ ॥ इति प्रसाध्य तं देवमिंद्रोत्सगगतं शची ।

भगवानके कटिप्रदेशमें किंकिणियोंसहित मणिमय करधनी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कल्पवृक्षके छोटे-छोटे अंकूरे ही हों ॥ १३ ॥ गोमुख (गायका मुख) के आकारके प्रकाशमान मणियोंसे शब्द करते हुये दोनों चरण ऐसे सुशोभित होते थे मानों सरस्वती देवी ही आदरपूर्वक उनकी सेवा कर रही हो ॥ १४ ॥ उससमय अनेक आभूषणोंसे सुशोभित भगवान कईप्रकारके जान पडते थे, कभी तो ऐसे जान पडते थे मानों लक्ष्मीका समूह ही प्रगट हुआ हो, कभी ऐसे जान पडते थे मानों तेजोराशिकी ऊंची शिखा ही हो और कभी ऐसे जान पडते थे मानों योग्य वस्तुओंका एक समूह ही हो ॥ १५ ॥ अथवा अलंकारसहित वे भगवान ऐसे सुशोभित होते थे मानों सौंदर्यका समूह ही हो, सौभाग्यका खजाना ही हो अथवा गुणोंका निवासस्थान ही हो ॥ १६ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुंदर था और फिर अलंकारोंसे तो ऐसा मनोहर हो गया था मानों उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों सहित पद और अर्थकी सुंदर रचनासे संयोजित हुआ किसी कविका मनोहर काव्य ही हो ॥ १७ ॥ इसप्रकार इंद्रानीके द्वारा प्रत्येक अंगमें मणियोंके आभूषणोंसे अलंकृत किये हुये वे भगवान ऐसे सुशोभित होते थे मानों प्रत्येक शाखापर लगे हुये आभूषणोंसे दैदीप्यमान कल्पवृक्ष ही हो ॥ १८ ॥ इसप्रकार इंद्रानीने इंद्रकी गोदीमें विराजमान भगवान वृषभदेवको अनेक प्रकारके आभूषण पहनाये और अनंतर जब

स्वयं विस्मयमायासीत्पश्यंती रूपसंपदं ॥ १९ ॥ संक्रंदनोऽपि तद्रूपशोभां द्रष्टुं तदातनीं । सहस्राक्षोभवन्नूनं स्पृहयालुरतृप्तकः ॥ २० ॥ तदा निमेषविमुखैर्लोचनैस्तं सुरासुराः । ददृशुर्गिरिराजस्य शिखामणिमिव क्षण ॥ २१ ॥ ततस्तं स्तोतुमिंद्राद्याः प्राक्रमत सुरोत्तमाः । वर्तस्यत्तीर्थकरत्वस्य प्राभव तद्धि पुष्कलं ॥ २२ ॥ त्वं देव परमानंदमस्माकं कर्तुमुद्गत । किमु प्रबोधमायाति विनार्कात्कमलाकरा ॥ २३ ॥ मिथ्याज्ञानांधकूपेस्मिन्निपततमिमं जनं । त्वमुद्धर्तुमना धर्महस्तालंवं प्रदास्यसि ॥ २४ ॥ तव वाक्किरणैर्नूनमस्मच्चेतोगत तमः । पुरा प्रलीयते देव तमो भास्वत्करैरिव ॥२५॥ त्वमादिर्देव देवानां त्वमादिर्जगतां गुरुः । त्वमादिर्जगता स्रष्टा त्वमादिर्धर्मनायकः ॥ २६ ॥ त्वमेव जगता भर्ता त्वमेव जगतां पिता । त्वमेव

उसने भगवानका रूप देखा तो उसे स्वयं वडा आश्चर्य हुआ ॥ १९ ॥ इंद्रने भगवानके उससमयका रूप देखना चाहा परंतु वह तृप्त न हुआ इसालिये उसने अपने हजार नेत्र वनाकर भगवानका रूप देखा ॥ २० ॥ उस समय सव देव और असुरोंने अपने अनिमेष (जिनके पलक न लगते हों) नेत्रोंसे क्षणभर मेरुपर्वतकी शिखामणिके समान भगवानको देखा ॥ २१ ॥ और तदनंतर इंद्रादिक समस्त उत्तम देव भगवानकी स्तुति करने लगे, सो ठीक ही है वर्तमान तीर्थंकरकी प्रभुता ही बहुत अधिक होती है ॥ २२ ॥ इंद्र स्तुति करने लगा कि हे देव ! हमलोगोंको अतिशय आनंद देनेके लिये ही आपका उदय हुआ है क्या सूर्यके उदय हुये विना कमलोंका समूह कभी प्रफुल्लित होता है? ॥ २३ ॥ हे नाथ मिथ्याज्ञानरूपी अंधकूपमें पडे हुये इस संसारी जीवको उद्धार करनेके-लिये आप धर्मरूपी अपने हाथका सहारा देनेवाले हैं ॥ २४ ॥ हे स्वामिन् ! जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके उदय होनेसे पहिले ही अंधकार नष्ट हो जाता है उसीप्रकार आपके वचनरूपी किरणोंके उदय होनेसे पहिले ही हमलोगोंके हृदयका अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥ हे देव आप समस्त देवोंमें आदिदेव (मुख्य वा प्रथम देव) हैं धर्मरूपी सृष्टिके प्रथम विधाता हैं और आप ही धर्मके प्रथम नायक हैं ॥ २६ ॥ हे करुणानिधे ! इस जगतके आप ही स्वामी हैं आप ही इस जगतके पिता हैं

जगतां त्राता त्वमेव जगतां पतिः ॥ २७ ॥ त्वं पूतात्मा जगद्विश्वं पुनासि परमैर्गुणैः । स्वयं धौतो यथा लोकं धवलीकुरुते शशी ॥ २८ ॥ त्वया:-कल्याणमाप्स्यति संसारामयलंघिताः । उल्लाघिता भवद्वाक्यभेषजैरमृतोपमैः ॥ २९ ॥ त्वं पूतस्त्व पुनानोसि परं ज्योतिस्त्वमक्षर । निर्धूय निखिलं क्लेश यतात्पोसि परं पदं ॥ ३० ॥ कूटस्थोपि न कूटस्थस्त्वमद्य प्रतिभासि नः । त्वय्येव स्फीतिमेष्यति यदमी योगजा गुणाः ॥ ३१ ॥ अस्नात-पूतगात्रोपि स्नापितोस्यद्य मंदरे । पवित्रयितुमेवैतज्जगदेनोमलीमसं ॥ ३२ ॥ युष्मज्जन्माभिषेकेण वयमेव न केवल । नीता पवित्रता मेरुः क्षीरा-

---

जगतकी रक्षा करनेवाले भी आप ही हैं तथा जगतके आधार वा स्वामी भी आप ही हैं ॥२७॥ हे विभो जिसप्रकार चंद्रमा स्वयं सफेद है इसलिये वह अपनी चांदनीसे संसारभरको सफेद कर देता है उसीप्रकार आप भी स्वयं पवित्र हैं अतएव अपने उत्कृष्ट गुणोंसे संसारभरको पवित्र कर देते हैं ॥ २८ ॥ हे प्रभो ! ये संसारी जीव जन्ममरणरूप अनेक रोगोंसे दुखी हो रहे हैं सो अब अमृतके समान आपके वचनरूपी औषधिके सेवन करनेसे सर्वथा नीरोग हो जांयगे, इसके सिवाय आपसे उन्हें और भी अनेक कल्याण प्राप्त होंगे ॥ २९ ॥ हे करुणालय आप संपूर्ण क्लेशोंको नष्टकर परम-सुखरूप मोक्षस्थानको प्राप्त हुये हो अतएव आप परम पवित्र हैं अन्य लोगोंको पवित्र करने-वाले हैं और अविनाशीक परमज्योतिस्वरूप हैं ॥ ३० ॥ हे देव यद्यपि आप कूटस्थ (नित्य) अर्थात् शरीरादिके समूहमें रहनेवाले हैं तथापि आज हमलोगोंको वैसे कूटस्थ नहीं जान पडते, क्योंकि योगाभ्याससे प्राप्त होनेवाले योगनिरोध आदि गुण आपमें सदा वढते हैं ॥ ३१ ॥ हे देव ! यद्यपि आपका शरीर विना स्नान किये ही परम पवित्र था तथापि अनेक पापोंसे मलिन हुये इस जगतको पवित्र करनेकेलिये ही आज मेरुपर्वतपर आपका अभिषेक किया गया है ॥ ३२ ॥ हे नाथ ! आपका जन्माभिषेक करनेसे केवल हम लोग ही पवित्र नहीं हुये हैं किंतु यह मेरुपर्वत क्षीरसागर मेरुपर्वतपरके बन आदि सब पवित्र हो गये

ढिधस्तद्वनान्यपि ॥ ३३ ॥ दिग्मुखेपूल्लसति स्म युष्मत्स्नानाम्बुशीकरा । जगदानंदिनं सान्द्रा यशसामिव राशय ॥ ३४ ॥ अविलिप्तसुगन्धिस्त्वमविभूषितसुंदर । भक्तैरभ्यर्चितोस्माभिर्भूषणैः सानुलेपनै ॥ ३५ ॥ लोकाधिकं दधद्धाम प्रादुरासीस्त्वमात्मभू । मेरोर्गर्भादिवोद्भूतो भुवनैकशिखामणि. ॥ ३६ ॥ सद्योजातश्रुतिं बिभ्रत्स्वर्गावतरणेच्युत । त्वमद्य वामता धत्से कमनीयकमुद्वहन् ॥ ३७ ॥ यथा शुद्धाकरोद्भूतो मणिः सस्कारयोगतः । दीप्यतेधिकमेव त्व जातकर्माभिसंस्कृत ॥ ३८ ॥ आराम तस्य पश्यति न त पश्यति केचन । इत्यसच्चत्परज्योतिः प्रत्यक्षोसि

हैं ॥ ३३ ॥ हे भगवन् ! आपके अभिषेकजलकी बूंदें सब दिशाओंमें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों संसारको आनंद देनेवाला और घनीभूत आपके यशका समूह ही हो ॥ ३४ ॥ हे स्वामिन् ! यद्यपि आपका शरीर सुगंधित द्रव्यका लेप किये विना ही परम सुगंधित है और विना आभूषणोंके ही परम सुंदर है तथापि हम लोगोंने केवल भक्तिसे ही सुगंधित द्रव्योंका लेपकर और वस्त्राभूषण पहनाकर आपकी पूजा की है ॥ ३५ ॥ हे देव ! आप स्वयंभू है संसारमें सबसे अधिक तेजस्वी हैं इसलिये ऐसे जान पडते हैं मानों मेरुपर्वतके गर्भसे संसारका एक शिखामणि सूर्य ही उदय हुआ हो ॥३६॥ हे भगवन् स्वर्गावतारके समय आपका सद्योजात नाम था तथा अच्युत भी नाम था और आज अतिशय सुंदरता धारण करते हो इसलिये वामदेव [मनोहरताके स्वामी] यह नाम भी आज प्रसिद्ध हो रहा है ॥३७॥ जिसप्रकार शुद्ध खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारकेनिमित्तसे अधिक प्रकाशमान हो जाता है उसीप्रकार आप भी जन्माभिषेकरूपी जातकर्मके [उत्पन्न होतेसमयकी क्रियायोंके] संस्कार करनेसे अधिक दैदीप्यमान हो रहे हो ॥३८॥ हे नाथ ! संसारमें यह जो कहावत है कि "सबलोग परमब्रह्म परमात्माकी शरीर आदि पर्यायें ही देख सकते हैं उसे साक्षात् कोई नहीं देख सकता" वह सर्वथा मिथ्या है क्योंकि परमज्योतिस्वरूप आप आज हमलोगोंके प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहे हो ॥ ३९ ॥ हे देव ! विस्ताररीतिसे आपकी स्तुति करनेवाले योगिराज आपको

त्वमद्य नः ॥ ३९ ॥ त्वामामनंति योगींद्राः पुराणपुरुषं पुरुं । कविं पुराणमित्यादि पठतः स्तवविस्तरं ॥ ४० ॥ पूतात्मने नमस्तुभ्यं नमः ख्यात- गुणाय ते । नमो भीतिभिदे तुभ्यं गुणानामेकभूतये ॥ ४१ ॥ क्षमागुणप्रधानाय नमस्ते क्षितिमूर्त्तये । जगदाह्लादिने तुभ्यं नमोस्तु सलिलात्मने ॥ ४२ ॥ निःसंगवृत्तये तुभ्यं बिभ्रते पावनीं तनुं । नमस्तरस्विने भग्नमहामोहमहीरुहे ॥ ४३ ॥ कर्मेंधनदहे तुभ्यं नमः पावकमूर्त्तये । पिशंगज- टिलागाय समिद्धध्यानतेजसे ॥ ४४ ॥ अरजोमलसंगाय नमस्ते गगनात्मने । विभवेनाद्यनंताय निर्विकाराय तायिने ॥ ४५ ॥ सुयज्वने नमस्तुभ्य

पुराणपुरुष, पुरु, कवि और पुराण आदि अनेक नामोंसे स्मरण किया करते हैं ॥ ४० ॥ हे भगवान्! आप परम पवित्र हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपके गुण सबजगह प्रसिद्ध हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप ईति भीतियोंको नाश करनेवाले हैं अतएव आपको नमस्कार हो आपसे अनेक गुण उत्पन्न होते हैं अतएव आपको नमस्कार है ॥ ४१ ॥ हे प्रभो आप क्षमा गुणको प्रधान रीतिसे धारण करनेवाले हैं अतएव क्षमा अर्थात् पृथ्वीरूप भी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप संसारको आनंद देनेवाले जलस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥४२॥ आप परिग्रह रहित हैं, पवित्र शरीरको धारण करनेवाले हैं मोहरूपी महावृक्षको उखाडनेवाले हैं और वेगवान वायुके समान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ४३ ॥ हे देव आप अग्निस्वरूप हैं क्योंकि आप कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले हैं सुवर्णके समान पीतवर्ण हैं और देदीप्यमान ध्यानरूपी तेजसे सदा प्रकाशमान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ४४ ॥ हे नाथ! आप आकाशस्वरूप भी हैं क्योंकि आप पापरूपी धूलिकी संगतिसे रहित हैं विभु हैं अनादि अनंत हैं निर्विकार और सबके रक्षक हैं इसलिये भी आपको नमस्कार है ॥ ४५ ॥ हे विभो! आप सर्वयज्ञस्वरूप यजमान हैं अतएव आपको नमस्कार है, आप मोक्षरूपी परमानंद देनेवाले चंद्रमाके प्रतिबिंबके समान हैं इसलिये भी आपको नमस्कार है ॥ ४६ ॥ हे स्वामिन् आप अनंत ज्ञानरूपी सूर्यसे

सर्वक्रतुमयात्मने । निर्वाणदायिने तुभ्य नम शीतांशुमूर्त्तये ॥ ४६ ॥ नमस्तेनतबोधार्कादविनिर्भक्तशक्तये । तीर्थकृद्भाविने तुभ्यं नम रतादष्टमूर्त्तये ॥ ४७ ॥ महाबल नमस्तुभ्य ललिताङ्गाय ते नम । श्रीमते वज्रजंघाय धर्मतीर्थप्रवर्त्तिने ॥ ४८ ॥ नमोस्तु तुभ्यमार्याय दिव्यश्रीधर ते नम । नम सुविधये तुभ्यमच्युतेन्द्र नमोस्तु ते ॥ ४९ ॥ वज्रस्तभस्थिरागाय नमस्ते वज्रनाभये । सर्वार्थसिद्धिनाथाय सर्वार्थां सिद्धिमीयुषे ॥ ५० ॥

सर्वथा अभिन्न शक्तिको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो इसप्रकार आप पृथ्वी जल, वायु, अग्नि, आकाश, यजमान, चंद्र, सूर्य इन आठ मूर्तिस्वरूप हैं और तीर्थकर हैं इसलिये आपको बार बार नमस्कार हो॥ ४७ ॥ (इसप्रकार आचार्यने शंकरके समान भगवानको भी पृथ्वी जल वायु आदि अष्टमूर्तिस्वरूप मानकर उनकी स्तुति की है और इसीप्रकार अब कृष्णके समान दशावतार मानकर स्तुति करते हैं)। हे नाथ आप महाबल अर्थात् अनंत बलको धारण करनेवाले हैं अथवा दशवें भवमें आप विद्याधरोंके राजा महाबल थे इसलिये आपको नमस्कार हो, आप सुंदर शरीरको धारण करनेवाले हैं अथवा नौवें भवमें जो ललितांग देव थे ऐसे आपको नमस्कार हो, आप धर्मरूपी तीर्थको प्रगट करवाले ऐश्वर्यशाली और वज्रजंघ अर्थात् वज्रके समान दृढ जंघाओंको धारण करनेवाले हैं अथवा जो आठवें भवमें वज्रजंघ महाराज थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ४८ ॥ आप आर्य अर्थात् पूज्य हैं अथवा सातवें भवमें जो आर्य अर्थात् उत्तम भोगभूमिज थे ऐसे आपको नमस्कार है। आप दिव्य संपदाओंके स्वामी हैं अथवा छठे भवमें जो ऐशानस्वर्गके श्रीप्रभ विमानमें श्रीधर देव थे ऐसे आपको नमस्कार है । आप अतुल भाग्यशाली हैं अथवा पांचवें भवमें सुविधि महाराज थे ऐसे आपको नमस्कार है । आप अविनश्वर लक्ष्मीको धारण करनेवाले हैं अथवा चौथे भवमें जो सोलहवें अच्युत स्वर्गके इंद्र थे ऐसे आपको नमस्कार हो ॥ ४९ ॥ आपका शरीर वज्रके स्तभंके समान मजबूत है और

दशावतारचरमपरमौदारिकत्विषे । सूनवे नाभिराजस्य नमोस्तु परमेष्ठिने ॥ ५१ ॥ भवतामित्यभिष्टुत्य फलमाशास्महे वयं । भक्तिस्त्वय्येव नो भूयादलमन्यैर्मितैः फलैः ॥ ५२ ॥ इति स्तुत्वा सुरेंद्रास्त परमानदनिर्भरा । अयोध्यागमने भूयो मतिं चक्रुः कृतोत्सवाः ॥ ५३ ॥ तथैव प्रहता भेर्यस्तथैवाघोषितो जय । तथैवैरावतेभेंद्रस्कंधारूढ व्यधुर्जिन ॥ ५४ ॥ महाकलकलैर्गीतैर्नृत्तै सजयघोषणै । गगनागणमुत्पत्य द्रागाजग्मुरमू पुरीं ॥ ५५ ॥ याचकाद्गगनोल्लाघीशिखरैः पृथुगोपुरै । स्वर्गमाह्वयमानेव पवनोच्छ्रितकेतनैः ॥ ५६ ॥ यस्या माणिमयी भूमिस्तारकाप्रतिबिंबितै ।

आप वज्रनाभि अर्थात् वज्रके समान मजबूत नाभिको धारण करनेवाले हैं अथवा तीसरे भवमें जो वज्रनाभि चक्रवर्ती थे ऐसे आपको नमस्कार हो। आप समस्त पदार्थोंकी सिद्धिके स्वामी हैं सब पदार्थोंकी सिद्धियोंको प्राप्त हुये हैं अथवा जो दूसरे भवमें सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिंद्र थे ऐसे आपको नमस्कार है ॥ ५० ॥ दशावतारोंमें अंतके परमौदारिक शरीरको धारण करनेवाले नाभिराजके पुत्र परमेश्वर वृषभदेव! आपको वार वार नमस्कार है ॥ ५१ ॥ हे प्रभो! इसप्रकार आपकी स्तुतिकर हम लोग इसी फलकी आशा करते हैं कि आपमें हमलोगोंकी भक्ति सदा बनी रहे, इसके सिवाय अन्य फलोंसे हमें कुछ प्रयोजन नहीं है क्योंकि अन्य सब फल परिमित और तुच्छ हैं ॥ ५२ ॥ इसप्रकार भगवानकी स्तुतिकर अतिशय प्रसन्न होकर सब इंद्रोंने उत्सवके साथ अयोध्या चलनेकेलिये फिर तैयारी की ॥ ५३ ॥ जिसप्रकार अयोध्यासे मेरुतक आते समय उत्सव किया था उसीप्रकार फिर उत्सव होने लगा उसीप्रकार दुंदुभी बजने लगे, जय जय शब्द होने लगा और उसीप्रकार ऐरावत हाथीपर भगवानको विराजमान किया ॥ ५४ ॥ वडा भारी कोलाहल गीत नृत्य और जयजय शब्द करते हुये वे सब आकाशरूपी आंगनको उलंघन कर बहुत शीघ्र अयोध्यामें आ पहुंचे ॥ ५५ ॥ आकाशको उलंघन करनेवाले शिखर और वायुसे हिलती हुई ध्वजाओंसे सुशोभित अनेक शहरके बडे २ दरवाजोंसे

दधे कुमद्वतीलक्ष्मीमक्षुण्णां क्षणदामुखे ॥ ५७ ॥ या पताकाकरैर्दूरमुक्षिप्तैः पवनाहतैः । आजुहूपुरिव स्वर्गवासिनोमूत्कुतूहलात् ॥ ५८ ॥ यस्या मणिमयैर्हर्म्यै कृतदर्पातिसश्रयैः । आक्षिप्तेव सुराधीशविमानश्रीरसंभ्रम ॥ ५९ ॥ यत्र सौधाग्रसंलग्नैरिंदुकांतशिलाशतैः । चंद्रपादाभिसस्पर्शात् क्षरद्भिर्जलदायित ॥ ६० ॥ या भत्ते स महासौधशिखरैर्मणिभासुरैः । सुरचापश्रिय दिक्षु विततां रत्नभामयीं ॥ ६१ ॥ सरोजरागमणिवयकिरणैः क्वाचिदवर । यत्रसध्यांबुदच्छन्नमिवालक्ष्यत पाटल ॥ ६२ ॥ इद्रनीलोपलैः सौधकूटलग्नैर्विलंघित । स्फुरद्भिर्ज्योतिषा चक्रं यत्र नालक्ष्यताबरे ॥ ६३ ॥

वह अयोध्या ऐसी शोभायमान हो रही थी मानों स्वर्गको बुला रही हो ॥५६॥ जिसपर अनेक ताराओंके प्रतिबिंब पड रहे है ऐसी वहांकी मणिमई भूमि रात्रिमें ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों रात्रिविकासी सफेद कमोदनियोंसे सुशोभित सरोवरके साथ स्पर्द्धा ही कर रही हो ॥ ५७ ॥ ऊंचे आकाशमें वायुके द्वारा हिलती हुई पताकाओंसे वह अयोध्या ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कौतुकवश अपने हाथ ऊंचे उठाकर स्वर्गवासी देवोंको बुलाना ही चाहती हो ॥५८॥उस नगरीमें मणियोंके मकान बने हुये थे जिनमें सुंदर स्त्रीपुरुष निवास करते थे उन मकान और स्त्रीपुरुषोंको देखकर निसंदेह यह कहना पडता था कि वहांकी शोभाने इंद्रके विमानकी शोभाका भी तिरस्कार कर दिया है ॥ ५९ ॥ वहांपर बडे २ मकानोंके अग्रभागोंपर लगे हुये चंद्रकांता मणियोंसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे जो पानी गिर रहा था उससे सदा मेघवृष्टि ही जान पडती थी ॥ ६० ॥ तथा राजमहलके शिखरोंपर लगे हुये अनेकप्रकारके दैदीप्यमान मणियोंसे जो रत्नोंकी प्रकाशस्वरूप छाया पड रही थी उससे सब दिशाओंमें सदा इंद्रधनुषकी शोभा दिखाई पडती थी ॥ ६१ ॥ उस अयोध्यामें कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे कुछ कुछ लाल और सफेद हुआ आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सायंकालका बादल ही हो ॥ ६२ ॥ वहांके राजमहलकी शिखरोंमें लगे हुये दैदीप्यमान इंद्रनील मणियोंसे लज्जित हुआ ज्योतिश्चक्र (ताराओंका समूह),

गिरिकूटतटानीव सौधकूटानि शारदाः । घना यत्राश्रयंति स्म सून्नतः कस्य नाश्रयः ॥ ६४ ॥ प्राकारवलयो यस्याश्चामीकरमयो ऽुतत् । मानुषोत्तरशैलस्य श्रिय रत्नैरिवाहसत् ॥ ६५ ॥ यत्खातिका महांभोधेर्लीलां यादोभिरुद्धतैः । धत्ते स्म क्षुभितालोलकल्लोलावर्त्तभीषणा ॥ ६६ ॥ जिनप्रसवभूमित्वाद्या शुद्धाकरभूमिवत् । सूते स्म पुरुषानर्घ्यमहारत्नानि कोटिश. ॥ ६७ ॥ यस्याश्च बहिरुद्यानैरनेकानोकहाकुलैः । फलच्छायाप्रदैः कल्पतरुच्छाया स्म लध्यते ॥ ६८ ॥ यस्याः पर्यंतमावेष्ट्य स्थिता सा सरयूर्नदी । लसत्पुलिनसमुप्तसारसा हसनादिनी ॥ ६९ ॥ यामाहुरतिदुर्लंध्यामयोध्यां योधसकुला । विंनीताखडमध्यस्था या तन्नाभिरिवावभौ ॥ ७० ॥ तामारुध्य पुरीं विष्वगनीकानि सुधाशिना । तस्थुर्जगंति तच्छोभा-

---

आकाशमें दिखाई ही नहीं पडता था ॥ ६३ ॥ वहांके राजमहल पर्वतोंकी शिखरोंके समान ऊंचे थे और उनपर शरदऋतुके बादल विश्राम लेते थे सो ठीक ही है क्योंकि जो अतिशय उन्नत है उसका आश्रय कौन नहीं लेता है ॥ ६४ ॥ उस अयोध्या नगरीके चारों ओर सुवर्णका बना हुआ परकोटा ऐसा अच्छा प्रकाशमान हो रहा था मानों अपनेमें लगेहुये रत्नोंकी किरणोंसे मानुषोत्तर पर्वतकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ ६५ ॥ परकोटाके चारोंओर एक गहरी खाई थी जो कि उठते हुये चंचल कल्लोल करनेवाले भंवरोंसे बडी ही भयानक थी और उद्धत हुये जलचर जीवोंसे समुद्रकी लीला दिखला रही थी ॥ ६६ ॥ भगवान वृषभदेवने उस नगरीमें अवतार लिया था इसलिये वह शुद्ध खानिकी भूमिके समान थी और करोडों महापुरुषरूपी अमूल्य महारत्नोंको उत्पन्न करनेवाली थी ॥ ६७ ॥ अनेक प्रकारके फल और छाया देनेवाले तथा अनेक वृक्षोंसे भरे हुये वहांके बाहरी उद्यान कल्पवृक्षोंकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रहे थे ॥ ६८ ॥ उसके समीप ही चारों ओर सरयू नदी थी जिसके किनारेपर सारस पक्षी सो रहे थे और हंस मधुर शब्द कर रहे थे ॥ ६९ ॥ वह नगरी अनेक शूरवीर योद्धाओंसे भरी हुई थी और अन्य शत्रुओंके द्वारा दुर्लंघ्य (जो जीती न जा सके) थी इसलिये ही उसका 'अ-योध्या' यह नाम पडा था । वह आर्य

मागतानीव वीक्षितु ॥ ७१ ॥ तत. कतिपयैर्देवैर्देवमादाय देवराट् । प्रविवेश नृपागारं परार्ध्यश्रीपरंपरं ॥ ७२ ॥ तत्रामरकृतानेकविन्यासे श्रीगृहांगणे । हर्यासने कुमार त सौधर्मेंद्रो न्यवीविशत् ॥ ७३ ॥ नाभिराज समुद्भिन्नपुलक गात्रमुद्वहन् । प्रीतिविस्फारिताक्षस्त ददर्श प्रियदर्शन ॥७४॥ मायानिद्रामपाकृत्य देवी शच्या प्रवोधिता । देवीभिः सममैक्षिष्ट प्रहृष्टा जगता पतिं ॥ ७५ ॥ तेज'पुजमिवोद्भूत सापश्यत्स्वसुत सती । बालार्केणेव सा तेन दिगैंद्रीव विदिद्युते ॥ ७६ ॥ शच्या सम च नाकेश तावद्राष्टा जगद्गुरो । पितरौ नितरा प्रीतौ परिपूर्णमनोरथौ ॥ ७७ ॥ ततस्तौ

खंडके मध्यमें थी इसलिये आर्यखंडकी नाभिके समान सुशोभित होती थी ॥ ७० ॥ इसप्रकार अनेक शोभा संयुक्त उस अयोध्या नगरीके चारों ओर वह देवोंकी सेना आकर ठहर गई। उस समय वह सेना ऐसी जान पडती थी मानों अयोध्याकी शोभा देखनेकेलिये तीनों लोक ही आ गये हों ॥ ७१ ॥ तदनंतर इंद्रने थोडेसे देवोंके साथ साथ भगवान वृषभदेवको लेकर अमूल्य रत्नोंसे सुशोभित महाराज नाभिराजके घर प्रवेश किया ॥ ७२ ॥ जहांपर देवोंने अनेक प्रकारकी सुंदर रचना की है ऐसे महाराज नाभिराजके घरके आंगनमें सौधर्मस्वर्गके इंद्रने वालक भगवान वृषभदेवको सिंहासनपर विराजमान किया ॥ ७३ ॥ महाराज नाभिराज सर्वप्रिय वालक भगवानको देखने लगे उससमय उनके शरीरपर रोमांच खडे हो रहे थे और प्रेमसे नेत्र प्रसन्न और बडे हो रहे थे ॥ ७४ ॥ इंद्रानीने माताकी मायामयी निद्रा दूर की जिससे वह भी जगकर उठी और बहुत प्रसन्न होकर देवियोंके साथ साथ तीनों जगतके स्वामी वृषभदेवको देखने लगी ॥ ७५ ॥ वह सती मरुदेवी उदय हुये तेजके समूहके समान अपने पुत्रको देखने लगी और प्रातःकालके समय उदय होते हुये सूर्यके समान अपने पुत्रसे वह पूर्वदिशाके समान सुशोभित होने लगी ॥ ७६ ॥ जिनके मनोरथ परिपूर्ण हो चुके है ऐसे जगतगुरु भगवान वृषभदेवके माता पिता अतिशय प्रसन्न होकर इंद्रानीके साथ साथ इंद्रको देखने लगे ॥ ७७ ॥

जगतां पूज्यौ पूजयामास वासवः । विचित्रैर्भूषणैः स्रग्भिरद्भुतैश्च महार्घकैः ॥ ७८ ॥ तौ प्रीतः प्रशसंसेति सौधर्मेंद्रः सुरैः समं । युवां पुण्यधनौ धन्यौ ययोर्लोकाग्रणीः सुतः ॥ ७९ ॥ युवामेवमहाभागौ युवा कल्याणभागिनौ । युवयोर्न तुला लोके युवामाधिगुरोर्गुरू ॥ ८० ॥ भो नाभिराज सत्य त्वमुदयाद्रिर्महोदय । देवी प्राच्येव यज्ज्योतिर्युष्मत्तः परमुद्बभौ ॥ ८१ ॥ देवधिष्ण्यमिवागारमिदमाराध्यमद्य वां । पूज्यौ युवा च नः शश्वत्पितरौ जगता पितु ॥ ८२ ॥ इत्यभिष्टुत्य तौ देवमर्पयित्वा च तत्करे । शताध्वरः क्षण तस्थौ कुर्वंस्तामेव सत्कथा ॥ ८३ ॥ तौ शक्रेण यथावृत्तमावेदितजिनोत्सवौ । प्रमदस्य परां कोटिमारूढौ विस्मयस्य च ॥ ८४ ॥ जातकर्मोत्सवं भूयश्चक्रतुस्तौ शतक्रतोः । लब्ध्वानुमतिमिद्धर्ध्या सम

तदनंतर इंद्रने भी अद्भुत, बहुमूल्य, और विचित्र आभूषणोंसे तथा मालाओंसे जगतपूज्य उन माता पिताओंकी पूजा की और ॥ ७८ ॥ वह सौधर्म स्वर्गका इंद्र अत्यंत संतुष्ट होकर देवोंके साथ साथ उन दोनों मरुदेवी और नाभिराजकी स्तुति करने लगा कि हे प्रभो ! आप बडे ही पुण्यवान हैं बडे ही धन्य हैं क्योंकि संपूर्ण लोकमें श्रेष्ठ ऐसा पुत्ररत्न आपके ही उत्पन्न हुआ है ॥ ७९ ॥ हे राजन् ! महा भाग्यशाली संसारमें आप ही हैं अनेक कल्याणोंके भोक्ता भी आप ही हैं आपकी समानता करनेवाला इसलोकमें कोई नहीं है क्योंकि आप जगतके गुरुके भी गुरु अर्थात् मातापिता है ॥ ८० ॥ हे नाभिराज ! अवश्य ही आप ऐश्वर्यशाली उदयाचल पर्वत हैं और यह देवी पूर्व दिशा है क्योंकि संसारमें जो उत्कृष्ट तेजसमूह है वह आप ही दोनोंसे उदय हुआ है ॥ ८१ ॥ [illegible] यह आपका घर हमलोगोंके लिये जिनालयके समान पूज्य है और आप जगतपिताके भी माता पिता हैं इसलिये सदा पूज्य हैं ॥ ८२ ॥ इसप्रकार इंद्रने मातापिताकी स्तुतिकर उनके करकमलोंमें भगवानको अर्पण किया और फिर वह भगवानके जन्माभिषेककी उत्तम कथा कहता हुआ क्षण भर वहां बैठा ॥ ८३ ॥ इंद्रके द्वारा भगवानके जन्माभिषेककी सब कथा सुनकर माता पिता दोनों ही आनंद और आश्चर्य दोनोंकी परम सीमाको पहुंच गये ॥ ८४ ॥ माता पिताने

पौरैर्धृतोत्सवै. ॥ ८५ ॥ सा केतुमालिकापूर्णा पुरी साकेतसाह्वया । तदासीत्स्वर्गमाह्वातु साकूतेवात्तकौतुका ॥ ८६ ॥ पुरी स्वर्गपुरीवासौ समा: पौरा दिवौकसा । तदा सधृतनेपथ्या सुरनार्योप्सर.समाः ॥ ८७ ॥ धूपामोदैर्दिशो रुद्धाः पटवासैस्तत न न । सगीतमुरजध्वानैर्दिक्चक्र बधिरीकृत ॥ ८८ ॥ पुरवीथ्यस्तदा भूवनूरत्नचूर्णैरलकृताः । निरुद्धातपसपाता. प्रचलत्केतनांशुकै ॥ ८९ ॥ चलत्यता क्रमाबद्धतोरणाचितगोपुर । कृतोपशोभमारब्धसगीतरवरुद्धादिक् ॥ ९० ॥ प्रनृत्यदिव सौमुख्यमिव तद्दर्शयत्पुर । सनेपथ्यमिवानंदात्प्रजल्पान्निव चाभवत् ॥ ९१ ॥ ततो गीतैश्च

इंद्रकी सम्मतिसे बडी विभूति और उत्सव करते हुये नगरनिवासियोंके साथ फिर जन्मोत्सव करना प्रारंभ किया ॥ ८५ ॥ उससमय वह अयोध्या नगरी ध्वजाओंसे ऐसी भर रही थी मानों उत्कंठित होकर कौतुकवश स्वर्गको ही बुला रही हो ॥ ८६ ॥ उससमय वह अयोध्या नगरी; स्वर्गपुरीके समान जान पडती थी, नगरनिवासी लोग देवोंके समान जान पडते थे और अनेक आभूषण पहनेहुये नगर निवासिनी स्त्रियां अप्सराओंके समान जान पडती थीं ॥ ८७ ॥ धूपकी सुगंधसे सब दिशायें भर गई थीं, सुगंध चूर्णकी धूलसे आकाश आच्छादित हो गया था और संगीत तथा मृदंगोंके मधुर शब्दोंसे सब दिशायें बहरी होगई थीं, भावार्थ--कहीं कुछ सुनाई नहीं पडता था ॥ ८८ ॥ उससमय नगरकी सब गलियां रत्नोंके चूर्णसे सुशोभित हो रही थीं और उडती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे सब आच्छादित हो रही थीं तथा उनमें सबजगह धूप रुक गई थी ॥८९॥ उससमय उस नगरमें सब जगह ध्वजाय फहरा रहीं थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह नगर नृत्य ही कर रहा हो, नगरके बडे दरवाजे तोरणोंसे अलंकृत किये थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह अपने मुखकी सुंदरता ही दिखला रहा हो, तथा और भी अनेक तरहसे वह सजाया गया था जिससे ऐसा जान पडता था मानो उसने वस्त्राभरण ही पहने हों और संगीतके मधुर शब्दोंसे सब दिशायें भरगई थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह आनंदित

नृत्तैश्च वादित्रैश्च समगलैः । व्यग्रः पौरजनः सर्वोप्यासीदानदनिर्भरः ॥ ९२ ॥ न तदा कोप्यभूद्दीनो न तदा कोपि दुर्विधः न । तदा कोप्य-पूर्णेच्छो न तदा कोप्यकौतुकः ॥ ९३ ॥ सप्रमोदमय विश्वमित्यातन्वन्महोत्सवः । यथा मेरौ तथैवास्मिन्पुरे सांतःपुरेऽवृतत् ॥ ९४ ॥ दृष्ट्वा प्रमुदित तेषां स्व प्रमोद प्रकाशयन् । सक्रदनो मनोवृत्तिमाबद्धानदनाटके ॥ ९५ ॥ नृत्तारभे महेंद्रस्य सज्ज सगीतविस्तर । गधर्वैस्तद्विधानज्ञैर्भांडोपवहना-दिभिः ॥ ९६ ॥ कृतानुकरण नाट्य तत्प्रयोज्य यथागम । सचागमो महेंद्राद्यैर्यथाम्नायमनुस्मृतः ॥ ९७ ॥ वक्तृणा तत्प्रयोक्तृत्वे लालित्य किमु

होकर गा रहा ही हो ॥ ९०-९१ ॥ तदनंतर नगरनिवासी सब लोग गीत नृत्य वादित्र और अनेक मंगलकार्योंमें मग्न हो रहे थे तथा सब ही अतिशय आनंदित हो रहे थे ॥ ९२॥ भगवानके जन्मो-त्सवके समय उस नगरमें न तो कोई दीन रहा था, न दरिद्री रहा था और न कोई ऐसा रह गया था कि जिसकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं हुई हो अथवा जो आनंदित न हो। भावार्थ--उस-समय सबको इच्छानुसार दान दिया गया था जिससे दीन दरिद्री भी सब पूर्ण सुखी हो गये थे ॥ ९३ ॥ इसप्रकार संपूर्ण संसारको आनंदित करनेवाला वह महोत्सव जैसा मेरु पर्वतपर हुआ था वैसा ही अंतःपुरसहित इस अयोध्या नगरमें हुआ ॥९४॥ उस नगर निवासियोंका आनंद देखकर इंद्रने भी अपना आनंद प्रकाश करते हुये आनंदरूप नाटक करनेमें अपना चित्त लगाया॥९५॥जिससमय इंद्रने नृत्य करना प्रारंभ किया उससमय संगीतकलाको जाननेवाले गंधर्वोंने अपने बाजे लेकर संगीत करना प्रारंभ किया॥९६॥पूर्वमें किये हुये किसी पदार्थका अनुकरण(नकल) करना अर्थात् उसका वैसा ही अभिनय दिखला देना नाट्य कहलाता है वह नाट्य शास्त्रानुसार करना चाहिये और उस नाट्यशास्त्रको अपनी संप्रदायके अनुसार इंद्रादिक देव ही अच्छीतरह जानते हैं ॥ ९७॥ जो नृत्य शिष्य प्रशि-शिष्योंकी संतान परंपरा द्वारा किया हुआ भी सज्जनोंका चित्त रंजन करता है यदि उसे स्वयं उसका निरूपण करनेवाला हो दिखलावे तो फिर उसकी मनोहरताका क्या वर्णन करना है

वर्ण्यते । पात्रांतरेपि संक्रांतं यसतां चित्तरंजनं ॥ ९८ ॥ ततः श्रव्यं च दृश्यं च तत्प्रयुक्त महात्मना । पाठ्यैर्नानाविधैश्चित्रैरांगिकाभिनयैरपि ॥ ९९ ॥ विकृष्ट. कुतपन्यासो मही सकुलभूधरा । रगस्त्रिभुवनाभोगः सहस्राक्षो महानट. ॥ १०० ॥ प्रेक्षका नाभिराजाद्या. समाराध्यो जगद्गुरुः । फल त्रिवर्गसभूति· परमानद एव च ॥ १ ॥ इत्येकशोऽपि सप्रीत्यै वस्तुजातमिद सता । किमु तत्सर्वसदोह पुण्यैरेकत्र सगत ॥ २ ॥ कृत्वा समवतार तु त्रिवर्गफलसाधन । जन्माभिषेकसबध प्रायुक्तैन तदा हरिः ॥ ३ ॥ तदा प्रयुक्तमन्यच्च रूपक वहुरूपक । दशावतारसदर्भमधिकृत्य जिनेशिन. ॥ ४ ॥ तत्प्रयोगविधौ पूर्वं पूर्वरग समगल । प्रारेभे मघवाघाना विघाताय समाहित· ॥ ५ ॥ पूर्वरगप्रसगेन पुष्पाजलिपुरस्सर ।

॥ ९८ ॥ तदनंतर गद्यपद्यमय पाठोंसे, अनेक प्रकारके चित्र विचित्र शरीरके हाव भावादि अभिनयोंसे, इंद्रके द्वारा किया हुआ वह नृत्य महात्मा पुरुषोंके देखने और सुनने योग्य था ॥ ९९ ॥ उससमय साडे बारह करोड जातिके वाजे वजरहे थे, तीनों लोकोंमें फैली हुई कुलपर्वतोंसहित पृथ्वी ही रंगभूमि थी, स्वयं इंद्र नृत्य कर रहा था, नाभिराजा आदि भगवानके माता पिता देखनेवाले थे, उस नृत्यसे भगवान वृषभदेवको प्रसन्न करना था और उसका फल धर्म अर्थ काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होना और अंतमें परमानंद मोक्षकी प्राप्ति होना था। इन ऊपर कही हुई वस्तुओंमेंसे एक एक वस्तु भी सज्जनपुरुषोंको आनंदित करनेवाली है यदि किसी पुण्योदयसे उन सब वस्तुओंका समुदाय किसी एक जगह ही आ मिले तो फिर कहना ही क्या है उससे तो अतिशय आनंद होगा ही ॥ १००-१०१-१०२ ॥ इंद्रने उससमय प्रथम ही धर्म अर्थ काम इन त्रिवर्गोंको सिद्ध करनेवाला गर्भावतार नाटक किया और फिर जन्माभिषेक संबंधी नाटक करना प्रारंभ किया ॥ १०३ ॥ तदनंतर इंद्रने भगवानके महावल वज्रजंघ आदि दशावतारका अभिनय दिखलानेवाले अनेक प्रकारके नाटक करना प्रारंभ किये ॥१०४॥ उन नाटकोंका अभिनय दिखलानेके लिये इंद्रने प्रथम ही पापोंके नाश करनेकेलिये मंगलाचरण किया और फिर सावधान होकर पूर्व

तांडवारंभमेवाग्रे सुरभाग्रहरोग्रहीत् ॥ ६ ॥ प्रयोज्य नांदीमतेस्याविशन्रगं बभौ हारिः । धृतमंगलनेपथ्यो नाट्यवेदावतारवित् ॥ ७ ॥ स रंग-मवतीर्णोभाद्वैशाखस्थानमास्थितः । लोकस्कध इवोद्भूतो मरुद्भिरभितो वृत ॥ ८ ॥ मध्येरंगमसौ रेजे क्षिपन्पुष्पाजलिं हरि । विभजन्निव पीता-वशिष्ट नाट्यरस स्वय ॥ ९ ॥ ललितोद्भटनेपथ्यो लसन्नयनसंतति. । स रेजे कल्पशाखीव समसूनः सभूषणः ॥ १० ॥ पुष्पाजलिः पतन्रेजे मत्ता-

---

रंगका प्रारंभ किया ॥ १०५ ॥ पूर्वरंग प्रारंभ करते समय इंद्रने प्रथम ही पुष्पांजलि समर्पण की और फिर सवसे पहिले तांडवनृत्य करना प्रारंभ किया ॥ १०६ ॥ तांडवमें भी प्रथम उसने नांदीमंगल किया, झर झर बाजोंके शब्द, पूजा, मंगल, पुष्पांजलि आदि तांडवनृत्यका नांदीमंगल कहलाता है। नांदीमंगलके बाद उसने रंगभूमिमें प्रवेश किया उससमय नाट्यशास्त्रके वेद और अवतारोंको जानने वाला तथा वस्त्राभरण पहने हुये वह इंद्र वहुत ही सुशोभित हो रहा था १०७ ॥ जिससमय वह रंगभूमिमें आया था उससमय उसके चारोंओर देव खडे थे और उसके दोनों हाथ कमरपर रक्खे हुये थे इसलिये वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों बातवलयसे धिरा हुआ लोकाकाश ही हो ॥ १०८ ॥ वह इंद्र रंगभूमिके मध्य खडे होकर पुष्पांजलि वखेरता हुआ ऐसा अच्छा जान पडता था मानों जो नाट्यरस उसके स्वयं पीनेसे बच रहा है उसको चारों ओर बांट रहा ही हो । १०९ ॥ अथवा वह एक कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार कल्पवृक्षपर आभूषण लगे रहते हैं उसीप्रकार वह भी वस्त्राभूषणोंसे सुंदर था और कल्पवृक्षपर जिसप्रकार पुष्प सुशोभित रहते हैं उसीप्रकार वह भी अपनी प्रकाशमान नेत्रोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११० ॥ इंद्रके द्वारा जो पुष्पांजलि वखेरी जा रही थी वह पडते हुये उन्मत्त भ्रमरोंसे सफेद काली मिली हुई विचित्र रंगकी हो रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों आकाशरूपी आंगनको विचित्र रंगके करनेवाले इंद्रके नेत्रोंका समूह ही हो

लिभिरनुद्रुतः । नेत्रौघ इव वार्चिन्नः कल्माषितनभोंगणः ॥ १११ ॥ परितः परितस्तार तारास्य नयनावली । रंगमात्मप्रभोत्सर्पैः श्रितैर्जवनिकाश्रिय ॥ १२ ॥ सलयैः पदविन्यासैः परितो रगमडल । परिक्रामन्नसौ रेजे मिमान इव काश्यपीं ॥ १३ ॥ कृतपुष्पाजलेरस्य ताडवारभसभ्रमे । पुष्पवर्षं दिवो मुचन्सुरास्तद्भक्तितोषिता. ॥ १४ ॥ तदा पुष्करवाद्यानि मद्र दध्वनुरक्रमात् । दिक्तटेषु प्रतिध्वानानातन्वानानि कोटिश ॥ १५ ॥ वीणा मधुरमारेणु कलवशा विसस्वनु. । गेयान्यनुगतान्येषा सम तालैरराणिषुः ॥ १६ ॥ उपवादकवाद्यानि परिवादकवादितै । बभूवु. सगतान्येव

॥ १११ ॥ उससमय चमकतेहुये तारोंसे सुशोभित इंद्रकी नेत्रपंक्ति अपनी फैलते हुये प्रभाके समूहसे जवनिका [परदा] की शोभा धारण करती हुई चारों ओर फैल रही थी ॥११२ ॥ वह इंद्र तालके साथ साथ पैर उठाता हुआ रंगभूमिमें चारों ओर फिरता हुआ ऐसा जान पडता था मानों पृथ्वीका नाप ही कर रहा हो ॥ ११३ ॥ जिससमय इंद्रने पुष्पांजलि समर्पणकर तांडव-नृत्य करना प्रारंभ किया उससमय देवोंने भी भगवानमें इंद्रकी गाढ भक्ति देखकर और उससे प्रसन्न होकर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ११४ ॥ उससमय भेरी आदि करोडों बाजे एक साथ गंभीर शब्दोंसे बजने लगे थे जिनकी अनेक प्रतिध्वनियां दिशाओंके अंतभागमें हो रही थीं ॥ ११५ ॥ वीणा भी मधुर शब्दोंसे वजने लगी थी वंशी भी मीठे शब्द करने लगी थी और उन बाजों तथा तालोंके साथ साथ संगीत भी अपने आप होने लगा था ॥ ११६ ॥ साथ साथ बजनेवाले सब वाजे वीणाके साथ २ मिलकर वज रहे थे उनमें अणुमात्र का भी अंतर नहीं रहता था सो ठीक ही है एकसी वस्तुओंका मिलाप अच्छा होता ही है ॥ ॥ ११७ ॥ उससमय वीणा लेकर गाती हुई किन्नरी देवियोंका कोमल गंभीर और कुछ ऊंचा ऐसा सूक्ष्म [महीन] शब्द निकल रहा था ॥ ११८ ॥ जिसप्रकार शिष्य वाद विवाद छोडकर गुरुके उपदेशानुसार अनु-मानादि प्रयोगोंमें निसंदेह प्रवृत्ति करता है और इसप्रकार अपने उत्तमवंशमें उत्पन्न होनेका कर्तव्य

सागत्यं हि सयोनिषु ॥ १७ ॥ काकली कलमामंद्रतारमूर्च्छनमुज्जगे । तदोपवीणयंतीनि. किन्नरीभिरनुल्वगं ॥ १८ ॥ ध्वनद्भिर्मधुर मौख संबंधं प्राप्य शिष्यवत् । कृत वशोचित वशै.प्रयेगेष्वविवादिभि. ॥ १९ ॥ प्रयुज्य मववा शुद्ध पूर्वरंगमनुक्रमात् । करणैरंगहारैश्च चित्र मायुक्त तं पुनः ॥ २० ॥ चित्रैश्च रेचकै. पादकटिकठकराश्रितैः । ननाट ताडव शक्रो दर्शयन्रसमूर्जितं ॥ २१ ॥ तस्मिन्बाहुसहस्राणि विकृत्य प्रणिनृत्यति । धरा चरणविन्यासै स्फुटंतीव तदाचलत् ॥ २२ ॥ कुलाचलाश्चलति स्म तृणानामिव राशय' । अभूज्जलधिरुद्वेल प्रमदादिव निर्ध्वनन् ॥२३॥ लसद्बाहुर्महोदग्रविग्रह. सुरनायक । कल्पाग्रिप इवानर्तीचलदशुकमूषण. ॥ २४ ॥ चलतन्मौलिरत्नाशुपरिवेषैर्नभस्तल । तदा विदिद्युते विद्युत्स-

---

पूरा करता है उसीप्रकार बंशी आदि उत्तम वांसोंके वाजे भी मुखका संबंध पाकर अपने उच्चारणमें (वजनमें) किसीतरहका विवाद न करते हुये वडे शब्दोंसे वज रहे थे ॥ ११९ ॥ इसप्रकार इंद्रने अनुक्रमसे अपना पूर्वरंग अर्थात् नृत्य प्रारंभकर फिर वह उसे हस्तविक्षेप (हाथोंका हिलाना) और अंगविक्षेप (शरीरका मटकाना) करता हुआ अनेकतरहसे दिखलाने लगा ॥ १२० ॥ वह इंद्र पांव, कटि (कमर) कंठ और हाथोंको अनेकतरहसे फिराता हुआ नृत्यका उत्तम रस दिखलाता हुआ तांडव नृत्य कर रहा था ॥ १२१ ॥ जिस समय वह इंद्र अपनी हजार भुजाओंको फैलाकर नृत्य कर रहा था उस समय पृथ्वी उसके पैरोंके उठाने रखनेसे कुछ २ कंपायमान हो रही थी । तृणोंकी राशिके समान कुलपर्वत हिलने लगे थे और समुद्र भी मानों आनंदसे शब्द करता हुआ अपनी लहरोंको ऊंची फेंक रहा था ॥ १२२-१२३ ॥ उस समय वह इंद्र ठीक कल्पवृक्षके समान नृत्य कर रहा था क्योंकि जिसप्रकार कल्पवृक्षोंकी शाखायें हिलती हैं उसीप्रकार उस इंद्रकी भूजायें हिल रही थीं जिसप्रकार कल्पवृक्षका शरीर ऊंचा होता है उसीप्रकार इंद्रका शरीर भी ऊंचा था और कल्पवृक्ष जिसप्रकार वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह इंद्र भी वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित था ॥१२४॥ नृत्य करते समय इंद्रका मस्तक इधर उधर हिल रहा था जिससे

हस्तैरिव सततं ॥ २५ ॥ विक्षिता वाहुविक्षेपैस्तारकाः परितोभ्रमन् । भ्रमणाविद्धविच्छिन्नहारमुक्ताफलश्रियः ॥ २६ ॥ नृत्यतोस्य भुजोल्लासैः पयोदा परिघट्टिता । पयोलवच्युतो रेजु शुचेव क्षरदश्रव ॥ २७ ॥ रेचकस्य चलन्मौलिप्रोच्छलन्मणिरीतय । वेगाविद्धाः सम भ्रेमुरलातवलयायिता ॥ २८ ॥ नृत्तक्षोभान्महीक्षोभे क्षुभिता जलराशय । क्षालयति स्म दिग्भित्ती प्रोच्छलज्जालशीकरै ॥ २९ ॥ क्षणादेक क्षणान्नैकः क्षणाद्व्यापी क्षणादणु । क्षणादारात्क्षणाद् दूरे क्षणाद्व्योम्नि क्षणाद् भुवि ॥ ३० ॥ इतिप्रतन्वतात्मीय सामर्थ्यं विक्रियोत्थितं । इद्रजालमिवेंद्रेण प्रयुक्तमभवत्तदा

उसके मुकुटमें लगेहुये रत्नोंकी किरणोंके मंडलसे आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों हजारों बिजलियोंसे भर रहा हो ॥ १२५ ॥ इंद्रके नृत्य करते समय उसकी भुजाओंसे टकराकर इधर उधर फैलेहुये तारे चारों ओर फिरते हुये ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों इंद्रकी फिरकी लेनेसे फिरकर छिन्न भिन्न हुये हारके मोती ही हों ॥ १२६ ॥ इसके नृत्य करते समय इसकी भुजाओंसे बादल भी टकरा गये थे और उनसे थोडी २ जलकी बूंदें भी पडने लगी थीं इसलिये उससमय वे बादल ऐसे जान पडते थे मानों चोट लगनेके दुखसे आंसू ही बहा रहे हों ॥ १२७ ॥ जिस समय इंद्र नृत्य करते समय फिरकी लेता था उस समय वेगके आवेशसे फिरती हुई, उसके मस्तकमें लगीहुई मणियोंकी पंक्तियां ठीक+ आलातचक्रके समान भ्रमण कर रहीं थीं ॥ १२८ ॥ इंद्रके उस अतिशय नृत्यसे पृथ्वी क्षुब्ध हो गई थी और पृथ्वीके क्षुब्ध होनेसे समुद्र भी क्षुब्ध हो रहा था तथा वह उछलती हुई लहरोंके जलबिंदुओंसे दिशारूप भित्तियोंको प्रक्षालन कर रहा था ॥ १२९ ॥ नृत्य करते समय वह इंद्र क्षणभरमें एक दिखाई पडता था, क्षणभरमें अनेक रूप धारण करता था, क्षणभरमें बडा होकर व्याप्त हो जाता था, क्षणभरमें परमाणुके समान छोटा हो जाता

+ छोटी और चौडी शीशीके समान कच्ची मिट्टीका एक वर्तन बनाकर उसमें चारोंओर अनेक छोटे छोटे छेद करते हैं फिर उसमें घिसे हुये कोयेला और अग्नि भरकर रस्सीसे फिराते है उसे आलातचक्र कहते है, अथवा जलती हुई लकडीको फिराना भी आलातचक्र कहलाता है ।

॥ ३१ ॥ नेटुरप्सरसः शक्रभुजशाखासु सस्मिताः। सलीलभ्रूलतोत्क्षेपमगहारैः सचारिभिः ॥ ३२ ॥ वर्द्धमानलयै काश्चित्काश्चित्तांडवलास्यकैः । ननृतुः सुरनर्तक्यश्चित्रैरभिनयैस्तदा ॥ ३३ ॥ काश्चिदैरावतीं पिंडीमैंद्रीं बध्वामरागनाः । प्रानर्तिषुः प्रवेशैश्च निष्क्रमैश्च नियन्त्रितैः ॥ ३४ ॥ कल्पद्रुमस्य शाखासु कल्पवल्य इवोद्गता । रेजिरे सुरराजस्य बाहुशाखासु तास्तदा ॥ ३५ ॥ स ताभिः सममारब्धरेचको व्यरुचत्तरा । चक्रादोल

था, क्षणभरमें दूर पहुंच जाता था क्षणभरमें समीप आ जाता था, क्षणभरमें आकाशमें दिखाई पडता था और क्षणभरमें पृथ्वीपर आजाता था। इसप्रकार वह विक्रियासे उत्पन्न हुई अपनी सामर्थ्य प्रगट कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानों इंद्रजालका खेल ही दिखला रहा हो ॥ १३०-१३१ ॥ इंद्रकी भुजारूप शाखाओंको मंद मंद हंसती हुई अपनी सुंदर लीलाओंसे भौंहरूपी लताओंको नचाती हुई शरीर मटकाती हुई अनेक अप्सरायें अपने पांव अनेक तरहसे उठाती रखती हुई नृत्य कर रहीं थीं ॥ १३२ ॥ उस समय कितनी ही अप्सरायें वर्द्धमान लयके साथ नृत्य कर रहीं थीं कितनी ही तांडव (पुरुषन्टत्य) लास्य (स्त्रियोंका नृत्य) के साथ और कितनी ही हाव भाव आदि अनेक तरहके अभिनय दिखलाती हुई न्टत्य कर रहीं थीं ॥१३३॥ कितनी ही देवांगनायें बिजलीका शरीर धारणकर और कितनी ही अप्सरायें इंद्रका वेश धारणकर नाट्यशास्त्रकी विधिके अनुसार प्रवेश (प्रवेश करना) और निष्क्रमण (निकलना) करती हुई नृत्य कर रहीं थीं ॥ १३४ ॥ उस समय इंद्रकी भुजारूप शाखाओंपर नृत्य करती हुई वे देवांगनायें ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों कल्पवृक्षकी शाखाओंपर फैली हुई कल्पलतायें ही हों ॥ १३५ ॥ वह श्रीमान् इंद्र जिस समय अपनी भुजाओंपर नृत्य करतीहुई देवांगनाओंके साथ नृत्य करता हुआ फिरकी लेता था उससमय उसके मस्तकका मुकुट भी हिल जाता था और वह ऐसा सुशोभित होता था मानों हिलते हुये शिखरसहित कोई एक चक्र ही फिर रहा हो ॥ १३६ ॥ अथवा उससमय हजार नेत्ररूपी प्रफुल्लित और देदीप्यमान कमलोंको धारण करने

इव श्रीमांश्चलन्मुकुटशेखरः ॥ ३६ ॥ सहस्राक्षसमुत्फुल्लविकसत्पंकजाकरे । ताः पद्मिन्य इवाभूवन्स्मेरवक्त्राम्बुजश्रियः ॥ ३७ ॥ स्मितांशुभिर्विभिन्नानि तद्वक्त्राणि चकासिरे । विकस्वराणि पद्मानि प्लुतानीवामृतप्लवैः ॥ ३८ ॥ कुलशैलायितानस्य भुजानध्यास्य काश्चन । रेजिरे परिनृत्यन्तो मूर्तिमत्य इव श्रियः ॥ ३९ ॥ नेदुरैरावतालानस्तंभयष्टिसमायतान् । अध्यासीना भुजानस्य वीरलक्ष्म्य इवापरा ॥ ४० ॥ हारमुक्ताफलेष्वन्या. सङ्क्रांतप्रतियातनाः । ननृतुर्बहुरूपिण्यो विद्या इव विडौजस ॥ ४१ ॥ करागुलीषु शक्रस्य न्यस्यन्त्य क्रमपल्लवान् । सलीलननटन्काश्चित्सूचीनाट्यमिवाश्रिताः ॥ ४२ ॥ भ्रेमुः करागुलिरन्याः सुपर्वाश्लिष्टरेशिन. । वंशयष्टीरियारुह्य तदग्रार्पितनाभय ॥ ४३ ॥ प्रतिनाह्यमरेंद्रस्य सञटंल्योमरागना. । सयत्न

वाला वह इंद्र एक सरोवरके समान जान पडता था और मंद मंद हंसते हुये मुखरूपी कमलोंसे सुशोभित वे भुजाओंपरकी देवांगनायें कमलिनियोंके [कमलकीबेल] समान जान पडती थीं ॥ १३७ ॥ उस समय मंदहास्यकी किरणों सहित उन देवांगनाओंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अमृतके समूहमें डूब हुये प्रफुल्लित कमल ही हों ॥ १३८ ॥ कितनी ही देवांगनायें कुलपर्वतोंके समान इंद्रकी भुजाओंपर न्टत्य करती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मूर्तिमान अनेक शरीर धारणकर लक्ष्मी ही न्टत्य कर रहीं हों ॥ १३९ ॥ ऐरावत हाथीके बांधनेके खंबेके समान लंबी ऐसी इंद्रकी भुजाओंपर विराजमान होकर न्टत्य करती हुई वे देवांगनायें ऐसी जान पडती थीं मानों अन्य कोई वीर लक्ष्मियोंका समुदाय ही हो ॥ १४० ॥ कंठमें पडे हुये हारके मोतियोंमें जिनके प्रतिबिंब पड रहे हैं ऐसी कितनी ही देवांगनायें इंद्रकी बहुरूपिणी विद्याके समान न्टत्य कर रही थीं ॥ १४१ ॥ कितनी ही देवांगनायें इंद्रके हाथोंकी उंगलियोंपर अपने चरण पल्लवोंको रखती हुई लीलासहित इसप्रकार न्टत्य कर रही थीं मानों सूचीनाट्य अर्थात् सूइयोंके नोंकपर ही नृत्य कर रही हों ॥ १४२ ॥ कितनी ही देवांगनायें सुंदर रेखाओंसहित इंद्रके हाथकी उंगलियोंपर अपनी नाभि रखकर इसप्रकार भ्रमण कर रही थीं मानों सुंदर बांसकी लकडीपर ही न्टत्य कर

संचरतिस्म पंचर्यस्योक्षिसंकुलं ॥ ४४ ॥ स्फुटन्निव कटाक्षेषु कपोलेषु स्फुरन्निव । प्रसरन्निव पादेषु करेषु विलसन्निव ॥ ४५ ॥ विहसन्निव बक्रेषु नेत्रेषु विकसन्निवं । रज्यन्निवागरागेषु निमज्जन्निव नाभिषु ॥ ४६॥ चलन्निव कटीष्वासा मेखलासु स्खलन्निव । तदा नाट्यरसोंगेषु ववृधे वर्द्धितोत्सव ॥ ४७ ॥ प्रत्यंगममरेंद्रस्य याश्चेष्टा नृत्यतोभवन् । ता एव तेषु पात्रेषु सविभक्ता इवारुचन् ॥ ४८ ॥ रसास्त एव ते भावास्तेनुभावास्तदिंगितं । अनुप्रवेशितो नूनमात्मा तेष्वनेशिना ॥ ४९ ॥ सोभात्स्वभुजदंडेषु नर्त्तयन्सुरनर्त्तकीः । तारवीः पुत्रिका यंत्रफलकेष्विव यांत्रिकः ॥५०॥

रही हों ॥ १४३ ॥ इंद्रकी प्रत्येक भुजापर न्टत्य करती हुई और चारों ओर अपने नेत्रोंका कटाक्ष फैलाती हुई वे देवांगनायें बडे यत्नसे संचार कर रही थीं ॥ १४४ ॥ उस समय वह नाट्यरस उत्सवको बढाता हुआ उन देवांगनाओंके शरीरमें खूब ही बढ रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह कटाक्षोंमें प्रगट हो रहा है, कपोलोंमें भी साफ प्रगट हो रहा है, पैरोंमें बढ रहा है, हाथोंमें विलास कर रहा है, मुखोंमें हंस रहा है, नेत्रोंमें प्रफुलित हो रहा है शरीरके चंदन आदि लेपन किये हुये द्रव्योंमें प्रेम कर रहा है, नाभिमें डुबकी ले रहा है, कटिभागमें (कमरमें) चल रहा है और करधनियोंसे स्खलित हो रहा है ॥ १४५-१४६-१४७ ॥ नृत्य करते समय प्रत्येक अंगमें इंद्रकी प्रत्येक जो चेष्टा होती थी वही चेष्टा अन्य न्टत्य करनेवाले सब पात्रोंमें होती थी इसलिये वह ऐसी जान पडती थी मानों इंद्रने सबकेलिये वही अपनी चेष्टा बांट दी हो ॥ १४८ ॥ उस समय इंद्रके न्टत्यमें जो शृंगारादि रस था, चित्तकी उन्नति करनेवाले जो भाव थे, उन भावोंको व्यक्त करनेवाले जो अनुभाव थे और उसके जो संकेत थे वे ही रस, वे ही भाव, वे ही अनुभाव और वे ही सब संकेत अन्य न्टत्य करनेवाले पात्रोंमें भी दिखाई पडते थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों इंद्रके आत्माने ही सब जगह प्रवेश करलिया हो ॥ १४९ ॥ अपने भुजदंडोंपर अनेक देवांगनाओंको न्टत्य कराता हुआ वह इंद्र ऐसा सुशोभित होता था मानों किसी यंत्रकी अनेक

ऊर्ध्वंसुच्चलयन्व्योम्नि नर्तंतीर्दर्शयन्पुरः । क्षणात्कुर्वन्नदृश्यास्ताः सोभून्माहेंद्रजालकः ॥ ५१ ॥ इतश्चेतः स्वदोर्जाले गूढं संचारयन्नटीः । सभवान्हस्तसंचारमिवासीदाचरन्हरिः ॥ ५२ ॥ नर्तयन्नेकतो यूनो युवतीरन्यतो हरिः । भुजशाखासु सोनर्तीद्दर्शिताद्भुतविक्रिय ॥ ५३ ॥ नेटुस्तद्भुजरंगेषु त च ताश्च परिक्रमैः । सुत्रामा सूत्रधारोभून्नाट्यवेदविदावरः ॥ ५४ ॥ दीप्तोद्धतरसमाय नृत्य ताडवमेकत. । सुकुमारप्रयोगाढ्य ललित लास्यम

शाखाओंपर अनेक काठकी पुतलियोंको न्टत्य कराता हुआ कोई यांत्रिक अर्थात् न्टत्य करानेवाला बाजीगर ही हो ॥ १५० ॥ अथवा उससमय वह इंद्र इंद्रजालिया (इंद्रजालके खेल करनेवाले-) के समान जान पडता था क्योंकि वह क्षणभरमें उन देवांगनाओंको आकाशमें उडा देता था तथा क्षणभरमें ही सामने न्टत्य करती हुई दिखला देता था और क्षणभरमें ही उन्हें अदृश्य कर देता था ॥ १५१ ॥ अपने हाथोंके समूहमें न्टत्य करनेवालियोंको गुप्तरीतिसे इधरसे उधर फिराता हुआ वह इंद्र हाथकी सफाईके खेल दिखलानेवाले बाजीगरके समान जान पडता था ॥ १५२ ॥ वह इंद्र अपनी एक ओरकी भुजाओंपर तरुण देवोंको नचा रहा था तथा दूसरी ओरकी भुजाओंपर तरुण देवांगनाओंको नचा रहा था तथा अपनी अद्भुत विक्रिया शक्तिके द्वारा अपनी भुजारूप शाखाओंपर स्वयं भी वह न्टत्य करता दिखलाई पडता था ॥ १५३ ॥ इंद्रकी भुजारूप रंगभमिपर वे देवदेवांगनायें अपने पैरोंको उठाती रखतीहुई न्टत्य कर रही थीं इसलिये नाट्याशास्त्रको जाननेवालोंमें उत्तम विद्वान् वह इंद्र उस समय सूत्रधारके (नटाचार्यके) समान जान पडता था ॥ १५४ ॥ इंद्रकी भुजाओंपर एक ओर तो दैदीप्यमान उद्धतरस प्रकट करता हुआ तांडवन्टत्य (पुरुषान्टत्य) हो रहा था और एक ओर सुकुमार प्रयोगोंसे भरा हुआ लास्यन्टत्य (स्त्रियोंका न्टत्य) हो रहा था ॥ १५५ ॥ इसप्रकार परस्पर भिन्न रसोंसे भरा हुआ और अत्यंत आश्चर्यकारक ऐसा न्टत्य दिखलाता हुआ वह इंद्र सभाके लोगोंमें अतिशय प्रेम उत्पन्न करा रहा था

न्यतः ॥ ५५ ॥ विभिन्नरसमित्युच्चैर्दर्शयन्नाट्यमद्भुतं । सामाजिकजने शक्रः परां प्रीतिमजीजनत् ॥ ५६ ॥ गंधर्वनायकारब्धविविधातोद्यसंविधि । आनंदनृत्यमित्युच्चैर्मघवा निरवर्तयत् ॥ ५७ ॥ सकसतालमृद्वेणुविततध्वनिसंकुलं । साप्सर सरस नृत्त तदुद्यानमिवाद्युतत् ॥ ५८ ॥ नाभिराज. सम देव्या दृष्ट्वा तन्नाट्यमद्भुत । विसिस्मये परा श्लाघा प्रापच्च सुरसत्तमैः ॥ ५९ ॥ वृषभोय जगज्ज्येष्ठो वर्षिष्यति जगद्धित । धर्मामृतमितींद्रास्तमकार्षुर्वृषभाह्वय ॥ ६० ॥ वृषो हि भगवान्धर्मस्तेन यद्भाति तीर्थकृत् । ततोय वृषभस्वामीत्याह्वास्तैन पुरदर ॥ ६१ ॥ स्वर्गावतरणे दृष्ट' स्वप्नेस्य वृषभो यतः । जनन्या तदय देवैराहूतो वृषभाख्यया ॥ ६२ ॥ पुरुहूतः पुरु देवमाह्वयन्नाख्ययानया । पुरुहूत इति ख्यातिं बभारान्वर्थतां गतां

॥ १५६ ॥ इसप्रकार इंद्रने बडे ठाटवाटसे जिसमें मुख्य मुख्य गंधर्व देवोंने अनेक प्रकारके बाजे बजाना आरंभ किया है ऐसा वह आनंद न्टत्य ऊपर लिखे अनुसार वडे ठाटवाटके साथ समाप्त किया ॥ १५७ ॥ उससमय वह न्टत्य एक उद्यानके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार उद्यान कांस जातिके वृक्षोंके तथा बहुतसे बांस और पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार वह न्टत्य भी मृदंगकी ताल और वीणा आदि मधुर शब्दोंसे व्याप्त हो रहा था और उद्यानमें जिसप्रकार मधुर रससे भरा सरोवर रहता है उसीप्रकार वह न्टत्य भी अप्सराओं और रससे भरा हुआ था ॥ १५८ ॥ वह अद्भुत नाटक देखकर महाराज नाभिराज और मरुदेवीको भी बहुत आश्चर्य हुआ और इंद्रोंने भी उसकी खूब प्रशंसा की ॥ १५९ ॥ ये भगवान वृषभदेव संसारभरमें उत्तम हैं जगतका हित करनेवाले धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करेंगे इसलिये ही इंद्रोंने इनका वृषभदेव नाम रक्खा था ॥ १६० ॥ पूज्य धर्मका नाम वृष है यह तीर्थकर भगवान् वृष अर्थात् पूज्य धर्मसे सुशोभित हैं इसलिये ही इंद्रने इन्हें 'वृषभस्वामी' नामसे पुकारा था अर्थात् इनका वृषभस्वामी नाम रक्खा था ॥ १६१ ॥ अथवा माता मरुदेवीने भगवानके गर्भावतरणके समय स्वप्नमें वृषभ अर्थात् बैल देखा था इसलिये देव इन्हें वृषभ नामसे पुकारने लगे ॥ १६२ ॥ ऐसा जान पड़ता है मानों इंद्रने

॥ ६३ ॥ ततोस्य सवयोरूपवेषान्सुरकुमारकान् । निरूप्य परिचर्यायै दिवं जग्मुर्नुनायकाः ॥ ६४ ॥ धात्र्योनियोजिताश्चास्य देव्यः शक्रेण सादरं । मज्जने मंडने स्तन्ये सस्कारे क्रीडनेपि च ॥ ६५ ॥ ततोसौ स्मितमातन्वन् ससर्पन्मणिभूमिषु । पित्रोर्मुदं ततानाद्ये वयस्यद्भुतचेष्टितः ॥ ६६ ॥ बमदानदि नेत्राणामुत्सवप्रदमूर्जितं । कलोज्ज्वल तदस्यासीच्छैशव शशिनो यथा ॥ ६७ ॥ मुग्धास्मितममूदस्य मुखेंदौ चंद्रिकामल । तेन पित्रोर्म-

---

पहिले ही भगवान वृषभदेवको पुरु (आदिदेव) इस नामसे बुलाया था इसलिये इंद्रका पुरुहूत (पुरु अर्थात् आदिदेवको आह्वान करनेवाला—बुलानेवा ।) यह सार्थक नाम प्रसिद्ध हो गया है ॥१६३॥ तदनंतर अर्थात् जन्मोत्सव और नामकर्म करनेके अनंतर वे सब इंद्र भगवानकी सेवा करनेकेलिये भगवानके समान ही आयु रूप और वेष धारण करनेवाले देवकुमारकों छोडकर अपने अपने स्वर्गमें जा पहुंचे ॥ १६४ ॥ इंद्रने बडे आदरसे भगवानको स्नान कराने, वस्त्राभरण पहनाने, दूध पिलाने शरीरके संस्कार कराने और क्रीडा करानेके लिये अनेक देवियोंको धाय बनाकर नियुक्त किया था ॥ १६५ ॥ तदनंतर वे भगवान वृषभदेव प्रथम बालक अवस्थामें अनेक प्रकारकी आश्चर्यकारक ली-लायें करते थे कभी मंदमंद हंसते थे और कभी मणिखचितभूमिपर घुटनोंके बल धीरे धीरे चलते थे इसप्रकार वे मातापिताको बहुत ही आनंदित करते थे ॥ १६६ ॥ भगवानकी वह बालक अवस्था ठीक चंद्रमाके समान जान पडती थी क्योंकि चंद्रमा जिसप्रकार संसारको आनंद करनेवाला है उसीप्रकार वह अवस्था भी सबको आनंद करनेवाली थी चंद्रमा जिसप्रकार नेत्रोंको आनंदित करता है उसीप्रकार वह बालक अवस्था भी नेत्रोंको आनंदित करनेवाली थी और चंद्रमा जिसप्रकार बढती हुई उज्वल कलाओंका धारण करता है उसीप्रकार भगवानकी वह बालक अवस्था भी प्रतिदिन बढती हुई अनेक निर्मल कलाओंको धारण करती थी ॥ १६७ ॥ भगवानके मुखरूपी चंद्रमापर मंद-हास्य रूपी निर्मल चांदनी बडी ही अच्छी जान पडती थी और उससे मातापिताके मनका संतो-

नस्तोषजलधिर्निवृवे तरां ॥ ६८ ॥ गीतमंवः सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः । कीर्तिवल्ल्या विकासोस्य मुखे मुग्धस्मयोभवत् ॥ ६९ ॥ श्रीमन्मुखाबुजेस्यासीत्क्रमान्मन्मनभारती । सरस्वतीव तद्बाल्यमनुकर्तुं यथाश्रिता ॥ ७० ॥ स्खलत्पद शनैरिंद्रनीलभूमिषु सचरन् । स रेजे वसुधा रक्तैरब्जैरुपहरान्निव ॥ ७१ ॥ रत्नपांसुषु चिक्रीड स समं सुरदारकैः । पित्रोर्मनसि संतोषमातन्वन् ललिताकृतिः ॥ ७२ ॥ प्रजानां दधदानंद गुणैराह्लादिभिर्निजैः । कीर्तिज्योत्स्नापरीतागः स बभौ बालचद्रमाः ॥ ७३ ॥ बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद्रुचिरं वपु । कौमारं देवनाथानामर्चितस्य महौ

षरूपी समुद्र भी खूब बढता था ॥ १६८ ॥ उस बालक अवस्थामें भगवानका मंदहास्य ऐसा अच्छा जान पडता था मानो सरस्वतीका गीतवंश (गानेके प्रारंभ अवस्थाका राग) ही हो अथवा लक्ष्मीका हास्यका विलास ही हो अथवा कीर्तिरूपी लताका अंकुरा ही हो ॥ १६९ ॥ भगवानके शोभायमान मुखरूपी कमलमें क्रमक्रमसे उत्पन्न होनेवाली अव्यक्त वाणी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों भगवानकी बालक अवस्थाका अनुकरण करनेकेलिये सरस्वती देवीने ही आश्रय लिया हो । भावार्थ-यद्यपि भगवानमें स्पष्ट बोलनेकी शक्ति थी तथापि सरस्वती मानों भगवानकी बालक अवस्था दिखलानेकेलिये ही अव्यक्त रूपसे प्रगट हो रही हो ॥ १७० ॥ इंद्रनील मणियोंकी बनी हुई भूमिपर धीरे धीरे गिरते पडते चलते हुये वे बालक भगवान ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों पृथ्वीको लाल कमलोंका उपहार ही दे रहे हों ॥ १७१ ॥ मनोहर आकृतिको धारण करनेवाले वे भगवान कभी कभी मातापिताके मनको संतुष्ट करतेहुये बालकरूप देवोंके साथ साथ रत्नोंके चूर्णकी बनी हुई धूलिमें क्रीडा करते थे ॥ १७२ ॥ वे बालक भगवान चंद्रमाके समान सुशोभित होते थे जिसप्रकार चंद्रमा आल्हाद करनेवाले अपने गुणोंसे प्रजाको आनंदित करता है उसीप्रकार वे भगवान भी आल्हाद करनेवाले अनेक गुणोंसे प्रजाको आनंदित करते थे और चंद्रमाका शरीर जिसप्रकार चांदनीसे भरपूर रहता है उसीप्रकार भगवानका शरीर भी कीर्तिरूपी चांदनीसे भर

जसः ॥ ७४ ॥ वपुषो वृद्धिमन्वस्य गुणा ववृधिरे विभोः । शशांकमंडलस्येव कांतिदीप्त्यादयोन्वहं ॥ ७५ ॥ वपुः कांतं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षित । जगतां प्रीतिमातेनुः सस्मित च प्रजल्पित ॥ ७६ ॥ कलाश्च सकलास्तस्य वृद्धौ वृद्धिमुपाययुः । इंदोरिव जगच्चेतोनंदनस्य जगत्पते ॥ ७७ ॥ मतिश्रुते सहोत्पन्ने ज्ञान चावधिसंज्ञकं । ततोबोधि स निःशेषा विद्या लोकस्थितीरपि ॥ ७८ ॥ विश्वविद्येश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वय । ननु जन्मातराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलां ॥ ७९ ॥ कलासु कौशल श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटव । क्रियासु कर्मठत्व च स भेजे शिक्षया

पूर था ॥ १७३ ॥ बाल्यावस्थाके व्यतीत होनेपर इंद्रोंके द्वारा पूज्य और अतिशय तेजस्वी ऐसी भगवानकी कुमारावस्थाका शरीर बहुत ही सुंदर सुशोभित होता था ॥ १७४ ॥ जिसप्रकार चंद्रमंडलके वढनेसे उसके कांति दीप्ति आदि गुण प्रतिदिन वढते जाते हैं उसीप्रकार ज्यों ज्यों भगवानका शरीर वढता जाता था त्यों त्यों उसके साथ साथ अनेक गुण भी वरावर वढते चले जाते थे ॥ १७५ ॥ उस समय भगवानका मनोहर शरीर, कोमल वाणी, मधुर अवलोकन (देखना) और मंदहास्य सहित वोलना यह सव संसारको वहुत ही संतुष्ट कर रहे थे ॥ १७६ ॥ जिसप्रकार संसारके समस्त चित्तोंको आनंदित करनेवाले चंद्रमाके वढनेसे उसकी सव कलायें वढती हैं उसी-प्रकार जगतपति भगवानके वढनेसे भी उनकी समस्त विद्यायें वढ गईं थीं ॥ १७७ ॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तीनों भगवानके साथ साथ ही उत्पन्न हुये थे अतएव उनसे समस्त विद्यायें और लोककी स्थिति (अवस्था) आदि सवको वे भगवान जानते थे ॥ १७८ ॥ वे भगवान समस्त विद्याओंके ईश्वर थे इसलिये उन्हे समस्त विद्यायें विना पढे स्वयं ही आगईं थीं सो ठीक ही है क्योंकि जन्मांतरके दृढ अभ्याससे वहुतसी स्मृतियां प्रगट हो ही जातीं हैं ॥ १७९ ॥ वे भगवान विना शिक्षा प्राप्त किये ही (अपने आप ही) समस्त कलाओंमें प्रशंसनीय निपुणता धारण करने लगे थे समस्त विद्याओंमें चतुर हो गये थे और समस्त क्रियाओंको वडे यत्नसे

विना ॥ ८० ॥ वाङ्मयं सकल तस्य प्रत्यक्ष वाक्प्रभोरभूत् । येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद् गुरुः ॥८१॥पुराणः स कविर्वाग्मी गमकश्चेति- रुच्यते । कोष्ठबुध्यादयो बोधा येन तस्य निसर्गजा ॥८२॥क्षायिकं दर्शन तस्य चेतोमलमपाहरत् । वाग्मल च निसर्गेण प्रसृतास्य सरस्वती ॥८३॥ श्रुत निसर्ग तोस्यासीत्प्रसूत. प्रशम. श्रुतात् । ततो जगद्धितास्यासीच्चेष्टा सापालयत्प्रजा ॥ ८४ ॥ यथायथास्य वर्द्धंते गुणांशा वपुषा सम । तथातथा- स्य जनता बंधुता चागमन्मुद ॥ ८५ ॥ स पित्रो परमानद बधुतायाश्च निर्वृतिं । जगज्जनस्य सप्रीतिं वर्द्धयन्समवर्द्धत ॥ ८६ ॥ परमायुरथास्या

पूर्ण रीतिसे संपादन करने लगे थे ॥ १८० ॥ वे भगवान सरस्वतीके स्वामी थे इसलिये उन्हें समस्त शास्त्र प्रत्यक्ष हो गया था और उस शास्त्रसे वे वाचस्पति हो गये थे इसलिये वे समस्त जगतके गुरु हो गये थे ॥ १८१ ॥ वे भगवान अतिशय प्राचीन थे, कवि थे, सबका चित्त प्रसन्न करनेवाले वक्ता थे टीकाकार गमक थे और बडे ही इतिहास वेत्ता थे। क्योंकि कोष्टबुद्धि आदि कितनी ही विद्यायें उन्हें स्वभावसे ही आगईं थीं ॥ १८२ ॥ उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन उनके चित्तकी सब मलिनता दूर करनेवाला था और स्वभावसे विस्तारको प्राप्त हुई सरस्वती उनके वचन संबंधी दोष दूर करनेवाली थी ॥ १८३ ॥ उन भगवान वृषभदेवके जन्मसे ही शास्त्रज्ञान था तथा उस शास्त्रज्ञानसे उनके परिणाम बहुत शांत थे उनकी समस्त चेष्टायें संसारका हित करनेवाली थीं और वे चेष्टायें सब प्रजाका पालन कर रहीं थीं ॥ १८४ ॥ ज्यों ज्यों उनके शरीरके साथ गुण बढते चले जाते थे त्यों त्यों संसारके समस्त मनुष्य और कुटुंबी आदि सब हर्षित होते जाते थे ॥ १८५ ॥ इसप्रकार वे भगवान माता पिताको परम आनंद, कुटुंबियोंको सुख और संसारके लोगोंको संतोष बढाते हुये वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ १८६ ॥ चरम शरीरको (अंतका शरीर, जिससे मोक्ष प्राप्त हो) धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवकी संपूर्ण आयु चौरासी लाख पूर्वकी थी ॥ १८७ ॥ वे भगवान दीर्घदर्शी थे दीर्घ आयु और दीर्घ (बडी) भुजाओंको धारण

भूधरमं बिभ्रतों वपुः । संपूर्णां पूर्वलक्षणामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥ ८७ ॥ दीर्घदर्शी सुदीर्घायुर्दीर्घबाहुश्च दीर्घदृक् । स दीर्घसूत्रो लोकानामभजत्सूत्रधारतां ॥ ८८ ॥ कदाचिल्लिपिसंख्यान गंधर्वादिकलागम । स्वभ्यस्तपूर्वमभ्यस्यन्स्वयमभ्यासयत्परान् ॥ ८९ ॥ छंदोविचित्यलंकारप्रस्तारादिविवेचनैः । कदाचिद्बावयन्गोष्ठीश्चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥ ९० ॥ कदाचित्पदगोष्ठीभि काव्यगोष्ठीभिरन्यदा । वावदूकैः समं कैश्चिज्जल्पगोष्ठीभिरेकदा ॥ ९१ ॥ कर्हिचिद्गीतगोष्ठीभिर्नृत्तगोष्ठीभिरेकदा । कदाचिद्वाद्यगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥ ९२ ॥ कर्हिचिद्बर्हिरूपेण नटतः सुरचेटकान् ॥ नाटयन्करतालेन लयमार्गानुयायिना ॥ ९३ ॥ कांश्चिच्च शुकरूपेण समासादितविक्रियान् । सपाठं पाठयन् श्लोकान-

---

करनेवाले थे, सुंदर और बडे बडे नेत्र धारण करनेवाले थे तथा दृढतासे कार्य करनेवाले थे । इन सब गुणोंसे वे संसारके सूत्रधार अर्थात् गुरु समझे जाते थे । भावार्थ—उनके गुण देखदेखकर अन्य सब लोग उन गुणोंको धारण करते थे ॥ १८८ ॥ वे भगवान कभी लिखनेकी कला, कभी गणितशास्त्र और गंधर्वादिकोंके शास्त्रोंको पूर्वजन्ममें अच्छीतरह अभ्यास करनेके कारण स्वयं अभ्यास करते थे और दूसरोंको अभ्यास कराते थे ॥ १८९ ॥ वे भगवान कभी छंदशास्त्र, कभी अलंकार शास्त्र, कभी नष्टोद्दिष्ट आदि प्रस्तारोंका विवेचन और कभी चित्र खींचने आदिके कलाशास्त्रोंको अच्छीतरह समझकर देवकुमारोंके, साथ २ विचार करते हुये सुखसे रहते थे ॥ १९० ॥ उन देवकुमारोंके साथ२ कभी व्याकरणशास्त्रका विचार करते थे, कभी काव्यशास्त्रका विचार करते थे, कभी बहुत बोलनेवाले वाचालोंके साथ और कभी अपना २ मत स्थापन करनेवालोंके साथ विचार करते थे ॥१९१॥ कभी गानकलाकी चरचा कभी नृत्यकलाकी चरचा कभी वाद्यगोष्ठी और वीणा बजानेकी गोष्ठीसे अपना काल व्यतीत करते थे ॥ १९२ ॥ कभी मयूरोंका रूप धारणकर नृत्य करतेहुये देव कुमारोंको लयके अनुसार हाथकी ताल देते हुये नृत्य कराते थे ॥ १९३ ॥ जो देव अपनी विक्रियासे तोतेका रूप धारण किये थे उन्हें स्पष्ट और मधुर अक्षरोंसे श्लोकोंका पाठ कराते थे ॥ १९४ ॥ जो देव

श्लिष्टमधुराक्षर ॥ ९४ ॥ हसविक्रियया कांश्चित्कूजतो मदगद्गद । बिसभगैः स्वहस्तेन दत्तै संभावयन्मुहु ॥ ९५ ॥ गजविक्रियया कांश्चिद्दधत कालभीं दशां । सांत्वयन्मुहुराताड्य करमाक्रोडयन्मुदा ॥ ९६ ॥ मणिकुट्टिमसंक्रांतैः स्वैरेव प्रतिबिंबकै । कृकवाकूयितान्कांश्चियोद्धुकामान्परामृशन् ॥ ९७ ॥ मल्लविक्रियया कांश्चिद्युयुत्सूननभिद्रुहः । प्रोत्साहयन्कृतास्फोटवल्गनानाभिनृत्यत. ॥ ९८ ॥ क्रौंचसारसरूपेण तारक्रेंकारकारिणा । शृण्वन्ननुगत शब्द केषांचित् श्रुतिपेशल ॥ ९९ ॥ स्रग्विण शुचिलिप्तांगान्समेतान्सुरदारकान् । दद्या क्रीडा समायोज्य नर्त्तयश्च कदाचन ॥ २०० ॥ अनारत च कुंदेंदुमदाकिन्यच्छटामल । सुरवंदिभिरुद्गीतं स्व समाकर्णयन्यश ॥ १ ॥ अतंद्रित

अपनी विक्रिया ऋद्धिसे हंसका रूप धारणकर धीरे धीरे गदगदस्वरसे बोल रहे थे उन्हें अपने हाथसे कमलके तंतु देकर बारं बार क्रीडा करते थे ॥ १९५ ॥ जिन देवोंने विक्रिया ऋद्धिसे हाथीके बच्चों की अवस्था धारण की थी उन्हें प्रथम ही शिक्षा देकर अपने वश करते थे और फिर अंकुशसे ताडना करते हुये उनकी सूंडसे क्रीडा करते थे ॥१९६॥ जो देव मुर्गोंका रूप धारणकर मणियोंकी बनी हुई दीवालोंमें पडतेहुये अपने प्रतिबिंबोंसे लडनेकी इच्छा कर रहे थे उन्हें देखते थे ॥ १९७ ॥ मल्लोंका रूप धारणकर परस्पर विरोधरहित केवल चित्त प्रसन्न करनेकेलिये युद्ध करनेवाले तथा शब्दोंके द्वारा गर्जना करते हुये नृत्य करनेवाले देवोंको युद्ध करनेकेलिये उत्तेजित करते थे और ॥ १९८ ॥ कभी जो देव उच्चस्वरसे क्रौं क्रौं शब्द करनेवाले क्रौंच और सारस पक्षियोंका रूप धारण कर आये थे उनके निरंतर होनेवाले और कानोंको अच्छे लगनेवाले शब्द सुनते थे ॥ १९९ ॥ कभी माला पहनेहुये, शरीरमें चंदन लगाये हुये और एक जगह इकट्ठे हुये देवकुमारोंको डंडोंसे क्रीडा कराते थे अर्थात् एक दंडको रखकर उसपर दूसरे दंडकी चोट दिलाते थे भावार्थ--उन्हें किल्ली दंडा खिलाते थे तथा उन्हें नचाते भी थे ॥ २०० ॥ कभी वंदीजन देवोंके द्वारा निरंतर गाये हुये कुंदपुष्प, चंद्रमा और आकाशगंगाके जलकी छटाके समान अपने निर्मल यशको सुनते थे ॥२०१॥

च देवीभिर्न्यस्यमानं गृहांगणे । रत्नचूर्णैर्बलिं चित्रं सानंदमवलोकयन् ॥ २०२ ॥ संभावयन्कदाचिच्च प्रकृतीर्द्रष्टुमागताः । वीक्षितैर्मधुरैः स्निग्धैः स्मितैः सादरभाषितैः ॥ ३ ॥ कदाचिद्दीर्घिकाम्भस्सु समं सुरकुमारकैः । जलक्रीडाविनोदेन रममाणः मसंमदः ॥ ४ ॥ सारव ... हंसकूजितैः । तारवैर्यंत्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥ ५ ॥ जलकेलिविधावेन भक्त्या मेघकुमारकाः । मेघधारागृहीभूय ... ॥ ६ ॥ कदाचिन्नंदनस्पर्द्धिनरुशोभाचिते वने । वनक्रीडा समातन्वन्वयस्यैरन्वितः सुरैः ॥ ७ ॥ वनक्रीडाविनोदेस्य ... वुरुद्यानपादपान्पवनामराः ॥ ८ ॥ इति कालोचिताः क्रीडा विनोदांश्च स निर्विशन् । आसांचक्रे सुखं देवः समं देवकुमारकैः ॥ ९ ॥ इति ...

कभी अपने घरके आंगनमें आलस्य रहित देवियोंके द्वारा वनाई हुई रत्नचूर्णकी चित्रावलीको आनंदसे देखते थे ॥ २०२ ॥ कभी कभी अपने दर्शन करनेकेलिये आयेहुये प्रजाके लोगोंको मधुर अवलोकनके द्वारा प्रेमयुक्त मंदहास्यके द्वारा और आदरसहित संभाषणके द्वारा अपने अनुकूल करते थे ॥ २०३ ॥ कभी वावडियोंसे जलमें देवकुमारोंके साथ साथ बडे आनंदसे जलक्रीडाका विनोद करते हुये क्रीडा करते थे ॥ २०४ ॥ कभी हंसोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान ऐसे नदीके जलमें पहुंचकर जलमें तेरनेसे मधुर शब्द करनेवाले लकडीके वनेहुये यंत्रोंसे अर्थात् नावोंसे क्रीडा करते थे ॥ २०५ ॥ कभी कभी जव वे जलक्रीडा करते थे उस समय मेघ कुमारजातिके देव जलके धारागृहका (जिसमें चारों ओर जलकी थोडी २ वर्षा हो रही हो, ऐसा गृह) रूप धारण कर चारों ओरसे जलकी धारा छोडते हुये भगवानकी सेवा करते थे ॥ २०६ ॥ कभी २ वे भगवान अपने वृक्षोंकी शोभासे नंदनवनकी स्पर्द्धा करनेवाले वनोंमें मित्ररूप हुये देवोंकेसाथ साथ वन क्रीडा करते थे ॥२०७॥ जिससमय भगवान वनक्रीडा करते थे उस समय पवनकुमार जातिके देव पृथिवीको धीरे २ हिलाते थे अर्थात् मंद मंद वायु चलाते थे ॥ २०८ ॥ इसप्रकार अपने अपने समयके अनुसार देवकुमारोंके साथ क्रीडा और विनोद करते हुये वे वृषभदेव भगवान सुखसे काल व्यतीत

नपतीनामर्च्चनीयोभिगम्य सकलगुणमणीनामाकर पुण्यमूर्ति । सममरकुमारैर्निर्विशन्दिव्यभोगानरमत चिरमस्मिन्पुण्यगेहे स देव ॥ २१० ॥ प्रतिदिनममरेंद्रोपाहृतान्भोगसारान् सुरभिकुसुममालाचित्रभूषावरादीन् । ललितसुरकुमारैरिंगितज्ञैर्वयस्यैःसममुपहृतराग सोन्वभूत्पुण्यपाकात् ॥ ११ ॥ स श्रीमान्नृपुरासुरार्चितपदो बाल्येप्यबालक्रियो लीलाहारविलासवेषचतुरामाबिभ्रदुच्चैस्तनुं । तन्वान सुमुद जगज्जनमन प्रह्लादिभिर्वा क्करैर्बालेंदुर्ववृधे शनैरमलिन कीर्त्युच्चलच्चंद्रिकः ॥ १२ ॥ तारालीतरला दधत्समुचिता वक्षस्स्थलाभगिनीं लक्ष्म्यादोलनवल्लरीमिव ततां ता हारयष्टिं पृथु । ज्योत्स्नामन्यमथांशुक परिदधत्काचीकलापांचित रेऽजेसौ मु दारकैरुडुसमै. क्रीडन् जिनेंद्रुर्भृशं ॥ २१३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसग्रहे भगवज्जातकर्मोत्सववर्णन नाम चतुर्दश पर्व ॥१४॥

करते थे ॥ २०९ ॥ इसप्रकार जो भगवान इंद्रादिदेवोंके द्वारा भी पूज्य है, इंद्रादि देव भी जिनका आश्रय लेते हैं जो समस्त गुण रूप मणियोंको उत्पन्न करनेकेलिये खानिके समान हैं जिनकी मूर्तिके दर्शन करनेमात्रसे पुण्य होता है ऐसे वे वृषभदेव महाराज नाभिराजके पवित्र घरमें देवकुमारोंके साथ साथ दिवा भोगोंका अनुभव करते हुये चिरकालतक क्रीडा करते रहे ॥ २१० ॥ इंद्र प्रतिदिन सुगंधित पुष्पमालायें तथा चित्र विचित्र वस्त्राभूषण आदि उत्तम भोगोपभोगोंकी वस्तुयें स्वर्गसे लाकर भेट करता था और वे भगवान समस्त चेष्टा और अभिप्रायोंको जाननेवाले सुंदर सर्वांग मित्र देवकुमारोंके साथ साथ प्रसन्न होकर अपने पुण्य कर्मके उदयसे उन भोगोंका अनुभव करते थे ॥ २११ ॥ मनुष्य, सुर, असुर आदि सब जिनके चरण कमलोंकी पूजा करते हैं, जो बाल्यावस्थामें भी वृद्धोंके समान क्रिया करनेवाले हैं, जो लीला, आहार विलास भेष आदि सबमें अति चतुर ऐसे शरीरको धारण करते हैं जो संसारके सबलोगोंके मन प्रसन्न करनेवाले अपने वचनरूपी किरणोंसे सबको हर्षित करते हैं, जो सदा निर्मल हैं और जिनकी कीर्तिरूपी चांदनी सब जगह प्रकाशमान हो रही है ऐसे वे श्रीमान् वृषभदेव बालचंद्रमाके समान धीरे धीरे वृद्धिको प्राप्त हो रहे थे ॥ २१२ ॥ ताराओंकी पंक्तिके समान चंचल, लक्ष्मीके झूलनेकी रस्सीके समान, समु-

अथ पंचदशं पर्व

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहर। प्रकृत्यैव शशी कांत. किं पुन. शरदागमे ॥१॥ निष्टप्तकनकच्छाय नि स्वेदं नीरजोमल। क्षीराच्छक्षतज दिव्यसस्थान वज्रसंहत ॥ २ ॥ सौरूप्यस्य परा कोटिं दधान सौरभस्य च। अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलकृत ॥ ३ ॥ अप्रमेय महावीर्यं दधत्प्रियहित वच-। कांतमाविरभूदस्य रूपमप्राकृत प्रभो ॥ ४ ॥ मकुटालकृत तस्य शिरो नीलशिरोरुह। सुरेंद्रमणिभि कांत मेरो शृंगमिवाबभौ ॥ ५ ॥ रुरुचे मूर्ध्नि मालास्य कल्पानोकहसभवा। हिमाद्रे कूटमावेष्ट्यापतंतीवामरापगा ॥ ६ ॥ ललाटपट्टे विस्तीर्णे रुचिरस्य महत्यभून्।

चित, विस्तृत और वक्षःस्थलपर पडे हुये वडे भारी हारको पहने हुये तथा चांदनीके समान करधनीसे सुशोभित वस्त्रोंको धारण किये हुये वे भगवान चंद्रमाके समान देवकुमाररूपी तारामंडलके साथ साथ यथेष्ट क्रीडा करते हुये बडे ही सुशोभित होते थे ॥ २१३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानका जन्मोत्सव वर्णन करनेवाला चौदहवा पर्व समाप्त हुआ ॥१४॥

अथ पंद्रहवां पर्व।

अथानंतर यौवन अवस्था पूर्ण होनेपर भगवानका शरीर वहुत ही मनोहर होगया था सो ठीक ही है चंद्रमा स्वभावसे ही सुंदर होता है यदि शरदऋतु हो तो फिर उसकी सुंदरताका पूछना ही क्या है ॥ १ ॥ उनका रूप वहुत ही सुंदर दिखाई पडता था तपायेहुये सुवर्णके समान उसकी कांति थी, उसपर पसीना कभी आता नहीं था, मैल मलमूत्र आदिसे रहित था, उसका रुधिर दूधके समान निर्मल था, उसका दिव्य समचतुरस्र संस्थान था वज्रवृषभनाराच संहनन था, अर्थात् वह वज्रमय था, सुंदरता और सुगंधताकी परम सीमाको धारण करता था, एक हजार आठ लक्षणोंसे सुशोभित था, अन्य लौकिक शरीरोंसे वह सर्वथा भिन्न था अनंतवीर्य युक्त था प्रिय और हितरूप

वाग्देवीललिताक्रीडस्थललीलां वितन्वती ॥ ७ ॥ भ्रूलते रेजतुर्भर्तुर्ललाटाद्रितटाश्रिते । वागुरे मदनैणस्य संरोधायैव कल्पिते ॥ ८ ॥ नयनोत्पलयोरस्य कांतिरानीलतारयो । आसीद् द्विरेफसंसक्तमहोत्पलदलश्रियो. ॥ ९ ॥ मणिकुंडलभूषाभ्यां कर्णावस्य रराजतुः । पर्वतौ गगनस्येव चंद्रार्काभ्यामलकृतौ ॥ १० ॥ मुखेंदौ या द्युतिस्तस्य न सान्यत्र त्रिविष्टपे । अमृते या धृति सा किं कचिदन्यत्र लक्ष्यते ॥ ११ ॥ स्मिताशुरुचिरं तस्य

वचनोंको धारण करनेवाला था और अतिशय मनोहर तथा असाधारण था ॥ २-३-४-॥ श्यामकेशयुक्त और मुकुटसे सुशोभित उनका शिर ऐसा अच्छा जान पडता थ. मानों इंद्रनील मणियोंसे सुशोभित मेरु पर्वतका शिखर ही हो ॥ ५ ॥ उनके मस्तकपर धारण की हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी माला ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों हिमवान् पर्वतके शिखरको घेरकर नीचे पडती हुई आकाशगंगा ही हो ॥ ६ ॥ उनके विस्तीर्ण ललाटकी शोभा ऐसी अच्छी थी मानों सरस्वती देवीकी सुंदर क्रीडास्थलकी शोभा ही धारण कर रही हो ॥ ७ ॥ ललाटरूपी पर्वतके शिखरपर आश्रय लेनेवाली भगवानकी भौंहरूपी-लतायें ऐसी अच्छी सुशोभित होती थीं मानों कामदेवरूपी हिरणको रोकनेके लिये उसके बांधनेकी रस्सी ही हों ॥ ८ ॥ नीले ताराओंसे (पुतलियोंसे) सुशोभित भगवानके नेत्रकमलोंकी शोभा ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों भ्रमरसे सुशोभित कमलकी पंखुरीकी ही शोभा हो ॥ ९ ॥ मणियोंके बने हुये कुंडलोंसे सुशोभित भगवानके दोनों कान ऐसे सुशोभित होते थे मानों चंद्र और सूर्यसे सुशोभित आकाशके दोनों भाग ही हों ॥ १० ॥ भगवानके मुखरूपी चंद्रमामें जो कांति थी वह तीनोंलोकोंमें अन्यत्र कहीं नहीं थी सो ठीक ही है जो संतुष्टि अमृतमें है वह क्या किसी अन्य रसमें पाई जाती है ॥ ११ ॥ अथवा भगवानका मुख एक कमलके समान सुशोभित था क्योंकि जिसप्रकार कमल प्रकाशमान सफेद पंखुरियोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार उनका मुख-भी मंद हास्यकी किरणोंसे सुशोभित था और कमल जिसप्रकार पानीके फेनसे सुशोभित होता

मुखमापाटलाधरं । लसद्दलस्य पद्मस्य सफेनस्य श्रियं दधौ ॥ १२ ॥ दधेऽस्य नासिकोत्तुंगा श्रियमायतिशालिनीं । सरस्वत्यवताराय कल्पितेव प्रणालिका ॥ १३ ॥ धत्ते स्म रुचिरा रेखाः कंधरोऽस्यास्यसद्मनः । उल्लिख्य घटितो धात्रा रौक्मस्तंभ इवैकक ॥ १४ ॥ महानायकससक्तां हारयष्टिमसौ दधे । वक्षसा गुणराजन्यपृतनामिव सहता ॥ १५ ॥ इंद्रच्छंद महाहारमधत्तासौ स्फुरद्द्युति । वक्षसा सानुनाद्रींद्रो यथा निर्झरसंकर ॥ १६ ॥ हारेण हारिणा तेन तद्वक्षो रुचिमानशे । गंगाप्रवाहससक्ताहिमाद्रितटसंभवा ॥ १७ ॥ वक्षःसरसि रम्येऽस्य हाररोचिश्छटाम्भसा । संभृतं सुचिर

है उसीप्रकार भगवानका मुख भी कुछ लालिमा और सफेदी लियेहुये ओठोंसे सुशोभित हो रहा था ॥ १२ ॥ भगवानकी उठी हुई ऊंची और लंबी नाक ऐसी शोभा धारण करती थी मानों सरस्वतीदेवीके (मुख या जिह्वापर) आनेके लिये एक लंबी सुरंग ही बनाई हो ॥ १३ ॥ सुंदर रेखाओंसे सुशोभित भगवानका कंठभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों नाम कर्मरूपी ब्रह्माने भगवानके मुखरूपी घरकेलिये उकेरकर बनाया हुआ एक सुवर्णमय स्तंभ ही हो ॥ १४ ॥ जिसप्रकार गुणरूप क्षत्रियोंकी सेना अपने महानायक महाराजके साथ सुशोभित होती है उसीप्रकार भगवानके वक्षःस्थलपर पडी हुई महानायक अर्थात् मध्यभागके बडे मणिसे सुशोभित मोतियोंकी हारलता (माला) शोभायमान थी ॥ १५ ॥ जिसप्रकार सुमेरुपर्वत अपने तटभागपर पडतेहुये अनेक निर्झरनोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वे भगवान भी अपने वक्षःस्थलपर पडेहुये अतिशय देदीप्यमान एक हजार आठ लडियोंके सुंदर महाहारसे सुशोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥ उस मनोहर हारसे भगवानका वक्षःस्थल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों गंगाके प्रवाहके संबंधसे शोभायमान हिमवान पर्वतका तट ही हो ॥ १७ ॥ भगवानका वक्षःस्थल हारके प्रकाशकी छटा रूप जलसे भरा हुआ एक सुंदर सरोवरके समान जान पडता था और उसपर दिव्य लक्ष्मीरूपी कलहंसिनी (मिष्टभाषण करनेवाली हंसिनी) चिरकालतक क्रीडा करती थी ॥ १८ ॥ वक्षःस्थलपर रहने-

रेमे दिव्यश्रीकलहंसिका ॥ १८ ॥ वक्षःश्रीगेहपर्यंते तस्यांसौ श्रियमापतु । जयलक्ष्मीकृतावासौ तुंगावट्टालकाविव ॥ १९ ॥ बाहू केयूरसंघट्टमसृणांसौ दधे विभुः । कल्पाङ्घ्रिपाविवाभीष्टफलदौ श्रीलताश्रितौ ॥ २० ॥ नखान्दधे सुखालोकान्सरलांगुलिसाश्रितान् । दशावतारसभुक्तलक्ष्मीविभ्रमदर्पणान् ॥ २१ ॥ मध्येकायमसौ नाभिमर्दधन्नाभिनंदन । सरसीमिव सावर्तां लक्ष्मीहंसीनिषेविता ॥ २२ ॥ समेखलमधात्कांतिं जघनं तस्य सांशुकं । नितंबमिव भूभर्तुः सतडिच्छरदम्बुद ॥ २३ ॥ बभारोरुद्वयं धीरः कार्तस्वरविभास्वर । लक्ष्मीदेव्या इवांदोलस्तंभयुग्मकमुच्चकैः ॥ २४ ॥ जंघे मद-

वाली लक्ष्मीके घरपर्यंत ऊंचे पहुंचे हुये भगवानके दोनों कंधे ऐसे सुशोभित होते थे मानों जय-लक्ष्मीके निवास करने योग्य दो उंची अटारी ही हों ॥ १९ ॥ शोभारूप लतासहित तथा बाजूबंधके संघटनसे चिकने हो गये हैं कंधे जिनके ऐसी भगवानकी दोनों भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों अभीष्ट फल देनेवाले और लक्ष्मीरूपी लतासे आश्रित दो कल्पवृक्ष ही हों ॥ २० ॥ सब लोगोंको सुख देनेवाला प्रकाश करनेवाला और सरल उंगलियोंके आश्रित ऐसे भगवानके हाथोंके नख ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानने महाबल आदि पूर्वभवके दश अवतारोंमें जिस लक्ष्मीका अनुभव किया था उसके विलासकेलिये दश दर्पण ही धारण किये हों ॥ २१ ॥ भगवान नाभिनंदन श्रीवृषभदेवके शरीरके मध्यभागमें नाभि ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों आवर्त (भंवर) सहित और लक्ष्मीरूपी हंसिनी द्वारा सेवित ऐसी कोई छोटीसी सरोवरी (तलैया) ही हो ॥ २२ ॥ तथा करधनी और वस्त्रसे सुशोभित भगवानका जघनभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों विजली और शरदऋतुके सफेद बादलोंसहित किसी पर्वतका नितंबभाग ही हो ॥ २३ ॥ धीरवीर भगवान वृषभदेवके सुवर्णके समान दैदीप्यमान दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरीभाग) ऐसे मनोहर जान पडते थे मानों लक्ष्मी देवीके झूलाके खंभोंकी ऊंची जोडी ही हो ॥ २४ ॥ काम-देवरूपी हाथीकेलिये उलंघन न करने योग्य दो अर्गलके समान भगवानकी दोनों जंघायें ऐसी

नमातंगदुर्लंध्यार्गलविभ्रमे । लक्ष्म्येवोद्वर्त्तिते भर्तुः परां कांतिमवापतां ॥ २५ ॥ पादारविंदयोः कांतिरस्य केनोपमीयते । त्रिजगल्लक्ष्मीसमाश्लेषसौभाग्यमदशालिनोः ॥ २६ ॥ इत्यस्याविरभूत्कांतिरावालाग्रं नखाग्रतः । नूनमन्यत्र नालब्ध सा प्रतिष्ठा स्ववांछिता ॥ २७ ॥ निसर्गसुंदरं तस्य वपुर्वज्रास्थिबंधनं । विषशस्त्राद्यभेद्यत्वं भेजे रुक्माद्रिसच्छवि ॥ २८ ॥ यत्र वज्रमयास्थीनि वज्रैर्वलयितानि च । वज्रनाराचभिन्नानि तत्संहननमीशितुः ॥ २९ ॥ त्रिदोषजा महातंका नास्य देहे व्यधुः पदं । मरुता चलितागानां ननु मेरुरगोचरः ॥ ३० ॥ न जरास्य न खेदो वा नोपघा-

---

अच्छी कांतियुक्त जान पडतीं थीं मानों स्वयं लक्ष्मीने उवटनकर उज्ज्वल की हों ॥ २५ ॥ भगवानके चरणकमलोंकी कांतिकी उपमा देनेकेलिये तो संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं है इसलिये उनकेलिये किसीकी उपमा दे ही नहीं सकते हैं । क्योंकि उनके दोनों ही चरणकमल तीनों जगतोंकी लक्ष्मीके संबंधसे उत्पन्न हुये सौभाग्यके मदसे बडे ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे ॥ २६ ॥ इसप्रकार पैरोंके नखके अग्रभागसे लेकर शिरके बालोंके अंततक भगवानके संपूर्ण शरीरकी कांति बहुत ही अच्छी प्रगट हो रही थी, और ऐसी जान पडती थी मानों उसे भगवानके शरीरको छोडकर अन्यत्र कहीं अपनी इच्छानुसार स्थान प्राप्त नहीं हुआ था इसलिये वह भगवानके शरीरमें ही आ बसी थी ॥ २७ ॥ भगवानका शरीर स्वभावसे ही सुंदर था उसके हड्डियोंका बंधन वज्रमय था, विष शस्त्र अग्नि आदि किसीसे वह छिद भिद नहीं सकता था, और इसीलिये ही वह सुवर्णस्वरूप सुमेरु पर्वतके समान जान पडता था ॥ २८ ॥ उन भगवान वृषभदेवके शरीरकी हड्डियां वज्रमय थीं वेष्टन अर्थात् नसोंके द्वारा हड्डियोंका बंधनविशेष भी वज्रमय था और नाराच अर्थात् हड्डियोंको मिलानेवाले कीले भी वज्रमय थे इसप्रकार उनके शरीरका संहनन वज्रवृषभनाराच नामका था ॥ २९ ॥ भगवानके शरीरमें वात पित्त कफ तीनों दोषोंसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियां विलकुल नहीं थीं सो ठीक ही है वृक्षोंको हिलानेवाली वायुसे

तीपे जातुचित् । केवलं सुखसाद् भूतोमहीतल्पे महीयत ॥ ३१ ॥ तदस्य रुरुचे गात्र परमौदारिकाह्वय । महाभ्युदयनि:श्रेयसार्थानां मूलकारण ॥ ३२ ॥ मानोन्मानप्रमाणानामन्यूनाधिकतां श्रित । संस्थानमाद्यमस्यासीच्चतुरस्र समतत ॥ ३३ ॥ यथास्य रूपसपच्चिरतथा भोगैश्च पप्रथे । न हि कल्पाघ्रिपोद्भूतिरनाभरणभासुरा ॥ ३४ ॥ लक्षणानि बभुर्भर्तुर्देहमाश्रित्य निर्मल । ज्योतिषामिव बिंबानि मेरोर्मणिमयं तट ॥ ३५ ॥

क्या मेरु पर्वत भी कहीं हिल सकता है ? भावार्थ--भगवानका शरीर सर्वथा नीरोग था ॥ ३० ॥ दीर्घायु होनेपर भी उनके शरीरमें कभी बुढापा नहीं आता था न कभी उन्हें खेद ही होता था उनकी इच्छाका प्रतिबंध भी कभी नहीं होता था । वे केवल सुखमय होकर ही पृथ्वीरूपी शय्यापर सबके द्वारा पूज्य माने जाते थे ॥ ३१ ॥ भगवानका परमौदारिक शरीर महाभ्युदय अर्थात् निरंतर सुखसंपत्तिरूप मोक्षके प्राप्त होनेके उपायोंका मूलकारण था और इसलिये ही वह बहुत ही शोभायमान जान पडता था ॥ ३२ ॥ उसका संस्थान समचतुरस्रसंस्थान था अंग उपांगोंकी लंबाई चौडाई उंचाई आदि न तो कहीं कम थी और न कहीं अधिक थी भावार्थ-जिस अंग उपांगमें जितनी लंबाई चौडाई उंचाई होनी चाहिये वहां उतनी ही थी न्यूनाधिक नहीं थी इसलिये उनका वह शरीर बहुत ही मनोहर जान पडता था ॥ ३३ ॥ वास्तवमें भगवानकी जैसी रूपसंपत्ति थी वैसे ही भोगोपभोगकी अनेक सुखमय सामग्रियोंसे वह वृद्धिंगत हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षोंकी उत्पत्ति उनपर उत्पन्न होनेवाले आभरणोंके प्रकाश विना कभी नहीं होती है ॥ ३४ ॥ भगवानके निर्मल शरीरपर अनेक लक्षण ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों सुमेरुपर्वतके रत्नमय तटभागपर सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिषियोंके बिंब ही हों ॥ ३५ ॥ अथवा अनेक आभरणोंसे देदीप्यमान भगवान वृषभदेव कल्पवृक्षके समान जान पडते थे और उनके शरीपर अनेक शुभलक्षण पुष्पोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ३६ ॥ उन लक्षणोंमेंसे पहिला

विभुः कल्पतरुच्छायां बभाराभरणोज्ज्वलः । शुभानि लक्षणान्यस्मिन्कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥ तानि श्रीवृक्ष शंखाब्जस्वास्तिकांकुशतोरण । प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनं ॥ ३७ ॥ झषौ कुंभौ च कूर्मश्च चक्रमब्धिः सरोवरं । विमानभवने नागो नरनार्यौ मृगाधिप ॥ ३८ ॥ बाणबाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमिंद्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृंतक ॥ ३९ ॥ वेणुर्वीणा मृदंगश्च स्रजौ पट्टांशुकापणौ । स्फुरति कुंडलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥ उद्यानं फलित क्षेत्रं सुपक्वकलमाचितं । रत्नद्वीपश्च वज्रं च मही लक्ष्मी सरस्वती ॥ ४१ ॥ सुरभि सौरभेयश्च चूडारत्न महानिधि । कल्पवल्ली हिरण्य च जंबूद्वीपश्च पक्षिराट् ॥ ४२ ॥ उडूनि तारकाः सौध ग्रहाः सिद्धार्थपादपः । प्रातिहार्याण्य

लक्षण श्रीवृक्ष अर्थात् बेलका वृक्ष था अथवा वक्षःस्थलपर मणि विशेषका चिन्ह था । दूसरा शंख, तीसरा कमल, चौथा स्वास्तिक (सांथिया ,) पांचवां अंकुश, छठा तोरण अथवा समवसरणका महाद्वार, सातवां चमर, आठवां सफेद छत्र, नौवां सिंहासन, दशवां ध्वजा, ग्यारहवां दो मछलियां, बारहवां दो कुंभ (घडे) तेरहवां कच्छप, चौदहवां चक्र, पंद्रहवां समुद्र, सोलहवां सरोवर, सत्रहवां विमान, अठारहवां भवन (नागेंद्रका भवन), उन्नीसवां हाथी, वीसवां मनुष्य इक्कीसवां स्त्री, बाईसवां सिंह, तेईसवां बाण, चौवीसवां धनुष , पच्चीसवां सुमेरुपर्वत, छब्बीसवां इंद्र, सत्ताईसवां गंगा, अठाईसवां नगर, उन्तीसवां नगरका द्वार, तीसवां चंद्रमा, इकतीसवां सूर्य, बत्तीसवां उत्तम घोडा, तेतीसवां ताडका पंखा, चौतीसवां बांस, पैंतीसवां वीणा छत्तीसवां मृदंग, सैंतीसवां दो मालायें, अडतीसवां रेशमी वस्त्र, उनतालीसवां दुकान, चालीसवां कुंडल आदि अनेकप्रकारके दैदीप्यमान आभरण, इकतालीसवां अनेक फलवाला बाग, ब्यालीसवां पके हुये कलमी चांवलोंका खेत, तेतालीसवां रत्नद्वीप, चवालीसवां वज्र, पैंतालीसवां पृथ्वी, छयालीसवां लक्ष्मी, सैंतालीसवां सरस्वती, अडतालीसवां कामधेनु, उनंचासवां वृषभ, पचासवां चूडामणि रत्न, इक्यावनवां पद्मकाल आदि महानिधि, बावनवां कल्पलता, तिरेपनवां सुवर्ण, चौवनवां जंबूद्वीप पचपनवां गरुड, छप्पनवां नक्षत्र, सत्ताव-

हार्याणि मंगलान्यपराणि च ॥ ४३ ॥ लक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं शतं । व्यंजनान्यपराण्यासन् शतानि नव संख्यया ॥ ४४ ॥ अभिरामं वपुर्भर्तुर्लक्षणैरेभिरूर्जितैः । ज्योतिर्भिरिव सछन्नं गगनप्रांगणं बभौ ॥ ४५ ॥ लक्ष्मणा च ध्रुवं किंचिदस्त्यन्तर्लक्षणं शुभं । येन ते श्रीपतेरंगं स्पृष्टुं लब्धमकल्मषं ॥ ४६ ॥ लक्ष्मीर्निकामकठिने विरागस्य जगद्गुरोः । कथं कथमपि प्रापदवकाशं मनोगृहे ॥ ४७ ॥ सरस्वती प्रियास्यासीत्कीर्तिश्चाकल्पवर्तिनी । लक्ष्मीं तडिल्लतालोलां मदप्रेम्णैव सोवहत् ॥ ४८ ॥ तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः । आकृष्टा जनतानेत्रभृंगा

नवां तारे अट्ठावनवां राजभवन, उनसठवां ग्रह, साठवां सिद्धार्थवृक्ष (सफेदसरसोंका वृक्ष) इकसठवां आठ प्रातिहार्य और बासठवां मंगलद्रव्य । इसप्रकार ऊपर कहे हुये लक्षणोंको आदि लेकर भगवानके शरीरपर एकसौ आठ लक्षण थे तथा इनके सिवाय तिल आदि नौसै व्यंजन अर्थात् शुभ चिन्ह थे । इसतरह सब मिलाकर एकहजार आठ लक्षण थे ॥ ३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४ ॥ जिसप्रकार सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिर्मंडलसे व्याप्त हुआ आकाशरूपी आंगन बहुत सुंदर जान पडता है उसीप्रकार भगवानका सुंदर शरीर भी ऊपर कहे अनेक शुभ लक्षणोंसे बहुत ही सुशोभित जान पडता था ॥ ४५ ॥ उनलक्षणोंको भगवान वृषभदेवका निर्मल शरीर स्पर्श करनेको प्राप्त हुआ था इसलिये यह अवश्य मानना चाहिये कि उन लक्षणोंके भी अंतर्लक्षण कुछ शुभ अवश्य थे ॥ ४६ ॥ जगतगुरु भगवान वृषभदेव स्वयं वीतराग थे उनका मनरूपी गृह भी नितांत कठिन (लक्ष्मीके प्रवेश करनेके लिये) था । इसलिये भगवानके मनोरूपी घरमें निवास करनेकेलिये विचारी लक्ष्मीको बडा कठिनतासे स्थान मिला था ॥ ४७ ॥ उन भगवान वृषभदेवके दो प्रिया थीं एक तो सरस्वती देवी थी और दूसरी कल्पांतकालतक टिकनेवाली कीर्ति थी । चूंकि लक्ष्मी विजलीके समान चंचल थी इसलिये उसपर भगवान बहुत थोडा प्रेम रखते थे (संसारमें भी चंचल स्त्रीपर कम प्रेम करते ही हैं) ॥ ४८ ॥ भगवानके रूप लावण्य यौवन आदि उत्तम २ गुणरूपी पुष्पोंसे खींचे

नान्यत्र रेमिरे ॥ ४९ ॥ नाभिराजोन्यदा दृष्ट्वा यौवनारंभमीशितुः । परिणाययितु देवमिति चिंतां मनस्यधात् ॥ ५० ॥ देवोयमतिकांतांगः का-स्य स्याच्चित्तहारिणी । सुंदरी मदरागेस्मिन्प्रारंभो दुर्घटो ह्ययं ॥ ५१ ॥ अपि चास्य महानस्ति प्रारंभस्तीर्थवर्त्तने । सोतिवर्त्तीव गंधेभो . नियमा-त्ताविशेद्वनं ॥ ५२ ॥ तथापि काललब्धि स्याद्यावदस्य तपस्यतु । तावत्कलत्रमुचित चित्य लोकानुरोधतः ॥ ५३ ॥ तत पुण्यवती काचिदुचिताभिजना वधू । कलहंसीव निष्पंकमस्याविसतु मानस ॥ ५४ ॥ इति निश्चित्य लक्ष्मीवान्नाभिराजोतिसंभ्रमी । ससात्वमुपसृत्येदमवोचद्वदतां वरं

हुये लोगोंके नेत्ररूपी भ्रमर दूसरी जगह कहीं भी नहीं ठहरते थे ॥ ४९ ॥ किसी एक दिन महाराज नाभिराज भगवानकी यौवन अवस्था देखकर अपने चित्तमें उनके विवाह करनेकी इस-प्रकार चिंता करने लगे कि--॥ ५० ॥ भगवान वृषभदेवका शरीर बहुत ही मनोहर है इसलिये इनका चित्त हरण करनेवाली कोनसी सुंदरी श्रेष्ठ हो सकेगी । कदाचित् इनका चित्त हरण करने-वाली सुंदरी स्त्री भी मिल सकती है परंतु इनके विषयाभिलाषा बहुत ही कम है इसलिये इनके विवाह करनेका यह विचार पूर्ण होना अत्यंत कठिन है ॥ ५१ ॥ इसके सिवाय इनकी तीर्थकर पदवीका (धर्मरूपी तीर्थकी प्रवृत्ति करनेका) उद्योग भी बहुत बडा है । ये मदोन्मत्त हाथीके समान संपूर्ण परिग्रहोंको छोडकर अवश्य ही वनमें प्रवेश करेंगे अर्थात् अवश्य ही दीक्षा धारण करेंगे ॥ ५२ ॥ तथापि जबतक इनके तपश्चरण करनेकेलिये काललब्धि न हो तबतक लोक-व्यवहारके अनुसार इनके सदृश किसी कन्याके साथ इनका विवाह करदेना योग्य ही है ॥ ५३ ॥ इसलिये जिसप्रकार मधुर भाषण करनेवाली हंसिनी कीचडरहित मानसरोवरमें प्रवेश करती है उसीप्रकार उत्तम वंशमें उत्पन्न होनेवाली कोई पुण्यवती स्त्री पापरहित भगवानके मनमें प्रवेश करो ॥ ५४ ॥ इसप्रकार निश्चयकर लक्ष्मीवान् महाराज नाभिराज भगवानके समीप पहुंचे और वडे आदरके साथ वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान वृषभदेवको मधुर वाणीसे नीचे लिखे हुये वाक्य

॥ ५५ ॥ देव किंचिद्विवक्ष्यामि सावधानमितः शृणु । त्वयोपकारो लोकस्य करणीयो जगत्पते ॥ ५६ ॥ हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि । निभमात्र त्वदुत्पत्तौ पितृमन्या यतो वय ॥ ५७ ॥ यथार्कस्य समुद्भूतौ निमित्तमुदयाचलः । स्वतस्तु भास्वानुद्याति तथैवास्मद्भवानपि॥५८॥ गर्भगेहे शुचौ मातुस्त्व दिव्ये पद्मविष्टरे । निधाय स्वां परा शक्तिमुद्भूतो निष्कलोस्यतः ॥ ५९ ॥ गुरुस्त्वोह तद्देव त्वामित्यभ्यर्थये विभु । मतिं विधेहि लोकस्य सर्जनं प्रति सम्प्रति ॥ ६० ॥ त्वामादिपुरुष दृष्ट्वा लोकोप्येव प्रवर्त्तता । महता मार्गवर्तिन्यः प्रजा. सुप्रजसो ह्यमूः ॥ ६१ ॥

कहने लगे कि-॥ ५५ ॥ हे देव मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूं आप सावधानचित्त होकर सुनिये । हे जगत्पते (जगतके नायक) आपको कुछ संसारका उपकार भी करना चाहिये ॥ ५६ ॥ हे देव! लोक जिसे जगतका उत्पन्न करनेवाला ब्रह्मा मानते हैं वह आप ही हैं इसलिये आप स्वभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न होनेवाले हैं आपके उत्पन्न होनेमें हम दोनों तो केवल नाम मात्रके माता पिता हैं ॥ ५७ ॥ जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेमे उदयाचल पर्वत केवल निमित्तमात्र है सूर्य तो स्वयं ही उदय हो आता है उसीप्रकार आप भी स्वयं उत्पन्न हुये हैं आपकी उत्पत्तिमें हम दोनों केवल निमित्तमात्रके माता पिता हैं ॥ ५८ ॥ आप अपनी माताके पवित्र गर्भगृहमें दिव्य सिंहासनपर अपनी परम शक्ति स्थापन कर प्रगट हुये हो इसलिये आप वास्तवमें शरीररहित हैं ॥ ५९ ॥ हे देव जगतके गुरु आप हैं मैं तो केवल कहनेमात्रकेलिये आपका गुरु अर्थात् पिता हूं और इसलिये ही आपसे यह प्रार्थना करता हूं कि आप अब संसारका मार्ग चलानेमें भी अपनी बुद्धि लगावें ॥ ६० ॥ हे देव आप आदिपुरुष हैं आपको देखकर ही संसारके लोग आपके अनुसार अपनी प्रवृत्ति करेंगे क्योंकि जिनके उत्तम संतति उत्पन्न होनेवाली है ऐसे ये लोग महापुरुषोंकी प्रवृत्तिके अनुसार ही चलते हैं॥६१॥ इसलिये हे विदांबर (ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ) आप! इस संसारमें किसी इष्ट कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा कीजिये । आपके इसप्रकार करनेसे प्रजाकी संततिका विच्छेद

: कलत्रमत्रेष्टं परिणेतुं मनः कुरु। प्रजासंततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥ ६२ ॥ प्रजासंतत्यविच्छेदे तनुते धर्मसंततिः । मनुष्वं मानवं धर्मं ततो देवेनमच्युतं ॥ ६३ ॥ देवेम गृहिणा धर्मं विद्धि दारपरिग्रह । संतानरक्षणे यत्न. कार्यो हि गृहमेधिनां ॥ ६४ ॥ त्वया गुरुर्मतोयं चेज्जनः केनापि हेतुना । वचो नोल्लङ्घ्यमेवास्य नेष्ट हि गुरुलंघन ॥ ६५ ॥ इत्युदीर्य गिरं धीरो व्यरसीन्नाभिपार्थिवः । देवस्तु सस्मितं तस्य वच: प्रत्यैच्छदोमिति ॥ ६६ ॥ किमेतत्पितृदाक्षिण्य किं प्रजानुग्रहैपिता । नियोगः कोपि वा तादृग्येनैच्छत्तादृश वशी ॥ ६७ ततोऽस्यानुमतिं मत्वा विशंको नाभिभूपतिः । महद्विवाहकल्याणमकरोत्परया मुदा ॥ ६८ ॥ सुरेंद्रानुमतात्कन्ये सुशीले चारुलक्षणे । सत्यौ सुरुचिराकारे वरयामास नाभि-

---

नहीं हो सकेगा ॥६२॥ यदि प्रजाकी संततिका विच्छेद नहीं होगा तो धर्मपरंपराकी वृद्धि भी होती रहैगी। इसलिये हे देव मनुष्योंके इस अविनाशीक धर्म अर्थात् विवाहकार्यको स्वीकार कीजिये ॥६३ ॥ हे देव विवाह करना गृहस्थोंका एक धर्म है क्योंकि गृहस्थोंको अपनी संततिकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना ही चाहिये ॥ ६४ ॥ यदि आप अनुग्रह करने आदि किसी भी कारणसे इस मनुष्यको अर्थात् मुझ नाभिराजाको गुरु मानते हैं तो फिर मेरा यह वाक्य भी उल्लंघन मत कीजिये क्योंकि गुरुके (वडोंके) वाक्योंका उल्लंघन करना कभी उचित नहीं होता ॥ ६५ ॥ धीरवीर महाराज नाभिराज इसप्रकार वचन कहकर चुप होगये। उस समय भगवान वृषभदेवने भी कुछ कुछ हंसते हुये 'ओं' शब्द कहा अर्थात् पिताका वचन स्वीकार किया ॥ ६६ ॥ भगवान वृषभदेव सर्वथा स्वतंत्र थे तथापि उन्होंने पूज्यपिताके वचन स्वीकार किये! यह कुछ तो पिताकी चतुरता थी कुछ उन्हें प्रजाके अनुग्रह करनेकी इच्छा थी अथवा पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ऐसा कोई नियोग ही था जिससे भगवानको अपने विवाहके वाक्य भी स्वीकार करने पडे ॥ ६७ ॥ तदनंतर महाराज नाभिराज विवाह करनेमें भगवानकी संमति समझकर और इसलिये ही निःसंदेह होकर वडे हर्षके साथ विवाहका वडा भारी उत्सव करनेकेलिये तैयारी करने लगे ॥ ६८ ॥ महाराज नाभिराजने इंद्रकी

राट् ॥ ६९ ॥ तन्व्यौ कच्छमहाकच्छजाम्यौ सौम्ये पतिंवरे । यशस्वतीसुनंदाख्ये स एने पर्यणीनयत् ॥ ७० ॥ पुरुः पुरुगुणो देवः परिणेतेति सम्भ्रमात् । पर कल्याणमातेनु सुरा प्रीतिपरायणाः ॥ ७१ ॥ पश्यन्पाणिगृहीत्यौ ते नाभिराज. सनाभिभि. । समं समतुषत्प्रायो लोकधर्मप्रियो जनः ॥ ७२ ॥ पुरुदेवस्य कल्याणे मरुदेवी तुतोष सा । दारकर्मणि पुत्राणा प्रीत्युत्कर्षो हि योषितां ॥ ७३ ॥ दिष्ट्या स्म वर्द्धते देवी पुत्रकल्याणसपदा । कलयेंदोरिवांभोधिवेला कल्लोलमालिनी ॥ ७४ ॥ पुरोर्विवाहकल्याणे प्रीतिं भेजे जनोखिलः । स्वभोगतिनया भोक्तुर्भोगाल्लोको-

---

संमातिसे सुशील, अनेक शुभ लक्षण संयुक्त, सती, और बहुत ही सुंदर ऐसी दो कन्यायें भगवान् वृषभदेवकेलिये याचना कीं ॥ ६९ ॥ ये दोनों ही कन्यायें कच्छ महाकच्छकी बहिने थीं बडी ही शांत और यौवनवती थीं यशस्वती और सुनंदा इनका नाम था । इन्हीं दोनों कन्याओंके साथ महाराज नाभिराजने भगवान वृषभदेवका विवाह करादिया था ॥ ७० ॥ अनेक गुणोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवका विवाह होता है यह जानकर देवलोग भी भगवानके प्रेममें तल्लीन होकर बडे उत्साहके साथ अतिशय उत्तम मंगलोत्सव करने लगे ॥ ७१ ॥ महाराज नाभिराज अपने भाई बंधुओंके साथ भगवान वृषभदेवकी दोनों वहुओंको देखकर सबके साथ साथ बडे ही संतुष्ट हुये सो ठीक ही है संसारी लोगोंको प्रायः विवाह आदि लौकिक अभिलाषाओंके योग्य धर्म ही प्रिय होते हैं ॥ ७२ ॥ भगवान वृषभदेवके विवाहोत्सवमें मरुदेवी बहुत ही संतुष्ट हुई सो ठीक ही है पुत्रोंके विवाहोत्सवमें स्त्रियोंको अधिक संतोष होता ही है ॥ ७३ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाकी कलासे जलकी बडी बडी तरंगोंवाली समुद्रकी बेला बढती है उसीप्रकार पूर्वकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पुत्रकी विवाहोत्सव संपत्तिसे माता मरुदेवीको भी बहुत ही आनंदकी वृद्धि हुई ॥ ७४ ॥ भगवानके विवाहोत्सवमें प्रजाके सब ही लोगोंको आनंद हुआ सो ठीक ही है लोग स्वयं भोगाभिलाषी थे और सब ही भगवानके मार्गके अनुसार चलनेवाले थे इसलिये स्वामीको भोगोपभोग स्वीकार करते देखकर

नुरुध्यते ॥ ७५ ॥ प्रमोदाय नृलोकस्य न परं स महोत्सव । स्वर्लोकस्यापि संप्रीतिमतनोदतनीयसीं ॥ ७६ ॥ वरोरू चारुजंघे ते मृदुपादपयोरुहे । सुश्रेणिनाधरेणापि कायेनाजयतां जगत् ॥ ७७ ॥ वरारोहे तनूदर्यौ रोमराजिं तनीयसीं । अवचा कामगजेभमदस्रुतिमिवाग्रिमां ॥ ७८ ॥ नाभिं कामरसस्यैककूपिका बिभृत स्म ते । रोमराजीलतामूल बद्धा पालीमिवामितः ॥ ७९ ॥ स्तनाब्जकुड्मले दीर्घरोमराज्येकनालके । ते पाद्मिन्यावि-

---

सबको स्वाभाविक आनंद होना ही चाहिये ॥ ७५ ॥ भगवानके उस विवाह संबंधी महोत्सवसे केवल मनुष्यलोकमें ही आनंद नहीं हुआ था किंतु स्वर्गलोकमें भी बहुत बडा आनंद मनाया गया था ॥ ७६ ॥ भगवान वृषभ.वकी उन दोनों महादेवियोंकी जंघा और ऊरु (जंघाके ऊपरी भाग) वडे ही सुंदर थे तथा उनके कोमल चरण कमलके समान मनोहर थे । वे दोनों ही देवियां अधर (नाभिके नीचले भाग) सुंदर कटि (कमर) संयुक्त अपने शरीरसे जगतको ही जीत रहीं थीं ॥ ७७ ॥ वे दोनों ही देवियां वडी ही उत्तम स्त्रियां थीं उनका उदर अत्यंत ही सूक्ष्म था उदरपर जो पतली रोमराजी थी वह ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीके मदके प्रवाहकी मुख्य धारा ही हो ॥ ७८ ॥ उनकी नाभि कामरसकी भरी हुई एक अद्वितीय बावडी थी अथवा यों कहना चाहिये कि रोमराजीरूपी लताके दोनों ओर बंधीहुई पाल ही थी ॥ ७९ ॥ जिसप्रकार कमलिनी (कमलकी वेल) मुकुलित कमलोंको धारण करती है उसीप्रकार वे दोनों महादेवियां भी स्तनरूपी मुकुलित कमलोंको धारण करती थीं क्योंकि जिसप्रकार कमलोंकी एक नाल होती है उसीप्रकार लंवी रोमराजी ही उन स्तनकमलोंकी एक नाल थी और जिसप्रकार कमलोंपर भ्रमर वैठते हैं उसीप्रकार उनके स्तनरूपी कमलोंपर भी काले चूचुकरूपी भ्रमर बैठे हुये थे ॥ ८० ॥ उनके गलेमें जो मुक्ताहार अर्थात् मोतियोंके हार पडे हुये थे उन्हें देखकर तो यही कहना पडता था कि उन्होंने अवश्य ही अपने

वावर्त्ता नीलचूचुकषट्पदे ॥ ८० ॥ मुक्ताहारेण तन्नून तपस्तेपे स्वनामजं । यतोवाप स तत्कंठकुचस्पर्शसुखामृत ॥ ८१ ॥ एकावल्यात्तनोपांतस्पार्शिन्या ते विरेजतु । सख्येव कठसंगिन्या स्वच्छया स्निग्धमुक्तया ॥ ८२ ॥ हार नक्षत्रमालाख्य ते स्तनातरलंबिन । दधतु. कुचसंस्पर्शाद्धसतमिव रोचिषा ॥ ८३ ॥ मृदू भुजलते चार्व्यावधिषाता सुसहते । नखांशुकुसुमोद्भेदैर्दधाने हसितश्रिय ॥ ८४ ॥ मुखेंदुरेनयोः कातिमधान्मुग्धास्मि

नामका अर्थात् (मुक्त-आहार) आहारका त्याग वा अनशन अथवा उपवासरूप तपश्चरण किया था और इसलिये ही उन हारोंको उन दोनों महादेवियोंके कंठ और कुचके स्पर्शरूपी सुखामृतकी प्राप्ति हुई थी ? ॥ ८१ ॥ दोनोंके गलेमें जो एक एक लडीके हार पडे हुये थे उनसे वे दोनों देवियां ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों अपनी सखीके संबंधसे सुशोभित हो रहीं हों क्योंकि जिसप्रकार सखी स्तनके समीपवर्ती भागको स्पर्श करती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्तनके समीपवर्ती भागको स्पर्श करती थी, सखी जिसप्रकार कंठके समीप ही रहती है (बुलानेपर तुरंत आती है) उसीप्रकार वह हारकी लडी भी कंठमें ही लटक रही थी, सखी भी स्वच्छ (मायारहित) होती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्वच्छ अर्थात् निर्मल थी, और सखी जिसप्रकार स्निग्धमुक्ता अर्थात् पतिके द्वारा बडे प्रेमसे भेजी जाती है उसीप्रकार वह हारकी लडी भी स्निग्धमुक्ता अर्थात् चिकने सुंदर मोतियोंसे सुशोभित थी ॥ ८२ ॥ उन दोनों महादेवियोंके दोनों स्तनोंके मध्यभागमें लटकता हुआ नक्षत्रमाला नामका हार अर्थात् सत्ताईस मोतियोंका बना हुआ हार ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कुचोंके स्पर्श करनेसे अपने प्रकाशके द्वारा हंस ही रहा हो ॥ ८३ ॥ कोमल, सुंदर और सुडौल ऐसी उनकी दोनों भुजारूपी लतायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों हाथोंके नखोंकी किरणेंरूपी पुष्पोंके विकाससे हास्यकी शोभा ही धारण कर रही हों ॥ ८४ ॥ उन दोनों महादेवियोंके मुखरूपी चंद्रमा बहुत

ताशुभिः । ज्योत्स्नालक्ष्मीं समातन्वन् जगतां कांतदर्शनः ॥ ८५ ॥ सुपक्ष्मणी तयोर्नेत्रे रेजाते स्निग्धतारके । यथोत्पले समुत्फुल्ले केसरालग्नषट्पद ॥ ८६ ॥ नामकर्मविनिर्माणरुचिरे सुभ्रुवोर्भ्रुवौ । चापयष्टिरनंगस्य नानुयातुमल तरां ॥ ८७ ॥ नीलोत्पलावतंसेन तत्कर्णौ दधतुः श्रियं । मिथ श्रीमत्सुनवाचारायाति नयनाब्जयो ॥ ८८ ॥ ते ललाटतटालग्नानलकानूहतुर्भृशं । सुवर्णपट्टपर्यंतखचितेंद्रोपलत्विषः ॥ ८९ ॥ स्रस्तलक्कबरीबंधस्त-योरुत्प्रेक्षितो जनैः । कृष्णाहिरिव शुक्लाहिं निगीर्य पुनरुद्गिरन् ॥ ९० ॥ इति स्वभावमधुरामाकृतिं भूषणोज्ज्वला । दधाने दधतुर्लीला कल्पवल्ल्योः

ही मनोहर जान पडते थे। अपने मंदहास्यकी किरणोंसे वे चांदनीकी शोभा बढा रहे थे और देखनेमें वे संसारको बडे ही सौम्य और मनोहर जान पडते थे ॥ ८५ ॥ सुंदर विरूनी (पलकके बाल) और चिकनी ताराओंसहित उन दोनों महादेवियोंके नेत्र ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों जिनके परागपर भ्रमर बैठे हुये हैं ऐसे फूलेहुये कमल ही हों ॥ ८६ ॥ नामकर्मके उदयसे यशस्वती और सुनंदाकी भौंहें ऐसी मनोहर बनी थीं कि कामदेवकी साक्षात् धनुषलता भी उनकी बराबरी नहीं करसकती थी ॥ ८७ ॥ नीलकमलरूपी कर्णभूषणोंसे सुशोभित उन दोनों महादेवियोंके कान ऐसे जान पडते थे मानों नेत्ररूपी कमलोंके अतिशय विस्तारको परस्पर नापनेकी इच्छा ही कर रहे हों ॥ ८८ ॥ उन दोनोंके ललाटके ऊपरी भागपर लटकती हुई श्याम अलकावली ऐसी सुशोभित होती थी मानों सुवर्णपट्टके किनारेपर जडेहुये इंद्रनीलमणिकी कांति ही हो ॥ ८९ ॥ जिनपरकी पुष्पमालायें कुछ कुछ ढीली होकर नीचेकी ओर गिर रही हैं ऐसा उन दोनों महादेवियोंका पुष्पमालाओंसे गुथा हुआ केशपास ऐसा जान पडता था मानों कोई काला सर्प सपेद सर्पको निगलकर फिरसे बाहर निकाल रहा हो ॥ ९० ॥ इसप्रकारसे स्वभावसे ही सुंदर और आभूषणोंके निमित्तसे उज्ज्वल ऐसी कांतिको धारण करनेवाली वे दोनों ही महादेवियां दैदीप्यमान कांति सहित कल्पलताके समान सुशोभित होती थीं। क्योंकि कल्पलता भी आभूषणोंसे

स्फुरत्त्विषो ॥ ९१ ॥ दृष्ट्वैनयोरदो रूपं जनानां मतिरित्यभूत् । एताभ्यां निर्जिता सत्यं स्त्रियंमन्याः सुरस्त्रियः ॥ ९२ ॥ स ताभ्यां कीर्तिलक्ष्मीभ्यामिव रेजे वरोत्तमः । ते च तेन महानद्यौ वार्द्धिनेव समेयतुः ॥ ९३ ॥ सरूपे सद्युती कांते ते मनो जन्हतुर्विभोः । मनोभुव इवाशेषं जिगीषोर्वैजयंतिके ॥ ९४ ॥ तयोरपि मनस्तेन रंजितं भुवनेशिना । हारयष्ट्योरिवारक्तमणिना मध्यमुद्रुचा ॥ ९५ ॥ बहुशो भग्नमानोपि यत्पुरोस्य मनोभवः । चचार गूढसंचारं कारणं तत्र चिंत्यतां ॥ ९६ ॥ नूनमेन मकाशात्मा व्यद्धुं हृदिशयोक्षमः । अनगता तदा भेजे सोपाया हि जिगीषव

उज्ज्वल तथा स्वभावसे ही सुंदर होती है और वे महादेवियां भी आभरणोंसे उज्ज्वल और स्वाभाविक सुंदरी थीं॥ ९१ ॥ इन दोनोंका यह अद्भुत रूप देखकर लोग यही कहते थे कि अवश्यही इन दोनोंने केवल अपनेको ही स्त्री माननेवालीं ऐसी देवांगनाओंको भी जीत लिया है ॥ ९२ ॥ समस्त वरोंमें उत्तम, ऐसे श्रीवृषभदेव कीर्ति और लक्ष्मीके समान उन दोनों स्त्रियोंसे बहुत ही सुशोभित होते थे और श्रीवृषभदेवसे उन दोनों स्त्रियोंका ऐसा समागम हुआ था जैसे महानदियोंका समुद्रके साथ समागम होता है॥ ९३ ॥ वे दोनों ही महादेवियां वडी रूपवती थीं कांतियुक्त और मनोहर थीं संपूर्ण जगतको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवकी पताकाके समान थीं और इसलिये ही वे दोनों भगवान वृषभदेवका मन हरण करती थीं ॥९४॥ जिसप्रकार मध्यभागमें पिरोया हुआ उत्तम कांतियुक्त पद्मरागमणिसे हारकी दोनों ओरकी लडियां अनुरक्त हो जाती हैं उसीप्रकार तीनों जगतके स्वामी भगवान वृषभदेवसे भी उन दोनों महादेवियोंका चित्त अनुरक्त रहता था ॥ ९५ ॥ यद्यपि कामदेव भगवान वृषभदेवके सामने अनेकवार भग्न होकर भाग चुका था तथापि वह गुप्त रीतिसे अपनी चेष्टायें करता ही था इसका कारण पाठकोंको स्वयं विचार लेना चाहिये। भावार्थ--इन दोनों महादेवियोंकी सुंदरता ही इसका कारण था ॥ ९६ ॥ अवश्य ही कामदेव प्रकाशरूपसे भगवान वृषभदेवको कुछ बाधा नहीं दे सकता था इसलिये

॥ ९७ ॥ अनंगतेम वा नूनमेनयोः प्रविशन्वपुः । दुर्गाश्रित इवानंगो विव्याधैन स्वशरैः ॥ ९८॥ ताभ्यामिति समं भोगान्भुजानस्य जगद्गुरो. कालो महानगादेकक्षणवत्सततक्षणैः ॥ ९९ ॥ अथान्यदा महादेवी सौधे सुप्ता यशस्वती । स्वप्ने पश्यन्महीं ग्रस्तां मेरु सूर्यं च सोडुप ॥ १०० ॥ सर सहसमब्धिं च चलवीचिकमैक्षत । स्वप्नाते च व्यबुद्धासौ पठन्मागधनिस्वनै. ॥ १०१ ॥ त्व विबुध्यस्व कल्याणि कल्याणशतभागिनि । प्रबोधसमयोय ते सहाब्जिन्या धृतश्रिय. ॥ १०२ ॥ मुदे तवात्र मूगालुरिमे स्वप्ना शुभावहाः । महीमेरूदधींद्वर्कसरोवरपुरस्सरा ॥ १०३ ॥ नभः

वह शरीररहित अदृश्य होगया था सो ठीक ही है जो किसीको जीतना चाहते हैं वे कोई न कोई उपाय करते ही हैं ॥९७॥ अथवा कामदेव स्वयं शरीररहित होकर सहज रीतिसे यशस्वती और सुनंदाके शरीरमें प्रवेश कर गया था और किलेके समान उन दोनोंके शरीरमें बैठकर अपने बाणोंके द्वारा वह इन श्रीवृषभदेवको घायल करता था ॥ ९८ ॥ इस प्रकार इन दोनों महादेवियोंके साथ साथ भोगोपभोगोंका सेवन करते हुये ऐसे तीनों जगतके गुरु भगवान आदिदेवका बडा लंबा समय भी प्रतिदिन होनेवाले उत्सवोंके द्वारा एक क्षणके समान व्यतीत होगया था ॥ ९९ ॥

अथानंतर--किसी एकदिन यशस्वती महादेवी राजमहलमें सो रही थी उसदिन उसने चार स्वप्न देखे । पहले स्वप्नमें देखा कि मेरु पर्वत समस्त पृथ्वीको निगल रहा है, दूसरे स्वप्नमें सूर्य चंद्रमा सहित मेरुको देखा, तीसरे स्वप्नमें हंससहित सरोवर देखा और चौथे स्वप्नमें चंचल लहरों सहित समुद्र देखा । इसप्रकार स्वप्न देखनेके अनंतर मंगलपाठ पढते हुये बंदीजनोंके शब्द सुनकर वह जग पडी ॥ १००-१०१ ॥ उस समय बंदीजन जो मंगलपाठ पढ रहे थे वह यह था कि हे कल्याण करनेवाली और सैकडों कल्याणोंका अनुभव करनेवाली यशस्वती देवी अब तू जाग क्योंकि तू कमलिनीके साथ साथ सुशोभित होने वाली है इसलिये तेरा यह जगनेका ही समय है ॥ १०२ ॥ हे मातः पृथ्वी मेरु समुद्र सूर्य चंद्रमा और सरोवर आदिक जो अनेक मंगल करने-

सरोवरेऽन्विष्य चिरं तिमिरशैवलं । खेदादिवाधुनाभ्येति शशिहंसोस्तपादप ॥ १०४ ॥ ज्योत्स्नाभासि चिरं तीर्त्वा ताराहंस्यो नभोन्हदे । नूनं निलेतुमस्ताद्रेः शिखराण्याश्रयत्यमू ॥ १०५ ॥ निद्राकषायितैर्नेत्रैः कोकीना सेर्ष्यमीक्षितः । तद्दृष्टिदूषितात्मेव विधुर्विच्छायता गतः ॥ १०६ ॥ प्रयाति यामिनी यामानिवान्वेतु पुरोगतान् । ज्योत्स्नांशुकेन संवेष्ट्य तारासर्वस्वमात्मनः ॥ १०७ ॥ इतोस्तमेति शीतांशुरितो भास्वानुदीयते । संसारस्येव वैचित्र्यमुपदेष्टुं समुद्यतौ ॥ १०८ ॥ तारका गगनाभोधौ मुक्ताफलनिभश्रियः । अरुणौर्वानलेनेमा विलीयते गतत्विषः ॥ १०९ ॥ सारितां सैकतादेष

वाले स्वप्न देखे हैं वे आपके लिये आनंद देनेवाले हों ॥ १०३ ॥ हे देवि ! देख यह चंद्रमारूपी हंस बहुत देरसे आकाशरूपी सरोवरमें घूम रहा था परंतु वहां इसे केवल अंधकार रूपी शैवाल ही (पानी पर जमने वाली घास) प्राप्त हुआ इसलिये अब वह मानों खेदखिन्न होकर अस्ताचलरूपी वृक्षका सहारा ले रहा है अर्थात् चंद्रमा अब अस्त हो रहा है ॥ १०४ ॥ ये तारा रूपी हंसनियां भी आकाश रूपी गहरे सरोवरके चांदनी रूपी जलमें बहुत देरतक तैर कर अब मानों निवास करनेके लिये ही अस्ताचलपर्वतके शिखरका आश्रय ले रही हैं । भावार्थ-अब तारे भी अस्त होना चाहते हैं ॥ १०५ ॥ हे देवि यह चंद्रमा सर्वथा कांतिरहित हो गया है ऐसा मालूम पडता है मानों रात्रिमें चकवियोंने निद्राके कारण आलस भरे हुये नेत्रोंसे बडी ईर्षाके साथ इसे देखा है इसालिये उनकी दृष्टिके दोषसे ही यह कांतिरहित होगया है । (रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग हो जाता है इसालिये ही उन्होंने इसे ईर्षाके साथ देखा है । क्योंकि यह चंद्रमा ही रात्रि करनेवाला है) ॥ १०६ ॥ हे देवि । अब यह रात्रि भी भागी जा रही है मानों नक्षत्र रूपी अपने धनको चांदनीरूपी वस्त्रमें लपेटकर पहले बीते हुये प्रहरोंको (समयको) ढूंढनेके लिये ही भागी जा रही हो ॥ १०७ ॥ हे देवि ! देख इधर पश्चिममें यह चंद्रमा अस्त हो रहा है और इधर पूर्वमें यह सूर्य उदय हो रहा है । ऐसा जान पडता है मानों ये दोनों संसारकी विचित्रताका उपदेश देनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ १०८ ॥ हे देवि देख आकाशरूपी समुद्रमें मो-

चक्रवाको रुवन्रुवन् । अन्विच्छति निजां कांतां निशाविरहविक्लवः ॥ ११० ॥ अयं हंसयुवा हंस्या सुषुप्सति समं सति । मृणालशकलेनांगं कंडूयंश्चुलंबिना ॥ १११ ॥ अब्जिनीयमितो धत्ते विकसत्पंकजाननं । इतश्च म्लानिमासाद्य नम्रास्येय कुमुद्वती ॥ ११२ ॥ सरसाः पुलिनेष्वेताः कुरर्यःकुर्वते रुतं । युष्मन्नूपुरसंवादि तारं मधुरमेव च ॥ ११३ ॥ स्वनीडादुत्पतत्यद्य कृतकोलाहलस्वनाः । प्रभातमंगलानीव पठतोमी शकुंतयः ॥ ११४ ॥ अप्राप्तस्त्रैणसंस्काराः परिक्षीणदशा इमे । कांचुकीयैः समं दीपा यांति कालेन मंदतां ॥ ११५ ॥ इतो निजगृहे देवि त्वन्मंगलविधित्सया । कुब्जवा-

तियोंकी शोभा धारण करनेवाले ये तारे सूर्य रूपी बडवानल अग्निसे कांतिरहित होकर नष्ट हो रहे हैं। ॥ १०९ ॥ चकवीके वियोगसे रात्रिभर व्याकुल हुआ यह चकवा नदियोंके बालूके बनेहुये किनारोंपर ही रो रहा है और रोता रोता ही अपनी प्यारी चकवीको ढूंढ रहा है ॥ ११० ॥ हे सति ! देख यह जवान हंस अपनी चोंचमें कमलनालका टुकडा लेकर उससे अपना शरीर खुजलाता हुआ अपनी हंसिनीके साथ सोना चाहता है ॥ १११ ॥ हे देवि ! देख इधर यह कमलिनी (कमलकी बेल) प्रफुल्लित हुये अपने मुखरूपी कमलको ऊंचा कर रही है और इधर यह कुमोदनी (रात्रिमें खिलनेवाले पुष्पोंकी बेल) मुरझाकर अपना मुख नीचा कर रही है ॥ ११२ ॥ सरोवरोंके किनारोंपर ये कुरर जातिके पक्षियोंकी स्त्रियां आपके नूपुरके (बिछुओंके) शब्दोंके समान बहुत ही मधुर शब्द कर रही हैं ॥ ११३ ॥ देखो ये पक्षीगण आज मानों प्रातःकालका मंगलपाठ पढते हुये ही कल कल शब्द करते हुये अपने अपने घोंसलोंसे निकलकर उड रहे हैं ॥ ११४ ॥ प्रातःकालका समय पाकर ये दीपक भी कंचुकियोंके (स्त्रियोंके पहरोंपर जो नपुंसक हिजडे रहते हैं वे कंचुकी वा खोजा कहलाते हैं) साथ साथ ही मंद पड गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रातःकालके समय दीपकोंकी ज्योति भी मंद पड जाती है और कंचुकियोंका आदर भी कम हो जाता है क्योंकि प्रायः रात्रिमें ही कंचुकियोंका आदर होता है और दीपकका भी स्त्रीलिंग नहीं होता है और कंचुकियोंके भी कुच केश आदि स्त्रियोंके संस्कार नहीं होते हैं ॥ ११५ ॥

मनिकाप्रायः परिवारः प्रतीच्छति ॥ ११६ ॥ विमुंच शयनं तस्मान्नदीपुलिनसन्निभं । हंसीव राजहंसस्य वल्लभा मानसाश्रया ॥ ११७ ॥ इत्युच्चैर्बंदिवृंदेषु पठत्सु समयोचितं । प्राबोधिकानकध्वानैस्सा विनिद्राभवच्छनैः ॥ ११८ ॥ विमुक्तशयना चैषा कृतमंगलमज्जना । प्रहृष्टा स्वदृष्टाना स्वप्नानां तत्त्वतः फलं ॥ ११९ ॥ प्रीतिकटकिता भेजे पद्मिनीवार्कमुद्गुचं । प्राणनाथं जगत्प्राणिस्वांतध्वांतनुदं विभु ॥ १२० ॥ तमुपेत्य सुखासीना स्वोचिते भद्रविष्टरे । लक्ष्मीरिव रुचिं भेजे भर्तुरभ्यर्णवर्तिनी ॥ १२१ ॥ सा पत्यै स्वप्नमाला ता यथादृष्ट न्यवेदयत् । दिव्यचक्षुरसौ देवस्तत्फलानी-

---

हे देवि ! इधर आपके वरमें आपका मंगलाचार करनेकी इच्छासे यह आपका परिवार प्रायः कुब्ज और वामन (बौना) के समान नम्र होता हुआ आपकी बाट देख रहा है ॥ ११६ ॥ इसलिये प्रातःकालके समय जिसप्रकार मानस सरोवरपर निवास करनेवाली राजहंसकी प्रिय वल्लभा राजहंसी नदियोंका किनारा छोडदेती है उसीप्रकार भगवान वृषभदेवके मनमें निवास करनेवाली और उनकी प्रिय वल्लभा ऐसी तू भी अपनी शय्या छोड़ ॥ ११७ ॥ इसप्रकार जिससमय अनेक बंदीजन उस प्रातःकालके समयके योग्य मंगलपाठ पढ रहे थे उससमय जगानेवाले नगाडोंके शब्द सुनकर वह यशस्वती महादेवी धीरे धीरे जगी ॥ ११८ ॥ और शय्याको त्यागकर तथा प्रातःकालका मंगलस्नानकर प्रेमसे रोमांचित शरीर होकर अपने देखे हुये स्वप्नोंका यथार्थ फल पूछनेकेलिये संसारी जीवोंके अंतःकरणके अंधकारको दूर करनेवाले, अतिशय दैदीप्यमान और सबके स्वामी ऐसे अपने प्राणनाथ श्रीवृषभदेवके समीप इसप्रकार पहुंची जैसे कमलिनी अंधकार दूर करनेवाले दैदीप्यमान सूर्यके सन्मुख होती है ॥ ११९-१२० ॥ भगवानके समीप पहुंचकर वह महादेवी अपने योग्य सिंहासनपर सुख पूर्वक बैठ गई । उस समय पतिके समीप बैठी हुई वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों साक्षात् लक्ष्मी ही हो ॥ १२१ ॥ तदनंतर उसने भगवानसे रात्रिमें देखे हुये सब स्वप्न कहे, भगवान वृषभदेव भी अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंका फल इस प्रकार कहने लगे कि ॥ १२२ ॥ हे देवि ! स्वप्नमें जो तूने सुमेरुपर्वत देखा है उसका फल यही है कि

त्यभाषत ॥ १२२ ॥ त्वं देवि पुत्रमाप्तासि गिरींद्राचक्रवर्तिनं । तस्य प्रतापितामर्कः शास्तींदुः कांतिसंपदं ॥ १२३ ॥ सरोजाक्षि सरोदृष्टेरसौ पंकजवासिनीं । वोढा व्यूढोरसा पुण्यलक्षणांकितविग्रहः ॥ १२४ ॥ महीग्रसनतः कृत्स्नां महीं सागरवाससं । प्रतिपालयिता देवि विश्वराट् तव पुत्रकः ॥ १२५ ॥ सागराच्चरमांगोसौ तरिता जन्मसागरं । ज्यायान्पुत्रशतस्यायमिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ १२६ ॥ इति श्रुत्वा वचो भर्त्तुः सा तदा प्रमदोदयात् । ववृधे जलधेर्वेला यथेंदौ समुदेष्यति ॥ १२७ ॥ ततः सर्वार्थसिद्धिस्थो योऽसौ व्याघ्रचर सुरः । सुबाहुरहमिंद्रोऽतश्च्युत्वा तद्गर्भ

तेरे चक्रवर्ती पुत्र होगा, सूर्यके देखनेसे वह प्रतापी होगा और चंद्रमाके देखनेसे वह कांतिमान् होगा ॥ १२३ ॥ हे कमलनयने सरोवर देखनेका यह फल है कि अपने शरीरपर मत्स्य आदि अनेक पुण्यरूप लक्षणोंको धारण करनेवाला वह तेरा पुत्र अपने विशाल वक्षःस्थलपर लक्ष्मीको धारण करेगा ॥ १२४ ॥ हे देवि ! स्वप्नमें जो मेरुके द्वारा पृथ्वीका निगलना देखा है उसका यह फल है कि छहों खंड पृथ्वीका स्वामी चक्रवर्ती वह तेरा पुत्र समुद्ररूपी वस्त्रोंको पहने हुये इस समस्त पृथ्वीका पालन करनेवाला होगा ॥ १२५ ॥ हे देवि ! स्वप्नमें जो समुद्र देखा है उसका फल यह है कि वह चरमशरीरी होगा, जन्ममरणरूप संसारसागरका पारगामी होगा अर्थात् उसी शरीरसे मुक्त होगा और इक्ष्वाकु कुलको आनंद देनेवाला वह तेरे सौ पुत्रोंमें सबसे बडा होगा ॥ १२६ ॥ इस प्रकार अपने प्राणनाथके वाक्य सुनकर आनंदके कारण उस समय वह यशस्वती देवी ऐसी वृद्धिंगत हुई थी जैसे चंद्रमाके उदय होनेसे समुद्रकी बेला बढती है ॥ १२७ ॥

अथानंतर—राजा अतिगृद्धका जो जीव तीसरे नरकसे निकल व्याघ्र हुआ था और फिर देव, वज्रजंघका महामतिमंत्री, ग्रैवेयक विमानमें अहमिंद्र और वज्रनाभिका भाई सुबाहु होकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर यशस्वती देवीके गर्भमें आकर निवास करने लगा ॥१२८॥ उस यशस्वती देवीने भगवान वृषभदेवकी स्वाभाविक सामर्थ्यसे गर्भ धारण किया तथा उस तेजस्वी

भावसत् ॥ १२८ ॥ सा गर्भमवहद्देवी देवाद्दिव्यानुभावजं । येन नासहताकं च समाक्रामतमंबरे ॥ १२९ ॥ सापश्यत्स्वमुखच्छायां वीरसूरसिदर्पणे । तत्र प्रातिपिकीं स्वां च छायां नासोढ मानिनी ॥१३०॥ अंतर्पत्नीमपश्यत्तां पतिरुत्सुकया दृशा । जलगर्भामिवामोदमाला काले शिखावलः ॥१३१॥ रत्नगर्भेव सा भूमिः फलगर्भेव वल्लरी । तेजोगर्भेव दिक्प्राची नितरां रुचिमानसे ॥ १३२ ॥ सा मंदं गमनं भेजे मणिकुट्टिमभूमिषु । हंसीव नूपुरोदारशिंजानैर्मंजुभाषिणी ॥ १३३ ॥ सावष्टंभपदन्यासैर्मुद्रयंतीव सा धरां । स्वभुक्त्यै मंथरं यात मणिकुट्टिमभूमिषु ॥ १३४ ॥ उदरेस्या वलीभंगो नाद-

---

गर्भके निमित्तसे वह अपने ऊपर होकर आकाश मार्गसे गमन करनेवाले सूर्यको भी सहन नहीं करती थी ॥ १२९ ॥ वीर पुत्रको उत्पन्न करनेवाली वह देवी अपने मुखकी शोभा तलवाररूपी दर्पणमें देखती थी और अतिशय मान करनेवाली वह उस तलवारमें पडती हुई अपनी प्रतिकूल छायाको भी नहीं देख सकती थी ॥ १३० ॥ जिसप्रकार मयूर वर्षाऋतुके समय जलसे भरे हुये बादलोंको वडी उत्कंठित दृष्टिसे देखते हैं उसी प्रकार भगवान वृषभवदेव भी उस गर्भवती यशस्वतीदेवीको वडी उत्कंठित दृष्टिसे देखते थे ॥ १३१ ॥ जिसके गर्भमें रत्न भरे हुये हैं ऐसी पृथवीके समान अथवा जिसके गर्भमें फल भरे हुये हैं ऐसी बेलके समान अथवा जिसके गर्भमें तेज भरा हुआ है ऐसी पूर्व दिशाके समान वह अपने गर्भमें तेजस्वी पुत्रको धारण करनेवाली यशस्वती देवी बडी ही दैदीप्यमान हो रही थी ॥ १३२ ॥ जिस प्रकार मधुर शब्द करनेवाली हंसिनी धीरे धीरे गमन करती है उसी प्रकार रत्नखचित भूमिपर नूपुरोंके उदार शब्दोंसे मधुर शब्द करती हुई वह गर्भवती यशस्वती देवी बहुत धीरे धीरे गमन करती थी ॥ १३३ ॥ रत्नखचित भूमिपर स्थिरतासे पैर रखकर वह धीरे २ गमन करती थी और उस समय वह ऐसी जान पडती थी मानों यह पृथवी केवल हमारे ही भोगके लिये है यही समझकर वह पृथ्वीपर मुहर ही लगा रहीं हो ॥ १३४ ॥ उसके उदरपर गर्भवती होनेसे पहले जैसी त्रिवलियां दिखाई पडती थीं वैसी अब गर्भवती होनेपर दिखाई नहीं पडती थीं और त्रिवली भंग न होना अर्थात् उन त्रिवलियोंका

श्यत यथा पुरा। अभंगं तत्सुतस्येव दिग्जय सूचयन्नसौ ॥ १३५ ॥ नीलिमा तत्कुचापाग्रमास्पृशद्गर्भसंभवे । गर्भस्थोऽस्याः सुतोऽन्येषां निर्दहेन्नूनमुन्नतिं ॥ १३६ ॥ दौहृदं परमोदात्तमाहारे मंदिमा रुचे. सालस गतमायासीत्स्रस्तांगं शयन भुवि ॥ १३७ ॥ मुखमापाडु गंडातं वीक्षितं सालसेक्षण। आपाटलाधर वक्त्रं मृत्स्नासुरभि गाधि च ॥ १३८ ॥ इत्यस्या गर्भचिह्नानि मनः पत्युररजयन्। ववृधे च शनैर्गर्भो द्विषच्छक्तीररं जयन् ॥ १३९ ॥ नवमासेष्वतीतेषु तदा सा सुषुवे सुतं। प्राचीवार्कं स्फुरत्तेजःपरिवेष महोदयं ॥ १४० ॥ शुभे दिने शुभे लग्ने योगेंदुभपुराह्वये। सा प्रासौष्ट सुता-

---

नहीं पडना यही सूचित करता था कि उसका पुत्र अभंग (जिसका कहीं भंग न हो) दिग्विजय प्राप्त करेगा ॥ १३५ ॥ गर्भ धारण करनेपर उसके कुचोंका अग्रभाग सर्वथा काला हो गया था और वह यही सूचित करता था कि इस यशस्वती देवीके गर्भका बालक अवश्य ही शत्रुओंकी उन्नतिको जला (नष्ट कर) देगा ॥ १३६ ॥ उस समय उस यशस्वतीदेवीके जो परम सुंदर दोहद (दोहले-गर्भचिन्ह) हुये थे वे ये थे कि आहारकी रुचि मंद हो गई थी, पृथवीपर बडे आलसके साथ गमन करती थी, शरीरको शिथिल कर पृथ्वीपर सोती थी, मुख कपोलोंतक कुछ कुछ सफेद पड गया था, आलसभरे नेत्रोंसे देखती थी, मुखपरके अधर कुछ सफेद और कुछ लाल हो गये थे तथा मुखमें मिट्टीकी सुगंध आती थी ॥ १३७-१३८ ॥ इसप्रकार उसके गर्भके सब चिन्ह भगवान वृषभदेवके मनको प्रसन्न करते थे और शत्रुओंकी शक्तिको बहुत शीघ्र विजय करता हुआ वह गर्भ धीरे धीरे बढता जाता था ॥ १३९ ॥ जिसका उदय बहुत विस्तृत है और जिसका परिमंडल देदीप्यमान तेजसे परिपूर्ण हो रहा है ऐसा सूर्य जिसप्रकार पूर्व दिशासे उदय होता है उसी प्रकार गर्भके नो महीने बीतजानेपर उस यशस्वती देवीसे अतिशय तेजस्वी और महोदय सहित पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १४० ॥ श्रीवृषभदेवके जन्म समयमें जो दिन लग्न नक्षत्र योग राशि आदि शुभ पडे थे वे ही दिन नक्षत्रादिक उस समय पडे थे अर्थात् ब्रह्मयोग, धन राशिका चंद्रमा, उत्तराषाढ नक्षत्र, मीन लग्न, चैत्र कृष्णा नवमीका दिन था, उस दिन जिसके शरीरपर सम्राटके शुभ लक्षण प्र-

ग्रण्यं स्फुरत्साम्राज्यलक्षणं ॥ १४१ ॥ आश्लिष्य पृथिवीं दोर्भ्यां यदसावुदपद्यत । ततोऽस्य सार्वभौमत्व जगुर्नैमित्तिकास्तदा ॥ १४२ ॥ सुतेंदु नाति-
सौम्येन न्यद्युतच्छर्वरीव सा । बालार्केण पितुश्चासीद्दिवसस्येव दीप्तता ॥ १४३ ॥ पितामहौ च तस्याम् प्रमोद परमीयतुः । यथा सवेलो जलधिरुदये
शशिनः शिशो. ॥ १४४ ॥ ता तदा वर्धयामासु. पुण्याशीर्भि. पुरंध्रिकाः । सुखं प्रसूष्व पुत्राणा शतमित्यधिकोत्सवा. ॥ १४५ ॥ तदानंदमहाभेर्यः
प्रहताः कोणकोटिभिः । दध्वनुर्ध्वनदंभोदगंभीर नृपमंदिरे ॥ १४६ ॥ तुटीपटहझल्लर्यः पणवास्तुणवास्तदा । सशंखकाहलास्तालाः प्रमदादिव सस्व-

गट सुशोभित हो रहे हैं ऐसा वह प्रथम पुत्र श्रीयशस्वती देवीके उत्पन्न हुआ ॥ १४१ ॥ वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओंसे पृथिवीको आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था इसलिये ज्योतिषियोंने इसी निमित्त को देखकर उस समय कहा था कि यह पुत्र संपूर्ण पृथिवीका सार्वभौम सम्राट् होगा ॥ १४२ ॥ वह पुत्र चंद्रमाके समान सौम्य अर्थात् सुंदर था इसलिये उसके निमित्तसे उसकी माता यशस्वती देवी उस समय रात्रिके समान सुशोभित हो रही थी और वह पुत्र उदय होते हुये सूर्यके समान प्रतापी था इसलिये उसी के निमित्तसे उसके पिता श्रीवृषभ भगवान दिवसके समान दैदीप्यमान होते थे ॥ १४३ ॥ जिस प्रकार चंद्रमाके उदय होनेसे समुद्रकी लहरें बढती हैं उसी प्रकार उस पुत्रके उत्पन्न होनेसे उसके दादा और दादी अर्थात् महाराज नाभिराज और माता मरुदेवी भी बहुत प्रसन्न हुइ ॥ १४४ ॥ उस समय पुत्रवती और सौभाग्यवती स्त्रियां अनेक पुण्यरूप आशीर्वाद देकर यशस्वतीदेवीको बढा रहीं थीं और कह रहीं थीं कि हे देवि तू सुखपूर्वक बडे बडे उत्सवोंके साथ सौ पुत्र उत्पन्न कर ॥ १४५ ॥ उस समय राज-मंदिरमें करोडों दंडोंसे ताड़ित हुये आनंदके नगाडे गरजते हुये बादलोंके समान गंभीर शब्दोंसे बज रहे थे ॥ १४६ ॥ तुरई, ढोल, झल्लरी, सहनाइ, सितार, शंख काहल (भेरी अथवा करताल) और ताल आ-दि अनेक बाजे बडे आनंदसे बजते थे ॥ १४७ ॥ उस समय सुगंधित, प्रफुल्लित, उडते हुये भ्रमरोंसे सुशो-भित और देवोंके हाथसे छूटकर पडता हुआ पुष्पोंका समूह आकाशसे बरस रहा था ॥ १४८ ॥ कल्पवृ -

नुः ॥ १४७ ॥ तदा सुरभिरम्लानिरपतत्कुसुमोत्करः। दिवो देवकरोन्मुक्तो भ्रमद्भ्रमरसेवितः ॥ १४८ ॥ मृदुमंदममंदेन मंदाररजसा ततः। ववाववावा रजसामप्छटाशिशिरो मरुत् ॥ १४९ ॥ जयेत्यमानुषी वाक्च जजृंभे पथि वार्मुचा। जीवेति दिक्षु दिव्याना वाच. पप्रथिरे भृशं ॥१५०॥ वर्द्धमानलयैनृत्तमारप्सत जिताप्सरः। नर्तक्यः सुरनर्त्तक्यो यकाभिर्हेलया जिताः ॥ १५१ ॥ पुरवीथ्यस्तदा रेजुश्चंदनाभश्छटोक्षिताः। कृताभिरुपशोभाभि प्रहसत्यो दिव' श्रिय ॥ १५२ ॥ रत्नतोरणविन्यासाः पुरे रेजुर्गृहेगृहे। इंद्रचापतडिद्वल्लीलालितं दधतोंबरे ॥ १५३ ॥ कृतरगावलौ रत्नचूर्णैर्भूमौ

की परागसे भराहुआ, धूलिको सर्वथा दूर करनेवाला और पानीके कणोंसे शीतल हुआ ऐसा प्रचुर वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥ १४९ ॥ आकाशमार्गमें जय जय ऐसी दिव्य बाणी अर्थात् देवोंकी वाणी खूब भरगई थी, और सब दिशाओंमें चिरंजीव, ऐसे देवियोंके वाक्य सर्वत्र फैल गये थे ॥ १५० ॥ जिन्होंने अपनी सुंदरतासे अप्सरायें भी जीत लीं हैं और जिन्होंने नृत्य करनेमें भी नृत्य करनेवालीं देवांगनायें लीलामात्रमें जीत ली हैं ऐसी नृत्य करनवालीं स्त्रियोंने बढते हुये गीत और बाजित्रोंके साथ साथ नृत्य करना प्रारंभ कर दिया था ॥ १५१ ॥ उस समय अयोध्या नगरकी सब गलियां चंदनके जलसे सींची गईं थीं तथा उनमें और भी अनेक सजावटें की गईं थीं जिससे वे गलियां ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों स्वर्गकी शोभाकी ओर हंस रही हों ॥ १५२ ॥ उस समय आकाशमें इंद्रधनुष अथवा विजलीरूपी लताओंकी अनेक लीलाओंको धारण करते हुये ऐसे अनेक प्रकारके रत्नोंके बने हुये तोरणोंकी सुंदर रचनायें उस नगरके घर घरमें सुशोभित हो रहीं थीं ॥ १५३ ॥ उस समय भूमिपर रत्नोंके चूर्णकी रंगावली की गई थी और उनपर बडे बडे उदरके सुवर्णमय कलश रक्खे हुये थे, उन कलशोंके मुख सुवर्णमय कमलोंसे ढके हुये थे इसलिये वे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १५४ ॥ जिस प्रकार समुद्रकी वृद्धि होनेसे उसकी तरंगोंके आश्रय रहनेवाली नदियां भी बढ जाती हैं उसीप्रकार उस समय राजमंदिरमें उत्सव होनेसे संपूर्ण अयोध्या नगरीमें उत्सव हो रहा था ॥ १५५ ॥ उस सम-

महोदराः । कुभा हिरण्मया रेजू गैकमाब्जापिहिताननाः ॥ १५४ ॥ तस्मिन्नृपोत्सवे सासीत्पुरी सर्वैव सोत्सवा । यथाब्धिवृद्धौ संवृद्धिं याति वेलाश्रिता नदी ॥ १५५ ॥ न दीनोभूत्तदा कश्चिन्नदीनोदकभूयसीं । दानधारां नृपेंद्रेभे मुक्तधारं प्रवर्षति ॥ १५६ ॥ इति प्रमोदमुत्पाद्य पुरे सातःपुरे परं ॥ वृषभाद्रेरसौ बालःप्रालेयद्युतिरुद्ययौ ॥ १५७ ॥ प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा बंधुता तदा । तमाह्वद्भरतं भाविसमस्तभरताधिपं ॥ १५८ ॥ तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदं । हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिद ॥ १५९ ॥ स तन्वन्परमानदं बंधुताकुमुदाकरे । धुन्वन्वैरिकुलध्वांतमवृधद्बालचद्रमाः ॥ १६० ॥ स्तनंधयन्नसौ मातुः स्तन्यं गंडूषित मुहुः । समुद्गिरन्यशो दिक्षु विभजन्निव दिद्युते ॥ १६१ ॥ स्मितैश्च हसितैर्मुग्धैः सर्पणैर्मणि-

---

य भगवान वृषभदेव रूपी हाथीसे संकोचतारहित समुद्रके जलके समान बहुतसे रत्नादि द्रव्यके दान देनेकी धारा बरस रही थी इसलिये उस समय कोई भी दरिद्री बाकी नहीं रहा था ॥ १५६ ॥ इस प्रकार वृषभदेवरूपी उदयाचल पर्वतसे वह बालकरूपी चंद्रमा समस्त नगर और अंतःपुरमें परम आनंद उत्पन्न करता हुआ उदय हुआ था ॥ १५७ ॥ उस समय बडे प्रेममें डूबे हुये भाई बंधु लोगोंने प्रमोदभरतः अर्थात् बड़े संतोषसे समस्त भरतक्षेत्रके अधिपति होनेवाले उस पुत्रको भरत इस नामसे पुकारा था ॥ १५८ ॥ उसी भरतके नामसे आर्य लोगोंके रहनेका स्थान यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ है, हिमवान पर्वतके दक्षिणकी ओर तीनोंओर समुद्रसे घिरा हुआ यह चक्रवर्तियोंका क्षेत्र भारतवर्ष कहलाता है ॥१५९॥ वह बालकरूपी चंद्रमा कुटुंबीरूप कमोदिनियोंको परम आनंद उत्पन्न करता हुआ और शत्रुओंके वंशरूपी अंधकारको नष्ट करता हुआ क्रमसे बढता जाता था ॥ १६० ॥ अपनी माता यशस्वतीका दूध पीता हुआ वह बालक जब कभी मुहमें बचे हुये दूधकी बार २ कुरली करता था उस समय वह ऐसा सुशोभित होता था मानों यशको उगल उगलकर सब दिशाओंमें बांटना ही चाहता हो ॥ १६१ ॥ वह बालक मंदहास्य, अधिक हास्य, रत्नखचित भूमिपर बडी सुंदरतासे घुटनोंके बल चलना और अव्यक्त मिष्ट भाषण आदि लीलाओंके द्वारा माता पिताको बहुत ही आनंदित करता था ॥ १६२ ॥ ज्यों ज्यों वह बढता

भूमिषु । मन्मनाल्पितै' पित्रोः स संप्रीतिमजीजनत् ॥ १६२ ॥ तस्य वृद्धावभूद् वृद्धिर्गुणानां सहजन्मना । नून ते तस्य सौरूपात्तद्वृद्ध्यनुविधायिनः ॥ १६३ ॥ अन्नप्राशनचौलोपनयनादीननुक्रमात् । क्रियाविधीन्विधानज्ञः स्रष्टैवास्य निसृष्टवान् ॥ १६४ ॥ तत क्रमभुवो बाल्यकौमारातभुवो भिदाः । सोतीत्य यौवनावस्था प्रापदानंदिनीं दृशा ॥१६५॥ तदेव पैतृकं यात समाक्रातत्रिविष्टप । तदेवास्य वपुर्दीप्तं तदेव हसितं स्मितं ॥१६६॥ सैव वाणी कला सैव सा विद्या सैव च द्युति. । तदेव शीलं विज्ञान सर्वमस्य तदेव तत् ॥ १६७ ॥ इति तन्मयता प्राप्त पुत्र दृष्ट्वा तदा प्रजाः । आत्मा वै पुत्रनामासीदभ्यगीषत सूक्तं ॥ १६८ ॥ पित्रा व्याख्यातरूपादिगुण' प्रत्यक्षमन्मथः । स सम्मतः सतामासीत्स्वैर्गुणैराभिगामिकैः ॥ १६९॥

जाता था त्यों त्यों उसके साथ उत्पन्न हुये गुण भी बढते जाते थे· ऐसा जान पडता था मानों उसकी सुंदरतापर मोहित होकर ही उसके गुण उसके साथ बढते थे ॥ १६३ ॥ विधि विधानको जाननेवाले भगवान् वृषभदेवने अनुक्रमसे अपने पुत्र भरतके अन्नप्राशन अर्थात् प्रथम ही अन्न खिलाना, चौल अर्थात् मुंडन और कर्ण छेदन तथा यज्ञोपवीत आदि सब संस्कार स्वयं किये थे ॥ १६४ ॥ अथानंतर—उस बालक भरतने क्रमसे बढते हुये बालक और कुमार अवस्थामें होनेवालीं अनेक दशायें व्यतीतकर नेत्रोंको आनंद देनेवाली यौवनावस्था धारण की ॥ १६५ ॥ अपने पिता श्रीवृषभदेवके समान ही भरतका चलना था उन्हींके समान तीनों लोकोंको उलंघन करनेवाली ऐसी दीप्तिको धारण करनेवाला उसका शरीर था और वैसा ही उसका मंद हास्य था ॥ १६६ ॥ अपने पिताके समान ही उसकी वाणी थी, वैसी ही उसमें सब कलायें थीं, वैसी ही विद्या थी, वैसी ही कांति थी, वैसा ही पवित्र चरित्र और वैसा ही विज्ञान था, प्रायः पिताके समान ही सब गुण भरतमें विद्यमान थे ॥ १६७ ॥ इसप्रकार समस्त गुणोंसे भगवान वृषभदेवके समान ही पुत्र भरतको देखकर प्रजा यही कहती थी कि पुत्र पिताका आत्मा ही होता है यह बात सर्वथा ठीक है ॥ १६८ ॥ भगवान वृषभदेवने जिसके गुणोंकी स्वयं प्रशंसा की है तथा जो साक्षात् कामदेवके समान है ऐसा वह भरत राजकुमार अपनी सुंदरताके अनेक म-

मनोर्मनोऽर्पयन्प्रीतौ मनुरेवोद्गतः सुतः । मनो मनोभवाकार. प्रजानामध्युवास सः ॥ १७० ॥ जयलक्ष्म्यानपायिन्या वपुस्तस्याति भास्वरं । पुजीकृत-मिवैकत्र क्षात्र तेजो विदिद्युते ॥ १७१ ॥ दिव्यमानुषतामस्य ख्यापयद्वपुरूर्जितं । तेजोमयैरिवारब्धमणुभिर्व्यद्युतत्तरां ॥ १७२ ॥ तस्योत्तमांगमुत्तुंग-मौलिरत्नांशुपेशलं । सचूलिकमिवाद्रींद्रशिखरं भृशमद्युतत् ॥ १७३ ॥ क्रमोन्नतं सुवृत्तं च शिरोऽस्य रुरुचे तरां । धात्रा निवेशितं दिव्यमातपत्रमिव श्रियः ॥ १७४ ॥ शिरोऽस्याकुंचितस्निग्धविनीलैकजमूर्द्धजं । विनीलरत्नविन्यस्तशिरस्त्राणमिवारुचत ॥ १७५ ॥ ऋज्वीं मनोवचःकायवृत्तिमुद्वहतः

नोहर गुणोंसे सज्जन पुरुषोंको बहुत ही मान्य हुआ था ॥ १६९ ॥ वह पुत्र भरत पद्रहवें कुलकर भगवान वृषभदेवके मनको भी अपने प्रेममें बांधलेता था इसलिये लोग उसे सोलहवां कुलकर ही कहते थे और वह स्वयं कामदेवके समान सुंदर था इसलिये वह सब प्रजाके मनमें निवास करता था ॥ १७० ॥ क-भी नाश न होनेवाली ऐसी जयलक्ष्मीके द्वारा अतिशय देदीप्यमान भरतका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों क्षत्रियोंका सब तेज एक जगह ही इकट्ठा होगया हो ॥ १७१ ॥ स्वर्गसे कोई उत्तम देव ही चयकर यह मनुष्य हुआ है इस बात को स्पष्टरीतिसे दिखलानेवाला और अतिशय प्रकाशमान रा-जकुमार भरतका शरीर ऐसा सुशोभित होता था मानों वह तेज रूप परमाणुओंसे ही बना हुआ हो ॥ १७२ ॥ अत्यंत ऊंचे मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे अतिशय सुंदर ऐसा उसका मस्तक चू-लिका सहित मेरुपर्वतकी शिखरके समान बहुत ही सुशोभित जान पडता था ॥ १७३ ॥ क्रमसे ऊंचा होता हुआ और गोल उसका शिर ऐसा अच्छा सुशोभित होता था मानों नामकर्मरूपी ब्रह्माने लक्ष्मी-के लिये दिव्य छत्र ही बनाया हो ॥ १७४ ॥ जिसप्रकार इंद्रनीलमणिसे बना हुआ शिरका कवच सुशो-भित होता है उसीप्रकार कुछ कुछ संकुचित हुये, चिकने, अतिशय काले और सब एक साथ उत्पन्न हुये ऐसे बालों से सुशोभित उसका शिर बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ १७५ ॥ यद्यपि राजकुमार भरतके मन, बचन, कायकी प्रवृत्ति, बहुत ही सरल थीं तथापि भ्रमरके समान अत्यंत काले ऐसे उसके

प्रभोः। केशातानलिसंकाशान्भेजे कुटिलता पर ॥ १७६ ॥ स्मेरं वक्त्राबुजं तस्य दशनाभीषुकेसर। बभौ सुरभिनिःश्वासपवनाहूतषट्पद ॥ १७७ ॥ मुखमस्य सुखालोकमखंडपरिमंडलं। शशाकमंडलस्याधाल्लक्ष्मीमक्षुण्णकांतिकं ॥ १७८ ॥ कर्णाभरणदीतांशुपरिवेषेण दिद्युते। मुखेंदुरस्य दंतांशुचंद्रिकामभितः किरन् ॥ १७९ ॥ रवौ दीप्तिर्विधौ कांतिर्विकासश्च महोत्पले। इति व्यस्ता गुणाः प्रापुस्तदास्ये सहयोगिता ॥ १८० ॥ शशी प-

केशोंके अंतिम भागमें कुटिलता ही बनी हुई थी ॥ १७६ ॥ उसका मुख ठीक कमलके समान सुशोभित होता था, क्योंकि जिसप्रकार कमल प्रफुल्लित होता है उसीप्रकार उसका मुख भी मंदहास्य सहित था कमलमें जिसप्रकार केशर होती है उसीप्रकार उसके मुखमें दांतोंकी किरणें ही केशर थी और जिसप्रकार कमलपर उसकी सुगंध से भ्रमर आते हैं उसीप्रकार उसके मुखके निश्वासकी सुगंध वायुसे उसपर बहुतसे भ्रमर आ रहे थे ॥ १७७ ॥ अथवा उसका मुख पूर्ण चंद्रमंडलकी शोभा धारण करता था, क्योंकि जिसप्रकार चंद्रमाके देखनेसे सुख होता है उसीप्रकार उसका मुख देखनेसे भी लोगोंको बहुत सुख होता था, जिसप्रकार चंद्रमंडलकी गोलाई पूर्ण होती है उसीप्रकार उसके मुखकी गोलाई भी पूर्ण थी और जिसप्रकार चंद्रमंडल पूर्णकांति युक्त होता है उसीप्रकार उसका मुख भी पूर्ण कांतियुक्त था। ॥ १७८ ॥ चारोंओर अपने दांतोंकी किरणोंकी चांदनीको फैलाता हुआ उसका मुख रूपी चंद्रमा कानोंमे पहने हुये कर्णभूषणकी प्रकाशमान किरणोंके गोल परिमंडलसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ १७९ ॥ सूर्यमें दीप्ति, चद्रमामें कांति, और कमलमें प्रफुल्लता इसप्रकार ये सब गुण अलग अलग रहते हैं परंतु राजकुमार भरतके मुखपर वे सब गुण इकट्ठे होकर रहते थे अर्थात् उसके मुखपर दीप्ति, कांति और प्रफुल्लता ये तीनों गुण विद्यमान थे ॥ १८० ॥ चंद्रमा सदा क्षय होता रहता है और कमल प्रत्येक रात्रिमें संकुचित होता रहता है परंतु भरतका मुख सदा प्रफुल्लित रहता था और कभी क्षय वा म्लान नहीं होता था इसलिये संसारमें उसकी उपमाके योग्य कोई पदार्थ था ही नहीं। अर्थात् उसका

क्षयी पद्मः सकोचं यात्यनुक्षपं । सदा विकासि पूर्णं च तन्मुखं कोपमीयते ॥ १८१ ॥ जितं सदा विकासिन्या तन्मुखाब्जस्य शोभया । प्रार्थितं वनवासाय मन्ये वनजमुद्विजं ॥ १८२ ॥ पट्टबंधोचितस्यास्य ललाटस्याहतद्युतेः । तिग्मांशोरंशवो नूनं त्रिनिर्माणागता गताः ॥ १८३ ॥ विलोक्य विलसत्कांती तत्कपोलौ हिमद्युतिः । स्वपराजयनिर्वेदाद्गतः शके कलंकितां ॥ १८४ ॥ भ्रूलते ललिते तस्य लीला दधतुरूर्जिता । वैजयंत्याविवोत्क्षिप्ते मदनेन जगज्जये ॥ १८५ ॥ मुखप्रांगणपुष्पोपहारः सारितदिङ्मुखः । नेत्रोत्पलविकासोस्य पप्रथे प्रथयन्मुदं ॥ १८६ ॥ तरलापागभासास्य सश्रुता-

---

मुख उपमा रहित था ॥ १८१ ॥ मैं समझता हूं कि सदा विकासरूप रहनेवाली भरतके मुखरूप कमलकी शोभासे हारकर ही कमलने अत्यंत खेदखिन्न होकर बनमें अर्थात् जलमें निवास करनेके लिये प्रस्थान किया है, अर्थात् वह भरतके मुखसे हारकर ही मानो जलमें रहता है ॥ १८२ ॥ राज्याभिषेकका पट्टबंध बांधने योग्य और अतिशय कांतियुक्त ऐसे उसके ललाटके बननेमें अवश्य ही सूर्यकी किरणें सहायक हुई थीं अर्थात् उसका ललाट बहुत ही प्रकाशमान था ॥ १८३ ॥ उसके कांति युक्त दोनों कपोलोंको देखकर चंद्रमा अवश्य तिरस्कृत हुआ था और इसलिये ही वह मानों विरक्त होकर कलंकित अर्थात् मलिन होगया जान पडता है ॥ १८४ ॥ राजकुमार भरतकी दोनों भौंहरूप सुंदर लतायें बहुत ही अच्छी सुशोभित होती थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों कामदेवने जिस समय जगतको विजय किया था उस समयकी उसके विजयकी उडाई हुई पताका ही हो ॥ १८५ ॥ उसके नेत्ररूपी कमलका विकास मुखरूपी आंगनमें भेटमें आये हुये पुष्पोंकी शोभा धारण करता था तथा समस्त दिशाओंको रंग विरंगी कर रहा था और इसलिये ही वह सब जगह आनंद करता हुआ प्रसिद्ध हो रहा था ॥ १८६ ॥ उसके चंचल नेत्रोंके कटाक्षसे शास्त्र युक्त दोनों कान भी उलंघन किये गये थे सो ठीक ही है चंचल हृदयवालोंसे प्रायः सब ही उलंघन किये जाते हैं। भावार्थ—उसके नेत्र बहुत ही दीर्घ थे ॥ १८७ ॥ कामदेवके बाणोंके समान उसके आधे नेत्रोंके कटा-

वपि लंघितौ । कर्णौ लोलात्मनां प्रायो नानुलंघ्योस्ति कश्चन ॥ १८७ ॥ दृगर्धवीक्षितैस्तस्य शरैरिव मनोभुव. । कामिन्यो हृदये विद्धा दधु सद्योतिरक्ततां ॥ १८८ ॥ रत्नकुंडलयुग्मेन गंडपर्यंतचुंबिना । प्रतिमानं श्रुतार्थस्य विधित्सन्निव सोद्युतत् ॥ १८९ ॥ मदनाग्नेरिवोद्बोधनालिका ललिताकृतिः । नासिकास्य बभौ किंचिदवाप्रा शुकतुंडरुक् ॥ १९० ॥ बभौ पयःकणाकीर्णविद्रुमांकुरसच्छविः । सिक्तस्तस्यामृतेनेव स्मिताशुच्छुरिताधरः ॥ १९१ ॥ कंठे हारलतारम्ये काप्यस्य श्रीरभूद्विभोः । प्रत्यग्रोद्भिन्नपुष्पौघकंबुग्रीवोपमोचिता ॥ १९२ ॥ कंठाभरणरत्नांशुसभृतं तदुरस्थलं । रत्नद्वीपश्रियं भेजे

क्षोंसे हृदयमें घायल हुई स्त्रियां बहुत शीघ्र अनुरक्त हो जाती थीं भावार्थ—स्त्रियां जैसे बाणसे घायल होकर रक्त धारण करती है उसी प्रकार उसके आधे खुले हुये नेत्रोंके कटाक्षोंसे घायल होकर अनुराग धारण करती थीं ॥ १८८ ॥ वह राजकुमार भरत कपोलतक लटकते हुये ऐसे रत्नोंके बने हुये कानोंके दोनों कुंडलोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानों शास्त्र और अर्थकी तुलना (बराबरीका) का प्रमाण ही कर रहा हो ॥ १८९ ॥ उसकी नासिका बडी ही सुंदर थी, कुछ नीचेकी ओर झुकी हुई थी तथा तोतेकी चोंचके समान कांतियुक्त थी और इसलिये ही वह ऐसी जान पड़ती थी मानों कामदेवरूपी अग्निको उद्दीपन करनेकेलिये अग्निको फूंकनेकी नाली (फूंकनी) ही हो ॥ १९० ॥ जिसप्रकार जलके कणोंसे व्याप्त हुआ प्रवालका अंकुर सुशोभित होता है उसी प्रकार मंद हास्यकी किरणोंसे व्याप्त हुआ उसका अधर (ओठ) ऐसा सुशोभित होता था मानों अमृतसे ही सींचा गया हो ॥ १९१ ॥ सुंदर राजकुमार भरतका कंठ हाररूपी लतासे बहुत सुंदर जान पडता था, उसपर एक अपूर्व शोभा आगई थी और वह नवीन पुष्पसमूहोंसे सुशोभित ऐसे शंखके कंठकी उपमा देने योग्य हो रहा था ॥ १९२ ॥ कंठाभरण अर्थात् हारमें लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे खूब भरा हुआ उसका उरःस्थल हाररूपी बेलसे घिरे हुये रत्नद्वीपकी शोभाको धारण करता था ॥ १९३ ॥ भुजारूप खंभोंके अंत पर्यंत लटकती हुई उसकी हाररूप लता ऐसी सुशोभित होती थी मानों लक्ष्मीदेवीके झूलनेकी दो रस्सियां ही

हारवल्लीपरिष्कृतं ॥ १९३ ॥ स बभार भुजस्तम्भपर्यंतपरिलम्बिनीं । लक्ष्मीदेव्या इवांदोलवल्लरीं हारवल्लरीं ॥ १९४ ॥ जयश्रीर्भुजयोरस्य वव्रंव प्रेमनिघ्नतां । केयूरकोटिसंघट्टकिणीभूतांसपीठयोः ॥ १९५ ॥ बाहुदंडेस्य भूलोकमानदंड इवायते । कुलशैलास्थया नूनं तेने लक्ष्मीः परा धृतिं ॥ १९६ ॥ शखचक्रगदाकूर्मझषादिशुभलक्षणैः । रेजे हस्ततलं तस्य नभःस्थलमिवोडुभिः ॥ १९७ ॥ अंसावलंबिना ब्रह्मसूत्रेणासौ दधे श्रियं । हिमाद्रिरिव गांगेन स्रोतसोत्संगसंगिना ॥ १९८ ॥ हसन्निवाधरं कायमूर्ध्वकायोस्य दिद्युते । कटकांगदकेयूरहाराद्यैः स्वैर्विभूषणैः ॥ १९९ ॥ वर्णिते पूर्वकायेस्य कायो न्यावर्णितोधरः । यथोपरि तथाधश्च ननु श्रीः कल्पपादपे ॥ २०० ॥ पुनरुक्तं तथाप्यस्य क्रियते वर्णनादरः । पंक्तिभेदे महान्दोषः स्यादित्युद्देश-

---

हों ॥ १९४ ॥ भरतकी दोना भुजाओंके कंधे बाजूबंधके अग्रभागके संघट्टनसे बहुत ही कठिन हो गये थे और इसलिये ही जयलक्ष्मीने बडे प्रेमसे उसकी भुजाओंकी आधीनता स्वीकार की थी ॥ १९५ ॥ उसके दोनों ही भुजदंड (हाथ) इस पृथ्वीको नापनेके दंडेके समान बडे ही लंबे थे और उनपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उन्हें कुलपर्वत समझकर बहुत ही संतुष्ट रहती थी ॥ १९६ ॥ शंख, चक्र, गदा, कच्छप, मछली आदि अनेक शुभ लक्षणोंसे सुशोभित उसके हाथकी हथेलियां ऐसी सुशोभित होती थीं मानों तारे और नक्षत्रोंसे सुशोभित आकाश ही हो ॥ १९७ ॥ कंधेपरसे लटकते हुये सफेद यज्ञोपवीतसे राजकुमार भरतकी ऐसी शोभा बढ गई थी जैसे हिमवान पर्वतके ऊपर बहनेवाले गंगाके प्रवाहसे हिमवान पर्वतकी शोभा बढ जाती है ॥ १९८ ॥ राजकुमार भरतके शरीरका ऊपरी भाग कडे, बाजूबंध, भुजाबंध, हार आदि अनेक आभूषणोंसे ऐसा दैदीप्यमान हो रहा था मानों नाभिसे नीचेके भागकी ओर हंस रहा हो ॥ १९९ ॥ ऊपर जो कुछ राजकुमार भरतके शरीरके ऊपरी भागका वर्णन कर चुके हैं उसपरसे ही नीचेके भागका वर्णन भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि कल्पवृक्षकी शोभा जैसी ऊपर होती है वैसी ही उसकी शोभा नीचे भी होती है ॥ २०० ॥ यद्यपि अधोभागका वर्णन दुबारा करनेसे पुनरुक्त दोष आता है तथापि उद्देशके अनुसार उसका वर्णन फिर भी किया

मात्रतः ॥ २०१ ॥ लावण्यरसनिष्यंदवाहिनीं रसकूपिकां । स बभारापतत्कामगंधेभस्येव पद्धतिं ॥ २०२ ॥ स साररसनोल्लासि दुकूलं जघनं दधौ । सेंद्रचापशरन्मेघनितंबमिव मंदरः ॥ २०३ ॥ पीवरौ स बभारोरू युक्तायामौ कनद्युती । मनोभुवेव विन्यस्तौ स्तंभौ स्वे वासवेश्मनि ॥ २०४ ॥ जंघे सुरुचिराकारे चारुकांती दधेधिराट् । उद्वर्त्य कणयेनेव घटिते चित्तजन्मना ॥ २०५ ॥ तत्पदाबुजयोर्युग्ममध्युवासानपायिनी । लक्ष्मीर्भृंगागनेवाविर्भवदगुलिपत्रक ॥ २०६ ॥ तत्क्रमौ रेजतुः कात्या लक्ष्मीं जित्वाबुजन्मनः । प्रहासमिव तन्वानौ नखोद्योतैर्विसारिभिः ॥ २०७ ॥ चक्रच्छत्रासिदं-

---

जाता है क्योंकि वर्णन करते करते किसी भागको छोड देना भी बडा भारी दोष है ॥ २०१ ॥ लावण्यरूप रसके प्रवाहको धारण करनेवाली और रसकी बावडीके समान उसकी नाभि ऐसी सुशोभित होती थी मानों आनेवाले कामदेवरूपी मदोन्मत्त हाथीका मार्ग ही हो ॥ २०२ ॥ अनेक वर्णके रत्नोंकी बनी हुई करधनीसे सुशोभित ऐसी सफेद धोती उसके जघनभागपर बहुत ही अच्छी जान पडती थी तथा उस धोतीसे वह राजकुमार भरत ऐसा सुशोभित होता था मानों जिसके नितंबभाग पर इंद्रधनुषसहित शरद ऋतुके मेघ लगे हुये हैं ऐसा मंदराचल पर्वत ही हो ॥ २०३ ॥ उसके ऊरूभाग (जंघाका ऊपरीभाग) बडे ही मजबूत थे उनकी लंबाई भी यथायोग्य थी और वर्ण उनका सुवर्णके समान था इसलिये वे ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवने अपने काममंदिरमें दो मजबूत सोनेके खंभे ही लगाये हों ॥ २०४ ॥ उसकी दोनों जंघा भी बडी दैदीप्यमान और बडी ही सुंदर थी तथा ऐसी जान पडती थी मानों कामदेवने लकडी छीलनेके हथियारसे छीलकर गोल ही कर ली हों ॥ २०५ ॥ राजकुमार भरतके दोनों चरण उंगलीरूपी पत्रोंसे सुशोभित कमलके समान सुंदर जान पडते थे और उनपर कभी नष्ट न होनेवाली लक्ष्मी भ्रमरीके समान सदा निवास करती थी ॥ २०६ ॥ उसके दोनों ही पांव अपनी कांतिसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों चारोंओर फैलती हुई नखोंकी कांतिसे कमलकी शोभा जीतकर उसकी हंसी ही उडा रहे हों ॥ २०७ ॥ उसके चरणकमलमें

डादिरत्नान्यस्य पदाब्जयोः । लग्नानि लक्षणव्याजात्पूर्वसेवामिव व्यधुः ॥ २०८ ॥ समाक्रांतधराचक्रः क्रमयोरेव विक्रमः । सर्वांगीणस्तु केनास्य सोढ- पूर्वः समानिनः ॥ २०९ ॥ चरमागतयैवास्य वर्णितं बलमांगिकं । सात्विकं तु बलं बाह्यैर्लिंगैर्दिग्विजयादिभिः ॥ २१० ॥ यद्बलं चक्रभृत्क्षेत्रवर्तिनां नृसुधाशिनां । ततोधिकगुणं तस्य बभूव भुजयोर्बलं ॥ २११ ॥ रूपानुरूपमेवास्य बभूव गुणसंपदा । गुणैर्विमुच्यते जातु नहि तादृग्विधं वपुः ॥ २१२ ॥ यत्राकृतिर्गुणास्तत्र वसंतीति न संशयः । यतोस्यानीदृगाकारो गुणैरेत्य स्वयं वृतः ॥ २१३ ॥ सत्यं शौचं क्षमा त्यागः प्रज्ञोत्साहो दया

चक्र छत्र तलवार दंड आदि चौदह रत्नोंके चिन्ह बने हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों ये चौदह रत्न लक्षणोंके बहानेसे होनेवाले चक्रवर्तीकी पहिलेसे ही सेवा कर रहे हों ॥ २०८ ॥ केवल उसके पैरोंका ही पराक्रम संपूर्ण भूमंडलको आक्रमण करता था फिर भला महा अभिमानी उस भरतके संपूर्ण शरीरका पराक्रम कौन सहन कर सकता है ॥ २०९ ॥ उसका शरीरसंबंधी बल केवल इसीसे वर्णन किया जाता था कि वह चरमशरीरी अर्थात् उसी शरीरसे मोक्ष जानेवाला था तथा उसके आत्माका बल दिग्विजय आदि बाह्य चिन्होंसे जाना जाता था ॥ २१० ॥ चक्रवर्तीके क्षेत्रमें अर्थात् छः खंडों में रहनेवाले देव मनुष्योंके जितना बल होता है उससे कई गुणा बल केवल चक्रवर्ती भरतकी भुजाओंमें था ॥ २११ ॥ जैसा उसका सुंदर रूप था वैसे ही उसमें गुण रूप संपत्ति विद्यमान थी, सो ठीक ही है क्योंकि गुणोंसे ऐसा सुंदर शरीर कभी नहीं छोडा जा सकता ॥२१२॥ सामुद्रिक शास्त्रका जो यह सिद्धांत है कि 'जहां शरीरकी सुंदरता होती है वहां गुण अवश्य ही निवास करते हैं' इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। क्योंकि गुणोंने उपमारहित अर्थात् अत्यंत सुंदर ऐसे भरतके शरीरको स्वयं आकर स्वीकार किया है ॥२१३॥ सत्य अर्थात् यथार्थ भाषण, शौच अर्थात् अंतरंग और बाह्य शुद्धि, क्षमा अर्थात् सहनशीलता, त्याग अर्थात् दान, प्रज्ञा अर्थात् निश्चयरूप बुद्धि, उत्साह अर्थात् उद्यम, दया, दम अर्थात् बाह्य पांचों इंद्रियोंका निग्रह करना, प्रशम अर्थात् मनका निग्रह करना, शांतता और विनय अर्थात् नम्रता ये सब गुण उ-

दमः । प्रशमो विनयश्चेति गुणाः सत्त्वानुषंगिणः ॥ २१४ ॥ वपुःकांतिश्च दीप्तिश्च लावण्यं प्रियवाक्यता । कलाकुशलता चेति शरीरान्वयिनो गुणाः ॥ २१५ ॥ निसर्गरुचिराकारो गुणैरेभिर्विभूषित. । स रेजे नितरा यद्वन्ममणिः संस्कारयोगतः ॥ २१६ ॥ अप्राकृताकृतिर्दिव्यमनुष्यो महसा निधिः । लक्ष्म्या. पुंजोयमित्युच्चैर्बभूवाद्भुतचेष्टितः ॥ २१७ ॥ रूपसंपदमित्युच्चैर्दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीं । जनाः पुरातनीमस्य शशंसु. पुण्यसपद ॥ २१८ ॥ वपुरारोग्यमैश्वर्यं धनर्द्धिः कामनीयकं । बलमायुर्यशो मेधा वाक्सौभाग्य विदग्धता ॥ २१९ ॥ इति यावान् जगत्यस्मिन्पुरुषार्थः सुखोचितः । स सर्वोभ्युदयः पुण्यपरिपाकादिहाङ्गिना ॥ २२० ॥ न विनाभ्युदयः पुण्यादस्ति कश्चन पुष्कलः । तस्मादभ्युदयं प्रेप्सुः पुण्यं संचिनुयाद्बुधः ॥ २२१ ॥

सके ज्ञानके साथ साथ रहते थे ॥ २१४ ॥ शरीरकी कांति, दीप्ति (शोभा), लावण्य, मधुरभाषण करना और समस्त कलाओंमें कुशलता प्राप्त करना ये उसके शरीर संबंधी गुण थे ॥ २१५ ॥ जिसप्रकार स्वभावसे ही सुंदर ऐसा मणि संस्कारके निमित्तसे अर्थात् शाणपर रखकर घिसनेसे और अधिक सुंदर हो जाता है उसीप्रकार भरतका शरीर भी स्वभावसे ही सुंदर था तथापि वह ऊपर कहे हुये गुणोंसे और भी अत्यंत सुशोभित हो गया था ॥ २१६ ॥ वह राजकुमार भरत एक दिव्य मनुष्य था, उसकी आकृति भी अन्य मनुष्योंसे विलक्षण अर्थात् अपूर्व सुंदर थी, वह तेजका खजाना था और उसकी सब चेष्टायें आश्चर्य करनेवाली थीं और इसलिये ही वह लक्ष्मीके एक बडे भारी पुंजके समान बहुत ही सुशोभित होता था ॥ २१७ ॥ जो दूसरी जगह कहीं न देखी जाय ऐसी इसकी अतिशय रूपसंपदा देखकर सब लोग इसके पूर्व भवकी पुण्यसंपदाकी प्रशंसा करते थे ॥ २१८ ॥ सुंदर शरीर, नीरोगता, ऐश्वर्य, धनसंपत्ति, सुंदरता, बल, आयु, यश, बुद्धि, मधुरभाषण, चतुरता आदि इस संसारमें जो कुछ सुखका कारण पुरुषार्थ है वह सब अभ्युदय गिना जाता है और वह अभ्युदय इन संसारी जीवोंको पुण्यके उदयसे ही मिलता है ॥ २१९-२२० ॥ इस संसारमें कोई भी बडा अभ्युदय पुण्यकर्मके उदयकेबिना नहीं मिलता, इसलिये जिसे अभ्युदयकी इच्छा है उस बुद्धिमानको पहिले पुण्यकर्मोंका संचय करना

इत्यानंदपरंपरा प्रतिदिनं संवर्द्धयन्स्वैर्गुणैः पित्रोर्बंधुजनस्य च प्रशमयंल्लोकस्य दुःखासिकां । नाभेयोदयभूधरादधरितक्षोणीधराद्गतः प्रालेयांशुरिवाबभौ भरतराड् भूलोकमुद्भासयन् ॥ २२२ ॥ श्रीमान्हेमशिलाघनैरपघनैः प्रांशु. प्रकृत्या गुरु. पादाक्रांतधरातलो गुरुभर वोढ्ढ क्षमाया. क्षमः । हारं नि·

चाहिये ॥ २२१ ॥ इसप्रकार वह राजा भरत एक चंद्रमाके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि चंद्रमा जिसप्रकार अपने गुण अर्थात् कलाओंसे सबको आनंदित करता है उसीप्रकार वह भरत भी ऊपर कहे हुये अपने गुणोंसे माता, पिता, भाई, बंधुओंको प्रतिदिन अनेक प्रकारके आनंद देता हुआ सुखी करता था । (चंद्रमा प्रतिदिन आनंद नहीं दे सकता भरत प्रतिदिन सबको आनंदित करते थे) चंद्रमा जिसप्रकार लोगोंके दुःख दूर करता है उसीप्रकार भरत भी लोगोंके अनेक दुःख दूर करता था, चंद्रमा जिसप्रकार समस्त क्षोणीधर अर्थात् पर्वतोंको नीचा करनेवाले ऐसे उदयाचल पर्वतसे उदय होता है उसीप्रकार वह भरत भी समस्त क्षोणीधर अर्थात् राजाओंको नीचा करनेवाले भगवान वृषभदेव रूपी उदयाचल पर्वतसे उदय हुआ था और चंद्रमा जिसप्रकार संपूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करता है उसीप्रकार वह भरत भी संपूर्ण पृथ्वीको प्रकाशित करता था ॥ २२२ ॥ अथवा वह भरत चक्ररूपी सूर्यको उदय करनेवाला उदयाचल पर्वतके समान सुशोभित होता था । जिसप्रकार उदयाचलपर्वत सुवर्णमय शिलाओंके समूह रूप अवयवोंसे सुशोभित रहता है उसीप्रकार वह भरत भी अपने सुवर्णमय शरीरके अवयवोंसे सुशोभित होता था, उदयाचल जिसप्रकार ऊंचा होता है उसीप्रकार भरत भी ऊंचा था, जिसप्रकार उदयाचल स्वभावसे ही भारी है उसीप्रकार भरत भी स्वभावसे ही गुरु अर्थात् गंभीरस्वभाववाला था, जिसप्रकार उदयाचल पर्वतने अपने पाद अर्थात् समीपवर्ती छोटे २ पर्वतोंसे पृथ्वीतलको आक्रमण कर लिया है उसीप्रकार भरतने भी अपने पाद अर्थात् पैरोंसे संपूर्ण पृथ्वीतलको आक्रमण कर दबा लिया था, जिसप्रकार उदयाचल पर्वत पृथ्वीके भारी

र्झरचारुकांतिमुरसा बिभ्रत्तटस्पर्द्धिना चक्राक्रोंदयभूधरः स रुरुचे मौलीद्धकूटोद्धुरः ॥ २२३ ॥ संपश्यन्नयनोत्सवं सुरुचिरं तद्वक्रमप्राकृतं संश्रुण्वन्कल-निक्कणंश्रुतिसुखं सप्रश्रयं तद्वचः । आश्लिष्यन्प्रणतोत्थितं मुहुरमुं स्वोत्सगमारोपयन् श्रीमान्नाभिसुतः परा धृतिमगाद्भत्स्यंज्जिनश्रीर्विभुः ॥ २२४ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्कुमारकालयशस्वतीसुनंदाविवाहभरतोत्पत्तिवर्णन नाम पंचदशं पर्व ॥ १५ ॥

भारको भी सह सकता है उसीप्रकार भरत भी क्षमाका अथवा पृथ्वीका भी भारी भार (राज्यभार) सह सकता था, उदयाचल पर्वत जिसप्रकार अपने किनारोंपर निर्झरनोंकी सुंदरता धारण करता है उसीप्रकार वह भरत भी पर्वतके तटके समान विशाल वक्षःस्थलपर हारकी सुंदरता धारण करता था और उदयाचल पर्वत जिसप्रकार अपने मस्तकपरके दैदीप्यमान शिखरोंसे सुशोभित होता है उसीप्रकार वह भरत भी अपने मस्तकके दैदीप्यमान मुकुटसे सुशोभित हो रहा था ॥ २२३ ॥ जिनको अरहंत पदकी लक्ष्मी प्राप्त होनेवाली है ऐसे वे भगवान् वृषभदेव नेत्रोंको आनंद देनेवाले, परमसुंदर और अत्यंत उत्तम ऐसे भरतके मुखको देखकर तथा कानोंको सुख देनेवाले और नम्रताके साथ कहेहुये भरतके मधुर शब्दोंको सुनकर, प्रणाम करनेके बाद उठे हुये भरतको बारंबार आलिंगनकर और उसे अपनी गोदमें बिठाल कर बडे ही संतुष्ट होते थे ॥ २२४ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानकी कुमार-अवस्था, यशस्वती और सुनदाके साथ विवाह और यशस्वतीसे भरतकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाला पद्रहवा पर्व समाप्त हुआ.

अथ षोडशं पर्व ।

अथ क्रमाद्यशस्वत्या जाताः स्त्रष्टुरिमेसुताः । अवतीर्य दिवो मूर्ध्नस्तेहमिंद्रा पुरोदिताः ॥ १ ॥ पीठो वृषभसेनोभूत्कनीयान्भरतेश्वरात् । महापीठोभवत्तस्य सोनंतविजयोनुजः ॥ २ ॥ विजयोनंतवीर्योऽभूद्वैजयंतोच्युतोभवत् । जयतो वीर इत्यासीद्वरवीरोपराजित ॥ ३ ॥ इत्येकोनशते पुत्रा बभूवुर्वृषभेशिन. । भरतस्यानुजन्मानश्चरमागा महौजस ॥ ४ ॥ ततो ब्राम्हीं यशस्वत्या ब्रह्मा समुदपादयत् । कलामिवापराशायां ज्यौत्स्नपक्षेमलां विधो; ॥ ५ ॥ सुनंदाया महाबाहुरहमिंद्रो दिवोऽग्रतः । च्युत्वा बाहुबलीत्यासीत्कुमारोऽमरसन्निभः ॥ ६ ॥ वज्रजंघभवे यास्य भगिन्यासीदनुधरी । सा सुंदरीत्य-

अथ सोलहवां पर्व ।

अथानंतर—सर्वार्थसिद्धिके जिन अहमिंद्रोंका वर्णन पहिले किया जा चुका है वे वहांसे क्रमसे च्युत होकर भगवान वृषभदेवके यशस्वती देवीसे नीचे लिखे पुत्र उत्पन्न हुये ॥ १ ॥ जो पहिले पीठ नामका वज्रनाभिका भाई था उसका जीव सर्वार्थसिद्धिसे चयकर वृषभसेन नामका भरतका छोटा भाई हुआ, जो राजश्रेष्ठिका जीव महापीठ था वह अनंतविजय नामका वृषभसेनका छोटा भाई हुआ ॥ २ ॥ जो विजय नामका व्याघ्रका जीव था वह अनंतविजयका छोटा भाई अनंतवीर्य हुआ। जो वैजयंत नामका सूकरका जीव था वह अनंतवीर्यका छोटा भाई अच्युत हुआ। जो वानरका जीव जयंत था वह अच्युतसे छोटा वीर हुआ और न्योलाका जीव जो अपराजित था वह वीरसे छोटा वरवीर हुआ। ॥ ३ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवके यशस्वतीदेवीसे भरतके बाद निन्न्यानवे पुत्र हुये और वे सब ही पुत्र बडे प्रतापी और चरमशरीरी थे ॥ ४ ॥ तदनंतर प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके उसी यशस्वती देवीसे ब्राह्मी नामकी पुत्री हुई, वह पुत्री ऐसी सुंदरी थी मानों पश्चिमदिशामें उदय होनेवाली शुक्लपक्षके चंद्रमाकी एक निर्मल कला ही हो ॥ ५ ॥ आनंद पुरोहितका जीव जो पहिले महाबाहु था और फिर अहमिंद्र हुआ था वह वहांसे चयकर भगवान् वृषभदेवकी दूसरी महारानी सुनंदासे देवके समान सुंदर बा-

भूत्पुत्री वृषभस्यातिसुंदरी ॥ ७ ॥ सुनंदा सुंदरीं पुत्रीं पुत्रं बाहुबलीशिनं । लब्ध्वा रुचिं परां भेजे प्राचीवार्कं सह विपा ॥ ८ ॥ तत्काले कामदेवोऽभूद्युवा बाहुबली बली । रूपसंपदमुत्तुंगा दधानोऽसुमता मता ॥ ९ ॥ तस्य तद्रूपमन्यत्र समदृश्यत न कचित् । कल्पद्रुमात्किमन्यत्र दृश्यते हारिभूषणं ॥ १० ॥ कुंचितास्तस्य केशाग्रा विवभुर्भ्रमरत्विषः । मनोभुवः शिरस्त्राणसूक्ष्मायोवलयै समा ॥ ११ ॥ ललाटमष्टमीचंद्रचारु तस्य दधे रुचिं । धात्रेव राज्यपट्टस्य निवेशाय पृथूकृत ॥ १२ ॥ कुंडलद्वयसशोभि तस्य वक्त्रमदीप्यत । सरोरुहमिवोपातवर्तिचक्राह्वयुग्मक ॥ १३ ॥ नेत्रोत्पलद्वयेनास्य

हुबली नामका राजकुमार उत्पन्न हुआ ॥ ६ ॥ और पहिले जब भगवान्‌का जीव वज्रजंघ था और उससमय उसकी जो अनुंधरी बहिन थी उसका जीव इन्हीं भगवान् वृषभदेवके सुनंदादेवीसे अत्यंत सुंदरी ऐसी सुंदरी नामकी कन्या उत्पन्न हुई ॥ ७ ॥ जिसप्रकार पूर्व दिशा प्रभाके साथ साथ सूर्यको पाकर प्रकाशमान होती है उसीप्रकार सुनंदा देवी भी सुंदरी पुत्री और बाहुबली पुत्रको पाकर बहुत ही दैदीप्यमान हुई थी ॥ ८ ॥ उससमय समस्त जीवोंको मान्य और सबसे अधिक ऐसी रूपसंपत्तिको धारण करता हुआ वह बलवान् युवा बाहुबली राजकुमार चौवीस कामदेवोंमेंसे प्रथम कामदेव हुआ था ॥ ९ ॥ राजकुमार बाहुबलीका जैसा सुंदर रूप था वैसा रूप दूसरीजगह कहीं भी देखनेमें नहीं आया था, सो ठीक ही है मनोहर आभूषण जैसे कल्पवृक्षपर लगते हैं क्या वैसे आभूषण कहीं दूसरी जगह देखे जाते हैं? ॥ १० ॥ भ्रमरके समान काले और कुटिल ऐसे उसके बालोंके अग्रभाग ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवके शिरके कवचके सूक्ष्म लोहेके गोल तार ही हों ॥ ११ ॥ अष्टमीके चंद्रमाके समान सुंदर उसका ललाट ऐसा सुशोभित होता था मानों नाम कर्मरूपी ब्रह्माने राज्यको सूचित करनेवाला सुवर्णका पट्टा बांधनेके लिये ही उसे बडा बनाया हो ॥ १२ ॥ कानोंमें पडे हुये दोनों कुंडलोंसे सुशोभित उसका मुख ऐसा देदीप्यमान जान पडता था मानों जिसके इधर उधर समीप ही दो चकवा चकवी बैठे हैं ऐसा कमल ही हो ॥ १३ ॥ मंदहास्यकी किरणरूप जलसे भरा हुआ तथा लक्ष्मीके नि-

बभौ वक्त्रसरोवरं । स्मिताशुसलिलोत्पीडं लक्ष्म्यावासपवित्रितं ॥ १४ ॥ विजयच्छंदहारेण वक्ष.स्थलविलंबिना । सोधान्मरकतागम्य श्रियं निर्झरशोभिनः ॥ १५ ॥ तस्यासौ वक्षसः प्रांते श्रियमातेनतु परा । द्वीपस्थलस्य पर्यंते स्थितौ क्षुद्रनगाविव ॥ १६ ॥ बाहू तस्य महाबाहोरधातां बलमूर्जितं । यतो बाहुबलीत्यासीन्नामास्य महसां निधे. ॥ १७ ॥ मध्येगात्रमसौ दध्रे गभीरं नाभिमंडलं । कुलाद्रिरिव पद्माया सेवनीयं महत्सरः ॥ १८ ॥ कटीतट बभावस्य कटिसूत्रेण वेष्टित । महाहिनेव विस्तीर्णं तटं मेरोर्महोन्नतेः ॥ १९ ॥ कदलीस्तंभनिर्भासावूरू तस्य विरेजतु. । लक्ष्मीकरतलाजस्रस्पर्शादिव समुज्ज्वलौ ॥ २० ॥ शुशुभाते शुभे जघे तस्य विक्रमशालिनः । भाविष्यत्प्रतिमायोगतपःसिध्यंगता गते ॥ २१ ॥ क्रमौ मृदुतलौ तस्य

वास करनेसे अति पवित्र ऐसा उसका मुखरूपी सरोवर नेत्ररूपी दोनों कमलोंसे बहुत ही सुशोभित होता था ॥ १४ ॥ वह राजकुमार बाहुबलि अपने विशाल वक्षःस्थलपर लटकते हुये पांचसौ चार लडीके विजयछंद नाम हारसे ऐसा सुशोभित होता था मानों अनेक निर्झरनोंसे शोभायमान मरकतमणिका पर्वत ही हो ॥ १५ ॥ विशाल वक्षःस्थलके प्रांतभागमें उसके दोनों ही कंधे ऐसे अच्छे सुशोभित होते थे मानों किसी द्वीपके इधर उधरके दोनों किनारोंके समीप दो छोटे २ पर्वत ही हों ॥ १६ ॥ अत्यंत तेजस्वी और लंबी भुजाओंको धारण करनेवाले उस बाहुबलीकी भुजाओंमें बहुत ही बल था और केवल उसके भुजाओंके बलसे ही उसका बाहुबली नाम प्रसिद्ध हुआ था ॥ १७ ॥ उस बाहुबलिके शरीरके मध्यभागमें गंभीर नाभिमंडल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कुलाचल पर्वतपर लक्ष्मीके निवास करने योग्य एक बडा तलाव हो ॥ १८ ॥ सुवर्णमय करधनीसे घिरा हुआ उसका कटीतट अर्थात् कमर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों किसी बडे सर्पसे घिरा हुआ अतिशय ऊंचे ऐसे मेरुपर्वतका एक बडा किनारा ही हो ॥ १९ ॥ केलेके थंभेके समान दैदीप्यमान उसके दोनों ऊरु (जंघाका ऊपरी भाग) ऐसे सुंदर जान पडते थे मानों वे लक्ष्मीकी हथेलीके बार बार स्पर्श होनेसे ही बहुत उज्ज्वल हो गये हों ॥२०॥ अतिशय पराक्रमको धारण करनेवाले उस बाहुबलीके दोनों ही जंघा बडे ही सुंदर थे और ऐसे जान पडते थे

लसदंगुलिसद्दली । रुचिं दधतुरारक्तौ रक्तांभोजस्य सश्रिय· ॥ २२ ॥ इत्यसौ परमोदारं दधानश्चरमं वपुः । संमाति स्म कथं नाम मानिनीहृत्कुटीरके ॥ २३ ॥ स्वप्नेऽपि तस्य तद्रूपमनन्यमनसोंगनाः । पश्यति स्म मनोहारि निखातमिव चेतसि ॥ २४ ॥ मनोभवो मनोजश्च मनोभूर्मन्मथोंगज । मदनोनन्यजश्चेति व्याजन्हुस्त तदागनाः ॥ २५ ॥ सुमनोमंजरीबाणैरिक्षुधन्वा किलागजः । जगत्संहारकारीति क· श्रद्दध्यादयुक्तिकं ॥ २६ ॥ स-

मानों वह बाहुबली जो आगामी कालमें प्रतिमायोग तपश्चरण धारण करेगा उसके सिद्ध करनेके· लिये कारण ही हों ॥ २१ ॥ उसके दोनों ही चरण लाल कमलके समान सुशोभित होते थे क्यों· कि जिसप्रकार कमल कोमल होता है उसीप्रकार उसके पैरोंका तलवा (नीचेकाभाग) भी बहुत कोमल था, कमलमें जिसप्रकार पंखुरियां होती हैं उसीप्रकार उसके पैरोंमें भी उंगलीरूपी पंखुरियां सुशोभित हो रही थीं, लाल कमल अरुण अर्थात् कुछ २ लाल होता है उसीप्रकार उसके पैर भी कुछ कुछ लाल थे और कमलपर जो लक्ष्मी रहती है वही लक्ष्मी अर्थात् शोभा उसके पैरोंपर विद्यमान थी ॥ २२ ॥ इसप्रकार अतिशय उदार और मुक्तिके योग्य चरमशरीरको धारण करनेवाला वह बाहुबली कामदेव अभिमान करनेवाली स्त्रियोंके हृदयरूपी छोटेसे झोंपडेमें न जाने कैसे प्रवेश करगया था, भावार्थ-स्त्रियोंका हृदय बहुत छोटा होता है और उसका शरीर बहुत ऊंचा था, द्वितीय वह चरम· शरीरी (मोक्ष जानेवाला) था, अभिमानिनी स्त्रियां चरमशरीरी अर्थात् वृद्धको पसंद ही नहीं करती हैं इन कारणोंके होते हुये भी उसका वह शरीर स्त्रियोंके हृदयमें प्रवेश कर गया यह बडे आश्चर्यकी बात है ॥२३॥ जिनका चित्त कहीं दूसरी जगह नहीं जाता केवल बाहुबलीमें ही लगा हुआ है ऐसी स्त्रियां स्वप्नमें भी उस बाहुबलीका मनोहर रूप इसप्रकार देखती थीं मानों वह रूप उनके चित्तमें ही उकेर दिया गया हो ॥२४॥ स्त्रियां उसे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि कितने ही नामोंसे पुकारती थीं (मनोभव मनोज आदि ऊपर कहे हुये सब कामदेवके नाम हैं) ॥२५॥

मा भरतराजेन राजन्याः सर्व एव ते । विद्यया कलया दीप्त्या कात्या सौदर्यलीलया ॥ २७ ॥ शतमेकोत्तरं पुत्रा भर्तुस्ते भरतादय । क्रमात्प्रापुर्युवावस्था मदावस्थामिव द्विपाः ॥ २८ ॥ तद्यौवनमभूत्तेषु रमणीयतरं तदा । उद्यानपादपौघेषु वसतस्येव जृंभितं ॥ २९ ॥ स्मिताशुमंजरीः शुभ्राः सताम्रान् पाणिपल्लवान् । भुजशाखा. फलोदग्रास्ते दधुर्युवपार्थिवा ॥ ३० ॥ ततामोदेन धूपेन वासितास्तच्छिरोरुहाः । गधाधैरलिभिर्लीनैः कृताः सो-

लोग कहते हैं कि कामदेवके पास ईखका धनुष है तथा फूल और मंजरियोंके बाण हैं, तथापि वह उसी ईखके धनुष और उसी पुष्प और मंजरियोंके बाणोंसे इस जगतको संहार कर डालता है इस युक्तिरहित बातपर भला कौन विश्वास कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । भावार्थ--कामदेव कमल, अशोक वृक्षके फूल, आमकी मंजरी, वेलाके फूल और नीलकमल इन पांच पुष्पबाणोंसे जगतको वश करता है यह बात मिथ्या है वास्तवमें कामदेव बाहुबली थे जो कि अपने बलसे ही सब जगतको बश कर लेते थे ॥ २६ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवके वे सब ही राजपुत्र विद्या, कला, दीप्ति, कांति और सुंदरताके विलाससे राजकुमार भरतके समान थे ॥ २७ ॥ जिसप्रकार हाथी अनुक्रमसे मदोन्मत्त अवस्थाको प्राप्त होता है उसीप्रकार भगवान् वृषभदेवके वे भरत आदि एकसौएक पुत्र अनुक्रमसे युवावस्थाको प्राप्त हुयेथे ॥ २८ ॥ जिसप्रकार कृत्रिम बगीचेके वृक्षसमूहोंपर बसंतऋतुका फैलाव मनोहर लगता है उसीप्रकार उन राजकुमारोंमें भी उससमयकी वह यौवन अवस्था बहुत ही मनोहर जान पडती थी ॥ २९ ॥ युवावस्थाको प्राप्त हुये वे पार्थिव अर्थात् राजपुत्र पार्थिव अर्थात् पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्षोंके समान जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार वृक्षोंपर सफेद मंजरियां होती हैं उसीप्रकार उनके मुखपर भी मंदहास्यकी किरणेंरूप सफेद मंजरियां थीं, वृक्षोंपर जिसप्रकार लाल नये पत्ते होते हैं उसीप्रकार उनके भी कुछ २ लाल ऐसे हाथरूपी कोमल पत्ते थे, और वृक्षोंके जिसप्रकार फल देनेवाली शाखायें होती हैं उसीप्रकार उनके भी उत्तम फल देनेवाली भुजायेंरूप शाखायें थीं ॥ ३० ॥ चारोंओर

पच्चया इव ॥ ३१ ॥ तन्मुखामोदमाघ्रातुमायाती भ्रमरावली । सर्वांगीणं तदामोदमन्वभूत्क्षणमाकुला ॥ ३२ ॥ रत्नकुंडलयुग्मेन मकराकेण भूषितं । कर्णद्वयं बभौ तेषां मदनेनेव चिन्हितं ॥ ३३ ॥ नेत्रोत्पलद्वय तेषामिषूकृत्य मनोभवः । भ्रूलताचापयष्टिभ्यां स्त्रीसृष्टिं वशमानयत् ॥ ३४ ॥ वपुर्दीप्तं मुखं कांतं मधुरो नेत्रविभ्रमः । कर्णाभ्यर्णविश्रांतनेत्रोत्पलवतंसितौ ॥ ३५ ॥ भ्रुवौ सविभ्रमे शस्तं ललाटं नासिकाचिता । कपोलावुपमातीतावपोढितशशिश्रियौ ॥ ३६ ॥ रक्तो रागरसेनेव पाटलो दशनच्छदः । स्वरो मृदंगनिर्घोषगंभीरः श्रुतिपेशलः ॥ ३७ ॥ सूत्रमार्गमनुप्राप्तैर्जगच्चेतोभिनंदिभिः ।

जिसकी सुगंध फैल रही है ऐसी सुगंधित धूपसे उन राजकुमारोंके शिरके बाल सुगंधित किये जाते थे उस सुंगधसे अंधे होकर बहुतसे भ्रमर उनपर आकर बैठते थे जिससे वे बाल उन भ्रमरोंके समूहके समान जान पडते थे ॥ ३१ ॥ अनेक भ्रमर उन राजकुमारोंके मुखकी सुगंध सूंघनेके लिये आते थे परंतु उस समय वे क्षणभर व्याकुल होकर समस्त शरीरमें व्याप्त हुई उस सुगंधिका अनुभव करते थे ॥ ३२ ॥ मगरके आकारके हीरोंसे जडे हुये रत्नोंके दोनों कुंडलोंसे सुशोभित हुये उन राजकुमारोंके कर्ण ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनपर कामदेवने अपना चिन्ह ही लगा दिया हो ॥ ३३ ॥ उनके नेत्ररूपी कमल और भौंहरूपी लतायें ऐसी सुंदर थीं कि मानों कामदेव उनके नेत्ररूपी कमलोंको बाण बनाकर और भौंहरूपी लताओंको धनुषकी लकडी बनाकर ही संपूर्ण स्त्रियोंको अपने वश करता था ॥ ३४ ॥ उन राजकुमारोंका शरीर दैदीप्यमान था, मुख मनोहर था, नेत्रोंका विलास (कटाक्ष) मधुर था, दोनों कर्ण समीपमें रहनेवाले नेत्ररूपी कमलोंसे विभूषित थे ? ॥ ३५ ॥ दोनों भोहोंका विलास (भोहोंका नाचना) बहुत अच्छा था, ललाट प्रशंसनीय था, नासिका पूज्य थी, दोनों कपोल चंद्रमाकी शोभाको भी तिरस्कार करनेवाले थे और इसलिये ही वे उपमारहित थे ॥ ३६ ॥ उनके अधर कुछ कुछ लाल थे मानों अनुरागके रससे ही लाल होगये हों, स्वर अर्थात् आवाज मृदंगके शब्दके समान गंभीर था और वह कानोंको बहुत मधुर लगता था ॥ ३७ ॥ उनका कंठ अक्षरोंके समान मोतियोंसे व्याप्त था अर्थात् उस-

कव्यैरिवाक्षरैः शुद्धैः कंठो मुक्ताफलैर्वृतः ॥ ३८ ॥ वक्षो लक्ष्म्या परिष्वक्तमंसौ च विजयश्रिया । व्यायामकर्कशौ बाहू पीनावाजानुलंबिनौ ॥ ३९ ॥ नाभि. शोभानिधानोर्वी चार्वी निर्वापणी दृशा । तनुमध्य जगन्मध्यनिर्विशेषमशेषत. ॥ ४० ॥ लसद्वसनमामुक्तरशनं जघन घनं । कायमानमिवानंगनृपतेः कृतनिर्वृति ॥ ४१ ॥ पीनौ चारुरुचावूरू नारीजनमनोरमौ । जंघे विनिर्जितानंगनिषंगरुचिराकृती ॥ ४२ ॥ सर्वांगसंगतां कांतिमित्यौचित्य

में अक्षरोंके समान मोती पडे हुये थे जिसप्रकार अक्षर शब्द अर्थके दोषोंसे अथवा स्थान (जहांसे अक्षरोंका उच्चारण होता है) और प्रयत्नके दोषोंसे रहित शुद्ध होते हैं उसीप्रकार वे मोती भी कलंकादिरहित शुद्ध थे, अक्षर जिसप्रकार कंठ्य अर्थात् कंठसे उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार मोती भी कंठ्य अर्थात् कंठमें पहनने योग्य थे, अक्षर जिसप्रकार संसारके चित्तको आनंद उत्पन्न करनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे मोती भी संसारके चित्तको आनंद उत्पन्न करनेवाले थे और अक्षर जिसप्रकार सूत्रमार्ग अर्थात् मूल ग्रंथके अनुसार ही स्थापित किये जाते हैं उसीप्रकार मोती भी सूत्रमार्ग अर्थात् डोरेमें पिरोये हुये थे ॥ ३८ ॥ उनका वक्षःस्थल लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन किया हुआ था दोनो कंधे विजयरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन किये हुये थे और दोनों भुजायें व्यायाम अर्थात् मल्लविद्याके परिश्रमसे (कसरतसे) बडी ही कठिन हो रही थीं बडी ही पुष्ट थीं और घुटनोंतक लटक रही थीं ॥ ३९ ॥ उनकी नाभि भी सुंदरताके खजानेकी भूमि थी, बडी ही सुंदर थी और नेत्रोंको सुख देनेवाली थी, इसीप्रकार उनके शरीरका मध्यभाग भी तीनों लोकोंके मध्यभागके समान था अर्थात् वह बहुत ही सूक्ष्म था ॥ ४० ॥ जिनपर चारों ओरसे दैदीप्यमान वस्त्र सुशोभित हो रहे हैं और थोडी थोडी करधनी लटक रही है ऐसे उनके घनीभूत जघन ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी राजाको सुख देनेवाले कपडेके बने हुये तंबू ही हों ॥ ४१ ॥ उनके दोनों ही ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बडे मजबूत थे, सुंदर कांतिको धारण करनेवाले थे और स्त्रियोंके मन हरण करनेवाले थे तथा उनकी जंघाये कामदेवके तरकसकी सुंदर शो-

स्रुतामधः । क्रमौ विनिर्मितौ लक्ष्म्या न्यक्कृतारुणपंकजौ ॥ ४३ ॥ तेषां प्रत्यंगमत्युद्धा शोभा स्वात्मगतैव या । तत्समुत्कीर्त्तनैवाल खल्वन्यवर्णनांतरं ॥ ४४ ॥ निसर्गरुचिराण्येषां वपूंषि मणिभूषणैः । भृशं रुरुचिरे पुष्पैर्वनानीव विकासिभिः ॥ ४५ ॥ तेषां विभूषणान्यासन्मुक्तारत्नमयानि वै । यष्टयो हारभेदाश्च रत्नावल्यश्च नैकधा ॥ ४६ ॥ यष्टयः शीर्षकं चोपशीर्षकं चावघाटकं । प्रकाडकं च तरलप्रबंधश्चेति पंचधा ॥ ४७ ॥ केषांचिच्छीर्षकं यष्टिः केषांचिदुपशीर्षकं । अवघाटकमन्येषामपरेषां प्रकाडकं ॥ ४८ ॥ तरलप्रतिबंधश्च केषांचित्कंठभूषणं । मणिमध्याश्च शुद्धाश्च तास्तेषां यष्टयोभ-

---

भाको भी जीतनेवाली थीं ॥ ४२ ॥ अपनी शोभासे लाल कमलोंको भी तिरस्कार करनेवाले ऐसे उनके दोनों पैर ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों समस्त शरीरमें रहनेवाली जो कांति वहकर नीचेकी ओर गई थी उसे इकट्ठा करके ही वे बनाये गये हों ॥ ४३ ॥ इसप्रकार उन राजकुमारोंको प्रत्येक अंगकी प्रशंसनीय शोभा उसीशोभाके समान थी वैसी शोभा दूसरी जगह कहीं भी नहीं थी इसलिये अन्य पदार्थोंका वर्णनकर उनके शरीरकी सुंदरता वर्णन करनेसे क्या लाभ है ? भावार्थ–उनका शरीर इतना सुंदर था कि उनके उपमा योग्य संसारमें कोई दूसरा पदार्थ नहीं था ॥ ४४ ॥ जिसप्रकार खिले हुये पुष्पोंसे बन सुशोभित होता है उसीप्रकार स्वभावसे ही सुंदर ऐसे उन राजकुमारोंके शरीर भी मणियोंके आभूषणोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ ४५ ॥ उन राजकुमारोंके यष्टि, हार और पद्मरागमणियोंकी बनी हुई मालायें आदि मोती और रत्नोंके बने हुये अनेक प्रकारके आभूषण थे ॥ ४६ ॥ उनमेंसे यष्टिके शीर्षक, उपशीर्षक, अवघाटक, प्रकांडक और तरलप्रबंध ये पांच भेद हैं ॥ ४७ ॥ इन पांच प्रकारकी यष्टियोंमेंसे उन राजकुमारोंके किसीके शीर्षक यष्टि थी कितनोंके उपशीर्षक थी कितनोंके अववाटक और कितनोंके ही प्रकांडक यष्टि थी ॥ ४८ ॥ तथा कितने ही राजकुमारोंने पांचवीं तरलप्रतिबंध नामकी यष्टिका कंठाभरण पहना था । ऊपर कही हुई पांचों प्रकारकी यष्टियोंमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद होते हैं एक मणिमध्या यष्टि अर्थात् जिसके बीचमें कोई मणि लगा हो

वन् ॥ ४९ ॥ सूत्रमेकावली सैव यष्टिः स्यान्मणिमध्यमा । रत्नावली भवेत्सैव सुवर्णमणिचित्रिता ॥ ५० ॥ युक्तप्रमाणसौवर्णमणिमाणिक्यमौक्तिकैः । सातर ग्रथिता भूषा भवेयुरपवार्त्तिका ॥ ५१ ॥ यष्टिः शीर्षकसंज्ञा स्यान्मध्यैकस्थूलमौक्तिका । मध्यैस्त्रिभिः क्रमस्थूलैर्मौक्तिकैरुपशीर्षकं ॥ ५२ ॥ प्रकांडकं क्रमस्थूलैः पंचभिर्मध्यमौक्तिकैः । मध्यादनुक्रमाद्धीनैर्मौक्तिकैरवघाटकं ॥ ५३ ॥ तरलप्रतिबंधः स्यात्सर्वत्र सममौक्तिकैः । तथैव मणियुक्ता-

---

और दूसरा शुद्धायष्टि अर्थात् जिसके मध्यमें कोई मणि नहीं लगा हो केवल मोतियोंसे ही बनी हो । इसप्रकार यष्टिके (लडियोंके) सब दश भेद हुये, शीर्षक आदि पांच मणिमध्या और ये ही पांच शुद्धा ॥४९॥ जो मणिमध्यमायष्टि है उसे सूत्र और एकावली भी कहते हैं (जो यष्टि केवल मोतियोंसे बनाई जाती हैं उसे भी सूत्र अथवा एकावली कहते हैं ।) यदि वही मणिमध्यमायष्टि सुवर्ण और मणियोंसे गुंथी हुई हो तो फिर उसे रत्नावली कहते हैं ॥ ५० ॥ यदि सुवर्ण, मणि, माणिक्य और मोती ये दो, तीन, चार, पांच आदि नियमित संख्याके अंतरसे गूंथे गये हों अर्थात् कितनेमें ही दो दो के अंतरसे मणि लगे हैं, कितनेहीमें तीन तीनके अंतरसे, कितनेहीमें चारके अंतरसे और कितनेहीमें पांच पांचके अंतरसे मणि गूंथे हुये हों उसे अपवर्तिका यष्टि कहते हैं । (जो मणि सूतमें पिरोई हो उसे मणि कहते हैं और जो सुवर्णमें जडी हो उसे माणिक कहते हैं) ॥ ५१ ॥ जिसके बीचमें एक बडा मोती हो उसे शीर्षक यष्टि कहते हैं जिसके बीचमें अनुक्रमसे बढते हुये बडे २ तीन मोती हों (एक बडा बीचमें और अन्य मोतियोंसे बडा किंतु बडेसे छोटा एक एक इधर उधर) उसे उपशीर्षक कहते हैं ॥ ५२ ॥ जिसके बीचमें अनुक्रमसे बढते हुये पांच मोती लगे हों उसे प्रकांडक कहते हैं तथा जिसके बीचमें एक बडा मोती हो और दोनोंओर अंततक अनुक्रमसे घटते हुये छोटे छोटे मोती लगे हों उसे अवघाटक यष्टि कहते है ॥ ५३ ॥ और जिसमें सबजगह सब मोती एकसे लगे हों न कोई छोटा हो और न कोई बडा हो उसे तरलप्रतिबंध कहते हैं । ऊपर जो एकावली रत्नावली और अपव-

नामूख्या भेदास्त्रिधात्मनां ॥ ५४ ॥ हारो यष्टिकलापः स्यात्सचैकादशधा मतः । इंद्रच्छंदादिभेदेन यष्टिसंख्याविशेषतः ॥ ५५ ॥ यष्टयोऽष्टसहस्रं तु यत्रेंद्रच्छंदसंज्ञकः । स हारः परमोदारः शक्रचक्रिजिनेशिनां ॥ ५६ ॥ तदर्द्धप्रमितो यस्तु विजयच्छंदसज्ञकः । सोर्द्धचक्रधरस्योक्तो हारोन्येषु स केपुचित् ॥ ५७ ॥ शतमष्टोत्तरं यत्र यष्टीना हार एव सः । एकाशीत्या भवेद्देवच्छदो मौक्तिकयष्टिभिः ॥ ५८ ॥ चतुःषष्टयार्धहारः स्याच्चतुःपचाशता पुनः । भवेद्रश्मिकलापाख्यो गुच्छो द्वात्रिंशता मतः ॥ ५९ ॥ यष्टीना सप्तविंशत्या भवेन्नक्षत्रमालिका । शोभां नक्षत्रमालाया या हसंती स्वमौक्तिकैः ॥ ६० ॥ चतुर्विंशत्यार्द्धगुच्छो विंशत्या माणवाह्वयः । भवेन्मौक्तिकयष्टीनां तदर्द्धेनार्द्धमाणवः ॥ ६१ ॥ इंद्रच्छंदादिहारास्ते यदा स्युर्मणिमध्यमाः । मा-

---

तिंका ये मणियुक्त यष्टियोंके तीन भेद कहे हैं उनमें भी प्रत्येकके शीर्षक आदि पांच पांच भेद जानना, इसप्रकार ये पंद्रह भेद हुये ॥ ५४ ॥ जो यष्टि अर्थात् लडियोंका समूह हो उसे हार कहते हैं वह हार लडियोंकी न्यूनाधिक संख्या होनेसे इंद्रछंद आदिके भेदसे ग्यारह प्रकारका माना जाता है ॥ ५५ ॥ जिसमें एकहजार आठ लडियां हों वह सबसे बडा इंद्रछंद नामका हार कहलाता है, यह हार इंद्र चक्रवर्ती और जिनेंद्रदेवके पहनने योग्य होता है ॥ ५६ ॥ जिसमें पांचसौ चार लडियां हों उसे विजयच्छंद हार कहते हैं, यह अर्धचक्रवर्ति अर्थात् नारायणके पहनने योग्य होता है, बलभद्र प्रतिनारायण आदि अन्य कोई कोई मनुष्य भी इसे पहन सकते हैं ॥ ५७ ॥ जो एकसौ आठ लडियोंसे बनाया गया हो उसे हार कहते हैं और जो मोतियोंकी इक्यासी लडियोंसे बनाया गया हो उसे देवच्छंद हार कहते हैं ॥५८॥ जिसमें चौसठि लडियां हों वह अर्द्धहार कहलाता है, जिसमें चौवन लडियां हों उसका नाम रश्मिकलाप है तथा जिसमें बत्तीस लडियां हो उसे गुच्छ कहते हैं ॥ ५९ ॥ सत्ताईस लडियोंके हारको नक्षत्रमाला अथवा नक्षत्रमालिका कहते हैं, यह नक्षत्रमाला हार अपने मोतियोंसे अश्विनी भरणी आदि नक्षत्रोंकी माला अर्थात् समूहकी ओर भी हंसता हुआ जान पडता है ॥ ६० ॥ चौवीस लडियोंके हारको अर्द्धगुच्छ, वीस लडियोंके हारको माणव और मोतियोंकी दश लडियोंके हारको अर्द्धमाणव कहते हैं ॥ ६१ ॥

णवाख्या विभूषा. स्युस्तत्पदोपपदास्तदा ॥ ६२ ॥ य एकशीर्षकः शुद्धहारः स्याच्छीर्षकात्परः । इंद्रच्छंदाद्युपपदः स चैकादशभेदभाक् ॥ ६३ ॥ तथोपशीर्षकादीनामपि शुद्धात्मना भिदा । तर्क्याः शुद्धास्ततो हाराः पंचपंचाशदेव हि ॥ ६४ ॥ भवेत्फलकहाराख्यो मणिमध्योर्द्धमाणवः । त्रिहेमफलकः पंचफलको वा यदा तदा ॥ ६५ ॥ सोपानमणिसोपानद्वैविध्यात्स मतो द्विधा । सोपानाख्यस्तु फलकै रौक्मैरन्यः सरत्नकैः ॥ ६६ ॥ इत्यमूनि युगारंभे कठोरोभूषणानि वै । स्रष्टासृजत्स्वपुत्रेभ्यो यथास्वं ते च तान्यधुः ॥ ६७ ॥ इत्याद्याभरणैः कंठ्यैरन्यैश्चान्यत्रभाविभिः । ते राजन्या व्यराजंत

यदि इन्हीं इंद्रछंद आदि हारोंकी लडियोंके मध्यभागमें मणि पिरोया हो तो फिर उन नामोंके अंतमें माणव शब्द और सुशोभित हो जाता है अर्थात् इंद्रछंदमाणव, विजयछंदमाणव, हारमाणव, देवछंदमाणव आदि कहलाते हैं ॥ ६२ ॥ जो एकशीर्षक हार है वह शुद्धहार कहलाता है । शीर्षकके साथ २ यदि इंद्रछंद आदि उपपद लगा दिये जायं तो शीर्षकके भी ग्यारह भेद हो जाते हैं ॥ ६३ ॥ जिसप्रकार शीर्षकके ग्यारह भेद होते हैं उसीप्रकार उपशीर्षक प्रकांडक आदि पांचों ही शुद्ध हारोंके इंद्रछंद आदि उपपद लगानेसे प्रत्येकके ग्यारह ग्यारह भेद होते हैं, इसप्रकार शुद्ध हारोंके सब पचपन भेद होते हैं । इंद्रछंद शीर्षक विजयछंदशीर्षक आदि ग्यारह शीर्षक, ग्यारह उपशीर्षक, ग्यारह अवघाटक, ग्यारह प्रकांडक और ग्यारह तरलप्रपंच, इसप्रकार सब पचपन भेद होते हैं ॥ ६४ ॥ दश लडियोंका जो अर्द्धमाणव हार होता है यदि उसकी लडियोंके मध्यभागमें मणि पिरोया हो तो फिर उसे फलक हार कहते हैं, उसी फलकहारमें सोनेके तीन फलक और पांच फलक लगे रहनेसे उसके दो भेद हो जाते हैं, जिसमें तीन फलक हों उसे सोपान कहते हैं और जिसमें पांच फलक हों उसे मणिसोपान कहते हैं, इन दोनोंमें भी इतना अंतर है कि सोपान नामके हारमें सोनेके फलक रहते हैं और मणिसोपान हारमें रत्नजडित सुवर्णके फलक होते हैं, (सुवर्णके बने हुये गोल दानेको फलक कहते हैं) ॥ ६५-६६ ॥ इसप्रकार कर्मभूमिके प्रारंभमें भगवान् वृषभदेवने अपने पुत्रोंकेलिये कंठ और वक्षःस्थलपर पहनने योग्य अनेक प्रकार-

ज्योतिर्गणमया इव ॥ ६८ ॥ तेषु तेजस्विनां धुर्यो भरतोऽर्क इवाद्युतत् । शशीव जगतः कांतो युवा बाहुबली बभौ ॥ ६९ ॥ शेषाश्च ग्रहनक्षत्रताराणनिभा बभुः । ब्राम्ही दीप्तिरिवैतेषामभूज्ज्योत्स्नेव सुंदरी ॥ ७० ॥ स तैः परिवृतः पुत्रैर्भगवान्वृषभो बभौ । ज्योतिर्गणैः परिक्षिप्तो यथा मेरुर्महोदयः ॥ ७१ ॥ अथैकदा सुखासीनो भगवान् हरिविष्टरे । मनो व्यापारयामास कलाविद्योपदेशने ॥ ७२ ॥ तावच्च पुत्रिके भर्त्तुर्ब्राह्मीसुंदर्यभिष्टवे । धृतमगलनेपथ्ये संप्राप्ते निकटं गुरोः ॥ ७३ ॥ ते च किंचिदिवोद्भिन्नस्तनकुड्मलशोभिनि । वयस्यनंतरे बाल्याद्वर्त्तमाने मनोहरे ॥ ७४ ॥ मेधावि-

---

के आभूषण निर्माण किये और उन पुत्रोंने भी अपने-अपने योग्य वे सब आभूषण पहिने ॥ ६७ ॥ कंठमें पहनेहुये हारोंसे तथा हाथ पैर आदि अन्य स्थानोंमें भी पहने हुये कडे आदि अनेक आभूषणोंसे वे राजकुमार ऐसे सुशोभित होते थे मानों ज्योतिषी जातिके देवोंके विमानोंका समूह हो ॥ ६८ ॥ उन सब राजपुत्रोंमें तेजस्वियोंमें भी अतिशय तेजस्वी ऐसा भरत सूर्यके समान सुशोभित होता था और संसारको मनोहर दिखनेवाला ऐसा युवा बाहुबली चंद्रमाके समान सुंदर जान पडता था ॥ ६९ ॥ तथा अन्य सब राजपुत्र ग्रह नक्षत्र और ताराओंके समान सुशोभित होते थे, उन सब राजपुत्रोंमें ब्राह्मी कांतिके समान और सुंदरी चांदनीके समान मनोहर दिखाई पडती थी ॥ ७० ॥ जिसप्रकार सूर्य चंद्रमा ग्रह नक्षत्र तारा आदि ज्योतिर्मंडलसे घिरा हुआ अतिशय ऊंचा मेरुपर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार अपने पुत्रोंके मध्यभागमें अतिशय उन्नत भगवान् वृषभदेव भी सुशोभित होते थे ॥ ७१ ॥

अथानंतर—किसी एकदिन भगवान् वृषभदेव बडे सुखसे सिंहासनपर बैठे हुये थे कि अकस्मात् उनका चित्त कला और विद्याओंके उपदेश देनेकेलिये उन्हें प्रेरणा करने लगा ॥ ७२ ॥ जिससमय वे यह ऊपर लिखा हुआ विचार कर रहे थे उसीसमय दैवयोगसे ब्राह्मी और सुंदरी नामकी उनकी पुत्री भी मंगलाभूषण पहनकर उनके समीप आईं थीं ॥ ७३ ॥ उससमय वे दोनों ही कन्यायें कुछ कुछ उठे हुये स्तनरूपी कलियोंसे सुशोभित हो रहीं थीं, उन्होंने बाल्यावस्था व्यतीतकर किशोर अवस्थामें पांव र-

न्यौ विनीते च सुशीले चारुलक्षणे । रूपवत्यौ यशस्विन्यौ श्लाघ्ये मानवतीजनैः ॥ ७५ ॥ आधिक्षोणिपदन्यासैर्हंसीगतिविडंबिभिः । रक्तांबुजोपहारस्य तन्वाने परितः श्रिय ॥ ७६ ॥ नखदर्पणसंक्रांतस्वागच्छायापदेशतः । कात्या न्यक्कृतादिक्कन्याः पद्भ्या कष्टुमिवोद्यते ॥ ७७ ॥ सलीलपदविन्यासरणन्नूपुरनिक्वणैः । शिक्षयंत्याविवाहूय हंसीःस्वं गतिविभ्रमं ॥७८॥ चारूरू रुचिमज्जंवे तत्कातिमतिरेकिणीं । जनानां दक्पथे स्वैरं विक्षिपंत्याविवाभितः ॥ ७९ ॥ दधाने जघनाभोगं काचीतूर्यरवांचितं । सौभाग्यदेवतावासमिवाशुकवितानकं ॥ ८० ॥ लावण्यदेवता यष्टुमनंगाध्वर्युणा कृतं । होमकुंडमि-

रखा था और इसलिये ही वे बडी मनोहर दिखाई पडती थीं ॥ ७४ ॥ वे दोनों ही पुत्रियां बुद्धिमती थीं, विनयशालिनी थीं, उनका स्वभाव भी बहुत अच्छा था, मत्स्य कमल आदि शरीरके बाह्य चिन्ह और भक्ति आदि अंतरंग चिन्ह भी सुंदर थे, वे बडी रूपवती थीं, उनका यश भी खूब फैल रहा था और अभिमानिनी स्त्रियां भी उनकी प्रशंसा करती थीं ॥ ७५ ॥ हंसिनीकी चालको भी लज्जित करनेवाली अपनी सुंदर चालसे जिससमय वे पृथ्वीपर पैर रखती हुई चलती थीं उससमय वे चारोंओर लाल कमलोंकी रचनाकी शोभा बढातीं थीं ॥ ७६ ॥ उनके पैरोंके नखरूपी दर्पणमें जो उन्हींके शरीरका प्रतिबिंब पडता था उससे वे ऐसी जान पडती थीं मानों उस प्रतिबिंबके बहानेसे वे अपनी कांतिसे तिरस्कृत हुई दिक्कुमारियोंको अपने पैरोंसे ऊपर खींचनेकेलिये ही तैयार हुई हों ॥ ७७ ॥ जिससमय वे लीलाके साथ पैर रखती हुई चलती थीं उससमय रुण झुण शब्द करते हुये उनके नूपुरोंसे (बिछुओंसे) जो मधुर शब्द होता था उससे वे ऐसी जान पडती थीं मानो हंसिनियोंको बुलाकर उन्हें अपनी चालका सुंदर विलास ही सिखला रहीं हों ॥ ७८ ॥ उनके ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बडे ही सुंदर थे और उनकी जंघायें भी बहुत मनोहर थीं । उन दोनोंसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों ऊरू और जंघाकी बहुत बढी हुई कांतिको लोगोंकी आंखोंके सामने चारोंओर वे स्वयं फेंक रहीं हों ॥ ७९ ॥ करधनी और अधोवस्त्र (धोती) से सुशोभित उनका विस्तृत जघन ऐसा अच्छा जान पडता था मानों करध-

वानिम्नं दधत्यौ नाभिमंडलं ॥ ८१ ॥ वहंत्यौ किंचिदुद्भूतश्यामिकां रोमराजिकां । मनोभवगृहावेशधूपधूमशिखामिव ॥ ८२ ॥ तनुमध्ये कृशोदर्यौ-वारक्तकरपल्लवे । मृदुबाहुलते किंचिदुद्भिन्नकुचकुड्मले ॥ ८३ ॥ दधाने रुचिरं हारमाक्रांतस्तनमंडलं । तदाश्लेषसुखासंगात्स्मयमानमिवांशुभिः ॥८४॥ सुकंठ्यौ कोकिलालापनिर्हारिमधुरस्वरे । ताम्राधरे दरोद्भिन्नस्मितांशुरुचिराननेे ॥ ८५ ॥ सुदंत्यौ ललितापांगवीक्षिते सान्द्रपक्ष्मणी । मदनस्येव जैत्रास्त्रे

नीमें लगी हुई क्षुद्रघंटिका (छोटी २ घंटी) रूप तुरईके बाजेसे पूज्य ऐसा धोतीका चंदोवा जिसपर टंगा हुआ है ऐसा सौभाग्यरूप देवताके निवास करनेका तंबू ही हो ॥८०॥ उनका आतिशय गहरा नाभिमंडल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कामदेवरूपी पूजा करनेवाले यजमानने लावण्यरूपी देवताकी पूजा करनेकेलिये होम करनेका कुंड बनाया हो ॥८१॥ जिसकी श्यामता (कालापन) कुछ कुछ प्रगट हो रही है ऐसी उसकी रोमावली ऐसी जान पडती थी मानों जिससमय कामदेवने अपने घरमें प्रवेश किया था उससमयकी खेई हुई धूपसे उठी हुई धूमकी शिखा ही हो ॥ ८२ ॥ उन दोनों कन्याओंके शरीरका मध्यभाग बहुत ही कृश (सूक्ष्म) था, उदर भी कृश था, हाथरूपी पल्लव कुछ २ लाल थे, भुजारूप लतायें कोमल थीं और स्तनरूप कलियां कुछ कुछ उठ रहीं थीं ॥ ८३ ॥ उनके वक्षःस्थलपर स्तनमंडलको आक्रमण करते हुये सफेद सुंदर हार पडे हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों कुचोंके आलिंगन करनेसे उन्हें जो कुछ सुखकी प्राप्ति हुई थी उसके निमित्तसे अपनी किरणोंके द्वारा मंद मंद रीतिसे हंस रहे ही हों ॥ ८४ ॥ उनके कंठ बडे ही सुंदर थे, उनकी वाणी कोयलोंकी वाणीके समान मनोहर और मधुर थी, ओठ कुछ कुछ लाल थे और मुख कुछ कुछ प्रफुल्लित थे तथा मंदहास्यकी किरणोंसे बहुत ही सुंदर दिखाई दे रहे थे ॥ ८५ ॥ उनके दांत भी बहुत सुंदर थे, कटाक्षोंके द्वारा देखना भी सुंदर था, बिरूनी (पलकपरके बाल) बहुत सघन थीं और नेत्ररूपी कमल कामदेवके विजय करनेवाले अस्त्रके समान मनोहर थे ॥ ८६ ॥ उनके कपोल बडे ही दैदीप्यमान और उज्ज्वल थे इस·

दधाने नयनोत्पले ॥ ८६ ॥ लसत्कपोलसंक्रांतैरलकप्रतिबिंबकैः । न्हेपयंत्याविभिव्यक्तलक्ष्मणः शशिनः श्रियं ॥ ८७ ॥ समाल्यं कबरीभारं धारयंत्यौ तरंगितं । स्वातःसंक्रांतगांगौघं प्रवाहमिव यामुनं ॥ ८८ ॥ इति प्रत्यगसगिन्या काल्या कांततमाकृती । सौंदर्यस्येव संदोहमेकीकृत्य विनिर्मिते ॥८९॥ किमेते दिव्यकन्ये स्ता किंतु कन्ये फणीशिनां । दिक्कन्ये किमुत स्याता किं वा सौभाग्यदेवते ॥ ९० ॥ किमिमे श्रीसरस्वत्यौ किं वा तदधिदेवते । किं स्यात्तद्वतारोयमेवंरूपः प्रतीयते ॥ ९१ ॥ लक्ष्म्याविमे जगन्नाथमहावार्द्धेः किमुद्गते । कल्याणभागिनी च स्यादनयोरियमाकृतिः ॥ ९२ ॥ इति सं-

---

लिये उनमें केशपाशोंका प्रतिबिंब पड रहा था, उन कपोलोंमें पडते हुये केशपाशके प्रतिबिंबसे वे दोनों कन्यायें ऐसी जान पडती थीं मानों जिसमें कलंक प्रगट दिखाई दे रहा है ऐसे चंद्रमाकी शोभाको ही लज्जित कर रही हों ॥ ८७ ॥ उनके काले केशापशोंमें सफेद पुष्पमालायें गुंथी हुई थीं जिससे वह केशपाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों तरंगो सहित गंगाके पानीसे मिला हुआ जमुना नदीका प्रवाह ही हो ॥ ८८ ॥ इसप्रकार शरीरके प्रत्येक अंगमें रहनेवाली कांतिसे वे दोनों ही कन्यायें बडी ही सुंदर थीं और ऐसी जान पड़ती थीं मानों सुंदरताके समूहको एक जगह इकठा करके उससे ही वे दोनों बनाई गई हों ॥ ८९ ॥ उन्हें देखकर लोग आश्चर्यके साथ उनकी प्रशंसा करते थे कि क्या ये दोनों दिव्य कन्यायें हैं, अथवा नागकन्यायें हैं, किंवा दिक्कन्यायें हैं, अथवा कोई सौभाग्यदेवी हैं, अथवा ये दोनों लक्ष्मी और सरस्वती देवी हैं, अथवा लक्ष्मी और सरस्वतीके भी आराधन करने योग्य देवता हैं, अथवा यह ऐसा सुंदर लक्ष्मी और सरस्वतीके आराधन करने योग्य देवताका अवतार ही है, अथवा क्या जगन्नाथ भगवान् वृषभदेव रूपी महासागरसे उत्पन्न हुई ये दोनों लक्ष्मी ही हैं, क्योंकि इन दोनों की यह आकृति बहुत ही सुंदर और कल्याणोंका अनुभव करनेवाली है। इसप्रकार देखनेवाले लोग बडे आश्चर्यसे जिनकी प्रशंसा करते हैं ऐसी वे दोनों ही कन्यायें बडी विनयके साथ भगवान्‌के समीप आईं और आकर उन्हें नमस्कार किया ॥ ९०-९१-९२-९३ ॥ जिनका मस्तक दूरसे ही नम्रीभूत हो रहा

श्लाघ्यमाने ते जनैरुत्पन्नविस्मयैः । सप्रश्रयमुपाश्रित्य जगन्नाथं प्रणेमतुः ॥ ९३ ॥ प्रणते ते समुत्थाप्य दूरान्नमितमस्तके । प्रीत्या स्वमंकमारोप्य स्पृष्ट्वाघ्राय च मस्तके ॥ ९४ ॥ सप्रहासमुवाचैवमेतं मन्ये सुरैः समं । यास्यथोद्यामगोद्यानं नैत्रमेते गताः सुराः ॥ ९५ ॥ इत्याक्रीड्य क्षणं भूयोप्येवमाख्यद्गिरापतिः । युवां युवजरत्यौ स्थः शीलेन विनयेन च ॥ ९६ ॥ इदं वपुर्वयश्चेदमिदं शीलमनीदृशं । विद्यया चेद्विभूष्येत सफलं जन्म वामिद ॥९७॥ विद्यावान्पुरुषो लोके सम्मतिं याति कोविदैः । नारी च तद्वती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमं पदं ॥९८॥ विद्या यशस्करी पुंसां विद्या श्रेयस्करी मता । सम्यगा-

---

है ऐसी प्रणाम करती हुई उन दोनों कन्याओंको उठाकर भगवान्‌ने बडे प्रेमसे अपनी गोदीमें बिठाया तथा उनपर हाथ फेर कर उनका मस्तक सूंघा और हंसते हुये उनसे कहने लगे कि आओ, तुम दोनों यह समझती होंगीं कि हम देवोंके साथ अमरवनको जायंगी परंतु तुम दोनों अब नहीं जा सकोंगीं क्योंकि देव लोग पहिले ही चले गये। भावार्थ–यह हंसीका वाक्य है भगवान् उन कन्याओंसे कहते हैं कि जिसप्रकार देवलोग अमरवन अर्थात् मोक्षको नहीं जा सकते उसीप्रकार तुम दोनों भी मोक्ष नहीं जा सकोंगी (यहां व्याकरणके नियमके अनुसार हंसीके वाक्योंका प्रयोग होनेसे 'मन्ये' यहां मध्यम पुरुषकी जगह उत्तम पुरुष और एक बचन हो गया है और 'यास्यथः' यहां उत्तम पुरुषकी जगह मध्यम पुरुष हो गया है) ॥ ९४-९५ ॥ इसप्रकार भगवान् वृषभदेवने क्षणभर उन दोनों कन्याओंके साथ क्रीडा की और फिर कहने लगे कि तुम दोनों किशोर अवस्थामें भी शील और विनय आदि गुणोंसे वृद्धाके समान हो ॥ ९६ ॥ तुम्हारा यह शरीर, यह अवस्था और यह अनुपम शील यदि विद्यासे विभूषित किया जाय तो तुम दोनोंका जन्म सफल हो सकता है ॥ ९७ ॥ इससंसारमें विद्यावान् पुरुष पंडितोंके द्वारा भी मान्य गिना जाता है और यदि स्त्री पढी लिखी विद्यावती हो तो वह सब स्त्रियोंमें प्रधान स्त्री गिनी जाती है ॥९८॥ मनुष्योंको यश देनेवाली विद्या है, विद्या ही समस्त कल्याण करने वाली है, यदि विद्यारूपी देवताका अच्छीतरह आराधन किया जाय तो वह अनेक इष्ट पदार्थोंको देती है

राधिता विद्यादेवता कामदायिनी ॥९९॥ विद्या कामदुघा धेनुर्विद्या चिंतामणिर्नृणां। त्रिवर्गफलिता सूते विद्या संपत्परंपरां ॥१००॥ विद्या बंधुश्च मित्रं च विद्या कल्याणकारकं। सहयायि धनं विद्या विद्या सर्वार्थसाधनी ॥ १०१ ॥ तद्विद्याग्रहणे यत्नं पुत्रिके कुरुतं युवां। तत्संग्रहणकालोयं युवयोर्वर्त्ततेधुना ॥ १०२ ॥ इत्युक्त्वा मुहुराशास्य विस्तीर्णे हेमपट्टके। अधिवास्य स्वचित्तस्थां श्रुतदेवीं सपर्यया ॥ १०३ ॥ विभुः करद्वयेनाभ्यां लिखन्नक्षरमालिकां। उपादिशल्लिपिं संख्याज्ञानं चांकैरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥ ततो भगवतो वक्त्रान्निःसृतामक्षरावलीं। सिद्धं नम इति व्यक्तमंगलां सिद्धमातृका ॥ १०५ ॥ अकारादिहकारांता शुद्धां मुक्तावलीमिव। स्वरव्यंजनभेदेन द्विधा भेदमुपेयुषीं ॥ १०६ ॥ अयोगवाहपर्यंता सर्वविद्यासु संगतां।

॥९९॥ मनुष्योंको इच्छानुसार पदार्थ देनेके लिये विद्या कामधेनुके समान है, अथवा विद्या ही चिंतामणी के समान है, धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंको उत्पन्न करनेवाली अनेक संपदाओंकी उत्पत्ति केवल विद्यासे ही होती है ॥ १०० ॥ संसारमें विद्या ही बंधु है, विद्या ही मित्र है, विद्या ही कल्याण करनेवाली है, विद्या ही सहायक धन है, और विद्या ही समस्त पदार्थोंको तथा मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली है ॥ १०१ ॥ इसलिये हे पुत्रियो! तुम भी विद्या ग्रहण करनेका प्रयत्न करो, तुम दोनोंके विद्या ग्रहण करनेका यही समय है ॥ १०२ ॥ भगवान वृषभदेवने इसप्रकार कहकर तथा बार बार उन्हें आश्वासन देकर विशाल सुवर्णके पट्टेपर अपने चित्तमें विराजमान श्रुतदेवताको पूजनकर स्थापन किया और फिर दोनों हाथोंसे अ,आ, इ,ई आदि अक्षरमालिका लिखी तथा अनुक्रमसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा संख्याका ज्ञान कराया इसप्रकार भगवानने उन दोनों पुत्रियोंको लिखनेका उपदेश दिया। भावार्थ—भगवानने दायें हाथसे अकारादि अक्षर लिखे और बायें हाथसे इकाई दहाई आदि अंकोंके द्वारा संख्या लिखी ॥ १०३-१०४ ॥ तदनंतर भगवान् वृषभदेवके मुखसे निकली हुई तथा जिसमें सिद्धं नमः ऐसा प्रगट रीतिसे मंगलाचरण किया गया है अर्थात् जिसमें प्रथम ही सिद्धं नमः ऐसा उच्चारण किया गया है, जिसका नाम सिद्धमातृका अर्थात् समस्त शास्त्रोंको उत्पन्न करनेवाली है,

संयोगाक्षरसंभूतिं नैकबीजाक्षरैश्चितां ॥ १०७ ॥ समवादीधरत् ब्राह्मी मेधाविन्यतिसुंदरी । सुंदरी गणितं स्थानक्रमैः सम्यगधारयत् ॥ १०८ ॥ न विना वाङ्मयात्किंचिदस्ति शास्त्रं कलापि वा । ततो वाङ्मयमेवादौ वेधास्ताभ्यामुपादिशत् ॥ १०९ ॥ सुमेधसावसम्मोहादध्येषातां गुरोर्मुखात् । वाग्देव्याविव निःशेषं वाङ्मयं प्रथतोर्थतः ॥ ११० ॥ पदविद्यामधिछंदोविचितिं वागलंकृतिं । त्रयीं समुदितामेता तद्विदो वाङ्मयं विदुः ॥ १११ ॥ तदा स्वायंभुवं नाम पदशास्त्रमभून्महत् । यत्तत्परःशताध्यायैरतिगंभीरमब्धिवत् ॥ ११२ ॥ छंदोविचितिमप्येवं नानाध्यायैरुपादिशत् । उक्तात्युक्ता-

---

स्वर और व्यंजनके भेदसे जिसके दो भेद होते हैं और जो समस्त विद्याओंमें पाई जाती है ऐसी अकारसे लेकर हकार पर्यंत तथा विसर्ग, अनुसार, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय इन अयोगवाह पर्यंत समस्त शुद्ध अक्षरावली अर्थात् अक्षरोंके समूहको मुक्तावली अर्थात् मोतियोंकी मालाके समान अतिशय बुद्धिमती ब्राह्मी देवीने धारण किया इसके सिवाय उसने दो तीन आदि अनेक अक्षरोंसे बने हुये क्क, ष्णि आदि संयोगाक्षरोंका उच्चारण भी सीखा और अतिशय सुंदरी ऐसी सुंदरी देवीने इकाई दहाई आदि स्थानोंके अनुक्रमसे गणितशास्त्रको अच्छीतरह सीखा ॥ १०५-१०६ १०७- १०८ ॥ वाङ्मय अर्थात् व्याकरण छंद और अलंकार शास्त्रके बिना न तो कोई शास्त्र है और न कोई कला है इसलिये आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने उन दोनों कन्याओंके लिये सबसे पहिले वाग्मय अर्थात् व्याकरण छंद और अलंकार शास्त्र पढाया ॥ १०९ ॥ अतिशय बुद्धिमती उन दोनों कन्याओंने सरस्वती देवीके समान भगवान् वृषभदेवके मुखसे संशय विपर्यय आदि दोषोंसे रहित शब्दरूप तथा अर्थरूप समस्त वाग्मय पढा ॥११०॥ वाग्मयके जाननेवाले गणधरादि देव व्याकरणशास्त्र, मात्राछंद वर्णछंद आदि छंदोंकी रचना तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार आदि अलंकारशास्त्र इन तीनोंके समुदायको वाग्मय कहते हैं ॥ १११ ॥ उससमय स्वयंभू अर्थात् भगवान् वृषभदेवका बनाया हुआ स्वायंभुव नामका व्याकरणशास्त्र प्रसिद्ध हुआ था, उस व्याकरणशास्त्रमें सौसे भी अधिक अध्याय थे, इसलिये वह समुद्रके समान अत्यंत गंभीर था ॥११२॥

दिभेदाश्च षड्विंशतिमदीदृशत् ॥ ११३ ॥ प्रस्तार नष्टमुद्दिष्टमेकाद्वित्रिलघुक्रिया । संख्यामथाध्वयोगं च व्याजहार गिरापतिः ॥ ११४ ॥ उपमादीनलकारांस्तन्मार्गद्वयविस्तरं । दशप्राणानलंकारसंग्रहे विभुरभ्यधात् ॥ ११५ ॥ अथैनयोः पदज्ञानदीपिकाभिः प्रकाशिताः । कला विद्याश्च निःशेषाः स्वयं परिणतिं ययुः ॥ ११६ ॥ इति ह्यधीतनिःशेषविद्ये ते गुर्वनुग्रहात् । वाग्देवतावताराय कन्ये पात्रत्वमीयतुः ॥ ११७ ॥ पुत्राणां च यथाम्नायं विनया-

भगवान् वृषभदेवने छंदशास्त्रकी रचनाका उपदेश भी अनेक अध्यायोंमें दिया था। उक्ता, अत्युक्ता, मध्या, प्रतिष्ठा, सुप्रतिष्ठा, गायत्री, उष्णिक, अनुष्टप्, वृहती पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती अतिजगती, शक्करी अतिशक्करी अष्टती, अष्टी, धृति, आतिधृति कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति और उत्कृति ये छंदशास्त्रके छव्वीस भेद भी दिखाये थे ॥ ११३ ॥ भगवान् वृषभदेवने प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट, एक द्वि त्रि लघुक्रिया संख्या और अध्वयोग ये वर्णमात्राके छंदोंके छह भेद छंदशास्त्रमें बतलाये ॥११४॥ भगवानने अलंकारशास्त्रमें यमक उपमा आदि शब्दालंकार तथा अर्थालंकारका उपदेश दिया तथा गौडी (जिसमें अनेक पदोंका समास हो) और वैदर्भी अर्थात् जिसमें समास न हो अथवा एक दो पदका समास हो इन दोनों रीतियोंको विस्तार रीतिसे बतलाया और औदार्य समता कांति आदि दश प्राण भी बतलाये ॥ ११५ ॥

अथानंतर—ब्राह्मी और सुंदरी दोनों पुत्रियोंको व्याकरणशास्त्र तथा और भी अनेक शास्त्ररूपी दीपकसे प्रकाशित हुई समस्त विद्यायें तथा समस्त कलायें अपने आप आगई थीं ॥ ११६ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवके अनुग्रहसे समस्त विद्याओंको पढकर वे दोनों कन्यायें सरस्वती देवीका अवतार लेने योग्य हो गई थीं । भावार्थ—उनमें सरस्वतीको प्रगट करनेकी योग्यता प्राप्त होगई थी ॥ ११७ ॥ जगत्गुरु भगवान वृषभदेवने त्रियोंको पढाने के बाद भरत आदि एकसौ एक पुत्रोंको भी विनय

दानपूर्वकं । शास्त्राणि व्याजहारैवमानुपूर्व्या जगद्गुरुः ॥ ११८ ॥ भरतायार्थशास्त्रं च भरतं च ससंग्रहं । अध्यायैरतिविस्तीर्णैः स्फुटीकृत्य जगौ गुरुः ॥ ११९ ॥ विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थसंग्रहं । गंधर्वशास्त्रमाचख्यौ यत्राध्यायाः परःशतं ॥ १२० ॥ अनंतविजयायाख्यद्विद्यां चित्रकलाश्रितां । नानाध्यायशताकीर्णां साकलाः सकलाः कलाः ॥ १२१ ॥ विश्वकर्ममतं चास्मै वास्तुविद्यामुपादिशत् । अध्यायविस्तरस्तत्र बहुभेदोवधारितः ॥१२२॥ कामनीतिमथ स्त्रीणां पुरुषाणां च लक्षणं । आयुर्वेदं धनुर्वेदं तंत्रं चाश्वेभगोचरं ॥१२३॥ तथा रत्नपरीक्षां च बाहुबल्याख्यसूनवे । व्याचख्यौ बहुधाम्नातैरध्यायैरतिविस्तृतैः ॥ १२४ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रं लोकोपकारि यत् । तत्सर्वमादिकर्त्तासौ स्वाः समन्वशिषत्प्रजाः ॥ १२५ ॥

पूर्वक अनुक्रमसे शास्त्रानुसार समस्त शास्त्र पढाये ॥ ११८ ॥ भगवानने अपने पुत्र भरतकेलिये बडे २ अनेक अध्यायोंसे विशद करके नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकरणोंके साथ नृत्य शास्त्र पढाया॥११९ उन्हीं भगवानने अपने पुत्र वृषभसेनके लिये जिसमें गाना बजाना आदि अनेक मनोहर पदार्थोंका संग्रह है और जिसमें सौ से भी अधिक अध्याय हैं ऐसा गंधर्वशास्त्र अर्थात् संगीतशास्त्र पढाया ॥१२०॥ अनन्तविजय पुत्रके लिये सैकडों अध्यायोंसे भरी हुई चित्रकला विद्या अर्थात् कलमके द्वारा रंगसे चित्र खींचना आदि सिखलाया, तथा सा अर्थात् लक्ष्मीसे वा अपनी २ शोभासे मनोहर ऐसी समस्त कलायें सिखलाईं ॥ १२१ ॥ उसी अनंतविजय पुत्रको सूत्रधारकी विद्या तथा मकान बनानेकी विद्या का उपदेश दिया अर्थात् उसे ऊपर लिखे हुये दोनों शास्त्र सिखलाये। जिसमें मकान बनानेकी विधि थी उस शास्त्रमें बहुतसे अध्याय थे और उसके भेद भी बहुत थे भगवानने वे सब उसे सिखलाये थे॥१२२॥ उन्हीं भगवाननें बाहुबली पुत्रकेलिये कामशास्त्र, स्त्रीपुरुषोंके लक्षण, वैद्यशास्त्र, धनुर्वेद अर्थात् धनुष चलानेकी विद्या, हाथी घोडा आदि जानवरोंके लक्षण जाननेके तंत्र और रत्नपरीक्षा आदि शास्त्र अनेक बडे बडे अध्यायोंके द्वारा बहुत बहुत तरहसे सिखलाये ॥ १२३-१२४ ॥ बहुत कहांतक कहा जाय संसारके उपकार करनेवाले जो जो शास्त्र थे वे सब भगवान वृषभदेवने अपने पुत्रोंको सिखलाये थे ॥ १२५ ॥ जि-

समुद्दीपितविद्यस्य काप्यासीद्दीप्तता विभोः । स्वभावभास्वरस्येव भास्वतः शरदागमे ॥ १२६ ॥ सुतैरधीतनिःशेषविद्यैरद्युतदीशिता । किरणैरिव तिग्मांशुरासादितशरद्द्युतिः ॥ १२७ ॥ पुत्रैरिष्टैः कलत्रैश्च वृतस्य भुवनेशिनः । महान्कालो व्यतीयाय दिव्यैर्भोगैरनारतैः ॥ १२८ ॥ ततः कुमारकालोऽस्य कलितो मुनिसत्तमैः । विंशतिः पूर्वलक्षाणां पूर्यते स्म महाधियः ॥ १२९ ॥ अत्रान्तरे महौषध्यो दीप्तौषध्यश्च पादपाः । सर्वौषधयः कालाज्जाताः प्रक्षीणशक्तिकाः ॥ १३० ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि यान्यासन् स्थितये नृणां । प्रायस्तान्यपि कालेन ययुर्विरलतां भुवि ॥ १३१ ॥ रसवीर्यविपाकैस्तैः प्रहीणाः पादपा यदा । तदातङ्कादिबाधाभिः प्रजा व्याकुलतां गताः ॥ १३२ ॥ तत्प्रहाणान्मनोवृत्तिं दधाना व्याकुलीकृता । नाभिराजमुपासेदुः प्रजा

न्होंने अपनी समस्त विद्यायें प्रकाशित करदी हैं ऐसे विभु भगवान वृषभदेवका तेज उससमय बहुत ही अधिक हो रहा था सो ठीक ही है सूर्य स्वभावसे ही प्रकाशमान है परंतु वह सरदऋतुमें और भी अधिक प्रकाशमान हो जाता है ॥१२६॥ जिसप्रकार शरदऋतुमें अधिक कांति पाकर सूर्य अपनी किरणोंसे देदीप्यमान होता है उसीप्रकार जिन्होंने समस्त विद्यायें पढली हैं ऐसे उन पुत्रोंसे भगवान वृषभदेव उस समय बहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२७॥ इष्ट पुत्र और इष्ट स्त्रियोंके साथ निरंतर अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंका अनुभव करते हुये भगवान वृषभदेवका बहुत बडा समय व्यतीत होगया था ॥ १२८ ॥ इतना सब भोगोपभोगोंका अनुभव कर लेनेके बाद अतिशय बुद्धिमान भगवान वृषभदेवका बीसलाख पूर्वका कुमारकाल व्यतीत हुआ था, ऐसा उत्तममुनि भगवान गणधरदेवने कहा है ॥ १२९ ॥ इतने लंबे समयमें कालके प्रभाव से कल्पवृक्ष सब नष्ट होगये थे और दीप्त औषधियां अर्थात् मंत्रसे उत्तेजित होनेवाली औषधियां तथा सोंठ मिरच आदि साधारण औषधियां सब शक्तिहीन होगई थीं ॥ १३० ॥ मनुष्योंके शरीरकी स्थितिके लिये जो बिना बोये अपने आप उगे हुये धान्य थे वे भी काल के प्रभाव से प्रायः पृथ्वीमें ही नष्ट होगये थे ॥१३१॥ जिस समय कल्पवृक्षोंमें से स्वाद, वीर्य और पित्तादि उत्पन्न करनेवाला उनका विपाक नष्ट हो गया था उस समय यहांकी प्रजा रोग

जीवितकाम्यया ॥ १३३ ॥ नाभिराजाज्ञया स्रष्टुस्ततोतिकमुपाययु. । प्रजाः प्रणतमूर्द्धानो जीवितोपायलिप्सया ॥ १३४ ॥ अथ विज्ञापयामासुरित्युपेत्य सनातन । प्रजाः प्रजातसंत्रासाः शरण्यं शरणाश्रिता. १३५ ॥ वाछन्यो जीविका देव त्वा वय शरणं श्रिता. । तन्नस्त्रायस्व लोकेश तदुपायप्रदर्शनात् ॥ १३६ ॥ विभो समूलमुच्छन्नाः पितृकल्पा महाघ्रिपाः । फलत्यकृष्टपच्यानि सस्यान्यपि च नाधुना ॥ १३७ ॥ क्षुत्पिपासादिबाधाश्च दुन्वत्यस्मान् समुत्थिताः । न क्षमाः क्षणमप्येकं प्राणितुं प्रोज्झिताशनाः ॥ १३८ ॥ शीतातपमहावातप्रवर्षोपप्लवश्च नः । निराश्रयान्दुनोत्यद्य ब्रूहि नस्तत्प्र-

---

आदि अनेक पीडाओंसे बहुत ही व्याकुल हो गई थी ॥ १३२ ॥ वृक्षोंका रस विपाक आदि नष्ट होने से सब प्रजाके चित्त व्याकुल होगये थे और व्याकुल हुई वह सब प्रजा अपने जीवित रहनेकी इच्छासे अर्थात् जीवित रहनेके उपाय पूछनेके लिये महाराज नाभिराजके समीप आई थी ॥१३३॥ महाराज नाभिराजने उस आई हुई प्रजाको भगवान वृषभदेवके समीप जानेकोलिये आज्ञा दी । उनकी आज्ञानुसार वह भगवानके समीप पहुंची और अपने जीवित रहनेके उपाय पूछनेकी इच्छासे उन्हें मस्तक नवाकर नमस्कार करने लगी ॥ १३४ ॥ तथा अन्नादिके नष्ट होनेसे भयभीत हुई और सबको शरण देनेवाले भगवानके शरणमें प्राप्त हुई वह प्रजा भगवानके समीप पहुंचकर उनसे निवेदन करने लगी कि ॥१३५॥ हे देव ! हम लोग जीविकाका उपाय पूछनेकी इच्छासे ही आपके शरणमें आये हुये हैं इसलिये हे तीन लोकके स्वामी जीविकाका उपाय दिखलाकर हम लोगोंकी रक्षा कीजिये ॥ १३६ ॥ हे प्रभो पिताके समान पालन करनेवाले कल्पवृक्ष सब मूल सहित नष्ट हो चुके हैं और विना बोये जो धान्य उगे थे वे भी अब नहीं फलते हैं अर्थात् उनसे अब धान्य उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १३७ ॥ हे देव ! अन्न पानी न मिलनेसे उत्पन्न हुई भूख प्यास आदि अनेक बाधायें हम लोगोंको पीडा दे रहीं हैं, अन्नपानीसे रहित हुये हमलोग अब एक क्षण भी नहीं जी सकते हैं ॥१३८॥ हे देव ! शीत आतप महावायु और वर्षा आदिका उपद्रव निराश्रय हमलोगोंको बहुत दुःख देते हैं इसलिये हे नाथ अब इन सबके दूर करनेका उपाय ब-

तिक्रिया ॥ १३९ ॥ त्वां देवमादिकर्त्तारं कल्पाघ्रिपमिवोन्नतं । समाश्रिताः कथं भीतेः पदं स्याम वयं विभो ॥ १४० ॥ ततोस्माकं यथाद्य स्याज्जीवि-का निरुपद्रवा । तथोपदेष्टुमुद्योगं कुरु देव प्रसीद नः ॥ १४१ ॥ श्रुत्वेति तद्वचो दीन करुणाप्रेरिताशयः । मनः प्रणिदधावेवं भगवानादिपूरुषः ॥ १४२ ॥ पूर्वापरविदेहेषु या स्थितिः समवस्थिता । साद्य प्रवर्त्तनीयात्र ततो जीवंत्यमूः प्रजा ॥ १४३ ॥ षट्कर्माणि यथा तत्र यथा वर्णाश्रम-स्थितिः । यथा ग्रामगृहादीनां संस्त्यायाश्च पृथग्विधाः ॥ १४४ ॥ तथात्राप्युचिता वृत्तिरुपायैरेभिरंगिनां । नोपायांतरमस्त्येषां प्राणिनां जीविका प्र-ति ॥ १४५ ॥ कर्मभूरद्य जातेयं व्यतीतौ कल्पभूरुहा । ततोत्र कर्मभिः षड्भिः प्रजानां जीविकोचिता ॥ १४६ ॥ इत्याकलय्य तत्क्षेमवृत्युपायं

तलाइये ॥ १३९ ॥ हे विभो आप इस जगतके (कर्मभूमिके) आदि कर्ता हैं और कल्पवृक्षके समान उन्नत हैं। आप ऐसे देवके आश्रित होकर भी हम लोग भयके स्थानको क्यों प्राप्त हों? ॥ १४० ॥ इसलिये हे देव ! हम लोगोंपर आप प्रसन्न हूजिये और जिसतरह हम लोगोंकी आजीविका उपद्रवरहित हो जाय उसीप्रकार हम लोगोंको उपदेश देनेका प्रयत्न कीजिये ॥ १४१ ॥ इसप्रकार उन लोगोंके दीन बचन सुनकर जिनके हृदयमें करुणाका जोष उत्पन्न हो आया है ऐसे आदि पुरुष भगवान् वृषभदेव अपने मनमें विचार करने लगे कि ॥ १४२ ॥ पूर्वविदेह और पश्चिमविदेहमें जो स्थिति वर्तमान है वही स्थिति आज यहां भी होनी चाहिये। उसी स्थितीसे यह प्रजा जीवित रह सकती है ॥ १४३ ॥ विदेहक्षेत्रमें जिसप्रकार असि मसि कृषि आदि छह कर्म जीविकाके उपाय हैं जैसी वर्णाश्रमकी स्थिति है और जैसी अलग अलग गांव घर आदिकोंकी रचना है, उसीप्रकारके छह कर्म, वैसी ही वर्णाश्रमकी स्थिति और वैसी ही अलग २ घर गांव नगर आदिकी रचना यहां भरतक्षेत्रमें भी होनी चाहिये इन्हीं उपायोंसे जीवोंकी आजीविका चल सकती है, इन मनुष्योंकी जीविकाकेलिये अन्य दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ १४४-१४५ ॥ कल्पवृक्षोंके नष्ट हो जानेसे अब यहां यह कर्मभूमि प्रगट हुई है, इसलिये अब मनुष्योंको असि मसि आदि छह कर्मोंके द्वारा ही आजीविका करना योग्य है ॥ १४६ ॥ इसप्रकार भ-

क्षणं विभुः । मुहुराश्वासयामास मा भैष्टीति तदा प्रजाः १४७ ॥ अथानुध्यानमात्रेण विभोः शक्रः सहामरैः । प्राप्तस्तज्जीवनोपायानित्यकार्षीद्विभागतः ॥ १४८ ॥ शुभे दिने सुनक्षत्रे सुमुहूर्ते शुभोदये । स्वोच्चस्थेषु ग्रहेषूच्चैरानुकूल्ये जगद्गुरोः ॥ १४९ ॥ कृतप्रथममागल्ये सुरेंद्रो जिनमंदिरं । न्यवेशयत्पुरस्यास्य मध्ये दिक्ष्वप्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥ कोशलादीन्महादेशान् साकेतादिपुराणि च । सारामसीमनिगमान् खेटादींश्च न्यवेशयत् ॥ १५१ ॥ देशाः सुकोशलावंतीपुंड्रोड्राश्मकरम्यकाः । कुरुकाशीकलिंगाङ्गवङ्गसुह्माः समुद्रकाः ॥ १५२ ॥ काश्मीरोशीनरानर्त्तवत्सपंचालमालवाः । दशार्णाः कच्छमगधा विदर्भा कुरुजीगल ॥ १५३ ॥ करहाटमहाराष्ट्रसुराष्ट्राभीरकोंकणाः । वनवासांध्रकर्णाटकोशलाश्चोलकेरलाः ॥ १५४ ॥ दार्वाभिसारसौवीर-

---

गवान वृषभदेवने क्षणभर प्रजाके कल्याण करनेवाली आजीविकाका उपाय सोचा और फिर प्रजाको बार २ आश्वासन देते हुये उससे कहने लगे कि तुम किसीप्रकारका भय मत करो ॥ १४७ ॥ तदनंतर भयवानके स्मरण करनेमात्रसे देवोंके साथ इंद्र आया और उसने नीचे लिखे अनुसार भिन्नभिन्न प्रजाके आजीविकाके उपायोंकी रचना की ॥ १४८ ॥ प्रथम ही जिस दिन शुभदिन था, शुभ नक्षत्र था, शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी सूर्यादि ग्रह सब उच्च दशामें पडे हुये थे और जगत्गुरु भगवान् वृषभदेवके लिये सबतरह अनुकूलता थी उसदिन इंद्रने प्रथम ही मांगलिक क्रिया की और फिर इस अयोध्याके मध्यभागमें जिनमंदिरकी रचना की तथा इसीप्रकार पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर इन दिशाओंमें भी अनुक्रमसे जिनमंदिरोंकी रचना की ॥ १४९-१५० ॥ तदनंतर इंद्रने कौशल आदि महादेश अयोध्या आदि महानगर बन उपवन और सीमासहित नगर तथा गांव आदिकोंकी रचना की ॥ १५१ ॥ सुकौशल, अवंती, पुंड्र, उंड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, बंग, सुह्म, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, बनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, सूरसेन, अपरांत, विदेह, सिंधु, गांधार, यवन, चेदि, पल्लव, कांबोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय इन बावन देशों-

शूरसेनापरातकाः । विदेहसिंधुगांधारयवनाश्चेदिपल्लवा ॥ १५५ ॥ काबोजारट्टबाल्हीकतुरुष्कशककेकयाः । निवेशितास्तथान्येपि विभक्ता विषयास्तदा ॥ १५६ ॥ अदेवमातृका. केचिद्विषया देवमातृका. । परे साधारणाः केचिद्यथास्वं ते निवेशिताः ॥ १५७ ॥ अभूतपूर्वैरुद्भूतैर्भूरभात्तैर्जनास्पदैः । दिवःखंडैरिवायातैः कौतुकाद्धरणीतल ॥ १५८ ॥ देशैः साधारणानूपजागलैस्तैस्तता मही । रेजे रजतभूभर्तुराराद्‌ा च पयोनिधेः १५९ ॥ तदतेष्वंतपालाना दुर्गाणि परितोभवन् । स्थानानि लोकपालानामिव स्वर्धामसीमसु ॥ १६० ॥ तदंतरालदेशाश्च बभूवुरनुरक्षिताः । लुब्धकारण्यचरटपुलिंदशब-

---

की रचना की तथा इनके सिवाय उससमय और भी अनेक देशोंका विभाग किया ॥ १५२-१५३-१५४-१५५-१५६ ॥ इंद्रने उन देशोंमेसे कितने ही देश तो नदीसे सींचनेवाले अदेवमातृक अर्थात् नदीमातृक और कितने ही देश वर्षासे सींचनेवाले देवमातृक और कितने ही वर्षा नदी दोनोंसे सींचनेवाले साधारण देश निर्माण किये थे ॥ १५७ ॥ जो पहिले नहीं थे नवीन ही प्रगट हुये थे ऐसे उन देशोंसे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों लीलामात्रसे पृथ्वीको देखनेकेलिये स्वर्गके टुकडे ही आये हों ॥ १५८ ॥ विजयार्द्ध पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यंत कितने ही तो बहुत जलसे भरे हुये अनूप जातिके देश थे और कितने ही ऐसे देश थे जिनमें जल बहुत दुर्लभ था। इन दोनों प्रकारके देशोंसे व्याप्त हुई वह पृथ्वी बडी ही सुशोभित होती थी ॥ १५९ ॥ जिसप्रकार स्वर्गकी सीमाओंपर लोकपाल जातिके देवोंके स्थान होते हैं उसीप्रकार ऊपर कहे हुये देशोंकी सीमाओंपर सब ओर उन देशोंसे संधि रखनेवाले राजाओंके किले बने हुये थे ॥ १६० ॥ उन देशोंके बीचमें और भी छोटे छोटे देश थे जिनमेंसे कोई तो लुब्धक अर्थात् शिकार खेलनेवालोंके आधीन थे, कोई आरण्य अर्थात् फूलफल इकठे करनेवालोंके आधीन थे, कोई चरट अर्थात् मार्गमें लूटनेवालोंके आधीन थे, कोई पुलिंद अर्थात् राज्यकी ओरसे देशसे निकाले हुओंके आधीन थे और कोई शबर अर्थात् मरे हुये पशुओंको ग्रहण करनेवालोंके आधीन थे। इसीप्रकार वे अंतरालवर्ती छोटे छोटे देश अन्य कईप्रकारके शूद्रोंके हाथमें थे ॥ १६१ ॥ उन देशोंके म-

रादिभिः ॥ १६१ ॥ मध्ये जनपदं रेजू राजधान्यः परिष्कृताः । वप्रप्राकारपरिखागोपुराट्टालकादिभिः ॥ १६२ ॥ तानि स्थानीयसंज्ञानि दुर्गाण्यावृत्य सर्वत । ग्रामादीना निवेशोभूद्यथाभिहितलक्षणा ॥ १६३ ॥ ग्रामा वृतिपरिक्षेपमात्राभिरुचिताश्रयाः । शूद्रकर्षकभूयिष्ठाः सारामाः सजलाशयाः ॥१६४॥ ग्रामः कुलशतेनेष्टो निकृष्टः समधिष्ठितः । परस्तत्पंचशत्या स्यात्सुसमृद्धकृषीवलः ॥ १६५ क्रोशद्विक्रोशसीमानो ग्रामाः स्युरधमोत्तमाः। संपन्नसस्यसुक्षेत्राः प्रभूतयवसोदकाः ॥ १६६ ॥ सरिद्गिरिदरीभूष्टिक्षीरकंटकशाखिनः । वनानि सेतवश्चेति तेषा सीमोपलक्षणं ॥ १६७ ॥ तत्कर्तृभोक्तृनियमो यो-

ध्यभागमें कोट, शहरका बाहरी परकोटा, खाई, शहरके बाहरी बडे दरवाजे और अटारी तथा राजमार्ग (सडक), चौरास्ता, सभामंडप आदिकोंसे सुशोभित राजधानी शोभायमान थीं ॥ १६२ ॥ उन्हीं राजधानियोंको स्थानीय कहते हैं उन्हीं राजधानी रूप किलेको घेरकर चारोंओर जिनमें शास्त्रोक्त सब लक्षण विद्यमान हैं ऐसे गांव वसते थे ॥ १६३ ॥ जिसमें कांटे वगैरहकी बाडसे घिरे हुये घर हों तथा जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान लोग रहते हों और जिसमें बन उपबन तालाव आदि जलाशय हों उसे गांव कहते हैं ॥ १६४ ॥ जिसमें सौ घर हों उसे छोटा गांव कहते हैं और जिसमें पांचसौ घर हों तथा जिसके किसान लोग धनी हों उसे बडा गांव कहते हैं ॥ १६५ ॥ छोटे गांवकी सीमा एक कोशकी होती है और बडे गांवकी सीमा दो कोशकी होती है । इन गावोंमें धान्योंके खेत सदा सुशोभित रहते हैं और घास तथा जल भी बहुत रहता है ॥ १६६ ॥ नदी, पर्वत, गुफा, स्मशान, क्षीरवृक्ष अर्थात् बड, गूलर आदि, बबूल आदि कांटेदार वृक्ष, बन और पुल ये सब उन गावोंकी सीमा गिनी जाती हैं ॥ १६७ ॥ गांवोंको बसाना, उनका उपभोग करना, उनकेलिये कोई नियम बनाना, जो वस्तु वहां नहीं है उसके बनानेका विचारकरना, जो वस्तु वहां है उसकी रक्षाका उपाय सोचना, वहांके लोगोंसे जबर्दस्ती राज्यका काम कराना अपराधियोंसे दंड वसूल करना और कर वसूल करना यह सब राज्यके आधीन रहता है ॥ १६८ ॥ जो खाई, शहरमें आने जानेके बडे दरवाजे, अटारी, कोट, शहरपनाह (शहर-

गक्षेमानुचिंतन । विष्टिदंडकराणां च निबधो राजसाद्भवेत् ॥ १६८ ॥ परिखागोपुराट्टालवप्रप्राकारमंडित । नानाभवनविन्यासं सोधानं सजलाशयं ॥ १६९ ॥ पुरमेवंविधं शस्तमुचितेदेशसुस्थित । पूर्वोत्तरप्लवाभस्कं प्रधानपुरुषोचितं ॥ १७० ॥ सरिद्गिरिभ्यां संरुद्ध खेडमाहुर्मनीषीण । केवल गिरिसंरुद्ध खर्वटं तत्प्रचक्षते ॥ १७१ ॥ मडंबमामनति ज्ञाः पचग्रामशतीवृतं । पत्तन तत्समुद्राते यन्नौभिरवतीर्यते ॥ १७२ ॥ भवेत् द्रोणमुख नाम्ना निम्नगातटमाश्रितं । सवाहस्तु शिरोव्यूढधान्यसंचय इष्यते ॥ १७३ ॥ पुटभेदनभेदानाममीषा च क्वचित्क्वचित् । सन्निवेशोभवत्पृथ्व्या यथोद्देशमितो-

---

का परकोटा) आदिसे सुशोभित हो जिसमें अनेक अच्छे अच्छे मकान बने हों, बाग बगीचे हों, नदी सरोवर आदि जलाशय हों, जो योग्य रीतिसे बसा हो जिसमें अच्छे अच्छे प्रधान पुरुष रहते हों और जिसका पानी निकलनेका रास्ता प्रायः पूर्व उत्तर दिशाके बीचवाली ईशान दिशाकी ओर हो ऐसा प्रशंसनीय पुर वा नगर गिना जाता है ॥ १६९-१७० ॥ जो नगर नदी और पर्वतसे घिरा हो उसे पंडित लोग खेड कहते हैं और जो केवल पर्वतसे ही घिरा हो अर्थात् जिसके चारोंओर पर्वत हो उसे खर्वट कहते हैं ॥ १७१ ॥ जिसके चारोंओर पांचसौ गांव हों उसे विद्वान्लोग मडंव कहते हैं । जो नगर समुद्रके किनारे हो और जहांपर लोग जहाज और नावोंके द्वारा आते जाते हों उसे पत्तन कहते हैं ॥१७२॥ जो नगर किसी नदीके किनारेपर हो उसे द्रोणमुख कहते हैं, और जिसमें मस्तकपर्यंत ऊंचे २ धान्योंके ढेर लगे हों उसे संवाह कहते हैं ॥ १७३ ॥ इसप्रकार पृथ्वीपर इधर उधर अपने अपने योग्य स्थानपर कहीं कहींपर ऊपर कहे हुये गांव नगर आदिकी रचना हुई थी । भावार्थ—कहीं गांव थे और कहीं नगर थे ॥ ३७४ ॥ एक राजधानीमें आठसौ गांव होते हैं, एक द्रोणमुखमें चारसौ गांव होते हैं और एक खर्वटमें दोसौ गांव रहते हैं। जो दश गांवोंके बीचमें बडा गांव हो उसे संग्रह (जहांपर व्यवहारके योग्य सब वस्तुयें मिलें) कहते हैं, जहांपर बहुतसे घोष (दूध दही बेचनेवाले) रहें उसे घोष कहते हैं, जिसमें सोना, चांदी, हीरा आदि निकले उसे आकर वा खान कहते हैं। इसीप्रकार अन्य सबके लक्षणभी

मुतः ॥ १७४ ॥ शतान्यष्टौ च चत्वारि द्वे च स्युर्ग्रामसंख्यया । राजधान्यास्तथा द्रोणमुखखर्वटयो क्रमात् ॥ १७५ ॥ दशग्राम्यास्तु मध्ये योमहान् ग्रामः स सग्रह । तथा घोषाकरादीनामपि लक्ष्म विकल्प्यता ॥ १७६ ॥ पुरा विभागमित्युच्चैः कुर्वन् गीर्वाणनायकः । तदा पुरंदरख्यातिमगादन्वर्थता गता ॥ १७७ ॥ ततः प्रजा निवेश्यैषु स्थानेषु स्रष्टुराज्ञया । जगाम कृतकार्यो गा मघवानुज्ञया प्रभो' ॥ १७८ ॥ असिर्मषि कृषिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव च । कर्माणीमानि षोढा स्यु' प्रजाजीवनहेतवे ॥१७९॥ तत्र वृत्तिं प्रजानां स भगवान्मतिकौशलात् । उपादिशत्सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरु' ॥ १८० ॥ तत्रासिकर्म सेवाया मषिर्लिपिविधौ स्मृता । कृषिर्भूकर्षणे प्रोक्ता विद्या शास्त्रोपजीवने ॥१८१॥वाणिज्य वणिजा कर्म शिल्प स्यात्करकौशलं । तच्च चित्रकलापत्रच्छेदादि बहुधा स्मृतं ॥ १८२ ॥ उत्पादितास्त्रयो वर्णास्तदा तेनादिवेधसा । क्षत्रिया वाणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुः

कल्पना कर लेना चाहिये ॥ १७५-१७६ ॥ इसप्रकार इंद्रने नगर और गांवोंके विभाग वडे अतिशयके साथ किया और इसलिये ही उससमयसे उसका पुरंदर यह सार्थक नाम पड गया था ॥ १७७ ॥ तदनंतर इंद्रने भगवानकी आज्ञासे इन नगर गांव आदि स्थानोंमें प्रजाको बसाया और फिर अपना सब कार्य पूर्णकर भगवानकी आज्ञानुसार अपने स्वर्गमें चला गया ॥ १७८ ॥ असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म प्रजाके आजीविकाके कारण हैं सो भगवान वृषभदेवने अपनी बुद्धिकी कुशलतासे प्रजाकेलिये इन छहों कर्मोंका उपदेश दिया, सो ठीक ही है क्योंकि भगवान वृषभदेव उससमय कुछ वीतराग नहीं थे सरागी थे ॥ १७९-१८० ॥ इन छह कर्मोंमेसे शस्त्र धारणकर सेवा करना असिकर्म कहलाता है, लिखकर जीविका करना मसिकर्म है, पृथ्वीको जीतना बोना कृषिकर्म है शास्त्र अर्थात् नृत्य गायन आदिसे आजीविका करना विद्याकर्म कहलाता है ॥१८१॥ व्यापार करना वाणिज्य है और हाथकी कुशलतासे जीविका करना शिल्प कहा जाता है। यह शिल्प चित्र खींचना फूल पत्ते बनाना आदि अनेक प्रकारका कहा जाता है ॥ १८२ ॥ इसप्रकार भगवानने छह कर्मोंका उपदेश दिया तथा उसीसमय उन्हीं आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने तीनों वर्ण प्रगट किये थे, और वे आगे कहे

णै. ॥ १८३ ॥ क्षत्रिया· शस्त्रजीवित्वमनुभूय तदाभवन् । वैश्याश्च कृषिवाणिज्य पशुपाल्योपजीविनः॥ १८४ ॥ तेषा शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः । कारवो रजकाद्या· स्युस्ततोन्ये स्युरकारवः ॥ १८५ ॥ कारवोपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पत. । तत्रास्पृश्या प्रजाबाह्या· स्पृश्याः स्युः कर्तकादय ॥ १८६ ॥ यथास्वं स्वोचितं कर्म प्रजा दध्युरसंकरं । विवाहजातिसबधव्यवहारश्च तन्मत ॥ १८७ ॥ यावती जगतो वृत्तिरपापोपहता च या । सा सर्वास्य मतेनासीत्स हि धाता सनातन. ॥ १८८ ॥ युगादिब्रह्मणा तेन यदित्थ स कृतो युग. । ततः कृतयुगं नाम्ना त पुराणविदो विदुः

हुये क्षतत्राण अर्थात् शत्रुओंके हथियारसे जीवोंकी रक्षा करना आदि अपने अपने गुणोंसे क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कहलाते थे ॥ १८३ ॥ उससमय जो शस्त्र धारण कर जीविका करते थे वे क्षत्रिय कहलाते थे, जो खेती व्यापार और पशु पालनकर जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे और ॥ १८४ ॥ जो क्षत्रिय तथा वैश्योंकी सेवा सुश्रूषा कर जीविका करते थे वे शूद्र कहलाते थे। उन शूद्रोंके भी दो भेद प्रगट किये गये थे एक कारु दूसरा अकारु । धोबी नाई वगैरह कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे ॥१८५॥ कारु शूद्र भी दो प्रकारके थे एक स्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने योग्य और दूसरे अस्पृश्य अर्थात् स्पर्श करने अयोग्य । जो प्रजासे अलग निवास करते थे वे स्पर्श करने अयोग्य कहलाते थे और नाई वगैरह स्पर्श करने योग्य कहलाते थे ॥ १८६ ॥ ऊपर कहे हुये तीनों वर्ण सब अपना २ काम करते थे, वैश्यका काम क्षत्रिय वा शूद्र नहीं करता था और न क्षत्रिय वा शूद्रका काम कोई दूसरा करता था। विवाह, जातियोंके संबंध और व्यवहार ये सब श्रीवृषभदेवकी आज्ञानुसार ही सब लोग करते थे ॥ १८७ ॥ संसारमें जितने पापरहित आजिविकाके उपाय हैं वे सब उससमय श्रीवृषभदेवकी आज्ञानुसार प्रवृत्त हुये थे, सो ठीक ही है क्योंकि सनातन ब्रह्मा श्रीवृषभदेव ही हैं ॥ १८८ ॥ इस युगके प्रथम ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने इसप्रकार इस युगका प्रारंभ किया था इसलिये ही पुराणके जाननेवाले गणधरादि देव उन्हें कृतयुग (युगकेकरनेवाले) नामसे जानते हैं ॥ १८९ ॥ कृ-

॥ १८९ ॥ आषाढमासबहुलप्रतिपद्दिवसे कृती । कृत्वा कृतयुगारंभ प्राजापत्यमुपेयिवान् ॥१९०॥ कियत्यपि गते काले षट्कर्मविनियोगतः । यदा सौस्थित्यमायाताः प्रजाः क्षेमेण योजिताः ॥ १९१ ॥ तदास्याविरभूत् द्यावापृथिव्यो. प्राभवं महत् । आधिराज्येभिषिक्तस्य सुरैरागत्य सत्वर ॥१९२॥ सुरैः कृतादरैर्दिव्यै' सलिलैरादिवेधसः । कृतोभिषेक इत्येव वर्णनास्तु किमन्यया ॥ १९३ ॥ तथाप्यनूद्यते किंचित्तद्वृतं वर्णनातरं । सुप्रतीतमपि प्रायो यन्नावैति पृथग्जनः ॥ १९४ ॥ तदा किल जगद्विश्व वभूवानंदनिर्भर । दिवोवतारिपुर्देवाः पुरोधाय पुरदरं ॥ १९५ ॥ कृतोपशोभमभवत्पुर साकेतसाह्वयं । हर्म्याग्रभूमिकाबद्धकेतुमालाकुलाम्वरं ॥ १९६ ॥ तदानंदमहाभेर्यः प्रणेदुर्नृपमदिरे । मगलानि जगुर्वारनार्यो नेटुः सुरागनाः ॥ १९७ ॥

तत्कृत्य भगवान वृषभदेवने आसाढ महीनेके कृष्णपक्षकी पडिवाके दिन युगका प्रारंभ किया था इसलिये ही उनका नाम प्रजापति अर्थात् प्रजाके स्वामी महाराज पड गया था ॥ १९० ॥ इसप्रकार जव षट्कर्मकी रचना करते हुये भगवान वृषभदेवका कितना ही समय व्यतीत होगया । उन छह कर्मोंकी प्रवृत्तिसे जब प्रजाकी स्थिति अच्छी हो गई, सब प्रजा शांततासे रहने लगी तव भगवान वृषभदेवको सम्राट् पदपर स्थापन करनेकेलिये देवोंने आकर शीघ्रताके साथ उनका राज्याभिषेक किया । उससमय भगवानकी प्रभुता स्वर्गलोक् और पृथ्वीलोकमें खूव ही फैल गई थी ॥१९१-१९२॥ यद्यपि उससमयके राज्याभिषेकके विशेष वर्णन करनेसे कुछ लाभ नहीं है केवल इतना ही कहदेना वहुत है कि उससमय देवोंने आकर वडे आदरके साथ आदिब्रह्मा भगवान वृषभका अभिषेक किया था । तथापि उस राज्याभिषेकका थोडासा वर्णन करदिया जाता है क्योंकि वहुत प्रसिद्ध वातको भी प्रायः साधारण लोग नहीं जानते हैं ॥ १९३-१९४ ॥ भगवानके इस राज्याभिषेकके समय यह समस्त संसार आनंदसे भरगया था । देवलोग इंद्रको आगे करके स्वर्गसे उतरकर अयोध्या आये थे ॥ १९५ ॥ उससमय अयोध्यानगरकी शोभा खूब वढाई गई थी । मकानोंकी छतपर अनेक ध्वजायें फहराई गईं थीं जिनसे आकाश खूब भरगया था ॥ १९६ ॥ उससमय राजमहलमें बडी २ आनंदभेरी बज रहीं थीं, वारांगनायें मंगलगीत गा रहीं थीं और

सुरवैतालिका. पेठुरुत्साहात्सह मगलै । प्राचक्रुरमरास्तोषाज्जयजीवेति घोषणं ॥ १९८ ॥ प्रथमं पृथिवीमध्ये मृत्स्नारचितवेदिके । सुरशिल्पिसमारब्धप-
राध्यानंदमडपे ॥ १९९ ॥ रत्नचूर्णचयन्यस्तरगावल्युपचित्रिते । प्रत्यग्रोद्भिन्नविक्षिप्तसुमन.प्रकरार्चिते ॥ २०० ॥ मणिकुट्टिमसंक्रांतबिंबमौक्तिकलंबिते ।
लसद्वितानकक्षौमच्छायाचित्रितरंगके ॥ २०१ ॥ धृतमंगलनाकस्त्रीरुद्धसंचारवर्त्मनि । पर्यंतनिहितानल्पमंगलद्रव्यसंपदि ॥ २०२ ॥ सुरवारवधूहस्त-
विधूतचलचामरे । अन्योन्यहस्तसंक्रांतनानास्नानपरिच्छदे ॥२०३॥ सलीलपदविन्याससंचरन्नाककामिनी- । रणन्नूपुरझंकारमुखरीकृतदिङ्मुखे॥२०४॥

देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं ॥ १९७ ॥ देवोंके वैतालिक अर्थात् बंदीजनलोग मंगलोंके साथ २ भगवानके पराक्रम पढ रहे थे और देवलोग बडे संतुष्ट होकर जय जीव इत्यादि शुभ शब्द करते थे ॥ १९८ ॥ उस राज्याभिषेकके समय प्रथम ही पृथ्वीके मध्यभागमें मिट्टीकी वेदी बनाई गई थी उस वेदीपर एक बहुमूल्य आनंदमंडप बनाया गया था, उस आनंदमंडपके बनानेमें देवलोगोंने कारीगरीका काम किया था॥१९९॥ रत्नोंके पूर्ण समूहसे चौक पूरे गये थे जिनसे वह मंडप बहुत ही सुंदर जान पडता था । उस मंडपमें नवीन खिले हुये पुष्प बखेरे गये थे जिनसे वह पूज्य हो रहा था ॥२००॥ उसकी पृथ्वी स्वच्छ मणियोंकी बनी हुई थी जिसमें ऊपर लटकते हुये तोरणोंका प्रतिबिंब पड रहा था। उसमें रेशमी कपडेका चंदोवा तन रहा था जिससे उस पृथ्वीपर बडी ही चित्रविचित्रकी तरंगे फैल रहीं थीं ॥ २०१ ॥ उसके दरवाजोंपर देवांगनायें मंगलद्रव्य लेकर खडी हुई थीं जिससे आने जानेका रस्ता भी रुक गया था, मंडपके चारोंओर दही दूध आदि बहुतसे मंगलद्रव्य शोभायमान हो रहे थे ॥ २०२ ॥ देवोंकी अनेक अप्सरायें अपने हाथोंसे चंचल चमर ढुला रहीं थीं । सुगंधित जल, पुष्पमंजरी, पल्लव आदि स्नान करनेकी सामिग्रीको लोग एक दूसरेके हाथमें दे रहे थे ॥ २०३ ॥ तथा जो देवांगनायें बडी लीलाके साथ पैर रखती हुई इधर उधर फिर रहीं थीं और उनके पैरके नूपुरोंसे (बिछुओंसे) जो रुणझुण शब्द हो रहा था उससे सब दिशायें शब्दायमान हो रहीं थीं ॥ २०४ ॥ और जिसमें अनेक मंगलद्रव्योंका संग्रह हो रहा है ऐसे उस

नृपांगणमहीरंगे धृतमगलसग्रहे । निवेश्य प्राङ्मुखं देवमुचिते हरिविष्टरे ॥ २०५ ॥ गंधर्वारब्धसंगीतमृदगामद्रनिःस्वने । त्रिविष्टपकुटीक्रोडमाक्रामति सादिक्तट ॥ २०६ ॥ नृत्यन्नाकागनापाठ्यानिस्वनानुगतस्वर । गायतीपु यशो जिष्णो किन्नरीपु श्रव सुखं ॥ २०७ ॥ ततोभिषेचन भर्त्तुः कर्त्तुमारेभिरेमरा । शातकुंभविनिर्माणैः कुंभैस्तीर्थांबुसंभृतैः ॥२०८॥ गंगासिंध्वोर्महानद्योरप्राप्य धरणीतलं । प्रपाते हिमवत्कूटाद्यदवु समुपाहृतं ॥ २०९ ॥ यच्च गाग पयः स्वच्छ गंगाकुडात्समाहृतं । सिंधुकुंडात्समानीतं सिंधोर्यत्कमपंककं ॥ २१० ॥ शेपव्योमापगाना च ससिल यदनाविलं । तत्तत्कुंडतदा-

महाराज नाभिराजके आंगनरूप रंगभूमिमें यथायोग्य मनोहर सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भगवान श्रीवृषभदेवको बिठाया था ॥ २०५ ॥ उससमय गंधर्वदेव संगीत (गाना) प्रारंभ कर रहे थे। मृदंगोंके गंभीर शब्द हो रहे थे, और वे गंभीर शब्द तीनों लोकोंमें तथा सब दिशाओंके अंततक खूब भरगये थे ॥ २०६ ॥ उसीसमय जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं, गद्यपद्यमय पाठ पढ रहीं थीं उनके अनुसार ही किन्नरी जातिकी देवांगनायें कानोंको सुख देनेवाला भगवानका यश गा रहीं थीं ॥ २०७ ॥ ऐसे समयमें ऊपर लिखे उत्सवके साथ साथ देवोंने तीर्थके जलसे भरे हुये सुवर्णके कलशोंसे भगवान वृषभदेवका राज्याभिषेक करना प्रारंभ किया था ॥ २०८ ॥ उस राज्याभिषेक करनेकेलिये गंगा और सिंधु इन दोनों महानदियोंका ऐसा स्वच्छ जल लाया गया था जो हिमवानपर्वतकी शिखरसे धारारूपमें नीचे पडरहा था तथा जिसने पृथ्वीतल छूआतक नहीं था ॥ २०९ ॥ इसके सिवाय गंगाकुंडसे गंगानदीका स्वच्छ जल लाया गया था और सिंधु कुंडसे सिंधुनदीका निर्मल जल लाया गया था ॥ २१० ॥ इसीतरह ऊपर पर्वतोंसे पडती हुई सब नदियोंका निर्मल जल लाया गया था तथा जिन २ कुंडोंमें वे नदियां पडती थीं उनका भी जल लाया गया था ॥ २११ ॥ श्री ह्री आदि देवियां भी पद्म महापद्म आदि सरोवरोंका जल लाईं थीं जोकि सुवर्ण वर्णके कमलोंकी केसरके समूहसे कुछ २ पीला हो रहा था ॥ २१२ ॥ सायंकालमें खिलनेवाले कमलोंकी सुगंधसे सुगंधित, अतिशय मनोहर और खिले हुये

पातसमासादितजन्मकं ॥ २११ ॥ श्रीदेवीभिर्यदानीतं पद्मादिसरसां पयः । हेमारविंदकिंजल्कपुंजसंजातरंजनं ॥ २१२ ॥ यद्वारि सारसं हारि कल्हारस्वादु सोत्पलं । यच्च तन्मौक्तिकोद्गारतारं लावणसैंधवं ॥ २१३ ॥ यास्वा नदीश्वरद्वीपवाप्यो नदोत्तरादयः । सुप्रसन्नोदकास्तासामापोयाश्च विकल्मषाः ॥ २१४ ॥ यच्चाभः सभृतं क्षीरसिंधोर्नंदीश्वरार्णवात् । स्वयंभूरमणाब्धेश्च दिव्यैः कुंभैर्हिरण्मयैः ॥ २१५ ॥ इत्याम्नातैर्जलैरेभिरभिषिक्तो जगद्गुरुः । स्वयंपूततमैर्गात्रैरपुनात्तानि केवलं ॥ २१६ ॥ सुरैरावर्जिता वारां धारा मूर्ध्नि विभोरभात् । राजलक्ष्म्या निवेशोयमिति धारेव पातिता ॥ २१७ ॥ चराचरगुरोर्मूर्ध्नि पतंत्यो रेजुरच्छटाः । जगत्तापच्छिदः स्वच्छा गुणानामिव संपदः ॥ २१८ ॥ सुरेंद्रैरभिषिक्तस्य सलिलैः सौरसैंधवैः ।

कमलोंसहित ऐसा सरोवरोंका मधुर जल लाया गया था तथा जिसकी तरंगोके द्वारा मोतियोंका समूह वाहर फेंका जा रहा है ऐसे लवण समुद्रका जल लाया गया था ॥ २१३ ॥ नंदीश्वरद्वीपमें जो अत्यंत स्वच्छ जलसे भरी हुई और अतिशय निर्मल ऐसी नंदोत्तरा नंदिषेणा आदि वावडीं थीं उनका भी जल लाया गया था ॥ २२४ ॥ इसके सिवाय क्षीरसागर नंदीश्वरसमुद्र और स्वयंभूरमण समुद्रका जल सुवर्णके बने हुये दिव्य कलशोंमें भरकर लाया गया था ॥ २१५ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये जलसे जगत्-गुरु भगवान वृषभदेवका राज्याभिषेक किया गयाथा। भगवानका शरीर तो स्वयं पवित्र था तथापि उन्होंने केवल उस जलको अवश्य ही पवित्र कर दिया था ॥२१६॥ उससमय भगवानके मस्तकपर देवोंके द्वारा छोडी हुई जलकी धारा जो पड रही थी वह ऐसी सुशोभित होती थी मानों वह उस मस्तकको राज्यलक्ष्मीका आश्रय समझकर ही पड रही हो ॥ २१७ ॥ त्रस स्थावर आदि सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेवके मस्तक पर पडती हुई जलकी छटायें ऐसी सुशोभित होती थीं मानों संसारका संताप नाश करनेवाली और अतिशय निर्मल ऐसी गुणोंकी संपदायें हीं हों ॥ २१८ ॥ यद्यपि भगवानका शरीर स्वभावसे ही पवित्र था तथापि इंद्रने गंगानदीके जलसे उसका अभिषेक किया था इसलिये वह और भी वहुत शुद्ध हो गया ॥ २१९ ॥ उस समय इंद्रोंने केवल भगवानके शरीरका ही प्रक्षालन नहीं किया था किंतु देखनेवाले

निसर्गशुचिगात्रस्य परा शुद्धिरभूद्विभोः ॥ २१९ ॥ नाकींद्राः क्षालयांचक्रुर्विभोर्गात्राणि केवलं । प्रेक्षकाणां मनोवृत्तिं नेत्राण्यपवनान्यपि ॥ २२० ॥ नृत्यत्सुरांगनापांगशरास्तस्मिन्प्लवेंभसा । पायिता नु जलं तीव्रं यच्चेतास्यभिदन् नृणां ॥ २२१ ॥ जलैरनाविलैर्भर्तुरंगसंगात्पवित्रितैः । धराक्रांता भुवं दिष्ट्या वार्द्धिता स्वामिसंपदा ॥ २२२ ॥ कृताभिषेको रुरुचे भगवान् सुरनायकैः । हैमैः कुंभैर्घनैः सांध्यैर्यथा मंदरभूधरः ॥ २२३ ॥ नृपा मूर्द्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरःसराः । राजवद्राजसिंहोयमभ्यषिच्यत तैः समं ॥ २२४ ॥ पौराश्च नलिनीपत्रपुटैः कुंभैश्च मार्तिकैः । सारवेणाम्बुना चक्रुर्भर्तुः

लोगोंके नेत्र उनकी मनोवृत्ति और उनके शरीरका भी प्रक्षालन कर डाला था। भावार्थ–देखनेवाले लोगोंके चित्तकी वृत्ति तथा उनके नेत्र और शरीर आदि सब पवित्र हो गये थे ॥ २२० ॥ उससमय जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं उनके कटाक्षरूपी बाण उस जलके प्रवाहमें घुस गये थे इसलिये वह जल तीव्र अर्थात् विषसे मिला हुआ हो गया था और लोगोंके चित्तको भेदन करता था। भावार्थ–उन देवांगनाओंके कटाक्षोंसे लोगोंके चित्त भिद जाते थे ॥ २२१ ॥ भगवानके हाथ पैर आदि शरीरके संसर्गसे अतिशय पवित्र हुआ वह निर्मल जल समस्त पृथ्वीपर फैल गया था और उससे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपने स्वामी श्रीवृषभदेवकी राज्यसंपत्ति देखकर और उससे संतुष्ट होकर वृद्धिकोही प्राप्त हुई हो ॥ २२२ ॥ जिसप्रकार सायंकालके समयके बादलोंसे सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार जिससमय इंद्रने सुवर्णमय कलशोंसे भगवानका अभिषेक किया था उससमय वे भगवान सुशोभित हो रहे थे ॥२२३॥ नाभिराजको आदि लेकर जो बडे २ क्षत्रिय राजा थे उन्होंने सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भगवान वृषभदेवको राजाके योग्य मानकर एक साथ अभिषेक किया था ॥ २२४ ॥ उससमय नगरनिवासी लोगोंने भी किसीने कमलके पत्तेसे किसीने घडेसे और किसीने मिट्टीके घडेसे सरयू नदीका जल लेकर भगवानके चरणकमलका अभिषेक किया था ॥ २२५ ॥ मागध बरतनु और प्रभास आदि व्यंतर जातिके इंद्रोंने भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञानको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेव-

पादाभिषेचन ॥ २२५ ॥ मागधाद्याश्च वन्येंद्रास्त्रिज्ञानधरमार्चिचन्। नाथोस्मद्विषयस्येति प्रीत्या पुण्याभिषेचनैः ॥ २२६ ॥ पूतस्तीर्थांबुभिः स्नातः कषायसलिलै पुनः। धौतो गंधांबुभिर्दिव्यैरस्नापि चरमं विभुः ॥ २२७ ॥ कृतावगाहनो भूयो हैमे स्नानोदकुंडके। सुखोष्णैः सलिलैर्वाता सुखमज्जनमन्वभूत् ॥ २२८ ॥ स्नानातोज्झितविक्षिप्तमाल्यांशुकविभूषणै। भर्तुः प्राप्तागसस्पृष्टिदानेवासीद्धरांगना ॥ २२९ ॥ सुस्नानमंगलान्युच्चैः पठत्सु सुरवंदिषु। राज्यलक्ष्मीसमुद्वाहस्नान निरविशाद्विभु ॥ २३० ॥ अथ निर्वर्तितस्नानं कृतनीराजनं विभु। स्वर्भुवो भूषयामासुर्दिव्यैः स्रग्भूषणांबरैः

को अपने देशका स्वामी मानकर बडे प्रेमसे पवित्र जलसे अभिषेक किया था ॥ २२६ ॥ प्रथम ही ऊपर कहे हुये पवित्र तीर्थोंके जलसे भगवानका अभिषेक किया गया था फिर कुंकुम कपूर अगुरु चंदन आदि सुगंधित पदार्थोंके मिले हुये कषाय जलसे अभिषेक किया गया। तदनंतर पानीमें पुष्पोंका सार निकालकर उससे अभिषेक किया गया और फिर अंतमें रत्न आदि द्रव्योंसे अभिषेक किया गया था ॥ २२७ ॥ इसप्रकार अभिषेक हो जानेपर आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने थोडे थोडे गरम जलसे भरे हुये स्नान करने योग्य सुवर्णके कुंडमें डूब डूबकर स्नान करनेका सुख अनुभव किया था ॥ २२८ ॥ भगवानने स्नान करनेके बाद जो माला वस्त्र और आभूषण आदि पृथ्वी पर डाल दिये थे उससे वह पृथ्वी ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपने स्वामी भगवान वृषभदेवके शरीरका स्पर्श करनेके बदलेमें उसे दाय अर्थात् विवाहोत्सवमें देने योग्य द्रव्य ही मिला हो ॥ २२९ ॥ इसप्रकार जिससमय देवलोगोंके बंदीजन बडे जोरसे शुभस्नान सूचक मंगलपाठ पढ रहे थे उससमय राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेका वह भगवानका अभिषेक समाप्त हुआ ॥ २३० ॥ तदनंतर स्नान और आरती समाप्त हो जानेपर देवलोगोंने दिव्य माला दिव्य आभूषण और दिव्य वस्त्रोंसे भगवानका अलंकार किया था ॥ २३१ ॥ उससमय महाराज नाभिराजने सबके सामने 'समस्त महा मुकुटबद्ध राजाओंके पालन करनेवाले भी भगवान वृषभदेव हैं, मैं नहीं हूं' यह कहकर अपने हाथसे अपने मस्तकका मुकुट उतारकर भगवानके

॥ २३१ ॥ नाभिराजः स्वहस्तेन मौलिमारोपयत्प्रभोः । महामुकुटबद्धानामधिराड्भगवानिति ॥ २३२ ॥ पट्टबंधो जगद्बंधोर्ललाटे विनिवेशितः । बंधनं राज्यलक्ष्म्याः स्विद्गत्वार्याः स्थैर्यसाधनं ॥ २३३ ॥ स्रग्वी सदंशुकः कर्णद्वयोल्लसितकुंडलः । दधानो मुकुटं मूर्ध्ना लक्ष्म्याः क्रीडाचलायितं ॥२३४॥ कंठे हारलतां बिभ्रत्कटिसूत्रं कटीतटे । ब्रह्मसूत्रोपवीतांगं स गांगौघमिवाद्रिराट् ॥ २३५ ॥ कटकांगदकेयूरभूषितायतदोर्युगः । पर्युल्लसन्महाशाखः कल्पशाखीव जंगमः ॥ २३६ ॥ सनीलरत्ननिर्माणनूपुरः द्युद्वहत्क्रमौ । निर्ध्यानभृंगसंपुल्लाक्तताम्ररसश्रियौ ॥ २३७ ॥ इति प्रत्यंगसंगिन्या बभौ भूषणसंपदा । भगवानादिमो ब्रह्मा भूषणांग इवांघ्रिपः ॥२३८॥ ततः सानंदमानंदनाटकं नाट्यवेदवित् । प्रयुज्यास्थायिकारंगे प्रत्यगाद्धा सहस्रगुः

मस्तकपर धारण किया था ॥ २३२ ॥ तथा जगतमात्रके बंधु भगवान वृषभदेवके ललाटपर पट्टबंध स्थापन किया था मानों इधर उधर भागनेवाली राजलक्ष्मीके स्थिर करनेवाला एक बंधन ही बांधा हो॥२३३॥ इसके सिवाय भगवानने माला पहिनी थी सुंदर वस्त्र पहने थे, दोनों कानोंमें देदीप्यमान कुंडल पहने थे, मस्तकपर, लक्ष्मीके क्रीडा करनेयोग्य पर्वतके समान मुकुट धारण किया था, कंठमें हारलता पहनी थी, कटिभागपर (कमरपर) करधनी पहनी थी, तथा जिसप्रकार हिमवान् पर्वतपर गंगानदीका प्रवाह वहता है उसीप्रकार भगवानने अपने शरीरपर यज्ञोपवीत धारण कियाथा। जिसप्रकार आभूषणसहित वडी २ शाखाओंसे चलता हुआ कल्पवृक्ष अच्छा लगता है उसीप्रकार कडे बाजुबंध और अनंत आदि आभूषणोंसे सुशोभित लंबी २ भुजाओंसे भगवान सुशोभित हो रहे थे और जिसप्रकार भ्रमरोंसे सुशोभित खिलाहुआ लाल कमल सुशोभित होता है उसीप्रकार नीलमणि रत्नोंके बने हुये नूपुरोंसे भगवानके दोनों चरण कमल सुशोभित हो रहे थे ॥ २३४-२३५-२३६ २३७ ॥ इसप्रकार प्रत्येक अंग उपांगमें पहने हुये आभूषण रूप संपदाओंसे आदिब्रह्मा भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भूषणांग जातिका कल्पवृक्ष ही हो ॥२३८॥ तदनंतर नाट्यशास्त्रको जाननेवाले इद्रने उस सभारूपी रंगभूमिमें वडे आनंदके साथ आनंद नामका नाटक किया और फिर उसके बाद वह अपने स्वर्गको चला गया ॥२३९॥ जिनके चित्तकी वृत्ति

|| २३९ || अजंतमनुजगमुस्तं कृतकार्याः सुरासुराः । भगवत्पादसंसेवानियुक्तस्वातवृत्तयः || २४० || अथाधिराज्यमासाद्य नाभिराजस्य सन्निधौ । प्रजानां पालने यत्नमकरोदिति विश्वसृट् || २४१ || कृत्वादितः प्रजासर्गं तद्वृत्तिनियमं पुनः । स्वधर्मानतिवृत्त्यैव नियच्छन्न्वशात्प्रजाः || २४२ || स्वदोर्भ्यां धारयन् शस्त्रं क्षत्रियानसृजाद्विभुः । क्षतत्राणे नियुक्ता हि क्षत्रियाः शस्त्रपाणयः || २४३ || ऊरूभ्यां दर्शयन्यात्रामस्राक्षीद्वणिजः प्रभुः । जलस्थलादियात्राभिस्तद्वृत्तिर्वार्त्तया यतः || २४४ || न्यग्वृत्तिनियतान् शूद्रान् पद्भ्यामेवासृजत्सुधीः । वर्णोत्तमेषु शुश्रूषा तद्वृत्तिर्नैकधा स्मृता ||२४५||

भगवानके चरणकमलोंकी सेवामें लगी हुई है ऐसे समस्त वैमानिक देव तथा भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि असुर जातिके देव अपना २ कार्य समाप्तकर इंद्रके साथ ही साथ अपनी २ जगहपर चले गये || २४० ||

अथानंतर—कर्मभूमिकी रचना करनेवाले भगवान वृषभदेवने अपने पिता महाराज नाभिराजसे साम्राज्य पाकर नीचे लिखे अनुसार प्रजाके पालन करनेका प्रयत्न किया || २४१ || प्रथम ही भगवानने प्रजाकी सृष्टि उत्पन्न की, तदनंतर प्रजाके आजीविकाके नियम बनाये और फिर प्रजाके लिये अपनी २ मर्यादाके उल्लंघन न करनेका नियम बनाया, इसप्रकार वे अपनी प्रजाका शासन करने लगे || २४२ || उससमय भगवानने अपने दोनों हाथोंमें शस्त्र धारणकर क्षत्रियोंकी रचना की अर्थात् उन्हें शस्त्रविद्या सिखलाई सो ठीक ही है क्योंकि जो हाथमें शस्त्र लेकर दूसरे सबल वा शत्रुके प्रहारसे जीवोंकी रक्षा करें उन्हें ही क्षत्रिय कहते हैं ||२४३|| तदनंतर भगवानने अपने ऊरुओंसे यात्रा करना अर्थात् परदेश जाना दिखलाकर वैश्योंकी सृष्टिकी, सो भी ठीक ही है क्योंकि समुद्र आदि जलप्रदेशोंमें तथा स्थल प्रदेशोंमें यात्रा करके व्यापार करना वैश्योंकी मुख्य आजीविका है || २४४ || सदा नीच कामोंमें तत्पर रहनेवाले शूद्रोंकी रचना भगवानने अपने पैरोंसे ही की, सो ठीक ही है क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य इन उत्तम वर्णोंके पैर दाबना, हरतरहसे उनकी सेवा सुश्रूषा करना, उनकी आज्ञा पालन करना आदि शूद्रोंकी आजीविका अनेक प्रकारकी कही गई है || २४५ || इसप्रकार तीन वर्णोंकी सृष्टि

मुखतोऽध्यापयन् शास्त्रं भरतः स्रक्ष्यति द्विजान् । अधीत्यध्यापने दानं प्रतिक्षेज्येति तक्रियाः ॥ २४६ ॥ शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः । वहेत्स्वा ते च राजन्य. स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता. ॥ २४७ ॥ स्वामिमां वृत्तिमुत्क्रम्य यस्त्वन्या वृत्तिमाचरेत् । स पार्थिवैर्नियतव्यो वर्णसंकीर्णिरन्यथा ॥ २४८ ॥ कृष्यादिकर्मषट्कं च स्रष्टा प्रागेव सृष्टवान् । कर्मभूमिरियं यस्मात्तदासीत्तव्यवस्थया ॥ २४९ ॥ स्रष्टेति ताः प्रजाः सृष्ट्वा त-

तो प्रथम ही हो चुकी थी उसके बाद भगवान वृषभदेवके पुत्र महाराज भरत अपने मुखसे शास्त्रोंका अध्ययन (पाठ) कराते हुये ब्राह्मणोंकी रचना करेंगे और पढना, पढाना, दान देना, दान लेना, पूजा करना कराना आदि उनकी आजीविकाके उपाय होंगे ॥२४६॥ इसप्रकार चारों वर्णोंकी रचना हुई, तथा उससमय विवाहका नियम इसप्रकार हुआ था कि शूद्र शूद्रकी कन्याके साथ विवाह करे, शूद्रको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी कन्याके साथ विवाह करनेका अधिकार नहीं है । वैश्य वैश्यकी कन्याके साथ विवाह करे, तथा शूद्रकी कन्याके साथ भी विवाह करे । क्षत्रिय क्षत्रियकी कन्याके साथ विवाह करे तथा वह वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ भी विवाह करे । इसीप्रकार ब्राह्मण केवल ब्राह्मणकी कन्याके साथ ही विवाह करे । ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ विवाह करनेकी आवश्यकता नहीं है परंतु कभी कभी वह क्षत्रिय वैश्य और शूद्रकी कन्याके साथ विवाह कर सकता है ॥२४७॥ उससमय भगवानने एक नियम यह भी बनाया कि ऊपर जो अपने २ वर्णोंके अनुसार जो आजीविका कही गई है उसका उल्लंघन कोई न करे अर्थात् किसी वर्णका कोई भी मनुष्य अपनी आजीविका छोडकर दूसरे वर्णकी आजीविका स्वीकार न करे, जो कोई इस नियमका उल्लंघन करेगा उसे राजाकी ओरसे दंड दिया जायगा, क्योंकि यदि ऐसा नियम न बनाया जायगा अर्थात् दूसरे वर्णकी आजीविका करनेवालोंको दंड न दिया जायगा तो लोग वर्णसंकर हो जायंगे ॥ २४८ ॥ भगवान वृषभदेवने चारों वर्ण तथा उनका विवाहसंबंध आदिकी रचना करनेके पहिले ही असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मोंकी रचना कर

योगक्षेमसाधन । प्रायुंक्त युक्तितो दंडं हामाधिक्कारलक्षण ॥ २५० ॥ दुष्टाना निग्रहः शिष्टप्रतिपालनमित्यय । न पुरासीत्क्रमो यस्मात्प्रजाः सर्वा निरागस. ॥ २५१ ॥ प्रजा दडधराभावे मात्स्य न्यायं श्रयंत्यमूः । ग्रस्यतेंत·प्रदुष्टेन विबलो हि बलीयसा ॥ २५२ ॥ दडभीत्या हि लोकोयमपथ नानुधावति । युक्तदंडकरस्तस्मात्पार्थिव· पृथिवीं जयेत् ॥ २५३ ॥ पयस्विन्या यथा क्षीरमद्रोहेणोपजीव्यते । प्रजाप्येवं धन दोह्या नातिपीडाकरै

दी थी और उससमयसे लोग अपने कर्म करने लग गये थे इसलिये उन कर्मोंके करनेसे इस भारतवर्षमें कर्मभूमि प्रगट हो गई थी । भावार्थ—अबतक भोगभूमि थी, अब असि, मसि, आदि कर्मकर जीविका होनेसे कर्मभूमि कही जाती थी ॥२४९॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवने क्षत्रिय वैश्य आदि प्रजाकी रचना की और उसका योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसे उत्पन्न करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु विद्यमान है उसकी रक्षा करना इन दोनोंको अच्छीतरह चलानेकेलिये बडी युक्तिसे हा, मा और धिक्कार ये तीनोंप्रकारके दंड स्थापन किये थे॥२५०॥ दुष्ट पुरुषोंको निग्रह करना अर्थात् उन्हें दंड देना और सज्जन पुरुषोंका पालन करना यह क्रम कर्मभूमिसे पहिले अर्थात् भोगभूमिमें नहीं था, क्योंकि भोगभूमिमें प्रजाके सब लोग निरपराध होते थे, कोई भी कुछ अपराध नहीं करता था ॥ २५१ ॥ यदि कर्मभूमिमें दंड देनेवाला राजा न होगा तो फिर संसारमें मात्स्य न्यायकी प्रवृत्ति हो जायगी अर्थात् जिसप्रकार बडी २ मछलियां छोटी २ मछलियोंको खा जाती है उसीप्रकारकी रीति यहां भी प्रचलित हो जायगी, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि जो अंतरंगका दुष्ट और बलवान होता है वह निर्बलको खा जाता है अर्थात् उसे पीडा देता है ॥२५२॥ यदि अपराधी लोगोंको दंड दिया जायगा तो फिर वे दंडके डरसे कुमार्गकी ओर नहीं दौडेंगे इसलिये अपराधी लोगोंको दंड देनेवाला राजा अवश्य होना चाहिये और ऐसा राजा ही पृथ्वीको जीत सकता है ॥ २५३ ॥ जिसप्रकार विना किसीतरहकी पीडा दिये दूध देनेवाली गायसे दूध निकालनेमें गाय सुखी रहती है और उसका दूध बढता है उसीप्रकार राजाको प्रजासे भी धन वसूल करना चाहिये उसपर अधिक पीडा देनेवाला कर-

कौरः ॥ २५४ ॥ ततो दंडधरानेताननुमेने नृपान्प्रभुः । तदायत्तं हि लोकस्य योगक्षेमानुचिंतनं ॥ २५५ ॥ समाहूय महाभागान् हर्यकंपनकाश्यपान् । सोमप्रभं च सन्मान्य सत्कृत्य च यथोचितं ॥२५६॥ कृताभिषेचनानेतान्महामंडलिकान्नृपान् । चतुःसहस्रभूनाथपरिवारान्व्यधाद्विभुः ॥ २५७॥ सोमप्रभः प्रभोरात्तकुरुराजसमाह्वय । कुरूणामधिराजोभूत्कुरुवंशशिखामणिः ॥ २५८ ॥ हरिश्च हरिकांताख्या दधानस्तदनुज्ञया । हरिवंशमलंचक्रे श्रीमान् हरिपराक्रमः ॥ २५९ ॥ अकंपनोपि सृष्टीशात्प्राप्तश्रीधरनामकः । नाथवंशस्य नेताभूत्प्रसन्ने भुवनेशिनि ॥ २६० ॥ काश्यपोपि गुरोः प्राप्तम-

नहीं लगाना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्रजा सुखी रहती है और धन भी अच्छा वसूल हो जाता है ॥ २५४ ॥ यही समझकर भगवान वृषभदेवने नीचे लिखे हुये पुरुषोंको प्रजाको दंड आदि देनेवाला राजा बनाया सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाका योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसे उत्पन्न करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु है उसकी रक्षाका उपाय करना, इन दोनोंका विचार करना राजाके ही आधीन है ॥ २५५ ॥ भगवानने प्रथम ही हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चारों महाभाग्यशाली क्षत्रियोंको बुलाया और सबका यथायोग्य सन्मान और आदर सत्कार किया। तदनंतर उन चारोंका राज्याभिषेक कर उन्हें महामांडलिक राजा बनाया प्रत्येक महामांडलिक राजाके आधीन एक एक हजार राजा होते हैं, सो भगवानने भी चारहजार छोटे २ राजा बनाकर उन चारों महामांडलिक राजाओंके आधीन किये ॥ २५६-२५७ ॥ भगवानने राज्याभिषेकके अनंतर उन चारों क्षत्रियोंमेंसे सोमप्रभका नाम कुरुराज रक्खा और उसे कुरुवंशका शिखामणि बनाकर कुरुदेशका राजा बनादिया ॥ २५८ ॥ भगवानकी आज्ञासे हरिने भी अपना नाम हरिकांत रक्खा तथा वह श्रीमान् हरिपराक्रमी अर्थात् इंद्रके समान पराक्रमी था इसलिये वह हरिवंशको सुशोभित करनेवाला अर्थात् हरिवंशका नायक हुआ ॥ २५९ ॥ राज्याभिषेकके अनंतर भगवानने अकंपनका नाम भी श्रीधर रक्खा और भगवानकी प्रसन्नता होनेसे वह नाथवंशका नायक हुआ ॥ २६० ॥ ॥ काश्यप भी भगवानकी आज्ञासे अपना नाम मघवा रखकर उग्रवं-

घवाख्यः पतिर्विशा । उग्रवशस्य वंश्योभूत्किं नाप्यं स्वामिसंपदा ॥ २६१ ॥ तथा कच्छमहाकच्छप्रमुखानपि भुभूजः । सोधिराजपदे देवः स्थापयामास सत्कृतान् ॥ २६२ ॥ पुत्रानपि तथा योग्यं वस्तुवाहनसंपदा । भगवान् संविधत्ते स्म तद्धि राज्यार्जने फलं ॥ २६३ ॥ आकनाच्च तदेक्षूणा रससंग्रहणे नृणा । इक्ष्वाकुरित्यभूद्देवो जगतामभिसम्मतः ॥ २६४ ॥ गौः स्वर्गः स प्रकृष्टात्मा गौतमोभिमतः सता । स तस्मादागतो देवो गौतमश्रुतिमन्वभूत् ॥ २६५ ॥ काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात् । जीवनोपायमननान्मनुः कुलधरोप्यसौ ॥ २६६ ॥ विधाता विश्वकर्मा च स्रष्टा

शका मुख्य राजा हुआ सो ठीक ही है स्वामीकी संपत्तिमेंसे सेवकको क्या २ नहीं मिलता है अर्थात् सब कुछ मिलता ही है ॥२६१॥ भगवान वृषभदेवने जिसप्रकार सोमप्रभ आदि क्षत्रियोंको महामांडलिक राजा बनाया था उसीप्रकार कच्छ महाकच्छ आदि अनेक राजाओंका राज्याभिषेक कर तथा उनका योग्य सत्कारकर उन्हें अधिराज पदपर स्थापन किया था ॥ २६२ ॥ इसीप्रकार भगवानने अपने पुत्रोंकेलिये भी यथायोग्य अर्थात् छोटे बडेके हिसाबसे वस्तु सवारी आदि बहुतसी संपत्ति दी थी सो ठीक ही है अपने पुत्रोंकेलिये यथायोग्य संपत्तिका बांटदेना ही राज्य प्राप्त करनेका मुख्य फल है ॥ २६३ ॥ जिससमय कल्पवृक्ष नष्ट होगये थे उससमय भगवानने मनुष्योंकेलिये प्रथम ही इक्षु अर्थात् ईखका रस संग्रह करने का उपदेश दिया था इसलिये ही संसारके लोग भगवानको इक्ष्वाकु कहते थे । ‘ इक्षून् आकयति कथयतीति इक्ष्वाकुः ’ अर्थात् जो इक्षु अर्थात् ईख लानेका उपदेश दे उसे इक्ष्वाकुः कहते हैं ॥ २६४ ॥ अथवा गो शब्दका अर्थ स्वर्ग है जो उत्तम स्वर्ग हो उसे सज्जन लोग ‘ गोतम ’ कहते हैं । भगवान वृषभदेव स्वर्गोंमें सबसे उत्तम ऐसे सर्वार्थसिद्धि विमानसे आये थे इसलिये लोग उन्हें गौतम भी कहते थे ॥ २६५ ॥ अथवा काश्य शब्दका अर्थ तेज है जो काश्य अर्थात् तेजकी रक्षा करे उसे काश्यप कहते हैं भगवान वृषभदेवने उस तेजकी रक्षा की थी पूर्ण रीतिसे उसका पालन किया था इसलिये लोग उन्हें काश्यप भी कहते थे । भगवानने लोगोंकी आजीविकाके उपायोंका भी विचार किया था इसलिये

चेत्यादिनामभिः । प्रजास्तं व्याहरंति स्म जगतांपतिमच्युतं ॥ २६७ ॥ त्रिषष्टिलक्षाः पूर्वाणां राज्यकालोस्य सम्मितः । स तस्य पुत्रपौत्रादिवृतस्यावि दितोगमत् ॥२६८॥ स सिंहासनमायोध्यमध्यासीनो महाद्युतिः । सुखादुपनतां पुण्यैः साम्राज्यश्रियमन्वभूत् ॥ २६९ ॥ इत्थ सुरासुरगुरुर्गुरुपुण्ययोगा- द्भोगान्वितन्वति तदा सुरलोकनाथे । सौधैयैरगाद्धृतिमचिंत्यधृतिः स धीरः पुण्यार्जने कुरुत यत्नमतो बुधेंद्राः ॥ २७० ॥ पुण्यात्सुखं न सुखमस्ति विनेह पुण्याद्बीजाद्विना न हि भवेयुरिह प्ररोहाः । पुण्य च दानदमसयमसत्यशौचत्यागक्षमादिशुभचेष्टितमूलमिष्टं ॥ २७१ ॥ पुण्यात्सुरासुरनरोरगभो-

---

वे मनु कहलाते थे और कुलधर अथवा कुलकर भी कहलाते थे ॥ २६६ ॥ इन नामोंके सिवाय तीनों लोकोंके स्वामी और अच्युत (अविनाशीक) भगवान वृषभदेवको उससमयकी प्रजा विधाता विश्वक- र्मा स्रष्टा आदि कई नामोंसे पुकारती थी ॥ २६७ ॥ भगवान वृषभदेवका राज्यकाल तिरेसठ लाख पूर्व- का नियमित था सो वह उनका इतना लंबा काल भी पुत्र पौत्र आदिका सुख अनुभव करते हुये सह- ज ही व्यतीत होगया था अर्थात् बीतते हुये मालूम भी नहीं हुआ था ॥ २६८ ॥ अतिशय दैदीप्यमा- न भगवान वृषभदेवने इतने लंबे समयतक अयोध्या नगरके सिंहासनपर विराजमान होकर अपने पु- ण्योदयसे सुखपूर्वक मिली हुई राज्यसंपदाका अनुभव किया था ॥ २६९ ॥ इसप्रकार वैमानिक देव तथा भवनवासी व्यंतर और ज्योतिष्क जातिके देवोंके गुरु, अचिंत्य धैर्यको धारण करनेवाले और धीर वीर भगवान वृषभदेवको उससमय उनके अतिशय पुण्यकर्मके उदयसे देवोंका स्वामी इंद्र सदा भोगोपभोगकी सामग्री पहुंचाता रहता था जिससे वे भगवान सुखपूर्वक बडे ही संतुष्ट होते थे। इसलि- ये पंडित जनोंको उचित है कि वे पुण्योपार्जन करनेमें सदा प्रयत्न करते रहें ॥ २७० ॥ इस संसारमें पुण्यसे ही सुखकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार बिना बीजके वृक्षकी उत्पत्ति नहीं होती उसीप्रकार बिना पुण्यके सुखकी प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती है। दान देना, इंद्रियोंको वश करना, संयम अर्थात् व्र- तोंका धारण करना समितियोंको पालन करना, कषायोंका निग्रह, अनर्थदंडोंका त्याग और इंद्रियोंका

गसाराः श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयोगीः । साम्राज्यमैंद्रमपुनर्भवभावनिष्ठमार्हंत्यमंत्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यं ॥ २७२ ॥ तस्माद्बुधाः कुरुत धर्ममवाप्तुका-
माः स्वर्गापवर्गसुखमग्र्यमचिंत्यसारं । प्राप्य सोभ्युदयभोगमनंतसौख्यमानंत्यमापयति धर्मफलं हि शर्म ॥ २७३ ॥ दानं प्रदत्त मुदिता मुनिपुंगवेभ्य
पूजां कुरुध्वमुपनम्य च तीर्थकृद्भ्यः । शीलानि पालयत पर्वदिनोपवासान् विस्मार्ष्ट मा स्म सुधिय सुखमीप्सवश्चेत् ॥ २७४ ॥ स श्रीमानिति

विजय आदि, सत्यभाषण करना, लोभका त्याग रूप शौचका पालन करना, बाह्य आभ्यंतर परिग्रहका त्याग करना, क्षमा अर्थात् दुष्ट पुरुषोंके गाली देने, मारने, ताडना करने निंदा हंसी करनेपर भी कलुषित परिणाम नहीं करना, आदि शब्दसे अहिंसाका पालन करना, शांत परिणाम रखना इत्यादि शुभाचरणोंसे पुण्य कर्मोंका बंध होता है ॥ २७१ ॥ सुर, असुर, मनुष्य, नागकुमार आदिकोंके उत्तम २ भोगोंकी प्राप्ति पुण्यकर्मोंके उदयसे ही होती है, लक्ष्मी दीर्घायु, अत्यंतसुंदर रूप. अनेक ऋद्धियां भी पुण्यसे ही मिलती हैं, वाणीकी शुद्धता भी पुण्यसे ही होती है, चक्रवर्तीका साम्राज्य, इंद्रपद, साक्षात् मोक्षका कारण ऐसा अरहंतपद और विनाशरहित अनंत सुख देनेवाला तथा सबसे श्रेष्ठ ऐसा निर्वाणस्थान अर्थात् मोक्ष भी पुण्यसे ही प्राप्त होती है ॥ २७२ ॥ इसलिये भो पंडितजन हो जिसका अचिंत्य महात्म्य है और जो सबसे श्रेष्ठ है ऐसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त करना चाहते हो तो धर्मका सेवन करो, यह धर्म ही इंद्र चक्रवर्ती आदिके सुख देकर अंतमें विनाशरहित और अनंत सुखस्वरूप ऐसे मोक्षसुखकी प्राप्ति कराता है। क्योंकि शर्म अर्थात् कल्याण वा सुखकी प्राप्ति होना धर्मका ही फल है ॥ २७३ ॥ भो भव्यजन हो प्रसन्न होकर उत्तम मुनियोंकेलिये दान दो, तीर्थंकर भगवानको नमस्कार कर उनकी पूजा करो, शीलव्रतोंका पालन करो और अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें उपवास करो। भो बुद्धिमान हो यदि आप लोग सुख चाहते हो तो ऊपर लिखे हुये शुभाचरणोंको कभी मत भूलो ॥ २७४॥ इसप्रकार जो वृषभदेव अत्युत्तम लक्ष्मीके स्वामी थे, सदा ऊपर कहे हुये भोगोंका अनुभव करते थे, अत्यंत

नित्यभोगनिरतः पुत्रैश्च पौत्रैर्निजै रारूढप्रणयैरुपाहितधृतिः सिंहासनाध्यासितः । शक्रार्केदुपुरःसरैः सुरवरैर्व्यूढोल्लसच्छासनः शास्तिस्माप्रतिशासनो भुवमिमामासिंधुसीमा जिनः ॥ २७५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्साम्राज्यवर्णनं नाम षोडशं पर्व ।

स्नेह करनेवाले अपने पुत्र पौत्रोंके साथ संतोष धारण करते थे, इंद्र, सूर्य, चंद्रमा आदि सब उत्तम २ देव जिनकी आज्ञा अपने मस्तकपर धारण करते थे और जिनपर किसीकी भी आज्ञा नहीं चल सकती थी ऐसे वे भगवान वृषभदेव राज्यसिंहासनपर विराजमान होकर समुद्रपर्यंत इस समस्त पृथ्वीपर शासन करते थे अर्थात् सबका पालन करते थे ॥ २७५ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानका साम्राज्य और भोगोपभोग वर्णन करनेवाला सोलहवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ सप्तदशं पर्व ।

अथान्येद्युर्महास्थानमध्ये नृपशतैर्वृतः । स सिंहासनमध्यास्त यथार्को नैषधं तटं ॥ १ ॥ तथासीनं च तं देवं देवराट् पर्युपासितुं । साप्सरः सहगंधर्वः ससपर्यमुपासदत् ॥ २ ॥ ततो यथोचितं स्थानमध्यासीष्टाधिविष्टरं । जयन्नुदयमूर्द्धस्थमर्कमात्मीयतेजसा ॥ ३ ॥ आरिराधयिषुर्देवं सुरराड्भक्तिनिर्भरः । प्रायूयुजत्सगंधर्वो नृत्यमाप्सरसं तदा ॥ ४ ॥ तन्नृत्यं सुरनारीणां मनोस्यारंजयत्प्रभोः । स्फाटिको हि मणिः शुद्धोप्यादत्ते रागमन्यतः ॥५॥

अथ सत्रहवां पर्व ।

अथानंतर–किसी एक दिन भगवान वृषभदेव अयोध्या नगरमें सैकडों राजाओंके मध्यभागमें सिंहासनपर ऐसे विराजमान थे मानों निषध पर्वतके किनारेपर सूर्य ही हो ॥ १ ॥ इसप्रकार सिंहासनपर विराजमान हुये भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेकेलिये गंधर्व जातिके देव और अप्सराओंको साथ लेकर तथा पूजाकी सब सामग्री लेकर इंद्र आया ॥ २ ॥ और अपने तेजसे उदयाचल पर्वतके मस्तकपर विराजमान सूर्यको भी जीतता हुआ वह अपने यथायोग्य स्थानपर सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ ३ ॥ गंधर्वोंके साथ आये हुये इंद्रने अतिशय भक्तिवश होकर भगवानकी आराधना करनेकेलिये अप्सराओंका नृत्य कराना प्रारंभ किया ॥ ४ ॥ देवांगनाओंके उस नृत्यसे भगवान वृषभदेवका मन भी अनुरक्त हो गया था, सो ठीक ही है अत्यंत शुद्धस्फटिक मणि भी दूसरेके निमित्तसे अर्थात् जपाकुसुम अथवा अन्य किसी लाल पुष्पके निमित्तसे राग अर्थात् लालिमा धारण करता है ॥ ५ ॥ भगवान वृषभदेव राज्य और भोगोंसे विरक्त होकर किसप्रकार दीक्षा धारण करेंगे यही सोचकर इंद्रने उस नृत्यमें एक ऐसे पात्रको खडा किया था कि जिसकी आयु पूर्ण हो चुकी थी बिलकुल थोडी बाकी रही थी ॥६॥ तदनंतर (क्षणभर के बाद ही जिसकी आयु पूर्ण होनेवाली है ऐसी) वह अत्यंत सुंदरी नीलांजना नामकी नृत्य करनेवाली देवांगना रस, भाव और तालसहित तथा पादसंचार अर्थात् पांव रखना उठाना फिरकी लेना आदिसहित

राज्यभोगात्कथं नाम विरज्येद्भगवानिति । प्रक्षीणायुर्दशं पात्रं तदा प्रायुंक्त देवराट् ॥ ६ ॥ ततो नीलांजना नाम ललिता सुरनर्तकी । रसभावलयो-पेत नटंती सपरिक्रमं ॥ ७ ॥ क्षणाददृश्यतां प्राप किलायुर्दीपसंक्षये । प्रभातरलितां मूर्तिं दधाना तडिदुज्ज्वलां ॥ ८ ॥ सौदामिनीलतेवासौ दृष्टनष्टा-भवत्क्षणात् । रसभंगभयादिंद्रः सदधेत्रापरं वपुः ॥ ९ ॥ तदेव स्थानकं रम्यं सा भूमिः स परिक्रमः । तथापि भगवान्वेद तत्स्वरूपांतरं तदा ॥१०॥ ततोस्य चेतसीत्यासीच्चिंता भोगाद्विरज्यतः । परां संवेगनिर्वेदभावनामुपजग्मुषः ॥ ११ ॥ अहो जगदिदं भंगि श्रीस्तडिद्वल्लरी चला । यौवनं वपुरारो-ग्यमैश्वर्यं च चलाचलं ॥ १२ ॥ रूपयौवनसौभाग्यमदोन्मत्तः पृथग्जनः । बध्नाति स्थायिनीं बुद्धिं किं तत्र न विनश्वरं ॥ १३ ॥ संध्यारागनिभा रू-

---

नृत्य कर रही थी, इतनेमें ही वह अपने आयुरूपी दीपकके क्षय होनेसे क्षणभरमें ही अदृश्य होगई। जिसप्रकार बिजलीरूपी लता देखते देखते ही क्षणभरमें नष्ट हो जाती है उसीप्रकार अपनी प्रभासे अत्यंत चंचल ऐसी बिजलीके समान स्वच्छ मूर्तिको धारण करनेवाली वह नीलांजना देखते देखते ही क्षणभरमें नष्ट होगई थी। उसके अदृश्य होते ही नृत्यके रसका भंग न हो जाय इसके भयसे ही इंद्रने उसी समय उसी जगह दूसरी नीलांजना स्थापन कर दी और वह नृत्य बराबर ज्योंका त्यों चलता रहा ॥ ७-८-९ ॥ यद्यपि दूसरी नीलांजना स्थापन करनेके बाद वही मनोहर स्थान था वही भूमि थी और वही नृत्य था तथापि भगवान वृषभदेव उससमयका सब रूपांतर जान गये थे ॥ १० ॥ तदनंतर भोगोंसे विरक्त हुये और अत्यंत संवेग तथा वैराग्य भावनाओंको प्राप्त हुये भगवान वृषभदेवके चित्तमें यह चिंता उत्पन्न हुई कि ॥ ११ ॥ देखो यह बडे आश्चर्यकी बात है कि जिसको हम नित्य मान रहें हैं ऐसा यह जगत बडा ही विनश्वर है, लक्ष्मी बिजलीकी लताके समान चंचल है यौवन, शरीर, आरोग्य और ऐश्वर्य आदि जो सदा रहनेवालेसे दिखाई पडते हैं वे सब चंचल है ॥ १२ ॥ रूप, यौवन और सौभाग्य आदिसे मदोन्मत्त हुआ यह नीच पुरुष इन रूपादि सबमें स्थिर बुद्धि कर लेता है अर्थात् सबको नित्य समझ लेता है परंतु यदि विचार किया जाय तो इस संसारमें कौनसी वस्तु विनश्वर नहीं है अर्थात् सब ही विनश्वर

पशोभा तारुण्यमुज्ज्वलं । पल्लवच्छाविवत्सद्य: परिम्लानिमुपाश्नुते ॥ १४ ॥ यौवनं वनवल्लीनामिव पुष्पं परिक्षयि । विषवल्लीनिभा भोगसंपदो भंगि जीवितं ॥ १५ ॥ घटिकाजलधारेव गलत्यायुःस्थितिर्द्रुतं । शरीरमिदमत्यन्तपूतिगंधि जुगुप्सितं ॥ १६ ॥ निःसारे खलु संसारे सुखलेशोपि दुर्लभः । दुःखमेव महत्तस्मिन्सुखं काम्यति मंदधीः ॥ १७ ॥ नरकेषु यदेतेन दुःखमासेवितं महत् । तच्चेत्स्मर्येत कः कुर्याद्भोगेषु स्पृहयालुतां ॥ १८ ॥ नून-

हैं ॥ १३ ॥ देखो यह रूपकी शोभा सायंकालके बादलोंकी लालिमाके समान क्षणभर रहकर ही नष्ट हो जाती है और मनोहर तरुणअवस्था भी नवीन पत्तेकी कांतिके समान बहुत शीघ्र मलिन हो जाती है अर्थात् नष्ट हो जाती है ॥१४॥ बनबेलके पुष्पोंके समान यह यौवन अवस्था भी तुरंत नष्ट होनेवाली है भोगोपभोगोंकी संपदायें विषबेलके समान ऊपरसे मनोहर और परिणाममें दुःख देनेवाली हैं, और यह जीवन भी अवश्य ही नाश होनेवाला है ॥ १५ ॥ यह आयुकी स्थिति घडीयंत्रकी जलधाराके समान बडी शीघ्रताके साथ गलती जा रही है तथा यह शरीर भी अत्यंत दुर्गंध है और ग्लानि उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥ यह संसार बिलकुल असार है, इसमें सुखका एक कणा मिलना भी अत्यंत दुर्लभ है, इसमें बिलकुल दुःख ही दुःख भरा हुआ है तथापि यह मंदबुद्धि जीव इससंसारमें सुखकी इच्छा करता है (यह बडे दुःखकी बात है) ॥ १७ ॥ इस जीवने नरकोंमें जो बडे भारी दुःख भोगे हैं यदि उनका स्मरण भी हो जाय तो फिर ऐसा कौन है जो भोगोंकी इच्छा करे । भावार्थ—जबतक इस जीवको पहिले भोगे हुये दुःखोंका स्मरण नहीं होता है तबतक ही यह जीव भोगोंकी वांछा करता है यदि इसे पहिले भोगे हुये दुःखोंका स्मरण हो जाय तो फिर कोई जीव कभी भी भोगोंकी इच्छा नहीं कर सकता ॥ १८ ॥ अवश्य ही आर्तध्यान करनेवाले जीव जो कुछ भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं वे सब भोगोपभोग उन प्राणियोंको जिनमें सदा अशुभकर्मोंका ही उदय रहता है ऐसे नरकोंमें दुःखरूप होकर ही उदयमें आते हैं ॥ १९ ॥ अनेक दुःखोंसे भरे हुये नरकोंमें कभी स्वप्नमें भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती

मार्त्तधिया भुक्ता भोगाः सर्वेपि देहिना । दुःखरूपेण पच्यंते निरये निरयोदये ॥१९॥ क्षणमं च सुख नास्ति नरके दुःखभूयसि । दु ख दुःखानुबंध्येव यतस्तत्र दिवानिश ॥ २० ॥ ततो निःसृतो जतुस्तैरश्वं दुःखमायतं । स्वसात्करोति मंदात्मा नानायोनिषु पर्यटन् ॥ २१ ॥ पृथिव्यामप्सु वन्हौ च पवने स वनस्पतौ । बम्भ्रम्यते महद्दुःखमश्नुवानो बताज्ञकः ॥ २२ ॥ खननोत्तापनज्वालिज्वालाविध्यापनैरपि । घनाभिघातैश्छेदैश्च दु.खं तत्रैति दुस्तरं ॥ २३ ॥ सूक्ष्मबादरपर्याप्तनद्विपक्षात्मयोनिषु । पर्यटत्यसकृज्जीवो घटीयन्त्रस्थितिं दधत् ॥२४॥ त्रसकायेष्वपि प्राणी वधबंधोपरोधनैः । दुःखासिकामवा-

---

है । क्योंकि वहां रात दिन दुःख अर्थात् असाता वेदनीयका बंध करनेवाला दुःख ही दुःख दिखाई पड़ता है । भावार्थ–वहां निरंतर दुःख ही रहता है और वह दुःख भी ऐसा होता है कि जिससे दुःख देनेवाले असातावेदनीय कर्मका ही बंध होता है ॥ २० ॥ वहां सागरोंपर्यंत दुःख भोगकर यह क्षुद्र प्राणी किसीतरह उन नरकोंसे निकलता है और फिर मंदबुद्धि यह जीव अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ तिर्यंच योनिका बडा भारी दुःख भोगता है ॥ २१ ॥ हाय यह अज्ञानी जीव पृथ्वीकायक जलकायिक अग्निकायक वायुकायक और वनस्पतिकायक आदि अनेक योनियोंमें बडे २ दुःख भोगता हुआ परिभ्रमण करता है ॥ २२ ॥ पृथ्वीकायके जीव खोदेजाते हैं, जलकायके जीव तपाये जाते हैं, अग्निकायके जीव बुझाये जाते हैं, वायुकायके जीवोंमें बादलोंका टक्कर लगता है और वनस्पतिकायके जीव काटे जाते हैं छेदे जाते हैं, इसप्रकार वनस्पती कायके जीव बहुतही दुःख भोगते हैं ॥ २३ ॥ जिसप्रकार अरहटकी घडीके घडे कभी ऊपर और कभी नीचे होते रहते हैं उसीप्रकार जीव सूक्ष्म बादर (स्थूल) पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि अनेक योनियोंमें बार बार परिभ्रमण करता है ॥ २४ ॥ इसप्रकार अनंतकालतक स्थावरकायमें परिभ्रमण करता हुआ बडी कठिनतासे वहांसे निकलता है और फिर त्रसकायमें जन्म लेकर यह जीव बांधना, मारना, रोकना आदि अनेक दुःख जन्मसे मरणपर्यंत बराबर भोगता रहता है ॥ २५ ॥ प्रथम इसे जन्म लेनेका दुःख भोगना पडता है, फिर बालावस्थाका दुःख,

प्नोति सर्वावस्थानुयायिनीं ॥ २५ ॥ जन्मदुःखं ततो दुःखं जरा मृत्युस्ततोधिकं । इति दुःखशतावर्ते जन्माब्धौ स निमग्नवान् ॥ २६ ॥ क्षणान्नश्य न्क्षणाज्जीर्यन् क्षणाज्जन्म समाप्नुवन् । जन्ममृत्युजरातकपंके मज्जति गौरिव ॥ २७ ॥ अनंतं कालमित्यज्ञस्तिर्यक्त्वे दुःखमश्नुते । दुःखस्य हि परं धाम तिर्यक्त्वं मन्वते जिनाः ॥ २८ ॥ ततः कृच्छ्राद्विनिःसृत्य शिथिले दुष्कृते मनाक् । मनुष्यभावमाप्नोति कर्मसारथिचोदितः ॥ २९ ॥ तत्रापि विविधं दुःखं शारीरं चैव मानसं । प्राप्नोत्यनिच्छुरेवात्मा निरुद्धः कर्मशत्रुभिः ॥ ३० ॥ पराराधनदारिद्र्यचिंताशोकादिसंभवं । दुःखं महन्मनुष्याणां प्रत्यक्षनरकायते । ३१ ॥ शरीरशकटं दुःखदुर्भांडैः परिपूरितं । दिनैस्त्रिचतुरैरेव पर्यस्यति न संशयः ॥३२॥ दिव्यभावे किलैतेषां सुखभाक्त्वं शरीरिणां ।

तदनंतर बुढापेका दुःख और फिर उससेभी अधिक मृत्युका दुख । इसप्रकार सैकडों दुःखों के चक्रमें पडकर यह जीव जन्म मरण रूप समुद्रमें सदा डूबा रहता है ॥ २६ ॥ क्षणभरमें नष्ट होता है, क्षणभरमें जीर्ण होता है, और क्षणभरमें जन्म लेता है । जिसप्रकार गाय कीचडमें फंसजाती है उसीप्रकार यह जीव भी जन्म मरण बुढापा और रोगरूपी कीचडमें सदा फसा रहता है ॥ २७ ॥ इसप्रकार यह अज्ञानी जीव अनंतकालतक तिर्यंच योनिमें दुःख भोगता है, सो ठीक ही है क्योंकि श्रीजिनेंद्रदेव भी यही कहते हैं कि दुःखोंका सबसे बडा स्थान तिर्यंच योनि ही है ॥ २८ ॥ तदनंतर अशुभकर्मोंके कुछ कुछ मंद होनेसे यह जीव बडी कठिनतासे तिर्यंच योनिसे निकलता है और कर्मरूप सारथीकी प्रेरणासे फिर मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ॥ २९ ॥ मनुष्ययोनिमें भी यद्यपि यह जीव दुःख भोगनेकी इच्छा नहीं करता है तथापि कर्मरूप शत्रुकी जबर्दस्तीसे इसे अनेकप्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख भोगने पडते हैं ॥ ३० ॥ मनुष्योंको दूसरोंकी सेवा करनी पडती है, दरिद्रताका दुख भोगना पडता है, अनेक प्रकारकी चिंतायें करनी पडती हैं और इष्ट वियोग तथा अनिष्टसंयोग होनेपर शोक करना पडता है । कहांतक कहाजाय मनुष्ययोनिके बडे २ दुख भी प्रत्यक्ष नरकके समान जान पडते हैं ॥३१॥ वास्तवमें यह मनुष्योंका शरीर एक छकडा गाडीके समान है जोकि दुःखरूपी खोटे वर्तनोंसे भरा है। अवश्य ही यह श-

तत्रापि त्रिदिवात्पातः परं दुःख दुरुत्तरं ॥ ३२ ॥ तत्रापीष्टवियोगोऽस्ति न्यूनास्तत्रापि केचन । ततोऽमानसमेतेषां दुःखं दुःखेन लभ्यते ॥ ३३ ॥ इति संसारचक्रेऽस्मिन्विचित्रैः परिवर्तनैः । दुःखमाप्नोति दुष्कर्मपरिपाकाद्वराकक. ॥ ३५ ॥ नारीरूपमयं यंत्रमिदमत्यंतपेलव । पश्यतामेव नः साक्षात्क-थमेतदगाल्लय ॥ ३६ ॥ रमणीयमिदं मत्वा स्त्रीरूपं बहिरुज्ज्वल । पतंतस्तत्र नश्यति पतगा इव कामुकाः ॥ ३७ ॥ कूटनाटकमेतत्तु प्रयुक्तममरेशिना । नूनमस्मत्प्रबोधाय स्मृतिमाधाय धीमता ॥ ३८ ॥ यथेदमेवमन्यच्च भोगागं यत्किलागिना । भगुरं नियतापाय केवल तत्प्रलंभकं ॥ ३९ ॥ किं किला

रीररूपी गाडी तीन चार दिनमें ही नष्ट हो जायगी इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ३२ ॥ यद्यपि देव पर्यायमें जीवोंको कुछ सुख मिलता है तथापि जब यह जीव स्वर्गसे च्युत होता है (और च्युत होनेकी अर्थात् मरनेकी छह महीने पहिलेसे खबर हो जाती है) तब इसे सबसे अधिक दुःख होता है ॥ २३ ॥ स्वर्गमें भी देवांगनाओंके वियोग होनेसे इष्ट वियोगका दुःख सहना पडता है। वहां भी बहुतसे कम ऋद्धिवाले हैं जोकि अधिक समृद्धशाली देवोंको देखकर दुःख किया करते हैं। इसलिये देवोंका मानसिक दुःख भी बडे दुखसे कटता है ॥ ३४ ॥ इसप्रकार यह क्षुद्रजीव चारों गतियोंके जन्ममरणरूप इस संसारचक्रमें पडकर अशुभकर्मोंके उदयसे अनेकप्रकारके परिभ्रमणोंके द्वारा अनेक दुःख भोगता है ॥३५॥ देखो जो नीलांजना यहां नृत्य कर रही थी उसका अत्यत मनोहर ऐसा स्त्रीरूप यंत्र हमारे साक्षात् देखते ही किसप्रकार नष्ट हो गया ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार पंतग दीपकपर पडते ही नष्ट हो जाता है उसीप्रकार ये कामीजन भी केवल बाहरसे उज्वल ऐसे स्त्रीके रूपको अत्यंत मनोहर मानकर उसपर पडते हैं और उसपर पडते ही नष्ट हो जाते हैं ॥ ३७ ॥ अवश्य ही इंद्रने जो यह नृत्य कराना प्रारंभ किया है वह उस बुद्धिमानने बहुत सोच विचारकर केवल हमारे बोध करानेकेलिये एक कपटरूप नाटक किया है ॥ ३८ ॥ जिसप्रकार यह नीलांजनाका शरीर क्षणभंगुर था, तुरंत ही नष्ट हो गया उसीप्रकार जीवोंके अन्य भी जो कुछ भोगोपभोगके पदार्थ हैं वे सब क्षणभंगुर हैं, अवश्य नष्ट

भरणैर्भारैः किं मलैरनुलेपनैः । उन्मत्तचेष्टितैर्नृत्तैरलं गीतैश्च शोचितैः ॥ ४० ॥ यद्यस्ति स्वगता शोभा किं किलालङ्कृतैः कृतं । यदि नास्ति स्वतः शोभा भारैरेभिस्तथापि किं ॥ ४१ ॥ तस्माद्धिग्धिगिदं रूप धिक्संसारमसारकं । राज्यभोग धिगस्त्वेनं धिग्धिगाकालिकीं श्रियं ॥ ४२ ॥ इति निर्विद्य भोगेभ्यो विरक्तात्मा सनातनः । मुक्तावुत्तिष्ठते स्माशु काललब्धिमुपाश्रितः ॥ ४३ ॥ तदा विशुद्धयस्तस्य हृदये पदमादधुः । मुक्तिलक्ष्म्येव सद्दिष्टास्तत्सख्यः सम्मुखागताः ॥ ४४ ॥ तदास्य सर्वमप्येतच्छून्यवत्प्रत्यभासत । मुक्त्यंगनासमासगे परां चिंतामुपेयुषः ॥ ४५ ॥ सौधर्मेंद्रस्ततोऽबोधि गुरो-

---

होनेवाले हैं और जीवोंको केवल ठगनेवाले हैं ॥ ३९ ॥ अतएव भाररूप इन आभरणोंसे क्या लाभ है मैलके समान इस सुगंध चंदनादिके लेपनसे क्या प्रयोजन है, उन्मत्तकी चेष्टाके समान यह नृत्य भी नहीं चाहिये और शोकके समान ये गीत भी नहीं चाहिये ॥ ४० ॥ यदि शरीरकी सुंदर शोभा स्वयं अच्छी है तो फिर अलंकारोंका क्या काम है और यदि शरीरमें शोभा है ही नहीं तो फिर ये भाररूप अलंकार कर ही क्या सकते हैं ॥ ४१ ॥ इसलिये इस रूपको भी धिक्कार है, इस असार संसारको भी धिक्कार है, इस राज्य भोगको भी धिक्कार है और इस असमयमें उत्पन्न होनेवाली विजलीके समान चंचल लक्ष्मीको भी बार बार धिक्कार है ॥ ४२ ॥ इसप्रकार जिनका अंतःकरण अत्यंत विरक्त होगया है ऐसे सनातन अर्थात् अनादि ब्रह्मा भगवान वृषभदेव भोगोंसे खेदखिन्न हुये और काललब्धिके प्राप्त होनेसे बहुत शीघ्र मुक्तिकेलिये उद्योग करने लगे ॥ ४३ ॥ उससमय भगवानके हृदयमें अत्यंत विशुद्ध परिणामोंने इसप्रकार अपना दखल जमालिया था मानों वे मुक्तिलक्ष्मीकी प्रेरणासे उसकी सखीके समान सामने ही आ उपस्थित हुये हों ॥ ४४ ॥ उससमय भगवान मुक्तिरूपी स्त्रीके साथ समागम करनेकेलिये बडे ही चिंतित हो रहे थे इसलिये उन्हे यह समस्त संसार शून्यके समान दिखाई दे रहा था ॥ ४५ ॥ भगवान वृषभदेवको बोध होगया है, वे अब संसारसे विरक्त होगये हैं यह जगतगुरु भगवानके अंतःकरणका हाल इंद्रने अपने अवधिज्ञानसे उसीसमय जानलिया था ॥४६॥ उसीसमय भगवानको प्रबोध करानेकेलिये और

रंतःसमीहित । प्रयुक्तावधिरीशस्य बोधिर्जातेति तत्क्षण ॥ ४६ ॥ प्रभोः प्रबोधमाधातुं तदा लौकांतिकामरा. । परिनिष्क्रमणेज्याये ब्रह्मलोकादवातरन् ॥ ४७ ॥ ते च सारस्वतादित्यौ वन्हिश्चारुण एव च । गर्दतोय सतुषितोऽव्याबाधोरिष्ट एव च ॥ ४८ ॥ इत्यष्टधानिकायाख्या दधाना विबुधोत्तमा । प्राग्भवेऽभ्यस्तनि शेषश्रुतार्थाः शुभभावना ॥ ४९ ॥ ब्रह्मलोकालयाः सौम्याः शुभलेश्या महर्द्धिका । तल्लोकांतनिवासित्वाद्गता लौकांतिकश्रुतिं ॥५०॥ दिव्यहसा विरेजुस्ते शिवोरुपुलिनोत्सुका । परिनिष्क्रांतिकल्याणशरदागमशंसिन ॥ ५१ ॥ सुमनोंजलयो मुक्ता स्वर्लौकांतिकामरै । विभोरुपासितु पादौ स्वचित्तांशा इवार्पिताः ॥ ५२ ॥ तेऽभ्यर्च्य भगवत्पादौ प्रसूनैः सुरभूरुहा । ततस्तुतिभिरर्ध्याभिः स्तोतुं प्रारेभिरे विभु ॥ ५३ ॥ मोहारिविज-

---

उनके तप कल्याणकी पूजा करनेकेलिये लौकांतिकदेव भी ब्रह्मलोकसे उतरे ॥ ४७ ॥ लौकांतिक देवोंके सारस्वत, आदित्य वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये आठ भेद होते हैं, वे लौकांतिक देव सब ही उत्तम देव होते हैं, वे पूर्वभवमें संपूर्ण श्रुतज्ञानका अभ्यास करते हैं और उनकी भावनायें सदा शुभ रहती हैं ॥ ४८-४९ ॥ वे लौकांतिकदेव ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवे स्वर्गके अंतके पटलमें रहते हैं, बडे शांत होते हैं, उनकी लेश्यायें शुभ होती हैं और वे बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले होते हैं । ब्रह्मलोक अर्थात् पांचवां स्वर्ग एक लोक कहलाता है, वे देव उस लोकके अंतमें अर्थात् पांचवें स्वर्गरूपी लोकके अंतमें निवास करते हैं इसलिये वे लौकांतिक कहलाते हैं ॥ ५० ॥ उस समय वे लौकांतिक देव भगवानके तपकल्याणरूपी शरदऋतुके आनेकी प्रशंसा कर रहे थे और मोक्षके सुखरूप नदीके किनारेपर निवास करनेकेलिये उत्कंठित हो रहे थे, इसलिये उससमय वे स्वर्गोंके राजहंसोके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ५१ ॥ उन लौकांतिक देवोंने आकर भगवानकेलिये जो पुष्पांजलि अर्पण की थी वह ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके चरण कमलोंकी उपासना करनेकेलिये उन्होंने अपने चित्तके अंश ही अर्पण किये हों ॥ ५२ ॥ उन लौकांतिकदेवोंने प्रथम ही कल्पवृक्षके पुष्पोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजाकी और फिर अनेक अर्थ भरेहुये स्तोत्रोंसे भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ की ॥५३॥

योयोगमधुना संविधित्सुना । भगवन्भव्यलोकस्य बंधुकृत्यं त्वयेहितं ॥ ५४ ॥ त्वं देव परमं ज्योतिस्त्वामाहुः कारणं परं । त्वमिदं विश्वमज्ञानप्रपाताद्धुद्धरिष्यसि ॥ ५५ ॥ त्वयाद्य दर्शितं धर्मतीर्थमासाद्य दुस्तरात् । भव्याः ससारभीमाब्धेरुत्तरिष्यंति हेलया ॥ ५६ ॥ तव वागंशवो दीप्ता द्योतयंतोखिलं जगत् । भव्यपद्माकरे बोधमाधास्यंति रवेरिव ॥ ५७ ॥ धातारमामनंति त्वां जेतारं कर्मविद्विषां । नेतारं धर्मतीर्थस्य त्रातारं च जगद्गुरुं ॥ ५८ ॥ मोहपंके महत्यस्मिन् जगन्मग्नमशेषतः । धर्महस्तावलंबेन त्वया मंक्षूद्धरिष्यते ॥ ५९ ॥ त्वं स्वयभूः स्वयंबुद्धसन्मार्गो मुक्तिपद्धतिं । यत्प्रबो

कि हे भगवान आज आपने जो मोहरूपी शत्रुके जीतनेके उद्योग करनेकी इच्छा की है सो अवश्य ही आपने भव्य जीवोंको सहायता देनेके लिये भाईपनेका काम करना विचार लिया है ॥ ५४ ॥ हे देव आप उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप हैं, सबलोग आपको समस्तकार्योंका उत्तम कारण बतलाते हैं। हे देव आप ही अज्ञानरूपी प्रपात अर्थात् ऊपरसे पडती हुई धारसे इस संसारका उद्धार करेंगे ॥ ५५ ॥ हे देव आज आपने जो धर्मरूपी तीर्थ दिखलाया है उसे पाकर भव्यजीव इस संसार रूपी भयानक और दुस्तर समुद्रसे लीलामात्रमें पार हो जायंगे ॥ ५६ ॥ हे स्वामिन् जिसप्रकार सूर्यकी तेज किरणें संसारको प्रकाशित करती हुई कमलोंको प्रफुल्लित करती हैं उसीप्रकार आपकी वचनरूपी दैदीप्यमान किरणें भी संसारके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती हुई भव्यजीवरूपी कमलसमूहोंको प्रफुल्लित करेंगी ॥५७॥ हे नाथ ! लोग आपको जगतका पालन करनेवाले ब्रह्मा मानते हैं, कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले कहते हैं, धर्मरूपी तीर्थके नायक बतलाते हैं और सबकी रक्षा करनेवाले जगत्गुरु कहते हैं ॥ ५८ ॥ हे स्वामिन् ! यह संपूर्ण जगत मोहरूपी महा कीचडमें फंसा हुआ है उसे आप धर्मरूपी हस्तावलंबन देकर शीघ्र उसका उद्धार करेंगे ॥ ५९ ॥ हे भगवान ! आप स्वयंभू हैं, अपने आप अनादिकालसे चले आये मोक्षमार्गको जाननेवाले हैं और हमलोगोंकेलिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये हे नाथ ! आप बिना कारण ही करुणा करनेवाले हैं ॥ ६० ॥ हे देव ! आज आपने सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

धयितास्यस्मानकस्मात्करुणार्द्रधीः ॥ ६० ॥ त्वं बुद्धोसि स्वयंबुद्धस्त्रिबोधामलोचन. । यद्वेत्थ स्वत एवाद्य मोक्षस्य पदवीं त्रयीं ॥ ६१ ॥ स्वयंप्रबुद्धसन्मार्गस्त्वं न बोध्योस्मदादिभि· । किंत्वास्मक नियोगोय मुखरीकुरुतेय नः ॥ ६२ ॥ जगत्प्रबोधनोद्योगे न त्वमन्यैर्नियुज्यसे । भुवनोद्योतने किंतु केनाप्युत्थाप्यतेंशुमान् ॥ ६३ ॥ अथवा बोधितोऽप्यस्मान्बोधयस्यपुनर्भव । बोधितोऽपि यथा दीपो भुवनस्योपकारकः ॥ ६४ ॥ सद्योजातस्त्वमाद्येऽभू' कल्याणे वामतां मतः । प्राप्तेनंतरकल्याणे धत्से संप्रत्यघोरता ॥ ६५ ॥ भुवनस्योपकाराय कुरूद्योगं त्वमीशितः । त्वां नवाब्दमिवासेव्य

और सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकतारूप मोक्षमार्गको अपने आप जाना है इसलिये ही आप स्वयंबुद्ध हैं और मतिज्ञान श्रुतज्ञान तथा अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करने वाले बुद्ध हैं ॥ ६१ ॥ हे विभो ! आप सन्मार्गका स्वरूप स्वयं जानते हैं इसलिये हमारे ऐसे देवोंके द्वारा प्रबुद्ध कराने योग्य नहीं है, तथापि हमलेगोंका यह नियोग है, वही आज हम लोगोंको वाचालित कर रहा है ॥ ६२ ॥ हे प्रभो ! समस्त संसारको प्रबुद्ध करानेका उद्योग करनेकेलिये आपको अन्य कौन प्रेरणा कर सकता है । क्या संसारको प्रकाशित करनेकालये सूर्यको अन्य कोई उठाता है ? भावार्थ–जिसप्रकार सूर्य अपने आप संसारको प्रकाशित करता है उसीप्रकार आप भी अपने आप संसारी जीवोंको उपदेश देते हैं ॥ ६३ ॥ अथवा जन्ममरणरहित हे जिनद्र देव ! जिसप्रकार प्रबोधित किया हुआ अर्थात् जलाया हुआ दीपक संसारका उपकारक होता है अर्थात् सबको प्रकाशित करता है उसीप्रकार आप भी यद्यपि हमारे द्वारा ही प्रबुद्ध हुये हैं तथापि हमलोगोंको ही प्रबोध करावेंगे ॥ ६४ ॥ हे नाथ ! आप गर्भकल्याणमें सद्योजात (शीघ्र अवतार लेनेवाले) कहलाये थे । द्वितीय जन्मकल्याणकमें आपने वामता अर्थात् मनोहरता धारण की थी और अब तीसरे तपकल्याणमें संसारी जीवोंको सुखी करनेका उपाय धारण करेंगे ॥ ६५ ॥ हे ईश्वर ! आप संसारके उपकार करनेका उद्योग कीजिये । ये भव्यरूपी चातक नवीन बादलोंके समान आपको पाकर तथा आपकी सेवा कर संतुष्ट हों

प्रीयंतां भव्यचातकाः ॥ ६६ ॥ तव धर्मामृतं स्रष्टुमेष कालः सनातनः । धर्मसृष्टिमतो देव विधातु धातरर्हसि ॥ ६७ ॥ जय त्वमीश कर्मारीन् जय मोहमहासुरं । परीषहभटान्दृप्तान्विजयस्व तपोबलात् ॥ ६८ ॥ उत्तिष्ठता भवान्मुक्तौ भुक्तैर्भोगैरलं तरां । न स्वाद्वंतरमेषु स्याद्भूयोऽप्यनुभवैर्गिनां ॥ ६९ ॥ इति लौकांतिकैर्देवैस्तुवानैरुपनार्थितः । परिनिष्क्रमणे बुद्धिमधाद्धाता द्रढीयसीं ॥ ७० ॥ तावत्तेव नियोगेन कृतार्थास्ते दिवं ययुः । हंसा इव नभोवीथीं द्योतयतोऽगदीप्तिभिः ॥७१॥ तावच्च नाकिनो नैकविक्रियाः कंपितासनाः । पुरोभूवन्पुरोगस्य पुरोधाय पुरंदरं ॥ ७२ ॥ नभोऽगण-

॥ ६६ ॥ हे भगवन् ! यह नित्य काल भी अब आपके धर्मरूपी अमृत उत्पन्न करनेके अनुकूल हुआ है इसलिये हे देव अब आप धर्मरूपी सृष्टिको उत्पन्न करनेके अनुकूल हुये हैं ॥ ६७ ॥ हे स्वामिन् ! अब आप अपने तपश्चरणरूपी बलसे कर्मरूप शत्रुओंका विजय कीजिये मोहरूपी महा असुरको जीतिये और परीषहरूपी घमंडी योद्धाओंका भी विजय कीजिये ॥ ६८ ॥ हे नाथ ! अब आप मोक्ष जानेकेलिये उठिये, तैयार हूजिये, अब इन बार बार भोगे हुये भोगोंको छोडिये, क्योंकि जीवोंको इन भोगोंका बार २ अनुभव करनेसे कुछ भी स्वाद नहीं बदलता है ॥ ६९ ॥ इसप्रकार लौकांतिक देवोंने भगवान वृषभदेवकी स्तुतिकर तपश्चरण धारण करनेकेलिये उनसे प्रार्थना की । तब आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने तपश्चरण करनेकेलिये अपनी बुद्धि दृढ की ॥ ७० ॥ जिसप्रकार हंस आकाश मार्गको प्रकाशित करते हुये जाते हैं उसीप्रकार अपने शरीरकी कांतिसे आकाशमार्गको प्रकाशित करते हुये वे लौकांतिक देव अपने इतने ही नियोगसे अर्थात् भगवानको तपश्चरण धारण करनेका स्मरण दिलाकर ही कृतार्थ होकर स्वर्गको चलेगये ॥ ७१ ॥ इतनेमें इधर सब देवोंके आसन कंपायमान हुये थे, इसलिये सब देव अवधिज्ञानसे भगवानका तपकल्याणक जानकर अपने अपने निकायके इंद्रोंके साथ २ अनेक विक्रयाओंको धारणकर आने लगे ॥ ७२ ॥

अथानंतर—समस्त इंद्र अपनी २ सवारी और अपने अपने समूहोंको लेकर आकाशमें व्याप्त होते हुये

मधारुह्य तेऽयोध्यां परितः पुरीं । तस्थुः सवाहनानीका नाकिनाथा निकायशः ॥ ७३ ॥ ततोऽस्य परिनिष्क्रांतिमहाकल्याणसंविधौ । महाभिषेकर्मिंद्राद्याश्चक्रुः क्षीरार्णवांबुभिः ॥ ७४ ॥ अभिषिच्य विभुं देवा भूषयाचक्रुरादृताः । दिव्यैर्विभूषणैर्वस्त्रैर्माल्यैश्च मलयोद्भवैः ॥ ७५ ॥ ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरत सूनुमग्रिम । भगवान्भारतं वर्षं तत्सनाथ व्यधादिद ॥ ७६ ॥ यौवराज्ये च तं बाहुबलिनं समतिष्ठिपत् । तदा राजन्वतीत्यासीत्पृथ्वी ताभ्यामधिष्ठिता ॥ ७७ ॥ परिनिष्क्रातिराज्यानुसक्रातिद्वितयोत्सवे । तदा स्वर्लोकभूलोकावारता प्रमदनिर्भरौ ॥ ७८ ॥ भगवत्परिनिष्क्रातिकल्याणो-

---

आये और आकर अयोध्यापुरीके चारोंओर ठहरगये ॥७३॥ तदनंतर इंद्रादिक देवोंने भगवानके निष्क्रमण अर्थात् तपश्चरण धारण करनेका महाकल्याणोत्सव करनेकेलिये क्षीरसागरके जलसे भगवानका महाभिषेक किया ॥ ७४ ॥ उन्होंने प्रथम ही भगवानका अभिषेक किया और फिर दिव्य आभूषण, दिव्य वस्त्र, दिव्य माला और मलयागिरिचंदनसे बडे आदरपूर्वक भगवानका अलंकार किया ॥७५॥ यह सब क्रिया हो जानेके अनंतर भगवानने साम्राज्यपदपर स्थापन करनेकेलिये अपने ज्येष्ठपु त्र भरतका अभिषेककर इस भारतवर्षको सनाथ बनाया ॥७६॥ और युवराजपदपर महारानी सुनंदाके पुत्र बाहुबलिको विराजमान किया। उससमय भरत और बाहुबलीके आश्रित होनेसे यह पृथ्वी साक्षात् राजन्वती (जिसका पालन करनेवाला राजा दयालु हो) हो गई थी ॥७७॥ उससमय भगवान वृषभदेवके दीक्षाकल्याणका उत्सव हो रहा था और भरत तथा बाहुबलीके राज्याभिषेकका उत्सव हो रहा था, इन दोनोंप्रकारके उत्सवोंसे उससमय स्वर्गलोक और पृथ्वीलोक दोनोंमें ही खूब आनंद मनाया जा रहा था ॥७८॥ उससमय एकओर तो बडे धूमधामसे भगवानके दीक्षाकल्याणका उत्सव हो रहा था और दूसरीओर दोनों राजकुमारोंके समस्त पृथ्वीका राज्यस्वीकार करनेका उत्सव हो रहा था ॥ ७९ ॥ एकओर तो राजऋषि भगवान वृषभदेव तपश्चरणरूपी राज्य करनेकेलिये कमरबांधकर तैयार हुये थे और दूसरीओर वे दोनों ही राजकुमार राज्यलक्ष्मीके साथ विवाह करनेकेलिये तैयार हो रहे थे ॥ ८० ॥ एकओर तो देवलोगोंके शिल्पिकार (कारीगर) भगवान

त्सव एकतः । स्फीतर्द्धिरन्यतो यूनोः पृथ्वीराज्यार्पणक्षण' ॥ ७९ ॥ बध्दकक्षस्तपोराज्ये सज्जो राजर्षिरेकतः । युवानावन्यतो राज्यलक्ष्म्योद्वाहे कृतोद्यमौ ॥ ८० ॥ एकत' शिबिकायाननिर्माण सुरशिल्पिना । वास्तुवेदिभिरारब्धः परार्घ्यो मंडपोऽन्यतः ॥ ८१ ॥ शचीदेव्यैकतो रंगवल्यादिरचना कृता । देव्यान्यतो यशस्वत्या सानद ससुनदया ॥ ८२ ॥ एकतो मगलद्रव्यधारिण्यो दिक्कुमारिकाः । अन्यत कृतनेपथ्या वारमुख्या वरस्त्रियः ॥ ८३ ॥ सुरवृंदारकैः प्रीतैर्भगवानेकतो वृतः । क्षत्रियाणा सहस्रेण कुमारावन्यतो वृतौ ॥ ८४ ॥ पुष्पाजलि. सुरैर्मुक्त. स्तुवानैर्भर्तुरेकत । अन्यतः साशिषः शेषाः क्षिप्ता. पौरैर्युवेशिनोः ॥ ८५ ॥ एकतोऽप्सरसा नृत्तमस्पृष्टधरणीतल । सलीलपदविन्यासमन्यतो वारयोषिता ॥ ८६ ॥ एकतः सुरतूर्याणा प्रध्वा-

---

को सवारकर बनमें लेजानेकेलिये पालकी बना रहे थे और दूसरीओर वास्तुविधानको (घर मकान आदिको) जाननेवाले शिल्पिकार लोग राजकुमारोंको अभिषेक करानेकेलिये बहुत सुंदर और मूल्यवान मंडप तैयार कर रहे थे ॥८१॥ एकओर तो शचीदेवी अर्थात् इंद्रानी चौक वगैरह पूर रही थी और दूसरीओर यशस्वती और सुनंदादेवी बडे आनंदके साथ चौक पूर रही थीं ॥८२॥ एकओर तो दिक्कुमारी देवियां मंगलद्रव्य धारण किये हुये खडी थीं और दूसरीओर वस्त्र और आभूषणोंसे सुशोभित ऐसी उत्तम वारांगनायें मंगलद्रव्य लेकर खडी हुई थीं ॥ ८३ ॥ एकओर भगवान वृषभदेव अति संतुष्ट हुये मुख्य मुख्य देवोंसे घिरे हुये थे और दूसरीओर वे दोनों राजकुमार हजारों क्षत्रियोंसे घिरे हुये थे ॥ ८४ ॥ एकओर भगवान वृषभदेवके सामने स्तुति करते हुये देवलोग पुष्पांजलि अर्पण कर रहे थे और दूसरीओर पुरवासी लोग दोनों राजकुमारोंके सामने आशीर्वादके साथ शेषाक्षत फेंक रहे थे ॥ ८५ ॥ एकओर भगवानके सामने अधर आकाशमें अप्सराओंका नृत्य हो रहा था और दूसरीओर अनेक वारांगनायें लीलापूर्वक पैर उठाती रखती हुई नृत्य कर रहीं थीं ॥ ८६ ॥ एकओर सब दिशाओंमें व्याप्त होते हुये देवलोगोंके बाजे बज रहे थे और दूसरीओर मांगलिक बाजोंके घोर शब्द चारोंओर फैल रहे थे ॥८७॥ एकओर किन्नर जातिके देव मधुर मंगलगीत गा रहे थे और दूसरीओर अंतःपुरकी स्त्रियां मधुर गीत गा रहीं थीं ॥८८॥ एकओर

नो रुद्धदिग्मुखः । नादीपटहनिर्घोषप्रविजृंभितमन्यतः ॥ ८७ ॥ एकतः किंनरारब्धः कलमंगलनिःक्वण. । अन्यतोंत.पुरस्त्रीणां मंगलोद्गीतिनिःस्वनः ॥ ८८ ॥ एकतः सुरकोटीना जयकोलाहलध्वनि· । पुण्यपाठककोटीनां सपाठध्वनिरन्यतः ॥ ८९ ॥ इत्युच्चैरुत्सवद्वैतव्यग्रयुजनभूजनं । परमानंदसान्द्रूतमभूत्तद्राजमंदिर ॥ ९० ॥ वितीर्णराज्यभारस्य विभोरथिपुत्रेश्वरं । परिनिष्क्रमणोद्योगस्तदा जज्ञे निराकुल· ॥ ९१ ॥ शेषेभ्योपि स्वसूनुभ्यः संनिभज्य महीमिमा । विभुर्विश्राणयामास निर्मुमुक्षुरसभ्रमी ॥ ९२ ॥ सुरेंद्रनिर्मिता दिव्या शिविका स सुदर्शना । सनाभीन्नाभिराजादीनापृच्छ्यारुक्षदक्षरः ॥ ९३ ॥ सादरं च शचीनाथदत्तहस्तावलंबनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायामारूढः शिविका प्रभुः ॥९४॥ दीक्षांगनापरिष्वंगपरिवर्धितकौतुकः । प्रनर्ष्यां तु न-

करोडों देवलोग जय जय ऐसा कोलाहल शब्द कर रहे थे और दूसरीओर पुण्यपाठ पढनेवाले करोडों मनुष्य अपना २ पुण्यपाठ पढ रहे थे ॥८९॥ इसप्रकार उस राजमंदिरमें होने वाले दोनों ही बडे २ उत्सवोंमें स्वर्गमें रहनेवाले देवलोग और पृथ्वीलोकमें रहनेवाले मनुष्य लोग सबही व्यग्र हो रहे थे तथा वह राजमंदिर बडा ही आनंदस्वरूप हो रहा था ॥९०॥ भगवान वृषभदेवने अपने राज्यका भार दोनों ही पुत्रोंकेलिये समर्पण कर दिया था इसलिये अब उनका दीक्षा ग्रहण करनेका उद्योग बिलकुल निराकुल होगया था ॥ ९१ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भगवान वृषभदेवने निराकुल होकर अन्य पुत्रोंकेलिये भी यह पृथ्वी बांटकर अर्पण कर दी थी ॥ ९२ ॥ तदनंतर अविनाशीक भगवान वृषभदेव महाराज नाभिराज तथा अपने कुटुंबी लोगोंसे पूछकर इंद्रकी बनाई हुई दिव्य सुदर्शन नामकी पालकीपर सवार हुये ॥ ९३ ॥ पालकीमें सवार होतेसमय इंद्रने बडे आदरके साथ भगवानको अपने हाथका सहारा दिया था । इसप्रकार वे भगवान दीक्षा ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञाके समान उस पालकीपर सवार हुये ॥९४॥ दीक्षारूपी स्त्रीके साथ समागम करनेका जिनका कौतूहल बढ रहा है ऐसे वे भगवान वृषभदेव पालकीपर सवार होते हुये ऐसे जान पडते थे मानों पालकीके बहानेसे उस दीक्षारूपी स्त्रीके पलंगपर ही आरूढ हुये हों ॥ ९५ ॥ जिनके गलेमें सुंदर माला पडी हुई है, जिनका शरीर मलयागिरि चंदनके लेपसे देदीप्यमान हो रहा है और

मारूढः स धाता शिबिकाछलात् ॥ ९५ ॥ स्त्रग्वी मलयजालिप्तदीप्तमूर्तिरलंकृतः । स रेजे शिबिकारूढस्तपोलक्ष्म्या वरोत्तमः ॥ ९६ ॥ परा विशुद्धिमारूढः प्राक्पश्चाच्छिबिकां विभुः । तदाकरोदिवाभ्यासं गुणश्रेण्यधिरोहणे ॥ ९७ ॥ पदानि सप्त तामूहुः शिबिकां प्रथमं नृपाः । ततो विद्याधरा निन्युर्व्योम्नि सप्त पदांतरं ॥ ९८ ॥ स्कंधाधिरोपितां कृत्वा ततोमूमविलंबितं । सुरासुराः खमुत्पेतुरारूढप्रमदोदयाः ॥ ९९ ॥ पर्याप्तमिदमेवास्य प्रभोर्माहात्म्यशंसनं । यत्तदा त्रिदिवाधीशा जाता युग्यकवाहिनः ॥ १०० ॥ तदावचकरुः पुष्पवर्षमामोदि गुह्यकाः । ववौ मंदाकिनीसीकराहारः शिशिरो मरुत् ॥ १०१ ॥ प्रस्थानमंगलान्युच्चैः प्रपेठुः सुरबंदिनः । तदा प्रयाणभेर्यश्च विष्वगास्फालिताः सुरैः ॥ १०२ ॥ मोहारिविजयोद्योगसमयोऽय

जो वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो रहे हैं ऐसे वे भगवान उस पालकीपर सवार हुये ऐसे जान पडते थे मानों तपरूपी लक्ष्मीके उत्तम बर ही हों ॥ ९६ ॥ भगवान वृषभदेवने पहिले तो परम विशुद्धता धारण की थी और फिर पीछे पालकीपर सवार हुये थे, उससमय वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों आगेके गुणस्थानोंकी श्रेणी चढनेका अभ्यास ही कर रहे हों ॥ ९७ ॥ इसप्रकार भगवान जब पालकीमें सवार हो लिये तब प्रथम ही राजालोग उसे सात पेंडतक ले चले और फिर विद्याधरलोग आकाशमें सात पेंडतक ले चले ॥ ९८ ॥ तदनंतर वैमानिक और भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क जातिके देवोंने बडे प्रसन्न होकर वह पालकी अपने कंधेपर रक्खी और बहुत शीघ्र उसे आकाशमें ले गये ॥ ९९ ॥ भगवान वृषभदेवके माहात्म्यकी प्रशंसा केवल इतनेमें ही समाप्त कर देनी चाहिये कि उससमय स्वर्गके स्वामी इंद्र भी पालकी लेजानेवालेका काम कर रहे थे, अर्थात् वे स्वयं पालकी ले जा रहे थे ॥ १०० ॥ उससमय यक्ष आकाशसे सुगंधित पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे और गंगानदीके जलबिंदुओंको धारण करनेवाला शीतल वायु चल रहा था ॥१०१ ॥ देव लोगोंके बंदीजन बडे जोरसे प्रस्थानसमयके मंगल पाठ पढ रहे थे और देवलोग चारोंओर उससमय प्रस्थान करनेसमयकी भेरियां बजा रहे थे ॥ १०२ ॥ उससमय इंद्रकी आज्ञासे समस्तदेव यही घोषणा कर रहे थे कि जगत-

जगद्गुरोः इत्युच्चैर्घोषयामासुस्तदा शक्राज्ञयामराः ॥ १०३ ॥ जयकोलाहलं भर्तुरग्रे हृष्टाः सुरासुराः । तदा चक्रुर्नभोभागमारुध्य प्रमदोदयात् ॥ १०४ ॥ तदा मङ्गलसङ्गीतैः प्रकृतैर्जयघोषणैः । नभोमहानकध्वानैरारुद्धं शब्दसादभूत् ॥ १०५ ॥ देहोद्योतस्तदेन्द्राणां नभः कृत्स्नमदिद्युतत् । दुन्दुभीनां च निर्ह्रादी ध्वनिर्विश्वमदिध्वनत् ॥ १०६ ॥ सुरेन्द्रकरविक्षिप्तैः प्रचलद्भिरितोऽमुतः । तदा हंसायितं व्योम्नि चामराणां कदम्बकैः ॥ १०७ ॥ ध्वनत्सु नभो व्याप्य सुरेन्द्रानककोटिषु । कोटिशः सुरचेटानां करकोणाभिताडनैः ॥ १०८ ॥ नटन्तीषु नभोरङ्गे सुरस्त्रीषु सविभ्रमम् । विचित्रकरणोपेतं छत्रबन्धादिलाघवैः ॥ १०९ ॥ गायन्तीषु सुकण्ठीषु किन्नरीषु कलस्वनम् । श्रवःसुखं च हृद्यं च परिनिष्क्रमणोत्सवम् ॥ ११० ॥ मङ्गलानि पठत्सूच्चैः सुरसं

गुरु भगवान वृपभदेवके मोहरूपी शत्रुके जीतनेका उद्योग करनेकेलिये यही समय है ॥ १०३ ॥ उससमय अतिसंतुष्ट हुये सुर असुर सब जातिके देव बडे हर्षसे समस्त आकाशमें व्याप्त होकर भगवानके सामने जय जय ऐसा कोलाहल कर रहे थे ॥ १०४ ॥ मंगलगीतोंसे, उच्चारण होनेवाले जय जय शब्दोंसे और बडे बडे नगाडोंके शब्दोंसे सबओर व्याप्त हुआ आकाश उससमय शब्दमय हो रहा था ॥ १०५ ॥ इंद्रोंके शरीरका उद्योत समस्त आकाशको प्रकाशित कर रहा था और दुंदुभियोंके मनोहर शब्द समस्त संसारको शब्दायमान कर रहे थे ॥१०६ ॥ उससमय जो चमरोंके समूह इंद्रके हाथसे दुलायेगये इधरसे उधर और उधरसे इधर फिर रहे थे वे आकाशमें ठीक हंसोंके समान जान पडते थे ॥ १०७ ॥ जिससमय भगवान वृपभदेव पालकीपर सवार हुये थे उससमय करोडों देवलोगोंके बालकोंके हाथोंसे बजते हुये करोडों देवोंके नगाडे आकाशमें व्याप्त होकर बज रहे थे ॥ १०८ ॥ आकाशरूपी रंगभूमिमें अनेक देवांगनायें बडी विलासताके साथ नृत्य कर रहीं थीं । नृत्य करते समय वे अपने हाथोंसे छत्र बनाना, वीणा बजाना आदि तरह तरहके संकेत बतला रहीं थीं ॥ १०९ ॥ किन्नरी जातिकी देवियां अपने मधुर स्वरसे कानोंको सुख देनेवाले, मनोहर और मधुर ऐसे तपकल्याणोत्सवके समयके गीत गा रहीं थीं ॥११०॥ देवलोगोंके वंदीजन बडे जोरसे किंतु मधुर शब्दोंसे मंगल पाठ पढ रहे थे तथा उस तप·

सुरवंदिषु । तत्कालोचितमन्यच्च वचश्चेतोनुरंजनं ॥ १११ ॥ भूतेषूद्भूतहर्षेषु चित्रकेतनहारिषु । नानालास्यैः प्रधावत्सु सुसंघर्षमितोऽमुतः ॥ ११२ ॥ शंखानाध्मातगंडेषु पिंडीभूतागयष्टिषु । सकाहलानिलिंपेषु पूरयत्स्वनुरागतः ॥ ११३ ॥ अग्रेसरीषु लक्ष्मीषु पकजव्यग्रपाणिषु । समं समंगलार्घाभिर्दिक्कुमारीभिरादरात् ॥ ११४ ॥ इत्यमीषु विशेषेषु प्रभवत्सु यथायथं । संप्रमोदमयं विश्वमातन्वन्नद्भुतोदयः ॥ ११५ ॥ परार्घ्यरत्ननिर्माणं दिव्यं यानमधिष्ठितः । रत्नक्षोणीप्रतिष्ठस्य श्रियं मेरोर्विडंबयन् ॥ ११६ ॥ कंठाभरणभाभारपरिवेषोपरक्तया । मुखार्कभासा न्यक्कुर्वन् ज्योतिर्ज्योतिर्गणेशिना ॥ ११७ ॥ उत्तमांगधृतेनोच्चैर्मौलिनाविर्मणिविषा । धुन्वानोऽमींद्रमौलीनां त्विषमाविष्कृतार्चिषा ॥ ११८ ॥ किरीटोत्संगसंगिन्या सुमनःशेखरस्रजा ।

कल्याणके समयमें अच्छे लगनेवाले और सबके मनको प्रसन्न करनेवाले ऐसे अन्य पाठोंको भी पढ रहे थे ॥ १११ ॥ भूत जातिके व्यंतर देव तरह तरहकी मनोहर ध्वजायें हाथमें लियेहुये, बडे हर्षके साथ अनेकप्रकारके नृत्य करते हुये और लोगोंकी भीडमें धक्का देते हुये इधर उधर दौड रहे थे ॥ ११२ ॥ देवलोग बडे अनुरागसे झल्लरियोंके साथ साथ अपने गालोंको फुलाकर और शरीरको पिंडके समान संकुचितकर शंख बजा रहे थे ॥ ११३ ॥ तथा श्री ह्री धृति कीर्ति वृद्धि लक्ष्मी आदि देवियां अपने चंचल हाथोंमें कमल लिये आगे २ जा रहीं थीं और उनके साथ २ बडे आदरसे मंगलार्घ लेकर दिक्कुमारी देवियां जा रहीं थीं ॥११४॥ इसप्रकार जिससमय यथायोग्य विशेष विशेष उत्सव हो रहे थे उससमय अद्भुत भाग्यशाली भगवान वृषभदेव समस्त संसारको आनंदित करते हुये अमूल्य रत्नोंकी बनीहुई दिव्य पालकीपर सवार हुये । जिससमय भगवान उस पालकीपर सवार होकर अयोध्या नगरसे बाहर निकले थे उससमय वे रत्नसमूहोंसे बने हुये मेरुपर्वतकी शोभाको भी नीचा दिखा रहे थे ॥ ११५-११६ ॥ उनके गलेमें जो आभूषण पडे हुये थे उनकी कांतिके समूहसे उनके मुखपर कुछ २ लालिमा लिये हुये परिधिके आकारका जो गोल प्रभामंडल पड रहा था उससे उनका मुख ठीक सूर्यके समान जान पडता था, उस मुखरूपी सूर्यकी प्रभासे वे भगवान उससमय ज्योतिषी जातिके देवोंके इंद्रोंकी अर्थात् सूर्य चंद्रकी कां-

मनःप्रसादमात्मीयं मूर्ध्नेवोध्दृत्य दर्शयन् ॥ ११९ ॥ प्रसन्नया दृशोर्भासा प्रोल्लसंत्या समंततः। दृग्विलासं सहस्राक्षे सान्यासिकमिवार्पयन् ॥ १२० ॥ तिरस्कृताधरच्छायैर्दराद्भिन्नैः स्मितांशुभिः। क्षालयन्निव निःशेषं रागशेषं स्वशुद्धिभिः ॥ १२१ ॥ हारेण हारिणा चारुवक्षःस्थलविलंबिना। विडंबयान्निवाद्रींद्रं प्रांतपर्यस्तनिर्झरं ॥ १२२ ॥ भुजयोः शोभया दीप्तकटकांगदभूषया। निर्भर्त्सयन्फणींद्राणां फणारत्नरुचां चयं ॥ १२३ ॥ कांचीदामपरीक्षिप्तजघनस्थललीलया। स्वीकुर्वन्वेदिकारुद्धजंबूद्वीपस्थलश्रियं ॥ १२४ ॥ क्रमोपधानपर्यंतोल्लसत्पदनखांशुभिः। प्रसादांशैरिवाशेषं पुनानः प्रणतं जनं ॥ १२५॥

तिको लज्जित कर रहे थे ॥ ११७ ॥ उनके मस्तकपर जो सूर्यके समान देदीप्यमान ऊंचा मुकुट सुशोभित था उसकी कांतिसे वे जिनसे अग्निकी ज्वाला निकल रही है ऐसे अग्निकुमार देवोंके इंद्रोंके मुकुटकी कांतिको भी नीचा दिखला रहे थे ॥ ११८ ॥ मुकुटपर जो फूलोंका सेहरा पडा हुआ था, उसकी मालाओंके द्वारा मानों वे भगवान लोगोंकेलिये अपने मनकी प्रसन्नताको मस्तकपर धारण कर ही दिखला रहे थे ॥११९॥ उनके नेत्रोंकी स्वच्छ कांति जो चारों ओर खूब प्रफुल्लित हो रही थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों इंद्रकेलिये सन्यास धारण करनेके समयका नेत्रोंका विलास ही अर्पण कर रहे हों ॥१२०॥ उनकी कुछ २ निकलती हुई मंद हंसीकी स्वच्छ किरणोंसे उनके लाल ओठोंकी शोभा भी छिप जाती थी, और उससमय उससे वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों अपनी विशुद्धिके द्वारा बाकी बचे हुये संपूर्ण रागको धो रहे हों ॥ १२१ ॥ सुंदर वक्षःस्थलपर लटकते हुये मनोहर हारसे वे ऐसे जान पडते थे मानों किनारेसे नीचे पडते हुये निर्झरने सहित सुमेरुपर्वतको ही तिरस्कृत कर रहे हों ॥ १२२ ॥ जिसमें कडे बाजूबंध आदि आभूषण चमक रहे हैं ऐसी भुजाओंकी शोभासे वे ऐसे जान पडते थे मानों नागकुमार इंद्रके फणमें लगे हुये रत्नोंकी कांति समूहकी भर्त्सना ही कर रहे हों अर्थात् उसे नीचा ही दिखला रहे हों ॥१२३॥ उनके जघनस्थलमें अर्थात् कमरमें जो करधनी पडी हुई थी उसकी शोभासे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने वेदिकासे घिरे हुये जंबूद्वीपकी शोभा ही स्वीकार की हो ॥ १२४ ॥ पैरोंके ऊपर गु-

न्यक्कृतार्करुचा स्वांगदीप्त्या व्याप्तककुम्मुखः । स्त्रैनौजसाधरीकुर्वन्सर्वान्गीर्वाणनायकान् ॥ १२६ ॥ इति प्रत्यंगसंगिन्या नैःसंग्योचितया श्रिया । निर्वासयन्निवासंग चिरकालोपलालितं ॥ १२७ ॥ विधृतेन सितच्छत्रमंडलेनामलत्विषा । विधुनेवोपरिस्थेन सेव्यमानः क्रमच्छिदा ॥ १२८ ॥ प्रकीर्णकप्रतानेन विधूतेनामरेश्वरैः । जन्मोत्सवक्षणप्रीत्या क्षीरोदेनेव सेवितः ॥ १२९ ॥ इत्याविष्कृतमाहात्म्यः सुरेंद्रैः परितो वृतः । पुरुः पुराद्विनिष्क्रांतः पौरैरित्यभिनंदितः ॥ १३० ॥ व्रज सिद्ध्यै जगन्नाथ शिवः पंथाः समस्तु ते । निष्ठितार्थः पुनर्देव दृक्पथे नो भवाचिरात् ॥ १३१ ॥ नाथानाथंज -

---

ल्फोंतक अर्थात् पैरके ऊपर दोनोंओरकी गांठोंतक जो उनके नखोंकी कांति देदीप्यमान हो रही थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों उनके पैरोंमें नमस्कार करते हुये संपूर्ण लोगोंको अपनी प्रसन्नताकी किरणोंसे पवित्र ही कर रहे हों ॥१२५॥ उससमय सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कृत करनेवाली उनके शरीरकी कांति सब दिशाओंमें व्याप्त हो रही थी और उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों अपने प्रतापसे स्वर्गके सब इंद्रोंको लज्जित कर रहे हों ॥ १२६ ॥ इसप्रकार उनके प्रत्येक अंग उपांगमें जो वैराग्यके योग्य शोभा थी उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों चिरकालसे पालन पोषण की हुई परिग्रहकी आसक्तिको बाहर ही निकाल रहे हों ॥१२७॥ भगवानके ऊपर जो निर्मल कांतिको धारण करनेवाला सफेद छत्र लग रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों समस्त क्लेशोंके दूर करनेवाला चंद्रमा ही ऊपर आकर भगवानकी सेवा कर रहा हो ॥ १२८ ॥ भगवानके ऊपर अनेक इंद्रोंके द्वारा जो चमरोंका समूह ढुलाया जा रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों चमरोंके बहानेसे होनेवाले अपने जन्मोत्सवके क्षण भरके प्रेमसे क्षीरसागर ही आकर उनकी सेवा कर रहा हो ॥ १२९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिनका माहात्म्य प्रगट हो रहा है ऐसे वे भगवान वृषभदेव सब इद्रोंसे घिरे हुये अयोध्या नगरसे बाहर निकले। जिससमय वे अयोध्यासे बाहर निकल रहे थे उससमय नगरनिवासी लोग उनकी स्तुति इसप्रकार कर रहे थे ॥१३०॥ कि हे जगन्नाथ ! आप किसी कामकी सिद्धिकेलिये जा रहे हैं सो जाइये, आपका मार्ग कल्याणमय हो।

नं त्रातुं नान्यस्त्वमिव कर्मठः । तस्मादस्मत्परित्राणे प्रणिधेहि मनः पुनः ॥ १३२ ॥ परानुग्रहकारीणि चेष्टितानि तव प्रभो । निर्व्यपेक्षं विहायास्मान्कोनुग्राह्यस्त्वयापरः ॥ १३३ ॥ इति श्लाघ्य प्रसन्नं च सानुतर्षं सनाथनं । कैश्चित्संजल्पितं पौरैरारात्प्रणतमूर्द्धभिः ॥ १३४ ॥ अयं स भगवान्दूरं देवैराक्षिप्य नीयते । न विद्मः कारणं किंतु क्रीडेयमथवेदृशी ॥ १३५ ॥ भवेदपि भवेदेतन्नीतो मेरु पुराप्ययं । प्रत्यानीतश्च नाकीन्द्रैर्जन्मोत्सवविधित्सया ॥ १३६ ॥ स एवाद्यापि वृत्तांतो जात्वस्मद्भाग्यतो भवेत् । ततो न काचनास्माक व्यथेत्यन्ये मिथोब्रुवन् ॥ १३७ ॥ किमेष भगवान्भानुराश्रितः शिबिकामिमां । दिदीप्यतेतरे भाभिः प्रतुदन्निव नो दृशः ॥ १३८ ॥ धृतमौलिर्विभात्युच्चैस्ततचामीकरच्छविः । त्रिमुर्मध्ये सुरेंद्राणां कुलाद्री-

हे देव ! आप अपना काम पूराकर बहुत शीघ्र लौटियेगा और हमारे दृष्टिगोचर हूजियेगा ॥ १३१ ॥ हे नाथ ! अनाथ लोगोंकी रक्षा करनेकेलिये आपके सिवाय अन्य कोई इस कामके करनेमें समर्थ नहीं है । इसलिये हे देव ! हम लोगोंकी रक्षा करनेकी आप फिर अपनी इच्छा कीजिये ॥ १३२ ॥ हे प्रभो ! आपकी सब क्रियायें अन्य लोगोंको उपकार करनेवाली होती हैं, हे देव! बिना कारण ही हम लोगोंको छोडकर अब आप अन्य किसका उपकार करेंगे ॥ १३३ ॥ इसप्रकार कितने ही नगरनिवासी लोगोंने उससमय अपना मस्तक नवाकर स्तुति करने योग्य, स्पष्ट अर्थको कहनेवाले और इच्छासहित प्रार्थनाके बचन कहे थे ॥ १३४ ॥ उससमय कितनेही लोग आपसमें कह रहे थे कि देवलोग भगवानको पालकीपर सवारकर दूर ले जा रहे हैं, इसका कारण क्या है सो कुछ समझमें नहीं आता, अथवा भगवानकी यह कोई ऐसी ही क्रीडा होगी ॥ १३५ ॥ शायद ऐसा भी हो सकता है कि पहिले इंद्रलोग जन्मोत्सव करनेकेलिये भगवानको मेरुपर्वतपर लेगये थे और फिर वापिस ले आये थे । कदाचित् हमारे भाग्योदयसे आज फिर भी वही वृतांत हो, इसलिये हमलोगोंकेलिये कोई दुःखकी बात नहीं है, इसप्रकार कितने ही मनुष्य आपसमें बातचीत कर रहे थे ॥१३६-१३७॥ अनेक लोग आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि पालकीपर सवार हुये ये भगवान हैं अथवा साक्षात् सूर्य है, देखो ये अपने प्रतापसे हमलोगोंके नत्रोंको पी-

णामिवाद्रिराट् ॥ १३९ ॥ विभोर्मुखोन्मुखीर्दृष्टीर्दधानोद्भुतविक्रियः । कः स्विदाज्ञातमस्याज्ञाकरः सोऽयं पुरदरः ॥ १४० ॥ शिबिकावाहिनामेषामंग-भासो महौजसा । समंतात्प्रोल्लसंत्येतास्ताडितामिव रीतयः ॥ १४१ ॥ महत्पुण्यमहो भर्तुर्वाङ्मानसगोचरं । पश्यतानिमिषानेतान्प्रणम्रानितोमुवः ॥ १४२ ॥ इतो मधुरगंभीरं ध्वनंत्येते सुरानकाः । इतो मंद्रं मृदंगानामुच्चैरुच्चरति ध्वनिः ॥ १४३ ॥ इतो नृत्यमितो गीतामितः संगीतमगलं । इतश्चामरसंघात इतश्चामरसंहतिः ॥ १४४ ॥ संचारी किमयं स्वर्गः साप्सरः सविमानकः । किं वापूर्वमिदं चित्रं लिखितं व्योम्नि केनचित् ॥१४५॥

डित करते हुये आकाशमें कैसे दैदीप्यमान हो रहे हैं ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार कुलपर्वतोंके मध्यभागमें चूलिकासहित सुवर्णमय सुमेरु पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार स्वर्गके इंद्रोंके मध्यभागमें मस्तकपर मुकुट पहने हुये और तपायेहुये सुवर्णके समान कांतिको धारण करते हुये भगवान वृषभदेव बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥ १३९ ॥ देखो जिसकी विक्रियायें अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली हैं और जो भगवानके मुखके ठीक सामने बराबर अपनी दृष्टि लगाये हुये है वही यह इंद्र भगवानका सेवक है ? यह बात हमें आज मालूम हुई है ॥१४०॥ और देखो जो महातेजस्वी देवलोक पालकी ले जा रहे हैं उनके शरीरकी कांति चारोंओर फैली हुई दैदीप्यमान हो रही है मानों बिजलियोंकी मालाओंका समूह ही हो ॥ १४१ ॥ अहा ! भगवानका पुण्योदय बहुत ही बडा है, वह न तो बचनसे ही कहा जा सकता है और न मनसे ही सोचा जा सकता है। देखो ये देव लोग क्षणक्षणभरमें इधर उधर कैसी नम्रताके साथ प्रणाम कर रहे हैं ॥ १४२ ॥ इधर देखो ये देवोंके नगाडे कैसे मधुर और गंभीर शब्दोंसे बज रहे हैं और इधर देखो यह मृदंगोंकी आवाज कैसी गंभीर और जोरकी आ रही है ॥ १४३ ॥ इधर नृत्य हो रहे हैं इधर गीत गाये जा रहे हैं, इधर मांगालिक संगीत हो रहा है, इधर चमरोंका समूह ढुलाया जा रहा है और इधर देवोंका समूह जा रहा है ॥ १४४ ॥ अहा ! क्या यह चलता हुआ स्वर्ग है ! जो इसमें अप्सरा भी दिखाई दे रही हैं और विमान भी दिखाई दे रहे हैं ? अथवा आकाशमें यह किसीने

किमिंद्रजालमेतत्स्यादुतास्मन्मतिविभ्रमः । अदृष्टपूर्वमाश्चर्यमिदमस्मिन् जातुचित् ॥ १४६ ॥ इति कैश्चित्तदाश्चर्यं पश्यद्भिः प्राप्तविस्मयैः । स्वैरं संजल्पितं पौरैर्जल्पाकैः स विकल्पकैः ॥ १४७ ॥ यदाप्रभृति देवोयमवतीर्णो धरातलं । तदाप्रभृति देवानां न गत्यागमविच्छिदा ॥ १४८ ॥ नृत्तं नीलांजनाह्वयायाः पश्यतः सुरयोषितः । उदपादि विभोर्भोगवैराग्यमानिमित्तकं ॥ १४९ ॥ तत्कालोपनतैर्मान्यैः सुरैर्लौकांतिकाह्वयैः । बोधितस्यास्य वैराग्ये दृढमासांजितं मनः ॥ १९० ॥ विरक्तः कामभोगेषु स्वशरीरेपि निःस्पृहः । सवास्तुवाहनं राज्यं तृणवन्मन्यतेधुना ॥ १५१ ॥ मतंगज इव स्वैरविहारसुखलिप्सया । प्रविविक्षुर्वनं देवः सुरैः प्रोत्साह्य नीयते ॥ १९२ ॥ स्वाधीनं सुखमस्त्येव वनेपि वसतः प्रभोः । प्रजानां क्षेमवृत्त्यै च पुत्रौ राज्ये निवे-

---

अपूर्व चित्र लिखा है ॥ १४५ ॥ अथवा क्या यह इंद्रजाल है ! अथवा हम लोगोंकी बुद्धिमें ऐसा भ्रम हो रहा है ? यह आश्चर्य बिलकुल अपूर्व है ऐसा आश्चर्य हम लोगोंने पहिले कभी नहीं देखा था ॥ १४६ ॥ इसप्रकार अनेक तर्क वितर्क करनेवाले और बहुत बोलनेवाले नगरनिवासी लोग भगवानके उस आश्चर्यकरनेवाले अतिशयको देखकर बडे आश्चर्यसे अपनी इच्छानुसार कह रहे थे ॥ १४७ ॥ कितने ही लोग कह रहे थे कि इन भगवानने जबसे इस पृथ्वीपर अवतार लिया है तबसे निरंतर देवोंका आना जाना बना रहता है ॥ १४८ ॥ भगवानको नीलांजना नामकी देवांगनाका नृत्य देखकर बिना किसी अन्य कारणके भोगोपभोगोंसे वैराग्य उत्पन्न हुआ था ॥१४९॥ उसीसमय भगवानकी सेवामें अतिशय मान्य लौकांतिक देव आ उपस्थित हुये थे और उन्होंने भगवानको प्रबोधित किया था जिससे भगवानका मन वैराग्यमें और भी अधिक दृढ हो गया है ॥ १५० ॥ काम और भोगोपभोगोंसे विरक्त हुये भगवान अपने शरीरसे भी निस्पृह होगये हैं अर्थात् उन्होंने अपने शरीरसे भी ममत्व छोडदिया है और अब वे घर सवारी तथा राज्य आदिको तृणके समान मान रहे हैं ॥ १५१ ॥ जिसप्रकार इच्छानुसार विहार करनेरूप सुखकीइच्छा करताहुआ हाथी वनमें प्रवेश करता है उसीप्रकार भगवानवृषभदेव भी वनमें प्रवेश कर रहे हैं और देवलोग उन्हें और अधिक उत्साह दिलातेहुये ले जा रहे हैं ॥१५२॥ भगवान यदि वनमें

शितौ ॥ १५३ ॥ तदियं प्रस्तुता यात्रा भूयाद्भर्तुः सुखावहा । दिष्ट्यायं वर्द्धतां लोको विषीदन्मास्म कश्चन ॥ १५४ ॥ सुचिरं जीवताद्देवो जयतादभिनंदतात् । प्रत्यावृत्तः पुनश्चास्मानक्षतात्माधिरक्षतात् ॥ १५५ ॥ दीयतेद्य महादानं भरतेन महात्मना । विभोराज्ञां समासाद्य जगदाशाप्रपूरणं ॥ १५६ ॥ वितीर्णेनामुना भूयादमृतिश्चामीकरेण वः । दीयंतेश्वाः सहयोगैरितश्चामी करेणवः ॥ १५७ ॥ इत्युन्मुग्धैः प्रबुद्धैश्च जनालापैः पृथग्विधैः । श्लाघ्यमानः शनैर्नाथः पुरोपांत न्यतीयिवान् ॥ १५८ ॥ अथ संप्रस्थिते देवे देव्योमात्यैरधिष्ठिताः । अनुप्रचेलुरीशानं शुचांतर्बाष्पलोचनाः ॥१५९॥

निवास करेंगे तब भी उनकेलिये स्वाधीनरूप सुख विद्यमान ही है, और प्रजाको सुख देनेकेलिये उन्होंने अपने दोनों पुत्रोंको राज्यसिंहासनपर बिठला ही दिया है ॥१५३॥ इसलिये भगवानकी यह प्रारंभ की हुई यात्रा भगवानको सुख देनेवाली हो और ये लोगभी अपने भाग्यसे वृद्धिको प्राप्त हों, कोई किसीप्रकारका विषाद मतकरो ॥ १५४ ॥ अविनश्वर अर्थात् जिनका आत्मा कभी नाश होनेवाला नहीं है ऐसे भगवान वृषभदेव चिरकालतक जीवित रहें, विजयको प्राप्त हों, ऐश्वर्यशाली हों और फिर लौटकर हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ १५५ ॥ देखो महात्मा भरत आज भगवानकी आज्ञा लेकर जगतकी समस्त आशायें पूर्ण करनेवाला महादान दे रहे हैं॥१५६॥ भरत जो यह सुवर्णका दान दे रहे हैं इससे तुम लोगोंको संतोष हो। देखो ये भरत इधर पलान सहित घोडोंका दान दे रहें हैं और इधर हाथियोंका दान दे रहे हैं ॥१५७॥ इसप्रकार अजान और ज्ञानवान सब ही अलग अलग वचनोंके द्वारा जिनकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे वे भगवान वृषभदेव नगरके बाहर समीपवर्ती प्रदेशमें जा पंहुचे ॥ १५८ ॥

अथानंतर–भगवानके चले जानेपर मुख्य मुख्य मंत्रियोंके आश्रित हुई देवियां (रानियां) भगवानके पीछे पीछे चलने लगीं उससमय शोकसे उनके नेत्रोंमें आंसू भर रहे थे ॥ १५९ ॥ लताके समान उनके शरीरकी शोभा मलिन हो गई थी और उन्होंने अपने आभूषण भी फेंकदिये थे। उनमेंसे कितनी ही देवियां डगमगाते और कंपते हुये पैरोंसे जगतपति भगवानके पीछे २ जा रही थीं ॥ १६० ॥

लता इव परिम्लानगात्रशोभाविभूषणाः । काश्चित्स्खलत्पदन्यासमनुजग्मुर्जगत्पतिं ॥ १६० ॥ शोकानलहता काश्चिद्वेपमानांगयष्टयः । निपेतुर्धरणीपृष्ठे मूर्च्छामीलितलोचनाः ॥ १६१ ॥ क्व प्रस्थितोसि हा ! नाथ क्व गत्वास्मान्प्रतीक्षसे । कियत् दूरं च गंतव्यमित्यन्या मुमुहुर्मुहुः ॥ १६२ ॥ हृदि वेपथुमुत्कंपं स्तनयोर्म्लानता तनौ । वाचि गद्गदतामक्ष्णोर्बाष्पं चान्या शुचा दधुः ॥ १६३ ॥ अमंगलमलं बाले रुदित्वेति निवारिता । काचिदंतर्निरुद्धाश्रुः स्फुटंतीव शुचाभवत् ॥ १६४ ॥ प्रस्थानमंगलं भक्तुमक्षमा काप्युदश्रुदृक् । शुचामंतःप्रविष्टेव दृष्टा दृक्पुत्रिकाछलात् ॥ १६५ ॥ गतिसंभ्रमविच्छिन्नहारव्याकीर्णमौक्तिकाः । स्थूलानश्रुलवान्काश्चिच्छद्म तच्छद्मनामुचन् ॥ १६६ ॥ विस्रस्तकबरीभारविगलत्कुसुमस्रजः । स्रस्तस्त-

---

और कितनी ही स्त्रियोंके शरीर शोकरूपी अग्निसे जर जरित होगये थे, उन्हें मूर्च्छा आगई थी, और वे आखें बंदकर जमीनपर पडगईं थीं ॥ १६१ ॥ कितनी ही स्त्रियां बार बार यह चिल्लाती हुईं मूर्छित हो रहीं थीं कि हा नाथ ! आप कहां जा रहे हैं ? आप कौनसी जगह जाकर हम लोगोंकी बाट देखेंगे ? आपको कितनी दूर और जाना है ? ॥ १६२ ॥ शोकसे अन्य कितनी ही स्त्रियोंके हृदय कंपायमान हो रहे थे, कुच कंप रहे थे, शरीर मलिन हो गया था, बचन गद्गद होगये थे और नेत्रोंमें आंसू भर आये थे ॥ १६३ ॥ रोते देखकर कोई किसीका रोना बंद कर रहा था और कह रहा था कि हे पुत्रि ! रोकर अमंगल मत कर । इसप्रकार निवारण करनेपर उसने रोना बंद कर दिया था परंतु उसके आंसू नेत्रोंमें ही रुक गये थे और वह ऐसी जान पडती थीं मानों शोकसे वह फूट पडी हो ॥ १६४ ॥ कोई स्त्री प्रस्थान करतेसमयके मंगलको भंग नहीं करना चाहती थी इसलिये उसने अपने आंसू आंखोंमें ही रोक लिये थे और वह ऐसी जान पडती थी मानों आंखमें पडती हुई परछांहीके बहानेसे शोकके भीतर ही घुस गई हो ॥ १६५ ॥ कोई स्त्री बडी शीघ्रतासे जा रही थी इसलिये उसका हार टूट गया था और उसके मोती बिखर गये थे । उन बिखरे हुये मोतियोंसे वह ऐसी जान पडती थी मानों वह उन मोतियोंके वहानेसे बडी २ आंसुओंकी बूंदें ही छोड रही हो ॥ १६६ ॥ कितनी ही

नाशुकाः सास्राः काश्चिच्छोच्या दशामधुः ॥१६७॥ उत्क्षिप्य शिबिकास्वन्या निक्षिप्ताः शोकविक्लवाः। कथंकथमपि प्राणैर्न व्ययुज्यंत सांत्विताः॥१६८॥ धीराः काश्चिदधीराक्ष्यो धीरिताः स्वामिसंपदा। विभुमन्वीयुरव्यग्रा राजपत्न्यः शुचिव्रताः ॥ १६९ ॥ प्रस्थानमंगले जाते नाभिजातं प्ररोदनं। नाथः शनैरनुव्राज्यो मातर्मास्म शुचं गमः ॥ १७० ॥ त्वर्यतां त्वर्यतां देवि शोकवेगोवधीर्यतां। देवोयं नीयते देवैर्दिष्ट्यास्मत्दृष्टिगोचरे ॥ १७१ ॥ इत्यंतःपुरवृद्धाभिर्मुहुराश्वासिता सती। यशस्वती सुनंदा च प्रतस्थे पादचारिणी ॥ १७२ ॥ बहुनात्र किमुक्तेन मुक्तसर्वपरिच्छदाः। देव्यो यथाश्रुतं

स्त्रियोंके केशपाश शिथिल हो गये थे और उनमे लगीहुई फूलोंकी मालायें पडती चली जा रहीं थीं, उनके स्तनपरका वस्त्र भी शिथिल हो गया था और उनकी आखोंसे आंसुओंकी धारा भी बह रही थी इसप्रकार वे स्त्रियां शोककी अंतिम अवस्थाको प्राप्त हो गईं थीं ॥१६७॥ कितनी ही स्त्रियां शोकसे बहुत २ विह्वल हो गईं थीं इसलिये लोगोंने उन्हें उठाकर पालकीमें बिठाया था और बहुत समझाया था अतएव जिसतिसतरह उनके प्राण बच गये थे ॥ १६८ ॥ धीरवीर किंतु चंचल नेत्रयुक्त ऐसी कितनी ही पतिव्रता राजपत्नी केवल अपने स्वामीकी संपत्ति देखकर ही संतुष्ट हो गईं थीं और वे बिना किसी आकुलताके भगवानके पीछे पीछे जा रहीं थीं ॥ १६९ ॥ कोई किसी राजपत्नीको समझा रहा था कि हे माता यह प्रस्थान करनेका मंगल हो रहा है इसमें बहुत रोना उचित नहीं है अब तुम शोक मत करो और धीरे धीरे भगवानके पीछे चली चलो ॥ १७० ॥ अंतःपुर अर्थात् रणवासके वृद्ध पुरुष यशस्वती और सुनंदा देवीको बार २ आश्वासन दे रहे थे तथा कह रहे थे कि हे देवि! जल्दी करो, जल्दी करो, शोकका बेग रोको, यह देखो हम लोगोंको भगवान दिखाई दे रहे हैं उन्हें देव लोग बडे आनंदके साथ ले जा रहे हैं। इसप्रकार समझाई हुई वे दोनों ही पतिव्रता महादेवियां पैदल ही जा रहीं थीं ॥ १७१-१७२ ॥ इसविषयमें बहुत कहांतक कहा जाय जिससमय उन देवियोंने भगवानके जानेके समाचार सुने थे उसीसमय उन्होंने छत्र चमर दासी दास आदि सब छोडकर भगवानके पीछे पीछे च-

भर्तुरनुमार्गं प्रतस्थिरे ॥ १७३ ॥ माभूद्व्याकुलता काचिद्भर्तुरित्यनुयायिभिः । रुद्धः सर्वावरोधस्त्रीसार्थः कस्मिंश्चिदंतरे ॥ १७४ ॥ ब्रुवाणैर्भर्तुराज्ञेति राज्ञीवर्गो महत्तरैः । संरुद्धः सरितामोघः प्रवृद्धोपि यथार्णवैः ॥ १७५ ॥ निश्वस्य दीर्घमुष्णं च निंदन्सौभाग्यमात्मनः । न्यवृतत्प्राप्तनैराश्यो नृपवल्लभिकाजनः ॥ १७६ ॥ महादेव्यौ तु शुद्धांतमुख्याभिः परिवारिते । भर्तुरिच्छानुवर्तिन्यावन्वयातां सपर्यया ॥ १७७ ॥ मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः । अनूत्तस्थौ तदा द्रष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवं॥ १७८॥ सम पौरैरमात्यैश्च पार्थिवैश्च महान्वयैः। सानुजो भरताधीशो महर्द्ध्या गुरुमन्वगात्॥ १७९॥ नातिदूरं खमुत्पत्य जनाना दृष्टिगोचरे । यथोक्तैर्मंगलारंभैः प्रस्थानमकरोत्प्रभुः ॥ १८० ॥ नातिदूरे पुरस्यास्य नात्यासन्नेऽतिविस्तृतं । सिद्धार्थकवनो-

---

लना प्रारंभ कर दिया था ॥ १७३ ॥ भगवानके हृदयमें किसीप्रकारकी व्याकुलता न हो यही समझकर भगवानके साथ साथ जानेवाले वृद्ध पुरुषोंने कुछ दूर जाकर अंतःपुरकी सब स्त्रियां रोक दीं और कह दिया कि भगवानकी यही आज्ञा है कि महारानियोंको रोक देना। जिसप्रकार बढा हुआ नदियोंका प्रवाह भी समुद्रसे रुक जाता है उसीप्रकार वे देवियां उससमय रुक गईं थीं ॥ १७४-१७५ ॥ इसप्रकार रणवासकी सब स्त्रियां लंबा और गर्म श्वास लेकर आगे जानेसे बिलकुल निरास होकर अपने सौभाग्यकी निंदा करती हुईं घरको वापिस लौट गईं ॥ १७६ ॥ परंतु यशस्वती और सुनंदा ये दोनों ही महादेवियां अन्य परिवारकी शुद्ध हृदयवाली स्त्रियोंके साथ २ इच्छानुसार भगवानकी पूजाकी सामग्री लेकर भगवानके पीछे २ जा रहीं थीं ॥ १७७ ॥ उससमय महाराज नाभिराज भी महारानी मरुदेवी और सैकडों राजाओंके साथ साथ भगवानका तपकल्याणका उत्सव देखनेकेलिये भगवानके पीछे २ चल रहे थे ॥ १७८ ॥ महाराज भरत भी नगरनिवासी, मंत्री, बडे २ वंशमें उत्पन्न राजा और अपने छोटे भाइयोंके साथ २ बडी विभूति लेकर भगवानके पीछे चला था ॥ १७९ ॥ भगवान वृषभदेवने आकाशमें इतनी थोडी दूर जाकर कि जहांसे लोग अच्छी तरह देख सकते थे, ऊपर लिखे हुये मंगलोंका प्रारंभ होते ही प्रस्थान करना प्रारंभ किया ॥ १८० ॥ इसप्रकार वे जगतगुरु भगवान वृषभदेव

देशमभिप्रायाज्जगद्गुरुः ॥ १८१ ॥ ततः प्राप सुरेंद्राणा पृतना व्याप्य रोदसी । वयोरुतैरिवाह्वानं कुर्वत्सिद्धार्थकं वन ॥ १८२ ॥ तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे सुरैः प्रागुपकल्पिते । प्रथीयमि शुचौ स्वस्मिन्परिणाम इवोन्नते ॥ १८३ ॥ चद्रकातमये चद्रकातशोभोपहासिनि । पुंजीभूत इवैकत्र स्वास्मिन्यशशि निर्मिले ॥ १८४ ॥ स्वभावभास्वरे रम्ये सुवृत्तपरिमडले । सिद्धक्षेत्र इव द्रष्टुं ता भूतिं भुवमागते ॥ १८५ ॥ सुशीतलतरुच्छायानिरुद्धोष्णकरत्विषि । पर्यंतशाखिशाखाग्रविगलत्कुसुमोत्करे ॥ १८६ ॥ श्रीखंडद्रवदत्ताच्छछटामंगलसगते । शचीस्वहस्तविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥ १८७ ॥

अत्यंत विशाल ऐसे सिद्धार्थक नामके बनमें जा पहुंचे वह बन अयोध्या नगरसे न तो बहुत दूर था और न बहुत समीप ही था ॥ १८१ ॥ तदनंतर इद्रोंकी सेना भी आकाश और पृथ्वीमें व्याप्त होती हुई उसी बनमें इसप्रकार जा पहुंची मानों उस वनने पक्षियोंके शब्दोंके द्वारा उसे बुलाया ही हो ॥१८२॥ उस बनके मध्यभागमें देवोंने पहिलेसे ही एक शिला स्थापन कर रक्खी थी । वह शिला बहुत बडी थी, पवित्र थी, और भगवानके परिणामोंके समान उन्नत थी ॥ १८३ ॥ वह चंद्रकांतमणिकी बनी हुई थी, चंद्रमाकी सुंदर शोभाको भी लज्जित कर रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों भगवानका निर्मलयश ही एक जगह इकट्ठा हो गया हो ॥ १८४ ॥ वह शिला स्वभावसे ही दैदीप्यमान थी, बडी मनोहर थी और उसका परिमंडल बहुत गोल था वास्तवमें वह शिला ऐसी जान पडती थी मानों भगवानका तपकल्याणका उत्सव देखनेकेलिये सिद्धक्षेत्र ही पृथ्वीपर उतर आया हो ॥ १८५ ॥ उस शिलाके चारोंओर वृक्ष थे जिनकी शीतल छायासे सूर्यका प्रकाश भी रुक गया था और उसके चारोंओर वृक्षोंकी शाखाओंके ऊपरसे गिर गिरकर फूलोंका ढेर हो गया था ॥ १८६ ॥ उस शिलापर घिसे हुये चंदनके मांगलिक छींटे दिये गये थे और इंद्राणीने अपने हाथसे रत्नोंके चूर्णके चौक वगैरह खींचकर उसकी पूजा की थी ॥ १८७ ॥ उस शिलाके चारोंओर बहुत बडे २ बस्त्रसे अद्भुत मंडप तैयार किया गया था और उसपर मंद २ वायुसे तरह तरहके ध्वजाओंके समूह फहरा रहे थे, जिनसे आकाश व्याप्त हो रहा था

विसंकटपटीक्तसविचित्रपटमंडपे । मंदानिलचलच्चित्रकेतुमालावृतांवरे ॥ १८८ ॥ समंतादुच्चरध्दूपधूमामोदितदिग्मुखे । पर्यंतनिहितानल्पमंगलद्रव्यसंपदि ॥ १८९ ॥ इत्यनल्पगुणे तस्मिन् शस्तवास्तुप्रतिष्ठिते । यानादवातरद्देवः सुरैः क्ष्मामवतारितात् ॥ १९० ॥ धृतजन्माभिषेकर्द्धिर्या शिला पाडुकाह्वया । पश्यन्नेनं शिलापट्टं विभुस्तस्याः समस्मरत् ॥ १९१ ॥ तत्र क्षणमिवासीनो यथास्वमनुशासनैः । विभुः सभाजयामास सभा स नृसुरासुरा ॥ १९२ ॥ भूयोपि भगवानुच्चैर्गिरा मद्रगभीरया । आपप्रच्छे जगद्बंधुर्बंधूनिःस्नेहबंधनः ॥ १९३ ॥ प्रशातेऽथ जनक्षोभे दूरं प्रोत्सारिते जने । गंभीरमंगलारंभे सुप्रमुक्ते प्रगेतने ॥१९४॥ मध्ये यवनिकं स्थित्वा सुरेंद्रे परिचारिणि । सर्वत्र समता सम्यग्भावयन् शुभभावनः ॥१९५॥ व्युत्सृष्टांतर्बहिःसंगो नैःसंग्ये

॥ १८८ ॥ उस शिलाके चारोंओर धूपका धूआं उठ रहा था जिसकी सुगंधसे सब दिशायें सुगंधित हो गई थीं और उस शिलाके चारोंओर समीपभागमें बहुतसी मंगलद्रव्योंकी संपदायें रक्खी हुई थीं ॥ १८९ ॥ इसप्रकार जिसमें अनेक गुण हैं और उत्तम घरके सब लक्षण जिसमें विद्यमान हैं ऐसे उस मंडपमें देवोंने भगवानकी वह पालकी पृथ्वीपर उतारी और उसमेंसे वे भगवान वृषभदेव नीचे उतरे ॥ १९० ॥ उस शिलाको देखते ही भगवान वृषभदेवको जन्माभिषेककी परम विभूति धारण करनेवाली पांडुक शिलाका स्मरण हुआ ॥१९१॥ और फिर क्षणभर उस शिलापर विराजमान हुये, तदनंतर उन भगवानने मनुष्य सुर असुर आदिकोंसे भरी हुई वह सभा यथायोग्य नियोगोंके द्वारा प्रसन्न की ॥ १९२ ॥ वे भगवान जगतके बंधु थे, उनके स्नेहका बंधन बिलकुल नहीं था और वे दीक्षा धारण करनेकेलिये एकबार अपने बंधुवर्गोंसे आज्ञा ले चुके थे तथापि उन्होंने ऊंची और शब्द अर्थसे गंभीर ऐसी वाणीसे फिर एकवार अपने बंधुजनोंसे आज्ञा ली ॥ १९३ ॥

अथानंतर–जिससमय लोगोंका कोलाहल बंद होगया था, लोग सब दूर हटा दिये गये थे, प्रभात समयके गंभीर मंगल वाजे बज रहे थे और स्वर्गका इंद्र स्वयं भगवानकी सेवा कर रहा था उससमय जिन्होंने अंतरंग और वहिरंग परिग्रहका त्याग करदिया है, जिन्होंने निष्परिग्रह रहनेकी प्रतिज्ञाकी है,

कृतसंगरः । वस्त्राभरणमाल्यानि व्यसृजन्मोहहानये ॥ १९६ ॥ तदंगविरहाद्भेजुर्विच्छायत्वं तदा भृशं । दीप्तान्याभरणानि प्राक् स्थानभ्रंशे हि का द्युतिः ॥ १९७ ॥ दासीदासगवाश्वादि यत्किंचिदधिचेतनं । मणिमुक्ताप्रवालादि यच्च द्रव्यमचेतनं ॥ १९८ ॥ तत्सर्वं विभुरत्याक्षीन्निर्व्यपेक्षं त्रिसाक्षिकं । निःपरिग्रहतामुख्यामास्थाय व्रतभावना ॥ १९९ ॥ ततः पूर्वमुखं स्थित्वा कृतसिद्धनमस्क्रियः । केशानलुंचदाबद्धपल्यंक. पचमुष्टिकं ॥ २०० ॥ निर्लुंच्य बहु मोहाप्रवल्लरीः केशवल्लरीः । जातरूपधरो धीरो जैनीं दीक्षामुपाददे ॥ २०१ ॥ कृत्स्नाद्विरम्य सावद्याच्छ्रितः सामायिकं यमं । व्रतगुप्तिस-

---

और जिनकी परमशुभ भावनायें हैं ऐसे उन भगवान वृषभदेवने परदेके भीतर विराजमान होकर शत्रु-मित्र आदि सबमें उत्तम समता धारण करते हुये मोह अर्थात् मोहनीय कर्म अथवा अज्ञानताको नाश करनेकेलिये वस्त्र आभूषण और माला आदि सबका त्याग किया ॥ १९४-१९५-१९६ ॥ जो आभूषण पहिले भगवानके शरीरपर बडे दैदीप्यमान दिखाई देते थे वे ही आभूषण उससमय भगवानके शरीरसे अलग हो जानेसे अत्यंत ही कांति रहित हो गये थे, सो ठीक ही है स्थानभ्रष्ट होनेपर कांति कहां रह सकती है ॥ १९७ ॥ दासी दास गाय घोडा आदि जो कुछ चेतनरूप परिग्रह था तथा मणि मोती प्रवाल (मूंगा) आदि अचेतन द्रव्य था वह सब भगवान वृषभदेवने अपेक्षारहित अपनी, देवोंकी और सिद्धोंकी साक्षी पूर्वक छोडदिया अर्थात् सबका त्याग कर दिया, और जिसमें निष्परिग्रहता अर्थात् परिग्रहरहितपना ही मुख्य है ऐसी व्रतोंकी भावना धारण की ॥ १९८-१९९ ॥ तदनंतर वे भगवान पूर्व दिशाकी ओर अपना मुखकर पद्मासन विराजमानहुये और सिद्धोंको नमस्कार कर उन्होंने पांच मुष्टि (मुठी) केशोंका लोंच किया ॥ २०० ॥ उन्होंने मोहनीय कर्मकी मुख्य वेलके समान बहुतसी केशोंकी वेलका अर्थात् बहुतसे बालोंके समूहका लोंच किया और फिर दिगंबर रूप धारणकर धीर वीर भगवानने श्रीजैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २०१ ॥ उन्होंने समस्त पापरूप योगोंका त्याग किया और सामयिक चारित्र स्वीकार किया । पांच महाव्रत तीन गुप्ति और पांच समिति आदि चारित्रके और भेद भी भगवा-

मित्यादींस्तद्वेदानाददे विभुः ॥ २०२ ॥ चैत्रे मास्यसिते पक्षे सुमुहूर्ते शुभोदये । नवम्यामुत्तराषाढे सायाह्ने प्राव्रजत्प्रभुः ॥ २०३ ॥ केशान्भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान् । प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्या प्रीतमानसः ॥ २०४ ॥ सितांशुकप्रतिच्छन्ने पृथौ रत्नसमुद्गके । स्थिता रेजुर्विभोः केशा यथेंदोर्लक्ष्मलेशकाः ॥ २०५ ॥ विभूत्तमांगसंस्पर्शादिमे मूर्द्धन्यतामिताः । स्थाप्याः समुचिते देशे कस्मिंश्चिदनुपद्रुते ॥ २०६ ॥ पंचमस्यार्णवस्यातिपवित्रस्य निसर्गतः । नीत्वोपायनतामेते स्थाप्यास्तस्य शुचौ जले ॥ २०७ ॥ धन्याः केशा जगद्भर्तुर्येंधिमूर्द्धमधिष्ठिताः । धन्योसौ क्षीरसिंधुश्च यस्तानाप्स्यत्युपायनं ॥ २०८ ॥ इत्याकलय्य नाकेशाः केशानादाय सादरं । विभूत्या परया नीत्वा क्षीरोदे तान्विचिक्षिपुः ॥ २०९ ॥ महता संश्रयान्नूनं

नने धारण किये ॥ २०२ ॥ भगवान वृषभदेवने चैत्र कृष्णा नवमीके दिन सायंकालके समय दीक्षा धारण की थी उससमय शुभ मुहूर्त था, शुभ लग्न थी और उत्तराषाढ नक्षत्र था ॥२०३॥ जो बाल भगवानने लोंच कानेमें उपाट डाले थे वे भगवानके मस्तकमें बहुत दिन रहनेसे पवित्र हो गये थे इसालिये इंद्रने बडी प्रसन्नताके साथ उन्हें रत्नकी पेटीमें रख लिया था ॥ २०४ ॥ वह पेटी सफेद वस्त्रसे ढकी हुई थी, बहुत बडी थी और रत्नोंकी बनी हुई थी इसालिये उसमें रक्खे हुये वे बाल ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों चंद्रमाके काले चिन्हकी किरणें ही हों ॥ २०५ ॥ देवोंने सोचा कि ये केश भगवानके उत्तम अंग अर्थात् मस्तकके स्पर्श करनेसे अत्यंत पूज्य होगये हैं इसालिये इन्हें उपद्रवरहित ऐसे किसी योग्य स्थानमें स्थापन करना चाहिये ॥ २०६ ॥ पांचवां क्षीरसागर स्वभावसे ही पवित्र है इसालिये उसकी भेटकर उसके पवित्र जलमें इन्हें स्थापन करना चाहिये ॥ २०७ ॥ ये केश भी धन्य हैं जिन्हें रहनेकेलिये भगवानका मस्तक प्राप्त हुआ है और वह क्षीरसागर भी धन्य है जिसे ये भेटमें प्राप्त होंगे ॥ २०८ ॥ यही समझकर देवोंने बडे आदरके साथ उन्हें उठाया और बडी विभूतिके साथ ले जाकर क्षीरसागरमें प्रवाहित करदिया ॥ २०९ ॥ पूज्यपुरुषोंका आश्रय पाकर नीच भी पूज्य हो जाते हैं यह बात बिलकुल ठीक है क्योंकि जो केश अत्यंत मलिन (काले) हैं वे भी भगवान वृषभदेवका आश्रय पाकर कैसे पूज्य माने

यातीर्ज्यां मलिना अपि । मलिनैरपि यत्केशैः पूजावाप्याश्रितैर्गुरुं ॥ २१० ॥ वस्त्राभरणमाल्यानि यान्युन्मुक्तान्यधीशिना । तान्यप्यनन्यसामान्यां नि-
न्युरत्युन्नतिं सुराः ॥ २११ ॥ चतुःसहस्रगणना नृपा. प्राव्राजिषुस्तदा । गुरोर्मतमजानानाः स्वामिभक्त्यैव चोदिताः ॥ २१२ ॥ यदस्मै रुचितं
भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः । इति प्रपन्नदीक्षास्ते केवल द्रव्यलिंगिनः ॥ २१३ ॥ छंदानुवर्त्तन भर्तुर्भृत्याचारः किलेत्यमी । भेजुः समौढ्य नैर्ग्रंथ्यं द्र-
व्यतो न तु भावतः ॥ २१४ ॥ गरीयसीं गुरौ भक्तिमुच्चैराविश्चिकीर्षवः । तद्वृत्तिं बिभरामासुः पार्थिवास्ते महान्वयाः ॥ २१५ ॥ गुरुः प्रमाणमस्मा-
कमात्रिकामुत्रिकार्थयोः । इति कच्छादयो दीक्षां भेजिरे नृपसत्तमाः ॥ २१६ ॥ स्नेहात्केचित्परे मोहाद्भयात्केचन पार्थिवाः । तपस्या संगिरंते स्म पुरो-

---

गये हैं ॥ २१० ॥ इसीप्रकार भगवानने वस्त्र आभूषण और माला आदि जो कुछ उतारकर डाल दिया था देवलोगोंने उन सबकी बहुत भारी पूजा की और उन्हें बहुत ऊंचा स्थान दिया ॥२११॥ उससमय भगवानके साथ चार हजार राजाओंने दीक्षा ली थी, वे राजा लोग भगवानका आभिप्राय तो समझे नहीं थे, केवल भगवानमें अटल भक्ति होनेसे ही दीक्षित हो गये थे ॥ २१२ ॥ वे यही समझते थे कि जो हमारे स्वामीकेलिये अच्छा लगता है वही हम लोगोंको बहुत अच्छा लगना चाहिये । यही समझकर उन्होंने दीक्षा धारण की थी और वे केवल द्रव्यलिंगी मुनि हो गये थे ॥ २१३ ॥ स्वामीकी इच्छानुसार चलना ही सेवक लोगोंका काम है यही समझकर उन लोगोंने मूढताके साथ २ केवल द्रव्यसे अर्थात् ऊपरी वेषसे निर्ग्रंथपना (दिगंबरता) धारण किया था, वे भावोंसे अर्थात् वास्तविक परिणामोंसे निर्ग्रंथ नहीं थे ॥ २१४ ॥ अन्य जिन राजा लोगोंने दीक्षा धारण की थी वे बडे २ वंशोंमें उत्पन्न हुये थे भगवानमें उनकी बडी भारी गाढ भक्ति थी और उस भक्तिको प्रगट करनेकी इच्छासे ही उन्होंने भगवानके समान दिगंबर अवस्था धारण करली थी ॥२१५॥ इसलोक और परलोक संबंधी जितने पदार्थ हैं उन सबमें हमारे लिये भगवान ही प्रमाण हैं यही समझकर कच्छ आदि बडे २ राजाओंने दीक्षा धारण करली थी ॥२१६॥ उन चार हजार राजाओंमेंसे कितने ही स्नेहसे, कितने ही अज्ञानसे अथवा हठसे और कितने ही रा-

धायादिवेधसं ॥ २१७ ॥ स तैः परिवृतो रेजे विभुरव्यक्तसंयतैः । कल्पांघ्रिप इवोदग्र परितो बालपादपैः ॥ २१८ ॥ स्वभावभास्वरं तेजस्तपोदीप्त्योपबृंहितं । दधानः शरदेवार्को दिदीपेतितरां विभुः ॥ २१९ ॥ जातरूपमिवोदारकांतिकांततमं बभौ । जातरूपं प्रभोर्दीप्तं यथार्च्चिर्जातवेदसः ॥ २२० ॥ ततः स भगवानादिदेवो देवैः कृतार्चनः । दीक्षावल्लया परिष्वक्तः कल्पाघ्रिप इवाबभौ ॥ २२१ ॥ तदा भगवतो रूपमसरूप विभास्वरं । पश्यन्नेत्रसहस्रेण नापत्तृप्तिं सहस्रदृक् ॥ २२२ ॥ ततस्त्रिजगदीशानं परंज्योतिर्गिरापतिं । तुष्टास्तुष्टुवुरित्युच्चैः स्वःप्रष्ठाः परमेष्ठिनं ॥ २२३ ॥

जा केवल भयसे भगवान वृषभदेवके साथ २ दीक्षित हुये थे ॥ २१७ ॥ जिनका समय व्यक्त नहीं है अर्थात् जो संयम धारण करनेकी रीति ही नहीं जानते हैं ऐसे उन राजाओंसे घिरे हुये वे भगवान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों छोटे २ कल्पवृक्षोंसे घिराहुआ एक बडा ऊंचा कल्पवृक्ष ही हो ॥ २१८ ॥ जिसप्रकार सूर्य स्वभावसे ही दैदीप्यमान होता है परंतु वह शरदऋतुमें और अधिक दैदीप्यमान होजाता है उसीप्रकार भगवानका तेज स्वभावसे ही दैदीप्यमान था तथापि वह तपकी कांतिसे और अधिक दीप्तिमान् हो गया था ॥ २१९ ॥ जिसप्रकार अग्निसे लालहुआ सुवर्ण दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार बडीभारी कांतिसे अत्यंत मनोहर भगवानका नग्न रूप बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ २२० ॥ दीक्षा ग्रहण करनेके अनंतर देवोंने जिनकी पुजा की है ऐसे वे भगवान वृषभदेव दीक्षारूप लतासे आलिंगन करतेहुये ठीक कल्पवृक्षके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२१ ॥ उससमय भगवानका रूप बहुत ही दैदीप्यमान था और वह ऐसा सुंदर था कि उसके समान अन्य किसीका रूप नहीं था, उस रूपको इंद्र हजार नेत्रोंसे देखता हुआ भी तृप्त नहीं होता था ॥ २२२ ॥ तदनंतर स्वर्गके इंद्रोंने अत्यंत संतुष्ट होकर तीनों जगतके स्वामी, परमज्योतिस्वरूप, परमेष्ठी और वाचस्पति भगवान वृषभदेवकी बडे जोर २ से इसप्रकार स्तुति की ॥ २२३ ॥ कि हे स्वामिन् ! आप जगतके (धर्मरूप जगतके अथवा कर्मभूमिके) कर्ता हैं, सबके स्वामी हैं और अभीष्ट फल देनेवाले हैं, इसलिये हमलोग अपना अनिष्ट दूर करनेकेलि-

जगत्स्रष्टारमीशानमभीष्टफलदायिनं । त्वमानिष्टविघाताय समभिष्टुमहे वयं ॥ २२४ ॥ गुणास्ते गणनातीताः स्तूयंतेस्मद्विधैः कथं । भक्त्या तथापि तव्याजात्तन्मः प्रोन्नतिमात्मनः ॥ २२५ ॥ बहिरंतर्मलापायात्स्फुरंतीश गुणास्तव । घनोपरोधनिर्मुक्तमूर्तेरिव रवेः कराः ॥ २२६ ॥ नृलोकपावनीं पुण्या जैनीं श्रुतिमिवामला । प्रव्रज्या दधते तुभ्यं नम सार्वाय शंभवे ॥ २२७ ॥ विध्यापितजगत्तापा जगतामेकपावनी । स्वर्धुनीव पुनीयान्नो दीक्षे-

ये आपकी स्तुति करते हैं ॥ २२४ ॥ हे नाथ ! आपके गुणोंकी संख्या नहीं है, अनंत हैं, तब फिर हम ऐसे लोगोंसे उनकी स्तुति कैसे हो सकती है, तथापि हमलोग केवल भक्तिवश उस स्तुतिके बहानेसे अपने आत्माकी उन्नति करना चाहते हैं ॥ २२५ ॥ हे स्वामिन् ! जिसप्रकार बादलका परदा हटजानेसे सूर्यकी किरणें स्फुरायमान होती हैं उसीप्रकार भावकर्म तथा द्रव्यकर्म दोनोंके नाश होनेसे आपके गुण भी स्फुरायमान हो रहे हैं ॥ २२६ ॥ हे देव ! आपने जिनवाणीके समान मनुष्यलोकको पवित्र करनेवाली पुण्यस्वरूप और निर्मल ऐसी जिनेंद्रदेवकी कही हुई जैनेश्वरी दीक्षा धारण की है इसके सिवाय आप सबका हित करनेवाले हैं और सबको सुख देनेवाले हैं इसलिये हे नाथ ! आपको बार २ नमस्कार हो ॥ २२७ ॥ हे नाथ ! आपकी यह परमेश्वरी (जैनेश्वरी) दीक्षा गंगाके समान है, क्योंकि उसने जगतका संताप दूर कर दिया है और वह जगतको मुख्यतया पवित्र करनेवाली है । इसलिये हे नाथ ! ऐसी यह आपकी दीक्षा हम लोगोंको सदा पवित्र करो ॥ २२८ ॥ हे स्वामिन् ! आपकी यह दीक्षा ठीक धनकी धारा अर्थात् रत्नवृष्टिके समान हमलोगोंको संतुष्ट कर रही है, क्योंकि जिसप्रकार रत्नवृष्टि सुवर्णा अर्थात् सोनेसे भरी हुई होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी सुवर्णा अर्थात् क्षत्रिय आदि उत्तम कुलवालोंके द्वारा ही धारण की जाती है, रत्नवृष्टि जिसप्रकार रुचिरा अर्थात् कांतिवाली होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी रुचिरा अर्थात् मनोहर है, रत्नवृष्टि जिसप्रकार हृद्य अर्थात् हृदयको अच्छी लगनेवाली होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी हृदयको अच्छी लगनेवाली है और रत्नवृष्टि जिसप्रकार दैदीप्यमान

य पारमेश्वरी ॥ २२८ सुवर्णा रुचिरा ह्वया रत्नैर्दीप्तैरलंकृता । रैधारेवाभिनिष्क्रांतिर्यैष्माकीय धिनोति नः ॥ २२९ ॥ मुक्तावुत्तिष्ठमानस्त्वं तत्कालोपनतैः सितैः । प्रबुद्धः परिणामैः प्राक्पश्चाल्लौकांतिकामरैः ॥२३०॥ परिनिष्क्रमणे योऽयमभिप्रायो जगत्सृजः । स ते यतः स्वतो यातः स्वयंबुद्धोऽस्यतो मुने ॥ २३१ ॥ राज्यलक्ष्मीमसंभोग्यामाकलय्य चलामिमां । क्लेशहानाय निर्वाणदीक्षा त्व प्रत्यपद्यथाः ॥ २३२ ॥ स्नेहालानकमुन्मूल्य विशतोद्य वनं तव । न कश्चित्प्रतिरोधोभून्मदांधस्येव दंतिनः ॥२३३॥ स्वप्नसंभोगनिर्भासा भोगाः संपत्प्रणश्वरी । जीवितं चलमित्याधास्त्व मनः शाश्वते पथि॥२३४॥

रत्नोंसे अलंकृत होती है उसीप्रकार यह दीक्षा भी देदीप्यमान सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप गुणोंसे अलंकृत (सुशोभित) है ॥ २२९ ॥ हे देव ! आप मुक्त होनेका उद्योग करनेकेलिये उसीसमय प्राप्त हुये शुद्ध परिणामोंके द्वारा पहिले ही प्रबुद्ध हो चुके थे, लौकांतिक देवोंने पीछे आकर आपको केवल दृढ किया है ॥ २३० ॥ हे मुनिराज ! जगत निर्माण करनेवाले भगवानका दीक्षा ग्रहण करनेके विषयमें जो यह अभिप्राय है वह आपको अपने आप उत्पन्न हुआ है इसलिये ही आप स्वयंबुद्ध (अपने आप ज्ञाता) कहलाते हैं ॥ २३१ ॥ हे प्रभो । आपने इस राज्यलक्ष्मीको चंचल और उपभोग करनेके अयोग्य समझकर ही समस्तक्लेश दूर करनेकेलिये यह निर्वाणदीक्षा (मोक्षप्राप्त करानेवाली दीक्षा) धारण की है ॥ २३२ ॥ हे विभो ! जिसप्रकार मदांध हाथी अपना खूंटा तोडकर वनमें प्रवेश करता है और उसे कोई रोक नहीं सकता उसीप्रकार आपने भी स्नेह रूपी खूंटा तोडकर आज वनमें प्रवेश किया है और न किसीने आपको रोका है ॥ २३३ ॥ हे देव ये भोगोपभोग स्वप्नमें उपभोग किये हुये भोगोंके समान मिथ्या है, यह संपदा अवश्य नष्ट होनेवाली है और यह जीवन भी चंचल है, न जाने कब नष्ट हो जाय, यही समझकर आपने नित्य सदा एकसा सुखमय रहनेवाले ऐसे मोक्षमें जानेकेलिये विचार किया है ॥ २३४ ॥ हे प्रभो ! आप चंचल लक्ष्मीको दूरकर, स्नेहरूपी बंधनको तोडकर और धनरूपी धूलको उडाकर मुक्तिके साथ जायंगे ॥ २३५ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि आप वीतराग हैं तथापि आ-

अवधूय चलां लक्ष्मीं निर्धूय स्नेहबंधनं। घन ग्ज इवोद्धूय मुक्त्वा संगस्यते भवान् ॥ २३५ ॥ राजलक्ष्म्यां परिम्लानिं मुक्तिलक्ष्म्यां परां मुदं । प्रव्यजयंस्तपोलक्ष्म्यामासजस्त्व विना रते. ॥२३६॥ राज्यश्रिया विरक्तोऽसि संरक्तोऽसि तपःश्रिया । मुक्तिश्रिया च सोत्कंठो गतैवं ते विरागता ॥२३७॥ ज्ञात्वा हेयमुपेयं च हित्वा हेयमिवाखिलं । उपादेयमुपादित्सोः कथं ते समदर्शिता ॥ २३८ ॥ पराधीनं सुखं हित्वा सुखं स्वाधीनमीप्सतः । त्यक्त्वाल्पां विपुलां चार्द्धिं वाञ्छतो विरतिः क्व ते ॥ २३९ ॥ आमनंत्यात्मविज्ञानं योगिनां हृदयं परं । कीदृक्तवात्मविज्ञानमात्मवत्पश्यतः परान् ॥ २४० ॥ तथा

पने राज्यलक्ष्मीसे अपनी उदासीनता प्रगट की, मुक्तिलक्ष्मीमें अत्यंत हर्ष दिखलाया और तपश्चरणरूप लक्ष्मीमें आसक्त होगये। यह एक बडे आश्चर्यकी बात है॥ २३६॥ हे देव! आप राज्यलक्ष्मीसे विरक्त हो गये हैं, तथापि तपश्चरणरूपी लक्ष्मीमें आसक्त हो गये हैं और मुक्तिरूपी लक्ष्मीकेलिये आपकी उत्कंठा बनरही है, इससे जान पडता है कि आपकी वीतरागता सब नष्ट होगई है ॥ २३७ ॥ (यह सब निंदास्तुति है अर्थात् ऊपरसे निंदासी जान पडती है परंतु वास्तवमें भगवानकी स्तुति है) हे नाथ! लोग आपको समदर्शी (सबको एकसा देखनेवाला) कहते हैं परंतु आपने हेय अर्थात् त्याग करने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य सब पदार्थोंका स्वरूप जानकर जितने हेय पदार्थ थे उन सबका तो त्याग करदिया है और जितने उपादेय पदार्थ हैं उन सबके ग्रहण करनेकी इच्छा कर रहे हैं तब फिर आपको समदर्शी कैसे कहा जाय ॥ २३८ ॥ हे स्वामिन् ! आपने इंद्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला पराधीन सुख छोडदिया है और मोक्षरूप स्वाधीन सुखकी इच्छा कर रहे हैं, आपने राज्य आदि थोडीसी विभूतिका त्याग कर दिया है और मोक्षरूप बडी भारी विभूतिकी इच्छा कर रहे हैं, हे नाथ ! इसतरह आपका पूर्णत्याग कहां रहा॥ २३९ ॥ हे देव ! प्रत्यक्ष आत्माका ज्ञान योगियोंके हृदयका सब रहस्य जानता है, परंतु आप अन्य सब जीवोंको अपने समान ही जानते हैं, कहिये यह आपका प्रत्यक्ष आत्मज्ञान कैसा? ॥ २४० ॥ हे प्रभो ! सुर असुर आदि समस्त देव जिसप्रकार पहिले आपकी सेवा करते

परिचरंत्येते यथापूर्वं सुरासुराः । त्वामुपास्ते च गूढं श्रीः कुतस्त्यस्ते तपःस्मयः ॥ २४१ ॥ नैसंगीमास्थितश्चर्यां सुखानुशयमप्यहन् । सुखीति कृतभिर्देव त्व तथाप्यभिलप्यसे ॥ २४२ ॥ ज्ञानशक्तित्रयीमूढ्वा विभित्सो. कर्मसाधनं । जिगीषुवृत्तमद्यापि तपोराज्ये तवास्त्यदः ॥ २४३ ॥ मोहान्धतमसध्वंसे बोधिता ज्ञानदीपिका । त्वमादाय चरन्नेश क्लेशापातेवसीदसि ॥ २४४ ॥ भट्टारक बरीभृष्टिः कर्मणोष्टतयस्य या । ता प्रति प्रज्वलत्येषा त्वद्ध्यानाग्निशिखोच्छिखा ॥ २४५ ॥ दृष्टतत्व वरीवृष्टिः कर्माष्टकवनस्य या । तत्रोत्क्षिप्ता कुठारीयं रत्नत्रयमयी त्वया ॥ २४६ ॥ ज्ञानवैराग्यसंपत्तिस्तवैषान-

थे उसीप्रकार अब भी आपकी सेवा करते हैं परंतु यह लक्ष्मी गुप्तरीतिसे आपकी सेवा करती है तब फिर आपके तपश्चरणका अहंकार कहां रहा ॥ २४१ ॥ हे प्रभो आपने निर्ग्रंथ अवस्था धारणकर सुखानुबंधका भी नाश कर दिया है, तथापि हे देव ! भाग्यशाली लोग आपको ही सुखी बतलाते हैं ॥ २४२ ॥ हे नाथ ! यद्यपि आपने राज्य छोडकर तपश्चरण धारण करलिया है तथापि इस तपश्चरणरूपी राज्यमें आज भी आपकी शत्रुको जीतनेकी सब सामग्री ज्यों की त्यों बनी हुई है, क्योंकि जिसप्रकार राज्यमें प्रभुत्व मंत्र और उत्साह इन तीनों शक्तियोंसे शत्रुओंकी सेना जानी जाती है उसीप्रकार आप भी आज मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूप शक्तियोंको धारण कर कर्मरूपी सेनाके जीतनेकी इच्छा कर रहे हैं ॥ २४३ ॥ हे देव । आप इस मोहरूपी गाढ अंधकारको नाश करनेकेलिये प्रकाशमान ज्ञानरूपी दीपक हाथमें लेकर चलते हैं इसलिये ही हे नाथ ! आपको क्लेशरूपी गढेमें पडनेका दुःख बिलकुल नहीं होता है ॥ २४४ ॥ हे भट्टारक ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंकी जो बडी भारी भट्टी बनी हुई है उसमें यह आपकी ध्यानरूपी अग्निकी बडी ऊंची शिखा खूब जल रही है ॥ २४५ ॥ हे समस्त तत्वोंको जाननेवाले जिनेंद्र देव ! आठों कर्मोंका बन जो अच्छीतरह काटने योग्य था उसके काटनेके लिये आपने यह रत्नत्रयरूपी कुल्हाडी ही उठाई है ॥ २४६ ॥ हे स्वामिन् ! यह जो आपकी ज्ञान और वैराग्यरूपी संपत्ति दिखाई दे रही है वह ऐसी है जो अन्य किसी जगह नहीं पाई जाती ।

न्यगोचरा। विमुक्तिसाधनायालं भक्तानां च भवच्छिदे ॥२४७॥ इति स्वार्थां परार्थां च बोधसंपदमूर्जितां। दधतेपि नमस्तुभ्यं विरागाय गरीयसे॥२४८॥ इत्यभिष्टुत्य नाकींद्राः प्रतिजग्मुः स्वमास्पदं। तद्गुणानुस्मृतिं पूतामादाय स्वेन चेतसा ॥ २४९ ॥ ततो भरतराजोपि गुरुं भक्तिभरानतः। पूजयामास लक्ष्मीवानुच्चावचवच.स्रजा ॥ २५० ॥ अथ भरतनरेंद्रो रुंद्रभक्त्या मुनींद्र समधिगतसमाधिं सावधानं स्वसाध्ये। सुरभिसलिलधारागंधपुष्पाक्षताग्रैरयजत जितमोह सप्रदीपैश्च धूपैः ॥ २५१ ॥ परिणतफलभेदैराम्रजंबूकपित्थैः पनसलकुचमोचैर्दाडिमैर्मातुलिंगैः। क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्च रम्यै-

---

आपकी शरणमें आये हुये भक्त लोगोंको संसार चक्रका नाश करनेकेलिये और मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये आपकी यही ज्ञान वैराग्यरूपी संपत्ति बहुत है, उन्हें इन दोनों कामोंके लिये अन्य किसी सामग्रीकी आवश्यकता नहीं है ॥ २४७ ॥ हे देव ! इसप्रकार आप अपना हित करनेवाली और अन्य जीवोंका हित करनेवाली ज्ञान रूपी बडी भारी संपदाको धारण करनेवाले हैं परंतु तो भी आप परम वीतराग हैं, हे भगवान् ! ऐसे आपके लिये बार बार नमस्कार हो ॥ २४८ ॥ इसप्रकार इंद्रोंने भगवान वृषभदेवकी स्तुति की और फिर वे अपने चित्तमें भगवानके पवित्र गुणोंको स्मरण करते हुये अपने अपने स्थानपर जा पहुंचे ॥ २४९ ॥ तदनंतर राज्यलक्ष्मीके स्वामी महाराज भरतने भी भक्तिके बोझसे अतिशय नम्र होकर अनेक प्रकारके बचनरूपी मालाओंके द्वारा अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवकी पूजा की ॥ २५० ॥ और फिर उन्हीं राजा भरतने बडी भक्तिसे सुगंधित जलकी धारा, चंदन, अक्षत, पुष्प, दीप, धूप, और अर्घसे आत्मध्यानमें तल्लीन हुये और मोक्षकी प्राप्ति करनेरूप अपने कार्यमें सदा सावधान ऐसे मोहनीय कर्मको जीतनेवाले मुनिराज भगवान वृषभदेवकी पूजा की ॥ २५१ ॥ तथा जिनकी राज्यलक्ष्मी बहुत बडी हुई है ऐसे महाराज भरतने पके हुये और बहुत मनोहर ऐसे आम, जामुन, कैथ, पनस (कटहल) बडहल, बिजोरा, केला, अनार, सुपारियोंके सुंदर गुच्छे और नारियलोंसे भगवानके चरनकमलोंकी पूजा की ॥ २५२ ॥ इसप्रकार जो भगवानके चरणकमलोंकी पूजा कर चुके हैं, जिनके

गुरुचरणसपर्यामातनोदाततश्रीः ॥२५२॥ कृतचरणसपर्यो भक्तिनम्रेण मूर्ध्ना धरणिनिहितजानुः प्रोद्गतानंदबाष्पः । प्रणतिमतनुतोच्चैर्मौलिमाणिक्यरश्मिप्रविमलसलिलौघैः क्षालयन्भर्तुरंघ्री ॥ २५३ ॥ स्तुतिभिरनुगतार्थालंक्रियाश्लाघिनीभिः प्रकटितगुरुभक्तिः कल्मषध्वंसिनीभिः । सममवनिपपुत्रैः स्वानुजन्मानुयातो भरतपतिरुदारश्रीरयोध्योन्मुखोऽभूत् ॥ २५४ ॥ अथ सरसिजबंधौ मंदमंदायमानैः परिमृशति कराग्रैः पश्चिमाशांगनास्य । धुवति मरुति मंदं प्रोल्लसत्केतुमालां प्रभुरविशदलंघ्या स्वामिवाज्ञामयोध्यां ॥ २५५ ॥ तत्रस्थो गुरुमादरात्परिचरन्दूरादुदारोदयः कुर्वन्सर्वजनोपकारिकरणीं वृत्ति

दोनों घुटने पृथ्वीपर लगे हुये हैं और जिनके नेत्रोंसे आनंदके आंसू निकल रहे हैं ऐसे महाराज भरतने अपने मस्तकमें लगे हुये रत्नोंकी किरणेंरूप निर्मळ जलसमूहसे भगवानके चरणकमलोंको प्रक्षालन करते हुये भक्तिवश अत्यंत नम्र हुये अपने मस्तकसे उन्हीं भगवानके चरणकमलोंको बार २ नमस्कार किया ॥ २५३ ॥ जिसने योग्य योग्य अलंकारोंसे अत्यंत प्रशंसा करने योग्य और समस्त पापोंको नाश करनेवाली ऐसी अनेक स्तुतियोंसे भगवानकी भक्ति प्रगट की है, और जो बडी भारी विभूतिका स्वामी है ऐसा वह भरतक्षेत्रका स्वामी राजा भरत अनेक राजपुत्रों और अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ अयोध्याको लौटनेके लिये तैयार हुआ ॥ २५४ ॥

अथानंतर—जिससमय सूर्य अपनी मंद मंद किरणोंसे पश्चिम दिशारूपी स्त्रीका मुख स्पर्श कर रहा था अर्थात् सायंकालके समय वह पश्चिमकी ओर जा रहा था और वायु उडती हुई ध्वजाओंके समूहको धीरे धीरे हिला रहाथा उस समय अपनी आज्ञाके समान शत्रुओं के द्वारा सर्वथा उल्लंघन करने अयोग्य ऐसी अयोध्या नगरीमें महाराज भरतने प्रवेश किया ॥ २५५ ॥ जो बहुत बडे भाग्य शाली हैं और जो आगामी कालमें चक्रवर्ती होनेवाले हैं, ऐसे महाराज भरत उस अयोध्या नगरीमें रहकर दूरसे ही अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवका आदर सत्कार और सेवा करते थे, उन्होंने अपने राज्यमें संपूर्ण मनुष्यों का उपकार करनेवाली आजीविकाका निर्वाह कर दिया था, वे अपने भाई बंधुओंको सदा हर्षित रखते

स्वराज्याधितां । तन्वानः प्रमदं सनाभिषु गुरून्संभावयन्सादरं भावी चक्रधरो धरां चिरमपादेकातपत्रांकितां ॥२५६॥ इत्थं निष्क्रमणे गुरोः समुचितं कृत्वा सपर्याविधिं प्रत्यावृत्य पुरिं निजामनुगतो राजाधिराजोऽनुजैः । प्रातःप्रातरनूत्थितो नृपगणैर्भक्त्या गुरोः संस्मरन् दिक्चक्रं विधुतारिचक्रमभुनक्पूर्वं यथासौ जिनः ॥ २५७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्पारीनिष्क्रमणवर्णनं नाम सप्तदशं पर्व ।

थे और गुरुजनोंका आदर पूर्वक आदर सत्कार करते थे, इस प्रकार वे केवल एक छत्र धारणकर संपूर्ण पृथ्वीका पालन करते थे ॥ २५६ ॥ इस प्रकार राजाधिराज महाराज भरत भगवान वृषभदेवके तपकल्याणकी यथायोग्य पूजाकर छोटे भाइयोंके साथ २ अपनी अयोध्या नगरीमें लौटे और वहां जिसप्रकार पहिले भगवान वृषभदेव समस्त दिशाओंका उपभोग करते थे उसीप्रकार उन्होंने भी प्रतिदिन प्रातःकाल ही अनेक राजाओंके साथ २ उठकर भक्ति पूर्वक अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवका स्मरण करते हुये समस्त शत्रुमंडलको नष्टकर सब दिशाओंका उपभोग किया था ॥ २५७ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवानके तपकल्याणका वर्णन करनेवाला सत्रहवां पर्व समाप्त हुआ.

अथ अष्टादशं पर्व ।

अथ कायं समुत्सृज्य तपोयोगे समाहितः । वाचंयमत्वमास्थाय तस्थौ विश्वेड्विमुक्तये ॥ १ ॥ षण्मासानशनं धीरः प्रतिज्ञाय महाधृति. । योगैकाग्र्यनिरुद्धातर्बहिष्करणविक्रियः ॥ २ ॥ वितस्त्यंतरपादाग्रयं तत्र्यंशातरपार्ष्णिकं । सममृज्वायतं स्थानमास्थाय रचितस्थितिः ॥ ३ ॥ काठिनेपि शिलापट्टे न्यस्तपादपयोरुह' । लक्ष्म्योपढौकित गूढमास्थितः पद्मविष्टरं ॥ ४ ॥ किमप्यतर्गतं जल्पन्नव्यक्ताक्षरमक्षरः । निगूढनिर्झरारावगुंजद्गुह इवाचलः ॥ ५ ॥ सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्तं प्रलंबितभुजद्वया । शमस्येव परा मूर्त्ति दधानो ध्यानसिद्धये ॥ ६ ॥ शिर' शिरोरुहापायात्सुव्यक्तपरिमंडलं ।

अथ अठारहवां पर्व ।

अथानंतर—वे भगवान वृषभदेव शरीरसे ममत्व छोडकर तथा तपश्चरण करनेमें सावधान होकर और मौन धारणकर मोक्ष जानेकेलिये तैयार हुये ॥ १ ॥ अत्यंत संतोषी और धीरवीर भगवान वृषभदेवने छह महीनेतक उपवास धारण करनेकी प्रतिज्ञा की और चित्तके समस्त संकल्पविकल्प रोककर एकाग्रता धारणकर मन और इंद्रियोंके सब विकार रोकदिये ॥ २ ॥ वे भगवान समान सरल और लंबी जगहपर कायोत्सर्ग धारणकर खडे हुये थे उनके दोनों पैरोंके अग्रभागका (अंगूठोंका) अंतर बारह अंगुल था और एडियोंका अंतर चार अंगुल था ॥ ३ ॥ वे भगवान कठिन शिलापर भी अपना चरणकमल रखकर इसप्रकार विराजमान थे मानों लक्ष्मीके द्वारा रक्खे हुये गूढ पद्मासनपर विराजमान हों ॥ ४ ॥ अविनाशीक वे भगवान अस्पष्ट अक्षरोंसे कुछ भी भीतर ही भीतर पाठ पढते जाते थे जिससे वे ऐसे जान पडते थे मानों जिसकी गुफायें भीतरी निर्झरनोंके शब्दोंसे गूंज रहीं हों ऐसा कोई पर्वत ही हो ॥ ५ ॥ जिनकी दोनों भुजायें लटक रहीं हैं तथा जो अत्यंत प्रसन्न और निर्मल है ऐसी मूर्तिको धारण करते हुये वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये शम अर्थात् इंद्रियोंके निग्रह करनेकी बडी उत्कृष्ट मूर्ति धारण की हो ॥ ६ ॥ शिरके बालोंका लोंच हो चुका था इसलिये शिर-

रोचिष्णूष्णीषमुष्णांशुमंडलस्पर्द्धि धारयन् ॥ ७ ॥ अभ्रूभंगमपापांगवीक्षणं स्तिमितेक्षणं । बिभ्राणो मुखमक्लिष्टसुश्लिष्टदशनच्छदं ॥ ८ ॥ सुगंधिमुखनिश्वासगंधाहूतैरलिव्रजैः । बहिर्निष्कासिताशुद्धलेश्यांशैरिव लक्षितः ॥९॥ प्रलंबितमहाबाहुदीप्तप्रोत्तुंगविग्रहः । कल्पाघ्रिप इवोच्चाग्रशाखाद्वयपरिष्कृतः ॥१०॥ अलक्ष्येणातपत्रेण तपोमाहात्म्यजन्मना । कृतच्छायोप्यनार्थित्वादक्षतेच्छः परिच्छदे ॥ ११ ॥ पर्यंततरुशाखाग्रैर्मंदानिलविधूनितैः । प्रकीर्णकैरिवायत्नविधुतैर्विधुतक्लमः ॥ १२ ॥ दीक्षानंतरमुद्भूतमनःपर्ययबोधनः । चतुर्ज्ञानधरः श्रीमान्सांतर्दीप इवालयः ॥ १३ ॥ चतुर्भिरूर्जितैर्बोधैरमात्यैरिव चर्चितं ।

का ब्रह्मद्वार बहुत देदीप्यमान हो रहा था, उसका गोल परिमंडल साफ दिखाई दे रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह सूर्यमंडलकी स्पर्द्धा ही कर रहा हो ॥ ७ ॥ भगवानकी न तो कभी भौंहें ही चलती थीं और न कभी किसीको कटाक्षसे देखते थे उनके ओठ भी खेद रहित बिलकुल मिले हुये थे । इसप्रकार उनका मुख सर्वथा चेष्टा रहित था ॥ ८ ॥ उनके मुखपर जो सुगंधित निश्वासकी सुगंधसे भ्रमरोंके समूह आ गये थे उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों कृष्णनील आदि अशुभ लेश्याओंके अंशोंको बाहर ही निकाल रहे हों ॥ ९ ॥ उनकी दोनों ही लंबी भुजायें घोंटुओंतक लटक रहीं थीं और उनका शरीर अत्यंत ऊंचा और देदीप्यमान था इसलिये वे ऐसे जान पडते थे मानों ऊंची दो मुख्य शाखाओंसे सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो ॥ १० ॥ वे इच्छा रहित थे अर्थात् उनके कोई किसी तरहकी इच्छा नहीं थी इसलिये ही किसीको न दिखनेवाले ऐसे तपश्चरणके माहात्म्यसे उत्पन्न हुये छत्रने उनपर छायाकर रक्खी थी परंतु इस छत्रसे वे ऐसे जान पडते थे मानों परिग्रहमें अभीतक उनकी इच्छा दूर न हुई हो ॥ ११ ॥ मंद मंद वायुसे जो समीपवर्ती वृक्षोंकी शाखायें हिल रहीं थीं उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों बिना ही यत्नके ढुलाये हुये चमरोंसे उनका क्लेश दूर हो रहा हो ॥ १२ ॥ दीक्षा धारण करनेके बाद ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ था जिससे वे चारों ज्ञानोंको धारण करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों जिसके भीतर दीपक जल रहा है ऐसा कोई मंदिर ही हो ॥ १३ ॥ जिसप्रकार

विलोकयन् विभुः कृत्स्न परलोकगतागत ॥ १४ ॥ यदैव स्थितवान्देवः पुरः परमनिःस्पृहः । तदामीषां नृपर्षीणा धृतेः क्षोभो महानभूत् ॥ १५ ॥ मासा द्वित्राश्च नो यावत्तावत्ते मुनिमानिनः । परीषहमहावातैर्भग्नः सद्यो धृतिं जहुः ॥ १६ ॥ अशक्ताः पदवीं गंतुं गुरोरतिगरीयसीं । त्यक्त्वाभिमानमित्युच्चैर्जजल्पुस्ते परस्पर ॥ १७ ॥ अहो धैर्यमहो स्थैर्यमहो जघाबलं प्रभो. । को नामैवमिन मुंक्त्वा कुर्यात्साहसमीदृश ॥ १८ ॥ कियंतमथवा कालं तिष्ठेदेवमतद्रितः । सोढ्वा बाधाः क्षुधाद्युत्था गिरींद्र इव निश्चलः ॥ १९ ॥ तिष्ठेदेकं दिनं द्वे वा कामं त्रिचतुराणि वा । परं मासावधिस्तिष्ठत्स्वस्मा-

कोई महाराज अपने मंत्रियोंके कहनेपर शत्रुओंका सब जगहका आना जाना आदि जान लेता है उसीप्रकार भगवान वृषभदेव भी उत्तम चारों ज्ञानोंके द्वारा जानकर समस्त जीवोंका परलोक संबंधी आना जाना देखते थे ॥ १४ ॥ जिससमय भगवान वृषभदेव इसप्रकार परम निस्पृह होकर विराजमान थे उससमय कच्छादिक जिन राजा लोगोंने दीक्षा धारण करली थी उनका बडा भारी धैर्य भी छूट गया था ॥ १५ ॥ दीक्षा धारणकर दो तीन महीने भी नहीं हुये थे कि इतनेमें ही अपनेको मुनि माननेवाले कच्छ आदि राजा लोग परीषहरूप महा वायुसे भग्न हो गये थे और उनका धैर्य बहुत शीघ्र छूट गया था ॥ १६ ॥ भगवानका धारण किया हुआ मार्ग अर्थात् वह तपश्चरण बहुत ही कठिन था, वे लोग उसे धारण नहीं कर सके और अपना २ भारी अभिमान छोडकर परस्पर कहने लगे कि ॥ १७ ॥ अहा बडा आश्चर्य है देखो भगवानका कितना भारी धैर्य है, कितनी बडी स्थिरता है और जंघाओंमें कितना बल है । इन भगवानको छोडकर अन्य ऐसा कौन है जो इसप्रकारका साहस कर सके ॥ १८ ॥ अब ये भगवान इसीप्रकार आलसरहित होकर क्षुधा आदि अनेक बाधाओंको सहन करते हुये निश्चल पर्वतके समान न जाने कितने दिनतक खडे रहेंगे? ॥ १९ ॥ हम समझते थे कि ये एक दिन वा दो दिनतक खडे रहेंगे अथवा अधिकसे अधिक तीन चार दिनतक खडे रहेंगे, परंतु इन्हें तो इसीप्रकार खडे हुये कई महीने होगये अब तो ये भगवान महीनों इसीप्रकार खडे रहकर केवल हम लोगोंको दुःख

न्क्लेशयतीशिता ॥ २० ॥ कामं तिष्ठतु वा भुक्त्वा पीत्वा निर्वाप्य नः पुनः । अनाश्वान्निःप्रतीकारस्तिष्ठन्निष्ठां करोति नः ॥ २१ ॥ साध्यं किंमे-
थवोद्दिश्य, तिष्ठदूर्ध्वज्ञयीशिता । षाड्गुण्ये पठितो नैष गुणः कोपि महीक्षितां ॥ २२ ॥ अनेकोपद्रवाकीर्णे वनेस्मिन् रक्षया विना । तिष्ठन्ननीतिविद्भर्ता
रक्ष्यो ह्यात्मा प्रयत्नतः ॥ २३ ॥ प्रायः प्राणेषु निर्विण्णो देहमुत्स्रष्टुमीहते । निर्विण्णा वयमेतेन तपसा प्राणहारिणा ॥ २४ ॥ वन्यैः कशिपुभिस्ता-
वत्कंदमूलफलादिभिः । प्राणयात्रां करिष्यामो यावद्योगावधिर्गुरोः ॥ २५ ॥ इति दीनतरं केचिन्निर्व्यपेक्षास्तपोविधौ । ब्रुवाणाः कातरा दीनां वृत्तिं

देरहे है ॥ २० ॥ अथवा यदि स्वयं भोजन पानकर और हम लोगोंको भोजन पानादिकसे संतुष्टकर फिर इसीप्रकार खडे रहते तो कोई हानि भी नहीं थी, परंतु इन्होंने तो बिलकुल उपवास धारण करलि-या है, भूख प्यासका कुछ भी उपाय नहीं करते हैं ! इसप्रकार हम लोगोंका तो नाश कर रहे हैं ॥२१॥ अथवा न जाने शत्रुओंका निग्रह करना आदि किस कामको सिद्ध करनेकेलिये भगवान खडे हैं, रा-जाओंके जो संधि (अन्य राजाओंसे मेल रखना) विग्रह (युद्ध) यान (सेना भेजना) आसन (पडाव डालना) द्वैधीभाव (राजाओंमे परस्पर वैमनस्य करादेना) और आश्रय (बडोंके आश्रय रहना और छोटोंको आश्रय देना) ये छह गुण हैं अथवा राजाकी शक्ति, मंत्रकी शक्ति, उत्साहकी शक्ति, दान देना, दंड देना और समझाना ये जो राजाओंके छह गुण हैं उनमेंसे इसप्रकार खडे रहना ऐसा कोई भी गुण नहीं पढा है ॥ २२ ॥ यह वन अनेक उपद्रवोंसे भरा हुआ है, इसमें भगवान वृषभदेव अपनी रक्षाका कुछ उपाय किये बिना ही निवास करते हैं इसलिये मालूम होता है कि ये नीति बिलकुल नहीं जानते हैं, क्योंकि अपने आत्माकी रक्षा पूर्ण प्रयत्नोंसे करनी चाहिये ॥ २३ ॥ भगवान तो प्रायः प्राणोंसे विरक्त होकर शरीर छोडना चाहते हैं परंतु हम लोग तो प्राण हरण करनेवाले इस तपश्चरणसे ही खेद खिन्न हो गये ! भावार्थ—भगवान् तो प्राणोंसे विरक्त हुये हैं और हम लोग इस तपश्चरणसे ही विरक्त हो गये हैं ॥ २४ ॥ इसलिये जबतक भगवानका योग समाप्त हो और जबतक स्वादिष्ट योग्य

प्रत्युन्मुखाः स्थिताः ॥ २६ ॥ परे परापरज्ञं तं परितोभ्यर्णवर्तिनः । इति कर्त्तव्यतामूढास्तस्थुरंतश्चलाचलाः ॥ २७ ॥ शयाने शायितं मुक्तं भुजाने तिष्ठति स्थितं । गतं गच्छति राज्यस्थे तपःस्थेप्यास्थितं तपः ॥ २८ ॥ भृत्याचारोयमस्माभिः पूर्वं सर्वोप्यनुष्ठितः । कालः कुलाभिमानस्य गतोत्र प्राणसंकटे ॥ २९ ॥ वने प्रविशतोस्माभिर्न भुक्तं जीवन प्रभोः । यावच्छक्ताः स्थितास्तावदशक्ताः किं नुकुर्महे ॥ ३० ॥ मिथ्या कारयते योगं

भोजन वस्त्रादिक नहीं मिलें तबतक वनमें उत्पन्न होनेवाले कंदमूल फल आदिसे ही हम लोगोंको अपना जीवन निर्वाह करना चाहिये ॥ २५ ॥ इसप्रकार कितने ही कातर पुरुष तपश्चरण करनेकी इच्छा छोड-कर अत्यंत दीन बचन कहते हुये आगामी कालमें दुःख देनेवाली ऐसी दीन वृत्तिको धारण करनेके-लिये तैयार हो गये थे ॥ ॥ २६ ॥ अन्य कितने ही लोग समझते थे कि भगवान आगे पीछेका सब हाल जानते हैं हम लोगोंका भी आगा पीछा सोचकर कुछ न कुछ निश्चय जरूर करेंगे यही समझकर वे भगवानके चारोंओर खडे होगये थे और कभी स्थिर तथा कभी चंचल बुद्धि करते हुये नीचे लिखे अनुसार अपनी कर्तव्यताकी मूर्खता दिखला रहे थे ॥ २७ ॥ वे लोग परस्पर कह रहे थे कि जब भग-वान राज्य करते थे तब हम लोग उनके सो जानेपर सोते थे, भोजन करने बाद भोजन करते थे, खडे होनेपर खडे हो जाते थे और उनके चलते ही चलते थे और अब जब भगवानने तपश्चरण धारण किया है तब हम लोगोंने भी तपश्चरण धारण कर लिया है ॥ २८ ॥ इसप्रकार सेवकका जितना कुछ काम है वह सब हम लोग पहले कर चुके हैं परंतु बडे कुलका अभिमान करनेवाले हम लोगोंका यह समय प्राणोंको संकट देनेवाला बनगया है ॥ २९ ॥ जिस दिनसे भगवानने वनमें प्रवेश किया है उस दिनसे हम लोगोंने कुछ भी अन्न जल नहीं खाया है, बिना भोजन पान किये जबतक हम लोगोंमें शक्ति थी तब तक तो रहे परंतु अब हम लोग इसतरह रह नहीं सकते हैं इसलिये अब क्या करें ॥३०॥ भगवान हम लोगोंपर कुछ भी दया नहीं करते हैं वे हम लोगोंसे झूठमूठ ही तपश्चरण कराते हैं । क्या

प्रभुरस्मासु निर्दयः । स्पर्धां कृत्वा सहैतेन मर्त्तव्यं किमशक्तकै ॥ ३१ ॥ अनिवर्त्ती गुरु सोऽयं कोस्यान्वेतुं पदं क्षम. । देवः स्वच्छदचार्येष न देवचरितं चरेत् ॥ ३२ ॥ कच्चिज्जीवति मे माता कच्चिज्जीवति मे पिता । कच्चित्स्मरति मे काता कच्चिन्नः सुस्थिताः प्रजाः ॥ ३३ ॥ इति स्वातर्गत केचिदच्छोद्य स्थातुमक्षमाः । अनुव्रज्य गुरोः पादौ प्रणता गमनोत्सुका. ॥ ३४ ॥ अहो गुरुरयं धीरः किमप्युद्दिश्य कारणं । जितात्मा त्यक्तराज्यश्रीः पुनः संयोक्षते तया ॥ ३५ ॥ यदायमद्य वा श्वो वा योगं सहृत्य धीरधीः । निजराज्यश्रिया भूयो योक्ष्यते वदता वरः ॥ ३६ ॥ तदास्मान्स्वामिकार्येस्मिन्भग्नोत्साहान्कृतच्छलान् । निर्वासयेदसत्कृत्य कुर्याद्वा वीतसंपदः ॥ ३७ ॥ भरतो वा गुरु त्यक्त्वा गतानस्मान्विकर्शयेत् । तद्यावद्योगनिष्प-

---

इनकी बराबरी करते हुये हम असमर्थ लोगोंको मर जाना चाहिये ! ॥ ३१ ॥ जो हम लोगोंपर बिलकुल दया नहीं करते हैं ऐसे ये भगवान अब घरको नहीं लौटेंगे ? अपना सोचा हुआ काम पूरा ही करेंगे इनकी बराबरी कौन कर सकता है, ये तो अपनी इच्छानुसार चलनेवाले हैं, इसालिये जो काम ये भगवान करते हैं वह मनुष्योंको कभी नहीं करना चाहिये ॥ ३२ ॥ क्या मेरी माता जीवित है, क्या मेरे पिता जीवित हैं, क्या मेरी स्त्री मुझे याद करती है, क्या मेरी प्रजा अच्छीतरह है ? ॥ ३३ ॥ इसप्रकार उस बनके रहनेमें असमर्थ हुये कितने ही लोग अपने मनका आभिप्राय प्रगटकर अपनेघर जानेकी इच्छासे भगवानके सामने खडे होकर बार २ उनके चरणकमलोंको नमस्कार करते थे ॥ ३४ ॥ अन्य कितने ही लोग कहते थे कि अहा भगवान बडे ही धीर वीर हैं, अपने आत्माको भी वश करनेवाले हैं, इन्होंने कोई न कोई कारण सोचकर ही राज्यलक्ष्मीका त्याग किया है सो फिर भी ये राज्यलक्ष्मीको अवश्य प्राप्त होंगे ॥ ३५ ॥ स्थिर बुद्धिको धारण करनेवाले और उपदेश देनेमें आति निपुण ऐसे ये भगवान वृषभदेव जब आज या कल अपना ध्यान समाप्तकर अपनी राज्यलक्ष्मीको प्राप्त होंगे तब भगवान वृषभदेवके इस कार्यसे जिन्होंने अपना उत्साह भंग कर दिया है अथवा छल किया है ऐसे हम लोगोंका मान भंगकर हमे अवश्य ही निकाल देंगे अथवा हम लोगोंकी सब संपदायें हरण कर लेंगे ॥ ३६-३७ ॥

त्तिर्विभोस्तावत्सहामहे ॥ ३८ ॥ भगवानयमद्यश्वः सिद्धयोगो भवेत् ध्रुवं । सिद्धे योगे कृतक्लेशानस्मानभ्युपपस्यते ॥ ३९ ॥ गुरोर्वा गुरुपुत्राद्वा पीडैव नैध जातु नः । पूजासत्कारलाभैश्च प्रीतः संप्रीणयेत्स नः ॥ ४० ॥ इति धीरतया केचिदंतःक्षोभेऽपि नातुराः । धीरयंतोपि नात्मानं शेकु स्थापयितु स्थितौ ॥ ४१ ॥ अभिमानधनाः केचिद्भूयोपि स्थातुमुद्यताः । पतित्वाप्यवशं भूमौ संस्मरुर्गुरुपादयोः ॥ ४२ ॥ इत्युच्चावचसजल्पैः सकल्पैश्च पृथग्विधैः । विरम्य ते तपःक्लेशाज्जीविकायां मतिं व्यधुः ॥ ४३ ॥ मुखोन्मुखं विभोर्दत्तदृष्ट्य पृष्ठतो मुखाः । अशक्त्या लज्जया वान्ये भेजिरे स्खलिता ग-

---

अथवा यदि हम लोग इन भगवानको छोडकर चले जांयगे तो महाराज भरत ही हम लोगोंको पीडा-देंगे । इसलिये जबतक भगवानका ध्यान समाप्त होता है तबतक हम लोगोंको सब कुछ सहन करना चाहिये ॥३८॥ ये भगवान अवश्य ही आज वा कलमें सिद्धयोग अर्थात् जिनका योग सिद्ध हो गया है ऐसे हो जांयगे । जब इनका योग सिद्ध हो जायगा तब अनेक क्लेश सहन करनेवाले हमलोगोंको किसी न किसी उपायसे अवश्य ही पालन करेंगे ॥ ३९ ॥ ऐसा करनेसे हमलोगोंको न तो कभी भगवान ही कोई पीडा देंगे और न कभी भगवानका पुत्र भरत ही कोई पीडा देगा, किंतु ये दोनों ही प्रसन्न होकर हम लोगोंका आदर सत्कारकर हम लोगोंसे विशेष प्रेम करेंगे ॥ ४० ॥ इसप्रकार कितने ही पुरुष अंतःकरणमें क्षोभित होते हुये भी मनको धैर्य देते हुये व्याकुल नहीं हुये थे और कितने ही पुरुष आत्माको धैर्य देते हुये भी उस अवस्थामें रह नहीं सके थे ॥ ४१ ॥ कितने ही महा अभिमानी लोग इतना क्लेश सहन करनेपर भी वहां ही रहनेकेलिये तैयार हुये थे, यद्यपि वे निर्बल होकर जमीनपर पड गये थे तथापि वहां पडे हुये भी भगवानके चरणकमलोंका ही स्मरण कर रहे थे ॥ ४२ ॥ इसप्रकार उन राजा लोगोंने अनेकप्रकारके भाषण और अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प किये, तथा वे तपश्चरणके क्लेशसे विरक्त होकर जीविकाके उपाय सोचने लगे ॥ ४३ ॥ कितने ही राजा लोगोंने अशक्त होकर भगवानके मुखके सामने अपना मुख करलिया और कितनों ही ने लज्जावश अपना मुख पीछेकी ओर फेर लिया

तिं ॥ ४४ ॥ अनापृच्छ्य गुरुं केचित्केचिदापृच्छ्य योगिनं । फनीत्य प्रणताः प्राणयात्राया मतिमादधुः ॥ ४५ ॥ केचित्त्वमेव शरणं नान्या गतिरिहास्ति नः । इति ब्रुवाणा विद्राणाः प्राणत्राणे मतिं व्यधुः ॥ ४६ ॥ अपत्रपिष्णवः केचिद्वेपमानप्रतीककाः । गुरोः पराङ्मुखीभूय जाता व्रतपराङ्मुखाः ॥ ४७ ॥ पादयोः पतिताः केचित्परित्रायस्व नः प्रभो । क्षुत्क्षामागान्क्षमस्वेति ब्रुवंतोंतर्हिता गुरोः ॥ ४८ ॥ अहो किमृषयो भग्ना महर्षेर्गंतुमक्षमाः । पदवीं तामनालीढामन्यैः सामान्यमर्त्यकैः ॥ ४९ ॥ किं महादंतिनो भारं निर्वोढुं कलभाः क्षमाः । पुंगवैर्वा भरं कृष्टं कर्षेयुः किमु दम्यकाः ॥ ५० ॥

इसप्रकार धीरे २ स्खलित गतिसे वे लोग जाने लगे ॥ ४४ ॥ कितने ही राजा लोग भगवान वृषभदेवको पूछकर और कितने ही उन्हें विना पुछे ही उनकी प्रदक्षिणा देकर तथा उन्हें नमस्कार कर अपने प्राणोंकी रक्षा करनेकेलिये उपाय करने लगे ॥ ४५ ॥ हे भगवन्! आप ही हम लोगोंको शरण हैं, इस संसारमें हमारी अन्य कोई गति नहीं है ' यही कहकर भागते हुये कितने ही लोग अपने प्राणोंकी रक्षा करनेका उपाय सोच रहे थे ॥ ४६ ॥ कितने ही लज्जावान पुरुष थर थर कांपते हुये भगवानसे परान्मुख होकर व्रतोंसे परान्मुख होगये थे ॥ ४७ ॥ कितने ही लोग भगवानके चरणकमलपर पडकर कह रहे थे कि हे प्रभो भूखसे हम लोगोंका शरीर अब बहुत कृश होगया है अब हम लोगोंको क्षमा कीजिये, हमारी रक्षा कीजिये, ऐसे कहते हुये ही वे लोग वहांसे चले गये थे ॥ ४८ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन्! जिसे अन्य साधारण मनुष्य स्पर्श भी नहीं कर सकते ऐसे उस भगवानके मार्गपर चलनेकेलिये असमर्थ होकर वे सब खोटे ऋषि तपश्चरणसे भ्रष्ट हो गये थे ॥ ४९ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि क्या एक बडे हाथीका बोझ एक हाथीका बच्चा धारण कर सकता है? अथवा एक बडे बैलके द्वारा ले जाने योग्य बोझको क्या एक छोटा बछडा लेजा सकता है ॥ ५० ॥ तदनंतर भूख प्यास आदि परीषहोंसे भ्रष्ट होकर वे लोग फल लानेके लिये उस बनके प्रदेशोंमें फैलनेलगे और प्यास बुझानेके लिये तालावपर दौडने लगे ॥ ५१ ॥ भूखे प्यासे उन लोगोंको अपने हाथसे

ततः परीषहैर्भग्नाः फलान्याहर्तुमिच्छवः । प्रसस्रुर्वनखण्डेषु सरःसु च पिपासिताः ॥ ५१ ॥ फलेग्रहीनिमान्दृष्ट्वा पिपासूंश्च स्वयंग्रहैः । न्यषेधन्मैवमेहिध्वमिति तान्वनदेवता. ५२ ॥ इदं रूपमदीनानामर्हतां चक्रिणामपि । निषेव्य कातरत्वस्य पदं माकार्ष्ट बालिशाः ॥ ५३ ॥ इति तद्वचनाद्भीतास्तद्रूपेण तयेहितु । नानाविधानिमान्वेषान्जगृहुर्दीनचेष्टिताः ॥ ५४ ॥ केचिद्वल्कलिनो भूत्वा फलान्यादन्पपुः पयः । परिधाय परे जीर्णं कौपीनं चक्रुरीप्सितं ॥ ५५ ॥ अपरे भस्मनोद्गुण्ठ्य स्वान्देहान्जटिनोभवन् । एकदण्डधराः केचित्केचिच्चासंस्त्रिदण्डिनः ॥ ५६ ॥ प्राणैरार्त्तास्तदेत्यादिवेषैर्वृत्तिरे

ही फल और पानी ग्रहण करते हुये देखकर उस बनके देवताओंने उन लोगोंसे मना किया और कहा कि तुम लोग ऐसा मत करो ॥ ५२ ॥ अरे मूर्ख हो यह तुम्हारा दीक्षा ग्रहण किया हुआ दिगंबर अवस्थाका रूप सर्वश्रेष्ठ ऐसे अरहंत चक्रवर्ती आदि लोगोंके धारण करने योग्य है । तुम लोग इस अवस्थाको धारणकर ऐसे कातर मत बनो अर्थात् दिगंबर अवस्था धारणकर फल मत तोडो और अप्रासुक पानी मत पीओ, क्योंकि ऐसा करना इस वेशमें शोभा नहीं देता ॥ ५३ ॥ बन देवताके ये वचन सुनकर वे ऋषिलोग फल तोडना तथा अप्रासुक तालावका पानी पीना आदि कामोंके करनेसे डर गये थे और उन नीच दरिद्री लोगोंने नीचे लिखे हुये अनेक प्रकारके वेष धारण कर लिये थे ॥ ५४ ॥ उनमेंसे कितने ही लोगोंने पेडोंकी छाल पहनकर फल खाना और पानी पीना प्रारंभ कर दिया था और अन्य कितने ही लोगोंने एक फटीसी लंगोटी पहनकर अपनी इच्छानुसार काम करना प्रारंभ कर दिया था ॥५५॥ अन्य कितने ही लोगोंने अपने सब शरीरपर भस्म लगा ली थी तथा जटायें बढा ली थीं, कितने ही एक दंड धारण कर दंडी बन गये थे कितने ही तीनदंड धारण कर त्रिदंडी बनगये थे ॥ ५६ ॥ इसप्रकार प्राणोंसे पीडित हुये वे लोग ऊपर लिखे हुये अनेक वेष धारणकर उस बनके वृक्षोंकी छाल, स्वच्छजल और कंद मूल आदि खाने पीने और पहननेकी चीजोंसे वहुत दिनतक अपना जीवन निर्वाह करते रहे थे ॥ ५७ ॥ वे लोग महाराज भरतसे

चिर । वन्यैः काशिपुभिः स्वच्छैर्जलैः कंदादिभिश्च ते ॥ ५७ ॥ भरताद्बिभ्यता तेषां देशत्यागः स्वतोऽभवत् । ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कृतोटजाः ॥ ५८ ॥ तदासंस्तापसाः पूर्वं परिव्राजश्च केचन । पाषंडिनां ते प्रथमे बभूवुर्मोहदूषिताः ॥५९॥ पुष्पोपहारैः सजलैर्भर्तुः पादावयक्षत । न देवतांतरं तेषामासीन्मुक्त्वा स्वयंभुवं ॥ ६० ॥ मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिवाड्भूयमास्थितः । मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धांतभाषितैः ॥ ६१ ॥ तदुपज्ञमभूद्योगशास्त्रं तंत्रं च कापिलं । येनाय मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः ॥ ६२ ॥ इति तेषु तथाभूता वृत्तिमासेदिवत्सु सः । तपस्यन्धीरलेपेतस्तथैवास्थान्महामुनिः ॥ ६३ ॥ स मेरुरिव निष्कंपः सोऽक्षोभ्यो जलराशिवत् । स वायुरिव निःसंगोनिर्लेपोंऽबरवत्प्रभुः ॥ ६४ ॥ तपस्तापेन तीव्रेण देहोऽस्य

डरकर ही बनमें रहते थे अर्थात् समझते थे कि यदि नगरमें जायंगे तो भरत कुछ न कुछ दुःख देंगे या निकाल देंगे, इसलिये उनके देशका त्याग स्वतः हो गया था और वे पत्तोंके छोटे २ झोंपडे बनाकर उसी बनमें निवास करते थे ॥ ५८ वे लोग पहिलेसे ही पाखंडी तपस्वी थे परंतु उनमेंसे भी कितनेही वेदको माननेवाले परिव्राज या सन्यासी हो गये थे और वे मोहनीय कर्मके उदयसे दूषित होकर पाखंडियोंमें मुख्य माने जाते थे ॥ ५९ ॥ वे लोग जल और पुष्पोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा करते थे । स्वयंभू भगवान वृषभदेवके सिवाय उनके अन्य कोई देवता नहीं था ॥ ६० ॥ मरीचि नामका एक भगवानका पोता (भरतका पुत्र) था वह भी सन्यासी हो गया था, उसने अनेक मिथ्या शास्त्रोंका उपदेश देकर मिथ्यात्वकी खूब वृद्धि की थी ॥ ६१ ॥ उसके कहे हुये योगशास्त्र (यौगिक वा नैयायिक) और सांख्यशास्त्र आदि शास्त्र थे, जिनसे मोहित होकर यह जीव सम्यग्ज्ञानसे परान्मुख हो जाता है ॥ ६२ ॥ इसप्रकार वे तपस्वी लोग ऊपर लिखे हुये अनेक प्रकारके मार्ग धारणकर निवास करते थे और बुद्धिरूपी बलको धारण करते हुये महामुनि भगवान वृषभदेव उसीप्रकार तपश्चरण करते हुये वहीं विराजमान थे ॥ ६३ ॥ वे भगवान मेरुपर्वतके समान निष्कंप थे, समुद्रके समान क्षोभरहित थे, वायुके समान परिग्रहरहित थे और आकाशके समान लेपरहित निर्मल थे ॥ ६४ ॥ जिसप्रकार तपा-

व्युतत्तरां । निष्टप्तस्य सुवर्णस्य ननु छायातरं भवेत् ॥ ६५ ॥ गुप्तयो गुप्तिरस्यासन्नगात्राणं च संयमः । गुणाश्च सैनिका जाताः कर्मशत्रुं जिगीषतः ॥ ६६ ॥ तपोनशनमाद्यं स्यात् द्वितीयमवमोदरं । तृतीयं वृत्तिसंख्यानं रसत्यागश्चतुर्थकं ॥ ६७ ॥ पंचमं तनुसंतापो विविक्तशयनासनं । षष्ठमित्यस्य बाह्यानि तपास्यासन्महाधृतेः ॥ ६८ ॥ प्रायश्चित्तादिभेदेन षोढैवाभ्यतरं तपः । तत्रास्य ध्यान एवासीत्परं तात्पर्यमीशितुः ॥ ६९ ॥ व्रतानि पंच पंचैव समित्याख्याः प्रयत्नकाः । पंचैवेंद्रियसंरोधाः षोढावश्यकमिष्यते ॥ ७० ॥ केशलोचश्च भूशय्या दंताधावनमेव च । अचेलत्वमथास्नानं स्थिति

ये हुये सुवर्णकी एक अद्भुत शोभा हो जाती है उसीप्रकार तीव्र तपश्चरणरूपी तापसे भगवानका शरीर भी बहुत दैदीप्यमान हो गया था ॥ ६५ कर्मरूप शत्रुको जीतनेकेलिये भगवान वृषभदेवकी मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति ये तीनों गुप्ति ही रक्षा करनेवाले किलेके समान थीं, संयम शरीरकी रक्षा करनेवाले कवचके समान था और आगे कहे हुये गुण ही सेनाके समान थे ॥६६॥ पाहिला अनशन अर्थात् उपवास, दूसरा अवमोदर्य अर्थात् थोडा भोजन लेना, तीसरा वृत्तिसंख्यान अर्थात् नियमित पदार्थ ग्रहण करना, चौथा रसपरित्याग अर्थात् छहों रसोंका अथवा एक, दो, चार रसोंका त्याग करना, पांचवां कायक्लेश करना और छट्ठा विविक्तशय्यासन अर्थात् एकांतमें सोना बैठना, इसप्रकार यह छह प्रकारका बाह्य तप भी महा धैर्य धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके था ॥ ६७-६८ ॥ प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अतरंग तप है सो इनमें भगवान वृषभदेव ध्यानमें ही अपना मुख्य अभिप्राय रखते थे अर्थात् प्रायः ध्यानमें ही मग्न रहते थे ॥ ६९ ॥ उन भगवान वृषभदेवके अहिंसा महाव्रत सत्यमहाव्रत, अचौर्य महाव्रत ब्रह्मचर्य महाव्रत, और परिग्रहत्याग महाव्रत ये पांच व्रत थे, बडे प्रयत्नसे पालन की हुई ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और प्रतिष्ठापनसमिति, ये पांच समितियां थीं, वे पांचों इंद्रियोंका निग्रह करते थे, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, सामयिक, बंदना, स्तुति और स्वाध्याय इन छहों आवश्यकोंका पालन करते थे, केशलोंच करते थे, भू-

भोजनमप्यदः ॥ ७१ ॥ एकभुक्तं च तस्यासन्गुणा मौलाः पदातयः । तेऽत्रस्य महती शुद्धिरभूत् ध्यानविशुद्धितः ॥ ७२ ॥ महानशनमस्यासीत्तपः षण्मासगोचर । शरीरोपचयस्त्विद्धस्तथैवास्थादहो धृतिः ॥ ७३ ॥ नानाशुषोप्यभूद्वर्चुः स्वल्पोप्यगे परिश्रमः । निर्माणातिशयः कोपि दिव्यः स हि महात्मनः ॥ ७४ ॥ सत्कारविरहात्केशा जटीभूतास्तदा विभोः । नून तेपि तपःक्लेशमनुसोढ़ु तथा स्थिता. ॥ ७५ ॥ मुनेर्मूर्द्धनि जटा दूरं प्रससुः पवनोद्धताः । ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥ ७६ तत्तपोतिशयात्तास्मिन्काननेभूत्परा द्युतिः । नक्तं दिवा च बालार्कतेजसेवाततातिके ॥ ७७ ॥ शाखाः पुष्पफलानम्राः शाखिना तत्र कानने । बभुर्भगवतः पादौ नमत्य इव भक्तितः ॥ ७८ ॥ तस्मिन्वने वनलता भृंगसंगीतानिःस्वनैः ।

मिपर सोते थे, दतौन कभी नहीं करतेथे लंगोटी आदि वस्त्र नहीं पहनते थे, स्नान नहीं करते थे, खडे होकर भोजन लेते थे, और दिनमें एकबार भोजन लेते थे, इसप्रकार ये अट्ठाईस मूलगुण ही भगवानके मुख्य गुण थे जो कि मुख्य पदातियोंके (पैदल चलनेवाली सेनाके) समान थे । चूंकि भगवानका ध्यान बहुत विशुद्ध था इसालिये ध्यानकी विशुद्धि होनेसे भगवानके ये मूलगुण भी बहुत विशुद्ध थे ॥ ७०-७१-७२ ॥ भगवानने छह महीनेका महा अनशन तप किया था तथापि यह बडा आश्चर्य है कि उनके शरीरकी अवस्था और कांति ज्योंकी त्यों बनी हुई थी ॥ ७३ ॥ यद्यपि भगवानके महा अनशन तप था तथापि उनके शरीरको बिलकुल परिश्रम नहीं होता था । भगवान वृषभदेवके निर्माण नाम कर्मका यह ऐसा ही कोई दिव्य अतिशय था ॥ ७४ ॥ उससमय भगवानके केश बिलकुल संस्काररहित थे इसलिये वे जटा सरीखे हो गये थे और ऐसे जान पडते थे मानों वे तपश्चरणका क्लेश सहन करनेकेलिये ही ऐसे कठिन हो गये हों ॥ ७५ ॥ वे भगवानके मस्तकपरकी जटायें वायुसे उडकर बहुत दूर तक फैल गईं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों ध्यानरूपी अग्निसे तपाये हुये जीवरूपी सुवर्णसे निकली हुई कालिमा ही हो ॥७६॥ भगवानके उस तपके अतिशयसे विस्तीर्ण और लंबे चौडे उस बनमें रात दिन ऐसी उत्तम कांति रहती थी जैसी कि उदय होते हुये सूर्यकी कांति होती है ॥ ७७ ॥ उस वन

उपवीणितमातेनुरिव भक्त्या जगद्गुरोः ॥ ७९ ॥ पर्यंतवर्तिनः क्ष्माजा गलद्भिः कुसुमैः स्वयं । पुष्पोपहारमातन्वानिव भक्त्यास्य पादयोः ॥ ८० ॥ मृगशावाः पदोपाते स्वैरमध्यासिता मुनेः । तदाश्रमस्य शान्तत्वमाचख्युः सामिनिद्रिताः ॥ ८१ ॥ मृगारित्वं समुत्सृज्य सिंहास्सहतवृतयः । वभूवुर्गजयूथेन माहात्म्यं तद्धि योगजं ॥ ८२ ॥ कंटकालग्नवालाग्राश्चमरीश्च मरीमृजाः । नखरैः स्वैरहो व्याघ्राः सानुकंपं व्यमोचयन् ॥ ८३ ॥ प्रस्नुवाना महाव्याघ्रीरुपेत्य मृगशावकाः । स्वजनन्यास्थया स्वैर पीत्वा स्म सुखमासते ॥ ८४ ॥ पदयोरस्य वन्येभाः समुत्फुल्ल सरोरुहं । ढौकयामासुरानीय तपःश-

---

में वृक्षोंकी सब शाखायें फल और पुष्पोंसे नम्र हो रही थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों भक्ति पूर्वक भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार ही कर रही हों ॥ ७८ ॥ जिस बनमें भगवान तपश्चरण कर रहे थे उसी बनमें अनेक प्रकारकी बनकी लताओंपर भ्रमर मधुर शब्दोंसे गुंजार कर रहे थे जिससे वे बनलतायें ऐसी जान पडती थीं मानों भक्ति पूर्वक वीणा बजाकर जगतगुरु भगवान वृषभदेवका यश ही गा रही हों ॥ ७९ ॥ भगवानके समीपवर्ती इधर उधरके वृक्षोंसे अपने आप जो फूल गिर रहे थे उनसे वे वृक्ष ऐसे जान पडते थे मानों भक्तिपूर्वक भगवानके चरणकमलोंकी पुष्पोंसे पूजा ही कर रहे हों ॥८०॥ भगवानके चरणकमलोंके समीप ही हिरणोंके बच्चे अपनी इच्छानुसार कुछ२ निद्रा लेते हुये अर्थात् निद्रासे थोडीसी आंखें खोले हुये बैठे थे और वे भगवानके आश्रमकी शांतता दिखला रहे थे ॥ ८१ ॥ सिंहोंने हरिण आदि जीवोंका मारना छोड दिया था और वे हाथियोंके समूहमें एक साथ मिलकर रहते थे। यह सब भगवान वृषभदेवके ध्यानकी महिमा ही समझनी चाहिये ॥ ८२ ॥ अहा? देखो जिनके बालोंकी नोंकपर कांटे लगगये हैं और जो बार २ उन्हें घिसकर छुडा रहीं हैं ऐसी चमरी गायोंके उन कांटोंको उस बनके बाघ बडी दयाके साथ अपने नखोंसे छुडा रहे थे ॥ ८३ ॥ हरिणके बच्चे दूध देती हुई बाघिनीके समीप जाकर और उसे अपनी माता समझकर इच्छानुसार उसका दूध पीकर सुखी होते थे ॥८४॥ अहा भगवानके तपश्चरणकी इतनी बडी शक्ति थी कि बनके हाथी भी फूले हुये कमल लाते थे और

क्तिरहो परा ॥ ८५ ॥ बभौ राजीवमारक्तं करिणा पुष्कराश्रितं । पुष्कराश्रियमाम्रेडीकुर्वद्भर्तुरुपासने ॥ ८६ ॥ प्रशमस्य विभोरंगाद्विसर्पंत इवांशुकाः । प्रसह्य वशमानिन्युरवशानपि तान्मृगान् ॥ ८७ ॥ अनाशुषोऽपि नास्यासीत्क्षुद्बाधा भुवनेशिनः । संतोषभावनोत्कर्षान्नियेत् गृद्धिमगृध्नुता ॥ ८८ ॥ चलंति स्म तदेंद्राणामासनान्यस्य योगतः । चित्रं हि महतां धैर्यं जगदाकंपकारणं ॥ ८९ ॥ इति षण्मासानिर्वर्त्स्यत्प्रतिमायोगमीयुषः । स कालः क्षणवद्भर्तुरगमद्धैर्यशालिनः ॥ ९० अत्रांतरे किलायातौ कुमारौ सुकुमारकौ । सूनू कच्छमहाकच्छनृपयोर्निकटं गुरोः ॥ ९१ ॥ नमिश्च विनमिश्चेति

भगवानके चरणकमलोंपर चढाते थे ॥ ८५ ॥ जिससमय वे हाथी अपनी सूंडमें लिये हुये लाल कमलोंको भगवानके चरणकमलपर चढाते थे उस समय भगवानके लालचरणकमलोंके समीप रक्खे हुये वे लालकमल ऐसे सुशोभित होते थे मानों सूंडमें लगे हुये लाल कमलोंकी शोभा ही दूनी तिगुनी होगई हो ॥ ८६ ॥ जो सिंह आदि क्रूर पशु कभी किसीके बश नहीं होते थे वे भगवानके समीप आकर ऐसे वश होगये थे मानों भगवानके शरीरसे फैलती हुई शांतताकी किरणोंने हठ पूर्वक ही वश कर लिये हों ॥ ८७ ॥ यद्यपि भगवान बहुत दिनसे उपवास कर रहे थे तथापि उन्हें भूखका कुछ दुख नहीं होता था। सो ठीक ही है संतोषकी अति उत्तम भावनासे जो अनिच्छा (इच्छाका न होना) उत्पन्न होती है वह समस्त इच्छाओंको जीत लेती है ॥ ८८ ॥ उस समय भगवानके उस ध्यानके माहात्म्यसे इंद्रोंके आसन भी कंपायमान हो गये थे। देखो ! यह भी एक कैसा विचित्र आश्चर्य है कि महापुरुषोंका धैर्य भी जगतको कंपायमान करनेका कारण होजाता है ॥ ८९ ॥ इसप्रकार छह महीनेमें समाप्त होनेवाले प्रतिमा योगको (खडे होकर धारण की हुई ध्यानस्थ मुद्राको) धारण करनेवाले तथा अत्यंत धीर वीर भगवान वृषभदेवका वह इतना लंबा समय क्षणभरके समान व्यतीत हो गया था ॥ ९० ॥ इसी बीचके समयमें महाराज कच्छ और महाकच्छके अति सुकुमार लडके भगवानके समीप आये थे, वे दोनों ही कुमार तरुण थे, नमि तथा विनमि उनका नाम था और वे दोनों ही

प्रतीतौ भक्तिनिर्भरौ । भगवत्पादससेवां कर्त्तुकामौ युवेशिनौ ॥ ९२ ॥ भोगेषु सतृषावेतौ प्रसीदेति कृतानती । पदद्वयेऽस्य संलग्नौ भेजतुर्ध्यानविघ्नतां ॥ ९३ ॥ त्वयेश पुत्रनप्तृभ्यः संविभक्तमभूदिद । साम्राज्य विस्मृतावावामतो भोगान्प्रयच्छ नौ ॥ ९४ ॥ इत्येवमनुबध्नतौ युक्तायुक्तानभिज्ञकौ । तौ तदा जलपुष्पार्घैरुपासामासतुर्विभु ॥ ९५ ॥ ततः स्वासनकंपेन तदज्ञासीत्फणीश्वरः । धरणेंद्र इति ख्यातिमुद्वहन्भावनामरः ॥ ९६ ॥ ज्ञात्वा चावधिबोधेन तत्सर्वं संविधानकं । ससंभ्रममथोत्थाय सोऽतिकं भर्तुरागमत् ॥ ९७ ॥ ससपर्य्यं समुद्भिद्य भुवं प्राप्तः स तत्क्षणात् । समै-

भक्तिवश होकर भगवानके चरणकमलोंकी सेवा करनेकी इच्छासे ही वहां आये थे ॥ ९१–९२ ॥ भोगोपभोगोंमें इन दोनोंकी बडी भारी तृष्णा थी और इसलिये ही भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुये तथा ‘ हे भगवन् हमपर प्रसन्न हूजिये ’ यह कहते हुये भगवानके दोनों चरणकमलोंसे लिपट गये थे और इसप्रकार भगवानके ध्यानमें विघ्न करने लग गये थे ॥ ९३ ॥ इस समय वे भगवानसे प्रार्थना कर रहे थे कि हे स्वामिन् आपने अपना सब साम्राज्य अपने पुत्र और पौत्रोंको बांट दिया है, राज्य बांटते समय हमको बिलकुल भूलगये है, इसलिये अब हमें भी कुछ भोगोपभोगकी सामग्री दीजिये ॥ ९४ ॥ इसप्रकार वे भगवानसे वार २ आग्रह कर रहे थे, उन्हें योग्य अयोग्यका कुछ ज्ञान नहीं था और वे वार २ जल पुष्प और अर्घ आदिसे भगवानकी उपासना कर रहे थे ॥ ९५ ॥ जिससमय वे दोनों ही कुमार इसप्रकार भगवानके ध्यानमें विघ्न कर रहे थे उसीसमय धरणेंद्र नामके भवनवासियोंके अंतर्गत नागकुमारके इंद्रका आसन कंपायमान हुआ था और उसे वह सब बात मालूम हो गई थी ॥ ९६ ॥ धरणेंद्रने अपने अवधिज्ञानसे नमि विनमिका वह सब समाचार जानलिया था, वह तुरत ही बडे आश्चर्यके साथ उठा और तुरंत भगवानके समीप आया ॥ ९७ ॥ वह उसी समय पूजाकी सब सामग्री लेकर पृथ्वीको भेदनकर भगवानके समीप पहुंचा और वहां उसने दूरसे ही महा मेरूपर्वतके समान अति उन्नत ऐसे मुनिराज भगवान वृषभदेवके दर्शन किये ॥ ९८ ॥ उस समय योगाभ्यास करनेमें सावधान हुआ भग-

क्लिष्ट मुनिं दूरान्महामेरुमिवोन्नतं ॥९८॥ समिद्धया तपोदीप्त्या ज्वलद्भासुरविग्रहं । निवातनिश्चलं दीपमिव योगे समाहितं ॥ ९९ ॥ कर्माहुतीर्महाध्यानहुताशे दग्धुमुद्यत । सुयज्वानामिवाहेयदयापत्नीपरिग्रह ॥ १०० ॥ महोदयमुदग्राग्रं सुवंशं मुनिकुंजरं । रुद्धं तपोमहालानस्तम्भे सद्व्रतरज्जुभिः ॥ १०१ ॥ अकप्रास्थितिमुत्तुगं महासत्वैरुपासितं । महाद्रिमिव बिभ्राण क्षमाभरसहं वपुः ॥ १०२ ॥ योगातर्निभृतात्मानमतिगमीरचोष्टित । निर्वात-

---

वानका देदीप्यमान शरीरअतिशय बढी हुई तपश्चरणरूपी दीप्तिसे प्रकाशमान हो रहा था और ऐसा जान पडता था मानों जिसमें वायु बिलकुल नहीं है ऐसे प्रदेशमें रक्खा हुआ एक निश्चल दीपक ही हो ॥ ९९ ॥ अथवा भगवानका वह शरीर ऐसा जान पडता था मानों महाध्यानरूपी अग्निमें कर्मरूपी आहूतियोंको डालनेकेलिये तैयार हुआ और कभी न छोडने योग्य ऐसी दयारूप स्त्रीको साथलिये हुये ऐसा कोई अच्छा यज्ञ करनेवाला ही हो ॥ १०० ॥ अथवा वे उत्तम मुनिराज एक हाथीके समान जान पडते थे जिसप्रकार हाथी महोदय अर्थात् भाग्यशाली होता है उसीप्रकार वे भी महोदय अर्थात् बडे ऐश्वर्यशाली थे, हाथीका शरीर जिसप्रकार ऊंचा होता है उसीप्रकार उनका शरीर भी ऊंचा था, जिसप्रकार हाथी सुवंश अर्थात् उसकी पीठपरकी रीढ (हड्डी) बडी होती है उसीप्रकार वे भगवान भी सुवंश अर्थात् उत्तम वंशमें उत्पन्न हुये थे, जिसप्रकार हाथी कुंजर कहलाता है अर्थात् उसका दूसरा नाम कुंजर है उसीप्रकार वे भगवान भी मुनिकुंजर अर्थात् मुनियोंमें उत्तम कहलाते थे और हाथी जिसप्रकार किसी रस्सीसे खूंटेमें बंधा रहता है उसीप्रकार वे भगवान भी उत्तम व्रतरूपी रस्सीसे तपश्चरणरूपी बडे खूंटेमें बंधे हुये थे ॥ १०१ ॥ अथवा उनका वह शरीर मेरु पर्वतके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वत कभी कंपायमान नहीं होता उसीप्रकार भगवानका शरीर भी कभी कंपायमान नहीं होता था, मेरुपर्वत जिसप्रकार बहुत ऊचा है उसीप्रकार उनका शरीर भी बहुत ऊंचा था, जिसप्रकार सिंह व्याघ्र आदि क्रूर जीव मेरुपर्वतकी उपासना करते हैं अर्थात् वहां रहते हैं उसीप्रकार बहुतसे क्रुर जीव

स्तिमितस्याब्धेर्न्यक्कुर्वाण गभीरता ॥ १०३ ॥ परीषहमहावातैरक्षोभ्यमजलाशयं । दोषयादोभिरस्पृष्टमपूर्वमिव वारिधिं ॥ १०४ ॥ सादरं च समासाद्य पश्यन्भगवतो वपुः । विसिस्मिये तपोलक्ष्म्या परिरब्धमधीद्धया ॥ १०५ ॥ परीत्य प्रणतो भक्त्या स्तुत्वा च स जगद्गुरुं । कुमाराविति सोपायम-वदत्संवृताकृतिः ॥ १०६ ॥ युवा युवानौ दृश्येते सायुधौ विकृताकृती । तपोवनं च पश्यामि प्रशांतमिदमूर्जितं ॥ १०७ ॥ क्वेदं तपोवनं शांतं क्व

भगवानकी भी उपासना करते थे, अथवा महासत्त्व अर्थात् भारी धीर वीरता ही भगवानकी उपासना करती थी, अथवा जिसप्रकार देव विद्याधर आदि वडे २ जीव मेरुपर्वतकी उपासना करते हैं उसीप्रकार वे देव विद्याधर आदि वडे पुरुप भगवानकी भी उपासना करते थे और मेरुपर्वत जिसप्रकार क्षमा, अर्थात् पृथ्वीकी अधिकता धारण करता है उसीप्रकार भगवान भी क्षमा आदि अनेक गुणोंके समूहको धारण करते थे ॥ १०२ ॥ अथवा वे भगवान उससमय वायु रहित निश्चल समुद्रकी गंभीरताको भी तिरस्कार कर रहे थे क्योंकि उन्होंने अपना आत्मा ध्यानमें भीतर स्थापन करलिया था और उनकी चेष्टायें वहुत ही गंभीर थीं, भावार्थ—वे वहुत ही गंभीर थे, चंचलपना उनमें विलकुल नहीं था ॥ १०३ ॥ अथवा वे भगवान एक अपूर्व समुद्रके समान जान पडते थे । क्योंकि समुद्र वायुसे क्षुब्ध हो जाता है परंतु वे परीषहरूपी महावायुसे भी कभी क्षुब्ध नहीं होते थे, समुद्र जलाशय अर्थात् जलसे भराहुआ अथवा ल और ड को अभेद मानकर जडाशय अर्थात् जडरूप होता है परंतु वे भगवान जडाशय अर्थात् अज्ञानी नहीं थे पूर्ण ज्ञानवान थे और समुद्र दुष्ट जलचर जीवोंसे भरा होता है परंतु भगवानमें दोषरूपी जलचर जीवोंका स्पर्श भी नहीं था ॥१०४॥ इसप्रकार वर्णन किये हुये भगवान वृषभदेवके समीप वह धरणेंद्र बडे आदरसे पहुंचा और वहुत वढती हुई तपश्चरणरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन कियेहुये उस भगवानके शरीरको देखकर उसे वडा आश्चर्य हुआ ॥१०५॥ प्रथम ही उसने वडी भक्तिसे जगतगुरु भगवान वृषभदेवकी प्रदक्षिणा दी, उन्हें नमस्कार किया, उनकी स्तुतिकी और फिर अपना वेश छिपाकर बडी युक्तिके साथ उन

युवा भीषणाकृती । प्रकाशतमसोरेष संगमो नन्वसंगतः ॥ १०८ ॥ अहो निंद्यतरा भोगा यैरस्थानेऽपि योजयेत् । प्रार्थनामर्थिनां का वा युक्तायुक्तविचारणा ॥ १०९ ॥ प्रवांछंतो युवां भोगान्देवोऽय भोगनिस्पृहः । तद्वा शिलातलेंभोजवाछा चित्रीयतेऽद्य नः ॥ ११० ॥ सस्पृहः स्वयमन्याश्च सस्पृहानेव मन्यते । को नाम स्पृहयेद्धीमान्भोगान्पर्यंततापिनः ॥ १११ ॥ आपातमात्ररम्याणा भोगानां वशगः पुमान् । महानप्यर्थिता दोषात्सद्यस्तृणलघुर्भवेत् ॥ ११२ ॥ युवां चेद्भोगकाम्यतौ व्रजेतं भरतांतिकं । स हि साम्राज्यधौरेयो वर्त्तते नृपपुंगवः ॥ ११३ ॥ भगवास्त्यक्तरागादिसंगो देहेपि

दोनों कुमारोंसे कहने लगा ॥ १०६ ॥ कि हे तरुण पुरुष हो मुझे तुम दोनों ही हथियार बांधे हुये भयंकर आकारके दिखाई दे रहे हो और यह अनेक फल फूलोंसे भरा हुआ तपोवन बडा ही शांत दिखलाई दे रहा है ॥ १०७ ॥ कहां तो यह शांत तपोवन और कहां भयंकर आकारवाले तुम दोनों, प्रकाश और अंधकारके समान तुम दोनोंका इस बनमें आकर समागम होना क्या अनुचित नहीं है?॥ १०८ ॥ अहा ! देखो संसारमें ये भोग बडे ही निंद्य हैं, ये भोग मनुष्योंको अयोग्य स्थानमें भी प्रार्थना कराते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि मांगनेवालोंको योग्य अयोग्यका विचार कहां रह सकता है ॥ १०९ ॥ देखो ! ये भगवान वृषभदेव तो भोगोंसे निस्पृह हैं, और तुम लोग इनसे भोगोपभोगोंकी इच्छा कर रहे हो, सो तुम दोनोंकी पत्थरकी शिलासे कमलकी इच्छा करना आज हम लोगोंको बडा ही आश्चर्य कर रही है ॥ ११० ॥ संसारमें जो भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले मनुष्य हैं वे अन्य लोगोंको भी अपने समान ही समझते हैं परंतु तो भी अंतमें संताप देनेवाले इन भोगोंकी इच्छा भला कौन बुद्धिमान करता है ॥ १११ ॥ केवल प्रारंभमें ही मनोहर दिखाई देनेवाले इन भोगोंके वश हुआ यह प्राणी चाहे जितना बडा क्यों न हो परंतु वह प्रार्थना करने वा मांगनेरूप दोषसे बहुत शीघ्र तृणके समान तुच्छ हो जाता है ॥११२॥ यदि तुम दोनों भोगोपभोगोंकी सामग्री चाहते हो तो भरतके समीप जाओ, क्योंकि अब वही समस्त साम्राज्यका स्वामी है और वही सब राजाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ११३ ॥ भगवानने तो रागद्वेष

निस्पृहः । कुतो वामधुना दद्याद्भोगान्भोगस्पृहावतोः ॥ ११४॥ ततोऽमुपरुध्यैनं देव मुक्त्यर्थमुद्यतं । भुक्तिमार्गो युवां यातं भरतं पर्युपासितुं ॥ ११५॥ इति तद्वचनस्याते कुमारौ प्रत्यवोचतां । परकार्येषु वः कास्था तूष्णीं यात महाधियः ॥ ११६ ॥ यदत्र युक्तमन्यद्वा जानीमस्तद्द्वयं वयं । अनभिज्ञा भवंतोत्र साधयंतु यथेहितं ॥ ११७ ॥ वर्षीयासो यवीयांस इति भेदो वयस्कृतः । न बोधवृद्धिर्बाल्येस्ति न यूनां प्रचयो धियः ॥ ११८ ॥ वयसः प-

---

आदि अंतरंग बाह्य सब परिग्रहका त्याग कर दिया है तथा अपने शरीरसे भी ममत्व छोड दिया है, भला ये अब भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले तुम दोनोंको भोगोपभोगकी सामग्री कैसे दे सकते हैं ॥ ११४ ॥ इसलिये इन भगवानको घेरनेसे अब कुछ लाभ नहीं है, अब तुम इनके ध्यानमें व्यर्थ विघ्न मत करो, क्योंकि ये तो केवल मोक्ष जानेकेलिये प्रयत्न कर रहे हैं, यदि तुम्हें भोगोपभोगोंकी इच्छा है तो तुम प्रार्थना करनेकेलिये भरतके समीप जाओ ॥ ११५ ॥ इसप्रकार जब वह धरणेंद्र कह चुका तब वे दोनों ही कुमार उसे प्रत्युत्तर देने लगे और कहने लगे कि दूसरेका काम करनेकेलिये आप क्यों प्रयत्न कर रहे हैं, यदि हम बालक (मूर्ख) हैं तो आप तो बडे बुद्धिमान हैं इसलिये आप चुपचाप यहांसे चले जाइये, हमारे बीचमें बोलनेका आपको कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ११६ ॥ क्योंकि इस विषयमें जो योग्य अथवा अयोग्य है वह सब हम जानते हैं, यदि हम मूर्ख हैं तो सही. आपको क्या प्रयोजन, आप अपनी इच्छानुसार अपना काम सिद्ध कीजिये ॥ ११७ ॥ यह वृद्ध है और यह बालक है, यह भेद तो केवल आयुके संबंधसे माना जाता है, परंतु वृद्धावस्थामें न तो कुछ ज्ञानकी वृद्धि होती है और न बालक अवस्थामें ज्ञान कुछ घटता रहता है। किंतु संसारमें इसके प्रतिकूल ही दिखाई पडता है क्योंकि इस संसारमें ज्यों ज्यों मनुष्यकी आयु अधिक पकती जाती है अर्थात् वृद्धावस्थामें ज्यों ज्यों ढलती जाती है त्यों २ यह बुद्धि प्रायः अधिक मंद होती चली जाती है और प्रायः पुण्यवान पुरुषोंकी बालक अवस्थामें ही यह बुद्धि बराबर बढती रहती है ॥ ११८-११९ ॥ न तो मनुष्योंकी यह नई तरुण

रिणामेन धियः प्रायेण मंदिमा । कृतात्मनां वयस्याद्ये ननु मेधा विवर्द्धते ॥ ११९ ॥ नवं वयो न दोषाय न गुणाय दशातरं । नवोपींदुर्जनाल्हादी दहत्यग्निर्जरन्नपि ॥ १२० ॥ अपृष्टः कार्यमाचष्टे यः स धृष्टतरो मतः । न विपृच्छिषिता यूयमावाभ्या कार्यमीदृशं ॥ १२१ ॥ अपृष्टकार्यनिर्देशैरप्र्य-लीकानिष्टचाटुभिः । छलयंति खला लोकानसद्वृत्ता भवद्विधाः ॥ १२२ ॥ नामृष्टभाषिणी जिह्वा चेष्टा नानिष्टकारिणी । नान्योपघातपरुषा स्मृतिः स्वप्नेपि धीमता ॥ १२३ ॥ विदिताखिलवेद्याना नोपदेश्यो भवादृशा । न्यायोस्मदादिभिः संतो यतो न्यायैकजीविकाः ॥ १२४ ॥ शातो वयोऽनुरूपोयं

अवस्था दोष उत्पन्न करनेवाली है और न वृद्धावस्था गुण उत्पन्न करनेवाली है। क्योंकि चंद्रमा नवीन बालक अर्थात् द्वितियाका ही क्यों न हो तथापि वह लोगोंको आनंदही बढाता है और अग्नि चाहे वृद्ध क्यों न हो अर्थात् वह बुझनेवाली ही क्यों न हो तथापि वह लोगोंको जलाती ही है? इसलिये नयापन और पुरानापन व्यर्थ है ॥ १२० ॥ जो मनुष्य बिना पूछे ही किसी कामको कहता है वह संसारमें अत्यंत धृष्ट (धीठ) समझा जाता है। हम दोनों ही इस प्रकारका यह कार्य करनेकेलिये आपसे कुछ पूछना नहीं चाहते फिर आप क्यों नाहक हमारे इस काममें पडते हैं ॥ १२१ ॥ संसारमें आप सरीखे निंद्य आचरणोंको धारण करनेवाले दुष्ट पुरुष बिना पूछे कार्योंका उपदेश देकर तथा सर्वथा असत्य और अनिष्ट ऐसे मीठे २ बचन कहकर लोगोंको ठगा करते हैं ॥ १२२ ॥ परंतु जो बुद्धिमान हैं उनकी जिव्हा कभी स्वप्नमें भी अशुद्ध भाषण नहीं करती, उनकी चेष्टा कभी स्वप्नमें भी किसीका अनिष्ट नहीं करती और उनका स्मरण भी कभी स्वप्नमें भी दूसरेके नाश करनेकेलिये कठिनता धारण नहीं करता। भावार्थ—वे मन बचन कायसे सर्वथा शुद्ध रहते हैं ॥ १२३ ॥ हम बालक लोग आप ऐसे संपूर्ण तत्त्व जाननेवालोंको धर्मशास्त्र नीति आदिका कुछ उपदेश देने योग्य नहीं हैं क्योंकि सज्जन पुरुष न्यायसे ही अपनी आजीविकाका उपाय करनेवाले होते हैं ॥ १२४ ॥ आपकी आयुको सुशोभित करनेवाला यह वेश बहुत शांत है, आपकी आकृति भी सौम्य है और आपके वचन भी बहुत साफ त-

वेषः सौम्येयमाकृतिः । वचः प्रसन्नमूर्जस्वि व्याचष्टे वः प्रबुद्धतां ॥ १२५ ॥ बहिःस्फुरत्किमप्यंतर्गूढं तेजो जनातिग । महानुभावतां वक्ति वपुरप्राकृतं च वः ॥ १२६ ॥ इत्यभिव्यक्तवैशिष्ट्या भवतो भद्रशीलकाः । कार्येऽस्मदीये मुह्यांति न विद्मः किं तु कारणं ॥ १२७ ॥ गुरुप्रसादन श्लाघ्यमात्राभ्या फलमीप्सितं । यूयं तत्प्रतिबधारः परकार्येषु शीतलाः ॥ १२८ ॥ परेषा वृद्धिमालोक्य नन्वसूयति दुर्जनः । युष्मादृशा तु महता सता प्रत्युत सा मुदे ॥ १२९ ॥ वनेपि वर्तो भर्तुः प्रभुत्वं किं परिच्युत । पादमूले जगद्विश्वं यस्याद्यापि चराचरं ॥ १३० ॥ कल्पानोकहमुत्सृज्य को नामान्यं म-

---

था तेजस्वी हैं और आपके पांडित्यको साफ कह रहे हैं ॥ १२५ ॥ जो अन्य साधारण लोगोंमें न पाया जाय ऐसा आपका भीतर छिपा हुआ अनिर्वचनीय (जो वचनसे न कहा जा सके) तेज बाहर प्रकाशमान हो रहा है तथा आपका यह अद्भुत शरीर भी बहुत उत्तम है, इससे यह साफ प्रगट होता है कि आप कोई बडे पुरुष हैं ॥ १२६ ॥ इसप्रकार यह साफ प्रगट हो रहा है कि आप कोई भद्रपरिणामी विशेष पुरुष हैं परंतु फिर भी आप हमारे कार्यमें भूलते हैं, इसका क्या कारण है सो हम लोग नहीं जान सकते ॥ १२७ ॥ गुरु भगवान वृषभदेवका प्रसन्न करना इस लोक और परलोक दोनों जगह प्रशंसा करने योग्य है और यही हम लोगोंका इच्छानुसार फल है । परंतु आप उसमें विघ्न डाल रहे हैं इसलिये दूसरेके कार्य करनेमें आप बडे ही शीतल अर्थात् उद्योग रहित जान पडते हैं ॥ १२८ ॥ अन्य पुरुषोंके ऐश्वर्यकी वृद्धि देखकर दुष्ट पुरुषोंको ही ईर्ष्या होती है, आप सरीखे सज्जन और महा पुरुषोंको तो दूसरोंकी वृद्धिसे उलटा आनंद होना चाहिये ॥ १२९ ॥ क्या भगवान् वृषभदेव वनमें रहते हैं इससे उनका कुछ प्रभूपना चला गया है ? देखो भगवानके चरणकमलोंके समीप आज भी यह चराचर समस्त जगत विद्यमान है ॥ १३० ॥ आप जो हम लोगोंको भरतके समीप जानेकेलिये कह रहे हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान है कि जो सदा बढनेवाले ऐसे बहुतसे फलोंकी इच्छा करता हुआ भी कल्पवृक्षको छोडकर अन्य साधारण वृक्षकी सेवा करे ॥ १३१ ॥ अथवा रत्नोंकी

हीरुहं । सेवेत पद्मधीरीप्सन्फलं विपुलमूर्जितं ॥ १३१ ॥ महाब्धिमथवा हित्वा रत्नार्थी किमु संश्रयेत् । पल्वलं शुष्कशैवालं शाल्यर्थी वा पलालकं ॥१३२॥ भरतस्य गुरोश्चापि किमु नास्त्यंतर महत् । गोष्पदस्य समुद्रेण समकक्षत्वमस्ति वा ॥ १३३ ॥ स्वच्छाम कलिता लोके किं न संति ज- लाशयाः । चातकस्याग्रहः कोऽपि यद्वाछत्यबुदात्पय ॥ १३४ ॥ तदुन्नतेरिदं वित्त वृत्तं यद्विपुलं फलं । वाछति परमोदारं स्थानमाश्रित्य मानिन ॥ १३५ ॥ इत्यदीनतरां वाचं श्रुत्वाहींद्रः कुमारयोः । नितरां सोतुपच्चित्ते श्लाध्यं धैर्यं हि मानिनां ॥१३६॥ अहो महेच्छता यूनोरहो गाभीर्यमेतयोः । अहो गुरौ परा भक्तिरहो श्लाध्या स्पृहानयोः ॥ १३७ ॥ इति प्रीतस्तदात्मीयं रूपं दिव्यं प्रदर्शयन् । पुनरित्यवदत्प्रीतिलतायाः कुसुमं वचः ॥१३८॥

इच्छा करनेवाला मनुष्य महासागरको छोडकर जिसमें शेवाल (काई) भी सूखी पडी हुई है ऐसे किसी छोटे सरोवरकी सेवा करे, अथवा चांवलोंकी इच्छा करनेवाला डंठलोंकी सेवा करे ॥ १३२ ॥ क्या भरत और भगवान वृषभदेवमें बडा भारी अंतर नहीं है ? क्या गोष्पद (किसी कीचडमें गायके पैरका बना हुआ चिन्ह) समुद्रकी बराबरी कर सकता है ? ॥१३३॥ क्या संसारमें स्वच्छ जलसे भरे हुये नदी सरोवर आदि जलाशय नहीं हैं परंतु तो भी चातक पक्षी उन सबको छोडकर केवल बादलसे ही पानी मांगता है यह क्या उसका कोई अनिर्वचनीय (जो वचनसे न कहा जा सके) आग्रह नहीं है?॥१३४॥ इसलिये अभिमानी पुरुष अतिशय उदार स्थानका आश्रय लेकर बडे २ अनेक फलोंकी इच्छा करते हैं और यह उनका ऐसा आचरण उन्नतिका ही आचरण है ऐसा आप समझें ॥१३५॥ इसप्रकार वह धरणेंद्र नमि और विनमि दोनों कुमारोंके अभिमान जनक वाक्य सुनकर अपने चित्तमें बहुत ही संतुष्ट हुआ, सो ठीक ही है अभिमानी पुरुषोंका धैर्य भी प्रशंसा करने योग्य होता है ॥१३६॥ वह धरणेंद्र मन ही मन इनकी प्रशंसा करनेलगा और कहने लगा कि अहा इन दोनों कुमारोंकी इच्छा कितनी बडी है, इनकी गंभीरता भी कैसी आश्चर्य करनेवाली है, भगवान वृषभदेवमें इनकी भक्ति भी कितनी उत्तम है और इनकी स्पृहा भी कितनी प्रशंसनीय है ॥ १३७ ॥ इसप्रकार प्रसन्न होकर उस धरणेंद्रने अपना दिव्यरूप प्रगट किया और फिर उनसे प्रेमरूपी लताके फूलों

युवा युवजरंतौ स्थस्तुष्टो वां धीरचेष्टितैः । अहं हि धरणो नाम फणिना पतिरग्रिमः ॥ १३९ ॥ मां वित्तं किंकरं भर्तुः पातालस्वर्गवासिनं । युवयोर्भोगभागित्वं विधातु समुपागतं ॥ १४० ॥ आदिष्टोस्म्यहमीशेन कुमारौ भाक्तिकाविमौ । भोगैरिष्टैर्नियुङ्क्ष्वेति द्रुतं तेनागतोस्म्यहं ॥ १४१ ॥ तदुत्तिष्ठतमापृच्छ्य भगवंत जगत्सृजं । युवयोर्भोगमद्याहं दास्यामि गुरुदेशितं ॥ १४२ ॥ इत्यस्य वचनात्प्रीतौ कुमारौ तमवोचतां । सत्यं गुरुः प्रसन्नो नौ भोगान्दित्सति वांछितान् ॥ १४३ ॥तद्ब्रूहि वरणाधीश यत्सत्य मतमीशितुः । गुरोर्मताद्विना भोगा नावयोरभिसंमताः ॥ १४४ ॥ इत्युक्तवंतौ प्रत्यय्य सोपायं फणिनां पतिः । भगवंत प्रणम्याशु युवानावनयत्समं ॥ १४५ ॥ स ताभ्यां फणिनां भर्ता रेजे गगनमुत्पतन् । युतस्तापप्रकाशाभ्यामिव

के समान नीचेलिखे हुये वचन कहने लगा ॥ १३८ ॥ कि हे कुमार हो ! तुम दोनों ही तरुण अवस्था में भी वृद्धके समान हो । तुम्हारे धीर वीर आचरणोंसे मैं वहुत संतुष्ट हुआ हूं, मैं नागकुमार जातिके देवोंका मुख्य स्वामी अर्थात् इंद्र हूं, और धरणेंद्र मेरा नाम है ॥ १३९ ॥ मैं पाताल स्वर्गका रहनेवाला भगवान वृषभदेवका सेवक हूं और तुम लोगोंको भोगोपभोगकी सामग्री देनेकेलिये ही यहां आया हूं ॥ १४० ॥ भगवान वृषभदेवने मुझे आज्ञा दी है कि 'ये कुमार बडे ही भक्त हैं इन्हें इनकी इच्छानुसार भोगोपभोगकी सामग्री दे दो' इसलिये ही मैं यहां वहुत शीघ्र आया हूं ॥ १४१ ॥ इसलिये तुम दोनों ही जगतगुरु भगवान वृषभदेवसे आज्ञा लेकर उठो। आज मैं तुम्हें भगवानकी बतलाई हुई भोगोपभोगकी सामग्री दूंगा ॥ १४२ ॥ इसप्रकार धरणेंद्रके वचन सुनकर वे दोनों कुमार बडे ही प्रसन्न हुये और कहने लगे कि क्या सचमुच ही भगवान वृषभदेव हमपर प्रसन्न हुये हैं और हमारी इच्छानुसार भोगोपभोगकी सामग्री हमें देंगे? ॥ १४३ ॥ इसलिये हे धरणेंद्र सच कहो कि इस विषयमें भगवानका क्या मत है, क्योंकि भगवानकी संमतिके विना भोगोपभोगकी सामग्री मिलना हमें इष्ट नहीं है ॥ १४४ ॥ इसप्रकार जब उन कुमारोंने कहा तब धरणेंद्रने उन्हें अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाया और भगवानको नमस्कार कर शीघ्र ही उन्हें अपने साथ लेगया ॥ १४५ ॥ अनेक ऐश्वर्योंको धारण करनेवाला वह धरणेंद्र

भास्वान्महोदयः ॥ १४६ ॥ बभौ फणिकुमाराभ्यामिव ताभ्यां समन्वितः । प्रश्रयप्रशमाभ्यां वा युक्तो योगीव भोगिराट् ॥ १४७ ॥ स व्योममार्गमुत्पत्य विमानमधिरोप्य तौ । द्राक्प्राप विजयार्द्धाद्रिं भूदेव्या हसितोपम ॥ १४८ ॥ स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवं । मध्ये भारतवर्षस्य स्थितं तन्मानदंडवत् ॥ १४९ ॥ विराजमानमुत्तुंगैर्नानारत्नांशुचित्रितैः । मुकुटैरिव कूटैः स्वैः स्वैरमारुद्धखांगणैः ॥ १५० ॥ निपतन्निर्झरारावैरापूरितगुहामु-

उन दोनों राजकुमारोंके साथ आकाशमें गमन करताहुआ ऐसा सुशोभित होता था मानों प्रताप और प्रकाशके साथ २ उदय होता हुआ सूर्य ही हो ॥ १४६ ॥ जिसप्रकार विनय और शांतताके साथ २ कोई मुनि सुशोभित होता है उसीप्रकार वह धरणेंद्र भी नागकुमारोंके समान उन दोनों राजकुमारोंके साथ २ सुशोभित हो रहा था ॥ १४७ ॥ उसने उन दोनों नमि विनमि राजकुमारोंको विमानमें बिठाया और आकाशमार्गका उल्लंघनकर बहुत शीघ्र विजयार्द्ध पर्वतपर जापहुंचा । उससमय वह विजयार्द्धपर्वत ऐसा जानपडता था मानों पृथ्वीरूपी देवीका सफेद हास्य ही हो ॥ १४८ ॥ वह विजयार्द्ध पर्वत अपने पूर्व और पश्चिमके किनारोंसे लवण समुद्रको स्पर्श करता था और वह भरतक्षेत्रके बीचों बीच इसप्रकार पडा हुआ था मानों भरतक्षेत्रके नापनेका एक डंडा ही हो ॥ १४९ ॥ वह पर्वत अपने शिखरोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था और उसके वे शिखर भी ठीक मुकुटके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार मुकुट ऊंचा होता है और जडे हुए अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र विचित्रका जान पडता है उसीप्रकार वे शिखर भी ऊंचे थे और अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे चित्र विचित्रके हो रहे थे तथा उन्होंने अपनी इच्छानुसार आकाशको घेर रक्खा था॥१५०॥ उसके किनारेसे जो निर्झरने पडते थे उनके शब्दोंसे उसकी गुफाओंके मुख ऐसे शब्दायमान हो रहे थे मानों अत्यंत विश्राम करनेकेलिये देव और देवियोंको ही बुला रहे हों ॥ १५१ ॥ उसकी मेखला अर्थात् किनारा अतिशय गंभीर शब्द करते हुये, इधर उधर फिरते हुये और पर्वतके समान ऊंचे ऐसे बडे बडे बादलोंसे चारों ओरसे ढका हुआ था

खं । व्याजहूपुरिवात्यंतं विश्रात्यै सुरदर्पतीन् ॥ १५१ ॥ महाद्रिश्चलोदग्रैस्संचरद्भिरितोमुतः । वनावनं निब्धनैर्विध्यातिद्धिषैरिव ॥ १५२ ॥ स्फुरच गी करप्रस्थैर्दीप्तरुणाशुराईभाभि. । ज्वलद्दावानलाशंका जनयत नभोजुषा ॥ १५३ ॥ क्षराद्भिः शिखरोपांतात्स्थूलधारैर्गुरुर्निर्झरैः । वनैर्निर्झरितैरारादाव्यनद्धनिर्झरं ॥ १५४ ॥ नूनमामोदलोभेन प्रोत्फुल्ला वनवल्लरीः । विनीलैरंशुकैर्भिर्भृंगैरिवाविभाति छादयत् ॥ १५५ ॥ लतागृहनानिवेशान्तकिन्नरीगीतिनिस्वनैः । सदा रम्यान्वनोद्देशान्यानमविमेखल ॥ १५६ ॥ लतागृहान्तरावद्धदोलारूढाननभश्चरीः । वनाधिदेवतादेश्या वहंत वनवीथिषु ॥ १५७ ॥ संचरत्खचरीवक्त्रपंकजैः प्रतिबिंबकैः । नोद्वहत महानीलस्थलीरूढाब्जिनीश्रिय. ॥ १५८ ॥ विचरत्खचरीचारुचरणालक्तकारुणाः । कृतार्चा इव रक्ताब्जैर्दधत

॥ १५२ ॥ उसके किनारे दैदीप्यमान सुवर्णके वने हुये थे और उनपर सूर्यकी किरणें पड रहीं थीं, इसलिये वे उसपर रहनेवाले विद्याधरोंको जलते हुये दावानल अग्निकी शंका उत्पन्न करते थे ॥ १५३ ॥ उसकी शिखरोंके समीपभागसे जो बहुत बडे और मोटी धारके निर्झरने पडते थे, उनसे बादलोंमें धक्का लगता था जिससे वे झर झर शब्द करते थे और उनसे अर्राटेके साथ बहुतसे निर्झरने बनकर निकल रहे थे ॥ १५४ ॥ उस पर्वतके वनोंमें जो अनेक वनकी लतायें फूली हुई थीं और उनपर भ्रमर बैठे हुये थे उनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसने सुगंधिके लोभसे वे बनकी फूली हुई लतायें चारों ओरसे काले वस्त्रसे ही ढक ली हों ॥ १५५ ॥ उसके किनारेपर वनके बहुत सुंदर प्रदेश सुशोभित रहते थे और वे उनकी लताकुंजोंमें जो किन्नरी जातिकी देवियां विश्राम लेती थीं और मधुरगीत गाती थीं उनके शब्दोंसे सदा मनोहर रहते थे ॥ १५६ ॥ उस पर्वतके वनमार्गमें लताकुंजोंमें पडे हुये झूलेमें झूलती हुई विद्याधरियें बनदेवताके समान निवास करती थीं ॥ १५७ ॥ उस पर्वतपर जो इधर उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके मुखरूपी कमलोंका प्रतिबिंब पड रहा था उनसे वह ऐसा जान पडता था मानों उसने नीलमणिकी बनी हुई जमीनपर उत्पन्न हुई कमलिनीकी (कमलकी बेलकी) शोभा ही धारण की हो ॥ १५८ ॥ उस पर्वतकी स्फटिकमणिकी बनी हुई जमीनपर जो इधर उधर टहलती हुई विद्याधरियोंके

स्फाटिकीः स्थलीः ॥१५९॥ विदूरलंघिनो धीरध्वनितानमलच्छवीन् । निर्झरानिव बिभ्राणं मृगेंद्रानधिकंदरं ॥ १६० ॥अध्युपत्यकमारूढप्रणयान्सुरदंपतीन् । संभोगाते कृतातोद्यविनोदान् दधतं मिथः ॥ १६१ ॥ श्रेणीद्वय वित्यत स्य पक्षद्वयमिवायत । विद्याधराधिवसतीर्धारयंतं पुरीर्वराः ॥१६२॥ अध्यधित्यकमाबद्धकेतनैरिव निर्झरान् । दधाद्भिः शिखरैः खाग्रं लघयंतमिवोच्छ्रितैः ॥ १६२ अच्छिन्नधारमाच्छेदान्निर्झरैः शिखरस्रुतैः । जगन्नाडीमिवो-

---

सुंदर चरणोंमें लगे हुये महावरकी लालिमा लग जाती थी उससे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसकी स्फटिकमणिकी बनी हुई जमीनकी लाल कमलोंसे पूजा ही की गई हो ॥ १५९ उस पर्वतकी गुफाओंमें जो सिंह सो रहे थे वे ठीक निर्झरनोंके समान जान पडते थे क्योंकि निर्झरने जिसप्रकार विदूरलंघी अर्थात् बहुत ऊंचेसे पडते हैं उसीप्रकार वे सिंह भी विदूरलंघी अर्थात् बहुत उंचाईतक कूदनेवाले थे, जिसप्रकार निर्झरनोंका शब्द गंभीर होता है उसीप्रकार उन सिंहोंका शब्द भी गंभीर था और निर्झरने जिसप्रकार निर्मल कांतिवाले होते हैं उसीप्रकार वे सिंह भी निर्मल कांतिवाले थे ॥ १६० ॥ उस पर्वतकी समीपवर्ती भूमिपर परस्पर प्रेम करते हुये देव देवांगनायें क्रीडा करते थे और वे संभोग करनेके अनंतर वीणा आदि बाजे बजाकर अपना चित्त बहलाया करते थे ॥ १६१ ॥ उस पर्वतकी उत्तर दक्षिणकी ओर दो श्रेणियां थीं, जो कि लंबे दो पंखोंके समान दूरतक फैली हुई थीं और उन श्रेणियोंमें जिनमें अनेक विद्याधर निवास करते हैं ऐसी बहुत उत्तम नगरियां थीं ॥ १६२ ॥ उस पर्वतकी शिखरोंपर जो निर्झरने बह रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों उसकी ऊपरकी जमीनपर अनेक ध्वजायें फहरा रहीं हों और ऐसी २ अनेक ऊंची शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों आकाशके अग्रभागको भी उलंघन कर रहा हो ॥ १६३ ॥ जिनकी शिखरपरसे जमीनतक बराबर एकसी मोटी धार पड रही है ऐसे निर्झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों उसने जगतकी लोकनाडी नापनेकेलिये एक लंबा डंडा ही धारण किया हो ॥ १६४ ॥ उस पर्वतपर अनेक चंद्रकांता मणि लगेहुये

भ्रातुं विधृतायतदंडकं ॥ १६४ ॥ चंद्रकांतोपलैश्चंद्रकरामर्शादनुक्षपं । क्षरद्भिर्दावभीत्येव सिंचतं स्वतटद्रुमान् ॥ १६५ ॥ शशिकांतोपलैरिंदुं तारकाः कुमुदोत्करैः । उडूनि निर्झरच्छेदैर्न्यक्कुर्वंतमिवोच्चकैः स्थितं ॥ १६६ ॥ सितैर्घनैस्तटीः शुभ्राः श्रयद्भिरनिलाहतैः । कृतोपचयमारूढवनाभोगैर्घनात्यये ॥ १६७ ॥ प्रोत्तुंगो मेरुरेकांतान्न मद्वत्स धृतायतिः । इति तोषादिवोन्मुक्तप्रहासं निर्झरारवैः ॥ १६८ ॥ सुविशुद्धोऽहमामूलादाशृंगं रजतोच्चयः ।

थे जिनसे प्रत्येक रात्रिको चंद्रमाकी किरणोंका स्पर्श होते ही पानीकी धारा बहती थी जिससे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों दावानल अग्निके डरसे ही अपने किनारेके वृक्षोंको सींच रहा हो ॥ १६५ ॥ वह पर्वत चंद्रकांत मणियोंसे चंद्रमाको तिरस्कृत करता था, सफेद कमलोंसे ताराओंका तिरस्कार करता था और निर्झरनोंके छींटोंसे नक्षत्रोंको नीचा दिखलाता था । इसप्रकार वह सबको नीचा दिखलाता हुआ बहुत ऊंचा विराजमान था ॥ १६६ ॥ शरदऋतुमें जब कभी सफेद बादल वायुसे टकराकर उस पर्वतके बन प्रदेशोंकी ओर पहुंचकर उसके सफेद किनारोंपर आश्रय लेते थे उससमय उन बादलोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों वह कुछ बढगया हो ॥ १६७ ॥ उस पर्वतपर जो निर्झरनोंके शब्द हो रहे थे उनसे वह सेसा जान पडता था मानों सुमेरु पर्वत केवल ऊंचा है, वह मेरे समान लंबा नहीं है, इसीसे संतुष्ट होकर निर्झरनोंके शब्दोंसे बडे जोरका शब्द करता हुआ हंस रहा हो ॥१६८॥ वह पर्वत बहुत ऊंचा था इसलिये ऐसा जान पडता था मानों " मैं चांदीका बना हुआ हूं, जडसे शिखर तक बहुत ही शुद्ध हूं, अन्य कुलपर्वत मेरे समान शुद्ध नहीं हैं" यही समझकर उसने अपनी उंचाई प्रगट की हो ॥ १६९ ॥ उसपर विद्याधर लोग निवास करते थे तथा गंगा और सिंधु ये दोनों नदियां उसके नीचे होकर अर्थात् उसकी गुफामें होकर बहती थीं । इन्हीं हेतुओंसे मानों उसने कुल पर्वतोंको जीत लिया था और विजयार्द्ध यह सार्थक नाम पाया था । भावार्थ—कुलपर्वतोंपर न तो विद्याधर ही रहते हैं और न गंगा सिंधु सरीखी नदियां उनके नीचे होकर बहती हैं, इसलिये इन दो हेतुओंसे वह

शुद्धाः कुलाद्रयो नैवमितीवाविष्कृतोन्नतिं ॥ १६९ ॥ खचरैः सह संबंधाद्गंगासिन्ध्वोरधःस्थितेः । जित्वेव कुलकुत्कीलान्बिभ्राणं विजयार्द्धतां
॥ १७० ॥ अचलस्थितिमुत्तुंग शुद्धिभाज जगद्गुरुं । जिनेंद्रमिव नाकींद्रैः शश्वदाराध्यमादरात् ॥ १७१ ॥ अक्षरत्वादभेद्यत्वादलंघ्यत्वान्महोन्नतेः ।
गुरुत्वाच्च जगद्धातुरातन्वानमनुक्रिया ॥ १७२ ॥ दिग्जयप्रसवागारं दधान तद्गुहाद्वयं । सुसंवृतं सुगुप्तं च गूढांतर्गर्भनिर्गमं ॥१७३॥ कूटैर्नवभि-

---

कुलपर्वतोंसे भी अधिक था और इसलिये ही उसका विजयार्द्ध (विजय+ऋद्ध) अर्थात् ' जो विजयसे
ही अधिक चढा बढा हो ' यह सार्थक नाम था ॥ १७० ॥ इंद्रलोग उस पर्वतको श्रीजिनेंद्रदेवके समान
आदरपूर्वक निरंतर अराधन करते थे, क्योंकि जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवकी निश्चल स्थिति है उसीप्रकार
उस पर्वतकी भी निश्चल स्थिति थी, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्र उत्तुंग अर्थात् उत्तम हैं उसीप्रकार वह पर्वत
भी उत्तुंग अर्थात् ऊंचा था, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवके निर्मल परिणाम हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी
निर्मल था और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेव जगतगुरु है उसीप्रकार वह पर्वत भी जगतगुरु अर्था-
त् पृथ्वीका भाररूप था ॥ १७१ ॥ अथवा वह पर्वत जगतके ब्रह्मा भगवान जिनेंद्रदेवका अनु-
करण (नकल) कर रहा था, क्योंकि जिसप्रकार जिनेंद्रदेव अक्षर अर्थात् विनाश रहित हैं उसी
प्रकार वह पर्वत भी अक्षर अर्थात् नाशरहित था, जिसप्रकार जिनेंद्रदेव अभेद्य अर्थात् उन्हें श-
स्त्रादिकसे कोई छेदन भेदन नहीं कर सकता उसीप्रकार वह पर्वत भी अभेद्य था अर्थात् उसे भी
कोई छेदन भेदन नहीं कर सकता था, जिसप्रकार जिनेंद्रदेवका कोई उलंघन नहीं कर सकता उसीप्र-
कार उस पर्वतको भी कोई उलंघन नहीं कर सकता था; जिसप्रकार जिनेंद्रदेव महोन्नत अर्थात् परम श्रेष्ठ
हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी महोन्नत अर्थात् बहुत ऊंचा था और जिसप्रकार जिनेंद्रदेव सबके गुरु हैं
उसीप्रकार वह पर्वत भी गुरु अर्थात् भारी था ॥ १७२ ॥ चक्रवर्तीके दिग्विजय करनेकेलिये प्रसूतिगृह-
के समान उसकी दो गुफायें थीं, क्योंकि जिसप्रकार प्रसूतिका गृह गुप्त और ढका हुआ होता है उसी-

रत्तुंगैर्भूदेव्या मुकुटोपमैः । विराजमानमानीलवनाळीपरिधानकं ॥ १७४ ॥ पृथुं पंचाशतं मूले तदर्द्धं च समुच्छ्रितं । तत्तुर्यमवगाढं गा दिव्ययोजनमानतः ॥ १७५ ॥ महीतलाद्दशोत्पत्य त्रिंशद्योजनविस्तृतं । ततोप्यूर्ध्वं दशोत्पत्य दशविस्तृतमग्रतः ॥ १७६॥ कचिदुन्नतमानिम्नं कचित्समतलं कचित् । कचिदुच्चावचग्रावस्थपुटं दधतं तटं ॥ १७७ ॥ कचिद्भ्रमकरोत्तप्तरत्नग्रावाग्रगोचरात् । अपसर्पत्कपिव्रातकृतकोलाहलाकुलं ॥ १७८ ॥ कचित्कंठीरवारावत्रस्तानेकपयूथपं । कलकंठीकलालापवाचालितवनं कचित् ॥ १७९ ॥ कचिच्छिखिमुखोद्गीर्णकेकारवविभीषितैः । सर्पैः सत्रासमासृष्टकाता-

प्रकार वे गुफायें भी गुप्त और ढकी हुई थीं, तथा जिसप्रकार प्रसूतिगृहके भीतर जानेका मार्ग छिपा हुआ होता है उसीप्रकार उन गुफाओंका आने जानेका भीतरी मार्ग भी छिपा हुआ था ॥ १७३ ॥ उस पर्वतकी नौ ऊंची २ शिखरें थीं जोकि पृथ्वीरूपी देवीके मुकुटके समान जान पडती थीं तथा उसके चारोंओर जो श्याम वनोंकी पंक्ति शोभायमान थी वह ऐसी जान पडती थी मानों उस पर्वतने श्याम वस्त्र ही पहने हों ॥ १७४ ॥ वह मूलभागमें बडे योजनोंसे पचास योजन चौडा था पच्चीस योजन ऊंचा था और उसका चौथाई अर्थात् सवा छह योजन पृथ्वीके नीचे गढा हुआ था ॥ १७५ ॥ पृथ्वीसे दश योजनकी उंचाईपर वह तीस योजन चौडा था अर्थात् दश योजनतक पृथ्वीसे एकसा ऊंचा जाकर उत्तर दक्षिणकी ओर दश दश योजनकी दो श्रेणियां छूट गईं थीं और पर्वतकी चौडाई तीस योजन रहगई थी, इससे भी फिर और दश योजन ऊंचे चढकर आगे उसकी चौडाई केवल दश योजनकी रह गई थी ॥ १७६ ॥ इसका किनारा कहीं ऊंचा था, कहीं नीचा था, कहीं समान था और कहीं कहीं ऊंचे नीचे पत्थरोंसे विषम अर्थात् ऊंचा नीचा था ॥ १७७ ॥ कहीं कहीं पर सूर्यकी किरणोंसे गरम होकर सूर्यकांतमणिसे अग्नि निकल रही थी और उसके आगेके प्रदेशसे बंदरोंके समूह हट रहे थे, जिससे उस पर्वतपर एक बडा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ १७८ ॥ उस पर्वतपर कहीं तो सिंहोंके भीषण शब्दोंसे हाथियोंके झुंड भय खा रहे थे और कहीं २ कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे वह वन वाचालित हो रहा था, अ-

रांतर्विलातर ॥ १८० ॥ चामीकरमयप्रस्थच्छायासंश्रयिणीर्मृगीः । हिरण्मयीरिवारूढतच्छाया दधत क्वचित् ॥ १८१ ॥ क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितें-द्रधनुर्लता । दधानमनिलोध्दूता तता कल्पलतामिव ॥ १८२ ॥ क्वचिच्च विचरद्दिव्यकामिनीनूपुरारवैः । रमणीयसरस्तीरं हंसीविरुतमूर्च्छितैः ॥१८३॥ क्वचिद्विचतुरक्रीडामाचरद्भिरनेकपैः । सलीलादोलितालानैरालोलि तवनद्रुमं ॥ १८४ ॥ क्वचित्पुलिनसंसुप्तसारसीरुतमूर्च्छितैः । कलहंसीकलक्वाणै-र्वाचालितसरोजलं ॥ १८५ ॥ क्वचित्कुद्धाहिशूत्कारैः श्वसंतमिव हेलया । क्वचिच्च चमरीयूथैर्हसतमिव निर्मलैः ॥ १८६ ॥ गुहानिलैः क्वचिद्व्य-

---

र्थात् कूज रहा था ॥ १७९ ॥ जहां कहीं उस पर्वतपर मयूर बोल रहे थे उनके शब्दोंसे सर्पोंको बहुत ही डर लग रहा था और वे डरकर बनोंके भीतर अपने २ बिलोंमें घुस रहे थे ॥ १८० ॥ कहीं २ उस पर्वतपर सुवर्णमय पत्थरोंकी छायामें जो हिरणियां बैठी हुई थीं उनकी शोभा ठीक सुवर्णकी सी हो गई थी- और वे सुवर्णमयी जान पडती थीं ॥ १८१ ॥ कहीं कहींपर अनेकप्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इंद्रधनुषकी लता ही बन रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा उडी हुई और चारोंओर फैली हुई कल्पलता ही हो ॥ १८२ ॥ जहां कहीं वहां देवांगनायें विहार कर रही थीं उनके नूपुरोंके (बिछुओंके) शब्द हंसनियोंके मधुर शब्दोंमें मिल रहे थे उनसे तालावोंके किनारे बडे ही मनोहर जान पडते थे ॥ १८३ ॥ कहीं कहींपर लीलामात्रमें अपने खूंटोंको तोडनेवाले अनेक हाथियोंके झुंड बडी चतुरताके साथ क्रीडा कर रहे थे और उनसे बनके वृक्ष खूब ही हिल रहे थे ॥ १८४ ॥ कहींपर किनारे-पर सोतेहुये सारस पक्षियोंके शब्दमें सुंदर हंसनियोंके मधुर शब्द मिलरहे थे जिनसे तालावका जल बहुत ही बाचालित (शब्दायमान) हो रहा था ॥ १८५ ॥ कहींपर क्रोधित हुये सर्प फूत्कार शब्द कर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों वह क्रीडा करता हुआ श्वास ही ले रहा हो । तथा कहीं-पर निर्मल गायोंके झुंड फिर रहे थे जिनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों हंस रहा ही हो ॥ १८६ ॥ कहींपर उसकी गुफासे वायु निकल रही थी जिससे वह ऐसा प्रगट दिखाई देता था मानों

क्रमुच्छ्वसंतमिवायतं । क्वच्चिच्च पवनाधूतैर्घूर्णंतमिव पादपैः ॥१८७॥ निभृतं चिंतयतीभिरिष्टकामुकसंगमं । विजने खेचरस्त्रीभिर्मूकीभूतमिव काचित् ॥ १८८ ॥ क्वचिच्च चटुलोदचच्चचरीककलस्वनैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव व्यायतमूर्च्छनं ॥ १८९ ॥ कदंबामोदसंवादिसुराभिश्वासितैर्मुखैः । तरुणार्ककरस्पर्शाद्विबुद्धैरिव पकजैः । ॥ १९० ॥ नेत्रैर्मधुमदाताम्रैरिंदीवरदलायतैः । मदनस्येव जैत्रास्त्रैः सालसापागवीक्षितैः ॥ १९१ ॥ अरालैरालिनीलाभैः केशैर्गतिविसंस्थुलैः । विस्रस्तकबरीबंधविगलत्पुष्पदामकैः ॥ १९२ ॥ जितेंदुकातिभिः कातैः कपोलैरलकांकितैः । मदनस्य सुसमृष्टैरालेख्य-

लंबा श्वास ही ले रहा हो । कहींपर वायुसे उसके वृक्ष हिल रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह झूम रहा ही हो ॥१८७॥ उसपर्वतपर कहीं विद्याधरोंकी स्त्रियां किसी एकांत स्थानमें बैठी हुई अपने प्रिय कामी लोगोंके समागमका खूब विचार कर रहीं थीं जिससे (सुनसान होनेसे) ऐसा जान पडता था मानों वह पर्वत चुपचाप ही हो रहा हो ॥ १८८ ॥ कहींपर बहुत अच्छीतरह उडते हुये भ्रमरोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिनसे ऐसा जान पडता था मानों उस पर्वतने जिसकी आवाज चारोंओर फैल गई है ऐसे किसी अलौकिक गानेका ही प्रारंभ किया हो ॥ १८९ ॥ उसपर्वतपर अनेक तरुण विद्याधरियां अपने २ तरुण विद्याधरोंके साथ २ टहल रहीं थीं, उनके मुखका श्वास ठीक कदंबकी सुगंधिके समान सुगंधित था और जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमल खिल जाता है उसीप्रकार उनका मुखरूपी कमल भी तरुण पुरुष रूपी सूर्यके कर अर्थात् हाथके स्पर्शसे प्रफुल्लित हो रहा था ॥ १९० ॥ उनके नेत्र मद्यके मदसे कुछ २ लाल हो रहे थे, वे नीलकमलके दलके समान लंबे थे, आलस्यके साथ कटाक्ष फेंकते हुये देखते थे और ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवके विजय करनेके शस्त्र ही हों ॥ १९१ ॥ उनके केश भी कुटिल थे, भ्रमरोंके समान काले थे, चलनेसे उनका बंधन कुछ ढीला पड गया था और उनपर की हुई पत्र रचना भी ढीली पड गई थीं, जिससे उन केशोंकी बनी हुई चोटीमेंसे फूलोंकी मालायें गिरती चली जाती थीं ॥ १९२ ॥ उनके कपोल भी बहुत मनोहर थे, चंद्रमाकी कांतिको भी

फलकैरिव ॥ १९३ ॥ अधरैः पक्वबिंबाभैः स्मिताशुभिरनुद्रुतैः । सिक्तैर्जलकणैर्द्वित्रैरिव विद्रुमभंगकैः ॥ १९४ ॥ परिणाहिभिरुत्तुंगैर्भ्रुवृत्तैःस्तनमंडलैः ।
स्रस्तांशुकस्फुटालक्ष्यलसन्नखपदाकनैः ॥ १९५ ॥ हरिचंदनसम्मृष्टैर्हारज्योत्स्नोपहारितैः । कुचनर्त्तनरंगाभैः प्रेक्षणीयैरुरोगृहैः ॥ १९६ ॥ नखोज्वलैः
स्ताम्रतलैः सलीलांदोलितैर्भुजैः । सपुष्पपल्लवोल्लासिलताविटपकोमलैः ॥ १९७ ॥ तनूदरैः कृशैर्मध्यैस्त्रिवलीभंगशोभिभिः । नाभिवल्मीकनिस्सर्पद्रो-
मालीकालभोगिभिः ॥ १९८ ॥ लसद्दुकूलवसनैर्विपुलैर्जघनस्थलैः । सकांचीबंधनैः कामनृपकारालयायितैः ॥ १९९ ॥ स्खलद्गतिवशात्क्वणरणन्म-

---

जीतते थे और उनपर काले केश पडे हुये थे जिनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों बहुत साफ किये हुये
(निर्मल) कामदेवके लिखनेके तखतेके टुकडे ही हों ॥ १९३ ॥ उनके अधर भी पके हुये बिंबाफलके
समान थे और उनपर मंद हास्यकी किरणें पड रहीं थीं, जिससे वे ऐसे जानपडते थे मानों दो तीन ज-
लकी बूंदोंसे भीगे हुये मूंगाके टुकडे ही हों ॥ १९४ ॥ उनके कुचमंडल विशाल, ऊंचे और बहुत अच्छे
गोल थे, उनका वस्त्र ढीला होगया था जिससे उनपर लगे हुये नखोंके चिन्ह (दाग) साफ दिखाई दे
रहे थे ॥ १९५ ॥ उन विद्याधरियोंका वक्षःस्थलरूपी घर भी देखने योग्य सुंदर था, क्योंकि उसपर सफेद
चंदनका लेप हो रहा था, उसपर भेटस्वरूप हारका प्रतिबिंब पडरहा था और वह कुचोंके नाचनेकी रंगभूमिके
समान जान पडता था ॥१९६॥ उनके हाथोंके नख उज्वल थे, हथेलियां लाल थीं और भुजाओंको वे लीला पूर्वक
इधर उधर फिरा रहीं थीं, जिससे वे कोमल भुजायें ऐसी जान पडती थीं मानों पुष्प और नवीन पत्तोंसे सुशोभित
किसी लताकी कोमल शाखा ही हों ॥१९७॥ उनका उदर बहुत छोटा था, मध्यभाग कृश था, और वह पडती
हुई त्रिवलियोंसे सुशोभित हो रहा था, उनकी नाभिमेंसे जो काली रोमावलि निकल रही थी वह ऐसी
जान पडती थी मानों नाभिरूपी सर्पके बिलसे रोमावली रूपी काला सर्प ही निकल रहा हो ॥ १९८ ॥
उन विद्याधरियोंका जघनस्थल भी बहुत बडा था, वह रेशमी वस्त्रोंसे ढकाहुआ था और चारों ओरसे क-
रधनी उसपर पडी हुई थी, जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों कामदेवरूपी राजाका कारागार (जे-

णिनुपुरैः। चरणैररुणाभोजैरिव व्यक्तालिझंकृतैः ॥ २०० ॥ सलीलमंथरैर्यातैर्जितहंसीपरिक्रमैः। श्वसितैरसकुचोत्कंपैर्व्यंजितातर्गतक्रमैः ॥ २०१ ॥ समं युवभिरारूढनवयौवनकर्कशाः। विचरंतीर्वनांतेषु दधानं खचरीः क्वचित् ॥ २०२ ॥ अलकालीलसद्भृगास्तन्वीः कोमलविग्रहाः। लतानुकारिणीरूढस्मितपुष्पोद्गमश्रियः ॥ २०३ ॥ प्रसूनरचिताकल्पावतंसीकृतपल्लवाः। कुसुमोपचये सक्तास्संचरंतीरितस्ततः ॥ २०४ ॥ वनलक्ष्मीरिव व्यक्तलक्षणा वनजेक्षणाः। धारयतमनूद्यान विद्याधरवधूः क्वचित् ॥ २०५ ॥ तमित्यद्रींद्रमुद्भूतमाहात्म्य भुवनातिग। जिनाधिपमिवासाद्य कुमारौ धृ-

---

लखाना) ही हो ॥ १९९ ॥ उनके चरण ठीक लाल कमलके समान जान पडते थे क्योंकि वे डगमगाती हुई पैर रखती थीं जिससे उनके मणियोंके बने हुये नूपुरोंसे (बिछुओंसे) बडे जोरके शब्द हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों उन चरणरूपी लाल कमलोंपर भ्रमरोंके साफ झंकार शब्द ही हो रहे हों ॥ २०० ॥ वे विद्याधरियें लीलापूर्वक धीरे २ जा रहीं थीं, उनकी चालने हंसनियोंकी चाल भी मात कर दी थी, वे चलते समय श्वासोश्वास लेती जाती थीं जिससे उनके कुच कंपायमान हो रहे थे और उनके अंतःकरणका खेद साफ दिखाई दे रहा था ॥ २०१ ॥ इसप्रकार नवयौवनसे सुदृढ विद्याधरियें अपने तरुण पुरुषोंके साथ उस विजयार्द्ध पर्वतके सुंदर बनोंमें कहीं कहींपर टहल रहीं थीं ॥ २०२ ॥ उस पर्वतपर विद्याधरियें कहींपर अकेली ही फिर रहीं थीं और वे ठीक लताके समान जान पडती थीं क्योंकि जिसप्रकार लताओंपर भ्रमर रहते हैं उसीप्रकार उनके मस्तकपरके केश ही भ्रमरोंके समान थे, जिसप्रकार लतायें पतली होती है उसीप्रकार वे विद्याधरियें भी पतली थीं, जिसप्रकार लतायें कोमल होती हैं उसीप्रकार उनका शरीर भी कोमल था और जिसप्रकार लताओंपर पुष्पोंकी शोभा होती है उसीप्रकार वे विद्याधरियें भी मंदहास्य रूपी पुष्पोंसे सुशोभित थीं ॥ २०३ ॥ उन विद्याधरियोंने फूलोंके आभूषण बनाये थे तथा पत्तोंके कर्णफूल बनाये थे और वे इधर उधर टहलती हुई फूल तोडनेमें तल्लीन हो रहीं थीं ॥ २०४ ॥ उनके नेत्र कमलोंके समान थे तथा और भी अनेक लक्षणोंसे वे बनलक्ष्मीके स-

तिमापतुः ॥ २०६ ॥ धुततटवनाभोगाभागीरथीतटवेदिकापरिसरसरोवीचीभेदादुपोढपयःकणाः । वनकरिकटादाकृष्टालिव्रजा मरुतो गिरेरुपवनभुवो यूनोरध्वश्रम व्यपानिन्यिरे ॥ २०७ ॥ मदकलकलकंठीडिंडिमारावरम्या मधुरविरुतभृंगीमंगलोद्गीतिहृद्याः । परिधृतकुसुमार्घास्संपतद्भिर्मरुद्भिः फणिपति-

मान जान पडतीं थीं, इसप्रकार अनेक विद्याधरियें उस पर्वतके प्रत्येक बनमें कहीं न कहीं अवश्य दिखाई देती थीं ॥ २०५ ॥ इसप्रकार जिसका अद्भुत माहात्म्य है और जो तीनों लोकोंको अतिक्रमण करनेवाला है ऐसे श्रीवृषभदेवके समान उस गिरिराजको देखकर वे नमि और विनमि दोनों ही राजकुमार बहुत संतुष्ट हुये थे ॥ २०६ ॥ उस पर्वतके बनोंकी जो वायु किनारेके बनोंके समीपवर्ती वृक्षोंको हिला रही थी, जिसने गंगाके किनारे रूपी वेदीकी समीपवर्ती भूमिपरके तालावोंकी लहरोंका आश्रय लेकर बहुतसी जलकी बूंदे संग्रह करलीं थीं और जिसने अपनी सुगंधिसे बनके हाथियोंके गंडस्थलों पर बैठे हुये भ्रमर समूहोंको भी अपनी ओर खींच लिया था ऐसा उस पर्वतके बनका वायु स्त्रीपुरुषोंके मार्गका सब परिश्रम दूर कर देता था ॥ २०७ ॥ उस पर्वतके बनकी वायु दूरसे ही धरणेंद्रके समीप आ रही थी जिससे वह ऐसा जान पडताथा मानों उस पर्वत के बनके प्रदेश ही दूरसे धरणेंद्रके सन्मुख आ रहे हों क्योंकि वे बनके प्रदेश मदोन्मत्त सुंदर कोयलोंके शब्दोंसे ऐसे मनोहर हो रहे थे मानों सन्मुख जानेकेलिये नगाडेके बाजोंसे ही मनोहर हों । भ्रमरियोंके मधुर गुंजार शब्दोंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनमें सन्मुख जानेके लिये मंगलगीत ही गाये जा रहे हों और वे फूले हुये, पुष्पोंसे ऐसे जान पडते थे मानों सन्मुख जानेकेलिये उन्होंने अर्घ ही धारण किया हो ॥ २०८ ॥ इसप्रकार उस धरणेंद्रने उन दोनों राजकुमार नमि विनमिके साथ दूरसे ही श्रीजिनेंद्रदेवके समान वह विजयार्द्ध पर्वत देखा । क्योंकि जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेव समस्त विद्यारूपी खजानोंके उत्पन्न करनेको एक अति उत्तम

मिव दूरात्प्रत्युदीयुर्वनांताः ॥ २०८ ॥ रजतगिरिमहींद्रो नातिदूरादुदार प्रसवभवनमेकं विश्वविद्यानिधीना । जिनमिव भुवनांतर्व्यापिकीर्तिं प्रपश्यन्प्रमदमविभरंत. सार्द्धमाभ्या युवाभ्या ॥ २०९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे धरणेंद्रविजयार्द्धोपगमनं नामाष्टादशं पर्व ॥ १८ ॥

स्थान हैं उसीप्रकार वह पर्वत भी समस्त विद्याओंके खजाने ऐसे विद्याधरोंके उत्पन्न करनेका एक बहुत बडा स्थान था और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवकी कीर्ति तीनों लोकोंमें व्याप्त है उसीप्रकार उस पर्वतकी कीर्ति भी तीनों लोकोंमें व्याप्त थी । इसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवके समान उस विजयार्द्ध पर्वतको देखकर राजकुमार नमि विनमिके साथ २ वह धरणेंद्र अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥ २०९ ॥

इसप्रकार भगवाज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें धरणेंद्रका विजयार्द्धपर्वतपर गमन करनेका वर्णन करनेवाला अठारहवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ एकोनविंशं पर्व ।

अथास्य मेखलामाद्यामवतीर्णः फणीश्वरः । तत्र व्योमचरेंद्राणा लोकं ताविल्यदीदृशत् ॥ १ ॥ अय गिरिरसंभूष्णुर्नूनमूर्ध्वं महत्तया । वितत्य तिर्यगात्मानमवगाढो महार्णवं ॥ २ ॥ श्रेण्यौ सदानपायिन्यौ भूभृतोस्य विराजत. । देव्याविव महाभोगसंपन्ने विधृतायती ॥ ३ ॥ योजनानि दशोत्पत्य गिरेरस्याधिमेखलं । विद्याधरानिवासोयं भाति स्वर्गैकखंडवत् ॥ ४ ॥ विद्याधरा विभात्यास्मिन् श्रेणीद्वयमधिष्ठिताः । स्वर्गादिव समागत्य कृताव.साः

अथ उन्नीसवां पर्व.

अथानंतर—वह धरणेंद्र राजकुमार नमि विनमिको साथ लिये उस विजयार्द्ध पर्वतकी प्रथम मेखलापर उतरा और वहां उसने विद्याधरोंका वह लोक दोनों राजकुमारोंको नीचे लिखे अनुसार वर्णन करते हुये दिखलाया ॥ १ ॥ धरणेंद्र कहने लगा कि देखो यह पर्वत कभी उत्पन्न नहीं हुआ है अर्थात् अनादि अनिधन है बहुत ऊंचा है ओर इतना बडा है कि इधर उधर दोनों ओर फैलता हुआ समुद्रमें जा मिला है ॥ २ ॥ इस पर्वतकी ये दोनों ही श्रेणियां महादेवीके समान सुशोभित हैं क्योंकि जिसप्रकार महादेवीके पास अनेकप्रकारकी भोगोपभोग सामग्री रहती है उसीप्रकार इन श्रेणियोंमें भी अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंकी सामग्री विद्यमान है और देवी जिसप्रकार आयति अर्थात् शोभाको धारण करती है उसीप्रकार इन श्रेणियोंने भी आयती अर्थात् लंबाई धारण की है अर्थात् ये बहुत लंबी हैं और अविनश्वर हैं कभी नष्ट नहीं होतीं ॥ ३ ॥ जमीनसे दश योजन ऊंचा चढकर इस पर्वतकी प्रथम मेखला (कटनी) है उसीपर यह विद्याधरोंका निवासस्थान है जोकि स्वर्गके एक टुकडेके समान जान पडता है ॥ ४ ॥ इन दोनों श्रेणियोंमें रहनेवाले विद्याधर लोग ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों देव लोगोंने ही स्वर्गसे आकर यहां निवास किया हो ॥ ५ ॥ यह विद्याधरोंका स्थान ऐसा जान पडता है मानों हम लोगोंका अर्थात् भवनवासियोंका स्थान ही हो क्योंकि यहां धरणेंद्रके समान अनेक प्रकार-

सुधाशनाः ॥ ५ ॥ विद्याधराधिवासोयं धत्तेऽस्मल्लोकविभ्रमं । निषेवितो महाभोगैः फणींद्रैरिव खेचरै ॥ ६ ॥ पाताळस्वर्गळोकस्य सत्यमद्य स्मराम्यहं । नागकन्या इव प्रेक्ष्याः पश्यन्खचरकन्यकाः ॥ ७ ॥ नात्र प्रतिभय तीव्र स्वचक्रपरचक्रज । नेतयो नैव रोगादिबाधाः सतीह जातुचित् ॥ ८ ॥ प्रारंभे चापवर्गे च तुर्यकालस्य या स्थितिः । महाभारतवर्षेस्मिन् सात्रोत्कर्षापकर्षतेः ॥ ९ ॥ परास्थितिर्नृणा पूर्वकोटिवर्षशतातरे । उत्सेधहानिरासप्ता-

के भोगोपभोग सेवन करनेवाले विद्याधर लोग सदा निवास करते रहते हैं ॥ ६ ॥ नागकन्याओंके समान सुंदर इन विद्याधरियोंकी कन्यायोंको देखकर सचमुच ही आज मुझे पातालके स्वर्गलोक का अर्थात् भवनवासियोंके रहनेके स्थानका स्मरण हो रहा है ॥ ७ ॥ यहां न तो अपने राजाका कोई तीव्र भय है और न दूसरे शत्रु राजाओंका कोई तीव्र भय होता है बहुत, बरसना कम बरसना आदि ईति भी यहां नहीं होती और न यहां कभी रोग आदिकी कोई बाधा होती है ॥ ८ ॥ इस भरतक्षेत्रके अवसर्पिणी कालके चतुर्थ कालमें जो उत्कृष्ट आयु होती है वही स्थिति (आयु) यहां की उत्कृष्ट आयु होती है तथा उसी चतुर्थ कालके अंतमें जो होती है वही आयु यहांकी जघन्य आयु होती है। इसी प्रकार चतुर्थकालके प्रारंभमें शरीरकी जितनी ऊंचाई होती है उतनी यहांकी उत्कृष्ट उंचाई होती है और चतुर्थ कालके अंतमें जितनी शरीरकी उंचाई होती है उतनी यहांकी जघन्य उंचाई होती है। इसी हिसाबसे यहांकी उत्कृष्ट आयु एक करोड पूर्व वर्षकी और जघन्य आयु सौ वर्षकी होती है तथा शरीरकी उत्कृष्ट उंचाई पांचसौ धनुष और जघन्य सात हाथकी होती है। भावार्थ–भरतक्षेत्रमें सुषमा सुषमा कालमें जब मनुष्योंकी आयु तीन पल्य की होती है और शरीरकी उंचाई छह हजार धनुषकी होती है तब भी यहां आयु एककरोड पूर्व वर्षसे और शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुषसे कभी बढती नहीं तथा दुःषम दुःषम कालमें जब आयु सोलह वर्ष और शरीरकी उंचाई एक हाथकी होती है तब भी यहां आयु सौ वर्षसे और शरीरकी उंचाई सात हाथसे कभी घटती नहीं।

रत्निः पंचधनुःशतात् ॥ १० ॥ कर्मभूमिनियोगो यः स सर्वोऽप्यत्र पुष्कलः । विशेषस्तु महाविद्या ददत्येषामभीप्सितं ॥ ११ ॥ महाप्रज्ञप्तिविद्याद्याः सिध्यंतीह खगेशिना । विद्याः कामदुघा यास्ताः फलिष्यंतीप्सितं फल ॥ १२ ॥ कुलजात्याश्रिता विद्यास्तपोविद्याश्च ता द्विधा । कुलाम्नायागताः पूर्वा- यत्नेनाराधिताः पराः ॥ १३ ॥ तासामाराधनोपायः सिद्धायतनसन्निधौ । अन्यत्र वा शुचौ देशे द्वीपाद्रिपुलिनादिके ॥ १४ ॥ सपूज्य शुचिवेषेण विद्या देवव्रताश्रितैः । महोपवासैराराध्या नित्यार्चनपुरःसुरैः ॥ १५ ॥ सिध्यति विधिनानेन महाविद्या नभोजुषा । तपश्चरणनित्यार्चाजपहोमा-

---

घटती बढती होनेपर भी यहांकी आयु और शरीरकी उंचाई चतुर्थकालके समान ही रहती है ॥ ९-१० ॥ कर्मभूमिमें पानी बरसना गरमी सरदी पडना आदि जितने नियोग होते हैं वे यहां पूर्ण रीतिसे होते हैं इसके सिवाय यहां इतना और विशेष होता है कि महाविद्यायें यहांके लोगोंको इनकी इच्छानुसार फल दिया करती हैं ॥ ११ ॥ यहांके विद्याधर लोगोंको महाप्रज्ञप्ति आदि अनेक विद्यायें सिद्ध होती हैं जो कि कामधेनुके समान इन्हें अनेक यथेष्ट फल देती रहती हैं ॥ १२ ॥ वे विद्यायें दो प्रकारकी हैं एक तो ऐसी हैं कि जो कुल अथवा जातिके आश्रित हैं और दूसरी ऐसी हैं जो तपश्चरणसे सिद्ध की जाती हैं। इनमेंसे पहलेप्रकारकी विद्यायें हरिवंश इक्ष्वाकुवंश आदि पिता पक्षकी वंश परंपरासे अथवा मातापक्षकी वंश परंपरासे बराबर प्राप्त होती रहती हैं और तपश्चरणसे सिद्ध होनेवाली दूसरी विद्यायें ऐसी हैं जो प्रयत्नसे सिद्ध की जाती हैं ॥ १३ ॥ जो विद्यायें सिद्ध की जाती हैं उनके सिद्ध करनेका उपाय यह है कि सिद्धायतनके समीपवर्ती स्थानमें अथवा द्वीप पर्वत व नदीके किनारे आदि किसी दूसरे पवित्र स्थानमें स्नानादिकर पवित्र वेष धारणकर ब्रह्मचर्य व्रत पालनकर विद्याके अधिकारिणी देवताओंका पूजन करे तथा नित्य पूजन करते हुये महीने दो चार छह महीने आदिके महोपवास धारणकर उन विद्याओंका आराधन करे। इसप्रकार उन विद्याओंको आराधन करनेसे तथा तपश्चरण, नित्यपूजन, जप, होम आदि अनुक्रमसे करनेसे विद्याधरोंको वे महाविद्यायें सिद्ध हो जाती हैं ॥ १४-

यनुक्रमात् ॥ १६ ॥ सिद्धविद्यैस्ततः सिद्धप्रतिमार्चनपूर्वकं । विद्याफलानि, भोग्यानि वियद्गमनचञ्चुभिः ॥ १७ ॥ यथा विद्याफलान्येषां भोग्यानीह खगेशिना । तथैव स्वैरसंभोग्याः सस्यादिफलसंपदः ॥ १८ ॥ सस्यान्यकृष्टपच्यानि वाप्यः सोत्फुल्लपंकजाः । ग्रामाः संसक्तसीमानः सारामाः सफलद्रुमा. ॥ १९ ॥ सरत्नसिकता नद्यो हंसाध्यासितसैकताः । दीर्घिकापुष्करिण्याद्या स्वच्छतोया जलाशयाः ॥ २० ॥ रमणीया वनोद्देशाः पुंस्कोकिलकलस्वनैः । लताः कुसुमिता गुंजद्भृगीसंगीत सगताः ॥ २१॥ चंद्रकांतशिलाबद्धसोपानाः सलतागृहाः। खचरीजनसंभोग्याः सेव्याश्च कृतकाद्रयः॥२२॥

१५-१६ ॥ तदनंतर विद्यायें सिद्ध होजानेपर आकाशमें गमन करनेवाले विद्याधर लोग प्रथम ही अरहंत भगवानकी प्रतिमाका पूजन करते हैं और फिर विद्याओंके यथेष्ट फलका उपभोग करते हैं ॥ १७ ॥ इस पर्वतपर ये विद्याधर लोग जिसप्रकार इन विद्याओंके फलोंका उपभोग करते हैं उसीप्रकार वे धान्य आदि फल संपत्तियोंका उपभोग भी अपनी इच्छानुसार ही करते हैं ॥ १८ ॥ यहांपर धान्य बिना बोये अपने आप पैदा होते हैं, यहांकी बावडियोंमें सदा कमल फूले हुये रहते हैं, यहांके गांवोंकी सीमायें परस्पर मिली हुई रहती हैं उनमें बाग बगीचे होते हैं और वे सब फले फूले वृक्षोंसे सुशोभित रहते हैं ॥ १९ ॥ यहांकी नदियोंमें रत्नमय बालू रहती है, बावडी छोटे तालाव आदिके किनारे वालुओंपर सदा हंस निवास करते हैं तथा यहांके सरोवर आदि जलाशयोंमें सदा स्वच्छ जल भरा रहता है ॥ २० ॥ यहांके बनप्रदेश कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे सदा मनोहर रहते हैं और फूली हुई लतायें गुंजार करती हुई भ्रमरियोंके गीतोंसे सदा सुहावनी जान पडती हैं ॥ २१ ॥ यहांपर अनेक कृत्रिम पर्वत हैं जिनपर चंद्रकांत मणियोंकी सीढी बनी हुई हैं, अनेक लतागृह बने हुये हैं। ये पर्वत विद्याधरियोंके संभोग करने योग्य हैं और सबके निवास करने योग्य हैं ॥ २२ ॥ यहांके नगर खानें और गांवोंकी रचना बडी ही मनोहर है, वे बहुत बडे हैं और नदी, सरोवर, बाग, चांवलोंके, खेत, ईखके खेत तथा बन आदिसे बडे ही सुशोभित रहते हैं ॥ २३ ॥ यहांके स्त्री पुरुष रति और कामदेवके समान सुंदर होते हैं, वे भोगोपभो-

रम्याः पुराकरग्रामसन्निवेशाश्च विस्तृताः । सरित्सरोवरारामशालीक्षुवनमंडनाः ॥ २३ ॥ स्त्रीपुंसः सुस्थिरतत्या रत्यनंगानुकारिणी । समप्रभोगसंपत्या स्व-भोगेष्वप्यनुत्सुकाः ॥ २४ ॥ एवंप्राया विशेषा ये नृणां संप्रीतिहेतवः । स्वर्गेऽप्यसुलभास्तेमी संत्येवात्र पदे पदे ॥ २५ ॥ इति रम्यतराशेषविशेषान्ख-चरोचितान् । धत्ते स्वमंकमारोप्य कौतुकादिव भूधरः ॥२६॥ श्रेण्योरथैनयोरुक्तशोभासंपन्निधानयोः । पुराणां सन्निवेशोयं लक्ष्यतेत्यतसुंदरः ॥२७॥ पृथक्पृथगुभे श्रेण्यौ दशयोजनविस्तृते । अनुपर्वतदीर्घत्वमायते चापयोनिधेः ॥ २८ ॥ विष्कंभादिकृतः श्रेण्योर्न भेदोस्तीह कश्चन । आयाममुत्तरश्रेण्यां धत्ते साभ्याधिका मिति ॥ २९ ॥ स्वर्गावासापहासीनि पुराण्यत्र चकासती । दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः पंचाशत् षष्टिरेव च ॥ ३० ॥

गोंकी संपदाओंसे इतने भरपूर रहते हैं कि स्वर्गके भोगोंमें भी कभी उनकी इच्छा नहीं होती है ॥२४॥ इसप्रकार मनुष्योंको प्रसन्न करनेवाले जो जो विशेष पदार्थ हैं जो कि स्वर्गमें भी सुलभ रीतिसे प्राप्त नहीं हो सकते वे सब यहां पद पदपर (पेंड पेंडपर) उपस्थित रहते हैं ॥२५॥ इसप्रकार विद्याधरोंके योग्य अतिशय मनोहर ऐसे जो जो विशेष विशेष पदार्थ हैं उन सबको यह पर्वत मानों कौतूहलसे ही अपनी गोदीमें लेकर धारण करता है ॥२६॥ जो ऊपर कही हुई शोभा और संपत्तिको मुख्य स्थान हैं ऐसी इन दोनों श्रेणियोंमें यह नगरोंकी रचना बहुत ही सुंदर की गई है ॥२७॥ इन दोनों श्रेणियोंकी अलग अलग चौडाई दश दश योजन है अर्थात् प्रत्येक श्रेणीकी चौडाई दश योजन है और दोनोंकी लंबाई पर्वतकी लंबाईके समान समुद्र तक समझना चाहिये ॥२८॥ इन दोनों श्रेणियोंकी चौडाईमें तो कुछ अंतर नहीं है परंतु लंबाईमें कुछ अंतर है, दक्षिणश्रेणीसे उत्तरश्रेणीकी लंबाई कुछ अधिक है ॥ २९ ॥ इन्हीं श्रेणियोंमें स्वर्गके विमानोंको भी लज्जित करनेवाले नगर सुशोभित हैं वे नगर दक्षिण श्रेणीमें पचास और उत्तर श्रेणीमें साठ हैं ॥ ३० ॥ अनेक प्रकारकी संपदाओंको धारण करनेवाले इन नगरोंमें विद्याधर लोग निवास करते हैं और जिसप्रकार देवलोग भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं उसीप्रकार ये भी अपने २ पुण्योदयसे उत्पन्न हुये भोगोपभोगोंका सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥ यह देखो इधर पूर्वदिशाकी ओर किंनामित नामा नगर है जो आका-

विद्याधरा वसंत्येषु नगरेषु महर्द्धिषु । स्वपुण्योपार्जितान्भोगान्भुंजानाः स्वर्गिणो यथा ॥ ३१ ॥ इतः किंनामितं नाम्ना पुरं भाति पुरोदिशि । सौधैरभ्रंकषैः स्वर्गमिवास्प्रष्टुं समुद्यतैः ॥ ३२ ॥ तच्च किन्नरगीताख्यं पुरमिद्धर्द्धि लक्ष्यते । यस्योद्यानानि सेव्यानि गीतैः किन्नरयोषितां ॥ ३३ ॥ नरगीतं विभातीतः पुरमेतन्महर्द्धिकं । सदा प्रमुदिता यत्र नरा नार्यश्च सोत्सवाः ॥ ३४ ॥ बहुकेतुकमेतच्च प्रोल्लसद्बहुकेतुकं । केतुबाहुभिराह्वातुमस्मानिव समुद्यतं ॥ ३५ ॥ पुंडरीकमिदं यत्र पुंडरीकवनेष्वमी । हंसाः कलरुतैर्मंद्रं स्वनंति श्रोतृहारिभिः ॥ ३६ ॥ सिंहध्वजमिदं सैंहैर्ध्वजैः सौधाग्रवर्तिभिः । निरुणद्धि सुरेंद्राणां मार्गं सिंहविशंकिनां ॥ ३७ ॥ श्वेतकेतुपुरं भाति श्वेतैः केतुभिराततैः । सौधाग्रवर्तिभिर्दूराज्झषकेतुमिवाह्वयत् ॥ ३८ ॥ गरुडध्वजसंज्ञं च पुरमाराद्विराजते । गरुडग्रावनिर्माणैः सौधाग्रैर्ग्रस्तखांगणं ॥ ३९ ॥ श्रीप्रभं श्रीप्रभो-

---

शको छूनेवाले ऊंचे २ राजमहलोंसे ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों स्वर्गको छूनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ३२ ॥ वह देखो जिसके उद्यान किन्नर जातिकी देवियोंके गीतोंसे सदा मनोहर विहार करने योग्य रहते हैं ऐसा वह अनेक संपदाओंसे सुशोभित किन्नरगीत नामका नगर दिखाई दे रहा है ॥ ३३ ॥ इधर यह तीसरा नरगीत नामका नगर है और इधर यह ४ महर्द्धिक नामका नगर है, यहांके स्त्रीपुरुष सदा उत्सव करते हुये प्रसन्न रहते हैं ॥ ३४ ॥ इधर यह अनेक ध्वजाओंसे सुशोभित ५ बहुकेतुक नामका पांचवा नगर है, देखो यह ऐसा जान पडता है मानों ध्वजारूप भुजाओंसे हम लोगोंको बुलानेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ ३५ ॥ इधर यह ६ पुंडरीक नामका नगर है, इसके सफेद कमलोंके बनोंमें ये हंस कानोंको अच्छे लगनेवाले ऐसे मधुर और गंभीर शब्दोंसे सदा गाते रहते हैं ॥ ३६ ॥ इधर देखो जिसके राजमहलोंपर सिंहकी ध्वजायें लगी हुई हैं और उन ध्वजाओंसे जो सिंहसे डरनेवाले देवोंका मार्ग रोक रहा है ऐसा यह सिंहध्वज नगर है ॥ ३७ ॥ जिसके बडे २ महलोंपर सफेद ध्वजायें फहरा रही हैं और उन ध्वजाओंसे जो मानों कामदेवको ही बुला रहा है ऐसा यह ८ श्वेतकेतुपुर है ॥ ३८ ॥ इधर यह समीपमें ही ९ गरुडध्वज नामका नगर शोभायमान है इसके बडे २ महलोंकी छतों-

पेतं श्रीधरं च पुरोत्तमं। भातीदं द्वयमन्योन्यस्पर्धयेव श्रियं श्रितं ॥ ४० ॥ लोहार्गलमिदं लौहैरर्गलैरतिदुर्गमं । अरिंजयं च जित्वारीन् हसतीव स्वगोपुरैः ॥ ४१ ॥ वज्रार्गलं च वज्राढ्यं विभातीतः पुरद्वयं । वज्राकरैः समीपस्थैः समुन्मिषदिवान्वहं ॥ ४२ ॥ इदं पुरं विमोचाख्यं पुरमेतत्पुरंजयं । एताभ्यां निर्जितं नूनमधोऽगात्फणिना जगत् ॥ ४३ ॥ शकटादिमुखी चैव पुरी भाति चतुर्मुखी । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुंगैर्लंघयतीव खागणं ॥ ४४ ॥ बहुमुख्यरजस्का च विरजस्का च नामतः । नगर्यो भुवनस्येव त्रयस्य मिलिताः श्रियः ॥ ४५ ॥ रथनूपुरपूर्वं च चक्रवालाह्वयं पुरं । उक्तानां वक्ष्यमाणानां पुरां च तिलकायते ॥ ४६ ॥ राजधानीयमेतस्या विद्याभृच्चक्रवर्तिनः । निवसंति परां लक्ष्मीं भुजानाः स्वकृतोदयात् ॥ ४७ ॥ मेखलाग्रपुरं र-

---

पर गरुडोद्गार नामके मणि लगे हुये हैं जिनसे समस्त आकाश भरगया है ॥ ३९ ॥ इधर ये लक्ष्मीकी शोभासे सुशोभित श्रीप्रभ १० और श्रीधर ११ नामके उत्तम नगर हैं, ये दोनों ही नगर ऐसे अच्छे जान पडते है मानों इन्होंने एक दूसरेकी स्पर्द्धा करके ही इतनी अधिक संपत्ति धारण की हो ॥ ४० ॥ इधर देखो जो लोहेके अर्गलोंसे अत्यंत दुर्गम है अर्थात् जिसमें कोई शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता ऐसा यह १२ लोहार्गल नगर है। इधर यह १३ अरिंजय नगर है जोकि अपने नगरके बडे दरवाजोंसे ऐसा जान पडता है मानों शत्रुओंको जीतकर हंस रहा ही हो ॥ ४१ ॥ इधर ये १४ वज्रार्गल और १५ वज्राढ्य नामके दो नगर सुशोभित है जो कि ऐसे जान पडते हैं मानों अपने समीपवर्ती हीराकी खानोंसे रात दिन हंस रहे ही हों ॥ ४२ ॥ और देखो इधर १६ विमोच नगर है, इधर यह १७ पुरंजय नगर है, ये दोनों ही नगर ऐसे मनोहर जान पडते है कि मानों भवनवासियोंके नगर इनसे लज्जित होकर ही नीचे अधोलोकमें चले गये हों ॥४३॥ इधर यह १८ शकटमुखी नगरी है और यह १९ चतुर्मुखी नगरी है। इन दोनों नगरियोंके चारों दिशाओके गोपुर (नगरके बाहरी बडे दरवाजे) इतने ऊंचे है कि वे आकाशको भी उलंघन कर रहे है ॥४४॥ यह २० बहुमुखी, यह २१ अरजस्का और यह २२ विरजस्का नामकी नगरी हैं। ये तीनों ही नगरियें ऐसी हैं मानों तीनों लोकोंकी लक्ष्मी एक जगह ही मिलगई हो ॥४५॥ इधर यह २३ रथनूपु-

म्यमितः क्षेमपुरी पुरी । अपराजितमेतत्स्यात्कामपुष्पमितः पुरं ॥ ४८ ॥ गगनादिचरीयं सा विनयादिचरी पुरी । परं चक्रपुरं चेतत्त्रिंशत्संख्यानपूरणं ॥ ४९ ॥ संजयंती जयंती च विजया वैजयंत्यपि । क्षेमंकरं च चंद्राभ सूर्याभं चातिभास्वरं ॥ ५० ॥ रतिचित्रमहद्धेमत्रिमेघोपपदानि वै । कूटानि स्यु-र्विचित्रादिकूटं वैश्रवणादि च ॥ ५१ ॥ सूर्यचंद्रपुरे चामू नित्योद्योतिन्यनुक्रमात् । विमुखीनित्यवाहिन्यौ सुमुखी चैव पश्चिमा ॥ ५२ ॥ नगर्यो दक्षिण-श्रेण्या पचाशत्संख्यया मिताः । प्राकारगोपुरोत्तुंगाः खातिभिस्तिसृभिर्वृताः ॥ ५३ ॥ तिसृणामपि खातानामंतरं दण्डसंमित । दंडाश्चतुर्दशैकस्या व्यासी-

---

रचक्रवाल नामका नगर है, यह नगर ऊपर कहे हुये और आगे कहे जानेवाले सब नगरोंमें तिलकके समान सुंदर है, ॥ ४६ ॥ यह नगर इस श्रेणीकी राजधानी है, चक्रवर्ती विद्याधर अपने पुण्यकर्मके उदय-से उत्तम लक्ष्मीका उपभोग करते हुये इसमें निवास करते हैं ॥४७॥ इधर यह मनोहर २४ मेखलाग्र नगर है, यह २५ क्षेमपुरी है, यह २६ अपराजित नगर है और इधर यह २७ कामपुष्प नगर है ॥ ४८ ॥ यह २८ गगनचरी तथा यह २९ विनयचरी नगरी है और यह तीसवीं संख्या पूरण करनेवाला अर्थात् तीसवा उत्तम चक्रपुर नगर है ॥ ४९ ॥ यह ३१ संजयंता यह ३२ जयंती, यह ३३ विजया, यह ३४ वैजयंती नगरी है, । यह ३५ क्षेमंकर, यह ३६ चंद्राभ और यह अतिशय दैदीप्यमान ३७ सूर्याभ नामका नगर है ॥ ५० ॥ यह रतिकूट, यह ३९ चित्रकूट, यह ४० महत्कूट, यह ४१ हेमकूट, यह ४२ त्रिकूट, यह ४३ मेघकूट, यह ४४ विचित्रकूट और यह ४५ वैश्रवणकूट नगर है ॥ ५१ ॥ ये अनुक्रमसे सदा प्रका-शमान होनेवाले ४६ सूर्यपुर और ४७ चंद्रपुर नामके नगर हैं । यह ४८ विमुखी, यह ४९ नित्यवाहिनी और यह पचासवीं सुमुखी नामकी नगरी हैं ॥ ५२ ॥ इसप्रकार दक्षिण श्रेणीमें ये सब पचास नगरी हैं इन नगरियोंके कोट और बड़े दरवाजे बहुत ऊंचे हैं, तथा प्रत्येक नगरी तीन तीन खाइयोंसे घिरी हुई है ॥ ५३ ॥ इन तीनों खाइयोंका अंतर एक एक दंड (धनुष) है तथा पहिली खाई चौदह दंड चौडी है, दूसरी बारह और तीसरी दस दंड चौडी है॥ ५४ ॥ पहली खाईकी गहराई चौडाईसे पौनी

घ्नोन्ययोर्द्वयोः ॥ ९४ ॥ विष्कंभादवगाढास्ताः पादोनं वार्द्धमेव वा । त्रिभागमूलारता ज्ञेया मूलाद्वा चतुरास्त्रिकाः ॥ ९९ ॥ रत्नोपलैरुपहिताः स्वर्णेष्टकचिताश्च ताः । तोयातिवयः परीवाहयुक्ता वा निर्मलोदकाः ॥ ५६ ॥ पद्मोत्पलावतंसिन्यो यादोदोर्घट्टनक्षमाः । महाब्धिभिरिव स्पर्द्धां कुर्वाणास्तुंगवीचिभिः ॥९७॥ चतुर्दंडातरश्चातो वप्रः षड्धनुरुच्छ्रितः । स्वर्णपासूपलैश्छन्नःस्वोत्सेधाद्द्विश्च विस्तृतः ।.५८॥ तमूर्ध्वचयमिच्छंति यथा मचकपृष्ठकं । कुंभकुक्षिसमाकारं गोक्षुरक्षोदनिस्तलं ॥९९॥ वप्रस्योपरि सालोभूद्विष्कंभाद्विगुणोच्छ्रितः । चतुर्विंशतिमुद्विद्धो धनुषा तलमूलतः ॥६०॥ मुरजैः

है अर्थात् साढेदश धनुष है, दूसरीकी गहराई चौडाईसे आधी अर्थात् छह धनुष है और तीसरीकी गहराई चौडाईसे तिहाई अर्थात् सवातीन धनुषसे कुछ अधिक है। ये सब खाइयां तलहटीसे ऊपरतक एकसी चौडी हैं ॥ ५५ ॥ ये सब खाइयां सुवर्णमय ईंटोंसे बनी हुई हैं, रत्नमय पाषाणोंसे जडीहुई हैं। इनमें ऊपर मुखतक बराबर जल भरा रहता है और वह जल भी बहुत ही स्वच्छ रहता है। इन खाइयोंमें जलके बाहर निकलनेके मार्ग भी बने हुये हैं ॥ ५६ ॥ इन खाईयोंमे जो सफेद और लाल कमल हैं वे इसके कर्णफूलके समान जान पडते हैं, जलचर जीवोंकी भुजाओंके संघट्टन करनेमें ये सब समर्थ हैं और अपनी ऊंची लहरोंसे ऐसी जान पडती हैं मानों महासागरके साथ बराबरी ही कर रही हों ॥ ५७ ॥ इन खाइयोंसे चार धनुष हटकर एक कोट है जोकि सुवर्णकी धूलके बनेहुये पत्थरोंसे जडा हुआ है यह कोट छह धनुष ऊंचा और बारह धनुष चौडा है ॥ ५८ ॥ इस कोटके ऊपर कंगूरे बने हुये हैं। ये कंगूरे कीचडमें रक्खे हुये गायके खुरके चिन्हके समान गोल हैं और घडेके पेटके समान बाहरकी ओर उठे हुये हैं ॥ ५९ ॥ इस कोटके बाद ही एक परकोटा है जो कि चौडाईसे दूना ऊंचा है। इसकी उंचाई नीचेसे ऊपरतक चौवीस धनुष है अर्थात् यह बारह धनुष चौडा है और चौवीस धनुष ऊंचा है ॥ ६० ॥ इस परकोटेका ऊपरीभाग कहींपर मृदगके आकार गोल और ऊंचा बना हुआ है और कहींपर बंदरके शिरके समान गोल बना हुआ है, यह परकोटा अनेकतरहकी सुवर्णकी ईंटोंसे बना हुआ है तथा

कपिशीर्षैश्च रचिताग्रः समंततः । चित्रैर्हैमेष्टकाचितः क्वचिद्रत्नशिलामयः ॥६१॥ विष्कंभचतुरस्राश्च तत्राट्टालकपंक्तयः । त्रिंशदर्द्धं च दडाना दैर्घ्यात्तद् द्विगुणोच्छ्रिताः ॥ ६२ ॥ त्रिंशद्दंडांतराश्चैता मणिहेमविचित्रिताः । उत्सेधसदृशारोहसोपाना गगनस्पृशः ॥६३॥ द्वयोरट्टालयोर्मध्ये गोपुरं रत्नतोरणं । पचाशद्धनुरुत्सेध तदर्द्धमपि विस्तृत ॥ ६४ ॥ गोपुराट्टालयोर्मध्ये त्रिधनुष्कावगाहनं । इंद्रकोशमभूत्सापिधानैर्युक्तगवाक्षकैः ॥ ६५ ॥ तदतरेषु राजंते स्वस्थादेवपथास्तथा । त्रिहस्तविस्तृताः पार्श्वे तच्चतुर्गुणमायताः ॥ ६६ ॥ इत्युक्तखातिकावप्रप्राकारैः परितो वृताः । विभासते नगर्योमूः परिधानैरिवांगनाः ॥ ६७ ॥ चतुष्काणा सहस्र स्याद्वीथ्यस्तद्द्वादशाहत । द्वाराण्येकसहस्र तु महाति क्षुद्रकाणि वै ॥ ६८ ॥ तदर्द्ध तद्द्विशत्यप्रमाणि द्वाराणि

कहीं २ पर इसमें रत्नमय शिला भी लगी हुई हैं ॥ ६१ ॥ उस परकोटाके ऊपर अटारियोंकी पंक्तियां हैं जो कि बनीहुई परकोटाकी चौडाईके समान अर्थात् बारह धनुष चौडी हैं, पंद्रह धनुष लंबी हैं और तीस धनुष ऊंची हैं ॥ ६२ ॥ ये सब अटारियां तीस २ धनुषके अंतरसे बनी हुई हैं, सुवर्ण और माणियोंकी बनी हुई हैं, इसलिये तरह तरहकी दिखाई दे रही हैं। इनकी उंचाईके बराबर छततक सीढियां बनी हुई हैं और अपनी उंचाईसे ये आकाशको भी छू रही हैं ॥ ६३ ॥ दो दो अटारियोंके बीचमें एक एक गोपुर (बडा दरवाजा) है जिसपर रत्नोंके तोरण लगे हुये हैं। ये दरवाजे पचास धनुष ऊंचे हैं, और पच्चीस धनुष चौडे हैं ॥ ६४ ॥ गोपुर और अटारियोंके बीचमें तीन २ धनुष लंबे चौडे बुरज बने हुये हैं, इन बुरजोंमें किवाड भी लगे हुये हैं और झरोखे भी बने हुये हैं ॥ ६५ ॥ उन बुरजोंके बीचमें मृदंगके आकारके बहुत स्वच्छ देवपथ बने हुये हैं जोकि ये देवपथ तीन हाथ चौडे और बारह हाथ लंबे हैं ॥ ६६ ॥ इसप्रकार ऊपर कही हुई खाई कोट परकोटा इनसे चारोंओर घिरी हुई ये नगरियें ऐसी सुशोभित होती है मानों सुंदर बस्त्र पहने हुये स्त्रियां ही हों ॥ ६७ ॥ इन नगरियोंमेंसे प्रत्येक नगरीमें एक हजार चौक हैं, बारह हजार गलियां है और छोटे बडे सब एक हजार दरवाजे हैं ॥ ६८ ॥ इनमेंसे आधे अर्थात् पांचसौ दरवाजे तो ऐसे श्रेष्ठ है कि जिनमें किवाड लगे हुये हैं और जो नगरीकी शोभाके नेत्रोंके

तानि च । सकंबाटानि राजंते नेत्राणीव पुरश्रियां ॥ ६९ ॥ पूर्वापरेण रुंद्राः स्युर्योजनानि नवैव ताः । दक्षिणोत्तरतो दीर्घा द्वादशप्राग्मुखं स्थिताः ॥ ७० ॥ राजगेहादिविस्तारमासां को नाम वर्णयेत् । ममापि नागराजस्य यत्र मोमुह्यते मतिः ॥ ७१ ॥ ग्रामाणां कोटिरेका स्यात्परिवारः पुरं प्रति । तथा खेटमडंबादिनिवेशश्च पृथग्विधः ॥ ७२ ॥ अकृष्टपच्यैः कलमैर्धान्यैरन्यैश्च संभृताः । पुंड्रेक्षुवनसंछन्नसीमानो निगमाः सदा ॥ ७३ ॥ पुराणामंतरं चात्र स्यात्पचनवतं शत । प्रमाणयोजनोद्दिष्टमानमाप्तैर्निदर्शितं ॥ ७४ ॥ पुराणि दक्षिणश्रेण्यां यथैतानि तथैव वै । भवेयुरुत्तरश्रेण्यामपि तानि समृद्धिभिः ॥ ७५ ॥ किंत्वतरं पुराणां च स्यात्तत्रैक प्रमाणतः । योजनानां शतं चाष्टसप्ततिश्चैव साधिका ॥ ७६ ॥ तेषां च नामनिर्देशो भवेदयम-

---

समान सुशोभित हो रहे हैं। इन पांचसौ दरवाजोंमें भी दो सौ दरवाजे बहुत ही अच्छे और मुख्य गिने जाते हैं ॥ ६९ ॥ इन नगरियोंकी चौडाई पूर्वसे पश्चिमतक नौ योजन है और लंबाई दक्षिणसे उत्तरतक बारह योजन है। इन सब नगरियोंका मुख पूर्व दिशाकी ओर है ॥ ७० ॥ इनके राजमहल आदिकी शोभा तथा लंबाई चौडाई आदिका वर्णन कौन कर सकता है क्योंकि मैं धरणेंद्र हूं तथापि इनका वर्णन करनेमें मेरी बुद्धि चक्कर खाती है ॥ ७१ ॥ इन नगरोंमेंसे प्रत्येक नगरसे एक करोड गांव लगते हैं, इनके सिवाय खेट अडंव आदिकी रचना जुदी समझनी चाहिये ॥ ७२ ॥ प्रत्येक गांव वा मुहल्ला विना बोये शाली चांवलोंसे तथा और भी अनेक प्रकारके धान्योंसे सदा हरे भरे रहते हैं और उनकी सीमायें मोटी ईखोंके खेतोंसे सदा ढकी रहती हैं ॥ ७३ ॥ श्रीसर्वज्ञदेवने इस विजयार्द्ध पर्वतपर बसे हुये नगरोंका अंतर प्रमाणांगुलके बने हुये योजनोंसे अर्थात् बडे योजनोंसे एकसौ पिचानवे योजन कहा है ॥ ७४ ॥ जिसप्रकार इन दक्षिणश्रेणीके नगरोंकी रचना बतलाई है ठीक उसीप्रकार अनेकप्रकारकी विभूतियोंसे सुशोभित उत्तरश्रेणीके नगरोंकी रचना है ॥ ७५ ॥ किंतु अंतर केवल इतना है कि उत्तरश्रेणीके नगरोंमें प्रत्येक नगरका अंतर कुछ अधिक एकसौ अठहत्तर योजन है ॥ ७६ ॥ उत्तरश्रेणीके नगरोंके नाम पश्चिम दिशासे लेकर साठवें नगरतक अनुक्रमसे, इस प्रकार हैं ॥७७॥ १ अर्जुनी २ वारुणी ३ कैलासवारु-

नुक्रमात् । पश्चिमां दिशमारभ्य यावत् षष्ठितम पुरं ॥ ७७ ॥ अर्जुनी वारुणी चैव सकैलासा च वारुणी । विद्युत्प्रभं किलिकिलं चूडामणिशशिप्रभे ॥ ७८ ॥ वंशालं पुष्पचूड च हंसगर्भबलाहकौ । शिवंकर च श्रीहर्म्यं चमरं शिवमंदिरं ॥ ७९ ॥ वस्तुमुत्क वसुमती नाम्ना सिद्धार्थकं पुरं । शत्रुंजय ततः केतुमालाख्यं च भवेत्पुरं ॥ ८० ॥ सुरेंद्रकातमन्यत्स्यात्ततो गगननदन । अशोकान्या विशोका च वीतशोका च सत्पुरी ॥ ८१ ॥ अलका तिलकाख्या च तिलकातं तथावरं । मंदिर कुमुद कुदमतो गगनवल्लभं ॥ ८२ ॥ द्युभूमितिलके पुर्यौ पुरं गंधर्वसाह्वयं । मुक्ताहारः सानिमिषं चाग्निज्वालमतः परं ॥ ८३ ॥ महाज्वालं च विज्ञेयं श्रीनिकेतो जयाह्वयं । श्रीवासो मणिवज्राख्य भद्राश्व भवनंजय ॥ ८४ ॥ गोक्षीरं फेनमक्षोभ्यं गिर्यादिशिखराह्वय । धरणी धारण दुर्गं दुर्द्धराख्य सुदर्शनं ॥ ८५ ॥ माहेंद्राख्यपुर चैव पुरं विजयसाह्वयं । सुगंधिनी च वज्राख्यं परं रत्नाकराह्वयं ॥ ८६ ॥ भवेचंद्रपुर चात्यमुत्तरस्या पुराणि वै । श्रेण्या स्वर्गपुरश्रीणि भात्येतानि महास्थल ॥ ८७ ॥ पुराणींद्रपुराणीव सौधानि स्वर्विमानतः । प्रति-

---

णी ४ विद्युत्प्रभ ५ किलकिल ६ चूडामणि ७ शशिप्रभा ८ वंशाल ९ पुष्पचूड १० हंसगर्भ ११ बलाहक १२ शिवंकर १३ श्रीहर्म्य १४ चमर १५ शिवमंदिर १६ वस्तुमत्क (वसुमांक) १७ वसुमती १८ सिद्धार्थक १९ शत्रुंजय २० केतुमाला २१ सुरेंद्रकांत २२ गगननंदन २३ अशोका २४ विशोका २५ उत्तम वीतशोका २६ अलका २७ तिलका २८ अंबरतिलक २९ मंदिर ३० कुमुद ३१ कुंद ३२ गगनवल्लभ ३३ द्युतिलक ३४ भूमितिलक ३५ गंधर्वपुर ३६ मुक्ताहार ३७ निमिष ३८ अग्निज्वाल ३९ महाज्वाल ४० श्रीनिकेत ४१ जय ४२ श्रीनिवास ४३ मणिवज्र ४४ भद्राश्व ४५ भवनंजय ४६ गोक्षीर ४७ फेन ४८ अक्षोभ्य ४९ गिरिशिखर ५० धरणी ५१ धारण ५२ दुर्ग ५३ दुर्द्धर ५४ सुदर्शन ५५ महेंद्रपुर ५६ विजयपुर ५७ सुगंधिनी ५८ वज्रपुर ५९ रत्नाकर और ६० चंद्रपुर । इसप्रकार उत्तरश्रेणीमें ये बडे २ साठ नगर सुशोभित हैं। इन सबकी शोभा स्वर्गके नगरोंकी शोभाके समान है ॥ ७८-८७ ॥ ये नगर इंद्रपुरीके समान हैं, बडे २ महल स्वर्गके विमानोंके समान हैं और प्रत्येक नगरकी अलग २ विभूति एककी दूसरेसे अधिक ही जान पडती है ॥ ८८ ॥ यहांके मनुष्य देवोंके कुमारोंके समान हैं और स्त्रियां अप्सराओंके समान हैं। ये सब

प्रतिपुरं न्यस्तं विभवं प्रतिवैभवं ॥ ८८ ॥ नराः सुरकुमाराभा नार्यश्चाप्सरसा समाः । सर्वर्तुविषयान्भोगान्भुंजतेमी यथोचितं ॥ ८९ ॥ इति पुराणि पुराणकवीशिनामपि वचोभिरशक्यनुतीन्ययं । दधदधित्यकया गिरिरुच्चकै र्धुवसतेः श्रियमाह्वयते ध्रुवं ॥ ९० ॥ गिरिरयं गुरुभिः शिखरैर्दिवं प्रविपुलेन तलेन च भूतलं । दधदुपातचरैः खचरोरगैः प्रथयति त्रिजगाच्छ्रियमेकतः ॥ ९१ ॥ निधुवनानि बनातलतालयैर्मृदितपल्लवसंस्तरणाततैः । पिशुनयत्युपभोगसुगंधिभिर्गिरिरिय गगनेचरयोषिता ॥ ९२ ॥ इह सुरासुरकिंनरपन्नगा नियतमस्य नटेषु महीभृतः । प्रतिवसंति समं प्रमदाजनैः स्वरुचितैरुचितैश्च रतोत्सवैः ॥ ९३ ॥ सुरसिषेविषितेषु निषेदुषीः सरिदुपातलताभवनेष्वमूः । प्रणयकोपविजिह्ममुखीर्वधूरनुनयति सदात्र नभ-

---

स्त्रीपुरुष अपने अपने योग्य छहों ऋतुओंके विषय भोगोंका उपभोग करते रहते हैं ॥ ८९ ॥ इसप्रकार इस पर्वतपर ऐसे नगर हैं कि बडे २ प्राचीन कवि भी अपने बचनोंसे जिनकी स्तुति नहीं कर सकते हैं। इसके सिवाय इसके ऊपरकी भूमि बहुत ऊंची और मनोहर है जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह स्वर्गकी शोभाको बुला रहा ही हो ॥९०॥ हे राजकुमार देखो यह पर्वत अपनी ऊंची शिखरोंसे मानों स्वर्गको धारण कर रहा है अपनी बहुत नीची तलहटीसे अधोलोकको धारण करता है और समीपमें ही विहार करनेवाले विद्याधर तथा नागकुमार जातिके देवोंसे मध्यलोककी शोभा धारण करता है। इसप्रकार यह पर्वत एक जगह ही तीनों लोकोंकी शोभा प्रगट कर रहा है ॥ ९१ ॥ इस पर्वतके बनोंमें अनेक लताओंके घर बने हुये हैं उनमें छिपकर अनेक विद्याधरियें कोमल पत्तोंके बिछोने बिछाकर रतिक्रीडा करती हैं परंतु उससमय उनके उपभोग करने योग्य सुगंधित पदार्थोंकी जो सुगंधि चारों ओर फैलती है उससे मानों यह पर्वत उनकी रतिक्रीडाको प्रगट ही कर देता है ॥ ९२ ॥ इस पर्वतके किनारोंपर देव असुरकुमार, नागकुमार किन्नर आदि देव अपनी २ स्त्रियोंके साथ अपनेको अच्छे लगनेवाले तथा अपने २ योग्य ऐसे रतिक्रीडा आदि अनेक उत्सव करते हुये अवश्य ही निवास करते रहते हैं ॥ ९३ ॥ तथा इस पर्वतपर देवोंके सेवन करने योग्य ऐसे नदियोंके किनारे बने हुये लताओंके कुंजोंमें

धरा: ॥ ९४ ॥ इह मृणालनियोजितबंधनैरिह वतंससरोरुहताडनैः । इह मुखासवसेचनकैः प्रियान्विमुखयंति रतेः कुपिताः स्त्रियः ॥ ९५ ॥ क्वचि-
दनगनिवेश इवामरीललितनर्तनगीतमनोहरः । मदकलध्वनिकोकिलडिंडिमैः क्वचिदनंगजयोत्सवविभ्रमः ॥ ९६ ॥ क्वचिदुपोढपयःकणशीतलैर्धुतसरो-
जवनैः पवनैः सुखः । मदकलालिकुलाकुलपादपैरुपवनैरतिरम्यतरः क्वचित् ॥ ९७ ॥ क्वचिदनेकपयूथनिषेवितः क्वचिदनेकपतत्पतगाततः । क्वचिद-
नेकपरार्ध्यमणिद्युतिच्छुरितराजतसानुविराजितः ॥ ९८ ॥ क्वचिदकाडविनर्तितकेकिभिर्घननिभैर्हरिनीलतटैर्युतः । क्वचिदकालकृतातपसंविप्लवैः परिग-

---

बैठी हुई तथा प्रणय कोपसे जिनके मुख कुछ मलिन हो रहे हैं ऐसी इन विद्याधरियोंको विद्याधर लोग सदा प्रसन्न करते रहते हैं ॥ ९४ ॥ देखो ये कुपित हुई स्त्रियां अपने पतियोंको कमलनालके तंतुओंसे बांधकर रतिक्रीडासे विमुख कर रहीं हैं, इधर कर्णफूलोंके कमलोंसे ताडना करके ही विमुख कर रही हैं और इधर देखो उनपर मुखका मद्य थूककर उन्हें रतिक्रीडासे विमुख कर रही हैं॥ ९५ ॥ देखो इसपर्वतके कितने ही प्रदेश तो देवियोंके सुंदर गीत और नृत्योंसे मनोहर दिखाई दे रहे हैं जिनसे ऐसा जान पडता है मानों ये कामदेवके निवासस्थान ही हों । तथा कहींपर कोयलोंके कोमल शब्द रूपी नगाडे बज रहे हैं जिनसे कामदेवके जयोत्सवका विलास ही जान पडता है ॥ ९६ ॥ देखो कहींपर तो जलके कणोंको धारण करनेवाले शीतल वायुसे कमलोंके वन हिलाये जा रहे हैं जिससे यह बहुत सुखदायी जान पडता है, और कहींपर कोमल शब्द करते हुये भ्रमरसमूहोंसे बगीचोंके वृक्ष व्याप्त हो रहे हैं जिनसे यह बहुत मनोहर जान पडता है ॥ ९७॥ देखो इसपर कहीं तो हाथियोंके समूह क्रीडा कर रहे हैं, कहीं ऊपरसे पडते हुये अनेक पक्षियोंसे व्याप्त हो रहा है और कहींपर जडी हुई अनेक बहुमूल्य मणियोंकी कांतिसे मिले हुये इसके चांदीके किनारे कैसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं ॥९८॥ इधर यह देखो कहीं कहींपर इंद्रनीलमणिके बने हुये इसके किनारे ठीक बादलोंके समान जान पडते हैं जिन्हें देखकर ये मयूर बिना वर्षाऋतुके भी नृत्य कर रहे हैं । इधर ये पद्मराग मणियोंकी लाल शिलायें पडी हुई हैं जिनसे बिना समयके भी

तोऽरुणरत्नशिलातलैः ॥ ९९ ॥ क्वचन कांचनभित्तिपराहतैः रविकरैरभिदीपितकाननः । नभसि संचरता जनयत्यय गिरिरुदीर्णदवानलसंशयं ॥ १०० ॥ इति विशेषपरपरयान्वहं परिगतो गिरिरेष सुरेशिनां । अपि पुनः परिवार्द्धितकौतुक वितनुते न्भिसुताबरचारिणा ॥ १०१ ॥ सुरसरिज्जलसिक्ततटद्रुमो जलदचुंबितसानुवनोदयः । मणिमयैः शिखरैः खचरोषितैर्विजयते गिरिरेष सुराचलान् ॥ १०२ ॥ सुरनदीसलिलप्लुतपादपैस्तटवने कुसुमाचितमूर्द्धभिः । मुखरितालिभिरेष महाचलो विहसतीव सुरोपवनश्रिय ॥ १०३ ॥ इयमितः सुरसिंधुरपा छटाः प्रकिरतीह विभाति पुरोदिशि । वहति सिंधुरितश्च महानदी मुखरिता कलहंसकलस्वनैः ॥ १०४ ॥ हिमवतः शिरसः किल निःसृते सकमलालयतः सरिताविमे । शुचितयास्य तु

प्रातःकालकीसी ललाईका समूह फैल रहा है ॥ ९९ ॥ इधर देखो ये सूर्यकी किरणें इसपर्वतकी सुवर्णमय दीवालपर पडकर फिर उलटकर लौट रही हैं जिससे यह बन बहुत ही प्रकाशमान हो रहा है और आकाशमें चलनेवाले विद्याधरोंको इसपर्वतपर दावानल आग्नि लगनेका संदेह उत्पन्न करा रहा है ॥ १०० ॥ इसप्रकार अनेकप्रकारकी विशेष २ संपदाओंसे सुशोभित रहनेवाला यह पर्वत रात दिन इंद्रोंके मनकी उत्कंठाको भी बढाता रहता है, फिर भला विद्याधरोंकी तो बात ही क्या है ॥ १०१ ॥ देखो इसपर्वतपर कहीं तो गंगानदीके जलसे इसके किनारेके वृक्ष सींचे जा रहे हैं और कहीं इसके किनारेके वनोंमें बादल छाये हुये हैं, जिनसे यह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानों यह विद्याधरोंके सेवन करने योग्य ऐसे अपने मणिमय शिखरोंसे कुलाचल पर्वतोंको ही जीत रहा हो ॥ १०२ ॥ और देखो इस पर्वतके किनारेके बनोंके वृक्ष गंगानदीके जलसे भरपूर सींचे हुये हैं इनके मस्तक फूलोंसे सुहावने लग रहे हैं और ये बन भ्रमरोंके झंकारोंसे शब्दायमान हो रहें हैं जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह पर्वत स्वर्गलोकके उद्यानोंकी शोभाकी ओर हंस रहा ही हो ॥ १०३ ॥ इधर देखो यह गंगा नदी पूर्व दिशाकी ओर अपने जलकी बूंदोंकी वर्षा करती हुई सुशोभित हो रही है और इधर यह सिंधु महानदी सुंदर हंसोंके मधुर शब्दोंसे शब्द करती हुई वह रही है ॥ १०४ ॥ ये दोनों ही गंगा और सिंधु नदी

पादमुपाश्रिते शुचिरलंघ्यतरो हि वृथोन्नतिः ॥१०५॥ इह सदैव सदैवविचेष्टितैः सुकृतिनः कृतिनः खचराधिपाः। कृतनयास्तनया इव सत्पितुः समुपयांति फलान्यमुतो गिरेः॥१०६॥ क्षितिरकृष्टपचेलिमसस्यसूः खनिरयत्नजरत्नविशेषसूः। इह वनस्पतयश्च सदोन्नता दधति पुष्पफलर्द्धिमकालजा ॥१०७॥ सरसि सारसहंसविकूजितैः कुसुमितासु लतास्वलिनिस्वनैः। उपवनेषु च कोकिलनिःक्वणैर्इहशयोत्र सदैव विनिद्रितः ॥ १०८ ॥ कमलिनीवनरेणुविकर्षिभिः कुसुमितोपवनद्रमधूननैः। धृतिमुपैति सदा खचरीजनो रतिपरिश्रमनुद्भिरिहानिलैः ॥ १०९ ॥ हरिरितः प्रतिगर्जति कानने करिकुलं वनमु-

---

हिमवान पर्वतके मस्तकपरसे पद्म सरोवरसे निकली हैं तथापि वे इस पर्वतकी पवित्रतासे इसके चरणों की सेवा करती हैं अर्थात् इसके नीचे होकर बहती ह। सो ठीक ही है जो पवित्र होता है उसे कोई उलंघन नहीं कर सकता। पवित्रताके सामने उंचाई अथवा बढना व्यर्थ ही है। भावार्थ—यद्यपि हिमवान पर्वत इसकी अपेक्षा ऊंचा है तथापि वह इसकी पवित्रताके सामने कुछ नहीं है ॥ १०५ ॥ जिसप्रकार विनयवान पुत्रको श्रेष्ठ पितासे अनेक प्रकारके फल मिला करते हैं उसीप्रकार जो अपने भाग्याधीन आचरणोंसे बडे ही कुशल और पुण्यवान हैं ऐसे विनवान विद्याधरोंको इस पर्वतसे अनेक प्रकारके फल सदा मिलते रहते हैं ॥ १०६ ॥ यहांकी पृथ्वीपर बिना बोये धान्य सदा उत्पन्न होते रहते हैं यहांकी खानोंमेंसे बिना प्रयत्न किये ही अनेक प्रकारके उत्तम उत्तम रत्न निकलते रहते हैं और यहांकी वनस्पतियें सदा हरी भरी रहती हैं तथा बिना समयके भी अनेक प्रकारके पुष्प फल आदिकी शोभाको धारण करती रहती हैं ॥ १०७ ॥ यहांके सरोवरोंपर सारस और हंस पक्षी सदा मधुर शब्द करते रहते हैं, फूली हुई लताओंपर भ्रमर गुंजार करते रहते हैं और बाग बगीचोंमें सदा कोयलें बोलती रहती हैं इन सब हेतुओंसे ऐसा जान पडता है मानों यहां कामदेव सदा जगता ही रहता ह ॥ १०८ ॥ यहांके जिस वायुमें कमलवनोंकी पराग मिली हुई है, जो उद्यानोंके फूले हुये वृक्षोंको हिला रहा है और जो रतिक्रीडाके परिश्रमको बिलकुल दूर कर देनेवाला है ऐसे इस वायुसे ये विद्याधरियें इस पर्वतपर सदा

ज्झाति तद्भयात् । परिगलत्कबलं च मृगीकुलं गिरिनिकुंजतलादुपसर्पति ॥ ११० ॥ सरसि हंसवधूरियमुत्सुका कमलरेणुविपिंजरमंजसा । समनुयाति न कोकविशंकिनी सहचरं गलदश्रु विरौति च ॥ १११ ॥ इयमितो बत कोककुटुंबिनी कमलिनीनवपत्रातिरोहितं । अनवलोक्य मुहुः सहचारिणं भ्रमति दीनरुतैः परितः सरः ॥ ११२ ॥ इह शरद्घनमल्पकमाश्रितं मणितटं सुरखेचरकन्यकाः । लघुतया सुखहार्यमितस्ततः प्रचलयंति नयंति च कर्षणैः ॥ ११३॥ असुमतां सुमता च समाततां धृतघनातपनामिव वीचिभिः । ततवनातवनाममरापगा वहति सानुभिरेष महाचलः ॥ ११४ ॥

संतुष्ट रहती हैं ॥ १०९ ॥ इधर देखो इस बनमें यह सिंह गरज रहा है इसके भयसे यह हाथियोंका समूह बनको छोडकर भागा जा रहा है तथा जिनके मुखमेंसे घासका ग्रास भी गिर गया है ऐसा यह हिरणियोंका समूह इस पर्वतकी कुंजलताओंमेंसे निकल निकलकर दौडा जा रहा है ॥ ११० ॥ इधर देखो तालावके किनारे हंसके साथ समागम करनेके लिये उत्कंठित हुई हंसिनी कमलके परागसे जो बहुत शीघ्र पीला पडगया है ऐसे अपने साथ रहनेवाले हंसको चक्रवाक पक्षी समझकर उसके समीप नहीं जाती है और नेत्रोंसे आंसू डालती हुई रो रही है ॥ १११ ॥ और देखो इधर इस चक्रवाकीको (चकवीको) कमलके नये पत्तेसे छिपा हुआ अपने साथ रहनेवाला चकवा दिखाई नहीं पडता, इसलिये वह खेदाखिन्न हो रही है और दीनताके साथ रोती हुई तालावके चारों ओर बार बार चक्कर लगा रही है ॥ ११२ ॥ इधर देखो इस पर्वतके मणियोंके किनारेपर यह शरदऋतुका छोटासा बादल आ लगा है यह बादल इतना हलका है कि इसे हर कोई सुख पूर्वक उठा सकता है और इसलिये ही ये देवियां और विद्याधरियें इसे खींचकर अपनी अपनी ओर लेजाती हैं तथा इधर उधर हिलाती हैं ॥ ११३ ॥ और देखो जो समस्त प्राणियोंको इष्ट है, जो बहुत बडी है तथा जो ऊंची और सफेद लहरोंसे ऐसी जान पडती है माना उसने शरदऋतुके बादलही धारण किये हों और जिसका जल बनोंके अंततक फैलाहुआ है ऐसी गंगानदीको भी यह महापर्वत अपने चट्टानोंपर धारण करता है ॥ ११४ ॥ और देखो जिसका बहुत बडा विस्तार है,

असुतरा, सुतरां पृथुमम्भसां पतिमितां तिमितातलतावनां । अनुगता स्वगतां स्वतटोपमा वहति सिन्धुमयं धरणीधरः ॥ ११५ ॥ इति यदेव यदेव निरूप्यते बहुविशेषगुणेऽत्र नगाधिपे । किमु तदेव तदेव सुखावह हृदयहारि दृशा च विलोभन ॥ ११६ ॥ धत्तेस्य सानौ कुसुमाचितेय नीलावनाली परिधानलक्ष्मीं । शृगाग्रलग्ना च सिताभ्रपंक्तिः संव्यानलीलामियमातनोति ॥ ११७ ॥ तिरस्कारिण्येव सिताभ्रपक्त्या परिष्कृतातेस्य निकुंजदेशे । मणिप्रभोत्सर्पहतांधकारे समं रमंते खचरैः खचर्यः ॥ ११८ ॥ शरदूघनेऽस्योपरि सुस्थिते घने वितानतां तन्वति खेचरागनाः । कृतालयास्तत्र चिरं

जो अतिशय दुस्तर (कठिनतासे पार होने योग्य) है, जो बराबर समुद्रतक चली गई है, जिसने बनकी लतायें सब तरबतर कर दी हैं तथा जो ठीक अपने अनुकूल और अपने किनारेके समान है ऐसी सिंधुनदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥ ११५ ॥ इसप्रकार अनेक अनेक विशेष गुणोंसे सुशोभित इस पर्वतपर जो जो दिखाई देता है वह सब सुखदेनेवाला, हृदयको हरण करनेवाला और नेत्रोंको आनंद देनेवाला जान पडता है ॥ ११६ ॥ देखो इस पर्वतकी छोटी २ शिखरोंपर जो पुष्पोंसे सुशोभित यह हरितवर्णकी बनपांक्ति दिखाई दे रही है वह इसपर्वतके अधोवस्त्रकी (धोतीकी) शोभा धारण करती है तथा ये इसके ऊंचे शिखरपर लगी हुई सफेद बादलोंकी पंक्तियां शिरपर रक्खी हुई सफेद पगडीके समान जान पडती हैं ॥ ११७ ॥ और देखो इस पर्वतपर ऐसी बहुतसी कुंजलतायें हैं कि जो परदोंके समान सफेद बादलोंकी पंक्तियोंसे ढकी हुई ह और मणियोंके प्रकाशसे जिनका सब अंधकार दूर हो गया है ऐसी इन कुंजलताओंमें यहांकी विद्याधरियें अपने अपने विद्याधरोंके साथ सदा क्रीडा करती रहती हैं ॥ ११८ ॥ देखो इस पर्वतके ऊपर घनीभूत (मोटा मोटा) शरदऋतुकासा सफेदबादल सदा स्थिररूपसे छाया रहता है इसलिये यहांकी विद्याधरियें रतिक्रीडा करनेकी इच्छासे यहींपर अर्थात् मेघोंके समीप ही अपना घर सरीखा बना लेती हैं और कठिन गर्मीके दिनोंमें भी बहुत दिनोंतक गरमीका दुःख नहीं जानती हैं ॥ ११९ ॥ ये देखो शरदऋतुके सफेद बादल भी दैदीप्यमान इंद्रनील-

रिरसया घनातपेऽप्यह्नि न जानते क्रमं ॥ ११९ ॥ समुल्लसन्नीलमणिप्रभाप्लुतान् शरद्घनान्कालघनाघनायितान् । विलोक्य हृष्टोऽत्र रुवन् शिखावलः प्रनृत्यति व्याततबर्हमुन्मदः ॥१२०॥ सिताम्घनानिह तटसंश्रितानिमाः स्थलास्थया समुपागताः खगाङ्गनाः । दुकूलसत्तरण इवातिविस्तृते विशाथिका-मुपरचयति तत्तले ॥ १२१ ॥ सरस्तटं कलरुतसारसाकुलं वनद्विपे विशति सितच्छदावलिः । नभोभिया समुपगतोत्र लक्ष्यते नभःश्रियः पृथुतरहारय-ष्टिवत् ॥ १२२ ॥ क्वचिद्धरिन्माणिततटरोचिषा चयैः परिष्कृतं वपुरिह तिग्मदीधितेः । सरोजिनीहरितपलाशशंकया नभश्चरैरुपतटमीक्ष्यते मुहुः

मणियोंकी प्रभामें डूबकर काले बादलके समान दिखाई दे रहे हैं। इन्हें देखकर यहांके मयूर भी कैसे प्रसन्न हो रहे हैं और उन्मत्त होकर शब्द करते हुये तथा पूंछ फैलाते हुये कैसे नृत्य कर रहे हैं। भावार्थ-उन्हें काले बादल ही समझकर प्रसन्न हो रहे हैं ॥ १२० ॥ जो सफेद बादल इस पर्वतके किनारेपर लगे हुये हे वे इस सफेद पर्वतमें ऐसे मिल गये हैं कि ये विद्याधरियें उन्हें पर्वतकी जमीन समझकर उनके समीप जाती हैं और उनके नीचे इसप्रकार शय्या बनाती हैं मानों किसी कपडेके लंबे चौडे चंदोबाके नीचे ही शय्या बना रही हों ॥ १२१ ॥ ॥ इधर देखो ये सरोवरके किनारे सारस पक्षियोंके मधुर शब्दोंसे व्याप्त हो रहे हैं, इनमें जंगली हाथी प्रवेश कर रहे हैं, इसलिये ये हंसोंकी पंक्तियां श्रावणमास समझकर आकाशमें उडी जा रही हैं और ऐसी जान पडती हैं मानों आकाशलक्ष्मीकी बडे भारी हारकी एक लडी ही हो। भावार्थ—वे हंस उन हाथियोंको काले बादलोंकी परछाहीं समझते हैं और इसलिये श्रावणका महीना अर्थात् वर्षाऋतु समझकर आकाशमें उड जाते हैं। यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि वर्षाऋतुमें हंस प्रायः ऐसी जगह चले जाते हैं जहां वर्षा कम होती हो ॥ १२२ ॥ इधर देखो यह सूर्य इसके किनारेपर आ लगा है और हरितवर्णके मरकतमणियोंके बने हुये किनारोंकी कांतिसमूहसे विलकुल ढक गया है, इसलिये ये विद्याधर लोग इसे कमलिनीका हरा पत्ता समझकर बार बार इस पर्वतके इसी किनारेकी ओर देख रहे हैं ॥ १२३ ॥ इधर देखो सरोवरके किनारे बनके वृक्षोंमें जंगली हाथी अपने

॥ १२३ ॥ क्वचिद्वनद्विरदकपोलघट्टनैः क्षरत्त्वचोवनतरवः सरस्तटे । रुदंति नु च्युतकुसुमाश्रुबिंदवो निलीनषट्पदकरुणस्वनान्वितं ॥ १२४ ॥ इतः कुरु कमलवनेषु रूयते मदोद्धुरध्वनिकलहंससारसैः । इतश्च कोकिलकलनादमूर्छितं मनोहर शिखिविरुतं प्रतीयते ॥ १२५ ॥ इतः शरद्घनघन-कालमेघयोर्यदृच्छया वन इव सन्निधिर्भवन् । मुखोन्मुखप्रहितकरः प्रवर्तते सितासितद्विरदनयोरयं रणः ॥ १२६ ॥ वनस्थलीमनिलविलोलितद्रुमामिमामितः कुसुमरजोवगुंठिता । अलक्षितामधिगमयत्यलिव्रजः समात्रजन्परिमललोलुपोऽभितः ॥१२७॥ इतो वनं वनगजयूथसेवितं विभाव्यते मदजल-

कपोलोंकी रगड लगा रहे हैं जिनसे उन वृक्षोंकी छाल गिरपडी है फूल गिरगये हैं और उनपर भ्रमर मधुर झंकार कर रहे हैं ऐसी अवस्थामें ये वृक्ष ऐसे जानपडते हैं मानो हाथियोंके कपोलोंकी रगडसे जो इनकी छाल गिरगई है जिससे ये पुष्परूपी आंसुओंकी बूंदे डालते हुये और भ्रमरोंके झंकार रूपी करुणाजनक शब्द करते हुये रो रहे ही हों ॥ १२४ ॥ इधर देखो इस कमलों के बनमें उन्मत्त होनेसे जिनके शब्द कुछ कठिन होगये हैं ऐसे कलहंस और सारस पक्षी मधुर शब्द कर रहे हैं, और इधर देखो कोइलोंके मधुर शब्दोंमें मिलाहुआ यह मयूरोंका मनोहर शब्द सुनाई दे रहा है ॥ १२५ ॥ इधर देखो इस बनमें शरदऋतुकेसे सफेद बादल और वर्षा ऋतुकेसे काले बादल ये दोनों ही स्वाभाविक रीतिसे मिल रहे हैं और ऐसे जानपडते हैं मानों काले सफेद दो हाथी मुंहसे मुंह मिलाकर तथा इधर उधर सूंड फकत हुये युद्ध ही कर रहे हों ॥१२६॥ इधर देखो वायुसे जिसके वृक्ष हिलरहे हैं और जो फूलोंकी परागसे बिलकुल ढकी हुई है ऐसी यह बनकी भूमि यद्यपि दिखाई नहीं दे रही है तथापि सुगंधीका लोलुपी और चारों ओरसे आकर एकजगह इकट्ठा हुआ यह भ्रमरोंका समूह इसे दिखला रहा है। भावार्थ—भ्रमरोंके इकट्ठे होनेसे लोगोंको उस बनकी भूमिका ज्ञान हो जाता है ॥ १२७ ॥ इधर देखो ! जिसमें अनेक जंगली हाथियोंके समूह फिर रहे हैं जिसके वृक्ष उन हाथियोंके मदकी धारासे सींचे जा रहे हैं और जिसके वृक्ष तथा लतायें बीचमें पडते हुये तथा मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त हो रही हैं

सिक्तपादपं । समापतन्मदकलभृंगमालिकासमाकुलद्रुमलतमंतरांतरे ॥ १२८ ॥ इह खगवनितानितांतरम्याः सुरभिसरोजवना वनांतवीथीः । परिहितरसनैः शनैः श्रयंते जित पुलिनैर्जघनैर्घनैः सुदत्यः ॥ १२९ ॥ सरसकिसलयप्रसूनक्लृप्तिं विततरिपूणि वनानि नूनमस्मिन् । द्रुममित इत इत्यमूः खगस्त्रीरलिविरुतैरविराममाह्वयंति ॥ १३० ॥ कुसुमितवनखंडमध्यमेतास्तरुगहनेन घनीकृतांधकारं । स्वतनुरुचिविधूतदृष्टिरोधाः खगवनिता बहुदीपिका विशंति ॥ १३१ ॥ कुसुमरसपिपासया निलीनैरालिभिरनारतमारुवद्भिरासां । युवतिकरजलूनपल्लवानामनुरुदितं तु वितन्यते लतानां ॥ १३२ ॥

ऐसा यह बन कैसा अच्छा सुशोभित हो रहा है ॥ १२८ ॥ इधर देखो जिन्होंने अपने सुगंधित कमलोंसे वनको भी सुगंधित कर दिया है तथा जो विद्याधरोंकी स्त्रियोंसे बहुत मनोहर जान पडती हैं ऐसी इस बनकी गलियोंमें ये सुंदर दांतोंवालीं स्त्रियां करधनियोंसे सुशोभित और नदियोंके किनारेके बालूके टीलोंको भी जीतनेवाले अपने बडे २ जघनोंसे (जंघाके ऊपरी भागोंसे) बहुत धीरे २ जा रहीं हैं ॥ १२९ ॥ इधर देखो इस पर्वतके बन अवश्य ही अपने कोमल पत्ते और सुंदर पुष्पोंकी रचनाको बांट देना चाहते हैं इसलिये वे मानों भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे ' इधर इस वृक्षपर आओ, इधर इस वृक्षपर आओ ' इसप्रकार इन बिद्याधरियोंको हर समय बुलाते रहते हैं। भावार्थ--इसपर्वतके बनोंमें प्रत्येक वृक्षपर भ्रमरोंके मधुर शब्द हो रहे हैं ॥ १३० ॥ इधर देखो वृक्षोंकी बहुतायतसे जिसमें खूब अंधकार हो रहा है और जिसके फूल फूले हुये हैं ऐसे इस बनके मध्यभागमें अपने शरीरकी कांतिसे दृष्टिको रोकनेवाले अंधकारको दूर करती हुई ये विद्याधरियें साथमें अनेक दीपक लेकर प्रवेश करती हैं ॥ १३१ ॥ यह देखो इन तरुण स्त्रियोंने पुष्प तोडते समय इन लताओंके कोमल पत्ते अपने नाखूनोंसे छेद दिये हैं इसलिये पुष्परसके पीनेकी इच्छासे इन लताओंपर बैठे और हर समय गुंजार शब्द करते हुये इन भ्रमरोंके द्वारा ऐसा जान पडता है मानों इन लताओंके हर समय रोनेकी आवाज ही आरही है ॥ १३२ ॥ और देखो जिन्होंने अपने कानोंमें फूलोंके कर्णभूषण बनाकर पहने हैं तथा फूलोंकी परागसे जिनके

कुसुमरचितभूषणावतंसाः कुसुमरजःपरिपिंजरस्तनांताः । कुसुमशरशरायितायताक्ष्यस्तदवचिताविह यात्यमूः खचर्य. ॥ १३३ ॥ ताः संचरंति कुसुमावचये तरुण्यः शक्ता वनेषु ललितभ्रुविलोलनेत्राः । तन्व्यो नखोरुकिरणोद्गममजरीका व्यालोलपट्पदकुला इव हेमवल्ल्यः ॥ १३४ ॥ मृदुतरपवने वने प्रफुल्ले कुसुमितमालतिकातिकातपार्श्वे । मरुदयमधुना धुनोति वीथीरवनिरुहा मलिनालिनाममुष्मिन् ॥ १३५ ॥ आधूतकल्पतरुवीथिरितो नभस्वान् मंदारसाद्ररजसा सुरभीकृताशः । मत्तालिकोकिलरुतानि हरन् समतादावाति पल्लवपुटानि शनैर्विभिदन् ॥ १३६ ॥ धृतकमलवने वने तरगानुपरचय-

स्तनमंडल पीले पड़गये हैं और इसलिये ही जो साक्षात् कामदेवके बाणोंके समान जानपडती हैं ऐसी ये दीर्घ नेत्रवाली विद्याधरियें इस पर्वतपर फूल तोडनेके लिये इधर उधर फिर रही हैं ॥ १३३ ॥ और देखो जिनकी भोंहें सुंदर हैं, नेत्र चंचल हैं, नखोंकी किरणें निकली हुई मंजरियोंके समान हैं और फूल तोडनेके लिये बनोंमें तल्लीन हो रही हैं ऐसी ये तरुण स्त्रियें इधर उधर ऐसी फिर रही हैं मानों चंचल भ्रमरोंसे व्याप्त और मंजरियोंसे शुशोभित सुवर्णमय लता ही हों ॥१३४॥ और देखो इस बनमें कैसा मंद वायु चल रहा है, फूल खिल रहे हैं और फूलीहुई मालती (चमेली) से जिसके किनारे सुंदर हो रहे हैं। ऐसे इस बनमें काले भ्रमरोंसे व्याप्त हुये वृक्षोंके समूहको इस समय यह वायु कैसी अच्छीतरह हिला रहा है ॥ १३५ ॥ इधर देखो जिसने कल्पवृक्षोंके समूह हिलाये हैं, जिसने मंदार जातिके पुष्पोंकी बहुतसी परागसे सब दिशायें सुगंधित कर दी हैं, जिसमें उन्मत हुये भ्रमर और कोइलोंके मधुर शब्द मिले हुये हैं और जो कोमल पत्तोंको खिला रहा है ऐसा यह वायु इस पर्वतपर चारों ओर बह रहा है ॥ १३६ ॥ और देखो जिसमें पुष्पोंके रसकी सुगंध भरी हुई है और जो अत्यंत शीतल है ऐसा यह वायु कमलोंके बनोंसे सुशोभित ऐसे जलमें लहरें उत्पन्न करताहुआ इस पर्वतपरके पुष्प सहित वृक्षोंके ऊपरी भागको कैसा स्पर्श कर रहा है ॥ १३७ ॥ जो कोमल लताओंके ऊपरके पत्तोंको हिला रहा है और जिसमें निर्झरनोंके जलकी बूंदे मिली हुई हैं ऐसा यह वायु पुष्पोंकी परागको उडाता हुआ प्रत्येक बनमें कैसा

न्मकरंदगंधबंधुः । अयमतिशिशिरः शिरस्तरूणां सकुसुममास्पृशतीह गंधवाहः ॥ १३७ ॥ मृदिनमृदुलताप्रपल्लवैर्वलयितनिर्झरसीकरोत्करैः । अनुवनमिह नीयतेनिलैःकुसुमरजोविधुतं वितानता ॥ १३८ ॥ चलवलयरवैरवाततै रनुगतनूपुरहारिझंकृतैः । सुपरिगममिहाबरेचरीरतमतिवर्ति वनेषु किन्नरैः ॥ १३९ ॥ अत्र वनांते पत्रिगणोऽयं श्रोत्रहरं नः कूजति चित्रं । सात्रिपताकं नृत्यति नूनं तत्ततनादैर्मत्तशिखडी ॥ १४० ॥ अस्य महाद्रेरनुतटमेषा राजति नानाद्रुमवनराजी । पश्यतमेनामनिलविधूतै र्नर्तितुकामामिव विटपैः स्वैः ॥ १४१ ॥ कूजद्द्विरेफा वनराजिरेषा प्रोद्गातुकामेव महीध्रमेनं।

चंदोवा सरीखा तान रहा है ॥ १३८ ॥ और देखो इस बनमें जो विद्याधरियें रतिक्रीडा करती हैं उसे चारों ओर फैले हुये चंचल कंकणोंके शब्दोंसे और उन शब्दोंके साथ साथ होनेवाले नूपुरोंके (बिछुओंके) मधुर झंकारोंसे किन्नर लोग बहुत शीघ्र जान लेते हैं ॥ १३९ ॥ इधर देखो यह पक्षियोंका समूह इस बनमें कानोंको आनंद देनेवाला कैसा तरह तरहका शब्द कररहा है और यह उन्मत्त हुआ मयूर तीनों गणोंके (संगीतशास्त्रोंके एक तरहके भेदोंके) शब्दोंके साथ अपनी पूंछ फैलाता हुआ कैसा अच्छा नृत्य कर रहा है ॥ १४० ॥ वह धरणींद्र कहता है कि हे राजकुमार ! इस महापर्वतके किनारे किनारे अनेकप्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित बनोंकी पंक्तियां लग रहीं हैं वे कैसी अच्छी जान पडती हैं। देखो वायुके द्वारा जो उनके वृक्ष हिलाये जा रहे हैं उनसे वे ऐसी जान पडती हैं मानों नृत्य ही करना चाहती हों ॥ १४१ ॥ और देखो इन बनकी पंक्तियोंमें जो भ्रमर गुंजार कर रहे हैं उनसे ऐसा जान पडता है मानों ये इस महापर्वतका यश गाना ही चाहती हों और इन्ही बनपंक्तियोंमें जो चारोंओर फूलोंके समूह फैले हुये हैं उससे ऐसा जान पडता है मानों ये बनपंक्तियां इस पर्वतको पुष्पांजलि ही दे रही हों ॥ १४२ ॥ देखो इन बनके वृक्षोंपर जो भ्रमर बैठे हुये हैं और कोइलें बोल रही हैं उससे ऐसा जान पडता है मानों भ्रमररूपी चोरोंके समूहोंने इन वृक्षोंके पुष्पोंका सार अर्थात् रस सब पी लिया है, इस लिये ये वृक्ष बोलती हुई कोइलोंके शब्दोंके द्वारा चिल्लाहट

पुष्पांजलिं विक्षिपतीव विष्वग् विकीर्यमाणैः सुमनःप्रतानैः ॥ १४२ ॥ वनद्रुमाः षट्पदचौरवृंदैर्विलुप्यमानप्रसवार्थसाराः । चोकूयमाना इव भांत्यमुष्मिन् समुच्चरत्कोकिलकाजितेन ॥ १४३ ॥ महाद्रेरमुष्य स्थलीः काल्धौतीरुपेत्य स्फुट नृत्यता बर्हिणाना । प्रतिच्छायया तन्यते व्यक्तमस्मिन्समुत्फुल्लनीलाब्जखंडस्य लक्ष्मीः ॥ १४४ ॥ अतुलितमहिमा हिमावदातद्युतिरनतिक्रमणीयपुण्यमूर्तिः । रजतगिरिरयं विलंघिताब्धि सुरसरिदोघ इवावभाति पृथ्व्याः ॥ १४५ ॥ अस्य महाद्रेरनुतटमुच्चैः प्रेक्ष्य विनीलामुपवनराजीं । नृत्यति हृष्टो जलदविशंकीबर्हिगणोयं विरचितबर्हः ॥ १४६ ॥ अस्यानुसानु

नचाते हुयेके समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४३ ॥ इधर देखो इस पर्वतके चांदीके बने हुये स्वच्छ प्रदेशोंपर जो मयूर आकर खूब नृत्य कर रहे हैं और उनका प्रतिबिंब जो उस सफेद जमीनपर पड रहा है वह साफ ऐसा जान पडता है मानों सफेद पानीपर खिले हुये नील कमलोंकी शोभा ही हो ॥१४४॥ और देखो इस पर्वतका कितना बडा माहात्म्य है, वर्फके समान इसकी स्वच्छ कांति है तथा समुद्रतक पहुंचकर इसने समुद्रको भी तिरस्कृत करदिया है और स्वयं इतना पुण्यवान् है कि इसे कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा यह रूपामय (चांदीका) पर्वत पृथ्वीपर गंगानदीके प्रवाहके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४५ ॥ देखो इस महापर्वतके प्रत्येक ऊंचे किनारेपर हरी हरी बनकी पंक्तियां लग रही हैं जिन्हें देखकर इन मयूरोंको बादलोंकी शंका हो रही है और वे प्रसन्न होकर पूंछ फैलाते हुये कैसा अच्छा नृत्य कर रहे हैं ॥ १४६ ॥ और देखो जिनमें देव विद्याधर और नागकुमार आदि सदा क्रीडा करते रहते हैं, जिनमें कहींपर अनेक प्रकारकी कुंजलतायें बनी हुई हैं कहीं तालाव बने हुये हैं, और कहीं बालुओंके ढेर लगे हुये हैं तथा जिनके वृक्ष कोमल पत्ते और फूलोंसे सदा सुहावने जान पडते हैं ऐसे ये उपवन इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर कैसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १४७ ॥ इधर देखो यह सूर्य चलता चलता इस महापर्वतके किनारेके समीप आगया है और उसपर इस पर्वतके किनारोंपर लगे हुये अनेक प्रकारके मणियोंके किरणोंका समूह पड रहा है जिससे इसका प्रतिबिंब ऐसा विचित्र रं-

सुरपन्नगखेचराणामाक्रीडनान्युपवनानि विभांत्यमूनि । नानालतालयसरःसिकतोच्चयानि नित्यप्रवालकुसुमाञ्चितलपादपानि ॥ १४७ ॥ अस्य महाद्रेरुप तटमुच्छन्मूर्च्छति नानामणिकिरणौघैः । चित्रितमूर्तिर्वियति पतंगश्चित्रपतंगच्छविमिह धत्ते ॥ १४८ ॥ मणिद्युतिततातरैः प्रमुदितोरगव्यंतरैर्निरुद्धरबिमंडलैः स्थगितविश्वदिग्मडलैः । मरुद्गतिनिवारिभिः सुरवधूमनोहारिभिर्विभाति शिखरैर्घनैर्गिरिरयं नभोलंघनैः ॥ १४९ ॥ एष भीषणो महाहिरस्य कंदराद्गिरेरीषदुन्मिषन्पयोनिधेरिवायतास्तिमिः । कायपेषितातिकस्थवल्लिगुल्मपादपो रोषफूत्कृतोष्मणा दहत्युपातकाननं ॥ १५० ॥ रत्नालोकैः कृतपरभागे तटभागे संध्यारागे प्रसरति साद्रारुणरागे । रौप्यो दीप्तां प्रकृतिविरुद्धामपि धत्ते प्रेक्ष्या लक्ष्मीं कनकमयाद्रेरयमद्रिः ॥ १५१ ॥ उद्धूतः परुषरयेण वा-

---

गका जान पडता है मानों ऊंचे आकाशमें अनेक रंगका कोई पक्षी ही हो ॥ १४८ ॥ और देखो जिनके मध्यभागमें अनेक प्रकारके मणियोंकी कांति फैली हुई है, जिनमें नागकुमार और व्यंतर जातिके देव प्रसन्न होकर क्रीडा करते हैं, जो सूर्यमंडलको भी रोकनेवाले हैं, जिन्होंने सब दिशायें आच्छादन करली हैं, जो वायुकी गतिको भी रोकते हैं, देवांगनाओंके मनको हरण करनेवाले हैं, और आकाशको उल्लंघन करनेवाले हैं ऐसे बडे २ शिखरोंसे यह पर्वत कैसा अच्छा सुशोभित हो रहा है ॥ १४९ ॥ यह देखो जिसप्रकार महामत्स्य समुद्रमेंसे धीरे २ निकलता है उसीप्रकार इस पर्वतकी इस गुफामेंसे यह महा भयंकर सर्प कैसा धीरे २ निकल रहा है । इसने अपने शरीरसे समीपवर्ती सब लता छोटे २ पौधें और वृक्षोंको चूर २ करदिया है तथा क्रोधसे यह फूत्कार शब्द कर रहा है और अपने उच्छ्वासकी गरम वायुसे समीपवर्ती बनको जला रहा है ॥ १५० ॥ देखो यह रूपामय पर्वत बिलकुल निर्मल है इसके किनारेपर अनेक प्रकारके रत्नोंके प्रकाशसे सायंकालकी ललाईके समान बहुत गहरी ललाई फैली हुई है, जिससे ऐसा जान पडता है मानों यह पर्वत अपनी प्रकृतिसे विरुद्ध ऐसी सुवर्णमय पर्वतकी देखने योग्य बहुत अच्छी शोभा धारण करता हो ॥ १५१ ॥ और देखो इस पर्वतके किनारेपरका बहुतसा पराग (फूलोंकी रज) वायुके बडे २ झकोरोंसे उड उडकर आकाशमें कैसा पीले रंगका छा रहा है और

युनोच्चैरावभुर्नभासि परिस्फुरन्ननल्पः । अस्याद्रेरुपतटमासनः परागः संधत्ते कनकक्तातपत्रलीलां ॥ १९२ ॥ एताः क्षरन्मदजलाविलगडभित्तिकंडूयनव्यतिकरार्दितगंडशैलाः । मग्नद्रुमास्तटभुवो धरणीभृतोस्य संसूचयंति पदवीं वरवारणाना ॥ १९३ ॥ इहामी मृगौघा वनातस्थलाते स्फुरद्घोणमाघ्राय तृण्यामगण्यां । यदेवात्र तृण्यं तृणं यच्च रुच्यं तदेवाद्रिकुंजे जिघत्संत्यमुष्मिन् ॥ १५४ ॥ यद्यत्तटं यद्विधरत्नजात्या संप्राप्तनिर्माणमिहाचलेंद्रे । तत्तत्समासाद्य मृगास्तदाभां भजंति जात्यंतरतामिवैते ॥ १५५ ॥ हरिन्मणीना विततान्मयूखांस्तृणास्थयास्वाद्य मृगीगणोयं । अलब्धकामस्तदुपातभांजि तृ-

ठीक ऐसा जान पडता है मानों इस पर्वतपर सुवर्णका छत्र ही लगा हो ॥ १५२ ॥ ये देखो जिनके गंडस्थल गलती हुई मदकी धारासे भरे हुये हैं ऐसे हाथियोंने अपने गंडस्थल बार बार इस पर्वतकी छोटी छोटी शिखरोंसे खुजलाये हैं, जिससे इसके वे छोटे २ शिखर टूट गये हैं। तथा उन्हींके खुजानेसे इस पर्वतके किनारेके बहुत सेवृक्ष भी टूट गये हैं जिससे यह जाना जाता है कि यहां होकर अच्छे अच्छे हाथी अवश्य आते जाते होंगे ॥ १५३ ॥ इधर देखो इस पर्वतकी कुंजलताओंमें तथा बनके भीतरी प्रदेशोंमें ये बहुतसे हिरणोंके समूह अपनी नाक फुलाकर बहुतसे घासके समूहको सूंघते हैं तथा उसमेंसे जो घास अपूर्व और अच्छी जान पडती है उसे ही खाना चाहते हैं ॥ १५४ ॥ और देखो इस पर्वतका जो जो किनारा जिसजिस प्रकारके रत्नोंका बना हुआ है उसपर यदि ये हारिण आदि पशु पहुंचते हैं तो इनकी कांति इसप्रकार बदल जाती है मानों इन्होंने कोई दूसरा रूप ही धारण किया हो । भावार्थ–इंद्रनील मणियोंके बने हुये किनारोंपर ये नीले सरीखे हो जाते हैं और पद्मरागमणियोंके किनारोंपर लालसरीखे हो जाते हैं ॥ १५५ ॥ और इधर देखो ये हिरण हरे रंगकी मरकतमणियोंकी फैली हुई किरणोंको घास समझकर खाना चाहते हैं परंतु उनसे उनकी इच्छा पूरी नहीं होती है । इसलिये वे उससे धोखा खाकर समीपमें खडी हुई सचमुचकी घासको भी नहीं खा रहे हैं ॥ १५६ ॥ ये देखो इस बनके भीतर किन्नरी जातिकी देवियां गीत गा रही हैं जिन्हें सुनता हुआ यह मनोहर हिर-

ण्यानि सत्यान्यपि नोपयुक्ते ॥ १५६ ॥ गायंतीनां किन्नरीणां वनांते श्रुण्वन्गीतं हारिणं हारि यूथं । अर्द्धग्रस्तोत्सृष्टनिर्यत्तृणाग्रग्रासं किंचिन्मीलिताक्षं तदास्ते ॥ १५७ ॥ यात्यतार्द्धे भ्रमबिंबे महीध्रस्यास्योत्संगे किं गतोस्तं पतंगः । इत्याशंकाव्याकुलाभ्येति भीतिं प्रक्सायाह्नात्कोककांतोपकांतं ॥ १५८ ॥ सदा प्रफुल्ला विततां नलिन्यः सदात्र तन्वंति रवा नलिन्यः । क्षरन्मदाः सततमेव नागाः सदा च रम्याः फलिनो वनागाः ॥ १५९ ॥ अस्यानुसानुवनराजिरियं विनीला धत्ते श्रियं नगपतेः शरदभ्रभासः । शाटी विनीलरुचिराप्रतिपांडुकांते नीलांबरस्य रचितेव नितंबदेशे ॥ १६० ॥ बिभ्रच्छ्रेणीद्वितिय

णोंका समूह आधी चबाई हुई मुंहकी घासको मुंहमेंसे धीरे २ निकालता हुआ और अपने नेत्रोंको कुछ २ बंद किये हुये कैसा चुपचाप खडा है ॥ १५७ ॥ और देखो यह सूर्य इस पर्वतकी दूसरी ओर शिखरकी ओटमें छिपगया है इसलिये क्या सूर्य अस्त हो गया इसी शंकासे व्याकुल हुई वह चकवी सायंकालके पहिले ही अपने पति चकवाके समीप खडी हुई डर रही है ॥१५८॥ देखो इस पर्वतके तालावोंमें खूब कमल हैं और वे सदा खिले हुये रहते हैं, यहांपर भ्रमरियां भी सदा मधुर झंकार करती रहती है, हाथी सदा मदकी धारा बहाया करते हैं और यहांके बनोंके वृक्ष भी सदा फले फूले हुये मनोहर रहते है ॥ १५९ ॥ और देखो यह पर्वत शरदऋतुके सफेद बादलके समान स्वच्छ है सके प्रत्येक शिखरपर जो यह हरी २ बनकी पंक्तियां शुशोभित हो रही है वे ऐसी जानपडती है मानो बलभद्रके अत्यंत सफेद कांतिको धारण करनेवाले नितंबभागपर (कमरपर) नीले वस्त्रकी धोती हैं पहनाई हो ॥ १६० ॥ और देखो यह पर्वत कैसी अच्छी शोभा धारण करता है और चंद्रमाके समान स्वभावसे ही निर्मल है। इस पर्वतपर दक्षिण उत्तर दोनों श्रेणियोंमें जो बनकी भूमि शोभायमान है वह ऐसी जान पडती है मानों मनोहर और सफेद बादलोंके समान स्वच्छ ऐसे ऐरावत हाथीके दोनों ओर समीप भागमें बडे वेगसे आया हुआ काला बादल ही हो ॥ १६१ ॥ इधर देखो जो सुगंधित पुष्पोंकी परागके सब दिशाओंमें फैला रहा है, जो इसकी सुगंधिसे आये हुये भ्रमरोंके झंकारोंके मधुर शब्दोंसे बहुत मनोहर जानपडता है और

विभागे वनखडं भाति श्रीमानयमवनिध्रो विधुर्वीध्रः । नेगाविद्ध रुचिरसिताभ्रोज्ज्वलमूर्तिः पर्यंतस्थ वनमिव नीलं सुरदंती ॥१६१॥ सुरभिकुसुमरेणून्‌ किरन्विश्वदिक्‍ परिमलमिलितालिव्यक्तझंकारहृद्यः । प्रतिवनमिह शैले वाति मंद नभस्वान्प्रतिविहितनभोगस्त्रैणसंभोगखेदः ॥ १६२ ॥ सुरयुवतिसमाजस्यास्य च स्त्रीजनस्य प्रकृतिकृतनियत्यादंतरं व्यक्तरूपं । स्तिमितनयनमैंद्रं स्त्रैणमेतत्तु लीलावलितललितलोलापांगवीक्ष्याविलासः ॥ १६३ ॥ अत्रायमुन्मदमधुव्रतसेव्यमानगंडस्थलो गजपतिर्वनमाजिहानः । दृष्ट्वा हिरण्मयतटीर्गिरिभर्तुरस्य दावानलप्रतिभयाद्वनमाजहाति ॥ १६४ ॥ अत्रानील मणितटमुच्चैः पश्यन्‌ मेघाशंकी नटति कलापी हृष्टः । केका कुर्वन्विरचितबर्हाटोपो लोकस्तत्त्वं गणयति नार्थी मूढः ॥ १६५ ॥ सरसि कलमभी स्वनति ह-

---

जो विद्याधरियोंकी रतिक्रिडाके परिश्रमको बहुतशीघ्र दूर कर देता है ऐसा यह वायु इस पर्वतके प्रत्येक बनमें धीरे २ चल रहा है ॥१६२॥ और देखो स्वर्गोंकी देवांगना और यहां रहनेवाले विद्याधरोंकी स्त्रियोंमें ऊपरसे दिखनेवाला स्वाभाविक अंतर केवल इतना ही है कि देवांगनाओंके नेत्रोंमें तो टिमकार नहीं लगता है अर्थात् उनके नेत्र ज्योंके त्यों निश्चल रहते हैं और यहांकी विद्याधरियोंके नेत्रोंमें लीलापूर्वक कुछ २ टेडा और मनोहर तथा चंचल कटाक्षोंका विलास रहता है। भावार्थ—सुंदरता तो दोनोंकी एकसी है परंतु विद्याधरियोंके नेत्रोंमें मनोहर कटाक्ष हैं और देवांगनाओंके नेत्र निश्चल हैं ॥ १६३ ॥ और देखो इसपर्वतपर जिसके गंडस्थलपर उन्मत्त भ्रमर लगे हुये हैं ऐसा यह बनमें प्रवेश करता हुआ हाथी इस पर्वतके सुवर्णमय किनारोंको देखकर और उसे दावानल अग्नि समझकर उसके डरसे बनको छोडकर भागा जा रहा है ॥ १६४ ॥ और देखो इस पर्वतके जो किनारे इंद्रनील मणियोंके बने हुये हैं इन्हें देखकर इस मयूरको बादलोंकी शंका हो रही है और इसलिये ही वह प्रसन्न होकर अपनी पूंछ ऊंचीकर तथा मधुर शब्द करता हुआ कैसा अच्छा नृत्य कर रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य केवल अपना प्रयोजन सिद्ध करनेकी धुनमें लगे हुये हैं वे प्रायः मूर्ख होते हैं और कभी वास्तविक पदार्थका विचार नहीं करते हैं ॥१६५॥ और देखो इस पर्वतके तालावोंमें ये हंस मधुर शब्द कर रहे हैं, वृक्षोंपर कोइल

सास्तरुषु च कोकिलषट्पदाः स्वनंति । फलनमितशिखाश्च पादपौघाश्चलविटपैर्ध्रुवमाह्वयंत्यनंगं ॥ १६६ ॥ मंथर व्रजति काननमध्यादेषवाजियदनः सहकातः । संस्पृशस्तनतटं दयितायास्तत्सुखानुभवमीलितनेत्रः ॥ १६७ ॥ एष सिंहचमरीमृगकोटीः सानुभिर्वहति निर्मलमूर्तीः । संततीरिव यशो-विमरस्य स्वस्य लोध्रधवला रजताद्रि ॥ १६८ ॥ यास्य सानुषु धृतिर्विबुधाना राजतेषु वनितानुगताना । सा न नाकवमनौ न हिमाद्रौ नापि मंदर-गिरेस्तटभागे ॥ १६९ ॥ गडोपल वनकरींद्रकपोलकाषसक्रांतदानसलिलप्लुतमत्र शैले । परयन्नय द्विपविशकिमना मृगेंद्रो भूयोभिहति नखैर्विलिख्-

---

और भ्रमर शब्द कर रहे हैं और फलोंके बोझसे इन सब वृक्षोंकी शाखायें नव गई हैं। जिससे ऐसा जानपडता है मानों फलोंके बोझसे नम्रीभूत हुआ यह वृक्षोंका समुदाय अपनी शाखाओंको हिलाहिला कर और भ्रमर कोइल आदिके शब्द करताहुआ अवश्य ही कामदेवको बुला रहा हो ॥१६६॥ और देखो अपनी देवांगनाके स्तनोंको स्पर्श करता हुआ और उस सुखके अनुभवसे कुछ अपने नेत्रोंको बंद करता हुआ यह किन्नरदेव अपनी देवांगनाके साथ २ इस बनके मध्यभागसे कैसा धीरे २ जा रहा है ॥१६७॥ और देखो इस पर्वतकी शिखरोंपर निर्मल शरीरको धारण करनेवाले करोडों सिंह, करोडों चमरीगायें, और करोडों हिरण फिरते हैं और वे ऐसे जानपडते हैं मानों इस रूपाचल पर्वतने लोधके वृक्षके समान सफेद ऐसा अपने फैले हुये यशका समूह ही धारण किया हो ॥ १६८ ॥ देखो अपनी २ देवांगनाओंके साथ फिरते हुये देवोंको इस पर्वतके रूपामयी (चांदीके बनेहुये सफेद) शिखरोंपर जो संतोश होता है वह संतोष न तो उन्हें स्वर्गमें मिलता है और न हिमावान पर्वतपर मिलता है और न सुमेरपर्वतके किसी किनारेपर ही मिलता है ॥१६९॥ और देखो इस पर्वतका यह छोटासा शिखर ठीक हाथीके गंडस्थल के समान है। इसपर जंगली हाथियोंने अपने गंडस्थल खूब घिसे हैं, इसलिये उन गंडस्थलोंके मदका पानी लग लगकर यह शिखर खूब तरबतर होगया है। ऐसे इस शिखरको देखकर यह सिंह उसे हाथी समझता है तथा हाथी समझकर ही बार बार उसपर चोट करता है और अपने समीपकी भूमिको ना-

त्युर्पात ॥ १७० ॥ सिंहोयमत्र गहने शनकैर्विबुद्धो व्याजृंभते शिखरमुत्पतितु कृतेच्छः । तन्वन्गिरेरधिगुहामुखमट्टहासलक्ष्मीं शरच्छशधरामलदेहकांतिः ॥ १७१ ॥ रंध्राद्गिरेरयमजगरः सामिकर्षन्स्वमंगं पुंजीभूतो गुरुरिव गिरेरांत्रभारो निकुंजे । रुद्धश्वासं वदनकुहरं व्याददात्यापतद्भिर्वन्यैः सत्त्वैः किल बिलधिया क्षुत्प्रतीकारमिच्छुः ॥ १७२॥ अयं जलनिधेर्जलं स्पृशति सानुभिर्वारिधिस्तटानि शिशिरीकरोति गिरिभर्तुरस्यान्वहं । मरुद्विधुतवीचिशीकरशतैरजस्रोत्थितैर्महानुगत जनं शिशिरयत्यनुष्णाशय. ॥ १७३ ॥ नगासिंधू हृदयमिवास्य स्फुटमद्रेर्भित्वा याती रसिकतयानू तटभाग । स्पृष्ट्वा

खूनोंसे उकेरता है अर्थात् खोदता है ॥१७०॥ और देखो इस बनमें शरदऋतुके सफेद बादलोंके समान निर्मल और कांतिसहित शरीरको धारण करता हुआ तथा इस पर्वतकी गुफाके द्वारपर अट्टहास्यकी (जोरसे हंसनेकी) शोभा बढाता हुआ यह सिंह धीरे २ जगा है और अब इस शिखरपर छलांग मारने के लिये तैयार हो रहा है ॥ १७१ ॥ इधर देखो इस कुंजलतामें यह अजगर पडा हुआ है। यद्यपि इसने इस पर्वतके बिलमेंसे (छिद्रमेंसे) अपना आधा शरीरही बाहर निकाला है तथापि यह एक जगह इकट्ठे हुये इस पर्वतके बडे भारी अंतडियोंके समूहके समान जानपडता है। देखो इसने अपनी भूख मेटनेके-लिये श्वास रोक कर अपना मुंह रूपी बिल इसलिये फाड रक्खा है कि जिससे बिचारे बनके भोले भाले जीव इसे अपना बिल समझकर अवश्य ही इसमें आपडें और यह उन सबको निगलजाय ॥ १७२ ॥ और देखो यह पर्वत अपनी लंबी २ फैलीहुई शिखरोंसे समुद्रके जलका स्पर्श करता है और यह समुद्र वायुसे हिलहिलकर निरंतर उठती हुई लहरोंकी बहुतसी बूंदोंसे प्रतिदिन इस महापर्वतके किनारेको शीतल करता रहता है, सो ठीक ही है जिनका अंतःकरण शीतल है ऐसे महापुरुष अपने समीपमें आये हुये पुरुष को शीतल करते ही हैं ॥ १७३ ॥ ये गंगा और सिंधू दोनों ही नदियां रसिक (जल सहित) अर्थात् अनुरक्त होकर इस पर्वतके हृदयके समान इसके तटभागको विदीर्णकर तथा वायुके द्वारा हिलती हुई लहरें रूपी अपने हाथोंके द्वारा बार २ स्पर्शकर चली जा रही हैं। सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमीयोंका

रपृष्ट्वा पवनविधूतोर्मिकरैः स्वैर्भेद्यं स्त्रीणां ननु महतामप्युरुचेतः॥ १७४॥ सानूनस्य द्रुतमुपयांती घनसारान् सारासारा जलदघटेयं समसारान्। तारा तारा धरणिधरस्य स्वरसारा साराद्व्यक्तिं मुहुरुपयाति स्तनितेन ॥ १७५ ॥ सारासारा सारसमाला सरसीयं सारं कूजत्यत्रवनांते सुर ‹›ति । सारासारा नीरदमाला नभसीयं तारं मंद्रं विस्तनतीतः स्वनसारा ॥ १७६ ॥ श्रित्वास्याद्रेः सारमणीद्धं तटभागं सारं तारं चारुतरागं रमणीयं । सम्भोगांते गायति कांतं रमयंती सारं तारं चारुतरागं रमणीयं ॥१७७॥ इह खचरवधूर्नितंबदेशे ललितलताळयसंश्रिताः सहेशाः प्रणयपरवशाः समिद्धदीप्तीर्ह्रियमुपयाति

बडा हृदय भी स्त्रियों द्वारा भेदन किया जा सकता है ॥ १७४ ॥ जल बरसना ही जिसका स्वरूप है, जो बहुत लंबी है, निर्मल है, जिसका गरजना भी उत्कृष्ट है, ऐसी यह मेघोंकी पंक्ति अधिक मजबूत और जिसके अवयव सब स्थिर तथा समान हैं ऐसे इस विजयार्द्ध पर्वतके शिखरोंके समीप अनेकवार बहुत शीघ्र आकर भी गर्जनेसे ही प्रगट होती है ॥ १७५ ॥ इस पर्वतपर देवोंसे मनोहर ऐसे इस बनके सरोवरमें इधर उधर फिरनेवाली यह सारस पक्षियोंकी पंक्ति उच्चस्वरसे शब्द कर रही है और इधर आकाशमें जोरसे बरसनेवाली तथा शब्द करनेवाली यह मेघोंकी पंक्ति ऊंचे और गंभीर शब्दोंसे गरज रही है ॥ १७६ ॥ संभोग करनेमें अत्यंत उत्कंठित और शरीरसे सुंदर ऐसे अपने प्रिय पतिको प्रसन्न करनेवाली कोई स्त्री संभोगके बाद इस पर्वतके रत्नमय तटभागपर बैठकर जिसमें अनेक प्रकारके मनोहर राग हैं, जो बहुत मनोहर है, उत्कृष्ट है और ऊंचे स्वर सहित है ऐसा गाना गा रही है ॥ १७७ ॥ इस पर्वतके कुछ नीचे भागपर सुंदर लतामंडपोंमें वस्त्राभूषणोंसे दैदीप्यमान, प्रेमके परवश और अपने २ पतियों सहित बैठीहुई विद्याधरियोंको देखकर सिद्ध जातिके देवोंकी स्त्रियां लज्जित हो रही हैं ॥ १७८ ॥ यह विजयार्द्ध पर्वत श्रीजिनेंद्रदेवके समान है, क्योंकि जिनेंद्रदेव भी अभ्यंतर बाह्य लक्ष्मी सहित हैं और यह पर्वत भी श्रीमान् अर्थात् सुशोभित है, मनुष्य देव विद्याधर और चारण ऋषि जिनेंद्रदेवकी भी सेवाकरते हैं और इसपर्वत

विलोक्य सिद्धनार्यः ॥ १७८ ॥ श्रीमानयं नृसुरखेचरचारणानां सेव्यो जगत्त्रयगुरुर्विधुवाग्रकीर्तिः । तुंगः शुचिर्भरतसंश्रितपादमूलः पायाद्युवां पुरुरिवानगमो महीध्रः ॥ १७९ ॥ इत्थं गिरः फणिपतौ सनयं ब्रुवाणे तौ त गिरीन्द्रमभिनंद्य कृतावतारौ । प्राविक्षतां सगगनेन पुरं परार्ध्यमुत्तुंगकेतुरथनूपुरचक्रवाल ॥ १८० ॥ तत्राधिरोप्य हरिविष्टरमीशितारौ युष्माकमित्यभिवदत्खचरान्समस्तान् । राज्याभिषेकमनयोः प्रचकार धीरो विद्याधरीकरधृतैः पृथुहेमकुम्भैः ॥ १८१ ॥ भर्ता नमिर्भवतु संप्रति दक्षिणस्याः श्रेण्या दिवः शतमखोधिपतिर्यथैव । श्रेण्यां भवेद्विनमिरप्यवनम्यमानो विद्याधरैरवहितैश्चि-

की भी सेवा अर्थात् इसपर विहार करते हैं, जिनेंद्रदेव तीनों जगतके गुरु हैं और यह पर्वत तीनों जगतमें गुरु अर्थात् ऊंचा है, चंद्रमाके समान कीर्ति जिनेंद्रदेवकी भी है और इस पर्वतकी भी है, जिनेंद्रदेव तुंग अर्थात् सबसे बडे हैं, और यह पर्वत तुंग अर्थात् ऊंचा है, जिनेंद्रदेव शुचि अर्थात् पवित्र हैं और यह पर्वत शुचि अर्थात् सफेद है तथा महाराज भरतने श्रीजिनेंद्रदेवके चरणकमलोंका भी आश्रय लिया है और गुफामें प्रवेश करनेकेलिये इस पर्वतके नीचले भागका भी आश्रय लिया है, इसप्रकार श्रीवृषभदेवके समान अतिशय सुंदर यह पर्वत तुम दोनोंकी रक्षा करो ॥१७९॥ इसप्रकार युक्ति पूर्वक धरणेंद्रके वचन समाप्त होजानेपर उन दोनोंने ही उस पर्वतकी प्रशंसा की और फिर धरणेंद्रके साथ नीचे उतरकर अतिशय सुंदर और ऊंची २ ध्वजाओंसे शोभायमान ऐसे रथनूपुरचक्रवाल नामके नगरमें प्रवेश किया ॥ १८० ॥ उस धरणेंद्रने उस नगरमें ले जाकर उन दोनोंको सिंहासनपर बिठाया और “ये तुम्हारे स्वामी हैं, राजा हैं” ऐसा सब विद्याधरोंसे कहा तथा उस धीरवीरने विद्याधरियोंके हाथोंसे उठाये हुये बडे २ सुवर्णकलशोंसे इन दोनोंका राज्याभिषेक किया ॥ १८१ ॥ तदनंतर धरणेंद्रने सब विद्याधरोंसे कहा कि जिसप्रकार इंद्र स्वर्गका स्वामी हैं उसीप्रकार यह नमिराजा अब इस दक्षिणश्रेणीका स्वामी हो तथा अनेक सावधान विद्याधरोंके द्वारा नमस्कार किया हुआ यह विनमि चिरकालतक उत्तरश्रेणीका स्वामी रहे। कर्मभूमिरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले जगतगुरु श्रीमान् भगवान वृषभदेवने अपनी सम्मतिसे

रमुत्तरस्या ॥ १८२ ॥ देवो जगद्गुरुरसौ वृषभोनुमत्य श्रीमानिमौ प्रहितवान् जगतां विधाता । तेनानयोः खचरभूपतयोनुरागादाज्ञां वहंतु शिरसेत्यव-दत्फणींद्रः ॥ १८३ ॥ तत्पुण्यतो गुरुनियोगनिरूपणाच्च नागाधिभर्त्तुरुचितादनुशासनाच्च । ते तत्तथैव खचराः प्रतिपेदिरे द्राक् कार्यं हि सिध्यति महद्भिरधिष्ठितं यत् ॥ १८४ ॥ गांधारपन्नगपदोपपदे च विद्ये दत्वा फणावदधिपो विधिवत्स ताभ्यां । धीरो विसर्ज्य नयविद्विनतौ कुमारौ स्वावास-मेव च जगाम कृतेष्टकार्यः ॥ १८५ ॥ अथ गतवति तस्मिन्नागराजेऽगराजे धृतिमधिकमवाप्ता तौ युवानौ युवानौ । मुहुरुपहृतनानानूनभोगैर्नभोगै-र्मुकुलितकरमौलिं व्यक्तमाराध्यमानौ ॥१८६॥ नियतिमिव खगाद्रेर्मेखलां तामलंघ्यां सुकृतजननिवासावासनाकानुकारां । जिनसमवसृतिं वा विश्वले-

---

इन दोनोंको यहां भेजा है इसलिये तुम सब विद्याधर राजाओंको बडे प्रेमसे मस्तक नवाकर इन दोनों-की आज्ञा पालन करना चाहिये ॥ १८२-१८३ ॥ उन दोनोंके पुण्योदयसे तथा जगतगुरु भगवानकी आज्ञा सुननेसे और धरणेंद्रकी उचित शिक्षासे उन विद्याधरोंने धरणेंद्रके कहे अनुसार सब ही स्वी-कार कर लिया था। सो ठीक ही है क्योंकि बडे लोग जिस कामको करते हैं वह बहुत शीघ्र सिद्ध हो जाता है ॥ १८४ ॥ इसप्रकार नयोंको जाननेवाले धीरवीर धरणेंद्रने उन दोनों कुमारोंको विधिपूर्वक गांधारपदा तथा पन्नगपदा ऐसी दो विद्यायें दीं, राज्य दिया और फिर वह अपना इष्टकार्य पूराकर अतिशय नम्र ऐसे उन दोनों कुमारोंको छोडकर अपने स्थानपर चला गया ॥ १८५ ॥ तदनंतर उस धरणेंद्रके चले जानेपर अनेक प्रकारके संपूर्ण भोगोपभोगोंको भेट करते हुये विद्याधरलोग हाथ जोडकर मस्तक नवाकर स्पष्टरीतिसे जिनकी सेवा करते हैं और जिनको राज्यकी प्राप्ति हुई है ऐसे वे दोनों ही कुमार उस विजयार्द्ध पर्वतपर बहुत ही संतुष्ट हुये थे ॥ १८६ ॥ भगवानके समवस-रणके समान समस्त लोग जिसकी स्तुति करते हैं तथा पुण्यवान लोगोंका निवासस्थान होनेसे जो स्वर्गके समान जान पडती है और जो अपने भाग्यके समान है तथा अलंघनीय है ऐसी उस विज-यार्द्ध पर्वतपरकी मेखलापर वे दोनों ही नमि विनमिकुमार आनंदसे रहते थे ॥ १८७ ॥ उपदेश किये

कामिनंद्यां नमिविनमिकुमारावध्यवात्तां मुदा तां ॥ १८७ ॥ विद्यासिद्धिं विधिनियमितां मानयंतौ नयंतौ विद्यावृद्धेः सममभिमतामर्थसिद्धिं प्रसिद्धिं । विद्याधीनान्यृतुसुखदान्निर्विशंतौ च भोगान्तौ तत्राद्रौ स्थितिमभजता खेचरैः संविभक्ता ॥ १८८ ॥ आज्ञामूढ्वः खचरतनयाः सन्नतेरुत्तमांगे यूनोः सेवामनुनयपरामेनयोराचरंतः । क्वेमौ जातौ क्व च पदमिदं न्यक्कृतारातिचक्रं खेटेंद्राणा घटयति नृणा पुण्यमेवात्मनीना ॥ १८९ ॥ नमिरनियमदुच्चैर्भोगसपत्प्रतीतान् गगनचरपुरींद्रान्दक्षिणश्रेणिभाजः । विनमिरपि च नम्रानातनोति स्म विश्वान् खचरपुरवरेशानुत्तरश्रेणिभाजः ॥ १९० ॥ तावित्थं प्रविभज्य राजतनयौ वैद्य नरीं ता श्रियं भुंजानौ विजयार्धपर्वततटे निष्कंटकं तस्थतुः । पुण्यादित्यनयोर्विभूतिरभवल्लोकेशपादाश्रितोः पुण्यं तेन कुरुध्व-

---

अनुसार विधिपूर्वक विद्याको सिद्ध करनेवाले तथा उन विद्याओंके आधीन ऐसे छहों ऋतुओंमें सुख देनेवाले भोगोंको उपभोग करनेवाले और विद्याओंकी वृद्धिके साथ २ अपनी इच्छानुसार पदार्थोंकी सिद्धिको प्रगट करनेवाले ऐसे वे दोनों ही कुमार उस पर्वतपर विद्याधरियोंके द्वारा विभाग की हुई सुखावस्थाको प्राप्त हुऐ थे ॥ १८८ ॥ उन दोंनो कुमारोंको प्रसन्न करनेवाली सेवा करते हुये विद्याधर लोग अपना २ मस्तक नवाकर इन दोनोंकी अज्ञा पालन करते थे। गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! वे नमि विनमि दोनों ही कुमार कहां तो उत्पन्न हुये थे और कहां उन्हें यह समस्त शत्रुओंके मूहको तिरस्कार करनेवाला विद्याधरोंके इंद्रका (स्वामीका) पद मिला? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मनुष्योंको अपना पुण्य ही समस्त सुख देनेवाला है ॥ १८९ ॥ नमि कुमारने बडे २ भोगोपभोगों की संपत्तिको प्राप्त हुये दक्षिणश्रेणीके अनेक विद्याधरोंके राजाओंको अपने वश किया था, और विनमिकुमारने उत्तरश्रेणीके समस्त विद्याधरोंके राजाओंको नम्रीभूत किया था ॥ १९० ॥ इसप्रकार वे दोनोंही राजकुमार विद्याधरोंकी उस राज्यलक्ष्मीको वांटकर उपभोग करते हुये विजयार्ध पर्वतके किनारेपर निष्कंटक रीतिसे निवास करते थे। भो भव्यजन हो ! देखो ! श्रीवृषभदेवके चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले इन दोनोंको पुण्यसे ही ऊपर लिखी हुई विभूति प्राप्त हुई थी इसलिये स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मीकी

मभ्युदयजा लक्ष्मीं समाशंसव: ॥ १९१ ॥ नत्वा देवमिमं चराचरगुरुं त्रैलोक्यनाथार्चितं भक्तौ तौ सुखमापतुः समुचितं विद्याधरादीश्वरौ । तस्मादादिगुरुं प्रणम्य शिरसा भक्त्यार्चयंत्वंगिनो वाछंतः सुखमक्षयं जिनगुणप्राप्तिं च निश्रेयसीं ॥ १९२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे नमिविनमिराज्यप्रतिष्ठापनं नाम एकोनविंशतितमं पर्व ॥ १९ ॥

इच्छा करनेवाले भव्यजीव हो? तुम भी पुण्य संपदान करो ॥ १९१ ॥ गौतमस्वामी कहते हैं कि त्रैलोक्यका नाथ भी जिनकी सेवा करते हैं ऐसे त्रस स्थावर सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेवको नमस्कार कर ही नमि विनमि दोनों ही भक्त विजयार्द्ध पर्वतके महाराज होकर यथायोग्य सुखको प्राप्त हुये थे इसलिये जो भव्य जीव मोक्ष रूप अक्षय सुखको चाहते हैं तथा परम कल्याणरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवके गुणोंकी प्राप्ति चाहते हैं वे प्राणी श्रीवृषभदेवको मस्तक नवाकर नमस्कारकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥ १९२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें नमि विनमिको राज्य स्थापनका वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवा पर्व समाप्त हुआ ॥

अथ विंशं पर्व ।

प्रपूर्यते स्म षण्मासास्तस्याथो योगधारिणः । गुरोर्मेरोरिवाचिंत्यमाहात्म्यस्याचलस्थितेः ॥ १ ॥ ततोस्य मतिरित्यासीद्यतिचर्याप्रबोधने । कायस्थित्यर्थनिर्दोषविघ्नाणान्वेषणं प्रति ॥ २ ॥ अहो ! भग्ना महावंशा बतामी नवसँयता । सन्मार्गस्यापरिज्ञानात्सद्योऽमीभिः परीषहैः ॥ ३ ॥ मार्गप्रबोधनार्थं च मुक्तेश्च सुखसिद्धये । कायस्थित्यर्थमाहारं दर्शयामस्ततोऽधुना ॥ ४ ॥ न केवलमयं कायः कर्शनीयो मुमुक्षुभिः । नाप्युत्कटरसैः पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनैः ॥ ५ ॥ वशे यथा स्युरक्षाणि नोविधावंत्यनूत्पथं । तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमा ॥ ६ ॥ दोषनिर्हरणायेष्टा उपवासाद्युप-

---

अथ बीसवां पर्व ।

अथानंतर—जिनका माहात्म्य अचिंत्य है और जिनकी स्थिति मेरुके समान निश्चल है ऐसे योग धारण करनेवाले जगतगुरु भगवान वृषभदेवके जब छह महीने पूर हो गये ॥ १ ॥ तब 'केवल शरीरकी स्थिति रखनेकेलिये निर्दोष आहार ढूंढना चाहिये' यही समझकर यतिचर्या करनेकेलिये भगवानकी बुद्धि इसप्रकार उत्पन्न हुई ॥ २ ॥ वे विचार करने लगे कि देखो यह बडे दुःखकी बात है कि बडे २ वंशोंमें उत्पन्न हुये ऐसे नवीन दीक्षा धारण करनेवाले इन राजा लोगोंको मुनियोंके इस श्रेष्ठ मार्गका कुछ भी ज्ञान नहीं है और उसका ज्ञान नहीं होनेसे ही ये भूख प्यास आदि इन परीषहोंसे बहुत शीघ्र भ्रष्ट हो गये हैं ॥ ३ ॥ इसलिये अब मोक्षका मार्ग प्रगट करनेकेलिये, सुख पूर्वक मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये और शरीरकी स्थिति रखनेकेलिये आहार ग्रहण करनेका मार्ग दिखलाना चाहिये ॥ ४ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिये और न अत्यंत पौष्टिक ऐसे शुद्ध और सुख देनेवाले भोजनोंसे इसे पुष्ट करना चाहिये ॥ ५ ॥ किंतु जिसप्रकार ये इंद्रियां अपने वशमें रहें कुमार्गकी ओर न दौडें ऐसी मध्यमवृत्तिका आश्रय लेकर उसीप्रकार प्रयत्न करना चाहिये ॥ ६ ॥ रोग अथवा वात पित्त कफ आदि दोषोंको दूर करनेकेलिये उपवास करना अथवा व्रत

क्रमः । प्राणसंधारणायायमाहारः सूत्रदर्शितः ७ ॥ कायक्लेशो मतस्तावन्न संक्लेशोऽस्ति यावता । सक्लेशे ह्यसमाधानं मार्गात्प्रच्युतिरेव च ॥ ८ ॥ सिध्यै संयमयात्रायास्तत्तनुस्थितिमिच्छुभिः । ग्राह्यो निर्दोष अहारो रसासंगाद्विनार्षिभिः ॥९॥ भगवानिति निश्चिन्वन्योगं संहृत्य धीरधीः । प्रचचाल महीं कृत्स्नां चालयन्निव विक्रमैः ॥ १० ॥ तदा भट्टारके याति महामेराविवोन्नते । धरणी पादविन्यासान्प्रत्यैच्छदनुकंपिनी ॥ ११ ॥ धात्री पदभराक्रांता सत्य मक्षदधस्तले । नाभविष्यत्प्रयत्नश्चेत्तपसीर्याश्रिते विभोः ॥१२॥ ततः पुराकरग्रामान्समटंबान्सखर्वटान् । सखेटान्विजहारोच्चैः स श्रीमान्जंगमाद्रिवत् ॥ १३ ॥

यम नियमादि पालन करना अत्यंत आवश्यक है। और आहार ग्रहण करना प्राण धारण करनेकेलिये जिनमार्गमें दिखलाया गया है ॥ ७ ॥ कायक्लेश तबतक ही करना चाहिये जबतक कि आर्त रौद्र आदि संक्लेशरूप परिणाम न हों। क्योंकि यदि कायक्लेश करनेसे संक्लेशरूप परिणाम हो जांय तो फिर आकुलता उत्पन्न हो जाती है और वह जिनमार्गसे च्युत हो जाता है ॥ ८ ॥ इसलिये केवल संयम धारण करनेकेलिये शरीरकी स्थिति रखनेकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको खट्टे मीठे आदि रसोंमें बिना आसक्त हुये निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिये ॥ ९ ॥ अत्यंत धीर वीर भगवान वृषभदेवने इसप्रकार निश्चयकर अपना योग समाप्त किया और वे जमीनपर अपने पैर रखकर मानों समस्त पृथ्वीको चलायमान करते हुये विहार करने लगे ॥ १० ॥ जिससमय महामेरुके समान अत्यंत उन्नत भगवान वृषभदेव गमन करते थे उससमय चलायमान हुई यह पृथ्वी उनके चरणकमलोंको मानों अपने हाथमें ही लेती हुई स्वीकार करती थी ॥ ११ ॥ यदि उससमय भगवान वृषभदेवने ईर्यासमिति रूप तपश्चरण धारण करनेमें प्रयत्न न किया होता तो अवश्य ही यह पृथ्वी भगवानके चरणोंके बोझसे दबकर अधोलोकमें डूब गई होती। भावार्थ—भगवान ईर्यासमितिसे गमन करते थे इसलिये पृथ्वीके जीवोंको किसीप्रकारकी पीडा नहीं होती थी ॥ १२ ॥ तदनंतर चलते हुये पर्वतके समान अति उन्नत ऐसे श्रीमान् भगवान वृषभदेवने पुर, खानि, ग्राम, मटंब, खर्वट और खेट आदि सब छोटे बडे गांव नगरोंमें विहार किया ॥ १३ ॥

यतो यतः पदं धत्ते मौनि चर्या स्म संश्रितः । ततस्ततो जना' प्रीताः प्रणमंत्येत्य संभ्रमात् ॥ १४ ॥ प्रसीद देव किं कृत्यामीति केचिज्जगुर्गिरं । तूष्णीं भाव व्रजत च केचित्तमनुवव्रजु' ॥ १५ ॥ परे परार्घ्यरत्नानि समानीय पुरो न्दधुः । इत्यूचुश्च प्रसीदेनामिज्या प्रतिगृहाण नः ॥ १६ ॥ वस्तुवाहनकोटीश्च विभोः केचिदढौकयन् । भगवाँस्तास्वनर्थित्वात्तूष्णींको विजहार स' ॥ १७ ॥ केचित्स्रग्वस्त्रगंधादीनानयंति स्म सादरं । भगवन्परिधत्स्वेति पटल्या सह भूषणैः ॥ १८ ॥ केचित्कन्याः समानीय रूपयौवनशालिनीः । परिणाययितुं देवमुद्यता धिग्विमूढतां ॥ १९ ॥ केचिन्मज्जनसामग्र्या

मुनियोंकी चर्या धारण करते हुये भगवान वृषभदेव जिस जिस देशमें जाते थे उस उस देशके समस्त लोग बडे प्रसन्न होकर बडे संभ्रमके साथ भगवानके समीप आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥ १४ ॥ और उनमेंसे कितने ही लोग कहते थे कि हे देव प्रसन्न हूजिये और कहिये कि आप किसकामके लिये यहां आये हैं। यह सुनकर भी जब भगवान चुप चाप आगे गमन करते थे तब कितने ही लोग उनके पीछे पीछे चले जाते थे ॥ १५ ॥ अन्य कितने ही लोग बहुमूल्य रत्न लाकर भगवानके सामने रखते थे और कहते थे कि हे भगवन् प्रसन्न हूजिये और हमारी की हुई इस पूजाको स्वीकार कीजिये ॥ १६ ॥ कितने ही लोग करोडों पदार्थ और करोडों ही हाथी घोडा आदि सवारियें भगवानकी भेट करते थे, परंतु भगवानको तो उनसे कुछ प्रयोजन था ही नहीं इसलिये वे मौन धारणकर चुपचाप आगे विहार करजाते थे ॥ १७ ॥ कितने ही लोग माला, वस्त्र, गंध और आभूषण आदि पदार्थोंको आदर पूर्वक भगवानकी भेट करते थे और कहते थे कि हे भगवन् इन्हें धारण कीजिये ॥ १८ ॥ कितने ही लोग रूप और यौवनसे सुशोभित ऐसी सुंदरी कन्याओंको लाकर भगवानके विवाह करनेकेलिये तैयार हुये थे इसलिये आचार्य कहते हैं ऐसी मूर्खतापर भी धिक्कार हो ॥ १९ ॥ कितने ही लोग स्नान करनेकी सामिग्री लेकर भगवानको रोकते थे और अन्य कितने ही लोग भोजनकी सामिग्री सामने रखकर निवेदन करते थे कि हे विभो मैं यह स्नान करनेकी सामग्रीके साथ २ सब प्रकारके भोजन लाया हूं, हे देव प्रसन्न हूजिये इस

संश्रित्योपारुधान्विभुं । परे भोजनसामग्रीं पुरस्कृत्योपतस्थिरे ॥ २० ॥ विभो भोजनमानीतं प्रसीदोपविशासने । सम मज्जनसामग्र्या निर्विश स्नानभोजने ॥ २१ ॥ एषोंजलिः कृतोऽस्माभिः प्रसीदानुगृहाण नः । इत्येकेऽभ्यैषिषन्मुग्धा विभुमज्ञाततत्क्रमाः ॥२२॥ केचित्पादावुपादाय तत्पांशुस्पर्शपावनैः। प्रणतैर्मस्तकैर्नाथमनार्षिषत मुक्तये ॥ २३ ॥ इदं खाद्यमिदं स्वाद्यमिदं भोज्यं पृथग्विधं । मुहुर्मुहुरिदं पेयं ह्यमाप्यायन तनोः ॥ २४ ॥ तैरित्यध्येष्यमाणोऽपि संभ्रान्तैरनभिज्ञकैः । न कल्प्यमिति मन्वानस्तूष्णीमेवापससिवान् ॥ २५ ॥ विभोर्निगूढचर्यस्य मत ज्ञातुमनीश्वराः । केचित्कर्त्तव्यतामूढाः

आसनपर विराजमान हूजिये और स्नान तथा भोजन दोनोंका अनुभव कीजिये ॥ २०-२१ ॥ हे देव हम लोग अपने दोनों हाथ जोडते हैं हमपर प्रसन्न हूजिये और अनुग्रह कीजिये। इस प्रकार भगवानकी चर्याविधिको नहीं जानते हुये कितने ही मूर्ख लोग भगवानसे प्रार्थना करते थे ॥२२॥ कितने ही लोग भगवानके चरणकमलोंमें प्राप्त होकर उन चरणकमलोंकी धूलकी स्पर्शसे अपने मस्तकको पवित्र कर और उस पवित्र मस्तकको नवाकर भोजन करनेके लिये भगवानसे प्रार्थना करते थे ॥ २३ ॥ और कहते थे कि हे प्रभो यह लड्डू आदि खाद्य पदार्थ है, यह इलायची आदि स्वाद लेने योग्य स्वाद्य पदार्थ है, यह अलग रक्खा हुवा पूडी भात आदि भोजन करने योग्य भोज्य पदार्थ है और यह शरीरको संतुष्ट करनेवाला बहुत ही मनोहर ऐसा बार २ पीने योग्य पेय पदार्थ है ॥ २४ ॥ इसप्रकार इधर उधरसे आते हुये कितने ही अज्ञानी लोगोंने भगवानसे प्रार्थना की, तथापि 'ऐसा करना उचित नहीं है' यही समझकर वे भगवान चुपचाप आगेके लिये विहार कर जाते थे ॥ २५ ॥ कितने ही ऐसे लोग जो कि भगवानकी गुप्त चर्याविधिका अभिप्राय जाननेमें असमर्थ थे वे क्या करना चाहिये क्या न करना चाहिये यह कुछ भी निश्चय न कर किसी चित्रमें लिखी हुई प्रतिमाके समान बिलकुल निश्चल खडे रह गये थे ॥ २६ ॥ अन्य कितने ही लोग आंखोंसे आंसू डालते हुये ऐसे अपने स्त्री पुत्र आदि कुटुंबी जनों सहित भगवानके चरणोंमें पड जाते थे जिससे क्षणभरके लिये भगवानकी चर्यामें विघ्न आ जाता था और जब

स्थिताश्चित्रेष्वित्रार्पिताः ॥ २६ ॥ सपुत्रदारैरन्यैश्च पादालग्नैरदश्रुभिः । क्षणाविघ्नितसच्चर्यो भूयोपि विजहार स. ॥ २७ ॥ इत्यस्य परमां चर्यां । चरतोज्ञातचर्यया । जगदाश्चर्यकारिण्या मासाः षडपरे ययुः ॥ २८ ॥ ततः संवत्सरे पूर्णे पुरं हास्तिनसाह्वयं । कुरुजाङ्गलदेशस्य ललामेवाससाद सः ॥२९॥ तस्य पाता तदासीच्च कुरुवंशशिखामणिः । सोमप्रभ. प्रसन्नात्मा सोमसौम्याननो नृपः ॥३०॥ तस्यानुजः कुमारोभूच्छ्रेयान् श्रेयान्गुणोदयैः । रूपेण मन्मथः कान्त्या शशी दीप्त्या स भानुमान् ॥ ३१ ॥ धनदेवचरो योसावहमिंद्रो दिवश्च्युतः । स श्रेयानित्यभूच्छ्रेयः प्रजानां श्रेयसां निधि. ॥३२॥

वह विघ्न दूर होजाता था तब फिर अपनी चर्याके लिये भगवान विहार करते थे ॥ २७ ॥ इसप्रकार जगतको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली गुप्त चर्यासे उत्कृष्ट चर्या धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके छह महीने और भी व्यतीत हो गये॥२८॥ योग धारण करनेके छह महीने और आहार करनेके लिये विहार करनेके छह महीने, इसप्रकार जब एक वर्ष पूर्ण हो गया तब वे भगवान विहार करते हुये कुरुजांगलदेशके ललाटके समान अर्थात् अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे हस्तिनागपुर नगरमें पहुंचे ॥ २९ ॥ उससमय जिसका अंतःकरण प्रसन्न है और जिसका मुख चंद्रमाके समान सौम्य है ऐसा कुरुवंशका शिरोमणि सोमप्रभ नामका राजा उस नगरका राज्य करता था ॥ ३० ॥ उस सोमप्रभ राजाका एक छोटा भाई था जिसका नाम कुमार श्रेयान था । वह श्रेयान यद्यपि कुमार था तथापि अपने गुणोंकी वृद्धिसे वह सबसे बडा था। वह रूपसे कामदेवके समान था, कांतिसे चंद्रमाके समान था और दीप्तिसे सूर्यके समान था॥३१॥ जो पूर्व भवमें धनदेव नामका शेठ था और फिर अहमिंद्र हुआ था वह स्वर्गसे चयकर प्रजाका कल्याण करनेवाला और स्वयं अनेक कल्याणोंका निधि ऐसा यह सोमप्रभका छोटा भाई श्रेयान् उत्पन्न हुआ था ॥ ३२ ॥ जब भगवान् वृषभदेव इस हस्तिनागपुरके समीप आ रहे थे तब राजकुमार श्रेयानने रात्रिके पिछले पहरमें नीचे लिखे हुये ये शुभ स्वप्न देखे थे ॥ ३३ ॥ प्रथम सुवर्णमय महाशरीरको धारण करनेवाला और बहुत ऊंचा ऐसा सुमेरु पर्वत देखा । दूसरे स्वप्नमें शाखाओंके अग्रभागपर लटकते हुये

सोऽदर्शद्भगवत्यस्यां पुरि सन्निधिमेष्यति । शर्वर्याः पश्चिमे यामे स्वप्नानेतान् शुभावहान् ॥ ३३ ॥ सुमेरुमैक्षतोत्तुंगं हिरण्मयमहातनुं । कल्पद्रुमं च शाखाग्रलंबिभूषणभूषितं ॥ ३४ ॥ सिंह सहारसव्याग्रकेसरोद्धुरकंधरं । शृंगाग्रलग्नमृत्स्नं च वृषभं कूलमुद्रुजं ॥ ३५ ॥ सूर्येंदू भुवनस्येव नयने प्रस्फुरद्द्युती । सरस्वतमपि प्रोच्चैर्वीचिरत्नार्चितार्णसं ॥ ३६ ॥ अष्टमंगलधारीणि भूतरूपाणि चाग्रतः । सोऽपश्यद्भगवत्पाददर्शनैकफलानिमान् ॥ ३७ ॥ सप्रश्रयमथासाद्य प्रभाते प्रीतमानसः । सोमप्रभाय तान्स्वप्नान्यथादृष्टं न्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ ततः पुरोधाः कल्याणं फलं तेषामभाषत । प्रसरद्दशनज्योत्स्नाप्रधूतककुबंतरः ॥ ३९ ॥ मेरुसदर्शनाद्देवो यो मेरुरिव सून्नतः । मेरौ प्राप्ताभिषेकः स गृहमेष्यति नः स्फुटं ॥ ४० ॥ तद्गुणोन्नतिमन्ये च

आभूषणोंसे सुशोभित ऐसा कल्पवृक्ष देखा ॥ ३४ ॥ तीसरे स्वप्नमें संध्याकालके मेघके समान अर्थात् कुछ २ लाल और पीले रंगके केसर अर्थात् गर्दनपरके वालोंसे जिसके कंधे ऊंचे हो रहे हैं ऐसा सिंह देखा। चौथे स्वप्नमें जिसके सींगकी नोकपर मिट्टी लगी हुई है ऐसा किनारेको उखाडता हुआ बैल देखा ॥ ३५ ॥ पांचवें स्वप्नमें जिनकी कांति देदीप्यमान हो रही है ऐसे जगतके दो नेत्रोंके समान सूर्य और चंद्रमा देखे । छठे स्वप्नमें जिसकी लहरें बहुत बडी हैं और जिसका जल रत्नोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसा समुद्र देखा ॥ ३६ ॥ तथा सातवें स्वप्नमें आठ मंगल द्रव्योंको धारण कर सामने खडी हुई व्यंतर देवोंकी मूर्तिया देखीं । इसप्रकार भगवान वृषभदेवके चरणकमलोंका दर्शन करना ही जिनका मुख्य फल है ऐसे ये ऊपर लिखे हुये स्वप्न राजकुमार श्रेयांसने देखे ॥ ३७ ॥ तदनंतर वह राजकुमार श्रेयांस प्रातःकालके समय प्रसन्न चित होकर बडी विनयके साथ महाराज सोमप्रभके समीप पहुचा और उसने रात्रिमें जो स्वप्न देखे थे वे सब ज्योंके त्यों महाराजसे निवेदन किये ॥ ३८ ॥ तदनंतर जिसके फैलती हुई दांतोंकी किरणोंसे सब दिशायें सफेद हो रही हैं ऐसे महाराजके पुरोहितने उन स्वप्नोंका कल्याण करने वाला फल कहा ॥ ३९ ॥ वह कहने लगा कि हे देव आपने स्वप्नमें जो मेरुपर्वत देखा है उसका फल यह है कि जो मेरुके समान अशतिय उन्नत है और मेरुपर्वतपर जिसका अभिषेक हुआ है ऐसा कोई देव

स्वप्नाः ससूचयंत्यमी । तस्यानुरूपविनयैर्महान्पुण्योदयोऽद्य नः ॥४१॥ प्रशस्ता जगति ख्यातिमनल्पां लाभसंपद । प्राप्स्यामोऽत्र संदेहः कुमारश्चात्र तत्त्ववित् ॥ ४२ ॥ इति तद्वचनात्प्रीतौ तौ तत्कथया स्थितौ । यावत्तावच्च योगींद्रः प्राविशद्गजितनं पुर ॥ ४३ ॥ तदा कोलाहलो भूयानभूत्तत्-दिदृक्षया । इतस्ततश्च मिलतां पौराणां मुखनिःसृतः ॥४४॥ भगवानादिकर्त्तास्मान्प्रपालयितुमागतः । पश्यामोऽत्र द्रुतं गत्वा पूजयामश्च भक्तितः ॥४५॥ वनप्रवेशाद्भगवान्प्रत्यावृत्त सनातनः । अनुगृहीतुमेवास्मानित्यूचुः केचनोचित ॥ ४६ ॥ केचित्परपरलोकस्य तद्दर्शन [illegible] । पौरास्त्वक्ता यकर्तव्याः

आज अवश्य ही अपके घर आवेगा ॥ ४० ॥ आपके अन्य जो स्वप्न हैं वे भी उन्हीं भगवानके गुणोंकी उन्नतिको सूचित करते हैं। आज आपको उन भगवानके योग्य की हुई विनयके द्वारा वडा भारी पुण्योदय प्राप्त होगा ॥ ४१ ॥ आज हम जगतमें प्रसिद्ध गिने जायंगे, हमारी वडी प्रशंसा होगी और वडी भारी संपत्ति आज हम लोगोंको प्राप्त होगी। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। क्योंकि यह राजकुमार श्रेयांस अच्छा तत्त्ववेत्ता है, भगवानकी विनय वहुत अच्छीतरह कर सकेगा ॥ ४२ ॥ इसप्रकार उस पुरोहितके वचन सुनकर वे दोनों ही भाई वहुत प्रसन्न हुये। परस्पर भगवानकी कथा कहते हुये वे दोनों वैठे ही थे कि इतनेमें ही योगिराज भगवान वृषभदेवने हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया ॥ ४३ ॥ उस नगरमें भगवानके प्रवेश करते ही अनेक लोग उनके देखनेके लिये इधरसे उधर और उधरसे इधर आ जा रहे थे। वे लोग परस्पर मिलते थे और वातचीत करते थे इसलिये उससमय उनके मुखसे निकले हुये शब्दों से वडा भारी कोलाहल हो रहा था ॥ ४४ ॥ कोई कह रहा था कि आदिकर्ता भगवान वृषभदेव हम लोगोंका पालन करनेके लिये यहां आये हैं, चलो जल्दी चलकर उनके दर्शन करें और भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करें ॥ ४५ ॥ कोई किसीसे ऐसे उचित वाक्य कहता था कि देखो सनातन भगवान वृषभदेवने वनमें प्रवेश किया था परंतु केवल हम लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वहांसे ये फिर लौटे हैं ॥ ४६ ॥ इस लोक और परलोकको जानने वाले ऐसे भगवान वृषभदेवके दर्शन करनेके लिये उत्कं

संदधाद्युषितोमुतः ॥ ४७ ॥ अयं स भगवान्दूराल्लक्ष्यते प्रांशुविग्रहः । गिरींद्र इव निष्टप्तजात्यचामीकरच्छविः ॥ ४८ ॥ श्रूयते यः श्रुतः [illegible] ॥ पितामहः । स नः सनातनो दिष्ट्या यातः प्रत्यक्षसन्निधिं ॥ ४९ ॥ दृष्टेऽस्मिन्सफले नेत्रे श्रुतेऽस्मिन्सफले श्रुती । [illegible] ॥ पवित्रतां ॥ ५० ॥ सर्वसंगविनिर्मुक्तो दीप्तप्रोत्तुंगविग्रहः । घनोपरोधनिर्मुक्तो भाति भास्वानिव प्रभुः ॥ ५१ ॥ [illegible] ॥ विहरत्येवमेकाकी त्यक्तसर्वपरिच्छदः ॥ ५२ ॥ अथवा श्रुतमस्माभिः स्वाधीनसुखकाम्यया । करीव यूथपो नाथो वन [illegible] ॥ ५३ ॥ [illegible]

ठित हुये कितने ही पुरवासी लोग अन्य सब काम छोडकर केवल इधरसे उधर और उधरसे इधर दौड रहे थे ॥ ४७ ॥ कोई कह रहा था कि देखो जिनका शरीर बहुत ऊंचा है और तपे हुये सुवर्णके समान जिनकी कांति है ऐसे ये भगवान दूरसे ही मेरुपर्वतके समान दिखाई देते हैं ॥ ४८ ॥ सनातन और अतिशय प्रसिद्ध ऐसा कोई एक संसारका एक पितामह है ऐसा हम लोग केवल कानोंसे सुनते थे परंतु आज वे ही परम देव हमारे भाग्यसे हमारी आंखोंके सामने प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं ॥ ४९ ॥ इन भगवानके दर्शन करनेसे नेत्र सफल होजाते हैं इनकी कथा सुननेसे कान सफल होजाते हैं और इनका स्मरण करनेसे अज्ञानी क्षुद्र जीवोंका भी अंतःकरण पवित्र हो जाता है ॥ ५० ॥ देखो इन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है, इनका अतिशय ऊंचा शरीर बहुत ही देदीप्यमान हो रहा है और जिस प्रकार बादलमें ढका हुआ सूर्य बादलसे निकलनेपर अतिशय होकर सुशोभित होता है उसी प्रकार ये भगवान भी अतिशय तेजस्वी होते हुये सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥ देखो कितना बडा भारी आश्चर्य है कि ये भगवान तीनों लोकोंके स्वामी होकर भी समस्त परिग्रह छोडकर केवल अकेले ही विहार करते हैं ॥५२॥ अथवा इसमें आश्चर्य ही क्या है क्योंकि हम लोगोंने जो पहिले सुना था कि जिसप्रकार हाथियोंका स्वामी स्वाधीन सुख प्राप्त करनेके लिये समूह छोड कर वनमें प्रवेश करता है उसीप्रकार इन भगवानने भी स्वाधीन सुख प्राप्त करनेकेलिये समस्त परिग्रह छोडकर वनमें प्रवेश किया है । और हम [illegible]

त्समधुना स्वैरं मुक्तसंगो निरंबरः। अव्यथो विहरत्येवमेकक: परमेश्वरः ॥ ५४ ॥ ययास्वं विहरन् देशानस्मद्भाग्यादिहागतः। वद्यः पूज्योऽभिगन्तव्येत्येके श्लाघ्यं वचो जगुः ॥ ५५ ॥ चेटि बालकमादाय स्तन पायय याम्यह । द्रष्टु भगवतः पादाविति काचित्स्त्र्यभाषत ॥ ५६ ॥ प्रसाधनमिद तावदास्तां मे सह मज्जनं । पूतैर्दृष्टिजलैर्भर्तुः स्नास्यामीत्यपरा जगौ ॥५७॥ भगवन्मुखबालार्कदर्शनान्नो मनोंबुजं। चिरं प्रबोधमायातु पश्यामोद्य जगद्गुरुं ॥५८॥ खलु भुक्त्वा त्वरमुत्तिष्ठ गृहाणार्घमिमं सखि। पूजयामो जगत्पूज्यं गत्वेत्यन्या जगौ गिरं ॥ ५९ ॥ स्नानाशनादिसामग्रीमवमत्य पुरोगता ।

भी जान पडती है क्योंकि ये परमेश्वर भगवान समस्त परिग्रह और वस्त्र छोडकर विना किसी थकावट के इच्छानुसार अकेले विहार करते हैं ॥ ५३-५४ ॥ ये भगवान अपनी इच्छानुसार अनेक देशोंमें विहार करते हुये हमारे भाग्यसे ही यहां पधारे हैं इसलिये इनको नमस्कार करना चाहिये इनकी पूजा करनी चाहिये और इनके सामने जाना चाहिये । इसप्रकार कितने ही लोग परस्पर भगवानकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ५५ ॥ उस समय कोई स्त्री अपनी दासीसे कह रही थी कि हे दासी तू मेरे बालकको गोदीमें लेकर दूध पिलाना मैं भगवानके चरणकमलोंके दर्शन करनेकेलिये जाती हूं ॥ ५६ ॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि यह स्नान करनेकी सामग्री और यह आभूषण पहननेकी सब सामग्री एक ओर रक्खो मैं पहिले भगवानकी दृष्टिरूपी पवित्र जलसे स्नान करूंगी ॥ ५७ ॥ भगवानके मुखरूपी प्रातःकालके सूर्यके दर्शन करनेसे मेरा यह मनरूपी कमल चिरकालतक प्रफुल्लित हो, चलो आज जगतगुरु भगवान वृषभदेवके दर्शन करें ॥ ५८ ॥ अन्य कोई स्त्री कह रही थी कि हे सखि भोजन कर जल्दी उठ, यह अर्घ हाथमें ले और चल, जल्दी चलकर जगतपूज्य भगवान वृषभदेवकी पूजा करें ॥ ५९ ॥ नगर निवासी लोग सामने आई हुई स्नान और भोजनकी सामग्रीको दूरकर आगे जानेवाले भगवान वृषभदेव को देखनेकेलिये उनके पीछे दौडे ॥ ६० ॥ भगवानके दर्शन करनेकेलिये जानेवाले लोगोंमेंसे कितने ही तो ऐसे थे जो अन्य लोगोंको जाते हुये देखकर स्वयं जा रहे थे, कितने ही भक्तिवश जा रहे थे और

गता एव तदा पौराः प्रभुं द्रष्टुं पुरोगतं ॥ ६० ॥ गतानुगतिकाः केचित्केचिद्भक्तिमुपागताः । परे कौतुकसाद्भूता भूतेशं द्रष्टुमुद्यताः ॥६१॥ इति नानाविधैर्जल्पैः संकल्पैश्च हि सत्कृतैः । तमीक्षाचक्रिरे पौरा दूरान्नातारमानताः ॥ ६२ ॥ अहं पूर्वमहं पूर्वमित्युपेतैः समततः । तदारुद्धमभूत्पौरैः पुरमाराजमंदिरात् ॥ ६३ ॥ स तु संवेगवैराग्यसिध्यै बद्धपरिच्छदः । जगत्कायस्वभावादितत्त्वानुध्यानमामनन् ॥ ६४ ॥ मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थान्यनुभावयन् । सत्त्वसृष्टिगुणोत्कृष्टक्लिष्टानिष्टानुशिष्टिषु ॥ ६५ ॥ युगप्रमितमध्वानं पश्यन्नातिविलंबितं । नातिद्रुतं च विन्यस्यन्पदं गंधेभलीलया ॥६६॥

कितने ही केवल तमाशा देखनेकेलिये जा रहे थे। इसप्रकार बहुतसे लोग भगवानके दर्शन करनेकेलिये तैयार हुये थे ॥ ६१ ॥ इसप्रकार अनेक प्रकारके संकल्पविकल्प करते हुये तथा परस्पर अनेकप्रकारकी बातचीत करते हुये नगर निवासीलोग जगतकी रक्षा करनेवाले भगवान वृषभदेवको दूरसे ही नमस्कार करते हुये उनके दर्शन करने लगे ॥ ६२ ॥ उस समय दर्शन करनेवाले लोग चारों ओरसे आ रहे थे और सब यही चाहते थे कि मैं पहिले जाकर दर्शन करूं, इसलिये राजमंदिर तक वह सब नगर नगर निवासी लोगोंसे खूब भर गया था ॥६३॥ उस समय हस्तिनागपुरमें लोगोंकी ऐसी स्थिति हो रही थी, परंतु भगवान वृषभदेव संवेग और वैराग्यको सिद्ध करनेकेलिये कमर बांधकर जगत और कायका स्वभाव चिंतवन कर रहे थे, अर्थात् जन्म मरण रूप संसारसे भय उत्पन्न होने रूप संवेग सिद्ध होनेकेलिये शरीरका स्वभाव चिंतवन कर रहे थे। समस्त प्राणियोंमें मैत्रीभावका चिंतवन कर रहे थे, उत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेवाले पुरुषोंको देखकर प्रमोद अर्थात् हर्षित होनेका चिंतवन कर रहे थे, रोगी आदि क्लेशित जीवोंमें कारुण्य भावनाका चिंतवन कर रहे थे और हिताहित न जाननेवाले अर्थात् अविनयी लोगोंमें मध्यस्थ भावना अर्थात् राग द्वेष न कर मध्यस्थ भावसे चिंतवन कर रहे थे ॥ ६४-६५ इसप्रकार चिंतवन करते हुये वे भगवान चार हाथ जमीनको बराबर देखते हुये न बहुत धीरे और न बहुत शीघ्र लीला पूर्वक चलते हुये मदोन्मत हाथीके समान पैर रखते हुये चर्याके लिये विहार कर रहे थे ॥ ६६ ॥ यद्यपि वह नगर मनुष्यों

तथाप्यस्मिजनाकीर्णे शून्यारण्यकृतास्थया । निर्व्यग्रो भगवाश्चान्द्रीं चर्यामाश्रित्य पर्यटन् ॥ ६७ ॥ गेहं गेह यथायोग्यं प्रविशन्राजमंदिरं । प्रवेष्टुमाभ्यगमत्सोऽयं धर्मः सनातनः ॥ ६८ ॥ ततः सिद्धार्थनामेत्य द्रुत दौवारपालक. । भगवत्संनिधिं राज्ञे सानुजाय न्यवेदयत् ॥ ६९ ॥ अथ सोमप्रभो राजा श्रेयानपि युवा नृपः । सान्तःपुरौ ससेनान्यौ सामात्यावुदतिष्ठता ॥ ७० ॥ प्रत्युद्गम्य ततो भक्त्या यावद्राजांगण बहि । दराद्वनतौ भर्त्तुश्चरणौ तौ प्रणेमतुः ॥ ७१ ॥ सार्घं पाद्यं निवेद्याघ्र्यो· परीत्य च जगद्गुरु । तौ पर जग्मतुस्तोषं निधाविव गृहागते ॥ ७ ॥ तौ देवदर्शनप्राता

से भरा हुआ था तथापि वे भगवान उसे शून्य बनके समान जानते हुये निराकुल होकर अंतःकरणमें शांतता धारण करते हुये विहार कर रहे थे ॥ ६७ ॥ इसप्रकार प्रत्येक घरमें यथा योग्य विहार करते हुये वे सनातन वृषभदेव भगवान राजमंदिरमें प्रवेश करनेकेलिये आगे बढे ॥ ६८ ॥ भगवानने राजमंदिरमें प्रवेश किया ही था कि सिद्धार्थ नामके द्वारपालने अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ बैठे हुये महाराज सोमप्रभसे भगवानके समीप आनेके समाचार निवेदन किये ॥ ६९ ॥ उसे सुनकर तरुण राजकुमार श्रेयांसके साथ २ महाराज सोमप्रभ रणवास, सेनापति और मंत्रीके साथ २ बहुत शीघ्र उठे ॥ ७० ॥ वे दोनों ही भाई उठकर राजमहलके आंगनके बाहर आये और दूरसे ही नम्रीभूत होकर भक्ति पूर्वक भगवानके चरणकमलोंको नमस्कार किया ॥ ७१ ॥ उन दोनों भाइयोंने भगवानके चरणकमलोंको रत्न मिले हुये जलका अर्घ दिया, जगतगुरु भगवान वृषभदेवकी परिक्रमा दी और जिसप्रकार घरमें आई हुई निधिको देखकर संतोष होता है उसीप्रकार वे दोनों भाई बडे संतुष्ट हुये ॥ ७२ ॥ जिसप्रकार मलयागिरि पर्वतसे आई हुई वायुके स्पर्शसे वृक्षोंपर अंकूरे उत्पन्न हो जाते हैं उसीप्रकार भगवान वृषभदेवके दर्शन करनेसे वे दोनों भाई भी बडे प्रसन्न हुये और दोनोंके शरीर रोमांचित हो गये ॥ ७३ ॥ भगवानका मुख देखकर जिनके मुखरूपी कमल प्रफुलित हो गये हैं ऐसे वे दोनों भाई उससमय ऐसे जान पडते थे मानों प्रातःकालके समय जिनमें कमल प्रफुलित हुये हैं ऐसे दो सरोवर ही हों ॥ ७४ ॥ उससमय

गात्रे पुलकमूहतुः । मलयानिलसंस्पर्शाद्भूरुहावंकुरं यथा ॥ ७३ ॥ भगवन्मुखसंप्रेक्ष्य विकसन्मुखपंकजौ । विबुद्धकमलौ प्रासस्तनौ पद्माकराविव ॥ ७४ ॥ प्रमोदनिर्भरौ भक्तिभरानमितमस्तकौ । प्रश्रयप्रशमौ मूर्त्ताविव तौ रेजतुस्तदा ॥ ७५ ॥ भगवच्चरणोपाते तौ तदा भेजतुः श्रियं । सौधर्मैशानकल्पेशो विभु द्रष्टुमिवागतौ ॥ ७६ ॥ पर्वतवर्तिनोर्मध्ये तयोर्भर्त्ता स्म राजते । महानेरुरिवोद्भूतो मध्ये निषधनीलयोः ॥ ७७ ॥ संप्रेक्ष्य भगवद्रूपं श्रेयान् जातिस्मरोऽभवत् । ततो दाने मतिं चक्रे संस्कारैः प्राक्तनैर्धृतः ॥ ७८ ॥ श्रीमतीवज्रजंघादिवृत्तांतं सर्वमेव तत् । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानं च सोऽध्यगात् ॥ ७९ ॥ सती गोचरवेलेयं दानयोग्या मुनीशिना । तेन भर्त्रे ददौ दानमिति निश्चित्य पुण्यधीः ॥ ८० ॥ श्रद्धादिगुणसंपन्नः पुण्यैर्नवभिः

वे दोनों ही भाई आनंदमें डूबे हुये थे, भक्तिके भारसे उन दोनोंके मस्तक नम्रीभूत हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों वे दोनों ही विनय और शांतताकी मूर्ति ही हों ॥ ७५ ॥ भगवान वृषभदेवके समीप खडे हुये वे दोनों ही उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके दर्शन करनेकेलिये सौधर्म और ईशान स्वर्गके इंद्र ही आये हों ॥ ७६ ॥ भगवान वृषभदेवके एक ओर सोमप्रभ और दूसरी ओर राजकुमार श्रेयांस खडा हुआ था तथा उन दोनोंके बीचमें भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों निषध और नील पर्वतके मध्यभागमें खडा हुआ सुमेरु पर्वत ही हो ॥ ७७ ॥ भगवानका रूप देखते ही राजकुमार श्रेयांसको जातिस्मरण हो गया था और पूर्व भवके सब संस्कार उसमें हो गये थे इसलिये आहारदान देनेकेलिये उसकी बुद्धि स्फुरायमान हुई थी ॥ ७८ ॥ श्रीमती और वज्रजंघके भवमें जो दो चारण मुनियोंको दान दिया था वह सब वृतांत उस समय राजकुमार श्रेयांसको स्मरण हो आया था ॥ ७९ ॥ यह मुनियोंके दान देने योग्य ऐसा भोजनका उत्तम समय है इसप्रकार निश्चयकर महा पुण्यवान् राजकुमार श्रेयांसने भगवान वृषभदेवके लिये आहारदान दिया ॥ ८० ॥ दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाले राजकुमार श्रेयांसने श्रद्धा आदि सातों गुण सहित और पुण्य बढानेवली नवधा भक्ति सहित भगवान वृषभदेवकेलिये आहारदान दिया ॥ ८१ ॥ श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा

भिरन्वितः । प्रादाद्भगवते दानं श्रेयान् दानादितीर्थकृत् ॥८१॥ श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता । क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥ ८२ ॥ श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः । भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात्तद्गुणादरः ॥८३॥ विज्ञानं स्यात्क्रमज्ञत्वं देयशक्तिरलुब्धता । क्षमा तितिक्षा ददतस्त्यागः सद्व्ययशीलता ॥८४॥ इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात्पात्रसंपदि । व्यपेतश्च निदानादेर्दोषान्निःश्रेयसोद्यतः ॥ ८५ ॥ प्रतिग्रहणमत्युच्चैःस्थानेस्य विनिवेशनं । पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी ॥ ८६ ॥ विशुद्धिश्चाशनस्येति नव पुण्यानि दानिना । स तानि कुश-

---

और त्याग ये सात दान देनेवालेके गुण कहलाते हैं ॥ ८२ ॥ परलोक अथवा पुण्य पाप आदि माननेको श्रद्धा कहते हैं; यदि दान देनवालेमें श्रद्धा न हो, वह परलोक आदिको न मानता हो तो दान देनेमें उससे अनादर हो सकता है, इस लिये दान देनेवालेके श्रद्धा गुण सबसे पहिले होना चाहिये । दान देनेमें आलस्य नहीं करना शक्ति गुण है, मुनियोंके गुणोंमें आदर करना भक्ति गुण है ॥ ८३ ॥ शास्त्रानुसार विधिपूर्वक आहार देनेका क्रम जानना अर्थात् प्रथम प्रतिग्रह करना चाहिये फिर ऊंचे आसनपर विराजमान करना चाहिये इत्यादि आहार देनेका अनुक्रम जानना विज्ञान है । दान देनेकी शक्ति होना अलुब्धता है, सहनशीलता होना क्षमा गुण है और दान देनेवाला जो उत्तम द्रव्य देता है उसका वह देना त्याग गुण है ॥८४॥ इसप्रकार सत्पात्ररूपी संपदाके प्राप्त होनेपर जो ऊपर लिखे हुये सात गुणों सहित है और निदान अर्थात् परभवमें इसका फल मुझे धनकी प्राप्ति हो अथवा मैं मरकर देव होऊं इत्यादि आगामी भोगोंकी आकांक्षा आदि दोषोंसे रहित है वही केवल मोक्षके सुख प्राप्त होनेके लिये तत्पर ऐसा दाता गिना जाता है ॥ ८५ ॥ प्रतिग्रह अर्थात् हे भगवन् तिष्ठ तिष्ठ ऐसा कह कर मुनिराजको घरमें लाना, उन्हें ऊंचे आसनपर विराजमान करना; उनके चरणकमलोंका प्रक्षालन करना, उनकी पूजन करना, नमस्कार करना, मनकी शुद्धता रखना बचनकी शुद्धता रखना, कायकी शुद्धता रखना और भोजनकी विशुद्धि रखना इस प्रकार दान देनेवालेके यह नौ प्रकारका पुण्य अर्थात् नवधा भक्ति कहलाती है।

लो भेजे पूर्वसंस्कारचोदितः ॥ ८७ ॥ इष्टश्चाय विशिष्टश्चेत्यसौ तुष्टिं परा श्रितः । ददे भगवते दानं प्रासुकाहारकल्पितं ॥ ८८ ॥ संतोषो याचनापायो नैःसंग्य स्वप्रधानता । इति मत्वा गुणान्पाणिपात्रेणाहारमिच्छते ॥ ८९ ॥ तुष्टिर्विशिष्टपीठादिसंप्राप्तावन्यथा द्विपिः । असंयमश्च सत्येवामिति स्थित्वाऽशनैषिणे ॥ ९० ॥ कायासुखतितिक्षार्थं सुखासक्तेश्च हानये । धर्मप्रभावनार्थं च कायक्लेशमुपेयुषे ॥ ९१ ॥ नैष्किंचन्यप्रधान यत्पर निर्वाणकारण । हिंसाक्षणयाचादिदोषैरस्पृष्टमूर्जितं ॥ ९२ ॥ अशक्यं प्रार्थनीयत्वरहितं च समीयुषे । जातरूप यथाजातमविकारमविप्लव ॥ ९३ ॥ तैला-

---

अतिशय बुद्धिमान राजकुमार श्रेयांसने पूर्व जन्मके संस्कारके निमित्तसे उससमय ये सब नवधा भक्ति की थीं ॥८६ ८७॥ ये भगवान वृषभदेव प्रेमपात्र और उत्तमपात्र हैं यही समझकर अत्यंत संतुष्ट हुये राजकुमार श्रेयांसने भगवान वृषभदेवकेलिये निर्दोष और प्रासुक आहारका दान दिया ॥ ८८ ॥ जो भगवान संतोष धारण करना, किसीसे याचना नहीं करना, समस्त परिग्रहका त्याग करना, और अपने आत्माको ही प्रधान मानना आदि अनेक गुण धारण करनेकेलिये केवल पाणिपात्रसे ही अर्थात् केवल हाथोंसे ही आहार ग्रहण करते थे ॥ ८९ ॥ अच्छा आसन मिलनेसे संतोष होगा यदि अच्छा आसन न मिला तो द्वेष उत्पन्न होगा, और राग द्वेष उत्पन्न होनेसे बडा भारी असयम होगा यही समझकर जो भगवान खडे होकर भोजन लेते थे ॥ ९० ॥ शरीर संबंधी अनेक दुःख सहन करनेकेलिये सुखकी आसक्तता दूर करनेकेलिये और धर्मकी प्रभावना करनेकेलिये जो भगवान सदा कायक्लेश सहन करते थे ॥ ९१ ॥ जिसमें आकिंचन्य धर्म ही प्रधान है, जो मोक्षका साक्षात् कारण है, हिंसा, परिग्रह और याचना आदि अनेक दोषोंसे रहित है, जो अत्यंत बलवान है, अन्य साधारण लोग जिसे धारण कर नहीं सकते, जिसे कोई ले नहीं सकता, जो तत्काल हुये बालकके समान निर्विकार और उपद्रव रहित है ऐसी नग्नताको जो भगवान धारण करते थे। तथा तैल पानी आदिकी याचना करना, यदि याचना करनेपर तैलादिकी प्राप्ति हो गई तो हर्ष उत्पन्न होगा यदि उसकी प्राप्ति

देर्याचन तस्य लाभालाभद्वये सति । रागद्वेषद्वयासंगकेशजप्राणिहिंसनं ॥ ९४ ॥ इत्यादिदोषसद्भावादस्नानव्रतधारिणे । हायनानशनेऽप्यंगे पुष्टिं दीप्तिं च बिभ्रते ॥ ९५ ॥ क्षुरक्रियाया तद्योग्यसाधनार्ज्जनरक्षणे । तदपाये च चिंता स्यात्केशोत्पाटमितीच्छते ॥ ९६ ॥ पचाभिः शमितायास्मै त्रिभिर्गुप्ताय तायिने । महाव्रताय महते निर्मोहाय निराशिषे ॥ ९७ ॥ संयमक्रियया सर्वप्राणिभ्योऽभयदायिने । सर्वीयज्ञानदानस्य सार्वाय प्रविष्णवे ॥ ९८ ॥ दातुराहारदानस्य महानिस्तारकात्मने । त्रिजगत्सर्वभूताना हितार्थं मार्गदेशिने ॥ ९९ ॥ श्रेयान् सोमप्रभेणामा लक्ष्मीमत्या च सादर । रस मिक्षारदात्प्रा-

---

नहीं हुई तो द्वेष होगा, इसके सिवाय जूं आदि मस्तकमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी हिंसा होगी तथा और भी अनेक दोष उत्पन्न होंगे यही समझकर जो भगवान कभी स्नान नहीं करते थे। यद्यपि उन्होंने एक वर्ष भोजन नहीं किया था तथापि उनके शरीरमें पुष्टता और कांति शोभायमान थी ॥९२-९३-९४-९५॥ यदि कैंची वा उस्तरासे बाल बनवाये जायंगे तो बाल बनवानेका साधन ऐसा कैंची वा उस्तरा लेना पडेगा, उसकी रक्षा करनी पडेगी, यदि वह खोजाय वा गिरपडे तो, उसकी चिंता होगी इसलिये ही जो भगवान केशलोंच करते थे ॥ ९६ ॥ जो भगवान पांचों इंद्रियोंके निग्रह करनेसे अत्यंत शांत थे, तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवाले थे, सबका पालन करनवाले थे, महाव्रत धारण करनेवाले थे, परम पूज्य थे, मोहरहित थे इच्छारहित थे, ॥ ९७ ॥ संयमरूप क्रिया पालन करनेसे समस्त प्राणियोंको अभयदान देनेवाले थे, सबका हित करनेवाले थे, सबका कल्याण करनेवाले ऐसे ज्ञानका दान देनेकेलिये पूर्ण समर्थ थे ॥ ९८ ॥ आहारदान देनेवालेको बहुत शीघ्र इस संसार सागरसे पार कर देनेवाले थे, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंका हित करनेकेलिये मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले थे ॥ ९९ ॥ और जिन्होंने आहार ग्रहण करनेकेलिये अपने दोनों हाथ आगे किये थे ऐसे भगवान श्रीवृषभदेवकेलिये राजकुमार श्रेयांसने अपने बडे भाई सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमतीके साथ बडे आदर पूर्वक इक्षुरसका प्रासुक आहार दिया ॥ १०० ॥ वह राजकुमार श्रेयांस भगवानके पाणिपात्रमें पुण्यधाराके समान अत्यत

सुमुक्तानीकृतपाणये ॥ १०० ॥ पुंड्रेक्षुरसधारा ता भगवत्पाणिपात्रके । स समावर्जयन् रेजे पुण्यधारामिवामला ॥ १०१ ॥ रत्नवृष्टिरथापप्तदंबरादमरेशिना । करैर्मुक्ता महादानफलस्येव परंपरा ॥ १०२ ॥ तदाऽपतद्दिवो देवकरैर्मुक्तालिसंकुला । वृष्टि सुमनसा दृष्टिनालेव त्रिदिवौकसा ॥ १०३ ॥ नेदुः सुरानका मद्रं बधिरीकृतविष्टपा । सचचार मरुच्छीतः सुरभिर्मीद्यसुंदरः ॥१०४॥ प्रोच्चचार महान्ध्वानो देवाना प्रीतिमीयुषा । अहो! दानमहो! पात्र अहो! दातेति खागणे ॥ १०५ ॥ कृतार्थंतरमात्मान मेने तद्भ्रातृयुग्मक । कृतार्थोऽपि विभुर्यस्मादपुनात्तवं गृहांगण ॥ १०६॥ दानानुमोदनात्पुण्य परेपि बहवोऽभजन् । यथासाद्य पर रत्न स्फटिकस्तद्रुचिं भजेत् ॥१०७॥ कारण परिणामः स्याद्बधने पुण्यपापयोः । बाह्य तु कारण प्राहुराप्ताः

निर्मल ऐसी वह पौंडेके ईखके रसकी धारा छोडता हुआ बहुत ही अच्छा सुशोभित हो रहा था ॥१०१॥ तदनंतर आकाशसे महादानके फलकी परंपराके समान देवोके हाथोंमे छूटती हुई रत्नोकी वर्षा होने लगी ॥ १०२ ॥ उसीसमय देवोंके सुंदर नेत्रोंके समूहके समान देवोंके हाथसे पडती हुई और जिसपर भ्रमरोंके समूह बैठे हुऐ है ऐसी फूलोंकी वर्षा आकाशसे होने लगी ॥ १०३ ॥ उसीसमय समस्त संसारको बधिर करनेवाले गंभीर नगाडे बजन लगे और मंद मंद गमन करनेमे अत्यंत सुंदर ऐसा सुगंधित और शीतल वायु चलने लगा ॥ १०४ ॥ उसी समय उस दानसे प्रसन्न हुये देवलोगोंका धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार एक बडा भारी शब्द हो रहा था ॥ १०५ ॥ इसप्रकार आकाशसे पंचाश्चर्यकी वर्षा हो रही थी । उस समय वे सोम और श्रेयांस दोनों ही भाई अपने आत्माको बडे ही कृतार्थ मानते थे, क्योंकि जो भगवान वृषभदेव कृतकृत्य हो चुके थे उन्होंने भी स्वयं आकर उन दोनों भाइयोंके घरका आंगन पवित्र किया था ॥ १०६ ॥ सोम श्रेयांसके सिवाय अन्य बहुतसे लोगोंने उस दानकी अनुमोदना की थी. इसलिये उन्हें भी बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति हुई थी । सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल स्फटिकमणि किसी उत्तम रत्नके समीप होनेसे उस रत्नकी कांतिको धारण करता ही है ॥ १०७ ॥ कदाचित् कोई यह शंका करे कि अनुमोदना करनेवालेको पुण्यकी प्राप्ति कैसे होती है उस-

कारणकारणं ॥ १०८ ॥ परिणामः प्रधानाङ्गं यतः पुण्यस्य साधने । मतं ततोनुमंतृणामभीष्टस्तत्फलोदयः ॥ १०९ ॥ कृत्वा तनुस्थितिं भीमान्योगीन्द्रो जातकौतुकौ । प्रणताबभिनन्द्यैनौ भ्रातरौ प्रस्थितो वनं ॥ ११० ॥ भगवंतमनुव्रज्य व्रजंतं किंचिदंतरं । स श्रेयान्कुरुशार्दूलो न्यवृततिभृत पुनः ॥ १११ ॥ निर्व्यपेक्षं व्रजंतं तं भगवंतं वनांतरं । परावर्त्य मुखं किंचिदीक्षमाणावनुक्षणं ॥ ११२ ॥ तदुन्मुखीं दृशं चेतोवृत्तिं च तमनूत्थितां । यावत् दृग्गोचरस्तावन्निवर्तयितुमक्षमौ ॥ ११३ ॥ सकथां तद्गताभेव प्रस्तुवानौ मुहुर्मुहुः । स्तुवानौ तद्गुणान्भूयो मन्वानौ स्वकृतार्थतां ॥ ११४ ॥

केलिये आचार्य कहते हैं कि पुण्य और पापके बंध होने में केवल जीवोंके परिणाम ही कारण हैं अर्थात् पुण्य पाप केवल परिणामोंसे ही होता है बाह्य कारणोंसे नहीं। बाह्य कारण तो अरहंतदेवने केवल शुभ अशुभ परिणामोंके उत्पन्न होनेके कारण बतलाये हैं। चूंकि पुण्य उपार्जन करनेमें जीवोंके शुभ परिणाम ही मुख्य कारण हैं और अनुमोदना करनेवालोंके भी वैसे ही शुभ परिणाम होते हैं इसलिये उन्हें भी उसी दान-से पुण्यरुप फलकी प्राप्ति अवश्य होती है, ऐसा श्रीगणधरदेवने कहा है ॥ १०८-१०९ ॥ इसप्रकार महा बुद्धिमान् योगिराज भगवान वृषभदेवने आहार ग्रहण किया और जिन्हें एक प्रकारका कौतुक उत्पन्न हुआ है तथा जो बार २ नमस्कार कर रहे हैं ऐसे उन दोनों भाइयोंको संतुष्ट कर वनको प्रस्थान किया ॥ ११० ॥ कुरुवंशियोंमें सिंहके समान पराक्रमी वह राजा सोमप्रभ राजकुमार श्रेयांसके साथ २ थोडी दूरतक तो बनको गमन करते हुये भगवानके पीछे पीछे गया और फिर संतुष्ट होकर पीछे अपने घर लौट आया ॥ १११ ॥ भगवान निरपेक्ष होकर बनकी ओर जा रहे थे परंतु वे दोनों ही भाई उनकी ओर थोडासा अपना मुख फिराकर क्षण क्षणमें उन्हें देख रहे थे ॥ ११२ ॥ जबतक वे भगवान दिखाई देते रहे तबतक वे दोनों ही भाई भगवानकी ओर लगी हुई अपनी दृष्टिको और उन्हींके पीछे गई हुई अपनी चित्तकी वृत्तिको किसीतरह रोक नहीं सके थे ॥ ११३ ॥ वे दोनों ही भाई बार २ उन्हीं भगवानकी कथा कह रहे थे, बार बार उन्हींके गुणोंकी स्तुति कर रहे थे और अपनेको भी कृतार्थ मान

भगवत्पादसस्पर्शपूतां क्ष्मा व्यक्त लक्षणैः। तत्पदैरंकितां प्रीत्या विध्यायतौ कृतानती ॥ ११५ ॥ सुभ्राता कुरुनाथोऽयं कृतार्थः सुकृती कृती। यस्या यमीदृशो भ्राता जातो जातमहोऽद्य ॥ ११६ ॥ श्रेयानय बहुश्रेयान्प्रज्ञा यस्येयमीदृशी। पौरैरित्युन्मुखैरारात्कीर्त्यमानगुणोत्करौ ॥ ११७ ॥ सूर्योन्मेयानि रत्नानि महावीथीष्वितस्ततः। सचिन्वानानयथाकाममानंदतौ पृथग्जनान् ॥ ११८ ॥ उच्चावचसुरोन्मुक्तरत्नग्रावतनांतरं। क्रान्त्वा नृपांगणं

रहे थे ॥ ११४ ॥ जो पृथ्वी भगवानके चरणकमलोंके स्पर्श करनेसे पवित्र हो गई थी और जिसपर मत्स्य आदि अनेक लक्षणोंसे शुशोभित ऐसे भगवानके चरणकमलोंके चिन्ह बने हुये थे उस भूमिको नमस्कार करते हुये वे दोनों ही भाई बडे प्रेमसे उसे देख रहे थे ॥ ११५ ॥ उससमय नगरनिवासी लोग उन दोनों भाइयोंकी बडी प्रशंसा कर रहे थे और कह रहे थे कि यह कुरुवंशका स्वामी राजा सोमप्रभ बडा ही पुण्यवान है, बडा ही कुशल है, इसके सब मनोरथ पूर्ण हो गये हैं और इसका भाई भी बहुत ही अच्छा है। क्योंकि इसका भाई राजकुमार श्रेयांस इतना बडा पुण्य उपार्जन करनेवाला हुआ है, इसकी यह ऐसी उत्तम बुद्धि है और यह अनेक प्रकारके कल्याण करनेवाला है। इसप्रकार नगरनिवासी लोग सामने आकर उन दोनों भाइयोंके गुण वर्णन कर रहे थे ॥ ११६-११७ ॥ बडे २ राजमार्गोंमें इधर उधर जो सूर्यके समान दैदीप्यमान रत्न पडे हुये थे उन्हें जो साधारण लोग बीन २ कर इकट्ठा कर रहे थे उन्हें वे दोनों भाई बडे ही आनंदित करते थे ॥ ११८ ॥ देवोंने जो रत्नोंकी वर्षा की थी उन रत्नोंके पत्थरोंके समूहके समूह ऊंचे नीचे होकर सब जगह फैले हुये थे, उन्हें बडी कठिनतासे उल्लंघन कर और राजांगणमें पहुंचकर अनेक लोग उन दोनों भाइयोंकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ११९ ॥ उस दिन नगर भी बडी उत्तमतासे सजाया गया था और उस सजावटसे ऐसा जान पडताथा मानों उसकी आकृति ही बदल गई हो। इसके सिवाय उस नगरमें बडा भारी आनंद मनाया जा रहा था ऐसे उस नगरको देखते हुये उन दोनों ही कुरुवंशी राजकुमारोंने नगरमें प्रवेश किया ॥ १२० ॥

कृच्छ्राज्जनैराशासितौ मुहुः ॥ ११९ ॥ पुरं परार्घ्यशोभाभिर्गतमन्यामिवाकृतिं । प्राविक्षतां धृतानंदं प्रेक्ष्यमाणौ कुरुध्वजौ ॥१२०॥ तपोवनमभो भेजे भगवान्कृतपारणः । जगज्जनतया सम्यगभिष्टुतमहोदय. ॥ १२१ ॥ अहो ! श्रेय इति श्रेयस्तच्छ्रेयश्श्रेयभूत्तदा । श्रेयोयशोमयं विश्व सदान हि यशःप्रद ॥ १२२ ॥ तदादि तदुपज्ञ तद्दान जगति पप्रथे । ततो विस्मयमामेदुर्भरताद्या नरेश्वराः ॥ १२३ ॥ कथ भर्तुरभिप्रायो विदितोनेन मौनिनः । कल्यन्निति चित्तेन भरतेशो विसिस्मये ॥ १२४ ॥ सुराश्च विस्मयते स्म ते संभूय समागताः । प्रतीताः कुरुराजं त पूजयामासुरादरात् ॥ २९ ॥ ततो भरतराजेन श्रेयानप्रच्छि सादर । महादानपते ब्रूहि कथ ज्ञातमिद त्वया ॥ १२६ ॥ अदृष्टपूर्वं लोकेस्मिन्दान कोऽवैति वेदितुं । भगवानिव

अथानंतर—संसारके समस्त लोग उत्तम प्रकारसे जिनके ऐश्वर्यकी प्रशंसा करते हैं ऐसे श्रीभगवान वृषभदेव पारणा करके तपोवनको चले गये ॥ १२१ ॥ उसी समय संसारके लोक आश्चर्यके साथ कह रहे थे कि अहो यह कल्याण ? ऐसा कल्याण ? और इसप्रकारका कल्याण ? इसप्रकार समस्त संसार राजकुमार श्रेयांसके यशसे भरगया था, सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम दानसे यश होता ही है ॥१२ ॥ जिस दिन श्रेयांसने भगवानको आहार दान दिया था उसी दिनसे उस श्रेयांसने विधि पूर्वक दान देनेका उपदेश भी दिया और उसी दिनसे दान देना इस संसारमें प्रसिद्ध हुआ । भरत आदि बडे २ राजा महाराजाओंको वह दान देखकर बडा आश्चर्य हुआ था ॥ १२३ ॥ उससमय महाराज भरत अपने मनमें यही सोचते हुये आश्चर्य कर रहे थे कि इस राजकुमार श्रेयांसने मौन धारण करनेवाले भगवानका अभिप्राय कैसे जान लिया ॥ १२४ ॥ और तो क्या श्रेयांसके उस दानसे देवोंको भी बडा आश्चर्य हुआ था । जिनको श्रेयांसपर बडा भारी विश्वास उत्पन्न हुआ था ऐसे उन देवोंने आकर बडे आदरसे श्रेयांसकी पूजा की थी ॥ १२५ ॥ तदनंतर महाराज भरतने बडे आदरसे राजकुमार श्रेयांससे पूछा कि हे महादानपते (बडा भारी उत्तम दान देनेवाले) कहो तो सही तुमने भगवानका यह ऐसा अभिप्राय कैसे जान लिया ॥ १२६ ॥ इस ससारमें दानकी यह विधि कभी किसीने नहीं देखी तब फिर भला इसे कौन

पूज्योऽसि कुरुराज त्वमद्य नः ॥ १२७ ॥ त्वं दानातीर्थकृच्छ्रेयास्त्वं महापुण्यभागसि । ततस्त्वामिति पृच्छामि यत्सत्यं कथयाद्य मे ॥ १२८ ॥ इत्यसौ तेन संपृष्टः श्रेयान्प्रत्यब्रवीदिदं । दशनांशुकलापेन ज्योत्स्ना तन्वन्निवांतरे ॥ १२९ ॥ रुजाहरमिवासाद्य सामयः परमौषधं । पिपासितो वा स्वच्छाम्बुकलितं सोत्पलं सरः ॥ १३० ॥ दृष्ट्वा भागवतं रूपं परं प्रीतोऽस्म्यतो मम । जातिस्मरत्वमुदभूत्तेनाभुत्सि गुरोर्मतं ॥ १३१ ॥ अहं हि श्रीमती नाम वज्रजंघभवे विभोः । विदेहे पुंडरीकिण्यामभूव प्राणवल्लभा ॥ १३२ ॥ सम भगवताऽनेन बिभ्रता वज्रजंघतां । तदा चारणयुग्माय दत्तं दानमभून्मया ॥ १३३ ॥

जान सकता है। इसलिये हे कुरुवंशके स्वामी। आज तू हमारेलिये भगवान वृषभदेवके समान पूज्य है ॥१२७॥ हे राजकुमार श्रेयांस तू दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला है और सबसे बडा पुण्यवान है इसलिये ही मैं यह सब बात पूछता हूं इसमें जो जो सत्य हो वह सब आज मुझसे कहो ॥१२८॥ इसप्रकार महाराज भरतके पूछनेपर राजकुमार श्रेयांस अपने दांतोंकी किरणसमूहोंसे आकाशको चांदनीके समान प्रकाशित करता हुआ नीचे लिखे अनुसार कहने लगा ॥ १२९ ॥ कि जिसप्रकार कोई रोगी मनुष्य रोग दूर करनेवाली किसी उत्कृष्ट औषधिको पाकर प्रसन्न होता है अथवा कोई प्यासा मनुष्य स्वच्छ जलसे भरे हुये और कमलोंसे सुशोभित ऐसे किसी सरोवरको देखकर प्रसन्न होता है उसीप्रकार भगवान वृषभदेवका रूप देख कर मुझे भी बडी भारी प्रसन्नता हुई थी और चित्तकी प्रसन्नता होनेसे ही मुझे जातिस्मरण (पूर्व भवका स्मरण) होगया था उसी जातिस्मरणके होनेसे मैंने भगवानका अभिप्राय जान लिया था ॥१३०-१३१॥ हे राजन् ! पूर्वभवमें जब ये भगवान वज्रजंघकी पर्यायमें थे तब मैं विदेहक्षेत्रके पुंडरीकिणी नगरीमें श्रीमती नामकी इन्हींकी प्रिय स्त्री उत्पन्न हुई थी। उसी भवमें मैंने वज्रजंघकी पर्याय धारण करनेवाले इन्हीं भगवानके साथ २ दो चारण मुनियोंको दान दिया था ॥ १३२-१३३ ॥ अत्यंत विशुद्ध (काव्य अर्थमें व्याकरण और अलंकार सहित), दोष रहित और कीर्तिको उत्पन्न करनेवाला ऐसा बडा भारी दान देना और काव्य करना ये दोनों ही बडे पुण्यसे प्राप्त होते हैं ॥ १३४ ॥ हे भरताधिराज! दानकी विशुद्धताका

विशुद्धतरमुत्सृष्टकलंकं ख्यातिकारणं । महद्दान च काव्यं च पुण्याल्लभ्यमिदं द्वयं ॥ १३४ ॥ काचिद्दानस्य संशुद्धिं शृणु भो भरताधिप । अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानं त्रिशुद्धिक ॥ १३५ ॥ दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा । शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥ १३६ ॥ पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यतः । नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयं ॥ १३७ ॥ दाता श्रद्धादिभिर्युक्तो गुणैः पुण्यस्य साधनैः । देयमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पितं ॥ १३८ ॥ पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टो गुणवान्भवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैरिदमुपेयिवान् ॥ १३९ ॥ जघन्यं शीलवान्मिथ्या-

---

थोडासा वर्णन आप भी सुनिये। अपना और दूसरेका अनुग्रह (उपकार) करनेकेलिये मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक जो अपना धन दिया जाता है उसे दान कहते हैं ॥१३५॥ दान देनेवाले दाताकी विशुद्धता दान लेनेवाले पात्रको भी पवित्र करती है और जो दान दिया जाता है उस द्रव्यको भी पवित्र करती है। इसी तरह जो द्रव्य दिया जाता है यदि वह शुद्ध हो तो उससे दाता भी पवित्र होता है और लेनेवाला पात्र भी पवित्र होता है। इसीप्रकार यदि पात्र शुद्ध हो तो वह दाताको भी पवित्र करता है और दानमें जो पदार्थ दिया जाता है उसे भी पवित्र करता है। इसलिये जो दान नौ प्रकारकी विशुद्धि पूर्वक दिया जाता है वही अनेक उत्तम २ फल देनेवाला होता है ॥ १३६-१३७ ॥ पुण्य संपादन करनेके कारण ऐसे श्रद्धा भक्ति आदि ऊपर कहे हुये गुण जिसमें होते हैं वही दाता कहा जाता है और आहार औषध शास्त्र तथा अभय इसतरह चारप्रकारकी देनेयोग्य वस्तु कही जाती है, भावार्थ—इन चार प्रकारकी वस्तुओंमेंसे कोई भी एक या दो देना या चारों देना दान कहलाता है ॥ १३८ ॥ जिसमें रागादि दोषोंका स्पर्श भी न हो और सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुण हों उसे पात्र कहते हैं। वह पात्र संक्षेपसे जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारका है। हे राजन्! यह सब मैंने पूर्व भवके स्मरण होनेसे जाना है ॥ १३९ ॥ जो व्रत और शील आदि पालन करनेवाला मिथ्या दृष्टि है वह जघन्य पात्र कहलाता है और जो व्रत शील आदि की भावनाओंसे रहित है किंतु सम्यग्दृष्टि

दृष्टिश्च पुरुषो भवेत् । सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥ १४० ॥ सद्दृष्टि शीलसंपन्नं पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥ १४१ ॥ कुमानुषत्वमाप्नोति जंतुर्ददद‌पात्रके । अशोधितमिवालाबु तद्धि दान प्रदूषयेत् ॥१४२॥ आमपात्रे यथा क्षिप्तमिक्षुक्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्त तद्धि स्व तच्च नाशयेत् ॥ १४३ ॥ पात्रं तत्पात्रवत् ज्ञेयं विशुद्धगुणधारणात् । यानपात्रमिवाभीष्टे देशे संप्रापकं च यत् ॥ १४४ ॥ न हि लोहमयं यानपात्रमुत्तारयेत्परं । तथा कर्मभराक्रांतो दोषवान्नैव तारकः ॥१४५॥ ततः परमनिर्वाणसाधनं रूपमुद्वहन् । कायस्थि-

---

है वह मध्यम पात्र कहलाता है ॥ १४० ॥ इसीप्रकार जो व्रत शील आदि सहित सम्यग्दृष्टि है वह उत्तम पात्र कहलाता है और जो व्रत शील रहित मिथ्यादृष्टि है वह अपात्र कहलाता है ॥ १४१ ॥ अपात्रको दान देनेवाला दाता परभवमें कुमनुष्य योनिमें (कुभोगभूमिमें) जन्म लेता है। जिसप्रकार विना शुद्ध की हुई तूंबीमें दूध आदि डालनेसे कडवा हो जाता है उसीप्रकार अपात्रको देनेसे दिया हुआ दान भी दूषित हो जाता है ॥ १४२ ॥ जिसप्रकार मिट्टीके कच्चे वर्तनमें रक्खा हुआ दूध किंवा ईखका रस नष्ट हो जाता है उसीप्रकार अपात्रको दिया हुआ दान भी दिये हुये धनको नष्ट कर देता है और देनेवाले पात्रको भी नष्ट कर देता है ॥ १४३ ॥ पात्र अर्थात् दान लेनेवाला ठीक पात्र अर्थात् वर्तनके समान होना चाहिये। जिसप्रकार वर्तन अनेक गुण धारण करनेसे विशुद्ध गिनाजाता है उसीप्रकार पात्र भी अनेक गुण धारण करनेसे विशुद्ध होना चाहिये। जिसप्रकार अच्छी नाव अभीष्ट स्थानको पहुंचा देती है उसीप्रकार स्वर्ग मोक्ष आदि अभीष्ट स्थानको पहुंचानेवाला ही उत्तम पात्र होना चाहिये ॥ १४४ ॥ जिसप्रकार लोहेकी बनी हुई नाव समुद्रसे पार नहीं कर सकती उसीप्रकार जो कर्मोंके समूहोंसे और अनेक दोषोंसे भरा हुआ है ऐसा पात्र भी इस संसारसे पार नहीं कर सकता है ॥ १४५ ॥ इसलिये जो मुनिराज केवल मोक्ष सिद्ध करनेकेलिये दिगंबर अवस्था धारण करते हैं, ज्ञान चारित्र आदिकी सिद्धि होनेकेलिये शरीरकी स्थिति रहनी चाहिये यही समझकर अर्थात् केवल शरीरकी

त्यर्थमाहारमिच्छन् ज्ञानादिसिद्धये ॥ १४६ ॥ न वांछन्बलमायुर्वा स्वादं वा देहपोषण । केवलं प्राणधृत्यर्थं संतुष्टो ग्रासमात्रया ॥ १४७ ॥ पात्रं भवेद्गुणैरेभिर्मुनिः स्वपरतारकः । तस्मै दत्तं पुनात्यन्नमपुनर्जन्मकारणं ॥ १४८ ॥ ननूदाहरणं पुष्टमिदमेव महोदय । महत्वे दानपुण्यस्य पंचाश्चर्यं मयापि यत् ॥ १४९ ॥ ततो भरतराजर्षे दान देयमनुत्तरं । प्रसरिष्यंति पात्राणि भगवत्तीर्थसन्निधौ ॥ १५० ॥ तेभ्यः श्रेयानथाचख्यौ स्वभर्तृभवविस्तर । तत. सदस्यास्ते सर्वे सद्दानरुचयोऽभवन् ॥१५१॥ इति प्रह्लादिनीं वाचं तस्य पुण्यानुबंधिनीं । श्रु वान्भरताधीशः परा प्रीतिमवाप सः ॥१५२॥

स्थिति रखनेकेलिये जो आहार ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं, जो बल आयु वा स्वाद अथवा शरीरको पुष्ट करनेकी कभी इच्छा नहीं करते और जो केवल प्राण धारण करनेके लिये थोडेसे ग्रास लेकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, जो स्वयं इस संसार सागरसे पार होते हैं और अन्य लोगोंको पार करते हैं ऐसे ऊपर लिखे गुणोंसे सुशोभित मुनिराज ही पात्र गिने जाते हैं। ऐसे मुनिराजके लिये दिया हुआ आहारदान सबको पवित्र करता है ॥ ४६-४७-४८ ॥ तथा ऐसा ही दान साक्षात् मोक्षका कारण है देखो दानरूप पुण्यके महत्त्वको प्रगट करनेवाला सबसे बडा और ताजा उदाहरण यही है कि मेरे यहां दान देनेसे ही अतिशय पुण्य और उदयको सूचित करनेवाली पंचाश्चर्यकी वृष्टि हुई है ॥ १४९ ॥ इसलिये हे भरताधीश ! हम आप सबको सबसे उत्तम दान देना चाहिये। अब भगवान वृषभदेव तीर्थंकरके समयमें सब जगह पात्र फैल जायंगे ॥ १५० ॥ तदनंतर राजकुमार श्रेयांसने समीप बैठे हुये सभासदोंको अपने स्वामी भगवान वृषभदेवके पूर्व जन्मोंके सब चरित्र ज्योंके त्यों सुनाये। उसे सुनकर सब सभासदोंके चित्तमें उत्तम दान देनेकी श्रद्धा उत्पन्न हुई ॥ १५१ ॥ इसप्रकार महाराज भरतने आनंद उत्पन्न करनेवालीं और पुण्य बढानेवालीं श्रेयांसकी बातें सुनी और उन्हें उनसे बडी प्रसन्नता हुई ॥१५२॥ महाराज भरत सोम श्रेयांससे बडे प्रसन्न हुये, उन्होनें उन दोनों भाइयोंका खूब आदर सत्कार किया, उनसे बहुत बडा प्रेम प्रगट किया और भगवान वृषभदेवके गुण स्मरण करते हुये अपने घर जानेकेलिये गमन किया ॥ १५३ ॥

प्रीतः संपूज्य त भूयः परं सौहार्दमुद्वहन्। गुणैर्गुणाननुध्यायन्प्रययावात्स्वमालयम् ॥ १५३॥ भगवानथ संजातबलवीर्यो महाधृतिः। भेजे परं तपोयोगं योगविज्जैनकल्पितं ॥ १५४॥ मोहान्धतमसध्वंसकल्पा सन्मार्गदर्शिनी। दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोधदीपिका ॥ १५५॥ गुणान्गुणतस्तथा पश्यन्दोषान् दोषतयापि यः। हेयोपादेयवित्स स्यात्काज्ञस्य गतिरीदृशी ॥ १५६॥ ततस्तत्त्वपरिज्ञानात् गुणागुणविभागवित्। गुणेष्वासजते स्मासौ हित्वा दोषानशेषतः ॥ १५७॥ सावद्यविरतिं कृत्स्नामूरीकृत्य प्रबुद्धधीः। तद्भेदान्पालयामास व्रतसंज्ञाविशेषितान् ॥ १५८॥ दयाङ्गनापरिष्वङ्गः सत्ये नित्यानुरक्तता। अस्तेयव्रततात्पर्यं ब्रह्मचर्यैकतान-

अथानंतर—आहार ग्रहण करनेसे जिनको बल और वीर्यकी प्राप्ति हुई है जो बडे धीर वीर और योगशास्त्रको जाननेवाले हैं ऐसे वे भगवान वृषभदेव जिनेंद्रदेवके द्वारा उपदेश दिये हुये उत्कृष्ट तपश्चरणको धारण करने लगे ॥ १५४ ॥ इनके मनरूपी मंदिरमें मोहरूपी गाढ अंधकारको नष्ट करनेवाला, मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाला और अतिशय देदीप्यमान ऐसा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो रहा था ॥ १५५ ॥ जो पुरुष उत्तम क्षमा आदि गुणोंको ग्रहण करने योग्य गुण मानकर ही देखता है और राग द्वेष आदि दोषोंका दोष बुद्धिसे अर्थात् त्याग करने योग्य ही देखता है वही पुरुष हेय अर्थात् त्याग करने योग्य और उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य इन दोनोंका जाननेवाला गिना जाता है। अज्ञानी पुरुषकी ऐसी अवस्था भला कहां हो सकती है भावार्थ—ऐसी अवस्था भगवानकी ही थी ॥ १५६ ॥ वे भगवान तत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान होनेसे गुण और दोषोंको अलग २ जानते थे और इसलिये वे समस्त दोषोंको छोडकर केवल गुणोंमें ही आसक्त होते थे ॥ १५७ ॥ अतिशय बुद्धिमान् भगवान वृषभदेवने पापरूप योगोंका पूर्ण रीतिसे त्याग किया था और उस त्यागके भेद जोकि विशेष २ व्रत कहलाते हैं उन्हें भी वे भगवान पालन करते थे ॥ १५८ ॥ वे भगवान दयारूप स्त्रीको आलिंगन करते थे अर्थात् अहिंसा महाव्रत पालन करते थे, सत्य महाव्रत पालन करनेमें सदा तत्पर रहते थे, अचौर्य महाव्रत पालन करना ही अपना मुख्य प्रयोजन समझते थे और

ता॥१५२॥ परिग्रहेष्वनासंगो विकालाशनवर्जनं । व्रतान्यमूनि तत्सिध्यै भावयामास भावनाः ॥ १६० ॥ मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिरीर्याकायनियंत्रणे । विष्वाणसमितिश्चेति प्रथमव्रतभावनाः ॥ १६१ ॥ क्रोधलोभभयत्यागहास्यासंगविवर्जनं । सूत्रानुगा च वाणीति द्वितीयव्रतभावनाः ॥ १६२ ॥ मितोचिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा । संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः ॥ १६३ ॥ स्त्रीकथालोकसंसर्गप्राक्तस्मृतियोजनाः । वर्ज्या वृष्यरसेनामा चतुर्थव्रतभावना ॥ १६४ ॥ बाह्याभ्यंतरभेदेषु सचित्ताचित्तवस्तुषु । इंद्रियार्थेष्वनासंगो नैःसंग्यव्रतभावनाः ॥ १६५ ॥ धृतिमत्ता क्षमावत्ता ध्यान-

ब्रह्मचर्य पालन करनेमें ही सदा त[illegible]न रहते थे, वे अंतरंग और बाह्य परिग्रहमें कभी आसक्त नहीं होते थे और असमयमें अर्थात् रात्रिमें वा चर्याके समयको छोडकर अन्यसमयमें कभी आहार नहीं लेते थे। इसप्रकार वे भगवान इन व्रतोंको पालन करते थे और व्रतोंकी सुगमतासे सिद्धि होनेकेलिये प्रत्येक व्रतकी पांच २ भावनाओं का चिंतवन करते थे॥१५९-१६०॥ मनोगुप्ति (मनसे होनेवाले संकल्पविकल्पोंका त्याग करना) वचनगुप्ति (वचनसे होनेवाली क्रियाका त्याग करना) ईर्यासमिति अर्थात् आगेकी चार हाथ भूमिको देखकर चलना, काय नियंत्रण अर्थात् किसी भी पदार्थको देख कर तथा शोधकर उठाना वा रखना और विष्वाणसमिति अर्थात् शुद्ध देखकर दिनमें भोजन ग्रहण करना ये पांच अहिंसाव्रतकी भावना हैं ॥१६१॥ क्रोध लोभ भय और हास्यका त्याग करना और शास्त्रके अनुसार वचन कहना ये पांच दूसरे सत्यमहाव्रतकी भावना हैं ॥ १६२ ॥ तपश्चरणके योग्य और थोडा आहार ग्रहण करना, श्रावकके प्रार्थना करनेपर आहार लेना, शास्त्रमें लिखीहुई विधिके प्रतिकूल वा कोई विधिछोडकर आहार नहीं लेना और मिलेहुये भोजन पानमें संतोष रखना ये पांच तीसरे अचौर्यव्रतकी भावना हैं ॥ १६३ ॥ स्त्रियोंकी कथाका त्याग, उनके मनोहर अंग उपांग आदि देखनेका त्याग, उनके साथ रहनेका त्याग, पूर्वकालमें भोगीहुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग और पौष्टिक रसका त्याग इसप्रकार ये पांच चौथे ब्रह्मचर्यव्रतकी भावना हैं ॥ १६४ ॥ बाह्य और अभ्यंतर भेदसे सचित्त और अचित्तके भेदसे जो पांचों इंद्रियोंके अलग २ पांच विषय हैं उनमें आ-

योगैकतानता । परीषहैरभंगश्च व्रताना भावनोत्तराः ॥ १६६ ॥ भावनासंस्कृतान्येवं व्रतान्ययमपालयत् । क्षालने स्वागसां सर्वप्रजानामनुपालकः ॥ १६७ ॥ समातृकापदान्येव सहोत्तरपदानि च । व्रतानि भावनीयानि मनीषिभिरतंद्रितं ॥ १६८ ॥ यानि कान्यपि शल्यानि गर्हितानि जिनागमे । व्युत्सृज्य तानि सर्वाणि निःशल्यो विहरेन्मुनिः ॥ १६९ ॥ इति स्थविरकल्पोऽयं जिनकल्पेऽपि योजितः । यथागममिहोपेत्य जिनकल्पोऽनुगम्यतां ॥ १७० ॥ अप्रतिक्रमणे धर्मे जिनाः सामायिकाह्वये । चरंत्येकयमे प्रायश्चतुर्ज्ञानविलोचनाः ॥ १७१ ॥ छेदोपस्थापनाभेदप्रपंचोऽन्योऽन्ययोगिनां ।

सक्त नहीं होना पांचवें परिग्रह त्यागकी भावना हैं ॥ १६५ ॥ इसीप्रकार पांचो व्रतोंकी ये पच्चीस भावना हैं तथा धैर्य धारण करना, क्षमा धारण करना, ध्यान धारण करनेमें एकाग्रचित्त रहना और परिषहों के आनेपर च्युत नहीं होना ये चार सब व्रतोंकी रक्षा करनेवाली उत्तर भावना हैं ॥ १६६ ॥ समस्त प्रजाका पालन करनेवाले भगवान वृषभदेव अपने पापोंके नष्ट करनेकेलिये ऊपर लिखी हुई भावनाओं से शुद्ध ऐसे समस्त व्रतोंका पालन करते थे ॥ १६७ ॥ इस प्रकार अर्थात् जिसप्रकार भगवान वृषभदेवने व्रतोंका पालन कियाथा उसीप्रकार बुद्धिमान लोगोंको भी प्रमाद छोडकर तीन गुप्ति, पांच समिती और चौरासीलाख उत्तर गुणोंके साथ २ अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंका पालन करना चाहिये ॥१६८॥ इसीप्रकार जैनशास्त्रोंमें जो कुछ अतिशय निंद्य ऐसी माया मिथ्या और निदान ये शल्य कहीं हैं उन सबको छोडकर और सर्वथा निःशल्य होकर मुनियोंको विहार करना चाहिये ॥ १६९ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये सब व्रतोंको पालन करना स्थविरकल्प कहा जाता है, यह स्थविरकल्प जिनकल्पमें भी लगा लेना चाहिये। तथा जिनकल्पका स्वरूप स्थविरकल्पके साथ २ और विशेष शास्त्रके अनुसार जान लेना चाहिये। भावार्थ–जो संघमें रहे शिष्योंको उपदेश दे और शास्त्रोंका व्याख्यान आदि करे उसे स्थविरकल्पी कहते हैं और जो अकेला रहे, किसीको शिष्य भी न बनावे, उपदेश भी न दे, केवल आत्मध्यानमें लीन रहे उसे जिनकल्पी कहते हैं ॥१७०॥ इनमेंसे चार ज्ञानको धारण करनेवाले तीर्थंकर परम देव प्रतिक्रमण रहित तथा जिसमें केवल एक

दर्शितस्तैर्यथाकाल बलायुर्ज्ञानवीक्षया ॥ १७२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यविशेषितं । चारित्रं संयमत्राणं पंचधोक्तं जिनाधिपैः ॥ १७३ ॥ ततः स्यमसिद्ध्यर्थं स तपो द्वादशात्मकं । ज्ञानधैर्यबलोपेतश्चचार परमः पुमान् ॥ १७४ ॥ तपोऽनशनमत्युग्रं तेपे दीप्ततपा मुनिः । अवमोदर्यमप्येकसिक्थादीन्याचरन्नपः ॥ १७५ ॥ कदाचिद्वृत्तिसंख्यानं तपोऽतप्त स दुर्द्धरं । वीथीचर्यादयो यस्य विशेषा बहुभेदकाः ॥ १७६ ॥ रसत्याग तपोघोरं तेपे नित्यमतंद्रितः । क्षीरसर्पिर्गुडादीनि परित्यज्याग्रिमः पुमान् ॥ १७७ ॥ त्रिषु कालेषु योगी स्वमसौ कायमचिक्लिशत् । कायस्य निग्रहं प्राहुस्तपः

आत्मध्यानकी ही मुख्यता है ऐसे सामायिक नामके चारित्रमें ही रहते हैं। भावार्थ—जिनेंद्रदेवके किसीप्रकारका दोष नहीं लगता इसलिये उनके प्रतिक्रमण छेदोपस्थापना आदि नहीं होता, वे केवल सामयिक चारित्र ही धारण करते हैं। इसे ही जिनकल्प कहते हैं ॥ १७१ ॥ उन्हीं जिनेंद्रदेवने बल आयु और ज्ञानकी हीनाधिकता देखकर अन्य साधारण मुनियोंकेलिये यथायोग्य कालके अनुसार छेदोपस्थापनाके अन्य अनेक भेद दिखलाये हैं ॥ १७२ ॥ इसीप्रकार ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तप आचार और वीर्याचार इनकी विशेषतासे संयमकी रक्षा करनेवाला चारित्र भी जिनेंद्रदेवने पांचप्रकारका कहा है ॥ १७३ ॥ तदनंनर ज्ञान धैर्य और बलको धारण करनेवाले परमोत्कृष्ट भगवान वृषभदेव संयमकी सिद्धि होनेकेलिये बारह प्रकारका तपश्चरण करते थे ॥ १७४ ॥ उग्र तपश्चरणको धारण करनेवाले वे वृषभदेव मुनि अत्यंत कठिन ऐसा अनशन (उपवास करना) तपश्चरण करने लगे थे और एक ग्रास ग्रहण करना आदि नियम करते हुये अवमोदर्य (कम भोजन करना) तप करते थे ॥ १७५ ॥ वे भगवान कभी अत्यंत दुर्द्धर (कठिन) ऐसा वृत्तिपरिसंख्यान नामका तपश्चरण करते थे। इस वृत्तिपरिसंख्यानके वीथीचर्या अर्थात् इस गलीमें भोजन मिलेगा तो लूंगा नहीं तो नहीं; अथवा ऐसा ऐसा संयोग मिलेगा तो भोजन लूंगा नहीं तो नहीं इत्यादि प्रकारसे अनेक भेद होते हैं ॥ १७६ ॥ इसके सिवाय वे भगवान वृषभदेव आलस्य छोडकर दूध घी गुड आदि समस्त रसोंका त्यागकर नित्य ही रस परित्याग नामका

परमदुश्चरं ॥ १७८ ॥ निग्रहीतशरीरेण निगृहीतान्यसंशयं । चक्षुरादीनि रुद्धेषु तेषु रुद्ध मनो भवेत् ॥ १७९॥ मनोरोधः पर ध्यानं तत्कर्मक्षयसाधनं । ततोऽनंतसुखावाप्तिस्ततः कायं प्रकर्शयेत् ॥ १८० ॥ गर्भात्प्रभृत्यसौ देवो ज्ञानत्रितयमुद्वहन् । दीक्षानतरमेवाप्तमन·पर्ययबोधनः ॥ १८१ ॥ तथाप्युग्र तपोऽतप्त सिद्धत्वे ध्रुवभाविनि । सज्ज्ञानलोचनो धीरः सहस्र वार्षिकं परं ॥ १८२ ॥ तेनाभीष्टं मुनींद्राणा कायक्लेशाह्वय तप । तपोऽगेषु

घोर तपश्चरण करते थे ॥ १७७ ॥ वे योगिराज भगवान वर्षाऋतु शीतऋतु और उष्णऋतु इसप्रकार तीनों कालोंमें शरीरको क्लेश देकर कृश करते थे। वास्तवमें शरीरका निग्रह करना अर्थात् कायक्लेश करना सबसे बडा कठिन तपश्चरण है ॥ १७८ ॥ क्योंकि शरीरको निग्रह करनेसे चक्षु आदि सब इंद्रियोंका निग्रह हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है और इंद्रियोंके निग्रह होनेसे मनका निग्रह अपने आप हो जाता है, मनका निग्रह अर्थात् मनके समस्त संकल्प विकल्प छूटकर केवल शुद्ध आत्माका या अन्य किसी पदार्थका चिंतवन करना ही ध्यान है तथा यही ध्यान समस्त कर्मोंके क्षय होनेका कारण है और समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेसे मोक्षरूप अनंत सुखकी प्राप्ति होती है, इसलिये मोक्षरूप अनंत सुख प्राप्त होनेके लिये अवश्य ही शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १७९-१८० ॥ ये श्रीवृषभदेव भगवान मति ज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको तो जबसे गर्भमें आये थे तबसे ही धारण करते थे तथा दीक्षा धारण करनेके अनंतरही इन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हुआ था, इसप्रकार इन्हें चारों ज्ञानोंकी प्राप्ति होगई थी तथापि सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले और अत्यंत धीरवीर भगवान वृषभदेवने सदा नित्य रहनेवाली ऐसी सिद्धपर्यायकी प्राप्ति होनेकेलिये एक हजार वर्षतक अत्यंत उत्कृष्ट और उग्र तपश्चरण किया था ॥१८१-१८२ ॥ इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि मुनियोंको कायक्लेश नामका तपश्चरण अवश्य करना चाहिये। जिसप्रकार प्राणियोंके शरीरमें मस्तक प्रधान होता है उसीप्रकार बाह्य समस्त तपश्चरणोंमें कायक्लेश नामका तपश्चरण ही प्रधान है ॥ १८३ ॥ उससमय समस्त परीषहोंको सहन करनेवाले ऐसे

प्रधानागमुत्तमांगमिवागिनां ॥ १८३ ॥ तत्तदातत योगींद्रः सोढाशेषपरीषहः । तपः सुदु:सहतरं परं निर्वाणसाधनं ॥ १८४ ॥ कर्मेधनानि निर्दग्धुमुद्यतः स तपोऽग्निना । दिदीपे नितरां धीरः प्रज्वलन्निव पावकः ॥ १८५ ॥ असंख्यातगुणश्रेण्या धुन्वन्कर्मतमोघनं । तपोदीप्त्याऽतिदीप्तागः सोंऽशुमानिव दिद्युते ॥ १८६ ॥ शय्यास्य विजने देशे जागरूकस्य योगिनः । कदाचिदासनं चासीन्छुचौ निर्जंतुकातरे ॥ १८७ ॥ न शिश्ये जागरूकोऽसौ नासीनश्चाभवत् भृशं । प्रयतो विजहारोर्वी त्यक्तभुक्तिर्जितेंद्रियः ॥ १८८ ॥ इति बाह्यं तपः षोढा चरन्परमदुश्चरं । अभ्यंतरं च षड्भेदं तपो भेजे स योगिराट् ॥ १८९ ॥ प्रायश्चित्तं तपस्तस्मिन्मुनौ निरतिचारके । चरितार्थमभूत्किं नु भानोरस्त्यंतरं तमः ॥ १९० ॥ प्रश्रयश्च

योगिराज भगवान वृषभदेव मोक्षका अति उत्तम साधन और अत्यंत कठिन ऐसा कायक्लेश नामका तपश्चरण करते थे ॥ १८४ ॥ उस समय तपश्चरणरूपी अग्निसे कर्मरूपी ईंधनको जलानेकेलिये सर्वथा तैयार हुये ऐसे धीरवीर भगवान वृषभदेव जलती हुई अग्निके समान अत्यंत दैदीप्यमान हो रहे थे ॥१८५॥ उससमय वे प्रतिसमय असंख्यात गुणित कर्मोंकी निर्जरा कर रहे थे और उस असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरासे कर्मरूपी गाढ अधंकारको नाश कर रहे थे, उनका शरीर तपश्चरणकी कांतिसे अत्यंत तेजरूप हो रहा था और इसलिये ही वे भगवान ठीक सूर्यके समान दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ १८६ ॥ यद्यपि ये योगिराज सदा जागृत रहते थे तथापि इनकी शय्या निर्जन एकांतस्थानमें रहती थी और पवित्र निर्जीव ऐसे एकांतस्थानमें कभी २ ये आसन लगाकर भी बैठते थे ॥ १८७ ॥ सदा जागृत रहनेवाले और समस्त इंद्रियोंको वश करनेवाले ये भगवान न तो कभी सोते थे और न एक स्थानपर ही बहुत बैठते थे किंतु भोगोपभोगोंका त्यागकर प्रयत्न पूर्वक समस्त पृथ्वीपर विहार करते थे ॥ १८८ ॥ इसप्रकार वे योगिराज अत्यंत कठिन ऐसा छह प्रकारका बाह्य तपश्चरण पालन करते थे और आगे कहा हुआ छह प्रकारका आभ्यंतर तपश्चरण भी पालन करते थे ॥ १८९ ॥ किसी दोषके लग जानेपर उसकी शुद्धता करना प्रायश्चित्त कहलाता है, उन भगवानके कभी कोई दोष लगता ही नहीं था अर्थात् उन-

तदाऽस्यासीत्प्रसृतोऽतर्निलीनता । विनेता विनयं कस्य स कुर्यादग्रिमः पुमान् ॥ १९१ ॥ अथवा प्रश्रयी सिद्धानसौ भेजे सिषित्सया । नमः सिद्धेभ्य इत्येव यतो दीक्षामुपायत ॥ १९२ ॥ ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यगुणेषु च । यथार्हं विनयोऽस्यासीद्यतमानस्य तत्त्वत ॥ १९३ ॥ वैयावृत्त्यं च तस्यासीन्मार्गव्यावृतिमात्रकं । भगवान्परमेष्ठी हि क्वान्यत्र व्यावृतो भवेत् ॥ १९४ ॥ इदमत्र तु तात्पर्यं प्रायश्चित्तादिके त्रये । तपस्यस्मिन्नियतृत्व न नियम्यत्वमीशितु. ॥ १९५ ॥ यावान्धर्ममयः सर्गस्तं कृच्छ्रं स सनातनः युगादौ प्रथयामास सानुष्ठानैर्निदर्शनैः ॥ १९६ ॥ स्वाधीति-

---

का चारित्र सदा निर्दोष शुद्ध रहता था इसलिये उनके शुद्ध चारित्रमें प्रायश्चित्त भी अंतर्भूत था, क्योंकि सूर्यके वीचमें भी क्या कभी अंधकार रह सकता है? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ—जब चारित्रकी विशुद्धि ही प्रायश्चित्त है तो वह भगवानके विशुद्ध चारित्रमें ही अंतर्भूत थी ॥ १९० ॥ इसीप्रकार अपने आत्मामें तल्लीन हुये भगवानके विनय नामका तपश्चरण भी उनकी आत्मामें ही अंतर्भूत था क्योंकि वे सर्व श्रेष्ठ भगवान सबको नम्रीभूत करनेवाले थे फिर भला वे किसकी विनय करते ॥ १९१ ॥ अथवा उन भगवानने सिद्ध होनेकी इच्छासे अतिशय नम्र होकर सिद्ध भगवानकी सेवा की थी। क्योंकि "नमः सिद्धेभ्यः" अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो ऐसा कहकर ही उन्होंने दीक्षा धारण की थी, इस प्रकार भी उनके विनय नामका तपश्चरण था ॥ १९२ ॥ अथवा प्रयत्न पूर्वक आचरण करनेवाले भगवान ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य आदि गुणोंमें यथार्थ रीतिसे यथायोग्य विनय करते थे ॥ १९३ ॥ वे भगवान केवल रत्नत्रयमें ही अपना व्यापार करते थे और यही अर्थात् रत्नत्रयमें व्यापार करना ही उनका वैयावृत्य तपश्चरण था, सो ठीक ही है क्योंकि वे परमेष्ठी भगवान रत्नत्रयको छोडकर अन्य किसका वैयावृत्य कर सकते हैं ॥ १९४ ॥ यहां यह सब कहनेका अभिप्राय यह है कि भगवान वृषभदेव प्रायश्चित्त विनय और वैयावृत्य इन तीनों तपश्चरणोंके उपदेश देनेवाले थे वे किसीके शिष्य बनकर उपदेश ग्रहण नहीं करते थे। भावार्थ—वे ऊपर लिखेहुये तीनों व्रतोंके स्वामी थे ॥ १९५ ॥ संसारमें जो

नोऽपि तस्यासीत्स्वाध्यायः शुद्धये धियः । सौवाध्यायिकता प्राप्यन्ततोऽद्यत्वेऽपि सँयताः ॥ १९७ ॥ सबाह्याभ्यतरे चास्मिंस्तपसि द्वादशात्मके । न भाविष्यति नैवास्ति स्वाध्यायेन सम तपः ॥ १९८ ॥ स्वाध्यायेऽभिरतो भिक्षुर्निभृतः सवृतेंद्रियः । भवेदेकाग्रधीर्धीमान्विनयेन समाहितः ॥ १९९ ॥ विविक्तेषु वनाताद्रिकुंजप्रेतवनादिषु । मुहुर्व्युत्सृष्टकायस्य व्युत्सर्गाख्यमभूत्तपः ॥ २०० ॥ देहाद्विविक्तमात्मानं पश्यन्गुप्तित्रयीं श्रितः । व्युत्सर्गं स

कुछ धर्मरूप सृष्टि थी वह सब भगवान वृषभदेवने उदाहरणरूप स्वयं धारण करके इस कर्मभूमिकी आदिमें प्रसिद्ध की थी अर्थात् जप तप आदि समस्त धर्म स्वयं धारणकर लोगोंको उपदेश दिया था ॥ १९६ ॥ यद्यपि भगवान द्वादशांगके जाननेवाले थे तथापि वे अपनी बुद्धि शुद्ध रखनेकेलिये नित्य स्वाध्याय करते थे। क्योंकि उन्हीं भगवानका स्वाध्याय देखकर आज पंचमकालमें भी मुनिलोग स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहते हैं ॥ १९७ ॥ वाह्य और आभ्यंतरके भेदसे जो यह बारह प्रकारका तपश्चरण है उसमें स्वाध्याय तपश्चरणके समान न तो अन्य कोई तपश्चरण आजतक हुआ है न है और न आगे होगा ॥ १९८ ॥ क्योंकि समस्त इंद्रियोंको वश करनेवाला बुद्धिमान मुनि जब स्वाध्यायमें तल्लीन होता है तब वह समस्त संकल्प विकल्प छोडकर निश्चल हो जाता है और निश्चल होनेसे विनय सहित वह मुनि किसी एक ही मुख्य वस्तुका चिंतवन करता हुआ उत्कृष्ट ध्यानका धारण करनेवाला गिना जाता है ॥ १९९ ॥ स्वाध्यायके समान ही वनके मध्यभागमें, किसी पर्वतपर, किसी कुंजलतामें अथवा स्मशान भूमि आदि एकांत स्थानमें बार २ शरीरको निश्चल स्थापन करनेवाले भगवान वृषभदेव व्युत्सर्ग नामका पांचवां तपश्चरण पालन करते थे ॥ २०० ॥ वे भगवान अपने शरीरसे भी ममत्व नहीं रखते थे, अपने आत्माको शरीरसे सदा भिन्न देखते थे और मन वचन कायकी तीनों गुप्तियोंको सदा पालन करते थे इसप्रकार वे व्युत्सर्ग नामके तपश्चरणको पूर्ण रीतिसे पालन करते थे ॥ २०१ ॥ तदनंतर भगवान वृषभदेवने व्युत्सर्ग तपश्चरण पूर्वक ध्यानयोग नामका छट्ठा

तपो भेजे स्वस्मिन्कालेऽपि निःस्पृहः ॥ २०१ ॥ ततो व्युत्सर्गपूर्वोऽस्य ध्यानयोगोऽभवद्विभोः, मुनिर्व्युत्सृष्टकायो हि स्वामी सध्यानसंपदः ॥२०२॥ ध्यानाभ्यासं तपः कुर्वन्योगी सुनिवृतोऽभवत् । शेषः परिकरः सर्वो ध्यानमेवोत्तम तपः ॥ २०३ ॥ मनोऽक्षग्रामकायाना तपनात्सन्निरोधनात् । तपो निरुच्यते तज्ज्ञैस्तदिद द्वादशात्मक ॥ २०४ ॥ विपुलां निर्जरामिच्छन्महोदर्कं च सवर । यतते स्म तपस्यस्मिन्द्विषड्भेदे विदावरः ॥ २०५ ॥ त्रिगुप्तिसमितिं धर्म्मं सानुप्रेक्षं क्षमादिक । परीषहान्जयन्सम्यक्चारित्रं चाचरच्चिर ॥ २०६ ॥ ततो दिध्यासुनाऽनेन योग्या देशाः सिषेविरे । विविक्ता

तपश्चरण पालन किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो मुनि शरीरसे ममत्व छोड देता है वही उत्तम ध्यान रूपी संपदाका स्वामी होता है ॥ २०२ ॥ तदनंतर वे योगिराज ध्यानका अभ्यास करते हुये ही कृतकार्य हुये थे, सो ठीक ही है क्योंकि शेष ग्यारह प्रकारका तपश्चरण तो ध्यानका साधन है, सबमें उत्तम तप तो ध्यान ही है ॥ २०३ ॥ मन, इंद्रियोंका समूह और शरीर इनके तपायमान करने अर्थात् इनका निग्रह करनेसे तप होता है ऐसा तपश्चरणके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं और वह तपश्चरण ऊपर कहे हुये प्रकारसे बारह प्रकारका है ॥ २०४ ॥ अतिशय ज्ञानवान् ऐसे वे बडी भारी निर्जराकी इच्छा करते हुये तथा अति उत्तम फल देनेवाले संवरकी इच्छा करते हुये ऊपर कहे हुये बारह प्रकारके तपश्चरण करनेमें सदा प्रयत्न करते रहते थे ॥ २०५ ॥ वे भगवान तीन गुप्ति, पांच समिति उत्तम क्षमा आदि दशप्रकारका धर्म और बारह आनुप्रेक्षाओंका पालन करते हुये तथा बाईस परीषहोंको जीतते हुये चिरकालतक सम्यक्चारित्रको पालन करते रहे थे ॥ २०६ ॥ तदनंतर ध्यान धारण करनेकी इच्छा करनेवाले भगवानने ध्यान करनेके योग्य जो जो स्थान थे जोकि एकांत और मनोहर थे तथा जिनमें राग द्वेष उत्पन्न करनेवाली कोई सामग्री नहीं थी ऐसे २ स्थानोंमें निवास किया ॥ २०७ ॥ भगवानने गुफा, नदीके किनारे, पर्वतकी शिखर, जीर्णउद्यान और वन आदि ऐसे २ स्थानोंमें ध्यान लगाया जहां कि न तो बहुत गर्मी थी और न बहुत सर्दी थी। । जहां गरमी सर्दी प्रायः सदा समान रहती थी। इसीप्रकार

रमणीया ये वियुक्ता रागकारणैः ॥ २०७ ॥ गुहापुलिनगिर्यग्रजीर्णोद्यानवनादयः । नात्युष्णशीतसंपाता देशाः साधारणाश्च ये ॥२०८॥ कालश्च नातिशीतोष्णभूयिष्ठो जनितासुखः । भावश्च ज्ञानवैराग्यधृतिक्षात्यादिलक्षणः ॥ २०९ ॥ द्रव्याण्यप्यनुकूलानि यानि संक्लेशहानये । प्रभविष्णूनि तानीशः सिषेवे ध्यानसिद्धये ॥ २१० ॥ कदाचिद्गिरिकुंजेषु कदाचिद्गिरिकंदरे । कदाचिच्चाद्रिशृंगेषु दध्यावध्यात्मतत्त्ववित् ॥ २११ ॥ कर्हिचिद्बर्हिणारावरम्योपातेषु हारिषु । गिर्यग्रेषु शिलापट्टानध्यास्ताध्यात्मशुद्धये ॥ २१२ ॥ अगोष्पदेष्वरण्येषु कदाचिदनुपप्लुते । निर्जंतुके विविक्ते च स्थाडिलेऽस्थात्समाधये ॥ २१३ ॥ कदाचित्प्रातपर्यस्तानिर्झरैस्ततशीकरैः । कृतशैत्ये नगोत्संगे सोऽगाद्योगैकतानताम् ॥ २१४ ॥ नक्तं नक्तंचरैर्भीमैः स्वैरमारब्धतांडवे । विभुः

जिसमें बहुत गर्मी और बहुत सर्दी पडे तथा प्राणियोंको दुःखदायी हो वह काल भी ध्यानके योग्य नहीं, इन सब उपद्रवोंसे रहित समय ही ध्यानके योग्य है। ज्ञान वैराग्य धीरता और क्षमा आदि उत्तम २ भाव ध्यानके योग्य हैं, और जो क्षुधा आदिसे उत्पन्न होनेवाले संक्लेश परिणामोंको दूर करनेमें समर्थ हो तथा ध्यानके सर्वथा अनुकूलहो ऐसे आहार आदि द्रव्य भी ध्यानके योग्य हैं। भगवान वृषभदेव ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये ऊपर कहे हुये द्रव्य क्षेत्र काल भावको ही सेवन करते थे ॥ २०८-२०९-२१० ॥ अध्यात्म तत्त्वको जाननेवाले वे भगवान कभी तो पर्वतकी लताओंमें, कभी पर्वतकी गुफाओंमें और कभी पर्वतकी शिखरोंपर ध्यान लगाते थे ॥ २११ ॥ अध्यात्मकी शुद्धि होनेकेलिये कभी तो वे ऐसे २ मनोहर पर्वतोंकी तराईमें शिलातलपर ध्यान लगाते थे कि जिनके समीपभाग मयूरोंके शब्दोंसे बडे ही मनोहर हो रहे थे ॥ २१२ ॥ तथा कभी २ समाधि लगानेकेलिये वे भगवान जहां गौओंके खुरोंतकका चिन्ह नहीं था अर्थात् जो अत्यंत अगम्य थे ऐसे बनोंमें उपद्रव रहित जीव जंतुओंसे रहित और सर्वथा एकांत ऐसी पत्थरोंसे ऊंची नीची विषय भूमिपर विराजमान होते थे ॥ २१३ ॥ कभी २ जिनके किनारेपर अनेक पानीकी छींटें उडाते हुये बहुतसे निर्झरने बह रहे हैं और उन निर्झरनोंसे जहां बहुत सर्दी पड रही है ऐसे पर्वतके ऊपरी भागपर विराजमान होकर ध्यानमें तल्लीन होते थे ॥ २१४ ॥ कभी २

पितृवनोपति ध्यायन्सोऽस्थात्कदाचन ॥ २१५ ॥ कदाचिन्निम्नगातीरे शुचिसैकतचारुणि । कदाचित्त्वसरस्तीरे वनोद्देशेषु हारिषु ॥ २१६ ॥ मनोव्याक्षेपहीनेषु देशेष्वन्येषु च क्षमी । ध्यानाभ्यासमसौ कुर्वन्विजहार महीमिमां ॥ २१७ ॥ मौनी ध्यानी स निर्मानो देशान्प्रविहरन् शनैः । पुरं पुरिमतालाख्य सुधीरन्येद्युरासदत् ॥ २१८ ॥ नात्यासन्नविदूरेऽस्मादुद्याने शकटाह्वये । शुचौ निराकुले रम्ये विविक्तेऽस्थाद्विजंतुके ॥ २१९ ॥ न्यग्रोधपादपस्याधः शिलापट्टं शुचिं पृथु । सोऽध्यासीनः समाधानमधाद् ध्यानाय शुद्धधीः ॥ २२० ॥ तत्र पूर्वमुखं स्थित्वा कृतपर्यंकबंधनः । ध्याने प्रणिदधौ चित्त लेश्याशुद्धिं परां दधत् ॥ २२१ ॥ चेतसा सोऽपि संधाय परं पदमनुत्तरं । दध्यौ सिद्धगुणानष्टौ प्रागेव सुविशुद्धधीः ॥ २२२ ॥ सम्य-

---

जिसमें भयानक पिशाच अपनी इच्छानुसार नृत्य कर रहे हैं ऐसी स्मशान भूमिमें रात्रिके समय ध्यान धारण करते हुये वे भगवान विराजमान होते थे ॥ २१५ ॥ कभी पवित्र वालूसे सुशोभित ऐसे नदीके किनारेपर, कभी सरोवरके किनारे और कभी मनोहर बनोंमें तथा जिनमें मनकी व्याकुलता न हो ऐसे अन्य कितने ही देशोंमें ध्यानका अभ्यास करते हुये तथा उत्तम क्षमाको धारण करते हुये उन भगवानने इस समस्त पृथ्वीपर विहार किया था ॥२१६-२१७॥ मौन धारण करनेवाले, ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले, अहंकार आदि दोषोंसे रहित और अतिशय बुद्धिमान ऐसे भगवान वृषभदेव धीरे २ अनेक देशोंमें विहार करते हुये किसी एकदिन पुरिमताल नामके नगरके समीप जा पहुंचे ॥ २१८ ॥ इसी नगरके समीप एक शकट नामका उद्यान है जोकि नगरसे न तो बहुत दूर है और न बहुत समीप है, उसी उद्यानके एक पवित्र निराकुल, एकांत और निर्जीव स्थानमें वे भगवान विराजमान हुये ॥ २१९ ॥ अत्यंत शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले उन भगवानने ध्यानकी सिद्धिके लिये उस उद्यानमें वटवृक्षके नीचे एक लंबी चौडी पवित्र शिलापर विराजमान होकर एकाग्रता धारण की ॥ २२० ॥ वहांपर वे भगवान पूर्व दिशाकी ओर मुखकर पर्यंक आसनसे विराजमान हुये थे और लेश्याओंकी परम विशुद्धि धारण करते हुये उन्होंने ध्यानमें ही अपना चित्त लगाया था ॥ २२१ ॥ प्रथम ही भगवानने जिससे बढकर अन्य कोई

क्त्व दर्शनं ज्ञानमनंतं वीर्यमद्भुतं । सौक्ष्म्यावगाहाव्यावाधाः सहागुरुलघुकाः ॥ २२३ ॥ प्रोक्ताः सिद्धगुणा ह्यष्टौ ध्येया निजिमर्भाप्मुना । द्रव्य-तः क्षेत्रतः कालाद्भावतश्च तथापरे ॥ २२४॥ गुणैर्द्वादशभिर्युक्तो मुक्तः सूक्ष्मो निरंजनः । न ध्येयो योगिभिर्व्यक्तो नित्यः शुद्धो मुमुक्षुभि ॥२२५॥ ततो दध्यावनुप्रेक्षा दिध्यासुर्धर्ममुत्तम । पारिकर्यमितास्तस्य शुभा द्वादशभावना. ॥ २२६ ॥ तासां नामस्वरूपं न पूर्वमेवानुवर्णितं । । ततो धर्म्यमसौ ध्यान प्रपेदे धीद्धशुद्धिक. ॥ २२७ ॥ आज्ञाविचयमाद्य तदपायविचयं तथा । विपाकविचयं चान्यत्संस्थानविचयं पर ॥ २२८ ॥ स्वनाम-

---

उत्तम स्थान नहीं है ऐसे सर्वश्रेष्ठ मोक्षस्थानमें अपना चित्त लगाया और अत्यंत विशुद्ध परिणाम होने से सिद्धोंके आठ गुण धारण किये । भावार्थ—अन्य जीव सिद्ध होनेपर सिद्धोंके आठ गुण धारण करते हैं किंतु भगवानने पहिले ही सिद्धोंके गुण अपने चित्तमें धारण किये थे, क्योंकि भगवानके परिणाम बहुत ही विशुद्ध थे ॥ २२२ ॥ अनंतसम्यक्त्व, अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अद्भुतवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन अव्यावाध और अगुरुलघु ये आठ सिद्धोंके गुण कहलाते हैं, सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेकी इच्छा करने-वालोंको इन गुणोंका ध्यान करना चाहिये । तथा इसीप्रकार द्रव्य अर्थात् शुद्ध चैतन्यद्रव्य, क्षेत्र अ-र्थात् शुद्ध आत्माके असंख्यात प्रदेश, काल अर्थात् त्रिकालवर्ती ज्ञान और भाव अर्थात् पारिणामिक-भाव इन चार साधारण गुणोंका भी चिंतवन करना चाहिये ॥ २२३-२२४ ॥ ऊपर कहे हुये बारह गुण जिसमें विद्यमान हैं, जो समस्त कर्मोंसे रहित है, सूक्ष्म है, निरंजन है, नित्य है, शुद्ध है, तथा व्यक्त है ऐसे परमात्माका मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको ध्यान करना चाहिये ॥२२५॥ तदनंतर उत्तम धर्मध्यानकी इच्छा करनेवाले भगवानने बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन किया । वास्तवमें शुभ ऐसी बारह भावनायें ध्यानका अंग कहलाती हैं ॥ २२६ ॥ उन बारह भावनाओंका नाम और स्वरूप पाहिले ही वर्णन कर चुके हैं । तदनंतर अत्यंत विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान वृषभ-देवने धर्म्यध्यान धारण किया ॥ २२७ ॥ धर्मध्यानके चार भेद हैं प्रथम आज्ञाविचय अर्थात् भगवान-

व्यक्ततत्त्वानि धर्म्यध्यानानि सोऽध्यगात् । यतो महत्तमं पुण्यं स्वर्गाग्रसुखसाधनं ॥ २२९ ॥ क्षालितागःपरागस्य विरागस्यास्य योगिनः । प्रमादः क्वाप्यभून्नातस्तदा ज्ञानादिशक्तिभिः ॥ २३० ॥ ज्ञानादिपरिणामेषु परा शुद्धिमुपेयुषः । लेशतोऽप्यस्य नाभूवन्दुर्लेश्याः क्लेशहेतवः ॥ २३१ ॥ तदा ध्यानमयीशक्तिः स्फुरंती ददृशे विभोः । मोहारिनाशपिशुना महोल्केव विजृंभिता ॥ २३२ ॥ आरचय्य तदा कृत्स्नं विशुद्धिबलमग्रतः । निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविभागेन त्रिधाकृत ॥ २३३ ॥ कृतांतःशुद्धिरुध्दूतकृतातकृताविक्रियः । उत्तस्थौ सर्वसामग्र्या मोहारिपृतनाजये ॥ २३४ ॥ शिरस्त्राणं तनुत्रं

की आज्ञाका प्रचार करना अथवा जिनेंद्रदेवके कहे हुये सूक्ष्मतत्त्वोंको उनकी आज्ञा मानकर श्रद्धान करना, दूसरा अपायविचय अर्थात् संसारी जीवोंका मिथ्यात्व कब दूर होगा इसप्रकार मिथ्यात्वके दूर करनेका उपाय चिंतवन करना, तीसरा विपाकविचय अर्थात् कर्मोंके फलका चिंतवन करना, और चौथा संस्थानविचय अर्थात् लोक और लोकमें भरेहुये जीवादिक तत्त्वोंका चिंतवन करना, इसप्रकार अपने अपने नामके अनुसार तत्त्वोंका चिंतवन करनेरूप धर्म्मध्यानके चार भेद हैं। भगवानने ये चारों ही ध्यान धारण किये थे, क्योंकि इनसे स्वर्गके मुख्य कारण ऐसे बडे भारी पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ २२८-२२९ ॥ जिनका पापरूपी पराग बिलकुल नष्ट होगया है ऐसे वीतराग और योगिराज भगवान वृषभदेवके ज्ञान चारित्र आदि शक्तियोंके बलसे उससमय प्रमाद कहीं भी बीचमें नहीं आया था ॥ २३० ॥ भगवानके ज्ञान आदि परिणाम परम विशुद्ध थे इसलिये उनके क्लेश उत्पन्न करनेवाली अशुभ लेश्याओंका एक अंश भी उदय नहीं हुआ था ॥ २३१ ॥ उससमय भगवानके देदीप्यमान हुई ध्यानरूपी शक्ति ऐसी दिखाई दे रही थी मानों मोहरूपी शत्रुके नाशको सूचित करनेवाली और खूब बढी हुई ऐसी बडी उल्का (नक्षत्रपात) ही हो ॥ २३२ ॥ जिसप्रकार कोई राजा शत्रुको जीतनेके लिये अपनी सेनाको शुद्धकर उसके तीन भाग करता है और उसमेंसे मजबूत सेनाको आगे रखता है, तथा मरनेसे डरता भी नहीं, उसीप्रकार भगवान वृषभदेवने उससमय अपने आत्माकी विशुद्धिरूपी सेनाके

च तस्यासीत्सैँयमद्वयं । जैत्रमस्त्रं च सध्यानं मोहारातिं विभित्सत. ॥ २३५ ॥ बलव्यसनरक्षार्थं ज्ञानामात्याः पुरस्कृताः । विशुद्धिपरिणामश्च सैनापत्ये नियोजितः ॥ २३६ ॥ गुणाः सैनिकतां नीता दुर्भेदा ध्रुवयोधिनः । तेषां हंतव्यपक्षे च रागाद्याः प्रतिचर्चिताः ॥ २३७ ॥ इत्यायोजितसैन्यस्य जयोद्योगे जगद्गुरोः । गुणश्रेणिबलाद्दीर्णं कर्मसैन्यैर्नु शल्कशः ॥ २३८ ॥ यथा यथोत्तरा शुद्धिरास्कंदति तथा तथा । कर्मसैन्यास्थितेर्भंगः संजातश्च

जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन भेद किये और फिर उसमेंसे उत्कृष्ट विशुद्धि रूप समस्त सेनाको आगे किया अर्थात् अपने मनके परिणाम परम विंशुद्ध किये, और यमराजकी समस्त विक्रियायें नष्ट करदीं। इसप्रकार वे भगवान समस्त सामग्री लेकर मोहरूपी शत्रुकी सेना जीतनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३३-२३४ ॥ मोहरूप शत्रुको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भगवानने मन सहित पांचो इंद्रियोंको वश करनेरूप इंद्रिय संयमको तो शिरका कवच (टोप) बनाया और समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेरूप प्राणिसयमको शरीरका कवच बनाया। अथवा तीनों गुप्तियोंकी विशुद्धतारूप परमोपेक्षा संयमको सिरका कवच बनाया और उपहृतसंयम अर्थात् समितिरूप शुभोपयोगको शरीरका कवच बनाया। तथा उत्तम ध्यानको ही अवश्य जीतनेयोग्य शस्त्र बनाया ॥ २३५ ॥ इसीप्रकार परिणामोंकी विशुद्धि कम न हो जाय अर्थात् विशुद्धि रूपसेना हट न जाय इसलिये उस विशुद्धिरूप सेनाकी रक्षा करनेकेलिये ज्ञानरूपी मंत्रीको सबसे आगे किया और परिणामोंकी परम विशुद्धिको सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया ॥ २३६ ॥ जो कर्मरूपी शत्रुओंसे किसीप्रकार न जीते जायं ऐसे बडे २ गुण रूप योद्धाओंकी सेना बनाई और मोहरूप राजाके नियुक्त किये हुये राग द्वेष रूप शत्रुओंको मारनेकेलिये अपनी सेनाको आज्ञा दी ॥ २३७ ॥ इसप्रकार जब अपनी सब सेना नियुक्तकर जगतगुरु भगवान वृषभदेवने कर्मोंके जीतनेका उद्योग किया उससमय भगवानकी गुणश्रेणी निर्जराके बलसे कर्मरूपी सेना खंड खंड होकर नष्ट होने लगी ॥ २३८ ॥ गुणश्रेणी निर्जरा होनेसे ज्यों ज्यों भग-

रसक्षयः ॥२३९॥ परप्रकृतिसंक्रांतिः स्थितेर्भेदो रसच्युतिः। निर्जीर्णिश्च गुणश्रेण्या तदासीत्कर्मवैरिणां ॥२४०॥अंतःप्रकृतिसंक्षोभं मूलोद्वर्त्तं च कर्मणां। योगशक्त्या स योगींद्रो विजिगीषुरिवातनोत् ॥२४१॥ भूयोऽप्रमत्ततां प्राप्य भावयन् शुद्धिमुद्धुरां। आरुरुक्षत्क्षपकश्रेणीं निश्रेणीं मोक्षसद्मनः॥ २४२॥ अधःप्रवृत्तिकरणमप्रमादेन भावयन्। अपूर्वकरणो भूत्वानिवृत्तिकरणोऽभवत् ॥२४३॥ तत्राद्य शुक्लमापूर्य ध्यानं ध्यानात्तशुद्धिकः। मोहराजबलं कृत्स्नमपयत

वानके परिणामोंकी विशुद्धि अधिक २ बढती जाती थी त्यों त्यों कर्मरूपी सेनाकी स्थितिका भंग अधिक २ होता जाता था तथा उनका रस अर्थात् शत्रुओंका हर्ष अथवा कर्मोंकी शक्ति भी अधिक २ नष्ट होती जाती थी। भावार्थ—परिणामोंकी विशुद्धि ज्यों ज्यों अधिक बढती जाती थी त्यों त्यों कर्मोंकी स्थिति और शक्ति भी अधिक २ नष्ट होती जाती थी॥२३९॥ गुणश्रेणी निर्जरा होनेसे उससमय कर्मरूप शत्रुओंका पर प्रकृतिसंक्रमण होता था अर्थात् कर्मोंकी प्रकृतियां अपना विपाक छोडकर अन्य प्रकृतियोंमें मिल जाती थीं। भावार्थ—अशुभ प्रकृतियां शुभ रूप परिणत हो रहीं थीं, कर्मोंकी स्थिति नष्ट हो रही थी, अनुभागबंध अर्थात् कर्मोंकी शक्ति भी नष्ट हो रही थी, और प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा हो रही थी॥ २४०॥ जिसप्रकार शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष शत्रुओंके भीतरी पुरुषोंमें क्षोभ उत्पन्न करता है और फिर उसे उखाडकर फेंक देता है उसीप्रकार कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले योगिराज भगवान वृषभदेवने भी अपने ध्यानकी शक्तिके बलसे अंतरंग प्रकृतियोंमें क्षोभ उत्पन्न किया और फिर कर्मोंकी मूल प्रकृतियोंको भी उखाडकर फेंक दिया अर्थात् नष्ट कर दिया॥ २४१॥ तदनंतर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामोंकी भावना करते हुये भगवान फिर अप्रमत्त गुणस्थानमें प्राप्त हुये और उस अप्रमत्त सातवें गुणस्थानमें ही मोक्षरूप मकानकी सीढीके समान जो क्षपकश्रेणी है उसपर आरूढ हुये अर्थात् उन्होंने क्षपकश्रेणी चढना प्रारंभ किया॥ २४२॥ प्रथम ही उन्होंने अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तिकरणकी भावना की, फिर वे अपूर्वकरण आठवें गुणस्थानमें प्राप्त होकर अनिवृत्ति नामके नौवें

दसाध्वसः ॥२४४॥ अंगरक्षानिवास्याष्टौ कषायान्निःपिपेष स । वेदशक्तीस्ततस्तिस्रो नोकषायाह्वयान्भटान् ॥ २४५॥ ततः संज्वलनक्रोध महानायकमग्रग। मानमप्यस्य पाश्चात्य मायालोभ च बादरं ॥ २४६ ॥ प्रमृद्यैतान्महाध्यानरगे चारित्रसध्वजः । निशातज्ञाननिस्त्रिंशो दयाकवचवर्मितः ॥ २४७ ॥ जग्राह जयभूमिं तामनिवृत्तिं महाभटः । भटानां ह्यनिवृत्तीना परकीय न चाग्रतः ॥ २४८ ॥ करणत्रययाथात्म्यव्यक्तयेऽर्थपदानि वै । ज्ञेयान्यमूनि

गुणस्थानमें प्राप्त हुये ॥ २४३ ॥ नौवें गुणस्थानमें प्रथम ही उन्होंने पृथक्त्ववितर्क नामका पहिला शुक्लध्यान धारण किया और उस ध्यानसे परम विशुद्ध होकर तथा अतिशय निर्भय होकर उन्होंने मोहरूपी राजाकी समस्त सेना पछाड दी ॥ २४४ ॥ प्रथम ही उन्होंने मोह राजाके शरीरकी रक्षा करनेवालोंके समान जो अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय संबंधी क्रोधमान माया लोभ ये आठ योद्धा थे उन्हें मारकर चूर्ण किया, फिर स्त्रीलिंग पुल्लिंग और नपुंसकलिंग इन तीनों वेदोंकी शक्तियोंको नष्ट किया और फिर बचे हुये छह नोकषायरूपी योद्धाओंको भी मार भगाया अर्थात् उन्हें भी नष्ट किया ॥ २४५ ॥ तदनंतर संज्वलन क्रोध नामका जो सबसे मुख्य और सबसे आगे रहनेवाला योद्धा था उसे नष्ट किया फिर उसके पीछे रहनेवाले मान माया और बादर लोभको भी नष्ट किया ॥ २४६ ॥ इसप्रकार महाध्यानरूपी रंगभूमिमें चारित्ररूपी ध्वजा फहराते हुये ज्ञानरूपी तीव्र हथियार बांधे हुये और दयारूपी कवच पहने हुये ऐसे महायोध्दा भगवान वृषभदेवने ऊपर कहे हुये मोह राजाके सब योध्दाओंको नष्टकर जिससे फिर कभी पीछे नहीं हटना पडे ऐसी नौवें गुणस्थानरूप अनिवृत्ति नामकी जयभूमि प्राप्त की, सो ठीक ही है क्योंकि जो योध्दा पीछेकी ओर नहीं हटते हैं उनके सामने शत्रुकी सेना कभी ठहर नहीं सकती ॥ २४७-२४८ ॥ अब अधःप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणोंका यथार्थ स्वरूप प्रगट करनेके लिये आगमका यथार्थ अभिप्राय जाननेवाले गणधरदेवोंने अनुक्रमसे जो अर्थसहित पद कहे हैं उन्हें इसप्रकार समझना चाहिये ॥ २४९ ॥

सूत्रार्थसद्भावैरनुक्रमात् ॥ २४९ ॥ करणाः परिणामा ये विभक्ताः प्रथमे क्षणे । ते भवेयुर्द्वितीयेऽस्मिन्क्षणेऽन्ये च पृथग्विधाः ॥ २५० ॥ द्वितीयक्षणसंबंधि परिणामकदंबकं । तच्चान्यच्च तृतीये स्यादेवमाचरमक्षणात् ॥ २५१ ॥ तच्चाधःप्रवृत्त्याख्यं करणं तन्निरुच्यते । अपूर्वकरणे नैवं ते ह्यपूर्वाः प्रातिक्षणं ॥ २५२ ॥ करणे त्वनिवृत्त्याख्ये न निवृत्तिरिहांगिनां । परिणामैर्मिथस्ते हि समभावाः प्रतिक्षणं ॥ २५३ ॥ तत्राद्ये करणे नास्ति स्थितिघाताद्युपक्रमः । ह्रापयेत्केवलं शुध्यन् बंधं स्थित्यनुभागयोः ॥ २५४ ॥ अपूर्वकरणेऽप्येवं किंतु स्थित्यनुभागयोः । हन्यादग्रं गुणश्रेण्यां कुर्वन्संक्रम-

---

कि प्रथम करणके अर्थात् अधःप्रवृत्ति करणके प्रथमक्षणमें जो परिणाम होते हैं वे ही परिणाम दूसरे क्षणमें हों तथा इसी दूसरे क्षणमें इन परिणामोंसे भिन्न ऐसे अन्य दूसरे परिणाम भी हों। इसी प्रकार दूसरे क्षणमें होनेवाले परिणामोंका जो समूह है वही परिणामोंका समूह तीसरे क्षणमें हो तथा उसी तीसरे क्षणमें उन परिणामोंके सिवाय अन्य जातिके भी परिणाम हों यही रीति तीसरे चौथे आदि अंतिम समय तक हो उसे अधःप्रवृत्तिकरण कहते हैं। अपूर्वकरणमें यह बात नहीं है अर्थात् उसमें ऊपरके परिणाम नीचेके अर्थात् पूर्वक्षण वर्ती परिणामोंसे कभी नहीं मिलते हैं। उसमें प्रत्येक क्षणमें अपूर्व परिणाम ही होते जाते हैं। इसलिये ही वे नीचेके परिणामोंसे कभी नहीं मिल सकते हैं। ऐसे अपूर्व अपूर्व परिणामोंका होना ही अपूर्वकरण कहलाता है ॥ २५०-२५१-२५२ ॥ अनिवृत्ति नामके नौवें गुणस्थानमें परिणामोंके द्वारा जीवोंकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि इस गुणस्थानके किसी एक समयमें रहनेवाले समस्त जीवोंके परिणाम एकसे ही होते हैं ॥ २५३ ॥ इन तीनों करणोंमेंसे प्रथम अर्थात् अधःप्रवृत्तिकरणमें स्थिति, घात आदिका उपक्रम नहीं है अर्थात् उसमें स्थितिकांडघात, अनुभागकांडघात, गुणश्रेणि निर्जरा और गुणसंक्रमण ये चार आवश्यक नहीं होते हैं। किंतु इस अधःप्रवृत्तिकरणमें रहनेवाला जीव केवल शुद्ध होता हुआ स्थितिबंध और अनुभागबंधकी हानि करता है ॥ २५४ ॥ अपूर्वकरणमें भी यही अवस्था रहती है किंतु इतना और विशेष है कि इस करणमें गुण-

निर्जरे ॥ २५५ ॥ तृतीये करणेऽप्येवं घटमानः पटिष्ठधीः । अकृत्वांतरमुच्छिद्यात्कर्मारीन् षोडशाष्ट च ॥ २५६ ॥ गत्योरथाद्ययोर्नामप्रकृतीर्नियतोदयाः । स्त्यानगृद्धित्रिकं चास्येद्घातेनैकेन योगिराट् ॥ २५७ ॥ ततोऽष्टौ च कपायास्तान्हन्यादध्यात्मतत्त्ववित् । पुनः कृतांतरः शेषाः प्रकृतीरप्यनुक्रमात् ॥ २५८ ॥ अश्वकर्णक्रियाकृष्टिः करणादिश्च यो विधिः । सोऽत्र वाच्यस्ततः सूक्ष्मसंपरायत्वसंश्रयः ॥ २५९ ॥ सूक्ष्मीकृतं ततो लोभ जयन्मोहं व्यजेष्ट सः । कर्शितो ह्यरिरुग्रोऽपि सुजयो विजिगीषुणा ॥ २६० ॥ तीव्रं ज्वलन्नसौ श्रेणिरंगे मोहारिनिर्जयात् । ज्येष्ठो मल्ल इवावल्गन्मुनिर-

श्रेणीके द्वारा स्थितिबंध और अनुभागबंधका संक्रमण तथा निर्जरा करता हुआ उन दोनोंके ही अर्थात् स्थितिबंध और अनुभागबंधके अग्रभागको नष्ट करता है ॥ २५५ ॥ इसीप्रकार तीसरे अनिवृत्तिकरणमें भी अतिशय बुद्धिमान यह जीव प्रयत्न पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करता हुआ परिणामोंकी विशुद्धिमें अंतर नहीं डालता है और क्रमसे सोलह तथा आठ कर्मरूप शत्रुओंको उखाड फेंकता है। सो योगिराज भगवान वृषभदेवने भी नरकगति और तिर्यंचगतिमें नियमसे उदय होनेवालीं प्रकृतियां अर्थात् १ नरकगति २ तिर्यंचगति ३ एकेंद्रिय ४ द्वींद्रिय ५ त्रींद्रिय ६ चतुरिंद्रिय जाति, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी ८ तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी ९ आतप १० उद्योत ११ स्थावर १२ सूक्ष्म १३ साधारण तथा स्त्यानगृद्धि आदि तीन प्रकृतियां अर्थात् १४ निद्रानिद्रा १५ प्रचलाप्रचला और १६ स्त्यानगृद्धि इसप्रकार इन सोलह प्रकृतियोंको एक ही प्रहारसे नष्ट किया ॥ २५६-२५७ ॥ तदनंतर अध्यात्मतत्वके जाननेवाले भगवानने आठ कषायोंको नष्ट किया और फिर कुछ समय बीचमें देकर अनुक्रमसे नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, पुंवेद संज्वलनक्रोध, मान और माया इन प्रकृतियोंको भी नष्ट किया ॥ २५८ ॥ भगवानने इसी गुणस्थानमें अश्वकरणक्रिया और कृष्टिकरण आदि विधि भी की और फिर वे अनुक्रमसे सूक्ष्मसांपराय नामके दशवें गुणस्थानमें जा पहुंचे ॥ २५९ ॥ वहांपर उन्होंने अत्यंत सूक्ष्म ऐसे लोभको भी नष्ट किया और इसप्रकार भगवानने मोहरूप शत्रुकी समस्त सेना जीत

प्रतिमल्लकः ॥ २६१ ॥ ततः क्षीणकषायत्वमक्षीणगुणसंग्रहः । प्राप्य तत्र रजोऽशेषमधुनात्स्नातकोऽभवत् ॥ २६२ ॥ ज्ञानदर्शनवीर्यादिविघ्ना ये केचिदुद्धताः । तानशेषान् द्वितीयेन शुक्लध्यानेन चिच्छिदे ॥ २६३ ॥ चतस्रः कटुकाः कर्मप्रकृतीर्ध्यानवह्निना । निर्दहन्मुनिरुद्भूतकैवल्योऽभूत्स विश्वदृक् ॥ २६४ ॥ अनंतज्ञानदृग्वीर्यविरतिः शुद्धदर्शनं । दानलाभौ च भोगोपभोगावानंत्यमाश्रिताः ॥ २६५ ॥ नवकेवललब्धीस्ता जिनभास्वान्द्युतीरिव । स भेजे जगदुद्भासी भव्याभोजानि बोधयन् ॥ २६६ ॥ इति ध्यानाग्निनिर्दग्धकर्मेधनचयो जिनः । बभावुद्भूतकैवल्यविभवो विभवोद्भवः

ली। सो ठीक ही है क्योंकि बलवान् शत्रु भी यदि कृश हो जाय तो जीतनेवाला उसे सहज रीतिसे जीत सकता है ॥ २६० ॥ जिसप्रकार किसी कुस्तीके मैदानमें प्रतिमल्लके (दूसरे शत्रुरूप मल्लके) भागजानेसे बलवान मल्ल हर्षित होता है उसीप्रकार क्षपकश्रेणीरूपी रंगभूमिमें मोहरूपी शत्रुके नष्ट हो जानेसे भगवान वृषभदेव भी अतिशय देदीप्यमान होते हुये सुशोभित हो रहे थे ॥ २६१ ॥ तदनंतर जिनके गुणोंका समूह अविनश्वर है ऐसे भगवान क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें प्राप्त हुये। वहां उनका मोहनीय कर्म सब नष्ट होगया था और उनकी स्नातक अवस्था प्राप्त हो गई थी ॥२६२॥ तदनंतर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अत्यंत उद्धत जो अंतरायकी प्रकृतियां थीं उन सबको भी भगवानने दूसरे एकत्ववितर्क नामके शुक्ल ध्यानसे नष्ट किया और इस प्रकार वे भगवान ध्यान रूपी अग्निसे चारों घातिया कर्मोंकी समस्त प्रकृतियोंको जलाकर केवलज्ञानसे सुशोभित होकर समस्त लोकालोकके जाननेवाले सर्वज्ञदेव हुये ॥ २६३–२६४ ॥ इस प्रकार भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करते हुये और समस्त जगतको प्रकाशित करते हुये वे जिनेंद्ररूपी सूर्य कांतिके समान अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत वीर्य, अनंतचारित्र, शुद्धसम्यक्त्व, अनंतदान, अनंतलाभ, अनंतभोग, और अनंतउपभोग इन नौ केवल लब्धियोंको (क्षायिक लब्धियोंको) प्राप्त हुये ॥ २६५–२६६॥ इस प्रकार जिनको केवलज्ञानकी विभूति उत्पन्न हुई है तथा समवसरणादिकी विभूति प्राप्त हुई है ऐसे वे जिनेंद्रदेव ध्यानरूपी अग्निसे घातिया

॥ २६७ ॥ फाल्गुने मासि तामिस्रपक्षस्यैकादशीतिथौ। उत्तराषाढनक्षत्रे कैवल्यमुदभूद्विभोः ॥ २६८ ॥ भगवति जितमोहे केवलज्ञानलक्ष्म्या स्फुरति सति सुरेन्द्राः प्राणमन्भक्तिभारात्। नभसि जयनिनादो विश्वदिक्षु जजृम्भे सुरपटहरवैश्चारुद्धमासीत्खरंध्रं ॥ २६९ ॥ सुरकुजकुसुमाना वृष्टि-रापतदुच्चै र्भ्रमरमुखरितद्यु' सारयंती दिगंतान्। विरलमवतरद्भिर्नाकभाजा विमानैर्गगनजलधिरुद्यन्नौरिवाभूत्समंतात् ॥ २७० ॥ मदकलरुतभृं-गैरन्वितः स्वःस्रवंत्याः शिशिरतरतरंगानास्पृशन्मातरिश्वा। धुतसुरभिवनातःपद्मकिंजल्कबंधुर्मृदुतरमभितोवान्व्यानशे दिग्मुखानि ॥ २७१ ॥

कर्म रूपी ईंधनके समूहको जलाकर बडेही सुशोभित हो रहे थे ॥ २६७ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवको फाल्गुण कृष्णा एकादशीके दिन उत्तराषाढ नक्षत्रमें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था ॥ २६८ ॥ जिस समय भगवान वृषभदेवके मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी स्फुरायमान हुई थी उस समय सब देवोंके इंद्र भक्तिके भारसे नम्रीभूत होकर भगवानको नमस्कार करते थे। आकाशमें समस्त दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ जय जय शब्द हो रहा था और देवोंके नगाडोंके शब्दोंसे समस्त आकाश व्याप्त हो गया था ॥ २६९ ॥ तथा उसी समय समस्त दिशाओंको चित्र विचित्र करती हुई और भ्रमरोंके शब्दोंसे आकाशको शब्दायमान करती हुई कल्पवृक्षोंके पुष्पोंकी खूब वर्षा हो रही थी, और आकाशमें जो देवोंके दूर दूरसे विमान उतर रहे थे वे आकाश रूपी समुद्रमें चारों ओरसे तैरती हुई नावोंके समान जान पडते थे ॥ २७० ॥ उसी समय मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंसे सुशोभित, गंगा नदीकी अत्यंत शीतल तरंगोंको स्पर्श करता हुआ और हिलते हुये सुगंधित बनके मध्यभागमें जो कमलोंका बन है उसके परागसे सुशोभित तथा अत्यंत मंद मंद ऐसा वायु सब दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ चारोंओर वह रहा था ॥ २७१ ॥ जिस समय पुष्प वृष्टि आदि हो रही थी और शीतल मंद सुगंधित वायु चल रहा था उसी समय लोक नाडीका आंगन अर्थात् समस्त लोक निर्मल होगया था और आकाशसे विना ही बादलके छोटी २ बूंदोंकी वर्षा हो रही थी। निर्मल आकाशमें वे चारोंओर फैली हुई पानीकी बूंदें

युगपदथ नभस्तोऽनभ्रितादवृष्टिपातो । विरजयति तदा स्म प्रांगणं लोकनाड्या ॥ समवसरणभूमेः शोधनायेव विश्वग्विततसलिलबिंदुर्विश्वभर्तुर्जिनेशः ॥ २७२ ॥ इत्थ तदा त्रिभुवने प्रमद वितन्वन्नुद्भूतकेवलरवेर्वृषभोदयाद्रे । आसीज्जगज्जनहिताय जिनाधिपत्यप्रख्यापक सपदि तीर्थकरानुभाव. ॥ २७३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्कैवल्योत्पत्तिवर्णनं नाम विंशतितम पर्व

ऐसी जान पडती थीं मानों तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवके समवसरणकी भूमिको शुद्ध करनेकेलिये ही पड रही हों ॥ २७२ ॥ जिसप्रकार उदयाचल पर्वतसे जगतके जीवोंके हित करनेकेलिये समस्त लोकको आनंदित करता हुआ सूर्यका उदय होता है उसीप्रकार उससमय ऊपर कहे अनुसार श्रीवृषभदेवरूपी उदयाचल पर्वतसे जगतके समस्त जीवोंका हित करनेकेलिये उत्पन्न हुये केवलज्ञान रूपी सूर्यका बहुत शीघ्र उदय हुआ था। वह उदय तीर्थंकरप्रकृतिका प्रभावरूप ही था, तीनों लोकोंके जीवोंको आनंद उत्पन्न करनेवाला था और श्रीजिनेंद्र देवका पद प्रगट करनेवाला था ॥ २७३ ॥

इसप्रकार श्री भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत संस्कृत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें भगवान वृषभदेवके केवलज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला वीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

अथ एकविंशं पर्व

अथात श्रेणिको नम्रो मुनिं पप्रच्छ गौतम । भगवन्बोद्धुमिच्छामि त्वत्तो ध्यानस्य विस्तर ॥ १ ॥ किमस्य लक्षण योगिन्के भेदा किंच निर्वच । किं स्वामिक कियत्काल किं हेतुफलमप्यद ॥ २ ॥ कोस्य भावो भवेत्किं वा स्यादधिष्ठानमीशित । भेदाना कानि नामानि कश्चैषामर्थनिश्चयः ॥ ३ ॥ किमालम्बनमेतस्य बलाधान च कि भवेत् । तदिद सर्वमेवाह बुभुत्से वदतावर ॥ ४ ॥ पर साधनमाम्नातं ध्यान मोक्षस्य साधने । ततोऽस्य भगवन्ब्रूहि तत्त्व गोप्यं यतीशिना ॥ ५ ॥ इति पृष्टवते तस्मै, भगवान्गौतमोऽब्रवीत् । प्रसरद्दशनाभीपुजलस्नपिततत्तनु ॥ ६ ॥ यत्कर्मक्षपणे साध्ये साधन परम तप ।

अथ इकईसवां पर्व.

अथानंतर—राजा श्रेणिकने समस्त मुनियोंके स्वामी ऐसे गौतम गणधरसे पूछा कि हे भगवान आपकी कृपासे मैं ध्यानका विशेष स्वरूप जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ हे योगिराज ! इस ध्यानका लक्षण क्या है, इसके कितने भेद हैं, इसका अर्थ क्या है, इसके अधिकारी कौन हैं, इसका समय कितना है, इसकी व्युत्पत्ति क्या है और इसका फल क्या है ॥ २ ॥ हे देव इसका भाव क्या है. यहां कहां ठहरता है, इसके भेदोंके क्या २ नाम हैं और उनभेदोंके क्या २ अभिप्राय हैं ॥ ३ ॥ इसीप्रकार इस ध्यानका आलंबन क्या है अर्थात् किसका ध्यान किया जाता है और इसका बलाधान अर्थात् कारण क्या है, हे उपदेश देनेमें सर्व श्रेष्ठ ! यह सब मैं आपसे जानना चाहता हूं ॥ ४ ॥ हे भगवान मोक्ष प्राप्त होनेकेलिये ध्यान ही मुख्य कारण है और उत्तम उत्तम मुनियोंका गुप्त तत्त्व है इसलिये हे देव ! कृपाकर इसका स्वरूप कहिये ॥ ५ ॥ राजा श्रेणिकके इसप्रकार पूछनेपर भगवान गौतम गणधरदेव अपनी फैलती हुई दांतोंकी किरणें रूपी जलसे उसके शरीरका अभिषेक करते हुये कहने लगे ॥ ६ ॥ कि हे राजन् जो कर्मोंके नाश करनेमें मुख्य कारण है और जो सबसे उत्कृष्ट तपश्चरण कहलाता है ऐसे ध्यानका स्वरूप जैसा मैंने सुना है वैसा ही मैं तुझे अ-

तत्ते 'ध्यानाह्वय सम्यगनुशास्मि यथाश्रुत ॥७॥ ऐकाग्र्येण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि । तद्ध्यानं वज्रकायस्य भवेदांतर्मुहूर्त्तत ॥८॥ स्थिरमध्यवसान यत्तद्ध्यानं यच्चलाचल । सानुप्रेक्षाथवा चिंता भावना चितमेव वा ॥९॥ छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षण विश्वदृश्वना । योगास्रवस्य संरोधे ध्यानत्वमुपचर्यते ॥१०॥ धीवलायत्तवृत्तित्वात्ध्यान तज्ज्ञैर्निरुच्यते । यथार्थमभिसंधानादपध्यानमतोऽन्यथा ॥ ११ ॥ योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोध स्वांतनिग्रह' । अत सलीनता चेति तत्पर्याया' स्मृता बुधै' ॥ १२ ॥ ध्यायत्यर्थाननेनेति ध्यान करणसाधनं । ध्यायतीति च कर्तृत्व वान्य स्वातत्र्यसंभवात् ॥ १३ ॥ भावमात्राभिवि-

---

च्छीतरह कहूंगा ॥ ७ ॥ जो चित्तकी वृत्ति सब ओरसे रोककर मुख्यतासे किसी एक ही वस्तुमें लगाना है उसे ध्यान करते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहननवालोंके अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त-तक रहता है ॥ ८ ॥ जो चित्तका परिणाम स्थिर रहता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चित्तका परिणाम चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिंता, भावना अथवा चित्त आदि नामोंसे पुकारते हैं ॥ ९ ॥ यह अनुप्रेक्षा वा भावनारूप चंचल ध्यान छट्ठेसे ग्यारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले अल्पज्ञानी मुनियों-के होता है। और तेरहवें गुणस्थनवर्ती सर्वज्ञदेवके योगसे होनेवाले आस्रवका निरोध होता है इस-लिये उनके भी उपचारसे ध्यान माना जाता है ॥ १० ॥ बुद्धिमान लोग ध्यान उसीको कहते हैं जो बुद्धिवलके आधीन हो क्योंकि जो बुद्धि पूर्वक किया जाता है वह यथार्थ ध्यान कहा जाता है। जो ध्यान बुद्धिपूर्वक नहीं किया जाता वह अपध्यान कहलाता है ॥११॥ योग, ध्यान, समाधि, धारोध अर्थात् च-लायमान बुद्धिका रोकना, अंतःकरण अर्थात् मनका निग्रह करना, अंतःसंलीनता अर्थात् अंतःकरणमें अथवा आत्मामें तल्लीन होना आदि सब ध्यानके ही पर्याय वाचक शब्द हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥१२॥ आत्माके जिसपरिणामसे पदार्थका चिंतवन किया जाता है उसे ध्यान कहते हैं यह ध्यान शब्दकी करण साधन व्युत्पत्ति की। इसीतरह आत्माका जो परिणाम पदार्थका चिंतवन करे उसे ध्यान कहते हैं यह ध्यान शब्दकी कर्तृसाधन व्युत्पत्ति की। क्याकि जो परिणाम पहिले करणसाधन अवस्थामें परतंत्र था उसीको

त्साया ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते । शक्तिभेदात् ज्ञानस्वस्य युक्तमेकत्र तत्रयं ॥ १४ ॥ यद्यपि ज्ञानपर्यायो ध्यानाख्यो ध्येयगोचर । तथाप्येकाग्रसंदृष्टो धत्ते बोधादिवाच्यता ॥ १५ ॥ हर्षामर्षादिवत्सोऽयं चिद्धर्मोऽप्यवबोधित । प्रकाशते विभिन्नात्मा कथंचित्स्तिमितात्मक ॥ १६ ॥ ध्यानस्यालंबनं कृत्स्नं जगत्तत्त्वं यथास्थित । विनात्मात्मीयसंकल्पादौदासीन्ये निवेशित ॥ १७ ॥ अथवा ध्येयमध्यात्मतत्त्वं मुक्तेतरात्मक । तत्तत्त्वचिंतनं ध्यातुरुपयोगस्य शुद्धये ॥ १८ ॥ उपयोगविशुद्धौ च बंधहेतूनुदस्यत । संवरो निर्जरा चैव ततो मुक्तिरसंशय ॥ १९ ॥ मुमुक्षोर्ध्यातुकामस्य सर्वमालंबनं जगत् । यद्यद्यथास्थित

स्वातंत्र्य विवक्षासे ध्यानका कर्ता कहा है । अथवा चिंतवन करना ही ध्यान है यह ध्यान शब्दकी भावसाधन व्युत्पत्ति की । इसप्रकार शक्तिके भेदसे ज्ञाननस्वरूप आत्माके ही तीन भेद किये हैं और वे तीनों भेद एक ही वस्तुमें पाये जाते हैं । भावार्थ—ध्यानस्वरूप एक ही आत्माकी कर्तृसाधन भावसाधन और करणसाधन व्युत्पत्ति की है ॥ १३-१४ ॥ यद्यपि ध्यान यह एक ज्ञानका ही पर्याय है और वह ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य पदार्थका एक विषय है. तथापि वह एक जगह इकट्ठा होकर अनंतज्ञान अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य इन चारों पदार्थरूप परिणत हो जाता है ॥ १५ ॥ जिसप्रकार सुख दुख आदि चैतन्यके ही परिणाम कहे जाते हैं और वे ज्ञानसे भिन्न हैं उसीप्रकार अंतःकरणका संकोच करने रूप ध्यान भी चैतन्यका ही धर्म है और वह ज्ञानमे भिन्न होकर ही प्रकाशित होता है ॥ १६ ॥ जगतके जीव अजीव आदि तत्त्व जो जिस रीतिसे विद्यमान हैं और जिनमें यह मेरा है. मैं इसका स्वामी वा कर्ता हूं इत्यादि आत्मा वा आत्मीय भाव नहीं है अतएव जो उदासीन रूपसे विद्यमान हैं ऐसे समस्त तत्त्व ध्यानके अवलंबन (आधार) होते हैं। भावार्थ—ध्यानमें जगतके समस्त तत्त्व चिंतवन किये जा सकते हैं ॥ १७ ॥ अथवा मुक्त और संसारी ऐसे दोनोंप्रकारका आत्मा ध्यान करने योग्य है । क्योंकि अध्यात्मतत्त्वके चिंतवन करनेसे ध्यान करनेवाले जीवके उपयोगकी शुद्धि होती है ॥ १८ ॥ उपयोगकी विशुद्धि होनेसे वह जीव बंधके

वस्तु तथा तत्तव्यवस्यतः ॥ २० ॥ किमत्र बहुना यो य. कश्चिद्भाव. सपर्ययः । स सर्वोऽपि यथाऽम्नाय ध्येयकोटिं विगाहते ॥ २१ ॥ शुभाभिसंधि-नि ध्याने स्यादेव ध्येयकल्पना । प्रीत्यप्रीत्यभिसधानादसध्याने विपर्यय ॥ २२ ॥ अतत्त्वादित्यतत्त्वज्ञो वैपरीत्येन भावयन् । प्रीत्यप्रीती - समाधाय सक्लिष्ट ध्यानमृच्छति ॥ २३ ॥ सकल्पवशगो मूढो वस्त्विष्टानिष्टता नयेत् । रागद्वेषौ ततस्ताभ्या बंध दुर्मोचमश्नुते ॥ २४ ॥ संकल्पो, मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुत-

---

कारण मिथ्यात्त्व राग द्वेष आदिको नष्ट करता है तथा बंधके कारणोंका नाश होनेसे संवर और निर्जरा होती है और संवर तथा निर्जरा होनेसे निसंदेह इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥ इस जगतमें जो जो वस्तु जिस जिसप्रकारसे विद्यमान है उसको उसी उसीप्रकारसे निश्चय करनेवाले ऐसे मोक्षप्राप्त होनेकी इच्छा करनेवाले और ध्यान करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके पदार्थोंसे भरा हुआ यह समस्त जगत अवलंबन है । भावार्थ—वह प्रत्येक पदार्थके यथार्थ स्वरूपका चिंतवनकर ध्यान कर सकता है ॥२०॥ अथवा यहां बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि जगतमें पर्यायोंसहित जो कुछ पदार्थ हैं वे सब अपने २ स्वरूपको सिद्ध करनेवाले प्रमाण सहित ध्येयकोटिमें प्रवेश करते हैं अर्थात् ध्यानमें सबका चिंतवन किया जा सकता है ॥ २१ ॥ ऊपर जो चिंतवन करनेयोग्य समस्त पदार्थ कहे गये हैं वे शुभ चिंतवन करनेयोग्य ध्यानमें ही चिंतवन करनेयोग्य हैं । यदि वे ही पदार्थ इष्ट और अनिष्टकेलिये चिंतवन किये जायं तो वह अपध्यान कहलाता है, अपध्यानमें कोई भी पदार्थ ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य नहीं माना जाता अर्थात् सब अध्येय हैं अपध्यानमें किसी भी पदार्थका चिंतवन नहीं करना चाहिये ॥ २२ ॥ जो पुरुष तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता कुछका कुछ समझलेता है वही पुरुष तत्त्वोंका स्वरूप विपरीत रीतिसे चिंतवन करता हुआ इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंका चिंतवन करता है और इसप्रकार वह केवल संक्लेश सहित ध्यान करता है ॥ २३ ॥ अनेक संकल्प विकल्पोंके वश हुआ यह मूर्ख जीव पदा-

र्पिणी । सैव दु प्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः ॥ २५ ॥ तस्मादाशयशुध्द्यर्थमिष्टा तत्त्वार्थभावना । ज्ञानशुद्धिरतस्तस्यां ध्यानशुद्धिरुदाहृता ॥ २६ ॥ प्रशस्तमप्रशस्त च तध्द्यान स्मर्यते द्विधा । शुभाशुभाभिसधानात्प्रत्येक तद्‌द्वय द्विधा ॥ २७ ॥ चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णित । आर्त्त रौद्र च धर्म्यं च शुक्लं चेति विकल्पतः ॥ २८ ॥ हेयमाद्य द्वय विद्धि दुर्ध्यान भववर्द्धनं । उत्तरं द्वितय ध्यानमुपादेय तु योगिना ॥ २९ ॥ तेपामतर्भिदा वक्ष्ये

थोंमें इष्ट तथा अनिष्ट कल्पना करता है, पदार्थोंमें इष्ट तथा अनिष्ट कल्पना करनेसे इसके राग द्वेष उत्पन्न होते हैं और राग द्वेष होनेसे बडी कठिनतासे छूट सके ऐसा गाढ कर्मोंका बंध होता है ॥ २४ ॥ विषयोंमें इच्छा करनेवाली जो मनकी प्रवृत्ति है उसे संकल्प कहते हैं, इसी इच्छा करनेवाली मनकी प्रवृत्तिको दुष्प्रणिधान वा बुरा चिंतवन कहते हैं और इसीको अपध्यान कहते हैं ॥२५॥ इसलिये चित्तकी शुद्धि होनेके लिये यथार्थ तत्त्वोंका चिंवतन करना ही योग्य है क्योंकि चित्तकी शुद्धि होनेसे ज्ञानकी शुद्धि होती है और ज्ञानकी शुद्धि होनेसे ध्यानकी शुद्धि कही जाती है ॥२६॥ वह ध्यान शुभ और अशुभके चिंतवन करनेसे प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो प्रकारका गिना जाता है अर्थात् शुभ परिणामोंसे चिंतवन करना प्रशस्त ध्यान है और अशुभ परिणामोंसे चिंतवन करना अप्रशस्त ध्यान है । उस प्रशस्त और अप्रशस्त ध्यानमेंसे भी प्रत्येकके दो दो भेद हैं । भावार्थ—प्रशस्तके धर्म्य और शुक्ल तथा अप्रशस्तके आर्त्त और रौद्र ॥ २७ ॥ इसप्रकार श्रीअरहंतदेवने आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान, और शुक्लध्यान इनके भेदसे वह ध्यान चारप्रकारका निरूपण किया है ॥ २८ ॥ इन चारों ध्यानोंमेंसे पाहिलेके दो अर्थात् आर्त और रौद्र ये हेय (त्याग करने योग्य) गिने जाते हैं क्योंकि ये दोनों ही दुर्ध्यान अथवा अपध्यान हैं और जन्म मरण रूप संसारकी वृद्धि करनेवाले हैं । तथा अंतके धर्म्य और शुक्ल ये दो ध्यान मुनियोंको भी उपादेय (स्वीकार करने योग्य) हैं ॥ २९ ॥ अब इन चारों ध्यानोंके अंतर्भेद कहते हैं तथा उन अंतर्भेदोंके लक्षण, अंतर्भेदों-

लक्ष्म निर्वचनं तथा । बलाधानमधिष्ठानं कालभावफलान्यपि ॥ ३० ॥ ऋते भवमथार्त्तं स्याद्ध्यानमाद्यं चतुर्विधं । इष्टानवाप्त्यनिष्टाप्तिनिदानागानहेतुक ॥ ३१ ॥ विप्रयोगे मनोज्ञस्य तत्संयोगानुतर्षण । अमनोज्ञार्थसयोगे तद्वियोगानुचिंतन ॥ ३२ ॥ निदान भोगकांक्षोत्थ संक्लिष्टस्यान्यभोगत. । स्मृत्यन्वाहरण चैव वेदनार्त्तस्य तत्क्षये ॥ ३३ ॥ ऋते विना मनोज्ञार्थाद्भवमिष्टवियोगजं । निदानप्रत्यय चैवमप्राप्तेष्टार्थचिंतनात् ॥ ३४ ॥ ऋते ह्युपगतेऽनिष्टे

को कहनेवाले शब्दोंके अर्थ, उन ध्यानोंके बलाधान (कारण), आश्रय, काल, भाव, और फल आदि सव कहेंगे ॥ ३० ॥ जो ऋत अर्थात् कष्ट वा दुःखसे उत्पन्न हो वह पहिला आर्तध्यान कहलाता है, वह आर्तध्यान चार प्रकारका है, पहिला इष्ट वस्तुके प्राप्त न होनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा निदानसे उत्पन्न हुआ और चौथा रोग अथवा दुःखसे उत्पन्न हुआ ॥ ३१ ॥ किसी मनोज्ञ (इष्ट) वस्तुके वियोग होनेपर उसके संयोग होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना पहिला आर्तध्यान कहलाता है । इसीप्रकार किसी अमनोज्ञ (अनिष्ट) वस्तुके संयोग होनेपर उसके वियोग होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥३२॥ भोगोंकी आकांक्षासे उत्पन्न हुआ चिंतवन तीसरा निदान आर्तध्यान कहलाता है । जिस पुरुषका संक्लेश सहित चित्त होता है उसके अन्य जीवकी भोगोपभोगकी सामग्री देखकर यह तीसरा निदान आर्तध्यान उत्पन्न होता है । इसीप्रकार किसी रोगसे उत्पन्न हुये दुःखके नाश होनेकेलिये बार बार चिंतवन करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३३॥ अथवा विना किसी मनोज्ञ पदार्थके केवल दुखसे उत्पन्न हो अथवा किसी पुत्र मित्र आदि इष्ट वस्तुके वियोगसे उत्पन्न हो वह पहिला आर्तध्यान कहलाता है तथा जो इष्ट पदार्थ प्राप्त नहीं हुआ है उसकी प्राप्तिकेलिये चिंतवन करना वह निदानका कारण तीसरा आर्तध्यान कहलाता है ॥ ३४ ॥ इसीप्रकार जो अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेपर दुखसे

भवमार्त्तं द्वितीयकं । भवेच्चतुर्थमप्येव वेदनोपगमोद्भवं ॥ ३५ ॥ प्राप्त्यप्राप्त्योर्मनोज्ञेतरार्थयोः स्मृतियोजने । निदानवेदनापायविषये चानुचिंतने ॥ ३६ ॥ इत्युक्तमार्त्तमार्त्तात्मचिंत्यं ध्यानं चतुर्विधं । प्रमादाधिष्ठितं तत्तु षड्गुणस्थानसंश्रितं ॥ ३७ ॥ अप्रशस्ततमं लेश्यात्रयमाश्रित्य जृंभितं । अंतर्मुहूर्त्तकालं तदप्रशस्तावलंबनं ॥ ३८ ॥ क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद्भावस्तिर्यग्गतिः फलं । तस्मात् दुर्ध्यानमार्त्ताख्यं हेयं श्रेयोऽर्थिनामिदं ॥ ३९ ॥ मूर्च्छाकौशील्यकै-

---

उत्पन्न हो वह दूसरा आर्तध्यान कहलाता है तथा वेदनासे उत्पन्न हुआ चिंतवन चौथा आर्तध्यान कहलाता है ॥३५॥ मनोज्ञ अर्थात् इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होनेकेलिये वार वार स्मरण होता है (यह पहिला आर्तध्यान है) और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होनेकेलिये यह जीव वरावर प्रयत्न करता रहता है। (यह दूसरा आर्तध्यान है।) इसीप्रकार यह अज्ञानी जीव निदान अर्थात् आगामी कालमें भोगोपभोग प्राप्त होनेका चिंतवन करता है (यह तीसरा आर्तध्यान है) और रोग आदि वेदनाओं के दूर होनेके लिये भी वार वार चिंतवन करता है। (यह चौथा आर्तध्यान है) ॥ ३६ ॥ इस प्रकार जिनका आत्मा किसी दुखसे पीडित है ऐसे जीव ही ऊपर कहे हुये चार प्रकारके आर्तध्यान का चिंतवन करते हैं। यह आर्तध्यान पहिले गुणस्थानसे लेकर प्रमत्त नामके छट्ठे गुणस्थानतक छह गुणस्थानोंमें होता है ॥ ३७ ॥ यह चारोंप्रकारका आर्तध्यान अत्यंत अशुभ ऐसी कृष्ण नील और कापोत इन तीनों लेश्याओंसे होता है इसलिये इसका आलंबन अशुभ ही है, और इसका काल अधिकसे अधिक अंतर्मुहूर्त है ॥ ३८ ॥ इस आर्तध्यानमें क्षायोपशमिक भाव होता है और इसका फल तिर्यचगति है इसलिये यह आर्तध्यान दुर्ध्यान अथवा अपध्यान कहलाता है और कल्याण चाहनेवालोंको हेय अर्थात् त्याग करने योग्य है ॥ ३९ ॥ परिग्रहमें अत्यंत आसक्त होना, दुष्टस्वभाव होना, अत्यंत लोभ करना, अथवा कृतघ्न होना, आलसी होना, अधिक अभिलाषा करना, भय करना

नाश्यकौशीद्यान्यातिगृध्नुता । भयोद्वेगानुशोकाश्च लिंगान्यार्त्ते स्मृतानि वै ॥ ४० ॥ बाह्य च लिंगमार्त्तस्य गात्रग्लानिर्विवर्णता । हस्तन्यस्तकपोलत्वं साश्रुतान्यच्च तादृग ॥ ४१ ॥ प्राणिना रोदनाद्रुद्र क्रूर' सत्वेषु निर्घृण' । पुमॉस्तत्र भव रौद्र विद्धि ध्यान चतुर्विध ॥ ४२ ॥ हिंसानदमृषानदस्तेयसरक्षणात्मक । पष्ठात्तु तद्गुणस्थानात्प्राक्पञ्चगुणभूमिक ॥ ४३ ॥ प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहित । अतर्मुहूर्त्तकालोत्थ पूर्ववद्भावमिष्यते ॥ ४४ ॥ वधबधादिसंधानमगच्छेदोपतापने । दण्डपारुष्यमित्यादिहिसानदः स्मृतो बुधैः ॥ ४५ ॥ हिसानद समाधाय हिंस्त्र प्राणिषु निर्घृण' । हिनस्त्यात्मानमेव प्राक्पश्चाद्ध-

---

उद्वेग करना और शोक करना आदि आर्तध्यानके चिन्ह हैं, अर्थात् ये जिसके हों उसके आर्तध्यान समझना चाहिये ॥ ४० ॥ इसीप्रकार शरीर अशक्त हो जाना, शरीरकी शोभा कम हो जाना, कपोलपर हाथ रखना और आंसू डालना तथा इसी प्रकारके और और चिन्ह होना आदि आर्तध्यानके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ४१ ॥ अब रौद्रध्यान कहते हैं । जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है अर्थात् दुःख देता है वह रुद्र अर्थात् क्रूर अथवा समस्त जीवोंमें निर्दयी कहलाता है । ऐसे पुरुषका ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है । यह रौद्रध्यान भी चार प्रकारका है ॥ ४२ ॥ हिंसानंद अर्थात् हिंसामें आनंद मानना, मृषानंद अर्थात् मिथ्याभाषण करनेमें आनंद मानना, स्तेयानंद अर्थात् चोरी करनेमें आनंद मानना और संरक्षणात्मक अर्थात् विषयोंकी रक्षा करनेमें आनंद मानना ये चार रौद्रध्यानके भेद हैं । यह रौद्रध्यान छठवें गुणस्थानसे पहिले अर्थात् पांचवे गुणस्थानतक केवल पांच गुणस्थानोंमें ही होता है ॥ ४३ ॥ यह चारोंप्रकारका रौद्रध्यान अधिकसे अधिक अशुभ ऐसी कृष्ण नील कापोत इन तीनो लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है । काल भी इसका अंतर्मुहूर्त है और भाव भी पहिलेके समान क्षायोपशमिक है ॥ ४४ ॥ मारनेकी इच्छा रखना, बांधनेकी इच्छा रखना, अंग उपांगोंको छेदना, संताप देना तथा कठिन दंड देना आदिको विद्वानलोग हिंसानंद नामका रौद्रध्यान कहते हैं ॥ ४५ ॥ प्राणियोंमें अतिशय निर्दयी ऐसा हिंसा करनेवाला पुरुष हिंसानंद नामके रौद्रध्यानको

न्यान्न वा परान् ॥ ४६ ॥ सिक्थमत्स्य. किलैकोऽसौ स्वयंभूरमणाम्बुधौ । महामत्स्यसमान्दोपानवाप स्मृतिदोषत ॥४७॥ पुरा किन्नरविदाख्य' प्रख्यातः खञ्चराधिप' । रुधिरस्नानरौद्राभिसधात् श्वाभ्रीं विवेश स ॥ ४८ ॥ आनृशस्य हि हिंसोपकरणादानतत्कथा । निसर्गहिंस्रता चेति लिंगान्यस्य स्मृतानि वै ॥४९॥ मृषानदो मृषावादैरतिसधानचिंतन । वाक्पारुष्यादिलिंगं तत् द्वितीयं रौद्रमिष्यते ॥५०॥ स्तेयानद परद्रव्यहरणे स्मृतियोजन । भवेत्सरक्षणानद' स्मृतिरर्थार्जनादिषु ॥५१॥ प्रतीतलिंगमेवैतद्रौद्रध्यानद्वय भुवि । नारक दु'खमस्याहुः फल रौद्रस्य दुस्तर ॥ ५२ ॥ वाह्य तु लिंगमस्याहुर्भ्रूभग मुखविक्रि-

अवलंबनकर प्रथम ही अपने आत्माका घात करता है फिर पीछेसे वह अन्य जीवका घात करे या न करे ॥ ४६ देखो स्वयंभूरमण समुद्रमें जो तंदुल नामका छोटा मत्स्य है वह केवल स्मृतिके दोषसे महामत्स्यके समान दोषोंको प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥ इसीप्रकार प्रसिद्ध ऐसा अरविंद नामका विद्याधरोंका स्वामी जो पहिले कहा है वह भी रुधिरमें स्नान करनेरूप रौद्रध्यानके चिंतवन करनेसे ही नरक गया था ॥ ४८ ॥ क्रूरपना, हिंसाके उपकरण ऐसे तलवार वरछी आदि शस्त्रोंका धारण करना, हिंसा करनेकी कथा कहना और स्वभावसे ही हिंसक होना आदि इस हिंसानंद नामके रौद्रध्यानके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ४९ ॥ झूठ वोलकर लोगोंको धोखा देनेवाले वचनोंका चिंतवन करना दूसरा मृषानंद नामका रौद्रध्यान है। तथा कठोर वचन कहना आदि इसके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ५० ॥ दूसरेके द्रव्यको हरण करने अथवा चोरी करनेका चिंतवन करना स्तेयानंद तीसरा रौद्रध्यान कहलाता है और धनके उपार्जन करने, उसकी रक्षा करने आदिका चिंतवन करना रक्षणानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है ॥ ५१ ॥ इन स्तेयानंद और रक्षणानंद दोनों रौद्रध्यानों के वाह्य चिन्ह संसारमें प्रसिद्ध हैं और ऊपर कहे हुये चारों रौद्रध्यानोंका फल अति कठिन नरक है ॥ ५२ ॥ भौंह टेडी करना, मुह विकृत बनाना, पसीना आना, शरीर कंपना और नेत्र लाल हो जाना आदि इन चारोंप्रकारके रौद्रध्यानोंके वाह्य चिन्ह हैं ॥ ५३ ॥ अनादि कालकी वासनासे उ-

यां । प्रस्वेदमंगकंपं च नेत्रयोश्चातिताम्रतां ॥ ५३ ॥ प्रयत्नेन विनैवैतदसध्यानद्वयं भवेत् । अनादिवासनोद्भूतमतस्तद्विसृजेन्मुनिः ॥ ५४ ॥ ध्यानद्वय विसृज्याद्यमसत्संसारकारण । यदुत्तर द्वयं ध्यान मुनिनाऽभ्यसिशिष्यते ॥ ५५ ॥ तदिद परिकर्मेष्ट देशावस्थाद्युपाश्रय । वहि.सामग्र्यधीन हि फलमत्र द्वयात्मकं ॥ ५६ ॥ शून्यालये श्मशाने वा जरदुद्यानकेऽपि वा । सरित्पुलिनागिर्यग्रगह्वरे द्रुमकोटरे ॥ ५७ ॥ शुचावन्यतमे देशे चित्तहारिण्यपातपे । नात्युष्णाशिशिरे नापि प्रवृद्धतरमारुते ॥ ५८ ॥ विमुक्तवर्षसंवधे सूक्ष्मजंत्वनुपद्रुते । जलसंपातनिर्मुक्ते मदमंदनभस्वति ॥ ५९ ॥ पल्यंकमासन वध्वा

त्पन्न हुये ये दोनों ही अपध्यान (आर्तध्यान और रौद्रध्यान) विना ही प्रयत्नके उत्पन्न होते हैं । इसलिये मुनियोंको इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिये ॥ ५४ ॥ आर्त और रौद्र ये प्रथम कहे हुये दोनों ही ध्यान असत् ध्यान हैं, संसारके कारण हैं इसलिये मुनिलोग इन दोनों ध्यानोंका त्यागकर आगेके अर्थात् धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंका अभ्यास करते हैं ॥ ५५ ॥ ये दोनों ही ध्यान देश काल और अवस्था आदिकी अपेक्षा रखते हैं तथा वाह्य सामग्रीके आधीन हैं और इनका फल भी मुख्य और गौण रीतिसे दो प्रकारका है ॥ ५६ ॥ ये दोनों ही प्रकारके ध्यान करनेवाला सूने घरमें, श्मशानमें, पुराने बनमें, नदीके किनारे, पर्वतकी शिखरपर, पर्वतकी गुफामें, किसी वृक्षके कोटरमें अथवा और भी किसी पवित्र देशमें जोकि चित्तको हरण करनेवाला हो, आतप गर्मी और सर्दी भी जहां न हो, तथा जहां वायुका विशेष वेग भी न हो, जहां वहुत वर्षा भी न होती हो, सूक्ष्म जीवोंका कोई उपद्रव न हो, जहां जलका विशेष आगमन अथवा जलका प्रपात न हो और जहां मंद मंद वायु वहती हो ऐसी जगहपर सुख पूर्वक पर्यंक आसनसे विराजमान होकर सम और सरल होकर तथा शरीरको निश्चलकर विराजमान हो, अपने पर्यंकपर वायें हाथको इसप्रकार रक्खे कि जिसमें हथेली ऊपरकी ओर हो, तथा इसीप्रकार अर्थात् हथेली ऊपरकी ओर करके इस वायें हाथपर दाहिना हाथ रक्खे, उससमय अपनी आखें न तो विलकुल वंद करलेवे

सुनिविष्टो महीतले । सममृज्वायतिं बिभ्रद्गात्रमस्तब्धवृत्तिकं ॥ ६० ॥ स्वपर्यंके कर वाम नस्योत्ताननल पुन । तस्योपरितर पाणिमपि सन्यस्य तत्सम ॥ ६१ ॥ नात्युन्मिषन्न चात्यत निमिषन्मंदमुच्छ्वसन् । दतैर्दंताग्रसंधानपरो धीरो निरुद्धधी. ॥ ६२ ॥ हृदि मूर्ध्नि ललाटे वा नाभेरूर्ध्वं परत्र वा । स्वाभ्यासवशताश्चित्त निधायाध्यात्मविन्मुनिः ॥ ६३ ॥ ध्यायेद्द्रव्यादियाथात्म्यमागमार्थानुसारत. । परीषहोत्थिता बाधा' सहमानो निराकुलः ॥ ६४ ॥ प्राणयामेऽतितीव्रे स्यादवशस्याकुलं मनः । व्याकुलस्य समाधानभंगान्न ध्यानसभवः ॥ ६५ ॥ अपि व्युत्सृष्टकायस्य समाधि' प्रतिपत्तये । मंदोच्छ्वासनिमेषादिवृत्तेर्नास्ति निषेधन ॥ ६६ ॥ समावस्थितकायस्य स्यात्समाधानमगिनः । दुःस्थितागस्य तद्भगाद्भवेदाकुलता धिय. ॥ ६७ ॥ ततो यथोक्तपल्यक-

---

और न बिलकुल खोल लेवे अर्थात् दृष्टि नासिकापर रक्खे, उच्छ्वास भी धीरे २ ले, ऊपर नीचेकी दोनों दांतोंकी पंक्तियोंको मिला लेवे, इसप्रकार धीरवीर मनको वश करनेवाला अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाला मुनिराज चित्तको हृदयमें वा मस्तकपर, अथवा ललाटमें वा नाभिके ऊपर अथवा अपने अभ्यासके कारण किसी दूसरी जगह स्थापनकर क्षुधा तृषा आदि परीषहोंसे उत्पन्न हुईं अनेक बाधाओंको सहन करता हुआ, तथा निराकुल होता हुआ शास्त्रानुसार जीव अजीव आदि द्रव्योंके यथार्थ स्वरूपका चिंतवन करे ॥ ५७ से ॥ ६४ ॥ अत्यंत तीव्र प्राणयाम (श्वासोच्छ्वास) होनेसे इंद्रियोंको पूर्ण रीतिसे वश न करनेवाले मनुष्यका मन आकुलित हो जाता है तथा मन व्याकुल होनेसे धैर्य नष्ट हो जाता है और धैर्य नष्ट होनेसे ध्यान नहीं हो सकता ॥ ६५ ॥ इसलिये शरीरसे ममत्वका त्याग करनेवाले मुनिके ध्यानकी सिद्धि होनेकेलिये मंद २ उच्छ्वास और पलकोंके लगने उघडनेका कुछ निषेध नहीं है ॥ ६६ ॥ यदि ध्यानके समय शरीर समतोल अर्थात् एकसा हो, ऊंचा नीचा न हो तो प्राणियोंके चित्तको समाधान (धैर्य) रहता है । यदि शरीर समतोल न हो ऊंचा नीचा हो तो चित्तको समाधान नहीं रहता और चित्तको समाधान न रहनेसे चित्तको व्याकुलता

लक्षणासनमास्थितः । ध्यानाभ्यासं प्रकुर्वीत योगी व्याक्षेपमुत्सृजन् ॥ ६८ ॥ पर्यंक इव दिध्यासो कायोत्सर्गोऽपि समतः । समप्रयुक्तसर्वांगो द्वात्रिंशद्दोषवर्जितः ॥ ६९ ॥ विसष्ठुलासनस्थस्य ध्रुव गात्रस्य निग्रहः । तन्निग्रहान्मनःपीडा ततश्च विमनस्कता ॥ ७० ॥ वैमनस्ये च किं ध्यायेत्तस्मादिष्ट सुखासन । कायोत्सर्गश्च पर्यंकस्ततोऽन्यद्विषमासन ॥ ७१ ॥ तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्य ध्यायतो यते. । प्रायस्तत्रापि पल्यकमामनंति सुखासनं ॥ ७२ ॥

रहती है ॥ ६७ ॥ इसलिये मुनियोंको ऊपर कहे हुये पर्यंक आसनसे विराजमान होकर और चित्तकी व्याकुलता छोडकर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ॥ ६८ ॥ जो मुनि ध्यान करना चाहता है उसकेलिये भगवानने पर्यंक आसनके समान ही कायोत्सर्ग (खडे होना) आसन भी कहा है। ध्यानके समय जो मुनि अपने समस्त शरीरको एकसा रखता है अर्थात् अपने किसी अंग उपांगको ऊंचा नीचा नहीं रखता वह वत्तीस दोषोंसे वहुत दूर रहता है ॥ ६९ ॥ जो मुनि ध्यानके समय शिथिल आसनसे विराजमान होता है अथवा वीरासन वज्रासन आदि विषम आसनोंसे विराजमान होता है उसके शरीरको अवश्य ही दुख पहुंचता है, शरीरको दुख पहुंचनेसे मनको पीडा होती है और मनको पीडा होनेसे व्याकुलता उत्पन्न होती है ॥ ७० ॥ तथा चित्त व्याकुल होनेसे वह मुनि कुछ भी ध्यान नहीं कर सकता। इसलिये ध्यानकेलिये सुखासन ही योग्य है। कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो ही सुखासन हैं, इनके सिवाय अन्य सव आसन विषमासन कहलाते हैं ॥ ७१ ॥ इसलिये ध्यान करनेवाले मुनियोंको कायोत्सर्ग और पर्यंक ये दो ही मुख्य आसन कहे हैं। इन दोनोंमे भी प्रायः पर्यंक आसन ही सुखासन माना जाता है ॥ ७२ ॥ आगममें यह भी सुना है कि जिनका शरीर वज्रके समान है अर्थात् जो वज्रवृषभ नाराच संहननको धारण करनेवाले हैं और जिनका मनोवल वचनवल और कायबल अत्यंत उत्कृष्ट है ऐसे पुरुष वीरासन वज्रासन आदि सव आसनोंसे विराजमान होकर भी केवल ध्यानके वलसे अविनश्वर ऐसे मोक्षस्थानको

वज्रकाया महासत्वाः सर्वावस्थांतरस्थिताः । श्रूयंते ध्यानयोगेन संप्राप्ताः पदमव्ययं ॥ ७३ ॥ वाहुल्यापेक्षया तस्मादवस्थाद्वयसंगरः । शक्तानामुपसर्गाद्यैस्तद्वैचित्र्यं न दुष्यति ॥ ७४ ॥ देहावस्था पुनर्यैव न स्याद् ध्यानोपरोधिनी । तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत् स्थित्वास्थित्वाधिशय्य वा ॥ ७५ ॥ देशादिनियमोऽप्येव प्रायोवृत्तिव्यपाश्रयः । कृतात्मनां तु सर्वोऽपि देशादिर्ध्यानसिद्धये ॥ ७६ ॥ स्त्रीपशुक्लीवससक्तरहितं विजनं मुनेः । सर्वदैवोचित स्थान ध्यानकाले विशेषतः ॥ ७७ ॥ वसतोऽस्य जनाकीर्णे विषयानभिपश्यतः । वाहुल्यादिंद्रियार्थानां जातु व्यग्रीभवेन्मनः ॥ ७८ ॥ ततो विविक्तशायित्वं वने

प्राप्त हुये हैं ॥ ७३ ॥ इसलिये पर्यंक और कायोत्सर्ग इन दोनों आसनोंकी प्रतिज्ञा करना प्रायः साधारण लोगोंकी अपेक्षासे है, तथा उपसर्ग परीषह आदिके सहन करनेसे अतिशय समर्थ ऐसे मुनियोंके लिये वीरासन आदि विचित्र आसनोंसे विराजमान होनेमें कोई दोष नहीं है ॥ ७४ ॥ अथवा जिन मुनियोंको जो जो आसन ध्यानका विरोधी न हो उन्हें उसी आसनसे ध्यान करना चाहिये। चाहे वे बैठकर ध्यान करें वा खडे होकर ध्यान करें अथवा लेटकर ध्यान करें ॥ ७५ ॥ इसीप्रकार देश अथवा कालका नियम करना भी साधारण ध्यान करनेवालोंके लिये है, पूर्ण शक्तिको धारण करनेवालोंके लिये प्रायः सब ही देश और सब ही काल ध्यानके साधन हैं ॥ ७६ ॥ जिस देशमें स्त्री, पशु और नपुंसक जीव नहीं रहते हैं तथा जो सर्वथा निर्जन है वही देश मुनियोंको सदा निवास करने योग्य है और ध्यानके समय तो विशेषकर ऐसा ही देश मुनियोंके योग्य गिना जाता है ॥ ७७ ॥ जो मुनि मनुष्योंसे भरे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें रहते हैं और रातदिन विषयोंको देखा करते हैं ऐसे मुनियोंका चित्त ऊपर लिखे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें इंद्रियोंके विषयोंकी अधिकता होनेसे कदाचित् व्याकुल हो सकता है ॥ ७८ ॥ इसलिये मुनियोंको एकांत स्थानमें शयन करना और बनमें निवास करना ही योग्य है। यह जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों प्रकारके मुनियोंका साधारण मार्ग है ॥ ७९ ॥ मुनियोंको निवास करनेकेलिये ऐसा साधारण नियम

वासश्च योगिनां । इति साधारणो मार्गो जिनस्थविरकल्पयोः ॥ ७९ ॥ इत्यमुष्यां व्यवस्थायां सत्यां धीरास्तु केचन । विहरंति जनाकीर्णे शून्ये च समदर्शिनः ॥ ८० ॥ न चाहोरात्रसंध्यादिलक्षणः कालपर्ययः । नियतोऽस्यास्ति दिध्यासोस्तद्धन सार्वकालिकं ॥ ८१ ॥ यद्देशकालचेष्टासु सर्वास्वेव समाहिताः । सिद्धाः सिध्यंति सेत्स्यंति नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः ॥ ८२ ॥ यदा यत्र यथावस्थो योगी ध्यानमवाप्नुयात् । स कालः स च देशः स्याद्ध्यानेऽवस्था च सा मता ॥ ८३ ॥ प्रोक्ता ध्यातुरवस्थेयमिदानीं तस्य लक्षण । ध्येय ध्यानं फलं चेति वाच्यमेतच्चतुष्टयं ॥ ८४ ॥ वज्रसंहनन कायमुद्वहन्वल-

---

होते हुये भी समदर्शी अर्थात् सबको एकसा देखनेवाले थोडेसे धीरवीर मुनि मनुष्योंसे भरे हुये शहर आदि प्रदेशोंमें भी विहार करते हैं ॥ ८० ॥ इसीप्रकार ध्यान करनेवाले मुनियोंके दिन रात प्रातःकाल संध्याकाल आदि कालका नियम नहीं है अर्थात् वे प्रातःकाल मध्यान्ह सायंकाल वा रात्रिमें ही ध्यान करें, दूसरे समयमें न करें, ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि वह ध्यानरूपी धन सब समयमें उपयोग करने योग्य है अर्थात् ध्यान सब समयमें हो सकता है ॥८१॥ क्योंकि आजतक जो सिद्ध हुये हैं, अब हो रहें हैं और आगे होंगे वे समस्त देश और सब समयमें ध्यान धारण कर हुये हैं, सब देश और सब समयमें हो रहे हैं और आगे भी सब देश और सब समयमें होंगे, कोई ऐसा देश वा समय नहीं है जिसमें सिद्ध न हुये हों और न आगे हों, इसलिये ध्यानके लिये देश और कालका कोई नियम नहीं है ॥ ८२ ॥ जो मुनि जिस समय जिस देशमें और जिस आसनसे ध्यानको प्राप्त होता है वही समय वही देश और वही आसन ध्यानके योग्य समझना चाहिये ॥ ८३ ॥ इसप्रकार ध्यान करनेवालेकी अवस्था निरूपण की। अब ध्यान करनेवालेका लक्षण, ध्यान करनेयोग्य ध्येय (जिसका ध्यान वा चिंतवन किया जाता है) ध्यान और ध्यानका फल इन चारोंका स्वरूप क्रमसे वर्णन करते हैं ॥ ८४ ॥ उनमें भी पहिले ध्याताका लक्षण कहते हैं, जिसका शरीर वज्रवृषभनाराच संहननका धारक है, अतिशय बल-

वत्तमं। उद्यत्सूरस्तपोयोगे स्वभ्यस्तश्रुतविस्तरः ॥ ८५ ॥ दूरोत्सारितदुर्ध्यानो दुर्लेश्याः परिवर्जयन्। लेश्याविशुद्धिमालव्य भावयन्नप्रमत्तता ॥ ८६ ॥ प्रज्ञापारमितो योगी ध्याता स्याद्धीवलान्वितः। सूत्रार्थालंवनो धीरः सोढाशेषपरीषहः ॥ ८७ ॥ अपि चोद्भूतसंवेगः प्राप्तनिर्वेदभावनः। वैराग्यभावनोत्कर्षात्पश्यन्भोगानतर्पकान् ॥ ८८ ॥ सज्ञानभावनापास्तमिथ्याज्ञानतमोघनः। विशुद्धदर्शनापोढगाढमिथ्यात्वशल्यकः ॥ ८९ ॥ क्रिया निःश्रेयसोदर्क्काः प्रपद्योज्झितदुष्क्रियः। प्रोद्यतः करणीयेषु व्युत्सृष्टाकरणीयकः ॥ ९० ॥ व्रताना प्रत्यनीका ये दोषा हिंसानृतादयः। तानशेपान्निराकृत्य व्रतशुद्धिमुपेयिवान् ॥ ९१ ॥ स्वैरुदारतरैः क्षांतिमार्दवार्जवलाघवैः। कपायवैरिणस्तीव्रान्क्रोधादीन्विनिवर्त्तयन् ॥९२॥ अनित्यानशुचीन्दुःखानपश्यन्भावानानात्मकान्।

वान है जो तपश्चरण करनेमें अत्यंत शूरवीर है, जिसने शास्त्रमें खूब अभ्यास किया है ॥ ८५ ॥ जो आर्त और रौद्रध्यान कभी नहीं करता है, जिसके अशुभलेश्या नहीं है, जो विशुद्ध लेश्याओंका अवलंबनकर अप्रमाद अवस्थाका चिंतवन करता है, जो अतिशय बुद्धिमान् है, योगी है, जिसे बुद्धिका बल बहुत है, जो धीरवीर है, समस्त परीषहोंको जीतनेवाला है और सूत्र अर्थात् सिद्धांत शास्त्रके अर्थका आश्रय लेनेवाला है उसे ध्याता कहते हैं ॥ ८६-८७ ॥ इसके सिवाय जिसे जन्म मरणरूप संसारसे भय उत्पन्न हुआ है तथा वैराग्यकी भावनायें उत्पन्न हुई हैं और जो वैराग्यकी उत्कृष्ट भावनाओंके वलसे संसार संबंधी भोगोपभोगकी सामग्रियोंको अतृप्त करनेवाली (जिनसे कभी तृप्ति न हो) देखता है ॥ ८८ ॥ जिसने सम्यग्ज्ञानकी भावनासे मिथ्याज्ञानरूपी अंधकार बिलकुल नष्ट करदिया है और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धतासे जिसने गाढ मिथ्यात्वरूपी शल्य नष्ट करदी है ॥ ८९ ॥ तथा जिनसे मोक्षरूपी फल प्राप्त होता है ऐसी क्रियाओंको स्वीकारकर जिसने समस्त अशुभ क्रियायें छोडदी हैं, जो करने योग्य सामयिक आदि कार्योंमें सदा तत्पर रहता है और जिसने अकर्तव्य अर्थात् न करने योग्य कार्य सब छोड दिये हैं ॥ ९० ॥ हिंसा झूठ चोरी आदि जो व्रतोंके प्रतिकूल दोष हैं वे सब नष्टकर जिसने व्रतोंकी परम विशुद्धि प्राप्त की है ॥ ९१ ॥ जो

वपुरायुर्बलारोग्ययौवनादिविकल्पितान् ॥ ९३ ॥ समुत्सृज्य चिराभ्यस्तान्भावान्रागादिलक्षणान् । भावयन् ज्ञानवैराग्यभावना' प्रागभाविताः ॥ ९४ ॥ भावनाभिरसमूढो मुनिर्ध्याने स्थिरो भवेत् । ज्ञानदर्शनचारित्रवैराग्योपगताश्च ताः ॥ ९५ ॥ वाचनाप्रच्छने चानुप्रेक्षण परिवर्त्तनं । सद्धर्मदेशन चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावना ॥ ९६ ॥ सवेग. प्रशमः स्थैर्यमसमूढत्वमस्मय. । आस्तिक्यमनुकंपेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावना. ॥ ९७ ॥ ईर्यादिविषया यत्ना मनोवा-

---

अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे अपने उत्तमक्षमा उत्तममार्दव उत्तमआर्जव और उत्तमशौच धर्मोंसे प्रबल क्रोध मान माया लोभ इन कषायरूपी शत्रुओंको नष्ट करता है ॥ ९२ ॥ तथा जो शरीर आयु बल आरोग्य और यौवन आदि पदार्थोंको सर्वथा आत्मासे भिन्नरूप चिंतवन करता है, ये सब दुख देनेवाले हैं, इसलिये इन्हें दुखरूप चिंतवन करता है तथा सबको अनित्य और अपवित्र देखता है ॥ ९३ ॥ जिनका बहुत दिनोंसे (अनंतकालसे) अभ्यास हो रहा है ऐसे राग द्वेष आदि भावोंका जो सर्वथा त्याग करता है और जिनका चिंतवन पहिले कभी नहीं किया है ऐसी ज्ञान वैराग्य आदि भावनाओंका चिंतवन करता है ॥ ९४ ॥ ऐसा ऊपर कहा हुआ मुनि भावनाओंमें प्रमाद नहीं करताहुआ ध्यान करनेमें स्थिर होता है। जिन भावनाओंमें वह क्षुब्ध नहीं होता वे ज्ञान दर्शन चारित्र और वैराग्यकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९५ ॥ जिनशास्त्रका पढना, विचार करना, चिंतवन करना और सद्धर्मका उपदेश देना ये पांच ज्ञानकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९६ ॥ संवेग अर्थात् जन्ममरण रूप संसारसे भय होना, प्रशम अर्थात् शांत परिणाम होना, धीरता रखना, मूढता नहीं करना, गर्व नहीं करना आस्तिक्य अर्थात् श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शनकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९७ ॥ चलने आदिमें यत्नपूर्वक रहना अर्थात् ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपणसमिति, और उत्सर्गसमिति इन पांचों समितियोंका पालन करना, मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिका पालन करना तथा समस्त परिषहोंको सहन करना ये सब

कायगुप्तयः । परीषहसहिष्णुत्वमिति चारित्रभावनाः ॥ ९८ ॥ विषयेष्वनभिष्वंग कायतत्त्वानुचिंतन । जगत्स्वभावचिंतेति वैराग्यस्थैर्यभावना ॥ ९९ ॥ एव भावयतो ह्यस्य ज्ञानचर्यादिसंपदि । तत्त्वज्ञस्य विरागस्य भवेदव्यग्रता धिय' ॥ १०० ॥ स चतुर्दशपूर्वज्ञो दशपूर्वधरोऽपि वा । नवपूर्वधरो वा स्याद्ध्याता संपूर्णलक्षणः ॥ १०१ ॥ श्रुतेन विकलेनापि स्याध्याता मुनिसत्तम. । प्रबुद्धधीरध.श्रेण्या धर्मध्यानस्य सुश्रुत. ॥ १०२ ॥ स एवलक्षणो ध्याता सामग्री प्राप्य पुष्कलां । क्षपकोपशमश्रेण्योरुत्कृष्ट ध्यानमृच्छति ॥ १०३ ॥ आद्यसहननेनैव क्षपकश्रेण्यधिश्रितः । त्रिभिराद्यैर्भजेत् श्रेणीमितरा श्रुत-

---

चारित्रकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९८ ॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, शरीरके वास्तविक स्वरूपका चिंतवन करना और जगतका अनित्यरूप स्वभाव चिंतवन करना ये वैराग्यके स्थिर करनेकी भावनायें कहलाती हैं ॥ ९९ ॥ इसप्रकार इन भावनाओंको चिंतवन करनेवाले, तत्त्वोंको जाननेवाले और विरक्त हुये मुनिकी बुद्धि ज्ञान और चारित्र रूपी संपदामें स्थिर रहती है ॥ १०० ॥ इसप्रकार ऊपर कहा हुआ ध्यान करनेवाला मुनि यदि ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला हो वा ग्यारह अंग दश पूर्वका जाननेवाला हो अथवा ग्यारह अंग नौ पूर्वका जाननेवाला हो तो वह ध्याता समस्त लक्षण संयुक्त कहलाता है ॥ १०१ ॥ यदि वह पूर्ण श्रुतज्ञानी न हो, अल्पश्रुतज्ञानी हो तो भी वह अतिशय बुद्धिमान् उत्कृष्ट मुनि श्रेणी आरोहणसे पहिले २ धर्म्यध्यानका ध्यान करनेवाला उत्तम ध्याता कहलाता है ॥ १०२ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये लक्षणों सहित ध्यान करनेवाला ध्यानकी बहुतसी सामग्री पाकर उपशम और क्षपकश्रेणीमें उत्कृष्ट शुक्लध्यानको प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥ श्रुतज्ञानसे समस्त तत्त्वोंको जाननेवाला ऐसा वज्रवृषभ नाराच संहननवाला मुनि ही क्षपकश्रेणीका प्रारंभ कर सकता है । तथा वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच इन पहिलेके तीन संहनन धारण करनेवाला मुनि उपशम श्रेणीको प्राप्त होता है ॥ १०४ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि शरीर आदि वाह्य पदार्थोंके समूहसे अपनी दृष्टिको कुछ हटाकर और अपनी स्मृतिको अपने

तत्त्ववित् ॥ १०४ ॥ किंचिद् दृष्टिमुपावर्त्य वहिरर्थकदंवकात् । स्मृतिमात्मनि संधाय ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥ १०५ ॥ हृषीकाणि तदर्थेभ्यः प्रत्याहृत्य ततो मनः । सहृत्य धियमव्यग्रा धारयेद् ध्येयवस्तुनि ॥ १०६ ॥ ध्येयमध्यात्मतत्त्व स्यात्पुरुषार्थोपयोगि यत् । पुरुषार्थश्च निर्मोक्षो भवेत्तत्साधनानि च ॥ १०७ ॥ अह ममास्रवो वध. सवरो निर्जरा क्षयः । कर्मणामिति तत्त्वार्था ध्येयाः सप्त नवाथवा ॥ १०८ ॥ षड्नयद्रव्यपर्यायथाथात्म्यस्यानुचिंतनं । यतो ध्यानं ततो ध्येय कृत्स्न. पड्द्रव्यविस्तरः ॥ १०९ ॥ नयप्रमाणजीवादिपदार्थन्यायभासुरा । जिनेंद्रवक्त्रप्रसूता ध्येया सिद्धातपद्धतिः ॥ ११० ॥

आत्मामें ही स्थापन कर ध्यान करे ॥ १०५ ॥ प्रथम तो स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र इन पांचों इंद्रियोंको स्पर्श रस गंध वर्ण और शव्द इन पाचों इंद्रियोंके विषयोंसे हटावे और फिर मनको इंद्रियोंसे हटाकर अपनी एकाग्र (स्थिर) बुद्धि ध्यान करने योग्य ध्येय वस्तुमें स्थापन करे ॥ १०६ ॥ जो पुरुषार्थका उपयोगी है ऐसा अध्यात्मतत्त्व ही ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य है, कर्मोंका क्षय होना अर्थात् मोक्ष प्राप्त होना पुरुषार्थ कहलाता है, और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उस पुरुषार्थके साधन कहलाते हैं ॥ १०७ ॥ मैं अर्थात् आत्मा, मेरे ये शरीर आदि अजीव आस्रव, वंध, संवर, निर्जरा और समस्त कर्मोंका क्षय होनेरूप मोक्ष इन सातों तत्त्वोंका ध्यान करे, अथवा पुण्यपापको मिलाकर नौ पदार्थोंका ध्यान करे ॥ १०८ ॥ चूंकि छह प्रकारके नयोंके द्वारा ग्रहण किये हुये जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल इन छहों द्रव्य और इनकी समस्त पर्यायोंके यथार्थ स्वरूपका वार वार चिंतवन करना ही ध्यान कहलाता है इसलिये छह द्रव्योंका समस्त विस्तार अर्थात् छहों द्रव्य और उनकी समस्त पर्याय ध्यान करने योग्य हैं ॥ १०९ ॥ नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शव्द समभिरूढ एवंभूत ये सात नय, प्रत्यक्ष परोक्ष ये दो प्रमाण, जीव अजीव आदि पदार्थ और सप्तभंगी रूप न्याय इन सबसे देदीप्यमान होनेवाली तथा श्रीजिनेंद्रदेवके मुखसे प्रगट हुई ऐसी सिद्धांतशास्त्रकी समस्त रचना अर्थात् जैन

श्रुतमर्थाभिधानं च प्रत्ययश्चेत्यदस्त्रिधा । तस्मिन्ध्येये जगत्तत्त्वं ध्येयतामिति कात्स्न्र्यतः ॥ १११ ॥ अथवा पुरुषार्थस्य परां काष्ठामधिष्ठितः । परमेष्ठी जिनो ध्येयो निष्ठितार्थो निरंजनः ॥ ११२ ॥ स हि कर्ममलापायाच्छुद्धिमात्यंतिकीं श्रितः । सिद्धो निरामयो ध्येयो ध्यातृणां भावशुद्धये ॥ ११३ ॥ क्षायिकानंतदृग्बोधसुखवीर्यादिभिर्गुणैः । युक्तोऽसौ योगिनां गम्यः सूक्ष्मोऽपि व्यक्तलक्षणः ॥ ११४ ॥ अमूर्तो निष्कलोऽप्येष योगिनां ध्येयगोचरः । किंचिन्न्यूनान्त्यदेहानुकारि जीवघनाकृतिः ॥११५॥ निःश्रेयसार्थिभिर्भव्यैः प्राप्तनिःश्रेयसः स हि । श्रेयः श्रेयस्करः सार्वः सर्वदृक् सर्वभाववित् ॥११६॥

शास्त्रोंमें कहे हुये समस्त पदार्थ ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११० ॥ श्रुत अर्थात् सिद्धांत, अभिधान अर्थात् शब्द और प्रत्यय अर्थात् ज्ञान इसतरह तीनप्रकारका ध्येय कहलाता है, इन तीनों प्रकारके ध्येयोंका ध्यान करनेसे जगतके समस्त तत्त्व पूर्ण रीतिसे ध्येय समझे जाते हैं ॥ १११ ॥ अथवा मोक्षरूप परम पुरुषार्थकी परम काष्ठाको प्राप्त हुये, परमेष्ठी भगवान् कृत्यकृत्य और कर्म रहित ऐसे परमेष्ठी जिनेंद्रदेव ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११२ ॥ क्योंकि वे सिद्ध भगवान् कर्मरूपी मलके दूर होनेसे अत्यंत शुद्ध होगये हैं और सर्वथा क्लेशरहित हैं इसलिये वे परिणामोंकी विशुद्धि होनेकेलिये ध्यान करनेवालोंको ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं ॥ ११३ ॥ वे सिद्ध भगवान् क्षायक अनंतदर्शन क्षायिक अनंतज्ञान क्षायिक अनंतसुख और क्षायिक अनंत वीर्य आदि गुणसहित हैं, यद्यपि वे अतिशय सूक्ष्म है तथापि उनके लक्षण प्रगट हैं और वे केवल योगी लोगोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ११४ ॥ यद्यपि वे भगवान् अमूर्त और अशरीरी हैं तथापि योगी लोगोंको ध्यान करने योग्य हैं और उनका आकार अंतिम शरीरके (जिस शरीरसे मोक्ष प्राप्त होती है) आकारसे कुछ कम ऐसा केवल जीवमय है ॥ ११५ ॥ उन्हीं सिद्ध भगवानसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसके सिवाय वे सिद्ध भगवान् कल्याणरूप हैं, कल्याण करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सबको देखनेवाले और सब पदार्थोंको जाननेवाले हैं ॥११६॥

स साकारोऽप्यनाकारोनिराकारोऽपि साकृतिः । स्वसात्कृताखिलज्ञेयः सुज्ञातो ज्ञानचक्षुषा ॥ ११७ ॥ मणिदर्पणसंक्रान्तच्छायात्मेव स्फुटाकृतिः । दवज्जीव घनाकारममूर्तोऽप्यचलस्थितिः ॥ ११८ ॥ वीतरागोऽप्यसौ ध्यातो भव्याना भवविच्छिदे । विच्छिन्नबंधनस्यास्य तादृग्नैसर्गिको गुण ॥ ११९ ॥ अथवा स्नातकावस्था प्राप्तो घातिव्यपायत. । जिनोऽर्हन्केवली ध्येयो बिभ्रत्तेजोमय वपु' ॥ १२० ॥ रागाद्यविद्याजयनाजिनोऽर्हन्घातिना हते । स्वात्मोपलब्धितः सिद्धो बुद्धस्त्रैलोक्यबोधनात् ॥ १२१ ॥ त्रिकालगोचरानंतपर्यायोपचितार्थदृक् । विश्वज्ञो विश्वदर्शी च विश्वसाद्भूतचिद्गुण. ॥१२२॥

वे भगवान साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं, तथा स्वयं जगतके समस्त पदार्थोंको जानते हैं परंतु आप ज्ञानरूप, नेत्रोंके द्वारा ही जाने जाते हैं ॥ ११७ ॥ जिस-प्रकार रत्नमय दर्पणमें पडा हुआ प्रतिबिंब साफ दिखाई देता है उसीप्रकार सिद्धोंका आकार भी निर्मल और प्रगट है, यद्यपि वे अमूर्त हैं तथापि चिद्घन अर्थात् चैतन्य स्वरूप आकारको धारण करनेवाले और सदा स्थिर हैं ॥ ११८ ॥ यद्यपि सिद्ध भगवान वीतराग हैं जो भव्य जीव उनका ध्यान करते हैं उनका जन्म - मरणरूप संसार वे अवश्य ही नष्ट कर देते हैं, सबप्रकारके कर्मरूप बंधनोंको दूर करनेवाले ऐसे इन सिद्ध भगवानका यह स्वाभाविक गुण है ॥ ११९ ॥ अथवा चार घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिनकी स्नातक अवस्था प्राप्त हुई है तथा जो तेजोमय शरीरको धारण करनेवाले, जिनेंद्रदेव, केवली भगवान् हैं ऐसे अरहंत देव भी ध्यान करनेयोग्य हैं ॥ १२० ॥ रागादि समस्त अविद्याओंको जीत लेनेसे जो जिन कहलाते हैं, घातिया कर्मोंको नष्ट करदेनेसे अरहंत कह-लाते हैं, उन्हें अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हुई है इसलिये जो सिद्ध कहलाते हैं और तीनों लोकोंको जानते हैं इसलिये जो बुद्ध कहलाते हैं ॥ १२१ ॥ भूत भविष्यत् वर्तमान् इन तीनों कालोंमें होनेवालीं पदार्थोंकी अनंत पर्यायमें जिनकी अर्थदृष्टि पडती है अर्थात् जो समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंको जानते हैं तथा जो सबको जाननेवाले, सबको देखनेवाले हैं और जिनका ज्ञानरूप चैतन्य

केवली केवलालोकविशालामललोचन । घातिकर्मक्षयादाविर्भूतानंतचतुष्टय ॥ १२३ ॥ द्विषड्भेदगणाकीर्णां सभावनिमाधिष्ठित । प्रातिहार्यैरभिव्यक्तत्रिजगत्प्राभवो विभु ॥ १२४ ॥ नियताकृतिरप्येष विश्वरूप. स्वचिद्गुणै । सक्रांताशेषविज्ञेयप्रतिबिंबानुकारतः ॥ १२५ ॥ विश्वव्यापी सविश्वार्थव्यापिविज्ञानयोगत । विश्वास्यो विश्वतश्चक्षुर्विश्वलोकशिखामणि' ॥ १२६ ॥ ससारसागरात् दूरमुत्तीर्ण सुखसाद्भवन् । विधूतसकलक्लेशो विच्छिन्नभवबंधन. ॥ १२७ ॥ निर्भयश्च निराकांक्षो निराबाधो निराकुल' । निर्व्यपेक्षो निरातंको निलो निष्कर्मकल्मषः ॥ १२८ ॥ नवकेवललब्ध्यादिगुणा-

---

गुण समस्त संसारमें व्याप्त है ॥ १२२ ॥ जो केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं, केवल ज्ञान ही जिनके विशाल और निर्मल नेत्र हैं तथा घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जिन्हें अनंत चतुष्टय प्राप्त हुआ है ॥ १२३ ॥ तथा जो बारह प्रकारके जीवोंके समूहोंसे भरे हुये सभाभवनको अर्थात् समवसरणको सुशोभित करते हैं और अष्ट प्रातिहार्योंके होनेसे जिनकी जगतकी प्रभुता प्रगट हो रही है तथा जो विभु अर्थात् सर्वज्ञ हैं ॥ १२४ ॥ यद्यपि उनका आकार नियत है तथापि अपने चैतन्यरूप गुणोंके द्वारा प्रतिबिंबित हुये समस्त पदार्थोंके प्रतिबिंबरूप होनेसे जो विश्वरूप हैं अर्थात् संसारमें व्याप्त हैं ॥ १२५ ॥ उनका ज्ञान जगतके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है इसलिये जो जगतव्यापी कहलाते हैं, तथा वे समस्त जगतको जाननेवाले समस्त जगतको देखनेवाले और समस्त जगतके शिखामणि हैं ॥ १२६ ॥ संसाररूपी समुद्रसे जो बहुत शीघ्र पार होनेवाले हैं, अत्यंत सुखमय हैं, जिनके समस्त क्लेश दूर हो गये हैं और संसाररूपी बंधन जिनका नष्ट हो गया है ॥ १२७ ॥ जिन्हें कुछ भय नहीं है, आकांक्षा नहीं है, वाधा नहीं है, आकुलता नहीं है अपेक्षा नहीं है, और रोग नहीं है, जो नित्य हैं और कर्मरूपी मलसे विलकुल रहित हैं ॥ १२८ ॥ ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ केवललब्धिरूप गुणोंसे जिनका शरीर अत्यंत उत्तम और अतिशययुक्त है तथा वज्रकी शिलामें खुदे हुये पर्वतके समान जिनका शरीर अभेद्य अर्थात् छेदन भेदन

रुन्धवपुष्टरः । अभेद्यसंहतिर्वज्रशिलोत्कीर्ण इवाचलः ॥ १२९ ॥ स एवंलक्षणो ध्येयः परमात्मा परः पुमान् । परमेष्ठी परं तत्त्वं परमं ज्योतिरक्षरं ॥ १३० ॥ साधारणमिद ध्येयं ध्यानयोर्द्धर्म्यशुक्लयोः । विशुद्धिस्वामिभेदात्तु तद्विशेषोऽवधार्यता ॥ १३१ ॥ प्रशस्तप्रणिधान यत् स्थिरमेकत्र वस्तुनि । तध्यानमुक्त मुक्त्यंगं धर्म्यं शुक्लमिति द्विधा ॥ १३२ ॥ तत्रानपेत यद्धर्माद्धर्म्यं ध्यानमितीष्यते । धर्मो हि वस्तु-याथात्म्यमुत्पादादित्रयात्मकं ॥ १३३ ॥ तदाज्ञापायसस्थानविपाकविचयात्मकं । चतुर्विकल्पमाम्नातं ध्यानमाम्नायवेदिभिः ॥ १३४ ॥ तत्राज्ञेत्यागमः सूक्ष्मविषयः प्रणिगद्यते । दृश्यानुमेयवर्ज्ये

करने अयोग्य है ॥ १२९ ॥ इसप्रकार जो ऊपर कहे हुये अनेक लक्षणोंसे सुशोभित है जो परमपुरुष, परमेष्ठी परमतत्त्व, परम ज्योतिस्वरूप और अक्षय है ऐसा परमात्मा ध्यान करने योग्य है ॥ १३० ॥ यह ऊपर कहा हुआ परमात्मा धर्म्य और शुक्ल इन दोनों ध्यानोंका साधारण ध्यान करनेयोग्य ध्येय है, इन दोनों ध्यानोंमें विशुद्धि और स्वामीके भेदसे ही परस्पर भेद समझना चाहिये, भावार्थ—धर्म्य-ध्यान करनेवालेसे शुक्लध्यान करनेवालेकी विशुध्दि बहुत अधिक है और शुक्लध्यान दोनों श्रेणियोंमें ही होता है धर्म्यध्यान चौथे गुणस्थानसे श्रेणी आरोहणके पहिले पाहिले ही होता है ॥ १३१ ॥ जो किसी एक ही वस्तुमें स्थिर और प्रशंसनीय परिणाम रहते हैं वही मोक्षका साक्षात् कारण ध्यान कहलाता है, उसी ध्यानके धर्म्य और शुक्ल ऐसे दो भेद हैं ॥ १३२ ॥ उन दोनोंमे जो धर्म सहित चिंतवन किया जाय उसे धर्म्यध्यान कहते हैं, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों सहित जो वस्तुका यथार्थ स्वरूप है उसे धर्म कहते हैं ॥ १३३ ॥ शास्त्रोंके जाननेवाले गणधरादि देवोंने उस धर्म्यध्यानके आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय ऐसे चार भेद कहे हैं ॥१३४॥ अत्यंत सूक्ष्म पदार्थको कहनेवाला जो आगम है उसे आज्ञा कहते हैं, जो पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पडता और न अनुमानसे जाना जासकता है ऐसे केवल श्रद्धान करने योग्य पदार्थमें अर्थात् शास्त्रमें कहा है केवल इसलिये ही मानने योग्य सूक्ष्म पदार्थमें आगमका विषय समझना चाहिये भावार्थ—सूक्ष्म पदार्थ

हि श्रद्धेयाशे गतिः श्रुते ॥ १३५ ॥ श्रुतिः सूनृतमाज्ञाप्तवचो वेदागमागमः । आम्नायश्चेति पर्यायैः सोऽधिगम्यो मनीषिभिः ॥ १३६ ॥ अनादिनिधन सूक्ष्म सद्भूतार्थप्रकाशन । पुरुषार्थोपदेशित्वाद्यद्भूतहितमूर्जित ॥ १३७ ॥ अजय्यममित तीर्थ्यैरनालीढमहोदय । महानुभावमर्थावगाढ गभीरशासन ॥ १३८ ॥ परं प्रवचन सूक्ष्ममाप्तोपज्ञमनन्यथा । मन्यमानो मुनिर्ध्यायेद्भावानाज्ञाविभावितान् ॥ १३९ ॥ जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञा योगी योगविदांवरः । ध्यायेद्धर्मास्तिकायादीन्भावान्सूक्ष्मान्यथागम ॥ १४० ॥ आज्ञाविचय एष स्यादपायविचयः पुनः । तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिंतन ॥ १४१ ॥

केवल आगमसे ही जाने जाते हैं ॥ १३५ ॥ श्रुति, सूनृत, आज्ञा, आप्तवचन, वेदांग, आगम और आम्नाय, इत्यादि पर्याय वाचक शब्दोंसे बुद्धिमान लोग उस आगमको जानते हैं, अर्थात् ये सब आगमके ही नाम हैं ॥ १३६ ॥ जिसका आदि नहीं है, अंत नहीं है, जो अत्यंत सूक्ष्म है, यथार्थ पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला है, जो मोक्षरूप पुरुषार्थका उपदेशक होनेसे संसारके समस्त जीवोंका हितकारक है, अत्यंत विस्तृत है, जिसे कोई जीत नहीं सकता, जिसका पारावार नहीं, परवादी लोग जिसका माहात्म्यतक नहीं जान सकते, जिसका उदय बहुत बडा है, जो जीव अजीव आदि पदार्थोंसे भराहुआ है अर्थात् जिसमें जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंका वर्णन है जिसका शासन वा मत अतिशय गंभीर है, जो परम उत्कृष्ट है, अतिशय सूक्ष्म है और आप्तका कहा हुआ है उसे आगम कहते हैं, ऐसे आगमको सत्यार्थ मानता हुआ मुनि उस आगमसे जाने हुये समस्त पदार्थोंका चिंतवन करे ॥ १३७-१३८-१३९ ॥ योगशास्त्रको जाननेवालोंमें परम श्रेष्ठ ऐसा योगी मुनि श्रीजिनेंद्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानकर धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आदि सूक्ष्म पदार्थोंका शास्त्रमें कहेहुये स्वरूपके अनुसार चिंतवन करे ॥ १४० ॥ इसप्रकारके ध्यान करनेको आज्ञाविचय नामका धर्म्यध्यान कहते हैं। अब अपाय विचयका स्वरूप कहते हैं, मन बचन कायसे उत्पन्न हुआ जो तीनों प्रकारका संताप है अथवा जन्म जरा मरणसे उत्पन्न हुआ वा राग द्वेष मोहसे उत्पन्न हुआ आधिदै-

तदपायप्रतीकारचिंतोपायानुचिंतनं । अत्रैवांतर्गतं ध्येयमनुप्रेक्षादिलक्षणं ॥ १४२ ॥ शुभाशुभविभक्ताना कर्मणा परिपाकत. । भवावर्त्तस्य वैचित्र्यमपि संदधतो मुने. ॥ १४३ ॥ विपाकविचय धर्म्यमामनति कृतागमा: । विपाकश्च द्विधाऽऽम्नात' कर्मणामाप्तसूक्तिषु ॥ १४४ ॥ यथाकालमुपायाच्च फलप-

विक (रोग विजली आदि) आधिभौतिक (देव मनुष्य तिर्यंच आदि जीवोंसे उत्पन्न हुये दुख) और आध्यात्मिक (मनकी चिंता) ये तीनों प्रकारके संताप जिसमें भरे हुये हैं ऐसे जन्म मरणरूप संसारमें पडे हुये प्राणियोंका अपाय चिंतवन करना अपायविचय कहलाता है, भावार्थ—संसारमें पडे हुये प्राणी अनेक प्रकारके दुख भोग रहे हैं, इनका दुख कब और किसप्रकार दूर होगा इत्यादि चिंतवन करना अपाय विचय है ॥ १४१ ॥ अथवा उस अपायके दूर करनेकी चिंतासे उन अपायोंके दूर करनेके उपाय चिंतवन करना अपाय विचय है, वारह अनुप्रेक्षा और दश धर्म आदि चिंतवन करना इसी अपायविचय नामके धर्म्यध्यानमें शामिल है ॥ १४२ ॥ जो मुनि शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकारके कर्मोंके उदयसे होनेवाली संसार रूपी आवर्तकी विचित्रता चिंतवन करते हैं अर्थात् यह जीव कर्मोंके उदयसे अनेक प्रकारकी नरक तिर्यंच आदि गतियोंमें परिभ्रमण करता हुआ दुख भोगता है इत्यादि चिंतवन करते हैं उनके विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान होता है, ऐसा आगमके जाननेवाले गणधरादि देव कहते हैं, श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें कर्मोंका विपाक (उदय) दो प्रकारका कहा है ॥ १४३-१४४ ॥ जिसप्रकार बनस्पतियोंके फल एक तो अपने समयपर अपने आप पकते हैं और दूसरे पालमें देकर या किसी अन्य उपायसे पकाये जाते हैं, उसीप्रकार कर्म भी अपने शुभ अशुभ फल दोनों तरहसे देते हैं, अर्थात् एक तो स्थिति पूरी होनेसे फल देते हैं और दूसरे तपश्चरण आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहिले ही उदीरणामें आनेसे अपना फल देते हैं ॥ १४५ ॥ ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृति और मतिज्ञानावरण आदि एकसौ अडतालीस उत्तर-

क्विर्वनस्पते । यथा तथैव कर्मापि फल दत्ते शुभाशुभ ॥१४५॥ मूलोत्तरप्रकृत्यादिवधसत्त्वाद्युपाश्रय । कर्मणामुदयश्चित्र. प्राप्य द्रव्यादिसन्निधिं ॥१४६॥ यतश्च तद्विपाकज्ञस्तदपायाय चेष्टते । ततो ध्येयमिद ध्यान मुक्त्युपायो मुमुक्षुभि ॥ १४७ ॥ सस्थानविचय प्राहुर्लोकाकारानुचिंतन । तदतर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षण ॥ १४८ ॥ द्वीपाब्धिवलयानद्रीन्सरितश्च सरासि च । विमानभवनव्यतरावासनरकक्षिती ॥ १४९ ॥ त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमं । भावान्मुनिरनुध्यायेत्सस्थानविचयोपगः ॥ १५० ॥ जीवभेदाश्च तत्रत्यान्ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च यद्गुणान् ॥ १५१ ॥ तेषा स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तर । भवाब्धि व्यसनावर्त्तं दोपयाद कुलाकुल ॥ १५२ ॥ संज्ञाननावा सतार्यमतार्यं ग्रथिकात्मभि । अ-

प्रकृति इन सबका बंध (बंध होना) सत्त्व (सत्तामें मौजूद रहना) आदिको आश्रय लेकर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय अनेकप्रकारका हुआ करता है ॥१४६॥ चूंकि कर्मोंके विपाकको जाननेवाला मुनि कर्मोंको नष्ट करनेकेलिये उपाय करता है इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको मोक्षका उपाय भूत यह विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान अवश्य ही चिंतवन करने योग्य है ॥१४७॥ इसीप्रकार लोकके आकारका वार वार चिंतवन करना संस्थानविचय कहलाता है, इस लोकमें भरेहुये जीव अजीव आदि तत्त्वोंका चिंतवन करना भी इसी संस्थानविचय धर्मध्यानमें शामिल है ॥१४८॥ संस्थानविचय धर्मध्यानको धारण करनेवाला मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ साथ द्वीप समुद्र पर्वत नदी सरोवर विमान भवन व्यंतरके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियां आदि पदार्थोंको भी शास्त्रानुसार चिंतवन करे ॥ १४९-१५० ॥ इसके सिवाय संसारी और मुक्त ऐसे जो लोकमें भरे हुये जीवोंके दो भेद हैं और ज्ञान, कर्तापना, भोक्तापना और देखना आदि जो जीवोंके गुण हैं उनका भी ध्यान करे ॥ १५१ ॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि उन जीवोंके स्वयं किये हुये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुआ, अत्यंत दुस्तर (कठिनतासे तरने योग्य,) व्यसनरूपी भंवरोंसे भरा हुआ, दोषरूपी मगर मच्छोंसे भरा हुआ, सम्यग्ज्ञानरूपी नावसे तिरने योग्य, अत्यंत

पारमतिगंभी रंध्यायेदध्यात्मविद्यति. ॥ १५३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः । नयभंगशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ १५४ ॥ तदप्रमत्तालंबं स्थितिमातर्मुहूर्त्तिकीं । दधानमप्रमत्तेषु परा कोटिमधिष्ठित ॥ १५५ ॥ सद्दष्टिषु यथाम्नाय शेषेष्वपि कृतास्थिति । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्वलबृंहितं ॥ १५६ ॥ क्षायोपशमिक भावं स्वसात्कृत्य विजृंभित । महोदर्कं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितं ॥ १५७ ॥ वस्तुधर्मानुयायित्वात्प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकं । धर्मध्यानमनुध्येय यथोक्तध्येयविस्तर ॥ १५८ ॥ प्रसन्नचित्तता धर्मसंवेग. शुभयोगता । सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचि. ॥ १५९ ॥ भवत्येतानि

गंभीर, जिसका पार नहीं और स्वेतांवर आदि परिग्रह रखनेवाले मुनिलोग जिसे कभी नहीं तिर सकते ऐसे संसाररूपी समुद्रका भी चिंतवन करे ॥ १५२-१५३ ॥ अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि शास्त्रोंमें जो कुछ पदार्थोंका विस्तार कहा है जो कि नयोंके सैकडों भंगोंसे भरा हुआ है वह सब अध्यात्मकी विशुद्धि होनेकेलिये चिंतवन करना चाहिये ॥ १५४ ॥ यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलंवनकर अंतर्मुहूर्ततक ठहरता है और अप्रमत्त गुणस्थानमें ही वह सबसे उत्कृष्ट माना जाता है ॥ १५५ ॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार असंयतसम्यग्दृष्टि नामके चौथे गुणस्थानमें भी रहता है और शेषके पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें भी रहता है, परंतु वह न्यूनाधिक रीतिसे रहता है अर्थात् चौथेसे पांचवें में अधिक, पांचवेंसे छट्ठेमें अधिक और छट्ठेसे सातवेंमें अधिक रहता है, तथा पीत पद्म और शुक्ल इन अत्यंत शुद्ध ऐसी तीनों लेश्याओंके वलसे वढता है, अर्थात् धर्म्यध्यानमें अशुभ लेश्यायें नहीं होती हैं, ऊपरकी तीन शुभलेश्यायें ही होती हैं ॥ १५६ ॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावोंको आश्रय लेकर वढता है, अर्थात् इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं, इसका फल भी बहुत बड़ा (अति उत्तम) है और वडे वडे बुद्धिमान महर्षिलोग भी इसे धारण करते हैं ॥ १५७ ॥ इस धर्म्यध्यानमें यथार्थ पदार्थोंके धर्मका चिंतवन किया जाता है इसलिये इसका धर्म्यध्यान यह सार्थक नाम है, तथा ऊपर कहे हुये अरंहत सिद्ध आदिका विस्तृत स्वरूप इसमें

लिंगानि धर्मस्यातर्गतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा शुभभावना ॥ १६० ॥ बाह्यं च लिंगमंगाना सन्निवेश पुरोदित । प्रसन्नवक्तता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यता ॥ १६१ ॥ फल ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरैनसा । शुभकर्मोदयोद्भूत सुख च विबुधेशिना ॥ १६२ ॥ स्वर्गापवर्गसप्राप्ति फलमस्य प्रचक्षते । साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्ति पारपर्यात्पर पद ॥ १६३ ॥ ध्यानेऽप्युपरते धीमानभीक्ष्ण भावयेन्मुनि । सानुप्रेक्षा. शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥ १६४ ॥ इत्युक्तलक्षणं धर्म्यं मगधाधीश निश्चिनु । शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यंगमंगिनां ॥१६५॥ कषायमलविश्लेषाच्छुक्लशब्दाभिधेयता ।

चिंतवन किया जाता है, इसलिये इस धर्म्यध्यानका वार २ चिंतवन करना चाहिये ॥ १५८ ॥ प्रसन्न चित्त रहना, धर्ममें प्रेम रखना, मनवचन कायके योग शुभ रखना, शास्त्रोंका अधिक अभ्यास करना, व्याकुल नहीं होना और आज्ञा अर्थात् अरहंतदेव वीतराग और सर्वज्ञ होनेसे कभी अन्यथा नहीं कह सकते ऐसी श्रद्धा तथा अधिगम अर्थात् शास्त्र इन दोनोंसे एक प्रकारकी रुचि उत्पन्न होना ये सब धर्म्यध्यानके बाह्य चिन्ह हैं, तथा इसीप्रकार पहिले कही हुई वारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना और अनेक प्रकारके शुभ परिणाम होना इसके अंतरंग चिन्ह हैं ॥ १५९-१६० ॥ पहिले कहा हुआ अंगोंका सन्निवेश होना अर्थात् पर्यंकासन वा खड्गासनसे स्थिर होना, मुखकी प्रसन्नता होना और सौम्य दृष्टि होना आदि इस धर्म्यध्यानके बाह्य चिन्ह समझना चाहिये ॥ १६१ ॥ अशुभकर्मोंकी वहुतसी निर्जरा होना तथा शुभकर्मोंके उदय होनेसे उत्पन्न हुआ इंद्र अहमिंद्र आदि उत्तम देवोंका सुख प्राप्त होना इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥ १६२ ॥ अथवा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होना इस धर्म्यध्यानका फल है, स्वर्गकी प्राप्ति होना तो इसका साक्षात् फल है और परंपद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होना इसका परंपरा फल है ॥ १६३ ॥ जिस समय धर्म्यध्यान छूटजाय उस समय बुद्धिमान मुनिको जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेकेलिये वारह अनुप्रेक्षायें सहित शुभ फल देनेवालीं भावनायें चिंतवन करनी चाहिये ॥ १६४ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मग-

उपेयिवदिदं ध्यानं सान्तर्भेदं निबोध मे ॥ १६६ ॥ शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद्द्विधोदितं । छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतं ॥ १६७ ॥ द्वेधाऽऽद्यं स्यात्पृथक्त्वादिवीचारात वितर्कणं । तथैकत्वाद्यवीचारपदान्तं च वितर्कणं ॥ १६८ ॥ इत्याद्यस्य भिदे स्यातामन्वर्थो श्रुतिमाश्रिते । तदर्थव्यक्तये चैतत्तन्नामद्वयनिर्वचः ॥ १६९ ॥ पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः । सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयं ॥ १७० ॥ एकत्वेन वितर्कस्य स्याद्यत्राविचारिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधं ॥ १७१ ॥ पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते । अर्थव्यंजनयोगानां वीचारः संक्रमो

धाधीश ! इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार धर्म्यध्यानका लक्षण तू समझ । अब तुझे मैं जीवोंको साक्षात् मोक्षका कारण ऐसे शुक्लध्यानका स्वरूप कहता हूं ॥ १६५ ॥ कपायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको धारण करता है ऐसा यह शुक्लध्यान तुझे भेद प्रभेद सहित कहता हूं, तू मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥ १६६ ॥ शास्त्रोंमें इस शुक्लध्यानके दो भेद कहे हैं एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान, इनमेंसे पहिला शुक्लध्यान छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले अर्थात् बारहवें गुणस्थान-तक रहनेवाले अल्पज्ञानी मुनियोंके होता है और दूसरा परमशुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होता है ॥ १६७ ॥ इनमेंसे पहिले शुक्लध्यानके दो भेद हैं एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्क-वीचार ॥ १६८ ॥ इसप्रकार प्रथम शुक्लध्यानके जो दो भेद किये हैं वे सार्थक हैं, इन दोनोंका अर्थ अच्छी तरह समझनेकेलिये इन दोनों नामोंका निर्वचन कहते हैं अर्थात् नामोंके अनुसार इन दोनों-का अर्थ कहते हैं ॥ १६९ ॥ जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रका अथवा सूत्रोंका पृथक् २ वीचार अर्थात् परिवर्तन वा संक्रमण होता है उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं, भावार्थ—जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पृथक् पृथक् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान कहते हैं ॥ १७० ॥ जिस ध्यानमें वितर्कका एकत्वरूपसे वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थव्यंजन योगकी संक्रांति नहीं हो और श्रुतज्ञान करके सहित हो उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं ॥ १७१ ॥ अब

मत ॥ १७२ ॥ अर्थादर्थांतरं गच्छन्व्यंजनाद्व्यंजनांतरं । योगाद्योगांतरं गच्छन्ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥ १७३ ॥ त्रियोगः पूर्वविद्यस्माद्ध्यायत्येनं मुनीश्वरः । सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमं ॥ १७४ ॥ ध्येयमस्य श्रुतस्कंधवार्धेर्वागर्थविस्तरः । फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा

इन शब्दोंका अलग २ अर्थ कहते हैं, अनेक प्रकारताको पृथक्त्व कहते हैं, शास्त्रज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ अर्थात् जीव अजीव आदि पदार्थोंके वाच्य पदार्थ, व्यंजन अर्थात् शब्द तथा मन वचन काय ये तीनों योग इन सबका संक्रमण होना अर्थात् एक शब्दसे दूसरा शब्द बदलना, शब्द छोडकर किसी पदार्थका ध्यान करना, एक पदार्थको छोडकर किसी दूसरे पदार्थका ध्यान करना, मनोयोग छोडकर वचनयोग वा काययोगसे ध्यान करना, अथवा काययोग छोडकर वचन वा मनोयोगसे ध्यान करना वीचार कहलाता है ॥ १७२ ॥ इंद्रियोंको वश करनेवाला मुनि एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका ध्यान करता है फिर तीसरे चौथे आदिका करता है, एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका आश्रय लेता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका आश्रय लेता है, इसीप्रकार एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे वा पहिलेसे ध्यान करता है, इसप्रकार वह इस प्रथम शुक्लध्यानको चिंतवन करता है ॥ १७३ ॥ जो मुनिराज मन वचन काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाला है, ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका जाननेवाला है वही इस प्रथम शुक्लध्यानको धारण करसकता है, इसलिये ही इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क अर्थात् पूर्ण श्रुतज्ञानसहित और सवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन योग संक्रांतिसहित कहते हैं ॥ १७४ ॥ श्रुतस्कंधरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जो विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय कहलाता है, तथा मोहनीय कर्मका क्षय होना अथवा उपशम होना इसका फल माना जाता है ॥ १७५ ॥ यहां ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कं-

॥ १७५ ॥ इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कंधमहार्णवात् । अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थांतरं व्रजेत् ॥ १७६ ॥ शब्दाच्छब्दांतरं यायाद्योगं योगांतरादपि । सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥ १७७ ॥ वागर्थरत्नसंपूर्णं नयभंगतरंगकं । प्रसृतध्यानगंभीरं पदवाक्यमहाजलं ॥ १७८ ॥ उत्पादादित्रयोद्वेलं सप्तभंगीबृहद्ध्वनिं । पूर्वपक्षवशायातमतयादःकुलाकुलं ॥ १७९ ॥ कृतावतारमुद्बोधयानपात्रैर्महर्द्धिभिः । गणाधीशमहासार्थवाहैश्चारित्रकेतनैः ॥ १८० ॥

धरूपी महासागरमेंसे किसी एक पदार्थको अथवा उसकी पर्यायको मुख्यकर उसका ध्यान करता है, फिर उसे छोडकर दूसरा पदार्थ अथवा उसकी किसी एक पर्यायको ग्रहणकर उसका ध्यान करता है, इसीप्रकार एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका ध्यान करता है, तथा एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरेसे और तीसरेको छोडकर पहिले वा दूसरेसे ध्यान करता है, इसलिये ही इस ध्यानको सवीचार कहते हैं, और यह ध्यान श्रुतज्ञानियोंके ही होता है इसलिये इसे सवितर्क कहते हैं, इसप्रकार इसे सवितर्क और सवीचार कहते हैं ॥ १७६-१७७ ॥ यह श्रुत स्कंधरूपी एक महासागर है इसमें सब ओर शब्द और अर्थरूपी रत्न भरे हुये हैं, नैगम संग्रह आदि नयोंके अनेक भेद ही इसकी अनेक तरंगें हैं, मुनियोंके मुखसे निकले हुये शब्दोंसे जो अत्यंत गंभीर है, पद और वाक्यरूपी अगाध जल जिसमें भराहुआ है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ही जिसमें ज्वारभाटा (घटना बढना) हैं, स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति आदि सप्तभंगी ही जिसके गंभीर शब्द हैं, पूर्वपक्ष करनेकेलिये बौद्ध नैयायिक आदि परमतके पदार्थोंका जो वर्णन किया है वही इसमें मगर मच्छ आदि जलचर जीव हैं उनसे भी यह श्रुतस्कंधरूप महासागर भरा हुआ है, गणधरादि देव ही जिनके चलानेवाले खेवटिया हैं और सम्यक्चारित्र ही, जिनकी ध्वजा हैं ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज ही जिसके पार जा सकते हैं, नैगम संग्रह आदि अथवा द्रव्यार्थिक पर्या-

नयोपनयमपातमहावातविघूर्णित । रत्नत्रयमयैर्द्वीपैस्त्वगाढमनेकधा ॥ १८१ ॥ श्रुतस्कन्धमहाम्भोधिमवगाह्य महामुनि । ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानमग्रिम ॥ १८२ ॥ प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्यो शेषगुणेषु च । यथाम्नायमिदं ध्यानमामनन्ति मनीषिण ॥ १८३ ॥ द्विर्तीयमाद्यवज्ज्ञेय विशेषस्त्वेकयोगिन । प्रक्षीणमोहनीयस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युते. ॥ १८४ ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वध्यानमूर्जित । ध्यायन्नस्यन्कषायोऽसौ घातिकर्माणि शातयन् ॥ १८५ ॥ फलमस्य भवेद्घातित्रितयप्रक्षयोद्भव । कैवल्य प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिरक्षय ॥ १८६ ॥ तत पूर्वविदामाद्ये शुक्ले श्रेण्योरुभयोरथ । निर्ज्ञेये त्वेकयोगाना यथो-

---

यार्थिक आदि नय तथा सद्भूत असद्भूत आदि उपनय इनके कथन करनेरूप महावायुके द्वारा ही इसमें अनेक प्रकारकी कल्लोलें उठ रही हैं और रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीप इसमें भरेहुये हैं, ऐसे इस श्रुतस्कंधरूपी महासागरमें अवगाहनकर (स्नानकर) महासुनिराज पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके प्रथम शुक्लध्यानका ध्यान करे ॥१७८-१८२॥ यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियोंमें होता है, उपशम श्रेणीमें आठ नौ दश ग्यारह गुणस्थानतक रहता है और क्षपकश्रेणीमें आठ नौ दश गुणस्थानतक रहता है, परंतु वह इन गुणस्थानोंमें शास्त्रानुसार हीनाधिक भावसे रहता है ॥१८३॥ इसप्रकार पहिले शुक्लध्यानका स्वरूप कहा। अब दूसरा शुक्लध्यान कहते हैं। दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान पहिलेके समान ही है, विशेष इतना है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है, जिसकी अपरिमित कांति है और जो तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगका आलंबन करता है उसके ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥ १८४ ॥ जिस मुनिके कषाय सब नष्ट हो गये हैं और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित और वीचार (अर्थ व्यंजन और योगका संक्रमण) रहित तथा अति उत्तम ऐसे इस एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानका चिंतवन करता है ॥ १८५ ॥ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे समस्त पदार्थोंको प्रगट करनेवाला अविनाशिक

त्फलयोगिनी ॥ १८७ स्नातकः कर्मवैकल्यात्कैवल्यं परमापिवान् । स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुषः ॥ १८८ ॥ स हि योगनिरोधार्थमुद्यत' केवली जिनः । समुद्घातविधि पूर्वमाविःकुर्यान्निसर्गत. ॥ १८९ ॥ दंडमुच्चैःकवाट च प्रतर लोकपूरण । चतुर्भि. समयै' कुर्वंल्लोकमापूर्य तिष्ठति ॥ १९० ॥ तदा सर्वगतः सार्व. सर्ववित्पूरको भवेत् । तदते रेचकावस्थामधितिष्ठन्महीयते ॥ १९१ ॥ जगदापूर्य विश्वज्ञ. समयात्प्रतर श्रितः । ततः

ज्येतिःस्वरूप केवलज्ञान उत्पन्न होना ही इस दूसरे एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका फल है ॥ १८६ ॥ इसलिये ये दोनों ही शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ग्यारह अंग चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनियोंके ही होते हैं, पृथक्त्ववितर्क उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है और एकत्ववितर्क क्षपक श्रेणीमें ही होता है, अर्थात् पहिला आठसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है और दूसरा बारहवें गुणस्थानमें ही होता है, पृथक्त्ववितर्क तीनों योगोंसे होता है और एकत्ववितर्क किसी एक योगसे होता है, पृथक्त्ववितर्कका फल मोहनीय कर्मका नाश होना है और एकत्ववितर्कका फल घातिया कर्मोंका नाश होना है, इसप्रकार पहिलेके दोनों शुक्लध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये । अब परम शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं ॥१८७॥ जो घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनोंप्रकारके परमशुक्लध्यानोंका स्वामी होता है, भावार्थ—अंतके दोनों शुक्लध्यान केवली भगवानके ही होते हैं ॥ १८८ ॥ वे जिनेंद्रदेव केवली भगवान जब योग निरोध करनेकेलिये उद्यत होते हैं तब योग निरोध करनेसे पहिले उनके सहज ही केवलिसमुद्घात प्रगट होता है ॥ १८९ ॥ पहिले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राजू ऊंचे दंडाकार होते हैं, दूसरे समयमें कवाटरूप चौडे होते हैं, तीसरे समयमें मेघपटलके समान मोटे प्रतररूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकाकाशमें भर जाते हैं, इसप्रकार चौथे समयमें वह लोकमें व्याप्त होकर रहता है ॥१९०॥ उससमय समस्त लोकमें व्याप्त हुआ, सबका हित करनेवाला और सबको जान-

कपाटं दंडं च क्रमेणैवोपसहरन् ॥ १९२ ॥ तत्राघातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहंत्यसौ । अनुभागस्य चानंतान्भागानशुभकर्मणा ॥ १९३ ॥ पुनरतर्मुहूर्त्तेन निरुधन्योगमास्त्रव । कृत्वा वाड्मनसी सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥ १९४ ॥ सूक्ष्मीकृत्य पुनःकाययोगं च तदुपाश्रय । ध्यायेत्सूक्ष्मक्रियाध्यान प्रतिपातपराड्मुख ॥ १९५ ॥ ततो निरुद्धयोग. सन्योगी स विगतास्त्रव· । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥ १९६ ॥ अतर्मुहूर्त्तमातन्वस्त-

---

नेवाला वह केवली पूरक अर्थात् लोकपूरण वा व्याप्त कहलाता है, अनंतर अर्थात् लोकपूर्ण होनेके बाद वह रेचक अवस्थाको धारण करता है अर्थात् अपने आत्माके प्रदेशोंको संकुचित करता है, इसप्रकार वह केवली उससमय परम पूज्य गिना जाता है ॥ १९१ ॥ वह सर्वज्ञ भगवान लोक पूर्ण होनेके एक समय बाद ही अर्थात् पांचवें समयमें ही प्रतर अवस्थाको प्राप्त होता है छट्ठे समयमें कवाटरूप होता है, सातवें समयमें दंडरूप होता है और आठवें समयमें शरीरप्रमाण होता है, इसप्रकार वह अनुक्रमसे उपसंहार (संकोच) करता है ॥ १९२ ॥ उससमय अर्थात् समुद्धात अवस्थामें वह केवली भगवान अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट करता है और अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् रसविशेषके अनंत भागोंको नष्ट करता है ॥ १९३ ॥ तदनंतर अंतर्मुहूर्तमें योगरूप आस्त्रवका निरोधकर काययोगके आश्रयसे वाग्योग और मनोयोगको सूक्ष्मकर तथा फिर सूक्ष्म वाग्योग और मनोयोगके आश्रयसे काययोगको सूक्ष्मकर जिसका नाश नहीं होता ऐसा जो सूक्ष्मक्रिया ध्यान है अर्थात् सूक्ष्माक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान है उसका ध्यान करता है ॥ १९४-१९५ ॥ तदनंतर चौदहवें गुणस्थानमें योगोंको निरोधकर जिसके किसीप्रकारका आस्त्रव नहीं होता ऐसे योगिराजके नाश रहित ऐसा समुच्छिन्नक्रिया अर्थात् समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति चौथा शुक्लध्यान होताहै ॥ १९६ ॥ इस प्रकार अत्यंत निर्मल जो चौथा शुक्लध्यान है उसे वह योगिराज अंतर्मुहूर्त तक ध्यान करता है और फिर उस अंतमुहूर्तके वाद ही समस्त कर्मोंको नष्टकर वह जिनेंद्रदेव

ध्यानमतिनिर्मलं । विधूताशेषकर्मांशो जिनो निर्वात्यनंतर ॥ १९७ ॥ त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमे क्षणे । द्वासप्ततेरुपान्त्ये स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥ १९८ ॥ निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथा व्यक्तो मुक्तो लोकांतमावसन् ॥ १९९ ॥ ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात्समयेनैकेन नीरजाः । लोकांतं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धश्चूडामणीयते ॥ २०० ॥ तत्र कर्ममलापायाच्छुद्धिरात्यंतिकी मता । शरीरापायतोऽनंत भवेत्सुखमतींद्रिय ॥ २०१ ॥ निष्कर्मा विधुताशेषसासारिकसुखासुख । चरमांगात्किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः ॥ २०२ ॥ अमूर्तोऽप्ययमत्यागसमाकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ॥ २०३ ॥ शारीरमानसाशेषदुःखबधनवर्जितः । निर्द्वंद्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वित. ॥ २०४ ॥

मुक्त हो जाता है ॥१९७॥ चौदहवें गुणस्थानमें रहने वाले इन अयोगि परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपांत्य समयमें वहत्तरि प्रकृतियां नष्ट होती हैं और अंतके समयमें तेरह प्रकृतियां नष्ट होती हैं ॥१९८॥ चौदह गुणस्थानके अंतमें वह जिनराज लेपरहित (कर्मरहित) शरीररहित, शुद्ध अव्यावाध (वाधा वा पीडारहित) रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होता हुआ लोकके अंतमें निवास करता है ॥ १९९ ॥ तदनंतर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे एक ही समयमें कर्म रहित होकर लोकके अंतभागमें पहुंचता है और वहां शुद्धात्मा सिद्ध होकर लोकाशिखरपर चूडामणिके समान सुशोभित होता है ॥ २०० ॥ वहां सिद्ध अवस्थामें कर्मरूपी मलके नष्ट होनेसे आत्मा अत्यंत शुद्ध हो जाता है और शरीरके नष्ट होनेसे उसे अतींद्रिय अनंतसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २०१ ॥ वहांपर कर्म सब नष्ट होजाते हैं, संसार संबंधी सुख दुख सब नष्ट होजाते हैं और अंतके शरीरसे (जिस शरीरसे मुक्त होता है) कुछ कम परिमाणको धारण करनेवाला उसका आकार रहता है ॥ २०२ ॥ जिसप्रकार मूसा अर्थात् सांचेके भीतर अमूर्त आकाशका भी आकार होता है उसप्रिकार यद्यपि वे सिद्ध भगवान अमूर्त हैं तथापि उपलक्षणसे उनका आकार चरमशरीरके समान ही कहा जाता है ॥ २०३ ॥ वे सिद्धभगवान शरीर और मनसंबंधी समस्त दुःखोंसे रहित हैं, विकल्परहित, क्रियारहित और शुद्ध हैं और

अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा सिद्धः सुखायते ॥ २०५ ॥ कृतार्था निष्ठिता सिद्धाः कृतकृत्या निरामयाः । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमीयुषां ॥ २०६ ॥ तेषामतींद्रियं सौख्यं दुःखप्रक्षयलक्षणं । तदेव हि परं प्राहुः सुखमानन्त्यवेदिनः ॥ २०७ ॥ क्षुदादिवेदनाभावान्नैषां विषयकामिता । किमु सेवेत भैषज्यं स्वस्थावस्थः सुधीः पुमान् ॥ २०८ ॥ न तत्सुखं परद्रव्यसंबन्धादुपजायते । नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थं हि परं शिवं ॥ २०९ ॥ स्वास्थ्यं चेत्सुखमेतेषामदोऽस्त्यानन्त्यमाश्रितं । ततोऽन्यच्चेत्सुखं नाम न किंचिद्भुवनोदरे ॥ २१० ॥ सकलक्लेशनिर्मुक्तो

सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं ॥२०४॥ उनका आकार अभेद्य है उसे कोई छेदन भेदन नहीं करसकता, वे लोकशिखरके मुख्य शिखामणि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, उन्हें ही अपने शुद्ध स्वात्माकी प्राप्ति हुई है और इसलिये ही वे सिद्ध हैं तथा अनंत सुखका अनुभव करते हैं ॥२०५॥ कृतार्थ निष्ठित (परिपूर्ण) सिद्ध, कृत्यकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरंजन ये सब सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥२०६॥ उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुआ अतींद्रिय सुख है और केवली भगवान उसी अतींद्रिय सुखको सबसे उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥२०७॥ क्षुधा आदि वेदनाओंके नष्ट होनेसे उनके किसी विषयकी इच्छा नहीं है, सो ठीक ही है क्योंकि जिसके शरीरका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है ऐसा कौन बुद्धिमान् औषधियोंका सेवन करता है, अर्थात् कोई नहीं ॥२०८॥ जो सुख परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह वास्तविक सुख नहीं कहलाता, जो सुख केवल शुद्ध स्वात्मासे उत्पन्न होता है वही नित्य और अविनश्वर है, कभी कम भी नहीं होता तथा परमकल्याणस्वरूप है, इसलिये वही वास्तविक सुख कहलाता है ॥२०९॥ यदि स्वास्थ्य अवस्थासे उत्पन्न हुआ ही सुख है तो वह यही सिद्धोंका अनंत सुख है इसके सिवाय तीनों लोकोंमें भी अन्य कोई सुख नहीं है ॥ २१० ॥ वे सिद्ध भगवान समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिये उन्हें कौन वाधा देसकता है अर्थात् कोई नहीं, इसलिये उनका सुख भी निरतिशय अनंत सुख कहलाता है

निर्मोहो निरुपद्रवः । केनासौ बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्यात्यांतिकं सुखं ॥२११॥ इदं ध्यानफलं प्राहुरानंत्यमृषिपुंगवाः । तदर्थं हि तपस्यंति मुनयो वांतवल्कलाः ॥ २१२ ॥ यद्वद्वातहताः सद्यो विलीयते घनाघनाः । तद्वत्कर्मघना यांति लय ध्यानानिलाहताः ॥ २१३ ॥ सर्वांगीण विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्याऽपकृष्यते । तद्वत्कर्मविषं कृत्स्न ध्यानशक्त्याऽपसार्यते ॥ २१४ ॥ ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः । ध्यानाभ्यासे ततो यत्न. शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ ११५ ॥ इति ध्यानविधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिपः । तदा विबुद्धमस्यासीत्तमोऽपायान्मनोऽम्बुज ॥ २१६ ॥ ततस्तमृषयो भक्त्या गौतम कृतवंदनाः । पप्रच्छुरिति योगीद्रं योगद्वैधानि कानिचित् ॥ २१७ ॥ भगवन्योगशास्त्रस्य तत्त्व त्वत्तः श्रुतं मुहुः । इदानीं बोध्दुमिच्छामस्तदिगतरशोधन

॥ २११ ॥ गणधरादि उत्तम ऋषिलोग इसी अनंत सुखको ध्यानका फल कहते हैं और इसी अनंत सुखकेलिये दिगंबर अवस्थाको धारण करनेवाले मुनिलोग तपश्चरण करते हैं ॥ २१२ ॥ जिसप्रकार हवाके झकोरेसे बडे बडे बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी वायुके झकोरेसे कर्मरूपी बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ २१३ ॥ जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें फैलाहुआ विष भी खींच लिया जाता है उसीप्रकार ध्यानकी शक्तिसे भी समस्त कर्मरूपी विष दूर कर दिया जाता है ॥ २१४ ॥ शेष ग्यारह प्रकारके तपश्चरण इस ध्यानके ही सहायक हैं, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले जीवोंको ध्यानका अभ्यास करनेकेलिये ही निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २१५ ॥ इसप्रकार ध्यानका स्वरूप सुनकर राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ था तथा उससमय अज्ञानरूपी अंधकारके नष्ट हो जानेसे इसका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित होगया था ॥ २१६ ॥ तदनंतर भक्तिपूर्वक बंदना करते हुये समस्त ऋषिलोग योगिराज गौतम गणधरसे आगे लिखे हुये और भी कुछ एक ध्यानके भेद पूछने लगे ॥ २१७ ॥ कि हे भगवन् इन लोगोंने आपसे योगशास्त्रके समस्त तत्त्व कईवार सुने हैं अब आपसे अन्यप्रकारके ध्यानोंका निराकरण सुनना चाहते हैं ॥ २१८ ॥ हे देव जिसप्रकार सूर्य अंधकारके समूहको नष्ट करदेता है उसीप्रकार इस योगशास्त्रमें

॥ २१८ ॥ ततस्त्वं ध्यानशास्त्रस्य याऽन्यथा विप्रतिपत्तयः । निराकुरु तदेवोच्चैः भगवन्निति नः प्रभो ॥ २१९ ॥ ऋद्धिप्राप्ते ऋषिस्त्वं हि त्वं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः । अनगारोऽस्यसङ्गत्वाद्यतिः श्रेणीद्वयोन्मुखः ॥ २२० ॥ ततो भागवतादीनां योगानामभिभूतये । ब्रूहि नो योगबीजानि हेत्वागमयथाश्रुत ॥ २२१ ॥ इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवानाह गौतमः । यत्पृष्टं योगतत्त्वं च तत्सर्वं ते प्रचक्ष्महे ॥ २२२ ॥ षड्भेदयोगवादी यः सोऽनुयोज्यः समाहितैः । योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ॥ २२३ ॥ का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः । किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः ॥ २२४ ॥ कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः । स शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ॥ २२५ ॥ समन्वकारिणा-

---

जो कुछ संदेह वा वादविवाद अथवा प्रतिकूलता है उसे भी निराकरण (खंडन) कर समझा दीजिये ॥ २१९ ॥ हे स्वामिन् आपको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हैं इसलिये आप ऋषि हैं, आप समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं, आप समस्त अंतरंग वहिरंग परिग्रह रहित हैं इसलिये अनगार कहलाते हैं और आपमें उपशम क्षपक दोनों श्रेणियोंके चढनेकी सामर्थ्य है इसलिये आप यति कहलाते हैं ॥ २२० ॥ इसलिये वैष्णव आदि अन्य मतानुसार कहे हुये योगशास्त्रका पराभव (तिरस्कार) करनेकेलिये युक्ति शास्त्रके अनुसार जैसा आपने सुना है वैसा ही योगशास्त्रके समस्त वीजाक्षरोंको कहिये ॥ २२१ ॥ उन ऋषियोंके ये वाक्य सुनकर भगवान गौतमस्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने योगशास्त्रके जो जो तत्त्व पूछे हैं वे सब अच्छी तरह कहूंगा ॥२२२॥ संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और संबंधविशेषणता इन छह प्रकारके योगोंको माननेवाले जो योगवादी हैं उनसे विद्वान लोगोंको पूछना चाहिये कि योग क्या है, समाधान क्या है, प्राणायाम किसप्रकार किया जाता है, धारणा क्या है, ध्यान क्या है, ध्यान करनेयोग्य ध्येय क्या है, स्मरण क्या है, ध्यानका फल क्या है, ध्यानके वीजाक्षर कौन कौन हैं और इसके प्रत्याहार कौन कौन हैं ॥ २२३-२२४ ॥ योगको जाननेवाले मुनिराज काय वचन और मनकी क्रिया-

मेषु चित्तस्याधानमंजसा । स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिना ॥ २२६ ॥ प्राणायामो भवेद्योगनिग्रहः शुभभावनः । धारणा श्रुतिनिर्दिष्टबीजानामवधारण ॥ २२७ ॥ आध्यान स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिंतनैः । ध्येयं स्यात्परम तत्त्वमवाङ्मानसगोचरं ॥ २२८ ॥ स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृति. स्मृता । गुणानुस्मरण वा स्यात्सिद्धार्हत्परमेष्ठिनां ॥२२९॥ फल यथोक्त बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात् । प्रत्याहारस्तु तस्योपसहृतौ चित्तनिर्वृतिः ॥ २३० ॥ अकारादिहकारांतरेफमध्यातबिंदुक । ध्यायन्परमिद बीज मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥ २३१ ॥ षडक्षरात्मकं बीजमिहार्हद्भ्यो नमोऽस्त्विति ।

को योग कहते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है ॥ २२५ ॥ चित्तको उत्तम परिणामोंमें निश्चल रखना समाधि वा समाधान कहलाता है, अथवा पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करना भी समाधि कहलाती है ॥ २२६ ॥ मन बचन और काय तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभ परिणाम रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रमें कहे हुये वीजाक्षरोंका अवधारण (निश्चय) करना धारणा कहलाती है ॥ २२७ ॥ अनित्य आदि बारह भावनाओंका वारवार चिंतवन करना आध्यान कहलाता है और जो न बचनसे कहा जा सकता न मनसे चिंतवन किया जा सकता है ऐसा जो परम आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥ २२८ ॥ जीव अजीव आदि तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपका स्मरण करना स्मरण कहलाता है अथवा अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके स्मरण करनेको भी स्मरण कहते हैं ॥ २२९ ॥ फल जो ऊपर कहा है वही समझना चाहिये, वीजाक्षरोंको अनुक्रमसे कहते हैं और चित्तको संकोच करनेसे चित्तको जो एकप्रकारका सुख मिलता है वही प्रत्याहार है ॥ २३० ॥ जिसकी आदिमें अकार है, अंतमें हकार है, मध्यमें रेफ है और अंतमें अनुस्वार है ऐसा जो 'अर्हं' यह परम वीजाक्षर है, उसको ध्यान करता ऐसा मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि कभी खेद खिन्न नहीं होता ॥२३१॥ अथवा 'अर्हद्भ्यो नमोस्तु' अर्थात् अरहंदेवको नमस्कार हो " इसप्रकार जो छह अक्षरोंका वीजाक्षर है उसको ध्यानकर

ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हंत्यमनंतगुणमृच्छति ॥ २३२ ॥ नमः सिद्धेभ्य इत्येतद्दशार्द्धस्तवनाक्षरं । जपन्जप्येषु भव्यात्मा स्वेष्टान्कामानवाप्स्यति ॥ २३३ ॥ अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसस्मृत्य पुनर्दुःख न पश्यति ॥ २३४ यत् षोडशाक्षर बीजं सर्वबीजपदान्वित । तत्त्ववित्तदनुध्यायन्ध्रवमेष मुमुक्षते ॥ २३५ ॥ पंचब्रह्ममयैर्मंत्रैः सकलीकृत्य निष्कल । पर तत्त्वमनुध्यायन्योगी स्याद्ब्रह्मतत्त्ववित् ॥ २३६ ॥ योगिनः परमानंदो योऽस्य

मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंको धारण करनेवाली अरहंत अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥ तथा जप करने योग्य अक्षरोंमेंसे ' नमः सिद्धेभ्यः ' अर्थात् ' सिद्धोंको नमस्कार हो ' इन सिद्धोंके स्तोत्ररूप पांच अक्षरोंका जप करता हुआ भव्य जीव अपने इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी समस्त इच्छायें पूर्ण होती हैं ॥ २३३ ॥ तथा नमोर्हत्परमेष्ठिने " अर्थात् ' अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार हो ' यह जो आठ अक्षरोंका परम बीज है उसे चिंतवन करता हुआ भव्य जीव भी फिर कभी दुखोंको नहीं देखता है ॥ २३४ ॥ तथा जिसमें समस्त वीज शामिल हैं ऐसा जो " अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाया साहू " अथवा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः " यह सोलह अक्षरोंका बीज है उसका बारवार ध्यान करता हुआ ऐसा जो तत्त्वोंका जाननेवाला मुनि है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३५॥ अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इस पंच ब्रह्मस्वरूप अर्थात् परमेष्ठी स्वरूप जो मंत्र हैं उनके द्वारा जो मुनिराज शरीररहित ऐसे परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित मानकर उसका बारबार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता है, भावार्थ—यद्यपि परमात्मा अशरीर है तथापि उसे शरीरसहित मानकर मंत्रोंके द्वारा जो उसका ध्यान करता है वह परमतत्त्वका जाननेवाला कहलाता है ॥ २३६ ॥ इस ध्यान करनेवाले योगीके चित्तकी प्रसन्नता होनेसे जो परमानंद उत्पन्न होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है उससे वढकर और कोई ऐश्वर्य नहीं है, अथवा योगसेउत्पन्न होनेवाली ऋद्धियोंकी भी कुछ कमी

स्याच्चित्तनिर्वृतेः । स एवैश्वर्यपर्यंतो योगजाः किमुतर्द्धय. ॥ २३७ ॥ अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयं । भुक्त्वैहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥ २६८ ॥ बीजान्येतान्यजानानो नाममात्राणि मन्त्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबंधनैः ॥ २३९ ॥ नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिना । नित्यश्चेदविकार्यत्वान्न ध्येयध्यानसंगतिः ॥२४०॥ सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छाद्यसंभवात् । प्रागेवास्य न दिध्यासा दूरात्तत्त्वानुचिंतन ॥२४१॥

नहीं है, योगसे अनेक ऋद्धियां भी प्राप्त होती हैं ॥ २३७ ॥ जिसमें अणिमा महिमा आदि अनेक गुण हैं और जिसका सुख बहुत बडा है ऐसे संसार संबंधी इंद्रादिके ऐश्वर्यको भोगकर योग को जाननेवाला मुनि कर्मोंसे छूटकर सिद्ध होता है ॥ २३८ ॥ ये ऊपर कहे हुये बीजाक्षर हैं इनको जो नहीं जानता है तथा केवल नाम ही जानकर मंत्रोंका जाननेवाला गिना जाता है ऐसा मिथ्या अभिमानसे दग्ध हुआ जीव केवल कर्मबंधनोंसे बंधता है, भावार्थ—जो इन बीजाक्षरोंको न जानकर भी मंत्रोंका जाननेवाला कहलाता है वह कर्मोंसे बंधता ही है छूटता नहीं ॥ २३९ ॥ इसप्रकार संक्षेपसे अपना योगका स्वरूप कहकर अब अन्यमतसंबंधी योगका खंडन करते हैं। योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको ही योग माननेवाले मीमांसकोंके मतमें जीव नित्य है अथवा अनित्य है, यदि जीव नित्य माना जायगा तो उसके विकार वा पर्याय नहीं हो सकेंगे और जिस जीवके पर्याय वा परिणाम नहीं हो सकेंगे उनके न तो ध्यान ही बन सकेगा और न कोई ध्येय बन सकेगा, क्योंकि ध्यानकी इच्छा होना वा ध्यान करना भी जीवका एक परिणाम है और मीमांसकके मतमें माना हुआ जीव नित्य है अतएव उसके परिणाम हो नहीं सकते हैं और परिणाम न होनेसे ध्यान भी नहीं हो सकता ॥ २४० ॥ दूसरा कारण यह भी है कि नित्य जीवके सुख दुख अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणाम उत्पन्न होना ही असंभव है और स्मरण इच्छा आदि न होनेसे प्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है, तत्त्वोंका चिंतवन करना तो दूर रहो। भावार्थ-ध्यानकी इच्छाके

तन्निवृत्तौ कुतो ध्यानं कुतस्त्यो वा फलोदयः । बंधमोक्षाद्यधिष्ठानाप्रक्रियाप्यफला ततः ॥ २४२ ॥ क्षणिकानां च चित्तानां संततौ कानुभावना । ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ॥ ॥ २४३ ॥ सतानातरवत्तस्मान्न दिध्यासादिसभवः । न ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्यस्याष्टांगभावना ॥ २४४ ॥

बिना तत्त्वोंका चिंतवन भी नहीं हो सकता है ॥ २४१ ॥ और जब तत्त्वोंका चिंतवन ही नहीं होगा तो ध्यान ही कैसे हो सकता है तथा बिना ध्यानके मोक्ष प्राप्त होना आदि फल ही कैसे हो सकता है, और मोक्षप्राप्त होने आदि फलके विना बंधकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी प्रवृत्ति तथा मोक्षकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी निवृत्ति आदि होना भी व्यर्थ ही मानना पडेगा, तथा नित्य जीवके ये सब हो भी नहीं सकता है, इसलिये जीव नित्य भी नहीं हो सकता है ॥ २४२ ॥ अब कदाचित् जीवको क्षणिक माना जाय सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीव क्षणिक है प्रतिसमयमें नाश होता रहता है तथा नवीन उत्पन्न होता रहता है ऐसा माननेसे नवीन उत्पन्न हुई जीवकी संतान दर संतानमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती है। क्योंकि ध्यानका कारण पहिले अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण होना है और वह स्मरण क्षणिक जीवके होना अत्यंत कठिन है, हो ही नहीं सकता, इसलिये क्षणिक जीवके ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है। क्षणिक जीवके स्मरण न होनेका भी कारण यह है कि जिस जीवने किसी पदार्थका अनुभव किया था वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो गया दूसरे क्षणमें तो उसकी संतान उत्पन्न होती है, इसलिये अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसकी संतानको उसका स्मरण भी नहीं हो सकता और स्मरण न होनेसे ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है ॥२४३॥ जिसप्रकार जिनदासके द्वारा अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण पार्श्वदासको नहीं होता है उसीप्रकार अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसका स्मरण उसकी संतान प्रतिसंतानको भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि संतान प्रतिसंतान उस अनुभव करनेवाले जीवसे भिन्न है और

तथा पुद्गलवादेऽपि देहपुद्गलतत्त्वयोः । तत्त्वान्यत्वाद्यवक्तव्यसंगराध्यातुरस्थितिः ॥ २४५ ॥ दिध्यासापूर्विका ध्यानप्रवृत्तिर्नात्र युज्यते । न चासतः खपुष्पस्य काचिद्गंधादिकल्पना ॥ २४६ ॥ विज्ञप्तिमात्रवादे च ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः । ततो निर्विषया ज्ञप्तिः कात्मानं बिभृयात्कथं ॥ २४७ ॥ तदभावे च

अनुभव किये हुये पदार्थके स्मरणके बिना ध्यान करनेकी इच्छा होना भी असंभव है, ध्यानकी इच्छाके विना ध्यान नहीं हो सकता और ध्यानके विना मोक्ष भी नहीं हो सकती तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वाक्, काय, कर्म, अंतर्व्यायाम, और स्मृति इन आठ अंगोंकी भावना भी नहीं होसकती है, इसलिये जीवको क्षणिक माननेसे भी ध्यान नहीं हो सकता ॥२४४॥ अब चार्वाकमतपर विचार करते हैं चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ नहीं मानता है किंतु पृथ्वी जल तेज वायु इन चारोंके मिलनेसे ही चेतना शक्तिकी उत्पत्ति मानना है, परंतु ऐसा माननेसे चेतना शक्तिरूप शरीर और पुद्गल दोनों एक ही तत्त्व ठहरते हैं पृथक् पृथक् नहीं हो सकते, तथा जीव और पुद्गलको पृथक् पृथक् न माननेसे एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव मानना पडेगा और एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव माननेसे ध्यान करनेवालेकी स्थिति भी नहीं रह सकेगी, अर्थात् ध्यान करनेवालेके स्वरूपका ही निश्चय नहीं हो सकेगा ॥ २४५ ॥ दूसरी वात यह है कि ध्यानकी प्रवृत्ति ध्यानकी इच्छा पूर्वक ही होती है, विना ध्यानकी इच्छाके ध्यानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ मानता ही नहीं है इसलिये उसके मतमें ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है क्योंकि इच्छा होना जीवका ही विभाव परिणाम है वह जीवके विना नहीं हो सकता, जब आकाशका पुष्प नहीं है तो उसकी सुगंध अथवा दुर्गंध कल्पना भी नही हो सकती है, इसप्रकार चार्वाकमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४६ ॥ अब विज्ञानवादीका खंडन करते हैं, विज्ञानवादी जगतमें एक विज्ञानको ही मानता है, विज्ञानके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं

न ध्यानं नाध्येयं मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुताशादौ सत्यर्थे चार्थभासनं ॥ २४८ ॥ नैरात्म्यवादपक्षेपि किंतु केन प्रमीयते । कच्छपागरुहैस्तत्स्यात्खपुष्पापीडबंधनं ॥ २४९ ॥ ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या विकल्पद्वययोजना । अनादेयाप्रहेयातिशयेऽस्थाज्ञौ न किंचन ॥ २५० ॥ मुक्तात्मनोपिऽ चैतन्यविरहा-

मानता, वह घट पट आदि पदार्थोंको विज्ञानका ही विकार मानता है, परंतु ऐसा माननेसे विज्ञानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान उसीको कहते हैं जो अन्य पदार्थोंको जानें, जब ज्ञानका विषयभूत कोई अन्य ज्ञेय (जिसे ज्ञान जाने) पदार्थ ही नहीं है तब वह किसीको जानेगा भी नहीं और जब वह किसीको नहीं जानेगा तो ज्ञान भी नहीं कहलावेगा ॥ २४७ ॥ तथा विज्ञानवादियोंके मतमें जब ज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और आत्मा पुद्गल आदिको वह पृथक् पदार्थ मानता नहीं तब उसके मतमें ध्यान ध्येय और मोक्ष आदिकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि पदार्थोंके होते हुये ही उन्हें दीपक, सूर्य वा अग्नि आदि प्रकाश करनेवाले पदार्थ प्रकाशित कर सकते हैं, यदि पदार्थ न माने जायं तो न तो सूर्य वा दीपक किसीको प्रकाशित कर सकते हैं और न उनका नाम प्रकाशक ही पड सकता है इसलिये विज्ञानवादियोंके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४८ ॥ इसीप्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे शून्यवादियोंके मतमें भी ध्यान नहीं बन सकता, क्योंकि जब आत्मा आदि पदार्थ ही नहीं है तब ज्ञान आदि गुण भी नहीं हो सकते तथा ज्ञान आदि गुण और आत्मा आदि पदार्थोंके विना कौन किसको किसके द्वारा जानेगा अर्थात् न तो अनुभव करनेवाला ही है न अनुभव करनेयोग्य पदार्थ हैं और न अनुभव करनेका साधन है, इसलिये उसके ध्यान होना कछुएके वालोंसे आकाशके फूलोंका शेखर बनानेके समान है अर्थात् न तो कछुएके बाल होते हैं और न आकाशका फूल होता है इसलिये उनसे जैसे मुकुट नहीं बन सकता उसीप्रकार शून्यवादीके मतमें ध्यान नहीं बन सकता है ॥ २४९ ॥ इसीप्रकार शून्यवादियोंके

लक्षणक्षते । न ध्येयं कापिलाना स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ॥ २५१ ॥ सुषुप्तसदृशो मुक्तः स्यादित्येव ब्रुवाणक । सुषुप्सत्येष मूढात्मा ध्येयतत्त्वविचारणे ॥ २५२ ॥ शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यानध्येयनिर्णय । एकांतदोषदुष्टत्वात् द्वैताद्वैतादिवादिना ॥ २५३ ॥ नित्यानित्यात्मकं जीवतत्त्वमभ्युपगच्छता ।

मतमें ध्येय तत्त्व भी नहीं बन सकता है क्योंकि ध्येय तत्वमें दो विकल्प हो सकते हैं एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य, जब शून्यवादीके मतमें कोई पदार्थ ही नहीं है तो उसके मतमें हेय उपादेय कल्पना ही नहीं हो सकती है और हेय उपादेय कल्पनाके विना ध्यान भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार शून्यवादीके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥२५० ॥ इसीप्रकार सांख्यमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सांख्यमतमें मुक्त आत्माकास्वरूप चैतन्यरहित माना है, जब मुक्तावस्थामें चैतन्य ही नहीं रहता तो चैतन्यरूप लक्षणके न होनेसे लक्ष्यभूत आत्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। जिसप्रकार सुगंधि आदि गुणोंके न होनेसे आकाश कमलकी सिद्धि नहीं हो सकती उसीप्रकार चैतन्य रूप विशेष गुणोंके अभाव होनेसे मुक्तात्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, और मुक्तात्माकी सिद्धि हुये विना ध्येय भी सिद्ध नहीं हो सकता तथा ध्येयके विना ध्यान नहीं बन सकता ॥ २५१ ॥ जिसप्रकार गाढ निद्रामें सोते हुये पुरुषका स्वरूप होता है उसीप्रकार मुक्त आत्माका स्वरूप है ऐसा सांख्यमत कहता है परंतु वह मूर्ख सांख्य जिससमय ध्येय तत्त्वका अर्थात् परमात्माका विचार करता है उस समय स्वयं सो जाता है अर्थात् परमात्माका स्वरूप विचार करते समय उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है ॥ २५२ ॥ इसीप्रकार जो द्वैतवादी हैं अथवा अद्वैतवादी हैं वे सब एकांतरूपीदोषसे दुष्ट हैं अर्थात् सब एकांतको माननेवाले हैं, अनेकांतको माननेवाला कोई नहीं है, इसलिये उन सब मतोंमें न तो ध्यानका ही निर्णय हो सकता है और न ध्येयका ही निर्णय हो सकता है ॥ २५३ ॥ अतएव जीव तत्त्वको नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकारसे मानने-

ध्यान स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिना ॥ २५४ ॥ विरुद्धधर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् । इति चेन्नार्पणाभेदादविरोधप्रसिद्धितः ॥ २५५ ॥ नित्यो द्रव्यार्पणाच्चात्मा न पर्यायभिदार्पणात् । अनित्यः पर्ययोत्पादविनाशैर्द्रव्यतो न तु ॥ २५६ ॥ देवदत्तः पिता च स्यात्पुत्रश्चैवार्पणावशात् । विवक्षेतरयोर्योगः स्याद्वस्तुन्युभयात्मनि ॥ २५७ ॥ जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरद्बोधसंपदा । युक्त स्याद्वादिना ध्यान नान्येरा दुर्दृशामिद ॥ २५८ ॥ जिनो मोहारिविजयादाप्तः

वाले स्याद्वादी अर्थात् जैनमतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य किसी मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २५४ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि एक ही वस्तुमें दो विरुद्ध धर्म किसप्रकार रह सकते हैं अर्थात् जो जीव नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि अपेक्षाके भेदसे अर्थात् मुख्यता और गौणताकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें विरुद्ध दोनों धर्म रहते हैं । जैसे जीव तत्त्वमें जब द्रव्यकी मुख्यता करेंगे और पर्यायोंकी गौणता करेंगे तो उससमय उस जीव तत्त्वको नित्य मानना पडेगा क्योंकि द्रव्यका कभी विनाश नहीं होता है किसी न किसी रूपसे वह रहता ही है, तथा उसी नित्य जीवतत्त्वमें जब पर्यायोंकी मुख्यता करते हैं और द्रव्यकी गौणता करते हैं तो उसे अनित्य मानना पडता है, पर्यायोंकी अपेक्षा उसे नित्य नहीं कह सकते क्योंकि उसी जीवतत्त्वकी पर्यायें प्रति समयमें उत्पन्न होती रहती हैं तथा प्रति समयमें नष्ट होती रहती हैं। प्रति समयमें पहिली पर्याय नष्ट होती है और दूसरी उत्पन्न होती है। इसलिये सिद्ध हुआ कि जीवतत्त्व द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है पर्यायकी अपेक्षा नित्य नहीं है, तथा पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है द्रव्यकी अपेक्षा अनित्य नहीं है ॥२५५-२५६॥ इसका उदाहरण यह है कि देवदत्त नामका एक पुरुष पिताकी अपेक्षासे पुत्र है और पुत्रकी अपेक्षासे पिता है, अपेक्षा भेदसे पितृत्व और पुत्रत्व दोनों ही विरुद्ध धर्म उसमें मौजूद हैं, इसीप्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपेक्षाके भेदसे नित्यत्वअनित्यत्व, एकत्व अनेकत्व, आदि विरुद्ध धर्म भी रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप है ॥२५७॥ इसलिये

स्याद्वीतचीमल । वाचस्पतिरसौ वाग्भिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ २५९ ॥ स्यादर्हन्नरिवातादिगुणेरपरगोचरैः । बुद्धस्त्रैलोक्यविश्वार्थबोधनाद्विभुर्विभुः ॥ २६० ॥ स विष्णुश्च विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयंकरः । शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परममक्षरः ॥ २६१ ॥ इत्यन्वर्थानि नामानि यस्य लोकेशिनः

जैन शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे जिनकी ज्ञानरूपी संपत्ति चारों ओर फैली हुई है ऐसे अनेकांतवादी वा स्याद्वादी ऐसे जैनियोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, इस सध्यानकी सिद्धि अन्य किसी मिथ्यामातियोंके मतमें नहीं हो सकती ॥ २५८ ॥ भगवान् अरहंत देवने मोहरूपी परम शत्रुको जीता है इसलिये वे जिन कहलाते हैं, उनके ज्ञानका मल अर्थात् ज्ञानावरण कर्म सब नष्ट हो गया है इसलिये वे आप्त कहलाते हैं तथा उन्होंने अपने वचनोंके द्वारा सर्वश्रेष्ठ ऐसे मोक्षमार्गका उपदेश दिया है इसलिये वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥ २५९ ॥ इसके सिवाय जो अन्य किसीमें न पाये जायं ऐसे राग द्वेष आदि शत्रुओंका नाश होना आदि अनेक गुण उनमें पाये जाते हैं इसलिये वे अर्हन् वा अरिहंत कहलाते हैं, वे तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये बुद्ध कहलाते हैं और उनका ज्ञान समस्त अनंत आकाशमें व्याप्त है इसलिये वे विभु कहलाते हैं ॥ २६० ॥ इसीप्रकार वे भगवान ज्ञानके द्वारा व्यापक अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे विष्णु कहलाते हैं, कर्मोंको जीतलेनेसे विजिष्णु कहे जाते हैं, सबको सुख देनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं, सब जीवोंको अभय देते हैं इसलिये अभयंकर कहे जाते हैं, सबका कल्याण करते हैं इसलिये शिव कहलाते हैं, आदि अंतरहित हैं इसलिये सनातन कहलाते हैं, करनेयोग्य सब काम करचुके हैं इसलिये सिद्ध कहे जाते हैं, सब पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले और अविनश्वर हैं इसलिये अविनाशीक परम ज्योतिस्वरूप कहलाते हैं, ॥२६१॥ इसप्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहंतदेव विद्वान् पुरुषोंके हृदयमें आप्तबुद्धिको उत्पन्न कर सकता है अर्थात् विद्वान् पुरुष ऐसे आरिहंत देवको ही आप्त मान सकते हैं

प्रभो । विदुषा हृदयेष्वाप्तबुद्धिं कर्तुमल तरा ॥ २६२ ॥ यस्य रूपमधिज्योतिरनबरविभूषण । शास्ति कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षण ॥ २६३ ॥ निरायुधत्वान्निर्धूतभयकोपमकोपनात् । अरक्तनयन सौम्य सदा प्रहसितायित ॥ २६४ ॥ रागाद्यशेषदोषाणा निर्जयादतिमानुष । मुखाब्ज यस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ॥ २६५ ॥ स एवाप्तो जगद्व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः । तदुपज्ञमतो ध्यान श्रेय श्रेयोऽर्थिनामिद ॥ २६६ ॥ इति गदति गणेद्रे ध्यानत-

---

अन्य किसी दूसरेको नहीं ॥ २६२ ॥ जिसका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित प्रकाशमय अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, तथा जिसका कटाक्ष रहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है अर्थात् जो कामके विकारोंसे सर्वथा रहित है ॥ २६३ ॥ जिसके हाथमें कोई किसी प्रकारका आयुध (शस्त्र) नहीं है इसलिये जिसका रूप भय और क्रोध रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल भी नहीं है और जिसका रूप सदा सौम्य (शांत) और आनंदमय है ॥ २६४ ॥ जिसने रागद्वेष आदि समस्त दोष जीतलिये हैं इसलिये जिसका मुखकमल अमानुषिक भावको अर्थात् परम पुरुषके भावको दिखलाता है, तथा जिसका वही मुखकमल विद्वान लोगोंको शासकत्वका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान्‌लोग जिसका मुखकमल देखकर ही जानलेते हैं कि यह परमदेव अवश्य ही सबका गुरु वा शिक्षक अथवा शासन करनेवाला है ॥ २६५ ॥ इसके सिवाय जिसके ज्ञान और वैराग्यकी विभूति समस्त संसारमें व्याप्त है ऐसा जो अरंहतदेव है वही आप्त कहलाता है, इसलिये ऐसे आप्तने जो यह ध्यानका स्वरूप कहा है वही कल्याण चाहनेवालोंको कल्याणका मार्ग समझना चाहिये ॥ २६६ ॥ इसप्रकार जब अनेक बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरदेवने मुनियोंकी उस समवसरणरूप सभामें ध्यानका स्वरूप कहा तब उसे सुनकर परम भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही संतुष्ट हुये, और जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके संयोगसे कमलोंके समूह प्रफुलित हो जाते हैं उसीप्रकार उन मुनियोंका शरीर परम आनंदसे रोमांचित होगया

स्व महर्द्धौ मुनिसदसि मुनीद्राः प्रातुषन्भक्तिभाज । घनपुलकितमूहुर्गात्रमाविर्मुखाब्जं दिनकरकरयोगादाकरावाबुजानां ॥ २६७ ॥ स्तुतिमुखरमुखास्ते योगिनो योगिमुख्यं क्षणमिव जिनसेनाधीश्वर त प्रणुत्य । प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हंत्यलक्ष्मीं समधिगतसमग्रज्ञानधाम्नः स्वधाम्न. ॥ २६८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नाम एकविंश पर्व.

था और उनका मुखकमल खूब प्रफुल्लित होगया था ॥ २६७ ॥ स्तुति करनेसे जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं अर्थात् जो अनेकप्रकारकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे उस समवसरणमें विराजमान मुनियोंने समस्त योगियोंमें मुख्य और जिनसेनके स्वामी अथवा श्री जिनेंद्रदेवकी जो चारप्रकारकी संघरूप सेना है उसमें जो अधीश्वर अर्थात् स्वामी हैं ऐसे उन गौतम गणधरको थोडी देरतक नमस्कार किया और फिर सबने जिनको समस्त ज्ञानरूपी तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मामें ही स्थिर हैं ऐसे श्री वृषभदेव भगवानकी अरहंत पदकी विभूतिके सुननेकेलिये एकाग्र चित्त किया ॥२६८॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें ध्यानतत्त्वका
निरूपण करनेवाला यह इक्कीसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ द्वाविंशं पर्व।

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे। त्रिलोक्यामभवत्क्षोभ कैवल्योत्पत्तिवात्यया ॥१॥ तदा प्रक्षुभिताम्भोधिवेलाध्वानानुकारिणी। घंटा मुखरयामास जगत् कल्पामरेशिना ॥ २ ॥ ज्योतिर्लोके महान् सिंहप्रणादोऽभूत्समुत्थित । येनाशु विमदीभावमवापन् सुरवारणा ॥ ३ ॥ दध्वान ध्वनदम्भोदध्वनितानि तिरोदधत्। वैयतरेषु गेहेषु महानानकनि.स्वन· ॥ ४ ॥ शख ग खेचरै सार्द्ध यूयमेत जिघृक्षव· । इतीव घोषयन्नुच्चै फणींद्रभवनेऽध्वनत् ॥ ५ ॥ विष्टराण्यमरेशानामशनै· प्रचकम्पिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढु जिनजयोत्सवे ॥ ६ ॥ पुष्करैः स्वैरथोत्क्षिप्तपुष्करार्घाः सुरद्विपाः । ननृतु पर्व-

---

अथ बाईसवां पर्व

अथानंतर—भगवान वृषभदेवके जब घातिया कर्मोंका नाश होगया तब समस्त संसारका संताप नाश होगया और केवलज्ञानके उत्पन्न होनेरूप महा वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न होगया ॥ १ ॥ उससमय जिसप्रकार क्षुब्ध हुये समुद्रकी लहरें शब्द करती हैं उसीप्रकार कल्पवासी देवोंके विमानोंमें अपने आप बजता हुआ घंटा संसारको वाचालित कर रहा था ॥ २ ॥ ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें सिंहनादका शब्द हो रहा था जिसे सुनकर ऐरावत हाथी भी बहुत शीघ्र मदरहित हो गये थे ॥ ३ ॥ व्यंतर देवोंके आवासोंमें बडे २ नगाडोंके शब्द होने लगे थे और वे ऐसे थे जो गर्जते हुये वादलोंके शब्दोंको भी नीचा दिखाते थे ॥ ४ ॥ " भो पृथ्वीमें रहनेवाले भवनवासी देव हो ! तुम भी कल्पवासियोंके साथ २ भगवानके उत्सव देखनेसे उत्पन्न हुये सुखको ग्रहण करनेकेलिये चलो " इसप्रकार घोषणा करता हुआ शंख भवनवासियोंके भवनमें अपने आप शब्द करने लगा था ॥ ५ ॥ उसीसमय समस्त इंद्रोंके आसन कंपायमान होगये थे मानों भगवानको घातिया कर्मोंके जीतलेनेसे जो अहंकार हुआ है उसे सहन न कर सकनेके कारण ही चलायमान हुये हों, (भगवान यद्यपि निरहंकार हैं अठारह दोषोंसे रहित हैं तथापि उत्प्रेक्षासे यहां ऐसा कहा गया है) ॥ ६ ॥

तोदग्रा महाहिभिरिवाद्रय. ॥ ७ ॥ पुष्पाजलिमिवातेनुः समतात्सुरभूरुहाः । चलच्छाखाकरैर्दीर्घैर्विगलत्कुसुमोत्करैः ॥ ८ ॥ दिशः प्रसत्तिमासेदुर्वभ्राजे व्यभ्रमंवर । विरजीकृतभूलोक. शिशिरो मरुदाववौ ॥ ९ ॥ इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद्भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णेंदुर्जगदाब्धिमवीवृधत् ॥ १० ॥ चिह्नैर-मीभिरह्वाय सुरेंद्रोऽवोधि सावधिः । वैभव भुवनव्यापि वै भवध्वसि वैभव ॥ ११ ॥ अथोत्थायासनादाशु प्रमोदं परमुद्वहन् । तद्दूरादिव नम्रोऽभून्नतमू-र्द्धा शचीपतिः ॥ १२ ॥ किमेतदिति पृच्छन्तीं पौलोमीमतिसभ्रमात् । हरिः प्रवोधयामास विभो कैवल्यसभवं ॥ १३ ॥ प्रयाणपटहैरुच्चैः प्रध्वनत्सु

जिन्होंने पूजा करनेकेलिये कमल पकडकर अपनी सूंड ऊंचेको उठाई है ऐसे पर्वतके समान ऊंचे २ हाथी अपनी २ सूंड उठाकर नृत्य कर रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों वडे २ सर्पों-सहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥ ७ ॥ उससमय कल्पवृक्षों की लंवी लंवी शाखाओंसे पुष्पोंके स-मूह गिर रहे थे जिनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानको पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों ॥ ८ उससमय दिशायें सव प्रसन्न (साफ) हो रही थीं, आकाश विना वादलोंके निर्मल सुशोभित हो रहा था और जिसने समस्त पृथ्वीलोककी धूल नष्ट कर दी है ऐसा शीतल वायु वह रहा था ॥ ९ ॥ इसप्रकार संसारमें अकस्मात् आनंद उत्पन्न करता हुआ केवलज्ञान रूपी पूर्ण चंद्रमा संसार-रूपी समुद्रको वढा रहा था अर्थात् आनंदित कर रहा था ॥ १० ॥ अवधिज्ञानको धारण करनेवाले इंद्रने इन सर्व चिन्होंसे संसारमें व्याप्त हुई, संसारका नाश करनेवाली और संसारका नाशकर उत्पन्न हुई ऐसी भगवानकी केवलज्ञानरूपी विभूतिको वहुत शीघ्र जान लिया ॥ ११ ॥ तदनंतर अत्यंत आ-नंदित होता हुआ वह इंद्र वहुत शीघ्र अपने आसनसे उठा और मानों उस आंनदके वोझसे ही जि-सका मस्तक नवगया है ऐसे उस प्रथम स्वर्गके इंद्रने वहींसे भगवानको नमस्कार किया ॥ १२ ॥ इंद्रानीने उससमय वडे आश्चर्यसे पूछा कि यह क्या है तव इंद्रने भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका शुभ समाचार उसे भी समझाया ॥ १३ ॥ उसीसमय जोर २ से गमन करनेकी सूचना देनेवाले, वडे २

शताध्वर । भर्तुः कैवल्यपूजायै निश्चक्राम सुरैर्वृत. ॥ १४ ॥ ततो बलाहकाकारं विमान कामकाह्वयं । चक्रे बलाहको देवो जंबूद्वीपप्रमान्वितं ॥ १५ ॥ मुक्तालंबनसशोभि तदाभाद्रत्ननिर्मित । तोपात्प्रहासमातन्वदिव किंकिंणिकास्वनैः ॥ १६ ॥ शारदाभ्रमिवादभ्रं श्वेतिताखिलदिग्मुख । नागदत्ताभियोग्येशो नागमैरावतं व्यधात् ॥ १७ ॥ ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनं । हरिवाह. सहैशान' प्रतस्थे सपुलोमजः ॥ १८ ॥ इद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिष-दामराः । सात्मरक्षजगत्पाला. सानीका. सप्रकीर्णकाः ॥ १९ ॥ पुरः किल्विषिकेपूच्चैरातन्वत्स्वानकस्वनान् । स्वैरं स्वैर्वाहनै. शक्रं व्रजतमनुवव्रजु' ॥२०॥

बाजे बजने लगे और इसप्रकार सब देवोंके साथ २ इंद्र भगवानके केवलज्ञानकी पूजा करनेके-लिये निकला ॥ १४ ॥ उसीसमय बलाहक देवने एक कामक नामका विमान बनाया जोकि जंबूद्वी-पके समान बडा था और जिसका आकार वादलोंके आकारके समान था ॥ १५ ॥ वह विमान रत्नों-का बना हुआ था, उसपर चारों ओर मोतियोंकी मालायें लटक रही थीं जिनसे वह बहुत ही अच्छा जान पडता था, उसमें जो किंकिणियोंके (छोटी २ घंटियोंके) शब्द हो रहे थे उससे वह ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर हंस रहा ही हो ॥ १६ ॥ अभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य ऐसे नागदत्त नामके देवने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावती हाथी बनाया, वह हाथी बहुत बडा था शरदऋ-तुके बादलोंके समान सफेद था और उसकी सफेदीसे सब दिशायें सफेद हो गई थीं ॥ १७ ॥ तदनं-तर इंद्र अपनी इंद्राणी और ऐशान इंद्रके साथ साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुये उन दिव्य सवारियों-पर सवार होकर निकला ॥ १८ ॥ सबसे आगे किल्विषिक जातिके देव जोर जोरसे नगाडे बजाते जाते थे और उनके पीछे इंद्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश, पारिषद आत्मरक्ष, लोकपाल अनीक प्रकीर्णक जातिके देव अपने २ वाहनोंपर सवार हुये इच्छानुसार सौधर्म इंद्रके पीछे २ चले जा रहे थे ॥१९-२०॥ इसीप्रकार देवोंकी सेना भी बडे ठाठसे जा रही थी, उसमें अप्सरायें नृत्य करती जाती थीं, गंधर्व-जातिके देव बाजे बजाते जाते थे और किन्नरी जातिकी देवियां गीत गाती जा रहीं थीं ॥ २१ ॥

अप्सरस्सु नटतीपु गन्धर्वातोद्यवादनै । किन्नरीपु च गायत्सु चचाल सुरवाहिनी ॥ २१ ॥ इन्द्रादीनामथैतेषा लक्ष्म किंचिदनूद्यते । इंदनादणिमाद्यैश्च गुणैरिंद्रो ह्यनन्यजे ॥ २२ ॥ आज्ञैश्वर्याद्विनाऽन्यैस्तु गुणैरिंद्रेण संमिता । सामानिका भवेयुस्ते शक्रेणापि गुरूकृताः ॥ २३ ॥ पितृमातृगुरुप्रख्याः समतास्ते सुरेशिना । लभते सममिंद्रैश्च सत्कार मान्यतोचित ॥ २४ ॥ त्रायस्त्रिंशास्त्रयास्त्रिंशदेव देवा. प्रकीर्तिता । पुरोधोमन्त्र्यमात्याना सदृशास्ते दिवीशिना ॥ २५ ॥ भवा परिपदीत्यासन्मुरा पारिषदाह्वयाः । ते पीठमर्दसदृशा. सुरेन्द्रैरतिलालिता ॥ २६ ॥ आत्मरक्ष शिरोरक्षसमाना प्रोद्यतासय. ।

अब यहांपर प्रसंगपाकर इंद्र आदि दशप्रकारके देवोंका थोडा थोडा लक्षण लिखदेते हैं, अन्य देवोंमें न पाये जायं ऐसे अणिमा महिमा आदि गुणोंसे जो अतिशय ऐश्वर्यको प्राप्त हो उसे इंद्र कहते हैं ॥ २२ ॥ जिनमें आज्ञा और ऐश्वर्यके बिना अन्य सब गुण इंद्रके समान हैं और जिन्हें इंद्र भी बडा करके मानता है उन्हें सामानिक जातिके देव कहते हैं, ये सामानिक जातिके देव इंद्रके माता पिता और गुरुके समान गिने जाते हैं और उनके बडप्पनके अनुसार अन्यदेव भी इंद्रके समान ही उनका आदरसत्कार करते हैं ॥ २३-२४ ॥ इंद्रोंके पुरोहित मंत्री और अमात्योंके समान जो गिनतीके तेतीस देव होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं ॥ २५ ॥ जो इंद्रकी सभामें सदा उपस्थित रहें उन्हें पारिषद कहते हैं, ये पारिषद जातिके देव इंद्रके मित्र समान होते हैं और इंद्र उनपर बहुत ही प्रेम रखता है ॥ २६ ॥ जो देव अंगरक्षकके समान हाथोंमें तलवार लेकर तथा हाथोंको ऊंचाकर सदा इंद्रके पास खडे रहते हैं उन्हें आत्मरक्षक कहते हैं, यद्यपि इंद्रको कुछ भय नहीं है तथापि इंद्रकी विभूति और माहात्म्य दिखानेकेलिये ये देव सदा इंद्रके आस पास ही फिरा करते हैं ॥ २७ ॥ जो कोटपालके समान स्वर्गलोककी रक्षा करनेवाले हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं, लोकपालोंके विमान भी स्वर्गलोकके अंतमें ही हैं, और सेनाके समान जो पियादे आदि सातप्रकारके देव होते हैं उन्हें अनीक कहते हैं, हाथी, घोडे, रथ, पियादे, बैल, गंधर्व और नृत्य करनेवाली देवियां यह सातप्रकारकी देवों-

विभवायैव पर्यतात्पर्यटत्यमरेशिना ॥ २७ ॥ लोकपालास्तु लोकांतपालका दुर्गपालवत् । पदात्यादीन्यनीकानि दंडकस्थानि सप्त वै ॥ २८ ॥ पौरजानपदप्रख्या. सुरा ज्ञेया. प्रकीर्णका । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमा ॥ २९ ॥ मत.' किल्विषमस्त्येषामिति किल्विषिकामरा । बाह्याः प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धय' ॥ ३० ॥ एकैकस्मिन्निकाये स्युर्दशभेदाः सुरा इमे । व्यन्तरा ज्योतिषस्त्रायस्त्रिंशलोकपवर्जिता. ॥ ३१ ॥ ऐद्रस्तम्बेरम कीदृगिति चेत्सोऽनुवर्ण्यते । तुगवशो महावर्ष्मा सुवृत्तोन्नतमस्तक ॥ ३२ ॥ बह्वाननो बहुरदो बहुदोर्विपुलासन. । लक्षणैर्व्यजनैर्युक्त' सात्विको जवनो बली

की सेना होती है ॥ २८ ॥ नगर किंवा देशोंमें रहनेवाले लोगोंके समान जो विमानोंमें रहनेवाले साधारण देव हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं, और जो नौकर चाकरोंके समान दासकर्म करनेमें नियुक्त हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥ २९ ॥ जिनके पाप कर्मका उदय हो ऐसे चांडालोंके समान देवोंको किल्विषिक कहते हैं, जिसप्रकार चांडाल शहरसे बाहर रहते हैं उसीप्रकार किल्विषिक जातिके देव भी बाहर रहते हैं, उनका पुण्य भी थोडा है इसलिये उनके ऋद्धियां भी बहुत थोडी होती हैं ॥ ३० ॥ इसप्रकार प्रत्येक निकायके देवोंमें ऊपर लिखे हुये इंद्र सामानिक आदि दश भेद होते हैं, परंतु व्यंतर और ज्योतिष्क जातिके देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके देव नहीं होते, भावार्थ—व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद ही होते हैं ॥ ३१ ॥ अब इंद्रके ऐरावत हाथीका वर्णन करते हैं, उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी (रीढ) बहुत ऊंची थी, शरीर बहुत बडा था, मस्तक सुगोल और ऊंचा था ॥ ३२ ॥ उसके अनेक मुख, अनेक दांत और बहुतसी सूंडें थीं, मस्तक बहुत बडा था, उसपर अनेक बडे २ शुभ चिन्ह और अनेक छोटे २ शुभ चिन्ह थे. वह शक्तिशाली, शीघ्र गमन करनेवाला, बलवान् ॥ ३३ ॥ इच्छानुसार चाहे जहां गमन करनेवाला, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप धारण करनेवाला और अतिशय शूरवीर था, उसके कंधे अतिशय गोल थे, संस्थान समचतुरस्र अर्थात् समान आकार था, शरीरका बंधन अति मनोहर था,

॥ ३३ ॥ कामग. कामरूपी च शूर' सद्वृत्तकधरः । समः सवंधनो धुर्यो मधुस्निग्धरदेक्षणः ॥ ३४ ॥ तिर्यग्लोलायतस्थूलक्रमवृत्तर्जुसत्कर. । स्निग्धताम्रपृथुस्रोतोदीर्घागुलिसपुष्कर ॥ ३५ ॥ वृत्तगात्रापर स्थेयान्दीर्घमेहनवालधि । व्यूढोरस्को महाध्वानकर्ण. सत्कर्णपल्लव. ॥ ३६ ॥ अर्द्धेंदुनिभसुश्लिष्टविद्रुमाभानखोत्कर । सच्छायस्ताम्रताल्वास्यः शैलोदग्रो महाकट ॥ ३७ ॥ वराहजघन श्रीमान्दीर्घोष्ठो दुदुभिस्वन. । मुगधिर्दीर्घनि.श्वास. सोऽमितायुः कृतादर. ॥ ३८ ॥ अन्वर्थवेदी कल्याण कल्याणप्रकृतिः शुभ' । अयोनिज सुजातश्च समधा सुप्रतिष्ठित. ॥ ३९ ॥ मदनिर्झरसमिक्तकर्णचा-

---

वह सेनामें धुरंधर था, उसके दांत और नेत्र दोनों ही मनोहर और चिकने थे ॥ ३४ ॥ उसकी उत्तम सूंड नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई, चंचल, लंबी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोलाकार और सरल थी, सूंडका अग्रभाग चिकना और लाल, था, उसमें बडे २ छेद थे और बडी २ दो उंगलियोंके समान चिन्ह थे ॥ ३५ ॥ उसके शरीरका पिछला भाग गोल था, वह हाथी अत्यंत गंभीर और स्थिर था, शरीरके अनुसार उसकी पूंछ और लिंग भी बडा था, उसका वक्षःस्थल बहुत मजबूत था, उसके कानोंके शब्द दूरतक सुने जाते थे, तथा उसके कर्णरूपी कोमल पत्ते बहुत मनोहर थे ॥ ३६ ॥ उसके नखोंके समूह आधे चंद्रमाके समान मजबूतीसे जडे हुये थे और उनकी कांति मूगाके समान कुछ २ लाल पड रही थी, उसकी छाया भी बहुत अच्छी थी, उसका मुख और तालु लाल थे, वह पर्वतके समान ऊंचा था और उसके कपोल बहुत बडे थे ॥ ३७ ॥ वह अत्यंत शोभायमान था, उसके जघन सूअरके समान थे, ओठ बहुत बडे थे, उसका शब्द दुंदुभिके समान गंभीर था, उच्छ्वास दीर्घ और सुगंधित था, आयु बहुत बडी थी और उसका सबकोई आदर सत्कार करते थे ॥ ३८ ॥ वह यथार्थ शब्दार्थका जाननेवाला था, देखने और स्पर्श करनेमें मंगलरूप था, उसका स्वभाव शुभ था, वह स्वयं मंगलस्वरूप था, अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति सबसे उत्तम थी और वह सातप्रकारकी प्रतिष्ठासे प्रसिद्ध था अर्थात् पराक्रम, तेज,

मरलविनी. । मदश्रुतीरिवाबिभ्रदपरा. षट्पदावली ॥ ४० ॥ मुखैर्बहुभिराकीर्णो गजराज. स्म राजते । सेव्यमान इवायातैर्भक्त्या विश्वैरनेकपै ॥ ४१ ॥ अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाछलेन य. । वमन्मुहुरिवारुच्यात्पल्लवान्कवलीकृतान् ॥ ४२ ॥ मृदगमन्द्रनिर्घोषै' कर्णतालाभिताडनै । सालिवीणारुतैर्हृद्यैरारब्धातोद्यविभ्रम. ॥ ४३ ॥ कर सुदीर्घनि श्वास मदवेणीं च यो वहन् । सनिर्झरस्य सगयोर्बिभर्ति स्म गिरे' श्रिय ॥ ४४ ॥ दतालग्नैर्मृणालैर्यो राजते

बल, शूरता, शक्ति संहनन और वेग ये सातों ही उत्तमगुण उसमें विद्यमान थे ॥३९॥ उसके कर्णरूपी चमरोंपर जो भ्रमरोंकी पंक्तियां वैठी हुई थीं वे सब उसके गंडस्थलसे निकलते हुये मदके निर्झरनेसे भीग गई थीं और इसलिये वे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मदकी दूसरी धारा ही हो ॥ ४० ॥ इसप्रकार अनेक मुखोंसे सुशोभित वह गजराज ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भक्तिपूर्वक आये हुये संसारके समस्त हाथी उसकी सेवा ही कर रहे हों ॥ ४१ ॥ अशोक वृक्षके नवीन लाल पत्तोंके समान उसका तालु था जिससे वह हाथी ऐसा जान पडता था मानों वह उस लाल तालुकी छायाके वहानेसे खाये हुये नवीन पत्तोंको अच्छे न लगनेके कारण वार वार वमन ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ उसके कर्णरूपी तालोंकी ताडनासे मृदंगके समान गंभीर शब्द हो रहा था और उसीके साथ साथ वहांपर वैठे हुये भ्रमरोंका वीणाके समान मनोहर शब्द होता था जिससे ऐसा जान पडता था मानों उस हाथीने बाजा वजाना ही प्रारंभ किया हो ॥ ४३ ॥ जिसमेंसे दीर्घ निश्वास निकल रहा है ऐसी उसकी सूंड थी और गंडस्थलोंसे मदकी धारा वह रही थी, इन दोनोंसे उस हाथीकी शोभा ऐसी जान पडती थी मानों निर्झरने और सर्पसहित कोई पर्वत ही हो ॥ ४४ ॥ उसके दांतोंमें जो बहुत लंबे कमलके तंतु लग रहे थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों चंद्रमाके टुकडोंके समान निर्मल ऐसी दांतोंकी किरणोंसे ही सुशोभित हो रहा हो, भावार्थ—दांतोंमें लगे हुये कमलके तंतु दांतोंकी किरणोंके समान जान पडते थे ॥ ४५ ॥ वह सुंदर हाथी एक सरोवर

समायतैर्भृश । प्रारोहैरिव दंतानां शशांकशकलामलैः ॥ ४५ ॥ पद्माकर इव श्रीमान्दधानः पुष्करश्रियं । कल्पद्रुम इव प्रांशुर्दानार्थिभिरुपासित. ॥ ४६ ॥ रेजे सहैमकक्ष्योऽसौ हेमवल्लीवृताद्रिवत् । नक्षत्रमालयाऽक्षिप्तशरदभ्रविभ्रमः ॥ ४७ ॥ ग्रैवेयमालया कंठं स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालावृतस्याद्रेर्नितंबस्य श्रियं दधौ ॥ ४८ ॥ घटाद्वयेन रेजेऽसौ सौवर्णेन निनादिना । सुराणामवबोधाय जिनार्चामिव घोषयन् ॥ ४९ ॥ जंबूद्वीपविशालोरुकायश्री ससरोव-

के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभाको धारण कर-ता है उसीप्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूंडके अग्रभागकी शोभाको धारण करता था, अथवा वह हाथी एक ऊंचे कल्पवृक्षके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दान ग्रहण करनेवाले याचक लोग कल्पवृक्षकी उपासना करते हैं उसीप्रकार दान अर्थात् मद ग्रहण करनेवाले भ्रमर उस हाथीकी उपासना कर रहे थे अर्थात् बहुतसे भ्रमर उस हाथीके गंडस्थलोंपर बैठे हुये थे ॥४६॥ उसके गलेमें सुवर्णकी सांकल लटक रही थी जिससे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सुवर्णमयी लता-से ढका हुआ पर्वत ही हो। तथा उसके गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पडी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र मालाओंसे सुशोभित शरदृतुका बादल ही हो ॥ ४७ ॥ उसके गलेमें कंठाभरण पडा हुआ था जोकि मस्तक हिलानेसे रुणझुण शब्द कर रहा था उससे वह हाथी ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पक्षियोंकी पंक्तियोंसे घिरा हुआ पर्वतका नितंवभाग अर्थात् शिखरके नीचेका प्रदेश ही हो ॥ ४८ ॥ उस हाथीपर सुवर्णके दो घंटा शब्द कर रहे थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानों देवोंको जाननेकेलिये भगवानकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥ ४९ ॥ वह हाथी ठीक जंबूद्वीपकी शोभा धारण करता था क्योंकि जंबूद्वीपके समान ही बहुत बडा उसका स्थूल शरीर था और बहुतलंबे ऐसे उसके दांत ही कुलपर्वतोंके समान सुशो-भित थे तथा कुलपर्वतोंपर जिसप्रकार सरोवर होते हैं उसीप्रकार उसके दांतोंपर भी एक एक सरोवर

रान् । कुलाद्रीनिव वभ्रेऽसौ रदानायामशालिन ॥ ५० ॥ श्वेतिम्ना वपुषः श्वेतद्वीपलक्ष्मीमुवाह सः- । चलत्कैलासशैलाभः प्रक्षरन्मदनिर्झरः ॥ ५१ ॥ इति व्यावर्णितारोहपरिणाहचतुर्गुण । गजानीकेश्वरश्चक्रे मैहैरावतदंतिन ॥ ५२ ॥ तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽद्युतत्तरा । पद्माकर इवोत्फुल्लपंकजो गिरिमस्तके ॥ ५३ ॥ द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्यास्य च रदाष्टक । सर. प्रतिरद तस्मिन्नब्जिन्येका सरःप्रति ॥ ५४ ॥ द्वात्रिंशत्प्रसवास्तस्या तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवाना नर्तक्यस्तत्प्रमा पृथक् ॥ ५५ ॥ नृत्यति सलय स्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रुव. । पश्यच्चित्तद्रुमेषूच्चैर्न्यस्यत्यः प्रमदाकुरान् ॥ ५६ ॥ तासा

था ॥५०॥ उसका शरीर श्वेत था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों श्वेत द्वीपकी शोभा ही धारण कर रहा हो, अथवा मदरूपी पानीके निर्झरने जिससे वह रहे हैं ऐसा चलते हुये कैलास पर्वतके समान जान पडता था ॥ ५१ ॥ इसप्रकार शोभा सहित एक लाख योजन लंबा पच्चीस हजार योजन ऊंचा ऐसा ऐरावत हाथी गज जातिकी सेनाके नायकने निर्मापण किया ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतके मस्तकपर फूलेहुये कमलोंसे सुशोभित सरोवर अच्छा लगता है उसीप्रकार उस ऐरावत हाथीपर चढा हुआ इंद्र भी बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ ५३ ॥ उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ आठ दांत थे (सब ३२×८=२५६ दांत थे) एक एक दांतपर एक एक सरोवर था, एक एक सरोवरमें एक एक कमलिनी अर्थात् कमलकी लता थी अर्थात् २५६ दांतोंपर २५६ सरोवर और २५६ ही कमलिनियां थीं, एक एक कमलिनीपर बत्तीस बत्तीस कमल थे सब मिलकर २५६×३२=८१९२ कमल थे, एक एक कमलमें बत्तीस बत्तीस दल (पखुरियें) थे अर्थात् सब मिलकर ८१९२×३२=२६२१४४ दल थे और एक एक दलपर एक एक अप्सरा नृत्य कर रही थीं, इसप्रकार सब २६२१४४ अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं ॥५४-५५॥ जिनके मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं तथा जिनकी भोंहें बहुत सुंदर हैं और जो देखनेवालोंके चित्त रूपी वृक्षोंमें आनंदके अंकूरे अर्थात् रोमांच उत्पन्न करती

भापाटीकामें एक एक दलपर बत्तीस २ अप्सरायें नृत्य कर रही थीं ऐसा अर्थ लिखा है । अर्थात् तत् शब्दसे ३२ सख्या ली है । ऐसा अर्थ करनेसे २६२१४४ × ३२=८३८८६०८ अप्सराओं की सख्या होती है ।

सहास्यश्रृंगाररसभावलयान्वित । पश्यंतः कैशिकीप्राय नृत्त पिप्रियिरे सुराः ॥ ५७ ॥ प्रयाणे सुरराजस्य नेटुरप्सरसः पुरः । रक्तकंठाश्च किन्नर्यो जगुर्जिनपतेर्जय ॥ ५८ ॥ ततो द्वात्रिंशदिंद्राणा पृतना बहुकेतनाः । प्रसस्रुर्विलसच्छत्रचामरा· प्रततामराः ॥ ५९ ॥ अप्सर.कुकुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके । तद्वक्रपंकजच्छन्ने लसत्तन्नयनोत्पले ॥ ६० ॥ नभ.सरसि हारांशुस्वच्छवारिणि हारिणि । चलतश्चामरापीडा हसायंते स्म नाकिना ॥ ६१ ॥ इद्रनीलमया-

---

हैं ऐसी वे अप्सरायें ताल और लयके साथ नृत्य कर रहीं थीं ॥५६॥ उन अप्सराओं का हास्य, शृंगाररस, भाव और लय सहित जो लज्जासहित शृंगाररससे भराहुआ नृत्य था उसे देखते हुये देवलोग बडे ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५७॥ उससमय इंद्रके प्रयाण (गमन) करते समय इंद्रके सामने अप्सरायें नृत्य कर रही थीं और जिनके कंठ लाल हो रहे हैं ऐसी किन्नरी जातिकी देवियां भगवानका यशोगान कर रहीं थीं ॥५८॥ तदनंतर छत्र चमरोंसे सुशोभित और जिसमें चारोंओर देव ही देव फैले हुये हैं तथा जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं हैं ऐसी बत्तीस इंद्रोंकी सेना चारोंओर फैल गई थीं, कल्पवासियोंके बारह, भवनवासियोंके दश, व्यंतरोंके आठ और ज्योतिषियोंके दो इसप्रकार मुख्यरीतिसे बत्तीस इंद्र होते हैं ॥५९॥ उससमय आकाश एक सरोवरके समान जान पडता था क्योंकि उसमें कुंकमसे लाल हुये अप्सराओंके कुचरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोडे निवास कर रहे थे, वह आकाशरूपी सरोवर उन अप्सराओंके मुख रूपी कमलोंसे ढका हुआ था उसमें अप्सराओंके नेत्र रूपी कमल सुशोभित हो रहे थे और उनके हारोंकी किरणें ही मनोहर और स्वच्छ जल भरा हुआ था, ऐसे उस आकाशरूपी सरोवरमें उन देवोंपर ढुलते हुये चमरोंके समूह ठीक हंसोंके समान जान पडते थे ॥ ६०-६१ ॥ कहीं कहीं पर वह आकाश इंद्रनील मणिके बने हुये देवोंके आभूषणोंकी कांतिसे व्याप्त हो रहा था और स्वच्छ की हुई तलवारके समान देदीप्यमान हुआ वह आकाश अपनी निराली ही शोभा धारण कर-रहा था ॥ ६२ ॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंसे व्याप्त हुआ वह कुछ कुछ लाल आकाशतल ऐसा

हार्यरुचिभिः क्वचिदाततं । स्वामाभा विभरामास धौतासिनिभमंबरं ॥ ६२ ॥ पद्मरागरुचा व्याप्तं क्वचिद्व्योमतलं बभौ । साध्यं रागमिवाबिभ्रदनुरंजितदिग्मुखं ॥ ६३ ॥ क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रांतमभान्नभः । सशैवलमिवाम्भोधेर्जलं पर्यंतसंश्रितं ॥ ६४ ॥ देवाभरणमुक्तौघशबलं सहविद्रुमं । भेजे पयोमुचां वर्त्म विनीलं जलधेः श्रियं ॥ ६५ ॥ तन्व्यः सुरुचिराकारा लसदंशुकभूषणाः । तदाऽमरस्त्रियो रेजुः कल्पवल्ल्य इवाम्बरे ॥ ६६ ॥ स्मेरवक्त्राबुजा रेजुर्नयनोत्पलराजिताः । सरस्य इव लावण्यरसापूर्णाः सुरांगनाः ॥ ६७ ॥ तासां स्मेराणि वक्त्राणि पद्मबुध्याऽनुधावता । रेजे मधुलिहां माला धनुर्ज्येव मनोभुवः ॥ ६८ हाराश्रितस्तनोपांता रेजुरप्सरसस्तदा । दधाना इव निर्मोकसमच्छायं स्तनांशुकं ॥ ६९ ॥ सुरानकमहाध्वानैः पूजावेलां परां दध-

---

अच्छा जान पडता था मानों समस्त दिशाओंको अनुरंजित करनेवाली संध्यासमयकी लालिमा ही हो ॥ ६३ ॥ कहीं कहीं पर मरकतमणियोंकी छायासे व्याप्त हुआ वह आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों जिसके किनारेपर चारोंओर शैवाल फैला हुआ है ऐसा समुद्रका जल ही हो ॥६४॥ देवोंके आभूषणोंमें लगे हुये मोतियोंके समूहोंसे चित्र विचित्र हुआ तथा मूंगाओंकी कांतियोंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों मोती और मूंगाओंसे भरा हुआ समुद्र ही हो ॥ ६५ ॥ जो अत्यंत तन्वी (पतली) हैं, जिनका आकार सुंदर है और जो वस्त्र तथा आभूषणोंसे दैदीप्यमान हो रही हैं ऐसी देवांगनायें उससमय आकाशमें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों कल्पलतायें ही हो ॥६६॥ अथवा वे देवांगनायें सरोवरके समान जान पडती थीं क्योंकि कुछ कुछ हंसते हुये मुख ही उसमें कमल थे, नेत्र ही नीलकमलोंके समान सुशोभित हो रहे थे और लावण्यरूपी जलसे वे खूब भरी हुई थीं ॥ ६७ ॥ भ्रमरोंकी माला (समूह) कमल समझकर उन देवांगनाओंके मुखोंपर पडती थी और वह ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कामदेवके धनुषकी डोरी ही हो ॥ ६८ ॥ जिनके स्तनोंके समीपभाग हारोंसे सुशोभित हो रहे हैं ऐसी वे अप्सरायें उससमय ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों उन्होंने सांपकी काचलीके समान कपडेकी चोली ही पहनी हो

न् । प्रचलदेवकल्लोलो बभौ देवागमांबुधिः ॥ ७० ॥ ज्योतिर्मय इवैतस्मिन् जाते सृष्टयतरे भृश । ज्योतिर्गणा न्हियेवासन्विच्छायत्वादलक्षिता· ॥७१॥ तदा दिव्यागनारूपैर्हयहस्त्यादिवाहनै· । उच्चावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटश्रिय ॥ ७२ ॥ देवागद्युतिविद्युद्भिस्तदाभरणरोहितै· । सुरेभनीलजीमूतैर्व्योमाधात्प्रावृष· श्रिय ॥ ७३ ॥ इत्यापतत्सु देवेषु सम यानविमानकै· । सजानिषु तदा स्वर्गश्चिरादुद्वासितोऽभवत् ॥ ७४ ॥ समारुध्य नभोऽगेपमित्यायातै सुरासुरैः । जगत्प्रादुर्भवद्दिव्यस्वर्गांतरमिवारुचत् ॥ ७५ ॥ सुरैर्दूरादथालोकि विभोरास्थानमडल । सुरशिल्पिभिरारब्धपरार्ध्यरचनाशतं ॥ ७६ ॥ द्विप-

---

॥ ६९ ॥ उससमय वह देवोंका आगमन एक समुद्रके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिसप्रकार समुद्रमें उसकी गरजनासे वेला अर्थात् ज्वार भाटा होते हैं उसीप्रकार देवोंका आगमन भी देवोंके नगाडोंके महा शब्दोंके द्वारा भगवानकी पूजाकी उत्तम वेला अर्थात् पूजाके समयको धारण करता था, और समुद्रमें जिसप्रकार लहरें उठती हैं उसीप्रकार उस देवोंके आगमनमें भी जो देव लोग इधर उधर चल रहे थे वे ही लहरोंके समान जान पडते थे ॥ ७० ॥ इसप्रकार जिससमय वह देवोंकी सेना नीचे उतर रही थी उससमय उसके प्रकाशसे ऐसा जान पडता था मानों ज्योतिषी देवोंकी एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिये ही ज्योतिषी जातिके देव मानों लज्जासे ही कांतिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥ ७१ ॥ उससमय देवांगनाओंके रूपोंसे तथा ऊंचे नीचे हाथी घोडे आदिकी सवारियोंसे वह आकाश एक विचित्र चित्रपटके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ७२ ॥ अथवा उससमयका वह आकाश वर्षाऋतुके समान जान पडता था क्योंकि देवोंके शरीरकी कांति ही उसमें विजलीके समान दैदीप्यमान थी, देवोंके आभरण ही इंद्रधनुषके समान थे और देवोंके हाथी ही काले बादलोंके समान थे ॥ ७३ ॥ इसप्रकार जब सब देव अपनी अपनी सवारियां और विमानोंके साथ साथ तथा अपनी २ देवांगनाओंके साथ २ भगवानकी पूजा करनेकेलिये आ रहे थे उससमय स्वर्गलोक वहुत देरतक शून्य पडा रहा था ॥ ७४ ॥ इसप्रकार उससमय समस्त आकाश-

व्योजनविस्तारमभादास्थानमीशितु' । हरिनीलमहारत्नघटित विलसत्तल ॥ ७७ ॥ सुरेद्रनीलनिर्माणं समवृत्त तदा दभौ । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रम ॥ ७८ ॥ आस्थानमडलस्यास्य विन्यास कोऽनुवर्णयेत् । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठ. ॥ ७९ ॥ तथाप्यनूद्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चय । श्रुतेन येन सप्रीतिं भजेद्भव्यात्मना मन ॥ ८० ॥ तस्य पर्यतभूभागमलचक्रे स्फुरद्द्युति । धूलीसालपरिक्षेपो रत्नपासुभिराचित ॥ ८१ ॥ धनुरैद्रमिवोद्भासि वलयाकृतिमुद्वहत् । सिषेवे ता महीं विश्वग्धूलीसालापदेशत ॥ ८२ ॥ कटिसूत्रश्रिय तन्वन्धूलीसालपरिच्छद । परीयाय जिनास्थान

में व्याप्त होकर आयेहुये सुर और असुरोंसे भराहुआ यह जगत उत्पन्न हुये एक अन्य दिव्य स्वर्गके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ७५ ॥

अथानंतर–जिसमें देव शिल्पकारोंने अर्थात् कारीगर देवोंने सैकडोंप्रकारकी उत्तम २ रचना की है ऐसा भगवान वृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥ ७६ ॥ वह भगवानका समवसरण वारह योजन लंवा और वारह योजन चौडा था तथा इंद्रनीलमणि रत्नोंसे बनीहुई उसकी भूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ ७७ ॥ वह समवसरण इंद्रनील मणियोंसे बनाहुआ था, चारोंओर समान गोल.था और ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों तीनोंलोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेकेलिये मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥ ७८ ॥ उस समवसरणके बनानेमें सब कामोंमें चतुर ऐसा इंद्र स्वयं सूत्रधार (मुख्य कारीगर) था इसलिये यद्यपि उसकी वास्तविक रचनाका वर्णन कोई नहीं कर सकता है ॥ ७९ ॥ तथापि थोडासा उसकी शोभाका महात्म्य कहते हैं, क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन प्रसन्न होगा ॥८०॥ उस समवसरणके वाहरी भागमें अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बनाहुआ और जिसकी कांति अतिशय दैदीप्यमान हो रही है ऐसा एक धूलिसालका घेरा था जो कि अपनी आसपासकी जमीनको वहुत ही सुशोभित कर रहा था ॥ ८१ ॥ वह धूलिसाल ऐसा जान पडता था मानों अतिशय दैदीप्यमान और कंकणका आकार धारण करता हुआ इंद्रधनुष ही धूलि-

भूमिं ता वलयाकृतिः ॥ ८३ ॥ क्वचिदंजनपुंजाभः क्वचिच्चामीकरच्छविः । क्वचिद्विद्रुमसच्छायः सोऽद्युतद्रत्नपांसुभिः ॥ ८४ ॥ क्वचिच्छुकच्छदच्छायै-र्मणिपांसुभिरुच्छिखैः । स रेजे नलिनीबालपलाशैरिव संततः ॥ ८५ ॥ चंद्रकांतशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रियं दधत् । जनानामकरोच्चित्रमनुरक्ततरं मनः ॥ ८६ ॥ स्फुरन्मरकताम्भोजरागालोकैः करंबितैः । क्वचिदिंद्रधनुर्लेखां खांगणे गुणयन्निव ॥ ८७ ॥ क्वचित्पद्मरागेंद्रनीलालोकैः परिष्कृतः । परागसात्कृतैर्भर्त्रा कामक्रोधाग्रकैरिव ॥ ८८ ॥ क्वचित्क चित्तजन्मासौ लीनो जाल्मो विलोक्यताम् । निर्दाह्योऽस्माभिरित्युच्चैर्ज्यानार्चिष्मानिवोत्थितः ॥८९॥

सालके बहानेसे चारों ओरसे उस समवसरणकी भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥ ८२ ॥ कटिसूत्रकी शोभाको धारण करताहुआ और कंकणके आकारका ऐसा वह धूलीसालका घेरा उस समवसरणकी भूमिको घेरेहुये चारोंओर था ॥ ८३ ॥ अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बनाहुआ वह धूलिसाल कहीं तो अंजनके समूहके समान काला २ चमक रहा था, कहीं सुवर्णकी कांतिके समान सुशोभित हो रहा था और कहीं मूंगाकी कांतिके समान अच्छा लगरहा था ॥ ८४ ॥ जिनकी किरणें ऊंचेको उठ रहीं हैं ऐसी तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी मणियोंकी धूलिसे वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों कमलिनीके नये पत्ते ही चारोंओर फैले हों ॥ ८५ ॥ कहींपर चंद्रकांतमणिके चूर्णसे बनाहुआ था वह वहांपर चांदनीकी शोभा धारण करता था और लोगोंके मनमें विचित्र अनुराग उत्पन्न करता था ॥ ८६ ॥ कहींपर मरकतमणि और पद्मरागमणि दोनोंकी कांति मिल रही थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों आकाशमें इंद्रधनुषकी शोभा ही बढा रहा हो ॥ ८७ ॥ कहींपर पद्मरागमणि और इंद्रनील मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ उसका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानों भगवानने जो काम और क्रोधको चूर्ण किया है उसकी धूलिसे ही वह बना हो ॥ ८८ ॥ कहीं कहींपर सुवर्णकी धूलिसमूहसे देदीप्यमान होताहुआ वह धूलि-साल ऐसा जान पडता था मानों वह धूर्त कामदेव कहां छिपा हुआ है उसे जलाना चाहिये इसप्र-

विभाव्यते स्म यः प्रोच्चैर्ज्वलन्नैकैरजश्रयै । यश्चोच्चावचरत्नांशुजालैर्जटिलयन्नभ. ॥ ९० ॥ चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तभाग्रलंबिताः । तोरणा मकरास्योदरत्नमाला विरेजिरे ॥ ९१ ॥ ततोऽतरातर किंचिद्गत्वा हाटकनिर्मिता. । रेजुर्मध्येपु वीथीना मानस्तभाः समुच्छ्रिता. ॥ ९२ ॥ चतुर्गोपुरसबद्धसालत्रितयवेष्टिता । जगती जगतीनाथस्नपनाम्बुपवित्रिता ॥ ९३ ॥ हैमषोडशसोपाना स्वमध्यार्पितपीठिका । न्यस्तपुष्पोपहारार्चामर्च्यां नृसुरदानवैः ॥ ९४ ॥ अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तभा नभोलिहः । ये दूराद्वीक्षिता मान स्तंभयन्त्याशु दुर्दृशां ॥ ९५ ॥ नभ.स्पृशो महामाना घंटाभि· परिवारिता· । सचाम-

---

कार उसे देखता हुआ ध्यानरूपी अग्निका समूह ही उठ रहा हो, तथा उसमें जो छोटे बडे अनेकप्रकारके रत्न लग रहे थे उनकी किरणोंके समूहसे वह आकाशको भी अनेक रंगका कर रहा था ॥ ८९-९० ॥ इस धूलिसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णके बनेहुये खंभोंपर मत्स्यके मुखके आकारके सुवर्ण और रत्नोंकी बनीहुई मालाओंके लटकते हुये तोरण बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥९१॥ उस धूलिसालसे भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर गलियोंके बीचों बीचमें सुवर्णके बनेहुये और बहुत ऊंचे ऐसे चारों दिशाओंमें चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे ॥ ९२ ॥ जिस जगहपर वे मानस्तंभ थे उसके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटमें चारों दिशाओंमें चार चार गोपुर (बडे दरवाजे) थे, तीनों कोटोंके भीतर एक पीठिका थी, वह पीठिका तीनों लोकोंके स्वामी भगवान अरहंत देवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी तथा वह इतनी ऊंची थी कि उसपर सुवर्णकी सोलह सीढी बनी हुई थीं, मनुष्य सुर असुर आदि सब उसकी पूजा करते थे, तथा वह पूजा किये हुये पुष्पोंसे सदा सुशोभित रहती थी, ऐसी उसपीठिकापर आकाशको स्पर्श करते हुये वे मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, उन्हें दूरसे देखते ही मिथ्यादृष्टियोंका अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता था ॥ ९३-९४-९५ ॥ वे चारों ही मानस्तंभ दिग्गजोंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार दिग्गज आकाशतक ऊंचे होते हैं उसीप्रकार वे मानस्तंभ भी आकाशतक

रध्वजा रेजुस्तंभास्ते दिग्गजायिताः ॥ ९६ ॥ दिक्चतुष्टयमाश्रित्य रेजे स्तंभचतुष्टयं । तत्तन्व्याजादिवोद्भूतं जिनानंतचतुष्टयं ॥ ९७ ॥ हिरण्मयीर्जिनेंद्रार्च्चास्तेषां बुध्न प्रतिष्ठिता. । देवेंद्रा. पूजयंति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥ ९८ ॥ नित्यातोद्यमहावाद्यैर्नित्यसंगीतमंगलैः । नृत्तैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तंभाः स्म भान्त्यमी ॥ ९९ ॥ पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखल । पीठ तन्मूर्ध्नि सद्बुध्ना मानस्तंभाः प्रतिष्ठिता ॥ १०० ॥ हिरण्मयांगाः प्रोत्तुंगा मूर्ध्नि छत्रत्रयांकिता. । सुरेंद्रनिर्मितत्वाच्च प्राप्तेंद्रध्वजरूढिकाः ॥ १०१ ॥ मानस्तंभान्महामानयोगात्त्रैलोक्यमाननात् । अन्वर्थसंज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तंभाः

ऊंचे थे, दिग्गज जिसप्रकार बडे होते हैं उसीप्रकार वे भी बहुत बडे थे, दिग्गजोंपर जिसप्रकार घंटा लटकते रहते हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी घंटे लटकते थे और दिग्गजोंपर जिसप्रकार चमर और ध्वजायें रहती हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी चमर और ध्वजायें लटक रहीं थीं ॥ ९६ ॥ वे मानस्तंभ चारों दिशाओंमें चार थे और ऐसे जान पडते थे मानों उन मानस्तंभोंके बहानेसे भगवानके अनंतचतुष्टय ही प्रगट हुये हों ॥ ९७ ॥ उन मानस्तंभोंके मूलभागमें सुवर्णमय भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं जिनकी इंद्रलोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेककर पूजा करते थे ॥ ९८ ॥ उन मानस्तंभोंके समीप ही अनेकप्रकारके बडे २ बाजे नित्य बजते थे, नित्य ही मंगलगान होता था और नित्य ही नृत्य होता था, जिनसे वे मानस्तंभ बहुत ही सुशोभित होते थे ॥९९॥ जिसप्रकार ऊपर कह चुके हैं उसीप्रकार जगती अर्थात् पृथ्वीके मध्यभागमें एक पीठिका (वेदिका) थी, उस पीठिकापर तीन कटनीदार एक पीठ था उसीपीठके ऊपर ही वे मानस्तंभ थे तथा उन मानस्तंभोंके मूलभाग बहुत ही मनोहर थे ॥ १०० ॥ वे मानस्तंभ सुवर्णके बने हुये थे, ऊंचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे तथा वे इंद्रके बनाये हुये थे इसलिये लोग उन्हे इंद्रध्वज भी कहते थे ॥ १०१ ॥ इन मानस्तंभोंसे समस्त लोगोंका मान दूर हो जाता है तथा उनका परिमाण भी बहुत बडा है और तीनों लोक उनकी पूजा करता है इसलिये ही विद्वान् लोग यथार्थ अर्थके अनुसार

प्रकीर्तिता ॥ १०२ ॥ स्तम्भपर्यंतभूभागमलंचक्रुर्महोत्पला । प्रसन्नसलिला वाप्यो भव्यानामिव शुद्धय ॥ १०३ ॥ वाप्यस्ता रेजिरे फुल्लकमलोत्पलसपद । भक्त्या जैनीं श्रिय द्रष्टु भुवेवोद्घाटिता दृश. ॥ १०४ ॥ निलीनालिकुले रेजुरुत्पलैस्ता सितेतरैः । महोत्पलैश्च नद्यः साञ्जनैरिव लोचनै ॥ १०५ ॥ दिशः प्रति चतस्रस्ता. स्रस्ताः काञ्चीरिवाकुला । दधति स्म शकुनाना मननी. स्वनटाश्रिता ॥ १०६ ॥ वसुम्ना मणिसोपाना स्फटिकोच्चतटीभुव. । भुवः प्रसूतलावण्यरसाः कुल्या इव श्रुताः ॥ १०७ ॥ द्विरेफगुञ्जनैर्भेजु गायन्तो जाडर्हतो गुणान् । नृत्यन्त्य इव जैनेशजयनोगन्महो-

उन्हें मानस्तंभ कहते हैं ॥ १०२ ॥ इन मानस्तंभोके समीपवर्ती देशको वावडियां सुशोभित कर रहीं थीं, उन वावडियोंमें कमल फूले हुये थे, निर्मल जल भरा हुआ था और ऐसी जान पडती थीं मानों भव्य जीवोंके अंतःकरणकी विशुद्धता ही हो ॥ १०३ ॥ वे वावडियें फूले सफेद कमल और नीलकमलोंकी शोभासे सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों श्रीजिनेंद्रदेवकी लक्ष्मी देखनेके लिये पृथ्वीने ही भक्तिपूर्वक अपने नेत्र उघाडें हों ॥ १०४ ॥ वे वावडियें फूले हुये सफेद कमल तथा लालकमलोंसे ढक रहीं थीं और उन कमलोंपर भ्रमरोंके समूह वैठे हुये थे इसलिये वे वावडियें ऐसी जान पडती थीं मानों अंजन (काजल) सहित नेत्र ही हों ॥ १०५ ॥ वे वावडियें एक दिशामें चार चार थीं अर्थात् प्रत्येक मानस्तंभके चारोंओर प्रत्येक दिशामें एक २ थी, इसप्रकार चारों मानस्तंभोंके चारों ओर सोलह वावडियें थीं, उन वावडियोंके किनारोंपर पंक्तिरूपसे शब्द करते हुये पक्षी वैठे हुये थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों उन्होंने वजती हुई ढीली करधनी ही पहनी हो ॥ १०६ ॥ उन वावडियोंके किनारेके ऊपरकी जमीन स्फटिक मणियोंकी वनी हुई थी, सीढियां मणियोंकी वनी हुई थीं और उनमें पृथ्वीसे निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इसप्रकार वे प्रसिद्ध वावडियें कृत्रिम नदीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१०७॥ उन वावडियोंके कमलोंपर जो भ्रमर वैठे हुये गुंजार शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें

र्मिभि ॥ १०८ कुर्वंत्यो वा जिनस्तोत्र चक्रवाकविकूजितैः । संतोष दर्शयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणात् ॥ १०९ ॥ नंदोत्तरादिनामान सरस्यस्तास्तटाश्रितैः । पादप्रक्षालनाकुंडैर्बभुः सप्रसवा इव ॥ ११० ॥ स्तोकातर ततोऽतीत्य ता महीमबुजैश्रिता । परिवव्रेऽतरा वीथीर्वीथीं च जलखातिका ॥१११॥ स्वच्छाबुसंभृता रेजे सा खाता पावनी नृणा । सुरापगेव तद्रूपा विभु सेवितुमाश्रिता ॥ ११२ ॥ सक्रांताशेषतारक्षेप्रतिबिंबाऽम्बरश्रिय । याधात्स्फटिकसद्रावशुचिभिः सलिलैर्भृता ॥ ११३ ॥ सा स्म रत्नतटैर्धत्ते पक्षिमाला कलस्वना । तग्गकृरसधार्यां रसनामिव सद्रुच ॥ ११४ ॥ यादोदोर्घट्टनोद्भूतैस्त-

अरहंत देवके गुण ही गा रहीं हों, उनमें जो वडी २ लहरें आ रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानने घातिया कर्मोंको जीता है इसलिये संतुष्ट होकर वे वावडियें नृत्य ही कर रहीं हों, उनमें जो चकवा चकवी पक्षी शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें भगवानकी स्तुति ही कर रहीं हों, तथा उनमें निर्मल जल भरा हुआ था इसलिये ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानको केवलज्ञान होनेसे संतोष ही दिखा रहीं हों, इसप्रकार नंदोत्तरा आदि नामोंको धारण करनेवालीं वे वावडियें बहुत ही सुंदर जान पडती थीं, उनके किनारेपर दो दो पादप्रक्षालन कुंड थे (पांव धोनेके कुंड) उनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे पुत्र सहित ही बैठी हों ॥ १०८-१०९-११० ॥ वावडियोंके थोडी ही दूर आगे जाकर प्रत्येक गलीको (जानेके मार्गको) छोडकर जलसे भरी हुई खाई थी जोकि कमलोंसे सुशोभित थी और समवसरणकी भूमिको चारोंओर घेरे हुये थी ॥१११॥ निर्मल जलसे भरी हुई और मनुष्योंको पवित्र करनेवाली वह खाई ऐसी सुशोभित होती थी मानों खाईके बहानेसे आकाशगंगा ही भगवानकी सेवा करनेकेलिये आई हो ॥११२॥ वह खाई चंद्रकांत मणिसे निकले हुये पवित्र जलसे भरी हुई थी और तारा नक्षत्र आदिका प्रतिबिंब उसमें पड रहा था, इसलिये वह खाई ठीक आकाशकी शोभा धारण करती थी ॥ ११३ ॥ उसके किनारे रत्नोंके बने हुये थे उनपर म-

१ पूर्व दिशाके मानस्तभके चारोंओर नदोत्तरा, नदा, नदघोषा नदावती, दक्षिण दिशाके मानस्तभके चारोंओर विजया वैजयती जयती अपराजिता, पश्चिम दिशामें अशोका सुप्रसिद्धा कुमुदा पुडरीकिणी ओर उत्तर दिशाकी ओर हृदयानदा महानदा सुप्रबुद्धा ओर प्रभकरी इसप्रकार सब सोलह वावडी हैं ।

रंगैःपवनाहतैः । प्रनृत्यंतीव सा रेजे तोषाज्जिनजयोत्सवे ॥ ११५ ॥ वीन्यंतर्वलितोद्वृत्तशफरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽभ्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमान् ॥ ११६ ॥ नून सुरागनानेत्रविलासैस्ता पराजिताः । सफर्यो वीचिमालासु न्हियेवांतर्दधुर्मुहुः ॥ ११७ ॥ तदभ्यंतरभूभाग पर्यष्कृतलतावन । वल्लीगुल्मद्रुमोद्भूतसर्वर्तुकुसुमाचितं ॥ ११८ ॥ पुष्पवल्ल्योऽभ्यराजत यत्र पुष्पास्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीला द्युनारीणा नाटयन्त्य इव स्फुटं ॥ ११९ ॥ भ्रमरैर्मंजुगुंजद्भिरावृताता विरेजिरे । यत्रनीलपटच्छन्नविग्रहा इव वीरुधः ॥ १२० ॥ अशोकलतिका यत्र दधुराताम्रपल्लवान् । स्पर्द्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकर-

---

धुर शब्द करते हुये पंक्तिरूपसे पक्षी बैठे हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों उस खाईने अपनी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्तम कांतिको धारण करनेवाली करधनी ही पकडी हो ॥११४॥ उस खाईमें जो जलचर जीव थे उनके हाथपैरके आघातसे उत्पन्न हुई और वायुके द्वारा ऊपरको उछलती हुई लहरोंसे वह खाई ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके घातिया कर्मोंको जीतलेनेके उत्सवमें संतुष्ट होकर वह नृत्य ही कर रही हो ॥ ११५ ॥ लहरेंके भीतर गोलरूपसे चक्कर खाती हुई और ऊपरको उछलती हुई चंचल मछलियोंके समूहसे वह खाई भरी हुई थी, और ऐसी जान पडती थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंका अर्थात् कटाक्षोंका प्रायः अभ्यास ही कर रही हो ॥ ११६ ॥ जो मछलियां उसकी लहरोंमें बार बार डूब रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे अवश्य ही देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे हार गई थीं इसलिये लज्जावश होकर ही वे लहरोंके मध्यभागमें बार २ डूब रहीं हों ॥ ११७ ॥ ऐसी उस खाईके भीतरकी ओरकी पृथ्वीको घेरकर एक लतावन था, जो कि लता, छोटे २ पौधे और वृक्षोंसे उत्पन्न हुये सब ऋतुओंके फूलोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ११८ ॥ उस लतावनमें पुष्परूपी मंद हास्यसे उज्वल ऐसी अनेक पुष्पलतायें सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों देवांगनाओंके मंदहास्यको देखकर जोरसे हंस रहीं हों ॥११९॥ मनोहर शब्द करते हुये भ्रमरोंसे ढकी हुई उस बनकी लतायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों

पल्लवैः ॥ १२१ ॥ यत्र मंदानिलोध्दूतैःकिंजल्कैस्ततमंबरं । धत्ते स्म पटवासाभा पिंजरीकृतदिग्मुखं ॥ १२२ ॥ प्रतिप्रसवमासीनमंजुगुंजन्मधुव्रतं । विडबयादिवाभाति यत्सहस्राक्षविभ्रम ॥ १२३ ॥ सुमनोमजरीपुजात्किंजल्क साद्रमाहरन् । यत्र गधवहो मद वाति स्मान्दोलयँल्लता ॥ १२४ ॥ यत्र क्रीडाद्रयो रम्याः सशय्याश्च लतालया । धृतये स्म सुरस्त्रीणां कल्पते शिशिरानिलाः ॥ १२५ ॥ वल्ली कुसुमिता यत्र स्पृशति स्म मधुव्रताः । रजस्व-

---

उन्होंने नीले कपडेसे अपना शरीर ही ढक लिया हो ॥ १२० ॥ वहांकी अशोक जातिकी लताओं-पर लाल पत्ते लग रहे थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों अप्सराओंके हाथकी लाल हथेलि-योंके साथ ईर्षा ही कर रही हों ॥ १२१ ॥ मंद मंद वायुके द्वारा उठेहुये परागसे व्याप्त हुआ (भरा-हुआ) और जिसने समस्त दिशायें लाल पीली करदी हैं ऐसा उस लतावनका आकाश तनेहुये सु-गंधित चंदोवेके समान जान पडता था ॥ १२२ ॥ उस लतावनमें अनेक पुष्प फूले हुये थे और प्र-त्येक पुष्पपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमर बैठे हुये थे, जिनसे वह लतावन ऐसा जान पडता था मानों हजारों नेत्रोंको धारण करनेवाले इंद्रके नेत्रोंके विलासकी समानता ही धारण करता हो ॥ १२३ ॥ पुष्पोंकी कलियोंके समूहसे परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस बनमें धीरे २ चल रहा था ॥ १२४ ॥ उस बनमें अनेक मनोहर क्रीडापर्वत थे तथा जिनमें शीतल वायु चल रहा है और शय्यायें बिछी हुई हैं ऐसे अनेक लतामंडप थे, उन क्रीडापर्वत और लतामं-डपोंसे देवांगनाओंको बहुत ही संतोष होता था ॥ १२५ ॥ उस बनमें अनेक रजस्वला अर्थात् पुष्पों-की रज वा पराग सहित और कुसुमित अर्थात् फूली हुई ऐसी अनेक लतायें थीं जिन्हें मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि मधुव्रत अर्थात् मद्य पीनेवालोंके पवित्रता कहां हो सकती है क्योंकि वे रजस्वला पुष्पवती लताओंको भी स्पर्श कर रहे थे, मद्य पीनेवालेके भी ऐसी स्त्रीके स्पर्श करनेका विचार नहीं होता है ॥ १२६ ॥ उस लतावनके मध्यभागमें वर्फके

ला अपि प्राय. क शौच मधुपायिना ॥ १२६ ॥ लताभवनमध्यस्था हिमानीस्पर्शशीतला । चन्द्रकातशिला यत्र विश्रामायामरेशिना ॥ १२७ ॥ ततोऽध्यानमतीत्यात कियतमपि ता महीं । प्राकार प्रथमो वत्रे निपधाभो हिरण्मय ॥ १२८ ॥ रुरुचेऽसो महान् साल. क्षितिं ता परित. स्थित । यथाऽसौ चक्रवालाद्रिर्नृलोकाध्युषिता भुव ॥ १२९ ॥ नून सालनिभेनेत्य सुरचापपर शत । तामलं कुरुते स्म क्ष्मा पिंजरीकृतखांगणं ॥ १३० ॥ यस्योपरितले लग्ना सुव्यक्ता मौक्तिकावली । ताराततिरिय किं स्विदित्याशकास्पद नृणा ॥ १३१ ॥ कचिद्विद्रुमसघात. पद्मरागाशुरजित. । यस्मिन्साध्यघनच्छायामाविष्कर्तुमल तरा ॥ १३२ ॥ कचिन्नवघनच्छाय. कचिच्छाड्वलसच्छवि । कचिच्च सुरगोपाभोऽविद्युदापिंजरः कचित् ॥ १३३ ॥ कचिद्विचित्र-

---

समान शीतल चंद्रकांत शिलायें पडी हुई थीं जिनपर इंद्रलोग आकर विश्राम लेते थे ॥ १२७ ॥ उस लताबनके भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर निषध पर्वतके समान सुवर्णमय एक कोट था जोकि उस समवसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुये था, उस समवसरणमें वह प्रथम कोट कहलाता था ॥ १२८ ॥ उस समवसरणकी भूमिको चारोंओरसे घेरे हुये वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों मनुष्यलोककी पृथ्वीको घेरे हुये मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥ १२९ ॥ वह कोट ऐसा जान पडता था मानों आकाश प्रदेशको अनेक वर्णका चित्र विचित्र करता हुआ सैकडों इंद्रधनुषोंका समूह ही आकर उस समवसरणकी भूमिको सुशोभित कर रहा हो ॥ १३० ॥ उसके ऊपरी भागपर प्रगट दिखाई देते हुये मोतियोंके समूह जड रहे थे जोकि क्या यह नक्षत्रोंका समूह है इसप्रकार लोगोंको शंकायें उत्पन्न कर रहे थे ॥ १३१ ॥ कहीं कहींपर उस कोटमें बहुतसा मूंगा लग रहा था और वह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे और अधिक लाल हो रहा था, तथा ऐसा जान पडता था मानों संध्याकालके लाल बादलोंकी शोभाको ही उत्पन्न कर रहा हो ॥ १३२ ॥ कहींपर श्याम मणियोंसे नवीन काले बादलके समान जान पडता था, कहींपर हरित मणियोंसे हरी घासके समान जान पडता था कहीं कहींपर लाल मणियोंसे लाल लाल इंद्रगोपके (लाल मखमलके रंग समान

रत्नांशुरचितेंद्रशरासनः । घनकालस्य वैदग्धी स सालोऽलं व्यडंबयत् ॥ १३४ ॥ क्वचिद्द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवृत्तिभिः । निचितः क्वचिदुद्देशे शुकैर्हंसैश्च बर्हिणैः ॥१३५॥ विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिथुनैः क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरतश्च चित्रितः ॥१३६॥ हसन्निवोन्मिषद्रत्नमयूखनिवहैः क्वचित् । क्वचित्सिंहरवान्कुर्वन्निवोत्सर्पत्प्रतिध्वनि. ॥ १३७ ॥ दीप्ताकारः स्फुरद्रत्नरुचिरारुद्धखागणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स सालो व्यरुचत्तरा ॥ १३८ ॥ महाति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये । राजतानि खगेंद्राद्रेः शृंगाणीव स्पृशंति खं ॥१३९॥ ज्योत्स्नमन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूमानि चकासिरे । प्रहासमिव तन्वंति निर्जित्य त्रिजगच्छ्रियं ॥ १४० ॥ पद्मरागमयैरुच्चैः शिखरैर्व्योमलंघिभिः । दिशः पल्लवयतीव प्रसरैः शोणरोचिषा ॥ १४१ ॥ जगद्गुरोर्गुणा-

---

कीडोंके रामकी गुडियोंके) समान जान पडता था और कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इंद्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था, इसप्रकार वह कोट वर्षाऋतुकी विचित्र शोभाका अनुकरण कर रहा था ॥ १३३-१३४ ॥ उस कोटमें कहीं कहींपर स्त्री पुरुषोंके जोडेसे हाथी घोडे और व्याघ्र आदिके आकार बने हुये थे, कहीं कहींपर तोते हंस तथा मयूरोंके चित्र खिचे हुये थे, कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंसे मनुष्य और स्त्रियोंके जोडे बने हुये थे और कहीं कहींपर भीतर बाहर दोनोंओर कल्पलताओंके चित्र बने हुये थे, कहीं कहींपर दैदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंके समूहसे वह कोट हँसता हुआसा जान पठता था और कहीं कहींपर उसमेंसे जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा जान पडता था मानों सिंहनाद ही कर रहा हो ॥ १३५-१३६-१३७ ॥ जिसके दैदीप्यमान रत्नोंकी कांति आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसा अतिशय प्रकाशमान वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों निषिध पर्वतके साथ स्पर्द्धा (ईर्षा) ही कर रहा हो ॥ १३८ ॥ उस, कोटके चारों दिशाओंमें चांदीके बने हुये चार बडे,२ दरवाजे थे जोकि विजयार्द्ध पर्वतकी शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥ चांदनीके समूहके समान अतिशय स्वच्छ और बहुत ऊंचे तीन मांजिले वे दरवाजे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस रहे ही हों ॥१४०॥

न्त्र गायंति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वंति नृत्यंति केचित्स्माविर्भवत्स्मिता. ॥ १४२ ॥ शतमष्टोत्तरं तेषु मंगलद्रव्यसंपदः । भृंगारकलशाब्दाद्याः प्रत्येकं गोपुरेष्वभात् ॥ १४३ ॥ रत्नाभरणभाभारपरिपिंजरिताम्बराः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसंख्या बभासिरे ॥ १४४ ॥ स्वभावभास्वरे भर्त्तुर्देहे स्थानमनाप्नुवन्त्य- ता । मत्वेवाभरणान्यास्थुरुद्बद्धान्यनुतोरणं ॥ १४५ ॥ निधयो नव शंखाद्यास्तद्द्वारोपांतसेविनः । शशंसु प्राभवं जैनं भुवनत्रितयातिगं ॥ १४६ ॥ त्रिजगत्प्रभुणा नूनं विमोहेनावधीरिताः । बहिर्द्वारं स्थिता दूरान्निधयस्तं सिषेविरे ॥ १४७ ॥ तेषामंतर्महावीथ्यरुभयोर्भागयोरभूत् । नाट्यशालाद्वयं दिक्षु

उन दरवाजोंके आकाशको उलंघन करनेवाले पद्मराग मणियोंके बनेहुये ऊंचे शिखर थे उनकी लाल किरणें चारोंओर फैल रही थीं जिनसे ऐसा जान पडता था मानों वे दरवाजे सब दिशाओंमें लाल नये पत्ते ही फैला रहे हों ॥१४१॥ उन दरवाजोंमें कितने गानेवाले देव जगतगुरु भगवान वृषभदेवके गुणोंको गा रहे थे, कितने ही देव उसे सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही हँस रहे थे ॥१४२॥ उन दरवाजोंमेंसे प्रत्येक दरवाजेपर भृंगार, कलश दर्पण आदि एकसौ आठ मंगल द्रव्य सुशोभित हो रहे थे ॥ १४३ ॥ तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभरणोंकी कांतिके समूहसे आकाशको अनेकवर्णका करनेवाले ऐसे सौ सौ तोरण सुशोभित हो रहे थे ॥ १४४ ॥ प्रत्येक तोरणमें लगे हुये वे आभरण ऐसे जान पडते थे मानों भगवानका शरीर स्वभावसे ही देदीप्यमान है इसलिये वहां रहनेकेलिये जगह न पाकर प्रत्येक तोरणमें ही बंध गये हों ॥ १४५ ॥ उन दरवाजोंके समीपमें शंख पद्म आदि नौ निधियां रक्खी हुई थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों तीनों लोकोंको उलंघन करनेवाले भगवानके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रही हों ॥ १४६ ॥ अथवा दरवाजेके समीप रक्खी हुई वे निधियां ऐसी जान पडती थीं मानों निर्मोह ऐसे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवने उनका तिरस्कार ही किया था इसलिये दरवाजेके बाहर रहकर दूरसे ही वे भगवानकी सेवा कर रही हों ॥ १४७ ॥ उन दरवाजोंके भीरतसे आने जानेका बडा रास्ता था और उस रास्तेके दोनोंओर

प्रत्येक चतसृष्वपि ॥ १४८ ॥ तिसृभिर्भूमिभिर्नाट्यमंडपौ तौ विरेजतुः । विमुक्तेस्त्र्यात्मकं मार्गं नृणां वक्तुमिवोद्यतौ ॥ १४९ ॥ हिरण्मयमहास्तंभौ शुभत्स्फटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखरारुद्धनभोभागौ विरेजतुः ॥ १५० ॥ नाट्यमडपरंगेषु नृत्यंति स्मामरस्त्रियः । शतह्रदा इवाभ्रमूर्तयः स्वप्रभाम्हदे ॥ १५१ ॥ गायति जिनराजस्य विजयं ताः स्म सगताः । तमेवाभिनयंत्योऽमू चिक्षिपुः पौष्पमजलिं ॥ १५२ ॥ समं वीणानिनादेन मृदंगध्वनिरुच्चरन् । व्यतनोत्प्रावृडारंभशंकां तत्र शिखंडिना ॥ १५३ ॥ शरदभ्रनिभे तस्मिन् द्वितये नाट्यशालयो । विद्युद्विलासमातेनुर्नृत्यत्यः सुरयोषितः ॥ १५४ ॥

(बगलमें) दो नाट्यशालायें थीं इसीतरह चारों दरवाजोंमें प्रत्येकमें दो दो नाट्यशालायें थीं ॥ १४८ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें तीन मंजिलीं ऊंची थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप ही मोक्षमार्ग है यही लोगोंको वतलानेकेलिये तैयार हुई हों ॥ १४९ ॥ उन नाट्यशालाओंके बडे २ खंभे सुवर्णके बने हुये थे, दीवालें दैदीप्यमान स्फटिकमणिकी बनी हुई थीं और रत्नोंके शिखर बने हुये थे जिनसे समस्त आकाश रुक गया था, इसप्रकार वे नाट्यशालायें बडी ही सुशोभित हो रही थीं ॥ १५० ॥ उन नाट्यशालाओंकी रंगभूमियोंमें देवांगनायें नृत्य कर रही थीं, उनके शरीर उनकी कांतिरूपी कुंडमें डूब रहे थे जिससे वे देवांगनायें बिजलीके समान चमक रही थीं ॥ १५१ ॥ उन नाट्यशालाओंमें नृत्य करती हुई वे देवांगनायें भगवानकी विजयका गान कर रहीं थीं और उसी विजयका अभिनय (नाटक) करती हुईं भगवानकेलिये पुष्पांजलि समर्पण कर रही थीं ॥ १५२ ॥ उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ साथ जो मृदंगकी आवाज निकल रही थी वह मयूरोंको वर्षाऋतुके प्रारंभ होनेकी शंका उत्पन्न करती थी ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें शरदऋतुके बादलोंके समान सफेद थीं इस लिये उनमें जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं वे ठीक बिजलीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१५४॥ उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव वीणा बजाते हुये गा रहे थे इसलिये उनके मधुर शब्दोंसे

किन्नराणां कलकाणै. मोद्गानैरुपवीणितै. । तत्रासक्तिं परां भेजुः प्रेक्षिणां चित्तवृत्तय. ॥ १५५ ॥ ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशो' । धूपधूमैर्निरुद्धाता प्रसरद्भिर्नभोऽगण ॥ १५६ ॥ तद्धूपधूमसंरुद्ध नभो वीक्ष्य नभोजुषः । प्रावृट्पयोधराशंकामकालेऽपि व्यतानिषु ॥ १५७ ॥ दिश सुरभयन्धूपो मदानिलवशोत्थित' । स रेजे पृथिवीदेव्या मुखामोद इवोच्छ्वसन् ॥ १५८ ॥ तदामोद समाघ्राय श्रेणयो मधुलेहिना । दिशा मुखेषु वितता वितेनुरलकाश्रिय ॥ १५९ ॥ इतो धूपघटामोदमितश्च सुरयोषितां । सुगंधिमुखनिश्वासमलिनो जघ्रुराकुला. ॥ १६० ॥ मद्रध्वानैर्मृदगानां स्तनयित्नुविडबिभिः । पतत्या पुष्पवृष्ट्या च सदाऽत्रासीद्घनागम. ॥ १६१ ॥ तत्र वीथ्यतरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नंदनाद्या वनश्रेण्यो विभु द्रष्टुमिवागताः

देखनेबालोंके चित्त उनमें अतिशय आसक्त हो रहे थे ॥ १५५ ॥ उन नाट्यशालाओंसे कुछ दूर आगे जाकर रास्तेके दोनों ओर एक एक धूपघट था अर्थात् प्रत्येक दिशाके रास्तेपर एक इधर और एक उधर इसप्रकार दो दो धूपके घडे थे, उन घडोंसे चारोंओर फैलता हुआ जो धूआं निकल रहा था उससे सब आकाशरूपी आंगन भर रहा था ॥ १५६ ॥ उन धूपघडोंसे निकलता हुआ धूआं आकाशमें भर रहा था उस धूआंसे भरे हुये आकाशको देखकर विद्याधर लोगोंको असमयमें ही वर्षा ऋतुके बादलोंकी शंका होती थी ॥ १५७ ॥ मंद मंद वायुसे फैलती हुई और समस्त दिशाओंको सुगंधित करती हुई वह धूपकी सुगंधि ऐसी जान पडती थी मानों पृथिवी देवीका सुगंधित उच्छ्वास ही हो ॥ १५८ ॥ उस धूपकी सुगंधि सूंघकर भ्रमरोंके समूह पंक्तिबद्ध होकर सब दिशाओंमें फैलगये थे और ऐसे जान पडते थे मानों पृथ्वी देवीके खुले हुये केश ही फैले हों ॥ १५९ ॥ एकओर उन धूपघडोंसे सुगंधि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखके उच्छ्वासकी सुगंधि फैल रही थी सो व्याकुल हुये भ्रमर दोनोंको ही सूंघ रहे थे ॥ १६० ॥ वहांपर मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाले मृदंगोंके गंभीर शब्द होते थे और सदा पुष्पवृष्टि होती थी जिससे वहां सदा वर्षाऋतुसी ही जान पडती थी ॥ १६१ ॥ उन धूपघटोंसे कुछ दूर आगे चलकर रास्तोंके पार्श्वभागमें (बगल-

॥ १६२ ॥ अशोकसप्तपर्णाह्वचंपकाम्रमहीरुहा । वनानि तान्यधुस्तोपादिवोच्चैः कुसुमस्मितं ॥ १६३ ॥ वनानि तरुभिश्चित्रैः फलपुष्पोपगोभिभिः । जिनस्यार्घ्यमिवोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥ १६४ ॥ वनेषु तरवस्तेषु रेजिरेपवनाहतैः । शाखाकरैर्मुहुर्नृत्त तन्वाना इव समदात् ॥ १६५ ॥ सच्छाया. सफलास्तुंगा जननिर्वृतिहेतवः । सुराजान इवाभूर्वस्ते द्रुमा सुखशीतलाः ॥ १६६ ॥ पुष्पामोदसमाहूतैर्मिलितैरलिना कुलैः । गायत इव गु-

में) चार बन बीथी अर्थात् गलीरूपसे चार बन थे जोकि ऐसे जान पडते थे मानों नंदन सौमनस आदि बन ही भगवानको देखनेकेलिये आये हों ॥ १६२ ॥ उन चारों वनोंमेंसे एक अशोक वृक्षोंका बन था, दूसरा सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका वन था, तीसरा चंपक वृक्षोंका वन था और चौथा आमके वृक्षोंका बन था, उन सब वृक्षोंपर फूल खिल रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष संतोषसे हंस रहे हों ॥ १६३ ॥ उन बनोंमें फल और पुष्पोंसे शोभायमान ऐसे अनेक प्रकारके वृक्ष थे जिनसे वे बन ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवान वृषभदेवके लिये अर्घ लेकर ही खडे हों ॥ १६४ ॥ उन बनोंमें वृक्षोंकी शाखायें वायुके द्वारा हिल रही थीं जिससे वे वृक्ष ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों वे हर्षित होकर शाखारूपी हाथ हिलाकर नृत्य ही कर रहे हों ॥ १६५ ॥ अथवा वे वृक्ष एक नीतिमान् राजाके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार नीतिमान राजाकी छाया अर्थात् आश्रय अच्छा होता है उसीप्रकार उन वृक्षोंकी छाया भी अच्छी थी, नीतिमान राजासे जिसप्रकार अच्छे फल मिलते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंपर भी फल लगे हुये थे, जिसप्रकार राजा तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होता है उसीप्रकार वे भी तुंग अर्थात् ऊंचे थे, नीतिमान राजासे जिसप्रकार मनुष्योंको सुख मिलता है उसीप्रकार उन वृक्षोंके नीचे भी जीवोंको सुख मिलता था, और नीतिमान् राजा जिसप्रकार सुख देनेवाला तथा शीतल अर्थात् शांत होता है उसीप्रकार वे वृक्ष भी सुख देनेवाले और शीतल थे ॥ १६६ ॥ उन वृक्षोंपर लगे हुये पुष्पोंकी सुगंधिसे बुलाये हुये और इसलि-

जद्भिर्जिन रेजुर्वनद्रुमा. ॥ १६७ ॥ क्वचिद्विरलमुन्मुक्तकुसुमास्ते महीरुहा' । पुष्पोपहारमतिनुरिव भक्त्या जगद्गुरो. ॥ १६८ ॥ क्वचिद्विरुवता ध्वानै-रलिना मदमञ्जुभिः । मदन तर्जयतीव वनान्यासन्समततः ॥ १६९ ॥ पुँस्कोकिलकलक्वाणैराह्वयतीव सेवितु । जिनेद्रममराधीशान्वनानि विव्रभुस्तरा ॥ १७० ॥ पुष्परेणुभिराकीर्णा वनस्याधस्तले मही । सुवर्णरजसास्तीर्णतलेवासीन्मनोहरा ॥ १७१ ॥ इत्यमूनि वनान्यासन्नतिरम्याणि पादपैः । यत्र पुष्पमयी वृष्टिर्नर्तुपर्यायमैक्षत ॥ १७२ ॥ न रात्रिर्न दिवा तत्र तरुभिर्भास्वरैर्भृश । रुतशैत्यादिवाविभ्यत्सजहार क, न्रवि ॥ १७३ ॥ अंतर्वण क्वचि-

---

ये ही उन वृक्षोंपर इकट्ठे हुये तथा गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे वे वृक्ष ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानका यश ही गा रहे हों ॥ १६७ ॥ कहीं कहीं दूर दूरपर उन वृक्षोंसे टूटकर फूल गिर रहे थे जिनसे वे वृक्ष ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवानकोलिये भक्तिपूर्वक पुष्पोंकी भेट ही अर्पणकर रहे हों ॥ १६८ ॥ कहीं कहींपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके मदोन्मत्त गुंजार शब्दोंसे वे बन ऐसे जान पडते थे मानों चारोंओरसे कामदेवको तर्जना ही कर रहे हों ॥ १६९ ॥ उन बनोंमें उत्तम कोयलोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिनसे वे बन ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी सेवा करनेकोलिये इंद्रोंको बुला रहे ही हों ॥ १७० ॥ उन बनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथ्वीपर पुष्पोंका पीला पराग फैला हुआ था जिससे वह पृथ्वी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रही हो ॥ १७१ ॥ इसप्रकार वे बन वृक्षोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे, वहांपर होनेवाली पुष्पोंकी वृष्टि ऋतुओंके बदलनेको कभी नहीं देखती थी, भावार्थ—वहां सब ऋतुओंके फूल पाये जाते थे ॥ १७२ ॥ वहांके वृक्ष इतने प्रकाशमान थे कि वहां रात दिनका भेद नहीं होता था, तथा सूर्य वहांके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर वहांपर कभी अपने कर (हाथ) अर्थात् किरणें नहीं डालता था अर्थात् वहां सूर्यकी किरणें कभी नहीं पडती थीं ॥ १७३ ॥ उन बनोंमें कहींपर त्रिकोण (तिखूंटी) वावडियें थीं और कहींपर चौकर थीं, उन वावडियोंमें स्नानकर

द्वाप्यस्त्रिकोणचतुरस्रिकाः । स्नानोत्तीर्णामरस्त्रीणा स्तनकुंकुमपिंजरा' ॥ १७४ ॥ पुष्करिण्यः क्वचिन्नासन्क्वचिच्च कृतकाद्रयः । क्वचिद्रम्याणि हर्म्याणि क्वचिदाक्रीडमडपाः ॥ १७५ ॥ क्वचित्प्रेक्षागृहाण्यासश्चित्रशाला' क्वचित्क्वचित् । एकशालाद्विशालाद्या ' महाप्रासादपक्तय' ॥ १७६ ॥ क्वचिन्न शाद्वलाभूमिरिंद्रगोपैस्तता क्वचित् । सरास्यतिमनोज्ञानि सरितश्च ससैकता. ॥ १७७ ॥ हारि मेदुरमुन्निद्रकुसुम सश्रि कामद । सुकलत्रमिवानीत्तसेव्य वनचतुष्टय ॥ १७८ ॥ अपास्तातपसबाधं विलसत्पल्लवाचित । पयोधरस्पृगाभाभि तत्स्त्रीणामुत्तरीयवत् ॥ १७९ ॥ बभासे वनमाशोक शोकापनुदम-

---

बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंका केशर धुल गया था जिससे उन बावडियोंका पानी कुछ २ पीला पडगया था ॥ १७४ ॥ उन बनोंमें कहींपर सुंदर तालाव थे, कहींपर कृत्रिम पर्वत थे, कहींपर मनोहर मकान थे और कहींपर खेलनेके क्रीडामंडप बने हुये थे ॥ १७५ ॥ कहींपर शोभा देखनेके घर बने हुये थे, कहीं कहीं पर चित्रशालायें बनी हुई थीं और कहीं कहींपर एक मंजिलकी तथा कहीं दोमंजिलकी बडे २ मकानोंकी पंक्तियां लगी हुई थीं ॥ १७६ ॥ कहीं कहींपर उन बनोंमें छोटी २ हरी घास उग रही थी, कहींपर इंद्रगोपजातिके लाल रंगके कीडे दिखाई दे रहे थे, कहींपर सुंदर सरोवर थे, और कहींपर वालूरेतसे भरी हुई नदियां बह रहीं थीं ॥ १७७ ॥ वे चारों ही बन सुंदर स्त्रियोंके समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि स्त्रियां जिसप्रकार मनोहर होती हैं उसीप्रकार वे वन भी मनोहर थे, स्त्रियां जिसप्रकार मेदुर अर्थात् चिकनी वा प्रेम करनेवाली होती हैं उसीप्रकार वे वन भी मेदुर अर्थात् गीले थे, स्त्रियां जिसप्रकार उन्निद्रकुसुम अर्थात् पुष्पवती होती हैं उसीप्रकार वे वन भी उन्निद्रकुसुम अर्थात् फूलोंसे फूल रहे थे, स्त्रियां जिसप्रकार सश्री अर्थात् शोभायमान होती हैं उसीप्रकार वे वन भी सश्री अर्थात् सुशोभित थे और स्त्रियां जिसप्रकार मनकी अभिलाषा पूर्ण करती हैं उसीप्रकार वे वन भी कामद अर्थात् इच्छित पदार्थोंके देनेवाले थे ॥ १७८ ॥ अथवा वे वन स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्र जिसप्रकार

गिना । रक्तं वमदिवात्मीयमारक्तैः पुष्पपल्लवैः ॥ १८० ॥ पर्णानि सप्त बिभ्राण वनं साप्तच्छदं बभौ । सप्त स्थानानि वा भर्तुर्दर्शयत्प्रतिपर्व यत् ॥ १८१ ॥ चापकं वनमत्राभात्सुमनोभरभूषणं । वनं दीपाङ्गवृक्षाणां विभुं भक्तुमिवागतं ॥ १८२ ॥ कन्नमाम्रवनं रेजे कलकण्ठीकलस्वनैः । स्तुवानमिव भक्त्यैनमीशानं पुण्यशासनं ॥ १८३ ॥ अशोकवनमध्येऽभूदशोकानोकहो महान् । हैमं त्रिमेखलं पीठं समुत्तुंगमधिष्ठितः ॥ १८४ ॥ चतुर्गो-

---

धूपकी बाधा दूर करते हैं उसीप्रकार वे वन भी धूपकी बाधा दूर करते थे, जिसप्रकार स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके पल्लव अर्थात् अंचल (ठोक) दैदीप्यमान होते हैं उसीप्रकार उन वनोंके पल्लव अर्थात् पत्ते भी बहुत अच्छे सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियोंके वस्त्र जिसप्रकार पयोधर अर्थात् स्तनोंको स्पर्श करते हैं उसीप्रकार वे वन भी पयोधर अर्थात् बादलोंको स्पर्श करते थे अर्थात् बहुत ऊंचे थे ॥ १७९ ॥ उन चारों वनोंमेंसे पहिला अशोक वन प्राणियोंका शोक दूर करताहुआ सुशोभित हो रहा था तथा लालरंगके पुष्प और पत्तोंसे ऐसा जान पडता था मानों अपने अनुरागका [प्रेमका] वमन ही कर रहा हो ॥ १८० ॥ प्रत्येक गांठपर सात सात पत्तोंको धारण करनेवाले सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका दूसरा वन भी बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह वृक्षकी प्रत्येक गांठपर भगवानके सात परम स्थानोंको[1] ही दिखा रहा हो ॥ १८१ ॥ इसीप्रकार पुष्पोंके समूहोंसे सुशोभित चंपक वृक्षोंका वन भी ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये दीपांग जातिके वृक्षोंका वन ही आया हो ॥ १८२ ॥ तथा कोइलोंके मधुर शब्दोंसे अत्यंत सुंदर ऐसा आमके वृक्षोंका वन ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पवित्र उपदेश देनेवाले भगवानकी भक्तिपूर्वक स्तुति ही कर रहा हो ॥ १८३ ॥ उन चारों वनोंमेंसे जो अशोक

---

१ सज्जाति सद्गृहस्थत्वं पारिव्राज्यं सुरेंद्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ १ ॥ सज्जाति, उत्तम गृहस्थपना, दीक्षालेना, इंद्रपदपाना, चक्रवर्ती होना, अरहंत होना और निर्वाण पद पाना ये सात परमस्थान कहलाते हैं ।

पुरसंवद्धत्रिसाल्परिवेष्टितः । छत्रचामरभृंगारकलशाद्यैरुपस्कृत. ॥ १८५ ॥ जंबूद्वीपस्थलीमध्ये भाति जंबूद्रुमो यथा । तथा वनस्थलीमध्ये स बभौ चैत्यपादप ॥ १८६ ॥ शाखाग्रव्याप्तविश्वाशः स रेजेऽशोकपादपः । अशोकमयमेवेद जगत्कर्तुमिवोद्यत ॥ १८७ ॥ सुरभीकृतविश्वाशै. कुसुमै. स्थगितांबरः । सिद्धाध्वानमिवारुधन्रेजेऽसो चैत्यपादप ॥ १८८ ॥ गारुडोपलनिर्माणै. पत्रैश्चित्रैश्चितोऽभित. । पद्मरागमयै. पुष्पस्तवकैः परितो वृतः ॥ १८९ ॥ हिरण्मयमहोदग्रशाखो वज्रेद्धबुध्नकः । कलालिकुलझंकारैस्तर्जयन्निव मन्मथ ॥ १९० ॥ सुरासुरनरेंद्रांतरक्षेभालानविग्रह । स्वप्रभापरिवेषेण

बन था उसमें सुवर्णकी बनी हुई तीन कटनीदार बहुत ऊंची एक वेदिका थी और उस वेदिकापर विराजमान एक बहुत वडा अशोकवृक्ष था ॥ १८४ ॥ उस वेदिकाके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटके चार चार दरवाजे थे और उनपर छत्र,चामर भृंगार कलश आदि मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ १८५ ॥ जिसप्रकार उत्तरकुरुमें जंबूद्वीप नामकी छोटी वेदिकापर जंबूवृक्ष सुशोभित होता है उसी-प्रकार उस बनकी वेदिकापर वह अशोक नामका चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था ॥ १८६ ॥ उस अशोकवृक्षकी शाखाओंके अग्रभाग समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहे थे जिससे वह अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ १८७ ॥ उस अशोकवृक्षके पुष्पोंकी सुगंधिसे समस्त दिशायें सुगंधित होगई थीं, पुष्पों-से समस्त आकाश भरगया था, जिससे वह चैत्यवृक्ष ऐसा जान पडता था मानों आकाशको रोक रहा ही हो ॥ १८८ ॥ मरकतमणियोंके बने हुये अनेक प्रकारके उसके पत्र बहुत ही अच्छे जान पडते थे और पद्मरागमणियोंके बने हुये फूलोंके गुच्छे उसपर चारोंओर लगे हुये थे ॥ १८९ ॥ सुव-र्णमय उसकी बहुत बडी २ शाखायें थीं, बज्रका बनाहुआ उसका मूलभाग था और भ्रमर बैठे हुये उसपर मधुर झंकार शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह कामदेवको तर्जना ही कर रहा हो ॥ १९० ॥ वह चैत्यवृक्ष सुर असुर चक्रवर्ती आदि सबके मनरूपी हाथियोंको बांध-

द्योतिताखिलदिग्मुख ॥ १९१ ॥ रणदालविवटाभिर्वधिरीकृतविश्वभू । भूर्भुव स्वर्जय भर्तु प्रतोपादिव घोपयन् ॥ १९२ ॥ ध्वजाशुकपरामृष्टनिर्मेघवनपद्धति । जगज्जनागसंलग्नमाग. परिमृजन्निव ॥ १९३ ॥ मूर्ध्ना छत्रत्रय बिभ्रन्मुक्तालवनभूपित । विभोस्त्रिभुवनैश्वर्य विना वाचैव दर्शयन् ॥ १९४ ॥ भेजिरे बुध्नभागेऽस्य प्रतिमा दिक्चतुष्टये । जिनेश्वराणामिंद्राद्यै. संप्राप्ताभिपेचना ॥ १९५ ॥ गन्धस्रग्धूपदीपाद्यै फलैरपि सहाक्षतै. । तत्र नित्यार्चनं देवा जिनार्चाना वितेनिरे ॥ १९६ ॥ क्षीरोदोदकधौतागीरमलास्ता हिरण्मयी । प्रणिपत्यार्हतामर्चा. प्रानर्चुर्नृसुरासुरा ॥ १९७ ॥

नेकेलिये खंभेके समान था अर्थात् उससे सबका चित्त मोहित होता था वह वृक्ष अपने प्रभामंडलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता था ॥ १९१ ॥ उसपर जो शब्द करते हुये घंटे लग रहे थे उनसे वह समस्त पृथ्वीको वहिरी (वधिर-सुनाई न देने योग्य) कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर स्वर्गलोक मध्यलोक और अधोलोक इन तीनों लोकोंमें भगवानकी जय घोपणा ही कर रहा हो ॥ १९२ ॥ उस वृक्षपर जो ध्वजायें लग रहीं थीं उनके वस्त्रोंसे बादलोंको पोंछ पोंछकर उसने आकाशमार्गको (बादल रहित) निर्मल कर दिया था और ऐसा जान पडता था मानों संसारी लोगोंमें जो पाप लग रहा है उसे ही पोंछ रहा हो ॥ १९३ ॥ उस चैत्यवृक्षके मस्तकपर तीन छत्र लगे हुये थे उन छत्रोंसें मोतियोंकी लडियें लटक रहीं थीं जिनसे वे बहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों भगवानके तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको विना वचनके ही दिखंला रहे हों ॥ १९४ ॥ चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें श्रीजिनेंद्रदेवकी चार प्रतिमायें विराजमान थीं जिनका इंद्रलोग भी स्वयं अभिषेक करते थे ॥ १९५ ॥ देवलोग वहांपर विराजमान उन प्रतिमाओंकी गंध, पुष्पमाल धूप, दीप फल अक्षत आदि द्रव्योंसे सदा पूजन करते थे ॥ १९६ ॥ क्षीरसागरके जलसे जिनका अभिषेक हुआ है और जो अत्यंत निर्मल हैं ऐसी उन सुवर्णमयी अरहंतकी प्रतिमाको नमस्कारकर मनुष्य, देव और असुर अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्यो-

स्तुवंति स्तुतिभिः केचिदर्थ्याभिः प्रणमंति च । स्मृत्वाऽवधार्य गायंति केचित्स्म सुरसत्तमा' ॥ १९८ ॥ यथाऽशोकस्तथाऽन्येऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूरुहाः । वने स्वे स्वे सजातीया जिनबिंबेद्धबुध्नकाः ॥१९९॥ अशोक सप्तपर्णश्च चंपकश्चूत एव च । चत्वारोऽमी वनेष्वासन्प्रोत्तुंगाश्चैत्यपादपा' ॥ २०० ॥ चैत्याधिष्ठितबुध्नत्वादूढतन्नामरूढय. । शाखिनोऽमी विभाति स्म सुरेंद्रै. प्राप्तपूजनाः ॥ २०१ ॥ फलैरलंकृता दीप्राः स्वपादाक्रांतभूतलाः । पार्थिवाः

तिष्क देव सब ही उनकी पूजन करते थे ॥ १९७ ॥ कितने ही उत्तमोत्तम देव अनेकप्रकारके अर्थों-से भरे हुये स्तोत्रोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही देव उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही देव उनके गुणोंका स्मरणकर तथा चिंतवनकर गान करते थे ॥ १९८ ॥ जिसप्रकार अ-शोकबनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष था उसीप्रकार अन्य तीनों बनोंमें भी अपनी अपनी जातिका एक एक चैत्यवृक्ष था और उन सबके मूलभागमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान थीं ॥ १९९ ॥ अशोक सप्तपर्ण चंपक और आम्रबनमें अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्र इन नामोंके ही बहुत ऊंचे ऐसे चार चैत्यवृक्ष थे ॥ २०० ॥ उनके मूलभागमें चैत्य अर्थात् भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं इसलिये ही वे चैत्यवृक्ष कहलाते थे तथा इंद्र भी उनकी पूजन करता था ऐसे वे चैत्यवृक्ष वहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे ॥ २०१ ॥ पार्थिव अर्थात् पृथ्वीसे उत्पन्न हुये वे वृक्ष सचमुच ही पा-र्थिव अर्थात् राजाके समान थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा इष्ट फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलोंसे सुभोभित हो रहे थे, राजा जिसप्रकार तेजस्वी होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी थे, राजा जिसप्रकार अपने पैरोंसे समस्त पृथ्वीको आक्रमण करते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंके जडभाग भी बहुतसी पृथ्वीको घेरे हुये थे और राजा जिसप्रकार पत्र अर्थात् सवारी वाहन आदिसे भरपूर होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥ २०२ ॥ उन वृक्षोंपर जो लाल कोंपल (नये पत्ते) लग रहे थे उनसे वे मानों अपना अनु-

सत्यमेवैते पार्थिवाः पत्रसमृताः ॥ २०२ ॥ प्रव्यजितानुरागाः स्वै. पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसाद दर्शयंतोऽतर्विभुं भेजुरिमे द्रुमाः ॥ २०३ ॥ तरूणामेव तावॉश्चेदीदृशो विभवोदय. । किमस्ति वाच्यमीशस्य विभवेऽनीदृशात्मनः ॥ २०४ ॥ ततो वनाना पर्यंते वभूव वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुंगैरारुद्धगगनांगणा ॥ २०५ ॥ कांचीयष्टिर्वनस्येव सा बभौ वनवेदिका । चामीकरमयै रत्नैः खचितांगी समततः ॥ २०६ ॥ सा बभौ वेदिकोदग्रा सचर्या समया वनं । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावन ॥ २०७ ॥ सुगुप्तागी सती वासौ रुचिरा सूत्रपा वन । परीयाय श्रतं जैनं सद्धीर्वा सूत्र-

---

राग अर्थात् भक्ति ही प्रगट कर रहे थे और उनपर जो पुष्पोंके समूह लगे हुय थे उनसे वे मानों अपनी प्रसन्नता ही दिखला रहे थे, इसप्रकार वे वृक्ष सबतरह भगवानकी सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ इसप्रकार उन वृक्षोंका ही जब इतना बडा माहात्म्य है तब उपमारहित ऐसे भगवान ऋषभदेवकी केवल ज्ञानरूपी विभूतिके माहात्म्यका क्या पूछना है ॥ २०४ ॥ उन बनोंके अंतमें चारोंओर एक बनवेदी थी उसमें चारों दिशाओंमें चार बडे बडे ऊंचे दरवाजे थे, जिनसे ऐसा जान पडता था मानों उसने आकाशरूपी आंगनको ही रोक लिया हो ॥ २०५ ॥ वह बनवेदिका सुवर्णकी बनीहुई थी और उसमें चारोंओर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनसे वह ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उन बनोंकी करधनी ही हो ॥ २०६ ॥ अथवा वह बनकी वेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि सचर्या अर्थात् चारित्र सहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षासहित थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिसप्रकार समयावनं अर्थात् शास्त्रकी मर्यादाके आश्रय रहती है अथवा शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसीप्रकार वह वेदी भी समयावनं अर्थात् बनके समीप थी और जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसीप्रकार वह वेदी भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊंची थी ॥ २०७ ॥ अथवा वह वेदिका सम्यग्दृष्टी जीवकी बुद्धिके समान जान पडती थी, क्योंकि सम्यग्दृष्टीकी सुबुद्धि जिसप्रकार सुगुप्तां-

पावन ॥ २०८ ॥ घंटाजालानि लंबानि मुक्तालंबनकानि च । पुष्पस्रजश्च सरेजुरमुष्या गोपुरं प्रति ॥ २०९ ॥ राजतानि बभुस्तस्या गोपुराण्यष्टमगलैः । सगीतातोंद्यनृत्तैश्च रत्नाभरणतोरणैः ॥२१०॥ तत. परमलंचक्रुर्विविधा ध्वजपक्तय । महीं वीथ्यतरालस्था हेमस्तभाग्रलंबिता ॥ २११ ॥ सुस्थास्ते मणिपीठेषु ध्वजस्तभा. स्फुरद्रुचः । विरेजुर्जगता मान्याः सुराजान इवोन्नता ॥ २१२ ॥ अष्टाशीत्यगुलान्येषा रुंद्रत्व परिकीर्तित । पचविंशतिको-

---

गी अर्थात् पापाचारोंसे अपने शरीरको छिपानेवाली वा पापाचार रहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सुबुद्धि जिसप्रकार समीचीन होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी समीचीन थी, सुबुद्धि जिसप्रकार मनोहर होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी मनोहर थी, सुबुद्धि जिस प्रकार सूत्रपा अर्थात् सिद्धांत शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसी प्रकार वह वेदिका भी सूत्रपा अर्थात् सूत्रबद्ध (सूत व डोराके नापसे बनी हुई) थी ऊंची नीची नहीं थी और सुबुद्धि जिसप्रकार सूत्रोंसे पवित्र ऐसे जैनशास्त्रके चारोंओर रहती है उसीप्रकार वह वेदिका भी उन बनोंको चारोंओरसे घेरे हुये थी ॥ २०८ ॥ उस वेदीके प्रत्येक दरवाजेमें बहुतसे घंटा लटक रहे थे तथा मोतियोंकी मालायें और पुष्पोंकी मालायें भी लटकतीं हुई सुशोभित हो रहीं थीं ॥ २०९ ॥ उस वेदिकाके चारों दरवाजे सफेद चांदीके बने हुये थे, उनके समीप ही अष्ट मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे, उनपर संगीत (गाना) हो रहा था, बाजे बज रहे थे, नृत्य हो रहा था और अनेक रत्नमय आभरणोंसे सुशोभित तोरण लटक रहे थे, जिनसे वे दरवाजे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ २१० ॥ उस वेदिकाके आगे बडे रास्तोंके इधर उधरकी जमीनमें सुवर्णके खंभोंपर लटकती हुई अनेक प्रकारकी ध्वजायें थीं जो कि वहांकी पृथ्वीको सुशोभित कर रही थीं ॥ २११ ॥ उन ध्वजाओंके खंभे नीतिवान राजाके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा मणिमय सिंहासनपर विराजमान होता है उसीप्रकार वे खंभे भी मणिमय

दडान्यमीपामतर विदु ॥ २१३ ॥ सिद्धार्थचैत्यवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिका' । स्तूपा' सतोरणा मानस्तभा: स्तभाश्च केतवा ॥ २१४ ॥ प्रोक्तास्तीर्थकृदुत्सेधादुत्सेधेन द्विषड्गुणा: । दैर्घ्यानुरूपमेतेपा रौद्रमाहुर्मनीषिण. ॥ ११५ ॥ वनाना सगृहाणा च पर्वताना तथैव च । भवेदुन्नतिरेपैव वर्णितागमकोविदैः ॥ २१६॥ भवेयुर्गिरयो रुद्रा' स्वोत्सेधादष्टसगुण । स्तूपाना मुच्छ्रते व्यास साति रेक विदो विदुः ॥२१७॥ उगति वेदिकादीना स्वोत्सेधस्य चतुर्थक । पार्थव परमज्ञानमहाकूपारपारगा: ॥ २१८ ॥ स्रग्वस्त्रसहसानाव्जहसवीनमृगेशिना । वृपभेभेद्रचक्राणा ध्वजा: स्युर्दशभेदका. ॥ २१९ ॥

वेदियोंपर खडे थे, राजा जिसप्रकार कांतिमान् होता है उसीप्रकार वे खंभे भी देदीप्यमान थे, राजा जिसप्रकार जगतपूज्य होता है उसीप्रकार वे खंभे भी जगतमें मान्य अर्थात् उत्कृष्ट थे और राजा जिसप्रकार उन्नत अर्थात् उत्कृष्ट होता है उसीप्रकार वे खंभे भी उन्नत अर्थात् ऊंचे थे ॥२१२॥ ये ध्वजाओंके खंभे अठासी अंगुल अर्थात् श्रीवृषभदेवके हाथसे आठ अंगुल कम चार हाथ चौडे थे और प्रत्येक खंभेका अंतर पच्चीस धनुष था ॥ २१३ ॥ पहिले जो चैत्यवृक्ष कह चुके हैं उनकी तथा, आगे जो सिद्धार्थवृक्ष कहेंगे उनकी, कोट, वनवेदिका, रत्नोंके स्तूप, तोरण सहित मानस्तंभ और ध्वजाओंके खंभ इन सबकी उंचाई तीर्थकरोंके शरीरकी उंचाईसे वारह गुनी होती है और विद्वान लोगोंने इनकी चौडाई मोटाई आदि लंवाईके अनुसार ही वतलाई है ॥-२१४-२१५॥ इसीप्रकार आगमको जाननेवाले गणधरआदि देवोंने वन, वनके मकान और पर्वत इन सबकी उंचाई तीर्थकरके शरीरसे वारहगुणी वतलाई हे ॥ २१६ ॥ पर्वतोंकी चौडाई उंचाईसे आठगुणी होती है और स्तूपोंका व्यास अर्थात् लंवाई चौडाई गणधरादि देवोंने उंचाईसे कुछ अधिक बतलाई है ॥ २१७ ॥ परमज्ञानरूपी महासमुद्रके पारगामी गणधरदेवोंने वनवेदीकी चौडाई उंचाईसे चौथाई बतलाई है ॥ २१८ ॥ ऊपर कही ध्वजाओंमें अलग अलग माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड, सिंह, बैल, हाथी, और चक्र, इनके चिन्ह थे जिनसे उन ध्वजाओंके दश भेद होगये

अष्टोत्तरशतं ज्ञेयाः प्रत्येक पालिकेतनाः । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरंगास्तोयधेरिव ॥ २२० ॥ पवनादोलितस्तेषां केतूनामशुकोत्करः । व्याजुहूषुरिवाभासीज्जिनेज्यायै नरामरान् ॥ २२१ ॥ स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यो ललबिरे । भव्याना सौमनस्याय कल्पितास्त्रिदिवाधिपैः ॥ २२२ ॥ श्लक्ष्णाशुकध्वजा रेजु पवनादोलितोत्थित. । व्योमाबुधेरिवोद्भूतास्तरगास्तुगमूर्तयः ॥ २२३ ॥ बर्हिध्वजेषु बर्हाली लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुग्रस्ताशुकाः सर्पबुध्यैव ग्रस्तकृत्तय. ॥ २२४ ॥ पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रदलसंततैः । नभ.सरसि फुल्लानि सरोजानीव रेजिरे ॥ २२५ ॥ अधःप्रतिमया तानि सक्रा-

---

थे ॥ २१९ ॥ एक एक दिशामें एक एक प्रकारकी ध्वजायें एकसौ आठ थीं अर्थात् एक एक दिशामें दशोंप्रकारकी ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं, चारों दिशाओंमें चारहजार तीनसौ वीस थीं। वे ध्वजायें बहुत ऊंची थीं इसलिये आकाशमें समुद्रकी लहरोंके समान जान पडती थीं ॥ २२० ॥ उन ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय वायुके झकोरेसे उड रहा था जिससे वे ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानकी पूजा करनेकेलिये मनुष्य और देवोंको बुला रही ही हों ॥ २२१ ॥ उन ध्वजाओंमेंसे जिनपर मालाओंके चिन्ह थे उनपर फूलोंकी वनी हुई दिव्य मालाओंके चिन्ह ऐसे लटक रहे थे मानों भव्य जीवोंका सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलानेकेलिये ही इन्द्रोंने उन्हें वनाया हो ॥ २२२ ॥ वस्त्रोंके चिन्हवाली ध्वजायें महीन और सफेद कपडेकी बनी हुई थीं और वायुके झकोरेसे उडती हुई वे बडी बडी तथा ऊंची ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं मानों आकाशरूपी समुद्रकी तरंगे ही उठ रही हों ॥ २२३ ॥ मयूरके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो मयूरोंके चिन्ह थे वे लीलापूर्वक अपनी पूंछको फैलाये हुये थे और सांप समझकर वस्त्रोंको निगलते हुये ऐसे जान पडते थे मानों सांपकी कांचलीको ही निगल रहे हों ॥ २२४ ॥ कमलके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो एकहजार दलके कमलोंके चिन्ह थे वे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों आकाशरूपी सरोवरमें कमल ही फूल रहे हों ॥ २२५ ॥ रत्न खचित पृथ्वीपर उन ध्वजाओंमें लगे हुये कृत्रिम कमलोंके जो प्रतिबिंब पड

तानि महीतले । भ्रमरान्मोहयति स्म पद्मबुध्याऽनुपातिन ॥ २२६ ॥ तेषां तदातनीं शोभा दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीं । कजान्युत्सृज्य कार्त्स्न्येन लक्ष्मीस्तेषु पद दधे ॥ २२७ ॥ हसध्वजेष्वमुर्हंसाश्चञ्चा ग्रसितवाससः । निजां प्रसारयतो वा द्रव्यलेश्यां तदात्मना ॥ २२८ ॥ गरुत्मत्ध्वजदण्डाग्राण्यध्यासीना विनायका । रेजुः स्वैः पक्षविक्षेपैर्लिलङ्घयिषवो नु खं ॥ २२९ ॥ बभुर्नीलमणिक्ष्मास्था गरुडा प्रतिमागता । समाक्रष्टुमिवाहींद्रान्प्रविशंतो रसातलं ॥ २३० ॥ मृगेंद्रकेतनाग्रेषु मृगेंद्राः क्रमधित्सया । कृतयत्ना विरेजुस्ते जेतुं वा सुरसामजान् ॥ २३१ ॥ स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलम्बीनि रेजिरे । ग-

---

रहे थे वे कमल समझकर उनपर पडते हुये भ्रमरोंको वडा ही भ्रम उत्पन्न करते थे ॥ २२६ ॥ ध्वजाओंमें लगे हुये कमलोंकी उससमयकी जो शोभा थी वह दूसरी जगह कहीं नहीं थी इसलिये उन्हें देखकर लक्ष्मीने समस्त कमलोंको छोडकर उन्हींमें अपना निवास स्थान वनाया था अर्थात् लक्ष्मी ध्वजाओंके चिन्हरूप उन्हीं कमलोंमें रहती थी ॥ २२७ ॥ हंसोंके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिन्ह लग रहे थे वे अपनी चोंचसे वस्त्रोंको पकडे हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों मुंहमें पकडे हुये सफेद वस्त्रके वहानेसे अपनी द्रव्यलेश्या अर्थात् सफेद रंग ही उगलते हुये फैला रहे हों ॥ २२८ ॥ गरुडके चिन्हवाली ध्वजाओंमें खंभोंके ऊपर ध्वजाओंपर गरुडोंके चिन्ह वने हुये थे और अपने पंखोंको हिलाते हुये वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशको उलंघन करना ही चाहते हों ॥ २२९ ॥ नीलमणिकी वनी हुई पृथ्वीमें जो उन गरुडोंका प्रतिविंव पड रहा था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वे गरुड नागेंद्रको पकडनेकेलिये पातालमें (अधोलोकमें) ही प्रवेश कर रहे हों ॥ २३० ॥ सिंहके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो सिंहोंके चिन्ह थे वे उडान मारते हुये ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों देवलोगोंके हाथियोंको जीतनेकेलिये ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ २३१ ॥ उन चित्ररूप सिंहोंके मुखमेंसे जो वडे वडे मोती लटक रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वडे २ हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करनेसे इकट्ठा हुआ यश ही लटक रहा हो ॥ २३२ ॥ वैलके चिन्हवाली

जेंद्रकुंभसभेदात्साचितानि यशांसि वा ॥ २३२ ॥ वृषाः शृगाग्रससक्तलंबमानध्वजांशुकाः । रेजुर्विपक्षजीत्येव सलब्धजयकेतनाः ॥ २३३ ॥ उत्पुष्करैः करैरूढध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरींद्रा इव कूटाग्रनिपतत्पृथुनिर्झरा. ॥ २३४ ॥ चक्रध्वजा. सहस्रारैश्चक्रैरुत्सर्पदंशुभि. । बभुर्भानुमता सार्द्धं स्पर्द्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥ २३५ ॥ नभः परिमृजतो वा श्लिष्यतो वा दिगंगना । भुवमास्फालयतो वा स्फूर्जंति स्म महाध्वजा. ॥ २३६ ॥ इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता बभु. । विभोस्त्रिभुवनेशत्व शसतोऽनन्यगोचर ॥ २३७ ॥ दिश्येकस्या ध्वजा॰ सर्वे सहस्र स्यादशीतियुक् । चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वि-

---

ध्वजाओंमें जिनके सींगोंमें ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे वैलोंके चिन्ह वने हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अपने शत्रुओंको जीतलेनेसे उन्हें जीतकी ध्वजा ही प्राप्त हुई हों ॥२३३॥ हाथीके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हाथी वने हुये थे उनकी सूंड ऊपरको उठ रही थी और उन सूंडोंमें ध्वजायें लग रहीं थीं, उन ध्वजाओंसे वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानों जिनके शिखरपर वडे वडे निर्झरने वह रहे हों ऐसे वडे पर्वत ही हों ॥ २३४ ॥ इसीप्रकार चक्रके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो चक्रके चिन्ह वने हुये थे उनमें हजार हजार आरा (चक्रके वीचमें लगी हुई लकडियोंके समान) थे तथा उनकी किरणें चारोंओर फैल रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही तैयार हुई हों ॥ २३५ ॥ इसप्रकार वे सव महा ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों आकाशको वुहारकर साफ कर रही हों, अथवा दिशारूप स्त्रियोंसे आलिंगन ही कर रही हों, अथवा पृथ्वीकी ओर देख ही रही हों ॥ २३६ ॥ इसप्रकार मोहनीयकर्मको जीतलेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों जो अन्य किसीमें न पाया जाय ऐसे भगवानके तीनों लोकोंके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहीं हों ॥ २३७ ॥ एक एक दिशामें वे सब ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं और चारों दिशाओंमें सब ध्वजाओंकी संख्या चार हजार तीनसौ वीस थी ॥ २३८ ॥ उन ध्वजाओंके समूहके वाद ही भीतरकी ओर एक वडाभारी कोट

त्रिकसागरा॰ ॥ २३८ ॥ ततोऽनतरमेवातर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमानर्जुननिर्माणो द्वितीयोऽप्यद्वितीयक ॥ २३९ ॥ पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीर्भुवो नून पुजीभूता तदात्मना ॥ २४० ॥ तेष्वाभरणविन्यस्ततोरणेषु परा द्युति. । तेने निधिभिरुद्भूतैः कुवेरैश्वर्यहासिनी ॥ २४१॥ शेषो विधिरशेषोऽपि सालेनाद्येन वर्णितः । पौनरुक्त्यभयान्नात्र तत्प्रपंचो निदर्शितः ॥ २४२ ॥ अत्रापि पूर्ववद्वेद्य द्वितय नाट्यशालयो । तद्वद्धूपघटी-द्वंद्व महावीथ्युभयातयोः ॥ २४३ ॥ ततो वीथ्यंतरेष्वस्याकक्षायां कल्पभूरुहा । नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्वनमासीत्प्रभास्वर ॥ २४४ ॥ कल्पद्रुमा. समुत्तुगाः स-

---

था जोकि चांदीका बनाहुआ वहुत हीं सुशोभित था और द्वितीय अर्थात् दूसरा होकर भी अद्वि-तीय अर्थात् वहुत ही सुंदर था भावार्थ—वह दूसरा कोट था ॥ २३९ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटके चार बडे २ दरवाजे कहे थे उसीप्रकार इस कोटके भी चांदीके वने हुये चार वडे दरवाजे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उन दरवाजोंके वहानेसे पृथ्वीरूपी देवीकी हास्यरूपी लक्ष्मी ही एक जगह इकट्ठी हुई हो ॥ २४० ॥ उन दरवाजोंपर जो अनेक आभरण सहित तोरण लगे हुये थे और समीपमें ही जो निधियां रक्खी हुई थीं उनसे उन दरवाजोंमें कुवेरके ऐश्वर्यको भी हंसनेवाली अर्थात् उसको भी नीचा दिखानेवाली ऐसी उत्कृष्ट कांति फैल रही थी ॥ २४१ ॥ उस कोटकी और सव शोभा पहिले कोटके समान ही जानना चाहिये, यहां यदि वही वर्णन फिर किया जाय तो पुनरुक्त दोष होगा इसलिये यहां उसका पूरा वर्णन नहीं दिखलाते हैं ॥ २४२ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटमें दो नाट्यशालायें थीं उसीप्रकार इसकोटमें दो नाट्यशालायें समझनी चाहिये और वडे रास्तेके दोनों ओर जैसे पहिले धूप घट रक्खे हुये वतलाये थे उसीप्रकार यहां भी वडे रास्तेके दोनों ओर दो धूपघट रक्खे हुये थे ॥ २४३ ॥ धूपघटोंके बाद भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर रास्ताओंके वगलमें कल्पवृक्षोंका वन था, यह वन अनेक प्रकारके रत्नोंकी कांतिके फैलनेसे अत्यंत प्रकाशमान हो रहा था ॥ २४४ ॥ उस बनके वे कल्पवृक्ष अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पडते थे क्योंकि

च्छाया. फलशालिनः । नानास्रग्वस्त्रभूपाढ्या राजायते स्म संपदा ॥ २४५ ॥ देवोदक्कुरवो नूनमागताः सेवितु जिन । दशप्रभेदैः स्वै. कल्पतरुभिः श्रेणिसात्कृता· ॥ २४६ ॥ फलान्याभरणान्येपामशुकानि च पल्लवाः । स्रजः शाखाग्रलम्बिन्यो महाप्रारोहयष्टय. ॥ २४७ ॥ तेपामधस्तलच्छायामध्यासीना सुरोरगा । स्वावासेपु धृतिं हित्वा चिर तत्रैव रेमिरे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्का ज्योतिरगेपु दीपागेपु च कल्पजा । भावनेन्द्राः स्रगगेपु यथायोग्या धृतिं दधु ॥ २४९ ॥ स्रग्वि साभरण भास्वदशुक पल्लवाधर । ज्वलद्दीप वन कात वधूवरमिवारुचत् ॥ २५० ॥ अतर्वणमथाभूवन्निह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धा-

---

राजा समुत्तुंग अर्थात् उत्कृष्ट होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी समुत्तुंग अर्थात् ऊंचे थे, राजा जिसप्रकार सच्छाया अर्थात् उत्तम आश्रय देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी सच्छाया अर्थात् अच्छी छायावाले थे, राजा जिसप्रकार फलशाली अर्थात् अनेक तरहके फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलशाली अर्थात् फलोंसे सुशोभित थे और राजा जिसप्रकार अनेक प्रकारकी माला वस्त्र आभूषण आदिसे सुसज्जित होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी माला वस्त्र आभूषण आदि सहित थे ॥ २४५ उन कल्पवृक्षोंके बनोंको देखकर ऐसा जान पडता था मानों पंक्तिरूपसे अपने दशप्रकारके कल्पवृक्षोंको साथ लेकर देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवानकी सेवा करनेके लिये आये हों ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान सुशोभित हो रहे थे, पत्ते वस्त्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे और शाखाओंके ऊपर लटकती हुई मालायें वटवृक्षकी जटाओंके समान जान पडती थीं ॥२४७॥ जो देव और नागकुमार आदि उन वृक्षोंके नीचे उनकी छायामें बैठते थे वे फिर अपने रहनेके विमानोंमें वा भवनोंमे भी प्रेम छोड देते थे और चिरकालतक उन्हीं वृक्षोंके नीचे क्रीडा किया करते थे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्क जातिके देवोंको ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके नीचे अच्छा लगता था, कल्पवासी देवोंको दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंमें प्रेम था और भवनवासियोंके इंद्र मालांग जातिके वृक्षोंको पसंद करते थे, इसप्रकार सब देव अपनेको अच्छे लगनेवाले यथायोग्य वृक्षोंके नीचे क्रीडा

चोधिष्ठितावीद्रबुध्ना ब्रध्ना इवोद्रुच ॥ २५१ ॥ चैत्यद्रुमेषु पूर्वोक्ता वर्णनाऽत्रापि गोज्यता । किंतु कल्पद्रुमा एते सकल्पितफलप्रदा ॥ २५२ ॥ कचिद्वाप्य कचिन्नद्य कचित्सैकतमडल । कचित्सभागृहादीनि बभुरत्र वनातरे ॥ २५३ ॥ वनवीथीमिमामतर्वत्रेऽसौ वनवेदिका । कलधौतमयी तुग-

करते थे ॥ २४९ ॥ वह कल्पवृक्षोंका वन वर वधू (दूल्हा दुलहिन) के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार वरवधू सृग्वी अर्थात् मालाओंसे अलंकृत रहते हैं उसीप्रकार वह वन भी मालाओंसे सुशोभित था, वरवधू जिसप्रकार आभूषण पहने रहते हैं उसीप्रकार वह बन भी आभूषणोंसे सुशोभित था, वरवधू जिसप्रकार सुंदर वस्त्र पहने रहते हैं, उसीप्रकार उस वनमें भी दैदीप्यमान वस्त्र टंगे हुये थे, जिसप्रकार वरवधुओंके अधर (ओठ) लाल होते हैं उसीप्रकार उसबनके पत्ते लाल थे, वरवधुओंके चारोंओर जिसप्रकार दीपक जलते रहते हैं उसीप्रकार उस बनमें भी दीपांग जातिके वृक्षोंपर दीपक जल रहे थे और वरवधू जिसप्रकार मनोहर होते हैं उसीप्रकार वह बन भी मनोहर था ॥ २५० ॥ उन कल्पवृक्षोंके बनके मध्यभागमें सिद्धार्थवृक्ष थे उन वृक्षोंके मूलभागमें भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे उनका मूलभाग बहुत ही दैदीप्यमान हो रहा था और वे वृक्ष प्रकाशमान सूर्यके समान जान पडते थे ॥ २५१ ॥ पहिले अशोक आदि बनोंमें जो चैत्यवृक्षोंकी शोभा वर्णन की गई है वही सब शोभा इन सिद्धार्थवृक्षोंकी समझनी चाहिये, किंतु इनमें और उनमें अंतर केवल इतना ही था कि ये कल्पवृक्ष इच्छानुसार फल देनेवाले थे ॥ २५२ ॥ उन कल्पवृक्षोंके बनमें कहींपर वावडियां थीं, कहींपर नदियां थीं, कहींपर वालुओंके ढेर थे और कहींपर सभागृह बने हुये सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥ उस कल्पवृक्षोंके बनको चारोंओरसे बनवेदिका घेरे हुये थी, वह वन वेदिका सुवर्णकी बनी हुई थी और उसके चार बडे २ दरवाजे थे ॥२५४॥ उन दरवाजोंमें तोरण और मंगलद्रव्य आदि संपदायें पहिली वेदिकाके

चतुर्गोपुरसगता ॥ २५४ ॥ तत्र तोरणमागल्यसपद. पूर्ववर्णिताः । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोन्मानान्यमुत्र च ॥ २५५ ॥ प्रतोलीं तामयोल्लंघ्य परत' परिवीथ्यभात् । प्रासादपक्तिर्विविधा निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥ २५६ ॥ हिरण्मयमहास्तभा वज्राधिष्ठानबधनाः । चद्रकातशिलाकातभित्तयो रत्नचित्रिताः ॥ २५७ ॥ सुहर्म्या द्वितला' केचित्केचिच्च त्रिचतुस्तला. । चद्रशालायुज केचिद्वलभिच्छदशोभिनः ॥ २५८ ॥ प्रासादास्ते स्म राजते स्वप्रभामग्नमूर्त्तय. । नभोलिहानाः कूटाग्रैर्ज्योत्स्नयेव विनिर्मिता' ॥ २५९ ॥ कूटागारसभागेहप्रेक्षाशाला' क्वचिद्बभु. । सशय्या सासनास्तुंगसोपानाः श्वेतिताबराः ॥ २६० ॥ तेषु देवा' सगधर्वाः सिद्धा विद्याधरा. सदा । पन्नगाः किन्नरैः सार्द्धमरमत कृतादराः ॥ २६१ ॥ केचिद्गानेषु वादित्रवादने केचिदुद्यताः ।

समान जानना चाहिये, तथा दरवाजोंकी लंबाई चौडाई उंचाई आदि भी पहिलेके समान ही थी ॥२५५॥ गोपुरके बडे दरवाजेके आगे भीतरकी ओर बडे रास्तेके इधर उधर अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियां थीं जोकि कारीगर देवोंने बनाई थीं ॥ २५६ ॥ उन मकानोंके बडे २ स्तंभ सुवर्णके बने हुये थे, नीम [जमीनके नीचेकी दीवाल] वज्रकी बनी हुई थी, मनोहर दीवालें चंद्रकांतमणियोंकी बनी हुई थीं और उन दीवालोंमें अनेकप्रकारके रत्न जडे हुये थे ॥ २५७ ॥ उन मकानोंमेंसे कितने ही मकान दुमंजिले थे, कितने ही तिमंजिले और कितने ही चार मंजिलके थे, कितने ही मकानोंपर अटारियां बनी हुई थीं और कितने ही मकान बंशपंजरके आकारके थे, तथा कितने ही गोल, कोई चार दरवाजेवाले और कोई बडे ही सुंदर आलीशान मकान बने हुये थे ॥२५८॥ वे मकान अपनी कांतिके समूहमें डूबे हुये थे तथा अपनी शिखरोंसे आकाशको स्पर्श करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों चांदनीसे ही बने हों ॥२५९॥ कहींपर कूटागार अर्थात् अनेक शिखरवाले मकान थे, कहींपर सभागृह और कहींपर नाट्यशालायें सुशोभित हो रहीं थीं, उन मकानोंमें शय्या आसन आदि रक्खे हुये थे, ऊंची ऊंची सीढियां बनी हुई थीं और वे मकान अपनी कांतिसे आकाशको सफेद कर रहे थे ॥ २६० ॥ उन मकानोंमें देव, गंधर्व, सिद्ध अर्थात् एक प्रकारके देव, विद्याधर नागकुमार और

संगीतनृत्यगोष्ठीभिर्विभुमाराधयन्नमी ॥ २६२ ॥ वीथीनां मध्यभागेऽत्र स्तूपा नव समुद्ययु । पद्मरागमयोत्तुंगवपुष खाग्रलंबिन ॥ २६३ ॥ जनानुरागास्ताद्रूप्यमापन्ना इव ते वभु' । सिद्धार्हत्प्रतिबिंबौघैरभितश्चित्रमूर्तय. ॥ २६४ ॥ स्वोन्नत्या गगनाभोग रुधाना स्म विभात्यमी । स्तूपा विद्याधराराध्या प्रातेव्या मेरवो यथा ॥ २६५ ॥ स्तूपा समुच्छ्रिता रेजुराराध्या. सिद्धचारणै. । ताद्रूप्यमिव बिभ्राणा नवकेवललब्धय ॥ २६६ ॥ स्तूपानामन्तरेष्वेषा रत्नतोरणमालिका: । बभुरिंद्रधनुर्मय्य इव चित्रितखांगणा ॥ २६७ ॥ सच्छत्रा' सपताकाश्च सर्वमंगलसंभृता । राजान इव रेजुस्ते स्तूपा' कृतजनोत्स-

---

किन्नर जातिके देव वडे आदरके साथ क्रीडा करते थे ॥ २६१ ॥ उन क्रीडा करनेवाले देवोंमेंसे कोई गानेको उद्यत हो रहा था और कोई वाजे वजानेकेलिये उद्यत हो रहा था, इसप्रकार वे देव संगीत नृत्य आदिके द्वारा भगवानकी आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥ वडे रास्तेके मध्यभागमें नौ स्तूप खडे हुये थे जो पद्मरागमणियोंके वने हुये तथा आकाशको उलंघन करते हुये वहुत ही ऊंचे थे ॥ २६३ ॥ उन स्तूपोंपर अरहंत और सिद्ध भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे वे चित्र विचित्रके वहुत ही सुशोभित हो रहे थे तथा पद्मरागमणियोंके होनेसे ऐसे जान पडते थे मानों सव मनुष्योंका अनुराग ही मिलकर स्तूप सरीखा वन गया हो ॥ २६४ ॥ वे स्तूप ठीक मेरुपर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वत ऊंचा है उसीप्रकार वे स्तूप भी उंचाईसे आकाशको घेर रहे थे, जिसप्रकार मेरु पूज्य है उसीप्रकार वे स्तूप भी पूज्य थे और विद्याधरलोग जिसप्रकार मेरुकी आराधना करते हैं उसीप्रकार वे स्तूपोंकी आराधना करते थे ॥ २६५ ॥ अनेक चारणमुनि जिनकी आराधना करते हैं ऐसे वे वहुत ऊंचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी केवल लब्धियां स्तूपरूप ही परिणत हो गई हों ॥ २६६ ॥ उन स्तूपोंके वीचमें एकसे दूसरे स्तूपतक रत्नोंके वंदनवार वंधे हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों आकाशको अनेक वर्णके चित्र विचित्रित करते हुये वे इंद्रधनुषके ही वने हुये हों ॥ २६७ ॥ अथवा वे स्तूप राजा-

वा ॥ २६८ ॥ तत्राभिषिन्य जैनेद्रीरर्चाः कीर्तितपूजिताः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्या मुदमयासिषुः ॥ २६९ ॥ स्तूपहर्म्यावलीरुद्धां भुवमुल्लंघ्य ता ततः । नभ स्फटिकसालोऽभाजातं खमिव तन्मय ॥२७०॥ विशुद्धपरिणामत्वाज्जिनपर्यंतसेवनात् । भव्यात्मेव बभौ सालस्तुगः सदृत्ततान्वित ॥२७१॥ खगेंद्रैरुपसेव्यत्वात्तुगत्वादचलत्वत. । रूप्याद्रिरिव ताद्रूप्यमापन्नः पर्यगाद्विभु ॥ २७२ ॥ दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदाशिश्रियन् । पद्मरागमयान्युच्चै-

ओंके समान जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार राजाओंपर छत्र लगा रहता है और समीपमें ध्वजायें फहराती हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी छत्र लग रहा था और उनके समीप ही ध्वजायें फहरा रहीं थीं, जिसप्रकार राजाओंके समीप मंगलद्रव्य रक्खे रहते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंके समीप भी मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे और जिसप्रकार राजाओंकेलिये लोग उत्सव करते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी लोग उत्सव कर रहे थे ॥ २६८ ॥ उन स्तूपोंपर जो अरहंतकी प्रतिमायें विराजमान थीं भव्यलोग उनका अभिषेक करते थे, स्तुति और पूजा करते थे तथा अंतमें प्रदक्षिणा देकर बडे ही प्रसन्न होते थे ॥ २६९ ॥ उन स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंके घेरनेवाली पृथ्वीको उलंघनकर अर्थात् उनके वाद भीतरकी ओर कुछ दूर जाकर आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकका बना हुआ कोट था जोकि ऐसा सुभोभित हो रहा था मानों आकाश ही कोटका रूप धारणकर भगवानकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥ २७० ॥ अथवा वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार भव्यजीवके परिणाम विशुद्ध होते हैं उसीप्रकार उस कोटका परिणमन अर्थात् बनावट भी विशुद्ध अर्थात् स्वच्छ थी, भव्यजीव जिसप्रकार भगवानके समीप ही सेवा करते हैं उसीप्रकार वह कोट भी भगवानके समीप सेवा करता था, भव्यजीव जिसप्रकार तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी तुंग अर्थात् ऊंचा था और भव्यजीव जिसप्रकार सद्वृत्त अर्थात् सदाचारी होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी सद्वृत्त अर्थात् सुगोल था ॥ २७१ ॥ अथवा वह कोट ऐसा जान प-

भव्यरागमयानि वा ॥ २७३ ॥ ज्ञेयाः पूर्ववदत्रापि मगलद्रव्यसंपद. । द्वारोपाते च निधयो ज्वलद्गंभीरमूर्तयः ॥ २७४ ॥ सतालमगलच्छत्रचामरध्वजदर्पणाः । सुप्रतिष्ठकभृंगारकलशा' प्रतिगोपुर ॥ २७५ ॥ गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन्सुरा. । क्रमात्सालत्रये द्वा'स्था भौमभावनकल्पजाः ॥ २७६ ॥ ततः स्वस्फाटिकात्सालादापीठात समायता. । भित्तयः षोडशाभूवन्महावीथ्यतराश्रिताः ॥ २७७ ॥ नभःस्फटिकनिर्माणा. प्रसरन्निर्मलत्विषः । आद्यपीठ-

डता था मानों विजयार्द्ध पर्वत ही कोटरूप होकर भगवानकी प्रदक्षिणा दे रहा हो, क्योंकि जिसप्रकार विजयार्द्ध पर्वतपर विद्याधर लोग रहते हैं उसीप्रकार उस कोटकी सेवा भी विद्याधरलोग करते थे और विजयार्द्ध पर्वत जिसप्रकार ऊंचा और अचल है उसीप्रकार वह कोट भी ऊंचा और अचल था ॥ २७२ ॥ उस उत्तम कोटके चारों दिशाओंमें चार बडे २ दरवाजे थे जो कि पद्मरागमणियोंके बने हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों भव्यजीवोंका अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हो गया हो ॥ २७३ ॥ जिसप्रकार पाहिले कोटोंके दरवाजोंपर मंगलद्रव्य और निधियां रक्खी हुई थीं उसीप्रकार इन दरवाजोंपर मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं और दरवाजेके समीप ही दैदीप्यमान और गंभीर ऐसी निधियां रक्खी हुई थीं ॥ २७४ ॥ प्रत्येक दरवाजेपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक भृंगार और कलश ये आठ आठ मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ २७५ ॥ प्रथम कोटके चारों दरवाजोंपर व्यंतर जातिके देव गदा तलवार आदि हाथमें लिये हुये खडे थे, दूसरे कोटके चारों दरवाजोंपर भवनवासी जातिके देव खडे हुये थे और तीसरे कोटके दरवाजोंपर कल्पवासी देव हथियार बांधे खडे हुये थे ॥ २७६ ॥ उस आकाशरूपी स्फटिकमणिके कोटसे आगे प्रथम पीठपर्यंत लंबी और चारों बडे रास्तोंके आश्रय ऐसी सोलह दीवालें थीं भावार्थ—चारों रास्तोंके अगल वगल दोनोंओर पीठ पर्यंत रास्तेकी लंबाईके समान लंबी आठ दीवालें थीं और रास्तेको छोडकर दो दो दीवालोंके वीचमें दो दो दीवालें और थीं, इसप्रकार सोलह दीवालोंसे चारों रास्ते छूट जाते

तटालग्ना ज्योत्स्नायते स्म भित्तयः ॥ २७८ ॥ शुचयो दर्शिताशेषवस्तुबिंबा महोदया. । भित्तयस्ता जगद्भर्तुरधिविद्या इवाबभुः ॥ २७९ ॥ तासामुपरि विस्तीर्णो रत्नस्तभैः समुध्दृतः । वियत्स्फटिकनिर्माणः सश्री. श्रीमडपोऽभवत् ॥ २८० ॥ सत्य श्रीमडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः । नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रिय ॥ २८१ ॥ यो वभाववरस्याते विवितान्याबरोपम. । त्रिजगज्जनतास्थानसग्रहावाप्तवैभवः ॥ २८२ ॥ यस्योपरितले मुक्ता गुह्यकैः कुसुमोत्कराः । विदधुस्तारकाशकामधोभाजां नृणां हृदि ॥ २८३ ॥ यत्र मत्तरुवद्भृगसंसूच्या. कुसुमस्त्रज. । न म्लानिमीयुर्जैनाव्रिन्छा-

---

थे और बारह सभायें बन जाती थीं ॥ २७७ ॥ वे दीवालें आकाशके समान स्वच्छ स्फटिक मणिकी बनी हुई थीं, उनकी निर्मल कांति चारोंओर फैल रही थी और प्रथम पीठके किनारेतक लगी हुई वे दीवालें चांदनीके समान जान पडती-थीं ॥२७८॥ वे दीवालें परम पवित्र थीं, उनमें समस्त वस्तुओंका प्रतिबिंब दिखाई पडता था, और उनका ऐश्वर्य भी बहुत बडा था इसलिये वे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी अधिविद्या ही हों ॥ २७९ ॥ उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खंभे खडे थे, उन खंभोंपर वहुत बडा, आकाशके समान स्फटिकमणिका बना हुआ और अतिशय शोभायुक्त ऐसा श्रीमंडप सुशोभित हो रहा था ॥ २८० ॥ वह मंडप वास्तवमें ही श्रीमंडप था, क्योंकि उस मंडपमें परमेश्वर भगवान वृषभदेवने मनुष्य सुर और असुर आदि सबके सामने तीनों लोकोंकी लक्ष्मी स्वीकार की थी ॥ २८१ ॥ उस श्रीमंडपको ऐसा वैभव प्राप्त था कि उसमें तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, तथा वह आकाशपर्यंत ऊंचा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों प्रतिबिंबित हुआ दूसरा आकाश ही हो ॥ २८२ ॥ उसके ऊपर जो यक्ष लोग फूलोंकी वर्षा कर रहे थे वे फूल नीचे रहनेवाले मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका उत्पन्न करते थे ॥ २८३ ॥ उस स्फटिकके बने हुये आकाशके समान स्वच्छ श्रीमंडपमें जो सफेद फूलोंकी मालायें लटक रहीं थीं वे उन्मत्त हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे ही जानी जाती थीं, तथा वे मालायें कभी

यांशैत्याश्रयादिव ॥ २८४ ॥ नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । विरुतैरगमद्व्यक्ति यत्र साम्यादलक्षिता ॥ २८५ ॥ योजनप्रमिते यस्मिन्संममुर्नृसुरासुरा. । स्थिताः सुखमसंबाधमहो ! माहात्म्यमीशितुः ॥ २८६ ॥ यस्मिन् शुचिमणिप्रान्तमुपेता हससंहतिः । गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते स्म विकूजितैः ॥ २८७ ॥ यद्भित्तय. स्वसंक्रान्तजगत्त्रितयबिंबिकाः । चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छ्रीदर्पणश्रियः ॥ २८८ ॥ यदुत्सर्पत्प्रभाजालजलस्नापितमूर्तय. । तीर्थावगाहनं चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥ २८९ ॥ तद्रुद्धक्षेत्रमध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैडूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखरायिता ॥ २९० ॥ तत्र

नहीं मुरझाती थीं मानों भगवानके चरणकमलोंकी छायाकी शीतता (शांतता) के आश्रयसे ही नहीं मुरझाती हों ॥ २८४ ॥ वहांपर फैले हुये नीलकमलोंमें जो भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे वे केवल उनके गुंजार शब्दोंसे ही जाने जाते थे, अन्यथा भ्रमर और नीलकमलोंका एकसा रंग होनेसे उन्हें कोई नहीं जान सकता था ॥ २८५ ॥ यद्यपि वह श्रीमंडप एक योजन लंबा चौडा था तथापि उसमें मनुष्य सुर असुर आदि सब जीव सुखपूर्वक एक दूसरेको बाधा न देते हुये रहते थे, यह भगवानका ही ऐसा माहात्म्य था ॥ २८६ ॥ उस श्रीमंडपमें लगे हुये स्वच्छ मणियोंके समीपमें जो हंसोंकी पंक्तियां बैठी हुई थीं वे भी स्वच्छ थीं और मणियोंके ही समान थीं तथापि वे मधुर शब्दोंसे जानी जाती थीं ॥ २८७ ॥ उस श्रीमंडपकी दीवालोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता था जिससे चित्र विचित्रित हुई वे दीवालें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों जगतकी लक्ष्मीके दर्पणकी शोभा ही हों ॥ २८८ ॥ उन दीवालोंकी कांतिका समूह जो चारोंओर फैल रहा था वह जलके समान जान पडता था और उसमें जो कल्पवासी तथा भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि देवोंके शरीर स्नान करनेके समान डूब रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥ २८९ ॥ उस श्रीमंडपसे घिरे हुये क्षेत्रके बीचमें बनी हुई पहिली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणियोंकी बनी हुई थी और ऐसी जान पडती थी मानों कुलपर्वत-

षोडश सोपानमार्गाः स्युः षोडशांतराः । महादिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशषु च विस्तृताः ॥ २९१ ॥ ता पीठिकामलंचक्रुरष्टमंगलसंपदः । धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्द्धभिः ॥ २९२ ॥ सहस्राराणि तान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे । भानुबिंबानि वोद्यंति पीठिकोदयपर्वतात् ॥ २९३ ॥ द्वितीयमभवत्पीठं तस्योपरि हिरण्मयं । दिवाकरकरस्पर्द्धिप्रद्योतितांबरं ॥ २९४ ॥ तस्योपरितले रेजुर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोत्तुंगाः सुरेशामभिसमताः ॥ २९५ ॥ चक्रेभवृषभांभोजवस्त्रसिंहगरुत्मतां । माल्यस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥ २९६ ॥ नूनं पापपरागस्य समार्जनमिव ध्वजाः । कुर्वंति स्म मरु-

---

का शिखर ही हो ॥ २९० ॥ उस पीठिका पर सोलह जगह अंतर देकर सोलह जगह ही सीढियां बनी हुई थीं, अर्थात् बीचमें जगह छोडकर सोलह जगह सीढियां बनी हुई थीं, चार जगह तो चारों दिशाओंमें बडे रास्तोंके सामने थीं और बारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक दरवाजेपर थीं, वे सब सीढियां बहुत ही बडी बडी थीं ॥ २९१ ॥ उस प्रथम पीठिकापर आठ मंगल द्रव्य रक्खे हुये थे और यक्षोंके ऊंचे ऊंचे मस्तकोंपर धर्मचक्र रक्खे हुये थे ॥ २९२ ॥ एक एक हजार दैदीप्यमान किरणोंसे वा आराओंसे सुशोभित होनेवाले वे धर्मचक्र ऐसे जान पडते थे मानों पीठिका रूप उदयाचल पर्वतसे सूर्यके बिंब ही उदय हुये हों ॥ २९३ ॥ उस प्रथम पीठिकाके ऊपर सुवर्णका बना हुआ दूसरा पीठ था, वह कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणोंसे स्पर्द्धा ही कर रहा हो तथा उसके प्रकाशसे आकाशभी प्रकाशित हो गया था ॥ २९४ ॥ उस दूसरे पीठके ऊपरी भागपर आठों दिशाओंमें आठ महाध्वजायें सुशोभित हो रही थीं, जोकि बहुत ऊंची थीं और इंद्रोंको भी स्वीकृत ऐसी आठ लोकपालोंके समान जान पडती थीं ॥ २९५ ॥ उन ध्वजाओंपर क्रमसे चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और मालाओंके चिन्ह बने हुये थे, तथा वे ध्वजायें अत्यंत निर्मल थीं इसलिये सिद्धोंके आठ गुणोंके समान जान पडती थीं ॥२९६॥ वायुके झकोरेसे उन ध्वजाओंके दैदीप्यमान कपडे हिल रहे थे जिससे वे ऐसी जान पडती थीं मानों पापरूपी धूलीको झाडकर फेंक ही रही हों ॥ २९७ ॥

ध्वूतस्फुरदंशुकजृम्भिते ॥ २९७ ॥ तस्योपरि स्फुरद्रत्नरोचिर्ध्वस्ततमस्तति । तृतीयमभवत्पीठं सर्वरत्नमयं पृथु ॥ २९८ ॥ त्रिमेखलमदः पीठं परार्ध्यमणिनिर्मितं । बभौ मेरुरिवोपास्यै भर्तुस्तद्रूपमाश्रित ॥ २९९ ॥ चक्रचक्रवर्तीव गजेन्द्र सुरदन्तिवत् । ध्वजैर्मेरुरिवोदग्रो पीठाद्रिरुद्बभौ ॥ ३०० ॥ पुष्पप्रकरमाघ्रातु निलीना यत्र षट्पदा । हेमच्छायासमाक्रांता सौवर्णा इव रेजिरे ॥ ३०१ ॥ अधरीकृतनिःशेषभुवन भासुरद्युति । जिनस्येव वपुर्भाति यत्स देवासुरार्चित ॥ ३०२ ॥ ज्योतिर्गणपरीतत्वात्सोऽधिचक्रवालाद्रि नत् । न्यक्चकार श्रियं मेरोर्धीरगात्र जगद्गुरो ॥३०३॥ ईदृङ्निमित्तं पीठमस्यो-

---

उस दूसरे पीठके ऊपर तीसरा पीठ था वह समस्त रत्नोंका बना हुआ था और बहुत बडा था, उससे देदीप्यमान रत्नोंकी किरणें निकल रहीं थीं जिससे वह समस्त अंधकारको नष्ट कर रहा था ॥२९८॥ उस पीठकी तीन कटनी थीं तथा वह अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ था, इसलिये वह ऐसा जान पडता था मानों मेरु पर्वत ही भगवानकी उपासना करनेकेलिये तीसरे पीठरूप परिणत हो कर आया हो ॥२९९॥ वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित होनेसे चक्रवर्तीके समान जान पडता था, ध्वजाओं सहित होनेसे ऐरावत हाथीके समान जान पडता था और सुवर्णका बना हुआ होनेसे महामेरुके समान सुशोभित होता था ॥३००॥ उस पीठिकापर फैले हुये पुष्पोंके समूहोंको सूंघनेके लिये जो भ्रमर आये थे उनपर सुवर्णकी छाया पड रही थी, इसलिये वे भ्रमर सुवर्णकेसे रंगके जान पडते थे ॥३०१॥ वह पीठ अरहंतदेवके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिसप्रकार भगवानका शरीर अपने गुणोंसे तीनों लोकोंको नीचा दिखलाता है उसीप्रकार वह पीठ भी अपनी शोभासे तीनों लोकोंको नीचा दिखला रहा था, भगवानका शरीर जिसप्रकार प्रकाशमान होता है उसीप्रकार वह पीठ भी प्रकाशमान था और भगवानके शरीरकी पूजा जिसप्रकार देव लोग करते हैं उसीप्रकार उस पीठकी पूजा भी चारोंप्रकारके देव करते थे ॥ ३०२ ॥ अथवा वह पीठ मेरु पर्वतकी शोभाको भी तिरस्कार करता था क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वतके चारोंओर ज्योतिष्क जातिके देव रहते हैं उसीप्रकार

परि जिनाधिपः । त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥३०४॥ नभ.स्फटिकसालस्य मध्य योजनसंमित । वनत्रयस्य रुद्रत्व ध्वजरुद्धावनेरपि ॥३०५॥ प्रत्येक योजन ज्ञेय धूलीसालाच्च खातिका । गत्वा योजनमेक स्याज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥ ३०६ ॥ नभ.स्फटिकसालात्तु स्यादाराद्वनवेदिका । योजनार्द्ध तृतीयाच्च सालात्पीठ तदर्द्धग ॥ ३०७ ॥ क्रोशार्द्धं पीठमूर्ध्न. स्यान्द्विष्कम्भो मेखलेऽपरे । प्रत्येक धनुषा रौन्द्रे स्यातामर्द्धाष्टमं शत ॥ ३०८ ॥ क्रोश रुद्रा

उस पीठके चारोंओर भी ज्योतिष्क जातिके देव रहते थे, मेरुपर्वत जिसप्रकार सब ओरसे उत्तर अर्थात् सब ओरसे वा सब जगहसे उत्तर दिशामें है उसीप्रकार वह पीठ भी सबसे उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट था और मेरु पर्वत जिसप्रकार जगतगुरु तीर्थंकरको धारण करता है उसीप्रकार वह पीठ भी जगत गुरु तीर्थंकर वृषभदेवको धारण करता था ॥३०३॥ इसप्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसपर विराजमान हुये श्रीजिनेंद्रदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंके शिखरपर सिद्ध परमेष्ठी ही विराजमान हों ॥३०४॥ तीसरा जो आकाशके समान स्फटिक मणियोंका बना हुआ कोट था उसके भीतरके भागका व्यास (गोलजगहकी लंबाई अथवा चौडाई) एक योजन था तथा लतावन एक योजन चौडा था, अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्रवृक्षके वन एक योजन चोडे थे और कल्पवृक्षोंका वन भी एक योजन चौडा था; इसीप्रकार ध्वजाओंकी जमीनकी चौडाई भी एक योजन थी और धूलीसालसे खाई भी एक योजन दूर थी, यह सब विस्तार श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है ॥३०५-३०६॥ आकाशके समान स्फटिक मणियोंके बने हुये कोटसे कल्पवृक्षोंकी वनवेदिका आधा योजन अर्थात् दो कोश दूर थी और उसी तीसरे कोटसे चौथाई योजन अर्थात् एक कोशकी दूरीपर प्रथम पीठ था ॥ ३०७ ॥ पहिले पीठका मस्तक जो दूसरे पीठके नीचे मेखला सरीखा निकल रहा था वह आधाकोस चौडा था तथा इसीप्रकार दूसरे तीसरे पीठकी मेखलायें भी साडे सातसौ धनुष चौडी थीं अर्थात् प्रत्येककी चौडाई साडे सातसौ धनुष थी ॥ ३०८ ॥ उस समवसरणमें चारों दिशाओंमें जो चार बडे रास्ते थे वे सब एक

महावीथ्यो भित्तय' स्वोच्छ्रितेर्मिताः । रौद्रेगाष्टमभागेन प्राग्निर्णीता तदुच्छ्रिति ॥ ३०९ ॥ अष्टदडोच्छ्रिता ज्ञेया जगती पीठमादिमं । द्वितीयं च तदर्द्धेन मितोच्छ्राय विदुर्बुधा. ॥ ३१० ॥ तावदुच्छ्रितमस्य च पीठ सिंहासनोन्नति. । धनुरेकमिहाम्नात धर्मचक्रस्य चोच्छ्रिति. ॥ ३११ ॥ इत्युक्तेन विभागेन जिनस्यास्थायिका स्थिता । तन्मध्ये तदवस्थानमित. श्रृणुत मन्मुखात् ॥ ३१२ ॥ इत्युच्चैर्गणनायके निगदति व्यक्त जिनास्थायिका प्रव्यक्तैर्मधुरैर्वचोभिरुचितैस्तत्त्वार्थसंबोधिभि. । बुद्धात करणो विकासिवदन वक्त्रे नृप. श्रेणिक. प्रीतः प्रातरिवाब्जिनीवनचय. प्रोन्मीलित पंकज ॥ ३१३ ॥

एक कोश चौडे थे, पहिले जो सोलह दीवालें कहीं थीं उनकी चौडाई उंचाईसे आठवां भाग थी, दीवालोंकी उंचाई पहिले कह ही चुके हैं ॥ ३०९ ॥ प्रथम पीठरूपी जो जगती थी वह आठ धनुष ऊंची थी अर्थात् प्रथम पीठ आठ धनुष ऊंचा था और दूसरे पीठकी उंचाई विद्वान् लोगोंने उससे आधी अर्थात् चार धनुष कही है ॥ ३१० ॥ इसीप्रकार तीसरे पीठकी उंचाई भी चार धनुष थी तथा सिंहासनकी उंचाई एक धनुष थी और धर्मचक्रकी उंचाई भी एक धनुष ही थी ॥ ३११ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये विभागके अनुसार भगवानका समवसरण बना हुआ था। गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि राजन्, उस समवसरणके मध्यभागमें जो गंधकुटी वनी हुई थी उसका वर्णन भी अब मेरे मुखसे ही सुनो ॥ ३१२ ॥ इसप्रकार जब गौतम गणधरने तत्त्वार्थके स्वरूपको समझानेवाले, उचित, मधुर और स्पष्ट वचनोंसे भगवानके समवसरणका स्पष्ट वर्णन किया उससमय जिसप्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंके बनके कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं उसीप्रकार जिसके अंतःकरणमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे आनंद युक्त राजा श्रेणिकका मुख भी खूब प्रसन्न होगया था और वह बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥३१३॥ जिसप्रकार सूर्यकी दैदीप्यमान लक्ष्मीका आश्रय पाकर कमलोंके समूह प्रफुल्लित हो जाते हैं उसीप्रकार असभ्य अर्थात् मिथ्यात्वियोंके कहे हुये मिथ्यामतरूपी अंधकारको नाश करनेवाली, अतिशय योग्य और अत्यंत निर्दोष ऐसी श्री गौतम गणधर स्वामीकी वाणी

सभ्याः सभ्यतमामसभ्यकुमतध्वांतच्छिदं भारतीं श्रुत्वातामपवाङ्मलां गणभृतः श्रीगौतमस्वामिनः । सार्द्धं योगिभिरागमन् जिनपतौ प्रीतिं स्फुरल्लोचनाः प्रोत्फुल्लाः कमलाकरा इव रवेरासाद्य दीप्तिश्रियं ॥ ३१४ ॥ स जयति जिननाथो यस्य कैवल्यपूजा विततनिपुलदग्रामद्भुतश्रीर्महेद्रः । सममम-रनिकायैरेत्य दूरात्प्रणम्रः समवसरणभूमिं पिप्रिये प्रेक्षमाण. ॥ ३१५ ॥ किमयममरसर्गः किं नु जैनानुभावः किमुत नियतिरेषा किंस्विदैंद्रः प्रभाव. । इति विततवितर्कैः कौतुकाद्वीक्ष्यमाणा जयति सुरसमाजैर्भर्तुरास्थानभूमिः ॥ ३१६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व.

सुनकर श्रेणिक आदि समस्त देव मनुष्य विद्याधर तथा समस्त मुनिराज आदि सभाके लोग प्रफुल्लित नेत्रोंसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करते थे और भगवानके चरणकमलोंमें सबका प्रेम बढगया था ॥ ३१४ ॥ अद्भुत विभूतिको धारण करनेवाले इंद्रने चारों प्रकारके देवोंके साथ आकर जिसके केवल ज्ञानकी पूजा बडे ठाठ बाटसे तथा उत्तम रीतिसे की, जिन्हें दूरसे ही नमस्कार किया और जिसकी समवसरण भूमिको देखकर ही अत्यंत प्रसन्न हुआ ऐसा श्री जिनेंद्र देव सदा जयशील (जयवंत) हो ॥ ३१५ ॥ क्या यह कोई स्वर्गलोककी नई सृष्टि उत्पन्न हुई है ? अथवा यह श्री जिनेंद्रदेवका प्रभाव है ? अथवा तीर्थंकरको केवल ज्ञान होनेके समय ऐसे समवसरणकी रचना होनेका नियोग ही है ? अथवा यह इंद्रका ही प्रभाव है इसप्रकार अनेकप्रकारकी कल्पनायें करता हुआ देवोंका समूह जिस समवसरण भूमिको बडे कौतुकके साथ देखता था ऐसी वह समवसरणकी भूमि सदा जयवंत हो अर्थात् उसकी सदा जय हो ॥ ३१६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे भगवानके समवसरणका वर्णन करनेवाला यह बाईसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ त्रयोविंशं पर्व ।

अथ त्रिमेखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृते । स्फुरन्मणिविभाजालरचितामरकार्मुके ॥ १ ॥ सुरेंद्रकरविक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि । हसतीव वनापायस्फुरत्तारकमंबर ॥ २ ॥ चलच्चामरसघातप्रतिबिंबनिभागतैः । हसैरिव सरोबुध्या सेव्यमानतले पृथौ ॥ ३ ॥ मार्त्तंडमडलच्छायाप्रस्पर्द्धिनि महर्द्धिके । स्वर्धुनीफेननीकाशै. स्फटिकैर्वटिते कचित् ॥४॥ पद्मरागसमुत्सर्पन्मयूखैः क्वचिदास्तृते । जिनपादतलच्छायाशोणिम्नेवानुरजिते ॥ ५ ॥ शुचौ स्निग्धे मृदु-

अथ तेईसवां पर्व

अथानंतर—तीन कटनीदार जो यह तीसरा पीठ था उसका मस्तक अर्थात् ऊपरीभाग बहुत ही बडा था, उसमें जो अनेकप्रकारके मणि लगे हुये थे उनकी कांतिके समूहसे उस पीठके ऊपर इंद्रधनुष सरीखा पड रहा था ॥ १ ॥ उस पीठपर जो इंद्रने अपने हाथसे बहुतसे पुष्प फैलाये थे उनसे वह पीठ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वादलोंके दूर होनेसे जिसमें तारे चमक रहे हैं ऐसे आकाशकी ओर हँस रहा ही हो ॥ २ ॥ उसपर ढुरते हुये चामरोंके समूहोंका प्रतिबिंब पड रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बहुत बडे तलकी सेवा कर रहे हों ॥ ३ ॥ वह पीठ अपनी दैदीप्यमान कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यमंडलकी कांतिके साथ स्पर्द्धा ही कर रहा हो, इसके सिवाय वह अनेकप्रकारकी वडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाला था तथा कहीं कहीं पर वह गंगानदीके फेनके समान स्वच्छ स्फटिक मणियोंसे बना हुआ था ॥ ४ ॥ कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त था और ऐसा जान पडता था मानों भगवानके चरणतलकी अरुण (लाल) कांतिसे ही लाल हो गया हो ॥ ५ ॥ वह पीठ अत्यंत पवित्र था, चिकना था, उसका स्पर्श कोमल था, भगवानके चरणकमलोंके स्पर्शसे वह अत्यंत पवित्र था और उसके चारोंओर बहुतसी मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं ॥ ६ ॥ ऐसे उस

स्पर्शे जिनांघ्रिस्पर्शपावने । पर्यंतरचितानेकमंगलद्रव्यसंपदि ॥ ६ ॥ तत्र गंधकुटीं पृथ्वीं तुंगशालोपशोभिनीं । रैराण्णिवेशयामास स्वर्विमानातिशायिनी ॥ ७ ॥ त्रिमेखलांकिते पीठे सैपा गंधकुटी बभौ । नंदनादिवनश्रेणीत्रयाद्वोपरि चूलिका ॥ ८ ॥ यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिवमूर्द्धनि । तथा गंधकुटी दीप्ता पीठस्याधितलं बभौ ॥ ९ ॥ नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्यल्कूरैम्नतमंबरं । सचित्रमिव भाति स्म सेंद्रचापमिवाऽथवा ॥ १० ॥ या तुंगै शिखरैर्बद्ध-जयकेतनकोटिभिः । भुजशाखाः प्रसार्येव नभोगानाजुहूयत ॥ ११ ॥ त्रिभिस्तलैहरेना या भुवनत्रितयश्रियः । प्रतिमेव बभौ व्योमसरोमध्येऽवुबिंबिता ॥ १२ ॥ स्थूलैर्मुक्तामयैर्जालैर्लंबमानैः समंततः । महाब्धिभिरिवानीतैर्योपायनशतैरभात् ॥ १३ ॥ हैमैर्जालैः क्वचित्स्थूलैरायतैर्या विदिद्युते । कल्पाघ्रि-

तीसरे पीठपर कुवेरने बहुत बडी गंधकुटी बनाई थी, वह गंधकुटी ऊंचे कोटसे सुशोभित थी और स्वर्गोंके विमानोंसे भी अधिक सुंदर थी ॥ ७ ॥ तीन कटनीदार उस पीठपर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों नंदनवन सोमनसवन और पांडुकवन इन तीनों वनोंके ऊपर चूलिका ही हो ॥ ८ ॥ अथवा जिसप्रकार तीनों लोकोंके मस्तकपर सर्वार्थसिद्धि है उसीप्रकार उस पीठके ऊपरी भागपर दैदीप्यमान गंधकुटी भी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥ उस गंधकुटीके शिखरोंपर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनकी फैलती हुई कांतिसे आकाश व्याप्त होगया था जिससे वह आकाश अनेक वर्णका चित्र विचित्र जान पडता था अथवा वह इंद्रधनुषके समान जान पडता था ॥ १० ॥ उस गंधकुटीकी ऊंची ऊंची शिखरोंपर करोडों जयपताकायें बंधी हुई थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों अपने हाथोंको फैलाकर देवोंको बुला रही हो ॥ ११ ॥ तीनों पीठों सहित वह गंधकुटी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागके जलमें तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही प्रतिबिंबित हुई हो ॥ १२ ॥ उसके चारोंओर जो बडे २ मोतियोंकी जाली (झालरि) लटक रही थी उससे वह ऐसी जान पडती थी मानों बडे २ समुद्रोंने मोतियोंकी सैकडों भेट उसे अर्पण की हों ॥ १३ ॥ कहीं कहींपर उसमें सुवर्ण-

पोद्भवैर्दीप्तैःप्रारोहैरिव लंबितै ॥ १४ ॥ रत्नाभरणमालाभिर्लंबिताभिरितोऽमुत । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव प्रहितोपायनर्द्धिभिः ॥ १५ ॥ स्रग्भिराकृष्टगंधांध-माद्यन्मधुपकोटिभिः। जिनेंद्रमिव तुष्टूषुरभाद्या मुखरीकृता ॥ १६ ॥ स्तुवत्सुरेंद्रसंदृब्धगद्यपद्यस्तवस्वनैः । सरस्वतीव भाति स्म या विभुं स्तोतुमुद्यता ॥ १७ ॥ रत्नालोकैर्विसर्पद्भिर्या वृतांगी व्यराजत । जिनेंद्रांगप्रभालक्ष्म्या घटितेव महाद्युतिः ॥ १८ ॥ या प्रोत्सर्पद्भिराहूतमदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्दिशामिवायाम प्रमित्सुस्ततधूमकैः ॥ १९ ॥ गधैर्गंधमयीवासीत्सृष्टिः पुष्पमयीव च । पुष्पैर्धूपमयीवाभाद्धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥ २० ॥ सुगंधिधूपनिःश्वासा

की मोटी और लंबी जाली सुशोभित हो रही थी जोकि ऐसी जान पडती थी मानों कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये छोटे २ दैदीप्यमान अंकूरे ही लटक रहे हों ॥ १४ ॥ उस गंधकुटीके इधर उधर रत्नोंके बने हुये आभरणोंकी मालायें लटक रहीं थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों स्वर्गकी लक्ष्मीने उसे अनेक प्रकारके रत्नोंकी भेट ही भेजी हो ॥ १५ ॥ उस गंधकुटीपर अनेक पुष्पमालायें लटक रहीं थीं जिनकी सुगंधिसे आये हुये करोडों भ्रमर सुगंधिसे अंधे और उन्मत्त होकर गुंजार शब्द कर रहे थे, उनसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों-श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति ही कर रही हो ॥ १६ ॥ इंद्र जो भगवानकी स्तुति कर रहा था उसके द्वारा रचे हुये गद्य पद्य मय स्तोत्रोंके शब्दोंसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों सरस्वतीदेवी ही भगवानकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुई हो ॥ १७ ॥ उसमें लगे हुये रत्नोंका प्रकाश जो चारोंओर फैल रहा था उससे व्याप्त वा आच्छादित हुई वह अतिशय दैदीप्यमान गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके शरीरकी प्रभारूपी लक्ष्मीने ही उसे बनाया हो ॥ १८ ॥ अपनी सुगंधिसे अनेक उन्मत्त भ्रमरसमूहोंको बुलाता हुआ जो धूपका धूआं निकल रहा था वह सबओर फैल रहा था और उससे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों सब दिशाओंकी लंबाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगंधिसे वह गंधकुटी ऐसी-

सुमनोमालभारिणी । नानाभरणदीप्तांगी या वधूरिव दिद्युते ॥ २१ ॥ धूपगंधैर्जिनेन्द्रांगसौगंध्यबहलीकृतैः । सुरभीकृतविश्वाशा याधाद्गंधकुटीश्रुतिं ॥२२॥ गंधानामिव या सूतिर्भासा येवाधिदेवता । शोभाना प्रसवक्ष्मेव या लक्ष्मीमधिकां दधे ॥ २३ ॥ धनुषां षट्शती सैषा विस्तीर्णा तावदायता । विष्कंभात्साधिकोच्छ्राया मानोन्मानप्रमान्विता ॥ २४ ॥ तस्या मध्ये सैहं पीठं नानारत्नव्रातांकीर्णं । मेरोः शृंगं न्यक्कुर्वाणं चक्रे शक्रादेशाद्वित्तेट् ॥ २५ ॥ भा-

जान पडती थीं मानों वह सुगंधिसे ही बनी हो; चारोंओर फैले हुये पुष्पोंसे ऐसी जान पडती थी मानों पुष्पोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैलती हुई धूपसे ऐसी जान पडती थी मानों वह धूपसे बनी हो ॥२०॥ अथवा वह गंधकुटी नवीन स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिसप्रकार नवीन स्त्रीका श्वास सुगंधित होता है उसीप्रकार उस गंधकुटीसे जो सुगंधित धूप निकल रही थी वही उसके सुगंधित श्वासके समान थी, स्त्री जिसप्रकार पुष्पमाला धारण करती है उसीप्रकार उस गंधकुटीपर भी अनेक पुष्पमालायें लटक रही थीं और स्त्रीका शरीर जिसप्रकार अनेक प्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान रहता है उसीप्रकार वह गंधकुटी भी अनेकप्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान हो रही थी ॥२१॥ भगवानके शरीरकी सुगंधिसे जिसको अतिशयता प्राप्त हुई है ऐसी धूपकी सुगंधिसे उसने समस्त दिशायें सुगंधित कर दी थीं इसलिये ही उसका गंधकुटी यह यथार्थ नाम पडगया था ॥ २२ ॥ अथवा बहुत कहनेसे क्या ? वह गंधकुटी सुगंधिको उत्पन्न करनेवाली थी, कांतिकी अधिदेवता अर्थात् स्वामिनी थी और सबप्रकारकी शोभाओंकी उत्पन्न करनेवाली भूमि थी, इसप्रकार वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २३ ॥ वह गंधकुटी छह सौ धनुष चौडी थी, छहसौ धनुष लंबी थी और चौडाईसे कुछ अधिक ऊंची थी, इसप्रकार यथा योग्य मान और उन्मानसे वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २४ ॥ उस गंधकुटीके मध्यभागमें इंद्रकी आज्ञासे कुबेरने एक सिंहासन बनाया था जोकि अनेकप्रकारके रत्नोंके समूहसे बना हुआ था और मेरु पर्वतकी

नुन्हेपिं श्रीमद्धेम तुगं भक्त्या जिष्णु भक्तु । मेरु श्रृंगं स्व वा निन्ये पीठव्याजादीसं भासा ॥ २६ ॥ यत्प्रसर्पदंशुदष्ट दिङ्मुख महार्द्रिभासि । चारुरत्नसारमूर्ति भासते स्म नेत्रहारि ॥ २७ ॥ पृथुप्रदीप्तदेहक स्फुरत्प्रभाप्रतानक । परार्ध्यरत्नभासुर सुराद्रिहासि यद्बभौ ॥ २८ ॥ विष्टर तदल चक्रे भगवानादितीर्थकृत् । चतुर्भिरंगुलै. स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टतत्तल: ॥ २९ ॥ तत्रासीन तमिंद्राद्या. परिचेरुर्महेज्यया । पुष्पवृष्टिं प्रवर्षतो नभोमार्गाद्घना इव ॥ ३० ॥ अपप्तत्कौसुमी वृष्टि. प्रोर्णुवाना नभोऽगण । दृष्टिमालेव मत्तालिमालावाचालिता नृणा ॥ ३१ ॥ द्विषड्योजनभूभागमामुक्ता सुरवारिदै: ।

शिखरको भी तिरस्कार कर रहा था ॥ २५ ॥ वह सुवर्णका बना हुआ, अतिशय शोभायुक्त, ऊंचा और अपनी कांतिसे सूर्यको भी लज्जित करनेवाला सिंहासन ऐसा जान पडता था मानों सिंहासनके बहानेसे कांतिसे दैदीप्यमान ऐसा मेरुपर्वत अपना शिखर ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करनेकेलिये लाया हो ॥ २६ ॥ उस सिंहासनसे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशायें व्याप्त हो रही थीं, अपने ऐश्वर्यसे वह प्रकाशमान हो रहा था, अनेक सुंदर रत्न उसमें जडे हुये थे और वह नेत्रोंको बहुत सुंदर लगता था, इसप्रकार वह सिंहासन बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ २७ ॥ वह सिंहासन बहुत ही दैदीप्यमान और बडा था, उसकी कांतिका समूह चारोंओर प्रकाशमान हो रहा था, अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे वह चमक रहा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मेरुपर्वतकी ओर हँस रहा ही हो ॥ २८ ॥ उस सिंहासनपर भगवान वृषभदेव विराजमान हो कर उसे सुशोभित कर रहे थे । वे भगवान अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊंचे अधर विराजमान थे ॥ २९ ॥ उस सिंहासनपर विराजमान हुये भगवानकी पूजा इंद्रलोग बडे समारोहके साथ करते थे और बादलोंके समान आकाशमार्गसे पुष्पोंकी वर्षा करते थे ॥ ३० ॥ आकाशरूपी आंगनमें व्याप्त होती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा ऐसी जान पडती थी मानों उन्मत्त भ्रमरके समूहके समान शब्दायमान होता हुआ मनुष्योंके नेत्रोंका समूह ही हो ॥ ३१ ॥ देवरूपी बादलोंसे बारह योजनतककी

पुष्पवृष्टि. पतंती सा व्यधाच्चित्रं रजस्ततं ॥ ३२ ॥ वृष्टिरसौ कुसुमाना तुष्टिकरी प्रमदाना । दृष्टिततीरनुकृत्य स्वगुरुपदतदुपाते ॥ ३३ ॥ पट्पदवृंदवि-
कीर्णै. पुष्परजोभिरुपेता । वृष्टिरमर्त्यविसृष्टा सौमनसी रुरुचेऽसौ ॥ ३४ ॥ शीतलैर्वारिभिर्गांगै रार्द्रिता कौसुमी वृष्टिः । पट्पदैराकुलाऽपतत् पत्युरग्रे
तताभोदा ॥ ३५ ॥ मरकतहरितै. पत्रै र्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः । मरुदुपविधुताः शाखा श्चिरमधृत महाऽशोकः ॥ ३६ ॥ मदकलविरुतैर्भृंगै रपि परपुष्ट-
विहगैः । स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिक्कुरुते स्म ॥ ३७ ॥ व्यायतशाखादोश्चलनै. स्वै र्नृत्यमथासौ कर्तुमिवाग्रे । पुष्पसमूहैरजलिमिद्ध भर्तुरकार्षी-

---

पृथ्वीपर पडती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा अपने परागके समूहसे पृथ्वीको चित्र विचित्रकी कर रही थी, अथवा वह पुष्पोंकी वर्षा पृथ्वीपर धूली बढा रही थी। यह एकप्रकारका विरोध है क्योंकि वर्षासे धूलि दब जाती है वढती नहीं परंतु उस पुष्पोंकी वर्षासे परागकी धूलि वढती ही थी ॥ ३२ ॥ वह पुष्पोंकी वर्षा स्त्रियोंको अत्यंत प्रसन्न करती हुई भगवानके समीपभागमें पड रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों नेत्रोंकी संतति ही पुष्पोंका रूप धारणकर भगवानके समीपमें पड रही हो ॥ ३३ ॥ भ्रमरोंके समूहोंके द्वारा इधर उधर फैलाये हुये पुष्पोंके परागोंसे सुशोभित और देवोंके द्वारा वरसाई हुई वह पुष्पोंकी वृष्टि बहुत ही मनोहर जान पडती थी ॥ ३४ ॥ जो गंगाके शीतल जलसे भीगी हुई है, जिसपर अनेक भ्रमर बैठे हुये हैं और जिसकी सुगंधि चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवानके सामने पड रही थी ॥ ३५ ॥ भगवानके समीप ही महा अशोक वृक्ष था जिसके मरकतमणियोंके बने हुये हरे पत्ते थे, मणियोंके बने हुये अनेक वर्णके फूल थे और वायुके द्वारा धीरे २ उसकी शाखायें हिल रहीं थीं ॥ ३६ ॥ उस अशोक वृक्षपर अनेक उन्मत्त भ्रमर मधुर गुंजार शब्द कर रहे थे, कोयलें भी मधुर शब्दोंसे बोल रहीं थीं जिनसे सब दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ वह अशोक ऐसा जान पडता था मानों भगवानकी स्तुति ही कर रहा हो ॥ ३७ ॥ वह अशोकवृक्ष अपनी लंबी लंबी शाखारूपी भुजाओंके हिलनेसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके

द्व्यक्तमशोक. ॥ ३८ ॥ रेजेऽ शोकतरुरसौ रुधन् मार्गं व्योमचरमहेशाना । तन्वन्योजनविस्तृता: शाखा धुन्वन् शोकमयमदो ध्वांत ॥ ३९ ॥ सर्वा हरितो विटपैस्ततै समार्ष्टुमिवोद्यतधीरसौ । व्यापद्भिकचैः कुसुमोत्करै पुष्पोपहतिं विदधद् द्रुम ॥ ४० ॥ वज्रमूलमिद्धरत्नबुध्न सज्जपाभरत्नचित्रसून । मत्तकोकिलालिसेव्यमेन चक्रुरग्र्यमत्रिप सुरेशाः ॥ ४१ ॥ छत्र धवल रुचिमत्कात्या चान्द्रीमजयद्रुचिरा लक्ष्मीं । त्रेधा रुरुचे शशभृन्नून सेवा विदधज्जगता पत्यु. ॥ ४२ ॥ छत्राकार दधदिव चान्द्र बिंब शुभ्र छत्रत्रितयमदो वाभासत् । मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वै श्रक्रे सुत्रामवचनतोऽसौ रैराट् ॥४३॥

सामने नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके सामने प्रत्यक्ष पुष्पांजलि ही समर्पण कर रहा हो ॥३८॥ आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकताहुआ, एक योजनतक अपनी लंबी शाखायें फैलाताहुआ और शोकरूपी अंधकारको नष्ट करताहुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ३९ ॥ उसकी शाखायें सब दिशाओंमें फैली हुई थीं, जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अपनी फैली हुई शाखाओंसे सब दिशाओंको साफ करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो, तथा उसके पुष्पोंके समूह फूल रहे थे जिनसे ऐसा जान पडता था मानों वह भगवानकेलिये पुष्पोंकी भेट समर्पण करताहुआ ही सबजगह व्याप्त हो रहा हो ॥ ४० ॥ इंद्रने वह वृक्ष सब वृक्षोंमें मुख्यवृक्ष बनाया था, उसकी जड वज्रकी बनी हुई थी, ऊपर दिखनेवाला मूलभाग देदीप्यमान रत्नोंका बनाहुआ था, जपापुष्पकी कांतिके समान पद्मरागमणियोंके अनेकप्रकारके पुष्प बने हुये थे तथा उन्मत्त कोयलें और भ्रमर उसपर गुंजार कर रहे थे ॥४१॥ जो अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर है तथा चंद्रमाकी मनोहर शोभाको भी जीत रहा है ऐसा सफेद छत्र भगवानके ऊपर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों चंद्रमा ही अपने तीन रूप धारणकर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥४२॥ वे सफेद तीनों छत्र ऐसे सुशोभित होते थे मानों चंद्रमाका मंडल ही छत्रका आकार धारण कर रहा हो, उस

रत्नैरनेकैः खचितं परार्ध्यैं रुद्यदिनेशश्रियमाहसद्भिः । छत्रत्रयं तद्रुरुचेऽतिवीध्रं चद्रार्कसंपर्कविनिर्मितं वा ॥ ४४ ॥ सन्मौक्तिकं वार्द्धिजलायमान सश्रीकमिंद्रद्युतिहारि हारि । छत्रत्रय तल्लसदिंद्रवज्र दध्रे परां कातिमुपेत्य नाथ ॥ ४५ ॥ किमेष हासस्तनुते जगच्छ्रियः किमु प्रभोरुल्लसितो यशोगुणः । उत स्मयो धर्मनृपस्य निर्मलो जगत्रयानदकरो नु चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥ इति प्रतर्कं जनतामनस्स्वदो वितन्वदिद्वातपवारणत्रय् । बभौ विभोर्मोहविनिर्जयार्जित यशोमयं विंबमिव त्रिधा स्थित ॥ ४७ ॥ पयःपयोधेरिव वीचिमाला प्रकीर्णकाना समितिः समंतात् । जिनेंद्रपर्यंतनिपेवियक्ष करोत्करैराविरभूद्विधूता

छत्रमें जो मोतियोंकी जाली लगी हुई थीं वे चंद्रमाकी किरणोंके समान जान पडती थीं इसप्रकार वह छत्र इंद्रकी आज्ञासे कुवेरने बनाया था ॥ ४३ ॥ वह छत्रत्रय उदय होते हुये सूर्यकी शोभाको और भी हँसनेवाले वहुमूल्य अनेक रत्नोंसे वना हुआ था तथा बहुत ही निर्मल था इसलिये ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सूर्य और चंद्रमाके परस्पर मिलनेसे ही वना हो ॥ ४४ ॥ उस छत्रमें बडे ही उत्तम मोती लगे हुये थे, वह क्षीरसागरके जलके समान जान पडता था, वहुत ही शोभायमान और मनोहर था, इंद्रकी कांतिको भी जीतता था और उसमें इंद्रनील मणि भी लगे हुये थे, ऐसा वह छत्रत्रय भगवानकी समीपता पाकर बडी ही उत्कृष्ट कांतिको धारण करता था ॥ ४५ ॥ क्या यह जगतकी लक्ष्मीका हास्य ही फैल रहा है, अथवा भगवानका प्रकाशमान यश रूपी गुण है, अथवा धर्मराजका निर्मल मंद हास्य है, अथवा तीनों लोकोंको आनंदित करनेवाला चंद्रमा है इसप्रकार लोगोंके मनमें तर्क वितर्क उत्पन्न करता हुआ तथा भारी आतापको भी दूर करनेवाला वह छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मोहरूपी शत्रुके जीत लेनेसे भगवानका जो यशरूपी मंडल इकट्ठा हुआ है वही अपने तीन रूप धारणकर वहां ठहरा हो ॥ ४६-४७ ॥ भगवानके समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके ऊपरको उठे हुये हाथोंके समूहोंसे जो चमरोंके समूह चारोंओर ढुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों क्षीरसागरकी लहरें ही हों ॥ ४८ ॥ अत्यंत निर्मल कांतिको धा-

॥ ४८ ॥ पीयूषशल्कैरिव निर्मितागी चान्द्रैरिवांशैर्घटिताऽमलश्रीः । जिनाङ्घ्रिपर्यंतमुपेत्य भेजे प्रकीर्णकाली गिरिनिर्झराभा ॥ ४९ ॥ जिनेंद्रमासेवितुमागतेयं दिवापगा स्यादिति तर्क्यमाणा । पंक्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः सलील परिवीजितानां ॥ ५० ॥ जैनी किमगद्युतिरुद्भवती किमिंदुभासां ततिरापतती । इति स्म शंकां तनुते पतंती सा चामराली शरदिंदुशुभ्रा ॥ ५१ ॥ सुधामलागी रुचिरा विरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसती । क्षीरोदफेनावलिरुच्चलंती मरुद्विधूतेव समिद्धकांतिः ॥ ५२ ॥ लक्ष्मीं परामाप परापतती शशांकपीयूषसमानकांतिः । सिषेविषुस्तं जिनमाव्रजंती पयोधिवेलेव सुचामराली

रण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पडता था मानों अमृतके टुकडेसे ही बना हो, अथवा चंद्रमाकी किरणोंसे ही बना हो तथा वही स्वच्छ चमरोंका समूह ऊपरसे पडता हुआ भगवानके चरणकमलोंके समीप पहुंचकर अथवा भगवानरूपी पर्वतके समीप पहुंचकर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों किसी पर्वतसे निर्झरना ही पड रहा हो ॥ ४९ ॥ जिसे यक्ष लोग लीलापूर्वक धीरे धीरे ढुरा रहे हैं ऐसी वह पवित्र चमरोंकी पंक्ति बडी ही सुशोभित हो रही थी तथा उसे देखकर लोग कल्पना करते थे कि भगवानकी सेवा करनेकेलिये अवश्य यह आकाशगंगा ही आई है ॥ ५० ॥ शरद ऋतुके चंद्रमाके समान अतिशय स्वच्छ ऐसी ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति लोगोंको ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवानके शरीरकी कांति ही प्रगट हो रही है अथवा चंद्रमाकी कांतिका समूह ही आ रहा है ॥ ५१ ॥ वह ढुरती हुई चमरोंकी पंक्ति अमृतके समान निर्मल शरीर और अतिशय कांतिको धारण करती थी, बडी ही प्रकाशमान और सुंदर थी इसलिये वह ऐसी जान पडती थी मानों क्षीरसागरके फेनकी पंक्ति ही हो ॥ ५२ ॥ अथवा ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति बडी उत्कृष्ट शोभाको धारण करती थी, चंद्रमाके वा अमृतके समान उसकी कांति थी और वह ऐसी जान पडतीथी मानों भगवानकी सेवा करनेकी इच्छासे समुद्रकी वेला ही आई हो ॥ ५३ ॥ क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं, अथवा भगवानका यश ही पड रहा है इसप्रकार

॥ ५३ ॥ पतंति हसाः किमु मेघमार्गोत्किमुत्पतंतीश्वरतो यशांसि । विशक्यमानानि सुरैरितीशः पेतुः समंतात्सितचामराणि ॥ ५४ ॥ यक्षैरुदक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः । न्यक्षेऽपि भर्तुर्विततावलक्षा तरगमालेव मरुद्भिरब्धेः ॥ ५५ ॥ जिनेंद्रभक्त्या सुरनिम्नगेव तद्व्याजमेत्यावरतः पतंती । सा निर्बभौ चामरपक्तिरुच्चै र्जोत्स्नेव भव्योरुकुमुद्वतीना ॥ ५६ ॥ इत्यात्ततोषैः स्फुरदक्षयक्षैः प्रवीज्यमानानि शशाकभासि । रेजुर्जगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्द्धां वितन्वंत्यथ चामराणि ॥ ५७ ॥ लसत्सुधाराशिविनिर्मलानि तान्यप्रमेयद्युतिकातिभाजि । विभोर्जगत्प्राभवमद्वितीयं शशसुरुच्चैश्चमरीरुहाणि ॥ ५८ ॥ लक्ष्मीसमालिंगितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिन्ह दधतो जिनेशः । प्रकीर्णकानाममितद्युतीना विज्ञाश्वतु.पष्टिमुदाहरति ॥ ५९ ॥ जिनेश्वराणाभिति चा-

---

जिन्हें देखकर देवलोग शंका करते थे ऐसे वे सफेद चमर भगवानके चारोंओर ढुराये जा रहे थे ॥ ५४ ॥ कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले ऐसे चतुर यक्ष लीलापूर्वक धीरे धीरे उन चमरोंको ऊंचेकी ओर उठाते थे उससमय भगवानके समीप पहुंचे हुये वे सफेद और विस्तीर्ण चमर ऐसे जान पडते थे मानों वायुके द्वारा उठाहुआ समुद्रकी लहरोंका समूह ही हो ॥ ५५ ॥ अथवा वह ऊंची चमरोंकी पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित होती थी मानों उन चमरोंके बहानेसे भगवानकी भक्तिसे आकाश गंगा ही आकाशसे उतर रही हो, अथवा भव्यरूपी बडी बडी कमोदिनियोंको प्रसन्न करनेकेलिये चांदनी ही खिल रही हो ॥५६॥ इसप्रकार जिन्हें अत्यंत आनंद प्राप्त हो रहा है और जिनके सुंदर नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्ष चंद्रमाके कांतिकी समान दैदीप्यमान जिन चमरोंको ढुरा रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके गुणसमूहोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ॥५७॥ अथवा सुंदर अमृतकी राशिके समान अत्यंत निर्मल तथा अपार तेज और कांतिको धारण करनेवाले वे उत्कृष्ट चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके अद्वितीय (सबसे उत्कृष्ट) जगतके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहे हों ॥ ५८ ॥ जिनका वक्षःस्थल अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आलिंगित है और जो श्रीवृक्षके चिन्हसे सुशोभित हैं ऐसे भगवानके अपारकांतिको धारण करनेवाले चमरोंकी

मराणि प्रकीर्तितानीह सनातनाना । अर्धार्धमानानि भवंति तानि चक्रेश्वराद्यावदसौ सुराजा ॥ ६० ॥ सुरदुंदुभयो मधुरध्वनयो निनदंति तदा स्म नभोविवरे । जलदागमशंकिभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः ॥ ६१ ॥ पणवैस्तुणवै कलमद्ररुतै. सह काहलशंखमहापटहै. । ध्वनिरुत्ससृजे ककुभा विवर मुखर विदधत्पिदधच्च नभः ॥ ६२ ॥ घनकोणहताः सुरपाणिविकैः कुपिता इव ते द्युसदा पटहा । ध्वनिमुत्ससृजुः किमहो वठराः परिताडयथेति विसृष्टगिर. ॥६३॥ ध्वनिरबुमुचा किमय स्फुरति क्षुभितोऽब्धिरुत स्फुरदूर्मिरवः । कृततर्कमिति प्रसरन्जयतात् सुरतूर्य वो जिनभर्तुरसौ ॥६४॥

संख्या विद्वान लोगोंने चौंसठ बतलाई है ॥ ५९ ॥ सनातन भगवान अरहंतदेवके जो चमरोंकी चौंसठ संख्या कही है उससे चक्रवर्तीके चमरोंकी संख्या आधी अर्थात् बत्तीस होती है तथा इसीप्रकार राजा पर्यंत आधी आधी संख्या लेनी चाहिये। भावार्थ—जिनेंद्रदेवके चौंसठ, चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रीके सोलह, मंडलेश्वरपर आठ, अर्द्धमंडलेश्वरपर चार, महाराजपर दो और राजापर एक चमर ढुरता है ॥ ६० ॥ इसीप्रकार उससमय मधुर शब्द करते हुये देवोंके दुंदुभी आकाशमें बजाये जा रहे थे जिन्हें बादलकी शंका करते हुये उन्मत्त मयूर बडे आदरसे देख रहे थे ॥ ६१ ॥ मधुर शब्द करते हुये पणव, तुणव, काहल, शंख, नगाडे आदि अनेक वाजोंके शब्द समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये और आकाशको आच्छादित करते हुये सब जगह फैल रहे थे ॥ ६२ ॥ बजानेवाले देवोंके मजबूत दंडेसे ताडित हुये नगाडे जो शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों वे क्रोधित होकर देवोंको स्पष्ट शब्दोंसे यही कह रहे हों कि अरे दुष्ट हो तुम लोग जोर जोरसे क्यों मारते हो ॥ ६३ ॥ क्या यह बादल गरज रहे हैं, अथवा समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है, अथवा समुद्रकी बडी २ लहरोंकी आवाज है इसप्रकार तर्क वितर्क उत्पन्न करते हुये भगवानके देवोंके द्वारा बजाये हुये नगाडोंकी आवाज सदा जय रूप हो अर्थात् सदा जय वंती हो ॥ ६४ ॥ सुर असुर और मनुष्य तिर्यंचोंसे भरी हुई वह समवसरणकी भूमि भगवानके शरीरसे उत्पन्न हुई और चारोंओर फैली

प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवादिसृतेः । रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजना किमथाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः ॥ ६५ ॥ तरुणार्करुचिं नु तिरो दधती सुरकोटिमहांसि नु निर्ढुनती । जगदेकमहोदयमासृजती प्रथते स्म तदा जिनदेहरुचिः ॥ ६६ ॥ जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददृशुः । स्वभवातरसप्तकमात्तमुदो जगतो बहुमंगलदर्पणके ॥ ६७ ॥ विधुमाशु विलोक्य नु विश्वसृजो गतमातपवारणता त्रितयीं । रविरिद्धवपुः स पुराणकविं समशिश्रियदंगविभानिभतः ॥ ६८ ॥ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत् । भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽ-

---

हुई कांतिसे अर्थात् प्रभामंडलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी, सो ठीक ही है क्योंकि भगवानका इतना बडा तेज है उसमें विशेष आश्चर्यकी बात क्या है ॥ ६५ ॥ उससमय वह भगवानके शरीरकी कांति (प्रभामंडल) दोपहरके अति तेजस्वी सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार कर रही थी, करोडों देवताओंके प्रतापको प्रक्षालित कर रही थी वा धो रही थी अर्थात् तुच्छ कर रही थी और जगतको सबसे अधिक प्रकाशमान कर रही थी, इसप्रकारकी वह कांति चारोंओर फैल रही थी ॥ ६६ ॥ अमृतसे भरे हुये समुद्रके समान निर्मल और जगतको अनेक मंगल करनेवाले दर्पणके समान ऐसे भगवानके शरीरके प्रभामंडलमें सुर असुर और मनुष्य लोग अतिशय प्रसन्न होकर अपने अपने सात भव देखते थे ॥ ६७ ॥ चंद्रमा तीनों छत्रोंका रूप धारण कर भगवानकी सेवा करनेकेलिये बहुत शीघ्र आगया है उसे देखकर अतिशय प्रकाशमान सूर्य भी भगवानके शरीरके प्रभामंडलके बहानेसे पुराण कवि भगवान वृषभदेवकी सेवा करने लगा था, भावार्थ—वह प्रभामंडल सूर्यके समान जान पडता था ॥ ६८ ॥ भगवानके मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाके समान अनेक अतिशय युक्त महा दिव्यध्वनि निकल रही थी और जिसप्रकार अंधकारको नाश करता हुआ सूर्य दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार भव्य जीवोंके मनके मोहरूपी अंधकारको नाश करती हुई वह दिव्यध्वनि भी दैदीप्यमान हो रही थी ॥ ६९ ॥ यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि उसमें सब देव

रि: ॥ ६९ ॥ एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽतरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः । अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ ७० ॥ एकतयोऽपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् । पात्रविशेषवशाच्च तथाऽस्य सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्व ॥ ७१ ॥ एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभास । स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥ ७२ ॥ देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् । साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥ ७३ ॥ इत्थभूता देवराड्विश्वभर्तुर्भक्त्या देवै. कारयामास भूतिं । दिव्यास्थानीं

और मनुष्योंकी भाषायें तथा अनेक प्रकारकी कुभाषायें अर्थात् पशुओंकी भाषायें भी अंतर्भूत होती थीं, वह दिव्यध्वनि भगवानके प्रभावसे समस्त जीवोंका अज्ञान दूरकर सबको जीवादि तत्त्वोंका बोध कराती थी ॥ ७० ॥ जिसप्रकार बादलोंका एकसा पानी भी वृक्षोंके भेदसे अनेक रसरूप हो जाता है उसीप्रकार सर्वज्ञदेवकी वह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके अनेक भेद होनेसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥ ७१ ॥ अथवा जिसप्रकार स्फटिकमणि एक ही प्रकारका होता है तथापि वह अतिशय स्वच्छ होनेसे जपाकुसुम आदि उपाधियोंके भेदसे अनेक रंगोंको धारण करता है, उसीप्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि भी श्रोताओंके भेदसे अनेकप्रकारकी हो जाती है ॥ ७२ ॥ कोई कोई ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंकी की हुई है भगवानकी नहीं है परंतु यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि यदि दिव्यध्वनि होना देवोंका अतिशय मानलिया जायगा तो भगवानके इस गुणका घात ही हो जायगा इसलिये वह दिव्यध्वनि भगवानकी ही होती है। दूसरे कोई कोई यह बात कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है परंतु उनका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संसारमें वर्णसमूहोंके विना कभी अर्थज्ञान नहीं होता है अर्थात् शब्दोंसे ही पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है, दिव्यध्वनिसे भी पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये वह भी (शक्तिरूपसे) अक्षरात्मक ही है ॥७३॥ इसप्रकार भगवानकी वह बाह्य विभूति इंद्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे कराई थी, सब इंद्रोंके द्वारा पूज्य ऐसे उस समव-

देवराजोपसेव्यामध्यास्तैना श्रीपतिर्विश्वदृश्वा ॥ ७४ ॥ देवः साक्षात्सकल वस्तुतत्त्व विद्वान्विद्वज्जनतावदिताघ्रि. । हैमं पीठ हरिभिर्व्यात्तवक्त्रैरूढ भेजे जगता बोधनाय ॥ ७५ ॥ दृष्ट्वा देवा. समवसृतिमहीं चक्रुर्भक्त्या परिगतिमुचिता । त्रि.सम्राता प्रमुदितमनसो देव द्रष्टु विविशुरथ सभा ॥ ७६ ॥ व्योममार्गपरिरोधिकेतनै. सम्मिमार्जिषुमिवाखिल नभ. । धूलिसालवलयेन वेष्टिता सततामरधनुर्वृतामिव ॥ ७७ ॥ स्तभशब्दपरमानवाग्मितान् या स्म धारयति खाग्रलघिन. । स्वर्गलोकमिव सेवितु विभु व्याजुहूपुरमलाग्रकेतुभिः ॥ ७८ ॥ स्वच्छवारिशिशिराः सरसीश्च याऽविभर्विकसितोत्पलनेत्रा. ।

सरणमें सब लोकालोकको जाननेवाले भगवान वृषभदेव विराजमान थे ॥ ७४ ॥ गणधर आदि अनेक विद्वानलोग जिनके चरणकमलोंकी बंदना करते हैं तथा जो जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंको प्रत्यक्ष जानते हैं ऐसे वे वृषभदेव भगवान जगतके जीवोंको उपदेश देनेकेलिये मुंह फाडे हुये सिंहोंके द्वारा धारण किये हुये सुवर्णके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ ७५ ॥ इसप्रकार समवसरणकी भूमिको देखकर देवलोग बहुत ही प्रसन्न हुये तथा उन्होंने भक्ति पूर्वक तीनवार चारोंओर फिरकर योग्य रीतिसे तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर भगवानको देखनेकेलिये सभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ७६ ॥उस समवसरणकी भूमिमें जो आकाशमार्गको रोकनेवालीं ध्वजायें लगी हुई थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों समस्त आकाशको साफ करना ही चाहती हो, तथा वह जो गोल धूलिसालसे घिरी हुई थी इसलिये ऐसी जान पडती थी मानों वह सदा इंद्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥ ७७ ॥ उसी समवसरणकी भूमिमें आकाशको उल्लंघन करनेवाले चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, तथा उन मानस्तंभोंपर जो निर्मल ऊंची ध्वजायें लग रहीं थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये (मानस्तंभरूपी हाथ उठाकर) स्वर्गलोकको ही बुला रही हो ॥ ७८ ॥ जिनमें कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं और स्वच्छ तथा शीतल जल भरा हुआ है ऐसी अनेक सरोवरियां सुशोभित हो रहीं थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों उस भूमिने जन्ममरण

द्रष्टुमीशमसुरातकमुच्चै नैंत्रपंक्तिमिव संघटयती ॥ ७९ ॥ खातिका जलविहगविरावै रुन्नतैश्च विनतोर्मिकरौघै । या दधे जिनमुपासितुमिंद्रानाजुहूपुरिव निर्मलतोया ॥ ८० ॥ बहुविधनवलतिकाकात मदमधुकरविरुतातोद्य । वनमुपवहति च वल्लीना स्मितमिव कुसुमाचित या स्म ॥ ८१ ॥ सालमाद्यमुच्च-गोपुरोद्गम सविभर्ति भासुर स्म हैमन । हैमनार्कसौम्यदीतिमुन्नतिं भर्तुरक्षरैर्विनेव या प्रदर्शिका ॥ ८२ ॥ शरद्घनसमश्रियौ नर्तकी तडिद्विलासिते नृते शालिके । दधाति रुचिरे स्म योपासितु जिनेंद्रमिव भक्तिसभाविता ॥ ८३ ॥ घटीद्वयद्वद्वमुपात्तधूपक बभार या द्विस्तनयुग्मसान्निभ । जिनस्य भूत्यै श्रत-

---

नाशकरनेवाले भगवानको देखनेकेलिये बडी बडी नेत्रोंकी पंक्तियां ही धारण की हों ॥७९॥ उस भूमिमें जो निर्मल जलसे भरी हुई खाई सुशोभित हो रही थी उसपर जलचर जीव मधुर शब्द कर रहे थे और बडी २ ऊंची लहरें उठ रहीं थीं जिनसे वह खाई ऐसी जान पडती थी मानों लहरेंरूपी बडे २ अनेक ऊंचे हाथोंको उठाकर और पक्षियोंके द्वारा शब्द करती हुई भगवानकी सेवा करनेकेलिये इंद्रोंको ही बुला रही हो ॥८०॥ उस भूमिमें जो लतावन थे वे अनेकप्रकारकी लताओंसे मनोहर थे, उन्मत भ्रमरोंके मधुर शब्द ही उसमें वाजे बज रहे थे और फूले हुये फूलोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों धीरे २ हँस रही ही हो ॥ ८१ ॥ उस भूमिमें जो पहिला कोट सुशोभित हो रहा था वह सुवर्णका बना हुआ था, बहुत ऊंचा था और चार उसके बडे २ दरवाजे थे, उस कोटसे वह समवसरणकी भूमि ऐसी जान पडती थी मानों अक्षरोंके विना ही हिमऋतुके सूर्यकी कांतिके समान भगवानकी अतिशय सौम्य कांतिको दिखला रही हो ॥ ८२ ॥ सब दरवाजोंके दोनोंओर जो नाट्यशालायें थीं वे शरदऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ थीं और उनमें नृत्य करनेवाली देवांगनायें बिजलीके समान जान पडती थीं, उन मनोहर नाट्यशालाओंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने भक्ति पूवर्क भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही यह सब धारण किया हो ॥ ८३ ॥ नाट्यशालाओंके आगे जो दो दो धूपघट थे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये तीनों लोकों-

देवता स्वय तथास्थितेव त्रिजगच्छ्रिया सम ॥ ८४ ॥ रम्यं वनं भृगसमूहसेवितं बभ्रे चतु.सद्यमुपात्तकांतिकं । वासो विनीलं परिधाय तन्निभाद्वरेण्य-माराधयितु स्थितेव या ॥ ८५ ॥ उपवनसरसीना बालपद्मै र्द्युयुवतिमुखशोभामाहसती । अधृत च वनवेदी रत्नदीप्रा युवतिरिव काटिस्था मेखला या ॥ ८६ ॥ ध्वजाबरतताम्बरैः परिगता यका ध्वजनिवेशनैर्दशतयै. । जिनस्य महिमानमार्चयितु नभोऽगणमिवामृजत्यतिविभौ ॥ ८७ ॥ खमिव सतार कुसुमाढ्य या वनमतिरम्यं सुरभूजाना । सह वनवेद्या परितःसालाद्व्यरुचदिवोढ्वा सुकृताराम ॥ ८८ ॥ अधृत च याऽसमात्परतो दीप्त स्फुरदुरुरत्नं भ-

---

की लक्ष्मीके साथ साथ स्वयं सरस्वती देवी ही बैठी हो और उसीके दोनों कुचोंके समान वे धूपघट हों ॥ ८४ ॥ धूपघडोंके आगे चार मनोहर बन सुशोभित हो रहे थे, वे बन आतिशय दैदीप्यमान थे और उसमें भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे, उन वनोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों वनोंके बहानेसे नीला वस्त्र पहन कर सर्वश्रेष्ठ भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही खडी हो ॥ ८५ ॥ जिसप्रकार स्त्रियां कटिभागपर करधनी धारण करती हैं उसीप्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुये छोटे २ कमलोंके द्वारा स्वर्गरूपी स्त्रीके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह भूमि अनेक प्रकारके रत्नोंसे दैदीप्यमान ऐसी बनकी वेदिकाको धारण करती थी, भावार्थ—वह वनवेदिका उस समवसरणकी भूमिकी करधनीके समान सुशोभित थी ॥ ८६ ॥ बनवेदिकाके आगे उस भूमिमें दश प्रकारकी ध्वजायें फहरा रही थीं तथा उन ध्वजाओंके हिलते हुये वडे २ वस्त्रोंसे वह भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानकी महिमा स्थापन करनेकेलिये आकाशको साफ ही कर रही हो ॥ ८७ ॥ ध्वजाओंके बाद द्वितीय कोट था, द्वितीय कोटके चारोंओर वनवेदिका सहित कल्पवृक्षोंका अत्यंत मनोहर बन था, उसमें फूल खिल रहे थे जिससे वह तारे सहित आकाशके समान जान पडता था, इसप्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस बनको धारण करती हुई वह समवसरणकी भूमि बडी ही सुशोभित हो रही थी ॥ ८८ ॥ उस बनके बाद उस भूमिमं अनेक बडे २ रत्नोंसे प्रकाशमान और दै-

वनाभोग । मणिमयदेहान्नव च स्तूपान् भुवनविजित्या इव बद्धेच्छा ॥ ८९ ॥ स्फटिकमयं या रुचिर साल प्रावैततमूर्तीः खमणिसुभित्तीः । उपरितन च त्रिजगद्दाहि व्यधृत परार्ध्यं सदन लक्ष्म्याः ॥ ९० ॥ समं देववर्यैः परार्ध्योरुशोभा प्रपश्यंस्तथैना मही विस्मिताक्ष. । प्रविष्टो महेद्रः प्रणष्टप्रमोहं ।जिन द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥ ९१ ॥ अथापश्यदुच्चैर्ज्वलत्पीठमूर्ध्नि स्थित देवदेव चतुर्वक्त्रशोभ । सुरेंद्रैर्नरेंद्रैर्मुनींद्रैश्च वद्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्य ॥ ९२ ॥ शरच्चद्रबिंबप्रतिस्पर्धिवक्त्र शरज्ज्योत्स्नयेव स्वकात्याऽतिकात । नवोत्फुल्लनीलाब्जसशोभि नेत्र सर. साब्जनीलोत्पलं व्याहसंत ॥ ९३ ॥ ज्वल-

दीप्यमान अनेक मकान थे तथा अनेक प्रकारके मणियोंसे बने हुये नौ स्तूप थे, उन मकान और स्तूपोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने जगतको जीतनेकेलिये ही अपनी इच्छा प्रगट की हो ॥ ८९ ॥ उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ बहुत सुंदर कोट था जो कि बहुत बडा था और आकाशके समान स्फटिक मणियोंकी बनी हुई उसकी दीवालें थीं, तथा उसी तृतीय कोटके ऊपर तीनों जगतको अवकाश देनेवाला बहुमूल्य लक्ष्मीमंडप (श्रीमंडप) बना हुआ था वह पृथ्वी इस सब शोभासे भी सुशोभित हो रही थी, (ऐसी उस समवसरणकी भूमिकी प्रदक्षिणा देकर इंद्रने भीतर प्रवेश किया) ॥ ९० ॥

अथानंतर—इसप्रकार अत्यंत उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरणकी भूमिको देखते हुये तथा आश्चर्य सहित नेत्रोंको धारण करते हुये सौधर्मस्वर्गके इंद्रने मोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवके देखनेकेलिये बडी विभूतिके साथ उस समोसरणमें प्रवेश किया ॥ ९१ ॥ वहां जाकर इंद्रने अतिशय दैदीप्यमान पीठिकाके ऊपर विराजमान देवाधिदेव भगवान वृषभदेवके दर्शन किये, उससमय चारों दिशाओंमें भगवानके चार मुख सुशोभित हो रहे थे, सुरेंद्र नरेंद्र और मुनींद्र सब उनकी वंदना करते थे, वे मोक्षमार्गरूप सृष्टिके प्रधान कारण थे और पापरूप सृष्टिके संहार करनेके कारण थे ॥ ९२ ॥ उनका मुख शरद ऋतुके चंद्रमाके समान था, शरद ऋतुकी चांद-

द्धासुरागं स्फुरद्भानुबिंबप्रतिद्वंद्विदेहप्रभाब्धौ निमग्नं । समुत्तुंगकायं सुराराधनीयं महामेरुकल्पं सुचामीकराभ ॥ ९४ ॥ विशालोरुवक्षस्स्थलस्थात्मलक्ष्म्या जगद्भर्तृभूयं विनोक्त्या ब्रुवाण । निराहार्यवेष निरस्तोरुभूष निरक्षावबोधं निरुद्धात्मरोध ॥९५॥ सहस्रांशुदीप्तप्रभामध्यभाज चलच्चामरोघैः सुरैर्वीज्यमानं । ध्वनद्दुंदुभिध्वाननिर्घोषरम्य चलद्वीचिवेल पयोब्धे यथैव ॥ ९६ ॥ सुरोन्मुक्तपुष्पैस्ततप्रातदेश महाशोकवृक्षाश्रितोत्तुंगमूर्ति । स्वकल्पद्रुमोद्यानमुक्तप्रसूनै

नीके समान अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर था, उनके नेत्र नवीन प्रफुल्लित हुये नीलकमलके समान सुशोभित थे और उन नेत्रोंसे वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों सुवर्णकमल और नीलकमल सहित सरोवरकी ओर हँस रहे ही-हों ॥ ९३ ॥ उनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और दैदीप्यमान था, और वह दैदीप्यमान सूर्यकांतमणिके समान शरीरकी कांति अर्थात् प्रभामंडलरूपी समुद्रमें डूबा हुआ था, उत्तम सुवर्णके समान उनका शरीर अत्यंत ऊंचा था और देव भी उसकी आराधना करते थे इसलिये वे भगवान ठीक महामेरुके समान जान पडते थे ॥ ९४ ॥ उनके विशाल और बडे वक्षःस्थलपर जो अनंत चतुष्टय स्वरूप आत्मलक्ष्मी सुशोभित हो रही थी उससे वे भगवान बिना ही बचनोंके अपने तीनों जगतके स्वामीपनेको प्रगट कर रहे थे, इसके सिवाय वे भगवान कवलाहार ग्रहण नहीं करते थे, वस्त्राभूषण रहित थे, इंद्रियोंसे होनेवाला ज्ञान उनके नहीं था अर्थात् उनके दिव्य केवल ज्ञान था और वे ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे सर्वथा रहित थे ॥ ९५ ॥ वे भगवान सूर्यके समान दैदीप्यमान प्रभामंडलके मध्यमें विराजमान थे, देव लोग अनेक चमर उनपर दुरा रहे थे, दुंदुभियोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिससे भगवानकी शोभा और भी बढ गई थी तथा दुंदुभीके शब्द और चमरोंसे वह स्थान ऐसा जान पडता था मानों उठती हुई लहरों सहित गरजता हुआ समुद्र ही हो ॥ ९६ ॥ उनका समीपभाग देवोंके द्वारा-वरसाये हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान हो रहा था और उनका ऊंचा शरीर महा अशोक वृक्षके नीचे विराजमान था इसलिये उस स-

स्ततात सुराद्रिं रुचा न्हेपयत ॥ ९७ ॥ प्रविस्तारिशुभ्रातपत्रत्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनातताशुस्थितेन । समाहास्यमैश्वर्यमुग्रयशश्च स्फुटीकर्तुमीशं तमीशानमाद्य ॥ ९८ ॥ प्रदस्याथ दूरान्नतस्वोत्तमागा' सुरेंद्रा' प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु । किरीटाग्रभाजा स्रजा मालिकाभि जिनेंद्राङ्घ्रियुग्म स्फुट प्रार्चयन्त ॥ ९९ ॥ तदार्हत्प्रणामे समुत्फुल्लनेत्राः सुरेंद्रा विरेजु. शुचिस्मेरवक्का । सम वा सरोभि सपद्मोत्पलै स्वै कुलक्ष्मावरेंद्रा सुराद्रि भजत. ॥ १०० ॥ शची चाप्सरोशेषदेवीसमेता जिनाङ्घ्रयो. प्रणाम चकारार्चयन्ती । स्ववक्त्रोत्पलै स्वनेत्रोत्पलैश्च प्रसन्नैश्च भावप्रसूनैरनूनै ॥ १०१ ॥ जिनस्याङ्घ्रिपद्मौ नखांशुप्रतानै'

मय वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों कल्पवृक्षोंके वनोंमेंसे पुष्पोंके समूह जिसके समीप फैले हों ऐसे मेरु पर्वतको भी अपनी कांतिसे लज्जित कर रहे हों ॥ ९७ ॥ अतिशय विशाल और मोतियोंसे दैदीप्यमान ऐसे सफेद तीन छत्र आकाशमें लटक रहे थे जिनसे उनकी महिमा ऐश्वर्य और यश प्रगट हो रहा था, इसप्रकार अपना ऐश्वर्य प्रगट करते हुये वे प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् विराजमान थे ॥ ९८ ॥ उनको दूरसे ही देखकर इंद्रोंने अपने घोंटू पृथ्वीपर टेककर और अपना मस्तक नवाकर प्रणाम किया- प्रणाम करतेसमय वे इंद्र ऐसे जान पडते थे मानों अपने मुकुटपर लगी हुई मालाओंकी किरणोंसे भगवानके दोनों चरणकमलोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥ उन अरहंत भगवानको प्रणाम करते समय इंद्रोंके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे और उनके पवित्र मुखोंपर प्रसन्नतासे कुछ कुछ हंसी आ रही थी, इसलिये वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनमें कमल खिल रहे हैं ऐसे अपने अपने सरोवरोंके साथ साथ कुलपर्वत ही मेरु पर्वतकी सेवा कर रहे हों ॥ १०० ॥ उससमय अनेक अप्सरा और देवियोंके साथ २ शची इंद्रानीने भी भगवानके चरणकमलोंको प्रणाम किया था, उससमय वह इंद्रानी ऐसी जान पडती थी मानों अपने मुखरूपी कमलोंसे नेत्ररूपी नील कमलोंसे और शुद्ध परिणामरूपी अनेक पुष्पोंसे भगवानकी पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥ भगवानके दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरण समूहोंके द्वारा देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्प-

सुरानास्पृशतौ समेत्याधिमूर्द्धं। स्रजाम्लानमूर्त्या स्वगेषां पवित्रा शिरःस्वर्पितातामिवानुग्रहीतु ॥१०२॥ जिनेंद्राघ्रिभासा पवित्रीकृत ते स्वमूद्ध सुरेंद्रा प्रणम्यातिभक्त्या। नखांशुप्रतानाद्युलब्धाभिषेक समुत्तुंगमत्युत्तम चोत्तमांग ॥१०३॥ नखांशूत्करव्याजमव्याजशोभ पुलोमात्मजा साप्सरा भक्तिनम्रा। स्तनोपातलग्न समूहेऽशुकात प्रहासायमानं लसन्मुक्तिलक्ष्म्याः ॥ १०४ ॥ प्रणामक्षणे ते सुरेंद्रा विरेजु स्वदेवीसमेता ज्वलद्भूषणांगाः। महाकल्पवृक्षा' सम कल्पवल्लीसमित्येव भक्त्या जिन सेवमानाः ॥ १०५ ॥ ॥ अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेंद्राः स्वहस्तै जिनस्याघ्रिपूजा प्रचक्रु प्रतीता । सुगन्धै' समाल्यै स-

---

र्श करते थे और उससमय ऐसे जान पडते थे मानों देवोंकी मलिन न होनेवाली मालाके वहानेसे उनपर अनुग्रह करते हुये उनके मस्तकपर पवित्र शेषाक्षत (सिद्ध शेष) ही अर्पण कर रहे हों ॥ १०२ ॥ इंद्र जिससमय भक्तिपूर्वक भगवानको प्रणाम करते थे उससमय वे अपने ऊंचे और उत्तम मस्तकको भगवानके चरणकमलोंकी कांतिसे अतिशय पवित्र मानते थे और नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे अभिषेक किये हुयेके समान मानते थे ॥ १०३ ॥ इंद्रानी भी जिससमय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उससमय दैदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्कट हास्यके समान और स्वभावसे ही सुंदर ऐसा भगवानके चरणोंके नखोंकी किरणोंका समूह इंद्रानीके स्तनोंके समीपभागमें पड रहा था और वह ऐसा जान पडता था मानों स्तनोंपरका सुंदर वस्त्र (कांचली) ही हो ॥ १०४ ॥ उससमय प्रकाशमान आभूषणोंसे सुशोभित ऐसे इंद्र अपनी अपनी इंद्रानियों सहित भगवानको नमस्कार कर रहे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनपर कल्पलतायें चढी हुई हैं ऐसे महाकल्पवृक्ष ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा कर रहे हों ॥ १०५ ॥

अथानंतर—इंद्र वडे हर्षित होकर उठे और उन्होंने संतुष्ट होकर अपने हाथसे गंध, पुष्पमाल, धूप, दीप, दिव्य अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिंडोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १०६ ॥ भगवानके सामनेकी भूमि रंगावलीसे (रंगकी वनी हुई रेखायें वा चौकसे) सुशोभित हो रही थी

धूपै. सदीपैः सदिव्याक्षतै. प्राज्यपीयूषपिंडै ॥ १०६ ॥ पुरो रंगवल्या तते भूमिभागे सुरेंद्रोपनीता बभौ सा सपर्या । शुचिद्रव्यसंपत्समस्तेव भर्तु. पदोपास्तिमिच्छुः श्रिता तच्छलेन ॥ १०७ ॥ शचीरत्नचूर्णैर्बलिं भर्तुरग्रे ततानोन्मयूखप्ररोहैर्विचित्रा । मृदुस्निग्धसूक्ष्मैरनेकप्रकारैः सुरेंद्रायुधानामिव श्लक्ष्णचूर्णै. ॥ १०८ ॥ ततो नीरधारा शुचिं स्वानुकारा लसद्रत्नभृंगारनालस्रुता ता । निजा स्वांतवृत्तिं प्रसन्नामिवाच्छा जिनोपान्ति संपातयामास भक्त्या ॥ १०९ ॥ स्वरुद्भूतगंधै. सुगंधीकृताशै भ्रमद्भृंगमालाकृतारावहृद्यै. । निनाय्री स्मरंती विभो पादपीठं समानर्च भक्त्या तदा शक्रपत्नी ॥ ११० ॥ व्यधान्मौक्तिकौघैर्विभोस्तंदुलेज्या स्वचित्तप्रसादैरिव स्वच्छभाभि । तथाऽम्लानमंदारमालाशतैश्च प्रभोः पादपूजामकार्षीत्प्रहर्षात् ॥ १११ ॥ ततो रत्नदी-

---

तथा उसपर इंद्रके द्वारा लाई हुई पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों उस सामग्रीके वहानेसे संसारकी समस्त पवित्र द्रव्यरूपी संपत्तियां भगवानके चरणकमलोंकी सेवा करनेकी इच्छासे ही वहां आई हों ॥ १०७ ॥ इंद्रानीने भगवानके सामने कोमल चिकने और सूक्ष्म ऐसे अनेकप्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मंडलकी रचना की थी, उन रत्नोंके चूर्णसे किरणोंके अंकूरे निकल रहे थे जिनसे वह मंडल वडा ही विचित्र जान पडता था तथा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वह इंद्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही वना हो ॥ १०८ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिपूर्वक भगवानके चरणकमलोंके समीपमें दैदीप्यमान रत्नोंके भृंगार [झारी) के नालसे निकलती हुई पवित्र जलकी धारा अर्पण की, वह जलकी धारा इंद्रानीके समान ही पवित्र थी और इंद्रानीके शुद्ध अंतःकरणके समान निर्मल थी ॥ १०९ ॥ उसीसमय इंद्रानीने भगवानके दोनों चरणकमलोंका स्मरण करते हुये भक्तिपूर्वक जिस गंधकी सुगंधिसे सव दिशायें सुगंधित हो रही हैं और जिसपर फिरते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसी स्वर्गकी सुगंधित गंधसे [चंदनसे] भगवानके सिंहासनकी पूजा की ॥ ११० ॥ इसीप्रकार अपने चित्तकी प्रसन्नताके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवानकी अक्षतसे होनेवाली पूजा की, तथा हर्षित होकर प्रफुल्लित कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे वनी हुई

वैर्जिनांगद्युतीनां प्रसर्पेण मंदीकृतात्मप्रकाशैः । जिनार्कं शची प्रार्चिचद्भक्तिनिघ्ना न भक्ता हि युक्त विदंत्यप्ययुक्तं ॥ ११२ ॥ ददौ धूपमिद्धं च पीयूषपिंड महास्थालसंस्थ ज्वलद्दीपदीप्र । सतारं शशाकं समाश्लिष्टराहु जिनाङ्घ्र्यब्जयोर्वा समीप प्रपन्नं ॥ ११३ ॥ फलैरप्यनल्पैस्ततामोदहृद्यैर्ध्वनद्भृगयूथैरुपासेव्यमानैः । जिनं गातुकामैरिवातिप्रमोदात् फलायार्चयामास सुत्रामजाया ॥ ११४ ॥ इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितोऽर्हन् किमेभिस्तु कृत्य कृतार्थस्य भर्तुः । विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि वाऽसौ फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजेति ॥ ११५ ॥ अथोच्चैः सुरेशा गिरामीशितार जिन स्तोतुकामाः प्रहृष्टां-

---

सैकडों मालाओंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १११ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिवश होकर भगवानके शरीरकी फैलती हुई कांतिसे जिनका प्रकाश मंद पडगया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा की, सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुषोंको योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहीं रहता है, भावार्थ—यद्यपि जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकसे करना अयोग्य है तथापि इंद्रानीने केवल भक्तिसे ही की थी ॥ ११२॥ तदनंतर इंद्रानीने धूपसे पूजा की तथा जलते हुये अनेक दीपकोंसे देदीप्यमान और बडेभारी थालमें रक्खा हुआ अमृतका पिंड भगवानके चरणकमलोंमें समर्पण किया, वह थालमें रक्खा हुआ और दीपकोंसे शोभायमान अमृतका पिंड ऐसा जान पडता था मानों राहुसे ढका हुआ और तारों सहित चंद्रमा ही भगवानके चरण कमलोंके समीप आया हो ॥११३॥ तदनंतर जिनकी मनोहर सुगंध चारोंओर फैल रही है और जिनपर बैठे हुये तथा मधुर गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों हर्षसे भगवानका यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंसे इंद्रानीने मोक्षफल प्राप्त होनेकेलिये भगवानकी पूजा की ॥ ११४ ॥ इसप्रकार देवोंने अपनी भक्तिसे अरहंत भगवानकी पूजा की । यद्यपि वे भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें इस पूजासे कुछ प्रयोजन नहीं है, वे भगवान वीतराग हैं, न तो पूजा आदिसे कुछ प्रसन्न होते हैं और न किसीसे द्वेष ही करते हैं तथापि भक्तपुरुषोंको पूजाका फल मिल ही जाता है यह एक आश्चर्यकी वात है ॥ ११५ ॥

तरगा । वचम्सूनमालामिमा चित्रवर्णां समुच्चिक्षिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्वे ॥ ११६ ॥ जिननायसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यता स्म गुणरत्ननिधे । विधियोऽपि मदवचसोऽपि ननु त्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफल ॥ ११७ ॥ मतिशक्तिसारकृतवाग्विभवास्त्वयि भक्तिमेव वयमातनुम । अमृताम्बुधेर्जलमठ न पुमान्निखिल प्रपातुमिति किं न पिवेत् ॥ ११८ ॥ क वय जडा. क च गुणाम्बुनिधिस्तव देव पाररहित परम । इति जानतोऽपि जिन सप्रति नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुरुते ॥ ११९ ॥ गणभृद्भिरप्यगणितानणूनतव सद्गुणान्वयमभिष्टुमहे । किञ्च चित्रमेतदथवा प्रभुता तव सश्रित किमिव नेशि-

इसतरह पूजा करनेके अनंतर इंद्रोंको समस्त वर्णोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी स्तुति करनेकी इच्छा हुई, अतएव प्रसन्नचित्त होकर वे अनेकप्रकारके वचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंको लेकर भक्तिरूपी अपने हाथोंसे इसप्रकार भगवानको समर्पण करने लगे ॥ ११६ ॥ कि हे जिननाथ ! आप अनेक गुणरूपी रत्नोंके खजाने हैं तथा हम लोग बुद्धिहीन और मंदवचन होकर भी आपकी स्तुति करनेकेलिये उद्यत हुये हैं, यद्यपि हमारा यह कार्य व्यर्थ है तथापि आपमें की हुई भक्ति ही अनेक इष्ट फल देती है ॥ ११७ ॥ हम लोग आपकी स्तुति नहीं कर सकते हैं केवल बुद्धिकी सामर्थ्यके अनुसार किये हुये बचनोंके द्वारा आपमें भक्ति प्रकट करते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि जो अमृतके समुद्रका समस्त जल नहीं पी सकता है वह अपने पीने योग्य थोडेसे ही अमृतको क्यों न पीवे, अर्थात् उसे थोडा अमृत अवश्य पीना ही चाहिये उसीप्रकार हम भी अपनी शक्तिके अनुसार आपकी भक्ति करते हैं ॥ ११८ ॥ हे देव ! कहां तो जडबुद्धि हम लोग और कहां आपका अपार और बहुत बडा गुणरूपी समुद्र, हे जिनेंद्र यद्यपि इस वातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इससमय आपमें उत्पन्न हुई गाढ भक्ति ही हम लोगोंको वाचालित कर रही है ॥ ११९ ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि आपके बडे २ गुण जो गणधरोंसे गिने भी नहीं गये हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ? अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी वात भी नहीं है, क्योंकि आपके आश्रय आया हुआ

शिपुः ॥ १२० ॥ तदियमीडिडिपून्विदधाति नस्त्वयि निगूढतरा जिन निश्चला । प्रसृतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽद्य ततो वयमुद्यताः ॥ १२१ ॥ त्वमसि विश्वदृगीश्वर विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः । त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥ १२२ ॥ तव जिनार्क विभाति गुणांशवः सकलकर्मकलङ्कविनिःसृताः । घनवियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भास्वरभानवः ॥ १२३ ॥ गुणमणींस्त्वमनन्ततयान्वितान् जिन समुद्वहसेऽतिविनिर्मलान् । जलधिरात्मगभीरजलाश्रितानिव मणीनमलाननणुत्विषः ॥ १२४ ॥ त्वमिन संसृतिवल्लरिकामिमामतिततामुरुदुःखफलप्रदा ।

मनुष्य क्या नहीं कर सकता है ॥ १२० ॥ इसलिये हे जिनेंद्र अनंतगुणोंको उत्पन्न करनेवाली, निश्चल और अत्यंत गूढ ऐसी आपमें उत्पन्न हुई परम भक्ति ही हमलोगोंको आपकी स्तुति करनेकेलिये प्रेरणा करती है, और इसलिये ही हमलोग आपकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुये हैं ॥ १२१ ॥ हे देव ! आप समस्त लोकालोकको जाननेवाले सबके स्वामी और कर्मभूमिरूप संसारके उत्पन्न करनेवाले हैं, आप विनाशरहित हैं, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, हे जिनेंद्र ! आपका उपदेश समस्त जीवोंका हित करनेवाला है इसलिये आप हमारी स्तुतिको अवश्य ही स्वीकार कीजिये ॥ १२२ ॥ हे जिनेंद्ररूपीसूर्य ! जिसप्रकार बादलके हटजानेसे अतिशय निर्मल मूर्तिको धारण करनेवाली सूर्यकी दैदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसीप्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके दूर हो जानेसे प्रगट हुई आपके गुणोंकी किरणें बडी ही अच्छी सुशोभित हो रहीं हैं ॥ १२३ ॥ हे जिनेंद्र ! जिसप्रकार समुद्र अपने गंभीर जलमें अतिशय दैदीप्यमान निर्मल मणियोंको धारण करता है उसीप्रकार आप भी अतिशय निर्मल ऐसे गुणरूपी अनंत मणियोंको धारण करते हैं ॥ १२४ ॥ हे भगवन् ! बडे २ दुःखरूपी फलोंको देनेवाली और जन्म मरण बुढापा आदि फूलोंसे फूली हुई ऐसी अनादिकालसे चारों ओर फैली हुई इस संसाररूपी लताको आपने शांतपरिणामरूपी हाथोंसे उखाडकर फेंक दिया ॥ १२५ ॥ हे जिनवर ! मोहरूपी बडी भारी सेनाके सेनापति क्रोध मान माया लोभ ये चार बडे

जननमृत्युजराकुसुमाचिता शमकरैर्भगवन्नुदपीपट. ॥१२५॥ जिनवर मोहमहापृतनेशान् प्रबलतरांश्चतुरस्तु कषायान् निशिततपोमयतीव्रमहासिप्रहतिभिराशुतरामजयस्त्व ॥१२६॥ मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्य विरतिमयी शितहेतिततिस्ते । समरभरे विनिपातयति स्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ॥१२७॥ जितमदनस्य तवेश महत्त्व वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञ । न विकृतिभाङ्न कटाक्षनिरीक्षा परमविकारमनाभरणोद्ध ॥१२८॥ प्रविकुरुते हृदि यस्य मनोज. स विकुरुते स्फुटरागपराग । विकृतिरनगजितस्तव नाभूद्विभव भवान्भुवनैकगुरुस्तत् ॥१२९॥ स किल विनृत्यति गायति वल्गत्यपलपति प्रहसत्यपि मूढ. । मदनवशो जितमन्मथ ते तु प्रशमसुख वपुरेव निराह ॥ १३० ॥ विरहितमानमत्सर तवेद वपुरपरागमस्तकलिपंक । तव भुवनेश्वरत्वमपराग प्रकटयति

बलवान कषायरूपी योद्धा थे, वे आपने तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और वडी तलवारकी मारसे वहुत शीघ्र जीतलिये ॥१२६॥ हे देव ! जो किसीके द्वारा जीता न जाय और जो दिखाई भी न पडे ऐसे कामदेव रूपी शत्रुको वडे भारी युद्धमें आपके चारित्र रूपी तीक्ष्ण हथियारोंने मार गिराया, इसलिये हे नाथ ! आप तीनों लोकोंमें सवसे वडे गुरु हैं ॥ १२७ ॥ हे स्वामिन् यद्यपि आप कामदेवको जीतनेवाले हैं, आपका यह शरीर मनोज्ञ है, विकार भावोंसे रहित है, आभरणोंसे रहित है, विकृत नहीं है, तथा न वह कटाक्षोंसे किसीको देखता है और इसलिये ही वह आपके पूज्यपनेको प्रगट दिखला रहा है ॥ १२८ ॥ हे जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेवाले जिनेंद्र ! कामदेव जिस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करता है वह रागरूप परागसे आच्छादित होकर अनेक विकारयुक्त चेष्टायें करता है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके किसीप्रकारका विकार नहीं पाया जाता है, इसलिये ही आप समस्त संसारके एक उत्कृष्ट गुरु हैं ॥ १२९ ॥ जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश होता है वह नाचता है, गाता है, उन्मत्त होता है, सत्यको छिपाता है और हँसता भी है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके शरीरमें ये विकार न होनेसे आपका शांत शरीर ही आपके शांतता आदि अनेक सुखोंको प्रगट कर रहा है ॥ १३० ॥ हे देव ! आप मान मत्सर आदि दोषोंसे रहित हैं। कषायरूपी

स्फुटं निष्कृतिहीन ॥ १३१ ॥ तव वपुरामिलत्सकलशोभासमुदयमस्तवस्त्रमपि रम्य । अतिरुचिरस्य रत्नमणिराशेरपवरण किमिष्टमुरुदीप्ते. ॥ १३२ ॥ स्विदिरहित विहीनमलदोष सुरभितर सुलक्ष्मघटित ते । क्षतजवियुक्तमस्ततिमिरौघ व्यपगतधातु वज्रघनसंधि ॥ १३३ ॥ समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवाग्निमेषपरिहीणं । वपुरिदमच्छदिव्यमणिदीप्रं त्वमसि ततोऽविरोधादमार्गी ॥ १३४ ॥ इदमतिमानुष तव शरीर सकलविकारमोहमदहीनं । प्रकटयतीश ते भुवनलघि प्रभुतमवैभव कनककांति ॥ १३५ ॥ स्पृशति न हि भवंतमागश्रयः किमु दिनपमभिद्रवेत्तामसं । वितिमिर स भवान् जगत्सदने

धूलिसे रहित, कर्मरूपी मलसे रहित, तथा माया [छल कपट] और राग रहित ऐसा आपका यह शरीर इस संसारमें आपका ईश्वरपना स्पष्ट प्रगट कर रहा है ॥ १३१ ॥ हे नाथ ! जिसमें समस्त शोभाओंका समुदाय मिला हुआ है ऐसा आपका शरीर यद्यपि वस्त्र रहित है तथापि वह अतिशय मनोहर दिखाई पडता है, सो ठीक ही है, क्योंकि जो अत्यंत सुंदर है और जिसकी कांति बडी ही दैदीप्यमान है ऐसे रत्नमणियोंके समूहको किसी वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है ? भावार्थ—जिसप्रकार रत्नराशि खुली अच्छी लगती है उसीप्रकार भगवानका शरीर भी वस्त्ररहित ही अच्छा लगता है ॥ १३२ ॥ हे भगवन् ! आपका शरीर स्वेद (पसीना) रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यंत सुगंधित है, अनेक सुलक्षणोंसे सुशोभित है, रक्तरहित, अंधकारको नाश करनेवाला और धातु उपधातुओंसे रहित है, उसकी हड्डियोंका संबंध वज्रके समान सुदृढ है, संस्थान समचतुरस्र है, अनंत वीर्यको धारणकरनेवाला, प्रिय और हितकारक बचनोंको कहनेवाला, निमेषरहित अर्थात् पलकोंसे पलक न लगनेवाला और स्वच्छ दिव्यमणियोंके समान दैदीप्यमान है, इसलिये हे देव ! तीनों लोकोंमें आप ही देवाधिदेव हैं ॥ १३३-१३४ ॥ हे स्वामिन् जो कभी किसी मनुष्यको प्राप्त नहीं होता ऐसा सुवर्णके समान दैदीप्यमान आपका शरीर सबप्रकारके विकार तथा मोह मद आदिसे सर्वथा रहित है, इसलिये हे नाथ ! संसारको उलंघन करनेवाली आ-

ज्वलदुरुमहसा प्रदीपायते ॥ १३६ ॥ रैधारा ते द्युसमवतारेऽपतन्नाकेशानां पदवीमशेषां रुन्धा । स्वर्गादारात्कनकमयीं वा सृष्टिं तन्वानाऽनौ भुवनकुटी-रस्यातः ॥ १३७ ॥ रैधौरैरावतकरदीर्घा रेजे रे जेतारं भजत जना इत्येव । मूर्तीभूता तव जिन लक्ष्मीर्लोके संगीर्णं वा सपदि समातन्वाना ॥१३८॥ त्वत्संभूतौ सुरकरमुक्ता व्योम्नः पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा सरेजे । मत्तालीना कलरुतमातन्वाना नाकस्त्रीणा नयनततिर्वायाती ॥ १३९ ॥ मेरो शृंगे समजनि दुग्धांबोधेः स्वच्छाभोभिः कनकघटैर्गंभीरैः । माहात्म्य ते जगति वितन्वन्स्वामिन् स्वर्धैरैयैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥ १४० ॥ त्वा निष्क्रान्तौ मणिमयया-

---

पकी अद्वितीय प्रभुताकी विभूतिको वह स्पष्ट प्रगट करता है ॥ १३५ ॥ हे अज्ञानांधकारसे रहित जिनेंद्रदेव ! पापोंका समूह आपको कभी स्पर्श नहीं करता, सो ठीक ही है क्योंकि क्या अंधकार कभी सूर्यके सन्मुख जा सकता है ? हे स्वामिन् ! आप इस जगतरूपी घरमें दैदीप्यमान अत्यंत प्रकाशसे प्रदीपके समान जान पडते हो ॥ १३६ ॥ हे स्वामिन् ! जिससमय आपने स्वर्गसे आकर यहां अवतार लिया था उससमय रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे बहुत ही शीघ्र इस जगतरूपी कुटीरके मध्यभागमें पड रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों इस समस्त सृष्टिको सुवर्णमय करनेकेलिये ही पड रही हो ॥ १३७ ॥ हे जिनेंद्र ! आकाशसे पडनेसे ऐरावत हाथीकी सूंडके समान लंबायमान वह रत्नोंकी धारा लोकमें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों आपकी लक्ष्मी साक्षात् मूर्ति धारणकर लोगोंको शीघ्र यही समझा रही हो कि अरे मनुष्य हो ! कर्मोंको जीतनेवाले इन अरहंतदेवकी सेवा करो ॥ १३८ ॥ हे भगवन् जिससमय आपका जन्म हुआ था उससमय अत्यंत सुगंधित और जिनपर मत्त भ्रमर बैठे हुये मधुर गुंजार शब्द कर रहे हैं ऐसी देवोंके हाथसे आकाशसे वरसती हुई पुष्पोंकी वृष्टि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥ १३९ ॥ हे स्वामिन् ! स्वर्गके मुख्य २ देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुये सुवर्णमय गंभीर घडोंसे (आगामिकालमें होनेवाले) ती-

नारूढं वोढुं सज्जा वयमिति नैतच्चित्रं । आनिर्वाणान्नियतममी गीर्वाणाः किंकुर्वाणा ननु जिन कल्याणे ते ॥ १४१ ॥ त्वं धातासि त्रिभुवनभर्ताऽद्य-त्वे कैवल्यार्के स्फुटमुदितेऽस्मिन्दीप्ते । तस्मादेवं जन्मजरातङ्का तं त्वा ननमो गुणनिधिमग्र्यं लोके ॥ १४२ ॥ त्वं मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्ता त्वं स्रष्टा भुवनपितामहस्त्वमेव । त्वा ध्यायन्नमृतिसुखं प्रयाति जन्तुस्त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥ १४३ ॥ परं पदं परमसुखोदयास्पदं विविदिसवश्चिरमिह

र्थंकरके माहात्म्यको तीनों लोकोंमें प्रगट करनेवाला ऐसा वडाभारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥ हे जिन ! जिससमय आपका तपकल्याणक हुआ था अर्थात् आपने दीक्षा धारण की थी उससमय मणियोंकी बनी हुई पालकीपर सवार कराकर उस पालकीको कंधेपर रखकर लेजानेकेलिये हमलोग स्वयं तैयार हुये थे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि गर्भावतारसे लेकर निर्वाणपर्यंत सब ही कल्याणोंमें स्वर्गके सब देव आपके किंकरके समान ही उपस्थित रहते हैं ॥ १४१ ॥ हे जिनेंद्र ! आप स्वर्ग मोक्षके प्राप्त होनेके कारण ऐसे उपदेश देनेवाले हैं इसलिये आप धाता अर्थात् मोक्षमार्ग-रूप सृष्टिके प्रगट करनेवाले हैं तथा तीनों लोकोंके स्वामी हैं, हे नाथ आज जो केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय हुआ है उससे आप बहुत ही देदीप्यमान हो रहे हैं, इसके सिवाय जन्म जरा रोग आदि दो-षोंको नष्ट करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं, और जगतमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे देव आपको हमलोग बार बार नमस्कार करते हैं ॥ १४२ ॥ हे देव ! इस जगतमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही सबके स्वामी हैं, आप ही इस मोक्षमार्गरूप जगतके प्रगट करनेवाले ब्रह्मा हैं और आप ही इस जगतके पितामह हैं, हे स्वामिन् ! आपका ध्यान करनेसे यह प्राणी जन्ममरणरहित अनंत सुख-को प्राप्त होता है इसलिये आज इस जगतको जन्ममरणरूप संसारमें पडनेसे वचाइये ॥ १४३ ॥ हे जिनराज ! परमसुख प्राप्त होनेका उत्तम स्थान और विनाशरहित ऐसे मोक्षस्थानको जाननेकी इ-च्छा करनेवाले अतिशय बुद्धिमान् योगी पुरुष जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेकेलिये आपके द्वा-

योगिनोक्षर । त्वयोदित जिन परमागमाक्षर विचिन्वते भवविलयाय सद्धियः ॥ १४४ ॥ त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वते परा धृतिं प्रमदपरपरायुजः । त एव ससृतिलतिका प्रतायिनीं दहत्यल स्मृतिदहनार्चिषा भृश ॥ १४५ ॥ वातोद्धूता क्षीरपयोधेरिव वीचीरुत्प्रेक्ष्यामूश्चामरपङ्क्तीर्भवदीया. । पीयूषाशोर्दीप्तिसामेतीरिव शुभ्रा मोमुच्यते ससृतिभाजो भवबधात् ॥ १४६ ॥ सैह पीठ स्वा द्युतिमिद्धामतिभानु तन्वान तद्भाति विभोस्ते पृथुतुग । मेरोः श्रृग वा मणिनद्ध सुरसेव्य न्यक्कुर्वाण लोकमशेष स्वमहिम्ना ॥ १४७ ॥ महितोदयस्य शिवमार्गदेशिन' सुरशिल्पिनिर्मितमदोऽर्हतस्तव । प्रथने सितातपवारणत्रयं शरदिंदुबिंबमिव कातिमत्तया ॥ १४८ ॥ वृक्षोशोको मरकतरुचिरस्कधो भाति श्रीमानयमतिरुचिरा. शाखा. । वाहूकृत्य स्फुटमिव नटित

रा कहे हुये परमागमके अक्षरोंका विचार करते हैं ॥ १४४ ॥ हे जिनवर ! आपने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है उसमें जो परम संतोष धारण करते हैं अथवा अतिशय आनंदित होते हैं वे आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे सब जीवोंको ठगनेवाली इस संसाररूपी लताको बहुत शीघ्र जला देते हैं ॥ १४५ ॥ हे भगवन् ! आपका यह सफेद चमरोंका समूह वायुसे उठी हुई क्षीरसागरकी लहरोंके समान है, अथवा चंद्रमाकी दैदीप्यमान किरणोंके समूहोंके समान है, इसे देखकर संसारी जीव भवबंधनसे बहुत ही शीघ्र छूट जाते हैं ॥ १४६ ॥ हे विभो ! सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार करनेवाली और अतिशय दैदीप्यमान, ऐसी अपनी कांतिको धारण करता हुआ तथा बहुत ऊंचा, देवोंके द्वारा पूज्य, मणियोंसे जडा हुआ और अपनी महिमासे समस्त लोकको नीचा दिखलाता हुआ ऐसा आपका सिंहासन मेरुपर्वतकी शिखरके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४७ ॥ हे देव ! सर्वोत्कृष्ट विभूतिको धारण करनेवाले और मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले ऐसे अरहंत देव ! आपका कारीगर देवोंके द्वारा बना हुआ यह सफेद छत्र त्रय अपनी प्रकाशमान कांतिके द्वारा शरदऋतुके चंद्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४८ ॥ हे स्वामिन् मरकत मणियोंका बना हुआ हरे रंगका जिसका स्कंध है और जिसपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह अतिशय शोभायमान

तन्वन् वातोध्दूतः कलरुतमधुकृन्मालः १४९ ॥ पुष्पाकीर्णो नृसुरमुनिवरैः कांतो मंद मदं मृदुतरपवनोद्धूतः । सच्छायोयं विहतनृसुराशोकोऽगो भाति श्रीमास्त्वमिव हि जगता श्रेयः ॥ १५० ॥ व्याप्ताकाशां वृष्टिमलिकलरुतोद्गीतां पौष्पीं देवास्त्वा प्रति भुवनगृहस्याग्रात् । मुंचत्येते दुदुभिमधुररवैः सार्द्धं प्रावृड्जीमूतास्तनितमुखरितान्जित्वा ॥ १५१ ॥ त्वदमरपटहैर्विशंक्य घनागम पटुजलदघटानिरुद्धनभोंगण । विरचितरुचिमत्कलापसुमंथरा मदकलमधुना रुवंति शिखावलाः ॥ १५२ ॥ तव जिन ततदेहरुचिसरवणे चमररुहततिः सितविहगरुचिं । इयमनुतनुते रुचिरतरतनुर्मणिमकुटसमिद्धरुचिसुरधुता

और वायुसे हिलता हुआ अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों अपनी सुंदर शाखारूप हाथोंको उठाकर स्पष्ट रीतिसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥ हे भगवन् ! पुष्पोंसे सुशोभित, देव मनुष्य और मुनिराज आदिके द्वारा प्रशंसा करनेयोग्य, अतिशय कोमल, वायुके द्वारा धीरे २ हिलता हुआ, सुंदर छाया युक्त, देव मनुष्योंका समस्त शोक दूर करनेवाला, पाप रहित, अतिशय शोभायमान और जगतका कल्याण करनेवाला यह आपका अशोकवृक्ष आपके समान ही सुशोभित हो रहा है ॥ १५० ॥ हे स्वामिन् ! ये देवलोग आपके सामने गरजते हुये वर्षाकालके मेघोंके शब्दोंको जीतते हुये जिसपर भ्रमरोंके समूह मधुर शब्द कर रहे हैं और जो आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसी पुष्पोंकी वर्षा दुंदुभियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ कर रहे हैं ॥ १५१ ॥ हे प्रभो ! देवोंके द्वारा बजाये हुये आपके दुंदुभियोंकी आवाज सुनकर चारोंओर भरी हुई बादलोंकी घटाओंसे आकाशको रोकनेवाले वर्षा ऋतुकी शंका करते हुये मयूर इससमय अपनी अनेक रंगकी चमकती हुई पूंछको ऊपर फैलाकर तथा धीरे धीरे गमन करते हुये उन्मत्त होकर मधुर शब्द कर रहे हैं ॥ १५२ ॥ हे जिनेंद्र ! मणियोंके बने हुये मुकुटोंसे जिनकी कांति खूब बढ गई है ऐसे देवोंके द्वारा जो ढुराई जा रही है और जिसकी शोभा बहुत ही सुंदर है ऐसी यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कांतिरूप सरोवरके जलमें सफेद पक्षियोंकी शोभाको धारण करती है ॥ १५३ ॥ हे भगवन् आपकी इस दि-

॥ १५३ ॥ त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषांतराणि सकलानि निदर्शयंती । तत्त्वावबोधमचिरात्कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिनिहतान्यमताधकारा ॥ १५४ ॥ प्रक्षालयत्यखिलमेव मनोमलं नस्त्वद्भारतीमयमिदं शुचि पुण्यमंबु । तीर्थं तदेव हि विनेयजनाजवंजवात्यारसतरणवर्त्म भवत्प्रणीतं ॥ १५५ ॥ त्वं सर्वगः सकलवस्तुगतावबोधस्त्वं सर्ववित्प्रमितविश्वपदार्थसार्थः । त्वं सर्वजिद्विजितमन्मथमोहशत्रुस्त्वं सर्वदृग्निखिलभावविशेषदर्शी ॥ १५६ ॥ त्वं तीर्थकृत्सकलपापमलापहारिसद्धर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः । त्वं मंत्रकृन्निखिलपापविषापहारिपुण्यश्रुतिप्रवरमंत्रविधानचचुः ॥ १५७ ॥ त्वामामनंति मुनयः

व्यध्वनिमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुये हैं, वह समस्त भाषाओंका स्वरूप धारण करती है, स्याद्वादरूप नीतिसे अन्यमतियोंके एकांतरूप अंधकारको सर्वथा नष्ट करती है और विद्वान् लोगोंको जीवादि यथार्थ तत्त्वोंका ज्ञान बहुत शीघ्र करा देती है ॥ १५४ ॥ हे विभो ! आपकी वाणीरूप यह पवित्र पुण्य जल मनके समस्त मलोंको बहुत शीघ्र धो डालता है, संसारमें यही तीर्थ है और यही आपका कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका सरल मार्ग है ॥ १५५ ॥ हे प्रभो ! आपका ज्ञान संसारके समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है इसलिये आप सर्वग अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपने कामदेव और मोहरूपी शत्रुओंको जीता है इसलिये सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप समस्त पदार्थोंको विशेषरीतिसे देखनेवाले हैं इसलिये आप सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) हैं ॥ १५६ ॥ हे स्वामिन् ! आप समस्त पापरूपी मलके दूर करनेवाले सद्धर्मरूपी तीर्थके द्वारा समस्त जीवोंको निर्मल (पवित्र वा कर्मोंसे रहित) करनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं इसलिये आप तीर्थंकर कहलाते हैं, तथा आप समस्त पापरूपी विषको हरण करनेवाले और पुण्यस्वरूप शास्त्ररूपी उत्तम मंत्रके निर्माणकरनेमें चतुर हैं इसलिये आप मंत्रकृत् अर्थात् मंत्र करनेवाले वा मंत्रवादी कहलाते हैं ॥ १५७ ॥ हे देव ! मुनिलोग आपको पुराण पुरुष कहते हैं तथा आपको ही

पुरुषं पुराणं त्वा प्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयार्द्धिं । तस्माद्भवातक भवंतमचिंत्ययोगं योगीश्वरं जगदुपास्यमुपास्महे स्म ॥ १५८ ॥ तुभ्यं नमः सकलघातिमलव्यपायसभूतकेवलमयामललोचनाय । तुभ्य नमो दुरितबंधनशृंखलाना छेत्रे भवार्गलभिदे जिनकुंजराय ॥ १५९ ॥ तुभ्य नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्य नमः परमनिर्वृतिकारणाय । तुभ्यं नमोऽधिगुरवे गुरवे गुणौघैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्रयाय ॥ १६० ॥ इत्युच्चकैः स्तुतिमुदारगुणानुरागादस्माभिरीश रचितां त्वयि चित्रवर्णां । देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूता पादार्पिता स्रजमिवानुगृहाण चार्वीं ॥ १६१ ॥ त्वामीड्य हे जिन भवतमनुस्मराम-

---

अच्युत (नाशरहित) ऋषीश्वर और अक्षय ऋद्धिको धारण करनेवाले कहते हैं, इसलिये हे संसारको नाश करनेवाले, जिनेंद्र, अचिंत्य योगको धारण करनेवाले, समस्त जगतके उपासना करने योग्य, ऐसे योगीश्वर ! आपकी मैं बार बार सेवा करता हूं ॥ १५८ ॥ हे देव ! आप समस्त घातियाकर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपको केवलज्ञानरूपी निर्मलनेत्र प्राप्त हुआ है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप पापोंकी बंधरूपी सांकलको तोडदेनेवाले और संसाररूपी अर्गलको नाश करनेवाले हाथीके समान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १५९ ॥ हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंके पितामह हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परममोक्षके साक्षात् कारण हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप सबके गुरु हैं गुणोंके समूहोंसे भी गुरु अर्थात् उत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १६० ॥ हे देव ! हे परमेश्वर ! इसप्रकार आपके तत्त्वोपदेशरूपी उदार गुणोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णोंकी (अनेक अक्षरोंसे बनी हुई अथवा अनेक तरहकी) उत्तम स्तुति की है, इसलिये हे ईश ! हमपर प्रसन्न हूजिये और भक्तिसे पवित्र और चरणोंमें चढाई हुई ऐसी सुंदर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिये ॥ १६१ ॥ हे जिनेंद्र ! आपकी पूजाकर हम लोग आपका स्मरण करते हैं। हाथ जोडकर आपको नमस्कार करते हैं। हे

स्त्वा कुड्मलीकृतकरा वयमानमामः । त्वत्सस्तुतावुपचित यदिहाद्यपुण्यं तेनास्तु भक्तिरमला त्वयि न प्रसन्ना ॥ १६२ ॥ इत्थ सुरासुरनगोरगयक्षसिद्ध गधर्वचारणगणैस्समभिद्धबोधाः । द्वात्रिंशदिंद्रवृषभा वृषभाय तस्मै चक्रुर्नमः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥ १६३ ॥ स्तुत्वेति त जिनमज जगदेकबधुं भक्त्या नतोरुमकुटैरमरैः सहेद्रा । धर्मप्रिया जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमभजन्जिनसंमुखास्याः ॥ १६४ ॥ देहे जिनस्य जयिन. कनकावदाते रेजुस्तदा भृशममी सुरदृष्टिपाताः । कल्पाग्रिपाग इव मत्तमधुव्रतानामोघाः प्रसूनमधुपानपिपासिताना ॥ १६५ ॥ कुजरकराभभुजमिंदुसमवक्त्र कुचितमितस्थितशिरोरुहकलाप । मदरतटाभपृथुवक्षसमधीशं त जिनमवेक्ष्य दिविजाः प्रमदमीयु ॥ १६६ ॥ विकसितसरसिजदलनिभनयन करिकरसुरुचिरभुजयु-

---

देव ! आज यहां आपकी स्तुति करनेसे जो कुछ पुण्यकी प्राप्ति हुई हो उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रगटरूप भक्ति हो ॥ १६२ ॥ इसप्रकार प्रकाशमान ज्ञानको धारण करनेवाले मुख्य २ बत्तीस इंद्रोंने देव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, मनुष्य, नागकुमार, यक्ष, सिद्ध, गंधर्व और चारणोंके साथ २ सैकडों स्तुतियोंके द्वारा मस्तकको झुकाते हुये उन भगवान वृषभदेवकेलिये नमस्कार किया ॥ १६३ ॥ इसप्रकार धर्ममें प्रेम रखनेवाले इंद्रोंने अपने मुकुटको नम्रीभूत करनेवाले देवोंके साथ साथ भक्तिपूर्वक फिर कभी उत्पन्न न होनेवाले और जगतके एकमात्र बंधु ऐसे भगवान वृषभदेवकी स्तुति की और फिर वे उस समवसरणमें भगवानके चारोंओर भगवानकी ओर मुख करके बैठ गये ॥ १६४ ॥ उससमय घातिया कर्मोंको जीतनेवाले भगवान वृषभदेवके सुवर्णके समान दैदीप्यमान शरीरपर उन देवोंके वे दृष्टिपात (नेत्रोंके प्रतिबिंब) ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले उन्मत्त भ्रमरोंका समूह ही हो ॥ १६५ ॥ जिनकी भुजायें हाथीकी सूंडके समान हैं, मुख चंद्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह संकुचित और परिमित है, जिनका वक्षःस्थल सुमेरु पर्वतके तटके समान विशाल है और जो सबके स्वामी हैं ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवको देखकर देवलोग बडे ही प्रसन्न हुये थे ॥ १६६ ॥ जिसके नेत्र फूले हुये कम-

गममलं । जिनवपुरतिशयरुचियुतममरा निददृशुरतिधृतिविमुकुलनयनाः ॥ १६७ ॥ विधुरुचिहरचमररुहपरिगतं मनसिजशरगतनिपतनावेजयि । जिनवरवपुरवधुतसकलमल निपपुरमृतमिव शुचिसुरमधुपाः ॥ १६८ ॥ कमलदलविलसदनिमिषनयन प्रहसितनिभमुखमतिशयसुरभि । सुरनरपरिवृढनयनसुखकरं व्यरुचदधिकरुचि जिनवृषभवपुः ॥ १६९ ॥ जिनमुखशतदलमनिमिषनयनभ्रमरमतिसुरभि विधुतविधुरुचि । मनसिजहिमहतिविरहितमतिरुक् पपुरविदितधृति सुरयुवतिदृशः ॥ १७० ॥ विजितकमलदलविलसदसदृशदृशं सुरयुवतिनयनमधुकरततवपुः । वृषभमजरमजममरपतिसुमहितं नमत परममतममि-

---

लके दलके समान सुशोभित हैं, दोनों निर्मल भुजायें हाथीकी सूंडके समान सुंदर जान पडती हैं और जो अतिशय मनोहर है ऐसे भगवानके शरीरको देवलोग अत्यंत संतोषसे नेत्रोंको उघाडकर देखते थे ॥ १६७ ॥ जो चंद्रमाकी कांतिको हरण करनेवाले सफेद चमरोंसे घिरा हुआ है, जो कामदेवके सैकडों पडते हुये वाणोंको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल धो डाले हैं और जो अत्यंत पवित्र है ऐसे भगवानके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे। भावार्थ—देवलोग भगवानके शरीरको बडी लालायित दृष्टिसे देखते थे ॥१६८॥ जिसके निमेषरहित (पलकसे पलक न लगनेवाले) नेत्र कमलके दलके समान सुशोभित हो रहे हैं, तथा अतिशय सुगंधित मुख हँसते हुयेके समान जान पडता है, और जो देव मनुष्य आदि जीवोंके स्वामियोंके नेत्रोंको भी सुख देनेवाला है ऐसा भगवान वृषभदेवका शरीर उस समय बहुत ही कांतियुक्त और मनोहर सुशोभित हो रहा था ॥ १६९ ॥ जिसपर निमेषरहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुये हैं, जो अत्यंत सुगंधित है, चंद्रमाकी कांतिको भी लज्जित करनेवाला है, कामदेवरूपी सरदीकी पीडा जिसे बिलकुल नहीं होती अर्थात् जो कभी संकुचित नहीं होता, सदा प्रफुल्लित रहता है और जो अतिशय देदीप्यमान है ऐसे भगवानके मुखरूपी कमलको देवांगनाओंके नेत्र उसमें तल्लीन होनेसे जिन्हें आनंद भी मालूम नहीं होता इसप्रकार पी रहे थे, भावार्थ— उससमय देवांगनायें भगवानके मुखको बडे ध्यानसे देख रहीं थीं ॥१७०॥ भो भव्य पुरुषो

तरुचिमृषिपतिं ॥ १७१ ॥ सरसिजनिभवक्रं पद्मकिंजल्कगौरं कमलदलविशालव्यायतास्पदिनेत्रं । सरासिरुहसमानामोदमच्छायमच्छस्फाटिकमणिविभासि श्रीजिनस्यागमीडे ॥ १७२ ॥ नयनयुगमताम्र वक्ति कोपव्यपायं भ्रुकुटिरहितमास्य शातता यस्य शास्ति । मदनजयमपागालोकनापायसौम्य प्रकटयति यदंग त जिनं नन्नमीमि ॥ १७३ ॥ गात्रमनगभगकृदतिसुरभि रुचिरं नेत्रमताम्रमत्यमलतररुचिविसरं । वक्रमदष्टसदशनवसनामिवहसद्यस्य विभाति त जिनमवनमत सुधियः ॥ १७४ ॥ सौम्यवक्रममलकमलदलनिभदृश हेमपुजसदृशवपुपमृपभमृषिप । रक्तपद्मरुचिभृदमलमृदुपदयुग सन्नतोऽस्मि परमपुरु-

---

तुम लोग उन भगवान वृषभदेवको नमस्कार करो जिनके असाधारण नेत्र कमलदलको जीतते हुये सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरोंसे व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इंद्रोंके द्वारा भी पूज्य हैं, जिनका मत वा शासन सर्वोत्कृष्ट है, कांति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी हैं ॥ १७१ ॥ जिसका मुख कमलके समान है, जो कमलकी परागके समान गौर है, जिसके निमेषरहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और लंबे हैं, जिसकी सुगंधि कमलके समान है, जिसका प्रतिबिंब पडता नहीं और स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे भगवानके शरीरकी मैं स्तुति करता हूं ॥ १७२ ॥ जिन भगवानके ललाईरहित नेत्र 'भगवानके विलकुल क्रोध नहीं है' इसबातको बतलाते हैं, जिसमें भोहोंकी टिढाई विलकुल नहीं है ऐसा मुख शांतताको प्रगट करता है और जिसकी दृष्टिमें कटाक्षादि विकार न होनेसे विलकुल सौम्य शरीर कामदेवके जीतनेको प्रगट करता है ऐसे उन वृषभदेव भगवानको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १७३ ॥ भो बुद्धिमान पुरुषो ! जिनका शरीर कामदवको नष्ट करनेवाला तथा अत्यंत सुगंधित और सुंदर है, नेत्र ललाईरहित तथा अत्यंत निर्मल कांतिको फैलानेवाले हैं, जिनका मुख ओठोंको दवाये हुये नहीं है तथा हंसते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभदेवको शिर नवाकर नमस्कार करो ॥ १७४ ॥ जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर

षमपरुषगिरं ॥ १७५ ॥ स जयति यस्य पादयुगलं जयत्पंकजं विलसति पद्मगर्भमधिशय्य सल्लक्षणं । मनसिजरागमर्दनसहं जगत्प्रीणन सुरपतिमौलिशिखरगलद्रजःपिंजर ॥ १७६ ॥ जयति वृषभो यस्योत्तुग विभाति महासन हरिपरिधृतं रत्नानद्धं परिस्फुरदशुकं । अधरितजगन्मेरोर्लीला विडंबयदुच्चकैर्नतसुरतिरीटाग्रग्रावद्युतीरिव तर्जयत् ॥ १७७ ॥ समग्रा वैदग्धीं सकलशशभृन्मंडलगता सितच्छत्रं भाति त्रिभुवनगुरोर्यस्य विहसत् । जयत्येप श्रीमान्वृषभजिनराड् निर्जितरिपुर्नमद्देवेद्रोद्यन्मकुटमणिघृष्टाघ्रिकमल. ॥ १७८ ॥ जयत्यमरनायकैरसकृदर्चितांघ्रिद्वयः सुरोत्करकराधुतैश्चमरयोत्करैर्वाजितः । गिरीं-

---

सुवर्णके समूहके समान है, जो ऋषियोंका भी स्वामी है, जिनके निर्मल और कोमल दोनों चरणकमल लाल कमलकी कांतिको धारण करते हैं, जिनकी वाणी बडी ही कोमल है और जो परम पुरुष हैं ऐसे श्रीवृषभदेवको मैं बडी भक्तिसे नमस्कार करता हूं ॥ १७५ ॥ जिन भगवानके दोनों ही चरणकमल कमलोंको जीतनेवाले हैं, कामसे उत्पन्न होनेवाली रागादि वासनाओंको नाश करनेमें समर्थ हैं, जगतको संतोष देनेवाले हैं, इंद्रके मुकुटमें लगी हुई मालाओंसे गिरतेहुये परागसे कुछ कुछ पीले हो रहे हैं और कमलके मध्यभागमें विराजमान होते हुये सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७६ ॥ जिनका सिंहासन वहुत बडा और ऊंचा है, रत्नजडित है, जिसे सिंह धारण कर रहे हैं, जिसकी किरणें चारोंओर दैदीप्यमान हो रही हैं, जो जगतको नीचा दिखला रहा है, मेरु पर्वतकी शोभाको खूब तिरस्कारकर रहा है और जो नमस्कार करते हुये देवोंके मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी कांतिको तर्जना कर रहा है ऐसा जिनका सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७७ ॥ तीनों जगतके गुरु ऐसे जिन भगवानका सफेद छत्र पूर्ण चंद्रमंडलकी समस्त शोभाको हंसता हुआ सुशोभित हो रहा है, जिनके चरण कमल नमस्कार करते हुये इंद्रके दैदीप्यमान मुकुटकी मणियोंसे स्पर्श किये जा रहे हैं, जो समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं और अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं ऐसे ये श्री वृषभ जिनेंद्रदेव सदा

द्रशिखरे गिरींद्र इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोऽब्धिशुचिवारिभिः शशिकराङ्कुरस्पर्धिभिः ॥ १७९ ॥ स एष भगवान् गुणगणा इव रुचिरतरा भान्त्यभितो-
मयूखनिवहा गुणसलिलनिधेः । विश्वजनीनचारुचरितः सकलजगदिनः सोऽवतु भव्यसरसिजतिग्मनिरस्मिनु ॥ १८० ॥ यस्याशोकश्चलत्किसलयविटप-
पत्रप्रसूनो भाति श्रीमान्मरकतमयस्कन्धबन्धोज्ज्वलाग । सान्द्रच्छायः सकलजनताशोकविच्छेदनेच्छः सोऽयं श्रीशो जयति वृषभो भव्यपद्माकरार्कः ॥१८१॥
जीयाज्जैनेंद्र सुरुचिरतनुः श्रीरशोकाङ्घ्रिपो यो वातोद्धूतैः स्वैः प्रचलविटपैर्नित्यपुष्पोपहार । कुर्वन्स्वानाम. परभृतनिनादोपगीतानाद्यो त्रुन्वन्छायापैर्जिन-

---

जयशील हों ॥ १७८ ॥ इंद्रोंने जिनके चरणोंकी पूजा कईवार की है. जिनपर अनेक देव अपने हाथोंसे चमरोंके समूह ढुराते हैं और देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर मेरुपर्वतके समान ही जिन्हें विराजमानकर चंद्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ ऐसे क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक किया है ऐसे श्रीवृषभदेवकी सदा जय हो ॥ १७९ ॥ जो भगवान गुणोंके समुद्र हैं, जिनके अतिशय उज्वल और अत्यंत सुंदर ऐसे किरणोंके समूह गुणोंके समूहोंके समान चारोंओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका चरित्र संसारके समस्त जीवोंको हित करनेवाला है, जो समस्त जगतके स्वामी हैं और भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये जो सूर्यके समान हैं ऐसे वे श्रीवृषभजिनेंद्रदेव हमलोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ १८० ॥ जिसके पत्ते हिल रहे हैं तथा जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके सुशोभित हो रहे हैं, जो बहुत ही शोभायमान है, जिसके स्कंधकी रचना मरकतमणियोंसे की गई है, जिसका शरीर अत्यंत उज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही घनी है और समस्त लोगोंका शोक दूर करनेकी जिसकी इच्छा है ऐसा अशोकवृक्ष जिन भगवानका सुशोभित हो रहा है, जो भव्यरूपी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं और जो अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारकी लक्ष्मीके स्वामी हैं ऐसे ये श्रीवृषभदेव भगवान सदा जयशील हों ॥ १८१ ॥ जिसका शरीर बहुत सुंदर है जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे सदा पुष्प अर्पण करता रहता है, जिसने अपने

मिव भजन्भाति भक्त्येवभव्यः ॥ १८२ ॥ यस्या पुष्पप्रततिममराः पातयंति द्युमूर्ध्नः प्रीता नेत्रप्रततिमिव ता लोलमत्तालिजुष्टां । वातोध्दूतैर्ध्वजवितति‌भिर्व्योम समार्जतीवाभाति श्रेय. समवसृतिभू. सा चिर नस्तनोतु ॥ १८३ ॥ ॥ यस्मिन्मग्नरुचिर्विभाति नितरा रत्नप्रभाभास्वरे भास्वान् सालवगे जयत्यमलिनो धूलीमयोऽसौ विभो. । स्तभाः कल्पतरुप्रभातिरुचये. मानादिकाश्चोद्ध्वजा. जीयासुर्जिनभर्तुरस्य गगनप्रोल्लघिनो भास्वरा' ॥ १८४ ॥ वाप्यो रत्नतटा. प्रसन्नसलिला नीलोत्पलैरातता गधाधभ्रमरारवैर्मुखरिता भाति स्म यास्ताः स्तुम' । ता चापि स्फुटपुष्पहासरुचिरा प्रोद्यत्प्रवालाकुरा वल्लीनां

फैलावसे सब दिशायें घेरली हैं, जो कोइलोंके मधुर शब्दरूपी गाने बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई छोटी शाखाओंसे भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है इसप्रकार सबतरह शोभायुक्त भव्य पुरुषके समान यह श्रीजिनेंद्रदेवका अशोक वृक्ष सदा विजयरूप हो ॥ १८२ ॥ जिस समवसरणकी भूमिमें देवलोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंके समूहके समान जिनपर चंचल उन्मत्त भ्रमर बैठे हुये हैं ऐसे पुष्पोंके समूहोंकी वर्षा आकाशसे करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई ध्वजाओंके समूहसे ऐसी सुशोभित हो रहीं है मानों आकाशको वुहार रही ही हो ऐसी यह समवसरणकी भूमि चिरकालतक हमलोगोंको कल्याण देनेवाली हो ॥१८३॥ अत्यंत निर्मल और रत्नोंकी प्रभासे देदीप्यमान तथा जिसकी दीप्तिमें डूबकर सूर्य कांतिरहित होकर भी अत्यंत ही सुशोभित होता है ऐसा यह भगवानका धूलिसाल (रत्नोंकी धूलिका बना हुआ साल) सदा जयशील हो, तथा जो कल्पवृक्षकी कांतिके समान अत्यंत मनोहर हैं, जिनकी ध्वजायें बहुत ऊंची हैं, जो आकाशको उलंघन करनेवाले हैं और अत्यंत प्रकाशमान हैं ऐसे जिनेंद्रदेवके ये मानस्तंभ सदा जयवंत हों ॥१८४॥ जिन बावडियोंके किनारे रत्नोंके बने हुये हैं, जिनमें स्वच्छ पानी भराहुआ है, जो नील कमलोंसे भरीहुई हैं और सुगंधिसे अंधे ऐसे भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान होती हुई सुशोभित हो रही हैं ऐसी बावडियोंकी मैं स्तुति करता हूं, तथा जो खिले हुये पुष्परूपी हास्यसे सुंदर है और जिसमें प्रवाल अर्थात्

वनवीथिका तमपि च प्राकारमाद्य विभो॰ ॥ १८५ ॥ प्रोद्यद्विद्रुमसन्निभैः किशलयैरारञ्जयद्यद्दिशो भान्त्युच्चैः पवनाहतैश्च विटपैर्नृत्यन्ति तु बोधन । रक्ताशोकवनादिकं वनमदश्चैत्यद्रुमैरङ्कितं वदेऽहं समवादिका सृतिमिति जैनीं चतुष्काश्रितं ॥ १८६ ॥ रक्ताशोकवनं वनं च रुचिमत्सप्तच्छदानामदश्चूतानामपि नंदनं परतरं यच्चंपकानां वनं । तच्चैत्यद्रुममंडितं भगवतो वंदामहे वंदितं देवैर्द्रैर्विनयानतेन शिरसा श्रीजैनबिंबांकितं ॥ १८७ ॥ प्राकारात्परतो विभाति रुचिरा हरिवृषगरुडैः श्रीमन्माल्यगजाम्बरैश्च शिखिभिः प्रकटितमहिमा । हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्ध्वजवसनततिः या तामप्यमरार्चितामभिनुमः पवनविलुलिता ॥ १८८ ॥ यद्दूराद्व्योममार्गं कलुषयति दिशा प्रांतं स्थगयति प्रोत्सर्पद्धूपधूमैः सुरभयति जगद्विश्वं द्रुततरं । तत्र नद्धूपकुंभद्वयमुरु

नये कोमल पत्तोंके अंकूरे उठ रहे हैं ऐसे लतावनोंकी भी स्तुति करता हूं और इसीप्रकार भगवानका वह जो प्रसिद्ध पहिला कोट है उसकी भी मैं स्तुति करता हूं ॥ १८५ ॥ इसीप्रकार दैदीप्यमान मूंगाके समान नवीन पत्तोंसे जो सब दिशाओंको लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं मानों नृत्य करनेकेलिये ही तैयार हुये हों, जिनकी संख्या चार है जिनके मध्यभागमें चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहे हैं और जो श्रीजिनेंद्रदेवकी समवसरणकी भूमिमें प्राप्त हुये हैं ऐसे ये रक्त अशोक आदि वृक्षोंके वन अर्थात् अशोक वृक्षोंका वन, सप्तच्छद, आम्र और चंपक वन इन चारोंकी मैं वंदना करता हूं ॥ १८६ ॥ जो चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित हैं जिनमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं और इंद्र भी जिन्हें विनयपूर्वक मस्तक नवाकर नमस्कार करता है ऐसे भगवानके लाल अशोक वृक्षका वन यह दैदीप्यमान सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका वन, आम्रवृक्षोंका वन और उसके बाद यह चंपक जातिके वृक्षोंका वन इन चारों वनोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १८७ ॥ कोटके बाद जो बहुत सुंदर तथा सिंह, बैल, गरुड, सुंदरमाला, हाथी, वस्त्र, मयूर, हंस, चक्र और कमल इन चिन्होंसे शोभायमान ऐसी दैदीप्यमान ध्वजाओंके वस्त्रोंकी पंक्तियां सुशोभित हैं, जो कि देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं और वायुसे हिल रही हैं उन्हें भी मैं न-

मनसः प्रीतिं घटयतु श्रीमत्तन्नाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालत्रयगतं ॥ १८९ ॥ पुष्पपल्लवोज्ज्वलेषु कल्पपादपोरुकाननेषु हारिषु श्रीमदिंद्रवंदिताः स्वबुध्न-सुस्थितेद्धसिद्धबिंबका द्रुमा । संति तानपि प्रणौम्यहं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपंक्तिमध्यमू समग्ररत्नविग्रहा जिनेंद्रबिंबिनी ॥ १९० ॥ वीथीं कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृतिं तामतीत्य स्थिता या शुभ्रा प्रासादपंक्तिः स्फटिकमणिमयः सालवर्यस्तृतीयः । भर्तुः श्रीमंडपश्च त्रिभुवनजनतासंश्रयात्तप्रभावः पीठं चोद्यत्त्रिभूमं श्रियमनुतनुतादग्र्यकुट्याश्रितं नः ॥ १९१ ॥ मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं

मस्कार करता हूं ॥ १८८ ॥ जो प्रत्येक दिशाके दो दो धूपघट फैलते हुये धूपके धुंएसे दूरसे ही आकाशको मलिन कर रहे हैं, दिशाओंके समीपभागको आच्छादन कर रहे हैं और जो समस्त जगतको बहुत शीघ्र सुगंधित कर देते हैं ऐसे धूपघट हमारे मनमें प्रेम उत्पन्न करो। तथा तीनों कोटोंके प्रत्येक दरवाजेपर अत्यंत सुशोभित ऐसी दो दो मनोहर नाट्यशालायें भी हम लोगोंके मनमें भगवानमें बहुत बडा प्रेम संपादन करो ॥ १८९ ॥ इसके आगे पुष्प और पत्तोंसे देदीप्यमान और बडे ही मनोहर ऐसे जो कल्पवृक्षोंके बडे बडे वन हैं और उनमें अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाले इंद्रोंके द्वारा पूज्य तथा जिनके मूलभागमें सिद्धप्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे सिद्धपादप वृक्ष हैं उनको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम करता हूं, नमस्कार करता हूं तथा स्मरण करता हूं। इसके सिवाय अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुये तथा जिनपर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे इस स्तूपोंके समूहोंको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम, नमस्कार और स्मरण करता हूं ॥ १९० ॥ वनकी वेदीसे घिरी हुई जो कल्पवृक्षोंके वनोंकी पंक्ति है, उसके बाद सफेद मकानोंके समूह हैं, उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ तीसरा कोट है, तदनंतर तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेकेलिये जिसकी शक्ति है ऐसा भगवानका श्रीमंडप है और उसके बाद गंधकुटीसे सुशोभित तीन कटनीदार तीन पीठ हैं वे सब हम लोगोंको कल्याण देनेवाले हों ॥ १९१ ॥ चारों दिशाओंमें चार

वेदिकातर्ध्वजाव्या । साल. कल्पद्रुमाणां सपरिवृतवन स्तूपहर्म्यावली च प्राकार' स्फटिकोऽन्तर्नृमु/मुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयम्' ॥ १९२ ॥ देवोऽर्हन् प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा यामध्यास्ते स्म पुण्या समवसृतिमहीं ता परीत्याध्यवात्सु' । प्रादक्षिण्येन धीद्रा कल्पवनितार्गणिनीनृस्त्रियास्त्रिश्च देव्यो देवा. सेंद्राश्च मर्त्या पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥ १९३ ॥ योगींद्रा कल्पदेवा विबुधयुवतय. सार्यिका राजपन्यो ज्योतिर्भाविनेशकन्या भव-

मानस्तंभ हैं, मानस्तंभोंके चारोंओर सरोवर हैं, तदनंतर निर्मल जलसे भरी हुई खाई है, उसके बाद पुष्पोंके वाग अर्थात् लतावन हैं, तदनंतर कोट है, कोटके चारों दरवाजोंपर दो दो नाट्यशालायें हैं, कोटके वाद दूसरा (अशोकादि का) वन है, तदनंतर वनकी वेदी है, उसके वाद ध्वजाओंका समूह है, फिर दूसरा कोट है, तदनंतर वनकी वेदिकासे घिरा हुआ कल्पवृक्षोंका वन है, उसके वाद स्तूप और मकानोंकी पंक्ति हैं, फिर स्फटिकमय तीसरा कोट है, उस कोटके भीतर मनुष्य देव और मुनियोंकी सभायें हैं और सव सभाओंके मध्यभागमें पीठिकाके ऊपर सिंहासनपर स्वयंभू भगवान-अरहंतदेव विराजमान हैं, इसप्रकार संक्षेपमे समवसरणकी रचना समझनी चाहिये ॥ १९२ ॥ भगवान अरहंतदेव स्वभावसे ही पूर्वदिशाकी ओर मुखकरके विराजमान होते हैं अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान होते हैं। भगवान पुण्यरूप जिस समवसरणकी भूमिके मध्यभागमें विराजमान होते हैं उस भूमिके चारोंओर प्रदक्षिणा रूपसे गणधर आदि मुनिजन १ कल्पवासिनी देवियां २ अर्जिकायें और मनुष्योंकी स्त्रियां ३ भवनवासिनी देवियां ४ व्यंतरिणी देवियां ५ ज्योतिष्क देवियां ६ अपने अपने इंद्रोंके साथ कल्पवासी देव ७ भवनवासी देव ८ व्यंतर देव ९ ज्योतिष्क देव १० मनुष्य ११ और पशु १२ ये इन वारह संघोंके अनुक्रमसे वैठनेके स्थान हैं ॥ १९३ ॥ उनमें पहिले कोठेमें अतिशय ज्ञानको धारण करनेवाले गणधर आदि मुनिराज वैठते हैं, दूसरे कोठेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनायें, तीसरे कोठेमें आर्जिका और मनुष्योंकी स्त्रियां, चौथेमें ज्योतिष्क देवोंकी

नजवनिता भावना व्यतराश्च । ज्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरखगभास्तिर्यगोवै' सहामी कोष्ठेष्वक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्राः ॥ १९४ ॥ प्रादुष्यद्वाङ्मयूखैर्विघटिततिमिरो धूतससाररात्रिस्तत्सन्ध्यासधिकल्पा मुहुरपघटयन् क्षीणमोहीमवस्था । सज्ञानोदग्रसादिप्रतिनियतनयोद्वेगसप्तिप्रयुक्तः स्याद्वादस्यदनस्थो भृगमथ रुरुचे भव्यवधुर्जिनार्कः ॥ १९५ ॥ इत्युच्चैः सगृहीता समवसृतिमही धर्मचक्राधिभर्त्त भव्यात्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो भक्ति-

---

देवांगनायें, पाचवेंमें व्यंतरदेवोंकी देवांगनायें, छट्ठेमें भवनवासिनी देवांगनायें, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमें व्यंतर देव, नौवेंमें ज्योतिष्क देव, दशवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि राजा महाराजा तथा साधारण मनुष्य और वारहवेंमें तिर्यचोंका समुदाय बैठता है, इसप्रकार ये जीव भगवानकी भक्तिके भारसे नम्रीभूत होकर भगवानके चारोंओर ऊपर लिखे हुये कोठोंमें बैठते हैं ॥ १९४ तदनंतर प्रगट होते हुये स्याद्वादरूपी वचनोंकी किरणोंसे जिन्होंने समस्त अंधकार दूर कर दिया है, संसाररूपी रात्रि भी जिन्होंने नष्ट कर दी है तथा रात्रिके नष्ट करते समय रात्रि और उदय होनेवाले दिनकी संधिके समान अर्थात् प्रातःकालकी संध्याके समान वारहवें गुणस्थानमें होनेवाली क्षीणमोह अवस्था (जिसमें केवल मोहनीयकर्म नष्ट हुआ है) को भी जिन्होंने नष्ट किया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी अतिशय सामर्थ्यको धारण करनेवाले सारथि सहित तथा अन्यमतियोंके एकांतनयको उद्वेग करनेवाले अनेकांतरूपी घोडोंसे चलते हुये स्याद्वादरूपी रथपर सवार हैं और जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले हैं ऐसे श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य वहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥ इसप्रकार ऊपरलिखे अनुसार जिसका विस्तार है ऐसी धर्मरूपी चक्रके अधिपति भगवान वृषभदेवकी समवसरण भूमिको जो भव्यपुरुष भक्तिसे मस्तक नवाकर तथा मुखसे अनेकप्रकारकी स्तुति करता हुआ स्मरण करता है वह मणियोंके वने हुये मुकुटोंसे शोभायमान ऐसे देवोंके अनेक प्रफुलित पुष्पमालाओंको धारण करनेवाले मस्तकके द्वारा पूज्य, समस्त गुणोंसे भरपूर, समवसरण आदि अनेक

नम्रेण मूर्ध्ना । जैनीं लक्ष्मीमचिन्त्यां सकलगुणमयीं प्राप्नुतेऽसौ महर्द्धिं चूडाभिर्नाकभाजां मणिमकुटजुषामर्चितां स्रग्धराभिः ॥ १९६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशं पर्व ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशं पर्व ।

स जीयाद् वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटाविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥ १ ॥ श्रीमान् भरतराजर्षिर्बुबुधे युगपत्त्रयं । गुरोः कैवल्यसंभूतिं सूतिं च सुतचक्रयोः ॥ २ ॥ धर्मस्थाद्गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः । काञ्चुकीयात्सुतोत्पत्तिं विदामास तदा विभुः ॥ ३ ॥ पर्याकुल इवासीच्च

बडी २ ऋद्धियोंसे सुशोभित और अचिंत्य (जिसे कोई चिंतवन भी नहीं करसकता) ऐसी जिनेंद्रकी लक्ष्मी अर्थात् तीर्थंकरकी पदवीका अवश्य ही अनुभव करता है ॥ १९६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे भगवानके समवसरणकी विभूतिका वर्णन करनेवाला यह तेईसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ चौवीसवां पर्व

अथानंतर—जिसका ज्ञान विषको दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुये इस जगतको बहुत शीघ्र जगा देता है वह वृषभदेव सदा जयवंत हो ॥ १ ॥ राज्य करते हुये भी जो शम दम आदि गुणोंसे ऋषियोंके समान हैं ऐसे महाराज भरतने एक ही साथ अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवके केवलज्ञानका उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होना ये तीनों बातें सुनी ॥ २ ॥ उसने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञानका उत्पन्न होना सुना आयुधशालाकी रक्षा करनेवालेके मुखसे चक्रकी उत्पत्ति सुनी और कंचुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेके समाचार सुने ॥ ३ ॥ वह महाराज तीनों बातें एकसाथ सुनकर क्षणभरकेलिये व्याकुलसा हो गया और सोचनेलगा कि इन तीनोंमेंसे पहिले कौनसा कार्य करना चाहिये ॥४॥ पुण्यतीर्थ तथा चक्रका उत्पन्न

क्षणं तद्योगपद्यतः । किमत्र प्रागनुष्ठेयं संनिधानमिति प्रभुः ॥ ४ ॥ त्रिवर्गफलसंभूतिरक्रमोपनता मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति त्रयी ॥ ५ ॥ तत्र धर्मफलं तीर्थं पुत्रः स्यात्कामजं फल । अर्थानुबंधिनोर्थस्य फल चक्रं प्रभास्वरं ॥ ६ ॥ अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलं । ततो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः ॥ ७ ॥ कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोऽनुबंधि यत् । महाफल च तदेवसेवा प्राथमकल्पिकी ॥ ८ ॥ निश्चिचायेति राजेंद्रो गुरुपूजनमादितः । अहो धर्मात्मना चेष्टा प्रायः पुण्यानुबंधिनी ॥ ९ ॥ सानुजन्मा समेतोऽतःपुरपौरपुरोगमैः । प्राज्यामिज्यां पुरोधाय सज्जोऽभूद्गमनं प्रति ॥ १० ॥ गुरौ भक्तिं परां तन्वन्कुर्वन्धर्मप्रभावना । स भूत्या परयोत्तस्थे भगवद्वंदनाविधौ ॥ ११ ॥ अथ सेनाबुधेः क्षोभमातन्वन्नब्धिनिःस्वनः ।

होना और पुत्र उत्पन्न होना ये तीनों ही धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके फल मुझे एकसाथ ही प्राप्त हुये हैं ॥ ५ ॥ इनमेंसे भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्र उत्पन्न होना कामका फल है और दैदीप्यमान चक्रकी प्राप्ति होना आगामी कालमें अर्थकी प्राप्ति करानेवाले अर्थका फल है ॥ ६ ॥ अथवा यह सब धर्मका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥ ७ ॥ समस्त कार्योंमें सबसे पहिले धर्मकार्य करना चाहिये, क्योंकि धर्मकार्य ही सबतरहके कल्याण प्राप्त करानेवाला है और बडे २ फल देनेवाला है, उन धर्मकार्योंमें भी सबसे पहिले अरहंतदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ ८ ॥ इसप्रकार विचार करते हुये महाराज भरतने सबसे पहिले भगवानकी पूजन करना ही निश्चय किया, सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी क्रियायें प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥ ९ ॥ तदनंतर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अंतःपुरकी रानियां और नगरके बडे २ लोगोंके साथ पूजाकी बडीभारी सामिग्री लेकर चलनेकेलिये तैयार हुआ ॥ १० ॥ वह महाराज भरत भगवानमें परम भक्ति करता हुआ, और धर्मकी प्रभावना करता हुआ बडी विभूतिके साथ भगवानकी बंदना करनेकेलिये उठा ॥ ११ ॥

अथानंतर—सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ तथा दिशाओंमें प्रतिध्वनि उत्पन्न कर-

आनंदपटहो मंद्रं दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥ १२ ॥ प्रतस्थेऽथ महाभागो वदारुर्भरताधिपः । जिनं हस्त्यश्वपादातरथकव्यावृतोऽभितः ॥ १३ ॥ रेजे प्रचलिता सेना ततानकपृथुध्वनिः । वेलेव वारिधेः प्रेङ्खदसंख्यध्वजवीचिका ॥ १४ ॥ तया परिवृतः प्राप स जिनास्थानमंडलं । प्रसर्पत्प्रभया दिक्षु जितमार्तंडमडलं ॥ १५ ॥ परीत्य पूजयन्मानस्तंभानस्यैत्ततः परं । खातां लतावनं सालं वनानां च चतुष्टयं ॥ १६ ॥ द्वितीयं सालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिं । स्तूपान्प्रासादमालां च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥ १७ ॥ ततो दौवारिकैर्देवैः संभ्राम्यद्भिः प्रवेशितः । श्रीमंडपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीं ॥ १८ ॥ ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टयं । लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकां ॥ १९ ॥ ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्व-

---

ता हुआ समुद्रकी गर्जनाके समान आनंदके समयमें वजनेवाले नगाडोंका गंभीर शब्द होने लगा ॥ १२ ॥ महा भाग्यशाली और भरतक्षेत्रका स्वामी वह महाराज भरत वंदना करनेकी इच्छा करता हुआ हाथी, घोडे, पदाति (पैदल) और रथोंके समूहको चारोंओर कर भगवानकी वंदना करनेकेलिये निकला ॥ १३ ॥ उससमय वह चलती हुई सेना समुद्रकी वेलाके समान जान पडती थी क्योंकि फडकती हुई असंख्यात ध्वजायें ही लहरोंके समान जान पडती थीं और सब जगह व्याप्त हुई ऐसी नगाडोंकी बडी भारी आवाज ही गर्जनाके समान जान पडती थी ॥ १४ ॥ इसप्रकार सेनाके साथ २ महाराज भरत सब दिशाओंमें फैलते हुये प्रकाशसे सूर्यमंडलको भी जीतनेवाले भगवानके समवसरणमें जा पहुंचा ॥ १५ ॥ पहिले ही उसने समवसरणकी प्रदक्षिणा दी, फिर मानस्तंभोंकी पूजा की, तदनंतर वहांसे आगे चला और खाई, लतावन, कोट, चारों वन और दूसरे कोटको पारकर ध्वजाओंके समूह, कल्पवृक्षोंके वन, स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंको देखता हुआ वडा ही आश्चर्य करने लगा ॥ १६-१७ ॥ तदनंतर आदर सत्कार करनेवाले ऐसे दरवाजेपर खडे हुये द्वारपालदेवोंने उसे भीतर प्रवेश कराया और वहां जाकर उसने स्वर्गको भी जीतनेवाली श्रीमंडपकी शोभा देखी ॥ १८ ॥ तदनंतर अतिशय शोभायुक्त उस भरतने प्रदक्षिणा देते हुय प्रथम पीठिकापर पहुंच-

जान् । सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥ २० ॥ मध्येगंधकुटीद्धर्द्धि परार्ध्ये हरिविष्टरे । उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्षत ॥ २१ ॥ चलच्चामरसघातवीज्यमानमहातनु । प्रपतन्निर्झरं मेरुमिव चामीकरच्छविं ॥ २२ ॥ महाशोकतरोर्मूले छत्रत्रितयसश्रितं । त्रिधाभूतविधूद्भासिवलाहकमिवाद्रिपं ॥ २३ ॥ पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भ्राजित प्रभु । कल्पद्रुमप्रगलितप्रसूनमिव मंदरं ॥ २४ ॥ नभोव्यापिभिरुद्घोषं सुरदुंदुभिनिस्वनैः । प्रसर्पद्वेलमंभोधिमिव वातविघूर्णितं ॥ २५ ॥ धीरध्वानं प्रवर्षंतं धर्मामृतमतर्कितं । आल्हादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्यमिवाबुद ॥२६॥ स्वदेहविसरज्ज्योत्स्नासलिलक्षा-

---

कर चारों धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥१९॥ उसके बाद उसने अत्यंत प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर विराजमान भगवानकी आठों ध्वजाओंकी पवित्र जल चंदनादि द्रव्योंसे पूजा की ॥ २० ॥ तदनंतर उदयाचल पर्वतके मस्तकपर विराजमान सूर्यके समान गंधकुटीके मध्यभागमें बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान और दैदीप्यमान अनेकप्रकारकी विभूतियोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवको उसने देखा ॥ २१ ॥ ढुरते हुये अनेक चमरोंसे शोभायमान और सुवर्णके समान उनका महा शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिससे अनेक पानीके निर्झरने पड रहे हैं ऐसा मेरुपर्वत ही हो ॥ २२ ॥ महा अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित उनका शरीर ऐसा जान पडता था मानों तीनरूप धारण किये हुये चंद्रमासे शोभायमान ऐसे काले बादलसे मेरुपर्वत ही सुशोभित हो रहा हो ॥२३॥ चारोंओरसे वरसते हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान भगवानका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कल्पवृक्षोंसे गिरे हुये पुष्पोंसे शोभायमान मेरुपर्वत ही हो ॥ २४ ॥ आकाशमें व्याप्त होनेवाले ऐसे देव दुंदुभियोंके शब्दोंकी भारी आवाज ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी उठती हुई लहरें किनारेतक आ रहीं हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥ जो जगतके समस्त प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाली है और जिसका गंभीर शब्द है ऐसी संदेहरहित धर्म्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले अर्थात् दिव्यध्वनि प्रगट करनेवाले भगवान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वर्षाऋ-

लिताखिल । क्षीराब्धिमध्यसंवृद्धमिव भूध्रं हिरण्मयं ॥ २७ ॥ सोऽन्वक्प्रदक्षिणीकृत्य भगवंतं जगद्गुरुं । इयाज यायजूकानां ज्यायान्प्राज्येज्यया प्रभुं ॥ २८ ॥ पूजाते प्रणिपत्येश महीनिहितजान्वसौ । वचःप्रसूनमालाभिरित्यानर्च्च गिरापतिं ॥ २९ ॥ त्व ब्रह्मा परमज्योतिस्त्व प्रभूष्णुरजोऽरजाः । त्वमादिदेवो देवानामधिदेवो महेश्वरः ॥ ३० ॥ त्वं स्रष्टा त्व विधाताऽसि त्वमीशानः पुरः पुमान् । त्वमादिपुरुषो विश्वेट् विश्वराट् विश्वतो मुखः ॥ ३१ ॥ विश्वव्यापी जगद्भर्त्ता विश्वदृग्विश्वभुग्विभुः । विश्वतोऽक्षिमयं ज्योतिर्विश्वयोनिर्वियोनिकः ॥ ३२ ॥ हिरण्यगर्भो भगवान्वृषभो वृषभध्वजः । परमेष्ठी परं

तुका बादल ही हो ॥२६॥ चारोंओर फैलती हुई अपने शरीरकी प्रभारूपी जलसे समस्त सभाको प्रक्षालित करतेहुये वे भगवान ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों क्षीरसागरके मध्यभागमें बढा हुआ सुवर्णका पर्वत ही हो ॥ २७ ॥ इसप्रकार आठ प्रातिहार्य संयुक्त जगतगुरु भगवान वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्तम पूजाकी सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥ २८ ॥ पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घोंटू पृथ्वीपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर बचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी पूजा करने लगा अर्थात् उनकी स्तुति करने लगा ॥ २९ ॥ कि हे भगवन् ! आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले हैं, प्रभूष्णु अर्थात् समर्थ हैं, जन्मरहित तथा पापरहित हैं, सबदेवोंमें मुख्य देव हैं तथा आप ही अधिदेव और महेश्वर हैं ॥ ३० ॥ आप ही स्रष्टा अर्थात् धर्मरूप सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले हैं, विधाता अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं, सबके ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, सबको पवित्र करनेवाले हैं, सबमें आदि पुरुष हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतमें शोभायमान हैं और सब ओर देखनेवाले अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥ ३१ ॥ आप अपने ज्ञानके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतको देखनेवाले हैं, जगतके द्वारा पूज्य हैं, विभु हैं, आप ही संसारमें आत्मरूप ज्योतिस्वरूप हैं, समस्त जीवोंके ज्ञान बढानेमें कारण हैं, योनि अर्थात्

तत्त्वं परमात्मात्मभूरासि ॥ ३३ ॥ त्वमिनस्त्वमधिज्योतिस्त्वमीशस्त्वमयोनिजः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं त्वमच्युतः ॥ ३४ ॥ त्वमक्षरस्त्वमक्षय्यस्त्वमनक्षोऽस्यनक्षर. । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयंभूः स्वयंप्रभः ॥ ३५ ॥ त्वं शभुः शभव· शयुः शवदः शकरो हर. । हरिर्मोहासुरारिश्च तमोऽरिर्भव्यभास्करः ॥३६॥ पुराणः कविरायस्त्व योगी योगविदांवर· । त्व शरण्यो वरेण्योऽग्रयस्त्वं पूतः पुण्यनायकः ॥३७॥ त्व योगात्मा सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरुद्धव. । सूक्ष्मो निरजन. कजसजातो जिनकुंजर. ॥ ३८ ॥ छंदोविच्छन्दसा कर्त्ता वेदविद्वदतांवरः । वाचस्पतिरधर्मारिर्धर्मादिर्धर्मनायकः ॥ ३९ ॥ त्व

जन्म मरण रहित हैं ॥ ३२ ॥ आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् प्रकाशमय हैं, भगवान हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, वृषभकेचिन्हवाली ध्वजासे सुशोभित हैं, परमेष्ठी अर्थात् परमस्थानमें रहनेवाले हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं और आत्मभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये हैं ॥३३॥ हे प्रभो ! आप इन अर्थात् स्वामी हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं, ईश हैं, अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुये हैं, अजर हैं, अनादि हैं, अनंत हैं और अच्युत हैं ॥ ३४ ॥ हे प्रभो ! आप अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षयहोने अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इंद्रियरहित हैं, अनक्षर अर्थात् नित्य अनित्य दोनोंसे रहित हैं, आप ही विष्णु हैं, जिष्णु हैं विजिष्णु हैं, स्वयंभू हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥३५॥ आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, आप ही शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद हैं, शंकर हैं, हर अर्थात् पाप नाश करनेवाले हैं, हरि अर्थात् श्रेष्ठ हैं, मोहरूपी असुरके नाश करनेवाले हैं, अज्ञानरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं और भव्य जीवोंको प्रसन्न करनेकेलिये सूर्यके समान हैं ॥ ३६ ॥ हे प्रभो ! आप सबसे पहिलेके हैं, सबसे प्रथम कवि हैं, योगी हैं, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, सबसे मुख्य हैं, अग्रेसर हैं पवित्र हैं और समस्त पुण्यके स्वामी हैं ॥ ३७ ॥ आप योगात्मा (योगस्वरूप) हैं, सयोगी हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, निरुद्धव अर्थात् संसारका उत्साह नष्ट करनेवाले हैं, सूक्ष्म हैं, निरंजन अर्थात् कर्मरहित हैं, कमलपर विराजमान हैं और जिनकुंजर अर्थात् जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३८ ॥ आप द्वादशांग रूप

जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहारहाः । धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिशुंभनः ॥ ४० ॥ त्वं हि भव्याब्जिनीबंधुस्त्वं हविर्भुक्त्वमध्वरः । त्वं मखांगं मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव च ॥ ४१ ॥ यज्वाज्य च त्वमिज्या च पुण्योऽगण्यो गुणाकरः । त्वमपारिरपारश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥ ४२ ॥ उत्तमोऽनुत्तमो ज्येष्ठो गरिष्ठ. स्थेष्ठ एव च । त्वमणीयान्महीयाश्च स्थवीयान्गरिमास्पद ॥ ४३ ॥ महान्महीयितो मह्यो भूष्णुः स्थास्नुरनश्वरः । जित्वरोऽनित्वरो नित्य. शिवः शांतो भवांतकः ॥ ४४ ॥ त्वं हि ब्रह्मविदा ध्येयस्त्वं हि ब्रह्मपदेश्वरः । त्वां नाममालया देवमित्यभिष्टुमहे वयं ॥ ४५ ॥ अष्टोत्तरशतं नाम्ना-

वेदको जाननेवाले हैं, द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपवेदके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, वाचस्पति अर्थात् वाणीके स्वामी हैं, अधर्मको नाश करनेवाले हैं, धर्मोंमें प्रथम धर्म हैं और धर्मके स्वामी हैं ॥ ३९ ॥ आप जिन हैं, कामको जीतनेवाले हैं, विजयी हैं, पूज्य हैं, घातिया कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं, अंतराय रहित हैं, धर्मकी महिमा बढानेवाले हैं धर्मके पति हैं और कर्मरूप शत्रुको घात करनेवाले हैं ॥ ४० ॥ हे स्वामिन् ! आप भव्यरूपी कमलिनियोंके बंधु अर्थात् सूर्य हैं, कर्मरूप हविको जलानेकेलिये अग्नि हैं, ध्यानरूपी अग्निके द्वारा यज्ञ हैं, यज्ञके कारण हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, यज्ञ करनेवाले हैं और यज्ञमें होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥ ४१ ॥ शुद्ध परिणामोंकी पूजा करनेवाले हैं, अपने शुद्ध परिणामोंसे पूजाकी सामग्रीरूप हैं, पूजा स्वरूप हैं, पुण्यरूप हैं, अगण्य हैं, गुणोंके खजाने हैं, शत्रुरहित हैं, अपार हैं और अमध्यम अर्थात् उत्कृष्ट होकर भी मध्यम अर्थात् केवलज्ञान रूप लक्ष्मीसे सुशोभित हैं, (मध्ये मा केवलज्ञानलक्ष्मीर्यस्य सः) ॥ ४२ ॥ हे प्रभो ! आप उत्तम हैं, अनुत्तम अर्थात् जिससे बढकर और कोई उत्तम न हो ऐसे हैं, ज्येष्ठ हैं, सबसे बडे गुरु हैं, अतिशय स्थिर हैं, अत्यंत सूक्ष्म हैं, अत्यंत बडे हैं, अत्यंत स्थूल हैं और जगतपूज्य हैं ॥४३॥ आप सबसे बडे हैं क्षमागुणसे पृथ्वी ऐसे हैं, पूज्य हैं, होनेवाले हैं, अत्यंत स्थिर हैं, विनाशरहित हैं, विजयी हैं, अचल, नित्य, शिव तथा शांत हैं और संसारको नाश करनेवाले हैं ॥४४॥ हे प्रभो ! ब्रह्म अ-

मित्यनुध्याय चेतसा । त्वामीडे नीडमीडाना प्रातिहार्याष्टकप्रभु ॥ ४६ ॥ तवायं प्रचलच्छाखस्तुंगोऽशोकमहांघ्रिपः । स्वच्छायासंश्रितान्पाति त्वत्तः शिक्षामिवाश्रित. ॥ ४७ ॥ तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः । निर्धुनंतीव निर्व्याजमागोगोमक्षिका नृणा ॥ ४८ ॥ त्वामापतति पग्तिः सुमनोंजलयो दिवः । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाश्रुबिंदव. ॥ ४९ ॥ छत्रत्रितयमाभाति सूच्छ्रितं जिन तावकं । मुक्तालंवनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितं ॥ ५० ॥ तव हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्भवद्धरं । कृतयत्नैरिवोद्वोढुं न्यग्भूयोढं मृगाधिपैः ॥ ५१ ॥ तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः । पुण्या-

---

र्थात् आत्माको जाननेवालोंकेलिये आप ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपदके ईश्वर हैं। हे देव ! इसप्रकार अनेक नामोंसे हम लोग आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४५ ॥ हे भगवन् इसप्रकार एकसौ आठ नामोंके द्वारा चित्तमें आपको स्मरणकर अष्ट प्रातिहार्योंके स्वामी और स्तुतियोंके स्थानभूत ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूं[1] ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! जिसकी शाखायें चलायमान हो रहीं हैं ऐसा यह वहुत ऊंचा अशोक महावृक्ष अपनी छायामें आये हुये जीवोंको इसप्रकार रक्षा करता है मानों इसने आपसे ही शिक्षा पाई हो ॥ ४७ ॥ यक्षोंके द्वारा ऊंचे हाथोंसे ढुरते हुये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों विना ही कारणके मनुष्योंके पापरूप वडी २ मक्खियोंको उडा रहे ही हों ॥ ४८ ॥ हे स्वामिन् आपके चारोंओर स्वर्गसे जो पुष्पांजलियोंकी वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पडती है मानों आपको देखकर संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीकी स्वर्गसे पडती हुई ऐसी हर्षसे उत्पन्न हुई आंसुओंकी बूंदें ही हों ॥४९॥ हे जिनेंद्र ! मोतियोंकी जालियोंसे शोभायमान और ऊंचा लटकता हुआ आपका यह छत्रत्रितय ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों लक्ष्मीके क्रीडा करनेका एक स्थान ही हो ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित

---

१ पहिली दो पुस्तकोंमें " जिनसेनमुनींद्रेण वागडाम्नायशोभिना । शतमष्टोत्तरं नाम्ना कृत कल्याणकृत् नृणा । " अर्थात् ' वागड आम्नायको सुशोभित करनेवाले जिनसेन मुनिने जीवोंको कल्याणकरनेवाले ये एकसौ आठ नाम कहे हैं । यह ४७ नम्बरपर अधिक श्लोक पाया जाता है ।

भिषेकसंभारं लंभयद्भिरिवाभितः ॥ ५२ ॥ तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः । मोहांधतमसं धुन्वँस्त्वं ज्ञानार्कांशुकोपमः ॥ ५३ ॥ प्रातिहार्याण्यहार्याणि तवामूनि चकासति । लक्ष्मीहंस्याः समाक्रीडपुलिनानि शुचीनि वा ॥ ५४ ॥ नमो विश्वात्मने तुभ्य तुभ्य विश्वसृजे नमः । स्वयभुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धिपर्ययैः ॥ ५५ ॥ ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः शुद्धदर्शनं । दानादिलब्धयश्चेति क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥ ५६ ॥ ज्ञानमप्रतिघ

हो रहा है मानों आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपके बोझेको सिंहोंने कुछ टेडे होकर बडे प्रयत्नसे धारण किया हो ॥ ५१ ॥ हे नाथ ! आपके शरीरकी प्रभाका यह समूह समस्त सभामें व्याप्त हो रहा है और वह ऐसा जान पडता है मानों चारोंओरसे जीवोंको पुण्यरूप अभिषेकका समूह ही पहुंचाता हो ॥ ५२ ॥ हे ईश ! आपकी चारोंओर फैलती हुई दिव्यध्वनि मोहरूपी गाढ अंधकारको नष्टकर संसारी जीवोंके मनको पवित्र करती है, इसलिये ही हे प्रभो ! आप ज्ञानरूपी किरणोंको फैलाते हुये सूर्यके समान हैं ॥ ५३ ॥ हे विभो इसप्रकार परमपवित्र और किसीसे हरण न किये जा सकें ऐसे ये आपके आठ प्रातिहार्य ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों लक्ष्मीरूपी हंसिनीके क्रीडा करनेके स्वच्छ नदीके किनारे ही हों ॥ ५४ ॥ हे प्रभो ! ज्ञानके द्वारा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप जगतकी सृष्टि करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे प्राप्त हुई नौ लब्धियोंसे आप स्वयंभू अर्थात् अपनेआप उत्पन्न होनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ५५ ॥ हे विभो ! क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, ये नौ आपकी क्षायिक शुद्धि गिनी जाती हैं ॥ ५६ ॥ हे देव ! जिसकी कुछ भी मर्यादा नहीं है ऐसा आपका ज्ञान भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों कालोंके समस्त द्रव्यपर्यायोंको एक साथ ग्रहण करता है, क्योंकि व्यवधान होना, इंद्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये

विश्वं पर्यच्छैत्सीत्त्वाक्रमात् । त्रय ह्यावरणादेतद्द्वयवधिः करण क्रम. ॥ ५७ ॥ चित्र जगदिदं चित्रं त्वयाऽबोधि यदक्रमात् । अक्रमोऽपि क्वचित् श्लाघ्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥ ५८ ॥ इद्रियेषु समग्रेषु तव सत्स्वप्यतीद्रिय । ज्ञानमासीदचिंत्या हि योगिना प्रभुशक्तयः ॥ ५९ ॥ यथा ज्ञान तथैवाभूत्क्षायिक तव दर्शन । ताभ्या युगपदेवासीदुपयोगस्तवाद्भुत ॥ ६० ॥ तेन त्व विश्वविज्ञेयव्यापिज्ञानगुणोद्भुत: । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयसे ॥६१॥ विश्व विजानतोऽपीश यत्ते न स्तः श्रमक्लमौ । अनतवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्य परिस्फुट ॥६२॥ रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव । विरतिः

तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं, आपका ज्ञानावरण सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये आप समस्त पदार्थोंको मर्यादारहित एक साथ जानते हैं ॥ ५७ ॥ हे प्रभो ! यह एक आश्चर्यकी बात है कि अनेकप्रकारके इस जगतको भी आपने एकसाथ जान लिया, अथवा कहीं कहीं बडे आदमियोंके आश्रयसे अनुक्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय गिना जाता है ॥५८॥ हे स्वामिन् यद्यपि आपके समस्त इंद्रियां विद्यमान हैं तथापि आपका ज्ञान अतींद्रिय अर्थात् विना इंद्रियोंके ही होता है, सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंको योगीलोग भी चिंतवन नहीं कर सकते हैं ॥ ५९ ॥ जिसप्रकार आपका क्षायिक ज्ञान है उसीप्रकार आपका क्षायिक दर्शन है और वे दोनों ही उपयोग आपके एक साथ होते हैं यह भी एक आश्चर्यकी बात है ॥ ६० ॥ हे देव ! इसलिये ही आप जगतके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानगुणसे सुशोभित हैं तथा संसारमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग भी आपकी सर्वज्ञ (सबको जाननेवाले) तथा सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) इन नामोंसे स्तुति करते हैं ॥ ६१ ॥ हे ईश ! संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हुये भी आपको किसी प्रकारका परिश्रम अथवा खेद नहीं होता है यह आपके अनंतवीर्यपनेकी शक्तिका प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥ ६२ ॥ हे विभो ! राग द्वेष आदि चित्तको कलुषित करनेवाले आपके विकार सब नष्ट होगये हैं और उनके नष्ट होनेसे जो आपके विरति अर्थात्

सुखमात्मोत्थं व्यनक्त्यात्यंतिकं विभो ॥ ६३ ॥ विरतिःसुखमिष्टं चेत्सुखं त्वय्येव केवलं । नो चेन्नैरागसुखं नाम किंचिदत्र जगत्त्रये ॥ ६४ ॥ प्रशात-कलुषं तोयं यथेह स्वच्छतां व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्दमापायात् दृक्शुद्धिस्ते तथा मता ॥ ६५ ॥ सत्योऽपि लब्धयः शेषास्त्वयि नार्थक्रियाकृतः । कृतकृत्ये बहिर्द्रव्यसंबधो हि निरर्थकः ॥ ६६ ॥ एवंप्रायो गुणा नाथ भवतोऽनतधा मताः । तानहं लेशतोपीश न स्तोतुमलमल्पधी. ॥ ६७ ॥ तदास्ता ते गुणस्तोत्रं नाममात्रं च कीर्तितं । पुनाति नस्ततो देव त्वां नामोद्देशतः श्रिताः ॥ ६८ ॥ हिरण्यगर्भमाहुस्त्वां यतो वृष्टिर्हिरण्मयी । गर्भावतरणे नाथ

क्षायिक चारित्र उत्पन्न हुआ है वह विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न हुये ऐसे आपके सुखको प्रगट करता है ॥ ६३ ॥ यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त होना ही सुख माना जायगा तब तो वह पूर्ण सुख केवल आपमें ही मानना पडेगा, यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त न होनेको ही सुख माना जायगा तो फिर तीनों जगतमें दुख है ही नहीं, यही मानना पडेगा क्योंकि संसारमें विषय भोगादिकोंसे कोई विरक्त नहीं है इसलिये सबको ही सुखी मानना चाहिये, परंतु संसारी जीव कोई सुखी नहीं है इसलिये विरक्त होना ही सुख है और वह आपमें ही है ॥ ६४ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार मल रहित अर्थात् निर्मल जल स्वच्छताको धारण करता है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचडके नाश होनेसे आपका शुद्ध सम्यक्त्व भी अत्यंत निर्मलता धारण करता है ॥६५॥ हे देव ! यद्यपि दान लाभ भोग उपभोग आदि शेष लब्धियां भी आपके विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि जो कृतार्थ हो चुका है उसके बाह्य पदार्थोंका संबंध होना बिल्कुल व्यर्थ है ॥६६॥ हे नाथ ! ऐसे ऐसे आपके अनंत गुण हैं, हे ईश ! अल्पशक्तिको धारण करनेवाला मैं लेशमात्र भी उन सबकी स्तुति नहीं कर सकता हूं ॥ ६७ ॥ इसलिये हे देव ! गुणोंका स्तोत्र करना दूर ही रहा आपका केवल नाम लेना ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोगोंने केवल आपका नाम लेकर ही आपका आश्रय किया है ॥ ६८ ॥ हे नाथ !

प्रादुरासीत्त्वादभुता ॥ ६९ ॥ वृषभोसि सुरैर्वृष्टरत्नवर्षः स्वसंभवे । जन्माभिषिक्तये मेरुमृष्ट्वानृषभोप्यासि ॥ ७० ॥ अशेषज्ञेयसक्रान्तज्ञानमूर्तिर्यतो भवा-
न् । अतः सर्वगत प्राहुस्त्वां देव परमर्षयः ॥ ७१ ॥ त्वयीत्यादीनि नामानि बिभर्त्यन्वर्थता यत । ततोऽसि त्व जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठी सनातन. ॥ ७२ ॥
त्वद्भक्तिचोदितामेना मामिका धियमक्षमः । धर्त्तुं स्तुतिपथे तेऽद्य प्रवृत्तोस्म्यहमक्षर ॥ ७३ ॥ त्वयोपदर्शितं मार्गमुपास्य शिवमीप्सतः । त्वा देवमित्यु-
पासीनान्प्रसीदानुगृहाण नः ॥ ७४ ॥ भवतमित्यभिष्टुत्य विष्टपातिगवैभवं । त्वय्येव भक्तिमक्रशां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥ ७५ ॥ स्तुत्यंते सुरसघातैरा-

---

आपके गर्भकल्याणके समयमें जगतको आश्चर्य करनेवाली हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वृष्टी हुई थी इसलिये ही लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥ ६९ ॥ आपके जन्म समयमें देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिये ही आप वृषभ कहलाते हैं, तथा जन्माभिषेक करनेके लिये देव लोग आपको मेरु पर्वत पर ले गये थे इसलिये आप ऋषभ कहलाते हैं । (वर्षणात् वृषभः । ऋष्टवान् गतवान् इति ऋषभः) ॥ ७० ॥ हे देव ! चूंकि आप संसारमें जानने योग्य समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले ज्ञानकी मूर्ति ही हैं इसलिये ही बडे २ ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह रहनेवाला कहते हैं ॥ ७१ ॥ हे विभो ! ऊपर कहे हुये नामोंको आदि लेकर अनेक यथार्थ नाम आपमें पाये जाते हैं इसलिये ही आप जगतज्येष्ठ [सबसे बडे] परमेष्ठी और सनातन कहलाते हैं ॥ ७२ ॥ हे अक्षर ! अर्थात् कभी नाश न होनेवाले ! आपकी भक्तिके द्वारा प्रेरणा की हुई इस मेरी बुद्धिको मैं स्वयं ही धारण नहीं कर सका था इसलिये ही मैं आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं । भावार्थ—यद्यपि मैं आपकी स्तुति करने योग्य नहीं हूं तथापि केवल आपकी भक्तिकी प्रेरणासे ही आपकी स्तुति करनेमें मेरी प्रवृत्ति हुई है ॥७३॥ हे प्रभो ! आपके द्वारा उपदेश दिये हुये मोक्षमार्गकी उपासना करके केवल मोक्षकी इच्छा करनेवाले, तथा आपकी उपासना करनेवाले ऐसे हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये और अनुग्रह कीजिये ॥ ७४ ॥ हे देव ! जगतकी विभूतिकी

क्षितो विस्मितेक्षणे. । श्रीमंडप प्रविश्यास्मिन्नध्युवासोचित सद. ॥ ७६ ॥ ततो निभृतमासीने प्रबुद्धकरकुड्मले । सद पद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिलाषुके ॥ ७७ ॥ प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना । विज्ञापनमकारीत्थ तत्त्व जिज्ञासुना गुरोः ॥ ७८ ॥ भगवन् श्रोतुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफल चापि कीदृक्तत्त्वविदावर ॥ ७९ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थ भगवानादितीर्थकृत् । तत्त्व प्रपचयामास गभीरतरया गिरा ॥ ८० ॥ प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काऽप्यभूत् । दर्पणे किमु भावाना विक्रियाऽस्ति प्रकाशने ॥ ८१ ॥ ताल्वोष्ठमपरिस्पदि न च्छायातरमानने । अस्पृष्टकरणा

अपेक्षा बहुत अधिक विभूतिको धारण करनेवाले ऐसे आपकी स्तुति करके हम लोग स्तुतिका केवल फल आपमें ही बडी भारी भक्ति हो यही प्रार्थना करते हैं इसके सिवाय और कुछ नहीं मांगते ॥ ७५ ॥ इसप्रकार स्तुति करचुकनेपर जिसे देवलोग आश्चर्य सहित नेत्रोंसे देख रहे हैं ऐसा वह महाराज भरत श्रीमंडपमें प्रवेशकर अपनी सभामें यथायोग्य स्थानपर बैठगया ॥ ७६ ॥ तदनंतर जब वह सभारूपी सरोवर भगवानसे कुछ भी तत्त्वोंका स्वरूप समझनेकी इच्छा करता हुआ शांत हो गया और सबके हाथ रूपी कुड्मल ऊंचे होगये अर्थात् सबने हाथ जोड लिये उससमय तत्त्वोंको जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयपूर्वक मस्तक नवाकर तथा बडे प्रेमसे भगवान वृषभदेवके सामने इसप्रकार प्रार्थना की ॥७७-७८॥ कि हे भगवन् ! हे तत्त्वोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! तत्त्वोंका स्वरूप कैसा है ? यह जिनमार्ग क्या है और उसका फल कैसा है यह सब मैं सुनना चाहता हूं ॥ ७९ ॥ इसप्रकार जब भरतका प्रश्न समाप्त होगया तब भगवान वृषभदेव अतिशय गंभीर वाणीसे तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥ ८० ॥ जिससमय भगवान तत्त्वोंका स्वरूप कह रहे थे उससमय उनके मुखरूपी कमलमें कुछ भी विकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि दर्पणमें जिससमय पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता है उससमय क्या कोई उसमें विकार होता है, भावार्थ—साधारण वक्ताओंके मुखपर क्रोध आनंद खेद आदि विकार होते हैं

वर्णा मुखादस्य विनिर्ययु. ॥ ८२ ॥ स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुध्वनिसन्निभ । प्रस्पष्टवर्णो निरगात् ध्वनि. स्वायमुवान्मुखात् ॥ ८३ ॥ विवक्षामंतरेणास्य विविक्तासीत्सरस्वती । महीयसामचिंत्या हि योगजाः शक्तिसंपदः ॥ ८४ ॥ आयुष्मन् शृणु तत्त्वार्थान्वक्ष्यमाणाननुक्रमात् । जीवादीन्कालपर्यंतान्सप्रभेदान्सपर्ययान् ॥ ८५ ॥ जीवादीना पदार्थाना याथात्म्य तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानागमेतद्धि विद्धि सिध्यगमगिना ॥ ८६ ॥ तदेक तत्त्वसामान्याज्जीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराज्जीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥ ८७ ॥ जीवो मुक्तश्च ससारी ससार्यात्मा द्विधा मत । भव्योभव्यश्च साजीवास्ते

परंतु भगवानके मुखपर दिव्यध्वानिके समय कुछ भी विकार नहीं होता था ॥ ८१ ॥ उससमय भगवानके मुखसे जो अक्षर निकलते थे उनके निकलनेमें तालु ओठ आदि उच्चारणस्थान भी नहीं हिलते थे, मुखपर कुछ विकार भी नहीं होता था और इंद्रियोंसे कुछ प्रयत्न भी नहीं करना पडता था ॥ ८२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतकी गुफामेंसे प्रतिध्वनि निकलती हैं उसीप्रकार भगवानके मुखसे जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि निकल रही थी ॥ ८३ ॥ बोलनेकी इच्छा न होते हुये भी भगवानके मुखसे वह सरस्वती प्रगट हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि महात्मा पुरुषोंके योगसे उत्पन्न हुईं ऐसी ऐसी शक्तिरूप संपदाओंको कोई भी चिंतवन नहीं कर सकता है ॥ ८४ ॥ भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन् ! [बडी आयुवाले] जीवसे आदि लेकर कालपर्यंत अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये जो छह तत्त्वार्थ वा द्रव्य हैं जिनके भेद और पर्याय अनुक्रमसे आगे कहे हैं उन्हें तू सुन ॥ ८५ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसे तत्त्व कहते हैं, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान होनेका कारण है और इसे ही तू जीवोंके मुक्त होनेका कारण समझ ॥ ८६ ॥ वह तत्त्व सामान्य रीतिसे एकप्रकार है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकार है, तथा जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करनेसे संसारी जीव मुक्तजीव और अजीव ऐसे तीन भेद भी उस तत्त्वके कहे जाते हैं ॥ ८७ ॥ संसारी जीवोंके भी दो भेद होते हैं एक भव्य और

चतुर्धा विभाविताः ॥ ८८ ॥ मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तामूर्तात्मकः परः । इति वा तत्र तत्त्वस्य चातुर्विध्य विनिश्चित ॥ ८९ ॥ पंचास्तिकायभेदे न तत्त्व पचधा स्मृत । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्मा. सपर्ययाः ॥ ९० ॥ त एव कालसंयुक्ताः पोढा तत्त्वस्य भेदका । इत्यनंतो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरैषिणा ॥ ९१ ॥ चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्त्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥ ९२ ॥ गुणवान्कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रज्यास्वभावकः । परिणतोपसहारविसर्पाभ्या प्रदीपवत् ॥ ९३ ॥ तस्येमे मार्गणोपाया गत्यादय उदाहृता. । चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽत्र मृग्यः सदादिभिः

दूसरा अभव्य, इसप्रकार संसारी जीवोंके दो भेद करनेसे भव्यजीव, अभव्यजीव, मुक्तजीव और अजीव इसप्रकार उस तत्त्वके चार भेद भी होते हैं ॥ ८८ ॥ अथवा जीवोंके दो भेद हैं संसारी और मुक्त, तथा अजीवोंके भी दो भेद हैं एक मूर्त्त और दूसरे अमूर्त्त, इसप्रकार भी तत्त्वके चार भेद निश्चय किये जाते हैं ॥ ८९ ॥ पांच अस्तिकायोंके भेदसे उस तत्त्वके पांच भेद होते हैं, अपनी अपनी पर्यायों सहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥ ९० ॥ उन्हीं पांचों अस्तिकायोंमें कालके मिलानेसे तत्त्वके छह भेद भी होते हैं, इसप्रकार इस तत्वके अनंत भेद होते हैं, विस्तार जाननेवालोंको उन सबका विस्तार जानलेना चाहिये ॥ ९१ ॥ जिसमें चैतन्य शक्ति हो उसे जीव कहते हैं, वह अनादि अनिधन है अर्थात् न तो कभी उत्पन्न हुआ है, अनादि कालसे बराबर है, और न उसका कभी नाश होगा, सदा बना रहेगा, तथा वह जीव जाननेवाला है, देखनेवाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है और शरीरके प्रमाणके बराबर है ॥ ९२ ॥ उसमें अनेक गुण हैं, कर्मोंके नाश होनेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है, वह परिणमनशील है और दीपकके प्रकाशके समान संकोच और विस्ताररूप हो जाता है अर्थात् कर्मके उदयसे छोटा बडा जैसा शरीर पाता है उतना ही बडा हो जाता है ॥ ९३ ॥ उस जीवका स्वरूप जाननेकेलिये गति आदि चौदह मार्गणायें निरूपण की हैं अर्थात् मार्गणाओंसे जीव-

॥ ९४ ॥ गतींद्रिये च कायश्च योगवेदकषायकाः । ज्ञानसंयमदृग्लेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञिनः ॥ ९५ ॥ सममाहारकेण स्युर्मार्गणास्थानकानि वै । सोन्वेष्यस्तेषु सत्संख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः ॥ ९६ ॥ सत्संख्याक्षेत्रसस्पर्शकालभावान्तरैरयं । बहुत्वाल्पत्वतश्चात्मा मृग्य स्यात्स्मृतिचक्षुपा ॥ ९७ ॥ स्युरिमेऽधिगमोपाया जीवस्याधिगम पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपैरवसेयो मनीषिभि. ॥ ९८ ॥ तस्यौपशमिको भाव. क्षायिको मिश्र एव च । स्वतत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि ॥ ९९ ॥ निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यता । द्वेधा तस्योपयोगः स्यात् ज्ञानदर्शनभेदतः ॥ १०० ॥ ज्ञानमष्टतय ज्ञेयं

का स्वरूप जाना जाता है, इसीप्रकार चौदह गुणस्थान और सत् संख्या आदिके द्वारा भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९४ ॥ गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक ये चौदह मार्गणास्थान कहलाते हैं, इन चौदह मार्गणाओंमें सत् संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेष रीतिसे उस जीवका स्वरूप जानना चाहिये ॥ ९५-९६ ॥ सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग कहलाते हैं, सिद्धांतशास्त्रको जाननेवाले भव्य जीवोंको इनके द्वारा जीवका स्वरूप समझ लेना चाहिये ॥ ९७ ॥ इसप्रकार मार्गणास्थान गुणस्थान और सत् संख्या आदि अनुयोग ये सब जीवादि पदार्थोंके जाननेके उपाय हैं, इनके सिवाय विद्वान् लोगोंको प्रमाण, नय और नाम स्थापना द्रव्य भाव इन निक्षेपोंसे भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९८ ॥ औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकभाव तथा औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके निज तत्त्व कहलाते हैं ॥ ९९ ॥ इन गुणोंसे जो निश्चय किया जाय उसे जीव कहते हैं, उस जीवका उपयोग अर्थात् परिणामविशेष दो प्रकार है एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग ॥ १०० ॥ उसमेंसे ज्ञानके आठ भेद हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति कुश्रुत और कुअवधि । दर्शनोपयोगके चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल, इन दोनोंमें भी ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार

दर्शन च चतुष्टय । साकारं ज्ञानमुद्दिष्टमनाकारं च दर्शनं ॥ १०१ ॥ भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया । सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शन ॥ १०२ ॥ जीवः प्राणी च जंतुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा । पुमानात्मांतरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥ १०३ ॥ यतो जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्धः स्तात्द्भूतपूर्वतः ॥ १०४ ॥ प्राणा दशाऽस्य सतीति प्राणी जंतुश्च जन्मभाक् । क्षेत्रं स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात्स तथोच्यते ॥ १०५ ॥ पुरुषः पुरुभोगेषु शयनात्परिभाषितः । पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते ॥ १०६ ॥ भवेष्वतति सातत्यादेतीत्यात्मा

अर्थात् आकार रहित होता है ॥ १०१ ॥ घडा, कपडा लोटा थाली आदि भिन्न २ पदार्थोंमें भेद ग्रहण करनेको आकार कहते हैं उस आकारसाहित जो हो वह साकार ज्ञान कहलाता है, तथा जिसमें पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास हो किसी भेदका ग्रहण न हो उसे निराकार अर्थात् आकार रहित दर्शन कहते हैं ॥ १०२ ॥ जीव, प्राणी, जंतु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अंतरात्मा, ज्ञ, और ज्ञानी ये सब जीवके ही पर्याय वाचक शब्द हैं ॥ १०३ ॥ जो वर्तमानकालमें भी किसी जन्ममें जीवित है, पहिले भी अनेक जन्मोंमें जीवित था और जो आगे भी अनेक जन्मोंमें जीवित रहेगा उसे जीव कहते हैं । सिद्ध परमात्मा पहिले भूतकालमें जीवित थे इसलिये वे भी जीव कहलाते हैं ॥ १०४ ॥ पांच इंद्रिय, मन, बचन, काय, आयु, और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण कहलाते हैं, यह जीव इन प्राणोंको धारण करता है इसलिये वह प्राणी कहलाता है, वह बार बार जन्म लेता है इसलिये जंतु कहलाता है, आत्माके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं, यह आत्मा अपने स्वरूपको जानता है इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १०५ ॥ यह जीव पुरु अर्थात् अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंमें शयन करता है अर्थात् तल्लीन रहता है इसलिये इसे पुरुष कहते हैं, तथा यह अपने आत्माको ही पवित्र करता है, इसलिये पुमान् कहलाता है ॥ १०६ ॥ यह जीव नर नारक आदि अनेक भवोंमें निरंतर गमन करता रहता है इसलिये आत्मा कहलाता है, और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंसे यह ढका

निरुच्यते । सोऽन्तरात्माष्टकर्मांतर्वर्तित्वादभिलप्यते ॥ १०७ ॥ ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः । पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्ज्ञेयोऽन्यैश्च तद्विधैः ॥ १०८ ॥ शाश्वतोऽय भवेज्जीवः पर्यायास्तु पृथक्पृथक् । मृद्द्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्तिविपत्तयः ॥ १०९ ॥ अभूत्वा भाव उत्पादो भूत्वा वाभवनं

हुआ है, इसलिये इसे अंतरात्मा भी कहते हैं ॥ १०७ ॥ इस जीवमें ज्ञान गुण पाया जाता है इसलिये ज्ञ कहलाता है और उसी ज्ञान गुणसे इसे ज्ञानी कहते हैं, इसप्रकार ऊपर कहे हुये पर्याय शब्दोंसे तथा ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक पर्याय शब्दोंसे जीवका स्वरूप समझना चाहिये ॥ १०८ ॥ जिसप्रकार मिट्टी यद्यपि नित्य है तथापि पर्यायोंके द्वारा वह उत्पन्न भी होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है, जब वह मिट्टी घटरूप परिणत होती है तब घटकी उत्पत्ति मानी जाती है तथा जब घटकी पर्याय बदलकर कपालरूप (घटके टुकडे) परिणत होती है तब घटका नाश और कपालकी उत्पत्ति मानी जाती है, मिट्टी सब अवस्थाओंमें विद्यमान है। इसीप्रकार यह जीव भी नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता है तथापि मनुष्य देव आदि उसकी पर्यायें भिन्न भिन्न हैं, तथा उत्पन्न नष्ट भी होती रहती हैं ॥ १०९ ॥ जो भाव वा अवस्था पहिले नहीं थी फिर उत्पन्न हुई उसे उत्पाद कहते हैं जैसे मिट्टीका घडा बन जाना, तथा जो अवस्था मौजूद है उसका अभाव वा नाश हो जाना व्यय कहलाता है जैसे घडेके बननेके पहिले मिट्टीकी जो अवस्था थी उसका नाश हो जाना। इसीप्रकार ज्योंके त्यों बने रहनेको ध्रौव्य कहते हैं जैसे घडा कपाल आदि सब अवस्थाओंमें मिट्टीका बना रहना। ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ जिसमें पाये जायं उसे द्रव्य कहते हैं। आत्मामें भी ये तीनों पाये जाते हैं क्योंकि देव पर्यायका नाश होता है. मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है। अथवा मनुष्यपर्यायका विनाश होता है सिद्धपर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है। इसप्रकार उत्पाद व्यय और

व्ययः । ध्रौव्यं तु तादवस्थ्य स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥ ११० ॥ एव धर्माणमात्मानमजानानाः कुदृष्टयः । बहुधाऽत्र विमन्वाना विवदंते परस्परं ॥१११॥ नास्त्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्त्वनित्य इति स्थिता. । न कर्त्तेत्यपरे केचिदभोक्तेति च दुर्दृशः ॥ ११२ ॥ अस्त्यात्मा किंतु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छति केचन ॥ ११३ ॥ इत्यादिदुर्णयानेतानपास्य सुनयान्वयात् । यथोक्तलक्षण जीव त्वमायुष्मन्विनिश्चिनु ॥ ११४ ॥ संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वय मत । संसारश्चतुरंगेऽस्मिन्भवावर्त्ते विवर्तन ॥ ११५ ॥ निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनतसुखात्मकः ।

ध्रौव्य ये तीनों आत्मामें पाये जाते हैं इसलिये आत्मा द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ११० ॥ इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप आत्माको नहीं जानते हुये कितने ही मिथ्यादृष्टी उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्पर विवाद करते हैं ॥ १११ ॥ चार्वाक आदि कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है । कोई (विज्ञानवादी) कहते हैं आत्मा है तो सही परंतु वह अनित्य है, कोई (सांख्य) कहते हैं वह कर्ता नहीं है और कोई मिथ्यादृष्टी (वेदांती) कहते हैं वह भोक्ता नहीं है ॥ ११२ ॥ कोई मानते हैं कि आत्मा तो है परंतु उसकी मोक्ष नहीं होती, तथा कोई कहते हैं कि आत्मा भी है और उसकी मोक्ष भी होती है परंतु मोक्ष प्राप्त होनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ११३ ॥ इसलिये हे आयुष्मान् भरत ! ऊपर लिखे अनुसार मिथ्यानयोंके अनेक भेद हैं, उन सबको छोडकर यथार्थ नयोंके द्वारा जिसका स्वरूप ऊपर कहा है ऐसे जीव पदार्थको तू निश्चय समझ ॥ ११४ ॥ उस जीवकी दो अवस्थायें हैं एक संसारी जीव दूसरा मोक्ष जीव, जो नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतियोंमें जन्ममरणरूप भँवरमें पडकर परिभ्रमण करता है वह संसारी जीव कहलाता है ॥ ११५ ॥ तथा जिसके समस्त कर्म नष्ट होगये हैं और जो अनंत सुखस्वरूप है वह मुक्त जीव कहलाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका मिलना ही मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥ ११६ ॥ आप्त अर्थात् अरहंत देव, अरहंत देवका

सम्यग्विशेषणज्ञानदृष्टिचारित्रसाधनः ॥ ११६ ॥ आप्तागमपदार्थानां श्रद्धान परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं प्रथम मुक्तिसाधनं ॥ ११७ ॥ ज्ञानं जीवादिभावाना याथात्म्यस्य प्रकाशकं । अज्ञानध्वान्तसतानप्रक्षयानंतरोद्भव ॥ ११८ ॥ माध्यस्थलक्षण प्राहुश्चारित्र वितृषो मुनेः । मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत् ॥ ११९ ॥ त्रयं समुदितं मुक्ते. साधन दर्शनादिक । नैकांगविकलत्वेऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥ १२० ॥ सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदं । ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासान्निध्ये मुक्तिकारणं ॥ १२१ ॥ चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतं । प्रपातायैव तद्धि स्यादधस्येव विव-

---

कहा हुआ शास्त्र और जीव अजीव आदि यथार्थ पदार्थोंका प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षका मुख्य कारण है ॥ ११७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाश करनेवाला और अज्ञान वा मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारकी संतानपरंपराके नष्ट होनेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ ११८ ॥ जो मुनि तृष्णा रहित है, मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, समस्त परिग्रह रहित है और अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंको धारण करनेवाला है उसके जो इष्ट अनिष्ट आदि पदार्थोंमें राग और द्वेषका त्यागकर मध्यस्थभावोंका धारण करना है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिले हुये मोक्षके कारण होते हैं, यदि इनमेंसे एक भी कम हो तो फिर उनसे मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कभी नहीं होती है ॥ १२० ॥ सम्यग्दर्शनके होते हुये ही ज्ञान और चारित्र फलदायी होते हैं, इसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रके होते हुये ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ १२१ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र भी कुछ फल देनेवाला नहीं होता किंतु उलटा वह जीवोंको नरक तिर्यंच आदि नीच गतियोंमें ढकेलनेवाला होता है सो ठीक ही है क्योंकि यदि अंधा पुरुष दौडनेका साहस करेगा तो वह कहीं न कहीं गिरेगा ही ॥ १२२ ॥ इन तीनोंमेंसे कोई २ तो अलग अलग एक एकसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं और कोई २

लिगतं ॥ १२२ ॥ विष्वेकद्वयाविश्लेपादुद्भूता मार्गदुर्णयाः । पोढा भवंति मूढानां तेष्यत्र विनिपातिताः ॥ १२३ ॥ इतो नाधिकमस्त्यन्यन्नाभूनैव भविष्यति । इत्याप्तादित्रये दार्ढ्याद्दर्शनस्य विशुद्धिता ॥ १२४ ॥ आप्तो गुणैर्युतो धूतकलंको निर्मलाशय । निष्ठितार्थो भवेत्सार्वस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १२५ ॥ आगमस्तद्वचोऽशेपपुरुषार्थानुसाशन । नयप्रमाणगभीरं तदाभासोऽसता वचः ॥ १२६ ॥ पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः ।

दो दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, अर्थात् कोई अकेले दर्शनसे, कोई अकेले ज्ञानसे, कोई अकेले चारित्रसे, कोई दर्शन ज्ञान दोसे, कोई दर्शन चारित्र इन दोसे और कोई ज्ञान चारित्र इन दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, इसप्रकार मूर्ख लोगोंने मिथ्यानयोंके द्वारा मोक्षमार्गके छह भेद कल्पना किये हैं परंतु उन सब का निराकरण ऊपर लिखे कथनसे होता है, भावार्थ—तीनों मिले हुये ही मोक्षके कारण हैं भिन्न भिन्न नहीं ॥ १२३ ॥ जैनधर्ममें ओ कुछ आप्त आगम और पदार्थोंका स्वरूप कहा है उससे अधिक वा कम न तो है, न कभी पाहिले था और न कभी आगे होगा, इस प्रकार आप्त आगम और पदार्थोंमें दृढता वा मजबूती रखना सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता कहलाती है, ॥१२४॥ जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य इन गुणोंका धारण करनेवाला हो, घातिया कर्म रूपी कलंकसे रहित हो, जिसका आशय निर्मल हो अर्थात् वीतराग हो, कृत कृत्य हो और सबका भला करनेवाला अर्थात् हितोपदेशी हो वह आप्त कहलाता है, जिसमें ये ऊपर लिखे हुये लक्षण नहीं पाये जायँ वह आप्ताभास वा अनाप्त (कुदेव) कहलाता है ॥१२५॥ जो आप्तका कहा हो, धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूपका उपदेश देनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गंभीर हो उसे आगम कहते हैं, जो आप्तका कहा हुआ नहीं है किसी साधारण पुरुषका कहा हुआ है वह आगमाभास वा कुशास्त्र कहलाता है, ॥१२६॥ पदार्थोंके दो भेद हैं एक जीव दूसरा अजीव । उसमेंसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तनिों धर्म जिसमें पाये जायँ उसे जीव कहते हैं यह बात पहिले

यथोक्तलक्षणो जीवास्त्रिकोटिपरिणामभाक् ॥ १२७ ॥ भव्याभव्यौ तथा मुक्त इति जीवास्त्रिधोदितः । भविष्यात्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ॥१२८॥ अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादंधपाषाणसन्निभः । मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ १२९ ॥ कर्मबंधननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः । सिद्धो निरंजनः प्रोक्तः प्राप्तानंतसुखोदयः ॥ १३० ॥ इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः । अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीधन ॥ १३१ ॥ अजीवलक्षणं तत्त्व पंचधैवं प्रपच्यते । धर्माधर्मावथाकाश काल· पुद्गल इत्यपि ॥ १३२ ॥ जीवपुद्गलयोर्यत्स्याद्गत्युपग्रहकारण । धर्मद्रव्य तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥ १३३ ॥ गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ ॥ १३४ ॥ यथा मत्स्यस्य गमन विना नैवाम्भसा भवेत् ।

भी कह चुके हैं ॥१२७॥ भव्य अभव्य और मुक्त ऐसे जीवके तीन भेद हैं, जिसप्रकार कनकपाषाण शुद्ध करनेसे सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार जो आगामी कालमें सिद्ध हो सके उसे भव्य कहते हैं ॥१२८॥ तथा जिसप्रकार अंधपाषाण शुद्ध करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसीप्रकार जो कभी सिद्ध न हो सके उसे अभव्य कहते हैं। अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी प्राप्त नहीं होती है ॥ १२९ ॥ जो आठों कर्मोंसे रहित हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं, अज्ञान रहित हैं और जिन्हें अनंत सुख प्राप्त हुआ है उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १३० ॥ इस प्रकार हे बुद्धिमन्। संक्षेपसे जीव पदार्थका स्वरूप तुझसे कहा। अब अजीव तत्वका स्वरूप कहता हूं सो भी सुन ॥१३१॥ धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्वके पांच भेद निरुपण किये हैं॥ १३२ ॥ जो जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक हो उसे धर्म द्रव्य कहते हैं, तथा जो जीव और पुद्गलोंको स्थिति अर्थात् ठरनेमें कारण हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं ॥ १३३ ॥ गमन करना और ठहरना ये जीव और पुद्गल दोनोंका स्वभाव है इसलिये जब ये दोनों गमन करते हैं तब धर्मद्रव्य सहायक हो जाता है और जब ठहरते हैं तब अधर्म सहायक हो जाता है। धर्म और अधर्म ये दोनों ही द्रव्य गमन करने और ठहरनेके लिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करते हैं ॥ १३४ ॥ जिस

न चाभः प्रेरयत्येनं तथा धर्मेऽस्त्यनुग्रहः ॥ १३५ ॥ तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः । न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ च स्थितिकारणं ॥ १३६ ॥ तथैवाधर्मकायोपि जीवपुद्गलयोः स्थितिं । निर्वर्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥ १३७ ॥ जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणं । यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियं ॥ १३८ ॥ वर्तनालक्षणः कालो वर्तना स्वपराश्रया । यथास्वं गुणपर्यायैः परिणेतृत्वयोजना ॥ १३९ ॥ यथा कुलाल-

प्रकार गमन करनेकी शक्ति मछलीमें है परंतु वह विना पानीके गमन नहीं कर सकती, पानीके सहारे से ही चलती है, पानी चलनेके लिये उसे प्रेरणा भी नहीं करता है, जब मछली अपने आप चलती है तब वह केवल उसकी सहायता कर देता है। ठीक इसी प्रकार धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक होता है वह कभी किसीको चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता है। ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार कोई रास्ता चलनेवाला पथिक किसी वृक्षकी छाया देखकर यदि ठहरना चाहता है तो उसकी स्थितिमें वह छाया सहायता करती है, किसी भी पथिकको अपने यहां ठहरनेके-लिये कोई छाया कभी भी प्रेरणा नहीं करती, परंतु स्थितिमें सहायक अवश्य होती है, ठीक इसीप्रकार अधर्म द्रव्य भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहकारी कारण होता है वह स्वयं ठहरनेकेलिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करता है ॥ १३६-१३७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंको जो ठहरनेकेलिये जगह दे उसे आकाश कहते हैं, उस आकाशको कोई स्पर्श नहीं कर सकता, वह अमूर्त्त है, सर्वत्र व्याप्त है और क्रिया रहित है ॥ १३८ ॥ जिसका वर्तना लक्षण हो उसे काल कहते हैं, वह वर्तना कालके आश्रय है और कालसे भिन्न जीव अजीव आदि पदार्थोंके भी आश्रय हैं, काल जीव पुद्गल आदि पदार्थ जो अपने २ गुण पर्यायोंसे सदा परिणमनशील होते रहते हैं उन सब पदार्थोंके परिणमनमें जो सहकारी कारण है उसे वर्तना वा काल कहते हैं ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार कुंभारके चाकके फिरनेमें ' चाकके नीचेकी शिला वा कीली कारण है ' यद्यपि फिरनेकी

चक्रस्य भ्रमणेऽधःशिला स्वयं । धत्ते निमित्ततामेवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥ १४० ॥ व्यवहारात्मकात्कालान्मुख्यकालविनिर्णयः । मुख्ये सत्येव गौण-स्य बाल्हीकादेः प्रतीतितः ॥१४१॥ स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितैः । ज्ञेयोऽन्योन्यमसकीर्णैं रत्नानामिव राशिभिः ॥ १४२ ॥ प्रदेशप्रच-यायोगादकायोऽयं प्रकीर्तितः । शेषाः पचाऽस्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥ १४३ ॥ धर्माऽधर्मवियत्कालपदार्थो मूर्तिवर्जिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्र-

शक्ति चाकमें है चाक ही फिरता है परंतु वह बिना नीचेकी कीलीके फिर नहीं सकता, इसीप्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप परिणमन होते रहते हैं उनके परिणमनमें काल निमित्त कारण है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है ॥ १४० ॥ वह काल दो प्रकारका है एक व्यवहारकाल और दूसरा निश्चयकाल, घडी घंटा आदि व्यवहार काल कहलाता है, इसी व्यवहार कालसे निश्चय कालका निश्चय होता है, क्योंकि किसी मुख्य पदार्थके रहते हुये ही गौण पदार्थकी प्रतीति होती है, जैसे जब बाल्हीक नामका कोई देश प्रसिद्ध है तब वहांके रहनेवालोंको बाल्हीक [म्लेच्छ] कह सकते हैं, यदि बाल्हीक नामका कोई देश न होता तो वहांके रहनेवालोंको भी बाल्हीक नहीं कह सकते थे, इसीप्रकार जब निश्चय काल कोई पदार्थ है तब ही घडी घंटा आदि पर्यायरूप व्यवहार कालकी प्रतीति होती है, यदि वह न होता तो व्यवहार काल भी नहीं हो सकता था ॥ १४१ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं जितने लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या है उतने ही निश्चयकालके प्रदेश हैं और वे लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक करके स्थित हैं तथा रत्नोंकी राशिके समान परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते हैं उन्हीं प्रदेशोंसे निश्चयकाल जाना जाता है ॥ १४२ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते अर्थात् वह कभी बहुप्रदेशी नहीं होता सदा एकप्रदेशी ही रहता है इसलिये वह अकाय वा कायरहित कहा जाता है, कालको छोडकर शेष पांच द्रव्योंके प्रदेश आपसमें मिले हुये हैं वा मिल

व्यं तस्य भेदानितः शृणु ॥ १४४ ॥ वर्णगंधरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । पूरणाद्गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥ १४५ ॥ स्कंधाऽणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कंध इष्यते ॥ १४६ ॥ द्व्यणुकादिर्महास्कंधपर्यंतस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥ १४७ ॥ अणवः कार्यलिंगाः स्युर्द्विस्पर्शाः परिमंडलाः । एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥ १४८ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः

जाते हैं अर्थात् शेष पांच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इसलिये वे पांचो अस्तिकाय कहलाते हैं ॥१४३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो पदार्थ अमूर्त्त हैं, एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है, आगे उसी पुद्गलके भेद कहते हैं, सो हे वत्स ध्यानसे सुन ॥ १४४ ॥ जिसमें वर्ण गंध रस और स्पर्श ये चार गुण पाये जाँय उन्हें पुद्गल कहते हैं, जो पूरणगलनस्वभाव हो अर्थात् जो परमाणु वा गुणोंके घटने बढनेसे घटता बढता रहे उसे पुद्गल कहते हैं इसप्रकार पुद्गल यह अन्वर्थक वा यथार्थ नाम सिद्ध होता है ॥ १४५ ॥ उस पुद्गलके दो भेद हैं एक स्कंध और दूसरा अणु । उनमेंसे जो स्निग्ध (चिकने) वा रूक्ष (रूखे) परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे समुदाय वा समूह होता है उसे स्कंध कहते हैं ॥ १४६ ॥ दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक नामका स्कंध होता है, तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुक नामका स्कंध होता है, इसीप्रकार चार पांच संख्यात असंख्यात अनंत और अनंतानंत परमाणुओंके मिलनेसे महास्कंधतक अनेक प्रकारके स्कंध होते हैं, तथा छाया, आतप, अंधकार, चांदनी बादल आदि अनेक भेद प्रभेद पुद्गलोंके होते हैं ॥ १४७ ॥ परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं वे इंद्रियोंसे नहीं जाने जाते । घट पट आदि उनके कार्य दिखाई देते हैं इसलिये वे अनुमानसे सिद्ध किये जाते हैं, उन परमाणुओंमें कोई भी अविरुद्ध दो स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक रस और एक गंध रहता है, वे परमाणु गोल और नित्य हैं, तथा पर्यायोंसे अनित्य भी हैं ॥ १४८ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये पुद्गलोंके सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, स्थूलसूक्ष्म,

सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे । स्थूलसूक्ष्मात्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥ १४९ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकः स्याददृश्योऽस्पृश्य एव च । सूक्ष्मास्ते कर्मणः स्कंधाः प्रदेशानंत्ययोगतः ॥ १५० ॥ शब्दः स्पर्शो रसो गंधः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते । अचाक्षुषत्वे सत्येषामिंद्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ १५१ ॥ स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः । चाक्षुषत्वेऽप्यसंहार्यरूपत्वादविघातकाः ॥ १५२ ॥ द्रवद्रव्यं जलादि स्यात् स्थूलभेदे निदर्शनं । स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यः स्कंधः प्रकीर्तितः ॥ १५३ ॥ इत्यमीषां पदार्थानां याथात्म्यमविपर्ययात् । यः श्रद्धत्ते स भव्यात्मा परब्रह्माधिगच्छति ॥ १५४ ॥ तत्त्वार्थसं-

---

स्थूल और स्थूलस्थूल ये छह भेद होते हैं ॥ १४९ इनमेंसे परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है, कर्मवर्गणाओंका समूह सूक्ष्म है, क्योंकि यद्यपि वह न देखा जाता है और न स्पर्श किया जाता है तथापि वह अनंतानंत प्रदेशोंका समूह है, इसलिये सूक्ष्म कहलाता है ॥ १५० ॥ शब्द, स्पर्श, गंध और रस ये सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं, क्योंकि यद्यपि इनको आंखोंसे नहीं देख सकते तथापि स्पर्शन रसना आदि अन्य इंद्रियोंसे इन्हें जान सकते हैं इसलिये इनमें मुख्यतासे सूक्ष्मता और गौणतासे स्थूलता होनेसे सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं ॥१५१॥ छाया चांदनी आतप आदि पदार्थ जो आंखोंसे दिखाई तो देते हैं परंतु एक जगह इकट्ठे नहीं किये जा सकते अथवा जिनका घात वा ताडना नहीं हो सकती इसलिये जो विघात रहित हैं वे स्थूलसूक्ष्म कहलाते है, उनमें स्थूलता मुख्यतासे और सूक्ष्मता गौणतासे रहती है ॥ १५२ ॥ दूध पानी आदि जो पतले पदार्थ हैं जो अलग करनेपर भी मिल सकते हैं उन्हें स्थूल कहते हैं तथा पत्थर पृथ्वी आदि जो भेदन करने योग्य स्कंध हैं जो भिन्न होकर मिल नहीं सकते वे स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥ १५३ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं जो भव्यपुरुष इन द्रव्योंका विपरीत रहित यथार्थ श्रद्धान करता है वह अवश्य ही उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप सिद्धगतिको प्राप्त होता है ॥ १५४ ॥ इसप्रकार महाज्ञानी भगवान वृषभदेवने भरतकेलिये समस्त त-

ग्रह कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विदाम्वर । कानिचित्तत्त्वबीजानि पुनरुद्देशतो जगौ ॥ १५५ ॥ पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बंधमोक्षौ तयो र्हेतुं बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ॥ १५६ ॥ त्रिजगत्समवस्थानं नरकप्रस्तरानपि । द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मायुगादिशत् ॥ १५७ ॥ त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवायुर्भोगविस्तरं । ब्रह्मस्थानमपि श्रीमान् लोकनाडीं च सजगौ ॥ १५८ ॥ तीर्थेशानां पुराणानि चक्रिणामर्द्धचक्रिणां । तत्कल्याणानि तद्धेतूनप्याचख्यौ जगद्गुरुः ॥ १५९ ॥ गतिमागतिमुत्पत्तिं च्यवनं च शरीरिणां । भुक्तिमृद्धिं कृतं चापि भगवान्व्याजहार सः ॥ १६० ॥ भवद्भावि भविष्यद्भूतं च यत्सर्व-

---

स्वार्थोंका स्वरूप कहा और संक्षेपसे फिर भी कुछ तत्वोंका रहस्य कहने लगे ॥ १५५ ॥ उन्होंने आत्माका स्वरूप कहा, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ बतलाये, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग बतलाया, उस मार्गका स्वर्ग मोक्ष आदि फल बतलाया, बंध, बंधके कारण, मोक्ष, मोक्षके कारण बतलाये तथा कर्मसहित संसारी जीवका स्वरूप और मुक्त जीवका स्वरूप बतलाया ॥ १५६ ॥ इसीप्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, असंख्यात द्वीप, समुद्र कुलाचल, ह्रद आदि सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥ १५७ ॥ श्रीमान् वृषभदेवने स्वर्गोंके तिरेसठ पटल, देवोंकी आयु, देवोंके भोगोपभोगोंका वर्णन, मोक्षस्थान और लोकनाडी आदि सबका स्वरूप कहा ॥ १५८ ॥ जगतगुरु भगवानने तीर्थंकरोंके पुराण, चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकोंके पुराण, तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणक तथा पांचों कल्याणक प्राप्त होनेकी कारण ऐसी सोलह भावनाओंका स्वरूप कहा ॥ १५९ ॥ भगवानने परलोक गमन, इसलोकमें आगमन, जीवोंका जन्म, मरण, भोग उपभोग आदि सुख अथवा छहों खंड पृथ्वीका भोग, मुनियोंकी ऋद्धियां अथवा चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकी विभूतियां तथा जीवोंके करने योग्य काम और न करने योग्य काम आदि सबका उपदेश दिया ॥ १६० ॥ सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान वृषभदेवने भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल संबंधी द्रव्योंका सब स्वरूप अर्थात् समस्त द्रव्योंकी जो अवस्थायें हो चुकी हैं, हैं, और होगीं

द्रव्यगोचरं । तत्सर्वं सर्ववित्सार्वो भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥१६१॥ श्रुत्वेति तत्त्वसद्भावं गुरोः परमपूरुषात् । प्रल्हाद परमं प्राप भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१६२॥ ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कला । निष्कलाद्भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ॥ १६३ ॥ प्रबुद्धो मानसीं शुद्धिं परमा परमर्पितः । संप्राप्य भरतो रेजे शरदीवाबुजाकर ॥ १६४ ॥ स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायका । व्रतशीलावलीं मुक्ते. कठिकामिव निर्मला ॥ १६५ ॥ दिदीपे लब्धसंस्कारो गुरुतो भरतेश्वरः । यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयो गतः ॥ १६६ ॥ त्रिदशासुरमर्त्याना सा सभा समुनीश्वरा । पीतसद्धर्मपीयूशा परामाप

उन सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥१६१॥ इसप्रकार जगतगुरु और पूज्यपुरुष भगवान वृषभदेवसे तत्त्वोंका सब स्वरूप सुनकर पूर्ण भक्तिमान् महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ १६२ ॥ तदनंतर जिनका शरीरके साथ कोई संबंध नहीं रहा है ऐसे भगवान वृषभदेवसे महाराज भरतने अतिशय-आनंदित होकर सम्यग्दर्शनकी परम विशुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धि धारण की ॥ १६३ ॥ जिसप्रकार शरद ऋतुमें कमलोंका समूह प्रफुलित होकर सुशोभित होता है उसीप्रकार परमदेव भगवान वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर अर्थात् समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जानकर और मनकी परम विशुद्धि धारणकर महाराज भरत बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥ महाराज भरतने अपने गुरु भगवान वृषभदेवकी उपासनाकर जिसके वीचमें सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाशमान रत्न सुशोभित हो रहा है ऐसी पांच व्रत और सात शीलोंकी निर्मल माला इसप्रकार धारण की थी मानों मोक्ष रूपी लक्ष्मीके गलेकी माला ही हो, भावार्थ—उसने शुद्ध सम्यग्दर्शन, निर्दोष व्रत और सात शील धारण किये थे ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार किसी खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके निमित्तसे अर्थात् शाणपर रखनेसे देदीप्यमान हो जाता है उसीप्रकार महाराज भरत भी अपने गुरुसे उपदेश रूपी संस्कार पाकर बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६६ ॥ उससमय देव भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क मनुष्य तिर्यंच और मुनियोंसे भरी हुई वह सभा धर्मरूपी अमृतको पीकर बडी ही संतुष्ट हुई थी ॥१६७॥ जिसप्रकार

धृतिं तदा ॥ १६७ ॥ घनध्वनिमिव श्रुत्वा विभोर्दिव्यध्वनिं तदा । चातका इव भव्यौघाः पर प्रमदमाययुः ॥ १६८ ॥ दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलदस्त-नितोपम । अशोकविटपारूढाः सस्वनुदिव्यबर्हिणः ॥१६९॥ सप्तार्चिषमिवासाद्य त त्रातारं प्रभास्वर । विशुद्धिं भव्यरत्नानि भेजुर्दिव्यप्रभास्वरा ॥१७०॥ योसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुज. कृती । प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥ १७१ ॥ श्रीमान्वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स स-बुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद्गणाधिपः ॥ १७२ ॥ स सप्तर्द्धिभिरिद्धर्द्धिस्तपोदीप्त्यावृतोऽभितः । व्यदीपि शरदीवार्को धूतांधतमसोदयः ॥ १७३ ॥ स·

बादलोंकी गर्जना सुनकर चातक पक्षियोंको आनंद होता है उसीप्रकार उससमय बादलोंकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर भव्योंका समुदायरूपी चातक बडे ही आनंदित हुये थे ॥१६८॥ मेघकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर अशोक वृक्षपर बैठे हुये दिव्य मयूर भी आनंदसे शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥ सब जीवोंकी रक्षा करनेवाले और अग्निके समान अतिशय दैदीप्यमान ऐसे भगवान् वृषभदेवका निमित्त पाकर भव्यरूप रत्न दिव्य कांतिको धारण करनेवाली ऐसी परम विशुद्धिको प्राप्त हुये थे॥१७०॥ उसीसमय जो पुरिमतालका स्वामी था जो कि महाराज भरतका छोटा भाई था तथा जो पुण्यवान्, विद्वान्, शूरवीर, पवित्र, धीरवीर स्वाभिमान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, अतिशय बुद्धिमान्, श्रीमान् और जितेंद्रिय था तथा वृषभसेन जिसका नाम था उसने भी भगवानका उपदेश सुनकर उन्हीं भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी और वह भगवानका पहिला गणधर हुआ था ॥ १७१-१७२ ॥ जिसप्रकार शरदऋतुका सूर्य समस्त अंधकारको नष्टकर दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार प्राप्त हुई सात ऋद्धियोंसे जो अत्यंत दैदीप्यमान हैं और तपश्चरणकी कांति जिनके चारों ओर फैली हुई है ऐसे वे भगवान वृषभसेन गणधर देव बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १७३ ॥ वृषभसेनके समान कुरुदेशका राजा महाराजा सोमप्रभ और श्रेयांस तथा और भी अनेक राजा उसीसमय भगवानसे दीक्षा लेकर गणधर हुये थे ॥ १७४ ॥ महाराज भरतकी छो-

श्रीमान्कुरुशार्दूलः श्रेयान्सोमप्रभोपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोभवन् ॥ १७४ ॥ भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपदमार्याणा सा भेजे पूजितामरै. ॥ १७५ ॥ रराज, राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना । दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥ १७६ ॥ सुंदरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत । अन्ये चान्याश्च संविग्ना गुरोः प्राव्राजिषुस्तदा ॥ १७७ ॥ श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः । देशसंयमिनामासीद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥ १७८ ॥ उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता । स्त्रीणां विशुद्धवृत्ताना बभूवाग्रेसरी सती ॥ १७९ ॥ विभोः कैवल्यसंप्राप्तिक्षण एव महर्धयः । योगिनोन्येऽपि भूयांसो बभूवु र्भुवनोत्तमाः ॥ १८० ॥ संबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षण. । सुरैरवाप्तपूजर्द्धिरग्र्यो मोक्षगता-

---

टी बहिन ब्राह्मी भी जगतगुरुके अनुग्रहसे दीक्षा धारण कर सब अर्जिकाओंमें मुख्य मानी गई थी और देवोंने भी उसकी पूजा की थी ॥ १७५ ॥ उससमय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतुकी स्वच्छ नदीके शीलरूप किनारेपर बैठी हुई तथा मधुर शब्द करती हुई हंसिनीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥ उस समय वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुंदरीको वैराग्य उत्पन्न हुआ था और उसने भी ब्राह्मीके पीछे दीक्षा धारण करली थी, इनके सिवाय उससमय और भी अनेक राजा और राजकन्याओंने विरक्त होकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी॥१७७॥ श्रुतकीर्ति नामके अतिशय बुद्धिमान् किसी गृहस्थने श्रावकके व्रत धारण किये थे और वह एक देश व्रत पालन करनेवाले देशसंयमी गृहस्थ लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥ इसीप्रकार अत्यंत धीरवीर, शुद्ध अंतःकरणको धारण करनेवाली और सती ऐसी प्रियव्रता नामकी किसी स्त्रीने श्रावकके अणुव्रत धारण किये थे और वह शुद्ध आचरणको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे मुख्य हुई थी ॥१७९॥ जिससमय भगवान वृषभदेवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उसीसमय अन्य कितने ही उत्तमोत्तम भाग्यशाली पुरुष दीक्षा धारणकर अनेक ऋद्धियोंके धारण करनेवाले मुनिराज हुये थे ॥ १८० ॥ भरतके भाई अनंतवीर्यने भी संसारका यथार्थ स्वरूप समझकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी, देवोंने भी उसकी अनेकप्रकारसे पूजा की

बभूत् ॥ १८१ ॥ मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । भट्टारकाते संबुध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥ १८२ ॥ ततो भरतराजेन्द्रो गुरु संपूज्य पुण्यधीः । स्वपुराभिमुखो जज्ञे चक्रपूजाकृतत्वर ॥ १८३ ॥ युवा बाहुबली धीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानन्दमभिवंद्य जगद्गुरु ॥ १८४ ॥ भरतपतिमथाविर्भूतदिव्यानुभावप्रसरमुदयराग प्रत्युपात्ताभिमुख्यं । विजयिनमनुजग्मुर्भ्रातरस्तं दिनाते दिनपमिव मयूखा दिङ्मुखा-

थी और वह इस अवसर्पिणी कालमें सबसे पहिले मोक्षगतिको प्राप्त हुआ था ॥ १८१ ॥ जो तपस्वी पहिले भ्रष्ट हो गये थे उनमेंसे मरीचिको छोडकर वाकी सब तपस्विओंने भगवानके उपदेशसे मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप समझकर दीक्षा धारण की थी ॥ १८२ ॥ तदनंतर जिन्हें चक्रकी पूजा करनेकेलिये कुछ जल्दी हो रही है ऐसा वह अतिशय पुण्यवान् महाराज भरत जगतगुरुकी पूजाकर अपने नगरमें जानेके लिये निकला ॥ १८३ ॥ तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान वाहुवली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनंदके साथ जगतगुरु भगवानकी वंदनाकर भरतके पीछे पीछे अपने अपने स्थानको गये ॥ १८४ ॥ अथानंतर—उससमय नगरको जाते हुये महाराज भरत सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार सूर्य दिव्य प्रकाशको फैलानेवाला है उसीप्रकार भरतका प्रकाशका फैलाव भी उसीसमय उदय हुआ था, सूर्य जिसप्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण करता है उसीप्रकार भरत भी उदय अर्थात् अपने प्रतापके उदय होते समय राग अर्थात् प्रजासे अनुराग धारण करते थे, सूर्य जिसप्रकार जानेकोलिये सन्मुख होता है उसीप्रकार भरत भी नगरमें जानेकोलिये तैयार हुये थे, अथवा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंमें मुख्य है उसीप्रकार भरत भी सबसे मुख्य थे तथा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंको जीतकर विजयी कहलाता है उसीप्रकार भरत आगामी कालमें समस्त पृथ्वीको जीतनेसे विजयी कहलाते थे, इसप्रकार सायंकालके समय समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई सूर्यकी किरणें जिसप्रकार सू-

क्रातिभाजः ॥ १८५ ॥ स्वातनीतसमस्तवस्तुविसरा प्रस्तीर्णवर्णोज्वला निर्णिक्ता नयचक्रसन्निधिगुरुं स्फीतप्रमोदाह्वतिं । विश्वास्या निखिलांगभृत्परिचिता जैनीमिव व्याहृतिं प्राविक्षत्परया मुदा निधिपतिः स्वामुत्पताकां पुरीं ॥ १८७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व.

र्यके पीछे २ जाती हैं उसीप्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये भरतके भाई भी भरतके ही पीछे २ जा रहे थे ॥ १८५ ॥ इसप्रकार चलते हुये महाराज भरतने वडी प्रसन्नताके साथ अपनी अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया, उससमय उस अयोध्यामें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थोंका विस्तार भरा रहता है उसीप्रकार उस अयोध्यामें भी रत्न आदि समस्त पदार्थ भरे हुये थे, जिसप्रकार जिनवाणीमें अनेक उज्वलवर्ण (अक्षर) रहते हैं उसीप्रकार अयोध्यामें भी अनेक क्षत्रिय आदि उज्वल वर्ण थे, जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवलियोंके द्वारा प्रशंसनीय है उसीप्रकार अयोध्या भी सबसे प्रशंसनीय थी, जिनवाणी जिसप्रकार अनेक नयोंके निमित्तसे पूज्य है उसीप्रकार वह अयोध्या भी नीतिके समूहके निमित्तसे पूज्य थी अथवा नीतिको प्रगट करनेवाले चक्रके निमित्तसे पूज्य थी, जिनवाणी जिसप्रकार आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी जीवोंको आनंद देनेवाली थी, जिनवाणी जिसप्रकार विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करने योग्य है अथवा सव ओर मुह करनेवाली अर्थात् सब पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करनेयोग्य थी अथवा सबओर उसका मुह था अर्थात् चारों दिशाओं में उसके बडे २ चार दरवाजे थे, तथा जिनवाणी जिसप्रकार समस्त वारह अंगोंको धारण करनेवा-

अथ पंचविंशतितमं पर्व.

गते भरतराजर्षौ दिव्यभाषोपसंहृतौ । निवातास्तिमितं वार्द्धिमिवाऽनाविष्कृतध्वनिं ॥ १ ॥ धर्मांबुवर्षसंसिक्तजगज्जनवनद्रुमं । प्रावृट्घनमिवोद्वातवृष्टिमुत्सृष्टनिःस्वनं ॥ २ ॥ कल्पद्रुममिवाभीष्टफलविश्राणनोद्यतं । स्वपादाभ्यर्णविश्रांतत्रिजगज्जनमूर्जितं ॥ ३ ॥ विवस्वतमिवोद्भूतमोहांधतमसोदयं । नवकेवललब्धीद्धकरोत्करविराजितं ॥ ४ ॥ महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोच्चयाचितं । भगवंतं जगत्कांतमचिंत्यानंतवैभवं ॥ ५ ॥ वृतं श्रमणसंघेन चतुर्धा भेदमी-

---

ले श्रुतकेवलियोंके द्वारा जानी जाती है उसीप्रकार वह अयोध्या भी सब जीवोंके द्वारा परिचित थी अर्थात् संसारके समस्त जीव उसे जानते थे ॥ १८६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे भगवानका धर्मोपदेश वर्णन करनेवाला यह चौवीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पच्चीसवां पर्व

अथानंतर—जिससमय महाराज भरत चलेगये, भगवानकी दिव्यध्वनि बंद होगई उससमय वायु बंद होनेसे शांत हुये समुद्रके समान जिनका शब्द बिलकुल बंद हो गया है ॥ १ ॥ जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाकर संसारी जीवरूपी बनके वृक्ष सींच दिये हैं, जो शरद ऋतुके बादलोंके समान दिव्यध्वनिरूप जलकी वर्षाकर शब्द रहित हो गये हैं ॥ २ ॥ जो कल्पवृक्षके समान इष्ट फल देनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं, जिनके चरणकमलोंके समीपमें तीनों लोकोंके समस्त जीव विश्रांत लेते हैं ॥ ३ ॥ जो अत्यंत दैदीप्यमान हैं, सूर्यके समान मोह रूपी अंधकारको नष्टकर जिनका उदय हुआ है, तथा क्षायिक सम्यक्त्व आदि नौ केवललब्धिरूपी किरणोंके समूहसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४ ॥ वडी भारी खानिके समान जिनमें दैदीप्यमान गुणरूपी रत्नोंके समूह भरे हुये हैं, जो भगवान हैं, तीनों लोकोंमें मनोहर हैं, अचिंत्य और अनंत विभूतिको धारण करनेवाले हैं, ॥ ५ ॥

युपा । चतुर्विधवनाभोगपरिष्कृतमिवाद्रिप ॥ ६ ॥ प्रातिहार्याष्टकोपेत सिद्धकल्याणपंचकं । चतुस्त्रिंशदतीशेषैरिद्धार्वि त्रिजगत्प्रभुं ॥ ७॥ प्रपश्यन्विकसन्नेत्रसहस्र. प्रीतमानस । सौधर्मेंद्र स्तुतिं कर्तुमथारेभे समाहितः ॥ ८ ॥ स्तोष्ये त्वा परम ज्योतिर्गुणरत्नमहाकर । मतिप्रकर्षहीनोपि केवल भक्तिचोदित. ॥ ९ ॥ त्वामभिष्टुवता भक्त्या विशिष्टाः फलसपदः । स्वयमाविर्भवतीति निश्चित्य त्वा जिन स्तुवे ॥ १० ॥ स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य प्रसन्नधीः । निष्ठितार्थो भवान् स्तुत्यः फल नैश्रेयसं सुखं ॥ ११ ॥ इत्याकलय्य मनसा तुष्टूषु मा फलार्थिन । विभो प्रसन्नया दृष्ट्या त्व पुनीहि

जो मुनि यति ऋषि और अनागार इन चार प्रकारके मुनियोंके संघसे घिरे हुये ऐसे जान पडते हैं मानों भद्रसाल, नंदन, सौमनस और पांडुक इन चारों बनोंसे घिरा हुआ मेरु पर्वत ही हो ॥ ६ ॥ जो आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, जिनके पांच कल्याणक हुये हैं, चौंतीस आतिशयोंके द्वारा जिनकी विभूति बहुत बढी हुई है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ ७ ॥ ऐसे भगवान वृषभदेवको देखकर जिसके हजार नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इंद्रने स्वस्थचित्त होकर भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! आप परम ज्योतिस्वरूप हैं तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानि हैं और मैं अत्यंत बुद्धिहीन हूं तथापि केवल भक्तिके वश होकर आपकी स्तुति करता हूं ॥ ९ ॥ हे जिनेंद्र ! भक्तिपूर्वक जो पुरुष आपकी स्तुति करता है उसे विशेष विशेष फलरूपी संपात्तियें अपने आप प्राप्त होती हैं यही समझकर मैं आपकी स्तुति करता हूं ॥ १० ॥ पुण्यरूप गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्नचित्तवाला और भव्यजीव ऐसा मैं स्तुति करनेवाला हूं, सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनवाले ऐसे आपकी स्तुति की जायगी और मोक्षका सुख प्राप्त होना उसका फल है ॥ ११ ॥ हे विभो ! हे सनातन ! इसप्रकार स्तुतिकी सब सामग्री इकट्ठी हुई जानकर मनसे स्तुति करनेवाले और मोक्षरूप फलकी इच्छा करनेवाले ऐसे मुझे आप अपनी पवित्र दृष्टिसे पवित्र कीजिये ॥ १२ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि मैं सांसारिक विषयोंसे निस्पृह हूं तथापि

सनातन ॥ १२ ॥ मा मुदाकुरुते भक्तिस्त्वद्गुणैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथे तेऽस्मिन् लग्नं सविभ्रमानसः ॥ १३ ॥ त्वयि भक्तिः कृताल्पापि मह- तीं फलसपद । पफुलीति विभो कल्पक्ष्माजसेवेव देहिना ॥ १४ ॥ तवारिजयमाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतव । दोषावेशविकारा हि रागिणा भूषणादय. ॥१५॥ निर्भूषमपि कात ते वपुर्भुवनभूषण । दीप्त हि भूरग नैव भूषणातरमीक्षते ॥ १६ ॥ न मूर्ध्नि कवरीबंधो न शेखरपरिग्रहः । न किरीटादिभारस्ते त- थापि रुचिर शिर. ॥ १७ ॥ न मुखे भ्रुकुटीन्यासो न दष्टो दशनच्छद. । नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन् ॥ १८ ॥ त्वया नाताम्रिते नेत्रे

आपके गुणोंके द्वारा प्रेरणा की हुई भक्ति स्तुति करनेकेलिये मुझे उत्साह दिला रही है. इसलिये ही मैं आपकी इस स्तुति करनेकेलिये प्रवृत्त हुआ हूं ॥ १३ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार कल्पवृक्षोंकी सेवा करनेसे जीवोंको अनेक प्रकारकी संपदायें प्राप्त होती हैं उसीप्रकार आपकी थोडीसी भक्ति करनेपर भी जीवोंको सर्वोत्कृष्ट फल रूपी संपत्तियां प्राप्त होती हैं ॥ १४ ॥ हे देव ! आभूषण आदि उपाधियोंसे रहित ऐसा आपका शरीर राग द्वेष रूपी शत्रुओंके जीतलेने को साक्षात् प्रगट कर रहा है, क्योंकि आभूषण आदि दोषोंको प्रगट करनेवाले विकार हैं ॥ १५ ॥ हे प्रभो! जगतको सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर आभूषण रहित होनेपर भी अतिशय मनोहर है सो ठीक ही है, क्योंकि अतिशय प्रकाशमान आभूषण किसी दूसरे आभूषणकी अपेक्षा नहीं रखता है ॥ १६ ॥ हे देव! यद्यपि आपके मस्तकपर सुंदर केश नहीं हैं, न फूलमाल है और न मुकुटका भार है तथापि आपका मस्तक बहुत ही सुंदर जान पडता है ॥ १७ ॥ आपके मुखपर न तो भोंह टेडी हुई है, न आपने अपने मुखसे ओठोंको ही दवाया है और न अपने हाथसे कोई शस्त्र पकडा है तथापि आपने अपने घातिया कर्म रूपी शत्रु सब नष्ट कर दिये हैं ॥ १८ ॥ हे देव! मोहरूपी शत्रुके जीतनेमें नील कमलके दलके समान आपके बडे बडे नेत्र किंचित् भी लाल लाल नहीं हुये, इससे यह सिद्ध होता है कि आपकी शक्ति बडी ही विचित्र है ॥ १९ ॥ हे जिनेंद्र ! आपके दोनों नेत्रोंमें कटाक्षकी दृष्टि

नीलोत्पलदलायते । मोहारिविजये देव । प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता ॥ १९ ॥ अनपांगानलोकं ते जिनेंद्र नयनद्वय । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितं ॥ २० ॥ त्वन्दृशोरमला दीप्तिराशुशंती शिरःसु नः । पुनाति पुण्यधारेव जगतामेकपावनी ॥ २१ ॥ तवेदमाननं धत्ते प्रफुल्लकमलश्रियं । स्वकांतिज्योत्स्नया विश्वमाक्रामच्छरदिंदुवत् ॥ २२ ॥ अनाट्टहासमहुंकारमदष्टोष्ठपुटं मुखं । जिनाख्याति सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागतां ॥ २३ ॥ त्वन्मुखाद्गता दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तमो भाति जितबालातपद्युतिः ॥ २४ ॥ त्वन्मुखांबुरुहालग्ना सुराणां नयनावली । भातीयमलिमालेव तदामोदानुपातिनी ॥ २५ ॥ मकरंदमिवापीय त्वद्वक्त्राब्जोद्गतं वचः । अनासितभवं भव्यभ्रमरा यान्त्यमी मुदं ॥ २६ ॥ एकतोभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे

नहीं है, इसलिये आपकी सौम्यदृष्टि हम लोगोंको कामदेव रूपी शत्रुके जीतलेनेको स्पष्ट रीतिसे बतला रही है ॥ २० ॥ हे स्वामिन् ! हम लोगोंके मस्तकको स्पर्श करती हुई और जगतको अति पवित्र करनेवाली ऐसी आपके नेत्रोंकी निर्मल कांति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र करती है ॥ २१ ॥ हे नाथ शरदऋतुके चंद्रमाके समान अपनी कांतिरूपी चांदनीसे समस्त जगतमें व्याप्त होता हुआ आपका यह मुख प्रफुल्लित हुये कमलकी शोभाको धारण करता है ॥ २२ ॥ हे जिनदेव ! आपके मुखपर न तो अट्टहास अर्थात् जोरका हँसना ही है न हुंकार है और न वह ओठोंको दबाये है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको वह आपकी वीतरागताको स्पष्ट रीतिसे प्रगट कर रहा है ॥ २३ ॥ हे देव ! जिस प्रकार प्रातःकालमें सूर्यकी कांति अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित होती है उसीप्रकार प्रातःकालके उदय होते हुये सूर्यकी कांतिको जीतती हुई आपके मुखसे निकली हुई पवित्र सरस्वती अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित हो रही है ॥ २४ ॥ हे विभो ! आपके मुखरूपी कमलपर लगी हुई देवोंके नेत्रोंकी पंक्तियां ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही हैं मानों उस मुखरूपी कमलकी सुगंधिके लोभसे प्राप्त हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥ २५ ॥ हे स्वामिन् जिनसे कभी तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुये वचनरूपी परागरसको पी-

विश्वतोमुख' । तपोगुणस्य माहात्म्यमिदं नून तवाद्भुत ॥ २७ ॥ विश्वदिक्क विसर्पंति तावका वागभीषव । तिरश्चामपि हृद्ध्वातमुद्भुन्वतो जिनांशुमन् ॥ २८ ॥ तव वागमृत पीत्वा वयमद्यामराः स्फुट । पीयूषमिदमिष्ट नो देव सर्वरुजाहर ॥ २९ ॥ जिनेंद्र तव वक्त्राब्ज प्रक्षरद्वचनामृतं । भव्याना प्राणन भाति धर्मस्येव निधानक ॥ ३० ॥ मुखेदुमडलाद्देव तव वाक्किरणा इमे । विनिर्यांतो हतध्वाताः सभामाह्लादयत्यल ॥ ३१ ॥ चित्र वाचा विचित्राणामक्रमप्रभवः प्रभो. । अथवा तीर्थकृत्त्वस्य देव ! वैभवमीदृश ॥ ३२ ॥ अस्वेदमलमाभाति सुगधि शुभलक्षणं । सुसस्थानमरक्तासृग्वपुर्वज्रास्थिरं त-

कर ये भव्यजीवरूपी भ्रमर बडे ही प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥ हे भगवान यद्यपि आप एक ओर मुंह किये हुये विराजमान हैं तथापि आपका मुख चारोंओरसे दिखता है, हे देव यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका माहात्म्य अवश्य ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ २७ ॥ हे जिनेंद्ररूपी सूर्य ! तिर्यंच जीवोंकेभी हृदयके अंधकारको नष्ट करती हुई आपकी वचनरूपी किरणें सब दिशाओंकी ओर फैल रही हैं ॥ २८ ॥ हे देव ! आपके वचनरूपी अमृतको पीकर हम लोग आज वास्तवमें 'अमर' हो गये हैं, इसलिये समस्त रोगोंकों दूर करनेवाला यह आपका वचनरूपी अमृत हम लोगोंको वहुत ही प्रिय है ॥२९॥ हे जिनेंद्र ! जिससे वचनरूपी अमृत खिर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा आपका मुख रूपी कमल धर्मके खजानेके समान वहुत ही सुशोभित हो रहा हें ॥३०॥ हे देव ! आपके मुखरूपी चंद्रमंडलसे निकलती हुई वचनरूपी किरणें अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सभाको वहुत ही आनंदित कर रही हैं ॥ ३१ ॥ हे देव ! यह भी एक आश्चर्यकी वात है कि आपसे अनेक प्रकारकी जुदी २ अनेक भाषाओंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, अथवा आपके तीर्थकरपनेका माहात्म्य ही ऐसा है ॥ ३२ ॥ हे विभो ! जिसमें पसीना आदि मल नहीं है, जो अत्यंत सुगंधित है, शुभलक्षणोंसे सुशोभित है, समचतुरस्रसंस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं और जो वज्रके समान स्थिर है ऐसा आपका यह शरीर वहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥ हे स्वामिन् ! आपकी

मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृत ॥ ४० ॥ असद्वेद्यविष घातिविध्वसध्वस्तशक्तिक । त्वय्यकिंचित्कर मन्त्रशक्त्येवापबलं विष ॥ ४१ ॥ असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायत । त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदय ॥ ४२ ॥ नेतयो नोपसर्गाश्च प्रभवन्ति त्वयीशितः । जगतां पालके हेलाक्षालिताँह:कलङ्कके ॥ ४३ ॥ त्वय्यनंतसुखोत्सर्पत्केवलामललोचने । चातुरास्यमिद युक्त नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ४४ ॥ सर्वविद्येश्वरो योगी चतुरास्यस्त्वम-

उनकी मोहरूपी अग्नि शांत करनेकेलिये पुराना घी अवश्य ढूंढना चाहिये ॥ ४० ॥ हे देव ! जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे जिसका बल नष्ट होगया है ऐसा विष कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट होगई है ऐसा असाता वेदनीय कर्मरूपी विष आपके लिये कुछ नहीं कर सकता है ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! असातावेदनीयका उदय घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही दुख देता है, आपके घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये असाता वेदनीयका उदय भी आपकेलिये कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि सब सामिग्री इकट्ठी होनेसे ही फलका उदय होता है ॥ ४२ ॥ हे ईश । आप जगतको पालन करनेवाले हैं, आपने लीलामात्रसे ही समस्त पापरूपी कलंक नष्ट करदिये हैं इसलिये आपको न तो कोई ईति भीतिका डर है और न कोई उपसर्ग ही होते हैं ॥ ४३ ॥ हे स्वामिन् ! आपके अनंत सुख है आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र चारोंओर फैल रहा है, आपके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं तथापि आपको चातुराश्य अर्थात् चारप्रकारका आहार करना क्या योग्य है ? यह विरुद्ध वात है इसका परिहार इसप्रकार होता है कि आपके चारों घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये चातुरास्य अर्थात् चारों दिशाओंकी ओर मुंह दिखना यह आपकेलिये योग्य ही है ॥ ४४ ॥ हे अधीश्वर ! आप समस्त विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, आपका एक मुख चारोंओर दिखाई देता है, आपका कभी नाश नहीं होता, आपकी आत्मरूप ज्योति अर्थात् केवलज्ञान चारोंओर फैला हुआ है इसलिये हे देव ! आप बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥४५॥

क्षर॰ । सर्वतोऽक्षिमयंज्योतिस्तवाऽतो भास्यधीशितः ॥ ४५ ॥ अच्छायत्वमनुन्मेषनिमेषत्वं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयंदिव्यं परमौदरिकाह्वयं ॥ ४६ ॥ बिभ्राणोऽप्यध्यधिछत्रमच्छायांगस्त्वमीक्षसे । महता चेष्टित चित्रमथवौजस्तवेदश ॥ ४७ ॥ निमेषापायधीराक्षं तव वक्त्राब्जमीक्षित । त्वय्येव नयनस्पंदो नून देवैश्च संहृतः ॥ ४८ ॥ नखकेशमितावस्था तवाऽविःकुरुते विभो । रसादिविलय देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥ ४९ ॥ इत्युदारैर्गुणैरेभिस्त्वमनन्यत्रभाविभिः । स्वयमेत्य वृतो नूनमदृष्टशरणातरैः ॥ ५० ॥ अप्यमी रूपसौदर्यकातिदीप्त्यादयो गुणाः । स्पृहणीयाः सुरेंद्राणा तव हेयाः किलाद्भुतं ॥५१॥

हे देव । अत्यंत प्रकाशमान् और दिव्यस्वरूप ऐसे आपके परमौदारिक शरीरकी न तो छाया ही पडती है और न आखोंकी टिमिकार ही लगती है ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! यद्यपि आप तीन छत्रोंसे सुशोभित हो रहे हैं तथापि आप छाया रहित ही दिखाई देते हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि बडे आदमियोंकी चेष्टायें आश्चर्य करनेवालीं होती ही हैं, अथवा यह कहना चाहिये कि आपका तेज ही ऐसा हे ॥ ४७ ॥ हे देव ! टिमिकार न लगनेसे जिसके नेत्र विलकुल निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेकेलिये देवोंने अपने नेत्रोंका प्रवाह आपमें ही रोक रक्खा है । भावार्थ— सब देव केवल आपकी ओर ही देख रहे हैं ॥ ४८ ॥ हे विभो ! आपके जो नख केश नहीं वढते हैं सदा एकसे परिमित रहते हैं वे विशुद्ध स्फटिकके समान आपके निर्मल शरीरमें रुधिर मांस आदि धातु उपधातुरूप रसोंके नष्ट होनेको प्रगट करते हैं ॥ ४९ ॥ हे स्वामिन् इसप्रकार ऊपर कहे हुये तथा जो दूसरी जगह कहीं नहीं पाये जायं ऐसे आपके इन उदार गुणोंने अपने रहने योग्य अन्य कोई जगह न मिलनेसे आपके पास स्वयं आकर आपको स्वीकार किया है॥ ५० ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्तिकेलिये इंद्र भी सदा इच्छा करता रहता है ऐसे रूप, सुंदरता, कांति, दीप्ति आदि इत्तम २ गुण भी आपकेलिये त्याज्य हैं, अर्थात् इनमें भी आपका अनुराग नहीं है ॥ ५१ ॥ हे भगवन् ! अन्य सब गुणोंको छोडकर केवल आपकी उपासना करनेवाले

गुणिनस्त्वामुपासीना निर्धूतगुणबंधनाः । त्वया सारूप्यमायाति स्वामिच्छद तु शिक्षितुः ॥ ५२ ॥ अय मदानिलोद्धूतचलच्छाखाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नृत्यतीवात्तसमद ॥ ५३ ॥ चलत्क्षीरोदवीचीभिःस्पर्धां कर्तुमिवाभितः । चामरौघा पतति त्वा मरुद्भिर्लीलयाधृता ॥५४॥ मुक्तालंबनविभ्राजि भ्राजते विधुनिर्मल । छत्रत्रय तवोन्मुक्तप्ररोहमिव खागणे ॥५५॥ सिंहरूढ विभातीद तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शान्मुक्तहर्षांकुरै रिव ॥५६॥ ध्वनति मधुरध्वानाः सुरदुंदुभिकोटयः । घोषयंत्य इवापूर्य रोदसी त्वज्जयोत्सव ॥ ५७ ॥ तव दिव्यध्वनिं वीरमनुकर्तुमिवोद्यता । ध्वनति सुरतूर्याणां को-

अर्थात् केवल आपकी उपासनारूप एक गुणको धारण करनेवाले गुणी पुरुष आप ही सरीखे हो जाते हैं सो ठीक ही है स्वामीके अनुसार चलना ही शिष्य लोगोंका कर्तव्य है ॥ ५२ ॥ हे स्वामिन् ! मंद मंद वायुके चललेसे जिसकी शाखारूपी हाथोंके समूह हिल रहे हैं ऐसा यह अत्यंत सुशोभित आपका अशोकवृक्ष ऐसा जान पडता है मानों आनंदित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ ५३ ॥ हे पूज्य ! देवोंके द्वारा लीला पूर्वक धारण किये हुये चमरोंके समूह जो आपपर ढुराये जा रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों वे चारोंओरसे क्षीरसागरकी चंचल लहरोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ॥५४॥ हे प्रभो ! चंद्रमाके समान निर्मल और मोतियोंकी जालियोंसे सुशोभित ऐसे आपके तीन छत्र आकाशमें लटकते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों उनसे छोटे छोटे अंकूरे ही उत्पन्न हुये हों ॥५५॥ हे विभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका ऊंचा सिंहासन रत्नोंकी किरणोंसे ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा है मानों आपका स्पर्श होनेसे इसमेंसे हर्षके अंकूरे ही निकले हों ॥ ५६ ॥ मधुर शब्द करते हुये जो देवोंके द्वारा बजाये हुये करोडों दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आकाश पातालमें व्याप्त होकर आपके जयोत्सवकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ५७ ॥ हे देव ! जो साडे बारह करोड देवोंके दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आपकी गंभीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ ५८ ॥ देव लोग जो आकाशसे यह पुष्पोंकी वर्षा कर

ट्योऽद्भुतयोदश ॥ ५८ ॥ सुरैरियं नभोरंगात्पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव चोदितैः कल्पशाखिभिः ॥ ५९ ॥ तव देहप्रभोत्सर्पैसमाक्रामन्नभोऽभितः । शश्वत्प्रभातमास्थानीजनाना जनयत्यदः ॥ ६० ॥ नखांशवस्तवाताम्राः प्रसरंति दिशास्त्वमी । त्वदंघ्रिकल्पवृक्षाग्रात्प्ररोहा इव निःसृता ॥६१॥ शिर सु न. स्पृशत्येते प्रसादस्येव तेऽशका. । त्वत्पादनखशीतांशुकराः प्रह्लादिताखिलाः ॥ ६२ ॥ त्वत्पादांबुरुहच्छायासरसीमिवगाहते । दिव्यश्रीकलहंसीय नखरोचिमृणालिका ॥ ६३ ॥ मोहारिमर्दनालग्नशोणिताईच्छटामिव । तलछायामिद धत्ते त्वत्पादांबुरुहद्वय ॥ ६४ ॥ त्वत्पादनखभानीरसरसि प्रति-

---

रहे हैं वह ऐसी जान पडती है मानों संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा प्रेरणा किये हुये कल्पवृक्ष ही उसे वरसा रहे हों ॥ ५९ ॥ हे भगवन् ! आकाशमें चारोंओर व्याप्त होता हुआ आपके शरीरका यह प्रभामंडल समवसरणमें बैठे हुये सभासद लोगोंको सदा प्रभातकालकी शोभा दिखलाता है ॥ ६० ॥ हे प्रभो ! आपके नखोंकी ये कुछ कुछ लाल किरणें सब दिशाओंमें ऐसी फैल रही हैं मानों आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अंकूरे ही निकल रहे हों ॥ ६१ ॥ समस्त जगतको आनंदित करनेवाले आपके चरणोंके नखरूपी चंद्रमाके किरण हमलोगोंके शिरको स्पर्श करते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों आपके प्रसादके कुछ अंश ही हों ॥ ६२ ॥ हे नाथ ! यह दिव्य लक्ष्मी रूपी मनोहर हंसिनी आपके नखोंकी कांति रूपी कमलनालसे सुशोभित ऐसी आपके चरणकमलोंकी छाया रूप सरोवरीमें अवगाहन करती है । भावार्थ—आपके चरणकमलोंकी छाया नखोंकी कांतिसे बडी ही मनोहर जान पडती है ॥ ६३ ॥ हे देव ! आपके दोनों चरणकमलोंके तलवोंकी (पैरके नीचेके भागकी) ललाई ऐसी अच्छी शोभा धारण करती हैं मानों जिससमय आपने मोहरूपी शत्रुको नाश किया था उससमय कुछ गीला रक्त ही आपके तलवोंमें लगगया हो और उसीकी यह अपूर्व शोभा हो ॥ ६४ ॥ हे जिनेंद्र ! आपके चरणोंके नखोंकी कांतिरूप पानीके सरोवरमें प्रतिबिंबित हुई देवांगनाओंके मुखोंकी शोभा ऐसी अच्छी जान पडती है मानों उस सरोवरमें कमल ही

विविता । सुरागनाननच्छायास्तन्वते पङ्कजश्रियं ॥६५॥ स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि । स्वात्मनेव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिंत्यवृत्तये ॥६६॥ नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्य नमस्ते वदतांवर ॥६७॥ कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानुम: सुरेणमौलिभामाला-भ्यर्चितक्रम ॥ ६८ ॥ ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरु: । अनंतभवसंतानजयादासीदनंतजित् ॥ ६९ ॥ त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयं । मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन ! मृत्युंजयो भवान् ॥ ७० ॥ विधुताशेषसंसारबंधनो भव्यबांधवः । त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्ममृत्युजरांतकृत् ॥ ७१ ॥ त्रिका-

---

फूले हों ॥ ६५ ॥ हे भगवन् ! आपने अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको प्र-गट किया है इसलिये आप स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये कहलाते हैं, इसके सिवाय आप-के आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मामें ही तल्लीन होनेरूप चारित्रकी प्राप्ति हुई है तथा अचिंत्य माहात्म्यकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीके अधीश्वर हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप वि-द्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, और आप वक्ताओंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये भी आप-को नमस्कार हो ॥ ६७ ॥ हे देव ! बुद्धिमान लोग आपको कामदेवरूपी शत्रुको नाश करनेवाला मानते हैं, और इंद्र लोग भी अपने मुकुटकी कांतिके समुदायसे आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं इसलिये मैं भी आपकी स्तुति करता हूं ॥ ६८ ॥ आपने अपने ध्यानरूपी कुठारसे वहुत मजबूत ऐसा घातिया कर्म रूपी वडा वृक्ष काट डाला है तथा अनंत जन्ममरण रूप संसारकी संतान परंप-राको जीतलिया है इसलिये ही आप अनंतजित् कहलाते हैं ॥ ६९ ॥ हे जिन ! तीनों लोकोंको जीतलेनेसे जिसे अत्यंत अभिमान उत्पन्न हुआ है तथा जो किसीसे भी नहीं जीता जाता है ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीतलिया है इसलिये ही आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥ ७० ॥ आपने संसार-रूपी समस्त बंधन नष्ट कर दिये हैं, भव्य जीवोंके आप बंधु हैं, और आप ही जन्म मरण तथा बु-

लविषयाशेषतत्त्वभेदात्रिधोत्थितं । केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोसि त्वमीशित. ॥ ७२ ॥ त्वामंधकांतकं प्राहुर्मोहांधासुरमर्दनात् । अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्द्ध-नारीश्वरोस्यतः ॥ ७३ ॥ शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरो हरः । शंकरः कृतशं लोके शंभवस्त्वं भवन्सुखे ॥ ७४ ॥ वृषभोसि जगज्ज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः । नाभेयो नाभिसंभूतेरिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ ७५ ॥ त्वमेकः पुरुषस्कंधस्त्वं द्वे लोकस्य लोचने । त्वं त्रिधाबुद्धसन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञानधारकः

ढापा इन तीनोंको नाश करनेवाले हैं इसलिये आप ही त्रिपुरारि कहे जाते हैं ॥ ७१ ॥ हे अधीश्वर ! भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके समस्त तत्त्वोंको जाननेसे जिसके तीन भेद होते हैं अर्थात् भूतकालके पदार्थोंको जाननेवाला भविष्यतकालके पदार्थोंको जाननेवाला और वर्तमानकालके पदार्थोंको जाननेवाला इसप्रकार जिसके तीन भेद होते हैं ऐसे केवलज्ञानरूप नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिये आप ही त्रिनेत्र कहलाते हैं ॥ ७२ ॥ आपने मोहरूपी अंधासुरका नाश किया है, इसलिये आप अंधकांतक कहलाते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमेंसे आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नहीं हैं इसलिये आप अर्धनारीश्वर (अर्ध-न-अरि-ईश्वर) कहलाते हैं ॥ ७३ ॥ आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमें निवास करते हैं इसलिये शिव कहे जाते हैं, पापरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं इसलिये हर कहलाते हैं, जगतमें आनंद करनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव कहे जाते हैं ॥ ७४ ॥ जगतमें श्रेष्ठ होनेसे वृषभ कहलाते हैं आपमें बहुतसे गुण प्रसिद्ध होनेसे पुरु कहे जाते हैं, महाराज नाभिरायसे आप उत्पन्न हुये हैं इसलिये नाभेय कहलाते हैं और इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुये हैं इसलिये इक्ष्वाकुकुलनंदन कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥ सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ आप एक ही हैं, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करते हैं तथा आपने मोक्षका मार्ग तीनरूपसे जाना है अथवा भूत भविष्यत वर्तमान तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये त्रिज्ञ अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको धारण करनेवाले वा

|| ७६ || चतुश्शरणमाङ्गल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः । पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि मा || ७७ || स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः । जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोस्तु ते || ७८ || सुनिष्क्रांतावघोराय पद परममीयुषे । केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते || ७९ || पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्तिपदभागिने । नमस्तात्पुरुषावस्था भाविनी तेऽद्य बिभ्रते || ८० || ज्ञानावरणनिर्ह्रासान्नमस्तेनंतचक्षुषे । दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ||८१|| नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे || ८२ || नमस्तेनंतवीर्याय नमोनंतसुखात्मने । नमस्तेनंतलोकाय लोकालो-

---

तीनोंकालके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं || ७६ || अरहंत सिद्ध साधु और केवलीप्रणीत धर्म ये चार शरण तथा मंगलरूप हैं आप इन चारोंरूप हैं इसके सिवाय आप चतुरस्रधी अर्थात् चारोंओरके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं। हे देव ! आप ही पंच परमेष्ठीस्वरूप, हैं अतिशय पवित्र हैं इसलिये मुझे भी पवित्र कीजिये || ७७ || हे भगवन् ! आप स्वर्गवतारके समय ही सद्योजात (अर्थात् उसीसमय उत्पन्न होनेवाले) कहलाये थे इसलिये आपको नमस्कार हो। आप जन्माभिषेकके समय बहुत ही सुंदर दिखाई पडते थे इसलिये हे वामदेव आपको नमस्कार हो || ७८ || दीक्षाकल्याणके समय आपने परम शांतता धारण की थी तथा केवल ज्ञानके समय आप परम पदको प्राप्त हुये और ईश्वर कहलाये इसलिये आपको बार २ नमस्कार हो || ७९ || अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये आगामी कालमें सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपकेलिये आज ही मेरा नमस्कार हो || ८० || ज्ञानावरण कर्मके नाश होनेसे आप अनंतज्ञानी कहलाते हैं तथा दर्शनावरण कर्मके नाश होनेसे आप विश्वदृश्वा अर्थात् समस्त जगतको देखनेवाले कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपकेलिये नमस्कार हो || ८१|| आप दर्शनमोहनीयके नाश करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं, इसीप्रकार चारित्र मोहनीयकर्मको नाश करनेवाले हैं, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिये आ-

कावलोकिने ॥ ८३ ॥ नमस्तेनंतदानाय नमस्तेनंतलब्धये । नमस्तेनंतभोगाय नमोनंतोपभोगिने ॥ ८४ ॥ नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥८५॥ नम· परमविद्याय नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥८६॥ नमः परमरूपाय नम· परमतेजसे । नम. परममार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥ ८७ ॥ परम भेजुषे धाम परमज्योतिषे नम· । नमः पारेतम.प्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ ८८ ॥ नम. क्षीणकलकाय

पकेलिये नमस्कार हो ॥ ८२ ॥ अनंत वीर्यको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो, अनंतसुखको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो तथा लोक अलोकको देखनेवाले और अनंत प्रकाशरूप आपकेलिये नमस्कार हो ॥ ८३ ॥ दानांतराय कर्मके नाश होनेसे आपको अनंत दानकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंत लब्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंतभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, तथा आप अनंत उपभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८४ ॥ आप परमध्यानी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप चौरासी लाख योनियोंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम पवित्र हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परम ऋषि वा सर्वोत्कृष्ट मुनि हैं इसलिये आपको नसस्कार हो ॥ ८५ ॥ आप परमाविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अन्य सब मतोंका नाश करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप परमतत्त्वस्वरूप हैं अर्थात् रत्नत्रयरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो तथा आप सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८६ ॥ आप बहुत सुंदर रूपको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम तेजस्वी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप रत्नत्रयरूप होनेसे साक्षात् मोक्षमार्गस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परमस्थानमें रहनेवाले परमेष्ठी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८७ ॥ आप मोक्षस्थानको सेवन करनेवाले हैं तथा परम

क्षीणबंध नमोस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोषाय्तु ते नमः ॥ ८९ ॥ नमः सुगतये तुभ्यं शोभना गतिमीयुषे । नमस्तेतींद्रियज्ञानसुखायानिंद्रियात्मने ॥९०॥ कायबंधननिर्मोक्षादकायाय नमोस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥९१॥ अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः । नमः परमयोगींद्रवंदिताङ्घ्रिद्वयाय ते ॥९२॥ नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम । नमः परमदृग्दृष्टपरमार्थाय तायिने ॥९३॥ नमस्तुभ्यमलेश्याय शुद्धलेश्यांशकस्पृशे ।

ज्योतिस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो; आप अज्ञानरूपी अंधकारके पारंगत अर्थात् सर्वज्ञ हैं और इसलिये ही प्रकाशरूप हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८८ ॥ आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप कर्मोंके बंधनसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है इसलिये आपको नमस्कार हो और आप सब दोषोंसे रहित हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ८९ ॥ आप मोक्षरूपी शुभगतिको प्राप्त होनेवाले सुगति हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप अतींद्रिय (जो इंद्रियोंसे न जाना जाय) ज्ञान सुखको धारण करनेवाले हैं तथा स्वयं इंद्रियोंके अगोचर अतींद्रिय हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९० ॥ आप शरीरका बंधन नामके नामकर्मको नष्ट करनेसे शरीर रहित कहलाते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप मनवचनकायके योगोंसे रहित हैं और योगियोंमें भी सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९१ ॥ आप स्त्रीपुंनपुंसक तीनों वेदोंसे रहित हैं इसलिये आपको मनस्कार हो, आप कषायरहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और परम योगिराज भी आपके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९२ ॥ हे परमविज्ञान ! अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले ! आपकेलिये नमस्कार हो परमसंयम अर्थात् उत्कृष्ट चारित्रको धारण करनेवाले! आपकेलिये नमस्कार हो। हे देव ! आप परमदृष्टिसे परमार्थको देखनेवाले हैं तथा जगतकी रक्षा करनेवाले है इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥९३॥ आप लेश्याओंसे

नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥९४॥ सञ्ज्ञासंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने । नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥९५॥ अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥९६॥ अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मने । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥९७॥ अलमास्तांद्गुणस्तोत्रमनंतास्तावका गुणाः । त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ९८ ॥ प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिं । नाम्नामष्टसहस्रेण

रहित हैं तथापि शुद्ध शुक्लेश्याके कुछ उत्तम अंशोंको स्पर्श करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्य अभव्य दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं और मुक्तरूप हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९४ ॥ आप सेनी असेनी दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं, निर्मल शुद्ध आत्माको धारण करने-वाले हैं तथा आहार भय मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९५ ॥ आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, अतिशय कांतियुक्त हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और संसाररूपी समुद्रके पार पहुंचे हुये हैं इसालिये आपको नमस्कार हो ॥ ९६ ॥ आप जरा रहित हैं इसालिये आपको नमस्कार हो, आप जन्मरहित हैं इसालिये आपको नस्मकार हो, आप मृत्युरहित हैं तथा अचल और अविनश्वर हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९७ ॥ हे देव ! आपके अनंतगुण हैं सबका स्तोत्र हो नहीं सकता इसलिये अब आपके गुणोंका स्तोत्र बंद कर केवल आ-पके नामोंको स्मरण करके ही आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥ आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं, आपके एक हजार आठ लक्षण प्रसिद्ध हैं इसलिये हमलोग भी अपनी इष्टसिद्धिकेलिये एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ९९ ॥ आप अनंत चतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरणरूप बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं इसलिये श्रीमान् १ कहलाते हैं, अपने आप उत्पन्न हुये हैं, अथवा विना गुरुके अपने आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं, अथवा अपने ही आत्मामें

तोष्टुमोभीष्टसिद्धये ॥९९॥ श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः। स्वयप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥१००॥ विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः।

रहते हैं, अथवा आपने अपने आप ही अपना कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणोंसे आप वृद्धिको प्राप्त हुये हैं, अपने आप केवलज्ञान और केवलदर्शनके द्वारा समस्त लोकालोकमें व्याप्त हो रहे हैं, वा भव्य जीवोंको मोक्षरूप संपत्ति देनेवाले हैं, वा द्रव्य पर्यायोंको अपने आप जान सकते हैं, अथवा ध्यान करनेवाले योगियोंको आप प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं, अथवा लोकशिखरपर अपने आप जाकर विराजमान होते हैं इसलिये आप स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे भा अर्थात् सुशोभित रहते हैं अथवा धर्मकी वर्षा करते हैं अथवा भक्त लोगोंको इष्टवस्तुकी वर्षा करनेवाले हैं इसलिये वृषभ ३ कहलाते हैं, आपसे सब जीवोंको सुख मिलता है अथवा आपका भव अर्थात् जन्म अत्यंत ही उत्कृष्ट है अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव वा संभव ४ कहलाते हैं, आप परमानंद मोक्षरूप सुखको देनेवाले हैं इसलिये शंभु ५ कहलाते हैं, आप अपने आत्माके द्वारा ही कृतकृत्य हुये हैं अथवा शुद्ध बुद्ध चिच्चमत्कारस्वरूप आत्मामें ही रहते हैं अथवा ध्यानके द्वारा योगियोंकी आत्मामें ही प्रत्यक्ष होते हैं इसलिये आत्मभू ६ कहे जाते हैं, आप अपने आप ही प्रकाशमान होते हैं किंवा शोभायमान होते हैं इसलिये स्वयंप्रभ ७ कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं वा समर्थ हैं इसलिये प्रभु ८ हैं, परमानंद स्वरूप सुखका उपभोग करनेवाले हैं इसलिये भोक्ता ९ हैं, केवल ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं वा समस्त लोकमें मंगल करनेवाले हैं अथवा ध्यानादिके द्वारा समस्तलोकमें प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं अथवा समस्त लोकालोकको जाननेवाले हैं, इसलिये विश्वभू १० हैं, तथा अब आपका जन्म मरण रूप संसार बाकी नहीं है वा अब आप संसारमें उत्पन्न नहीं होंगे इसलिये ही आपको अपुनर्भव ११ कहते हैं ॥ १०० ॥ आप समस्त लोकको अपने समान जानते हैं

विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वर' ॥ १०१ ॥ विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधुर्वेधा शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥ १०२ ॥

अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हैं इससिये विश्वात्मा १२ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें र-
हनेवाले समस्त प्राणियोंके आप स्वामी हैं इसलिये विश्वलोकेश १३ हैं, आपके चक्षु अर्थात् केवल द-
र्शन समस्त जगतमें व्याप्त है इसलिये विश्वतश्चक्षु १४ हैं, कभी नाश नहीं होते इसलिये अक्षर १५
हैं, छह द्रव्योंसे भरे हुये इस विश्व अर्थात् जगतको जानते हैं इसलिये विश्ववित् १६ हैं, समस्त वि-
द्याओंके ईश्वर हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं अथवा समस्त विद्याओंके जाननेवाले गणधरादि-
कोंके स्वामी हैं इसलिये विश्वविद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात्
सव पदार्थोंका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, तथा आपके स्वरूपका कभी
विनाश नहीं होता इसलिये अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥ १०१ ॥ समस्त लोक अलोकको देखनेसे
विश्वदृश्वा २० कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा सवजगह व्याप्त हैं अथवा जीवोंको संसारसे पार करने
में समर्थ हैं अथवा परम विभूति संयुक्त हैं इसलिये आपको विभु २१ कहते हैं, चारों गतियोंमें परि-
भ्रमण करनेवाले जीवोंका उद्धारकर मोक्षस्थानमें पहुंचानेवाले हैं, अथवा दयालु होनेसे सव
जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगतके स्वामी होनेसे वि-
श्वेश २३ कहे जाते हैं, समस्त जीवोंको सुखकी प्राप्तिका उपाय दिखलाया है इसलिये सव
जीवोंको नेत्रोंके समान होनेसे विश्वलोचन २४ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकमें
व्याप्त हैं अथवा केवलिसमुद्धात करतेसमय आपके आत्माके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो
जाते हैं इसलिये आपको विश्वव्यापी २५ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेवाले हैं अथवा केवलज्ञानरू-
पी किरणोंके द्वारा मोहरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं इसलिये विधु २६ कहे जाते हैं, ध-

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग्विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥ १०२ ॥ जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजि

मरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये वेधा २७ कहलाते हैं, नित्य हैं सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये शास्वत २८ कहे जाते हैं, तथा आपके चारों दिशाओंमें चार मुख दिखते हैं, अथवा आपके मुखके दर्शन करनेमात्रसे जीवोंका संसार नष्ट हो जाता है, अथवा विश्वतोमुख नाम जलका है आप जलके समान कर्मरूप मलको धोनेवाले हैं विपयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेवाले और अत्यंत स्वच्छ हैं इसलिये विश्वतोमुख २९ कहलाते हैं ॥ १०२ ॥ आपके मतमें समस्त कर्म ही दुख देनेवाले हैं अथवा आपने जीविकाके लिये छह कर्मोंका उपदेश दिया है इसलिये आपको विश्वकर्मा ३० कहते हैं, जगतके समस्त प्राणियोंमें आप वृद्ध हैं अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिये जगज्ज्येष्ठ ३१ कहते हैं, आप अनंतगुणमय हैं इसलिये विश्वमूर्ति ३२ कहलाते हैं, अनेक कर्मोंकि नाश करनेसे गणधरदेवोंको अथवा चौथे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले जीवोंको जिन कहते हैं आप उनके ईश्वर हैं इसलिये आपको जिनेश्वर ३३ कहते हैं, समस्त जगतको देखते हैं इसलिये विश्वदृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं अथवा तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिये विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपका केवल दर्शन रूपी तेज सब जगह भरा हुआ है अथवा आप समस्त जगतको प्रकाश करनेवाले हैं इसलिये विश्वज्योति ३६ कहलाते हैं, आपका कोई ईश्वर वा स्वामी नहीं है इसलिये आपको अनीश्वर ३७ कहते हैं ॥ १०३ ॥ आपने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम क्रोध आदि रागद्वेष शत्रु जीते हैं इसलिये जिन ३८ कहलाते हैं आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट रूप किंवा प्रकाशरूप है इसलिये जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनंत है इसलिये अमेयात्मा ४० कहलाते हैं, विश्वरी अर्थात् पृथ्वीके ईश अर्थात् स्वामी हैं इसलिये विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों

दचिंत्यात्मा भव्यबंधुरबंधनः ॥ १०४ ॥ युगादिपुरुषो ब्रह्मा पचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ १०५ ॥ स्वयंज्योतिरजोजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ १०६ ॥ प्रशांतारिरनंतात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मवित् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्या-

लोकोंके स्वामी हैं इसलिये जगतपति ४२ कहे जाते हैं, अनंत संसारको जीतनेवाले हैं अथवा मोक्षको रोकनेवाले अनंत नामके ग्रहको जीतनेवाले हैं इसलिये अनंताजित् ४३ कहे जाते हैं, आपके आत्माका स्वरूप मनसे भी चिंतवन नहीं किया जा सकता इसलिये आपको अचिंत्यात्मा ४४ कहते हैं, भव्य जीवोंका आप सदा उपकार करते हैं इसलिये भव्यवंधु ४५ कहलाते हैं, आपके कर्मका वंध नहीं है, अथवा घातिया कर्मोंके द्वारा आप वंधे हुये नहीं हे इसलिये आप अवंधन ४६ कहे जाते हैं ॥ १०४॥ आप कर्मभूमिके प्रारंभमें हुये हैं इसलिये युगादिपुरुष ४७ कहलाते हैं, आपके यहां केवल ज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिये ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, पंच परमेष्ठी स्वरूप हैं इसलिये पंचब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, सदा परमानंदमें रहते हैं अथवा सवका कल्याण करनेवाले हैं इसलिये आपको शिव ५० कहते हैं, आप जीवोंको मोक्षस्थानमें पहुंचाते हैं इसलिये पर ५१ कहे जाते हैं, धर्मोपदेश देनेसे सवके गुरु हैं किंवा सवसे श्रेष्ठ हैं इसलिये परतर ५२ कहलाते, हैं इंद्रियोंके द्वारा आप जाने नहीं जा सकते केवल ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं इसलिये सूक्ष्म ५३ कहलाते हैं, इंद्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसे मोक्षस्थानमें किंवा अरहंत पदमें रहते हैं इसलिये परमेष्ठी ५४ कहलाते हैं, और तीनों कालोंमें आप सदा नित्य रहते हैं इसलिये सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥ १०५ ॥ आप स्वयं प्रकाशरूप हैं इसलिये स्वयंज्योति ५६ हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिये अज ५७ हैं, कभी शरीर धारण नहीं करते इसलिये अजन्मा ५८ हैं, आप ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी योनि अर्थात् खानि हैं इसलिये ब्रह्मयोनि ५९ कहे जाते हैं, मोक्षस्थानमें चोरासी लाख योनियोंसे र-

विद्यतीश्वर: ॥१०७॥ शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थ सिद्धशासनः। सिद्धसिद्धांतविद्ध्येयः सिद्धसाध्यो जगद्धितः ॥१०८॥ सहिष्णुरच्युतोनंत: प्रभविष्णु-

हित होकर उत्पन्न होते हैं इसलिये अयोनिज ६० कहलाते हैं, आप मोहनीय कर्मरूपी शत्रुके जीतनेवाले हैं इसलिये मोहारि विजयी ६१ कहे जाते हैं, सबसे उत्कृष्ट रीतिसे रहते हैं इसलिये जेता ६२ कहे जाते हैं, गमन करते समय सदा आपके आगे धर्मचक्र रहता है इसलिये आपको धर्मचक्री ६३ कहते हैं, तथा सब प्राणियोंपर दया करना ही आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहरा रही है इसलिये आप दयाध्वज ६४ कहलाते हैं ॥१०६॥ आपके कर्मरूप शत्रु शांत हो गये हैं इसलिये प्रशांतारि ६५ कहलाते हैं अनंतगुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा आपका आत्मा कभी नष्ट नहीं होता अथवा आप केवलज्ञानी हैं इसलिये अनंतात्मा ६६ कहे जाते हैं, आपने अपने योगोंका निरोध किया है इसलिये योगी ६७ हैं, गणधरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते हैं इसलिये योगीश्वरार्चित ६८ हैं, आप अपने ब्रह्म अर्थात् आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये ब्रह्मवित् ६९ हैं, ब्रह्मतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्वका अथवा केवलज्ञानका वा दयाका अथवा कामदेवके नष्ट करनेका मर्म जानते हैं इसलिये ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० हैं, ब्रह्म अर्थात् आत्माके द्वारा कहे हुये समस्त तत्त्वोंको अथवा आत्मविद्याको जानते हैं इसलिये ब्रह्मोद्यावित् ७१ कहलाते हैं, रत्नत्रय सिद्ध करनेवाले यतियोंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये यतीश्वर ७२ कहे जाते हैं ॥ १०७ ॥ क्रोध आदि कषायोंसे रहित होनेसे शुद्ध ७३ हैं, केवलज्ञानी होनेसे अथवा सबको जाननेसे बुद्ध ७४ हैं, अपने आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ आपको सिद्ध हो चुके हैं अथवा मोक्ष प्राप्त होनेका ही आपका मुख्य प्रयोजन है अथवा आपके द्वारा जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा मोक्षके अर्थ अर्थात् कारण रत्नत्रय आपको सिद्ध हुये हैं इसलिये आपको सिद्धार्थ ७६ कहते हैं, आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण वा प्रसिद्ध-

भवोद्भवः । प्रभूष्णुरजरोऽजय्यो भ्राजिष्णुर्धीश्वरोऽव्ययः ॥१०९॥ विभावसुरसम्भूष्णुः स्वयंभूष्णुः पुरातनः । परमात्मा परंज्योतिस्त्रिजगत्परमेश्वरः ॥११०॥

है इसलिये सिद्धशासन ७७ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेसे सिद्ध ७८ कहलाते हैं, द्वादशांगसिद्धांतके पारगामी हैं इसलिये सिद्धांतवित् ७९[1] कहलाते हैं, योगीलोग भी आपका ध्यान करते हैं इसलिये ध्येय ८० हैं, मुनिलोग भी आपकी आराधना करते हैं अथवा सिद्ध जातिके देव आपकी आराधना करते हैं इसलिये सिद्धसाध्य ८१ कहे जाते हैं, तथा आप जगतका हित अथवा उपकार करते हैं इसलिये आपको जगताहित कहते ८२ हैं ॥ १०८ ॥ सहनशील होनेसे सहिष्णु ८३ हैं, आत्माके स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते इसलिये अच्युत ८४ हैं आपके गुणोंका अंत नहीं वा विनाश नहीं इसलिये अनंत ८५ है, आपमें अनंत शक्ति है इसलिये प्रभविष्णु ८६ हैं, संसारमें जन्ममरण होना आपका नष्ट होगया है अथवा संसारमें आपका जन्म उत्कृष्ट गिना जाता है इसलिये आप भवोद्भव ८७ हैं, अपनी स्वाभाविक परिणातिसे समय समयमें परिणत होते हैं अथवा सौ इंद्रोंके प्रभुत्व प्राप्त होनेका आपका स्वभाव है इसलिये प्रभूष्णु ८८ कहलाते हैं, जरा अर्थात् बुढापारहित हैं इसलिये अजर ८९ हैं, कोई भी आपको जीत नहीं सकता इसलिये अजय्य ९० है, करोडों सूर्य चंद्रमाकी कांतिसे भी आपकी कांति अधिक है इसलिये आपको भ्राजिष्णु ९१ कहते हैं, आप पूर्ण ज्ञानके स्वामी हैं इसलिये धीश्वर ९२ हैं, सदा अविनश्वर हैं कभी नाशरूप किंवा कम जियादा नहीं होते इसलिये अव्यय ९३ कहलाते हैं ॥ १०९ ॥ कर्मरूपी ईंधनको जलानेसे विभावसु अर्थात् अग्नि हैं, मोहरूपी अंधकारको नाश करनेसे विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेसे

१ किसी २ पुस्तकमें सिद्धसिद्धांतवित् एक नाम है जिनके मतमें यह एक नाम है दो नहीं है उनके मतमें इकसठवां मोहारिविजयी नामके मोहारि और विजयी ऐसे दो नाम गिनायेगये हैं ।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥ १११ ॥ श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवली-

विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा रागद्वेष आदि विभाव परिणामोंको आपने नाश किया है इसलिये
भी विभावसु ९४ कहे जाते है, संसारमें उत्पन्न होना आपका स्वभाव नहीं है इसलिये असंभूष्णु ९५
हैं, अपने आप ही आप प्रगट अर्थात् प्रकाशरूप हुये हैं इसलिये स्वयंभूष्णु ९६ कहलाते हैं, अनादि
सिद्ध हैं इसलिये पुरातन ९७ हैं, आपका आत्मा परमोत्कृष्ट है इसलिये आपको परमात्मा ९८ कह-
ते हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले हैं इसलिये परंज्योति ९९ कहे जाते हैं और तीनों लोकोंमें आ-
प उत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके आप स्वामी हैं इसलिये आप त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहलाते हैं
॥ ११० ॥ आप दिव्यध्वनिके स्वामी हैं इसलिये दिव्यभाषापति १०१ हैं, अतिशय मनो-
हर होनेसे दिव्य १०२ हैं, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिये आपको पूतवाक् १०३ कहते
हैं आपका उपदेश वा मत पवित्र है इसलिये पूतशासन १०४ हैं, आपका आत्मा पवित्र
है अथवा आप भव्यजीवोंको पवित्र करते हैं इसलिये पूतात्मा १०५ हैं, आपका केवलज्ञान-
रूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है इसलिये परमज्योति १०६ हैं, धर्मके अधिकारी हैं इसलिये धर्माध्यक्ष
१०७ हैं, और इंद्रियोंको निग्रह करनेमें श्रेष्ठ हैं इसलिये दमीश्वर १०८॥ १११ ॥ हैं मोक्षादि लक्ष्मीके
भोक्ता वा स्वामी हैं अतएव श्रीपति १०९ हैं, महाज्ञानी होनेसे भगवान् ११० हैं, परम पूज्य होनेसे
किंवा सबके द्वारा आराधना करनेयोग्य होनेसे अर्हन् १११ हैं कर्मरूपी रज रहित होनेसे अरजा ११२
हैं, आपके द्वारा भव्यजीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण दर्शनावरणरहित हैं अतए-
व विरजा ११३ हैं, परम पवित्र हैं किंवा पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले हैं अथवा मलमूत्ररहित
हैं अथवा मोहरहित हैं अतएव शुचि ११४ हैं, धर्मरूप तीर्थके कर्ता हैं अथवा संसारसे पार करने-

शानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ ११२ ॥ अनंतदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ११३ ॥ निरंज-

वाले द्वादशांगरूप तीर्थके कर्ता हैं इसलिये तीर्थकृत् ११५ हैं, केवलज्ञानी होनेसे केवली ११६ हैं अनंत शक्तिमान् किंवा सबके ईश्वर होनेसे ईशान ११७ हैं, आप आठ प्रकारकी पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह ११८ हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे किंवा पूर्णज्ञान होनेसे स्नातक ११९ हैं और धातु उपधातु आदि मलरहित होनेसे अमल १२० हैं ॥ ११२ ॥ आपकी केवलज्ञानरूपी दीप्ति अनंत हैं अथवा आपकी शरीरकी कांति अनंत है इसलिये आपको अनंतदीप्ति १२१ कहते हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानात्मा १२२ कहलाते हैं, अपने आप ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुये हैं अथवा विना गुरुके स्वयं महाज्ञानी हुये हैं इसलिये स्वयंबुद्ध १२३ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे किंवा सबको उपदेश देनेसे प्रजापति १२४ हैं, संसार और कर्मोंसे रहित होनेसे मुक्त १२५ हैं, समर्थ होनेसे अथवा अनंत शक्ति होनेसे शक्त १२६ हैं, बाधारहित होनेसे वा दुखरहित होनेसे निराबाध १२७ हैं, शरीर रहित होनेसे निष्कल १२८ हैं, और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे भुवनेश्वर १२९ हैं ॥ ११३ ॥ कर्मरूपी अंजनसे रहित होनेसे निरंजन १३० कहलाते हैं, जगतको प्रकाशित करनेसे अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे जगज्ज्योति १३१ हैं, आपके वचन पूर्वापर अविरुद्ध होनेसे प्रमाण हैं इसलिये आपको निरुक्तोक्ति १३२ कहते हैं, रोगरहित अथवा पसीना रहित होनेसे अनामय १३३ हैं, अनंतकाल बीतनेपर भी आपकी स्थिति अचल रहती है इसलिये अचलस्थिति १३४ हैं, व्याकुलतारहित होनेसे अथवा आपकी शांतिका कभी भंग न होनेसे अक्षोभ्य १३५ कहलाते हैं, सदा नित्य रहनेसे अथवा लोकशिखरपर विराजमान होनेसे कूटस्थ १३६ कहे जाते हैं, गमनागमनरहित होनेसे स्थाणु १३७ हैं और क्षयरहित होनेसे अक्षय १३८ हैं, ॥ ११४ ॥ तीनों लो-

नो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामय. । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षय ॥ ११४ ॥ अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ११५ ॥ वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥ ११६ ॥ हिरण्यनाभिर्भूतात्मा

कोंमें मुख्य होनेसे अग्रणी १३९ हैं, मोक्षपदको प्राप्त होनेसे ग्रामणी १४० कहे जाते हैं समस्त प्रजाको धर्मके अनुसार चलाते हैं अतएव नेता १४१ हैं, शास्त्रको उत्पन्न करनेवाले हैं किंवा धर्म वा मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये प्रणेता १४२ कहे जाते हैं, प्रमाण और नयोंका स्वरूप दिखानेवाले शास्त्रोंके कहनेवाले हैं इसलिये न्यायशास्त्रकृत् १४३ कहलाते हैं, सबको हितरूप उपदेश देनेसे शास्ता १४४ हैं, रत्नत्रय धर्मके अथवा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी होनेसे धर्मपति १४५ हैं, धर्मस्वरूप होनेसे धर्म्य १४६ हैं, धर्मकी वृद्धि करनेसे धर्मात्मा १४७ हैं, और धर्मरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेसे धर्मतीर्थकृत् १४८ कहलाते हैं ॥ ११५ ॥ आपकी ध्वजापर बैलका चिन्ह होनेसे अथवा वृष अर्थात् धर्मकी ध्वजा फहरानेसे वृषध्वज १४९ कहलाते हैं, अहिंसारूप धर्मके स्वामी होनेसे वृषाधीश १५० हैं, धर्मको प्रसिद्ध करनेसे वृषकेतु १५१ हैं, कर्मरूप शत्रुको नाश करनेकेलिये आपने धर्मरूपी शस्त्र धारण कर रक्खा है इसलिये वृषायुध १५२ कहलाते हैं, धर्मकी वृष्टि करनेसे वृष १५३ हैं, धर्मके नायक होनेसे वृषपति १५४ हैं, सबके स्वामी होनेसे भर्ता १५५ हैं, बैलका चिन्ह होनेसे वृषभाङ्क १५६ हैं, माताको स्वप्नमें वृषभ दिखाई देकर आप उत्पन्न हुये हैं अथवा महापुण्यसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥ ११६ ॥ सुंदर नाभि होनेसे अथवा नाभिराजाकी संतति होनेसे हिरण्यनाभि १५८ हैं, आपका स्वरूप यथार्थ है कभी नाश नहीं होता इसलिये आप भूतात्मा १५९ हैं, जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा कल्याण करनेसे भूतभृत् १६० कहे जाते हैं, आपकी भावना सदा मंगलरूप है इसलिये भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आपका जन्म प्रशंसनीय है अथवा आपसे आपके वं-

भूतभृद्भूतभावनः। प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवांतकः ॥११७॥ हिरण्यगर्भः श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः। स्वयप्रभु प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभुः ॥११८॥ सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शन.। सर्वात्मा सर्वलोकेश सर्ववित्सर्वलोकजित् ॥११९॥ सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्ब-

शकी वृद्धि हुई है इसलिये प्रभव १६२ कहे जाते हैं, संसाररहित होनेसे विभव १६३ हैं केवलज्ञानरूपी कांतिसे प्रकाशमान होनेसे भास्वान् १६४ हैं, समय समयमें आपमें उत्पाद होता रहता है इसलिये आप भव १६५ हैं, अपने स्वभावमें सदा लीन हैं इसलिये भाव १६६ हैं, और भव अर्थात् संसार परिभ्रमणका आपने नाश किया है इसलिये आप भवांतक १६७ कहलाते हैं ॥ ११७ ॥ आपके गर्भावतारके समय सुवर्णकी वृष्टि हुई थी इसलिये आपको हिरण्यगर्भ १६८ कहते हैं, आपके गर्भावतारके समय लक्ष्मीने भी सेवा की थी अथवा आपके अंतरंगमें स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है इसलिये आपको श्रीगर्भ १६९ कहते हैं, अनंत विभूतिके स्वामी होनेसे आपको प्रभूतविभव १७० कहते हैं, जन्मरहित होनेसे अभव १७१ कहे जाते हैं, अपने आप समर्थ होनेसे स्वयंप्रभु १७२ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा आपका आत्मा व्याप्त होनेसे प्रभूतात्मा १७३ कहते हैं समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ १७४ और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्प्रभु १७५ कहे जाते हैं ॥११८॥ सबसे प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ होनेसे सर्वादि १७६ हैं, समस्त लोकालोकको देखनेसे सर्वदृक् १७७ हैं, हितोपदेश देकर सबका कल्याण करनेसे सार्व १७८ हैं, सबको जाननेसे सर्वज्ञ १७९ हैं, पूर्ण सम्यक्त्वको धारण करनेसे सर्वदर्शन १८० हैं, सबको प्रिय होनेसे सर्वात्मा १८१ हैं, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे सर्वलोकेश १८२ हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे सर्ववित् १८३ हैं, तथा अनंतवीर्य होनेके कारण समस्त लोकको जीतनेवाले हैं इसलिये सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥ आपकी पंचम मोक्षगति अतिशय सुंदर होनेसे अथवा आपका ज्ञान प्रशंसनीय होनेसे सुगति १८५ कहलाते हैं, अत्यंत प्रसिद्ध होनेसे अथवा उत्तम शास्त्रज्ञानको

इश्रुत । विश्रुतो विश्वत.पादो विश्वशीर्ष. शुचिश्रवा ॥१२०॥ सहस्रशीर्ष. क्षेत्रज्ञ. सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वर. ॥१२१॥ स्थविष्ठ. स्थविरो ज्येष्ठः प्रष्ठ' प्रेष्ठो वरिष्ठधी. । स्थेष्ठो गरिष्ठो बंहिष्ठः श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगी' ॥१२२॥ विश्वमुट् विश्वसृट् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः ।

धारण करनेसे सुश्रुत १८६ हैं, भक्तोंकी प्रार्थनाको अच्छीतरह सुनते हैं इसलिये सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप होनेसे अथवा हितोपदेश देनेसे सुवाक् १८८ कहते हैं, सबके गुरु होनेसे सूरि १८९ हैं, शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत १९० हैं, जगत प्रसिद्ध होनेसे अथवा शास्त्रोंसे भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता इसलिये आप विश्रुत १९१ हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें सबओर फैली हुई हैं इसलिये आपको विश्वतःपाद १९२ कहते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान होनेसे विश्वशीर्ष १९३ हैं, तथा आपका ज्ञान अत्यंत निर्दोष है इसलिये आपको शुचिश्रवा १९४ कहते हैं ॥ १२० ॥ अनंत सुखी होनेसे सहस्रशीर्ष १९५ हैं, आतमाका स्वरूप जाननेसे अथवा लोकालोकको जाननेसे क्षेत्रज्ञ १९६ हैं, अनंतदर्शी होनेसे सहस्राक्ष १९७ हैं, अनंत वीर्यको धारण करनेसे सहस्रपात् १९८ हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके स्वामी होनेसे भूतभव्यभवद्भर्ता १९९ हैं, और समस्त विद्याओंके अथवा केवलज्ञानके स्वामी होनेसे विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहे जाते हैं ॥ १२१ ॥ सद्गुणोंसे पूर्ण होनेसे अथवा आपके प्रदेशोंमें समस्त जीवोंको अवकाश देनेकी शक्ति होनेसे आपको स्थविष्ट २०१ कहते हैं, आदि अंतरहित होनेसे अत्यंत वृद्ध हैं अथवा ज्ञानसे वृद्ध हैं इसलिये स्थविर २०२ कहते हैं, मुख्य होनेसे ज्येष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे पृष्ठ २०४ हैं, अत्यंत प्रिय होनेसे प्रेष्ट २०५ हैं, अतिशय बुद्धिको धारण करनेसे वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यंत स्थिर अर्थात् अविनाशी होनेसे स्थेष्ठ २०७ कहेजाते हैं, अत्यंतगुरु होनेसे गरिष्ट २०८ हैं, अनंतगुणोंको धारण करनेसे अथवा अनेक स्वरूप होनेसे वंहिष्ठ २०९ हैं, प्रशंसनीय होनेसे श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञानके

विश्वासी विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितातकः ॥१२३॥ विभवो विभयो वीरो विशोको विजरोजरन् । विरागो विरतोसंगो विविक्तो वीतमत्सरः ॥१२४॥

गोचर होनेसे अणिष्ठ २११ कहलाते हैं, तथा आपकी वाणी पूज्य होनेसे गरिष्टगी २१२ कहे जाते हैं ॥१२२॥ चतुर्गतिरूप संसारको नाश करनेसे विश्वमुद् २१३ हैं, विधि विधानके कर्ता होनेसे विश्वसृट् २१४ हैं, तीनों भुवनोंका स्वामी होनेसे विश्वेद् २१५ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे विश्वभुक् २१६ हैं, सबके स्वामी होनेसे विश्वनायक २१७ हैं, समस्त प्राणियोंके विश्वास योग्य होनेसे अथवा केवलज्ञानके द्वारा सब जगह निवास करनेसे विश्वासी २१८ कहे जाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है, अथवा आपका आत्मा अनंतस्वरूप है इसलिये आपको विश्वरूपात्मा २१९ कहते हैं, संसारको जीतनेसे विश्वजित् २२० और कालको जीतलेनेसे विजितांतक २२१ कहलाते हैं, ॥१२३॥ आपके किसीप्रकारका मनोविकार नहीं है इसलिये आपको विभव २२२ कहते हैं, भयरहित होनेसे विभय २२३ कहते हैं, लक्ष्मीका स्वामी होनेसे अथवा अतिशय बलशाली होनेसे वीर २२४ हैं, शोक रहित होनेसे विशोक २२५ हैं, जरा रहित होनेसे विजर २२६ हैं, नवीन न होनेसे अर्थात् अनादिकालीन होनेसे जरन् वा वृद्ध २२७ हैं, रागरहित होनेसे विराग २२८ हैं, समस्त विषयोंसे विरक्त होनेसे विरत २२९ हैं, पर वस्तुका संबंध न रखनेसे असंग २३० हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त २३१ हैं और किसीसे ईर्षा द्वेष न करनेसे वीतमत्सर २३२ कहे जाते हैं ॥ १२४ ॥ अपने भक्त लोगोंके आप बंधु हैं इसलिये विनेयजनताबंधु २३३ हैं, कर्मरूपी समस्त कालिमासे रहित होनेसे विलीनाशेषकल्मष २३४ हैं, अन्य किसी वस्तुके साथ संबंध न होनेसे अथवा योग रहित होनेसे वियोग २३५ हैं, योगके जानकार होनेसे योगवित् २३६ हैं, महापंडित अथवा पूर्णज्ञानी होनेसे विद्वान् २३७ हैं, धर्मरूप सृष्टिके कर्ता होनेसे अथवा सबके गुरु होनेसे विधाता २३८ हैं, आपका अनुष्ठान वा क्रिया अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे सुविधि २३९ हैं, अतिशय बुद्धिमान होनेसे

विनेयजनताबन्धुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥१२५॥ क्षांतिभाक् पृथिवीमूर्तिः शांतिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसंगात्मा वन्हिमूर्तिरधर्मधक् ॥१२६॥ सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्यो यज्ञांगममृतं हविः ॥१२७॥ व्योममूर्तिरमू-

सुधी २४० हैं, ॥ १२५ ॥ उत्तम क्षमाको धारण करनेसे क्षांतिभाक् २४१ कहे जाते हैं, पृथ्वीके समान सबको सहन करनेकी शक्ति होनेसे पृथिवीमूर्ति २४२ हैं, शांतता धारण करनेसे शांतिभाक् २४३ हैं, जलके समान अत्यंत निर्मल होनेसे तथा अन्य जीवोंको कर्ममलरहित शुद्ध करनेसे सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायुके समान परके संबंधसे रहित होनेसे वायुमूर्ति २४५ हैं, परिग्रह रहित होनेसे असंगात्मा २४६ हैं, अग्निके समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे अथवा कर्मरूपी इंधनको जलानेसे वन्हिमूर्त्ति २४७ हैं और अधर्मका नाश करनेसे अधर्मधक् २४८ कहलाते हैं ॥ १२६ ॥ कर्मरूप सामग्रीका होम करनेसे सुयज्वा २४९ हैं, स्वभावभावका आराधन करनेसे अथवा भाव पूजाके कर्ता होनेसे यजमानात्मा २५० हैं, परमानंद सागरमें अभिषेक करनेसे सुत्वा २५१ हैं, इंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे सुत्रामपूजित २५२ हैं ध्यानरूपी अग्निमें शुभाशुभरूप कर्मोंको भस्म करनेमें अथवा ज्ञानरूप यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते हैं इसलिये आपको ऋत्विक् २५३ कहते हैं, यज्ञके मुख्य अधिकारी होनेसे यज्ञपति २५४ हैं, पूज्य होनेसे यज्य २५५ हैं यज्ञके साधन अर्थात् मुख्य कारण होनेसे यज्ञांग २५६ हैं, मरण रहित होनेसे अथवा संसार तृष्णाको निवारण करनेसे अमृत २५७ हैं और अपने आत्मामें तल्लीन रहनेसे हवि २५८ हैं ॥१२७॥ आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी होनेसे व्योममूर्ति २५९ हैं, रूपरसगंध स्पर्श रहित होनेसे अमूर्त्तात्मा २६० हैं, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेसे निर्लेप २६१ हैं, रागादि रहित होनेसे अथवा मलमूत्रादि रहित होनेसे निर्मल २६२ हैं, सर्वदा स्थिर रहनेसे अचल २६३ हैं, चंद्रमाके समान प्रकाशमान और शांत होनेसे अथवा अत्यंत सुशोभित होनेसे सोममूर्ति २६४ हैं, अतिशय सौम्य होनेसे सुसौम्यात्मा २६५ हैं, सूर्यके स-

र्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ १२८ ॥ मंत्रविन्मंत्रकृन्मंत्री मंत्रमूर्तिरनंतगः । स्वतंत्रस्तंत्रकृत्स्वंतः कृतांतांतः कृतांतकृत् ॥१२९॥ कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥ १३० ॥ ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्म-

मान अत्यंत कांति सहित होनेसे सूर्यमूर्ति २६६ हैं और अतिशय प्रभावशाली होनेसे अथवा केवलज्ञान-रूपी तेजसे सुशोभित होनेसे महाप्रभ २६७ हैं, ॥ १२८ ॥ मंत्रके जाननेवाले होनेसे मंत्रवित् २६८ कहे जाते हैं, प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगरूप मंत्रोंके अथवा जप करनेयोग मंत्रोंके कर्ता होनेसे मंत्र-कृत् २६९ हैं, आत्माको विचार करनेसे अथवा लोककी रक्षा करनेसे अथवा मुख्य होनेसे मंत्री २७० हैं, मंत्रस्वरूप होनेसे मंत्रमूर्ति २७१ हैं, अनंतज्ञानी होनेसे अनंतग २७२ हैं, स्वाधीन होनेसे अथवा आत्मा ही आपका सिद्धांत होनेसे स्वतंत्र २७३ हैं, आगमके मुख्यकर्ता होनेसे तंत्रकृत् २७४ हैं, शुद्ध अंतःकरण होनेसे स्वंत २७५ है, यम अर्थात् मरणको नाश करनेसे कृतांतांत २७६ हैं, और पुण्यवृद्धिके कारण होनेसे कृतांतकृत् २७७ हैं ॥ १२९ ॥ प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् अथवा हरहरादि द्वारा पूज्य होनेसे कृती २७८ है, मोक्षरूप परमपुरुषार्थको सिद्ध करनेसे कृतार्थ २७९ हैं, आपका कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होनेसे सत्कृत्य २८० हैं, करनेयोग्य समस्त कार्य करनेसे अथवा सब कार्य सफल होनेसे कृतकृत्य २८१ है, ध्यानरूपी अग्निमें कर्म नोकर्म आदिको भस्म करनेसे अथवा ज्ञानरूपी यज्ञको करनेसे, अथवा तपश्चर्यारूपी यज्ञ समाप्त होनेसे कृतक्रतु २८२ हैं, अविनाशी होनेसे अर्थात् सदा वर्तमान रहनेसे नित्य २८३ हैं, मृत्युको जीतनेसे मृत्युंजय २८४ हैं, आपका आत्मा कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता इसलिये अमृत्यु २८५ हैं, मरणरहित होनेसे अथवा अमृतस्वरूप शांतिदायक होनेसे अमृतात्मा २८६ हैं और जन्ममरणरहित होनेसे अथवा अविनश्वर अवस्थाको प्राप्त होनेसे अथवा भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्तिका कारण होनेसे अमृतोद्भव २८७ हैं, ॥ १३० ॥ शुद्ध आत्मामें तल्लीन रहनेसे ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते है, सबमें उत्कृष्ट अथ-

सभवः । महाब्रह्मपति र्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वर ॥१३१॥ सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभु । प्रशमात्मा प्रशातात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥१३२॥ महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसंभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥१३३॥ पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजे

वा उत्कृष्ट केवलज्ञानको धारण करनेसे परंब्रह्म २८९ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ब्रह्मात्मा २९० हैं, आपसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है अथवा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है इसलिये ब्रह्मसंभव २९१ हैं, गणधरादि बड़े २ ज्ञानियोंके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपति २९२ हैं, केवली भी आपकी स्तुति करते हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं इसलिये ब्रह्मेट् २९३ हैं, तथा मोक्षके स्वामी अथवा समवसरणके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर २९४ हैं ॥ १३१ ॥ भक्तोंको स्वर्गमोक्ष देनेसे अथवा सदा आनंदस्वरूप होनेसे सुप्रसन्न २९५ हैं, मलरहित होनेसे प्रसन्नात्मा २९६ हैं, केवलज्ञान दयाधर्म और इंद्रियनिग्रहरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहलाते हैं, क्रोधादिरहित होनेसे प्रशमात्मा २९८ हैं परमशांतरूप होनेसे प्रशांतात्मा २९९ हैं, और अनादिकालसे मोक्षस्थानमें निवास करनेसे अथवा अनादिकालसे सदा होनेवाले त्रेसठशलाका पुरुषोंमें उत्कृष्ट होनेसे पुराणपुरुषोत्तम ३०० कहलाते हैं ॥ १३२ ॥ महा अशोकवृक्ष ही आपका चिन्ह है इसलिये आपको महाशोकध्वज ३०१ कहते हैं, शोकरहित होनेसे अशोक ३०२ कहते हैं, सबके पितामह होनेसे अथवा सबको सुख देनेसे क ३०३ कहते हैं भक्त लोगोंको स्वर्ग मोक्ष देनेसे स्रष्टा ३०४ हैं, आपका आसन कमल है वा कमल ही सिंहासन है इसलिये पद्मविष्टर ३०५ कहते हैं, लक्ष्मीके स्वामी होनेसे पद्मेश ३०६ हैं विहार करतेसमय इंद्रलोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं इसलिये पद्मसंभूति ३०७ कहते हैं, कमलके समान सुंदर नाभि होनेसे पद्मनाभि ३०८ कहेजाते हैं, तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है अतएव अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥ १३३ ॥ लक्ष्मीके उत्पन्न होनेका स्थान होनेसे पद्मयोनि ३१० हैं, धर्मरूप जगतकी उत्पत्तिके कारण होनेसे जगतयोनि ३११ हैं, ज्ञानगम्य

य: कृतक्रिय. ॥१३४॥ गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्य: पुण्यो गणाग्रणी: । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायक: ॥१३५॥ गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुण: पुण्यगीर्गुण: । शरण्य: पुण्यवाक् पूतो वरेण्य: पुण्यनायक. ॥१३६॥ अगण्य पुण्यधीर्गुण्य: पुण्यकृत्पुण्यशासन. । धर्मारामो गुणग्राम: पुण्यापुण्यनिरोधक: ॥१३७॥

होनेसे स्तुत्य ३१२ हैं, सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होनेसे स्तुत्य ३१३ हैं, समस्त स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर ३१४ हैं, स्तुतियोंके पात्र होनेसे स्तवनार्ह ३१५ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे हृषीकेश ३१६ हैं, काम क्रोध रागआदिको जीतलेनेसे जितजेय ३१७ हैं, आपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके कृत्य सब पूर्ण किये हैं इसलिये कृतक्रिय ३१८ हैं ॥ १३४ ॥ बारह प्रकारकी सभाओंका स्वामी होनेसे गणाधिप ३१९ हैं, समस्त संघके मुख्य होनेसे गणज्येष्ठ ३२० हैं, अनंत गुणोंके स्वामी होनेसे गण्य ३२१ हैं, पवित्र होनेसे पुण्य ३२२ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे गणाग्रणी ३२३ हैं गुणोंकी खानि होनेसे गुणाकर ३२४ हैं, गुणोंका समुद्र होनेसे गुणांभोधि ३२५ हैं, गुणोंको जाननेसे गुणज्ञ ३२६ हैं, तथा समस्त गुणोंके नायक होनेसे गुणनायक ३२७ हैं ॥ १३५ ॥ गुणोंका आदर करनेसे गुणादरी ३२८ हैं, क्रोधादि गुणोंका नाश करनेसे अथवा इंद्रियोंका नाश करनेसे गुणोच्छेदी ३२९ हैं, केवलज्ञानादिगुण निश्चितरूपसे होनेसे अथवा विभाव गुणोंका नाश करनेसे अथवा गुण अर्थात् तंतु वा वस्त्र रहित होनेसे निर्गुण ३३० हैं, आपकी वाणी पवित्र है इसलिये पुण्यगी ३३१ हैं, शुद्ध गुणस्वरूप होनेसे गुण ३३२ हैं, सबके शरणभूत होनेसे शरण्य ३३३ हैं पुण्यरूप वचन होनेसे पुण्यवाक् ३३४ हैं, पवित्र होनेसे पूत ३३५ हैं, सबमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जीवोंको अपनासा मुक्तस्वरूप करनेसे वरेण्य ३३६ हैं, तथा पुण्यके स्वामी होनेसे पुण्यनायक ३३७ हैं, ॥ १३६ ॥ आपका परिमाण नहीं किया जा सकता अथवा आपके गुण गिने नहीं जा सकते इसलिये अगण्य ३३८ हैं, पवित्र ज्ञान होनेसे पुण्यधी ३३९ हैं, सबका कल्याण करनेसे अथवा समवसरणके योग्य होनेसे गण्य ३४० हैं, पुण्यका

पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वंद्वो निर्मदः शांतो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ १३८ ॥ निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतागो निरास्रवः ॥ १३९ ॥ विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिंत्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत् सुनयतत्त्ववित् ॥ १४० ॥

कर्ता होनेसे पुण्यकृत् ३४१ हैं, आपका मार्ग वा मत पुण्यरूप होनेसे पुण्यशासन ३४२ हैं, धर्मका बगीचारूप (समूह) होनेसे धर्माराम ३४३ हैं, गुणोंके समूह होनेसे गुणग्राम ३४४ हैं, तथा पुण्य और पाप दोनोंका निरोध करनेसे पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥ १३७ ॥ हिंसादि समस्त पापोंसे रहित होनेसे पापापेत ३४६ पापरहित होनेसे विपापात्मा ३४७ हैं, पापकर्म नष्ट होनेसे विपाप्मा ३४८ हैं, कर्ममल रहित होनेसे वीतकल्मष ३४९ हैं, परिग्रहरहित होनेसे निर्द्वंद ३५० अहंकार न होनेसे निर्मद ३५१ हैं, उपाधि रहित होनेसे शांत ३५२ हैं, मोहरहित होनेसे निर्मोह ३५३ हैं, तथा उपद्रवरहित होनेसे निरुपद्रव ३५४ हैं ॥ १३८ ॥ आपके नेत्रोंके पलक दूसरे पलकसे नहीं लगते हैं इसलिये निर्निमेष ३५५ हैं, कवलाहार न करनेसे निराहार ३५६ हैं, क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय ३५७ हैं, सबप्रकारके संकट रहित होनेसे निरुपप्लव ३५८ हैं, कलंकरहित होनेसे निष्कलंक ३५९ हैं, पापोंको दूर करनेसे निरस्तैना ३६० हैं, अपराधोंका नाश करनेसे निर्धूताग ३६१ हैं, तथा आस्रवरहित होनेसे निरास्रव ३६२ हैं ॥ १३९ ॥ अतिशय विशाल होनेसे विशाल ३६३ है, केवलज्ञानरूप अपार ज्योतिको धारण करनेसे विपुलज्योति ३६४ हैं, आपके समान अन्य कोई न होनेसे अतुल ३६५ हैं, आपकी विभूतिको कोई चिंतवन भी नहीं करसकता इसलिये अचिंत्यवैभव ३६६ हैं, संवररूप होनेसे अथवा गणधरादिकोंसे वेष्ठित रहनेसे सुसंवृत ३६७ हैं, आपका आत्मा गुप्त होनेसे अथवा आस्रवादिसे अलग होनेसे सुगुप्तात्मा ३६८ हैं, उत्तम ज्ञाता होनेसे सुभृत ३६९ हैं, तथा नैगम संग्रह आदि नयोंका मर्म जाननेसे सुनयतत्त्ववित् ३७० कहलाते हैं ॥ १४० ॥ एक केवलज्ञानको धारण करनेसे अथवा एक अध्यात्मविद्याको धारण करनेसे एकविद्य ३७१

एकविद्यो महाविद्यो मुनि॰ परिवृढ॰ पतिः । धीशो विद्यानिधि॰ साक्षी विनेता विहतांतकः ॥ १४१ ॥ पिता पितामहः पाता पवित्र. पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥ १४२ ॥ कवि. पुराणपुरुषो वर्षीयान् ऋषभः पुरु॰ । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥ १४३ ॥ श्री-

कहलाते हैं, अनेक विद्यायें धारण करनेसे महाविद्य ३७२ हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि ७३ हैं, तपस्वियोंके स्वामी होनेसे परिवृढ ७४ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे अथवा दुख दूर करनेसे पति ७५ हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीश ७६ हैं, ज्ञानके सागर होनेसे विद्यानिधि ७७ हैं, त्रैलोक्यको प्रत्यक्ष जाननेसे साक्षी ७८ हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेसे विनेता ७९ हैं, तथा यमका नाश करनेसे विहितांतक ८० कहे जाते हैं, ॥ १४१ ॥ नरकादि गतियोंसे रक्षा करनेसे पिता ८१ हैं, सबके गुरु होनेसे पितामह ८२ हैं, सबकी रक्षा करनेसे पाता ८३ हैं, भक्तोंको पवित्र करनेसे पवित्र ८४ हैं, सबको शुद्ध करनेसे पावन ८५ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे गति ८६ हैं, सबकी रक्षा करनेसे त्राता ८७ हैं, नाम लेनेसे ही समस्त रोगोंको अथवा जन्म जरा मरण आदि रोगोंको दूर करनेसे भिषग्वर अर्थात् उत्तम वैद्य ८८ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे वर्य ८९ हैं, स्वर्गमोक्षादिके देनेवाले हैं इसलिये वरद ९० हैं, भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेसे परम ९१ हैं, अपने आत्माको तथा भक्तोंको पवित्र करनेसे पुमान् ९२ हैं ॥१४२॥ धर्म अधर्मका निरूपण करनेसे कवि ९३ हैं, अनादि कालीन होनेसे पुराणपुरुष ९४ हैं, अतिशय वृद्ध होनेसे वर्षीयान् ९५ हैं, ज्ञानी होनेसे ऋषभ ९६ हैं, सबमें अग्रगामी होनेसे पुरु ९७ हैं, आपसे स्थैर्य गुणकी उत्पत्ति हुई है अथवा आपकी सेवा करनेसे यह जीव जगतमान्य हो जाता है इसलिये प्रतिष्ठाप्रसव ९८ हैं, मोक्षके साक्षात् कारण होनेसे अथवा सबको जाननेसे हेतु ९९ हैं, और तीनों लोकोंके जीवोंकी रक्षा करनेसे किंवा हितोपदेश देनेसे भुवनैकपितामह ४०० हैं ॥ १४३ ॥ श्रीवृक्षका चिन्ह होनेसे श्रीवृक्षलक्षण १ कहलाते हैं, सूक्ष्म होनेसे अथवा लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन करनेसे श्ल-

वृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः । निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १४४ ॥ सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः । बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्द्धमानो महर्द्धिकः ॥ १४५ ॥ वेदांगो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः । वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥ १४६ ॥ नवाशिने-

क्षण २ हैं, लक्षण सहित होनेसे लक्षण्य ३ हैं. अनेक शुभ लक्षण होनेसे शुभलक्षण ४ हैं. इंद्रियरहित होनेसे निरक्ष ५ हैं, कमलके समान सुंदर नेत्र होनेसे पुंडरीकाक्ष ६ हैं. केवलज्ञानसे वृद्धिगत होनेसे पुष्कल ७ हैं, और कमलदलके समान दीर्घ नेत्र होनेसे पुष्करेक्षण ८ हैं ॥ १४४ ॥ मोक्षरूप सिद्धिको देनेसे सिद्धिद ९ हैं. समस्त मनोरथ सफल होनेसे सिद्धसंकल्प १० हैं. पूर्ण आनंदस्वरूप होनेसे सिद्धात्मा ११ हैं, मोक्षमार्ग रूप साधन होनेसे सिद्धसाधन १२ हैं सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा अथवा विशेषज्ञानियोंके द्वारा जाननेयोग्य होनेसे बुद्धबोध्य १३ हैं, आपका रत्नत्रय अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे अथवा अतिशय ज्ञानी होनेसे महाबोधि १४ हैं. आपका पूज्यपना अतिशय बढा हुआ होनेसे वर्द्धमान १५ हैं, तथा बडी भारी विभूतिको धारण करनेसे महर्द्धिक १६ हैं ॥ १४५ ॥ प्रथमानुयोग आदि चारों वेदोंके कारण होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वेदांग १७ हैं. चारों अनुयोगोंको जाननेसे अथवा आत्माका स्वरूप जाननेसे वेदवित् १८ हैं. आगमके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिये वेद्य १९ हैं, उत्पन्न होनेके समान ही आपका दिगंबर रूप है अथवा आप रूप रहित हैं इसलिये जातरूप २० हैं, विद्वानोंमें श्रेष्ठ होनेसे विदांवर २१ हैं. केवलज्ञानके द्वारा अथवा आगमके द्वारा जानने योग्य होनेसे वेदवेद्य २२ हैं, अनुभव गम्य होनेसे स्वसंवेद्य २३ हैं, विलक्षण ज्ञानी होनेसे अथवा आगमके अगोचर होनेसे विवेद २४ हैं, तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वदतांवर २५ हैं ॥१४६॥ आदि अंतरहित होनेसे अनादिनिधन २६ हैं, ज्ञानके द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होनेसे व्यक्त २७ हैं, आपके वचन समस्त प्राणियोंके समझने योग्य हैं, इसलिये आप व्यक्तवाक् २८ हैं, आपकी आज्ञा वा मत समस्त संसारमें

धनो व्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः । युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ १४७ ॥ अतींद्रोतीद्रियो धींद्रो महेंद्रोतींद्रियार्थदृक् । अनिंद्रियोऽहमिंद्रार्च्यो महेंद्रमहितो महान् ॥ १४८ ॥ उद्भवः कारण कर्त्ता पारगो भवतारकः । अगाह्यो गहन गुह्य परार्घ्यः परमेश्वर. ॥ १४९ ॥ अनतर्द्धिरमेयर्द्धिरचिंत्यर्द्धिः

प्रसिद्ध होनेसे अथवा आपके कहे हुये शास्त्रोंमें पूर्वापर विरोध न होनेसे आप व्यक्तशासन २९ हैं, युगकी आदि अर्थात् कर्मभूमिके कर्ता हैं इसलिये युगादिकृत् ३० हैं, युगोंका आधार होनेसे युगाधार ३१ हैं, युगके प्रारंभमें होनेसे युगादि ३२ हैं, और जगतकी आदिमें अर्थात् कर्मभूमिकी आदिमें उत्पन्न होनेसे जगदादिज ३३ कहलाते हैं ॥ १४७ ॥ इंद्र नरेंद्र आदि सबके विशेष स्वामी होनेसे अतींद्र ३४ हैं इंद्रियगोचर न होनेसे अतींद्रिय ३५ हैं, ज्ञानके स्वामी होनेसे अथवा शुक्लध्यानके द्वारा परमात्मस्वरूप होनेसे धींद्र ३६ हैं, पूजाके अधिपति होनेसे अथवा इंद्रसे भी अधिक संपत्तिमान् होनेसे महेंद्र ३७ हैं, इंद्रिय और मनके अगोचर पदार्थोंको भी जाननेसे अतींद्रियार्थदृक् ३८ हैं, इंद्रियरहित होनेसे अनिंद्रिय ३९ हैं, अहमिंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे अहमिंद्रार्च्य ४० हैं, समस्त बडे २ इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रमहित ४१ हैं, तथा सबसे पूज्य व बडे होनेसे महान् ४२ हैं ॥ १४८ ॥ जन्ममरणरहित होनेसे अथवा आपका जन्म सर्वोत्कृष्ट होनेसे उद्भव ४३ हैं, मोक्षके कारण होनेसे कारण ४४ हैं, शुद्धभावोंके कर्ता होनेसे कर्ता ४५ हैं, संसारसमुद्रके पारगामी होनेसे पारग ४६ हैं, भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करदेनेसे भवतारक ४७ हैं, किसीके भी द्वारा अवगाहन न करनेसे अगाह्य ४८ हैं, आपका स्वरूप हर कोई नहीं जान सकता इसलिये गहन ४९ हैं, परम रहस्यरूप अर्थात् गुप्तरूप होनेसे गुह्य ५० हैं, उत्कृष्ट विभूतिके स्वामी होनेसे परार्घ्य ५१ हैं, और सबके स्वामी होनेसे अथवा मोक्षलक्ष्मीके स्वामी होनेसे परमेश्वर ५२ हैं ॥ १४९ ॥ अनंत ऋद्धियोंको धारण करनेसे अनंतर्द्धि ५३ हैं, अपरिमित ऐश्वर्यको धारण करनेसे अमेयर्द्धि

समग्रधीः । प्राग्र्यः प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रजः ॥१५०॥ महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृ-
ति. ॥ १५१ ॥ महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबलः । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युतिः ॥ १५२ ॥ महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महादयः । म-

५४ हैं, आपकी संपत्तिका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता इसलिये आप अचिंत्यर्द्धि ५५ हैं, जगतके समस्त पदार्थोंको जानने योग्य पूर्ण ज्ञान होनेसे समग्रधी ५६ कहे जाते हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य ५७ हैं, सबमें श्रेष्ठता प्राप्त करनेसे प्राग्रहर ५८ हैं, श्रेष्ठोंमें भी सबसे श्रेष्ठ होनेसे अभ्यग्र्य ४५९ हैं, बलवानोंमें भी अत्यंत श्रेष्ठ होनेसे अथवा लोकका मुख्यभाग पसंद करनेसे प्रत्यग्र ४६० हैं, सबके नायक होनेसे अग्र्य ४६१ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे अग्रिम ४६२ हैं, तथा सब-से बडे होनेसे अग्रज ४६३ हैं ॥ १५० ॥ कठिन कठिन तपश्चरण करनेसे महातपा ४६४ हैं, अतिशय तेजस्वी होनेसे अथवा अतिशय पुण्यवान् होनेसे महातेजा ६५ हैं, आपकी तपश्चर्याका फल सबसे बडा अर्थात् केवलज्ञान है इसलिये आप महोदर्क ६६ कहलाते हैं, अतिशय प्रतापी होनेसे अथवा आपका ज-न्म सबको आनंद देनेवाला होनेसे महोदय ६७ हैं, अतिशय यशस्वी होनेसे महायशा ६८ हैं, अतिशय प्रकाशरूप होनेसे महाधामा ६९ हैं, अतिशय बलवान् होनेसे महासत्त्व ७० हैं और अतिशय धीर वीर हो-नेसे महाधृति ७१ हैं ॥१५१॥ कभी भी व्यग्र न होनेसे महाधैर्य ७२ हैं, अतिशय सामर्थ्यवान् होनेसे महा-वीर्य ७३ हैं, समवसरण रूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासंपत् ७४ हैं, अतिशय बलवान् होने-से महाबल ७५ हैं, अनंत शक्ति होनेसे महाशक्ति ७६ हैं, अतिशय कांतियुक्त होनेसे महाज्योति ७७ हैं, पंचकल्याणकोंकी महाविभूतिके स्वामी होनेसे महाभूति ७८ हैं, और अतिशय शोभायमान होनेसे महा-द्युति ७९ हैं ॥१५२॥ अतिशय बुद्धिमान् होनेसे महामति ८० हैं, अतिशय न्यायवान् होनेसे महानीति ८१ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षांति ८२ हैं, अतिशय दयालु होनेसे महादय ८३ हैं, अतिशय प्रवीण

हाप्राज्ञो महाभागो महानंदो महाकविः ॥ १५३ ॥ महामहा महाकीर्तिर्महाकांतिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥ १५४ ॥ महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥ १५५ ॥ महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः । महाक्षमो महाशीलो म-

होनेसे महाप्राज्ञ ८४ हैं, अतिशय भाग्यशाली होनेसे महाभाग ८५ हैं, अतिशय आनंद स्वरूप होनेसे अथवा भव्यजीवोंको आनंद देनेसे महानंद ८६ हैं, तथा शास्त्रोंके मुख्य कर्ता होनेसे महाकवि ८७ हैं ॥ १५३ ॥ अत्यंत तेजस्वी होनेसे महामहा ८८ हैं, आपकी कीर्ति सबजगह व्याप्त होनेसे महाकीर्ति ८९ हैं, अत्यंत कांतियुक्त होनेसे महाकांति ९० हैं, अतिशय सुंदर शरीर होनेसे महावपु ९१ हैं, बडे-भारी दानी होनेसे महादान ९२ हैं, सबसे बडे केवलज्ञानको धारण करनेसे महाज्ञान ९३ हैं, योगोंको अत्यंत निरोध करनेसे महायोग ९४ हैं, तथा लोकोंको कल्याण करनेवाले गुणोंसे सुशोभित होनेसे महागुण ९५ हैं ॥ १५४ ॥ पंचकल्याणरूप महा पूजाके स्वामी होनेसे महामहपति ९६ हैं, आपको गर्भावतार आदि पांचो कल्याण प्राप्त हुये हैं इसलिये प्राप्तमहाकल्याणपंचक ९७ कहे जाते हैं, अतिशय समर्थ अथवा सबसे बडे स्वामी होनेसे महाप्रभु ९८ हैं अशोकवृक्ष आदि आठों प्रातिहार्योंके स्वामी होनेसे महाप्रातिहार्याधीश ९९ हैं और इंद्रादि सब देवोंके अधीश्वर होनेसे महेश्वर ५०० कहलाते हैं ॥ १५५ ॥ सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे अथवा प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे महामुनि १ हैं, वचनालाप रहित होनेसे महामौनी २ हैं, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यानी ३ हैं, विषय कषायोंको दमन करनेसे अथवा शक्तिमान् होनेसे महादम ४ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षम ५ हैं, पूर्ण ब्रह्मचारी होनेसे अथवा शीलयुक्त होनेसे महाशील ६ हैं, स्वाभाविक परिणतिरूप अग्निमें विभाव परिणतिरूप सामग्रीको हवनकर अथवा तपश्चरणरूप अग्निमें विषयाभिलाषाको हवनकर महायज्ञ करनेसे अथवा केवलज्ञानरूप महायज्ञ प्राप्त होनेसे महायज्ञ ७ कहलाते हैं, तथा अतिशय पूज्य होनेसे महाम-

हायज्ञो महामख· ॥ १५६ ॥ महानतपतिर्मह्यो महाकांतिधरोऽधिपः महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥ १५७ ॥ महाकारुणिको मंता महामंत्रो महायतिः । महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥ १५८ ॥ महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक् । महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥ १५९ ॥ महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः । महापराक्रमोऽनंतो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ १६० ॥ महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः । महागु

ख ८ कहे जाते हैं ॥ १५६ ॥ पंच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति ९ हैं, जगतपूज्य होनेसे मह्य १० हैं, अत्यंत तेजको धारण करनेसे महाकांतिधर ११ हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा सबके स्वामी होनेसे अधिप १२ हैं, समस्त जवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय १३ हैं, किसी भी परिमाणसे गिने अथवा नापे नहीं जाते इसलिये अमेय १४ हैं, मोक्षकेलिये सबसे वडा उपाय करनेसे महोपाय १५ हैं, तथा मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज स्वरूप होनेसे महोमय १६ कहलाते हैं ॥ १५७ ॥ सब जीवोंमें दया करनेसे महाकारुणिक १७ हैं, सबको जाननेसे मंता १८ हैं, अनेक मंत्रोंके स्वामी होनेसे महामंत्र १९ हैं, इंद्रियनिग्रह करनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे महायति २० हैं, गंभीर दिव्यध्वनि सहित होनेसे महानाद २१ हैं, आपकी ध्वनि अतिशय सुंदर होनेसे महाघोष २२ हैं, बडे पुरुषोंके द्वारा पूज्य होनेसे अथवा केवलज्ञान रूप यज्ञ करनेसे महेज्य २३ हैं, और समस्त तेजके अधिकारी होनेसे महसांपति २४ हैं, ॥ १५८ ॥ अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेसे महाध्वरधर २५ कहलाते हैं, धुरंधर होनेसे धुर्य २६ हैं, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य २७ हैं, आपकी वाणी परम पूज्य होनेसे महिष्ठवाक् २८ हैं, सबमें बडे अथवा पूज्य होनेसे महात्मा २९ हैं, समस्तप्रकाश वा तेजके स्थान होनेसे महसांधाम ३० हैं, सबप्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त होनेसे महर्षि १ हैं, और आपका तीर्थंकररूप अवतार सबको पूज्य होनेसे महितोदय २ कहलाते हैं ॥ १५९ ॥ बडे २ क्लेशोंको दूर करनेसे अथवा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरणरूप अंकुशको धारण करनेसे महाक्लेशांकुश ३ हैं, घा-

णाकरः क्षातो महायोगीश्वरः शमी ॥ १६१ ॥ महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मो महाव्रत. । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥ १६२ ॥ सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोपहरो हर. । असख्येयोप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥ १६३ ॥ सर्वयोगीश्वरोचिंत्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दातात्मा दमतीर्थेशो योगात्मा

तियाकर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे शूर ४ हैं, गणधर चक्रवर्ती आदि वडे २ पुरुपोंके स्वामी होनेसे महाभूतपति ५ हैं, सबको धर्मोपदेश देनेसे गुरु ६ हैं, अतिशय पराक्रमी होनेसे अथवा ज्ञानशक्ति अधिक होनेसे महापराक्रम ७ हैं, अंतरहित अपार होनेसे अनंत ८ हैं, क्रोधके भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु ९ हैं और सबको वश करनेसे अथवा इंद्रियोंको वश करनेसे वशी ४० कहलाते हैं ॥ १६० ॥ संसाररूप महासागरसे पार कर देनेसे महाभवाब्धिसंतारी ४१ हैं, मोहरूपी महापर्वतको भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन ४२ हैं, सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणोंकी खानि होनेसे महागुणाकर ४ कहलाते हैं, कपायरहित होनेसे क्षांत ४४ हैं, गणधर आदि महायोगियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर ४५ हैं तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेसे अथवा परम सुखी होनेसे शमी ४६ कहलाते हैं ॥ १६१ ॥ परम शुक्लध्यानके स्वामी होनेसे महाध्यानपति ४७ हैं, अहिंसाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म ४८ हैं, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत ४९ हैं, कर्मरूप महा शत्रुओंको नाश करनेसे महाकर्मारिहा ५० हैं, आत्माका स्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ ५१ हैं, समस्त देवोंके स्वामी होनेसे महादेव ५२ हैं, तथा विलक्षण ऐश्वर्यको धारण करनेसे महेशिता ५ कहलाते हैं ॥ १६२ ॥ शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह ५४ हैं, निश्चय रत्नत्रयको सिद्ध करनेसे साधु ५५ हैं, भव्य जीवोंके समस्त दोप दूर करनेसे सर्वदोषाहर ५६ हैं, अनेक जन्मोंके किये हुये पापोंको हरण करनेसे हर ५७ हैं, असंख्यात गुणोंको धारण करनेसे असंख्येय ५८ हैं, प्रमाणरहित शक्तिको धारण करनेसे अप्रमेयात्मा ५९ हैं, परम शांतस्वरूप होनेसे शमात्मा ६० हैं, तथा शांतताकी खानि होनेसे प्रशमा-

ज्ञानसर्वगः ॥ १६४ ॥ प्रधानमात्मा प्रकृतिः परमः परमोदयः । प्रक्षीणबंधः कामारिः क्षेमकृत्क्षेमशासनः ॥ १६५ ॥ प्रणवः प्रणयः प्राणः प्राणदः प्रणतेश्वरः । प्रमाणं प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वरः ॥ १६६ ॥ आनंदो नंदनो नंदो वंद्योऽनिंद्योऽभिनंदनः । कामहा कामदः काम्यः कामधेनुर

कर ६१ हैं ॥ १६३ ॥ समस्त योगियोंके ईश्वर होनेसे सर्वयोगीश्वर ६२ हैं, किसीके चिंतवनमें नहीं आते इसलिये अचिंत्य ६३ हैं, समस्त शास्त्रोंके रहस्यरूप होनेसे अथवा भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे श्रुतात्मा ६४ हैं तीनोंलोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा ६५ हैं, जितेंद्रिय होनेसे अथवा सबको शिक्षा देनेसे दांतात्मा ६६ हैं, इंद्रियोंको दमन करनेरूप तीर्थके स्वामी होनेसे अथवा योगशास्त्रके स्वामी होनेसे दमतीर्थेश ६७ कहलाते हैं, योगस्वरूप होनेसे योगात्मा ६८ हैं, तथा ज्ञानके द्वारा सबजगह होनेसे ज्ञानसर्वग ६९ कहलाते हैं ॥ १६४ ॥ एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करनेसे प्रधान ७० हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा ७१ हैं, आपकी समवसरण रूप लक्ष्मी उत्कृष्ट है अथवा धर्मोपदेशरूप कार्य प्रशंसनीय है अथवा सबके कल्याणकारी हैं इसलिये प्रकृति ७२ हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मीको धारण करनेसे परम ७३ हैं, परम उदयको धारण करनेसे अथवा आपका उदय कल्याणकारी होनेसे परमोदय ७४ हैं, कर्मबंध सब नष्ट होनेसे प्रक्षीणबंध ७५ हैं, कामदेवके परम शत्रु होनेसे कामारि ७६ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमकृत् ७७ हैं, और आपका उपदेश वा मत सबको कल्याणकारी होनेसे क्षेमशासन ७८ कहलाते हैं ॥ १६५ ॥ ओंकार स्वरूप होनेसे प्रणव ७ हैं, सबके मित्र होनेसे प्रणय ८० हैं, जगतको प्रिय होनेसे अथवा सबको शरण होनेसे प्राण ८१ हैं अतिशय दयालु होनेसे प्राणोंको देनेवाले हैं इसलिये प्राणद ८२ हैं, प्रणाम करते हुये इंद्रादिकोंके स्वामी हैं अथवा प्रणाम करते हुये भव्य जीवोंका पालन पोषण करनेवाले हैं इसलिये प्रणतेश्वर ८३ हैं, प्रमाण नयके वक्ता होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वा ज्ञानका साधन होनेसे अथवा लोकप्रमाण वा देह प्रमाण होनेसे प्रमाण ८४ हैं,

रिंजयः ॥ १६७ ॥ असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो वैकृतांतकृत् । अतकृत्कांतगुः कांतश्चिंतामणिरभीष्टदः ॥ १६८ ॥ अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितांतकः ॥ १६९ ॥ जिनेंद्रः परमानंदो मुनींद्रो दुंदुभिस्वनः । महेंद्रवंद्यो योगींद्रो यतींद्रो नाभिनंदनः

योगी लोग आपको बडी गुप्त रीतिसे चिंतवन करते हैं अथवा सबके मर्मों वा जाननेवाले हैं इसलिये आपको प्रणधि ८५ कहते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेमें चतुर होनेसे दक्ष ८६ हैं, सरलस्वभाव होनेसे दक्षिण ८७ हैं, केवलज्ञानरूप यज्ञको करनेसे अथवा पापरूप कर्मोंका हवन करनेसे अध्वर्यु ८८ हैं, तथा सन्मार्गकी प्रवृत्ति करनेसे अध्वर ८९ हैं ॥ १६६ ॥ सदा संतुष्ट रहनेसे आनंद ९० हैं, सबको आनंद देनेसे नंदन ९१ हैं, सदा बढते रहनेसे नंद ९२ हैं, सबके द्वारा वंदना अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे वंद्य ९३ हैं, अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित होनेके कारण सबप्रकारकी निंदाके अयोग्य हैं इसलिये अनिंद्य ९४ हैं, सर्वथा आनंददायक होनेसे अथवा आपके समवसरणके चारों वन भयरहित होनेसे अभिनंदन ९५ हैं, कामदेवको नाश करनेसे कामहा ९६ हैं, भक्त भव्य जीवोंकी इच्छा पूर्ण करदेनेसे कामद ९७ हैं, अतिशय मनोहर होनेसे अथवा आपकी प्राप्तिकी सबको इच्छा होनेसे काम्य ९८ हैं, इच्छित पदार्थोंको देनेसे कामधेनु ९९ हैं, और रागादि समस्त शत्रुओंको जीतलेनेसे अरिंजय ६०० कहलाते हैं ॥ १६७ ॥ बिना किसी संस्कारके स्वभावसे ही सुंदर होनेसे असंस्कृतसुसंस्कार १ हैं, आपका स्वरूप प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हुआ है असाधारण वा अद्वितीय है इसलिये आप अप्राकृत २ हैं, रोग अथवा विकारोंको नाश करनेसे वैकृतांतकृत् ३ हैं, जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेसे अथवा मोक्षको समीप करनेसे अंतकृत् ४ हैं, सुंदर वाणी अथवा सुंदर प्रभा होनेसे कांतगु ५ हैं, शोभायुक्त होनेसे कांत ६ हैं, चिंतामणिके समान इच्छित पदार्थोंको देनेसे चिंतामणि ७ हैं, तथा भव्य जीवोंको इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कराते हैं इसलिये अभीष्टद ८ हैं ॥१६८॥ काम क्रोधादि किसी भी योद्धासे आप जीते नहीं जाते इसलिये अजित ९ हैं, कामरूप शत्रु

॥ १७० ॥ नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुगीः ॥ १७१ ॥ सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥ १७२ ॥ क्षेमी क्षेमकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो

को जीतनेसे जितकामारि १० हैं, मर्यादारहित होनेसे अमित ११ हैं, आपका शासन अपार होनेसे अमितशासन १२ हैं, क्रोधको जीतलेनेसे जितक्रोध १३ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे जितामित्र १४ हैं, समस्त क्लेशोंको जीतनेसे जितक्लेश १५ हैं, और यमको जीतनेसे जितांतक १६ कहे जाते हैं ॥ १६९ ॥ गणधरादि जिनोंके इंद्र होनेसे जिनेंद्र १७ हैं, उत्कृष्ट आनंदस्वरूप होनेसे परमानंद १८ हैं, मुनियोंके इंद्र होनेसे मुनींद्र १९ हैं, दुंदुभियोंके समान आपकी ध्वनि होनेसे दुंदुभिस्वन २० हैं, महेंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रवंद्य २१ हैं, योगियोंके इंद्र होनेसे योगींद्र २२ हैं, यतियोंके इंद्र होनेसे यतींद्र २३ हैं, और महाराज नाभिके पुत्र होनेसे नाभिनंदन २४ कहलाते हैं ॥ १७० ॥ पिताका नाम नाभि होनेसे नाभेय २५ कहलाते हैं, महाराज नाभिके घर जन्म लेनेसे नाभिज २६ हैं, उत्पत्तिरहित होनेसे अजात २७ हैं, अहिंसा आदि उत्तम व्रत होनेसे सुव्रत २८ हैं, कर्मभूमिकी रचनाका अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप बतानेसे मनु २९ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे उत्तम ३० हैं, किसीसे भी आपका भेदन नहीं हो सकता इसलिये अभेद्य ३१ हैं, नाशरहित होनेसे अनत्यय ३२ हैं, अनशन आदि तपश्चरण करनेसे अनाश्वान ३३ हैं, सबमें अधिक अर्थात् पूज्य होनेसे अधिक ३४ हैं, सबसे उत्तम उपदेश देनेसे अधिगुरु ३५ हैं, तथा आपकी दिव्यध्वनि सबको कल्याणकारी होनेसे सुगी ३६ कहलाते हैं ॥ १७१ ॥ सम्यग्ज्ञान होनेसे सुमेधा ३७ हैं, महापराक्रमी होनेसे विक्रमी ३८ हैं, सबके स्वामी होनेसे अथवा सब पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानी होनेसे स्वामी ३९ हैं, किसीके द्वारा निवारण नहीं किये जाते इसलिये दुराधर्ष ४० हैं, अभिलाषा रहित होनेसे अथवा स्थिरस्वभाव होनेसे निरुत्सुक ४१ हैं, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट ४२ हैं, शिष्ट पुरुषोंका

निरुत्तरः ॥ १७३ ॥ सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्त्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ १७४ ॥ सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः सत्यः सत्यपरायणः ॥ १७५ ॥ स्थेयान् स्थवीयान्नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः । अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसां

पालन करनेसे शिष्टभुक् ४३ हैं, रागद्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित होनेसे शिष्ट ४४ हैं, विश्वासरूप होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रत्यय ४५ हैं, मनोहर होनेसे कामन ४६ हैं, और पापरहित होनेसे अनघ ४७ हैं ॥ १७२ ॥ मोक्ष प्राप्त होनेसे क्षेमी ४८ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमंकर ४९ हैं, आपका कभी क्षय नहीं होता इसलिये अक्षय्य ५० हैं सब जीवोंका कल्याण करनेवाले जैनधर्मके प्रवर्तक होनेसे क्षेमधर्मपति ५१ हैं, क्षमावान् होनेसे क्षमी ५२ हैं, इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अथवा मिथ्यात्वियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अग्राह्य ५३ हैं, निश्चयज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य होनेसे ज्ञाननिग्राह्य ५४ हैं, ध्यानके द्वारा जानने योग्य होनेसे ध्यानगम्य ५५ हैं, और सबसे उत्कृष्ट होनेसे निरुत्तर ५६ हैं ॥ १७३ ॥ पुण्यवान् होनेसे सुकृती ५७ हैं, शब्दोंकी खानि होनेसे धातु ५८ हैं, पूजा करनेके योग्य होनेसे इज्यार्ह ५९ हैं, नयोंके अच्छे जानकर होनेसे सुनय ६० हैं, लक्ष्मीके निवासस्थान होनेसे श्रीनिवास ६१ हैं, और एक मुख होकर भी चारोंओरसे दर्शन होनेसे अथवा लोगोंको चार मुख दिखनेसे चतुरानन ६२ चतुर्वक्त्र ६३ चतुरास्य ६४ तथा चतुर्मुख ६५ कहलाते हैं ॥१७४॥ सत्यस्वरूप होनेसे अथवा जीवोंका कल्याण करनेसे सत्यात्मा ६६ हैं, आपका विज्ञान सत्य अथवा सफल होनेसे सत्यविज्ञान ६७ हैं, आपकी वाणी यथार्थ पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होनेसे सत्यवाक् ६८ हैं, आपका शासन (मत) यथार्थ होनेसे अथवा सफल अर्थात् साक्षात् मोक्ष प्राप्त करानेवाला होनेसे सत्यशासन ६९ हैं, दोनों लोकोंमें फलदायक होनेसे सत्याशी ७० हैं, प्रतिज्ञाको दृढ रखनेसे अथवा सत्यस्वरूप रखनेसे सत्यसंधान ७१ हैं, शुद्ध मोक्षस्वरूप होनेसे सत्य ७२ हैं, तथा सत्य स्वरूपमें त-

॥ १७६ ॥ सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥ १७७ ॥ सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद्गोप्ता लोकाध्यक्षो दमेश्वरः ॥ १७८ ॥ बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गि-

त्पर होनेसे सत्यपरायण ७३ कहेजाते हैं ॥ १७५ ॥ अत्यंत स्थिर होनेसे स्थेयान् ७४ हैं, अतिशय स्थूल होनेसे स्थवीयान् ७५ हैं, भक्तोंके समीप होनेसे नेदीयान् ७६ हैं, पापोंसे दूर रहनेसे दवीयान् ७७ हैं, आपके दर्शन दूरसे ही होते हैं इसलिये दूरदर्शन ७८ हैं, परमाणुसे भी अत्यंत सूक्ष्म होनेसे अणोरणीयान् (अणोः—अणीयान्) ७९ हैं, सूक्ष्म न होनेसे अनणु ८० हैं, बडोंमें सबसे बडे होनेसे गरीयसां आद्य गुरु ८१ कहलाते हैं ॥ १७६ ॥ सदा योगस्वरूप होनेसे सदायोग ८२ हैं, सदा आनंदके भोक्ता होनेसे सदाभोग ८३ हैं, सदा तृप्त रहनेसे सदातृप्त ८४ हैं, सदा कल्याणस्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप रहनेसे सदाशिव ८५ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप होनेसे सदागति ८६ हैं, सदा सुखस्वरूप होनेसे सदासौख्य ८७ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप रहनेसे सदाविद्य ८८ हैं, और सदा उदयरूप होनेसे अर्थात् सदा कल्याणस्वरूप अथवा प्रकाशस्वरूप रहनेसे सदोदय ८९ कहलाते हैं ॥ १७७ ॥ आपका सुंदर शब्द होनेसे सुघोष ९० हैं, सुंदर मुख होनेसे सुमुख ९१ हैं, शांत रहनेसे सौम्य ९२ हैं, सबको सुखदेनेसे सुखद ९३ हैं, सबका हित करनेसे सुहित ९४ हैं, निष्कपट शुद्ध निर्मल होनेसे सुहृत् ९५ हैं, मिथ्यादृष्टियोंको आपका स्वरूप न जाननेसे सुगुप्त ९६ हैं, तीनों गुप्तियोंको पालन करनेसे गुप्तिभृत् ९७ हैं, पापोंसे आत्माकी रक्षा करनेसे अथवा जीवोंकी रक्षा करनेसे गोप्ता ९८ हैं, तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेसे लोकाध्यक्ष ९९ हैं, और इंद्रिय दमन करनेरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे दमेश्वर ७०० कहलाते हैं[1] ॥ १७८ ॥ इंद्रोंके सबसे बडे गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति १ हैं, विलक्षण वक्ता होनेसे वाग्मी २ हैं, वाणीके स्वामी होनेसे वाचस्पति

१ इस शतकमें ६२७-६२८ वा दोनों मिलकर जात सुव्रत एक नामभी है और फिर ६८१ के गरीयसां आद्य तथा गरीयसां गुरु ऐसे दो नाम हैं,

रांपतिः ॥ १७९ ॥ नैकरूपो नयोत्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ १८० ॥ ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ १८१ ॥ लक्ष्मीवान् त्रिदशाध्यक्षो द्रढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गभीरशासन.

३ हैं, उदार बुद्धि होनेसे अर्थात् सबको धर्मका उपदेश देनेसे उदारधी ४ हैं, बुद्धिमान होनेसे मनीषी ५ हैं, अपार बुद्धिमान होनेसे धिषण ६ हैं, धीमान् ७ हैं, बुधिके स्वामी होनेसे शेमुषीश ८ हैं और सबप्रकारकी भाषाओंके स्वामी होनेसे गिरांपति ९ हैं ॥ १७९ ॥ अनेकरूप होनेसे नैकरूप १० हैं, नयोंका उत्कृष्ट स्वरूप कहनेसे नयोत्तुंग ११ हैं, अनेक गुणोंको धारण करनेसे नैकात्मा १२ हैं, पदार्थोंको अनेक धर्मरूप कथन करनेसे नैकधर्मकृत् १३ हैं, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय १४ हैं, आपके स्वरूपमें कोई तर्क वितर्क नहीं कर सक्ते इसालिये अप्रतर्क्यात्मा १५ हैं, जीवोंके समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ १६ हैं, और समस्त सुलक्षणों सहित होनेसे कृतलक्षण १७ हैं, ॥ १८० ॥ अंतरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ १८ हैं, दयालु होनेसे दयागर्भ १९ हैं, रत्नत्रयोंको धारण करनेसे अथवा गर्भावस्थामें ही रत्नत्रयका स्वरूप जाननेसे अथवा गर्भावतार होनेसे पहिले ही रत्नोंकी वर्षा होनेसे रत्नगर्भ २० हैं, अतिशय प्रभावशाली होनेसे प्रभास्वर २१ हैं गर्भावस्थामें ही लक्ष्मी प्राप्त होनेसे पद्मगर्भ २२ हैं, आपके ज्ञानके भीतर समस्त जगत होनेसे जगद्गर्भ २३ हैं, आपका आत्मा सुवर्णके समान निर्मल होनेसे अथवा गर्भावतारके समय सुवर्णकी वर्षा होनेसे हेमगर्भ २४ है, तथा आपका सुंदर दर्शन होनेसे सुदर्शन २५ हैं, ॥ १८१ ॥ समवसरणादि ऐश्वर्य सहित होनेसे लक्ष्मीवान २६ हैं, देवोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा तेरह प्रकारके चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा वाल युवा वृद्ध तीनों अवस्थाओंमें एकसा प्रत्यक्ष होनेसे त्रिदशाध्यक्ष २७ हैं, अत्यंत दृढ होनेसे दृढीयान् २८ है, सबके स्वामी होनेसे इन २९ हैं, तेजोनिधि अथवा ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता ३० हैं, भव्य जीवों-

॥ १८२ ॥ धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ १८३ ॥ अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूप सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ १८४ ॥ सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः । अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः

के अंतःकरणको हरण करनेसे मनोहर ३१ हैं, अंग उपांग मनोहर होनेसे मनोज्ञांग ३२ हैं, बुद्धिको प्रेरणा करनेसे अथवा भव्य जीवोंको सुबुद्धि देनेसे धीर ३३ हैं, आपका शासन अथवा शास्त्र गंभीर होनेसे गंभीरशासन ३४ हैं ॥ १८२ ॥ धर्मके स्तंभ होनेसे धर्मयूप ३५ हैं, सब जीवोंपर दया करना ही आपकी पूजा होनेसे दयायाग ३६ हैं, धर्मरूप रथकी धुरा होनेसे धर्मनेमि ३७ हैं, मुनियोंके ईश्वर होनेसे मुनीश्वर ३८ हैं, धर्मचक्र ही आपका आयुध होनेसे धर्मचक्रायुध ३९ हैं, परमानंदमें क्रीडा करनेसे देव ४० हैं, शुभाशुभ कर्मोंको नाश करनेसे कर्महा ४१ हैं, और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण ४२ हैं, ॥ १८३ ॥ श्रोताओंको यथार्थ बोध करनेवाली आपकी वाणी होनेसे अमोघवाक् ४३ हैं, आपकी आज्ञा कभी व्यर्थ न होनेसे अमोघाज्ञ ४४ हैं, ममत्वरहित होनेसे निर्मल ४५ हैं, आपका शास्त्र कभी व्यर्थ न होनेसे अर्थात् जीवोंको मोक्ष प्राप्त करदेनेसे अमोघशासन ४६ हैं, आपका स्वरूप आनंद दायक होनेसे सुरूप ४७ हैं, आपके ज्ञानका अतिशय माहात्म्य होनेसे सुभग ४८ हैं, ज्ञानदान अभयदान आदि देनेसे त्यागी ४९ हैं, आत्मा सिद्धांत अथवा कालका स्वरूप जाननेसे समयज्ञ ५० हैं, और समाधानरूप होनेसे अथवा ध्यानस्वरूप होनेसे समाहित ५१ हैं, ॥ १८४ ॥ निश्चल अथवा सुखमें निमग्न रहनेसे सुस्थित ५२ हैं, आत्माकी निश्चलताको सेवन करनेसे स्वास्थ्यभाक ५३ हैं, सदा आत्मनिष्ट होनेसे स्वस्थ ७५४ हैं, कर्मरूप रजसे रहित होनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मरहित होनेसे नीरजस्क ५५ हैं, आपका कोई स्वामी न होनेसे निरुद्धव ५६ हैं, कर्मके लेपसे रहित होनेसे अलेप ५७ हैं, दोषरहित होनेसे निष्कलंकात्मा ५८ हैं, रागादि दोषोंसे रहित होनेसे अथवा मोक्षल-

॥ १८५ ॥ वश्येंद्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेंद्रियः । प्रशांतोऽनंतधामर्षिर्मंगलं मलहाऽनघः ॥ १८६ ॥ अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥ १८७ ॥ अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगविद्योगिवंदितः । सर्वत्रग. सदाभावी त्रिकालविषयार्थदृक् ॥ १८८ ॥

क्ष्मीमें प्रेम होनेसे वीतराग ५९ हैं, तथा इच्छा रहित होनेसे गतस्पृह ६० हैं, ॥ १८५ ॥ इंद्रियोंको वश करनेसे वश्येंद्रिय ६१ हैं, संसाररूपी बंधनसे रहित होनेके कारण विमुक्तात्मा ६२ हैं, दुष्टभाव न रहनेसे अथवा निष्कंटक होनेसे निःसपत्न ६३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जितेंद्रिय ६४ हैं, शांत होनेसे अथवा राग द्वेष रहित होनेसे प्रशांत ६५ हैं, अनंत प्रकाश को धारण करते हुये भी पूज्य होनेसे अनंतधामर्षि ६६ हैं, सबको सुख देनेसे मंगल ६७ हैं, पापको दूर करनेसे मलहा ६८ हैं, और पाप रहित होनेसे अनघ ६९ हैं ॥ १८६ ॥ आपके समान अन्य कोई न होनेसे अनीदृक् ७० हैं सबके लिये उपमायोग्य होनेसे उपमाभूत ७१ हैं, महा भाग्यशाली अथवा शुभाशुभदाता होनेसे दिष्टि ७२ हैं, प्रबल अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे दैव ७३ हैं, इंद्रियोंके अगोचर अथवा बचनोंके अगोचर होनेसे अगोचर ७४ हैं, शरीर रहित होनेसे अमूर्त ७५ हैं, पुरुषाकार होनेसे मूर्तिमान ७६ हैं, अद्वितीय होनेसे अथवा विना किसीकी सहायतासे मोक्षप्राप्ति करलेनेसे एक ७७ है, अनेकरूप होनेसे अथवा सब भव्यजीवोंको सहायक होनेसे नैक ७८ हैं, और आत्माके सिवाय अन्य तत्त्वोंको न देखनेसे अर्थात् उनमें तल्लीन न होनेसे नानैकतत्त्वदृक् ७९ हैं ॥ १८७ ॥ केवल अध्यात्मशास्त्रोंसे जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य ८० हैं, संसारी जीवोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा ८१ हैं, योगके जानकार होनेसे योगावित् ८२ हैं, योगियोंके द्वारा बंदना करनेयोग्य होनेसे योगिवंदित ८३ हैं, ज्ञानके द्वारा सबजगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग ८४ हैं, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी ८५ हैं, और तीनों काल संबंधि समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् ८६ हैं ॥ १८८ ॥ सबको सुखको कर्ता होनेसे शंकर ८७ हैं, यथार्थसुखके अर्थात् मोक्षरूप

शंकरः शंवदो दांतो दमी क्षांतिपरायणः । अधिपः परमानंदः परात्मज्ञः परात्परः ॥ १८९ ॥ त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥ १९० ॥ त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥ १९१ ॥ पुराणः पु-

सुखके वक्ता होनेसे शंवद ८८ हैं, मनको वश करनेसे दांत ८९ हैं, इंद्रियोंको निग्रह करनेसे दमी ९० हैं, क्षमा करनेमें सदा तत्पर रहनेसे क्षांतिपरायण ९१ हैं, जगतके अधिपति होनेसे अधिप ९२ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे परमानंद ९३ हैं, निज परके ज्ञाता होनेसे अथवा विशुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेसे परात्मज्ञ ९४ हैं, तथा सबसे श्रेष्ठ होनेसे परात्पर ९५ हैं ॥ १८९ ॥ तीनों लोकोंको प्रिय होनेसे त्रिजगद्वल्लभ ९६ हैं, सबके पूज्य होनेसे अभ्यर्च्य ९७ हैं, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मंगलोदय ९८ हैं, आपके चरणकमल तीनों लोकोंके इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रि ९९ कहलाते हैं, और तीनोंलोकोंके शिखरके शिखामणि होनेसे त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहे जाते हैं ॥ १९० ॥ भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंको प्रत्यक्ष देखनेसे त्रिकालदर्शी १ हैं, तीनों लोकोंके प्रभु होनेसे लोकेश २ हैं, समस्त प्राणियोंकी रक्षाका उपदेश देनेसे लोकधाता ३ हैं, स्वीकार किये हुये चारित्रको निश्चल रखनेसे दृढव्रत ४ हैं, तीनोंलोकोंके प्राणियोंमें सर्वोत्कृष्ट होनेसे सर्वलोकातिग ५ हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य ६ हैं, और समस्त प्राणियोंकेलिये मुख्य रीतिसे मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे सर्वलोकैकसारथि ७ कहे जाते हैं ॥ १९१ ॥ सबसे प्राचीन होनेसे अथवा मुक्तपर्यंत शरीरमें निवास करनेसे पुराण ८ हैं, सबमें बडे होनेसे अथवा सबको तृप्त करनेसे अथवा पूज्य समवसरणमें स्थित रहनेसे पुरुष ९ हैं, सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होनेसे पूर्व १० हैं, ग्यारह अंग चौदह पूर्वका समस्त विस्तार निरूपण करनेसे कृतपूर्वांगविस्तर ११ हैं, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव १२ हैं, सब पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य १३ हैं, इंद्रादि देव मुख्यतासे आपकी ही आराधना करते हैं, अथवा आप सबके ईश्वर हैं,

रुषः पूर्वः कृतपूर्वांगविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्यः पुरुदेवोऽधिदेवता ॥१९२॥ युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्णः कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षणः ॥ १९३ ॥ कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः । विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥ १९४ ॥ देवदेवो जगन्नाथो जगद्बंधुर्जगद्विभुः । जगद्धितैषी लोकज्ञो सर्वगो जगदग्रजः ॥ १९५ ॥ चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचरः । सद्योजातः प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलन-

इसलिये पुरुदेव १४ हैं और देवोंके भी देव होनेसे अधिदेवता १५ हैं ॥१९२॥ इस अवसर्पिणी कालमें मुख्य होनेसे युगमुख्य १६ कहे जाते हैं, इसी युगमें सबसे बडे होनेसे युगज्येष्ट १७ हैं, कर्मभूमिके प्रारंभमें कर्मभूमिकी स्थितिके मुख्य उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक १८ कहलाते हैं, आपके शरीरकी कांति सुवर्णके समान होनेसे कल्याणवर्ण १९ हैं, कल्याण स्वरूप होनेसे कल्याण २० हैं, सबके कल्याण करनेमें समर्थ होनेसे कल्य २१ हैं, तथा मंगलस्वरूप होनेसे अथवा कल्याणरूप लक्षणोंको धारण करनेसे कल्याणलक्षण २२ कहलाते हैं, ॥ १९३ ॥ आपका स्वभाव ही कल्याणस्वरूप होनेसे कल्याणप्रकृति २३ कहे जाते हैं, चारों ओर प्रकाशमान होता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आपका स्वरूप है, इसलिये आप दीप्तकल्याणात्मा २४ हैं, पापरहित होनेसे विकल्मष २५ हैं, काम आदि कलंकसे रहित होनेके कारण विकलंक २६ हैं, शरीररहित होनेसे कलातीत २७ हैं, पापोंको नाश करनेवाले हैं, अतएव कलिलघ्न २८ हैं, और अनेक कलाओंको धारण करनेसे कलाधर २९ कहे जाते हैं, ॥ १९४ ॥ इंद्रादि सब देवोंके देव होनेसे देवदेव ३० हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगन्नाथ ३१ हैं, तीनों लोंकोंके हित करनेसे जगद्बंधु ३२ हैं, समस्त जगतके प्रभु होनेसे जगद्विभु ३३ हैं, तीनोंलोकोंकेलिये कल्याण करनेकी इच्छा रखनेसे जगद्धितैषी ३४ हैं, तीनों लोकोंको जाननेसे लोकज्ञ ३५ हैं, केवलज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वग ३६ हैं, तथा समस्त जगतमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जगतके मुख्य स्थानमें उत्पन्न होनेसे जगदग्रज ३७ हैं, ॥ १९५ ॥ त्रस स्थावर आदि सब जी-

सप्रभः ॥ १९६ ॥ आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥ १९७ ॥ तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः । सन्ध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरप्रभः ॥ १९८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काचनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥१९९॥ द्युम्नाभो जातरूपाभो तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ २०० ॥ शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नो-

वोंके गुरु होनेसे चराचरगुरु ३८ हैं, हृदयमें बडे यत्नसे स्थापन करनेके योग्य होनेसे गोप्य ३९ हैं, आपका स्वरूप अत्यंत गुप्त होनेसे गूढात्मा ४० हैं, गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थोंको जाननेसे गूढगोचर ४१ हैं, आप सदा तुरत उत्पन्न होनेके समान देख पडते हैं, अर्थात् सदा नवीन ही जान पडते हैं इसलिये सद्योजात ४२ हैं प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा ४३ हैं, और जलती हुई अग्निके समान दैदीप्यमान होनेसे ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ४४ कहे जाते हैं, ॥ १९६ ॥ सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण ४५ कहलाते हैं सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे भर्माभ ४६ हैं, मनको आनंद दायक सुंदर कांति होनेसे सुप्रभ ४७ हैं, सुवर्णके समान उज्वल कांति होनेसे कनकप्रभ ४८ सुवर्णवर्ण ४९ तथा रुक्माभ ५० कहे जाते हैं, और करोडों सूर्यके समान प्रभा होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ ५१ कहलाते हैं, ॥१९७॥ सुवर्णके समान पीतवर्ण होनेसे तपनीयनिभ ५२ हैं, ऊंचे शरीरको धारण करनेसे तुंग ५३ हैं, उदय होते हुये सूर्यके समान कांतिमान् और सुंदर होनेसे बालार्काभ ५४ हैं, अग्निके समान होनेसे अनलप्रभ ५५ हैं, संध्याके बादलोंके समान सुंदर होनेसे संध्याभ्रबभ्रु ५६ कहे जाते हैं, सुवर्णके समान होनेसे हेमाभ ५७ हैं, तथा तपाये हुये सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे तप्तचामीकरप्रभ ५८ कहलाते हैं, ॥ १९८॥ सुवर्णके समान उज्वल और कांतियुक्त होनेसे निष्टप्तकनकच्छाय ५९ कनत्कांचनसन्निभ ६० हिरण्यवर्ण ६१ स्वर्णाभ ६२ शातकुंभनिभप्रभ ६३ द्युम्नाभ ६४ जातरूपाभ ६५ तप्तजांबूनदद्युति ६६ सुधौतकलधौतश्री ६७ और हाटकद्युति ६८ कहलाते हैं, तथा दैदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त ६९ कहलाते हैं ॥१९९-२००॥

प्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥ २०१ ॥ शांतिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शांतिदः शांतिकृत् शांतिः कांतिमान् कामितप्रदः ॥ २०२ ॥ श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठित. । सुस्थितः स्थावरः स्थाणु. प्रथीयान् प्रथितः पृथुः ॥ २०३ ॥ दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरंबरः । निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुह. ॥ २०४ ॥ तेजोराशिरनंतौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोऽपहः

इंद्रादि उत्तम पुरुषोंके प्रिय होनेसे शिष्टेष्ट ७० हैं, पुष्टिके दाता होनेसे पुष्टिद ७१ हैं, महा वलवान् होनेसे पुष्ट ७२ हैं, सबको प्रगट दिखाई देनेसे स्पष्ट ७३ हैं, आपकी वाणी स्पष्ट तथा आनंद दायिनी होनेसे स्पष्टाक्षर ७४ हैं, समर्थ होनेसे क्षम ७५ हैं कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न ७६ हैं, क्रोधरहित होनेसे अप्रतिग ७७ हैं, सफल अर्थात् कृतकृत्य होनेसे अमोघ ७८ हैं, धर्मोपदेश देनेसे प्रशास्ता ७९ हैं रक्षक होनेसे शासिता ८० हैं, तथा अपने आप उत्पन्न होनेसे स्वभू ८१ हैं ॥ २०१ ॥ काम क्रोध आदिको नष्ट करनेसे अथवा शांत होनेसे शांतनिष्ठ ८२ हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ ८३ हैं, सुखकी परंपरा होनेसे शिवताति ८४ हैं, कल्याणके दाता होनेसे शिवप्रद ८५ हैं, शांतिदायक होनेसे शांतिद ८६ हैं, समस्त उपद्रवोंको शांत करनेसे शांतिकृत् ८७ हैं, कर्मोंको क्षय करनेसे शांति ८८ हैं, कांतियुक्त होनेसे कांतिमान् ८९ हैं, तथा मनवांच्छित फलोंको देनेसे कामितप्रद ९० कहे जाते हैं ॥ २०२ ॥ कल्याणके समुद्र होनेसे श्रेयोनिधि ९१ हैं, धर्मके मूलकारण वा आधार होनेसे अधिष्ठान ९२ हैं, अपने आप ही ईश्वर होनेसे अप्रतिष्ठ ९३ हैं, सब जगह प्रतिष्ठित होनेसे प्रतिष्ठित ९४ हैं, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थित ९५ हैं, विहार रहित होनेसे स्थावर ९६ हैं, निश्चल होनेसे स्थाणु ९७ हैं, विस्तृत होनेसे प्रथीयान् ९८ हैं, अतिशय प्रसिद्ध होनेसे प्रथित ९९ हैं, और वहुत वडे होनेसे पृथु १०० कहलाते हैं ॥ २०३ दिशारूप वस्त्रोंको धारण करनेसे दिग्वासा १ हैं, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन २ हैं, निर्ग्रंथ मुनियोंमें भी श्रेष्ठ होनेसे निर्ग्रंथेश ३ हैं, वस्त्ररहित होनेसे नि-

॥ २०५ ॥ जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान् विघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ २०६ ॥ अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ २०७ ॥ मुमुक्षुर्बंधमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशांतरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ २०८ ॥ मूलक-

रंबर ४ हैं, परिग्रह रहित होनेसे निष्किंचन ५ हैं, इच्छा वा आशा रहित होनेसे निराशंस ६ हैं, ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेसे ज्ञानचक्षु ७ कहे जाते हैं अत्यंत निर्मोह होनेसे अमोमुह ८ कह लाते हैं, ॥ २०४ ॥ तेजके समूह होनेसे तेजोराशि ९ हैं, अनंत पराक्रमी होनेसे अनंतौजा १० हैं, ज्ञानके सागर होनेसे ज्ञानाब्धि ११ हैं, शीलके सागर अथवा स्वस्वभावके सागर होनेसे शीलसागर १२ हैं, तेजस्वरूप होनेसे तेजोमय १३ हैं, अनंत ज्योतिको धारण करनेसे अमितज्योति १४ हैं, तेजस्वरूप होनेसे ज्योतिर्मूर्ति १५ हैं, तथा अज्ञानरूपी अंधकारके नाशक होनेसे तमोपह १६ कहलाते हैं ॥ २०५ ॥ तीनों लोकोंके मस्तकके रत्न होनेसे जगच्चूडामणि १७ हैं, तेजस्वी अथवा प्रकाशवान् होनेसे दीप्त १८ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे शंवान् १९ हैं, विघ्नोंको अथवा अंतराय कर्मको नाश करनेसे विघ्नविनायक २० हैं, दोषोंको दूर करनेसे कलिघ्न २१ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे कर्मशत्रुघ्न २२ हैं, तथा लोक और अलोकको जानने और देखनेसे लोकालोकप्रकाशक २३ हैं ॥ २०६ ॥ निद्रारहित होनेसे अनिद्रालु २४ हैं, प्रमाद रहित होनेसे अतंद्रालु २५ है, अपने स्वरूपकी सिद्धिकेलिये सदा जाग्रतरूप रहनेसे जागरूक २६ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रमामय २७ हैं, मोक्षरूप अविनाशिनी लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति २८ हैं, जगतको प्रकाश करनेसे जगज्ज्योति २९ हैं, धर्मके स्वामी होनेसे धर्मराज ३० हैं, तथा प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित ३१ कहलाते हैं ॥२०७॥ निर्वाणकी रुचिस्वरूप होनेसे मुमुक्षु ३२ हैं, बंध और मोक्षका स्वरूप जाननेसे बंधमोक्षज्ञ ३३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जिताक्ष ३४ हैं, कामदेवको जीतनेसे जितमन्मथ ३५ हैं, शांतरूपी रसका नृत्य करने-

तीं जगज्ज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणं । आप्तो वागीश्वरः श्रेयान्श्रायसोक्तिर्निरुक्तवाक् ॥ २०९ ॥ प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ २१० ॥ श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकरः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ २११ ॥ लोकोत्तरो

से प्रशांतरसशैलूष ३६ कहे जाते हैं, भव्य जीवोंके समुदायके नायक होनेसे भव्यपेटकनायक ३७ कहलाते हैं ॥ २०८ ॥ धर्मके मुख्य प्रकाशक होनेसे मूलकर्ता ३८ हैं, अनंत ज्योतिस्वरूप होनेसे जगज्ज्योति ३९ हैं, राग द्वेष आदि मलका नाश करनेसे मलघ्न ४० हैं, मोक्षके मूल कारण होनेसे मूलकारण ४१ हैं, यथार्थ वक्ता होनेसे आप्त ४२ हैं, सब प्रकारकी वाणीके स्वामी होनेसे वागीश्वर ४३ हैं, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान् ४४ हैं, आपकी वाणी कल्याणस्वरूप होनेसे श्रायसोक्ति ४५ कहलाते हैं, तथा निसंदेह वाणी होनेसे निरुक्तवाक् ४६ कहलाते हैं ॥ २०९ ॥ सबसे उत्तम वक्ता होनेसे प्रवक्ता ४७ हैं, सबप्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश ४८ हैं, कामदेवको जीतनेसे मारजित् ४९ हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे अथवा समस्त प्राणियोंके अभिप्राय जाननेसे विश्वभाववित् ५० कहलाते हैं, उत्कृष्ट शरीरको धारण करनेसे सुतनु ५१ हैं, शरीर रहित होनेसे तनुनिर्मुक्त ५२ हैं, आत्मामें तल्लीन होनेसे अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करनेसे सुगत ५३ हैं और मिथ्यादृष्टियोंकी खोटी नयोंका नाश करनेसे हतदुर्नय ५४ हैं, ॥ २१० ॥ अंतरंग और बाह्य लक्ष्मीके स्वामी होनेसे श्रीश ५५ हैं, आपके चरण कमलोंकी सेवा लक्ष्मी करती है इसलिये आप श्रीश्रितपादाब्ज ५६ कहे जाते हैं, भयरहित होनेसे वीतभी ५७ हैं, भक्त लोगोंका भय दूर करनेसे अभयंकर ५८ हैं, समस्त दोषोंको नष्ट करनेसे उत्सन्नदोष ५९ हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न ६० हैं, स्थिर होनेसे निश्चल ६१ हैं, और लोगोंको अत्यंत प्रिय होनेसे लोकवत्सल ६२ कहे जाते हैं, ॥ २११ ॥ समस्त लोकमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर ६३ हैं, तीनोंलोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति ६४ हैं, समस्त लोकको चक्षुके समान यथार्थ

लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥ २१२ ॥ प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेंद्रियः । भदंतो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ २१३ ॥ समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठ. प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥२१४॥ अनतशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।

पदार्थोंके दर्शक होनेसे लोकचक्षु ६५ हैं, अनंत ज्ञानको धारण करनेसे अपारधी ६६ हैं, आपका ज्ञान सदा स्थिर रहता है इसलिये धीरधी ६७ हैं, यथार्थ मोक्षमार्गको जाननेसे बुद्धसन्मार्ग ६८ हैं, शुद्धस्वरूप होनेसे शुद्ध ६९ हैं, तथा आपके वचन यथार्थ और पवित्र होनेसे सूनृतपूतवाक् ७० कहे जाते हैं, ॥ २१२ ॥ बुद्धिके पारगामी होनेसे प्रज्ञापारमित ७१ हैं, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ ७२ हैं, मनको जीतनेसे अथवा सदा मोक्षमार्गका प्रयत्न करनेसे यति ७३ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे नियमितेंद्रिय ७४ हैं, पूज्य होनेसे भदंत ७५ हैं, कल्याणकारी होनेसे भद्रकृत् ७६ हैं, निष्कपट अथवा कल्याणस्वरूप होनेसे भद्र ७७ हैं, इच्छित पदार्थोंके दाता होनेसे कल्पवृक्ष ७८ हैं, तथा इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कर देनेसे वरप्रद ७९ कहलाते हैं ॥ २१३ ॥ कर्मरूप शत्रुओंको उखाडकर फेंकदेनेसे समुन्मूलितकर्मारि ८० कहे जाते हैं, कर्मरूपी लकडीको जलानेके लिये अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठशुशुक्षणि ८१ कहलाते हैं, क्रिया अर्थात् चारित्रमें नितांत कुशल होनेसे कर्मण्य ८२ हैं क्रिया करनेमें शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहनेसे कर्मठ ८३ हैं, सवसे ऊंचे अर्थात् उत्कृष्ट वा प्रकाशमान् होनेसे प्रांशु ८४ हैं, और छोडनेयोग्य और ग्रहण करनेयोग्य पदार्थोंके जाननेमें चतुर होनेसे हेयादेयविचक्षण ८५ कहलाते हैं, ॥ २१४ ॥ आपमें अनंतशक्तियां प्रगट होनेसे अनंत शक्ति ८६ हैं, छिन्न भिन्न करनेयोग्य न होनेसे अछेद्य ८७ हैं, जन्म जरा और मरण इन तीनोंको नाश करनेसे त्रिपुरारि ८८ कहलाते हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके पदार्थोंके जानने और देखनेसे त्रिलोचन ८९ त्रिनेत्र ९० त्र्यंवक ९१ तथा त्र्यक्ष ९२ कहेजाते हैं, और केवल ज्ञान ही आपके नेत्र होनेसे केवलज्ञानवीक्षण ९३ कहलाते हैं, ॥ २१५ ॥

लघुकः ॥ २२६ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमां ॥ २२७ ॥ भगवन्भव्यसस्यानां पापाऽवग्रहशोषिणां । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥ २२८ ॥ भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधनं ॥ २२९ ॥ निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीं । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥ इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयंभर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥ अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहकर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥ मोक्षाधिरोहनिः

की[1] ॥ २२७ ॥ कि हे भगवन् भव्यरूपी हरे धान्य पापरूपी अनावृष्टिके (वर्षा न होनेके) कारण सूख रहे हैं, हे विभो ! उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनकेलिये आप ही शरण हूजिये ॥ २२८ ॥ हे भव्यजीवोंके स्वामी ! फडकती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित ! श्री जिनेंद्रदेव ! आपके जगतविजय करनेका साधन ऐसा यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥ हे देव ! मोक्षमार्गको रोकनेवाली ऐसी यह मोहकी सेना (चार घातियाकर्म) नष्ट हो गई है, अब सन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश देनेकेलिये आपका यह समय समीप आगया है ॥ २३० ॥ जिन्हें समस्त तत्त्वोंका ज्ञान है और जिन्हें सबजगह दिग्विजय करनेकी स्वयं इच्छा हुई है ऐसे स्वयं भगवान् वृषभदेवकेलिये इंद्रके कहे हुये वचन दुबारा कहे हुये न हुये, भावार्थ—भगवान विहार करनेको तैयार ही थे उस समय इंद्रने जो प्रार्थना की थी वह सरीखी थी ॥ २३१ ॥

थानंतर—जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा जिनको पुण्य ही सहाय है ऐसे भगवान वृषभदेवरूपी सूर्य भव्यरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३२ ॥ वे महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान ऐसे तीन छत्रोंसे शोभायमान थे, और यशरूपी

---

१ वागदी जिनसेनेन जिननामानि सार्थकं । अष्टाधिकसहस्राणि सर्वाभीष्टकराणि च ॥

तकमें यह श्लोक २२८ नम्बरपर अधिक है परतु अन्य किसी पुस्तकमें न होनेसे तथा संबध भी बराबर न मिलनेसे मूलमें नहीं मिलाया है

जगद्वन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् । त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ २२० ॥ त्वमेकं जगताज्योतिस्त्वं द्विरूपोपयोगभाक् । त्वं त्रिरूपैकमुक्त्यंग· स्वोत्थानतचतुष्टयः ॥२२१॥ त्वं पचब्रह्मतत्त्वात्मा पचकल्याणनायकः । षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसग्रहः ॥२२२॥ दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्वं नवकेवललब्धिक. । दशावतारनिर्वार्यो मा पाहि परमेश्वर ॥२२३॥ युष्मन्नामावलीदृब्धविलसत्स्तोत्रमालया । भवत वरिवस्याम. प्रसीदानुगृहाण नः ॥२२४॥ इद स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः । यः सपाठ पठत्येतत्स स्यात्कल्याणभाजन ॥२२५॥ ततः सदेद पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधी. । पौरुहूतिं श्रिय प्राप्तु परमामभि-

---

दर्शन तथा ज्ञान इन दोनों उपयोगोंको धारण करनेसे दो हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंस्वरूप मोक्षका कारण होनेसे तीन हैं, अपने आत्मासे उत्पन्न हुये चार अनंतचतुष्टयोंको धारण करनेसे चाररूप हैं ॥ २२१ ॥ पंच परमेष्ठीस्वरूप होनेसे अथवा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणोंके स्वामी होनेसे पांच रूप हैं, जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छहों तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जाननेसे छहरूप हैं, और सातों नयोंके समूहरूप होनेसे सात रूप भी कहे जाते हैं ॥ २२२ ॥ सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप होनेसे आठ हैं, नौ केवललब्धियोंको धारण करनेसे नौ हैं और महाबल आदि दश अवतार (पर्याय) धारण करनेसे दशस्वरूप हैं, अतएव हे परमेश्वर मेरी रक्षा कीजिये ॥ २२३ ॥ हे प्रभो ! हम लोग आपके एक हजार आठ नामोंकी बनीहुई सुंदर स्तोत्रोंकी मालासे आपकी आराधना करते हैं, हे देव हमपर प्रसन्न हूजिये और कृपा कीजिये ॥ २२४ ॥ जो भगवानका भक्त पुरुष इस स्तोत्रका स्मरण करता है वह पवित्र हो जाता है तथा जो इस स्तोत्रका पाठ पढता है उसे सबप्रकारके कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ २२५ ॥ इसलिये जो पुरुष इंद्रकी परम विभूतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं अथवा जो पुण्यकी इच्छा रखते हैं ऐसे सुबुद्धिमान् पुरुषोंको इस स्तोत्रका सदा पाठ करना चाहिये ॥ २२६ ॥ इसप्रकार इंद्रने चर अचररूप इस जगतके गुरु ऐसे देवाधिदेवकी स्तुति की, और फिर तीर्थविहार करनेकेलिये नीचे लिखी हुई प्रार्थना

लाघुकः ॥ २२६ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमां ॥ २२७ ॥ भगवन्भव्यसस्यानां पापाऽवग्रहशोषिणां । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥ २२८ ॥ भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधन ॥ २२९ ॥ निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीं । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥ इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयंभर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥ अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहं कर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥ मोक्षाधिरोहनिः

की[1] ॥ २२७ ॥ कि हे भगवन् भव्यरूपी हरे धान्य पापरूपी अनावृष्टिके (वर्षा न होनेके) कारण सूख रहे हैं, हे विभो ! उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनकेलिये आप ही शरण हूजिये ॥ २२८ ॥ हे भव्यजीवोंके स्वामी ! फडकती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित ! श्री जिनेंद्रदेव ! आपके जगतविजय करनेका साधन ऐसा यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥ हे देव ! मोक्षमार्गको रोकनेवाली ऐसी यह मोहकी सेना (चार घातियाकर्म) नष्ट हो गई है, अब सन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश देनेकेलिये आपका यह समय समीप आगया है ॥ २३० ॥ जिन्हें समस्त तत्त्वोंका ज्ञान है और जिन्हें सबजगह दिग्विजय करनेकी स्वयं इच्छा हुई है ऐसे स्वयं भगवान् वृषभदेवकेलिये इंद्रके कहे हुये वचन दुबारा कहे हुयेके समान हुये, भावार्थ—भगवान विहार करनेको तैयार ही थे उस समय इंद्रने जो प्रार्थना की थी वह व्यर्थ ही सरीखी थी ॥ २३१ ॥

अथानंतर—जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा जिनको पुण्य ही सहाय है ऐसे तीर्थंकर भगवान वृषभदेवरूपी सूर्य भव्यरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३२ ॥ वे भगवान् मोक्षरूपी महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान ऐसे तीन छत्रोंसे शोभायमान थे, और यशरूपी

---

१ वाग्गद्दी जिनसेनेन जिननामानि सार्थकं । अष्टाधिकसहस्राणि सर्वाभीष्टकराणि च ॥

[क] पुस्तकमें यह श्लोक २२८ नम्बरपर अधिक है परंतु अन्य किसी पुस्तकमें न होनेसे तथा संबंध भी बराबर न मिलनेसे मूलमें नहीं मिलाया है

श्रेणीभूतच्छत्रत्रयोद्धुरः । यशःक्षीरोदफेनाभसितचामरवीजितः ॥ २३३ ॥ ध्वनन्मधुरगंभीरधीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकोटिप्रतिस्पर्धिप्रभावलयभास्वरः ॥ २३४ ॥ मरुत्प्रहतगंभीरदध्वनद्दुदुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षार्चितक्रम ॥ २३५ ॥ मेरुश्रृंगसमुत्तुंगसिंहविष्टरनायकः । सच्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टितः ॥ २३६ ॥ धूलीसालवृतास्थानजगतीपरिमंडलः । मानस्तंभनिरुद्धान्यकुदृष्टिमदविभ्रमः ॥ २३७ ॥ स्वच्छाम्भःखातिकाभ्यर्णव्रततीवनवेष्टिता । सभाभूमिमलंकुर्वन्नपूर्वविभवोदया ॥ २३८ ॥ समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारवलयैस्त्रिभिः । परार्ध्यरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥ २३९ ॥

क्षीरसागरके फेनके समान सफेद चमर उनपर ढुलाये जा रहे थे ॥ २३३ ॥ उनके शरीरसे मधुर गंभीर और धीर ऐसी महादिव्यध्वनि निकल रही थी तथा उनके शरीरका प्रभामंडल करोडों सूर्योंके साथ स्पर्द्धा करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥ २३४ ॥ भगवानके समीप ही देवोंके द्वारा बजाये हुये और गंभीर शब्द करते हुये दुंदुभी बाजे बज रहे थे, तथा अनेक देवोंके हाथोंसे बरसते हुये पुष्पोंकी वर्षासे उनके चरणकमलोंकी पूजा हो रही थी ॥ २३५ ॥ सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान अतिशय ऊंचे सिंहासनपर वे विराजमान थे, और फल तथा छायासे सुशोभित ऐसे अशोकवृक्षसे भगवानकी शांत मुद्रा खूब ही प्रगट हो रही थी ॥ २३६ ॥ भगवानके समवसरणकी भूमिका घेरा धूलिसालसे चारोंओर घिरा हुआ था, और मानस्तंभसे अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियोंका अहंकार नष्ट होता था ॥ २३७ ॥ निर्मल जलसे भरी हुई खाइयोंके समीपमें लगी हुई लताओंके बनसे घिरी हुई और अपूर्व विभूतिको धारण करनेवाली ऐसी समवसरणकी भूमिको वे भगवान बहुत ही सुशोभित कर रहे थे ॥ २३८ ॥ अनेक बहुमूल्य रचनासे सुशोभित ऐसे तीन कोट और उनके समस्त ऊंचे ऊंचे बडे दरवाजोंसे भगवानका माहात्म्य प्रगट हो रहा था ॥२३९॥ अशोक आदि बनसमूहोंसे भगवानका वह समवसरण सघन हो रहा था और माला वस्त्र आदि ध्वजाओंके फडकनेसे ऐसा जान पडता था मानों जगतके समस्त जीवोंको बुला रहा ही हो ॥२४०॥ कल्पवृक्षोंके बनकी छायामें विश्राम लेते हुये देव भगवानकी पूजा कर रहे थे तथा बडे राजभवनोंसे

अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायसभावनि । स्रग्वस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहूतजगज्जनः ॥ २४० ॥ कल्पवृक्षवनच्छायाविश्रातामरपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिष्ठकिन्नरोद्गीतसद्यशाः ॥ २४१ ॥ ज्वलन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयोद्धर्द्धिसंवर्द्धितजनोत्सवः ॥ २४२ ॥ धूपामोदितदिग्भागमहागंधकुटीश्वरः । त्रिविष्टपपतिप्राज्यपूजार्हः परमेश्वरः ॥ २४३ ॥ त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायकः ॥ २४४ ॥ ततो भगवदुद्योगसमये समुपेयुषे । प्रचेलुः प्रचलन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥ २४५ ॥ तदासम्भ्रातनाकींद्रतिरीटोच्चलिता ध्रुवं । जगन्नीराजयामासुर्मणयो दिग्जये विभोः ॥ २४६ ॥ जयेत्युच्चैर्गिरो देवाः प्रोर्णुवाना नभोगणं । दिशा मुखानि तेजोभिर्द्योतयंतः प्रतस्थिरे ॥ २४७ ॥ जिनोद्योगमहावात्या क्षु-

---

घिरी हुई भूमिपर बैठे हुये किन्नर जातिके देव भगवानका उत्तम यश गा रहे थे ॥२४१॥ अतिशय विभूतिको धारण करनेवाले और दैदीप्यमान स्तूपोंसे भगवानकी अनंता विभूति प्रगट होती थी, और दोनों नाट्यशालाओंकी बढी हुई ऋद्धियोंसे लोगोंका उत्सव खूब ही बढ रहा था ॥२४२॥ वे भगवान धूपकी सुगंधिसे दशों दिशाओंको सुगंधित करनेवाली ऐसी गंधकुटीके स्वामी थे तथा वे ही परमेश्वर इंद्रके द्वारा की हुई महापूजाके योग्य थे ॥ २४३ ॥ इसप्रकार तीनों लोकोंको प्रिय, अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित और धर्मचक्रके स्वामी ऐसे आदिपुरुष भगवान वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग अर्थात् विहार करना प्रारंभ किया ॥ २४४ ॥ तदनंतर भगवानके विहारका समय प्राप्त होनेपर जिनके मुकुटका अग्रभाग चलायमान हो रहा है ऐसे करोडों देव चलने लगे ॥ २४५ ॥ भगवानके उस दिग्विजयके समय घबडाये हुये इंद्रोंके मुकुटकी चंचल मणियें ऐसी जान पडती थीं मानों जगतकी आरती ही उतार रही हों ॥ २४६ ॥ उस समय देवलोग जय जय ऐसे ऊंचे शब्दोंके द्वारा आकाशरूपी आंगनको व्याप्त करते हुये तथा अपने तेजके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये चल रहे थे ॥ २४७ ॥ उस समय भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चारों प्रकारके देवोंका समूह और उनके इंद्रोंका समूह भगवानके विहार रूपी महावायुके द्वारा क्षुब्ध हुये महासागरके समान जान पडता था ॥ २४८ ॥ इसप्रकार कल्प-

भिता देवनायकाः। चतुर्निकायाश्चत्वारो महाब्धय इवाभवन् ॥ २४८ ॥ प्रतस्थे भगवानित्थमनुयात सुरासुरैः। अनिच्छापूर्विका वृत्तिमास्कंदन्भानुमानिव ॥ २४९ ॥ अर्धमागधिकाकारभाषापरिणताखिलः। त्रिजगज्जनतामैत्रीसंपादनगुणाद्भुतः ॥ २५० ॥ स्वसन्निधानसफुल्लफलिताकुरितद्रुमः। आदर्शमंडलाकारपरिवर्तितभूतलः ॥ २५१ ॥ सुगंधिशिशिरानुच्चैरनुयायी समीरणः। अकस्माज्जनतानंदसंपादिपरमोदयः ॥ २५२ ॥ मरुत्कुमारसंमृष्टयोजनांतररम्यभूः। स्तनितामरसासिक्तगंधाम्बुविरजोऽवनिः ॥ २५३ ॥ मृदुस्पर्शसुखाभोजविन्यस्तपदपंकजः। शालिव्रीह्यादिसंपन्नवसुधासूचितागमः ॥२५४॥

वासी और भवनत्रिक देवोंके साथ २ भगवान वृषभदेवने सूर्यके समान इच्छा रहित वृत्तिको धारणकर विहार करनेके लिये गमन किया ॥ २४९ ॥ उस समय भगवानने अर्द्धमागधी भाषासे जगतकी समस्त भाषा रूप परिणत होकर सब जीवोंका कल्याण किया था और वे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंमें मित्रता करनेरूप अद्भुत गुणसे सर्वोत्कृष्ट गिनेजाते थे ॥ २५० ॥ जहां भगवान विराजमान होते हैं वहांके सब वृक्षोंपर फल फूल और नवीन अंकूरे आजाते हैं, तथा समीपकी समस्त भूमि दर्पणके समान निर्मल हो जाती है ॥ २५१ ॥ वहांकी वायु शीतल मंद और सुगंधित बहती है तथा वह लोगोंको एक साथ आनंदित करती हुई अपना बडप्पन प्राप्त करती है ॥ २५२ ॥ वायुकुमार जातिके देव एक योजनतककी सुंदर भूमिको झाड बुहारकर साफ रखते हैं और मेघकुमार जातिके देव उतनी ही जमीनको सुगंधित जलसे सींचकर धूलिरहित कर देते हैं ॥ २५३ ॥ जिनका स्पर्श कोमल सुख देनेवाला है ऐसे रचे हुये कमलोंपर वे भगवान अपने चरण कमल रखते हैं तथा शालि व्रीहि आदि अनेक प्रकारके धानोंसे भरपूर हुई पृथ्वी भगवानके आगमनको सूचित करती है ॥ २५४ ॥ शरद ऋतुके सरोवरके समान निर्मल हुआ आकाश भगवानके समीप आनेको सूचित करता है और प्रसन्न हुआ अर्थात् निर्मल हुआ दिशाओंका मध्यभाग भी भगवानके आगमनको सूचित करता है, भावार्थ—जहां २ भगवान विहार करते हैं वहां २ ये सब बातें अपने आप हो जाती हैं ॥ २५५ ॥ उससमय देव लोग जो

शरत्सरोवरस्पार्द्धिव्योमोदाहृतसान्निधिः । ककुब्वंतरवैमल्यसंदर्शितसमागमः ॥ २५५ ॥ द्युसत्परस्पराह्वानध्वानरुद्धहरिन्मुखः । सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुरः सरः ॥ २५६ ॥ पुरस्कृताष्टमागल्यध्वजमालाततांबर । सुरासुरानुयातोऽभाद्विजिहीर्षुस्तदा विभुः ॥ २५७ ॥ तदा मधुरगंभीरो जजृम्भे दुंदुभिध्वनिः । नभः समंतादापूर्य क्षुभ्यदब्धिस्वनोपमः ॥ २५८ ॥ ववृषुः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोंगण । सुरा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्यविधायिनी ॥ २५९ ॥ समतत. स्फुरति स्म पालिकेतनकोटयः । आह्वातुमिव भव्यौघानेतैतेति मरुद्धताः ॥ २६० ॥ तर्जयन्निव कर्मारीनूर्जस्वी रुद्धदिङ्मुखः । ढक्कार एष ढक्कानामभूत्प्रतिपद विभोः ॥ २६१ ॥ नभोरंगे नटंतिस्म प्रोल्लसद्भ्रूपताकिका. । सुरागना विलुपत्यः स्वदेहप्रभया दिशः ॥ २६२ ॥ विबुधाः पेठुरुत्साहात्किन-

---

परस्पर एक दूसरेको बुलाते हैं उनके शब्दोंसे सब दिशायें भर जाती हैं और एक हजार आराओंसे दैदीप्यमान ऐसा धर्मचक्ररूपी रत्न भगवानके सामने चलता है ॥ २५६ ॥ उससमय भी भगवानके सामने अष्ट मंगलद्रव्य और ध्वजाओंकी पंक्तिओंसे आकाश शोभायमान हो रहा था, इसप्रकार चारोंप्रकारके देवोंके साथ विहार करते हुये वे भगवान उससमय बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २५७ ॥ उससमय क्षुब्ध हुये समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशमें चारोंओरसे व्याप्त होता हुआ दुंदुभियोंका मधुर और गंभीर शब्द हो रहा था ॥ २५८ ॥ देवलोग भव्यजीव रूपी भ्रमरोंके चित्तको आनंद देनेवाली तथा आकाशरूपी आंगनको पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २५९ ॥ जिनके वस्त्र वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोडों ध्वजायें चारोंओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों इधर आओ इधर आओ इसप्रकार भव्य जीवोंको बुला रही हों हों ॥ २६० ॥ भगवानके विहारके समय पद पदपर समस्त दिशामंडलमें व्याप्त होनेवाला और ऊंचा जो वाजोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो ॥ २६१ ॥ जिनकी भौंहरूपी पताकायें उड रहीं हैं और जिन्होंने अपने शरीरकी कांतिसे समस्त दिशायें लुप्त कर दी हैं ऐसी देवांगनायें आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रहीं थीं ॥ २६२ ॥ उससमय

भेजुः प्रमदस्य परंपरा । तेनुः पारस्परीं मैत्रीं बंधूभूयमिवाश्रिताः ॥ २७१ ॥ मकरंदरजोवर्षि प्रत्यग्रोद्भिन्नकेसरं । विचित्ररत्ननिर्माणकार्णिक विलसद्दलं ॥ २७२ ॥ भगवच्चरणन्यासप्रदेशेऽधिनभस्तलं । मृदुस्पर्शमुदाराश्रि पंकजं हैममुद्बभौ ॥ २७३ ॥ पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्माः सप्त विकासिनः । प्रादुर्बभूवुरुद्गंधिसाद्रकिंजल्करेणवः ॥ २७४ ॥ तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यंतेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावसथसौधानि सचारीणीव खांगणे ॥ २७५ ॥ हेमाम्भोजमयीं श्रेणीमलिश्रेणीभिरन्विता । सुरा व्यचरयन्नेना सुरराजनिदेशतः ॥ २७६ ॥ रेजे राजीवराजी सा जिनपत्पङ्कजोन्मुखी । आदित्सुरिव तत्कातिमतिरेकादधः-

---

तरहका कल्याण था, पूर्ण आरोग्य था और कहींपर भी जीवोंकी हिंसा नहीं होती थी ॥२७०॥ संसारके प्राणियोंको अकस्मात् बहुत ही आनंद हुआ था, और वे सब भाई भाइयोंके समान परस्पर मित्रताको प्राप्त हुये थे ॥२७१॥ जिस जगह भगवानके चरणकमल पडते थे उस जगहके नीचे आकाशमें ही देवलोग जिन सुवर्णमय कमलोंकी रचना करते थे, वे कमल पराग रजकी वर्षा कर रहे थे, उनपर नवीन केसर उत्पन्न हो रही थी, उनकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई थी, उनके दल बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका स्पर्श कोमल था और उनकी शोभा बहुत ही बढी हुई थी ॥ २७२-२७३ ॥ जिनकी परागरज और केसरके रेणु बहुत ही सुगंधित हैं ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवानके चरणके आगे उत्पन्न हुये थे तथा सात पीछे रचे गये थे (और एक चरणकमलके नीचे था ॥ २७४ ॥ तथा इसीप्रकार उन कमलोंके समीपमें और भी अनेक कमल शोभायमान हो रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशरूपी आंगनमें चलते हुये लक्ष्मीके निवास करनेके घर ही हों ॥ २७५ ॥ जिनपर भ्रमरोंके समूह बैठे हुये हैं ऐसी सुवर्णकी बनी हुई इन कमलोंकी पंक्तियोंको देवलोग इंद्रकी आज्ञासे निर्माण करते थे ॥ २७६ ॥ भगवानके चरणकमलोंके सन्मुख हुई वह कमलोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपनी अधिकतासे भगवानके चरणकमलोंकी नीचेकी कांतिको ही प्राप्त होना चाहती हो ॥ २७७ ॥ भगवानके विहारके समय आकाशरूपी सरोवरमें उ-

मभग्नवृत्तिः । देवासुरैरनुगतो विजहार पृथ्वीं । हेमाब्जगर्भविनिवेशितपादपद्मः ॥ २८५ ॥ तीव्राजवंजवदवानलदह्यमानमाह्लादयन् भुवनका ननमस्ततापः । धर्मामृतांबुपृषतैः परिषिच्य देवो रेजे घनागम इवोदितदिव्यनाद. ॥ २८६ ॥ काशीमवंतिकुरुकोसलसुह्मपुण्ड्रान् चेद्यंगवंगमगधांध्रकलिं- गमद्रान् । पचालमालवदशार्णविदर्भदेशान् सन्मार्गदेशनपरो विजहार वीरः ॥ २८७ ॥ देवःप्रशातचरितः शनकैर्विहृत्य देशान् बहूनिति विबोधितभ- व्यसत्त्वः । भेजे जगत्त्रयगुरुर्विधुवीध्रमुच्चैः कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं दधान ॥ २८८ ॥ तस्याऽग्रे सुरनिर्मिते सुरुचिरे श्रीमत्सभामडले पूर्वोक्ताखिलवर्ण-

---

की जिनकी उच्छा है, जिनकी वृत्ति अर्थात् उपदेश देनेरूप कार्य अखंडित है और जिनके चरण- कमल सुवर्णकमलपर विराजमान हैं तथा जिनके साथ वैमानिक भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि सब देव चलते हैं ऐसे उन भगवानने समस्त पृथ्वीपर विहार किया ॥ २८५ ॥ उससमय वे भगवान ठीक वर्षा ऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार वर्षाऋतु दावानल अग्निसे जले हुये बनको वर्षासे सींचकर आनंदित करती है उसीप्रकार वे भगवान् तीव्र संसाररूपी दावानल अग्निसे जले हुये जगतरूपी बनको धर्मामृतरूपी जलकी वर्षासे सींचकर आनंदित करते थे, जिसप्रकार व- र्षाऋतु संताप नष्ट करती है उसीप्रकार वे भगवान भी संसाररूपी संताप नष्ट करते थे और वर्षाऋ- तुमें जिसप्रकार नंभीर शब्द होता है उसीप्रकार भगवानका भी दिव्यध्वनिरूप गंभीर शब्द होता था ॥ २८६ ॥ मोक्षमार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीरवीर ऐसे भगवान् वृषभदेवने काशी, अवंती कुरुजांगल, कोशल, सुह्म, पुंड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, अंध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव दशार्ण और विदर्भ आदि अनेक देशोमें विहार किया ॥ २८७ ॥ इसप्रकार जिनका चारित्र अत्यंत शांत है जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको उपदेश देकर आत्मज्ञानी बनाया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे वे देवाधिदेव भगवान वृषभदेव धीरे धीरे अनेक देशोंमें विहारकर चंद्रमाके समान निर्मल, बहुत ऊंचे और अपने यशका अनुकरण करनेवाले सफेद ऐसे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुये

अथ षड्विंशतितमं पर्व ।

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवद्व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमानभ्यनन्ददनुक्रमात् ॥१॥ नो दरिद्री जनः कश्चिद्विभोस्तस्मिन्महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थिलाभे तु जातं विश्वाशितंभवे ॥ २ ॥ चतुष्केषु च रथ्यासु पुरस्यान्तर्बहिः पुरं । पुंजीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥ ३ ॥ अभिचारक्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषां । जगतः शांतिकर्मेव जातकर्माप्यभूत्तदा ॥ ४ ॥ ततोस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत् । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलाम्बरा ॥ ५ ॥ अलका इव संरेजुरस्या मधुकरव्रजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषितविग्रहाः ॥ ६ ॥ प्रसन्नमभवत्तोयं सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं

अथ छब्बीसवां पर्व ।

अथानंतर—श्रीमान् चक्रवर्ती महाराज भरतने विधिपूर्वक चक्रकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र होनेकी भी खुशी मनाई ॥ १ ॥ महाराज भरतके उस महोत्सवमें संसारके समस्त लोग तृप्त होगये थे, कोई भी दरिद्री मनुष्य नहीं रहा था, दरिद्रता केवल मागनेवालोंकी होगई थी अर्थात् उससमय मागनेवाला कोई नहीं रहा था ॥२॥ उससमय चक्रवर्तीने चौरस्तेमें गलियोंमें नगरके भीतर बाहर आदि सब जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब मांगनेवालोंको बांट दिये थे ॥ ३ ॥ उससमय भरतने जो चक्रकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिये जारण मारण (जलना मरना) आदि क्रियाके समान मालूम हुई थी, तथा जो जातकर्म (पुत्रोत्सवमें होनेवाली उत्सव आदि क्रियायें) किया था वह संसारको शांतकर्मके समान जान पडा था ॥ ४ ॥ ये दोनों कर्म कर चुकनेपर महाराज भरतने दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं, उससमय शरद ऋतुका समय आगया था, और आकाश भरतकी जय लक्ष्मीके समान साफ और निर्मल हो गया था ॥ ५ ॥ उससमय सप्तछद जातिके फूलोंकी फैली हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे इधर उधर उडते हुये भ्रमरोंके समूह ठीक इस शरद ऋतुके अलकोंके (केशपाश=फूलोंसे सजे हुये केश) समान जान पडते थे ॥ ६ ॥

भूमयः । सहंससैकता नद्यो जन्हुश्वेतासि कामिनां ॥ १४ ॥ प्रसन्नसलिला रेजुः सरस्यः सहसारसाः । कूजितैः कलहंसानां जितनूपुरसिंजनैः ॥१५॥ नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्रीः पंकजानना । व्यक्तमाभाषमाणेव कलहंसीकलस्वनैः ॥ १६ ॥ पक्वशालिभुवो नम्रकणिशा पिंजरश्रियः । स्नाता हरिद्रयेवासन् शरत्कालप्रियागमे ॥ १७ ॥ मदमाना मदं भेजुः सहमाना मदं जहुः । शरल्लक्ष्मीं समालोक्य शुध्यशुध्योरयं निजः ॥ १८ ॥ कलहंसा हसंतीव विरुतैः स्म शिखंडिनः । अहो जलप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥ १९ ॥ चित्रवर्णा घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । सम गतमखेष्वासैर्बर्हिण स्वो-

---

से सुशोभित खेत और हंसोंसे सुशोभित वालूके टीले ये सब कामीलोगोंके अंतःकरणको हरण करते थे ॥१४॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और चारोंओर सारस पक्षियोंके जोडे फिर रहे हैं ऐसे छोटे तालाव नूपुरोंकी (स्त्रियोंके पैरोंकी उंगलियोंके विछुओंकी) आवाजको जीतनेवाले हंसोंके मधुर शब्दोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १५ ॥ नीलकमल ही जिसके नेत्र हैं, सफेद कमल ही जिसका मुख है और जो सुंदर हंसनिकोंके मधुर शब्दोंके द्वारा स्पष्ट भाषण कर रही है ऐसी वह शरदऋतु रूपी लक्ष्मी बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १६ ॥ जो चावलोंकी बालसे कुछ झुक गई है तथा जो कुछ २ पीली हो गई है ऐसी पके चावलोंकी पृथ्वी उससमय ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों शरदसमयरूप अपने पतिके आनेपर वह हल्दी उवटन आदिके द्वारा स्नानकर सुसज्जित हो हुई हो ॥१७॥ उस शरदऋतुकी शोभा देखकर हंस बहुत संतुष्ट हुये थे और मयूरोंने अपनी सब प्रसन्नता छोड दी थी, सो ठीक ही है शुद्ध और अशुद्ध पदार्थोंका यह स्वभाव ही है, भावार्थ—शरदऋतुकी शोभा सफेद है क्योंकि उसमें आकाश, दिशायें, पानी आदि सब स्वछ हो जाता है हंस भी सफेद होते हैं, इसलिये सफेद शरदऋतुको देखकर सफेद हंसोंको आनंद होना ही चाहिये इसीतरह मयूर काले होते हैं उन्हें सफेद शरदऋतु देखकर खेद होता है उन्हें अपने रंगके समान अर्थात् काली वर्षाऋतुको देखकर ही आनंद होता है, यह शुद्ध अशुद्ध पदार्थोंका स्वाभाविक धर्म है ॥ १८ ॥ स्व-

त्यर्चिंतयेवाकुलीकृता ॥ २५ ॥ नभः सतारमारेजे विहसत्कुमुदाकरं । कुमुद्वतीवनं चाभाजयत्तारकितं नभः ॥ २६ ॥ तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः ॥ २७ ॥ नभोगृहांगणे तेनुः श्रियं पुष्पोपहारजां । तारका दिग्वधूहारतारमुक्ताफलत्विषः ॥ २८ ॥ बभुर्नभोंबुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका इव मेघौघैर्निहिताहिमशीतलाः ॥ २९ ॥ ज्योत्स्नासलिलसंभूता इव बुद्बुदपंक्तयः । तारका रुचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नभोगणे ॥ ३० ॥ तनुभूतपयोवेणीर्नद्यः परिकृशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवांगनाः ॥ ३१ ॥ अनुद्धतागभीरत्व भेजुः

बाण और आसन जातिके पुष्पोंका अलंकार धारण किया था सो ठीक ही है, क्योंकि सब दिशाओंको जीतनेकी इच्छा करनेवालेको बाणासन अर्थात् धनुष धारण करना प्रशंसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस शरदऋतुमें मेघमाला सब दिशाओंको छोडती हुई कृश और सफेद हो गई थी तथा ऐसी जान पडती थी मानों वर्षाके वियोगसे उत्पन्न हुई चिंतासे व्याकुल ही हो रही हो ॥ २५ ॥ उन दिनों ताराओंसे सुशोभित आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों खिली हुई कमोदिनिओं सहित (चंद्रविकासी कमलों सहित) सरोवरकी ओर ही हँस रहा हो तथा कमोदिनियों सहित सरोवर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ताराओंसे सुशोभित आकाशको भी जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारेरूपी कमोदिनियोंसे भरे हुये आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपनी किरणरूपी पंखोंको फैलाता हुआ चंद्रमा ठीक हंसके समान जान पडता था ॥ २७ ॥ दिशारूपी स्त्रियोंके हार संबंधी सुंदर मोतियोंकी कांतिको धारण करते हुये तारे आकाशरूपी घरके आंगनमें पुष्पोंसे की हुई पूजाकी शोभाको बढा रहे थे ॥ २८ ॥ दैदीप्यमान मोतियोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बादलोंके समूहसे बरफके समान ठंडे ओले ही बरसकर पडे हों ॥ २९ ॥ आकाशरूपी आंगनमें इधर उधर फैले हुये तारे ऐसी अच्छी शोभाको धारण करते थे मानों चांदनीरूपी जलसे उत्पन्न हुये बुद्बुदोंके (बबूलोंके) समूह ही हों ॥ ३० ॥ वर्षा-

विन्यस्तरागा बाणकृतद्युतिः । हसीसखीवृता रेजे नवोढेव शरद्वधूः ॥ ३७ ॥ स्वयं धौतमभाद्व्योम स्वयंप्रक्षालितः शशी । स्वयप्रसादिता नद्यः स्वयं समार्जिता दिश' ॥ ३८ ॥ शर क्ष्मीमुखालोकदर्पणे शशिमडले । प्रजादृशो धृतिं भेजुरसमृष्टसमुज्ज्वले ॥ ३९ ॥ वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुव्रता भवतिस्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥ ४० ॥ तन्व्यो वनलता रेजुर्विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गंधांधविलोलालिकुलाकुलाः ॥ ४१ ॥ दर्पोध्दुराः खुरोत्खातभुवस्ताम्रीकृतेक्षणाः । वृषाः प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनु' ॥ ४२ ॥ अपारिस्फुरतः शृगाग्रैर्वप्रभा धीरनिःस्वनाः ।

र्थात् भाई वंधुओंमें राग अर्थात् प्रेम करती है उसीप्रकार शरदऋतु भी वंधुजीव अर्थात् दुपहरियाके पुष्पोंमें राग अर्थात् लालिमा धारण करती थी, नवोढा जिसप्रकार दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार शरदऋतु भी वाण अर्थात् कांस जातिके वृक्षोंके फूलनेसे दैदीप्यमान हो रही थी और नवोढा जिसप्रकार सखियों सहित रहती है उसीप्रकार शरदऋतु भी हंसिनीरूपी सखियों सहित रहती थी ॥ ३७ ॥ उससमय आकाश अपने आप साफ हुयेके समान जान पडता था, चंद्रमा अपने आप धोये हुयेके समान जान पडता था, नदियां अपने आप निर्मल हुई सी जान पडती थीं और दिशायें अपने आप झाड बुहारकर साफ की हुई के समान जान पडती थीं ॥ ३८ ॥ शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेलिये दर्पणके समान और विना ही साफ किये अतिशय उज्वल ऐसे चंद्रमंडलमें प्रजाके नेत्र बडे ही संतुष्ट होते थे ॥ ३९ ॥ जिनकी सुगंधि चारोंओर फैल रही है और जो पुष्परूपी आभरणोंसे उज्वल हो रही हैं ऐसी वन पंक्तियोंको भ्रमरोंके समूह कोलाहल शब्द करते हुये सेवन कर रहे थे ॥ ४० ॥ उससमय अत्यंत कृश ऐसी वनकी लतारूपी स्त्री वहुत ही सुशोभित हो रही थी, क्योंकि फूले हुये पुष्प ही उसका मंदहास्य था और उनकी सुगंधिसे अंधे हुये चंचल भ्रमरोंका समूह ही सुंदर केशपाश था ॥ ४१ ॥ उससमय मदोन्मत्त हुये वैल भी दूसरे बैलोंको देखकर क्रोधित होते थे, खुरोंसे पृथ्वीको खोदते थे उनकी आंखें लाल हो रही थीं और वे अन्य वैलोंके शब्द

वनस्थलीं स्थलाभोजमृणालशकलाचितां ॥ ४३ ॥ वृषाः ककुदसंलग्नमृदः कुमुदपाडुरा. । व्यक्ताकस्य मृगांकस्य लक्ष्मीमबिभरुस्तदा ॥ ४४ ॥ क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीं । प्रस्नुवाना वनातेपु प्रसस्रुर्गोमतल्लिकाः ॥ ४५ ॥ कुंडोध्न्योमृतपिंडेन घटिता इव निर्मलाः । गोगृष्ट्यो वनातेपु शरच्छ्रिय इवाभवन् ॥ ४६ ॥ हंभारवभृतों वत्सानापिप्यन्प्रकृतस्तनान् । पीनापीना' पयस्विन्यः पयःपीयूषमुत्सुकान् ॥ ४७ ॥ क्षीरस्यूतो निजान् वत्सान् हंभागभीरनिःस्वनाः । धेनुष्यः पाययंति स्म गोपैरपि नियत्रिताः ॥ ४८ ॥ प्राक् प्रिया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो क-

सुनकर स्वयं शब्द कर रहे थे ॥ ४२ ॥ उसीप्रकार गंभीर शब्द करते हुये वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके [तंतुओंके] टुकडोंसे व्याप्त हुई वनकी पृथ्वीको खोद रहे थे ॥ ४३ ॥ इसीतरह उस शरदऋतुमें जिनके कंधेके समीपके पीठके ऊंचे भागपर काली मिट्टी लग रही है ऐसे कमोदनीके समान सफेद बैल स्पष्ट लांच्छनवाले चंद्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे॥४४॥ जिनसे अपने आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी संपूर्ण पृथ्वीको दूधके प्रवाह रूप करती हुई बनमें चारोंओर फिर रहीं थीं ॥ ४५ ॥ इसी तरह जिनके स्तन दूधसे भरे हुये हैं और अमृतके समूहसे बनी हुईके समान अत्यंत निर्मल वा सफेद हैं अथवा मीठा दूध देनेसे अमृतसे बनी हुईके समान हैं ऐसी तुरंतकी प्रसूत हुई गायें वनोंमें शरदऋतुकी शोभाके समान जान पडती थीं ॥ ४६ ॥ जिनके स्तन बहुत बडे हैं और जो 'हंभा' ऐसा शब्द कर रहीं हैं ऐसी दूधवाली गायें दूध पीनेकेलिये उत्सुक हुये और 'हंभा' शब्द करते हुये अपने बच्चोंको दूधरूपी अमृत पिला रही थीं ॥ ४७ ॥ इसीतरह 'हंभा' ऐसा गंभीर शब्द करती हुई गायें यद्यपि ग्वालाओंके द्वारा कुछ अलग बांधदी गई थीं तथापि दूधकी इच्छा करनेवाले अपने बच्चोंको दूध पिला ही रहीं थीं ॥४८॥ पहले वर्षाऋतुमें जो बादल मयूरोंको बहुत ही प्रिय थे वे ही अब शरदऋतुमें जलरूपी धनको नाश-कर खाली हो जानेसे अप्रिय (बुरे) होगये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता भी बहुत ही बुरी होती

ष्टा दरिद्रता ॥ ४९ ॥ व्यापहासीमिवातेनुर्गिरयः पुष्पितैर्द्रुमैः । व्यात्युक्षीमिव तन्वानाः स्फुरन्निर्झरसीकरैः ॥ ५० ॥ प्रवृद्धवयसो रेजुः कलमा भृशमानताः । परिणामात्प्रपुष्यतो जरतः पुरुषा इव ॥ ५१ ॥ विरेजूरसनाःपुष्पैर्मदालिपटलावृतैः । इन्द्रनीलकृतातर्यैः सौवर्णैरिव भूषणैः ॥ ५२ ॥ घनावरणनिर्मुक्ता दधुराशा दशा मुद । नटिका इव नेपथ्यगृहाद्रगमुपागताः ॥ ५३ ॥ अदधुर्वनवृदानि मुक्तासाराणि भूधराः । सदशानीव वासांसि निष्प्रवाणीनि सानुभिः ॥ ५४ ॥ पवनाधोरणारूढा भ्रेमुर्जीमूतदतिनः । सातर्गर्जा निकुंजेषु सासारमदसीकराः ॥ ५५ ॥ शुकावली प्रवालाभचञ्चुस्तेने दिवि-

---

है ॥ ४९ ॥ फूले हुये वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पडते थे मानों परस्पर हँसी ही कर रहे हों तथा झरते हुये झरनोंकी बूंदोंसे ऐसे जान पडते थे मानों एक दूसरेपर जल ही सींच रहे हों ॥५०॥ कलमी चांवलोंके खेत जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनपर अनेक पक्षी बैठे थे तथा जो खूब नव रहे थे और जो फल लगनेसे अनेक जीवोंका पालन कर रहे थे वे ठीक वृद्धपुरुषोंके समान जान पडते थे ॥ ५१ ॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे घिरे हुये पुष्पोंसे ऐसे अच्छे सुशोभित होते थे मानों जिनके मध्यभागमें इंद्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णके बने हुये आभूषण ही हों ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार आभूषण पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमें आई हुई नटी (नृत्य करनेवाली) नेत्रोंको आनंद देती है उसीप्रकार जिनपरसे बादलोंका आवरण दूर होगया है ऐसी दिशायें भी नेत्रोंको आनंद दे रहीं थीं ॥ ५३ ॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरोंपर जलरहित बादलोंके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने नवीन सफेद वस्त्र ही धारण किये हों ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत चढे हुये हैं, जो भीतर ही भीतर गरज रहे हैं और लतागृहोंमें जलकी बूंदे रूपी मदकी धारा बहा रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी चारोंओर इधर उधर फिर रहे थे ॥ ५५ ॥ जिनकी चोंच मूंगाके समान लाल है ऐसी सूआओंकी (तोतोंकी) पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा धारण करती थी मानों पद्मराग मणियोंकी कांति सहित हरितमणियोंकी बनी हुई तोरणोंकी पंक्ति ही

श्रिय । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणालीसपद्मभा ॥५६॥ चेतांसि तरणागोपजीविनामुद्धतात्मना । पुंसा च्युताऽधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥ ५७ ॥ प्रतापी भुवनस्यैक चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रांततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥ ५८ ॥ इति प्रस्पष्टचन्द्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योग चक्री चक्रपुर:सरः ॥ ५९ ॥ प्रस्थानभेर्यो गभीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवैर्घनाडंबरशंकिभिः ॥६०॥ धृतमंगलनेपथ्यो बभौरोरस्स्थलप्रभु: । शरल्लक्ष्म्येव संभक्तं सहारहरिचंदनं ॥ ६१ ॥ ज्योत्स्नामये दुकूले च श्लक्ष्णे परिदधौ नृपः । शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥ ६२ ॥ आजा-

---

हो ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार जिनका अधिकार छूट गया है ऐसे पुरुषोंके चित्त दीनताको धारण करते हैं उसीप्रकार जो लोग नावोंके द्वारा आजिविका करते थे ऐसे उद्धत मल्लाहोंके चित्त भी [नदियोंमें पानी कम हो जानेसे] दीनता धारण करने लगे थे ॥ ५७ ॥ उस शरदऋतुके समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान सुशोभित होने लगा था क्योंकि जिसप्रकार महाराज भरत प्रतापी थे उसीप्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिसप्रकार भरत संसारके एक मात्र चक्षु थे अर्थात् सबको मार्ग दिखानेवाले थे उसीप्रकार सूर्य भी संसारका एक मात्र चक्षु था, जिसप्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढता जाता था उसीप्रकार सूर्यका तेज भी बढता जाता था और भरतने जिसप्रकार सब प्रतापी राजा अपने वश कर लिये थे उसीप्रकार सूर्यने भी चंद्र आदि सबका प्रताप अपनेसे नीचा कर दिया था ॥ ५८ ॥ इसप्रकार अत्यंत निर्मल चंद्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य हैऐसी शरदऋतुके आनेपर चक्रवर्ती महाराज भरतने अपने चक्रको आगे २ कर दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं ॥ ५९ ॥ उससमय गंभीर शब्द करते हुये गमन करनेके नगाडे बज रहे थे जिन्हें मेघके आडंबरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी गर्दन ऊंचीकर सुन रहे थे ॥६०॥ उससमय जिन्होंने मंगलकारक वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत पुष्पोंका हार और सफेद चंदन सहित जो वक्षःस्थल धारण कर रहे थे वह ऐसा जान पडता था मानों शरद ऋतु रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥ ६१ ॥ महाराज भरत चांदनीके समान सफेद, को-

नुलंबिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हेमाद्रिरिव गंगाबुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥ ६३ ॥ किरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुंडले दधौ । चद्राऽर्कमंडले वक्तुमिवायाते जयोत्सवं ॥ ६४ ॥ वक्षःस्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्वाहमंगलाशंसिदीपवत् ॥ ६५ ॥ विधुर्बिबप्रतिस्पार्द्धि दधेऽस्यातपवारण । तन्निभेनैदव बिंबमागत्येव सिसेविपु ॥ ६६ ॥ तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणं । चूडारत्नांशुभिर्भिन्न सारुणाश्विव पंकज ॥ ६७ ॥ स्वर्धुनीसीकरस्पार्धि चामराणा कदबकं । दुधुवुर्वारनार्योऽस्य दिक्कन्या इव संसृताः ॥ ६८ ॥ ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे स्यंदनो महान् । सुवर्णमाणिचित्रा-

---

मल और बारीक ऐसे जो दो [धोती डुपट्टा] रेशमी दिव्य वस्त्र पहने हुये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही लाये गये हों ॥ ६२ ॥ जिसप्रकार किनारेको स्पर्श करनेवाले गंगाजलके प्रवाहसे हिमवान पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार घोंटूतक लटकते हुये यज्ञोपवीतके द्वारा महाराज भरत भी बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ ६३ ॥ मुकुट पहननेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरतेश्वरने दोनों कानोंमें जो कुंडल पहने थे वे ऐसे जान पडते थे मानों दिग्विजयके उत्सवकी बधाई देनेकेलिये सूर्यमंडल और चंद्रमंडल ही आये हों ॥ ६४ ॥ महाराज भरतके वक्षःस्थलपर जो सुंदर कौस्तुभमणि सुशोभित हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों जयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना करनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ महाराजने चंद्रमंडलकी स्पर्द्धा करनेवाला जो छत्र धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों छत्रके बहानेसे चंद्रमडल ही आकर भरतकी सेवा कर रहा हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था और उसपर जो मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी किरणें पड रहीं थीं उससे मिला हुआ वह छत्र ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणों सहित कमल ही हो ॥ ६७ ॥ बारांगनायें जो गंगाके जलकी बूंदोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले चमरोंके समूह ढाल रही थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों दिक्कन्यायें ही उतरकर आ गई हों ॥ ६८ ॥ तदनंतर स्थपति (सिलावट) रत्नने एक बहुत बडा रथ तैयार किया

गमेरुकुंजश्रियं हसन् ॥ ६९ ॥ चक्ररत्नप्रतिस्पर्द्धिचक्रद्वितयसंगतः । वज्राक्षघटितो रेजे रथोस्येव मनोरथः ॥ ७० ॥ कामगैर्वायुरंहोभिः कुमुदोज्ज्वलकांतिभिः । यशोवितानसंकाशैः स रथोऽयोजि वाजिभिः ॥ ७१ ॥ स तं स्यंदनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठितं । नितंवदेशमद्रीशः सुरराडिव चक्रराट् ॥ ७२ ॥ ततः प्रास्थानिकैः पुण्यनिर्घोषैरभिनंदितः । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमंगलः ॥ ७३ ॥ तदा नभोंगणं कृत्स्नं जयघोषैररुध्यत । नृपांगणं च सरुद्धमभवत्सैन्यनायकैः ॥ ७४ ॥ महामुकुटवद्धास्तं परिवत्रुः समंततः । दूरात्प्रणतमूर्द्धानः सुरराजमिवामराः ॥ ७५ ॥ प्रचचाल वलं विष्व-

---

जो कि ऐसा जान पडता था मानों सुवर्ण ओर मणियोंसे चित्र विचित्र दिखनेवाले मेरुपर्वतकी कुंजोंकी शोभाकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उस रथमें चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले दो पहिये लगे हुये थे और वज्रकी धुरी वनी हुई थी इसलिये वह रथ भरतके मनोरथोंके समान वहुत ही सुंदर जान पडता था ॥ ७० ॥ उस रथमें जो घोडे जोते गये थे उनका वेग किसीसे रोका नहीं जा सकता था, वायुके समान उनका तेज वेग था, सफेद कमलके समान उनकी निर्मल कांति थी और वे ऐसे जान पडते थे मानों यशका समूह ही हों ॥ ७१ ॥ जिसप्रकार इंद्र मेरुपर्वतके नितंवदेश [तट] पर विराजमान होता है उसीप्रकार जिसपर वहुत अच्छा हांकनेवाला सारथि वैठा है ऐसे उस रथपर भरतेश्वर विराजमान हुआ ॥ ७२ ॥ तदनंतर प्रस्थानके समय 'जय जय' ऐसे पुण्य शब्दोंके द्वारा अनेक लोग जिसे वधाई दे रहे हैं और जिसपर गमन करते समयकी मंगलारति उतारी जा रही है ऐसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतने प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥ उससमय आकाशरूपी समस्त आंगन जय जय शब्दोंसे भरगया था और महाराजका आंगन वडे वडे सेनापतियोंसे भरगया था ॥ ७४ ॥ जिसप्रकार इंद्रके चारोंओर देवलोग खडे रहते हैं उसीप्रकार दूरसे ही मस्तक नवाकर नमस्कार करते हुये महामुकुटवद्ध राजालोग भरतको घेरे हुये चारोंओर खडे थे ॥ ७५ ॥ समस्त नगर और गलियोंको रोकती हुई वह सेना चलने लगी और वह उससमय ऐसी जान पडती थी मा-

गारुद्धपुरवीथिकं । महायोधमयीसृष्टिरपूर्वेवाभवत्तदा ॥७६॥ पुरः पादातमाश्चीयं रथकट्या च हास्तिकं । क्रमान्निरीयुरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥ ७७ ॥ रथ्या रथाऽश्वसघट्टादुत्थितैर्हेमरेणुभिः । बलक्षोदाक्षमा व्योम समुत्पेतुरिव स्वयं ॥ ७८ ॥ रौक्मैरजोभिराकीर्णं तदा रेजे नभोऽजिरं । स्पष्ट वालातपेनेव पटवासेन चातत ॥ ७९ ॥ शनैःशनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथय' । कल्लौलैरिव वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः ॥ ८० ॥ पुरागनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोंजलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिर्दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥ ८१ ॥ जयेश विजयिन् विश्व विजयस्व दिशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थ पौराः प्रभुमपूजयन् ॥ ८२ ॥ सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं तदातनीं । शनैः प्रतोलीं सप्राापद्रत्नतोरणभासुरा ॥ ८३ ॥ पुरोवहिः पुरः पश्चात्समंच विभुनाऽमु-

---

नों बडे बडे योद्धाओंकी एक नई सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७६ ॥ सबसे पहिले पैदल सेना थी, उसके पीछे घोडेसवार थे, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हस्तियोंका समूह था, इसप्रकार अनेक पताकाओंसे शोभायमान ऐसे महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे सेना निकली ॥ ७७ ॥ जिस मार्गसे सेना निकल रही थी वह मार्ग रथ और घोडोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलसे ऐसा जान पडता था मानों वह सेनाका बोझा सह नहीं सकता इसलिये वह स्वयं आकाशमें ही उडना चाहता हो ॥ ७८ ॥ उससमय सुवर्णमय धूलिसे व्याप्त हुआ आकाशरूप आंगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उदय होते हुये सूर्यकी धूपसे स्पर्श किया गया हो, और मकरंदकी रजसे भरगया हो ॥७९॥ धीरे धीरे नगरकी गलियोंमेंसे सबलोग निकल गये इसलिये खाली हुई वे गलियां ऐसी जान पडती थीं मानों समुद्रकी बेलासे (ज्वारसे) उठीहुई लहरोंके चले जानेपर समुद्रके किनारेकी पृथ्वी ही हो ॥ ८० ॥ उससमय बडे बडे मकानोंके झरोंखोंमें खडी हुई नगर निवासिनी स्त्रियां महाराज भरतके ऊपर अपने कटाक्षोंके साथ २ पुष्पांजलि फेंक रहीं थीं ॥ ८१ ॥ हे प्रभो ! सबको जीतनेवाले आपकी जय हो, आप संसारको विजय करें और दसों दिशाओंका विजय करें, इसप्रकार सैकडों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस-

ना । ददृशे दृष्टिपर्यंतमसंख्यमिव तद्बलं ॥ ८४ ॥ जगतः प्रसवागारादिव तस्मात्पुराद्बलं । निरियाय निरुच्छ्वास शनैरारुद्धगोपुरं ॥ ८५ ॥ किमिद प्रलयक्षोभात् क्षुभितं वारिधेर्जलं । किमुत त्रिजगत्सर्गः प्रत्यग्रोऽय विजृंभते ॥ ८६ ॥ इत्याशक्य नभोभाग्भिः सुरैः साश्चर्यमीक्षित । प्रससार वल विष्वक् पुरान्निर्याय चक्रिणः ॥ ८७ ॥ ततः प्राचीं दिशं जेतु कृतोद्योगो विशापतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥ ८८ ॥ चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयातिस्म पुरो विभो. । सुरैः परिवृत विश्वग् भास्वद्विंवप्रभास्वर ॥ ८९ ॥ चक्रानुयायि तद्वेजे निधीनामीशितुर्बल । गुरोरिच्छाऽनुवर्तिष्णु मुनीनामिव मडलं ॥ ९० ॥ दंडरत्न पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययत्नतः ॥ ९१ ॥ अग्रण्या दडरत्नेन पथि राज-

---

प्रकार उससमय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुये महाराज भरत धीरे २ रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान ऐसे नगरके बडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ ८३ ॥ उससमय महाराज भरतको नगरके वाहर अपने पीछे आगे और साथ साथ जहांतक दृष्टि पडती थी वहांतक अंसख्यात सेना ही सेना दिखाई पडती थी ॥ ८४ ॥ जगतको उत्पत्तिके घरके समान उस नगरसे नगरके वडे दरवाजेको रोकती हुई धीरे धीरे वडी कठिनतासे वह सेना निकली ॥ ८५ ॥ क्या यह प्रलयकालका क्षोभ होनेसे समुद्रका जल क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इसप्रकार आशंका करते हुये देव लोग आकाशमें खडे होकर वडे आश्चर्यके साथ जिसे देख रहे थे ऐसी वह चक्रवर्तीकी सेना नगरसे निकलकर चारोंओर फैलगई ॥ ८६-८७ ॥

अथानंतर—महाराज भरतने प्रथम ही पूर्वदिशाके जीतनेकी तैयारी कीं और चक्ररत्नके पीछे २ चलता हुआ वह पूर्वदिशाकी ओर मुखकर निकला ॥ ८८ ॥ सूर्यमंडलके समान प्रकाशमान और चारोंओरसे देवलोगोंसे घिरा हुआ ऐसा जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें महाराज भरतके सामने चल रहा था ॥८९॥ जिसप्रकार गुरुकी इच्छानुसार मुनियोंका समूह चलता है उसीप्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्रके पीछे पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ सवसे आगे दंडरत्नको

पथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥ ९२ ॥ ततोध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियं । दिशां प्रसाधनी कीर्तिमात्मीयामिव निर्मलां ॥ ९३ ॥ सरांसि कमलामोदमुद्वमंति शरच्छ्रियः । मुखायितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनंददधीशिता ॥ ९४ ॥ स हसान् सरसा तीरेष्वपश्यत्कृतार्गीजिनान् । मृणालपीथसपुष्टान् शरदः पुत्रकानिव ॥ ९५ ॥ चन्चा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहंसस्य हृयस्य महती धृतिमादधे ॥ ९६ ॥ सध्रीचीं वीचिसंरुद्धामपश्यन्परितः सरः । कोकः कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥ हसयूनाब्जकिंजल्करजःपिंजरिता निजा । वधू विधूता सोपश्य-

---

आगेकर सेनापति चल रहा था और वह कठिन तथा ऊंची नीची जमीनको दंडके द्वारा लीलापूर्वक एकसी करता जाता था ॥ ९१ ॥ सबसे आगे जो दंड रत्न था वह सब मार्गको राजमार्ग ऐसा बडा मार्ग करता जाता था इसलिये कहीं भी स्खलित न होती हुई वह सेना अपनी इच्छानुसार जा रही थी ॥ ९२ ॥ इसी बीचमें मार्गमें महाराज भरतने सब दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी निर्मल कीर्तिके समान शरदऋतुकी शोभा देखी ॥ ९३ ॥ शरदऋतुकी शोभाके मुखके समान जो सरोवर कमलोंकी सुगंध छोड रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे॥९४॥ सरोवरोंके किनारेपर मनोहर शब्द करते हुये और मृणाल (कमलका तंतु) रूपी मक्खन (लोनी) खाकर पुष्ट हुये हंसोंको वह भरत शरदऋतुके पुत्रोंके समान देख रहा था ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोंचसे कमलतंतुको उठाकर हंसिनीकेलिये दे रहा था वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतके हृदयको बहुत ही संतुष्ट कर रहा था ॥ ९६ ॥ जो चकवा पानीकी लहरोंसे रुकी हुई चकवीको नहीं देखता हुआ सरोवरके चारोंओर जोर जोरसे शब्द कर रहा था वह भी भरतके मनको प्रसन्न कर रहा था ॥ ९७ ॥ एक तरुण हंसने कमलकी परागरजसे कुछ २ पीली हुई अपनी हंसनीको भूलसे चकवी समझकर छोड दिया था उसे भी वह देख रहा था॥९८॥ एक बूढा हंस पानीकी सफेद लहरोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर और उसपर मोहित होकर उसके

चक्रवाकीविशंकया ॥ ९८ ॥ तरंगैर्भंवलीभूतविग्रहा कोकभामिनी । व्यामोहादनुधावंत स जरद्धंसमैक्षत ॥ ९९ ॥ नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद्धृतिः शुचिमसीमसु ॥ १०० ॥ रोधोलताशिखोत्सृष्टपुष्पप्रकरशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽद्राक्षीत् स्रोतःसंगलितांबुभिः ॥ १०१ ॥ लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयंगलत्प्रसूनौघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥ १०२ ॥ क्वचिल्लतागृहान्तस्थचंद्रकांतशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरान् प्रभुरैक्षत ॥ १०३ ॥ क्वचिल्लताप्रसूनेषु विलीनमधुपावलीः । विलोक्य स्रस्तकेशीना सस्मार प्रिययोषिता ॥ १०४ ॥ सुमनोवर्षमातेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्द्धज । पवनाधूतशाखाग्राः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥ १०५ ॥ सच्छायान्सफलाँस्तुगान् सर्वसंभोग्यसंपदः । मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत् स नृपाननुकु-

पीछे २ दौड रहा था उसे भी वह भरत देख रहा था ॥ ९९ ॥ जिसकी समियें अत्यंत पवित्र हैं और जो हंस सारस आदि पक्षियोंसे शोभायमान है ऐसी शय्याके समान स्वच्छ नदीके किनारेकी जगह-पर महाराज भरतको वहुत ही संतोप हुआ था ॥ १०० ॥ जो समीप वाली लताके आग्रभागसे छूटे हुये पुष्पोंके समूहसे सुशोभित होरही हे और जो जलके प्रवाहसे मिल रही है ऐसी नदियोंके किनारेकी जमीनको भी भरतेश्वर देख रहा था ॥ १०१ ॥ जिसमें अपनेआप गिरे हुये फूलोंके समूहसे शय्या वनी हुई है ऐसे सुंदर लतागृहोंको देखते हुये भरतको उनमें वहुत ही प्रेम उत्पन्न हुआ था ॥ १०२ ॥ वह महाराज कहीं कहीं लतागृहोंके भीतर पडी हुई चंद्रकांत मणियोंकी शिलाओंपर वैठे हुये और महाराज भरतका यश गानेमें लगे हुये किन्नरोंको देख रहा था ॥ १०३ ॥ कहीं कहींपर लताओंके फूलोंपर वैठे हुये भ्रमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी चोटियोंमें फूल गुथे हुये हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंको स्मरण करता था ॥ १०४ ॥ जिनकी शाखायें वायुसे हिल रही हैं ऐसे फूले हुये मार्गके वृक्ष मानों वडे प्रेमसे महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १०५ ॥ वह भरत जिनकी वहुत अच्छी छाया है, जिनपर फल लगे हुये हैं, जो वहुत ऊंचे हैं और जिनकी फल पुष्परूपी संपत्ति सबके उपभोग करने योग्य है तथा इसलिये ही जो मानों राजाओंका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे

वंतः ॥ १०६ ॥ सरस्तीरभुवोऽपश्यत्सरोजरजसा ततः । सुवर्णरजसा शकामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥ १०७ ॥ बलरेणुभिरारुद्धे दोषामन्ये नभस्यसौ । करुणा रुदतीं वीक्ष्य चक्रे चक्राह्वकामिनीं ॥ १०८ ॥ गवा गणानथापश्यद्गोष्पदारण्यचारिणः । क्षीरमेवानिवाजस्र क्षरत्क्षीरप्लुतातिकान् ॥ १०९ ॥ सौरभेयान् स शृगाग्रसमुत्खातस्थलांबुजान् । मृणालानि यशासीव ...रते ऽपश्यदुन्मदान् ॥ ११० ॥ वात्सकं क्षीरसपोपादिव निर्मलविग्रह । सोऽपश्यच्चापलस्येव परा कोटिं कृतोत्प्लुतं ॥ १११ ॥ स पक्वकणिशानम्रकलमक्षेत्रमैक्षत । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यत ॥ ११२ ॥ वप्रातर्भवमा-

---

मार्गके वृक्षोंको भी देखता जाता था ॥ १०६ ॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमि कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थी और इसलिये ही जो मार्गमें चलनेवाले लोगोंके हृदयमें क्या यह भूमि सुवर्णकी धूलिसे बनी हुई है ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी उसे भी भरतेश्वर देखता जा रहा था ॥ १०७ ॥ सेनाकी धूलिसे व्याप्त हुये और इसलिये ही रात्रिके समान जान पडनेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चकवीको देखकर महाराजके हृदयमें करुणा उत्पन्न हो रही थी ॥ १०८ ॥ दूधके बादलोंके समान जिन्होंने अपने आप निरंतर निकलते हुये दूधसे समीपका देश भर दिया है और जो अपने चरने योग्य जंगलोंमें चर रहीं हैं ऐसी गायोंके समूहको भी देख रहा था ॥ १०९ ॥ जो अपने सींगोंसे स्थल कमलोंको उखाड रहे हैं तथा जो अपने यशके समान कमल तंतुओंको फेंक रहे हैं ऐसे उन्मत्त बैलोंको भी देख रहा था ॥ ११० ॥ दूधसे पालन पोषण होनेके कारण ही मानों जिनका सफेद निर्मल शरीर है जिन्होंने चपलताकी अंतिम सीमा धारण की है और जो बार बार उडी मार रहे हैं ऐसे गायोंके बच्चोंके समूहको भी देखता जाता था ॥ १११ ॥ वह महाराज पके हुये धान्योंसे नम्रीभूत हुये कलमी चावलोंके खेतको देख रहा था, उस समय वे खेत ऐसे जान पडते थे मानों लोगोंको "उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है नम्र होनेसे ही फल मिलता है" यही कहनेकेलिये तैयार हुये हों ॥ ११२ ॥ खेतमें ही उत्पन्न हुये कमलोंको सूंघने

घ्रातुमिवोत्पलमिवानतान् । स केदार्येषु कलमान् वीक्ष्यानंदं परं ययौ ॥ ११३ ॥ फलानतान् स्तंबकरीन् सोपश्यद्वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून्केदारान् नमस्यत इवादरात् ॥ ११४ ॥ आपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत्प्रसूताः शालिसपदः ॥ ११५ ॥ अवतासितनालाब्जा. कजरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदण्डभृतोऽपश्यच्छालीछोत्कुर्वतीः स्त्रिय ॥ ११६ ॥ हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हसमंडलैः । शालिगोप्यो दृशोरस्य मुद तेनुर्वधूटिकाः ॥ ११७ ॥ कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतसाः कणिशै शालिगोपीर्ददर्श सः ॥ ११८ ॥ सुगंधिमुखनिःश्वासात् भ्र

केलिये ही जो मानों नव रहे हैं ऐसे खेतोंमें खडे हुये कलमी चांवलोंको देखकर महाराजको बहुत ही संतोष हुआ था ॥ ११३ ॥ अपने खेतोंमें फलोंसे नम्रीभूत हुये चांवलोंको भी वह महाराज देखता था, उससमय वे चांवल ऐसे जान पडते थे मानों अपने जन्म देनेमें कारण ऐसे खेतोंको बडे आदरसे नमस्कार कर रहे हों ॥ ११४ ॥ अथवा वह महाराज चांवलोंकी शोभाको गायोंके समान देख रहा था क्योंकि जिसप्रकार गाय जल पीती है उसीप्रकार चांवलोंने भी जल पिया था, जिसप्रकार गाय दूध और घी देनेवाली होती है उसीप्रकार चांवल भी दूध और घीके समान सफेद और स्वादिष्ट थे, गाय जैसे सब लोगोंका उपकार करती है उसीप्रकार चांवल भी सब लोगोंका उपकार करते थे और गायें जैसे बहुत थीं उसीप्रकार चांवल भी बहुत थे ॥ ११५ ॥ तथा जिन्होंनें नालसहित कमल अपने कानोंका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड रही है, हाथमें जो ईखका दंडा लिये हुये हैं और जो खेत रखानेकेलिये 'छो छो' शब्द करती हुई पक्षियोंको उडा रही हैं ऐसी स्त्रियोंको भी देखता जाता था ॥ ११६ ॥ मनोहर गीतोंके शब्दोंसे आये हुये हंसोंके समूहोंसे घिरी हुई ऐसी खेत रखानेवाली नई स्त्रियां महाराज भरतके नेत्रोंको बहुत ही आनंदित कर रही थीं ॥ ११७ ॥ जो मार्ग चलनेवालोंको रोकनेवाले गीत गा रही हैं जिन्हें सुनकर मार्ग चलनेवाले लोग चलना छोडकर वहीं रुक जाते हैं ऐसे गीतोंको गानेवालीं तथा जिन्होंने चांवलोंके

मैराकुलीकृताः।'मनोऽस्य जहुः शालीना पालिकाः 'कुलबालिकाः ॥ '११९ ॥ उपार्च्य प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः परिधावतः। बलेपरोधैरायस्तानैक्षता-ऽसौ सकौतुकं ॥ १२० ॥ उपशल्यभुवोऽद्राक्षीन्निगमानभितो विभुः । केदारलवैराकीर्णाः स भ्राम्यद्भिः कृषीवलैः ॥ १२१ ॥ सोऽपश्यन्निगमोपाते पथः सम्त्यानकर्दमान्। प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्थपुटानतिसंकटान् ॥१२२॥ निगमान् परितोऽपश्यद्ग्राममुख्यान् महाबलान्। वयस्तिरोजनैः सेव्यान्महाराम-तरूनपि ॥ १२३ ॥ ग्रामान्कुक्कुटसपात्यान्सोऽत्यगाद्वृतिभिर्वृतान्। कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥ १२४ ॥ कुटीपरिसरेष्वस्य धृतिरासी-

---

वृक्षोंका ही कर्णभूषण बनाया है ऐसी चांवलोंके खेत रखानेवालीं स्त्रियोंको भी वह देखता जाता था ॥ ११८ ॥ जो अपने मुखके निश्वासकी सुगंधिसे आये हुये भ्रमरोंसे व्याकुल हो रही हैं ऐसी खेत रखानेवालीं अच्छे २ घरोंकी कुलीन लडकियां महाराज भरतके मनको हरण कर रही थीं ॥ ११९ ॥ किसान लोग सेनाके लोगोंसे खेतोंकी रक्षा करनेकेलिये मार्गके समीप बोये हुये खेतोंके चारोंओर दौड रहे थे तथा सेनाके लोगोंसे वलात्कार (जवर्दस्ती) करनेपर (रोकनेपर) खेदखिन्न हो रहे थे ऐसे किसानोंको भी वह नरेंद्र लीलापूर्वक देख रहा था ॥ १२० ॥ जो खेत काटनेवाले इधर उधर दौडते हुये किसानोंसे व्याप्त हो रही थी ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारोंकी [खरियानोंकी] जमीनको भी देखता जाता था ॥ १२१ ॥ जो साफ साफ दिखनेवाले गायोंके खुरोंके चिन्होंसे ऊंचा नीचा हो रहा है तथा जो अत्यंत विकट है ऐसे थोडी थोडी कीचडसे भरे हुये गांवोंके समीपवाले मार्गको भी वह महाराज देखता जाता था ॥ १२२ ॥ जिनमें बडे बडे बळवान लोग रहते हैं ऐसे शहरके समीपवर्ती मुहल्लोंको तथा मुख्य २ गांवोंको चारोंओरसे देखता जाता था और पक्षी तिर्यंच मनुष्य आदि सब जिनकी सेवा कर रहे हैं ऐसे बडे २ बगीचोंके वृक्षोंको भी देखता था ॥ १२३ ॥ जिनपर इधर उधर चारोंओर पुष्प लदे हुये हैं ऐसी ककडी, परबल आदिकी लताओंसे घिरे हुये तथा जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उडकर जा सकता है ऐसे समीप २ बसे हुये गांवोंको उनमें कोई उप-

त्प्रपश्यतः । फलपुष्पानता वल्लीः प्रसवाढ्याः सतीरपि ॥ १२५ ॥ योषितो निष्कमालाभिर्वत्रैश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनोजह्रुर्ग्रामीणाः संसृतावृतीः ॥ १२६ ॥ हैयंगवीनकलशैर्दध्नामपि निहित्रकैः । ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥ १२७ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं पृतनावृतः । गंगामुपासदद्धीरः प्रयाणैः कतिचैरपि ॥ १२८ ॥ हिमवद्विश्रुता पूज्या सतीमासिंधुगामिनीं । शुचिप्रवाहामाकल्पवर्त्तीं कीर्तिमिवात्मनः ॥ १२९ ॥ शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरंगभ्रूविनर्तना । वनराजीबृहच्छाटीपरिधाना वधूमिव ॥ १३० ॥ विस्तीर्णजनसभोग्यैः कूजद्धंसाऽलिमेखलैः । तरंगवसनैः कांतैः पुलिनैर्ज-

---

द्रव न हो इसलिये दूरसे ही छोडता जाता था ॥ १२४ ॥ तथा गांवोंके घरोंके आंगनोंमें पुष्पफलोंसे नम्रीभूत हुई और पुष्पोंसे व्याप्त हो रहीं ऐसी अच्छी २ लताओंको देखकर भरतको वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १२५ ॥ जिन्होंने सुवर्णकी माला और सुवर्णके कडोंका अलंकार किया है तथा जो लताओंके समीप खडी होकर देख रही हैं ऐसी गांवोंकी स्त्रियां भी देखनेवाले महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥ १२६ ॥ गांवोंके वडे २ आदमी घी मक्खनोंके घडे, दहीके घडे और अनेक प्रकारके फल भेट कर महाराजके दर्शन करते थे ॥ १२७ ॥ तदनंतर वह वीरपुरुष सेना सहित कितनी ही मंजिल चलकर कितने ही मार्गको दूर उलंघनकर गंगानदीके समीप जा पहुंचा ॥१२८॥ उसने वहां जाकर अपनी कीर्तिके समान गंगानदीको देखा, क्योंकि जिसप्रकार कीर्ति हिमवान पर्वततक फैल रही थी उसीप्रकार गंगा भी हिमवानपर्वतसे निकली थी, जिसप्रकार कीर्ति पूज्य और मनोहर थी उसीप्रकार गंगा भी पूज्य और मनोहर थी, कीर्ति जिसप्रकार समुद्रतक फैली हुई थी उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी, जिसप्रकार कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसीप्रकार गंगाका प्रवाह भी पवित्र था और कीर्ति जिसप्रकार कल्पांतकालतक टिकनेवाली थी उसीप्रकार गंगा भी अनंत कल्पकालतक टिकनेवाली थी ॥ १२९ ॥ अथवा वह गंगा एक स्त्रीके समान जान पडती थी, क्योंकि चंचल मछालियें ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगें ही भोहोंका नचाना था और दोनों ओर

घनैरिव ॥ १३१ ॥ लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपित यत्र तन्वतीं वा तटद्रुमैः ॥ १३२ ॥ क्षतीर्वनेभदन्तानां रोधोजघनवर्तिनीः । रुंधतीमब्धिभीत्येव लसदूर्मिदुकूलकैः ॥ १३३ ॥ रोमराजिमिवानीला बनराजीं विभ्रती । तिष्ठमानामिवावर्तव्यक्तनाभिमुदन्वते ॥ १३४ ॥ विलोलवीचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलिं । पताकामिव बिभ्राणा लब्धा सर्वापगाजयात् ॥ १३५ ॥ समासमीनां पर्याप्तपयस धीरनिःस्वना । जगता पावनीमान्यां

बनोंकी पंक्ति रूप बडी साडीको पहने हुये थी ॥ १३० ॥ उस गंगाके किनारे स्त्रियोंके जघनके समान जान पडते थे क्योंकि वे बहुत बडे थे, लोगोंके उपभोग करने योग्य थे, शब्द करते हुये हंसोंकी पंक्ति ही करधनी थी, लहरें ही उसके वस्त्र थे और वे बडे मनोहर थे ॥ १३१ ॥ चंचल लहरें रूपी हाथोंके द्वारा उडाये हुये पक्षियोंके समूह जो मधुर शब्द कर रहे थे उनसे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों वह किनारेके वृक्षोंको कुछ कहनेकेलिये ही प्रयत्न कर रही हो ॥ १३२ ॥ वह गंगा लहरोंसे ऐसी जान पडती थी मानों किनारेरूपी जघनभागपर बनमें फिरनेवाले हाथियोंके दांतोंके जो घाव लग रहे थे उन्हें अपने पति समुद्रके भयसे देदीप्यमान लहरें रूपी वस्त्रसे ढक रही ही हो ॥ १३३ ॥ वह गंगा समुद्रकेलिये रोमोंकी रेखाके समान खूब हरी ऐसी बन पंक्तियोंको प्रगट कर रही थी और भंवररूपी प्रगट नाभिको दिखलाती हुई स्थिर थी ॥ १३४ ॥ चंचल लहरोंके संघट्टसे जो पक्षियोंकी पंक्ति उड रही थी उससे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों उसने समस्त नादियोंके जीतनेसे प्राप्त हुई पक्षियोंकी पंक्तिरूपी ध्वजा ही फहराई हो ॥ १३५ ॥ अथवा वह गंगा उत्तम गायके समान जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार गाय समांसमीना अर्थात् प्रतिवर्ष गर्भ धारण करती थी उसीप्रकार गंगा भी मछली आदि जल चर जीवोंको धारण करती थी, गाय जिसप्रकार दूधसे भरी रहती है उसीप्रकार गंगा भी पय अर्थात् जलसे भरी थी, गायका जैसा गंभीर शब्द होता है उसीप्रकार गंगाका भी गंभीर शब्द था, गाय जिसप्रकार जगतको पवित्र करनेवाली है

हसंती गोमचार्चिका ॥ १३६ ॥ गुरुप्रवाहप्रसूता तीर्थकामैरुपासितां । गंभीरशब्दसंभूतिर्जैनीं श्रुतिमिवाऽमला ॥ १३७ ॥ राजहंसैः कृतोपास्यामलंघ्या विवृतायतिं । जयलक्ष्मीमिवस्फीतामात्मीयामब्धिगामिनीं ॥ १३८ ॥ विलसत्पद्मसंभूता जनतानंददायिनीं । जगद्भोग्यामिवात्मीया श्रियमायतिशालिनी-

उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी और गाय जिसप्रकार मान्य है उसीप्रकार वह गंगा भी सबको मान्य थी इसप्रकार वह गंगा अपनी उत्तमतासे गायकी भी हँसी कर रही थी ॥ १३६ ॥ अथवा वह गंगा जिनवाणीके समान निर्मल जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवली आदि गुरुओंके परंपरा पूर्वक उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी पानीके बडे प्रवाहसे उत्पन्न हुई थी, जिसप्रकार संसारसे पार होनेकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव जिनवाणीकी सेवा करते हैं उसीप्रकार तीर्थस्नानकी इच्छा करनेवाले जीव गंगाकी भी सेवा करते थे और जिनवाणीमें जैसे गंभीर शब्द उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार गंगामें भी गंभीर शब्द उत्पन्न हो रहे थे ॥ १३७ ॥ अथवा उस भरतने वह गंगा अपनी जयलक्ष्मीके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी सेवा बडे २ राजा लोग करते हैं उसीप्रकार गंगाकी सेवा भी राजहंस करते थे, जयलक्ष्मी जिसप्रकार अलंघ्य [लंघन करने अयोग्य] है उसीप्रकार गंगा भी अलंघ्य थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी लंबाई बहुत दूरतक फैली थी उसीप्रकार गंगाकी लंबाई भी बहुत थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीका विस्तार बहुत था उसीप्रकार गंगाका विस्तार भी बहुत था और जयलक्ष्मी जिसप्रकार समुद्रतक गई है उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी ॥ १३८ ॥ अथवा वह गंगा भरतने अपनी लक्ष्मीके समान देखी थी क्योंकि जिसप्रकार लक्ष्मी उत्तम पद्मानिधिसे उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी देदीप्यमान पद्मनामके सरोवरसे निकली थी, लक्ष्मी जैसे लोगोंको आनंद देनेवाली होती है उसीप्रकार गंगा भी लोगोंको आनंद देनेवाली थी, लक्ष्मी जैसे सबके भोगने योग्य थी उसीप्रकार गं-

॥ १३९ ॥ विजयार्द्धतटाक्रांतिकृतश्लाघ्यां सुरंहसं । अभग्नप्रसरां दिव्यां निजामिव पताकिनीं ॥ १४० ॥ व्यालोलोर्मिकरस्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरंकुरोद्भेदमाश्रितां कामुकैरिव ॥ १४१ ॥ रोधोलताऽलयासीनान् स्वेच्छया सुरदंपतीन् । हसंतीमिव सुस्वानैः सीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥ १४२ ॥ किन्नराणां कलक्काणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यंतभूभागलतामंडपमंडनां ॥ १४३ ॥ हारिभिः किन्नरोद्गीतैराहूता हरिणांगनाः । दधतीं तीरकच्छेषु

गा भी सबके भोगने योग्य थी और लक्ष्मी जैसे बहुत बडी थी उसीप्रकार गंगा भी बहुत बडी थी ॥ १३९ ॥ अथवा वह गंगा अपनी सेनाके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार सेना विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, उसीप्रकार गंगा भी विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, जिसप्रकार सेनाका वेग तेज था उसीप्रकार गंगाका वेग भी तेज था, जिसप्रकार सेनाके प्रसारको कोई रोक नहीं सकता उसीप्रकार गंगाके विस्तारको भी कोई रोक नहीं सकता था और सेना जैसी मनोहर थी गंगा भी वैसी ही मनोहर थी ॥ १४० ॥ जिस प्रकार स्त्री रोमांच धारण करनेवाले और हाथोंके स्पर्श किये हुये कामी पुरुषोंके आश्रित रहती है उसीप्रकार वह गंगा अपनी चंचल लहरेंरूपी हाथोंसे स्पर्श किये हुये औरअंकूरोंकी उत्पत्तिको धारण करनेवाले अपने किनारेके बनके वृक्षोंके आश्रित थी ॥ १४१ ॥ किनारेपर जो लताओंके घर बने थे और उनमें जो अपनी इच्छानुसार देव देवांगनायें बैठी थीं उनकी ओर मानों वह गंगा मीठे शब्द करती हुई और चारोंओर उडती हुई सफेद बूंदोंसे हँसती हुईके समान जान पडती थी ॥ १४२ ॥ अथवा किन्नरोंके मधुर शब्द और बजते हुये वीणाके साथ होनेवाले गायनके द्वारा जिनकी सेवा की जा रही है अर्थात् जहां किन्नर गा बजा रहे हैं ऐसी समीपवर्ती पृथ्वीपरके लतामंडपोंसे वह गंगा बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ १४३ ॥ जिन्होंने सुखसे अपने गले सीधे फैला रक्खे हैं और जो किन्नरोंके मधुर गीतोंके द्वारा बुलाई हुई हैं ऐसी अनेक हिरणियां उस गंगाके किनारेकी

प्रसारितगलद्गलाः ॥१४४॥ ध्वैस्ससारसारावैः पुलिनैर्दिव्ययोषितां। नितंबानि सकाञ्चीनि हसंतीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥ चतुर्दशभिरान्वितां सहस्रैरब्धियोषिता। सध्रीचीनामिवोद्वीचिबाहूना परिरंभणे ॥ १४६ ॥ इत्याविष्कृतसंशोभा जान्हवीमैक्षत प्रभुः। हिमवद्गिरिणाम्भोधेः प्राहितामिव कण्ठिकां ॥१४७॥ शरदुपहितकांतिं प्रांतकांताराजीविरचितपरिधाना सैकतारोहरम्या। युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन् प्रमदमतुलमूहे क्ष्मापतिः स्वस्रवंतीं ॥ १४८ ॥ सरसिजमकरंदोद्गंधिराधूतरोधोवनकिसलयमदादोलनाद्गूढमायः। असकृदमरसिंधोराधुनानस्तरंगान् अहृतहृतबघूनामध्वखेदं समीरः ॥ १४९ ॥ तामाक्रा-

---

जमीनपर खडी थीं ॥ १४४ ॥ सारस पक्षियोंके मनोहर शब्द और बडे २ पुलिनोंके (किनारोंके) द्वारा वह गंगा ऐसी जान पडती थीं मानों देवांगनाओंके करधनी सहित नितंबोंकी ओर ही हंस रही हो ॥ १४५ ॥ जो गंगाको आलिंगन करनेकेलिये अपनी तरंगेरूप भुजाओंको उठा रही हैं ऐसी चौदह हजार नदियोंकी सखीके समान वह बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १४६ ॥ इसप्रकार जिसकी शोभा प्रगट दिखाई दे रही है और जो हिमवान पर्वतके द्वारा समुद्रकेलिये भेजी हुई मोतियोंकी मालाके समान जान पडती है ऐसी गंगानदी महाराज भरतने देखी ॥ १४७ ॥ शरदऋतुके द्वारा जिसकी कांति बहुत बढगई है, किनारेके वनोंकी पंक्ति ही जिसके पहननेके वस्त्र हैं, बालूके टीलेरूप नितंबोंसे जो बहुत मनोहर जान पडती है, और पडते हुये गंभीर भंवर ही जिसकी नाभि है ऐसी गंगा नदीको तरुण स्त्रीके समान देखते हुये महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १४८ ॥ जो कमलोंकी परागसे अत्यंत सुगंधित है तथा किनारेके बनके पत्तोंको धीरे २ हिलानेसे जिसका मंदपना प्रगट हो रहा है और जो गंगानदीकी लहरोंको बार बार हिला रहा है ऐसा वहांका वायु रानियोंके मार्गके परिश्रमको दूर कर रहा था ॥ १४९ ॥ महाराज भरतने वह गंगा ठीक जिनेंद्रदेवकी कीर्तिके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनेंद्रदेवकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैली हुई है उसीप्रकार गंगा भी पूर्व दिशाकी ओर फैली हुई थी, जैसे जिनेंद्रकी कीर्ति रज अर्थात् पापोंको ना-

तद्धरिन्मुखां कृतरजोधूर्ति जगत्पवनीमासेव्यां द्विजकुंजरैरविरतं संतापविच्छेदिनीं । जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शश्वज्जनानंदिनीं निध्यायन्विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदत् ॥ १५० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजदिग्विजयोद्योगवर्णनो नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥ २६ ॥

श करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी रज़ अर्थात् धूलिको नाश करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे जगतको पवित्र करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्री वैश्यरूप हाथियोंके द्वारा सेवन की जाती है उसीप्रकार गंगा भी द्विज अर्थात् बडे २ पक्षियोंके द्वारा सेवन की जाती थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे निरंतर संतापको दूर करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी निरंतर संताप दूर करनेवाली थी, जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे बहुत बडी और निर्मल है उसीप्रकार वह गंगा भी बहुत बडी और निर्मल थी तथा जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह गंगा भी लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली थी, ऐसी उस गंगाको देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १५० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे महाराज भरतके दिग्विजयका उद्योग वर्णन करनेवाला छव्वीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ सप्तविंशं पर्व.

अथ व्यापारयामास दृशं तत्र विशांपतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाद्य वितरंत्यामिवाऽत्मनः ॥ १ ॥ व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्राप्तावसरमित्यूचे वचश्चेतोनुरजनं ॥ २ ॥ इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा । रजोविधुन्वती भाति भारतीव स्वयंभुवः ॥ ३ ॥ पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरंच महानदी । प्रसूतौच प्रवेशे च गभीरा निर्मलाशया ॥ ४ ॥ इमां वनगजाः प्राप्य निर्वांत्येते मदच्युताः । मुनींद्रा इव सद्विद्या गंभीरा तापविच्छिद ॥ ५ ॥ इतः पिवन्ति वन्येभाः पयोस्याः कृतनिःस्वनाः । इतोमी पूरयंत्येनां मुक्तासाराः शरद्धनाः ॥ ६ ॥ अस्याः प्रवाहमंभोधिर्धत्ते गाभीर्ययो-

---

अथ सत्ताईसवां पर्व

अथानंतर—वहांपर जो मानों स्वच्छ जलसे भरतको अर्घ ही दे रही हो ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥१॥ उससमय सारथीने गंगाको देखते हुये महाराज भरतसे समय देखकर मनको प्रसन्न करनेवाले इसप्रकारके बचन कहे कि ॥२॥ हे महाराज! समस्त जगतको आनंदित करनेवाली और रज अर्थात् धूलि अथवा पापको नाश करनेवाली यह गंगा ठीक ऋषभदेवकी वाणीके समान जान पडती है ॥ ३ ॥ गंभीर और निर्मल जलसे भरी हुई यह गंगा नदी उत्पन्न होते समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और मिलते समय समुद्रको भी पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली सद्विद्या [उत्तमज्ञान] को पाकर मुनिलोग मद छोडकर मुक्त हो जाते हैं उसीप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली गंगाको पाकर अर्थात् उसमें स्नानकर ये हाथी भी अपना मद छोडकर शांत हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये बनके हाथी गंभीर शब्द करते हुये इस गंगाका पानी पी रहे हैं, और इधर जलकी वृष्टि करते हुये ये शरदऋतुके बादल इस गंगाको भर रहे हैं ॥ ६ ॥ यद्यपि विजयार्द्ध पर्वत ऊंचा और निश्चल है तथापि वह इस गंगाके प्रवाहको धारण नहीं कर सका है, इसके प्रवाहको केवल समुद्र ही धारण कर सकता है क्योंकि वह

गतः। असोढं विजयार्द्धेन तुंगेनाप्यचलात्मना ॥ ७ ॥ अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमब्धिर्वितृट् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानांतराशयः ॥ ८ ॥ पद्मन्हदाद्धिमवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पप्रथे पृथ्व्या शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥ ९ ॥ व्योमापगामिमां प्राहुर्वियतः पतिता क्षितौ । गंगादेवी गृहं विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥ १० ॥ बिभर्ति हिमवानेनां शशांककरनिर्मलां । आसिंधोः प्रसृतां कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीं ॥ ११ ॥ वनराजीद्वयेनेयं बिभर्ति तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन धृतश्रिया ॥ १२ ॥ स्वतटाश्रयिणी धत्ते हंसमालां कलस्वनां । कांचीमिवेयमंभोजरजःपिंजरविग्रहां ॥ १३ ॥ नदी सखीरिव स्वच्छमृणालशकलामलाः । संबिभर्ति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशां ॥ १४ ॥ राजहंसैरियं सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति

अतिशय गंभीर है ॥ ७ ॥ अपने क्षार जलसे जिसके अंतःकरणमें दाह उत्पन्न हो रहा है ऐसा समुद्र अवश्य ही इस गंगाके जलके प्रवाहसे प्यासरहित अर्थात् संतुष्ट हो गया है ॥ ८ ॥ यह गंगा शुद्ध मनके समान जो हिमवान पर्वतका पद्म सरोवर है उससे निकलकर पृथ्वीमें प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध है वह पूज्य होता ही है ॥ ९ ॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारोंओरसे भिगोकर आकाशसे ऊपरसे अर्थात् हिमवान पर्वतसे पृथ्वीपर आई है इसलिये इसे आकाशगंगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चंद्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्रतक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गंगाको यह हिमवान् पर्वत अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥ ११ ॥ इसके दोनों किनारोंपर जो जो बनोंकी पंक्तियां हैं उससे यह गंगा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों इसने नीले दो वस्त्रोंकी शोभा ही धारण की हो ॥ १२ ॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर कुछ कुछ पीला हो रहा है और जो मधुर शब्द कर रही हैं ऐसी हंसोंकी पंक्तियां इस गंगाके दोनों किनारे पर ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानों इसने करधनी ही पहनी हो ॥ १३ ॥ यह गंगा नदी सफेद कमलनालके समान निर्मल ऐसी अन्य अनेक सखीरूप नदियोंको अपनेमें मिलाकर आदरसे धारण करती है, सो ठीक ही है क्योंकि इसप्रकार आदर-

ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलंघ्यमहिमापरैः ॥ १५ ॥ वनवेदीमिय धत्ते समुत्तुगां हिरण्मयीं । आज्ञामिव तवालंघ्या नभोमार्गविलंविनीं ॥ १६ ॥ इतः प्रसीद देवेमा शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु सरूढां सरित्सु सरसीषु च ॥ १७ ॥ इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरंति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसवासितहरिन्मुखं ॥ १८ ॥ बाणैः कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । ह्रीयते कामिना चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥ १९ ॥ विकसंति सरोजानि सरःसु सममुत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥ २० ॥ पंकजेषु निलीयंते भ्रमरा गंधलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः

से ग्रहण करनेवालोंका ही सखीपना प्रशंसनीय है ॥ १४ ॥ अथवा यह गंगा आपकी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी राजहंस अर्थात् वडे २ राजाओंके द्वारा सेवन करने योग्य है उसी प्रकार यह गंगा भी राजहंस अर्थात् उत्तम हंसोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, आपकी लक्ष्मी जैसे संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार यह गंगा भी संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और जिसप्रकार अन्य कोई भी आपकी लक्ष्मीकी महिमा उलंघन नहीं कर सकते उसी प्रकार इस गंगाकी महिमाभी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ १५ ॥ इस गंगाकी जो यह सुवर्णमयी तथा वहुत ऊंची वनवेदी है वह आकाशमार्गको उलंघन करनेवाली और कोईभी जिसे लंघन नहीं कर सकता ऐसी आपकी आज्ञाके समान जान पडती है ॥ १६ ॥ सारथी कह रहा है कि हे देव प्रसन्न हूजिये और इधर नदी सरोवर और वनपंक्तियोंमें फैली हुई शरदऋतुकी शोभा देखिये ॥ १७ ॥ ये सप्तच्छद जातिके वृक्ष अपनी सुगंधिसे समस्त दिशाओंको सुगंधित करनेवाले सुगंधि चूर्णके समान पुष्पोंकी पराग चारों ओर फैला रहे हैं ॥ १८ ॥ कामदेवके वाणोंके समान जो ये वाणोंके वृक्ष फूल रहे हैं वे कामी पुरुषोंके चित्तोंको मोहित कर रहे हैं, सो ठीक ही है क्योंकि मनोहर वस्तु किसको मनोहर नहीं जान पडती है ॥ १९ ॥ सरोवरोंमें चंद्रविकासी कमलोंके साथ नीलकमल फूल रेहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे शरद-

॥ २१ ॥ मनोजशरपुंखाभैः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरंत्यब्जिनीखंडे मकरंदरसोत्सुकाः ॥ २२ ॥ रूषिताः कंजकिंजल्कैराभात्येते मधुव्रताः । सुवर्णकपिशैरंगै कामाग्नेरिव मुर्मुराः ॥ २३ ॥ स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसंत्यश्वकासति । शरच्छ्रियो जिगीषन्त्यो दूष्यशाला इवोत्थिताः ॥ २४ ॥ स्थलाऽब्जशंकिनी हसी सरस्यब्जरजस्तते । सहृत्य पक्षविक्षेपं विशतीयं निमज्जति ॥ २५ ॥ हंसोऽयं निजशावाय चञ्च्वोद्धृत्य लसद्बिसं । पीयबुद्ध्या ददात्यस्मै शशाककरकोमल ॥ २६ ॥ कृतयत्न प्लवंतेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णे धूतपक्षाः शनैः शनैः ॥ २७ ॥ चक्रवाकीं सरस्तीरे तरंगैः

ऋतुकी शोभाके मुख ही हों ॥ २० ॥ जिसप्रकार कामी पुरुष अस्पष्ट शब्द करते हुये स्त्रियोंके मुखकमलोंमें तल्लीन हो जाते हैं उसी प्रकार सुगंधिके लोलुपी ये भ्रमर भी अस्पष्ट शब्द करते हुये कमलोंमें तल्लीन हो रहे हैं ॥ २१ ॥ पुष्पका रस पीनेके लिये उत्कंठित हुये ये भ्रमर कामदेवके वाण रखनेके तरकसके समान अपने पंखोंसे कमलोंके समूहोंमें इधरसे उधर फिर रहे हैं ॥ २२ ॥ कमलोंकी परागसे व्याप्त होनेसे जिनका शरीर सुवर्णके समान कुछ कुछ पीला हो रहा है ऐसे ये भ्रमर ठीक कामरूप अग्निके फुलिंगोंके समान जान पडते हैं ॥ २३ ॥ पृथ्वीपर जो स्थलकमल फूल रहे हैं वे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाली शरदृतुकी शोभाके कपडेके बने हुये तंबू ही खडे हों ॥२४॥ जिसके ऊपर कमलकी पराग व्याप्त हो रही है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हंसिनी अपने पंखोंको सकुाचितकर अर्थात् बिना हिलाये ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल और दैदीप्यमान ऐसे कमलतंतुको अपनी चोंचसे उठाकर और उसे मक्खनके समान कोई पतली चीज समझकर अपने इस बच्चेके लिये दे रहा है ॥२६॥ ये राजहंस कमलिनीकी परागसे व्याप्त हुये सरोवरके जलपर धीरे २ पंख हिलाते हुये बडे प्रयत्नसे अर्थात् परिश्रमसे तैर रहे हैं ॥ २७ ॥ सरोवरके किनारेपर तरंगोंसे आच्छादित हुई इस चकवीको नहीं देखता हुआ यह चकवा नेत्रोंमें आंसू भरभरकर बडी करुणाके

स्थगितामम् । अपश्यन् करुणं रौति चक्राह्वः साश्रुलोचनः ॥ २८ ॥ अन्वेति वा स्वार्थतो धार्तराष्ट्रः स्वनन् । सरस्तरङ्गधवलां कोककान्तामनेच्छतीं ॥ २९ ॥ अनुगंगातटं भाति सप्तपर्णमिदं वनं । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि वितानमिव विन्यसन् ॥ ३० ॥ मार्गखेदं धुनानोऽयं तरङ्गोत्थस्तनोपवनं स्पृशति नोंगानि रोधोवनविधूननः ॥ ३१ ॥ आतिथ्यमिव नः कुर्वन् गृहीतगाङ्गशीकरैः । अन्वेति पवमानोऽयं वनवीथीर्विधूनयन् ॥ ३२ ॥ अमन्दमिदं देव देवैरध्युषितं वनम् । लताऽऽलयैर्विभात्येतत् कुसुमप्रस्तरान्वितैः ॥ ३३ ॥ मन्दारवनवीथीनां मन्दच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलापट्टेषु रम्यते नभःसदः ॥ ३४ ॥ अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्भुतम् । यत्स्वस्थानमपास्यापि रमन्तेऽत्र त्रिदिवौकसः ॥ ३५ ॥ मनोज्ञं निर्विशन्त्यत्र सदेवीकाः दि-

साथ रो रहा है ॥२८॥ संभोगकी इच्छा करता हुआ और इसलिये शब्द करता हुआ यह धार्तराष्ट्र अर्थात् काले पैर और काली चोंचका एक प्रकारका हंस सरोवरकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर हंसकी इच्छा न करनेवाली इस चकवीके पीछे २ जा रहा है ॥ २९ ॥ गंगाके किनारे २ यह सप्तपर्ण वृक्षोंका वन ऐसा अच्छा जान पडता है मानों उसने आकाशमें व्याप्त फूलोंकी परागसे चंदोवाकी शोभा धारण की हो ॥ ३० ॥ मार्गके खेदको दूर करता हुआ और किनारेके वनको हिलाता हुआ ऐसा गंगाकी तरंगोंसे उठा हुआ यह वायु धीरे २ हम लोगोंके शरीरको स्पर्श कर रहा है ॥ ३१ ॥ वनकी पंक्तियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी बूंदोंसे ऐसा जान पडता है मानों हम लोगोंका सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव जो मर्यादारहित वहुत वडा है और जिसमें देव आकर क्रीडा करते हैं ऐसा यह वन फूलोंके समूहोंसे व्याप्त ऐसे इन लताओंके घरसे वहुत ही शोभायमान है ॥ ३३ ॥ मंदार वृच्छोंके वनपंक्तियोंकी घनी छायामें वैठे हुये ये देवलोक चंद्रकांत मणियोंकी शिलापर कैसी क्रीडा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ अहा इस वनके किनारेकी सुंदरता कैसी सुंदर है कि देवलोक भी अपने रहनेके स्थान छोड २ कर यहां आकर क्रीडा करते हैं ॥ ३५ ॥ देव देवांगनायें अपनी इच्छानुसार यहां आकर संभोगादि क्री-

तन्यते । सुरदंपातिभिः स्वैरमारब्धरतिविभ्रमैः ॥ ३६ ॥ इयं निधुवनाशक्ताः सुरस्त्रीरतिकाहलाः । हसंतीव तरंगोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥ ३७ ॥ इतः किन्नरसगीतमितः सिद्धोपवीणित । इतो विद्याधरीनृत्तमितस्तद्गतिविभ्रमः ॥ ३८ ॥ नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वंस्तद्गीतनिःस्वनं । वाजिवक्त्रोऽयमुदग्रीवः सममास्ते स्वकातया ॥ ३९ ॥ निष्पर्यायो वनेऽमुष्मिन्नृभुवर्गो विवर्द्धते । परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुकायितमानसः ॥ ४० ॥ अशोकतरुरत्राऽय तनुते पुष्पमंजरी । लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणा चरणैरभिताडितः ॥ ४१ ॥ पुंस्कोकिलानामालापमुखरीकृतादिङ्मुखः । चूतोय मजरीर्वत्ते मदनस्येव तारकाः ॥ ४२ ॥

डा करते हैं इसलिये कामदेवके रहनेकी शोभा यहां और भी खूब बढ रही है ॥ ३६ ॥ यह गंगा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पडती है मानों जो देवांगनायें संभोग करनेमें असमर्थ होकर कुछ कुछ अस्पष्ट शब्द करती हैं उनकी ओर हँस रही ही हो ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! इधर देखिये ये किन्नरदेव मधुर गीत गा रहे हैं, इधर सिद्ध जातिके देव वीणा वजा रहे हैं, इधर विद्याधरियां नृत्य कर रही हैं और इधर कितनी ही विद्याधरियां सुंदर चालसे टहल रही हैं ॥ ३८ ॥ यह अश्वमुख व्यंतर देव अपनी देवांगनाके साथ साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ और उनके मधुर गीत सुनता हुआ सुखसे गला ऊंचाकर बैठा है ॥ ३९ ॥ परस्पर एक दूसरेको देखनेकेलिये ही जिसका मन उत्कंठित हो रहा है ऐसा यह देवोंका समूह इस वनमें एक साथ जमा होता हुआ बढ रहा है ॥ ४० ॥ जिनपर लाखका लाल महावर लगा हुआ है ऐसे देवियोंके चरणोंसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें कैसी अच्छी पुष्प मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४१ ॥ पुरुषरूप कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे सव दिशाओंको वाचालित करता हुआ यह आम्रवृक्ष जो मंजरियां धारण करता है वे ऐसी जान पडती हैं मानों कामदेवके आंखकी पुतली ही हों ॥ ४२ ॥ वसंतऋतुके फैलनेपर ये चंपक जातिके वृक्ष जो फूल रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों पुष्पोंके समूहको धारण करनेवाले कामदेवके दीपक ही हों ॥ ४३ ॥ ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्रवृक्षोंपर कैसा गुंजार शब्द कर

चपका विकसत्यत्र कुसुमतौं वितन्वति । प्रदीपानिव पुष्पोघान्दधतोऽमी मनोभुवः ॥ ४३ ॥ सहकारेष्वमी मत्ता विरुवन्ति मधुव्रताः । विजिगीषोरनंगस्य काहला इव पूरिताः ॥ ४४ ॥ कोकिलानकनिःस्वानैरलिज्यारवजृम्भितैः । अभिषेणयतीवाऽत्र मनोभूर्भुवनत्रय ॥ ४५ ॥ निचुलः सहकारेण विकसन्नत्र माधवीं । तनोति लक्ष्मीमक्षूणामहो प्रावृट्श्रिया सम ॥ ४६ ॥ माधवीस्तवकेष्वत्र माधवोद्य विजृंभते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विश्वत. ॥४७॥ वासत्यो विकसत्येता वसतर्तुस्मितश्रियं । तन्वानाः कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदाः ॥ ४८ ॥ मल्लिकाविततामोदैर्विलोलीकृतषट्पद. । पादपेषु पद धत्ते शुचिः पुष्पशुचिस्मितः ॥ ४९ ॥ कदम्बामोदसुरभि. केतकीधूलिधूसरः । तपात्ययानिलो देव नित्यमत्र विजृम्भते ॥ ५० ॥ मायति कोकिलाः शश्वत्स-

---

रहे हैं मानों सबको जीतने वाले कामदेवके बाजे ही हों ॥ ४४ ॥ कोकिलाओंके मधुर शब्दरूप नगाडोंके द्वारा और भ्रमरोंके गुंजाररूप धनुषके टंकोरके द्वारा ऐसा जान पडता है मानो यह कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेकेलिये सेनासहित चढाई कर रहा हो ॥ ४५ ॥ आम्रवृक्षके साथ जो निचुल (जलवेत) जातिका वृक्ष फूल रहा है वह ऐसा जान पडता है मानों इन देवोंकेलिये वह वर्षाऋतुके साथ २ वसंतऋतुकी शोभा वढा रहा हो, (यद्यपि यह एक आश्चर्यकी वात है क्योंकि निचोलवृक्ष वर्षाऋतुमें फूलता है परंतु यह सब देवकृत होनेसे, कोई विरोध नहीं होता) ॥४६॥ हे स्वामिन् इस वनमें चारोंओरसे वनलक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा वढानेवाले माधवीलताके गुच्छोंपर आज यह वसंत बहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ४७ ॥ उसीप्रकार जो वसंतऋतुकी हास्यकी शोभा बढा रही है और जो पुष्पोंकी सुगंधसे भ्रमरोंको व्याकुल कर रही है ऐसी यह माधवी लता बहुत ही अच्छी फूल रही है ॥ ४८ ॥ मल्लिकाकी [मोगरेकी] फैली हुई सुगंधिसे जिसने भ्रमरोंको व्याकुल कर रक्खा है और खिलहुये पुष्प ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्म ऋतु अव वृक्षोंपर अपना पैर रखता जाता है ॥ ४९ ॥ हे देव ! इधर देखिये कदंबोंके पुष्पोंसे सुगंधित हुआ और केतकीकी परागसे धूसरित हुआ यह वर्षाऋतुका वायु इस वनमें सदा ही वहा करता है ॥५०॥

ममत्र शिखंडिभिः । कलहंसीकलस्वानैः संमूर्छितविकूजिताः ॥ ५१ ॥ कूजंति कोकिला मत्ता केकायंते कलापिनः । उभयस्याऽस्य वर्गस्य हंसाः प्रत्यालपत्यमी ॥५२॥ इतोमी किन्नरीगीतमनुकूजंति षट्पदाः । सिद्धोपवीणितान्येष निन्हुतेन्यभृतस्वनः ॥ ५३ ॥ जितनूपुरझंकारमितो हसविकूजित । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्यच्छिखावलं ॥ ५४ ॥ इतश्च सैकतोत्संगे सुप्तान् हसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युच्चैः खेचरीनूपुरारवः ॥ ५५ ॥ इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चद्रकांतशिलागर्भाः सुरैर्भोग्या लतालयाः ॥ ५६ ॥ इतीद वनमत्यतरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनये-

इस बनमें मयूरोंके साथ २ कोकिलायें सदा उन्मत्त रहती हैं और मनोहर हंसिनियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ अपना शब्द मिलाकर बोलती हैं, भावार्थ—इस बनमें वसंत वर्षा और शरद इन तीनों ही ऋतुओंकी बहार आ रही है ॥ ५१ ॥ यह देखिये उन्मत्त कोकिलायें बोल रही हैं, मयूर शब्द कर रहे हैं और हंस इन दोनोंके शब्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि वसंत वर्षा और शरद ये तीनों ही ऋतुयें यहां एक साथ इकट्ठी हो रही हैं ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नर जातिकी देवांगनाओंके द्वारा गाये हुये गीतोंका अनुकरण कर रहे हैं और ये कोकिलाओंके शब्द सिद्ध जातिके देवोंके द्वारा बजाई हुई वीणाकी ध्वनिको भी छिपा रहे हैं ॥ ५३ ॥ इधर देखिये यह विछुओंके झंकार शब्दको जीतता हुआ हंसोंका मधुर शब्द हो रहा है और जिसका अनुकरण करता हुआ यह मयूरोंका समूह नृत्य कर रहा है ऐसा यह विद्याधरियोंका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर देखिये बालूके टीलोंपर अपने बच्चों सहित सोये हुये हंसोको सबेरेके समय यह विद्याधरियोंके बिछुओंका ऊंचा शब्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ जिनमें बहुतसे पुष्पोंसे शय्या बनाई गई है और इसलिये ही जो मनोहर जान पडते हैं तथा जिनमें चंद्रकांत शिलायें पडी हुई हैं और जो देवोंके उपभोग्य करने योग्य हैं ऐसे ये लतागृह भी इधर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५६ ॥ इसप्रकार यह बन अनेक अत्यंत मनोहर सामग्रियोंसे भरा हुआ है और इसलिये यह देवोंको सदा स्वर्गके नंदन बनके प्रेमको उत्पन्न करता रहता

त्वंसदा सदा ॥ ५७ ॥ वहिस्तटवनादेतद्दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भिरतिदुर्गम ॥ ५८ ॥ दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदंब-
कं । नानाजातीयमुद्भ्रात सैन्यक्षोभात्प्रधावति ॥ ५९ ॥ इदमस्मद्बलक्षोभादुत्त्रस्तमृगसकुलं । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यधकारितं ॥ ६० ॥ गजयूथ-
मित कच्छादधकारमिवाभितः । विश्लिष्टं बलसक्षोभादपसर्पत्यतिद्रुतं ॥ ६१ ॥ शनैः प्रयाति सजिघ्रन् दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । समहाहिरिवाद्रींद्रो भ-
द्रोऽयं गजयूथपः ॥ ६२ ॥ महाहिरयमायामं मिमान इव भूरुहा । श्वसन्नागच्छते कच्छादूर्ध्वीकृतशरीरकः ॥ ६३ ॥ शयुपोता निकुंजेस्मिन् पुंजीभू-

---

है ॥५७॥ हे प्रभो ! गंगाके किनारेके वनके वाहर भी यह एक वडाभारी वन दिखाई दे रहा हे जोकि अ-
नेक प्रकारके वृक्ष, लतायें, छोटे २ पौधे और अंकूरोंसे दुर्गम (सघन, जिसमें कोई जा नहीं सके)
हो रहा है ॥५८॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे घवडाया हुआ
अनेक प्रकारके हिरणोंका समूह कैसा दौडा जा रहा है ॥५९॥ हमारी सेनाके क्षोभसे जिसमें हिरणोंका
समूह भयभीत हो रहा है और जिसमें पशुओंके प्राण व्याकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अंध-
कारके समान सुशोभित हो रहा है, भावार्थ–जिसप्रकार अंधकारमें व्याकुल और भयभीत हो जाते
हैं उसीप्रकार सेनाके क्षोभसे भी सब पशु व्याकुल और भयभीत हो रहे हैं ॥६०॥ इधर सेनाके क्षोभसे
गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशपरका यह हाथियोंका समूह अलग अलग हुये अंधकारके समूहके
समान चारोंओरसे बहुत शीघ्र दौडा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोंका स्वामी यह भद्र गजराज
[भयभीत होकर भी] अपनी सूंडको ऊंचा करता हुआ और सब दिशाओंको सूंघता हुआ धीरे
धीरे इसप्रकार जा रहा है मानों बडे सर्पसहित मेरु पर्वत ही हो ॥ ६२ ॥ यह महासर्प अपने म-
स्तकको ऊंचा किये हुये और जोरजोरसे श्वास लेता हुआ गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशसे इस-
प्रकार आ रहा है मानों वृक्षोंकी लंबाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥ ६३ ॥ इधर इन लतागृ-
होंमें एक जगह इकट्ठे हुये ये अजगरोंके वच्चे इसप्रकार पडे हुये श्वास ले रहे हैं मानों सेनाके क्षोभ-

ताः श्वसंत्यमी । वनस्येवांतसंतानाश्वमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥ ६४ ॥ अयमेकचरः प्रोथसमुत्खातांतिकस्थलः । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥ ६५ ॥ सैनिकैरयमारुद्धः पाषाणलकुटादिभिः । आकुलीकुरुते सैन्यं गंडो गंड इव स्फुटं ॥ ६६ ॥ प्राणा इव वनादस्माद्विनिष्क्रामति संतता । सिंहा बद्धदवज्वाला धुन्वानाः केशरच्छटाः ॥ ६७ ॥ गुग्गुलूनां वनादेष महिषो घनकर्बुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रोऽतिभीषणः ॥ ६८ ॥ लसद्वालधयो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला बलस्य सक्षोभममी तन्वंत्यनाकुलाः ॥ ६९ ॥ शरभः खं समुत्पत्य पतन्नुत्तानितोऽपि सन् । नैष दुःखासिका वेद चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥ ७० ॥ चमूरोऽय चमूरोधाद्विद्रुतो द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपी च दुर्द्धरः ॥ ७१ ॥ शशः शस-

---

से इस बनकी अंतडियोंका समूह ही निकल पडा हो ॥ ६४ ॥ जिसने अपनी नाकसे समीपकी पृथ्वी खोद डाली है, जिसे तीव्र क्रोध आ रहा है और जो अकेला ही फिरा करता है ऐसा यह शूकर [सूअर] सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥ ६५ ॥ इधर देखिये सेनाके लोगोंने जिसे लकडी पत्थर आदिसे रोक रक्खा है ऐसा यह छोटे पर्वतके समान साफ दिखनेवाला गैंडा सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥ ६६ ॥ दावानल अग्निके समान कुछ २ पीले ऐसे अपने गर्दनपरके बालोंको हिलाते हुये ये सिंह अनुक्रमसे इस बनसे इसप्रकार निकल रहे हैं मानों इस बनके प्राण ही हों ॥ ६७ ॥ जो मेघके समान श्यामवरण है, मृत्युकी दाढोंके समान जिसके सींग हैं और जो अत्यंत भयानक है ऐसा यह भैंसा गूगुलके बनसे निकलकर बाहर जा रहा है ॥ ६८ ॥ जिनकी पूंछ हिल रही है जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र लाल हो रहे हैं ऐसे सिंह आदि क्रूर जीव अथवा सर्प निराकुल रहकर ही सेनाको क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ६९ ॥ यह अष्टापद आकाशमें उडता है और ऊपरकी ओर मुहकर अर्थात् पीठके बल गिरता है परंतु पीठपर भी पैर होनेसे उसे किसीप्रकारका दुख नहीं होता ॥ ७० ॥ इसीप्रकार मूर्तिमान् अहंकारके समान और अजेय ऐसा यह हिरण सेनाके द्वारा रुक जानेसे इधर उधर भागता हुआ तथा बार २ उडी मारता हुआ सेनाको क्षोभित कर रहा है

न्नयं देव सैनिकैरननुद्रुतः । शरणायेव भीतात्मा मध्येसैन्य निलीयते ॥ ७२ ॥ सारगोयं तनुच्छायाकल्मापितवनः शनै । प्रयाति शृंगभारेण शाखिनेव-प्रशुष्यता ॥७३॥ दक्षिणेगतया विष्वगभिधावन्प्रवीक्ष्यता । प्रजानुपालन न्याय्य तवाचष्टे मृगव्रजः ॥७४॥ कालापी वर्हभारेण मद मद व्रजत्यसौ । केशपाशश्रिय तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहै ॥ ७५ ॥ नेत्रावली मिवातन्वन् वनभूम्याः सचद्रकै । कलपिनामय सवो विभात्याम्मिन्वनस्थले ॥ ७६ ॥ संक्रीडता रथागाना स्वनमाकर्णयन्मुहुः । हरिणानामिद यूथ नापसर्पति वर्त्मनः ॥ ७७ ॥ हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः पश्यति सकुतूहल । स्वा नेत्रशोभा कामि-

॥ ७१ ॥ हे देव ! इधर देखिये यह खरगोश (शशा) कैसा भाग रहा है, यद्यपि सेनाके लोग इसके पीछे नहीं पडे हैं तथापि भयभीत होकर यह शरण ढूंढनेकेलिये आपकी सेनाके. वीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥ ७२ ॥ यह देखिये अपने शरीरकी छायासे जिसने वनको भी श्याम करदिया है ऐसा यह कृष्णसार नामका हिरण सूके वृक्षके समान अनेक शाखावाले सींगोंके भारसे धीरे २ जा रहा है ॥ ७३ ॥ जो अपने शरीरके दाईओर इकट्ठे होकर चारोंओर दौड रहे हैं ऐसे इन हिरणोंके समूहको देखिये । ये ऐसे जान पडते हैं मानों आपको सव प्रजाका पालन करना योग्य है यही बात आपसे कह रहे हों ॥ ७४ ॥ अपनी पूंछका भार धारण करता हुआ यह मयूर धीरे २ इसप्रकार जा रहा है मानों अपनी पूंछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभा ही वढा रहा हो ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! अपनी पूंछपरके वहुतसे चंद्रोंसे वनकी पृथ्वीरूपी स्त्रीके नेत्रसमूहोंकी शोभा धारण करता हुआ यह मयूरोंका समूह वनकी इस भूमिपर कैसा अच्छा सुशोभित होता है ॥ ७६ ॥ यह देखिये चलते हुये रथके पहियोंके शब्दको वार वार सुनता हुआ यह हिरणोंका समूह मार्गसे थोडा भी एक ओर नहीं होता है, भावार्थ—वह शब्द सुननेमें तन्मय हो रहा है ॥ ७७ ॥ ये स्त्रियां हरिणोंकी दृष्टियोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा वडे आश्चर्यके साथ देख रही हैं तथा मयूरोंकी पूंछमें अपने केशोंकी शोभा देख रही हैं ॥ ७८ ॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सव जीव शांततासे निवास करते

न्यो बर्हिबर्हेषु मूर्धजान् ॥ ७८ ॥ इत्यनाकुलमेवेद सैन्यैरप्याकुलीकृतं । वनमालक्ष्यते विश्वगसंबाधमृगाद्विज ॥ ७९ ॥ जरठोऽप्यातपो नायमिहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छायानैरंतर्यानुबंधिनि ॥ ८० ॥ इमे वनद्रुमा भांति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै वनलक्ष्म्येव मडपा विनिवेशिताः ॥ ८१ ॥ सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा भाति क्लमच्छिदः ॥ ८२ ॥ बहुबाणासनाकीर्णमिद खड्गिभिराततं । सहास्तिकमपर्यंत वन युष्मद्बलायते ॥ ८३ ॥ इत्थं वनस्य सामृध्य निरूपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय सम्राडविदितातरां ॥ ८४ ॥ तदाश्वीय

हैं ऐसा यह बन यद्यपि निराकुल है तथापि अब सेनाके द्वारा कुछ व्याकुलित हुआ सा जान पडता है ॥ ७९ ॥ हे देव ! जिसमें बडे २ वृक्षोंकी घनी छाया सदा रहती है ऐसे इस बनमें यह तेज धूप भी हमलोगोंको कुछ बाधा नहीं करती है ॥ ८० ॥ बडी घनी छाया वाले ये बनके मनोहर वृक्ष ऐसे अछे जान पडते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने आपकी भक्ति प्रगट करनेकेलिये मंडप ही खडे किये हों ॥ ८१ ॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जिनपरकी सूर्यकी गरमी किनारेके वृक्षोंके द्वारा रुकी हुई है ऐसे ये छोटे २ सरोवर ऐसे सुशोभित होते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापन की हों ॥ ८२ ॥ हे देव ! यह बन ठीक आपकी सेनाके समान जान पडता है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी सेनामें बहुतसे वाणासन अर्थात् धनुष हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुतसे वाणासन जातिके वृक्ष हैं, जिसप्रकार आपकी सेना खडग धारण करनेवाले शूरवीरोंसे व्याप्त है उसीप्रकार यह बन भी खड्गि अर्थात् गेंडाओंसे भरा हुआ है, जिसप्रकार आपकी सेनामें अनेक हाथी हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुत हाथी हैं और जिसप्रकार आपकी सेना अपार है उसीप्रकार यह बन भी अपार अर्थात् बहुत बडा है ॥८३॥ इसप्रकार सारथी उस बनकी शोभा निरूपण कर रहा है और महाराज वह सब शोभा देख रहे हैं, देखते २ महाराज जिसकी लंबाई मालूम भी नहीं हुई है ऐसे बनकी सब भूमिके पार होगये ॥ ८४ ॥ उससमय सब दिशाओंमें फैली हुई ऐसी घोडोंके खुरोंके घातसे

खुरोद्घातादुत्थिता वनरेणवः । दिशा मुखेषु सँल्लग्नास्तेनुर्जवनिकाश्रियं ॥ ८५ ॥ सादिनां वारबाणानि स्यूतान्यपि सितांशुकैः । कषायाणीव जातानि तानि वनरेणुभिः ॥ ८६ ॥ वनरेणुभिरालग्नैर्जडीभूतानि योषितः । स्तनांऽशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमाऽलसाः ॥ ८७ ॥ कुंभस्थलेषु ससक्ता. करिणामध्वरेणवः । सिंदूरश्रियमातेनुर्धातुभूमिसमुत्थिताः ॥ ८८ ॥ ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रमंशुमान् । विजिगीषुरिवारूढप्रतापः शुद्धमंडलः ॥ ८९ ॥ सरस्तीरतरुच्छायामाश्रयंति स्म पक्षिणः । शरदातपसतापात् सकुचत्पत्रसंपदः ॥ ९० ॥ हंसाः कमलखडेषु पुंजीभूतान् स्वशावकान् । पक्षैराच्छादयामासुरसोढजरठातपान् ॥ ९१ ॥ वन्याः स्तबेरमा भेजुः सरसीवरगाहितु । मदस्रुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥ ९२ ॥ शाखाभंगैः कृतच्छायां

उठी हुई बनकी धूलि परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८५ ॥ घुडसवारोंके कवच यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुये थे तथापि वे बनकी धूलिसे भरे हुये ऐसे जान पडते थे मानों लाल रंगमें रंगे हों ॥ ८६ ॥ मार्गके परिश्रमसे थकी हुई स्त्रियां बनकी धूलि पडनेसे भारी हुये ऐसे अपने स्तन ढकनेवाले कपडोंको (चोलियोंको) बडी कठिनतासे धारण कर रहीं थीं ॥ ८७ ॥ लाल रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि हाथियोंके गंडस्थलोंमें लगकर ठीक सिंदूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८८ ॥ तदनंतर मध्याह्नका समय हुआ, उससमय बादल न रहनेसे जिसका प्रतिबिंब साफ दिखाई दे रहा है और जिसकी उत्कट गर्मी बढ रही है ऐसा सूर्य मानों सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ ही अतिशय दैदीप्यमान हो रहा था ॥ ८९ ॥ शरदऋतुकी उष्णताके संतापसे जिनके पंख सब संकुचित हो गये हैं ऐसे पक्षीगण सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें आश्रय ले रहे थे ॥ ९० ॥ दोपहरकी गरमीको सहन करनेमें असमर्थ हुये और इसलिये ही जो कमलोंके बनोंमें एक जगह इकट्ठे हुये ऐसे अपने बच्चोंको हंस पक्षी अपने पंखोंसे आच्छादन कर रहे थे ॥ ९१ ॥ जिनके गंडस्थलके मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिनके गंडस्थलसे भ्रमरोंका समूह भी उड गया है ऐसे बनके हाथी पानीमें भीतर बैठनेकेलिये सरोवरोंकी ओर जा रहे थे ॥९२॥ सूर्यकी तीव्र किरणोंसे

प्रयांतो गजयूथपाः । शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥ ९३ ॥ यूथं वनवराहाणामुपर्युपरि पुंजित । तदा प्रविश्य वेशंतमधिशिश्ये सकर्दमं ॥ ९४ ॥ मृणालैरगमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशाककरपजर ॥ ९५ ॥ चक्रवाकयुवा भेजे घन शैवलमातत । सर्वांगलग्नमुष्णालुर्विनीलमिवकचुक ॥ ९६ ॥ पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोब्जिनीवने । राजहसस्तदा भेजे हसीभिः सह मज्जनं ॥ ९७ ॥ विसभगैः कृताहारा मृणालैरवगुठिताः । त्रिसिनीपत्रतल्पेषु शिश्यिरे हसशावकाः ॥ ९८ ॥ इति शारदिके तीव्र तन्वाने तापमातपे । पुलिनेपु प्रतप्तेपु न हंसा धृतिमादधुः ॥ ९९ ॥ मध्यस्थोऽपि तदा तीव्र तताप तरणिर्भुव । नूनं तीव्रप्रतापाना माध्यस्थ्यमपि तापक ॥ १०० ॥ स्वेदबिंदुभिराबद्धजालकानि नृपस्त्रियः ।

दुखी हुये बडे २ हाथी शाखाओंको तोड २ कर की हुई छायामें प्रवेश करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों शाखोद्धार ही कर रहे हों ॥ ९३ ॥ उस दोपहरके समय वनैले सूअरोंका समूह कीचड सहित छोटे २ तालावोंमें घुसकर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे होकर सो रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरपर कमलके तंतु लपेटकर बैठे हुये हंस पक्षी ऐसे सुशोभित होते थे मानों अपनी रक्षा करनेकेलिये चंद्रमाकी किरणोंके वने हुये पिंजरेमें ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ उष्णताको सहन करनेमें असमर्थ हुये तरुण चकवाने जो समस्त शरीरमें लगा हुआ मोटा मोटा शैवाल धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों नीले रंगका वहुत बडा कंचुक [वस्त्र] ही हो ॥ ९६ ॥ जिसने कमलोंके बनमें सफेद कमलरूप छत्रकी छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस दोपहरके समय अपनी हंसिनियोंके साथ साथ जलमें डूब रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होंने कमलके तंतुओंका ही आहार किया है और कमलके तंतुओंसे ही जिनका शरीर ढका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलके पत्ररूप शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इसप्रकार शरदऋतुमें सूर्यकी तीव्र उष्णता होनेसे नदियोंके किनारे सब उष्ण हो गये थे और इसलिये ही वहां हंसोंको कुछ संतोष नहीं होता था ॥ ९९ ॥ उससमय यद्यपि सूर्य मध्यस्थ [ठीक ऊपर] अर्थात् पक्षपातरहित था तथापि वह पृथ्वीको बहुत ही संतप्त कर रहा था, सो ठीक ही है क्यों-

वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवाबुशीकरैः ॥ १०१ ॥ नृपवल्लभिकावक्त्रपकजेष्वपुपन्छ्रियं । घर्मविंदूद्गमो निर्यल्लावण्यरसपूरवत् ॥ १०२ ॥ गलद्घर्मांबुबिंदूनि मुखानि नृपयोपिता । अवश्यायततानीव राजीवानि विरेजिरे ॥ १०३ ॥ नृपागनामुखाब्जानि घर्मविंदुभिरावभुः । मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूपणैः ॥ १०४ ॥ रथवाहा रथानूहुरायस्तैः फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिग्मांशौ समेपि प्रस्खलत्खुराः ॥ १०५ ॥ ह्रस्ववृत्तखुरास्तुंगास्तनुस्निग्धतनूरुहाः । पृथ्वासना महावाहाः प्रययुर्वातरहसः ॥ १०६ ॥ महाजवजुपो वक्त्रादुद्वमंत. खुरानिव । महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा द्रुत जग्मुर्महाहयाः ॥ १०७ ॥

कि जिनका अधिक प्रताप होता है उनका मध्यस्थ रहना भी अधिक संताप करनेवाला होता है ॥ १०० ॥ जिसप्रकार सरोवरी पानीकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती है उसीप्रकार उससमय महाराज भरतकी स्त्रियां पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंकी जालियां सरीखी हो रही हैं ऐसे अपने सुंदर मुखोंको धारण कर रहीं थीं ॥ १०१ ॥ राजाओंकी स्त्रियोंके मुखकमलोंपर उठी हुई पसीनेकी बूंदें ऐसी अच्छी शोभाको धारण करती थीं मानों भीतरसे लावण्यरूप रसका प्रवाह ही निकला हो ॥ १०२ ॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रहीं हैं ऐसे महाराजकी स्त्रियोंके मुख ऐसे सुशोभित होते थे मानो ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हुये कमल ही हों ॥ १०३ ॥ केशपाशोंमें गुथे हुये मोती ही मानो गल गये हों ऐसी पसीनेकी बूंदोंसे महाराजकी स्त्रियोंके मुखकमल बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ १०४ ॥ उससमय सूर्य बहुत उष्ण हो जानेसे फेनसहित फटे हुये मुखोंको धारण करते हुये और समान जमीनपर भी जिनके खुर स्खलित हो रहे हैं ऐसे घोडे रथोंको ले जा रहे थे ॥ १०५ ॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने बाल हैं, जो बहुत ऊंचे हैं और जिनके आसन अर्थात् पीठ बहुत बडी है ऐसे उत्तम घोडे वायुके वेगके समान जा रहे थे ॥ १०६ ॥ जो तीव्र वेगको धारण करनेवाले हैं, [तेज चालमें आगेके खुर ऊंचे होनेसे] जिनके खुर मानो मुखमेंसे ही निकल रहे हैं, वक्षःस्थल भी जिनका बहुत बडा है और जिनकी नाकके घोंडे कुछ कुछ हिल रहे

समुच्छ्रितपुरोभागाः शुद्धावर्ता मनोजवाः । अपर्याप्तेपु मार्गेपु द्रुतमीयुस्तुरंगमाः ॥ १०८ ॥ मेधासत्वजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । राङ्गमाणा इव स्प्रष्टु महीमश्वा द्रुत ययुः ॥ १०९ ॥ अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगितं ययुः । सोपानत्कैः पदैः स्थाणुकण्टकोपललंघिनः ॥ ११० ॥ शाक्तिकाः सह याष्टीकैः प्रासिका धन्वभिः समं । नैस्त्रिंशिकाश्च तेऽन्योन्यं स्पर्द्धयेव ययुर्द्रुतं ॥१११॥ पुर. प्रधावितैः प्रेंखद्वारबाणाग्रपल्लवाः । जातपक्षा इवोड्डीय भटा जग्मुरभिद्रुतं ॥ ११२ ॥ प्रयात धावताऽपेत मार्गं मारुध्वमग्रतः । इत्युच्चैरुच्चरध्वाना: पौरस्त्यानत्ययुर्भटाः ॥ ११३ ॥ इतोऽपसर्पताश्वीयादितो धावत

हैं ऐसे उत्तम घोडे वडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिनके आगेका भाग वहुत ऊंचा है, जिनके आवर्त (वालोंकी गुलाई) आदि लक्षण [देवमणि आदिक] शुद्ध हैं, मनके समान जिनका वेग है ऐसे घोडे शेष वचे हुये मार्गमें वहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ १०८ ॥ जो धारणा वल और वेगको धारण करनेवाले हैं, विनयवान हैं, गमन भी जिनका मनोहर है ऐसे घोडे पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित समझकर उसे स्पर्श करनेकी इच्छा न करते हुये वडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०९ ॥ पैदल चलनेवाली सेना पैरोंमें जोडा होनेसे सूके वृक्षोंके गडे हुये छोटे टुकडे, कांटे और पत्थर आदिको लंघन करती हुई घोडे और रथोंसे भी शीघ्र जा रही थी ॥ ११० ॥ शक्तिको धारण करनेवाले लोग लट्ठ धारण करनेवालोंके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर मानों एक दूसरेके साथ स्पर्द्धा करते हुये ही शीघ्रतासे जा रहे थे ॥ १११ ॥ आगे आगे दौडनेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग शीघ्रतासे इसप्रकार जा रहे थे मानों उनके पंख उत्पन्न हो जानेसे उडे ही जा रहे हों ॥ ११२ ॥ चलो ! दौडो ! रास्ता छोडो ! आगेका रास्ता मत रोको, इसप्रकार जोरजोरसे वोलनेवाले योद्धा सामनेवाले लोगोंको हटा रहे थे ॥ ११३ ॥ अरे इन घोडोंके समूहसे एकओर हटो, इन हाथियोंके समूहसे भी भागो और हाथियोंसे भयभीत हुये इन रथोंसे भी

हास्तिकात् । इतो रथादपत्रस्तात् दूरं नश्यत नश्यत ॥ ११४ ॥ अमुष्माज्जनसंघट्टाद्दुत्थापयत डिंभकान् । इतो हस्त्युरसादश्वानपसारयत द्रुतं ॥११५॥ इतः पंथानमारुध्य स्थितोऽय घातुको गजः । मध्येऽध्वं प्राजितुर्दोषात्पर्यस्तोऽयमितो रथः ॥ ११६ ॥ क्रमेलकोऽयमुत्त्रस्तः प्रतीप पथि धावति । उत्सृष्टभारो लंबोष्ठो जनानिव विडंवयन् ॥ ११७ ॥ वित्रस्ताद्वेसरादेना पततीमवरोधिका । संधारयन् प्रपातेऽस्मिन् सौविदल्लः पतत्यय॥ ११८ ॥ यवीयानेप पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः । पतितोऽप्यश्वसघट्टेर्नात्मान वेद शून्यधीः ॥ ११९ ॥ हरिद्रारजितश्मश्रुः कज्जलांकितलोचनः । कुट्टिनीमनुयन्नेष प्रवयास्तरुणायते ॥ १२० ॥ इति प्रयाणसंजल्पैरजाताध्वपरिश्रमाः । सैनिकाः शिविर प्रापन् सेनान्या प्राङ्निवेशितं ॥ १२१ ॥ ततोऽवरोधनवधूमुख-

---

दूर भागजाओ ॥ ११४ ॥ अरे इन वच्चोंको लोगोंके इस संघट्टमेंसे उठाओ और इन हाथियोंके सामनेसे घोडोंको बहुत शीघ्र दूर ले जाओ ॥ ११५ ॥ देखो इधर यह लोगोंपर घात करनेवाला मस्त हाथी रास्तेको रोककर खडा है और यह रथ सारथिकी असावधानीसे मार्गके वीचमें ही उलट गया है अथवा टूट गया है ॥ ११६ ॥ इधर देखो जिसने अपना ऊपरका भार पटक दिया है जिसके लंबे ओठ हैं और जो वहुत घवडा गया है ऐसा यह ऊंट मार्गमें इसप्रकार उलटा वा टेडा दौड रहा है मानो लोगोंको त्रास ही देना चाहता हो ॥ ११७ ॥ इधर इस ऊंची जगहपर घवडाये हुये खच्चरपरसे पडती हुई अंतःपुरकी, कोई स्त्री पड रही है और उसे बीचमें ही धारण करता हुआ यह कंचुकी भी उसके साथ ही साथ पड रहा है ॥ ११८ ॥ यह तरुण पुरुष किसी वेश्याका मुख देखकर आश्चर्य करता हुआ घोडेके धक्केसे पडगया है तथापि उस मूर्खको 'मैं पड गया हूं' यह भी अभीतक मालूम नहीं हुआ है ॥ ११९ ॥ जिसने खिजाव [सफेद बालोंको काले करनेकी एक औषधि] लगाकर अपने बाल काले करलिये हैं तथा जिसके आखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनी दूतीके पीछे पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढा ठीक तरुण पुरुषके समान जान पडता है ॥ १२० ॥ इसप्रकारकी अनेक तरहकी बात चीत करनेसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं

च्छायाविलंघिनि । मध्यंदिनाधिपे संम्राट् सप्राप शिविरांतिक ॥ १२२ ॥ छत्ररत्नकृतच्छायो दिव्य रथमाविष्ठित· । न तदातपसवाधा विदामास विशांपतिः ॥ १२३ ॥ वर्षीयोभिरथासन्नैरारब्धमुखसकथ । प्रयातमपि नाध्वान विवेद भरताऽधिप ॥ १२४ ॥ नोद्वात. कोऽप्यभूदगे रथागपरिवर्तनैः । रथवेगेऽपि नास्याऽभूत्क्लेशो दिव्यानुभावतः ॥ १२५ ॥ रथवेगानिलोदस्त व्यायत तत्ध्वजांशुक । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत् ॥ १२६ ॥ रथोद्धतगतिक्षोभादुद्धूतागपरिश्रमा· । कथ कथमपि प्रापन्नथिनोऽन्ये रथ प्रभो ॥ १२७ ॥ तमध्वशेषमध्वन्यैस्तुरगैरत्यवाहयन् । सादिनः प्रभुणा सार्धं

हुआ है ऐसे सेनाके लोग सेनापतिके द्वारा पहिलेसे ही खडे किये हुये डेरे तंबुओंमें जा पहुंचे ॥ १२१ ॥ तदनंतर जव दोपहरका सूर्य अंतःपुरकी स्त्रियोंके मुखकी कांतिको भी मलिन कर रहा था उससमय महाराज भरत अपने तंबूके समीप जा पहुंचे ॥ १२२ ॥ उससमय महाराज भरतके मस्तकपर छत्ररत्नकी छाया हो रही थी, और दिव्य (देवनिर्मित) रथपर वे विराजमान थे, इसलिये उन्हें गरमीका कोई भी त्रास मालूम नहीं हुआ था ॥ १२३ ॥ उससमय महाराज भरत अपने समीप चलनेवाले उमरमें बडे ऐसे कुलीन राजाओंके साथ २ अनेकप्रकारकी कथायें कह और सुन रहे थे इसलिये उन्हें बीता हुआ मार्ग भी मालूम नहीं हुआ था ॥ १२४ ॥ भरतेश्वरकी दिव्य सामर्थ्य होनेसे रथके बराबर चलनेसे भी उनके शरीरमें कोई धक्का नहीं लगा था और रथका तीव्र वेग होनेपर भी उन्हें किसीतरहका क्लेश नहीं हुआ था ॥ १२५ ॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुये वायुसे ऊपरकी ओर उडता हुआ तथा चौडा होगया ऐसा भरतके रथकी ध्वजाका कपडा ऐसा जान पडता था मानों पीछे पीछे आनेवाली सेनाको मार्ग ही दिखला रहा हो ॥ १२६ ॥ रथकी वेगवाली गतिके क्षोभसे जिनके शरीरको बहुत परिश्रम हुआ है ऐसे अन्य कितने ही राजा लोग वडी कठिनतासे भरतके रथके समीप पहुंचे थे ॥ १२७ ॥ भरतेश्वरके साथ तंबुओंमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले घुडसवार लोगोंने बचे हुये मार्गको उन्हीं चलते हुये घोडोंसे पूरा किया था ॥ १२८ ॥ जो वडे २

शिविरं प्रविविक्षवः ॥ १२८ ॥ दूराद्दूष्यकुटीभेदानुत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः सौधशोभापहासिनः ॥ १२९ ॥ रौप्यदंडेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमंडपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥ १३० ॥ किमेतानि स्थलाब्जानि हसयूथान्यमूनि वा । इत्याशंक्य स्थलाग्राणि दूराद्ददृशिरे जनैः ॥ १३१ ॥ सामताना निवेशेषु कायमानानि नैकधा । निवेशितानि विन्यासैर्निदध्यौ प्रभुरग्रत. ॥ १३२ ॥ परितः कायमानानि वीक्ष्य कंटकिनीर्वृतीः । निष्कटके निजे राज्ये मेने तानेव कटकान् ॥ १३३ ॥ तरुशाखाग्रससक्तपर्याणादिपरिच्छदान् । स्कंधावाराद्वहिः कांश्चिदावासान् प्रभुरैक्षत ॥ १३४ ॥ वहिर्निवेशमित्यादिविशेषान्स विलोकयन् । प्रवेशे शिविरस्यास्य महाद्वारमथासदत् ॥ १३५ ॥ तदतीत्य समं सैन्यैः स गच्छन् कि-

---

राजभवनोंकी शोभाको भी हँस रहे हैं, ऐसे सेनाके रहने योग्य स्थानके चारोंओर खडे हुये रावटी तंबू आदि अनेकप्रकारके डेराओंको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥ १२९ ॥ सज्जन पुरुषोंके समान लोगोंका संताप दूर करनेवाले और चांदीके खंभोंपर खडे हुये ऐसे वहुत वडे कपडेके तंबुओंको भी महाराजने देखा ॥ १३० ॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा ये हंसोंके समूह हैं इसप्रकारकी आशंका करते हुये लोग दूरसे ही उन तंबुओंके शिखरोंको देख रहे थे ॥ १३१ ॥ अन्य अनेक राजाओंके तंबुओंमें परदे टट्टी आदिकी रचनाकर जो अनेकप्रकारके वडे २ घर वने थे उन्हें भी महाराज सामनेसे देख रहे थे ॥ १३२ ॥ तंबुओंके चारोंओर जो कांटोंकी वाड वनाई गई थी उसे देखकर " अपने निष्कंटक राज्यमें ये ही कंटक [कांटे] हैं " ऐसा महाराज मानने लगे थे ॥ १३३ ॥ जहांपर वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागपर घोडोंकी जीन वगैरह वहुतसी चीजें रक्खी हैं ऐसे कितने ही तंबुओंको महाराजने छावनीके वाहर भी देखा था ॥ १३४ ॥ इसप्रकार छावनीके वाहर तंबू आदि अनेक विशेष २ वस्तुयें देखते हुये भरतराज पडावके वडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ १३५ ॥ दरवाजेको उलंघनकर सेनाके थोडी दूरतक और गये तथा महासागरके समान गंभीर शव्द जिसमें हो रहे हैं ऐसे वाजारमें वे जा पहुंचे ॥ १३६ ॥ जिसकी शोभा वहुत अच्छी की गई

चिंदंतरं । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद वणिक्पथ ॥ १३६ ॥ कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनं । वणिग्भिरूढरत्नार्घं स जगाहे वणिक्पथं ॥१३७॥ प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशीन्निधीनिव । पश्यन्मेने निधीयत्ता प्रसिद्धैव तथास्थितान् ॥ १३८ ॥ समौक्तिकं स्फुरद्रत्नं जनतोत्कलिकाकुलं । रथा वणिक्पथाभोधिं पोता इव ललंघिरे ॥ १३९ ॥ चलदश्वीयकल्लोलैः ...रनिस्त्रिंशरोहितैः । राजमार्गोंबुधेर्लीला महेभमकरैरधात् ॥ १४० ॥ राजन्यकेन संरुद्धः समतादानृपालयं । तदासौ विपणीमार्गः सत्यं राजपथोऽभवत् ॥ १४१ ॥ ततः पर्यंतविन्यस्तरत्नभासुरतोरणं । रथकट्यापरिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदं ॥ १४२ ॥ आरुध्यमानमश्वीयैर्हास्तिकेनातिदुर्गमं । बहुनागबलैर्जुष्टं कलभैश्च करेणुभिः ॥ १४३ ॥ छत्रखंडकृतच्छायं महोद्यानमिव क्वचित् ।

है, जिसमें अनेक तोरण बंधे हुये हैं, अनेकप्रकारकी ध्वजायें फहरा रही हैं और अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका अर्घ लेकर सामने आये हैं अथवा अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका मूल्य कह सुन रहे हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहांपर उन्होंने प्रत्येक दूकानपर निधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखीं और उन्हें देखकर निश्चय किया कि संख्याका परिमाण दिखलानेकेलिये ही निधियोंकी नौ संख्या प्रसिद्ध है वास्तवमें निधियां अनेक हैं ॥ १३८ ॥ जिसमें रत्न दैदीप्यमान हैं, मोती भरे हुये हैं, लोगोंके समूहरूप लहरोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्रमें रथ जहाजके समान पार हो गये थे ॥ १३९ ॥ उससमय वह राजमार्ग चलते हुये घोडोंके समुदाय रूप लहरोंसे दैदीप्यमान तलवाररूपी मछलियोंसे और हाथीरूपी मगरोंसे ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १४० ॥ वह बाजारका रास्ता महाराजके तंबूतक चारोंओरसे अनेक क्षत्रियोंसे भरा हुआ था इसलिये उससमय वह ठीक राजमार्ग हो रहा था ॥१४१॥ तदनंतर महाराज भरतने राजांगण देखा, उस राजांगणके चारोंओर दैदीप्यमान रत्नोंके तोरण लगे हुये थे तथा बाहरकी ओर चारोंओर रथोंके समूह खडे थे जिनसे बाहरकी शोभा बहुत अच्छी हो रही थी ॥ १४२ ॥ घोडोंके समूहसे वह भरा हुआ था, हाथियोंके समूहसे वह भीतर जानेकेलिये कठिन होगया था, अनेकप्रकारके हाथियोंकी

क्वचित्सामंतमडल्या रचितास्थानमडल ॥ १४४ ॥ प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिरपर्यंतैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैस्तटमाविर्भवद्ध्वनिः ॥ १४५ ॥ जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालिक । कृतमगलनिर्घोप वाग्देव्येव कृतास्पद ॥ १४६ ॥ चिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपांगण पश्यन् किमप्यासीत्साविस्मयः ॥ १४७ ॥ निधयो यस्य पर्यंते मध्ये रत्नान्यनतशः । महतः शिविरस्यास्य विशेप को नु वर्णयेत् ॥ १४८ ॥ स श्रीमानिति विश्वतः स्वशिविर लक्ष्म्या निवासायित पश्यन्नात्तधृतिर्विलंघ्य विशिखाः स्वर्गापहारिश्रियः । सभ्राम्यत्प्रतिहाररुद्धजनतासवाधमुत्केतन प्राविक्षत्कृतसन्निवेशमचिरा-

---

सेनासे व्याप्त हो रहा था और हथिनी तथा हाथियोंके बच्चोंसे भी भरा हुआ था ॥१४३॥ वह राजा का आंगन कहीं तो अनेक छत्रोंकी छाया होनेसे किसी बडे उद्यानके समान जान पडता था और कहीं कहीं-पर बडे २ राजाओंके विराजमान होनेसे सभामंडपके समान सुशोभित होता था ॥ १४४ ॥ अनेक कर्मचारी लोग उसके भीतर जा रहे थे और अनेक बाहर निकल रहे थे जिससे वह राजांगण लहरोंके द्वारा गर्जना करते हुये महासागरके किनारेके समान जान पडता था ॥ १४५ ॥ वहांपर बडे २ द्वारपाल (पहरेदार वा चोवदार) लोगोंके समूहको हटानेमें लगे हुये थे तथा उसमें अनेक मांगलिक शब्द हो रहे थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों सरस्वतीदेवीका स्थान ही हो ॥ १४६ ॥ यद्यपि वह राजांगण महाराजने कईवार देखा था, बहुत दिनसे वे उसे जानते थे तथापि इसप्रकारकी शोभासे वह अपूर्व ही जान पडता था, ऐसे सुंदर राजांगणको देखकर महाराज भरतको भी कुछ आश्चर्य सा जान पडा था ॥ १४७ ॥ जिसके चारोंओर निधियां रक्खी हुई हैं, बीचमें अनंत प्रकारके रत्न रक्खे हुये हैं ऐसे उस बडे पडावकी [छावनीकी] विशेष शोभा भला कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इसप्रकार वे श्रीमान् भरतेश्वर लक्ष्मीके निवासस्थानके समान अपने पडावको चारोंओरसे देखते हुये तथा देखकर अतिशय संतुष्ट होते हुये स्वर्गकी शोभाको भी जीतनेवाली गलियोंको उलंघनकर चारोंओर दौडते हुये द्वारापालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीडका

दात्मालयं श्रीपति ॥ १४९ ॥ तत्राविष्कृतमगले सुरसरिद्वीचीभुवा वायुना समृष्टागणवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकरान् । शस्ते वास्तुनि विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते लक्ष्मीवान् सुखमावसन्निधिपति प्राचीं दिशं निर्जयन् ॥ १५० ॥ राज्ञामावसथेषु शातजनताक्षोभेषु पीतांभसामश्वाना पटमंडपेषु निवहे स्वैरं तृणग्रासिनि । गगातीरसरोऽवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके जिष्णोस्तत्कटकं चिरादिव कृतावासं तदा लक्ष्यते ॥ १५१ ॥

सब उपद्रव दूर किया जा रहा है, पताकायें फहरा रही हैं और जिसकी रचना बहुत अच्छी की गई है ऐसे अपने तंबूमें बहुत शीघ्र प्रवेश कर गये ॥ १४९ ॥ जिसमें सब जगह मंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं, संतापको दूर करनेवाली जलकी बूंदोंको थोडा २ बरसाते हुये और गंगानदीकी लहरोंमें होकर आनेवाले वायुके द्वारा जिसके आंगनकी वेदी साफ की गई है, जो प्रशंसनीय है, बहुत बडा है और स्थपति सिलावट नामके रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र बनाया गया है ऐसे बडे तंबूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतेश्वर महाराज सुख पूर्वक निवास करने लगे ॥ १५० ॥ जिससमय सब राजा लोग अपने २ डेरोंमें पहुंच गये थे, लोगोंका क्षोभ सब शांत हो गया था, घोडोंके समूह जल पीकर कपडोंकी बनी हुई अपनी घुडसालमें चले गये थे तथा वहां अपनी इच्छानुसार घास खाने लगे थे और हाथियोंका समूह गंगाके किनारेके सरोवरोंमें (किनारेके गहरे जलमें) स्नान कराकर निकटके ही वनमें खंभोंसे बांध दिये गये थे उससमय विजयी महाराज भरतकी सेना ऐसी जान पडती थी मानो वह बहुत दिनसे ही वहां रह रही हो ॥ १५१ ॥ जिसप्रकार अद्भुत महिमाको धारण करनेवाले जिनेंद्रदेवको देव लोग नमस्कार कर आराधन करते हैं उसीप्रकार अद्भुत महिमाको धारण करनेवाले और उस मंडपमें विराजमान ऐसे भरतेश्वरको पूर्व दिशाके समस्त बडे २ राजा लोगोंने कुलपरंपरासे आया हुआ धन भेट देकर उत्तम कन्यायें देकर तथा और भी यथायोग्य वस्तुओंके द्वारा संतुष्ट कर प्रणाम किया था तथा महाराजकी सेनाके द्वारा रोके हुये अन्य

तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः प्राच्या मंडलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः । सरुद्राः प्रविहाय मानमपरे प्राणंशिपुश्चक्रिणं दूरादानतमौल्यो जिनमिव प्राज्योदय नाकिन ॥ १५२ ॥

•इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजयप्रयाणवर्णन नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशतितमं पर्व ।

अथान्येद्युर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः ॥ १ ॥ अलंघ्यचक्रमाक्रान्तपरचक्रपराक्रमं । दण्डश्च दंडितारातिर्द्वयमस्य पुरोऽभवत् ॥ २ ॥ रक्ष्य देवसहस्रेण चक्र दण्डश्च तादृशः । जयागमिदमेवास्य द्वय शेषः परिच्छद. ॥ ३ ॥ विजयार्द्धप्रतिस्पर्द्धिवर्ष्माण याग-

---

कितने ही राजाओंने अपना अभिमान छोडकर दूरसे ही मस्तक नवाकर महाराजको प्रणाम किया था ॥ १५२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे महाराज भरतका विजयकरनेके लिये गमन करनेका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ अट्ठाईसवां पर्व

अथानंतर—दूसरे दिन सवेरा होते ही चक्रवर्तीने प्रातःकालकी सब क्रियायें कीं और फिर चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥ १ ॥ शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला और जिसे कोईभी उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा चक्ररत्न तथा समस्त शत्रुओंको दंड देनेवाला दंड रत्न ये दोनों ही चक्रवर्तीकी सेनाके आगे २ चलते थे ॥ २ ॥ एक हजार देव सदा चक्रकी रक्षा करते थे और इतने ही देव दंडकी रक्षा करते थे, वास्तवमें चक्रवर्तीके विजयके कारण ये ही दो थे, शेष हाथी घोडे आदिकी सेना केवल शोभाके लिये थी ॥ ३ ॥ उस चक्रवर्तीने विजयार्द्ध पर्वतके साथ स्पर्द्धा करने-

हस्तिनं । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतं ॥ ४ ॥ प्राचीं दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतं । ननु स्तंबेरमव्याजादूहे विजयपर्वतः ॥ ५ ॥ सुरेभं शरदभ्राभमारूढो जयकुंजरं । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं सुरराडिव ॥ ६ ॥ सितातपत्रमस्योच्चैर्विधृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव तद्व्याजजृंभितं ॥ ७ ॥ लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समंततः । व्यधूयतास्य निरस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥ ८ ॥ जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मी-कटाक्षाणामगमत्स शरव्यता ॥ ९ ॥ महामुकुटबद्धाना सहस्राणि समंततः । तमनुप्रचलंतिस्म सुराधिपमिवामराः ॥ १० ॥ दूरमद्य प्रयातव्य निवेष्ट-

---

वाला जिसका शरीर है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥ ४ ॥ उससमय समुद्रपर्यंत पूर्व दिशा जीतनेकेलिये तैयार हुये महाराज भरतको जो विजयपर्वत हाथी धारण कर रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों हाथीके बहानेसे विजयार्ध्द पर्वत ही महाराज भरतको धारण कर रहा हो ॥ ५ ॥ जिसप्रकार देदीप्यमान मुकुट पहने हुये इंद्र ऐरावत हाथीपर चढा हुआ सुशोभित होता है उसीप्रकार शरदऋतुके बादलके समान सफेद और देवोंके द्वारा प्राप्त हुये उस विजयपर्वत नामके हाथीपर देदीप्यमान मुकुट पहने हुये महाराज भरत सुशोभित हो रहा था ॥ ६ ॥ उस भरतेश्वरके मस्तकपर लटकता हुआ सफेद और ऊंचा छत्र ऐसा सुशोभित होता था मानों छत्रके बहानेसे यश उत्पन्न होनेका स्थान ही हो ॥ ७ ॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और संतापको दूर करनेवाली चामरोंकी पंक्ति जो चक्रवर्तीके मस्तकपर चारों ओरसे ढुलाई जा रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों शरद ऋतुकी चांदनी ही हो ॥ ८ ॥ विजय नामके हाथीपर सवार हुआ और विजय प्राप्त करनेवाले देदीप्यमान शस्त्रोंसे सुशोभित ऐसा वह चक्रवर्ती जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका स्थान बन गया था ॥९॥ जिसप्रकार देव लोग इंद्रके पीछे २ चलते हैं उसीप्रकार हजारों मुकुटबद्ध राजा लोग चारों ओर भरतेश्वरके पीछे २ चल रहे थे ॥१०॥ आज बहुत दूर चलना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिये जल्दी करो इसप्रकार सेनापति लोग सेनाको जल्दी २ उठा रहे थे ॥११॥ अरे जल्दी करो,

व्यमुपार्णवं । त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥ ११ ॥ त्वर्यता प्रस्थितो देवो दवीयश्च प्रयाणक । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचुक्षुभत् ॥ १२ ॥ अद्यासिंधु प्रयातव्य गंगाद्वारे निवेशन । ससाध्यो मागधोद्यैव विलंघ्य पयसा निधिं ॥ १३ ॥ समुद्रमद्य पश्यामः समुद्र गत्तरंगक । समुद्रलंघनेऽद्यैव समुद्र शासन विभोः ॥ १४ ॥ अन्योन्यस्येति सजल्पैः सप्रास्थिषत सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानस्तदोद्यन्व्यामदिध्वनत् ॥ १५ ॥ ततः प्रचलिता सेना सानुगंग धृतायतिः । मिमानेव तदायाम पप्रथे प्रथितध्वनि ॥ १६ ॥ सचामरा चलद्धंसा सबलाका पताकिनी । अन्वियाय चमूर्गंगा

महाराज प्रस्थान करगये, आजका प्रवास बहुत लंबा है, इसप्रकार सेनापतियोंके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥ १२ ॥ आज समुद्रतक चलना है, आज गंगाके द्वारपर (जहां गंगा नदी समुद्रमें मिलती है) ठहरना है, समुद्रको उलंघनकर मागध नामके देवको आज ही वश करना है ॥ १३ ॥ जिसमें ऊंची नीची लहरें बराबर उठ रही हैं ऐसे समुद्रको आज देखेंगे, आज समुद्रको उलंघन करनेकेलिये ही महाराजकी मुहरसहित (अलंघनीय) आज्ञा है ॥ १४ ॥ इसप्रकार परस्पर एक दूसरेसे बात चीत करते हुये सेनाके लोगोंने प्रस्थान किया, उससमय निकलते समयके बजते हुये नगाडोंके उठे हुये शब्द आकाशमें प्रतिध्वनि कर रहे थे अर्थात् भरगये थे ॥ १५ ॥ जिसके चलनेकी आवाज चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे २ लंबी होकर निकली, उससमय वह लंबी सेना ऐसी जान पडती थी मानों गंगा नदीकी लंबाई ही नाप रही हो ॥ १६ ॥ गंगानदीके किनारे २ चलती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो गंगाकी नकल ही कर रही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें हंसपक्षी थे उसीप्रकार सेनामें सफेद चमर ढुलाये जा रहे थे, जैसे गंगामें क्रौंच पक्षियोंकी (अथवा बगलाओंकी) पंक्तियां थीं उसीप्रकार सेनामें ध्वजायें फहरा रही थीं और गंगामें जैसे लहरें चल रही थीं उसीप्रकार सेनामें घोडोंके समूह चल रहे थे ॥ १७ ॥ वह सेना समुद्रकी ओर इसप्रकार जा रही थी मानो दूसरी गंगानदी ही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें राजहंस

सतुरगा तरंगिणी ॥१७॥ राजहंसैः कृताध्यासा काचिदप्यस्खलद्गतिः । चमूराब्धि प्रति प्रायात्सा द्वितीयेव जान्हवी ॥१८ ॥विपरीतामतद्वृत्तिर्निम्नगामुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥ १९ ॥ अनुगंगातटं याती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वनरेणुभिराकीर्णं सममार्जेव खांगणं ॥ २० ॥

अर्थात् उत्तम हंस होते हैं उसीप्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् वडे २ राजा थे और जिसप्रकार गंगाकी गति कभी स्खलित नहीं होती उसीप्रकार सेनाकी गति भी कभी स्खलित नहीं होती थी ॥ १८ ॥ वास्तवमें चक्रवर्तीकी सेनाने गंगा जीत ली थी क्योंकि गंगा वि–परीत थी और सेना विपरीत नहीं थी, महाराजकी इच्छानुसार काम करती थी, [यहांपर गंगा वि–परीत अर्थात् राजहंस आदि अनेक पक्षियोंसे व्याप्त थी ऐसा अर्थ समझना चाहिये] इसके सिवाय गंगा निम्नगा अर्थात् नीचेकी ओर जानेवाली थी और सेना वरावर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हो रही थी अर्थात् वढ रही थी, तथा गंगा त्रिमार्गगा अर्थात् पूर्व-दक्षिण-पूर्व ऐसे तीन मार्गसे जानेवाली कहलाती है और सेना अनेक मार्गोंसे जानेवाली थी ॥ १९ ॥ गंगाके किनारे किनारे जाती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुये आकाशरूपी आंगनको ध्वजाओंके कपडोंसे साफ ही कर रही हो ॥ २० ॥ उत्तर दिशामें गंगाके साथ साथ चलनेवाली अनेक नदियां और नदियोंके समान ही अनेक सेनायें मिली थीं क्योंकि जिसप्रकार नदियोंमें प्रवेश करना कठिन था उसीप्रकार उन सेनाओंमें भी प्रवेश करना कठिन था, जिसप्रकार नदियां महाग्राहा अर्थात् मगरमच्छ आदि बडे २ जलचर जीवोंसहित थीं उसीप्रकार वे सेनायें भी महाग्राहा अर्थात् वडे २ योद्धाओंको स्वीकार करनेवाली थीं, नदियें वहुत थीं और सेनायें भी वहुत थीं, नदियें अनेक राजाओंके राज्योंमें वहती थीं और सेनायें भी अनेक राजाओंकी थीं इसप्रकार समान ऐसी नदियां और सेनायें दोनोंको चक्रवर्तीकी सेनाके लोग पार कर गये थे ॥ २१ ॥ अतिशय धनी महाराज भरत मार्गमें

दुर्विगाहा महाग्राहाः सैन्यान्युत्तेरुरुत्तरे । गगानुगा धुनीर्वह्वीर्बहुराजकुलस्थितीः ॥ २१ ॥ मार्गे वहुस्थितान् देगान् सरितः पर्वतानपि । धनवान्वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात्प्रभुः ॥ २२ ॥ अगोष्पदेष्वरण्येषु दृश व्यापारयन्विभुः । भूमिच्छिद्रापिधानाय क्षण यत्नमिवातनोत् ॥ २३ ॥ पथि प्रणेमुरागत्य संभ्राता मडलाधिपा. । दंडोपनतवृत्तस्य विपयोयमिति प्रभु ॥ २४ ॥ सचक्र धेहि राजेद्र सधुर प्राज सारथे । सजल्प इति नास्यासीदयत्नावनतद्विपः ॥ २५ ॥ प्रतियोध्दुमशक्तास्त प्रवनेपु जिगीपवः । तत्पद प्रणतिव्याजात् स्वमौलिभिरताडयन् ॥ २६ ॥ विभुत्वमरिचक्रेपु भूपरागानुरजन । स्वचक्र

पडते हुये अनेक देश, नदियां, पर्वत, बन, किले खानि इन सबको छोडता हुआ आगे चला ॥२२॥ जिनमें गाय आदि जानवरोंके खुरोंके चिन्ह तक नहीं हैं ऐसे वनोंमें क्षणभर दृष्टि डालता हुआ महाराज भरत ऐसा जान पडता था मानों पृथ्वीमें जो छिद्र हैं उन्हें ढकनेकेलिये क्षणभर प्रयत्न ही कर रहा हो ॥ २३ ॥ मार्गमें आश्चर्यको प्राप्त हुये अनेक मांडालिक राजा " जिसे दंडरत्न प्राप्त होता है वही इस देशका स्वामी होता है" यही समझकर भरतके समीप आकर उन्हें नमस्कार करने लगे थे ॥ २४ ॥ मार्गमें समस्त शत्रु बिना ही प्रयत्नके नम्रीभूत होगये थे इसलिये " हे राजन् आप चक्र हाथमें लीजिये, हे सारथि तू रथ चला " इसप्रकारका शब्द महाराज भरतको कभी नहीं कहना पडा था ॥ २५ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतके साथ लड नहीं सके थे इसलिये भरतके पैरोंको नमस्कार करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों नमस्कारके बहानेसे अपने मस्तकके द्वारा भरतके पैरोंको ताडन ही कर रहे हों ॥ २६ ॥ भरतराज जैसे अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् अधिकार रखते थे उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी विभुत्व अर्थात् शासन वा कर धारण करते थे तथा जिसप्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरंजन अर्थात् अन्य राजाओंको प्रेमसे संतुष्ट किया था उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी भू-परागानुरंजन अर्थात् शत्रुओंको पृथ्वीकी धूलिमें मिला दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमियोंकी सब चेष्टायें आश्चर्य करनेवाली

इव सोधत्त महता चिवमीहित ॥ २७ ॥ संध्यादिविषये नास्य समकक्षो हि पार्थिवः । षाड्गुण्यमतएवास्मिँश्चरितार्थमभूत्प्रभौ ॥ २८ ॥ प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान्विषयाधिपान् । सभावयन्प्रसादेन सोऽत्यगाद्विषयान् बहून् ॥ २९ ॥ नासौ व्यापारितो हस्तो मौर्वी धनुषि नार्पिता । केवल प्रभुशक्त्यैव प्राचीदिग्विजितामुना ॥ ३० ॥ गोकुलानामुपातेषु सोपश्यद्युवबल्लवान् । वनवल्लीभिराबद्धजूटकान् गोऽभिरक्षिणः ॥ ३१ ॥ मंथाकर्पश्रमोद्भूतस्वेदबिंदुचिताननाः । मथ्ननीः सकुचोत्कप सलीलत्रिकनर्तनैः ॥ ३२ ॥ मंथरज्जुसमाकृष्टिक्लांतबाहू श्लथांशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभंगुरोदराः

होती हैं ॥ २७ ॥ संधि, (परस्परके नियम) विग्रह अर्थात् युद्ध, यान [शत्रुके देशमें जाना] आसन [कहीं बैठना] द्वैधीभाव [परस्पर शत्रुता कर देना] और आश्रय इन विषयोंमें अन्य कोई भी राजा भरतके बराबर नहीं था इसलिये ऊपरलिखे हुये छह गुण भरतमें केवल नाममात्रकेलिये चरितार्थ थे, भावार्थ—जब अन्य सब राजा लोग भरतके आधीन थे इसलिये भरतको किसीके साथ भी संधि विग्रह आदि नहीं करना पडा था ॥ २८ ॥ मार्गमें प्रत्येक राज्यके जो नरेश भेट लेकर आये थे, अपनी प्रसन्नतासे उनका आदर सत्कार करता हुआ भरतेश्वर वहुतसे देशोंको छोडता हुआ आगे जा रहा था ॥ २९ ॥ महाराज भरतने न तो हाथ ही उठाया था और न कभी धनुषकी डोरी ही धनुषपर चढाई थी, उसने केवल अपनी शक्तिसे ही पूर्व दिशा जीत ली थी ॥ ३० ॥ गोशालाओंके समीपमें ही उसने गायोंकी रक्षा करनेवाले और वनकी बेलोंसे जिनके शिरके बाल बंधे हुये हैं ऐसे अनेक तरुण ग्वाला देखे ॥ ३१ ॥ तथा अनेक गोपियां अर्थात् ग्वालाओंकी स्त्रियां देखीं, नौतियोंके (दही चलानेकी रस्सियोंके) खींचनेके परिश्रमसे जो पसीना आया है उसकी बूंदोंसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीला पूर्वक नितंबोंको हिलाहिलाकर कुचोंको हिलाती हुईं दही चला रही हैं, दही चलानेकी रस्सी खींचनेसे जिनकी भुजायें शिथिल होगई हैं, जिनके कपडे भी सब शिथिल होगये हैं, स्तनोंकी चोली भी उतरगई है, उदरका त्रिवलीभंग साफ

॥ ३३ ॥ क्षुब्धाभिघातोन्छलितस्थूलगोरसाबिंदुभि॰ । विरलैरगसॅलग्नैः शोभा कामपि पुष्णतीः ॥ ३४ ॥ मथारवानुसारेण किंचिदारब्धमूर्छनाः । विस्रस्तकवरीबवाः कामस्येव पताकिका. ॥ ३५ ॥ गोष्ठागणेपु सलापै स्वैरमारब्धमंथना॰ । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन्किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ ३६ ॥ बने वनगजैर्जुष्टे प्रभुमेन वनेचरा. । दतैर्वनकरीद्राणामद्राक्षुः सहमौक्तिकैः ॥ ३७ ॥ श्यामागीरनभिव्यक्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यक्तसवृतीः ॥ ३८ ॥ चमरीवालकाविद्धकबरीबधबधुरा. । फलिनीफलसद्ग्धमालारचितकठिकाः ॥ ३९ ॥ कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीर्मृद॰ । सचिन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥ ४० ॥ पुलिंदकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः । अव्याजसुदराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥ ४१ ॥ चमरीबाल

दिखाई दे रहा है, रईके चलनेके आघातसे जो छाछकी बडी २ बूंदें उछलकर शरीरपर दूर दूर पडी हुई हैं उनसे जो एक विचित्र शोभा धारण कर रही हैं, रईके चलानेसे होनेवाले शब्दके अनुसार ही जिन्होंने कुछ गाना प्रारंभ किया है, जिनका केशपाश भी खुल गया है और इसलिये ही जो कामदेवकी पताकाके समान जान पडती हैं तथा गोशालाके आंगनमें इच्छानुसार परस्पर बातचीत करते हुये ही जिन्होंने दही चलाना प्रारंभ किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखकर भरतेश्वरको एकप्रकारकी उत्कंठासी उत्पन्न हुई थी ॥ ३२-३६ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये बनमें रहनेवाले भील लोगोंने जंगली हाथियोंके मोती और दांत भेट कर भरतके दर्शन किये थे ॥ ३७ ॥ जिनका शरीर सब श्याम है, शरीरपर केश भी दिखाई नहीं पडते, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुये चंचल पत्तोंसे जिनका ढका हुआ अंग व्यक्त हो रहा है, जिनके केशपाश चमरी गायके कोमल बालोंसे गुथे रहनेसे जो बहुत मनोहर जान पडती हैं, प्रयंगु अथवा गुंजाफलोंको गूंथकर बनाई हुई मालायें जिनके कंठमें पडी हुई हैं, बनके एक भागमें जो मिट्टी कस्तूरीवाले हिरणोंके बैठनेसे सुगंधित हो गई थी उसे अपने आभूषण बनानेकेलिये जो इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार स्वभावसे ही सुंदर है और जो सेनाको देखकर चकित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने

कान् केचित् केचित्कस्तूरिकांडकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥ ४२ ॥ तत्रांतपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥ ४३ ॥ अपूर्वरत्नसदर्भैः कुप्यसारधनैरपि । अतपालाः प्रभोराज्ञा सप्रणामैरमानयन् ॥ ४४ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया । गगाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालंघ्यमर्णवं ॥ ४५ ॥ वहिःसमुद्रमुद्रिक्त द्वैप्य निम्नोपग जल । समुद्रस्येव निष्पदमब्धेराराद्व्यलोकयत् ॥४६॥ वर्षारंभो युगारंभे योऽभूत्कालानुभावतः । ततः प्रभृति सवृद्ध जल द्वीपातमावृणोत् ॥ ४७ ॥ अलंघ्यत्वान्महीयस्त्वाद्द्वीपपर्यंतवेष्टनात् । द्वैप्यमवु समुद्रिक्तमगादुपसमुद्रता ॥ ४८ ॥ पश्यन्नुपसमुद्रं त गत्वा सुखपथेन स । गगोपवनवेद्यतभागे सैन्यमवीविशत् ॥ ४९ ॥ वेदिकातोरणद्वारमस्ति तत्रो-

---

दूरसे ही देखा ॥ ३८-४१ ॥ अनेक म्लेच्छ राजाओंमेंसे कितनोंहीने तो चमरी गायके वाल और कितनोंहीने कस्तूरीवाले हिरणकी नाभि भरतकी भेटकर भरतके दर्शन किये थे ॥ ४२ ॥ सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञासे गंगाके संगमपरके लाखों ही मजवूत किले अपने वश किये ॥ ४३ ॥ किलोंके रक्षक लोग अपूर्व अपूर्व रत्नोंके समूह, अनेक वस्तुयें और उत्तमधन भेटकर नमस्कार करते हुये भरतकी आज्ञा मानने लगे थे ॥ ४४ ॥ तदनंतर सेनाके साथ साथ कुछ दूर मार्गको और व्यतीतकर भरत अपने ही समान अलंघनीय और जहां गंगा समुद्रमें मिलती है ऐसे समुद्रके किनारे जा पहुंचा ॥ ४५ ॥ समुद्रके बाहर जो ऊपरको उछल रहा है, समुद्रके समान ही जिसका प्रवाह है, और जो नीचेकी ओर जा रहा है ऐसे द्वीप और समुद्रके मिले हुये जलको भरतने दूरसे ही देखा ॥४६॥ कर्मभूमिके प्रारंभमें जो वर्षा हुई थी तवसे लेकर कालके प्रभावसे वही वढता हुआ जल द्वीपके सब किनारोंतक पहुंच गया था ॥ ४७ ॥ समुद्रसे उछल कर द्वीपमें बाहर आया हुआ जल अलंघनीय अर्थात् तिरनेके अयोग्य था, बहुत गहरा था और दूरतक फैलकर उसने द्वीपके सब समीपभागको ढकलिया था, इसलिये ही वह मानो उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥ ४८ ॥ उस उपसमुद्रको देखते हुये भरतने सुलभमार्गसे जाकर गंगाके उपवनकी वेदीके भीतरी भागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥

तरं महत् । शनैस्तेन प्रविश्यांतर्वणं सैन्यं न्यविक्षत ॥ ५० ॥ तत्र वास्तुवशादस्य किंचित् संकुचितायतः । स्कंधावारनिवेशोऽभूदलंघ्यव्यूहविस्तृतिः ॥ ५१ ॥ नदनप्रतिमे तस्मिन् वने रुद्धातपाङ्घ्रिपे । गंगाशीतानलस्पर्शैस्तद्बलं सुखमाविशत् ॥ ५२ ॥ तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये दैवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्यैच्छद्दैविकीं क्रियां ॥ ५३ ॥ अधिवासितजैत्रास्त्रः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मंत्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥ ५४ ॥ सायंप्रातिकनिःशेषकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितः पूजां स व्यधात्परमेष्ठिनां ॥ ५५ ॥ सेनान्यं बलरक्षायै नियोज्य विधिवद्विभुः । प्रतस्थे धृत-

गंगाके उपवनकी वेदीमें वेदिकाका एक बडा भारी तोरणद्वार है जोकि उत्तरद्वार कहलाता है उस द्वारसे धीरे २ प्रवेशकर भीतरके बनमें सेनाको ठहराया ॥ ५० ॥ जिसकी सेनाका विस्तार अलंघनीय है ऐसा वह सेनाका पडाव उस क्षेत्रके अनुसार ऐसा हुआ था जिसकी लंबाई अधिक थी और चौडाई कुछ कम थी ॥ ५१ ॥ नंदन बनके समान और सूर्यकी किरणोंको भी रोकनेवाले वृक्षोंसे भरे हुये उस बनमें चक्रवर्तीकी सेना गंगाके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक रहने लगी थी ॥ ५२ ॥ यद्यपि मागध देवको वश करना पौरुष साध्य है, पराक्रमसे तथा उद्योगसे सिद्ध हो सकता है तथापि प्रत्येक कार्यमें दैवको ही प्रमाण मानकर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छा करते हुये भरतने भगवान अरहंतदेवके आराधन करनेका विचार किया ॥ ५३ ॥ जिसने मंत्र तंत्रोंके द्वारा विजयके शस्त्रोंका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मंत्रोंके स्मरण करनेसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र दाभकी शय्यापर निवास करनेवाला है, स्वयं पवित्र है सायंकाल, और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओंके करनेमें सावधान है और कुलगुरु पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे चक्रवर्ती भरतने पंच परमेष्ठीकी पूजा की ॥ ५४-५५ ॥ भरतने नियमानुसार सेनाकी रक्षा करनेका भार सेनापतिको दिया और वह स्वयं लवणसमुद्रको जीतनेकी इच्छासे दिव्य अस्त्र शस्त्रोंको धारणकर निकला ॥५६॥ समुद्रको उलंघन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमें ' क्या २ साथ लेना चाहिये और क्या २

दिव्यास्त्रो जिगीषुर्लवणाबुधिं ॥ ५६ ॥ प्रतिग्रहापसारादिचिंताभून्नास्य चेतसि । विलिलंघयिषोरब्धिमहो स्थैर्यं महात्मनां ॥ ५७ ॥ अजितंजयमारुक्ष-द्रथ दिव्यास्त्रसभृत । योजित वाजिभिर्दिव्यैर्जलस्थलविलाघिभिः ॥ ५८ ॥ पत्ररश्यामरथ प्रोच्चैश्चलच्चक्राककेतन । तमूहूर्जवना वाहा दिव्यसर्व्येष्टचोदितं ॥ ५९ ॥ ततोस्मै दत्तपुण्याशी. पुरोधा धृतमगल । त्व देव ! विजयस्वेति स इमामृचमापठत् ॥ ६० ॥ जयति विधुताशेषपत्रंधना धर्मनायकाः । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलं ॥ ६१ ॥ संत्यब्धिनिलया देवास्त्वद्भुक्त्यंतर्निवासिन. । तान्विजेतुमयं कालस्तवेत्युच्चैर्जुघोष च ॥ ६२ ॥ ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः । जगतीतलमारुक्षद्गगाद्वारस्य चक्रभृत् ॥ ६३ ॥ न केवल समुद्रांतःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमस्त र-

---

यहां छोड देना चाहिये ’ यह भी चिंता नहीं हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि वडे पुरुषोंका धैर्य ऐसा ही आश्चर्य जनक होता है ॥ ५७ ॥ जिसमें जल और स्थल दोनोंपर एकसे चलनेवाले दिव्य घोडे जुते हुये हैं और जो दिव्य अस्त्र शस्त्रोंसे भरा हुआ है ऐसे अजितंजय नामके रथपर वह चक्रवर्ती सवार हुआ ॥ ५८ ॥ जो पत्तोंके समान हरितवर्ण है, जिसपर चक्रके चिन्हवाली ध्वजा बहुत ऊंची फहरा रही है और दिव्य सारथी जिसे हांक रहा है ऐसे उस रथको वहुत तेज चलनेवाले घोडे ले जा रहे थे ॥ ५९ ॥ तदनंतर हे देव आपकी जय हो इसप्रकार भरतके लिये पुण्यरूप आशीर्वाद देकर पुरोहितने प्रस्थान समयके समस्त मंगल कार्य करनेवाले भरतकेलिये नीचे लिखा हुआ श्लोक पढा ॥ ६० ॥ समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले और धर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले तीर्थंकर देव सदा जयवंत रहते हैं इसलिये हे राजन् तूं भी उनके प्रसादसे धर्मधारण करनेमें विजयी होकर सबको जीत ॥ ६१ ॥ उस पुरोहितने उसीसमय यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव ! इस समुद्रमें जो देव रहते हैं वे आपके उपभोग (विजय) करनेयोग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिये उन्हें जीतनेकेलिये आपका यह समय है ॥ ६२ ॥ इसप्रकार आशीर्वाद ग्रहण करनेके बाद वह चक्रवर्ती कितने ही वीर पुरुषोंके साथ साथ गंगाके संगमकी वेदीपरकी भूमिपर जा चढा ॥ ६३ ॥ वह चक्रवर्ती उस

थागभृत् ॥ ६४ ॥ धृतमंगलवेषस्य तद्वेद्यारोहणं विभोः । विजयश्रीसमुद्वाहवेद्यारोहणवद्बभौ ॥ ६५ ॥ मद्गृहांगणवेदीयं जगतीति विकल्पयन् । दृशं व्यापारयामास कुल्याबुद्ध्या महोदधौ ॥ ६६ ॥ स प्रतिज्ञामिवारूढो जगतीं ता महायतीं । निस्तीर्णमिव तत्पारं पारावारमजीगणत् ॥ ६७ ॥ मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहतं । विलघनभया ुच्चैः फूत्कुर्वंतमिवारवैः ॥ ६८ ॥ वीचीबाहुभिरुन्मुक्तैः सरत्नैः सीकरोत्करैः । पाद्यं स्वस्येव तन्वानं मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥ ६९ ॥ असख्यशखमाक्रातविश्वद्वीपमपारकं । परैरलघ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणं ॥ ७० ॥ उत्फेनजृंभिकारभैः सापस्मारमिवोल्बणं ।

गंगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रमें प्रवेश करनेका ही द्वार नहीं समझता था किंतु उसे अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझता था ॥ ६४ ॥ जिसने अपना मंगलवेश धारण किया है ऐसे भरतका उस वेदीपर चढना ऐसा सुशोभित होता था मानो वह विजयलक्ष्मीके साथ विवाह करनेकी वेदीपर ही चढा हो ॥ ६५ ॥ यह मेरे घरके आंगनकी वेदी है इसप्रकार उस वेदीमें कल्पना करता हुआ भरत कृत्रिम नदी (नहर बंबा) के समान ही महासागरमें अपनी दृष्टि डाल रहा था ॥ ६६ ॥ वह, भरतेश्वर बहुत लंबी उस वेदीपर इसप्रकार चढा मानों समुद्र जीतनेकी अपनी बडी भारी प्रतिज्ञापर ही चढा हो और जिसका पार नही है ऐसे समुद्रको भी इसप्रकार मानता था मानो उसे पारकर उसके दूसरे किनारेपर ही पहुंच गया हो ॥ ६७ ॥ चक्रवर्तीने उस वेदीपरसे समुद्र देखा, उस समुद्रकी लहरें उसमें बार बार उठते हुये ज्वारको भी उलंघन कर रही थीं, तीव्र वायु उसे ताडन कर रहा था और गंभीर शब्दोंसे वह ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके द्वारा उलंघन होनेके भयसे जोरसे चिल्ला रहा ही हो ॥ ६८ ॥ लहरें रूपी भुजाओंके द्वारा किनारेपर फेंके हुये रत्नसहित जलकी बूंदोंके समूहसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपनेलिये (चक्रवर्तीकेलिये) मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ ही दे रहा हो ॥ ६९ ॥ अथवा वह समुद्र अपनी सेनाका अनुकरण करता हुआ जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सेनामें असंख्यात संख थे

केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वचिदप्यनवास्थितं ॥ ७१ ॥ अकस्मादुच्चरद्ध्वानमनिमित्तचलाचलं । अकारणकृतावर्तमतिसंकसुकास्थितिं ॥ ७२ ॥ हसंतमिव फेनोत्थैर्लसतमिव वीचिभिः । चलतमिव कल्लोलैर्माद्यतमिव घूर्णितैः ॥७३॥ सरत्नमुल्बणविषं मुक्तसूत्कारभीकर स्फुरत्तरंगनिर्मोकं । स्फुरंतमिव भोगिन ॥७४॥

उसीप्रकार समुद्रमें भी असंख्यात शंख थे, सेना अनेक देशोंपर अधिकार करनेवाली थी और समुद्र अनेक द्वीपोंमें व्याप्त था, सेना अपार थी और समुद्र भी अपार था, सेना कभी व्याकुल नहीं होती थी और समुद्र भी कभी क्षुब्ध नहीं होता था और जिसप्रकार सेनाको कोई उलंघन नहीं कर सकता उसीप्रकार समुद्रको भी कोई उलंघन नहीं कर सकता था ॥ ७० ॥ अथवा वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी) रोगीके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार अपस्मार रोगी फेनसहित मुखको फाडकर विह्वल होजाता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मुख अर्थात् किनारेपर फेन सहित था और लहरों से विह्वल हो रहा था, जिसप्रकार अपस्मार रोगी किसी एक जगह स्थिर नहीं रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचलतासे एक जगह स्थिर नहीं था और जिसप्रकार अपस्मार रोगीको कोई हिलानेसे बंद नहीं कर सकता उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरोंको भी कोई बंद नहीं कर सकता था ॥७१॥ वह समुद्र अकस्मात ही गंभीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था, बिना कारण ही उसमें भंवर पडते थे और उसकी स्थिति बहुत ही अस्थिर थी ॥ ७२ ॥ सफेद फेनोंके उठनेसे ऐसा जान पडता था मानों हँस रहा हो, ज्वारभाटाओंसे ऐसा जान पडता था मानों नृत्य कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा जान पडता था मानों चल रहा ही हो और भँवरोंसे ऐसा जान पडता था मानों उन्मत्त ही हो रहा हो ॥ ७३ ॥ अथवा वह समुद्र एक सर्पके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सर्पके फणामें रत्न होता है उसीप्रकार समुद्रमें भी रत्न थे, सर्पमें उत्कट विष रहता है उसीप्रकार समुद्रमें उत्कट विप अर्थात् जल था, जिसप्रकार सर्प शू शू आदि निश्वासोंके

अत्यंबुपानादुद्रिक्तप्रतिश्यायमिवाधिकं । क्षुतानीव विकुर्वाण ध्वनितानि सहस्रशः ॥ ७५ ॥ आयूनमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनीरसं । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव खात्कृतैः ॥ ७६ ॥ निजगंभीरपातालमहागर्भोपदेशत । अतृप्यतमिवाम्भोभिरातालुविवृताननं ॥ ७७ ॥ दिशा रावणमाक्रान्ताचलग्राहं विभी-

छोडनेसे भयंकर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गंभीर शब्दोंके करनेसे भयंकर हो रहा था, जिसप्रकार सर्पकी काचली दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरेंरूप काचली भी दैदीप्यमान थी और सर्प जैसे चंचल रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचल था ॥ ७४ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों अधिक पानी पीनेसे उसे भारी पीनसका रोग हो गया हो और इसलिये ही वह मानो हजारों शब्दोंके द्वारा छींके ही ले रहा हो ॥ ७५ ॥ अथवा जिसप्रकार भूखा मनुष्य वहुत पानी पीकर ही डकारें लिया करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी ऐसा जान पडता था मानों बार बार संसारकी नादियोंका जल पीनेसे पेटमे अधिक जल हो जानेपर गंभीर शब्दोंके द्वारा डकारें ही ले रहा हो ॥ ७६ ॥ अपने गंभीर पाताल रूपी महा उदरके वहानेसे अर्थात् पेटके वहानेसे पातालको भरनेकेलिये जो कभी जलसे तृप्त नहीं होता था और इसलिये ही जो ऐसा जान पडता था मानों तालुपर्यंत उसने अपना मुख फाड रक्खा हो ॥ ७७ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो, क्योंकि जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अधिक व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् रावण ही मुख्य था उसीप्रकार वह समुद्र भी अधिक देशोंमें व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् शब्द करनेवाला था, जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अचलग्राह नामका राक्षसवंशी था उसीप्रकार वह समुद्र भी अचलग्राह अर्थात् पर्वतोंको भी अपनेमें मिलानेवाला था, राक्षसोंके समूहमें जैसे विभीषण रावणका छोटा भाई था उसीप्रकार वह समुद्र भी विभीषण अर्थात् भयानक था, जिसप्रकार राक्षसोंका समूह अतिकाय अर्थात् वहुत वडा है अथवा

षणं । रक्षसामिव संपातमतिकायं महोदरं ॥ ७८ ॥ वीचीबाहुभिराघ्नतमजस्रं तटवेदिकां । समर्यादत्वमाहत्य श्रावयतमिवात्मनः ॥ ७९ ॥ चलद्भिरचलोदग्रैः कल्लोलैरतिवर्तिनं । सरिद्युवतिसंभोगादसंमातमिवात्मनि ॥ ८० ॥ तरंगिततनुं वृद्ध पृथुक व्यक्तरंगितं । सरतमतिकातांग सग्राहमतिभीषणं ॥ ८१ ॥ लावण्येऽपि न सभोग्यं गाभीर्येऽप्यनवस्थितं । महत्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयं ॥ ८२ ॥ नचास्य मदिरासंगो न कोऽपि मदनज्वरः ।

कुछ असुंदर है उसीप्रकार वह समुद्र भी अतिकाय अर्थात् वहुत वडा था और जिसप्रकार राक्षसों-के समूहमें महोदर अर्थात् महोदर नामका राक्षस है इसीप्रकार वह समुद्र भी महोदर अर्थात् वहुत गहरा था ॥ ७८ ॥ लहरेंरूप अपनी भुजाओंके द्वारा बार वार किनारेकी वेदीको स्पर्श करता हुआ वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपने मर्यादपनेको साक्षात् ही सुना रहा हो ॥ ७९ ॥ पर्वतके समान उडती हुई ऊंची २ लहरोंसे सवको उलंघन करनेवाला वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों नदीरूप स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे अपने आत्मामें भी न समा रहा हो ॥ ८० ॥ जिसके शरीरमें तरंगे रूपी त्रिवलियां उठ रही हैं ऐसा वह समुद्र वृद्धके समान जान पडता था, अथवा वह समुद्र वालकके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार बालक पृथ्वीपर घुटनोंके वल चलता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके द्वारा पृथ्वीपर वह रहा था, जिसप्रकार वालक धीरे २ सरकता है उसीप्रकार समुद्र भी ज्वारभाटाके द्वारा सरकतासा जान पडता था और जिसप्रकार वालकका शरीर सुंदर होता है उसीप्रकार समुद्र भी सुंदर था, इसके सिवाय उस समुद्रमें अनेक मगर मच्छ थे और वह अत्यंत भयानक था ॥ ८१ ॥ अथवा वह समुद्र प्रगट जलाशय (ल तथा डमें अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् जडबुद्धि था क्योंकि लावण्य सहित होनेपर भी उपभोग करने योग्य नहीं था, अर्थात् जो लावण्य अर्थात् सुंदरता सहित होता है वह उपभोग करने योग्य होता है, समुद्र लावण्य अर्थात् लवणका खारा था इसलिये किसीके भी पीनेयोग्य नहीं था, तथा गं-

तथाप्युद्रिक्तकदर्पमारूढमधुविक्रिय ॥ ८३ ॥ अनाशितभवं पीत्वा सुस्वादु सरिता जलं । गतागतानि कुर्वंत संतोषादिव वीचिभिः ॥ ८४ ॥ नदीवधूभिरासेव्य कृतरत्नपरिग्रह । महाभोगिभिराराध्य चातुरतमिव प्रभु ॥ ८५ ॥ यादोदोर्घातनिर्धूतैर्दूरोच्छलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषपशेपार्णवविनिर्जयात्

भीर होकर भी वह स्थिर नहीं था, जो गंभीर होता है वह अवश्य स्थिर होता है, समुद्र गंभीर था परंतु स्थिर नहीं था लहरोंके द्वारा चंचल था और बडा होकर भी आक्रोश शब्द करनेवाला था अर्थात् जो बडा [महान् वा पूज्य] होता है वह कभी चिल्लाता नहीं, समुद्र बडा था तथापि वह गरज २ कर चिल्ला रहा था, इसलिये वह साफ जडाशय अर्थात् जडबुद्धि-मूर्ख वा जलाशय अर्थात् पानीसे भरा हुआ जान पडता था ॥ ८२ ॥ उस समुद्रके न तो मद्यका संगम था और न कामज्वर ही था तथापि वह उद्रिक्तकंदर्प था अर्थात् उसे तीव्रकामका विकार था और उसे मधु वा मद्यका विकार अर्थात् उन्मत्तता भी थी, इस श्लोकका ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये कंदर्प शब्दका अर्थ कं-दर्प अर्थात् उसे बहुत पानीका अभिमान था ऐसा अर्थ करना चाहिये और इसीतरह मधु शब्दका अमृत अर्थ लेकर उससे अमृतका (जलका) समूह उत्पन्न हुआ था ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ ८३ ॥ अथवा जिसके पीनेसे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका स्वादिष्ट जल पीकर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर लहरोंके द्वारा गमनागमन (आना जाना) ही कर रहा हो ॥ ८४ ॥ अथवा वह समुद्र चक्रवर्ती के ही समान था क्योंकि जिसप्रकार अनेक स्त्रियां चक्रवर्तीकी सेवा करती हैं उसीप्रकार नदीरूपी अनेक स्त्रियां समुद्रकी सेवा करती थीं अर्थात् अनेक नदियां उसमें आ मिली थीं, जिसप्रकार चक्रवर्तीके पास बहुतसे रत्न होते हैं उसीप्रकार उस समुद्रमें भी बहुत रत्न थे, जिसप्रकार महाभोगी अर्थात् महाराज लोग चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं उसीप्रकार महाभोगी अर्थात् बडे २ सर्प उस समुद्रमें थे और चक्रवर्ती चारों दिशाओंमें प्रसिद्ध था तथा समुद्र

॥ ८६ ॥ कुलाचलपृथुस्तंभजंबूद्वीपमहौकसः । विनीलरत्ननिर्माणमेकं शालमिवोत्थितं ॥ ८७ ॥ अनादिमस्तपर्यंतमखिलार्थावगाहिनं । गंभीरशब्दसंदर्भं श्रुतस्कंधमिवापरं ॥ ८८ ॥ नित्यप्रवृत्तशब्दत्वात् द्रव्यार्थिकनयाश्रित । वीचीना क्षणभंगित्वात्पर्यायनयगोचर ॥ ८९ ॥ नित्यानुबद्धतृष्णत्वाच्छश्वज्जलप-

चारोंदिशाओंमें व्याप्त था ॥ ८५ ॥ मगर मच्छ आदि वडे २ जलचर जीवोंके घातसे ऊपरको उठी हुई और दूरतक पहुंची हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे उसने अपनी जयपताका ही फहराई हो ॥ ८६ ॥ अथवा नीला और ऊंचा पानी होनेसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों कुलपर्वतरूपी खंभोंपर खडे हुये जंबूद्वीपरूपी विशाल घरका नीलमणि रत्नोंसे बना हुआ ऊंचा कोट ही हो ॥ ८७ ॥ अथवा वह सागर ऐसा जान पडता था मानों दूसरा श्रुतस्कंध (जैनशास्त्र) ही हो क्योंकि जिसप्रकार श्रुतस्कंध आदिअंतरहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी आदि अंत रहित था अर्थात् अनादि अनिधन था, श्रुतस्कंध जिसप्रकार समस्त जीव अजीव आदि पदार्थोंको धारण करनेवाला (निरूपण करनेवाला) होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अनेक पदार्थ अर्थात् रत्नोंको धारण करनेवाला था, अथवा वह इतना गहरा था कि उसमें सब पदार्थ समा सकते थे और श्रुतस्कंधमें जिसप्रकार गंभीर शब्दोंकी रचना है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी गंभीरशब्द होते रहते थे ॥ ८८ ॥ अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय ले रहा था क्योंकि जिसप्रकार द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थ नित्य कहलाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्दकी प्रवृति थी अर्थात् उसमें सदा शब्द होता रहता था, तथा वह समुद्र पर्यायार्थिक नयके गोचर भी था क्योंकि जिसप्रकार पर्यार्थिक नयसे समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं उसीप्रकार लहरोंके द्वारा वह समुद्र भी क्षणभंगुर था ॥ ८९ ॥ अथवा वह समुद्र प्रतिदिन किसी दुष्ट राजाके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दुष्ट राजाकी सदा तृ-

रिग्रहात् । गुरूणां च तिरस्कारात्किराजानमिवान्वहं ॥ ९० ॥ ससत्त्वमतिगंभीरं भोगिभिर्धृतवेलकं । सुराजानमिवात्युच्चैर्वृत्तिं मर्यादया धृतं ॥ ९१ ॥ अनेकमतरद्वीपमतर्वर्तिनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयतमल घनैः ॥ ९२ ॥ गर्जद्भिरतिगंभीरं नभोव्यापिभिरूर्जितैः । आपूर्यमाणमंभोभिर्घनौघैः किंकरैरिव ॥ ९३ ॥ रागितैश्चलितैः क्षोभैरुत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवोज्जृंभं सघ्वान च सघूर्णित ॥ ९४ ॥ रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशवलितार्णसं ।

ष्णा रहती है उसीप्रकार उस समुद्रको भा सदा तृष्णा वना रहती थी अर्थात् अनेक नदियोंके जलसे भी कभी तृप्त नहीं होता था तथा दुष्ट राजा जिसप्रकार सदा जल [जड] अर्थात् मूर्ख लोगोंसे घिरा रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सदा जलसे भरा रहता था और जिसप्रकार दुष्ट राजा गुरुजनोंका तिरस्कार करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी पदार्थोंका तिरस्कार करता था अर्थात् उन्हें नीचे डवोता था अथवा रत्नादि वहुमूल्य पदार्थोंका तिरस्कार करता था ॥ ९० ॥ अथवा वह समुद्र एक अच्छे राजाके समान था क्योंकि जिसप्रकार अच्छा राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रम सहित होता है और वडा गंभीर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जलचर जीवों सहित था और वहुत गंभीर था, तथा जिसप्रकार भोगी अर्थात् राजालोग अच्छे राजाकी आज्ञा धारण करते हैं उसीप्रकार भोगी अर्थात् सर्प उस समुद्रकी लहरोंमें रहते थे अथवा उसकी लहरें भोगी अर्थात् नागकुमार देव धारण करते थे, और अच्छा राजा जिसप्रकार अपनी वृत्ति ऊंची और मर्यादा पूर्वक धारण करता है उसीप्रकार समुद्रकी वृत्ति भी ऊंची और मर्यादा पूर्वक थी ॥ ९१ ॥ उस समुद्रमें अनेक अंतर्द्वीप थे, उन अंतर्द्वीपोंको कोई उलंघन नहीं कर सकता था और न कोई हरण ही कर सकता था इसलिये वे ठीक किलेके समान जान पडते थे ॥ ९२ ॥ तथा अतिशय गंभीर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो सेवकोंके समान उत्तरोत्तर वढतेहुये, गर्जतेहुये और आकाशमें फैलेहुये वादलोंके द्वारा ही पानीसे भरागया हो ॥ ९३ ॥ अथवा वह समुद्र किसी भूत लगेहुये मनुष्यके स-

ग्राहैरध्यासितं विष्वक् सुखालोकं च भीषणं ॥ ९५ ॥ नदीन रत्नभूयिष्ठमप्राणं चिरजीवितं । समुद्रमपि चोन्मुद्रं झषकेतुममन्मथं ॥ ९६ ॥ अदृष्टपार- मक्षोभ्यमसहार्यमनुत्तरं । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तममृतास्पद ॥ ९७ ॥ क्वचिन्महोत्पलच्छायाधृतसध्याभ्रविभ्रम । कृतांधतमसारंभं क्वचिन्नीलाश्मरश्मिभिः

मान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार भूत लगाहुआ मनुष्य पृथिवीपर पडता है, चंचल होता है, क्षुब्ध होता है, ऊंचा उछलता है और इधर उधर फिरता है उसीप्रकार वह समुद्र भी पृथ्वीपर फैला-हुआ था, लहरोंके द्वारा चंचल था, क्षुब्ध था, ऊंचा उछल रहा था और उसमें अनेक भँवर पड रहे थे, तथा भूत लगाहुआ मनुष्य जिसप्रकार उज्जृंभ अर्थात् जंभाई लेता है शब्द करता है और घूमता है उसीप्रकार वह समुद्र भी उज्जृंभ अर्थात् चारोंओर फैल रहा था, गंभीर शब्द कर रहा था और चारों-ओर घूम रहा था ॥९४॥ उस समुद्रका तलभाग अनेक रत्नोंसे चित्रित था, उसका जल मोतियोंसे मिला हु-आ था इसलिये वह देखनेमें बहुत अच्छा जान पडता था, तथा वह चारोंओरसे अनेक मगर मच्छोंसे भरा हुआ था इसलिये वह भयानक भी जान पडता था ॥ ९५ ॥ अथवा वह समुद्र विरुद्ध स्वभाव-वालासा जान पडता था क्योंकि वह नदीन अर्थात् दीन नहीं था तथापि नदीन अर्थात् नदियोंका स्वामी था, अनेक रत्नोंसे भरा था तथा अप्राण अर्थात् प्राणरहित होकर भी चिरजीवी अर्थात् अनेक दिन तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रा सहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था, और झषकेतु अर्थात् मछलीकी ध्वजा सहित होकर भी कामदेव नहीं था, इसप्रकार इन शब्दोंका अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये इन शब्दोंका अर्थ ऐसा करना चाहिये, यथा—अप्प्राण अर्थात् जलस्वरूप होकर अनंत कालतक टिकनेवाला था, समुद्र होकर उन्मुद्र अर्थात् स्वामीरहित था और मछलियोंसे भरा हुआ होकर भी कामदेव नहीं था क्योंकि वह जल स्वरूप था ॥ ९६ ॥ अथवा वह समुद्र सिद्धालय [सिद्धशिला] के समान जान पडता था क्योंकि सिद्धालय जिसप्रकार अपार और

॥ ९८ ॥ हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः क्वचिच्छैवल[illegible] । क्वचित् कौङ्कुमीं कान्तिं [illegible] विद्रुमाङ्कुरैः ॥ ९९ ॥ क्वचित् [illegible] ।
तारकानिकराकीर्णं हसन्त[illegible] ॥ १०० ॥ [illegible] । [illegible] ॥ १०१ ॥ [illegible]-
रित्युद्धैः सम्भृत रत्नकोटिभिः । महानिधि[illegible] ॥ १०२ ॥ [illegible] । [illegible]-

व्याकुलता रहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपार और व्याकुलतारहित (जो किसीके द्वारा हिला-या न जासके) था, जिसप्रकार सिद्धालयका संहार नहीं होना उसीप्रकार समुद्रका संहार भी नहीं होता, सिद्धालय जिसप्रकार अनुत्तर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है उसीप्रकार समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् पार-रहित था, सिद्धालय जिसप्रकार प्रगट और अगम्य है उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट और अगम्य था और सिद्धालय जिसप्रकार अ-मृतास्पद अर्थात् मरनेका स्थान नहीं है वहां मरण नहीं होता उसीप्रकार वह समुद्र भी अमृतास्पद अर्थात् जलका स्थान था जलसे भरा हुआ था ॥ ९७ ॥ कहीं तो वह समुद्र पद्मरागमणियोंकी कांतिसे संध्याकालके बादलोंके समान जान पडता था. और कहीं-पर नीलमणियोंकी कांतिसे इकट्ठे हुये अंधकारके समूहके समान जान पडता था ॥ ९८ ॥ कहींपर हरितमणियोंकी कांतिके समूहसे उसमें शैवालका संदेह होता था और कहींपर वह मूंगाओंके अंकु-रोंसे कुंकुमकी शोभा वढा रहा था ॥ ९९ ॥ तथा कहींपर सीपोंके संपुट खुलजानेसे ऊपर जो मोती तैर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो ताराओंके समूहसे भरेहुये आकाशकी ओर हँस रहा ही हो ॥ १०० ॥ और कहींपर किनारेतक समस्त रत्नोंकी किरणोंसहित जलकी बूंदें पड रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानो आकाशमें इंद्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो ॥ १०१ ॥ इसप्रका-र जो सुशोभित था अनेक रत्नोंसे भरा हुआ था और जिसमें बहुतसे मगर मच्छ थे ऐसे महासाग-रको अपूर्व महानिधिके समान चक्रवर्तीने देखा ॥ १०२ ॥ तदनंतर महाभाग्यशाली और अतिशय

ज्ञयार्णवं ॥ १०३ ॥ ततोभिमतसंसिध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथं प्रचोदयेत्युच्चैः प्राजितारमचोदयत् ॥ १०४ ॥ विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैरूह्यमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुत प्रायाद्यानपात्रायितो रथः ॥ १०५ ॥ रथो मनोरथात्पूर्वं रथात्पूर्वं मनोरथः । इति सभाव्यवेगोऽसौ रथो वार्द्धिं व्यगाहत ॥ १०६ ॥ जलस्तंभप्रयुक्तं नु जल नु स्थलता गत । स्यदन यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया ॥ १०७ ॥ तथैव चक्रचीत्कारस्तथैवाश्वैः प्रधैरित । यथा वहिर्जलं पूर्वमहो पुण्य रथागिनः ॥ १०८ ॥ महद्भिरपि कल्लोलैः शीक्यमानास्तुरंगमाः । रथं निन्युरनायासात्प्रत्युतैपा स विश्रमः ॥ १०९ ॥ रथच-

---

विद्वान् भरत गंभीर शब्द करते हुये उस समुद्रको देखकर अपनी दृष्टिसे ही कीचडमें बनेहुये गायके खुरके समान तुच्छ मानने लगा ॥ १०३ ॥ और फिर उसने अपनी इच्छा पूर्ण करनेकेलिये सिद्धोंको नमस्कार किया तथा रथको तेजीके साथ आगे बढानेकेलिये सारथीको आज्ञा दी ॥ १०४ ॥ जिनकी लगाम ढीली करदी गई है ऐसे मनके समान शीघ्र जानेवाले घोडोंसे जुता हुआ वह रथ लवणसमुद्रमें इसप्रकार शीघ्र जा रहा था मानो जहाज ही हो ॥ १०५ ॥ मनोरथसे पहिले रथ जाता है अथवा रथसे पहिले मनोरथ जाता है इसप्रकार जिसके वेगकी (तेजीकी] संभावना की जा रही है ऐसा वह रथ वडी तेजीसे समुद्रमें जा रहा था ॥ १०६ ॥ क्या यह समुद्रका जल जलस्तंभिनीविद्यासे थंभा दिया गया था अथवा स्थल ही होगया था क्योंकि ये चक्रवर्तीके घोडे जलमें भी स्थल (भूमि) समझकर ही रथको खींचे लिये जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिसप्रकार जलके बाहर जमीनपर रथके पहियोंका चीत्कार होता था उसीप्रकार पहियोंका चीत्कार जलमें भी हो रहा था तथा जिसप्रकार घोडे जलके बाहर जमीनपर दौडते थे उसीप्रकार वे जलमें भी दौड रहे थे, अहा चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्य करनेवाला होता है ॥ १०८ ॥ वे घोडे वडी वडी लहरोंसे भीगकर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे, उन लहरोंकी छींटोंसे घोडोंको कुछ तकलीफ नहीं होती थी किंतु उलटी वे छींटें घोडोंका परिश्रम दूर कर रही थीं ॥ १०९ ॥ रथके पहियेके आ-

क्रसमुत्पीलाज्जलोत्पील: खमुच्छलन् । न्यधात् ध्वजांशुके जाड्य जलानामीदृशी गति: ॥ ११० ॥ नांगरागस्तुरंगाणामार्दित: श्रमघर्मितै: । क्षालित: सुरवेगोत्थै: केवल शीकरैरपा ॥ १११ ॥ क्षण रथांगसंघट्टाज्जलमब्धेर्द्विधाभवत् । न्यभावि भाविना वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितं ॥ ११२ ॥ रथोस्याभिमता भूमिं प्रापत्सारथिचोदित: । मनोरथोऽपि ससिद्धिं पुण्यसारथिनोदित: ॥ ११३ ॥ गत्वा कतिपयान्यब्धौ योजनानि रथ: प्रभो: । स्थितोऽस्तर्जलमाक्रम्य ग्रस्ताश्व इव वार्द्धिना ॥ ११४ ॥ द्विषड्योजनमागाह्य स्थिते मध्येऽर्णव रथे । रथागपाणिरारुष्टो जग्राह किल कार्मुकं ॥ ११५ ॥ स्फुरज्ज्यं

घातसे जो पानी ऊपर आकाशकी ओर उछलता था उससे ध्वजाका वस्त्र भीगकर जड (भारी) हो जाता था सो ठीक ही है क्योंकि जलकी ऐसी गति होती ही है, भावार्थ—काव्यमें ल और ड में कोई भेद नहीं माना जाता इसलिये जलकी जगह जड बांचकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जड अर्थात् मूर्खोंका ऐसा ही स्वभाव होता है जो वे दूसरोंको भी मूर्ख बना देते हैं ॥ ११० ॥ शोभाके लिये घोडोंके शरीरपर लगाया हुआ रंग पसीनेसे गीला भी नहीं हुआ था किंतु वह रंग केवल घोडोंके तेज चलनेसे खुरोंसे उठे हुये पानीकी बूंदोंसे धुल गया था । भावार्थ—घोडोंको परिश्रम न होनेसे पसीना बिलकुल नहीं आया था ॥ १११ ॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षणभरकेलिये जो समुद्रका जल फटकर अलग अलग होगया था वह ऐसा जान पडता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिये डोरी डालकर मार्ग ही प्रगट किया हो ॥ ११२ ॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ वह रथ चक्रवर्तीके इष्ट स्थानमें पहुंच गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरणा किया हुआ इसका मनोरथ भी उसीसमय पूरा हो गया था ॥११३॥ भरतका रथ समुद्रमें थोडेसे योजन चलकर पानीके बीचमें ही ठहर गया मानो समुद्रने खींचकर घोडोंकी लगाम ही पकड ली हो ॥११४॥ जब वह चक्रवर्तीका रथ समुद्रमें बारह योजन चलकर ठहरगया था तब उसने कुछ क्रोधित होकर धनुष हाथमें लिया ॥ ११५ ॥ जिसकी डोरी स्फुरायमान है और वज्रके समान जिसका कांड है ऐसा वह धनुष

वज्रकांडं तद्धनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलारूढमभूज्जगत् ॥ ११६ ॥ स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रक्षोभमनयद्वार्द्धिं चलत्तिमिकुलाकुलं ॥ ११७ ॥ संहार्यः किममुष्याब्धिरुत विश्वमिदं जगत् । इत्याशंक्य क्षणं तस्थे तदा नभसि खेचरैः ॥ ११८ ॥ वक्रेऽपि गुणवत्यस्मिन्नृजुकर्मणि कार्मुके । अमोघं सदधे वाणं श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥ ११९ ॥ अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनंदनः । मत्साद्भवंतु मद्भुक्तिवासिनो व्यंतरामराः ॥ १२० ॥ इति व्यक्तलिपिन्यासो दूतमुख्य इव द्रुतं । स पत्री चक्रिणा मुक्तः प्राङ्मुखीमास्थितो गतिं ॥ १२१ ॥ जितनिर्घातनिर्घोषं

जिससमय चक्रवर्तीने अपने हाथमें लिया था उसीसमय यह जगत भी अपने जीवित रहनेके संदेहमें झूलने लगा था अर्थात् अपने जीवित रहनेका सबको संदेह होगया था ॥ ११६ ॥ समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये चक्रवर्तीके उस धनुषकी डोरीके शब्दने इधर उधर भागतेहुये मगर मच्छोंसे भरे हुये समुद्रकों भी क्षोभित कर दिया था ॥ ११७ ॥ क्या यह चक्रवर्ती धनुष चढाकर इस समुद्रका संहार करेगा अथवा इस समस्त संसारका संहार करेगा इसप्रकार आशंका करते हुये विद्याधर उससमय क्षणभर आकाशमें ठहर गये थे ॥ ११८ ॥ यद्यपि वह धनुष टेडा था तथापि गुणवाला था यद्यपि टेडा गुणवाला नहीं होता तथापि वह टेडा होकर भी गुणवाला अर्थात् डोरीसहित था तथा लोकोपकारी सरल कार्य करनेवाला था अथवा सीधा वाण छोडनेवाला था ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने योग्य आसनसे अर्थात् धनुष चलानेके वैशाख नामके आसनसे वैठकर अमोघ नामका (जो कभी व्यर्थ न हो) बाण रक्खा ॥११९॥ भरतने जो बाण उस धनुषपर रक्खा था उसपर ये समाचार लिखे हुये थे कि " मैं श्रीवृषभदेवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूं इसलिये मेरे क्षेत्रमें रहनेवाले व्यंतरदेव सब मेरे आधीन हों " इसप्रकार प्रधान दूतके समान कहनेवाले स्पष्ट अक्षर जिसपर लिखेहुये थे ऐसा वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ बाण पूर्व दिशाकी ओर चला और ॥ १२०-१२१ ॥ वज्रपातके शब्दको जीतनेवाला शब्द करताहुआ तथा मागधदेवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करताहुआ वह

ध्वानं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपतन्मागधावासे तत्सैन्यक्षोभमानयन् ॥ १२२ ॥ किमेष क्षुभितोंभोधिः कल्पांतपवनाहतः । निर्घातः किंस्विदुद्ध्वानो भूमिकंपो नु जृंभते ॥ १२३ ॥ इत्याकुलाकुलधियस्तन्निकायोपगा. सुराः । परिवव्रुरुपेत्यैनं सन्नद्धा मागधं प्रभुं ॥ १२४ ॥ देव ! दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभागणे । तेनाय प्रकृतः क्षोभो न किंचित्कारणांतर ॥ १२५ ॥ येनायं प्रहितः पत्री नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमे सज्जा वयं प्रभो ॥ १२६ ॥ इत्यारक्षिभटैस्तूर्णमेत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्व भटालापैरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥ १२७ ॥ यूय त एव मद्गृह्याः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो मयेत्यरिः ॥ १२८ ॥ बिभर्ति यः पुमान्प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिंगमात्रेण पुमानेष प्रती-

---

वाण आकाशसे मगधदेवके निवासस्थानमें जा पडा ॥ १२२ ॥ क्या यह कल्पकालके अंतसमयके वायुसे ताडित हुआ समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह भयानक शब्द करता हुआ वज्र (विजली) ही पडा है ? अथवा यह चारोंओर भूमिकंप ही हो रहा है ? ॥ १२३ ॥ इसप्रकारके भयसे जिनकी बुद्धि चंचल हो रही है ऐसे मागधके समीप रहनेवाले व्यंतरदेव शस्त्रोंसे तयार होकर आये और आकर अपने स्वामी मागधदेवके चारोंओर खडे हो गये ॥ १२४ ॥ तथा कहने लगे कि हे देव ! हमारे सभाभवनमें कोई दैदीप्यमान वाण आकरके पडा है उसीका यह क्षोभ है, इस क्षोभका कोई अन्य कारण नहीं है ॥ १२५ ॥ हे प्रभो ! जिस किसी देव अथवा दैत्यने (भवनवासी वा व्यंतर आदिने) यह वाण छोडा है उसका प्रतीकार करनेकेलिये हमलोग तैयार हैं ॥ १२६ ॥ इसप्रकार रक्षा करनेवाले वीर पुरुषोंने बहुत शीघ्र आकर मागधसे निवेदन किया, तब मागधने उत्तरमे बडे जोरसे कहा कि चुप रहो ऐसे वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे आधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध हूं क्या मुझे कभी अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुमलोगोंने पहिले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष मानभंगसे मलिन हुये अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलता किंतु केवल चिन्हसे ही पुरुष कहलाता है ॥ १२९ ॥ जो

यते ॥ १२९ ॥ स चित्रपुरुषो वास्तु चर्चापुरुष एव वा । यो विनापि गुणैः पौरुषैर्नाम्नैव पुरुषायते ॥ १३० ॥ स पुमान्यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भटब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवानिर्भुवि ॥ १३१ ॥ विजिगीषुतया देवा वय नेच्छाविहारत । ततोऽरिविजयादेव संपदस्तु सदापि नः ॥ १३२ ॥ वस्तुवाहनराज्याङ्गैराराधयति यः पर । परभोगीणमैश्वर्य तस्य मन्ये विडबन ॥ १३३ ॥ शरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं धनमिच्छति । धनायतोस्य दास्यामि निधन प्रधने. सम ॥ १३४ ॥ विचूर्ण्यैन शर तावत्कोपाग्नेः प्रथमेधन । करवाणीदमेवास्तु तनुशल्कैरुपेधनं ॥ १३५ ॥ साक्षेपमिति संरभादुदीर्य गिरमूर्जिता.। व्यरसीद्दशनज्योत्स्ना संहरन्मागधामरः ॥ १३६ ॥ ततस्तमूचुरभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरपराः । प्रभु शमयितु क्रोधाद्विया-

---

पुरुष पुरुषके गुणोंके बिना ही केवल नामसे ही पुरुष कहलाते हैं वे यातो चित्रमें लिखे हुये पुरुष हैं अथवा किसी लकडी वगैरहके बने हुये पुरुष हैं ॥ १३० ॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वही पुरुष है तथा जो केवल अपने मुखसे ही वीर बनना चाहता है वास्तवमें वह वीर नहीं है उसका संसारमें जन्म न लेना ही अच्छा है ॥ १३१ ॥ हम लोग अपनी इच्छानुसार विहार करनेसे देव नहीं है किंतु शत्रुओंको जीतनेसे ही देव कहलाते हैं, इसलिये हम लोगोंकी देवरूप संपत्ति सदा शत्रुओंके जीतनेसे ही रहो ॥ १३२ ॥ जो पुरुष किसी दूसरेको रत्न आदि वस्तु हाथी घोडे आदि वाहन और चमर छत्र आदि राज्यके चिन्ह भेटकर आराधना (सेवा) करता है उसका ऐश्वर्य केवल दूसरोंकेलिये है और मैं उसे केवल विडंबना समझता हूं ॥ १३३ ॥ यह वाण चलानेवाला कोई वीर पुरुष मुझसे धन चाहता है सो धनकी इच्छा करनेवाले इस वीरको आज मैं युद्धके साथ साथ निधन अर्थात् मरण दूंगा, भावार्थ आज उसे मारूंगा ॥ १३४ ॥ प्रथम ही मैं इस बाणके टुकडेकर अपनी क्रोधरूप अग्निका पहिला ईंधन बनाऊंगा, यही बाण अपने छोटे छोटे टुकडोंसे मेरी क्रोधरूपी अग्निको अधिक बढानेवाला होगा ॥ १३५ ॥ इसप्रकार वह मगध नामका व्यंतरदेव क्रोधसे तिरस्कार पूर्वक कठोर वचन कहकर दांतोंकी कांतिको संकुचित करता हुआ चुप हो-

वृद्धैः प्रभोः स्थितिः ॥ १३७ ॥ यथावसरमर्थ्यं च मितं च बहुविस्तरं । अनाकुलं च गभीरं नाधियामीदृशं वचः ॥ १३८ ॥ सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥ १३९ ॥ सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥ १४० ॥ अलब्धलाभो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । द्वयमेतत्सुखाल्लभ्यं जिगीषोर्नाश्रयं विना ॥ १४१ ॥ बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः प्रभो ॥ १४२ ॥ न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता । ततः शरः कुतस्त्योऽयं किमीयो वेति मृग्यता

गया ॥ १३६ ॥ तब कुलपरंपराको जाननेवाले मागधके समीपवर्ती देव उसका क्रोध शांत करनेकेलिये उससे निवेदन करने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि जो विद्याबुद्धिसे बडे हैं उन्हींसे राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है ॥ १३७ ॥ वे लोग समयके अनुसार, बहुत थोडे, जिनमें अर्थका विस्तार बहुत है, जो आकुलता रहित हैं और गंभीर हैं ऐसे वचन कहने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंसे ऐसे वचन कभी नहीं निकल सकते हैं ॥ १३८ ॥ वे देव कहने लगे कि हे प्रभो ! यह बात ठीक है कि अभिमानी पुरुषोंको दूसरेका किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं हो सकता है, परंतु बलवानके साथ विरोध करना भी तो अपने अपमानका कारण है ? ॥ १३९ ॥ यह बात ठीक है कि धन देकर तथा प्राण देकर भी अपने यशकी रक्षा करना चाहिये, परंतु वह यश किसी बलवान स्वामीके आश्रय किये विना बुद्धिमान लोगोंको किसप्रकार मिल सकता है ? ॥ १४० ॥ जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है उसे प्राप्त करना तथा प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी वडेके आश्रय विना जीतनेकी इच्छा करनेवालेको सुखसे सिद्ध नहीं हो सकते हैं ॥ १४१ हे प्रभो ! संसारमें जो बलवान है उनकी अपेक्षा भी अन्य अधिक बलवान और बुद्धिमान् हैं, इसलिये संसारमें मैं ही एक बलवान् हूं ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥ अपने कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये इसलिये यह बाण किसका है ? कहांसे

॥ १४३ ॥ श्रुत च बहुशोस्माभिरिदाप्तीयं पुष्कलं वच. । जिनाश्वक्रधरैः सार्धं वर्त्स्यंतीहेति भारते ॥ १४४ ॥ नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः । धूताधतमसोद्योतः सभाव्योऽन्यत्र किं रवेः ॥ १४५ ॥ अथवा खलु सशय्य चक्रपाणेरय शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवैनं तन्नामाक्षरमालिका ॥ १४६ ॥ तदेन शरमभ्यर्च्य गंधमाल्याक्षतादिभिः । पूज्याद्यैव विभोराज्ञा गत्वास्माभि. शरार्पणात् ॥ १४७ ॥ मागा मागध वैचित्य कार्यमेतद्विनिश्चिनु । न युक्तं तत्प्रतीपत्व तव तद्देशवर्तिनः ॥ १४८ ॥ तदलं देव सरम्भ तत्प्रातीप्यं न शातये । महतः सरिदोघस्य कः प्रतीपं तरत्सुखी ॥ १४९ ॥ बलवाननुवर्त्यश्चेदनुनेयोऽद्य चक्रभृत् । महत्सु वैतसीं वृत्तिमामनत्यविपत्करीं ॥ १५० ॥ इहामुत्र च जंतूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनं । पापं तत्रानुबध्नाति पूज्यपूजाव्यति-

---

आया है ? पहिले यह देख लेना चाहिये ॥ १४३ ॥ इस भारतवर्षमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि रहते हैं यह बात अनेकबार भगवान अरहंतदेवसे सुनी है ॥ १४४ ॥ जगतको विजय करनेकी सूचना करनेवाला यह बाण अवश्य चक्रवर्तीका ही होगा, क्या समस्त अंधकारको नाश करनेवाला प्रकाश सूर्यके सिवाय किसी अन्यका हो सकता है ॥ १४५ ॥ अथवा इसमें संशय ही क्यों ? यह बाण चक्रवर्तीका ही है इस बाणपर खुदी हुई अक्षरोंकी पंक्ति उस चक्रवर्तीके नामको साफ प्रगट कर रही है ॥ १४६ ॥ इसलिये गंध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजाकर तथा चक्रवर्तीका यह बाण उन्हें अर्पण कर हमलोगोंको आज ही स्वामीकी आज्ञा मान्य करनी चाहिये ॥ १४७ ॥ हे मागध ! आप चित्तमें किसीतरहका विकार अर्थात् अभिमान न करें, आपको मेरा कहा हुआ कार्य अवश्य करना चाहिये, उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना ठीक नहीं है ॥ १४८ ॥ इसलिये हे देव अपना क्रोध शांत कीजिये, चक्रबर्तीके साथ विरोध करनेसे कुछ शांति नहीं होगी, भला नदीके बडे भारी पूरके प्रतिकूल [सामने) तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ॥ १४९ ॥ यदि अपनेसे अधिक बलवानके अनुकूल ही रहना चाहिये यही नीति है तब तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिये, क्योंकि बडोंके साथ बेतके समान नम्र वृत्ति धारण करना ही

क्रमः ॥ १५१ ॥ इति तद्वचनात्किंचित्प्रबुद्ध इव तत्क्षणं । अज्ञातमेतमेतस्मादियन्नो प्रत्यपद्यत ॥ १५२ ॥ नमभ्रममियाक्रान्तमिव चित्तं किंचित्सनाथतं । साशङ्कमिव सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणं ॥ १५३ ॥ ततः प्रसेदुषी तस्य न चिरादस्य शेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात्प्रशेमुषी ॥ १५४ ॥ सोऽयं चक्रभृतामाद्यो भरतोऽलंघ्यशासन । प्रतीक्ष्यः सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरं ॥ १५५ ॥ चक्रित्वं चरमाङ्गत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्समुच्चितं ॥ १५६ ॥ इति निश्चित्य सम्भ्रान्तैरनुयातः सुरोत्तमैः । महता चक्रिणं द्रष्टुमुपचक्राम स मागधः ॥ १५७ ॥ समुन्मणिति-

---

दुःखोंका नाश करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १५० ॥ पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे ही जीवोंको इस लोक और परलोककी उन्नति होती है तथा पूज्य पुरुषोंका अनादर करनेसे पापका बंध होता है ॥ १५१ ॥ इसप्रकार उन देवोंके वचन सुनकर उसीसमय मागधको कुछ बोध हुआ और उसे मालूम हुआ कि जो इस बाणका हाल अबतक मुझे मालूम नहीं था वह मेरा अज्ञान था ॥ १५२ ॥ जिसप्रकार भरतके नामसे मागधका चित्त कुछ व्यग्र हुआ था उसीप्रकार उसका चित्त कुछ भयसहित भी हुआ था तथा कुछ अनादर करनेसे शंका भी हुई थी और उसे समझकर ज्ञानके समान ही कुछ २ उद्वेग भी हुआ था ॥ १५३ ॥ तदनंतर थोडी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोध शांत होनेसे शांत हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब देख लिया ॥ १५४ ॥ तथा उसी निर्मल बुद्धिसे वह सोचने लगा कि यह भरत चक्रवर्तियोंमें पहिला चक्रवर्ती है, इसकी आज्ञा कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको सबतरहसे इसकी पूजा करना चाहिये तथा आदर पूर्वक इसकी आज्ञा माननी चाहिये ॥ १५५ ॥ यह भरत चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगतगुरु भगवान वृषभदेवका पुत्र है, इनमेंसे एक एक गुण ही पूज्य होता है फिर जहां तीनोंका समुदाय हो वहां तो पूज्य माननेके लिये कहना ही क्या है अर्थात् वह तो अवश्य पूज्य है ॥ १५६ ॥ इसप्रकार निश्चयकर संभ्रांत होकर जल्दी करनेवाले अनेक देवोंको साथ लेकर वह मागध देव अकस्मात् चक्रवर्तीके

रीटांशुरचितेंद्रशरासनं । क्षणेनोल्लंघ्य संप्राप्तं देशं यत्र चक्रभृत् ॥ १५८ ॥ पुरोधाय शरं रत्नपटले सुनिवेशितं । मागधः प्रभुमानंसीदार्य स्वीकुरु मामिति ॥ १५९ ॥ चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञकाः । महातपमराध नस्त क्षमस्वार्थितो मुहुः ॥ १६० ॥ युष्मत्पादरज स्पर्शाद्वार्द्धिरेव न केवल । पूता वयमपि श्रीमॅस्त्वत्पादाबुजसेवया ॥१६१॥ रत्नान्यमून्यनर्घाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च । अधो निधीनामाधातु सोपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥ हारोऽयमतिरोचिष्णुरवाराहैरशुक्तिजैः । अवेणुद्विपसंभूतैर्दृब्धो मुक्ताफलैर्युजै ॥ १६३ ॥ तव वक्षःस्थलाश्लेपाद्पेयादुपहारता । स्फुरती कुंडले चेमे क-

---

देखनेलिये चला ॥ १५७ ॥ जिसमें दैदीप्यमान मणियोंसे जडे हुये मुकुटकी किरणोंसे इंद्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षणभरमें ही उलंघनकर वह मागधदेव जहां चक्रवर्ती था उस स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५८ ॥ रत्नके पिटारेमें रक्खे हुये वाणको भरतके सामने रखकर मागधने भरतको नमस्कार किया और कहा कि हे प्रभो मैं उपस्थित हूं अब मुझे अपना ही समझिये ॥ १५९ ॥ हे स्वामिन् ! हम अज्ञानीलोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही उपस्थित नहीं हुये यह हमारा बडा अपराध हुआ है, हे प्रभो हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि आप इसे क्षमा कर दीजिये ॥ १६० ॥ हे ऐश्वर्यशालिन् ! आपके चरणोंकी धूलिका स्पर्श करनेसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं होगया है किंतु आपके चरणकमलकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥ १६१ ॥ हे प्रभो ! आपकी भेटमें किये हुये ये रत्न यद्यपि बहुमूल्य हैं स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि वे निधियोंके नीचे रखनेके काममें आओ ॥ १६२ ॥ यह हार बहुत ही दैदीप्यमान है, यह ऐसे दिव्य मोतियोंसे गुंथा हुआ है जो न तो सूअरमेंसे निकले हैं, न सीपमेंसे निकले हैं, न वांससे उत्पन्न हुये हैं और न हाथीके मस्तकमेंसे निकले हैं, ऐसा यह हार आपके वक्षःस्थलपर पडाहुआ पूज्यताको प्राप्त हो, तथा ये दोनों ही दैदीप्यमान कुंडल आपके कानोंके संबंधसे पवित्रता धारण करें ॥ १६३-१६४ ॥ इसप्रकार उस मागधने मानो तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंका समुदाय ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ऐसा वह हार और

र्णसंगात्पवित्रता ॥ १६४ ॥ ददत्स्मै कुंडले दिव्ये हारं च विततारं नः । त्रैलोक्यनारन्दोहमिवैकत्यमुपागतं ॥ १६५ ॥ रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रभोरवाप्तसत्कारस्तन्मतात्स्वमगात्पदं ॥ १६६ ॥ अथ तत्रस्थ एवाब्धिं नातर्द्वीपं विलोकयन् प्रभुर्विसिस्मये किंचित् बह्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥ १६७ ॥ ततः कुतूहलाद्वार्द्धिं पश्यतः सूर्गतः पतिं । तमित्युवाच दन्तांशुमनोमजरीं किरन् ॥ १६८ ॥ अयं जलधिरुच्छलत्तरलवीचिबाहूद्धृत स्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसंख्यशंखाकुलः । तवार्घमिव सविधिन्मुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्धुतजलानको दिशतु शश्वदानंदथु ॥ १६९ ॥ अमुष्य जलमुत्पत-

दिव्य दोनों कुंडल महाराज भरतकेलिये अर्पण किये ॥ १६५ ॥ तदनंतर उस मागधने प्रसन्न चित्त होकर अनेक प्रकारके रत्नोंसे अनेक रत्नोंके स्वामी चक्रवर्तीकी पूजा की तथा अपने स्वामी भरतसे आदरसत्कार पाकर वह उसकी आज्ञासे अपने स्थानको चला गया ॥ १६६ ॥

अथानंतर—वहांके समुद्र और अंतर्दीप देखकर भरतको कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवण समुद्र अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ था ॥ १६७ ॥ जिससमय भरत उस समुद्रको बडे कौतुकसे देख रहा था उसीसमय सारथी अपने दांतोंकी किरणेंरूपी पुष्पमंजरीको वखेरता हुआ अपने स्वामी भरतसे कहने लगा ॥ १६८ ॥ कि हे प्रभो ! उछलती हुई चंचल लहरेंरूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुये देदीप्यमान मणियोंका समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, शब्द करते हुये असंख्यात शंखोंसे जो व्याकुल हो रहा है, प्रत्येक ज्वारकी वडी लहरके साथ जो शब्द करता है, वायुके द्वारा हिलाया हुआ जल ही जिसके नगाडे हैं और इस सव सामग्रीसे जो ऐसा जान पडता है मानो आपके लिये अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह लवण समुद्र सदा आनंद देवो ॥१६९॥ ऊपरकी ओर उछलता हुआ और इसलिये ही जो चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल कांतिको धारण करनेवाली जलकी बूंदोंसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पडता है मानो दिशारूप स्त्रियोंसे परिचय करनेकेलिये उनके साथ चारोंओरसे हँसी ही कर रहा हो, अथवा अपने यशको बांटकर प्रत्येक दिशामें

द्रुमनमेतदालक्ष्यते शशाककरकोमलच्छविभिराततं शीकरैः । प्रहासमिव दिग्वधूपरिचयाय विष्वग्दधत् तितासदिव चात्मनः प्रतिदिशं यशो भागशः ॥ १७० ॥ क्वचित्स्फुटितशुक्तिमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्यलिमलीमस मकरमीनराशिश्रित । क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुलसंकुल सून्नत नरेंद्रकुलमुत्तमस्थिति जिगीषतीवोद्भट ॥ १७१ ॥ इतो विशति गागमबु शरदंबुदाच्छच्छवि स्रुत हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैधव । तथापि न जलागमेन धृति-

फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ कहीं कहीं सीपोंके खुल जानेसे उनके मोतियोंसे व्याप्त हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानो ताराओंसहित आकाश ही हो, क्योंकि जिसप्रकार यह आकाश मकर मीन आदि राशियोंसे भराहुआ है तथा भ्रमरके समान श्याम है उसीप्रकार यह समुद्र भी मकर मीन अर्थात् मगरमच्छ आदिके समूहोंसे भरा हुआ है और भ्रमरोंके समान श्याम है, तथा कहीं कहींपर इसका जल राजाओंके कुलको भी जीत रहा है क्योंकि जिसप्रकार राजाओंका कुल अनेक भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार यह समुद्र भी भोगी अर्थात् सर्पोंके समूहसे व्याप्त है, राजाओंका कुल जिसप्रकार उन्नत होता है उत्तम स्थितिको धारण करता है उसीप्रकार यह समुद्र भी उन्नत है तथा उत्तम स्थितिको धारण करता है और राजाओंका कुल जिसप्रकार उद्भट अर्थात् प्रबल है अथवा योद्धाओंको उत्पन्न करनेवाला है उसीप्रकार यह समुद्र भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥ १७१ ॥ हे प्रभो ! यह देखिये इधर तो हिमवान पर्वतसे निकलाहुआ और शरदऋतुके बादलोंके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाला यह गंगाका पानी इस समुद्रमें मिल रहा है और इधर यह बहुत मीठा सिंधुनदीका पानी इसमें मिल रहा है, यद्यपि दोनोंओरसे अपार जलका प्रवाह आ रहा है तथापि जलके आनेसे इस समुद्रका संतोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो जलाशय अर्थात् जलसे भरा समुद्र है अथवा जडाशय अर्थात् जडबुद्धि है उसे जलके समुदायसे अथवा जड अर्थात् मूर्खोंके समुदायसे कभी संतोष नहीं होता है, भावार्थ—जैसे जलाशयको जलसे सं-

रस्य पोपूर्यते ध्रुवं न जलसंग्रहैरिह जलाशयो धायति ॥ १७२ ॥ व्याप्योदरं चलकुलाचलसन्निकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः । कल्लोलकाश्च परिमारहिता. समतादन्योन्यघट्टनपराः सममाविशति ॥ १७३ ॥ आपोधनं धृतरसाः सरितोऽस्य दारा पुत्रायिता जलचराः सिकताश्च रत्न । इत्थ विभूतिलवदुर्ललितोऽपि चित्र धत्ते महोदधिरिति प्रथिमानमेषः ॥ १७४ ॥ नि श्वासधूममलिनाः फणमंडलात मुव्यक्तरत्नरुचय परितो भ्रमतः । व्यायच्छमानतनयो रुषितैरकस्मादत्रोल्मुकश्रियममी दधते फणींद्राः ॥ १७५ ॥ पादैरय जलनिधिः शिशिरैरपींदोरास्पृश्यमानसलिलः सहसा खमुद्यन् ।

तोष नहीं होता है उसीप्रकार मूर्खोंको भी मूर्खोंके समुदायसे भी संतोष नहीं होता है ॥ १७२ ॥ हे देव ! इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभागमें अथवा उदरमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अतिशय पुष्ट हुये तथा चलतेहुये कुलपर्वतोंके समान वडे वडे ऐसे इसके पुत्रोंके समान मगर मच्छ और प्रमाणरहित अर्थात् अनंत कल्लोलें ये सव चारोंओरसे एक दूसरेको धक्का देतेहुये एकसाथ इस समुद्रमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ १७३ ॥ हे नाथ ! इस समुद्रके जल ही धन है, रस अर्थात् जल अथवा शृंगारको धारण करनेवालीं नदियां ही स्त्रियां हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही पुत्रके समान हैं और वालू ही रत्न हैं, इसप्रकार यह समुद्र यद्यपि तुच्छ विभूतिको धारण करता है तथापि संसारमें 'महोदधि' इस नामसे प्रसिद्ध है, यह एक वडे आश्चर्यकी वात है ॥ १७४ ॥ उच्छ्वासमें निकलते हुये धूमसे जो मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कांति साफ प्रगट हो रही है, जो चारोंओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर वहुत वडे हैं और जो विना कारणके ही क्रोधित हो रहे हैं ऐसे ये सर्प समुद्रमें आलातचक्रकी [चारोंओर फिरती हुई अग्निकी] शोभाको धारण करते हैं ॥ १७५ ॥ इस समुद्रकी ज्वारकी लहरें जो ऊंचको उठ रही हैं तथा यह गरज रहा है उससे ऐसा जान पडता है मानों चंद्रमाके शीतल पैरोंसे (किरणोंसे) इसका जल स्पर्श किया जा रहा है इसलिये ही क्रोधसे गंभीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके वहानेसे चंद्रमाको छूनेकेलिये अकस्मा-

रोपादिवोच्छ्वलति मुक्तगभीररावो वेलाच्छलेन न महान् सहतेऽभिभूतिं ॥ १७६ ॥ नाकौकसा प्रतरसां सह कामिनीभिराक्रीडनानि समनोहरकाननानि । द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सत्यंतरीपमिव दुर्गनिवेशनानि ॥ १७७ ॥ अयमनिभृतवेलो रुद्धरोदोतरालैरनिलवलविलोलैर्भूरिकल्लोलजालैः । तटवनमभिहति व्यक्तमस्मै प्ररुष्यन् । मम किल बहिरस्मान्नास्ति वृत्तिर्मुधेति ॥ १७८ ॥ अविगणितमहत्वा यूयमस्मान् स्वपादैरभिहय किमलंघ्य वो वृथा तौग्यमेतत् । वयमिव किमलघ्या. किं गभीरा इतीत्थ परिवदति विरावैर्नूनमब्धि कुलाद्रीन् ॥ १७९ ॥ अत्राय भुजगशिशुर्विलाभिशकी व्यात्तास्यं ति-

---

त् आकाशकी ओर उछलता हुआ दौड रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि वडे आदमी किसीका भी तिरस्कार नहीं सह सकते हैं ॥ १७६ ॥ जिसप्रकार जलके मध्यभागमें वडी कठिनतासे प्रवेश करने योग्य स्थान होते हैं उसी प्रकार इस समुद्रमें देवियोंके साथ बडे वेगसे आते हुये देवोंके अनेक क्रीडा करनेके स्थान हैं, वृक्ष आदिकोंसे मनोहर अनेक वन हैं और अनेक ही सुंदर द्वीप हैं ॥ १७७ ॥ ज्वारभाटाओंसे चंचल हुआ यह समुद्र " इस वनके वाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है अर्थात् यह बन मुझे रोकनेवाला है " इसलियेही इसपर प्रगट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके बनको वायुके वेगसे अतिशय चंचल और पृथ्वी आकाशके मध्यभागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे ताडना कर रहा है, परंतु इसका यह ताडन करना सव व्यर्थ है ॥ १७८ ॥ हे देव ! गरजता हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानों अपने ऊंचे शब्दोंसे कुलपर्वतोंको यही कह रहा हो कि हे कुलपर्वतो ! तुम्हारी उंचाई बहुत है इसलिये ही क्या तुम अपने पैरोंसे अर्थात् अंतके भागसे हम लोगोंको ताडना करते हो ? याद रक्खो तुमको उलंघन करना कुछ कठिन नहीं है तुम्हारी यह उंचाई व्यर्थ है, क्या तुम हमारे समान अलंघ्य (लंघन करने अयोग्य) हो ? अथवा गंभीर हो ? ॥ १७९ ॥ हे प्रभो ! देखिये यह सर्पका बच्चा अपना विल समझकर खुश होकर मुखफाडे हुये मच्छके मुखमें दौडा जा रहा है तथा वह मच्छ भी अपने गलेमें

मिमभिधावति प्रहृष्टः । त सोऽपि खगलविलावलग्न स्वत्रस्थाविहितदयो निर्जिगलीति ॥ १८० ॥ एष महामणिरश्मिविकीर्णं तोयममुष्य धृतामिषशङ्कः । मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद्वह्निधिया पुनरप्यपयाति ॥ १८१ ॥ लोलतरंगविलोलितदृष्टिर्वृद्धतरोऽसुमति सुमत नः । ही रथमेष तिमिंगिलशङ्की पश्यति पश्य तिमिस्तिमिताक्षः ॥ १८२ ॥ इहामी भुजगाः सरत्नैः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य भोगान् खमुद्वीक्षमाणाः । विभाव्यन्त एते तरंगोरुहस्तैर्धृता दीपिकौघा महावार्द्धिनेव ॥ १८३ ॥ भुजगप्रयातैरिदं वारिराशेर्जलं लक्ष्यतेऽतःस्फुरद्रत्नकोटि । महानीलवेश्मेव दीपैरनेकैर्ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततध्वान्तबुद्धिः ॥ १८४॥ वातावातातुष्करवाद्यध्वनिमुच्चैस्तन्वानेऽब्धौ मद्रगभीरं कृतलास्याः । द्वीपोपाते सततमस्मिन् सुरकन्याः रम्यन्ते मत्तमयूरैः सममेतैः ॥ १८५ ॥ नीलं

चिपटे हुये उस सर्पको अपने अंतरंगमें भरी हुई निर्दयताके कारण निगल रहा है ॥ १८० ॥ इधर देखिये यह मछलियोंका समूह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुये इस समुद्रके जलको कुछ कुछ लाल होनेसे मांस समझकर उसे लेनेके लिये दौडता है और फिर अकस्मात् उसे लाल अग्नि समझकर वहांसे लौट आता है ॥ १८१ ॥ चंचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चंचल हो रही है और जो बहुत बूढा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला वडा मच्छ समझकर बडी निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हे देव ! इसे भी देखिये, हम लोगोंको यह बहुत ही बुद्धिहीन जान पडता है ॥ १८२ ॥ हे स्वामिन्, इधर रत्नसहित फणाओंके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊंचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुये ये सर्प ऐसे जान पडते हैं मानों इस महासागरने लहरेंरूपी अपने बडे बडे हाथोंसे दीपकोंका समूह ही धारण किया हो ॥ १८३ ॥ जिसके भीतर करोडों रत्न स्फुरायमान हो रहे हैं ऐसा इस महासागरका जल सर्पोंके इधर उधर चलनेसे ऐसा जान पडता है मानो अंधकारके समूहको नाश करनेवाले जलते हुये और चलते हुये अनेक दीपकों सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर ही हो ॥ १८४ ॥ जिससमय यह समुद्र वायुके आघातसे नगाडेके समान गंभीर और ऊंचे शब्द करता है उससमय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोंके साथ साथ ये

श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतमोदा विद्युद्वतः स्फुरितभुजगोत्फणरत्नं । आश्लिष्यंतो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तं नोपव्रजितुमलं ते घनकाले ॥ १८६ ॥ पश्याभोधेरनुतटमेना वनराजीं राजीवास्य ! प्रशमिततापा वितताप । वेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः परिधौता नीलां शाटीमिव सुमनोभिः प्रविकीर्णा ॥ १८७ ॥ परित सरसी. सरसैः कलमै. सहितः सुचिर विचरंति मृगाः । उपतीरममुष्य निसर्गसुखा वसतिं निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥ १८८ ॥ अनुतीरवन मृगयूथमिद कनकस्थलमुज्ज्वलित रुचिभिः । परिवीक्ष्य दवानलशंकि भृशं परिधावति धावति तीरभुवः ॥ १८९ ॥ लावण्यादयमभिसारयन् सरित्स्त्री राजस्त-

---

नृत्य करती हुई देवांगनायें सदा क्रीडा किया करती हैं ॥१८५॥ वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एकसे जान पडते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादल भी काले होते हैं और इस समुद्रका जल भी काला रहता है, बादल आनंदित होकर गरजते हैं और समुद्रका जल भी ऊंचे शब्दोंसे गरजता है, बादलोंमें बिजली चमकती है और इस समुद्रके जलमें दैदीप्यमान सर्पोंके फणाओंमें लगे हुये रत्न चमकते हैं, इसप्रकारके बादल अपने समान इस समुद्रके जलको आलिंगन करते हुये वर्षाऋतुमें कहीं भी नहीं जा सकते हैं, यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुंदर मुखको धारण करनेवाले हे देव ! लहरोंके उछलतेहुये जलकी बूंदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साडीके समान सूर्यके संतापको रोकनेवाली और जिसमें पानी भराहुआ है ऐसी इस समुद्रके किनारे किनारेकी वनकी पंक्तियां फैलेहुये फूलोंसे कैसी अच्छी जान पडती हैं इन्हें भी देखिये ॥ १८७ ॥ हे प्रभो ! इस समुद्रके किनारेके वनमें सबतरहके उपद्रवोंसे रहित और इसलिये ही स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर हरे कलमी धानोंको खातेहुये ये हिरण बहुत देरतक इन तालावोंके चारोंओर फिरा करते हैं ॥ १८८ ॥ हे देव देखिये इस समुद्रके किनारेके वनमें अपनी कांतिसे प्रकाशमान ऐसे सुवर्णमयी स्थानोंको देखकर यह हिरणोंका समूह उसे दावानल अग्नि समझकर बहुत शीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लोटताहुआ दौड रहा है ॥ १८९ ॥ हे राजन् ! यह समुद्र सूक्ष्म (महीन) जलरूपी वस्त्रोंको

प्रतनुजलांशुकास्तरंगैः । आश्लिष्यन् मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं सभोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥ १९० ॥ रोधोभुवोऽस्य तनुशीकरवारिसिक्त समार्जिता विरलमुच्छलितैस्तरंगैः । भातीह सततलताविगलत्प्रसूननित्योपहारसुभगा द्युसदा निषेव्याः ॥ १९१ ॥ स्वर्गोद्यानश्रियमिव हसत्युत्प्रसूने वनेऽस्मिन् मंदाराणा सरति पवने मदमद वनातात् । मदाक्राताः सललितपद किंचिदारब्धगानाश्चक्रम्यते खगयुवतयस्तीरदेशेष्वमुष्य ॥ १९२ ॥ अप्सन्यस्तिमिरयमाजिघाँसुराराद‌भ्येति द्रुतमभिभावुकोऽप्सुयोनीन् । शैलेचानपि निगिलँस्तिमीनितोऽन्यो व्यत्यास्ते सममसुना युयुत्समानः ॥ १९३ ॥ जलादजगर-

---

पहिनेहुये इन नदीरूपी स्त्रियोंको अतिशय लावण्य (लवणरूप- खारा) अर्थात् सुंदर होनेसे अपनी ओर बुलाताहुआ तथा अपनी तरंगोंके द्वारा वार वार उनका आलिंगन करताहुआ कभी तृप्त नहीं होता है सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यंत रसिक (जलसहित) होता है वह इस संसारमें अनेकबार संभोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है, ॥ १९० ॥ जो छोटी छोटी बूंदोंके पानीके सींचनेसे साफ होगई है, निरंतर लताओंसे गिरतेहुये फूलोंकी भेटसे जो सदा सुंदर जान पडती है और देव लोग जिसपर सदा निवास किया करते हैं ऐसी यह यहांकी किनारेकी भूमि सदा उछलती हुई लहरोंसे बहुत ही अच्छी जान पडती है ॥ १९१ ॥ हे देव ! जो स्वर्गके नंदनवनकी शोभाकी ओर मानो हँस रहा है ऐसे इस फूलोंसे भरेहुये वनमें मंदार जातिके वृक्षोंके मध्यभागमें यह वायु धीरे धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ कुछ गाना आरंभ किया है ऐसी ये धीरे धीरे चलनेवालीं विद्याधरियें इस समुद्रके किनारेकी भूमिपर लीलापूर्वक पैर रखती उठातीहुई इधर उधर टहल रही हैं ॥१९२॥ इधर देखिये इस जलमें उत्पन्न हुये अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कारकर मारनेकी इच्छा करताहुआ यह इसी जलमें उत्पन्नहुआ बडा मच्छ बहुत शीघ्र दूरसे आकर उनपर टूट रहा है और पर्वतके समान बडे बडे मच्छोंको निगलताहुआ यह दूसरा बडा मच्छ उस पहिले बडे मच्छके साथ लडनेकी इच्छा करता हुआ खडा है ॥ १९३ ॥ हे स्वामिन् ! इधर देखिये इस समुद्रके किनारेपर बडा भारी अ-

स्तिमिं शयुमपि स्थलादंडजो विकर्षति युयुत्सया कृतदृढग्रहो दुर्ग्रहः । तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरेनयो ध्रुव न समकक्षयोरिह जयेतरप्रक्रमः ॥ १९४ ॥ वन वनगजैरिद जलनिधेः समास्फालित वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसाराविणं । मृदगपरिवादनश्रियमुपादधद्दिक्तटे तनोति तटमुच्छलत्सपदि दत्तसमार्ज्जन ॥ १९५ ॥ तरत्तिमिकलेवर स्फुटितशुक्तिशल्काचित स्फुरत्परुपनिःस्वन विधृतरध्रपातालक । भयानकमितो जल जलनिधेर्ल्ललत्पन्नगप्रमुक्ततनुक्तत्तिसशयितवीचिमालाकुल ॥ १९६ ॥ इतो धुतवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन् उपैति शनकैस्तट द्रुमसुगंधिपुष्पाहरः । इतश्च परुषोऽनिलः

जगर जलमेंसे किसी बडे मच्छको अपनीओर खींच रहा है और यह मजबूतीसे पकडनेवाला मच्छ भी उससे लडनेकी इच्छा करताहुआ बहुत मजबूतीसे उसे पकडे हुये जमीनपरसे अपनीओर खींच रहा है तथापि ये दोनों ही एकसे बलवान् हैं इसलिये किसीका भी जय पराजय नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो एकसे बलवान होते हैं उनका जय पराजय कभी निश्चय नहीं होता है ॥१९४॥ जंगली हाथियोंने अपनी सूंडसे जिसका खूब ताडन किया है ऐसा यह समुद्रका पानी जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट और जोरके शब्द कर रहे हैं ऐसे किसी बनके समान तथा मृदंगके वजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और सब दिशाओंमें उछलता हुआ बहुत शीघ्र शीघ्र किनारेको शुद्ध [साफ] करता हुआ जान पडता है ॥ १९५ ॥ जिसमें अनेक मछलियोंका कलेवर तैर रहा है, खुलीहुई सीपोंके टुकडोंसे जो भर रहा है, जिसमें प्रगट कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने छिद्रोंमें पातालको भी धारण कर रक्खा है और जो तैरते हुये सांपोंसे छूटीहुई सफेद कांचलियोंसे लोगोंको ऐसा संदेह उत्पन्न करता है मानों लहरोंके समूहसे व्याप्त ही हो रहा है ऐसा इधर यह समुद्रका जल बहुत ही भयानक हो रहा है ॥१९६॥ हे स्वामिन् ! इधर तो बनको हिलाताहुआ, शीतल जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगंधित पुष्पोंकी सुगंध हरण करता हुआ वायु धीरे धीरे किनारेकी ओर वह रहा है और इधर बडे बडे मच्छोंके कलेवरोंको हिलाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोंके

स्फुरति धौतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुवन् ॥ १९७ ॥ अस्योपांतभुवश्चकासति तरा वेलोच्छलन्मौक्तिकैराकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृश । सेवते सह सुंदरीभिरमरा याः स्वर्गलोकातर तन्वाना धृतसमदास्तटवनच्छायातरून् संश्रिताः ॥ १९८ ॥ एते ते मकरादयो जलचरा मत्वेव कुक्षिंभरिं वाराराशिमनतरायमधिक पुत्रा इवास्यौरसाः । भागस्य प्रतिलिप्सया नु जनकस्याक्रोशतोऽप्यग्रतो युध्यते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धन ॥ १९९ ॥ लोकानदिभिरप्रमापरिगतैरुच्चावचैर्भोगिनामारूढैरधिमस्तक शुचितमैः सतापविच्छेदिभिः । पातालैर्विवृतानर्नैर्मुहुरपि प्रास्यैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विगमो रत्नैर्जलैर्वैरपि ॥ २०० ॥ वज्रद्रोण्याममुष्य कथदिव जठर व्यक्तमुद्बुद्बुदाबु स्फूर्जत्पातालरध्रोच्छ्वसदनिलबलादि-

---

शब्दोंसे भयानक ऐसा यह जोरका वायु बह रहा है ॥ १९७ ॥ जो बडी बडी लहरोंसे उछलते हुये मोतियोंसे व्याप्त होकर भेटमें आयेहुये फूलोंसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढाती है और जहां किनारेके बनके वृक्षोंकी छायामें बैठे हुये देव लोग आनंदित होकर अपनी अपनी देवांगनाओंके साथ क्रीडा करते हैं ऐसी यह समुद्रके किनारेकी भूमि बडी ही अच्छी जान पडती है ॥ १९८ ॥ मगर मच्छ वगैरह जलचर जीव जिसके पास जल रत्न आदि बहुतसा द्रव्य है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन पोषण करनेवाला पिता समझकर खास पुत्रके समान बांटकर अपने भागमें आयेहुये धनको लेनेकी इच्छा करते हुये गर्जनाके शब्दोंके द्वारा रोते हुये अपने पिताके सामने ही क्रोध करते हुये इकट्ठे होकर परस्पर एक दूसरेके साथ लड रहे हैं, हाय ? ऐसे धनके लिये भी धिक्कार हो ॥ १९९ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि इस समुद्रमें मुंह फाडे हुये अनेक बडवानल हैं उनके द्वारा प्रत्येक क्षणमें बहुतसा पानी कम हो जाता है, जल जाता है तथापि जबतक संसार है तबतक लोगोंको आनंद देनेवाले, प्रमाण रहित अर्थात् अनंत, अनेक प्रकारके सर्पोंके मस्तकोंपर चमकते हुये, अतिशय शुद्ध, संतापको दूर करनेवाले और विनाश रहित ऐसे इस समुद्रके रत्न और जलका कभी भी नाश नहीं होता ॥ २०० ॥ हे राजन् ! बहुत बडे पातालरूपी

ष्वगावर्त्यमान । प्रस्तीर्णानेकरत्नान्युपहरति जने नूनमुत्तप्तमतः प्रायो रायां वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमंतर्विदाहं ॥ २०१ ॥ आयुष्मान्निति बहुविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः । (गभीर प्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः) गभीरप्रकृतिरनालसत्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते विना जलर्द्ध्या ॥ २०२ ॥

छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढते हुये वायुके जोरसे जिसपर चारोंओर भँवर पड रहे हैं तथा जिसमें अनेक बुद्बुदा स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं इसप्रकार यह समुद्रका उदर ऐसा जान पडता है मानो बज्रकी कढाईमें औटाया गया ही हो अथवा लोग इसके बडे बडे अनेक रत्न निकाल लिया करते हैं इसलिये मानो इसका अंतःकरण [मन) संतप्त ही हुआ हो, सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग होना प्रायः बडे बडे लोगोंके हृदयको भी बहुत ही संतप्त किया करता है ॥ २०१ ॥ हे चिरंजीव इसप्रकार यह समुद्र प्रायः आपका अनुकरण कर रहा है क्योंकि जिसप्रकार आप आश्चर्य करनेवाली विभूति धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र अनेक आश्चर्यकी विभूतियोंसे भरा है, जिसप्रकार आपके पास बहुतसे रत्न हैं उसीप्रकार इसमें भी बहुत रत्न हैं, जिसप्रकार आप समस्त संसारके लोगोंको जीवित रखनेके (पालन पोषण करनेके) कारण हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी समस्त संसारके जीवोंकी व्यपार आदि उपजीविका करनेका कारण है, जिसप्रकार आप गंभीर स्वभाववाले हैं उसीप्रकार इस समुद्रका स्वभाव भी गंभीर है और जिसप्रकार आप अनल्पसत्त्वयोग अर्थात् अनंत शक्तिको धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्वयोग अर्थात् अनंत जलचर जीवोंको धारण करता है अथवा जिसप्रकार आप अनालसत्व-योग अर्थात् आलसरहित हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनाल-सत्वयोग अर्थात् नालरहित प्राणियोंसे भराहुआ है {जलचर जीवोंके नाल (नाभिनाल) नहीं होता} इसप्रकार यह समुद्र आपका अनुकरण कर रहा है परंतु अंतर केवल इतना है कि यह समद्र जलकी ऋद्धि अर्थात् जलके समूहसे भराहुआ है और आप जल अर्थात् जडके समु-

इत्थ नियतरि परां श्रियमबुराशेरावर्णयत्यनुगतैर्वचनैर्विचित्रैः । प्राप प्रमोदमधिक न चिराच्च संम्राट् सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥ २०३ ॥ अथ रथपरिवृत्यै सारथौ कृच्छ्रकृच्छ्रात् विषमवलनभुग्नग्रीवमश्वान् नुनुत्सौ । धुवति मरुति मदं वीचिवेगोपघाते शिबिरमभि निधीनामीशिता सम्प्रतस्थे ॥ २०४ ॥ कथमपि रथचक्र सारयित्वावरुद्ध प्रवहणकृतकोपान्वाजिनोऽनुप्रसाद्य । रथमविजलमब्धौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानुव्रज्ययेवोच्चचाल ॥ २०५ ॥ अयमयमुदभारो वारिराशेर्वरूथ स्थगयति रथवेगादेष भिन्नोर्मिरब्धिः । इति किल तटसाद्भिस्तर्क्यमाणो रथोऽय जवनतुरगकृष्टः प्राप पारेसमुद्र ॥२०६॥ तरगात्य-

---

दायसे रहित हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार सारथीने जब अनेकप्रकारके मनोहर वचनोंसे समुद्रकी उत्कृष्ट शोभा वर्णन की तब महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा बहुत शीघ्र उसने अपनी छावनीमें जानेकी इच्छा प्रगट की ॥ २०३ ॥

अथानंतर—सारथीने बडी कठिनतासे रथ लौटानेकेलिये कुछ टेडे होकर और गलेको कुछ टेडाकर घोडोंको हांका और जब वायु धीरे धीरे वहने लगा था लहरोंका वेग कुछ शांत होगया था तब निधियोंके स्वामी भरतने डेरोंकी ओर प्रस्थान किया ॥ २०४ ॥ रथके पहिये जो पानीसे रुक गये थे उन्हें किसीतरह [बडे कष्टसे] ऊपर निकालकर बहुत हांकनेसे जिन्हें क्रोध आ रहा है ऐसे घोडोंको धीरज देकर प्रसन्नकर सारथीने समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चलाया, उससमय समुद्रमें भी रथके चलनेसे लहरें उठने लगीं थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानो समुद्र वह चक्रवर्तीके पीछे पीछे ही जा रहा हो ॥२०५॥ अरे यह समुद्रकी बडी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढकलेगी तथा रथके वेगसे इस समुद्रकी लहरें भी फटगई हैं इसप्रकार किनारेपर खडेहुये लोग जिसकेलिये तर्क वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह तेज घोडोंसे खींचाहुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुंचा ॥ २०६ ॥ जिसमें समस्त अंगोंकी रचना सुंदर और एकसी है ऐसा यह रथ समुद्रकी लहरोंको उलंघन करता हुआ राजीखुशी किनारेतक आ पहुंचा है तथा चक्रको धारण करनेवाला यह चक्रवर्ती भी कुशलतापूर्वक

स्तोऽयं समघटितसर्वांगघटनो रथ· क्षेमात्प्राप्तो रथचरणहेतिश्च कुशली । तुरंगा धौतांगा जलधिसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जजल्पुस्त-टजुषः ॥ २०७ ॥ नृपैर्गंगाद्वारे प्रणतिमणिमौल्यर्पितकरैरधस्तात्तद्वेद्या· सजयजयघोषैरधिकृतैः । बहिर्द्वार सैन्यैर्युगपदसकृद्घोपितजयैर्विभुर्दृष्ट· प्रापत्स्वाशिबिरबहिस्तोरणभुव ॥ २०८ ॥ तत्रोद्घोपितमगलैर्जयजयेत्यानदितो बदिभिर्गत्वातश्शिबिर नृपालयमहाद्वार समासादयन् । अतर्वंशिकलोकवारवनितादत्ताक्षताशासनः प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोल्लसत्केतन ॥ २०९ ॥ देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेपाः । आगाध्व-

---

आगया है, समुद्रके पानीसे घोडोंका शरीर कैसा धुलगया है, पानीपर चलनेसे इनके खुर भी नहीं घिसे हैं, अहा महाराज भरतका पुण्य वहुत बडा है, इसप्रकार किनारेके लोग उससमय परस्पर बातचीत कर रहे थे ॥ २०७ ॥ जो वेदीके नीचे गंगाके द्वारपर [जहां गंगा समुद्रमें मिलती है] रक्षाके लिये नियुक्त किये गये हैं तथा जिन्होंने नवायेहुये मणियोंसे जडेहुये मुकुटपर अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं और जय जय शब्द कर रहे हैं ऐसे राजालोग जिसे देख रहे हैं तथा वेदीके दरवाजेके बाहर बार बार एक साथ जय जय शब्द करते हुये सेनाके लोग जिसे देख रहे हैं ऐसा वह प्रभु भरत अपने डेरोंके बाहरवाली तोरणोंकी जमीनपर आ पहुंचा ॥ २०८ ॥ वहांपर जय जय ऐसे मंगल शब्द करतेहुये बंदीजन जिसे आनंदित कर रहे हैं ऐसा वह भरत डेरोंके (छावनीके) भीतर जाकर राजभवनके बडे दरवाजेपर जा पहुंचा, और वहां रणवासके सेवकोंने तथा वेश्याओंने उसे मंगलाक्षत दिये और आशीर्वाद दिया, इसप्रकार उस निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २०९ ॥ अरे ये भरतेश्वर स्वामी समुद्रको जीतकर बिना किसी जखमके आगये हैं इसालिये तुम मंगलाक्षत तथा सिद्ध शेषाक्षत आदि मंगल पदार्थ लाओ, तुम आशीर्वाद दो, तुम यहां बैठो और तुम बहुत शीघ्र महाराजके सामने चलो, इसप्रकार बडा भारी कोलाहल शब्द उससमय सेनामें उठ रहा था ॥ २१० ॥ हे देव ! आप चिरं-

माध्यमिह समुखमेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥ २१० ॥ जीवेति नंदतु भवानिति वर्द्धपीष्ट देवेति निर्जय रिपूनिति गां जयेति । त्व स्ताच्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति पुण्याशिषा शतमलभि तदा स वृद्धैः ॥ २११ ॥ जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिर्देव प्रसाधि वसुधामिति सिद्धरत्न. । त्व जीवताच्चिरमिति प्रथमश्चिरायुरायोजि मगलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥ २१२ ॥ देवोऽयमवुधिमगाधमलभ्यपारमुल्लंघ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात् । पुण्यैकसारथिरिहेति विनातरायै. पुण्ये प्रसेदुपि नृणा किमिवास्त्यलभ्य ॥ २१३ ॥ पुण्यादय भरतचक्रधरो जिगीपुरुद्भिन्नवेलमानिलाहतवीचिमाल । प्रोल्लंघ्य वार्द्धिममर सहसा विजिग्ये पुण्ये वलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यं ॥ २१४ ॥ पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमा पृथ्वीं स्वसादकृत चक्रधरः

जीव रहें, सदा सुखोंका अनुभव करें, लक्ष्मी आदिके द्वारा सदा वढते रहें, हे देव ! आप शत्रुओंको जीतिये, पृथ्वीको जीतिये, हे देव ! आप चिरकालतक जीवित रहें, और आपकी सव इच्छायें पूर्ण हों इसप्रकार भरतने उससमय वृद्ध लोगोंसे सेकडों पुण्यरूप आशीर्वाद प्राप्त किये ॥ २११ ॥ शत्रुओंको जीतनेवाले हे देव ! तू सदा शत्रुओंको जीत, चक्र आदि समस्त रत्नोंको सिद्ध करनेवाले हे प्रभो ! पृथ्वीका पालनकर, हे चक्रवर्तियोंमें चिरंजीवी प्रथम चक्रवर्ती तू वहुत दिनतक जीवित रह, इसप्रकार आशीर्वादके वाक्य मंगल समझकर वृद्ध लोग वार वार कह रहे थे ॥ २१२ ॥ जिसको पुण्य ही एक सहायक है ऐसा यह भरतेश्वर अगाध और पाररहित ऐसे समुद्रको उलंघनकर तथा विजय प्राप्तकर विना किसी विघ्नके यहां वापिस आगया है सो ठीक ही है क्योंकि जव मनुष्योंका पुण्य निर्मल होता है तव अलंघनीय अर्थात् न मिलने योग्य पदार्थ कौनसा रह जाता है अर्थात् कोई नहीं ॥ २१३ ॥ सवको जीतनेकी इच्छा करनेवाले इस भरत चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही जिसमें ज्वारकी ऊंची लहरें उठ रहीं हैं और जिसकी लहरोंके समूहको वायु ताडना कर रहा है ऐसे समुद्रको उलंघनकर विना किसी परिश्रमके मागधदेवको जीतलिया, सो ठीक ही है जव पुण्य वलवान् होता है तव फिर संसारमें ऐसा कौनसा पुरुष वाकी रहजाता है जो जीता न जा सके ?॥२१४॥ जिसकी

पृथुश्रीः । दुर्लंघ्यमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात्परं न खलु साधनमिष्टसिध्यै ॥ २१५ ॥ चक्रायुधोऽयमरिचक्रभयंकरश्रीराक्रम्य सिंधुमतिभीषणनक्रचक्रं । चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्य पुण्यात्पर नहि वशीकरण जगत्या ॥ २१६ ॥ पुण्य जले स्थलमिवाभ्युपपद्यते नॄन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु निहंति ताप । पुण्य जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्त ॥ २१७ ॥ पुण्यं पर शरणमापदि दुर्विलंघ्यं पुण्यं दरिद्रति जने धनदायि पुण्यं । पुण्य सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्न पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिनुध्व ॥ २१८ ॥ पुण्य जिनेंद्रपरिपूजनसाध्यमाद्य पुण्य सुपात्रगतदान-

---

संपत्ति बहुत बडी है ऐसे इस चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रव और विघ्नके उलंघन करने अयोग्य ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथ्वी अर्थात् समुद्रतककी समस्त पृथ्वी अपने वश की, इसलिये कहना पडता है कि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिकेलिये पुण्यके सिवाय और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिये जिसकी संपत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे भरत चक्रवर्तीने मगर मच्छ आदि जलचर जीवोंसे अत्यंत भयानक ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर अन्य किसीके वश न होने योग्य ऐसे मागध देवको भी नियमित रीतिसे अपने वश किया, इससे सिद्ध है कि तीनों लोकोंमें पुण्यके सिवाय अन्य कोई वश करनेवाला नहीं है ॥२१६॥ यह पुण्य मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान बहुत शीघ्र संताप दूर करता है, तथा पुण्य ही जल और स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिये हे प्राणियो ! तुम लोग जिनेंद्रदेवके कहेहुये पुण्यकर्मोंको करो ॥ २१७ ॥ यह पुण्य आपत्तियोंमें परम शरण है, इसे कोई उलंघन नहीं कर सकता, पुण्य ही दरिद्री मनुष्योंको धन देने वाला है और पुण्य ही सुख चाहनेवाले लोगोंको सुख देनेवाला एक रत्न है, इसलिये सज्जन पुरुषो ! इस जिनेंद्रदेवके कहे हुये पुण्य कर्मको अवश्य संचय करो ॥ २१८ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे उत्पन्न हुआ पहिला पुण्य है तथा सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, मुनि और श्रावकोंके व्रत पालन करनेसे उत्पन्न

समुत्थमन्यत् । पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयं ॥ २१९ ॥ इत्थं स्वपुण्यपरिपाकजमिष्टलाभं स श्लाघयन् ज़नतया श्रुतपुण्यघोषः । चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत् ॥ २२० ॥ धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि स्पृशति पवने मंदं मंद तरंगविभेदिनि । अनुसुरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिविजयश्लाघाशीर्भिर्जिनाननुचिंतयन् ॥ २२१ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंशं पर्व ॥ २८ ॥

हुआ तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है, इसप्रकार जिनेंद्रदेवकी पूजन करना, सुपात्रको दान देना, व्रत पालन करना और उपवास करना यह चार प्रकार पुण्य है सो पुण्य उत्पन्न करनेवालोंको सदा संचय करना चाहिये ॥ २१९ ॥ इसप्रकार जिसने समस्त लोगोंसे पुण्यकी घोषणा सुनी है तथा अपने पुण्यकर्मके उदयसे समस्त इष्ट वस्तुयें प्राप्त की हैं ऐसा वह चक्रवर्ती सभामंडपमें आकर राजाओंके समूहके मध्यमें इंद्रके समान बडे भारी सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ २२० ॥ उससमय किनारेके वनोंको हिलानेवाला, रक्त अशोक आदि वृक्षोंके नवीन छोटे छोटे पत्तोंके संपुटको अलग अलग करनेवाला और समुद्रकी लहरोंको भिन्न भिन्न करनेवाला वायु धीरे धीरे बह रहा था ऐसे उससमय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और अनेक आशीर्वादोंके साथ साथ श्रीजिनेंद्रदेवको स्मरण करते हुये उस चक्रवर्तीने गंगाके किनारे किनारे पडी हुई सेनाके साथ साथ सुखसे निवास किया ॥ २२१ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें समुद्रके पूर्वद्वारको विजय करनेका वर्णन करनेवाला यह अट्ठाईसवा पर्व समाप्त हुआ ।

एकोनत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीं । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधिं ॥ १ ॥ यतोऽस्य पटुढक्कानां ध्वनिरामन्द्रमुच्चरन् । मूर्छितः काहलारावैरब्धिध्वानं तिरोदधे ॥ २ ॥ प्रयाणभेरीनिस्वानः समूर्छन् गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत्क्षोभं हृदयानि च विद्विषां ॥ ३ ॥ विबभुः पवनोध्दूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव कल्लोलानुद्वेलानाजुहूषवः ॥ ४ ॥ एकतो लवणाम्भोधिरन्यतोप्युपसागरः । तन्मध्ये यान्बलौघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥ ५ ॥ हस्त्यश्वरथपादात देवाश्च सनभश्चराः । षडङ्गबलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसीः ॥ ६ ॥ पुरः प्रतस्थे दण्डेन चक्रेण तदनन्तरं । ताभ्यां विशोधिते

अथ उन्तीसवां पर्व.

अथानंतर—चक्रवर्तीने सेवेरे ही उठकर समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर, दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करता हुआ वह समुद्रके किनारे किनारे चला ॥ १ ॥ जिससमय चक्रवर्ती जा रहा था उससमय तुरईके शब्दोंसे मिली हुई बडे बडे नगाडोंकी निकलती हुई गंभीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥ २ ॥ हाथियोंकी चिंघारोंके साथ साथ चलनेके समय होनेवाले नगाडोंके शब्द सब दिशाओंको क्षुब्ध कर रहे थे और शत्रुओंके हृदयोंको भी क्षुब्ध (व्याकुल) कर रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे हिलती हुई जयपताकायें (जीतकी ध्वजायें) ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी बडी बडी लहरोंको बुला रही हीं हों ॥ ४ ॥ चलती हुई सेनाके एकओर तो [दक्षिणकी ओर) समुद्र था और दूसरी उत्तरकी ओर उपसागर था, इन दोनोंके बीचमें चलती हुई वह चक्रवर्तीकी सेना ऐसी अच्छी जान पडती थी मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥ ५ ॥ हाथी, घोडे, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना पृथ्वी आकाश दोनोंमें व्याप्त होकर फैल गई थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दंडरत्न और फिर चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा

मार्गे तद्बल प्रययौ सुखं ॥ ७ ॥ तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितं । दण्डोऽपि दस्युपक्षस्य कालदण्ड इवापर. ॥ ८ ॥ प्रययौ निकषांभोधिं समया तटवेदिका । अनु वेलावनं संम्राट् सैन्यैः सश्रावयन् दिशः ॥ ९ ॥ अनु वार्धितटं कर्षन्नलंघ्या स्वामनीकिनीं । आज्ञालता नृपाद्रीणां मूर्ध्नि रोपयति स्म स· ॥ १० ॥ चलिते चलित पूर्वं निर्याते नि.सृत पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन् सेनानीभिरिवारिभि. ॥ ११ ॥ निष्क्रात इति सम्भ्रान्तैरायात इति भीवशै· । प्राप्त इत्यनवस्थैश्च प्रणेमे सोऽरिभूमिपै. ॥ १२ ॥ महापगारयस्येव तरस्य बलीयसः । यो यः प्रतीपमभवत्स स निर्मूलता ययौ ॥ १३ ॥ प्र-

---

साफ किये हुये मार्गमें सुख पूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ वह चक्र शत्रुओंको विदारण (नाश) करनेके लिये करौंत वा आरीके समान था तथा दंड भी अपराधी लोगोंके लिये दूसरे कालदंडके समान था ॥ ८ ॥ वह चक्रवर्ती समुद्रके किनारे किनारे, किनारेकी वेदीके पास पास किनारेके वनके अनुसार अपनी सेनाके शब्दोंके द्वारा समस्त दिशाओं और शत्रुओंको सचेत करता हुआ चला ॥ ९ ॥ अपनी अलंघनीय सेनाको समुद्रके किनारे किनारे चलाता हुआ वह चक्रवर्ती अपनी आज्ञारूपी वेलको अनेक राजा रूपी पर्वतोंके मस्तकोंपर चढाता जाता था ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उसके सेनापतिके समान थे क्योंकि जिसप्रकार सेनापति महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिलेसे ही अपनी तैयारी करलेता था उसीप्रकार शत्रु भी महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिले ही अपनी चलनेकी तैयारी कर लेते थे, सेनापति जिसप्रकार महाराजके निकलनेपर आगे निकल जाता है उसीप्रकार वे शत्रु भी महाराजके निकलनेपर उनके आगे निकल जाते थे और सेनापति जिसप्रकार महाराजके चलनेपर चलने लगता है उसीप्रकार शत्रु भी महाराजके चलनेपर उनके साथ चलते थे ॥ ११ ॥ ‘ राजा भरत निकला ’ यह सुनकर शत्रु राजा व्याकुल होकर उसे प्रणाम करते थे, ‘ चक्रवर्ती आया ’ यह सुनते ही डरकर आकर प्रणाम करते थे और ‘ समीप आया ’ यह सुनकर अस्थिर चित्त होकर आकर उसे प्रणाम करते थे ॥ १२ ॥ जिसप्रकार बडे

तीपवृत्तिमादर्गे छायात्मानं च नात्मनः । विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ किमुत द्विप ॥ १४ ॥ चमूरवश्रवादेव कैश्चिदस्य विरोधिभिः । चमूरुवृत्तमारब्धमतिदूरं पलायिभि. ॥ १५ ॥ महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद्भयादुत्सृष्टमडलैः । भुजगैरिव निर्मोकस्तत्यजेऽपि परिच्छदः ॥ १६ ॥ प्रदुष्टान्भोगिनः कॉश्चित्प्रभुरुध्दत्य मंत्रतः । वल्मीकेष्विव दुर्गेषु कुल्यानन्यानतिष्ठपत् ॥ १७ ॥ अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यषेवि सुखशीतला ॥ १८ ॥ केषाचित्पत्रनिर्मोक्षं छायापाय च भूभुजा । पादपानामिव ग्रीष्म' समभ्यर्णश्चकार सः ॥ १९ ॥ ध्वस्तोष्मप्रसरा गाढमुच्छ्वसंतोऽतराकुलाः ।

वेगवाली नदीके किनारेका वृक्ष यदि वह नव न जाय तो जडसे उखडकर वह जाता है उसीप्रकार जो राजा इस महा बलवानका विरोधी हुआ था वह वंश सहित नष्ट हो गया था ॥ १३ ॥ एक महा पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह चक्रवर्ती दर्पणमें उलटी पडीहुई अपनी छायाको (प्रतिबिंब) भी देख नहीं सकता था वह क्या अपने विरोधी शत्रुओंको सहन कर सकेगा ? ॥ १४ ॥ उसकी सेनाके शब्द सुनकर ही कितने ही विरोधी राजाओंने बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति धारण की थी, अर्थात् वे बहुत दूर भाग गये थे ॥ १५ ॥ जिसप्रकार बडे २ फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपनी काचली छोड जाते हैं उसीप्रकार भयसे जिन्होंने अपना राज्य भी छोड दिया है ऐसे बडे बडे कितने ही राजा लोगोंने अपने छत्र चामर सेना आदि राजचिन्ह भी छोड दिये थे ॥ १६ ॥ जिसप्रकार दुष्ट सर्पोंको मंत्रके जोरसे उठाकर वामीमें स्थापन कर देते हैं उसीप्रकार भरतने अन्य कितने ही दुष्ट राजाओंको उखाडकर किलोंमें बंद कर दिया था और उनकी जगहपर अन्य कुलीन राजाओंको विठाया था ॥ १७ ॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं था और जो अपनेको किसीतरहका संताप नहीं देना चाहते थे ऐसे अन्य कितने ही राजाओंने सुख और शांति, देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥ १८ ॥ जिसप्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु कितने ही वृक्षोंके पत्ते नाश कर देता है और कितने ही वृक्षोंको छायारहित कर देता है उ-

प्राप्तेरिमन्वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषता ॥ २० ॥ वैरकाम्यति यो नास्मिन्प्रागेव विननाश सः । विदध्यापयिषुर्वह्निं शलभ कुशली किमु ॥ २१ ॥ वस्तुवाहनसर्वस्वमाछिद्य प्रभुराहरत् । अरित्वमरिचक्रेषु व्यक्तमेव चकार सः ॥ २२ ॥ स्वयमर्पितसर्वस्वा नमतश्चक्रवर्तिनं । पूर्वमप्यरयः पश्चादधिकारित्वमाचरन् ॥ २३ ॥ साधनैरमुना क्रान्ता या धरा धृतसाध्वसा । सा धनैरेव त तोष नीत्वाभूद्धृतसाध्वसा ॥ २४ ॥ कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्वा

सीप्रकार भरतने समीप जाकर कितने ही अभिमानी राजाओंके हाथी घोडे आदि वाहन नष्ट कर दिये और कितनोंको हा कांति रहित करदिया ॥ १९ ॥ भरतके समीप पहुंचने पर अन्य कितने ही शत्रु राजाओंका तेज नष्ट होगया था, उनके श्वासोच्छ्वास शीघ्र शीघ्र आने लगे थे और उनका अंतःकरण बहुत व्याकुल हो गया था, उनका केवल मरना ही वाकी रह गया था शेष सब मरनेके चिन्ह हो गये थे ॥ २० ॥ जिसने भरतके साथ विरोध करनेकी इच्छा की थी वह पहिले ही नष्ट हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो पतंगा अग्निको बुझाना चाहता है वह क्या राजी खुशी रह सकता है ॥ २१ ॥ भरतने शत्रुओंके मोती मणि आदि रत्न, हाथी घोडे आदि वाहन और इसके सिवाय सब धन खींचकर ले लिया था और इसप्रकार समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको साफ अ-रि अर्थात् निर्धन बना दिया था ॥ २२ ॥ जिन राजाओंने अपना सब धन स्वयं भेटकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया था वे यद्यपि पहिले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे भरतकी सेनामें वडे अधिकारी हुये थे ॥ २३ ॥ इसप्रकार जो पृथ्वी पहिले भरतकी सेनासे व्याप्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथ्वी अपने धनसे भरतको संतुष्टकर निर्भय हो गई थी ॥ २४ ॥ वडे वडे कुलोंमें उत्पन्न हुये अनेक राजाओंने महाराज भरतको अपने कुलपरंपरासे चला आया ऐसा रत्न आदि धन देकर फिरसे अपनी पृथ्वी प्राप्त की, सो ठीक ही है क्योंकि रत्न आदि कुलपरंपरासे चला आया धन और नदीका पानी ये दोनों ही पृथ्वीसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये ये सब जीतनेवालेके है, भावार्थ—रत्न आदि जो भरतको

स्वां भुवमार्जिजन् । कुल्याघनजलौघाश्च जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥ २५ ॥ प्रजाः करभराक्रांता यस्मिन् स्वामिनि दुःखिताः । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदंड न्यधाद्विभुः ॥ २६ ॥ निजग्राह नृपान्दृप्तानन्जग्राह सत्क्रियान् । न्यायः क्षात्रोऽयमित्येवं प्रजाहितविधित्सया ॥ २७ ॥ योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेष्वपि प्रायस्तस्य चिंत्यत्वमीयतुः ॥ २८ ॥ पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य मता वर्णाश्रमाः प्रजाः । पार्थिवा. सार्वभौमस्य प्रजायते नते धृताः ॥ २९ ॥ पुण्य साधनमस्यैक चक्र तस्यैव पोषक । तद्द्वय साध्यसिध्यग सेनागानि विभूतये ॥ ३० ॥ इति मडलभूपालान्बलात्प्रणमयन्नयं ।

दिये गये थे वे सब उसीके समझने चाहिये क्योंकि वह ही सबका जीतनेवाला था ॥ २५ ॥ जिस राजाकी प्रजा करके बोझसे दवकर दुखी हो रही थी उसे राज्य पदसे हटाकर भरतने उसकी जगह पर किसी नीतिमान् राजाको बिठाया ॥ २६ ॥ जो राजा संपत्ति आदिके अभिमानसे अभिमानी हो रहे थे उन्हें भरतने यथायोग्य दंड दिया और जो नीतिमान् थे उनपर कृपा की, सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके हितकी इच्छा होनेसे क्षत्रियोंका यह इस प्रकारका ही न्याय है ॥ २७ ॥ जो वस्तु नहीं है उसको प्राप्त करना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम कहलाता है, भरतने जगतकी स्थितिके लिये केवल प्रजाके लिये ही योग और क्षेमकी चिंता नहीं की थी किंतु प्रजाको पालन करनेवाले अन्य राजाओंके लिये भी योग क्षेमकी चिंता उसे हुई थी ॥ २८ ॥ किसी एक देशके राजाकी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चारों ही वर्णवाली प्रजा रहती है, तथा चक्रवर्तीकी प्रजा नम्र हुये सब ही राजा हैं, इसलिये ही चक्रवर्तीको राजा प्रजा सबकी चिंता रहती है ॥ २९ ॥ भरतको सबको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही कारण था, तथा चक्ररत्न इसकी पुष्टि करनेवाला था, और पुण्य तथा चक्ररत्न ये दोनों ही उसके विजयरूप साध्यकी सिद्धिके मुख्य कारण थे, बाकी हाथी घोडे आदि सेनाके अंग सब उसकी विभूति अर्थात् वडप्पन दिखलानेके लिये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार भरतने सब मांडलिक राजाओंसे जवर्दस्ती प्रणाम कराया, उसने उन मांडलिक राजाओंका केवल

मानमेवाभनक् तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥ ३१ ॥ प्रतिप्रयाणमभेत्य प्राणमिनुरमुं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहंतः स्वेषु मूर्द्धसु ॥ ३२ ॥ प्रणता-ननुजग्राह सातिरेकैः फलैः प्रभुः । किमु कल्पतरो सेवास्यफलाऽल्पफलापि वा ॥ ३३ ॥ सप्रेक्षणैः स्मितैर्हासैः सविश्रम्भैश्च जल्पितैः । सम्राट् सभाव-यामास नृपान्संमाननैरपि ॥ ३४ ॥ स्मितैः प्रसाद संजल्पैर्विश्रभ हसितैर्मुदं । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्तिस्म नृपेषु सः ॥ ३५ ॥ अताप्सीत्प्रणतानेष समताप्सीद्विरोधिनः । शमप्रतापौ क्षमा जेतु पार्थिवस्योचितौ गुणौ ॥३६॥ प्रसन्नया दृशैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूभंगेण स्फुटः कोपः सत्यं बहुनटो

मानभंग किया था, अपनी सेवा करनेके लिये जो उनका प्रेम था वह उसने भंग नहीं किया ॥ ३१ ॥ अपने प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करतेहुये अनेक राजालोग प्रत्येक पडावपर आकर उसे नमस्कार करते थे ॥ ३२ ॥ जिन राजाओंने आकर प्रणाम किया था उनपर भरतने विशेष अधिक फल देकर कृपा की थी सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा करना क्या कभी विना फल देनेवाली अथवा थोडा फल देनेवाली हुई है ? ॥ ३३ ॥ महाराज भरतने कितने ही राजाओंको उनकी ओर देखकर प्रसन्न किया, कितने ही को थोडा हँसकर प्रसन्न किया, कितनेको कुछ अधिक हँसकर प्रसन्न किया, कितनोंके साथ बातचीतकर उन्हें प्रसन्न किया और कितनोंको ही आदर सत्कारकर प्रसन्न किया ॥ ३४ ॥ भरतने कितनोंके ही साथ कुछ हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की, कितनोंके साथ बातचीतकर अपना विश्वास प्रगट किया, कितनोंके साथ हँसकर अपना हर्ष प्रगट किया और कितने ही राजाओंको देखकर अपना प्रेम प्रगट किया ॥ ३५ ॥ जिन राजाओंने आकर उसे प्रणाम किया था उन्हें भरतने संतुष्ट किया और जिन्होंने उसके साथ विरोध किया था उन्हें उसने संताप दिया, सो ठीक ही है क्योंकि पृथ्वीको जीतनेके लिये शांतता और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण हैं ॥ ३६ ॥ जो उसे आकर प्रणाम करते थे उनके लिये अपनी प्रसन्न दृष्टिसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करता था और जो उसके शत्रु थे उनकेलिये

नृपः ॥ ३७ ॥ अगान्मणिभिरत्यगैर्वंगास्तुगेर्मतंगजैः । तैश्च तैश्च कालिंगेशान्सोऽभ्यनददुपानतान् ॥ ३८ ॥ मागधीयितमेवास्य स्फुटं मागधकैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलाषुकैः ॥ ३९ कुरूनवंतीन्पाचालान्काशींश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनायासादाचकर्ष चमूपतिः ॥ ४० ॥ व्रजन्मद्रांश्च कच्छांश्च वेदीन्वत्सान्ससुत्प्रकान् । पुड्रानौंड्रांश्च गौडांश्च मतमश्र्रावयद्विभो ॥ ४१ ॥ दशार्णान्कामरूपांश्च काश्मीरानप्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपाला-न्सोऽचिराद्वशमानयत् ॥ ४२ ॥ ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकालिंगागारजान्गजान् । गिरीनिव महोच्छ्रायान्प्रश्चोतन्मदनिर्झरान् ॥ ४३ ॥ दशार्णकवनोद्भूता

अपनी भौंहें टेडीकर अपना क्रोध प्रगट कर रहा था, सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग प्रायः महानट [अनेक तरहके देखपडने वाले] होते ही हैं ॥ ३७ ॥ बहुमूल्य मणियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये अंगदेशके राजाओंपर, ऊंचे ऊंचे हाथियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये बंगाल देशके राजाओंपर और माणि तथा हाथी दोनोंको भेटकर नमस्कार करते हुये कालिंग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥ ३८ ॥ मगधदेशके राजा भरतको प्रसन्न करनेकेलिये उसके वडे बडे गुण गा रहे थे इसलिये वे ठीक वंदीजनोंके [गुण गानेवाले भाट वा चारणोंके] समान जान पडते थे ॥ ३९ ॥ भरतके सेनापतिने कुरु, अवंती (उज्जैन) पंचाल, काशी कोशल और विदर्भ आदि देशोंके राजाओंको सहज ही अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् वश करलिया था ॥ ४० ॥ मंद्र, कच्छ, वेदी, वत्स, सुत्प्र पुंड्र, औंड्र और गौड देशमें फिरते हुये सेनापतिने सब जगह अपने स्वामी भरतकी विजय आज्ञा सुनाई थी ॥ ४१ ॥ उसने दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वश कर लिया था ॥ ४२ ॥ वहांके अनेक राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने बह रहे हैं ऐसे पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले, कलिंग और अंगारदेशमें उत्पन्न होनेवाले पर्वतोंके समान बडे बडे ऊंचे हाथी महाराजके भेट किये थे ॥ ४३ ॥ जिन बनोंमें हाथी उत्पन्न होते थे उनके स्वामियोंने दिग्गजोंकी स्पर्द्धा करनेवाले दशार्णक वनमें उत्पन्न हुये तथा

नपि चेदिकसेरुजान् । दिङ्नागस्पर्द्धिनो नागानदुर्नागवनाधिपाः ॥ ४४ ॥ बिभेर्वलभरक्षोभमसहतीव दुःसह । सुपुवेऽनंतरत्नानि गार्भिणीव वसुंधरा ॥ ४५ ॥ आ पाडुरगिरिप्रस्थादा च वैभारपर्वतात् । आ शैलाद्गोरथादस्य विचेरुर्जयकुजरा॰ ॥ ४६ ॥ वगागपुड्रमगधान्मालवान्काशिकोशलान् । सेनानी परिबभ्राम जिगीपुर्जयसाधनै॰ ॥ ४७ ॥ कालिंदकालकूटौ च किरातविषय तथा । मल्लदेश च सप्रापन्मतादस्य चमूपति. ॥ ४८ ॥ धुनीं सुमागधीं गगा गोमतीं च कपीवतीं । रेवस्या च नदीं तीर्त्वा भ्रेमुरस्य चमूगजाः ॥ ४९ ॥ गभीरामतिगंभीरा कालतोया च कौशिकीं । नदीं कालमहीं ताम्रामरुणा निधुरामपि ॥ ५० ॥ त लौहित्यसमुद्र च कवुक च महत्सर. । चमूमतगजास्तस्य भेजुः प्राग्यवनोपगाः ॥ ५१ ॥ दक्षिणेन नद शोणमु-

---

चेदि और कसेरू देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट किये थे ॥ ४४ ॥ उससमय गर्भिणीके समान उस पृथ्वीने चक्रवर्तीकी सेनाका बडी कठिनतासे सहन करने योग्य बोझको न सह सकनेके कारण ही क्या मानो अनंत रत्न उत्पन्न किये थे ॥ ४५ ॥ हिमवान पर्वतके नीचले भागसे लेकर वैभार पर्वततक तथा गोरथ पर्वततक सब जगह भरतके विजयी हाथी फिरते थे ॥ ४६ ॥ सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ भरतका सेनापति अपनी सब सेना लेकर वंग, अंग, पुंड्र, मगध, मालवा, काशी, कौशल आदि सब देशोंमें घूमा था ॥ ४७ ॥ भरतकी आज्ञासे वह सेनापति कालिंद देशमें, कालकूट देशमें, भीलोंके देशमें और मल्ल देशमें पहुंचा था ॥ ४८ ॥ उस भरतकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रेवस्या आदि नदियोंको तैरकर चारोंओर घूम रहे थे ॥ ४९ ॥ पूर्व दिशाके बनके समीप समीप जानेवाले उसकी सेनाके हाथी अतिशय गहरी ऐसी गंभीर नामकी नदी तथा कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा, निधुरा आदि नदियोंमें तथा लौहित्यसमुद्र और कुंबुक नामके बडे सरोवरमें घूमे थे ॥ ५०-५१ ॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उडती हुई धूलिसे सब दिशायें भर दी हैं, जिनकी नाकके नथुने चंचल हो रहे हैं और जो बडे वेगवाले तथा विजयके मुख्य कारण हैं ऐसे भरतके घोडे शोण नामके नदकी दक्षिणओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर,

त्तरेण च नर्मदा । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीं ॥ ५२ ॥ विचेरुः स्वखुरोद्भूतधूलिसंरुद्धादिग्मुखाः । जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा जयसाधनवाजिनः ॥ ५३ ॥ उदुंबरीं च पनसा तमसा प्रमृशामपि । ययुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥ ५४ ॥ चेदिपर्वतमुल्लंघ्य चेदिराष्ट्रं विजिग्यिरे । पपासरोम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरगमाः ॥ ५५ ॥ तमृष्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिताः । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुर्जयिनोऽस्य जयद्विपाः ॥ ५६ ॥ नागप्रियाद्रिमाक्रम्य कुतपावज्ञया विभोः । सेनाचराः स्वसाचक्रुर्गजाश्चेदिकसेरुजान् ॥ ५७ ॥ नदीं छत्रवतीं क्रान्त्वा वन्येभक्षततरोधस । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरङ्गमैः ॥ ५८ ॥ रुध्वा माल्यवतीतीरवनं वन्येभसंकुलं । यामुनं च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिशः ॥ ५९ ॥ अनु वेणुमतीतीरं गत्वाऽस्य

बीजा नामकी नदीके दक्षिण उत्तर दोनों किनारोंपर और मेखला नदीके चारोंओर घूमे थे ॥ ५२-५३ ॥ भरतके हाथी उदुंवरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना आदि नदियोंतक जा पहुंचे थे ॥ ५४ ॥ चेदि नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि नामके राज्यको जीता था तथा भरतके वे घोडे पंपा नामके सरोवरके जलको पारकर घूम रहे थे ॥ ५५ ॥ सबको विजय करनेवाले उस भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक नामके पर्वतको उलंघनकर कोलाहल नामके पर्वतपर जा पहुंचे थे और फिर माल्यनामके पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुंचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने लीला पूर्वक ही नागप्रिय नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि और कमेरु देशमें उत्पन्न हुये हाथियोंको भी अपने वश कर लिया था ॥ ५७ ॥ उसकी सेनाके वीर पुरुष घोडोंके द्वारा छत्रवती नदीको उलंघनकर जिसके किनारे बनके हाथियोंसे खूंदे गये हैं ऐसी चित्रवती नदीतक जा पहुंचे थे ॥ ५८ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये ऐसे माल्यवती नदीके किनारेके बनको घेरकर और यमुनाका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उधरकी दिशायें अर्थात् सब देश जीते थे ॥ ५९ ॥ उसकी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे किनारे जाकर वत्सदेशकी भूमि उलंघन की और फिर दशार्ण देशकी भूमि उलंघन की थी ॥ ६० ॥

(१) यहांपर मूलमें पपु ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि उन हाथियोंने इन नदियोंका पानी पीया था ।

जयसाधन । वत्सभूमिं समाक्रम्य दशार्णामप्यलङ्घयत् ॥ ६० ॥ विशाला नालिका सिंधु पारा नि·कुंदरीमपि । बहुवज्रा च रम्या च नदीं सिकतिनीमपि ॥ ६१ ॥ कुहा च समतोया च कजामपि कपीवतीं । निर्विंध्या च धुनीं जबूमतीं च सरिदुत्तमा ॥ ६२ ॥ वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्करावतीं । सिप्रा च कृतमाला च परिंजा पनसामपि ॥ ६३ ॥ नदीमवंतिकामा च हस्तिपानीं च निम्नगा । कागधुन्यापगा व्याघ्रीं धुनी चर्मण्वतीमपि ॥ ६४ ॥ शतभागा च नदा च नदी करभवेगिनी । चुल्लितापीं च रेवा च सप्तपारा च कौशिकीं ॥६५॥ सरितोऽमूरगाधापा विष्वगारुध्य तद्बल। तुरगमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥ ६६ ॥ तैराश्रिक गिरिं क्रांत्वा रुध्वा वैडूर्यभूधर । भटाः कुटाद्रिमुल्लंघ्य पारियात्रमशिश्रयन् ॥ ६७ ॥ गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्सानून्स्मितगिरेरपि । गदागिरेर्निकुंजेषु बलान्यस्य विशश्रमुः ॥ ६८ ॥ वातपृष्ठदरीभागानृक्षवत्कुक्षिभिः समम् । तत्सैनिकाः श्रयति स्म कवलाद्रि-

---

भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिंधु, पारा, निष्कुंदरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतनी, कुहा, समतोया, कुंजा, कपीवती, निर्विंध्या अति उत्तम जंबूमति, वसुमती, समुद्रतक पहुंचनेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिंजा, पनसा, अवंतिकामा, हस्तिपानी, कागंधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नदा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा और कौशिकी आदि अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारोंओरसे घेरकर घोडोंके खुरोंसे जिनके किनारे खुदकर पडगये हैं ऐसी बहुत चौडी बना दी थीं ॥ ६१-६६ ॥ शूरवीरोंने तैराश्रिक नामके पर्वतको उलंघनकर वैडूर्य नामका पर्वत अपने वश किया, और फिर कूटाचलको उलंघनकर पारियात्र नामके पर्वतपर विश्राम किया ॥ ६७॥ इसीप्रकार वह सेना पुष्पगिरिके शिखरपर चढकर स्मित नाम पर्वतके ऊपर चढी, और फिर वहांसे चलकर उसने गदा नामके पर्वतकी लतामंडपोंमें विश्राम लिया ॥ ६८ ॥ तथा जिसकी गुफायें रीछोंसे भरी हुई हैं ऐसे बातपृष्ट नाम पर्वतकी गुफाओंका आश्रय भी उस सेनाने लिया और फिर वह सेना कंबल नामके पर्वत पर भी जा चढी ॥ ६९ ॥ फिर वह सेना वासवंत महापर्वतको उलंघनकर असुर और धूपन पर्वतपर कुछ ठहरकर मदेभ और अंगिरेयिक पर्वतपर जा पहुंची ॥ ७० ॥ सेनाके लोग

तटान्यपि ॥ ६९ ॥ वासवतं महाशैलं विलंघ्यासुरधूपने । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन्मदेभानंगिरेयिकान् ॥ ७० ॥ निःसपत्नमिति भ्रेमुरितश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान्वनविभागेषु कर्षतोऽस्य निजैर्गजै. ॥ ७१ ॥ दुस्तराः सुतरा जाताः समुक्ता. सरितो बलैः । स्वारोहाश्च दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥ ७२ ॥ राष्ट्राण्यवधयस्तेषा राष्ट्रीयाश्च महीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चामुना फलै. ॥ ७३ ॥ नृपानवारपारीणान् द्वैप्यानप्युपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य पुपोष वनजान्गजान् ॥ ७४ ॥ रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सित । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्ञया ॥ ७५ ॥ महाति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलरुद्धानि किमसाध्य महीयसा ॥ ७६ ॥ इत्थ स पृथिवीमध्यात्पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान् । प्रतस्थे दक्षि-

---

उस सब देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनोंमें अनेक हाथियोंको पकडते हुये इधर उधर घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियां गहरीं थीं जिनमें तैरना भी कठिन था उनका पानी जब सेनाने नहा धो पीकर खर्च कर दिया तब वे ही नदियां सहज तैरने योग्य कम गहरी रह गई थीं तथा जिन पर्वतोंपर चढना कठिन था उनके शिखर सेनाके द्वारा टूट जानेसे वे पर्वत सहजरीतिसे चढने योग्य होगये थे ॥ ७२ ॥ देशोंकी सीमायें और उन देशोंके राजा लोग फलके लिये ही भरतके समीप आये थे तथा भरतने भी अनेक प्रकारके फलोंसे उन्हें संतुष्ट किया था ॥ ७३ ॥ जो राजा उपसागरके पार रहते थे अथवा उपसागरके द्वीपोंमें रहते थे उन सबको भरतने अपनी सेनासे वश किया था तथा जंगली हाथियोंको पकड पकडकर पालन किया था ॥ ७४ ॥ भरतने उन राजाओंसे अपनी इच्छानुसार अनेकप्रकारके रत्न प्राप्त किये थे तथा फिर अपनी आज्ञामें रखकर उन्हें उनके उसी राज्यपर विराजमान किया था ॥ ७५ ॥ जो बडे बडे किले पहाडोंके ऊपर थे तथा जो जमीनके नीचे थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके आधीन होगये थे, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यवान पुरुषोंको ऐसी कौनसी वस्तु है जो सिद्ध न होसके ॥ ७६ ॥ इसप्रकार भरतने पूर्व दिशाके सब राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशामें रहनेवाले राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथ्वीके (भरतक्षेत्रके) मध्य-

णामाशा दाक्षिणात्यजिगीषया ॥ ७७ ॥ यतो यतो बलं जिष्णोः प्रचलत्युद्धनायक । ततस्ततः ससामता नमंत्यानम्रमौलयः ॥ ७८ ॥ त्रिकलिंगाधिपानौद्रान् कच्छाध्रविषयाधिपान् । प्रातरान्केरलॉश्चैरान्पुन्नाटॉश्च व्यजेष्ट सः ॥ ७९ ॥ कूटस्थानोलिकॉश्चैव समाहिषकमेकुरान् । पाड्यानतरपाड्याश्च दडेन वशमानयत् ॥ ८० ॥ नृपानेतान्विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः । हृत्वा सत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत्परा मुद ॥ ८१ ॥ सेनानीरपि बभ्राम प्रभोराज्ञा समुद्वहन् । गिरीन्ससरितो देशान् कालिंगकवनाश्रितान् ॥ ८२ ॥ स साधनैः सम भेजे तैलाभिक्षुमतीमपि । नदीं नक्रवा वगा श्वसना च महानदीं ॥ ८३ ॥ धुनी वैतरणीं मापवतीं च समहेद्रका । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावर तीर्थं पश्यन्गोदावरीं शुचिं । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानस. ॥ ८५ ॥ सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवर्णां च निम्नगा । सन्नीरा च प्रवेणीं च व्यतीयाय सम बलैः ॥ ८६ ॥

भागसे दक्षिण दिशाकी ओर गमन किया ॥ ७७ ॥ उत्कृष्ट सेनापतिसहित भरतकी सेना जहां जहां गई थी वहां वहांके राजाओंने अपने शूरवीरोंसहित आकर मस्तक नवाकर नमस्कार किया था ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, आंध्र, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाट देशके सब राजाओंको जीता था ॥ ७९ ॥ तथा कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पांड्य और अंतरपांड्य आदि देशोंके राजाओंको दंडरत्नसे अपने वश किया था ॥ ८० ॥ भरतने इन सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वशकर सबसे अपने पैरोंपर नमस्कार कराया और उनके सार रत्न लेकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८१ ॥ प्रभुकी आज्ञा पालन करता हुआ सेनापति भी कलिंग देशके बनके पवत नदी और सब देशोंमें घूमा था ॥ ८२ ॥ वह अपनी सेनाके साथ साथ तैला, इक्षुमती, नक्रवा, वंगा, श्वसना, आदि बडी २ नदियोंमें पहुंचा था ॥ ८३ ॥ तथा वैतरणी माषवती महेंद्रका इन नदियोंको अपनी सेनाके साथ पारकर शुष्कनदीपर जा पहुंचा था ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावर नामके सरोवरको देखता हुआ पवित्र गोदावरीको पारकर निर्मल अंतःकरणवाला वह सेनापति मानस सरोवर पर पहुंचकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८५ ॥ तदनंतर उसने सुप्रयोगा नदीको पारकर सेनाके साथ साथ कृष्णवर्णा सन्नीरा

कुब्जा धैर्यां च चूर्णी च वेणां सूकारिकामपि । अत्रर्णां च नदी पश्यन् दाक्षिणात्यानशुश्रुवत् ॥ ८७ ॥ महेंद्राद्रिं समाक्रामन्विंध्योपांतं च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलं ॥ ८८ ॥ गोशीर्षं दर्दुराद्रिं च गिरिं पाड्यकवाटकं । सशीतगुहमासीदन्नग श्रीकटनाह्वय ॥ ८९ ॥ श्रीपर्वतं च किष्किंध निर्जयन् जयसाधनै. । तत्र तत्रोचितैर्लाभैरवर्धत चमूपति ॥ ९० ॥ कर्णाटकान्स्फुटाटोपविकटोद्भटवेषकान् । हरिद्राजनतांबूलप्रियान्प्रायो यशोधनान् ॥ ९१ ॥ आध्रान्प्रहारेषु कृतलक्षान्कदर्यकान् । पाषाणकठिनानगैर्न परं हृदयैरपि ॥ ९२ ॥ कालिंगकान्गजप्रायसाधनान्सकलाधनान् । यशोधनान् ॥ ९१ ॥ चोलिकान्नालिकप्रायान्प्रायशोऽनृजुचेष्टितान् । केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चचुरान् ॥९४॥ पाड्यान्प्रच-प्रायेण तादृशानोड्रान्जडानुड्डमरप्रियान् ॥९३॥

और प्रवेणी नदीको पार किया ॥ ८६ ॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णा, वेणा, सूकरिका और अंवर्णा आदि नदियोंको देखता हुआ वहांके सब राजाओंको भरतकी आज्ञा सुनाई ॥ ८७ ॥ इसीतरह महेंद्र पर्वतको उलंघनकर विंध्याचलकी तलहटीको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढकर वह सेनापति मलयाचल पर्वतपर गया ॥ ८८ ॥ और अपनी सेनाके साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पांड्य, कवाट और शीतगुह पर्वतपर पहुंचा तथा श्रीकटन श्रीपर्वत और किष्किंधा आदि पर्वतोंको जीतता हुआ वहांके राजाओंसे यथायोग्य धन सत्कार आदि पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ ८९-९० ॥ भयंकर शरीर होनेसे जिनका भेष कुछ विकट और शूरवीरताजनक है, जिन्हें (शरीर सुशोभित करनेकेलिये) हल्दी अंजन और तांबूल वहुत प्रिय हैं तथा जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, तथा कठिन प्रहार करनेमें जिन्हें खूब अभ्यास है, जो वहुत कृपण हैं, पत्थरके समान जिनका शरीर भी कठिन है और हृदय भी कठिन हैं ऐसे अंध्रदेशके राजाओंको, जिनके प्रायः हाथियोंकी सेना है और जो कला कौशलमें निपुण हैं ऐसे कलिंगदेशके राजाओंको, तथा प्रायः कलिंगदेशके समान और वडे लडनेवाले ऐसे औंड्र देशके राजाओंको, तथा प्राय झूठ वोलनेवाले, कुटिल चेष्टायें करनेवाले ऐसे चोल देशके राजाओंको तथा मधुर भाषण करनेमें प्रवीण और

उद्दोर्दण्डान्खण्डितारातिमंडलान् । प्रायो गजप्रियान्पाण्ड्यान्विकृतभूयिष्ठसाधनान् ॥ ९५ ॥ दृष्टापदानानन्यांश्च तत्र तत्र क्षुदुत्थितान् । जयनेन्यैरवस्कंद्य सेनानीरनयद्वश ॥ ९६ ॥ ते च सत्कृत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमंति स्म दूरादूरीकृतायतिं ॥ ९७ ॥ करग्रहेण संपीड्य दक्षिणाशां वधूमिव । प्रसभं हृततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात्प्रभु ॥ ९८ ॥ लवंगलवलीप्रायगेलागुल्मलताकितं । वेलोपांतवनं पश्यन् महतीं तृप्तिमाप सः ॥ ९९ ॥ तमासिषेविरे मंदमादोलितसरोजलाः । एलासुगंधयः सौम्या वेलातवनवायवः ॥ १०० ॥ मन्दुद्धूतशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलि । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्दे-

---

सरल बोलनेवाले ऐसे केरल देशके राजाओंको, तथा प्रचंड भुजाओंको धारण करनेवाले और शत्रुओंके समूहको नाश करनेवाले, युद्धमें धनुष और भाला आदि शस्त्रोंको अधिकतासे रखनेवाले और हाथियोंसे प्रेम रखनेवाले ऐसे पांड्यदेशके राजाओंको, तथा जिन्हें जगह जगह अपना नाश देखना पडा है ऐसे अन्य कितने ही उद्धत राजाओंको सेनापतिने अपनी विजय करनेवाली सेनाके द्वारा आक्रमणकर अपने वश किया ॥ ९१-९६ ॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कारकर तथा भयके साथ कुछ भेट देकर जिसने भेटमें दी हुई संपत्ति स्वीकार की है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही नमस्कार किया ॥ ९७ ॥ जिसप्रकार स्त्रीको पाणिग्रहणकर अपने वश करते हैं उसीप्रकार दक्षिण दिशाको अर्थात् दक्षिण दिशाके राजाओंपर कर विठाकर उन्हें अपने वश किया और फिर अच्छीतरह उनका सार धन लेकर प्रभु भरत दक्षिण समुद्रपर जा पहुंचा ॥ ९८ ॥ वह चक्रवर्ती लोंग चंदनलता तथा इलायचीके छोटे छोटे पौधोंकी वेलें आदिसे भराहुआ समुद्रके किनारेके वनको देखताहुआ बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥ ९९ ॥ जो तालावोंके जलको धीरे धीरे हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगंधि भरी हुई है और जो सौम्य है ऐसा समुद्रके किनारेके वनका वायु धीरे धीरे उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रहा था ॥ १०० ॥ वायुके हिलनेसे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसने अनेक प्रकारकी पुष्पांजलि बखेर रक्खी हैं इसप्रकारका वह वनका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानों वह इस चक्रवर्तीको बुलानेकेलि-

शो विशापतिं ॥ १०१ ॥ पवनाऽऽधूतशाखाग्रैर्व्यक्तषट्पदनिस्वनैः । विश्राये सैनिकानस्य व्याहरन्निव पादपाः ॥ १०२ ॥ अथ तस्मिन्वनाभोगे सैन्यमावसयद्विभुः । वैजयतमहाद्वारानिकटेऽब्धुनिवेस्तटे ॥ १०३ ॥ सनाग बहुपुन्नाग सुमनोभिरधिष्ठित । बहुपत्ररथ जिष्णोर्वल तद्वनमावसत् ॥ १०४ ॥ सच्छायान्सफलॉस्तुगान्बहुपत्रपरिच्छदान् । आसेवत जनाः प्रीत्या पार्थिवास्तापविच्छिदः ॥ १०५ ॥ सच्छायानप्यसम्भाव्यफलान्प्रोज्झ्य महाद्रुमान् । सफ-

ये सामने ही आया हो ॥ १०१ ॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर बैठे हुये भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष विश्राम करनेकेलिये चक्रवर्तीकी सेनाके लोगोंको बुला रहे ही हों ॥ १०२ ॥

अथानंतर—भरतने उस बनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयंत महाद्वारके समीप अपनी सेनाके डेरा कराये ॥१०३॥ वह बन और चक्रवर्तीकी सेना दोनों समान थे क्योंकि जिसप्रकार बनमें नागजातिके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें सनाग अर्थात् उत्तम हाथी थे, जिसप्रकार बनमें बहुपुन्नाग अर्थात् बहुतसे नागकेसरके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुष थे, जिसप्रकार वन सुमन अर्थात् पुष्पोंसे सुशोभित था उसीप्रकार सेना भी सुमन अर्थात् अच्छे हृदयवाले सज्जन लोगोंसे भरी थी और बन जिसप्रकार बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सुंदर था उसीप्रकार सेना भी बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक हाथी घोडे आदि-सवारी और रथोंसे सुंदर थी, इसप्रकार भरतकी उस सेनाने अपने समान बनमें निवास किया ॥१०४॥ जिसप्रकार हाथी घोडे आदि विभूति सहित, अच्छा आश्रय और फल देनेवाले तथा संताप दूर करनेवाले बडे राजाओंकी लोग सेवा करते हैं उसीप्रकार वे सेनाके लोग जिनकी अच्छी छाया है, जो फल सहित हैं, बहुतसे पत्ते होनेसे जिनका घेरा भी बहुत है, जो ऊंचे हैं और संताप दूर करनेवाले हैं ऐसे वृक्षोंका आश्रय बडे प्रेमसे कर रहे थे ॥ १०५ ॥ सेनाके अनेक लोग जिनकी घनी छाया है, परंतु जो फल रहित हैं ऐसे बडे बडे वृक्षोंको भी छोडकर थोडी छायावाले किंतु फल-

लान्निरलच्छायानप्यहो शिश्रियुर्जना. ॥ १०६ ॥ आकालिकीमनादृत्य वहिच्छायां तदातनीं । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रयुर्जनाः ॥ १०७ ॥ वनस्थलीतरुच्छायानिरुद्धद्युमणित्विपः । सजानयः सरस्तीरेष्वध्यासिपत सैनिकाः ॥ १०८ ॥ सप्रेयसीभिरावद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादपजां लक्ष्मीं व्यक्तमूहूर्वनद्रुमाः ॥ १०९ ॥ कपय कपिकच्छूनामुध्दुन्वानाः फलच्छटाः । सैनिकानाकुलॉश्चक्रुर्निविष्टान्वीरुधामधः ॥ ११० ॥ सर.परिसरेष्वासन्प्रभोराश्वीयमदुरा । सुदराः स्वैरमाहार्यैर्वाष्पच्छेद्यैस्तृणाकुरै. ॥ १११ ॥ अवतारितपर्याणमुखभाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरत्प्रोथैर्मुखैरश्वा. क्ष्मा विजिघ्रुर्विवृत्स-

सहित वृक्षोंके नीचे विश्राम लेते थे ॥ १०६ ॥ सेनाके लोग उससमयकी थोडी देर रहनेवाली वाहरकी छाया छोडकर वृक्षके नीचे आनेवाली छायामें वैठे थे ॥ १०७ ॥ वनके वृक्षोंकी घनी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक रही है ऐसे कितने ही सेनाके लोग अपनी अपनी स्त्रियोंसहित सरोवरोंके किनारोंपर आराम कर रहे थे ॥१०८॥ जो परस्परके प्रेमसे वंधेहुये हैं ऐसे अपनी अपनी स्त्रियोंसहित अनेक राजा लोग जिनके नीचे वैठे हुये हैं ऐसे कितने ही वनके वृक्ष कल्पवृक्षसे उत्पन्न हुई शोभाको स्पष्ट प्रगट कर रहे थे, भावार्थ–वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पडते थे और स्त्रीपुरुष भोगभूमियोंके समान जान पडते थे ॥ १०९ ॥ वहांके वंदर कौंचके फल समूहोंको हिलाते थे जिससे वेलोंके नीचे वैठे हुये सेनाके लोग वडे ही व्याकुल होते थे, भावार्थ–कौंचकी फली शरीरपर छू जानेसे खुजली उठती है, वंदरोंके हिलानेसे वे फलियां नीचे वैठे हुये लोगोंके शरीरपर पडती थीं जिससे उनके खुजली उठती थी और वे व्याकुल होते थे ॥ ११० ॥ तालावके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य और वाफसे ही टूटनेवाले अर्थात् वहुत कोमल ऐसी घासके अंकूरोंसे शोभायमान चक्रवर्तीके घोडोंकी घुडसाल थी ॥ १११ ॥ जिनपरसे पलान (गद्दा वा काठी) और लगाम आदि सामिग्री उतार ली गई है ऐसे घोडे जमीनपर लोटनेकी इच्छासे नाकके नथुनोंको हिलाते हुये मुखसे जमीनको सूंघ रहे थे ॥ ११२ ॥ जिसपर वहुत घनी कमलकी पराग विछी हुई है ऐसी तालावके समीप-

वः ॥ ११२ ॥ सांद्रपद्मरजःकीर्णे सरसामंतिकस्थले । मंदं दुधुवुरंगानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥ ११३ ॥ विवभावंबरे कंजरजःपुंजोऽनिलोध्दुतः । अयं नु रचितोश्वानामिवोच्चैः पटमंडपः ॥ ११४ ॥ रजस्वला महीं दृष्ट्वा जुगुप्सव इवोत्थिताः । द्रुतं विविशुरभासि सरसीना महाहयाः ॥ ११५ ॥ वारि वारिजकिंजल्कततमश्वा विगाहिताः । धौतमप्यगराग स्वं भेजुरभोजरेणुभिः ॥ ११६ ॥ सरोवगाहनिर्धूतश्रमा. पीतांभसो हयाः । आमीलिताक्षमध्यूपुर्वितताम्पटमंडपान् ॥ ११७ ॥ नालिकेरद्रुमेष्वासीदुचितो वर्ष्मशालिन. । निवेशो हास्तिकस्यास्य विभोस्तालीवनेपु च ॥ ११८ ॥ प्रपतन्नालिकेरौवस्थपुटा

की जमीनपर लोटकर वे घोडे धूल झाडनेके लिये धीरे धीरे अपने शरीरको हिला रहा थे ॥११३॥ उनके शरीर हिलानेसे जो कमलकी परागका समूह वायुसे उडकर आकाशमें छा गया था वह ऐसा जान पडता था मानो घोडोंके लिये बहुत ऊंचा कपडेका मंडप ही बनाया गया हो ॥ ११४ ॥ बडे बडे घोडे पृथ्वीको रजस्वला [धूलिसे भरी हुई] देखकर ग्लानि करते हुये उठे और बहुत शीघ्र तालावोंके पानीमें घुस गये, भावार्थ—जैसे कोई रजस्वला स्त्रीको स्पर्शकर स्नान करता है उसीप्रकार स्पर्श की हुई पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित देखकर ही क्या मानो वे घोडे ग्लानि करते हुये नहानेके लिये तालावोंके पानीमें घुसे थे ॥ ११५ ॥ कमलकी परागसे भरे हुये पानीमें स्नान करनेसे शोभाके लिये उनके शरीरपर लगाया हुआ रंग यद्यपि उतर गया था तथापि वे कमलकी परागसे फिर रंगे हुयेके समान जान पडते थे ॥ ११६ ॥ तालावोंमें स्नान करलेनेसे जिनका परिश्रम सब दूर हो गया है तथा जिन्होंने खूब पानी पी लिया है ऐसे वे घोडे कपडेके बडे बडे मंडपोंमें कुछ कुछ नेत्रोंको बंद कर आरामसे खडे थे ॥ ११७ ॥ महाराजके हाथियोंके डेरे नारियल और ताडवृक्षोंके वनमें बनाये गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि वे हाथी बहुत मोटे और ऊंचे थे ॥ ११८ ॥ ऊपरसे पडते हुये नारियरोंके समूहसे जो बनकी भूमि ऊंची नीची हो रही थी वहांपर उन हाथियोंने अपनी सूंडसे उन नारियरोंको एक जगह हटाकर अपने लिये यथायोग्य स्थान बना लिया था ॥ ११९ ॥

वनभूमयः । हस्तिना स्थानतामीयुस्तैरेव प्रांतसारितैः ॥ ११९ ॥ द्विपानुदस्यतस्तीव्रं वमथुर्व्यंजितश्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरांस्यभिनिपादिनः ॥ १२० ॥ नीचैर्गतेन सुव्यक्तमार्गसंजनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसीरवगाहने ॥ १२१ ॥ प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्न नागो नवग्रहः । नैच्छत्प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारिधिशंकया ॥ १२२ ॥ वनं विलोकयन्स्वैरं कवलोचितपल्लवं । गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ १२३ ॥ स्वैरं न पपुरंभासि नागृह्णन्कवलानपि । केवलं वनसंभोगसुखाना सस्मरुर्गजाः ॥ १२४ ॥ उत्पुष्करान् स्फुरद्रौक्मकक्षान्निन्युर्द्विपान्सरः । सशयूनिव नीलाद्रीन्सविद्युत इवांबुदान् ॥१२५॥ वनद्विपमदामोदवाहिने गन्धवाहिने । गजः क्रुध्यन् जलोपांते निन्ये कृच्छ्रान्निषादिना ॥१२६॥ अकस्मात्कुपितो दती शिरस्तिर्य-

---

जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो सूंडसे पानीकी छींटें निकालनिकालकर अपना परिश्रम प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग जलमें स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२० ॥ जो धीरे धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुये परिश्रमको प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२१ ॥ कोई नया पकडा हुआ हाथी बार बार हांकनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुये जलमें कुछ हरा होनेसे उसे समुद्र समझकर प्रवेश करना नहीं चाहता था ॥ १२२ ॥ बहुत दिनका पकडा हुआ भी कोई हाथी अपनी इच्छानुसार खाने योग्य कोमल पत्तेवाले बनको देखकर बनमें रहनेके लिये एक विलक्षण रीतिसे उत्कंठित हुआ था ॥१२३॥ बहुतसे हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी पिया था और न चारा ही खाया था, वे केवल बनके संभोग सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥ १२४ ॥ जिनकी सूंड ऊंची है तथा जिनके बगलमें सुवर्णकी झूल चमक रही है ऐसे हाथियोंको महावत लोग तालावोंपर ले जा रहे थे, उससमय वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानो अजगर सहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजली सहित बादल ही हो ॥ १२५ ॥ जिसमें बनके हाथियोंके मदकी गंध आ रही है ऐसे वायुको सूंघकर क्रोधित हुये किसी हाथीको उसका महावत बडी कठिनतासे जलके समीप ले गया था ॥ १२६ ॥ अकस्मात् क्रोधित हुआ कोई हाथी

ग्विधूनयन् । अनंकुशवशस्तीव्रमाधोरणमखेदयत् ॥ १२७ ॥ वन्यानेकपसंभोगसंक्रातमदवासना । विगाढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणीमिव ॥ १२८ ॥ पीतं वनद्विपैः पूर्वमंबु तद्दानवासित । द्विपः करेण संजिघ्रन्नापादास्फालयत्परं ॥ १२९ ॥ पीतांभसो मदासारैर्वृद्धिं निन्युः सरोजल । गजा मुधा धनादानं नून वाछंति नोन्नताः ॥ १३० ॥ उत्पुष्कर सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणद्भिः खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥ १३१ ॥ पीताम्बुरम्बुदस्पर्द्धिबृंहितो मदकुंजरः । दुधाव गडकडूया चंडगंडूषवारिभिः ॥ १३२ ॥ विमुक्तं व्यक्तसूत्कारं करमुत्क्षिप्य वारणैः । वारि स्फटिकदंडस्य लक्ष्मीमूहे

अपने शिरको तिरछा हिला रहा था वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको बहुत ही खेद खिन्न कर रहा था ॥ १२७ ॥ जिससे जंगली हाथियोंके संभोगकी गंध फैल रही है ऐसी हथिनीको जिसप्रकार हाथी नहीं चाहता है उसीप्रकार जिससे जंगली हाथियोंके क्रीडा करनेसे मदकी गंध फैल रही है ऐसे तालावोंमें घुसनेके लिये भी कोई कोई मदोन्मत्त हाथी इच्छा नहीं करता था ॥ १२८ ॥ जिस पानीको पहिले जंगली हाथी पी चुके थे और इसलिये ही जिससे मदकी गंध आ रही थी ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने पिया नहीं था, वे केवल सूंडसे सूंघ सूंघकर उसे उछाल रहे थे ॥ १२९ ॥ जिन हाथियोंने तालावका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहाकर उस तालावका पानी बढा दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जो बडे होते हैं वे किसीका व्यर्थ धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥ १३० ॥ जिसकी सूंड पानीके ऊपर उठ रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि तालावके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि उसके ऊपर आकाशमें गुंजार करतेहुये भ्रमरोंसे वह ' यहां हाथी है ' ऐसा साफ समझ पडता था ॥ १३१ ॥ जो पानी पी चुका है और जो मानो बादलके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही गरज रहा है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी सूंडसे छोडतेहुये पानीके जोरसे अपने कपोलोंकी खुजली शांत करता था ॥ १३२ ॥ अनेक हाथी अपनी सूंड ऊंचीकर फू फू कर ऊपरको पानी छोड रहे थे, उससमय वह आकाशमें उछलताहुआ पानी ठीक स्फटिक-

खमुच्छलत् ॥ १३३ ॥ उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः केचिन्मतंगजाः। विसभंगैरधुस्तृप्ति हेलया कवलीकृतैः ॥ १३४ ॥ मृणालैरधिदताग्रमर्पितैर्विबभुर्गजाः। अजस्त्रमबुसेकादतैः प्रागेहितैरिव ॥ १३५ ॥ प्रमाद्यद्द्विरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोद्धृतं। ददावालानवुध्यैव नियंत्रे द्विगुणीकृत ॥ १३६ ॥ चरणालग्रमाकर्षन् मृणालं भीरुको गजः। वहिः सरस्तट व्यास्थददुतंतुकशंकया ॥ १३७ ॥ करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तंबेरमा बभुः। देवतानुस्मृतिं किंचित्कुर्वतोऽर्घैरिवोद्धृतैः ॥ १३८ ॥ सरस्तरगधौतागा रेजुस्तुगा मतगजाः। शृगारिता इवालग्नै. साद्रैरभोजरेणुभिः ॥ १३९ ॥ ययुः करिभिरारुद्ध परिहृत्य सरोजल। पतत्रिणः सरस्तीर तद्युक्तमबलीयसा ॥ १४० ॥ सरोऽवगाहनिर्णिक्तमूर्तयोऽपि मतगजाः। रजः प्रमाथैरात्मान चक्रुरेव मलीमसं

के बने हुये एक दंडेकी शोभा धारण करता था ॥ १३३ ॥ पानीमें स्नान करनेसे जिनका परिश्रम सब दूर होगया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक कमलके तंतुओंको खाकर ही संतुष्ट हो रहे थे ॥ १३४ ॥ कितने ही हाथी अपने दांतोके अग्रभागपर रक्खेहुये कमलके तंतुओंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों निरंतर पानीके सींचनेसे उनके दांतोंके अंकूरे ही निकले हों ॥१३५॥ मदसे उन्मत्त-हुआ कोई हाथी अपनी सूंडसे पकडेहुये कमलतंतुको वांधनेकी सांकल समझकर उसे दुहरीकर महावतको देता था ॥ १३६ ॥ अपने पैरमें लगेहुये कमलतंतुको खींचताहुआ कोई डरपोक हाथी तालावके बाहरी किनारेपर उसे बांधनेकी सांकल समझकर अर्थात् सांकलसे अपनेको वंधाहुआ समझकर वहीं ठहर गया था ॥ १३७ ॥ अपनी सूंडसे कमलोंको उठाकर खडे हुये कितने ही हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो हाथमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥ १३८ ॥ जिनका शरीर तालावोंकी लहरोंसे धुलगया है ऐसे कितने ही बडे बडे हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो उनके शरीरपर लगीहुई कमलकी बहुतसी परागसे उनका अलंकार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोंसे व्याप्त हुये तालावके जलको छोडकर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि कमजोर जीवोंको ऐसा करना योग्य ही है ॥ १४० ॥ तालावोंमें स्नान करनेसे जिन-

॥ १४१ ॥ वयं जात्यैव मातंगा मदेनोद्दीपिताः पुनः । कुतस्त्या शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु रजो गजैः ॥ १४२ ॥ इत्थं सरस्सु सुचिरं प्रविहृत्य नागाः सतापमंतरुदितं प्रशमय्य तोयैः । तीरद्रुमानुपययुः किमपि प्रतोषात् बध तु तत्र नियत न विदांबभूवुः ॥ १४३ ॥ हृत्वा सरोंबु करिणो निजदानवारिसंवर्द्धितं विनिमयादतृषाः श्वसंतः । तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधशंकाव्यासंगिनो नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥ १४४ ॥ आधोरणा मदमषीमलिनान्करींद्रान् निर्णेक्तुमंबु सरसामवगाहयंतः । शेकुर्न केवलमपामुपयोगमात्रं तीरे स्थितानननुनयैस्तदचीकरंतः ॥ १४५ ॥ स्वैरं न चांबु परिपीतमयत्नलभ्यं ती-

---

के शरीर निर्मल होगये हैं ऐसे कितने ही हाथी फिर धूल उडाकर अपना शरीर मैला कर रहे थे ॥ १४१ ॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग (हाथी) अर्थात् चांडाल हैं और फिर मदसे (गंडस्थलसे बहते हुये मदसे) अर्थात् मद्यपान करनेसे अधिक उत्तेजित हो रहे हैं इसलिये हम लोगोंके भला शुद्धि [निर्मलता] अर्थात् पवित्रता कहांसे हो सकती है यही समझकर मानो उन हाथियोंने अपने शरीरपर धूल डाल ली थी ॥ १४२ ॥ इसप्रकार वे हाथी बहुत देरतक तालावोंमें क्रीडा कर तथा अंतःकरणमें उत्पन्न हुये संतापको जलसे शांतकर किनारेके वृक्षोंके समीप आ गये थे और क्रीडा करनेसे जो विलक्षण आनंद हुआ था उससे उन्हें अपना बंधाहुआ बंधन भी नहीं जान पडा था ॥ १४३ ॥ हाथियोंने जो तालावोंका पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेकेलिये ही अपने मदके जलसे बढा दिया था, इसप्रकार प्यास बुझजानेपर आरामसे श्वासोच्छ्वास लेते हुये तालावोंकी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्पन्न हुई अपने रोकनेकी शंका करतेहुये बहुत शीघ्र उन तालावोंसे निकल गये थे ॥१४४॥ जो हाथी मदके जलसे मलिन हो रहे थे उन्हें स्वच्छ करनेकेलिये तालावोंके जलमें प्रवेश कराते हुये महावत लोग किनारेपर खडेहुये उन हाथियोंसे बहुत प्रार्थना करनेपर भी उन्हें केवल पानी भी नहीं पिला सके थे, भावार्थ–उन हाथियोंने न पानी ही पिया था और न वे जलमें घुसे थे, ॥ १४५ ॥ मदोन्मत्त हाथियोंने न तो अपनी इच्छानुसार बिना यत्नके प्राप्तहुआ पानी ही पिया था

रुद्रुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि । छायास्वलंभि न तु विश्रमण प्रभिन्नैः स्तंबेरमैर्वत ! मदः खलु नात्मनीनः ॥ १४६ ॥ नाध्वा द्रुतं गुरुतरैरपि नानु यातो युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः । भारक्षमाश्च करिण' सविशेषमेव बद्धास्तथाप्यनिभृता इति धिक् चलत्वं ॥ १४७ ॥ बध्नीथ नः किमिति हंत विनापराधात् जानीत भोः प्रतिफलत्यचिरादिदं व' । इत्युच्छ्लत्सृणि विधूय शिरासि वधैर्वैरं नियंत्रिषु गजाः स्म विभावयंति ॥ १४८ ॥ आघातुको द्विरदनः सविशेषमेव गात्रापरातकरवालधिषु न्ययोजि । वधेन सिंदुरवरास्वितरे तथा नो गाढीभवत्यविरतान्न परत्र बंधाः ॥ १४९ ॥ आलानिता

न किनारेके वृक्षोंसे कुछ खाया था और न वृक्षोंकी छायामें विश्राम ही लिया था, खेद है कि यह मद कभी जीवको सुख देनेवाला नहीं होता ॥ १४६ ॥ देखो ! हाथियोंने शरीर भारी होनेसे मार्गको शीघ्र तय नहीं किया अर्थात् मार्गमें शीघ्र न चले यह वात भी नहीं है, न इन्होंने किसी युद्धमें कभी कुछ अपराध किया है, वोझा लेजानेकेलिये भी ये सवसे अधिक समर्थ हैं तथापि केवल चंचल होनेसे इन्हें बंधनमें पडना पडा है इसलिये इस चंचलताको ही धिकार हो ॥ १४७ ॥ अजी ! तुमलोग बिना अपराधके हमको क्यों वांधते हो ! इसके वदलेमें तुम्हें शीघ्र फल मिलेगा यह वात तुम खूब समझ लो ? इसप्रकार बांधनेके वदलेमें महावतोंके साथ जो वैर था उसे वे हाथी कानपर रक्खेहुये अंकुशको ऊपर फेंककर अपना मस्तक हिलातेहुये स्पष्ट दिखला रहे थे ॥ १४८ ॥ जो हाथी जीवोंको मारनेवाले थे उनका शरीर आदिसे अंततक तथा सूंड पूंछ आदि सब विशेष रीतिसे वांधा गया था, और जो हाथी किसीको नहीं मारते थे उन्हें बिलकुल नहीं वांधा था, इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरती हैं अर्थात् जिनके हिंसाका त्याग नहीं है उनके कर्मोंका बंध बहुत मजबूतीसे होता है और जो त्यागी हैं कभी हिंसा नहीं करते हैं, उनके कर्मका बंध नहीं होता ॥ १४९ ॥ जिनकी शाखायें बहुत ऊंची गई हैं तथा जो स्वयं बहुत ऊंचे हैं ऐसे जंगली वृक्षोंके नीचे उन बडे बडे हाथियोंको बांधा था सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंको धारण करनेकेलिये जिसकी शक्ति कम नहीं हुई

वनतरुष्वतिमात्रमुचस्कंधेपु सिंदुरवराश्च तथोच्चकैर्यत् । तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव संधारणाय महतामहतात्मसारं ॥ १५० ॥ इत्थं नियंतृभिरनेकपवृंदमुच्चैरालानित तरुपु सामिनिमीलिताक्षं । तस्थौ सुखं विचतुरेण कृतागहारं लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालं ॥ १५१ ॥ उत्तारिताखिलपरिच्छिदलाघवेन प्रव्यजितद्रुतगतिक्रमलक्षवेगा. । आपातुमंबु सरसा परितः प्रससुरुच्छृखलैरनुगताः कलभैः करिण्यः ॥ १५२ ॥ प्राक्पीतमवु सरसां कृतमौष्ट्रकेण स्वोद्गालदूषितमुपात्ततदगगंध । नापातुमैछदुदक तृषितोऽपि वर्कः ? सर्वो हि वाछति मनोविपयं मनोज्ञं ॥ १५३ ॥ पीतं पुरा गजतया सलिलं मदांबुसंवासित सरसिजाकरमेत्य तूर्णम् । प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुरुदितो हि सगंधभावः ॥ १५४ ॥ पीत्वांभो व्यपगमितातरंगतापाः संतापं

है ऐसा बहुत बडा ही आश्रय चाहिये ॥ १५० ॥ इसप्रकार महावतोंके द्वारा ऊंचे वृक्षोंसे बांधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आंखें बंदकर अपने सब शरीरको हिलाता हुआ, लीला पूर्वक ग्रास लेताहुआ और कानोंको फडकाता हुआ सुखसे खडा था ॥ १५१ ॥ जिनका पलान आदि सब सामान उतार लिया है इससे हलकी होकर जल्दी जल्दी चलकर जिन्होंने अपनी शीघ्रगति प्रगट की है, तथा इधर उधर दौडनेवाले बच्चे जिनके पीछे पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियां कंठतक तालावोंका पानी पीनेके लिये चारों ओरसे जा रहीं थीं ॥१५२॥ जो तालावोंका पानी पहिले ऊंटोंने पीया था, जो ऊंटोंके मुखसे निकलतेहुये फेनसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊंटके शरीरकी गंध आने लगी थी ऐसे पानीको प्यासा हुआ भी कोई तरुण हाथी पीनेकी इच्छा नहीं करता था सो ठीक ही है क्योंकि अपने मन को अच्छा लगनेवाला पदार्थ मनोज्ञ होना चाहिये यह सबकी ही इच्छा रहती है ॥१५३॥ जिसका पानी पहिले हाथियोंकासमूह पी चुका है और जिसमें हाथीके मदकी गंध आ रही है ऐसे सरोवरपर हाथीके बच्चे और हथिनियां दोनों ही बहुत शीघ्र आकर बडे प्रेमसे पानी पी रहीं थीं, सो ठीक ही है क्योंकि जिसकी गंध आदि विपय सब समान हैं ऐसे ही पदार्थ उपभोग करने योग्य होते हैं, अथवा जिनकी समान मैत्री है ऐसे ही पुरुष साथ साथ खाने पीने योग्य होते हैं ॥ १५४ ॥ जिन्होंने पानी

बहिरुदितं सरोऽवगाहैः । नीत्वात गजकलभैः समं करिण्यः संभोक्तु सपदि वनद्रुमान्विचेरुः ॥ १५५ ॥ वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभंगान् गुल्मौघानपि सरसान्कडगरीश्च । सुस्वादून्मृदुविटपान्वनद्रुमाणा तद्यूथ कवलयति स्म धेनुकाना ॥ १५६ ॥ कुजेषु प्रतनुतृणांकुरान्प्रमृद्नन् वप्रांतानपि रदनैः शनैर्विनिघ्नन् । वल्यग्रग्रसनचणः फलेग्रहि. सन् व्यालोलः कलभगणश्चिरं विजन्हे ॥ १५७ ॥ प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखाभग्युच्चैर्वनगहनं निषीद कुजे । सभोग्यानुपसर सल्लकीवनातानित्येव व्यह्वत वने करेणुवर्गः ॥ १५८ ॥ सभोगैर्वनमिति निर्विशन्यथेष्ट स्वातत्र्यान्मुहुरपि धूर्गतैर्निषिद्ध. । बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः संप्रापत्समुचितमात्मनो निवेश ॥ १५९ ॥ वित्रस्तैरपथमुपाह्रतस्तुरगैः पर्यस्तो रथ इह भग्नधूर्निरक्षः । एतास्ता द्रुतमुपयाल्य-

---

पीकर अंतरंगका संताप दूर किया है तथा तालावमें डूबकर बाहरी संताप दूर किया है ऐसी हथिनियां अपने बच्चोंको साथ लेकर बहुत शीघ्र बनके वृक्षोंकी ओर खानेके लिये चली गईं ॥ १५५ ॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्प सहित पत्तोंके अग्रभागको, छोटे छोटे पौधोंको, रसीले कडंगरी जातिके वृक्षोंको और बनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट कोमल शाखाओंको खाने लगा था ॥ १५६ ॥ लतामंडपोंमें पतली घासके अंकूरोंको खूंदता हुआ, खेतोंके अंतभागको (मेड) अपने दांतोंसे धीरे धीरे तोडता हुआ, लताओंके अग्रभागको खानेमें चतुर और फलोंको तोडता हुआ चंचल हाथियोंके बच्चोंका समुदाय बहुत देरतक क्रीडा कर रहा था ॥ १५७ ॥ नवीन पत्तेवाली लताओंको ग्रहण कर, जिसमें अनेक शाखायें टूटी हुई हैं ऐसे बडे गहन बनमें बैठ तथा लतामंडपोंमें खाने योग्य सल्लकीके वनोंके समीप जा, इसप्रकार उस हथिनियोंके समूहको महावत लोग विहार करा रहे थे ॥ १५८ ॥ इसप्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीडा करते हुये इच्छानुसार वनमें प्रवेश करता है, स्वतंत्रतासे आगे आगे चलनेसे महावत लोग जिसे बार बार रोक रहे हैं, जो बांधने योग्य है और बच्चोंसहित है ऐसा हथिनियोंका समूह अपने योग्य रहनेके स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५९ ॥ यह देखो हाथियोंसे डरकर इन घोडोंने यह रथ कुमार्गमें लेजाकर पटक दिया है, इसका धुरा जूआ आदि

पेत्य मार्गाद्वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्यः ॥ १६० ॥ वित्रस्तः करभनिरीक्षणाद्गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः । उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्माद्विस्रस्तस्तनजघनांशुका पुरंध्री ॥ १६१ ॥ इत्युच्चैर्व्यतिवदता पृथग्जनानां सजल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च । व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणमभवच्चमूपु राज्ञा ॥ १६२ ॥ अवनिपतिसमाजैनानुयातस्तुरगैरकृशविभवयोगान्निर्जयन् लोकपालान् । प्रतिदिगमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः शिविरमाविशदुच्चैर्वंदिना पुण्यघोषैः ॥ १६३ ॥ अथ सरसिजिनीनां गंधमादाय सांद्रं धुततटवनवीथीमंदमावात्समंतात् । श्रममखिलमनैत्सीत्कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव स-

---

टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेवाली ये खच्चरियां अपना मार्ग छोडकर बहुत शीघ्र दौडी जा रही हैं ॥ १६० ॥ यह हाथी भी ऊंटको देखकर डर गया है और दौडता हुआ अपना डरपोकपना प्रगट कर रहा हे तथा जिसके स्तनकी चोली और जघनकी धोती छूट गई है ऐसी यह स्त्री भी इस डरे हुये खचरसे गिर गई है ॥ १६१ ॥ इसप्रकार जो लोग अलग अलग परस्पर जोरसे बातचीत करते थे उनके शब्दोंसे, क्षुब्ध होकर चिलाते हुये गधा ऊंट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुये सेनाके कठोर शब्दोंसे उस चक्रवर्तीकी सेनामें क्षणभरके लिये एक वडा भारी क्षोभ उत्पन्न हुआ था ॥ १६२ ॥ घोडोंपर बैठकर अनेक राजालोग जिसके पीछे पीछे चल रहे हैं ऐसा वह चक्रवर्ती अपनी बडी विभूतिसे सब लोकपालोंको जीतता हुआ, प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ, और बंदीजनोंके द्वारा गाये हुये मंगलपाठोंके साथ साथ प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ अपने वडे तंबूमें जा पहुंचा ॥ १६३ ॥

अथानंतर– जो किनारेके वनमें वृक्षोंकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियों की उत्कट गंध लेकर धीरे धीरे चारों ओरसे वह रहा था और वह चक्रवर्तीका सब परिश्रम दूर कर रहा था, उस समय वह वायु ऐसा जान पडता था मानो इस भरतकी सेवा करनेके लिये समुद्रने अपना एक दूत ही भेजा हो ॥ १६४॥ उस समय वह सेना का स्थान ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था

गंधः सिंधुना गधवाह. ॥ १६४ ॥ अविदितपरिमाणैरन्वितो शखरत्नैः स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः सेवनीयः । सततमुपचितात्मा रुद्धदिक्चक्रवालो जल निधिमनुजन्हे तस्य सेनानिवेशः ॥ १६५ ॥ तत्रावासितसाधनो निधिपतिर्गत्वा रथेनाबुधिं जैत्रास्त्रप्रतिनिर्जितामरसभस्तं व्यतराधीश्वर । जित्वा मागधवत्क्षणाद्वरतनु तत्साह्वमभोनिधिद्वीप शश्वदलंचकार यशमा कल्पातरस्थायिना ॥ १६६ ॥ लेभेऽभेद्यमुरश्छद वरतनोर्ग्रैवेयक च स्फुरच्चूडारत्नमुदशु दिव्यकटकान्सूत्र च रत्नोज्वल । सद्रत्नैरिति पूजित स भगवान् श्रीवैजयतार्णवद्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटक प्राविक्षदुत्तोरण ॥ १६७ ॥ स्वच्छ स्व हृदयं

क्योंकि जिसप्रकार समुद्र परिमाणरहित अर्थात् असंख्यात शंख और रत्नोंसे भरा हुआ है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी असंख्यात शंख आदि निधि और चक्रादि रत्नोंसे भरा था, जिस प्रकार समुद्रमें जिनके मस्तकपर अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे सर्प रहते हैं उसी प्रकार उस सेनाके स्थानमें जिनके मस्तकके मुकुटमें अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग रहते थे, समुद्र जिसप्रकार सदा बढता रहता है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी सदा बढता रहता था और समुद्रने जिसप्रकार सब दिशायें घेर लीं थीं उसीप्रकार उस सेनाके स्थाननेभी सब दिशायें घेर लीं थीं ॥ १६५ ॥ जिसने अपनी सब सेना समुद्रके किनारेपर छोड दी है और विजय करनेवाले शस्त्रोंसे मागध देवकी सभा जिसने जीत ली है ऐसे उस निधियोंके स्वामी भरतने रथमें बैठकर समुद्रमें जाकर व्यंतरोंके स्वामी वरतनु देवको भी मागध देवके समान जीता और उस वर-तनु नामके समुद्रके द्वीपको कल्पांतकाल तक टिकनेवाले यशसे सदाके लिये सुशोभित किया ॥ १६६ ॥ भरतको कभी न टूटनेवाला कवच, दैदीप्यमान हार, प्रकाशमान चूडारत्न, दिव्य कडे और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत (जनेऊ) ये सब चीजें वरतनु देवसे प्राप्त हुई, इसप्रकार उत्तम रत्नोंसे जिसका सत्कार किया गया है ऐसा वह ऐश्वर्यशाली चक्रवर्ती वैजयंत नामके समुद्रके दरवाजेसे पीछे लौटा और जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने सेनास्थानमें (छावनीमें) आ

स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छद्मना स्वं चातर्गतरागमाशु कथयन्नुद्यत्प्रवालाकुरैः । सर्वस्वं च समर्पयन्नुपनयन्नंतर्धनं दक्षिणो वाराराशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥ १६८ ॥ आस्थाने जयदुदुभीननुनदन्प्राभातिके मगले गंभीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन् । सुव्यक्त सजलाशयोप्यजलधीर्वारापतिः

पहुंचा ॥ १६७ ॥ उस समय वह समुद्र ठीक मंत्रीके समान कपटरहित भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार मंत्री अपने हृदयकी स्वच्छता सदा प्रगट करता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके बहानेसे अपने अंतःकरणकी स्वच्छता साफ प्रगट करता था, जिसप्रकार मंत्री अपना अंतरंगका अनुराग प्रगट करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी निकलतेहुये प्रवालके अंकूरोंके द्वारा अपने अंतरंगका अनुराग शीघ्रताके साथ प्रगट करता था, मंत्री जिसप्रकार राजाको अपना सर्वस्व अर्पण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपना रत्नादि सर्वस्व अर्पण करता था, मंत्री जिसप्रकार अपना खास धन महाराजके समीप रखता है उसीप्रकार वह समुद्रभी अपना खास धन पानी भरतके समीप पहुंचाता था और मंत्री जिसप्रकार दाक्षिण अर्थात् चतुर होता है उसीप्रकार वह समुद्रभी दाक्षिण अर्थात् दाक्षिणादिशाका था ॥ १६८ ॥ जिसप्रकार इंद्र दास होकर प्रथम तीर्थंकर भगवान वृषभदेवकी पूजा करता था उसीप्रकार वह समुद्र भी दास होकर भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार इंद्र आस्थान अर्थात् समवसरणमें जाकर जय दुंदुभी वजाता है उसीप्रकार वह समुद्रभी आस्थान अर्थात् सेनाके समीप ही गरजता हुआ जय दुंदुभियोंका अनुकरण कर रहा था, इंद्र जिसप्रकार प्रातःकालमें मंगलपाठ पढनेकेलिये गंभीर ध्वनिके द्वारा स्पष्ट रीतिसे जय जय शब्दोंका उच्चारण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके शब्दोंसे ऐसा जान पडता था मानों भरतकेलिये प्रातःकालका मंगलपाठ पढनेकेलिये स्पष्टरीतिसे जय जय शब्दोंका ही उच्चारण कर रहा हो, और इंद्र जिसप्रकार केवलज्ञानकी अपेक्षा प्रगट जलाशय (जडाशय) अर्थात् अल्पज्ञानी है तथापि अजलधी (अजडधी) अर्थात् पूर्ण विद्वा-

श्रीपतिं निर्भृत्यस्थितिरन्वियाय सुचिरं शक्रो यथार्चं जिन ॥ १६९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनत्रिंश पर्व ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथापरां दिशं जेतुमुद्यतः प्रभुरुच्ययौ । दक्षिणापरदिग्भागं वशीकुर्वन्स्वसाधनैः ॥ १ ॥ पुर. प्रयातमाश्वीयैरन्वक्प्रचलितं रथै. । मध्ये हस्तिघटा प्रायात्सर्वत्रैवात्र पत्तय ॥ २ ॥ संदेवं बलमित्यस्य चतुरंग विभोर्बलं । विद्याभृतां बलैः सार्धं षड्भिरंगैर्विपप्रथे ॥ ३ ॥ प्रचलद्बलसंक्षोभादुच्चचाल किला-

न् है [मतिज्ञान पूर्णश्रुतज्ञान और अवधिज्ञानको धारण करनेवाला है] उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट जलाशय अर्थात् जलसे भराहुआ होकर भी अजलधी अर्थात् जल उत्पन्न करनेवाला नहीं था, इसप्रकार वह समुद्र चिरकालतक भरतकी सेवा करता रहा था ॥ १६९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला यह उन्तीसवा पर्व समाप्त हुआ २९ ॥

अथ तीसवां पर्व ।

अथानंतर–पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये तैयार हुआ वह चक्रवर्ती अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण पश्चिमके वीचकी नैऋतदिशाको जीतताहुआ निकला ॥ १ ॥ सवसे आगे घुडसवार चल रहे थे, रथ सवसे पीछे थे, हाथियोंका समूह वीचमें चलता था और पैदल सेना चारोंओर चल रही थी ॥ २ ॥ हाथी घोडे रथ पियादे इसप्रकार चारतरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ साथ चल रही थी, और इसप्रकार छहप्रकारकी वह सेना चारोंओर फैल रही थी ॥ ३ ॥ उस चलती हुई सेनाके क्षोभसे समुद्र भी क्षुब्ध हो गया था और वह ऐसा जान पडता था मानो जिस रीतिसे

र्णव' । महतामनुवृत्तिं नु श्रावयन्ननुजीविनां ॥ ४ ॥ वलैः प्रसह्य निर्भुक्ताः प्रह्वतिस्म महीभुज. । सरितः कर्दमंतिस्म स्थलंतिस्म महाद्रय' ॥ ५ ॥ सुरसा' कृतनिर्वाणा' स्पृहणीया बुभुक्षुभि' । महद्भिः समसुद्योगै' फलतिस्मास्य सिद्धय. ॥ ६ ॥ अभेद्या दृढसधाना विपक्षक्षयहेतव । शक्तयोऽस्य स्फुरति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥ ७ ॥ फलेन योजितास्तीक्ष्णा. सपक्षा दूरगामिनः । नाराचै समंमतस्य योवा जग्मुर्जयागता ॥ ८ ॥ दूरमुत्सारिता सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य विपक्षत्वमुपाययु. ॥ ९ ॥ आक्राता भूभृतो नित्य भुजाना. फलसपद । कुपतित्व ययुश्चित्र कोपेप्यस्य

बडे आदमी चलते हैं उसीतरह सबको चलना चाहिये यही सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥ ४ ॥ सेनाके द्वारा जवर्दस्ती आक्रमण कियेहुये राजालोग सब नम्र होगये थे, नदियोंमें कीचड हो गया था और बडे बडे पर्वत जमीनके समान सपाट हो गये थे ॥ ५ ॥ जिनका उपभोग सुखदेनेवाला वा स्वादिष्ट है, जो सब दुखोंको नाश करनेवाली हैं और फल चाहनेवाले लोग जिनकी इच्छा करते हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी सब कार्योंकी सिद्धियें इसके बडे भारी उद्योगके साथ साथ फलती थीं, भावार्थ—चक्रवर्तीके सब कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते थे ॥ ६ ॥ भरतकी सेना और शक्ति दोनों ही वहुत मजबूत थीं उन्हें कोई भेद नहीं सकता था और वे दोनों ही शत्रुओंका क्षय करनेवाली थीं, इसप्रकार वे दोनों ही शत्रुओंपर अपना प्रभाव डाल रहीं थीं ॥ ७ ॥ भरतके योद्धा उसके वाणोंके समान थे क्योंकि जिसप्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभ मिलानेवाले थे उसीप्रकार वाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोक सहित थे, जिसप्रकार योद्धा अर्थात् वीरपुरुष तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर वा तेज थे उसीप्रकार वाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, योद्धा जिसप्रकार पक्ष अर्थात् सहायकों सहित थे उसीप्रकार वाण भी पक्ष अर्थात् पीछे लगे हुये लोहेके पंख सहित थे और योद्धा जिसप्रकार दूर तक धावा मारनेवाले थे उसीप्रकार वाण भी वहुत दूर जानेवाले थे, इसप्रकार वे दोनो ही साथ साथ विजयके कारण हो रहे थे ॥ ८ ॥ भरतके विपक्षी अर्थात् शत्रुगण सेनाने दूर भगा दिये थे और छत्र

विरोविन. ॥ १० ॥ संधिविग्रहचिंतास्य पदविद्यास्वभूत्पर । धूतयातव्यपक्षस्य क संधान क विग्रह ॥ ११ ॥ इत्यजेतव्यपक्षोऽपि यदय दिग्जयोद्यत. । तन्नून भुक्तिमात्मीया तद्व्याजेन परीयिवान् ॥ १२ ॥ आक्रांता सैनिकैरस्य विभोः पारेऽर्णव भुव. । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकेरवनैस्तता. ॥ १३ ॥ निपपे नालिकेराणा तरुणाना सुतो रस । सरस्तीरतरुच्छायाविश्रांतैरस्य सैनिकैः ॥ १४ ॥ स्फुरत्तरुरसपात पवनाधूननोत्थित । तालीवनेषु तत्सैन्यै.

चमर आदि सब सामिग्री उन्होंने फेंक दी थी इसलिये वे सचमुच ही विपक्ष अर्थात् सहायरहित हो-गये थे ॥ ९ ॥ यह भी एक आश्चर्यकी वात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर तथा भरतके क्रोधित होनेपर भी अनेक तरहकी फल संपत्तियोंका सदा उपभोग करते हुये कुपति अर्थात् पृथ्वीके स्वामी वने रहे थे, इस श्लोकका ऊपरके समान अर्थ करनेसे विरोध आता है क्योंकि भरतके क्रोध करनेपर और उसकी सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर कभी कोई राजा सुखी नहीं हो सकता इसलिये इस विरोधको दूर करनेकेलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि भरतके क्रोधित होनेपर तथा सेनाके द्वारा दवाये जानेपर अनेक राजा फल पत्ते आदि जंगलकी संपत्तिका उपभोग करते हुये कुपति अर्थात् दरिद्र होगये थे ॥ १० ॥ उस भरतको संधि [दो स्वर अथवा व्यंजनोंका मिलना] और विग्रह [व्युत्पत्ति] की चिंता केवल व्याकरण शास्त्रमें थी शत्रुओंमें नहीं थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने सब शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे शत्रुओंके साथ कहां संधि अर्थात् इकरारनामा करना पडेगा ? और कहां विग्रह अर्थात् युद्ध करना पडेगा ? ॥ ११ ॥ इसप्रकार यद्यपि उसका जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वह जो दिग्विजय करनेकेलिये निकला था वह केवल दिग्विजयके बहानेसे अपने उपभोग करने योग्य पृथ्वीपर फिर आया था ॥१२॥ उस भरतकी सेनाने जिसपर सुपारीके वृक्षोंकी घनी छाया हो रही है और जो नारियरके वनोंसे भर रही है ऐसी समुद्रके किनारेकी भूमिपर भी आक्रमण किया था ॥ १३ ॥ सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें वि-

शुश्रुवे मर्मरध्वनि ॥ १५ ॥ सम तांबूलवल्लीभिरपश्यत्क्रमुकान्विभु. । एककार्यत्वमस्माकमितीव मिलितान्मिथः ॥ १६ ॥ नृपस्तांबूलवल्लीना सुपन्नान्क्रमुकद्रुमान् । निध्याय वेष्टितॉस्ताभिर्मुमुदे दंपतीयितान् ॥ १७ ॥ स्वाध्यायमिव कुर्वाणान्वनेष्वविरतस्वन । वीन्मुनीनिव सोऽपश्यद्यत्रास्तमितवासिन. ॥१८॥ पनसानि मृदून्यत· कटकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जना· प्रादन्यथेप्सित ॥ १९ ॥ नालिकेररसः पान पनसान्यशन पर । मरीचान्युपदंशश्च वन्या वृत्तिरहो सुख ॥ २० ॥ सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । रुवत. प्रभुरद्राक्षीद्गलदश्रुविलोचनान् ॥ २१ ॥ विदंश्य मजरीस्तीक्ष्णा मरीचानामशकित । शिरोविधूनतोऽपश्यत्प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥ २२ ॥ वनस्पतीन्फलानम्रान्वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कल्पद्रुमास्तित्वे निरारेकास्तदा

श्राम लेनेवाले उसकी सेनाके लोगोंने तरुण वृक्षोंसे निकलता हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहांपर भरतकी सेनाके लोगोंको ताडवृक्षोंके बनमें वायुके हिलनेसे उत्पन्न हुई बहुत कठोर सूके पत्तोंकी मर्मरध्वनि सुनाई पड रही थी ॥ १५ ॥ वहां जो सुपारियोंके वृक्ष मानों हम लोगोंका मिलकर ही एक कार्य होगा यही समझकर पानोंकी वेलोंसे परस्पर मिल रहे थे उन्हें भरतने देखा ॥ १६ ॥ जो सुपारीके वृक्ष पानोंकी वेलोंके आश्रय थे और स्त्री पुरुष सरीखे होकर उन वेलोंसे लिपट रहे थे उन्हें देखकर भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥१७॥ सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले जो पक्षी उसवनमें विराम रहित बराबर शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले स्वाध्याय करतेहुये मुनी हों उन्हें भी भरतने वहां देखा था ॥ १८ ॥ जो भीतर कोमल हैं और जिनके बाहरीभागपर बहुत कांटे हैं ऐसे अमृतके समान मधुर कटहलोंके फलोंको सेनाके लोग इच्छानुसार खाते थे ॥१९॥ अहा जहांपर पीनेको नारियरका रस मिलता है, खानेको कटहलके फल और चटनी आदि व्यंजनोंके लिये मिरचें मिलती हैं इसप्रकार बनमें रहकर शरीरका निर्वाह करना भी बहुत ही सुख देनेवाला है ॥२०॥ जो गीली मिरचें खाकर कुछ कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनके नेत्रोंसे आंसू बह रहे हैं ऐसे पक्षियोंको भी भरतने वहां देखा ॥ २१ ॥ बहुत तेज मिरचोंके गुच्छोंको निशं-

जनाः ॥ २३ ॥ लतायुवतिससक्ताः प्रसवाढ्याः वनद्रुमाः । करदा इव तस्यासन्प्रीणयंतः फलैर्जनान् ॥ २४ ॥ नालिकेरासवैर्मत्ताः किंचिदाघूर्णितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामद्रकुहर सिंहलागनाः ॥ २५ ॥ त्रिकूटे मलयोत्संगे गिरौ पाड्यकवाटके । जगुरस्य यशो मद्रमूर्च्छनाः किन्नरांगनाः ॥ २६ ॥ मलयोपातकातारे सह्याचलवनेषु च । यशो वनचरस्त्रीभिरुज्जगेऽस्य जयार्जित ॥ २७ ॥ चदनोद्यानमाधूय मद गन्धवहो ववौ । मलयाचलकुजेभ्यो हरन्निर्झरशीकरान् ॥ २८ ॥ विष्वग्विसारी दाक्षिण्यं समुज्झन्नपि सोऽनिलः । सभावयन्निवातिथ्यैर्विभोः श्रममुपाहरत् ॥ २९ ॥ एलालवगसवासमुरभिश्व-

---

कपनेसे खाकर चटपटी लगनेसे शिरको हिलातेहुये ऐसे तरुण बंदरोंको भी चक्रवर्तीने देखा ॥ २२ ॥ उससमय वहांपर लोगोंका उपकार करनेवाली और फलोंसे नवीहुई ऐसी अनेक बनस्पतियोंको देखकर कल्पवृक्षोंके अस्तित्वमें लोग निःसंदेह होगये थे ॥ २३ ॥ जिनपर बहुतसे फल फले हुये हैं ऐसे लतारूप स्त्रियोंसे लिपटेहुये बनके वृक्ष अपने फलोंसे सेनाके लोगोंको संतुष्ट करतेहुये ऐसे जान पडते थे मानो भरतको कर ही दे रहे हों ॥ २४ ॥ वहांपर नारियरका मद्य पीकर उन्मत्त हुई और इसलिये ही जिनके नेत्र कुछ कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहलद्वीपकी तरुण स्त्रियें गदगद स्वरसे भरतका यश गा रहीं थीं ॥ २५ ॥ तथा त्रिकूटाचल पर्वतपर मलयागिरिके शिखरपर और पांड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियां गंभीरस्वरसे इस चक्रवर्तीका यश गा रहीं थीं ॥ २६ ॥ इसीतरह मलयपर्वतके समीपके बनमें और सह्य पर्वतके बनोंमें भीलोंकी स्त्रियां इसके विजयसे उत्पन्न हुआ यश गा रही थीं ॥२७॥ उससमय मलयपर्वतके लतामंडपोंसे झरनोंके पानीकी बूंदें हरण करताहुआ और चंदनके बगीचोंको हिलाताहुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ २८ ॥ वह वायु दक्षिण दिशाको छोडकर सबओर बहता हुआ भी भरतका आदर सत्कार करताहुआ ही क्या मानो उसका सब परिश्रम दूर कर रहा था, भावार्थ—यद्यपि वह दक्षिण दिशाका वायु था तथापि सबओर बहकर भरतका परिश्रम दूर कर रहा था ॥ २९ ॥ समुद्रके किनारे हरे हरे वृक्षोंकी गलियोंमें इच्छानुसार फिरती हुई

सितैर्मुखैः । स्तनैरापांडुभिः सांद्रचंदनद्रवचर्चितैः ॥ ३० ॥ सलीलमृदुभिर्यानैर्नितंबभरमत्सरैः । स्मितैरनंगपुष्पास्त्रस्तबकोद्भेदविभ्रमैः ॥ ३१ ॥ कोकिलालापमधुरैर्जल्पितैरनतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतादोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥ ३२ ॥ लास्यैः स्खलत्पदन्यासैर्मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मदमञ्जुभिरुद्गीतैर्जितालिकुलसिंजनैः ॥ ३३ ॥ तमालवनवीथीषु सचरंत्यो यदृच्छया । मनोस्य जन्हुरारूढयौवनाः केरलस्त्रिय. ॥ ३४ ॥ प्रसाध्य दक्षिणामाशा विमुखैगज्यपालकान् । सम प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥ ३५ ॥ कालिंगकैर्गजैरस्य मलयोपातभूधराः । तुलयाद्भिरिवोन्मानमाक्राताः स्वेन वर्ष्मणा ॥ ३६ ॥ दिशाप्रातेषु विश्रातैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्व स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथातर ॥ ३७ ॥ ततोऽपरातमारुह्य सह्याचलतटोपगः । पाश्चिमार्णववेलांतपाल-

---

केरल देशकी तरुण स्त्रियां इलाइची लोंग आदि सुगंधित वस्तुओंसे जिनके श्वासोछ्वास सुगंधित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जिनपर घिसेहुये गाढे चंदनका लेप हो रहा है ऐसे सफेद स्तनोंसे, नितंबोंके बोझके साथ ईर्षा करनेवाले अर्थात् धीरे धीरे लीलासहित सुंदर गमनसे, कामदेवके पुण्यरूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान अपने मंदहास्यसे, कोयलकी वाणीके समान मधुर ऐसी अव्यक्त वाणीसे, अपनी भुजारूपी लताओंके इधर उधर फिरानेसे उत्पन्न हुई मनोहर चेष्टासे, जिसमें पैर पडते पडते स्खलित हो जाते हैं ऐसे नृत्यसे, जिनमें प्रायः मोती ही लगे हैं ऐसे आभूषणोंसे और भ्रमरोंके मधुर गुंजारोंको जीतनेवाले मंद तथा मनोहर गीतोंसे महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥३०-३४॥ इसप्रकार भरतने अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको जीतकर चोल केरल और पांड्य इन तीनों राजाओंको एक साथ जीता और उनसे प्रणाम कराया ॥ ३५ ॥ अपने शरीरसे जो मानों उंचाईको ही नाप रहे हों ऐसे कलिंगदेशके अनेक हाथियोंसे मलय पर्वतके समीपकी सब पृथ्वी भरगई थी ॥ ३६ ॥ दिग्विजय करनेकेलिये दिशाओंके अंतभागमें विश्राम लेतेहुये इसकी सेनाके हाथियोंने दिग्गजपना भी अपने वश करलिया था अर्थात् वे स्वयं दिग्गज बन गये थे, इसलिये लोकमें जो आठ दिग्गजोंकी कथा प्रसिद्ध है वह केवल शोभाके लिये थी ॥ ३७ ॥ तदनंतर पश्चिम दिशापर आ-

कानजयत्प्रभुः ॥ ३८ ॥ जयसाधनमस्याब्धेराराती रे विजृंभित । महासाधनमित्युच्चैः परं पारमवाप्दभत् ॥ ३९ ॥ उपसिंधुरिति व्यक्तमुभयोस्तीरयोर्बल । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुभ्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥ ४० ॥ तत स्म बलसंक्षोभादितो वार्द्धिः प्रसर्पति । इतः स्म बलसंक्षोभात्ततोऽब्धिः प्रतिसर्पति ॥ ४१ ॥ हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैस्ततमब्धेर्बभौ जलं । चिराद्विवृत्तमस्यैव सशैवलमधस्तल ॥ ४२ ॥ पद्मरागांशुभिर्भिन्न क्वचनाब्धेर्व्यभाज्जल । क्षोभाद्विवास्य हृच्छीर्णमुच्छलच्छोणितच्छट ॥ ४३ ॥ सह्योत्सगे लुठन्नब्धिर्नून दुःख न्यवेदयत् । सोऽपि सधारयन्नेन बुबुकृत्यमिवातनोत् ॥ ४४ ॥ असह्यैर्बलस-

---

क्रमणकर सह्य पर्वतके किनारेपर ठहरकर भरतने पश्चिम समुद्रके किनारेके राजाओंको जीता ॥३८॥ विजय करनेवाली वह भरतकी सेना समुद्रके किनारे किनारे सवजगह फैलगई थी वह वहुत वडी थी इसलिये उसने समुद्रका सव किनारा घेर लिया था ॥३९॥ उपसमुद्र अपने दोनों किनारोंपर भरतकी-सेना देखकर भयसे क्षुब्ध होकर वहुत ही व्याकुल हो गया था ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारे पर पडीहुई सेनाके क्षोभसे इस किनारेका समुद्र उस किनारेको लौटकर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैलीहुई हरे मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों इस समुद्रका शेवाल सहित नीचेका भाग वहुत दिनके वाद लौटकर ऊपर ही आगया हो ॥४२॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे [कांतिसे] मिलाहुआ उस समुद्रका जल ऐसा जान पडता था मानो दोनों ओरकी सेनाके क्षोभसे इस समुद्रका हृदय ही फटगया हो और उसीसे यह रुधिरकी छटायें निकल रही हों ॥ ४३ ॥ सह्य पर्वतकी गोदीपर अर्थात् नीचले भागपर लहरोंके द्वारा लोटताहुआ समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपना दुख ही कह रहा हो तथा वह सह्य पर्वत भी अपनी गोदीपर उसे धारण करता हुआ ऐसा जान पडता था मानों उसके साथ अपना वंधुभाव ही दिखला रहा हो ॥ ४४ ॥ सेनाके असह्य संघटनोंसे अत्यंत पीडित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटेहुये वृक्षोंसे ऐसा जान पडता था मानो अपने मस्तकपर पत्ते रखकर भरतसे

घट्टैः सह्यः स ह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव व्यक्तमकरोद्भग्नपादपैः ॥ ४५ ॥ चलत्सत्त्वो गुहारंध्रैर्विमुंचन्नाकुलं स्वनं । महाप्राणोऽद्रिरुत्क्रांतिमियायेव बलक्षतः ॥ ४६ ॥ चलच्छाखी चतत्सत्त्वश्चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नैवाचलतां भेजे सोऽद्रिरेव चलाचलः ॥ ४७ ॥ जनतावनसभोगैस्तुरगखुरघट्टनैः । सह्योत्संगभुव क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद्ययुः ॥ ४८ ॥ आ पश्चिमार्णवतटादा च मध्यमपर्वतात् । आ तुगवरकादद्रेस्तुगगडोपलाकितात् ॥ ४९ ॥ तं कृष्णगिरिमुल्लंघ्य त च शैल सुमदरं । मुकुद चाद्रिमुद्दत्ता जयेभास्तस्य बभ्रमुः ॥ ५० ॥ तत्रापरातकान्नागान् ह्रस्वग्रीवान्परान्रदे । युक्तान्पीनायितस्निग्धैः श्यामान्स्वक्षान्मृदुत्वचः ॥ ५१ ॥ महोत्सगानुदग्रागान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान्पद्मगधमदच्युतः ॥ ५२ ॥ सतुष्टान्स्ते वने

अपना दुख ही प्रगट कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अनेक प्राणियोंसे भराहुआ वह पर्वत भी सेनाके द्वारा टूट फूट गया था, उसके सब प्राणी इधर उधर भागने लगे थे तथा वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानो मरनेके निकट ही हो ॥ ४६ ॥ उसके सब वृक्ष हिलने लगे थे, प्राणी इधर उधर भागने लगे थे और चारोंओरके छोटे छोटे शिखर भी टूट फूटकर हिल रहे थे इसप्रकार सेनाके द्वारा आंदोलन कियाहुआ वह पर्वत केवल नाममात्रसे ही अचल था वास्तवमें वह चलायमान होगया था ॥ ४७ ॥ उसके बनोंमें सेनाके लोगोंके द्वारा की हुई अनेक तरहकी क्रीडासे और घोडोंके खुरोंके संघट्टनसे सह्यपर्वतके ऊपरकी भूमि टूटफूटकर थोडी ही देरमें जमीनके बराबर सपाट होगई थी ॥ ४८ ॥ चक्रवर्तीके विजय करनेवाले मदोन्मत्त हाथी पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वततक और मध्यमपर्वतसे बडे बडे पत्थरोंसे भरेहुये तुंगवरक नामके पर्वततक कृष्णगिरि, सुमंदरपर्वत और मुंकुद नामके पर्वतको उलंघनकर चारोंओर फिर रहे थे ॥४९-५०॥ जिनका गला कुछ छोटा है जो देखनेमें सुंदर हैं, जिनके दांत लंबे मजबूत और चिकने हैं, जो काले हैं जिनकी सब इंद्रियां अच्छी हैं, चमडा नरम है, पीठ चौडी है, शरीर ऊंचा है, जीभ, ओठ और तालु लाल हैं, जो क्रोधी हैं, जिनकी पूंछ और ओठ लंबे हैं, जिनसे कमलके समान सुगंध मद

शूरान्दृढपादान्सुवर्ष्मणः । स भेजे तद्वनाधीशैः ससंभ्रममुपाहृतान् ॥ ५३ ॥ वनरोमावलीस्तुंगतटारोहा बहूर्नदीः । पूर्वापराब्धिगाः सोऽत्येत्सह्याद्रेर्दुहितॄरिव ॥ ५४ ॥ सचरद्वीपणग्राहैर्भीमा भीमरथीं नदीं । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दारुवेणा च दारुणा ॥ ५५ ॥ नीरां तीरस्थवानीरशाखाग्रस्थगिताभसा । मूला कूलंकषैरोघैरुन्मूलिततटद्रुमां ॥ ५६ ॥ बाणामविरताबाणा केतबामवुसभृता । करीरिततटोत्संगा करीरीं सरिदुत्तमां ॥ ५७ ॥ प्रहरा विषमग्राहैर्दूषितामसतीमिव । मुररा कुररैः सेव्यामपपका सतीमिव ॥ ५८ ॥ पारा पारेजलं कूजत्क्रौंचकादबसारसा । मदना समनिम्नेषु समानामस्खलद्गतिं ॥ ५९ ॥ मद-

---

बह रहा है, जो अपने ही बनमें रहनेसे संतोष मानते हैं, जो शूर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन उन जंगलोंके स्वामी बडे आदरसे भेट देनेके लिये लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको भी भरतने स्वीकार किया ॥ ५१-५३ ॥ अनेक बन ही जिनकी रोमावली हैं और ऊंचे पर्वतके किनारे ही जिनके नितंव हैं ऐसी सह्य पर्वतकी पुत्रीके समान पूर्व पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियां उसने उलंघन कीं ॥ ५४ ॥ फिरते हुये भयंकर मगर मच्छोंसे भयानक ऐसी भीमरथी नदी, नाकू घडियाल आदि जलचर जीवोंके फिरनसे उत्पन्न होनेवाले भंवरोंसे भयंकर दिखनेवाली दारुवेणा नदी, किनारेपर उत्पन्न होनेवाले बेतोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसका पानी ढका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोडनेवाले तेज प्रवाहसे जिसने किनारेके सब वृक्ष उखाड दिये हैं ऐसी मूला नदी जिसमें निरंतर पानीका शब्द होता रहता है, ऐसी बाणा नदी जलसे, सदा भरपूर रहनेवाली केतवा नदी, जिसके किनारेका प्रदेश सब हाथियोंने तोड दिया है ऐसी उत्तम करीरी नदी, विषमग्राह अर्थात् क्रूर नीच मनुष्योंसे दूषित ऐसी दुराचारिणी स्त्रीके समान विषमग्राह अर्थात् क्रूर मगर मच्छोंसे भरी हुई ऐसी प्रहरा नदी, निष्कलंक पतिव्रता स्त्रीके समान कीचड रहित और जिसपर अनेक कुरर पक्षी निवास करते हैं ऐसी मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर कौंच, कलहंस, और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारानदी, जो समान और नीची पृथ्वीपर

स्रुतिमिवाबद्धवेणिकां सह्यदंतिनः। गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृता ॥ ६० ॥ करीरवनसंरुद्धतटपर्यंतभूतलां। तापीमातपसंतापात्कवोष्णां बिभ्रतीमपः ॥ ६१ ॥ रम्या तीरतरुच्छायासमुप्तमृगशावका। खातामिवापरातस्य नदी लांगलखातिका ॥ ६२ ॥ सरितोऽमूस्सम सैन्यैरुत्ततार चमूपति.। तत्र तत्र समाकर्षन्मदिनो वनसामजान् ॥ ६३ ॥ प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धिं पातुमिवोद्यतः। सह्याचल तमुल्लंघ्य विंध्याद्रि प्राप तद्बल ॥ ६४ ॥ भूभृता

समान जलसे भरी है और जिसकी गति कहीं रुकती नहीं ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुये मदके समान जान पडती है, जिसकी छटायें वहुत बडी बडी उड रही हैं, जिसका प्रवाह निरंतर बहता रहता है और जिसका फाट बहुत चौडा है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेकी भूमि करीर के वनोंसे रुक रही है और धूपसे गरम होकर जिसका पानी सदा थोडा थोडा गरम रहता है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हिरणोंके बच्चे सो रहे हैं जो मनोहर है और पश्चिमदेशकी खाईके समान है ऐसी लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियोंके किनारेके जंगलोंमेंसे सदोन्मत्त हाथियोंको पकडवाता हुआ वह सेनापति अपनी सेनाके साथ साथ ऊपर लिखी हुई सब नादियोंके पार होगया था ॥ ५५-६३ ॥ जो अपनी नदियांरूपी जीभोंको फैलाकर समुद्रको पीनेकेलिये तैयार हुआ है उस सह्य पर्वतको उलंघनकर भरतकी वह सेना विंध्याचलपर पहुंची ॥ ६४ ॥ वहांपर उसने अपने समान विंध्याचलको देखा, क्योंकि जिसप्रकार आप भूभृत अर्थात् राजाओंका स्वामी था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी भूभृत अर्थात् पर्वतोंका स्वामी था, जिसप्रकार आप उत्तुंग अर्थात् बडा था उसीप्रकार पर्वत भी उत्तुंग अर्थात् ऊंचा था, जिसप्रकार आप पृथुवंश अर्थात् बडे वंशमें उत्पन्न हुआ था उसीप्रकार विंध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बडे बडे बांसोंके वनोंसे भरा था, जिसप्रकार आप धृतायति अर्थात् प्रयत्न करनेवाला था उसीप्रकार विंध्याचल भी धृतायति अर्थात् वहुत लंबा था और आप जिसप्रकार दूसरोंके द्वारा उलंघन नहीं किया

पतिमुत्तु। पृथुवग गृतायतिं । पौरल्यमत्राक्षीद्रिंयादि स्वमिव प्रभु ॥ ६५ ॥ भाति यः शिखरैस्तुंगैदूरव्यापतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौघैर्विश्रामायेव संश्रित. ॥ ६६ ॥ य पूर्वापरकोटिभ्या विगाह्याबुनिधिं स्थित । नूनं दावभयात्सख्यममुना प्रचिकीर्षति ॥ ६७ ॥ नयति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टिं तटद्रुमान् । स्वपादाश्रयिण पोष्याः प्रभुणेवेति शंसितु ॥ ६८ ॥ तटस्थपुष्पापाषाणस्खलितोच्चलितांभस. । नदीवधू कृतध्वाननिर्झरैर्हसतीव य ॥ ६९ ॥ वनाभोगमपर्यंत यस्य दग्धुमिवाक्षम. । भृगुपाताय दावाग्नि शिखराण्यधिरोहति ॥ ७० ॥ ज्वलद्दावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयाणीव लक्ष्य-

जासकता था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी दूसरोंके द्वारा उल्लंघन नहीं किया जा सकता था ॥ ६५ ॥ जिनसे निकलते हुये निर्झरने बहुत दूर जाकर पडते हैं ऐसे ऊंचे ऊंचे अनेक शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ध्वजाओंसहित विमानोंके समूहके विश्राम करनेकेलिये ही खडा हो ॥ ६६ ॥ उसके पूर्व और पश्चिमके दोनों किनारे समुद्रमें भीतर घुस गये थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानो दावानलके भयसे इस समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥ ६७ ॥ उस पर्वतके झरने अपने किनारेके वृक्षोंको सदा पालन पोषण करते रहते थे और ऐसे जान पडते थे मानों स्वामीको अपने चरणोंके आश्रय आये हुये पुरुषोंका पालन पोषण अवश्य करना चाहिये यही सब लोगोंको सूचित कर रहे हों ॥ ६८ ॥ शब्द करते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो जिनका पानी अपने किनारेपर पडे हुये ऊंचे नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर ऊपरको उछल रहा है ऐसी नदीरूप स्त्रियोंकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उसकी शिखरोंपरका दावानल अग्नि ऐसा जान पडता था मानो सीमारहित वनके बहुत बडे प्रदेशको जलानेकेलिये असमर्थ है इसलिये ही वह पर्वतसे नीचे पडनेके लिये उसके शिखरपर चढ रहा हो ॥ ७० ॥ असाढ महीनेमें अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें जलती हुई दावानल अग्निसे घिरे हुये उसके शिखर वहांके भीलोंको सुवर्णके समान जान पडते थे ॥ ७१ ॥ उस पर्वतका वन कहीं कहींपर मातंग अर्थात् जंगली हाथियोंसे भरा था,

ते शुचिसन्निधौ ॥ ७१ ॥ समातंगं वनं यस्य सभुजंगपरिग्रहं । विजातिकंटकाकीर्णं क्वचिद्वृत्तेऽतिकष्टता ॥ ७२ ॥ क्षीवकुंजरयोगेऽपि क्वचिदक्षीवकुंजरं । विपत्रमपि सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनं ॥ ७३ ॥ स्फुटद्वेणूदरान्मुक्तैर्न्यस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसतीव स्फुरद्दंतांशु यद्वने ॥ ७४ ॥ गुहामुख स्फुरद्धीरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥ ७५ ॥ स्फुट निम्नोन्नतैर्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकारं बिभर्ति यः ॥ ७६ ॥ ज्वलत्यौषधयो यस्य वनांतेषु तमीमुखे । देवताभिरिवोत्क्षिप्ता दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥ ७७ ॥ क्वचिन्मृगेंद्रभिन्नेभकुंभोन्मुक्तलि-

अथवा चांडालोंका साथ करता था तथा उसमें बहुतसे सर्प थे अथवा भुजंग अर्थात् व्यभिचारी आदि नीच लोग थे और अनेकप्रकारके कांटोंसे भरा था अथवा नीच दुष्ट लोगोंसे भरा था इसलिये वह बहुत ही भयानक हो रहा था अथवा निंदनीय हो रहा था ॥ ७२ ॥ यद्यपि वह वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे भरा था तथापि वह अक्षीवकुंजर था अर्थात् उसमें समुद्रका नमक बहुत था, तथा यद्यपि वह विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे भरा था तथापि सत्पत्रपल्लव था अर्थात् सुंदर नये पत्तोंसे सुशोभित था इसप्रकार वह बन बहुत अच्छा जान पडता था ॥७३॥ कहीं कहींपर फटे हुये बांसोंके भीतरसे निकलकर चारोंओर फैले हुये मोतियोंसे वह बन ऐसा जान पडता था मानों उसमें अनेक बनलक्ष्मियां अपने दांतोंकी किरणें फैलाती हुई हँस रही हों ॥ ७४ ॥ गुफाओंके द्वारपर झरते हुये और गंभीर शब्द करते हुये झरनोंकी प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो वडप्पनसे कुलपर्वतोंके साथ ईर्षा करता हुआ गरज रहा ही हो ॥७५॥ नीचे ऊंचे अनेक प्रदेशोंसे, गेरू आदि अनेकतरहकी धातुओंसे और अनेक रंगके असंख्यात पशुओंसे वह पर्वत प्रगट रीतिसे एक विचित्र आकारकी शोभा धारण करता था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें सायंकालके समय कुछ अंधेरा होनेपर जो अनेक प्रकारकी औषधियां प्रकाशमान हो रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानो देवताओंने अंधकारको नाश करनेवाले दीपक ही जलाये हों ॥ ७७ ॥ कहीं कहींपर पर्वतके समीपका भाग सिंहोंने फाडेहुये अनेक

तमौक्तिकैः । यदुपातम्थल धत्ते प्रकीर्णकुसुमाश्रियं ॥ ७८ ॥ स तमालोकयन्दूरादाससाद महागिरिं । आह्वयतमिवासक्त मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥ ७९ ॥ स तद्वनगतान्दूरादपश्यद्वनकर्बुरान् । सयूथानुद्धनुर्वंशान्किरातान्कारिणोऽपि च ॥ ८० ॥ सरिद्वधूस्तदुत्सगे विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत्स्फुरद्द्विरुतमुन्मना ॥ ८१ ॥ मध्येविंध्यमयैक्षीष्ट नर्मदा सरिदुत्तमा । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमवारिता ॥ ८२ ॥ तरंगितपयोवेगा भुवो वेणीमिवायता । पताकामिव विंध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनी ॥ ८३ ॥ सा धुनी बलसंक्षोभादुड्डीनविहगावलिः । विभोरागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यभात् ॥ ८४ ॥ नर्मदा

हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पडेहुये मोतियोंसे ऐसी अच्छी शोभा धारण करता था मानो उसपर किसीने फूल ही फैलाये हों ॥ ७८ ॥ वायुके द्वारा हिलतेहुये किनारेके वृक्षोंसे मानों अपनेको बुला रहा ही हो ऐसे अपनेमें आसक्त उस महा पर्वतको दूरसे ही देखताहुआ वह चक्रवर्ती उसपर जा पहुंचा ॥ ७९ ॥ वहांपर जाकर उसने उस वनमें रहनेवाले झुंडके झुंड हाथी और भीलोंको देखा, वे भील भी बादलोंके समान काले थे और वांसोंके धनुषोंको ऊंचाकर कंधेपर रक्खेहुये थे तथा हाथी भी बादलोंके समान काले थे और उनका वंश अर्थात् रीढ [पीठपरकी हड्डी] धनुषके समान ऊंची उठी हुई थी ॥ ८० ॥ तथा पर्वतके किनारेपर उसने चंचल मछलियां ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुये पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विंध्याचलकी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको बडी अभिलाषाके साथ देखा ॥ ८१ ॥ तदनंतर उस चक्रवर्तीने विंध्याचलके मध्यभागमें समुद्रतक फैली हुई और किसीसे न रुकनेवाली ऐसी उस पर्वतकी कीर्तिके समान उत्तम नर्मदा नदी देखी ॥८२॥ जिसके जलके प्रवाहमें अनेक लहरें उठ रही हैं ऐसी वह नर्मदानदी पृथ्वीकी लंबी चोटीके समान जान पडती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको विजय करनेकी सूचना करनेवाली विंध्याचलकी जयपताकाके समान जान पडती थी ॥ ८३ ॥ सेनाके क्षोभसे जो पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही थी उससे वह नदी क्षणभरके लिये ऐसी अच्छी जान पडती थी, मानो भरतके आनेपर उसने तोरण

सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोषितां । यदपो ह्युत्तरंतीस्ताः शफरीभिरघट्टयत् ॥ ८५ ॥ तामुत्तीर्य जनक्षोभादुत्पततपतगावलिं । बलं विध्योत्तरस्थानमाक्रामत्कुत-
पास्थया ॥ ८६ ॥ तस्य दक्षिणतोऽपश्यद्विंध्यमुत्तरतोऽप्यसौ । द्विधाकृतमिवात्मानमपर्यंतं दिशोर्द्वयोः ॥ ८७ ॥ स्कधावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्यु-
तत् । प्रथिम्ना विंध्यमावेष्टय स्थितो विंध्य इवापरः ॥ ८८ ॥ गजैर्गंडोपलैरश्वैरश्ववक्त्रैश्च विद्रुतैः । स्कधावार स विन्ध्यश्च भिदा नावापतुर्मिथः ॥८९॥
बलोपभुक्तनि.शेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विंध्योवध्यस्तदाभवत् ॥ ९० ॥ वैणवैस्तडुलैर्मुक्ताफलमिश्रै. कृतार्चना । अध्यूषु. सैनिकाः स्वैर

ही बांधा हो ॥ ८४ ॥ वह नर्मदा नदी सचमुच ही रानियोंकेलिये नर्म-दा अर्थात् क्रीडा करानेवाली थी, क्योंकि जब वे स्त्रियां उस नदीके जलको पार करती थीं तब वह नदी मछलियोंके द्वारा उन स्त्रियोंको धक्का देती थी ॥ ८५ ॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके किनारेके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली (दरवाजा) समझकर विंध्याचलके उत्तरकी ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहांपर भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओंकी ओर विंध्याचलको देखा, उससमय दोनोंओर वह ऐसा जान पडता था मानो अपने दो भागकर दोनों दिशाओंको अर्पण ही कर रहा हो ॥ ८७ ॥ भरतकी सेनाका पडाव नर्मदाके दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानो अपने फैलावसे विंध्याचलको घेरकर कोई दूसरा विंध्याचल ही पडा हो ॥ ८८ ॥ उससमय सेनाके पडाव और विंध्याचलमें आपसमें कोई भेद नहीं जान पडता था दोनों ही एकसे जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार पडावमें हाथी थे उसीप्रकार विंध्याचलमें बडे बडे पत्थर थे और पडावमें जिसप्रकार इधर उधर दौडनेवाले घोडे थे उसीप्रकार विंध्याचलमें इधर उधर दौडनेवाले किन्नर जातिके देव थे ॥ ८९ ॥ सेनाने उस विंध्याचलके बनोंके समस्त फल पत्ते और वृक्षोंका उपभोग करलिया था, लतायें और छोटे छोटे पौधे सब पुष्प रहित हो गये थे इसलिये उससमय वह विंध्याचल वंध्याचल अर्थात् वंध्याके समान पुष्प फल आदि सब संपत्तिसे रहित होगया

रम्या विंध्याचलस्थितिः ॥ ९१ ॥ कृतावास च तत्रैन ददृशुस्तद्वनाधिपा । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैरगदैश्च महौषधैः ॥ ९२ ॥ उपानिन्यु करीद्राणा दन्तानस्मै समौक्तिकान् । किरातवर्याश्चर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभो ॥ ९३ ॥ पश्चिमातेन विंध्याद्रिमुल्लघ्योत्तीर्य नर्मदा । विजेतुमपरामाशा प्रतस्थे चक्रिणो बल ॥ ९४ ॥ गत्वा किंचिदुदग्भूय प्रतीचीं दिशमानशे । प्राक्प्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्र चरमं बल ॥ ९५ ॥ तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतमहीरज । न केवल द्विपा तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥ ९६ ॥ लाटा ललाटसघृष्टभूपृष्ठा स्वादुभाषिणः । लालाटिकपदं भेजु. प्रभोराज्ञावशीकृताः ॥९७॥

था ॥ ९० ॥ मोतियोंसे मिलेहुये वांसी चावलोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हुये सेनाके लोगोंने इच्छानुसार वहां निवास किया सो ठीक ही है क्योंकि विंध्याचल पर रहना आनंद देनेवाला ही है ॥ ९१ ॥ वहांके जंगली राजाओंने बनमें उत्पन्न हुई रोग दूर करनेवालीं अनेक औषधियां आदि अच्छी अच्छी भेट देकर वहांपर निवास करनेवाले महाराज भरतके दर्शन किये ॥ ९२ ॥ भीलोंके राजाओंने बडे बडे हाथियोंके दांत और मोती भरतकी भेट किये, सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यतानुसार ही करना चाहिये ॥ ९३ ॥ बिंध्याचलको पश्चिमी किनारेके अंतकी ओरसे उलंघनकर तथा नर्मदाको पारकर वह चक्रवर्तीकी सेना पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये निकली ॥ ९४ ॥ जो किसीसे न रोकाजाय ऐसा भरतका प्रताप आगे आगे जा रहा था और उसके पीछे पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी, वह प्रताप पहिले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढा और फिर पश्चिम दिशामें जाकर फैल गया ॥ ९५ ॥ उससमय चलतेहुये घोडोंके खुरोंसे जो पृथ्वीकी धूलि उड रही थी उसने केवल शत्रुओंका ही प्रताप नहीं रोका था किंतु सूर्यका प्रताप भी उससे रुक गया था ॥ ९६ ॥ जिन्होंने अपना ललाट पृथ्वीतलपर घिसा है अर्थात् मस्तक नवाकर नमस्कार किया है और जो चक्रवर्तीको अच्छे लगनेवाले मधुरभाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञाके वशमें हुये लाट देशके राजा लालाटिक पदपर नियुक्त हुये थे (स्वामीका अभिप्राय समझकर उनकी आज्ञानु-

केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे पाचनदैर्गजैः । त तद्वनाधिपा वीक्षाचक्रिरे चक्रचालिताः ॥ ९८ ॥ चक्रसदर्शनादेव त्रस्ता निर्मंडलग्रहाः । ग्रहा इव नृपाः केचिच्चाक्रिणो वशमाययु ॥ ९९ ॥ दिश्यानिव द्विपान् क्ष्मापान्पृथुवशान्मदोध्दुरान् । प्रचक्रे प्रगुणाश्चक्री वलादाक्रम्य दिक्पतीन् ॥ १०० ॥ नृपान्सौराष्ट्रकानुष्ट्रवामीशतभृतोपदान् । सभाजयन्प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थली. ॥ १०१ ॥ सुराष्ट्रेपूर्जयताद्रिमद्रिराजमिवोन्छ्रित । ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भावितीर्थमनुस्मरन् ॥ १०२ ॥ क्षौमांशुकदुकूलैश्च चीनपट्टाम्बरैरपि । पटीभेदैश्च देशेशा ददृशुस्तमुपायनै. ॥ १०३ ॥ काश्चित्समानदानाभ्या कांश्चिद्विश्रमभापि-

सार काम करनेवालोंका पद लालाटिक पद कहलाता है) ॥ ९७ ॥ चक्रके भयसे भयभीत हुये कितने ही जंगली राजाओंने सोरठ देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर, तथा अन्य कितनोंने ही पंचनद (पंजाब) देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर भरतके दर्शन किये ॥ ९८ ॥ जिसप्रकार समस्त ग्रह भरतके वश थे अर्थात् कोई उपद्रव नहीं करते थे उसीप्रकार जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हुये हैं और जिनका देशाभिमान छूटगया है ऐसे अनेक राजा लोग भरतके वश होगये थे ॥ ९९ ॥ जो राजा दिग्गजोंके समान थे अर्थात् जिसप्रकार दिग्गज पृथुवंश अर्थात् बडी रीढवाले होते हैं उसीप्रकार जो पृथुवंश अर्थात् बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये थे और दिग्गज जिसप्रकार मदोध्दुर अर्थात् मदोन्मत्त होते हैं उसीप्रकार जो मदोध्दुर अर्थात् अभिमानसे उन्मत्त थे उन सब राजाओंको जबर्दस्ती आक्रमणकर भरतने वश कर लिया था ॥ १०० ॥ सैकडों ऊंट और घोडोंको भेटमें लेकर आयेहुये सोरठदेशके राजाओंसे सेवा कराता हुआ अर्थात् उन्हें वश करता हुआ वह चक्रवर्ती गिरनार पर्वतकी मनोहर तराईमें जा पहुंचा ॥ १०१ ॥ होनेवाले बाईसवें तीर्थकर श्रीनेमिनाथका स्मरण करताहुआ वह चक्रवर्ती उस सोरठ देशमें मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर आगे बढा ॥ १०२ ॥ उन उन देशोंके स्वामियोंने पाटके बनेहुये वस्त्र, अच्छे अच्छे रेशमी वस्त्र तथा और भी अनेक प्रकारके विलक्षण वस्त्र भेट देकर

तैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः काँश्चिद्भूपान्विभुररञ्जयत् ॥ १०४ ॥ गजप्रवेकैर्जात्यश्वैरत्नैरपि पृथग्विधैः । तमानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगत प्रभुं ॥ १०५ ॥ तरस्विभिर्वपुर्मेधावयःसत्त्वगुणान्वितैः । तुरगैस्तुरुष्कार्द्यैविभुमाराधयन्परे ॥ १०६ ॥ केचित्काम्बोजवाह्लीकतैतिलारट्टसैंधवैः । वानायुजैः सगांधारैर्वाणपैरपि वाजिभि ॥ १०७ ॥ कुलोपकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिभि । आजानेयैः समग्राङ्गैः प्रभुमैक्षत पार्थिवाः ॥ १०८ ॥ प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवल । यशोलाभश्च दुःसाध्यान्बलात्साधयतो नृपान् ॥ १०९ ॥ जलस्थलपथान्विष्वगारुध्य जयसाधनैः । प्रत्यतपालभूपालानजयत्तच्चमूपतिः ॥११०॥

भरतके दर्शन किये ॥ १०३ ॥ भरतने कितने ही राजाओंको आदर सत्कारकर, कितनोंको कुछ देकर, कितनोंसे स्नेह पूर्वक बातचीत कर और कितने ही राजाओंको प्रसन्न दृष्टिसे देखकर प्रसन्न किया ॥ १०४ ॥ कितने ही राजाओंने संतुष्ट होकर उत्तम हाथी उत्तम घोडे और अनेकप्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आयेहुये महराज भरतका आदर सत्कार किया ॥ १०५ ॥ अन्य कितने ही राजाओंने अच्छा शरीर, अच्छी धारणा, जवानी, बल आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाले तथा तेज चलनेवाले ऐसे तुरुष्क आदि देशोंमें उत्पन्नहुये घोडे भेटकर भरतकी सेवा की ॥ १०६ ॥ कितने ही राजाओंने जो उसी देशके घोडे घोडियोंसे उत्पन्न हुये तथा एकदेशके घोडे और अन्य देशकी घोडियोंसे उत्पन्नहुये, अनेक देशोंमें संचार करनेवाले, नम्र और जिनके अंग उपांग सब पूर्ण हैं ऐसे कंबोज, बाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सिंध, बानायु, गांधार और बाण देशमें उत्पन्नहुये अनेक घोडे भेटदेकर भरतके दर्शन किये ॥ १०७-१०८ ॥ भरतको प्रत्येक मुकामपर केवल रत्नोंकी प्राप्ति ही नहीं हुई थी किंतु अपने पराक्रमसे बडे बडे बलवान राजाओंको जीतनेसे यशकी प्राप्ति भी हुई थी ॥ १०९ ॥ भरतके सेनापतिने अपनी सेनाके द्वारा जल और स्थलके सब रास्ते रोककर पर्वतीय देशोंके राजाओंको जीता ॥ ११० ॥ सेनापतिने अनेकप्रकारके देश जंगल नादियां और पर्वत उल्लंघनकर उन सब जगह भरतकी आज्ञा स्थापन की ॥ १११ ॥ उसने पूर्वदिशाके समान अनुक्रमसे

विलंघ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र प्रभोराज्ञां सेनानीराश्वशिश्रियत् ॥ १११ ॥ प्रान्त्यानिव स भूपालान्प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । साधयन्हृततन्मानधनः प्रायात्पराम्बुधिं ॥ ११२ ॥ वेलासरित्करान्वार्द्धिरतिदूरं प्रसारयन् । नूनं प्रत्यग्रहीदेनं नानारत्नार्घमुद्वहन् ॥ ११३ ॥ शूर्पैर्मेयानि रत्नानि वार्द्धेरित्यप्रशंसिभिः । यानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥ ११४ ॥ नाम्नैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघूकृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेने तदा नृपैः ॥ ११५ ॥ पतन्यत्र पतङ्गोपि तेजसा याति मन्दताम् । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्यान् जयतो नृपान् ॥ ११६ ॥ धारयश्चक्ररत्नस्य पारयन् समरोदधेः । द्विषामुद्वेजयंस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥ ११७ ॥ अनुवार्द्धितटं गत्वा सिंधुद्वारे न्यवेशयत् । स्कन्धावारं स लक्ष्मीवानक्षोभ्यं स्वमिवाशयं

पश्चिम दिशाके सब राजाओंको भी वश किया और उनका अभिमान तथा धन हरणकर वह पश्चिमसमुद्रकी ओर चला ॥ ११२ ॥ उससमय वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपनी लहरें और नदीरूपी हाथोंको बहुतदूरतक फैलाकर अनेक प्रकारके रत्न रूपी अर्घको धारण करताहुआ महाराज भरतके सन्मुख होकर उनको सत्कार ही कर रहा हो ॥ ११३ ॥ समुद्रकी प्रशंसा करनेवाले लोग कहते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं परंतु इससे वह कुछ धनी नहीं हो सकता क्योंकि चक्रवर्तीके रत्न बडे बडे जहाजोंसे नापे जा सकते हैं ॥ ११४ ॥ यह समुद्र लवणसमुद्रके नामसे तो बहुत ही हलका किया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है, यही समझकर उससमय भरत उसे बहुत कुछ मानने लगे थे ॥ ११५ ॥ जिस दिशामें जाकर सूर्यका प्रताप भी मंद पड जाता है उसी दिशामें जाकर वहांके अनेक राजाओंको जीतते हुये उस भरतका प्रताप बहुत ही देदीप्यमान हो गया था ॥ ११६ ॥ चक्ररत्नको धारण करताहुआ, संग्रामरूपी समुद्रके पार होताहुआ और शत्रुओंको खेदखिन्न करताहुआ वह भरत उससमय ठीक सूर्यके समान तेजस्वी दिख रहा था ॥ ११७ ॥ लक्ष्मीके मुख्य स्थान ऐसे उस भरतने समुद्रके किनारे किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाली अपनी सेनाको सिंधुनदीके संगमपर ठहराया ॥ ११८ ॥ भरतकी सेनाके लोगोंने, सेनाके

॥ ११८ ॥ सिंधोस्तटवने रम्ये न्यविक्षतास्य सैनिका । चमूद्विरदसंभोगनिकुंजीभूतपादपे ॥ ११९ ॥ तत्राविधानविन्नोद्धः पुरश्चरणकर्मवित् । पुरोधा धर्मचक्रेशान्प्रपूज्य विधिवत्तत ॥ १२० ॥ सिद्धशेषाक्षतैः पुण्यैर्गंधोदकविमिश्रितैः । अभ्यनंदत्सुरत्ना त पुण्याशीर्भिश्च चक्रिणं ॥ १२१ ॥ ततोऽसौ धृतदिव्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत् । जगाहे लवणाभोधिं गोष्पदावज्ञया प्रभुः ॥ १२२ ॥ प्रभासमजयत्तत्र प्रभास व्यंतरप्रभु । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभा-सा तर्जयन्प्रभु. ॥ १२३ ॥ जयश्रीशफरीजालं मुक्ताजालं ततोऽमरात् । लेभे सांतानिकीं मालां हेमजालं च चक्रभृत् ॥ १२४ ॥ इति पुण्योदयाज्जिष्णु-र्व्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात्पुण्यधनं प्राज्ञाः शश्वदर्जयतोर्जितं ॥ १२५ ॥ खगखुरतुरगमाधनखुरक्षुण्णान्महीस्थाडिम्यादु द्धूतैरथरेणुभिर्जलनिधेः कालुष्यमा-

---

हाथियोंने खा लेनेसे जिसके पेड सब छोटे छोटे रह गये हैं ऐसे मनोहर सिंधुनदीके किनारेके वनमें निवास किया ॥११९॥ तदनंतर देवपूजा आदि समस्त विधिविधान जाननेवाले पुरोहित उपाध्यायने वहांपर मंत्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजाकर विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर गंधोदकसे मिले हुये पवित्र सिद्धशेपाक्षतोंसे अर्थात् पूजा करनेके बाद जो अक्षत आदि सामग्री बचती है उससे उस चक्रवर्तीको पुण्यरूप आशीर्वाद देकर उसका आनंद बढाया ॥ १२०-१२१ ॥ तदनंतर भरतने पहिलेके समान दिव्य शस्त्र धारणकर और रथमें बैठकर गोष्पदके समान तुच्छ समझकर लवणसमुद्रमें प्रवेश किया ॥ १२२ ॥ अपनी कांतिसे सूर्यकी कांतिके समूहको लज्जित करते हुये भरतने वहां जाकर प्रभास नामके व्यंतरोंके स्वामीको जीता और प्रभास नामके क्षेत्रको अपने आधीन किया ॥१२३॥ तथा चक्रवर्तीको उस प्रभासदेवसे भेटमें आया हुआ जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकडनेके लिये जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षोंके फूलोंकी माला और एक सुवर्णका जाल प्राप्त हुआ ॥१२४॥ इसप्रकार सबको विजय करनेवाले भरत चक्रवर्तीने अपने पुण्यकर्मके उदयसे बडे बडे देवोंको भी जीता, इसलिये हे विद्वान लोगो तुम भी उत्तम फल देनेवाले पुण्यरूप धनको सदा संपादन करो ॥ १२५ ॥ जिसकी शोभा अपार है ऐसा वह प्रथम चक्रवर्ती भरत जिसके ऊंचे ऊंचे टीले सब उछ-

पादयन् । सिंधुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामरं तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणा ॥ १२६ ॥ लक्ष्म्यांदोललतामिवोरसि दधत्संतानपुष्पस्रज मुक्ताहेममयेन जालयुगलेनालंकृतोच्चैस्तनुः । लक्ष्म्युद्वाहगृहादिवाप्रतिभयो निर्यन्निधेरंभसा लक्ष्मीशो रुरुचे भृशं नववरच्छाया परामुद्वहन् ॥१२७॥ प्रान्यानाजलधेरपाच्यनृपतीनावैजयतादयं निर्जित्यापरसिंधुसीमघटितामाशा प्रतीचीमपि । दिक्पालानिव पार्थिवान्प्रणमयन्नाकपयन्नाकिनो दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्थ स भूभृत्प्रभुः ॥ १२८ ॥ पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैंद्रीं च दिव्यश्रिय पुण्यात्तीर्थकरश्रिय च परमा नैश्रेयसीं चाश्नुत । पुण्यादित्य-

---

लते हुये सेनाके बडे बडे घोडोंके खुरोंसे खुद गये है ऐसी पृथ्वीपर उडती हुई रथकी धूलिसे समुद्रको गदला करताहुआ सिंधु नदीके द्वारपर (जहां सिंधु नदी समुद्रमें मिलती हे) पहुंचा और वहां उसने विधिपूर्वक प्रभास नामके व्यंतरदेवको जीतकर उसका सब सारधन प्राप्त किया ॥ १२६ ॥ जिसके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूलेकी लताके समान कल्पवृक्षके फूलोंकी माला पडी हुई है, जिसका वडा शरीर मोती और सोनेके बने हुये दो जालोंसे सुशोभित हो रहा है, जिसे किसीका भय नहीं है और जो लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा वह भरत लक्ष्मीके विवाह मंडपके समान समुद्रसे निकला और नये वरकी उत्कृष्ट शोभा धारण करता हुआ वह वहुत ही सुंदर दिखाई देने लगा ॥ १२७ ॥ इसप्रकार समस्त राजाओंके स्वामी भरतने समुद्रतक पूर्व दिशाके राजाओंको तथा वैजयंत पर्वततक दाक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिमसमुद्रतक समस्त पश्चिम दिशाको जीता, दिक्पालोंके समान सब राजाओंसे नमस्कर कराया, देवोंको कंपायमान किया और समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥ १२८ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! पुण्यसे सबको विजय करने वाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इंद्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी मिलती है और परम कल्याण करनेवाली मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इसप्रकर यह भव्य जीव पुण्यसे ही चारोंप्रकारकी लक्ष्मियोंका पात्र होता है, इसलिये हे पंडितजनो तुम भी श्रीजिनेंद्र-

सुभ्रान्छ्रिया चतसृणामाविर्भवेद्भाजनं तस्मात्पुण्यमुपार्जयंतु सुधियः पुण्याज्जिनेंद्रागमात् ॥ १२९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे पश्चिमार्णवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंश पर्व ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमं पर्व ।

कौवेरीमथ निर्जेतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठै साधनैः स्थगयन् दिशः ॥ १ ॥ धौरितैर्गतमुत्साहैः सत्वं शिक्षा च लाववैः । जातिं वपुर्गणैस्तज्ज्ञास्तदाश्वाना विजज्ञिरे ॥ २ ॥ धौरित गतिचातुर्यमुत्साहस्तु पराक्रमः । शिक्षा विनयसपत्तीरोमच्छाया वपुर्गुणः ॥ ३ ॥ पुरोभागा-

---

देवके पवित्र आगमके अनुसार पुण्य संपादन करो ॥ १२९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला यह तीसवा पर्व समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

इकतीसवां पर्व

अथानंतर–जिसमें अनेक घोडे हैं ऐसी अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ यह चक्रवर्ती उत्तर दिशाको जीतनेकेलिये तैयार होकर निकला ॥१॥ उससमय घोडोंके सब गुण जाननेवाले लोगोंने घोडोंकी धौरित नामकी चालसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, हलका चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥ २ ॥ गतिकी चतुरताको धौरित कहते हैं, पराक्रमको उत्साह, विनय अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलना शिक्षा और शरीरपरके केशोंकी कांति शरीरका गुण कहलाता है ॥ ३ ॥ रास्तेमें अच्छीतरह चलनेवाले वे घोडे

निवाल्येतुं पश्चाद्भागैः कृतोद्यमाः । प्रययुर्द्रुतमध्यानमध्वनीनास्तुरंगमाः ॥ ४ ॥ खुरोद्धूतान् महीरेणून् स्वांगस्पर्शभयादिव । केचिद्व्यतीयुरध्यध्वं महाश्वाः कृतविक्रमा. ॥ ५ ॥ छायात्मनः सहोत्थानं केचित्सोढुमिवाक्षमाः । खुरैरघट्टयन् वाहाः स तु सौक्ष्म्यान्न बाधितः ॥ ६ ॥ केचिन्नृत्तमिवातेनुर्महीरंगे तुरगमा. । क्रमैश्चक्रमणारम्भे कृतमड्डुकवादनैः ॥ ७ ॥ स्थिरप्रकृतिसत्त्वानामश्वाना चलताऽभवत् । प्रचलत्खुरसक्षुण्णभुवा गतिषु केवल ॥ ८ ॥ कोटयोष्टादशास्य स्युर्वाजिना वायुरहसा । आजानेयप्रवानाना योग्याना चक्रवर्तिन. ॥ ९ ॥ रुद्धरोधोवना क्षुण्णतटभूर्न्हासयत्यप । सिंधोः प्रतीपता

रास्तेमें बहुत शीघ्र जा रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानो अपने पीछेके भागसे अगले भागको उलंघन करनेकेलिये ही उद्यम कर रहे हों, भावार्थ—शीघ्र चलनेसे उनका पिछाडीका भाग आगेके भागमें प्रवेश कर गयासा जान पडता था ॥ ४ ॥ अपने खुरोंसे खुदकर उडती हुई पृथ्वीकी धूलि अपने ही शरीरपर आ पडेगी इस भयसे मानो कितने ही बडे बडे घोडे अपना पराक्रम प्रगट करते हुये मार्गमें उस धूलको उलंघन कर रहे थे, अर्थात् रास्तेमें उडी मारतेहुये बहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ ५ ॥ कितने ही घोडे अपनी छायाका भी अपने साथ चलना सह नहीं सकते थे इसलिये उसे खुरोंसे तोडते थे परंतु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥ ६ ॥ अनेक तरहसे चलते हुये कितने ही घोडे ऐसे जान पडते थे मानो चलनेके प्रारंभमें बजते हुये नगाडे आदि बाजोंके साथ साथ अपनी अनेकतरहकी चालसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥ ७ ॥ जिनका स्वभाव और सामर्थ्य स्थिर है परंतु चलतेसमय जिन्होंने अपने खुरोंसे पृथ्वी खोदडाली है ऐसे घोडोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी, अन्यत्र नहीं थी ॥ ८ ॥ जो उत्तम उत्तम जातिके हैं, वायुके समान जिनका वेग है और जो योग्य अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलनेवाले हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोडोंकी संख्या अठारह करोड थी ॥ ९ ॥ जो किनारेके बनोंमें भरगई है, जिसने किनारेकी पृथ्वी तोड दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना सिंधुनदीकी शत्रु बन

भेजे प्रयाती सा पताकिनी ॥ १० ॥ प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिंधुः सैन्याधिनायकान् । तरंगपवनैर्मंदमासिषेवे सुखाहरैः ॥ ११ ॥ गंगात्वर्णनगोपेता फेनाढ्या समुखागता । ता पश्यन्नुत्तरामाशा जिता मेने निधीश्वरः ॥ १२ ॥ अनुसिंधुतटं सैन्यैरुदीच्यान्साधयन्नृपान् । विजयार्द्धाचलोपातमाससाद शनैर्मनुः ॥ १३ ॥ स गिरिर्मणिनिर्माणनवकूटविशंकट । ददृशे प्रभुणा दूराद्धृतार्घ इव राजतः ॥ १४ ॥ स शैलः पवनाधूतचलशाखाग्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुमाजुहावेव पादपैः ॥ १५ ॥ सोऽचलः शिखरोपातनिपतन्निर्झराम्बुभिः । प्रभोरुपागमे पाद्य साविधित्सुरिवाचकात् ॥ १६ ॥ स नगो नागपुन्नागपूगादिद्रुमसंकुलैः । रम्यैस्तटवनोद्देशैराह्वत्प्रभुमिवासितु ॥ १७ ॥ रजोवितानयन्पौष्प पवनैः परितो वनं । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत्कूजत्कोकिलडिंडिम.

गई थी ॥ १० ॥ उस समय वह सिंधुनदी मानों भरतके आनेसे संतुष्ट होकर ही सुख देनेवाले और अपनी लहरोंपर बहनेसे शीतल ऐसे वायुसे धीरे धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ सब तरह गंगाके समान, फेनोंसे भरीहुई और सामने आई हुई ऐसी सिंधु नदीको देखताहुआ वह निधियोंका स्वामी भरत उत्तर दिशाको जीतीहुईके समान मानने लगा ॥ १२ ॥ सोलहवां कुलकर वह भरत सिंधुनदीके किनारे किनारे अपनी सेनाके द्वारा उत्तर दिशाके सब राजाओंको वश करता हुआ धीरे धीरे विजयार्द्ध पर्वतके समीप जा पहुंचा ॥ १३ ॥ जिसपर मणियोंके नौ बडे बडे शिखर बने हुये हैं ऐसा वह चांदीका सफेद पर्वत भरतने दूरसे इसप्रकार देखा मानो वह शिखरोंके बहानेसे अर्घ ही लिये हो ॥ १४ ॥ जिनकी शाखाके आगेकी छोटी शाखायें वायुके हिलनेसे चंचल हो रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो दूरसे अपने समीप आये हुये विजयी भरतको बुला रहा ही हो ॥ १५ ॥ शिखरोंके समीप ही झरते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानो भरतके आनेपर उसके लिये पाद्य अर्थात् पानीका अर्घ ही देना चाहता हो ॥ १६ ॥ उस पर्वतके किनारेके बनके प्रदेश नाग, नागकेसर और सुपारी आदि वृक्षोंके समूहसे भरेहुये बहुत ही मनोहर थे और उनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो भरतको विश्राम लेनेकेलिये बुला रहा

॥ १८ ॥ किमत्र बहुना सोऽद्रिर्विभुं दिग्विजयोद्यतं । प्रत्यैच्छदिव सप्रीत्या सत्कारागैरतिस्फुटैः ॥ १९ ॥ विभक्ततोरणामुच्चैरतीत्य वनवेदिकां । नियन्त्रित बलाध्यक्षैर्जगाहेऽन्तर्वणं बलं ॥ २० ॥ वनोपातभुवः सैन्यैरारुद्धा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥ २१ ॥ अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वानं बलध्वनिं । श्रुत्वा बलवदुत्त्रेसुस्तिर्यंचो वनगोचराः ॥ २२ ॥ बलक्षोभादिभो निर्यन्वलक्षोऽभाद्वनातरात् । सुरेभः सुविभक्तांगः सुरेभ इव वर्ष्मणा ॥ २३ ॥ प्रबोधजृंभणादास्यं व्याददौ किलकेसरी । न मेऽस्त्यतर्भयं किंचित्पश्यतेतीव दर्शयन् ॥ २४ ॥ शरभो रभसादूर्ध्वमुत्पत्योत्तानितः

ही हो ॥ १७ ॥ जो अपने बनके चारोंओर वायुके द्वारा उडती हुई फूलोंकी परागरजका चंदोवा तान रहा है और कोकिलाओंका मधुर शब्द ही जिसका नगाडा बज रहा है ऐसा वह पर्वत इस भरतके आदर सत्कार करनेकेलिये सामने खडेहुयेके समान जान पडता था ॥ १८ ॥ अधिक कहांतक कहा जाय, वह पर्वत बडे प्रेमसे प्रगटकर दिखाये हुये सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतका सामने आकर सत्कार करता हुआसा जान पडता था ॥ १९ ॥ जिसके चारोंओर तोरण बने हुये हैं ऐसी बनकी बेदीको उलंघनकर वह सेना सेनापतियोंके साथ साथ निश्चित किये हुये भीतरवाले बनमें जा पहुंची ॥ २० ॥ सब दिशाओंमें फैलनेवाली सेनासे वह वनके समीपकी भूमि भरगई थी, उसके पक्षीरूपी प्राण उडगये थे और उससमय वह ऐसी जान पडती थी मानो उसका श्वासोच्छ्वास ही बंद हो गया हो ॥ २१ ॥ जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही है और जो पहिले कभी सुननेमें नहीं आया था ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर जंगली पशुओंको बहुत ही त्रास हुआ था ॥ २२ ॥ जिसका शरीर ऐरावतहाथीके समान है, जिसके अंग उपांग सब साफ दिखाई देते हैं, जो मधुर शब्दसे गरज रहा है ऐसा कोई सफेद हाथी सेनाके क्षोभसे बनके भीतरसे निकलताहुआ बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ २३ ॥ मेरे मनके भीतर कोई भय नहीं है, जिसकी इच्छा हो सो देखले, इसप्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह सोतेसे उठकर जंभाई लेताहुआ मुंह फाड रहा

पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठ्यैरभून्निर्मातृकौशलात् ॥ २५ ॥ पाषाणोल्लिखितस्कंधो रुषिताऽऽताम्रितेक्षणः । खुरोत्खातावनिः सैन्यैर्ददृशे महिषो विभी. ॥ २६ ॥ चमूरवश्रवोद्भूतसाध्वसा. क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्सगान् युगक्षय इवाश्रयन् ॥ २७ ॥ अनुद्रुता मृगा' गावै' पलायाचक्रिरेऽभित । वित्रस्ता वेपमानागाः सिक्ता भयरसैरिव ॥ २८ ॥ वराहाररतिं मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः । विविशुर्विस्फुटद्यूथाः चमूक्षोभादितोऽमुत' ॥ २९ ॥ वरणावरणास्तस्थु करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणारातिगुहातानविशिश्रियरे ॥ ३० ॥ इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृश । प्रत्यापत्ति चि-

---

था ॥ २४ ॥ अष्टापद बहुत शीघ्र ऊपर उछलकर ऊपरकी ओर मुंह करके नीचे पड गया था तथापि उत्पन्न करनेवाले नामकर्मकी कुशलतासे पीठपरके पैरोंसे आरामसे आ पडा था, [अष्टापदके नीचे चार और पीठपर चार ऐसे आठ पैर होते हैं] ॥ २५ ॥ जो पत्थरसे अपने कंधे घिस रहा है, क्रोधित होनेसे जिसके दोनों नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोंसे पृथ्वी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय जंगली भैंसा भी सेनाके लोगोंने देखा ॥ २६ ॥ जिसप्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्द्धपर्वतकी गुफामें छिपते हैं उसीप्रकार सेनाके शब्द सुननेसे भयभीत हुये छोटे छोटे पशु विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके भीतर छिप गये थे ॥२७॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे दौड रहे हैं और जिनका शरीर कंप रहा है ऐसे कितने ही भयभीत हिरण चारों ओर भाग रहे थे और उससमय वे ऐसे जान पडते थे मानो भयरूपी रससे भीग रहे ही हों ॥ २८ ॥ जिन्होंने पानी भरे छोटे छोटे तलाव छोड दिये हैं और सेनाके क्षोभसे जिनके झुंड सब बिखर गये हैं ऐसे सूअर नागरमोथा आदि अपना श्रेष्ठ आहार छोडकर इधर उधर भाग रहे थे ॥ २९ ॥ भयभीत हुये अन्य कितने ही हाथी वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें जा छिपे थे और हिरण सिंहोंकी गुफाओंके भीतर ही घुस गये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार बनके प्राणोंके समान खूब चंचल हुये प्राणी सेनाका कलकल शांत होनेपर बडी देरसे अपने अपने स्थानपर आये ॥ ३१ ॥ तदनंतर वह सेना बनके सहारे सहारे कुछ दूर जाकर विज-

रादीयुः सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि ॥ ३१ ॥ प्रयायानुवनं किंचिदंतरं तदनंतरं । रौप्याद्रेर्मध्यमं कूटं सन्निकृष्य स्थितं बलं ॥ ३२ ॥ ततस्तस्मिन्वने मंदमरुतां-दोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षा स्कधावार न्यवेशयन् ॥ ३३ ॥ स्वैर जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे । स्वयं गलत्प्रसूनौघघनशाखिघने वने ॥ ३४ ॥ सरस्तीरतरूपातलतामंडपगोचराः । रम्या बभूवुरावासा सैनिकानामयत्नत ॥ ३५ ॥ वनप्रवेशमुन्मुग्धा प्राहुर्वैराग्यकारण । तत्प्रवेशो यत-स्तेषामभवद्रागवृद्धये ॥ ३६ ॥ अथ तत्र कृतावास ज्ञात्वा सनियमं प्रभु । अगान्मागधवत्द्रष्टु विजयार्द्धाधिपः सुर ॥ ३७ ॥ तिरीटशिखरोदग्रो लंब-प्रालंबनिर्झर । स भास्वत्कटको रेजे राजताद्रिरिवापरः ॥ ३८ ॥ सिताशुकधरः स्रग्वी हरिचंदनचर्चित. । स बभौ धृतरत्नार्घो निधिः शख इवोच्छ्रितः

यार्द्ध पर्वतके बीचके [पांचवें] शिखरके समीप ठहर गई ॥ ३२ ॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे मंद वायुके द्वारा जिसके वृक्ष हिल रहे हैं ऐसे उस बनमें पडाव डाल दिया ॥ ३३ ॥ जिसमें अपने आप गिरते हुये फूलोंके समूह पडे हैं और अनेक घने वृक्ष लग रहे हैं ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके किनारेके बनमें सेनाके लोगोंने इच्छानुसार जगह ले ली थी ॥ ३४ ॥ तालावोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतामंडप थे वे बिना बनाये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥ ३५ ॥ 'बनमें जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है' ऐसा जो कहते हैं वे वास्तवमें मूर्ख हैं क्योंकि सेनाके लोगोंको उस बनमें जाना आनंद बढानेवाला था ॥ ३६ ॥

अथानंतर—भरतने नियमानुसार वहां डेरे दिये हैं यह जानकर विजयार्द्धपर्वतका स्वामी व्यंतर देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिये आया ॥ ३७ ॥ उससमय वह देव अन्य विज-यार्द्ध पर्वतके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार विजयार्द्ध शिखरोंसे ऊंचा है उसीप्रकार वह देव भी मुकुटकी शिखरसे ऊंचा था, जिसप्रकार विजयार्द्धपर झरने झरते हैं उसीप्रकार उसके ग-लेमें लटकता हुआ हार झरनेके समान जान पडता था और जिसप्रकार विजयार्द्धके कटक अर्थात् छोटे शिखर सुशोभित हैं उसीप्रकार उसके हाथोंमें कटक अर्थात् कडे शोभायमान थे ॥ ३८ ॥ जिसने

॥ ३९ ॥ ससभ्रम च सोऽभ्येत्य प्रह्वतामगमत्प्रभो । ससत्कारं च त चक्री भद्रासनमलंभयत् ॥ ४० ॥ गोपायिताऽहमस्याद्रेर्मध्यमं कूटमावसन् । स्वैरचारी चिराद्य त्वयाऽस्मि परवान्विभो ॥ ४१ ॥ विद्धि मा विजयार्द्धाख्यममु च गिरिमूर्जित । अन्योऽन्यसंश्रयादावामलंघ्यावचलस्थिती ॥ ४२ ॥ देव ! दिग्विजयस्यार्द्धं विभजन्नेष सानुमान् । विजयार्द्धश्रुतिं धत्ते तात्स्थ्यात्तद्रूढयो वय ॥ ४३ ॥ आयुष्मन् ! युष्मदीयाज्ञा मूर्ध्ना स्रजमिवोद्वहन् । पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विज्ञाप्य किमत· पर ॥ ४४ ॥ इति ब्रुवस्तयोत्थाय शिवैस्तीर्थाम्बुभि· प्रभु । सोऽभ्यपिंचत्सुरै· सार्द्धं स्व नियोग निवेदयन् ॥ ४५ ॥ तदा

सफेद वस्त्र धारण किये हैं, जो माला पहनेहुये है, मलय चंदन जिसके शरीरपर लगाहुआ है और जिसने रत्नोंका अर्घ हाथमें लिया है ऐसा वह देव खडे हुये शंखनिधिके समान सुशोभित होता था ॥ ३९ ॥ वह देव वडी शीघ्रतासे आया और भरतके सामने आकर नवा, भरतने भी यथायोग्य सत्कारकर उसे अच्छे आसनपर विठाया ॥ ४० ॥ भरतसे वह देव कहने लगा कि हे प्रभो मैं इस विजयार्द्ध पर्वतकी रक्षा करनेवाला हूं और इस पर्वतके वीचके शिखरपर रहता हूं, आजतक मैं अपनी इच्छानुसार रहता था परंतु वहुत दिनसे आज मैं आपके आधीन हुआ हूं ॥ ४१ ॥ हे प्रभो मेरा नाम विजयार्द्ध है और इस ऊंचे पर्वतका नाम भी विजयार्द्ध है, हम दोनों ही एक दूसरेके आश्रयसे अलंध्य और निश्चल हैं अर्थात् मेरे आश्रयसे यह निश्चल है तथा इसे कोई लंघन नहीं कर सकता और इसके आश्रयसे मैं निश्चल हूं तथा मुझे भी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ हे देव ! यह पर्वत दिग्विजयका आधा आधा विभाग करता है इसलिये ही इसका नाम विजयार्द्ध पडा है और मैं इसपर रहता हूं इसलिये मेरा नाम भी विजयार्द्ध पडगया है ॥ ४३ ॥ हे आयुष्मन् ! (चिरंजीव) आपकी अज्ञाको मैं मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूं, आपकी सेनाके पैदल सिपाहियोंके समान ही एक मुझे भी समझिये इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूं ॥ ४४ ॥ इसप्रकार कहताहुआ तथा ' प्रसन्न होकर मुझे अभिपेक करनेकी आज्ञा मिलनी चाहिये ' इसतरह अपने नि-

प्रणेदुरामंद्रमानकाः पथि वार्मुचा । विचेरुर्मरुतो मंदमाधूतवनवीथयः ॥ ४६ ॥ ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः । जगुश्च मंगलान्यस्य जयशंसीनि किन्नराः ॥ ४७ ॥ कृताभिषेकमेनं च शुभ्रनेपथ्यधारिणं । युयोज रत्नलाभेन लभयन्स जयाशिषः ॥ ४८ ॥ स तस्मै रत्नभृंगारं सितमातपवारणं । प्रकीर्णकयुगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरं ॥ ४९ ॥ इति प्रसाधितस्तेन वचोभि. सानुवर्तनैः । प्रसादतरलां दृष्टिं तत्र व्यापारयत्प्रभुः ॥ ५० ॥ विसर्जितश्च सानुज्ञं प्रभुणा कृतसत्क्रियः । भृत्यत्वं प्रतिपद्यास्य स्वमोकं प्रत्यगात्सुरः ॥ ५१ ॥ विजयार्द्धे जिते कृत्स्नं जितं दक्षिणभारतं । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥ ५२ ॥ गंधैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुभिर्दिव्यैश्चक्रेज्यां निरवर्तयत् ॥ ५३ ॥ विजयार्द्धजयेऽप्यासीदम-

---

योगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक व्यंतर देवोंके साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे भरतका अभिषेक करने लगा ॥ ४५ ॥ उससमय आकाशमें गंभीर शब्द करतेहुये नगाडे बजनेलगे और बनके वृक्षोंकी पंक्तियोंको धीरे धीरे हिलाताहुआ वायु बहने लगा ॥४६॥ लीला पूर्वक भोहोंको नचाती हुई नृत्य करनेवालीं व्यंतरी देवियां नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतके दिग्विजयके मंगलगीत गा रहे थे ॥ ४७ ॥ तदनंतर जिसका अभिषेक हो चुका है और जिसने सफेद वस्त्र धारण कर लिये हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुये उस देवने अनेक रत्न भेट किये ॥ ४८ ॥ उस देवने भरतके लिये रत्नोंका एक भृंगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन अर्पण किया ॥ ४९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार किये हुये सत्कारसे तथा विनय सहित अनेकतरहके भाषणसे प्रसन्न हुये भरतने प्रसन्नतासे चंचलहुई अपनी दृष्टि उस देवपर डाली, अर्थात् प्रसन्नतासे उसे देखा ॥ ५० ॥ अनंतर जिसे भरतने विदा किया है और 'जा' इसप्रकार जिसका आज्ञा पूर्वक आदर सत्कार किया है ऐसा वह देव भरतका सेवकपना स्वीकारकर अपने घर गया ॥ ५१ ॥ 'विजयार्द्ध पर्वतके जीतनेपर समस्त दक्षिण भारत जीतालिया गया' इसप्रकार मानतेहुये निधियोंके स्वामी भरतने उस चक्र रत्नकी पूजा की ॥ ५२ ॥ गंध, पुष्प, धूप, दीप, जल,

दोऽस्य जयोद्यम । उत्तरार्द्धजयाशसां प्रत्यागूर्णस्य चाक्रिण ॥ ५४ ॥ ततः प्रतीपमागत्य रौप्याद्रे' पश्चिमा गुहां । निकषावनमारुन्ध्य बलैरीशो न्यविक्षत ॥ ५५ ॥ दक्षिणेन तमद्रींद्र मध्ये वेदिकयोर्द्वयोः । बल निविविशे भर्तु' सिंधोस्तटवनाद्वहि ॥ ५६ ॥ भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्वाश्चर्ये धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥ ५७ ॥ चिरासनेऽपि तत्रास्य नासीत्स्वल्पोऽप्युपक्षय । प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥ ५८ ॥ कृतासन च तत्रैन श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यान्मध्ये नद्योर्द्वयोः स्थित. ॥ ५९ ॥ दूरानतचलन्मौलिमदष्टकरकुड्मला । प्रणमतः स्फुटीचकु. प्रभौ भक्तिं महीभुजः ॥ ६० ॥ कुकमागरुकर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकै । रत्नैरन्यैश्च रत्नेश भक्त्याऽनर्चुर्नृपा. पर ॥ ६१ ॥ विष्वगापूर्यमाणस्य रैराशिभिरना-

---

अक्षत, फल और दिव्य चरुसे चक्रकी पूजा समाप्त की ॥ ५३ ॥ विजयार्द्ध तक दक्षिणभाग जीतलेनेपरभी उत्तरार्द्ध जीतनेकी आशासे तैयार हुये उस भरत चक्रवर्तीका विजय करनेका उद्योग विलकुल मंद नहीं हुआ था ॥ ५४ ॥ तदनंतर वह भरत कुछ पश्चिमकी ओर हटकर अपने सेनाके द्वारा विजयार्द्धपर्वतकी पश्चिम गुफाके समीपवाले वनको घेरकर ठहर गया ॥ ५५ ॥ विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणओर पर्वतकी वेदी और वनकी वेदी इन दोनोंके वीचमें सिंधु नदीके किनारेके वनके वाहर भरतकी सेनाने पडाव डाला ॥ ५६ ॥ यह पर्वत अनेक आश्चर्योंसे भराहुआ है इसपर देखने योग्य वस्तु वहुत हैं यही समझकर भरतने वहांपर वहुत दिन रहना भी अच्छा समझा था ॥ ५७ ॥ वहांपर वहुत दिन रहनेपर भी भरतका कुछ भी खर्च नहीं हुआ था, उलटा अपूर्व अपूर्व वस्तुओंका लाभ होनेसे समुद्रके समान वह भरगया था ॥ ५८ ॥ भरतने उस जगहपर पडाव डाला है यह सुनकर गंगा और सिंधुनदीके वीचकी पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक राजा लोग उसके दर्शन करनेके लिये आये ॥ ५९ ॥ दूरसे नमस्कार करनेसे चंचल हुये मुकुटपर जिन्होंने अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे नमस्कार करतेहुये कितने ही राजा भरतपर अपनी भक्ति प्रगट कर रहे थे ॥ ६० ॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु चंदन, कपूर, सुवर्ण, मणि मोती तथा अन्य कितने ही रत्नोंसे वडी भक्तिसे

रतं : कोशप्रावेशरत्नानामियत्तां कोऽस्यनिर्णयेत् ॥ ६२ ॥ देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैर्बलं सुकृतरक्षणं । यवसेधनसंधानैस्तदोपजगृहुश्चिरं ॥ ६३ ॥ उत्तरार्द्ध-जयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन्‌। पार्थिवाः कुरुराजाद्याः समग्रबलवाहनाः ॥ ६४ ॥ आहूताः केचिदाजग्मु' प्रभुणा मडलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजु-र्विभु चारुभटाः परे ॥ ६५ ॥ विदेशः किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूभुजः । इति संचिंत्य सामंतै. प्राय. सज्ज धनुर्बल ॥ ६६ ॥ धन्विन. शरनाराचसभृतेषुधिबधनैः । न्यवेदयन्निवात्मानमृणदासमधीशिना ॥ ६७ ॥ धनुर्धरा धनुः सज्ज्यमास्फाल्याऽऽचक्रुपुः परे । चिकीर्षव इवारीणा जीवाकर्षं सहुं-

रत्नोंके स्वामी भरतका आदर सत्कार किया था ॥ ६१ ॥ धनकी राशियोंसे निरंतर चारोंओरसे भरतेहुये इसभरतके खजानेमें रखने योग्य रत्नोंकी संख्या भला कौन करसकता था ? अर्थात् उसके खजानेमें असंख्यात रत्न इकट्ठे हो गये थे ॥ ६२ ॥ उस समय उस देशके राजाओंने सेनापतियोंके द्वारा बहुत अच्छी तरह जिसकी रक्षा की गई है ऐसी भरतकी सेनाको बहुत दिनतक घास ईंधन शाकभाजी आदिसे पोषणकर उसका उपकार किया था ॥ ६३ ॥ भरत विजयार्द्ध पर्वतके उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरुदेशके राजा जयकुमार तथा और भी अनेक राजा अपनी अपनी समस्त सेना सवारी लेकर उसीसमय आ उपस्थित हुये थे ॥ ६४ ॥ कितने ही मंडलेश्वर राजा भरतके बुलायेहुये आये थे और अन्य कितने ही वडे वडे योद्धा विना बुलाये ही भरतके समीप आगये थे ॥ ६५ ॥ अव अवश्य ही विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचारकर योद्धाओंने प्रायः धनुषबाण धारण करनेवालोंकी सेना तैयार की थी ॥ ६६ ॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धाओंने जो छोटे बडे बाणोंसे भरेहुये तरकस बांधे थे उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों अपने स्वामियोंको अपना ऋणका दासपना ही निवेदन कर रहे हों, भावार्थ—हमने जो आपका अन्न खाया है उसके बदले हम लोग मरनेको भी तैयार हैं यही अपने स्वामियोंसे कह रहे हों ॥६७॥ तथा अभिमान पूर्वक हूं शब्द करते हुये अन्य कितने ही धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुष अपने

कृता. ॥ ६८ ॥ करवालान्करे कृत्वा तुलयति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण नून तान्प्रमिमित्सवः ॥६९॥ सवर्मिता भृश रेजुर्भटाः प्रोल्लासितासयः । निर्मोकैरिव विश्लिष्टैर्ललज्जिह्वा महाहय ॥ ७० ॥ साटोप स्फुटिता केचिद्वलगति स्माभितो भटाः । अस्युद्यताः पुरोऽरातीन्पश्यत इव समुख ॥ ७१ ॥ अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः सतनुत्रकै । दधुर्जयनशालाना लीला रथ्याः सुसभृता ॥७२॥ रथिनो रथकट्यासु गुर्वीरायुधसपद. । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवं ॥ ७३ ॥ हस्तिना पदरक्षायै सुभटा योजिता नृपै. । राजन्यै' सह युध्वानः कृताश्चाभिनिषादिन' ॥ ७४ ॥ प्रवीरा राजयुध्वान. क्लृप्ता'

सजाये हुये धनुषको टंकोर शब्द करते हुये खींच रहे थे और उस समय ऐसे जान पडते थे मानों शत्रुओंके जीवोंको खींचनेकी ही इच्छा कर रहे हों ॥ ६८ ॥ कितने योद्धा हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानों स्वामीसे प्राप्त हुये सत्कारके बोझेके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥ ६९ ॥ जो कवचसे ढके हुये हैं और जिनकी तलवारें देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे कितने ही शूर-वीर ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो जिनकी कांचली कुछ शिथिल होगई है और जिनकी जीभ बार बार हिलरही है ऐसे बडे सर्प ही हों ॥ ७० ॥ कितने ही योद्धा अभिमान सहित हाथमें तलवार उठाये भुजाओंको हिलाते हुये चारोंओरसे इसप्रकार गरज रहे थे मानों शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥ ७१ ॥ अग्निवाण मेघवाण आदि दिव्य शस्त्र, व्यस्त्र अर्थात् महास्तंभ महाशिला आदि फेंककर मारनेके शस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहेके टोप और कवच आदिसे भरे हुये रथोंके समूह ठीक आयुधशालाकी शोभा धारण करते थे ॥७२॥ रथमें सवार होनेवाले योद्धा रथमें शस्त्रोंका भारी समूह रखकर अपने कंधे पर भारी शस्त्र रखने वाले पैदल सिपाहियोंसे भी बहुत बडे माने गये थे ॥७३॥ राजाओंनें हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये बडे बडे शूर वीर नियुक्त किये थे, वे शूर वीर अनेक राजाओंके साथ लडते थे और समयपर महावत भी बनाये जाते थे, अथवा उन हाथियोंपर भी बैठते थे ॥ ७४ ॥ जो वीर पुरुष राजाओंके साथ भी युद्ध करनेको तैयार थे वे पैदल

पत्तिषु: नायकाः । आश्वीये च ससन्नाहाः सोत्तरंगास्तुरंगिण ॥ ७५ ॥ आरचय्य बलान्येके स्वानीक्षांचक्रिरे नृपाः । दंडमंडलभोगासंहतव्यूहैः सुयोजितैः ॥ ७६ ॥ चक्रिणोऽवसरः कोऽस्य योऽस्माभिः स्मर्यतेऽल्पकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पण ॥ ७७ ॥ प्रभोरवसरः सार्य प्रसार्य नो यशोधन । विरोधिबलमुत्सार्य सधार्यं पुरुषव्रत ॥ ७८ ॥ द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरेऽन्योन्य भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥ ७९ ॥ गिरिदुर्गोऽयमुल्लंघ्यो महत्यः सरितोऽन्तरा । इत्यपार्येक्षिणः केचिदयान बहु मेनिरे ॥ ८० ॥ इति नानाविधैर्भावैः सजल्पैश्च लघूत्थिताः । प्र-

---

सेनाके सेनापति बनाये गये थे और जो घुडसवार कवच पहनेहुये थे और नदीके प्रवाहके समान उद्योगी थे उन्हें घुडसवार सेनाके सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा अच्छीतरह रचेहुये दंडव्यूह अर्थात् सेनाको सीधी रेखामें खडा करना, मंडलव्यूह अर्थात् गोलाकार खडा करना, भोगव्यूह अर्थात् अर्द्ध गोलाकार खडाकरना और संहतव्यूह अर्थात् अलग अलग टोलीकर सेनाको खडा करना इत्यादि रीतिसे अपनी सेनाकी रचनाकर उसे देख रहे थे ॥ ७६ ॥ सेनाके लोग आपसमें कह रहे थे कि जो हम न कुछ होकर भी भरतका स्मरण करते हैं यह इस चक्रवर्तीका कोई ऐसा ही समय है, अथवा हम लोग जो अपने स्वामीकी आज्ञानुसार चलते हैं यह हम लोगोंकी इस समयपर होनेवाली एक भक्ति है ॥ ७७ ॥ इस समय हम लोगोंको स्वामीका काम करना चाहिये, अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिये, शत्रुओंकी सेना मार भगानी चाहिये, अपना पौरुष धारण करना चाहिये ॥ ७८ ॥ अनेक देश देखने चाहिये और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिये इसप्रकार अनेक प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा वे योद्धा लोग परस्पर बात चीत कर रहे थे ॥ ७९ ॥ यह दुर्गम पर्वत उलंघन करना है और बीचमें बडी बडी नदियां उलंघन करनी हैं तथा यह सब हो जाना असंभव है इसप्रकार विचार करते हुये कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा मानते थे ॥ ८० ॥ इसप्रकार अनेकप्रकारके अभिप्राय प्रगट करनेवाले परस्परकी बात चीतसे जल्दी जल्दी पैर उठातेहुये

स्थिताः सैनिकाः प्रापन्सेश्वराः शिविरं प्रभोः ॥ ८१ ॥ प्रचेलुः सर्वसामग्र्या भूपाः संभृतकोष्ठिकाः । प्रभोश्चिरं जयोद्योगमाकलय्याहिमाचलं ॥ ८२ ॥ भटैर्लाकुटकैः केचिद्धृता लालाटिकैः परे । नृपाः पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥ ८३ ॥ समंतादिति सामंतैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारितः ॥ ८४ ॥ सामवायिकसामंतसमाजैरिति सर्वतः । सरिदोघैरिवाम्भोधिरापूर्यत विभोर्बलं ॥ ८५ ॥ सवनः सावनिः सोऽद्रिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुरनीकैरिव नाकिनां ॥ ८६ ॥ विजयार्द्धाचलप्रस्था विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गावासश्रियं तेनुर्विभक्तैर्नृपमंडपैः ॥ ८७ ॥ प्रक्ष्वेलितरथं विष्वक् प्रहेषिततुरंगमं । प्रबृंहितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद्गिरिं ॥ ८८ ॥ बलध्वानं गुहारंध्रैः प्रतिश्रुद्भूतमुद्वहन् । सोऽद्रिरुद्रिक्त-

---

तथा चलतेहुये सेनाके लोग अपने अपने स्वामियों सहित पडावमें जा पहुंचे ॥ ८१ ॥ भरतका हिमवान् पर्वततकका विजयकरनेका यह कार्य बहुत दिनमें होगा यही समझकर राजा लोग धान्य वस्त्र आदि समस्त सामिग्रीसे अनेक कोठे भरकर निकले ॥ ८२ ॥ कितनेही राजा लकडी लियेहुये योद्धाओंके साथ और अन्य कितने ही राजा सब कामोंमें समर्थ ऐसे अभिप्राय जाननेवालोंके साथ साथ अपनी सेना पीछे छोडकर भरतके समीप आये ॥ ८३ ॥ इसप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आते हुये अनेक योद्धाओंने एक जगह इकट्ठे होकर जिसकी आज्ञा सबजगह प्रसिद्ध है ऐसे भरत चक्रवर्तीका जयजयकार किया ॥ ८४ ॥ जिसप्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसीप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आयेहुये अनेक राजाओंके समूहसे भरतकी सेना खूब भर गई थी ॥८५॥ जिसप्रकार भगवानके जन्मोत्सवमें वन और भूमि सहित मेरुपर्वत देवोंकी सेनासे भर जाता है उसीप्रकार वह विजयार्द्धपर्वत बन और भूमि सहित चारोंओरसे सेनासे भर गया था ॥ ८६ ॥ जिनपर भरतकी सेना निवास कर रही है ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके शिखर अलग अलग तनेहुये राजमंडपोंसे ठीक स्वर्गकी शोभा धारण करते थे ॥ ८७ ॥ जिसमें चारोंओरसे रथ चीत्कार शब्द कर रहे हैं, घोडे हींस रहे हैं और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने वह विजयार्द्ध पर्वत

तद्रोधोधुवं फूत्कारमातनोत् ॥ ८९ ॥ अत्रांतरे ज्वलन्मौलिप्रभापिंजरितांबरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरत्सुरः ॥ ९० ॥ स ततोऽवतरन्नद्रेर्बभौ सानुचरोऽमरः । सवनः कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥ ९१ ॥ दिव्यः प्रभान्वयः कोऽपि संमूर्छति किमंबरे । तडित्पुंजः किमग्न्यर्चिरिति दृष्टः क्षणं जनैः ॥ ९२ ॥ किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ९३ ॥ कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै कृतमालं स चंपकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्ये प्रभुणाऽग्रतः ॥ ९४ ॥ सप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मायासनं प्रत्यपादयत् ॥ ९५ ॥ प्रभु-

---

शब्दमय कर दिया था ॥ ८८ ॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेनाके शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो वह उस सेनासे खूब घिर गया है इसलिये दुखी होकर फू फू शब्द ही कर रहा हो ॥ ८९ ॥

अथानंतर– भरतने इसी समय दैदीप्यमान मुकुटकी कांतिसे जिसने आकाश भी कुछ कुछ पीला कर दिया है और जो पर्वतसे नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥ ९० ॥ वस्त्राभरणोंसे प्रकाशमान और सेवकों सहित उस पर्वतसे उतरता हुआ वह देव ऐसा अच्छा जान पडा था मानों वस्त्र आभरणोंसे प्रकाशमान वन सहित कल्पवृक्ष ही हो ॥ ९१ ॥ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसा दिव्य प्रभाका कोई समुदाय आकाशमें फैल रहा है क्या ? अथवा क्या यह विजलीका समूह है ? अथवा अग्निकी ज्वाला है ? इसप्रकारकी अनेक कल्पनाओंसे क्षणभर वह देव लोगोंने देखा ॥ ९२ ॥ पहिले तो वह देव यह कोई प्रकाशका समूह है इसप्रकार सामान्य रीतिसे देखनेमें आया था और फिर अवयवोंके प्रगट दिखाई देनेसे साफ पुरुषके आकारसा जान पडा था ॥९३॥ उसने अपना कृतमाल नाम प्रगट करनेकेलिये चंपाके फूलोंकी माला पहिनी थी जिससे वह फूले हुये कृतमाल नामके वृक्षके समान जान पडता था ऐसा वह देव भरतके सामने आ खडा हुआ ॥९४॥ आते ही उसने नमस्कार किया, अकस्मात् आकर नमस्कार करते हुये उसे देखकर भरतने यथा

णाऽनुमतश्चायं कृतासनपरिग्रहः । क्षणं विसिस्मिये पश्यन् धामामुष्यातिमानुषं ॥ ९६ ॥ सभामिवेश्य सम्राजा पूर्वं पूर्वाभिभाषिणा । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्वचः ॥ ९७ ॥ क वयं क्षुद्रका देवाः क भवान्दिव्यमानुषः । पोतत्वमुचितं मन्ये वाचाटयति नः स्फुटं ॥ ९८ ॥ आयुष्मन्कुशलं प्रष्टुं जिह्रीमः शासितुस्तव । त्वदायत्ता यतः कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥ ९९ ॥ लोकस्य कुशलाधाने निरूढं यस्य कौशलं । कुशलं दक्षिणस्यास्य बाहोस्ते क्ष्मा जिगीषतः ॥ १०० ॥ देवानां प्रिय ! देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥ १०१ ॥ गीर्वाणा वयमन्य-

योग्य सत्कारके साथ उसकेलिये आसन दिया ॥ ९५ ॥ भरतकी आज्ञासे वह आसनपर बैठा और मनुष्योंके तेजको अतिक्रमण करनेवाला अर्थात् सबसे अधिक भरतका प्रताप देखताहुआ वह क्षणभरके लिये आश्चर्य करने लगा ॥ ९६ ॥ प्रथम ही ' आप कौन हैं कहांसे आये हैं ' इत्यादि पहिले पूछने योग्य बातोंसे चक्रवर्तीने बात चीत की तब वह देव नम्रताके साथ नीचे लिखे अनुसार वचन कहने लगा ॥ ९७ ॥ हे देव ! हम क्षुद्र देव कहां ? और आप दिव्य मनुष्य कहां ? तथापि मैं ऐसा मानता हूं कि हम लोगोंका यथायोग्य देवपना ही हमलोगोंको बोलनेके लिये प्रगट वाचालित कर रहा है, अर्थात् जबर्दस्ती बुलवा रहा है ॥ ९८ ॥ हे आयुष्मन् (दीर्घायुवाले) आप शासन करनेवाले हैं इसलिये आपका कुशल मंगल पूछनेमें भी हम लोग लज्जित होते हैं, क्योंकि इस जगतका सबतरहका कल्याण करना आपके आधीन है ॥ ९९ ॥ जगतको कल्याणरूप करनेकेलिये जिसकी चतुरता प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथ्वीको जीतना चाहती है ऐसी यह आपकी दाहिनी भुजा कुशल पूर्वक है न ? ॥ १०० ॥ हे देव ! आप देवोंको भी प्रिय हैं, समस्त जगतको जीतनेसे यह देवपना आपके ही योग्य है, हम लोग देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे केवल नाममात्रके देव हैं ॥ १०१ ॥ हमारा नाम गीर्वाण है सो निर्मल वाणी रूपी वाणोंको धारण करनेवाले हम लोग अन्य जीवोंको जीतनेके लिये गी–वीण अर्थात् वचनरूपी वाणोंको धारण करनेवाले हैं, परंतु हे देव आपके समीप

त्र जिगीषौ सितंगीस्सरा । त्वयि कुठगिरो जाता प्रस्खलद्वर्गगद्गदा ॥ १०२ ॥ राजोक्तिस्त्वयि राजेंद्र राजतेऽनन्यगामिनी । अखडमंडला कृत्स्ना पट्खडा गा नियच्छति ॥ १०३ ॥ चक्रात्मना ज्वलत्येप प्रतापस्तव दु सह. । प्रथते दडनीतिश्च दडरत्नच्छलाद्विभो: ॥ १०४ ॥ ईशितव्या मही कृत्स्ना स्वतत्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरत्नर्द्धिरैश्वर्यं क. परस्त्वादृश. प्रभु ॥ १०५ ॥ भ्रमत्येकाकिनी लोक शश्वत्कीर्तिरनर्गला । सरस्वती च वाचाला कथ ते ते प्रिये प्रभो: ॥ १०६ ॥ इति प्रतीतमाहात्म्य त्वा सभाजयितु दिवः । त्वद्बलध्वानसक्षोभसाध्वसाद्वयमागताः ॥ १०७ ॥ कूटस्था वयमस्याद्रे स्वपदादविचालिनः । भूमिमेतावतीं तावत्त्वया देवावतारिता. ॥ १०८ ॥ विप्रकृष्टातरावासत्रासिनो व्यतरा वय । सविधेयास्त्वयेदानीं प्रत्यासन्नाः पदातयः

आकर हमारी बाणी भी कुंठित हो गई है, अहंकार सब दूर होगया है और गदगदस्वरसे वचन निकल रहे हैं ॥ १०२ ॥ हे राजाधिराज ! छह खंडोंमें वटी हुई समस्त प्रदेश सहित इस पूर्ण पृथ्वीपर आप शासन करते हैं इसलिये दूसरी जगह न रहनेवाला राजपना केवल आपमें ही शोभायमान होता है ॥ १०३ ॥ हे विभो ! यह चक्रके बहानेसे आपका असह्य प्रताप प्रकाशमान हो रहा है और दंडरत्नके बहानेसे आपकी दंडनीति प्रसिद्ध हो रही है ॥ १०४ ॥ हे प्रभो ! आपको यह समस्त पृथ्वी पालन करनी चाहिये, क्योंकि आप स्वतंत्र ईश्वर हैं अथवा निधि और रत्नोंका समूह ही ऐश्वर्य कहलाता है ऐसा ऐश्वर्यशाली आपके सिवाय अन्य कौन है ? ॥ १०५ ॥ हे प्रभो आपकी कीर्ति निरंकुश होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल अर्थात् बहुत बोलनेवाली है ! न जाने ऐसी ये दोनों ही स्त्रियां आपको कैसे प्रिय हैं ? ॥ १०६ ॥ इसप्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेकेलिये आपकी सेनाके कलकल शब्दके क्षोभसे भयभीत हुये हम लोग आकाशसे यहां आये हैं ॥१०७॥ हे देव ! हम लोग इस पर्वतके शिखरपर रहते हैं, अपने स्थानसे कभी नहीं हिलते, परंतु इस भूमिपर केवल आपने ही हमको नीचे उतार लिया है ॥१०८ ॥ हे देव ! हमलोग दूर दूर तक अनेक देशोंमें निवास करनेवाले व्यंतर हैं, अब आप हमलोगोंको आपके समीप

॥ १०९ ॥ विद्धि मा विजयार्द्धस्य मर्मज्ञममृताशनं । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन्कृतालयं ॥ ११० ॥ मयि स्वसात्कृते देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरेर्गर्भविदस्म्यहं ॥ १११ ॥ गर्भज्ञोऽहं गिरेरस्मीत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाब्धिवलये कृत्स्ने नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥ ११२ ॥ वटस्थानवटस्थाश्च कूटस्थान्कोटरोटजान् । अक्षपाटान्क्षपाटांश्च विद्धि नः सार्वसर्वगान् ॥ ११३ ॥ इति प्रशातमोजस्वि वचः संभाष्य सादरं । सोऽमरो वितताराऽस्मै भूषणानि चतुर्दश ॥ ११४ ॥ तान्यनन्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री परां मुदं । भेजे तत्कृतसत्कारैः सुरः सोऽप्याप संमदं ॥ ११५ ॥ तं रौप्याद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशंसिनं । प्रविसर्ज्य स्वसेनान्यं प्राहिणोत्प्रभुरग्रतः ॥ ११६ ॥ त्वमुद्घाट्य गुहाद्वारं यावन्निर्वाति सा गुहा । तावत्पाश्चात्यखण्डस्य

रहनेवाले सिपाहियोंके समान बना लीजिये ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्द्ध पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव समझिये ॥११०॥ हे देव ! मुझे वश करलेनेपर इस पर्वतको अपने वश कर लिया ही समझिये, क्योंकि मैं इस पर्वतकी गुफामें वन आदि सबका भीतरी हाल जानता हूं ॥ १११ ॥ अथवा मैं इस पर्वतका भीतरी हाल जानता हूं यह बहुत ही थोडा कहा गया है क्योंकि समस्त द्वीप समुद्रोंके भीतर हमलोगोंका न जाना हुआ कुछ भी नहीं है ॥ ११२ ॥ हे सबका हित करनेवाले ! हमलोगोंको बडके वृक्षोंपर, छोटे छोटे खड्डोंमें, पर्वतोंकी शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलोंमें ओर पत्तोंकी स्वयमेव बनी हुई झोंपडियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले सब जगह जानेवाले समझिये ॥ ११३ ॥ इसप्रकार आदरपूर्वक शांत और तेजस्वी बचन कहकर उस देवने भरतके लिये चौदह आभूषण अर्पण किये ॥ ११४ ॥ अन्य किसीको प्राप्त न होनेयोग्य ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा उस देवका बार बार सत्कार किया जिससे वह देव भी बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ११५ ॥ अनंतर उस देवने विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे होकर प्रवेश करनेका मार्ग बतलाया और फिर मार्ग बतलानेवाले उस देवको भरतने बिदा किया तथा गुफाका द्वार उघाडनेके लिये सबसे पाहिले अपने सेनापतिको भेजा ॥११६॥

निर्जयाय कुरूद्यमं ॥ ११७ ॥ इति चक्रधरादेशं मूर्ध्ना माल्यमिवोद्वहन् । कृतमालामरोद्दिष्टकृत्स्नोपायप्रयोगवित् ॥ ११८ ॥ कृती कतिपयैरेव तुरंगैः सपरिच्छदैः । प्रतस्थे वाजिरत्नेन दडपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥ किंचिच्चांतरमुल्लंघ्य स सिंधोर्वनवेदिका । विगाह्य विजयार्द्धस्य संप्रापत्तटवेदिका ॥१२०॥ तत्सोपानेन रौप्याद्रेरारुह्य जगतीतल । प्रत्यड्मुखो गुहोत्सगमाससाद चमूपतिः ॥ १२१ ॥ जयताच्चक्रवर्तीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठित । दडेन ताडयामास गुहाद्वार स्फुरद्ध्वनिः ॥ १२२ ॥ दडरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरर्गले । तद्गर्भाद्दलवानूष्मा निर्ययौ किल सतत. ॥ १२३ ॥ दधदडाभिघातोत्थं क्रेंकारमर

भरतने सेनापतिसे कहा कि तू सबसे पहिले गुफाका द्वार उघाड और फिर जबतक वह गुफा शांत हो तबतक पश्चिमखंडके जीतनेका उद्योग कर ॥ ११७ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ, तथा कृतमाल नाम देवके कहे अनुसार समस्त उपायोंके प्रयोगोंको जाननेवाला वह चतुर सेनापति थोडेसे घोडे और थोडीसी सेनाके साथ साथ हाथमें दंड रत्न लेकर चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न ऐसे घोडेपर चढकर निकला ॥ ११८- ११९ ॥ थोडी दूर जाकर उसने सिंधुनदीके बनकी बेदी उलंघन की और फिर वह विजयार्द्ध पर्वतके किनारेकी वेदीपर जा पहुंचा ॥ १२० ॥ सीढियोंके द्वारा विजयार्द्धपर्वतकी वेदीपर चढा और फिर पश्चिमकी ओर मुखकर वह सेनापति उस गुफाके दरवाजेपर जा खडा हुआ ॥ १२१ ॥ अश्वरत्नपर (घोडेपर) चढेहुये उस सेनापतिने ' चक्रवर्तीकी जय हो , इसप्रकार कहकर दंड रत्नसे गुफाका द्वार ताडन किया अर्थात् द्वारपर दंडा मारा, जिसकी मारसे एक बडा भारी शब्द हुआ ॥ १२२ ॥ दंडकी चोटसे गुफाका द्वार खुलजानेपर उसके भीतर बडीभारी गरमी निरंतर निकलने लगी ॥ १२३ ॥ दंडकी चोटसे उत्पन्न हुये ' कर कर ' शब्द करनेवाले वे दोनों ही फाटक ऐसे जान पडते थे मानो उन्हें दुख ही हो रहा हो, दुखसे पसीना आगया हो और गुफासे निकलती हुई गरमीके वहानेसे उनके प्राण ही निकल रहे हों ॥ १२४ ॥ किवाडोंके उघडनेपर गुफाके द्वारसे गरमीको निकालता हुआ वह रजतम-

रीपुट । सवेदनामिवाख्येदि निर्गतामु गुहोष्मणा ॥ १२४ ॥ उद्वाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्वमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥ १२५ ॥ कवाटपुटविश्लेषादुच्चचार महान् ध्वनिः । दडेनाभिहतस्याद्रेराक्रोश इव विस्फुरन् ॥ १२६ ॥ गुहोष्मणा स नास्प्रेपि विदूरमपवाहितः । तरस्विनाऽश्वरत्नेन देवताभिश्च रक्षितः ॥ १२७ ॥ निपेतुरमरस्त्रीणा दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमन प्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥ १२८ ॥ तटवेदीं ससोपाना रौप्याद्रेः समतीयिवान् । सोऽभ्यैत्सतोरणा सिंधोः पश्चिमा वनवेदिका ॥ १२९ ॥ वेदिका तामतिक्रम्य संजगाहे परां भुव । नानाकरपुरग्रामसीमारामैरलङ्कृता ॥ १३० ॥ प्रविष्टमात्र एवास्मिन्प्रजास्त्रासमुपाययु । सम दारगवैरन्या घटने स्म पलायितु ॥ १३१ ॥ केचित्कृतधियो धीराः

य सफेद विजयार्द्ध पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानो उसने बहुत दिनमें उच्छ्वास लिया हो ॥ १२५ ॥ दोनों फाटक खुलनेसे एक बडी भारी आवाज हुई थी और वह ऐसी जान पडी थी मानो दंडकी चोट लगनेसे उस पर्वतके रोनेकी आवाज ही हो ॥ १२६ ॥ वेगवाला अश्वरत्न (घोडा) जिसे बहुत दूर भगाकर ले गया है और देवताओंने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमीने स्पर्शतक भी नहीं किया था ॥ १२७ ॥ उससमय उस सेनापतिपर देवियोंके कटाक्षोंके साथ साथ आकाशसे फूलोंके समूह आकर पडे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानो जयलक्ष्मीका हास्य ही हो ॥ १२८ ॥ सेनापतिने सीढियों सहित विजयार्द्धपर्वतके किनारेकी वेदी उलंघन की और फिर वह तोरणसहित सिंधु नदीके पश्चिम ओर वाली वनकी वेदीपर जा पहुंचा ॥ १२९ ॥ उसने उस वेदीको भी उलंघनकर अनेक खानि, नगर, ग्राम, सीमा, और वाग वगीचोंसे सुंदर ऐसी उस म्लेच्छखंडकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥ १३० ॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही सव प्रजा घवडा गई, उसमेंसे कितने ही लोग स्त्री पुत्र गाय भैंस आदि लेकर भागनेकी तैयारी करने लगे ॥ १३१ ॥ कितने ही धीर वीर बुद्धिमान लोग मंगलाक्षत आदिसे वनाहुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके समीप गये और यथायोग्य उसका आदर सत्कार किया ॥ १३२ ॥ अरे ' डरोमत, जि-

सार्थाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीपुरभ्येत्य सबलं बलनायकः ॥ १३२ ॥ न भेतव्यं न भेतव्यमाध्वमाध्वं यथासुखं । इत्यस्याज्ञाकरा विष्वक् भ्रेमुराश्वासितप्रजाः ॥ १३३ ॥ म्लेच्छखंडमखंडाज्ञः परिक्रामन्प्रदक्षिणं । तत्र तत्र विभोराज्ञां म्लेच्छराजैरजिग्रहत् ॥ १३४ ॥ इदं चक्रधरक्षेत्रं स चैष निकटे प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनैः ॥ १३५ ॥ भरतस्यादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनं । शासनं शिरसा दध्वं यूयमित्यन्वशाच्च तान् ॥ १३६ ॥ जाता वयं चिरादद्य सनाथा इत्युदाशिषः । केचिच्चक्रधरस्याज्ञामशठाः प्रत्यपत्सत ॥ १३७ ॥ संधिविग्रहयानादिषाड्गुण्यकृतविक्रमाः । बलात्प्रणामिताः केचिदैश्वर्यलवदूपिताः ॥ १३८ ॥ काँश्चिद्दुर्गाश्रितान्म्लेच्छानवस्कंदनिरोधनैः । सेनानीर्वशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिकं क्षतः ॥ १३९ ॥

सको जिस तरह अच्छा लगे उसीतरह रहो ' इसप्रकार प्रजाको आश्वासन देते हुये चक्रवर्तीके कितने ही सेवक चारोंओर घूम रहे थे ॥ १३३ ॥ जिसकी आज्ञा कभी भंग नहीं होती ऐसा वह सेनापति उस म्लेच्छखंडमें प्रदक्षिणा रूपसे घूमा और उसने वहांवहांके सब म्लेच्छ राजाओंसे अपने स्वामी भरतकी आज्ञा स्वीकार कराई ॥ १३४ ॥ सेनापतिने वहांके लोगोंको यह भी सिखलाया कि जिसमें तुम रहते हो वह चक्रवर्तीका क्षेत्र है, तुम्हारा वह स्वामी समीप ही है इसलिये तुम लोग स्वामीकी सेवा करनेकेलिये अपनी सेनाके साथ बहुत शीघ्र जाओ, और भरत चक्रवर्ती सवसे मुख्य राजा है उसकी आज्ञा कभी भंग नहीं होती इसलिये तुम लोग उसीकी आज्ञा अपने मस्तकपर धारण करो ॥ १३५-१३६ ॥ आज हमलोग वहुत दिनमें सनाथ हुये हें इसप्रकार जोर जोरसे आशीर्वाद देतेहुये कितने ही बुद्धिमान लोगोंने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार की थी ॥ १३७ ॥ जिन्होंने संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय आदि छह राजनैतिक गुणोंसे अपना कुछ पराक्रम दिखाया था और जो थोडेसे ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे जवर्दस्ती नमस्कार कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर बैठे हुये कितने ही म्लेछराजाओंको सेनापतिने चारोंओरसे उनका रास्ता रोककर वश किया सो ठीक ही हे क्योंकि मूर्खलोग अधिक दुखी होनेपर ही नवते हैं ॥ १३९ ॥ कि-

कैश्चिद्वलैरवष्टब्धास्तत्पीडा सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नापीलितात्खलात् ॥ १४० ॥ इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुज. । तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥ १४१ ॥ धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मता. । अन्यथाऽन्यै. समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ॥ १४२ ॥ इति प्रसाध्य ता भूमिमभूमिं धर्मकर्मणां । म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत्पुनः ॥ १४३ ॥ रराज राजराजस्य साश्वरत्नचमूपतिः । सिद्धदिग्विजयो जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥ १४४ ॥ सतोरणामतिक्रम्य स सिंधोर्वनवेदिका । विगाढश्च ससोपाना रौप्याद्रेर्वनवेदिकां ॥ १४५ ॥ आरूढो जगतीमद्रेर्व्यूढोरस्को महाभुजः । षड्भिर्मासैः प्रशातोष्म सोऽध्यवासीद्गुहामुख ॥ १४६ ॥ तत्रासीनश्च सशोध्य वह्नुपाय गुहोदरं । कृतरक्षाविधिः सम्यक्प्रत्यायाच्छिबि-

---

तने ही म्लेच्छ राजा सेनासे घिरकर और उस दुखको सहन करनेमें असमर्थ होकर चक्रवर्तीकी आज्ञामें आये थे सो ठीक ही है क्योंकि जिसप्रकार विना पेले [दवाये] खलसे तेल नहीं निकलता है उसीप्रकार विना दुखी हुये दुष्टमें प्रेम भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १४० ॥ इसप्रकार अनेक उपायोंको जाननेवाले उस सेनापतिने अनेक उपायोंसे म्लेच्छराजाओंको वश किया और स्वामीके उपभोग करने योग्य ऐसे कन्या आदि अनेक रत्न उनसे लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्म क्रियासे रहित हैं व्रत आदि धर्म क्रियायें नहीं करते इसलिये ही म्लेछ कहलाते हैं, धर्म क्रियाके सिवाय विवाह आदि उनके सव आचरण आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥ १४२ ॥ इसप्रकार धर्मक्रियासे रहित उस म्लेच्छभूमिको अपने वशकर अनेक म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ वह सेनापति फिर वापिस लौटा ॥ १४३ ॥ जिसने सब दिग्विजय कर लिया है, जो सवको जीतने वाला है और अश्व रत्नपर चढा हुआ है ऐसा वह महाराजाधिराज भरतका सेनापति उससमय ऐसा सुशोभित होता था मानो प्रतापने ही शरीर धारण किया हो ॥ १४४ ॥ तोरणों सहित सिंधुनदीके वनकी वेदीको उलंघनकर वह सीढियोंवाली विजयार्द्ध पर्वतकी बनकी वेदीपर जा चढा ॥ १४५ ॥ जिसका वक्षःस्थल बहुत बडा है और जिसकी भुजायें बहुत लंबी हैं ऐसा वह सेनापति विजयार्द्ध पर्वतकी वेदीपर चढकर

रं प्रभोः ॥ १४७ ॥ अथ संमुखमागत्य सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगृह्यत सेनानीः सजयानकनिस्वनं ॥ १४८ ॥ विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिका । महावीथीमतिक्रम्य प्राविक्षत्स नृपालयं ॥ १४९ ॥ तुरंगमवराद्दूरात्कृतावतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमंडप ॥ १५० ॥ दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैर्वीक्ष्यमाण. सविस्मितैः ॥ १५१ ॥ मुखरैर्जयकारेण म्लेच्छगजै· ससाध्वस । प्रणेमे प्रभुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभूतलै· ॥ १५२ ॥ तदुपाहृतरत्नाद्यैरर्घ्यैरनुपढौकितै· । नामादेश च तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥ १५३ ॥ सप्रसाद च संमान्य सत्कृतास्ते म-

छह महीनेमें जिसकी गरमी शांत हो गई है ऐसी गुफाके दरवाजेपर ठहर गया ॥ १४६ ॥ वहींपर ठहरकर उसने अनेक विघ्नोंसे भरे हुये उस गुफाके भीतरी भागको साफ किया और फिर बहुत अच्छीतरहसे उसकी रक्षाका उपायकर चक्रवर्तीके डेरोंमें लौट आया ॥ १४७ ॥ सेनापतिके वहां पहुंचनेपर जय जय और नगाडोंके गंभीर शब्दोंके साथ अपनी अपनी सेनाके साथ अनेक अच्छे अच्छे राजाओंने सामने आकर सेनापतिका आदर सत्कार किया ॥ १४८ ॥ जिसमें अनेक तोरण खडे किये हैं और जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे राजमार्गको उलंघन कर उस सेनापतिने महाराजके तंबूमें प्रवेश किया ॥ १४९ ॥ राजमर्यादाको जाननेवाला वह सेनापति दूरसे ही उस उत्तम घोडेपरसे उतर पडा और जहांपर महाराज भरत राजसिंहासनपर विराजमान थे उस सभामंडपमें जा पहुंचा ॥ १५० ॥ दूरसे ही नम्र होनेसे चंचल हुये मुकुटपर जिसने अपने दोनों ही हाथ जोडकर रक्खे हैं और सभासद लोग जिसे वडे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसे उस सेनापतिने वहां जाकर भरतको नमस्कार किया ॥ १५१ ॥ जिन्होंने अपने मस्तकसे पृथ्वीको स्पर्श किया है और जो जयजयकार करनेसे बाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओंने डरतेहुये आकर महाराजको नमस्कार किया ॥ १५२ ॥ वे म्लेच्छ राजा जो रत्न आदि भेट करनेके लिये लाये थे उन्हें सामने रखकर उस सेनापतिने अपने स्वामी भरतसे सबका नाम निवेदन किया, अर्थात् यह अमुक राजा

हीभुजः । प्रभोरनुमताद्भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिषुः ॥ १५४ ॥ इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात्प्रत्यन्तपालकान् । विजिग्ये दंडमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥ १५५ ॥ अथ नृपतिसमाजेनार्चितं सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन्म्लेच्छनाथान् । पुनरपि विजयायायोजि सोऽग्रेसरत्वे जय इव जयचिन्हैर्मानितो रत्नभर्त्रा ॥ १५६ ॥ जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात्पदमिदमधिराज्ञां प्राप्यते हेलयैव । समुचितनिधिरत्नप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरिसंपत्प्रसारं ॥ १५७ ॥ छत्रं चन्द्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोज्ज्वलद्दंडं चामरयुग्मकं सुरसरिड्डिंडीरपिंडच्छविः । रुक्माद्रेरिव साविभक्तमपरं कूटं मृगेंद्रासनं

है यह अमुक है इसतरह स्वामीसे सबकी भेट कराई ॥ १५३ ॥ महाराजने प्रसन्न होकर सब राजाओंको मान दिया और सबका आदर सत्कार किया, तदनंतर वे राजा भी महाराजकी आज्ञासे अपने अपने घर चले गये ॥ १५४ ॥ इसप्रकार उस चक्रवर्तीने अपने पुण्यकर्मके उदयसे केवल दंड रत्नसे ही विजयार्द्ध पर्वतके समीपवर्ती राजाओंको जबर्दस्ती अपने वश किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदयके विना विजय कहां प्राप्त हो सकता है ? ॥ १५५ ॥

अथानंतर—अनेक राजाओंके समूहने प्रेम पूर्वक जिसका आदर सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये हैं और सब म्लेच्छ राजाओंको जिसने नवाया है ऐसे साक्षात् विजयके समान उस सेनापतिका ध्वजापताका आदि जयचिन्होंसे आदरसत्कारकर रत्नोंके स्वामी भरतने फिर भी दिग्विजय करनेके लिये प्रधान सेनापतिके स्थानपर उसे नियुक्त किया ॥ १५६ ॥ अनेक योग्य निधियां और रत्नोंसे भरेहुये अनेक भोगोपभोगोंसे जिसमें समस्त सुखोंका सार प्रगट होता है और जिसमें अनेक तरहकी संपदाओंकी अधिकता रहती है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लीलामात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह श्रीजिनेंद्रदेवका शासन सदा विजयी रहो ॥ १५७ ॥ महाराज भरतको विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको जीतनेसे उससे चंद्रमाकी किरणोंको भी लज्जित करनेवाला छत्र, जिनके सुवर्णकी बनी हुई मूठ प्रकाशमान हो रही हैं और जो गंगाके फे-

लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाद्रत्नान्यथान्यान्यपि ॥ १५८ ॥ गीर्वाण' कृतमाल इत्यभिमतः सपूज्य त सादर प्रादादाभरणानि यानि न पुनस्तेषामि-हाऽस्त्युन्मिति. । सम्राट् तैरचकादलंकृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमय सोऽध्यासितो विष्टर ॥ १५९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे विजयार्द्धगुहाद्वारोद्घाटनवर्णनं नामैकत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशत्तमं पर्व ।

अथान्येद्युरुपारूढसभ्रमैर्वलनायकैः । प्रत्यपाल्यत सन्नद्धैः प्रयाणसमयः प्रभोः ॥ १ ॥ गजताश्वीयसैन्यानां पदातीनां च सकुलैः । न नृपाजिर-मेवासीद्रुध्दमद्रेर्वनान्यपि ॥ २ ॥ जयकुजरमारूढ' परीतो नृपकुंजरै' । रेजे निर्गन्प्रयाणाय संम्राट् शक्र इवामरैः ॥ ३ ॥ किंचित्पश्चान्मुख गत्वा सेनान्या

नके समूहके समान सफेद हैं ऐसे दो मनोहर चमर और सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुये किसी एक शिखरके समान सिंहासन तथा और और भी अनेक रत्न प्राप्त हुये ॥ १५८ ॥ कृतमाल नामके प्र-सिद्ध देवने भरतकी पूजा की और आदर पूर्वक उसे अमूल्य और उपमा रहित अनेक अलंकार समर्पण किये, उन अलंकारोंके पहिननेसे जिसका शरीर सुशोभित हो रहा है ऐसा रत्नोंके बनेहुये सिंहासन-पर विराजमान वह भरत उससमय ऐसा अच्छा जान पडता था मानो सुमेरु पर्वतके शिखरपर फूलाहुआ कल्पवृक्ष ही सुशोभित हो ॥ १५९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें विजयार्द्धपर्वतकी गुफाका द्वार उघाडनेका वर्णन करनेवाला यह इकतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

बत्तीसवां पर्व ।

अथानंतर— दूसरे दिन जिन्हें बहुत जल्दी हो रही है और जो चलनेके लिये तैयार हो रहे हैं ऐसे सेनापति लोग भरतके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १ ॥ हाथियोंके समूहकी सेना घोडोंके समूहकी सेना और पैदल चलनेवाली सेनाकी भीडसे केवल महाराजका आंगन ही नहीं

शोधिते पथि । ध्वजिनी संकुचन्त्यासीदीर्याशुद्धिं श्रितेव सा ॥ ४ ॥ प्रगुणस्थानसोपाना रूप्याद्रेः श्रेणिमश्रमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीमारूढा सा पताकिनी ॥ ५ ॥ तमिस्रेति गुहा यासौ गिरिव्याससमायतिः । उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ ततोऽर्द्धाधिकविस्तृतिः ॥ ६ ॥ वाज्र कपाटयोर्युग्म या स्वोच्छ्रायमितोच्छ्रिति । दध्रे पृथक् स्वाविष्कम्भसाधिकद्वयशाविस्तृति ॥ ७ ॥ परार्घ्यमणिनिर्माणरुचिमद्द्वारबन्धना । तदधस्तलनिस्सर्पत्सिंधुस्रोतोविराजिता ॥ ८ ॥ अशक्योद्घाटनाऽन्येषा मुक्त्वा चक्रिचमूपतिं । तन्निरर्गलितत्वाच्च प्रागेव कृतनिर्वृतिः ॥ ९ ॥ जगत्स्थितिरिवानाद्या घटितेव च केनचित् । जैनीश्रुति-

भरगया था किंतु विजयार्द्ध पर्वतके बन भी भरगये थे ॥ २ ॥ जिसप्रकार ऐरावत हाथीपर चढाहुआ तथा देवोंसे घिराहुआ इंद्र शोभायमान होता है उसीप्रकार विजयी हाथीपर चढाहुआ और बडे बडे राजाओंसे घिराहुआ वह चक्रवर्ती विजय करनेकेलिये निकलता हुआ सुशोभित होता था ॥३॥ जिसप्रकार ईर्यापथ शुद्धि करनेवाले कुछ संकुचित होकर चलते हैं उसीप्रकार वह सेना भी कुछ पाश्चिमकी ओर चलकर सेनापतिके द्वारा साफ किये मार्गमें संकुचित होकर चलने लगी ॥ ४ ॥ जिसप्रकार मुनियोंकी विशुद्धि आठ नौ दश आदि गुणस्थानोंकी श्रेणियोंपर चढती है उसीप्रकार वह सेना भी जिसपर सीधी सीढी बनी हुई हैं ऐसी विजयार्द्ध पर्वतकी श्रेणीपर जा चढी थी ॥ ५ ॥ वहांपर जो तमिस्रा नामकी गुफा है, जो कि पर्वतकी चौडाईके समान लंबी है, आठ योजन ऊंची है और उससे ड्योढी अर्थात् बारह योजन चौडी है ॥ ६ ॥ जिसके दोनों किवाड वज्रके बने हुये हैं उनकी उंचाई दरवाजेकी उंचाईके समान हैं और चौडाई कुछ आधिक छह छह योजनकी है ॥ ७ ॥ जिसके दरवाजेकी चौखट अमूल्य मणियोंसे बनी हुई होनेसे बहुत ही देदीप्यमान है और उसके, नीचेसे सिंधु नदीका जो प्रवाह निकलता है उससे वह बहुत ही अच्छी जान पडती है ॥ ८ ॥ तथा चक्रवर्तीके सेनापतिको छोडकर अन्य कोई भी जिसे उघाड नहीं सकता ऐसी वह गुफा भरतके सेनापतिके द्वारा उघडजानेसे पहिले ही से शांत हो चुकी थी, अर्थात् उसकी गरमी निकल चुकी थी ॥ ९ ॥ जिसप्र

रिवोपात्तगांभीर्या मुनिभिर्मता ॥ १० ॥ व्यायता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेवोल्लाघवता कृच्छ्रान्मुक्तोष्मा शोधितांतरा ॥ ११ ॥ कुटीव च प्रसूता या निषिद्धान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिर्द्वारे धृतमंगलसंविधिः ॥ १२ ॥ तामालोक्य बलं जिष्णोर्दूरादासीत्ससाध्वसं । तमसा सूचिभेद्येन कज्जलेनेव संभृता ॥ १३ ॥ चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्ततः ॥ १४ ॥ काकिणीमणिरत्नाभ्यां प्रतियोजनमालिखत् । गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मंडलद्वयं ॥ १५ ॥ तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्योत्स्नातपसन्निधिं । गुहामध्यमपध्वांतं व्यगाहत ततो बलं ॥ १६ ॥ च-

कार जगतकी स्थिति अनादि अनिधन है उसीप्रकार वह गुफा भी अनादि अनिधन है तथापि किसीके द्वारा बनाई हुई सी जान पडती है और जिसप्रकार जिनवाणी गंभीर है उसीप्रकार वह गुफा भी गंभीर है ऐसा गणधरादि मुनियोंने माना है ॥ १० ॥ वह गुफा जीवित रहनेकी आशाके समान लंबी है, मूर्छाके समान अंधकारमयी है और उसकी ज्वररूप गरमी निकलजानेसे तथा भीतरका भाग अर्थात् उदर साफ हो जानेसे नीरोगके समान जान पडती है ॥ ११ ॥ उसमें चक्रवर्तीके सेनाके सिवाय अन्य सबका प्रवेश करना मना है, उसके द्वारपर रक्षाकी विधि की गई है और अष्टमंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं इसलिये वह प्रसूता स्त्रीकी [जच्चाकी] कोठरीके समान जान पडती है ॥ १२ ॥ सुईकी नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ अंधकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही कुछ भयभीत हुई थी ॥ १३ ॥ चक्रवर्तीकी आज्ञाके अनुसार पुरोहितके साथ साथ सेनापतिने फिर उस अंधकारसे निकलनेका उपाय करनेकेलिये प्रयत्न किया ॥ १४ ॥ उन्होंने गुफाकी दोनों दीवालोंपर काकणी और चूडामणि रत्नसे एक एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चंद्रमाके प्रतिबिंब लिखे, एक दीवालपर सूर्य और एक दीवालपर चंद्रमा लिखे ॥ १५ ॥ तदनंतर चांदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं और उनके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश हो रहा है तथा अंधकार नष्ट हो गया है ऐसी उस गुफामें वह सेना प्रवेश करने लगी ॥ १६ ॥

क्रतन्वलद्दीपे ससेनान्या पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा ययौ ॥१७॥ परिसिंधुनदीस्रोतः प्राक्पश्चाच्चोभयोः पथोः । बलं प्रायाजल सिंधोरुपयुज्योपयुज्य तत् ॥१८॥ पथि द्वैधे स्थिता तस्मिन्सेनाग्रण्यानियंत्रिता । सा चमूः सशयद्वैध तदा प्रापद्दिगाश्रय ॥१९॥ ततः प्रयाणकैः कैश्चित्प्रभूतयवसोदकैः । गुहार्द्धसमिता भूमिं व्यतीयाय पतिर्विशा ॥२०॥ यत्रोन्मग्नजला सिंधुर्निमग्नजलया समं । प्रविष्टा तिर्यगुद्देश त प्राप बलमीशितु. ॥२१॥ तयोराराक्तटे सैन्य निवेश्य भरतेश्वर. । वैषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षाचक्रे सकौतुक ॥२२॥ एकाऽवःपातयत्यन्या दार्वाद्युत्प्लावयत्पर । मिथोविरुद्धसागत्ये सगते ते कथचन ॥ २३ ॥

आगे आगे सेनापतिके साथ साथ चक्ररत्न रूपी प्रकाशमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे पीछे उसी मार्गसे दो भागोंमें बंटकर वह सेना चल रही थी ॥ १७ ॥ सिंधु नदीके पूर्व पश्चिमकी ओरके दोनों किनारोंके मार्गोंमें सिंधुनदीके जलका उपभोग करती हुई वह सेना चलने लगी ॥ १८ ॥ गुफाके पूर्वी पश्चिमी दोनों किनारोंपर चलतीहुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय पूर्व दिशा कौनसी और पश्चिम दिशा कौनसी इसमें भी संदेह करने लगी थी ॥ १९ ॥ तदनंतर जिसमें घास पानी बहुत है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥ २० ॥ और जहांपर निमग्नजला नदीके साथ साथ उन्मग्नजला नदी पूर्व पश्चिमकी दीवालोंके कुंडोंसे निकलकर सिंधु नदीमें प्रवेश करती हैं उस जगहपर वह भरतेश्वरकी सेना जा पहुंची ॥ २१ ॥ वहांपर उन दोनों नदियोंके किनारेके समीप ही भरतने अपनी सेना ठहराई और आप स्वयं बडे आश्चर्यके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता [विरोधपना] देखने लगा ॥ २२ ॥ उन दोनोंमेंसे एक निमग्नजला नदी तो लकडी आदि प्रत्येक पदार्थको नीचे ले जाती है और दूसरी उन्मग्नजला नदी सब पदार्थोंको ऊपरकी ओर उछाल देती है, ऐसी ये दोनों ही नदियां परस्पर विरुद्ध होकर भी मानों किसीतरह आपसमें मिलनेकेलिये ही एक जगह सिंधु नदीमें आ मिली हैं ॥ २३ ॥ इन दोनोंनदियोंके पार जानेका क्या उपाय है इसप्रकार विचार करते हुये और उसीजगह खडे हुये भरतने

नद्योरुत्तरणोपाय· को नु स्यादिति तर्कयन्। द्रुतमाह्वाययामास तत्रस्थ· स्थपतिं पतिः ॥ २४ ॥ स तन्नदीद्वयं पश्यन्नुत्पतन्निपतज्जलं। दृष्टैव तुलयामास जलाञ्जलिमिव क्षण ॥ २५ ॥ उपर्युच्छ्वासयत्येना महान्वायुः स्फुरन्नध. । वायुस्तदन्यथावृत्तिरमुष्या च विजृंभते ॥ २६ ॥ उपनाहादृते कोऽन्य· प्रतीकारोऽनयोरिति । भिषग्वर इवारेभे सक्रमोपक्रम कृती ॥ २७ ॥ अमानुषेष्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः । स तानानाययामास दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥ २८ ॥ सारदारुभिरुत्तभ्य स्तभानतर्जले स्थिरान् । स्थपतिः स्थापयामास तेषामुपरि सक्रम ॥ २९ ॥ बलव्यसनमाशक्य चिरवृत्तौ स धीरधीः । क्षणान्निष्पादयामास सक्रम प्रभुशासनात् ॥ ३० ॥ कृतः कलकल· सैन्यैर्निष्ठिते सेतुकर्मणि । तत्रैव च बल कृत्स्नमुत्ततार पर तट ॥ ३१ ॥ नायकैः स-

---

बहुत शीघ्र अपने सिलावट रत्नको बुलाया ॥ २४ ॥ सिलावटने जिनका पानी एकका ऊपरको उछल रहा है और दूसरीका नीचेको जा रहा है ऐसी वे दोनों ही नदियां देखीं और दृष्टिमात्रसे ही क्षणभरमें उन्हें अंजलिभर पानीके समान समझलिया ॥ २५ ॥ उसने समझ लिया कि उन्मग्नजला नदीके भीतर भराहुआ महा वायु इसके पानीको ऊपरकीओर उछालता है और निमग्नजलानदीका ऊपरका वायु उसके पानीको नीचेकी ओर ले जाता है ॥ २६ ॥ इसलिये इन दोनोंका पुल बांधनेके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसप्रकार एक उत्तम वैद्यके समान वह सिलावट उनसे पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बांधनेका प्रयत्न करने लगा ॥ २७ ॥ उसने दिव्य शक्तिकी (रक्षा करनेवाले देवोंकी) सामर्थ्यसे निर्जनबनोंमें कितने ही जो बडे वृक्ष थे वे मगाये ॥ २८ ॥ और पानीके भीतर मजबूत लट्ठोंको खडा कर मजबूत खंबे खडे किये तथा उनके ऊपर उसने पुल बांधकर तैयार किया ॥ २९ ॥ अधिक समय लग जानेसे सेनाको दुख होगा यही समझकर उस धीर वीर शिलावटने महाराज भरतकी आज्ञासे क्षणभरमें हीं वह पुल तैयार कर दिया ॥ ३० ॥ जब वह पुल बंधकर तैयार हो चुका तब सेनाने आनंदसे कोलाहल मचाया, तथा वह समस्त सेना उन दोनों नदियोंके दूसरे किनारेपर पार होकर पहुंच गई ॥ ३१ ॥ दूसरे दिन अनेक हाथियोंकी घटाओंसे घिरे हुये भरतने अनेक रा-

ममन्येशुः प्रभुर्गजघटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलंघयत् ॥ ३२ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैरतिवाहितैः । गिरिदुर्गं विभेद्यगुहाद्वारमवाप्नुवत् ॥ ३३ ॥ निर्गलीकृत द्वार पौरस्त्यैरिभसाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरद्रेरध्युवास वनावनिं ॥ ३४ ॥ अविनाश गुहागर्भं चिरं मातुरिवोदरं । लब्ध जन्मान्तर मेने निःसृतैः सैनिकैर्बहिः ॥ ३५ ॥ गुहेयमतिगृध्येव गिलित्वा जनतामिमां । जरणाशक्तितो नूनमुज्जगाल बहिः पुनः ॥ ३६ ॥ व्यजनैरिव शाखाग्रैर्वीजयन्वनवीरुधां । गुहोष्मणा चिरं खिन्नां चमूमाश्वासयन्मरुत् ॥ ३७ ॥ तदा पवनाधूत चलच्छाखाकरोत्करैः । प्रभोरागमने तोषात्ननर्तेव वनावलिः

जाओंके साथ साथ उसी महामार्गसे विषम जलको पार किया ॥३२॥ अनंतर कितने ही मुकाम चलकर तथा विजयार्द्ध पर्वतरूपी कठिन मार्गको पारकर वह उस गुफाके उत्तर द्वार पर जा पहुंचा ॥३३॥ उस गुफाका उत्तर द्वार हाथियोंको लेकर आगे चलनेवाली सेनाके लोगोंने पहिलेसे ही उघाड रक्खा था, उस द्वारको पार कर भरतने विजयार्द्ध पर्वतके वनकी भूमिमें पहुंचकर निवास किया ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार बहुत दिनतक माताके उदरमें रहकर वहांसे निकलतेहुये अपना दूसरा जन्म मानते हैं उसीप्रकार बहुत दिनतक उस गुफाके भीतर रहकर बाहर निकलते हुये सेनाके लोगोंने अपना दूसरा जन्म प्राप्त होनेके समान ही माना था ॥ ३५ ॥ जिससमय वह सेना गुफासे बाहर निकल रही थी उससमय वह गुफा ऐसी जान पडती थी मानों वह बहुत खानेकी इच्छासे इस सब मनुष्य समूहको निगल गई थी परंतु उसमें पचानेकी शक्ति न होनेसे वह अवश्य ही उसे फिरसे बाहर उगल रही हो ॥ ३६ ॥ उस समय पंखोंके समान वनके वृक्षोंकी शाखाओंके ऊपरी भागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पडता था मानों गुफाकी गरमीसे बहुत दिनतक दुःखित हुई उस सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥ ३७ ॥ ऋतु संबंधी अनेक फल पुष्पोंको धारण करता हुआ ओर वायुके द्वारा हिलाया हुआ वह वन उससमय ऐसा जान पडता था मानों भरतके आनेपर संतुष्ट होकर हिलते हुये अपने शाखारूपी हाथोंके समूहोंसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ ३८ ॥ सेनापतिने जैसे

॥ ३८ ॥ पूर्ववत्पश्चिमे खंडे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतु मध्यमं खडं साधनैः प्रभुरुद्ययौ ॥ ३९ ॥ न करैः पीडितो लोको न भुवः शोषितो रस. । नार्केणेव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताप्युदक् ॥ ४० ॥ कौवेरीं दिशमास्थाय तपत्येकांततः करेः । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥ ४१ ॥ कृत व्यूहानि सैन्यानि सहतानि परस्पर । नातिभूमिं ययुर्जिष्णोर्न स्वैरं परिबभ्रमु' ॥ ४२ ॥ प्रसाधितानि दुर्गाणि कृत चाशक्यसाधन । परचक्रमवष्टभ्य चक्रिणो जयसाधनैः ॥ ४३ ॥ बलवान्नाभियोक्तव्यो रक्षणीयाश्च साश्रिताः । यतितव्य क्षितित्राणे जिगीषोर्वृत्तमीदृग ॥ ४४ ॥ इत्यलंघ्यबलश्चक्री चक्ररत्न

पहिले दक्षिणकी ओरका पश्चिम म्लेच्छ खंड जीता था उसीप्रकार यहांका भी पश्चिम म्लेच्छ खंड जीता तथा मध्यम खंड जीतनेके लिये महाराज भरत स्वयं अपनी सेनाके साथ तैयार हुआ ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकला था तथापि जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंमे लोगोंको पीडित करता है उसप्रकार उसने अपने करसे लोगोंको पीडित नहीं किया था, सूर्य जिसप्रकार पृथ्वीका रस पानी सोख लेता है उसप्रकार उसने पृथ्वीका रस अर्थात् आनंद नहीं सोखा था तथा सूर्य जिसप्रकार लोगोंको संतप्त करता है उसप्रकार भरतने किसीको भी संतप्त नहीं किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामें पहुंचकर अपने कर अर्थात् किरणोंसे अत्यंत संताप करता हे परंतु भरतने उत्तर दिशामें पहुंचकर पृथ्वीका सब संताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिसमें अनेक व्यूहोंकी रचना हुई है और जो परस्पर मिली हुई है ऐसी वह सेना भरतसे न तो बहुत दूर ही चली गई थी और न अपनी इच्छानुसार इधर उधर फिरती थी ॥४२॥ विजय करनेवाली उस चक्रवर्तीकी सेनाने अनेक किले अपने वश किये, अजेय देश जीते और शत्रुओंकी सेना भी रोकी ॥४३॥ बलवानके साथ युद्ध नहीं करना, जो अपने आश्रय आया हो उसकी रक्षा करना और पृथ्वीको रक्षा करनेकेलिये सदा प्रयत्न करना यही विजय चाहनेवाले राजाका योग्य आचरण है ॥४४॥ जिसकी सेनाको कोई उलंघन नहीं करसकता ऐसे भरतचक्रवर्तीने चक्ररत्नके पीछे पीछे चलतेहुये अपनी सेनाके द्वारा उस देशकी कितनी ही पृथ्वी वश कर ली ॥४५॥

मनुव्रजन् । कियतीमपि तां भूमिमवाष्टभीत्स्वसाधनैः ॥ ४५ ॥ तावच्च परचक्रेण स्वचक्रस्य पराभवं । चिलातावर्तनामानौ प्रभू शुश्रुवतु किल ॥४६॥
अभूतपूर्वमेतन्नौ परचक्रमुपस्थितम् । व्यसनं प्रतिकर्तव्यमित्यास्तां सगतौ मिथः ॥ ४७ ॥ ततो धनुर्धरप्रायं महाश्वीयं सहास्तिकं । इतोऽनुतस्थ सं-
जग्मे तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥ ४८ ॥ कृतोच्चविग्रहारम्भौ सरभं प्रतिपद्य तौ । विक्रम्य चक्रिणः सैन्यैर्भजतुर्विजिगीषुता ॥ ४९ ॥ तावच्च सुधियो धीराः
कृतकार्याश्च मन्त्रिणः । निषिध्य तौ रणारम्भाद्वचः पथ्यमिदं जगुः ॥ ५० ॥ न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता । अनालोचितकार्याणां दवीय-
स्योऽर्थसिद्धयः ॥ ५१ ॥ कोऽयं प्रभुरवष्टम्भी कुतस्त्यो वा कियद्बलः । बलवानित्यनालोच्य नाभिषेणयः कथंचन ॥ ५२ ॥ विजयार्द्धचलोद्धंघी नैष ना-

---

इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेना का तिरस्कार होता सुना ॥ ४६ ॥ हमारे देशमें शत्रुकी सेनाका आकर उपस्थित होना हमारे लिये बिलकुल नई बात है, इस आये हुये संकटके दूर करनेका उपाय करना चाहिये ऐसा विचारकर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिलगये ॥ ४७ ॥ तदनंतर जिसमें प्रायः धनुष धारण करनेवाले बहुतसे योद्धा हैं, तथा हाथी और घोडोंका बहुतसा समुदाय है ऐसी दोनों म्लेच्छ राजाओंकी वह सेना इधर उधरसे आकर इकट्ठी हुई ॥ ४८ ॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा अपना समस्त पराक्रम प्रगटकर चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जीतनेकी इच्छा करनेलगे ॥ ४९ ॥ इस प्रकार युद्धका उद्योग करनेपर बुद्धिमान धीर वीर और समस्त कार्य कर चुकनेवाले पुराने मंत्रियोंने उन दोनों राजाओंको युद्ध करनेके उद्योगसे रोका और नीचे लिखे अनुसार हितकरनेवाले वचन कहे ॥ ५० ॥ हे प्रभो, अपना कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा करनेवालोंको बिना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिये क्योंकि बिना विचारे कार्य करनेवालोंका कार्य सिद्ध होना बहुत दूर रहता है ॥ ५१ ॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन है? कहांसे आया है? इसकी सेना कितनी है और कितना बलवान है ? इत्यादि बातोंका विचार किये बिना ही उसकी

मान्यमानुष । दिव्यो दिव्यानुभावो वा भवेदेष न सशय ॥ ५३ ॥ तदास्ता समरारभः संभाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासाज्जेतु शक्यो रिपुर्महान् ॥ ५४ ॥ स्वभावदुर्गमेतन्नः क्षेत्र केनाभिभूयते । हिमवद्विजयार्द्धाद्रिगागसिंधुतटावधि ॥ ५५ ॥ अन्यच्च देवताः सति सत्यमस्मत्कुलोचिताः । नागमेघमुखा नाम ते निरुधतु शात्रवान् ॥ ५६ ॥ इति तद्वचनाज्जातजयाशंसौ जनेश्वरौ । देवतानुस्मृतिं सद्यश्चक्रतुः कृतपूजनौ ॥ ५७ ॥ ततस्ते जलदाकारधारिणो घनगर्जिताः ॥ परितो वृष्टिमातेनुः सानिलामनिलाशनाः ॥ ५८ ॥ तज्जल जलदोद्गीर्णं बलमाप्लाव्य जैष्णव । अवस्तिर्यगथोर्ध्वं च समतादभ्यद्रुवत् ॥ ५९ ॥ नचेलक्नोपमस्यासीच्छिबिरे वृष्टिरीशितुः । बहिरेकार्णव कृत्स्नमकरोद्व्याप्य रोदसी ॥ ६० ॥ छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत् । ताभ्या-

---

सेनाके सन्मुख जाना कभी योग्य नहीं है ॥ ५२ ॥ विजयार्द्ध पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई सामान्य मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य सामर्थ्य धारण करनेवाला होगा इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ५३ ॥ इसलिये युद्धका उद्योग करना तो बंद कर देना चाहिये और किसी किलेका आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि किलेमें रहकर हम लोग बडे भारी शत्रुको भी सहज रीतिसे जीत सकते हैं ॥ ५४ ॥ हिमवान पर्वतसे विजयार्द्ध पर्वततक और गंगा नदीसे लेकर सिंधु नदीके किनारे तकका यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किले के समान है, इसे कौन जीत सकता है ॥ ५५ ॥ इसके सिवाय हमारे कुल परंपरासे चले आये पूज्य ऐसे नागमुख और मेघमुख नामके देव भी तो हैं, वे ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार मंत्रियोंके वचन सुनकर जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों ही राजा बहुत शीघ्र देवताओंका पूजनकर उनका स्मरण करने लगे ॥ ५७ ॥ स्मरण करते ही नागमुख और मेघमुख देव बादलका रूप धारणकर बादलके समान गरजते हुये भरतकी सेनाके चारों ओर झंझा वायुके साथ साथ जलकी वर्षा करने लगे ॥५८॥ मेघमुखके द्वारा वरसाये हुये उस जलने भरतकी सब सेना डुबो दी और वह उस सेनाके नीचे ऊपर अगल बगल चारों ओर बहने लगा ॥ ५९ ॥ यद्यपि वह इतना वरसा था कि वाहर

मावेष्ट्य तद्बुध्नं बल स्यूतमिवाभित· ॥ ६१ ॥ मध्ये रत्नद्वयस्यास्य स्थितमासप्तमाद्दिनात् । जलप्लवे बल भर्तुर्व्यक्तमण्डायित तदा ॥ ६२ ॥ चक्ररत्नक्ष-
तोद्योते रुद्धद्वादशयोजने । तत्राण्डके स्थित जिष्णोर्निराबाधमभूद्बल ॥ ६३ ॥ प्रविभक्तचतुर्द्वार सेनान्याऽतः सुरक्षित । बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल
तद्बल ॥ ६४ ॥ तदा पटकुटीभेदाः किटिकाश्च विशंकटा· । कृताः स्थपतिरत्नेन रथाश्चाम्बरगोचराः ॥ ६५ ॥ बहिः कलकल श्रुत्वा किमेतदिति पार्थि-
वा. । कर व्यापारयामासु·'क्रुद्धा कौक्षेयक प्रति ॥ ६६ ॥ ततश्चक्रधरादिष्टा गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासुरुग्रा हुङ्कृतैः क्षणात् ॥ ६७ ॥

आकाश पातालमें फैलकर सब प्रदेश एक समुद्रके समान बन गया था तथापि महाराज भरतके तंबू में एक वस्त्रका टुकडा भिगोने योग्य भी जलकी वृष्टि नहीं हुई थी ॥ ६० ॥ उससमय भरतकी सेनाके ऊपर छत्र रत्न रक्खा गया था और नीचे चर्म रत्न बिछाया गया था, इन दोनोंसे घिरकर रुकी हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानों उसके चारोंओर बुनावट ही की गई हो ॥ ६१ ॥ उस जलके समूहमें छत्र और चर्म इन दोनों रत्नोंके भीतर भरतकी वह सेना सात दिन-तक ठहरी थी और उससमय वह ठीक अंडाके समान जान पडती थी ॥ ६२ ॥ वह चर्म और छत्र-से बना हुआ अंडाकार तंबू बारह योजन था और उसमें चक्ररत्नका प्रकाश पडता था, उसी बडे तंबूमें भरतकी वह सेना सब तरहकी पीडासे रहित हो गई थी ॥ ६३ ॥ उस बडे तंबूके चारों दिशा-ओंमें चार दरवाजे किये गये थे उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे उस सेनाकी रक्षा जयकुमारने की थी ॥ ६४ ॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपडेके तंबू खडे किये थे, बडी बडी घासकी झोंपडियां बनाई थीं और आकाशमें चलनेवाले रथ भी बनाये थे ॥ ६५ ॥ बाहर भारी कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इसप्रकार कहते हुये राजाओंने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारपर रक्खा ॥ ६६ ॥ अनंतर उस समय चक्रवर्तीकी आज्ञासे गणबद्ध जातिके देवोंने क्रोधित होकर हुंकार शब्दोंके द्वारा क्षणभरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥ ६७ ॥ अतिशय बलवान

बलवान्कुरुराजोऽपि मुक्तसिंहप्रगार्जितः । दिव्यास्त्रैरजयन्नागान् रथं दिव्यमधिष्ठितः ॥ ६८ ॥ तदा रणांगणे वर्षन् शरधारामनारत । स रेजे धृतसन्नाहः प्रावृषेण्य इवाबुदः ॥ ६९ ॥ तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रेजिरे समराजिरे । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान्दीपिका इव बोधिताः ॥ ७० ॥ ततो निववृते जित्वा नागान्मेघमुखानसौ । कुमारो रणसरभात्प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः ॥ ७१ ॥ कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्यस्तनितोर्जितैः । गर्जितैर्निर्जयन्मेघमुखान्ख्यातस्तदाख्यया ॥ ७२ ॥ तोषितैरवदानेन घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । ध्वनद्दुंदुभिध्वानबाधिरीकृतदिङ्मुखैः ॥ ७३ ॥ ततो दृष्टावदातोऽय तुष्टुवे चक्रिणा मुहुः । नियोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराग्रणीपदे ॥ ७४ ॥ इंद्रजाल इवामुष्मिन्व्यतिक्रांतेऽहिविप्लवे । प्रत्यापत्तिमगाद्भूयो बलमाविर्भवज्जयं ॥ ७५ ॥ विध्वस्ते

ऐसे कुरुवंशी राजा जयकुमारने दिव्य रथपर बैठ कर सिंहनाद करतेहुये दिव्य शस्त्रोंके द्वारा उन नागमुखोंको जीता ॥ ६८ ॥ उससमय लडाईके मैदानमें निरंतर वाणोंकी वर्षा करताहुआ तथा शरीरपर कवच पहनेहुये वह जयकुमार ऐसा अच्छा जान पडता था मानों वर्षाऋतुका बादल ही हो ॥ ६९ ॥ जयकुमारके द्वारा छोडे हुये वे तेज वाण उस युद्धके मैदानमें ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो छिपे हुये नागमुखोंको देखनेकेलिये जलायेहुये दीपक ही हों ॥ ७० ॥ तदनंतर वह जयकुमार नागमुख और मेघमुखको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे लौटा ॥ ७१ ॥ उससमय वह जयकुमार फैले हुये बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥ ७२ ॥ वजते हुये दुंदुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने सब दिशायें बहिरी कर दी हैं ऐसे देवोंने इस जयकुमारके पराक्रमसे संतुष्ट होकर जयजयकार किया था ॥ ७३ ॥ जिसका पराक्रम सबने देखलिया है ऐसे उस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी वार वार प्रशंसा की और उस वीर पुरुषका आदर सत्कारकर उसे मुख्य शूर वीरके स्थानपर नियुक्त किया ॥ ७४ ॥ इंद्रजालके समान आश्चर्य करनेवाला वह नागमुख देवोंका उपद्रव शांत हो जानेपर जिसका विजय प्रगट हुआ है ऐसी वह भरतकी सेना आरामसे अपने अपने स्थानपर जा पहुंची ॥ ७५ ॥ नागमुख देवों-

पन्नगानीके विबलौ म्लेच्छनायकौ। चक्रिणश्चरणावेत्य भयभ्रांतौ प्रणेमतु ७६ ॥ धनं यशोधन चास्मै कृतागःपरिशोधनं । दत्वा प्रसीद देवेति तौ भृत्यत्वमुपेयतुः ॥ ७७ ॥ निस्सपत्ना महीमेना कुर्वन्नवाङ्निधीश्वरः । आ हिमाद्रितटाद्भूय· प्रयाणमकरोद्बलैः ॥ ७८ ॥ सिंधुरोधेभुवः क्षुदन् प्रयाणे जयसिंधुरैः । सिंधुप्रपातमासीदन् सिंधुदेव्या न्यषेचि सः ॥ ७९ ॥ ज्ञात्वा समागत जिष्णुं देवी स्वावासगोचर । उपेयाय समुच्छल रत्नार्घं सपरिच्छदा ॥ ८० ॥ पुण्यैः सिंधुजलैरेनं हेमकुंभशतोद्धृतैः । साभ्यषिंचत्स्वहस्तेन भद्रासननिवेशित ॥ ८१ ॥ कृतमगलनेपथ्यमभ्यनंदज्जयाशिषा । देव त्वद्दर्शनाद्य पूताऽस्मीत्यवदच्च त ॥ ८२ ॥ तत्र भद्रासनं दिव्य लब्ध्वा तदुपढौकितं । कृतानुव्रजना किंचित्सिंधुदेवीं व्यसर्जयत् ॥ ८३ ॥ हिमाचलमनुप्राप्त·

की सेनाके भागजानेपर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा निर्वल होगये और भयसे घवडाकर चक्रवर्तीके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥ ७६ ॥ अपना अपराध क्षमा करानेके लिये उन्होंने भरतको अपना धन और यश रूपी धन दिया तथा हे देव ! प्रसन्न हूजिये ऐसा कहकर वे दोनों ही चक्रवर्तीके दास होगये ॥ ७७ ॥ उत्कृष्ट निधियोंके स्वामी भरतने यह समस्त पृथ्वी शत्रुरहित कर दी और फिर अपनी सेनाके साथ साथ हिमवान पर्वतके किनारेतक गमन किया ॥ ७८ ॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिंधु नदीके किनारेको खूंदता हुआ वह जहांपर हिमवान पर्वतसे सिंधु नदी पडती है ऐसे सिंधु कुंडके समीप आ पहुंचा और सिंधु देवीने वहांपर उसका अभिषेक किया ॥ ७९ ॥ अपने निवासस्थानके समीप ही भरतको आया हुआ जानकर सिंधु देवी अनेक तरहके रत्नोंका अर्घ लेकर अपने परिवारके साथ आई ॥ ८० ॥ और सैकडों सुवर्णके कलशोंमें भरे हुये पुण्यरूप सिंधु नदीके जलसे भद्रासनपर विराजमान महाराज भरतका अभिषेक अपने हाथसे किया ॥ ८१ ॥ जिसने मंगलरूप वस्त्र आभूषण पहने हैं ऐसे उस भरतको जयजयकार आशीर्वादोंसे उस देवीने संतुष्ट किया और निवेदन किया कि हे देव ! आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूं ॥ ८२ ॥ वहांपर भरतको सिंधुदेवीके द्वारा अर्पण किया हुआ भद्रासन प्राप्त हुआ और फिर

स्तत्तटानि जयन् जयन् । कैश्चित्प्रयाणकैः प्रापाद्धिमवत्कूटसान्निधिं ॥ ८४ ॥ पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनक्रियः । अध्यशेत शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन् ॥ ८५ ॥ विधिरेष नचाशक्तिरिति संभावितो नृपैः । स सज्यमकरोच्चाप वज्रकाण्डमयत्नतः ॥ ८६ ॥ तत्रामोघ शरं दिव्य समधत्तोर्ध्वगामिनं । वैशाखस्थानमास्थाय स्वनामाक्षरचिन्हित ॥ ८७ ॥ मुक्तसिंहप्रणादेन यदा मुक्तः शरोऽमुना । तदा सुरगणैस्तुष्टैर्मुक्तोऽस्य कुसुमांजलिः ॥ ८८ ॥ स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्खलद्गति. । सप्रापद्धिमवत्कूटं तद्गृहमाकंपयन्पतन् ॥ ८९ ॥ स मागधवदाध्याय ज्ञातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिस्तन्निवासी सुरोत्तमः ॥ ९० ॥ संप्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभृत् । दरोपरुद्धसरंभो धनुर्ज्यामसकृत्स्पृशन् ॥ ९१ ॥ तुंगोऽय हिमवानद्रिरलघ्यश्च पृथ-

---

थोडी दूरतक पीछे पीछे आनेवाली सिंधु देवीको भरतने बिदा किया ॥ ८३ ॥ हिमवान् पर्वतके समीप प्राप्त हुआ वह भरत उसके किनारोंको जीतता हुआ कितने ही मुकाम चलकर हिमवान पर्वतके हिमवत् शिखरके समीप जा पहुंचा ॥ ८४ ॥ वहांपर उसने पुरोहितके साथ साथ विधि पूर्वक उपवास किया और दीप धूप आदिसे दिव्य शस्त्रोंकी पूजा कर वह पवित्र डाभकी शय्यापर सोया ॥ ८५ ॥ शस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि वा नियोग है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नहीं है, इसप्रकार राजाओंने जिसका सत्कार किया है ऐसे भरतने बिना ही प्रयत्नके अपना वज्र कांड नामका धनुष सजाया ॥ ८६ ॥ तथा वैशाख नामके आसनसे बैठकर जिसपर अपना नाम खुदा हुआ है ऐसा ऊपरकी ओर जानेवाला अमोघ नामका दिव्य बाण उस धनुषपर रक्खा ॥ ८७ ॥ जिससमय सिंहनाद करते हुये भरतने वह बाण छोडा था उससमय देव लोगोंने संतुष्ट होकर उसपर फूलोंकी वर्षा की ॥ ८८ ॥ जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकती ऐसा वह बाण ऊपरकी ओर दूर तक गया और उसके भवनमें पडकर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत् शिखरपर जा पहुंचा ॥ ८९ ॥ वहांके रहनेवाले देवने मागध देवके समान कुछ विचार कर चक्रवर्तीका आगमन समझा और फिर वह अपना मस्तक नवाकर चला ॥ ९० ॥ जहांपर चक्रवर्ती विराजमान था

रजनैः। लंघितोऽद्य त्वया देव ! त्वद्वृत्तमतिमानुषं ॥९२॥ विप्रकृष्टांतराः क्वाऽस्मदावासाः क भवच्छरः। तथाप्याकापितास्तेन पततैकपदे वयं ॥ ९३ ॥ त्वत्प्रतापः शरव्याजादुत्पतन् गगनागण।, गणबद्धपदे कर्तुमस्मान्वाहूतवान् ध्रुव ॥ ९४ ॥ विजिताब्धि समाक्रातविजयार्द्धगुहोदरः। हिमाद्रिशिखरेष्वद्य जृंभते ते जयोद्यमः ॥ ९५ ॥ जयवादोऽनुवादोऽत्र सिद्धदिग्विजयस्य ते। जयतान्नंदताज्जिष्णो वर्द्धिषीष्ट भवानिति ॥ ९६ ॥ समुच्चरन्जयध्वानमुखर स सुरै. सम। प्रभु सभाजयामास सोपचार सुरोत्तमः ॥ ९७ ॥ अभिषिच्य च राजेंद्र राजवद्विधिना ददौ। गोशीर्षचदनं सोऽस्मै सममौषधिमालया

वहांपर वह देव बार बार उस धनुषकी चापको स्पर्श करता हुआ और अपने क्रोधको थोडासा रोकता हुआ आ पहुंचा ॥ ९१ ॥ और भरतमे निवेदन करने लगा कि यह हिमवान् पर्वत अत्यंत ऊंचा है, अन्य कोई भी इसे उलंघन नहीं कर सकता, हे देव वह भी आज आपने उलंघन कर लिया है इसलिये ही आपके सब चरित्र मनुष्योंको उलंघन करनेवाले हैं ॥ ९२ ॥ हे देव ? अतिशय दूर ऐसे हम लोगोंके आवास तो कहां! और यह आपका वाण कहां! तथापि इस वाणने एक ही समयमें हम सब देवोंको कंपायमान कर दिया है ॥ ९३ ॥ हे प्रभो ! यह आपका प्रताप वाणके व्याजसे आकाशरूपी आगनमें उछलताहुवा अवश्य ही हम लोगोंको आपकी सेनामें भर्ती करनेके लिये ही बुलारहासा जान पडता है ॥ ९४ ॥ जिसने समुद्रकोभी जीत लिया है, विजयार्द्धपर्वतकी गुफाका भीतरी भाग भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान पर्वतके शिखरपर भी फैल रहा है ॥ ९५ ॥ हे प्रभो ! आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिये यह आपका जयवाद करना सार्थक है ! हे जिष्णो (जयशील) आपकी जय हो, आप सदा आनंदित रहें और सदा बढते रहें, ॥ ९६ ॥ उच्चारण करतेहुये जय जय शब्दोंसे बाचाल होता हुआ वह उत्तम व्यंतर देव अन्य अनेक देवोंके साथ सब तरहके उपचारोंसे भरतकी सेवा करने लगा ॥ ९७ ॥ तथा राजाओंके योग्य ऐसी विधिसे चक्रवर्तीका अभिषेक कर पुष्पोंकी

॥ ९८ ॥ त्वद्भुक्तिवासिनो देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वामानमंत्येते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥ ९९ ॥ धेहि देव ततोऽस्मासु प्रसादतरलां दृशं । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिलाभोऽनुजीविना ॥ १०० ॥ निदेशैरुचितैश्चास्मान्संभावयितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तल्लाभः किंकरैर्मतः ॥ १०१ ॥ मानयन्निति तद्वाक्यं स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्य यथास्वं कृतमाननान् ॥ १०२ ॥ हिमवज्जयगीतानि मंगलान्यस्य किन्नरा. । जगुस्तत्कुंजदेशेषु स्वैरमारब्धमूर्च्छनाः ॥ १०३ ॥ असकृत्किन्नरस्त्रीणामाधुन्वानाः स्तनावृतीः । सरोवीचिभिदो मन्दमाववुस्तद्वनानिलाः ॥ १०४ ॥ स्थलाब्जिनीवनाद्विष्वक्किरन् किंजल्कजं रजः । हिमो हिमाद्रिकुंजेभ्यस्तं सिषेवे समीरणः ॥ १०५ ॥ स्थलाभोरुहिणीवास्य कीर्तिः साकं जयश्रिया । हिमाचलनिकुंजेषु

मालाके साथ साथ हरिचंदन नामका चंदन उसे समर्पण किया ॥ ९८ ॥ और निवेदन किया कि हे देव ! आपकी प्रसन्नताकी अभिलाषा करते हुये ये आपके क्षेत्रमें रहनेवाले देव दूरसे ही मस्तक नवाकर आपको नमस्कार करते हैं ॥ ९९ ॥ इसलिये हे देव ! हमपर प्रसन्नतासे चंचल हुई दृष्टि रखिये, क्योंकि सेवक लोगोंको स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही उपजीविका प्राप्त होना है ॥ १०० ॥ हे देव ! आप उचित आज्ञाके द्वारा हमलोगोंका सत्कार करने योग्य हैं क्योंकि सेवक लोग प्रायः उपजीविकाकी प्राप्ति होनेसे भी स्वामीकी आज्ञा मिलनेको वहुत कुछ मानते हैं ॥ १०१ ॥ इसप्रकारके उस देवके वाक्योंको सत्कार करते हुये भरतने यथायोग्य उन देवोंका आदर सत्कारकर तथा अपना दास बनाकर बिदा किया ॥ १०२ ॥ उस समय अपनी इच्छानुसार स्वरोंकी तान खींचनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतामंडपोंमें इसभरतके हिमवान् देवको जीतनेवाले मंगल गीत गा रहे थे ॥ १०३ ॥ उस समय वहांपर किन्नर जातिकी देवियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोंको वार वार हिलाता हुआ तथा सरोवरकी लहरोंको छिन्न भिन्न करता हुआ वनका वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥ १०४ ॥ स्थलकमलोंके बनके चारोंओर कमलकी परागरज फैलाता हुआ ऐसा हिमवान पर्वतके लता मंडपोंसे आया हुआ शीतल वायु भरतकी सेवा कर रहा था ॥ १०५ ॥ दिग्विजय करनेसे प्राप्त हुई भरत-

पप्रथे दिग्जयार्जिना ॥ १०६ ॥ हिमाचलस्थलेनास्य धृतिराजीत्प्रपश्यतः । कृतोपायनयेवस्थलाम्भोजैर्विकस्वरैः ॥ १०७ ॥ तमुच्चैस्त्वादिमाक्रान्तदिक्चक्रं विधृतायतिं । स्वामिवानल्परत्नर्द्धिं हिमाद्रिं बहुमस्त सः ॥ १०८ ॥ तत्रान्तरे गिरीन्द्रेऽस्मिन्व्यापारितदृशं प्रभुं । विनोदयितुमित्युच्चैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥ १०९ ॥ हिमवानयमुत्तुंगः सगतः सततं श्रिया । कुलक्षोणीभृतां धुर्यो धत्ते युष्मदनुक्रियां ॥ ११० ॥ अहो ! महानयं शैलो दुरारोहो दुरुत्तरः । शरसंधानमात्रेण राद्धो युष्मन्महोदयात् ॥ १११ ॥ चित्ररत्नकृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्मयी । शतयोजनमात्रोच्चा टंकच्छिन्नेव भात्यसौ ॥ ११२ ॥

की कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ साथ हिमवान पर्वतके लतामंडपोंमें स्थलकमलिनियोंके समान फैल रही थी ॥ १०६ ॥ चारोंओर देखतेहुये भरतको फूलेहुये स्थलकमलोंसे जिसने उपहारकी [भेटकी] शोभा वढाई है ऐसे हिमवान पर्वतके स्थलोंमें वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १०७ ॥ भरत उस हिमवान पर्वतको अपने समान ही देखकर वहुत कुछ मानता था क्योंकि जिसप्रकार भरत सवसे वडा था उसीप्रकार वह पर्वत भी वहुत ऊंचा था, भरतने जिसप्रकार सव दिशायें आक्रमण अर्थात् वश करली थीं उसीप्रकार वह पर्वत भी सव दिशाओंमें फैला हुआ था, जिसप्रकार भरत लंवा था उसीप्रकार वह पर्वत भी वहुत लंवा था, और जिसप्रकार भरतके समीप रत्न आदि अनेक ऋद्धियां थीं उसीप्रकार हिमवान् पर्वत भी अनेक रत्नोंसे सुशोभित था ॥ १०८ ॥ इसी वीचमें जवकि महाराज भरत उस हिमवान् पर्वतको देख रहे थे उससमय उन्हें प्रसन्न करनेकेलिये पुरोहित नीचे लिखे अनुसार वाक्य कहने लगा ॥ १०९ ॥ हे प्रभो ! यह हिमवान् पर्वत वहुत ऊंचा है, इसपर लक्ष्मी सदा निवास करती है और यह सव कुल पर्वतोंमें मुख्य है, इसलिये यह सदा लक्ष्मीसे सुशोभित, वडे और राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे आपका अनुकरण ही कर रहा सा जान पडता है ॥ ११० ॥ अहा यह पर्वत वहुत वडा है इसपर कोई चढ नहीं सकता और न कोई इसके पार जा सकता है तथापि आपके पुण्योदयसे केवल एक वाण छोडनेसे ही आपके वश होगया है ॥ १११ ॥ इसकी सुवर्णमय श्रेणी अनेकप्रकारके र-

स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवं । स्थितोऽयं गिरिराभाति मानदण्डायितो भुवः ॥ ११३ ॥ द्विर्विस्तृतोऽयमद्रींद्रो भरताद्भरतर्षभः । मूले चोपरिभागे च तुल्या विस्तारसंमितिः ॥ ११४ ॥ अस्यानुसानु रम्येय वनराजी विराजते । शश्वदध्यूषिता सिद्धविद्याधरमहोरगैः ॥ ११५ ॥ तटाभोगा विभांत्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्रांतैः स्वर्वधूप्रतिबिंबकैः ॥११६॥ पर्यटति तटेष्वस्य सप्रेयस्यो नभश्चरा. । स्वैरसंभोगयोग्येषु हारिभिर्लतिकागृहैः ॥ ११७ ॥ विविक्तरमणीयेषु सानुष्वस्य धृतोत्सवाः । न धृतिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥ ११८ ॥ पर्यंतस्य वनोद्देशा विकासिकुसुमास्मिताः । हसंतीवामरोद्यानश्रियमात्मीयया श्रिया ॥ ११९ ॥ स्वेन मूर्ध्ना बिभर्त्येष श्रिय नित्यानपायिनीं । स्मार्ता. स्मरति यां शच्याः सौभाग्यमदकर्षिणीं

नोंसे जडी हुई सुशोभित है, सौ योजन ऊंची है और ऐसी अच्छी जान पडती है मानों टांकीसे गढकर बनाई हो ॥ ११२ ॥ अपने पूर्व पश्चिमके किनारेसे लवण समुद्रमें अवगाहनकर (घुसकर) पडाहुआ यह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानो पृथ्वीके नापनेका एक दंडा ही हो ॥ ११३ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! यह पर्वत भरतक्षेत्रसे दूना चौडा है तथा मूल मध्यभाग और ऊपर तीनोंजगह एकसा चौडा है ॥ ११४ ॥ देव विद्याधर और नागकुमार जिसमें निरंतर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर बनपंक्ति इसके प्रत्येक शिखरपर शोभायमान है ॥ ११५ ॥ देदीप्यमान मणियोंसे जडेहुये इसके किनारेके प्रदेश बहुत अच्छे शोभायमान हैं और ऐसे जान पडते हैं मानों उनमें प्रतिबिंबित हुये स्वर्गकी देवियोंके प्रतिबिंबोंके द्वारा ही बनाये गये हों ॥११६॥ यह देखिये-मनोहर लता मंडपोंसे इच्छानुसार संभोग करनेयोग्य ऐसे इसके किनारोंपर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहलते हैं॥११७॥ इसके निर्जन पवित्र और मनोहर किनारोंपर अपनी अपनी देवियोंके साथ उत्सव करतेहुये देवलोगोंको दूसरी जगह कहीं भी संतोष नहीं होता है ॥ ११८ ॥ जो फूलेहुये फूलोंसे हंस रहे हैं ऐसे इसके चारोंओरके बनके प्रदेश ऐसे जान पडते हैं मानो अपनी शोभासे देवोंके वगीचेकी शोभाकी ओर हँस रहे ही हों ॥ ११९ ॥ पंडित लोग जिसे इंद्राणीके सौभाग्यके मदको दूर करनेवाली कहते हैं तथा जो सदा

॥ १२० ॥ मूर्ध्नि पद्मह्रदोऽस्यास्ति धृतश्रीर्बहुवर्णनः । प्रसन्नवारिरुत्फुल्लहैमपंकजमंडनः ॥ १२१ ॥ ह्रदस्यास्य पुरःप्रत्यक्तोरणद्वारानिर्गते । गंगासिंधू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥ १२२ ॥ सरितं रोहितास्यां च दधात्येष शिलोच्चयः । तदुदक्तोरणद्वारान्निःसृत्योदङ्मुखीं गता ॥ १२३ ॥ महापगाभिरित्याभिरलंघ्याभिर्विभात्ययं । तिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥ १२४ ॥ शिखरैरेष कुत्कील. कीलयन्निव खांगणं । सिद्धाध्वानं रुणद्धीद्धैः परार्ध्यै रुद्धदिङ्मुखैः ॥ १२५ ॥ परश्शतमिहाद्रींद्रे संत्यावासाः सुधाशिनां । येऽनल्पां कल्पजां लक्ष्मीं हसंतीव स्वसंपदा ॥ १२६ ॥ इत्यनेक-

---

नाशरहित है ऐसी शोभाको यह पर्वत अपने मस्तकपर धारण करता है ॥ १२० ॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका सरोवर है जिसमें श्रीदेवीका निवास है, शास्त्रकारोंने इस सरोवरका वहुत कुछ वर्णन किया है यह स्वच्छ जल और फूले हुये सुवर्णकमलोंसे वहुत ही सुशोभित है ॥ १२१ ॥ यह पर्वत इस पद्म सरोवरके पूर्व दिशाके तोरण द्वारसे निकली हुई गंगा महानदीको तथा पश्चिम तोरण द्वारसे निकली हुई सिंधु महानदीको भी धारण करता है ॥ १२२ ॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर द्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर वहती हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥ १२३ ॥ इन अलंघ्य तीन महानदियोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानों मंत्र उत्साह और प्रभुत्व इन शक्तियोंसे अपनेको भूभृतपना अर्थात् पर्वतपना अथवा राजापना ही लोगोंको दिखला रहा हो ॥ १२४ ॥ दिशाओंमें फैले हुये और अनेक रत्नोंसे सुंदर ऐसे अपने शिखरोंसे आकाशरूपी आंगनको खोदता हुआ यह पर्वत ऐसा जान पडता है मानो देवोंके मार्गको रोक रहा ही हो ॥ १२५ ॥ इस पर्वतपर देवोंके असंख्यात आवास हैं जोकि अपनी शोभासे स्वर्गकी वहुत वडी शोभाको भी हँस रहे हैं ॥१२६॥ इसप्रकार इस पर्वतमें अनेक गुण है तथापि एक वडा भारी दोष है और वह यह है कि यह स्वयं गुरु अर्थात् वडा होकर भी अपने चारोंओर अगुरु अर्थात् छोटे छोटे वृक्षोंको धारण करता है, यहांपर इस दोषको दूर करनेके लिये अगुरु अर्थात् अगुरु वा अगर जातिके सुगंधित वृक्ष

गुणेऽप्यस्मिन्दोषोऽस्त्येको महान्गिरौ । यत् पर्यंतगतान्धत्ते गुरुरप्यगुरुद्रुमान् ॥ १२७ ॥ अलंघ्यमाहिमोदग्रो गरिमाक्रांतविष्टप । जगद्गुरोः पुरोराभामय धत्ते धराधरः ॥ १२८ ॥ इत्यस्याद्रे परा शोभां शंसत्युच्चै पुरोधसि । प्रशसस तमद्रींद्र संप्रीतो भरताधिपः ॥ १२९ ॥ स्वभुक्तिक्षेत्रसीमान सोऽभिनंद्य हिमाचल । प्रत्यावृतत्प्रभुर्द्रष्टु वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥ १३० ॥ यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः । तदर्द्धविस्तृतिर्मूर्द्धन भुवो मौलिरिवोदतः ॥ १३१ ॥ यस्योत्संगभुवो रम्याः कदलीखडमंडितैः । सभोगाय नभोगाना कल्पते स्म लतालयैः ॥ १३२ ॥ सनागमसनागैश्च सपुन्नागैः परिष्कृत । यदुपातवन सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥ १३३ ॥ स्वतटस्फाटिकोत्सर्पत्प्रभादिग्वहरिन्मुखं । शरदभ्रैरिवारब्धवपुष सनभोजुषं ॥ १३४ ॥ त शैलं भुव-

---

लेना चाहिये अर्थात् उसके चारोंओर अगर जातिके सुगंधित वृक्ष हैं ॥ १२७ ॥ यह पर्वत जगत गुरु श्री वृषभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योंकि जिसप्रकार वृषभदेव अपनी अलंघ्य महिमासे सबसे बडे हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अपनी अलंघ्य महिमासे वडा है और वृषभदेव जिसप्रकार अपने गुरुपनेसे जगतमें व्याप्त हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अपने गुरुपनासे अर्थात् भारीपनसे संसारमें प्रसिद्ध है ॥ १२८ ॥ इसप्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी बहुत बडी शोभा वर्णन की तब भरतने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥ १२९ ॥ अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रकी सीमा ऐसे हिमवान पर्वतकी प्रशंसाकर महाराज भरत कुतूहल वश वृषभाचल पर्वतको देखनेकेलिये लौटे ॥ १३० ॥ वह वृषभाचल सौ योजन ऊंचा है, उसकी चौडाई नीचे मूलमें सौ योजन है और ऊपर मस्तकपर पचास योजन है, ऐसा वह पर्वत ऊपरकी ओर उठे हुये पृथ्वीके मस्तकके समान जान पडता है ॥ १३१ ॥ उस वृषभाचलके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलेके खेतोंसे सुशोभित ऐसे लता मंडपोंसे केवल विद्याधरोंके संभोग करनेके लिये ही कल्पना किये जाते थे ॥ १३२ ॥ नागवृक्ष सेजना और नागकेसर जातिके वृक्षोंसे सुशोभित और सदा रहने योग्य ऐसे उस पर्वतके समीपके वनोंको देवलोग कभी भी नहीं छोडते थे ॥ १३३ ॥ अपने किनारेपर लगे हुये स्फटिक मणियोंकी फैलती-

नस्यैक ललामेव निरूपयन् । तल्यामास लक्ष्मीवान्स्वयशःप्रतिमानकं ॥ १३५ ॥ तमेकपाण्डुरं शैलमाकल्पातमनश्वरं । स्वयशोराशिनीकाशं पश्यन्नभिन नद स. ॥१३६॥ सोऽचलः प्रभुमायात मायातमखिलद्विपां । प्रत्यग्रहीदिवाभ्येत्य विष्वग्विभिर्वनानिलैः ॥१३७॥ तत्तटोपातविश्रांतखचरोरगकिन्नरैः । प्रोद्गीयमानममलं शुश्रुवे स्वयशोऽमुना ॥१३८ ॥ जयलक्ष्मीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रमा । तत्तटीभित्तयो जन्हुर्मनोस्य स्फटिकामलाः ॥ १३९ ॥ अधिमेखलमस्यासीच्छिलाभित्तिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे धृतिर्विश्वक्षमाजितः ॥ १४० ॥ काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिपत्ययं । तदा राजसहस्राणा

हुई कांतिसे जिसने समस्त दिशायें व्याप्त करली हैं, जिसका शरीर शरदऋतुके सफेद बादलोंसे वने हुयेके समान ही जान पडता है और जिसपर देव निवास करते हैं ऐसे उस पर्वतको पृथ्वीकी एक सुंदरताके समान देखता हुआ श्रीमान् भरत उसे अपने यशके प्रतिविंवके समान मानता था ॥ १३४-१३५ ॥ जो एक सफेद रंगका है और कल्पांतकालतक कभी नाश नहीं होता ऐसे उस पर्वतको अपने यशकी राशिके समान देखकर भरत वहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १३६ ॥ उससमय वह पर्वत भी ऐसा जान पडता था मानों समस्त शत्रुओंके कपटको नाश करनेवाले चक्रवर्तीको अपने समीप आया जानकर चारोंओर वहनेवाले वनके वायुके द्वारा उसके सामने जाकर उसका आदर सत्कार ही कर रहा हो ॥ १३७ ॥ वहांपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम लेते हुये विद्याधर नागकुमार और किन्नर आदिके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥ १३८ ॥ स्फटिकके समान निर्मल और जयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिये मंगल दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारेकी दीवालें भरतके मनको अपनी ओर खींच रहीं थीं ॥ १३९ ॥ समस्त पृथ्वीको जीतनेवाले चक्रवर्तीको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवालपर अपने नामके अक्षर खोदनेके लिये वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १४० ॥ जिससमय चक्रवर्तीने हाथमें काकिणी रत्न लेकर अपना नाम लिखनेकी इच्छा की परंतु उसीसमय उसने वहां हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नाम लिखे देखे ॥ १४१ ॥ असंख्यात

नामान्यत्रैक्षताधिराट् ॥ १४१ ॥ असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रांता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं त पश्यन्स विसिष्मये ॥ १४२ ॥ ततः किंचित्स्खलद्गर्वो विलक्षीभूय चक्रिराट् । अनन्यशासनामेनां न मेने भरतावनीं ॥ १४३ ॥ स्वय कस्यचिदेकस्य निरस्यन्नामशासनं । स मेने निखिल लोकं प्रायः स्वार्थपरायण ॥ १४४ ॥ अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले । प्रशस्तिमित्युदात्तार्थां व्यलिखत्स यशोधनः ॥ १४५ ॥ स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरंतमहीभर्ता भरतः शातमातुरः ॥ १४६ ॥ श्रीमानानम्रनिःशेषखचरामरभूचर' । प्राजापत्यो मनुर्मान्यः शूरः शुचिरुदारधीः

करोड कल्पोंमें जितने चक्रवर्ती राजा हुये थे उनके नामोंसे भरे हुये उस पर्वतको देखकर भरतको बहुत ही आश्चर्य हुआ ॥ १४२ ॥ तदनंतर जिसका कुछेक अभिमान दूर हुआ है और जो आश्चर्यसे डूब रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती इस भरत क्षेत्रकी पृथ्वीको इसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चलती ही नहीं [एक मेरी ही आज्ञा चलती है] ऐसा नहीं मानने लगा अर्थात् उसने स्वीकार किया कि इसपर मेरे ऐसे अनेक चक्रवर्ती हो गये हैं ॥ १४३ ॥ जिससमय उसने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्ति मिटाई थी उससमय उसने इस समस्त जगतको प्रायः स्वार्थ परायण अर्थात् अतिशय स्वार्थी समझा था ॥ १४४ ॥

अथानंतर—जिसका यश ही धन है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने हाथकी हथेलीके समान चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार गंभीर अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखने लगा ॥१४५॥ स्वस्ति श्री इक्ष्वाकुकुलरूपी आकाशमें चंद्रमाके समान उद्योत करनेवाला, चारों दिशाओंकी पृथ्वीका स्वामी मैं भरत हूं, मेरी माताके सौ पुत्रोंमेंसे मैं एक वडा पुत्र हूं ॥ १४६ ॥ मैं राज्यलक्ष्मीका स्वामी हूं मैंने समस्त देव विद्याधर और राजाओंको नवाया है, मैं प्रजापति अर्थात् वृषभदेवका पुत्र हूं सोलहवां मनु (कुलकर) हूं, मान्य, शूरवीर, पवित्र, उदार बुद्धिको धारण करनेवाला, चरम शरीरी, धीर और चक्रवर्तियोंमें मुख्य अर्थात् प्रथम चक्रवर्ती हूं, इसके सिवाय जिस विजयी राजाने दिग्विजय करते समय

॥ १४७ ॥ चरमांगधरो धीरो धौरेयश्चक्रधारिणा । परिक्रांतं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥ १४८ ॥ यस्याष्टादशकोट्योऽश्वा जलस्थलविलंघिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥ १४९ ॥ यस्य दिग्विजये विष्वग्बलरेणुभिरुत्थितैः । सदिङ्मुखं खमारुद्धं कपोतगलकर्बुरैः ॥ १५० ॥ प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलं । सुरैरसकृदुद्गीतं कुलक्षोणीध्रकुक्षिषु ॥ १५१ ॥ दिग्जये यस्य सैन्यानि विश्रांतान्यधिदिक्तटं । चक्रानुभ्रांतितांतानि क्रांत्वा हैमवतीस्थलीः ॥ १५२ ॥ नप्ता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । षट्खंडमंडितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीं ॥ १५३ ॥ मत्वाऽसौ गत्वरीं लक्ष्मीं जित्वरः सर्वभूभृतां । जगद्विसृत्वरीं कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥ १५४ ॥ इति प्रशस्तिमात्मीयां व्यलिखत्स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकरैर्मुक्तैर्नृपोऽवचकिरेऽमरैः ॥ १५५ ॥ तत्रोच्चैरुच्चरद्ध्वाना मंद्रदुदुभयोऽध्वनन् । दिवि देवा जयेत्याशीःशतान्युच्चैरघोषयन् ॥ १५६ ॥ स्वर्धुनीसीकरासा-

---

समस्त पृथ्वीमंडलको आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल दोनों जगह चलनेवाले अठारह करोड घोडे हैं, जिसकी विजय करनेवाली सेनामें चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी हैं, जिसके दिग्विजय करते समय कबूतरके गलेके समान कुछ कुछ मलिन ऐसी चारोंओर उठी हुई सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओंके साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओंको जीतनेवाले जिसका चंद्रमाकी कलाओंके समान निर्मल यश कुलपर्वतोंके मध्यभागमें देवलोग वार वार गाते हैं, चक्रके चलनेके अनुसार उसके पीछे पीछे चलनेवाली जिसकी सेनाने हिमवान् पर्वतके नीचेकी जमीनको उलंघनकर दिशाओंके अंतभागमें विश्राम लिया है, जो नाभिराजका पौत्र है, श्रीवृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खंडोंसे सुशोभित इस समस्त पृथ्वीका पालन किया है तथा जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुझ भरतने लक्ष्मीको चंचल समझकर जगतमें फैलनेवाली कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापन किया ॥ १४७-१५४ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीने अपना यश फैलानेवाली प्रशस्ति स्वयं अक्षरोंमें लिखी, जिससमय चक्रवर्तीने यह प्रशस्ति लिखी थी उस समय देवोंने उसपर फूलोंकी वर्षा की थी ॥ १५५ ॥ जोर जोरसे शब्द करते हुये गंभीर नगाडे वज रहे थे, आकाशमें देव जय जय इसप्रकार सैकडों आशी-

रवाहिनो गंधवाहिनः । मंदं विचेलुराध्मातसांद्रमंदारनंदनाः ॥ १५७ ॥ न केवलं शिलाभित्तावस्य नामाक्षरावली । लिखितानेन चंद्रेऽपि बिंबे तल्लांछनच्छलात् ॥ १५८ ॥ लिखितं साक्षिणो भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखित सोऽचलो भुक्तिर्दिग्जये साक्षिणोऽमराः ॥ १५९ ॥ अहो ! महानुभावोऽयं चक्री दिक्चक्रनिर्जये । येनाक्रांत महीचक्रमानक्रवसतित्रिकात् ॥ १६० ॥ खचराद्रिरलंघ्योऽपि हेलया लंघितोऽमुना । कीर्तिः स्थलाब्जिनीवास्य रूढा हैमाचलस्थले ॥ १६१ ॥ इति दृष्टावदातं तं तुष्टुवुर्नाकिनायकाः । दिष्ट्या स्म वर्धयंत्येनं सांगनाश्च नभश्चराः ॥ १६२ ॥ भूयः प्रोत्साहितो देवैर्जयो-

---

र्वाद जोर जोरसे दे रहे थे ॥ १५६ ॥ तथा गंगाके जलकी बूंदोंके समूहको धारण करता हुआ तथा घने कल्पवृक्षोंके बनको हिलताहुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ १५७ ॥ भरतने केवल शिलाकी दीवालपर ही अपने नामके अक्षरोंकी पंक्ति नहीं लिखी थी किंतु चंद्रमामें जो काला चिन्ह है उसके बहानेसे उसने चंद्रमाके मंडलमें भी अपना नाम लिख दिया था, भावार्थ—चंद्रमामें चिन्ह नहीं है किंतु भरतका लिखा हुआ नाम ही समझना चाहिये ॥ १५८ ॥ किसी भी प्रशस्तिमें लेख, साक्षी [गवाही] और उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र ये तीन बातें लिखी जाती हैं वे तीनों ही बातें इस प्रशस्तिमें भी हैं क्योंकि लेख तो वृषभाचल पर्वतपर लिखा ही गया है दिग्विजय करनेसे छह खंड भारत उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र है और देवलोग साक्षी हैं ॥ १५९ ॥ " अहा यह चक्रवर्ती बडा पराक्रमी है क्योंकि सब दिशाओंको जीतनेके समय इसने पूर्व दक्षिण पश्चिमके तीनों समुद्रपर्यंत समस्त पृथ्वीको अपने वश करलिया है ॥ १६० ॥ यद्यपि विजयार्द्ध पर्वत अलंघ्य है तथापि इसने लीलामात्रमें ही उसे उलंघन किया है तथा इसकी कीर्ति स्थलकमलके समान हिमवान् पर्वतके ऊपरी भागपर चढ गई है " ॥ १६१ ॥ इसप्रकार मुख्य मुख्य देव भी जिसकी सामर्थ्य सबने देखली है ऐसे भरतकी स्तुति करते थे तथा अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग संतुष्ट होकर इसके भाग्यकी प्रशंसा करते हुये इसे आशीर्वाद दे रहे थे ॥ १६२ ॥ तदनंतर जिसे देवोंने फिर भी उत्साह दिलाया

द्योगमनूनयन् । गगापातमभीयाय व्याहूत इव तत्स्वनैः ॥ १६३ ॥ गलद्गंगाम्बुनिष्ठ्यूताः शीकरा मदशीकरैः । संमुमूर्च्छुर्नृपेभाणां व्यात्युक्षीं वा तितासवः ॥ १६४ ॥ पतद्गगाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुक. । प्रत्याग्राहि स तत्पाते गगादेव्या धृतार्घया ॥ १६५ ॥ सिंहासने निवेश्यैन प्राङ्मुख सुखशीतलैः । सोऽभ्यषिंचज्जलैर्गांगैः शशांककरहासिभिः ॥ १६६ ॥ कृतमगलसगीतनादीतूर्यरवाकुलं । निर्वर्त्य मज्जन जिष्णुर्भेजे मडनमप्यतः ॥ १६७ ॥ अथाऽस्मै व्यतरत्प्राशुरत्नाशुस्थगिताम्बरं । सेद्रचापमिवाद्रींद्रशिखर हरिविष्टर ॥ १६८ ॥ चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो जीवतान्नदताद्भवान् । इत्यनतरमाशास्य

है ऐसा वह भरत अपने विजय करनेके उद्योगको पूर्ण करता हुआ जहांपर गंगानदी हिमवान पर्वतसे पडती है वहांपर इसप्रकार आ पहुंचा मानों गंगाके पडनेके शब्दोंके द्वारा बुलाया गया ही हो ॥१६३॥ ऊपरसे पडती हुई गंगानदी के पाससे उछलकर पडतेहुये जलबिंदु राजाओंके हाथियोंके मदकी बूदोंके साथ इसप्रकार मिलगये थे मानों वे दोनों ही परस्पर एक दूसरेको सिंचन करना चाहते हों ॥ १६४ ॥ जहां गंगा नदी पडती है वहांके जलके भंवरोंसे जिसे कौतुक (आश्चर्य) बढ रहा है ऐसे भरतका गंगादेवीने हाथमें अर्घ लेकर गंगाके पडनेके स्थानपर सामने आकर आदर सत्कार किया ॥ १६५ ॥ गंगादेवीने भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सिंहासनपर विराजमान किया और फिर चंद्रमाकी किरणोंकी ओर भी हंसनेवाले स्वच्छ, शीतल और सुख देनेवाले गंगाके जलसे इसका अभिषेक किया ॥ १६६ ॥ जिसमें मंगलगीत संगीत, मंगलपाठ, और तुरई आदिकोंके शब्द मिलेहुये हैं ऐसे अभिषेकको [स्नानको] समाप्तकर विजयी भरतने उसी देवीसे सब वस्त्र अलंकार पहने ॥ १६७ ॥ यह सब कार्य हो चुकनेपर बडे बडे रत्नोंकी किरणोंसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर दिया है और जो इंद्रधनुष सहित सुमेरुपर्वतके शिखरके समान जान पडता है ऐसा एक सिंहासन गंगादेवीने महाराज भरतको समर्पण किया ॥ १६८ ॥ और फिर " सदा बढनेवाले महाराज भरत ! आप बहुत दिनतक बढते रहिये बहुत दिनतक जीवित रहिये तथा बहुत दिनतक

तिरोऽभूत्सा विसर्जिता ॥ १६९ ॥ अनुगंगातटं सैन्यैराव्रजन्विषयाधिपैः । सिषेवे पवमानैश्च गंगांबुकणवाहिभिः ॥ १७० ॥ गंगातटवनोपांतनिवेशेषु विशांपतिं । सुखयामासुरन्वीयमायाता वनवायवः ॥ १७१ ॥ वने वनचरस्त्रीणामुदस्यन्नलकावलीः । मुहुस्स्खलन्कलापेषु नृत्यद्वनशिखडिनां ॥ १७२ ॥ विलोलितालिराधुन्वन्नुत्फुल्ला वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मरुदाववौ ॥ १७३ ॥ प्रतिप्रयाणमानम्रा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमाराधयाचक्रुरा-क्रांता जयसाधनैः ॥ १७४ ॥ कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनामुत्तरा भरतावर्नि । प्रत्यासीददथो जिष्णुर्विजयार्द्धचलस्थलीं ॥ १७५ ॥ तत्रावासितसैन्यश्च सेनान्यं प्रभुरादिशत् । अपावृतगुहाद्वारःप्राच्यखडं जयेत्यर ॥ १७६ ॥ यावदभ्येति सेनानीर्म्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किलातीयुर्मासाः षट् सुखसं-

---

आनंद प्राप्त कीजिये " इसप्रकार अनेक आशीर्वाद देकर भरतके द्वारा विदा की हुई वह देवी अदृश्य हो गई ॥ १६९ ॥

अथानंतर—अपनी सेनाके साथ गंगाके किनारे किनारे जातेहुये भरतकी वहांके अनेक राजाओंने तथा गंगाके जलकी बूंदोंको धारण करनेवाले वायुने सेवाकी थी ॥ १७० ॥ गंगाके किनारेके बनके समीपभागोंमें पीछेसे आनेवाला बनका वायु महाराज भरतको सुखी कर रहा था ॥ १७१ ॥ उसी बनमें भिल्लिनी स्त्रियोंके केशसमूहोंको उडताहुआ, नृत्य करतेहुये मयूरोंकी पूँछपर बार बार अटकताहुआ, भ्रमरोंको इधर उधर भागता हुआ, फूलीहुई बनकी लताओंको हिलताहु आ और पर्वतके झरनोंको स्पर्श करनेसे ठंडा ऐसा वायु बह रहा था ॥ १७२-१७३ ॥ इसके प्रत्येक पडावपर विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दवायेहुये उस देशके राजालोग नम्र होकर चक्रवर्तीकी सेवा करने लगे थे ॥ १७४ ॥ इसप्रकार उत्तर भरतक्षेत्रकी समस्त पृथ्वी अपने वशकर महाराज भरत विजयार्द्ध पर्वतके नीचेकी जमीनके समीप जा पहुंचे ॥ १७५ ॥ वहांपर भरतने सेनाके डेरा कराये और 'गुफाका द्वार उघाडकर पूर्वखंडको शीघ्र जीत' इसप्रकार सेनापतिको आज्ञा दी ॥ १७६ ॥ जबतक सेनापति म्लेच्छ देशके राजाओंको जीतकर आया तबतकके छह महीने महाराज भरतके वहींपर सुखसे

गिनः ॥ १७७ ॥ दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्निवसंतोंबरेचराः । विद्याधराधिपैः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहाययुः ॥ १७८ ॥ विद्याधरधराधीशैराराटानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाव्याजादाज्ञाऽस्य गिरसा धृता ॥ १७९ ॥ नमिश्च विनमिश्चैव विद्याधरधराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या प्रभु द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १८० ॥ विद्याधरधरासारधनोपायनसंपदा । तदुपानीतयाऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्धृतिः ॥ १८१ ॥ तदुपाकृतरत्नौघैः कन्यारत्नपुरःसरैः । सरिदोघैरिवोदन्वानापूर्यत तदा प्रभुः ॥ १८२ ॥ स्वसारं च नमेर्धन्यां सुभद्रां नाम कन्यकां । उदुवाह स लक्ष्मीवान्कल्याणैः खचरोचितैः ॥ १८३ ॥ ता मनोज्ञा रसस्येव स्रुतिं सप्राप्य चक्रभृत् । स्व मेने सफलं जन्म परमानदनिर्भरः ॥ १८४ ॥ तावन्निर्जितनिःशेषम्लेच्छराजबलोत्बलैः । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभु-

---

व्यतीत हुये ॥ १७७ ॥ विजयार्द्धपर्वतकी दक्षिण उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधरलोग अपने अपने राजाओंके साथ वहींपर भरतके दर्शन करनेके लिये आये ॥ १७८ ॥ दूरसे ही मस्तक नवातेहुये विद्याधरोंके राजाओंने अपने मस्तकपर जो (नमस्कार करतेसमय) भरतके पैरोंके नखोंकी किरणें धारण की थीं उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन किरणोंके वहानेसे उन्होंने भरतकी आज्ञा ही अपने शिरपर रक्खी हो ॥ १७९ ॥ नमि और विनमि दोंनों ही विद्याधरोंके राजा अपने मुख्य धनकी सामिग्री साथ लेकर भरतके दर्शन करनेकेलिये आये ॥१८०॥ नमि और विनमिने जो अन्य किसीको न मिलनेवाला ऐसा विद्याधरोंके देशका मुख्यधन भरतको भेंट दिया था उस संपत्तिसे महाराज भरतको वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १८१ ॥ जिसप्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भरजाता है उसीप्रकार नमि विनामिके द्वारा समर्पण कियेहुये कन्यारत्नको आदि लेकर अनेक रत्नोंके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा भी पूर्ण होगई थी ॥१८२॥ सुभद्रा नामकी कन्या जो कि समस्त गुणोंसे भूषित और राजा नमिकी वहिन थी उसके साथ श्रीमान् राजा भरतने विद्याधरोंके योग्य ऐसे मंगलकार्योंके साथ विवाह किया ॥ १८३ ॥ रसकी धाराके समान अतिशय मनोहर ऐसी उस स्त्रीको पाकर चक्रवर्तीने उत्कृष्ट आनंदमें डूवकर अपना चक्रवर्तीपनेका जन्म सफल

मैक्षत ॥ १८५ ॥ कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत्प्रयातुमपाङ्महीं ॥ १८६ ॥ जयप्रयाणशंसिन्यस्तदा भेर्यः प्रदध्वनुः । विष्वग्बलार्णवे क्षोभमातन्वत्यो महीभृताम् ॥ १८७ ॥ ता काडकप्रपाताख्या प्रागेवोद्घाटितां गुहा । प्रविवेश बलं जिष्णोश्चक्ररत्नपुरोगमां ॥ १८८ ॥ गंगापगोभयप्रांतमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहा सेना कृतद्वारां चमूभृता ॥ १८९ ॥ मुच्यमाना गुहा सैन्यैश्चिरादुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोधान्निःसृत्योज्जीवितेव सा ॥ १९० ॥ नाट्यमालामरस्तत्र रत्नार्घैः प्रभुमर्चयन् । प्रत्यगृह्णाद्गुहाद्वारि पूर्णकुम्भादिमङ्गलैः ॥ १९१ ॥

माना था ॥ १८४ ॥ इतनेमें ही अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेछ राजाओंकी सेना जीतकर सेनापतिने भी जयलक्ष्मी सामनेकर महाराज भरतके दर्शन किये ॥ १८५ ॥ जिसने अपना कर्तव्य कर्म किया है ऐसे सेनापतिका भरतने आदर सत्कार किया तथा आयेहुये उन म्लेछ राजाओंको विदा किया, अनंतर वह संम्राट दक्षिण देशकी ओर चलनेके लिये तैयार हुआ ॥ १८६ ॥ उससमय राजाओंकी समस्त सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तथा विजय करनेके लिये चलनेकी सूचना देनेवाले नगाडे बजनेलगे ॥ १८७ ॥ चक्ररत्न जिसके आगे आगे चल रहा है ऐसी उस भरतकी सेनाने जिसका द्वार पहिलेसे ही उघाड दिया गया है ऐसी उस कांडकप्रपात नामकी गुफामें प्रवेश किया ॥ १८८ ॥ उस सेनाने गंगा नदीके दोनों किनारेपरकी बडी बडी दो गलियोंसे (रास्तेसे) सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहिलेसेही उघाड दिया गया है ऐसी उस गुफाको तय किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोडी हुई वह गुफा ऐसी जांन पडती थी मानों चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो तथा वह सेना भी गुफाकी रुकावटसे निकलकर ऐसी जान पडती थी मानों उसने फिरसे ही जीवन पाया हो ॥ १९० ॥ गुफाके दक्षिण द्वारपर नाट्यमाल नामके देवने पूर्णकलश आदि मंगल द्रव्योंके साथ साथ रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरतके सामने आकर आदर सत्कार किया ॥ १९१ ॥ सर्वश्रेष्ठ महाराज भरतने जिसने अनेक प्रार्थना व स्तुतिकी हैं ऐसे इस नाट्यमाल नामके उत्तमदेवका आदर

कृतोपच्छदनं चामु नाव्यमाल सुरर्षभं। व्यसर्जयच्चयोद्देशं सत्कृत्य भरतर्षभः ॥ १९२ ॥ कृतोदयमिनं ध्वांतात्परितो गगनेचरा.। परिचेरुर्नभोमार्गमारुध्य धृतसायका ॥ १९३ ॥ नमिविनमिपुरोगैरन्वितः खेचरेंद्रै खचरगिरिगुहांतर्ध्वांतमुत्सार्य दूर। रविरिव किरणौघैर्द्योतयन्दिग्विभागान् निधिपतिरुदियाय प्रीणयन् जीवलोक ॥ १९४ ॥ सरसकिसलयांत स्पदमदे सुरस्त्रीस्तनतटपरिलग्नक्षौमसंक्रांतवासे। स्मरति मरुति मद कंदरेष्वद्रिभर्तुर्निधिपतिशिबिराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥ १९५ ॥ किसलयपुटभेदी देवदारुद्रुमाणामसकृदमरसिंधो सीकरान्व्याधुनानः। श्रमसलिलमपुष्णाद्दुष्णसंभूष्णु जिष्णोः खचरगिरितटातान्निष्पतन्मातरिश्वा ॥ १९६ ॥ सपदि विजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखंडः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रात्। जिनमिव जयलक्ष्मीसन्निधान निधीना

सत्कारकर उसे उसके स्थानपर जानेकेलिये विदा करदिया ॥ १९२ ॥ धनुषवाण धारण करनेवाले विद्याधर चारोंओरसे आकाशको घेरकर सूर्यके समान अंधकारको नाशकर उदय होनेवाले चक्रवर्तीकी सेवा करते थे ॥ १९३ ॥ जिसमें नमि विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरों सहित तथा विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाका भीतरी अंधकार दूरकर सूर्यके समान दूरसे ही अपनी किरणोंके समूहसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका स्वामी चक्रवर्ती सव जीवोंको आनंदित करताहुआ उदय हुआ अर्थात् गुफाके वाहर आया ॥ १९४ ॥ रससे भरेहुये कोमल पत्तोंके भीतर प्रवेश करनेसे मंद हुआ तथा देवांगनाओंके स्तनपर लगेहुये रेशमी वस्त्रमें भी जिसकी सुगंधि प्रवेश कर गई है ऐसा वायु जिससमय उस विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाओंमें वह रहा था उससमय चक्रवर्तीके डेरोंका पडाव पडना प्रारंभ हुवा था ॥ १९५ ॥ देवदारु जातिके वृक्षोंके कोमल पत्तोंके संपुटको प्रफुलित करनेवाला तथा वार वार गंगानदीके जलकी बूंदोंको हिलाता हुआ और विजयार्द्ध पर्वतके किनारेके बनसे आयाहुआ वायु गर्मीसे उत्पन्न हुये महाराज भरतके पसीनेके जलको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीकी आज्ञामात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाके द्वारा वहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खंड जीत लिया है और जयलक्ष्मीको जवर्दस्ती ले आया है ऐसा अपना मस्तक नवाये हुये सेनापती जिसके

परिग्रूढमुपतस्थौ नम्रमौलिश्चमूभृत् ॥ १९७ ॥ जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य सुचिरं प्रालेयशैलेशिनं देव्यौ च प्रणमय्य दिव्यमुभय स्वीकृत्य भद्रासनं । हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यतपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां पट्खडभूषा भुवं ॥ १९८ ॥ पुण्यादित्ययमाहिमाह्वयगिरेरातोयधे प्राक्तनादावाऽपाच्यपयोनिधेर्जलनिधेराच प्रतीन्यादितः । चक्रे क्ष्मामरिचक्रभीकरकरश्चक्रेण चक्री वशे । तस्मात्पुण्यमुपार्जयंतु सुधियो जैने मते सुस्थिताः ॥ १९९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३२ ॥

समीप जिनेंद्र देवके समान जयलक्ष्मी सदा रहती है ऐसे निधियोंके स्वामी भरतके समीप आ उपस्थित हुआ ॥ १९७ ॥ विजयी महाराज भरत ने चिलात और आवर्त दोनों म्लेच्छ राजाओंको जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही कालमें जीता तथा गंगा सिंधु दोनों ही देवियोंसे नमस्कार कराकर उनके द्वारा दिये हुये दो दिव्य भद्रासन स्वीकारकिये और विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको लीलामात्रमें जीतकर विजयार्द्ध पर्वतके समीपवर्ती राजाओंको जीतते हुये उसने सेनापतिके साथ साथ छह खंडोंसे सुशोभित इस समस्त भरत क्षेत्रकी पृथ्वीको जीता ॥१९८॥ शत्रुओंके समूहमें जिसका भयंकर कर है अथवा जिसका हाथ शत्रुओंके समूहको भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे उस भरत चक्रवर्तीने चक्रके द्वारा पुण्य कर्मके उदयसे ही यह हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्वदिशाके समुद्रतक तथा दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक समस्त पृथ्वी अपने वश की, इसलिये बुद्धिमान् लोगोंको जैनमतमें दृढ रहकर सदा पुण्य संपादन करना चाहिये ॥ १९९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भरतका उत्तरार्द्धके विजयका वर्णन करनेवाला यह बत्तीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ।

श्रीमानानमिताशेषनृपविद्याधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृत्तत्स्वा पुरीप्रति ॥ १ ॥ नवास्य निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धा विद्याधरैः सार्द्धं षट्खडधरणीभुजः ॥ २ ॥ जित्वा महीमिमा कृत्स्ना लवणांभोधिमेखला । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगरं प्रति ॥ ३ ॥ प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्बुदा । निर्ययौ विजयार्ध्दाद्रितटाद्गंगेव सा चमूः ॥ ४ ॥ करिणीनौभिराश्वीयकल्लोलैर्जनतोर्मिभिः । दिशो रुंधन्वलाभोधिः प्रससर्प स्फुरत्ध्वनिः ॥ ५ ॥ चलता रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः । बृंहितैश्च गजेंद्राणां शब्दाद्वैत तदाभवत् ॥ ६ ॥ भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो नेदुरामद्रनिःस्वनाः ।

अथ तेतीसवां पर्व ।

अथानंतर—जिसने समस्त राजा विद्याधर और देव नम्र किये हैं और जिसे समस्त दिग्विजय सिद्ध हुआ है ऐसा वह श्रीमान् भरत चक्रवर्ती अपनी अयोध्या नगरीको जानेके लिये लौटा ॥१॥ इस भरतको नौ निधि और चौदह रत्न सिद्ध हुये थे तथा विद्याधरोंके साथ साथ छहों खंडोंके समस्त राजा वश होगये थे ॥ २ ॥ लवण समुद्र ही जिसकी करधनी अर्थात् सीमा है ऐसी इस समस्त पृथ्वीको जीतकर चक्रवर्तीने अयोध्यानगरको जानेके लिये प्रस्थान किया ॥ ३ ॥ ढुलते हुये चमर ही जिसकी लहरें हैं और देदीप्यमान छत्र ही जिसके बुद्बुदे हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्द्ध पर्वतके किनारेसे निकली ॥ ४ ॥ हथिनी रूपी नावोंसे, घोडोंके समूहरूपी लहरोंसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी छोटी तरंगोंसे सब दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब जोरसे शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारोंओर फैलने लगा ॥५॥ उससमय जो चलते हुये रथोंके पहियोंके चीत्कार [चूं चूं] शब्द हो रहे थे, घोडे हींस रहे थे और बडे बडे हाथी गरज रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो यह जगत् केवल शब्दरूप ही हो रहा हो ॥ ६ ॥ गंभीर शब्द करतेहुये जो चलनेकी सूचना करवेवाले नगाडे बज रहे थे उनसे मयूरोंको असमयमें ही बादलोंके गरजनेकी शंका

अकालस्तनिताशंकामातन्वानाः शिखंडिनां ॥ ७ ॥ तदाऽभूद्रुद्धमश्चीयं हास्तिकेन प्रसर्पता । न्यरोधि पत्तिवृंदं च प्रयांत्या रथकठ्यया ॥ ८ ॥ पादात-कृतसंबाधापथः पर्यंतपातिन. । हया गजा वरूथाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥ ९ ॥ पर्वतोदग्रमारूढो गजं विजयपर्वतं । प्रतस्थे विचलन्मौलिश्चक्री शक्रसमद्युतिः ॥ १० ॥ अनुगंगातटं देशान् विलंघ्य ससरिद्गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्य सप्रापच्चक्रिणो बल ॥ ११ ॥ कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथागभृत् । निवेश्य निकटे सैन्य प्रययौ जिनमर्चितु ॥ १२ ॥ प्रयांतमनुजग्मुस्तं भरतेशं महाद्युतिं । रोचिष्णुमौलयः क्ष्मापाः सौधर्मेंद्रमिवामराः ॥१३॥ अचिराच्च तमासाद्य शरदंबरसच्छविं । जिनस्येव यशोराशिमभ्यनंदद्विशापतिः ॥ १४ ॥ निपतन्निर्झरारावैराह्वयंतमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्यारात्सेवध्व-

---

उत्पन्न हो रही थी ॥ ७ ॥ उससमय दौडतीहुई हाथियोंकी सेनासे घोडोंकी सेना रुक गई थी और चलतेहुये रथोंके समूहोंसे पैदल सेना रुक गई थी ॥ ८ ॥ पैदल सेनाके चलनेसे दुखी होकर मार्गके किनारेपर चलनेवाले हाथी घोडे और रथ कुछ दूरतक तिरछे चलकर रास्तेपर आये ॥ ९ ॥ जिसका मुकुट चमक रहा है और इंद्रके समान जिसकी कांति है ऐसा वह चक्रवर्ती पर्वतके समान ऊंचे ऐसे विजयपर्वत नामके हाथीपर चढकर चलने लगा ॥ १० ॥ वह चक्रवर्तीकी सेना गंगाके किनारे किनारे अनेक देश नदी और पर्वतोंको उलंघन करतीहुई कैलाश पर्वतके समीप जा दहुंची ॥ ११ ॥ तदनंतर कैलाशपर्वतको समीप ही देखकर चक्रवर्तीने अपनी सेना उसी कैलाशपर्वतके समीप ठहराई और वह आप स्वयं भगवानकी पूजन करनेके लिने निकला ॥ १२ ॥ जिसप्रकार सौधर्म इंद्रके पीछे पीछे दैदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते हैं उसीप्रकार अत्यंत कांतिको धारण करनेवाले और भगवानकी पूजनके लिये जातेहुये भरतके पीछे पीछे दैदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजालोग जा रहे थे ॥ १३ ॥ महाराज भरत शरदऋतुके वादलके समान तथा भगवानकी कीर्तिके समूहके समान उस कैलाश पर्वतपर बहुत शीघ्र पहुंच गया और वहां पहुंचकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १४ ॥ पडते हुये झरनोंके शब्दोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों

मिति सादर ॥ १५ ॥ मरुदादोलितोदग्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोपादिव नृत्यंतं विकासिकुसुमस्मितैः ॥ १६ ॥ तटनिर्झरसपातैर्दातु पाद्यमिवोद्यत । वंदारोर्भव्यवृदस्य विष्वगास्कदतो जिन ॥ १७ ॥ शिखरोल्लिखिताभोदपटलोद्गीर्णवारिभिः । दावभीत्येव सिंचंत स्वपर्यंतलतावन ॥ १८ ॥ शुचिग्राववि-निर्माणैः शिखरैः स्वर्गतांबरैः । गतिप्रसरमर्कस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥ १९ ॥ क्वचित्किन्नरसभोगैः क्वचित्पन्नगसेवितैः । क्वचिच्च खचराक्रीडैर्वनैरा-विष्कृतश्रियं ॥ २० ॥ क्वचिद्विरलनीलांशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशांकमडलाशकामातन्वान नभोजुषा ॥ २१ ॥ हरिन्मणिप्रभाजालैर्भाजालैश्च प्रभा-

"तीनों जगतके गुरु भगवान वृषभदेवकी सेवा शीघ्र ही आकर करो" इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक बुला रहा ही हो ॥ १५ ॥ जो फूले हुये फूलोंसे हँस रहेसे जान पडते हैं और जिनकी ऊंची ऊंची शाखाओंके ऊपरी भाग वायुके द्वारा हिल रहे हैं ऐसे किनारेके वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ १६ ॥ उसके किनारेपरसे जो झरने पड-रहे थे उनसे वह ऐसा जान पडता था मानों भगवानकी वंदना करनेकेलिये चारोंओरसे आते हुये भव्य जीवोंके समूहोंको अर्घ देनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ १७ ॥ उसके शिखरोंसे विदीर्ण हुये बादलोंके पटलोंसे जो पानी गिर रहा था उससे ऐसा जान पडता था मानों वह दावानलके डरसे ही अपने चारोंओरके लतावनोंको सींच रहा हो ॥ १८ ॥ जो स्फटिकमणिके सफेद पत्थरोंसे बने हुये हैं, जिन्होंने आकाश घेर रक्खा है और जो बहुत ऊंचे हैं ऐसे शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी गतिके फैलावको ही रोक रहा हो ॥ १९ ॥ जिनमें कहीं तो किन्नर जातिके देव क्रीडा कर रहे हैं कहीं पन्नग जातिके देव (नागकुमार) सेवा कर रहे हैं और कहीं विद्याधरलोग क्रीडा कर रहे हैं ऐसे अनेक बनोंसे उस पर्वतकी शोभा साफ प्रगट हो रही थी ॥ २० ॥ जहां कहीं स्फटिकमणिके पत्थरपर थोडी नीलमणियोंकी किरणें दूर दूर पड रहीं थीं वहां उस पर्वतपर विद्या-धरोंको चंद्रमंडलकी शंका उत्पन्न हो रही थी ॥ २१ ॥ कहीं कहींपर नीलमणियोंकी किरणोंके समू-

श्मना । काचिदिंद्रधनुर्लेखामालिखतं नभोगणे ॥ २२ ॥ पद्मरागांशुभिर्भिन्नैः स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तश्वेतवप्रांतं किलासिनमिव क्वचित् ॥ २३ ॥ क्वचिद्विश्लिष्टशैलेयपटलैर्बहुदद्रुणैः । मृगेंद्रनखरोल्लेखसहैर्गंडोपलैस्ततं ॥ २४ ॥ क्वचिद्गुहातराद्गुजन्मृगेंद्रप्रतिनादिनीः । तटीर्दधानमुद्भ्रमदैः परिहृता गजैः ॥ २५ ॥ क्वचित्सितोपलोत्सगचारिणीरमरागनाः । बिभ्राण शरदभ्रातर्वर्तिनीरिव विद्युतः ॥ २६ ॥ तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या परीत भूभृता पतिं । स्वमिवालघ्यमालोक्य चक्रपाणिरगान्मुद ॥ २७ ॥ गिरेरधस्तले दूराद्वाहनादिपरिच्छद । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥ २८ ॥ पद्मयामा-

---

होंसे तथा स्फटिकमणियोंके किरणसमूहोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों आकाशरूपी आंगनमें इंद्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो ॥ २२ ॥ कहींपर पद्मराग मणियोंकी लाल किरणोंसे मिलीहुई स्फटिकमणिकी सफेद किरणोंसे उसके किनारेका अंतिमभाग लाल और सफेद मिलेहुये रंगका होगया था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों उसे सिध्मरोग होगया हो ॥ २३ ॥ कहीं कहीं जिनपर गेरू हरताल आदि अनेक धातुओंके टुकडे टूटकर पडे हैं तथा जो सिंहोंके नखोंके घातको सहनेवाले हैं और इसलिये जो ऐसे जानपडते हैं मानों उनपर बहुतसा दाद हो गया हो (क्योंकि दादपर भी लाल पीली फुंसी उठी रहती हैं और नखोंका घात सहता है) ऐसे अनेक बडे २ पत्थरोंसे वह कैलाशपर्वत भर रहा था ॥ २४ ॥ कहीं कहींपर गुफाओंके भीतर गरजतेहुये सिंहोंकी प्रतिध्वनि जिनमें हो रही है और इसलिये ही मदोन्मत्त हाथियोंने भी जिन्हें छोड दिया है ऐसे अनेक किनारोंको वह पर्वत धारण करता था ॥ २५ ॥ कहीं कहींपर शरदऋतुके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिजलीके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको भी वह पर्वत धारण करता था ॥ २६ ॥ इसप्रकार अद्भुत शोभासहित भूभृत् अर्थात् पर्वतोंके स्वामी उस कैलाश पर्वतको अद्भुत शोभासहित और भूभृत् अर्थात् राजाओंके स्वामी ऐसे अपने समान अलंघ्य देखकर वह भरत चक्रवर्ती बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥ २७ ॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले भरतने पर्वतके नीचे

रोहतोऽस्याद्रिं नासीत्खेदो मनागपि । हितार्थिनां हि खेदाय नात्मनीनः क्रियाविधिः ॥ २९ ॥ आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिविनिर्मितैः । विविक्तैर्मणिसोपानैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥ ३० ॥ अधित्यकासु सोऽस्याद्रेः प्रस्थाय वनराजिषु । लम्भितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥ ३१ ॥ क्वचिदुत्फुल्लमदारवणवीथीविहारिणीः । विविक्तसुमनोभूषा सोऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥ क्वचिद्वनातसंसुप्तनिजशावानुशायिनीः । मृगीरपश्यदारब्धमृदुरोमन्थमन्थराः ॥३३॥ क्वचिन्निकुञ्जसंसुप्तान् बृहतः शयुपोतकान् । पुरीतन्निकरानद्रेरिवापश्यत्स पुञ्जितान् ॥ ३४ ॥ क्वचिद्गजमदामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददर्श हरिरारोपादुल्लिखन्नखराङ्कुरैः ॥ ३५ ॥ किंचिदन्तरमारुह्य पश्यन्नद्रेः परां श्रियं । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं स पुरोधसा ॥ ३६ ॥ पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहु-

---

दूरसे ही सवारी छत्र चमर आदि राज चिन्ह छोड दिये और वह स्वयं पैदल चलने लगा ॥ २८ ॥ पैदल ही पर्वतपर चढतेहुये इस भरतको कुछ भी खेद नहीं हुआ सो ठीक ही है क्योंकि आत्मकल्याण चाहनेवाले लोगोंको आत्माका हित करनेवालीं क्रियाओंके करनेसे कुछ भी खेद नहीं होता है ॥ २९ ॥ स्वर्गकी सीढियोंके समान देव कारीगरोंके द्वारा बनाईहुई अलग मणियोंकी सीढियोंके द्वारा वह भरत उस पर्वतपर चढनेलगा ॥ ३० ॥ चढते चढते वह पर्वतकी ऊपरकी भूमिपर पहुंचा और वहांकी बन पंक्तियोंमें बनकी शीतल वायुके द्वारा मानों उसने अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया ॥३१॥ वहांपर उसने कहीं तो फूलेहुये मंदारवृक्षके बनोंकी गलियोंमें विहार करनेवालीं तथा अलग अलग फूलोंके बनेहुये जिनके आभूषण हैं ऐसी अनेक वन देवताओंको देखा ॥ ३२ ॥ वहांपर उसने देखा कि कहींपर बनके भीतर सोतेहुये अपने बच्चोंके साथ लेटीहुई हिरणियां धीरे धीरे थोडा थोडा रोमंथ (रोंथ) कररही हैं ॥ ३३ ॥ कहींपर लतामंडपोंमें सोतेहुये बहुत लंबे और एकजगह इकट्ठेहुये अजगरके बच्चे इस पर्वतकी निकलीहुई अंताडियोंके समान पडेहुये हैं ॥ ३४ ॥ और कहींपर वह देखता है कि हाथियोंके मदके गंधसे सुगंधित हुये ऊपरसे पडे हुये बडे बडे पत्थरोंपर सिंह उन्हें हाथी समझ क्रोधित होकर अपने तीव्र नखोंका आघात कर रहे हैं ॥३५॥ भरत वहांसे आगे थोडी

विस्मयान् । रमंते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादराः ॥ ३७ ॥ पर्याप्तमेतदेवास्य प्राभवं भुवनातिगं । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरुः ॥ ३८ ॥ महाद्रिरयमुत्सगसंगिनीः सरिदंगनाः । शश्वद्बिभर्ति कामीव गलन्नीलजलांशुकाः ॥ ३९ ॥ क्रीडाहेतोरहिंस्रोऽपि मृगेंद्रो गिरिकंदरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्घ्यान्मुंचत्यपारयन् ॥ ४० ॥ सर्वद्वंद्वसहान्सार्वान् जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष धत्तेऽधिमेखलं ॥ ४१ ॥ हरीन्नखरानिर्भिन्नमदद्विरदम-

---

दूर और चढा और वहां उसपर्वतकी उत्कृष्ट शोभा देखने लगा, समय पाकर पुरोहित भी इसीसमय नीचे लिखे अनुसार बचन कहने लगा ॥ ३६ ॥ कि हे देव ! देखिये इस पर्वतके प्रदेश कैसे आश्चर्य करनेवाले हैं, देव लोग भी स्वर्गके निवाससे कुछ दुखी हो यहां आकर क्रीडा करते हैं ॥ ३७ ॥ तीनों जगतको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा कहना इतनी ही बहुत है कि चर अचर सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेव इस पर्वतपर विराजमान हैं ॥ ३८ ॥ यह कैलाश महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् तराइयोंमें रहनेवालीं और जिनके नीले जलरूपी वस्त्र छूटकर गिर रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामीपुरुषके समान सदा धारण करता है ॥ ३९ ॥ हे देव ! यद्यपि यह सिंह अहिंसक है, भगवानके प्रभावसे हिंसा नहीं करता है तथापि केवल क्रीडा करनेकेलिये इस पर्वतकी गुफामेंसे एक बडे भारी सर्पको खींच रहा है परंतु वह सर्प बहुत लंबा है इसलिये खींच न सकनेके कारण उसे छोड भी रहा है ॥ ४० ॥ यह पर्वत अपनी तलहटियोंमें मुनियोंके समान अनेक बनके प्रदेशोंको धारण करता है क्योंकि जिसप्रकार मुनि शीत उष्ण आदि सब उपद्रवोंको सहन करते हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी अनेक द्वंद्व अर्थात् पशुओंके स्त्री पुरुष रूप जोडोंको धारण करते हैं, मुनि जिसप्रकार सबका कल्याण करनेवाले हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी सबका कल्याण करनेवाले हैं, मुनि जिसप्रकार लोगोंका संताप दूर करते हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी सब लोगोंका संताप दूर करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥ शब्द करते हुये झरनोंसे यह पर्वत ऐसा जान पडता है मानों

स्तकान् । निर्झरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः ॥ ४२ ॥ धत्ते सानुचरान् भद्रानुच्चैर्वंशान् सुविग्रहान् । वनद्विपानयं शैलो भवानिव महीभुजः ॥४३॥ ध्वनतो वनसंघातान् शरभा रभसादमी । द्विरदाशंकयोत्पत्य पततो यान्ति शोच्यताम् ॥ ४४ ॥ कपोलकाषसंलग्नत्वचो मदजलाविलाः । द्विपानां वनसंभोगं सूचयन्तीह शाखिनः ॥४५॥ शाखामृगा मृगेंद्राणां गर्जितैरिह तर्जिताः । पुंजीभूता निकुंजेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥ मुनींद्रपाठनिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनं । तृणाग्रकवलग्रासिकुरंगकुलसंकुलं ॥ ४७ ॥ इतश्च हरिणारातिकठोरारवभीषणं । विमुक्तकवलच्छेदि प्रपलायितकुंजरं ॥ ४८ ॥ जरज्जरतशृंगाग्र-

---

जिन्होंने अपने तीव्र नखोंसे मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तकोंको फाडदिया है ऐसे सिंहोंको पापके डरसे ही क्या मानों शब्द करते हुये अपने झरनोंके द्वारा तर्जना ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार आप सेवकोंसहित, भद्र, अच्छे कुलमें उत्पन्न होनेवाले और जिनके अच्छे शरीर हैं ऐसे अनेक राजाओंको धारण करते हैं अर्थात् अनेक राजा आपके वश हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोंपर रहनेवाले, भद्र जातिके अर्थात् जिनके मस्तकमें मोती होते हैं, उच्चैर्वंश अर्थात् जिनकी पीठकी रीढ वहुत ऊंची है और जिनका शरीर वहुत अच्छा है ऐसे अनेक जंगली हाथियोंको धारण करता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! इधर देखिये ये अष्टापद गरजते हुये वादलोंको हाथी समझकर उनपर वडी शीघ्रतासे उछलकर चोट करना चाहते हैं परंतु फिर नीचे पडकर वडा ही शोक करते हैं ॥ ४४ ॥ कपोलोंके घिसनेसे जिनकी छाल कुछ घिस गई है और जिनपर मदका जल पडा हुआ है ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीडाको साफ प्रगट कर रहे हैं ॥ ४५ ॥ ये हिरण सिंहोंकी गरजनासे भयभीत होकर डरसे लतावनोंमें इकट्ठे होकर वैठे हैं इन्हें भी देखिये ॥ ४६ ॥ यह वन इधर मुनियोंके पाठ करनेके शब्दोंसे वहुत ही मनोहर हो रहा है और इधर ऊपर ऊपरकी घास खानेवाले हिरणोंके समूहसे भर रहा है ॥ ४७ ॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयानक हो रहा है और यहांसे हाथियोंके समूह अपना खाना पीना छोडकर तथा अपने झुंडसे अलग होकर इधर उधर

क्षतवल्मीकरोधसः । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः ॥ ४९ ॥ मृगैः प्रविष्टवेशतैर्वंशस्तंबोपगैर्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रांत वनमेतद्भयानक ॥५०॥ वनप्रवेशिभिर्नित्य नित्यं स्थंडिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्रींद्रो मृगैर्मुनिगणैरपि ॥ ५१ ॥ इति प्रशांतो रौद्रश्च सदैवाऽय धराधरः । सन्निधानाज्जिनेंद्रस्य शांत एवाधुना पुनः ॥ ५२ ॥ गजैः पश्य मृगेंद्राणा सँवासमिह कानने । नखरक्षतमार्गेषु स्वैरमास्पृशतामिभान् ॥ ५३ ॥ चारणाध्युषितानेते गुहोत्सगानशंकिताः । विशंत्यनुगताः शावैः पाकसत्त्वैः सम मृगाः ॥ ५४ ॥ अहो ! परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयात मुनींद्राणामज्ञातभयसंपदा ॥ ५५ ॥ सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो मृगैरन्वर्थनामाभिः । पुनरष्टापदख्यातिं पुरैति त्वदुपक्रम ॥ ५६ ॥ स्फुरन्मणितटोपांत तारकाचक्रमापतत् । न

भाग रहे हैं ॥ ४८ ॥ इधर वृद्ध जंगली भैंसाके सींगोंकी नोकसे वामीके (सांपोंके निवासस्थानके) किनारे तोड दिये गये हैं और इधर सूअरोंने छोटे छोटे तलावोंको खोद डाला है जिनसे ये वनके प्रदेश बहुत ही अच्छे जान पडते हैं ॥ ४९ ॥ हिरण छोटे छोटे तलावोंमें घुस गये हैं, हाथी वांसोंके खंबोंके समीप छिपगये हैं इनसे जान पडता है कि सिंहके द्वारा आक्रमण कियाहुआ यह वन बहुत ही भयानक है ॥ ५० ॥ सदा बनमें प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले ऐसे हिरण और मुनिलोग इस महापर्वतको कभी नहीं छोडते हैं ॥ ५१ ॥ इसप्रकार यह पर्वत सदा शांत रहता है और सदा ही भयानक रहता है परंतु इससमय श्रीजिनेंद्रदेवके समीप विराजमान रहनेसे यह बिलकुल ही शांत होगया है ॥ ५२ ॥ इधर देखिये इससमय श्रीजिनेंद्रदेवके यहां विराजमान रहनेसे सिंह हाथियोंके साथ रहते हैं तथा वे हाथियोंके मस्तकपर अपने नखोंसे कियेहुये घावोंको इच्छानुसार स्पर्शकर रहे हैं ॥ ५३ ॥ बच्चे जिनके पीछे पीछे चल रहे हैं ऐसे हिरण सिंह बाघ आदि क्रूर पशुओंके साथ २ जिनमें चारणमुनि निवास करते हैं ऐसी गुफाओंमें निडर होकर प्रवेश करते हैं ॥ ५४ ॥ अहा ! यह भी एक बडा आश्चर्य है कि अनेक पशुओंके समूह निर्भय होकर जिन्हें बनका भय और शोभा कुछ भी मालूम नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे पीछे फिर रहे हैं ॥ ५५ ॥ सार्थक नामको धारण

याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिरछन्नमंडल ॥ ५७ ॥ ज्वलत्यौषधिजालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नरः । तमोविशंकयाऽस्याद्रेरिंद्रनीलमयीस्तटी' ॥ ५८ ॥ हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानत्र भूधरे । तृणांकुरधियोपेत्य मृगा याति विलक्ष्यतां ॥ ५९ ॥ सरोजरागरत्नांशुच्छुरिता वनराजय. । तताः सध्यातपेनेव पुष्णतीह परा श्रियं ॥ ६० ॥ सूर्यांशुभिः परामृष्टाः सूर्यकाता ज्वलंत्यमी । प्रायस्तेजस्विसपर्कस्तेज' पुष्णाति तादृश ॥ ६१ ॥ इहेंदुकरसस्पर्शात्प्रक्षरतोऽप्यनुक्षप । चद्रकाता न हीयते विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥ सुराणामभिगम्यत्वात्सिंहासनपरिग्रहात् । महत्वादचलत्वाच्च गिरिरेष जिनायते ॥६३॥

करनेवाले अष्टापद [जिनके ऊपर पीठपर चार और नीचे चार ऐसे आठ पैर होते हैं] नामके पशुओंसे यह पर्वत आपके चढनेके वाद अष्टापद नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ५६ ॥ जिनपर दैदीप्यमान मणियां लग रही हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप देशमें उन मणियोंकी कांतिसे जिनका मंडल (प्रभामंडल) छिपगया है ऐसा लगाहुआ नक्षत्रोंका समूह साफ प्रगट नहीं होता है ॥ ५७ ॥ यद्यपि यहां रात्रिमें औषधियोंका समूह दीपकके समान प्रकाशमान रहता है तथापि इंद्रनीलमणियोंके वनेहुये इस पर्वतके किनारोंपर अंधकारकी शंका करतेहुये किन्नर जातिके देव नहीं आ पाते हैं ॥ ५८ ॥ इस पर्वतपर नीलमणियोंके वनेहुये किनारोंकी फैलतीहुई किरणोंको हरी घासके अंकूरे समझकर हरिण वहां आते हैं और फिर घास न पाकर वडा ही आश्चर्य करते हैं ॥ ५९ ॥ पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे सुशोभित वन पंक्तियां ऐसी अच्छी शोभा धारण करती हैं मानों सायंकालकी थोडी थोडी लाल धूप ही उनपर फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्य कांतमणि सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्राय तेजस्वी पदार्थका संवंध प्रकाशमान पदार्थको और भी प्रकाशित कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर इन चंद्रकांत मणियोंसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्श होनेपर प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये मणियां कुछ भी कम नहीं होतीं सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव वहुत ही विचित्र अर्थात् आश्चर्य करनेवाला है ॥६२॥ हे देव ! यह कैलाशपर्वत ठीक श्रीजिनेंद्रदेवके समान जान पडता है क्योंकि जिसप्र-

शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥ ६४ ॥ इति शंसति तस्याद्रेः परां शोभा पुरोधसि । शसादभूत इवानंद परं प्राप परंतपः ॥ ६५ ॥ किंचिच्चातरमुल्लंघ्य प्रसन्नेनांतरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवरः ॥ ६६ ॥ निपतत्पुष्पवर्षेण दुंदुभीनां च निःस्वनैः । विदांबभूव लोकेशमभ्यासक्कृतसन्निधिं ॥ ६७ ॥ मंदारकुसुमोद्गंधिरादोलितलतावनः । पवनस्तमभीयाय प्रत्युद्यन्निव पावनः ॥ ६८ ॥ सुमनोवृष्टिरापप्तदापूरितनभोगणा । विरजीकृतभूलोकैः सम शीतैरपां कणैः ॥ ६९ ॥ शुश्रुवे ध्वनिरामंद्रो दुंदुभीनां नभोंगणे । श्रुतः केकिभिरुद्ग्रीवैर्घन-

---

कार श्रीजिनेंद्रदेवके समीप देव आते हैं उसीप्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसीप्रकार इस पर्वतने भी सिंह और आसन अर्थात् सेंजनाके वृक्ष स्वीकार किये है अर्थात् इसपर सिंह भी बहुत हैं और सेंजनाके वृक्ष भी वहुत हैं, तथा श्रीजिनेंद्रदेव जिसप्रकार सबसे वडे हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी वडा है और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्र अचल हैं स्थिर हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अचल है ॥ ६३ ॥ हे प्रभो ! जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकमणिके समान निर्मल है ऐसा शुद्ध आत्माके समान यह महापर्वत आपका कल्याण करनेवाला हो ॥ ६४ ॥ इसप्रकार उस पुरोहितने जब उस पर्वतकी वडी भारी शोभा वर्णन की तव वह शत्रुओंको त्रास देनेवाला भरत ऐसे उत्तम आनंदको प्राप्त हुआ मानों वह सुखमय ही हो गया हो ॥६५॥ जाननेवालोंमें भी उत्तम ज्ञानी वह भरत प्रसन्नचित्त होकर कुछ आगे बढा और वहांपर समीप ही श्रीजिनेंद्रदेवका समवसरण उसे जान पडा ॥ ६६ ॥ ऊपरसे पडतीहुई पुष्पोंकी वर्षासे और दुंदुभियोंके गंभीर शब्दोंसे उसने समझलिया कि श्रीजिनेंद्रदेव अब समीप ही विराजमान है ॥ ६७ ॥ जो मंदार वृक्षोंके फूलोंसे सुगंधित हो रहा है और जो लताओंके बनको हिला रहा है ऐसा पवित्र वायु महाराज भरतके सामने इसप्रकार आया मानों उठकर भरतका आदर सत्कार ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथ्वीमंडल सब धूलरहित कर दिया है ऐसी शीतल जलकी बूंदोंके साथ साथ आकाशरूपी

स्तनितशङ्किभिः ॥ ७० ॥ गुल्फदघ्नप्रसूनौघसम्मर्दमृदुना पथा । तमद्रिमश्रमश्रान्तः प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥ ७१ ॥ ततोऽधिरुह्य तं शैलमपश्यत्सोऽस्य मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥ ७२ ॥ समेत्यावसरापेक्षाः तिष्ठन्त्यस्मिन्सुरासुराः । इति तज्ज्ञैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिकम् ॥ ७३ ॥ आखण्डलधनुर्लेखामखण्डपरिमण्डलाम् । जनयन्तं निजोद्योतैर्धूलीसालमथासदत् ॥ ७४ ॥ हेमस्तम्भाग्रविन्यस्तरत्नतोरणभासुरम् । धूलीसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥ ७५ ॥ मानस्तम्भस्य पर्यन्तसरसीः ससरोरुहाः । जैनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीतलापो ददर्श सः ॥ ७६ ॥ धूलीसालपरिक्षेपस्यान्तर्भागे समन्ततः ।

आंगनको भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा पड रही थी ॥ ६९ ॥ जिन्हें मयूरोंके समूह बादलोंकी गरजना समझकर अपनी गर्दन ऊंचीकर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आंगनमें दुंदुभियोंके गंभीर शब्द भी महाराज भरतने सुने ॥ ७० ॥ सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसा वह भरत एडीके ऊपरकी गांठतक फूलोंके समूह फैलनेसे जो बहुत ही कोमल हो रहा है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बचे हुये पर्वतपर चढगया ॥ ७१ ॥ तदनंतर उस कैलाश पर्वतपर चढकर भरतने उसके मस्तकपर पहिले जिसका वर्णन कर चुके हैं ऐसा समवसरण देखा ॥ ७२ ॥ इसमें वैमानिक भवनवासी आदि सब देव आकर दिव्यध्वनिके समयकी वाट देखते हुये बैठते हैं इसलिये इसे गणधरादिदेव समवसरण इस नामसे वर्णन करते हैं ॥ ७३ ॥

अथानंतर—जो अपने प्रकाशसे संपूर्ण अखंड मंडलसाहित इंद्रधनुषकी रेखा उत्पन्न कर रहा है ऐसे धूलीसालके समीप वह भरतेश्वर जा पहुंचा ॥ ७४ ॥ सुवर्णके खंबोंके ऊपर रक्खे हुये रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यंत प्रकाशित हो रहा है ऐसे धूलीसालको उलंघनकर भरतने मानस्तंभकी पूजा की ॥ ७५ ॥ वहांपर उसने स्वच्छ और शीतल जल जिनमें भराहुआ है और कमल जिनमें फूल रहे हैं ऐसी जिनेंद्रदेवकी वाणीके समान मानस्तंभके चारोंओरकी बावडियां देखीं ॥ ७६ ॥ धूलीसालके परकोटाके भीतर चारोंओर गलियोंके बीचमें उसने देवोंके निवास करने योग्य पृथ्वी भी देखी ॥७७॥

वीथ्यंतरेषु सोऽपश्यद्देवावासोचिता भुवः ॥ ७७ ॥ अतीत्य परतः किंचिद्ददर्श जलखातिकां । सुप्रसन्नामगाधां च मनोवृत्ति सतामिव ॥ ७८ ॥ वल्लीवनं ततोऽद्राक्षीन्नानापुष्पलताततं । पुष्पासवरसामत्तभ्रमद्भ्रमरसंकुलं ॥ ७९ ॥ ततः किंचित्पुरो गच्छन्सालमाद्यं व्यलोकत । निषधाद्रितटस्पर्धिवपुषं रत्नभाजुषं ॥ ८० ॥ सुरदौवारिकारक्ष्यतत्प्रतोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मंगलद्रव्यभेदाँस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥ ८१ ॥ ततोंतः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्रस्त्रीनर्तनोचितं ॥ ८२ ॥ स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीथ्युभयातयोः । सुगंधीधनसदोहोद्गाधिधूपं व्यलोकयत् ॥ ८३ ॥ कक्षांतरे द्वितीयेऽस्मिन्नसौ वनचतुष्टयं । निदध्यौ विगलत्पुष्पैः कृतार्घमिव शाखिभिः ॥ ८४ ॥ प्रफुल्लवनमाशोकं साप्तपर्णं च चापकं । आम्रेडितवनं

भीतरकी ओर कुछ और आगे चलकर उसने जलकी खाई देखी, वह खाई सज्जनोंके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और अगाध [गहरी] थी ॥ ७८ ॥ तदनंतर उसने अनेकतरहके पुष्प और लताओंसे भरेहुये तथा फूलोंके मधुके रससे उन्मत्त होकर चारोंओर फिरते हुये भ्रमरोंसे व्याप्त ऐसे लतावन देखे ॥ ७९ ॥ उसके बाद कुछ और आगे चलकर जो निषध पर्वतके किनारेकी स्पर्धा करनेवाला है और रत्नोंकी कांतिके समान जिसकी कांति है ऐसा पहिला कोट देखा ॥ ८० ॥ द्वारपालका काम करते हुये देव लोग जिनकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे उस कोटके छज्जोंपर रक्खे हुये आठप्रकारके अलग अलग मंगलद्रव्योंको भी उसने देखा ॥ ८१ ॥ कोटके भीतर प्रवेशकर इंद्रानीके नृत्य करने योग्य ऐसी दोनों ओरकी दोनों नाट्यशालाओंको देखकर वह चक्रवर्ती वहुत ही संतुष्ट हुआ ॥८२॥ कुछ आगे चलकर रास्तेके बगलमें दोनोंओर रक्खेहुये तथा सुगंधित लकडीके समुदायसे जिनमेंका धूम निकलकर चारोंओर फैल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥ ८३ ॥ तदनंतर कुछ और आगे चलकर दो दो मार्गोंके बीचमें उसने चार बन देखे, वे बन ऐसे जान पडते थे मानों जिनसे फूल खिर रहे हैं ऐसे वृक्षोंके द्वारा अर्घ ही दे रहे हों ॥८४॥ फूले हुये अशोक वृक्षोंका वन, सप्तपर्ण वृक्षोंका बन, चंपाका बन और आमोंका मनोहर बन देखकर भरतका आनंद भी दूना होगया ॥ ८५ ॥

प्रेक्ष्य सोऽभूदाम्रेडितोत्सवः ॥ ८५ ॥ तत्र चैत्यद्रुमॉस्तुंगान् जिनबिंबैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान्पूजितान्नृसुरेशिना ॥ ८६ ॥ तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामंद्रमूर्च्छनैः । लेभे परां धृतिं चक्री गायतीनां जिनोत्सवं ॥ ८७ ॥ सुगंधिपवनामोदनिःश्वासा कुसुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलालापैः संजजल्पेव चक्रिणा ॥ ८८ ॥ भृंगीसंगीतसमूर्च्छत्कोकिलानकनिस्स्वनैः । अनगविजयं जिष्णोर्वनानीवोदघोषयन् ॥ ८९ ॥ त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरभसोत्थितं । तत्राश्रृणोन्महाघोषमपां घोषमिवोदधेः ॥ ९० ॥ वनवेदीमथापश्यद्वनरुद्धावने. परं । वनराजीविलासिन्याः कांचीमिव कणन्मणीं ॥ ९१ ॥ तद्गोपुरावनिं

श्रीमान् महाराज भरतने उन बनोंमें जिनके नीचे जिनबिंब विराजमान हैं इंद्र नरेंद्र आदि सब जिनकी पूजा करते हैं और जो बहुत ऊंचे हैं ऐसे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥ ८६ ॥ वहांपर जो किन्नर जातिकी देवियां भगवानका उत्सव गा रही थीं उनके गंभीर तानवाले गीतोंसे भरतको बहुत ही संतोष हुआ ॥ ८७ ॥ सुगंधित वायुकी सुगंध ही जिसका निश्वास है और फूले हुये फूल ही जिसका हास्य है ऐसी वह बनकी शोभा कोइलोंके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पडती थी मानों भरत चक्रवर्तीके साथ बात चीत ही कर रही हो ॥ ८८ ॥ वे सब बन भ्रमरियोंके गुंजार शब्दोंसे मिले हुये कोकिलारूपी नगाडोंके शब्दोंसे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानने जो कामदेव जीतलिया है उसके जीतकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ८९ ॥ वहांपर तीनों लोकोंके जनसमूह जो निरंतर प्रवेश कर रहे थे उनके प्रवेश करनेकी जल्दीसे उत्पन्नहुआ समुद्रकी महा गर्जनाके समान जो बडा भारी कोलाहल हो रहा था वह भी भरतको सुनाई दिया ॥ ९० ॥ तदनंतर उस बनको रोकनेवाली पृथ्वीके आगे उसने बनपंक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमय करधनीके समान मणियोंसे जडीहुई बनकी वेदी देखी ॥ ९१ ॥ उस वेदीके बाहरकी भूमि उलंघनकर उस चक्रबर्तीने ध्वजाओंसे भरीहुई पृथ्वी देखी वह पृथ्वी उससमय ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा हिलतेहुये ध्वजाओंके वस्त्रोंसे उसे बुलारही ही हो ॥ ९२ ॥ जहांपर यज्ञभूमिके समान फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाश भर

क्रांत्वा ध्वजरुद्वावनिं सुराट् । आशुहूतुमिवाऽपश्यन्मरुध्दूतैर्ध्वजांशुकैः ॥ ९२ ॥ सावनिः सावनीवोद्यत्ध्वजमालाततांबरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराजजयोर्जिता ॥ ९३ ॥ केतवो हरिवस्त्राब्जबर्हिणेभगरुत्मनां । स्रगुक्षहंसचक्राणां दशधोक्ता जिनेशिनः ॥ ९४ ॥ तानेकशः शतं चाष्टौ ध्वजान्प्रातिदिशं स्थितान् । वरिवस्यन्नगाच्चक्री स तद्दुद्वावने. परं ॥ ९५ ॥ द्वितीयमार्जुन साल सगोपुरचतुष्टय । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालादि पूर्ववत् ॥ ९६ ॥ तत्र पश्यन्सुरस्त्रीणा नृत्य गीत निशामयन् । धूपामोदं च सजिघ्रन्सुप्रीताक्षोऽभवद्विभुः ॥ ९७ ॥ कक्षांतरे ततस्तास्मिन्कल्पवृक्षवनावनिं । स्रग्वस्त्राभरणादीष्टफलदां स प्ररूपयत् ॥ ९८ ॥ सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धबिंबैरधिष्ठितान् । परीत्य प्रणमन्प्रार्चीदर्चितान्नाकिनायकैः ॥ ९९ ॥ वनवेदीं ततोऽतीत्य

रहा है और जो श्रीजिनेंद्रदेवके विजयसे प्रगट हुई है ऐसी वह ध्वजाभूमि चक्र और हाथियोंके चिन्होंसे सुशोभित बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ९३ ॥ वे जिनेंद्रदेवकी ध्वजायें सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड, पुष्पमाला, बैल, हंस और चक्र इन चिन्होंके भेदसे दशप्रकारकी थीं ॥९४॥ प्रत्येक दिशामें एक एक प्रकारकी एकसौ आठ ध्वजायें फहरा रहीं थीं, उन ध्वजाओंकी पूजा करता हुआ वह चक्रवर्ती उन ध्वजाओंसे घिरीहुई भूमिको उलंघनकर आगे गया ॥ ९५ ॥ आगे चलकर उसने चार बडे बडे दरवाजोंसहित चांदीका बनाहुआ दूसरा कोट देखा, उसे उलंघनकर उसके सामने ही पहिलेके समान नाट्यशाला आदि देखीं ॥ ९६ ॥ वहांपर उसने देवियोंका नृत्य देखा, उनके गीत सुने और धूपकी सुगंध सूंघी, इन सब बातोंसे महाराज भरतकी इंद्रियां बहुत ही संतुष्ट हुई ॥ ९७ ॥ आगे चलकर उसी मार्गमें उसने पुष्पमाला वस्त्र आभरण आदि इष्टफल देनेवाली कल्पवृक्षोंकी वनभूमि देखी ॥ ९८ ॥ वहांपर उसने जिनपर सिद्धोंकी प्रतिमा विराजमान हैं और इंद्र भी आकर जिनकी पूजा करते हैं ऐसे सिद्धार्थ वृक्षोंकी प्रदक्षिणा दी, प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ कल्पवृक्षोंके बनकी वेदीको उलंघनकर महाराज भरतने चार बडे दरवाजोंसे सुशोभित ऐसी बडे वडे मकानोंसे घिरीहुई पृथ्वी देखी तथा साथ ही साथ स्तूप भी देखे ॥ १०० ॥ देवोंके निवास करनेके

चतुर्गोपुरमंटना । प्रासादरुद्धामवनीं स्तूपाँश्च प्रभूरैक्षत ॥ १०० ॥ प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुष्पचभूम्याद्या नानाच्छदैरल-कृता ॥ १०१ ॥ स्तूपाश्च रत्ननिर्माणा, सांतरा रत्नतोरणैः । समताजिनाबिम्बैस्ते निचितागाश्चकाशिरे ॥ १०२ ॥ तान्पश्यन्नर्चयँस्ताँश्च ताँश्च ताँश्च स कीर्तयन् । ता च कक्षा व्यतीयाय विस्मय परमीयिवान् ॥ १०३ ॥ नभःस्फटिकनिर्माण प्राकारवलय ततः । प्रत्यासत्तेर्जिनस्येव लब्धशुद्धिं ददर्श सः ॥ १०४ ॥ तत्र कल्पोपगैर्देवैर्महादौवारपालकैः । सादर सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश सभा विभोः ॥ १०५ ॥ समताद्योजनायामविष्कंभपरिमंडल । श्रीमडप जगद्विश्वमपश्यन्मातमात्मनि ॥ १०६ ॥ तत्रापश्यन्मुनीनिद्धबोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्यिका नृपकाताश्च जोतिर्वन्योरगामरीः ॥ १०७ ॥

लिये रचना कियेहुये वे मकान तिखने चौखने पंचखने आदि कितने ही प्रकारके थे तथा वे स्वस्तिक सर्वतोभद्र नंद्यावर्त आदि अनेक तरहसे बनाये गये थे ॥ १०१ ॥ स्तूप भी रत्नोंके बनेहुये थे रत्नोंके बनेहुये तोरणोंसे परस्पर मिलेहुये थे और चारोंओर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें उनपर विराजमान थीं, इसप्रकार वे बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १०२ ॥ उन स्तूपोंको देखतेहुये, उनकी पूजा करते हुये और उन सब तोरणोंका वर्णन करतेहुये भरतको बहुत ही आश्चर्य हुआ, और फिर उसने उस मार्गको भी व्यतीत किया ॥ १०३ ॥ आगे चलकर उसने आकाशके समान स्फटिकमणिका बना-हुआ तीसरा कोट देखा वह कोट ऐसा जान पडता था मानों श्रीजिनेंद्रदेवके समीप होनेसे उसे विशुद्धि ही प्राप्त हो गई हो ॥ १०४ ॥ उस कोटके दरवाजेपर कल्पवासी जातिके देव महाद्वारपाल बनेहुये बैठे थे, उनसे सादर आज्ञा लेकर भरतने श्रीजिनेंद्रदेवकी सभामें प्रवेश किया ॥ १०५ ॥ वहांपर उसने चारोंओरसे एक योजन लंबा एक योजन चौडा, गोल तथा जो अपने भीतर समस्त जगतको बिठा सकता है अर्थात् तीनों जगतके प्राणी जिसमें बैठ सकते हैं ऐसा श्रीमंडप देखा ॥१०६॥ वहांपर उसने भगवानके चरणकमलोंके दर्शन करनेसे उत्पन्नहुये प्रेमसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठेहुये अतिशयज्ञानी मुनि १ कल्पवासिनी देवियां २ अर्जिका सहित महारानी आदि

भावनव्यंतरज्योतिःकल्पेंद्रान्पार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥ १०८ ॥ गणानितिक्रमात्पश्यन्परीयाय परंतपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमा मेखलां श्रितः ॥ १०९ ॥ तत्रानर्च मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टय । यक्षेंद्रैर्विधृत मूर्ध्नां त्र्यध्नबिंबानुकारि यत् ॥ ११० ॥ द्वितीयमेखलायां च प्रार्चदष्टौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपंचास्यस्रग्वस्त्रगरुडांकितान् ॥ १११ ॥ मेखलाया तृतीयस्यामयैक्षिष्ट जगद्गुरु । वृषभं स कृती यस्या श्रीमद्गंधकुटी स्थिता ॥ ११२ ॥ तद्गर्भे रत्नसदर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृंग इवोत्तुंगे सुनिविष्टं महातनु ॥ ११३ ॥ छत्रत्रयकृतच्छायमप्यच्छायमघाच्छिदं ।

स्त्रियां ३ ज्योतिषी देवोंकी देवियां ४ व्यंतरदेवोंकी देवियां ५ भवनवासीदेवोंकी देवियां ६ भवनवासीदेव ७ व्यंतरदेव ८ ज्योतिषीदेव ९ कल्पवासीदेव १० महाराज आदि मनुष्य ११ और सिंह आदि पशु १२ ऐसे बारह संघ देखे, इन्हें देखकर महाराज भरतने पहिली कटनीका आश्रय लेकर तीन कटनीदार उस सिंहासनकी प्रदक्षिणा दी ॥ १०७-१०९ ॥ वहांपर चक्रवर्तीने प्रसन्न होकर जो सूर्यके बिंबका अनुकरण कर रहे हैं और जिन्हें यक्षोंके इंद्रोंने अपने मस्तकोंपर धारण कर रक्खा है ऐसे चारों धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥ ११० ॥ दूसरी कटनीपर उसने चक्र, हाथी, बैल, कमल सिंह, पुष्पमाला, वस्त्र और गरुड इन आठ चिन्होंसे शोभायमान आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥ १११ ॥ तदनंतर विद्वान उस चक्रवर्तीने जिसपर अतिशय शोभायुक्त गंधकुटी विराजमान है उस तीसरी कटनीपर जगतगुरु भगवान वृषभदेवको देखा ॥ ११२ ॥ उस गंधकुटीके भीतर महाराज भरतने श्रीवृषभदेव भगवानको देखा वे भगवान रत्नोंकी बनावटसे बहुत सुंदर और मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊंचे ऐसे सिंहासनपर विराजमान थे, उनका शरीर बहुत बडा था ॥ ११३ ॥ तीन छत्र उनपर छाया कर रहे थे, परंतु भगवान छायारहित थे अर्थात् उनकी छाया नहीं पडती थी, वे पापोंके नाश करनेवाले थे और अपने प्रभामंडलसे उन्होंने मनुष्य कल्पवासी भवनवासी आदि सब जीवोंके मंडपको आच्छादन कर रक्खा था ॥ ११४ ॥ उनके समीप जो अशोक वृक्ष था उससे वे अपने चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले

स्वतेजोमंडलाक्रातनृसुरासुरमंडलं ॥ ११४ ॥ अशोकशाखिचिन्हेन व्यंजयंतमिवाजसा । स्वपादाश्रयिणा शोकनिरासे शक्तिमात्मनः ॥ ११५ ॥ चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यंतं कातविग्रह । रुक्माद्रिमिव वप्रातपतन्निर्झरसकुल ॥ ११६ ॥ तेजसा चक्रवालेन स्फुरता परितो वृत । परिवेषवृतस्यार्कमंडलस्यानुकारक ॥ ११७ ॥ वियद्दुंदुभिभिर्मंद्रघोषैरुद्धोपितोदय । सुमनोवर्षिभिर्दिव्यजीमूतैरूर्जितश्रयं ॥ ११८ ॥ स्फुरद्गंभीरनिर्घोपप्रीणितत्रिजगत्सभ । प्रावृपेण्यं पयोवाहमिव धर्मांबुवर्षिणं ॥ ११९ ॥ नानाभाषात्मिका दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयंतमयत्नेन हृद्धांत नुदतीं नृणा ॥ १२० ॥ अमेयवीर्यमाहा-

---

जीवोंका शोक दूर करनेकी अपनी शक्तिको बहुत शीघ्र प्रगट कर रहे थे ॥ ११५ ॥ ढुलतेहुये चमरों से जिसके चारोंओरका भाग व्याप्त हो रहा है इसप्रकारका उनका वह मनोहर शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों शिखरके किनारोंसे पडतेहुये झरनोंसे व्याप्त सुमेरुपर्वत ही हो ॥ ११६ ॥ दैदीप्यमान प्रभामंडलसे चारोंओर घिरेहुये वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों जिसके चारोंओर गोलमंडल लग रहा है ऐसे सूर्यमंडलका अनुकरण ही कर रहे हों ॥ ११७ ॥ गंभीर शब्द करनेवाले ऐसे आकाशमें बजतेहुये दुंदुभियोंसे उनका माहात्म्य प्रगट हो रहा था, तथा पुष्पोंकी वर्षा करनेवाले देवरूप मेघोंसे उनकी शोभा सबसे उत्कृष्ट हो रही थी ॥ ११८ ॥ वे भगवान चारोंओर फैलतेहुये गंभीर शब्दोंके द्वारा अर्थात् दिव्यध्वनिके द्वारा तीनों लोकोंके जीवोंकी सभाको तृप्त करते हुये वर्षाऋतुके मेघोंके समान धर्मरूपी जलकी वर्षा कर रहे थे ॥११९॥ उनकी दिव्यध्वनि यद्यपि एक थी तथापि वे उसे जीवोंके हृदयका अंधकार दूर करनेवाली अनेक भाषारूपसे फैला रहे थे ॥ १२० ॥ वे अनंतवीर्यको धारण करते थे, वस्त्र आभरण रहित होनेपर भी अतिशय सुंदर थे, उनकी वाणीकी विभूति बहुत ही अच्छी थी, शरीरसे सुगंध फैल रही थी और उनके सब लक्षण शुभ थे ॥ १२१ ॥ उनके शरीरपर पसीना नहीं आता था, किसीतरहका मल नहीं था, उसकी छाया नहीं पडती थी, आंखोंकी पलक न लगनेसे वह बहुत ही सुंदर था, समचतुरस्र नामका

यैविरहेप्यतिसुंदरं । सुवाग्विभवमुत्सर्पत्सौरभं शुभलक्षण ॥ १२१ ॥ अस्वेदमलमच्छायमपक्ष्मस्पंदबंधुरं । सुसंस्थानमभेद्यं च दधानं वपुरूर्जितं ॥१२२॥ इत्यप्रतर्क्यमाहात्म्य दूरादालोकयन् जिन । प्रह्वोऽभूत्स महीपृष्ठजानुरानदनिर्भरः ॥ १२३ ॥ दूरानतचलन्मौलिरालोलमणिकुडल । स रेजे प्रणमन्भक्त्या जिन रत्नैरिवार्घयन् ॥ १२४ ॥ ततो विधिवदानर्चे जलगंधस्रगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्सया ॥ १२५ ॥ कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेष्ठिनं । स्तोतु स्तुतिभिरत्युच्चैरारेभे भरताधिपः ॥ १२६ ॥ त्वांस्तोष्ये परमात्मानमपारगुणमच्युतं । चोदितोऽहं बलाद्भक्त्या शक्त्या मदोऽप्यम

सुंदर संस्थान था, बहुत दैदीप्यमान था और कभी छिद् भिद् नहीं सकता था, ऐसे शरीरको वे भगवान धारण किये हुये थे ॥ १२२ ॥ इसप्रकार जिनका अकथनीय माहात्म्य है ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवको दूरसे ही देखता हुआ भरत चक्रवर्ती आनंदमें डूब गया तथा उसने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर भगवानको नमस्कार किया ॥ १२३ ॥ दूरसे ही नम्र होनेसे जिसका मुकुट कुछ हिल रहा है मणियोंके बने हुये कुंडल चंचल हो रहे हैं ऐसा भक्ति पूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवको प्रणाम करता हुआ वह चक्रवर्ती रत्नोंके द्वारा अर्घ देते हुये के समान सुशोभित हो रहा था ॥ १२४ ॥ तदनंतर उसने मोक्ष फल प्राप्त होनेकी इच्छासे जल, चंदन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे विधिपूर्वक भगवानकी पूजा की ॥ १२५ ॥ पूजाकी विधि समाप्तकर उसने परमेष्ठी भगवान वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर उस भरतेश्वरने अच्छे अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ १२६ ॥ हे भगवन् ! आप परमात्मा हैं, घातियाकर्म नष्ट होनेसे आपमें अनंत गुण प्रगट हुये हैं, आप अविनश्वर हैं तथा मैं शक्तिसे अत्यंत हीन हूं अर्थात् स्तुति करने अयोग्य हूं तथापि (बडी भारी) भक्तिके द्वारा जबर्दस्ती प्रेरणा किया हुआ मैं आपकी स्तुति करता हूं ॥ १२७ ॥ हे देव ! कहां तो गणधरदेव भी जिनकी संख्या नहीं कर सकते ऐसे आपके अनंत गुण ? और कहां मेरे ऐसा मंदबुद्धि ? तथापि आपके गुणोंके वशीभूत ऐसी भक्तिसे ही आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न

देया ॥ १२७ ॥ क्व ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगम्या क्व मादृशः । तथापि प्रभवे स्तोतु भक्त्या त्वद्गुणानिमया ॥ १२८ ॥ फलाय त्वद्गता भक्तिरनल्पाय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्प्रपुष्णाति ननु संपत्परंपरा ॥ १२९ ॥ घातिकर्ममलापायात्प्रादुरासन्गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्तेर्भानोर्यथांऽशवः ॥ १३० ॥ यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जाता घातिकर्मविनिर्जयात् ॥ १३१ ॥ केवलाख्यं परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात् । तदा लोकमलोकं च त्वमबुद्धा विनाऽवधि ॥ १३२ ॥ सार्वज्ञं तव वक्तीश वच शुद्धिरशेषगा । न हि वाग्विभवो मन्दवियामस्तीह पुष्कलः ॥ १३३ ॥ वक्तृप्रामाण्यतो देव वच प्रामाण्यमिष्यते । नह्यशुद्धतराद्वक्तुः प्रभवत्युज्ज्वला गिरः ॥ १३४ ॥ सप्तभङ्ग्यात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आप्तप्रतीतिममलां

करता हूं ॥१२८॥ हे देव ! आपमें भक्ति करनेसे अनंत फलकी प्राप्ति होती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी संपत्तिसे सेवकोंकी संपत्तिकी परंपराकी भी वृद्धि होती है ॥ १२९ ॥ जिसप्रकार सूर्यमंडलपरसे वादलोंका आवरण हट जानेसे सूर्यकी अनंत किरणें प्रगट होती हैं उसीप्रकार घातिया कर्ममल दूर होनेसे आपके भी अनंत गुण प्रगट हुये हैं ॥ १३० ॥ हे नाथ ! घातिया कर्मोंको जीतलेनेसे आपकी केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य आदि लब्धियां क्षायिक प्रगट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव ! जिससमय आपके केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति उत्पन्न हुई थी उसीसमय आपने मर्यादारहित लोक अलोक सबको जान लिया था ॥ १३२ ॥ हे स्वामिन् ! सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारकी समस्त भाषारूप परिणत होनेवाली आपकी वचनशुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको सिद्ध करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगतमें वचनोंकी इतनी अधिक विभूति मंदबुद्धियोंको कभी नहीं हो सकती है ॥ १३३ ॥ हे देव ! वक्ताकी (उपदेशककी) प्रमाणतासे वचनकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि जो वक्ता अत्यंत अशुद्ध है अर्थात् दोषोंसे भरा हुआ है उसकी वाणी उज्वल कभी नहीं हो सकती है ॥ १३४ ॥ हे प्रभो ! समस्त संसारमें फैलनेवाली यह आपकी वाणी सप्तभंगी स्वरूप है, यही सप्तभंग स्वरूप वाणी आपमें आप्तपनेका (देवपनेका) निर्मल विश्वास उत्पन्न करा-

त्वय्युद्भावयितु क्षमा ॥ १३५ ॥ स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति ते सार्व भारती ॥ १३६ ॥ विरुद्धाबद्ध-

नेके लिये समर्थ है, भावार्थ—आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप है इसलिये ही आपमें देवपना सिद्ध होता है क्योंकि कत्येप्र पदार्थमें सात धर्म हैं और उन सात धर्मोंको कहनेके लिये सात भंग हैं इसलिये आपकी वाणी पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप वर्णन करनेवाली होनेसे आपमें ही देवपना सिद्ध करती है ॥ १३५ ॥ हे सब जीवोंका हित करनेवाले! आपकी वाणीके वे सात भंग ये हैं स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्वादस्ति च नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादास्तिनास्ति चावक्तव्यं च, अर्थात् कथंचित् घट है ही, कथंचित् नहीं ही है, कथंचित् दोनोंरूप ही है, दोनों स्वरूपोंको एक साथ कह नहीं सकते इसलिये कथंचित् अवक्तव्य अर्थात् वचनके अगोचर ही है, उसका अस्तित्व होकर भी अवक्तव्य होनेसे कथंचित् है और अवक्तव्य ही है, नास्तिस्वरूप होकर भी अवक्तव्य होनेसे कथंचित् नहीं और अवक्तव्य ही है तथा दोनों स्वरूप होकर भी अवक्तव्य होंनेसे कथंचित् है, नहीं और अवक्तव्य ही है, इसका भी खुलासा यह है कि प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन मुख्य धर्म रहते हैं इन तीनोंकी ही मिलावटसे अलग अलग सात धर्म हो जाते हैं, जैसे 'घट है' यहांपर घट और है इन दोनोंका विशेष्य विशेषण संबंध है, घटका अस्तिव घटमें ही है दूसरी जगह नहीं है क्योंकि विशेषण विशेष्यमें ही रहता है, इसीतरह घट नहीं है यहांपर घट और नास्तित्व इन दोनोंका विशेष्य विशेषण संबंध है विशेषण विशेष्यमें ही रहता है वह दूसरी जगह कभी नहीं रह सकता इसलिये नास्तित्व भी घटमें ही है, इन दोनों धर्मोंको अक्रमसे (एक साथ) कह नहीं सकते इसलिये उसमें

वाग्जालरुद्धव्यामुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनाप्तेषु सार्वज्ञं त्वयि तिष्ठते ॥ १३७ ॥ रविः पयोधरोत्संगसुप्तरश्मिर्विकासिभिः । सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद्दुर्दैर्वा ग्विभवैर्भवान् ॥ १३८ ॥ यथाधतमसे दूरात्तर्क्यते विरुतैः शिखी । तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैराप्तोक्तिमर्हसि ॥ १३९ ॥ आस्तामाध्यात्मिकीयं ते

एक ऐसा भी धर्म है जिसके द्वारा उसे कह नहीं सकते, इस धर्मका नाम अवक्तव्य है, इन तीनोंको ही क्रम अक्रमसे कहनेसे ऊपर लिखेहुये सात भेद हो जाते हैं, चूंकि उसमें अन्य भी धर्म हैं उन सब धर्मोंका अभाव सिद्ध न हो जाय, गौणरूपसे उनकी सत्ता भी बनी रहे इसलिये प्रत्येक धर्मके साथ 'स्यात्' अर्थात् कथंचित् शब्द लगाया गया है तथा कथंचित् कहनेसे संदेह न हो जाय इसलिये उस धर्मको निश्चयरूपसे कहनेके लिये एव अथवा च शब्द लगाया गया है, इसप्रकार भगवानकी सप्तभंगस्वरूप वाणी प्रसिद्ध है ॥ १३६ ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध तथा परस्पर संबंधरहित ऐसे वचनोंके जालसे तिरस्कारको प्राप्त हुये और इसलिये ही जिनकी मुग्धबुद्धि हो रही है ऐसे अदेवोंमें श्रद्धा न करने योग्य ऐसा सर्वज्ञपना हे देव ! आपमें ही विराजमान है, भावार्थ—जो सर्वज्ञपना अन्य देवोंमें कभी नहीं हो सकता वह आपमें विराजमान है ॥ १३७ ॥ जिसप्रकार बादलोंके संबंधसे जिसकी सब किरणें छिप गई हैं ऐसा सूर्य दिखाई नहीं देता परंतु फूले हुये कमलोंसे उसका अस्तित्व जान लिया जाता है उसीप्रकार आपका सर्वज्ञपना अथवा अमूर्तस्वभाव यद्यपि देखा नहीं जाता तथापि आपकी सप्तभंगस्वरूप प्रशंसनीय वाणीकी विभूतिसे वह सिद्ध अवश्य हो जाता है ॥ १३८ ॥ अथवा जिसप्रकार अंधकारमें मोर दिखाई नहीं देता तथापि उसके बोलनेपर उसके शब्दोंसे वह दूरसे ही जान लिया जाता है उसीप्रकार आपका देवपना भी आपके स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोंसे ही सिद्ध होता है ॥ १३९ ॥ अथवा हे भगवन् ! जिसका विस्तार बहुत बडा है ऐसी इस आपकी

ज्ञानसपन्महोदया । बहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तृता त्वयि ॥ १४० ॥ परार्ध्यमासनं सैह कल्पित सुरशिल्पिभिः । रत्नरुक्छुरित भाति तावकं मेरुशृगवत् ॥ १४१ ॥ सुरैरुच्छ्रितमेतत्ते छत्राणा त्रयमूर्जितं । त्रिजगत्प्राभवे चिन्हं न प्रतीमः कथ वय ॥ १४२ ॥ चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शशत्यनन्यसामान्यमैश्वर्यं भुवनातिग ॥ १४३ ॥ परितस्त्वत्सभा देव वर्षंत्येते सुरांबुदाः । सुमनोवर्षमुद्गंधि व्याहूतमधुपव्रज ॥ १४४ ॥ सुरदुदुभयो मंद्र नदत्येते नभोगणे । सुरकिंकरहस्ताग्रताडितास्त्वज्जयोत्सवे ॥ १४५ ॥ सुरैरासेवितोपातो जनताशोकतापनुत् । प्रायस्त्वामयमन्वेति

आत्मसंबंधी अंतरंग ज्ञानरूपी संपत्तिको रहने दीजिये आपकी यह समवसरण आदि बाह्य विभूति ही हम लोगोंको आपमें मोक्षमार्गका उपदेशपना प्रगट करती है अर्थात् आपकी बाह्य विभूतिसे ही आपमें देवपना सिद्ध होता है ॥ १४० ॥ यह देखिये देवकारीगरोंके द्वारा रचना किया हुआ और रत्नोंकी कांतिसे व्याप्त ऐसा यह आपका उत्कृष्ट सिंहासन मेरुपर्वतके शिखरके समान कैसा अच्छा शोभायमान हो रहा है ॥ १४१ ॥ देव लोग जिन्हें ऊपरकी ओर धारण किये हुये हैं ऐसे ये प्रकाशमान तीन छत्र आपकी तीनों जगतकी प्रभुताके चिन्ह हैं इसप्रकारका विश्वास हम लोगोंको क्यों न हो ? अर्थात् ऐसा विश्वास अवश्य ही होता है ॥ १४२ ॥ देवोंके द्वारा ढुलाये हुये ये आपके चमर तीनों जगतको उलंघन करनेवाला और जो आपको छोडकर अन्य किसीमें न पाया जाय ऐसे आपके सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यको प्रगट करते हैं ॥ १४३ ॥ हे देव ! ये देवरूपी बादल आपकी सभाके चारोंओर जिसकी सुगंध सब ओर फैल रही है और जो भ्रमरोंको अपनी ओर बुला रही है ऐसी फूलोंकी वर्षा बरसा रहे हैं ॥ १४४ ॥ हे प्रभो ! आपके विजयके उत्सवमें देवरूप सेवकोंके हाथोंकी उंगलियोंसे बजाये हुये देवोंके नगाडे आकाशरूपी आंगनमें कैसे गंभीर शब्दोंसे बज रहे हैं ॥ १४५ ॥ जिसके समीपभागकी देव लोग सेवा कर रहे हैं अर्थात् जिसके नीचे देव बैठे हुये हैं तथा जो समस्त जीवोंके शोक और संतापको दूर करनेवाला है ऐसा यह आपका अशो-

तवाशोकमहीरुहः ॥ १४६ ॥ त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः प्रसरंत्यभितः सभां । धूतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवं ॥ १४७ ॥ दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । निरस्यति मनोध्वातमवाचामपि देहिना ॥१४८॥ प्रातिहार्यमयी भूतिरियमष्टतयी प्रभो । महिमान तवाचष्टे विस्पष्ट विष्टपातिग ॥१४९॥ त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयस. । चूलिकेव विभात्युचैः सेव्या गधकुटी तव ॥ १५० ॥ वन्दारूणा मुनींद्राणा स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहुः । स्तोतुकामेव भक्त्या त्वा सैषा भात्यतिसंमदात् ॥ १५१ ॥ परार्ध्यरत्ननिर्माणामेनामत्यतभास्वरां । त्वामध्यासीनमानम्रा नाकभाजो भजत्यमी ॥ १५२ ॥ सशिखाम-

कवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योंकि आप भी शोक संताप दूर करनेवाले हैं और देवोंके पूज्य हैं ॥ १४६ ॥ उदय होते हुये सूर्यके समान जिसकी कांति है और जो नेत्रोंको अत्यंत आनंद देनेवाली है ऐसी अत्यंत दैदीप्यमान आपके शरीरकी कांति अर्थात् प्रभा (भामंडल) सभाके चारों ओर फैल रही है ॥ १४७ ॥ समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली यह आपकी दिव्यध्वनि पशु पक्षी आदि तिर्यंच जीवोंके हृदयके अंधकारको भी दूर करती है ॥ १४८ ॥ हे प्रभो ! यह प्रातिहार्यस्वरूप आपकी आठ प्रकारकी विभूति जगतको उल्लंघन करनेवाली आपकी महिमाको स्पष्ट रीतिसे प्रगट करती है ॥ १४९ ॥ मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे तीन कटनी दार पीठपर [वेदीपर] सबके सेवन करने योग्य ऐसी यह आपकी ऊंची गंधकुटी मेरु पर्वतकी चूलिकाके समान बहुत ही अच्छी सुशोभित हो रही है ॥ १५० ॥ वंदना करनेवाले उत्तम मुनि जो स्तोत्र कर रहे हैं उनके शब्दोंके बार बार होनेवाली प्रतिध्वनियोंसे यह गंधकुटी ऐसी अच्छी जान पडती है मानों भक्तिसे अत्यंत हर्षित होकर आपकी स्तुति करना ही चाहती हो ॥ १५१ ॥ हे प्रभो ! बहुमूल्य रत्नोंसे बनी हुई और अतिशय दैदीप्यमान ऐसी इस गंधकुटीमें विराजमान आपकी स्वर्गमें रहनेवाले ये देव भी नम्र होकर सेवा करते हैं ॥ १५२ ॥ नमस्कार करतेहुये इन देवोंके मुकुटमें लगेहुये मणियोंसहित मस्तक ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों आपके चरणकमलोंके समीप दीपकसहित रत्नोंके अर्घ

णयोऽमीषां नम्राणां भाति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्घाः स्थापितास्त्वत्पदान्तिके ॥ १५३ ॥ नताना सुरकोटीना चकासत्यधिमस्तकं । प्रसादांशा इवा-लग्ना युष्मत्पादनखाऽशवः ॥ १५४ ॥ नखदर्पणसंक्रांतविंबान्यमरयोषितां । दधत्यमूनि वक्त्राणि त्वदुपाग्रयंबुजश्रिय ॥ १५५ ॥ वक्त्रेष्वमरनारीणां संधत्ते कुकुमश्रिय । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरती जपाऽरुणा ॥ १५६ ॥ गणाध्युषितभूभागमध्यवर्ती त्रिमेखलः । पीठाद्रिरयमा भाति तवाविष्कृत-मगलः ॥ १५७ ॥ प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरलङ्कृतः । द्वितीयोऽपि तवाऽमीभिर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजैः ॥ १५८ ॥ श्रीमडपनिवेशस्ते योजनप्रमि-तोऽप्ययं । त्रिजगज्जनताऽजस्रप्रावेशोपग्रहक्षमः ॥१५९॥ धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तभाः सरासि च । खातिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

ही स्थापन किये हों ॥ १५३ ॥ नमस्कार करतेहुये करोडों देवोंके मस्तकपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड रही हैं वे ऐसी जान पडती हैं मानों उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हों ॥ १५४ ॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जिनका प्रतिबिंब पड रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीप कमलोंकी शोभाको धारण करते हैं ॥ १५५ ॥ हे भगवन् ! जपाके फूलके समान लाल ऐसी यह जो आपके चरणोंके तलवोंकी कांति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखपर कुंकुमकी शोभा धारण करती है ॥ १५६ ॥ जिसने समस्त मंगलद्रव्य प्रगट किये हैं और जिसमें तीन कटनी हैं ऐसा यह बारह सभाओंकी पृथ्वीके बीचमें विराजमान आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अच्छा जान पडता है ॥ १५७ ॥ इस पीठकी पहिली गोलाई अर्थात् पहिली कटिनी धर्मचक्रोंसे सुशोभित है और दूसरी कटनी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन महाध्वजाओंसे शोभाय-मान है ॥ १५८ ॥ यह आपके श्रीमंडपकी रचना यद्यपि एक योजन लंबी चौडी है तथापि तीनों जगतके जीवोंका समूह जो इसमें सदा प्रवेश करता रहता है इस सबके उपकारकोलिये यह समर्थ है भावार्थ—इसमें समस्त जीव मा सकते हैं ॥ १५९ ॥ हे देव ! यह धूलीसालकी चारोंओरकी वाड, ये मानस्तंभ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरीहुई खाई लतावनोंका समूह, ऊंचे चार चार बडे दरवाजोंसे

सालत्रितयमुत्तुगचतुर्गोपुरमडित । मगलद्रव्यसदोहो निधयस्तोरणानि च ॥ १६१ ॥ नाट्यशालाद्वय दीप्त धूपघटीद्वय । वनराजिपरिक्षेपश्चैत्यद्रुमपरिष्कृत ॥ १६२ ॥ वनवेदीद्वय प्रोच्चैर्ध्वजमालाततावनि. । कल्पद्रुमवनाभोगाः स्तूपहर्म्यावलीत्यपि ॥ १६३ ॥ सदोऽवनिरिय देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसदोह इवैकत्र निवेशितः ॥ १६४ ॥ बहिर्विभूतिरित्युच्चैराविष्कृतमहोदया । लक्ष्मीमाध्यात्मिकीं व्यक्त व्यनक्ति जिन तावकीं ॥ १६५ ॥ सभापरिच्छदः सोऽय सुरैस्तव विनिर्मित' । वैराग्यातिशय नाथ नोपहन्त्यप्रतर्कितः ॥ १६६ ॥ इत्यत्यद्भुतमाहात्म्यस्त्रिजगद्वल्लभो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमान मा पुनीतात्पूतशासन' ॥ १६७ ॥ अल स्तुतिप्रपचेन तवाचिंत्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यामिति सक्षेपतः स्तुवे ॥ १६८ ॥ जयेश

सुशोभित तीनों कोट, मंगलद्रव्योंका समूह, निधियां, तोरण, प्रत्येक कोटके दरवाजेपर दैदीप्यमान दो दो नाट्यशालायें, दो दो सुंदर धूपघट, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वनकी पंक्तियोंका घेरा, दो वनवेदी, ऊंची ऊंची ध्वजाओंके समूहसे भरीहुई पृथ्वी, कल्पवृक्षोंके वनका फैलाव, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति, इसप्रकार कल्पवासी भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क मनुष्य आदि सब जीवोंको पवित्र करनेवाली यह आपकी सभाकी पृथ्वी ऐसी अच्छी जान पडती है मानों तीनों जगतकी अच्छी अच्छी सार वस्तुओंका समूह सब एक जगह ही आकर इकट्ठा हुआ हो ॥ १६०-१६४ ॥ हे जिनेंद्र ! जिसने आपकी बहुत वडी महिमा प्रगट की है ऐसी इसप्रकारकी यह आपकी भारी वाह्य विभूति आपकी अंतरंग लक्ष्मीकोभी स्पष्ट प्रगट करती है, भावार्थ—वाह्य विभूतिसे आपकी अंतरंग लक्ष्मीभी सिद्ध होती है ॥ १६५ ॥ हे नाथ ! जिसकेलिये कोई तर्क वितर्क नहीं कर सकता अर्थात् कह नहीं सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रचना की हुई आपके समवसरणकी सामिग्री आपके अतिशय वैराग्यको नाश नहीं कर सकती है ॥ १६६ ॥ इसप्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनों जगतके स्वामी हैं और जिनकी शास्त्ररूप आज्ञा पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा पूजा करनेवाले मुझे पवित्र कीजिये ॥ १६७ ॥ हे विभो ! आपकी बहुत स्तुति करना व्यर्थ है, क्योंकि आपके गुण अचिंत्य हैं उन्हें कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता, इसलिये हे ईशान आपकी जय हो, आपको

जय निर्दग्धकर्मेंधन जयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताज्जय जिन्वर ॥ १६९ ॥ जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानंतगुणोज्वल । जय विश्वजगद्बंधो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥ जयाखिलजगद्वेदिन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥ जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमन्मथ जय जन्मजरातंकविजयिन्विजितांतक ॥ १७२ ॥ जय निर्मद निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल पुष्कळ ॥१७३॥ जय प्रबुद्धसन्मार्ग जय दुर्मार्गरोधन । जय कर्मारिमर्माविद्धर्मचक्रजयोध्दुर ॥ १७४ ॥ जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोध्दुरदयाचिन्ह सद्धर्म-

---

नमस्कार हो, बस मैं संक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हूं ॥ १६८ ॥ हे ईश ! आपकी जय हो, हे कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले आपकी जय हो, हे जरारहित ! आपकी जय हो, हे तीनों लोकोंके गुरु ! आपकी जय हो, हे सबका हित करनेवाले ! आपकी जय हो और हे जयनशील ! आपकी जय हो ॥ १६९ ॥ हे लक्ष्मीके स्वामी ! जयनशील ! आपकी जय हो, हे अनंतगुणोंसे प्रकाशमान ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतके बंधु ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतका हित करनेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७० ॥ हे समस्त जगतको जाननेवाले ! आपकी जय हो, हे अनंत सुख प्राप्त करनेवाले ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतमें श्रेष्ठ ! आपकी जय हो और हे समस्त जगतके गुरु ! आपकी जय हो ॥ १७१ ॥ हे मोहरूप शत्रुको जीतनेवाले ! आपकी जय हो, हे कामदेवको ललकारनेवाले ! आपकी जय हो, जन्म, बुढापा रोग आदि दोषोंको जीतनेवाले तथा कालको [मरणको] भी जीतनेवाले आपकी जय हो ॥ १७२ ॥ हे अभिमान रहित ! माया रहित [छलकपट रहित] आपकी जय हो, हे मोहरहित ! ममत्व रहित ! आपकी जय हो, हे मलरहित ! कलह रहित ! आपकी जय हो, हे शरीरके बंधनसे रहित ! तथा हे पूर्ण ज्ञानको धारण करनेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७३ ॥ हे मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले ! आपकी जय हो, हे नरक आदि खोटे मार्गको रोकनेवाले आपकी जय हो, हे कर्मरूप शत्रुके मर्मको नाश करनेवाले ! तथा धर्मचक्रके द्वारा विजय

रथसारये ॥ १७५ ॥ जय निस्तीर्णससारपारावार गुणाकर । जय निःशेपनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥ १७६ ॥ नमस्ते परमानंतसुखरूपाय तायिने। नमस्ते परमानंदमयाय परमात्मने ॥ १७७ ॥ नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारभासिने । नमस्ते नयनानंदिपरमौदरिकत्विपे ॥ १७८ ॥ नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताञ्जलिकुड्मलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशैः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥ १७९ ॥ नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताञ्जलिबंधनैः । नुताय मेरुशैलाग्रस्नाताय

करनेसे श्रेष्ठ ! आपकी जय हो ॥ १७४ ॥ हे पूजा प्रभावना आदि क्रियाओंके स्वामी ! हे यज्ञस्वरूप ! आपकी जय हो, हे पूज्य हे महोदय ! आपकी जय हो, हे उत्कृष्ट दयाको धारण करनेवाले ! हे सद्धर्मरूपी रथके चलानेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७५ ॥ हे संसाररूपी समुद्रके पार जानेवाले हे गुणोंकी खानि ! आपकी जय हो, हे समस्त विधारूपी समुद्रको पी जाने वाले । हे प्रभो ! आपकी जय हो ॥ १७६ ॥ आप उत्कृष्ट अनंतसुखरूप हैं तथा जगतकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम आनंदमय हैं, परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १७७ ॥ आप तीनों जगतको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी किरणसमूहोंसे प्रकाशमान हैं इसलिये आपकेलिये नमस्कार है तथा आपके परमौदारिक शरीरकी कांति नेत्रोंको आनंद देनेवाली है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १७८ ॥ हे नाथ ! जिससमय आपके स्वर्गसे अवतार लेनेका अर्थात् गर्भकल्याणका उत्सव मनाया था उससमय स्वर्गके इंद्रोंने अपने हाथोंकी अंजलिरूपी मुकुलित [विना खिले] कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १७९ ॥ जन्मकल्याणके समय जिन्होंने अपने नम्र हुये मस्तकपर हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे उत्तम उत्तम देवोंने आपको नमस्कार किया है तथा मेरुपर्वतके अग्रभागपर आपका स्नान किया है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८० ॥ आपके दीक्षाकल्याणके उत्सवके समय जिन्होंने अपने मुकुटके समीप

सुरसत्तमैः ॥ १८० ॥ नमस्ते मुकुटोपाग्रलग्नहस्तपुटोद्भटैः । लौकांतिकैरधीष्टाय परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥ १८१ ॥ नमस्ते स्वकिरीटाग्ररत्नग्रावांतचुंबिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलेज्याय नाकिना ॥ १८२ ॥ नमस्ते परिनिर्वाणकल्याणेपि प्रवर्त्स्यति । पूजनीयाय वन्हींद्रैर्ज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥ नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥ १८४ ॥ नमस्ते नतनाकींद्रचूलारत्नार्चिताव्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जितश्रिये ॥ ८५ ॥ नमोऽस्तु तुभ्यमिद्धर्द्धे सपर्यामर्हते परा । रहोरजोऽरिघाताच्च प्राप्ततन्नामरूढये ॥ ८६ ॥ जितांतक नमस्तुभ्य जित-

---

ही दोनों हाथ जोडकर रक्खे हैं तथा जिन्हें वडा आनंद हो रहा है ऐसे लौकांतिक देवोंने आपका सत्कार किया है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८१ जिस समय आपको केवल ज्ञान हुआ था उससमय देवोंने अपने मुकुटके ऊपर लगे हुये रत्नोंको स्पर्श करनेवाले अपने जुडेहुये हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा आपकी पूजा की थी अर्थात् दोनों हाथ जोड मस्तकपर रखकर आपकी पूजा की थी इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८२ ॥ जिस समय आपका मोक्षकल्याणक हो रहा था उससमय जिनके करोडों मुकुट जाज्वल्यमान हो रहे हैं ऐसे वन्हिकुमार जातिके देवोंके इंद्रोंने आपकी पूजा की थी इसलिये हे देव आपको नमस्कार है ॥ १८३ ॥ गर्भकल्याण आदि पांचों कल्याणोंमें आपकी वडी भारी पूजा की गई है, तथा आप अनंत तेजको धारण करनेवाले हैं, तीनों लोकोंका समस्त राज्य आपको प्राप्त हुआ है और वडोंमेंभी आप सवसे वडे हैं, इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८४ ॥ नमस्कार करतेहुये स्वर्गके इंद्रोंके मुकुटमें लगे हुये रत्नोंके द्वारा आपके चरण कमलोंकी पूजा हुई है इसलिये आपको नमस्कार है तथा कर्मरूप कठिन शत्रुओंके जीतनेसे आपको अनंतचतुष्टय रूपी संपत्ति प्राप्त हुई है इसलिये आपको नमस्कार है ॥१८५॥ हे उत्कृष्ट ज्ञान ऋद्धिको धारण करनेवाले आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य हैं, रह अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण, रज अर्थात् मोहनीय और अरि अर्थात् अंतराय इन चारों घातिया कर्मोंके नाश करनेसे

मोह नमोऽस्तुते । जितानग नमस्ते स्ताद्विरागाय स्वयंभुवे ॥ ८७ ॥ त्वां नमस्यन्जनैर्नम्रैर्नम्येत सुकृती पुमान् । गां जयेजितजेतव्यस्त्वज्जयोद्घोपणात्कृती ॥ १८८ ॥ त्वत्स्तुतेः पूतवागस्मि त्वत्स्मृतेः पूतमानस. । त्वन्नतेः पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥ १८९ ॥ अहमद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफल मम । सुनिर्वृत्ते दृशौ मेऽद्य सुप्रसन्न मनोऽद्य मे ॥ १९० ॥ त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसभृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृत' ॥ १९१ ॥ त्वत्पादनखभाजालसलिलैरस्तकल्मषैः । अधिमस्तकमालग्नैरभिषिक्त इवास्म्यह ॥ १९२॥ एकतः सार्वभौमश्रीरियमप्रतिशासना ।

आपका अर्हत् अथवा अरिहंत नाम प्राप्त हुआ है इसलिये ही आपको नमस्कार हो ॥ १८६ ॥ मृत्युको सदाकेलिये जीतनेवाले हे देव ! आपके लिये नमस्कार हो, हे मोहको जीतनेवाले ! आपके लिये नमस्कार हो, हे कामदेवको जीतनेवाले ! आप वीतराग स्वयंभू हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १८७ ॥ हे प्रभो ! जो मनुष्य आपको नमस्कार करता है उस पुण्यवान पुरुषको अनेक लोग नम्र होकर नमस्कार करते हैं तथा जो आपके विजय करनेकी घोषणा देता है वह पुण्यवान जीतने योग्य कषायोंको जीतकर समस्त पृथ्वीको जीतता है ॥ १८८ ॥ हे नाथ ! आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये हैं, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर पवित्र होगया है और आपके दर्शन करनेसे मैं धन्य होगया हूं ॥१८९॥ हे प्रभो ! आज मैं कृतार्थ होगया हूं, आज मेरा यह जन्म सफल होगया है, आज ये मेरे दोनों नेत्र अत्यंत सुखी हुये हे और मेरा मन आज बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १९० ॥ हे भगवन् ! अत्यंत निर्मल और पुण्य रूप जलसे लबालब भरे हुये आपके तीर्थरूपी सरोवरमें आज मैंने बहुतदिनसे स्नान किया है इसलिये ही आज मैं पवित्र और परम सुखी हुआ हूं ॥ १९१ ॥ हे स्वामिन् ! जिसने समस्त पाप नाश कर दिये हैं ऐसा यह जो आपके चरणोंके नखोंकी कांतिका समूह रूपी जल मेरे मस्तकपर पड रहा है उससे मैं ऐसा होगया हूं मानों मेरा अभिषेक ही किया गया हो ॥ १९२ ॥

एकतश्च भवत्पादसेवा लोकैकपावनी ॥ १९३ ॥ यद्दिग्भ्रातिविमूढेन महदेनो मयाऽर्जितं । तत्त्वत्सदर्शनाल्लीनं तमो नैशं रवेर्यथा ॥ १९४ ॥ त्वत्पद-स्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रता । किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैवं सुप्रयुक्तया ॥ १९५ ॥ भगवँस्त्वद्गुणस्तोत्राद्यन्मया पुण्यमर्जितं । तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदाऽपि मे ॥ १९६ ॥ इत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिपैः सममिद्धबोधः । आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुड्मललग्नमौलिः ॥ १९७ ॥ श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मारिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात् । सप्रीतिमाप परमां भरताधिराजः

हे देव ! एक ओर तो मुझे जिसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चल नहीं सकती ऐसी चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर लोकको पवित्र करनेमें अद्वितीय ऐसी आपके चरण कमलोंकी सेवा प्राप्त हुई है ॥ १९३ ॥ इन दोनोंमेंसे मैंने जो दिग्विजयके लिये भ्रमण करनेमें मुग्ध होकर महा पाप इकट्ठा किया था वह भी आपके दर्शन करनेमात्रसे इसप्रकार नष्ट होगया जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रिका अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ १९४ ॥ हे विभो ! यह मनुष्य आपके चरण कमलोंके स्मरण करनेमात्रसे पवित्र हो जाता है फिर इसप्रकार भक्ति पूर्वक अच्छीतरह की हुई आपके गुणोंकी स्तुति से भला क्यों न पवित्र होगा ? भावार्थ—वह अवश्य ही पवित्र होगा ॥ १९५ ॥ हे भगवन् आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो कुछ मैंने पुण्य प्राप्त किया है उसके संबंधसे आपके चरणकमलोंमें मेरी परम भक्ति सदा ही बनी रहे यही चाहता हूं ॥ १९६ ॥ इसप्रकार चर अचर सब जीवोंके गुरु तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे श्री वृषभदेवकी स्तुति कर आनंदके आंसुओंकी बूंदोंसे जिसने अपने सामनेका प्रदेश सब भिगोदिया है, जिसका ज्ञान स्फुरायमान हो रहा है और जिसने अपने दोनों हाथ जोडकर अपने मस्तकपर रक्खे हैं ऐसे भरतेश्वरने सब राजाओंके साथ साथ भक्तिपूर्वक भगवानको नमस्कार किया ॥ १९७ ॥ कर्मरूपी शत्रुओंके समूह को जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई है ऐसे पुराणपुरुष भगवान वृषभदेवसे अनादि कालसे चले आये पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर महा-

प्रायो धृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥ १९८ ॥ आपृच्छ्य च स्वगुरु[illegible] निधीशो [illegible] । भूयोऽनुगम्य च मुनीन् प्रणतेन मूर्ध्ना स्वावासभूमिमभिगन्तुमना बभूव ॥ १९९ ॥ भक्त्यार्पितां तत्क्रमयोरिव [illegible] जिनस्य स्वां दृष्टिमन्वितमनःसुमनोविकासां । शेषामिवैष च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छ्रात् चक्राधिपो जिनसभाभवनात्प्रतस्थे ॥ २०० ॥ आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिद्धां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः । पृथ्वीश्वरै-

---

राज भरत वहुत ही प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वुद्धिमान लोगोंको प्रायः अपना हित करनेमें ही संतोष होता है ॥ १९८ ॥ तदनंतर नमस्कार करतेसमय कुछ कुछ हिलते हुये मुकुटके किनारेसे जिसने भगवानका पादपीठ अर्थात् तीन कटनीदार वेदी स्पर्श की है ऐसे निधियोंके स्वामी भरतने अपने पिता श्री वृषभदेवसे आज्ञा ली और फिर नम्रहुये मस्तकसे वहां विराजमान मुनियोंकी आराधना की, इतना सव कामकर फिर उसने अयोध्या जानेकी इच्छा की ॥१९९॥ भगवानके चरणकमलोंमें खिलेहुये फूलोंके द्वारा क्रमानुसार सुंदरतासे गूंथी हुई और भक्तिसे अर्पण की हुई मालाके समान मनकी प्रसन्नतासे सुंदर दिखनेवाली अपनी दृष्टि शेषा[1] समझकर ही भरतने वडी कठिनतासे वहांसे हटाई और फिर वह भगवानके समवसरणसे वाहर निकला ॥ २०० ॥ भगवानके समवसरणकी वडी भारी विभूतिको देखता हुआ और इसलिये ही जिसके दोनों नेत्र प्रफुलित होकर फट रहे हैं, जिसकी दोनों भुजायें गलनेवाली एकप्रकारकी लकडीके समान लंवी हैं, जो कुलकरोंके वंशमें ध्वजाके समान शोभायमान है और मस्तक नवाकर नमस्कार करते हुये अनेक राजा महाराजा जिसके साथ हैं ऐसा वह भरत अपने मकानके लिये लौटा ॥ २०१ ॥ पुण्यकर्मके उदयसे निधियोंके स्वामी महाराज भरतने समस्त दिशायें जीतीं तथा उनके जीतनेमें उसे साठ हजार वर्ष लगे

---

१ इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूजनसे बची हुई सामग्रीको शेषा कहते हैं, पूजन करते समय सव सामग्री न चढाकर कुछ शेषाक्षत बचालेना बहुत जरूरी है वे शेषाक्षत पवित्र गिने जाते हैं ।

रनुगतः प्रणतोत्तमागैः प्रत्यावृतत्स्वसदनं मनुवंशकेतुः ॥ २०१ ॥ पुण्योदयान्निधिपतिर्विजिताखिलाशस्तान्निर्जितौ गमितपश्चिममामहस्तः । प्रीत्याऽभिवद्य जिनमाप परं प्रमोदं तत्पुण्यसंग्रहविधौ सुधियो यतध्वं ॥ २०२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजकैलासाभिगमनवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ३३ ।

अथ चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथावरुह्य कैलासादद्रींद्रादिव देवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद्विनीताभिमुख कृती ॥ १ ॥ सैन्यैरनुगतो रेजे प्रयाँश्चक्री निजालयं । गांगौघ इव दुर्वारः सरिदोघैरपांपतिं ॥ २ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैश्चक्रिणो बलं । अयोध्या प्रापदाबद्धतोरणा चित्रकेतना ॥ ३ ॥ चंदनद्रवसंसिक्तसुसमृष्टमहीतला ।

और फिर वह प्रेमपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी बंदना कर बहुत ही प्रसन्न हुआ, इसलिये बुद्धिमान लोगोंको पुण्यसंचय करनेमें ही सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २०२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें महाराज भरतका कैलाश पर्वतपर जानेका वर्णन करनेवाला यह तेतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ चौंतीसवां पर्व ।

अथानंतर—जिसप्रकार इंद्र सुमेरु पर्वतसे उतरता है उसीप्रकार वह पुण्यवान चक्रवर्ती कैलाश पर्वतसे उतरा और अयोध्या जानेके लिये चलनेलगा ॥ १ ॥ अपनी सेनाके साथ साथ अपने घरकी ओर चलता हुआ वह चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानों अनेक नदियोंके साथ साथ किसीसे न रुकनेवाला ऐसा गंगाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥ २ ॥ तदनंतर कितने ही मुकामकर वह चक्रवर्तीकी सेना जिसमें अनेक तरहकी ध्वजायें फहरा रही हैं और तोरण बंधे हुये हैं ऐसी अयोध्या नगरीके समीप जा पहुंची ॥ ३ ॥ जिसकी पृथ्वी बुहारकर साफ की गई है और घिसेहुये

पुरी स्नातानुलिप्तेव सा रेजे पत्युरागमे ॥ ४ ॥ नातिदूरे निविष्टस्य प्रवेशसमये विभोः । चक्रमस्तारिचक्रं च नाक्रंस्त पुरगोपुरे ॥ ५ ॥ सा पुरी गोपुरोपातस्थितचक्रांशुरंजिता । वृतसंध्यातपेवासीत्कुंकुमापिंजरच्छविः ॥ ६ ॥ सत्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिव्येव सा जज्ञे ज्वलच्चक्रा पुरः पुरी ॥७॥ ततः कतिपये देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपदे चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥ सुरा जातरुषः केचित्किं किमित्युच्चरद्गिर । अलातचक्रवद्भ्रेमुः करवालार्पितैः करैः ॥९॥ किमर्कमणेर्बिंबमम्बरात्परिलम्बते । प्रतिसूर्यः किमुद्भूत इत्यन्ये मुमुहुर्मुहुः ॥ १० ॥ कस्याप्यकालचक्रेण पति-

---

गीले चंदनसे छिडकी गई है इसप्रकारकी वह अयोध्या नगरी उससमय ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों अपने स्वामीके आनेपर उसने स्नानकर चंदनका लेप ही किया हो ॥ ४ ॥ महाराज भरतने नगरके समीप ही डेरा दिये थे वहांसे नगरमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुसमूहको नाश कर दिया है ऐसा चक्रवर्तीका वह चक्ररत्न नगरके वडे दरवाजेके वाहर ही रुक गया ॥ ५ ॥ वाहरके वडे दरवाजेके समीप ही रुके हुये चक्रकी किरणोंसे कुंकुमके समान जिसकी कांति कुछ कुछ लाल हो रही है इसप्रकारकी वह नगरी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उसने सायंकालकी लालिमा ही धारण की हो ॥ ६ ॥ सचमुच ही यह भरतेश्वर चक्रवर्तियोंमें मुख्य है इसलिये ही मानों जिसके सामनें चक्र जाज्वल्यमान हो रहा है ऐसी वह अयोध्या नगरी दिव्य शक्ति धारण की हुईके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ७ ॥ तदनंतर चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एकस्थानपर खडाहुवा देखकर आश्चर्य करने लगे ॥ ८ ॥ उनमेंसे कितने ही देव क्या है क्या है इसप्रकार चिल्लाते हुये वडे ही क्रोधित हुये और हाथमें तलवार लेकर आलातचक्रके समान उस चक्रके चारों और फिर रहे थे ॥ ९ ॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका विंव ही लटक पडा है ? अथवा यह कोई दूसरा सूर्य उदय हुआ है ? इसप्रकार उस चक्रको देखकर कितनेही लोग वार वार मोहित हो रहे थे ॥ १० ॥ आज यह चक्र क्रूर ग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिये अकाल चक्रके समान किसी

सव्यं विरोधिनः । क्रूरेणेव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण वक्रित ॥ ११ ॥ अथवाद्यापि जेतव्यपक्ष. कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कैश्चिदित्थं तज्ज्ञैर्वितर्कित ॥ १२ ॥ सेनानीप्रमुखास्तावत्प्रभवे तन्न्यवेदयन् । तद्वार्ताऽऽकर्णनाच्चक्री किमप्यासीत्सविस्मयः ॥१३॥ अचिंतयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थिते स्खलत्यद्य क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥ १४ ॥ सम्प्रधार्यमिद तावदित्याहूय पुरोधसं । धीरो धीरतरा वाचमित्युच्चैराजगौ मनुः ॥ १५ ॥ वदतोऽस्य मुखाम्भोजाद्व्यक्ताकूता सरस्वती । निर्ययौ सदलकारा शफलीव जयश्रियः ॥ १६ ॥ चक्रमाक्रांतदिक्चक्रमरिचक्रभयकरं । कस्मान्नास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यक्कृतार्करुक् ॥ १७ ॥ विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवार्द्धिषु । यदासीदस्खलद्वृत्ति रूप्याद्रेश्च गुहाद्वये ॥ १८ ॥ चक्र तदधुना कस्मात्स्खलत्यस्मद्-

---

शत्रुपर अवश्य ही पडेगा ॥ ११ ॥ अथवा चक्रवर्तीको अवतकभी किसी शत्रुको जीतना बाकी रह गया है इसप्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग तर्क वितर्क कर रहे थे ॥ १२ ॥ सेनापति आदि कितने ही मुखिया लोगोंने यह बात भरतसे कही, भरत यह बात सुनतेही एक तरहका आश्चर्य करनेलगा ॥ १३ ॥ और सोचने लगा कि जिसकी आज्ञा कहीं भी रुक नहीं सकती ऐसे मेरे रहते हुये भी जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकी है ऐसा यह चक्र आज क्यों रुक रहा है ? इसका क्या कारण है ? ॥ १४ ॥ इसका विचार करना चाहिये यही सोचकर तुरंत ही उसने पुरोहितको बुलाया और वह धीर वीर मनु नीचे लिखे अनुसार बहुत ही गंभीर वचन कहने लगा ॥ १५ ॥ जिससमय भरत कह रहा था उससमय उसके मुखकमलसे उत्तम उत्तम अलंकारों सहित सरस्वती (वाणी) ऐसी स्पष्टरीतिसे प्रगट हो रही थी मानो जयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥ १६ ॥ भरत कहने लगा— कि जिसने सब दिशायें आक्रमण की हैं जो शत्रुओंके समूहके लिये भयंकर है और जो सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार करनेवाला है ऐसा यह चक्र मेरेही नगरके दरवाजेमें क्यों प्रवेश नहीं करता है ? ॥१७॥ जो चक्र समस्त देशके दिग्विजय करनेमें पूर्व दक्षिण पश्चिम समुद्रमें कहीं नहीं रुका जो विजयार्द्ध पर्वतकी दोनों गुफाओंमें नहीं रुका वही चक्र आज मेरे घरके आंगनमें ही क्यों रुक रहा है? प्रायः मुझे जीतनेकी इच्छा रखनेवाला कोई मेरे विरुद्ध शत्रु

गृहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन भवितव्यं जिगीषुणा ॥ १९ ॥ किमनाम्यो द्विषन्कश्चिदस्त्यस्मद्भुक्तिगोचरे । सनाभिः कोऽपि किंवाऽस्मान् द्वेष्टि दुष्टांतराशय. ॥ २० ॥ यः कोऽप्यकारणद्वेषी खलोस्मान्नाभिनन्दति । प्राय स्खलति चेतांसि महत्स्वपि दुरात्मना ॥ २१ ॥ विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥ २२ ॥ अथवा दुर्मदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदोच्छित्यै नूनं चक्रेण वक्रितं ॥ २३ ॥ खल्पेक्ष्य लघीयानप्युच्छेद्यो लघु तादृशः । क्षुद्रो रेणुरिवाक्षिस्थो रुजत्यरिरुपेक्षितः ॥ २४ ॥ बलादुद्धरणीयो हि क्षोदीयानपि कण्टकः । अनुद्धतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो भृशं ॥ २५ ॥ चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमं । गतिस्खलनमेतस्य न विना कारणाद्भवेत् ॥ २६ ॥ ततो

ही होना चाहिये ॥ १८—१९ ॥ क्या मेरे राज्यमें ही कोई अजेय शत्रु बाकी है ? अथवा कोई दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्रका ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥ २० ॥ अथवा विनाकारण ही द्वेष करनेवाले किसी अन्य दुष्ट पुरुषको हम लोगोंकी वृद्धि सहन नहीं होती है ? सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः बडे आदमियोंपर ही दुष्ट लोगोंके हृदय विगडा करते हैं ॥ २१ ॥ दूसरे लोगोंकी वृद्धी होनेपर बडे आदमियोंके हृदयमें कभी मत्सर नहीं होता है परंतु क्षुद्र लोगोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर सदा मत्सर (डाह, ईर्षा) करते रहते हैं ॥ २२ ॥ अथवा दुष्ट अहंकारसे घिराहुआ कोई मेरे घरका ही मनुष्य मुझे नमस्कार नहीं करता है अवश्य ही उसका अहंकार दूर करनेके लिये यह चक्र रुक रहा है ॥ २३ ॥ अत्यंत छोटे शत्रुकीभी उपेक्षा करना अच्छा नहीं छोटा होकर भी यदि द्वेष करनेवाला हो तो उसका नाश अवश्य करना चाहिये क्योंकि आंखमें पडी हुई धूलिकी कणिकाके समान यदि छोटे शत्रुकी भी उपेक्षा की जायगी तो वह भी पीडा देनेवाला हो जायगा ॥ २४ ॥ कांटा यदि बहुत ही छोटा हो तथापि उसे जबर्दस्ती निकालकर बाहर फेंक देना चाहिये, क्योंकि पैरमें लगा हुआ कांटा यदि नहीं निकाला जायगा तो वह अवश्य ही दुखदेनेवाला होगा ॥ २५ ॥ यह चक्ररत्न देवोंकी शक्तियोंका उत्तम समुदाय है और चौदह रत्नोंमें सबसे मुख्य है बिना कारणके इसकी गति कभी नहीं रुक सकती ॥ २६ ॥ इसलिये हे आर्य ! इस चक्रने जो कार्य सूचित किया

नाल्पमिदं कार्यं यच्चक्रेणार्य सूचित । सूचिते खलु राज्यांगे विकृतिर्नाल्पकारणात् ॥२७॥ तदत्र कारणं चिंत्यं त्वया धीमन्निदंतया । अनिरूपितकार्याणा नेह नामुत्र सिद्धयः ॥ २८ ॥ त्वयीद कार्यविज्ञान तिष्ठते दिव्यचक्षुषि । तमसा छेदने कोऽन्य' प्रभवेदशुमालिनः ॥ २९ ॥ निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय मिताक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभवो मितभाषिणः ॥ ३० ॥ ततः प्रसन्नगंभीरपदालंकारकोमला । भारतीं भरतेशस्य प्रबोधायेति सोऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥ अस्ति माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्टव । अस्त्यर्थानुगमो व्यक्तं यन्नास्ति त्वद्वचोमये ॥ ३२ ॥ शास्त्रज्ञा वयमेकातान्नाभिज्ञाः कार्य-

---

है वह कुछ छोटा नहीं हैं क्योंकि यह राज्यका अंग चक्र बहुत ही योग्य है, इसका विकार कुछ थोडेसे कारणसे नहीं हो सकता है ॥ २७ ॥ इसलिये हे चतुर पुरोहित ! इस चक्रके रुकनेमें क्या कारण है उसका हेतु तुम अच्छी तरह सोचो, क्योंकि बिना विचार किये हुये कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमें होती है और न परलोकमें होती है ॥ २८ ॥ तुम्हारे निमित्तज्ञान रूपी दिव्य नेत्र हैं इसलिये ऐसे कार्योंका ज्ञान तुम्हारेमें ही रहता है अर्थात् इसका कारण तुम ही जान सकते हो क्यों कि सूर्यको छोडकर अंधकार दूर करनेके लिये और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ २९ ॥ इसप्रकार वह भरत थोडेसे ही अक्षरोंमें इस निमित्तज्ञानी पुरोहितसे अपना कार्य निवेदनकर चुप हो रहा, सो ठीक ही है क्योंकि बडे लोग प्रायः थोडा ही बोलते हैं ॥ ३० ॥ तदनंतर वह पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिये अर्थको स्पष्ट रीतिसे कहनेवाले और गंभीर ऐसे पद तथा अलंकारोंसे मनोहर बचन कहने लगा ॥ ३१ ॥ जो मधुरता तेरी वाणीमें नहीं है क्या वह कहीं दूसरी जगह है? जो प्रौढता जो पदोंका लालित्य और जो स्पष्ट अर्थका बोध होना आपके बचनोंमें नहीं है क्या वह दूसरी जगह है ? अर्थात् जो आपके बचनोंमें नहीं है वह मधुरता आदि कहीं भी नहीं है ॥ ३२ ॥ हम लोग केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं, कार्यकरनेकी युक्तियोंमें निपुण नहीं हैं, हे स्वामिन् ! राजनीतिमें शास्त्रोंके प्रयोगोंको जाननेवाला भला आपके समान अन्य कौन है ॥ ३३ ॥ आप राजा-

युक्तिषु । शास्त्रप्रयोगवित्कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥ त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विद्यास्त्वदुपक्रमं । तद्विदस्तत्प्रयुजाना न जिन्हीमः कथं वयं ॥३४॥ तथाऽपि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरव लोके ततः स्मो वक्तुमुद्यताः ॥ ३५ ॥ इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञशासन । नास्ति चक्रस्य विश्रांतिः सावशेषे दिशा जये ॥ ३६ ॥ ज्वलदर्चिःकरालं वो जैत्रमस्त्रमिद ततः । सस्तभितमिवाव्यक्त पुरद्वारि विलंबते ॥ ३७ ॥ अरिर्मित्र-मरेर्मित्र मित्रमित्रमिति श्रुति. । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥ ३८ ॥ तथाप्यस्त्येव जेतव्यः पक्षः कोऽपि तवाधुना । योऽतर्गृहे कृतो-

---

ओंमें प्रथम राजा अर्थात् प्रथम चक्रवर्ती हैं, राजर्षि अर्थात् राजाओंमें भी ऋषियोंके समान श्रेष्ठ हैं यह राजविद्या अर्थात् राजनीति केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है उसी राजनीतिको जाननेवाले आपके सामने उस राजनीतिका थोडा बहुत प्रयोग करनेवाले हमलोग भला कैसे लज्जित न होंगे, अर्थात् अवश्य ही होंगे ॥ ३४ ॥ तथापि आपने जो असाधारण सत्कार किया है उससे संसारमें हम लोगोंकी गौरवता बढती है वह संसारमें मेरा गौरव बढाता है इसलिये ही कुछ कहनेकेलिये मैं तैयार हुआ हूं ॥ ३५ ॥ हे देव ! निमित्तशास्त्रमें हम लोगोंनें ऐसा सुना है कि सब दिशाओंके जीत लेनेपर फिर चक्र कहीं भी नहीं रुकता है ॥ ३६ ॥ यह आपका विजयी शस्त्र जलती हुई अग्निके समान भयंकर है और इसलिये नगरके दरवाजेपर गुप्त रीतिसे स्तंभित हुयेके समान ही अटक गया है ॥ ३७ ॥ हे देव ! आपके प्रजाका शासन [पालन] करतेहुये शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रोंमें सुननेके लिये रह गयें हैं अर्थात् आपका न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र है सब आपके सेवक हैं ॥ ३८ ॥ तथापि जिसप्रकार उदरमें दवा हुआ कोई भयंकर रोग एक साथ प्रगट होता है उसीप्रकार अब भी आपके जीतनेके लिये आपके घरमें ही कोई बाकी रह गया है जो कि अब प्रगट हुआ है ॥ ३९ ॥ आपने यह सब बाहरका मंडल जीत-लिया है परंतु अंतर्मंडलकी विशुद्धता अर्थात् घरके लोगोंकी अनुकूलता अबतक भी कुछ नहीं हुई

त्थानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥ ३९ ॥ वहिर्मंडलमेवासीत्परिक्रांतमिदं त्वया । अतर्मंडलसशुद्धिर्मनाग्नाद्यापि जायते ॥ ४० ॥ जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युत्थिताश्च सजातीया विघाताय न नु प्रभोः ॥ ४१ ॥ स्वपक्षैरेव तेजस्वी महानप्युपरुध्यते । प्रत्यर्कमर्ककांतेन ज्वलतेदमुदाहृत ॥ ४२ ॥ विवलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्ण प्रतिश्रय । दड. परश्वधस्येव निवर्हयति पार्थिव ॥ ४३ ॥ भ्रातरोऽमी तवाजय्या वलिनो मानशालिन । यवीयॉस्तेषु धौरेयो धीरो बाहुवली वली ॥ ४४ ॥ एकोनशतसख्यास्ते सोदर्या वीर्यशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिता: ॥ ४५ ॥ तदत्र प्रतिकर्त्तव्यमाशु चक्रधर त्वया । ऋणव्रणाग्निशत्रूणा शेष नोपेक्षते कृती ॥ ४६ ॥ राजन् राजन्वती भूयात्त्वयैवेय वसुधरा । माभूद्राजवती तेषा भूम्ना

है ॥ ४० ॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु जीत लिये हैं तथापि आपके भाइयोंने आपको नमस्कार नहीं किया है, वे आपकी बराबरी करनेके लिये तैयार हुये हैं, वे आपके सजातीय अर्थात् भाई हैं इसलिये वे आपके द्वारा नाश करने योग्य भी नहीं हैं ॥ ४१ ॥ तेजस्वी पुरुष वडा होनेपर भी अपने पक्षवाले अर्थात् सजातीय लोगोंसे रोका जा सकता है जैसे जलती हुई सूर्यकांता मणिसे सूर्यका मंडल छिप जाता है यही इसका उदाहरण है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार बलरहित दंड कुल्हाडीकी तीव्र सहायता पाकर अपना जातिवाला होनेसे वृक्षको काट डालता है उसीप्रकार अपना भाई निर्वल होकर भी तीव्र सहायता पाकर राजाका नाश कर देता है ॥ ४३ ॥ अतिशय वलवान् और अभिमानी ये आपके भाई अजेय हैं और उनमेंभी अतिशय युवा (जवान) धीरवीर और वलवान् बाहुबली मुख्य है ॥ ४४ ॥ वे आपके निन्यानवे भाई वडे ही वलवान् हैं, आदिगुरु श्री वृषभदेव भगवानको छोडकर अन्य किसीको नमस्कार नहीं करेंगे यही वे निश्चय कर बैठे हैं ॥ ४५ ॥ इसलिये हे चक्रधर ! आपको इसके बदलेका उपाय वहुत शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य ऋण [कर्ज] घाव, अग्नि और शत्रु इनमेंसे जो थोडा भी वाकी रह जाय तो उसकी भी उपेक्षा नहीं करते हैं अर्थात् उसका भी नाश कर डालते हैं ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! यह वसुंधरा [अनेक

द्वैराज्ये स्थिता ॥ ४७ ॥ त्वयि राजनि राजोक्तिर्देव नान्यत्र राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा बिभ्रतु कथं ॥ ४८ ॥ देव त्वामनुवर्तन्तां भ्रातरो धूतमत्सरा । ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनं ॥ ४९ ॥ त्वच्छासनहरा गत्वा सोपायमुपजल्प्य तान् । त्वदाज्ञानुवशान् कुर्युर्विगृह्य त्रूयुर-न्यथा ॥ ५० ॥ मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेयाद्यदि ते वशं । स नाशयेद्ध्रुतात्मानमात्मगृह्यं च राजकं ॥ ५१ ॥ राज्यं कुलकलत्रं च नेष्टं साधारण

रत्नोंको धारण करनेवाली) पृथ्वी आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजाके द्वारा पालन की जानेवाली हो, आपके भाई वहुत हैं इसलिये उनके संवंधसे अनेक स्वामी होनेसे जिसकी स्थिति बिगडगई है ऐसी होकर केवल नाममात्रकेलिये राजाओंके द्वारा पालन की जानेवाली न हो, भावार्थ– अनेक राजा होनेसे पृथ्वीकी स्थिति विगड जाती है और एक ही स्वामी होनेसे उसकी स्थिति अच्छी बनी रहती है ॥ ४७ ॥ हे देव ! आप महाराज होते हुये राजा यह शब्द दूसरी जगह सुशो-भित नहीं होता, क्योंकि सिंहके रहतेहुये हरिण मृगेंद्र नामको कैसे धारण कर सकते हैं ? भावार्थ– हरिणोंके स्वामीका नाम मृगेंद्र है परंतु सिंह ही मृगेंद्र कहलाता है ॥४८॥ हे देव ! आपके भाई अपनी अपनी ईर्षा छोडकर आपके अनुकूल रहें, क्योंकि आप इस चतुर्थकालमें मुख्य हैं तथा सवसे वडे हैं इसलिये उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रानुसार है ॥४९॥ आपके दूत जाकर युक्तिके साथ वातचीत कर आपके आज्ञाकारी बनावें; यदि वे आज्ञाकारी न हों तो उनसे लडनेकेलिये कहें ॥ ५० ॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश न होगा तो वह दुख है कि अपनेको तथा उसकी सहायता करनेवाले राजाओंके समूहको भी नाश करेगा ॥ ५१ ॥ राज्य और विवाहित कुलवधूयें ये दो पुरुषोंके आधीन कभी नहीं होते हैं अर्थात् इनका भोगनेवाला एक ही होता है, जो इनका उपभोग दूसरोंके साथ साथ करता है वह मनुष्य नहीं है उसे पशु समझना चाहिये ॥ ५२ ॥ इस

द्वयं । भुक्ते सार्द्धं परैर्यस्तन्न नरः पशुरेव सः ॥ ५२ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमतु ते । यांतु वा शरणं देवं त्रातारं जगतां जिनं ॥ ५३ ॥ न तृतीया गतिस्तेषामेषैवा द्वितयी गतिः । प्रविशतु त्वदास्थान वन वामी मृगैः समं ॥ ५४ ॥ स्वकुलान्युल्मुकानीव दहन्त्यननुवर्तनैः । अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्यानदथु' पर ॥ ५५ ॥ प्रशांतमत्सराः शांतास्त्वा नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधंता त्वत्प्रसादाभिकाक्षिण. ॥ ५६ ॥ इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चुक्रोध तत्क्षण ॥ ५७ ॥ आरुष्टकलुषा दृष्टिं क्षिपन्दिक्षिवदिग्बलिं । सधूमामिव कोपाग्नेः शिखा भ्रुकुटिमुत्क्षिपन् ॥ ५८ ॥ भ्रातृभांडकृतामर्पविषवेगमिवोद्वमन् । वाक्छलेनोच्छलन्रोपाद्भाषे परुषा गिरः ॥ ५९ ॥ किं किमाध्य दुरात्मानो भ्रातरः

विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको नमस्कार करें या जगतको रक्षा करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवकी शरण जायं ॥ ५३ ॥ आपके भाइयोंकी अन्य कोई तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपकी सेनामें आकार मिलें अथवा हिरणोंके साथ साथ वनमें जाकर रहें ॥ ५४ ॥ सजातीय लोग अर्थात् भाई भाई परस्पर विरुद्ध होकर अंगारेके समान जलाते रहते हैं और वे ही लोग एक दूसरेकी सलाहमें रहकर अर्थात् परस्पर मिलकर नेत्रोंको अतिशय आनंद देते हैं ॥ ५५ ॥ इसलिये हे देव ! ये आपके भाई परस्पर ईर्षाभाव छोड शांत होकर तथा मस्तक नवाकर आपको नमस्कार करें और आपकी प्रसन्नताकी अभिलाषा रखते हुये सदा सुखी रहें ॥ ५६ ॥ इसप्रकार शास्त्र जाननेवाले बुद्धिमान पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्तीने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार किया और वह उसी क्षणमें क्रोधित हुआ ॥ ५७ ॥ उसने क्रोधसे लाल हुई अपनी दृष्टि दिशाओंको बलि देनेके समान सब दिशाओंमें फेंकी और धूम सहित क्रोधरूपी अग्निकी शिखाके समान अपनी भ्रकुटियां ऊंची चढाईं ॥ ५८ ॥ भाईरूपी मूलधनपर कियेहुये ईर्षारूपी विषके वेगको मानों वचन कहनेके बहानेसे उगलताहुआ और क्रोधसे उछलताहुआ वह चक्रवर्ती नीचेलिखे अनुसार कठिन वचन कहने

प्रणता न मा । पश्य मद्दंडचडोल्कापातात्तान् शल्कसात् कृतान् ॥ ६० ॥ अदृष्टमश्रुतं कृत्यमिदं वैरमकारणं । अवध्याः किलकुल्यत्वादिति तेषा मनीषित ॥ ६१ ॥ यौवनोन्मादजस्तेषा भटवातोस्ति दुर्मदः । ज्वलचक्राभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥ ६२ ॥ अकरा भोक्तुमिच्छति गुरुदत्तामिमा तके । तत्किंभटावलेपेन भुक्तिं ते श्रावयंतु मे ॥ ६३ ॥ प्रतिशय्यानिपातेन भुक्तिं ते साधयतु वा । शितास्त्रकटकोत्सगपतितागा रणागणे ॥ ६४ ॥ क्क वय जितजेतव्या भोक्तव्ये संगताः क ते । तथापि सविभागोऽस्तु तेषा मदनुवर्तने ॥ ६५ ॥ न भोक्तुमन्यथाकार महीं तेभ्यो ददाम्यह । कथकार-

---

लगा ॥ ५९ ॥ हे पुरोहित ! क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे नमस्कार नहीं करते हैं ? अच्छा तो मेरे दंडरत्नरूपी प्रचंड उल्कापातसे उनके कियेहुये टुकडे टुकडे तू शीघ्र ही देख ॥ ६० ॥ हे पुरोहित ! बिना कारणके कियाहुआ यह उनका वैर देखने और सुनने योग्य नहीं है क्योंकि वे अबतक यही समझते हैं कि हम एक कुलमें उत्पन्न हुये हैं इसलिये अवध्य हैं अर्थात् मारने योग्य नहीं हैं ॥६१॥ यौवनकी उन्मत्ततासे उन्हें स्वयं योद्धा होनेका कठिन वायुका रोग हुआ है इसलिये जलतेहुये चक्रके संतापसे उत्पन्न हुआ पसीना ही उस रोगका उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिता श्रीवृषभदेवकी दी हुई पृथ्वीको बिना करदिये ही भोगना चाहते हैं और वह भी केवल योद्धापनेके अहंकारसे ही भोगना चाहते हैं, अच्छा तो वे अब मुझसे पृथ्वी लें और हम ही उसके भोगनेवाले हैं ऐसा लोगोंको सुनावें ॥६३॥ अथवा लडाईके मैदानमें कठोर शस्त्ररूपी कांटोंके ऊपर जिनका शरीर पडाहुआ है ऐसे वे मेरे भाई प्रतिशय्या अर्थात् रणशय्यापर पडकर भावार्थ—मरकर राज्यको ग्रहण करें ॥६४॥ कहां तो जीतनेयोग्य सबको जीतनेवाला मैं और कहां थोडेसे क्षेत्रमें इकट्ठे हुये अर्थात् थोडेसे क्षेत्रके स्वामी वे सबलोग ? तथापि यदि वे मेरी आज्ञानुसार चलें तो मैं उन्हें भी विभागकर अर्थात् बांटकर यह पृथ्वी दे सकता हूं ॥ ६५ ॥ इसके सिवाय और किसीतरह उनके भोगनेकेलिये यह पृथ्वी मैं नहीं दे सकता ? मैं क्या करूं यह चक्र ही उन्हें जीते बिना विश्राम नहीं लेता ॥ ६६ ॥ देखो यह भी एक बडी लोक

मिद चक्रं विश्रमं यात्यतज्जये ॥६६॥ इदं महदनाख्येयं यत्प्राज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाह्वोऽपि भजते विकृतिं कृती ॥ ६७ ॥ अबाहुबलिनानेने राजकेन नतेन किं । नगरेण गरेणव भुक्तेनापोदनेन किं ॥६८॥ किं किंकरैः करालास्त्रप्रतितार्जितशात्रवै । अनाज्ञावशमेतस्मिन्नवविक्रमशालिनि ॥६९॥ किं वा सुरभटैरेभिरुद्भटारभटीरसैः । मयैवमसमा स्पर्धां तस्मिन्कुर्वति गर्विते ॥ ७० ॥ इति जल्पति संरम्भाच्चक्रपाणावुपक्रम । तस्योपचक्रमे कर्तुं पुन. रित्थ पुरोहितः ॥ ७१ ॥ जितजेतव्यता देव घोपयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वशिना हि सः ॥ ७२ ॥ बालास्ते बालभावेन

निंदाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला और विचारशील ऐसे बाहुबलीकोभी विकार हुआ है अर्थात् वह भी दुष्टता करने लगा है ॥ ६७ ॥ अथवा बाहुबलीको छोडकर अन्य सब राजपुत्रोंने आकर नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके विना विषके समान यह नगर भी मिल गया तो भी इससे क्या लाभ है ॥ ६८ ॥ जो शील पराक्रमको धारण करनेवाला बाहुबली यदि मेरी आज्ञाके वशमें नहीं हुआ तो फिर भयंकर शस्त्रोंके द्वारा शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले इन मेरे सेवकोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ६९ ॥ अथवा महा अभिमानी यह बाहुबलि जब मेरे साथ अयोग्य ईर्षा कर रहा है तब जिनमें शूरवीरता रस अत्यंत उत्कृष्ट है ऐसे इन मेरे देवरूप योद्धाओंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ७० ॥ इसप्रकार जब वह चक्रवर्ती क्रोधसे युद्ध करनेका अभिप्राय प्रगट कर रहा था उस समय उसे शांत करनेकेलिये पुरोहितने नीचे लिखे अनुसार कहना प्रारंभ किया ॥ ७१ ॥ कि हे देव ! जीतनेयोग्य सबको जीतलिया ऐसी घोषणा करतेहुये भी आप क्रोधके वेगसे क्यों व्यर्थ ही जीतेगये ? जो जितेंद्रिय हैं उन्हें यह क्रोध तो सबसे पहिले जीतना चाहिये ॥ ७२ ॥ वे आपके भाई तो विचार रहित बालक हैं वे अपने बालस्वभावसे खोटे मार्गमें भी इच्छानुसार क्रीडा कर सकते हैं अर्थात् क्रोध मान आदि कर सकते हैं, परंतु जिसने काम क्रोध लोभ मान मद हर्ष इन छहों शत्रुओंको जीतलिया है ऐसे आपमें यह अंधकार ठहरने

वै ॥ ८५ ॥ बिभ्यता जननिर्वादादनुष्ठेयमिदं त्वया । स्थायुकं हि यशो लोके गत्वर्यो ननु सपदः ॥ ८६ ॥ इति तद्वचनाच्चक्री वृत्तिमारभटीं जहौ । अनुवर्तनसाध्या हि महता चित्तवृत्तयः ॥ ८७ ॥ आस्ता भुजबली तावद्यत्नासाध्यो महाभुजः । शेषैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृभिस्तद्विजिह्मताम् ॥ ८८ ॥ इति निर्द्धार्य कार्यज्ञान् कार्ययुक्तौ विविक्तधीः । प्राहिणोत्स निसृष्टार्थान् दूताननुजसन्निधिं ॥ ८९ ॥ गत्वा च ते यथोद्देश दृष्ट्वा तॉस्तान्यथोचित । जगु. सदेशमीशस्य तेभ्यो दूता यथास्थित ॥ ९० ॥ अथ ते सह संभूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानित्यूचुरारूढप्रभुत्वमदकर्कशाः ॥ ९१ ॥ यदुक्तमादिराजेन तत्सत्य नोऽभिसंमतं । गुरोरसन्निधौ पूज्यो ज्यायान्भ्राताऽनुजैरिति ॥ ९२ ॥ प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतपत्येप विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं

वश करनेका विचार छोड दिया, सो ठीक ही है क्योंकि वडे आदमियोंके चित्तकी वृत्ति उनके अनुसार मीठे और हितरूप वचन कहनेसे ही अनुकुल हो जाती है ॥ ८७ ॥ इससमय शूरवीर वाहुवलीको तो रहने दीजिये क्योंकि वह प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकेगा, हां शेष भाइयोंके द्वारा उसकी कुटिलताकी परीक्षा करूंगा ॥ ८८ ॥ इसप्रकार निश्चयकर कार्य करनेकी युक्तियोंमें जिसकी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती ऐसे भरतने कार्यको जाननेवाले और जिन्होंने लेख और जवानी कहनेकी सब बाते समझ लीं हैं ऐसे दूतोंको अपने छोटे भाइयोंके समीप भेजा ॥ ८९ ॥ वे दूत भरतकी आज्ञानुसार उनके समीप गये और उन्होंने उनकी योग्यताके अनुसार भरतकी भेजी हुई भेट देकर उनके दर्शन किये तथा भरतके कहे हुये सब समाचार उनसे कहे, तदनंतर वे सब भाई मिलकर ' क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ' इसकी परस्पर सलाहकर प्राप्त हुये राजपनेके अहंकारसे जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे राजकुमार दूतोंसे इसप्रकार कहने लगे ॥ ९१ ॥ कि जो भरत चक्रवर्तीने कहा है वह सत्य है और हम लोगोंको स्वीकार है क्योंकि पूज्य पिताके न होते हुये छोटे भाइयोंको वडा भाई ही पूज्य है ॥ ९२ ॥ परंतु समस्त संसारको देखने जाननेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विजयी होते हुये विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं यह हमारा ऐश्वर्य उन्हींका दिया

हि नः ॥ ९३ ॥ तदत्र गुरुपादाज्ञातंत्रा न स्वैरिणो वयं । न देयं भरतेशेन नादेयमिह किंचन ॥ ९४ ॥ यत्तु नः संविभागार्थमिदमामंत्रणं कृतं । चक्रिणा तेन सुप्रीता प्रीणाश्च वयमागलात् ॥ ९५ ॥ इति सत्कृत्य तान्दूतान् सन्मानैः प्रभुवत्प्रभौ । विहितोपायनाः सद्य' प्रतिलेखैर्व्यसर्जयन् ॥९६॥ दूतसात्कृतसन्मानां. प्रभुसात्कृतवीचिका । गुरुसात्कृत्यतत्कार्यं प्रापुस्ते गुरुसन्निधिं ॥९७॥ गत्वा च गुम्मद्राक्षुर्मिनोचितपरिच्छदा । महागिरिमिवोत्तुग कैलासशिखरालय ॥९८॥ प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निद वाक्य कुमारा मारविद्विप ॥ ९९ ॥ त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानस्त्वत्त'

हुआ है ॥ ९३ ॥ इसलिये हमलोग यहां रहते हुये भी पिताके चरणकमलोंकी आज्ञाके आधीन हैं स्वतंत्र नहीं हैं, इस संसारमें हमें भरतेश्वरके साथ न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥ ९४ ॥ तथा चक्रवर्तीने विभाग कर देनेकेलिये जा हमको यह बुलाना दिया है अर्थात् वुलाया है उससे हम लोग वहुत संतुष्ट हुये हैं तथा गलेतक तृप्त हो गये हैं ॥ ९५ ॥ इसप्रकार राजाओंको करने योग्य आदर सत्कारके द्वारा उन दूतोंका सत्कार कर तथा भरतकेलिये अनेक तरहकी भेंट देकर और आये हुये पत्रका उत्तर लिखकर राजकुमारोंने उन दूतोंको शीघ्र ही विदा किया ॥ ९६ ॥ दूतोंका आदर सत्कार कर तथा भरतके लिये उत्तर देकर और भरतके कार्यको पूज्य पितापर सौंपकर वे सब राजकुमार पूज्य पिताके समीप जा पहुंचे ॥ ९७ ॥ जिनके समीप थोडी और उचित सामिग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने महा मेरु पर्वतके समान कैलाशके शिखरपर विराजमान भगवान वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥ ९८ ॥ उन्होंने विधि पूर्वक नमस्कार किया, विधि पूर्वक पूजन की और फिर वे राजकुमार कामदेवको नाश करनेवाले भगवान वृषभदेवसे नीचे लिखे वाक्योंमें प्रार्थना करनेलगे ॥९९॥ कि हे देव ! आपसे ही हम लोगोंने जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पाई है और अव भी आपकी प्रसन्नताकी ही इच्छा रखते हैं अव हम आपको छोडकर अन्य किसीकी उपासना करना नहीं चाहते ॥ १०० ॥ इस संसारमें लोग " यह पिताजीका प्रसाद है " इसप्रकार केवल कहते हैं

प्राप्ताः परां श्रिय । त्वं नसंदेहिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे ॥ १०० ॥ गुरुप्रसाद इत्युच्चैर्जनो वक्ति केवलं । वयं तु तद्रसाभिज्ञास्त्वत्प्रसादोर्जिताश्रियः ॥ १०१ ॥ त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणां । त्वद्वच.किंकराणा नो यद्वा तद्वाऽस्तु नापर ॥ १०२ ॥ इति स्थिते प्रणामार्यं भरतोऽस्मान् जुहूषति । तत्रात्र कारणं विद्मः किं मदः किमु मत्सरः ॥ १०३ ॥ युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्ललितं शिर । नान्यप्रणमने देव धृतिं बध्नाति जातु नः ॥ १०४ ॥ किमम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरं वारि मानसे । निपेव्य राजहंसोऽयं रमतेऽन्यसरोजले ॥ १०५ ॥ किमप्सरःशिरोजातसुमनोगन्धलालितः । तुम्बीवनातमभ्येति प्राणान्तेऽपि मधुव्रतः ॥१०६॥ मुक्ताफलाच्छमापीय गगनाम्बु नवाम्बुदात् । शुष्यत्सरोम्बु किं वाञ्छेदुदन्यन्नपि चातकः ॥१०७॥

परंतु आपके प्रसादसे ही जिन्हें संपत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग तो इस वाक्यके मर्मको बहुत अच्छी तरह अनुभव कर चुके हैं ॥ १०१ ॥ आपको प्रणाम करनेमें तल्लीन, आपकी प्रसन्नताकी आकांक्षा करनेवाले और आपके वचनके ही सेवक ऐसे हम लोगोंका चाहे जो हो परंतु अब हम किसी दूसरेको स्वामी बनाना नहीं चाहते ॥ १०२ ॥ ऐसा होनेपर भी महाराज भरत हम लोगोंको प्रणाम करानेके लिये बुलाता है, इसमें क्या कारण है ? भरतका अहंकार है ? अथवा वह हमसे ईर्षा करता है सो हम लोग कुछ नहीं जानते ॥ १०३ ॥ हे देव ! यह हमारा मस्तक आपको प्रणाम करनेके अभ्याससे उत्पन्न हुये आनंदके वश हो रहा है सो अब यह अन्य किसीको प्रणाम करनेकेलिये कभी भी इच्छा नहीं करता है ॥ १०४ ॥ क्या यह राजहंस जो मानस सरोवरमें कमलोंकी परागके समूहसे कुछ कुछ पीले हुये जलकी सेवा कर चुका है वह क्या अब किसी अन्य सरोवरके जलमें क्रीडा करेगा ? ॥ १०५ ॥ क्या देवांगनाओंके केशोंमें लगे हुये फूलोंके सुगंधसे संतुष्ट हुआ भ्रमर प्राण जानेपर भी तूंबीके वनमें जाता है ? ॥ १०६ ॥ अथवा जो चातक नये बादलसे गिरे हुये मोतियोंके समान स्वच्छ ऐसे आकाशके अधर पानीको पी चुका है वह क्या खूब प्यासा होकर भी सूखते हुये किसी सरोवरके मैले पानीके पीनेकी इच्छा करेगा ? ॥ १०७ ॥ इसप्रकार जिनके मस्तक

इति युष्मत्पदाब्जन्मरजोरांजितमस्तकाः । प्रणंतुमसदातानामिहामुत्र च नेश्महे ॥ १०८ ॥ परप्रणामविमुखीं भयसंगत्रिवर्जितां । वीरदीक्षा वयं धर्तुं भवत्पार्श्वमुपागताः ॥ १०९ ॥ तदेव कथयास्माक हित पथ्य च वर्त्म यत् । येनेहामुत्र च स्यामस्त्वद्भक्तिदृढवासनाः ॥ ११० ॥ परप्रणामसजातमान भंगभयातिगा । पदवीं तावकीं देव भवेमहि भवे भवे ॥१११॥ मानखडनसंभूतपरिभूतिभयातिगाः । योगिनः सुखमेधंते वनेषु हरिभिः सम ॥११२॥ ब्रुवाणानिति साक्षेप स्थापयन्पथि शाश्वते । भगवानिति तानुच्चैरन्वशादनुशासिता ॥ ११३ ॥ महामाना वपुष्मंतो वयस्सत्वगुणान्विताः । कथमन्यस्य

आपके चरण कमलोंकी परागसे रंग रहे हैं ऐसे हम लोग इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें आप्त रहित ऐसे देव मनुष्योंको नमस्कार करनेके लिये तैयार नहीं हैं ॥ १०८ ॥ इसलिये जिसमें किसी अन्य अदेवको नमस्कार नहीं करना पडता और जो भयके संवंधसे सदा रहित है ऐसी वीर-दीक्षा धारण करनेकेलिये हम लोग आपके समीप उपस्थित हुये हैं ॥ १०९ ॥ इसलिये हे देव ! जो मार्ग कल्याण करनेवाला और सुख देनेवाला है वह हम लोगोंको कहिये कि जिससे हम लोगोंमें इस-लोक और परलोक दोनों लोकोंमें आपकी भक्तिकी मजबूत वासना भर जाय ॥ ११० ॥ हे देव ! जिसमें अन्यको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुये मानभंगका भय बिल्कुल नहीं है ऐसी आपकी पदवी हम लोगोंको जन्म जन्ममें प्राप्त हो ॥ १११ ॥ जो मानके खंडन होनेसे उत्पन्न हुये तिरस्कारके भयसे सर्वदा रहित है ऐसे योगी लोग वनोंमें सिंहोंके साथ विहार करते हुये सदा सुखी रहते हैं ॥ ११२ ॥ इसप्रकार तिरस्कार पूर्वक कहते हुये उन राजकुमारोंको विनाशरहित ऐसे मोक्षमार्गमें स्थापन करत हुये जगतगुरु भगवान वृषभदेव इसप्रकार उपदेश देने लगे ॥ ११३ ॥ कि अतिशय मान और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य बल और गुणोंसे विभूषित ऐसे तुम लोग भद्र [उत्तम] हाथीके समान दूसरेके सेवक कैसे हो सकोगे ॥ ११४ ॥ हे राजकुमारो ! अवश्य नाश होनेवाले इस राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा इस चंचल जीवितसे क्या प्रयोजन है और ऐश्वर्य तथा वलको दूषित

सेवाद्या यूय भद्रा द्विपा इव ॥ ११४ ॥ भगिना किमु राज्येन जीवितेन चलेन ।किं । किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यवलदूषिते ॥ ११५ ॥ किं वलैर्वलिना गम्यैः किं हार्यैर्वस्तुवाहनैः । तृष्णाग्निवोधनैरेभिः किं धनैरिंधनैरिव ॥ ११६ ॥ भुक्त्वाऽपि सुचिरं कालं यैर्न तृप्तिः श्रम परं । विषयैस्तैरलं भुक्तैर्विपमिश्रैरिवाशनैः ॥ ११७ ॥ किं च भो विषयास्वाद. कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति व. । स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्यभिनभव ॥ ११८ ॥ यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबाधवः । कलत्र सर्वभोगीणा धरा राज्य धिगीदृश ॥ ११९ ॥ भुनक्तु नृपशार्दूलो भरतो भरतावनिं । यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्रालं वोऽतितिक्षया ॥ १२० ॥ तेनाऽपि त्याज्यमेवेदं राज्यं भागि यदातनः । हेतोरशाश्वतस्यास्य युध्यध्वे वत किं मुधा ॥ १२१ ॥ तदलं सद्र्या

करनेवाली इस यौवनकी उन्मत्ततासे भी क्या प्रयोजन है ॥ ११५ ॥ वलवान लोग जिसका तिरस्कार कर सकते हैं ऐसी सेनासे भी क्या प्रयोजन है तथा जो चोरीमें जा सकते हैं ऐसे सोना चांदी हाथी घोडा रथ पालकी आदि वस्तुओंसे भी क्या प्रयोजन है और इंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको वढानेवाले ऐसे धनसे भी क्या प्रयोजन निकलता है ? ११६ ॥ वहुत दिनतक भोगकर भी जिनसे कभी तृप्ति नहीं होती उलटा अधिक परिश्रम होता है ऐसे विप मिले हुये अन्नके समान वे भोगेहुये विषय अव पूर्ण हों ॥ ११७ ॥ हे पुत्रों ! तुमने जिसका कभी उपभोग नहीं किया है क्या ऐसा कोई भोग उपभोग संसारमें वाकी है ? ये सव भोग उपभोग वे ही हैं जिन्हें तुम अनेक वार भोग चुके हो, फिर भला तुम्हें इनसे तृप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ११८ ॥ जिसमें पुत्र भाई आदि सव शत्रु हो जाते हैं, शस्त्र ही मित्र वनाने पडते हैं और सवके भोगनेयोग्य ऐसी पृथ्वी ही स्त्री प्राप्त होती है ऐसे इस राज्यको भी धिक्कार हो ॥ ११९ ॥ जवतक पुण्यका उदय है तवतक सव राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतको इस भरतक्षेत्रकी पृथ्वीका उपभोग करने दो, इसमें तुम लोग क्यों क्रोध करते हो ॥१२०॥ वह भरत भी इस विनश्वर राज्यको कभी न कभी अवश्य ही छोडेगा इसलिये खेदके साथ कहना पडता है कि अवश्य नष्ट होनेवाले इस राज्यके लिये व्यर्थ ही तुम लोग क्यों लडते हो ॥ १२१ ॥

दध्व यूय धर्ममहातरोः । दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिमहाफल ॥ १२२ ॥ पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत् । तद्धि महाभिमानाना तपो मानाभिरक्षण ॥ १२३ ॥ दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेय प्राणवल्लभा । इति ज्यायस्तपोराज्यमिद श्लाघ्यपरिच्छिद ॥ १२४ ॥ इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यं पर निर्वेदमागताः । महाप्राव्राज्यमास्थाय निष्क्रातास्ते गृहाद्वनं ॥ १२५ ॥ निर्दिष्टा गुरुणा साक्षाद्दीक्षा नववधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपार्थिवाः ॥ १२६ ॥ या कचग्रहपूर्वेण प्रणयेनातिभूमिगा । तस्याः पाणिद्वयीं प्राप्य सुखमतरुपागताः ॥ १२७ ॥ तपस्तीव्रमथासाद्य ते चक्रुः सुर्नृपर्ययः ।

इसलिये ईर्षा करनस कुछ लाभ नहीं है तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो सदा प्रफुलित रहता है और जिसपर मोक्ष रूपी महाफल लगता है ॥ १२२ ॥ जो दूसरेकी सेवा करनेसे उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है और अन्य लोग जिसकी सेवा अवश्य करते हैं ऐसा तपश्चरण धारण करना ही महा अभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोंके अभिमानकी रक्षा करनेवाला है ॥ १२३ ॥ जिसमें दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, मूलगुण और उत्तर गुण ही सेवक हैं और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इसप्रकार जिसकी सब सामिग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपश्चरण रूपी राज्य ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ १२४ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवके वाक्य सुनकर उन राजकुमारोंको बडा वैराग्य हुआ और वे महा दीक्षा धारणकर घर छोडकर वनको चले गये ॥ १२५ ॥ भगवान वृषभदेवके द्वारा कही हुई दीक्षाको साक्षात् नई स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अच्छे जान पडते थे ॥ १२६ ॥ जिसप्रकार कोई राजकन्या केश पकडकर बडे प्रणयके साथ समीप आती है उसीप्रकार जिसमें पहिले केशलोंच करना पडता है और उत्तम नयोंसे अर्थात् शुद्ध नयोंसे काम लेना पडता है ऐसी समीपमें आई हुई दीक्षाके दोनों हाथ पाकर अर्थात् उसे ग्रहणकर वे राजकुमार अंतःकरणमें बडे ही सुखी हुये ॥ १२७ ॥

स्वतेजोरुद्धविश्वाशा ग्रीष्ममर्कांशवो यथा ॥ १२८ ॥ तेऽतितीव्रैस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनु दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णामिव दीप्तां तपोगुणैः ॥ १२९ ॥ स्थिताः सामयिके वृत्ते जिनकल्पविशेषिते । ते तेपिरेतपस्तीव्र ज्ञानशुद्धयुपबृंहित ॥ १३० ॥ वैराग्यस्य परा काष्ठामारूढास्ते युवेश्वराः । स्वसाच्चक्रुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुत्सुकाः ॥ १३१ ॥ तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता मुक्तिलक्ष्म्यां कृतस्पृहाः । ज्ञानसपत्प्रशक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥ १३२ ॥ द्वादशांगश्रुतस्कंधमधीत्यैते महाधियः । तपोभावनयात्मानमलंचक्रु प्रकृष्टया ॥ १३३ ॥ स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणा विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायाधियमादधुः ॥ १३४ ॥ आचारांगेन निःशेष साध्वाचारमवेदिषु । चर्याशुद्धिमतो भंजुरतिक्रमविवर्जिता ॥ १३५ ॥ ज्ञात्वा सूत्रकृत

अथानंतर–जिसप्रकार गरमीमें सूर्यकी किरणें दैदीप्यमान होती हैं उसीप्रकार वे उत्तम ऋषि राजकुमार तीव्र तपश्चरण धारणकर अपना तेज सब दिशाओंमें फैलाते हुये बडे ही दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ १२८ ॥ अत्यंत तीव्र तपश्चरणके संबंधसे उनका शरीर अत्यंत कृश होकर भी तपश्चरणके गुणोंसे अत्यंत दैदीप्यमान होगया था और ऐसा जान पडता था मानों तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा गया ही हो ॥ १२९ ॥ वे लोग जिनकल्प नामके सामयिक चारित्रमें तल्लीन हुये और ज्ञानकी विशुद्धतासे अत्यंत वृद्धिको प्राप्त हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥ १३० ॥ वे तरुण राजकुमार वैराग्यको प्राप्त हुये और राज्यलक्ष्मीकी इच्छा छोडकर उन्होंने तपश्चरणरूपी लक्ष्मी अपने वश की ॥१३१॥ वे राजकुमार तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन किये जा रहे थे, मुक्ति लक्ष्मीके प्राप्त होनेकी इच्छा कर रहे थे, और ज्ञानरूपी संपत्तिमें आसक्त हो रहे थे इसप्रकार वे राज्यलक्ष्मीको बिल्कुल भूलगये थे ॥ १३२ ॥ उन महा बुद्धिमानोंने द्वादशांग श्रुतस्कंधका अध्ययन किया था और उत्तम तपश्चरणकी भावनासे आत्माको सुशोभित किया था ॥ १३३ ॥ स्वाध्याय करनेसे मन वश हो जाता है और मन वश होजानेसे इंद्रियोंका निग्रह होता है, यही समझकर उन धीर वीर राजकुमारोंने अपनी बुद्धि स्वाध्याय करनेमें लगाई थी ॥१३४॥ आचारांगका स्वाध्यायकर उन्होंने मुनियोंके समस्त

सूक्तं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः । धर्मक्रियासमाधाने ते दधुः सूत्रधारताम् ॥ १३६ ॥ स्थानाध्ययनमध्यायशतैर्गंभीरमब्धिवत् । विगाह्य तत्त्वरत्नानामयुस्ते भेदमञ्जसा ॥ १३७ ॥ समवायाख्यमंगं ते समधीत्य सुमेधसः । द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायमबुद्धत ॥ १३८ ॥ स्वभ्यस्तात्पंचमादंगाद्व्याख्याप्रज्ञप्तिसंज्ञितात् । साध्ववादीधरन् धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी ॥ १३९ ॥ ज्ञात्वा धर्मकथां सम्यग्बुध्वा बोधूनबोधयन् । धर्म्यां कथामसंमोहात्ते यथोक्तां महर्षिणा ॥ १४० ॥ तेऽधीत्योपासकाध्यायमंगं सप्तममूर्जितं । निखिलं श्रावकाचारं श्रोतृभ्यः समुपादिशन् ॥ १४१ ॥ तथांतकृद्दशादंगात् मुनीनंतकृतो दश । तीर्थंप्रति विदामासुः सोढासह्योपसर्गकान् ॥१४२॥ अनुत्तरविमानौपपादिकान्दश तादृशान् । शमिनो नवमादंगाद्विदांचक्रुर्विदांवराः॥१४३॥

आचरण जाने और आचरण जानकर अतिचार रहित शुद्ध चारित्र धारण किया ॥१३५॥ सूत्रकृत नामके दूसरे समस्त अंगको शब्द और अर्थ दोनों तरहसे अर्थात् अर्थसहित जानकर धर्मक्रियाओंके धारण करनेमें सबसे अग्रेसर (मुख्य) हुये ॥ १३६ ॥ समुद्रके समान सैकडों अध्यायोंसे गंभीर ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अंगमें प्रवेशकर अर्थात् उसे जानकर उन्होंने तत्त्वरूपी रत्नोंके भेद बहुत शीघ्र जान लिये ॥ १३७ ॥ उन सुबुद्धिमान मुनियोंने समवाय नामका चौथा अंग पढा और उससे उन्होंने समस्त द्रव्योंका समूह अच्छी तरह जान लिया ॥१३८॥ उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका पांचवां अंग पढा और उसे पढकर उन धीर वीर पुरुषोंने अनेक तरहके प्रश्न उत्तर अच्छी तरह जानलिये ॥१३९॥ उन्होंने धर्मकथा नामका छट्ठा अंग पढा और उसे अच्छी तरह जानकर बडे बडे ऋषियोंके द्वारा कही हुई धर्म संबंधी कथायें न जाननेवाले लोगोंको बिना किसी गलतीके समझाई ॥ १४० ॥ बहुत सुंदर ऐसा उपासकाध्ययन नामका सातवां अंग भी उन्होंने पढा और फिर श्रोताओंके लिये पूर्ण श्रावकाचारका उपदेश दिया ॥ १४१ ॥ अंतकृतदश नामका आठवां अंग पढकर प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें असह्य उपसर्गोंको जीतकर होनेवाले अंतकृत मुनियोंका हाल जानलिया॥१४२॥ज्ञाताओं में श्रेष्ठ ऐसे उन राजकुमारोंने अनुत्तर विमानौपपादिक नामका नौवां अंग पढकर असह्य उपसर्गोंको जीतकर

प्रश्नव्याकरणात्प्रश्नमुपादाय शरीरिणां । सुखदु.खादिसम्प्राप्तिं व्याचक्रुस्ते समाहिता. ॥ १४४ ॥ विपाकसूत्रनिर्ज्ञातसदसत्कर्मपक्तय. । बद्धकक्षास्तदुच्छित्तौ तपश्चक्रुरतन्द्रिताः ॥ १४५ ॥ दृष्टिवादेन निर्ज्ञातदृष्टिभेदा जिनागमे । ते तेनु परमा भक्तिं पर संवेगमाश्रिता. ॥ १४६ ॥ तदन्तर्गतनि.शेषश्रुतत्त्वावधारिण. । चतुर्दशमहाविद्यास्थानान्यध्यैषत क्रमात् ॥१४७॥ ततोऽमी श्रुतनि:शेषश्रुतार्था. श्रुतचक्षुष. । श्रुतार्थभावनोत्कर्षाद्दधु. शुद्धिं तपोविधौ ॥ १४८ ॥ वाग्देव्या सममालापो मया मौनमनारत । इतीर्ष्यतीव सताप व्यधत्तेषु तप.क्रिया ॥ १४९ ॥ तनुतापमसह्य ते सहमाना मनस्विन. ।

अनुत्तर विमानमें उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक तीर्थंकरके समयके दश दश मुनियोंका हाल जाना ॥१४३॥ प्रश्नव्याकरण नामका दशवां अंग पढकर वे शुद्ध अंतःकरणवाले मुनि जीवोंके सब प्रश्न समझकर उनके सुख दुःख आदिकी प्राप्तिका वर्णन करने लगे ॥ १४४ ॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवें अंगसे उन्होंने समस्त शुभ अशुभ कर्मकी प्रकृतियां जानीं और फिर उनके नाश करनेके लिये आलस रहित तैयार होकर तपश्चरण करने लगे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवें अंगसे उन्होंने समस्त मत मतातरोंके भेद जाने और फिर वे अत्यंत विरक्त होकर जिनागममें उत्कृष्ट भक्ति करनेलगे ॥ १४६ ॥ बारहवें अंगके अंतर्गत समस्त श्रुतज्ञानसे तत्त्वोंका निश्चय करनेवाले उन मुनियोंने महाविद्याके चौदह स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोंको भी क्रमसे पढा ॥ १४७ ॥ तदनंतर श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने समस्त पदार्थ जान लिये हैं तथा श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे राजकुमार अर्थरूप श्रुतज्ञानकी उत्कृष्ट भावनासे अपने तपश्चरणमें बहुत ही शुद्धि धारण करने लगे ॥ १४८ ॥ सरस्वती देवीके साथ तो निरंतर बात चीत करते रहते हैं और मेरे साथ सदा मोन धारण करते हैं इसप्रकारकी ईर्षा करती हुई ही मानों तपश्चरणरूपी किया उन्हें बहुत संताप देती थी, भावार्थ—उन्होंने अपना तपश्चरण बहुत बढा लिया था ॥ १४९ ॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुये वे मुनिलोग बहुत दिनतक बाह्य और अंतरंग दोनों प्रकारका कठिन तपश्चरण करने लगे ॥ १५० ॥ गरमियोंके दिनोंमें पर्वतों-

वाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥ १५० ॥ ग्रीष्मेऽर्ककरसंताप सहमानाः सुदुःसह । ते भेजुरातपस्थानमारूढागिरिमस्तकाः ॥१५१ ॥ शिलातलेषु तप्तेषु निवेशितपदद्वया.। प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रग्रावगोचरे ॥ १५२ ॥ ततपांशुचिता भुमिर्दावदग्धा वनस्थली । याता जलाशयाः शोष दिशो धूमाधकारिता. ॥ १५३ ॥ इत्यत्युग्रतरे ग्रीष्मे सप्लुष्टगिरिकानने । तस्थुरातपयोगेन ते सोटजरठातपाः ॥ १५४ ॥ मेघावकारितागेषदिक्चक्रे जलदागमे । योगिनो गमयति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥ १५५ ॥ मुसलस्थूलधाराभिर्वर्षत्सु जलवाहिषु । निशामनैषुरव्यथ्या वार्षिकीं ते महर्षयः ॥१५६॥ ध्यानगर्भगृहान्तःस्था धृतिप्रावारसंवृताः । सहते स्म महासत्वास्ते वनाघनदुर्दिन ॥ १५७ ॥ ते हिमानीपरिक्लिष्टा तनुयष्टिं हिमागमे । दधुरभ्रावकाशेषु

के शिखरपर चढकर अत्यंत असह्य ऐसे सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुये वे अधिक गरमीके स्थानमें जा पहुंचते थे ॥ १५१ ॥ पर्वतके शिखरकी ऊपरकी चट्टानकी गर्म हुई पत्थरकी शिलापर अपने दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजायें लटकाकर खडे होते थे ॥ १५२ ॥ जिस गर्मऋतुमें समस्त पृथ्वी सूर्यकी किरणोंसे गर्म हुई धूलिसे भर रही है, वन सब दावानल अग्निसे जल गये हैं, तालाव सब सूख गये हैं, दिशायें सब धूऐंसे अंधेरी हो रही हैं इसप्रकारके अत्यंत कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन सब जलगये हैं ऐसी ग्रीष्म ऋतुमें तीव्र संताप सहन करते हुवे वे मुनि आतापन योग धारणकर खडे होते थे ॥ १५३–१५४ ॥ जिसमें वादल छा जानेसे सब दिशाओंके समूहमें अंधकार फैल गया है ऐसी वर्षाऋतुमें वे मुनि वृक्षोंके नीचे ही अपनी सब रात्रियां व्यतीत करते थे ॥ १५५ ॥ जिस समय वादलसे मूसलके समान मोटी धाराओंसे पानी वरसता था उस समय भी वे मुनि निश्चल होकर उन वर्षाऋतुकी रात्रियोंको व्यतीत करते थे ॥ १५६ ॥ ध्यान रूपी गर्भगृह अर्थात् भीतरी घरमें निवास करनेवाले तथा संतोष रूपी भारी वस्त्रको ओढे हुये वे महा वलवान मुनि वादलोंसे ढके हुये दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥ १५७ ॥ जाडेके दिनोंमें मौन धारण कर छायारहित चौपटेमें शयन करते हुये वे कुमार वर्फके समूहसे अत्यंत दुखी हुये अपने शरीरको

शयाना मौनमास्थिताः ॥ १५८ ॥ अनग्नमुषिता एव नग्नास्तेऽनाग्निसेविनः । धृतिसंवर्मितैरंगैः सेहिरे हिममारुतान् ॥ १५९ ॥ हिमानीषु त्रियामासु स्थगितास्ते हिमोच्चयैः । प्रवारितैरिवांगैः स्वैर्धीराः स्वैरमशेरत ॥ १६० ॥ त्रिकालविषय योगमास्थायैव दुरुद्वह । सुचिरं धारयति स्म धीरास्ते धृतियोगतः ॥ १६१ ॥ दधानास्ते तपस्तापमतर्दीप्त दुरासद । रेजुस्तरंगितैरंगैः प्रायोऽनुकृतवार्द्धयः ॥ १६२ ॥ ते स्वभुक्तोज्झित भूयो नैच्छन् भोगपरिच्छद । निर्भुक्तमाल्यनिःसार मन्यमाना मनीषिणः ॥ १६३ ॥ फेनोर्मिहिमसंध्याभ्रचल जीवितमगिनां । मन्वाना दृढमासक्तिं भेजुस्ते पथि शाश्वते ॥ १६४ ॥ ससारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैने मार्गे विमुक्त्यगे ते परा धृतिमादधुः ॥ १६५ ॥ इतोऽन्यदुत्तर नास्तीत्यारूढ-

---

लकडीके समान निश्चल धारण करते थे ॥ १५८ ॥ वे कुमार नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे सदा वस्त्रसे ढके हुये के समान निराकुल रहते थे और धैर्य रूपी कवचके द्वारा ढके हुये अपने शरीरसे ठंडी हवाओंको सहन करते रहते थे ॥ १५९॥ वे धीर वीर जाडेकी रात्रियोंमें वर्फसे जकडकर लकडीके समान निश्चल होकर भी स्वतंत्रतासे इसप्रकार सोते थे मानों उनका शरीर कपडोंसे ही ढका हो ॥ १६० ॥ वे धीरवीर इसप्रकार गर्मी वर्षा जाडे इन तीनों ऋतुओंमें योग धारणकर अपनी धीरताके कारण अत्यंत कठिन कठिन तपश्चरण बहुत दिनतक धारण करते थे ॥ १६१ ॥ अंतरंगमें दैदीप्यमान और अत्यंत कठिन ऐसे तपश्चरणरूपी तेजको धारण करते हुये वे राजकुमार तरंगोंके समान अपने हाथ पैर आदि अंगोंके द्वारा प्रायः समुद्रका अनुकरण करते हुयेके समान सुंदर जान पडते थे ॥ १६२ ॥ वे बुद्धिमान उपभोगकर छोडी हुई अपनी भोगोपभोगकी सामिग्रीको गलेमें पहिनकर फेंकी हुई फूलोंके मालाके समान निःसार मानते हुये फिर कभी उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥ १६३ ॥ " प्राणियोंका यह जीवन फेन, लहरें, ओस अथवा शामके बादलोंके समान चंचल है " इसप्रकार मानते हुये वे मुनि विनाश रहित ऐसे मोक्षके मार्गमें दृढताके साथ तल्लीन हो गये थे ॥ १६४ ॥ संसारके निवास करनेसे विरक्त हुये और घरके निवाससे अलग

दृढभावना: । तेऽमी मनोवच कायै: श्रद्दधुर्गुरुशासन ॥ १६६ ॥ तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते मूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठंते स्म मुक्त्यर्थं वद्धकक्ष्या मुमुक्षव: ॥ १६७ ॥ संवेगजनितश्रद्धा· शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरे । दुरापां भावयामासुस्ते महाव्रतभावना ॥ १६८ ॥ अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य विमुक्ततां । रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन् ॥ १६९ ॥ यावज्जीव व्रतेष्वेषु ते दृढीकृतसगरा· । त्रिविधेन प्रतिक्रान्तदोषा: शुद्धि परा दधु. ॥ १७० ॥ सर्वारंभविनिर्मुक्ता निर्ममा निष्परिग्रहा: । मार्गमाराधयन् जैनं व्युत्सृष्टतनुयष्टय: ॥ १७१ ॥ सर्वोपधिविनिर्मुक्ता. स्थिता धर्मे जिनोदिते । नैच्छन्

हुये वे ऋषि मोक्षका साक्षात् कारण ऐसे जिनेंद्रदेवके मार्गमें वहुत ही संतोष मानते थे ॥ १६५ ॥ भगवानके शासनसे अर्थात् भगवानके कहे हुये मोक्षमार्गमे अधिक अन्य कोई मार्ग नहीं है इसप्रकारकी मजबूत भावनाओंमें निश्चल रहते हुये वे ऋषि मन वचन कायसे भगवानके शासनका श्रद्धान करते थ ॥ १६६ ॥ भगवानके कहे हुये और अनादिसे चले आये ऐसे यथार्थ जैन धर्ममें तल्लीन हुये तथा मोक्षकी इच्छा करते हुये वे राजपुत्र मोक्षके लिये कमर वांधकर खडे हो रहे थे ॥ १६७ ॥ संसारसे विरक्त होनेसे मोक्षमार्गमें जिन्हें अच्छा श्रद्धान हुआ है ऐसे वे मुनि जिससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं है ऐसे शुद्ध मोक्षमार्गमें वडी कठिनतासे मिलने योग्य ऐसी महाव्रतकी भावनाओंका चिंतवन करते थे ॥ १६८ ॥ अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत, और रात्रि भोजनका त्याग इन छहों व्रतोंको वे मुनि पालन करते थे ॥ १६९ ॥ उन्होंने जन्म पर्यंत इन छहों व्रतोंके पालन करनेकी दृढ प्रतिज्ञा की थी, और मन वचन काय इन तीनों योगोंसे उन व्रतोंके दोष दूर किये थे, इसप्रकार उन्होंने वहुत ही उत्कृष्ट शुद्धि धारण की थी ॥ १७० ॥ उन्होंने सव तरहके आरंभोंका त्याग कर दिया था, सवतरहके परिग्रहोंका त्याग कर दिया था और शरीररूपी लकडीसे भी विल्कुल ममत्व छोड दिया था, इसप्रकार वे सवतरहसे ममत्वरहित होकर श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥ १७१ ॥

वालाग्रमात्र च द्विधाम्नातं परिग्रहं ॥ १७२ ॥ निर्मूर्च्छास्ते स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । सतोपभावनापास्ततृष्णा. सतो विजन्हिरे ॥ १७३ ॥ वसति स्मानिकेतास्ते यत्रास्त भानुमानितः । तत्रैकत्र क्वचिद्देशे नैस्सग्य परमास्थिताः ॥ १७४ ॥ विविक्तैकांतसेवित्वाद्ग्रामेष्वेकाहवासिन । पुरेष्वपि न पचाहात्पर तस्थुर्नृपर्षय· ॥१७५॥ शून्यागारस्मशानादिविविक्तालयगोचराः । ते वीरवसतीर्भेजुरुज्झिताः सप्तभिर्भयैः ॥१७६॥ तेऽभ्यनदन्महासत्त्वाः पाकसत्त्वैरधिष्ठितः । गिर्यग्रकदरारण्यवसतीः प्रतिवासर ॥१७७॥ सिंहर्क्षवृकशार्दूलतरक्ष्वादिनिषेविते । वनांते ते वसंति स्म तदारसितभीषणे ॥१७८॥

सवतरहकी उपाधि अर्थात् परिग्रहसे रहित होकर भगवानके कहे हुये धर्मका आचरण करते हुये वे मुनि वाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो प्रकारके कहे हुये परिग्रहोंमेंसे वालकी नोकके समान भी किसी परिग्रहकी इच्छा नहीं करते थे ॥ १७२ ॥ जिन्हें अपने शरीरमें भी मोह नहीं है जो धर्ममार्गमें दृढ हैं और संतोषकी भावनासे जिन्होंने अपनी सब तृष्णा (इच्छा) नष्ट कर दी है ऐसे वे मुनि सब जगह विहार करते थे ॥ १७३ ॥ परिग्रहत्याग नामके व्रतको उत्कृष्ट रीतिसे पालन करतेहुये ऐसे घर रहित वे मुनि जहां सूर्य अस्त हो जाता था वहीं एकांतमें किसी एक जगह निवास करते थे ॥ १७४ ॥ वे मुनिराज विविक्तैकांत अर्थात् विशुद्ध निर्जन देशमें रहना पसंद करते थे इसलिये वे किसी गांवके समीप एक दिन रहते थे तथा किसी वडे नगरके समीप भी पांचदिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥ १७५ ॥ वे मुनि इस लोकका भय, परलोकका भय, मरनेका भय, रोगका भय, रक्षा न होनेका भय, चोरोंका भय और अकस्मात् भय इन सातों भयोंसे रहित होकर सूने मकानोंमें स्मशानभूमिमें अथवा और भी किसी एकांत जगहमें धीरताके साथ निवास करते थे ॥ १७६ ॥ महा बलशाली वे राजकुमार सिंह आदि क्रूर जीवोंसे भरी हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलोंमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥ १७७ ॥ सिंह, रीछ, भेडिया, वाघ चीता आदि हिंसक जीवोंसे भरे हुये तथा उन्हीं हिंसक जीवोंके शब्दोंसे भयानक ऐसे वीच वनमें निवास करते थे ॥१७८॥

स्फुरत्पुरुषशार्दूलगर्जितप्रतिनिःस्वनैः । आगुंजत्पर्वतप्राते ते स्म तिष्ठंत्यसाध्वसाः ॥१७९॥ कंठीरविकिशोराणां कठिनैः कंठनिःस्वनैः । प्रोन्नादिनि वने ते स्म निवसंत्यस्तभीतयः ॥ १८० ॥ नृत्यत्कबधपर्यंतसचरड्डाकिनीगणाः । प्रचंडकौशिकध्याननिरुद्धोपांतकानना ॥ १८१ ॥ शिवानामशिवैर्ध्वानैरारुद्धाखिलदिङ्मुखाः । महापितृवनोद्देशा निशास्तेभिः सिषेविरे ॥ १८२ ॥ सिंहा इव नृसिंहास्ते तस्थुर्गिरिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वांतैरनुद्विग्नैः समाहिताः ॥ १८३ ॥ पाकसत्त्वशताकीर्णां वनभूमिं भयानका । तेऽध्ययात्सुस्तमिस्रासु निशासु ध्यानमास्थिताः ॥ १८४ ॥ न्यषेवंत वनोद्देशान् निपेव्यान्वनदंतिभिः । ते तद्दंताग्रनिर्भिन्नतरुस्थपुटितांतरान् ॥ १८५ ॥ वनेषु वनमातंगबृंहितप्रतिनादिनीः । दरीस्तेऽध्यूपुरारुष्टैराक्रांताः करिश-

---

जिनपर चारों ओर फैलती हुई वाघकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियां गूंज रहीं हैं ऐसे पर्वतके किनारोंपर भी वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ जो वन सिंहोंके बच्चोंके कठोर शब्दोंसे शब्दमय हो रहे हैं अर्थात् जिनमें चारों ओर सिंहोंके बच्चोंके कठोर शब्द सुनाई दे रहे हैं ऐसे वनोंमें भी वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥ १८० ॥ वे मुनिराज जिनमें बिना शिरके केवल धड नाच रहे हैं और उनके चारों ओर डाकिनियां फिर रहीं हैं, जिनके समीपके वन घुग्घुओंके प्रचंड शब्दोंसे भर रहे हैं जहां गीदडोंके अपशकुन करनेवाले शब्दोंसे सब दिशायें व्याप्त हो रही हैं ऐसी बडी बडी मसानभूमियोंमें रात्रि व्यतीत करते थे ॥ १८१–१८२ ॥ सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ ओर पर्वतोंकी गुफाओंमें शयन करनेवाले ऐसे वे मुनिराज श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुसार चलनेवाले और इसलिये ही खेदरहित ऐसे अपने चित्तको शांत रखकर निवास करते थे ॥ १८३ ॥ जिनमें सैकडों क्रूर जीव भरे हुये हैं ऐसी भयानक बनकी जगहोंमें वे मुनि अंधेरी रातोंमें ध्यान धारण कर निवास करते थे ॥ १८४ ॥ जिनमें जंगली हाथी निवास करते हैं तथा जिनके मध्यभाग उन जंगली हाथियोंके दांतोंसे टूटे हुये वृक्षोंसे ऊंचे नीचे हो रहे हैं ऐसी वनकी जगहोंमेंभी वे मुनि निवास करते थे ॥ १८५ ॥ जिनमें जंगली हाथियोंकी गर्जनाकी प्रतिध्वनि हो रही है और उस

नुभि. ॥ १८६ ॥ स्वाध्याययोगससक्ता न स्वपति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनोद्युक्ता जागरूका सदाप्यमी ॥ १८७ ॥ पल्यङ्केन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा । शयाना वैकपार्श्वेन शर्वरीरत्यवाहयन् ॥ १८८ ॥ त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बरा । नैष्किञ्चन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥ १८९ ॥ निर्व्यपेक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीथ्यनुगामिनः । व्यहरन् वसुधामेना सग्रामनगराकरा ॥ १९० ॥ विहरन्तो महीं कृत्स्ना ते कस्याप्यनभिद्रुह. । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥ १९१ ॥ जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृश. । सावद्य परिजह्रुस्ते प्रासुकावसथाशनाः ॥१९२॥

गर्जनाको सुनकर क्रोधित हुये सिंह जिन में आकर भर गये हैं ऐसी वनकी गुफाओंमें भी वे मुनि निवास करते थे ॥ १८६ ॥ उन मुनियोंका उपयोग सदा स्वाध्याय करनेमें तल्लीन रहता था और सूत्रोंका अर्थ चिंतवन करनेमें लगा रहता था इसलिये वे रात्रियोंमें भी नहीं सोते थे, वे सदा जगते ही रहते थे ॥ १८७ ॥ वे राजकुमार पर्यंकासनसे बैठकर अथवा वीरासन बैठकर अथवा एक करवट से ही सोकर तमाम रात्रियां व्यतीत कर देते थे ॥ १८८ ॥ जिन्होंने समस्त परिग्रहके भारका त्याग कर दिया है, शरीरसे ममत्व छोड दिया है, जो वस्त्र रहित हैं और आकिंचन्य तपसे अर्थात् अंतरंग बाह्य परिग्रह रहित होनेसे अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे वे धीरवीर मुनि सदा मोक्षमार्गका चिंतवन करते रहते थे ॥ १८९ ॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, सवतरहकी आकांक्षाओंसे रहित और परिग्रह रहित ऐसे वे मुनि गांव और नगरोंसे भरी हुई इस पृथ्वीपर विहार करते थे ॥ १९० ॥ समस्त पृथ्वीपर विहार करते हुये और किसी जीवकी भी हिंसा न करते हुये वे मुनि दयालु होनेसे पुत्रोंके समान समस्त प्राणियोंपर स्वयं माताके समान होकर दया करते थे ॥ १९१ ॥ वे मुनिराज जीव अजीवके भेदको अच्छीतरह जाननेवाले थे, उनका ज्ञानका प्रकाशरूपी नेत्र स्फुरायमान था और उनके भोजन तथा रहनेकी जगह आदि सब प्रासुक अर्थात् हरतरहके जीवोंसे रहित थे इसलिये उन्होंने पापरूप मन वचन कायके योग सब छोड दिये थे ॥ ॥ १९२ ॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयको

स्याद्यत्किंचिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते। रत्नत्रितयशुध्यर्थं यावज्जीवमवर्जयन् ॥ १९३ ॥ त्रसान् हरितकायाश्च पृथिव्यप्पवनानलान्। जीवकायानकायेभ्यस्ते स्म रक्षति यत्नतः ॥ १९४ ॥ अदीनमनसः शाताः परमोपेक्षयाऽन्विताः। मुक्तिसाध्यास्त्रिभिर्गुप्ता कामभोगेष्वविस्मिताः ॥ १९५ ॥ जिनाज्ञानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः। गर्भवासजरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥ १९६ ॥ श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः। ज्ञानदीपिकया साक्षाच्चक्रुस्ते पदमक्षरं ॥ १९७ ॥ ते चिरं भावयति स्म सन्मार्गं मुक्तिसाधनं। परदत्तविशुद्धान्नभोजिनः पाणिपात्रकाः ॥ १९८ ॥ शंकिताभिहृतोद्दिष्टक्रयक्रीतादिळ-

---

विशुद्ध रखनेकेलिये संसारमें जितने पापरूप कार्य हैं वे सब मन वचन कायसे जन्मभरके लिये छोड दिये थे ॥ १९३ ॥ वे मुनि हरितकाय अर्थात् वनस्पति, पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय ये पांच प्रकारके स्थावर तथा त्रस इन छहों कायके जीवोंको वडे यत्नपूर्वक अपने आत्मासे रक्षा करते थे अर्थात् वे सब जीवोंकी रक्षा करते थे ॥ १९४ ॥ उन मुनियोंमें किसीतरहकी दीनता नहीं थी, वे सदा शांत रहते थे, परम उपेक्षा (सबसे विरक्त रहना) रूप संयमका पालन करते थे, सदा मोक्षके लिये ही प्रयत्न करते रहते थे, मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंका पालन करते थे और कामभोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे अर्थात् उनसे सदा विरक्त थे ॥ १९५ ॥ वे सदा जिनेंद्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चलते थे उनका चित्त संसारसे सदा उदास रहता था और जन्म लेना बुढापा तथा मरना इन तीनोंकी वारवारकी फिरनसे सदा डरते रहते थे ॥ १९६ ॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं और जो विचक्षण अर्थात् सबतरह चतुर हैं ऐसे वे मुनिराज ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा कभी नाश न होनेवाले परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष देखते थे ॥१९७॥ दूसरेके द्वारा दिये हुये विशुद्ध निर्दोष आहारसे उदर शांति करनेवाले और हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षका कारण ऐसे रत्नत्रयरूप श्रेष्ठ मार्गको सदा वहुत देरतक चिंतवन करते रहते थे ॥ १९८ ॥ यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है ऐसी शंका जिसमें हो जाय, जो किसी दूसरेके

क्षणं । सूत्रे निषिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥ १९९ ॥ भिक्षां नियतवेलायां गृहपंक्त्यनतिक्रमात् । शुध्दामाददिरे धीरा मुनिवृत्तौ समाहिताः ॥ २०० ॥ शीतमुष्णं विरूक्षं च स्निग्धं सलवणं न वा । तनुस्थित्यर्थमाहारमाजह्रुस्ते गतस्पृहाः ॥ २०१ ॥ अक्षम्रक्षणमात्रं ते प्राणधृत्यै विपश्चणुः । धर्मार्थमेव च प्राणान् धारयति स्म केवल ॥ २०२ ॥ न तुष्यंति स्म ते लब्धौ व्यषीदन्नाप्यलब्धित. । मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धुतकल्मषाः ॥ २०३ ॥ स्तुतिं निंदा सुख दुःख तथा मानं विमानना । समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥ २०४ ॥ वाचयमत्वमास्थाय चरतो गोचरार्थिनः । निर्यांति स्माप्यलाभेन नाभजन्मौनसंगरं ॥ २०५ ॥ महोपवासम्लानागा यतते स्म तनुस्थितौ । तत्राप्यशुद्धमाहार नैषिपुर्मनसाऽ-

---

यहांसे लाया जाय, जो खास अपने लिये तैयार किया जाय और जो खरीदकर लाया जाय ऐसा आहार मुनियोंके लिये शास्त्रोंमें निषिद्ध कहा है, वे मुनिराज ऐसा निषिद्ध आहार प्राण जानेपर भी कभी ग्रहण नहीं करते थे ॥ १९९ ॥ मुनियोंकी वृत्ति धारण करनेमें अत्यंत निश्चल और धीर वीर ऐसे वे मुनिराज घरोंकी पंक्तिओंको नहीं छोडते हुये नियमित समयपर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥ २०० ॥ इच्छा रहित वे मुनि केवल धर्मार्थ शरीरकी रक्षा करनेके लिये ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, नमकीन अथवा विना निमकका जैसा कुछ मिलता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥ २०१ ॥ जिसप्रकार गाडी ओंगनेके लिये थोडेसे तेलसे ही काम चल जाता है उसी प्रकार वे मुनि केवल प्राण धारण करनेके लिये वहुत थोडा आहार लेते थे और केवल धर्म साधन करनेके लिये प्राणोंको धारण करते थे ॥ २०२ ॥ आहार मिल जानेपर वे कुछ संतुष्ट नहीं होते थे और न मिलनेपर उपवास रूप तपश्चरणका अधिक लाभ समझते हुये पाप रहित वे मुनि कभी खिन्न नहीं होते थे ॥ २०३ ॥ सव पदार्थोंको समान रीतिसे देखनेवाले अर्थात् समता धारण करनेवाले वे मुनि स्तुति, निंदा, सुख, दुःख और मान अपमान सवको समान रीतिसे देखते थे ॥ २०४ ॥ वे मुनि आहारके लिये मौन धारणकर गांव या नगरमें जाते थे, यदि आहार न मिला तो अपने मौनव्रतका भंग न करते हुये वापिस लौट आते थे ॥ २०५ ॥ अनेक महोपवास करनेसे जिनका शरीर क्षीण

ध्यमी ॥ २०६ ॥ गोचराग्रगतायोग्य भुक्त्वान्नमविलंबितं । प्रत्याख्याय पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनं ॥ २०७ ॥ तपस्तापतनूभूततनवोऽपि मुनीश्वराः । अनुबद्धात्तपोयोगान्नोरसुर्दृढसगराः ॥२०८॥ तीव्रं तपस्यतां तेषां गात्रेषु श्लथताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सध्यानासिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥ नाभूत्परिप-हैर्भंगस्तेषां चिरमुपोषिषां । गताः परिषहा एव भगं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥ तपस्तनूनपात्तापादभूत्तेषां परार्द्युतिः । निष्टप्तस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्नन्यतिरे-किणी ॥ २११ ॥ तपोग्नितप्तदीप्तांगास्तेऽतःशुद्धिं परां दधुः । तप्तायां तनुमूषाया शुध्यत्यात्मा हि हेमवत् ॥ २१२ ॥ त्वगस्थिमात्रदेहास्ते ध्यानशुद्धिम-

---

हो गया है ऐसे वे मुनि केवल शरीर धारण करनेके लिये ही आहारको जाते थे और वहां मनसेभी कभी अशुद्ध आहारकी इच्छा नहीं करते थे ॥ २०६ ॥ भिक्षा लेनेमें मुख्य अर्थात् अंतराय रहित निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनेवाले वे धीरवीर मुनि बहुत शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजनकर तथा प्रत्या-ख्यान स्वीकारकर तपोवनके लिये चले जाते थे ॥ २०७ ॥ यद्यपि तीव्र तपश्चरणके संतापसे उनका शरीर क्षीण हो गया था तथापि वे अपनी प्रतिज्ञा इतनी दृढतासे पालन करते थे कि निरंतर पालन करते हुये अपने तपश्चरणसे कभी विश्राम नहीं लेते थे ॥ २०८ ॥ तीव्र तपश्चरण करते हुये उन मुनियोंके शरीरमें शिथिलता आगई थी परंतु उत्तम ध्यानकी सिद्धिके लिये उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी वह बिलकुल शिथिल नहीं हुई थी ॥ २०९ ॥ अनेक दिनका उपवास करते हुये भी उन मुनि-योंका व्रतभंग परिषहोंसे नहीं हो सका था, किंतु परिषह ही उन मुनियोंको जीतनेमें असमर्थ होकर स्वयं नष्ट हो गई थीं ॥ २१० ॥ तपश्चरण रूपी अग्निके संतापसे उनकी कांति बहुत ही उत्कृष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि तपाये हुये सुवर्णकी कांति कुछ कम नहीं होती है किंतु बहुत ही बढ जाती है ॥ २११ ॥ तपश्चरण रूपी अग्निसे तप्त होकर जिनका शरीर बहुत ही दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे उन मुनियोंका अंतःकरण बहुत ही विशुद्ध हो गया था, सो ठीक ही है क्यों कि तप-श्चरणसे तपाये हुये शरीर रूपी मूसली में [जिसमें सोना तपाया जाता है] यह आत्मा सुवर्णके

धुस्तरा। सर्वं हि परिकर्मेदं वाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥ योगजाः सिद्धयस्तेषामणिमादिगुणर्द्धयः। प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलं ॥२१४॥ तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन्। विधिज्ञास्ते सुयज्वानो मंत्रः स्वायंभुवं वच ॥२१५॥ महाध्वरपतिर्देवो वृषभो दक्षिणा दया। फलं कामितसंसिद्धिरपवर्गः क्रियावधिः ॥२१६॥ इतीमामार्षभीमिष्टिमभिसंधाय तेऽजसा। प्रावीणतत्वनूचानास्तपोयज्ञमनुत्तरं ॥२१७॥ इत्यमूमनगाराणां परां सगीर्य भावनां। ते तथा संवहति स्म निसर्गोऽयं महीयसा ॥२१८॥ किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्यनिष्ठता। ता कृत्वा तेरवताचकुत्स्यक्तराजन्यविक्रियाः ॥२१९॥ इत्थ पुराणपु-

समान शुद्ध हो जाता है ॥ २१२ ॥ यद्यपि उनके शरीरमें केवल चमडा और हड्डी रह गया था तथापि उनके ध्यानकी विशुद्धि वहुत ही वढ गई थी, सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि वाहरके सब सांधन केवल अध्यात्मकी विशुद्धिके लिये है ॥ २१३ ॥ योगके प्रभावसे उन मुनियोंके अणिमा महिमा आदि गुणोंको वढानेवालीं अनेक सिद्धियां प्रगट हो गई थीं सो भी ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तपश्चरणसे वहुत वडे वडे फल प्राप्त होते हैं ॥ २१४ ॥ विधिको जाननेवाले वे मुनि यज्ञ करनेवाले होता थे, तपश्चरणरूपी संस्कार की हुई अग्नि थी, आठों कर्म आहूति देनेके लिये होम द्रव्य थे और श्रीजिनेंद्र देवकी वाणी ही मंत्र थे ॥ २१५ ॥ इस महायज्ञके शासन करनेवाले स्वामी श्रीवृषभदेव थे, होमके अंतमें यज्ञ करनेवालोंको देने योग्य दक्षिणा दया थी अपनी इच्छा पूरी हो जाना ही फल था और मोक्ष प्राप्त हो जाना ही क्रियावधि थी ॥ २१६ ॥ इसप्रकार वे मुनि श्री-वृषभदेवके कहे हुये यज्ञको पूर्णकर तथा वहुत शीघ्र श्रुतकेवली होकर सबसे उत्कृष्ट तपश्चरणरूपी यज्ञ करने लगे ॥ २१७ ॥ इसप्रकार उन मुनियोंने मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञाकर उन भाव-नाओंका पूर्ण रीतिसे पालन किया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥ २१८ ॥ वहुत कहांतक कहा जाय जिन्होंने राजकी सव विक्रीया छोड दी है ऐसे उन राजकुमारोंने अनादि कालसे चली आई ऐसी धर्मकी जितनी क्रियायें थीं वे सव अपने आधीन कर लीं थीं अर्थात् वे उन

रुषादधिगम्यबोधिं तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसाः । ये राज्यभूमिमवधूय विधूतमोहाः प्राव्राजिषुर्भरतराजमनंतुकामाः ॥ २२० ॥ ते पौरवा मुनिवराः पुरुधैर्यसारा धीरानगारचरिते तेषु कृतावधाना । योगीश्वरानुगतमार्गमनुप्रपन्नाः श वो दिशत्वखिललोकहितैकतानाः ॥ २२१ ॥ नत्वा विश्वसृजं चराचरगुरुं देवं दिवीशार्चितं नान्यस्य प्रणतिं व्रजाम इति ये दीक्षा परां संश्रिताः । ते नः संतु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्रियं वंछन्त्यो वृषभात्मजा

सबका पालन करते थे ॥ २१९ ॥ जो राजकुमार इसप्रकार पुराण पुरुष श्री वृषभदेवसे ज्ञान पाकर वृषभदेवके तीर्थरूपी मानस सरोवरके प्रिय राजहंस हुये थे, जिन्होंने मोह छोडकर राज्यभूमिका तिरस्कार किया था और जिन्होंने महाराज भरतको नमस्कार न करनेकी इच्छासे ही दीक्षा धारण की थी ऐसे पुरु वंशमें उत्पन्न हुये तथा उत्कृष्ट धैर्य ही जिनके आत्माका बल है, मुनियोंके धीरवीर आचरण करनेमें जो सदा सावधान हैं जिन्होंने उत्कृष्ट मुनियोंके धारण करनेयोग्य मार्गका पालन किया है और जो समस्त लोकके हित करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं ऐसे वे श्रीवृषभदेवके पुत्र मुनिराज तुम श्रोता लोगोंका कल्याण करो ॥ २२०–२२१ ॥ इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य, त्रस तथा स्थावर सब जीवोंके गुरु और धर्मरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले ऐसे श्रीवृषभदेवको नमस्कार कर अब अन्य किसीको प्रणाम न करेंगे यही निश्चयकर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की है, जिन्होंने राजकुमारोंके योग्य तपश्चरण रूपी विभूति धारणकर मोक्षलक्ष्मीकी इच्छा प्रगट की है और जो श्रीजिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे वे श्रीवृषभदेवके पुत्र हम लोगोंका कल्याण करनेवाले हों ॥ २२२ ॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत चक्रवर्ती भी अपने दूतोंके द्वारा जिन्हें नम्र न कर सका, पृथ्वीका विभागकर भी जिनके साथ साथ समस्त पृथ्वीका उपभोग न कर सका ऐसे तथा कल्याण करनेवाले मोक्षकेलिये जिन्होंने अपने पिता श्रीजिनेंद्र वृषभदेवका आश्रय लिया ऐसे

जिनजुषामग्रेसराः श्रेयसे ॥ २२२ ॥ स श्रीमान्भरतेश्वरः प्रणिधिभिर्यान्प्रह्वतां नानयत् संभोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्द्धं च यैर्नाशकत् । निर्वाणाय पितृषभ जिनवृष ये शिश्रियुः श्रेयसे ते नो मानधना हरंतु दुरितं निर्दग्धकर्मेंधनाः ॥ २२३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व.

अभिमान रूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम लोगोंके पापोंका नाश करें ॥ २२३ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत, महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें महाराज भरतके छोटे भाइयोकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला चौतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पंचत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत्किंचित् चिंताकुल मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये यूनि दोर्दर्पशालिनि ॥ १ ॥ अहो भ्रातृगणोऽस्माक नाभिनंदति नंदथु । सनाभित्वादवध्यत्व मन्यमानोऽयमात्मनः ॥ २ ॥ अवध्य शतमित्यास्था नून भातृगणस्य मे । यतः प्रणामविमुख गतवतः प्रतीपता ॥ ३ ॥ न तथाऽस्मा-

---

अथ पेंतीसवां पर्व.

अथानंतर—जिसे भुजाओंका गर्व है और जो जवान है ऐसे बाहुबलिको वश करनेके लिये चक्रवर्तीका मन कुछ चिंतासे व्याकुल हुआ ॥ १ ॥ वह सोचने लगा यह हमारे भाइयोंका समूह एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपनेको अवध्य अर्थात् मारने के अयोग्य मानता हुआ मेरे आनंदकी वृद्धि नहीं चाहता है ॥ २ ॥ मेरे भाइयोंको यह श्रद्धान है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसलिये ही वे प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु बन गये हैं ॥ ३ ॥ यदि कोई शत्रु मुझे प्रणाम न करे तो मुझे इतना खेद नहीं

ईशा खेदो भवत्यप्रणते द्विषि । दुर्गर्विते यथा ज्ञातिवर्गेऽतर्गेहवर्तिनि ॥ ४ ॥ मुखैरनिष्टवाग्वन्हिदीपितैरतिधूमिताः । दहंत्यलातवच्च स्वा. प्रातिकूल्या-
निलेरिताः ॥ ५ ॥ प्रतीपवृत्तयः काम सतु वाऽन्ये कुमारकाः । बाल्यात्प्रभृतियेऽस्माभिः स्वातंत्र्येणोपलालिताः ॥ ६ ॥ युवा तु दोर्वली प्राज्ञः क्रमज्ञः
प्रश्रयी पटुः । कथ नाम गतोऽस्मासु विक्रिया सुजनोऽपि सन् ॥ ७ ॥ कथ च सोऽनुनेतव्यो वली मानधनोऽधुना । जयाग यस्य दोर्दपः श्लाघ्यते
रणमूर्द्धनि ॥ ८ ॥ सोऽयं भुजवली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महानिव गजो माद्यन् दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥ ९ ॥ न स सामान्यसंदेशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी ।
ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो मंत्रविद्याचणैर्विना ॥ १० ॥ शेपक्षत्रिययूना च तस्य चात्स्यंतरं महत् । मृगसामान्यमानायैर्धर्तुं किं शक्यते हरिः ॥ ११ ॥

होता जितना कि अपने ही घरमें रहनेवाले और मिथ्या अभिमानी ऐसे मेरे भाइयोंके प्रणाम न करनेसे हुआ है ॥ ४ ॥ अनिष्ट वचन रूपी अग्निसे उद्दीपित हुये मुखसे जो धूम सहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूप वायुसे बढाये जा रहे हैं ऐसे ये मेरे भाई अलातचक्रके समान मुझे जला रहे हैं ॥ ५ ॥ जो हमने बालकपनसे ही इच्छानुसार खिलापिलाकर बडे किये हैं ऐसे ये अन्य कुमार यदि प्रतिकूल हों तो खुशीसे हों परंतु बाहुबलि तरुण, बुद्धिमान, अनुक्रमको जाननेवाला विनयवान्, चतुर और सज्जन होकर भी मुझसे क्यों प्रतिकूल हुआ ? ॥ ६-७ ॥ जिसके अभिमान ही धन है अर्थात् जो महा अभिमानी है और विजयका कारण ऐसा इसकी भुजाओंका गर्व मुख्य मुख्य युद्धोंमें भी प्रशंसित गिना जाता है ऐसा यह बलवान बाहुबलि इससमय किसप्रकार वश करना चाहिये ॥ ८ ॥ अभिमान रूपी मदसे उद्धत हुआ और भुजाओंके बलसे शोभायमान ऐसा यह बाहुबलि कुमार मदोन्मत्त बडे हाथीके समान कोमल वचनोंके बिना और किसी तरह वश नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ यह अत्यंत उन्मत्त हुआ बहुबलि साधारण संदेशोंसे वश नहीं हो सकता, क्योंकि किसीके शरीरमें घुसाहुआ दुष्ट पिशाच मंत्रविद्यामें प्रवीण पुरुषके बिना और किसीतरह शांत नहीं हो सकता ॥ १० ॥ बाहुबलिमें और उसके सिवाय अन्य तरुण क्षत्रियोंमें बहुत बडा अंतर है, भला

सोऽभेद्यो नीतिचचुत्वाद्दंडसाध्यो न विक्रमी । नैष सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥ १२ ॥ ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । घृताहुतिप्रसेकेन यथेद्धार्चिर्मखानिलः ॥ १३ ॥ स्वभावपरुषे चास्मिन्प्रयुक्तं साम नार्थकृत् । वपुषि द्विरदस्येव योजितं त्वन्यमौषधं ॥ १४ ॥ प्रायो व्यास्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः । मदाज्ञाविमुखैस्त्यक्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः ॥ १५ ॥ भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे मतं । तथाप्यप्रणते तस्मिन्विधेयं चिंत्यमुत्तरं ॥ १६ ॥ ज्ञातिव्याजानिगूढांतर्विक्रियो निष्प्रतिक्रियः । सोऽन्तर्गृहोत्थितो वन्हिरिवाशेषं दहेत्कुलं ॥ १७ ॥ अंतः प्रकृतिजः कोपो विघाताय

जो जाल साधारण पशुओंके पकडनेकेलिये बनाया गया है उससे क्या सिंह पकडा जा सकता है ? ॥ ११ ॥ राजनीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है अर्थात् वह किसीतरह फोडा नहीं जा सकता, पराक्रमी होनेसे वह युद्धमें भी वश नहीं किया जा सकता, और विकारसहित होनेसे अर्थात् कुटिल अथवा क्रोधित होनेसे समझा बुझाकर भी वश नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥ जिसप्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहूति देनेसे और बढती है उसीप्रकार स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकार किया हुआ भी यह पराक्रमी और अधिक प्रज्वलित हो रहा है ॥१३॥ जिसप्रकार कोमल चमडा करनेकेलिये हाथीके शरीरपर लगाई हुई औषधि कुछ काम नहीं करती उसीप्रकार कठिन स्वभाव वाले उस बाहुबलिमें नर्मीका उपाय करना भी कुछ काम नहीं देगा ॥ १४ ॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख हुये हैं, जिन्होंने राज्यभोग सब छोड दिया है और बनमें जानेकेलिये तैयार हुये हैं ऐसे बाकीके कुमारोंने इस बाहुबलिका अभिप्राय प्रायः स्पष्ट कर दिया है ॥१५॥ तथापि फिर भी एकवार कोमल वचनोंसे इसके अभिप्रायकी परीक्षा करनी चाहिये, यदि फिर भी नमस्कार न करे तो फिर 'आगे क्या करना चाहिये' इसका विचार करना चाहिये ॥ १६ ॥ जिसने भाईपनेके कपटसे अंतःकरणमें शत्रुता धारण की है और जिसका कोई उपाय नहीं है ऐसा यह बाहुबलि घरके भीतर जलती हुई अग्निके समान समस्त कुलको जला-देगा ॥ १७ ॥ जिसप्रकार पर्वतोंके बनोंमें वृक्षोंकी ऊंची शाखाओंकी रगडसे उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतको

प्रभोर्मतः । तरुशाखाग्रसंघट्टजन्मा वन्हिर्यथा गिरेः ॥१८॥ तदाशु प्रतिकर्तव्यं स वली वक्रतां श्रितः । क्रूरे ग्रह इवामुष्मिन्प्रशाते शातिरेव नः ॥१९॥ इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मंत्रविशारदं । तत्प्रात प्राहिणोच्चक्री निसृष्टार्थतयाऽन्वितं ॥ २० ॥ उचित युग्यमारूढो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदतिकं ॥ २१ ॥ आत्मनेव द्वितीयेन स्निग्धेनानुगतो द्रुत । निजानुजीविलोकेन हस्तशवलवाहिना ॥ २२ ॥ सोऽन्वीय वक्ति चेदेवमह ब्रूयामकच्छनः । विगृह्य यदि स ब्रूयाद्विरहं विग्रहे घटे ॥ २३ ॥ संधिं च पणवधं च कुर्यात्सोऽतरमेव नः । विक्रम्य क्षिप्रमेष्यामि विजिगी-

---

जला देती है उसीप्रकार भाइयोंके अंतरंगमें उत्पन्न हुआ क्रोध राजाके नाश होनेका कारण समझना चाहिये ॥ १८ ॥ वह वाहुवलि इस समय वक्र (प्रतिकूल) हो रहा है इस लिये उसके सीधे करनेका उपाय शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि क्रूर ग्रहके समान इस वाहुवलिके शांत होनेपर ही मुझे शांति मिल सकेगी ॥ १९ ॥ इस प्रकार निश्चय कर उस चक्रवर्तीने राजकीय कार्यको जाननेवाले मंत्र अर्थात् विचार करनेमें चतुर और जिसने अनेकवार कार्य किया है ऐसा दूत महाराज वाहुवलिके पास भेजा ॥ २० ॥ वह न तो कम उमर था और न अधिक बूढा था ऐसा वह दूत अपने योग्य रथ आदि सवारीपर चढकर नम्रताके भेषसे वाहुवलिके समीप चलने लगा ॥ २१ ॥ जिसने मार्गमें लगनेवाली सामिग्री सब साथ ली है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपनेही समान अपने एक सेवक को साथ लेकर वह दूत वहांसे वहुत शीघ्र निकला ॥ २२ ॥ वह दूत रास्तेमें सोचता जाता था कि यदि वह मेरे अनुकूल वात चीत करेगा तो मैं भी विना किसी तरहकी प्रशंसा किये वैसी ही वात चीत करूंगा, यदि युद्ध करनेकी वात चीत करेगा तो मैं भी युद्ध करनेके लिये ही अपना मत प्रकाश करूंगा ॥ २३ ॥ यदि वह संधि करेगा अथवा पणवंध अर्थात् कुछ भेट देनेका नियम करेगा तो यह वातभी हमारे लिये इष्ट ही है, यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेकी इच्छा रक्खेगा चक्रवर्तीके वश नहीं होगा तो मैं अपना पराक्रम दिखलाकर शीघ्र ही वापिस लौट आऊंगा ॥ २४ ॥ इस प्रकार

षावशगते ॥ २४ ॥ गुणयन्निति सपत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वय निगूढमंत्रत्वादनिर्भेद्योऽन्यमंत्रिभि' ॥ २५ ॥ मत्रभेदभयाद्गूढ स्वपन्नेक' प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च स पश्यन्दूरमभ्यगात् ॥ २६ ॥ क्रमेण देशान सिंधूश्च देशसधींश्च सोऽतियन् । प्रापत्सख्यातरात्रैस्तत्पुर पोदनसाह्वयं ॥२७ ॥ बहिःपुरमथासाद्य रम्याः सस्यवतीर्भुव' । पक्वशालिवनोद्देशान्स पश्यन्प्राप नंदथु ॥ २८ ॥ पश्यन्स्तंबकरिस्तम्बान्प्रभूतफलशालिनः । कृतरक्षान्जनैर्यत्नात्स मेने स्वार्थिन जन ॥ २९ ॥ सकुटुंबिभिरुदात्तैर्नृत्याद्भिराभिनंदितान् । केदारलावसघर्षतूर्यघोषान्यशामयत् ॥ ३० ॥ क्वचिच्छुकमुखाकृष्टकणाः कणिश-

अपने पक्षकी संपत्ति अर्थात् उन्नति और बाहुबलिके पक्षकी विपत्ति अर्थात् अवनति चिंतवन करता हुआ वह दूत जा रहा था, वह अपने विचारोंको बहुत छिपाकर रखता था इस लिये अन्य राजाओंके मंत्रियोंके द्वारा वह कभी भेद रूप नहीं हो सकता था अर्थात् अन्य कोई भी मंत्री उसके विचार नहीं जान सकता था ॥२५॥ कहीं उसके विचारोंको कोई पहिचान न ले इसी डरसे रास्तेमें वह किसी छिपी जगहमें अकेला सोता था तथा युद्धकी भूमि और उससे निकलनेके रास्ते देखता हुआ वह बहुतही दूर निकल गया ॥ २६ ॥ अनुक्रमसे अनेक देश अनेक नदी और अनेक देशकी सीमाओंको उलंघन करता हुआ वह दूत कितनेही दिनोंमें बाहुबलिके पोदनपुर नगरमें जा पहुंचा ॥ २७ ॥ नगरके बाहर धानोंसे शोभायमान मनोहर पृथ्वीको पाकर और पके हुये चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह बहुतही प्रसन्न हुआ ॥ २८ ॥ किसान लोग बडे यत्नसे जिनकी रक्षा कर रहे हैं और जो बहुतसे फलोंसे सुशोभित हैं ऐसे चांवलोंके गुच्छोंको देखता हुआ वह दूत अपने मनमें सोचने लगा कि यहांके मनुष्य बडे ही स्वार्थी हैं ॥ २९ ॥ जो खेतोंको देख देखकर नृत्य कर रहे हैं और जिन्होंने खेत काटनेके लिये अपने अपने हसिया या खुरपा ऊंचे उठा रक्खे हैं ऐसे कुटुंब सहित किसानोंके द्वारा बढे हुये खेतोंके काटनेके संघर्षण रूपी तुरईके शब्दोंकोभी वह दूत सुन रहा था ॥ ३० ॥ कहींपर खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओंने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी

मंजरीः । शालिवप्रेषु सोऽपश्यद्विटैर्भुक्ता इव स्त्रियः ॥ ३१ ॥ सुगंधिकलमामोदसंवादि श्वसितानिलैः । वासयंतीर्दिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥ ३२ ॥ पीनस्तनतटोत्संगगलद्घर्मांबुबिंदुभिः । मुक्तालंकारजां लक्ष्मीं घटयतीर्निजोरसि ॥ ३३ ॥ सरजोऽब्जरजःकीर्णसीमतरुचिरैः कचैः । चूलामाबध्नतीः स्वैरग्रथितोत्पलदामकैः ॥ ३४ ॥ दधतीरातपक्लांतमुखपर्यंतसंगिनीः । लावण्यस्येव कणिकाः श्रमघर्मांबुविप्रुषः ॥ ३५ ॥ शुकान् शुकच्छदच्छाये रुचिरागर्मितनाशुकैः । छोत्कुर्वतीः कलक्वाण सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥ ३६ ॥ भ्रमद्यन्त्रकुटीयन्त्रचीत्कारैरिक्षुवाटकान् । फूत्कुर्वत इवाद्राक्षीदतिपीडाभयेन

चांवलोंकी वालको इस प्रकार देखता था मानों व्यभिचारी लोगोंके द्वारा भोगी हुई स्त्रियां ही हों ॥ ३१ ॥ वहांपर उसने चांवलोंके खेत रखानेवालीं स्त्रियां देखीं वे स्त्रियां सुगंधी चांवलोंके गुच्छोंकी सुगंधके समान अपनी श्वासकी वायुसे सब दिशाओंको सुगंधित कर रहीं थीं, उन्होंने चांवलोंकी वालोंके कर्णभूषण बनाये थे, अपने वक्षःस्थलपर (छातीपर) कठिन स्तनोंके समीप भागमें गिरती हुई पसीनेकी बूंदोंसे वे मोतियोंकी मालाकी शोभा धारण कर रहीं थीं, सरोवरके कमलोंकी परागरजसे भरे हुये केश वेश अर्थात् मांगसे सुंदर तथा जिनपर कमलोंकी मालायें यथायोग्य गुथी हुई हैं ऐसे केशोंसे उन स्त्रियोंकी चोटियां बंधी हुई थीं, तथा वे गर्मीसे मलिन हुये मुखपर लगी हुई ऐसी परिश्रमसे उत्पन्न हुई पसीनेकी बूंदोंको लावण्यके छोटे छोटे टुकडोंके समान धारण कर रहीं थीं, तोतेके पंखोंके समान हरे रंगकी चोलियोंसे उनका शरीर बहुत ही अच्छा जान पडता था और वे मधुर शब्द करती हुई छू छू करके तोतोंको उडा रहीं थीं ऐसी वे सुंदर स्त्रियां उस दूतने देखीं ॥ ३२–३६ ॥ जहां कहीं ईखका रस निकाला जा रहा था वहांपर उसने झोंपडियोंमें फिरते हुये यंत्रोंके (कोल्हुओंके) चीं चीं शब्दोंके द्वारा अत्यंत पीडाके डरसे मानों रो रहे ही हों ऐसे अनेक ईखोंके डंडे देखे ॥ ३७ ॥ खेतोंके समीप ही बडे भारी एनके (थनोंका ऊपरी भाग जिसमें दूध रहता है) बोझसे जो धीरे धीरे चल रही हैं, अपने अपने बच्चोंके लिये जो उत्कंठित हो रहीं हैं और

सः ॥ ३७ ॥ 'उपक्षेत्र च गोधेनूर्महोधोभरमर्थराः' । वात्सकेनोत्सुका स्तन्य क्षरतीर्निचचाय सः ॥ ३८ ॥ इति रम्यान्पुरस्यास्य सीमातान्स विलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मान लब्धतद्दर्शनोत्सव ॥ ३९ ॥ उपशल्यभुवः कुल्याप्रणालीप्रसृतोदका । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैर्वृतास्तस्य मनोऽहरन् ॥ ४० ॥ वापीकूपतडागैश्च सारामैरबुजाकरैः । पुरस्यास्य वहिर्देशास्तेनादृश्यत हारिण ॥ ४१ ॥ पुरगोपुरमुल्लंघ्य स निचाय्यन्वाणिक्पथान् । तत्र पुञ्जीकृतान्मेने रत्नराशीन्निधीनिव ॥ ४२ ॥ नृपोपायनवाजीभलालामदजलाविल । कृतच्छटमिवालोक्य सोऽभ्यनन्दन्नृपागण ॥ ४३ ॥ स निवेदितवृत्तातो महादौवारपालकैः ।

जिनके थनोंसे दूध निकल रहा है ऐसी हालकी प्रसूता गायें भी उस दूतने देखीं ॥ ३८ ॥ इस प्रकार इस नगरकी सीमाके बाहर मनोहर स्थानोंको देखता हुआ और उन्हें देखकर आनंदित होता हुआ वह दूत अपनेको बहुत ही कृतार्थ मानने लगा ॥ ३९ ॥ जिनके चारोंओर छोटे छोटे सरोवर और झरनोंसे बहकर पानी फैला हुआ है और जो चांवल ईख और जीरेके खेतोंसे घिरी हुई है ऐसी नगरके बाहरकी पृथ्वी उस दूतका मन हरण कर रही थी ॥ ४० ॥ वापी, कूए, सरोवर, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उसे बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥ ४१ ॥ उसने प्रथम ही नगरका बडा दरवाजा तय किया और फिर वहांके बाजारोंको देखता हुआ ढेरकी ढेर लगी हुई रत्नोंकी राशियोंको निधियोंके समान मानने लगा ॥ ४२ ॥ महाराज बाहुबलिके भेटमें आये हुये घोडे और हाथियोंके लार और मदके जलसे अर्थात् घोडोंकी लार और हाथियोंके मदके जलसे कीचड सहित हुये राजाके आंगनको मानों उसपर जलसे ही छिडकाव किया गया हो ऐसा देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ४३ ॥ मुख्य द्वारपालके द्वारा जिसने अपना सब वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत सिंहासनपर विराजमान महाराज बाहुबलिके समीप जा पहुंचा ॥ ४४ ॥ वहांपर उसने महाराज बाहुबलिको देखा, उस समय वे बाहुबलि विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीडा करनेके लिये एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पडते थे क्योंकि वे ऊंचे थे, उनका वक्षःस्थल

नृपं नृपासनासीनमुपासीदद्वचोहरः ॥ ४४ ॥ पृथुवक्षस्तट तुंगं मुकुटोदग्रशृंगक । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशैलमिवैकक ॥ ४५ ॥ ललाटपट्टमारूढ-पट्टबंध सुविस्तृत । जयश्रियइवोद्वाहपट्ट दधतमुच्चकैः ॥ ४६ ॥ दधान तुलिताशेपराजन्यकयशोधन । तुलादंडमिवोदूढभूभारं भुजदंडक ॥ ४७ ॥ मुखेन पकजछाया नेत्राभ्यामुत्पलश्रियं । दधानमप्यनासन्नविजातिमजलाशय ॥ ४८ ॥ विश्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्द्वय । वाग्देवीकमलावत्योर्गत नित्यावकाशता ॥ ४९ ॥ रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्राम महाफल । निवेशयतमात्मागे मनःसु च महीयसा ॥ ५० ॥ स्फुरदाभरणोद्योतछद्मना निखिला

रूपी किनारा वहुत बडा था और ऊंचे मुकुटका ऊपरी भाग पर्वतके शिखरके समान जान पडता था ॥४५॥ जिसपर पट्टबंध वंधा हुआ है ऐसा उनका लंबा चौडा ललाटपट्ट (माथा) ऐसा अच्छा जान पडता था मानों उन्होंने वहुत ऊंचा विजयलक्ष्मीका विवाहपट्ट ही धारण किया हो ॥ ४६ ॥ वे महाराज बाहुबलि जिसने समस्त राजाओंका यशरूपी धन तौल लिया है और जिसने समस्त पृथ्वीका भार धारण किया है ऐसे तराजूकी डंडीके समान भुजारूपी डंडोंको धारण कर रहे थे ॥४७॥ यद्यपि वे अपने मुखसे गुलावी कमलकी और नेत्रोंसे नीलकमलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके समीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोंकी जातियां थीं और न वे जलाशय थे भावार्थ—कमलकी शोभा सरोवरमें होती है सरोवर स्वयं जलाशय है और उसपर अनेक तरके पक्षी रहतें हैं बाहुबलि यद्यपि कमलकी शोभा धारण करते थे तथापि वे जलाशय—जडाशय अर्थात् जडवुद्धि नहीं थे और न उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसंकार निवास करने पाता था ॥ ४८ ॥ जिसपर सरस्वती सदा निवास करती है ऐसा उनका मन बहुत उदार था और जिसपर लक्ष्मी सदा निवास करती है ऐसा उनका वक्षःस्थलभी बहुत बडा था इन दोनोंको ही वे धारण करते थे ॥ ४९ ॥ वे महाराज प्रजाकी रक्षा करनेका कारण और अनेक बडे बडे फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमें धारण करते थे और बडे आदमियोंके मनमें धारण कराते थे भावार्थ—गुणोंको वे स्वयं धारण करते

दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिंपंतमलघीयसा ॥ ५१ मुखेन चंद्रकातेन पद्मरागेण चारुणा । चरणेन विराजत वज्रसारेण वर्ष्मणा ॥ ५२ ॥ हरिन्मणिमयस्तभमिवैकं हरितत्विप । लोकावष्टंभमाधातु सृष्टमाद्येन वेधसा ॥ ५३ ॥ सर्वांगसंगत तेजो दधान क्षात्रमूर्जित । नून तेजोमयैरेव घटित परमाणुभिः ॥ ५४ ॥ तमित्यालोकयन् दूराद्धाम्नः पुजमिवोन्छिखं । चचाल प्रणिधिः किंचित्प्रणिधानान्निधीशितुः ॥ ५५ ॥ प्रणमश्चरणावेत्य दधद्दूरानत शिरः । ससत्कार कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥ ५६ ॥ त शासनहर जिष्णोर्निविष्टमुचितासने । कुमारो निजगादेति स्मिताशून् विष्वगाकिरन् ॥५७॥

थे और बडे आदमी भी अपने मनमें उनके गुण स्मरण करते थे ॥५०॥ उनके दैदीप्यमान आभूषणोंका प्रकाश जो चारों ओर पड रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों उस प्रकाशके बहानेसे अपने बडे भारी प्रतापरूपी अग्निसे सब दिशाओंको प्रकाशित ही कर रहें हो ॥ ५१ ॥ अपने चंद्रकांत मणिके समान अपने मुखसे, पद्मराग मणिके समान अपने सुंदर चरणोंसे और व्रजके समान अपने शरीरसे वे महाराज बहुत ही अच्छे जान पडते थे ॥ ५२ ॥ हरितमणियोंके वने हुये किसी खंभके समान ऊंचा हरितवर्णका उनका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों आदि ब्रह्मा श्री वृषभदेवने लोकको सहारा देनेके लिये एक खंभ ही बनाया हो ॥५३॥ स्वामी, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, किला और सेना इन सब अंगोसहित ऐसे राजाओंके दैदीप्यमान तेजको धारण करते हुये वे ऐसे जान पडते थे मानों अवश्य ही वे तेजरूप परमाणुओंसे बनाये गये हों ॥५४॥ जिसकी ज्वाला ऊपरको उठ रही है ऐसे तेजके समूहके समान महाराज बाहुबलिको देखता हुआ वह भरतका दूत अपने विचारोंसे कुछ च्युत हो गया अर्थात् उन्हें देखकर वह कुछ घबडा गया ॥ ५५ ॥ दूतने दूरसे ही अपना मस्तक नवाया और कुमारके चरणोंमें जाकर नमस्कार किया, कुमारनेभी आदर सत्कारके साथ उस दूतको अपने कुछ समीपमें बिठलाया ॥ ५६ ॥ कुमार बाहुबलि अपने थोडेसे हास्यकी किरणोंको चारोंओर फैलाते हुये यथायोग्य आसनपर बैठे हुये उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने

चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं चिंत्यत्वमागताः । भद्र भद्र जगद्भर्तुर्वहुचिंत्यस्य चाक्रिणः ॥ ५८ ॥ विश्वक्षत्रजयोद्योगमद्यापि न समापयन् । स कच्चिद्भूभुजां भर्तुः कुशली दाक्षिणो भुजः ॥ ५९ ॥ श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥ ६० ॥ इति प्रश्नतमोजस्वि वचः सार मिताक्षर । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसर व्यधात् ॥ ६१ ॥ अथोपाचक्रमे वक्तु वचो हारि वचोहर । वागर्थाविव सपिण्ड्य दर्शयन्दशनांशुभिः ॥ ६२ ॥ त्वद्वचःसंमुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि यत्रार्थं प्रत्यक्षयति मादृशः ॥ ६३ ॥ वय वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मदास्तच्छदचारिणः ॥ ६४ ॥ ततश्चक्रधरेणार्य यदादिष्टं प्रियोचितं । प्रयोक्तृगौरवादेव तद्ग्राह्य

लगे ॥ ५७ ॥ कि चक्रवर्तीने आज बहुत दिनमें हम लोगोंको स्मरण किया, हे भद्र ! समस्त पृथ्वीके स्वामी और जिन्हें अनेक लोगोंकी चिंता रहती है ऐसा चक्रवर्ती कुशल मंगलसे है न ?॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको विजय करनेका उद्योग आजतक भी पूर्ण नहीं किया है ऐसी राजाधिराज भरतकी वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल पूर्वक है न? ॥५९॥ सुना है कि भरतने सब दिशायें अपने वश करली हैं और समस्त राजा जीत लिये हैं, दूत ! कहो अब भी भरतको कुछ काम बाकी रहा है या नहीं ॥ ६० ॥ इस प्रकार जिनमें अक्षर थोडे हैं, जो साररूप हैं, तेजस्वी और शांत हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिये समय दिया ॥ ६१ ॥ तदनंतर अपने दांतोंकी किरणोंसे शब्द अर्थ दोनोंको मिलाकर दिखलाते हुये दूतने मनोहर वचन कहना प्रारंभ किया ॥ ६२ ॥ कि हे प्रभो ! आपके इस वचनरूपी दर्पणमें आगेका कार्य साफ दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ मेरे ऐसा संस्कार न किया हुआ मूर्ख मनुष्य भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥ ६३ ॥ हे नाथ हम लोग तो दूत हैं, केवल स्वामीका समाचार ले जाने वाले हैं, हम लोग सदा स्वामीकी आज्ञानुसार चलते हैं इसलिये गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी हमलोग असमर्थ हैं ॥ ६४ ॥ इसलिये हे आर्य ! चक्रवर्तीने जो कुछ प्रिय और उचित आज्ञा की है वह चाहे अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके

साध्वसाधु वा ॥ ६५ ॥ गुरोर्वचनमादेयमविकल्प्येति या श्रुतिः । तत्प्रामाण्यादमुष्याज्ञा सविधेया त्वयाऽधुना ॥ ६६ ॥ ऐक्ष्वाकः प्रथमो राज्ञा भरतो भवदग्रजः । परिक्राता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥ ६७ ॥ गंगाद्वार समुल्लंघ्य यो रथेनाप्रतिष्कशः । चलदाविद्धकल्लोलमकरोन्मकरालयं ॥६८॥ शरव्याजः प्रतापाग्निर्ज्वलत्यस्य जलेबुधेः । पपौ न केवल वार्द्धिं मान च त्रिदिवौकसा ॥ ६९ ॥ मा नाम प्रणतिं यस्य त्राजिपुर्युसदः कथ । आकृष्टा. शरपाशेन प्राध्वकृत्य गले बलात् ॥ ७० ॥ शरव्यमकरोद्यस्य शरपातो महाबुधौ । प्रसभ मगधावास क्रातद्वादशयोजनः ॥ ७१ ॥ विजयार्द्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयार्द्धेश शरेणामोघपातिना ॥ ७२ ॥ कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयता । कृतमस्योभयश्रेणिनभोगैर्जय-

---

महत्वपनेसे स्वीकार कर लेनी चाहिये ॥ ६५ ॥ "जो अपने गुरुजन हैं उनकी आज्ञा बिना किसी सोच विचारके मान लेना चाहिये" यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको भरतकी आज्ञा मान लेना ही चाहिये ॥ ६६ ॥ वह भरत इक्ष्वाकु वंशमें मुख्य है, राजाओंमें श्रेष्ठ है और आपका बडा भाई है, इसके सिवाय उसने देवोंसेभी नमस्कार करा लिया है और समस्त पृथ्वी अपने वश कर ली है ॥ ६७ ॥ उसने अकेले ही रथमें बैठकर गंगाद्वारको उलंघन किया और रथ चलनेसे जिसकी चंचल लहरें ताडित होकर एक दूसरे पर पड रहीं हैं इसप्रकार समुद्रको क्षोभित कर दिया ॥ ६८ ॥ बाणके बहानेसे जिसकी प्रतापरूप अग्नि समुद्रके जलमें भी जलती है, उस अग्निने केवल समुद्रको ही नहीं पिया है किंतु देवोंका अभिमानभी पी डाला है ॥ ६९ ॥ भला देवलोक भी उसे कैसे नमस्कार न करेंगे क्योंकि उसने अपने बाणरूपी जालसे गलेमें बांधकर उन्हें जबर्दस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥ ७० ॥ बारह योजन दूर तक जानेवाले जिसके बाणने समुद्रमें रहनेवाले मगधदेवके उत्तम निवासस्थानको भी अपना निशाना बनाया था ॥ ७१ ॥ अमोघ बाणके द्वारा विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको जीता था तथा उसके इस विजयकी घोषणा विजयार्द्ध पर्वतपर भी देवलोगोंने की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि अनेक देव उसके सेवक हो

वर्णनैः॥ ७३ ॥ गुहामुखमपध्वांत व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयार्द्धाद्रेर्यो व्यगाहत ता महीं ॥ ७४ ॥ म्लेच्छानिच्छतोऽप्याज्ञां प्रच्छाद्य जयसाधनैः । सेनान्या यो जय प्राप बलादाच्छिद्य तद्धन ॥ ७५ ॥ कृतोऽभिषेको यस्यारादभ्येत्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपद्मायित यशः ॥७६॥ रत्नार्घैः पर्युपासाता य स्वर्धुन्यधिदेवते । वृषभाद्रितटे येन टकोत्कीर्णं कृतं यशः ॥ ७७ ॥ घटदासी कृता लक्ष्मीः सुराः किंकरता गता. । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवते धन ॥ ७८ ॥ स यस्य जयसैन्यानि निर्जित्य निखिला दिशः । भ्रमंति स्माखिलांभोधितटांतवनभूमिषु ॥ ७९ ॥ त्वामायुष्मन् जगन्मान्यो मानयन्कुशलाशिषा । समादिशति चक्राका प्रथयन्नधिराजता ॥ ८० ॥ मदीय राज्यमाक्रातनिखिलद्वीपसागरं । राजतेऽस्मत्प्रिय-

---

चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणीके विद्याधरोंने उसकी जयजयकारका वर्णन करते हुये आज्ञा पालन की है ॥ ७३ ॥ जिसका अंधकार गुफाके दरवाजेको अपनी सेनाके साथ उलंघन कर विजयार्द्ध पर्वतके उत्तर दिशाकी ओरकी उस अगम्य पृथ्वीपर भी उसने अपना अधिकार किया है ॥ ७४ ॥ भरतकी आज्ञाको नहीं मानते हुये भी म्लेच्छ लोगोंको सेनापतिके द्वारा अपनी सेनासे हराकर तथा जबर्दस्ती उनका धान छुडाकर जिसने विजय प्राप्त किया है ॥ ७५ ॥ तथा अच्छे अच्छे देवोंने शीघ्रतासे आकर जिसका अभिषेक किया है और जिसका यश बडे बडे पर्वतोंकी शिखरोंपर स्थल कमलोंके समान सुशोभित हो रहा है ॥ ७६ ॥ गंगा सिंधु दोनों नदियोंके देवताओंने रत्नोंका अर्घ देकर जिसकी पूजा की है तथा जिसने वृषभाचलपर्वतकी दीवालपर अपना यश टांकीसे उकेरकर लिखा है ॥ ७७ ॥ जिसने लक्ष्मीको जल भरनेवाली छोटी दासीके समान की है, देव सेवक किये हैं, सब रत्न जिसके आधीन हैं और निधियां जिसे अनंत धन देती हैं ॥ ७८ ॥ और जिसकी विजय करनेवाली सेनाने सब दिशाओंको जीतकर तीनों ओरके सब समुद्रोंके किनारे के बनोंकी पृथ्वीमें खूब भ्रमण किया था ॥ ७९ ॥ हे दीर्घायु बाहुबलि ! उस जगतमें मान्य महाराज भरतने अपने चक्रवर्तीपनेके राज्यको प्रसिद्ध करतेहुये आपको कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे

भ्रात्रा न बाहुबलिना विना ॥ ८१ ॥ ताः सपदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छदः । ये समं बधुभिर्भुक्तारसविभक्तसुखोदयैः ॥ ८२ ॥ अन्यच्च नामिताशेषनृसुरासुरखेचरं । नाधिराज्यं विभात्यस्य प्रणामविमुखे त्वयि ॥ ८३ ॥ न दुनोति मनस्तीव्र रिपुरप्रणतस्तथा । बधुरप्रणमन्गर्वाद्दुर्विदग्धो यथा प्रभु ॥ ८४ ॥ तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यता प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु सपदा ॥ ८५ ॥ अवध्यशासनस्यास्य शासन ये विमन्वते । शासन द्विषता तेषा चक्रमप्रतिशासनं ॥ ८६ ॥ प्रचडदडनिर्घातनिपातपरिखंडितान् । तदाज्ञाखडनव्यग्रान्पश्यैतान्मंडलाधिपान् ॥ ८७ ॥ तदेत्य द्रुतमायुष्मन्

आदरसत्कार कर आज्ञा की है कि ॥८०॥ यद्यपि मेरा राज्य समस्त द्वीप और समुद्रोंतक फैलाहुआ है तथापि वह हमारे प्रिय भाई बाहुबलिके बिना शोभा नहीं देता है ॥ ८१ ॥ संपत्ति वही है, ऐश्वर्य वही है, भोग उपभोग वे ही हैं और सामग्री वही है जिसे सब भाई लोग सुखके उदयको बांटतेहुये उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि जबतक आप प्रणाम न करेंगे तबतक जिसमें समस्त राजा, देव, व्यंतर और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा यह भरतका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥ ८३ ॥ यदि कोई शत्रु प्रणाम न करे तो उससे स्वामीके मनमें इतना क्लेश नहीं होता है कि जितना अपनेको झूठ मूठ पंडित माननेवाले और अभिमानसे प्रणाम न करतेहुये भाईसे होता है ॥ ८४ ॥ इसलिये आप किसी अपराधकी क्षमा न करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामकर उनका आदरसत्कार कीजिये, क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक तरहकी संपदाओंको देनेवाला है, संसारमें यही प्रशंसनीय है ॥ ८५ ॥ भरतकी आज्ञा कभी उलंघन नहीं की जा सकती जो लोग उसे नहीं मानते हैं उन शत्रुओंको जिसपर किसीका बल नहीं चल सकता ऐसा चक्र रत्न स्वयं दंड देनेवाला मौजूद है ॥ ८६ ॥ आप भरतकी आज्ञाका उलंघन करनेसे व्याकुल हुये इन मंडलेश्वर राजाओंको देखिये, भयंकर दंडरत्नरूपी वज्रपातसे इनके कैसे टुकडे टुकडे हुये हैं ॥ ८७ ॥ इसलिये हे दीर्घायु कुमार ! आप शीघ्र ही चलकर भरतकी इच्छा पूर्ण कीजिये, आप दोनों भाइयोंके

पूरयास्य मनोरथ ॥ युवयोरस्तु सांगत्यात्संगत निखिलं जगत् ॥ ८८ ॥ इति तद्वचनस्यांते कृतमंदास्मितो युवा । धीरं वचो गंभीरार्थमाचचक्षे विचक्षणः ॥ ८९ ॥ साधूक्तं साधुवृत्तत्व त्वया घटयता प्रभोः । वाचस्पत्यं तदेवेष्ट पोषक स्वमतस्य यत् ॥ ९० ॥ सामदर्शयता नाम भेददंडौ विशेषतः । प्रयुजानेन साध्येऽर्थे स्वातत्र्य दर्शित त्वया ॥ ९१ ॥ स्वतत्रस्य प्रभोः सत्य स त्वमतश्चरश्चर. । अन्यथा कथमेवास्य व्यनक्त्यन्तर्गतं गत ॥ ९२ ॥ निसृष्टार्थतयाऽस्मासु निर्दिष्टस्त्वं निधीशिना । विशिष्टोऽसि न वैशिष्ट्यं परमर्मस्पृगीदश ॥ ९३ ॥ अय खलु खलाचारो यद्वलात्कारदर्शन । स्वगुणोत्कीर्तन दोषोद्भावन च परेषु यत् ॥ ९४ ॥ विवृणोति खलोऽन्येषा दोषान्स्वॉश्च गुणान् स्वय। सॅवृणोतिच दोषान् स्वान् परकीयान्गुणानपि ॥९५॥

मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥ ८८ ॥ इसप्रकार जव वह दूत कह चुका तव चतुर और जवान बाहुबलि कुमार कुछ कुछ हंसकर जिसमें गंभीर अर्थ भराहुआ है ऐसे धीरवीर वचन कहने लगे ॥ ८९ ॥ कि हे दूत ! अपने स्वामीकी सदाचरणताका संपादन करनेवाले तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टता करनेवाला हो वही कहना ठीक है ॥९०॥ साम अर्थात् नर्मी दिखलातेहुये तूने विशेष करके भेद और दंड भी दिखला दिये तथा उन भेद और दंडको दिखलातेहुये तूने यह भी दिखला दिया कि तू अपना मतलब सिद्ध करनेमें वहुत ही स्वतंत्र है ॥ ९१ ॥ इसप्रकार कहनेवाला तू अवश्य ही स्वतंत्र रहनेवाले अपने स्वामीका अंतरंग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तेरे स्वामीके निश्चित कियेहुये हृदयके समाचार कैसे प्रगट होते ॥ ९२ ॥ तूने पहिले अपने स्वामीके वहुतसे काम किये हैं इसलिये ही चक्रवर्तीने तुझे मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इसप्रकार दूसरेका मर्म छेदन करना मेरी समझमें अच्छा नहीं जान पडता ॥ ९३ ॥ अपनी जवर्दस्ती दिखलाना तो वास्तवमें दुष्टोंका काम है, तथा अपने गुणोंका वर्णन करना और दूसरोंके दोष दिखलाना भी एक तरहकी दुष्टता है ॥ ९४ ॥ दुष्ट लोग भी अपने गुणोंका वर्णन स्वयं किया करते हैं और दूसरोंके दोष प्रगट किया करते हैं, इसीतरह वे अपने दोष और दूसरोंके गुणोंको भी सदा

अनिराकृतसंतापा सुमनोभिः समुज्झिता। फलहीना श्रयत्यज्ञाः खलता खलतामिव ॥ ९६ ॥ सतामसमता विष्वगाचितां विरसैः फलैः। मन्ये दुःख लतामेनां खलतां लोकतापिनीं ॥ ९७ ॥ सोपप्रदानं सामादौ प्रयुक्तमपि बाध्यते। पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये विप्रतिषेधिनि ॥ ९८ ॥ यथाविषयमेवैषामुपायानां नियोजनं। तिर्यग् तद्विपर्यासः फलिष्यति पराभवं ॥ ९९ ॥ नैकांतशमनं साम समाम्नातं सहोष्माणि। स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पि-

छिपाते रहते हैं ॥ ९५ ॥ जिसप्रकार खलता अर्थात् आकाशकी बेलसे किसीका संताप दूर नहीं होता है वह सुमन अर्थात् फूलोंसे शून्य और फल रहित रहती है उसीप्रकार खलता अर्थात् दुष्टतासे भी किसीका संताप दूर नहीं होता, वह भी सुमन अर्थात् उत्तम मनुष्योंसे शून्य रहती है अर्थात् उत्तम मनुष्य उससे अलग ही रहते हैं और वह फल रहित होती है अर्थात् दुष्टतासे कुछ भी फल नहीं निकलता है, ऐसी इस दुष्टताको केवल मूर्ख लोग ही आश्रय देते हैं ॥ ९६ ॥ सज्जन लोग जिसमें कभी संमति भी नहीं देते हैं जो विरस अर्थात् रस रहित अथवा विरसता—अनेकता उत्पन्न करनेवाले फलोंसे सबओर भरीहुई है और जो लोगोंको संताप उत्पन्न करनेवाली है ऐसी इस खलता अर्थात् दुष्टताको मैं केवल दुःखकी लता ही मानता हूं ॥ ९७ ॥ जो पुरुष न्यायवान है परंतु भेद और दंडसे जिसमें कुछ विकार होगया है ऐसे पुरुषकेलिये साम आदिका प्रयोग करते समय कुछ देनेका विधान करना भी बाधित होता है, भावार्थ—जो न्यायवान् और अपने ऐसा बलवान है उसकेलिये भेद दंडके द्वारा कुछ विकार होनेपर नर्मीका उपाय करना या कुछ देकर वश करनेका उपाय करना व्यर्थ ही है ॥ ९८ ॥ साम दाम दंड भेद इन चारों उपायोंको यथायोग्य स्थानमें लगानेसे ही कार्यसिद्धि होती है, यदि विपरीत रीतिसे इन्हें लगाया जाय अर्थात् जो जिसके योग्य नहीं है उसकेलिये उसका प्रयोग किया जाय तो उससे उलटा प्रयोग करनेवालेका तिरस्कार होता है, भावार्थ—जो नर्मीके योग्य है उसके साम्हने नर्मी दिखलाना, जो दंडके योग्य है उसे दंड ही देना उचित है, जो दंडपानेकी

घीवांबुसचन ॥ १०० ॥ उपप्रदानमप्येवंप्राय मन्ये महौजसि । समित्सहस्त्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कुतः शमः ॥ १०१ ॥ लोहस्येवोपततस्य मृदुता न मनस्विनः । दडोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि ॥ १०२ ॥ ततो व्यत्यासयन्नेतानुपायाननुपायवित् । स्वयं प्रयोगवैगुण्यात्सीदत्येव भवादृश. ॥१०३॥ साम्नाऽपि दुष्करं साध्या वयमित्युपसँह्वते । तत्रोत्सेक प्रयुजानो व्यक्त मुग्धायते भवान् ॥ १०४ ॥ वयसाऽधिक इत्येव न श्लाघ्यो भरताधिपः । जरन्नपि

योग्यता रखता है उसे साम या दाम देना अथवा जो सामकी योग्यता रखता है उसे दाम भेद या दंड देना उलटा तिरस्कार करनेवाला है ॥ ९९ ॥ जो प्रतापशाली पुरुष है उसके लिये साम अर्थात् नर्मीका प्रयोग करना भी सबतरह शांत करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतापशाली पुरुष स्निग्ध अर्थात् प्रिय होनेपर भी यदि वह क्रोधित हो जाय तो उसकेलिये सामका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किंतु गर्म घीमें पानी डालनेके समान है भावार्थ—जैसे गर्म घी पानी डालनेसे शांत नहीं होता उलटा अधिक छटपटाता है उसीप्रकार प्रतापशाली पुरुष सामसे शांत नहीं होता उलटा वह उससे अधिक चिड जाता है ॥ १०० ॥ इसीप्रकार प्रतापशाली पुरुषकेलिये दाम अर्थात् कुछ देना भी ऊपरके ही समान है अर्थात् देनेसे भी प्रतापशाली पुरुष शांत नहीं होता है, क्योंकि हजारों समिधायें [लकडियां] देनेपरभी प्रज्वलित हुई अग्नि भला कैसे शांत हो सकती है ॥ १०१ ॥ जिस-प्रकार लोहा तपानेसे नर्म नहीं होता उसीप्रकार अभिमानी पुरुष दुख देनेपर भी नर्म नहीं होते हैं इसलिये उनपर दंडका प्रयोग करना भी व्यर्थ है क्योंकि आदरसत्कारकर पकडने योग्य साधारण पशुओंपर दंड चल सकता है, उसका प्रयोग सिंहपर नहीं किया जा सकता ॥ १०२ ॥ इसालिये उलटी रीतिसे साम दाम दंड भेद इन चारों उपायोंका प्रयोग करनेवाले और इसलिये ही उपाय न जानने-वाले आप सरीखे लोग इन चारों उपायोंके प्रयोग करनेकी अज्ञानतासे अपने आप दुखी होते हैं ॥ १०३ ॥ हे दूत ! हमको नर्मीसे भी वश करना असाध्य है यह बात तू जानता है तथापि चुप-

गजः कक्ष्या गाहते किं हरेः शिशोः ॥ १०५ ॥ प्रणयः प्रश्रयश्चेति सगतेषु सनाभिषु । तेष्वेवासगतेष्वंग तद्द्वयस्य हता गति. ॥ १०६ ॥ ज्येष्ट' प्रणम्य इत्येतत्काममस्त्वन्यदा सदा । मूर्ध्न्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति क. क्रम' ॥ १०७ ॥ दूत नो दूयते चित्तमन्योत्सेकानुवर्तनै' । तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्त्यतः पर ॥ १०८ ॥ राजोक्तिर्मयि तस्मिंश्च संविभक्ताऽदिवेध । राजराज. स इत्यद्य स्फोटो गडस्य मूर्धनि ॥ १०९ ॥ काम स राजराजोऽस्तु रत्नैर्यातोऽतिगृध्नुता । वय राजन इत्येव सौराज्ये स्वे व्यवस्थिता' ॥ ११० ॥ वालानिव छलादस्मानाहूय प्रणमय्य च । पिंडीखड त्वा-

---

चाप बैठेहुये हमलोगोंके लिये वल और अभिमान दिखलाता है इससे तू साफ मूर्ख जान पडता है ॥ १०४ ॥ भरतेश्वर उमरमें वडे हैं केवल इतनेसे ही वे प्रशंसनीय नहीं गिने जा सकते, क्योंकि हाथी बूढा होनेपर भी क्या सिंहके बच्चेकी वरावरी करसकता है ॥ १०५ ॥ हे दूत ! प्रेम और नम्रता ये दोनों ही परस्पर प्रेम करनेवाले कुटुंवी लोगोंमें संभव हो सकते हैं, यदि उन्हीं कुटुंवियोंमें परस्पर विरोध हो जाय तो उन दोनोंही की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है अर्थात् विरोधी कुटुंवियोंमें प्रेम और नम्रता दोनों नष्ट हो जाती हैं ॥ १०६ ॥ वडा भाई नमस्कार करने योग्य है यह वात अन्य समयमें इच्छानुसार हमेशा हो सकती है परंतु जिसने हमारे मस्तकपर तलवार रख छोडी है उसको प्रणाम करना यह कौनसी रीति है ॥ १०७ ॥ हे दूत ! दूसरेके अहंकारके अनुसार चलनेसे हमारा चित्त दुखी होता है, क्योंकि संसारमें एक सूर्य ही तेजस्वी है क्या सूर्यसे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ? ॥ १०८ ॥ आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने ' राजा ' नह शब्द मेरेलिने और भरतकेलिये दोनोंकेलिये दिया है, परंतु भरत आज राजराजा होगया है अर्थात् उसके पीछे एक राज शब्द अधिक लग गया है सो यह कपोलके ऊपर गूमडेके समान व्यर्थ है ॥ १०९ ॥ अथवा वह भरत रत्नोंसे अत्यंत लोभी होगया है इसलिये वह खुशीसे राजराजा अर्थात् कुवेर रहो, हम अपने धर्मराज्यमें रहकर राजा ही बने रहेंगे ॥ ११० ॥ वह भरत वालकोंके समान छल कपटसे हम लोगोंको वुलाकर तथा

भाति महीखंडस्तदर्पितः ॥ १११ ॥ स्वदोर्द्रुमफलं श्लाघ्यं यत्किंचन मनस्विना । न चातुरंतमप्यैश्यं परभ्रूलतिकाफलं ॥ ११२ ॥ पराज्ञोपहतां लक्ष्मीं यो वाछेत्पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति तामुक्तिं सर्पोक्तिमिव डुंडुभः ॥ ११३ ॥ परावमानमलिना भूतिं धत्ते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य नन्वेष भारो राज्यपरिच्छदः ॥ ११४ ॥ मानभंगार्जितैर्भोगैर्यः प्राणान्धर्तुमीहते । तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा ॥ ११५ ॥ छत्रभगाद्विनाप्यस्य छायाभंगोऽभिलक्ष्यते । यो मानभगभारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥ ११६ ॥ मुनयोऽपि समानाश्चेत्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थी पुमानु-

---

प्रणाम कराकर पृथ्वी देना चाहता है, सो इसप्रकार उसका दियाहुआ यह पृथ्वीका टुकडा हमारेलिये खलके टुकडेके समान व्यर्थ है ॥ १११ ॥ अभिमानी लोगोंको जो कुछ थोडा बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल मिले वही प्रशंसनीय है उनकेलिये दूसरेकी भोंहरूपलताका फल अर्थात् भोंहके इशारेसे दियाहुआ यदि चार समुद्र पर्यंत पृथ्वीका ऐश्वर्य भी मिले तो वह भी प्रशंसनीय नहीं है ॥ ११२ ॥ जिसप्रकार विषरहित दुमुही 'सर्प' इस शब्दको व्यर्थ धारण करता है उसीप्रकार जो राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे मलिन हुई लक्ष्मीकी इच्छा करता है वह 'राजा, इस शब्दको भी व्यर्थ धारण करता है ॥ ११३ ॥ जो राजा होकर भी दूसरेके अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है उस मनुष्यरूप पशुकेलिये राज्यकी यह सब सामिग्री बोझेके समान है ॥ ११४ ॥ जिसके दांत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष अपना मानभंग होनेपर प्राप्त हुये भोगोपभोगोंसे प्राणोंको धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें क्या भेद है ? अर्थात् वह पुरुष अशक्त पशुके समान है ॥ ११५ ॥ जो राजा मानभंगके बोझसे नम्र हुये अपने शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके बिना ही हो जाता है, भावार्थ—जो अपना मानभंगकर नीचा शिर कियेहुये छत्र धारण करते हैं, राजा कहलाते हैं वे कांतिरहित निस्तेज हो जाते हैं ॥ ११६ ॥ जिन्होंने भोगोपभोगकी सब सामग्रियां छोड दी हैं ऐसे मुनियोंको भी जब अभिमान रहता है तब फिर जो राज्य

ज्झोत्समानता ॥ ११७ ॥ वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनं । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता ॥ ११८ ॥ मानमेवाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणश्वरैः । नन्वलंकुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यशः ॥ ११९ ॥ वरं चक्रधरस्यायं त्वयाऽत्युक्तः पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं स्तुतिनिंदापरायणः ॥ १२० ॥ वचोभिः पोषयन्त्येव पंडिताः परिफल्ग्वपि । प्रक्रांतायां स्तुताविष्टः सिंहो ग्राममृगो ननु ॥ १२१ ॥ इदं वाचनिकं कृत्स्नं त्वदुक्तं प्रतिभाति नः । क्वाऽस्य दिग्विजयारंभः क्व धनोच्छनचंचुता॥ १२२ ॥ दधच्चाक्रधरीं वृत्तिं बलिं भिक्षामिवाहरन् । दीनतायाः परां कोटिं प्रभुरारोपि-

भोगनेकी इच्छा करना चाहता है ऐसा कौन पुरुष अभिमानको छोड देगा ॥ ११७ ॥ वनमें निवास करना अच्छा है, प्राणोंको छोडदेना अच्छा है, किंतु जिन्हें अपने कुलका अभिमान है ऐसे पुरुषोंको दूसरेकी आज्ञाके वश रहना अच्छा नहीं है ॥ ११८ ॥ धीरवीर पुरुषोंको अवश्य नाश होनेवाले इन प्राणोंके द्वारा अर्थात् प्राण देकर भी अभिमानकी ही रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि अभिमानके द्वारा कमायाहुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥ ११९ ॥ तूने जो यह चक्रवर्तीका पराक्रम बहुत बढाकर कहा है सो ठीक ही है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुतिनिंदा कहनेवाला है अर्थात् स्तुतिमें निंदाको सूचित करता है ॥ १२० ॥ पंडितलोग सार रहित छोटीसी वस्तुको भी अपने बचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि जब स्तुति करना प्रारंभ किया तब कुत्तेको भी सिंह कहना ही पडता है ॥ १२१ ॥ तूने अबतक जो कुछ कहा है वह सब हमलोगोंको केवल बचनाडंबर ही जान पडता है क्योंकि भरतका कहां तो दिग्विजयका प्रारंभ करना और कहां धन इकट्ठा करनेकी तृष्णा ? भावार्थ—यह दिग्विजय केवल धन इकट्ठा करनेका एक साधन है ॥१२२॥ जिसप्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर घरघरसे भीख मांगता है उसीप्रकार चक्रवर्तीके आचरण करताहुआ और भिक्षाके समान कर वसूल करताहुआ तेरा प्रभु भरत तूने दीनताकी परमहद्दको पहुंचा दिया है अर्थात् अतिशय दीन बना दिया है ॥१२३॥ यह बात ठीक है कि चक्रवर्तीने अपने दिग्विज-

तस्त्वया ॥ १२३ ॥ सत्यं दिग्विजये चक्री जितवानमरानिति । प्रत्येयमिदमेतत्तु चिंत्यमत्र ननु त्वया ॥ १२४ ॥ स किं न दर्भशय्यायां सुप्तो नोपोषितोऽथवा । प्रवृत्तो जलमायाया शरपात समाचरन् ॥ १२५ ॥ कृतचक्रपरिभ्रातिर्दंडेनायतिशालिना । घटयन्पार्थिवानेष स कुलालायते तव ॥१२६॥ आगःपरागमातन्वन् स्वयमेष कलंकितः । चिरं कलंकयत्येष कुलं कुलभृतामपि ॥ १२७ ॥ नृपानाकर्षतो दूरान्मंत्रैस्तंत्रैश्च योजितैः । श्लाघ्यते कियदेतस्य पौरुषं लज्जया विना ॥ १२८ ॥ दुनोति नो भृशं दूत श्लाघ्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायितं जले यस्य बलं म्लेच्छबलैस्तदा ॥१२९॥ यशोधनम-

में देवोंको भी जीतलिया है परंतु यह बात केवल मान लेना चाहिये, अन्यथा इस विषयमें तू इतना तो विचार कर कि ॥ १२४ ॥ विद्याके द्वारा जलको स्थिर करनेमें (जलस्तंभन करनमें) लगेहुये तेरे चक्रवर्तीने जब समुद्रमें बाण छोडा था तब वह क्या दर्भ शय्यापर नहीं सोया था ? अथवा उसने उपवास नहीं किया था ? ॥ १२५ ॥ जिसप्रकार कुंभार अपने लंबे डंडेसे चक्रको फिराताहुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घडे बनाता है उसीप्रकार भरत भी अपने लंबे डंडेसे (दंड रत्नसे) चक्र अर्थात् चक्र रत्नको फिराता हुआ पार्थिव अर्थात् राजाओंको वश करता फिरता है, इसलिये दुःखके साथ कहना पडता है कि वह ठीक कुंभारके समान जान पडता है ॥ १२६ ॥ वह भरत पापकी धूलको चारोंओर उडाताहुआ स्वयं कलंकित हुआ है और हमारे ऐसे कुलीन पुरुषोंके कुलको भी सदाके लिये कलंकित कर रहा है ॥ १२७ ॥ हे दूत ! नियुक्त कियेहुये मंत्र तंत्रोंके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओंको बुलानेवाले इस भरतका पराक्रम बिना लज्जाके अर्थात् निर्लज्ज होकर तू कितना वर्णन कर रहा है ? ॥ १२८ ॥ हे दूत ! जिससमय तू भरतके युद्धकी प्रशंसा करता है उससमय हम लोगोंको बहुत ही दुःख होता है, क्योंकि उससमय म्लेच्छोंकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें झूलेके समान हिंडोले खा रही थी, अर्थात् खूब ही हिल रही थी ॥ १२९ ॥ क्षत्रियोंके पुत्रोंको तो जिसे कोई भी ग्रहण न कर सके ऐसे यशरूपी धनकी ही रक्षा करना चाहिये, क्योंकि इस पृथ्वीमें

सँहार्यं क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यता । निखनंतो निधीन् भूमौ बहवो निधनं गताः ॥१३०॥ रत्नैः किमस्ति वा कृत्यं यान्यरत्निमितां भुवं । न याति यत्कृते यांति केवलं निधन नृपाः ॥ १३१ ॥ तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्नपुजेन वत नैश्वर्यमीदृशं ॥ १३२ ॥ ध्रुवं स्वगुरुणा दत्तामाच्छिचित्सति नो भुव । प्रत्याख्येयत्वमुत्सृज्य गृध्नोरस्य किमौषध ॥ १३३ ॥ दूत तातवितीर्णां नो महीमेना कुलोचिता । भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सोर्नास्य लज्जा भवत्पतेः ॥ १३४ ॥ देयमन्यत्स्वतत्रेण यथाकाम जिगीषुणा । मुक्त्वा कुलकलत्र च क्षमातल च भुजार्जित ॥ १३५ ॥ भूयस्तदलमालप्य स वा भुंक्ता महीतलं । चिरमेकातपत्रांकमहं वा भुजविक्रमी ॥ १३६ ॥ कृतं वृथा भटालापैरर्थसिद्धिवहिष्कृतैः । संग्रामनिकषे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य

निधियोंको गाढ गाढकर रखनेवाले तो अनेक लोग मर चुके हैं ॥ १३० ॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथ्वीकी दूरीपर भी साथ नहीं जा सकते, जिन्हें इकट्ठा करनेकेलिये राजाओंको केवल मरना पडता है ऐसे रत्नोंसे क्या कार्य निकल सकता है ? ॥ १३१ ॥ जिसे सव राजाओंने मिलकर रत्नोंके समूहसे तोला है वह यह भरत एकप्रकारका तुलापुरुष है, खेद है कि यह ऐसा कुछ ऐश्वर्य नहीं कहलाता है ॥१३२॥ वह भरत अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवकी दी हुई इस हमारी पृथ्वीको जबर्दस्ती लेना चाहता है, सो अवश्य ही ऐसे लोभीका निराकरण अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥ १३३ ॥ हे दूत ! पिताके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथ्वी भरतकेलिये भाईकी बहूके समान है, अब वह भरत उसे ही लेना चाहता है, क्या ऐसे तेरे स्वामीको लज्जा नहीं आती है ? ॥ १३४ ॥ जो पुरुष शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं तथा स्वतंत्र हैं वे अपने कुलकी स्त्रियोंको और भुजाओंसे जीती हुई पृथ्वीको छोडकर बाकी सब वस्तु इच्छानुसार दे सकते हैं, भावार्थ—स्त्री और पृथ्वीको छोडकर बाकी सब कुछ देने योग्य है ॥१३५॥ इसलिये बार बार कहनेसे कुछ लाभ नहीं है, इस पृथ्वीको एक छत्र होकर अर्थात् सबका आधिपति होकर वह भरत ही उपभोग करे अथवा भुजाओंमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही चिराकालतक उपभोग करूं ॥ १३६ ॥ जिसमें

ष ॥ १३७ ॥ ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वाऽस्तु नौ द्वयोः । नीरेकामिदमेकं नो वचो हर वचोहर ॥ १३८ ॥ इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण वचोहरः । द्रुतं विसर्जितो गच्छ पतिं सन्नाहयेत्परं ॥ १३९ ॥ तदा मुकुटसंघट्टादुच्छलन्मणिकोटिभिः । कृतोल्मुकशतक्षेपैरिवोत्तस्थे महोशिभिः ॥ १४० ॥ क्षणं समरसंघट्टपिशुनो भटसंकटे । श्रूयते स्म भटालापो बले भुजबलीशितुः ॥ १४१ ॥ चिरात्समरसंमर्दः स्वामिनोऽयमभूदिह । किं वयं स्वामिसत्कारादनृणीभवितुं क्षमाः ॥ १४२ ॥ पोषयंति महीपाला भृत्यानवसरं प्रति । न चेदवसरः सार्यः किमेभिस्तृणमानुषैः ॥ १४३ ॥ कलेवरमिदं त्याज्यमर्जनीयं

कुछ भी अर्थसिद्धि नहीं है ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ बचनोंसे कुछ लाभ नहीं है, अब तो युद्धरूपी कसौटीपर ही मेरा और भरतका पराक्रम स्पष्ट प्रगट होना चाहिये ॥ १३७ ॥ इसलिये हे दूत ! तू यह हमारा संदेहरहित बचन भरतसे जाकर कह कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी बडीभारी भीडमें ही होगा ॥ १३८ ॥ इसप्रकार जिसने अपना अभिमान प्रगट कर दिखाया है ऐसे कुमार बाहुबलिने दूतको शीघ्र ही विदा किया और यह कह दिया कि जा और अपने स्वामी भरतको शीघ्र ही युद्धके लिये तैयार कर ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार आलातचक्रसे अग्निके सैकडों फुलिंगे निकलकर चारोंओर फैलते हैं उसीप्रकार जिनके मुकुटोंकी रगडसे करोडों मणि उछलकर इधर उधर पड रहे हैं ऐसे अनेक राजा महाराजा उससमय उस सभामें उठ खडे हुये ॥१४०॥ उससमय क्षणभर अनेक योद्धाओंसे भरेहुये महाराज बाहुबलिकी सेनामें युद्धकी भीडको सूचित करताहुआ योद्धालोगोंका परस्परका भाषण सुनाई दे रहा था ॥ १४१ ॥ इससमय स्वामीकी यह युद्धकी तैयारी वहुत दिनसे हुई है, क्या अब हम अपने स्वामीके (पालनपोषण द्वारा किये हुये) सत्कारके ऋणसे छूट सकेंगे ? ॥ १४२ ॥ राजालोग समयकेलिये ही सेवक लोगोंका पालन पोषण करते हैं, यदि समय पडनेपर भी स्वामीका कार्य नहीं किया तो फिर ऐसे घास फूसके बनेहुये मनुष्योंसे क्या लाभ है ? ॥ १४३ ॥ अब यह शरीर छोडना होगा, यशरूपी धंन कमाना होगा और युद्धके विजय करनेमें

यशोधनं । जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः ॥१४४॥ मदातपगरच्छाये प्रत्यगेर्व्रणजर्जरैः । लप्स्यामहे कदा नाम विश्रामं रणमंडपे ॥१४५॥ प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं निर्भिद्य सायकैः । शरशय्यामसंबाधमध्यासिष्ये कदाऽन्वह ॥ १४६ ॥ कर्णतालानिलाधूतिविधूतसमरश्रमः । गजस्कंधे निषीदामि कदाऽह क्षणमूर्छितः ॥ १४७ ॥ दंतिदंतार्गलप्रोतान्त्रलदंत्रस्खलद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाऽहं लक्ष्यतां भजे ॥ १४८ ॥ गजदंतांतरालंबिस्वान्त्रमालावलंत्रया । कर्हि दोलामिवारोप्य तुलयामि जयश्रियं ॥ १४९ ॥ ब्रुवाणैरिति संग्रामरसिकैरुद्भटैर्भटैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् बले

जयलक्ष्मी प्राप्त करनी होगी ! यह युद्धका उत्सव कुछ थोडा फल देनेवाला नहीं है ॥ १४४ ॥ वह कौनसा दिन होगा कि जब हमलोग घावोंसे जरजरित हुये शरीरके प्रत्येक अंगसे जिसमें थोडी थोडी गर्मी आ रही है ऐसी बाणोंकी छाया जिसमें पड रही है ऐसे युद्धके मंडपमें [मैदानमें] विश्राम लेंगे ॥ १४५ ॥ कोई कहता था कि मैं किस दिन अपने बाणोंसे प्रत्येक सेनाके कियेहुये अनेक व्यूहोंको (सेनाकी रचना विशेषको) छेदकर बिना किसी उपद्रवक बाणोंकी शय्यापर सोऊंगा ॥ १४६ ॥ कोई कहता था कि मैं किस दिन युद्धमें क्षणभर मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताडके पंखेकी वायुक चलनेसे जिसके युद्धका परिश्रम कुछ दूर हुआ है ऐसा होताहुआ हाथीक कंधेपर बैठूंगा ॥ १४७ ॥ हाथियोंके दांतरूपी अर्गलोंमें (एकप्रकारके डंडेमें) पिरोये जानेसे जिसकी अंतडियां सब निकल रहीं हैं और जिसके मुंहसे टूटे फूठे वचन निकल रहे हैं ऐसा होताहुआ मैं किस दिन जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बनाया जाऊंगा, अर्थात् मैं मरताहुआ भी कब विजय पाऊंगा ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दांतोंके बीचमें लटकतेहुये अंतडियोंके समूहरूपी मोटी रस्सियोंपर झूलाके समान विजयलक्ष्मीको बिठाकर कब मैं उसे तोलूंगा भावार्थ—मैं कब अपने मरेहुये शरीरके साथ विजयलक्ष्मीको तौलूंगा ॥ १४९ ॥ इसप्रकार परस्पर बातचीत करतेहुये युद्धके प्रेमी बडे बडे योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने अपने शस्त्र और शिरपर देनेकी लोहेकी टोपी

बले ॥१५०॥ ततः कृतभय भूयो भटभ्रुकुटितार्जितैः । पलायितमिव क्वाऽपि परिच्छित्तिमगादहः ॥१५१॥ अथारुष्यद्भटानीकनेत्रच्छायार्पितां रुच । दधान इव तिग्मांशुरासीदारक्तमडल ॥१५२॥ क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननक्ष्माजपल्लवैः । स दृगालोहितच्छायो ददृशेऽर्कांशुसस्तरः ॥ १५३ ॥ करैर्गिर्यग्रसँलग्नैर्मानुरालक्ष्यत क्षण । पातभीत्या करालम्बैः करालवमिवाश्रयन् ॥१५४॥ पतत वारुणीसगात्परिलुप्तविभावसु । नालम्बत वतास्ताद्रिर्भानुं विम्यदिवैनसः ॥१५५॥ गतो नु दिनमन्वेष्टु प्रविष्टो नु रसातलं । तिरोहितो नु शृगाग्रैरस्तादेर्नैक्षि भानुमान् ॥ १५६ ॥ विघटय्य तमो नैश करैराक्रम्य भूभृतः । दिवाऽवसाने

संभाली ॥ १५० ॥ तदनंतर योद्धाओंकी भ्रकुटियोंके तिरस्कारसे मानों भयभीत हुआ ही वह दिन कहीं भागेहुयेके समान ही नष्ट होगया भावार्थ—दिन डूबने लगा ॥ १५१ ॥

अथानंतर—सायंकालके समय सूर्यका प्रतिविंब लाल होगया मानों उसने क्रोधित हुये योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई गुलाबी कांति ही धारण की हो ॥ १५२ ॥ उससमय क्षणभरके लिये सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल पर्वतके शिखरपरके बनोंमें लगेहुये वृक्षोंके नये कोंपलोंके समान कुछ कुछ लाल रंगका दिखाई देरहा था ॥ १५३ ॥ उससमय वह सूर्य अस्ताचल पर्वतके शिखरपर लगेहुये किरणोंसे क्षणभरके लिये ऐसा जान पडता था मानों वह नीचे गिरनेके डरसे अपने लंबे किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥ १५४ ॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाके समागमसे (दूसरे अर्थमें वारुणी अर्थात् मद्यके समागमसे) नीचे पड रहा है और जिसका कांतिरूपी धन सब नष्ट होगया है ऐसे सूर्यको पापसे डरतेहुये ही मानों अस्ताचल पर्वतने सहारा नहीं दिया । भावार्थ—जिसे वारुणी अर्थात् मद्यका समागम होता है उसे स्पर्श करनेसे भी पाप लगता है, इससमय सूर्यको भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाका समागम था अस्ताचलने उसे वारुणी अर्थात् मद्यका समागम समझ पापसे डरकर सहारा नहीं दिया इसलिये सूर्य पश्चिम दिशाकी ओर नीचे ही गिरपडा अर्थात् डूबगया ॥ १५५ ॥ उससमय सूर्य बिलकुल दिखाई

पर्यास्थदहो रविरनंशुकः ॥ १५७ ॥ तिर्यङ्मंडलगत्यैव शश्वद्वानुरयं भ्रमन् । विप्रकर्षाज्जनैर्मूढैरग्राहींव पतन्नधः ॥ १५८ ॥ व्यसनेऽस्मिन्दिनेशस्य शुचेव परिपीडिताः । विच्छायानि मुखान्यूहुस्तमोरुद्धा दिगंगनाः ॥ १५९ ॥ पद्मिन्यो म्लानपद्मास्या द्विरेफकरुणारुतैः । शोचंत्य इव संवृत्ता वियोगादहिमत्विषः ॥ १६० ॥ सध्यातपततान्यासन् वनान्यस्तमहीभृतः । परीतानीव दावाग्निशिखयाऽतिकरालया ॥ १६१ ॥ अनुरक्ताऽपि सध्येयं परित्यक्ता

नहीं पडता था, ऐसा जान पडता था मानों वह वीतेहुये दिनको ढूंढनेकोलिये ही गया हो, अथवा पातालमें घुस गया हो अथवा अस्ताचल पर्वतके वडे वडे शिखरोंसे छिप गया हो ॥ १५६ ॥ हा ! देखो ! जिसप्रकार कोई वीर दरिद्ररूपी अंधकारको नष्ट कर और अपने करके द्वारा सव राजाओंपर आक्रमणकर भाग्यके अंतमें बिना ही वस्त्रोंके योंही चलाजाता है, उसीप्रकार जिसने रात्रिका सव अंधकार दूर किया था और जिसने अपनी किरणोंसे सव पर्वतोंपर आक्रमण किया था वही सूर्य दिनके अंतमें अर्थात् सायंकालके समय विना ही किरणोंके योंही चलागया, यह कितने दुखकी वात है ॥ १५७ ॥ यह सूर्य तो मेरुपर्वतके चारोंओर गोलाकार तिरछी गतिसे सदा फिरता रहता है, तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं पडता इसलिये मूर्ख लोगोंको नीचे पडतेहुयेके समान जान पडता है ॥ १५८ ॥ सूर्यकी इस आपत्तिके समय मानों शोकसे ही दुखी हुई दिशारूपी स्त्रियां अंधकारसे भरजानेके कारण अपने कांतिरहित मुखको धारण करती थीं, अर्थात् सव दिशाओंमें अंधकार छा गया था ॥ १५९ ॥ जिनके कमलरूपी मुख मुरझागये हैं ऐसी कमलनियां (कमलोंकी वेलें) अपने स्वामी सूर्यके वियोगसे ही क्या मानों भ्रमरोंके करुणाजनक रुदनके द्वारा शोक करतीहुई सी जान पडती थीं ॥ १६० ॥ सायंकालके प्रकाशसे व्याप्त हुये अस्ताचल पर्वतके वन ऐसे जान पडते थे मानों अत्यंत भयंकर दावानल अग्निकी शिखासे घिरगये हों ॥ १६१ ॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली अथवा लाल रंगकी थी तथापि सूर्यने उसे छोडदिया था, इसलिये ही लाल

विवस्वता । प्रविष्टेवाऽग्निमारक्तच्छविरालक्ष्यतांबरे ॥१६२॥ शनैराकाशवारीशिविद्रुमोद्यानराजिवत् । रुरुचे दिशि वारुण्यां संध्यासिंदूरसच्छवि. ॥ १६३ ॥ चक्रावाकी मनस्तापदीपनो नु हुताशनः । पप्रथे पश्चिमा शाते संध्यारागो जपारुणः ॥ १६४ ॥ संध्यारागः स्फुरन् दिक्षु क्षणमैक्षि प्रियागमे । मानिनीना मनोरागः कृत्स्नो मूर्छन्निवैकतः ॥ १६५ ॥ धृतरक्तांशुका सध्यामनुयातीं दिनाधिपं ।•बहु मेने सतीं लोकः कृतानुमरणामिव ॥ १६६ ॥ चक्रवाकीं धृतोत्कंठमनुयातीं कृतस्वना । विजहावेव चक्राको नियतिं को नु लंघयेत् ॥ १६७ ॥ रवेः किमपराधोऽय कालस्य नियतेः किमु ।

रंगकी वह आकाशमें ऐसी जान पडती थी मानों उसने अग्निमें प्रवेश किया हो ॥ १६२ ॥ सिंदूरकी श्रेष्ठ कांतिके समान वह संध्या धीरे धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों आकाश रूपी समुद्रमें मूगोंके बगीचोंकी पंक्तियां ही हों ॥ १६३ ॥ जपाके फूलके समान लालरंगकी वह संध्याकी लालिमा पश्चिम दिशाके अंतमें ऐसी बढ रही थी मानों चकवियोंके मनके संतापको बढानेवाला अग्नि ही हो, (रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग होनेसे उन्हें दुःख होता है) ॥ १६४ ॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सायंकालकी लालिमा क्षणभरकेलिये ऐसी दिखाई पडती थी मानों प्रिय पतियोंके आनेके समय मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग एक जगह ही इकट्ठा हुआ हो ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार पतिके साथ साथ मरनेवाली सतीको लोग बहुत कुछ मानते हैं उसीप्रकार जो अपने स्वामीके पीछे पीछे जा रही है और जिसने लाल किरणेंरूपी वस्त्र पहन रक्खे हैं ऐसी संध्याको भी लोग बहुत कुछ मानते थे ॥ १६६ ॥ उस सायंकालके समय चकवाने बडी उत्कंठासे अपने पीछे पीछे आतीहुई और शब्द करतीहुई चकवीको भी छोड दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि नियमसे होनहारका उलंघन भला कौन कर सकता है, [रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग होता ही है] ॥१६७॥ उससमय चकवा चकवियोंके जोडे सब परस्पर अलग अलग होगये, सो क्या यह सूर्यका दोष है? अथवा कालका दोष है ? अथवा भाग्यका ही दोष है? ॥१६८॥ उससमय बिना सूर्यके सब दिशाओंमें

रथांगमिथुनान्यासन् वियुक्तानि यतो मिथः ॥ १६८ ॥ घनं तमो विनार्केण व्यानशे निखिला दिशः । विना तेजस्विना प्रायस्तमो रुधे नु संततं ॥ १६९ ॥ तमोऽवगुंठिता रेजे रजनी तारकातता । विनीलवसना भास्वन्मौक्तिकेवाभिसारिका ॥ १७० ॥ तताघतमसे लोके जनैरुन्मीलितेक्षणैः । नाद्दश्यत पुर' किंचिन्मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥ १७१ ॥ प्रसह्य तमसा रुद्धो लोकोतर्व्याकुलीभवन् । दृष्टिवैफल्यदृष्टेनु बहु मेने शयालुता ॥ १७२ ॥ दीपिका रचिता रेजु. प्रतिवेश्म स्फुरत्त्विषः । घनाघतमसोभेदे प्रक्लृप्ता इव सूचिकाः ॥ १७३ ॥ तमो विधूय दूरेण जगदानंदिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥ १७४ ॥ अखंडमनुरागेण निज मडलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानदमुदगाद्विधुरुत्कर. ॥ १७५ ॥ दृष्ट्वेवाक्रष्टहरिणं

गाढ अंधकार फैलगया था, सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके विना प्रायः सवओर अंधकार भर ही जाता है ॥ १६९ ॥ अंधकारसे घिरीहुई और ताराओंसे भरीहुई वह रात ऐसी अच्छी जान पडती थी मानो जिसने नीला कपडा पहिन रक्खा है और जिसके आभूषणोंसे मोती चमक रहे हैं ऐसी कोई अभिसारिणी (छिपकर उपपतिके समीप जानेवाली) स्त्री ही हो ॥ १७० ॥ जिसप्रकार मिथ्यात्वसे दूषितहुये पुरुपको कुछ भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है उसीप्रकार घोर अंधकारसे भरेहुये इस लोकमें लोगोंको खुलीहुई आंखोंसे सामनेकी भी कुछ चीज दिखाई नहीं देती थी ॥ १७१ ॥ जवर्दस्ती अंधकारसे भराहुआ यह लोक अर्थात् लोगोंका समूह अंतरंगमें कुछ व्याकुल होगया था, उससमय उसकी दृष्टि भी कुछ काम नहीं देती थी इसलिये वह उससमय सोना [नींद लेना] ही अच्छा समझता था ॥१७२॥ प्रत्येक घरमें जिनका प्रकाश चारोंओर फैल रहा है इसप्रकारके लगायेहुये दीपक ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बडे भारी गाढ अंधकारको फोडनेके लिये सुइयां ही तैयार की गई हों ॥ १७३ ॥ इतनेमें ही संसारको आनंदित करने वाले किरणों से दूरसे ही अंधकारको नष्ट करता हुआ चंद्रमा इस प्रकार उदय हुआ मानों इस लोकको दूधसे ही स्नान करा रहा हो ॥ १७४ ॥ जिस प्रकार कोई अच्छा राजा प्रजाके प्रेमसे अपने पूर्ण देशको पालन करता हुआ, चारों ओर अपना

हरिं हरिणलांछन । तिमिरौघः प्रदुद्राव करियूथसदृग्महान् ॥ १७६ ॥ तततारावली रेजे जोत्स्नापूरः सुधाछवेः । सबुद्बुद इवाकाशसिंधोरोघः परिक्षरन् ॥ १७७ ॥ हसपोत इवान्विष्यन् शशी तिमिरशैवलं । तारासहचरीक्रात विजगाहे नभः सरः ॥ १७८ ॥ तमो निःशेषमुध्दूय जगदाप्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्व सुधामयमिवातनोत् ॥ १७९ ॥ तमो दूर विधूयाऽपि विधुरासीत्कलंकवान् । निसर्गज तमो नून महताऽपि सुदुस्त्यज ॥ १८० ॥ भिपजेव करैः स्पृष्टा दिशस्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दंश इवालोकमातेनुः शिशिरत्विषा ॥ १८१ ॥ इति प्रदोपसमये जाते प्रस्पष्टता-

---

कर बिठाता हुआ और संसारको प्रसन्न करता हुआ उदय होता है उसी प्रकार वह चंद्रमा प्रेमसे अपने पूर्ण विंबको धारण करता हुआ, किरणोंको फैलाता हुआ और संसारको आनंदित करता हुआ उदय हुआ ॥ १७५ ॥ जिसने हिरण पकडलिया है ऐसे सिंहके समान हिरणके चिन्हवाले चंद्रमाको देखकर अंधकारका समूह हाथियोंके झुंडके समान बडा होनेपर भी एकदम भाग गया ॥ १७६ ॥ जिसमें तारा नक्षत्रोंकी पंक्ती फैली हुई है ऐसा चंद्रमाका समूह उस समय ऐसा अच्छा जान पडता था मानों बुद्बुदों सहित ऊपरसे पडता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह ही हो ॥ १७७ ॥ हंसके बच्चेके समान वह चंद्रमा अंधकाररूपी शेवालको ढूंढता हुआ, तारे रूपी हंसनियोंसे भरे हुये आकाशरूपी सरोवरमें इधर उधर चारों ओर फिर रहा था ॥ १७८ ॥ समस्त अंधकारको दूरकर अपनी किरणोंसे जगतको पूर्ण रूपसे भरते हुए चंद्रमाने उस समय यह समस्त संसार अमृतरूप बना दिया था ॥ १७९ ॥ अंधकारको दूर करके भी वह चंद्रमा कलंकी बना रहा था, सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अंधकार (दोष वा अज्ञान) बडे आदमियोंसे भी छूटना कठिन है ॥ १८० ॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा नेत्रोंका अंधकार दूर करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई दृष्टि धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाती है उसी प्रकार चंद्रमाके द्वारा अंधकारको नाश करनेवाले किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशायें धीरे धीरे अपना प्रकाश फैला रहीं थी । भावार्थ—सब दिशायें प्रकाशित हो रहीं

रक्के। सौधोत्संगभुवा भेजुः पुरंध्र्यः सह कामिभिः ॥ १८२ ॥ चंदनद्रवसिक्तांग्यः स्रग्विण्यः सावतंसिकाः। लसदाभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता इव ॥ १८३ ॥ इंदुपादैः समुत्कर्षमागान्मकरकेतनः। तदोदन्वानिवोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिनां ॥ १८४ ॥ रमणा रमणीयाश्च चंद्रपादाः सचंदनाः। मदाश्च मदनारंभमातन्वन् रमणीजने ॥ १८५ ॥ शशांककरजैत्रास्त्रैस्तर्जयन्निखिलं जगत्। नृपवल्लभिकावासान्मनोभूरभ्यषेणयत् ॥ १८६ ॥ नास्वादि मदिरा स्वैरं नाजघ्रे न करेऽर्पिता। केवलं मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कतां ॥ १८७ ॥ उत्संगसंगिनी भर्तुः काचिन्मदविघूर्णिता। कामिनी मोहनास्त्रेण

थीं ॥ १८१ ॥ इस प्रकार जिसमें तारागण सब स्पष्ट दिखाई देरहे हैं ऐसा सायंकालका समय होजानेपर नगरकी सब स्त्रियां अपने अपने पतियोंके साथ अपने मकानकी ऊपरकी छतपर जा पहुंची ॥ १८२ ॥ उस समय वे स्त्रियां कल्पलताओंके समान सुशोभित होती थीं क्योंकि जिस प्रकार कल्पलताका शरीर घिसे हुये चंदनसे सींचाहुआ होता है उसीप्रकार उन स्त्रियोंका शरीरभी घिसेहुये चंदनसे सींचा हुआ था, जिसप्रकार कल्पलतापर मालायें रहती हैं कर्णभूषण और दैदीप्यमान आभूषण रहते हैं उसीप्रकार उन स्त्रियोंके गलेमें मालायें पडी थीं, वे कर्णभूषण पहने थीं और उनके शरीरपर दैदीप्यमान आभूषण सुशोभित हो रहे थे ॥ १८३ ॥ उस समय चंद्रमाकी किरणोंसे जिसप्रकार समुद्रमें लहरें वढती हैं उसीप्रकार कामी लोगोंके मनमें कामदेव खूब ही बढ रहा था ॥ १८४ ॥ सुंदर पति, मनोहर चंद्रमाकी किरणें और सुगंधित चंदनसहित मद उत्पन्न करनेवाले अनेक पदार्थ ये सब मिलकर स्त्रियोंमें कामदेवकी उत्पत्ति बढा रहे थे ॥ १८५ ॥ चंद्रमाके किरणरूपी जीतनेके शस्त्रोंसे समस्त जगतको तिरस्कार करताहुआ कामदेव राजाओंकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी अपनी सेनासहित जा पहुंचा ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मद्यका (पौष्टिक और कामोत्पादक रसका) स्वाद लिया न इच्छानुसार उसे सूंघा और न हाथमें ही लिया, वे केवल कामदेवकी प्रबलतासे [जोशसे] ही उत्कंठित अर्थात् उन्मत्त हो गईं ॥ १८७ ॥ अपने पतिकी गोदीमें बैठीहुई और मदमें डूबीहुई अर्थात् उन्मत्त हुई कोई

वत्तानंगेन तर्जिता ॥ १८८ ॥ सखीवचनमुलंध्य भंक्त्वा मानं निरर्गला । प्रयांती रमणावासं काप्यनंगेन धीरिता ॥ १८९ ॥ शंफलीवचनैर्दूना काचि- त्पर्यश्रुलोचना । चक्राह्वेव भृशं तेपे नायाति प्राणवल्लभे ॥ १९० ॥ शून्यगानस्वनैः स्त्रीणामलिज्याकलझंकृतैः । पूर्वरंगमिवानंगो रचयामास कामिना ॥ १९१ ॥ गोत्रस्खलनसंवृद्धमन्युमन्यामनन्यजः । नोपैक्षिष्ट प्रियोत्संगमनयन्नवसंगता ॥ १९२ ॥ नेंदुपादैर्धृतिं लेभे नोशीरैर्न जलार्द्रया । खंडिता मानिनी काचिदतस्तापे वलीयसि ॥ १९३ ॥ काचिदुत्तापिभिर्बाणैस्तापिताऽपि मनोभुवा । नितंबिनी प्रतीकारं नैच्छद्धैर्यावलंबिनी ॥ १९४ ॥

स्त्री कामदेवके द्वारा मोहनशस्त्रसे ताडित की गई थी, भावार्थ—मोहित होकर कामदेवसे पीडित हो गई थी ॥ १८८ ॥ कोई स्त्रीने कामदेवके वेगसे सखीका वचन उलंघन कर दिया था, मान छोडादिया था तथा वह प्रतिबंध रहित अर्थात् स्वतंत्र और निर्भय होकर अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥ १८९ ॥ कोई स्त्री अपने पतिके न आनेपर वापिस लौटी हुई दूतीके वचनोंसे दुखी हो रही थी, उसके नेत्रोंसे आंसू बरस रहे थे और वह चकवीके समान वहुत ही तडफ रही थी ॥ १९० ॥ चित्तको मोहित करनेवाले स्त्रियोंके गीतोंसे तथा पंक्तिरूपसे उडतेहुये भ्रमरोंके मनोहर झंकार शब्दोंसे वह कामदेव कामी पुरुषोंकेलिये पूर्वरंगके समान बनाकर दिखा रहा था ॥ १९१ ॥ भूलसे किसी दूसरे स्त्रीका नाम लेनेसे जिसका क्रोध वढगया है ऐसी अन्य किसी नवोढा [नई व्याही हुई] स्त्रीको भी कामदेवने छोड नहीं दिया किंतु उसे भी उसके पतिके समीप पहुंचा दिया, भावार्थ—उससमय नवोढा स्त्री भी अपना मान छोडकर अपने पतिके पास पहुंच गई ॥ १९२ ॥ जिस किसी स्त्रीका पति किसी अन्य स्त्रीके समीप गया था ऐसी अभिमान करनेवाली खंडिता स्त्रीके अंतःकरणका संताप बिरहसे इतना वढ गया था कि उसे न तो चंद्रमाकी किरणोंसे शांति मिलती थी, न चंदन आदि शीतल द्रव्योंसे शांति मिलती थी और न जलसे भीगेहुये कपडेसे कुछ ठंडक पडती थी ॥ १९३ ॥ धैर्यको धारण करनेवाली कोई नितंबिनी स्त्री कामदेवके अत्यंत दुख देनेवाले वाणोंसे दुखी होकर भी उसके

अनुरक्ततया दूर नीतया प्रणयोचिता । भूमिं यूनाऽन्यया सोढः सदेशः परुषाक्षरः ॥ १९५ ॥ आलि त्वनालिक ब्रूहि गत. किं नु विलक्षता । प्रियानामाक्षरैः क्षीणैर्मोहान्मय्यवतारितै ॥ १९६ ॥ यया तव हृत चेतस्तया लज्जाऽप्यहारि किं । येन निस्त्रप भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥ १९७ ॥ सैवानुवर्तनीया ते सुभगमन्य मानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिर्जायतेऽनुशयाय ते ॥ १९८ ॥ इति प्राणप्रिया काचित्सदिशती सखीजने । युवा सादरमभ्येत्य नानुनिन्येऽथ मानिनीं ॥ १९९ ॥ चद्रपादास्तपतीव चदन दहतीव मां । संधुक्ष्यत इवाऽमीभि. कामाग्निर्व्यजनानिलैः ॥ २०० ॥

इलाज करनेकी इच्छा नहीं करती थी, भावार्थ—वह समझती थी कि पति समागम ही इसका उपाय है अन्य नहीं है ॥ १९४ ॥ कोई तरुण पुरुष प्रेम करनेवाली किसी अन्य अपनी स्त्रीको किसी प्रेम करनेके योग्य दूर स्थानमें ले गया था, वह वहांपर उस तरुणके कठोर वचन भी चुपचाप सुन रही थीं, भावार्थ—प्रेमसे सब सहन कर रही थी ॥ १९५ ॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखी तू तो झूठ नहीं बोलती, सचकह कि क्या वह [पति] भ्रमसे मेरी ओर इशारा करनेवाले और अत्यंत दीन ऐसे अपनी प्रियाके नामके कहेहुये अक्षरोंसे कुछ चकित हुआ था ? ॥ १९६ ॥ अन्य स्त्रीके समीप जानेवाले पतिसे कोई स्त्री कह रही थी कि हे निर्लज्ज ! जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी लेली है ? क्योंकि तू फिर अब भी मुझसे प्रेम करना चाहता है ॥ १९७ ॥ अपने स्वरूपको स्वयं सुंदर माननेवाली और इसलिये ही मान करनेवाली उसी स्त्रीकी सेवा तू जाकर कर, क्योंकि मुझ ऐसे अयोग्य स्थानमें लगाईहुई तेरी प्रीति तुझे संताप देनेवाली हो जायगी, भावार्थ—मुझसे प्रेम करनेसे तुझे दुख होगा इसलिये वहीं जा, उसीकी सेवाकर ॥ १९८॥ इसप्रकार सखियोंके द्वारा अपने पतिके पास समाचार भेजनेवाली तथा पतिसे मान करनेवाली किसी प्राण प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बडे आदरसे नहीं मना रहा था क्या ? भावार्थ—कोई तरुणपुरुष अपनी ऐसी मान करनेवाली स्त्रीको बडे आदरसे मना रहा था ॥ १९९ ॥ कोई स्त्री

तमानयानुनयेह नय मा वा तदतिकं । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणेशे वहुवल्लभे ॥ २०१ ॥ इत्यनगातुरा काचित्सदिशंती सखीं मिथः । भुजोपरोधमाश्लेषि पत्या प्रत्यग्रखडिता ॥ २०२ ॥ राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वैर रम्यतामिति । कामिनीकलकाचीभिरुदघोपीव घोपणा ॥ २०३ ॥ कर्णोत्पलनिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे किमु स्त्रीणा कर्णजाहे मनोभुवा ॥ २०४ ॥ स्तनागरागसंमर्दी परिरंभोतिनिर्दयः । ववृधे कामिवृंदेषु रभसश्च कचग्रहः ॥ २०५ ॥ आरक्तकलुषा दृष्टिर्मुखमापाटलाधरं । रतांते कामिनामासीत्सीत्कृत वाऽसकृत्कृतं ॥ २०६ ॥ पुष्पसंमर्दसुरभिरास्त्रस्त-

---

सखीसे कहरही थीं कि हे सखी ये चंद्रमाकी किरणें मुझे संताप दे रही हैं, चंदन मुझे जलारहा है और यह पंखेकी हवा मेरे कामकी अग्निको और अधिक बढा रहीसी जान पडती है ॥२००॥ इसलिये हे सखी! या तो मनाकर उसे (मेरेपतिको) मेरेपास ले आ, अथवा मुझे उसके पास पहुंचा दे। मेरे पतिके तो अनेक स्त्रियां हैं अर्थात् उसे मेरी परवाह नहीं है किंतु मेरे प्राण तेरे आधीन हैं॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे व्याकुल होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे संदेशा कह रही थी कि इतने में ही तुरंतकी ही विरहीणी उस स्त्रीको पास ही छिपे हुये उसके पतिने अपनी दोनों भुजाओंसे पकडकर परस्पर आलिंगन किया ॥ २०२ ॥ उससमय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोंकी करधनियां ऐसी जान पडती थीं मानों " यह कामदेवका राज्य है, इसमें तुम लोग इच्छानुसार क्रीडा करो " इसी बातकी घोषणा बडे ऊंचे स्वरोंसे कर रही हों ॥ २०३ ॥ स्त्रियोंने जो कमलोंके कर्णफूल बनाये थे और उन कमलोंमें छिपे हुये भ्रमरोंके समूह जो कोलाहल शब्द कररहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों कामदेव उन शब्दोंके द्वारा स्त्रियोंके कानमें समीप जाकर कुछ गुप्त (छिपी हुई) बातें ही कह रहा हो ॥ २०४ ॥ उससमय कामी लोगोंमें स्त्रियोंके स्तनोंपर लगे हुये केशर आदि सुगंधित लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यंत निर्दय (गाढ) आलिंगन बढ रहा था तथा इसी तरह वेगसे केश पकडना आदि क्रियायें भी बढ रहीं थीं ॥ २०५ ॥ संभोग करलेनेके बाद कामी लोगोंके नेत्र

जघनांशुका । सभोगावसतौ शय्या मिथुनान्यधिशेरत ॥२०७॥ केश्चिद्वीरभटैर्भाविरणारंभक्तोत्सवैः । प्रियोपरोधान्मंदेच्छैरप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥ केचित्कीर्त्यंगनासंगसुखसगक्ततस्पृहाः । प्रियागनापरिष्वगमंगीचक्रुर्न मानिनः ॥ २०९ ॥ निर्जितारिभटैर्भोग्या प्रिया नास्माभिरन्यथा । इति जातिभटाः केचिन्न भेजुः शयनान्यपि ॥ २१० ॥ शरतल्पगतानल्पसुखसंकल्पतः परे । नाभ्यनदन् प्रियातल्पमनल्पेच्छा भटोत्तमाः ॥ २११ ॥ स्वकामिनीभिरारब्धवीरालापैर्भटैः परैः । विभावरी विभाताऽपि सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥ २१२ ॥ केचिद्रणरसासक्तमनसोऽपि पुरः स्थित । कातासंगरसं स्वैरं भेजुः

कुछ कुछ लाल और कुछ कलुषित होगये थे, मुख लाल ओठोंसे सुशोभित होगया था और वे बार बार 'सी' 'सी' शब्द कर रहे थे ॥ २०६ ॥ संभोगके बाद स्त्री पुरुष दोनों ही जो फूलोंके मर्दन होनेसे सुगंधित होरही है तथा जिसपर धोती आदि पहिननेके वस्त्र खुलकर पडगये हैं ऐसी शय्या पर सोगये ॥ २०७ ॥ जो शूरवीर थे, जिन्हें होनेवाले युद्धका आनंद होरहा था ऐसे योद्धाओंने इच्छा न रहते हुये भी अपनी प्रिय स्त्रियोंके आग्रहसे संभोग सुखका अनुभव किया था ॥ २०८ ॥ कीर्तिरूपी स्त्रीके साथ सुख पूर्वक समागम करनेकी इच्छा करनेवाले कितने ही अभिमानी योद्धाओंने अपनी प्रिय स्त्रियोंके साथ आलिंगन करना भी स्वीकार नहीं किया था ॥ २०९ ॥ "हमलोग शत्रुओंके योद्धाओंको जीत लेंगे तबही स्त्रीका उपभोग करेंगे विना शत्रुओंके जीते स्त्रीका उपभोग नहीं कर सकते" इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुये कितने ही स्वाभाविक शूरवीर अपनी शय्यापर भी नहीं सोये थे ॥ २१० ॥ जिनकी इच्छा बहुत बडी है ऐसे अन्य कितनेही अच्छे योद्धाओंने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे उत्पन्न हुये बडे भारी सुखका संकल्प किया था इसलिये ही उन्होंने अपनी स्त्रीकी शय्यापर सोनेकी इच्छा नहीं की थी ॥ २११ ॥ युद्धमें सन्मुख हुये अन्य कितनेही योद्धा लोग अपनी स्त्रियोंके साथ अन्य शूरवीरोंकी कथायें कह रहे थे इसलिये सवेरा होतेहुये भी वह रात उन्हें जान नहीं पडी थी । भावार्थ—सवेरा होनेपर भी उन्हें मालूम

समरसा भटाः ॥ २१३ ॥ प्रहारकर्कशो दष्टदशनच्छदनिष्ठुरः । रतारंभो रणारंभनिर्विशेषो न्यपेवि तैः ॥ २१४ ॥ रतानुवर्तनैर्गाढं परिरंभैर्मुखार्पणैः । मनांसि कामिनां जन्हु' कामिन्यस्ताः स्मरातुराः ॥ २१५ ॥ दृगर्द्धवीक्षितैः सांतर्हासैर्मन्मनजल्पितैः । अकाडरुषितैश्चंडैर्विवृतैरसमभ्रुभिः ॥ २१६ ॥ तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः । रसिकोऽभूद्रतारभः सभोगातेपु कामिना ॥ २१७ ॥ तेषा निधुवनारंभमतिभूमिगतं तदा । सद्रष्टुमसहतीव पर्य-

---

नहीं हुआ था ॥ २१२ ॥ युद्ध और संभोग दोनोंमें एकसा आनंद मानने वाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्धके रसमें तलीन हो रहा था तथापि उन्होंने साम्हने प्राप्त हुये स्त्रीसमागमके रसको इच्छानुसार सेवन किया था ॥ २१३ ॥ कितन ही योद्धाओंने युद्धके प्रारंभके समान ही संभोग-का प्रारंभ किया था, क्योंकि जिस प्रकार युद्धके प्रारंभमें परस्पर कठिन प्रहार (चोट) होते हैं उसीप्रकार संभोगके प्रारंभमें भी कचग्रह आलिंगन आदि कठिन प्रहार होते थे, तथा युद्धके प्रारंभमैं जिसप्रकार निर्दयताके साथ ओठ चवाये जाते हैं उसीप्रकार संभोगके प्रारंभमें भी परस्पर निर्दयताके साथ ओठ चवाये जाते थे ॥२१४॥ कामदेवसे पीडित हुई कितनी ही स्त्रियां पतियोंको गाढ आलिंगनकर, उनके मुहमें मुह देकर और उनके साथ संभोगकी क्रिया कर अपने कामी पतियोंका मन हरण कर रहीं थीं ॥ २१५ ॥ आधी नजरसे देखना, अंतरंगमें कुछ हँसना, अव्यक्त शब्द कहना, बिना ही कारणके रूठजाना, जोरसे एक साथ मुह फेरलेना, भोओंको आडी तिरछी करना और स्वाभाविक स्नेहसे भरे हुये झूठा अभिमान छल कपट आदि स्त्रियोंके अनेक तरहके व्यापारोंसे संभोगके अंतमें भी कामी पुरुषोंके संभोगका प्रारंभ बडा ही रसीला हो रहा था ॥ २१६-२१७ ॥ उससमय उस रातको भी पोदनपुरके स्त्रीपुरुषोंकी वह इसप्रकार पृथ्वीपर कहीं न होनेवाली अर्थात् सबसे अधिक संभोग क्रियाका देखना सहन नहीं हुआ था इसलिये ही मानों वह रात उलट पडी थी अर्थात् बीत चुकी थी सवेरा होनेपर आगया था, ॥ २१८ ॥ जिसका चंद्रमारूपी

वर्तेत सा निशा ॥ २१८ ॥ अल बत चिरं रत्वा दंपती ताम्यता युवां । लंबितेदुमुखी तस्थावितीवापरदिग्वधू ॥ २१९ ॥ विघटय्य रथांगाना मिथुनानि मिथोऽशुमान् । तापेन तत्कृतेनेव परीतोऽभ्युदियाय स ॥ २२० ॥ तावदासीदिनारभो गत नैश तमो लय । सहस्रांशुर्दिश प्राचीं परिरेभे करोत्करैः ॥ २२१ ॥ किरणैस्तरुणैरेव तमः शार्वरमुध्दत । तरणेः करणीय तु दिनश्रीपरिरभण ॥ २२२ ॥ कोककातानुरागेण सम पद्माकरे श्रिय । पुष्णन्नुष्णांशुरुद्गच्छन्नमुष्णात्कौमुदीं श्रिय ॥ २२३ ॥ तम.कवाटमुद्घाव्य दिङ्मुखानि प्रकाशयन् । जगदुद्घाटिताक्षं वा व्यधादुष्णकरः करैः ॥२२४॥ प्रातस्तरामथोत्थाय पद्माकरपरिग्रह । तन्वन् भानुः प्रतापेन जिगीषोर्वृत्तिमन्वगात् ॥ २२५ ॥ सुकठा पेठुरत्युच्चैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा । स्वय प्रबु-

---

मुख नीचेको लटक रहा है ऐसी पश्चिमं दिशारूपी स्त्री मानों यही कहती कहती खडी हुई सी जान पडती थी कि हे स्त्री पुरुषो ! बहुत देरतक क्रीडा कर चुके, अब अपनी यह क्रीडा बंद करो, नहीं तो तुम दोनों ही थक जाओगे अर्थात् दुख पाओगे ॥ २१९ ॥ सूर्यने पहिले दिन अस्त होते समय चकवा चकवियोंके जोडोंको परस्पर अलग अलग किया था, इसी संतापसे मानों व्याप्त हुआ वह सूर्य फिरसे उदय होनेलगा ॥ २२० ॥ इतनेमें ही दिनका प्रारंभ हुआ, रात्रिका सब अंधकार नष्ट होगया और सूर्यने अपने किरणसमूहसे पूर्व दिशाका आलिंगन किया ॥ २२१ ॥ रात्रिका अंधकार तो सूर्यकी तेज किरणोंसे ही नष्ट हो चुका था। अब तो सूर्यको केवल दिवसरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन करना बाकी रह गया था ॥ २२२ ॥ सूर्य चकवियोंके अनुरागके साथ साथ कमलोंकी शोभा वढाता-हुआ उदय हो रहा था और वह उदय होनेके साथ ही चांदनीकी शोभा नष्ट कर रहा था ॥ २२३ ॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अंधकाररूपी किवाड खोल दिये थे, दिशाओंके मुह प्रकाशित कर दिये थे और जगतके नेत्र सब खोल दिये थे ॥ २२४ ॥ जिसप्रकार कोई विजय करनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष अपने प्रतापसे ही पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीको स्वीकार करता है उसीप्रकार सूर्यने भी सवेरे ही उठकर अर्थात् उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहको प्रफुलित किया

द्रुमप्येनं प्रबोधनयुयुक्षवः ॥ २२६ ॥ अशिशिरकरो लोकानंदी जनैरभिनंदितो बहुमतकरं तेजस्तन्वन्नितोऽयमुदेष्यति । नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्यु-दयोचित विधिमनुसरन् शय्योत्सगं जहीहि मुदे श्रियः ॥ २२७ ॥ कतरकतमे नाक्रांतास्ते वलैर्बलशालिनो भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति तवाल्पकः । भरतपतिना सार्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो नृपवर भवान् भूयाद्भर्ता नृवीरजयश्रियः ॥ २२८ ॥ रविरविरलानश्रून्जातानिवाश्रमशाखिनां तुहिनकणिका-पातानाशु प्रमृज्य करोत्करैः । अयमुदयति प्राप्तानंदैरितोऽम्बुजिनीवनैरुदयसमये प्रत्युद्यातो धृतार्घमिवाऽम्बुजैः ॥ २२९ ॥ अयमनुसरन्कोकः कांता तटां-

---

था और इसप्रकार उसने विजय करनेवाले किसी राजाका अनुकरण किया था ॥ २२५ ॥ यद्यपि उससमय महाराज बाहुबलि स्वयं जग गये थे तथापि उन्हें जगानेकी इच्छा करतेहुये, मीठे स्वरवाले बंदीजन ऊंचे स्वरसे नीचे लिखेहुये मंगलपाठ पढ रहे थे ॥२२६॥ हे महाराज! जिसकी किरणें उष्ण हैं, जो लोगोंको आनंद देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोंको अच्छा लगने-वाले तेजको प्रकाश करताहुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिये लक्ष्मीको प्रसन्न करनेवाले आप भी सूर्योदयके समय होनेवालीं योग्य क्रियाओंके अनुसार चलतेहुये अर्थात् उन क्रियाओंको करतेहुये सं-सारका उद्योत करनेके लिये इस शय्याका साथ छोडिये ॥ २२७ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! आपकी सेनाने कितने कितने बलवान राजाओंको वश नहीं किया है ? ये छोटे छोटे लोग आपके इस बडे भारी भुजाओंके बलको प्रायः जानते भी नहीं हैं, हे देव ! आपने भरत चक्रवर्तीके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेका उद्यम किया है, इसलिये हे वीर पुरुष ! आप ही विजय लक्ष्मीके स्वामी हूजिये ॥२२८॥ हे देव ! बाहर बगीचेके वृक्षोंपर पडीहुई ओसकी बूंदोंको पडतेहुये बहुतसे आंसुओंके समान अपनी किरणोंकी समूहोंसे बहुत शीघ्र पोंछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होतेसमय ऐसा जान पडता है मानों जिन्हें आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलिनियोंके (कमलकी बेलके) वन कमलोंके द्वारा मानों अर्घ ही लेकर सूर्यको अपने सन्मुख करा रहे हों, भावार्थ—ओसकी बूंदोंको

तरशायिनीमविरलगलद्बाष्पव्याजादिवोत्सृजतीं शुच । विशति विसिनीपत्रच्छन्ना सरोजसरस्तटीं सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनैः शनैः ॥ २३० ॥ जरठबिसिनीकदच्छायामुषस्तरलास्त्विषस्तुहिनकिरणो दिक्पर्यंतादय प्रतिसहरन् । अनु कुमुदिनीखंड तन्वन् करानमृतश्च्युतो द्रढयति परिष्वगासंग वियोगभयादिव ॥ २३१ ॥ तिमिरकरिणा यूथ भित्वा तदस्त्रपरिप्लुतामिव तनुमय विभ्रच्छोणा निशाकरकेसरी । वनमिव नभः क्रात्वाऽस्ताद्रेर्गुहागहनान्यतः श्रयति नियतं निद्रासंगाद्विजिह्मितारकः ॥ २३२ ॥ सरति सरसीतीर हसः ससारसकूजित झटिति घटते कोकद्वद्व विशापमिवाधुना । पतति

सुखाता हुआ और कमलोंको खिलाता हुआ सूर्य उदय हो रहा है ॥ २२९ ॥ इधर देखिये जो दूसरे किनारेपर सो रही है और नेत्रोंसे निरंतर निकलते हुये आंसुओंके वहानेसे जो मानों शोकको ही छोड रही है ऐसी अपनी चकवीके पीछे पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोंकी परागसे भरे हुये अपने दोनों पंखोंको झडकाकर अर्थात् धूल हटाकर धीरे धीरे कमलिनियोंके पत्तोंसे ढके हुये पद्मसरोवरके किनारेपर प्रवेश कर रहा है ॥ २३० ॥ जो पकी हुई कमलिनीकी जडकी कांतिको भी चुरा रही है अर्थात् उससे अधिक है ऐसी अपनी चंचल कांतिको यह चंद्रमा सव दिशाओंके अंतसे अपनी ओर खींच रहा है अर्थात् अपनी कांतिको सब तरफसे समेट रहा है तथा अमृत बरसानेवालीं अपनी किरणोंको प्रत्येक कमोदिनियोंके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही क्या मानों उन कमोदिनियोंके साथ आलिंगनके संबंधको मजबूत कर रहा है, भावार्थ— चंद्रमाकी कांति मंद पड रही है और उसकी किरणें सव जगहसे हटकर केवल कमोदिनियोंपर ही पड रही हैं ॥ २३१ ॥ अंधकाररूपी हाथियोंके समूहको फाडकर उसके रक्तसे भरे हुयेके समान ही क्या मानों अपने लाल मंडलको धारण करता हुआ तथा नींद आजानेसे जिसकी नक्षत्र रूपी आखोंकी पुतली कुछ कुछ टेढ़ी हो रही है ऐसा चंद्रमारूपी सिंह आकाशरूपी बनको उलंघनकर अब अस्ताचल पर्वतकी गुफाके एकांत स्थानमें देर तकके लिये आश्रय ले रहा है, भावार्थ— अब चंद्रमा और तोर दोनों ही अस्त हो रहे हैं ॥ २३२ ॥ सूर्यके उदय

पतता वृन्दं विष्वक् द्रुमेषु कृतारवं गतमिव जगत्प्रत्यापत्तिं समुचति भास्वति ॥ २३३ ॥ उदयशिखरिग्रावश्रेणीसरोरुहरागिणी गगनजलधेरातन्वाना प्रवालवनश्रियं । दिगिभवदने सिंदूरश्रीरलक्तकपाटला प्रसरतितरां संध्यादीप्तिर्दिगाननमंडिनी ॥ २३४ ॥ कमलमलिनी नालं वेष्टु वत प्रविकस्करं गतमरुणता बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभिः । परिगतमिव प्रादुष्याद्भिः कणैरनिलार्चिषा नियतविपद धिग्व्यामूढिं विवेकपराङ्मुखीं ॥ २३५ ॥ उपवनतरूनाधुन्वाना विलोलितषट्पदाः कृतपरिचया वीचीचक्रैः सरस्सु सरोरुहा । रतिपरिमलानाकर्षतः सरोजरजोजडाः प्रतिदिगममी मन्द वान्ति प्रगेतनमारुताः ॥ २३६ ॥ नृपवर जिनभर्तुर्मंगलैरेभिरिष्टैः प्रकटितजयघोषैस्त्वं विबुध्यस्व भूयः । भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्यतस्ते रणशिरसि जयश्रीकामिनी-

---

होते ही हंस जिसपर सारस पक्षी बोल रहे हैं ऐसे सरोवरके किनारेपर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोडे इसप्रकारकी शीघ्रतासे परस्पर मिल रहे हैं मानों अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुये वृक्षोंपर पड रहे हैं और एक तरहसे नष्ट हुआ यह जगत् फिर भी अपनी पहिलेकी दशापर आ रहा है, अर्थात् कलके समान लोग काम काजमें लग रहे हैं, ॥ २३३ ॥ उदयाचल पर्वतके बडे बडे पत्थरोंपर उत्पन्न होनेवाले स्थलकमलों के समान गुलाबी, तथा आकाशरूपी समुद्रमें प्रवालोंके (मूंगाके) वनकी शोभा बढाती हुई, दिशारूपी हाथियोंके मुखपर सिंदूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान लाल रंगकी और दिशाओंके मुखकी अर्थात् पूर्व दिशाकी शोभा बढाती हुई यह प्रातःकालकी कांति चारों ओर फैल रही है ॥२३४॥ हे देव! यह कुछ कुछ खिला हुआ कमल उदय होतेहुये सूर्यकी फैलती हुई किरणोंसे कुछ कुछ लाल हो रहा है और ऐसा जान पडता है मानों अग्निकी ज्वाला के फैलते हुये फुलिंगोंसे ढक रहा ही हो इसी डरसे यह भ्रमरी ऐसे कमलमें प्रवेश नहीं कर सकती, इसलिये विवेक रहित और नियमरूपसे विपत्तिका कारण ऐसी इस मूढताको धिक्कार हो ॥ २३५ ॥ हे देव! जो बगीचेके वृक्षोंको हिला रहा है, भ्रमरोंको चंचल कर रहा है, जिसने कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें लहरोंकी समू-

कामुकस्य ॥ २३७ ॥ जयति दिविजनाथैः प्राप्तपूजर्द्धिरर्हन् धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपरागः । कृतनतिशतयज्वप्रज्वलन्मौलिरत्नच्छुरितरुचिररोचिर्मंजरीपिंजराङ्घ्रिः ॥ २३८ ॥ जयति जयविलासः सूच्यते यस्य पौष्पैरलिकुलरुतगर्भैर्निर्जितानंगमुक्तैः । अनु पदयुगमस्त्रैर्भंगशोकादिवाविष्कृतकरुणानिनादैः सोऽयमाद्यो जिनेंद्रः ॥२३९॥ जयति जितमनोभूर्भूरिधामा स्वयंभूर्जिनपतिरपरागः क्षालितागःपरागः । सुरमुकुटविटंकोदूढपादाम्बुजश्रीर्जगदजगदगारप्रा

होंसे परिचय किया है अर्थात् जो सुगंधित जलसे शीतल हो रहा है, जो रात्रिमें स्त्रीपुरुषोंके द्वारा भोगी हुई कपूर कस्तूरी आदि सुगंधित वस्तूओंको अपनी ओर खींच रहा है अर्थात् जिसमें कस्तूरी आदिकी सुगंधि मिली हुई है और जो कमलोंकी पराग मिलजानेसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रातःकालका वायु सर्व दिशाओंमें धीरे धीरे वह रहा है ॥ २३६ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! जिसमें जय जय शब्द प्रगट रीतिसे दिखाये गये हैं ऐसे आगे कहे हुये भगवान वृषभदेवके इष्ट मंगलोंसे आप जगते हुये भी फिरसे जग जाइये, क्योंकि उन्हीं मंगलोंसे रणसंग्राममें विजय लक्ष्मीरूपी स्त्रीको चाहनेवाले आपके समस्त विघ्न बहुत अच्छी तरह शांत हो जायंगे ॥ २३७ ॥ (आगे उसी मंगलाष्टकको दिखलाते हैं) जिन्हें अनेक देवोंके द्वारा पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है अर्थात् अनेक देव जिनकी पूजा करते हैं जिन्होंने पापरूपी धूल सब धो डाली है, जो राग द्वेष रहित हैं, वीतराग कहलाते हैं और नमस्कार करतेहुये इंद्रोंके प्रकाशमान मुकुटके रत्नोंकी प्रभाके साथ साथ मिलीहुई सुंदर शरीरकी कांतिरूपी मंजरीसे जिनके चरण कुछ कुछ पीले हो रहे हैं ऐसे अरहंतदेवकी सदा जय हो ॥ २३८ ॥ जिनके भीतर भ्रमर गुंजार शब्द कर रहे हैं ऐसे पुष्प जो भगवानके चरणोंपर बरस रहे हैं उनसे ऐसा जान पडती है मानों भगवानसे हारा हुआ कामदेव ही क्या मानों अपनी हारके शोकसे करुणा पूर्वक रो रहा हो और उसीने अपने ये पुष्परूपी शस्त्र भगवानके चरणोंपर डाले हों ऐसे पुष्पोंसे जिनके विजयकी लीला साफ प्रगट हो रही है ऐसे श्री प्रथम जिनेंद्र वृषभदेवकी

तविश्रांतबोधः ॥ २४० ॥ जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽधात्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनीं वक्षसि स्वे । स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी यं विरूपाप्यनवमसुखतातिं तन्वती सोऽयमर्हन् ॥ २४१ ॥ जयति समरभेरीभैरवारावभीमं बलमरचि न कूजच्चंडकोदंडकाड । भ्रुकुटिकुटिलमास्यं येन नाकारि वोच्चैर्मनसिजरिपुघाते सोऽयमाद्यो जिनेंद्रः ॥ २४२ ॥ स जयति जिनराजो दुर्विभावप्रभावः प्रभुरभिभवितुं य नाशकन्मारवीरः । दिविजविजयदूरारूढग-

---

सदा जय हो ॥ २३९ ॥ जिन्होंने कामदेवको जीता है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयंभू और जिनपति हैं, जो रागद्वेषरहित हैं, जिन्होंने पापरूपी धूल सब धो डाली है, जिनके चरणकमलोंकी शोभा देवोंने अपने मुकुटके शिखरपर धारण की है और जिनका ज्ञान लोकअलोकरूपी घरके अंततक फैला हुआ है ऐसे श्रीआदिदेव सदा जयशील हों ॥ २४० ॥ जो भगवान कामदेवके बाणोंसे घायल नहीं हुये तथापि जिन्होंने तीनों लोकोंकी विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया, तथा मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वयंबर बनाया और वही मुक्तिरूपी स्त्री रूपरहित (कुरूपा) अर्थात् अमूर्त्त होकर भी जिनकेलिये अत्यंत उत्कृष्ट सुखसमूहोंको बढा रही है ऐसे वे आदि ब्रह्मा अरहंत सदा जयशील हों ॥ २४१ ॥ जिन्होंने संसारको जीतनेवाले कामदेवरूप शत्रुके नाश करनेकेलिये न तो युद्धके नगाडोंके भयंकर शब्दोंसे भयानक और जिसमें प्रचंड धनुषोंके चापोंके शब्द हो रहे हैं ऐसी सेनाकी ही रचना की और न अपना मुह ही टेढ़ी भोहोंसे भयानक बनाया ऐसे अद्भुत शक्तिको धारण करनेवाले वे प्रथम जिनेंद्र सदा जयशील हों ॥ २४२ ॥ बडी कठिनतासे भी जिनका प्रभाव चिंतवन करनेमें नहीं आ सकता, जो सबके स्वामी हैं, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हें जीतनेकेलिये समर्थ न हो सका और जिनके साम्हने देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार खूब बढ गया है ऐसे कामदेवने भी अपने शस्त्र और सामर्थ्य कुंठित हो जानेसे अपने हृदयमें अहंकार धारण नहीं किया ऐसे वे प्रसिद्ध जिनराज सदा विजयी हों ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुंदुभि,

वोंऽपि गर्वं न हृदि हृदिशयोऽधावत्र कुंठास्त्रवीर्यः ॥२४३॥ जयति तरुरशोको दुंदुभिः पुष्पवर्षं चमरिरुहसमेतं विष्टरं सैहमुद्वं । वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजस्त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥ जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं विपुलफलदमारान्नम्रनाकीद्रभृंग । समुपनतजनानां प्रीणनकल्पवृक्षास्थितिमतनुमाहिम्ना सोऽवतात्तीर्थकृद्वः ॥२४५॥ नृवर भरतराजोऽप्यूर्जितस्यास्य युष्मद्भुजपरिघयुगस्य प्राप्नुयान्नैव कक्षां । भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते रणनिकषगतस्य स्थातुमीशः क्षितीशः ॥२४६॥ तदलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां जहिहि महति कृत्ये जागरूकस्त्वमेधि । सपदि च जय-

पुष्पोंकी वर्षा, चमरोंका समूह, उत्तम सिंहासन, विलक्षण बचन अर्थात् दिव्यध्वनि, ऊंचा छत्र और प्रभामंडल ये आठ प्रातिहार्य जिसके तीनों लोकोंको जीतनेके चिन्ह हैं ऐसे ये सबका हित करनेवाले श्रीवृषभजिनेंद्र सदा विजयी हों ॥ २४४ ॥ जिनके चरणकमल जन्ममरणरूप संतापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि अनेक फलोंको देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करतेहुये इंद्र ही जिनके भ्रमर हैं और जो लोग उन्हें नमस्कार करते हैं उन्हें संतुष्ट करनेकेलिये जो कल्पवृक्षके समान हैं ऐसे वे तीर्थंकर भगवान सदा विजयी हों और अपनी अद्भुत सामर्थ्यसे तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २४५ ॥ (इसप्रकार भगवानकी स्तुति कर वे बंदीजन फिर कहने लगे कि) हे देव ! महाराज भरत भी अत्यंत बलवान ऐसे आपके दोनों भुजारूपी लोहेके दंडोंकी समानता नहीं कर सकते हैं, अथवा आपकी भुजाओंका बल तो दूर ही रहो जब आप युद्धके समीप भी जा पहुंचते हैं तब आपके देखनेमात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने ठहर सके ॥ २४६ ॥ इसलिये हे स्वामिन् ! व्यर्थ ही समय व्यतीत करनेसे कुछ लाभ नहीं है, अब नींद छोडिये और बडे बडे कामोंमें सावधान होकर आप सदा उन्नति करते रहिये, शीघ्र ही विजय लक्ष्मीको प्राप्त कीजिये और फिर सब जगह विजय प्राप्त करनेकेलिये सबपर शासन करनेवाले भगवान जिनेंद्रदेवको भक्ति पूर्वक नमस्कार कीजिये ॥ २४७ ॥ इसप्रकार जिनमें सुंदर पदोंकी योजना की गई है और जो राजाओंकी स्तुतिके

लक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं जिनमवनम भक्त्या शासितारं जयाय ॥ २४७ ॥ इति समुचितैरुच्चैरुच्चावच्चैर्जयमंगलैः सुघटितपदैर्भूयोऽमीभिर्जयाय विबोधितः। शयनममुचन्निद्रापायात्स पार्थिवकुंजरः सुरगज इवोत्संगं गंगाप्रतीरभुवःशनैः ॥ २४८ ॥ जयकरिघटाबंधैरुंधन् दिशो मदविह्वलैर्बलपरिवृढै-रारूढश्रीरुदूढपराक्रमः। नृपकतिपयैरारादेत्य प्रणम्य दिदृक्षितो भुजबलियुवा भेजे सैन्यैर्भुवं समरोचितां ॥ २४९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे कुमारबाहुबलिरणोद्योगवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३५ ॥

योग्य हैं ऐसे अनेकप्रकारके उत्कृष्ट विजय करनेवाले मंगलगीतोंके द्वारा तथा भगवानकी स्तुतिके-लिये पढेगये मंगलाष्टकके द्वारा वे बाहुबलि महाराज विजय करनेकेलिये जगे और जिसप्रकार ऐरा-वत हाथी गंगाके किनारेकी पृथ्वीका साथ धीरे धीरे छोडता है उसीप्रकार राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे बाहुबलिने भी निद्रा छूटजानेसे धीरे धीरे अपनी शय्याका त्याग किया ॥ २४८ ॥ सेनाके मुख्य मुख्य लोगोंके द्वारा जिसकी शोभा खूब बढ रही है तथा जिसका पराक्रम भी खूब वढ रहा है और कितने ही राजालोग दूरसे ही आकर प्रणाम करतेहुये जिसे देख रहे हैं ऐसा वह तरुण बाहु-बलिकुमार विजय करनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंके अनेक समूहोंसे सब दिशाओंको रोकताहुआ सेनाके साथ साथ युद्धके योग्य ऐसे मैदानमें जा पहुंचा ॥ २४९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे कुमार बाहुबलिके युद्धके उद्यमका वर्णन करनेवाला यह पैतीसवां पर्व समाप्त हुआ।

अथ षट्त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथ दूतवचश्चडमरुदाघातघूर्णितः । प्रचचाल बलाभोधिर्जिष्णोरारुध्य रोदसी ॥ १ ॥ सांग्रामिक्यो महाभेर्यस्तदा धीरं प्रदध्वनुः । सुध्वानैः साध्वसं भेजुः खड्गव्यग्रा नभश्चराः ॥ २ ॥ बलानि प्रविभक्तानि निधीशस्य विनिर्ययुः । पुर. पादातमाश्वीयमारादाराच्च हास्तिकम् ॥ ३ ॥ रथकव्यापरिक्षेपो बलस्योभयपक्षयोः । अग्रतः पृष्ठतश्चासीदूर्ध्वं च खचरामरा ॥ ४ ॥ षडगबलसामग्र्या संपन्नः पार्थिवैरमा । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीषया ॥ ५ ॥ महान् गजघटाबंधो रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव संघातः संचारी सह शाखिभिः ॥ ६ ॥ श्च्योतन्मदजलासारसिक्तभूभिर्मद-

---

अथ छत्तीसवां पर्व

अथानंतर—दूतके बचनरूपी प्रचंड वायुके आघातसे व्याकुल हुआ चक्रवर्तीका सेनारूपी समुद्र आकाश पाताल दोनोंको रोकता हुआ चलने लगा ॥ १ ॥ उससमय युद्धकी सूचना करनेवाली महाभेरी (बडे बडे नगाडे) गंभीर शब्दोंसे बजने लगीं और उन शब्दोंको सुनकर अपने अपने शस्त्र लेनेमें व्याकुल हुये विद्याधर कुछ डरने लगे ॥ २ ॥ चक्रवर्तीकी सेना अलग अलग विभागों में बटकर चल रही थी, सबसे आगे पैदल सेना थी, उससे कुछ दूरपर घुडसवार थे, और उससे कुछ दूर हाथियोंका समूह था ॥ ३ ॥ सेनाके अगल बगल दोनोंओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर देव और विद्याधर चलरहे थे ॥ ४ ॥ इसप्रकार महाराज भरतेश्वर छह प्रकारकी सेनाकी सब सामिग्री लेकर तथा सब राजाओंके साथ साथ अपने छोटे भाईके जीतनेकी इच्छासे निकला ॥ ५ ॥ उससमय जिनपर विजयकी ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे चलतेहुये अनेक हाथियोंके समूह ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों अपने बनके वृक्षोंके साथ साथ चलते हुये पर्वतोंके समूह ही हों ॥ ६ ॥ जिनसे झरते हुये मदके जलकी धारासे सब पृथ्वी सींची गई है तथा जिन्होंने सब दिशायें रोक ली हैं ऐसे मदोन्मत्त हाथियोंके साथ वह चक्रवर्ती चलने लगा, उस समय वे हाथी ऐसे जान

द्विपैः । प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रैः शैलैरिव सनिर्झरैः ॥ ७ ॥ जयस्तंबेरमा रेजुस्तुंगाः श्रृंगारितांगकाः । सांद्रसंध्यातपाक्रांताश्चलंत इव भूधराः ॥ ८ ॥ चमूमतंगजा रेजुः सज्जाः सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने ॥ ९ ॥ गजस्कंधगता रेजुर्धुर्गता विधृतांकुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या दर्पाः सपिंडिता इव ॥ १० ॥ कौक्षेयकैर्निशाताग्रधाराग्रैः सादिनो बभुः । मूर्त्तीभूय भुजोपाग्रलग्नैर्वा स्वैः पराक्रमैः ॥ ११ ॥ धन्विनः शरनाराचसंभृतेषुधयो बभुः । वनक्ष्माजा महाशाखाः कोटरस्थैरिवाहिभिः ॥ १२ ॥ रथिनो रथकव्यासु सभृतोचितहेतयः । सग्रामवार्धितरणे प्रस्थिता नाविका

पडते थे मानों जिनसे झरने झर रहे हैं ऐसे पर्वत ही हों ॥ ७ ॥ अथवा जिनके सब अंग उपांगोंका श्रृंगार किया गया है और जो बहुत ऊंचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों जिनपर संध्याकालकी सघन पीली पीली धूप पड रही है ऐसे चलतेहुये पर्वत ही हों ॥८॥ जिनपर विजयकी ध्वजायें फहरा रही हैं और जो सबतरह सजाये गये हैं इसप्रकारके वे सेनाके हाथी ऐसे जान पडते थे मानों स्वामी भरतको अपना बल दिखानेके लिये कुलाचल ही आये हों ॥ ९ ॥ जिन्होंने दैदीप्यमान और वीररसके योग्य आभूषण पहने हैं और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रक्खा है ऐसे हाथियोंके कंधोंपर बैठे हुये महावत लोग इसप्रकार सुशोभित हो रहे थे मानों एक जगह इकट्ठा हुआ सब अभिमान ही हो ॥ १० ॥ घुडसवार लोग जिनकी आगेकी धार बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे अच्छे मालूम होते थे मानों उनका पराक्रम ही मूर्तिमान होकर उनकी भुजाओंके समीप आ लगा हो ॥ ११ ॥ बाण, लोहे के बाण आदि अनेक तरहके बाणोंसे जिनकी तूणीर (जिसमें बाण भरे रहते हैं) भरीहुई है ऐसे धनुष धारण करनेवाले लोग इसप्रकार जान पडते थे मानों बडी बडी शाखावाले बनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥ १२ ॥ जिन्होंने युद्धके योग्य सब शस्त्र रथोंमें भरलिये हैं ऐसे रथोंमें बैठे हुये योद्धा लोग इसप्रकार चल रहे थे मानों युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिये नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥ १३ ॥ जिन्होंने

इव ॥ १३ ॥ भटा हस्त्युरसं भेजुः साशिरस्त्रतनुत्रकाः । समुत्खातनिशातासिपाणयः पादरक्षणे ॥ १४ ॥ पुस्फुरुः स्फुरदस्त्रौघा भटाः संदशिताः परे । औत्पातिका इवानीलाः सोल्का मेघाः समुत्थिताः ॥१५॥ करवाल करालाग्रं करे कृत्वा भटोऽपरः । पश्यन्मुखरस तस्मिन्स्व शौर्यं परिजाज्ञिवान् ॥१६॥ कराग्रविधृत खड्ग तुलयन्कोऽप्यभाद्भटः । प्रतिमित्सुरिवानेन स्वामिसत्कारगौरवं ॥ १७ ॥ महामुकुटवद्धाना साधनानि प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्वीयरथकव्यापरिच्छदैः ॥ १८ ॥ बभुर्मकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमौलयः । सलीला लोकपालानामशा भुवमिवागताः ॥ १९ ॥ परिवेष्ट्य निरैयत पार्थिवाः पृथिवीश्वरं । दूरात्स्वबलसामग्री दर्शयतो यथायथं ॥ २० ॥ प्रत्यग्रसमरारभसश्रवोद्भ्रातचेतसः । भटीराश्वासयामासुर्भटाः प्रत्याय्य धीरितैः ॥ २१ ॥

शिरपर लोहेका टोप और शरीरपर कवच पहन रक्खा है तथा हाथमें तीक्ष्ण तलवार लेकर ऊंची उठा रक्खी है ऐसे योद्धा लोग हाथियोंके सामने उनके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये चलते हुये सुशोभित हो रहे थे ॥ १४ ॥ जिनपर शस्त्रोंके समूह चमचमा रहे हैं और जो लोहेके काले कवच पहने हुये हैं ऐसे अन्य कितने ही योद्धा इसप्रकार देदीप्यमान हो रहे थे मानो उदय होते हुये उल्का सहित काले बादल ही इकट्ठे हो रहे हों ॥ १५ ॥ अन्य कोई योद्धा तीक्ष्ण धारवाली तलवार हाथमें लेकर तथा उसमें अपने मुखका रंग (तेज) देखता हुआ अपनी बीरता प्रगट कर रहा था ॥ १६ ॥ अन्य कोई योद्धा हाथमें धारण की हुई तलवारको तोलता हुआ (आजमाता हुआ) ऐसा जान पडता था मानों इस तलवारके द्वारा अपने स्वामीके आदर सत्कारके वडप्पनको तोलना ही चाहता हो ॥ १७ ॥ पैदल सेना, हाथियोंका समूह, घुडसवार और रथोंका समूह इत्यादि सामग्रीके साथ साथ महा मुकुटवद्ध राजाओंकी सेना भी चलरही थी ॥ १८ ॥ रत्नोंके किरणोंसे जिनके मुकुट बहुत ऊंचे दिखाई दे रहे हैं ऐसे मुकुटवद्ध राजा इसप्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लोकपालोंके कुछ अंश लीला पूर्वक पृथ्वीपर ही आगये हों ॥ १९ ॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और साथमें दूरसे ही यथायोग्य रीतिसे अपनी सेनाकी सामिग्री भी देखते जाते थे ॥ २० ॥

भूरेणवस्तदाश्वीयखुरोद्धूताः खलंघिनः । क्षणाविघ्नितसंप्रेक्षाः प्रचक्रुरमरांगनाः ॥ २२ ॥ रजःसंतमसे रुद्धदिक्चक्रे व्योमलंघिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दृशः स्वविषयोन्मुखीः ॥२३॥ समुद्भटरसप्रायैर्भटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुर्जनजल्पैरपीदृशैः ॥२४॥ रणभूमिं प्रसाध्यारात्स्थितो बाहुबली नृपः । अयं च नृपशार्दूलः प्रस्थितो निर्नियंत्रणः ॥२५॥ न विद्मः किं नु खल्वत्र स्याद्भ्रात्रोरनयोरिति । प्रायो न शातये युद्धमेनयोरनुजीविनां ॥२६॥ विरूपकमिदं युद्धमारब्धं

नवीन युद्धका प्रारंभ सुननेसे जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको योद्धा लोग बडी धीरताके साथ विश्वास दिलाकर आश्वासन दे रहे थे, भावार्थ—डरी हुई स्त्रियोंको योद्धा लोग समझा रहे थे ॥ २१ ॥ उस समय घोडोंके खुरोंसे उठी हुई और आकाशको भी उलंघन करनेवाली पृथ्वी की धूल थोडी देरके लिये देवांगनाओंके देखनेमें भी विघ्न कर रही थी। भावार्थ—धूल इतनी उड रही थी कि देवियोंको देखना भी कठिन होगया था ॥ २२ ॥ उडती हुई उस धूलसे आकाशको उलंघन करनेवाला और सब दिशाओंमें भरा हुआ गाढ अंधकार होगया था, ऐसे उस अंधकारमें चक्र रत्नके प्रकाशसे ही सब लोगोंके नेत्र अपना अपना विषय देखते थे ॥ २३ ॥ चक्रवर्तीके अनुयायी राजा लोग रास्तेमें अत्यंत वीररससे भरी हुई योद्धा लोगोंकी परस्परकी बातचीतसे ही उत्साहित हो रहे थे तथा इसके सिवाय अन्य लोग भी नीचे लिखे अनुसार परस्पर बात चीत कर रहे थे उन्हें भी वे सुनते जाते थे ॥ २४ ॥ लोग कह रहे थे कि महाराज बाहुबलि युद्धकी भूमिको दूरसे ही अपने युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुये हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान यह भरत भी उच्छृंखल होकर उनके सन्मुख जा रहे हैं ॥ २५ ॥ निश्चयसे नहीं जान सकते कि इस युद्धमें दोनों भाइयोंका क्या होगा? बहुत करके इन दोनोंके इस युद्धमें सेवक लोगोंका कल्याण नहीं है ॥ २६ ॥ महाराज भरतने जो यह युद्ध प्रारंभ किया है वह बहुत ही दुख देनेवाला और अयोग्य है। सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे किसी तरह रोके नहीं जा सकते ऐसे ये प्रभु लोग स्वेच्छा

भरतेशिना । ऐश्वर्यमदुर्दुर्वारा: स्वैरिण: प्रभवो यतः ॥२७॥ इमे मकुटबद्धाः किं नैनौ वारयितु क्षमाः । येऽमी समग्रसामग्र्या संग्रामयितुमागताः ॥२८॥ अहो महानुभावोऽय कुमारो भुजविक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येवं यो योद्धुं संमुख स्थित ॥ २९ ॥ अथवा तत्रभूयस्त्व न जयाग मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः सहितानपि दतिनः ॥ ३० ॥ अय च चक्रभृद्देवो नेष्टः सामान्यमानुपः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्राणा सुधाभुजा ॥ ३१ ॥ तन्माभूदनयोर्युद्ध जनसक्षयकारण । कुर्वंतु देवताः शांतिं यदि सन्निहिता इमाः ॥ ३२ ॥ इति माध्यस्थ्यवृत्त्यैके जनाः श्लाघ्य वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित्स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥ ३३ ॥ एव प्रायैर्जनालापैर्महीनाथा विनोदिता । द्रुत प्रातास्तमुद्देश यत्र वीराग्रणीरसौ ॥ ३४ ॥ दोर्दर्पं विगणय्यास्य

चारी ही (अपनी इच्छानुसार चलनेवाले) होते हैं ॥ २७ ॥ जो ये मुकुटवद्ध राजा अपनी समस्त सामिग्रीके साथ युद्ध करनेके लिये आये हैं वे क्या इन दोनोंके युद्धको नही रोक सकते हैं? ॥ २८ ॥ अहो भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला वह बाहुबलि कुमार अद्भुत पराक्रमको धारण करनेवाला है। क्योंकि चक्रवर्तीके क्रोध करनेपर भी जो युद्ध करनेके लिये सन्मुख खडा हुआ है? ॥ २९ ॥ अथवा शूरवीर लोगोंको बहुतसी सामिग्री भी विजय करनेका कारण नहीं है। क्योंकि एक ही सिंह समूहके समूह हाथियोंको भी जीत लेता है ॥ ३० ॥ चक्रको धारण करनेवाला यह भरत भी कोई सामान्य पुरुष नहीं है क्योंकि नमस्कार करतेहुये हजारों देव इसकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥ इसलिये अनेक लोगोंके नाश होनेका कारण ऐसा इन दोनोंका युद्ध न हो तो ही अच्छा है। यदि देव लोग यहां समीप हों तो वे इस युद्धकी शांति करें ॥ ३२ ॥ इसप्रकार जो लोग मध्यस्थ भावोंको धारण करनेवाले थे वे ऐसे प्रशंसनीय बचन कर रहे थे, और जो कोई पक्षपातके चंगुलमें फंसे हुये थे वे अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ३३ ॥ प्रायः लोगोंकी इसीप्रकारकी बातचीतसे प्रसन्न होते हुये राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर पहुंच गये जहां कि अनेक शूरवीरोंमें मुख्य ऐसा यह बाहुबलि कुमार विराजमान था ॥ ३४ ॥ बाहुबलीके समीप पहुंचते ही भरतके योद्धा जिसे शत्रु

दुर्विलंघ्यमरातिभिः । त्रेसुः प्रतिभटाः प्रायस्तस्मिन्नासन्नसंनिधौ ॥ ३५ ॥ इत्यभ्यर्णे बले जिष्णोर्बलं भुजबलीशिनः । जलमब्धेरिवाक्षुभ्यद्वीरध्वानानिरुद्धदिक् ॥ ३६ ॥ अथोभयबले वीराः सन्नद्धगजवाजयः । बलान्यारचयामासुरन्योन्य प्रयुयुत्सया ॥ ३७ ॥ तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः संप्रधार्यावदन्निति । शातये नानयोर्युद्धं ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥ ३८ ॥ चरमाङ्गधरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य व्याजेनानेन जृंभितः ॥ ३९ ॥ इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥ ४० ॥ अकारणरणेनालं जनसँहारकारिणा । महानेवमधर्मश्च

कभी जीत नही सकते ऐसा बाहुबलिके भुजाओंका बल देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥३५॥ इसप्रकार जब चक्रवर्तीकी सेना समीप पहुंच गई तब जिसने शूरवीरोंके शब्दोंसे सब दिशायें भर दी हैं ऐसी बाहुबलिकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

अथनंतर—दोनों ही सेनाके योद्धा लोग परस्पर एक दूसरेके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे अपने अपने हाथी घोडे आदि सजाकर सेनाकी व्यूह रचना करने लगे ॥ ३७ ॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य मुख्य मंत्री अपने अपने विचारोंको निश्चयकर इसप्रकार कहने लगे कि क्रूर ग्रहोंके समान इन दोनोंका युद्ध कुछ शांति करनेवाला नहीं है ॥ ३८ ॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं इन दोनों में से किसीका भी विनाश नहीं हो सकता है, केवल इन दोनोंके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होनेवाला है ॥ ३९ ॥ इसप्रकार निश्चयकर और असंख्यात प्राणियोंकी हानिसे डरकर दोनों ओरके मंत्रियोंने अपने अपने स्वामियोंकी अर्थात् भरत और बाहुबली दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा की ॥ ४० ॥ उन्होंने घोषणा कर दी कि असंख्यात जीवोंका संहार करनेवाले विना कारणके इस युद्धसे कोई लाभ नहीं है, अब यह ऐसा युद्ध नहीं होगा, क्योंकि ऐसा युद्ध करनेसे बडा भारी अधर्म होगा और बडे बडे यश सब मिट्टीमें मिल जायंगे ॥ ४१ ॥ इस युद्धसे केवल यही परीक्षा करनी है कि बल किसमें अधिक है। वह बलकी परीक्षा दूसरी तरहसे भी हो

गरीयांश्च यशोवधः ॥ ४१ ॥ बलोत्कर्षपरीक्षेयमन्यथाऽप्युपपद्यते । तदस्तु युवयोरेव मिथो युद्धं त्रिधात्मकं ॥ ४२ ॥ भ्रूभंगेन विना भगः सोढव्यो युवयोरिह । विजयश्च विनोत्सेकात् धर्मो ह्येष सनाभिषु ॥ ४३ ॥ इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधैश्च मंत्रिभि. । तौ कृच्छ्रात्प्रत्यपत्सातां तादृश युद्धमु द्धतौ ॥ ४४ ॥ जलदृष्टिनियुद्धेपु योऽनयोर्जयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पातिरस्तु स्वयवृतः ॥ ४५ ॥ इत्युद्घोष्य कृतानंदमानदिन्या गभीरया । भेर्या चमूप्रधानाना न्यधुरेकत्र सान्निधिं ॥ ४६ ॥ नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवास्तानतोऽन्यतः ॥ ४७ ॥ मध्ये

सकती है इसलिये तुम दोनोंका ही (भरत और बाहुबलिका ही) परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इन तीनों प्रकारके युद्धमें जो पराजय होगा वह तुम दोनोंको ही भौंहके चढाये विना अर्थात् क्रोध ईर्ष्या आदि किये बिना ही सहन कर लेना चाहिये तथा इसीतरह जो विजयी होगा वह भी बिना किसी अहंकारके तुम दोनोंको सहन करना होगा अर्थात् मानना होगा, एक कुलमें उत्पन्न हुये भाई भाइ-योंका यही धर्म है ॥४३॥ इसप्रकार सब राजाओंने तथा मंत्रियोंने बडी विनयके साथ प्रार्थना की, तब कहीं बडी काठिनतासे उद्धत हुये दोनों भाइयोंने [भरत और बाहुबलिने] इसप्रकारका युद्ध स्वीकार किया ॥४४॥ जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और बाहुयुद्ध इन तीनों युद्धोंमें इन दोनों भाइयोंमेंसे जो विजय प्राप्त करेगा वही विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति माना जायगा। भावार्थ—इन तीनों युद्धोंमें जो जीतेगा वही विजयका अधिकारी होगा ॥४५॥ इसप्रकार निश्चयकर जिसमें सबको आनंद हो इसरीतिसे प्रसन्न करनेवाले गंभीर नगाडोंके द्वारा सब जगह वही घोषणा करा दी और फिर सेनाके मुख्य मुख्य सब लोगोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥ ४६ ॥ जो भरतकी पक्षवाले राजा थे उन्हें एकओर बिठाया और जो बाहुबलिकी पक्षवाले राजा थे उन्हें इनके ठीक सामने दूसरी ओर बिठाया ॥ ४७ ॥ उन सब राजाओंके बीचमें बैठे हुये वे भरत और बहुबलि दोनों महाराज ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों किसी कारणसे निषध और नील पर्वत ही एक जगह आकर इकट्ठे हो

महीभृतां तेषां रेजतुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निषधनीलाद्री कुतश्चिदिव सान्निधिं ॥ ४८ ॥ तयोर्भुजबली रेजे गरुडग्रावसच्छविः । जंबूद्रुम इवोत्तुंगः सभृंगोऽशितिमूर्द्धजः ॥ ४९ ॥ रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रहः । सचूलिक इवाद्रींद्रस्तप्तचामीकरच्छविः ॥ ५० ॥ दधद्धीरतरा दृष्टिं निर्निमेषामनुद्धटा । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसभं भुजविक्रमी ॥ ५१ ॥ विनिवार्य कृतक्षोभमनिवार्यं बलार्णवं । मर्यादया यवीयांसं जयेनायोजयन्नृपा. ॥ ५२ ॥ सरसीजलमागाढौ जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घैर्व्यात्युक्षीमासतुर्भुजैः ॥ ५३ ॥ अधिवक्षस्तटं जिष्णोरेजुरच्छा जलच्छटाः । शैलभर्तुरिवो-

---

गये हों ॥ ४८ ॥ उन दोनोंमें मस्तक पर काले केशोंसे सुशोभित और नीलमणिके समान सुंदर कांतिको धारण करता हुआ बाहुबलि ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भ्रमरोंसे घिराहुआ और बहुत ऊंचा जंबूवृक्ष [जामुनका पेड] ही हो ॥ ४९ ॥ इसप्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊंचा हो रहा है और ताये हुये सुवर्णके समान जिसकी कांति है ऐसा राजराजेश्वर भरत भी इसप्रकार सुशोभित हो रहा था मानों चूलिका सहित मेरु पर्वत ही हो ॥ ५० ॥ [प्रथम दृष्टि युद्ध प्रारंभ हुआ] बाहुबलिने अपनी दृष्टि बडी शांत तथा धीरताके साथ रक्खी और पलकसे पलक नहीं लगने दिया, इसलिये उन्होंने बहुत शीघ्र इस दृष्टि युद्धमें विजय प्राप्त किया ॥५१॥ उससमय बाहुबलिका सेनारूपी समुद्र जो किसीसे निवारण न किया जा सके इसप्रकार क्षोभित हो गया अर्थात् उसमें बाहुबलि "जीतगये जीतगये" ऐसा कोलाहल होने लगा । राजा लोगोंने उस कोलाहलको शांत किया और फिर बडी मर्यादाके साथ उन्होंने छोटे भाई बाहुबलिका विजय स्वीकार किया ॥५२॥ तदनंतर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उन्मत्त हुये उन दोनों कुमारोंने जलयुद्ध करनेके लिये सरोवरके जलमें प्रवेश किया और अपनी लंबी लंबी भुजाओंसे वे दोनों ही परस्पर एक दूसरेपर पानी डालने लगे ॥ ५३ ॥ बाहुबलिने जो पानी उडाया था उसकी निर्मल छटायें भरतके वक्षःस्थलपर ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों सुमेरु पर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही वह रहा हो ॥ ५४ ॥ उसके बाद

त्संगसंगिन्यः सुतयोऽभसा ॥ ५४ ॥ जलौघो भरतेशेन मुक्तो दोर्बलिशालिन. । प्रांशोरप्राप्य दूरेण सुनमानानमापतत् ॥ ५५ ॥ नरेशः किलाग्रापि न्यद्यपि जय तदा । बलैर्भुजबलीशस्य भूयोऽप्युद्घोषितो जय. ॥ ५६ ॥ नियुद्धमथ गंभीरं नृसिंहौ सिंहविक्रमौ । धीरावाक्रुनस्पर्द्धौ तौ रंगमवनेतु. ॥ ५७ ॥ वल्गितास्फोटितैश्चित्रैः करणैर्बंधपीडितैः । दोर्दर्पशालिनोरासीद्बाहुयुद्ध तयोर्महत् ॥५८॥ स्फुरन्मुकुटभानको दृढयोद्धामितोऽमुना । लीलामलातचक्रस्य चक्री भेजे क्षण भ्रमन् ॥ ५९ ॥ यवीयान् नृपशार्दूल ज्यायांसं जिनभारत । जित्वाऽपि नागरन्मूर्ध्नि प्रमुस्थिर

भरतने भी बाहुबलिके ऊपर पानी फेंका परंतु बाहुबलि ऊंचे थे इसलिये वह पानी मुखको बहुत दूर छोडकर दूरसे ही नीचे जा पडा । भावार्थ–जो पानी बाहुबलिने फेंका था वह तो भरतके वक्षःस्थलपर बहता हुआ मुखतक पहुंच गया था परंतु जो पानी भरतने फेंका था वह बाहुबलिके मुह और वक्षःस्थलसे बहुत नीचे रह गया, वहांतक नहीं पहुंचने पाया ॥ ५५ ॥ इसप्रकार जब भरतने इस युद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तब फिर भी बाहुबलिकी सेनाने अपने विजयका डंका बजाया॥ ५६ ॥ तदनंतर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले. धीरवीर और परस्पर स्पर्द्धा करनेवाले वे दोनों ही मनुष्यसिंह बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञाकर रंगभूमि में आ कूदे ॥ ५७ ॥ अपनी अपनी भुजाओंका अभिमान रखनेवाले उन दोनोंका अनेक तरहसे हाथ हिलाने पैर फैलाने (पैंतरा बदलने) और भुजाओंके व्यायाम (दाव पेच) आदिसे बहुत बडा मल्लयुद्ध हुआ ॥ ५८ ॥ देदीप्यमान मुकुटकी प्रभाके समूहको धारण करतेहुये उस चक्रवर्तीको बाहुबलिने लीलामात्रमें ही उठाकर घुमा दिया था, और उस समय घूमते हुये उस चक्रवर्तीने क्षणभरके लिये आलातचक्रकी शोभा धारण की थी । भावार्थ–अनेक बारीक छिद्र सहित किसी पोली चीजको उसमें पिसे हुये कोयलेकी अग्नि भरकर घुमाते हैं उसे आलातचक्र कहते हैं । जिससमय भरतको घुमाया था उससमय उसके मुकुटकी कांति उन छिद्रोंसे निकलती हुई अग्निके कणोंके समान चमकती थी इसलिये ही वे आलातचक्रके समान

गौरवात् ॥ ६० ॥ भुजोपरोधमुध्दृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली । हिमाद्रिमिव नीलाद्रिर्महाकटकभास्वरं ॥ ६१ ॥ तदा कलकलश्चक्रे पक्ष्यैर्भुजबलीशिनः । नृपैर्भरतगृह्यैस्तु लज्जया नमितं शिरः ॥ ६२ ॥ समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेपूभयेष्वपि । परां विमानतां प्राप्य ययौ चक्री विलक्षतां ॥ ६३ ॥ वद्धभ्रुकुटिरुद्भ्रातरुधिरारुणलोचनः । क्षणं दुरीक्षतां भेजे चक्री प्रज्वलितः क्रुधा ॥ ६४ ॥ क्रोधांधेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयं । चक्रमुत्क्षिप्तनिःशेषद्विपचक्रं निधीशिना ॥ ६५ ॥ आध्यानमात्रमेत्याराददः कृत्वा प्रदक्षिणां । अवध्यस्यास्य पर्यंते तस्थौ मंदीकृतातपं ॥ ६६ ॥ कृतं कृतं व्रतानेन साहसे-

जान पडते थे ॥ ५९ ॥ छोटे भाई बाहुबलिने भरतक्षेत्रको जीतनेवाले, बडे और सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतको जीतकर भी 'ये बडे हैं' इसी महत्वसे अर्थात् उनके वडप्पनसे उन्हें पृथ्वीपर नहीं पटका ॥ ६० ॥ किंतु जिसप्रकार नीलपर्वत बडे बडे शिखरोंसे शोभायमान हिमवान पर्वतको धारण करता है उसीप्रकार बाहुबलिने भी भरतको अपनी दोनों भुजाओंसे पकडकर ऊचा उठाकर कंधेपर धारण किया ॥ ६१ ॥ उससमय बाहुबलिकी पक्षवाले लोगोंने विजयका बडा भारी कोलाहल मचाया और भरतके पक्षवाले राजाओंने लज्जासे अपना शिर नीचा कर लिया ॥ ६२ ॥ दोनों पक्षवाले राजा लोगोंके साक्षात् देखतेहुये भरतका अत्यंत अपमान हुआ था इसलिये ही भरतको बहुत भारी आश्चर्य हुआ ॥ ६३ ॥ उस चक्रवर्तीने अपनी दोनों भोहें चढा लीं, उसकी दोनों आंखें लाल होगई, आखोंकी पुतलियां इधर उधर फिरने लगीं तथा वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा जो क्षणभरभी देखा नहीं जा सकता था ॥ ६४ ॥ उस समय निधियोंके स्वामी भरतने क्रोधसे अंधे होकर बाहुबलिका पराजय करनेके लिये समस्त शत्रुओंके समूहको नाश करनेवाले चक्रका स्मरण किया ॥ ६५ ॥ स्मरण करनेपर तुरंत ही वह चक्र भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलिपर चलाया परंतु (चरमशरीर और एक ही कुटंबके होनेसे) बाहुबलि अवध्य [जिसका घात न हो सके] थे इसलिये वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित होता हुआ बाहुबलिके समीप जा ठहरा ॥ ६६ ॥ उससमय अनेक बडे बडे

नेति धिक्कृतः । तदा महत्तमैश्चक्री जगामानुशयं परं ॥ ६७ ॥ कृतोपदान इत्युच्चै करेण तुलयन्नृपं । सोऽवतीर्यांसतो धीरो निकृष्टां भूमिमापयत् ॥ ६८ ॥ सत्कृत' सजयाशसमभ्येत्य नृपसत्तमैः । मेने सोत्कर्पमात्मान तदा भुजबली प्रभुः ॥ ६९ ॥ अचिंतयच्च किं नाम कृते राज्यस्य भगिनः । लज्जाकरो विविभ्रात्रा ज्येष्ठेनायमधिष्ठितः ॥ ७० ॥ विपाककटु साम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदं । दुस्त्यज त्यजदप्येतदागिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥ ७१ ॥ अहो विपयसौख्याना वैरूप्यमपकारिता । भगुरत्वमरुच्यत्वं सक्तैर्नान्विष्यते जनैः ॥ ७२ ॥ को नाम मतिमानीप्सेद्विषयान्विपदारुणान् ।

राजाओंने चक्रवर्ती को धिकार दिया और खेदके साथ कहा कि 'बस! बस! ऐसे साहसको अब बंद करो' यह सुनकर चक्रवर्तीको और भी अधिक पश्चात्ताप हुआ ॥ ६७ ॥ उस धीर वीर बाहुबलिने महाराज भरतको पहिले तो हाथोंसे तौला और फिर ऊंचे स्वरसे "आप बडे पराक्रमी हैं" ऐसी प्रशंसा कर अपने कंधेसे उतारकर उन्हें अच्छे स्थानपर विराजमान किया ॥ ६८ ॥ तदनंतर अनेक बडे बडे राजाओंने बाहुबलिके समीप आकर उनके विजयकी प्रशंसाकर उनका आदर सत्कार किया। उससमय प्रभु महाराज बाहुबलि भी आपको सबसे उत्कृष्ट मानने लगे थे ॥ ६९ ॥ तथा वे उस समय यह भी चिंतवन करने लगे कि देखो अवश्य नाश होनेवाले इस राज्यकेलिये हमारे बडे भाईने यह कैसा लज्जाजनक काम किया है ॥ ७० ॥ यह साम्राज्य क्षणभंगुर है, इसका परिणाम भी बहुत दुख देनेवाला है इसलिये इसे धिकार हो। यह साम्राज्य व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है, जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको छोड देती है उसीप्रकार यह राज्य भी एक दिन इस मनुष्यको अवश्य छोड देता है तथापि अविवेकी लोग इसे छोड नहीं सकते हैं, यह दुखकी बात है ॥ ७१॥ हा! विषयोंमें आसक्त हुये लोग इन विषयोंके सुखोंका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और अंतमें होनेवाले नीरसपनेको कभी नहीं सोचते हैं ॥ ७२ ॥ भला ऐसा कौन बुद्धिमान है जो विषके समान भयंकर इन विषयोंकी इच्छा करे? क्योंकि इन्हीं विषयोंके वश होकर यह प्राणी अनेक दुखोंके समूहको प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

येषा वशगतो जंतुर्यात्यनर्थपरंपरां ॥ ७३ ॥ वरं विषं यदेकस्मिन्भवे हंति न हंति वा । विषयास्तु पुनर्घ्नंति हत जंतूननंतशः ॥ ७४ ॥ आपातमात्ररम्याणां विपाककटुकात्मनां । विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थाननर्थकं ॥ ७५ ॥ अत्यंतरसिकानादौ पर्यंते प्राणहारिणः । किंपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥ ७६ ॥ शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिमहोरगा । न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥ ७७ ॥ महाब्धिरौद्रसंग्रामभीमारण्यसरिद्गिरीन् । भोगार्थिनो भजत्यज्ञा धनलाभधनायया ॥ ७८ ॥ दीर्घदोर्घातनिर्घातनिर्घोषविषमीकृते । यादसां यादसांपत्यौ चरति विषयार्थिनः ॥ ७९ ॥

विष खा लेना किसीतरह अच्छा भी है, क्योंकि विष खा लेनेसे यह प्राणी एक ही भवमें मरता है, अथवा कभी कभी नहीं भी मरता है, परंतु विषय सेवन करना अच्छा नहीं, क्योंकि विषय सेवन करनेसे इस प्राणीको अनंतवार मरना पडता है यह कितने दुखकी बात है ॥ ७४ ॥ ये विषय सेवन करते समय तो अच्छे जान पडते हैं परंतु इनका फल वहुत ही कडवा (दुख देनेवाला) होता है, ऐसे विषयोंकेलिये यह मूर्ख पुरुष क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको नहीं प्राप्त होता है ?॥ ७५ ॥ ये विषय ठीक किंपाकफलके समान हैं, क्योंकि किंपाकफल जैसे खानेके प्रारंभमें वहुत मीठे लगते हैं परंतु अंतमें उनसे प्राण चले जाते हैं उसीप्रकार ये भी प्रारंभमें तो वहुत ही अच्छे और मीठे जान पडते हैं परंतु अंतमें इनसे अवश्य ही प्राण नष्ट हो जाते हैं इसलिये ऐसे इन विषम विषयोंको भला कौन बुद्धिमान पुरुष सेवन कर सकता है ॥ ७६ ॥ इन मनुष्योंको विषयरूपी शत्रु जैसा दुःख देते हैं वैसा दुःख शस्त्रोंका प्रहार, जलती हुई अग्नि, वज्र, बिजली और वडेवडे सर्प आदि कोई भी नहीं दे सकते हैं ॥ ७७ ॥ भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले मूर्खलोग केवल धन मिलनेकी इच्छासे महासागर, प्रचंड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंपर जाकर निवास करते हैं ॥ ७८ ॥ विषयोंमें लंपटी हुये पुरुष जलचर जीवोंकी लंबी लंबी भुजाओंके घातसे उत्पन्न हुये वज्रपातके समान भयंकर शब्दोंसे जो अत्यंत विषम (क्षुब्ध) हो रहा है ऐसे समुद्रमें भी जाकर संचार

समापतच्छरव्रातनिरुद्धगगनाङ्गण । रणाङ्गणं विशन्त्यस्तभियो भोगैर्विलोभिताः ॥ ८० ॥ चरन्ति [illegible] यत्र [illegible] । [illegible]-
भोगाशोपहता जडा. ॥ ८१ ॥ सरितो विषमावर्तभीषणा ग्राहसंकुलाः । [illegible] ॥ ८२ ॥ [illegible]
गिरीनप्यभियोगिन. । रसायनरसज्ञानविश्रद्धविमोहिताः ॥ ८३ ॥ [illegible] । [illegible] ॥ ८४॥
भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद हिताहितं । मुक्तस्य जरया जन्तोः [illegible] ॥ ८५ ॥ [illegible] । [illegible]

करते हैं ॥ ७९ ॥ जिन्हें भोग उपभोगोंका लोभ उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही पुरुष पडते हुये बाणोंके समूहसे जहां आकाशरूपी मैदान भी भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमें भी निर्भय होकर घुस जाते हैं ॥ ८० ॥ जिनमें भील आदि वनचर लोग भी भयभीत नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर वनोंमें भी भोगोंकी आशासे पीडित हुये मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥ ८१ ॥ अत्यंत दुःख देनेवाले विषयरूपी पिशाचोंसे जकडे हुये कितने ही मनुष्य मगरमच्छ आदि भयंकर जलचर जीवोंसे भरी हुई तथा विकट भँवरोंसे भयानक ऐसी बडी बडी नदियोंको भी योंही तिरना चाहते हैं, ये सब कितने खेदकी बातें हैं ॥ ८२ ॥ स्तंभन आदि रसायनोंके रसको जानने-का उद्योग करनेके लिये मोहित हुये कितने ही पुरुष बडी कठिनतासे चढने योग्य पर्वतोंपर भी निर्भय होकर चढ जाते हैं ॥ ८३ ॥ यह जरा (बुढापा) सफेद केशोंके बहानेसे जबर्दस्ती बालोंको पकडती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जबर्दस्ती ही आलिंगन करती है ॥ ८४ ॥ जिसकी भोगोंमें अत्यंत उत्कंठा है वह पुरुष प्रायः अपना हित अहित कुछ नहीं जान सकता है, तथा जो बुढापेने घेर लिया है और जो मरगया है इन दोनोंमें क्या अंतर है ? भावार्थ—बूढा मनुष्य भी मरे हुयेके समान है क्योंकि दोनों ही बेकार हैं ॥ ८५ ॥ यह बुढापा मनुष्योंको शीतज्वरके समान अनेक तरहके दुःख देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर इस मनुष्यको जबर्दस्ती पृथ्वीपर पटक देता

नृणा कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥ ८६ ॥ अगसाद मतिभ्रेप वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा वटयत्याशु देहिना ॥ ८७ ॥ कालव्यालगजेनेदमायुरालानकं बलात् । चाल्यते यद्बलाधान जीवितालवन नृणा ॥ ८८ ॥ शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिर । रोगाखूपहत चेद जरद्देहकुटीरक ॥ ८९ ॥ इत्यशाश्वतमप्येतद्राज्यादि भरतेश्वरः । शाश्वतं मन्यते कष्ट मोहोपहतचेतनः ॥ ९० ॥ चिरमाकलयन्नेवमग्रजस्यानुदात्तता । व्याजहारैनमुद्दिश्य गिरः प्रपरुषाक्षराः ॥ ९१ ॥ शृणु भो नृपशार्दूल क्षण वैलक्ष्यमुत्सृज । मुह्यतेद त्वयाऽलवि दुरीहमातिसाहस ॥ ९२ ॥ अभेद्ये मम देहाद्रौ

है उसी प्रकार यह बुढापा भी इस मनुष्यको जवर्दस्ती पृथ्वीपर पटक देता है अर्थात् दोनोंसे ही शरीरकी शक्ति नष्ट हो जाती है और शीतज्वरसे जिस प्रकार शरीर कंपता है उसी प्रकार बुढापेसे भी शरीर कंपा करता है ॥ ८६ ॥ शरीरमें प्रविष्ट हुआ यह बुढापा ठीक मद्यके समान लोगोंके शरीरको शिथिल कर देता है, बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है और वचनोंको अस्पष्ट वना देता है ॥८७॥ जिसके बलके सहारे मनुष्योंका यह जीवन टिका हुआ है ऐसे आयुरूपी खंभेको यह कालरूपी दुष्ट हाथी जवर्दस्ती उठाकर फेंक देता है। भावार्थ—यह काल बडीसे बडी आयुको भी पूर्ण कर देता है॥ ८८ ॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और जीर्ण हुआ यह शरीररूपी झोंपडा रोगरूपी चूहोंका खाया हुआ है ॥ ८९ ॥ इसप्रकार राज्य आदि विभूति विनश्वर होनेपरभी मोहके उदयसे जिसकी बुद्धि नष्ट होगई है ऐसा यह भरत उसे नित्य मानता है ? यह कितने दुःख की वात है ॥ ९० ॥ इस प्रकार वडे भाई भरतकी नीचताको देरतक विचार करतेहुये वाहुवलिने भरतको पुकारकर कठोर अक्षरोंकी वाणीसे इस प्रकार कहा कि ॥ ९१ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! थोडी देरके लिये तू अपनी उदासी छोड और मैं कहता हूं सो सुन। तूने मोहित होकर ही न करने योग्य ऐसे वडे भारी साहसका अवलंवन किया है ॥ ९२ ॥ जो कभी भिद नहीं सकता ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया, सो जिस प्रकार वज्रके वने हुये पर्वतपर वज्रका पडना व्यर्थ है उसी

त्वया चक्रं नियोजित । विध्यकिंचित्कर वाज्रे शैले वज्रमिवापतत् ॥ ९३ ॥ अन्यत्र भ्रातृभाडानि भंक्त्वा राज्यं यदीप्सित । त्वया धर्मो यशश्चैव तेन पेशलमर्जित ॥ ९४ ॥ चक्रभृद्भरतः स्रष्टुः सूनुराद्यस्य योऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूदितीडाऽस्थापि च त्वया ॥ ९५ ॥ जिता च भवतैवाद्य यत्पापोपहतामिमा । मन्यसेऽनन्यभोगीना नृपश्रियमनश्वरीं ॥ ९६ ॥ प्रेयसीय तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बंधो न हि सतां मुदे ॥ ९७ ॥ दूपिता कटकैरेना फलिनीमपि ते श्रिय । करेणापि स्पृशेद्धीमॉल्लता कटकिनी च कः ॥ ९८ ॥ विषकंटकजालीव त्याज्यैषा सर्वथाऽपि नः । निष्कटका तपोलक्ष्मी स्वाधीना कुर्तुमिच्छता ॥ ९९ ॥ मृष्यता च तदस्माभिः कृतमागो यदीदृग । प्रच्युतो विनयात्सोऽह स्वं

प्रकार मेरे शरीरपर भी यह तेरा चक्र व्यर्थ है यह तू अच्छीतरह समझ ॥ ९३ ॥ दूसरी यह बात है कि भाइयोंके भोगोपभोगकी सामिग्रीको नाश कर तूने जो इस राज्यकी इच्छा की है सो इस राज्यकी इच्छासे तूने वहुत ही अच्छा धर्म और यश उपार्जन किया है ॥ ९४ ॥ तूने अपनी यह कीर्ति भी संसारमें स्थापित कर दी कि आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवका जो ज्येष्ट पुत्र था वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥ ९५ ॥ हे भरत ! जिसे तूने जीता है, जो पापसे भरी हुई है और एक दिन अवश्य नष्ट होनेवाली है ऐसी इस राज्यलक्ष्मीको तू मानता है कि इसका भोक्ता अकेला मैं ही हूं ? ॥ ९६ ॥ इस राज्यलक्ष्मीका तूने आदर किया है इसलिये यह तूझे ही प्रिय रहो । हे आयुष्मन् ! अव यह मेरे योग्य नहीं है, क्योंकि कर्मवंधका कारण ऐसा यह परिग्रह सज्जनोंके लिये कभी हर्ष उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥ यह तेरी राज्यलक्ष्मी यद्यपि फलवती है अर्थात् फल देनेवाली है तथापि अनेक तरहके कांटोंसे (आपत्तियोंसे) दूषित है। भला ऐसी कांटेवाली लताको कौनसा बुद्धिमान् हाथसे भी छूना चाहता है ॥ ९८ ॥ अव हम कंटकरहित तपश्चरणरूपी लक्ष्मीको अपने आधीन करना चाहते हैं इसलिये विषके कांटोंकी श्रेणीके (समूहके) समान यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोंके लिये सर्वथा त्याज्य है॥ ९९ ॥ इसलिये मैंने जो यह ऐसा

चापलमदीदृशं ॥ १०० ॥ इत्युच्चरद्गिरामोघो मुखाद्बाहुबलीशितुः । ध्वनिरुद्धादिवाऽऽतप्त जिष्णोराह्लादयन्मनः ॥ १०१ ॥ हा दुष्टं कृतमित्युच्चैरात्मान स विगर्हयन् । अन्ववातप्त पापेन कर्मणा स्वेन चक्रराट् ॥ १०२ ॥ प्रयुक्तानुनय भूयो मनुमत्यं स धीरयन् । न्यवृतन्न स्वसकल्पादहो स्थैर्यं मनस्विना ॥ १०३ ॥ महाबलिनि निक्षिप्तराज्यर्द्धिः स स्वनदने । दीक्षामुपादधे जैनीं गुरोराराधयन्पद ॥ १०४ ॥ दीक्षावल्या परिष्वक्तस्त्यक्ताशेषपरिच्छदः । स रेजे सलत. पत्रमोक्षक्षाम इव द्रुमः ॥ १०५ ॥ गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिता । प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल सवृत. ॥ १०६ ॥

अपराध किया है उसे क्षमा कीजिये, मैंने विनयका बिल्कुल त्याग कर दिया था अर्थात् आपका विनय नहीं किया था यह मेरी चंचलता थी, आप इसे क्षमा कीजिये ॥ १०० ॥ महाराज बाहुबलिके मुखसे बादलोंकी गर्जनाके समान निकलतेहुये वाणीके समूहसे अत्यंत संतप्त हुआ भरतका मन कुछ प्रसन्न हुआ ॥ १०१ ॥ तुरंत ही वह चक्रवर्ती " हा यह काम मैंने बहुत बुरा किया " इस प्रकार जोर जोरसे अपनी निंदा करने लगा और अपने पापकार्यका बहुत ही पश्चात्ताप [पछतावा] करने लगा ॥ १०२ ॥ जिसके लिये फिर भी बारबार प्रार्थना की है ऐसे अंतके कुलकर भरतको प्रसन्न करता हुआ वह बाहुबलि अपने संकल्पसे च्युत नहीं हुआ अर्थात् उसके विरक्त पारिणाम नष्ट नहीं हुये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोगोंकी स्थिरता भी आश्चर्य जनक होती है ॥१०३॥ बाहुबलिने अपने पुत्र महाबलको राज्यलक्ष्मी सोंपी और अपने गुरु श्रीवृषभदेवके चरणकमलोंका आराधन करतेहुये जैनेंद्री दीक्षा धारण की ॥ १०४ ॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड दिये हैं और जो दीक्षारूपी वेलसे ढका हुआ है ऐसा वह बाहुबलि उससमय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों पत्तोंके गिर जानेसे कृश हुआ ऐसा लता [वेल] सहित कोई वृक्ष ही हो ॥ १०५ ॥ इंद्रियोंको जीतनेवाले बाहुबलिने गुरूकी आज्ञानुसार सब शास्त्र पढे, एकाविहारीपन धारण किया और एक वर्षतक प्रतिमायोग (एक जगह खडे रहनेका नियम) धारण किया ॥ १०६ ॥

स शसितव्रतोऽनाश्वान् वनवल्लीततांतिकः । वल्मीकरध्रनिःसर्पत्सर्पैरासीद्भयानकः ॥ १०७ ॥ श्वसदाविर्भवद्भोगभुजगशिशुजृंभितैः । विषांकुरैरिवोपांघ्रि स रेजे वेष्टितोऽभितः ॥ १०८ ॥ दधानः स्कधपर्यंतलंबिनीः केशवल्लरीः । सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमंडल हरिचंदनं ॥ १०९ ॥ माधवीलतया गाढमुपगूढं प्रफुल्लया । शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहारया ॥ ११० ॥ विद्याधरीकराल्लूनपल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनीवास्य सामिनम्राऽनुनेष्यती ॥ १११ ॥ रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्या स्पृहयालुः कृशीभवन् ॥ ११२ ॥

जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किया है, उपवास धारण किया है और जिनके समीपमें अनेक तरहकी लताओंके समूह खडे हैं ऐसे वे बाहुबलि वामीके (सर्पोंके बिलोंके) छिद्रोंसे निकलते हुये सर्पोंसे बहुत ही भयानक जान पडते थे । भावार्थ–वे तो निश्चल खडे थे परंतु उनके समीप अनेक सर्प फिरा करते थे ॥ १०७ ॥ श्वासोश्वासके फुंकारोंसे जिनके फणा साफ दिखाई दे रहे थे ऐसे उछलकूद मचाते हुये सर्पोंके बच्चोंसे चारों ओरसे घिरे हुये वे बाहुबलि ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनके पैरके समीप विषके अंकूरे ही लग रहे हों ॥ १०८ ॥ जिनके केशरूपी लतायें कंधेंतक लटक रही हैं ऐसे वे बाहुबलि मुनि जिसपर अनेक काले सर्पोंका समूह लगा हुआ है ऐसे मलयागिर चंदनके वृक्षका अनुकरण करते हुयेके समान जान पडते थे । भावार्थ–काले सर्प सहित चंदनके वृक्षके समान सुशोभित होते थे ॥ १०९ ॥ फूली हुई वसंतलताके द्वारा शाखारूपी भुजाओंसे घेरकर गाढ आलिंगन किये हुये वे मुनि ऐसे जान पडते थे मानों हार लिये हुये किसी सखीने ही अपनी भुजाओंसे उन्हें गाढ आलिंगन किया हो ॥ ११० ॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधारियोंने अपने हाथसे तोडलिये हैं ऐसी भगवान बाहुबलिके पैरोंपर पडी हुई वह वसंतलता इसप्रकार सूक गई थी मानों कुछ नम्र होकर प्रार्थना करती हुई कोई स्त्री ही हो ॥ १११ ॥ ऐसी अवस्था होनेपरभी कठिन तपश्चरण करते हुये और इसलिये ही कृश हुये वे मुनि ऐसे जान पडते थे मानों मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता

तपस्तनूनपात्तापसंतप्तस्यास्य केवलं । शरीरमशुषन्नोर्ध्वशोप कर्माण्यशर्मदं ॥ ११३ ॥ तीव्रं तपस्यतोऽप्यस्य नासीत्कश्चिदुपप्लवः । अचिंत्यं महतां धैर्यं येनायाति न विक्रिया ॥ ११४ ॥ सर्वंसहः क्षमाभारं प्रशांतः शीतलं जलं । निःसंगः पवनं दीप्तः स जिगाय हुताशनं ॥ ११५ ॥ क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदंशमशकद्वयं । मार्गाच्यवनसंसिद्ध्यै द्वद्वानि सहते स्म सः ॥ ११६ ॥ स नाग्न्यं परमं बिभ्राणो नाभेद्यैंद्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य सा गुप्तिर्नाग्न्यं नाम परं तपः ॥ ११७ ॥ रतिं चारतिमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते । न रत्यरतिबाधा हि विषयानाभिषंगिनः ॥ ११८ ॥ नास्यासीत्स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेद-

हुआ कोई कामी पुरुष ही हो ॥ ११२ ॥ तपश्चरणरूपी अग्निके संतापसे संतप्त हुये बाहुबलिका केवल खड्गासन शरीर ही नहीं सूख गया था किंतु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥ ११३ ॥ यद्यपि ये मुनि तीव्र तपश्चरण करते थे तथापि इनके कोई किसीतरहका उपद्रव नहीं हुआ था, सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंका धैर्य भी अचिंत्य होता है उसी धैर्यसे उन्हें किसी तरहका विकार नहीं होता ॥ ११४ ॥ वे उपसर्ग परिषह आदि सबको सहन करते थे इसलिये सहनशीलतागुणसे उन्होंने पृथ्वी भी जीत ली थी, वे इतने शांत थे कि उस शांततासे शीतल जल भी जीत लिया था, वे सब तरहके परिग्रहोंसे रहित थे इसलिये संगरहित गुणसे उन्होंने वायु भी जीत लिया था और शरीर इतना दैदीप्यमान था कि उससे उन्होंने अग्नि भी जीत ली थी ॥ ११५ ॥ मोक्षमार्गसे च्युत न होनेके लिये वे भूख, प्यास, शीत, उष्ण [गर्मी] और दंशमसक (डांस मच्छर बिच्छू आदि कीडोंका दुःख) परिषहोंको सहन करते थे ॥ ११६ ॥ वे उत्कृष्ट नाग्न्य (बिलकुल नग्न दिगंबर रहना) परिषहको धारण करते थे तथापि धूर्त इंद्रियोंने उन्हें भेदन नहीं किया था अर्थात् वे नग्न रहकर भी इंद्रियोंके वश नहीं हुये थे । ब्रह्मचर्यकी उत्तम रीतिसे रक्षा करना ही नाग्न्य परिषह है और यही उत्तम तप है ॥ ११७ ॥ वे रति और अरति [राग द्वेष] इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे, सो ठीक ही है जिन्हें विषयोंकी इच्छा ही नहीं है उन्हें रति और अरतिकी बाधा भी नहीं हो सकती है ॥ ११८ ॥ स्त्रीके अपवित्र शरीरको चर्मकी [चमडेकी] पुतलीके

मायुपः ; शरीरमशुचि स्त्रैणं पश्यतश्चर्मपुत्रिका ॥ ११९ ॥ स्थितश्चर्यां निपद्यां च शय्या चासोढ हेलया । मनसाऽनभिसंवित्सन्नुपानच्छयनासन ॥ १२० ॥ स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदावरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनद्थु ॥ १२१ ॥ याचित्रिमेण नास्येष्टा विश्वाणेन तनुस्थितिः । तेन वाचयमो भूत्वा याचाबाधामसोढ सः ॥ १२२ ॥ जल्लं मलं तृणस्पर्शं सोऽसोढोढोत्तमक्षमः । व्युत्सृष्टतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुखः ॥ १२३ ॥ रोगस्यायतनं देहमाध्यायन् धीरधीरसौ । विविधातकजा बाधां सहते स्म सुदुःसहा ॥ १२४ ॥ प्रज्ञापरिषहं प्राज्ञो ज्ञानजं गर्वमुत्सृ-

समान देखते हुये और भोगोंसे विरक्त हुये वाहुवलिके स्त्रियोंकी कोई वाधा नहीं हुई थी, अर्थात् वे स्त्री परिषहको भी पूर्ण रीतिसे सहन करते थे ॥ ११९ ॥ चर्या निपद्या और शय्या परिषहोंको भी वे दृढचित्त होकर लीलामात्रमें जीतते थे तथा पैरोंकी रक्षा करनेके लिये खडाऊं जूता आदि और शय्या आसन आदिकी कभी मनसे भी इच्छा नहीं करते थे ॥ १२० ॥ परमार्थको जाननेवाले वे मुनि शरीरको स्वयं त्याज्य अर्थात् किसी दिन अवश्य नष्ट होनेवाला समझकर सदा उससे निस्पृह (उदासीन, इच्छारहित) रहते थे शरीरमें कभी किसी तरहका आनंद नहीं मानते थे और इसतरह वे बध और आक्रोश दोनों परिषहोंको सहन करते थे ॥ १२१ ॥ वे याचनासे प्राप्त हुये भोजनसे शरीरकी स्थिति रखना अच्छा नहीं समझते थे, इसलिये मौन धारण कर याचना परिषहको सहन करते थे अर्थात् कभी किसीसे कुछ नहीं मांगते थे ॥ १२२ ॥ जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार सव छोड दिया है और सुख दुःखमें समान भाव धारण किया है ऐसे वे मुनि सव शरीरपर जमे हुये मलको अर्थात् मलपरिषहको और तृणस्पर्श (कांटा वगैरह लगना) परिषहको भी सहन करते थे ॥ १२३ ॥ 'यह शरीर अनेक रोगोंका घर है' इसप्रकार चिंतवन करते हुये तथा धीरवीर बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनि वडी कठिनतासे सहन करने योग्य ऐसी अनेक प्रकारके रोगोंकी पीडाको भी सहन करते थे ॥ १२४ ॥ ज्ञानकी वृद्धि सर्वज्ञ होनेतक है अर्थात् जव

जन् । आसर्वज्ञं तदुत्कर्षोत्स ससाह ससाहसः ॥ १२५ ॥ स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुद नागात्सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥ १२६ ॥ परीषहमलाभ च संतुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनोद्भूता बाधाऽऽसीन्नास्य योगिन. ॥ १२७ ॥ परीषहजयादस्य विपुला निर्जेराऽभवत् । कर्मणा निर्जरोपायः परीषहजयः परः ॥ १२८ ॥ पचेंद्रियाण्यनायासात्सोऽजयज्जितमन्मथः । विषयेधनदीप्तस्य कामाग्नेः शमनं तपः ॥ १२९ ॥ क्रोधं तितिक्षया मानमुत्सेकपरिवर्जनैः । मायामृजुतया लोभं संतोषेण जिगाय सः ॥ १३० ॥ आहारभयसञ्ज्ञे च समैथुनपरिग्रहे ।

तक सर्वज्ञ न हो तबतकका ज्ञान अपूर्ण ही गिना जाता है इसप्रकार ज्ञानके अभिमानका त्याग करते हुये अतिशय विद्वान् और साहसी वे मुनि प्रज्ञा परिषहको सहन करते थे ॥ १२५ ॥ इसी प्रकार उन्हें अपने सत्कार पुरस्कारके लिये भी कभी इच्छा नहीं होती थी। किसीने पुरस्कार [सामने खडे होना हाथ जोडना आदि] किया तो कभी आनंद नहीं माना और किसीने सत्कार किया तो कभी संतुष्ट नहीं हुये। भावार्थ—उन्होंने सत्कार पुरुस्कार परिषहको अच्छीतरह सहन किया था ॥ १२६ ॥ उन्होंने संतुष्ट होकर अलाभ परिषह जीती थी, तथा उन मुनिको अज्ञान और अदर्शनसे भी कोई पीडा नहीं हुई थी। भावार्थ—अज्ञान और अदर्शन परिषह भी सहन की थीं ॥ १२७ ॥ ऊपर लिखी हुई बाईस परिषहोंको सहन करनेसे उनके अनेक कर्मोंकी निर्जरा होगई थी, सो ठीक ही है क्योंकि परिषहोंका सहन करना ही कर्मोंकी निर्जरा करनेका अर्थात् कर्मोंको नष्ट करनेका सबसे अच्छा उपाय है ॥ १२८ ॥ कामदेवको जीत लेनेसे उन्होंने पांचों इंद्रियोंको सहज ही जीत लिया था, सो ठीक ही है क्योंकि तपश्चरण ही विषयरूपी ईंधनसे जलती हुई कामदेवरूप अग्निको शांत करनेवाला है ॥ १२९ ॥ उन्होंने क्षमा धारणकर क्रोधको जीता, अभिमानका त्यागकर मानको जीता, सरल परिणाम धारणकर माया जीती और संतोष धारणकर लोभको जीता था ॥ १३० ॥ कामदेवको जीत लेनेसे ही उन्होंने आहार भय मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥ १३१ ॥

अनगविजयादेताः सज्ञाः क्षपयति स्म स. ॥ १३१ ॥ दुरंतरंगगत्रूणा स भंजन्प्रसरं मुहु । जयति स्माऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मविद्विदिताखिलः ॥१३२॥ व्रत च समितीः सर्वाः सम्यगिंद्रियरोधन । अचेलता च केशाना प्रतिलुचनसंगर ॥ १३३ ॥ आवश्यकेष्वसबाधामस्नान क्षितिशायिता । अदतधावन स्थित्वा भुक्ति भक्त च नासकृत् ॥ १३४ ॥ प्राहुर्मूलगुणानेतास्तथोत्तरगुणा. परे । तेषामाराधने यत्नं सोऽतनिष्टातनुर्मुनि. ॥ १३५ ॥ एतेष्वहापयन्किंश्चिद्व्रतशुद्धिं परां श्रित. । सोऽदीपि किरणैर्भास्वानिव दीप्तैस्तपोऽशुभिः ॥ १३६ ॥ गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परा निःशल्यता गतः । धर्मैर्दशभिरा-

---

अपने आत्माका स्वरूप जाननेवाले तथा समस्त पदार्थोंका स्वरूप जाननेवाले और ऊपर लिखे अनुसार क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओंके समूहको वार वार नष्ट करते हुये उन मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥ १३२ ॥ उन्होंने पांचों महाव्रत और पांचों समितियां धारण की थीं, पांचों इंद्रियोंको अच्छीतरह वश किया था, परिग्रहोंका त्यागकर दिगंवर अवस्था धारण की थी, केशोंके लोंच करनेकी प्रतिज्ञा ली थी, समता वंदना आदि छह आवश्यक निर्विघ्न रीतिसे पालन किये थे, वे कभी स्नान नहीं करते थे, पृथ्वीपर सोते थे, कभी दतौन नहीं करते थे, खडे होकर भोजन करते थे, और एक ही वार भोजन लेते थे ॥ १३३ ॥१३४ ॥ इसप्रकार मुनियोंके ये अट्ठाईस मूलगुण हैं तथा चौरासी लाख उत्तर गुण हैं । इन सबके पालन करनेकेलिये उन महा मुनिराजने बहुत ही प्रयत्न किया था ॥ १३५ ॥ इन मूलगुण और उत्तर गुणोंमें कुछ भी न छोडते हुये अर्थात् इनको पूर्ण रीतिसे पालन करते हुये उन्होंने उत्कृष्ट व्रतोंकी शुद्धि धारण की थी और जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी दैदीप्यमान तपश्चरणकी किरणोंसे बहुत ही दैदीप्यमान जान पडते थे ॥ १३६ ॥ रसगौरव शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे वे रहित थे, माया मिथ्या निदान ये तीनों शल्य उनके बिल्कुल नहीं थीं और उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको पालन करनेसे वे मोक्षमार्गमें बडे ही मजबूत होगये थे ॥१३७॥

रूढदार्ढ्योऽभून्मुक्तिवर्त्मनि ॥ १३७ ॥ गुप्तित्रयमयीं गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिभासुरः । संवर्मितः समितिभिः स भेजे विजिगीषुतां ॥ १३८ ॥ कषायतस्करैर्नास्य हृतं रत्नत्रयं धनं । सततं जागरूकस्य भूयोभूयोऽप्रमाद्यतः ॥ १३९ ॥ वाचयमस्य तस्यासीन्न जातु विकथादरः । नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसंवृतं ॥ १४० ॥ मनोऽगारे महत्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । न्यदीपि तत एवासन्विश्वेऽर्था ध्येयतापदे ॥ १४१ ॥ मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थतत्त्वं विचिन्वतः । करामलकवद्विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥ १४२ ॥ परीषहजयैर्दीप्तो विजितेंद्रियशात्रवः । कषायशत्रुनुच्छेद्य स तपोराज्यम-

---

उन्होंने मनोगुप्ति बचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंको ही अपनी रक्षा करनेका स्थान अर्थात् किला बनाया था, ज्ञानरूपी तलवारसे वे दैदीप्यमान थे और पांचों समितियोंका ही उन्होंने कवच बना रक्खा था। इसप्रकार वे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा कर रहे थे ॥ १३८ ॥ वे सदा जगते रहते थे और बारबार प्रमादरहित होते थे अर्थात् अप्रमत्त सातवें गुणस्थानमें पहुंचते थे इसलिये ही कषायरूपी चोरोंसे उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था ॥ १३९ ॥ वे सदा मौनव्रत धारण करते थे इसलिये विकथाओंका आदर कभी नहीं होता था अर्थात् उनके मुंहसे कभी विकथायें नहीं निकलती थीं, तथा उनका मनरूपी किला बहुत अच्छीतरह सुरक्षित था इसलिये वह इंद्रियोंके द्वारा कभी नहीं तोड़ा गया था ॥ १४० ॥ उनके बडे भारी मनरूपी घरमें ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था और उसी दीपकके द्वारा ध्यान करते समय समस्त पदार्थ प्रकाशमान हो रहे थे। भावार्थ–ज्ञानके द्वारा वे समस्त पदार्थ जानते थे ॥ १४१ ॥ वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंका चिंतवन करते थे इसलिये उन्हें हथेलीपर रक्खे हुये आंवलेके समान यह समस्त जगत स्पष्ट दिखाई देता था ॥ १४२ ॥ परिषहोंको जीत लेनेसे वे तेजस्वी हो रहे थे, उन्होंने इंद्रियरूपी शत्रुओंको जीतलिया था और कषायरूपी शत्रुओंको नाशकर वे तपश्चरणरूपी राज्यका अनु-

न्वभूत् ॥ १४३ ॥ योगजाश्चर्ययस्तस्य प्रादुरासंस्तपोबलात् । यतोऽस्याविरभूच्छक्तिस्त्रैलोक्यक्षोभणं प्रति ॥ १४४ ॥ चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदोदभूत् । तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमजृंभितः ॥ १४५ ॥ मतिज्ञानसमुत्कर्षात्कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन् । श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तरः ॥ १४६ ॥ परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत् । मनःपर्ययबोधे च संप्रापद्विपुलां मतिम् ॥ १४७ ॥ ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्याभीदातिरेकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥ १४८ ॥ तपनोग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्शितः । स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे दीप्तिमानिव ॥ १४९ ॥ सोऽतप्यत

भव कर रहे थे ॥ १४३ ॥ तपश्चरणके बलसे उनके योगसे उत्पन्न हुई ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रगट हुई थीं, उन्हीं ऋद्धियोंके निमित्तसे उन मुनिराजके जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न कर सके ऐसी शक्ति प्रगट होगई थी ॥ १४४ ॥ उस समय उन मुनिराजके मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चारों ज्ञानोंकी वृद्धि होगई थी ॥ १४५ ॥ मतिज्ञानके बढनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियां प्रगट हुई थीं और श्रुतज्ञानके बढनेसे ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंके जानने तथा उनके निरूपण करनेकी शक्ति बढगई थी ॥ १४६ ॥ अवधिज्ञानमें परमावधिको उलंघनकर सर्वावधिज्ञान [पूर्ण अवधिज्ञान] प्रगट होगया था और मनःपर्ययमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान प्राप्त होगया था ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी विशुद्धि होनेसे तपश्चरणकी अत्यंत विशुद्धि हो गई थी, सो ठीक ही है, क्योंकि बडे भारी वृक्षके खडे होनेके लिये मूलकारण उसकी जड है उसीप्रकार तपश्चरणका मूलकारण ज्ञान ही है ॥ १४८ ॥ समस्त तपश्चरणोंमें मुख्य ऐसे उग्र उग्र अर्थात् महाउग्र तपश्चरणसे वे अत्यंत कृश हो गये थे, और जिसमें दीप्ति ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे दीप्त नामके कठिन तपश्चरणसे वे सूर्यके समान अत्यंत देदीप्यमान हो रहे थे ॥ १४९ ॥ उन्होंने तप्त नामका तपश्चरण [जिससे उत्पन्न हुई ऋद्धिसे मलमूत्रका अभाव हो जाता है] किया था तथा सबसे बडा घोर नामका तपश्चरण [जिसमें

तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत् । तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षाण्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥ तपोभिरक्तैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः । घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान् ॥ १५१ ॥ विक्रियाऽष्टतयी चित्र प्रादुरासीत्तपोबलात् । विक्रिया निखिला हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः ॥ १५२ ॥ प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत्सान्निधिर्जगते हितः । आमर्शक्ष्वेलजल्लाद्यै. प्राणिनामुपकारिण॰ ॥ १५३ ॥ अनाशुषोऽपि तस्यासीद्रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे ॥ १५४ ॥ अक्षीणावसथः सोऽभूत्तथाऽक्षीणमहानसः । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासित ॥ १५५ ॥

पराक्रम बढजाय] भी किया था । इनके सिवाय प्रायश्चित्त विनय आदि अंतरंग तपश्चरण भी अनुक्रमसे खूब बढ गये थे ॥ १५० ॥ इन बडे बडे तपश्चरणोंसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बादलोंकी ओटसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥ १५१ ॥ यद्यपि वे मुनिराज रागद्वेष आदि समस्त विक्रिया अर्थात् विकारोंको छोडकर तीव्र तपश्चरण करते थे तथापि यह आश्चर्यकी बात है कि उन्हें तपश्चरणके प्रभावसे आठ प्रकारकी विक्रिया उत्पन्न होगई थी । भावार्थ—अणिमा महिमा आदि आठ प्रकारकी विक्रियाऋद्धि भी उन्हें प्राप्त हो गई थी ॥ १५२ ॥ उन्हें अनेक औषधिऋद्धियां प्राप्त हुई थीं, इसलिये जगतका कल्याण उनके ही समीप था, अर्थात् उनसे सब जगतका कल्याण होता था, तथा आमर्श क्ष्वेल और जल्ल आदि ऋद्धियोंके द्वारा उनसे अनेक प्राणियोंका उपकार होता था । भावार्थ—उनके पसीना कफ आदि शरीरके मलको स्पर्शकर आई हुई वायुके द्वारा ही प्राणियोंके अनेक रोग चले जाते थे ॥ १५३ ॥ यद्यपि अबतक उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया था तथापि उनकी सामर्थ्यसे ही रस ऋद्धि उत्पन्न हुई थी, तथा इसी प्रकार तपश्चरणके बलसे उत्पन्न हुई बल ऋद्धि भी उनके प्रगट हुई थी ॥ १५४ ॥ अक्षीण महालय तथा अक्षीणमहानस ये ऋद्धियां भी उनके प्राप्त हुई थीं सो ठीक ही है क्योंकि आतिचार रहित अर्थात् पूर्ण रीतिसे पालन किये हुये तपश्चरणसे

निर्द्वंद्ववृत्ति रध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वर' । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदांवर' ॥ १५६ ॥ क्षमामयोत्तमा भेजे पर मार्दवमार्जव ॥ सत्यं शौच तपस्त्यागा-वाकिंचन्य च सयम ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचर्य च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः । योगसिद्धौ परा सिद्धिमामनतीह योगिनः ॥ १५८ ॥ अनित्यात्राणससारै-कत्वाऽन्यत्वान्यशौचता । निर्जरास्रवसरोधलोकस्थित्यनुचिंतन ॥ १५९ ॥ धर्मस्याख्यातता बोधेर्दुलभत्व च लक्षयन् । सोऽनुपेक्षाविधिं दध्यौ विशुद्ध द्वादशात्मक ॥ १६० ॥ आज्ञापायौ विपाक च संस्थान चानुचिंतयन् । स ध्यानमभजद्धर्म्यं कर्मांशान्परिशातयन् ॥ १६१ ॥ दीपिकायामिवामुष्या

अक्षीणफल मिलता ही है ॥ १५५ ॥ विकल्परहित चित्तकीवृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है यही समझकर योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ और विजयी ऐसे उन योगिराजने पहिले मनको जीतकर फिर उसे ध्यानके अभ्यास करनेमें लगाया ॥ १५६ ॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम संयम और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावना हैं अर्थात् इनका स्वरूप चिंतवन करनेसे धर्मध्यान होता है, योगी लोग इस संसारमें ध्यानकी सिद्धि होनेपर ही मोक्ष प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ १५७ ॥ १५८ ॥ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, निर्जरा, आस्रव, संवर, लोकस्थिति धर्मस्वाख्यात और बोधिदुर्लभ इनको विचार पूर्वक चिंतवन करते हुये उन मुनिराजने ये ऊपर लिखी हुई बारह प्रकार-की विशुद्ध अनुप्रेक्षायें धारण की थीं । भावार्थ—आत्माको विशुद्ध करनेवालीं इन बारह भावनाओं-को वे चिंतवन करते थे ॥ १५९ ॥ १६० ॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानवि-चय इन चारों ध्यानोंका चिंतवन करते हुये और कर्मोंके अंशोंको नष्ट करते हुये उन मुनिराजने धर्मध्यान धारण किया था ॥ १६१ ॥ जिस प्रकार दीपकमें चारों ओर काजल दिखाई देता है उसी प्रकार ध्यानरूपी दीपकके प्रज्वलित होनेपर क्षणभर नष्ट हुये कर्मोंके अंश चारों ओर काजल-

ध्यानदीप्तौ निरीक्षिताः । क्षणं विशीर्णाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवाभितः ॥ १६२ ॥ तद्देहदीप्तिप्रसरो दिग्मुखेषु परिस्फुरन् । तद्वनं गारुडग्रावच्छाया-ततमिवातनोत् ॥ १६३ ॥ तत्पदोपातविश्राता विस्रब्धा मृगजातयः । बबाधिरे मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरता श्रितैः ॥ १६४ ॥ विरोधिनोऽप्यमी मुक्तवि-रोधाः स्वैरमासिताः । तस्योपाघ्रीभसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः ॥ १६५ ॥ जरज्जंतुकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका । स्वशावनिर्विशेषं तमापीप्यत्स्तन्यमा-त्मनः ॥ १६६ ॥ करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः ॥ १६७ ॥ कलभान्कलभाकारमुखरान्नखरैः खरैः । कण्ठीरव स्पृशन् कंठे नाभ्यनदि न यूथपैः ॥ १६८ ॥ कारिण्यो बिसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयन् । तद्योगपीठपर्यंतभुवः संमार्जनेच्छया ॥१६९॥

के समान दिखाई पड रहे थे ॥ १६२ ॥ उनके शरीरकी कांतिका फैलाव सब दिशाओंमें प्रकाशमान हो रहा था और उस कांतिके समूहसे वह वन ऐसा जान पडता था मानों मरकत मणियोंकी कांति-से ही भर रहा हो ॥ १६३ ॥ उनके समीप आकर सिंह आदि क्रूर जीव भी शांत हो जाते थे इस लिये ही उनके चरणोंके समीप विश्राम लेते हुये और विश्वास रखनेवाले हरिण आदि पशुओंको शांत हुये सिंह आदि क्रूर पशु भी कभी किसी तरहका दुःख नहीं देते थे ॥ १६४ ॥ उनके चरणोंके समीप हाथी सिंह आदि जाति विरोधी जीव भी अपना अपना वैर छोडकर इच्छानुसार निवास करते थे, और इसतरह वे उन मुनिराजका ऐश्वर्य इस संसारमें प्रगट करते थे ॥१६५॥ हालकी व्यानी हुई (प्रसूता) सिंहनी भैंसेके मस्तकको सूंघकर और उसे अपना बच्चा ही समझकर अपना दूध पिलाती थी ॥ १६६ ॥ हाथी अपने झुंडके साथ साथ सिंहोंके पीछे पीछे जा रहे थे, तथा सिंहके बच्चे दूध पीनेकी इच्छासे हथिनियोंके समीप जा पहुंचे थे ॥ १६७ ॥ बालकपनके मधुर शब्द करते हुये और वाचालित हुये हाथियोंके बच्चोंको सिंह अपने तेज नखोंसे उनकी गर्दनके (गलेके) समीप ही स्पर्श कर रहा था और उससे हाथियोंके समूह बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे ॥ १६८ ॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके समीपकी पृथ्वीको धो डालनेकी इच्छासे ही मानों हथिनियां कमलिनीके पत्तोंका

पुष्करैः पुष्करोदस्तैर्न्यस्तैराधिपदद्वय । स्तंबेरमा मुनिं भेजुरहो शमकरं तपः ॥१७०॥ उपात्रि भोगिना भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः । विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः ॥ १७१ ॥ फणमात्रोद्गता रध्रात्फणिनः सितयोऽद्युतन् । कृता. कुवलयैर्वा मुनेरिव पदान्तिके ॥ १७२ ॥ रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः । मुनिं भजत्यो भक्त्येव पुष्पार्घैर्नतिपूर्वकं ॥ १७३ ॥ शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः । बभुर्वनद्रुमास्तोपान्नृत्तमिव इवासक्तत् ॥ १७४ ॥ कलैरलिरुतोद्गीतैः फणिनो ननृतुः किल । उत्फणा' फणरत्नांशुदीप्तैर्भोगैर्विवर्तितैः ॥ १७५ ॥ पुंस्कोकिलकलालापाडिंडिमानुगतैर्लयैः।

दोना बनाकर उनमें भरभरकर पानी ला रही थीं ॥ १६९ ॥ हाथी अपने सूंडसे उठाकर लाये हुये कमल उन मुनिराजके चरणोंके समीप रखते थे और इसतरह वे उन मुनिराजकी पूजा करते थे। अहा ! तपश्चरण भी कैसी शांति उत्पन्न करनेवाला है ? ॥ १७० ॥ वे मुनिराज अपने पैरोंके समीप आये हुये सर्पोंके काले फणाओंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनकी पूजा करनेके लिये नील कमलोंकी माला ही बनाकर रक्खी हो ॥ १७१ ॥ जिन्होंने वमईके बिलसे केवल फणा ही बाहर निकाले हैं ऐसे सफेद सर्प उन मुनिराजके चरणोंके समीप इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों उनके चरणोंके समीप किसीने सफेद कमलोंका अर्घ ही दिया हो ॥ १७२ ॥ वनकी लतायें खिले हुये फूलोंसे सफेद दिखाई देती हुई और नवी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों पुष्पोंका अर्घ लेकर भक्ति पूर्वक नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥ १७३ ॥ वनके वृक्ष जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और वायुसे जो हिल रही हैं ऐसी शाखाओंकी छोटी छोटी डालियोंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों संतुष्ट होकर वार वार नृत्य ही कर रहे हों ॥ १७४ ॥ जिनके फणा ऊंचे उठ रहे हैं ऐसे वहांके सर्प भ्रमरोंके सुंदर गुंजाररूपी अच्छे गानेके साथ साथ फणाओंपर लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान ऐसे अपने फणाओंको नचा नचाकर नृत्य कर रहे थे ॥ १७५ ॥ मोर कोकिलोंके सुंदर शब्दरूपी डिंडिम बाजेके अनुसार

चक्षुःश्रवस्सु पश्यत्सु तद्द्विषो नटिषुर्मुहुः ॥ १७६ ॥ महिम्ना शमिनः शांतमित्यभूत्तच्च काननं । धत्ते हि महतां योगः शममप्यशमात्मसु ॥ १७७ ॥ शातस्वनैर्नदंति स्म वनांतेऽस्मिन् शकुनयः । घोषयत इवालयत शातमेतत्तपोवन ॥ १७८ ॥ तपोऽनुभावादस्यैवं प्रशातेऽस्मिन्वनाश्रमे । विनिपातः कुतोऽप्यासीत्कस्यापि न कथचन ॥ १७९ ॥ महसाऽस्य तपोयोगजृंभितेन महीयसा । बभूवुर्हृतहृद्ध्वातास्तिर्यंचोऽप्यनभिद्रुहः ॥ १८० ॥ गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थ त मुनीश्वरं । असकृत्पूजयामासुरवतीर्य नभश्चराः ॥ १८१ ॥ महिम्नाऽस्य तपोवीर्यजनितेनालघीयसा । मुहुरासनकपोऽभून्नतमूर्ध्नां सुधाशिना ॥ १८२ ॥ विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । वल्लीरुद्वेष्टयामासुर्मुनेः सर्वांगसगिनी. ॥ १८३ ॥ इत्युपारूढसध्यानबलोद्भूतत-

---

होनेवाले लयके साथ साथ सर्पोंके देखतेहुये भी वार वार नृत्य कर रहे थे ॥ १७६ ॥ इसप्रकार महा शांत ऐसे उन मुनिराजके प्रभावसे वह वन बहुत ही शांत हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंके संयोगसे क्रूर जीवोंमें भी शांति उत्पन्न हो जाती है ॥ १७७ ॥ इस बनमें अनेक पक्षी शांत शब्दोंसे कूज रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों 'यह तपोबन अत्यंत शांत है' इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ १७८ ॥ उन मुनिराजके तपश्चरणके प्रभावसे यह बनका आश्रम ऐसा शांत होगया था कि यहांके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा किसी प्रकारका कुछ उपद्रव (दुःख) नहीं हुआ था ॥ १७९ ॥ तपश्चरणके संबंधसे बढे हुये उन मुनिराजके वडे भारी तेजसे वहांके तिर्यंचोंके भी हृदयका अंधकार सब दूर हो गया था और वे सबतरहसे अहिंसक हो गये थे ॥ १८० ॥ उन मुनिराजके समीप आते ही विहार करते हुये विद्याधर लोगोंकी गति रुक जाती थी और फिर वे उतरकर ध्यानमें लीन हुये उन मुनिराजकी वारवार पूजा करते थे ॥ १८१ ॥ तपश्चरणकी सामर्थ्यसे प्राप्त हुये ऐसे उन मुनिराजके वडे भारी प्रभावसे जिनके मस्तक नवे हुये हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार बार कंपायमान होते थे अर्थात् हिल जाते थे ॥ १८२ ॥ कभी कभी क्रीडाके लिये आई हुई विद्याधरियें उन मुनिराजके समस्त शरीरपर लगी हुई लताओंको हटा

पोवल' । स लेश्याशुद्धिमास्कदन् शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥ १८४ ॥ वत्सरानशनस्याते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षर ॥ १८५ ॥ सक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल । हृद्यस्य हार्दं तेनासीत्तत्पूजाऽपेक्षि केवल ॥ १८६ ॥ केवलार्कोदयात्प्राक्च पश्चाच्च विधिवद्व्यधात् । सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥ १८७ ॥ स्वागःप्रमार्जनार्थेज्या प्राक्तनी भरतेशिनः । पाश्चात्याऽस्यायताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥ १८८ ॥ या कृता भरतेशेन महेज्या स्वानुजन्मनः । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥ १८९ ॥ स्वाजन्यानुगमोऽस्त्येको

जाती थीं ॥ १८३ ॥ इसप्रकार धारण कियेहुये उत्तम ध्यानके बलसे जिन्हें तपश्चरणकी सामर्थ्य उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनिराज लेश्याकी विशुद्धि धारण करतेहुये शुक्लध्यानके सन्मुख हुये, अर्थात् उन्होंने शुक्लध्यान धारण किया ॥ १८४ ॥ उन बाहुबलिने एक वर्षका उपवास धारण किया था सो जिस दिन वह एक वर्षका उपवास पूरा हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की, पूजा करते ही उन मुनिराजके कभी विनाश न होनेवाली ऐसी केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट हुई ॥ १८५ ॥ 'युद्धके समय भरतेश्वरको मुझसे कुछ कष्ट पहुंचा है' इसप्रकारका जो प्रेम बाहुबलिके हृदयमें बैठा हुआ था इसलिये उस केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी। भावार्थ— 'भरतको मुझसे कष्ट पहुंचा है' यह जो प्रेमका शल्य बाहुबलिके हृदयमें था वह भरतके पूजा करते ही निकल गया और उस प्रेमरूप शल्यके निकलते ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया ॥ १८६ ॥ भरतेश्वरने प्रसन्न चित्तसे केवलज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेसे पहिले और पीछे दोनों ही समय उन मुनिराजकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ १८७ ॥ भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले जो पूजा की थी वह अपने अपराध नाश करनेके लिये की थी, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे जो बडी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेका आनंद मनानेके लिये की थी ॥ १८८ ॥ भरतेश्वरने जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबलिकी जो बडी भारी पूजा की थी उसके वर्णन करनेकेलिये भला किसकी सामर्थ्य है? अर्थात् उसे कोई कह भी नहीं सकता ॥१८९॥ प्रथम

धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मांतरानुबंधश्च प्रेमबधोऽतिनिर्भरः ॥ १९० ॥ इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां तु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रिया ॥ १९१ ॥ सामात्यः समहीपालः सातःपुरपुरोहितः । त बाहुबलियोगींद्र प्रणनामाधिराट् मुदा ॥ १९२ ॥ किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्घः स्वर्णदीजल । पाद्य रत्नार्चिर्षो दीपास्तदुलेज्या च मौक्तिकैः ॥ १९३ ॥ हविः पीयूषपिंडेन धूपो देवद्रुमाशकैः । पुष्पार्चा पारिजातादिसुरागसुमनश्चयैः ॥ १९४ ॥ सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां रत्नमयीमित्थ रत्नेशो निरवर्तयत् ॥ १९५ ॥ सुराश्चासनकपेन ज्ञाततत्केवलोद-

---

तो बाहुबलि भरतका छोटा भाई था, दूसरे भरतको धर्मका बहुत अनुराग था, तीसरे उन दोनोंका अनेक जन्मोंसे संबंध चला आ रहा था और चौथे उन दोनोंमें बडा भारी प्रेम था, इन चारोंमेंसे एक एक भी भक्तिकी उत्कृष्टता बढानेवाले हैं, यदि यह सब सामिग्री एक जगह मिल जाय तो फिर उनके लिये कौनसी अच्छी क्रिया नहीं हो सकती? भावार्थ—जहां ये सब कारण इकट्ठे मिलजाते हैं वहां सबतरहकी अच्छी क्रियायें (सत्कर्म) हो सकती हैं ॥ १९०–१९१ ॥ चक्रवर्ती भरतेश्वरने मंत्रियोंके साथ अनेक राजाओंके साथ, रणवासकी समस्त रानी और पुरोहितके साथ प्रसन्न होकर उन मुनिराज बाहुबलिको नमस्कार किया ॥ १९२ ॥ उस पूजाका वर्णन बहुत कहांतक कहा जाय, रत्नोंके स्वामी भरतेश्वरने रत्नोंका अर्घ चढाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढाये थे, मोतियोंसे अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिंडका नैवेद्य चढाया था, मलयागिरि चंदन आदि देवमयी वृक्षोंके टुकडोंसे धूप बनाकर चढाई थी, कल्पवृक्ष आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी पूजा की थी और फलोंकी जगह सब रत्न और सब निधियां चढा दी, थीं इसप्रकार उसने रत्नमयी अर्थात् रत्नोंसे ही सब पूजा की थी ॥ १९३–१९४–१९५ ॥ उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही इंद्र आदि देवोंके आसन कंपायमान हुये, आसन कंपायमान होते ही उन्होंने बाहुबलिका केवलज्ञान होना जान लिया और उसीसमय आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥ १९६ ॥

यां' । चक्रुरस्य परामिज्यां शताध्वरपुरःसराः ॥ १९६ ॥ ववुमंदं स्वरुद्यानतरुधूननचंचवः । तदा सुगंधयो वाता' स्त्रर्धुनीशीकराहराः ॥ १९७ ॥ मद्र पयोमुचा मार्गे दध्वनुश्च सुरानकाः । पुष्पोत्करो दिवोऽपप्तत्कल्पानोकहसभवः ॥ १९८ ॥ रत्नातपत्रमस्योच्चैर्निर्मित सुरशिल्पिभि' । परार्ध्यमाणिनिर्माणमभादिव्य च विष्टर ॥ १९९ ॥ स्वय व्यधूयतास्योच्चैः प्रातयोश्चामरोत्कर' । सभावानिश्च तद्योग्या पप्रथे प्रथितोदया ॥ २०० ॥ सुरैरित्यर्चितः प्राप्तकेवलर्द्धिः स योगिराट् । व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः शशीवोडुभिराश्रित. ॥ २०१ ॥ घातिकर्मक्षयोद्भूतामुद्वहन्परमेष्ठिता । विजहार महीं कृत्स्ना सोऽभिगम्यः सुधाशिना ॥ २०२ ॥ इत्थ स विश्वविद्विश्व प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः । कैलासमचल' प्रापत्पूतं सन्निधिना गुरोः ॥ २०३ ॥ सकलनृपसमाजे

उससमय गंगानदीकी ठंडी बूंदोंको हरण करता हुआ और स्वर्गके वगीचेके वृक्षोंको अर्थात् कल्पवृक्षोंको हिलाता हुआ सुगंध वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ १९७ ॥ देवोंके नगाडे गंभीरतासे आकाशमें बज रहे थे तथा कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये पुष्पोंका समूह आकाशसे पड रहा था ॥ १९८ ॥ भगवान बाहुबलिके ऊपर देवकारीगरोंके द्वारा वनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और वहुमूल्य मणियोंसे बना हुआ दिव्य सिंहासन भी वहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ १९९ ॥ भगवानके दोनों ओर ऊंचा चमरोंका समूह अपने आप ढुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उन केवलीके योग्य सभाकी पृथ्वी अर्थात् गंधकुटी भी वनाई गई थी ॥ २०० ॥ इसप्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है तथा जिन्हें केवलज्ञानरूपी महा ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे मुनिराज भगवान अनेक मुनियोंसे इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों तारे नक्षत्रोंसे विरा हुआ चंद्रमा ही हो ॥ २०१ ॥ घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिन्हें अरहंत परमेष्ठीका पद प्राप्त हुआ है और इसलिये ही सब देव जिनकी आराधना करते हैं ऐसे उन बाहुबालि भगवानने समस्त पृथ्वीपर विहार किया था ॥ २०२ ॥ इसप्रकार समस्त जगतको जाननेवाले अर्थात् सर्वज्ञ भगवान बाहुबलि अपने बचनरूपी अमृतसे [दिव्यध्वनिसे] जगतको संतुष्ट करते हुये अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवके संबंधसे अत्यंत पवित्र ऐसे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुये ॥ २०३ ॥ जिन्होंने समस्त राजाओंकी स-

दृष्टिमल्लांबुयुद्धैर्विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्त्यै । तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद्वः ॥ २०४ ॥ भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या यमिनमभिसरती क्षत्रियाणा समक्षं । चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासीदधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद्दोर्बली वः ॥ २०५ ॥ स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशामवंध्या विदधदधिकधामा सन्निधौ पार्थिवाना । सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्यामभजत यशसे य' सूनुराद्यस्य धातुः ॥ २०६ ॥ जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणा नियुद्धे । भरतनृपतिनाऽमा यस्य नामाक्षराणि स्मृतिपथमुपयाति

भाम दृष्टियुद्ध मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतेश्वरकी सब कीर्ति जीत ली थी तथा जिन्होंनें बडे भारी राज्यके भारको तृणके समान तुच्छ समझकर मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये दीक्षा धारण की थी और जो चरम शरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे वे बाहुबलि भगवान तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०४ ॥ सब क्षत्रियोंके सामने महाराज भरतेश्वरकी विजय लक्ष्मी दैदीप्यमान चक्ररत्नकी मूर्ति धारण कर अर्थात् चक्रके बहानेसेही जिन बाहुबलि स्वामीके समीप आई थी परंतु जिन बाहुबलिने सदाके लिये उसका तिरस्कार कर उसे लज्जित किया था, तथा जिन्होंने अपने पिता श्रीवृषभदेवका मार्ग अर्थात् मुनिमार्ग अथवा मोक्षमार्ग स्वीकार किया था ऐसे वे बाहुबलि भगवान तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०५ ॥ जिन्होंने समस्त राजाओंके सामने सफल हुई ऐसी विजयलक्ष्मीके साथ समागम करनेकी आशा धारण की थी, जो सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगतरूपी घरमें फैल गई थी और जिन्होंने अपने यशके लिये ही तपश्चरण धारण किया था ऐसे वे प्रथम जिनेंद्र श्रीवृषभदेवके पुत्र बाहुबलि भगवान सदा जयशील हो ॥ २०६ ॥ जिनके भुजाओंका बल सब क्षत्रियोंके सामने महाराज भरतके साथ किये हुये मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था और जिनके नामके अक्षर स्मरण करनेसे ही समस्त प्राणियोंको पवित्र कर देते हैं ऐसे वे बाहुबलि भगवान् सदा जयशील

प्राणिवृन्दं पुनंति ॥ २०७ ॥ जयति भुजगवक्त्रोद्वांतानिर्यद्दराग्निः प्रशममसकृदापत्प्राप्य पादौ यदीयौ । सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रोद्ग्रथित-विततवीरुद्वेष्टितो दोर्वलीशः ॥ २०८ ॥ जयति भरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नोपलल्लुलितनखेदुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः । भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्व धृतिन-लक्कलितो यो योगभृन्नेत्र भेजे ॥ २०९ ॥ शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लवमानैः पिहितभुजविटको मूर्धजैर्वेल्लिताग्रैः । जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धेव भूध्रः श्रियमपुपदनूना दोर्वली यः स नोऽव्यात् ॥ २१० ॥ स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीत । वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव । नववनसलिलैर्वैर्यश्च

हों ॥ २०७ ॥ जिनके चरणकमलोंको पाकर सर्पोंके मुंहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषरूपी अग्नि बार बार शांत हो जाती थी, जो समस्त लोकमें पूज्य हैं और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओं-को विद्याधरोंकी स्त्रियां अपने हाथकी उंगलियोंसे हटा देती थीं ऐसे वे बाहुवलि स्वामी सदा जय-शील हों ॥ २०८ ॥ महाराज भरतके बहुत ऊंचे मुकुटपर लगे हुये रत्नोंसे जिनके नखरूपी चंद्रमा बहुत ही सुंदर प्रकाशमान हो रहे थे, जो क्रोधित हुये अनेक सर्पोंके समूहसे भी व्याकुल नहीं हुये थे और जो धैर्य और बलसे शोभायमान थे ऐसे वे आदि ब्रह्मा श्रीआदिनाथके पुत्र बाहुबलि मुनि-राज सदा जयवान हों ॥ २०९ ॥ भ्रमरोंके समूहकी कांतिके समान काले तथा भुजापर्यंत लटकते हुये और जिनके आगेके भाग मुडकर टेढे हो गये हैं ऐसे सिरके बालोंसे जिनकी भुजाओंका अग्रभाग (हाथतक) ढक रहा है और इसलिये जो जिसका ऊपरी भाग अर्थात् मस्तक बादलोंसे ढककर काला हो रहा है ऐसे पर्वतकी पूर्ण शोभाको धारण कर रहे थे ऐसे वे बाहुबलि भगवान हम लो-गोंकी सदा रक्षा करें ॥ २१० ॥ जो बाहुबलि भगवान जाडेके दिनोंमें वर्फसे ढके हुये अपने ऊंचे शरीरको धारण करते हुये पर्वतके समान दिखाई दे रहे थे, जो वर्षाऋतुमें नये बादलोंके जल समूह-से सदा प्रक्षालन किये जाते थे अर्थात् भीगते रहते थे और जो गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी तेज किरणों-को भी सहन करते थे ऐसे वे बाहुबलि सदा विजयी रहें ॥ २११ ॥ जो जगतमें विजयी कहलाते हैं,

धौतोऽब्दकाले खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले विषेहे ॥ २११ ॥ जगति जयिनमेनं योगिन योगिवर्यैरधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः । स्मरति हृदि नितातं यः स शातातरात्मा भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्या ॥ २१२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसग्रहे भुजबलिजलमल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ।

बडे बडे योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं और बडे बडे पूज्य लोग भी जिनको पूज्य मानते हैं ऐसे योगिराज बाहुबलिको जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अंतरात्मा अत्यंत शांत हो जाता है और वह शीघ्र ही जिसे कोई भी जीत नहीं सकता ऐसी जिनेंद्र संबंधी विजयलक्ष्मी अर्थात् मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥ २१२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणकी नवीन हिंदीभाषानुवादमें बाहुबलिका जलयुद्ध मल्लयुद्ध दृष्टियुद्धमे विजय प्राप्त करना, दीक्षा धारण करना और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन करनेवाला यह छत्तीसवां पर्व समाप्त हुआ.

अथ सप्तत्रिंशत्तमं पर्व।

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुर साकेतमुत्केतु प्राविक्षत्परया श्रिया ॥ १ ॥ तत्रास्य नृपशार्दूलैरभिषेकः कृतो मुदा । चातुरंगजयश्रीस्ते प्रथता भुवनेष्विति ॥ २ ॥ तमभ्यार्पिचन्पौराश्च सातःपुरपुरोधसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं क्रियादेव भवानिति ॥ ३ ॥ राज्याभिषिचने भर्तुर्यो

अथ सेंतीसवां पर्व.

अथानंतर—जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे महाराज भरतने बडी विभूति और शोभाके साथ फहराती हुई बडी बडी ध्वजाओंसे शोभायमान ऐसे अयोध्यानगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस संसारमें चारों दिशाओंमें उत्पन्न होनेवाली विजयलक्ष्मी आपके प्राप्त हुई है यही समझकर उस अयोध्या नगरमें बडे बडे राजा लोगोंने हर्षके साथ महाराज भरतका राज्याभिषेक किया ॥ २ ॥ हे देव ! आप दीर्घजीवी होते हुये बहुत दिनतक पृथ्वीका राज्य करें इसप्रकार आ-

विधिर्वृषभेशिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थांबुसंभारादिः कृतो नृपैः ॥ ४ ॥ तथाऽभिषिक्तस्तेनैव विधिनाऽलंकृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥ ५ ॥ तथैव सत्कृता विश्वे पार्थिवाः ससनाभयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दानसंपदा ॥ ६ ॥ तथाऽध्वनन्महाघोषा नांदीघोषा महानकाः। प्रक्षुभ्यदब्धिनिर्घोषो येषां घोषैरधःकृतः ॥ ७ ॥ आनंदिन्यो महाभेर्यस्तथैवाभिहता मुहुः । संगीतविविरारब्धस्तथा प्रमदमंडपे ॥ ८ ॥ मूर्धाभिषिक्तैः प्राप्ताभिषेकस्यास्याजनि द्युतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकींद्रैरादिवेधसः ॥ ९ ॥ गंगासिंधू सरिद्देव्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः । अभ्यौक्षिष्टां तम-

---

शीर्वाद देते हुये अंतःपुर [रणवासके लोग] और पुरोहितोंके साथ साथ नगरनिवासी लोगोंने महाराज भरतका अभिषेक किया ॥ ३ ॥ जो विधि महाराज वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी वह सब अर्थात् तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि सब विधि महाराज भरतके राज्याभिषेकके समय भी राजा लोगोंने की थी ॥ ४ ॥ देवताओंके साथ साथ सब राजा लोगोंने महाराज वृषभदेवके समान ही भरतका अभिषेक किया, उसी प्रकार आभूषण पहनाये और उसीतरह जयघोषणा की ॥ ५ ॥ उसीप्रकार सब राजा लोगोंका तथा भरतके सब कुटुंबी लोगोंका आदरसत्कार किया गया था और उसीप्रकार दानमें बहुत संपत्ति देकर सब लोग संतुष्ट किये गये थे ॥ ६ ॥ जिनकी आवाजने क्षुब्ध हुये महासागरकी आवाज भी नीची कर दी थी ऐसे बडे बडे आवाजके मंगलीक नगाडे उसीप्रकार बजाये गये थे ॥ ७ ॥ उसीप्रकार आनंद महाभेरी बार बार बजाई जा रहीं थीं और आनंद मंडपमें उसीप्रकार गाने बजानेका ठाठ प्रारंभ किया गया था ॥ ८ ॥ जिस समय इंद्र लोगोंने मेरु पर्वतके ऊपर भगवान वृषभदेवका जन्माभिषेक किया था और उस अभिषेकसे उनकी जैसी कांति चकचका रही थी ठीक वैसी ही कांति अनेक गद्दीनशीन राजाओंने जिसका अभिषेक किया है ऐसे भरतकी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥ गंगा सिंधु नदियोंकी अधिदेवता गंगा सिंधू नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भृंगारोंमें भरे हुये अक्षत सहित तीर्थ जलसे भरतका अभिषेक किया

भ्येत्य रत्नभृगारसभृतैः ॥ १० ॥ कृताभिषेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितं । गणबद्धामरा भेजुः प्रणम्रैर्मणिमौलिभिः ॥ ११ ॥ हिमवद्विजयार्धेशौ मागधाद्याश्च देवता । खेचराश्चोभयश्रेण्योस्त नेमुर्नम्रमौलयः ॥ १२ ॥ सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो बभूव नृपसत्तमैः । महता हि मनोवृत्तिर्नोत्सेकपरिरम्भिणी ॥ १३ ॥ चामरैर्वीज्यमानोऽपि न निर्वृतिमगाद्विभुः । भ्रातृष्वसंविभक्ता श्रीरितीहानुशयानुग. ॥ १४ ॥ दोर्बलिभ्रातसवपान्नास्य तेजो विकर्षितं । प्रत्युतोत्कर्षि हेम्नो वा घृष्टस्य निकषोपले ॥ १५ ॥ निष्कंटकमिति प्राप्य साम्राज्य भरताधिपः । बभौ भास्वानिवोद्रिक्तप्रतापः शुद्धमंडलः ॥ १६ ॥ क्षेमैकतानता

था ॥ १० ॥ जिस समय महाराज भरतका अभिषेक समाप्त हो चुका और वे राज्य सिंहासनपर विराजमान हुये उस समय अनेक अंगरक्षक देव अपने मणिमयी मुकुटोंको नवा नवा कर उनकी आराधना वा सेवा कर रहे थे ॥ ११ ॥ हिमवान् और विजयार्द्ध पर्वतके अधीश्वर हिमवान और विजयार्द्ध देव तथा मागध आदि अन्य अनेक देव और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणीके विद्याधर ये सब अपना मस्तक नवाते हुये उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥ १२ ॥ यद्यपि अनेक बडे बडे राजा लोगोंने उनका अभिषेक किया था तथापि उन्हें अहंकार बिलकुल नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति [मनके परिणाम] अहंकारका स्पर्श भी नहीं करती ॥ १३ ॥ यद्यपि उनपर चमर ढुलाये जा रहे थे तथापि वे उनसे कुछ सुखी नहीं हुये थे, क्योंकि मैंने अपनी विभूति भाइयोंको नहीं बांट पाई इसी पछतावेसे वे दुःखी हो रहे थे ॥ १४ ॥ भाई बाहुबलिके मर्दन करनेसे इनका तेज कुछ कम नहीं हुआ था किंतु जिस प्रकार कसोटीपर घिसनेसे सोनेका तेज बढता है उसीप्रकार उस समय भरतका तेज बढ रहा था ॥ १५ ॥ इसप्रकार महाराज भरत निष्कंटक (शत्रुरहित) साम्राज्यको पाकर ऐसे दैदीप्यमान हो रहे थे मानों जिसका मंडल शुद्ध है और जिसका प्रताप बढ रहा है ऐसा सूर्य ही हो ॥ १६ ॥ अप्राप्य वस्तुकी प्राप्ति होना योग है और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम है। योग और क्षेम दोनोंको फैलाते हुये महाराज भरतके राज्यमें

भेजुः प्रजास्तास्मिन्सुराजनि ॥ योगक्षेमौ वितन्वाने मन्वानाः स्वा सनाथता ॥ १७ ॥ यथास्व सांविभज्यामी सम्भुक्ता निधयोऽमुना । संभोगः सँविभागश्च फलमर्थार्जने द्वयं ॥ १८ ॥ रत्नान्यपि यथाकामं निर्विघ्नानि निधीशिना । रत्नानि ननु तान्येव यानि यांत्युपयोगिता ॥ १९ ॥ मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खंडभरताधिपः । राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्घोषितं यशः ॥ २० ॥ नंदनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः । इत्यस्य रोदसी व्याप शुभ्रा कीर्तिरनश्वरी ॥ २१ ॥ कीदृक् परिच्छदस्तस्य विभवश्चक्रवर्तिनः । इति प्रश्नवशादस्य विभवोद्देशकीर्तनं ॥ २२ ॥ गलन्मदजलास्तस्य गजाः सुरगजोपमाः । लक्षाश्चतुरशीतिस्ते रदैर्बद्धैः सुकल्पितैः ॥ २३ ॥ दिव्यरत्नविनिर्माणा रथास्तावंत एव हि । मनोवायुजवाः सूर्यरथप्रस्पर्धिरंहसः ॥ २४ ॥ कोटयोऽष्टा-

---

सब प्रजा आपको सनाथ मान रही थी और सब कुशल मंगलसे रहती थी ॥ १७ ॥ महाराज भरतने अपने पास प्राप्त हुई निधियोंको यथा योग्य रीतिसे विभागकर उनका उपभोग किया सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं उपभोग करना और विभागकर देना ये दो ही द्रव्य कमानेके मुख्य फल हैं ॥ १८ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने अपनी इच्छानुसार रत्नोंका भी उपभोग किया सो ठीक ही है क्योंकि रत्न उन्हें ही कहते हैं जो अपने उपयोग वा काममें आवें ॥ १९ ॥ यह भरतेश्वर छहों खंड भरतका स्वामी है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, मनु है, राजराजेश्वर है, अधिराट् है, और सम्राट् है इसप्रकार उस समय इसका यश गाया जा रहा था ॥ २० ॥ यह भरत महाराज वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सौ पुत्र हैं अर्थात् इसके सौ भाई हैं इसप्रकार उसकी निर्मल और कभी न विनाश होनेवाली कीर्ति पृथ्वी आकाश सब जगह व्याप्त हो रही थी ॥ २१ ॥ उसीसमय उस चक्रवर्तीका परिवार कितना था और विभूति कितनी थी यह प्रश्न राजा श्रेणिकने किया था इसके उत्तरमें गौतमस्वामी उसकी विभूतिका वर्णन करने लगे कि ॥ २२ ॥ महाराज भरतके जिनके गंडस्थलसे मदका जल बह रहा है और अच्छी तरह ढाले हुये वथा वंधे हुये दांतोंसे जो ऐरावत हाथीके समान हैं ऐसे चौरासी लाख हाथी थे ॥ २३ ॥ जिनका वेग सूर्यके रथकी स्पर्धा करनेवाला है अथ-

दशाश्वनां भूजलाम्बरचारिणां । यत्खुराग्राणि धौतानि पूतैस्त्रिपथगाजलैः ॥ २५ ॥ चतुर्भिरधिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषां सुभटसम्मर्दे निरूढ पुरुषव्रतम् ॥ २६ ॥ वज्रास्थिबंधनैर्वज्रैर्वलयैर्वेष्टितं वपुः । वज्रनाराचनिर्भिन्नमभेद्यमभवत्प्रभोः ॥ २७ ॥ समसुप्रविभक्ताग्ं चतुरस्रं सुसहति ! वपुः सुंदरमस्यासीत्संस्थानेनादिना विभोः ॥ २८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायं सचतुःषष्टिलक्षण । रुरुचे व्यजनैस्तस्य निसर्गसुभग वपुः ॥ २९ ॥ शारीरं यच्च यावच्च बलं षट्खडभूभुजा । ततोऽधिकतर तस्य बलमासीद्बलीयसः ॥ ३० ॥ शासन तस्य चक्राकमासिंधोरानिवारित । शिरोभिरूढमारूढविक्रमैः

वा जिनका वेग वायुके समान वा मनके समान है ऐसे दिव्य रत्नोंके बनाये हुये उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥ २४ ॥ जिनके खुरोंकी अगाडीका भाग पवित्र गंगाके जलसे धोये हुये हैं और जो पृथ्वी जल तथा आकाश इन सब जगह चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड घोडे थे ॥ २५ ॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पौरुष प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड पियादे थे ॥ २६ ॥ वज्रमय हड्डियोंके बंधन और वज्रमय वेष्ठनसे वेष्ठित तथा हड्डियोंके संधियोंके कीले भी जिसके वज्रमय हैं ऐसा भरतका शरीर वज्रवृषभनाराच संहननका धारण करनेवाला अभेद्य [जो किसीसे भिद न सके] था ॥ २७ ॥ भरतका शरीर चतुरस्र था, उसके अंग उपांग समान भागोंमें विभक्त थे अर्थात् अंग उपांगोंकी लंबाई चौडाई मुटाई आदि जहां जितनी चाहिये वहां उतनी ही थी, अंगोंकी मिलावट भी अच्छी थी और वह समचतुरस्रनामके पहिले संस्थानसे बहुत ही सुंदर था ॥ २८ ॥ उसके शरीरकी कांति तपाये हुये सूवर्णके समान थी, उसपर अच्छे अच्छे चौंसठ शुभ लक्षण थे वह सहज ही सुंदर और तिल आदि अनेक व्यंजनोंसे बहुत ही देदीप्यमान जान पडता था ॥ २९ ॥ छहों खंडके होनेवाले राजाओंमें जितना कुछ शारीरिक बल था उससे भी अधिक उस बलवान भरतके शरीरमें बल था ॥ ३० ॥ जिसका चक्ररत्न ही चिन्ह है और जिसे कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे समुद्रतक फैले हुये उसके शासनको [आज्ञाको] बडे बडे पराक्रमको धारण

पृथिवीश्वरैः ॥ ३१ ॥ द्वात्रिंशन्मौलिबद्धाना सहस्राणि महीक्षितां । कुलाचलैरिवाद्रीद्रः स रेजे यै. परिष्कृतः ॥ ३२ ॥ तावंत्येव सहस्राणि दशाना. सुनिवेशिना । यैरलकृतमाभाति चक्रभृत्क्षेत्रमायतं ॥ ३३ ॥ कुलजात्यभिसपन्ना देव्यस्तावत्प्रमास्मृताः । रूपलावण्यकातीना याः शुद्धाऽऽकरभूमयः ॥ ३४ ॥ म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावंत्यो नृपवल्लभाः । अप्सर.सकथा' क्षोणीं यकाभिरवतारिताः ॥ ३५ ॥ अवरुद्धाश्च तावत्यस्तन्व्यः कोमलविग्रहाः । मदनोद्दीपनैर्यासा दृष्टिबाणैर्जित जगत् ॥ ३६ ॥ नखाशुकुसुमोद्भेदैरारक्तैः पाणिपल्लवैः । तास्तन्व्यो भुजशाखाभिर्भेजुः कल्पलताश्रिय ॥ ३७ ॥ स्तना-

---

करनेवाले अनेक राजा लोग शिरपर धारण करते थे ॥ ३१ ॥ उसके सेवक बत्तीसहजार मुकुटबद्ध राजा थे जो कि कुलाचलोंके समान जान पडते थे, उन कुलाचलोंके समान राजाओंसे वेष्ठित [घिरा हुआ] वह भरत ठीक सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होता था ॥ ३२ ॥ उस भरतके राज्यमें बत्तीस हजार ही बहुत सुंदर बने हुये देश थे उनसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लंबा चौडा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ ३३ ॥ उसके बत्तीस हजार देवियां वा रानियां थीं जो कि ऊंच कुल और अच्छी जातिसे सुशोभित थीं और जो रूप, लावण्य, तथा कांतिकी शुद्ध खानिके समान जान पडती थीं ॥ ३४ ॥ इनके सिवाय म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रिय रानियां और थीं, जिन्होंने अप्सराओंकी कथाओंको पृथ्वीपर उतार लिया था अर्थात् जिन्हें देखदेखकर लोग अप्सराओंकी कथायें कहा करते थे ॥ ३५ ॥ इसी प्रकार कोमल शरीरको धारण करनेवालीं बत्तीस हजार विद्याधरियें भी उसकी प्रिय रानियां थी और वे ऐसी थीं कि कामदेवको उद्दीपन करनेवाले उनके कटाक्षरूपी बाणोंसे यह समस्त संसार जीता गया था ॥ ३६ ॥ वे छ्यानबे हजार रानियां अपने नखोंकी किरणें रूपी फूलोंके खिलनेसे, गुलाबी रंगकी हथेलीरूपी नये कोमल पत्तोंसे और भुजायेंरूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभाको धारण करती थीं ॥ ३७ ॥ कामदेवके निवास करनेकी स्थानभूत वे रानियां स्तनरूपी कमलकी कलियोंसे, और प्रफुल्लित हुये मुखरूपी

ञ्जकुड्मलैरास्यपंकजैश्च विकासिभिः । अब्जिन्य इव ता रेजुर्मदनावासभूमिका ॥ ३८ ॥ मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । यदावेशवशादेष दशा प्राप्तोऽतिवर्तिनी ॥ ३९ ॥ शके निशानपाषाणान्नखानासा मनोभुवः । यत्रोपारूढतैक्ष्ण्यैः स्वैरविध्यत्कामिनः शरैः ॥ ४० ॥ सत्यं महेषुधी जंघे तासा मदनधन्विनः । कामस्यारोहनिःश्रेणीस्थानीयावूरुदंडकौ ॥ ४१ ॥ कटी कुटी मनोजस्य कांचीसालकृतावृतिः । नाभिरासां गभीरैका कूपिका चित्तजन्मनः ॥ ४२ ॥ मनोभुवोऽतिवृद्धस्य मन्येऽवष्टभयष्टिका । रोमराजिः स्तनौ चासां कामरत्नकरंडकौ ॥ ४३ ॥ कामपाशायतौ बाहू शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्योच्छ्वसितं कंठः सुकंठीनां मनोहरः ॥ ४४ ॥ मुखं रतिसुखागारप्रमुखं मुखबंधनं । वैराग्यरससगस्य तासां च रदन-

---

कमलोंसे ठीक कमलकी बेलके समान सुशोभित होती थीं ॥ ३८ ॥ ग्रंथकर्ता कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन रानियोंके शरीर कामदेवरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे, क्योंकि उनके आवेशके वशसे ही [अर्थात् उन रानियोंके शरीररूपी पिशाचोंके पात्रोंके शरीरमें प्रवेश करनेसे ही] यह चक्रवर्ती इतनी विशाल वा अलंघनीय अवस्थाको प्राप्त होगया है ॥ ३९ ॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उनके नख शस्त्र पैने करनेकी सिली वा शाण थे क्योंकि कामदेव उन्हींपर रखकर अपने बाण पैने (तीक्ष्ण) किया करता है और फिर उनसे कामीलोगोंपर प्रहार किया करता है ॥ ४० ॥ तथा यह बात भी सत्य है कि उनकी दोनों जंघायें कामदेवरूपी धनुर्धारीके तरकस थे और ऊरू दंड (जंघाके ऊपरी भाग) कामदेवके चढनेके लिये नसेनीके समान थे ॥ ४१ ॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवके गहरे कूएके समान थी ॥ ४२ ॥ मुझे ऐसा जान पडता है कि उनकी रोमराजि [नाभिके पासकी बालोंकी रेखा] अत्यंत वृद्ध हुये [बढे हुये] कामदेवके सहारेकी लकडी थी और दोनों स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥ ४३ ॥ सरसोंके फूलके समान कोमल ऐसी उनकी दोनों भुजायें कामदेवके पाश वा जालके समान थीं और अच्छे कंठवाली उन देवियोंका मनोहर कंठ कामदेवके जीवितके समान था ॥ ४४ ॥ उनका मुख सुरतसुखरूपी मंदिरका

च्छदः ॥ ४५ ॥ दृग्विलासाः शरास्तासां कर्णांतो लक्ष्यतां गतौ । भ्रूवल्लरी धनुर्यष्टिर्जिगीषोः पुष्पधन्विनः ॥ ४६ ॥ ललाटाभोगमेतासां मन्ये बाह्यालिकास्थलं । अनंगनृपतेरिष्टभोगकंदुकचारिणः ॥ ४७ ॥ अलकाः कामकृष्णाहेः शिशवः परिपुंजिताः । कुंचिताः केशवल्लर्यो मदनस्येव वागुराः ॥ ४८ ॥ इत्यनंगमयीं सृष्टिं तन्वानाः स्वांगसंगिनीं । मनोऽस्य जगृहुः कांताः कांतैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥ ४९ ॥ तासां मृदुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मनैः ॥ ५० ॥ स्मितेष्वासां दरोद्भिन्नो हसितेषु विकस्वरः । फलिनः परिरंभेषु रसिकोऽभूद्रतद्रुमः ॥ ५१ ॥ भ्रू-

---

प्रधान दरवाजा था और उनके ओठ वैराग्य रसकी प्राप्तिके मुखबंधन अर्थात् द्वारबंद करनेवाले परदेके समान थे ॥ ४५ ॥ उनके नेत्रोंके कटाक्ष बाणोंके समान थे, कानके अंतिम भाग उन बाणोंके निशानोंके समान थे और उनकी भोंहरूपी लतायें (समस्त संसारको) जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके धनुषकी लकडीके समान थीं ॥ ४६ ॥ उनके ललाटका विस्तार ऐसा जान पडता था मानों इष्टभोग (इच्छानुसार भोग) रूपी गेंदसे खेलनेवाले ऐसे कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मैदान ही हो ॥ ४७ ॥ उनके टेढे केश [घूंघरवाले बाल] ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी काले सर्पके छोटे छोटे बच्चे ही एक जगह इकट्ठे हो गये हों और कुछ कुछ टेढे हुये केश ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवकी कामीरूपी हिरणोंके पकडनेकी रस्सी ही हो ॥ ४८ ॥ इसप्रकार अपने शरीरके साथ होनेवाली समस्त रचनाको कामदेवमयी ही प्रकाश करती हुई वे छ्यानबे हजार रानियां अपनी मनोहर कामकी चेष्टाओंसे इस भरत चक्रवर्तीका मन हरण करती थीं ॥ ४९ ॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमसे भरी हुई सरस दृष्टिसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इस चक्रवर्तीको बहुत ही संतोष होता था ॥ ५० ॥ सुरतरूपी वृक्ष इनके मंद मंद हंसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हंसनेपर पूर्ण रूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर उसपर फल लग आते थे, इसप्रकार वह बहुत ही रसिक जान पडता था ॥ ५१ ॥ भोहोंके चलानेरूप गोफनोंमें

क्षेपयंत्रपाषाणैर्दृक्क्षेपक्षेपणीकृतैः । बहुदुर्गरणस्तासा स्मरोऽभूत्सकचग्रहः ॥ ५२ ॥ खरः प्रणयगर्भेषु कोपेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु मुग्ध. प्रणयकैतवे ॥ ५३ ॥ निर्दयः परिरम्भेषु सानुज्ञानो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु समूढः पटु' करणचेष्टिते ॥ ५४ ॥ सकल्पेष्वाहितोत्कर्षो मदः प्रत्यग्रसगमे । प्रारभे रसिको दीप्तः प्राते करुणकातरः ॥ ५५ ॥ इत्युच्चावचता भेजे तासा दीप्तः स मन्मथः । प्रायो भिन्नरसः कामः कामिना हृदयगमः ॥ ५६ ॥ प्रकाममधुरानित्थ कामान् कामातिरेकिणः । स ताभिर्निर्विशन् रेमे वपुष्मानिव मन्मथः ॥ ५७ ॥ ताश्च तच्चित्तहारिण्यस्त-

---

फेंके हुये. पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी रस्सियोंसे वनाये हुये यंत्रोंके द्वारा उन स्त्रियोंका अनेक तरहसे किलेबंदीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबका बाल पकडनेवाला था ॥ ५२ ॥ कामदेव इनके प्रेमसे भरे हुये क्रोधके समय कठिन हो जाता था, पतिके द्वारा प्रार्थना करने वा मनानेके समय कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करते समय उदासीन, प्रेमसे कपट करते समय अनजान वा अज्ञानी, आलिंगन करतेसमय निर्दय, चुंबन करनेके लिये मुख देते समय अपनी संमति प्रकाश करनेवाला, स्वीकार करते समय विचारशून्य, हाव भाव विलास आदि इंद्रियोंकी चेष्टा करते समय अत्यंत चतुर, किसी संकल्पके करतेसमय प्रशंसाको प्राप्त होनेवाला, नवीन समागम करतेसमय अत्यंत मंद, संभोग प्रारंभ करते समय अत्यंत रसिक और सुरतक्रीडाके अंतमें करुणासे कातर वा दीन हो जाता था इसप्रकार उन रानियोंका अत्यंत प्रज्वलित हुआ कामदेव प्रसंगानुसार ऊंची नीची अवस्थाको प्राप्त होता था, सो ठीक ही है क्योंकि यह कामदेव प्रायः जुदे जुदे रसोंसे भरा हुआ ही कामीलोगोंको मनोहर जान पडता है ॥ ५३–५४–५५–५६ ॥ इसप्रकार बह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यंत मधुर वा संतोष उत्पन्न करनेवाले और इच्छासे भी अधिक वा मनोरथोंकी वृद्धि करनेवाले भोगोंको भोगता हुआ मूर्ति वा शरीरको धारण करनेवाले साक्षात् कामदेवके समान क्रीडा करता था ॥ ५७ ॥ भरतके चित्तको हरण करनेवालीं और प्रेमसे भरी हुई लक्ष्मीके समान सुंदर वे युवती स्त्रियां सुरत क्रीडास-

रुण्यः प्रणयोध्दुराः । वभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव रत्युत्सवे श्रियः ॥ ५८ ॥ नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्प्रमितानि वै । सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः ॥ ५९ ॥ द्वासप्ततिः सहस्राणि पुरामिंद्रपुराश्रिया । स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको यैरलंकृतः ॥ ६० ॥ ग्रामकोट्यश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रमाः । नंदनोद्देशजित्वर्यो यासामारामभूमयः ॥ ६१ ॥ द्रोणामुखसहस्राणि नवतिर्नव चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनां अधिष्टानानि यानि वै ॥ ६२ ॥ पत्तनाना सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवाभाति येषामुद्वा वणिक्पथाः ॥ ६३ ॥ षोडशैव सहस्राणि खेटाना परिमा मता । प्राकारगोपुराट्टालखातवप्रादिशोभिना ॥ ६४ ॥ भवेयुरतरद्वीपाः षट्पंचाशत्प्रमा मिताः । कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः ॥ ६५ ॥ सँवाहाना

मयमें ऐसी जान पडती थीं मानों समस्त साम्राज्य उन्हें ही प्राप्त हुआ हो ॥ ५८ ॥ भरतकी विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि सुंदर भेषसे बहुत ही मनोहर जान पडते थे और जिनमें सदा गाना बजाना होता रहता था ॥ ५९ ॥ इंद्रकी नगरीकीसी शोभा धारण करनेवाले बहत्तर हजार ऐसे नगर थे कि जिनसे सुशोभित हुआ यह मनुष्यलोक ठीक स्वर्गलोकके समान सुंदर जान पडता था ॥ ६० ॥ उस चक्रवर्तीके जिनके बगीचोंकी शोभा नंदनवनको भी जीत रही थी ऐसे छ्यानबे करोड गांव थे ॥ ६१ ॥ जो धन धान्य आदि समृद्धियोंके मुख्य स्थान थे ऐसे निन्यानबे हजार द्रोण मुख वा समुद्रके समीपवर्ती प्रदेश (बंदर) थे ॥ ६२ ॥ जहांके प्रशंसनीय बाजार रत्नाकर (रत्नोंसे भरे हुये समुद्रके समान) के समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अडतालीस हजार पत्तन (जहां रत्नोंकी खानियां हों) थे ॥ ६३ ॥ जिनके कोट, कोटके बडे बडे दरवाजे, अटारियां, खाइयां और परकोटाओंसे अत्यंत शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट [एक ओर पहाड और दूसरी ओर नदियोंसे घिरे हुये शहर] थे ॥ ६४ ॥ जो समुद्रके बीचमें बहुत लंबे चौडे और कुभोगभूमिया मनुष्योंसे भरे हुये थे ऐसे छप्पन अंतरद्वीप थे ॥ ६५ ॥ जो लोगोंके सबतरहके योग क्षेमके भेद उपभेद आदिको धारण करते थे, और जिनके चारों ओर खाई थी ऐसे चौदह हजार संवाह अर्थात् पर्वतों-

सहस्राणि सखातानि चतुर्दश । वहंति यानि लोकस्य योगक्षेमविधाविधिं ॥ ६६ ॥ स्थालीनां कोटिरेकोक्ता रंधने या नियोजिता । पक्त्री स्थालीविलेयाना तडुलानां महानसे ॥ ६७ ॥ कोटीशतसहस्र स्याद्धलाना कुलियैः समं । कर्मांतकर्षणे यस्य विनियोगो निरंतरः ॥ ६८ ॥ तिस्रोऽस्य वज्रकोट्यः स्युर्गोकुलैः शश्वदाकुलाः । यत्र मथरवाकृष्टास्तिष्ठति स्माध्वगाः क्षण ॥ ६९ ॥ कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः । प्रत्यतवासिनो यत्र न्यवात्सुः कृतसश्रयाः ॥ ७० ॥ दुर्गाटवीसहस्राणि तस्याष्टाविंशतिर्मता । वनधन्वननम्रादिविभागैर्या विभागिताः ॥ ७१ ॥ म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदश संख्यया । रत्नानामुद्भवक्षेत्र यैः समंतादधिष्ठितं ॥ ७२ ॥ कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाडुकाव्हया । पद्ममाणवपिंगाब्जसर्वरत्नपदादिकाः ॥ ७३ ॥ निधयो नव तस्यासन् प्रतीतैरिति नामभिः । यैरय गृहवार्ताया निश्चितोऽभून्निधीश्वरः ॥ ७४ ॥ निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो

पर वसनेवाले शहर थे ॥ ६६ ॥ भोजनशालामें पकानेके लिये जिनमें डालकर चांवल पकाये जाते हैं ऐसे बडे बडे हंडे एक करोड थे ॥ ६७ ॥ धानोंके पकानेपर जो सदा काममें लाये जाते हैं, और जिनके साथ बीजबोनेकी बोनेकी नली लगी हुई है ऐसे एकलाख करोड हल थे ॥ ६८ ॥ जहांपर छाछ चलानेसे होनेवाले शब्दोंको सुनकर पथिक लोग भी थोडी देरके लिये ठहर जाते हैं और जो सदा गायोंसे भरी रहती हैं ऐसी तीन करोड गौशालायें थीं ॥ ६९ ॥ जहांपर म्लेच्छ लोग व्यापारके लिये आकर निवास करते थे ऐसे कुक्षिवास अर्थात् जहां रत्नोंका व्यापार होता है ऐसे स्थानोंकी संख्या पंडित लोगोंने सातसौ बतलाई है ॥ ७० ॥ अट्ठाईस हजार गहन बन थे जो कि बन, निर्जल देश और ऊंचे ऊंचे पर्वतोंके विभागोंमें बटे हुये थे ॥ ७१ ॥ जिनके चारों ओर रत्नोंकी खानें भरी हुई थीं ऐसे अठारह हजार आर्यखंडके म्लेच्छ राजा थे ॥ ७२ ॥ काल, महाकाल, नैस्सर्प, पांडुक, पद्म, माणव, पिंगल, संख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नौ निधियां महाराज भरतके घर थीं कि जिनसे वह निधियोंका स्वामी चक्रवर्ती घरकी जीविकाके लिये बिलकुल चिंता रहित था ॥ ७३–७४ ॥ पुण्यके निधि ऐसे इस भरतके पहिली काल नामकी निधि थी, इस कालनिधिसे

लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहं ॥ ७५ ॥ इंद्रियार्था मनोज्ञा ये वीणावगानकादयः । तान्प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥ ७६ ॥ असिमष्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसपद ॥ यतः शश्वत्प्रसूयते महाकालो निधिः स वै ॥ ७७ ॥ शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यात्प्रभवो निधेः । पाडुकाद्धान्यसंभूतिः षड्सोत्पत्तिरप्यतः ॥ ७८ ॥ पट्टांशुकदुकूलादिवस्त्राणां प्रभवो यत । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाविर्भावितोऽद्युतत् ॥ ७९ ॥ दिव्याभरणभेदानामुद्भवः पिंगलान्निधेः । माणवान्नीतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भव. ॥ ८० ॥ शखात्प्रदक्षिणावर्तात्सौवर्णी सृष्टिमत्सृजन् । स शंखनिधिरुत्प्रेंखद्रुक्म-

लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण शास्त्र आदि शब्दसे काव्य, कोश, अलंकार, तर्क, आदि अनेक प्रकारके शास्त्र निरंतर उत्पन्न होते रहते थे तथा इसी निधिसे वीणा, वांसुरी, नगाडे आदि जो जो इंद्रियोंके मनोज्ञ विषय थे वे भी समयानुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न होते रहते थे ॥ ७५–७६ ॥ दूसरी महाकाल नामकी निधि थी उससे असि मसी अर्थात् तलवार शाही आदि जीविकाके छहों कर्मोंके साधन ऐसे समस्त पदार्थ और संपदायें निरंतर उत्पन्न होती रहती थीं ॥ ७७ ॥ नैसर्प नामकी निधिसे शय्या आसन मकान आदि उत्पन्न होते रहते थे और पांडुक निधिसे समस्त धान्योंकी उत्पत्ति और छहों रसोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥ ७८ ॥ जिससे रेशमी सुती आदि सवतरहके वस्त्र उत्पन्न होते रहते थे और जिसकी भीतरकी कांति पद्मराग मणिके समान थी ऐसी पद्मनामकी निधि भी बहुत सुशोभित होती थी ॥ ७९ ॥ पिंगल नामकी निधिसे अनेक तरहके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र और अनेक तरहके शस्त्र उत्पन्न होते रहते थे ॥ ८० ॥ जिस प्रदक्षिणावर्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न होती थी अर्थात् इच्छानुसार सुवर्ण मिलता था और जिसकी उछलती सुवर्णमय कांतिसे सूर्यकी प्रभा भी लज्जित हो रही थी ऐसी आठवीं शंख नामकी निधि थी ॥ ८१ ॥ जिसमें भरे हुये मणियोंकी कांतिसे इंद्रधनुषकी शोभा प्रगट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, इंद्रनील पद्मराग, वैडूर्य, स्फटिक आदि अनेक

रोचिर्जितार्करुक् ॥ ८१ ॥ सर्वरत्नान्महानीलनीलस्थूलोपलादयः। प्रादुष्यंति मणिच्छायारचितेंद्रायुधत्विषः॥ ८२ ॥ रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीव-विभागतः। क्ष्मात्राणैश्वर्यसभोगसाधनानि चतुर्दश ॥ ८३ ॥ चक्रातपत्रदडासिमणयश्चर्म काकिणी। चमूगृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः॥ ८४॥ चक्रदडासिरत्नानि सच्छत्राण्यायुधालयात्। जातानि मणिचर्मम्या काकिणी श्रीगृहोदरे॥ ८५॥ स्त्रीरत्नगजवाजीना प्रभवो रौप्यशैलतः। रत्नान्यन्यानि साकेताज्जज्ञिरे निधिभिः सम॥ ८६ ॥ निधीना सह रत्नाना गुणान् को नाम वर्णयेत्। यैरावर्जितमूर्जास्वि हृदयं चक्रवर्तिनः॥ ८७॥ भेजे षट्‌ऋतु जानिष्टान् भोगान् पचेद्रियोचितान्। स्त्रीरत्नसारार्थिस्ताद्धि निधान सुखसपदा ॥ ८८॥ कातारत्नमभूत्तस्य सुभद्रेत्यनुपद्रुतं। भाद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव जात्या

तरहके रत्न व मणियां उत्पन्न होती थीं॥ ८२ ॥ इन नौ निधियोंके सिवाय चौदह रत्न थे जिनमें सात सजीव और सात निर्जीव थे, ये सब रत्न पृथ्वीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे॥ ८३ ॥ चक्र, छत्र, दंड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी ये सात निर्जीव रत्न थे और सेना-पति, गृहपति, हाथी, घोडा, स्त्री, तक्ष [सिलावट] और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे॥ ८४ ॥ चक्र, दंड, खडग, और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामें उत्पन्न हुये थे तथा मणि, चर्म और काकि-णी ये तीन श्रीगृहमें उत्पन्न हुये थे॥ ८५॥ स्त्रीरत्न, हाथी और घोडा विजयार्द्ध पर्वतपर उत्पन्न हुये थे और बाकीके सब रत्न नौ निधियोंके साथ साथ अयोध्या नगरमें ही उत्पन्न हुये थे॥ ८६ ॥ जिनके द्वारा आराधन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अत्यंत प्रतापी हो रहा था ऐसी उन नौ निधि और चौदह रत्नोंके गुण भला कौन वर्णन कर सकता है॥ ८७ ॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ साथ छहों ऋतुओंसे उत्पन्न हुये और पंचेंद्रियोंके योग्य ऐसे अनेक इष्ट भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख संपत्तियोंका खजाना है॥ ८८॥ उस चक्रवर्तीके सब रोगादि दोषोंसे रहित ऐसा सुभद्रा नामका स्त्री रत्न था वह सुभद्रा स्वभावसे ही कल्याणरूप थी और जा-तिसे विद्याधरोंके वंशमें उत्पन्न हुई थी॥ ८९ ॥ उस सुभद्राका शरीर सरसोंके फूलके समान कोमल

विद्याधरान्वया ॥ ८९ ॥ शिरीषसुकुमारांगी चंपकच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटलापाटलाधरा ॥ ९० ॥ प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नीलोत्पलदलेक्षणा । सुभ्रूरलिकुलानीलमृदुकुंचितमूर्द्धजा ॥ ९१ ॥ तनूदरी वरारोहा वामोरूर्निबिडस्तनी । मृदुबाहूलता साऽभून्मदनाग्नेरिवारणिः ॥ ९२ ॥ तत्क्रमौ नूपुरामञ्जुगुंजितैर्मुखरीकृतौ । मदनाद्विरदस्येव तेनतुर्जयडिंडिमं ॥ ९३ ॥ निःश्रेणीकृत्य तज्जंघे सदूरुद्वारबंधन । वासगेहास्थयाऽनंगस्तच्छ्रेणीं नूनमासदत् ॥ ९४ ॥ निःसृत्य नाभिवल्मीकात्कामकृष्णभुजंगमः । रोमावलीछलेनास्या ययौ कुचकरंडक ॥ ९५ ॥ निर्मोकमिव कामाहेर्दधानोद्धं स्तनांशु-

---

था, कांति चंपाके फूलके दलके समान थी, निश्वास मौलसिरीके पुष्पके समान सुगंधित था, अधर पाटलके फूलके समान गुलाबी रंगके थे, मुह खिले हुये कमलके समान सुंदर था, नेत्र नील कमलके दलके समान थे, भोहें बहुत सुंदर थीं, भ्रमरोंके समूहके समान काले, कोमल और कुछ कुछ टेढे केश थे, कमर पतली थी, नितंब बहुत सुंदर थे, ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बहुत मनोहर थे, स्तन कठोर थे, और भुजारूपी लतायें कोमल थीं, इसप्रकार वह सुभद्रा कामदेवरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिये अरणिके [जिस लकडीसे अग्नि उत्पन्न होती है] समान थी ॥ ९०—९१—९२ ॥ उसके दोनों चरण नूपुरोंके (बिछुओंके) मनोहर शब्दोंसे वाचालित हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी हाथीके विजयके नगाडे ही बजा रहे हों ॥ ९३ ॥ ऐसा जान पडता था मानों कामदेव अपने निवास करनेके घरपर पहुंचनेकी इच्छासे उस महारानीके दोनों जंघाओंको नसेनी बनाकर उत्तम ऊरू ही (जंघाके ऊपरी भाग) जिनके दरवाजेके बंधन वा खंबे है ऐसे उसके नितंब भागोंपर जा पहुंचा हो ॥ ९४ ॥ उसकी रोमावली ऐसी जान पडती थी मानों उसके बहानेसे कामदेवरूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी वामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारेमें जा घुसा हो ॥ ९५ ॥ वह सुभद्रा कामदेवरूपी सर्पकी काचलीके समान बहुत सुंदर स्तनपरका वस्त्र वा कांचली धारण करती थी और उस कामदेवरूपी सर्पको संतुष्ट करनेके लिये सर्पिणीके समान मुख्य

कं । भुजगीमिव तद्धत्यै सैकामेकावलीमधात् ॥ ९६ ॥ बभ्रे हारलतां कंठलग्नां सा नाभिलंबिनीं । मंत्ररक्षामिवानंगग्रथिता कामदीपिनीं ॥ ९७ ॥ हाराक्रांतस्तनाभोगा सा स्म धत्ते परां श्रियं । सीतेव यमकाद्रिस्पृक्प्रवाहा सरिदुत्तमा ॥ ९८ ॥ बाहू तस्या जितानंगपाशौ लक्ष्मीमुदूहतुः । कामकल्पद्रुमस्येव प्ररोहौ दीप्तभूषणौ ॥ ९९ ॥ रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरेखाभिराततं । जयरेखा इवाबिभ्रदन्यस्त्रीनिर्जयार्जिताः ॥ १०० ॥ सुखमुद्भ्रु तनूदर्यास्तरलापांगमाबभौ । सशरं समहेष्वास जयागारमिवातनोः ॥ १०१ ॥ वक्त्रमस्याः शशांकस्य कांतिं जित्वा स्वशोभया । दधे नु भ्रूपताकांक कर्णा-

---

एकावली नामके हारको धारण करती थी ॥ ९६ ॥ कामदेवको उद्दीपित करनेवाली और नाभितक लटकती हुई ऐसी उसके कंठमें पडी हुई हारलता ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कामदेवने स्वयं बनाया हुआ और मंत्रसे अभिमंत्रण किया हुआ डोरा ही हो ॥ ९७ ॥ जिसके दोनों स्तनोंके मध्यभागका प्रदेश हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इसप्रकारकी उत्तम शोभा धारण करती थी मानों दो यमक पर्वतोंके बीचके भागको स्पर्श करता हुआ जिसका प्रवाह [धारा] जा रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥ ९८ ॥ दैदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित और कामदेवके पाशको (केशबंधन वा चोटी) जीतनेवाली उसकी दोनों भुजायें ऐसी अच्छी शोभा धारण करती थीं मानों कामदेवरूपी कल्पवृक्षके दैदीप्यमान आभूषणोंसहित दो अंकूरे ही हों ॥ ९९ ॥ सूक्ष्म रेखाओंसे भरी हुई उसकी हथेलियां ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों अन्य स्त्रियोंके जीतनेसे जो विजयकी रेखायें इकट्ठी हुई हैं उन्हें ही वह धारण कर रही हो ॥ १०० ॥ जिसकी भोंहें ऊंचेको उठी हुई हैं और जिसमें चंचल कटाक्ष हो रहे हैं इसप्रकारका उस कृशोदरीका मुख ऐसा अच्छा जान पडता था मानों बाण और महाचाप सहित कामदेवकी आयुधशाला ही हो ॥ १०१ ॥ उसका मुख अपनी शोभासे चंद्रमाकी कांतिको जीतता हुआ ऐसा जान पडता था मानों दोनों कानोंके बहानेसे भोंहरूपी पताकाके चिन्ह सहित विजयपत्र ही धारण कर रहा हो ॥ १०२ ॥

भ्या जयपत्रकं ॥ १०२ ॥ हेमपत्राङ्कितौ तस्याः कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्वधूनिर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥ १०३ ॥ कपोलावुज्वलौ तस्या दधतुर्दर्पणश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥ १०४ ॥ मध्येचक्षुरधीराक्ष्या नासिकाऽभान्मुखोन्मुखी । तदामोदमिवाघ्रातुं कृतयत्ना कुतूहलात् ॥ १०५ ॥ कृत्वा श्रोतृपदे कर्णौ तन्नेत्रे विभ्रमैर्मिथः । कृतस्पर्धे इवाऽऽभाता पुष्पवाणे सभापतौ ॥ १०६ ॥ अभूत्कातिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टातसलग्ननीलोत्पलविडंबिनी ॥ १०७ ॥ तस्या विनीलविस्रस्तकबरीबंधबंधुर । केशपाशमनगस्य मन्ये पाशं प्रसा-

---

जिनमें सोनेके पत्र वा कर्णपूर लगे हुये हैं ऐसे उसके दोनों कान ऐसी अच्छी शोभा धारण करते थे मानों उन्होंने देवांगनाओंके जीतनेके लिये हाथमें कागज पत्र ही ले लिये हों ॥ १०३ ॥ उसके दोनों उज्वल कपोल ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने चिंतवन, इच्छा, दीर्घ श्वासोच्छ्वास, कामज्वर, संताप, अप्रीति, मूर्च्छा, उन्माद, प्राणसंदेह और प्राणत्याग इन दश प्रकारकी अपनी नियत अवस्थाओंको देखनेकी इच्छा करनेवाले ऐसे कामदेवके दर्पणकी शोभा धारण की हो ॥१०४॥ जिसके नेत्र चंचल हैं ऐसी उस सुभद्राकी नाक दोनों नेत्रोंके बीचमें मुंहकी ओर अपना मुंह झुकायेहुये ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उसके मुखका सुगंध सूंघनेके लिये कौतूहलसे प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनों नेत्र ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवके सभापतित्वमें दोनों कानोंको गवाही वा साक्षी बनाकर परस्पर एक दूसरेके साथ अपने हाव भाव विलासोंके द्वारा स्पर्धा (ईर्षा) ही कर रहे हों ॥ १०६ ॥ जिसपर काली अलकें (केश) फहरा रहीं हैं ऐसे चकोरके समान सुंदर नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर सुवर्णके पाटपर लटकती हुई नील कमलोंकी मालाके समान बहुत ही सुंदर कांति सुशोभित हो रही थी ॥ १०७ ॥ अत्यंत काले और गुंथी हुई केशोंकी रचनासे सुंदर ऐसे उसके केशपाश (सिरके बालोंका समूह) ऐसा अच्छा जान पडता था मानों फैला हुआ कामदेवका पाश वा जाल ही हो ॥ १०८ ॥ इसप्रकार जिसकी उत्तमता प्रगट है ऐसे उसके रूपको तीनों

रितं ॥ १०८ ॥ इत्यस्या रूपमुद्भूतसौष्ठव त्रिजगज्जयि । मत्वाऽनंगस्तदंगेषु सन्निधानं व्यधात् ध्रुवं ॥ १०९ ॥ तद्रूपालोकनोच्चक्षुस्तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयश्चासकृन्मुख ॥ ११० ॥ तद्गेयकलनिक्वाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलारामे स रेमे सुखनिर्वृतः ॥ १११ ॥ पंच बाणाननंगस्यै वदंत्येतानकुंठितान् । पुष्पेषुसंकथा लोके प्रसिध्यैव गता प्रथा ॥ ११२ ॥ धनुर्लता मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमारतरं स्त्रैण वपुरेवातनोर्धनुः ॥ ११३ ॥ पच बाणाननंगस्य नियच्छति कुतो जडाः । यदेव कामिना हारि तदस्त्रं कामदीपन ॥ ११४ ॥

जगतके जीतनेवाला (अत्यंत सुंदर वा मनोहर) जानकर ही मानों कामदेवने उसके शरीरमें ही अपने रहनेका स्थान बनाया था भावार्थ–काम सदा उसके शरीरमें निवास करता था ॥ १०९ ॥ उसका रूप देखनेके लिये जिसके चक्षु सदा टकटकी लगाये रहते हैं, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिये जिसे सदा उत्कंठा बनी रहती है, जो सदा उसके मुंहकी सुगंध सूंघा करता है, बार बार उसके मुखका आस्वादन किया करता है और उसके गानेके मनोहर शब्दोंके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते हैं ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बडे भारी बगीचेमें सुखसे संतुष्ट होकर क्रीडा किया करता था ॥ ११०–१११ ॥ पंडित लोग जिनका कहीं प्रतिबंध वा रुकावट नहीं होती ऐसे उस सुभद्राका रूप, ओंठोंका रस, मुखकी सुगंध, शरीरका कोमल स्पर्श और मधुर शब्द इन पांचोंको ही कामदेवके बाण वतलाते हैं, संसारमें जो पुष्पोंमें कामदेवके बाण कहनेकी प्रथा चल पडी है वह केवल प्रसिद्धी मात्र है, वास्तविक नहीं है वास्तवमें तो सुभद्राके रूप आदि ही कामदेवके पांच बाण थे ॥ ११२ ॥ कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि कामदेवका धनुष पुष्पोंका है परंतु यह उनकी भूल है वास्तवमें स्त्रियोंका अत्यंत कोमल शरीर ही कामदेवका धनुष है क्योंकि धनुषका जो काम है वह उनका शरीर ही करता है ॥ ११३ ॥ न जाने क्यों मूर्ख लोग कामदेवके पांच बाण वतलाते हैं परंतु यह उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कुछ कामी लोगोंके चित्तको हरण कर-

स्मितमालोकितं हासो जल्पितं मदमन्मनं । कामाङ्गानिदमेवान्यत्कैतवं तस्य पोषकं ॥ ११५ ॥ आरूढयौवनोष्माणौ स्तनावस्या हिमागमे । रोमाञ्चितमस्याङ्गे शिशिरोत्थं निनिन्यतुः ॥ ११६ ॥ हिमानिलैः कुचोत्कम्पमाहितं सा स्तनाश्रमे. । प्रेयस्करतलस्पर्शैरपानिन्येऽङ्कशायिनी ॥ ११७ ॥ साशोककलिका चूतमञ्जरीं कर्णसङ्गिनीं । बभ्रती चम्पकप्रोतैः केशान्तैः माधवश्रियं ॥ ११८ ॥ मधौ मधुमदारक्तनेत्रां मान्स्खलद्गतिं । बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदश्रियं ॥ ११९ ॥ कलैरलिकुलक्वाणैः सान्यपुष्टविकूजितैः । मधुर मधुरम्यर्थैर्नु तुष्टावायं विशाम्पतिं ॥ १२० ॥ कलकंठीकलक्वाण-

---

नेवाला है वही कामको बढानेवाला कामदेवका शस्त्र है । भावार्थ–स्त्रीका रूप ही बाण है पुष्पादि नहीं ॥ ११४ ॥ स्त्रियोंका मंद हास्य, कुछ ढिठाईसे देखना. जोरसे हंसना और कामदेवके आवेशसे जिसमें अक्षर साफ नहीं निकलते ऐसा उनका भाषण ये ही सब कामदेवके अंग वा शस्त्र हैं, इनके सिवाय जो कुछ उनका कपट व्यवहार है वह सब इन्हीं अंगोंको पुष्ट करनेवाला है ॥ ११५ ॥ चढती हुई जवानीके कारण जो गर्म हो रहे हैं ऐसे उस सुभद्राके दोनों स्तन हेमंत ऋतुमें (जाडेमें) जाडेसे उठे हुये भरतके शरीरके रोमांचोंको दूर करते थे ॥ ११६ ॥ भरतकी गोदमें सोनेवाली वह पट्टरानी शीतल वायुके द्वारा उत्पन्न हुई कुचोंकी कपकंपीको क्लेश दूर करनेवाले अपने प्रिय पतिकी हथेलीके स्पर्शसे दूर करती थी ॥ ११७ ॥ अशोक वृक्षकी कलीके साथ साथ कानपर लगी हुई आमकी मंजरीको बांधनेवाली वह सुभद्रा वसंत ऋतुमें चंपाके फूलोंसे गुंथी हुई अपनी चोटीसे बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ११८ ॥ उस वसंत ऋतुमें वह पति भरत मद्यके मदसे जिसके नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं और जिसकी गति कुछ स्खलित हो रही है ऐसी उस पट्टरानीको मूर्तिमान मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानता था ॥ ११९ ॥ वह वसंतऋतु मानों संतुष्ट होकर मनोहर भ्रमरोंके झंकारोंसे तथा कोकिलाओंके शब्दोंसे उस राजा भरतकी बहुत अच्छी स्तुति करता था ॥ १२० ॥ नगाडेके समान कोइलोंके मधुर शब्दोंसे मिले हुये ऐसे भ्रमरोंके झंकार शब्दोंसे ऐसा जान पडता

मूर्च्छितैरलिझंकृतैः । व्यज्यते स्म स्मराकाडावस्कंदो डिंडिमायितैः ॥ १२१ ॥ पुष्पचूतवनोद्गंधिरुत्फुल्लकमलाकरः । पप्रथे सुरभिर्मासः सुरभीकृत दिग्मुखः ॥ १२२ ॥ हृतालिकुलझंकारः संचरन्मलयानिलः । अनगनृपतेरासीद्घोषयन्निव शासन ॥ १२३ ॥ सध्यारुणा कलामिंदोर्मेने लोको जगद्ग्रसः । करालामिव रक्ताक्ता दंष्ट्रां मदनरक्षसः ॥ १२४ ॥ उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तषट्पदे । नानुन्मत्तो जनः कोऽपि मुक्त्वानंगद्रुहो मुनीन् ॥ १२५ ॥ सायोदगाहनिर्णिक्तैरगैस्तुहिनशीतलै. । ग्रीष्मे मदनतापार्तं साऽस्याग निरवापयत् ॥ १२६ ॥ चंदनद्रवसासिक्तसुंदरागलतां

था मानों कामदेवने अकस्मात् ही छापा मारा हो ॥ १२१ ॥ फूले हुये आमके वनोंसे जो अत्यंत सुगंध युक्त है, जिसमें कमलोंके समूह फूल रहे हैं और जिसने समस्त दिशायें सुगंधित कर दी हैं ऐसा वह वसंतका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥ १२२ ॥ जिसमें अनेक भ्रमरोंके झंकारशद्ब मिले हुये हैं ऐसा चारोंओर फिरता हुआ मलयाचल पर्वतका अर्थात् सुगंधित वायु ऐसा जान पडता था मानों महाराज कामदेवकी आज्ञाकी घोषणा ही सब ओर कर रहा हो ॥ १२३ ॥ उस समय संध्याकी ललाईसे कुछ कुछ लाल ऐसी चंद्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानों अत्यंत भयंकर और रक्तसे रंगी हुई ऐसी जगतको निगलनेवाले कामदेवरुपी राक्षसकी डाढ ही हो ॥ १२४ ॥ जिसमें कोइल भी सब उन्मत्त हो जाती हैं और भ्रमर भी सब उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उस वसंत ऋतुमें कामदेवको नाश करनेवाले मुनियोंको छोडकर अन्य कोई मनुष्य ऐसा नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥ १२५ ॥ संध्याकालके समय स्नान करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो वरफके समान शीतल हैं ऐसे अपने सब अंगोंसे वह सुभद्रा गर्मीके दिनोंमें कामदेवके संतापसे पीडित हुये महाराज भरतके शरीरको शांत करती थी ॥ १२६ ॥ वे महाराज भरत जिसकी शरीररूपी सुंदर लतापर घिसे हुये चंदनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको दोनों हाथोंसे गाढ

प्रिया। परिरभ्य दृढं दोर्भ्यां स लेभे गात्रनिर्वृतिं ॥ १२७ ॥ मदनज्वरतापार्तां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहां। स तां निर्वापयामास स्वांगस्पर्शसुखांबुभिः ॥ १२८ ॥ उत्फुल्लमल्लिकामोदवाहिभिर्गन्धवाहिभिः। स सायप्रातिकैर्भेजे धृतिं रतिसुखाहरैः ॥ १२९ ॥ उत्फुल्लपाटलोद्गंधिमल्लिकामालभारिणीं। उपगूह्य प्रिया प्रेम्णा नैदाघीं सोऽनयन्निशां ॥ १३० ॥ सा घनस्तनितव्याजात्तर्जितेव मनोभुवा। भुजोपपीडमाश्लिष्य शिश्ये पत्या तपात्यये ॥ १३१ ॥ नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनां। कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां धृतयेऽभवन् ॥ १३२ ॥ आरूढकालिका पश्यन् बलाकामालभारिणीं। घनालीं पथिकः साश्रुर्दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥ १३३ ॥ धरा रज्जुभिरानद्धा वागुरेव प्रसारिता। रोधाय पथिकेणानां लुब्धकेनेव

आलिंगन कर अपना शरीर शांत करते थे ॥ १२७ ॥ जो कामज्वरके संतापसे दुखी है और फिर ग्रीष्म ऋतुकी तीव्र गर्मी जिसे बिल्कुल सहन नहीं हो सकती ऐसी अपनी उस प्रिया सुभद्राको वह चक्रवर्ती अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाले सुखरूपी जलसे शांत करता था ॥ १२८ ॥ फूली हुई मालतीकी सुगंधको धारण करनेवाला और रतिसमयमें सुख देनेवाला ऐसे सायंकाल और प्रातःकालके वायुके द्वारा उस चक्रवर्तीको बहुत ही संतोष होता था ॥ १२९ ॥ फूले हुये पाटलकी सुगंधयुक्त ऐसी मालतीकी मालाको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगनकर वह चक्रवर्ती बडे प्रेमसे गर्मियोंकी रातें व्यतीत करता था ॥ १३० ॥ गर्मी बीत जानेपर अर्थात् वर्षाऋतुमें बादलोंके गर्जनेके बहानेसे मानों कामदेवने उसका तिरस्कार ही किया हो ऐसी वह सुभद्रा आलिंगन करनेमें जिसकी भुजाओंमें कुछ पीडा हो रही है इसप्रकार पतिके साथ आलिंगन कर सोती थी ॥ १३१ ॥ उस वर्षाऋतुमें वर्षासे पडे हुये नये पानीके खबीले [मैले] पानीके पूर उन्मत्त हुये मयूरोंके शब्द और कदंबके फूलोंसे सुगंधित वायु ये सब कामी लोगोंको संतोष उत्पन्न करते थे ॥ १३२ ॥ जिसपर अत्यंत कालिमा छाई हुई है और क्रौंचपक्षी वा बगुलाओंकी पंक्तिरूपी माला जिसने धारण की है ऐसे बादलोंके समूहको देखते हुये पथिक [मुसाफिर] लोग आंखोंसे आंसू डालते हुये सब दिशाओंको अंधकाररूप मानते थे ॥ १३३ ॥ उस वर्षाऋतुमें जो पानीकी धारा पडती थी उससे ऐसा

हृद्भुवा ॥ १३४ ॥ कृतावधिः प्रियो नागादगाच्च जलदागमः । इत्युदीक्ष्य वनात्काचिद्धृदि शून्याऽभवत्सती ॥ १३५ ॥ विभिंदन् केतकीसूचीस्तत्पासूनाकिरन्मरुत् । पाथाना दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥ १३६ ॥ इत्यभ्यर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥ १३७ ॥ आकृष्टनिचुलामोदं तद्वक्त्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्सगे सोऽनैषीद्वार्षिकी निशां ॥ १३८ ॥ स रेमे शरदारमे विहरन् कांतया समं ॥ वनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगंधिषु ॥ १३९ ॥ स कांतां रमयामास हारज्योत्स्नाचितस्तनीं । शारदीं निर्विशन् ज्योत्स्ना सौधोत्सगेषु

जान पडता था मानों कामदेव रूपी पारधीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिये डोरीके वने हुये जाल ही चारों ओर फैलाये हों ॥ १३४ जो आनेकी अवधि वा मर्यादा कहकर परदेश गया था ऐसा पति समय बीतनेपर भी नहीं आया और यह वर्षाऋतु आगई यह देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने चित्तमें अत्यंत खिन्न हो रही थी ॥ १३५ ॥ केतकीकी बालको प्रफुल्लित करता हुआ और उसकी धूल वा परागको उडाता हुआ वायु ऐसा जान पडता था मानों पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिये ही धूल उडा रहा हो ॥ १३६ ॥ इसप्रकार जब बादल अत्यंत समीप आ जाते थे ऐसे उस वर्षाकालमें वह चक्रवर्ती मनोहर महलमें बार बार अपनी उस प्रियाको प्रसन्न करता था वा उसके साथ क्रीडा करता था ॥ १३७ ॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होनेवाले वेतकी वा कमलोंकी सुगंध खींचकर अपनी ओर कर ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखके सुगंधको सेवन करता हुआ वा सूंघता हुआ वह चक्रवर्ती उस सुभद्रादेवीके स्तनतटके समीप ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥ १३८ ॥ शरदऋतुके प्रारंभमें वह चक्रवर्ती जिनमें नवीन उत्पन्न हुये सप्तछदवृक्षकी सुगंध फैल रही है ऐसे वनोंमें अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥ १३९ ॥ उस शरदऋतुमें राजभवनकी मनोहर ऊंची छतपर शरदऋतुकी चांदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती गलेमें पडे हुये हारकी कांतिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी अपनी प्रियाको प्रसन्न करता था अर्थात् उसके साथ क्रीडा

हारिषु ॥ १४० ॥ सोत्पलां कुब्जकैर्दब्धां मालां चूडांतलंबिनी । वाला पत्युरुरस्यस्य स्थिता संजिघ्रति स्म सा ॥ १४१ ॥ इति सोत्कर्पमेवास्यां प्रथयन्प्रेमनिघ्नता । स रेमे रतिसाद्भूतो भोगागैर्दशधोदितैः ॥ १४२ ॥ सरत्ना निधयो देव्यः पुर शय्यासने चमूः । नाट्य सभाजन भोज्य वाहन चेति तानि वै ॥ १४३ ॥ दशागमिति भोगांगं निर्विशन् स्वाशितभव । सुचिर पालयामास भुवमेकोष्णवारणा ॥ १४४ ॥ पोडशास्य सहस्राणि गणवद्धामराः प्रभो. । ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥ १४५ ॥ क्षितिसार इति ख्यात. प्राकारोऽस्य गृहावृतिः । गोपुर सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्रत्नतोरणं ॥ १४६ ॥ नद्यावर्तो निवेशोऽस्य शिविरस्यालघीयसः ; प्रासादो वैजयताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥ १४७ ॥ दिक्स्वस्तिका सभा

करता था ॥ १४० ॥ इस पतिके वक्षःस्थलपर लेटी हुई वह पट्टरानी कमलोंसहित और मस्तकपर लटकती हुई ऐसी कंचुकियोंके द्वारा वनाई हुई भरतकी मालाको सूंघती थी ॥ १४१ ॥ इसप्रकार इस सुभद्रा देवीमें प्रेमकी परवशता अच्छीतरह प्रगट करता हुआ और रतिसुखके आधीन हुआ वह चक्रवर्ती दशप्रकारके कहे हुये भोगोंके साधनोंसे क्रीडा करता था ॥ १४२ ॥ रत्नोंके साथ नौ निधियां, पटरानियां, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वर्तन भोजन, और सवारी ये दश प्रकारके भोगोपभोगके साधन गिने जाते हैं ॥ १४३ ॥ इसप्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले ऊपर लिखे दश प्रकारके भोगोपभोगोंके साधनोंको स्वीकार करते हुये उस चक्रवर्तीने वहुत दिनतक जिसपर एक छत्र है ऐसी पृथ्वीका पालन किया, भावार्थ--समस्त पृथ्वीका वह एक ही राजा था ॥ १४४ ॥ उस महाराज भरतके सोलह हजार गणवद्ध जातिके व्यंतर देव थे जोकि हाथमें तलवार लेकर निधि, रत्न और चक्रवर्तीकी रक्षा करनेमें नियुक्त थे ॥ १४५ ॥ उस चक्रवर्तीके घरको घेरे हुये क्षितिसार नामका प्रसिद्ध कोट था और जिसपर रत्नोंके तोरण सुशोभित हो रहे हैं ऐसा सर्वतोभद्र नामका गोपुर (नगरका वडा दरवाजा) था ॥ १४६ ॥ उस चक्रवर्तीके बडे बडे डेरे खडे करनेके लिये नंद्यावर्त नामका स्थान था और जिसमें सब ऋतुओंमें सुख मिले ऐसा वैजवंत नामका राजमहल था ॥१४७॥ बहुमूल्य मणियोंसे जिसके दरवाजेकी इधरउधरकी भूमि और दीवाल वनी

भूमिः पराध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चंक्रमणी यष्टिः सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥ १४८ ॥ गिरिकूटकमित्यासीत्सौधं दिगवलोकने । वर्धमानकमित्यन्यत्प्रेक्षागृहमभूद्विभोः ॥ १४९ ॥ धर्मांतोऽस्य महानासीद्धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैर्वर्षावासः प्रभोरभूत् ॥ १५० ॥ पुष्करावर्त्यभिख्यं च हर्म्यमस्य सुधासित । कुवेरकातमित्यासीद्भाडागार यदक्षयं ॥ १५१ ॥ वसुधारकमित्यासीत्कोष्ठागार महाव्यय । जीमूतनामधेयं च मज्जनागारमूर्जित ॥ १५२ ॥ रत्नमालाऽतिरोचिष्णुर्बभूवास्यावतंसिका । देवरम्येति रम्या सा मता दूष्यकुटी पृथु. ॥ १५३ ॥ सिंहवाहिन्यभूच्छय्या सिंहैरूढा भयानकैः । सिंहासनमथोऽस्योच्चैर्गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तर ॥ १५४ ॥ चामराण्युपमामान व्यतल्यानुपमान्यभान् । विजयार्द्धकुमारेण वितीर्णानि निधीशिने ॥ १५५ ॥

हुई है ऐसी दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलते समय हाथमें लेनेके लिये मणियोंकी वनी हुई सुविधि नामकी लकडी वा छडी थी ॥ १४८ ॥ सव दिशायें देखनेकेलिये गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं महाराज भरतके नृत्य देखनेके लिये वर्द्धमान नामकी नृत्यशाला थी ॥ १४९ ॥ उसके घर्मांत (गर्मीको नाश करनेवाला) नामका वडा भारी धारागृह था (जहां गर्मीके दिनोंमें भी पानी बरसा करता था) और वर्षाऋतुमें रहनेके लिये वहुत ऊंचा गृहकूटक नामका राजभवन था ॥ १५० ॥ चूनासे सफेद हुआ ऐसा पुष्करावर्ती नामका चांदनीका महल था और कुवेरकांतनामका भाडांगार था जो कभी खाली नहीं होता था ॥ १५१ ॥ वसुधारक नामका अटूट कोठार था और वहुत सुंदर जीमूत नामका स्नानघर था ॥ १५२ ॥ उस चक्रवर्तीके अवतंसिका नामकी अत्यंत प्रकाशमान रत्नोंकी माला थी तथा वहुत वडा और मनोहर ऐसा देव-रम्य नामका कपडेका वना हुआ तंवू था ॥ १५३ ॥ जिसे भयंकर सिंह धारण कर रहे थे अर्थात् जिसके पाये रत्नमयी सिंहके आकारके थे ऐसी सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और अनुत्तर नामका वहुत ऊंचा सिंहासन था जो कि गुणोंसे भी अनुत्तर अर्थात् सवसे उत्तम था और नाम भी उसका अनुत्तर था ॥ १५४ ॥ जो विजयार्द्धकुमारने निधियोंके स्वामी महाराज भरतकेलिये समर्पण किये थे और

भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणं। परार्ध्यरत्ननिर्माणं जितसूर्यशतप्रभं ॥ १५६ ॥ नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुंडले। जित्वा ये वैद्युतीं दीप्तिं रुरुचाते स्फुरत्त्विषी ॥ १५७ ॥ रत्नांशुजटिलास्तस्य पादुका विषमोचिकाः। परेषां पदसंस्पर्शादमुचन्यो विषमुल्बणं ॥ १५८ ॥ अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राणं प्रभास्वरं। द्विषतां शरनाराचैर्यदभेद्यं महाहवे ॥ १५९ ॥ रथोऽजितंजयो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्वहः। यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासन्ननेकशः ॥ १६० ॥ चडाकाडाशनिप्रख्यज्याघाताऽऽकंपिताखिलं। जितदैत्यामरं तस्य वज्रकाडमभूद्धनुः ॥ १६१ ॥ अमोघपातास्तस्यासन्नमोघाख्या

संसारमें जिनकी अन्य कोई उपमा नहीं है ऐसे अनुपमान नामके चमर वहुत ही सुशोभित होते थे ॥ १५५ ॥ उस चक्रवर्तीके बहुमूल्य रत्नोंसे वना हुआ सैकडों सूर्योंकी प्रभाको जीतनेवाला और अत्यंत दैदीप्यमान ऐसा सूर्यप्रभ नामका छत्र था ॥ १५६ ॥ महाराज भरतके जिनकी कांति वहुत प्रकाशमान है ऐसे विद्युत्प्रभ नामके वहुत सुंदर दो मणिकुंडल बिजलीकी भी कांतिको जीतकर सुशोभित हो रहे थे ॥ १५७ ॥ रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त ऐसी विषमोचिका नामकी भरतकी खडाऊं थी जो कि चक्रवर्तीके सिवाय अन्य किसीके पैरका स्पर्श होनेसे ही तीव्र विप छोडती थी ॥ १५८ ॥ उसके अभेद्य नामका कवच था जो कि बहुत दैदीप्यमान था और जो महायुद्धमें शत्रुओंके तीक्ष्ण बाणोंसे भी टूट नहीं सकता था ॥ १५९ ॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितंजय नामका रथ था जिसमें कि शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक शस्त्र और अनेक दिव्य अस्त्र भरे हुये थे ॥ १६० ॥ अकस्मात् होनेवाले प्रचंड वज्रपातके समान जिसकी डोरीके धक्केसे समस्त संसार कँप जाता था और जो दैत्य देव सबको जीतनेवाला था ऐसा वज्रकांड नामका धनुष उस चक्रवर्तीके था ॥ १६१ ॥ जिनकी मार कभी निष्फल नहीं जाती ऐसे उसके अमोघ नामके महा बाण थे उन्हीं बाणोंके द्वारा वह चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें भी प्रशंसनीय होता

महेष्वः । यैरसाध्यजये चक्री कृतश्लाघो रणागणे, ॥ १६२ ॥ प्रचंडा वज्रतुडाख्या शक्तिरस्यारिखडिनी । वभूव वज्रनिर्माणा श्लाघ्या वज्रिजयेऽपि या ॥ १६३ ॥ कुतः सिंहाटको नाम य. सिंहनखराकुरैः । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदंडाग्रमंडनः ॥ १६४ ॥ तस्यासिपुत्रिका दीप्रा रत्नाऽऽनद्ध-स्फुरत्सरुः । लोहवाहिन्यभून्नाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥ १६५ ॥ कणवोऽस्य मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विपत्कुलकुलक्ष्माध्रदलने योऽशनी-यितः ॥ १६६ ॥ सौनदकाख्यमस्याभूदसिरत्नं स्फुरत्द्युति । यस्मिन्करतलारूढे दोलारूढमिवाखिल ॥ १६७ ॥ प्रादुर्भूतमुख खेट विभोर्भूतमुखांकि-

---

था ॥ १६२ ॥ महाराज भरतके शत्रुको नाश करनेवाली वज्रतुंडा नामकी प्रचंड शक्ति थी जो कि वज्रकी बनी हुई थी और जो इंद्रको जीतनेमें भी प्रशंसनीय थी ॥ १६३ ॥ इसीप्रकार सिंहाटक नामका भाला था जो कि सिंहोंके पैने नाखूनोंके साथ स्पर्द्धा करता था, अर्थात् उनके समान पैना था, जिसकी नोक बहुत तेज थी और जो माणियोंकी बनी हुई लकडीके आगेके भागपर सुशोभित हो रहा था ॥ १६४ ॥ उस चक्रवर्तीके लोहवाहिनी नामकी छुरी थी जो कि अत्यंत दैदीप्यमान थी, रत्नोंकी बनी हुई जिसकी मूठ बहुत ही चमकती थी और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पडती थी ॥ १६५ ॥ मनोवेग नामका कणव जातिका एक विशेष शस्त्र था जो कि विजय लक्ष्मीपर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके समूहरूपी कुलपर्वतोंको नाश करनेके लिये जो वज्रके समान था ॥ १६६ ॥ उस चक्रवर्तीके सौनंदक नामकी तलवार थी, जिसकी कांति अत्यंत प्रकाशमान थी और जिसे हाथमें लेते ही " अब क्या होगा " इसप्रकार समस्त संसार संदेहके झूलेमें पड जाता था ॥ १६७ ॥ उन महाराज भरतके भूतमुख नामका खेट जातिका हथियार था, जिसपर भूतोंके मुखोंके चिन्ह थे और युद्धमें चमकता हुआ जो शस्त्र समस्त शत्रुओंको मृत्युके मुखके समान जान पडता था ॥ १६८ ॥ उस विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्ररत्न था जो कि समस्त दिशाओंमें

त । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां मृत्युमुखायितं ॥ १६८ ॥ चक्ररत्नमभूज्जिष्णोर्दिक्चक्राक्रमणक्षमं । नाम्ना सुदर्शनं दीप्रं यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥ १६९ ॥ प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो दण्डोऽभूच्चक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद्विलकंटकशोधने ॥ १७० ॥ नाम्ना वज्रमयं दिव्यं चर्मरत्नमभूद्विभोः । तद्बल यद्बलाधानान्निस्तीर्णं जलविप्लवात् ॥ १७१ ॥ मणिश्चूडामणिर्नाम चिंतारत्नमनुत्तरं । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरंजितं ॥ १७२ ॥ सा चिंताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाध्वांतविनिर्भेदैकदीपिका ॥ १७३ ॥ चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत्प्रभोः । समरेऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशे यशः ॥ १७४ ॥ बुद्धिसागरनामाऽस्य पुरोधाः पुरुधीरभूत् । धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविके ॥ १७५ ॥ सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना कामवृष्टिरभीष्टदः । व्ययोपव्ययचिंताया नियुक्तो यो निधीशिनः ॥ १७६ ॥ रत्नं स्थपतिरप्यस्य वास्तुविद्यापदात्तधीः । नाम्ना भद्रमुखोऽने-

---

आक्रमण कर सकता था, अत्यंत दैदीप्यमान था और जो शत्रु लोगोंसे देखा भी नहीं जा सकता था ॥ १६९ ॥ तथा उस चक्रवर्तीके बहुत बडा चंडवेग नामका प्रचंड (भयंकर) दंड था कि जिसका नियोग गुफाके कांटे वगैरह शोधनेमें था ॥ १७० ॥ उस महाराजके वज्रमय नामका दिव्य चर्मरत्न था कि जिसके आश्रयसे उसकी सेना पानीके उपद्रवसे बची थी ॥ १७१ ॥ तथा इच्छानुसार फल देनेवाला चूडामणि नामका चिंतामणि रत्न था जिसने कि जगतके चूडामणि ऐसे इस भरतके उत्तम हृदयको भी प्रसन्न किया था ॥ १७२ ॥ अत्यंत दैदीप्यमान ऐसी चिंता जननी नामकी काकिणी थी जो कि विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके अंधकारको दूर करनेके लिये एक अपूर्व दीपकके समान थी ॥ १७३ ॥ उस प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योंमें रत्न था और युद्धमें शत्रुओंके जीतनेसे जिसका यश पृथ्वी आकाश दोनों जगह भर गया था ॥ १७४ ॥ उसके बुद्धिसागर नामका पुरोहित था जिसकी बुद्धि बहुत निर्मल थी, समस्त धर्मक्रियायें जिसके आधीन थीं और जो देवोंके वश करनेमें प्रतिकाररूप था अर्थात् देवोंको वश करने वा जीतनेके उपायोंमें निपुण था ॥ १७५ ॥ कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था जो कि अत्यंत बुद्धिमान था, इच्छानुसार देनेवाला था और निधियोंके स्वामी भरतने जिसे घरका सब जमा खर्च करनेके काममें नियुक्त किया था ॥ १७६ ॥ भद्रमुख नामका शिलावट रत्न

कप्रासादघटने पटुः ॥ १७७ ॥ शैलोदग्रो महानस्य यागहस्ती क्षरन्मदः । भद्रो गिरिवरः शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥ १७८ ॥ पवनस्य जयन्वेगं हयोऽस्य पवनंजयः । विजयार्द्धगुहोत्सग हेलया यो व्यलघयत् ॥ १७९ ॥ प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामक । स्वभावमधुर हृद्य रसायनमिवापरं ॥ १८० ॥ रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलध्यानि विद्विषा ॥ १८१ ॥ आनंदिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशाभवन् । द्विषड्योजनमापूर्य स्वैर्ध्वानैर्याः प्रदध्वनुः ॥ १८२ ॥ आसान्विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरे । गृहकेकिभिरुद्ग्रीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥ १८३ ॥ गंभीरावर्त्तनामानः शखा गंभीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्याब्धिसभवाः ॥ १८४ ॥ कटका रत्ननिर्माणा विभो-

---

था जिसकी बुद्धि मकान बनानेकी विद्याके सब विषयोंको जानती थी और जो अनेक मकानोंके बनानेमें चतुर था ॥ १७७ ॥ विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था जो कि पर्वतके समान ऊंचा था, बहुत बडा था, पूज्य था, जिसके गंडस्थलसे मदकी धारा बहती थी, जो भद्र जातिका था और जिसकी गर्जन बहुत श्रेष्ठ थी ॥ १७८ ॥ उस चक्रवर्तीके पवनंजय नामका घोडा था जो कि वायुके वेगको भी जीतता था और जिसने विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाका द्वार सहज रीतिसे उलंघन किया था ॥ ६७९ ॥ जिसका वर्णन पहिले कर चुके हैं ऐसा सुभद्रा नामका स्त्री रत्न था जो कि स्वभावसे ही मधुर, हृदयको मनोहर और किसी दूसरे रसायनके समान आनंद देनेवाला था ॥ १८० ॥ उस चक्रवर्तीके ये ऊपर लिखे हुये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा करते थे और शत्रु लोग जिन्हें कभी उलंघन नहीं कर सकते थे अर्थात् कोई जिनका तिरस्कार नहीं कर सकता था ॥ १८१ ॥ उस चक्रीके समुद्रकी गर्जनाके समान जिनकी गंभिर आवाज है ऐसी आनंदिनी नामकी बारह भेरी थीं जो अपनी आवाजको बारह योजनतक फैला कर बजा करती थीं ॥ १८२ ॥ इनके सिवाय विजयघोष नामके बारह नगाडे थे जिनकी आवाज घरपरके मयूर ऊंची गर्दनकर आनंदके साथ सुना करते थे ॥ १८३ ॥ तथा गंभीरावर्त नामके चोवीस शंख थे, जिनकी आवाज बहुत गंभीर थी, जो

वीरागदाह्वयाः । रेजुः प्रकोष्ठमावेष्ट्य तडिद्वलयविभ्रमाः ॥ १८५ ॥ पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुत्प्रेङ्खोलितोत्प्रेंखदंशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥ १८६ ॥ महाकल्याणक नाम दिव्याशनमभूद्विभोः । कल्याणांगस्य येनास्य तृप्तिपुष्टी बलान्विते ॥ १८७ ॥ भक्षाश्चामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगंधयः । नान्ये जरयितु शक्ता यान् गरिष्ठरसोत्कटान् ॥ १८८ ॥ स्वाद्य चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वाद सुसंस्कृत । रसायनरस दिव्यं पानक चामृताह्वयम् ॥ १८९ ॥ पुण्यकल्पतरोरासन्फलान्येतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपभोग्यानि भोगागान्यतुलानि वै ॥ १९० ॥ पुण्याद्विना कुतस्ताद्रू-

शुभ थे और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुये थे ॥ १८४ ॥ उस प्रभुके वीरांगद नामके रत्नोंके बने हुये कडे थे जो कि हाथकी कलाईको घेरे हुये सुशोभित थे और बिजलीके कडोंके समान जिनकी चमक थी ॥ १८५ ॥ वायुके झकोरेसे उडते हुये जिनके कपडोंसे आकाशरूपी आंगन भी बुहारकर साफ हो गया था ऐसी पताकायें उसके अडतालीस करोड थीं ॥ १८६ ॥ उस चक्रवर्तीके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था कि जिसके खानेसे कल्याणमय शरीर धारण करनेवाले उस चक्रवर्तीके बलके साथ साथ तृप्ति और पुष्टि होती थी ॥ १८७ ॥ जो अत्यंत रुचिकर, स्वादिष्ट, और सुगंधित हैं जो गरिष्ट (पौष्टिक) रससे भरे हुये अत्यंत उत्कट हैं जिन्हें अन्य कोई नहीं पचा सकता ऐसे अमृतगर्भ नामके भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ थे ॥ १८८ ॥ जिनका स्वाद बहुत मनोहर है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है अर्थात् जो तैयार किये गये हैं ऐसे अमृतकल्प नामके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान सुख देनेवाले रससे भरी हुई अमृत नामकी दिव्य पानक अर्थात् पीनेके चीजें थीं ॥ १८९ ॥ उस चक्रवर्तीके ये सब चीजें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे जो कि अन्य किसीके भोगोपभोगमें नहीं आ सकते थे और संसारमें अद्वितीय थे ॥ १९० ॥ पुण्यके बिना इस संसारमें जो दूसरी जगह कहीं न पाई जाय ऐसी रूपसंपदा कैसे मिल सकती है, पुण्यके बिना जो किसीसे छिद भिद न सके ऐसा शरीरका बंधन भी कहांसे मिल सकता है, पुण्यके बिना अत्यंत

पसंपदनीदृशी । पुण्याद्विना कुतस्तादृगभेद्यं गात्रबधनं ॥ १९१ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृङ्‌निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता । पुण्याद्विना कुतस्तादृगिभाश्वादिपरिच्छदः ॥ १९२ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृगतःपुरमहोदयः । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्दशागो भोगसंभव. ॥ १९३ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृगाज्ञा द्वीपाब्धिलंघिनी । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्जयश्रीर्जित्वरी दिशा ॥ १९४ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद्विना कुतस्तादृगुद्योगो लंघितार्णवः ॥ १९५ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक्प्राभव त्रिजगज्जयि । पुण्याद्विना कुतस्तादृक् नगराजजयोत्सवः ॥ १९६ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक् सत्कारस्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद्विना कुतस्तादृक् सरिद्देव्यभिषेचन ॥ १९७ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्रत्नला-

---

उत्कृष्ट ऐसी निधि और रत्नोंकी ऋद्धियां भी कैसे मिल सकती हैं और विना पुण्यके इसप्रकारके उत्कृष्ट हाथी घोडे आदि सामग्री भी कहांसे मिल सकती है ॥ १९१–१९२ ॥ पुण्यके बिना इस प्रकारके रणवासकी परम शोभा कहां मिल सकती है, पुण्यके बिना इसतरहके दश प्रकारके भोगोपभोगोंका मिलना, कहां ? पुण्यके विना द्वीप और समुद्रोंको उलंघन करनेवाली इसप्रकारकी आज्ञा कहां ? पुण्यके बिना सब दिशाओंको जीतनेवाली इसप्रकारकी जयश्री कहां ? विना पुण्यके देवताओंसे भी नमस्कार करनेवाला इसप्रकारका प्रताप कहां ? और बिना पुण्यके समुद्रको भी उलंघन करनेवाला इसप्रकारका उद्योग भला कहां मिल सकता है ॥ १९३–१९४–१९५ ॥ विना पुण्यके तीनों जगतको जीतनेवाली इसप्रकारकी प्रभुता कहां ? विना पुण्यके हिमवान पर्वतको विजय करनेका इसप्रकारका उत्सव कहां ? विना पुण्यके हिमवान देवके द्वारा किया हुआ इसप्रकारका अधिक सत्कार कहां और विना पुण्यके गंगा सिंधु आदि नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ इसप्रकारका अभिषेक कहां ? ॥ १९६–१९७ ॥ विना पुण्यके इसप्रकारका विजयार्द्ध पर्वतका जीतना कहां ? विना पुण्यके अन्य लोगोंको दुर्लभ इसप्रकारके रत्नोंका लाभ होना कहां ? विना पुण्यके समस्त भारतवर्षसे इसप्रकारका धन मिलना कहां ? और सब दिशाओंके किनारोंको उलंघन करनेवाली इसप्रकारकी कीर्ति

भोऽन्यदुर्लभः ॥ १९८ ॥ पुण्याद्विना कुतस्ताद्दगायतिर्भरतेऽखिले । पुण्याद्विना कुतस्तादृक्कीर्तिर्दिक्तटलंघिनी ॥ १९९ ॥ ततः पुण्योदयाद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रिय । चिनुध्व भो बुधाः पुण्य यत्पुण्य सुखसपदा ॥ २०० ॥ इत्याविष्कृतसपदो विजयिनस्तस्याखिलक्ष्माभृता । स्फीतामप्रतिशासना प्रथयतः षट्खडराज्यश्रिय । कालोऽनल्पतरोऽप्यगात्क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदयादुद्भूतैः प्रमदावहैः षट्ऋतुजैर्भोगैरतिस्वादुभिः ॥ २०१ ॥ नानारत्ननिधानदेशविलसत्सपात्तिगुर्वीमिमा साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां कृत्वाऽखिला पालयन् । योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाकास्थिता सोऽय चक्रधरोऽभुनक् भुवममूमेकातपत्रां चिरं ॥ २०२ ॥ यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खंडभूपा मही येनासेतुहिमाद्रि राक्षितमिद क्षेत्र कृतारिक्षयं । यस्याविर्निधिरत्नसंप-

---

कहां ? ॥ १९८-१९९ ॥ इसलिये चक्रवर्तीकी समस्त लक्ष्मीको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर भो पंडित जनो ! जो पुण्य सुख और संपदाओंको देनेवाला दुकानके समान है ऐसे पुण्यको इकट्ठा करो, संचय करो ॥ २०० ॥ इस प्रकार जिसने अपनी संपत्ति प्रगट की है, समस्त राजा लोग जिसने जीत लिये हैं और अत्यंत उत्कृष्ट जिसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चल नहीं सकती ऐसी छहों खंडकी राज्यलक्ष्मी जिसने फैलाई है ऐसे उस भरतका बहुत बडा समय भी पूर्व जन्ममें किये हुये पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुये सबतरहका आनंद देनेवाले और अत्यंत स्वादिष्ट ऐसे छहों ऋतुओंमें उत्पन्न हुये भोगोपभोगोंके द्वारा एक क्षणके समान व्यतीत हो गया था ॥ २०१ ॥ अनेक रत्न, निधियां, और देश आदिके द्वारा प्रगट हुई संपत्तिसे जो अत्यंत महत्वको प्राप्त हुई है ऐसी समस्त साम्राज्य लक्ष्मीको एक अपने ही साथ उपभोग करने योग्य बनाकर और उसका पालन करता हुआ वह भरत गोदमें बैठी हुई एक कुलस्त्रीके समान उस लक्ष्मीका सेवन करता हुआ कभी व्याकुल नहीं हुआ था. सो वह चक्रवर्ती जिसपर एकही छत्र लगा है ऐसी इस पृथ्वीका बहुतादिनतक उपभोग करता रहा था ॥ २०२ ॥ जिसके नामसे छह खंडोंसे विभूषित यह पृथ्वी भरतभूमिके नामसे प्रासिद्ध हुई, जिसने दाक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान पर्वततक समस्त क्षेत्रमें शत्रुओंका नाश कर उसका पालन किया, और जिसमें निधि

दुचिता लक्ष्मीरुरःशायिनी स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिभुजामग्रेसरोऽभूत्प्रभुः ॥ २०३ ॥ यः स्तुत्यो जगता त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्ध्ये-यो योगिजनस्य यश्च न तरा ध्याता स्वयं कस्यचित् । यो नंतॄनपि नेतुमुन्नातिमलं नंतव्यपक्षे स्थितः स श्रीमान्जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥ २०४ ॥ य नत्वा पुनरानमंति न पर स्तुत्वा च यं नापर भव्याः संस्तुवते श्रयति न पर यं संश्रिताः श्रेयसे । यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरं स श्रीमान्वृषभो जिनो भवभयात्नस्त्रायता तीर्थकृत् ॥ २०५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतेश्वराभ्युदयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ।

रत्न आदि संपदायें मुख्य हैं ऐसी योग्य लक्ष्मी जिसके वक्षःस्थलपर सोती थी, वह प्रसिद्ध श्रीमान् प्रभु भरतेश्वर निधियोंके स्वामी चक्रवर्तियोंमें मुख्य और प्रथम हुआ था ॥ २०३ ॥ तीनों जगतके लोग जिसकी स्तुति करते हैं परंतु तो भी जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करता, योगी लोग भी जिसका ध्यान करते हैं परंतु तो भी जो स्वयं किसीका ध्यान नहीं करता, जो नमस्कार करनेवालों-को भी उच्चस्थानपर पहुंचा देनेको समर्थ है परंतु जो स्वयं किसीको नमस्कार नहीं करता अर्थात् जो स्वयं सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य ही बना रहता है वह तीनों जगतका गुरु, अत्यंत पवित्र श्रीमान् वृषभदेव भगवान सदा जयशील हो ॥ २०४ ॥ भव्य लोग जिनको नमस्कारकर फिर अन्य किसीको नमस्कार नहीं करते हैं, जिनकी स्तुतिकर फिर अन्य किसीकी स्तुति नहीं करते हैं, जि-नका आश्रय लेकर कल्याणके लिये फिर अन्य किसीका आश्रय नहीं लेते हैं और बुद्धिमान लोग

सबने जिनका आदर किया है ऐसे जिनका आदर सत्कारकर फिर अन्य किसीका आदर सत्कार नहीं करते ऐसे वे प्रसिद्ध श्रीमान् वृषभदेव जिनेंद्र तीथंकर संसारके भयसे हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०५ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभापानुवादमे भरतेश्वरके अभ्युदयका वर्णन करनेवाला यह सेतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।



अथाष्टत्रिंशत्तमं पर्व।

जयन्त्याखिलवाङ्मार्गगामिन्यः सूक्तयोऽर्हतः । धूतांधतमसा दीप्रा यास्त्विषोऽशुमतामिव ॥ १ ॥ स जीयाद्वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥ २ ॥ त नत्वा परमं ज्योतिर्वृषभ वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥ ३ ॥ भरतो भारत वर्षं निर्जित्य सह पार्थिवैः । षष्ठया वर्षसहस्रैस्तु दिशा निववृते जयात् ॥ ४ ॥ कृतकृत्यस्य तस्यांतश्चिंतेयमुदपद्यत । परार्थे सपदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥ ५ ॥ महामहमह कृत्वा जिनेंद्रस्य महोदय । प्रीणयामि जगद्विश्व विष्वक् विश्राणयन् धन ॥ ६ ॥ नानगारा वसून्यस्मत्प्रतिगृह्णंति निः

अथ अडतीसवां पर्व.

अथानंतर–जो अरहंतदेवकी वाणी समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली है और अज्ञानरूपी गाढ अंधकारको नाश करनेवाली सूर्यकी किरणोंके समान देदीप्यमान है वह वाणी सदा जयशील हो ॥ १ ॥ गारुडी विद्याके समान जिसकी विद्याने मोहरूपी विषसे सोते हुये इस समस्त संसारको बहुत शीघ्र जगा दिया वह श्रीवृषभदेव स्वामी सदा विजयी रहे ॥ २ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक मैं उन परम ज्योतिस्वरूप वृषभदेवको नमस्कारकर तथा वर्द्धमान स्वामीको नमस्कारकर अनुक्रमसे द्विजोंकी उत्पत्ति कहता हूं तू सुन ॥ ३ ॥ महाराज भरत अनेक राजाओंके साथ साथ साठ हजार वर्षतक इस भारतवर्षको जीतकर फिर दिग्विजयसे लौटे ॥ ४ ॥ जब वे और और सब काम कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिंता उत्पन्न हुई कि यह मेरा धन दूसरेके उपकार करनेमें किस तरह काम आवे ? ॥ ५ ॥ मैं श्रीजिनेंद्रदेवका महोदय (अत्यंत प्रभावशाली) महामह नामका यज्ञ करके इस समस्त संसारको अपना समस्त धन दान देकर संतुष्ट करूं ॥ ६ ॥ जो मुनि हैं वे तो निस्पृह हैं इसलिये हम लोगोंसे धन लेते नहीं है परंतु गृहस्थ ऐसे

स्पृहा:। सागार: कतम: पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥ ७ ॥ अणुव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनां । तर्पणीया हि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनैः ॥ ८ ॥ इति निश्चित्य राजेंद्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । परीचिक्षिषुराह्वास्त तदा सर्वान्महीभुजः ॥ ९ ॥ सदाचारैर्निजैरिष्टैरनुजीविभिरन्विताः । अद्यास्मदुत्सवे यूयमायातेति पृथक् पृथक् ॥ १० ॥ हरितैरंकुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमंगणं । सम्राडचीकरत्तेषां परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥ ११ ॥ तेष्वव्रता विना सगात्प्राविक्षन्नृपमंदिरं । तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वययत्प्रभुः ॥ १२ ॥ ते तु स्वव्रतसिध्यर्थमीहमाना महान्वयाः । नैषुः प्रवेशनं तावद्यावदार्द्रांकुराः पथि ॥ १३ ॥ सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपांगणं । निश्चक्रमुः कृपालुत्वात्केचित्सावद्यभीरवः ॥ १४ ॥ कृतानुबंधना भूयश्चक्रिणः किल

कितने हैं जो धनधान्य आदि संपदा देकर पूजा करने योग्य समझे जाने चाहिये ॥ ७ ॥ जो अणुव्रत धारण करनेवाले हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं ऐसे धीरवीर पुरुष ही इच्छानुसार धन, सवारी आदि देकर हम लोगोंको संतुष्ट करना चाहिये ॥ ८ ॥ इस प्रकार निश्चयकर सबकी परीक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने उससमय जो आदर सत्कारके योग्य थे उनका आदर सत्कार करनेके लिये समस्त राजाओंको बुलाया ॥ ९ ॥ और सबसे कहला भेजा कि तुम लोग अपने अपने सदाचारी इष्टमित्र, और नौकर चाकर आदिके साथ साथ आज हमारे उत्सवमें अलग अलग आओ ॥ १० ॥ इधर महाराज भरतने उन सबकी परीक्षा करनेके लिये अपने घरमें आंगनको हरे अंकूरे, पुष्प, और फलोंसे खूब भर दिया ॥ ११ ॥ जो लोग अव्रती थे वे विना कुछ सोच विचार किये उन्हीं हरे अंकूरोंपर होकर राजाके महलमें घुस गये परंतु भरतने उन सबको एक ओर निकालकर जो लोग नहीं आये थे बाहर खडे थे उन्हें बुलाया ॥ १२ ॥ परंतु बडे बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये और अपने व्रतोंकी सिद्धिके पूर्ण रूपसे चेष्टा करते हुये उन लोगोंने जबतक मार्गमें हरे अंकूरे हैं तबतक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥ १३ ॥ पापोंसे डरनेवाले कितने दयालु लोग जो राजाका आंगन हरे धान्योंसे भरा हुआ था उसे विना उलंघन किये ही वापिस लौटने लगे ॥ १४ ॥ तब

तऽतिकं । प्रासुकेन पथाऽन्येन भेजुः क्रात्वा नृपांगणं ॥ १५ ॥ प्राक्केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषंत च-क्रिण ॥ १६ ॥ प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणं । न कल्पतेऽद्य तज्जाना जतूना नोऽनभिद्रुहा ॥ १७ ॥ सत्येवानतशो जीवा हरितेष्वकुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञ देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥ १८ ॥ तस्मान्नास्माभिराक्रातमद्यत्वे त्वद्गृहागण । कृतोपहारमार्द्राद्रैः फलपुष्पाकुरादिभिः ॥ १९ ॥ इति तद्वचनात्सर्वान् सोऽभिनंद्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतैः ॥ २० ॥ तेषा कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः ।

फिर अत्यंत आग्रह करनेपर दूसरे प्रासुक मार्गसे महाराजके आंगनको उलंघनकर वे लोग चक्रवर्तीके समीप पहुंचे ॥ १५ ॥ तब चक्रवर्तीने उन लोगोंसे पूछा कि आप लोग किस कारणसे पहिले नहीं आये थे और फिर किस कारणसे आये ? इसप्रकार पूछनेपर वे लोग चक्रवर्तीसे कहने लगे ॥ १६ ॥ कि आज पर्वके दिन नये कोमल पत्ते और पुष्पादिकोंका घात नहीं कर सकते और अपना कुछ विगाड न करनेवाले ऐसे उन पत्ते और फूलोंमें उत्पन्न हुये जीवोंका घात भी नहीं कर सकते ॥ १७ ॥ हे देव ! " अंकूरे आदि हरितकायमें निगोदराशिके अनंत जीव रहते है " इसप्रकार सर्वज्ञदेवके वचन हमने सुने हैं ॥ १८ ॥ इसलिये अत्यंत गीले ऐसे फल, पुष्प और अंकूरे आदिसे सुशोभित ऐसा आपके घरका आंगन आज हम लोगोंने नहीं खूंदा अर्थात् उसपर होकर हम लोग नहीं गये ॥ १९ ॥ इसप्रकार उनके बचन सुनकर ऐश्वर्यशाली महाराज भरतने व्रतोंमें दृढ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा की और दान मान आदि आदर सत्कारके द्वारा उनकी पूजा की ॥ २० ॥ पद्मनामकी निधिसे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत वा जनेऊ) नामका सूत्र लेकर उससे एकसे लेकर ग्यारहतक अलग अलग उनके चिन्ह किये ॥ २१ ॥ ग्यारह प्रतिमाओंके भेदसे जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं अर्थात् जिसके पहिली प्रतिमा थी उसने एक यज्ञोपवीत धारण किया, जिसके दूसरी प्रतिमा थी उसने दो, तीसरी प्रतिमावालेने तीन, चौथीवालेने चार इसीक्रमसे जिन्होंने ग्यारहतक यज्ञोपवीत

उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राह्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥ २१ ॥ गुणभूमिकृताद्भेदात्क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कारः क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहिः कृता ॥ २२ ॥ अथ ते कृतसन्मानाश्चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं लोकश्चैनानपूजयत् ॥ २३ ॥ इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥ २४ ॥ कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनं । तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥ २५ ॥ प्रोक्ता पूजाऽर्हतां नित्या सा चतुर्धा सदार्चनं । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥ २६ ॥ तत्र नित्यमहो नाम शश्वत् जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गंधपुष्पाक्षतादिका ॥ २७ ॥ चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनं ॥ २८ ॥ या च पूजा मुनी-

धारण किये हैं ऐसे उन सब लोगोंका चक्रवर्तीने आदर सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन सबको बाहर निकाल दिया ॥ २२ ॥ अथानंतर—चक्रवर्तीने भी जिनका आदर सत्कार किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने अपने व्रतोंमें और भी दृढ हो गये तथा लोग भी इनकी पूजा वा आदर सत्कार करने लगे ॥ २३ ॥ महाराज भरतने उपासकाध्ययन नामके सातवें अंगसे उन व्रती लोगोंके लिये इज्या [पूजा], वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ॥ २४ ॥ अरहंत देवकी पूजा करना, वार्ता, दत्ति, आदि इन व्रती लोगोंका कुलधर्म है यही समझकर उस समय महाराज भरतने अनुक्रमसे इन सबका वर्णन किया ॥ २५ ॥ वह कहने लगा कि भगवान अरहंतदेवकी पूजा नित्य करनी चाहिये, वह पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन अर्थात् नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह और अष्टान्हिकमह ॥ २६ ॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गंध पुष्प अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करना नित्यमह कहलाता है ॥ २७ ॥ अथवा जो भक्तिपूर्वक जिनप्रतिमा अथवा जिनालयका बनवाना और सदा पूजा होनेके लिये दानपत्रकर गांव, खेत आदिका दान देना है वह भी नित्यमह है ॥ २८ ॥ तथा अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोंकी पूजाकर जो नित्य उन्हें दान देना है वह भी नित्यमह समझना

द्राणां नित्यदानानुषंगिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित. ॥ २९ ॥ महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामह । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥ ३० ॥ दत्वा किमिच्छकं दान सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽय जगदाशाप्रपूरणः ॥ ३१ ॥ अष्टाह्निको मह ,सार्वजनिको रूढ एव सः । महानैंद्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो मह' ॥ ३२ ॥ बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसंध्यासेवया सम । उक्तेष्वेव विकल्पेपु ज्ञेयमन्यच्च तादृशं ॥ ३३ ॥ एवविधविधानेन या महेज्या जिनेशिना । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्या वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३४ ॥ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दया पात्रसमान्वये ॥ ३५ ॥ सानुकपमनुग्राह्ये प्राणिवृदेऽभयप्रदा । त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधै. ॥ ३६ ॥

चाहिये ॥ २९ ॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुखयज्ञ कहते हैं इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥ ३० ॥ चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर अर्थात् तुमको क्या चाहिये इसप्रकार पूछ पूछकर मांगनेवालोंकी पूर्ण इच्छानुसार दान देकर जो महायज्ञ करता है जिसमें संसारके सब लोगोंकी सब आशायें पूरी हो जाती हैं उसे कल्पवृक्षयज्ञ कहते हैं ॥ ३१ ॥ चौथा आष्टान्हिक यज्ञ है यह यज्ञ जगतमें प्रसिद्ध है और रूढ है अर्थात् अष्टान्हिकाके दिनोंमें जो विधि पूर्वक पूजा की जाती है उसे आष्टान्हिक यज्ञ कहते हैं इनके सिवाय एक ऐंद्रध्वज महान् यज्ञ है जिसे इंद्र किया करता है ॥ ३२ ॥ इनके सिवाय बलि [भात आदि नैवेद्य चढाना] अभिषेक, तीनों समय सदा पूजन करना, तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब ऊपरके भेदोंमें ही शामिल हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ इसप्रकार विधि पूर्वक जो श्रीजिनेंद्रदेवकी महा पूजा करना है उसे आचार्य लोग इज्या कहते हैं और श्रावकके छह कर्मोंके प्रथम कर्म वा मुख्य कर्तव्य समझते हैं ॥ ३४ ॥ शुद्ध आचरण पूर्वक खेती व्यापार आदि करना वार्ता [आजीविकाके उपाय] कहलाती है, तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समानदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति वा दान कहलाते हैं ॥ ३५ ॥ अनुग्रह करने योग्य ऐसे दीन प्राणियोंपर कृपापूर्वक मन, वचन, कायसे उनके

महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरं । प्रदानमशनादीना पात्रदानं तदिष्यते ॥ ३७ ॥ समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामंत्रव्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जनं ॥ ३८ ॥ समानदत्तिरेषा स्यात्पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्त्या श्रद्धयाऽन्विता ॥ ३९ ॥ आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनये यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनं ॥ ४० ॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात्स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणं ॥ ४१ ॥ विशुद्धा वृत्तिरेवैषा षट्तयीष्टा द्विजन्मना । योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ॥ ४२ ॥ तप. श्रुतं च जातिश्च त्रय ब्राह्मणकारणं । तपःश्रुताभ्या यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ ४३ ॥ अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषा जातिरुत्तमा ॥ दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद्व्रतशुध्या

भय दूर करनेको पंडित लोग दयादत्ति कहते हैं ॥ ३६ ॥ उत्तम तप करनेवाले महातपस्वी मुनियोंके लिये उनका सत्कार पूर्वक पडगाहन पादप्रक्षालन पूजा आदिकर जो उनके लिये आहार, औषध, पुस्तक, पीछी, कमंडलु आदि देना है उसे पात्रदान कहते हैं ॥ ३७ ॥ गर्भाधानादि क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है ऐसे अन्य किसी गृहस्थके लिये जो भूमि सुवर्ण आदि देना है उसे समानदत्ति कहते हैं अथवा मध्यमपात्र अथवा व्रती सत्पात्र श्रावकके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धापूर्वक दान देनेको भी समानदत्ति कहते हैं ॥ ३८--३९ ॥ अपना वंश स्थिर रखनेके लिये अपने पुत्रको समस्त धन और धर्मके साथ अपना कुटुंब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं, श्रुतज्ञानकी भावना करना अर्थात् शास्त्रोंका पढना पढाना चिंतवन करना आदि स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम कहलाता है ॥ ४०--४१ ॥ यह ऊपर लिखी हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति वा शुद्ध आचरण इन द्विज लोगोंके करने योग्य है, जो मूर्ख इनका उलंघन करता है वह केवल नामसे द्विज है गुणसे द्विज नहीं है ॥ ४२ ॥ ब्राह्मणपनेके तीन कारण हैं तप, शास्त्रज्ञान और जाति, जो तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है उसे केवल जातिसे ब्राह्मण समझना चाहिये ॥ ४३ ॥ इन द्विज लोगोंकी जीविका

सुसँस्कृता ॥ ४४ ॥ मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥ ब्राह्मणा व्रतसँस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिज्योऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥ ४६ ॥ तपः श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते । असँस्कृतस्तु यस्ताभ्या जातिमात्रेण स द्विजः ॥ ४७ ॥ द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवल नामधारकः ॥ ४८ ॥ तदेषा जातिसंस्कारं द्रढयन्निति सोऽधिराट् । संप्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥ ४९ ॥ ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥ ५० ॥ गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैव बुधैर्मताः ॥ ५१ ॥ आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भा-

---

पापरहित है और इसलिये ही इनकी जाति उत्तम है तथा दान, पूजन, पठन पाठन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी अच्छे संस्कारोंको प्राप्त हुई है ॥ ४४ ॥ यद्यपि जातिनाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि जीविकाके भेदसे वह भिन्न भिन्न चार प्रकारकी हो गई है ॥ ४५ ॥ व्रतोंके संस्कारोंसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र कहलाते हैं ॥ ४६ ॥ इसलिये द्विज जातिका संस्कार तप और शास्त्रज्ञानसे ही कहा गया है, तप और श्रुतज्ञानसे जिसका संस्कार नहीं हुआ है उसे केवल जातिसे द्विज समझना चाहिये ॥ ४७ ॥ एकवार गर्भसे और दूसरीबार क्रियाओंसे इसप्रकार दो जन्मोंसे जो उत्पन्न हो उसे द्विज कहते हैं, जो क्रिया तथा मंत्रसे रहित है वह केवल नाम धारण करनेवाला द्विज है वास्तविक नहीं ॥ ४८ ॥ इसलिये इन द्विजोंकी जातिके संस्कारोंको दृढ करते हुये महाराज भरत चक्रवर्तीने उन द्विजोंके लिये सब क्रियाओंके भेद कहे ॥ ४९ ॥ वे कहने लगे कि श्रावकाध्यायसंग्रहमें वे क्रियायें तीन प्रकारकी कहीं हैं, सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको वे क्रियायें अवश्य करनी चाहिये क्योंकि वे सब क्रियायें उत्तम फल देनेवाली हैं और शुभ करनेवाली हैं ॥ ५० ॥ गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया, और कर्त्रन्वयक्रिया इसप्रकार

न्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥ ५२ ॥ कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥ ५३ ॥ अंगाना सप्तमादंगादुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलव मया ॥ ५४ ॥ आधान प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्यानानिषद्याः प्राशन तथा ॥ ५५ ॥ व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसख्यानसंग्रहः । उपनीतिर्व्रत चर्या व्रतावतरण तथा ॥ ५६ ॥ विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशांतिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्य जिनरूपता ॥ ५७ ॥ मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥ ५८ ॥ स्वगुरुस्थानसक्रांतिर्निस्संगत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसप्राप्तिर्योगनिर्वाणसाधन ॥ ५९ ॥ इंद्रोपपादाभिषेकौ विधिदान सुखोदयः । इद्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥ ६० ॥ मदरेंद्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलभनं । यौवराज्य स्वराज्य च चक्रलाभो दिशाजयः ॥ ६१॥

विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियायें मानी हैं ॥ ५१ ॥ गर्भान्वयक्रिया आधान आदि (गर्भाधानादि) तिरेपन जानना तथा दीक्षान्वयक्रिया अडतालीस समझना और उन क्रियाओंको जाननेवाले गणधर देवोंने कर्त्रन्वयक्रिया सात कही हैं, आगे उन सब क्रियाओंके नाम अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ५२--५३ ॥ महासागरसे भी अत्यंत अपार ऐसा जो श्रुतज्ञानके बारह अंगोंमें उपासकाध्ययन नामका सातवां अंग है उससे जो कुछ मुझे ज्ञानकी एक बूंद प्राप्त हुई है वह मैं नीचेके आठ श्लोकोंसे प्रगट करता हूं भावार्थ--आठ श्लोकोंमें गर्भान्वय क्रियाओंके नाम कहता हूं ॥ ५४ ॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपिसंख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशांति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृतभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंक्राति, ३० निस्संगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इंद्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इंद्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्ट-

चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रांतिर्योगसम्महः । आर्हंत्य तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥ ६२ ॥ त्रयः पंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यंताः परमागमे ॥ ६३ ॥ अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥ ६४ ॥ इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्तास्ताः स्युर्दीक्षान्वयाक्रियाः ॥ ६५ ॥ तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभि । फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥ ६६ ॥ सज्जातिः सद्‍गृहित्व च पारिव्राज्यं सुरेंद्रता । साम्राज्यं परमार्हंत्य पर निर्वाणमित्यपि ॥ ६७ ॥ स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात्प्रतिलभ्यानि देहिनां ॥ ६८ ॥ क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो वहुभेदो महर्षिभि. । सक्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये संचक्ष्य

जन्मता, ४० मंदरेंद्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलंभन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रांति, ४९ योगसन्मह, ५० आर्हंत्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति। परमागममें गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत ये तिरेपन्न गर्भान्वय क्रियायें मानी गई हैं ॥ ५५–६३ ॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या, और ८ उपयोगिता इन आठ क्रियाओंके साथ साथ चौदहवीं उपनीति क्रियासे लेकर तिरेपनवीं क्रियापर्यंत चालीस क्रियायें अर्थात् चालीस ये और आठ अवतार आदि इसप्रकार अडतालीस दीक्षान्वय क्रियायें कहलाती हैं ॥ ६४–६५ ॥ जो पुण्यवान वा पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं और जो श्रेष्ठ मोक्षमार्गके आराधन करनेके फल रूपसे प्रवृत्त होती हैं वा की जाती हैं उन्हें कर्त्रन्वय क्रियायें कहते हैं ॥ ६६ ॥ सज्जाति, सद्‍गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेंद्रता, साम्राज्य, परमार्हंत्य और परनिर्वाण ये सात तीनों लोकोंमें परमस्थान माने जाते हैं और जीवोंको अरहंतदेवकी वाणीरूपी अमृतके आस्वादन करनेसे अर्थात् जिनवाणीका अभ्यास करनेसे प्राप्त होते हैं, [ये ही सात कर्त्रन्वय क्रियायें हैं] ॥ ६७–६८ ॥ इन सव क्रियाओंका समूह महर्षियोंने अनेक

विस्तरं ॥ ६९ ॥ आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः । पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥ ७० ॥ तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितं जिनार्चामभितः स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ॥ ७१ ॥ त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ । ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः ॥ ७२ ॥ तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मंत्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥ ७३ ॥ तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यतेऽन्यत्र पर्वणि । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥ ७४ ॥ विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः । अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥ ७५ ॥ गर्भाधानक्रि-

---

तरहसे निरूपण किया है परंतु हम यहांपर उनका विस्तार छोडकर संक्षेपसे उनका लक्षण कहते हैं ॥ ६९ ॥ जो प्रथम रजस्वला हुई ऐसी स्नान की हुई स्त्रीको मुख्यकर गर्भाधानके पहिले भगवान अरहंत देवकी पूजाके द्वारा मंत्र पूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियामें जो पूजा की जाती है उसमें जिन प्रतिमाके दाईं ओर तीन चक्र, बाईं ओर तीन छत्र और सामने तीन प्रकारकी पुण्याग्नि स्थापन करे ॥ ७१ ॥ सिद्धप्रतिमाकी जो वेदी है उसके समीप ही तीन प्रकारकी अग्नि उत्पन्न करनी चाहिये, एक अरहंत भगवानके निर्वाण समयकी, दूसरी गणधर देवोंके निर्वाण समयकी और तीसरी इन दोनोंके सिवाय शेष केवलियोंके निर्वाण समयकी ॥ ७२ ॥ प्रथम ही श्रीअरहंतदेवकी पूजा करचुकनेपर जो पवित्र शेषांश द्रव्य वचता है उससे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मंत्र पूर्वक उन उत्पन्न की हुई तीनों अग्नियोंमें आहूति देनी चाहिये अर्थात् होम करना चाहिये ॥ ७३ ॥ उन आहूति देनेके जो मंत्र हैं वे सब शास्त्रानुसार आगेके पर्वमें कहेंगे, पीठिका मंत्र जातिमंत्र आदिके भेदसे वे सब सात प्रकारके हैं ॥ ७४ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवने इन्हीं मंत्रोंका प्रयोग सब क्रियाओंमें बतलाया है इसलिये उन क्रिया और मंत्रोंको जाननेवाले श्रावकोंको प्रमाद छोडकर बडी सावधानीसे उन मंत्रोका प्रयोग करना चाहिये ॥ ७५ ॥ इसप्रकार कही हुई इस गर्भाधान क्रियाको प्रथम ही शास्त्रानुसार करके फिर दंपती अर्थात् स्त्री

यामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सतानार्थं विना रागाद्दंपतिभ्या विधीयतां ॥ ७६ ॥ इति गर्भाधानं ॥ गर्भाधानात्परं मासे तृतीये सप्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥ ७७ ॥ तत्रापि पूर्ववन्मत्रपूर्वा पूजा जिनोगिनां । द्वारितोरणविन्यासः पूर्णकुंभौ च संमतौ ॥ ७८ ॥ तदादि प्रत्यह भेरीशब्दो घटास्वनान्वितः । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥ ७९ ॥ इति प्रीतिः ॥ आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥ ८० ॥ तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्बिंवसन्निधौ । कार्यो मत्रविधानज्ञै. साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥ ८१ ॥ धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्कृतादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥ ८२ ॥ नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवादृतैः

पुरुष दोनोंको विषयानुरागके विना केवल संतानके लिये समागम करना चाहिये ॥ ७६ ॥ इसप्रकार यह गर्भाधान विधि समाप्त हुई। गर्भाधानके तीसरे महीनेमें प्रीति नामकी क्रिया की जाती है जिसे संतुष्ट हुये द्विज लोग करते हैं ॥ ७७ ॥ इस क्रियाके करनेमें भी पहिलेके समान मंत्रपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है, दरवाजेपर तोरण लगाया जाता है और दो पूर्णकुंभ स्थापन किये जाते हैं ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर इन द्विज गृहस्थोंको अपनी विभूतिके अनुसार प्रतिदिन घंटा और नगाडे बजवाने चाहिये ॥ ७९ ॥ [इसका नाम प्रीति क्रिया है] गर्भाधानसे पांचवें महीनेमें सुप्रीति क्रिया की जाती है यह क्रिया भी अत्यंत संतुष्ट हुये और श्रावकके उत्तमव्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके द्वारा की जाती है ८० ॥ इस क्रियामें भी मंत्र और क्रियाओंकी विधिको जाननेवाले श्रावकोंके द्वारा अग्नि और देवताओंको साक्षी करके भगवान अरहंत देवकी प्रतिमाके समीप ही पहिले कही हुई सब विधि करनी चाहिये ॥ ८१ ॥ (इसका नाम सुप्रीति क्रिया है) धार्मिक क्रियाओंमें जिनका आदर है और जिनका चित्त चंचल नहीं है निश्चल है ऐसे गृहस्थोंके द्वारा गर्भकी वृद्धि होनेके लिये प्रीति सुप्रीतिके ही समान सातवें महीनेमें धृति क्रिया की जाती है ॥ ८२ ॥ (यह चौथी धृति क्रिया है) गर्भसे नौवें महीनेमें मोद नामकी क्रियाकी विधि की जाती है, यह क्रिया भी

कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥ ८३ ॥ तत्रेष्टो गात्रिकाबंधो मांगल्यं च प्रसाधनं । रक्षासूत्रविधानं च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥ ८४ ॥ इति मोदः ॥ प्रियोद्भवः प्रसूताया जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥ ८५ ॥ अवांतरविशेषोऽत्र क्रियामंत्रादिलक्षणः । भूयान्समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥ ८६ ॥ द्वादशाहात्परं नामकर्म जन्मदिनान्मतं । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥ ८७ ॥ यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनं । शस्तं च नामधेयं तत्स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥ ८८ ॥ अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामकदंबकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं

धार्मिक क्रियाओंमें आदर करनेवाले उत्तम द्विजोंके द्वारा पहिली क्रियाओंके समान ही गर्भकी पुष्टि होनेके लिये की जाती है ॥ ८३ ॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबंध अर्थात् मंत्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिये, मंगलाचार करना चाहिये, गर्भिणीको आभूषण पहिनाना चाहिये और उसकी रक्षाके लिये कंकणसूत्रके बांधनेकी विधि करनी चाहिये ॥ ८४ ॥ (यह पांचवीं मोद क्रिया है) पुत्रके उत्पन्न होनेपर अर्थात् प्रसूति होनेपर छट्ठी प्रियोद्भव क्रिया की जाती है इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि (उत्पन्न होनेके समय करने योग्य क्रियाओंकी विधि) भी है। यह क्रिया श्रीजिनेंद्रदेवको स्मरणकर शास्त्रानुसार की जाती है ॥ ८५ ॥ इस क्रियामें अवांतर विशेष है अर्थात् मध्यमें करनेकी जो विशेष विधि है और क्रिया मंत्र आदिके जो लक्षण हैं वे बहुत हैं और बडे हैं वे सब उपासकाध्ययन मूल सूत्रसे जान लेना ॥ ८६ ॥ (यह प्रियोद्भव वा जातकर्म विधि है) जन्मसे बारहवें दिन अथवा बारह दिनके बाद जिस दिन चंद्रमा नक्षत्र आदि माता पिता और पुत्रके अनुकूल हों सुख देनेवाले हों, उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥ ८७ ॥ इस क्रियामें अपनी विभूति और शक्तिके अनुसार अरहंत देव और ऋषियोंका पूजन करना चाहिये, द्विजोंका यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिये और जो प्रशंसनीय हो और अपने वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा नाम उस बालकका रखना चाहिये ॥ ८८ ॥ अथवा भगवानके जो एक हजार आठ नाम

शुभं ॥ ८९ ॥ इति नामकर्म ॥ बहिर्यानं ततो द्वित्रैर्मासैस्त्रिचतुरैरुत । यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यं तूर्यादिमंगलैः ॥ ९० ॥ ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः ।। बहिःप्रणयन मात्रा धात्र्युत्सगगतस्य वा ॥ ९१ ॥ तत्र बधुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः । स तस्योत्तरकालेऽर्प्यो धनं पित्र्य यदाऽऽ-

---

हैं उनमेंसे घटपत्रकी विधिसे एक शुभनाम ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ ८९ ॥ यह (सातवीं नामकर्म क्रिया है। तदनंतर दूसरे तीसरे अथवा तीसरे चौथे महीनेमें किसी शुभ दिन तुरई आदि मांगलिक बाजोंके साथ साथ अपनी योग्यता वा अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिये ॥ ९० ॥ जिस दिन बहिर्यान (प्रसूतिघरसे बाहर निकालना) क्रिया की जाय उस दिनसे लेकर माता अथवा धायकी गोदमें बिठाकर उस बालकको प्रसूतिके घरसे बाहर निकालना शास्त्रसंमत माना जाता है ॥ ९१ ॥ इस क्रियाके करते समय जब वह बालक प्रसूति घरसे बाहर लाया जाय उससमय सब भाई बंधु आदि उसे पारितोषक रूप कुछ धन देवें, जो वह धन इकट्ठा हो उसे जब वह पुत्र पिताके

---

१ भगवानके एक हजार आठ नामोको एक हजार आठ कागजके टुकडोपर लिखकर उन कागजोकीं गोली बनालेवे और एक घडेमे भरदेवे, एक कागजपर ' नाम ' ऐसा शब्द लिखकर गोली बनालेवे और एक हजार सात कोरे कागजोके टुकडोकी गोली बनालेवे, नाम शब्दकी लिखी हुई गोली और कोरे कागजोंकी गोलिया एक दूसरे घडेमे भर देवे, इन दोनो गोलियोसे भरे हुये घडोमेसे एक वेसमझ बालकसे एक एक गोली निकलवाता जाय अर्थात् एक गोली भगवानके लिखे हुये नामोंमेसे और एक गोली कोरे कागजोकी गोलियोमेसे, इसप्रकार दोनो गोलिया साथ साथ निकलवाता जाय, कोरे कागजकी गोलियोके साथ भगवानके नामकी गोलियां आतीं जाय उन्हे अलग रखता जाय, जो ' नाम ' शब्द लिखी गोलीके साथ जिनेंद्रके नामकी गोली आवे उसमे जो नाम निकले वही नाम उस पुत्रका रखना चाहिये (इसी दिन कान छेदना और झूला झुलानेका मुहूर्त किया जाता है)

प्स्यति ॥ ९२ ॥ इति बहिर्यान ॥ ततः परं निपद्याऽस्त्र क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तल्प आस्तीर्णे कृतमंगलसान्निधौ ॥ ९३ ॥ सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र च । यतो दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तर ॥ ९४ ॥ इति निपद्या । गते मासपृथक्त्वे च जन्माद्यस्य यथाक्रम । अन्नप्राशनमाम्नात पूजाविधिपुरःसर ॥ ९५ ॥ इति अन्नप्राशनम् ॥ ततोऽस्य हायनेपूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतं ॥ ९६ ॥ तत्राऽपि पूर्ववद्दान जैनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टबंधुसमाह्वान समाशादिश्च लक्ष्यता ॥ ९७ ॥ केशवापस्तु केशाना शुभेऽह्नि व्यपरोपणं । क्षौरेण कर्मणा देवगुरु-

---

धनका अधिकारी हो उससमय उसके लिये समर्पण कर दें ॥ ९२ ॥ [यह आठवीं बहिर्यान क्रिया है] तदनंतर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है, इस क्रियामें मांगलिक सब क्रियायोंके साथ साथ उस बालकके योग्य लंबी चौडी शय्यापर उस बालकको बिठलाते हैं ॥ ९३ ॥ तथा सिद्ध भगवानकी पूजन करना आदि अन्य सब विधि पहिलेके समान ही की जाती है, इस विधिसे उस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता हो यही इस क्रियाका अभिप्राय है ॥ ९४ ॥ (यह नौवीं निषद्या क्रिया है) जन्मसे सात आठ महीने वीत जानेपर उस बालककी अन्नप्राशन क्रिया करनी चाहिये, इस क्रियामें शास्त्रानुसार भगवानकी पूजा करके बालकको अन्न खिलाना चाहिये ॥ ९५ ॥ (यह दशवीं अन्नप्राशन क्रिया है) तननंतर उस बालकका एक वर्ष पूर्ण हो जाने पर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है, इस क्रियाका शास्त्रानुसार दूसरा नाम वर्षवर्द्धन वा वर्षगांठ है ॥ ९६ ॥ इस क्रियामें भी पहिलेके समान दान दिया जाता है, पहिलेके समान ही श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है, भाई बंधु आदि इष्ट मित्रोंको बुलाया जाता है और उन सबको भोजन कराया जाता है, इस क्रियामें ये सब बातें जान लेनी चाहिये ॥ ९७ ॥ (यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है) तदनंतर किसी शुभदिन केशवाप क्रिया करनी चाहिये, देव गुरु आदिकी पूजा कर लेनेके बाद उस्तरासे बाल बनवाना केशवाप क्रिया है, प्रथम ही बालोंको गंधोदकसे गीले करना चाहिये, उन

पूजापुरःसरं ॥ ९८ ॥ गंधोदकार्द्रितान्कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् । मौंड्यमस्य विधेयं स्यात्सचूलं वाऽन्वयोचितं ॥ ९९ ॥ स्नपनोदकधौतागमनुलिप्तं सभूषणं । प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद्योजयेद्बंधुताशिषा ॥ १०० ॥ चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमंगला । क्रियाऽस्यामादतो लोको यतते परया मुदा ॥ १०१ ॥ इति केशवापः ॥ ततोऽस्य पचमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥ १०२ ॥ यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ॥ १०३ ॥ लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥ क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्राप-

---

पर शेषाक्षत (पूजाके बचे हुये अक्षत) रखना चाहिये और फिर चोटी सहित अथवा जिसतरह अपने बंशमें चला आता है उसतरह उस बालकका मुंडन करना चाहिये ॥ ९८–९९॥ फिर स्नानके लिये लाये हुये पानीसे उसका स्नान कराकर उसका सब शरीर साफ करना चाहिये, चंदन आदि-का लेप करना चाहिये, आभूषण पहिनाना चाहिये और फिर उससे मुनियोंको नमस्कार कराना चाहिये, इसके बाद सब भाई बंधु लोगोंको उसे आशीर्वाद देना चाहिये ॥ १०० ॥ इस क्रियामें पुण्याहमंगल किया जाता है और यह चौलक्रिया नामसे प्रसिद्ध है, इस क्रियामें आदर करते हुये लोग बडे हर्षके साथ प्रवर्त होते हैं ॥ १०१ ॥ (इसप्रकार यह बारहवीं केशवाप क्रिया है) तदनंतर उस बालकको पांचवें वर्षमें प्रथम ही अक्षरोंका दर्शन करानेके लिये लिपिसंख्यानसंग्रह नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥ १०२ ॥ इस क्रियामें भी अपनी विभूतिके अनुसार दान पूजा आदि की जाती है, गृहस्थ व्रतियोंको उचित है कि वे उस बालकको गुरुके स्थानमें निवास कराकर पढावें ॥ १०३ ॥ (यह तेरहवीं लिपिसंख्यानसंग्रह क्रिया है) तदनंतर—गर्भसे आठवें वर्षमें उस बालककी उपनीतिक्रिया (यज्ञोपवीत वा जनेऊ) की जाती है, इस क्रियामें केशोंका मुंडन, व्रत-बंधन और मौंजीबंधन आदि क्रियायें की जाती हैं १०४ ॥ प्रथम उस बालकको जिनालयमें लेजा-कर उससे अरहंत भगवानकी पूजन करानी चाहिये और फिर गुरुकी साक्षी पूर्वक उसे व्रत देकर

नीतकेशस्य, मौंजी सव्रतबधना ॥ १०४ ॥ कृतार्हत्पूजनस्यास्य मोजीवंधो जिनालये । गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरं ॥ १०५ ॥ शिखी सिताशुक. सातर्वासा निर्वेषविक्रियः । व्रतचिह्न दधत्सूत्र तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥ १०६ ॥ चरणोचितमन्यच्च नामधेय तदाऽस्य वै ॥ वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥ १०७ ॥ सोऽतःपुरे चरेत्पात्र्या नियोग इति केवलं । तदग्र देवसात्कृत्य ततोऽन्न योग्यमाहरेत् ॥ १०८ ॥ इत्युपनीतिः ॥ व्रतचर्यामह वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः । कट्यूरूरःशिरोलिंगमनूचानव्रतोचित ॥ १०९ ॥ कटीलिंग भवेदस्य मौंजीबधात्रिभिर्गुणैः । रत्नत्रितयशुध्ध्यंग तद्धि चिन्ह द्विजन्मना ॥ ११० ॥ तस्येष्टमूरुलिंग व सुधौतसितशाटक । आर्हताना कुल पूत विशाल चेति सूचने ॥ १११ ॥ उरोलिंगमथास्य

मौंजीबंधन करना चाहिये अर्थात् कमरमें मूंजकी रस्सी वा करधनी बांधनी चाहिये ॥ १०५ ॥ उस समय उसके चोटी रहती है, सफेद धोती और सफेद डुपट्टा रहता है वेष और विकारोंसे वह रहित होता है तथा व्रतोंका चिन्ह स्वरूप ऐसे यज्ञोपवीतको वह धारण करता है उस समय उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा कही जाती है ॥ १०६ ॥ उससमय उसके आचरणोंके योग्य उसके और भी नाम रक्खे जा सकते हैं, उससमय बडे ऐश्वर्यशाली राजपुत्रको छोडकर शेष लोगोंको भिक्षासे अपना निर्वाह करना चाहिये, तथा राजपुत्रको रणवासमें जाकर किसी पात्रमें अपनी माता आदिसे भिक्षा लेनी चाहिये, उससमय भिक्षा लेनेका एक नियोग है जो कि सबको करना पडता है, भिक्षामें जो कुछ मिले उसमेंका मुख्य भाग श्रीअरहंतदेवको समर्पण कर फिर बचे हुये योग्य अन्नका भोजन करना चाहिये ॥१०७-१०८॥ इस प्रकार यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है । आगे—कमरका चिन्ह, जंघाका चिन्ह, वक्षःस्थलका चिन्ह और शिरका चिन्ह इन ब्रह्मचर्यके व्रतके योग्य चिन्होंको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारीकी व्रतचर्या नामकी क्रिया कहते हैं ॥ १०९ ॥ तीन लरकी मूंजकी रस्सी कमरमें बांधना इसका कमरका चिन्ह कहलाता है, यह मौंजीवंधन रत्नत्रयकी विशुद्धिका एक अंग है और द्विज लोगोंका एक चिन्ह है ॥ ११० ॥ उसके जंघाका चिन्ह धुली हुई सफेद धोती है और अरहंत भगवानका कुल पवित्र तथा विशाल है यही वह सफेद धोती सूचित करती

स्याद्ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः ।, यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकं ॥ ११२ ॥ शिरोलिंगं च तस्येष्टं परं मौड्यमनाविलं । मौड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥ ११३ ॥ एवप्रायेण लिंगेन विशुद्ध धारयेद्व्रतं । स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहित ॥ ११४ ॥ दंतकाष्ठग्रहोनास्य न ताम्बूलं न चाजनं । न हरिद्रादिभिः स्नान शुद्धस्नानं दिन प्रति ॥ ११५ ॥ न खट्वाशयनं तस्य नान्यागपरिघट्टनं । भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥ ११६ ॥ यावद्विद्यासमाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रत । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रत तत्स्याद्यन्मूल गृहमेधिना ॥ ११७ ॥ सूत्रमौपासिक चास्य स्यादध्येय गुरोर्मुखात् । विनयेन

है ॥ १११ ॥ उसके वक्षःस्थलका चिन्ह सात लरका गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है जो कि सात परमस्थानोंका सूचक है ॥ ११२॥ उसके शिरका चिन्ह स्वच्छ और उत्कृष्ट मुंडन है जो कि उसके मन वचन कायके मुंडनको अर्थात् विषयोंकी अनासक्तिको बढानेवाला है ॥ ११३ ॥ प्रायः इसप्रकारके चिन्होंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्य व्रतसे वृद्धिको प्राप्त हुये ऐसे स्थूल हिंसाका त्याग आदि व्रत उसे धारण करना चाहिये, भावार्थ—इन चिन्होंके साथ साथ पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुये उसे अणुव्रत धारण करने चाहिये ॥ ११४ ॥ इस व्रती ब्रह्मचारीको लकडीका दतौन नहीं करना चाहिये, तांबूल (लगा हुआ पान) नहीं खाना चाहिये, आंखोंमें अंजन नहीं लगाना चाहिये और हल्दी आदिका उवटन लगाकर स्नान नहीं करना चाहिये, उसे प्रतिदिन केवल जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिये ॥ ११५ ॥ उसे पलंगपर नहीं सोना चाहिये, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगडना चाहिये और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये उसे केवल अकेला पृथ्वीपर सोना चाहिये ॥११६॥ जबतक इसकी विद्या समाप्त न हो तबतक इसे इसीप्रकारके व्रत धारण करने चाहिये और जब विद्या समाप्त हो जाय अर्थात् पढना लिखना समाप्त हो जाय तब उसे वे व्रत धारण करने चाहिये कि जो गृहस्थियोंके मूलगुण कहलाते हैं, भावार्थ-जबतक वह पढता है विद्याभ्यास करता है तबतकके लिये उसे ये व्रत धारण करने पडते हैं, विद्याभ्यास समाप्त हो जानेपर ये व्रत छूट जाते हैं और फिर वह केवल मूलगुण

ततोन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरं ॥ ११८ ॥ शब्दविद्यार्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दूष्यते । सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ ११९ ॥ ज्योतिर्ज्ञानमथ छंदोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनं । संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषतः ॥ १२० ॥ ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणं । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२१ ॥ मधुमांसपरित्यागः पंचोदुंबरवर्जनं । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकं ॥ १२२ ॥ व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनं । वत्सराद्द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परं ॥ १२३ ॥ कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितं । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥ १२४ ॥

धारण करता है ॥ ११७ ॥ इस ब्रह्मचारीको प्रथम ही गुरुमुखसे उपासकाचार पढना चाहिये और फिर विनयपूर्वक अन्य अध्यात्मशास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये ॥ ११८ ॥ अपने संस्कार बढानेके लिये और धृष्ट होनेके लिये इसे व्याकरणशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि पीछेसे इन शास्त्रोंके पढनेमें भी कोई दोष नहीं है ॥ ११९ ॥ इनके सिवाय उसे ज्योतिःशास्त्र, छंदशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि शास्त्रोंका विशेष रीतिसे अध्ययन करना चाहिये ॥ १२० ॥ (इसप्रकार यह पंद्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है) तदनंतर--विद्याभ्यास समाप्त हो जानेपर इसके व्रतावतरण (व्रतोंका अवतरण वा त्याग) क्रिया की जाती है, इस क्रियामें श्रावकके जो साधारण व्रत हैं उनको पालन करता हुआ वह विशेष व्रतोंका अवतरण वा त्याग कर देता है ॥ १२१ ॥ फिर उसके मधुका त्याग, मांसका त्याग, पांचों उदंबरोंका त्याग और हिंसादि स्थूल पापोंका त्याग ये व्रत सार्वकालिक वा सर्वदा जन्मपर्यंत रहते हैं ॥ १२२ ॥ यह व्रतावतरण क्रिया अर्थात् व्रतोंका छोडना गुरुकी साक्षीपूर्वक भगवानकी पूजाकर बारह वर्षके बाद अथवा सोलह वर्षके बाद करना चाहिये ॥ १२३ ॥ प्रथम ही द्विजोंका आदर सत्कारकर फिर व्रतावतरण क्रिया करना उचित है, इस क्रियाके बाद फिर गुरुकी आज्ञानुसार वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण किया जाता है ॥ १२४ ॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय है तो उसे अपनी जीवि-

शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्यदः । स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥ १२५ ॥ भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं चास्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२६ ॥ इति व्रतावतरण ॥ ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥ १२७ ॥ सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृताग्नित्रयसपूजाः कुर्युस्तत्साक्षि ता क्रिया ॥ १२८ ॥ पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । दंपत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥ १२९ ॥ वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककं । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनं ॥ १३० ॥ पाणि-

---

काकी रक्षा करनेके लिये शस्त्र धारण करना चाहिये अथवा केवल शोभाके लिये उसे शस्त्र धारण करना चाहिये ॥ १२५ ॥ इस समयतक उसके जो भोगोपभोगोंसे ब्रह्मव्रत था अर्थात् भोगोपभोगोंका जो त्याग था उसका अवतरण वा त्याग होता है। भावार्थ--वस्त्र आभरण तांबूल आदिका जो त्याग था वह छूट जाता है परंतु जवतक आगेकी विवाह क्रिया न की जाय तवतक उसे कामरूप ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना ही चाहिये ॥१२६॥ (इस प्रकार यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है) तदनंतर—जिसमें विवाह हो सकता है ऐसे कुलमें उत्पन्न हुई योग्य कन्याके साथ जिसकी विवाह करनेकी इच्छा है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञानुसार विवाह संबंधी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ विवाहकी क्रिया करते समय उत्तम द्विजोंको प्रथम ही अच्छीतरह सिद्ध भगवानकी पूजन करनी चाहिये तीनों अग्नियोंकी पूजा करनी चाहिये और फिर सिद्ध भगवानकी प्रतिमा और उन तीनों अग्नियोंकी साक्षी पूर्वक विवाह संबंधी क्रिया करनी चाहिये ॥ १२८ ॥ किसी पवित्र स्थानमें वडे ठाठ वाटके साथ सिद्ध प्रतिमाके सामने उन दोनों वर वधुओंका विवाहोत्सव करना चाहिये ॥ १२९ ॥ वेदीमें जो तीन कुंडोंमें अग्नि उत्पन्न की थी अथवा दो वा एक ही कुंडमें अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणा देकर उन दोनों वर वधुओंको समीप ही बैठना चाहिये ॥ १३० ॥ उस पाणिग्रहण दीक्षामें जो वर वधू नियुक्त किये गये हैं अर्थात् जिनका विवाहोत्सव किया गया है उन्हें देव और

ग्रहणदीक्षाया नियुक्त तद्वधूवरं । आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिकं ॥ १३१ ॥ क्रांत्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरं ॥ १३२ ॥ विमुक्तकंकणं पश्चात्स्वगृहे शयनीयकं । अधिशय्य यथाकालं भोगांगैरुपलालितं ॥ १३३ ॥ संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ॥ शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥ १३४ ॥ इति विवाहक्रिया ॥ एवं कृतविवाहस्य, गार्हस्थ्यमनुतिष्ठत. । स्वधर्मानतिवृत्त्यर्थं वर्णलाभमतोब्रुवे ॥ १३५ ॥ ऊढभार्योऽप्ययं तावदस्वतंत्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातंत्र्यसिध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥ १३६ ॥ गुरोरनुज्ञया

अग्निकी साक्षी पूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिये ॥ १३१ ॥ फिर अपने योग्य किसी स्थानमें देशाटन कर, किसी तीर्थभूमिपर विहार कर वे दोनों ही वरवधू वडी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥ १३२ ॥ तदनंतर उनका कंकण छोड देना चाहिये और फिर वे दोनों ही स्त्रीपुरुष अपने घरमें भोगोपभोगकी सामग्रीसे सुशोभित ऐसी शय्यापर योग्य समयमें शयन करें ॥ १३३ ॥ वे दोनों ही परस्पर केवल संतानके लिये ऋतुकालमेंही काम सेवन करें, ऋतुकालमें काम सेवनकी अपेक्षा केवल शक्तिवाले सामर्थ्यवाले लोगोंके लिये है, जो अशक्त हैं उनके लिये इससे विपरीत समझना अर्थात् वे अपनी शक्तिके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन करें ॥१३४॥ [इसप्रकार यह सत्रहवीं विवाह क्रिया है] इसप्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गृहस्थधर्म पालन कर रहा है वह अपने धर्मका उलंघन न करे इसलिये उसक लिये वर्णलाभ क्रिया कही जाती है ॥ १३५ ॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि जवतक वह पिताके घर रहता है तवतक वह स्वतंत्र नहीं रह सकता इसलिये उसको स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये यह वर्णलाभ क्रिया वर्णन की जाती है ॥ १३६ ॥ मातापिताकी आज्ञानुसार जिसे धन धान्य आदि संपदायें प्राप्त हो चुकी हैं और जिसे रहनेके लिये मकान भी अलग मिल चुका है ऐसे उस गृहस्थकी प्रवृत्तिको अर्थात् पिताकी

लब्धधनधान्यादिसंपदः । पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥ १३७ ॥ तदाऽपि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमार्चनमग्रतः । कृत्वाऽन्योपासकान्मुख्यान्साक्षीकृत्यार्पयेद्धनं ॥ १३८ ॥ धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन्स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥ १३९ ॥ यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितं । यशो धर्मश्च तद्वत्त्व यशोधर्मानुपार्जय ॥ १४० ॥ इत्येवमनुशिष्यैनं वर्णलाभे नियोजयेत् । सदाचारः स तद्धर्मं तथाऽनुष्ठातुमर्हति ॥ १४१ ॥ इति वर्णलाभक्रिया ॥ लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सा त्विज्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥ १४२ ॥ विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनं । गृहिणा कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ १४३ ॥ कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । गृहस्थाचार्यभावेन

आज्ञानुसार धन धान्य आदि संपदा लेकर अलग रहनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥ १३७ ॥ इस क्रियामें भी पहिले सिद्ध भगवानकी पूजन की जाती है और फिर पिता अन्य मुख्य मुख्य श्रावकोंको साक्षी बनाकर उस पुत्रको धन समर्पण करता है और कहता है कि तुम इस धनको लेकर इस अपने घरमे अलग रहो और दान देना, जिन पूजन करना आदि गृहस्थका जो पूर्ण धर्म है उसे धारण करो ॥ १३८–१३९ ॥ जिसप्रकार हमारे पिताके दिये हुये धनसे हमने अपने यश और धर्मका उपार्जन वा संग्रह किया है उसी प्रकार तुम भी अपना यश और धर्मका संग्रह करो ॥ १४० ॥ इसप्रकार उस पुत्रको शिक्षा देकर उसे वर्णलाभमें अर्थात् स्वतंत्र घरमें स्थापन करे। इसप्रकार वह पुत्र भी सदाचारका पालन करता हुआ उस गृहस्थधर्मको उसीप्रकार (पिताके समान) पालन करनेके योग्य होता है ॥ १४१ ॥ (यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है) जिसे वर्णलाभ वा स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी है उसके लिये कुलचर्या क्रिया कही जाती है। देवपूजा करना, दान देना, जीविका करना आदि कुलचर्याके सब लक्षण पहिले वर्णन कर चुके हैं ॥ १४२ ॥ विशुद्ध रीतिसे जीविका करना और देवपूजा आदि छह कर्म करना यही गृहस्थियोंकी कुलचर्या कहलाती है इसीको लोग कुलधर्म भी कहते हैं ॥ १४३ ॥ [यह उनईसवीं कुलचर्या क्रिया है] अथानंतर–जिसे कुलचर्या प्राप्त हो चुकी

सश्रयेत्स गृहीशितां ॥ १४४ ॥ ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत्स्वां गृहीशिता । शुभवृत्तिक्रियामंत्रविवाहैःसोत्तराक्रियैः ॥ १४५ ॥ अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिता ॥ १४६ ॥ वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिर्मानार्हश्चेतिमानित. ॥ १४७ ॥ इति गृहीशिता ॥ सोऽनुरूप ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमं । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशातिमतः श्रयेत् ॥ १४८ ॥ विषयेष्वनभिष्वगो नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशातता ॥ १४९ ॥ इति प्रशातिः ॥ ततः कृतार्थमात्मान मन्यमानो गृहाश्रमे ।

है ऐसे उस गृहस्थको धर्ममें दृढता धारण करते हुये गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिता स्वीकार करनी चाहिये अर्थात् उसे गृहस्थाचार्य बनकर सब गृहस्थोंका स्वामी बनना चाहिये ॥ १४४ ॥ तदनंतर उसे आपको उत्तम वर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापन करनी चाहिये अर्थात् जो अन्य गृहस्थोंमें न पाई जायं ऐसी शुभ वृत्ति, शुभ क्रियायें, मंत्र, विवाह, आगे कहीजानेवालीं क्रियायें, शास्त्रज्ञान, और चारित्र आदिकी क्रियाओंसे अपनी उन्नति करते हुये, आपको उत्कृष्ट बनाते हुये उसे गृहस्थाचार्यका पद स्वीकार करना चाहिये ॥ १४५–१४६ ॥ उससमय वर्णोत्तम (तीनों वर्णोंमें उत्तम), महीदेव, सुश्रुत [अच्छा शास्त्रज्ञानी] द्विजसत्तम (उत्तम द्विज) निस्तारक [संसारसे पार कर देनेवाला] ग्रामपति (गांव वा शहरका मालिक) और मानार्ह अर्थात् सत्कार करने योग्य इसप्रकार कहकर लोगोंको उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥ १४७ ॥ (यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है) तदनंतर अपने कुटुंब पालनका भार धारण करनेको समर्थ ऐसे अपने समान पुत्रको पाकर उस गृहस्थाचार्यको अपने गृहस्थधर्मका सब भार उस पुत्रको सोंप देना चाहिये और फिर इसप्रकार अपने आत्माको शांति देनी चाहिये ॥ १४८ ॥ तथा शांत गृहस्थको विषयोंकी लालसा छोड देनी चाहिये, सदा स्वाध्याय करते रहना चाहिये और अनेक प्रकारके उपवासकर अत्यंत शांततासे अपनी वृत्ति रखनी चाहिये ॥ १४९ ॥ (यह इकीसवीं प्रशांति क्रिया है) तदनंतर—गृहस्थाश्रममें अपने

यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैषक्रियाविधिः ॥ १५० ॥ सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥ १५१ ॥ कुलक्रमस्त्वया तात संपाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो द्रव्य त्वयेत्थं विनियोज्यता ॥ १५२ ॥ एकोऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः सॅविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मना ॥ १५३ ॥ पुत्र्यश्च सॅविभागार्हाः सम पुत्रैः समाशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः संतति नोऽनुपालय ॥ १५४ ॥ श्रुतवृत्ताक्रियामत्राविधिज्ञस्त्वमतंद्रितः । प्रपालय कुलाम्नाय गुरु देवाँश्च पूजयन् ॥ १५५ ॥ इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षा समा-

---

आत्माको कृतार्थ मानता हुआ वह गृहस्थाचार्य जब घर छोडनेके लिये उद्यत होता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥ १५० ॥ इस क्रियामें भी पहिले सिद्ध भगवानकी पूजन करनी चाहिये और फिर अपने इष्ट ऐसे समस्त जातिके वा धर्मात्मा लोगोंको बुलाकर उनकी साक्षी पूर्वक अपने पुत्रके लिये सब कुछ समर्पणकर अर्थात् धन धर्म आदि सब सौंपकर घरका त्याग कर देना चाहिये ॥ १५१ ॥ अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इसप्रकार कहना चाहिये कि हे तात ! हमारे पीछे तुमको यह कुलक्रम (कुलपरंपरासे चला आया धर्म, क्रिया, संस्कार आदि) पालन करना चाहिये, मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उन भागोंको तुझे इसप्रकार काममें लाना चाहिये कि उनमेंसे एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना, दूसरा भाग अपने घरखर्चके लिये रखना और तीसरा भाग तू अपने भाइयोंमें बांट देना ॥ १५२--१५३ ॥ पुत्रोंके समान पुत्रियोंको भी बराबर भाग बांट कर देना चाहिये अर्थात् उस तीसरे भागमेंसे भाई और वहिनोंको बांटकर सबको बराबर भाग देना, हे पुत्र तू सब कुलमें बडा होकर मेरी सब संतानका पालन कर ॥ १५४ ॥ तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मंत्र, और विधि आदि सबका जाननेवाला है इसलिये आलस छोडकर देव और गुरुओंकी पूजन करता हुआ मेरे इस कुलपरंपराका पालन कर ॥ १५५ ॥ इसप्रकार निराकुल होता हुआ अपने ज्येष्ठ पुत्रको शिक्षा देकर फिर वह द्विज दीक्षा धारण करनेके लिये अपने घरका

दातु द्विजः स्व गृहमुत्सृजेत् ॥ १५६ ॥ इति गृहत्यागः ॥ त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशातस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षौपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥ १५७ ॥ यत्पुरश्चरण दीक्षागृहणप्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेय क्रियाजात द्विजन्मनः ॥ १५८ ॥ इति दीक्षाद्यं ॥ त्यक्तचेलादिसंगस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः । धारण जातरूपस्य यत्तत्स्याज्जिनरूपता ॥ १५९ ॥ अशक्यधारण चेद जतूना कातरात्मनां । जैन निस्संगतामुख्य रूप धीरैर्निषेव्यते ॥ १६० ॥ इति जिनरूपता ॥ कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः ॥ १६१ ॥ वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः ।

त्याग कर देवे ॥ १५६ ॥ (यह बाईसवीं गृहत्याग क्रिया है) जिसने घरका त्याग कर दिया है, जो सम्यग्दृष्टी है, प्रशांत है गृहस्थाचार्य है और दीक्षा धारण करनेके समयके कुछ पहिले जिसने एक वस्त्र धारण किया है अर्थात् क्षुल्लकके व्रत धारण किये हैं उसके दीक्षा धारण करनेके लिये उससे पहिले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणोंके समूहको अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजोंकी दीक्षाद्य नामकी क्रिया कहते हैं। भावार्थ—दीक्षा धारण करनेके पहिले क्षुल्लकके व्रत धारण कर फिर जो कुछ क्रियायें की जाती हैं उनका नाम दीक्षाद्य क्रिया है ॥ १५७--१५८ ॥ [यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है] जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रहोंका त्याग कर दिया है और जो जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करना चाहता है वह जो दिगंबर अवस्था धारण करता है उसे जिनरूपता (जैसा जिनेंद्रका दिगंवर रूप है वैसा धारण करना) कहते हैं ॥ १५९ ॥ जिनका आत्मा कातर वा दीन है ऐसे जीव इस दिगंबर अवस्थाको धारण नहीं कर सकते इसलिये जिसमें परिग्रह रहितपना ही मुख्य है ऐसा जो श्रीजिनेंद्रदेवका रूप है उसे धीरवीर पुरुष ही सेवन करते हैं धारण करते हैं ॥ १६० ॥ यह चौवीसवीं जिनरूपता है) जिसने दीक्षा धारण कर उपवास किया है तथा विधिपूर्वक पारणा करनेमें प्रवृत्त हुआ है ऐसा साधु शास्त्रज्ञानकी समाप्ति होनेपर्यंत जो मौन धारणकर पढनेमें अपनी प्रवृत्ति रखता है उसे मौनाध्ययनवृत्ति कहते हैं ॥ १६१ ॥ जिसने मौन धारण किया है जिसका आत्मा नम्र

सोऽधीयीतश्रुतं कृत्स्नमामूलाद्गुरुसन्निधौ ॥ १६२ ॥ श्रुतं हि विधिनाऽनेन भव्यात्माभिरुपासितं । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति ॥ १६३ ॥ ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत्तीर्थकृत्त्वस्य भावना ॥ १६४ ॥ सातु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपंचिता ॥ १६५ ॥ इति तीर्थकृद्भावना ॥ ततोऽस्य विदिताशेषविद्यस्य विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ॥ १६६ ॥ ज्ञानविज्ञानसंपन्न. स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदं ॥ १६७ ॥ गुरुस्थानाभ्युपगमः ॥ ततः

है और मन वचन काय शुद्ध हैं ऐसा वह साधु गुरुके समीप प्रारंभसे लेकर समस्तशास्त्रोंका (पूर्ण श्रुतज्ञानका) अध्ययन करे ॥ १६२ ॥ भव्यपुरुष इसप्रकारकी विधिसे जो श्रुतज्ञानकी उपासना करते हैं उसका अध्ययन करते हैं वह अध्ययन किया हुआ श्रुतज्ञान इस लोकमें उनकी योग्यता बढा देता है और परलोकमें भी उसे प्रसन्न वा सुखी रखता है ॥ १६३ ॥, (यह पच्चीसवीं मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है) जिसने समस्त आचारशास्त्रोंका (आचारांग सूत्रोंका) अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रोंका अध्ययनकर पूर्ण श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसके सब आचरण विशुद्ध हैं ऐसे उस साधुको तीर्थंकर पदकी कारण ऐसी भावनाओंका अभ्यास करना चाहिये ॥ १६४ ॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिनका वर्णन पहिले कर चुके हैं और जो पंचकल्याणक समवसरण आदि महा अभ्युदयकी देनेवाली हैं ऐसी वे भावनायें सोलह प्रकारकी कही गई हैं ॥ १६५ ॥ (यह छब्बीसवीं तीर्थकृद्भावना नामकी क्रिया है) तदनंतर--जो समस्त विद्याओंका जानकार है, जिसने अपना अंतःकरण वा आत्मा वश कर लिया है ऐसा साधु गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करने योग्य होता है ॥ १६६ ॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सहित हैं, गुरु जिसे आचार्य पदके योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुकास्थान (आचार्यपद) प्राप्त करने योग्य गिना जाता है ॥ १६७ ॥ (यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है) तदनंतर जो सदाचार पालन करता है और चारों प्रकारके संघ पालन

सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणे । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥ १६८ ॥ श्रावकानार्यिकासंघं श्राविकाः सँयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ॥ १६९ ॥ श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद्दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षण । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत्प्रतिपादयेत् ॥ १७० ॥ सद्वृत्तान्सारयन्सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् ॥ शोधयँश्च कृतादागोमलात्स विभृयाद्गण ॥ १७१ ॥ इति गणोपग्रहणं ॥ गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसङ्क्रातौ यत्नवान्भवेत् ॥ १७२ ॥ अधीतविद्य तद्विद्यैरादृत मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्व भारमर्पयेत् ॥ १७३ ॥ गुरोरनु-

करनेमें जो तत्पर है उसके बडे बडे ऋषियोंने गणोपग्रहण नामकी क्रिया कही है ॥ १६८ ॥ जिसकी गणोपग्रहण (चारों संघका पालन करना) क्रिया की जा चुकी है ऐसे आचार्यको श्रावक, अर्जिकाओंका समूह, श्राविका और मुनियोंको मोक्षमार्गमें प्रवर्त्त कराते हुये चारों प्रकारके संघका पालन करना चाहिये ॥ १६९ ॥ ऐसे आचार्यको उचित है कि जो शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहें उन्हें शास्त्रोंका अध्ययन करावे, जो दीक्षा लेना चाहें उन्हें दीक्षा देवे, और जो धर्म स्वीकार करना चाहें वा धर्मका स्वरूप जानना चाहें उनके लिये सदा सद्धर्मका स्वरूप प्रतिपादन करता रहे ॥ १७० ॥ तथा श्रेष्ठ आचरण धारण करनेके लिये सबको प्रेरणा करता रहे, बुरे आचरणोंको निवारण करता रहे और किये हुये पाप रूप मलोंको शोधता रहे अर्थात् प्रायश्चित्तादिके द्वारा सबके दोष दूर करता रहे, इसप्रकार वह सब संघका पालन करे ॥ १७१ ॥ (यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहण क्रिया है) तदनंतर— इसप्रकार चारों प्रकारके संघका पालन करते हुये उस उत्तम आचार्यको अपने गुरुके स्थानपर प्राप्त होनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥ १७२ ॥ जिसने समस्त विद्यायें पढली हैं तथा उस आचारांग सूत्रोंकी विद्याको जानलेवाले उत्तम उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं और जो आचार्य पदके सर्वथा योग्य है ऐसे शिष्यको बुलाकर उसे अपना आचार्यपदका सब भार समर्पण कर दे अ-

मतात्सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं तिष्ठेद्वर्तयेत्सकलं गणं ॥ १७४ ॥ इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ॥ तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिद-व्यथः । कुर्यादेकाविहारी स निःसगत्वात्मभावना ॥ १७५ ॥ निःसगवृत्तिरेकाकी विहरन्स महातपाः ॥ चिकीर्षुरात्मसस्कारं नान्य सस्कर्तुमर्हति ॥ १७६॥ अपि राग समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः सँश्चर्याशुद्धिं तदाऽश्रयेत् ॥ १७७ ॥ इति नि·संगत्वात्मभावना ॥ कृत्वैवमात्मसस्कार ततः सँल्लेखनोद्यत· ॥ कृतात्मशुद्धिरध्यात्म योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥ १७८ ॥ योगो ध्यान तदर्थो यो यत्नः सँवेगपूर्वक· । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्त परम

र्थात् उसे आचार्य पद देदे ॥ १७३ ॥ गुरुकी आज्ञानुसार वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर (आचार्य-पदपर) विराजमान होवे, गुरुके सब आचरणोंको स्वयं आचरण करे और सव संघको धर्मानुसार चलावे ॥ १७४ ॥ (यह उनतीसवीं स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है) इसप्रकार जिसने अपने पदका सब भार अपने शिष्यको सोंप दिया है, जो किसी कालमें भी किसी तरहका दुःख नहीं करता, सदा अकेला विहार करता है ऐसे उस परम साधुको " मेरा आत्मा सब तरहके परिग्रहसे रहित है " इस प्रकारकी भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १७५ ॥ समस्त परिग्रहरहित जिसकी वृत्ति है, जो अकेला ही विहार करता है, महा तपश्चरण करता है और जो केवल अपने आत्माका संस्कार करना चाहता है उसे अन्य किसी तरहसे संस्कार नहीं करना चाहिये ॥ १७६ ॥ शिष्य पुस्तक आदि सबसे राग छोडकर और निर्ममत्व भावनामें अपनी एकाग्र बुद्धि लगाकर उससमय उसे चारित्रकी विशुद्धता धारण करनी चाहिये ॥ १७७ ॥ [यह तीसवीं निःसंगत्वात्मभावना क्रिया है) इसप्रकार जिसने अपने आत्माका संस्कार किया है जो समाधिमरण धारण करनेके लिये तत्पर हुआ है और जिसने अपने आत्माकी विशुद्धि धारण की है ऐसा वह साधु अपने आत्मामें योगनिर्वाणको प्राप्त होता है अथवा अध्यात्मरूप योगनिर्वाणको प्राप्त होता है॥ १७८ ॥ योग नाम ध्यानका है उस ध्यानके लिये जो संवेगपूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाणसंप्राप्ति कहते हैं॥ १७९ ॥ प्रथम ही शरीरको

तपः ॥ १७९ ॥ कृत्वा परिकर योग्य तनुशोधनपूर्वकं । शरीर कर्शयेद्दोषैः सम रागादिभिस्तदा ॥ १८० ॥ तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना । जीविताशा मृतीच्छा च हित्वाभव्याकलब्धये ॥ १८१ ॥ रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च सश्रयेत् । अनात्मीयेषु चात्मीयसंकल्पाद्विरमेत्तदा ॥ १८२ ॥ नाह देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारण । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावना ॥ १८३ ॥ अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत् ॥ १८४ ॥ मतिमावाय लोकाग्रे नित्यानतसुखास्पदे । भावयेद्योगनिर्वाण स योगी योगसिद्धये ॥ १८५ ॥ इति

शुद्ध करना चाहिये (विरेचन वा वस्तिकर्मके द्वारा उदर शुद्ध करना चाहिये) फिर सल्लेखनाके योग्य आचरण करके उससमय रागादि दोषोंके साथ साथ शरीरको कृश करना चाहिये अर्थात् राग द्वेष छोडकर आहारादिका त्यागकर शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १८० ॥ जीवित रहनेकी आशा और मरनेकी इच्छा छोडकर " यह भव्य है " इसप्रकारकी विरुदावली प्राप्त होनेके लिये जो संन्यास धारण करनेके पहिले भावना की जाती है उसे योग निर्वाण कहते हैं ॥ १८१ ॥ उससमय उसे राग और द्वेष छोड देना चाहिये, अपने आत्माका कल्याण प्राप्त होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये और जो स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि आत्माके नहीं हैं उनमें ये मेरे हैं इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिये ॥ १८२ ॥ मैं शरीर नहीं हूं, मन नहीं हूं, वाणी नहीं हूं, और न इन तीनोंके कारणस्वरूप हूं इसप्रकार इन मन वचन काय तीनोंमें उद्विग्न न होकर 'मैं सबसे भिन्न हूं' ऐसी अन्यत्व भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८३ ॥ इस संसारमें मैं अकेला हूं, न मेरा कोई है और न मैं किसीका हूं इसप्रकार उदारचित्त होकर अच्छीतरहसे एकत्व भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८४ ॥ लोकके अग्रभागपर जो नित्य और अनंत सुखका स्थान मोक्ष है उसमें अपनी बुद्धि स्थापनकर उस योगीको अपना योग सिद्ध करनेके लिये योगनिर्वाण नामकी क्रियाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८५ ॥ (यह एकतीसवीं योग निर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है) तदनंतर—चारोंप्रका-

निर्वाणसंप्राप्तिः ॥ ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगींद्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥ १८६ ॥ उत्तमार्थे कृतास्थानः संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन्मनोवचःकायान्बहिर्भूतान्स्वकान्स्वत ॥ १८७ ॥ प्रणिधाय मनोवृत्तिं पदेषु परमेष्ठिनां । जीवितांते स्वसात्कुर्याद्योगनिर्वाणसाधन ॥ १८८ ॥ योगः समाधिर्निर्वाणं तत्कृता चित्तनिर्वृतिः । तेनेष्टसाधनं यत्तद्योगनिर्वाणसाधन ॥ १८९ ॥ इति योगनिर्वाणसाधनं ॥ तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इंद्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगता ॥ १९० ॥ इंद्राः स्युस्त्रिदशाधीशास्तेषूत्पादस्तपोबलात् । यः स इंद्रोपपादः स्या-

---

रके आहार और शरीरका त्याग करता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनके लिये उद्यत हो ॥ १८६ ॥ जिसने संन्यास धारण करनेमें आदर किया है, शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसे उस योगिराजको अपने मन बचन काय अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न चिंतवन करने चाहिये ॥ १८७ ॥ अपने मनकी प्रवृत्ति पंच परमेष्ठियोंके चरण कमलोंमें रखनी चाहिये और जीवनके अंतिम समयमें योगनिर्वाण साधन स्वीकार करना चाहिये वा धारण करना चाहिये ॥ १८८ ॥ योग समाधिको कहते हैं, उस समाधिके द्वारा जो चित्तको आनंद होता है उसे निर्वाण कहते हैं, यह योगनिर्वाण स्वर्ग मोक्षादि इष्ट पदार्थोंका साधन वा कारण है इसलिये इसे योगनिर्वाण साधन कहते हैं ॥ १८९ ॥ [यह बत्तीसवीं योगनिर्वाण साधन क्रिया है] ऊपर लिखे अनुसार मन बचन कायके योगोंकी समाधि लगाकर और प्राणोंका त्यागकर पुण्यके अग्रेसर होनेसे अर्थात् आगे आगे पुण्य चलनेसे वह योगी इंद्रोपपाद (इंद्र पदमें उत्पन्न होना) क्रियाको प्राप्त होता है ॥ १९० ॥ देवोंके स्वामीको इंद्र कहते हैं, तपश्चरणके बलसे उस इंद्रपदमें उत्पन्न होना इंद्रोपपाद कहलाता है, वह इंद्रोपपाद क्रिया भगवान अरहंत देवके मोक्षमार्गको सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥ १९१ ॥ तदनंतर अर्थात् इंद्रपदमें उत्पन्न होनेके अनंतर क्षणभरमें ही वह पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और दिव्य तेजके द्वारा देदीप्यमान होता हुआ वह परम आनंदमें मग्न

क्रियाऽर्हन्मार्गसेविना ॥ १९१ ॥ ततोऽसौ दिव्यशय्याया क्षणादापूर्णयौवनः । परमानंदसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥ १९२ ॥ अणिमादिभिरष्टाभिर्युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजावरदिव्यस्रङ्मणिभूषणभूषितः ॥ १९३ ॥ दिव्यानुभावमभूतप्रभाव परमुद्वहन् । वोवुध्यते तदाऽत्मीयमैंद्र दिव्यावधित्विषा ॥ १९४ ॥ इति इद्रोपपादक्रिया ॥ पर्याप्तमात्र एवाय प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिंद्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥ १९५ ॥ दिव्यसगीतवादित्रमगलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैर्निवृत्तेद्राभिषेचनः ॥ १९६ ॥ तिरीटमुद्वहन् दीप्र स्वसाम्राज्यैकलाछनं । सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥ १९७ ॥ स्रग्वी सदशुको दीप्रैर्भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐद्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥ १९८ ॥ इति इंद्राभिषेकः ॥ ततोऽयमानतानेता

हो जाता है ॥ १९२ ॥ अणिमामहिमा आदि जो असाधारण आठ गुण हैं उनसे वह विभूषित होता है और साथ साथ उत्पन्न हुये वस्त्र, दिव्यमाला और मणियोंके आभूषणोंसे वह सदा सुशोभित रहता है ॥ १९३ ॥ जव वह दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुये उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता है तव दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा " मैं इंद्रपदमें उत्पन्न हुआ हूं " ऐसा उसे मालूम पडता है ॥ १९४ ॥ (यह तेतीसवीं इंद्रोपपाद क्रिया है) पर्याप्ति पूर्ण होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे उस इंद्रका फिर उत्तम देव लोग इंद्राभिषेक करते हैं १९५ ॥ दिव्य संगीत, दिव्य वाजे, दिव्य मंगलगीतोंके शब्द और विचित्र अप्सराओंके नृत्योंसे वह इंद्रका अभिषेक समाप्त किया जाता है ॥ १९६ ॥ तदनंतर वह अपने साम्राज्यका एक चिन्ह ऐसा देदीप्यमान मुकुट धारण करता है और आनंदको प्राप्त हुये करोडों देवता उसका जयजयकार मनाते हैं अर्थात् उसकी जय बोलते हैं ॥ १९७ ॥ माला पहिने हुये, उत्तम वस्त्र धारण किये हुये और देदीप्यमान दिव्य आभूषणोंसे सुशोभित ऐसा वह इंद्रके सिंहासनपर विराजमान होता है और उससमय वह वहुत ही पूज्य समझा जाता है ॥ १९८ ॥ (यह चौंतीसवीं इंद्राभिषेक क्रिया है) तदनंतर—नमस्कार करते हुये इन उत्तम उत्तम देवोंका आदर सत्कारकर उन्हें अपने अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इंद्र विधिदान

न्सत्कृत्य सुरसत्तमान्। पदेषु स्थापयन्स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥ १९९ ॥ स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृतः। सोऽनुभुंक्ते चिरं कालं सुकृती सुखमामरं ॥ २०० ॥ तदेतद्विधिदानेंद्रसुखोदयविकल्पितं। क्रियाद्वय समाम्नात स्वर्लोकप्रभवोचित ॥ २०१ ॥ इति विधिदानसुखोदयौ ॥ प्रोक्तास्त्विंद्रोपपादाभिषेकदानसुखोदयाः। इंद्रत्यागाख्यमधुना सप्रवक्ष्ये क्रियातर ॥ २०२ ॥ किंचिन्मात्रावशिष्टाया स्वस्यामायुःस्थितौ स्वराट्। बुध्वा स्वर्गावतार स्व सोऽनुशास्त्यमरानिति ॥ २०३ ॥ भो भोः सुधाशना यूयमस्माभिः पालिताश्चिर। केचित्पित्रीयिताः केचित्पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥ २०४ ॥ पुरोधोमंत्र्यमात्याना पदे केचिन्नियोजिताः। वयस्यपीठमर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥ १०५ ॥ स्वप्राणनिर्विशेषं च केचित्त्राणाय संमताः। केचिन्मान्यपदे दृष्टाः

क्रियामें प्रवृत्त होता है, भावार्थ–वह इंद्र उन सब देवोंको अपने अपने पदपर नियुक्त करता है यही विधिदान क्रिया है ॥ १९९ ॥ अपने अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे अत्यंत संतुष्ट हुये ऐसे सब देवोंसे वेष्टित वह पुण्यवान इंद्र बहुत दिनतक स्वर्गोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥ २०० ॥ इसप्रकार स्वर्गलोकमें उत्पन्न होनेके योग्य ऐसी ये विधिदान और इंद्रसुखका उदय इन भेदोंसे दो क्रियायें निरूपण कीं ॥ २०१ ॥ (ये विधिदान और सुखोदय नामकी पेंतीसवीं और छत्तीसवीं क्रियायें हैं) इसप्रकार इंद्रोपपाद, इंद्राभिषेक विधिदान और सुखोदय ये इंद्रकी चार क्रियायें निरूपण कीं अब इंद्रत्याग नामकी जो अलग क्रिया है उसे निरूपण करता हूं ॥ २०२ ॥ इंद्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोडी वाकी रही है ऐसा समझ लेता है और अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंको इसप्रकार शिक्षा वा आज्ञा देता है ॥ २०३ ॥ कि भो देवो ! तुम लोगोंको मैंने बहुत दिनसे पालन किया है कितने ही देवोंको मैंने पिताके समान माना है, कितने देवोंको पुत्रके समान बडे प्रेमसे खिलाया है ॥ २०४ ॥ कितने ही देवोंको पुरोहितके स्थानपर, कितनोंहीको मंत्रीके स्थानपर और कितनोंहीको अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितनोंहीको मित्रके समान देखा है और कितनोंहीको अपने समान माना है ॥ २०५ ॥ कितनेही देवोंको अपने प्राणोंके समान मान-

पालका' स्वर्निवासिनां ॥ २०६ ॥ केचिच्चमूचरस्थाने केचिच्च स्वजनास्थया ।' प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥ २०७ ॥ केचित्परिजनस्थाने केचिच्चातःपुरेचराः । काश्चिद्वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥ २०८ ॥ इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिर्म्यसाधारणी धृता ॥ २०९ ॥ साप्रत स्वर्गभोगेपु गतो मदेच्छतामह । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरद्य भूलोकगोचरा ॥ २१० ॥ युष्मत्साक्षि ततः कृत्स्नं स्वःसाम्राज्य मयोज्झित । यश्चान्यो मत्समोभावी तस्मै सर्वं समर्पितं ॥ २११ ॥ इत्यनुत्सुकता तेपु भावयन्ननुशिष्य तान् । कुर्वन्निंद्रपदत्याग स व्यथा नैति धीरधीः ॥ २१२ ॥ इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वर्भोगातिसर्जन । धीरास्त्यजत्यनायासादैश्यं तादृशमप्यहो ॥ २१३ ॥ इति इन्द्रत्यागः ॥

कर अपने शरीरकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया, और कितनों हीको देवोंके रक्षा करनेके लिये कोटपालके स्थानपर देखा अर्थात् नियुक्त किया ॥ २०६ ॥ कितनोंही को सेनापातिके स्थानपर नियुक्त किया, कितनोंहीको स्वजन माना, कितनों हीको सामान्य प्रजाके समान जाना और कितनों ही को अलग अलग सेवक नियुक्त किया ॥ २०७ ॥ कितनेही देवोंको परिजन [कुटंबी] के स्थान पर और कितनों हीको अंतःपुरमें (रणवासमें) रहनेवालोंकी जगहपर नियुक्त किया, कितनी ही देवियोंको वल्लभिका बनाया और कितनी ही देवियोंको महादेवीके स्थानपर नियुक्त किया ॥ २०८ ॥ इसप्रकार मैंने तुम लोगोंमें असाधारण प्रीति दिखलाई है और तुम लोगोंने भी मुझमें असाधरण स्वामिभक्ति धारण की है ॥ २०९ ॥ अब इससमय मेरी इच्छा समस्त भोगोंमें मंद पड गई है और अवश्य ही आज पृथ्वीलोकमें रहनेवाली लक्ष्मी मेरे समीप आ रही है ॥ २१० ॥ इसलिये मैं आज तुम लोगोंकी साक्षी पूर्वक यह समस्त अपना साम्राज्य छोड देता हूं और जो मेरे पीछे मेरे समान ही दूसरा इंद्र होनेवाला है उसके लिये यह सव समर्पण कर देता हूं ॥ २११ ॥ इसप्रकार उन सब देवोंमें अपनी अनिच्छाका चिंतवन करता हुआ उन सबको शिक्षा दे और निश्चल बुद्धिवाला वह इंद्रपदका त्याग करता हुआ कभी दुखी न हो ॥ २१२ ॥ इसप्रकार जो स्वर्गोंके भोगोंका त्याग

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः संपरिवर्तते । कृतार्हत्पूजनस्याते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥ २१४ ॥ सोऽहं नृजन्मसप्राप्य सिद्धिं द्रागभिलापुकः । चेतः सिद्धनमस्याया समाधत्ते सुराधिराट् ॥ २१५ ॥ शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः ससूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्या कल्याणीमश्नुते क्रियां ॥ २१६ ॥ इति इंद्रावतार. ॥ ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयित्र्या महादेव्याः श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥ २१७ ॥ हिरण्यवृष्टिं धनदे प्राक् पण्मासान्प्रवर्षति । अन्वायात्यामिवानदात्स्वर्गसंपदि भूतल ॥ २१८ ॥ अमृतश्वसने मदमायाति व्याप्तमारुते । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः ॥ २१९ ॥

करना है वह यह इंद्रत्याग क्रिया कहलाती है, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर लोग स्वर्गके ऐसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यको भी अनायास ही छोड देते हैं ॥ २१३ ॥ (यह सेंतीसवीं इंद्रत्याग क्रिया है) तदनंतर—जो वह इंद्र भगवान अरहंत देवकी पूजन करनेके बाद स्वर्गसे च्युत होना चाहता है उसके आगेकी अवतार क्रिया प्रवृत्त होती है ॥ २१४ ॥ मैं मनुष्य जन्म पाकर बहुत शीघ्र सिद्ध (मुक्त) होना चाहता हूं यही समझकर वह इंद्र अपना चित्त सिद्ध भगवानको नमस्कार करनेमें लगाता है ॥ २१५ ॥ शुभ सोलह स्वप्नोंसे जिसने अपना महोदय सूचित किया है ऐसा वह इंद्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है, भावार्थ—वह वहांसे च्युत होकर माताके गर्भमें आता है ॥ २१६ ॥ (यह अडतीसवीं इंद्रावतार क्रिया है) तदनंतर—वे माता महादेवीके श्री ह्री आदि देवियोंके द्वारा विशुद्ध किये हुये रत्नोंकी कोठरीके समान गर्भमें आकर अवतार लेते हैं ॥ २१७ ॥ गर्भमें आनेके छह महीने पहिलेसे कुबेर उनके घरपर रत्नोंकी वर्षा करता है वह रत्नोंकी वर्षा ऐसी जान पडती है मानों आनंदसे स्वर्गकी संपदा ही भगवानके साथ साथ पृथ्वीपर आ रही हो ॥ २१८ ॥ उससमय अमृतके समान सुख देनेवाला मंद मंद वायु फैलकर समस्त संसारमें बहता है और ऐसा जान पडता है मानों वायुकुमार देवोंके द्वारा पृथ्वीरूपी देवीका निश्वास ही निर्मापण किया गया हो ॥ २१९ ॥ आकाशमें बजते हुये दुंदुभियोंकी गंभीर आवाज

दुंदुभिध्वनिते मंद्रमुत्थिते पथि वार्मुचा । अकालस्तनिताशंकामातन्वति शिखंडिना । २२० ॥ मंदारस्रजमम्लानिमामोदाहृतषट्पदां । मुंचत्सु गुह्यकाख्येषु निकायेष्वमृताशिना ॥ २२१ ॥ देवीषूपचरंतीषु देवीं भुवनमातर । लक्ष्म्या स्वय समागत्य श्रीन्हीधीधृतिकीर्तिषु ॥ २२२ ॥ कस्मिंश्चित्सुकृतावासे पुण्ये राजर्षिमंदिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥ २२३ ॥ हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्यत्वात्स तथा श्रुतिं । बिभ्राणा ता क्रिया धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥ २२४ ॥ इति हिरण्यजन्मता ॥ विश्वेश्वरी जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमगला चेति धत्ते रूढिं जिनाम्बिका ॥ २२५ ॥ कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीन्हीधीधृतिकीर्तय । समं लक्ष्म्या षडेताश्च संमता जिनमातृकाः ॥ २२६ ॥ जन्मानतरमायातैः सुरेंद्रैर्मेरुमूर्द्ध-

---

फैलती है और असमयमें ही मयूरोंको वादलोंके गरजनेकी शंका उत्पन्न करती है ॥ २२० ॥ जिस समय देवोंमेंसे गुह्यक जातिके देव जो कभी मलिन नहीं होते, जिन्होंने अपनी सुगंधसे सव भ्रमरोंको अपनी ओर खींच लिया है ऐसे कल्पवृक्षोंके फूलोंकी वर्षा करते हैं ॥ २२१ ॥ जिस समय लक्ष्मी देवीके साथ साथ श्री, न्ही, धृति, बुद्धि और कीर्ति ये देवियां आकर संसारकी माता ऐसी उस महादेवीकी सेवा करती हैं ॥ २२२ ॥ उस समय किसी पुण्यस्थानमें पुण्यस्वरूप राजर्षिके राजभवनमें वे हिरण्यगर्भ भगवान हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥ २२३ ॥ हिरण्य अर्थात् सुवर्ण वा रत्नोंकी वर्षा होनेसे उस जन्मकी उत्तमता सूचित होती है इसलिये ही इस भगवानके जन्मको हिरण्योत्कृष्ट जन्म कहते है, इसप्रकार गर्भमें ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले वे भगवान 'हिरण्योत्कृष्ट जन्म' इस नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥ २२४ ॥ (यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्टजन्मता क्रिया है) उससमय वह भगवानकी माता विश्वेश्वरी अर्थात् संसारकी स्वामिनी, जगतमाता, महादेवी, महासती, पूज्या, और सुमंगला (उत्तम कल्याण करनेवाली) इत्यादि नामोंको धारण करती है ॥ २२५ ॥ छह कुल पर्वतोंपर रहनेवालीं श्री, न्ही, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मीदेवी ये छह देवियां जिनमातृका वा माताकी सेवा

नि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥ २२७ ॥ मंदरेंद्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिन. । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद्भूयो नेह प्रतन्यते ॥ २२८ ॥ इति मदरेंद्राभिषेक. ॥ ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । शिष्यभावव्यतिक्रान्तिर्गुरुपूजोपलभनं ॥ २२९ ॥ तदेंद्राः पूजयंत्येतं त्रातार त्रिजगद्गुरु । अशिक्षितोऽपि देवत्वं समतोऽसीति विस्मिताः ॥ २३० ॥ इति गुरुपूजनं ॥ तत' कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलभनं । पट्टबंधोऽभिषेकश्च तदाऽस्य स्यान्महौजसः ॥ २३१ ॥ इति यौवराज्यं ॥ स्वराज्यमधिराज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीश्वरैः । शासतः सार्णवामेना क्षितिमप्र-

करनेवाली कहलाती हैं ॥ २२६ ॥ भगवानके जन्म लेते ही जो सब देव और इंद्र आते हैं तथा मेरुपर्वतके मस्तकपर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवानका अभिषेक करते हैं वह उन परमेष्ठीकी मंदराभिषेक नामकी क्रिया कहलाती है वह मंदराभिषेक क्रिया प्रसिद्ध है, (भगवान वृषभदेवके जन्म के समय पहिले कह चुके हैं) इसलिये फिर दुवारा उसका विस्तार नहीं करते हैं ॥ २२७–२२८ ॥ (यह चालीसवीं मंदराभिषेक क्रिया है) तदनंतर–स्वयंभू और स्वतंत्र वे भगवान् विद्याके उपदेशको प्राप्त होते हैं, शिष्यभावके विना ही अर्थात् विना किसीके शिष्य वने वे भगवान गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् सवके गुरु वनकर पूज्य होते हैं ॥ २२९ ॥ उससमय सव इंद्र आकर " हे देव ! आप विना शिक्षा प्राप्त किये ही हम लोगोंको मान्य हैं " इसप्रकार कहते हुये आश्चर्यके साथ साथ तीनों जगतके गुरु और सबकी रक्षा करनेवाले ऐसे उन भगवानकी पूजा करते हैं ॥ २३० ॥ (यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है) तदनंतर–कुमारकाल प्राप्त होनेपर उनको युवराजकी प्राप्ति होती है उससमय अत्यंत तेजस्वी ऐसे उन भगवानका पट्टबंध किया जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥ २३१ ॥ यह बियालीसवीं यौवराज्य क्रिया है । तदनंतर–सव राजा लोगोंने सम्राट्के स्थानपर जिनका अभिषेक किया है और जो जिसपर अन्य किसीकी आज्ञा नहीं चलती ऐसी समुद्र सहित इस समस्त पृथ्वीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवानके स्वराजकी प्राप्ति होती है ॥२३२ ॥(यह तेतालीसवीं

श्चावि बिभ्राणः कुलक्ष्माध्रद्वयायितं ॥ २४६ ॥ कटिमंडलसंसक्तलसत्कांचीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपांतरत्नवेदीपरिष्कृत. ॥ २४७ ॥ मंदारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥ २४८ ॥ तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मगलभूषण । स तदाऽऽलक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्याः पुज इवोच्छिखः ॥ २४९ ॥ प्रीताश्चाभिष्टुवत्येन तदाऽमी नृपसत्तमाः । विश्वंजयो दिशाजेतादिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥ २५० ॥ पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः । तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वंति स्वशिरोधृतं ॥ २५१ ॥ श्रीदेव्यश्चसरिद्देव्यो देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगैः स्वैस्तदैन पर्युपास-

---

अर्थात् कंधे ऊंचे होते हैं और कुलपर्वत जिस प्रकार लंबाईमें प्रशंसनीय हैं उसीप्रकार वे भुजायें भी लंबाईमें प्रशंसनीय होती हैं इसप्रकारकी कडोंसे सुशोभित भुजायें वे धारण करते हैं॥ २४६ ॥ कमरपर सटी हुई दैदीप्यमान करधनीसे वे ऐसे जान पडते हैं मानों चारों ओर रत्नकी वेदीसे घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो ॥ २४७ ॥ मंदार जातिके फूलोंसे बना हुआ ऐसा शेखर धारण करते हैं जो उस शेखरमें लगे हुये फूलोंकी सुगंधके कारण आये हुये भ्रमरोंके समूहके झंकरोंसे ऐसा जान पडता है मानों उसने कुछ गाना ही प्रारंभ किया हो ॥ २४८ ॥ वे उससमयके योग्य ऐसे और भी मांगलिक आभूषण धारण करते हैं और इसलिये उससमय वे ऐसे जान पडते हैं मानों जिसकी शिखा ऊंची है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुंज वा ढेर (समूह) ही हो ॥ २४९ ॥ उससमय अन्य उत्तम उत्तम राजा लोग संतुष्ट होकर " आपने समस्त संसार जीत लिया है, आप सब दिशाओंके जीतनेवाले हैं और दिव्य मूर्ति हैं " इसप्रकार उनकी स्तुति करते हैं ॥ २५० ॥ मंत्रियोंमें मुख्य मुख्य मंत्री और नगरवासी लोग उनके चरणोंका अभिषेक करते हैं और उनका चरणोदक लेकर अपने अपने मस्तक पर रखते हैं ॥ २५१ ॥ श्री ह्री आदि देवियां, गंगा सिंधु आदि देवियां तथा विश्वेश्वरा आदि देवियां अपने अपने नियोगके अनुसार आकर उनकी सेवा करती हैं ॥ २५२ ॥ (यह छ्यालीसवीं चक्राभिषेक क्रिया है) इसप्रकार यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही, उसके बाद अब उसकी

ते ॥ २५२ ॥ इति चक्राभिषेकः ॥ चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनंतरमस्य स्यात्साम्राज्याख्यं क्रियांतरं ॥ २५३ ॥ अपरेद्युर्दिनारभे धृतपुण्यप्रसाधनः । मध्येमहान्नृपसभ नृपासनमधिष्ठितः ॥ २५४ ॥ दीप्रैः प्रकीर्णकव्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमानः समततः ॥ २५५ ॥ सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः परिष्कृतः । धृतिप्रशातिदीप्त्योजोनिर्मलत्वोपपादिभिः ॥ २५६ ॥ तान् प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । संमानदानविश्रभैः प्रकृतीरनुरंजयन् ॥ २५७ ॥ पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः । अन्यायेपु प्रवृत्तिश्चेद्वृत्तिलोपो ध्रुव हि वः ॥ २५८ ॥ न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालन । सोऽय सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥ २५९ ॥ दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्युर्वि-

---

साम्राज्य नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं॥ २५३ ॥ दूसरे किसी दिन प्रातःकालके समय जिन्होंने पवित्र अलंकार धारण किये हैं ऐसे वे महाराज बडे बडे राजाओंकी सभाके बीचमें सिंहासनपर विराजमान हों ॥ २५४ ॥ उससमय अत्यंत दैदीप्यमान, गंगा नदीके जलकी छींटोंके समान उज्वल और गणिकाओंके हाथसे ढुलाये जारहे ऐसे अनेक चमर उनपर ढुलाये जाने चाहिये ॥ २५५ ॥ धीरता, शांति, दीप्ति, पराक्रम और निर्मलता आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले क्रमसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनकी विक्रियासे बने हुये शरीरोंसे वेष्ठित वे महाराज उन देवताओंको समाधान पूर्वक सदा प्रजाके अनुग्रह करनेमें लगाते हैं तथा आदरसत्कारकर दान देकर और स्नेह वा विश्वास दिलाकर प्रजाको प्रसन्न करते हैं ॥ २५६–२५७ ॥ जो राजा महाराजा लोग आकर नमस्कार करते हैं उन्हें वे शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि तुम लोग अन्यायमें अपनी प्रवृति रक्खोगे तो अवश्य ही तुम लोगोंकी वृत्तिका लोप हो जायगा अर्थात् तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ॥ २५८ ॥ न्याय दो प्रकारका है एक दुष्ट पुरुषोंको निग्रह करना अर्थात् उन्हें दंड देना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना, यह दो प्रकारका क्षत्रियोंका सनातन धर्म है, राजाओंको इस धर्मकी रक्षा अच्छीतरह करनी चाहिये ॥ २५९ ॥ राजा-

धानतः । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यभावुको जय' ॥ २६० ॥ राजवृत्तिमिमां सम्यक्पालयद्भिरतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवाद्भिर्न्यायवर्त्मना ॥ २६१ ॥ पालयेद्य इम धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्षमा जयेद्विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविक' ॥ २६२ ॥ इहैवं स्यायशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात्त्रैलोक्यनिर्जयः ॥ २६३ ॥ इति भूयोऽनुशिष्यैतान्प्रजापालनसंविधौ । स्वय च पालयत्येतान्योगक्षेमानुचिंतनै. ॥ २६४ ॥ तदिद तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियातर । येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नंदति ॥ २६५ ॥ इति साम्राज्य ॥ एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयत-

---

ओंको अग्निवाण आदि जो दिव्य शस्त्र हैं उनके इन देवताओंको भी विधि पूर्वक आराधन करना चाहिये क्योंकि यदि उन दिव्य शस्त्रोंके अधिष्ठाता देवता प्रसन्न हो जायंगे तो फिर युद्धमें अवश्य ही जीत हो जायगी ॥ २६० ॥ इस राजवृत्तिको (राजाओंके कर्तव्योंको) अच्छीतरह पालन करते हुये आप लोग आलस्य छोडकर प्रजाके साथ न्यायमार्गसे अपना वर्ताव करो ॥ २६१ ॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है और इसप्रकार जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी जीविका है ऐसा वह क्षत्रिय समस्त पृथ्वीको जीत लेता है ॥ २६२ ॥ इसप्रकार न्यायपूर्वक राजधर्म पालन करनेसे इस संसारमें उसे यश मिलता है, वहुतसी पृथ्वीका लाभ होता है अर्थात् वहुतसी पृथ्वी जीत लेता है और जिसकी प्रशंसातक न होसके ऐसे महोदय (उन्नति) की प्राप्ति होती है, तथा परलोकमें स्वर्गादि अभ्युदयकी प्राप्ति होती है और अनु क्रमसे वह तीनों लोकोंको जीत लेता है अर्थात् सिद्ध पद पाकर तीनों लोकोंके ऊपर जा विराजमान होता है ॥ २६३ ॥ इसप्रकार वे महाराज प्रजाको पालन करनेकी रीतियोंके विषयमें उन राजा लोगोंको वार वार शिक्षा देते हैं और योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसकी प्राप्ति करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु प्राप्त हुई है उसकी रक्षा करना इन दोनोंको रातादिन चिंतवन करते हुये उन राजा लोगोंका पालन करते हैं ॥ २६४ ॥ इसप्रकार धर्मसे प्राप्त हुई यह उनकी साम्राज्य नामकी क्रिया

श्चिर । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥ २६६ ॥ सैषा निष्क्रातिरस्येष्टा क्रिया राज्याद्विरज्यतः। लौकांतिकामरैर्भूयो वोधितस्य समागतैः ॥ २६७ ॥ कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ पार्थिवसाक्षिक । संतानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनं ॥ २६८ ॥ त्वया न्यायधनेनाग भावितव्य प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघाधेनुर्मता न्यायेन योजिता ॥ २६९ ॥ राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जन । वर्धन रक्षण चास्य तीर्थेच प्रतिपादनं ॥ २७० ॥ प्रजाना पालनार्थं च मत मत्यनुपालन । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥ २७१ ॥ ततः कृतेंद्रियजयो वृद्धसंयोगसपदा । धर्मार्थशास्त्रविज्ञानात्

है, इस क्रियाके पालन करनेसे यह जीव इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख संपत्तियोंको प्राप्त होता है ॥ २६५ ॥ (यह सेंतालीसवीं साम्राज्य क्रिया है) इसप्रकार बहुत दिनतक राजा लोगोंका पालन करते हुये वे महाराज किसी समय भेद ज्ञान होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उद्यमी होते हैं ॥ २६६ ॥ जो राज्यसे विरक्त हुये हैं और आये हुये लौकांतिक देव फिर भी जिन्हें प्रबोध करा रहे हैं ऐसे उन भगवानकी वह निष्क्रांति वा निष्क्रमण क्रिया कही जाती है ॥ २६७ ॥ वे महा राज सब राजाओंकी साक्षी पूर्वक अपने वडे पुत्रको राज्य समर्पण करते हैं और फिर संतान पालन करनेके लिये उसे इसप्रकार शिक्षा देते हैं ॥ २६८ ॥ कि हे पुत्र ! प्रजाके पालन करनेमें तू न्याय रूपी धनसे काम लेना अर्थात् न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करना क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा कामधेनु गायके समान इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाली मानी जाती है ॥ २६९ ॥ हे पुत्र ! मैं जो आगे कहता हूं उन्हें ही तू राजवृत्त वा राजाओंके चरित्र समझ, और वे ये हैं, न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करना, उपार्जन किये हुये धनको वढाना, रक्षा करना और सिद्धक्षेत्र आदि तीर्थ और योग्य पात्रोंको देना ॥ २७० ॥ प्रजाका पालन करनेके लिये सबसे पहिले अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिये, इस लोक और परलोकमें होनेवाले पदार्थोंके विषयमें हित अहितका ज्ञान होना ही बुद्धि कहलाती है, भावार्थ--ऐसी बुद्धिकी रक्षा करनेसे प्रजाका पालन अच्छीतरहसे हो सकता

प्रज्ञा संस्कर्तुमर्हसि ॥ २७२ ॥ अन्यथा विमतिर्भूयो युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥ २७३ ॥ कुलानुपालने चाय महांत यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत्कुलं ॥ २७४ ॥ तथाऽऽत्मानुरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षिते हि भवेत्सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥ २७५ ॥ अपायो हि सपत्नेभ्यो नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात् ॥ २७६ ॥ तस्माद्रसदतीक्ष्णादीनपायानरियोजितान् । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्व प्रयत्नेन पालयेत् ॥ २७७ ॥ स्यात्समंजसवृत्तित्वमप्यस्याभिरक्षणे । असमंजसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभू-

---

है ॥ २७१ ॥ इसलिये वृद्ध पुरुषोंकी संगतिरूपी संपत्तिसे इंद्रियोंका विजय करना चाहिये और धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्रके विज्ञानसे अपनी बुद्धिका अच्छा संस्कार करना चाहिये अर्थात् अपनी बुद्धि निर्मल करनी चाहिये ॥ २७२ ॥ यदि राजा अपनी बुद्धिको निर्मल नहीं रक्खेगा तो योग्य अयोग्यका जानकर न होनेसे उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जायगी, अथवा वह मिथ्याज्ञानके लेशसे उद्धत हुये ऐसे अन्य लोगोंके विपरीत रूपसे वश हो जायगा अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके वश होकर कुमार्गगामी हो जायगा (इसलिये राजाओंको अपनी बुद्धिकी रक्षा करना सबसे पहिला काम है) ॥ २७३ ॥ राजा लोगोंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करनेके लिये सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जो अपने कुलके धर्मोंको नहीं जानेगा तो वह दुराचारी होकर अवश्य ही अपने कुलको दोष लगावेगा ॥ २७४ ॥ इसीप्रकार राजाको अपनी रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये क्योंकि अपनी रक्षा करनेपर ही राजा लोग कुल, प्रजा आदि सबकी रक्षा कर सकते हैं ॥ २७५ ॥ जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता है वह शत्रुओंके द्वारा नष्ट होता है तथा क्रोधी, लोभी और जिनका अपमान किया है ऐसे अपने ही सेवक लोगोंसे उसका नाश होता है ॥ २७६ ॥ इसलिये शत्रुओंके द्वारा किये हुये प्रारंभमें सुख देनेवाले परंतु अत्यंत कठिन ऐसे अपायोंको दूर कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्न पूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥ २७७ ॥ इसके सिवाय रा-

यते ॥ २७८ ॥ समंजसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता । आनृशंस्यमवाग्दंडपारुष्यादिविशेषितं ॥ २७९ ॥ ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमां । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य चेह च नंदति ॥ २८० ॥ सम समजसत्वेन कुलमत्यात्मपालनं । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिता ॥ २८१ ॥ ततः क्षात्रमिम धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशो धर्मं विजय च स्वमाप्नुहि ॥ २८२ ॥ प्रशातधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य त । परिनि-

---

जाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेकेलिये समंजस वृत्ति अर्थात् योग्य आचरण करनेवाला वा सबको एकसा देखनेवाला होना चाहिये क्योंकि जो राजा सबको एकसा न देखेगा किसीका पक्ष-पात करेगा तो उसके ही सेवक लोग उसका तिरस्कार कर देंगे ॥ २७८ ॥ सब प्रजाको पक्षपात रहित एकसा देखना राजाका समंजसत्व नामा गुण है उस समंजसत्व गुणमें क्रूरता वा घातकपना नहीं होना चाहिये, कठोर बचन और कठोरता अर्थात् कठिन दंडदेना आदि नहीं होने चाहिये भावार्थ–इन दोषोंसे रहित सब प्रजाको एकसा देखना ही समंजसत्व गुण है ॥ २७९ ॥ तदनंतर–काम, क्रोध, मान, लोभ, हर्ष और मद इन अंतरंग छह शत्रुओंको जीतकर ऊपर लिखे हुये अपने धर्मको अर्थात् राजओंके वा क्षत्रियोंके धर्मको पालन करता हुआ अपने राज्यमें स्थिर रहता है वह राजा इसलोक और परलोक दोनों जगह सुखी रहता है ॥ २८० ॥ पक्षपात रहित सबको एकसा देखना, कुलकी मर्यादा पालन करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना, इसप्रकार यह राजाओंका धर्म वा वृत्ति कही जाती है ॥ २८१ ॥ इसलिये हे पुत्र ऊपर लिखे अनुसार इस क्षात्रियोंके धर्मको यथायोग्य रीतिसे पालन करता हुआ तू अपने राज्यमें स्थिर होकर अपना यश, धर्म, और विजय प्राप्त कर ॥ २८२ ॥ जिनकी बुद्धि अत्यंत शांत है और जिन्हें भेद ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान ऊपर लिखे अनुसार अपने पुत्रको शिक्षा देते हैं और फिर निष्क्रमण वा दीक्षा कल्याण करनेके लिये इंद्र लोग आकर उनका पूजन करते हैं ॥ २८३ ॥ तदनं-

ष्क्रातिकल्याणे सुरेन्द्रैरभिपूजित ॥ २८३ ॥ महादानमथो दत्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रामति गृहाद्वनं ॥ २८४ ॥ धौरेयैः पार्थिवैः किंचित्समुत्क्षिप्ता महीतलात् । स्कंधाधिरोपिता भूयः सुरेन्द्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥ २८५ ॥ आरूढ शिबिका दिव्या दीप्तरत्नाविनिर्मिता । विमानवसति भानोरिवाऽऽयाता महीतल ॥ २८६ ॥ पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु संदिग्धार्कप्रभं नभः ॥ २८७ ॥ अतःस्थितेषु संप्रीत्या पार्थिवेषु ससंभ्रम । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवोदय ॥ २८८ ॥ अनुयायिनि तत्त्यागादिव मंदीभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां संदोहेऽभ्यर्णसक्षये ॥ २८९ ॥ सैन्ये च कृतसन्नाहे शनैः समनुगच्छति । मरुद्धूतध्वजव्रातानिरुद्धपवनाध्वनि ॥ २९० ॥ ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसा गणे ।

तर महादान देकर साम्राज्यपदका त्याग करते हुये वे राजर्षि महाराजाधिराज घरसे वनके लिये निकलते हैं ॥ २८४ ॥ जिस पालकीपर वे सवार होते हैं उस पालकीको प्रथम ही मुख्य मुख्य राजा लोग पृथ्वीसे उठाकर कंधेपर रखकर थोडी दूर तक लेजाते हैं और फिर भक्तिसे भरे हुये इंद्र लोग उस पालकीको ले जाते हैं ॥ २८५ ॥ जो पालकी दिव्य अर्थात् देवोंकी वनाई हुई है, दैदीप्यमान रत्नोंसे वनी हुई है और जो ऐसी जान पडती है मानों सूर्यका विमान ही उतरकर पृथीपर आगया हो ऐसी पालकीपर वे भगवान सवार होते हैं ॥ २८६ ॥ जिससमय समस्त आकाशको रोकते हुये और अपनी कांतिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका संदेह उत्पन्न करते हुये चारों प्रकारके देव आगे चलते हैं ॥ २८७ ॥ जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रगट हुआ है ऐसे कुमारको (जिसे भगवानने राज्य समर्पण किया है) आगे करके वडे प्रेम और संभ्रम [चाकित होना] के साथ साथ सव राजा लोग भगवानके समीप खडे होते हैं ॥ २८८ ॥ जिनका भगवानके समीप रहना छूट चुका है और भगवानने छोड देनेसे ही मानों जिनकी कांति मंद होगई है ऐसे निधि और रत्नोंका समूह जिससमय उनके पीछे पीछे आता है ॥ २८९ ॥ जिससमय वायुके द्वारा उडती हुई ध्वजाओंके समूहसे जिसने वायुका मार्ग भी रोक दिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना वा व्यूह वनाकर

गायतीषु कलकाणं किन्नरीषु च मंगलं ॥ २९१ ॥ भगवानभिनिष्क्रातः पुण्ये कस्मिँश्चिदाश्रमे । स्थितः शिलातले स्वस्मिँश्वेतसीवातिविस्तृते ॥ २९२ ॥ निर्वाणदीक्षयाऽऽत्मान योजयन्नद्भुतोदयः । सुराधिपैः कृतानदमर्चितः परयेज्यया ॥ २९३ ॥ योऽत्र शेषो विधिर्मुक्तकेशपूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रातौ वृषभेशिनः ॥ २९४ ॥ इति निष्क्रातिः । परिनिष्क्रांतिरेषा स्यात्क्रिया निर्वाणदायिनी । अतःपरं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसंमहः ॥ २९५ ॥ यदाऽय त्यक्तबाह्यातरसंगोनैस्संगयमाचरेत् । सुदुर्धर तपोयोग जिनकल्पमनुत्तरं ॥ २९६ ॥ तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे । शुक्लध्यानाग्निनि-

---

धीरे धीरे पीछे पीछे आती है ॥२९०॥ जिससमय देवताओंके तुरई आदि मंगल बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी जातिकी देवियां मधुर मधुर शब्दोंसे मंगल गीत गाती हैं ॥ २९१ ॥ उस समय किसी पुण्यवान् आश्रममें अपने चित्तके समान अत्यंत विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर वे भगवान दीक्षा लेते हैं ॥ २९२ ॥ इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है ऐसे वे भगवान निर्वाण दीक्षासे अपने आत्माको विभूषित करते हैं और इंद्रलोग बडी उत्कृष्ट पूजाकी सामग्रीसे बडे आनंदके साथ उनकी पूजा करते हैं ॥ २९३ ॥ इस क्रियामें केशलोंच करना, भगवानकी पूजा करना आदि जो बाकीकी विधि है वह सब भगवान वृषभदेवके दीक्षा कल्याणके समय पहिले कह चुके हैं ॥ २९४ ॥ (इसप्रकार यह अडतालीसवीं निष्कांति क्रिया है) यह मोक्ष देनेवाली परिनिष्क्रांति नाम है । इसके बाद मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवानकी योगसम्मह नामकी क्रिया होती है ॥ २९५ ॥ जब वे भगवान बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह छोडकर परिग्रह रहित होते हैं और जो अत्यंत काठिन है, जिससे उत्तम और तप नहीं है ऐसे जिनकल्प नामके तपश्चरणके योगको धारण करते हैं, तब जिन्होंने क्षपक श्रेणी प्रारंभ की है और यथायोग्य स्थानपर जाकर अर्थात् योग्य गुणस्थानमें शुक्लध्यान रूपी अग्निसे घातिया कर्म रूपी अत्यंत सघन बन जलादिया है ऐसे उन भगवानके समस्त बाह्य अंतरंग मलके नाश

दग्धघातिकर्मवनाटवेः ॥ २९७ ॥ प्रादुर्भवति नि शेषवहिरंतर्मलक्षयात् । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकं ॥ २९८ ॥ तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्राप्तुपः परम मह. । योगसम्मह इत्याख्यामनुश्रुत्ते क्रियातरं ॥ २९९ ॥ ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । माहिमातिशयः सोऽयमाम्नातो योगसम्मह' ॥ ३०० ॥ इति योगसमह' ॥ ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । वहिर्विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥ ३०१ ॥ प्रातिहार्याष्टकं दिव्य गणा द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्याव'ी सालवलयः केतुमालिका ॥ ३०२ ॥ इत्यादिकामिमा भूतिमद्भुतामुपविभ्रतः । स्यादार्हंत्यमिति ख्यातं क्रियातर मनंतर ॥ ३०३ ॥ इति आर्हंत्यक्रिया ॥ विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपचितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥ ३०४ ॥

होजानेसे लोक और अलोकको प्रकाश करनेवाला परम ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है ॥ २९६-२९७-२९८ ॥ उस समय जिन्हें सिद्ध पद प्राप्त करना ही शेष रह गया है और जिन्हें परम तेज प्राप्त हुआ है ऐसे उन भगवानके योगसम्मह नामकी एक भिन्न क्रिया होती है ॥ २९९ ॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो परम अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥ ३०० ॥ (यह उनंचासवीं योगसम्मह क्रिया है) तदनंतर–केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इंद्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवानके प्रातिहार्य आदि वाह्य विभूति उत्पन्न होती है, आठ प्रातिहार्य, वारह प्रकारकी दिव्य सभा, स्तूप हर्म्यावली (मकानोंकी पंक्ति), कोट, धूलिवलय, पताकाओंकी पंक्ति इत्यादि इस अद्‌भुत विभूतिको जो वे भगवान धारण करते हैं उनके वह केवलज्ञानके वाद होनेवाली आर्हंत्य नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ३०१-३०२-३०३ ॥ (यह पचासवीं आर्हंत्य नामकी क्रिया है) धर्मचक्रको आगेकर जो भगवानका विहार होता है, जो प्रसिद्ध है और जिसका वर्णन पहिले कर चुके है इसलिये फिर दुबारा जिसका निरूपण नहीं करते हैं वह यह इक्यावनवीं विहार क्रिया हैं ॥ ३०४ ॥ तदनंतर परमार्थकी सिद्धिके लिये धर्ममार्गको प्रगट करनेके लिये जिन्होंने तीर्थ विहार किया है उनके योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥ ३०५ ॥

इति विहारक्रिया ॥ ततः परार्थसंपत्त्यै धर्ममार्गोपदेशनैः । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥ ३०५ ॥ विहारस्योपसंहारः सँह्रतिश्च सभावने"। वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागःस उच्यते ॥ ३०६ ॥ यत्र दडकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियातरं । तदंतर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥ ३०७ ॥ इति योगत्यागक्रिया ॥ ततो निरुद्धनिःशेषयोगास्यास्य जिनेशिन' । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य प्रक्षीणाघातिकर्मणः ॥ ३०८ ॥ क्रियाऽग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमायुष. । स्वभावजनितामूर्ध्वव्रज्यामास्कदतो मता ॥ ३०९ ॥ इति अग्रनिर्वृतिः । इति निर्वाणपर्यंताः क्रिया गर्भादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयास्त्रिपचाशत्समुच्चयाः ॥ ३१० ॥ यथोक्तविधिनैताः स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रातर्गतो भेदस्त वक्ष्युत्तरपर्वणि ॥ ३११ ॥ इत्युच्चैर्भरताधिपः

जिसमें विहार करना समाप्त करदेना पडे, समवसरण विघट जाय और योग निरोध करनेके लिये अपनी वृत्ति करनी पडे उसे योगत्याग कहते हैं ॥ ३०६ ॥ दंड कपाट आदिकी प्रसिद्धिके लिये जो विशेष क्रियायें की जाती हैं और जो केवलिसमुद्‌घात किया जाता है वह भी इस योगत्याग नामकी क्रियामें ही अंतर्भूत (शामिल) हो जाता है इसलिये उसे योगत्यागसे अलग नहीं कहा है ॥ ३०७ ॥ (यह बावनवीं योगत्याग क्रिया है) तदनंतर जिनके समस्त योगोंका निरोध हो गया है, जो जिनोंके भी स्वामी जिनेंद्र हो गये हैं, जिन्हें शीलके अठारह हजार भेदोंके स्वामीपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है अर्थात् जो अठारह हजार शीलके स्वामी हो गये हैं, जिनके अघातिया कर्म भी नष्ट हो गये हैं, जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हुये हैं और उत्कृष्ट मोक्षस्थान पहुंच गये हैं उनके अग्रनिर्वृत्ति नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ३०८–३०९ ॥ (यह तिरेपनवीं अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है) इसप्रकार गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत जो सब मिलाकर तिरेपन क्रियायें हैं भव्यात्मा लोगोंको उनका सदा अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३१० ॥ द्विज लोगोंको ऊपर लिखी हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिये, इन क्रियाओंके और जो अतर्गत भेद हैं

स्वसमये संस्थापयन् तान्द्विजान् संप्रोवाच कृती सता बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः । गर्भाद्याः परिनिर्वृतिप्रगमनप्रांतास्त्रिपञ्चाशतं प्रारेभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥ ३१२ ॥ यस्त्वेता द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः श्रुत्वा सम्यगधीत्य भावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने । सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः संपादयन्नाचरेद्भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगतिचूडामणित्वं भजेत् ॥ ३१३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे द्विजोत्पत्तौ गर्भान्वयक्रियावर्णनं नामाष्टत्रिंशत्तमं पर्व ।

वे सब हम आगेके पर्वमें कहेंगे ॥ ३११ ॥ इसप्रकार उन पुण्यवान् महाराज भरतने उन द्विजोंको अपने जैनमार्गमें स्थापन करते हुये सज्जनोंको अतिशय मान्य ऐसी जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाण-गमनपर्यंत तिरेपन गर्भान्वय क्रियायें हैं वे सब कहीं और गर्भान्वय क्रियाओंके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियायें हैं उनका कहना प्रारंभ किया ॥ ३१२ ॥ उत्तम उत्तम द्विजोंको मान्य ऐसी जो ये गर्भाधानादिक उत्तम क्रियायें कहीं हैं उन्हें सुनकर, अच्छीतरह पढकर जो अरहंत भगवानके दर्शनमें वा मतमें निर्मल बुद्धि धारण करता है तथा उचित सामग्रीके मिलनेपर दूसरेलोगोंसे इन क्रियाओंको कराता हुआ स्वयं भी इनका अनुष्ठान करता है वह भव्यात्मा पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंका चूडामणि होता है ॥ ३१३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्ति और गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला यह अडतीसवा पर्व समाप्त हुआ.

अथ एकोनत्रिंशत्तमं पर्व ।

अथाब्रवीद्द्विजन्मभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता निःश्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥ १ ॥ श्रूयता भो द्विजन्मानो वक्ष्ये निःश्रेयसीः क्रिया । अवतारादिनिर्वाणपर्यंता दीक्षितोचिताः ॥ २ ॥ व्रताधिकरणं दीक्षा द्विधाऽऽम्नात च तद्व्रतं । महच्चाणु च दोषाणा कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥ ३ ॥ महाव्रत भवेत्कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जन । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रत मत ॥ ४ ॥ तदुन्मुखस्य या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता । तामान्विता क्रिया या तु सा स्यादीक्षान्वयक्रिया ॥ ५ ॥ तस्यास्तु भेदसख्यान प्राग्निर्णीत पडष्टकं । क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्ष्मवर्णनं ॥ ६ ॥ तत्रावतारसंज्ञा

अथ उन्तालीसवां पर्व

अथानंतर—सोलहवें मनु महाराज भरत उन द्विजोंके लिये मोक्ष फल देनेवाली अडतालीसवीं दीक्षान्वय क्रियायें कहने लगे ॥ १ ॥ वे कहने लगे कि हे द्विजो! अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यंत जो मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियायें हैं उन्हें कहता हूं तुम लोग सुनो ॥ २ ॥ व्रतोंका धारण करना दीक्षा है वे धारण करने योग्य व्रत दो प्रकारके हैं एक तो हिंसादि पांचों पापोंका पूर्ण त्याग जिसे महाव्रत कहते हैं और दूसरा उन्हीं पापोंका एकदेश त्याग जिसे अणुव्रत कहते हैं ॥ ३ ॥ हिंसादि पांचों पापोंका पूर्ण रीतिसे त्याग करना महाव्रत है और हिंसादि पापोंका स्थूलरूपसे त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥ ४ ॥ उन व्रतोंके ग्रहणकरनेके लिये जो मनुष्यकी प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं उस दीक्षाके साथ होनेवाली जो क्रियायें हैं उन्हें दीक्षान्वय क्रियायें कहते हैं ॥ ५ ॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंके भेद अडतालीस हैं जो कि पाहिले कहे जा चुके हैं । अब उनके भेदोंके लक्षण निरूपण करते हैं ॥ ६ ॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहिली क्रियाका नाम अवतार क्रिया है । जब मिथ्यात्वसे दूषित ऐसा मिथ्यादृष्टी पुरुष श्रेष्ठ जैनधर्मको स्वीकार करनेके सन्मुख होता है तब यह

स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥ ७ ॥ स तु सँसृत्य योगींद्र युक्ताचारं महाधियं । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षण. ॥ ८ ॥ ब्रूत यूय महाप्राज्ञा मह्य धर्ममनाविल । प्रायो मतानि तीर्थ्यांना हतानि प्रतिभाति मा ॥ ९ ॥ श्रौतान्यपि हि वाक्यानि समतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि दुःप्रणीतानि तानि वै ॥ १० ॥इति पृष्टवते तस्मै व्याचष्टे स विदांवर. । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठित॥ ११ ॥ विद्धि सत्योद्यमाप्तीय वच· श्रेयोऽनुशासन । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥ १२ ॥ विरागः सर्ववित्सार्वः सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्त. सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १३ ॥ रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्मर्द्धिदत्तिभि । कातताविजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥ १४ ॥ प्रकृष्टो यो

क्रिया की जाती है ॥ ७ ॥ प्रथम ही वह चतुर गृहस्थ योग्य आचरणोंको पालन करनेवाले और महा बुद्धिमान ऐसे मुनिराजके समीप आकर अथवा ऐसे किसी गृहस्थाचार्यके समीप आकर इस-प्रकार पूछता है कि ॥ ८ ॥ हे महा बुद्धिमान्! आप मेरे लिये निर्दोष धर्मका स्वरूप कहिये, क्योंकि मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त होनेवाले अन्य लोगोंके मत मुझे दुष्ट वा दूषित जान पडते हैं ॥ ९ ॥ धर्मक्रिया-ओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचार करनेपर कुछ अच्छे नहीं जान पडते, अवश्य ही वे वाक्य दुष्ट लोगोंके वनाये हुये हैं ॥ १० ॥ इसप्रकार पूछनेपर वे महाज्ञानी पुरुष उसके लिये युक्तियोंसे पूर्ण, यथार्थ और मोक्षके मार्गस्वरुप धर्मका निरूपण करते हैं ॥ ११ ॥ कि हे वत्स ! मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला ऐसा आप्तका कहा हुआ वचन ही तू यथार्थ मान, जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है आप्तके बचनोंसे भिन्न है उसे तू केवल वाणीका दोष समझ ॥ १२ ॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सवका भला करनेवाला है, जिसकी वाणी समीचीन, सत्य और पवित्र है तथा जो श्रेष्ठ मोक्षमार्गका उपदेश देता है उसे आप्त कहते हैं, जिनमें ये ऊपर लिखे हुये लक्षण नहीं हैं वे सब आप्ताभास हैं, आप्त ऐसे दिखते हैं परंतु वास्तवमें आप्त नहीं हैं ॥ १३ ॥ जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, मनोहरता, विजय, ज्ञान, सम्यग्दर्शन, वीर्य, और सुखामृत इन गुणोंसे

गुणैरेभिश्चक्रिकल्पाधिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥ १५ ॥ ततः श्रेयोर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकं । अव्याहतमनालीढपूर्वं सर्वज्ञमानिभि. ॥ १६ ॥ हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं दीप्त गंभीरशासन । अल्पाक्षरमसदिग्ध वाक्य स्वायंभुव विदुः ॥ १७ ॥ इतश्च तत्प्रमाण स्यात् श्रुतमत्राक्रीयादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र यतो नान्यमतोचिताः ॥ १८ ॥ यथाक्रममतोनूमस्तान्पदार्थान् प्रपचतः । यैः सनि॰कृष्यमाणा॰ स्युर्दुः स्थिताः परसूक्तयः ॥ १९ ॥ वेदः पुराण स्मृतयश्चारित्र च क्रियाविधिः । मत्राश्च देवतालिंगमाहाराद्याश्च शुद्धयः ॥ २० ॥ एतेऽर्था यत्र तत्त्वेन प्रणीता. परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गस्तदाभासाः स्युरन्यथा ॥ २१ ॥ श्रुत सुविहितं वेदो द्वादशागमकल्मषं । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं

चक्रवर्ती इंद्र आदिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, वही सर्वज्ञ है और वही समस्त लोकका परमेश्वर है ॥ १४–१५ ॥ इसलिये आप्तका कहा हुआ जो मत है, जिसका कोई खंडन नहीं कर सकता और अपनेको सर्वज्ञ मानने वाले अल्पज्ञानियोंने कभी स्पर्शतक नहीं किया है, वही कल्याण चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करने वाला है ॥ १६ ॥ युक्त्यागम और परमागमकरसाहित, अद्वितीय, अत्यंत दैदीप्यमान, जिसकी आज्ञा अत्यंत गंभीर है, जिसमें अक्षर थोडे हैं और जिसके सुननेसे किसीतरहका संदेह नहीं रहता ऐसा जो वाक्य है उसे अरहंत देवका कहा हुआ मानते हैं ॥ १७ ॥ इस अरहंतदेवके कहे हुये मतमें शास्त्र मंत्र और क्रिया आदि पदार्थ सव अच्छीतरह निरूपण किये गये हैं, ऐसे पदार्थ दूसरे किसी मतमें निरूपण नहीं किये हैं, इसलिये ही अरहंत देवका कहा हुआ मत प्रमाण है ॥ १८ ॥ हे वत्स! इसलिये ही मैं अनुक्रमसे उन पदार्थोंको विस्तारके साथ कहता हूं क्योंकि उन पदार्थोंका विचार करनेसे ही अन्यमतोंके सव वचन दुष्ट जान पडते हैं ॥ १९ ॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकीविधि, मंत्र, देवता, लिंग, आहार और शुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही श्रेष्ठ मार्ग है इसके सिवाय और सब धर्माभास हैं अथवा सन्मार्गाभास हैं ॥२०–२१॥ जिसके आचारांगादि बारह अंग हैं, जो शुद्ध है

न वेदोऽसौ कृतातवाक् ॥ २२ ॥ पुराण धर्मशास्त्र च तत्स्याद्वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेय धूर्तप्रणेतृकं ॥ २३ ॥ सावद्यविरतिर्वृत्तमार्यषट्कर्मलक्षण । चतुराश्रम्यवृत्त तु परोक्तमसदजसा ॥ २४ ॥ क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणाताः पुरोदिताः । आधानादिस्मशानाता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥ २५ ॥ मत्रास्त एव धर्म्याःस्युर्ये क्रियासु नियोजिता. । दुर्मंत्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥ २६ ॥ विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शातिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासा स्याद्वृत्तिरामिषैः ॥ २७ ॥ निर्वाणसाधन यत्स्यात्तल्लिंग जिनदेशितं । एणाजिनादिचिन्ह तु कुलिंग

और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोंका निरूपण किया गया है ऐसा जो श्रुतज्ञान है उसे वेद कहते हैं, जो हिंसाका उपदेश करनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य समझना चाहिये ॥ २२ ॥ जो हिंसाका निषेध करनेवाला है वही पुराण है और वही धर्मशास्त्र वा स्मृति है, जो पुराण वा धर्मशास्त्र हिंसाके उपदेश करनेवाले हैं उन्हें तो धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिये ॥ २३ ॥ देवपूजा आदि जो आर्योंके करने योग्य छह कर्म हैं, जिनमें पापरूप उपयोगका त्याग किया जाता है वही चारित्र है, अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमोंका चारित्र निरूपण किया है वह निश्चयसे बुरा है अच्छा नहीं है ॥ २४ ॥ क्रियामें जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत पहिले कहचुके हैं वे समझनी चाहिये, जो गर्भाधानसे लेकर स्मशान पर्यंत क्रियायें अन्य लोगोंने कहीं है वे कभी समीचीन नहीं मानी जा सकतीं ॥ २५ ॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें उपयुक्त होते हैं, पढजाते हैं वे ही धार्मिक मंत्र कहे जाते हैं, जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें उपयुक्त किये जाते हैं उन्हें यहां दुर्मंत्र वा खोटे मंत्र समझना चाहिये ॥ २६ ॥ तीर्थंकरादि देव ही शांति करनेवाले देवता हैं, जिनकी जीविका मांसपर निर्भर है ऐसे क्रूर देवता सदा छोडने योग्य हैं ॥ २७ ॥ साक्षात् मोक्षका कारण ऐसा जिनेंद्रदेवका कहा हुआ जो निर्ग्रंथपना वा परिग्रहरहितपना है वही लिंग है, हिरणके चमडा आदिको जो चिन्ह मानते हैं उसे कुलिंगियोंका (कुभेषियोंका) बनाया हुआ कुलिंग समझना चाहिये ॥२८॥

तद्विधैः कृतं ॥ २८ ॥ स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वंकषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥ २९ ॥ अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद्ये निःसंगा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥ ३० ॥ कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेंद्रियाः । संतुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडंबकाः ॥ ३१ ॥ इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितं । स एवाप्तस्तदुन्नीतो धर्मः श्रेयो हितार्थिनां ॥ ३२ ॥ श्रुत्वेति देशनां तस्माद्भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥ ३३ ॥ गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥ ३४ ॥ अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो जन्मपरिप्राप्तिरुभयत्र न विद्यते ॥ ३५ ॥ इति अवतारक्रिया ॥ ततोऽस्य वृत्तलाभः

मांस रहित भोजन करना ही आहारकी शुद्धि समझनी चाहिये, जो मांस भोजी हैं उन्हें तो सबका घात करनेसे सर्वघाती समझना चाहिये ॥ २९ ॥ जो परिग्रहरहित दयालु मुनि हैं अहिंसाशुद्धि उन्हींके समझना चाहिये, जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर हैं वे दुष्ट कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥३०॥ जो कामरहित जितेंद्रिय मुनि हैं उन्हींके काम शुद्धि समझनी चाहिये अथवा जो गृहस्थ स्वदारसंतोषी हैं उनके भी कामशुद्धि मानी गई है, इनके सिवाय जो लोग हैं उन्हें अन्यलोगोंको फंसानेवाले समझना चाहिये ॥ ३१ ॥ इसप्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त है और उसका कहा हुआ जो धर्म है वही आत्माका हित चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥ ३२ ॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इसप्रकारका उपदेश सुनकर मिथ्यामार्गमें अपना प्रेम छोडता हुआ अपनी बुद्धिको श्रेष्ठमार्गमें लगाता है ॥ ३३ ॥ उससमय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वोंका ज्ञान होना ही संस्कार कियां हुआ गर्भ है, उससे वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्म धारणकर अवतीर्ण होता है ॥ ३४ ॥ इस भव्य पुरुषकी यह अवतार क्रिया गर्भाधान क्रियाके समान मानी जाती है, क्योंकि जन्मकी प्राप्ति न तो गर्भाधान क्रियामें हैं और न अवतार क्रियामें है ॥ ३५ ॥ (यह पहिली अवतार क्रिया है) तदनंतर—उसीसमय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करतेहुये

स्यात्तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ ३६ ॥ इति वृत्तलाभः ॥ ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ ३७ ॥ जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद्वा जिनास्थानमंडलं समवृत्तकं ॥ ३८ ॥ श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा । वर्तनं मंडलस्येष्टं चंदनादिद्रवेण वा ॥ ३९ ॥ तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमंडले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ ४० ॥ जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ ४१ ॥ पंचमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकं । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषं च लंभयेत् ॥ ४२ ॥ ततः पंचनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत् । मंत्रोऽयमखिलात्पापात्त्वां पुनीतादितीरयन् ॥ ४३ ॥

और विधिपूर्वक व्रतोंके समूहको धारण करतेहुये उसके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ (यह दूसरी वृत्तलाभ क्रिया है) तदनंतर जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी क्रिया होती है, उसक्रियामें यह नीचे लिखी हुई विधि करना उचित है ॥ ३७ ॥ जिनालयके किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीके कमलकी रचना करावे अथवा एकसा गोल ऐसे समवसरणकी रचना करावे ॥ ३८ ॥ इस कमल अथवा समवसरणके मंडलकी रचना पानी मिले हुये महीन पिसे हुये चूर्णसे होनी चाहिये अथवा घिसे हुये गीले चंदनसे वा केसर आदिसे होनी चाहिये ॥ ३९ ॥ यह श्रीजिनेंद्रदेवके समवसरणकी रचना अथवा अष्ट दल कमलकी रचना उस रचनाको जाननेवाले विद्वान लोगोंके द्वारा विधिपूर्वक निर्मापण करानी चाहिये और फिर उसकी पूर्ण पूजा कर लेनी चाहिये ॥ ४० ॥ तदनंतर वह—गृहस्थाचार्य उस भव्य पुरुषको विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाके सामने बिठलावे और उसके मस्तकको बार बार स्पर्श करता हुआ उससे इसप्रकार कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है अर्थात् तुझे यह श्रावककी दीक्षा देताहूं ॥ ४१ ॥ पंचगुरुमुद्राकी रीतिसे (पंचगुरुमुद्रा बनाकर) उसके मस्तकका स्पर्श करै तथा तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ है इसप्रकार उससे कहे और फिर सिद्धशेष अर्थात् पूजाके बचे हुये अक्षत उससे ग्रहण करावे ॥ ४२ ॥ "तदनंतर

कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात्सोऽपि संप्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥ ४४ ॥ इति स्थानलाभः ॥ निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद्विनिःसारयतो गृहात् ॥ ४५ ॥ इयत कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरं । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥ ४६ ॥ ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यता । इति प्रकाशमेवैतान्नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥ ४७ ॥ गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागण । विसृज्यार्चयतः शाता देवता. समयोचिताः ॥ ४८ ॥ इति गणग्रहक्रिया ॥ पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससंपत्त्या

यह मंत्र समस्त पापोंसे हटाकर तुझे पवित्र करेगा " इसप्रकार कहता हुआ वह गृहस्थाचार्य उसे पंचनमस्कार मंत्रका उपदेश दे ॥ ४३ ॥ यह सब विधि करके फिर वह गृहस्थाचार्य उसे पारणाके लिये बिदा करे और गुरुके अनुग्रहसे संतुष्ट हुआ वह भव्य भी अपने घर जावे ॥ ४४ ॥ (यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।) जिसके लिये स्थानलाभ नामकी क्रिया ऊपर कही जा चुकी है वही भव्य पुरुष जब मिथ्या देवताओंको अपने घरसे वाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥ ४५ ॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि "मैने अपने अज्ञानसे इतने दिनतक वडे आदरके साथ आप लोगोंकी पूजा की परंतु अव केवल अपने मतके देवताओंकी पूजा करूंगा ॥ ४६ ॥ इसलिये क्रोध करनेसे कुछ लाभ नहीं है आप अपनी इच्छानुसार दूसरी जगह रहिये" इसप्रकार कहकर प्रगटरूपसे उन देवताओंको लेजाकर किसी दूसरे स्थानमें जाकर छोडदे ॥ ४७ ॥ इसप्रकार पहिले देवताओंका विसर्जनकर अपने मतके तीर्थंकरादि शांत देवताओंकी पूजन करनेवाले उस भव्यके यह गणग्रह नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ४८ ॥ (वह चौथी गणग्रह क्रिया है) तदनंतर—पूजा और उपवासरूप संपत्तिको धारणकर अर्थात् पूजा और उपवासकर वारह अंगोंके अर्थसमूहको वा बारह अंग संवंधी द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथोको सुननेवाले उस श्रावकके गणग्रहके बाद पूजाराध्य नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है ॥ भावार्थ द्वादशांगका अर्थ सुनना पूज्याराध्य क्रिया है ॥ ४९ ॥

श्रृण्वतोऽगार्थसग्रह ॥४९॥ इति पूजाराध्यक्रिया ॥ ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । श्रृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥५०॥ इति पुण्ययज्ञक्रिया ॥ तथाऽस्य दृढचर्या स्यात्क्रिया स्वसमयश्रुतं । निष्ठाप्य श्रृण्वतो ग्रन्थान्बाह्यानन्यांश्च कांचन ॥ ५१ ॥ इति दृढचर्याक्रिया ॥ दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । पर्वोपवासपर्यंते प्रतिमायोगधारणं ॥ ५२ ॥ इति उपयोगिता क्रिया ॥ क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रतः । उपनीतिरनूचानयोग्यलिंगग्रहो भवेत् ॥ ५३ ॥ उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद्विधिवत्प्रतिपालनं ॥ ५४ ॥ शुक्लवस्त्रो-पवीतादिधारणं वेष उच्यते । आर्यषट्कर्मजीवित्वं वृत्तमस्य प्रचक्षते ॥ ५५ ॥ जैनोपासकदीक्षा स्यात्समयः समयोचितं । दधतो गोत्रजात्यादि नामां-

(यह पांचवी क्रिया है) तदनंतर—अपने साधर्मी पुरुषोंके साथ साथ चोदह पूर्वोंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको वढानेवाली पुण्ययज्ञ नामकी छट्टी क्रिया है ॥ ५० ॥ (यह छट्टी क्रिया है) इसके वाद अपने मतके सव शास्त्रोंको समासकर अन्यमतके ग्रंथ अथवा ओर कोई ग्रंथोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥ ५१ ॥ (यह सातवीं दृढचर्या क्रिया है) तदनंतर जिसके व्रत दृढ हो चुके हैं उसके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है। पर्वके दिन उपवास करनेके अंतमें अर्थात् उपवासकी रात्रिको प्रतिमायोग धारण करना ही आठवीं उपयोगिता क्रिया है ॥ ५२ ॥ (यह आठवीं उपयोगिता क्रिया है) ऊपर जो क्रियाओंका समूह कहागया है उसके द्वारा जिसने शुद्धता धारण की है ऐसे उस भव्यके अंगसहित शास्त्रोंके पढने योग्य चिन्हको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥ ५३ ॥ देवता और गुरुकी साक्षी पूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, वृत्त और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥ ५४ ॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करनेको वेष कहते हैं, देवपूजा आदि आर्योंके करने योग्य छह कर्मोंका करना वृत्त कहलाता है, और षट्कर्म करनेके वाद जब यह अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करता है उसके जो श्रीजिनेंद्रदेवकी श्रावक दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥ ५५-५६ ॥

तरमतः परं ॥ ५६ ॥ इति उपनीतिक्रिया ॥ ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत् ॥ सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रंथतोऽर्थतः ॥ ५७ ॥ इति व्रतचर्याक्रिया ॥ व्रतावतरण तस्य भूयो भूषादिसंग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसान्निधौ ॥ ५८ ॥ इति व्रतावतरणक्रिया ॥ विवाहस्तु भवेदस्य नियुजानस्य दीक्षया । सुव्रतोचितया सम्यक् स्वा धर्मसहचारिणीं ॥ ५९ ॥ पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य संमतः । सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥ ६० ॥ इति विवाहक्रिया ॥ वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात्संबंधं साविधित्सतः । समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः ॥ ६१ ॥ चतुरः श्रावकज्येष्ठानाहूय कृतसत्क्रियान् । तान्ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः ॥ ६२ ॥ यूय निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । अह च कृतदीक्षो-

---

(यह नौवीं उपनिति क्रिया है) तदनंतर--यज्ञोपवीतको धारणकर जब यह शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छीतरह उपासकाध्ययनके सूत्रोंका अध्ययन करता है तब उसके व्रतचर्या नामकी क्रिया होती है ॥ ५७ ॥ [यह दशवीं व्रतचर्या क्रिया है] जब यह विद्या पढना समाप्त करचुकता है और विधिके अनुसार गुरूके समीप फिरसे वस्त्र आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रताव तरण नामकी क्रिया होती है॥ ५८ ॥ (यह ग्यारहवीं व्रतावतरण क्रिया है) तदनंतर वह भव्य अपनी धर्मपत्नीको उत्तम श्रावकके व्रत देने योग्य दीक्षासे अच्छीतरह नियुक्त करता है अर्थात् दीक्षा देकर उससे श्रावकके व्रत धारण कराता है तब उसके विवाह क्रिया की जाती है ॥ ५९ ॥ अपनी धर्मपत्नीके संस्कार चाहनेवाले उस भव्य पुरुषके उसी स्त्रीके साथ फिर दुवारा विवाहका संस्कार किया जाता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवानकी पूजाको आदि लेकर जो कुछ पाहिले कहचुके हैं वह सब किया जाता है ॥ ६० ॥ (यह बारहवीं विवाह क्रिया है) तदनंतर--जिन्हें वर्णलाभ प्राप्त होचुका है और अपने समान षट्कर्म करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोंके साथ संबंध करनेकी इच्छा करने वाले इस भव्य पुरुषके वर्णलाभ क्रिया की जाती है ॥ ६१ ॥ इस क्रियाके करते समय उस भव्यको उचित है कि वह बडे २ चार श्रावकोंको आदर सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोगोंको मुझे अपने

ऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥ ६३ ॥ मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनां । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजन ॥ ६४ ॥ अयोनिसंभव जन्म लब्ध्वाऽह गुर्वनुग्रहात् । चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावित ॥ ६५ ॥ व्रतसिध्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साप्रत । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि स्वधीतोपासकव्रतः ॥ ६६ ॥ व्रतावतरणस्याते स्वीकृताभरणोऽस्म्यह । पत्नी च संस्कृताऽऽमीया कृतपाणिग्रहा पुन. ॥ ६७ ॥ एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचित. । सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात्सधर्मणा ॥ ६८ ॥ इत्युक्तास्ते च त सत्यमेवमस्तु समजन । त्वयोक्त श्लाघ्यमेवैतत्कोऽन्यस्त्वत्समद्विजो

समान बनाकर मेरा उपकार करना चाहिये ॥ ६२ ॥ आप संसारसें पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं और संसारमें पूज्य हैं तथा मैंने दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत स्वीकार किये ह ॥ ६३ ॥ गृहस्थोंका जो धर्म है वह मैंने वहुत कुछ धारण किया है, वहुतसे दान दिये हैं और गुरुओंकी पूजनभी की है॥ ६४ ॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे विना योनिसे उत्पन्न हुआ (केवल मंत्रोंसे संस्कार किया) जन्म धारण किया है और वहुत दिनोंसे पालन किये हुये मिथ्यात्वको छोडकर जो पहिले कभी चिंतवन नहीं किया था ऐसा सम्यक् चारित्र धारण किया है ॥ ६५ ॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिये ही इस समय मैंने यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचार पढकर तथा अन्य विद्याओंको पढकर मैं विद्वानभी होगयाहूं ॥ ६६॥ व्रतावतरण क्रियाके अंतमें मैंने वस्त्र और आभूपण स्वीकार किये हैं और अपनी स्त्रीका भी संस्कार किया ह तथा उसके साथ फिर दुवारा पाणिग्रहण भी किया है ॥ ६७ ॥ इसप्रकार मैंने व्रत धारण किये हैं इसलिये आज मेरेलिये वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित ही है और उसकी भी प्राप्ति आप ऐसे साधर्मी पुरुषोंकी आज्ञानुसार सहज रीतिसे प्राप्त हो सकती ह ॥ ६८ ॥ इस प्रकार कह चुकने पर वे श्रावक लोग कहें कि ठीक है जो आपने कहा है वह सव उसी तरह होगा, आपने जो कुछ कहा है वह सब प्रशंसनीय है, आपके सिवाय अन्य ऐसा कौनसा द्विज है जो आपके समान हो ॥ ६९ ॥ आप ऐसे पुरुषोंके न मिलने पर हम लोगोंको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टि-

द्विजः ॥ ६९ ॥ युष्माद्दशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं संबंधोऽभिमतो हि नः ॥ ७० ॥ इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युजते । विधिवत्सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥ ७१ ॥ इति वर्णलाभक्रिया ॥ वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात्कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥ ७२ ॥ इति कुलचर्या ॥ विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसंपत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥ ७३ ॥ प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तस्तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥ ७४ ॥ गृहीशिताक्रिया ॥ ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥ ७५ ॥ इति प्रशान्तताक्रिया ॥ गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद्गृहवासाद्विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायमनु-

---

योंके साथ साथ अपना संबंध करना पडता है ॥ ७० ॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दें और वर्णलाभ क्रियाकी योजना करावें। वह भव्य भी विधिके अनुसार उस वर्णलाभ क्रियाको प्राप्त कर उन सब श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है अर्थात् वह सबके बराबर मानाजाता है ॥ ७१ ॥ (यह तेरहवीं वर्णलाभ क्रिया है) यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके, अब कुलचर्या क्रिया कहते हैं, आर्योंके करने योग्य ऐसे देवपूजा आदि छह कर्म करना आजीविका करना दान देना आदि जो कुलमें करने योग्य बहुतसी क्रियायें हैं उन्हें करना कुल चर्या है ॥ ७२ ॥ (यह चौदहवीं कुलचर्या क्रिया है) तदनंतर—उन आचरणोंसे विशुद्ध हुआ वह श्रावक गृहीशिता नामकी क्रियाको प्राप्त होता है। जब वह चारित्र और अध्ययन (विद्या) रूपी संपत्तिसे अन्यजीवोंका उपकार करनेमें समर्थ होता है, प्रायश्चित्त आदि सब विधानोंको जान लेता है, वेद स्मृति और पुराण आदिका जानकार हो जाता है तब वह गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ (यह पंद्रहवीं गृहीशिता क्रिया है) तदनंतर—अनेक तरहके उपवास आदिकी भावनाओंको धारण करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्यके पहिलेके समान ही प्रशांतता क्रिया मान्य की जाती है ॥ ७५ ॥ (यह सोलहवीं प्रशांतता क्रिया है) तदनंतर—जब वह अपने घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य

शिष्य गृहोज्झन ॥ ७६ ॥ गृहत्यागक्रिया ॥ त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुष. । एकशाटकधारित्वं प्राग्वदीक्षाद्यमिष्यते ॥ ७७ ॥ इति दीक्षाद्यक्रिया ॥ ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारण जातरूपस्य युक्ताचाराद्गणोशिनः ॥ ७८ ॥ इति जिनरूपता ॥ क्रियाशेषास्तु निःशेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्याः स्यु र्न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥ ७९ ॥ यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्य समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाद्भवन् ॥ ८० ॥ इति दीक्षान्वयक्रिया ॥ अथातः सप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रिया । याः प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिन ॥८१॥

पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोडता है घरमें रहनेका त्याग करता है तव उसके गृह त्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ (यह सत्रहवीं गृहत्याग क्रिया है) उसके वाद जिसने घरका त्याग कर दिया है और जो तपोवनको जाना चाहता है ऐसा वह भव्य जो पहिलेके समान क्षुल्लकके व्रत लेकर एक वस्त्र धारण करता है उसकी वह दीक्षाद्य क्रिया कहलाती है ॥ ७७ ॥ (यह अठारहवीं दीक्षाद्य क्रिया है) तदनंतर वह भव्य सव वस्त्रोंका त्याग कर योग्य आचरणोंको धारण करनेवाले आचार्यसे जो दिगंवर अवस्था धारण करता है उसकी उस क्रियाको जिनरूपता क्रिया कहते हैं ॥७८॥ (यह उनईसवीं जिनरूपता क्रिया है) इसके सिवाय आगेकी जो क्रियायें वाकी रहगई हैं वे सव जिसप्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गई हैं उसीप्रकार करलेनी चाहियें, इन वची हुई दीक्षान्वय क्रियाओंमें और गर्भान्वय क्रियाओंमें कोई किसीतरहका भेद नहीं है ॥ ७९ ॥ जो भव्य पुरुष इन क्रियाओंको यथार्थ रीतिसे जानकर इनका अनुष्ठान करता है वह अनंत सुखमें तल्लीन होता हुआ वहुत शीघ्र मुक्त होता है ॥ ८० ॥ (इस प्रकार दीक्षान्वय क्रियायें समाप्त हुईं)

अथानंतर—भो द्विजो आगे मैं कर्त्रन्वय क्रियायें कहता हूं जिस जीवके मोक्षकी प्राप्ति निकट रहती है अर्थात् जो निकट भव्य है उसीके ये क्रियायें होती हैं॥८१॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओंमें कल्याणकरने वाली सज्जाति नामकी सवसे पहिली क्रिया है । जव किसी आसन्नभव्य पुरुषको मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है

तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबंधिनी । या सा चासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२॥ स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥ ८३ ॥ विशुद्धकुलजात्यादिसपत्सज्जातिरुच्यते । उदितोदितवशत्वं यतोऽभ्येति पुमान्कृती ॥ ८४ ॥ पितुरन्वय शुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥ ८५ ॥ विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता । यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८६॥ सज्जन्मप्रतिलभोऽयमार्यावर्तविशेपतः । सत्या देहादिसामग्र्यां श्रेय. सूते हि देहिना ॥ ८७ ॥ शरीरजन्मना सैपा सज्जातिरुपवर्णिता । एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥ ८८ ॥ संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । यामासाद्य द्विजन्मत्व भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥ ८९ ॥ विशुद्धाकरसभूतो मणिः संस्कार-

---

तब उसे यह क्रिया प्राप्त होती है ॥ ८२ ॥ मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करनेके योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी क्रिया होती है ॥ ८३ ॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी संपदाकी प्राप्ति होनेको सज्जाति कहते हैं, इस सज्जातिके प्राप्त होनेसे ही पुण्यबान मनुष्यको उत्तरोत्तर अधिक अधिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥ परंपरासे चले आये पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और परंपरासे चले आये माताके वंशकी जो शुद्धि है उसे जाति कहते हैं ॥ ८५ ॥ तथा जो कुल और जाति दोनोंकी विशुद्धि है वह सज्जाति कहलाती है । उस सज्जातिके प्राप्त होनेसे विना ही प्रयत्नके सहज रीतिसे प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सहज रीतिसे हो जाती है ॥ ८६ ॥ आर्य खंडकी विषेशतासे इस सज्जन्मकी प्राप्ति होनेपर और शरीर आदिकी योग्य सामग्री मिलनेपर जीवोंको अनेक तरहके कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ ८७ ॥ यह सज्जाति उत्तम शरीरके जन्मसे बर्णन की गई है क्योंकि सज्जातिके होनेसे ही मनुष्योंको समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होती है ॥ ८८ ॥ संस्कारोंसे उत्पन्न हुये जन्मसे जो सज्जाति है वह दूसरी तरहसे वर्णन की जाती है जिस संस्कारोंसे उत्पन्न हुई सज्जातिको पाकर भव्य पुरुष द्विजपनेको प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

योगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैव क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥ ९० ॥ सुवर्णधातुरथवा शुध्येदासाद्य संस्क्रिया । यथा तथैव भव्यात्मा शुध्यत्यासादितक्रियः ॥ ९१ ॥ ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तर । यदाऽय लभते साक्षात्सर्वविन्मुखत. क्रती ॥ ९२ तदैष परमज्ञानगर्भात्संस्कारजन्मना । जातो भवेद्द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥ ९३ ॥ व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्र मत्रपुरःसर । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पित ॥ ९४ ॥ यज्ञोपवीतमस्य स्याद्द्रव्यतस्त्रिगुणात्मक । सूत्रमौपासिक तु स्याद्भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥ ९५ ॥ यदैव लब्धसंस्कारः पर ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनद्या-

---

जिसप्रकार विशुद्ध खानसे उत्पन्न हुई मणि संस्कारके निमित्तसे अत्यंत उज्वल हो जाती है उसी प्रकार यह आत्मा भी क्रिया मंत्रोंके संस्कारसे अत्यंत निर्मल हो जाता है ॥ ९० ॥ अथवा जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उत्तम क्रियाको पाकर शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार यह भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥ ९१ ॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्तम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । जब वह पुण्यवान जीव साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञानको प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न हाता है और प च अणुव्रत तथा सात शील इनसे विभूषित होकर द्विजन्मा अथवा द्विज कहलाता है ॥ ९२--९३ ॥ सर्वज्ञदेवकी आज्ञाको ही प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मंत्र पूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिन्ह समझा जाता है वह सूत दो प्रकारका है एक द्रव्य सूत्र और दूसरा भाव सूत्र ॥ ॥ ९४ ॥ वह जो तीन लरका यज्ञोपवीत धारण करता है वह उसका द्रव्यसूत्र कहलाता है और अंतःकरणमें उत्पन्न हुये दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन गुणोंका बनाहुआ अर्थात् इन तीन लरोंका बनाया हुआ जो श्रावकाचार संबंधी सूत्र है वह भावसूत्र कहलाता है ॥ ९५ ॥ जब वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ज्ञान अथवा परम तपश्चरणको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वाद रूप बचनोंसे उसकी प्रशंसा करते हैं और श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजासे बचे हुये पुष्प अथवा अक्षतोंकी

शीर्वचोभिर्गणनायकाः ॥ ९६ ॥ लंभयंत्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परं ॥ ९७ ॥ अयोनिसंभवं दिव्यज्ञान-गर्भसमुद्भव । सोऽधिगम्य पर जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥ ९८ ॥ ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधी भवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥ ९९ ॥ यदुक्त गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहित कृत्स्नमतन्द्रालु समाचरन् ॥ १०० ॥ जिनेंद्राल्लब्धसज्जन्मा गणेंद्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परम ब्रह्मवर्चस द्विजसत्तमः ॥ १०१ ॥ तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघ्यते धार्मिका जनाः । पर तेज इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतल ॥ १०२ ॥

यथा योग्य शेषाको उसे ग्रहण कराते हैं यह एक प्रकारका स्थितिकरण वा स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यंत उत्साह दिलानेवाला है॥ ९६-९७ ॥ इसप्रकार जब वह भव्य जीव विना योनिके प्राप्त हुये और दिव्य ज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न हुये उत्कृष्ट जन्मको पाता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला गिना जाता है ॥ ९८ ॥ (यह सज्जाति नामकी पहिली क्रिया है) तदनंतर--जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य दूसरी सद्गृहित्व सद्गृहस्थपना नामकी क्रियाको प्राप्त होता है, उस समय वह गृहस्थ होकर देव पूजा आदि आर्योंके करने योग्य जो छह कर्म हैं उनका पालन करता है॥९९॥ गृहस्थोंके करने योग्य जो जो अत्यंत विशुद्ध आचरण कहे हैं उन अरहंतदेवके कहे हुये समस्त आचरणोंको आलस छोडकर सावधानीके साथ पालन करता है ॥ १०० ॥ जिसने श्रीजिनेंद्रदेवसे (जिनेंद्र देवका उपदेश सुनकर) उत्तम जन्म पाया है और गणधर देवसे शिक्षा पाई है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट चारित्र और अध्ययनको अर्थात् विद्याकी ऋद्धियोंको धारण करता है ॥ १०१ ॥ उससमय साक्षात् धर्म स्वरूप हुये इस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि तू ज्ञानसंबंधी उत्कृष्ट तेजके समान इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ है। भावार्थ--उत्कृष्ट ज्ञानके समान ही तेने अवतार लिया है ॥ १०२ ॥ पूजा करनेवाले अन्य यजमान भी जिसकी उपासना वा सेवा करते हैं ऐसा वह बुद्धिमान भव्य स्वयं पूजा करता है और अन्य लोगोंसे कराता है तथा द्वादशांग

स यजन्याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदांगविस्तरं ॥ १०३ ॥ स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥ नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवं । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥ गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवन् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेपमहीयते ॥ १०६ ॥ धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षांतिदमादिभिः ॥ देवब्राह्मणता श्लाघ्या स्वस्मिन्संभावयत्यसौ ॥ १०७ ॥ अथ जातिमदावेशात्कश्चिदेनं द्विजब्रुवः । ब्रूयादेव किमद्यैव देवभूय गतो भवान् ॥ १०८ ॥ त्वमामुष्यायणः किन्न किं

रूप वेद और प्रकीर्णक आदि वेदांग इनके विस्तारको स्वयं पढता हुआ दूसरे लोगोंको पढाता है ॥ १०३ ॥ यद्यपि वह पृथ्वीका स्पर्श करता है तथापि काम क्रोध आदि पृथ्वीके दोषोंसे वह कभी स्पर्श नहीं किया जाता, वह इसी मनुष्यभवमें पूज्य गुणोंको धारणकर देवपनेको प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ देवोंकी ऋद्धियोंमेंसे इसके अणिमा अर्थात् छोटापन नहीं होता है किंतु महिमा अर्थात् वडप्पन वा पूज्यपना ही रहता है । इसी तरह लघिमा अर्थात् लघुता नहीं होती, सदा गरिमा अर्थात् गुरुता ही रहती है । इसी तरह प्राप्ति [रत्नत्रयकी प्राप्ति] प्राकाम्य (सबको प्रिय) ईशित्व (सबका स्वामी) और वशित्व (सबको वश वा आज्ञाकारी करनेवाला) ये गुण भी उसमें रहते हैं ॥ १०५ ॥ इन गुणोंसे जिसकी महिमा प्रगट हुई है, जो देवपनेको प्राप्त हुआ है और समस्त लोकको उलंघन करनेवाले तेजको जो धारण करता है ऐसा वह भव्य पुरुष इस पृथ्वीपर पूज्य गिना जाता है ॥ १०६ ॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम अर्थात् इन्द्रियोंको वश रखना इत्यादि धर्म संबंधी उत्तम आचरणोंको धारण करनेसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी संभावना करता है अर्थात् वह प्रशंसनीय देवब्राह्मणके समान माना जाता है ॥ १०७ ॥ अथानंतर--कदाचित् अपनेको झूठ मूठ द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेशसे इस देवब्राह्मणको इस प्रकार कहे कि क्या आप आज ही देवपनेको प्राप्त होगये हैं ॥ १०८ ॥ क्या तू अमुक प्रसिद्ध

तेऽबाऽमुष्य पुत्रिका । येनैवमुन्नसो भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्विधान् ॥ १०९ ॥ जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः । तथाऽपि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥ ११० ॥ देवताऽतिथिपित्रग्निकार्येष्वप्राकृतो भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥ १११॥ दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥ ११२ ॥ इत्युपारूढसंरंभमुपालब्धः स केनचित् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः ॥ ११३ ॥ श्रूयतां भो द्विजमन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसंभव. । जिनो जनयिताऽस्माकं ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥ ११४ ॥ तत्रार्हतीं

पुरुषका पुत्र नहीं है ? क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? किस कारणसे तू आज अपनी ऊंची नाक कर मेरे ऐसे द्विजोंका आदर सत्कार किये विना ही जाता है ? ॥ १०९ ॥ तेरी जाति वही है जो पहिले थी, तेरा कुल वही है जो पहिले था और तू वही है जो पहिले था तथापि तू आज अपनेको देवस्वरूप मानता है ? ॥ ११० ॥ यद्यपि तू देव पूजन आदि देवकार्यमें, मुनियोंको दान देना आदि अतिथिकार्यों में, पितृकार्यों में और होम आदि अग्नि संबंधी अग्निके कार्योंमें सबसे उत्तम है तथापि तू गुरु द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है अर्थात् तू द्विज गुरु और देवोंको प्रणाम नहीं करता ॥ १११ ॥ तुझे जिनेंद्रदेवकी दीक्षा धारण करनेसे कौनसा अतिशय प्राप्त होगया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है, पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ! ॥ ११२ ॥ इसप्रकार अत्यंत क्रोध करता हुआ कोई द्विज आकर उपालंभ (उलाहना) दे तो उसकेलिये युक्तियोंसे भरे हुये वचनोंसे इसप्रकार उत्तर दे ॥ ११३ ॥ कि हे अपनेको द्विज माननवाले ! तू आज मेरा दिव्य जन्म (देवपनेको प्राप्त करनेवाला जन्म] सुन । श्रीजिनेंद्रदेव ही मेरा पिता है और ज्ञान ही अत्यंत निर्मल गर्भ है ॥ ११४ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित जो अरहंतदेव संबंधिनी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न शक्ति हैं उनको स्वीकारकर मैं संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुआ हूं ॥ ११५ ॥ मैं विना योनिके उत्पन्न हुआ

त्रिधा भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रितां । स्वमात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥ ११५ ॥ अयोनिसंभवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सति चेद्ब्रूहि तद्विधान् ॥ ११६ ॥ स्वायंभुवान्मुखाज्जातास्ततो देवद्विजा वयं । व्रतचिन्हं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितं ॥ ११७ ॥ पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकंठका. । सन्मार्गकंटकास्तीक्ष्णाः केवल मलदूषिताः ॥ ११८ ॥ शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मत । जन्मागिना मृतिश्चैवं द्विधाम्नाता जिनागमे ॥ ११९ ॥ देहांतरपरिप्राप्ति पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेय देहभाजां भवांतरे ॥ १२० ॥ तथालब्धात्मलाभस्य पुन. सँस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म सँस्कारज स्मृतं ॥ १२१ ॥ शरीरमरण स्वायुरंते देह विसर्जनं । सँस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागः

हूं इसलिये देव ही हूं मनुष्य नहीं हूं, जो मेरे समान और भी हों तो उन्हें भी तू देवब्राह्मण करके पुकार ॥ ११६ ॥ मैं भगवान श्रीस्वयंभूके मुखसे उत्पन्न हुआ हूं इसलिये देवद्विज वा देवब्राह्मण हूं और मेरे व्रतोंका चिन्ह शास्त्रमें कहा हुआ पवित्र सूत्र है ॥ ११७ ॥ आप लोग तो, गलेमें सूत्र पहिनकर श्रेष्ठ मोक्षमार्गमें तीक्ष्ण कांटे वनतेहुये पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥ ११८ ॥ जीवोंके जन्म दो प्रकारके हैं एक तो शरीरका जन्म और दूसरा संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म, तथा इसीप्रकार जैनशास्त्रोंमें मरण भी दो प्रकारका कहा है ॥ ११९ ॥ पहिले शरीरके नष्ट होनेपर दूसरे भवमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोंका शरीर जन्म समझना चाहिये ॥ १२० ॥ इसीप्रकार जिसे अपने आत्माकी प्राप्ति कभी नहीं हुई है ऐसे जीवको जो संस्कारोंके निमित्तसे द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥ १२१ ॥ इसीतरह अपनी आयु पूर्ण हो जानेपर जो शरीरका छोडना है उसे शरीरमरण कहते हैं और व्रतोंको धारणकर जो पापोंका छोडना है उसे संस्कार मरण कहते हैं ॥ १२२ ॥ जिसे सब संस्कार प्राप्त हुये हैं वह जीव मिथ्यादर्शनरूप पहिली पर्यायको छोड देता है इसलिये वह एकतरहसे मर ही जाता है ॥ १२३ ॥ इसलिये गुरुकी आज्ञानुसार उन दोनों जन्मोंमेंसे जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्का-

समुज्झनं ॥ १२२ ॥ यतोयंलब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतन । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन मृतो भवेत् ॥ १२३ ॥ तत्र संस्कारजन्मेदमपापोपहतं पर । जातं नो गुर्वनुज्ञानादतो देवद्विजा वयं ॥ १२४ ॥ इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्न्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत्प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरं ॥ १२५ ॥ भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान्सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य निरासार्थमतः परं ॥ १२६ ॥ ब्रह्मणोऽपत्यमित्येव ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान्परमेष्ठी जिनोत्तमः ॥ १२७ ॥ स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेंद्रो गुणबृंहणात् । पर ब्रह्म यदायत्तमामनंति मुनीश्वराः ॥ १२८ ॥ नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । य. कामगर्दभो भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात् ॥ १२९. ॥ दिव्यमूर्तेर्जिनेंद्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात् । समासादितजन्मानो द्विज-

---

रसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म मुझे प्राप्त हुआ है इसलिये मैं देवद्विज वा देवब्राम्हण कहलाता हूं ॥ १२४ ॥ इसप्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माको गुणोंकी उत्कृष्टता प्रगट करता हुआ और सबसे उत्तम ऐसी सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर वह जीव श्रेष्ठ गृहस्थ होता है ॥ १२५ ॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ऐसे ब्राह्मणोंको जातिवादका अभिमान दूर करनेके लिये फिर भी इसके आगे कहता हूं ॥ १२६ ॥ जो ब्रह्माकी संतान हो उसे ब्राह्मण कहते हैं और जो स्वयंभू भगवान परमेष्ठी जिनेंद्रदेव है उसे ब्रह्मा कहते हैं। भावार्थ—जो जिनेंद्रदेवकी संतान है जिनेंद्रदेवका उपदेश सुनकर जो संस्कृत हुये हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं ॥ १२७ ॥ वे श्रीजिनेंद्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा कहलाते हैं क्योंकि वे ही आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोंको वढानेवाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान उन्हीं जिनेंद्रदेवके आधीन है ऐसा महर्षि लोग मानते हैं ॥ १२८ ॥ जो हिरणका चमडा धारण करता है, जटा डाढी आदि चिन्होंको धारण करता है, तथा जिसने कामके वश होकर गधेका मुह बनाया और ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता ॥ १२९ ॥ इसलिये जिन्होंने दिव्य मूर्त्तिको धारण करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म धारण किया है वे ही द्विज कहलाते हैं ॥ १३० ॥ व्रत, मंत्र आदिके संस्कारोंसे जिन्हें महत्व प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोंको

न्मानस्ततो मताः ॥ १३० ॥ वर्णांतःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमाः । व्रतमंत्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवाः ॥ १३१ ॥ वर्णोत्तमानिमान् विद्म: क्षांतिशौचपरायणान् । संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ॥ १३२ ॥ क्लिष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारंभरताः शश्वदाहत्य पशुघातिनः ॥ १३३ ॥ सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नताम् । का नाम गतिरेषा स्यात्पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥ चोदनालक्षणं धर्ममधर्मं प्रतिजानते । ये तेभ्यः कर्मचाडालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥ १२५ ॥ पार्थिवैर्दंडनीयाश्च लुंटाकाः पापपंडिताः । तेऽमी धर्मद्रुहो बाह्या ये निघ्नंत्यघृणाः

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंके भीतर नहीं मानना चाहिये अर्थात् ये ब्राह्मण वा द्विज तीनों वर्णोंसे अलग हैं ॥ १३१ ॥ जो क्षमा शौच आदि गुणोंको धारण करनेमें सदा तत्पर हैं जो, सदा संतुष्ट रहते हैं, निर्दोष उत्तम आचरण रूपी आभूषणोंको धारण करते हैं और जिन्हें विशिष्टता वा उत्तमता प्राप्त हुई है ऐसे इन द्विजोंको ही सब वर्णोंमें उत्तम मानते हैं ॥ १३२ ॥ इनके सिवाय जो पिताका श्राद्ध करना आदि निंद्य आचरण पालते हैं, अपनेको झूठ मूठ द्विज मानते हैं, पापरूप आरंभ करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और जो निरंतर हठसे अथवा साक्षात् स्वयं पशुओंका घात किया करते हैं वे कभी ब्राह्मण नहीं हो सकते ॥ १३३ ॥ जिन्होंने समस्त हिंसामय धर्म स्वीकारकर पशुओंका घातकरना स्वीकार किया है ऐसे इन पापशास्त्रोंसे आजीविका करनेवालोंकी न जाने कौनसी दुर्गति होगी ॥ १३४ ॥ जो अधर्मस्वरूप ऐसे वेदमें कहे हुये धर्मको स्वीकार करते हैं उनके सिवाय इस संसारमें मैं और किसीको कर्मचांडाल नहीं देखता हूं अर्थात् वेदको माननेवाले सबसे बढकर कर्मचांडाल हैं ॥ १२५ ॥ जो निर्दयी अथवा निर्लज्ज होकर पशुओंको मारते हैं वे पापरूप कार्योंमें पंडित हैं, लुटेरे हैं और धर्मात्मा लोगोंसे बाह्य हैं, ऐसे लोग राजा लोगोंके द्वारा दंडनीय होते हैं अर्थात् राजाओंको ऐसे लोगोंको दंड देना चाहिये ॥ १२६ ॥ पशुओंकी हिंसा करनेरूप उद्योगसे जो राक्षसोंसे भी अधिक निर्दयी हैं यदि ऐसे लोग ही उत्कृष्ट माने जांयगे तो बडे दुःखके साथ कहना

पशून् ॥ १३६ ॥ पशुहत्यासमारंभात्क्रव्यादेभ्योऽपि निष्कृपाः । यद्युच्छ्रुतिमुशंत्येते हंतैवं धार्मिका हताः ॥१३७॥ मलिनाचारिता ह्येते कृष्णवर्गे द्विजब्रुवा. । जैनास्तु निर्मलाचाराः शुक्लवर्गे मता बुधैः॥ १३८ ॥ श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तवृत्तमंत्रक्रियाश्रिता । देवतालिंगकामानकृता शुद्धिर्द्विजन्मना ॥१३९॥ ये विशुद्धतरा वृत्तिं तत्कृता समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे वोद्धव्याः शेषाः शुद्धेः बहिःकृताः ॥ १४० ॥ तच्छुध्यशुद्धी वोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारण ॥१४१॥ विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । वर्णांतः पातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थित ॥ १४२॥

पडता है कि इसतरह विचारे धार्मिक लोग व्यर्थ ही मारे गये ॥ १३७ ॥ ये बनावटी द्विज पापरूप आचरणोंका पालन करते हैं और झूठ मूठ अपनेको द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें पापियोंके समूहमें शामिल करते हैं और जैनी लोग निर्मल आचरणोंका पालन करते हैं इसलिये विद्वान लोग इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें गिनते हैं ॥ १३८ ॥ द्विज लोगोंकी शुद्धि द्वादशांगरूप वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, चारित्र, मंत्र और क्रियाओंसे होती है तथा देवताओंका चिन्ह धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥ १३९ ॥ जो धर्मशास्त्र, पुराण चारित्र मंत्र, क्रिया आदिके द्वारा कीगई ऐसी अत्यंत विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ग अथवा पुण्यवानोंमें समझना चाहिये और इनसे वाकी बचे हुओंको शुद्धतासे बाहर (महा अशुद्ध) समझना चाहिये ॥ १४० ॥ उनकी शुद्धता और अशुद्धता न्यायरूप प्रवृत्तिसे जानना चाहिये। दयासे कोमल परिणामोंका होना न्याय है और जीवोंका मारना अन्याय है ॥ १४१ ॥ इसलिये अर्थात् सब जीवोंपर दया पालन करनेसे विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं वे ही द्विज हैं, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंमें से इन्हे किसीमें नहीं गिनना चाहिये ये सबसे अलग हैं और जगतपूज्य हैं यह बात निश्चय हो चुकी ॥ १४२ ॥ अब यहांपर एक यह शंका उत्पन्न होती है कि जो आजीविकाके लिये छह कर्म करनेवाले गृहस्थ जैनी द्विज हैं उनके भी हिंसाके दोषका संबंध

स्यादारेका च पट्कर्मजीविना गृहमेधिना । हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनां ॥ १४३ ॥ इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसंगतिः । तत्रास्त्येव तथाप्येषा स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥ १४४ ॥ अपि चैषा विशुध्यंग पक्षश्चर्या च साधन । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥ १४५ ॥ तत्र पक्षो हि जैनाना कृत्स्नहिंसाविवर्जन । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपावृंहित ॥ १४६ ॥ चर्यातु देवतार्थं वा मंत्रसिध्यर्थमेव वा । औषधाहार-क्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टित ॥ १४७ ॥ तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाचात्मान्वय सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झन ॥ १४८ ॥ चर्यैषा गृहिणा प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधन । देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुध्याऽऽत्मशोधन ॥ १४९ ॥ त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मना ।

लगसकता है (क्योंकि आजीविकाके लिये छह कर्म करनेमें हिंसा ही होगी) परंतु इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जो तुमने कहा है वहतो ठीक है आजीविकाके लिये छह कर्म करनेमें थोडीसी हिंसाका दोष लगता है तथापि उन गृहस्थोंके लिये उन दोषोंकी शुद्धि भी शास्त्रोंमें दिखलाई है ॥१४३–१४४॥ उनगृहस्थोंके दोषोंकी विशुद्धिके कारण पक्ष चर्या और साधन ये तीन हैं अव मैं आगे इन तीनोंका ही स्वरूप निरूपण करता हूं ॥ १४५ ॥ इन तीनोंमेंसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन गुणोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ ऐसा समस्त हिंसाका त्याग करना ही जैनियोंके लिये पक्ष कहा जाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिये, अथवा, किसी मंत्रकी सिद्धि करनेके लिये, अथवा कोई औषध वा भोजन वनवानेके लिये मैं कभी किसी जीवको नहीं मारूंगा ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं ॥१४७॥ इस हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञामें कदाचित् कोई दोष प्रमादसे वनजाय तो प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि करना चाहिये, तथा अंतमें अपना सब कुटंव और गार्हस्थ्यधर्म पुत्रको सोंपकर घरका त्याग करदेना चाहिये ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोंकी चर्याका निरूपण किया, अव आगे साधन कहते हैं, जीवन के अंत समयमें अर्थात् मरनेके समय शरीर, आहार और सब चेष्टाओंका त्यागकर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥ १४९ ॥ अरहंत देवको माननेवाले द्विजोंको पक्ष चर्या और

इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥ १५० ॥ चतुर्णामाश्रमाणा च शुद्धिः स्यादार्हते मते । चातुराश्रम्यमन्येपामविचारितसुंदर ॥ १५१ ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥ १५२ ॥ ज्ञातव्याः स्युः प्रपंचेन सातर्भेदाः पृथग्विधाः । ग्रंथगौरवभीत्या तु नात्रैतेपा प्रपंचना ॥ १५३ ॥ सद्गृहित्वमिदं ज्ञेय गुणैरात्मोपबृंहणं । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियांतर ॥ १५४ ॥ गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद्विरज्यतः । यद्दीक्षाग्रहण तद्धि पारिव्राज्य प्रचक्षते ॥ १५५ ॥ पारिव्राज्य परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षण । तत्र निर्ममतावृत्त्या जातरूपस्य धारण ॥ १५६ ॥ प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नग्रहांशकैः । निर्ग्रंथाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥ १५७ ॥ विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृ-

---

साधन इन तीनोंमें हिंसाका कुछ स्पर्शतक नहीं होता, इसप्रकार जो दोप जैन द्विजोंपर ठहराया गया था उसका निराकरण होता है ॥ १५० ॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी श्रीअरहंतदेवके मतमें ही है, अन्य लोगोंने जो चार आश्रम माने हैं वे केवल जवतक विचार न किया जाय तवतक ही अच्छे हैं, विचार करनेपर उनमें वहुतसे दोष दिखाई पडते हैं ॥ १५१ ॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके माने हुये चार आश्रम हैं इनमें उत्तरोत्तर अधिक शुद्धि होती जाती है ॥ १५२ ॥ इन चारों आश्रमोंके अंतर्भेद यदि विस्तारके साथ कहे जायं तो अनेक हैं ऐसा समझ लेना चाहिये, ग्रंथ वढजानेके भयसे उन सवका विस्तार यहांपर नहीं लिखा है ॥ १५३ ॥ इसप्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्गृहित्व क्रिया है, अव यहांसे आगे अत्यंत विशुद्ध ऐसी जो पारिव्राज्य नामकी तीसरी क्रिया है उसको कहेंगे ॥ १५४ ॥ [यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है] जो गृहस्थ धर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होकर दीक्षा धारण करता है उसे पारिव्राज्य कहते हैं ॥ १५५ ॥ परिव्राजका जो भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं, इस पारिव्राज्य क्रियामें ममत्व छोडकर दिगंवर अवस्था धारण करनी पडती है ॥ १५६ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न, और शुभ ग्रहोंके अंशमें अर्थात् जिस

त्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥ १५८ ॥ ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेंद्रचा'पयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेंवरे ॥ १५९ ॥ नष्टाधिमासदिनयो. सक्रांतौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छंति कृतबुद्धय' ॥ १६० ॥ संप्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयेदधी. । स साधुभिर्बहिःकार्यो वृद्धात्यासादनारतः ॥ १६१ ॥ तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगींद्राः सप्तविंशतिं । यैर्निर्णीतैर्भवेत्साक्षात्पारिव्राज्यस्य लक्षणं ॥ १६२ ॥ जातिर्मूर्तिश्च तत्रत्यं लक्षणं सुदराङ्गता । प्रभामंडलचक्राणि तथाऽभिषवनाथते ॥ १६३ ॥ सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभाऽवगाहने ॥ १६४ ॥ क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञासभाः कीर्तिर्वंद्यता वाहनानि च । भाषाऽऽहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥ १६५ ॥ जात्यादिकानिमान्स-

---

समय ये सब शुभ हों उस समय निर्ग्रंथ आचार्यके समीप जाकर दीक्षा धारण करना चाहिये ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, जिसके आचरण उत्तम हैं, जिसका मुख सुंदर है और जो अच्छा बुद्धिमान् है ऐसा भव्य पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य समझा जाता है ॥ १५८ ॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चंद्रमापर परिवेष (सूर्य चंद्रमाके चारों ओर कुछ दूर पर जो सफेद रेखासी खिच जाती है उसे परिवेष कहते हैं) हो इंद्रधनुष लगा हो, वक्र ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघपटलसे घिर गया हो, नष्टमास तथा अधिक मासका दिन हो, संक्रांति और क्षयतिथिका दिन हो तो उस दिन वा उस समय बुद्धिमान लोग मोक्षकी इच्छा करनेवालेके लिये दीक्षाकी विधि करना नहीं चाहते हैं अर्थात् उसदिन दीक्षा नहीं देनी चाहिये ॥ १५९-१६० ॥ जो मंदबुद्धि वा मूर्ख इस संप्रदायका अनादरकर अर्थात् ऊपर लिखे हुये निषिद्ध दिनोंमें ही इस शिष्यको दीक्षा देदेता है वह वृद्ध लोगोंके उलंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधु लोगोंके द्वारा वहिष्कृत कर दिया जाता है अर्थात् असमयमें दीक्षा देनेवालेको साधु लोग संघके वाहर कर देते हैं ॥ १६१ ॥ मुनिराज इस पारिव्राज्यक्रियामें जिनका निर्णय करनेसे पारिव्राज्यका लक्षण साक्षात् प्रगट होता है ऐसे सत्ताईस सूत्रपद बतलाते हैं ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुंदरता, प्रभा, मंडल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन,

स्तविंशतिं परमेष्ठिना। गुणानाद्भर्भजेद्दीक्षा स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥ १६६ ॥ जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ। यतो जात्यंतरे जात्या याति जातिचतुष्टयीं ॥ १६७ ॥ जातिरैंद्री भवेद्दिव्या चक्रिणा विजयाश्रिता। परमाजातिरार्हंत्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषां ॥ १६८ ॥ मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी। पुराणज्ञैरसंमोहात्क्वाचिच्च त्रितयी मता ॥ १६९ ॥ कर्शयेन्मूर्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्तीः शरीरिणां ॥ तपोऽधितिष्ठेद्दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥ १७० ॥ स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिना। लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ १७१ ॥ म्लापयन् स्वांगसौंदर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्

वस्त्र, छत्र, चामर, घोषणा, अशोकवृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्र, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंद्यता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥ १६३-१६४-१६५ ॥ ये जो जाति आदि सत्ताईस गिनाये हैं ये परमेष्ठियोंके गुण हैं इन गुणोंमें तथा अपनेमें आदर सत्कार न करते हुये उस भव्य पुरुषको दीक्षा धारण करनी चाहिये ॥ १६६ ॥ यद्यपि वह स्वयं उत्तम जातिवाला है तथापि वह अपनी उत्तम जातिका अभिमान छोडकर अरहंतदेवके चरण कमलोंकी सेवा करता है क्योंकि ऐसा करनेसे दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर उसे दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा ये चार जातियां प्राप्त होती हैं ॥१६७॥ इंद्रकी दिव्य जाति कहलाती है, चक्रवर्तियोंकी विजयाश्रिता अरहंतदेवकी परमा और सिद्ध पद प्राप्त होनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्यके, जो अपने आत्मासे उत्पन्न होती है वह स्वा अथवा स्वामोत्था जाति कहलाती है ॥१६८॥ दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वात्मोत्था इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें भी समझलेनी चाहिये पुराणोंको जानने-वाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी किसी जगह अर्थात् सिद्ध आदिकोंमें तीन ही मानते हैं स्वात्मोत्था मूर्ति नहीं मानते ॥ १६९ ॥ जो दिव्या, विजयाश्रिता आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उस मुनिको अपना शरीर कृश करते हुये और जीवोंके शरीरोंकी (जीवोंकी) रक्षा करते हुये तपश्चरण करना चाहिये ॥ १७० ॥ इसीप्रकार गुणोंमें विश्वास करता हुआ वह विद्वान् अपने

वाञ्छन्दिव्यादिसौंदर्यमनिवार्यपरंपरं ॥ १७२ ॥ मलीमसांगो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत्क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥ १७३ ॥ स्व मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिन भजन् । तेजोमयमय योगी स्यात्तेजोवलयोज्वलः ॥ १७४ ॥ त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशांतिभाक् । जिनमाराध्य योगींद्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १७५ ॥ त्यक्तस्नानादिसंस्कारः सश्रित्य स्नातक जिनं । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति पर जन्माभिषेचनं ॥ १७६ ॥ स्व स्वाम्यमैहिक त्यक्त्वा परमस्वामिन जिनं । सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येप जगज्जनैः ॥ १७७ ॥ स्वोचितासनभेदाना त्यागात्त्यक्तावरो मुनिः । सैह

लक्षणोंको कहनेके अयोग्य मानता हुआ श्रीजिनेंद्रदेवके लक्षणोंको चिंतवन करता हुआ तपश्चरण करे ॥ १७१ जिनकी परंपरा निवारण नहीं की जा सकती ऐसे दिव्यसौंदर्य, विजयाश्रितसौंदर्य, परमसौंदर्य और स्वात्मोत्थसौंदर्य इनकी इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरकी सुंदरताको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥ १७२ ॥ इसीप्रकार जिसका शरीर मलिन है और जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न हुई प्रभाका त्याग कर दिया है ऐसा जो मुनि श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रभाका ध्यान करता है वह बहुत शीघ्र अत्यंत देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि चारों प्रकारकी प्रभाओंको प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिके तेजको छोडकर अत्यंत तेजस्वरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवका चिंतवन करता है वह प्रभामंडलसे अत्यंत देदीप्यमान हो जाता है ॥ १७४ ॥ जो मुनिराज पहिलेके सब अस्त्र, वस्त्र, और शस्त्रोंको छोडकर तथा अत्यंत शांत होकर श्री जिनेंद्रदेवका आराधन करता है वह धर्मचक्रका स्वामी होता है ॥ १७५ ॥ जो मुनि स्नान आदि सब संस्कारोंको छोडकर स्नातक अर्थात् तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान केवली भगवान अरहंतदेवका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिंतवन करता है वह मेरु पर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है, अर्थात् इंद्रादि देव उसका जन्माभिषेक करते हैं ॥ १७६ ॥ जो मुनि अपने इस लोकके स्वामीपनेको छोडकर परमस्वामी श्रीजिनेंद्रदेवका सेवन करता है वह समस्त जगतके

विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥ १७८ ॥ स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभूद्विरुपधिर्भुवि । शयानः स्थंडिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥ १७९ ॥ स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रमाप्नोत्युपधानकं ॥ १८० ॥ त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयं ॥ १८१ ॥ विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ठ्या वीज्यते जिनपर्यये ॥१८२॥ उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिं । स्यात् दुंदुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥ १८३ ॥ उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य

लोगोंके द्वारा सेवनीय हो जाता है अर्थात् फिर उसकी सब लोग सेवा करते हैं ॥ १७७ ॥ जो मुनि अपने योग्य ऐसे अनेक आसनोंके भेदोंका त्यागकर दिगम्बर अवस्था धारण करता है वह सिंहासनको पाकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला तीर्थंकर होता है ॥ १७८ ॥ जो मुनि बिछोना तकिया आदि सबको छोडकर सब तरहके परिग्रहोंको छोड देता है और पृथ्वीपर केवल अपनी भुजाको शिरके समीप रखकर ऊंची नीची कंकरीली जमीनपर सोता है वह महा अभ्युदयको पाकर जिन हो जाता है, सब लोग उसका आदर सत्कार करते हैं और उसे देवोंके द्वारा बना हुआ दैदीप्यमान उपधान (तकिया) प्राप्त होता है ॥ १७९–१८० ॥ जो मुनि शीत छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह छोड देता है वह जिनमें दैदीप्यमान रत्न लगे हुये हैं ऐसे तीन छत्रोंसे स्वयं सुशोभित होता है ॥ १८१ ॥ जिसने अनेक तरहके पंखाओंका त्यागकर तपश्चरण किया है उसे जिनेंद्रदेवकी पर्याय प्राप्त होती है और चौसठ चमर उसपर ढुलाये जाते हैं ॥ १८२ ॥ जो नगाडे, संगीत आदिके शब्दोंके सुननेका त्यागकर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुंदुभियोंके गंभीर शब्दोंसे घोषणा किया जाता है ॥ १८३ ॥ चूंकि पहिले उसने अपने उद्यान बगीचा आदिकी छाया छोडकर तपश्चरण किया था इसलिये ही उसे अब अरहंत-अवस्थामें महा अशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ अपना योग्य धन छोडकर यह अत्यंत निर्ममत्वको प्राप्त हुआ था इसलिये ही ये निधियां स्वयं आकर दूर

स्यादशोकमहाद्रुम ॥ १८४ ॥ स्व स्वापतेयमुचित त्यक्त्वा निर्ममतामित· । स्वय निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरत ॥ १८५ ॥ गृहशोभाऽकृतारक्षा दूरीकृत्य तपस्यत. । श्रीमडपादिशोभाऽस्य स्वतोऽभ्येति पुरोगता ॥ १८६ ॥ तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठत. । त्रिजगज्जनतास्था नसह स्यादवगाहन ॥ १८७ ॥ क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुष: । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते ॥ १८८ ॥ आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानय । प्राप्नोति परमामाज्ञा सुरासुरशिरोधृता ॥ १८९ ॥ स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानय । परमात्पदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभा ॥ १९० ॥ स्वगुणोत्कीर्तन त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिंदासमो भूय· कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥ १९१ ॥ वदित्वा वद्यमर्हंत यतोऽनुष्ठितवॉस्तपः । ततोऽय वद्यते

दरवाजेपर रहकर ही उसकी सेवा करती हैं ॥ १८५ ॥ जिसकी रक्षा बहुत अच्छीतरहसे की गई थी ऐसी घरकी शोभाको छोडकर इसने तपश्चरण किया था इसलिये ही यह समवसरणकी शोभा अपने आप उसके सामने आती है ॥ १८६ ॥ जो तपश्चरण करनेके लिये गहन वनमें प्रवेश करता है उसके समवसरणमें तीनों जगतके समस्त लोगोंको स्थान देने योग्य अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १८७ ॥ जो क्षेत्र वास्तु आदि समस्त परिग्रहको छोडकर अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगतके क्षेत्रको अपने आधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ १८८ ॥ जो यह मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोडकर मौन धारण करता है इसलिये जिसे चारोंप्रकारके देव अपने शिरपर धारण करते हैं ऐसी उत्कृष्ट आज्ञा उसे प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञाको सब जीव मानते हैं १८९ ॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक और भाई बंधु आदिकी सभाको छोडता है इसलिये उत्कृष्ट अरहंत पदकी प्राप्तिके समय उसे यह समवसरण रूप तीनों जगतकी सभा प्राप्त होती है ॥ १९० ॥ जो अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोडकर तथा सब इच्छाओंको छोडकर महा तपश्चरण करता है और स्तुति तथा निंदामें समान परिणाम रखता है वह फिर इंद्र धरणेंद्र आदि लोगोंके द्वारा भी स्तुति किया जाता है अर्थात् ये लोग भी उसकी स्तुति करते हैं ॥ १९१ ॥ जो सबके

वंद्यैरनिंद्यगुणसान्निधि' ॥ १९२ ॥ तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ १९३ ॥ वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या
यतोऽय तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयंत्याखिला सभा ॥ १९४ ॥ अनाश्वान्नियताहारपारणोऽतप्त यत्तपः । तदस्य दिव्यविजयपरमा-
मृततृप्तयः ॥ १९५ ॥ त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाचिर यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानंदथु भजेत् ॥ १९६ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यादिष्ट
यथाविध । त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः ॥ १९७ ॥ प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिंतामणेः फल । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुव-

---

द्वारा वंदना करने योग्य ऐसे अरहंत देवको बंदना कर तप करता है वह समस्त
निर्दोष गुणोंको प्राप्त होता है और वंदना करने योग्य वा पूज्य लोगोंके द्वारा भी बंदना किया
जाता है ॥ १९२ ॥ जो जूता आदि पैरोंकी रक्षा करनेवाली चीजोंको छोडकर सबतरहकी सवारि-
योंको छोडकर तथा केवल पैरोंसे चलकर तपश्चरण करता है वह कमलोंके ऊपर अपने चरण कमल
रखने योग्य हो जाता है अर्थात् अरहंत अवस्थामें उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना होती
है ॥ १९३ ॥ जो यह मुनि बचन गुप्तिको धारणकर अथवा हितामितवचन रूप भाषा समितिको धा-
रणकर तपश्चरण करनेमें तल्लीन हुआ था इसलिये ही इसकी दिव्यध्वनि समस्त सभाको प्रसन्न करती
है ॥ १९४ ॥ जो इस मुनिने पहिले उपवास धारणकर अथवा नियमित रूप आहार और पारणा-
ओंको धारण कर तपश्चरण किया था इसलिये ही उसे दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति और
अमृतरूप तृप्ति ये चारों तृप्तियां प्राप्त हुई हैं ॥ १९५ ॥ इस मुनिने कामादि विषय सुखोंको छोड
कर बहुत दिनतक तपश्चरण किया था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानंद पदको अर्थात्
मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥ १९६ ॥ इसविषयमें बहुत कहांतक कहा जाय थोडेसेमें इतना समझलेना
चाहिये कि जो मुनि अपनी अपनी इष्ट वस्तुओंको विधिपूर्वक बिना किसी संकल्पके त्यागकर
तपश्चरण करता है उसे उस तपश्चरणके प्रभावसे उसी उसी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है ॥ १९७ ॥

णिता ॥१९८॥ जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदांजसं ॥१९९॥ अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितं । पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्य चेदमनुत्तमं ॥ २०० ॥ इति पारिव्राज्यं ॥ या सुरेंद्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात् । सैषा सुरेंद्रता नाम क्रिया प्रागनु वर्णिता ॥ २०१ ॥ साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसर । निधिरत्नसमुद्भूतभोगसंपत्परंपर ॥ २०२ ॥ इति साम्राज्य ॥ आर्हंत्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसंपदः ॥ २०३ ॥ याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसंपदा । तदार्हंत्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभ-

जिस तपश्चरणरूपी चिंतामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहंत देवकी जाति मूर्ति आदि प्राप्त होती है ऐसी जो पारिव्राज्य नामकी क्रिया है उसका निरूपण कर चुके ॥ १९८ ॥ जो उपासक सूत्रोंके अनुसार कही हुई श्रीजिनेंद्रदेवकी उत्कृष्ट आज्ञाको प्रमाण मानकर दीक्षा धारण करता है उसीके यह पारमार्थिक पारिव्राज्य गिना जाता है ॥ १९९ ॥ अन्य लोगोंने बहुतसे वचनोंके जाल फैलाकर युक्तियोंसे बाधित ऐसा जो पारिव्राज्य निरूपण किया है उसे छोडकर इस सबसे उत्तम पारिव्राज्यको स्वीकार करना चाहिये ॥ २०० ॥ (यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है) उस पारिव्राज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेंद्र पदकी प्राप्ति होती है जिसका वर्णन पहिले करचुके हैं वह यह सुरेंद्रता नामकी क्रिया है (यह चौथी क्रिया है) ॥ २०१ ॥ जिसमें चक्ररत्नकी प्राप्ति होकर निधि और रत्नोंसे उत्पन्न हुये भोगोपभोग संपदाओंकी परंपरा प्राप्त होती है ऐसा जो चक्रवर्तीका बहुत बडा राज्य प्राप्त होता है उसे साम्राज्य कहते हैं ॥ २०२ ॥ (यह पांचवीं साम्राज्य क्रिया है) अरहंतका भावस्वरूप अथवा अरहंतका कर्मस्वरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हंत्य क्रिया कहते हैं। इस आर्हंत्य क्रियामें स्वर्गावतार आदि पांच महा कल्याणकोंकी संपदायें प्राप्त होती हैं ॥ २०३ ॥ जब यह सुरेंद्र स्वर्गसे अवतार लेकर पंच कल्याणक संपदाओंको प्राप्त होता है तब उसके जो तीनों लोकोंको क्षोभ करनेवाला आर्हंत्य पद प्राप्त होता है उसीको छट्ठी आर्हंत्य क्रिया समझनी चाहिये ॥२०४॥

कारणं ॥ २०४ ॥ भवबंधनमुक्तस्य याऽवस्था परमात्मनः । परिनिर्वृतिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥ २०५ ॥ कृत्स्नकर्ममलापायात्संशुद्धिर्योऽतरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिदा ॥ २०६ ॥ इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिना ॥ २०७ ॥ योऽनुतिष्ठत्यतंद्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत्परं धाम यत्सप्राप्तौ पर शिव ॥ २०८ ॥ जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मराति क्रियानिबद्ध । अनुचराति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबधनमाशु निर्धुनाति ॥ २०९ ॥ परमाजिनपदानुरक्तधीर्भजति पुमान् य

संसारके बंधनसे छूटकर जो परमात्माकी अवस्था प्राप्त होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं इसका दूसरा नाम परं निर्वाण भी है ॥ २०५ ॥ समस्त कर्मरूपी मलोंके नष्ट हो जानेसे जो अंतरात्माकी शुद्धि होती है उसे शुद्धि अथवा सिद्धि कहते हैं और इसीको अपने आत्माकी प्राप्ति होना कहते हैं । वह सिद्धि आत्माका अभाव स्वरूप भी नहीं है और सुख दुख इच्छा आदि गुणोंके नाश होने रूप भी नहीं है। भावार्थ—मुक्तावस्थामें न तो आत्माका अभाव हो जाता है और न स्वाभाविक गुणोंका ही नाश होता है ॥ २०६ ॥ (यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है) इसप्रकार शास्त्रानुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियायें कही गई हैं । इन क्रियाओंके अनुष्ठान करनेसे योगियोंको परमस्थान अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २०७ ॥ (इसलिये ही इन्हीं क्रियाओंको परमस्थान कहते हैं) जो भव्य आलस छोडकर सावधान होकर गर्भान्वय, कर्त्रन्वय, और दीक्षान्वय इन तीनोंप्रकारकी निरूपण की हुई क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उत्कृष्ट मोक्ष स्थान जा पहुंचता है और वहां पहुंचनेसे उसे परमोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २०८ ॥ जो कोई पुण्यकर्मोंमें बुद्धि रखनेवाला भव्य पुरुष इन उत्तम क्रियाओं सहित जिनमतमें कहे हुये पुराणके धर्मको अथवा प्राचीन धर्मको स्मरण करता है, जानता है, और उसके अनुसार अपने आचरण करता है वह संसारमें भय उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके बंधनोंसे बहुत शीघ्र छूट जाता है ॥ २०९ ॥ अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें अपनी

इम क्रियाविधिं । स धुतनिखिलकर्मबन्धनो जननजरामरणान्तकृद्भवेत् ॥ २१० ॥ भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवं । तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान्पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिं ॥ २११ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

बुद्धिको तल्लीन करनेवाला जो भव्य पुरुष इन ऊपर कही हुई क्रियाओंकी विधिको सेवन करता है अर्थात् विधिपूर्वक इन क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह अपने समस्त कर्मबंधनोंका नाश कर जन्म मृत्यु और बुढापा आदिका भी नाश करनेवाला हो जाता है भावार्थ-वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१० ॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही उत्तम जाति (सज्जाति) को पाकर फिर सद्गृहस्थ होता है अर्थात् सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है, तदनंतर गुरुकी आज्ञानुसार सबसे उत्कृष्ट पारिव्राज्य वा दीक्षा धारणकर (तपश्चरणकर) स्वर्ग जाता है वहां उसे इंद्रकी विभूति प्राप्त होती है तथा फिर वहांसे च्युत होकर (मनुष्य जन्म धारणकर) चक्रवर्ती होता है, फिर अरहंत पदको प्राप्त होता है और इसतरह अपनी पूर्ण महिमा धारणकर अंतमें मुक्त होकर सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ २११ ॥ (इस श्लोकमें सातों ही कर्त्रन्वय क्रियायें आगई हैं)

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओंका निरूपण करनेवाला यह उन्तालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथातः सप्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकां । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणा तिसृणामपि ॥ १ ॥ तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये । मंत्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मंत्राधीना हि योगिना ॥ २ ॥ आधानादिक्रियारभे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणि च्छत्राणि चक्राणा त्रय त्रींश्च हविर्भुजः ॥ ३ ॥ मध्येवेदि जिनेन्द्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मत्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ॥ ४ ॥ नमोऽतो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यंतोऽत्र पठ्यता । जलेन भूमिवधार्थं परा

अथ चालीसवां पर्व.

अथानंतर—अब आगे इन क्रियाओंकी उत्तर चूलिका कहते हैं इस उत्तर चूलिकामें तीनों प्रकारकी क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥ १ ॥ इस उत्तर चूलिकामें भी सबसे पहिले क्रियाकल्पकी (क्रियाओंके समूहकी वा सब क्रियाओंकी) सिद्धिके लिये मंत्रोद्धार अर्थात् मंत्रोंकी रचना कहता हूं क्योंकि योगी लोगोंको भी क्रियाओंकी सिद्धि मंत्रोंके ही आधीन है ॥ २ ॥ आधानादि सब क्रियाओंके प्रारंभमें सबसे पहिले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नि स्थापन करनी चाहिये, ॥ ३ ॥ तथा वेदीके मध्यभागमें विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिये गर्भाधानादि क्रियाओंके प्रारंभमें जो उन स्थापन किये हुये तीन छत्र तीन चक्र और तीनों अग्नियोंकी पूजन की जाती है उसमें यह सबसे पहिले मंत्रकल्प कहा गया है ॥ ४ ॥ भूमि शुद्ध करनेके लिये मंत्र-जलसे भूमिको सिंचन वा पवित्र करनेकेलिये इन सब क्रियाओंमें नमः शब्दको अंतमें रखकर नीरजशब्दकी चतुर्थीका पाठ पढना चाहिये अर्थात् नीरजसे नमः ” (कर्ममलरहित भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये तथा उत्तम शुद्धि होना इस मंत्रका फल समझना चाहिये ॥ ५ ॥

इम क्रियाविधिं । स धुतनिखिलकर्मबंधनो जननजरामरणातकृद्भवेत् ॥ २१० ॥ भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवं । तत्रैंद्रीं श्रियमाप्तवान्पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां प्राप्तार्हंत्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिं ॥ २११ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

बुद्धिको तल्लीन करनेवाला जो भव्य पुरुष इन ऊपर कही हुई क्रियाओंकी विधिको सेवन करता है अर्थात् विधिपूर्वक इन क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह अपने समस्त कर्मबंधनोंका नाश कर जन्म मृत्यु और बुढापा आदिका भी नाश करनेवाला हो जाता है भावार्थ-वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१० ॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही उत्तम जाति (सज्जाति) को पाकर फिर सद्गृहस्थ होता है अर्थात् सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है, तदनंतर गुरुकी आज्ञानुसार सबसे उत्कृष्ट पारिव्राज्य वा दीक्षा धारणकर (तपश्चरणकर) स्वर्ग जाता है वहां उसे इंद्रकी विभूति प्राप्त होती है तथा फिर वहांसे च्युत होकर (मनुष्य जन्म धारणकर) चक्रवर्ती होता है, फिर अरहंत पदको प्राप्त होता है और इसतरह अपनी पूर्ण महिमा धारणकर अंतमें मुक्त होकर सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ २११ ॥ (इस श्लोकमें सातों ही कर्त्रन्वय क्रियायें आगई हैं)

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओंका निरूपण करनेवाला यह उन्तालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकां । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणा तिसृणामपि ॥ १ ॥ तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये । मंत्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मंत्राधीना हि योगिना ॥ २ ॥ आधानादिक्रियारंभे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणि च्छत्राणि चक्राणा त्रय त्रींश्च हविर्भुजः ॥ ३ ॥ मध्येवेदि जिनेंद्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मंत्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ॥ ४ ॥ नमोऽतो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यंतोऽत्र पठ्यता । जलेन भूमिबंधार्थं परा

अथ चालीसवां पर्व.

अथानंतर—अब आगे इन क्रियाओंकी उत्तर चूलिका कहते हैं इस उत्तर चूलिकामें तीनों प्रकारकी क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥ १ ॥ इस उत्तर चूलिकामें भी सबसे पहिले क्रियाकल्पकी (क्रियाओंके समूहकी वा सब क्रियाओंकी) सिद्धिके लिये मंत्रोद्धार अर्थात् मंत्रोंकी रचना कहता हूं क्योंकि योगी लोगोंको भी क्रियाओंकी सिद्धि मंत्रोंके ही आधीन है ॥ २ ॥ आधानादि सब क्रियाओंके प्रारंभमें सबसे पहिले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नि स्थापन करनी चाहिये, ॥ ३ ॥ तथा वेदीके मध्यभागमें विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिये गर्भाधानादि क्रियाओंके प्रारंभमें जो उन स्थापन किये हुये तीन छत्र तीन चक्र और तीनों अग्नियोंकी पूजन की जाती है उसमें यह सबसे पहिले मंत्रकल्प कहा गया है ॥ ४ ॥ भूमि शुद्ध करनेके लिये मंत्र-जलसे भूमिको सिंचन वा पवित्र करनेकेलिये इन सब क्रियाओंमें नमः शब्दको अंतमें रखकर नीरजशद्धकी चतुर्थीका पाठ पढना चाहिये अर्थात् नीरजसे नमः ” (कर्ममलरहित भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये तथा उत्तम शुद्धि होना इस मंत्रका फल समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शुद्धिस्तु तत्फलं ॥ ५ ॥ दर्भास्तरणसंबंधस्ततः पश्चादुदीर्यतां । विघ्नोपशांतये दर्पमथनाय नमःपदं ॥ ६ ॥ गंधप्रदानमंत्रश्च शीलगंधाय वै नमः । पुष्पप्रदानमत्रोऽपि विमलाय नमःपद ॥ ७ ॥ कुर्योदक्षतपूजार्थमक्षताय नमः पद । धूपार्थे श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥ ८ ॥ ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नम पद । मंत्रः परमसिद्धाय नम. इत्यमृतोध्दतौ ॥९॥ मंत्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतल । ततोऽन्वक् पीठिकामंत्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥ पीठिकामंत्र.—सत्यजातपद पूर्वं चतुर्थ्यंतं नमः पर । ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदंतस्तत्परो मतः ॥ ११ ॥ ततः परमजाताय नम इत्यपरं पद ।

तदनंतर डाभका बनाहुआ आसन ग्रहण करना चाहिये, इस आसनको ग्रहण करनेके पीछे समस्त विघ्नोंको शांत करनेकेलिये "दर्पमथनाय नमः" (अहंकारको नाश करनेवाले भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ६ ॥ भूमिको गंध समर्पण करनेकोलिये " शीलगंधाय नमः " (शीलरूप सुगंधको धारण करनेवाले भगवानके लिये नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तथा पुष्प समर्पण करनेकेलिये " विमलायनमः " (मलरहित अरहंतदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ७ ॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिये " अक्षताय नमः " (क्षयरहित भगवानको नमस्कार हो) मंत्र पढना चाहिये, और धूपसे पूजा करनेके लिये " श्रुतधूपाय नमः " (जिनकी वासना सब जगह सुनाई दे रही है ऐसे भगवानके लिये नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ८ ॥ दीप चढाते समय " ज्ञानोद्योताय नमः " (केवलज्ञानरूपी उद्योतको धारण करनेवाले जिनेंद्रदेवको नमस्कार हो) मंत्र पढना चाहिये और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढाते समय " परमसिद्धाय नमः " [सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार हो] यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ९ ॥ इस प्रकार इन मंत्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका संस्कार वा पूजा करनी चाहिये और फिर उसके पीछे उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मंत्र पढना चाहिये ॥१०॥ सत्यजात शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर सत्यजाताय नमः (सत्यस्वरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) फिर अर्हज्जात शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर

ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदं ॥ १२ ॥ ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः । अचलाय नम शब्दादक्षयाय नम· परं ॥ १३ ॥ अव्याबाधपदं चान्यदनतज्ञानशब्दन । अनतदर्शनानतवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥ १४ ॥ अनतसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥ १५ ॥ ततोऽमराप्रमेयोक्ती सागर्भावासशब्दने । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्घनध्वनि· ॥ १६ ॥ पृथकपृथागिमे शब्दास्तदतास्तत्परा

अर्हज्जाताय नमः (पूज्य जन्मको धारण करनेवालेके लिये नमस्कारहो)॥ ११ ॥ फिर तीसरा परम जाताय नमः (उत्कृष्ट जन्म ग्रहण करनेवाले जिनेंद्रके लिये नमस्कार हो) चौथा अनुपमजाताय नमः (उपमा रहित जन्म धारण करनेवालेको नमस्कार) यह मंत्र पढना चाहिये। फिर स्वप्रधानाय नमः [सबमें आपही मुख्य ऐसे जिनराजके लिये नमस्कार] यह मंत्र पढना चाहिये तदनंतर अचलाय नमः (परम निश्चल वीतराग देवको नमस्कार) अक्षयाय नमः (अविनश्वर परमेश्वरको नमस्कार)॥ १२-१३ ॥ अव्याबाधायनमः (सबतरहकी बाधाओंसे रहित जिनराजको नमस्कार) अनंतज्ञानायनमः (अनंतज्ञानस्वरूप भगवानको नमस्कार) अनंतदर्शनाय नमः (अनंत दर्शनको धारण करनेवालेको नमस्कार) अनंतवीर्याय नमः (अनंतवीर्यको धारण करनवाले अरहंतको नमस्कार) अनंतसुखाय नमः (अनंतसुखको धारण करनेवालेको नमस्कार) नीरजसे नमः (मोहरूपी मलसे शून्य ऐसे जिनराजको नमस्कार) निर्मलाय नमः (कर्ममल रहित भगवानको नमस्कार) अच्छेद्याय नमः (जो किसीतरह छिदनहीं सकता ऐसे जिनेंद्रको नमस्कार) अभेद्याय नमः (जो किसीतरह भिद नहीं सकता ऐसे अरहंतको नमस्कार) अजराय नमः (जरा=बुढापारहित भगवानको नमस्कार) अमराय नमः (मरण रहित जिनराजको नमस्कार) अप्रमेयाय नमः (जो वा जिसकी महिमा प्रमाणमें न आवे ऐसे वीतरागको नमस्कार) अगर्भवासाय नमः (जो कभी किसीके गर्भमें निवास नहीं करते ऐसेके लिये नमस्कार) अक्षोभ्याय नमः [व्याकुलता रहित परमानंदस्वरूपकेलिये नमस्कार] अविलीनाय नमः (कभी नष्ट न

मताः । उत्तराण्यनुसंधाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥ १७ ॥ आदौ परमकाष्ठेति योगरूपायवाक्परं । नमःशब्दमुदीर्यांते मंत्रविन्मंत्रमुद्धरेत् ॥ १८ ॥ लोकाग्रवासिनेशब्दात्परः कार्यो नमो नम । एव परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥ १९ ॥ एव केवलिसिद्धेभ्यः पदाद्भूयोंतकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परपरपदादपि ॥ २० ॥ अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव पदात्पर । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥ २१ ॥ इति मंत्रपदान्युक्त्वा

होनेवालेके लिये नमस्कार) तथा परमघनाय नमः (उत्कृष्ट घनरूपके लिये नमस्कार हो) ये अव्याबाध आदि शब्दोंकी चतुर्थीके आगे नमः लगाकर अर्थात् आव्याबाधाय नमः आदि जैसे ऊपर लिखे गये हैं उसप्रकार पढना चाहिये ॥ १४-१५-१६-१७ ॥ इसीतरह इसके आगे मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको परमकाष्ठयोगरूपाय नमः (अत्यंत उत्कृष्ट योगको धारण करनेवाले योगिराजको नमस्कार) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ १८ ॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दसे नमो नमः शब्द लगाना चाहिये अर्थात् लोकाग्र वासिने नमो नमः [लोकके शिखरपर निवास करनेवालेकेलिये नमस्कार] यह मंत्र पढना चाहिये, फिर परम सिद्धेभ्यो नमो नमः (परमसिद्ध भगवानको नमस्कार) अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः (अरहंत सिद्धको बार बार नमस्कार ॥१९॥इसीतरह केवलिसिद्धेभ्यो नमोनमः (केवली सिद्धोंको नमस्कार) अंतकृत्सिद्धेभ्यो नमोनमः (जो अंतकृत्केवली सिद्ध हुये उनको नमस्कार)परंपरासिद्धेभ्यो नमोनमः (परंपरासे हुये सिद्धोंको नमस्कार) अनादिपरंपरासिद्धेभ्यो नमोनमः (अनादि कालसे हुये परम सिद्धोंको नमस्कार) अनाद्यनुपम सिद्धेभ्यो नमोनमः (अनादिसे हुये उपमा रहित सिद्धोंको नमस्कार) ॥ २०—२१ ॥ ये मंत्र पढकर फिर नीचे लिखे मंत्र पढना चाहिये । इन नीचे लिखे शब्दोंको आमंत्रणरूपसे दो दो बार उच्चारण करना चाहिये । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे ! हे सम्यग्दृष्टे ! फिर हे आसन्नभव्य ! हे आसन्नभव्य ! हे निर्वाणपूजार्ह ! हे निर्वाणपूजार्ह ! (इन मंत्रोंको दो दो बार जैसे लिखे हैं उच्चारण करना चाहिये और फिर) अग्नींद्र स्वाहा यह मंत्र पढना चाहिये (इनका भावार्थ—हे सम्यग्दृष्टी, आसन्नभव्य

पदानीमान्यतः पठेत्। द्विरुक्त्वाऽऽमंत्र्य वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥ २२ ॥ आसन्नभव्यशब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव हि। निर्वाणादिश्च पूजार्हस्वाहा-तोऽग्नींद्र इत्यपि ॥ २३ ॥ काम्यमंत्रः—ततः स्वकाम्यसिध्यर्थमिदं पदमुदाहरेत्। सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परं ॥ २४ ॥ अपमृत्युविनाशनं भवत्वतं पदं पठेत्। भवत्वतमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरं ॥ २५ ॥ पीठिकामंत्र एष स्यात्पदैरेभिः समुचितैः। जातिमंत्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्र-

निर्वाणकल्याणकी पूजा करने योग्य ऐसे अग्निकुमार देवोंके इंद्र ! तेरे लिये यह हवि वा होम करने योग्य द्रव्य समर्पण करता हूं) ॥ २२—२३ ॥ तदनंतर अपनी इष्ट सिद्धिके लिये नीचे लिखे मंत्र पढना चाहिये-सेवा फलं षट् परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु अर्थात् इस सेवाकाफल मुझे छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो मेरे कुमरणका नाशहो और समाधिमरण हो ॥२४-२५॥ (इस सेवाफलं आदि मंत्रको काम्य मंत्र कहते हैं)

चूर्णि-अर्थात् सवका संग्रह—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपम-जाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्यावाधाय नमः, अनतज्ञानाय नमः, अनंतदर्शनाय नमः, अनंतवीर्याय नमः, अनंतसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमोनमः, परमसिद्धेभ्यो नमोनमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमोनमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमोनमः, अंतकृत्सिद्धे-भ्यो नमोनमः, परंपरसिद्धेभ्यो नमोनमः, अनादिपरंपरसिद्धेभ्यो नमोनमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमोनमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नींद्र स्वाहा सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऊपर जिन पदोंके द्वारा मंत्र कहे गये हैं वे सव पीठिकामंत्र हैं ।

मात् ॥ २६ ॥ सत्यजन्मपद नातमादौ शरणमप्यतः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्मपदं तथा ॥ २७ ॥ अर्हन्मातृपदं तद्वत्स्वंतमर्हत्सुताक्षर । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मन. ॥ २८ ॥ रत्नत्रयस्य शरण प्रपद्यामीत्यत:पर । बोध्यत च ततः सम्यग्दृष्टिं द्वित्वेन योजयत् ॥ २९ ॥ ज्ञानमूर्तिपद तद्वत्सरस्वतिपद तथा । स्वाहांतमते वक्तव्य काम्यमत्रश्च पूर्ववत् ॥ ३० ॥ जातिमत्रोऽयमाम्नातो जातिसस्कारकारण । मत्र निस्तारकादिं च यथाम्नाय-

अब आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमंत्र कहते हैं ॥ २६ ॥ नांत सत्यजन्म पदकेआगे शरण और फिर उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहने चाहिये अर्थात् ' सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि ' (मैं सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले अरहंतदेवका शरण लेता हूं)फिर ' अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहंतपदके योग्य जन्म लेनेवालेका शरण लेता हूं) अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि (अरहंतकी माताका शरण लेता हूं) अर्हत्सुतस्य शरण प्रपद्यामि (अरहंत देवके पुत्रका शरण लेता हूं) अनादि गमनस्य शरणं प्रपद्यामि (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरणलेता हूं) अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि (उपमारहित जन्मकोधारण करनेवालेका मैं शरण लेता हूं) रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि (मैं रत्नत्रयका शरण लेता हूं) ये मंत्र पढना चाहिये इसके बाद संबोधनके सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वति शब्दोंको दो दो बार उच्चारण कर अंतमें स्वाहा पढना चाहिये अर्थात् 'ह सम्यग्दृष्टे' हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, हे ज्ञानमूर्ते हे सरस्वति हे सरस्वति स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि ज्ञानमूर्ते सरस्वती मैं तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये और फिर काम्यमंत्र पहिलेके समान पढना चाहिये ॥ २७-२८-२९-३० ॥

चूर्णि अर्थात् सबका संग्रह—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे हे ज्ञानमूर्त्ते हे ज्ञानमूर्त्ते हे सर-

मितो ब्रुवे ॥ ३१ ॥ निस्तारकमंत्रः—स्वाहांतं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृत । तदंतमर्हज्जातायपद स्यात्तदनंतर ॥ ३२ ॥ ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विजः । स्याद्ग्रामपतये स्वाहा पद तस्मादनंतर ॥ ३३ ॥ अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयात्स्वाहापद ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वय ॥ ३४ ॥ स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यंतमतः पदं । सुब्राह्मणाय स्वाहातः स्वाहांताऽनुपमाय गीः ॥ ३५ ॥ सम्यग्दृष्टिपद चैव तथा निधिपतिश्रुतिं । ब्रूयाद्वैश्रवणोक्तिं च द्विःस्वाहेति ततः पद ॥ ३६ ॥ काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववन्मन्त्रविद्द्विजः । ऋषिमंत्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥ ३७ ॥

स्वाति हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऊपर जातिका संस्कार करनेवाले जातिमंत्रोंको कह चुके, अब आगे शास्त्रानुसार निस्तारक मंत्रोंको कहते हैं ॥ ३१ ॥ प्रथम ही सत्यजाताय स्वाहा (सत्यरूपजन्मको धारण करनेवालेके लिये मैं समर्पण करता हूं) फिर ' अर्हज्जाताय स्वाहा [अरहंतरूप जन्मको धारण करनेवालेकेलिये समर्पण करता हूं] ॥ ३२ ॥ षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्मोंके लिये समर्पण, करता हूं) इसके वाद द्विजोंको ' ग्रामपतये स्वाहा ' (ग्रामपति के लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ३३ ॥ उसके बाद अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा (अनादि कालके श्रोत्रियको समर्पण करता हूं) स्नातकाय स्वाहा (केवली अरहंतके लिये समर्पण करता हूं) श्रावकाय स्वाहा (श्रावकके लिये समर्पण करता हूं) देवब्राह्मणाय स्वाहा (देवब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूं) सुब्राह्मणाय स्वाहा (सुब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूं) अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहित भगवानके लिये समर्पण करता हूं) फिर सम्यग्दृष्टि निधिपति और वैश्रवण इनको दो दो वार कहकर स्वाहा शब्द कहना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा [हे सम्यग्दृष्टी निधियोंके स्वामी कुबेर तेरे लिये समर्पण करता हूं] यह मंत्र पढना चाहिये । इसके वाद मंत्रोंको जाननेवाले द्विजोंको पहिलेके समान काम्यमंत्र पढना चाहिये । अब इसके आगे जिसप्रकार उपासकाध्ययन शास्त्रमें लिखा है उसी प्रकार ऋषिमंत्रोंको कहता हूं ॥ ३४-३५-३६-३७ ॥

ऋषिमंत्रः—प्रथम सत्यजाताय नमःपदमुदीरयेत् । गृणीयादर्हज्जाताय नमःशब्द तत. पर ॥ ३८ ॥ निर्ग्रंथाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नमःपदमनतर ॥ ३९ ॥ त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यत. । ततो विविधयोगाय नम इत्यनु पठ्यता ॥ ४० ॥ विविधर्द्धिपद चास्मान्नम. शब्देन योजित । ततोंगधरपूर्वं च पठेत्पूर्वधरध्वनि ॥ ४१ ॥ नमःशब्दपरौ चैतौ चतुर्थ्यंतावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पद युक्तनम.पद ॥ ४२ ॥

चूर्णि अर्थात् सबका संग्रह—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामपतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवा फलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमंत्र—प्रथम ही सत्यजाताय नमः [यथार्थजन्मको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार] यह पद पढना चाहिये, फिर अर्हज्जाताय नमः (अरहंत रूप जन्म धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) यह कहना चाहिये ॥३८॥ तदनंतर—निर्ग्रंथाय नमः (निर्गंथ वा परिग्रहरहितके लिये नमस्कार) वीतरागाय नमः [वीतरागके लिये नमस्कार) महाव्रताय नमः (महाव्रतियोंके लिये नमस्कार) त्रिगुप्ताय नमः (तीनोंगुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) महायोगाय नमः (महायोगको धारण करनेवाले ध्यानियोंके लिये नमस्कार) और विविधयोगाय नमः (अनेक तरहके योगोंको धारण करनेवालोंके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥३९-४०॥ फिर नमः शब्द लगाकर विविधर्द्धिकी चतुर्थी पढना चाहिये अर्थात् विविधर्द्धये नमः (अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) तदनंतर अंगधर और पूर्वधरकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर दो पद पढना चाहिये अर्थात् अंगधराय नमः (ग्यारह अंगोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) पूर्वधराय नमः (चौदह पूर्वोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये । फिर गणधराय नमः (गणधरदेवके लिये नमस्कार) पढना

परमर्षिभ्यः इत्यस्मात्पर वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥ ४३ ॥ सम्यग्दृष्टिपदं चांते वोध्यंतं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपतिशब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥ ४४ ॥ द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ वोध्यंतौ मत्रवेदिभिः । मत्रशेषोऽप्ययं तस्मादनंतरमुदीर्यतां ॥ ४५ ॥ कालश्रमणशब्दश्च द्विरुक्त्वाऽऽमत्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥ ४६ ॥ मुनिमत्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये

चाहिये ॥ ४१–४२ ॥ इसके बाद–परमर्षिभ्यो नमो नमः (परमर्षियोंके लिये बार बार नमस्कार) अनुपमजाताय नमोनमः (उपमा रहित जन्म पानेवालेके लिये बार बार नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ४३ ॥ फिर संबोधनका सम्यग्दृष्टि पद दो बार पढना चाहिये इसके बाद मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको संबोधनका भूपति शब्द और नगरपति शब्द दो वार कहने चाहिये और फिर बाकी बचा हुआ मंत्र जिसे अभी आगे कहते हैं पढना चाहिये । संबोधनके अंतका कालश्रमण शब्द भी दो बार कहना चाहिये और फिर स्वाहा शब्दका उच्चारण कर काम्यमंत्रोंको पहिलेके समान पढना चाहिये भावार्थ–सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा (सम्यग्दृष्टी पृथ्वी और नगरका स्वामी कालश्रमण यक्ष मैं तेरे लिये यह आहूति समपर्ण करता हूं) यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ४४–४५–४६ ॥

चूर्णि–अथवा सबका संग्रह–सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रंथाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अंगधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

तत्त्वोंके जाननेवाले मुनियोंने इन ऊपर लिखे हुये मंत्रोंको मुनिमंत्र अथवा ऋषिमंत्र कहा है अब आगे

सुरेंद्रमंत्र च यथा स्माहार्षभी श्रुतिः ॥ ४७ ॥ प्रथम सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदं ॥ ४८ ॥ ततः दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्चजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥ ४९ ॥ ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरं । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यतमनुस्मरेत् ॥ ५० ॥ कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परं । भूयोऽप्यनुचरायादिं स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥ ५१ ॥ ततः परंपरेंद्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदं । सपठेदहमिंद्राय स्वाहेत्येतदनंतरं ॥ ५२ ॥ ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितं ॥ ५३ ॥

श्रीऋषभदेवकी श्रुति वा धर्मशास्त्रमें जिसप्रकार कहा है उसी प्रकार मैं सुरेंद्रमंत्रोंको कहता हूं ॥ ४७ ॥ प्रथम ही सत्यजाताय स्वाहा (मैं यथार्थ जन्म लेने वालेके लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये, फिर– अर्हज्जाताय स्वाहा (अरहंतके योग्य जन्म लेनेवालेकेलिये समर्पण) यह उत्कृष्ट पद पढना चाहिये ॥ ४८ ॥ फिर–दिव्यजाताय स्वाहा (दिव्यस्वरूप जन्मको धारण करनेवालेको समर्पण) यह पढना चाहिये और फिर दिव्यार्चजाताय स्वाहा (जिसका जन्म दिव्य तेजस्वरूप है उसके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये ॥ ४९ ॥ तदनंतर नेमिनाथाय स्वाहा (नेमिनाथके लिये अथवा धर्मरूप चक्रकी धुरी के स्वामी ऐसे जिनराजके लिये मैं समर्पण करता हूं) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर-- सौधर्माय स्वाहा (सौधर्म इंद्रके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५० ॥ इसके आगे कल्पाधिपतये स्वाहा (स्वर्गके इंद्रोंके लिये समर्पण) पढना चाहिये, और फिर--अनुचराय स्वाहा (इंद्रके अनुचरोंके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये ॥ ५१ ॥ तदनंतर--परंपरेंद्राय स्वाहा (परंपरासे होनेवाले इंद्रोंके लिये समर्पण) यह मंत्र उच्चारण करना चाहिये और फिर--अहमिंद्राय स्वाहा (अहमिंद्रके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये ॥ ५२ ॥ इसके बाद परमार्हताय स्वाहा (अरहंत देवके उपासक लोगोंमें जो सर्व श्रेष्ठ हैं उनके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहितके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५३ ॥

सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद्बोध्यतं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च संपठेत् ॥ ५४ ॥ द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत्काम्यमंत्रोऽपि पाठ्योऽस्यांते त्रिभि: पदैः ॥५५॥ सुरेंद्रमंत्र एषः स्यात्सुरेंद्रस्यानुतर्पणं । मंत्रं परमराजादिं वक्ष्यामीतो यथाश्रुतं ॥ ५६ ॥ प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पद पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्पर पद ॥ ५७ ॥ ततश्चानुपमेंद्राय स्वाहेत्येतत्पद मत । विजयार्चादिजाताय पदं

तदनंतर संवोधनका सम्यग्दृष्टिपद दोवार उच्चारण करना चाहिये तथा कल्पपति और दिव्य मूर्ति शब्दोंको भी संवोधनांत दोवार पढना चाहिये, फिर संवोधनांत वज्रनाम शब्दको दो बार पढकर स्वाहा पढना चाहिये और फिर अंतमें पहिलेके समान तीन पदोंसे काम्यमंत्र पढना चाहिये भावार्थ--सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा [सम्यग्दृष्टि स्वर्गके स्वामी दिव्यमूर्तिको धारण करनेवाले वज्रनाम तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं] यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ५४–५५ ॥

चूर्णि–वा संग्रह–सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्चजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परंपरेंद्राय स्वाहा, अहमिंद्राय स्वाहा; परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु । इति सुरेंद्रमंत्रः ॥

यह सुरेंद्रको तृप्त करनेवाला सुरेंद्र मंत्र कहा अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादि मंत्रोंको कहते हैं ॥ ५६ ॥ इन मंत्रोंमें सवसे पहिले--सत्यजाताय स्वाहा, (मैं यथार्थ जन्म धारण करनेवालेके लिये समर्पण करता हूं) यह पद पढना चाहिये, फिर अर्हज्जाताय स्वाहा (अरहंत पदके योग्य जन्म लेनेवालेके लिये समर्पण) यह उत्तम पद पढना चाहिये ॥५७॥ इसके बाद--अनुपमेंद्राय

स्वाहांतमन्वतः ॥ ५८ ॥ ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पठेत्पद । तत. परमजाताय स्वाहेयेतदुदाहरेत् ॥ ५९ ॥ परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहाताऽनुपमायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभि' ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टिपद चास्माद्वोध्यत द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजःपद चैत्र दिशाजयपदं तथा ॥ ६१॥ नेम्यादिविजय चैव कुर्यात्स्वाहापदोत्तर । काम्यमंत्र च त ब्रूयात्प्राग्वदते पदैस्त्रिभि ॥ ६२ ॥ मत्र. परमराजादिर्मतोऽय परमेष्ठिना । पर मत्रमितो वक्ष्ये

स्वाहा (जिसकी अन्य उपमा नहीं ऐसे इंद्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिये समर्पण, (इंद्र तपश्चरण नहीं कर सकता, चक्रवर्ती इंद्रकेसे भोग भोगकर तपश्चरण कर सकता है इसलिये वह उपमारहित इंद्र है) यह पद कहना चाहिये, फिर अनुक्रमसे विजयार्चजाताय स्वाहा (विजयरूप और तेजस्वी जन्म लेने वालेके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५८ ॥ तदनंतर--नेमिनाथाय स्वाहा (धर्मरूपी रथको चलानेवालेके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये और फिर--परमजाताय स्वाहा (सर्वोत्तम जन्म लेनेवालेके लिये समर्पण) यह कहना चाहिये ॥ ५९ ॥ इसके बाद--परमार्हताय स्वाहा (अरहंत केउपासकोंमें सबसे उत्तम उपासक चक्रवर्तीके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये, और फिर उन ब्राह्मणोंको--अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहित जिनभक्त चक्रवर्तीके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ६० ॥ तदनंतर--संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पद दो बार कहना चाहिये, तथा इसी प्रकार संबोधनांत उग्रतेज पद, दिशांजय पद और नेमिविजय पद दो दो बार पढकर अंतमें स्वाहा पढना चाहिये और फिर पहिलेके समान तीन पदोंसे काम्यमंत्र पढना चाहिये । भावार्थ--सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (सम्यग्दृष्टी, उग्र तेजको धारण करनेवाले, दिशाओंको जीतनेवाले नेमिविजयके लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ६१--६२ ॥

चूर्णि--अर्थात् संग्रह--सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेंद्राय स्वाहा, विजयार्च-

यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥ ६३ ॥ तत्रादौ सत्यजाताय नमःपदमुदीरयेत् । वाच्य ततोर्हज्जाताय नम इत्युत्तर पदं ॥ ६४ ॥ ततः परमजाताय नमःपदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यंत नम.परं ॥ ६५ ॥ तत. परमरूपाय न मः परमतेजसे । नम इत्युभय वाच्य पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥ ६६ ॥ परमादिगुणायेति पद चान्यन्नमोयुत । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यंतो नमोन्वित. ॥ ६७ ॥ उदाहार्यं क्रम ज्ञात्या ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय

जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ये ऊपर लिखे हुये परमराजादिमंत्र माने जाते हैंअब आगे जिसप्रकार शास्त्रोंमें लिखे हैं उसीप्रकार परमेष्ठियोंके मंत्र कहते हैं ॥६३॥ इन परमेष्ठियोंके मंत्रोंमें सबसे पहिले--सत्यजाताय नमः (यथार्थ जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद पढना चाहिये, और फिर आगे--अर्हज्जाताय नमः (अरहंतके योग्य अथवा पूज्य जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद कहना चाहिये ॥ ६४ ॥ इसके वाद परमजाताय नमः (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद पढना चाहिये और फिर परमार्हत शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर परमार्हताय नमः (उत्तम जिनधर्मीके लिये नमस्कार) यह कहना चाहिये ॥ ६५ ॥ तदनंतर उत्तम अध्यात्म तत्त्व जाननेवाले द्विजोंको--परमरूपाय नमः (उत्तम निर्ग्रंथ रूपको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) और--परमतेजसे नमः (सवसे अधिक तेजस्वीके लिये नमस्कार) ये दोनों मंत्र पढने चाहिये ॥ ६६ ॥ फिर नमः शव्दके साथ परमगुणाय अर्थात्--परमगुणाय नमः (उत्तम गुणवालेके लिये नमस्कार) कहना चाहिये और वाद परमस्थान शव्दकी चतुर्थीके आगे नमः शव्द लगाकर परमस्थानाय नमः [मोक्षरूप उत्तम स्थानवालेके लिये नमस्कार] पढना चाहिये ॥ ६७ ॥ तदनंतर अनुक्रमको जानकर अर्थात् अनुक्रमके अनुसार--परमयोगिने नमः

नम इत्युभयं पदं ॥ ६८ ॥ परमर्द्धिपद चान्यच्चतुर्थ्यंतं नमः पर । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तर पद ॥ ६९ ॥ स्यात्परमकाक्षिताय नम इत्यत उत्तर । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तर वचः ॥ ७० ॥ स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनतरं । स्यात्परमदर्शनाय नम·पदमतःपर ॥ ७१ ॥ ततः परमवीर्याय पद चास्मान्नमःपर । परमादिसुखायेति पदमस्मादनंतर ॥ ७२ ॥ सर्वज्ञाय नमो वाक्यमर्हते नम इत्यापि । नमो नम. पद चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥ ७३ ॥ परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपद चाते वोध्यत द्विः प्रयुज्यता ॥ ७४ ॥ द्वि स्ता त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे

(परम योगीके लिये नमस्कार) और परमभाग्याय नमः (परमभाग्यशाली तीर्थंकरकेलिये नमस्कार) ये दोनों मंत्र पढने चाहिये ॥ ६८ ॥ इसके वाद परमर्द्धि पदकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर परमर्द्धये नमः (उत्कृष्ट ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) और परमप्रसादाय नमः (जिनका प्रसाद सबसे उत्तम संसारको नाश करनेवाला है उनके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ६९ ॥ इसके आगे परमकांक्षिताय नमः (उत्कृष्ट स्वरूपानंदकी इच्छा करनेवालेके लिये नमस्कार) और फिर—परमविजयाय नमः (कर्म शत्रुओंकी परम विजय पानेवालेके लिये नमस्कार) ये पद पढना चाहिये ॥ ७० ॥ तदनंतर परमविज्ञानानाय नमः (सर्वोत्तमज्ञानीके लिये नमस्कार) और फिर परमदर्शनाय नमः (परमदर्शीके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७१ ॥ इसके बाद-परम वीर्याय नमः (अनंत वीर्यशालीके लिये नमस्कार) और फिर--परमसुखाय नमः (परमसुखके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७२ ॥ तदनंतर--सर्वज्ञाय नमः (सर्वज्ञकोलिये नमस्कार) तथा अर्हते नमः (अरहंतदेवकोलिये नमस्कार) और फिर--परमेष्ठिने नमो नमः (परमेष्ठिके लिये बार २ नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७३ ॥ इसके बाद परमनेत्रे नमो नमः (उत्तम नेताके लिये बार २ नमस्कार) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर संवोधनांत सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना चाहिये, तथा इसी तरह त्रिलोक विजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि इन पदोंको भी दो दो बार उच्चारणकर

ततः । धर्मनेमिपद वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः पर ॥७५॥ काम्यमंत्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विज. । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मंत्राःस्मृता बुधैः ॥ ७६ ॥ एते तु पीठिकामंत्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ॥७७॥ क्रियामंत्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणध-

---

अंतमें स्वाहा पढना चाहिये । सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (सम्यग्दृष्टी तीनोंलोकोंको विजय करनेवाले धर्ममूर्ती और धर्म धुरंधर में तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ७४-७५ ॥ इसके बाद द्विजोंको विधि पूर्वक काम्यमंत्र पढना चाहिये क्योंकि विद्वान लोग सब मंत्रोंसे छह परमस्थानकी प्राप्ति होना, अपमृत्युका नाश होना और समाधिमरण होना इन इच्छित पदार्थोंकी सिद्धि होना ही मुख्य फल मानते हैं. ॥ ७६ ॥

चूर्णि—वा संग्रह--सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः,परम रूपाय नमः परमतेजसे नमः परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकांक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परम-दर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परम-नेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु (इति परमेष्ठिमंत्राः)

ब्राह्मणोंको ये ऊपर लिखेहुये (आहूति मंत्र, जातिमंत्र, निस्तारकमंत्र, ऋषिमंत्र सुरेंद्रमंत्र परमराजमंत्र और परमेष्ठिमंत्र) सात पीठिका मंत्र समझना चाहिये और गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें इन मंत्रोंसे सिद्धपूजन करना चाहिये ॥ ७७ ॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधिमें ये

रोद्धार्ये याति साधनमंत्रता ॥ ७८ ॥ सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥ ७९ ॥ सिद्धार्चासन्निधो मंत्रान्जपेदष्टोत्तर शतं । गंधपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुरःसर ॥ ८० ॥ सिद्धविद्यस्ततो मंत्रैरेभि. कर्म समाचरेत् । शुक्लवासा' शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानस' ॥ ८१ ॥ त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः स्युः कर्मारंभे द्विजोत्तमैः । रत्नात्रितयसकल्पादग्नीन्द्रमकुटोद्भवाः ॥ ८२ ॥ तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्त्यमहोत्सवे । पूजागत्व समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥ ८३ ॥ कुडत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नय. । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धय ॥ ८४ ॥ अस्मिन्नग्नित्रये पूजा मंत्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥ ८५ ॥ हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसविधौ । वह्नीना विनियोगः

मंत्र क्रियामंत्र कहलाते हैं और गणधरोंके द्वारा कहे हुये सूत्रोंमें ये ही मंत्र साधनमंत्र हो जाते हैं ॥ ७८ ॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुये ये ही मंत्र प्रातःकाल मध्यान्हकाल और सायंकाल इन तीनों समय तीनों प्रकारकी अग्निमें देवपूजन करते समय और नित्यकर्म करते समय आहूतिमंत्र कहे जाते हैं ॥ ७९ ॥ सिद्ध भगवानकी प्रतिमाके सामने गंध पुष्प अक्षत और अर्घ आदि समर्पणकर एक सौ आठ बार इन मंत्रोंको जपना चाहिये ॥ ८० ॥ तदनंतर जिसे विद्यायें सिद्ध होगई हैं, जो सफेद वस्त्र पहिने हुये है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुये है और जिसका चित्त व्याकुल नहीं है निराकुल है ऐसे द्विजको इन मंत्रोंके द्वारा सब क्रियायें करनी चाहिये ॥ ८१ ॥ गर्भाधान आदि क्रियाओंके प्रारंभमें ब्राह्मणोंको रत्नत्रयका संकल्पकर अग्निकुमारदेवोंके इंद्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई ऐसी तीन अग्नि उत्पन्न करनी चाहिये ॥ ८२ ॥ ये तीनों ही अग्नियां तीर्थंकर गणधर और शेष केवली इनके मोक्ष कल्याणके महोत्सवमें अत्यंत पूज्य मानी गई थीं इसलिये ही ये अत्यंत पवित्र मानी जाती हैं ॥ ८३ ॥ तीन कुडोंमें जो गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं ऐसी तीन महा अग्नि स्थापन करनी चाहिये ॥ ८४ ॥ जो इन तीनोंप्रकारकी अग्नियोंमें इन मंत्रोंसे पूजा करता है वह उत्तम द्विज वा ब्राह्मण कहलाता है और जिसके घर ऐसी पूजा नित्य होती है

स्यादमीषां नित्यपूजने ॥ ८६ ॥ प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः ॥ ८७ ॥ न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्व देवतारूपमेव वा । किं त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासंबधात्पावनोऽनलः ॥ ८८ ॥ ततः पूजागतामस्य मत्वार्चंति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो न दुष्यति ॥ ८९ ॥ व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरप्यवहार्योऽय नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मभिः ॥ ९० ॥ साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रिया-विधौ । यथासभवमुन्नेष्ये विशेषविषयाश्च तान् ॥ ९१ ॥ गर्भाधानमन्त्रः—सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानिमान्यतः

उसे आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री समझना चाहिये ॥ ८५ ॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों अग्नियोंका नियोग हव्य अर्थात् नैवेद्यका पाक करनेमें, धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है भावर्थ—गार्हपत्यसे नैवेद्य तैयार किया जाता है, आहवनीयमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥ ८६ ॥ घरमें बडे प्रयत्नके साथ इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् कभी बुझनेदेना नहीं चाहिये और जिनके गर्भाधान आदि संस्कार नहीं हुये हैं ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिये ॥ ८७ ॥ अग्नि स्वयं पवित्र नहीं है और न कोई देवता ही है किंतु अरहंतदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके संबंधसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥ ८८ ॥ इसलिये ही ब्राह्मण लोग इसे पूज्य मानकर इसकी पूजा करते हैं । अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें भी कोई दोष नहीं है । भावार्थ—जिसप्रकार अरहंत देवके संबंधसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं उसीप्रकार निर्वाणकल्याणकी पूजाके संबंधसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है ॥ ८९ ॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षासे ही वह अग्नि पूज्य है और जैन ब्राह्मणोंको आज यह व्यवहार नय अवश्य काममें लाना चाहिये ॥ ९० ॥ ये ऊपर लिखे हुये मंत्र साधारण हैं सब क्रियाओंमें काम आते हैं । अब विशेष क्रियाओंके जो विशेष मंत्र हैं उन्हें यथासंभव कहते हैं ॥ ९१ ॥

गर्भाधानके मंत्र—सज्जातिभागी भव (सज्जातिको धारण करनेवाला हो) सद्गृहिभागी भव

पठेत् ॥ ९२ ॥ आदौ मुनींद्रभागीति भवेत्यते पदं वदेत् । सुरेंद्रभागी परमराज्यभागीति च द्वय ॥ ९३ ॥ आर्हंत्यभागी भवेति पदमस्मादनतर । तत. परमनिर्वाणभागी भव पद भवेत् ॥ ९४ ॥ आधाने मत्र एप. स्यात्पूर्वमत्रपुर·सरः । विनियोगश्च मत्राणा यथाम्नाय प्रदर्शितः ॥ ९५ ॥ स्यात्प्रीतिमत्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्यय ॥ ९६ ॥ मत्रोऽवतारकल्याणभागी भव पदादिक. । सुप्रीतौ मदरेंद्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥ ९७ ॥ भागीभवपदोपेतस्ततो निष्क्रातिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥ ९८ ॥ ततश्चार्हंत्य-

(सद्‌गृहस्थ हो) ये दो मंत्र पढकर फिर नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये ॥ ९२ ॥ प्रथम ही--मुनींद्रभागी भव (उत्तम मुनिपदका प्राप्त करनेवाला हो) पढना चाहिये और फिर--सुरेंद्रभागी भव (इंद्रपदका भोक्ता हो) परमराज्यभागी भव (चक्रवर्तीके परम राज्यका भोक्ता हो) ये दो पद पढना चाहिये ॥ ९३ ॥ तदनंतर--आर्हंत्यभागी भव (अरहंत पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिये और फिर--परमनिर्वाणभागी भव (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो) यह कहना चाहिये ॥ ९४ ॥ गर्भाधान क्रियामें पहिले पीठिका मंत्रोंको काममें लाकर फिर ये मंत्र पढने चाहिये, यह शास्त्रानुसार मंत्रोंको काममें लानेकी विधि दिखलाई है अर्थात् सब जगह मंत्रोंको इसीप्रकार काममें लाना चाहिये ॥ ९५ ॥

चूर्णि--सज्जातिभागी भव, सद्‌गृहिभागी भव, मुनींद्रभागी भव, सुरेंद्रभागी भव, परमराज्य भागी भव, आर्हंत्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव (आधानमंत्रः)

प्रीतिमंत्र--त्रैलोक्यनाथो भव (तीनों लोकोंका स्वामी हो) त्रैकाल्यज्ञानी भव (तीनों कालका जानने वाल हो) और--त्रिरत्नस्वामी भव (रत्नत्रयका स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मंत्र हैं ॥ ९६ ॥

चूर्णि--त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव (प्रीतिमंत्रः)

सुप्रीतिक्रियाके मंत्र--सुप्रीति क्रियामें--अवतारकल्याणभागी भव (गर्भकल्याणको प्राप्त करनेवाला

कल्याणभागी भवपदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसंगतः ॥ ९९ ॥ भागीभवपदातश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमंत्रमतो वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत भो द्विजाः ॥ १०० ॥ धृतिक्रियामंत्रः—आधानमत्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥ १०१ ॥ मोदक्रियामत्रः—मत्रो मोदक्रियायाश्च मतोऽय मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पद वदेत् ॥ १०२ ॥ ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं

हो) मंदरेंद्राभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरु पर्वतपर इंद्रके द्वारा किये हुये जन्माभिषेक कल्याणको प्राप्त हो) निष्क्रांतिकल्याणभागी भव (तप कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) आर्हंत्यकल्याण भागी भव (केवलकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) और—परमनिर्वाणकल्याणभागी भव (परम निर्वाणकल्याण को प्राप्त करनेवाला हो) ये मंत्र अनुक्रमसे विद्वानोंको पढना चाहिये। अब आगे धृति क्रियाके मंत्रोंको कहते हैं, भो ब्राह्मणो तुम प्रेमसे सुनो ॥ ९७-९८-९९-१०० ॥

चूर्णि—अवतारकल्याणभागी भव, मंदरेंद्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रांतिकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागीभव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव। (सुप्रीतिमंत्राः)

धृतिक्रियाके मंत्र--आधान क्रियाके मंत्रोंमें सब जगह मध्यमें दातृ शब्द लगानेसे वे ही मंत्र धृति क्रियाके मंत्र हो जाते हैं। आधानक्रियाके मंत्रोंसे इन मंत्रोंमें और कुछ भेद नहीं है ॥ १०१ ॥

चूर्णि--सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनींद्रदातृभागी भव, सुरेंद्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हंत्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव (धृतिक्रिया मंत्रः) अनुक्रमसे इन मंत्रोंका अर्थ—तू सज्जातिका देनेवाला हो, सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो, मुनिपदका देनेवाला हो, सुरेंद्रपदका देनेवाला हो, चक्रवर्तीके परमराज्यका देनेवाला हो, अरहंतपदका देनेवाला हो तथा परमनिर्वाणपदका देनेवाला हो।

अब मोदक्रियाके मंत्र कहते हैं—उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मंत्र इसप्रकार माने हैं कि सबसे

पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पदं मतं ॥ १०३ ॥ ततो मुनींद्रकल्याणभागी भव पदं स्मृत । पुनः सुरेंद्रकल्याणभागी भव पदात्परं ॥ १०४ ॥ मंदराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादि कल्याणपदसंयुतं ॥ १०५ ॥ भागीभवपदं वाच्यं मंत्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागीभवपदं परं ॥ १०६ ॥ भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहित मत । भागी भवेत्यथार्हंत्यकल्याणेन च योजितं ॥ १०७ ॥ प्रियोद्भवमंत्रः—प्रियोद्भवे

पहिले—सज्जातिकल्याणभागी भव (सज्जातिके कल्याण वा उत्सवको धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिये, फिर—सद्गृहिकल्याणभागी भव (सद्गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद और फिर—वैवाहकल्याणभागी भव (विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिय ॥ १०२-१०३ ॥ तदनंतर—मुनींद्रकल्याणभागी भव (मुनिपदके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह मंत्र और फिर—सुरेंद्रकल्याणभागी भव (इंद्र पदके कल्याणका भोक्ता हो) यह पढना चाहिये ॥ १०४ ॥ इसके वाद—मंदराभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरुपर्वत पर होनेवाले अभिषेकके कल्याणका भोक्ता हो) और—यौवराज्यकल्याणभागी भव (युवराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तदनंतर—मंत्रके प्रयोग करनेमें विद्वान ऐसे लोगोंको—महाराज्यकल्याणभागी भव (महाराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) परमराज्यकल्याणभागी भव (परम राज्यके कल्याणका भोक्ता हो) और फिर—आर्हंत्यकल्याणभागी भव (अरहंत पदके कल्याणका भोक्ता हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १०५-१०६-१०७ ॥

चूर्णि—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनींद्रकल्याणभागी भव, सुरेंद्रकल्याणभागी भव, मंदराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागी भव । (मोदक्रिया मंत्रः)

च मंत्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरः । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥ १०८ ॥ विजयायेत्यथार्हत्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मंत्राक्षरैरेभिः स्वाहातः सम्मतो द्विजैः ॥ १०९ ॥ जन्मसस्कारमत्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगधाबुससिक्त शिरसि स्पृशेत् ॥ ११० ॥ कुलजातिवयोरूपगुणै. शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥ १११ ॥ सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥ ११२ ॥ इत्यगानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगनः । तत्राधायात्मसंकल्प ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥ ११३ ॥ अगादंगात्संभवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शत ॥ ११४ ॥ क्षीराज्यममृतं पूत नाभावावर्ज्य युक्तितः । घातिजयो भवेत्स्य ह्रासयेन्नाभि-

---

अब आगे--प्रियोद्भवमंत्र कहते हैं--प्रियोद्भवक्रियामें सिद्धभगवानकी पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये--दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय और आर्हत्यनेमिविजयाय । इन मं ॐ बाद ब्राह्मण लोग स्वाहा पढना स्वीकार करते हैं ॥ १०८--१०९ ॥

चूर्णि-दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय, आर्हत्यनेमिविजयाय स्वाहा । (प्रियोद्भवमंत्रः)

ये जन्म संस्कारके मंत्र हैं। प्रथम ही सिद्धप्रतिमाका अभिषेक कर उस गंधोदकसे बच्चेका सिंचन कर फिर ये मंत्र पढकर उसका शिर स्पर्श करना चाहिये ॥ ११० ॥ तथा यह कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, वय रूप आदि गुणोंसे विभूषित है, शीलवती है, उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली है, भाग्यवती है, सौभाग्यवती है और शांत है, इन गुणोंसे विभूषित होकर भी वह सम्यग्दृष्टी हैं इसलिये हे पुत्र उस माताके संबंधसे तूभी दिव्यचक्र विजयचक्र और परमचक्र इन तीनों चक्रोंको अनुक्रमसे प्राप्त होकर प्रसन्न होना ॥ १११-११२ ॥ इसप्रकार पिता पुत्रको आशीर्वाद देकर उसके सब अंगोंका स्पर्श करे और फिर सब तरह अपने समान होनेसे उस पुत्रमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मैं ही हूं ऐसा संकल्पकर पीछेसे नीचे लिखे हुये सुवाक्य पढे ॥ ११३ ॥ हे पुत्र ! तू मेरे प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू मेरा आत्मा है तू सैकडों

पठेत् । नतो वैवाहकल्याणभागी भव पद मतं ॥ १०३ ॥ ततो मुनींद्रकल्याणभागी भव पद स्मृतं । पुनः सुरेंद्रकल्याणभागी भव पदात्परं ॥ १०४ ॥ मंदराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादि कल्याणपदसयुतं ॥ १०५ ॥ भागीभवपदं वाच्यं मंत्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागीभवपदं पर ॥ १०६ ॥ भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहित मत। भागी भवेत्यथार्हंत्यकल्याणेन च योजितं ॥ १०७ ॥ प्रियोद्भवमंत्रः—प्रियोद्भवे

पहिले—सज्जातिकल्याणभागी भव (सज्जातिके कल्याण वा उत्सवको धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिये, फिर—सद्गृहिकल्याणभागी भव (सद्गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद और फिर—वैवाहकल्याणभागी भव (विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिय ॥ १०२-१०३ ॥ तदनंतर—मुनींद्रकल्याणभागी भव (मुनिपदके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह मंत्र और फिर—सुरेंद्रकल्याणभागी भव (इंद्र पदके कल्याणका भोक्ता हो) यह पढना चाहिये ॥ १०४ ॥ इसके बाद—मंदराभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरुपर्वत पर होनेवाले अभिषेकके कल्याणका भोक्ता हो) और—यौवराज्यकल्याणभागी भव (युवराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तदनंतर—मंत्रके प्रयोग करनेमें विद्वान ऐसे लोगोंको—महाराज्यकल्याणभागी भव (महाराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) परमराज्यकल्याणभागी भव (परम राज्यके कल्याणका भोक्ता हो) और फिर—आर्हंत्यकल्याणभागी भव (अरहंत पदके कल्याणका भोक्ता हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १०५-१०६-१०७ ॥

चूर्णि—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनींद्रकल्याणभागी भव, सुरेंद्रकल्याणभागी भव, मंदराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागी भव । (मोदक्रिया मंत्रः)

च मंत्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरः । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥ १०८ ॥ विजयायेत्यथार्हत्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मंत्राक्षरैरेभिः स्वाहातः सम्मतो द्विजैः ॥ १०९ ॥ जन्मसंस्कारमत्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगधांबुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ॥ ११० ॥ कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥ १११ ॥ सम्यग्दृष्टिस्तवाबेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥ ११२ ॥ इत्यगानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः । तत्राधायात्मसकल्पं ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥ ११३ ॥ अगादंगात्संभवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शत ॥ ११४ ॥ क्षीराज्यममृत पूतं नाभावावर्ज्य युक्तितः । घातिंजयो भवेत्यस्य ह्रासयेन्नाभि-

---

अब आगे--प्रियोद्भवमंत्र कहते हैं--प्रियोद्भवक्रियामें सिद्धभगवानकी पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये--दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय और आर्हत्यनेमिविजयाय । इन मं के बाद ब्राह्मण लोग स्वाहा पढना स्वीकार करते हैं ॥ १०८--१०९ ॥

चूर्णि-दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय, आर्हत्यनेमिविजयाय स्वाहा । (प्रियोद्भवमंत्रः)

ये जन्म संस्कारके मंत्र हैं। प्रथम ही सिद्धप्रतिमाका अभिषेक कर उस गंधोदकसे बच्चेका सिंचन कर फिर ये मंत्र पढकर उसका शिर स्पर्श करना चाहिये ॥ ११० ॥ तथा यह कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, वय रूप आदि गुणोंसे विभूषित है, शीलवती है, उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली है, भाग्यवती है, सौभाग्यवती है और शांत है, इन गुणोंसे विभूषित होकर भी वह सम्यग्दृष्टी है इसलिये हे पुत्र उस माताके संबंधसे तूभी दिव्यचक्र विजयचक्र और परमचक्र इन तीनों चक्रोंको अनुक्रमसे प्राप्त होकर प्रसन्न होना ॥ १११-११२ ॥ इसप्रकार पिता पुत्रको आशीर्वाद देकर उसके सब अंगोंका स्पर्श करे और फिर सब तरह अपने समान होनेसे उस पुत्रमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मैं ही हूं ऐसा संकल्पकर पीछेसे नीचे लिखे हुये सुवाक्य पढे ॥ ११३ ॥ हे पुत्र ! तू मेरे प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू मेरा आत्मा है तू सैकडों

नालकं ॥ ११५ ॥ श्रीदेव्यो जात ते जातक्रियां कुर्वंत्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन शनैरुद्वर्त्य यत्नतः ॥ ११६ ॥ त्वं मंदराभिषेकार्हो भवेति स्नापयेत्ततः । गंधाम्बुभिश्चिरं जीव्या इत्याशास्याक्षत क्षिपेत् ॥ ११७ ॥ नश्यात्कर्ममल कृत्स्नमित्यास्येऽस्य सनासिके । घृतमौषधसंसिद्धमावपेन्मात्रया द्विजः ॥ ११८ ॥ ततो विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूया इतीरयन् । मातुस्तनमुपामन्त्र्य वदनेऽस्य समासजेत् ॥ ११९ ॥ प्राग्वर्णितमथानंदं प्रीतिदानपुरःसर।

वर्षतक चिरंजीव रह ॥ ११४ ॥ तदनंतर--घी और दूध रूप पवित्र अमृतसे युक्ति पूर्वक नाभिका सिंचनकर ' घातिजयो भव ' अर्थात् तू घातिया कर्मोंका जीतनेवाला हो यह मंत्र पढकर धीरेसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिये ॥ ११५॥ तदनंतर ' हे पुत्र श्रीदेव्यः ते जातक्रियां कुर्वंतु ' अर्थात् हे पुत्र श्री ह्री आदि देवियां तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुये वडे प्रयत्नसे धीरे २ उसके शरीरपर सुगंधित चूर्णका उवटन करना वा डालना चाहिये तथा ' त्वं मंदराभिषेकार्हो भव ' अर्थात् तू सुमेरु पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मंत्र पढकर सुगंधित जलसे उसे स्नान कराना चाहिये और फिर ' चिरं जीव्या ' अर्थात् तू वहुत दिनतक जीवित रह यह मंत्र पढते हुये उसे आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत फेंकना चाहिये ॥ १६-१७ ॥ इसके वाद द्विजोंको ' नश्यात्कर्ममलं कृत्स्नं ' अर्थात् तेरे समस्त कर्मरूपी मल नष्ट हों यह मंत्र पढकर उस वालकके मुख और नाकमें औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार थोडासा छोडदेना चाहिये ॥ ११८ ॥ तदनंतर ' विश्वेश्वरीस्तन्य भागी भूयाः ' अर्थात् तू तीर्थंकरकी माताका स्तनपान करनेवाला हो यह मंत्र पढकर माताके स्तनको मंत्रित करना चाहिये और फिर उस स्तनको वालकके मुंहमें लगादेना चाहिये ॥ ११९ ॥ जिसप्रकार पहिले वर्णन कर चुके हैं उसी प्रकार पुत्रोत्सवका आनंद मनाना चाहिये और संतुष्ट होकर खूव दान देना चाहिये । इसप्रकार विधि पूर्वक सव क्रियायें करके उस पुत्रका जातकर्म अथवा जन्मोत्सव समाप्त करना चाहिये ॥ १२० ॥ उसके जरायुपटलको नाभिसे काटे हुये नालके साथ २ किसी पवित्र

विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत् ॥ १२० ॥ जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतं । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मंत्रमापठन् ॥ १२१ ॥ सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये सर्वमातेति चापर । वसुंधरापदं चैव स्वाहांत द्विरुदाहरेत् ॥ १२२ ॥ मंत्रेणानेन संमंत्र्य भूमौ सोदकमक्षतं । क्षिप्त्वा गर्भमल न्यस्तपचरत्नतले क्षिपेत् ॥ १२३ ॥ त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविनः । इत्युदाहृत्य सस्यार्हे तत्क्षेतव्यं महीतले ॥१२४॥ क्षीरवृक्षोपशाखाभिरुप-हृत्य च भूतलं । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोष्णैर्मंत्रितैर्जलैः ॥१२५॥ सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभव्येति तद्वद्विश्वेश्वरीत्यपि ॥१२६॥

पृथ्वीको खोदकर वहां मंत्र पढकर गाढ देना चाहिये ॥ १२१ ॥ संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पद तथा सर्वमाता पद और वसुंधरा पद इनको दो दो वार कहकर अंतमें स्वाहा कहना चाहिये।

चूर्णि--'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुंधरे वसुंधरे स्वाहा' अर्थात् सम्यग्दृष्टी सबकी माता पृथ्वी! मैं यह समर्पण करता हूं अथवा तू कल्याण करनेवाली हो ॥ १२२॥ इस मंत्रसे मंत्रित कर उस खुदी हुई भूमिमें जल और अक्षत डालकर पांच रत्नोंके नीचे गर्भका सब मल स्थापन कर देना चाहिये ॥ १२३ ॥ तदनंतर त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनः भूयासुः अर्थात् हे पृथ्वी! तेरे पुत्र कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिर जीवी हों यह कहकर जिस खेतमें धान्य उपजता हो उस खेतमें पृथ्वीपर उस गर्भमलको रख देना चाहिये ॥ १२४ ॥ इसके वाद वड पीपर आदि क्षीर वृक्षोंकी कोमल डालियोंसे पृथ्वीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको बिठाकर नीचे लिखे मंत्रोंसे सुहाते गर्म जलको मंत्रितकर उस जलसे उसका स्नान कराना चाहिये ॥ १२५ ॥ माताको स्नान करानेका मंत्र—प्रथम ही संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पदको दो वार कहना चाहिये फिर—आसन्नभव्य, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या और जिनमाता इन पदोंकोभी संबोधनांत दो दो वार उच्चारण करना चाहिये और फिर स्वाहा कहना चाहिये। उस पुत्रकी माताको स्नान कराते समय यही मंत्र आचार्योंने वतलाया है।

चूर्णि—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये

तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपद तथा । स्वाहातो मंत्र एव स्यात्तन्मातुः स्नानसंविधौ ॥ १२७ ॥ यथा जिनाविका पुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथे-यमपि मत्पत्नीत्यास्थयेम विधिं भजेत् ॥ १२८ ॥ तृतीयेऽहनि चानतज्ञानदर्शी भवेत्यमु । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराकितं नभः ॥ १२९ ॥ पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद्दान च शक्तितः । यथायोग्यं निधन्याच्च सर्वस्याभयघोषणा ॥ १३० ॥ जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोग-मनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेपि द्विजोत्तमः ॥ १३१ ॥ नामकर्मविधाने च मंत्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्त मंत्राः प्रागनुवर्णिताः ॥ १३२ ॥ ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिक । पदत्रितयमुच्चार्य मंत्रोऽत्र परिवर्त्यता ॥ १३३ ॥ शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुन. । बहिर्यानक्रिया-

---

जिनमातःजिनमातःस्वाहा । भावार्थ-हे सम्यग्दर्शन धारण करनेवाली निकट भव्य सबकीस्वामिनी अत्यंत पुण्य संचय करनेवाली जिनमाता तू कल्याण करनेवाली हो ॥ १२६-१२७ ॥ जिस प्रकार तीर्थंकरकी माता पुत्रके अनेक कल्याणोंको देखती है उसीप्रकार यह मेरी स्त्री भी देखे इसप्रकारकी श्रद्धासे यह सब स्नान आदिकी विधि करनी चाहिये ॥ १२८ ॥ तीसरे दिन रातके समय 'अनंतज्ञानदर्शी भव' अर्थात् तू अनंतज्ञानका देखनेवाला हो यह मंत्र पढकर उस पुत्रको गोदीमें लेकर ताराओंसे सुशो-भित आकाश दिखाना चाहिये ॥ १२९ ॥ उसीदिन पुण्याहवाचनका पाठ पढना चाहिये, शक्तिके अनुसार दान देना चाहिये और जितना बन सके उतना सबको अभयदान देनेकी घोषणा करनी चाहिये ॥ १३० ॥ इसप्रकार पूर्वाचार्योंने जातकर्म अर्थात् जन्मोत्सवकी विधि कही है। ब्राह्मणोंको आज भी अर्थात् इस कालमें भी यथा योग्य रीतिसे इसका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १३१ ॥

अब नामकर्मकी विधिके लिये ये मंत्र कहते हैं । नाम कर्म करनेमें सिद्धभगवानकी पूजा करनेकेलिये तो पहिले सात पीठिका मंत्र कह चुके ही हैं ॥ १३२ ॥ उनके आगे--दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव आदि तीनों पदोंको उच्चारणकर मंत्र बना लेना चाहिये अर्थात् दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव (दिव्य एक हजार आठ नामोंको पानेवाला हो) विजयाष्टसहस्रनामभागी भव (विजयरूप एकहजार

मंत्रस्ततोऽयमनुगम्यता ॥ १३४ ॥ बहिर्यानक्रिया ॥ तत्रोपनयनिष्क्रांतिभागी भव पदात्परं । भवेद्वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव पदं ततः ॥ १३५ ॥ क्रमान्मुनींद्रनिष्क्रातिभागी भव पद वदेत् । ततः सुरेंद्रनिष्क्रातिभागी भव पद स्मृत ॥ १३६ ॥ मंदराभिषेकनिष्क्रातिभागी भव पद ततः । यौवराज्य-महाराज्यपदे भागीभवान्विते ॥ १३७ ॥ निष्क्रातिपदमध्ये स्ता परमराज्यपदं तथा । आर्हंत्यराज्यनिष्क्रातिभागी भव शिखापदं ॥ १३८ ॥ पदैरेभिरयं

आठ नामोंको धारण करनवाला हो और परमाष्टसहस्रनामभागी भव) अति उत्तम एकहजार आठ नामोंको पानेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ।

चूर्णि--दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव; ॥ १३३ ॥ बाकीकी विधि सब पहिले कह चुके हैं इसलिये अब दुबारा नहीं कहते हैं। अब बहिर्यानक्रियाके मंत्र नीचे लिखे अनुसार जानना ॥ १३४ ॥

प्रथम ही ' उपनयनिष्क्रांतिभागी भव (तू यज्ञोपवीतके लिये निकलनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिये, फिर--वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव (विवाहके लिये निकलनेवाला हो) और फिर अनुक्रमसे--मुनींद्रनिंष्क्रांतिभागी भव (मुनिपदके लिये निकलनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये। तदनंतर-सुरें-द्रनिष्क्रांतिभागी भव (सुरेंद्रपदके लिये निकलनेवाला हो) मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव (सुमेरु पर्वतपर स्नान करनेकेलिये निकलनेवाला हो) तथा-यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (युवराज पदके लिये निकलनेवाला हो) महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (महाराज पदके लिये निकलनेवाला हो) इसीतरह–परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (चक्रवर्तीके परम राज्यके लिये निकलनेवाला हो) और आर्हंत्यराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (अरहंतकी पदवीरूप राज्यकेलिये निकलनेवाला हो) य मंत्र पढना चाहिये । इसप्रकार मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको इन पदोंके द्वारा मंत्रोका जप करना चाहिये, शेष विधि सब पहिले कह ही चुके हैं । अब आगे निषद्यामंत्र कहते हैं ॥ १३५-१३६-१३७-१३८-१३९ ॥

मंत्रस्तादृग्भिरनुजप्यतां । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामंत्र उत्तरः ॥ १३९ ॥ निषद्या ॥ दिव्यसिंहासनपदाद्भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥ १४० ॥ अन्नप्राशनक्रिया ॥ प्राशनेऽपि तथा मत्र पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥ १४१ ॥ भागी भव पदेनाते युक्तेनानुगतानि च । पदैरेभिरयं मंत्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधे. ॥ १४२ ॥ व्युष्टिः ॥ व्युष्टिक्रियाश्रितं मत्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतं ।

चूर्णि--उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनींद्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेंद्रनिष्क्रांतिभागी भव, मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हत्यनिष्क्रांतिभागी भव, (वहिर्यानमंत्रः)

अब निषद्यामंत्र कहते हैं-दिव्यसिंहासनभागी भव (इंद्रके सिंहासनका भोक्ता हो) विजयसिंहासनभागी भव (चक्रवर्तीके सिंहासनका भोक्ता हो, परमसिंहासनभागी भव (तीर्थंकरके सिंहासन का भोक्ता हो) ये तीन मंत्र पढना चाहिये ।

चूर्णि--दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव ॥ १४० ॥

अब अन्नप्राशन क्रियाके मंत्र कहते हैं, अन्नप्राशन क्रियामें तीन पदोंके द्वारा मंत्र कहने चाहिये र वे पद दिव्यामृत विजयामृत और अक्षीणामृत इनके आगे भागी भव ये योग्य पद लगाकर व ` चाहिये अर्थात्--दिव्यामृतभागी भव (दिव्य अमृतका भोक्ता हो) विजयामृतभागी भव (चक्रवर्तीके विजयरूप अमृतका भोक्ता हो) अक्षीणामृतभागी भव (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) अन्न प्राशन क्रियामें विद्वानोंको इन तीन पदोंके द्वारा मंत्रोच्चारण करना चाहिये ॥ १४१-१४२ ॥

चूर्णि--दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव, (प्राशनक्रियामंत्रः)

अब यहांसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टिक्रियाके मंत्र कहते हैं प्रथम ही उपनयनके आगे जन्मवर्द्धन वर्षवर्द्धन पद लगाकर भागी भव पद लगाना चाहिये और फिर अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनींद्रजन्म,

तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतं ॥ १४३ ॥ भागी भव पदं ज्ञेयमादौ शेषपदाष्टके। वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च ॥ १४४ ॥ सुरेंद्रजन्मना मदराभिषेकपदेन च। यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥ १४५ ॥ परमार्हत्यराज्याभ्या वर्षवर्धनसयुत। भागीभवपदं योज्य ततो मंत्रोऽयमुद्भवेत् ॥ १४६ ॥ चौलकर्म ॥ चौलकर्मण्यथो मत्रः स्याच्चोपनयनादिक। मुडभागीभवांत च पदमादावनुस्मृतं ॥ १४७ ॥ ततो निर्ग्रंथमुंडादि-

---

सुरद्रेंजन्म, मंदराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य परमराज्य और आर्हत्यराज्य इन पदोंके साथ वर्ष वर्द्धन लगाकर भागी भव यह पद लगाना चाहिये ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मंत्र बन जायंगे भावार्थ--उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (यज्ञोपवीतमें होनेवाले जन्मके वर्षका वढानेवाला हो) वैवाह-निष्ठ वर्षवर्द्धनभागी भव (विवाह क्रियाके वर्षका वढानवला हो) मुनींद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (मुनिपद धारण करणेवाले वर्षका वढानेवाला हो) सुरेंद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (इंद्रके जन्मके वर्षका बढानेवालाहो) मंदराभिषेक वर्षवर्द्धनभागी भव (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेकके वर्षका वढानेवाला हो) यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (युवराज्य पदके वर्षका वढानेवाला हो) महाराज्य वर्ष वर्द्धनभागी भव (महाराज पदके वर्षका बढानेवाला हो) परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (चक्रवर्ती के राज्यके वर्षका वढानेवाला हो) आर्हत्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (अरहंत पदके राज्यके वर्षका वढानेवाला हो) ॥ १४३-१४४-१४५-१४६ ॥

चूर्णि--उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाह निष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनींद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेंद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मंदराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हत्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव। (व्युष्टिक्रियामंत्रः)

अब आगे चौलक्रियाकेमंत्र कहते हैं, प्रथमही उपनयन शब्दसे मुंडभागी भव पद जोडकर पहिला मंत्रबनाना चाहिये अर्थात्--उपनयनमुंडभागी भव (उपनीतिक्रियामें मुंडन करनेवाला हो) यह

भागीभवपद पर । ततो निष्क्रांतिमुंडादिभागीभवपदं पर ॥१४८॥ स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेंद्रपदादिश्च केशभागीभवध्वनिः ॥१४९॥ परमार्हंत्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयं । भवेत्यतपदोपेत मत्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापद ॥ १५० ॥ शिखामेतेन मत्रेण स्थापयेद्विधिवद्द्विज. । ततो मत्रोऽयमाम्नातो लिपिसख्यानसग्रहे ॥ १५१ ॥ शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसबंधपारभागी भवेत्यपि ॥ १५२ ॥ उपनीतिक्रियामत्रं

मंत्र पढना चाहिये ॥ १४७ ॥ फिर--निर्गंथ मुंडभागी भव (निर्गंथ अवस्था धारण करतेसमय मुंडन करनेवाला हो) और निष्क्रांतिमुंडभागी भव (विरक्त अवस्था अर्थात् मुनिपदमें भी मुंडन (लोंच) करनेवाला हो) पढना चाहिये ॥ १४८ ॥ तदनंतर--परमनिस्तारक केशभागी भव (संसारसे पार करनेवाले आचार्यके केशोंको धारण करनेवाला हो) परमेंद्रकेशभागी भव (इंद्रपदके केशोंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये, तथा अंतमें--परमराज्यकेशभागी भव (चक्रवर्तीके केशोंको धारण करनेवाला हो) और-आर्हत्यराज्यकेशभागी भव [अरहंत अवस्थाके केशोंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १४९-१५० ॥ ब्राह्मणोंको इन मंत्रोंसे विधि पूर्वक चोटी रखवाना चाहिये । अब आगे लिपिसंख्यानके मंत्र नीचे लिखते हैं ॥ १५१ ॥

चूर्णि--उपनयनमुंडभागीभव, निर्गंथमुंडभागी भव, निष्क्रांतिमुंडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेंद्रकेशभागीभव, परमराज्यकेशभागीभव, आर्हत्यराज्यकेशभागी भव । (इति चौलक्रियामंत्रः)

लिपिसंख्यानक्रियाके मंत्रः--शब्दपारभागी भव (शब्दोंका पारगामी हो) अर्थपारभागी भव (अर्थका पारगामी हो) और-शब्दार्थसंबंधपारभागी भव (शब्द और अर्थ दोनोंके संबंधका पारगामी हो)

चूर्णी--शब्दपारभागी भव, अर्थपारभागी भव, शब्दार्थसंबंधपारभागी भव । [लिपिसंख्यानमंत्रः] ॥१५२॥

आगे उपनीतिक्रियाके मंत्रः--ब्राह्मणलोग नीचे लिखे मंत्रोंको उपनीतिक्रियाके मंत्र कहते हैं

स्मरंतीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिंगभागी भवेत्यतः ॥ १५३ ॥ युक्तं परमर्षिलिंगेन भागी भवपदं भवेत् । परमेंद्रादिलिंगादि भागी भवपदं पर ॥ १५४ ॥ एव परमराज्यादि परमार्हंत्यादि च क्रमात् । युक्त परमनिर्वाणपदेन च शिखापढ ॥ १५५ ॥ मंत्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेन सवाससम् ॥ १५६ ॥ कौपीनाच्छादन चैनमंतर्वासेन कारयेत् । मौंजीवधमतः कुर्यादनुवद्धात्रिमेखल ॥ १५७ ॥ सूत्र गणधरैर्दृब्ध व्रतचिन्ह नियोजयेत् । मंत्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥ १५८ ॥ जात्येव ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विर्जातो द्विज

प्रथम ही परमनिस्तारकलिंगभागी भव (तू उत्तम आचार्यके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) फिर-परमर्षिलिंगभागी भव (परम ऋषियोंके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) और परमेंद्रलिंगभागी भव (परम इंद्रपदके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये । तदनंतर-परमराज्य परमार्हंत्य और परमनिर्वाण इन पदोंके अंतमें लिंगभागी भव पद लगाकर मंत्र वनालेना चाहिये भावार्थ—परमराज्यलिंगभागी भव (चक्रवर्तीके परमराज्यके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) परमार्हंत्य लिंगभागी भव (परम अरहंत अवस्थाके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) परमनिर्वाणलिंगभागी भव (परम निर्वाणके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १५३-१५४-१५५ ॥

चूर्णि—परमनिस्तारक लिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेंद्रलिंगभागी भव, परमराज्य-लिंगभागी भव, परमार्हंत्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव । इति उपनीतिक्रिया मंत्रः)

इन मंत्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार करना चाहिये और फिर उसे विकार रहित सफेद कपडे देकर वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ १५६ ॥ वस्त्रके भीतर इसे लंगोटी देनी चाहिये और उसपर तीन लरकी बनी हुई मूंजकी रस्सी बांधना चाहिये ॥ १५७ तदनंतर व्रतोंका चिन्हस्वरूप और मंत्रसे पवित्र किया हुआ ऐसा गणधरदेवोंके द्वारा कहा हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत पहनाना चाहिये । यज्ञोपवीत पहनकर फिर वह द्विज कहलाता है ॥ १५८ ॥ पहिलेतो वह केवल जन्मसे ब्राह्मण था और

इत्येवं रूढिमास्तिघ्नुते गुणैः ॥ १५९ ॥ देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधि । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद्व्रतजातकैः ॥ १६० ॥ ततोऽतिबालविद्यादीन्नियोगादस्य निर्दिशेत् । दत्वोपासकाध्ययन नामापि चरणोचित ॥ १६१ ॥ ततोऽय कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसर । यथाविधानमाचार्यपूजा कुर्यादतःपरं ॥ १६२ ॥ तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षाथ जातिवेश्मसु । योऽर्थलाभः स देयः स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥ १६३ ॥ शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तस्तमनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविद्यः सन्भजेत्सद्ब्रह्मचारितां ॥ १६४ ॥ अथातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्यायः

अब व्रतोंसे विभूषित होकर दूसरीवार उत्पन्न हुआ, इसप्रकार दो वार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रूढिको प्राप्त होता है॥१५९॥ उस समय उस पुत्रको विधिके अनुसार और गुरुकी साक्षी पूर्वक अणुव्रत तथा गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि शीलव्रत देना चाहिये, और इसप्रकार व्रत देकर उसका संस्कार करना चाहिये ॥ १६० ॥ तदनंतर गुरु उसे उपासकाध्ययन (श्रावकाचार आदि) पढाकर और उसके चारित्रके अनुसार उसका नाम रखकर अति बालविद्या आदिजो आगे कहेंगे उनका नियोगके अनुसार उपदेश दे ॥ १६१ ॥ इसके बाद जिसका संस्कार होचुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवानकी पूजाकर फिर विधिके अनुसार अपने गुरु गृहस्थाचार्यकी पूजा करे ॥ १६२ ॥ उस दिन पुत्रको अपने कुटुंब व जातिके लोगोंके घर जाकर भिक्षा मांगना चाहिये और भिक्षामें जो कुछ धन मिले वह आदर पूर्वक उपाध्यायको समर्पण करदेना चाहिये ॥ १६३ ॥ बाकीकी विधि जिसतरह पहिले कह चुके हैं उसी तरह पूरी करनी चाहिये अर्थात् उसमें किसीतरहकी कमी नहीं करनी चाहिये. और जबतक वह विद्याका अभ्यास करता रहे तबतक उसे उत्तम ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये ॥ १६४ ॥

अथानंतर–जिसमें संक्षेपसे उपासकाध्यायका संग्रह किया गया है ऐसी इसकी व्रतचर्याक्रियाको अब आगे अनुक्रमसे कहता हूं ॥ १६५ ॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे पुरुषके लिये शिरका चिन्ह [मुंडन] वक्षस्थलका चिन्ह (सात लरका यज्ञोपवीत) कमरका चिन्ह (तीन लरकी

समासेनानुसंहृतः ॥ १६५ ॥ शिरोलिंगमुरोलिंगं लिंगं कट्यूरुसंश्रितं । लिंगमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधं ॥ १६६ ॥ तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वं वर्तमानाना सद्दृष्टीना द्विजन्मनां ॥ १६७ ॥ कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं संप्राप्तदूषण । सोऽपि राजादिसंमत्त्या शोधयेत्स्वं यदा कुल ॥ १६८ ॥ तदाऽस्योपनयार्हत्व पुत्रपौत्रादिसततौ । न निषिद्ध हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥ १६९ ॥ अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥ १७० ॥ तेषास्यादुचित लिंग स्वयोग्यव्रतधारिणा । एकशाटकधारित्व

मूंजकी रस्सी और जांघका चिन्ह [सफेद धोती] ये चार प्रकारके चिन्ह हैं, इनका निर्णय पहिले होचुका है ॥ १६६ ॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोंके द्वारा, शाहीके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी जीविका करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टी द्विजोंके लिये वे ऊपर लिखे हुये चारोंप्रकारके चिन्ह कहे गये हैं ॥ १६७ ॥ कदाचित् किसी कारणसे किसीके कुलमें कोई दोष लगगया हो तो जब वह राजा आदिकी संमतिसे अपने कुलको शुद्ध करलेता है तब यदि उसके पूर्वज (पुरखा) लोग दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुये हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि संतानके यज्ञोपवीत संस्कार करनेकेलिये शास्त्रोंमें कहींभी निषेध नहीं किया है ॥ १६८-१६९ ॥ जिसमें दीक्षा धारण नहीं की जा सकती ऐसे कुलमें जो उत्पन्न हुये हैं और जो विद्या (नाचना गाना आदि) तथा शिल्पसे अपनी जीविका करते हैं ऐसे लोगोंके लिये यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा शास्त्रोंमें नहीं है ॥ १७० ॥ ऐसे शूद्रलोग यदि अपनी योग्यताके अनुसार व्रत धारण करें तो उनकेलिये उनके योग्य चिन्ह कहा है। ऐसे लोग संन्यासमरण करने पर्यंत एक धोती पहिन सकते हैं ॥ १७१ ॥ व्रती लोगोंको आकांक्षा रहित भोजन करना चाहिये, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका ही सेवन करना चाहिये अर्थात् उसके स्वदारसंतोष व्रत होना चाहिये, अनारंभी हिंसाका त्याग करना चाहिये तथा अभक्ष्य और पीनेके अयोग्य पदार्थोंका त्याग करदेना चाहिये ॥ १७२ ॥ जो द्विज इसप्रकार व्रतोंसे

सन्यासमरणावधि ॥ ७१ ॥ स्यान्निरामिषभोजित्व कुलस्त्रीसेवनव्रत । अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जन ॥ ७२ ॥ इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान् । योद्विजस्तस्य सपूर्णो व्रतचर्याविधि. स्मृत. ॥ १७३ ॥ दशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणोपासकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥ १७४ ॥ तत्रातिबालविद्याऽऽद्या कुलावधिरनंतर । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिता ॥ १७५ ॥ व्यवहारेशिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदंड्यता । मानार्हता प्रजासंबंधांतरं चेत्यनुक्रमात् ॥ १७६ ॥ दशाधिकारवस्तूनि स्युरुपासकसंग्रहे । तानीमानि यथोद्देश संक्षेपेण विवृण्महे ॥ १७७ ॥ बाल्यात्प्रभृति यो विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मनः । प्रोक्ताऽतिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसंमता ॥ १७८ ॥ तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञक ।

पवित्र ऐसी अपनी अत्यंत शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याकी पूर्ण विधि समझनी चाहिये ॥ १७३ ॥ आगे उन व्रती द्विजोंके लिये उपासक सूत्रोंमें जो दश अधिकार निरूपण किये हैं उन्हीं दश अधिकारोंको अनुक्रमसे केवल नाममात्र कहता हूं ॥ १७४ ॥ उन दश अधिकारोंमें अतिबालविद्या, दूसरा कुलविद्या तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पांचवां सृष्ट्यधिकारिता, छठा व्यवहारेशिता, सातवां अवध्यत्व, आठवां अदंड्यता, नौवां मानार्हता और दशवां प्रजासंबंधांतर । उपासकाध्ययन अंगमें अनुक्रमसे ये दश अधिकार वस्तु बतलाई गई हैं, उन्हीं अधिकार वस्तुओंको जिस क्रमसे ऊपर कहा है उसी अनुक्रमके अनुसार संक्षेपसे स्पष्टकर दिखलाता हूं ॥ १७५-१७६-१७७॥ ब्राह्मणोंको जो बालकपनसे लेकर विद्याभ्यास करानेका उद्योग है उसे ब्राह्मणलोग अतिबालविद्या नामकी क्रिया कहते हैं ॥ १७८ ॥ जिसके यह अतिबालविद्या नामकी क्रिया नहीं है वह अज्ञानी रहता है, उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं होसकता तथा वह अपनेको झूठमूठ ब्राह्मण माननेवाले मिथ्या दृष्टियोंके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्याशास्त्रोंके पढने पढानेमें लगजाता है ॥ १७९ ॥ इसलिये द्विजोंको उचित है कि वे बालक अवस्थामें ही उपासकाचार शास्त्रोंका अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचार शास्त्रोंके द्वारा जिसके अच्छे संस्कार हो जाते हैं वह आपको और अन्य लोगोंको संसारसागरसे पार

मिथ्याश्रतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः प्रतारितः ॥ १७९ ॥ बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद्द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिं । स तया प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥ १८० ॥ कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां व्रजेत् ॥ १८१ ॥ वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै । तेनाय श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥ १८२ ॥ वर्णोत्तमोत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥ १८३ ॥ ततोऽस्य शुद्धिकामः सन्सेवेतान्य कुलिंगिन । कुब्रह्म वा ततस्तज्जान्दोपान्प्राप्नोत्यसंशय ॥ १८४ ॥ प्रदानार्हत्वमस्येष्ट पात्रत्व गुणगौरवात् । गुणाधिको हि लोकेऽस्मिन्पूज्यः स्याल्लोकपूजितैः ॥१८५ ॥ ततो गुणकृतां स्वस्मिन्पात्रतां द्रढयेद्द्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद्ह्रियतेस्य धनं

करदेनेवाला हो जाता है ॥ १८० ॥ अपने कुलके आचार विचार आदिकी रक्षा करनाही द्विजोंकी कुलावधिक्रिया कहलाती है यदि वह कुलावधिक्रिया न की जाय अर्थात् अपने कुलके आचरणोंकी रक्षा न की जाय तो उसकी सब क्रियायें नष्ट होजायंगी और वह अपने कुलसे भ्रष्ट होकर किसी दूसरे कुलवाला कहलायगा ॥ १८१ ॥ सब वर्णोंमें श्रेष्ठपना होना ही इसकी वर्णोत्तमत्व क्रिया है, इस वर्णोत्तमत्व क्रियासे ही यह प्रशंसनीय गिना जाता है और इसीसे अपना तथा दूसरेका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥ १८२ ॥ यदि उसके लिये वर्णोत्तमत्वका अधिकार न हो तो वह सबसे उत्कृष्ट नहीं हो सकता और जो उत्कृष्ट नहीं है वह नतो अपने आत्माको शुद्ध कर सकता है और न दूसरोंको शुद्ध कर सकता है ॥ १८३ ॥ तथा अपनी शुद्ध करनेकी इच्छा करनेवाला यह ब्राह्मण फिर अन्य जटाधारी आदि मिथ्यादृष्टी कुलिंगियोंकी सेवा करता है तथा कुब्रह्मकी सेवा करता है और फिर उन कुलिंगी और कुब्रह्मकी सेवा करनेसे निःसंदेह उनसे उत्पन्न हुये दोषोंको प्राप्त होता है (इसलिये इसे सर्वश्रेष्ठ माननेका अधिकार है) ॥ १८४ ॥ ब्राह्मण लोग गुणोंमें सबसे बडे हैं इसलिये दान देनेके लिये योग्य पात्रता भी इन्हींमें है अर्थात् ये पात्र हैं इन्हे अवश्य दान देना चाहिये, क्योंकि जो गुणोंमे वडा होता है वह संसारमें सब लोगोंके द्वारा पूज्य ऐसे पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूज्य गिना जाता है ॥ १८५ ॥

नृपैः ॥ १८६ ॥ रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः । असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥ १८७ ॥ अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन कुदृष्टयः । लोकं नृपांश्च संमोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८८॥ सृष्ट्यन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९॥ तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून्प्रकाशयेत् ॥ १९० ॥ अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः । ततो

इसलिये द्विजोंको अपनेमें गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली पात्रता भी अत्यंत दृढ करनी चाहिये अर्थात् उन्हें गुणी पात्र बनना चाहिये, यदि वे गुणी पात्र न होंगे तो वे संसारमें मान्य नहीं कहलांयगे और मान्य न होनेसे राजा लोग भी उनका धन हरण कर लेंगे ॥ १८६ ॥ आगे सृष्ट्यधिकारको कहते हैं जिनकी उत्पत्ति उत्तम है निर्दोष है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा कही हुई धर्मसृष्टिको दूरसे ही छोडकर अपनी सृष्टिके अधिकारकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १८७ ॥ यदि वह अपनी धर्मसृष्टिकी रक्षा नहीं करेगा तो मिथ्यादृष्टि लोग अपने बिना विचारे हुये (बाधित) सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहितकर उन सबको बुरे मार्गमें लेजायंगे ॥ १८८ ॥ इस लिये नय और तत्वोंको जाननेवाले द्विजोंको अन्य विधर्मियोंकी धर्मरचनाको दूरसे ही छोडकर अनादिकालसे क्षत्रियोंके द्वारा निर्मापण की हुई इस धर्मसृष्टिकी ही वृद्धि करनी चाहिये ॥ १८९ ॥ तथा इस धर्मसृष्टिको माननेवाले जो राजा लोग हैं उनको इस सृष्टिके कारण इसप्रकार कहना चाहिये कि तीर्थंकरोंके द्वारा निर्मापण की हुई यह धर्मसृष्टि अनादिकालसे चली आई है । भावार्थ—इस धर्मसृष्टिका उपदेश तीर्थंकरने दिया है और आप ऐसे क्षत्रिय लोग सदा इसका पालन करते आये हैं इसलिये आप भी सदा इसकी वृद्धि करते रहिये ॥ १९० ॥ यदि द्विज राजा लोगोंको इस प्रकार उपदेश देकर दृढ न करते रहेंगे तो राजालोग अन्य लोगोंकी कही हुई धर्मसृष्टिको मानने लगेंगे, यदि राजालोग ही अन्य धर्मको मानने लगेंगे तो फिर उनका कुछ ऐश्वर्य नहीं रहेगा और अरहंतके मतको माननेवालेभी उसी धर्मको

नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः ॥ १९१ ॥ व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिं ॥ १९२ ॥ तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिमभीप्सन्नकृतो भवेत् ॥ १९३ ॥ स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतोवधमर्हति ॥ १९४ ॥ सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता मता ॥ १९५ ॥ तस्मादवध्यतामेष पोषयेद्धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥ १९६ ॥ तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत्प्रामाण्यमर्हता ॥ १९७ ॥ ततःसर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥ १९८ ॥ स्याददण्ड्यत्वम-

---

मानने लगेंगे (इसलिये द्विजोंको इस धर्मसृष्टिकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १९१ ॥ अरहंतदेवके कहे हुये परमागमका आश्रय लेनेवाले इन द्विजोंको प्रायश्चित्त आदि कर्मोंमें जो स्वतंत्रता है उसे व्यवहारेशिता कहते हैं ॥ १९२ ॥ यदि यह व्यवहारेशिता द्विजोंको न होगी अर्थात् यदि वे प्रायश्चित्त आदि कर्मोंमें स्वतंत्र न होंगे तो वे न तो अपनी शुद्धि कर सकेंगे और न दूसरोंको शुद्ध कर सकेंगे, तथा इसीतरह यदि वे अशुद्ध ही रहकर दूसरे अन्यमतियोंसे शुद्ध होनेकी इच्छा करेंगे तो वे कभी कृती वा सफल मनोरथ नहीं हो सकेंगे ॥ १९३ ॥ अब आगे अवध्याधिकार कहते हैं—जिसका अंतःकरण स्थिर है और जो ब्राह्मण है ऐसा उत्तम द्विज सबसे अधिक गुणी होनेसे दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नहीं होता ॥ १९४ ॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिये और विशेषकर ब्राह्मणको कभी नहीं मारना चाहिये । इसप्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनता होनेसे हिंसा भी दो प्रकारकी मानी गई है ॥ १९५ ॥ इसलिये धार्मिक जनोंके सामने इसे अपनी अवध्यता भी पुष्ट करना चाहिये यह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममें रहकर किसीसे तिरस्कार नहीं पा सकता ॥ १९६ ॥ यदि वह ब्राह्मण अपनी अवध्यता पुष्ट नहीं करेगा तो सब लोग इसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेसे अरहंतदेवके इस जैन धर्मकी प्रमाणता ही नष्ट हो जायगी ॥ १९७ ॥ इसलिये अपने सबतरहके

ण्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दंडप्रस्थापने प्रभुः ॥ १९९ ॥ तद्धर्मस्थीयमाम्नायं भावयन् धर्मदर्शिभिः । अधर्मस्थेषु दंडस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥ २०० ॥ परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्य हितार्थिभि· । ब्रह्मस्वं च तथाभूतं न दडार्हस्ततो द्विजः ॥ २०१॥ युक्त्याऽनया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन्वशी । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मान स्थापयेद्दडधारिणा ॥ २०२ ॥ अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽय ययेतरः । ततश्च निस्स्वता प्राप्तो

प्रयत्नोंसे इस सनातन जैन धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि यदि इस धर्मकी रक्षा अच्छीतरह की जायगी तो रक्षा किया हुआ धर्म ही जगतमें उसकी रक्षा करेगा॥ १९८ ॥इसीप्रकार जिसका अंतःकरण धर्ममें स्थिर है ऐसे उस ब्राह्मणको अपने अदंड्यत्वका (किसीके द्वारा दंडित न होनेका) भी अधिकार है क्योंकि जो पुरुष धर्मात्मा है वही दूसरे लोगोंको दंड देने योग्य होता है ॥ १९९ ॥ इसलिये ही जो गृहस्थाचार्यके मतानुसार ही दंड देनेकी विधि मानते हैं ऐसे लोगोंके द्वारा धर्मको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंको प्रगट करता हुआ धर्मात्मा राजा अधर्मी लोगोंको दंड देनेवाला होता है ॥ २०० ॥ जिसप्रकार अपना आत्मकल्याण चाहनेवाले लोगोंको देव द्रव्य और गुरु द्रव्य त्याग करने योग्य है उसीप्रकार ब्राह्मणोंका धन भी ग्रहण करने योग्य नहीं है । इसलिये ही द्विज (ब्राह्मण) दंड देने योग्य नहीं हैं अर्थात् ब्राह्मणोंको कभी दंड नहीं देना चाहिये ॥ २०१ ॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका संपादन करता हुआ वह जितेंद्रिय दंड देने योग्य ऐसे राजा लोगोंके द्वारा भी आपको दंड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापन करता है । भावार्थ–वह अधिक गुण संपादन करता हुआ ऐसा अधिकार प्राप्त करलेता है जो फिर उसे कोई दंड न दे सके ॥ २०२ ॥ यदि ब्राह्मणकेलिये यह अधिकार न दिया जाय तो जिसप्रकार औरोंको दंड मिला करता है उसी प्रकार उसे भी दंड मिला करेगा तथा ऐसा होनेसे वह निर्धनी होजायगा और निर्धनी होनेसे वह न तो इसलोकमें ही सुखी होसकता है और न परलोकमें सुखी हो सकता है ॥ २०३ ॥ यह ब्राह्मण जो अच्छीतरह सत्कार करने योग्य

नेहासुत्र च नंदति ॥ २०३ ॥ मान्यत्वमस्य संधत्ते मानार्हत्व सुभावितं। गुणाधिको हि मान्यः स्याद्वंद्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥ २०४ ॥ असत्यास्मिन्न मान्यत्वमस्य स्यात्सम्मतैर्जनैः। ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात्पदच्युतिः ॥ २०५ ॥ तस्मादय गुणो यत्नादात्मन्यारोप्यता द्विजः। यत्नश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोज्झता न तैः ॥ २०६ ॥ स्यात्प्रजातरसबधे स्वोन्नतेरपरिच्युतिः। याऽस्य सोक्ता प्रजासंवधातरं नामतो गुणः ॥२०७॥ यथा कालायसाविद्ध स्वर्णं याति विवर्णता। न तथाऽस्यान्यसबवे स्वगुणोत्कर्षविप्लव· ॥ २०८ ॥ किंतु प्रजांतरं स्वेन सबद्ध स्वगुणानयं। प्रापयत्याचिरादेव लोहधातु यथा

होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जिसमें गुण अधिक होते हैं वह उत्तम लोगोंके द्वारा भी सत्कार करने योग्य, वंदना करने योग्य और पूजा करने योग्य हो जाता है॥ २०४ ॥ यदि यह मान्यत्व अधिकार इसे न होगा तो उत्तम लोग इसका आदर सत्कार नहीं करेंगे इसलिये अच्छा स्थान और आदर सत्कारकी प्राप्ति न होनेसे वह अपने उच्च पदसे च्युत हो जायगा॥ २०५ ॥ इसलिये ब्राह्मणोंको यह गुण (मान्यत्व अधिकार) अपनेमें वडे यत्नसे संपादन करना चाहिये। ज्ञान और चारित्र आदि संपदाओंको धारण करना ही उसके संपादन करनेका प्रयत्न है। इसलिये द्विजोंको ज्ञान और चारित्ररूपी संपदायें कभी नहीं छोडनी चाहिये ॥ २०६ ॥ आगे प्रजांतरसंबंध कहते हैं–प्रजांतर अर्थात् अन्य मतोंको धारण करनेवाले लोगोंके साथ संवंध होते हुये भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है अपना वडप्पन बराबर कायम रखना है वह इस ब्राह्मणका प्रजांतरसंबंध नामका गुण कहलाता है ॥ २०७ ॥ जिस प्रकार लोहेमें मिलकर सोना भी बुरा वा काला होजाता है उसतरह अन्य लोगोंका अथवा अन्यमतियोंका संवंध होनेपर भी इस ब्राह्मणके अपने गुणोंकी उत्तमतामें कुछ कमी नहीं होती है ॥ २०८ ॥ इतना ही नहीं किंतु जैसा रसायनके संबंधसे लोहा भी सोना होजाता है उसी तरह जो अन्य लोग इस ब्राह्मणके साथ रहते हैं उनमें भी यह अपने गुणोंको पहुंचा देता है अर्थात् उन्हें भी गुणी कर देता है ॥ २०९ ॥ इसलिये कहना

रसः ॥ २०९ ॥ ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । येनाय स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥ असत्यस्मिन्गुणेऽन्यस्मात्प्राप्नुयात्स्वगुणच्युतिं । सत्येवं गुणवत्ताऽस्य निष्कृष्येत द्विजन्मनः ॥२११॥ अतोऽ तिबालविद्यादीन्नियोगान्दशधोदितान् । यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसम्मतः ॥२१२॥ गुणेष्वेप विशेपोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धांतादधिगम्यः प्रपंचतः ॥ २१३ ॥ क्रियामंत्रानुषंगेण व्रतचर्याक्रियाविधौ । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तैरादृता द्विजैः ॥ २१४ ॥ क्रियामंत्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामंत्ररूढयः ॥ २१५ ॥ ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत औत्सर्गिकानेतान्मंत्रान्मंत्रविदो विदुः ॥ २१६ ॥ विशेषविषया मंत्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति

चाहिये कि यह प्रजांतरसंबंध नामका गुण सबसे बडा है और धर्मके प्रभावका खूब उद्योत करनेवाला है। क्योंकि इसी गुणके द्वारा यह गृहस्थाचार्य अपने गुणोंसे अन्य लोगोंको भी अपने समान करलेने योग्य हो जाता है ॥ २१० ॥ यदि ब्राह्मणमें यह गुण न हो तो वह अन्य लोगोंके संबंधसे अपने गुणोंको नाश कर सकता है और गुण नष्ट होनेसे फिर इस ब्राह्मणका गुणीपना ही नष्ट हो जायगा ॥ २११ ॥ इसलिये अतिबालविद्या आदि जो दशप्रकारके नियोग वर्णन किये हैं उन्हें जो यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करता है वही द्विज सब लोगोंको मान्य होता है ॥ २१२ ॥ इन गुणोंमें जो बहुत विस्तारके साथ कहने योग्य अन्य विशेष है वह उपासकाध्ययन सिद्धांतसे विस्तारके साथ जानलेना चाहिये ॥ २१३ ॥ इसप्रकार व्रतचर्या नामकी क्रियाकी विधि वर्णन करते समय क्रियामंत्रोंके संबंधसे उत्तम आचरणोंको पालन करनेवाले द्विजोंके द्वारा मान्य ऐसे जो दश अधिकार हैं उनका वर्णन किया ॥ २१४ ॥ इस क्रियाप्रकरणमें जिनका वर्णन पहिले कर चुके हैं उन्हें क्रियामंत्र समझना चाहिये और जो रूढिसे पीठिकामंत्र कहलाते हैं वे सातों प्रकारके मंत्र सामान्य हैं, सब क्रियाओंमें काम आते हैं ॥ २१५ ॥ वे साधारण मंत्र सब क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिये ही मंत्रोंके जानने वाले विद्वान इनको (पीठिकामंत्रोंको) औत्सर्गिक मंत्र कहते हैं ॥ २१६ ॥ तथा जो प्रत्येक क्रियाके

चाम्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥ २१७ ॥ मंत्रानिमान्यथायोग्यं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥ २१८ ॥ क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणा न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहाः सेनाध्यक्षा विनायकाः ॥ २१९ ॥ ततो विधिममु सम्यगवगम्य कृतागमैः । विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामन्त्रपुरस्कृताः ॥ २२० ॥ इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि । तान् सुव्रतान्द्विजवरान्विनियम्य सम्यक् धर्मप्रिय. समसृजत् द्विजलोकसर्गं ॥ २२१ ॥ इति भरतनरेंद्रात्प्राप्तसत्कारयोगा व्रतपरिचयचारूदारवृत्ताः श्रुतार्थाः । जिनवृषभ-

---

जो अलग अलग मंत्र हैं वे ऊपर अलग अलग क्रियाओंके अलग अलग दिखलाये ही हैं। व्रतचर्यासे आगे जो विशेष मंत्र हैं वे ब्राह्मणोंको शास्त्रानुसार समझ लेना चाहिये ॥ २१७ ॥ जो ब्राह्मण इन मंत्रोंको क्रियाओंमें यथा योग्य रीतिसे काम लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज (ब्राह्मण) संसारमें प्रशंसनीय गिना जाता है ॥ २१८ ॥ जिस प्रकार जिनके कवच शस्त्र आदि अच्छे हैं ऐसे मुख्य मुख्य योद्धा विना सेनापतिके कुछ नहीं कर सकते, उसीप्रकार मंत्र रहित क्रियायें भी करनेवालेके लिये कुछ कार्यकारी नहीं हो सकतीं ॥ २१९ ॥ इसलिये शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मंत्रोचारण पूर्वक सब क्रियायें विधिके अनुसार करनी चाहिये ॥ २२० ॥ इसतरह जिसने धर्मके प्रसादसे विजय प्राप्त करली है, जो धर्म क्रियाओंमें निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भारत देशके अधिपति महाराज भरतने सब लोग और राजाओं के सामने अच्छे अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन ब्राह्मणोंको अच्छीतरह शिक्षा देकर ब्राह्मणोंकी सृष्टि उत्पन्न की, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण स्थापन किया ॥ २२१ ॥ इसप्रकार जिन्हें महाराज भरतसे आदर सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोंका परिचय होनेसे जिनका चारित्र सुंदर और उदार होगया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले हैं और भगवान वृषभदेवके मतके अनुसार धारण की हुई दीक्षासे जो पूज्य हुये हैं ऐसे वे ब्राह्मण खूब ही प्रसिद्ध हुये थे और संसारमें उनका खूब ही आदर सत्कार

मनानुव्रज्यया पूज्यमानाः जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥ २२२ ॥ वृत्तस्थानम तान्विधाय सभवानिक्ष्वाकुचूडामणिर्जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान्सम्मानयन्प्रत्यह । स्व मेने कृतिन मुदा परिगता स्वां सृष्टिमुच्चैःकृता पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥ २२३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे द्विजोत्पत्तौ क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

किया जाता था ॥ २२२ ॥ तदनंतर उन ब्राह्मणोंको व्रतोंमें अत्यंत दृढकर और जैन मार्गमें अच्छी तरह चलनेवाले उन ब्राह्मणोंका प्रतिदिन आदर सत्कार करता हुआ भरत अपनेको धन्य मानने लगा था, सो ठीक ही है क्योंकि अत्यंत उत्कृष्टता और हर्षको प्राप्त हुई ऐसी अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान पुरुष है जो आपको कृतकृत्य न माने? भावार्थ—अपनी उत्कृष्ट और प्रसन्न सृष्टिको देखकर सब ही आपको धन्य और कृतकृत्य मानते हैं ॥ २२३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके हिंदी भाषानुवादमे ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिमे क्रियामंत्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

एकचत्वारिंशत्तमं पर्व.

अथ चक्रधरः काले व्यतिक्राते कियत्यपि। स्वप्नान्यशामयत्कॉश्चिदेकदाऽद्भुतदर्शनान् ॥१॥तत्स्वप्नदर्शनात्किंचिदुत्त्रस्त इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतर्कयन् ॥२॥ असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभांति मा । मन्ये दूरफलॉश्चैतान् पुराकल्पे फलप्रदान् ॥३॥ कुतश्चिद्भगवत्यद्य प्रतपत्यादिभर्तरि । प्रजाना कथमेवैवविधोपप्लवसंभवः ॥ ४ ॥ ततः कृतयुगस्यास्य व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यंति नूनमेनःप्रकर्षतः ॥ ५ ॥ युगांतविप्लवोदर्कास्त एतेऽनिष्टशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥ ६ ॥ यद्वच्चद्रार्कबिंबोत्थविक्रियाजनितं फलं । जगत्साधारणं तद्वत्स-

---

इकतालीसवां पर्व.

अथानंतर–कितने ही काल बीतजानेपर एकादिन भरत चक्रवर्तीने अद्भुत फल दिखानेवाले कितने ही स्वप्न देखे ॥ १ ॥ उन स्वप्नोंके देखनसे मानों जिनके चित्तमें कुछ खेद हुआ है ऐसे वे भरत अकस्मात् जग पडे और उन स्वप्नोंके फल इसतरह विचारने लगे ॥ २ ॥ कि मुझे ये स्वप्न प्रायःबुरे फल देनेवाले जान पडते हैं तथा यह भी जान पडता है कि इन स्वप्नोंका फल कुछ दूर आगेके पंचमकालमें जाकर होगा ॥ ३ ॥ क्योंकि इस समय तो भगवान वृषभदेव प्रकाशमान हैं, उनके प्रकाशमान होते हुये भला प्रजाको इसप्रकारका उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है ॥ ४ ॥ इसलिये कदाचित् इस चतुर्थकालके बीतजानेपर पांचवें कालमें जब पापका अधिक विस्तार होगा तब ये स्वप्न अपना फल देंगे ॥ ५ ॥ चतुर्थ कालके अंतमें उपद्रवरूप फल देनेवाले और अनिष्टकी सूचना करनेवाले ऐसे ये स्वप्न राजा और प्रजा दोनोंको साधारण फल देनेवाले होंगे ॥ ६ ॥ जिसप्रकार चंद्रमा और सूर्यके बिंबसे उत्पन्न हुई विक्रियाका अच्छा बुरा फल समस्त जगतको साधारण रीतिसे होता है उसीप्रकार मेरे देखेहुये स्वप्नोंका अच्छा बुरा फल भी समस्त जगतको साधारण रीतिसे

दसच्चास्मदीक्षितं ॥ ७ ॥ इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिंतनं । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानगोचरा ॥ ८ ॥ केवलार्कादृते नान्यः संशयध्वांतभेदकृत् । को हि नाम तमो नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥ ९ ॥ तत्त्वादर्शे स्थिते देवे को नामास्मन्मतिभ्रमः । सत्यादर्शे करामर्शात्क: पश्येन्मुखसौष्ठवं ॥ १० ॥ तदत्र भगवद्वक्त्रमंगलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णीतिः स्वप्नानां शांतिकर्म च ॥ ११ ॥ अपि चास्मदुपज्ञं यद्द्विजलोकस्य सर्जनं । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्पादसन्निधौ ॥ १२ ॥ द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितं । महेज्यया च यष्टव्या शिष्टानामिष्टमीदृशं ॥ १३ ॥ इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्सगात्परार्ध्यतः । प्रातस्तरां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥ १४ ॥ ततः क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वंदनाभक्तये गंतुमुद्यतोऽभूद्विशां-

---

होगा ॥ ७ ॥ इसप्रकारका यह हमारा अनुमान केवल स्थूल (मोटमोटे) पदार्थोंका विचार करनेवाला है, इनके सूक्ष्म तत्त्वोंका ज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञानके गोचर है अर्थात् केवलज्ञानसे जाना जा सकता है ॥ ८ ॥ केवलज्ञान रूपी सूर्यको छोडकर और कोई ज्ञान संदेहरूपी अंधकारको नाश करनवाला नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यको छोडकर और ऐसा कौन है जो रात्रिका अंधकार दूर कर सके? ॥ ९ ॥ दर्पणके समान तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप दिखानेवाले भगवान वृषभदेवके रहते हुये मुझे बुद्धिका भ्रम अथवा संदेह क्यों रहना चाहिये, क्योंकि दर्पणके रहते हुये ऐसा कौन पुरुष है जो हाथके स्पर्शसे अपने मुखकी सुंदरता देखे? ॥ १० ॥ इसलिये इस विषयमें भगवानके मुखरूपी मंगलदर्पणको देखकर ही मुझे अपने स्वप्नोंके यथार्थ फलका निर्णय करना चाहिये और वहीं इन बुरे स्वप्नोंका कुछ शांतिकर्म करना चाहिये ॥ ११ ॥ तथा मैंने जो ब्राह्मण लोगोंकी सृष्टि निर्मापण की है उसे भी भगवानके चरण कमलोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिये ॥ १२ ॥ इसके सिवाय भले आदमियोंका यह भी एक कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन गुरुके दर्शन किया करें, अपना हिताहित पूछा करें और बडी भारी सामग्रीसे उनकी पूजा किया करें ॥ १३ ॥ इसप्रकार अपने मनमें विचारकर महाराज भरत बहुत ही सवेरे अपनी बहुमूल्य शय्यासे उठे और प्रातःकालकी सब क्रियायें कीं ॥ १४ ॥

पतिः ॥ १५ ॥ वृतः परिमितैरेव मौलिबद्धैरनूथितैः । प्रतस्थे वंदनाहेतोर्विभूत्या परयाऽन्वितः ॥ १६ ॥ ततः क्षेपीय एवासौ गत्वा सैन्यैः परिष्कृतः । सम्राट् प्राप तमुद्देशं यत्रास्तेस्म जगद्गुरुः ॥ १७ ॥ दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्निधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटितांजलिकुड्मलः ॥ १८ ॥ स ता प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सदोऽवनिं । प्रविवेश विशामीशः क्रात्वा कक्षाः पृथग्विधाः ॥ १९ ॥ मानस्तंभमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपार्थिवान् । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपाँश्चार्चितपूजितान् ॥ २० ॥ चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्रतत्रेक्षमाणोऽसौ तां ता कक्षामलंघयत् ॥ २१ ॥ प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणा गीतैर्नृत्तैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिस्तत्रास्यासीत्परा धृतिः ॥ २२ ॥ ततः प्राविक्षदुत्तुंगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरध्युषितां भूमिं श्रीमंडप-

---

तदनंतर वे सम्राट थोडी देरतक सभामें बैठे और फिर अनेक राजाओंके साथ साथ वंदना और भक्ति करनेके लिये जानेको तैयार हुये ॥ १५ ॥ तथा साथ साथ चलनेवाले कितने ही मुकुटवद्ध राजाओंके साथ साथ अपनी उत्कृष्ट विभूतिसहित वंदना करनेकेलिये निकले ॥ १६ ॥ तदनंतर अपनी सेनाके साथ वे सम्राट् जाकर वहुत शीघ्र वहां पहुंच गये कि जहां जगतगुरु भगवान वृषभदेव विराजमान थे ॥ १७ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने दूरसे ही भगवानके समोसरणकी भूमि देखी और अपने मुकुटको कुछ हिलाते हुये कमलकी कलीके समान जोडे हुये दोनों हाथोंको अपने मस्तकपर रखकर नमस्कार किया ॥ १८ ॥ उन महाराजाधिराजने प्रथम ही उस समवसरणभूमिके बाहिरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक तरहके अलग अलग स्थानोंको उलंघन करते हुये उसमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ मानस्तंभ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामिग्रीसे पूज्य ऐसे स्तूपोंको देखते हुये वे आगे बढे ॥ २० ॥ चारोंतरहकी वनकी पंक्तियां, ध्वजायें, और हर्म्यावली इन सबकी शोभा देखते हुये उन्होंने वे सब स्थान उलंघन किये अर्थात् सबको छोडकर आगे गये ॥ २१ ॥ समवसरणके प्रत्येक विभागमें होनेवाले देवांगनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे उनके चित्तकी वृत्ति बहुत ही अनुरक्त हो रही थी और इसलिये वे वहां बहुत ही संतुष्ट हुये थे ॥ २२ ॥

परिष्कृतां ॥ २३ ॥ त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय धर्मचक्राणि पूजयन् ॥ २४ ॥ मेखलायां द्वितीयस्यां वरिवस्य महाध्वजाम् । प्रापद्गंधकुटीं चक्री न्यक्कृतत्रिजगच्छ्रियं ॥ २५ ॥ देवदानवगंधर्वसिद्धविद्याधरेडित । भगवंतमथालोक्य प्राणमद्भक्तिनिर्भरः ॥ २६ ॥ स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानमभ्यर्च्य च यथाविधिः । निषसाद यथास्थानं धर्मामृतपिपासितः ॥२७॥ भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे । विशुद्धिपरिणामांगमवधिज्ञानमुद्बभौ ॥ २८ ॥ पीत्वाऽथो धर्मपीयूष परां तृप्तिमवापिवान् । स्वमनोगतमित्युच्चैर्भगवंतं व्यजिज्ञपत् ॥ २९ ॥ मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारचंचवः । त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥३०॥ एकाद्येकादशागानि दत्तान्येभ्यो मया विभो । व्रताचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥ ३१ ॥

तदनंतर बहुत ऊंचे कोटके बडे दरवाजेके मार्गसे जहांपर गणधरदेव विराजमान हैं और जो श्रीमंडपसे सुशोभित है ऐसी उस भूमिपर जा पहुंचे ॥ २३ ॥ वहांपर तीन कटनिवाला जो पीठ है उसकी प्रथम कटनीपर पहुंचकर धर्मचक्रोंकी पूजा करते हुये प्रदिक्षणा दी ॥ २४ ॥ तथा दूसरी मेखलापर महाध्वजाओंकी पूजा की और फिर वह चक्रवर्ती तीनों जगतकी शोभाको तिरस्कार करनेवाली गंधकुटीके पास जा पहुंचा ॥ २५ ॥ वहांपर भक्तिसे भरपूर भरतने देव, राक्षस (व्यंतर), गंधर्व, सिद्ध और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य ऐसे भगवान वृषभदेवको देखकर नमस्कार किया ॥ २६ ॥ भरतने उन भगवानकी अनेक स्तोत्रोंसे स्तुति की, विधि पूर्वक पूजा की और धर्मरूपी अमृतके पीनेकी इच्छा करता हुआ वह अपने योग्य स्थानपर जा बैठा ॥ २७ ॥ भरतने भगवानके चरणकमलोंको बडी भक्तिसे नमस्कार किया था इसलिये उसके परिणाम बहुत ही विशुद्ध होगये थे और उसके परिणाम विशुद्ध होनेसे उसे अवधिज्ञान उत्पन्न होगया था ॥ २८ ॥ तदनंतर धर्मरूपी अमृतको पीकर वह बहुत ही तृप्त हुआ और ऊंचे स्वरसे अपने मनके अभिप्राय भगवानसे इसप्रकार निवेदन करने लगा ॥ २९ ॥ कि हे भगवन् ! मैने आपके द्वारा कहे हुये उपासकाध्याय सूत्रके अनुसार चलने वाल और श्रावकोंके आचरण करनेमें निपुण ऐसे ब्राह्मण निर्मापण किये हैं ॥ ३० ॥ हे प्रभो इन्हें

विश्वस्य धर्मसर्गस्य त्वयि साक्षात्प्रणेतरि । स्थिते मयाऽतिबालिश्यादिदमाचरितं विभो ॥ ३२ ॥ दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत्सांप्रतं न वा । दोलायमानमिति मे मनःस्थापय निश्चितौ ॥ ३३ ॥ अपि चाद्य मया स्वप्ना निशांते शोडशेक्षिताः । प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवाभिलक्षिताः ॥ ३४ ॥ यथादृष्टमुपन्यस्ये तानिमान्परमेश्वर । यथास्व तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषय नय ॥ ३५ ॥ सिंहो मृगेंद्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत् । छागा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः ॥ ३६ ॥ शाखामृगा द्विपस्कंधमारूढाः कौशिकाः खगैः । विहितोपद्रवा ध्वांक्षैः प्रमथाश्च प्रमोदिनः ॥ ३७ ॥ शुष्कमध्यं तडागं च पर्यंतप्रचुरोदकं । पांसुधूसरितो रत्नराशिः श्वाऽर्थमुगार्हितः ॥ ३८ ॥ तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परिवेषयुक् । मिथोंगीकृतसांगात्यौ पुंगवौ संगल-

---

मैने ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिन्ह रूप एकसे लेकर ग्यारहतक यज्ञोपवीत दिये हैं। भावार्थ—जिसके जितनी प्रतिमायें हैं उसे उतने ही यज्ञोपवीत दिये हैं ॥ ३१ ॥ हे देव? समस्तधर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले ऐसे आपके होते हुये भी मैंने अपनी बडी मूर्खतासे यह काम किया है ॥ ३२ ॥ हे नाथ इस ब्राह्मणोंकी रचनामें क्या दोष है और क्या गुण है तथा इनकी रचना योग्य हुई अथवा अयोग्य इस तरहके झूलेमें मेरा चित्त झूल रहा है. आप इसका निश्चयकर इस मेरे मनको स्थिर कर दीजिये ॥ ३३ ॥ इसके सिवाय आज सवेरे ही मैंने सोलह स्वप्न देखे हैं और हे देव! मुझे यह भी मालूम होता है कि प्रायःये स्वप्न अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥ ३४ ॥ हे परमेश्वर वे स्वप्न जिसतरह मैंने देखे हैं उसीतरह निवेदन करता हूं उनका जैसा कुछ फल हो वह मुझे निश्चय करा दीजिये ॥ ३५ ॥ प्रथम ही सिंह देखा था फिर सिंहका बच्चा, हाथीका बोझा लादे हुये घोडा, और वृक्ष लता तथा छोटे पौधोंके सूके पत्ते खाते हुये बकरे देखे थे ॥ ३६ ॥ हाथीके कंधेपर बैठे हुये बंदर, अनेक कौवा और पक्षी जिन्हें त्रास दे रहे हैं ऐसे उल्लू और नाचते हुये भूत देखे थे ॥ ३७ ॥ जिसके बीचकी जगह सूखी पडी है और किनारोंपर चारोंओर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाव देखा था तथा जो धूलसे मैली हो रही है ऐसी रत्नोंकी राशि और जिसकी पूजा

च्छ्रियौ ॥ ३९ ॥ रविराशावधूरत्नवतंसोऽब्देस्तिरोहितः । संशुष्कस्तरुरच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥ ४० ॥ षोडशैतेऽद्य यामिन्यां दृष्टाः स्वप्ना विदांवर। फलविप्रतिपत्तिं मे तद्गतां त्वमपाकुरु ॥ ४१ ॥ इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधित्विषा । सभाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जिनं ॥ ४२ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थं व्याचष्टेऽस्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्निखिलं सदः ॥ ४३ ॥ भगवद्दिव्यवागर्थशुश्रूषावहितं तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्चित्रगतं नु वा ॥ ४४ ॥ साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनं । किंतु दोषानुषंगोऽत्र कोऽप्यस्ति स निशम्यताम् ॥ ४५ ॥ आयुष्मन् भवता सृष्टा-

---

की जा रही है ऐसा नैवेद्य खाता हुआ कुत्ता देखा था ॥ ३८ ॥ इसके बाद एक तरुण बैल देखा था, तथा जिसके चारोंओर परिवेश (मंडल—चारों ओर गोल सफेद रेखा) लग रहा है ऐसा चंद्रमा देखा था और जिन्होंने आपसमें मित्रता की है तथा जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल देखे थे ॥ ३९ ॥ दिशारूपी स्त्रीके रत्नोंके बने हुये कर्णभूषणके समान ऐसे सूर्यको मेघोंसे ढका हुआ देखा था, छायारहित सूखा वृक्ष देखा था और पुराने पत्तोंका समूह देखा था ॥ ४० ॥ हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! आज रातको मैने ये स्वप्न देखे हैं । हे नाथ! इनके फलमें मुझे जो संदेह है उसे आप दूर कर दीजिये ॥ ४१ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती अपने अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंके फल जान सकता था तथापि सभाके लोगोंको समझनेके लिये उसने भगवानसे इसप्रकार पूछा था ॥ ४२ ॥ जब भरतका प्रश्न समाप्त होगया तब अपने वचनरूपी अमृतके सींचनेसे (छिडकावसे) सब सभाको प्रसन्न करते हुये वे जगतगुरु भगवान इसप्रकार कहने लगे ॥ ४३ ॥ उससमय भगवानकी दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छासे सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पडती थी मानो वह ध्यानमें मग्न हो रही हो अथवा वह चित्रकी बनी हुई हो ॥ ४४ ॥ भगवान कहने लगे कि हे वत्स! तेने जो साधुओंके समान धर्मात्मा द्विजोंका पूजन किया है सो बहुत ही अच्छा किया है परंतु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥ ४५ ॥ हे चिरंजीव! तेने जो इन गृहस्थोंकी रचना की है सो जबतक चौथा

य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः ॥ ४६ ॥ ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः । भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यते सन्मार्गप्रत्यनीकता ॥ ४७ ॥ तेऽमी जातिमदाविष्टा वय लोकाधिका इति । पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयंति धनाशया ॥४८॥ सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यंति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ॥ ४९ ॥ त इमे कालपर्यंते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः ।, धर्मद्रुहो भविष्यंति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥ सत्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं घोषयिष्यत्यधार्मिकाः ॥ ५१ ॥ अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यत्यमी वत ॥ ५२ ॥ पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यंति सन्मार्गपरिपंथिनः ॥ ५३ ॥ द्विजातिसर्जनं तस्मान्नाद्य

काल है तबतक तो ये अपने योग्य आचरणोंका पालन करते रहेंगे ॥ ४६ ॥ परंतु जब कलियुग समीप आजायगा तब ये अपनी ब्राह्मण जातिके अभिमानसे अपने सदाचारसे भ्रष्ट होकर इस श्रेष्ठ मोक्षमार्गके विरोधी बन जायंगे ॥ ४७ ॥ पंचमकालमें ये लोग " हम सब लोगोंसे वडे हैं " इसप्रकार ब्राह्मण जातिके अभिमानमे फंसकर केवल धनकी इच्छासे मिथ्याशास्त्रोंके द्वारा सब लोगोंको मोहित करते रहेंगे ॥ ४८ ॥ आदर सत्कार प्राप्त होनेसे जिनका अभिमान वढ गया है ऐसे ये ब्राह्मण लोग मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर अपने आप ही मिथ्या शास्त्रोंको बना बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे ॥ ४९ ॥ ये मिथ्यात्वी लोग इतने काल पर्यंत विकार प्राप्त होनेसे जिनकी चेतना शक्ति पापकर्मसे मलिन हो गई है ऐसे होते हुये धर्मके शत्रु हो जायंगे ॥ ५० ॥ ये अधर्मी ब्राह्मण प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर हो जायंगे, शहत और मांस खानेको अच्छा समझेंगे और वेदमें कहे हुये हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ॥ ५१ ॥ दुःख है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण लोग अहिंसारूप धर्ममें दोष दिखलाकर वेदमें कहे हुये हिंसारूप धर्मको पुष्ट करेंगे ॥ ५२ ॥ पापके चिन्हरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और जीवोंके मारनेमें सदा तत्पर ऐसे ये धूर्त ब्राह्मण लोग आगामी कालमें इस श्रेष्ठ मार्गके विरोधी हो जायंगे ॥ ५३ ॥ इसलिये यह ब्राह्मणोंकी रचना

यद्यपि दोपकृत् । स्याद्दोषबीजमायत्या कुपाखडप्रवर्तनात् ॥ ५४ ॥ इति कालांतरे दोपबीजमप्येतदंजसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥५५॥ यथाऽन्नमुपयुक्त सत्कचित्कस्यापि दोपकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद्बुधैर्बहुगुणास्थया ॥ ५६ ॥ तथेदमपिमतव्यमद्यत्वे गुणवत्तया । पुसामाशयवैपम्यात्तु-श्चायद्यपि दोपकृत् ॥ ५७ ॥ इदमेवं गत हत यच्च ते स्वप्नदर्शन । तदप्येष्यद्युगे धर्मस्थितिन्हासस्य सूचन ॥ ५८ ॥ ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाता स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितरे मताः ॥ ५९ ॥ तथ्याः स्युः स्वस्थसन्दृष्टा मिथ्या स्वप्ना विपर्यात् । जगत्प्रतीतमेतद्धि

यद्यपि आज इस कालमें कुछ दोप उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें खोटे पाखंड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोपका वीज रूप है ॥ ५४ ॥ इसप्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी रचना आगामी कालके लिये अवश्य ही दोपका वीजरूप है तथापि धर्मरूप सृष्टिका उलंघन न हो इसलिये अब इसे दूर करना ठीक नहीं है । भावार्थ—यदि अब यह रचना दूर की जायगी तो धर्मसृष्टिका उलंघन हो जायगा ॥ ५५ ॥ जिसप्रकार खाया हुआ अन्न कभी कभी किसीको दोप उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक तरह गुणकारी मानकर बुद्धिमान लोग उसे छोड नहीं सकते, उसीप्रकार यद्यपि ये मनुष्योंके अभिप्रायोंकी विपमता होनेसे अर्थात् लोगोंके अभिप्राय दुष्ट होनेसे आगामी कालमें दोप उत्पन्न करनेवाले हो जायंगे तथापि इस समय इन्हें गुणी ही मानना चाहिये ॥ ५६–५७ ॥ इसप्रकार तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो समाप्त हुआ । अब तेने जो स्वप्न देखे हैं दुःख है कि वे भी आगामी पंचमकालमें धर्मकी स्थितिकी हीनताको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ ५८ ॥ स्वप्न दो प्रकारके होते हैं एक अपनी स्वास्थ्य अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वास्थ्य अवस्थामें दिखनेवाले । जो वात पित्त कफ इनके समान होते हुये दिखते हैं वे स्वास्थ्य अवस्थाके कहलाते हैं और बात पित्त कफ इनकी न्यूनाधिकता होते हुये जो दिखते हैं वे अस्वास्थ्य

विद्धि स्वप्नविमर्शन ॥ ६० ॥ स्वप्नाना द्वैतमस्त्यन्यद्दोषदैवसमुद्भव । दोषप्रकोपजा मिथ्या तथ्याः स्युर्दैवसंभवाः ॥ ६१ ॥ कल्याणांगस्त्वमेकाताद्देवताधिष्ठितश्च यत् । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेषा निबोध मे ॥ ६२ ॥ दृष्टाः स्वप्ने मृगाधीशा ये त्रयोविंशतिप्रमाः । निस्सपत्ना विहृत्येमा क्ष्मा क्ष्माभृत्कूटमाश्रिताः ॥ ६३ ॥ तत्फल सन्मतिं मुक्त्वा शेपतीर्थकरोदये । दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यता स्फुट ॥ ६४ ॥ पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक् मृगेक्षणात् । भवेयु. सन्मतेस्तीर्थे सानुपगाः कुलिंगिन. ॥ ६५ ॥ करींद्रभारानिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढु नाल

अवस्थाके कहलाते हैं ॥ ५९ ॥ स्वास्थ्य अवस्थाके दिखनेवाले जो स्वप्न हैं वे सब सत्य होते हैं और अस्वास्थ्य अवस्थाके मिथ्या वा झूठ हुआ करते हैं। स्वप्नोंके फलोंका विचार करनेमें यह जगतप्रसिद्ध विश्वास है ऐसा तू समझ ॥ ६० ॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं, एक दोषसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे होनेवाले । जो दोषोंके प्रकोपसे होते हैं वे मिथ्या होते हैं और जो दैवसे उत्पन्न होते हैं वे सब सच्चे होते हैं ॥ ६१ ॥ हे कल्याणरूप? तू तो अवश्य ही देवताओंके द्वारा पूज्य है इसलिये तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं तू इनका फल मुझसे सुन ॥ ६२ ॥ तेने जो स्वप्नमें तेईस सिंह देखे हैं जो कि इस पृथ्वीपर अकेले ही विहारकर पर्वतके शिखरपर चढगये थे उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोडकर वाकी तेईस तीर्थंकरोंके समयमें दुष्ट नयोंकी अथवा मिथ्याशास्त्रोंकी उत्पत्ति नहीं होगी, यही वह स्वप्न दिखलाता है ॥ ६३--६४ ॥ दूसरे स्वप्नमें जो तेने अकेला सिंहका बच्चा देखा है और उसके पीछे पीछे चलते हुये हिरण देखे हैं उसका फल यह है कि श्रीमहावीरस्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले वहुतसे कुलिंगी वा भेषधारी हो जायंगे ॥६५॥ बडे हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ टूट गई है ऐसे घोडेके देखनेका यह फल है कि पंचम कालके साधु लोग तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होंगे ॥ ६६ ॥ मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी कोई, उनके पालन करनेमें आलस करने

दुष्षमसाधवः ॥ ६६ ॥ मूलोत्तरगुणेष्वात्तसंगराः केचनालसाः । भंक्ष्यंते मूलतः केचित्तेषु यास्यंति मंदता ॥ ६७ ॥ निध्यानादजयूथस्य शुष्कपत्रोपयोगिन. । यास्यसद्वृत्तता त्यक्तसदाचारा. पुरा नरा ॥६८॥ करींद्रकंधरारूढशाखामृगविलोकनात् । आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मां पास्यंत्यकुलीनकाः ॥६९॥ काकैरुलूकसंबाधदर्शनाद्धर्मकाम्यया । मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्थानन्वियु र्नाः ॥ ७० ॥ प्रनृत्यतां प्रभूतानां भूतानामीक्षणात्प्रजाः । भजेयुर्नामकर्माद्यैर्व्यंतरान्देवतास्थया ॥ ७१ ॥ शुष्कमध्यतडागस्य पर्यंतेऽम्बुस्थितीक्षणात् । प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यंतवासिषु ॥ ७२ ॥ पांसुधूसररत्नौघनिध्यानादृद्धिसत्तमा । नैव प्रादुर्भविष्यंति मुनयः पंचमे युगे ॥ ७३ ॥ शुनोऽर्चितस्य सत्कारैश्चरुभोजनदर्शनात् । गुणवत्पात्रसत्कारमाप्स्यंत्यव्रतिनो

लगेंगे, कोई मूलसे सब गुणोंको ही नष्ट कर देंगे और कोई मंदता वा उदासीनता धारण करेंगे ॥६७॥ आगे जो बहुतसे बकरोंका समूह सूके पत्ते खाते देखा है उसका यह फल है कि आगेके लोग सदाचारको छोडकर दुराचारी हो जांयगे ॥ ६८ ॥ जो स्वप्नमें हाथीके कंधेपर चढे हुये बंदर देखे हैं उसका यह फल है कि प्राचीन क्षत्रियोंके वंशका नाश हो जायगा और फिर नीचकुलवाले इस पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ ६९ ॥ अनेक कौवोंने जो उल्लूको दुःख देते हुये देखा है उसका यह फल है कि लोग जैनी मुनियोंको छोडकर धर्मकी इच्छासे अन्य मतियोंके साधुओंके समीप जायंगे ॥ ७० ॥ इसके आगे जो बहुतसे भूतोंको नाचते हुये देखा है उसका यह फल है कि प्रजाके लोग नाम कर्म आदि कारणोंसे व्यंतरोंको देवता मानकर पूजा सेवा आदि करेंगे ॥ ७१ ॥ बीचमें सूका हुआ और किनारोंपर चारोंओर पानी भरा हुआ जो तालाव देखा है उसका यह फल है कि यह धर्म आर्यक्षेत्रमें न रहकर म्लेच्छ देशके लोगोंमें रहेगा ॥ ७२ ॥ धूलिसे मलिन हुई जो रत्नोंकी राशी देखी है उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनि लोग शुक्लध्यान ऋद्धि आदिसे विभूषित उत्तम नहीं होंगे ॥ ७३ ॥ आदर सत्कारसे जिसकी पूजा की गई है और जो नैवेद्य खा रहा है ऐसे कुत्तेके देखनेसे यह सूचित होता है कि अव्रती ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान आदर सत्कार पावेंगे ॥ ७४ ॥

द्विजा' ॥ ७४ ॥ तरुणस्य वृषस्योच्चैर्नदतो विहृतीक्षणात् । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यंति न दशांतरे ॥ ७५ ॥ परिवेषोपरक्तस्य श्वेतभानोर्निशामनात् । नोत्पत्स्यते तपोभृत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥ ७६ ॥ अन्योऽन्यं सह संभूय वृषयोर्गमनेक्षणात् । वत्स्र्यंति मुनयः साहचर्यान्नैकविहारिणः ॥ ७७॥ घनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलार्कोदयः प्रायो न भवेत्पंचमे युगे ॥ ७८ ॥ पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युतिः शुष्कद्रुमेक्षणात् । महौषधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥ ७९ ॥ स्वप्नानेवंफलानेतान्विद्धि दूरविपाकिनः । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेषां युगांतरे ॥ ८० ॥ इति स्वप्नफलान्यस्मादबुध्वा वत्स यथातथा । धर्मे मतिं दृढं धत्स्व विश्वविघ्नोपशांतये ॥ ८१ ॥ इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालकः । संदेहकर्दमापायात्सुप्रसन्न-

शब्द करता हुआ तरुण बैल जो विहार करते हुये देखा है उसका यह फल है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपद धारण करेंगे वृद्धावस्थामें नहीं ॥ ७५ ॥ सफेद परिमंडलसे घिरा हुआ जो चंद्रमा देखा है उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनियोंके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होगा ॥ ७६ ॥ परस्पर मिलकर जाते हुये जो दो बैल देखे हैं उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनिलोग साथ साथ रहेंगे एकाविहारी (अकेले विहार करनेवाले) नहीं होंगे ॥ ७७ ॥ बादलोंसे ढका हुआ जो सूर्य देखा है उसका यह फल है कि पंचमकालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूका वृक्ष देखनेसे यह सूचित होता है कि पुरुष और स्त्रियोंके सदाचार प्रायः भ्रष्ट हो जायंगे और पुराने पत्तोंके देखनेका यह फल है कि महा औषधियोंका रस अर्थात् गुण नष्ट हो-जायगा ॥ ७९ ॥ इन स्वप्नोंको इसप्रकार फल देनेवाले और दूर अर्थात् आगामी पंचमकालमें फल देनेवाले जान । इन स्वप्नोंसे आज कोई दोष नहीं होगा, इसका फल आगे पचमकालमें होगा ॥८०॥ हे वत्स' इस प्रकार इन स्वप्नोंका यथार्थ फल मुझसे सुनकर तू समस्त विघ्नोंको शांत करनेकेलिये धर्ममें अपनी बुद्धिको दृढ कर ॥ ८१ ॥ वर्ण और आश्रमोंका पालन करनेवाले भरतने ऊपर लिखे अनुसार गुरु भगवान वृषभदेवके वाक्य सुने और संदेह रूपी कीचडके नाश होनेसे अपना चित्त

मधान्मनः ॥ ८२ ॥ भूयोभूयः प्रणम्येशं समापृच्छय पुनः पुनः । पुनरावृत्ते कृच्छ्रात्स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥ ८३ ॥ ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरण । केतुमालाकुलं पौरैः सानंदमभिनंदित. ॥ ८४ ॥ शांतिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशांतये । जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥ ८५ ॥ गोदोहैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजन' ॥ ८६ ॥ निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिंबैरलंकृताः । परार्ध्यरत्ननिर्माणाः संबद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ८७ ॥ लंबिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः । राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥ यदा किल

निर्मल किया ॥ ८२ ॥ उसने भगवानको बार बार नमस्कार किया, बार बार आज्ञा मांगी और गुरुके अनुग्रहसे अत्यंत प्रसन्न होकर बडी कठिनतासे वह वहांसे लौटा ॥ ८३ ॥ तदनंतर नगरके लोग आनंदके साथ जिसका आदर सत्कार कर रहे हैं ऐसे उस भरतने ध्वजाओंके समूहसे भरे हुए और सब जगह तोरणोंसे सुशोभित ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश किया और बुरे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शांति करनेके लिये भगवानका अभिषेक करना और सत्पात्रोंको दान देना आदि अनेक पुण्यरूप क्रियाओंसे शांतिकर्म करना प्रारंभ किया ॥ ८४–८५ ॥ उसने गायके दूधसे पृथ्वीका सिंचन किया, महर्षियोंकी पूजा की, वहुत वडे वडे दान दिये और अपने कुटुंवी लोगोंको सवतरह प्रसन्न किया ॥ ८६ ॥ तदनंतर उसने वहुमूल्य रत्नोंके वने हुये तथा सोनेकी वनी हुई रस्सीसे वंधे हुये और भगवानकी प्रतिमाओंसे सुशोभित ऐसे घंटा वनवाये तथा ऐसे ऐसे चौवीस घंटा वाहरके दरवाजेपर, राजमहलके महाद्वारपर और कोटके दरवाजेपर अनुक्रमसे टंगवा दिये ॥ ८७–८८ ॥ जब वह चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे निकला कर अथवा प्रवेश किया करे तब ही वे घंटा उसके मुकुटके अग्रभागपर लग जानेसे उसे चौवीस तीर्थंकर भगवानका स्मरण हो और उनका स्मरण हो आनेसे वह उनमें विराजमान अरहंत भगवानकी प्रतिमाकी भक्तिपूर्वक वदना करे इसप्रकार जिसकी बुद्धि पुण्यरूप है ऐसा वह भरत उन दरवाजोंसे जब निकलता था और जब प्रवेश करता था तब ही वह

विनिर्यांति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः । तदा मौल्यग्रच्छ्राभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८९ ॥ स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृ वाऽभिवंदनाम् । पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ९० ॥ रेजुः सूत्रेषु सप्रोता घटास्ता. परमेष्ठिना । सदर्थघटिताष्टीका ग्रंथानामिव पेशलाः ॥ ९१ ॥ लोकचूडामणेस्तस्य मौलिलग्ना विरेजिरे । पादच्छाया जिनस्येव घटास्ता लोकसंमताः ॥ ९२ ॥ रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना । दृष्ट्वाऽर्हद्वंदनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ९३ ॥ पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु । यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः ॥ ९४ ॥ आदिराजकृता सृष्टिं प्रजास्ता बहु मेनिरे । प्रयगार यतोऽद्यापि लक्ष्या वंदनमालिकाः ॥ ९५ ॥ वदनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना । ततो वदनमालाख्या प्राप्य

उन प्रतिमाओंकी वंदनाकर पूजा किया करता था ॥ ८९–९० ॥ सोनेकी रस्सीमें टंगे हुये और परमेष्ठियोंकी प्रतिमाओंसे सुशोभित इसतरहके वे घंटा ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरी हुई ग्रंथोंकी सुंदर टीका ही हो ॥ ९१ ॥ भरत स्वयं तीनों लोकोंके चूडामणि थे उनके मुकुटमें लगे हुये संसारमें प्रशंसनीय वे घंटा ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानके चरणकमलोंकी छाया ही हो ॥ ९२ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने अरहंत भगवानकी वंदना करनेके लिये जो घंटा रत्नोंके तोरणोंकी रचनामें स्थापित किये थे, बांधे थे, उन्हें देख देखकर लोग भी उनका बांधना अच्छा समझने लगे थे ॥ ९३ ॥ इसलिये नगरवासी लोगोंने भी अपने अपने घरकी वंदनामालाओंमें अपनी अपनी विभूतिके अनुमार भगवानकी प्रतिमा आदि समग्रीसे सुशोभित ऐसे घंटा बांधे थे ॥ ९४ ॥ उससमय प्रथम चक्रवर्ती भरतकी बनाई हुई उस सृष्टिको अर्थात् वंदनमाला बांधनेको प्रजाके लोग बहुत कुछ मानने लगे थे । यही कारण है कि आजतक भी प्रत्येक घरपर वंदनमाला दिखाई पडती है ॥ ९५ ॥ चूंकि महाराज भरतने भगवानकी वंदना करनेके लिये ही वह माला बनाई थी इसलिये ही संसारमें उसका वंदनमाला ऐसा नाम प्रसिद्ध हो गया है ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा हो तो प्रजा भी धर्मात्मा हो जाती है और यदि राजा धर्मात्मा न हो तो प्रजा भी धर्मनिष्ठ नहीं रहती है। यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है ॥९७॥

रूढिं गताः क्षितौ ॥ ९६ ॥ धर्मशीले महीपाले याति तच्छीलतां प्रजा । अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ९७ ॥ तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः । साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हिते रताः ॥ ९८ ॥ सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहित द्वय । ततो धर्मप्रिया जाता. प्रजास्तदनुरोधतः ॥ ९९ ॥ एष धर्मप्रियः सम्राट् धर्मस्थानभिनदाति । मत्वेति निखिलो लोकस्तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥ १०० ॥ स धर्मविजयी सम्राट् सद्वृत्तः शुचिरूर्जित । प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधाद्धर्मक्रियादरं ॥ १०१ ॥ भरतो निरतो धर्मे वय तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीयुर्मौलिबद्धा महीक्षित. ॥ १०२ ॥ सोऽय स्वाधीनकामार्थश्चक्री चक्रानुभावतः । चरितार्थद्वये तस्मिन् भेजे धर्मैकतानता ॥ १०३ ॥ दान पूजा च शील च दिने

उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सब लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक है क्योंकि भरत ऐसे सदाचारी राजाके होते हुये सब ही लोग अपना कल्याण करनेमें तत्पर हो गये थे ॥ ९८ ॥ अच्छा समय और अच्छा राजा ये दोनों ही उससमय एक साथ मिल गये थे, इसलिये राजाके अनुरोधसे उस समयकी सब प्रजा धर्मप्रिय होगई थी ॥ ९९ ॥ यह सम्राट् धर्मप्रिय (धर्मको प्रिय माननेवाला) है धर्मात्मा लोगोंका खूब आदर सत्कार करता है यही देखकर उस समय सब लोग धर्ममें प्रेम करने लग गये थे ॥ १०० ॥ वह चक्रवर्ती धर्म विजयी था, सदाचारी था तथा पवित्र और पुण्यवान् था इसलिये ही उसने अपनेपर (भरतपर) प्रेम करनेवाली प्रजामें आदर सत्कार पूर्वक धर्मक्रियाओंके करनेका संचार कर दिया था अर्थात् भरतपर प्रेम करनेवाली प्रजा भी आदर पूर्वक धर्मक्रियायें करती थीं ॥ १०१ ॥ राजा भरत धर्ममें तल्लीन है और हम लोग उसके सेवक हैं यही समझकर सब मुकुटबद्ध राजा लोग भरतके आचरणोंके समान ही अपने आचरण करने लग जाते थे ॥ १०२ ॥ चक्रके प्रभावसे जिसके अर्थ और काम दोनों ही स्वाधीन हैं ऐसा वह भरत चक्रवर्ती अर्थ और काम दोनोंकी ही सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रतासे अपना चित्त लगाता था ॥ १०३ ॥ दान देना, पूजा करना शील पालन करना और पर्वके दिनोंमें उपवास करना यह

पर्वण्युपोषित । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनां ॥ १०४ ॥ ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरं । समेतो नवभिः पुण्यैर्गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥ १०५ ॥ सोऽदाद्विशुद्धमाहार यथायोग च भेषज । प्राणिभ्योऽभयदान च दानस्यैतावती गतिः ॥ १०६ ॥ जिनेषु भक्तिमातन्वन् तत्पूजाया धृतिं दधौ । पूज्याना पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥ १०७ ॥ चैत्यचैत्यालयादीना निर्मापणपुरस्सरं । स चक्रे परमामिज्यां कल्पवृक्षपृथुप्रथा ॥ १०८ ॥ शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षित यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥ १०९ ॥ व्रतानुपालन शील व्रतान्युक्तान्यगारिणा । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥ ११० ॥ सभावनानि तान्येप यथायोग प्रपालयन् । प्रजाना पालकः सोऽभूद्धौरेयो गृहमेधि-

---

इसतरह चार प्रकारका धर्म गृहस्थोंकेलिये कहा गया है ॥ १०४ ॥ दाताके सात गुणोंसे विभूषित वह भरत नौ प्रकारकी भक्तिके साथ बडे आदरसे उत्तम मुनियोंको दान देता था ॥ १०५ ॥ वह शुद्ध आहार देता था, योग्यतानुसार औषधदान देता था और सब प्राणियोंको अभयदान देता था, दानकी ये तीन ही गति हैं अर्थात् आहार औषध और अभयदानके भेदसे तीन प्रकारका ही दान है ॥ १०६ ॥ संसारमें पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे स्वयं पूज्य हो जाता है इसतरह चिंतवन करता हुआ वह भरत भगवानमें अपनी भक्ति बढाता हुआ उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतुष्ट होता था ॥ १०७ ॥ उसने अनेक जिनबिंब और जिनमंदिर बनवाये थे और फिर कल्पवृक्ष नामका बहुत बडा महायज्ञ किया था ॥ १०८ ॥ उस प्रभुके मनमें शील पालन करनेका प्रयत्न (प्रवृत्ति) भी सदा रहता था सो ठीक ही है, क्योंकि प्रयत्न पूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी भी रक्षा करता है ॥ १०९ ॥ व्रतोंका पालन करना ही शील है स्थूल हिंसाका त्याग करना आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणपूर्वक पहिले कहे जा चुके हैं ॥ ११० ॥ उन व्रतोंको उनकी भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करता था और इस तरह प्रजाका पालन करता हुआ वह भरत सब गृहस्थियोंमें मुख्य गिना जाता था ॥१११॥ पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञाकर समाधि (ध्यान) धारणकर

यत् ॥१२५॥ कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान् । पारितोषिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥ ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरात् । स्वेच्छा विहारमकरोद्विनोदैः सुकुमारकैः ॥१२७॥ ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे कृतमज्जनसविधिः । तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निराविक्षत्प्रसाधनम् ॥१२८॥चामरोत्क्षेपताबूल-दानसवाहनादिभि. । परिचेरुरुपेत्यैन परिवाराङ्गना स्वतः ॥१२९॥ ततो भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः । सम विदग्धमडल्या विद्यागोष्ठीर-भावयत् ॥ १३० ॥ तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च त । परिवव्रुरुपारूढतारुण्यमदकर्कशाः ॥ १३१ ॥ तासामालापसँल्लापपरिहासकथादिभि । सुखासिकामसौ भेजे भोगाङ्गैश्च मुहूर्तक ॥ १३२ ॥ ततस्तुर्यविशेषेऽन्हि पर्यटन्मणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परा शोभामभितो राजवेश्मनः ॥ १३३ ॥ स

था ॥ १२५ ॥ गीत नृत्य आदि दिखानेके लिये आये हुये गीत नृत्य आदि कलाओंके जाननेवाले लोगोंका गीत नृत्य आदि देखकर उन्हें बडे बडे पारितोषक (इनाम) देकर संतुष्ट करता था ॥ १२६ ॥ तदनंतर वह सभाको विसर्जन करता था और सिंहासनसे उठकर कोमल क्रीडायें करता हुआ वह इच्छानुसार विहार करता था ॥ १२७ ॥ उसके बाद जब दोपहरका समय समीप आजाता था तब स्नान आदि क्रियाओंको पूराकर शरीरके साधन ऐसे भोजन आदिसे छुट्टी पाकर अलंकार धारण करता था ॥ १२८ ॥ उससमय परिवारकी स्त्रियां स्वयं आकर चमर ढुलाना, तांबूल देना, और पैर दाबना आदि आदि कामोंसे उसकी सेवा करती थीं ॥ १२९ ॥ तदनंतर भोजन करनेके बाद बैठने योग्य भवनमे थोडेसे राजाओंके साथ बैठकर विद्वान लोगोंके साथ साथ विद्या-की चर्चाका विचार करता था ॥ १३० ॥ वहांपर आई हुई तारुण्यके (जवानीके) मदसे कुछ उद्धत हुई वेश्यायें और रानियां आकर उसके चारों ओर बैठ जाती थीं ॥ १३१ ॥ उनके गान, परस्परकी बातचीत और हंसी खुशीकी कथा आदि भोगोंके साधनोंसे वह कुछ देरतक सुखसे निवास करता था ॥ १३२ ॥ तदनंतर जब दिनका चौथाई भाग रह जाता था तब मणियोंसे जडी हुई भूमिपर इधर उधर टहलता हुआ वह चारों ओर राजभवनकी उत्तम शोभा देखता था ॥ १३३ ॥ कभी

नर्मसचिवं काचित्समालंब्यांसपीठके । परिक्रामन्नितश्चेतो रेजे सुरकुमारवत् ॥ १३४ ॥ रजन्यामपि यत्कृत्यमुचितं चक्रवर्तिनः । तदाचरन् सुखेनैष त्रियामामत्यवाहयत् ॥ १३५ ॥ कदाचिदुचिता वेला नियोग इति केवलं । मंत्रयामास मंत्रज्ञैः कृतकार्योऽपि चक्रभृत् ॥ १३६ ॥ तंत्रावपगता चिंता नास्यासीद्विजितक्षितेः । तंत्रचिंतैव नन्वस्य स्वतंत्रस्येह भारते ॥ १३७ ॥ तेन षाड्गुण्यमभ्यस्तमपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याविपक्षां क्ष्मां कृतं संध्यादिचर्चया ॥ १३८ ॥ राजविद्याश्चतस्रोऽमूः कदाचिच्च कृतक्षणः । व्याचख्यौ राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥ १३९ ॥ कदाचिन्निधिरत्नानाम-

कभी वह क्रीडामें सहायता करनेवाले [लोगोंके कंधेपर हाथ रखकर इधर उधर टहलता हुआ देवके कुमारोंके समान सुशोभित होता था ॥ १३४ ॥ रातमें भी जो चक्रवर्तीके योग्य कर्तव्य हैं उन्हें करता हुआ वह बडे आरामसे रात्रिको पूर्ण करता था ॥ १३५ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती; अपने विजय आदिके सब काम; पूरे कर चुका था तथापि केवल नियोग समझकर; कभी कभी उचित समयपर मंत्रियोंके साथ बैठकर कुछ; विचार करता था ॥ १३६ ॥ जिसने समस्त पृथ्वी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमें सर्वथा स्वतंत्र है चक्रवर्ती है ऐसे उस भरतके अपने राज्य और परराज्यकी कुछ चिंता नहीं थी, यदि चिंता थी तो वह केवल शास्त्रोंकी चिंता थी भावार्थ—वह केवल शास्त्रोंका ही विचार करता था, राज्यका नहीं ॥ १३७ ॥ उसने केवल अपना अज्ञान दूर करनेके लिये ही संधि विग्रह आदि छह गुणोंका अभ्यास किया था, क्योंकि जब वह शत्रुरहित पृथ्वीका पालन करता था तब फिर उसे संधि विग्रह आदिकी चर्चासे क्या काम था ॥ १३८ ॥ वह बुद्धिमान केवल प्रसिद्ध करनेके लिये, कभी कभी राजपुत्रोंको बडे उत्साहके साथ आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति इन चारों राजविद्याओंका; व्याख्यान करता [था, अर्थात्]उन्हें समझाता था ॥ १३९ ॥ कभी कभी वह निधि और रत्नोंका निरीक्षण भी करता था क्योंकि निधि और रत्नोंमेंसे कुछ तो उसके भंडारमें थे और कुछ उसकी सेनामें थे ॥ १४० ॥ कभी कभी वह भगवान सर्वज्ञ-

करोत्स निरीक्षण । भाटागारपदे तानि तस्य तत्रपदेऽपि च ॥ १४० ॥ कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु या स्युर्विप्रतिपत्तयः । निराचकार ता कृत्स्ना व्यापन्न्विश्वविन्मत ॥ १४१ ॥ आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु कांश्चित्सजातसशयान् । ततोऽपाकृत्य सगीतिस्तत्तत्र निरणीनयत् ॥ १४२ ॥ तथाऽमात्यर्थशास्त्रार्थे कामनीतौ च पुष्कल । प्रावीण्य प्रथयामास यथाऽत्र न पर कृती ॥ १४३ ॥ हास्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितु. । मूलतन्त्रस्य कर्ताऽयमित्यास्था तद्विदामभूत् ॥ १४४ ॥ आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निरारेक श्लाघते स्म निधीशिन ॥ १४५ ॥ सोऽशीतीपदविद्याया स कृती वागलङ्कृतौ । स छदासा प्रतिच्छद इत्यासीत्सम्मत. सता ॥ १४६ ॥ तदुपज्ञानिमितानि शाकुन तदुपक्रम । त सर्गो ज्योतिष ज्ञान तन्मत

देवके मतको प्रगट करता हुआ धर्मशास्त्रमें जो कुछ शंकायें वा विवाद थे उन सबको दूर करता था ॥१४१॥ भगवान अरहंतदेवके कहे हुये तत्त्वोंमें जिन लोगोंको कुछ भी संदेह उत्पन्न होते थे उनके उन संदेहोंको दूर-कर वह उन तत्त्वोंका निर्णय करता था ॥१४२॥ इसीप्रकार वह नीतिशास्त्रोंके अर्थोंमें और कामनीतिमें अपनी ऐसी निपुणता प्रगट करता था कि फिर इस संसारमें वैसा निपुण अन्य कोई नहीं था ॥१४३॥ हाथियों के शास्त्र (जिसमें हाथियोंके गुण दोष और औषधि आदि का वर्णन हो) और घोडोंके शास्त्रोंमें महाराज भरतकी स्वतंत्रता वा निपुणता देखकर उन शास्त्रोंके जाननेवाले लोगोंको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूलशास्त्रोंका कर्ता यही है ॥ १४४ ॥ वैद्यक शास्त्रमें तो उस निधियोंके स्वामी भरतकी सब लोग विना किसी संदहके यही प्रशंसा करते थे कि वह चिरंजीव मूर्तिमान आयुर्वेद ही है, अर्थात् आयुर्वेदशास्त्रने ही साक्षात् मूर्ति धारण की है ॥ १४५ ॥ इसीतरह सज्जन लोग उसे यही मानते थे कि वह व्याकरणशास्त्रमें पंडित है, शब्दालंकारमें निपुण है और छंदशास्त्रका प्रतिनिधि ही है ॥ १४६ ॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहिले उसीने कहे थे, शकुनशास्त्र उसीके बनाये हुये हैं और ज्योतिःशास्त्र उसीकी सृष्टि है अर्थात् उसीका बनाया हुआ है, इसलिये इन तीनों शास्त्रोंको उसीका मत समझना चाहिये ॥ १४७ ॥ वह निमित्तशास्त्रोंका कारण वा उत्पन्न करनेवाला

तेन तत्त्रय ॥ १४७ ॥ स निमित्तं निमित्तानां तत्रे मत्रे स शाकुने । दैवज्ञाने परं दैवमित्यभूत्स गतोऽधिक ॥ ४८ ॥ तत्संभूतौ समुद्भूतमभूत्पुरुषलक्षण । उदाहरणमन्यत्र लक्षितं येन तत्तनोः ॥ १४९ ॥ अन्येष्वपि कलाशास्त्रसग्रहेषु कृतागमा' । तमेवादर्शमालोक्य सशयाशाद्व्यशंसिषुः ॥१५० ॥ येनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुपागिणी । तेनैपा विश्वविद्यासु जाता परिणति परा ॥ १५१ ॥ इत्थ सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स सम्मतिं प्राप्य तद्विद्याना मतोऽभवत् ॥ १५२ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमितो मनु. । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारता ॥ १५३ ॥ राजसिद्धाततत्त्वज्ञो धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्द्ध्नि सुमेधसा ॥ १५४ ॥ इत्यादिराज तत्सम्राडहो राजर्षिनायक । तत्सार्व-

है और मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र, शकुनशास्त्र, तथा ज्योतिषशास्त्रमें वह उत्तम अधिष्ठाता देव है ' इस तरह वह लोगोंमें सबसे अधिक मान्य होगया था ॥ १४८ ॥ भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषोंके सब लक्षण उत्पन्न हुये थे इसलिये लोग दूसरी जगह उसके शरीरके ही उदाहरण देखते थे ॥ १४९॥ समस्त शास्त्रों को पूर्ण रीतिसे जाननेवाले अन्य लोग ऊपर कहे हुये शास्त्रोंके सिवाय अन्य कलाशास्त्रोंके समूहमें भी उसी भरतको दर्पणके समान प्रगट करनेवाला देखकर अपने सब संदेहोंको दूर कर देते थे ॥१५०॥ उसे देखकर यही कहना पडता था कि उसकी ऐसी स्वाभाविक बुद्धि अवश्य ही पहिले जन्मके संस्कार से प्राप्त हुई है यही कारण है कि वह बुद्धि सब विद्याओंमें उत्तम रीतिसे प्रवेश करती है अर्थात् सब विद्याओंको जानती है ॥ १५१ ॥ इसप्रकार संसारके सब शास्त्र और सब कलाओंमें प्रतिष्ठित होकर वह भरत उन सब विद्याओंके जाननेवालोंमें मान्य समझा जाता था ॥ १५२ ॥ यहांपर बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि बुद्धिसे पारंगत हुआ वह भरत कुलकर समस्त लोकाचारोंका सूत्रधार बनगया था ॥ १५३ ॥ वह राजविद्याके सब तत्त्वोंको जानता था, धर्मशास्त्रोंके तत्वोंका जानकार था और कलाओंके ज्ञानमें वह प्रसिद्ध था, इस प्रकार वह बुद्धिमान लोगोंके मस्तकपर सुशोभित होता था अर्थात् सबमें मुख्य था ॥ १५४ ॥ अहा इसका प्रथम चक्रवर्तीपना कैसा है ? कैसा इसका साम्राज्य है, कैसा राजर्षियोंमें भी मुख्यपना है और कैसा सार्वभौमपद

भौमामित्यस्य दिशासूच्छलितं यश. ॥ १५५ ॥ इति सकलकलानामेकमोकः स चक्री कृतमतिमिरजर्यं संगतं संविवित्सन् । बुधसदसि सदस्यान्बोधयन्विश्वविद्या व्यवृणुत बुधचक्रीत्युच्छलत्कीर्तिकेतुः ॥ १५६ ॥ जिनविहितमनून सस्मरन्धर्ममार्गं स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन्मार्गमन्यान् । कृतमतिरखिला क्ष्मा पालयन्निःसपत्ना चिरमरमत भोगैर्भूरिसारैः स सम्राट् ॥ १५७ ॥ लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत् दूरोत्सारितदुर्णयप्रशमिनीं तेजस्वितामुद्वहन् । न्यायोपार्जितवित्तकामघटन. शस्त्रे च शास्त्रे कृती राजर्षि परमोदयो जिनजुषामग्रेसरः सोऽभवत् ॥ १५८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णन नाम एकचत्वारिंशत्तम पर्व ।

(सब पृथ्वीका स्वामीपना) है इसप्रकार उसका यश सब दिशाओंमें फैल रहा था ॥ १५५ ॥ इसप्रकार जो समस्त कलाओंका एक स्थान है और " यह चक्रवर्ती वडा विद्वान् है " इसप्रकार जिसकी कीर्तिरूपी ध्वजा फहरा रही है ऐसा वह भरत चक्रवर्ती अत्यंत बुद्धिमान् सज्जनोंके साथ अविनाशीक (जो कभी न छूटे) मित्रता करता हुआ और पंडितोंकी सभामें सभासदोंको उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान करता था ॥ १५६ ॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको स्वयं जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा वह सम्राट् चक्रवर्ती श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये और न्यूनता रहित अर्थात् पूर्ण ऐसे धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा उसी धर्ममार्गको अन्य लोगोंकेलिये समझाता हुआ और शत्रुरहित–निष्कंटक समस्त पृथ्वीका पालन करता हुआ जिनमें सारभाग अधिक है ऐसे भोगोंका उपभोग करता हुआ वहुत दिनतक क्रीडा करता रहा था ॥ १५७ ॥ जो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों स्त्रियोंके समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखका एक ही स्वामी है, जिसने दुष्ट नीति सब दूर भगा दी है, जो अत्यंत शांत ऐसे तेजस्वीपनेको धारण करता है, जिसने अपने अर्थ और कामकी घटना न्याय पूर्वक उपार्जन की है, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंमे निपुण है, जो राजर्षि कहलाता है और जिसका उदय सर्वोत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवाले भव्य लोगोंमें अग्रेसर वा सबके मुख्य गिना जाता था ॥ १५८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें महाराज भरतके स्वप्नोंका देखना और उनका वर्णन करनेवाला यह इकतालीसवा पर्व पूर्ण हुआ ।

द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व.

मध्येसभमथान्येद्युर्निर्विष्टो हरिविष्टरे । क्षात्र वृत्तमुपादिक्षत्सहितान् पार्थिवान्प्रति ॥ १ ॥ श्रूयतां भो महात्मानः सर्वक्षत्रियपुंगवाः । क्षतत्राणे नियुक्ताः स्थ यूयमाद्येन वेधसा ॥ २ ॥ तत्राणे च नियुक्ताना वृत्त वः पचधोदितं । तन्निशम्य यथाम्नाय प्रवर्तध्व प्रजाहिते ॥ ३ ॥ तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनं । समंजसत्व चेत्येवमुदिष्ट पचभेदभाक् ॥ ४ ॥ कुलानुपालन तत्र कुलाम्नायानुरक्षण । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणं ॥ ५ ॥ क्षत्रियाणा कुलाम्नायः कीदृशश्चेन्निशम्यता । आद्येन वेधसा सृष्ट· सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः ॥ ६ ॥ स चैष भारत वर्षमवतीर्णो दिवोऽग्रतः । पुरा भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितं ॥ ७ ॥ द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्त्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदर्का द्युलोकाग्रमधिष्ठितः ॥ ८ ॥ तेना-

---

ब्यालीसवां पर्व.

अथानंतर–किसी एक दिन सभाके मध्यभागमें सिंहासनपर विराजमान हुआ भरत वहांपर इकट्ठे हुये राजा लोगोंके लिये क्षत्रियोंके धर्मका उपदेश देने लगा ॥ १ ॥ वह कहने लगा कि हे सब क्षत्रियोंमें मुख्य मुख्य महात्मा लोगो ! सुनो, आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने आप लोगोंको प्रजाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया है ॥ २ ॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुये आप लोगोंका धर्म पांच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग प्रजाका हित करनेके लिये शास्त्रके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रक्खो ॥ ३ ॥ वह तुह्मारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाका पालन करना और समंजसपना इसतरह पांच प्रकारका कहा है ॥ ४ ॥ उनमेंसे अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना, अपने कुलके योग्य सदाचरणोंकी रक्षा करना ही कुलका पालन करना कहलाता है ॥ ५ ॥ अव क्षत्रियोंका कुलाम्नाय कैसा है सो मैं कहता हूं सुनो! आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने क्षत्र पूर्वक ही क्षत्रियोंकी रचना की है ॥ ६ ॥ भगवान वृषभदेवने पाहिले भवमें उत्तम रत्न त्रयका आराधन किया था, और शुभ फल देनेवाली तथा तीर्थंकर पद प्राप्त करानेवाली सोलह

स्मिंन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥ ९ ॥ तत्कथ कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितयी प्रजा । कर्तव्या रक्षणीयैका प्रजाऽन्या रक्षणोद्यता ॥ १० ॥ रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसतत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥ ११ ॥ विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया । तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता ॥ १२ ॥ स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनं । रक्षण वर्धन चास्य पात्रे च विनियोजन ॥ १३ ॥ सैषा चतुष्टयी वृत्तिर्न्यायः सद्भिरुदीरितः । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥ १४ ॥ दिव्यमूर्तेरुदुत्पद्य जिनादु-

---

भावनाओंका चिंतवन किया था, इसलिये ही स्वर्गमें सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिमें वे जा विराजमान हुये थे और उसी सर्वार्थसिद्धिसे आकर अब यहां अवतार लिया है ॥ ७–८ ॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें उस सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोंकी सृष्टिकी प्रवृत्ति की है ॥ ९ ॥ वह क्षत्रियोंकी सृष्टिकी प्रवृत्ति भी इस प्रकारकी है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजाके दो भाग करने चाहिये, एक वह कि जिसकी रक्षा करनी चाहिये और दूसरा वह कि जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजा रक्षा करनेमें उद्यत थी उसीकी वंश परंपराको क्षत्रिय नाम रक्खा । यद्यपि वह वंश अनादि कालकी संतान परंपरासे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि उसमें इतना विशेष है कि भरत आदि क्षेत्र और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी आदि कालकी अपेक्षासे उनकी रचना होती है, तथा प्रजाके लिये न्यायरूपसे अपनी प्रवृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥ ११--१२ ॥ धर्मका उलंघन न करके द्रव्य संपादन करना, उस संपादन किये हुये (कमाये हुये) धनकी रक्षा करना, बढाना और उसे पात्रोंको दान देना ही वह उन क्षत्रियोंका न्याय कहलाता है ॥ १३ ॥ इसतरह चार प्रकारकी अपनी प्रवृत्ति रखना ही सज्जन लोगोंनें क्षत्रियोंका न्याय बतलाया है तथा जैन धर्मके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखना संसारमें सबसे उत्तम न्याय कहलाता है ॥ १४ ॥ दिव्य मूर्तिको धारण करने-वाले ऐसे जिनेंद्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थकरोंको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही उन क्षत्रियों-

त्पादयाजिनान् । रत्नत्रयं तु तद्योनिर्नृपास्तस्मादयोनिजाः ॥ १५ ॥ ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः । पथि स्थिताः स्वयं धर्म्ये स्थापयंतः परानपि ॥ १६ ॥ तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षण । तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनूच्यते ॥१७॥ स्वयं महान्वयत्वेन माहिन्नि क्षात्रियाः स्थिताः । धर्मास्थया न शेषादि ग्राह्यं तैः परलिंगिना ॥ १८ ॥ तच्छेशादिग्रहे दोषः कश्चेन्माहात्म्यविच्युतिः । अपाया बहवश्चास्मिन्नतस्तत्परिवर्जन ॥ १९ ॥ माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत्कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिं । ततः शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥ २० ॥ प्रद्विपन्परपाखंडी विषपुष्पाणि निक्षिपेत् । यद्यस्य

की योनि है अर्थात् वे रत्नत्रयसे ही उत्पन्न हुये हैं इसलिये ही राजा वा क्षत्रिय लोग बिना योनिके उत्पन्न हुये कहलाते हैं ॥ १५ ॥ इस लिये ही बडे बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये राजा लोग संसारमें सबसे उत्तम कहलाते हैं, ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थिर रहते हैं और अन्य लोगोंको भी स्थिर किया करते हैं ॥ १६ ॥ उन क्षात्रियोंको सबतरहके प्रयत्नोंसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिये, उन्हें अपने वंशकी रक्षा किसप्रकार करनी चाहिये यह मैं आगे कहता हूं ॥ १७॥ बडे बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये क्षत्रिय लोग अपने आप ही महत्वके—बडप्पनके स्थानपर विद्यमान हैं इसलिये उन्हें अन्य मतियोंके धर्ममें श्रद्धा रखकर उनके दिये हुये शेषा (पूजाके बचे हुये अक्षत) और स्नानोदक (अभिषेकका जल) आदि कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेमें क्या दोष है उसके लिये कहते हैं कि उनके शेषाक्षत आदि लेनेमें अपने महत्वका नाश होता है और अनेक अनिष्ट वा विघ्न आ उपस्थित होते हैं इसलिये उनके ग्रहण करनेका त्याग कर देना ही चाहिये ॥ १९ ॥ अन्य मतवालोंको नमस्कार करनेसे अपने महत्वका नाश हो जाता है, इसलिये अन्यमतके शेषा स्नानोदक आदि ग्रहण करनेसे अपनी निकृष्टता वा हीनता होती है ॥ २० ॥ कदाचित् कोई पाखंडी किसी तरहका द्वेषकर इस राजाके शिरपर विषपुष्प रखदे तो इसतरह भी राजाका नाश हो सकता है ॥ २१ ॥ कदाचित् कोई राजाको मोहित

मूर्ध्नि नेन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥ २१ ॥ वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने। ततोऽयं मूढवद्वृत्तिरुपेयादन्यवश्यतां ॥ २२ ॥ तच्छेषाशीर्वचः शांतिवचनाद्यन्यलिंगिना। पार्थिवैः परिहर्तव्यं भवेन्न्यक्कुलताऽन्यथा ॥ २३ ॥ जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्पादोपसेविनां। तच्छेषानुमतिर्न्याय्या ततः पापक्षयो भवेत् ॥ २४ ॥ रत्नत्रितयमूर्तित्वादादिक्षत्रियवंशजाः। जिनाः सनाभयोऽमीषामतस्तच्छेषधारणं ॥ २५ ॥ यथा हि कुलपुत्राणां माल्यं गुरुशिरोधृतं। मान्यमेवं जिनेंद्राङ्घ्रिस्पर्शान्माल्यादि भूषितं ॥ २६ ॥ कथं मुनिजनादेषा शेषोपादानमित्यपि। नाशक्यं तत्सजातीयास्ते राजपरमर्षयः ॥ २७ ॥ अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः। यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि तद्गुणाः ॥ २८ ॥ ततः स्थितमिदं जैनान्मतादन्य-

करनेके लिये इसके शिरपर वशीकरणपुष्प (वशीकरण मंत्रसे मंत्रित किये हुये) रखदे तो फिर यह राजा पागलके समान अपने आचरण करता हुआ दूसरेके वश हो जायगा ॥ २२ ॥ इसलिये राजा लोगोंको अन्य मतवालोंके शेषा, आशीर्वाद, शांतिवचन, शांतिमंत्र, और पुण्याहवाचन आदि सबका त्याग कर देना चाहिये, यदि वह इन सबके ग्रहण करनेका त्याग नहीं करेगा तो फिर वह नीच कुलवाला हो जायगा ॥ २३ ॥ राजा लोग जैनी होते हैं इसलिये अरहंतदेवके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले उनके अरहंतदेवकी शेषा आदिका ग्रहण करना तो न्यायही है क्योंकि अरहंतदेवकी शेषा ग्रहण करनेसे उनके पापका नाश होता है ॥ २४ ॥ श्रीजिनेंद्रदेव रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय ऐसे श्रीवृषभदेवके वंशज हैं अतएव वे सब (क्षत्रिय और जिनेंद्र) एक ही गोत्रके भाईबंधु हैं इसलिये क्षत्रियोंको जिनेंद्रदेवकी शेषा आदि ग्रहण करना ही चाहिये ॥ २५ ॥ जिसप्रकार कुलपुत्रोंको गुरुके मस्तकपर धारण की हुई माला मान्य है उसी प्रकार उन्हें जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंके स्पर्शसे पवित्र हुई माला आदि भी मान्य समझनी चाहिये ॥ २६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि इन राजाओंको मुनि लोगोंसे शेषा आदि का ग्रहण किसप्रकार करना चाहिये परंतु उनकी यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि मुनिराजभी राजऋषि हैं इसलिये वे भी राजाओंके सजातीय हैं ॥ २७ ॥

मतास्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥ २९ ॥ कुलानुपालने यत्नमतः कुर्वंतु पार्थिवाः । अन्यथाऽन्यैः प्रातार्यैरन् पुराणाभासदेशनात् ॥ ३० ॥ कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्यनुपालनं । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥ ३१ ॥ तत्पालनं कथं स्याच्चेदविद्यापरिवर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्यादतत्त्वे तत्वभावना ॥ ३२ ॥ आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वमाप्तो दोषावृतिक्षयात् । तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मनोमलमपासितुं ॥ ३३ ॥ राज-

---

जो क्षत्रिय नहीं हैं (ब्राह्मण वा वैश्य हैं) वे भी दीक्षा लेकर और व्रतोंको धारणकर क्षत्रिय ही हो जाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति भी रत्नत्रयके आधीन है, इसलिये रत्नत्रयसे उत्पन्न होनेसे जैसे राजा लोग क्षत्रिय गिने जाते हैं उसीप्रकार मुनिराजभी रत्नत्रयसे उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय ही माने जाते हैं ॥ २८ ॥ इसलिये यह वात निश्चय हो चुकी कि जो जैनमतसे भिन्न मतवाले लोग हैं उन्हें राजा लोगोंको वा क्षत्रियोंको शेषा आदि देनेका कुछ भी अधिकार नहीं है ॥ २९ ॥ इसलिये राजा लोगोंको अपने कुलकी रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । यदि राजा लोग अपने कुलकी रक्षा न करेंगे तो अन्यमती लोग पुराणाभासका (झूठे पुराणोंका) उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥ ३० ॥ इसतरह ' क्षत्रियोंको अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये ' यह पहिला धर्म कह चुके, अब दूसरे बुद्धिको पालन करनेरूप धर्मको कहते हैं । इस लोक संवंधी और परलोकसंवंधी पदार्थोंके हित अहितका ज्ञान होना ही बुद्धि कहलाती है ॥ ३१ ॥ उस बुद्धिका पालन किसतरह हो सकता है यह पूछना चाहो तो इसका उत्तर यह है कि अविद्याका नाश कर देनेसे ही उसका पालन होता है, मिथ्याज्ञानको ही अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोंमें तत्त्वश्रद्धान करना ही मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥ ३२ ॥ जो अरहंतदेवका कहा हुआ है उसे तत्त्व कहते हैं और अरहंतदेव वही हो सकता है जिसके ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्म नष्ट हो गये हों । इसलिये अपने मनका मल दूर करनेके लिये दोषरहित ऐसे अरहंतदेवके मतका ही अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥ राज-

विद्यापरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानान्मतिर्लोकद्वयाश्रिता ॥ ३४ ॥ क्षत्रियास्तीर्थमुत्पाद्य येऽभूवन्परमर्षयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥ ३५ ॥ आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगमात्तेऽपि महादेवप्रथा गताः ॥ ३६ ॥ तदेव्यश्च महादेव्यो महाभिजनयोगतः । महद्भिः परिणीतत्वात्प्रसूतेश्च महात्मना ॥ ३७ ॥ इत्येवमास्थिते पक्षे जैनैरन्यमताश्रयी । यदि कश्चित्प्रतिब्रूयान्मिथ्यात्वोपहताशयः ॥ ३८ ॥ वयमेव महादेवा जगन्निस्तारका वयं । नास्मदाप्तात्परोऽस्त्याप्तो मतं नास्मन्मतात्परं ॥ ३९ ॥ इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सारं संसारवारिधेः । यः समुत्तरणोपायः स मार्गो जिनदेशितः ॥ ४० ॥ आप्तोऽर्हन्वीतदोषत्वादाप्ताभास्ततोऽपरे । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभावनात् ॥ ४१ ॥ वागाद्यतिशयो-

---

विद्याका अच्छा ज्ञान होनेसे इस लोक संबंधी पदार्थोंमें बुद्धि दृढ हो जाती है और धर्मशास्त्रका ज्ञान होनेसे इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी पदार्थोंमें बुद्धि निश्चित हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय शास्त्रज्ञानका संपादनकर मुनि हो गये हैं वे अपने माहात्म्यके संबंधसे महादेव कहलाते हैं, भावार्थ–उन्हें महादेव कहना चाहिये ॥ ३५ ॥ बडे बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये जो राजा लोग आदि क्षत्रिय अर्थात् भगवान वृषभदेवके चारित्रको धारण करते हैं उनमें भी महत्वका संबंध होनेसे वे भी महादेव कहलाते हैं ॥३६॥ ऐसे लोगोंकी जो स्त्रियां हैं वे बडे कुलके लोगोंके साथ संबंध होनेसे, बडे लोगोंके साथ उनका विवाह होनेसे और महात्मा लोगोंको उत्पन्न करनेसे महादेवी कहलाती हैं ॥ ३७ ॥ जैनियोंके इसप्रकार अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर भी यदि मिथ्यात्वके उदयसे जिसका हृदय नष्ट हो गया है ऐसा कोई अन्य मतावलंबी पुरुष कहे कि, "हमी महादेव हैं, संसारसे पार कर देनेवाले भी हमी हैं, हमारे देवको छोडकर संसारमें और कोई देव नहीं है और हमारे मतको छोडकर अन्य कोई मत नहीं है" ॥ ३८–३९ ॥ परंतु ऐसे कहनेवालोंके लिये हम यही कहते हैं कि उनके इस कहनेमें कुछ सार नहीं है, क्योंकि संसाररूपी समुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेंद्रदेवका कहा हुआ जिनमार्ग ही है ॥४०॥ संसारमें एक अरहंत देव ही आप्त है क्योंकि वही रागद्वेष आदि दोषोंसे

पेतः सार्वः सर्वार्थदृग्जिनः । स्यादाप्तः परमेष्ठी च परमात्मा सनातनः ॥ ४२ ॥ स वागतिशयो ज्ञेयो येनाय विभुरक्रमात् । वचसैकेन दिव्येन प्रीणयत्याखिला सभा ॥ ४३ ॥ तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसक्षयात् । अनंतज्ञानदृग्वीर्यसुखातिशयसन्निधिः ॥ ४४ ॥ प्रातिहार्यमयी भूतिरुद्भूतिश्च सभावनेः । गणाश्च द्वादशेत्येष स्याद्भाग्यातिशयोऽर्हतः ॥ ४५ ॥ वागाद्यतिशयै रेभिरन्वितोऽनन्यगोचरैः । भगवान्निष्ठितार्थोऽर्हन्परमेष्ठी जगद्गुरुः॥४६॥ न च तादृग्विधः कश्चित्पुमानस्ति मतांतरे । ततोऽन्ययोगव्यावृत्त्या सिद्धमाप्तत्वमर्हति ॥ ४७ ॥ इत्याप्तानुमत क्षात्रमिम धर्ममनुस्मरन् । मतांतरादना-

---

रहित है, अरहंतदेवके सिवाय बाकीके सब आप्तंमन्य अर्थात् आपको झूटमूठ आप्त माननेवाले हैं क्योंकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशयका कुछ भी निश्चय नहीं है ॥ ४१ ॥ भगवान जिनेंद्रदेवमें वाणी आत्मा और भाग्य इन तीनोंका अतिशय विद्यमान है, वे सबका हित करनेवाले हैं, सब पदार्थोंको साक्षात् देखनेवाले हैं परमेष्ठी हैं, परमात्मा हैं और सनातन हैं इसलिये वे ही आप्त कहलाते हैं ॥ ४२ ॥ भगवान अरहंतदेव अपनी एक ही दिव्य वाणीसे समस्त सभाको एकसाथ संतुष्ट करते हैं यही उनकी वाणीका अतिशय समझना चाहिये ॥ ४३ ॥ इसीप्रकार गुणोंको ढकनेवाले ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय इन घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो उन्हें अनंत ज्ञान अनंतदर्शन अनंतवीर्य और अनंत सुखरूप अतिशयोंकी प्राप्ति हुई है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥ ४४ ॥ तथा आठ प्रातिहार्योंकी विभूति प्राप्त होना समवसरणकी रचना होना और बारह सभाओंका होना यह सब अरहंतदेवके भाग्यका अतिशय समझा जाता है ॥ ४५ ॥ जो दूसरे किसीमें न पाये जायं ऐसे जो ऊपरकहे हुये वाणी आत्मा और भाग्यके अतिशय हैं उनकरके जो सहित है और जो समस्त पदार्थोंका निश्चय करनेवाला है ऐसा जो परमेष्ठी अरहंतदेव है वही जगतका गुरु है ॥ ४६ ॥ अन्य किसी मतमें भी ऐसा अरहंतके समान कोई पुरुष नहीं है । इसलिये अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अर्थात् अन्य किसीमें वाणी आदिके अतिशयका संयोग न होनेसे

सीयात्स्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥ ४८ ॥ वृत्तादनात्मनीनाद्धीः स्यादेवमनुरक्षिता । तद्रक्षणाच्च संरक्षेत्क्षत्रियः क्षितिमक्षतां ॥ ४९ ॥ उक्तस्यैवार्थतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्चिकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमात् ॥ ५० व्यक्तये पुरुषार्थस्य स्यात्पूरुषानिदर्शनं । तथा निगलदृष्टातः ससंसारिनिदर्शनः ॥ ५१ ॥ ज्ञेयः पुरुषदृष्टातो नाम मुक्तेतरात्मनो । यन्निदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्त्योः समर्थन ॥ ५२ ॥ ससारींद्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखचारुताः तन्वावासौ च निर्वेष्टु यतते सुखलिप्सया ॥ ५३ ॥ मुक्तस्तु न तथा किंतु गुणैरुक्तैरतींद्रियैः । पर सौख्य स्वसाद्भूतमनुभुंक्ते निरतरं ॥ ५४ ॥

अरहंत भगवानमें ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥ इसप्रकार आप्त अर्थात्. अरहंतदेवके कहे हुये इस क्षत्रियोंके धर्मको स्मरण करते हुये क्षत्रियोंको जो आप्त नहीं हैं ऐसे लोगोंके कहे हुये अन्य मतोंसे अपने वंशको अलग रखना चाहिये ॥ ४८ ॥ इसतरह जिनमें आत्माका हित नहीं है ऐसे आचरणोंसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है, क्षत्रियोंको इसप्रकार अपनी बुद्धिकी रक्षा करते हुये इस अखंड पृथ्वीका पालन करना चाहिये ॥ ४९ ॥ ऊपर जो कुछ पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर स्पष्ट प्रगट करनेके लिये यहांपर अनुक्रमसे तीन उदाहरण कहते हैं ॥ ५० ॥ अपना पुरुषार्थ प्रगट करनेके लिये एक पुरुषका दृष्टांत, दूसरा निगल अर्थात् वेडीका दृष्टांत और तीसरा संसारी जीवका दृष्टांत इसतरह तीन उदाहरण हैं ॥ ५१ ॥ आगे पुरुषका उदाहरण कहते हैं–जिस उदाहरणसे मुक्त और कर्मबंधसहित आत्माका मोक्ष और बंध दोनोंका प्रतिपादन किया जाता है उसे पुरुषका उदाहरण समझना चाहिये । भावार्थ–पुरुष नाम जीवका है, जीवके दो भेद हैं संसारी और मुक्त, इन दोनोंके स्वरूपका दिखलाना ही पुरुषका उदाहरण है ॥ ५२ ॥ यह संसारी जीव सुखी होनेकी इच्छासे इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये ज्ञान दर्शन सुख वीर्य और मनोहरताको शरीररूपी घरमें ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥ ५३ ॥ परंतु मुक्त जीव ऐसा नहीं करता वह तो ऊपर लिखे हुये अतींद्रिय गुणोंसे अपने आत्माके स्वाधीन हुये परम सुखका निरंतर अनुभव करता

तत्रैंद्रियकविज्ञानः स्वल्पज्ञानतया स्वयं। परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानचिंतक ॥ ५५ ॥ तथैंद्रियकदृक्शक्तिरात्मार्वाग्भागदर्शनः। अर्थाना विप्रकृष्टानां भवेत्सदर्शनोत्सुकः ॥ ५६ ॥ तथैंद्रियकवीर्यश्च सहायापेक्षयेप्सित। कार्यं घटयितु वाञ्छेत्स्वय तत्साधनाक्षमः ॥ ५७ ॥ तथेंद्रियसुखी कामभोगैरत्यंत-मुन्मनाः। वाञ्छेत्सुखं पराधीनमिंद्रियार्थानुतर्षतः ॥५८॥ तथैंद्रियकसौंदर्यः स्नानमाल्यानुलेपनैः। विभूषणैश्च सौदर्यं. संस्कर्तुमभिलष्यति ॥५९॥ दोषधातु-मलस्थानं देहमैंद्रियक वहन्। पुमान्विष्वाणभैषज्यतद्रक्षास्वाकुलो भवेत् ॥ ६० ॥ दोषान्पश्यँश्च जात्यादीन्देहार्तस्तज्जिहासया। प्रेक्षाकारी तपः कर्तुं

रहता है ॥ ५४ ॥ इनमेंसे ऐंद्रियक ज्ञानवाला संसारी जीव अपनेमें थोडासा ज्ञान होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान संपादन करनेके लिये ज्ञानका चिंतवन करनेवाले अन्य लोगोंका आश्रय लेता है ॥ ५५ ॥ इसीतरह जिसके इंद्रियोंसे देखनेकी शक्ति है ऐसा जीव अपने समीपवर्ती थोडेसे पदार्थोंको ही देख सकता है और फिर वह दूरवर्ती पदार्थोंको देखनेकेलिये उत्कंठितहोता है अर्थात् देखनेकी इच्छा करता है ॥ ५६ ॥ जिसके इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ वीर्य वा सामर्थ्य है ऐसा जीव अपने किसी इष्ट कार्यको स्वयं करनेमें असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षासे करना चाहता है ॥ ५७ ॥ तथा इंद्रियोंके सुखोंसे सुखी हुआ जीव काम भोगादिकोंसे अत्यंत उत्कंठित होकर इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा करता हुआ पराधीन सुखको चाहता है ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार इंद्रियोंसे उत्पन्न हुई मनोहरतासे सुंदर हुआ यह जीव स्नान, माला, चंदनादिका लेप और वस्त्र आभूषण आदिसे अपनी सुंदरता बढाना चाहता है ॥५९॥ वात, पित्त, कफ आदि दोष, हड्डी, मांस आदि धातु और मल मूत्रसे भरे हुये इस ऐंद्रियिक शरीरको धारण करता हुआ यह जीव आहार और औषधि आदिसे इस शरीरकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥ ६० ॥ जन्म मरण आदिके अनेक दोष देखता हुआ और शरीरसे दुखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसको छोड देनेकी इच्छासे तपश्चरण करनेका प्रयत्न करता है उससमय इंद्रिय संबंधी सुखोंका कारण ऐसा मकान तथा इंद्रिय संबंधी सुख और आयु आदिको

प्रयस्यति यदा तदा ॥ ६१ ॥ स्त्रीकुर्वन्निंद्रियावासं सुखमायुश्च तद्गतं । आवासांतरमन्विच्छेत्प्रेक्षमाणः प्रणश्वरं ॥ ६२ ॥ यस्त्वतींद्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखसततिः । शरीरावाससौंदर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥ तस्योक्तदोषसंस्पर्शो भवेन्नैव कदाचन । तद्वानाप्तस्ततो ज्ञेयः स्यादनाप्तस्त्वतद्गुणः ॥६४॥ स्फुटीकरणमस्यैव वाक्यार्थस्याधुनोच्यते ! यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो नावबुध्यते ॥ ६५ ॥ तद्यथाऽतींद्रियज्ञानः शास्त्रार्थं न परं श्रयेत् । शास्ता स्वयं त्रिकालज्ञः केवलामललोचनः ॥ ६६ ॥ तथाऽतींद्रियदृग्नार्थी स्यादपूर्वार्थदर्शने। तेनादृष्टं न वै किंचिद्युगपद्विश्वदृश्वना ॥ ६७॥ क्षायिकानंतवीर्यश्च नान्यसाचिव्यमीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्राप्तलोकाग्रशिखरालयः ॥ ६८ ॥ अतींद्रियसुखोऽप्यात्मा स्याद्भोगैरुत्सुको न वै । भोग्यवस्तुगता चिंता जायते

प्राप्त होता है और फिर उसे भी नाशवान् देखता हुआ दूसरे स्थानकी इच्छा करता है ॥ ६१-६२ ॥ परंतु जिसके अतींद्रिय ज्ञान है, अतींद्रिय दर्शन, अतींद्रिय वीर्य और अतींद्रिय सुखकी संतान है तथा जो अपने आत्मस्वरूप शरीर आवास (भवन) और सुंदरता आदिकर सहित है उसके ऊपर लिखे हुये दोषोंका स्पर्श कभी नहीं होता है। इसलिये जिसके अतींद्रिय ज्ञान दर्शन आदि है उसे ही आप्त समझना चाहिये और जिसमें अतींद्रिय ज्ञान दर्शन आदि गुण नहीं हैं वह अनाप्त कहलाता है अर्थात् वह कभी आप्त नहीं हो सकता ॥ ६३-६४ ॥ आगे ऊपर लिखे हुये वाक्यार्थोंका ही खुलासा लिखते हैं, क्योंकि जबतक किसी तत्त्वको साफ प्रगटकर न दिखाया जाय तबतक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता है ॥ ६५ ॥ उसीको दिखलाते हैं जिसके अतींद्रिय ज्ञान है ऐसा जीव अन्य किसी शास्त्रका वा शास्त्रके अर्थका आश्रय नहीं लेता, केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करने वाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वयं सबको उपदेश देता है॥६६॥ इसीतरह जिसके अतींद्रिय दर्शन है वह कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह एक साथ ही संसारके समस्त पदार्थोंको देखता है फिर कोई ऐसा पदार्थ ही नहीं रहता जो उसका देखा हुआ न हो ॥ ६७ ॥ जिसके क्षायिक अनंत वीर्य है वह जीव अन्य किसीकी सहायता नहीं चाहता,

नास्य जातवतः ॥ ६९ ॥ प्राप्तातींद्रियसौंदर्यो नेच्छेत्स्नानादिसत्क्रियां । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बहिरंतर्मलक्षयात् ॥ ७० ॥ अतींद्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुद्व्याधिविषशस्त्रादिबाधातीततनुः स वै ॥ ७१ ॥ भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः । नावासांतरमन्विच्छेदात्मावासे च सुस्थितः ॥ ७२ ॥ स एवमखिलैर्दोषैर्मुक्तो युक्तोऽखिलैर्गुणैः । परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठीति गीयते ॥ ७३ ॥ कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न सांप्रतं । सरागः कामरूपी स्यादकृतार्थश्च सोंऽजसा ॥ ७४ ॥ प्रकृतिस्थेन रूपेण प्राप्तुं यो नालमीप्सितं । स वैकृतेन रूपेण कामरूपी कथं

क्योंकि वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके शिखरपर सिद्धालयमें जा विराजमान होता है ॥६८॥ इसी तरह जिसके अतींद्रिय सुख है ऐसा जीव भी विषय भोगोंके लिये कभी उत्कंठित नहीं होता है, क्योंकि उसके भोगोपभोग करने योग्य विषयोंकी चिंता ही कभी नहीं होती है ॥ ६९ ॥ तथा जिसके अतींद्रिय सौंदर्य प्राप्त हुआ है वह भी स्नान आदि संस्कारोंकी कभी इच्छा नहीं करता है, क्योंकि अंतरंग और बहिरंग सब मल नष्ट हो जानेसे वह स्नातक कहलाता है और फिर उसका आत्मा सदा शुद्ध रहता है ॥ ७० ॥ इसीतरह जिसके अतींद्रिय आत्मस्वरूप ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि उसका वह आत्मस्वरूपरूपी शरीर क्षुधा, व्याधि, विष, शस्त्र आदि सबकी बाधाओंसे रहित है ॥ ७१ ॥ तथा जो जन्ममरण बुढापा आदिसे रहित है वह कभी तपश्चरण करनेकी इच्छा नहीं करता और जो आत्मरूप घरमें ही सुखसे विराजमान है वह कभी अन्य स्थानकी इच्छा नहीं करता ॥ ७२ ॥ इसप्रकार जो सब दोषोंसे रहित है और समस्त गुणोंसे सुशोभित है ऐसा जो उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप परमात्मा है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥ ७३ ॥ कामरूपी होना अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करना यह आप्तका लक्षण कभी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही सरागी और निश्चयसे अकृतार्थ होता है ॥ ७४ ॥ जो स्वाभाविक रूपसे ही अपना इष्ट संपादन करनेको समर्थ नहीं है तो कामरूपी जीव अपने वि-

सुखी ॥ ७५ ॥ इति पुरुषनिदर्शनं ॥ निगलस्थो यथा नेष्टं गंतुं देशमलंतरां । कर्मबंधनबद्धोऽपि नेष्टं धाम तथेयृयात् ॥ ७६ ॥ यथेह बंधनान्मुक्त. परं स्वातंत्र्यमृच्छति । कर्मबंधनमुक्तोऽपि तथोपाच्छेत्स्वतंत्रता ॥ ७७ ॥ निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥ ७८ ॥ इति निगलनिदर्शनं ॥ मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्यै द्वयमेतन्निदर्शनं । तद्दृढीकरणायेष्टं सत्संसारिनिदर्शनं ॥ ७९ ॥ यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्यतंत्रता । तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातंत्र्योपनिदर्शनं ॥ ८० ॥ मतः संसारिदृष्टांत. सोयमाप्तीयदर्शने । मुक्तात्मनां भवेदेव स्वातंत्र्यं प्रकटीकृतं ॥ ८१ ॥ तद्यथा संसृतौ देही न स्वतंत्रः कथंचन । कर्मबंधवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत् ॥ ८२ ॥ ततः परप्रधानत्वमस्यैतत्प्रतिपा-

---

कृत रूपसे (विकारसे उत्पन्न हुये रूपसे) कैसे सुखी हो सकता है ? ॥ ७५ ॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं। जैसे वेडीमें (खोडेमें) बंधा हुआ मनुष्य अपने इच्छानुसार देशमें जानेके लिये विलकुल असमर्थ होता है उसी प्रकार कर्मोंके बंधनोंसे बंधा हुआ यह जीव भी अपने इष्ट स्थानमें नहीं पहुंच सकता ॥ ७६ ॥ तथा जिसप्रकार बंधनसे छूटा हुआ यह मनुष्य अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है उसीप्रकार कर्मोंके बंधनोंसे छूटा हुआ यह जीव भी अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ जिसप्रकार वेडीमें बंधा हुआ और वेडीसे छूटा हुआ मनुष्य एकही है उसीप्रकार कर्मसे बंधा हुआ और कर्मसे छूटा हुआ आत्मा भी एक ही है। भावार्थ--जो आत्मा पहिले कर्मसे बंधा था वही कर्मसे छूटकर सिद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥ संसारी और मुक्त इन दोनों प्रकारके आत्माओंको प्रगट करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये दो उदाहरण कहे, अब पुरुषार्थको दृढ करनेके लिये संसारीका उदाहरण कहना चाहिये ॥ ७९ ॥ जो संसारी जीवोंको लेकर उनकी परतंत्रता कहना है उनकी उसी परतंत्रताके कहनेसे मुक्त जीवकी स्वतंत्रताका उदाहरण समझ लेना चाहिये॥८०॥ सर्वज्ञदेवके मतमें संसारीका उदाहरण वही बतलाया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतंत्रता प्रगट की जाय ॥ ८१ ॥ उसीको आगे दिखलाते हैं--चतुर्गतियोंके परिभ्रमणरूप इस संसारमें यह संसारी जीव

दितं । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः ॥ ८३ ॥ वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यता । क्षयवत्त्वं च देवादिभवे लब्धर्द्धिसंक्षयात् ॥ ८४ ॥ बाध्यत्व ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अतवच्चास्य विज्ञानमक्षबोधः परिक्षयी ॥ ८५ ॥ अंतवद्दर्शनं चास्य स्यादैंद्रियकदर्शन । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पक ॥ ८६ ॥ स्यादस्य सुखमप्येवंप्रायमिंद्रियगोचरं । रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मांशैः कलंकन ॥ ८७ ॥ भवेत्कर्ममलावेशादतं एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणा द्विधाभावेन खंडनं ॥ ८८ ॥ मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद्विदारणं । जरावत्त्वं वयोहानिः

किसी तरह स्वतंत्र नहीं है क्योंकि कर्मबंधनके परवश होनेसे यह दूसरेके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥ ८२ ॥ इसलिये यह संसारी जीवकी परतंत्रता निरूपण की, इसीतरह सुख दुख आदि वेदनाओंके सहन करनेसे इस संसारी जीवको चंचलता भी है ॥ ८३ ॥ सुख दुख आदि वेदनाओंसे व्याकुल होना ही इसकी चंचलता कहलाती है तथा देव आदिकी पर्यायमें जो ऋद्धियां प्राप्त होती हैं आयुके अंतमें उनके क्षय होनेसे इस जीवका क्षयपना वा विनश्वरपना समझना चाहिये ॥ ८४ ॥ इस जीवको जो ताडना वा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी वाध्यता (दुःखकी प्राप्ति) है, और इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका ज्ञान भी क्षय होनेवाला है इसलिये ही वह नाशवान् है ॥ ८५ ॥ इसका दर्शन गुण भी इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी नाशवान् है और इसका वीर्य भी वैसा ही अर्थात् नाशवान् है क्योंकि इसके शरीरका वल वहुत ही थोडा है ॥ ८६ ॥ इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है अर्थात् वह भी नाशवान् है तथा इस संसारी जीवके कर्मोंके अंशका कलंक लग रहा है वही इसका मैलापन है ॥ ८७ ॥ कर्ममलके संबंध होनेसे यह जीव मैला भी है और इसके शरीरके दो दो टुकडे हो सकते हैं इसलिये इसमें छेद्यत्व अर्थात् टुकडे होनेकी योग्यता भी है ॥ ८८ ॥ मुद्गर आदिकी चोटसे इसका शरीर टूट फूट सकता है इसलिये इसमें भेद्यत्व (विदीर्ण होने वा टूटने फूटनेकी योग्यता) है, आयुका क्षय होते जाना बुढापा है और प्राणोंका नाश हो जाना मरण है ॥ ८९ ॥ परिमित (जिसे नाप सकते हैं) शरीरमें

सुखी ॥ ७५ ॥ इति पुरुषनिदर्शनं ॥ निगलस्थो यथा नेष्टं गंतुं देशमलंतरा । कर्मबंधनबद्धोऽपि नेष्टं धाम तथेयृयात् ॥ ७६ ॥ यथेह बंधनान्मुक्तः परं स्वातंत्र्यमृच्छति । कर्मबंधनमुक्तोऽपि तथोपान्त्येत्स्वतंत्रता ॥ ७७ ॥ निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥ ७८ ॥ इति निगलनिदर्शनं ॥ मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्यै द्वयमेतान्निदर्शनं । तद्दृढीकरणायेष्टं सत्संसारिनिदर्शनं ॥ ७९ ॥ यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्यतंत्रता । तस्योपदेशो मुक्तस्य स्वातंत्र्योपनिदर्शनं ॥ ८० ॥ मतः संसारिदृष्टांत. सोयमार्हतीयदर्शने । मुक्तात्मनां भवेदेवं स्वातंत्र्यं प्रकटीकृत ॥ ८१ ॥ तद्यथा संसृतौ देही न स्वतंत्रः कथंचन । कर्मबंधवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत् ॥ ८२ ॥ ततः परप्रधानत्वमस्यैतत्प्रतिपा-

---

कृत रूपसे (विकारसे उत्पन्न हुये रूपसे) कैसे सुखी हो सकता है ? ॥ ७५ ॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं। जैसे वेडीमें (खोडेमें) वंधा हुआ मनुष्य अपने इच्छानुसार देशमें जानेके लिये विलकुल असमर्थ होता है उसी प्रकार कर्मोंके वंधनोंसे वंधा हुआ यह जीव भी अपने इष्ट स्थानमें नहीं पहुंच सकता ॥ ७६ ॥ तथा जिसप्रकार वंधनसे छूटा हुआ यह मनुष्य अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है उसीप्रकार कर्मोंके वंधनोंसे छूटा हुआ यह जीव भी अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ जिसप्रकार वेडीमें वंधा हुआ और वेडीसे छूटा हुआ मनुष्य एकही है उसीप्रकार कर्मसे वंधा हुआ और कर्मसे छूटा हुआ आत्मा भी एक ही है। भावार्थ--जो आत्मा पहिले कर्मसे वंधा था वही कर्मसे छूटकर सिद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥ संसारी और मुक्त इन दोनों प्रकारके आत्माओंको प्रगट करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये दो उदाहरण कहे, अब पुरुषार्थको दृढ करनेके लिये संसारीका उदाहरण कहना चाहिये ॥ ७९ ॥ जो संसारी जीवोंको लेकर उनकी परतंत्रता कहना है उनकी उसी परतंत्रताके कहनेसे मुक्त जीवकी स्वतंत्रताका उदाहरण समझ लेना चाहिये॥८०॥ सर्वज्ञदेवके मतमें संसारीका उदाहरण वही वतलाया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतंत्रता प्रगट की जाय ॥ ८१ ॥ उसीको आगे दिखलाते हैं--चतुर्गतियोंके परिभ्रमणरूप इस संसारमें यह संसारी जीव

दितं । स्याच्चलत्वं च पुसोऽस्य वेदनासहनादिभिः ॥ ८३ ॥ वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यतां । क्षयवत्त्वं च देवादिभवे लब्धार्द्धिसंक्षयात् ॥ ८४ ॥ बाध्यत्व ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अतवच्चास्य विज्ञानमक्षवोधः परिक्षयी ॥ ८५ ॥ अतवद्दर्शनं चास्य स्यादैंद्रियकदर्शनं । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पक ॥ ८६ ॥ स्यादस्य सुखमप्येवंप्रायामिंद्रियगोचर । रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मांशैः कलंकन ॥ ८७ ॥ भवेत्कर्ममलावेशादत एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणा द्विधाभावेन खडनं ॥ ८८ ॥ मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद्विदारणं । जरावत्त्वं वयोहानिः

किसी तरह स्वतंत्र नहीं है क्योंकि कर्मबंधनके परवश होनेसे यह दूसरेके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥ ८२ ॥ इसलिये यह संसारी जीवकी परतंत्रता निरूपण की, इसीतरह सुख दुख आदि वेदनाओंके सहन करनेसे इस संसारी जीवको चंचलता भी है ॥ ८३ ॥ सुख दुख आदि वेदनाओंसे व्याकुल होना ही इसकी चंचलता कहलाती है तथा देव आदिकी पर्यायमें जो ऋद्धियां प्राप्त होती हैं आयुके अंतमें उनके क्षय होनेसे इस जीवका क्षयपना वा विनश्वरपना समझना चाहिये ॥ ८४ ॥ इस जीवको जो ताडना वा आनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी वाध्यता (दुःखकी प्राप्ति) है, और इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका ज्ञान भी क्षय होनेवाला है इसलिये ही वह नाशवान् है ॥ ८५ ॥ इसका दर्शन गुण भी इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी नाशवान् है और इसका वीर्य भी वैसा ही अर्थात् नाशवान् है क्योंकि इसके शरीरका बल बहुत ही थोडा है ॥ ८६ ॥ इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है अर्थात् वह भी नाशवान् है तथा इस संसारी जीवके कर्मोंके अंशका कलंक लग रहा है वही इसका मैलापन है ॥ ८७ ॥ कर्ममलके संबंध होनेसे यह जीव मैला भी है और इसके शरीरके दो दो टुकडे हो सकते हैं इसलिये इसमें छेद्यत्व अर्थात् टुकडे होनेकी योग्यता भी है ॥ ८८ ॥ मुद्गर आदिकी चोटसे इसका शरीर टूट फूट सकता है इसलिये इसमें भेद्यत्व (विदीर्ण होने वा टूटने फूटनेकी योग्यता) है, आयुका क्षय होते जाना बुढापा है और प्राणोंका नाश हो जाना मरण है ॥ ८९ ॥ परिमित (जिसे नाप सकते हैं) शरीरमें

प्राणत्यागो मृतिर्मता ॥ ८९ ॥ प्रमेयत्व परिच्छिन्नदेहमात्रावरुद्धता । गर्भावासोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदुःस्थितिः ॥ ९० ॥ अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तन । गर्भवासो विलीनत्व स्याद्देहान्तरसंक्रमः ॥ ९१ ॥ क्षुभितत्व च संक्षोभ क्रोधाद्याविष्टचेतसः । भवेद्विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संक्रमः ॥ ९२ ॥ संसारावास एषोऽस्य चतुर्गतिविवर्तन । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥ ९३ ॥ सुखासुख बलाहारौ देहावासौ च देहिना । विवर्तते तथा ज्ञान दृक्शक्ती च रजोजुषा ॥ ९४ ॥ एवप्रायास्तु ये भावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मना न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥ ९५ ॥

ही रुका रहनेसे इस जीवमें प्रमेयपना है और बालक होकर जो माताके पेटमें बडे कष्टसे रहता है वही इसका गर्भावास है ॥ ९० ॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है वही इसका गर्भावास है और एक शरीर छोडकर दूसरे शरीरमें जो भ्रमण करना है वह इसका विलीनपना कहलाता है ॥ ९१ ॥ जिसके चित्तमें क्रोधादिका आवेश हो रहा है ऐसे जीवका जो क्षुब्ध होना है वही इसका क्षुभितपना कहलाता है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करना ही इसका विविधयोग कहलाता है ॥ ९२ ॥ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना ही इस जीवका संसारका निवास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंकी प्रतिकूलता होना अभाव होना ही असिद्धता कहलाती है ॥ ९३ ॥ कर्मरूपी मैलसे मैले ऐसे इन संसारी जीवोंके जैसे सुख, दुख, बल, आहार, शरीर और घर आदि बदलते रहते हैं उसीतरह ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण भी बदलते रहते हैं ॥ ९४ ॥ इसप्रकार संसारी जीवोंके जितने भाव हैं वे सब विनश्वर हैं परंतु मुक्त जीवोंके भाव विनश्वर नहीं हैं उनके सब भाव अविनश्वर (कभी न नाश होनेवाले) हैं ॥ ९५ ॥ मुक्त जीवोंके जो भाव हैं उनमेंसे अपने आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित ऐसा जो सबसे श्रेष्ठ स्वतंत्रपना है वही सबसे पहिला भाव है ॥ ९६ ॥ वेदनासे उत्पन्न हुये पराभव वा तिरस्कारका नाश होनेसे जो इसकी चंचलताका अभाव है वही इसका निश्चलपना वा गंभीरता

मुक्तात्मना भवेद्भावः स्वप्रधानत्वमग्रिमं । प्रतिलब्धात्मलाभत्वात्परद्रव्यानपेक्षणं ॥ ९६ ॥ वेदनाभिभवाभावादचलत्वं गभीरता । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षायिकातिशयोदय. ॥ ९७ ॥ अव्याबाधत्वमस्येष्ट जीवाजीवैरबाध्यता । भवेदनतज्ञानत्व विश्वार्थाक्रमबोधन ॥ ९८ ॥ अनतदर्शनत्व च विश्वतत्वाक्रमेक्षण । योऽन्यैरप्रतिघातोस्य सा मताऽनतवीर्यता ॥९९॥ भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्यमनंतसुखता मता । नीरजस्त्वं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥ १०० ॥ निर्मलत्व तु तस्येष्ट बहिरतर्मलच्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥ १०१ ॥ योऽस्य जीवघनाकारपरिणामो मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वमाम्नातमभेद्यत्व च तत्कृत ॥ १०२ ॥ अक्षरत्व च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मत । अप्रमेयत्वमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धैरमेयता ॥ १०३ ॥ ब हिरंतर्मलापायादग-

---

है तथा कर्मोंके क्षय होनेसे जो अतिशय उत्पन्न हुआ है वही इसका कभी न नाश होनेवाला अक्षयपना है ॥ ९७ ॥ जीव अजीव आदि किसीसे इसे बाधा नहीं पहुंचती यही इसका अव्याबाधपना है और जो इस मुक्त जीवके समस्त पदार्थोंका एक साथ ज्ञान होना है वही इसका अनंतज्ञानीपन है ॥ ९८ ॥ समस्त तत्त्वोंको एक साथ देखना ही इसका अनंतदर्शनपना है और अन्य कोई जीव इसका आघात नहीं कर सकता यही इसमें अनंतवीर्यपना है ॥ ९९ ॥ भोगोपभोग करने योग्य पदार्थोंमें जो इसकी उत्कंठा नहीं होती यही इसका अनंत सुख माना जाता है और पुण्यपापका नाश हो जाना ही इसका नीरजपना है ॥१००॥ अंतरंग बहिरंग मलका नाश होना ही इसका निर्मलपना है क्योंकि स्वभावसे ही निर्मल और अनादिकालसे सिद्ध हुआ ऐसा जीव संसारमें कोई नहीं है। भावार्थ-सब कर्मोंका नाश कर ही निर्मल और सिद्ध हुये हैं ॥१०१॥ कर्ममलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकर परिणमन है वही इसका अच्छेद्यपना (टुकडे न होनेकी योग्यता) है और उन्हीं कर्मोंके नाश होनेसे इसमें अभेद्यपना प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥ मुक्त आत्मा कभी च्युत नहीं होता इसलिये ही इसमें अक्षरपना वा अविनश्वरता है और आत्मासे उत्पन्न हुये प्रशंसनीय गुणोंसे आत्माका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिये ही इसमें अप्रमेयपना है ॥ १०३ ॥ अंतरंग और बहिरंग कर्मोंके नष्ट हो

र्भवसतीर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेपात्स्यादगौरवलाघव ॥ १०४ ॥ तादवस्थ्यं गुणैरुद्वैरक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यत्वपृक्तता ॥ १०५ ॥ प्राग्देहाकारमूर्तित्व यदस्याहेयमक्षरं । साऽभीष्टा परमा काष्टा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥ लोकाग्रवासस्त्रैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अशेषपुरुषार्थाना निष्ठा परमसिद्धता ॥१०७॥ यः समग्रैर्गुणैरेभिर्ज्ञानादिभिरलङ्कृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥१०८॥ एप संसारिदृष्टातो व्यतिरेकेण साधयेत् । परमात्मानमात्मान प्रभुमप्रतिशासन ॥ १०९ ॥ त्रिभिर्निदर्शनैरेभिराविष्कृतमहोदयः । स आप्तस्तन्मते धीरैर्धिया मतिरात्मनः ॥११०॥

जानेसे इसका गर्भावास भी नहीं है और कर्म नोकर्मके नाश हो जानेसे इस मुक्त जीवमें गुरुता और लघुता भी नहीं है ॥ १०४ ॥ आत्मासे उत्पन्न हुये गुणोंसे जो अपने स्वरूपमें निमग्न रहना है वही इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे कभी अलग नहीं होना ही अविलीनपना है ॥ १०५ ॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नाश होने योग्य ऐसा जो पाहिलेके शरीरके आकारके समान इसका आकार है वही इस आत्माका रूप है और वही इसकी परम हद्द है॥१०६॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो सदा रहनेवाली इसकी स्थिति है वही इसके लोकके अग्रभागपरका निवास है और समस्त पुरुषार्थोंकी जो समाप्ति होना है वही इसकी परमसिद्धता है ॥ १०७ ॥ इसप्रकार जो ऊपर लिखे हुये ज्ञानादि समस्त गुणोंसे सुशोभित है ऐसे कृतकृत्य हुये परमात्माको पर द्रव्योंके प्राप्त होनेसे भला क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १०८ ॥ यह संसारी जीवका दृष्टांत व्यतिरेकरूपसे आत्माको जिसपर किसीका शासन नहीं चलता और जो सबका प्रभु है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है यह सिद्ध करता है ॥ १०९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे हुये तीनों उदाहरणोंसे जिसका महोदय प्रगट है वही आप्त है, उसी आप्तके कहे हुये मतमें धीरवीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि स्थापन करनी चाहिये ॥ ११० ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिसने सब परंपरा जान ली है और जो अन्यमतोंमें हेतु दृष्टांत आदि अनेक युक्तियोंसे दोषोंका चिंतवन करता

एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद्दृष्टपरंपरः । मतांतरेषु दौःस्थित्यं भावयन्नुपपत्तिभिः ॥ १११ ॥ दिगंतरेभ्यो व्यावर्त्य प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेव कुर्यान्मत्यनुपालनं ॥ ११२ ॥ आत्रिकामुत्रिकापायात्परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे ॥ ११३ ॥ आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमता । विषशस्त्राद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥ ११४ ॥ अत आमुत्रिकापायरक्षाविधिरनूद्यते । तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्प्रतिक्रिया ॥ ११५ ॥ धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः ॥ ११६ ॥ तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुर्यादेष्यत्प्रतिक्रियां । एवं हि रक्षितोऽपायाद्भवेदात्मा भवांतरे ॥ ११७ ॥ बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विना । यत्र पुत्राः ससोदर्या वैरायंते निरंतरं ॥११८॥

है उन्हें दुष्ट मानता है वही सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १११ ॥ क्षत्रियोंको अपनी जागृत हुई बुद्धिको अन्यमतोंके उपदेशोंसे हटाकर श्रेष्ठ जिनमार्गमें स्थापन करनी चाहिये और इसतरह अपनी बुद्धिका पालन करना चाहिये ॥ ११२ ॥ इस लोकसंबंधी और परलोकसंबंधी विनाशोंसे अपने आत्माकी रक्षा करना ही आत्माका पालन करना कहलाता है अब आगे इसी आत्माके पालनका व्याख्यान करते हैं ॥ ११३ ॥ विष शस्त्र आदिसे होनेवाले विनाशोंसे अपनी रक्षा करना यह जो इस लोक संबंधी विनाशोंसे अपनी रक्षा करना है वह तो बुद्धिमान लोगोंको प्रसिद्ध ही है ॥ ११४ ॥ इसलिये अब परलोक संबंधी विनाशोंसे होनेवाली रक्षा करनेकी विधि कहते हैं। परलोक संबंधी विनाशोंसे आत्माकी रक्षा धर्मसे ही हो सकती है क्योंकि सब विपत्तियोंसे बचनेका उपाय एक मात्र धर्म ही है ॥ ११५ ॥ धर्म ही सबतरहकी विपत्तियोंसे रक्षा करता है, धर्म ही इच्छानुसार फल देनेवाला है, परलोकमें कल्याण करनेवाला भी धर्म ही है और धर्मसे इस लोकमें भी आनंद प्राप्त होता है अर्थात् सुखी रहता है ॥ ११६ ॥ इसलिये धर्ममें एकाग्रचित्त (तल्लीन) होकर आगामीकालमें आनेवाली विपत्तियोंका उपाय करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही दूसरे भवमें भी सबतरहकी विपत्तियोंसे आत्माकी रक्षा हो जाती है ॥ ११७ ॥ जिस राज्यके लिये पुत्र भाई बंधु आदि सदा शत्रुता किया करते हैं और जो अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है ऐसा यह राज्य

अपि चात्र मनःखेदबहुले का सुखासिका । मनसो निर्वृत्तिं सौख्यमुशंतीह विचक्षणाः ॥ ११९ ॥ राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरंते दुरितावहे । सर्वतः शंकमानस्य प्रत्युतात्रासुखं महत् ॥ १२० ॥ ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव भेषजं । उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनं ॥ १२१ ॥ इति प्रागेव निर्विद्य राज्ये भोगं त्यजेत्सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद्राज्यपरिच्छदं ॥ १२२ ॥ कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णीते स्वयमेव वा । जीविताते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥ १२३ ॥ त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः । त्यागादिह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान् ॥ १२४ ॥ मत्वेति

बुद्धिमानोंको अवश्य छोड देना चाहिये ॥ ११८ ॥ दूसरी बात यह है कि इस राज्यमें मनको अत्यंत खेदखिन्नता रहती है इसलिये इसमें सुखी नहीं रह सकता क्योंकि इस संसारमें पंडित लोग मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥ ११९ ॥ इस राज्यका अंतिम परिणाम कुछ अच्छा नहीं है और इसमें सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये इसमें सुखका अंशभी नहीं है। इतना ही नहीं किंतु राज्यमें सब ओर शंका बनी रहनेसे इस लोकमें उसे (राजाको) बडा भारी दुःख बना रहता है ॥ १२० ॥ इसलिये विद्वानोंको अपथ्य औषधियोंके समान इस राज्यका त्याग करदेना ही चाहिये और पथ्य भोजनके समान तपश्चरण ग्रहण करना चाहिये ॥ १२१ ॥ इसतरह विद्वान् लोगोंको पहिले ही विरक्त होकर राज्य संबंधी सब भोगोपभोगोंका त्याग कर देना चाहिये, यदि वे इसतरह अर्थात् पहिलेसे ही उसका त्याग न कर सकते हों तो उन्हें अंतमें अर्थात् मरनेके समय उन राज्य-संपदाओंका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥ १२२ ॥ इसलिये अपने जीवनका अंतिम समय अर्थात् मरनेका समय कोई कालज्ञानको जाननेवाला ज्योतिषी कह दे अथवा अपने आप उसका निर्णय हो जाय तो उससमय विद्वान क्षत्रियको अपना शरीर त्याग कर देनेके लिये अपनी बुद्धि अवश्य लगानी चाहिये ॥ १२३ ॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस संसारमें कीर्ति फैलती है और त्यागसे ही परलोकमें इंद्रादि पदके बडे बडे ऐश्वर्य प्राप्त होते

तनुमाहारं राज्य च सपरिच्छदं । त्यजेदायतने पुण्ये पूजाविधिपुरस्सरं ॥ १२५ ॥ गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीषहजयायत्ता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥ १२६ ॥ ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृती जेतु परीषहान् । विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभं ॥ १२७ ॥ प्रागभावितमेवाह भावयामि न भावित । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनां ॥ १२८ ॥ समुत्सृजेदनात्मीय शरीरादिपरिग्रहं । आत्मीय तु स्वसात्कुर्याद्रत्नत्रयमनुत्तरं ॥ १२९ ॥ मनोऽव्याक्षेपरक्षार्थं ध्यायन्निति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदते संस्मरन्परमेष्ठिना ॥ १३० ॥ तथाविसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः ।

हैं ॥ १२४ ॥ यही समझकर क्षत्रियोंको जीवनके अंतिम समयमें तीर्थक्षेत्र वा जिनालय आदि किसी पवित्रस्थानमें रहकर विधि पूर्वक पूजा आदि करके शरीर, आहार और चमर छत्र सहित यह राज्य अवश्य छोड देना चाहिये ॥ १२५ ॥ इसप्रकार विधिके अनुसार गुरुकी साक्षी पूर्वक जिस महात्माने शरीर और आहारका त्याग कर दिया है उसकी सिद्धि परीषहोंके विजय करनेके आधीन है अर्थात् उसे परीषह अवश्य सहन करनी चाहिये ॥ १२६ ॥ तथा उस प्रवीण पुरुषको परीषहोंके जीतनेके लिये अनुप्रेक्षाओंका ध्यान करना चाहिये, क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिंतवन करनेके बिना चित्तका समाधान होना अत्यंत कठिन है ॥ १२७ ॥ " जिसका चिंतवन पहिले कभी नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका मैं चिंतवन करता हूं और जिसका चिंतवन पहिले किया था ऐसे मिथ्यात्व आदिका मैं चिंतवन नहीं करता " इसप्रकारके परिणामोंसे तत्वोंकी भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ १२८ ॥ जो आत्मसंबंधी नहीं है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये और जो सर्वोत्तम रत्नत्रय आदि आत्माके परिणाम हैं उन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ १२९ ॥ निश्चलबुद्धिवालेको अपने मनकी चंचलता दूर करनेके लिये इसप्रकार चिंतवन करते हुये और पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुये आयुके अंतमें अपने प्राणोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३० ॥ जो इसप्रकार समाधि धारण कर अपने प्राणोंका त्याग करता है वह अपने कर्मबंधनोंको शिथिलकर

शिथिलीकृत्य कर्माणि शुभा गतिमुपाश्नुते ॥ १३१ ॥ तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयं । सिद्धिमाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥ ततश्च्युता परिप्राप्तमानुष्यः परम तपः । कृत्वाऽते निर्वृतिं याति निर्ध्दूताखिलबंधनः ॥ १३३ ॥ क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः कुर्यान्नात्मानुपालनं । विष-शस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मृतिर्ध्रुवभाविनी ॥ १३४ ॥ दुर्मृतश्च दुरतेऽस्मिन्भवावर्ते दुरुत्तरे । पतित्वाऽमुत्र दुःखाना दुर्गतौ भाजनं भवेत् ॥ १३५ ॥ ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन्महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥ १३६ ॥ कृतात्मरक्षणश्चैत्र प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत

शुभगतिको प्राप्त होता है ॥ १३१ ॥ जो समर्थ है वह तो उसी भवमें अपने समस्त कर्मोंको नष्टकर सिद्धगतिको (मोक्षको) प्राप्त होता है और जो मोक्ष जानेकोलिये असमर्थ है वह सर्वार्थसिद्धि आदि उत्तम स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है ॥ १३२ ॥ वह वहांसे च्युत होकर मनुष्य जन्म धारणकर तथा परम तपश्चरणकर अंतमें समस्त कर्मबंधनोंको नष्टकर मुक्त होता है ॥ १३३ ॥ अपने आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी अपमृत्यु अवश्य ही विष शस्त्र आदिसे होती है ॥ १३४ ॥ तथा जिसकी अपमृत्यु होती है वह जिसका अंत अत्यंत भयानक है और जिसके पार जाना अत्यंत कठिन है ऐसे संसाररूपी समुद्रमें पडकर परलोकमें नरक आदि दुर्गतियों के अनेक दुःखोंका पात्र होता है ॥ १३५ ॥ इसलिये बुद्धिमान क्षत्रियोंको दोनों लोकोंका हित करनेवाला और अनेक विघ्न दुर्गति आदिसे आत्माकी रक्षा करनेवाला ऐसा जो यह आत्माका परिपालन है इसमें अवश्य ही महा प्रयत्न करना चाहिये । भावार्थ—क्षत्रियोंको इस लोक और परलोक संबंधी अपायोंसे आत्माकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १३६ ॥ इस प्रकार जो अपने आत्माकी रक्षा करनेमें तत्पर है ऐसे राजाको अपनी प्रजाका पालन करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि राजाका यह (प्रजाका पालन करना) गुण सब गुणोंमें श्रेष्ठ है, मुकुटके समान है ॥ १३७ ॥ उस प्रजाका किसप्रकार पालन करना चाहिये यह सुननेकी इच्छा हो तो ग्वालियेका बहुत अच्छा उदाहरण लेकर उसे

राज्ञां मौलो ह्ययं गुणः ॥ १३७ ॥ कथं च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपंचनं । पुष्टं गोपालदृष्टांतमूरीकृत्य विवृणमहे ॥ १३८ ॥ गोपालको यथा यत्नाद्गाः संरक्षत्यतंद्रितः । क्षमापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥ १३९ ॥ तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी स्वगोकुले । तमंगच्छेदनाद्युग्रदंडैस्तीव्रमयोजयन् ॥ १४० ॥ पालयेदनुरूपेण दंडेनैव नियत्रयन् । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत् ॥ १४१ ॥ तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत्प्रजाः । ततो विरक्तप्रकृतिं जह्युरेनमम् प्रजाः ॥ १४२ ॥ यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोपयन्नेव पुष्टः स्याद्गोपोपं प्राज्यगोधनः ॥ १४३ ॥ तथैप नृपतिर्मौलं तंत्रमात्मीयमेकतः । पोपयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिंश्च मण्डले ॥ १४४ ॥ पुष्टो मौलेन तंत्रेण यो हि

विस्तारके साथ निरूपण करते हैं ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार ग्वाला (गाय चरानेवाला) बडे प्रयत्नसे सावधान होकर गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी बडे प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३९ ॥ आगे उसीको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं—कदाचित् अपने गायोंके समूहमें कोई गाय कुछ अपराध करे तो वह ग्वाला उस अपराधी गायका कोई अंग काट डालना आदि कठोर दंड देकर उसे कठिन शिक्षा नहीं देता है किंतु उसकी योग्यतानुसार दंड देकर उसे अपने वश कर उसकी रक्षा करता है, जिसप्रकार वह ग्वाला उन अपराधी गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये, भावार्थ—अपराधी प्रजाको कठिन दंड न देकर उसके योग्यतानुसार दंड देकर उसे वशकर उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १४०-१४१ ॥ यह निश्चय है कि जो राजा कठिन दंड देता है वह प्रजाको अत्यंत व्याकुल वा दुःखी कर देता है और फिर व्याकुलहुई वह प्रजा परिवार आदिके लोगोंने जिससे अनुराग करना छोड दिया है ऐसे उस राजाको अवश्य ही छोडदेती है ॥ १४२ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला अपने गायोंके समूहमें मुख्य मुख्य पशुओंका पालन करता हुआ ही पुष्ट वा समृद्धशाली होता है क्योंकि गायोंका पालन करनेसे ही वह बहुतसी गायोंवाला होता है ॥ १४३ ॥ उसीप्रकार राजा भी अपने मुख्य बलको एक जगह पालन पोषण

पार्थिवकुञ्जरः । स जयेत्पृथिवीमेना सागरातामयत्नतः ॥ १४५ ॥ प्रभग्नचरणं किंचिद्गोद्रव्यं चेत्प्रमादतः । गोपालस्तस्य संधानं कुर्याद्बंधाद्युपक्रमैः ॥ १४६ ॥ वद्ध्वा च तृणाद्यस्मै दत्वा दार्ढ्ये नियोजयेत् । उपद्रवांतरेऽप्येवमाशु कुर्यात्प्रतिक्रियां ॥ १४७ ॥ यथा तथा नरेंद्रोऽपि स्ववले व्रणितं भट । प्रतिकुर्याद्भिषग्वर्यान्नियोज्यौषधसंपदा ॥ १४८ ॥ दृढीकृतस्य चास्योद्यजीवनादि प्रार्चितयेत् । सत्येव भृत्यवर्गोऽस्यश श्वदाप्नोति नंद्युं ॥ १४९॥ यथैव खलु गोपालो सध्यास्थिचलने गवा । तदस्थि स्थापयन्प्राग्वत्कुर्याद्योग्या प्रतिक्रिया ॥ १५० ॥ तथा नृपोऽपिसग्रामे भृत्यमुख्ये व्यसौ सति । तत्पदे

करनेसे ही अपने और दूसरेके राज्यमें वलवान गिना जाता है ॥ १४४ ॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने मुख्य वलसे (सेना आदिसे) वलवान् है वह इस समुद्रपर्यंत समस्त पृथ्वीको विना किसी प्रयत्नके ही जीत लेता है ॥ १४५ ॥ तथा—कदाचित् प्रमादके कारण किसी गाय आदिका कोई पैर आदि टूट जाय तो ग्वाला उसे वांधना आदि उपायोंसे उस पैरको जोडता है, उस गायको वांधता है वांधी हुई उस गायको घास डालता है और जिसतरह उसका पैर मजबूत हो उसीतरहका प्रयत्न करता है तथा इसीतरह उन पशुओंपर कोई और भी उपद्रव वा आपत्ति आजाय तो वह शीघ्र ही उसका उपाय करता है ॥ १४६–१४७ ॥ जिसप्रकार ग्वाला ऊपर लिखे अनुसार उपाय करता है उसीप्रकार यदि अपनी सेनामें किसी वीर पुरुषके कुछ चोट लग गई हो घाव होगया हो तो किसी अच्छे वैद्यसे औषधि रूपी संपत्ति दिलाकर राजाको भी उसका शीघ्र उपाय वा इलाज करना चाहिये ॥ १४८ ॥ तथा जव वह वीर अच्छा हो जाय तव राजाको उसे अच्छी आजीविका देनेका विचार करना चाहिये, ऐसा करनेसे इस राजाके समस्त नौकर लोग सदा संतुष्ट वने रहेंगे ॥१४९॥ तथा जिसप्रकार यदि गायकी कोई हड्डी उसकी सांधिसे हट गई हो तो वह ग्वाला पाहिलेके समान ही उसकी हड्डीको जोडता हुआ यथायोग्य उपचार करता है उसीप्रकार किसी युद्धमें किसी मुख्य वीर वा सेनापति आदिके मर जानेपर राजाको भी उसके स्थानपर उसके पुत्र अथवा भाईको स्था-

पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत् ॥ १५१ ॥ सति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तता । उपैति भृत्यवर्गोस्मिन् भवेच्च ध्रुवयोधनः ॥ १५२ ॥ यथा खल्वपि गोपालः कृमिदष्टे गवां गणे । तद्योग्यमौषधं दत्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियां ॥१५३॥ तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं स्वानुजीविनं । विमनस्कं विदित्वैनं सौचित्ये सन्नियोजयेत् ॥ १५४ ॥ विरक्तोऽस्यानुजीवी स्यादलब्धोचितजीवनः । प्रभोर्विमाननाच्चैव तस्मान्नेन विरूक्षयेत् ॥१५५॥ तद्दौर्गत्यं व्रणस्थानकृमिसंभवसन्निभं । विदित्वा तत्प्रतीकारमाशु कुर्याद्विशांपतिः ॥ १५६ ॥ वहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविना । उचितात्स्वामिसन्मानाद्यथैषा जायते धृतिः ॥ १५७ ॥ गोपालको यथा यूथे स्वे महोक्षं भरक्षमं । ज्ञात्वाऽस्य नस्यकर्मादि विदध्याद्गात्रपुष्टये ॥ १५८ ॥ तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे

पन करना चाहिये ॥ १५०–१५१ ॥ ऐसा करनेसे सव सेवक लोग 'यह राजा वडा ही कृतज्ञ है' ऐसा मानकर इसपर प्रेम करने लगेंगे और फिर वे काम पडनेपर युद्धमें खूब लडनेवाले बन जायंगे ॥ १५२ ॥ तथा जिसप्रकार यदि उन गायोंको कोई कीडा काट ले तो वह ग्वाला उसकी योग्यतानुसार औषधि देकर शीघ्र ही उसका इलाज करता है उसीप्रकार राजाको भी अपने किसी दरिद्र सेवकको उदास वा खेदखिन्न जानकर अवश्य ही उसके चित्तको संतुष्ट करना चाहिये, ॥१५३-१५४॥ क्योंकि जिस सेवककी उचित आजीविका नहीं है और ऐसी अवस्थामें राजा भी उसका कुछ समाधान न करे तो अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे वह विरक्त वा उदास हो जायगा, इसलिये राजाको अपना सेवक कभी उदास अथवा प्रेमरहित नहीं करना चाहिये ॥ १५५ ॥ सेवककी जो दरिद्रता है वह घावमें कीडे उत्पन्न होनेके समान है उसे जानकर राजाको शीघ्र ही उसका इलाज करना चाहिये ॥ १५६ ॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित आदर सत्कार पानेपर जैसा संतोष होता है वैसा संतोष वा समाधान बहुतसा द्रव्य देनेपर भी नहीं होता है ॥ १५७ ॥ तथा–जिसप्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समुदायमें किसी बडे बैलको अधिक बोझा ढोने योग्य देखता है तो वह उसका शरीर पुष्ट करनेकेलिये उसे तेल आदि पौष्टिक पदार्थ देता है और उसकी नाकमें तेल डालता

योद्धारं भटसत्तमं, ज्ञात्वैनं जीवनं प्राज्यं दत्वा सम्मानयेत्कृती ॥ १५९ ॥ कृतापदानं तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन्प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैरनुजीविभिरन्वह ॥ १६० ॥ यथा च गोपो गोयूथ कटकोपलवर्जिते । शीतातपादिबाधाभिरुज्झिते चारयन्वने ॥ १६१ ॥ पोपयत्यतियत्नेन तथा भूपोऽप्यविप्लवे । देशे स्वानुगतं लोक स्थापयित्वाऽभिरक्षयेत् ॥ १६२ ॥ राज्यादिपरिवर्तेऽस्य जनोऽयं पीड्यतेऽन्यथा । चौरैर्डामरकैरन्यैरपि प्रत्यतनायकैः ॥ १६३ ॥ प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कंटकोद्धरणेनैव प्रजाना क्षेमधारण ॥ १६४ ॥ यथैव गोपः सजात वत्सं मात्रासहानुग । दिनमेकमवस्थाप्य

है उसीप्रकार चतुर राजाको भी अपनी सेनामें सब योद्धाओंमें उत्तम ऐसे किसी वीरपुरुषको जानकर उसे अच्छी आजीविका देनी चाहिये और इसतरह उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥ १५८-१५९ ॥ जिसने अपना पराक्रम प्रगट किया है ऐसा जो वीर पुरुष है उसकी योग्यतानुसार आदर सत्कारकर राजाको उसे प्रसन्न करना चाहिये क्योंकि जो सेवक राजापर सदा प्रेम करते हैं वे उस राजाको कभी नहीं छोड सकते ॥ १६० ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको जिसमें कांटे पत्थर नहीं है और धूप सर्दी आदिकी कोई वाधा नहीं है ऐसे वनमें चराता हुआ वडे यत्नसे उनका पालन करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोंको किसी उपद्रव रहित देशमें स्थापन कर उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १६१--१६२ ॥ यदि इसतरह वह अपने सेवकोंकी रक्षा नहीं करेगा तो राज्यके उलट पलट होनेपर अर्थात् वदलनेपर चोर, डाकू वा लडाकू म्लेच्छ सेनापति तथा और भी कितने ही लोग उन सेवकोंको अवश्य ही पीडा देंगे ॥ १६३ ॥ राजाको ऐसे चोर डाकू आदि लोगोंकी जीविका जवरन तोड देनी चाहिये, क्योंकि ऐसे ऐसे कांटोंको उखाडकर दूर फेंक देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥ १६४ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला माताके साथ रहनेवाले हालके उत्पन्न हुये बच्चेको एक दिन उसीतरह अर्थात् माताके साथ ही रखता है, फिर दूसरे दिन अपने वडे दयालु परिणामोंसे बहुत धीरे धीरे उसके पैरमें रस्सी बांधकर खूंटेसे बांधता है, तथा उसकी जरायु

ततोऽन्येद्युर्दयार्द्रधीः ॥ १६५ ॥ विधाय चरणे तस्य शनैर्बंधनसंन्निधिं नाभिनालं पुनर्गर्भनालेनापास्य यत्नतः ॥ १६६ ॥ जंतुसंभवशंकाया प्रतीकारं विधाय च । क्षीरोपयोगदानाद्यैर्वर्द्धयेत्प्रतिवासरं ॥१६७॥ भूपोऽप्येवमुपासन्न वृत्तये स्वमुपासितुं । यथाऽनुरूपैः सम्मानैः स्वीकुर्यादनुजीविनं ॥१६८॥ स्वीकृतस्य च तस्योद्धजीवनादिप्रचिंतया । योगक्षेम प्रयुंजीत कृतक्लेशस्य सादरं ॥१६९॥ यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतु समुद्यतः । क्षीरावलोकनाद्यैस्तान्परीक्ष्य गुणवत्तमान् ॥१७०॥ क्रीणाति शकुनादीनामवधारणतत्परः । कुलपुत्रान्नृपोऽप्येवं क्रीणीयात्सुपरीक्षितान्॥ १७१ ॥ क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन तान्यथावसर प्रभुः । कृत्येषु विनियुजीत भृत्यैः साध्यं फल हि तत्॥ १७२ ॥ यथैव प्रतिभूः कश्चिद्द्रोक्रये प्रतिगृह्यते । बलवान् प्रतिभूस्तद्वद्ग्राह्यो

(झिल्ली) और नाभिका नाल बडे यत्नसे दूर करता है, यदि उसमें कीडे पडनेकी शंका हो तो शीघ्र ही उसका इलाज करता है और दूध पिलाकर तथा चारा आदि देकर प्रति दिन उसे बढाता रहता है ॥ १६५-१६६-१६७ ॥ उसी प्रकार राजाओंको आजीविका करनेके लिये अपनी सेवा करनेको आये हुये सेवक लोगोंको उनकी योग्यतानुसार आदर सत्कारकर उन्हें स्वीकार करना चाहिये ॥ १६८ ॥ तथा जिन्हें स्वीकार कर लिया है और जो अपने लिये क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोंकी अच्छी आजीविकाका विचार कर योग (जो नहीं है वह देना) और क्षेम (दियेकी रक्षा करना) के साथ उन्हें रखना चाहिये ॥ १६९ ॥ तथा जिसप्रकार शकुन आदिके जाननेमें तत्पर वह ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिये तैयार होता है तब उनका दूध देखकर तथा और भी अनेक उपायोंसे उनकी परीक्षाकर उनमेंसे अच्छे अच्छे गुणी पशुओंको खरीदता है उसी प्रकार राजाओंको भी अच्छीतरह परीक्षाकर अच्छे अच्छे वंशमें उत्पन्न हुये पुत्रोंको खरीदना चाहिये ॥ १७० १७१ ॥ आजीविकाके मूल्यमें खरीदे हुये उन सेवकोंको योग्यसमयपर किसी कार्यमें नियुक्त कर देना चाहिये क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोंके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥ १७२ ॥ जिसप्रकार किसी पशुके खरीदनेमें किसी पुरुषको जामिनदार बनाते हैं उसीप्रकार राजाको भी सेवकोंका संग्रह

भृत्योपसग्रहे ॥१७३॥ याममात्रावशिष्टाया रात्रावुत्थाय यत्नतः । चारयित्वोचिते देशे गाः प्रभूततृणोदके ॥ १७४ ॥ प्रातस्तरामथानीय वत्सपीतावशिष्टकं । पयो दोग्धि यथा गोपो नवनीतादिलिप्सया ॥ १७५ ॥ तथा भूपोऽप्यतद्रालुर्भक्तग्रामेषु कारयेत् । कृर्षि कर्मांतिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥ देशेऽपि कारयेत्कृत्स्ने कृर्षि सम्यक्कृषीवलैः । धान्याना सग्रहार्थं च न्याय्यमश ततो हरेत् ॥ १७७ ॥ सत्येव पुष्टतत्रः स्याद्भाडागारादिसंपदा । पुष्टो देशश्च तस्यैव स्याद्धान्यैराशितमवैः ॥ १७८ ॥ प्रदेशेवाक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ १७९ ॥ विक्रिया

करते समय किसी बलवानको जामिनदार बनाना चाहिये ॥ १७३ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला जब रात्रिका पिछला पहर बाकी रह जाता है तभीसे उठकर जहां बहुतसा घास और पानी हो ऐसे किसी योग्य देशमें बडे प्रयत्नसे उन गायोंको चराता है तथा बडे सबेरे ही फिर उन्हें बापिस लाकर जो बछडेके पीनेसे बाकी बच रहता है उस दूधको मक्खन (लौनी) आदि निकालनेकी इच्छासे दुह लेता है ॥ १७४–१७५ ॥ उसीप्रकार राजाको भी अपना आलस छोडकर प्रथम ही अपने आधीन हुये गांवोंमें बीज देकर तथा और भी सहायता देकर वहांके किसानोंसे खेती करानी चाहिये ॥ १७६ ॥ राजाको अच्छे अच्छे किसानोंसे अपने समस्त देशमें खेती कराना चाहिये और धान्योंका संग्रह करनेके लिये उन किसानोंसे न्यायपूर्वक जितना होता हो उतना एक अंश ले लेना चाहिये ॥ १७७ ॥ ऐसा करनेसे उसके भंडार वा खजाने आदिमें बहुतसी संपत्ति आजानेसे उसका बल (सेना) बहुत ही मजबूत हो जायगा तथा संतोष व तृप्त करनेवाले (बहुतसे) उन धान्योंसे उस राजाका वह देश भी समृद्धशाली (धनवान) हो जायगा ॥ १७८ ॥ अपने आसपास प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ (वेदसे जीविका करनेवाले) हैं उन्हें उनका कुल शुद्ध करना (अर्थात् उन्हें जैनमतकी दीक्षा देना) आदि अनेक उपायोंसे अपने वश करना चाहिये ॥ १७९ ॥ अपने राजासे इस तरह आदर सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नहीं करेंगे यदि राजा

न भजत्येते प्रभुणा कृतसत्क्रियाः । प्रभोरलब्धसम्माना विक्रियंते हि तेन्वहं ॥ १८० ॥ ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्णवः । तेऽपि कर्षकसामान्य कर्तव्याःकरदा नृपैः ॥१८१॥ तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छा येऽमी वेदोपजीविनः । अधर्माक्षरसम्पाठैर्लोकव्यामोहकारिणः ॥१८२॥ यतोऽक्षरकृतं गर्वमवहत्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥ १८३ ॥ म्लेच्छाचारो हि हिंसाया रतिर्मांसाशनेऽपि च। बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतं ॥ १८४ ॥ सोऽस्त्यमीषां च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं बहु मन्यते जातिवादावलेपतः ॥ १८५ ॥ प्रजासामान्यतैवैषां मता वा स्यान्निकृष्टता । ततो न मान्यताऽस्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥ १८६ ॥ वयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसम्मताः । धान्यभागमतो राज्ञे न दद्म इति

लोग उनका आदर सत्कार नहीं करेंगे तो वे अवश्य ही रात दिन कुछ न कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥ १८० ॥ तथा जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने देशमें ही संचार करते हों उनपर भी राजाओंको सामान्य किसानोंके समान कुछ न कुछ कर अवश्य लगाना चाहिये ॥ १८१ ॥ जो वेद पढकर अपनी जीविका किया करते हैं और अधर्म करनेवाले अक्षरोंका पाठ कर जो लोगोंको ठगा करते हैं उन्हें अक्षरम्लेच्छ कहते हैं ॥ १८२ ॥ क्योंकि वे नीच अपने अज्ञानके बलसे अक्षरोंसे (वेदके पढनेसे) उत्पन्न हुये अभिमानको धारण करते हैं इसलिये पापसूत्रोंसे जीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥ १८३ ॥ हिंसामें प्रेम मानना, मांस खानेमें प्रेम मानना, जबर्दस्ती दूसरेका धन हरण करना और भ्रष्ट होना यही म्लेच्छोंका आचार वा आचरण समझना चाहिये॥१८४॥ ये सब आचरण इनमें हैं और अपने ब्राह्मण जातिके अभिमानसे ये नीच ब्राह्मण हिंसा करना, मांस खाना आदिको पुष्ट करनेवाले वेदशास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं ॥१८५॥ इसलिये इन ब्राह्मणोंको सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिये अथवा सामान्य प्रजासे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिये और इसलिये ही संसारमें इन ब्राह्मणोंकी कुछ मान्यता नहीं है जो ब्राह्मण अरहंतदेवके सेवक हैं संसारमें वे ही मान्य गिने जाते हैं ॥ १८६ ॥ "हम ही लोगोंको संसारसे पार करनेवाले हैं

चेन्मतं ॥ १८७ ॥ वैशिष्ट्यं किंकृतं शेषवर्णेभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद्वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥ १८८ ॥ गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यमस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥ १८९ ॥ निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूय न स्थाने धार्मिका द्विजाः ॥ १९० ॥ तस्मादतेऽकुरु म्लेच्छा इव तेऽमी महीभुजा । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविशेषिता. ॥ १९१ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन जैनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये मान्या नरेन्द्राणा प्रजासामान्यजीविकाः ॥ १९२ ॥ अन्यच्च गोधन गोपो व्याघ्रचोराद्युपद्रवात् । यथा रक्षत्यतद्रा-

---

हम ही देवब्राह्मण हैं और लोग सब हम हीको मानते हैं इसलिये हम राजाके लिये अपने धान्योंका एक अंश नहीं देंगे" इसप्रकार कदाचित् वे ब्राह्मण कहें तो उनसे पूछना चाहिये कि तुम लोगोंमें अन्य वर्णोंसे जो विशेषता हुई है वह क्यों हुई है अर्थात् तुम और लोगोंसे क्यों अधिक हो, कदाचित् कहो कि हम जातिमें सबसे अधिक हैं सो यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिमात्रसे भिन्नता कुछ दिखती नहीं है ॥१८७--१८८॥ कदाचित् यह कहो कि गुणोंसे हम सबसे अधिक हैं सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तुम लोग केवल नामके ब्राह्मण हो, जो व्रतोंको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वास्तवमें वे ही गुणोंसे अधिक हैं ॥ १८९ ॥ तुम लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य निर्लज्ज पशुओंकी हिंसा करनेवाले और म्लेच्छोंके आचरण करनेमें तत्पर हो, इसलिये तुम धर्मात्मा ब्राह्मण कभी नहीं हो सकते ॥ १९० ॥ इसलिये राजाओंको इन अक्षरम्लेच्छोंसे साधारण प्रजाके समान धान्यों का भाग लेकर इन्हें सबके समान मानना चाहिये ॥ १९१ ॥ बहुत करनेसे क्या लाभ है राजाओंको उत्तम जैन ब्राह्मणोंको छोडकर अन्य कोई पूज्य नहीं है, बाकी सब प्रजाके समान आजीविका करनेवाले हैं ॥ १९२ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला सावधान होकर बाघ चोर आदिके उपद्रवोंसे गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी सब उपद्रवोंसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १९३ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेके लिये राजाके

लुर्भूपोऽप्येव निजाः प्रजाः ॥ १९३ ॥ यथा च गोकुल गोमत्यायाते संदिदक्षया । सोपचारमुपेत्यैनं तोपयेद्धनसपदा ॥ १९४ ॥ भूपोऽप्येवं बली कश्चित्स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत् । तदा वृद्धैः समालोच्य संदध्यात्पणवधतः ॥ १९५ ॥ जनक्षयाय संग्रामो बह्वपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः सधेयोऽरिर्बलाधिकः ॥ १९६ ॥ इति गोपालदृष्टातमूरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजाना पालने यत्न विदध्यान्नयवर्त्मना ॥ १९७ ॥ प्रजानुपालन प्रोक्त पार्थिवस्य जितात्मनः । समजसत्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणातरं ॥ १९८ ॥ राजा चित्त समाधाय यत्कुर्याद्दुष्टनिग्रहं । शिष्टानुपालन चैव तत्सामंजस्यमुच्य-

---

स्वयं आनेपर भेट लेकर उसके सामने जाता है और घी दूधकी विक्रीसे प्राप्त हुआ कुछ धन देकर उसे संतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यमें आवे तो वृद्ध लोगोंके साथ विचारकर उसे कुछ कर देकर उसके साथ संधि करलेनी चाहिये ॥ १९४-१९५ ॥ युद्ध करनेसे बहुतसे लोगोंका नाश होजाता है तथा उससे बहुतसी हानियां होती हैं और अंतिम परिणाम बहुत ही बुरा होता है इसलिये बलवान शत्रुको उसकी योग्यतानुसार वस्तु या सवारी आदि देकर उसके साथ संधि करलेना ही ठीक है ॥१९६॥ राजाको इसप्रकार ग्वालाका दृष्टांत स्वीकार कर न्यायमार्गसे प्रजाके पालन करनेका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ १९७ ॥ इसतरह इंद्रियोंको निग्रह करनेवाले राजाका प्रजानुपालन नामका गुण कहा, अब आगे समंजसत्व नामका जो उसका अंतिमगुण है उसे कहते हैं ॥ १९८ ॥ राजा अपने चित्तको समाधान पूर्वक रखकर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करता है और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥ १९९ ॥ जो राजा निग्रह करने योग्य चाहे अपना शत्रु हो या पुत्र हो उसे अवश्य दंड देता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है और चाहे दुष्ट हों वा मित्र हों सब निरपराधी होने चाहिये ' ऐसी जो सदा इच्छा करता रहता है, इसप्रकार जो मध्यस्थ भावसे रहता है वही समदर्शी अर्थात् सब प्रजाको एकसा देखनेवाला राजा समंजस कहलाता है, प्रजाको विषम दृष्टिसे नहीं देखना सबको समान देखना (किसीका पक्षपात

ते ॥ १९९ ॥ द्विषतमथवा पुत्र निगृह्णन्निग्रहोचितं । अपक्षपातितो दुष्टमिष्टं चेच्छन्ननागस ॥ २०० ॥ मध्यस्थवृत्तिरेव य समदर्शी समजसः । समजसत्वसद्भावः प्रजास्वविषमेक्षिता ॥ २०१ ॥ गुणेनैतेन शिष्टाना पालन न्यायजीविनां । दुष्टाना निग्रह चैव नृप. कुर्यात्कृतागसां ॥ २०२ ॥ दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिण. । शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नरा. ॥ २०३ ॥ इत्थ मनु सकलचक्रभृदादिराजस्तान्क्षात्रियान्नियमयन्पथि सुप्रणीते । उच्चावचैर्गुरुमतैरुचितैर्वचोभिः शास्ति स्म वृत्तमखिल पृथिवीश्वराणा ॥ २०४ ॥ इत्युच्चैर्भरतेशिना नुकथित सर्वीयमुर्वीश्वराः क्षात्र धर्ममनुप्रपद्य मुदिताः स्वा वृत्तिमन्वैयरुः । योगक्षेमपथेषु तेषु सहिताः सर्वे च वर्णाश्रमा. स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्धर्मोत्सवैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

नहीं करना) ही राजाका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥ २००-२०१ ॥ इस समंजसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक जीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन करना चाहिये और अपराध करनेवाले दुष्ट जीवोंका निग्रह करना चाहिये ॥ २०२ ॥ जो हिंसा आदि दोषोंमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे पाप करनेवाले जीवोंको दुष्ट कहते हैं और जो क्षमा शौच आदि गुणोंसे धर्ममें तत्पर रहते हैं वे मनुष्य शिष्ट कहलाते हैं ॥ २०३ ॥ इसप्रकार सब चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा और सोलहवां मनु (कुलकर) ऐसे भरतने उन क्षत्रियोंको भगवानके कहे हुये मार्गमें नियुक्त किया तथा अपने पिता श्रीवृषभदेवको मान्य ऐसे यथायोग्य ऊंचे नीचे वचनोंसे राजाओंके समस्त आचरणोंका उपदेश दिया ॥ २०४ ॥ इसप्रकार महाराज भरतने जो सबका हित करनेवाला क्षत्रियोंका धर्म बहुत अच्छी तरह कहा था उसे स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हुये और सब अपने अपने आचरणोंके अनुसार चलने लगे तथा अपना हित करनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने मार्गमें (अपने अपने आश्रमके आचरणोंमें) स्थिर रहकर और प्रति दिन धर्मोत्सव करते हुये योग और क्षेमको धारण करनेवाले उन राजाओंमें बहुत ही संतुष्ट रहते थे ॥ २०५ ॥ प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरतने जो अत्यंत उत्तम जाति क्षत्रियोंका चारित्र और रत्नत्रयसे प्रगट हुआ तीर्थ

जातिक्षत्रियवृत्तमूर्जिततरं रत्नत्रयाविष्कृतं तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः। तत्सर्वं मगधाधिपाय भगवान् वाचस्पतिर्गौतमो व्याचख्यावखिलार्थतत्त्वविषयां जैनीं श्रुतिं ख्यापयन् ॥२०६॥ वदारोभरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसस्तस्यानुस्मरतो गुणान्प्रणमतस्तं देवमाद्यं जिनं। तस्यैवोपचितिं सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्वतः कालोऽनल्पतरः सुखाद्व्यतिगतो नित्योत्सवैः संभृतः ॥ २०७ ॥ जैनीमिज्या वितन्वन्नियतमनुदिनं प्रीणयन्नर्थिसार्थं शश्वद्विश्वभरेशैरवनिधृतलसन्मौलिभिः सेव्यमानः। क्ष्मा कृत्स्नामापयोधेरपि च हिमवतः पालयन्निस्सपत्ना रम्यैः स्वेच्छाविनोदैर्निरविशदधिराड्भोगसारं दशागं ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रतिपादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व।

क्षत्रियोंका चरित्र कहा था वह सब समस्त तत्त्वोंको प्रगट करनेवाले ऐसे जैन शास्त्रोंको प्रगट करते हुये भगवान् वाचस्पति गौतम गणधरने मगधदेशके राजा श्रेणिकके लिये निरूपण किया ॥ २०६ ॥ तीनों जगतके स्वामी ऐसे भगवान वृषभदेवको नमस्कार करनेवाले, जिन्होंने कर्मभूमिकी रचना की है ऐसे उन्हीं भगवानके गुणोंको प्रति दिन स्मरण करनेवाले तथा देवाधिदेव उन्हीं प्रथम जिनेंद्रको नमस्कार करनेवाले और सब देव व्यंतर आदिके गुरु ऐसे उन्हीं भगवानकी भक्तिपूर्वक बार बार पूजा करनेवाले ऐसे महाराज भरतका सदा होनेवाले उत्सवोंसे भरा हुआ वह बहुत बडा समय बडे सुखसे व्यतीत हो गया था ॥ २०७ ॥ पृथ्वीपर झुका हुआ जिनका मुकुट सुशोभित हो रहा है ऐसे संसारके समस्त राजा लोग जिसकी सदा सेवा करते रहते हैं, जो हिमवन पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यंत इस समस्त पृथ्वीको शत्रुरहित पालन करता है, जो श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता रहता है और प्रति दिन नियमसे सब याचकोंको संतुष्ट करता रहता है ऐसा वह महाराजाधिराज भरत अपनी इच्छानुसार मनोहर क्रीडाओंके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ॥ २०८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें राजर्षि महाराज भरतके द्वारा प्रजाके पालन करनेकी रीतिका वर्णन करनेवाला यह ब्यालीसवा पर्व समाप्त हुआ।

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥ १ ॥ नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥ २ ॥ जयंति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदमदकंदाछिदः । सुरासुराशिरस्फुरितरागरत्नावली विलविकिरणोत्करारुणितचारुपादद्वयाः ॥ ३ ॥

कृतिर्महाकवेर्भगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे यद्वा कवींद्रजिनसेनमुखारविंदनिर्यद्वचांसि न हरंति मनांसि केषाम् ॥ ४ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे आद्यं खण्ड समाप्तिमगमत् ।

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति तीनों कालमें रहनेवाले अनंत पदार्थोंको जानती है ऐसे वृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥ जो सबतरहके कल्याणोंके मार्गको चलानेमें कारण हैं और संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जो पुलके समान हैं अर्थात् जिनका आश्रय लेनेसे ही संसारसे पार हो जाते हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥ जिन्होंने मृत्यु जीत ली है, जो अनंत वीर्यको धारण करनेवाले हैं, संसारको आनंदके कारण हैं, आपत्तियोंकी बडी भारी जडको काटनेवाले हैं और कल्पवासी व्यंतर ज्योतिषी और भवनवासी देवोंके मस्तकपर दैदीप्यमान हुई पद्मरागमणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों चरणकमल कुछ कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेंद्रदेव सदा जयशील हों ॥ ३ ॥

इसप्रकार महाकवि भगवान् श्रीजिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई.

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्षस्थान अथवा मोक्षमार्गका निरूपण है, बढिया कविता है और तीर्थंकर देवका चरित्र है । अथवा यों समझलेना चाहिये कि सब कवियोंमें श्रेष्ठ ऐसे महाकवि श्रीजिनसेनाचार्यके मुखारविंदसे निकले हुये वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ?

इसप्रकार ऋषिप्रणीत महापुराणका प्रथम खड समाप्त हुआ.

श्रिय तनोतु स श्रीमान्वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य गतेर्मुक्तिमार्गश्चित्र महानभूत् ॥ १ ॥ विक्रम कर्मचक्रस्य यश्शक्राभ्यर्चितक्रमः । आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिता ॥ २ ॥ योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ दिनादौ वा दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्गभस्तिभिः ॥ ३ ॥ नष्टमष्टादशाभोधिकोटीकोटीषु कालयोः । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य येन सिद्धाश्च वर्द्धिताः ॥ ४ ॥ तीर्थकृत्सु स्वतः प्राग्यो नामादानपराभवः (सामदानपराभवः)।

अथ तेतालीसवां पर्व ।

अथानंतर–जिसकी ध्वजामें वृषभका (बैलका) चिन्ह है और सबसे बडा आश्चर्य यह है कि जिस एक ही के जाननेसे मोक्षमार्ग बहुतबडा बनगया ऐसे अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव हम लोगोंका कल्याण करें। भावार्थ–एक मनुष्यके जानेसे कहीं भी मार्ग (पगडंडी वा रास्ता) नहीं बनता परंतु जिस वृषभदेवके अकेले ही जानेसे मोक्षमार्ग बनगया और वह भी समस्त जगतको मान्य ऐसा बडा बन गया ऐसे वे भगवान सबका कल्याण करें ॥ १ ॥ जिसके चरणकमलकी इंद्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्म चक्रके प्रभावसे कर्म समूहके पराक्रमपर आक्रमणकर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥ २ ॥ जिसप्रकार दिनके प्रारंभमें सूर्य निकलकर अपनी किरणोंसे समस्त संसारको प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस चतुर्थकालके प्रारंभमें प्रगट होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणी रूप किरणोंसे इस समस्त जगतको प्रकाशित किया अर्थात् समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया ॥ ३ ॥ उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके अठारह कोडा कोडी सागरतक जो मोक्षमार्ग नष्ट हो रहा था उसका उपदेश देकर जिन्होंने सिद्धोंकी संख्या बढाई ॥ ४ ॥ जिसप्रकार इस युगमें अपना पुत्र भरत चक्रवर्ती सब

यमस्मिन्नस्पृशन्नासौ स्वमूनुमिव चक्रिषु ॥ ५ ॥ येन प्रकाशिते मुक्तेर्मार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत् । प्रकाशितप्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्स्वभूत् ॥ ६ ॥ युगभार वहन्नेकश्चिरं धर्मरथं पृथु । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्रं वर्तयति स्म यः ॥ ७ ॥ तमेकमक्षरं ध्यात्वा व्यक्तमेकमिवाक्षरं । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि तत्पुराणस्य चूलिका ॥ ८ ॥ स्वोक्ते प्रयुक्ताः सर्वे नो रसा गुरुभिरेव ते । स्नेहादिह तदुत्सृष्टा-भक्त्या तानुपयुज्महे ॥ ९ ॥ रागादीन्दूरतस्त्यक्त्वा शृंगारादिरसोक्ति-

चक्रवर्तियोंमें पहिले हुआ था और इसलिये उसके पहिले किसीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार उसे छू नहीं सका था अर्थात् पहिले दूसरेका नाम लेनेसे अपना तिरस्कार समझा जाता है ऐसा तिरस्कार जिसे छू नहीं सका था उसीप्रकार तीर्थकरोंमें जो सबसे पहिले हुए थे, अपने पहिले अन्य किसी तीर्थंकरका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार जिन्हें छू नहीं सका था, अथवा अपने पुत्र भरतके समान साम दानसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार जिन्हें छू नहीं सका था ॥ ५ ॥ तथा जिनके मोक्षमार्गका प्रकाश करनेपर अन्य तीर्थंकरोंमें जो " प्रकाशित कियेहुये मोक्षमार्गको ही प्रकाश किया " यह जो कहना है वह जिनमें व्यर्थ हुआ भावार्थ--इस युगमें जिन्होंने सबसे पहिले मोक्षमार्गका प्रकाश किया ॥ ६ ॥ तथा आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत दिनतक इस युगके बोझेको (अथवा जूआके बोझेको) धारण करते हुये व्रत शील और गुणोंसे भरे हुये ऐसे इस बडे भारी धर्मरथको चलाया था ॥ ७ ॥ ऐसे उन अविनाशीक भगवान वृषभदेवको प्रसिद्ध एक ' ओं ' अक्षरके समान ध्यानकर पहिलेके शास्त्रोंको विचारकर श्रीमज्जिनसेनाचार्य रचित पुराणके अवशेष भागको कहता हूं ॥ ८ ॥ हमारे गुरु भगवान जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिये उनकी भक्तिसे हम उनके द्वारा छोडे हुये (त्याग किये हुये) रसोंको ही अपने काममें लायंगे ॥ ९ ॥ रागादिकोंको दूरसे ही छोडकर शृंगार आदि रसोंका निरूपणकर पुराणोंकी रचना करनेवाले शुद्धज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा कर

भिः । पुराणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा मुमुक्षवः ॥१०॥ निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः । तच्छेषे यतमानाना प्रासादस्येव नः श्रमः ॥ ११ ॥ पुराणे प्रौढशब्दार्थे सत्पत्रफलशालिनि । वचासि पल्लवानीव कर्णे कुर्वंतु मे बुधाः ॥ १२ ॥ अर्धं गुरुभिरेवास्य पूर्वं निष्पादितं परैः । परं निष्पाद्यमानं सच्छदोवन्नातिसुंदर ॥ १३ ॥ इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावह । यथा तथाऽस्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥ अनान्विष्य मयि प्रौढिं

नेवाले होते हैं ॥ १० ॥ इस पुराणका मुख्य सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण कर ही दिया है अव जो बाकी वचा है उसे पूरा करनेके लिये प्रयत्न करते हुये हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिये मानों किसी बने हुये मकानके थोडेसे वचे हुये भागको पूरा करनेके लिये थोडासा परिश्रम करना पडा हो ॥ ११ ॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थोंसे प्रौढ है और उत्तम उत्तम पत्ते तथा फलोंसे सुशोभित है इसमें जो मेरे वचन हैं वे नये पत्तोंके (कोंपलके) समान हैं इसलिये विद्वान लोग अवश्य ही उन्हें अपने कर्णोंपर धारण करेंगे । भावार्थ—जैसे नये पत्ते कानोंपर अच्छे लगते हैं उसीप्रकार मेरे वचनभी विद्वान लोगोंके कानोंको अच्छे लगेंगे ॥ १२ ॥ इस पुराणका पूर्वभाग गुरु (गुरु अर्थात् दीर्घ अक्षर अथवा गुरु जिनसेनाचार्य) के ही द्वारा बना हुआ है और उत्तरभाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न लघु अथवा शिष्य गुणभद्रके द्वारा वनाया जाता है इसलिये क्या वह छंदके समान अत्यंत सुंदर नहीं होगा ? किंतु अवश्य ही होगा, भावार्थ-जैसे छंद गुरु लघु दोनों प्रकारके अक्षरोंसे सुंदर होता है उसीप्रकार यह पुराण भी गुरु शिष्य दोनोंके द्वारा निर्मापित होनेसे अत्यंत सुंदर होगा ॥ १३ ॥ जिसप्रकार ईखका पूर्वार्द्ध (नीचेका भाग) ही रसीला होता है उसीप्रकार इस पुराणका पूर्वार्द्ध भाग ही रसीला है ऐसा ही लोगोंको विश्वास वा श्रद्धा हो इसलिये ही मैं इसका उत्तर भाग प्रारंभ करता हूं ॥ १४ ॥ मुझमें प्रौढता (विद्वत्ता वा योग्यता) है या नहीं इसका कुछ भी विचार न कर इसे केवल धर्म समझकर ग्रहण करना चाहिये क्योंकि

धर्मोऽयमिति गृह्यता । चाटुके स्वादुमिच्छंति न भोक्तारस्तु भोजनं ॥ १५ ॥ अथवाऽग्रं भवेदस्य विरसं नेति निश्चय. । धर्माग्र ननु केनापि नादार्शी
विरसं क्वचित् ॥१६॥ गुरूणामेव माहात्म्य यदपि स्वादु मद्वचः । तरूणा हि प्रभावोसौ यत्फल स्वादु जायते ॥१७॥ निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः ।
ते तत्र सँस्करिष्यते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥ इद शुश्रूषवो भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तस्याभिधायकाः शब्दास्तन्न निंदाऽत्र वर्तते ॥ १९ ॥
दोषान्गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषास्तु दोपवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशं ॥२०॥ गुणिना गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असद्दोषसमा-

भोजन करनेवाले प्रियवचन कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा करते हैं यह कुछ नियम नहीं है।
भावार्थ—वे केवल स्वादिष्ट भोजनोंकी ही इच्छा करते हैं प्रिय वचनोंकी नहीं इसीप्रकार धार्मिक लोग
धर्मका ही ग्रहण करेंगे मेरी योग्यतापर कुछ विचार नहीं करेंगे ॥ १५ ॥ अथवा यह निश्चित है कि
इस पुराणके आगेका भाग भी कुछ नीरस नहीं होगा क्योंकि धर्मका अंतिम भाग कहीं किसी पुरु-
षने नीरस नहीं देखा है ॥१६॥ जो कदाचित् मेरे वचन स्वादिष्ट (रसीले) हों तो इसमें गुरुका ही माहा-
त्म्य समझना चाहिये क्योंकि जो फल मीठे होते हैं वह वृक्षोंका ही प्रभाव समझना चाहिये ॥ १७ ॥
यह निश्चय है कि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमें गुरु विराजमान हैं वे गुरु अवश्य ही
मेरे बचनोंमें संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हें सुधार लेंगे इसलिये इस ग्रंथके बनानेमें मुझे कुछ भी परिश्रम
नहीं होगा ॥ १८ ॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ श्रीजिनेंद्रदेव-
ने कहा है और उसको प्रगट करनेवाले शब्द हैं इसलिये इसमें निंदा कहीं नहीं हो सकती ॥ १९ ॥
गुणी लोग दोषोंको ही गुणरूपसे ग्रहण कहते हैं और दोषी लोग गुणोंको ही दोष रूपसे ग्रहण कर-
ते हैं, इस संसारमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा माहात्म्य बडा ही विचित्र है ॥ २० ॥ सज्ज-
न लोग गुणी लोगोंके गुणोंको ग्रहणकर गुणी हों परंतु यह आश्चर्य है कि दुष्ट लोग जो मौजूद
नहीं है ऐसे दोषोंको ग्रहण कर दोषी हो जाते हैं ॥ २१ ॥ इस संसारमें दुष्ट लोग सज्जनोंपर इच्छा-

दर्नाद्दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतं ॥२१॥ सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति । तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो यतः ॥२२॥ यथा स्वानुगमर्हंति सदा स्तोतुं कवीश्वराः । तथा निंदितुमस्वानुवृत्तं कुकवयोऽपि मा ॥२३॥ कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रम । वंध्या स्तनंधयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥२४॥ गृहाणेहाऽस्ति चेद्दोष स्व धनं न निषिध्यते। खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणान्न ममाग्रहीः ॥२५॥ गुणागुणानभिज्ञेन कृता निंदाऽथवा स्तुतिः । जात्यंधस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवल ॥ २६ ॥ अथवा सोऽनभिज्ञोऽपि निंदतु स्तौतु वा कृतिं । विदग्धपरिहासानामन्यथा क्वास्तु विश्रमः ॥ २७ ॥ गणयंति महातः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत् । दाह्यं तृणाग्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसा ॥ २८ ॥ काष्ठजो ऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तचु वर्द्धयेत् । प्रदीपायितमेतों-

---

नुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि इन सज्जनोंने उन दुष्टोंके शत्रु ऐसे अनाथ गुणोंको आश्रय दिया है ॥ २२ ॥ जिसप्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुसार चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कुकवि भी उनके अनुसार न चलनेवाले मेरी निंदा करें ॥ २३ ॥ जो कवि हैं वे ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको यथेष्ट जान सकते हैं, जिसप्रकार बांझ स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसीप्रकार जो कवि नहीं हैं वे कविके परिश्रमको कभी नहीं जान सकते ॥२४॥ हे दुष्ट यदि इस मेरी रचनामें दोष हों तो तू उन्हें ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिये मैं तुझे नहीं रोकता परंतु मैं तुझसे फिर भी प्रार्थना करता हूं कि तू मेरे गुणोंका ग्रहण मत कर॥२५॥ जिसप्रकार कोई जन्मका अंधा धृष्ट पुरुष किसीके रूपकी निंदा वा स्तुति करे तो वह केवल हँसी-का ही पात्र होता है उसीप्रकार जो गुण और दोषोंको नहीं जानता वह यदि किसीकी निंदा वा स्तुति करे तो वह भी केवल हँसीका ही पात्र होता है ॥ २६ ॥ अथवा गुण दोषोंको न जानता हुआ भी वह मेरे काव्यकी निंदा वा स्तुति करो क्योंकि यदि ऐसा न हो तो फिर विद्वान् लोगोंको हँसी करनेकी जगह कहां मिले ॥ २७ ॥ महात्मा लोग तुच्छ मनुष्योंके समान क्या कभी छोटे छोटे उपद्रवोंको गिना करते हैं ? कभी नहीं, तिनकोंके आगसे रुई जल सकती है परंतु समुद्र

भ्या सदसद्भावभासने ॥ २९ ॥ स्तुतिनिंदे कृतिं श्रुत्वा करोतु गुणदोषयोः । ते तस्य कुरुतः कीर्तिमकर्तुरपि सत्कृतेः ॥ ३० ॥ सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः । कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदति हृदयं भृशं ॥ ३१ ॥ प्रवृत्तेयं कृतिः कृत्वा गुरून्पूर्वं कवीश्वरान् । भाविनोद्यतनाश्चास्या विदध्युः शुध्यनुग्रहं ॥ ३२ ॥ मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुतां । धियस्तां वर्तयिष्यंति धात्रीकल्पाः कवीशिनां ॥ ३३ ॥ इदं बुधा गृहीष्यंति मा गृहीषु पृथग्जनाः । किममौल्यानि रत्नानि क्रीणंत्यकृतपुण्यकाः ॥ ३४ ॥ हृदि धर्ममहारत्नमागमाम्भोधिसंभवं । कौस्तुभादधिक

को उससे कुछ भी संताप नहीं होता है ॥ २८ ॥ काठसे उत्पन्न हुई अग्नि उसी काठको जला देती है परंतु वही काठ उसी जलानेवाली अग्निको बढाता है ये दोनों ही उदाहरण सज्जनोंके अच्छे भाव और दुष्टोंके बुरे भावोंको प्रगट करनेके लिये साक्षात् दीपकके समान हैं ॥२९॥ दुष्ट लोग मेरे काव्यको सुनकर गुणोंकी स्तुति और दोषोंकी निंदा भलें ही करें क्योंकि यद्यपि वे अच्छा काव्य करना नहीं जानते हैं तथापि मेरे काव्यकी की हुई स्तुति निंदा ही उनकी कीर्ति करनेवाली होगी ॥३०॥ उत्तम कवियोंके वचन ठीक अर्जुनके बाणोंके समान होते हैं क्योंकि जिसप्रकार अर्जुन के बाण काममें लानेपर जिसके संस्कार बुरे हैं ऐसे कर्णको पाकर उसके हृदयको अच्छीतरह दुःख देते हैं उसीप्रकार अच्छे कविके वचन भी काममें लानेपर जिसके संस्कार बुरे हैं ऐसे कानोंको पाकर उसके हृदयको खूब दुःख देते हैं ॥३१॥ पहिलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही इस काव्यकी रचना की गई है इसलिये जो कवि आज विद्यमान हैं अथवा आगे होंगे वे इसे शुद्ध करनेकी कृपा करें ॥३२॥ जिसप्रकार रानीसे उत्तम राजकन्या होती है उसीप्रकार मेरी बुद्धिसे इस काव्यकी रचना हुई है इसलिये धायके समान अन्य कवियोंकी बुद्धि अवश्य ही इसका प्रतिपालन करेगी ॥ ३३ ॥ पंडित लोग इस मेरे काव्यको ग्रहण करेंगे, अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करें क्योंकि जिनका पुण्योदय नहीं है ऐसे दरिद्र लोग क्या अमूल्य रत्नोंको खरीद सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ३४ ॥ पुरुषोत्तम (कृष्ण अथवा उत्तम मनुष्य) आगमरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुये इस धर्मरूपी

मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः ॥ ३५ ॥ श्रोत्रपात्रांजलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनं । अजरामरतां प्राप्तुमुपयुंध्वमिदं बुधाः ॥ ३६ ॥ नूनं पुण्यं पुराणाब्धे-र्मध्यमध्यासित मया । तत्सुभाषितरत्नानि संचितानीति निश्चितिः ॥ ३७ ॥ सुदूरपारगभीरमिति नात्र भय मम । पुरोगा गुरवः सति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥ ३८ ॥ पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम्ना स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९। पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् । भवाब्धेः पारमिच्छंति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥ अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः सालङ्कृतिस्तयोः। अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलंबन ॥४१॥

महारत्नको कौस्तुभमणिसे भी अधिक समझकर अपने हृदयमें धारण करो ॥ ३५ ॥ पंडित लोगोंको कानरूपी पात्रकी अंजलि बनाकर इस धर्म रसायनको पीना चाहिये और पीकर अजर अमर होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३६ ॥ अवश्य ही मैंने इस पुराणरूपी समुद्रके पुण्यस्वरूप मध्यभागमें अवगाहन किया है और मुझे निश्चय है कि अवश्य ही मैंने उसमेंसे सुभाषितरूपी रत्न इकट्ठे किये हैं ॥ ३७ ॥ यह पुराण अत्यंत गंभीर है इसका किनारा बहुत दूर है इत्यादि बातोंका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें मुख्य ऐसे मेरे गुरु श्रीजिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं। भावार्थ–मैं उन्हींके पीछे पीछे जा रहा हूं तब मुझे भय किसका ? ॥ ३८ ॥ इस पुराणकी सिद्धि इसके 'महापुराण' इस नामसे ही सूचित होती है इसलिये मैं इसे कह सकूंगा या नहीं ऐसी आकुलता मुझे बिलकुल नहीं है ॥ ३९ ॥ श्रीजिनसेनाचार्यके अनुयायी शिष्य लोग इस पुराणमें कहे हुये मार्गका आश्रय लेकर अवश्य ही संसाररूपीसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर भला इस पुराणके पार होनेकी तो बात ही क्या है ॥४०॥ अर्थ सब मनमें है शब्द सब जिव्हापर हैं और उन शब्द अर्थ दोनोंके अलंकार संसारमें प्रसिद्ध हैं, इसलिये इस पुराणकी रचना होनेमें देर होनेका कोई भी कारण नहीं है अर्थात् इसकी रचना बहुत शीघ्र पूरी होगी ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोंकी कमी नहीं है उसीप्रकार मनमें तर्क वितर्कोंकी भी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक

आकरेष्विव रत्नानामूहाना नाशये क्षयः'। विचित्रालंकृतेः कर्तुर्दौर्गत्यं किं कवेः कृतेः ॥ ४२ ॥ विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुंदरी । कृतिः सालंकृतिर्न स्यात्कस्येयं कामसिद्धये ॥ ४३ ॥ संचितस्यैनसो हत्री नियंत्री चागमिष्यतः । आमंत्रिणी च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः शुभा ॥ ४४ ॥ सत्कृताना हिते प्रीतिः प्राकृताना प्रियं प्रियं । एतद्धितं प्रिय चातः सर्वान्संतोषयत्यलं ॥ ४५ ॥ इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगांतर । इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुवे प्रस्तुता कथा ॥ ४६ ॥ इति पीठिका ॥ अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः सुचरितामृतं । आसिस्वादयिषुः शेषं हस्तालग्नमिवोत्सु-

---

तरहके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है? ॥ ४२ ॥ यह काव्यकी रचना ठीक अत्यंत सुंदरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुंदरी स्त्री रसिक होती है उसी प्रकार यह काव्यकी रचना भी रसिक [रसीली] है, सुंदरी जिसप्रकार अलंकार सहित होती हैं उसीप्रकार यह रचना भी अलंकार सहित है और सुंदरी जिसप्रकार विचित्रपदविन्यासा अर्थात् अनेक तरहसे चरण रखनेवाली होती है उसीप्रकार यह रचना भी विचित्रपदविन्यासा अर्थात् अनेक तरहके पदोंकी रचनासे सुशोभित है, ऐसी यह सुंदर कविता सुंदरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथ सिद्ध न करेगी? अर्थात् इससे सबके मनोरथ सिद्ध होंगे ॥ ४३ ॥ यह शुभ कविता पहिलेके इकट्ठे किये हुये पापोंको नाश करनेवाली है, आगामी आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है, इसलिये इसका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ४४ ॥ उत्तम मनुष्योंको अंतमें सुख देनेवाले हितमें प्रेम होता है और साधारण मनुष्योंको जो अपना इष्ट है वही प्रिय होता है। यह पुराण हितरूप अर्थात् अंतमें सुख देनेवालाभी है और प्रिय अर्थात् सबको इष्ट भी है इसलिये यह सबको ही अच्छीतरह संतुष्ट करता है ॥ ४५ ॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगांतरतक टिकनेवाला है, इसप्रकार जिसे उत्साह प्रगट हुआ है ऐसा मैं अब चलती हुई कथाका प्रारंभ करता हूं ॥ ४६ ॥

अथानंतर—राजा श्रेणिक भगवान वृषभदेवके उत्तम चरित्ररूपी अमृतको पीकर तथा उत्कं-

कः ॥ ४७ ॥ समुत्थाय सभामध्ये प्रांजलिः प्रणतो मनाक् । पुनर्विज्ञापयामास गौतम, गणनायकं ॥ ४८ ॥ त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यग्पुराणं परमं पुरोः। निवृत्तोऽसौ यथाऽस्याते तथाऽहं चातिनिर्वृत्तः॥४९॥ किल तस्मिन् जयो नाम तीर्थेऽभूत्पार्थिवाग्रणीः। यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ॥५०॥ यस्य दिग्विजये मेघकुमारविजये स्वय । वीरपट्ट समुध्दत्य बबध भरतेश्वरः ॥५१॥ पुरस्तीर्थकृता पूर्वं श्चक्रिणा भरतेश्वरः। दानतीर्थकृता श्रेयान् किलासौ च स्वयवरे ॥५२॥ अर्ककीर्तिं पुरोः पौत्रं सगरे कृतसगरः । जित्वा निगलयामास किलैकाकी स हेलया ॥५३॥ सेनातो वृषभः कुभो रथांतो दृढसंज्ञकः । धनुरंतः शतो देवशर्मा भावातदेवभाक् ॥ ५४ ॥ नंदनः सोमदत्ताह्वः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेववाक् ॥ ५५ ॥ अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलभृत्स महीधरः । महेद्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुंधरः ॥ ५६ ॥ अचलो मेरुसज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रातसर्वाभिधानकौ ॥ ५७ ॥ सर्वगुप्तः प्रियप्रातसर्वो देवांतसर्ववाक् । सर्वादिविजयो गुप्तो विजयादिस्ततः परः ॥ ५८ ॥ विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसंज्ञकः ।

ठित होकर हाथमें लगे हुये ऐसे बाकी बचे हुये कथामृतके आस्वादन करनेकी इच्छा करने लगा ॥ ४७ ॥ सभाके बीचमें खडे होकर उसने अपने हाथ जोडे, कुछ शिर भुकाकर नमस्कर किया और फिर गौतम गणधरसे निवेदन करने लगा ॥ ४८ ॥ कि हे भगवान । आपके प्रसादसे श्रीवृषभदेवका यह परम पुराण तो मैंने अच्छी तरह सुना । श्रीवृषभदेव जिसप्रकार इस पुराणके अंतमें मुक्त होकर सुखी हुए हैं उसीप्रकार मैं भी इसे सुनकर बहुत सुखी हुआ हूं ॥ ४९ ॥ श्रीवृषभदेव तीर्थंकरके समयमें सब राजाओंमें मुख्य ऐसा जो जयकुमार राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथ्वीपर प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥ दिग्विजय करतेसमय मेघकुमारको जीत-लेनेपर महाराज भरतने स्वयं वीरपट्ट निकालकर जिसपर बांधा था ॥ ५१ ॥ जिसप्रकार तीर्थंकरोंमें वृषभदेव, चक्रवर्तियोंमें भरतेश्वर और दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमें राजा श्रेयान् सबसे पहिले हुये हैं उसीप्रकार जो स्वयंवरकी प्रवृत्ति करनेमें सबसे पहिले हुआ है ॥ ५२ ॥ जिसने युद्धमें प्रतिज्ञाकर भगवान वृषभदेवके पोते (भरतके पुत्र) अर्ककीर्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर

वसुमित्रः स विश्वादिसेनः सेनातसाधुवाक् ॥ ५९ ॥ देवांतसत्यः सत्यातदेवो गुप्तांतसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः संमितो निर्मलो गुणैः ॥६० ॥ विनीतः सवरो गुप्तो मुन्यादिर्मुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिर्देवप्रांतो यज्ञातगुप्तवाक् ॥ ६१ ॥ मित्रयज्ञ स्वयंभूश्च देवदत्तातगौ भगौ । भगादिफल्गुः फल्गवंतगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥ ६२ ॥ प्रजापतिः सर्वसवो वरुणो धनपालकः । मघवान् राश्यंततेजो महावीरो महारथः ॥ ६३ ॥ विशालाक्षो महावालः शुचिसालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चद्रचूलसमाह्वयः ॥ ६४ ॥ जयो महारसः कच्छमहाकच्छावतुच्छकौ । नमिर्विनिमिरन्यौ च बलातिवलसज्ञकौ ॥ ६५ ॥ बलातभद्रो नदी च महाभागी परस्ततः । मित्रातनंदी देवांतकामोऽनुपमलक्षणः ॥ ६६ ॥ चतुर्भिरधिकाशीतिरिति सप्तर्गणाधिपाः । एते सप्तर्द्धिसयुक्ताः सर्वे वेद्यनुवादिनः ॥६७॥ स एवासीद्गृहत्यागादेतेष्वप्युदितोदितः । एकसप्ततिसख्यानसप्रातगणनो गुणी॥६८॥

बांधा था ॥ ५३ ॥ तथा वृषभसेन १ कुंभ २ दृढरथ ३ शतधनु ४ देवशर्मा ५ देवभाव ६ नंदन ७ सोमदत्त ८ गुणोंसे पूज्य ऐसा सूरदत्त ९ वायुशर्मा १० यशोवाहु ११ देवाग्नि १२ अग्निदेव १३ अग्निगुप्त १४ मित्राग्नि १५ हलभृत १६ प्रसिद्ध महीश्वर १७ महेंद्र १८ वसुदेव १९ उसके वाद वसुंधर २० अचल २१ मेरु २२ तदनंतर मेरुधन २३ मेरुभूति २४ सर्वयश २५ और सर्वयज्ञ २६ सर्वगुप्त २७ सर्वप्रिय २८ सर्वदेव २९ सर्वविजय ३० विजयगुप्त ३१ उसके वाद विजयमित्र ३२ विजायिल ३३ अपराजित ३४ वसुमित्र ३५ प्रसिद्ध विश्वसेन ३६ साधुसेन ३७ सत्यदेव ३८ देवसत्य ३९ सत्यगुप्त ४० सज्जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा सत्यमित्र४१ गुणोंसे सुशोभित ऐसा निर्मल४२ विनीत४३ संवर४४ मुनिगुप्त४५ मुनिदत्त ४६ मुनियज्ञ४७ मुनिदेव४८ गुप्तयज्ञ४९ मित्रयज्ञ५० स्वयंभू५१ भगदेव५२ और भगदत्त५३ भगफल्गु५४ गुप्तफल्गु५५ मित्रफल्गु ५६ प्रजापति ५७ सर्वसंग ५८ वरुण ५९ धनपालक ६० मघवान् ६१ तेजोराशि ६२ महावीर ६३ महारथ ६४ विशालाक्ष ६५ महावाल ६६ शुचिशाल ६७ उसके वाद वज्र ६८ वज्रसार ६९ चंद्रचूल ७० जय ७१ महारस ७२ वडे पूज्य कच्छ ७३ महाकक्ष ७४ तथा नामि ७५ विनमि ७६ वल ७७ और अतिवल ७८ भद्रवल ७९ नंदी ८० उसके वाद महाभागी ८१ नंदीमित्र ८२ कामदेव ८३ और

पुराणं तस्य मे ब्रूहि महत्तत्रास्ति कौतुकं । भव्यचातकवृंदस्य प्रघणो भगवानिति ॥ ६९ ॥ ततः स्वस्य समालक्ष्य गणाधीशादनुग्रहं । अलंचकार स्वस्थानमिंगितज्ञा हि धीधनाः ॥ ७० ॥ यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्ट त्वयैव तत् । चेतो जिह्वा त्वमस्माकमित्यस्तावीत्सभा च त ॥ ७१ ॥ गणी तेनेति संपृष्टः प्रवृत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुखान् संतः कुर्वते तद्धि तद्व्रतं ॥ ७२ ॥ शृणु श्रेणिक संप्रश्नस्त्वयात्रावसरे कृतः । नाराधयति कान्वाते सतोऽवसरवेदिनः ॥ ७३ ॥ इह जंबूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजांगलः ॥ ७४ ॥ धर्मार्थकाम

अनुपम ८४ । श्रीवृषभदेवके ये चौरासी गणधर थे, ये सबही गणधर सात ऋद्धियोंसे सुशोभित थे और सबही सर्वज्ञ देवके समान थे ॥ ५४–६७ ॥ इन चौरासी गणधरोंमेंसे जो घरका त्यागकर अत्यंत प्रभावशाली और गुणी इकहत्तरिवीं संख्याको समाप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरिवां गणधर हुआ था उसी जयकुमारका पुराण मुझे कहिये क्योंकि उनके पुराणमें वडा भारी कौतुक है ऐसा भव्यरूपी चातकपक्षियोंके समूहके लिये मेघके समान भगवानने कहा है ॥ ६८-६९ ॥ इतना कहकर और गणधर देवसे अपना अनुग्रह होना जानकर वह राजा श्रेणिक अपने स्थानपर जा विराजमान हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोग इशारोंको भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ ७० ॥ उस समय सब सभा उसकी प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि हे शिष्ट जो विषय हमें पूछना चाहिये व ही तेने पूछा है इसलिये तूही हमारा मन है और तू ही हमारी जीभ है ॥ ७१ ॥ जिन्हें राजा श्रेणिकने ऊपर लिखे अनुसार पूछा है ऐसे गौतम गणधर भी श्रेणिकके अनुग्रह करनेमें प्रवृत्त हुये, सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन लोग याचकोंको कभी विमुख नहीं करते हैं, निश्चयसे उनका यही व्रत है ॥ ७२ ॥ गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक सुन तेने यह प्रश्न अच्छे समयपर किया, अथवा यह ठीक ही है क्योंकि अवसर जाननेवाले सज्जन लोग अंतमें किसको वश नहीं कर लेते हैं? भावार्थ--सबको वश कर लेते हैं ॥ ७३ ॥ इस जंबूद्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रमें वर्ण और आश्रमोंसे भरा हुआ एक कुरुजांगल नामका बडा भारी देश है ॥ ७४ ॥ संसारमें यह देश धर्म अर्थ

मोक्षाणामेको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्ग इव स्वर्गे विमान वाऽमरेशितु. ॥ ७५ ॥ हस्तिनाख्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसंपदा । संभवं मृषयद्वार्द्धौ लक्ष्म्याः कुलगृहायित ॥ ७६ ॥ पतिः पतिर्वा ताराणामस्य सोमप्रभोऽभवत् । कुर्वन् कुवलयाह्लाद सत्करैः स्वैर्बुधाश्रयः ॥७७॥ तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य वक्षस्स्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरिय द्वितीयेति प्रेक्ष्या लक्ष्मीवती सती ॥ ७८ ॥ तयोर्जयोऽभवत्सूनुः प्रज्ञाविक्रमयोरिव । तन्वन्नाजन्मत. कीर्तिं लक्ष्मीमिव गुणार्जितां ॥ ७९ ॥ सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादयः । गुणैर्मनून् व्यतिक्रान्ताः सख्यया सदृशोऽपि ते ॥ ८० ॥ प्रवृद्धनिजतेजोभिस्तैः पंच-

---

काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके लिये एक खानिके समान है तथा यह देश स्वर्गके समानअथवा स्वर्गमें भी इंद्रके विमानके समान शोभायमान है ॥ ७५ ॥ उस देशमें हस्तिनापुर नामका एक नगर है, जो कि सबतरहकी संपत्तिसे बडा ही विचित्र है तथा जो लक्ष्मीकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई है इसबातको झूठा ठहराता है और जो लक्ष्मीका साक्षात् कुलगृहके समान जान पडता है ॥ ७६ ॥ जिसप्रकार ताराओंका स्वामी चंद्रमा अपनी किरणोंसे कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करता हुआ बुध नक्षत्रके आश्रय रहता है उसीप्रकार उस नगरका स्वामी राजा सोमप्रभ था जोकि अपने सुख देनेवाले करसे पृथ्वीमंडलको आनंदित करता था और सदा विद्वान् लोगोंके आश्रय रहता था ॥ ७७ ॥ उस राजाकी लक्ष्मीको तिरस्कार न कर केवल वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली दूसरी लक्ष्मीके समान लक्ष्मीवती नामकी अत्यंत सुंदरी और पतिव्रता स्त्री थी ॥ ७८ ॥ बुद्धि और विक्रमके समान उन दोनों रानी लक्ष्मीवती और राजा सोमप्रभके जय नामका पुत्र हुआ था, जो कि जन्मसे ही गुणोंसे उपार्जन की हुई लक्ष्मीके समान कीर्तिको भी बढाता था ॥ ७९ ॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह राजपुत्र थे, जोकि संख्यामें कुलकरोंके समान होकर भी गुणोंसे उन्हें उल्लंघन करते थे अर्थात् गुणोंमें कुलकरोंसे अधिक थे ॥ ८० ॥ जिसप्रकार मनोहर विशेष कलाओंसे चंद्रमा सुशोभित होता है उसीप्रकार जिन्होंने अपना तेज बढाया है जो मनोहर हैं और विशेष विशेष कला-

दशभिर्भृशं । कातैः कलाविशेषैर्वा राजराजो रराज सः ॥ ८१ ॥ राजा राजप्रभो लक्ष्मीवती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् ज्यायान् जयः पुत्रस्तद्राज्य पूज्यते न कैः ॥ ८२ ॥ स पुत्रविटपाटोपः सोमकल्पाग्रिपश्चिर । भोग्यः सभृतपुण्याना स्वस्य चाभूत्तदद्भुतं ॥ ८३ ॥ अथान्यदा जगत्कायभोगबंधून्विधुप्रभः । अनित्याशुचिदुःखान्यान्मत्वा याथात्म्यवीक्षणः ॥ ८४ ॥ विरज्य राज्य सयोज्य धुर्ये शौर्योर्जिते जये । अजर्यौदार्यवीर्यादिप्राज्यराज्यसमु-

---

ओंको धारण करने वाले हैं ऐसे उन पंद्रह पुत्रोंसे वह महाराजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित होता था ॥ ८१ ॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ है, देवी लक्ष्मीवती है प्यारा छोटा भाई श्रेयान है और ज्येष्ठ राजपुत्र जयकुमार है वह राज्य भला किसके द्वारा पूजनीय नहीं होता अर्थात् सबके द्वारा पूज्य होता है ॥ ८२ ॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओंका घटाटोप है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष पुण्य संचय करनेवाले लोगोंको और खुदको भोग्य था भावार्थ—पुण्यवान लोग भी उसका उपभोग करते थे और वह स्वयं भी उपभोग करता था यह बडा आश्चर्य है। आश्चर्य यही है कि कल्पवृक्ष स्वयं उपभोग नहीं करता अन्य लोग उसका उपभोग किया करते हैं परंतु वह कल्पवृक्ष होकर भी स्वयं उपभोग किया करता था और अन्य लोग भी उसका उपभोग करते थे। सब लोग धन धान्य आदि संपदा पाकर प्रसन्न रहते थे ॥ ८३ ॥

अथानंतर—किसी एक दिन पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला राजा सोमप्रभ इस जगतको अनित्य, शरीरको अपवित्र, भोगोंको दुःखस्वरूप और भाई बंधुओंको अपनेसे भिन्नमानकर विरक्त हुआ तथा कभी न नाश होने वाले और अनंत ऐसे वीर्य आदि गुणोंसे भरे हुये मोक्ष रूपी राज्यकी इच्छा करता हुआ शूरता आदि गुणोंसे उत्कृष्टताको प्राप्त हुये और धुरंधर ऐसे जयकुमारको अपना राज्य सोंपकर श्री वृषभदेवके समीप गया, और वहांपर अपने भाई श्रेयांसके साथ दीक्षा लेकर मोक्ष

त्सुकः ॥ ८५ ॥ अभ्येत्य वृषभाभ्यास दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् । श्रेयसा सह नार्पत्य मनुजेन यथा पुरा ॥ ८६ ॥ पितुः पदमधिष्ठाय जयोऽतायि महीं महान् । महतोऽनुभवन्भोगान् संविभज्यानुजैः सह ॥ ८७ ॥ एकदाऽय विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागतः । तत्रासीन समालोक्य शीलगुप्तमहामुनिं ॥ ८८ ॥ त्रि. परीत्य नमस्कृत्य नुत्वा भक्तिभरान्वितः । श्रुत्वा धर्मं तमापृच्छ्य प्रीत्या प्रत्याविशत्पुरीं ॥ ८९ ॥ तस्मिन्वने वसन्नागमिथुनं सह भूभुजा । श्रुत्वा धर्मं सुधां मत्वा पपौ प्रीत्या दयारसं ॥ ९० ॥ कदाचित्प्रावृडारंभे प्रचडाशनिताडितः । मृत्वाऽसौ शातिमादाय नागो नागामरोऽभवत् ॥ ९१ ॥ अन्येद्युरिभमारुह्य पुनस्तद्वनमापतत् । नागीं श्रुतवतीं धर्मं राजाऽत्रैव सहात्मना ॥ ९२ ॥ वीक्ष्य काकोदरेणामा जातकोपो विजा-

---

सुखका अनुभव करने लगा । जिस प्रकार वह पहिले यहां अपने भाईके साथ राज्यका सुख भोगता था उसीप्रकार मोक्षमें जाकर भी अपने भाईके साथ मोक्षरूपी राज्यका सुख भोगने लगा भावार्थ–दोनों भाई तपश्चरणकर मुक्त होगये ॥ ८४-८५-८६ ॥ इधर पूज्य जयकुमार अपने पिताके सिंहासनपर विराजमान होकर पृथ्वीका पालन करने लगा और अपने बडे भारी भोगोपभोगोंको अपने छोटे भाइयोंको बांटकर उनके साथ साथ अनुभव करने लगा ॥ ८७ ॥ किसी एक दिन वह जयकुमार क्रीडा करनेकेलिये नगरके बाहर किसी बगीचेमें गया और उसने वहांपर जो शीलगुप्त नामके महामुनि विराजमान थे उनके दर्शन किये ॥ ८८ ॥ उत्कट भक्तिके साथ साथ उसने मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणा दीं, नमस्कार किया, स्तुति की, बडे प्रेमसे धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर अपने नगरको वापिस लौटा ॥ ८९ ॥ उसी बनमें एक सर्पोंका जोडा रहता था उसने भी (सर्प सर्पिणी दोनोंने) राजाके साथ साथ उन मुनिराजसे धर्म श्रवण किया था और उस धर्मको अमृत मानकर बडे प्रेमसे दया रूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी एक दिन वर्षाऋतुके प्रारंभमें प्रचंड बिजलीके पडनेसे उस जोडेमेंका वह सर्प शांति पूर्वक मरकर नागकुमार जातिका देव हुआ ॥९१॥ किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर चढकर फिर उसी बनमें गया और वहांपर उसने देखा

तिना । लीलानीलोत्पलेनाहन्दपती तौ धिगित्यसौ ॥ ९३ ॥ पलायमानौ पापाणैः काष्ठैर्लोष्ठैः पदातयः । अघ्नन् सर्वे न को वाऽत्र दुश्चरित्राय कुप्यति ॥ ९४ ॥ पापः स नद्व्रणैर्मृत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गंगाया कालीति जलदेवता ॥ ९५ ॥ संजातानुशया साऽपि धृत्वा धर्मं हृदि स्थिर । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य राज्ञा स्वमृतिमब्रवीत् ॥ ९६ ॥ नागामरोऽपि ता पश्यन् कोपादेवममन्यत । दर्पात्तेन खलेनैपा वराकी हा हता वृथा ॥ ९७ ॥ विधवेति विवेदाधीर्नेदक्ष मामिम धव । तत्प्राणान्न हरे यावद्भुजंगः केन वाऽस्म्यह ॥ ९८ ॥ इत्यतोऽसौ दिदक्षुस्त जयं तद्गृहमास-

---

कि जिसने उसी बनमें अपने साथ साथ मुनिराजसे धर्मश्रवण किया था वही सर्पिणी काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पसे काम सेवन कर रही है, उसे देखकर राजाको बडा क्रोध हुआ, उसने उन दोनोंको धिक्कार दिया और लीला पूर्वक अपने हाथके नीलकमलसे उन दोनोंकी ताडना की ॥९२-९३॥ वे दोनों वहांसे भागे किंतु सब ही पैदल चलनेवाले सेनाके लोग भागते हुये उन दोनोंको पत्थर लकडी और ढेले आदिसे मारने लगे सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी लोगोंपर भला कौन क्रोध नहीं करता है ॥ ९४ ॥ उन घावोंके दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगानदीमें काली नामका जलदेवता हुआ ॥ ९५ ॥ वह सर्पिणी अपने किये हुए पापका पश्चात्ताप करने लगी और अपने हृदयमें धर्मको स्थिर रखकर तथा उसीसमय मरकर अपने पहिलेका पति सर्प जो नागकुमार जातिका देव हुआ था उसकी स्त्री हुई इस तरह उसने अपने पति नागकुमार देवसे राजाके द्वारा अपना मरण सूचित किया ॥९६॥ वह नागकुमारदेव भी उसे देखकर क्रोधसे अपने चित्तमें इसप्रकार मानने लगा कि उस दुष्ट राजाने अपने अभिमानसे यह विचारी सर्पिणी व्यर्थ ही मारी ॥९७॥ उस मूर्खने इसे विधवा समझा, यह न सोचा कि इसका मेरे ऐसा (सामर्थ्यवाला) पति है, इसलिये जबतक मैं उसका प्राणहरण न करूं तबतक भला सर्प कैसे कहला सकता हूं? ॥९८॥ इसप्रकार मनमें सोचता हुआ वह सर्प (नागकुमार जातिका देव) उस जयकुमारको काटनेके लिये तुरंत ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यंच लोग भी स्त्रियोंका तिरस्कार

दत् । न सहते ननु स्त्रीणा तिर्यंचोऽपि पराभवं ॥ ९९ ॥ वासगेहे जयो रात्रौ श्रीमत्याः कौतुकं प्रिये । श्रृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत्तद्भुजगीविचेष्टितं ॥ १०० ॥ आभिजात्यं वयो रूप विद्यां वृत्त यशः श्रियं । विभुत्व विक्रम कांतिमैहिक पारलौकिकं ॥ १०१ ॥ प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेय कृपा त्रपा । हानिं वृद्धिं गुणान्दोषान् गणयंति न योषितः ॥ १०२ ॥ धर्मः कामश्च सचेयो वित्तेनाय तु सत्पथः । क्रीणंत्यर्थं स्त्रियस्ताभ्या धिक् तासा वृद्धगृध्नुता ॥ १०३ ॥ वृश्चिकस्य विषं पश्चात्पन्नगस्य विषं पुरः । योषिता दूषितेच्छाना विश्वतो विषम विष ॥ १०४ ॥ सत्याभासैर्नतैः स्त्रीणा वञ्चिता ये न धीधनाः । दुःश्रुतीनामिवैताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवल्लभाः ॥ १०५ ॥ तासा किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयंकरः । हंत्यधीकान्प्रविश्यातर-

सहन नहीं कर सकते हैं ॥९९॥ जयकुमार रात्रिमें अपने शयनागारमें (सोनेके मकानमें) अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये आज एक तमाशा देखा है वह सुन ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टायें कहीं ॥१००॥ और फिर कहने लगा कि देखो स्त्रियां, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, वय (उम्र) रूप, विद्या, चारित्र, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कांति, यह लोक, परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करनेयोग्य, त्याग करने योग्य, कृपा लज्जा, हानि वृद्धि, गुण और दोष आदि कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥ १०१-१०२ ॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिये यह तो उत्तम मार्ग है परंतु स्त्रियां धर्म और कामसे धन खरीदती हैं उनकी बढी हुई इस लोलुपतापर (तृष्णापर) धिक्कार हो ॥१०३॥ विष वीछूकी पूंछपर रहता है और सर्पके मुंहमें रहता है परंतु जिनकी इच्छायें बुरी हैं दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके शरीरमें सब ओर विषम अर्थात् जो मंत्र तंत्र आदिसे भी न उतर सके ऐसा विष भरा रहता है ॥ १०४ ॥ खोटी श्रुतियोंके (कुशास्त्रोंके) समान इन स्त्रियोंके ऊपरसे सच्चे दिखनेवाले किंतु वास्तवमें झूठे ऐसे नमस्कारोंसे जो बुद्धिमान नहीं ठगे गये हैं, इन स्त्रियोंसे बिलकुल बच गये हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं। भावार्थ—जैसे कुशास्त्रसे जो ठगाये नहीं जाते बचे रहते हैं वेही मुक्त होते हैं इसीतरह जो इन स्त्रियोंसे ठगे नहीं जाते बचे रहते हैं वे ही बुद्धिमान् मुक्त होते हैं ॥ १०५ ॥

गाधसरितां यथा॥१०६॥जालकैरिंद्रजालेन वंच्या ग्राम्या हि मायया। ताभिः सेंद्रो गुरुर्वंच्यस्तन्मायामातरः स्त्रियः॥१०७॥ताः श्रयते गुणानैव नाशभीत्या यदि श्रिताः। तिष्ठंति न चिरं प्रांते नश्यंत्यपि च ते स्थिताः॥१०८॥दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः। तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः॥१०९ निर्गुणान्गुणिनो मतु गुणिनः खलु निर्गुणान्। नाशक्तपरमात्माऽपि मन्यंते ता हि हलेया ॥ ११० ॥ मोक्षो गुणमयो नित्यो दोषवत्यस्त्रियश्चलाः। तासां नेच्छंति निर्वाणमत एवाप्तसूक्तिषु ॥ १११ ॥ लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिर्मुक्तिस्त्वमिति विश्रुताः। दुर्लभास्तासु वल्लीषु कल्पवल्ल्य इव प्रिये ॥११२॥

जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या पूछना है अर्थात् उनका क्रोध भयंकर है इसमें आश्चर्य ही क्या है। जैसे अत्यंत गहरी नदीकी प्रसन्नता वा निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर घुसाकर मारती है ॥ १०६ ॥ इंद्रजाल करनेवाले अपने इंद्रजालसे माया वा ठगविद्या उत्पन्नकर ग्रामीण वा मूर्ख देहाती लोगोंको ही ठगा करते हैं परंतु स्त्रियां इंद्र सहित उसके गुरु वृहस्पतिको भी ठग लेती हैं इसलिये कहना चाहिये कि स्त्रियां मायाचारकी मातायें हैं, मायाचार सब उन्हींसे उत्पन्न हुआ है ॥ १०७ ॥ उत्तम गुण कभी स्त्रियोंका आश्रय नहीं लेते, कदाचित् किसीका आश्रय न मिलनेसे अपना नाश होनेके भयसे उनका आश्रय लें तो वे वहुत दिनतक नहीं ठहरते, कदाचित् कुछ देरके लिये ठहर भी जायं तो अंतमें वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८ ॥ तथा दोषोंका तो पूछना ही क्या है वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा क्या दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा स्त्रियां ही दोषोंसे उत्पन्न होती हैं इसबातका निश्चय इस संसारमें किसीको भी नहीं हुआ है ॥ १०९ ॥ निर्गुणियोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिये परमात्मा भी समर्थ नहीं है परंतु वे स्त्रियां बहुत सहज रीतिसे ऐसा मान लेती हैं ॥ ११० ॥ मोक्ष गुणस्वरूप और नित्य है तथा स्त्रियां चंचल और दोषस्वरूप हैं इसलिये ही श्रीअरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें स्त्रियोंको मुक्त होना नहीं माना गया है ॥ १११ ॥ हे प्रिये ! जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसीप्रकार स्त्रियों-

इत्येतद्वाह तच्छ्रुत्वा तं जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिंतितं पापं मया पापापलापतः ॥ ११३ ॥ आर्याणामपि धर्मभूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिना का विचारणा ॥११४॥ भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽयं भविष्यति भवांतकः। तन्नास्य भयमन्येभ्यो भयमेतद्भयैषिणा ॥११५॥ अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गादस्य सोऽप्यभूत् । ममेह मुक्तिपर्यंतो नान्यत्सत्संगमाद्धितं ॥ ११६ ॥ इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदी जयं स्वयं । रत्नैरनर्घ्यैः संपूज्य स्वप्रपंचं निगद्य च ॥ ११७ ॥ मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ गतः । हंताऽप्यूर्जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयावहः ॥ ११८॥

में लक्ष्मी सरस्वती कीर्ति मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियां बहुत ही दुर्लभ हैं ॥ ११२ ॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा उसे सुनकर उस जयकुमारको मारनेकी इच्छा करनेवाला वह सर्प उससमय अपने मनमें कहने लगा कि देखो उस स्त्रीने पाप छिपाया इसलिये मुझ पापीने यह पाप चिंतवन किया ॥ ११३ ॥ जो कार्यके जाननेवाले हैं वे सज्जनोंके वचनोंपर भी एकवार फिर विचार करते हैं फिर त्याग करनेयोग्य ऐसी स्त्रीके वचनोंकी तो बात ही क्या है उनपर तो अवश्य विचार करना चाहिये परंतु कामी पुरुषोंको यह विचार कहां ! ॥ ११४ ॥ यह भव्य जीव (जय कुमार) इसी भवमें संसारका नाशकर मुक्त होगा इसलिये इसे अन्य लोगोंसे कुछ भय होनेवाला नहीं है जो इसे भय देना चाहते हैं उन्हींको यह भय है ॥ ११५ ॥ मैं कहां ? और यह धर्म कहां ? वह धर्म भी मुझे इसके संबंधसे प्राप्त हुआ इसलिये इस संसारमें मुझे मोक्ष होनेतक सज्जनोंके समागमके सिवाय और कुछ कल्याण करनेवाला नहीं है ॥ ११६ ॥ इस प्रकार विचारकर वह शांत हुआ, जयकुमारके उपकारको जानकर बहुमूल्य रत्नोंसे स्वयं उसकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुये थे वे सब उससे कहे और अपने किसी कार्यमें मुझे स्मरण करना ऐसा कहकर वह अपने स्थानको लौट गया, सो ठीक ही है क्योंकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी उसका कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७-११८ ॥ जिसका पराक्रम व्यक्त है ऐसा वह जयकुमार चक्रवर्तीके

स चक्रिणा सहाक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तविक्रमः । क्रमान्नियम्य व्यायामं संयमीव शमं श्रितः ॥११९॥ ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि गुणाकरः । सुसर्वांगोऽप्यनंगाभः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥ १२० ॥ अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव विश्रुतः । पिंडीभूता भयात्काललुटाकादिव भोगभूः ॥१२१॥ तदाऽपि खलु विद्यंते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । द्रुमाः कल्पद्रुमाभासाश्चित्रास्तत्र क्वाचित्क्वाचित् ॥ १२२ ॥ तत्रैवाभीष्टमावर्ज्य यत्तत्रैवानुभूयते । स तज्जेतेति निःशंकं शंके स्वर्गापवर्गयोः ॥ १२३ ॥ वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरीं पुरीं । अमानैस्ताद्विमानानि स्वसौधैरिव साऽहसीत् ॥१२४ ॥

साथ साथ सब दिशाओंपर आक्रमणकर और अनुक्रमसे चारोंओरका फिरना बंद कर संयमीके समान शांतताका आश्रय करने लगा ॥ ११९ ॥ यद्यपि वह सौम्य वा शांत था तथापि उसका प्रताप प्रज्वलित हो रहा था, यद्यपि वह निर्गुण अर्थात् गौणतारहित वा सबमें मुख्य था तथापि वह गुणाकर अर्थात् गुणोंकी खानि था और सुसर्वांग अर्थात् जिसके सब अंग सुंदर हैं ऐसा होकर भी अनंगाभ (शरीर रहित) अर्थात् कामदेवके समान था, ऐसा वह राजा जयकुमार बडे सुखसे अपने नगरमें निवास करता था ॥ १२० ॥ अथानंतर–इसी भरत क्षेत्रमें एक प्रसिद्ध और बहुत बडा काशी नामका देश है जो कि ऐसा जान पडता है मानों कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह इकट्ठी हो गई हो ॥ १२१ ॥ वहांपर कहीं कहीं उस समय भी कल्पलताओंसे घिरे हुये ऐसे कल्पवृक्षोंके समान अनेक तरहके वृक्ष विद्यमान थे ॥ १२२ ॥ चूंकि अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर उन वस्तुओंका उसी देशमें अनुभव किया जाता था इसलिये मैं ऐसा मानता हूं कि वह काशी देश निःसंदेह स्वर्ग मोक्षका जीतनेवाला था भावार्थ–स्वर्गादिमें तो पहिले कियेका फल मिलता है परंतु वहांपर उसी देशमें किये हुयेका फल मिलता था ॥ १२३ ॥ उसी काशी देशमें एक वाराणसी नगरी थी जो कि ऐसी जान पडती थी मानों अपने अगणित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसी अमरपुरीके विमानोंकी ओर हंस रही हो ॥ १२४ ॥ जिसने पहिले जन्ममें पापकर्म किये हैं वह

प्राक् समुच्चितदुष्कर्मा न तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यात्किं पापी मनस्यपि ॥ १२५ ॥ एवं भवत्रयश्रेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव साऽन्यस्थानप्यवीवृतत् ॥ १२६ ॥ नाम्नैव कंपितारातिस्तस्याः पतिरकंपनः । विनीत इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसंपदः ॥ १२७ ॥ पुरोपार्जितपुण्यस्य वर्द्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः किंतु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥ १२८ ॥ न हर्ता केवलं दाता न हंता पाति केवलं । सर्वास्तत्पालयामास स धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥ पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सौ तस्य कुलवृद्धता ॥ १३० ॥

उस नगरीमें कभी उत्पन्न होने योग्य नहीं हो सकता तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता है ? कभी नहीं ॥ १२५ ॥ इसप्रकार तीनों भवोंके कल्याणोंको सूचित करनेवाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्ममार्गमें प्रवृत्त कराती थी । भावार्थ—उसे देखकर अथवा वहां आकर दूसरी जगहके लोग भी धर्म सेवन करते थे ॥ १२६ ॥ जिसप्रकार विनयवान मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसीप्रकार जिसमें अपनी इच्छानुसार पदार्थ और संपदायें भरी हुई हैं ऐसी उस नगरीका स्वामी राजा अकंपन था जो कि अपने नामसे ही शत्रुओंको कंपित करनेवाला था ॥ १२७ ॥ जिसने पहिले जन्ममें पुण्य उपार्जन किया है ऐसे उस राजाकी नीति केवल लक्ष्मीके बढाने अथवा उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किंतु वह धर्म और काममें भी काम आती थी ॥ १२८ ॥ वह राजा प्रजासे केवल कर वसूल करनेवाला ही नहीं था किंतु प्रजाको देता भी था, इसीतरह वह केवल दंड देनेवाला ही नहीं था किंतु प्रजाकी रक्षा भी करता था । इसतरह धर्मके प्रसादसे विजय पानेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥ १२९ ॥ महाराज भरत जिस प्रकार परमात्मपदमें-मोक्षमार्गमें श्रीवृषभदेवको पूज्य मानता था उसीप्रकार वह गृहस्थाश्रममें अकंपनको पूज्य मानता था यही उसके कुलका वडप्पन था ॥ १३० ॥ उस राजाके सुप्रभा नामकी देवी थी जो कि चंद्रमाकी प्रभाके

तस्यासीत्सुप्रभा देवी शीतांशोर्वा प्रभा तया । मुमुदे कुमुदाबोधं विदधत्स कलाश्रयः ॥१३१॥ न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै सती सा सुप्रजा यथा । सत्फला इव सद्वल्ल्यः पुत्रवत्यस्त्रियः प्रियाः ॥ १३२ ॥ तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्यैवाशवो रवेः । प्राच्या दीप्त्याप्तदिक्चक्राः सहस्रमभवन्सुताः ॥ १३३ ॥ हेमागदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्याह्वयैः स तैः । वेष्टितः सन्यदीपिष्ट शक्रः सामानिकैरिव ॥ १३४ ॥ हिमवत्पद्मयोर्गंगासिन्धू इव ततस्तयोः । सुते सुलोचनालक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥ १३५ ॥ सुलोचनाऽसौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ट चंद्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥ १३६॥ सुमत्याख्याऽ

समान थी । जिसप्रकार चंद्रमा अपनी प्रभाके साथ अनेक कलाओंके आश्रित होकर कुमुदाबोध अर्थात् कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करता हुआ प्रसन्न (स्वच्छ) रहता है उसीप्रकार वह राजा भी उस देवीके साथ अनेक कलाओंके आश्रित होकर अर्थात् अनेक कलाओंको जानता हुआ तथा कु-मुद्-आबोध अर्थात् पृथ्वीमें हर्ष और चारोंओर ज्ञानका विस्तार करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥ १३१ ॥ अच्छी संतान उत्पन्न करनेवाली वह सुप्रभा देवी जिसतरह राजाको आनंदित करती थी उसतरह लक्ष्मी भी उसे आनंदित नहीं कर सकती थी, और जिसप्रकार अच्छे फल लगनेवाली अच्छी वेल (लता) प्रिय होती है उसीतरह अनेक पुत्रोंवाली वह स्त्री भी बहुत ही प्रिय थी ॥१३२॥ जिसप्रकार पूर्वदिशासे सब दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसीप्रकार उस सुप्रभा देवीसे उस नाथवंशके शिरोमणि राजा अकंपनके अपनी कांति वा तेजसे ही सब दिशाओंको वश करनेवाले एक हजार पुत्र हुये थे ॥ १३३ ॥ जिसप्रकार सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इंद्र सुशोभित होता है उसीप्रकार हेमांगद सुकेतुश्री और सुकांत आदि उनपुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा अकंपन सुशोभित होता था ॥ १३४ ॥ जिसप्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म सरोवरसे गंगा और सिंधू दो नदियां निकलती हैं उसीप्रकार उन दोनों राजा रानियोंके सुलोचना और लक्ष्मीमती ये दो शुभ लक्षणोंवाली कन्यायें उत्पन्न हुई थीं ॥ १३५ ॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके

मलाः शुक्लनिशेवावर्द्धयत्कलाः । धात्री शशाकरेखायास्तस्याः साऽतिमनोहराः ॥ १३७ ॥ अभूद्रागी स्वयं रागस्तत्क्रमाब्जे समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात्स्वोचितस्थानसंश्रयः ॥ १३८ ॥ नखेदुचद्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादयच्चित्रमनुवृत्त्या क्रमाब्जयोः ॥ १३९ ॥ रेजुरंगुलयस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयंत इति मद्वेगाः स्मरेणेव निवेशिताः ॥ १४० ॥ नताशेषो जयः स्नेहादनसींत्ते ततस्तयो. । या श्रीः क्रमाब्ज-

समान सबतरह मनोहर थी और जिसप्रकार कलाओंके बढनेसे चांदनी बढती है उसीप्रकार कला और गुणोंसे बढती हुई वह बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १३६ ॥ जिस प्रकार शुक्लपक्षकी रात्रि चंद्रमाकी रेखाओंकी अत्यंत मनोहर किरणोंको बढाती है उसीप्रकार सुमति नामकी धाय अत्यंत मनोहर ऐसी उस सुलोचनाकी निर्मल कलाओंको बढाती थी ॥ १३७ ॥ राग (लालिमा) उस सुलोचनाके चरणकमलोंका आश्रय पाकर अपने आप रागी अर्थात् प्रेम करनेवाला अथवा लाल गुण सहित होगया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानकी प्राप्ति होना भला किसके लिये राग उत्पन्न करनेवाला नहीं होता ॥ १३८ ॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चंद्रमाकी चांदनी दोनों चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय, अर्थात् कमोदिनियोंको अथवा कु-वलय अर्थात् पृथ्वी मंडलको सदा प्रफुल्लित करती रहती थी । भावार्थ—चांदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं होती वह कमलोंको मुदा देती है परंतु उसके नखरूपी चंद्रमाकी चांदनी दोनों चरण कमलोंके अनुकूल रहकर भी कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करती थी अथवा पृथ्वीमंडलको प्रसन्न करती थी यही आश्चर्य है॥ १३९ ॥ उसके दोनों पैरोंकी दश उंगलियां नखोंकी कांतिसे बहुत ही सुशोभित होती थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने स्थापन की हों । भावार्थ—चिंता, एक दूसरेको देखनेकी इच्छा, दीर्घश्वास, ज्वर, शरीरदाह, अरुचि, मूर्च्छा, उन्मत्तपना, जीनेका संदेह और मृत्यु ये दश कामके वेग वा अवस्थायें हैं तथा उंगलियां भी दश हैं इसलिये वे ऐसी जान

योस्त स्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥ १४१ ॥ न स्थूले न कृशे नर्जू न वक्रे न च संकटे । विकटे न च तज्जंघे शोभाऽन्यैवैनयोरसौ ॥ १४२ ॥ कांचीस्थानं तदालोच्येवोरू स्थूले सुसगते । कामगर्भगृहद्वारस्तम्भयष्टयाकृती कृते ॥ १४३ ॥ वेदिकेव मनोजस्य शिरोवा स्मरदातिनः । सानुर्त्वाऽनंगशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटं ॥ १४४ ॥ कृत्वा कृशं भृशं मध्य बद्ध भंगभयादिव । रज्जुभिस्तिसृभिर्धात्रा वलिभिर्गाढमावभौ ॥ १४५ ॥ नाभिकूपप्रवृत्ताऽस्या रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाद्वलमालेव रोमराजिर्व्यराजत ॥ १४६॥ भिन्नौ युक्तौ मृदू स्तब्धावुष्णौ सतापहारिणौ । स्तनौ विरुद्धधर्माणौ

पडती थीं मानों कामदेवने अपनी दश अवस्थायें ही स्थापन की हों ॥ १४० ॥ जिनको सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी थोडे दिन बाद बडे प्रेमसे जिन्हें नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोंनो चरणकमलोंमें जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? कभी नहीं ॥ १४१ ॥ उसकी दोनों जंघायें न स्थूल थीं न कृश थीं, न सीधी थीं न टेडी थीं और न सटी हुई थीं न दूर दूर थीं, उसकी उन दोनों जंघाओंकी शोभा एक निराली ही थी ॥ १४२ ॥ उसके करधनी पहननेके स्थानको अर्थात् कमरको देखकर ही मानों दोनों आपसमें सटे हुये, स्थूल और कामदेवके गर्भगृहके दरवाजेके खंभोंकी लकडीके समान दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरी भाग) बनाये गये थे ॥ १४३ ॥ उसका कटीतट वा नितंब भाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेव रूपी पर्वतका शिखर ही हो ॥ १४४ ॥ उसका मध्यभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों विधाताने पहिले तो उसे अत्यंत कृश बनाया हो और फिर टूटनेके डरसे त्रिवली रूपी तीन रस्सियोंसे खूब कसकर बांधा हो ॥ १४५ ॥ नाभिरूपी कुए से निकली हुई उसकी रोमराजी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों जलमार्गसे निकली हुई हरी हरी छोटी छोटी घासकी पंक्ति ही हो ॥ १४६ ॥ उसके स्तन भिन्न भिन्न होकर भी एक दूसरेसे मिले हुये थे, कोमल होकर भी कठिन थे और उष्ण होकर भी संतापको दूर करनेवाले थे, इसतरह

स्याद्वादयितिमूहतुः ॥ १४७ ॥ सह वक्षोनिवासिन्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताभ्या वर्ण्येते तद्भुजौ कथं ॥ १४८ ॥ वीरलक्ष्मी-परिष्वक्तजयदक्षिणवाहुना । सवामेन परिष्वक्तस्तत्कण्ठस्तस्य कोपमा ॥ १४९ ॥ निःकृपौ पेशलौ श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः । कातौ कलभदंताभौ जयवक्त्राब्जदर्पणौ ॥ १५० ॥ वटार्विंवप्रवालादि नोपमेयमपीष्यते । अधरस्यातिदूरत्वाद्वर्णाकाररसादिभिः ॥ १५१ ॥ चिताः सिताः समाः स्निग्धा दताः कांताः प्रभान्विताः । अंतःकरोति तद्वक्त्रं तानेव कथमन्यथा ॥ १५२ ॥ कुतः कृता समुत्तुगा स्वादमानाऽऽस्यसौरभं । मध्येवक्त्र किमध्यास्ते

विरुद्ध धर्मोंको धारण करते हुये उसके स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण करते थे ॥ १४७ ॥ चूंकि उसकी दोनों भुजाओंने वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिंगनकर जयकुमार को स्वीकार किया है इसलिये उसकी दोनों भुजाओंका वर्णन भला कैसे किया जासकता है ॥१४८॥ उसका कंठ जयकुमारके बांये हाथके साथ साथ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित ऐसे उसके [जयके] दायें हाथ से आलिंगन किया गया था इसलिये उसकी उपमा संसारमें किसके साथ दी जा सकती है? भावार्थ—वह उपमा रहित था ॥ १४९ ॥ निर्दय अर्थात् लोगोंको संताप उत्पन्न करनेवाले, कोमल चिकने और मनोहर उसके दोनों कपोल ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों हाथीके वचेके दांत ही हों, अथवा जयकुमारका मुख कमल देखनेके लिये दर्पण ही हों ॥ १५० ॥ बडकी नई कोंपल, बिंबीफल, और मूंगा आदि चीजें वर्ण, आकार, और रस आदिमें ओठोंसे बहुत दूर हैं अर्थात् उसके ओठोंके समान न तो इनका वर्ण है न रस है और न आकार है इसलिये ही उसके ओठोंको इनमेंसे किसीकी उपमा नहीं दी गई है ॥ १५१ ॥ अवश्य ही उसके दांत छिद्ररहित (बीच बीचमें अंतर रहित) थे, सफेद उज्वल थे, समान थे, कोमल थे, मनोहर थे और कांतिवाले थे, यदि वे ऐसे प्रशंसनीय न होते तो सुलोचनाका मुख उन्हें भीतर ही क्यों रखता ? ॥ १५२ ॥ मुखकी सुगंधिको सूंघती हुई उसकी नाक यदि अच्छी न होती तो वह इतनी ऊंची क्यों बनाई जाती, तथा मुखके बीचमें ही कैसे बनाई जाती ॥ १५३ ॥

न सती यदि नासिका ॥ १५३ ॥ कर्णांतगामिनी नेत्रे वृद्धे नरशरोपमे । सोमवंशस्य कः क्षेपः पद्मोत्पलजये तयोः ॥ १५४ ॥ तत्कर्णावेव कर्णेषु कृतपुण्यौ प्रियाज्ञया । तत्प्रेमालापनीतानां पात्रं प्रागेव तौ यतः ॥ १५५ ॥ तद्भ्रूशरासनः कामस्तत्कटाक्षशरावलिः । स्वरूपेणाजितं मत्वा जयं मन्ये व्यजेष्ट सः ॥ १५६॥ तस्या लालाटिको नैकः कामो वीराग्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोन्नतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः॥ १५७॥ मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुंचिताः । कामिना केवलं कालबालव्यालाः शिरोरुहाः ॥ १५८ ॥ भाति तस्याः पुरोभागो भूषितो नयनादिभिः । सुरूप इव

अर्जुनके बाणके समान कर्णके (अर्जुनके शत्रु राजा कर्णके अथवा कानके) समीपतक जाने वाले उसके दोनों नेत्र बडे ही विशाल थे, उन्होंने नीलकमल और लाल कमल दोनों ही जीत लिये थे फिर भला सोमवंश अर्थात् चंद्रमापर कौनसा तिरस्कार करना बाकी रह गया था अथवा सोमवंश अर्थात् जयकुमार पर कौनसा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ॥ १५४ ॥ उसके दोनों ही कान सब कानोंमें पुण्यवान् थे क्योंकि वे पहिलेसे ही अपने प्रिय जयकुमारसे उसके प्रेम संभाषण और गीत सुननेके पात्र हो गये थे॥ १५५ ॥ मैं तो ऐसा मानता हूं कि कामदेव अपने रूपसे जयकुमारको नहीं जीत सका था इसलिये उसे अजीत जानकर सुलोचनाके भौंह रूपी धनुष और उसके कटाक्षरूपी बहुतसे बाणोंसे ही उसने जयकुमारको जीता था ॥ १५६ ॥ उस सुलोचनाका लालाटिक अर्थात् अभिप्रायोंको जाननेवाला सेवक अकेला कामदेव ही नहीं था किंतु सब वीरोंमें मुख्य ऐसा जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला अच्छी शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति ऊंचापन अथवा उत्तमता कैसे नहीं होसकती ? ॥ १५७ ॥ अत्यंत कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ टेडे ऐसे उसके शिरके बाल कामी लोगोंको केवल काले सापोंके बच्चोंके समान जान पडते थे ॥ १५८ ॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे सुशोभित होकर सुंदर जान पडता था और पीछेका भाग किसी सुंदर वस्तुके समान अपने आप सुशोभित होता था॥ १५९ ॥

पाश्चात्यो वाभाति स्वयमेव सः ॥ १५९ ॥ ये तस्यास्तनुनिर्माणे वेधसा साधनीकृताः । अणवस्तृणवच्छेषास्त एव परमाणवः ॥ १६० ॥ अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माऽहिगोचरः । पूर्णः शेषोऽप्यसपूर्णो न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥ १६१ ॥ न पश्चान्न पुरा लक्ष्मीर्बोध्रौ पद्मे क्षणे क्षणे । वक्त्यन्या गृह्णती शोभां सा स्याद्वादं तदानने ॥ १६२ ॥ चंद्रे तीव्रकरोत्सन्ना पद्मे शीतकराहता । लक्ष्मीःसाऽन्यैव तद्वक्त्रे जयलक्ष्मीकरग्रहात् ॥ १६३ ॥ रात्राविंदुर्दिवाऽभोजं क्षयींदुर्ग्लानि वारिजं । पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भात्यहर्निशं ॥ १६४ ॥ लक्ष्मीस्तस्येक्षितुस्तेन वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं

नाम कर्मरूपी विधाता उस सुलोचनाका शरीर बनानेमें जिन परमाणुओंको काममें लाया था वे ही अणु वास्तवमें परमाणु अर्थात् उत्तम अणु थे, उनसे बाकी बचेहुये अणु सब तृणके समान व्यर्थ थे॥१६०॥ चंद्रमा वास्तवमें उसके मुखके समान अथवा मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि चंद्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत बडा है, तुरंत ही उसका क्षय होनेवाला है, कलंक उसका साफ दिखाई देता है और राहु उसे दबा सकता है, यदि बाकीके चंद्रमाकी उपमा दें तो अधूरा ही है। भावार्थ—उसका मुख पूर्ण निष्कलंक और सदा एकसा रहनेवाला सुंदर था, चंद्रमा किसी हालतमें ऐसा नहीं है इसलिये वह उसकी उपमाके योग्य भी नहीं है ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा देवें सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमें प्रफुलित होनेके पहिले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण क्षण में विकासित होती रहती है परंतु एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई उसके मुखकी लक्ष्मी उसके मुखपर स्याद्वादका स्वरूप प्रगट करती थी। भावार्थ—उसके मुखकी शोभा सदा एकसी रहकर भी क्षणक्षणमें विलक्षण शोभाको धारण करती थी इसलिये ही वह कमलकी शोभासे अच्छी थी और स्याद्वादका स्वरूप प्रगट करती थी ॥१६२॥ चंद्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट होजाती है और कमलकी शोभा चंद्रमासे नष्ट होजाती है परंतु जयकुमारकी लक्ष्मीकी शोभाका हाथ पकड लेनेसे उसके मुखकी शोभा एक विलक्षण ही हो गई थी भावार्थ-उसके मुखकी शोभा चंद्रमा और कमलकी शोभासे भी बहुत बढी हुई थी ॥१६३॥ चंद्रमा रातमें ही रहता है और कमल दि-

पद्मे तादृशं येन तद्वक्त्रमुपमीयते ॥ १६५ ॥ कुमार्या त्रिजगज्जेता जितः पुष्पशरासनः । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्रतोऽनया ॥ १६६॥ कुमार्यैव जितः कामो वीरः पश्चाज्जयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सह श्रिया ॥१६७॥ मृगाकस्य कलंकोऽयं मन्येऽह कन्ययाऽनया । स्वकांत्या निर्जितस्याभूद्रोगराजश्च चिंतया ॥ १६८ ॥ सार्धं कुवलयेनेंदुः सह लक्ष्म्या सरोरुहं । तद्वक्त्रेण जित व्यक्त किमन्यन्नेह जीयते ॥ १६९ ॥

नमें ही प्रफुल्लित रहता है तथा चंद्रमा क्षीण होता रहता है और कमल मुरझा जाता है, परंतु उसका मुख सदा पूर्ण ही था, सदा प्रफुल्लित ही रहता था और रात दिन सुशोभित रहता था ॥१६४॥ उस सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसके मुखकी शोभा भी बढ जाती थी अर्थात् उसे देखकर वह प्रसन्न हो जाता था और वह मुख जिसे देखता था निश्चयसे उसके मुखकी शोभा भी बढ जाती थी अर्थात् वह भी प्रसन्न हो जाता था । क्या कमलमें यह ऐसा गुण है जो उसके साथ सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥ १६५ ॥ इसने कुमारी अवस्थामें ही तीनों जगतको जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें दूसरा ऐसा कौनसा वीर था जिसे यह आगे युवावस्थामें न जीत सके ॥ १६६ ॥ इसने बालक अवस्थामें ही कामदेवको जीत लिया था और फिर तरुणावस्थामें वीर जयकुमारको जीता था, फिर भला इसके जीतनेके लिये लक्ष्मीके साथ स्त्रियोंकी सृष्टिमें कितनी बाकी थीं ? भावार्थ--लक्ष्मी आदि सब स्त्रियोंको उसने जीत लिया था ॥ १६७ ॥ चंद्रमामें जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूं मानों इस कन्याने अपनी कांतिसे चंद्रमाको जीत लिया है इसलिये उसे चिंताके कारण राजयक्ष्मा (क्षय) रोग ही हो गया हो ॥ १६८ ॥ उस सुलोचनाके मुखने कमोदिनियोंके साथ चंद्रमाको जीत लिया था और लक्ष्मी वा शोभाके साथ साथ कमलको प्रगट रीतिसे जीत लिया था, फिर भला इस संसारमें और कौनसा पदार्थ है जिसे वह जीत न सके ॥ १६९ ॥ मुझे तो यही विश्वास है कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके

जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तु तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति ॥ १७० ॥ शनैर्बालेंदुरेखेव सा कलाभिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभास्पर्धिनो गुणाः ॥ १७१ ॥ इति सपूर्णसर्वांगशोभा शुद्धान्ववायजा । स्मरो जयभयाद्वै तां न तदाऽप्यकरोत्करे ॥ १७२॥ कारयती जिनेंद्रार्चाश्चित्रा मणिमयीर्बह्वः । तासां हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥ १७३ ॥ तत्प्रतिष्ठाभिषेकांते महापूजाः प्रकुर्वती । मुहुस्तुतिभिरर्थ्याभिः स्तुवती भक्तितोऽर्हतः ॥ १७४ ॥ ददती पात्रदानानि मानयंती महामुनीन् । शृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयती मुहुर्मुहुः ॥ १७५ ॥

लिये जल कमल तो जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोंके द्वारा आजतक तपश्चरण करता है ॥ १७० ॥ द्वितियाके चंद्रमाकी रेखाके समान वह सुलोचना धीरे धीरे कलाओंके द्वारा वढती थी और ज्यों ज्यों बढती जाती थी त्यों त्यों चंद्रमाकी कांतिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके निर्मल गुण बढते जाते थे ॥ १७१ ॥ इसप्रकार जो शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई है और जो समस्त अंगोंकी पूर्ण शोभासे सुशोभित है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे अथवा यह मुझे हरा देगी इसी भयसे तरुण अवस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर सका था ॥ १७२ ॥ उस सुलोचनाने श्रीजिनेंद्रदेवकी अनेक तरहकी और बहुतसी मणियोंकी प्रतिमायें बनवाई थीं तथा उन प्रतिमाओंके सब उपकरण भी सुवर्णके ही बनावाये थे ॥ १७३ ॥ उन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराई थी, प्रतिष्ठाके अभिषेकके अंतमें महा पूजा करती थी तथा उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरेहुये स्तोत्रोंके द्वारा भक्ति पूर्वक बार बार अरहंत देवकी स्तुति करती थी ॥ १७४ ॥ पात्रोंको दान देती थी, महामुनियोंकी पूजा करती थी, धर्मको सुनती थी और धर्मको सुनकर तथा सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको पाकर आप्त आगम और पदार्थोंको बार बार चिंतवन करती थी ॥ १७५॥. ॥

अथानंतर—फाल्गुन महीनेकी अष्टान्हिकामें उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी अष्टान्हिकाकी पूजा की, विधि पूर्वक प्रतिमाओंकी पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी शेषा [पूजाके बचे हुये

आसांगमपदार्थाश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका । अथ फाल्गुननंदीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनां ॥ १७६ ॥ विधायाष्टाह्निकीं पूजामभ्यर्च्यार्चां यथाविधि । कृतोपवासा तन्वंगी शेषान् दातुमुपागता ॥ १७७ ॥ नृप सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृतांजलिः । तद्दत्तशेषानादाय निधाय शिरसि स्वयं ॥ १७८ ॥ उपवासपरिश्रांता पुत्रिके त्वं प्रयाहि ते । शरणं पारणाकाल इति कन्यां विसर्जयत् ॥ १७९ ॥ तां विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनां । निर्विकारां सचिंतः सन् तस्याः परिणयोत्सवे ॥ १८० ॥ शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन् । कोष्ठादिमतिभेदान्वा दिने व्याहूय मंत्रिणः ॥ १८१ ॥ वृण्वते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुल जीवितं । ब्रूत कस्मै प्रदास्यामो विमृश्येमां सुलोचनां ॥ १८२ ॥ इत्यप्राक्षीत्तदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सद्बधुसबंधो जामाताऽत्र महान्वयः ॥ १८३ ॥ सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राय जन्मराज्यफलं च नः ।

अक्षत] देनेके लिये सिंहासनपर विराजमान अपने पिता अकंपनके समीप गई, महाराजने भी उठकर और हाथ जोडकर उसके दिये हुये शेषाक्षत ग्रहण किये, उन्हें स्वयं अपने मस्तकपर रक्खा और कहा कि हे पुत्री तू उपवाससे कुछ खिन्न होगई है, अब तू घर जा, यह तेरे पारणाका समय है, इसप्रकार कह महाराजने कन्याको विदा किया ॥१७६-१७७-१७८-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनताको प्राप्त हुई और विकार रहित ऐसी उस कन्याको देखकर उसके विवाहका उत्सव करनेकेलिये चिंता करने लगा॥१८० उसने किसी शुभदिन कोष्टबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारि और संभिन्नश्रोतृ इन चारों बुद्धियोंके समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मंत्रियोंको बुलाया ॥१८१॥और कहा कि कुलके प्राणके समान इस मेरी कन्या सुलोचनाकेलिये सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इसलिये तुमलोग विचारकर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ॥ १८२ ॥ इसप्रकार पूछनेपर शास्त्रोंका समुद्र ऐसा श्रुतार्थ नामका मंत्री कहने लगा कि इस विवाहमें सज्जन भाइयोंका संबंध होना चाहिये जमाई बडे कुलका होना चाहिये ॥ १८३ ॥ इस विवाहमें बहुतसा धन खर्च होगा और हम लोगोंको अपने जन्म और राज्यका फल मिलेगा । इसलिये नयोंके जाननेमें विद्वान ऐसे लोगोंको यह कार्य बहुत विचारकर करना चा-

तत. संचिन्त्यमेवैतत्कार्यं नयविशारदैः ॥ १८४ ॥ बंधवः स्युर्नृपाः सर्वे संबंधश्चक्रवर्तिना । इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भवद्वंशश्च जायते ॥ १८५ ॥ कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकं । यद्वरेषु समन्वेष्यं सर्वं तत्तत्र पिंडित ॥ १८६ ॥ ततो नास्त्यत्र नश्चर्च्यं दिगंतव्याप्तकीर्त ये । जितार्कमूर्तये देया कन्यैषेत्यर्ककीर्तये ॥ १८७ ॥ सिद्धार्थोऽत्राह तत्सर्वमस्तु किंच पुराविदः । कनीयसोऽपि संबंध नेच्छंति ज्यायसा सह ॥ १८८ ॥ ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रभंजनो रथवरो बलिर्वज्रायुधाह्वयः ॥ १८९ ॥ मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽन्येऽप्युदितोदिताः । कतिनो बहवः संति तेषु यत्राशयोत्सवः ॥ १९० ॥ शिष्टान् पृष्ट्वा च दैवज्ञान्निरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः समसंबंधस्तस्मै कन्येति दीयता ॥ १९१ ॥ श्रुत्वा सर्वार्थवित्स-

हिये ॥ १८४ ॥ यदि चक्रवर्तीके साथ संबंध किया जाय तो सब राजा लोग अपने बंधु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकुवंशके समान पूज्य हो सकता है ॥ १८५ ॥ कुल रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा, और पौरुष आदि जो जो गुण वरमें ढूंढने चाहिये वे सब चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिमें ही इकट्ठे हो गये हैं ॥ १८६ ॥ इसलिये इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, जिसकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैल रही है और जो सूर्यके प्रतिबिंबको भी जीतता है ऐसे अर्ककीर्तिके लिये ही यह कन्या देनी चाहिये ॥ १८७ ॥ इसी अवसरपर सिद्धार्थ कहनेलगा कि यह आपका कहना सब ठीक है परंतु प्राचीन व्यवहारको जाननेवाले लोग छोटे लोगोंका बडेके साथ संबंध होनेको भी ठीक नहीं समझते हैं ॥ १८८ ॥ इसलिये जिनमें वरके योग्य गुण मौजूद हों ऐसे प्रभंजन, रथवर, बलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो कि एकसे एक बढकर ऐश्वर्यवाले हैं तथा चतुर हैं उनमें जिसकेलिये अपना चित्त प्रसन्न हो उस राजपुत्रके लिये शिष्ट तथा ज्योतिषियोंको पूछकर और सबतरहके सगुन देखकर अपनी कन्या देनी चाहिये । इसतरह बराबरीवालोंके साथ संबंध करनेसे ही अपना कल्याण हो सकता है॥ १८९-१९१॥ यह सब सुनकर सब विषयोंको जाननेवाला सर्वार्थ नामका मंत्री कहने लगा कि भूमिगोचरियोंके साथ

वै सर्वार्थः प्रत्युवाच तं । भूमिगोचरसंबंधः सः नः प्रागपि विद्यते ॥ १९२ ॥ अपूर्वः लाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिद्देये-यमिति निश्चितं ॥ १९३ ॥ सुमतिस्त निशम्यार्थं युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत्सर्वं वैरानुबंधकृत् ॥ १९४ ॥ किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेतसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किंचिद्वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः ॥ १९५ ॥ दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुतः पूर्वपुराणेषु स्वयंवर विधिर्वरः ॥ १९६ ॥ संप्रत्यकंपनोपक्रमं तदस्त्वायुगावधि । पुरुतत्पुत्रवत्सृष्टिख्यातिरस्यापि जायता ॥ १९७ ॥ दीयता कृतपुण्याय कस्मैचित्कन्यका

तो हम लोगोंका संबंध पहिलेसे ही विद्यमान है परंतु विद्याधरोंके साथ संबंध करना प्रशंसनीय भी है और हमलोगोंके लिये एक अपूर्व लाभ भी है इसलिये विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिये यही मेरा निश्चित मत है ॥ १९२-१९३ ॥ तदनंतर वहांपर इकट्ठे हुये सब लोगोंका अभिप्राय सुनकर युक्तिको जाननेवाला सुमति नामका मंत्री कहने लगा कि इन सब बातोंका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सब बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं ॥ १९४ ॥ (किसी विद्याधरको कन्या दी है) यह बात सुनकर चक्रवर्ती भी क्या भूमिगोचरियोंमें इसके योग्य कोई वर नहीं है, यही समझकर अपने चित्तमें कुछ बुरा मानने लगेगा ॥ १९५ ॥ इस काममें किसीसे विरोध न करने वाला ऐसा एक बहुत ही अच्छा उपाय सोचा है और वह यह है कि पाहिलेके पुराणोंमें स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है ॥ १९६ ॥ यदि इस समय महाराज अकंपनके द्वारा प्रथम ही यह स्वयंवरकी विधि प्रारंभ की जाय तो भगवान श्रीवृषभदेवके समान अथवा उनके पुत्र महाराज भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी इस युगके अंततक हो जाय ॥ १९७ ॥ इसलिये स्वयंवरमें यह कन्या जिसे स्वयं स्वीकार करे उसी किसी पुण्यवानके लिये दे देनी चाहिये, ऐसा करनेसे ब्रह्मा अर्थात् वृषभदेव अथवा भरतके साथ भी हमलोगोंका कोई विरोध नहीं होगा और न राजाओंमें किसीके साथ कुछ विरोध होगा ॥ १९८ ॥ इसप्रकार सुमति मंत्रीने कहा और वह राजाके साथ साथ

स्वयम् । वेधसा विप्रियं नोऽमा माभूद्भूभृत्सु केनचित् ॥ १९८ ॥ इत्येवमुक्त तत्सर्वैः सम्मत सह भूभुजा । न हि मत्सरिणः संतो न्यायमार्गानुसारिण. ॥ १९९ ॥ तान् सपूज्य विसर्ज्याभूद्भूभृत्तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृह गत्वा सर्वं तत्साविधानकं ॥ २०० ॥ निवेद्य सुप्रभायाश्च हृष्टो हेमागदस्य च । वृद्धैः कुलक्रमायातैरालोच्य च सनाभिभिः ॥ २०१ ॥ अत्रैकेया निसृष्टार्थान् मितार्थानपरान्प्रति । परेषां प्राभृतांतःस्थपत्रशासनहारिणः ॥ २०२ ॥ स दानमानै. सपूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनं । समानेतुं महीपालान्सर्वदिक्ष समादिशत् ॥ २०३ ॥ ज्ञात्वा तदाशु तद्बंधुर्विचित्रागदसंज्ञक'। सौधर्मकल्पादागत्य देवोऽवधिविलोचनः ॥ २०४ ॥ अकंपनमहाराजमालोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः स्वयवरमवोक्षितु ॥ २०५ ॥

सब लोगोंने स्वीकार किया, सो ठीक ही है क्योंकि न्यायमार्गके अनुसार चलनेवाले सज्जन लोग कभी ईर्षा नहीं करते हैं ॥ १९९॥ तदनंतर राजाने उन सब मंत्रियोंको आदर सत्कारकर विदा किया और वह उसी स्वयंवरके कार्यमें तत्पर हुआ, वह स्वयं घर गया तथा वह सब समाचार उसने प्रसन्न होकर रानी सुप्रभा और बडे पुत्र हेमांगदको कह सुनाया, अपने कुलपरंपरामें जो वृद्ध पुरुष थे उनसे तथा अपने भाई बंधुओंसे इसका विचार किया ॥ २००–२०१ ॥ कितने ही राजाओंके पास अपने आप विचारकर काम करनेवाले दूतोंको भेजा, कितनों ही के पास कहे अनुसार उतना ही काम करनेवालोंको भेजा और कितनों ही के पास भेटके भीतर पत्र रखकर लेजानेवाले दूतोंको भेजा। राजाने उन सब दूतोंका दान सन्मानकर आदरसत्कार किया, यह स्वयंवरका अपना प्रयोजन कहा और सब राजाओंको बुलानेकेलिये उन्हें सब दिशाओंमें भेज दिया ॥ २०२–२०३ ॥ यह सब समाचार जानकर जिसे अवधिज्ञानरूपी नेत्र हैं ऐसा विचित्रांगद नामका महाराज अकंपनका भाई जो कि सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ था वह देव उस सौधर्मस्वर्गसे आया और महाराज अकंपनको देखकर उनसे कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिये आया हूं ॥ २०४–२०५ ॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप उत्तर दिशाकी ओर शांत विशाल

इत्युक्त्वोऽपपुरे योग्ये रम्ये राजाभिसम्मतः । ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे वरवास्तुनि ॥२०६॥ प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मंगलद्रव्यसभृतं । विवाहमंडपोपेतं प्रासादं बहुभूमिप ॥२०७॥ चित्रप्रतोलीप्राकारपरिकर्मगृहावृतं । भास्वरं मणिभर्मभ्यां विधाय विधिवत्सुधीः ॥ २०८ ॥ त परीत्य विशुद्धोरुसुविभक्तमहीतलं । चतुरस्रं चतुर्द्वारं शालगोपुरसयुतं ॥ २०९ ॥ रत्नतोरणसकीर्णकेतुमालाविलासितं । हटत्कूटाग्रनिर्भासिभर्मकुम्भाभिशोभितं ॥ २१० ॥ स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्दीप्तिधरातलं । विचित्रनेत्रविस्तीर्णवितानातिविराजितं॥२११॥भोगोपभोगयोग्योरुसर्ववस्तुसमाचितं । यथास्थानगताशेषरत्नकाचन-

---

मनोहर और योग्य स्थानमें सर्वतोभद्र नामका एक राजभवन बनाया, जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मंगलद्रव्योंसे भरा हुआ था, विवाह मंडपसे सुशोभित था तथा कई मंजिला था ॥ २०६-२०७ ॥ वह राजभवन अनेक तरहकी गलियां, कोट और शृंगार करनेके घरोंसे घिरा हुआ था, अत्यंत दैदीप्यमान था, तथा सुवर्ण और मणियोंसे बना हुआ था, इसप्रकारका वह राज भवन उस बुद्धिमानने विधिपूर्वक बनाया था ॥ २०८ ॥ उस राजभवनके चारोंओर एक स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बडा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग अलग भागोंमें बंटा हुआ था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे और कोट तथा कोटके चार वडे दरवाजोंसे सुशोभित था ॥ २०९ ॥ वह स्वयंवरका महाभवन रत्नोंके बने हुये तोरण और उनसे मिली हुई ध्व-जाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान था, ऊंचे शिखरोंके ऊपर चमकते हुये सुवर्णके कलशोंसे बहुत ही सुंदर दिखता था, वडे बडे नीलमणियोंसे बना हुआ, था उसका धरातल (आंगन) वहुत ही प्रकाशमान और दैदीप्यमान हो रहा था, अनेक तरहके नेत्र जातिके सुंदर वस्त्रोंसे बने हुये बडे बडे चंदोवोंसे बहुत ही सुशोभित था, भोगोपभोगके योग्य ऐसी समस्त वडी बडी वस्तुओंसे भरा हुआ था और अपने अपने योग्य स्थानपर जडे हुये सबतरहके रत्नोंसे तथा सुवर्णसे बना हुआ था, इस प्रकारका वह स्वयंवरका महाभवन उस देवने बडी प्रसन्नतासे बनाया था, सो ठीक ही है क्योंकि

निर्मितं ॥ २१२ ॥ मुदा निष्पादयामास स्वयंवरमहागृहं । न साधयंति केऽभीष्टं पुंसां शुभविपाकतः ॥ २१३ ॥ तं निरीक्ष्य क्षितेर्भर्त्ता लक्ष्मीलीलागृहायितं । नामात्स्वांगे स संतोषात्सन्मित्रात्किं न जायते ॥ २१४ ॥ अथ प्रादुरभूत्कान्तः सुरभिर्मत्तमन्मथः । मुदं मदं च संचिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥ २१५ ॥ ववौ मदं गजोद्घृष्टचन्दनद्रवसारभृत् । एलालवंगसंसर्गपिंगुलो मलयानिलः ॥ २१६ ॥ मलयानिलं माश्लेष्टुं संबंधिनमुपागतं । लता द्रुमाः सुशाखानां प्रसारणमिवादधुः ॥ २१७ ॥ यममत्रधिदिक्त्यागं रविर्भीत इवाकरोत् । मदेन कोकिलाः काले कूजंति स्म निरंकुशं ॥ २१८ ॥

शुभ कर्मोंके उदयसे मनुष्योंको कौन कौनसे अभीष्ट (इच्छानुसार कार्य) सिद्ध नहीं होते हैं ? अर्थात् सभी होते हैं ॥ २१०-२१३ ॥ लक्ष्मीके लीलागृहके (खेलनेके घरके) समान उस स्वयंवरके महाभवनको देखकर राजा अकंपन संतोषसे अपने शरीरमें भी नहीं समाता था, सो ठीक ही है क्योंकि अच्छे मित्रसे कौनसा कार्य नहीं होता है ? अर्थात् सभी होते हैं ॥ २१४ ॥

अथानंतर—कामदेवको उन्मत्त करनेवाले और कामी लोगोंमें तथा भ्रमरोंमें हर्ष और मद उत्पन्न करनेवाले वसंत ऋतुका प्रारंभ हुआ ॥ २१५ ॥ हाथियोंकी रगडसे जो चंदन घिस जाता था उसके सारको ग्रहण करनेवाला तथा इलाइची और लोंगके संबंधसे कुछ कुछ पीला हुआ मलय पर्वतका सुगंधित वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ २१६ ॥ लता और वृक्षोंकी जो शाखायें वढ रही थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों लता और वृक्षोंने समीप आये हुये अपने संबंधी ऐसे मलय पर्वतकी वायुको आलिंगन करनेके लिये ही अपनी सुंदर शाखायें फैलाई हों ॥ २१७ ॥ सूर्यने मानों डरकर ही यम संबंधी दिशा अर्थात् दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था । भावार्थ—वह उत्तरायण हो गया था और उन्हीं दिनों कोइलें भी अपनी उन्मत्ततासे निरंकुश होकर (विना किसी रुकावटके) मधुर शब्द कर रहीं थीं ॥ २१८ ॥ 'ये पुष्प ऋतुसंबंधी हैं अर्थात् वसंतऋतुमें उत्पन्न हुये हैं, अथवा रजस्वलावस्थाके हैं और ये शाखायें हम लोगोंके पूज्य पुरुषोंमेंसे हैं इसलिये तुम लोग इन्हें मत

पुष्पमार्तवमाप्ता नः शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वासं निषिध्यंतश्चंपकाश्चलपल्लवैः ॥ २१९ ॥ वसंतश्रीवियोगो वा सशोकोऽशोकभूरुह' । सपुष्पपल्लवो नाम सार्थं तत्संगमाद्व्यधात् ॥ २२० ॥ मूलस्कंधाग्रमध्येषु चूतार्येरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरभिश्च तदा दधे ॥ २२१ ॥ आक्रुष्टदिग्गजालीनि बकुलानि वने वने । हानौ गुणाधिकान्यासस्तुलितानि कुलोन्नतैः ॥ २२२ ॥ क्रीडनासक्तकाताभिर्वाध्यमानाः सगीतिभिः । आ-दोलाः स्तंभसंभूतैः समाक्रोशन्निव स्वनैः ॥ २२३ ॥ सुंदरेष्वपि कुंदेषु मधुपा मंदतृप्तयः । माधवीमधुपानेन मुदा मधुरमारुवन् ॥ २२४ ॥ भवेदन्यत्र

छूओ ' यही कहते हुये मानों चंपाके वृक्ष अपने हिलते हुये पत्तोंसे भ्रमरोंको वहांपर रहनेका नि-षेध कर रहे थे ॥ २१९ ॥ वसंतऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें मानों शोक ही कर रहा हो ऐसा यह अशोक वृक्ष उस वसंत ऋतुके संबंधसे फूल और पत्तोंको धारण करता हुआ अपने अशोक नामको सार्थक कर रहा था ॥ २२० ॥ उस समय चमेलीने आम आदिके वृक्षोंसे ईर्षा करके ही क्या मानों जडमें पींडपर मध्यमें और ऊपर इसतरह सबजगह सुगंधित फूल धारण किये थे ॥ २२१ ॥ जिन्होंने दिग्गजोंके भ्रमरोंको भी अपनी ओर खींच लिया है और जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुये बडे पुरुषोंके समान हैं ऐसे मौल-सरीके वृक्ष प्रत्येक बनमें अपनी हानि होते हुये भी (भ्रमरोंके द्वारा रस खींचना ही उनकी हानि है) गुणोंकी अधिकता ही धारण करते थे ॥ २२२ ॥ जो गीत गा रही हैं और खेलनेमें लगी हुई हैं ऐसी सुंदरियां जो झूला (हिंडोला) हिला रही थीं (झूलरहीं थीं) और उनके झूलनेसे जो उनके खंभोंसे चूं चूं शब्द हो रहा था उससे वे झूले ऐसे जान पडते थे मानों वे चिल्ला रहे ही हों ॥ २२३ ॥ सुंदर कुंदके फूलोंपर जिन्हें अच्छी तृप्ति नहीं हुई है ऐसे भ्रमर वसंतलताका रस पीकर हर्षसे बडे ही मीठे शब्द कर रहे थे ॥ २२४ ॥ वसंतको छोडकर अन्य ऋतुओंमें अच्छा रूप होना आदि कामके साधन हो सकते हैं परंतु वसंतऋतुमे यह समय ही जिसकेलिये एक साधन है ऐसा यह काम वन-स्पतियोंतक फैल जाता है ॥ २२५ ॥ उस वसंतऋतुकी सहायतासे उन दूतोंनेसब भूमिगोचरी

कामस्य रूपवत्तादि साधन । कालैकसाधनः सोऽस्मिन्नावनस्पति जृंभते ॥ २२५ ॥ नरविद्याधराधीशान् गत्वा तत्कालसाधनात् । दूताः स्वयंवरालापं सर्वांस्तान् समबोधयन् ॥ २२६ ॥ ततो नानानकध्वानप्रोत्कर्णीकृतादिग्द्विपाः । निजागननाननाभोजपरिम्लानिविधायिनः ॥ २२७ ॥ वियद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्ततमानकैः । सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानादिगाननाः ॥ २२८ ॥ सुलोचनाभिधाकृष्टिविद्याकृष्टाः समापतन् । कामिनां न पराकृष्टिविद्या मुक्त्वेप्सितास्त्रियः ॥ २२९ ॥ अभिगम्य नृपः क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतः सौलोचन वैतान्प्रातान् प्रावेशयत्पुरं ॥ २३० ॥ स्वगेहादिषु संप्रीत्या समुद्बद्धोत्सवध्वजः । आकपानिभिराविष्कृतादरैः परिवारितः ॥ २३१ ॥ सांशुमर्कमिवाधंतमर्ककीर्ति सहानुजं । अकम्पननृपोऽभ्येत्य भरतं वाऽनय

और विद्याधरोंके राजाओंके पास जाकर उन सबसे स्वयंवरके समाचार समझाकर कहे ॥ २२६ ॥ तदनंतर—अनेक नगाडोंके शब्दोंसे दिग्गजोंको भी उन्मत्त करनेवाले, अपनी स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको मलिन करनेवाले, सब दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्याके द्वारा खींचे गये ऐसे अनेक विद्याधरोंके स्वामी अपने अनेक विमानोंसे आकाशकी शोभा बढाते हुये बहुत शीघ्र जा पहुंचे, सो ठीक ही है क्योंकि कामी लोगोंको अपनी प्यारी स्त्रियोंको छोडकर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नहीं है ॥ २२७-२२९ ॥ राजा अकंपनने बहुत शीघ्र बडे उत्सवके साथ स्वयं उन राजाओंका अभिवादन किया और प्रसन्न हुये उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान ऐसे उस वनारस नगरमें प्रवेश कराया ॥ २३० ॥ तथा जिसने बडे प्रेमसे अपने घर नगर आदिमें उत्सवकी ध्वजायें बंधाई हैं और आदर सत्कारको प्रगट करनेवाले हेमांगद आदि राजपुत्र जिसके साथ हैं, ऐसे राजा अकंपनने किरणों सहित उदय होते हुये सूर्यके समान अपने छोटे भाइयों सहित आये हुये राजकुमार अर्ककीर्तिके सामने जाकर उसे महाराज भरतके समान अपने नगरमें प्रवेश कराया ॥ २३१-२३२ ॥ अपने आदरसे ही मानों उसकी आगे होनेवाली सिद्धिको सूचित करता हुआ ऐसा नाथवंशका शिरोमणि राजा अकंपन मेघेश्वर-

त्पुरं ॥ २३२ ॥ स्वादरेणैव संसिद्धिं भगिनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशाग्रणीर्मेघस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥ २३३ ॥ ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रांतरस्थिताः । पूरा इव पयोराशिं प्रापुः स्फीतीकृतश्रियः ॥ २३४ ॥ स्वयमर्धपथं गत्वा केषांचित्सर्वसंपदा । केषांचिद्गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमांगदादिकान् ॥ २३५ ॥ ये ये यथायथा प्राप्ताः पुरींस्तांस्तांस्तथा तथा । आह्वयतीं पताकाभिर्वोच्छ्रिताभिरवीविशत् ॥ २३६ ॥ तदात राजगेहस्थ नरविद्याधराधिपैः । वृतं सुलोचनाऽकार्षीत् पितरं जितचक्रिणं ॥ २३७ ॥ वाराणसी जितायोध्या स्वनाम्नस्तां निराकरोत् । कन्यारत्नात्परं वान्यदित्याहुः प्रभृत्यतः ॥ २३८ ॥ तान् स्वयंवरशालायामर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेश्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥ २३९ ॥ पुरोपार्जितसद्धर्मोत्सर्व-

---

को लेनेके लिये उसके सामने गया ॥ २३३ ॥ तदनंतर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार पूर्व पश्चिम दक्षिण तीनों समुद्रोंके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढाते हुये बनारसमें आ पहुंचे ॥ २३४ ॥ राजा अकंपन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब संपत्ति लेकर आधी दूरतक स्वयं उनके सामने गया था और कितनोंके ही सामने मान्य हेमांगद आदि अपने पुत्रादिकोंको भेजा था ॥ २३५ ॥ जो राजा जिस जिस तरहसे आये थे उन्हें उसी उसी तरह जो अपनी ऊंची ध्वजाओंसे मानों बुला ही रही है ऐसी अपनी नगरीमें प्रवेश कराया ॥ २३६ ॥ उस समय उस सुलोचनाने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंसहित राजमहलमें विराजमान ऐसे अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था भावार्थ—अपने महलमें इकट्ठे हुये राजाओंसे राजा अकंपन चक्रवर्तीके समान जान पडता था ॥ २३७ ॥ उससमय अयोध्याको भी जीतनेवाली वह वाराणसी नगरी अपने अ-योध्या (युद्ध करने अयोग्य) इस नामसे ही उस अयोध्याको तिरस्कार करती थी क्योंकि उस स्वयंवरके समयसे ही लेकर इस संसारमें "कन्या रत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है" यह वात प्रसिद्ध हुई है ॥ २३८ ॥ आये हुये मिहमानोंका आदर सत्कार करनेवाले राजा अकंपनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओंको स्वयंवरशालामें

मेतत्ततः पुरा । धर्म एव समभ्यर्च्य इति संचित्य विद्वरः ॥ २४० ॥ कृत्वा जैनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीपकान् । अनर्थिनः समर्थ्याशु सर्वत्यागोत्सवोद्यतः ॥ २४१ ॥ ता लक्ष्मीमक्षया मत्वा सफला चाप्तसद्व्यया । स तदाभूत्क्षितेरेकभोग्यः क्षितिरिवात्मनः ॥ २४२ ॥ एवं विहिततत्पूजः प्रकृतार्थं प्रचक्रमे । प्रारंभाः सिद्धिमायांति पूज्यपूजापुरस्सराः ॥ २४३ ॥ आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशासिनी । व्याप्तोत्प्रमोदः प्राक् चेतः

ठहराकर प्रसन्न किया ॥ २३९ ॥ यह सब पहिले उपार्जन किये हुये सद्धर्मसे ही होता है इसलिये सबसे पहिले धर्मकी ही पूजा करनी चाहिये यही सोचकर जानकारोंमें श्रेष्ठ ऐसे राजा अकंपनने श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा की, जो दीन और अनाथ याचक थे उन्हें अयाचक किया अर्थात् उन्हें उनकी इच्छासे भी अधिक धन दिया, इसतरह सबका त्याग करने रूप उत्सवके लिये बहुत शीघ्र वह राजा तैयार होगया, अच्छे काममें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिसप्रकार वह अपनी पृथ्वीका उपभोग करता था उसीप्रकार उस समय वह स्वयं सब पृथ्वीका उपभोग करने योग्य बनगया था अर्थात् संसारके सब लोग उस राजाकी लक्ष्मीका उपभोग करने लगे थे ॥२४०-२४२॥ इसप्रकार उसने भगवानकी पूजाकर और याचकोंको दान देकर अपना प्रकृत कार्य (सुलोचनाका विवाहोत्सव) प्रारंभ किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनमें सबसे पहिले पूज्य पुरुषोंकी पूजा की जाती है ऐसे सब प्रारंभ (प्रारंभ किये हुये कार्य) सिद्ध होजाते हैं ॥ २४३ ॥ उसी समय विवाहके उत्सव को सूचित करनेवाली भेरी बजने लगी, पहिले ही सब लोगोंके चित्तपर आनंद छागया और फिर सबके कानमें वह भेरीकी आवाज आने लगी ॥ २४४ ॥ उससमय वाराणसी नगरीकी पृथ्वी बिखरे हुये पुष्पोंसे सुंदर जान पडती थी, आकाशमार्ग नृत्य करती हुई ध्वजाओंसे सुशोभित था, समुद्रकी गर्जनाको भी जीतनेवाले बडे २ नगाडोंके शब्दोंसे उसने सब दिशायें शब्दरूप कर दी थीं, बडे बडे रास्तोंके प्रदेश सब शुद्ध किये गये थे तथा तोरण बांधे गये थे और नये चूनासे वहांके सब व-

पश्चात्कर्णेषु तद्ध्वनिः ॥ २४४ ॥ पुष्पोपहारिभूभागा नृत्यत्केतुनभस्तला । निर्जिताब्धिमहातूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥ २४५ ॥ विशोधितमहावीथि-देशा प्रोद्बद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका ॥ २४६ ॥ रंजिताजनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । संस्कृतभ्रूलतोपेता सविशेषललाटि-का ॥ २४७ ॥ मणिकुंडलभारेण प्रलंबश्रवणोज्ज्वला । सचित्रकरविन्यस्तपत्राचित्रकपोलिका ॥ २४८ ॥ तांबूलरससंसर्गाद्द्विगुणारुणिताधरा । मुक्ताभ-रणभाभारभासिबंधुरकठिका ॥ २४९ ॥ सचंदनरसस्फारहारवक्षःकुचाचिता । महामणिमयूखाभाभास्वद्भुजलताततता ॥ २५० ॥ रशनारज्जुविभ्राजि-सुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषभर्त्सिताब्जक्रमाब्जिका ॥ २५१ ॥ जितामरपुरीशोभा सौदर्यात्सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं कायमाधिताचिंत्यवै-

---

डे २ महल फिरसे सफेद किये गये थे ॥ २४५–२४६ ॥ वहांकी स्त्रियोंके उत्तम नेत्र अंजनसे (सुरमा वा कज्जलसे) सुशोभित थे, केश माला धारण करते थे, स्त्रियां सब संस्कार की हुई भौंहरूपी लता-ओंसे शोभायमान थीं और उनका ललाट चंदनसे सुशोभित था॥२४७॥मणियोंके बनेहुये कुंडलोंके बोझसे लटकते हुये उन स्त्रियोंके कान चमक रहे थे और उनके कपोलोंपर हाथसे बनाई हुई पत्ररचनाके अनेक चित्र बने हुये थे ॥ २४८ ॥ तांबूलके रसके संबंधसे उन स्त्रियोंके ओठोंकी ललाई दूनी होगई थी और मोतियोंके आभूषणोंकी कांतिके समूहसे उनके कंठ बहुत ही सुंदर और दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ २४९ ॥ उत्तम चंदनके रससे बडा हार, वक्षःस्थल और कुच सब सुशोभित हो रहे थे और बडी बडी मणियोंकी किरणोंकी कांतिसे उस नगरीकी भुजारूपी लताओंके समूह बहुत ही दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ २५० ॥ करधनी रूपी रज्जूसे उन स्त्रियोंके बहुत बडे कमरके पिछाडीके भाग सुशोभित हो रहे थे और उनके चरण कमल मणियोंके बनेहुये बिछुओंके शब्दोंसे कमलोंको भी तिरस्कार कर रहे थे ॥ २५१ ॥ इसप्रकार अपनी सुंदरतासे स्वर्गकी शोभाको भी जीतने वाली वह नगरी उससमय जिसकी विभूतिका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता ऐसे अलंकारमय शरीरको धारण करती थी ॥ २५२ ॥ राजमहलका उत्सव तो वह नगर ही कह रहा था क्योंकि समुद्रके किनारेका

भव ॥ २५२ ॥ उत्सवो राजगेहस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यंतो मध्यमब्धौ किमुच्यते ॥ २५३ ॥ न चित्र तत्र यच्चित्ती सोत्सवोंऽतर्बहिश्च तत् । तद्धत्सवभूपया यस्मात्कुड्याद्यपि विचेतन ॥ २५४ ॥ भोक्तृशून्यं न भोगागं न भोक्ता भोगवर्जितः । तत्र सन्निहितोऽनंगो लक्ष्मीश्चाविष्कृतोदया ॥ २५५ ॥ पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति तदुत्सव । विलोक्य कृतधर्माण, पुरस्थान्बहु मेनिरे ॥ १५६॥ उदास्तन्वत्फल मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात्स्वभावः स हि तादृशा ॥ २५७ ॥ कन्यागृहात्तदा कन्यामन्या वा कमलालयाम् । पुरो भूय पुरश्यस्तामीषल्ल-

---

भाग ही जब अगाध है तो फिर उसके बीचके भागका क्या पूछना है । भवार्थ—जब नगरमें ही अपार उत्सव था तो फिर राजमहलके उत्सवका क्या पूछना है ॥२५३॥ वहांके सचेतन प्राणी अंतरंग और बाहर सबजगह उत्सव मना रहे थे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि उससमय प्राणियोंके समान वहांकी दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी अपने अपने अलंकारकर आनंद मना रहे थे ॥ २५४ ॥ वहांके भोगोपभोगोंके पदार्थ कोई ऐसे नहीं थे जो भोक्ताके विना हों तथा कोई भोक्ता ऐसा नहीं था जो भोगोपभोगोंके साधनोंसे रहित हो । वहांपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी सदा उदयरूप रहती थी ॥ २५५ ॥ इस जन्ममें ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुये बहुतसे धर्मात्मा लोग उस उत्सवको देखकर उस नगरमें रहनेवाले लोगोंको बडी आदरकी दृष्टिसे देखने लगे थे ॥२५६॥ पुण्यवान् मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुये थे सो ठीक ही है क्योंकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना पापी लोगोंका स्वभाव है ॥ २५७ ॥ उस समय विवाहकी विधिको जाननेवालीं सौभाग्यवती स्त्रियां जिसने उसी समय पूजा आदि सत्क्रियायें की हैं, थोडीसी लज्जासे जो कुछ भयभीत हो रही है जिसके आगे बडे बडे बाजे वज रहे हैं और जो दूसरी लक्ष्मीके समान ही जान पडती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे ज्यो-

ज्जातसाध्वसां ॥ २५८ ॥ विवाहविधिवेदिन्यः कृततत्कालसत्क्रियां । समानीय सदैवज्ञां महातूर्यरवान्वितां ॥ २५९ ॥ सर्वमंगलसम्पूर्णे मुक्तालंभूषभू- षिते । चतुःकाचनसुस्तंभे भूरिरत्नस्फुरत्त्विषि ॥ २६० ॥ प्रमोदात्सुप्रभादेशाद्विवाहोत्सवमंडपे । कलधौतमये पट्टे निवेश्य प्राङ्मुखीं सुखं ॥ २६१ ॥ कलशैर्मुखविन्यस्तविलसत्पल्लवाधरैः । अभिषिच्य विशुद्धाम्बुपूर्णैः स्वर्णमयैः शुभैः ॥ २६२ ॥ कृतमगलनेपथ्या नीत्वा नित्यमनोहरं । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥ २६३ ॥ सिद्धशेषं समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साशिष । स्थिताः प्रतीक्ष्य सल्लग्न तत्रावृत्त्याहितादरं ॥ २६४ ॥ इतो महीशसदेशात् नरखेचरनायकाः । स्वास्ते प्रसाधितान् कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥ २६५ ॥ निजोचितासनारूढाः प्ररूढश्रीसमुज्ज्वलाः । चलच्चा"

तिषशास्त्रको जाननेवाले विद्वान्‌के साथ साथ जो सबतरहके मंगल द्रव्योंसे भरा हुआ है, मोतियों-की मालाओंसे सुशोभित है, जिसमें सोनेके चार खंबे लगे हुये हैं, और जो लगे हुये अनेक रत्नोंकी कांतिसे दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे विवाहोत्सवके मंडपमें बडे हर्षसे रानी सुप्रभादेवीकी आज्ञानुसार ले आईं और पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर विठा दिया ॥ २५८-२६१ ॥ तदनंतर जिनके मुखपर रक्खे हुये सुशोभित नये पत्ते ही अधर वा ओठ हैं और जिनमें विशुद्ध जल भरा हुआ है ऐसे शुभ सोनेके कलशोंसे अभिषेक किया, उसे सबतरहके मांगलिक वस्त्राभूषण पहनाये और फिर नित्य मनोहर नामके चैत्यालयमें लेजाकर बडी भक्तिसे सबतरहके कल्याण कर-नेवाले भगवान अरहंत देवकी पूजा कराई ॥ २६२-२६३ ॥ उसके वाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आ-शीर्वाद पूर्वक उस सुलोचनाके शिरपर रक्खे और फिर वे सब स्त्रियां उसका आदर सत्कार करती हुईं उसे घेरकर शुभ लग्नकी प्रतीक्षा करती हुईं वहीं ठहर गईं ॥ २६४ ॥ इधर महाराज अकंपनका संदेसा पाकर वस्त्र आभूषणोंसे सजावट करनेकी विधिको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और वि-द्याधरोंके स्वामी अपनी अपनी सजावट कर अपने अपने योग्य आसनोंपर आ विराजमान हुये। वे सब राजा लोग प्रसिद्ध प्रसिद्ध शोभासे दैदीप्यमान हो रहे थे, ढुरते हुये चमरोंकी शोभा और कांतिसे देवोंके समा

मरसंपत्या कात्या चामरसन्निभाः ॥ २६६ ॥ कुमार्या निर्जितः काम. प्राक् स्वमेवं विकृत्य किं । समागैस्त पुनर्जेतुमिति शंकाविधायिनः ॥ २६७ ॥ कंचिदेकं वृणीतेऽसाविति ज्ञात्वाऽप्यहंयवः । जेतु सर्वेऽपि तां तस्थुराशा हि महती नृणां ॥ २६८ ॥ केरलीकाठिनोत्तुंगकुचकोटीविलंघन । श्रमापनीतसामर्थ्यात्परिक्षीणपरिक्रमं ॥ २६९ ॥ माद्यन्मलयमातगकटकंडूविनोदनात् । क्षतचंदननिष्यदसाद्रसौगध्यवंधुरं ॥ २७० ॥ कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाडजनिर्भरं । क्रीडोच्छलज्जलस्थूलकणमुक्तातिभूपणं ॥ २७१ ॥ दाक्षिणानिलमायल्लकोत्कटानलदीपनं । कोकिलालिकलालापैर्वा-

---

न जान पडते थे तथा लोगोंको ऐसी शंका उत्पन्न करते थे मानों इस कुमारी सुलोचनाने पहिले ही कामदेवको जीतलिया था इसलिये कामदेवही अपने बहुतसे रूप धारण कर इस सुलोचनाको जीतनेके लिये आया हो ॥ २६५-२६७ ॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी ऐसा जानते हुये भी वे सब राजा लोग बडा अहंकार करते हुये उसे जीतनेके लिये वहां विराजमान थे, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बडी होती है ॥ २६८ ॥ जो स्त्रियोंके मद्यके कुरलोंसे (उच्छिष्टसे) और बिछुओंके शब्दोंसे सुशोभित ऐसे बायें पैरसे वृक्षोंको भी बहुत शीघ्र कामी बना देता है [स्त्रियोंके कुरलोंसे और बायें पैरकी लातसे बहुतसे वृक्ष फूला करते हैं ऐसा कवियोंका संप्रदाय है] जिसने बायें हाथमें फूलोंका धनुष ले रक्खा है और दूसरे (दायें) हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है, जिसने वसंतरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त शस्त्र मंगा लिये हैं ऐसा कामदेव जो केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊंचे करोडों कुचोंको उलंघन करता है तथा उनके उलंघन करनेसे जो परिश्रम हुआ है उससे सामर्थ्य नष्ट हो जानेसे जिसके चलनेकी शक्ति नष्ट हो गई है अर्थात् जो धीरे धीरे चल रहा है, तथा मलयाचल पर्वतके जो उन्मत्त हाथी हैं उनके दोनों गंडस्थलोंके खुजानेसे जो चंदनोंके वृक्ष टूट गये हैं और उनसे जो बहुत घनी सुगंधि निकल रही है उससे जो बहुत ही मनोहर जान पडता है, कावेरी नदीके कमलोंका स्वाद लेकर जो पक्षि-

र्वालमनुकूलयन् ॥ २७२ ॥ योषितां मधुगंडूषैर्नूपुरारावरंजितैः । कुर्वन् वामांघ्रिभिश्चालमंघ्रिपानपि कामुकान् ॥ २७३ ॥ कासुमं धनुरादाय वामेनारूढविक्रमः । चूतसूनं करेणोच्चैः परेण परिवर्तयन् ॥ २७४ ॥ वसंतानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदाखिलान् देशानप्यायात्कुसुमायुधः ॥ २७५ ॥ तदा पुरात्समागत्य कृती जितपुरंदरः । स मविर्भूतसाम्राज्योराज्यचिह्नपुरस्सरः ॥ २७६ ॥ स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः । स्वस्थात्स्वयंवरागारे स्वोचिते स्वजनैर्वृतः ॥ २७७ ॥ चित्रं महेंद्रदत्ताख्यो देवदत्तं रथं पृथुं । सज्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात्तु कंचुकी ॥ २७८ ॥ समस्तबलसंदोहं सम्यक् सन्नाह्य सानुजः । हेमांगदो जितानंगः प्रीत्याऽयात्परितो रथं ॥ २७९ ॥ तूर्यध्वानाहतिप्रेंखदिक्कन्याकर्ण-

---

योंका समूह प्रसन्न होकर क्रीडा कर रहा था और उनकी क्रीडा करनेसे जो जलकी वडी वडी बूंदें उछल रही थीं वे बूंदें ही जिसके मोतियोंके अनेक आभूषण हैं जो विरहसे उत्पन्न हुई तीव्र अग्निको और बढानेवाला है और जो कोइल तथा भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे वाचालित हो रहा है ऐसे वायुको अपने अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर वहां आ पहुंचा था ॥ २६९-२७५ ॥ उसी समय जो शोभासे इंद्रको भी जीत रहा है, जिसमें साम्राज्यके सब चिन्ह प्रगट हो रहे हैं ऐसे ध्वजापताका आदि राज्यके चिन्ह जिसके आगे आगे चल रहे हैं, जिसने अपनी शोभासे सब दिशायें आच्छादन कर ली हैं, कुटुंबी लोग जिसके चारों ओर चल रहे हैं और रानी सुप्रभा जिसके साथ है ऐसा वह पुण्यवान राजा अकंपन नगरसे आकर उस स्वयंवरके भवनमें अपने योग्य आसनपर आ विराजमान हुआ ॥ २७६-२७७ ॥ उसी समय महेंद्रदत्त नामका कंचुकी चित्रांगद देवने दिये हुये, अच्छी तरह सजाये हुये ऐसे आश्चर्य करनेवाले बहुत बडे रथमें कन्याको विराजमानकर लाया ॥ २७८ ॥ कामको जीतनेवाला हेमांगद नामका बडा राजपुत्र अपनी सब सेनाके समूहको अच्छीतरह सजाकर सबभाइयोंके साथ साथ बडे प्रेमसे उस कन्याके रथको चारों ओरसे घेरकर आया ॥ २७९ ॥ जिसके आगे आगे बजनवाले नगाडोंके बाजोंसे समस्त दिशारूपी कन्याओंके कर्णपूर हिलरहे थे, जिसपर

पूरिका । संछन्नच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥ २८० ॥ लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्या चक्रिदिग्विजयागमे । शालां प्रविश्य राजन्यलोचनार्च्या सुलोचना ॥ २८१ ॥ सर्वतोभद्रमारुह्य कचुकिप्रेरिता नृपान् । न्यषिंचल्लोचनैर्लोलैर्नीलोत्पलदलैरिव ॥ २८२ ॥ चातका वाऽब्दवृष्ट्या ते तद्दृष्ट्या तुष्टिमागमन् । आह्लादः कस्य वा न स्यादीप्सितार्थसमागमे ॥ २८३ ॥ स्वसौभाग्यवशात्सर्वान् साऽप्यालोक्यातुपत्तरां । श्लाघ्यं तयोर्पितं पुंसां शौर्यं वा निर्जितद्विषां ॥ २८४ ॥ ततः कचुकिनिर्देशाद्वाला लीलाविलोकितैः । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात्समवातरत् ॥ २८५ ॥ यस्य यत्र गता स्याद्दृक् सा तत्रैवेव कीलता । ते तस्यामवरूढायां खिन्ना वा तदनीक्षकाः ॥ २८६ ॥ किंकिणीकृतझंकारारावरम्यं रथं ततः । व्यूढं रूढैर्हयैः स्वर्णकर्णचामरशो-

---

लगे हुये वडे भारी छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढक गया था और जो पडते हुये समस्त राजाओंके नेत्रोंसे पूजी जा रही थी ऐसी उस सुलोचनाने जिसप्रकार चक्रवर्तीके दिग्विजय समाप्त होनेके दिन लक्ष्मी अयोध्या नगरीमें प्रवेश करती है उसीप्रकार उस स्वयंवरशालामें प्रवेश किया। वह वहांपर सर्वतोभद्र नामके महलपर चढी और कंचुकीकी प्रेरणासे नीलकमलके दलके समान अपने चंचल नेत्रोंसे सब राजाओंको सींचने लगी अर्थात् सबकी ओर देखने लगी ॥२८०-२८२॥ जिसप्रकार चातकपक्षी बादलोंके बरसनेसे संतुष्ट होते हैं उसीप्रकार वे सब राजा लोग उस सुलोचनाकी दृष्टिसे ही संतुष्ट होगये थे सो ठीक ही है क्योंकि अपनी इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर भला किसको प्रसन्नता नहीं होती है ? ॥२८३॥ उस सुलोचनाने अपने सौभाग्यके वशसे सब राजाओंको देखकर संतुष्ट किया सो ठीक ही है क्योंकि जिसप्रकार शत्रुओंको जीतनेवाले पुरुषकी शूरवीरता प्रशंसनीय है उसीप्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य ही प्रशंसनीय है ॥ २८४ ॥ तदनंतर वह सुलोचना लीलापूर्वक देखकर सबके हृदयको अपनी ओर खींचकर कंचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥ २८५ ॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहां पडगई थी वह वहीं मानों गढ सी गई थी। तथा जिस समय वह नीचे उतर रही थी उस समय वे राजा लोग वहां उसे न देखकर वडे ही खेदखिन्न हुये थे ॥२८६॥ तदनंतर मानों मनुष्योंके

भिभिः ॥ २८७ ॥ उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणां । साक्षादपन्हवाह्वाने कुर्वंतमिव संततं ॥ २८८ ॥ पुनरध्यास्य हृज्जन्मविद्येव हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीव तडिल्लता ॥ २८९ ॥ वीज्यमाना विधुस्पर्द्धिहंसांसामलचामरैः । जनानां दृष्टिदोषान्वा धुन्वद्भिर्दूरतो मुहुः ॥ २९० ॥ अवधूतः पुराऽनङ्गः सप्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात्प्राज्ञैः प्रास्तोऽपि परिगृह्यते ॥ २९१ ॥ अस्या ग्रह इवानगः सद्यः सर्वांगसंगतः । विकारमकरोत्स्वैरं भूयो भ्रूनेत्रवक्त्रजं ॥ २९२ ॥ सांगो यद्येतयाऽद्यैवमेकीभावं व्रजामि किं । इत्यनंगोऽप्यनंगत्वं स्वं मन्ये साध्वबुध्यत ॥ २९३ ॥

दृष्टि दोषको दूरसे ही दूर करते हुये तथा चंद्रमाकी समानता करते हुये और हंसोंके पंखोंके समान निर्मल ऐसे चमर जिसपर बार २ ढुराये जा रहे हैं, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है और मोतियोंके आभूषणोंकी कांतिके मध्यमें जो शरदऋतुकी बिजलीकी लताके समान जान पडती है ऐसी वह सुलोचना जो लगी हुई छोटी छोटी घंटियोंके रुणझुण शब्दोंसे मनोहर है, कानोंके समीप लगे हुये सोनेके चमरोंसे शोभायमान ऐसे ऊंचे घोडे जिसमें जुते हुये हैं, नीचे ऊपरको हिलती हुई ध्वजायें ही जिसकी भुजायें हैं और जो नीचे ऊपरको हिलती हुई ध्वजारूप भुजाओंसे ऐसा जान पडता है मानों कुरुपी लोगोंका निरंतर साक्षात् तिरस्कार ही कर रहा हो और रूपवान लोगोंको निरंतर साक्षात् बुला रहा ही हो, ऐसे रथपर फिर विराजमान हुई ॥ २८७-२९० ॥ उस सुलोचनाने पहिले तो कामदेवका तिरस्कार किया था परंतु अब फिर स्वीकार किया, सो ठीक ही है क्योंकि विद्वान लोग अपने मतलबके लिये हटाये हुयेको (दूर किये हुयेको) भी फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥ २९१ ॥ पिशाचके समान बहुत शीघ्र इस सुलोचनाके सब अंगोंमें घुसा हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार बार भौंह नेत्र और मुखसे प्रगट हुये विकारोंको उत्पन्न करता था ॥ २९२॥ ऐसा जान पडता है मानों यदि मैं शरीरसहित होता तो क्या मैं इस सुलोचनाके साथ एक रूप हो सकता था? अर्थात् क्या इसके शरीरमें प्रवेश कर सकता था? इसप्रकार सोचता हुआ कामदेव अपने

लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद्रतिर्व्यंगेन भुज्यते । जितानंगानिमानेषा न्यक्कृत्य जयमाप्स्यति ॥ २९४ ॥ करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्यान्न वा वारिधेर्भुवः । अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥ लावण्यमबुधौ पुंसु स्त्रीष्वस्यामेव संभृत। यत्प्राप्ताः सरितः सर्वास्तमेतां सर्वपार्थिवाः॥२९६॥ समस्तनेत्रसपीतमप्यस्या वर्धतेतरा । लावण्यमबुधिस्त्यक्तः श्रिया वहतु तत्कथ ॥ २९७ ॥ रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा । कन्यारत्नमिदं यत्र

शरीररहितपनेको ही बहुत अच्छा मानता था ॥ २९३ ॥ प्रसिद्ध जो लक्ष्मी है वह सबके द्वारा भोगी जाती है और रतिका भोग शरीररहित कामदेव करता है परंतु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सब राजा लोगोंका तिरस्कारकर जय अर्थात् जय कुमार अथवा विजयको प्राप्त होगी ॥ २९४ ॥ समुद्रपर्यंत इस पृथ्वीका कर ग्रह अर्थात् कर वसूल करनेसे लक्ष्मिवान हो अथवा न हो परंतु जो इस सुलोचनाका कर ग्रह अर्थात् पाणिग्रहण करेगा अर्थात् इसे विवाहेगा लक्ष्मी उसके हाथमें ही समझनी चाहिये ॥ २९५ ॥ पुरुषोंमें तो लावण्य अर्थात् लवणता, नमकीनपना वा खारापन समुद्रमें है और स्त्रियोंमें लावण्य अर्थात् सुंदरता इस सुलोचनामें भरी है, यही कारण है कि नादियां तो सब समुद्रमें जा मिली हैं और राजा लोग सब इसके समीप आ पहुंचे हैं ॥ २९६ ॥ यद्यपि इसके लावण्यको सब नेत्र पी रहे हैं तथापि वह बढता ही जाता है, परंतु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड रक्खा है इसलिये वह उस लावण्यको कैसे धारण कर सकता है? भावार्थ–समुद्रमें लावण्य अर्थात् सुंदरता नहीं है किंतु लावण्य अर्थात् खारापन ही है इसलिये ही उसे लक्ष्मीने छोड रक्खा है २९७ ॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका मिथ्या अभिमान व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्या रूपी रत्न है उन्हीं राजा अकंपन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है। भावार्थ–समुद्रसे निकले हुये रत्न तो किसी कामके नहीं हैं, सबसे उत्तम रत्न तो यह कन्या रत्न है ॥ २९८ ॥ इसप्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप

तयोरेतद्विराजते ॥ २९८ ॥ इति म्तुतात्मसौभाग्यभाग्यरूपादिसंभृता । जनैः स्वयंवरागारमागमद्वोमिनीव सा ॥ २९९ ॥ पराभूतिर्द्विधा सात्र भाविनी केति वा तदा । प्रीतिशोकातरे केचिद्रस राजकमन्वभूत् ॥ ३०० ॥ स्थित्वा महेंद्रदत्तोऽपि रत्नमालाधरो धुरि । रथं प्रचोदयामास प्रति विद्याधराधिपान् ॥ ३०१ ॥ दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नमेश्च विनमेः सुतौ । पतिः सुनमिरेषोऽयमितः सुविनमिः श्रियः ॥ २ ॥ अन्येऽमी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चैषु स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥ ३०३ ॥ इति कंचुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्सर्वान् रुचि

आदिसे सुशोभित वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें आ पंहुची ॥ २९९ ॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है एक पराभूति अर्थात् संपदा और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव वा तिरस्कार, सो इन दोनोंमें से न जाने कौनसी पराभूती होनेवाली है यही सोचता हुआ वह राजा लोगोंका समूह उस समय प्रेम और शोक इन दोनोंके वीचमें होने वाले किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥ ३०० ॥ रत्नोंकी मालाको धारण करता हुआ ऐसा महेंद्रदत्त नामका कुंचकी भी रथके जूआ पर बैठकर विद्याधरोंके राजाओंकी ओर रथ हांकने लगा ॥ ३०१ ॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं; यह लक्ष्मीका स्वामी राजा सुनमि है और इधर यह राजा सुविनमि है ॥ ३०२ ॥ विद्या और पराक्रमसे सुशोभित ऐसे ये और भी अनेक विद्याधरोंके अधीश विराजमान हैं, इनमेंसे तू किसी एकको पति स्वीकार कर और एक ही जगह अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इसप्रकार कंचुकीने जो अलग अलग समझा कर सबके नाम कहे थे उन सबको कानमें डालकर (सुनकर) उसने सब पीछे छोडादियेअर्थात् वह सबको छोडकर आगे चली, सो ठीक ही है क्योंकि सब लोगोंकी रुचि अलग अलग तरहकी होती है॥२०४॥यह कन्या सबको देखकर पीछेसे किसी एकको स्वीकार करेगी यही समझकर वे विद्याधर लोग उसी तरह बैठे रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं करती है ! भावार्थ—आशा सब कुछ

क्षित्रा हि देहिना ॥ ३०४ ॥ पश्चात्सर्वान्निरीक्ष्यैषा काचित्तु विवरीषते । तथैवेति खगास्तस्थुः ।किं वाशा नावलंब्यते ॥ ३०५ ॥ पश्चाज्जग्लुर्मुखाब्जानि तद्रथाद्व्यकसन्पुरः । रवेरिवोदये राज्ञा संसृतेः स्थितिरीदृशी ॥ ३०६ ॥ उच्चाद्वाऽदुद्रुवन्निम्नमभिभूमि चरंरथः । कचुकी कथयामास नामाभिस्तान्नृपांस्तदा ॥ ३०७ ॥ निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेया जयमागमत् । हित्वाशेषान् द्रुमाश्चूतं मधौ मधुकरी यथा ॥ ३०८ ॥ प्रहीतप्रग्रहस्तत्र कंचुकी चित्तवित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥ ३०९ ॥ प्रदीपः स्वकुलस्यायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमानुत्साहभेदैर्वा जयोऽयमनुजैर्वृतः ॥ ३१० ॥ न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदेतदतिमन्मथं । स दर्पणोऽर्पणीयः किं करकंकणदर्शने ॥ ३११ ॥ जित्वा मेघकुमाराख्यानुत्तरे भरते

करा लेती है ॥ ३०५ ॥ जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल खिल जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसीप्रकार राजाओंके मुखरूपी कमल पाहिले रथके सामने आनेसे प्रफुल्लित हुये थे, वे ही रथके चले जानेपर पीछेसे मुरझा गये, सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारकी अवस्था ही ऐसी है ॥ ३०६ ॥ तदनंतर वह रथ विद्याधरोंकी ऊंची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा और वह कंचुकी उससमय नाम लेले कर उन सब राजाओंको कहने लगा ॥३०७॥ जिसप्रकार वसंतऋतुमें कोइल सब वृक्षोंको छोड कर केवल आमके वृक्षपर ही बैठती है उसीप्रकार जो किसीसे न जीती जा सके ऐसी वह सुलोचना अर्ककीर्ति आदि सब राजाओंको छोडकर जयकुमारके समीप जा पहुंची ॥ ३०८ ॥ जो घोडोंकी लगाम पकडे हुये है और चित्तकी बातको जानने वाला है ऐसे उस कंचुकीने वहां पहुंचकर उसीसमय जयकुमारका वर्णन करनेके लिये बचन कहना प्रारंभ किया॥३०९॥ वह कहने लगा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभका पुत्र है और उत्साहके भेदोंके समान अपने छोटे भाइयोंके साथ विराजमान है ॥ ३१० ॥ इसके रूपका वर्णन तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि वह कामदेवके रूपको भी तिरस्कार करने वाला है, क्या हाथका कंकण देखनेके लिये दर्पण दिया जाता है ! ॥ ३११ ॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमें

सुरान् । सिंहनादः कृतोऽनेन जितत्मेघनिस्स्वनः ॥३१२॥ वीरपट्टं प्रबुध्यास्य स्वभुजाभ्यां समुध्दृतं । न्यधायि निधिनाथेन हृष्टा मेघस्वराभिधा ॥ ३१३ ॥ आत्मसम्यग्गुणैर्युक्तः समेतश्चाभिगामिकैः । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च ततोऽयमुदितोदितः ॥ ३१४ ॥ चित्रं जगत्त्रयस्यास्य गुणाः सरज्य सांप्रत । न्यावृताः सर्वभावेन तवभावानुरजने ॥ ३१५ ॥ अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सति योषित' । श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिवल्लभाः ॥ ३१६ ॥ जितमेघकुमारोऽयमेकः प्राक् त्वजयेऽधुना । च्युतधैर्य इवालक्ष्ये यत्सहायीकृतः स्मरः ॥ ३१७ ॥ बलिनोर्युवयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः । द्वैधीभाव

मेघकुमार नामके देवोंको जीतकर मेघकुमारदेवोंके बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिंहनाद किया था ॥ ३१२ ॥ निधियोंके स्वामी महाराज भरतने यह समाचार जानकर प्रसन्न होकर इसका मेघस्वर नाम रक्खा और वीरपट्टको अपनी भुजाओंसे उठाकर इसके सिरपर रक्खा था ॥ ३१३ ॥ आत्माके उत्तम उत्तम गुण सब इसमें विराजमान हैं, और सदा आदरणीय पुरुषोंके साथ रहता है इसलिये बुद्धि और विशेष विशेष उत्साहोंके द्वारा यह सबसे श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ ३१४ ॥ यहभी एक आश्चर्य है कि इसके गुण तीनों लोकोंको संतुष्टकर तेरे अंतःकरणको प्रसन्न करनेकेलिये पूर्णरूपसे अब लौटे हैं ॥ ३१५ ॥ परंतु इसमें यह एक दोष है कि इसके चार स्त्रियां हैं एक श्री, दूसरी कीर्ति, तीसरी वीरलक्ष्मी और चौथी अत्यंत प्रिय ऐसी सरस्वती देवी ॥ ३१६ ॥ पहिले इस अकेलेने ही मेघकुमारको जीत लिया था परंतु अब तुझे जीतनेके लिये इसका धैर्य छूटगयासा जान पडता है क्योंकि इसालिये ही इसने अब कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥ ३१७ ॥ परस्पर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले और बलवान ऐसे तुम दोनोंके बीचमें पडा हुआ यह संधि विग्रह आदि छहों गुणोंमें निपुण कामदेव दो रूप धारण कर रहा है अर्थात् कभी उसकी सहायता करता है और कभी तेरी ॥ ३१८ ॥ इसकी कीर्ति तो कुवलय अर्थात् कमोदिनी वा रात्रिविकासि कमलको प्रफुल्लित करती है अथवा कुवलय अर्थात् समस्त पृथ्वीमंडलको प्रसन्न करती है और इसकी कांति कमलोंको

समापन्नः षाड्गुण्यनिपुणः स्मरः ॥ ३१८ ॥ कीर्तिः कुवलयाह्लादी पद्माह्लादी प्रभाऽस्य हि । सूर्याचद्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥ ३१९ ॥ कीर्तिर्वहिश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णेतरापि शातेव लक्ष्यते क्षतविद्विषः ॥ ३२० ॥ ततस्त्वयि वयोरूपशीलादिगुणभाज्यलं । प्रीतिर्लतेव दक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥ ३२१ ॥ युवाभ्यां निर्जितः कामः संप्रत्यभ्यंतरीकृतः । स वामवजयायाभूदरीर्विश्रमितोऽप्यरिः ॥ ३२२ ॥ निष्ठुरं जृंभतेऽमुष्मिन्नुभयारिरपि स्मरः । मत्वेव त्वां स्त्रियं भूयो भटेषु भटमत्सरः ॥ ३२३ ॥ विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण निर्जितः । त्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥ ३२४ ॥ प्राध्वंकृत्य गले रत्नमालया दक्शरैर्जितं । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं करे कुरु ॥३२५॥

प्रसन्न करती है इसलिये इस राजकुमारने सूर्य और चंद्रमाकी शक्तिको भी नष्ट कर दिया है ॥३१९॥ जिसके सब शत्रु नष्ट हो गये हैं ऐसे इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है, लक्ष्मी अत्यंत वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीरलक्ष्मी शांत सरीखी दिखती है ॥ ३२० ॥ इसलिये दृष्टिरूपी पुष्पोंसे सुशोभित और खूब बढी हुई ऐसी लताके समान इसकी प्रीति वय रूप और शील आदि गुणोंसे शोभायमान ऐसी तुझमें ही अच्छीतरह फलीभूत होगी ॥ ३२१ ॥ तुम दोनोंने कामदेवको जीतकर इस समय अपने भीतर (अंतःकरणमें) बिठा लिया है परंतु अब वही कामदेव तुम दोनोंका तिरस्कार करनेके लिये तैयार हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विश्वास किया जाय परंतु अंतमें वह शत्रु ही रहता है ॥ ३२२ ॥ यद्यपि वह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि वह तुझे स्त्री मानकर इस जयकुमारपर बडी निर्दयतासे अपना प्रभाव डाल रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्षा योद्धओंसे ही होती है ॥ ३२३ ॥ जिसका विजय संसारमें प्रसिद्ध है ऐसा यह श्रीमान् जयकुमार तूने आनेमात्रसे (आकर) ही जीत लिया इसलिये इस जगह न्यायसे तेरी ही जीत हुई है ॥ ३२४ ॥ इसलिये हे सुंदरी! तेरी दृष्टि रूपी बाणोंसे हारे हुये इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बांधकर अपने हाथमें कर और इसतरह जयलक्ष्मी तेरी ही हो ॥ ३२५ ॥ कामदेवके

इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरःषाड्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितव्रीडालोललीलावलोकना ॥ ३२६ ॥ तदा जन्मांतरस्नेहश्चाक्षुषी सुदराकृतिः । कुंदभासा गुणास्तस्य श्रावणाः पुष्पसायकः ॥ ३२७ ॥ इत्येभिः स्यंदनादेषा समुत्क्षिप्यावरोपिता । रत्नमाला समादाय कन्या कंचुकिनः करात् ॥ ३२८ ॥ अवध्नाद्बधुरां तस्य कंठेऽतिप्रेमनिर्भरा । सा वाचकात्समध्यास्य वक्षो लक्ष्मीरिवापरा ॥ ३२९ ॥ सहसा सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महाध्वनिं । श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवं ॥ ३३० ॥ वक्त्रवारिजवासिन्या नरविद्याधरेशिनां । श्रिया जयमुखाम्भोजमाश्रितं वा तदाल्सभात् ॥ ३३१ ॥ गताशा-

---

संधि विग्रह आदि षाड्गुण्य (छहगुणों) को जाननेवाले उस कंचुकीके इसप्रकार वचन सुनकर धीरे धीरे जिसकी लज्जा छूटती जाती है, जिसकी लीला पूर्वक दृष्टि वडी चंचल हे तथा उस समय जन्मांतरका स्नेह, चक्षुसे ग्रहण की हुई जयकुमारकी सुंदर आकृति, कुंदके फूलके समान सुने हुये उसके निर्मल गुण और कामदेव इन सवने पकडकर जिसे रथसे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर और गाढ प्रेममें डूवकर वह सुंदर माला उस जयकुमारके गलेमें पहना दी, उससमय वह माला जयकुमारके वक्षःस्थलको पाकर दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ३२६–३२९ ॥ उससमय अकस्मात् सव वाजोंकी वडी भारी आवाज ऐसी प्रारंभ हुई थी मानों उस कन्याके असाधारण उत्सवको दिकन्याओंके लिये ही सुना रही हो ॥ ३३० ॥ उससमय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही सुशोभित होरहा था और ऐसा जान पडता था मानों विद्याधर और भूमिगोचरी सव राजाओंके मुख कमलपर रहनेवाली लक्ष्मी जयकुमारके मुखकमलपर ही आगई हो ॥ ३३१ ॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है तथा जिनके मुखरूपी कमल और नेत्र रूपी कमलोंकी शोभा मलिन हो गई है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजा लोग सूखे सरोवरके समान बडे ही दुःखी हो रहे थे ॥ ३३२ ॥ इच्छानुसार फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनंद वढ रहा है ऐसे नाथवंशका स्वामी राजा अकंपनने कल्पलता सहित कल्पवृक्षके समान अपनी पुत्री

वा`यो म्लानमुखाब्जाक्ष्युत्पलश्रियः । खभूचरनृपाः कष्टमानन् शुष्कसरस्समाः ॥ ३३२ ॥ अभिमतफलसिध्या वर्ध्दमानप्रमोदो निजदुहितृसमेतं द्राक् पुरोधाय पूज्य । जयममरतरु वा कल्पवल्लीसनाथ नगरमविशदुच्चैर्नाथवशाधिनाथः ॥ ३३३ ॥ आद्योऽय महिते स्वयंवरविधौ यद्भाग्यसौभाग्यभाग् यस्माद्राजखगेंद्रवक्त्रवनजश्रीवारयोषिद्वृतः । मालाऽम्लानगुणा यतोऽस्य शरणे मदारमालायते तत्कल्पावधि वीध्रमस्य विपुल विश्व यशो व्यश्नुते॥३३४॥ भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबुद्धपद्मः प्राप्तोदयः प्रतिविधाय परप्रभावं । बंधुप्रजाकुमुदबंधुरचिंत्यकांतिर्भाति स्म भानुशशिनोर्विजयी जयोऽय ॥ ३३५ ॥ प्रियदुहितरमेना नाथवशांबरेंदोरयमुपनयाति स्म स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः । ज्वलितमहसमन्यां वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं कथयति नयतीति प्रातिभज्ञानमुच्चैः॥३३६॥

सुलोचनासहित पूज्य जयकुमारको आगे कर अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३३३ ॥ जिसकारणसे पुण्यसे प्राप्त हुये सौभाग्यको सेवन करनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी पूज्य विधिमें सबसे पहिले था, तथा जिस कारणसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलकी शोभा रूपी बारांगना-ओंसे वह घिरा था और जिसकारणसे जिसके गुण कभी मलिन नहीं होते ऐसी माला जिसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोंकी मालाके समान सुशोभित होती थी इन्हीं सब कारणोंसे उस जयकुमारका बहुत बडा निर्मल यश कल्पकालतक संसारमें व्याप्त रहेगा ॥ ३३४ ॥ जिसकी दैदीप्यमान कांतिके फैलावसे कमल खिल जाते हैं, शत्रुओंके प्रभावको अथवा नक्षत्र आदिके प्रभावको तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ है, जो प्रजा और भाई बंधु रूपी कमोदानियोंको प्रसन्न करनेवाला है और जिसकी कांति अचिंत्य है ऐसा सूर्य और चंद्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ३३५ ॥ जिसकी सौभाग्यरूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रगट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चंद्रमा ऐसे राजा अकंपनकी प्रिय सुलोचना कन्या ग्रहण की थी, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंका उत्तमज्ञान यही कहता है कि जिनका तेज दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे जयकुमारको ही वीरलक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥ ३३६ ॥ उससमय जिन्हें आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे लोग

श्रीभृतामित्युक्तिर्जयभाग् जयंप्रति जनैर्जातोत्सवैर्जल्पिता ॥ ३३७ ॥ कुवलयपरिबोध सदध्यानः समंतात् सततवितत दीप्तिः सुप्रतिष्ठः प्रसन्नः । परिणतनिजशौर्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या वर्द्धमानो जयः स्तात् ॥ ३३८ ॥ इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाज जिनपतिमतभाक्त्वात्पुण्यभाज जय त । तदुरुरूपमुपाध्व हे बुधाः श्रद्धानाः परमजिनपदाब्जद्वद्वमद्वद्ववृत्त्या ॥ ३३९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे सुलोचनास्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

जयकुमारके विषयमें परस्पर उसके विजयको सूचित करनेवाली इसप्रकार बात चीत कर रहे थे कि इस संसारमें यही पुण्य है, यही सुंदरताकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिनकी यह संतान है संसारमें वे ही सच्चे माता पिता हैं, लक्ष्मीवान् लोगोंमें एक चूडामणी और संसारमें कल्याण करनेवाले एक रत्नके समान यह जयकुमार बडा ही पूज्य है ॥ ३३७ ॥ जो चारोंओरसे कुवलय अर्थात् कमोदनियोंको अथवा पृथ्वीमंडलको प्रफुल्लित वा प्रसन्न करता है, जिसकी कांति सदा फैली रहती है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह जयकुमार प्राप्त हुये अपने प्रतापसे सूर्यको भी आक्रमणकर सब दिशाओंमें फैली हुई बडी भारी कीर्तिसे सदा बढता रहे ॥३३८॥ श्रीजिनेंद्रदेवके मार्गको सेवन करनेसे जिसे बडाभारी पुण्य प्राप्त हुआ है और सबतरहके कल्याण जिसे प्राप्त हुये हैं ऐसे उस जयकुमारको ऊपर लिखे अनुसार लक्ष्मी प्राप्त हुई थी, इसलिये हे विद्वान् सम्यग्दृष्टी पुरुषो ! तुम लोग भी तल्लीन होकर जिनकी बडी भारी करुणा है ऐसे सर्वोत्तम श्रीजिनेंद्रदेवके दोनों चरणकमलोंको सेवन करो ॥ ३३९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें सुलोचनाकी स्वयंवरमालाका पहनानेके कल्याणका वर्णन करनेवाला यह तेतालीसवा पर्व समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथ दुर्मषणो नाम दुष्टस्तस्यासहिष्णुकः । सर्वानुदीपयन् पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥ १ ॥ अकंपनः खलःक्षुद्रो वृथैश्वर्यमदोद्धतः । मृषा युष्मान् समाहूय श्लाघमानः स्वसंपदं ॥ २ ॥ पूर्वमेव समालोच्य मालामासंजयज्जये । पराभूर्ति त्रिधित्सुर्वः स्थायिनीमायुगांतरं ॥ ३ ॥ इति ब्रुवाणः सप्राप्य सव्रीडं चक्रिणः सुतं । इह षट्खंडरत्नाना स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥ ४ ॥ रत्न रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव कन्यका । तत्त्वा स्वगृहमानीय दौष्ट्य पश्यास्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥ जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः । तेनागतोऽस्मि दौर्वृत्त्यं तदेतत्सोढुमक्षमः ॥ ६ ॥ प्राकृतोऽपि न

अथ चवालीसवां पर्व.

अथानंतर—दुर्मषण नामका एक पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था, वह उस जयकुमारके गलेमें डाली हुई वरमालाको सहन नहीं कर सका था इसलिये उस पापीने इसप्रकार कह कर अन्य सब राजाओंको उत्तेजित किया ॥ १ ॥ वह कहने लगा कि अकंपन दुष्ट है, नीच है, और झूठ-मूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, उसने अपनी संपदाओंकी प्रशंसा करानेके लिये व्यर्थ ही तुम लोगोंको बुलाया है ॥ २ ॥ अकंपन तुम लोगोंका दूसरे युगतक रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसलिये ही उसने पहिलेसे सोच विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डाली है ॥ ३ ॥ इस-प्रकार कहता हुआ वह दुर्मषण लज्जित हुये चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके समीप आया और कहने लगा कि इस छहों खंड पृथ्वीमें उत्पन्न हुये रत्नोंके दो ही स्वामी है एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥ ४ ॥ सब रत्नोंमें कन्या ही रत्न है और कन्याओंमें भी वह सुलोचना ही अच्छा रत्न है। इसलिये ही तुझे अपने घर बुलाकर तेरा अपमान किया है, इस दुष्टकी दुष्टता तो देखो ॥ ५ ॥ भला सोचो तो जयकुमार कौन है जिसे बुलाकर मृत्युके द्वारा प्रेरणा किये हुये अकंपनने अपनी कन्या दी, यह दुराचार मुझे सहन नहीं हो सका इसलिये ही मैं आपके समीप आया हूं ॥ ६ ॥ नीच लोग भी छोटे छोटे अपमानोंको भी नहीं सह सकते हैं फिर भला तेरे ऐसा अभिमानी पुरुष

सोढव्यः प्राकृतैरपि ।किं पुनः । त्वादृशैः स्त्रीसमुद्भूतो मानभंगो मनस्विभिः ॥ ७ ॥ तदादिश दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदं । दिशाम्यादेशमात्रेण समाला तेऽपि कन्यका ॥ ८ ॥ इत्यसाध्वीं क्रुधं भर्तुः स्ववाचैवासृजत्खलः । सदसत्कार्यनिर्वृत्तौ शक्तिः सदसतोः समा ॥ ९ ॥ तद्वचःपवनप्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः । भ्रमद्विलोचनागारः क्रुधाऽग्निसुरसन्निभ. ॥ १० ॥ उज्जगार ज्वलत्स्थूलविस्फुलिंगोपमागिरः । अर्ककीर्तिर्द्विषोऽशेषान् दिधक्षुरिव वाचया ॥ ११ ॥ मामधिक्षिप्य कन्येयं येन दत्ता दुरात्मना । तेन प्रागेव मूढेन दत्तः स्वस्मै जलाजलि ॥ १२ ॥ अतिक्राते रथे तस्मिन्प्रोत्थितः क्रोधपावकः । तदैव किंतु को दाह्य इत्यजानन्नहं स्थितः ॥ १३ ॥ नाम्नाऽतिसंधितो मूढो मन्यते त्वमकंपनं । क्रुधे मयि न वेत्तीति कंपते सधरा

एक स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सह सकता है? ॥ ७ ॥ इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये मैं आपकी आज्ञामात्रसे ही इस अकंपनको यमराजका स्थान दे सकता हूं अर्थात् उसे मार सकता हूं और माला सहित वह कन्या लाकर तुझे दे सकता हूं ॥ ८ ॥ इसप्रकार उस दुष्ट दुर्मर्षणने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामी अर्ककीर्तिको दुष्ट (बुरा वा भारी) क्रोध उत्पन्न किया, सो ठीक ही है क्योंकि अच्छे और बुरे काम करनेके लिये सज्जन और दुर्जनोंकी एकसी शक्ति होती है ॥ ९ ॥ दुर्मर्षणके वचन रूपी वायुसे भडकी हुई क्रोध रूपी अग्निसे जो लाल हो रहा है, जिसके नेत्र रूपी अंगारे चारोंओर घूम रहे हैं और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोंके समान ही जान पडता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोंसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही क्या मानों जलते हुये वडे वडे फुलिंगोंके समान वचन उगलने लगा ॥ १०–११ ॥ वह कहने लगा कि जिस दुष्टने मेरा तिरस्कार-कर वह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिये पाहिले ही जलांजलि दे डाली है ॥ १२ ॥ जिससमय उस कन्याका वह रथ मुझे छोडकर आगे निकल गया था उसीसमय मेरी क्रोध रूपी अग्नि भडक उठी थी परंतु 'जलेगा कौन' यही बात मुझे मालूम नहीं थी, इसलिये ही मैं अबतक ठहरा था ॥ १३ ॥ केवल नामसे ठगा हुआ वह मूर्ख आपको अकंपन (कभी न कंपनेवाला, निडर)

धरा ॥ १४ ॥ मत्खड्गवारिधाराभिरास्ता तावदगोचरः । सहरत्यखिलान् शत्रून् बलवेलैव हेलया ॥ १५ ॥ प्ररूढशुष्कनाथेंदुदुर्वंशविपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्वह्निभस्मिताऽस्मिन्न रोक्ष्यति ॥ १६ ॥ वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो भर्तुर्भयान्मया । कथमद्य सहे माला सर्वसौभाग्यलोपिनीं ॥ १७ ॥ मद्यशःकुसुमाम्लानमालेवास्त्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहाद्यैता हरेयं जयवक्षसः ॥१८॥ जलदान्पेलवान् जित्वा मरुन्मात्रविलायिनः । अद्य पश्यामि दृप्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥ १९ ॥ इति निर्भिन्नमर्यादः कार्याकार्यविमूढधीः । अनिवार्यो विनिर्जित्य कालातजलधिध्वनिं ॥ २० ॥ अनलस्यानिलो वाऽस्य

मानता है परंतु उसे यह मालूम नहीं है कि मुझे क्रोध आजानेपर पर्वतोंके साथ साथ यह पृथ्वीभी कंपने लगती है ॥ १४ ॥ मेरी तलवार रूपी जलकी धाराकी बात तो दूर ही रहो (उसके सामने तो टिक ही नहीं सकता) मेरी सेना रूपी पानीकी लहर ही समस्त शत्रुओंको लीलामात्रमें ही नाशकर बहा देती है ॥ १५ ॥ बहुत बढे हुए और सूके ऐसे नाथवंश और सोमवंश ये दोनों दुष्ट वंशरूपी बडे भारी जंगल मेरी क्रोधरूपी जलती हुई अग्निसे भस्म हो जायंगे, जलजायंगे और फिर इस संसारमें कभी न उगेंगे ॥ १६ ॥ चक्रवर्ती महाराज भरतने इस जयकुमारके सिरपर पाहिले जो वीरपट्ट बांधा था वह तो मैंने अपने पिताके डरसे सह लिया था परंतु आज जो इसके गलेमें मेरे सब सौभाग्यको नाश करनेवाली वरमाला डाली गई है उसे मैं कैसे सह सकता हूं ॥ १७ ॥ वह माला मेरे यशरूपी फूलोंकी इस युगके अंततक कभी न मुरझानेवाली मालाके समान हो, आज मैं उस मालाको जयलक्ष्मीके साथ साथ जयकुमारके वक्षःस्थलसे हरण करूंगा ॥ १८ ॥ केवल वायुके चलनेमात्रसे नाश होनेवाले और अत्यंत कोमल ऐसे मेघोंको जीतकर अभिमानसे उन्मत्त हुये जयकुमारका विजय आज मैं युद्धमें देखूंगा ॥ १९ ॥ इसप्रकार जिसने अपनी मर्यादा तोड दी है कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे उस अर्ककीर्तिने उससमय अपनी आवाजसे प्रलयकालके समय होनेवाली समुद्रकी गर्जना भी

साहाय्यमगमॅस्तदा । केऽपि पापक्रियारंभे सुलभाः सामवायिका ॥ २१ ॥ तदा सर्वोपधाशुद्धो मंत्री जनपदादिभिः । अनवद्यमतिर्नाम लक्षितो मंत्रिलक्षणैः ॥ २२ ॥ धर्म्यमर्थ्यं यशस्सार ससौष्ठवमनिष्ठुरं । सुविचार्य वचो न्याय्य पथ्य प्रोक्तु प्रचक्रमे ॥ २३ ॥ मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्व त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः ॥ २४ ॥ विपर्यासे विपर्येति भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा हि व्यक्तं युष्मासु तिष्ठते ॥ २५ ॥ गुणाः क्षमादयः सर्वे व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु । समस्तास्ते जगद्वृद्धौ चक्रिणि त्वयि च स्थिताः ॥ २६ ॥ च्यवंते स्वस्थितेः काले

जीत ली और जिसप्रकार अग्निको बढानेके लिये वायु सहायक हो जाता है उसीप्रकार दुर्मषण आदि कितने ही राजा उससमय उसके सहायक हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओंके प्रारंभ करनेमें सहायता देनेवाले कितने ही लोग सहजरीतिसे मिल जाते हैं ॥ २०–२१ ॥ उससमय धर्म अर्थ काम इन तीनोंमें जिसकी बुद्धि शुद्ध है और जो जनपद आदि मंत्रियोंमें होने वाले लक्षणोंसे सुशोभित है ऐसे अनवद्यमति (अनिंद्य बुद्धिको धारण कहनेवाला) नामके मंत्रीने खूब अच्छी तरह विचारकर धर्म और संपदाको बढानेवाले, यशके सारभूत अर्थात् यशको बढानेवाले, कठोरतारहित, सुंदर, सबका हित करनेवाले और न्याय पूर्वक वचन कहने प्रारंभ किये ॥ २२–२३ ॥ वह कहने लगा कि पृथ्वी, आकाश. चंद्रमा, सूर्य, समुद्र वायु. अग्नि, तू, तेरा पिता महाराज भरत, बादल और काल ये सब संसारमें कल्याण करनेवाले हैं ॥ २४ ॥ यदि इनमें उलटपलट होजाय तो संसारके कल्याणोंमें भी उलट पलट हो जाता है क्योंकि यह सृष्टि आपके अनुकूल ही चलती है सो ठीक ही है क्योंकि यह सृष्टि आपके ही आश्रय रहती है अथवा इसका आधार आप ही हैं ॥२५॥ क्षमा आदि सब गुण अलग अलग तो पृथ्वी आदिमें रहते ही हैं परंतु संसारको बढानेके लिये अर्थात् संसारका कल्याण करनेकेलिये वे सब गुण इकट्ठे होकर चक्रवर्तीमें और तुझमें ही रहते हैं ॥ २६ ॥ कदाचित् किसी कालमें वे क्षमादि गुण अपनी स्थितिसे छूट जाते हैं अर्थात् पृथ्वीसे

कांचित्तेऽपि क्षमादय॰ । न स कालोस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्युवयो॰ स्थितेः ॥२७॥ सृष्टिः॰ पितामहेनेयं सृष्टैता तत्समर्पिता । पाति सम्राट् पिता तेऽद्य तस्यास्त्वमनु-पालकः ॥२८॥ दैवमानुषबाधाभ्य. क्षति कस्यापि या क्षितौ । ममैवेयमिति स्मृत्वा समाधेया त्वयैव सा॥२९॥क्षतात्रायत इत्यासीत्क्षत्रोऽय भरतेश्वरः। सुतस्तस्यौरसो ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्व तदादिम ॥३०॥ त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तंते नूतना ये पुरातनाः। तेपि त्वत्पलिता एव भवन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥ सनातनोऽस्ति मार्गोऽय श्रुतिस्मृतिषु भाषितः। विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयवरः ॥३२॥ यदि स्यात्सर्वसंप्राप्यां कन्यैका पुण्यभाजन। अविरोधो ब्यधाप्यत्र

क्षमा, आकाशसे निर्मलता, चंद्रमासे शीतलता, समुद्रसे गंभीरता आदि गुण छूट जाते हैं परंतु ऐसा कोई समय नहीं है कि जो तुम दोनोंकी (चक्रवर्ती और तेरी) मर्यादाको नष्ट कर सके। भावार्थ-सबकी मर्यादा छूट सकती है परंतु तुम दोनोंकी मर्यादा कभी नहीं छूट सकती ॥ २७ ॥ तुम्हारे दादा श्री वृषभदेवने इस कर्मभूमि रूप सृष्टिकी रचना की है और रचनाकर तुम्हारे पिता भरतको सोंप दी है, अव तुम्हारे पिता चक्रवर्ती इसका पालन कर रहे हैं, उनके बाद इसकी रक्षा करनेवाले तुम ही हो ॥ २८ ॥ इस पृथ्वीमें यदि किसीको भी देव मनुष्योंके उपद्रवसे कुछ हानि होती हो तो "यह हानि मेरी ही है" यही समझकर तुमको ही उसका समाधान करना चाहिये ॥ २९ ॥ जो संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, महाराज भरत सबकी रक्षा करते हैं इसलिये वे क्षत्र हैं, और तुम उनके सबसे बडे औरस पुत्र हो इसलिये तुम इस संसारमें सबसे पहिले क्षत्रिय गिने जाते हो ॥ ३० ॥ इस संसारमें न्यायकी प्रवृत्ति तुमसे ही होती है, जो प्राचीन न्यायमार्ग है वह तुमसे ही नया होता है, तथा जो प्राचीन न्यायमार्ग हैं वे तुम्हारे पालन करनेसे ही इस संसारमें प्रसिद्ध होते हैं ॥ ३१ ॥ विवाहके जितने भेद हैं उन सबमें यह स्वयंवर ही श्रेष्ठ है और समस्त शास्त्र स्मृतियोंमें कहा हुआ यह स्वयंवर सनातन मार्ग है अर्थात् आज नया नहीं है अनादिकालसे चला आया है ॥ ३२ ॥ यदि पुण्यस्वरूप किसी एक ही कन्याको याचना करनेवाले सब ही मनुष्य हों तो परस्पर किसीमें

दैवायत्तो विधिर्बुधैः ॥ ३३ ॥ मध्ये महाकुलीनेषु कंचिदेकं समीप्सितं ॥ सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणिनं गुणदुर्गतं ॥ ३४ ॥ विरूपं रूपिणं चापि वृणीतेऽसौ विधेर्वशात् । न तत्र मत्सरः कार्यः शेषैर्न्यायोऽयमीदृश. ॥ ३५ ॥ लंघ्यते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्त्वयैव सः । नेदं तवोचितं क्वापि पाता स्यात्पारिपंथिकः ॥ ३६ ॥ भवत्कुलाचलस्योभौ नाथसोमान्वयौ पुरा । मेरोर्निषधनीलौ वा सत्पक्षौ पुरुणा कृतौ ॥ ३७ ॥ सकलक्षात्रियज्येष्ठः पूज्योऽय राजराजवत् । अकंपनमहाराजो राजेव ज्योतिषां गणैः ॥ ३८ ॥ निर्विशेषं पुरोरेनं मन्यते भरतेश्वरः । पूज्यातिलंघनं प्राहुरुभयत्राशुभाव-

---

विरोध न हो इसलिये ही केवल भाग्यके आधीन होनेवाली यह स्वयंवरकी विधि विद्वान् लोगोंने निरूपण की है ॥ ३३ ॥ बडे बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये लोगोंमेंसे भाग्यके आधीन होकर वह कन्या अपनी इच्छानुसार किसी एकको अपना पति स्वीकार कर लेती है, चाहे वह धनी हो या दरिद्री हो, गुणवान् हो या निर्गुण (मूर्ख) हो, अथवा रूपवान हो या कुरूपी हो, इसमें अन्य लोगोंको कुछ भी ईर्षा या द्वेष नहीं करना चाहिये यह ऐसा ही न्याय है ॥ ३४-३५ ॥ यदि कोई इस न्यायका उलंघन करे तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिये, इसलिये इस स्वयंवरमें बाधा डालना तुम्हारेलिये उचित नहीं है, क्या रक्षा करनेवाला भी कभी चोर वा शत्रु होता है ? ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार निषध और नील दोनोंपर्वत मेरु पर्वतके उत्तम पक्ष हैं उसीप्रकार श्रीवृषभदेवने पहिले नाथवंश और सोम वंश दोनों ही तुम्हारे कुलरूपी पर्वतके उत्तम सहायक बनाये थे ॥३७॥ जिसप्रकार समस्त ज्योतिषी देवोंका समूह चंद्रमाकी पूजा करता है उसीप्रकार सब क्षत्रियोंमें बडे ऐसे महाराज अकंपन भरत चक्रवर्तीके समान पूज्य हैं ॥ ३८ ॥ महाराज भरत इन महाराज अकंपनको श्रीवृषभदेवके समान मानते हैं इसलिये पूज्य पुरुषोंका उलंघन करना इस भव और परभव दोनों लोकोंमें अकल्याण करनेवाला है ॥ ३९ ॥ और देखो-यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही गिना जाता है क्योंकि जिसप्रकार धर्मतीर्थकीप्रवृत्ति तुम्हारे वंशसे हुई है उसीप्रकार दानतीर्थकी प्रवृत्ति इस सोमवंशसे हुई

हं ॥ ३९ ॥ पश्य तादृश एवात्र सोमवंशोऽपि कथ्यते । धर्मतीर्थं भवद्वंशादानतीर्थं ततो यत. ॥ ४० ॥ पुरस्सरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विशां विभोः । प्रायो दुस्साधससिद्धौ श्लाघते जयमेत्र सः ॥ ४१ ॥ एतस्य दिग्जये सर्वैर्दृष्टमेवेह पौरुष । अनेन यः कृतः प्रेषः स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥ ४२ ॥ ज्ञात्वा संभाव्यशौर्योऽपि स मान्यो भर्तृभिर्भटः । दृष्टसारः स्वसाध्येऽर्थे साधितार्थः किमुच्यते ॥ ४३ ॥ विना चक्राद्विना रत्नैर्भोग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयात्ते मानुषी सिद्धिर्दैवी पुण्योदयाद्यथा ॥ ४४ ॥ तृणकल्पोऽपि सवाह्यस्तव नीतिरियं कथं । नार्येदुवशावुच्छेद्यौ लक्ष्म्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥

है ॥ ४० ॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न तो आगे आगे चलनेमात्रसे ही प्रशंसानीय है परंतु वडी कठिनतासे सिद्ध होनेयोग्य कार्योंको सिद्ध करनेमें महाराज भरत बहुत करके जयकुमारकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ४१ ॥ दिग्विजयके समय इस संसारमें सबने ही इसका पुरुषार्थ देखा है, उससमय इसने जो पराक्रम दिखाया था वह भी तुम्हें स्मरण करना चाहिये ॥ ४२ ॥ जिसके शूरवीर होनेकी संभावना है ऐसे योद्धाको जानकर राजाओंको उसका भी आदरसत्कार करना चाहिये, फिर भला जिसने अपना पराक्रम दिखाया है और अत्यंत कठिनतासे सिद्ध होने योग्य कार्यको सिद्ध कर दिखाया है ऐसे शूरबीरकी तो बात ही क्या है अर्थात् ऐसे शूरवीरका तो बहुत ही आदर सत्कार करना चाहिये ॥ ४३ ॥ आगे विना चक्र और विना निधिरत्नोंके यह सब लक्ष्मी तुम्हारे ही उपभोग करने योग्य होगी, क्योंकि जिसप्रकार दैवी सिद्धि पुण्यकर्मके उदयसे होती है उसीप्रकार मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होती है ॥ ४४ ॥ जो तृणके समान है उसकी भी रक्षा करना चाहिये यही तुम्हारी नीति है फिर भला जो राजलक्ष्मीके साक्षात् भुजाओंके समान हैं ऐसे नाथवंश और सोमवंश इन दोनोंका नाश कैसे करना चाहिये ॥ ४५ ॥ ये दोनों ही तुम्हारे भाईके समान सेवक हैं इनका नाश होनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर क्रोध करेगा और युगके अंततक टिकनेवाला अधर्म तुम्हारे द्वारा चलाया सरीखा समझा जायगा ॥ ४६ ॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषा करनेका

बधुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्र्यपि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वया स्यात्संप्रवर्तितः ॥ ४६ ॥ परदाराभिलाषस्य प्राथम्यं मा वृथा कृथाः । अवश्यमाहृताऽप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥ ४७ ॥ सप्रताप यशः स्यात्तु जयस्य स्यादहर्यथा । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥ ४८ ॥ सर्वमेतन्ममैवेति मा मॅस्थाः सावन युग्रः । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सति तत्पक्षपातिनः ॥ ४९ ॥ पुरुपार्थत्रयं पुम्भिर्दुष्प्राप तत्त्वयाऽर्जित । न्यायमार्गं समुलध्य वृथा तत्किं विनाशये ॥ ५० ॥ अकपनस्य सेनेशो जयः प्रागिव चाक्रिणः । वीरलक्ष्म्यास्तुलारोहं मुधा त्व किं विधास्यसि ॥ ५१ ॥ ननु न्यायेन बधोस्ते बधुपुत्री समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमाऽत्र पराभवः ॥ ५२ ॥ कन्यारत्नानि संत्येव बहून्यन्यानि भूभुजा । इह तानि सरत्नानि

प्रारंभ नहीं करना चाहिये क्योंकि यदि तुम उस कन्याको जबर्दस्ती हरण भी कर लाओगे तो भी वह कन्या तुम्हारी कभी नहीं होगी ॥ ४७ ॥ चिरकालतक टिकनेवाला और प्रताप वा पराक्रम सहित जयकुमारका यश दिनके समान होगा और मालेन ऐसी तुम्हारी अपकीर्ति इस संसारमें चिरकालतक टिकनेवाली रात्रिके समान होगी ॥ ४८ ॥ ये सब इकट्ठे हुये राजा लोग युद्धमें मेरे ही सहायक होंगे ऐसा भी तुम मत समझो क्योंकि इनमें उनका पक्ष करने वाले भी बहुतसे राजा लोग हैं ॥ ४९ ॥ मनुष्योंको बडी कठिनतासे मिलने योग्य धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ तुमने संपादन किये हैं अब न्यायमार्गका उलंघन कर क्यों व्यर्थ ही उनका विनाश कर रहे हो ॥५०॥ यह जयकुमार जिसप्रकार पहिले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसीप्रकार अब अकंपनका सेनापति बना है इसलिये तुम क्यों व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तौलना चाहते हो ॥ ५१ ॥ दूसरी यह बात है कि जयकुमार भी तुम्हारा हित करनेवाला भाई है और अकंपन भी तुम्हारा हित करनेवाला भाई है, एक भाईकी पुत्री न्याय पूर्वक दूसरे भाईके लिये समर्पण की है ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ? हां यदि तुम इसे सहन न कर सको, इसमें कुछ ईर्षा वा द्वेष करो तो यह तुम्हारा तिरस्कार हो सकता है ॥ ५२ ॥ इसके सिवाय राजाओंके और भी बहुतसे कन्यारत्न हैं, रत्नालंकार सहित उन

सर्वाण्यद्यानयामि ते ॥ ५३ ॥ इति नीतिलतावृद्धिविधाय्यपि वचःपयः । व्यावात्तचेतसः क्षोभं तप्ततैलस्य वा भृशं ॥ ५४ ॥ सर्वमेतत्समाकर्ण्य बुद्धिं कर्मानुसारिणीं । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीं ॥ ५५ ॥ अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतौ चिरंतनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकंपनः ॥ ५६ ॥ किंतु सोऽय जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिं प्रविधित्सुकः ॥ ५७ ॥ सर्वभूपालसंदोहसमाविर्भावितोदयात् । स्वयं चक्रीयितु चैव व्यधत्त कपटं शठः ॥५८॥ प्राक्समर्थितमन्त्रेण प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥

सबको आज मैं तुम्हारे लिये लादेता हूं ॥५३॥ इसप्रकार नीतिरूपी लताको बढानेवाले उस मंत्रीके बचन रूपी जलने गर्म तेलके समान उस अर्ककीर्तिके चित्तको और भी खूब क्षुब्ध कर दिया ॥ ५४॥ इन सब बातोंको सुनकर "बुद्धि कर्मोंके अनुसार ही होती है" इस बातको स्पष्ट प्रगट करता हुआ वह दुर्बुद्धि नीचे लिखे अनुसार बचन कहने लगा ॥ ५५ ॥ वह कहने लगा कि विवाहकी विधियोंमें यह स्वयंवर अनादिकालकी विधि है यह मैं मानता हूं और यह भी स्वीकार करता हूं कि अकंपन उम्रमें बडा है और हमारे दादा वृषभदेवके द्वारा आदर सत्कार पाया हुआ है ॥ ५६ ॥ परंतु जयकुमारके स्नेहसे उसीका उत्कर्ष वा बडप्पन चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यका विश्वास दिलाना चाहता है, यह सब राजाओंके समूहको बुलाकर उससे प्रगट हुये अपने बडप्पनसे स्वयं चक्रवर्तीके समान होना चाहता है, इस मूर्खने यह एक छल किया है ॥५७-५८॥ "यह कन्या जयकुमारको ही देनी है" यह विचार इस अकंपनने पहिले ही अपने चित्तमें कर लिया था और ऐसा ही अपनी पुत्रीको समझा रक्खा था, इसलिये इस कन्याने उस संकेतके अनुसार झूठ मूठको जयकुमारके गलेमें माला डाली है ॥ ५९ ॥ युगके प्रारंभमें ही बडे कुलमें उत्पन्न हुये अकंपनने जो यह माया की है यदि आज मैं इसकी उपेक्षा करूंगा, रोकूंगा नहीं तो फिर कल्पकालके अंततक भी किसीसे निवारण नहीं हो सकेगी ॥ ६० ॥ मैं एक अन्याय को रोकता हूं इसलिये चक्रवर्ती महाराज.

युगादौ कुलवृद्धेन मायेयं संप्रवर्तिता । मयाऽद्य यद्युपेक्षेत कल्पांते नैव वार्यते ॥ ६० ॥ न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनं । प्रवर्तयत्यसौ दंडमय्यप्यन्यायवर्तिनि ॥ ६१ ॥ जयोऽप्येनं समुत्सिक्तस्तत्पट्टेन च मालया । प्रति स्व लब्धरंध्रो मां करोत्यारंभक पुरा ॥ ६२ ॥ समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषममु युधि । अनुरागं जनिष्यामि राजन्याना मयि स्थिरं ॥ ६३ ॥ द्विधा भवतु वा मा वा वल तेन किमाशुगाः । माला प्रत्यानयिष्यति जयवक्षो विभिद्य मे ॥ ६४ ॥ नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयं । परासुरधुनैव स्यात्किं मे विधवया तया ॥ ६५ ॥ दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥ व्ययो मे विक्रमस्यास्तां शरस्योप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद्दुष्टस्यांहः कुतो भवेत् ॥६७॥

भरत भी क्रोध नहीं कर सकते क्योंकि जब मैं कुछ अन्याय कर बैठता हूं तब वे मुझे भी दंड देते हैं ॥ ६१ ॥ यह जयकुमार भी पहिले वीरपट्टके बांधनेसे और गलेमें यह वरमाला पडजानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है, यह पहिलेसे ही समय पाकर मेरे लिये कुछ न कुछ व्यापार करता ही रहता है ॥ ६२ ॥ यह सबका शत्रु है इसलिये इसे मूलसाहित नाशकर सब राजाओंका स्थिर प्रेम अपनेमें ही उत्पन्न करूंगा ॥ ६३ ॥ इस सेनाके दो विभाग हों अथवा न हों इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल फोडकर उस वरमालाको ले आयंगे ॥६४॥ मैं कुछ सुलोचनाको भी लेना नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्षा वा द्वेष करनेवाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणोंसे प्राण रहित हो जायगा फिर मैं उस विधवाका क्या करूंगा ? ॥६५॥ दुराचारको दूर करनेसे धर्म अर्थ काम तीनों बढते हैं क्योंकि कारणके होते हुये क्या कभी कार्यकी हानि देखी जाती है ? अर्थात् कभी नहीं ॥६६॥ इस काममें मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहो मेरे बाण भी खर्च नहीं हो सकते, उलटा इस दुष्टके मारनेमें धर्म होगा क्योंकि दुष्टके मर जाने पर फिर पाप कहांसे होगा ॥ ६७ ॥ ऐसा करनेसे जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध है ऐसे मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नहीं होगी किंतु यदि मैं इस अन्यायको न रोकूंगा तो जो किसीसे रोकी न जा सके ऐसी

कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्मे नार्ककीर्तेर्विनंक्ष्यति । अकीर्तिरनिवार्या स्यादन्यायस्यानिषेधनात् ॥ ६८ ॥ तस्य मेऽयशसः कीर्तेर्भवद्भिर्यदुदाहृतं । भवेत्तत्सत्यसवादि शीतकोऽस्म्यत्र यद्यहं ॥ ६९ ॥ यूयमाध्व ततस्तुष्णीमुष्णकोऽहमिद प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्य च मा निषेधि हितैषिभिः ॥ ७० ॥ एव मत्रिणमुल्लध्य कुधीर्वा दुर्ग्रहाहितः । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥ ७१ ॥ कथयित्वा महीशाना सर्वेषा रणनिश्चय । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदा ॥ ७२ ॥ अनुभेरिरव सद्यः प्रत्यावासं महीभुजां । नटद्भटभुजास्फोटचटुलारावनिष्ठुरः ॥ ७३ ॥ करिकठस्फुटोद्घोषघटाटकारभैरवः । जितकंठीरवा-

---

मेरी अपकीर्ति जरूर होगी ॥ ६८ ॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और जयकुमारकी कीर्ति होनेका वर्णन किया है सो यदि मैं इस समय ठंडा हो जाऊं, कुछ न करूं तब यह समाचार सत्य हो सकता है ॥ ६९ ॥ इसलिये तुम लोग चुप रहो, मैं इस काममें ठंडा नहीं हूंगा, गर्म अर्थात् उत्तेजित ही बना रहूंगा, हित चाहनेवालोंको धर्म, अर्थ और यश बढानेवाले कार्यको कभी नहीं रोकना चाहिये ॥७०॥ जिसके नीचा देखनेका समय समीप आगया है और जो हठ कर रहा है ऐसे उस दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने इसप्रकार मंत्रियोंके वाक्योंका उलंघनकर और सेनापतिको बुलाकर सब राजाओंसे युद्ध करनेका निश्चय कहा और तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवाई॥७१–७२॥ जो राजाओंके प्रत्येक डेरेमें भेरीके (नगाडोंके) शब्दोंके साथ साथ बहुत शीघ्र नृत्य करते हुये योद्धाओंके भुजाओंकी ताडनासे उत्पन्न होनेवाली बडी बडी आवाजोंसे भयंकर है, जो हाथियोंके गलेमें पडे हुये और जोर जोरका शब्द करते हुये घंटोंकी आवाजसे भयानक है, जो सिंहोंकी गर्जनाको जीतनेवाले घोडोंके हींसनेसे भयंकर है, जो चलते हुये घोडोंके खुरोंसे उठे हुये कठोर शब्दोंसे भर रहा है, जो पैदल सेनाके चलनेसे उनके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुये पृथ्वीके बडे बडे शब्दोंसे भय उत्पन्न करनेवाला है, जो चलते हुये रथोंके पहियोंसे उत्पन्न हुये बडे बडे चीत्कार (चूं चूं) शब्दोंसे भयंकर है, जो धनुष तैयार करनेके लिये लगाई हुई डोरीके खींचनेसे कठोर हो रहा है, दिशारूप दीवालोंसे

रावहयहेषाविभीषणः ॥ ७४ ॥ चलद्वरिखुरोद्वट्टकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपद्धतिप्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः ॥७५॥ स्पंदत्स्यंदनचक्रोत्थपृथुचीत्कारभीकरः । धनु.सज्जीक्रियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥ ७६ ॥ प्रतिध्वनितदिग्भित्तिस्सर्वानकभयानकः । बलकोलाहलः कालमिवाह्वातुं समुद्यतः ॥ ७७ ॥ शिक्षिता बलिनः शूराः शूरारूढाः सकेतवः । गजाः समंतात्सन्नाह्याः प्राक्चेलुरचलोपमाः ॥ ७८ ॥ तुरंगमास्तरंगाभाः सग्रामाब्धेः सवर्मकाः । अनुदंति नदतोऽऽयान् विक्रामंतः समततः ॥ ७९ ॥ सचक्र धेहि संयोज्य सधुरं प्राजवाजिनः । इति संभ्रमिणोऽपमन् रथास्तदनु सध्वजाः ॥ ८० ॥ चडाः कोदंडकुतासिप्रासचक्रादिभीकराः । याति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्धदिक्काः पदातयः ॥ ८१ ॥ गज गजस्तदोद्रव्य वाहो वाहं रथं रथः । पदातयश्च पादात

जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है और जो सवतरहके नगाडोंसे भयानक हो रहा है ऐसा वह सेनामें उत्पन्न हुआ कोलाहल ऐसा जान पडता था मानों कालको बुलानेके लिये ही तैयार हुआ हो ॥७३-७७॥ उससमय जो सिखाये हुये हैं, बलवान हैं, शूरवीर हैं, जिनपर योद्धा लोग चढे हुये हैं, ध्वजायें फहरा रही हैं, जो सबतरह तैयार हैं और पर्वतके समान ऊंचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे आगे चल रहे थे ॥ ७८ ॥ उन हाथियोंके पीछे पीछे चारोंओर युद्ध रूपी समुद्रकी तरंगोंके समान, कवच पहिने हुये हींसते और कूदते हुये घोडे जा रहे थे ॥ ७९ ॥ " हे वीरो ! रथोंमें जल्दी पहिये लगाओ धुराको जल्दी ठीक कर लगाओ " इसप्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें जल्दी जाने वाले तेज घोडे जुते हुये हैं और ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोडोंके पीछे पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोंके पीछे धनुष, बरछी, तलवार, सेल, चक्र आदि शस्त्रोंसे भयंकर तथा जिन्होंने फैलकर सब दिशायें रोक ली हैं और जो अत्यंत प्रचंड (बलवान) हैं ऐसे क्रोधसे भरे हुये पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥ ८१ ॥ उससमय हाथी हाथीको, घोडा घोडाको, रथ रथको और पियादा पियादाको धक्का देकर वा उससे टक्कर खाकर बडी जल्दीसे युद्धमें जा रहे थे ॥ ८२ ॥ तदनंतर हाथियोंपर चढेहुये अनेक राजा जिसके साथ हैं, जिसने नगाडोंके कठोर शब्दोंसे सब दिग्गज भयभीत कर

सम्भ्रमान्निर्ययुर्युधे ॥ ८२ ॥ आरूढानेकपानेकभूपालपरिवारितः । भेरीनिष्ठुरनिर्घोषभीषिताशेषदिग्द्विपः ॥८३॥ चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः । गजं विजयघोषाख्यमारुह्याद्रिवरोत्तम ॥ ८४ ॥ अर्ककीर्तिर्बहिर्भास्वदस्युद्यतभटावृत. । ज्योतिःकुलाचलैर्वार्कश्चचालाभ्यचलाधिप ॥ ८५ ॥ किंवदंतीं विदित्वेता भूपो भूत्वाकुलाकुलः । स्वालोचितं च कर्तव्यं विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥ ८६ ॥ इति स्वसचिवैः सार्धमालोच्य च जयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्तिं यथादिक्षद्दूतं सम्प्राप्य सत्वर ॥ ८७ ॥ कुमार तव किं युक्तमेवं सीमातिलंघनं । प्रसीद प्रलयो दूरं तन्मा कार्षीर्मृषागमं ॥ ८८ ॥ इति सामादिभिःस्वोक्तैरगातमगवम्य तम् । प्रत्येत्य तत्तथा सर्वमाश्ववाजीगमन्नृपं ॥ ८९ ॥ काशीराजस्तदाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहगृहितो

दिये हैं, चक्रके चिन्हवाली ध्वजाको ऊंचाकर जिसने अपना ऊंचापन बहुत अच्छीतरह प्रगट किया है और बाहरसे देदीप्यमान ऐसे हाथमें तलवार उठाये हुये योद्धाओंसे जो घिरा हुआ है ऐसा वह अर्ककीर्ति मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे विजयघोष नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर महाराज अकंपनकी ओर इसप्रकार चला मानों ग्रह नक्षत्र आदि ज्योतिर्मंडलके साथ साथ अथवा ज्योतिर्मंडल और कुलाचल पर्वतोंके साथ साथ सूर्य ही मेरु पर्वतकी ओर चला हो ॥ ८३–८५ ॥ इस बातको जानकर महाराज अकंपन बहुत ही व्याकुल हुये और सोचने लगे कि जो काम बहुत सोच विचारकर किया जाता है, दैव उसे भी उलटा कर देता है, इसप्रकार उन्होंने अपने मंत्री और जयकुमार आदि राजाओंके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके पास एक दूत भेजा और उस दूतके साथ ये समाचार कहला भेजे कि हे कुमार ! क्या तुमको इसप्रकार मर्यादाका उलंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है, इसलिये प्रसन्न हूजिये और शास्त्रोंको झूठा मत करिये अर्थात् लडकर अभी प्रलयकालका समय मत कर दीजिये ? ॥ ८६–८८ ॥ इसप्रकार दूतने बहुतसे शांत बचन कहे परंतु तौ भी उसे अशांत जानकर वह दूत लौट आया और उसने बहुत शीघ्र ज्योंके त्यों सब समाचार अपने महाराज अकंपनसे कह दिये ॥ ८९ ॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज महाराज अकंप-

वाऽसीद्दुष्कार्ये को न मुह्यति ॥ ९० ॥ अत्र चिंत्यं न वः किंचिन्न्यायस्तेनैव लंघितः । तिष्ठतेहैव संरक्ष्य सुनियुक्ताः सुलोचना ॥ ९१ ॥ इदानीमेव दुर्वृत्तं शृंखलालिंगनोत्सुकं । शाखामृगमिवानेष्ये बध्वा दाराततायिनं ॥ ९२ ॥ इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिता । मेघघोषाभिधा भेरीं प्रष्ठेनास्फालयद्रुषा ॥ ९३ ॥ द्रोणादिप्रक्षयारंभघनाघनघनध्वनिं । तद्ध्वनिर्व्याप निर्जित्य निर्भिद्य हृदयं द्विषां ॥ ९४ ॥ तद्रवाकर्णनाद्घूर्णितार्णवप्रतिमे बले । अतिमालोत्सवोऽत्रासीदुत्सवो विजये यथा ॥ ९५ ॥ तदोद्भिन्नकटप्रांतप्रक्षरन्मदपायिनः । स्वमदेनेव मातंगाः प्रोत्तुंगाः प्रोन्मदिष्णवः ॥ ९६ ॥

नका चित्त कुछ विचलित (डवांडोल) हुआ और महा मोहसे वे मूर्छित हो गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें भला कौन मोहित (मूर्छित) नहीं होता ॥९०॥ जयकुमार महाराज अकंपनको चिंतित देखकर कहने लगे कि इसमें हम लोगोंको कुछ भी चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि न्यायमार्गका उलंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचनाकी रक्षा करते हुये यहां ही विराजिये ॥ ९१ ॥ दुराचरण करनेवाले, स्त्रीको चुरानेकी इच्छा करनेवाले, और इसलिये ही सांकलोंमे आलिंगन करनेकी (सांकलोंसे बंधनेकी) इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको बंदरके समान बांधकर मैं अभी ले आता हूं ॥ ९२ ॥ इसप्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर युद्धमें सबसे आगे जानेवाले मनुष्योंके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी (नगाडा) बजवाई ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारंभमें द्रोण, काल, पुष्करावर्त आदि बादलोंकी जो जबर्दस्त गर्जना होती है उसे भी जीतकर और शत्रुओंके हृदयको विदीर्णकर वह नगाडेकी आवाज सब जगह फैल गई थी ॥ ९४ ॥ जिसप्रकार किसीके विजय करनेपर उत्सव होता है उसीप्रकार उस भेरीकी आवाजको सुनकर क्षुब्ध हुये समुद्रके समान उस जयकुमारकी सेनामें वरमाला डालनेके आनंदसे भी अधिक आनंद होने लगा ॥ ९५ ॥ उससमय फटे हुये मस्तकके समीपसे (कपोलोंसे) जो मद झरता था उसको पीनेवाले और उसी अपने मदसे मानों उन्मत्त हुये ऊंचे ऊंचे हाथी युद्धके आनंदसे सुशोभित हो रहे थे

सुस्वनंतः खनतः ख वाजिनो वायुरंहसः । कृतोत्साहा रणोत्साहाद्रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥ ९७ ॥ रथाः प्रागिव पर्यस्ताः पूर्णसर्वायुधा युधः । महावाहसमायुक्ताः प्रनृत्यत्केतुबाहवः ॥ ९८ ॥ योषितोऽप्यभटायंत पाटवात्तंयुगं प्रति । ततः प्रतिबलात्तत्र भूयासो वा पदातयः ॥ ९९ ॥ वर्द्धमानो ध्वनिस्तूर्ये रणरगे भविष्यत. । वीरलक्ष्मीप्रनृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयन्निव ॥ १०० ॥ वनान्वय वयःशिक्षालक्षणैर्वीक्ष्यविग्रह । सुधर्माण सुवर्ष्माणं कामवत क्षरन्मद ॥१०१॥ सामजं विजयार्द्धाख्य विजयार्द्धमिवापरं । वहुशो दृष्टसंग्राम गजध्वजविराजित ॥१०२॥ अधिष्ठाय जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जगाम

तथा वायुके समान जिनका वेग है, जो अच्छीतरह हींस रहे हैं, पैरोंसे आकाशको खोद रहे हैं और जिन्हें उत्साह बढ रहा है ऐसे घोडे भी युद्धके आनंदसे सुशोभित हो रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना भी यही है ॥ ९६–९७ ॥ जिनमें सवतरहके सव शस्त्र भरे हुये हैं, वडे वडे घोडे लगे हुये हैं और जिनकी ध्वजारूपी भुजायें नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ जिसप्रकार पहिले (मेघकुमारको जीतते समय) सजाये गये थे उसीप्रकार सजकर फैल रहे थे ॥ ९८ ॥ उस जयकुमारकी सेनामें युद्धमें अत्यंत निपुण होनेसे स्त्रियां भी योद्धाओंके समान काम करती थीं इसलिये सब राजाओंकी सेनासे इसकी सेनामें पैदल चलनेवाली सेनाकी संख्या सबसे अधिक थी ॥ ९९ ॥ उस समय सेनामें बाजोंके बजनेसे जो आवाज बढ रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों युद्धके मैदानमें वीरलक्ष्मीका जो अच्छा नृत्य होनेवाला है उसे बढाती हुई ही निकल रही हो ॥ १०० ॥ तदनंतर जो बनमें उत्पन्न हुआ है, उम्र, शिक्षा, और सुलक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीरका संगठन अच्छा है, जो स्वामीकी इच्छानुसार चलनेवाला है, जिससे मद झर रहा है, जिसने अनेक युद्ध देखे हैं और जिसपर हाथीके चिन्हवाली ध्वजायें सुशोभित हो रही हैं ऐसे दूसरे विजयार्द्ध पर्वतके समान विजयार्द्ध नामके हाथीपर चढकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोंके साथ साथ युगके अंतमें होनेवाली प्रलयकालकी लीलाको उलंघन

युगप्रातकाललीलां विलघयन् ॥ १०३ ॥ कुर्वती शांतिपूजा त्वं तिष्ठ मात्रेति सादर । प्रवेश्य चैत्यधामाग्र्यं सुतां नित्यमनोहरं ॥ १०४ ॥ समग्रबलसंपत्त्या चचाल चलयन्निलां । अकंपः कंपितारातिः साकंपनिरकंपनः ॥ १०५ ॥ सूकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जय जग्मुरितिभूपाः ससाधनाः ॥ १०६ ॥ इमे मुकुटबद्धेषु पंच विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेंदुवशगृह्याः समाययुः ॥ १०७ ॥ मेघप्रभश्च चंडासिप्रभाव्याप्तवियत्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धैर्विद्याधरैरगात् ॥ १०८॥ बलं विभज्य भूभागे विशाले सकलं समे । प्रकृत्य मकरव्यूहं विरोधिबलघस्मरः ॥१०९॥ उच्चैरूर्जिततूर्यौघनिर्यन्निर्घोषभीषणः । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा॥११०॥चक्रव्यूहविभक्त्यात्मभूरिसाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च

करता हुआ निकला ॥ १०१-१०३ ॥ इधर महाराज अकंपनने भी अपनी पुत्री सुलोचनाको नित्य-मनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमें पहुंचाया और कहा कि तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शांति पूजा (शांति करनेवाली पूजा अथवा शांतिनाथकी पूजा) करती हुई बैठ । इसप्रकार कहकर जिसने सब शत्रुओंको कंपादिया है और जो स्वयं निश्चल है कभी घबडाता नहीं, ऐसा वह महाराज अकंपन अपने सब पुत्रोंके साथ सेनारूपी सब संपत्ति लेकर पृथ्वीको कंपाता हुआ निकला ॥१०४-१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा, और देवकीर्ति ये सब राजा अपनी अपनी सेना लेकर जयकुमारके साथ निकले ॥ १०६ ॥ मुकुटबद्ध राजाओंमें इन पांचोंकी कीर्ति बहुत ही प्रसिद्ध है तथा इनके सिवाय नाथवंश और सोमवंशके आश्रित जो जो शूरवीर थे, वे सब इनमें आ मिले थे ॥ १०७ ॥ अपनी प्रचंड तलवारकी प्रभासे जिसने आकाशमंडलको भी व्याप्त कर दिया है और जो विद्याके बलसे उद्धत है ऐसा मेघप्रभनामका विद्याधर भी आधे विद्याधरोंके साथ इनके साथ निकला ॥ १०८ ॥ विशाल और सपाट पृथ्वीपर जिसने अपनी सब सेनाका विभाग कर तथा मकरव्यूहकी (मगरमच्छके समान) रचना कर शत्रुओंकी सेनाको नाश करनेवाला, अपनी आवाजसे बादलोंकी गर्जनाको भी जीतने वाला और बडे बडे बाजोंके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर ऐसा

भातिस्म परिवेषाहितार्कवत् ॥ १११ ॥ क्रुद्धाः खे खेचराधीशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाद्य तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥ ११२ ॥ अष्टचंद्रा खगाः ख्याताश्चक्रिणः परितः सुतं । शरीररक्षकत्वेन भेजुर्विद्यामदोद्धताः ॥ ११३ ॥ अकालप्रलयारंभजृंभिताम्भोदगर्जितं । निर्जित्य तूर्यं तूर्याणि दध्वनुः सेनयोः सम ॥ ११४ ॥ धानुष्कैर्मार्गणैर्मार्गः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारेभे घोरघोषैर्मुखरितः ॥ ११५ ॥ संग्रामनाटकारम्भसूत्रधारा धनुर्धराः । रणरंगं विशन्ति स्म गर्जत्तूर्यपुरस्सरं ॥ ११६ ॥ आबध्य स्थानकं पूर्वं रणरंगे धनुर्धरैः । पुष्पांजलिरिव व्यस्तो मुक्तः शितशरोत्करः ॥ ११७ ॥ तीक्ष्णा

वह मेघस्वर (जयकुमार) उस समय गर्जता हुआ बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥१०९–११०॥ उससमय अर्ककीर्ति भी चक्रव्यूहकी रचनासे खडी हुई अपनी बडी भारी सेनाके बीचमें था इसलिये वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अपने चारोंओरके गोल मंडलसे घिराहुआ सूर्य ही हो ॥१११॥ क्रोधित हुये सुनमि आदि विद्याधर भी गरुडव्यूहकी रचनाकर अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमें अलग ही खडे थे ॥ ११२ ॥ विद्याके मदसे उद्धत हुये आठ चंद्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके शरीरकी रक्षा करते हुये चारोंओरसे उसकी सेवा कर रहे थे ॥ ११३ ॥ उन दोनों सेनाओंमें असमयमें ही होनेवाले प्रलयकालके प्रारंभमें बढती हुई बादलकी गर्जनाको जीतते हुये बहुत शीघ्र शीघ्र बाजे एकसाथ बज रहे थे ॥ ११४ ॥ युद्धके आगे आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले ऐसे धनुष धारण करनेवाले वीरोंने अपने बाणोंसे वह युद्धका मार्ग मुखर (गर्जना सहित) करना प्रारंभ कर दिया था ॥ ११५ ॥ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुष युद्धरूपी नाटकके प्रारंभमें सूत्रधारके समान जान पडते थे और इसलिये ही वे बजते हुये बाजोंको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥ ११६ ॥ धनुष धारण करनेवालोंने युद्धरूपी रंगभूमिमें जाकर और सबसे पहिले आसन जमाकर जो तीक्ष्ण बाणोंका समूह छोडा था वह ऐसा जान पडता था मानों उन्होंने पुष्पांजलि ही बखेरी हो ॥ ११७ ॥ वे धनुषपर रहनेवाले बाण

मर्माण्यभिन्नतः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः शश्वत्खलकल्पा धनुर्भृतः ॥ ११८ ॥ उभयोः पार्श्वयोर्बद्धा बाणधी कृतवल्गनाः । धन्विनः खचराकारा रेजुराजौ जितश्रमाः ॥ ११९ ॥ ऋजुत्वाद्दूरदर्शित्वात्सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वाच्छराः सुसचिवैः समा. ॥ १२० ॥ क्रव्यास्रपायिनः पत्रवाहिनो दूरपातिनः । लक्ष्येषूड्डीय तीक्ष्णास्याः खगाः पेतुः खगोपमाः ॥१२१ ॥ धर्मेण गुणयुक्तेन प्रेरिता हृदयं गता । शूरान् शुद्धिरि-

---

सदा दुष्टके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार दुष्ट तीक्ष्ण होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी तीक्ष्ण थे, दुष्ट जिसप्रकार पहिले ही मर्म भेदन करते हैं उसीप्रकार वे वाण भी पहिले मर्म भेदन करते थे, दुष्ट जैसे कलह करनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी कलह करनेवाले थे और दुष्ट जैसे (मीठे बचन कहकर) पीछेसे भीतर घुस जाते हैं उसीप्रकार वे बाण भी पीछेसे भीतर घुस जाते थे॥ ११८॥ उस युद्धमें अपने दोनों बगलोंमें तूणीर (जिसमें वाण रक्खे जाते हैं) बांधकर गर्जना करनेवाले और परिश्रमको जीतनेवाले अर्थात् परिश्रमी ऐसे धनुष धारण करनेवाले लोग ठीक पक्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ११९ ॥ अथवा उस युद्धके वाण अच्छे मंत्रियोंके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार मंत्री सरल होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी सरल सीधे थे, तथा मंत्री जिसप्रकार दूरदर्शी अर्थात् दूरकी बात सोचने वाले होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी दूरदर्शी अर्थात् दूरके निशानेको देखनेवाले थे, मंत्री जिसप्रकार शीघ्र ही स्वामीका कार्य सिद्ध कर लेते हैं उसीप्रकार वे वाण भी अपने स्वामीका कार्य शीघ्र ही सिद्ध करते थे और मंत्री जिसप्रकार शास्त्रमार्गके अनुसार चलते हैं उसीप्रकार वे बाण भी धनुर्विद्यामें कहे अनुसार ही चलते थे ॥ १२० ॥ अथवा वे वाण पक्षियोंके समान थे क्योंकि जिसप्रकार पक्षी मांस और रुधिर पीते हैं उसीप्रकार वे वाण भी मांस रुधिर पीते थे अर्थात् उनके मुंहपर मांस रुधिर लग जाता था तथा पक्षियोंके जिसप्रकार पंख होते हैं उसीप्रकार उन बाणोंके भी पंख थे (बाणोंके दोनों ओर लोहेकेही पंख सरीखे लगे रहते हैं) पक्षी जैसे दूर

वानैषीद्गतिं पत्रिपरंपरा ॥ १२२ ॥ पुंसा सस्पर्शमात्रेण हृद्गता रक्तवाहिनी । क्षिप्रं न्यमीलयन्नेत्रे वेश्येव विशिखावली ॥ १२३ ॥ त्यक्त्वेशं खेचरासृग्वृष्टौ गृध्रतमस्ततौ । परोऽन्विष्य शरावल्या जारयेव वशीकृतः ॥ १२४ ॥ प्रगुणा मुष्टिसंवाह्या दूर दृष्टयनुवर्तिनः । गत्वेष्टं साधयति स्म सद्भृत्या इव सायकाः ॥ १२५ ॥ प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् बाणान् परशरान्प्रति । तत्रैव पातयतिस्म धानुष्काः सा हि धीर्द्विषा ॥ १२६ ॥ जाताश्चापधृता-

जाकर पडते हैं उसी प्रकार वे वाणभी वहुतदूर जाकर पडते थे और पक्षियोंकेमुह जैसे पैने होते हैं उसीप्रकार उन वाणोंके मुंह भी (नोक) वडे पैने थे इसप्रकारके वे वाण पक्षियोंके समान ही उडकर ठीक अपने निशाने पर ही पडते थे ॥१२१॥ जिसप्रकार गुणवान् धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि मोक्षको पहुंचा देती है उसीप्रकार जिसकी डोरी खिची हुई है ऐसे धनुपके द्वारा प्रेरणा किये हुये (भेजे हुये) और जाकर हृदयमें लगे हुये वाणोंके समूह शूरवीर लोगोंको परलोक पहुंचा रहे थे॥१२२॥जिसप्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और रक्त वहानेवाली (प्रेम दिखानेवाली अथवा वीर्य खींचनेवाली) वेश्या स्पर्श करनेमात्रसे (आनंदसे) मनुष्योंके नेत्र बंद कर देती है उसीप्रकार हृदयमें लगी हुई और रुधिर वहाने वाली वह वाणोंकी पंक्ति भी स्पर्श करने मात्रसे ही बहुत शीघ्र मनुष्योंके नेत्र वंद कर देती थी अर्थात् उन वाणोंसे वे मनुष्य मर जाते थे ॥ १२३ ॥ जिसप्रकार वहुत वर्षा होनेसे खूब अंधकार हो जानेपर कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको छोडकर किसी पर पुरुपको ढूंडकर वश कर लेती हैं उसीप्रकार विद्याधरोंके रुधिरकी खूब वर्षा होनेसे गीधरूपी अंधकार फैलजानेपर वाणोंकी पंक्ति अपने स्वामीको छोडकर ढूंढढूंढकर शत्रुओंको वश कर रही थी ॥ १२४ ॥ अथवा वे वाण अच्छे नौकरोंके समान जाकर अपने इष्टकार्योंको सिद्ध करते थे क्योंकि जिसप्रकार नौकर गुणवान होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी गुणवान् अर्थात् डोरी सहित थे, नौकर जैसे मुट्ठियोंसे दिये हुये अन्नपर निर्वाह करते हैं उसीप्रकार वे वाण भी मुठियोंसे अर्थात् हाथोंसे चलाये जाते थे और नौकर जैसे दृष्टिके अनुसार

केचिदन्योन्यशरखंडने । व्यापृताः श्लाघिताः पूर्वं रणे किंचित्करोपमाः ॥ १२७ ॥ हस्त्यश्वरथपत्यौघमुद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत् । शराः पेतुः स्वसंपातमेवास्ता दृढमुष्टिभिः ॥ १२८ ॥ पूर्वं विहितसधानाः स्थित्वा किंचिच्छरासने । यानमध्यास्य मध्यस्था द्वैधीभावमुपागताः ॥१२९॥ विग्रहे हतशक्तित्वादगत्या शत्रुसश्रयाः । बाणा गुणितषाड्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥ १३० ॥ धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतती सततं धैर्यादाश्वनूत्पाटिताशु-

दूरतक चले जाते हैं उसीप्रकार वे बाण भी दृष्टिके अनुसार दूरतक चले जाते थे ॥ १२५ ॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा जहां जहां शत्रुओंके बाण थे वहींपर देखकर अपने तेज बाण फेंकते थे सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंकी ऐसी बुद्धि होती ही है ॥१२६ ॥ अथवा जो बाण एक दूसरेके बाणोंके तोडनेके लिये चलाये गये थे अथवा धारण किये थे अथवा उस व्यापारमें लगाये थे वे बाण ठीक नौकरोंके समान जान पडते थे और युद्धमें उनकी सबसे पहिले प्रशंसा हुई थी ॥ १२७ ॥ जिनके हाथ मजबूत हैं ऐसे योद्धाओंने जो बाण चलाये थे वे वेगके कारण स्पष्ट न दिखनेवाली वस्तुके समान दिखाई नहीं पडते थे और हाथी, घोडे, रथ और पियादेके समूहोंको भेदकर अपने पडनेकी जगहपर ही जाकर पडते थे ॥ १२८ ॥ जिसप्रकार संधि विग्रह आदि छह गुणोंको पालन करनेवाला राजा सिद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार वे बाण भी पहिले संधि करते थे अर्थात् अपना निशाना देखते थे, फिर कुछ देर तक धनुषपर ठहरते थे, फिर कुछ चलते थे, तदनंतर मध्यस्थ होकर अर्थात् बीचमें आकर द्वैधीभावको प्राप्त हो जाते थे अर्थात् बीचमें उनके दो टुकडे हो जाते थे। उसके बाद युद्धके लिये सामर्थ्य नष्ट होजानेसे लाचार होकर शत्रुओंका आश्रय लेते थे अर्थात् शत्रुओंके समूहमें पड जाते थे, इसप्रकार वे बाण छहों गुणोंका पालन करते हुये अपना इष्ट कार्य सिद्ध करते थे ॥ १२९–१३० ॥ निकाले हुये बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरंतर पडती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों वीररसकी धारा ही हो ॥ १३१ ॥

गं ॥ १३१ ॥ सायिकोद्भिन्नमालोक्य कांतस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्चित्तेऽस्य वदतीवात्मन स्थितिं ॥ १३२ ॥ छिन्नदंडैः फलैः कश्चित्सर्वांगीणैर्भटाग्रणीः । कीलितासुरिवाकंप्रस्तथैव युयुधे चिरं ॥ १३३ ॥ विलोक्य विलयज्वालिज्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं छिन्नं स्वं विपक्षधनुर्धरैः ॥ १३४ ॥ गृहीत्वा वज्रकांडाख्यं सज्जीकृत्य शरासनं । स्वयं योद्धुं समारब्ध सक्रोधः सानुजो जयः ॥ १३५ ॥ कर्णाभ्यर्णीकृतास्तस्य गुणयुक्ताः

कोई स्त्री अपने पतिका हृदय वाणसे विदीर्ण हुआ देखकर और अपना निवास उसीके हृदयमें है यहि कहती हुई क्या मानो वह प्राण रहित होगई थी ॥ १३२ ॥ जिनके दंड टूट गये हैं और जो सब शरीरमें घुस गये हैं ऐसे वाणोंकी नोकोंसे मानों जिनके प्राण ही वांध दिये गये हों ऐसे कितने ही उत्तम योद्धा उसी तरह निश्चल होकर वहुत देरतक लडते रहे थे ॥ १३३ ॥ जयकुमारने देखा कि शत्रुओंके धनुष धारण करनेवाले योद्धाओंने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चचल शिखाके समान जो बाण चलाये थे उनसे अपनी सेना छिन्न भिन्न हो रही है यह देखकर क्रोध करता हुआ अपने सब छोटे भाइयोंके साथ साथ वज्रकांड नामका धनष लेकर और उसे सजाकर अर्थात् कानतक खींचकर उसने स्वयं (खुद) युद्ध करना प्रारंभ किया ॥ १३४–१३५ ॥ वे जयकुमारके चलाये हुये बाण ठीक दूतके समान थे क्योंकि जिसप्रकार दूत कानसे लगाकर स्वामीसे वात करता है उसीप्रकार वे वाण भी स्वामीके कानतक पहुंचगये थे, जिसप्रकार दूत गुणवान् होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी गुण सहित अर्थात् धनुषकी डोरीपर रक्खे थे, दूतकी योजना जिसप्रकार अच्छीतरह की जाती है उसीप्रकार उन वाणोंकी योजना भी अच्छीतरह की गई थी अर्थात् वे अच्छीतरह चलाये गये थे, दूत जिसप्रकार पत्र लेकर वहुत शीघ्र निकलता है उसीप्रकार वे वाण भी पीछे लगे हुये पंखोंसे वडी शीघ्रतासे निकल रहे थे, दूत जिसप्रकार समयको व्यर्थ नहीं खोते उसीप्रकार वे बाण भी समयको व्यर्थ नहीं खोते थे, दूत जिसप्रकार रास्तेमें वडी शीघ्रतासे जाता

सुयोजिताः । पत्रैर्लघुसमुत्थानाः कालक्षेपायिधायिनः ॥ १३६ ॥ मार्गे प्रगुणसंचाराः प्रविश्य हृदयं द्विषां । कृच्छ्रार्थं साधयंति स्म निसृष्टार्थसमाः शराः ॥ १३७ ॥ पत्रवतः प्रतापोग्राः समग्रा विग्रहे द्रुताः । अज्ञातपातिनश्चक्रुः कूटयुद्ध शिलीमुखाः ॥ १३८ ॥ प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥ १३९ ॥ वादिनेव जयेनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगी-

---

है उसीप्रकार वे वाण भी रास्तेमें बडी शीघ्रतासे जा रहे थे और दूत जिसप्रकार शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कामको भी सिद्ध कर लेते हैं उसीप्रकार वे बाण भी शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कामको भी सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा वे वाण कपट युद्ध कर रहे थे क्योंकि कपट युद्ध करनेवाले विना जाने एकदम आ पडते हैं उसीप्रकार वे बाण भी बिना जाने एक साथ आ पडते थे, कपट युद्ध करनेवाले जिसप्रकार पत्रवंत अर्थात् सवारीसहित होते हैं तथा प्रतापसे भयंकर होते हैं उसीप्रकार वे बाण भी पत्र अर्थात् पीछे लगे हुये लोहेके पंखों सहित थे और अधिक संताप देनेसे भयंकर थे और कपटयुद्ध करनेवाले जिसप्रकार युद्धमें शीघ्र जाते हैं और समग्रा अर्थात् सब सामग्री सहित होते हैं उसीप्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्रतासे जाते थे और समग्रा अर्थात् सबसे आगे चलते थे ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार बहुत शीघ्र कीर्ति संपादन करनेवाला और जीतनेकी इच्छा करनेवाला कोई वादी देदीप्यमान, स्वर्ग मोक्ष आदि फल देनेवाले, सबको मान्य, अच्छी तरह रचना किये हुये, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे अपने प्रतिवादीको हराता है उसीप्रकार बहुत शीघ्र अर्ककीर्तिको पकडनेकी इच्छा तथा विजय करनेकी इच्छा करनेवाले, और शत्रुके साथ विरोध प्रगट करनेवाले जयकुमारने चमकते हुये, नोक सहित, प्रमाणसे बने हुये, अच्छी तरह चलाये हुये, संसारमें प्रसिद्ध और दिग्विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥ १३९–१४० ॥ जयकुमारने जो विद्याधरोंपर वाण चलाये थे वे आकशको पारकर चले

षुणा ॥ १४० ॥ खगाः खगान्प्रति प्रास्ताः प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तंते न यावत्ते ते भियेवापतन्मृताः ॥ १४१ ॥ सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीलाः प्रज्वलत समततः । मूर्द्धस्वशनिवत्पेतुः खाद्विमुक्ताः खगैः शराः ॥ १४२ ॥ शरसंघातसच्छन्नान् गृध्रपक्षाधकारितान् । अदृष्टमुद्गरावातान् नभोगा नभसो व्यधुः ॥ १४३ ॥ चंडैरकाडमृत्युश्च काडैरापायतादिमः । युगेऽस्मिन् किं किमस्ताशुभासिभिर्नाशुभं भवेत् ॥ १४४ ॥ दूरपाताय नो किंतु दृढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णांतमाकृष्य मुक्ता हन्युर्द्विपादिकान् ॥ १४५ ॥ अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात्पलाशनात् । पृपत्काः सांहसा वेयुर्नरक

गये थे और जबतक वे लौटे भी न थे तबतक ही वे विद्याधर डरसे मरकर गिर पडे थे ॥ १४१ ॥ विद्याधरोंने जो बाण आकाशसे छोडे थे वे बडे ही तीक्ष्ण थे, देखनेमें वडे भयंकर थे और तेजसे जल रहे थे ऐसे वे बाण योधाओंके मस्तकपर वज्रके समान चारोंओरसे आकर पड रहे थे ॥१४२॥ जो बाणोंके समूहसे ढक गये थे, गीधके पंखोंसे अंधकारमय हो गये थे और जिन्हें मुद्गरोंका आघाततक दिखाई नहीं पडता था ऐसे योद्धाओंको विद्याधर लोग आकाशमें जाकर घायल कर रहे थे ॥ १४३ ॥ इस युगके प्रारंभमें उन प्रचंड बाणोंने सबसे पहिले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम कर दिया है ऐसे लोगोंसे क्या क्या अशुभ नहीं होते हैं ? अर्थात् ऐसे लोगोंसे सबतरहके अशुभ हो सकते हैं ॥ १४४ ॥ दूर जानेके लिये नहीं किंतु अच्छीतरह लगनेके लिये विद्याधरोंने कानतक खींचकर जो बाण छोडे थे उन्होंने बहुतसे हाथी घोडे मार दिये थे ॥ १४५ ॥ जिसप्रकार रुधिर पीने और मांस खानेसे पापी जीव नीचा मुखकर पृथ्वीके नीचे नरकमें जाते हैं उसीप्रकार जो बाण विद्याधरोंने छोडे थे वे शत्रुके शरीरमें आकर रुधिर पीने और मांस खानेसे पापी जीवके समान नीचेको मुख कर नीचे पृथ्वीपर आरहे थे ॥ १४६ ॥ इसीप्रकार भूमिगोचरियोंने बडी निर्दयतासे जो बाण छोडे थे वे शत्रुओंके शरीरको छेदकर दूरतक आकाशमें इसप्रकार जा रहे थे मानों देवांगनाओंकी दासियां

वाऽवनेरधः ॥ १४६ ॥ भूमिष्ठैर्निष्ठुरं क्षिप्ता द्विष्ठानुत्क्रष्य यष्टयः । ययुर्दूरं दिव दूतिदेशीया दिव्ययोषितां ॥ १४७ ॥ चक्रिणश्चक्रमेकांतं न ततः कस्यचित्क्षतिः । चक्रैरकालचक्राभैर्बहवस्तत्र जघ्निरे ॥ १४८ ॥ समवेगैः सम मुक्तैः शरैः खेचरभूचरैः । व्योम्न्यन्योन्यमुखालग्नैः स्थित कतिपयक्षणान् ॥ १४९ ॥ खभूचरशरैश्छन्ने खे परस्पररोधिभिः । अन्योन्यावीक्षणात्तेषामभूद्रणनिषेधनं ॥ १५० ॥ स्वास्त्रैः शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चावाधितं भृश । स्वसैन्यं वीक्ष्य खोत्क्षिप्तवीक्षणोग्राशुशुक्षणिः ॥ १५१ ॥ सद्यः संहारसक्रुद्धसमवर्तिसमो जयः । प्रारब्ध योध्दुं वज्रेण वज्रकाडेन वज्रिवत् ॥ १५२ ॥ निर्जिताशनिनिर्घोषजयज्याघोषभीलुकाः । चापसायकचेतांसि प्राक्षिपन्सह शत्रवः ॥ १५३ ॥ चापमाकर्णमाकृष्य ज्यानिवेशितसायकः । लघुसंधानमोक्षः सोऽवेक्ष्य-

---

ही हों॥१४७॥चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही है उससे किसीका विनाश नहीं होता है परंतु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुतसे सामान्य चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये थे ॥१४८॥ भूमिगोचरी और विद्याधरों ने समान वेगसे एक साथ जो बाण छोडे थे वे थोडी देरके लिये आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर अर्थात् परस्पर एक दूसरेकी नोक मिलाकर ठहर गये थे ॥ १४९ ॥ परस्पर एक दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और इसलिये ही एक दूसरेको न देख सकनेके कारण उन दोनोंका युद्ध बंद होगया था ॥ १५० ॥ अपने और शत्रुओंके शस्त्रोंसे तथा विद्याधरोंके बाणोंसे खूब मारी गई अपनी सेनाको देखकर आकाशकी ओर फेंकीहुई जिसकी दृष्टिसे तेज अग्नि निकल रही है अर्थात् क्रोधसे जलती हुई आंखोंसे जो आकाशकी ओर देख रहा है और जो संहार करनेकेलिये क्रोधित हुये यमके समान है ऐसा वह जयकुमार वज्रकांड नामका धनुष लेकर बहुत शीघ्र इसप्रकार युद्ध करने लगा मानों वज्र लेकर इंद्र ही युद्ध कर रहा हो ॥१५१–१५२॥ बिजलीकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके धनुष चढानेके (डोरी खींचनेके) शब्दोंसे भयभीत हुये कितने ही शत्रुओंने अपने धनुषबाण और मन दोनों एक साथ फेंक दिये थे अर्थात् उनका धनुषबाण भी गिर गया था और मन भी ठिकाने न रहा था ॥ १५३ ॥ कानतक धनुषको खींचकर

विध्यन्निव क्षणं ॥ १५४ ॥ न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योजिताः शराः । दृष्टास्ते केवलं भूमौ सव्रणाः पतिताः परे ॥ १५५ ॥ निमीलयतश्चक्षूंषि ज्वलयंतः शिलीमुखाः । मुखानि ककुभां वव्रुः खादुल्कालीविभीषणाः ॥ १५६ ॥ तिर्यग्गोष्फणपाषाणैरदृष्ट्वाज्यजिराद्बहिः । पतितान् खचरानूचुः सतनून् स्वर्गतान् जडाः ॥ १५७ ॥ शरसंरुग्णविद्याधृन्मुकुटेभ्योऽगलन् सुरैः । मणयो गुणगृह्यैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥ १५८ ॥ पतन्मृतखगान्वीतप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । वारिदानमिवाचर्य कृपामासादितो जयः ॥ १५९ ॥ अतकः समवर्तीति तद्वार्तैव न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव बले

जिसने डोरीपर बाण रक्खा है और जो बडी शीघ्रतासे बाण छोडता रखता है ऐसा वह जयकुमार क्षणभरके लिये ऐसा जान पडता था मानों बाणोंको छोडता ही न हो ॥ १५४ ॥ जयकुमारके चलाये हुये बाण न तो बीचमें ही दिखते थे और न शरीरमें लगे हुये ही दिखते थे, उससमय घावसहित पृथ्वीपर पडते हुये केवल वे शत्रु ही दिखते थे ॥ १५५ ॥ देखनेवालोंके नेत्रोंको बंद करते हुये, अत्यंत जलते हुये और आकाशसे पडती हुई उल्काके समूहके समान भयंकर ऐसे उन जयकुमारके बाणोंने सब दिशाओंके मुख ढक लिये थे ॥ १५६ ॥ तिरछे जानेवाले गोफनोंके पत्थरोंसे युद्धके मैदानसे वाहर पडते हुये विद्याधरोंको न देखकर ही मूर्ख लोग कहते थे कि यह देखो यह विद्याधर शरीर सहित स्वर्गको गया है ॥ १५७ ॥ बाणोंकी चोटसे अत्यंत दुखी हुये, विद्याधरोंके मुकुटोंसे जो मणि निकल निकलकर पड रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों गुणग्राही देवोंने जयकुमारकी भेट ही किये हों ॥१५८॥ विद्याधर मरकर पड रहे थे और उनके साथ ही साथ जो उनकी स्त्रियां आई थीं तथा आंखोंके आंसुओंसे उन्हें जलांजलि ही देती हुई सी जान पडती थीं उन्होंने जयकुमारके चित्तमें दया उत्पन्न कर दी थी ॥१५९॥ यम समवर्ती है अर्थात् सबको एकसी (समान) दृष्टिसे देखता है यह केवल एक कहावत है, यदि यह केवल कहावत न होती (यह बात सच होती) तो वह इस चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही प्रेतोंका राजा कैसे होता अर्थात् अर्ककीर्तिकी

प्रेताधिपो भवेत् ॥ १६० ॥ वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनां । यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्धर्मस्तत्र दिव्यानलोपमः ॥ १६१ ॥ तावद्धेषितनिर्घोषैर्भीषयंतो द्विषो हयाः । बलमाश्वासयंतः स्वं स्वीचक्रुश्चक्रिसूनवः ॥ १६२ ॥ प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णानभीक्ष्ण वाहवाहिनः । आवर्तयंतः संप्रापन् यमस्येवाग्रगा भटाः ॥ १६३ ॥ जयोऽपि स्वयमारुह्य जयी जयतुरंगमं । क्रुद्धः प्रासान् समुध्दत्य योध्दुमश्वीयमादिशत् ॥ १६४ ॥ अभूत्प्रहतगभीरभंभादिध्वनिभीषणः । बलार्णवश्चलत्स्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥ १६५ ॥ असिसंघट्टनिष्ठ्यूतविस्फुलिंगो रणेऽनलः । भीषणे शरसंघाते व्यदीपिष्ट धराचिते ॥ १६६ ॥ वाजिनः प्राक्कशाघातादधावताभिशायक । म्रियते न सहते हि परिभूतिं सतेजसः ॥ १६७ ॥ स्थिताः पश्चिमपादाभ्या बद्धामर्षाः

ही सेना क्यों अधिक मारी जाती ? ॥ १६० ॥ जयकुमारके द्वारा अन्याय करनेवाले लोगोंकी न्यायपूर्वक हिंसा कराकर वह तीक्ष्ण यम भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप होगया था भावार्थ-जैसे दिव्य अग्नि तीक्ष्ण होकर भी धर्मस्वरूप होती है उसीप्रकार यम भी न्यायपूर्वक अन्यायी लोगोंकी हिंसा करनेसे धर्मस्वरूप होगया था ॥१६१॥ इतनेमें ही अपने हींसनेके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुये और अपनी सेनाको धैर्य बंधाते हुये चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके घोडे सामने आये ॥१६२॥ यमराजके मुख्य योद्धाओंके समान चमकते हुये और खूब पैने भालोंको बार बार फिराते हुये घुडसवार लोग भी सामने आये ॥ १६३ ॥ विजय करनेवाले और क्रोधित हुये उस जयकुमारने भी स्वयं जयतुरंगम नामके घोडेपर सवार होकर अपने घुडसवार योद्धाओंको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥ १६४ ॥ घोडोंके द्वारा जिसमें चलती हुई बडी बडी लहरें आ रही हैं ऐसा वह सेना रूपी समुद्र बजते हुये गंभीर नगाडे आदि बाजोंके शब्दोंसे भयंकर हो रहा था ॥ १६५ ॥ उस युद्धमें जो भयंकर बाणोंका समूह पृथ्वीपर पडा था उसमें तलवारोंकी परस्परकी चोटसे जो अग्निके कणा निकल रहे थे उनसे अग्नि लगगई थी । भावार्थ तलवारोंकी चोटसे निकलते हुये फुलिंगोंसे पृथ्वीपर पडे हुये सब बाण जल गये थे ॥ १६६ ॥ घोडे कोडोंकी चोट लगनेसे पहिले ही

परस्परं । पतिं केचिदिवावंतो युद्धंते स्म चिरं हयाः ॥ १६८ ॥ समुध्दृतास्त्रसंपृक्तलसल्लोलासिपत्रकैः । नभस्तरुरभाद्भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥ पतितान्यसिनिर्घातात्सुदूरं स्वामिना कचित् । शून्यासनः शिरांस्युच्चैरन्वेष्टु वा भ्रमन्हयाः ॥ १७० ॥ पशून् विशृगान्मत्वाऽश्वान् कृपया कोऽपि नाववधीत् । ते च दतखुरैरेव क्रुद्धाः प्राघ्नन् परस्परं ॥ १७१ ॥ वशमात्रावशिष्टाग्रैर्मंडलाग्रैश्चिरं क्रुधा । लोहदंडैरिवाखडैर्धीरा युयुधिरे धुरि ॥ १७२ ॥ शिरःप्रहरणेनान्योऽपरश्चनाध्य प्रकुर्वता । सर्वरोगशिराविद्धो दृष्ट्वा पश्चादयुद्ध सः ॥ १७३ ॥ हयान्प्रतिष्कशीकृत्य धनुस्तत्कापिशीर्षकं । अयुध्यत पुनः

आते हुये बाणोंके सामने दौड रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परंतु किसीका तिरस्कार नहीं सहते ॥ १६७ ॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोध करते हुये और पिछले दो पैरोंसे खडे हुये कितने ही घोडे बहुत देरतक इसप्रकार लड रहे थे मानों अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हों ॥ १६८ ॥ उससमय उठाकर ऊंचे किये हुये शस्त्रोंसे मिली हुई, चमकती हुई चंचल तलवार रूपी पत्तोंसे ऐसा जान पडता था मानों जिसपर फिरसे नये पत्ते लगे हैं ऐसा आकाशरूपी वृक्ष ही सुशोभित हो रहा हो ॥ १६९ ॥ कहीं कहींपर जिनके आसन खाली हैं अर्थात् जिनके सवार गिर गये हैं ऐसे घोडे इसप्रकार दौड रहे थे मानों तलवारकी चोटसे बहुत दूर जाकर पडे हुए अपने स्वामीके सिरोंको ढूंढनेके लिये ही दौड रहे हों ॥ १७० ॥ घोडोंको विना सींगके पशु समझकर दया उत्पन्न होनेके कारण कोई भी नहीं मारता था परंतु वे परस्पर क्रोधित होकर दांत और खुरोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥ १७१ ॥ उस युद्धमें कितने ही धीरवीर योद्धा क्रोधित होकर अखंड लोहे के डंडेके समान जिनमें केवल बांस ही रह गया है ऐसी तलवारोंसे बहुत देरतक लडते रहे थे ॥१७२॥ अन्य किसीके सिरमें ऐसी चोट लगी थी जो विचारा अंधा होगया था और उसे कुछ दिखाई नहीं पडता था तथापि गलेके पीछेकी नसोंसे जुडे हुये शिरको देखकर वह वीर फिर भी युद्ध करने लगा था ॥ १७३ ॥ उस समय कितने ही योद्धा कपिशीर्षक नामके धनुषको तथा घोड़ोंको सहायक बनाकर

बालार्कमजयज्जयः ॥ १८२ ॥ मडलाग्रसमुत्सृष्टदुष्टास्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वीय शत्रुशल्य समुद्धरन् ॥ १८३ ॥ ध्वजस्योपरि धूमो वातेनाकृष्टो नु सायकः । पपात तापमापाद्य सूचयन्नशुभं द्विषा ॥ १८४ ॥ ध्वजदंडान्समाखंड्य विद्विषो वीतपौरुषान् । कुर्वन्सर्वान् स निर्वंशान् सोमवशध्वजायते ॥ १८५ ॥ विच्छिन्नकेतवः केचित्क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः किंतु मानप्राणा हि मानिनः ॥ १८६ ॥ प्रज्वलंतं जयंतं ते

रको नाश कर रहा है और जिसके सामने जलते हुये तेज बाणोंकी किरणोंका समूह फैल रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ सूर्य भी जीत लिया था ॥ १८१—१८२ ॥ अथवा वह जयकुमार एक अच्छे वैद्यका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिसप्रकार वैद्य तलवारकी नोंकसे बिगडा हुआ रुधिर निकाललेता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोकसे दुष्ट शत्रुओंका रुधिर निकाल रहा था तथा वैद्य जिसप्रकार शस्त्र चलानेकी क्रियाओंको जानता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रियाओंको जानता था और वैद्य जिसप्रकार शल्यको निकाल लेता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्योंको निकाल रहा था ॥ १८३ ॥ जयकुमारके चलाये हुये बाण शत्रुओंको संताप उत्पन्नकर अशुभकी सूचना करते हुये धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओंपर पड रहे थे ॥ १८४ ॥ उससमय शत्रुओंकी ध्वजाओंके दंडोंके टुकडे टुकडे कर और उन सब शत्रुओंको वंशरहित और पौरुषरहित करता हुआ वह जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान फडक रहा था ॥ १८५ ॥ जिन लोगोंकी ध्वजायें छिन्न भिन्न हो गई थीं ऐसे कितने ही लोग क्षणभरके लिये मरे हुयेके समान खडे थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही कुछ प्राणी नहीं गिने जाते किंतु जो अभिमानी पुरुष हैं उनके अभिमान ही प्राण होते हैं ॥ १८६ ॥ अच्छीतरह चमकते हुये और सबको जीतते हुये उस जयकुमारको सहनेके लिये असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर एक साथ इसप्रकार टूटकर पडे थे मानों अग्निपर पतंगे ही पड रहे हों ॥ १८७ ॥ इतनेमें ही जिन्होंने अपने रथ तैयार

जयं तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि संपेतुरभ्यग्निं शलभा इव ॥ १८७ ॥ सनद्धस्यंदनाश्वंडास्तदा हेमागदादयः । कोदंडास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः क्रुधा ॥ १८८ ॥ ववर्षुर्वह्निवृष्टिं वा बाणवृष्टिं प्रति द्विषः । यावत्ते लक्ष्यतां नेयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥ १८९ ॥ निरुध्यानतसेनादिशरजालं रणार्णवे । स्यदनाँश्चोदयामासुः पोतान्वा वातरंहसः ॥ १९० ॥ बलद्वयास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिं । पेतुर्वाहाः परं तेजस्तेजस्वी सहते कथं ॥ १९१ ॥ अन्योन्यं खंडयंति स्म तेषां शस्त्राणि तद्रणे । नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रमस्त्रेषु कौशलं ॥ १९२ ॥ न मृता व्रणिता नैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेष्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥ १९३ ॥ युद्ध्वाऽप्येवं चिरं शेकुर्न जेतुं ते परस्परं । जयः सेनाद्वये तस्मिन् जयादन्येन दुर्लभः ॥ १९४ ॥ अतर्हासो

किये हैं, जो बडे प्रचंड हैं, जिन्होंने क्रोधसे धनुषोंको खींचकर उनके शब्दोंसे सब दिशायें भर दी हैं और जबतक वे शत्रु जयकुमारतक पहुंचने भी न पाये थे तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रगट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि अकंपनके पुत्र उन शत्रुओंपर अग्निकी वर्षाके समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १८८–१८९ ॥ वे अनंतसेन आदि शत्रुओंके वाणसमूहोंको रोककर जिनका वेग वायुके समान है ऐसे रथोंको उस युद्धरूपी समुद्रमें जहाजोंके समान दौडाने लगे ॥१९०॥ दोनों सेनाओंके शस्त्रोंका संघट्टन होनेसे (एक दूसरेपर पडनेसे) जो अग्नि उत्पन्न हो रही थी उसीपर वे रथके घोडे पड रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष भला दूसरेका तेज कैसे सह सकते हैं ? ॥१९१॥ उस युद्धमें दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको तोड देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुके शरीरतक नहीं पहुंचता था क्योंकि उनकी शस्त्रोंके चलानेकी निपुणता ही आश्चर्य करनेवाली थी ॥ १९२॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुये भी न तो कोई मरा था,न किसी के घाव लगा था न कोई जीता था और न कोई हारा था और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध सरीखा नहीं जान पडता था ॥१९३॥ इसप्रकार वे देरतक युद्ध करते हुये भी परस्पर एक दूसरेको जीत नहीं सके थे, सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों ही सेनाओंमें जयकुमारके सिवाय अन्य किसी दूसरेको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥ १९४ ॥ उस

जयः सर्वं तत्तदाऽऽलोक्य लीलया । शरैःसंच्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥ १९५ ॥ निष्पदीभूतमालोक्य चक्रिसूनुः स्वसाधनं । रक्तोत्पलदलच्छायामुच्छिद्य नयनत्विषा ॥ १९६ ॥ जयः परस्य नो मेऽद्य जयो जयमह रणे । विध्वस्य भुवने शुद्धमाकल्पं स्थापये यश. ॥ १९७ ॥ विदधाम्यद्य नाथेदुप्रसरद्वंशवर्द्धनं । जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुख ॥ १९८ ॥ ब्रुवन् सकल्पनादुष्टमिति स्वानिष्टसूचन । द्विप प्रचोदयामास क्रुधेवाजयमात्मनः ॥ १९९ ॥ प्रतिवातसमुध्दूतपक्षाद्गतपताकिकाः । मंदमद कणद्घटाः कुंठितस्वबलोत्सवाः ॥ २०० ॥ संशुष्यद्दाननिष्यंदकटदानानन श्रियः । निर्वाणालातनिर्भासनिःशेषास्त्रभराक्षमाः॥२०१॥आधोरणैः कृतोत्साहैः कृच्छ्रकृच्छ्रेण चोदिताः । आक्रंदमिव कुर्वंतः कुंठितैः कंठगर्जितैः॥२०२॥

सबको देखकर मनमें हंसते हुये उस जयकुमारने उससमय चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सब सेना लीला पूर्वक ही बाणोंसे ढक दी थी ॥ १९५ ॥ जिसकी सब हलन चलन क्रिया बंद होगई है ऐसी अपनी सेनाको देखकर अपने नेत्रोंकी कांतिसे लालकमलके दलकी कांतिको भी लज्जित कर अर्थात् अपनी लाल आंखें कर वह चक्रवर्तीका पुत्र अर्ककीर्ति कहने लगा कि " आज शत्रु नहीं जीत सकता, मैं ही जीतूंगा, आज मैं युद्धमें जयकुमारको मारकर संसारमें कल्पांतकालतक टिकनेवाले शुद्ध यशको स्थापन करूंगा तथा आज ही नाथवंश और सोमवंशकी बढती हुई संतानको समाप्त करूंगा और जयलक्ष्मी मुझे अभी वशकर सुखी करेगी " इसप्रकार जिनका अभिप्राय दुष्ट है और जो अपने अनिष्टको सूचित करनेवाले हैं ऐसे बचनोंको कहते हुए उस अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढाया ॥ १९६–१९९ ॥ उलटी वायु चलनेसे जिनकी ध्वजायें पीछेकी ओर उड रही हैं, जिनके घंटा धीरे धीरे बज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाका उत्साह कुछ कुंठित (मंद) कर दिया है, कपोलोंपरका वहकर आता हुआ मद सूख जानेसे जिनके मुखकी शोभा कुछ मलिन हो गई है, बुझे हुये आलातचक्रकी शोभाके समान जो सब शस्त्रोंके बोझको लेजानेमें असमर्थ हैं, उत्साह दिलाते हुये महावत लोग जिन्हें बडी कठिनतासे लेजा रहे हैं, जो कुंठित

भीतभीता युधोऽन्यैश्च चिह्नैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुश्चला इव जंगमाः ॥ २०३ ॥ मंदमंदं प्रकृत्यैव मंदा युद्धभयान्मृगाः । जग्मुर्निर्हेतुकं भद्रास्तदत्राशुभसूचन ॥ २०४ ॥ विजिगीषोर्विपुण्यस्य वृथा प्रणिधयो यथा । तथाऽर्ककीर्तयेनृणा ते गजेषु नियोजिताः २०५ ॥ लवयन्नेत्रयोर्दीप्त्या पारिभद्रोद्गमच्छविं । प्रकटभ्रुकुटीबंधसधानितशरासनः ॥२०६॥ रिपु कुपितभोगींद्रस्फुटाटोपो भयकर. । कुर्वन्विलोकनातप्ततीव्रनाराचगोचर ॥२०७॥ गिरींद्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेंद्र विजयार्द्धाख्य गर्जन्मेघस्वरस्तदा ॥ २०८ ॥ अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पद्ध्वजांशुकैः । क्रांतद्विपारिविक्रां-

---

हुये कंठकी गर्जनासे रोते हुयेके समान जान पडते हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले और भी जिन्होंसे भयभीत हो रहे हैं और जिनकी तेज चाल नष्ट होगई है ऐसे हाथी चलते हुये पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥ २००–२०३ ॥ मंद जातिके हाथी स्वभावसे ही मद मंद जा रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी विना ही कारण धीरे धीरे चल रहे थे । परंतु युद्धमें उनका धीरे धीरे चलना अशुभको सूचित करने वाला था ॥ २०४ ॥ जिसप्रकार जीतनेकी इच्छा करनेवाले किंतु पुण्यरहित मनुष्यकी प्रार्थनायें अथवा सेवक लोग व्यर्थ हो जाते हैं उसीप्रकार अर्ककीर्तिके लिये उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनायें सब व्यर्थ हो रही थीं ॥ २०५ ॥ उधर जिसने दोनों नेत्रोंकी कांतिसे कल्पवृक्षके निकलते हुये फूलकी कांति जीत ली है, अपनी भौंहोंकी रचनाके समान ही स्पष्ट रीतिसे जिसने निशानेपर रक्खे हुये धनुषका आकार वनाया है, क्रोधित हुये महा सर्पके समान ही जिसका शरीर ऊपरको उठा हुआ है तथा इसलिये ही जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि और संताप देनेवाले तीव्र बाणोंका निशाना बना रहा है और सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा वह मेघस्वर जयकुमार उससमय गर्जता हुआ मेरुपर्वतके शिखरके आकारके समान विजयार्द्ध नामके सबसे उत्तम हाथीपर सवार हुआ, तथा पीछेकी ओरके अनुकूल वायुसे जिनकी ध्वजाओंके कपडे

तविख्यातारूढयोधनैः ॥ २०९ ॥ प्रस्फुरच्छस्त्रसंघातदीप्तिदीपितदिङ्मुखैः । धूतदुन्दुभिसद्ध्वानबृहद्बृंहितभीषणैः ॥ २१० ॥ घंटामधुरनिर्घोषनिर्भिन्नभुवनत्रयैः । सद्यः समुत्सरद्दर्पैरपि सिंहान् जिगीषुभिः ॥ २११ ॥ प्रापयुद्धोत्सुकः सार्द्धं गजैर्विजयसूचिभिः । क्षयवेलानिलोध्दूतसिंधुवेला विलंघयन् ॥२१२॥ महाहास्तिकविस्तारस्थूलनीलबलाहकः । समतात्सपतच्छंकुनमूहसहसानकः॥२१३॥प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुल्लासितभासुरः । नानानकमहाध्वानगभीरघनगर्जितः ॥ २१४ ॥ नवलोहितपूराबुनिरुद्धधरणीतलः । नितांतनिष्ठुरापानमुद्गराशनिसंततिः ॥ ११५ ॥ चलत्सितपताकालिबलाकाच्छा

ऊंचेको उडकर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करतेहुये सिंहके पराक्रमके समान जिनका पराक्रम प्रसिद्ध है ऐसे योद्धा लोग जिनपर बैठे हैं, चमकते हुये शस्त्रोंके समूहकी कांतिसे जिन्होंने सब दिशाओंके मुंह प्रकाशित कर दिये हैं, बजते हुये नगाडोंके बडे बडे शब्दोंसे जो हाथियोंकी गर्जनायें बढ रहीं थीं उनसे जो भयंकर हैं, घंटाके मधुर शब्दोंसे जिन्होंने तीनों लोक व्याप्त कर दिया हैं, उसीसमय उठे हुये अहंकारसे जो सिंहोंको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयको सूचित करनेवाले हैं ऐसे हाथियोंको साथ लेकर जिसे युद्ध करनेकी उत्कंठा हुई है ऐसा वह जयकुमार प्रलयकालके वायुसे उठे हुये समुद्रकी लहरोंको भी उलंघन करता हुआ अर्थात् खूब प्रसन्न होता हुआ शत्रुपर जा पहुंचा ॥ २०६—२१२ ॥ उस समय वह युद्ध वर्षाऋतुकी पूर्ण शोभाको धारण कर रहा था क्योंकि बडे बडे हाथियोंके समूहका फैलाव ही उसमें बडे २ काले बादल थे, चारोंओरसे पडते हुये बाणोंके समूह ही मयूरोंकी शोभा धारण करते थे, म्यानसे बाहर निकालकर उठाई हुई तलवारें रूपी बिजलीकी चमकसे ही वह प्रकाशित हो रहा था, अनेक नगाडोंके बडे २ शब्द ही उसमें गंभीर बादलोंकी गर्जनायें थीं, शरीरोंसे निकले हुये ताजी रुधिरके समूहरूपी पानीसे सब पृथ्वी भर गई थी, बडी कठिनतासे वा निर्दयतासे पडते हुये मुद्गर ही उसमें पडती हुई बिजलीका समूह था और फहराती हुई सफेद ध्वजाकी पंक्तिरूपी बगुलाओंकी पंक्तियोंसे सब आकाश ढक गया

दिताबरः । संग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीमशेषामपुषत्तदा ॥ २१६ ॥ सुचिरं सर्वसंदोहसंवृत्तसमरांगणे । सेनेयोः सर्वशस्त्राणा व्यत्ययो बहुशोऽभवत् ॥ २१७॥ निरुद्धमूर्ध्वं गृध्रौघैर्मध्यमुद्यद्ध्वजांशुकैः । सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्री च सा तदा ॥ २१८ ॥ जयलक्ष्मीं नवोढायाः सपत्नीमिच्छता नवां । तदाऽर्ककीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोद्यत द्विपः ॥ २१९ ॥ अष्टचंद्राः पुरोभूय भूयः प्राग्दृष्टशक्तयः । क्षपकं वॉऽहसा भेदा न्यरुधस्त तिनक्षवः ॥ २२० ॥ जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यलं । लब्धेवेद्धेधन वह्निरुत्साहाग्निसखोच्छ्रितः ॥ २२१ ॥ तदोभयवलख्यातगजाद्रिशिखरस्थिताः । योद्धुमारेभिरे राजरा-

---

था ॥ २१३–२१६ ॥ बहुत देरतक सब योद्धाओंके समूहसे चलाये हुये उस युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोंका बहुत ही नाश हुआ था ॥ २१७ ॥ उससमय ऊपरका आकाश गीधोंके समूहोंसे भर गया था, मध्यभाग पडती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे भरगया था और पृथ्वी दोनों सेनाओंके छोडे हुये शस्त्रोंसे भर गई थी ॥ २१८ ॥ उसीसमय जयलक्ष्मीको नई विवाहिता सुलोचनाकी नई सोत बनानेकी इच्छा करनेवाले जयकुमारने अपना हाथी अर्ककीर्तिके सामने चलाया ॥ २१९ ॥ जिन्होंने पहिले भी अपनी शक्ति दिखलाई थी ऐसे अष्ट चंद्र (जो कि अर्ककीर्तिके शरीररक्षक विद्याधर थे) जयकुमारके सामने हुये और जिसप्रकार कर्मोंके भेद क्षपकश्रेणीमें चढनेवाले जीवको रोकते हैं उसीप्रकार मरनेकी इच्छा करते हुये वे विद्याधर उस जयकुमारको रोकने लगे । भावार्थ-जैसे कर्म क्षपकश्रेणी वालेको रोक नहीं सकते उसीप्रकार वे विद्याधर भी उसे रोक नहीं सके थे॥२२० जिसप्रकार बहुतसे ईंधनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि बढती है उसीप्रकार उत्साह रूपी वायुसे बढा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरसे शत्रुको पाकर खूब ही दैदीप्यमान हो रहा था ॥ २२१ ॥ उससमय दोनों सेनाओंमें प्रसिद्ध ऐसे हाथी रूपी पर्वतके शिखरपर विराजमान और वडे २ राजाओंमें भी सिंहके समान पराक्रमी ऐसे राजा लोगोंने भी परस्पर युद्ध करना प्रारंभ कर दिया था ॥ २२२ ॥ उस युद्धमें परस्पर एक दूसरेकी दांतोंकी चोटसे जिनके शरीर फट गये हैं, तथा

जसिंहाः परस्परं ॥ २२२ ॥ अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौचिन्व्यसू गजौ । चिरं परस्परावारावास्थातां यमलाद्रिवत् ॥ २२३ ॥ समंततः शरैश्छन्ना-रेजुराजौ गजाधिपाः । क्षुद्रवेणुगणाकीर्णसंचलद्गिरिसन्निभाः ॥२२४॥ दानिनो मानिनस्तुंगाः कामवंतोऽतकोपमाः । महातः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्ध्यते कथ गजाः ॥ २२५ ॥ मृगैर्मृगैरिवापातमात्रभग्नैर्भयाद्द्विपैः । स्वसैन्यमेव संक्षुण्णं धिक् स्थौल्यं भीतचेतसा ॥ २२६ ॥ निःशक्तीन् शक्तिभिः शक्ता' शक्तांश्चक्रुरशक्तकान् । शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन् धिग्धिगूनतां ॥ २२७ ॥ शस्त्रनिर्भिन्नसर्वांगा निमीलितविलोचनाः । सम्यक् सह्वतसरभाः

जिनके प्राण भी निकल गये हैं ऐसे कोई दो हाथी मिले हुये दो पर्वतोंके समान एक दूसरेके आधारपर ही बहुत देरतक खडे रहे थे ॥ २२३ ॥ चारोंओरसे बाणोंसे ढके हुये बडे बडे हाथी उस युद्धमें छोटे छोटे बांसोंके समूहसे व्याप्त और चलते हुये ऐसे पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२४ ॥ भद्र जातिके हाथी दानी थे अर्थात् उनके कपोलोंसे मद झरता था, वे अभिमानी थे, सवार की इच्छानुसार चलते थे, यमके समान दिखते थे और सब जीवोंसे बडे थे ऐसे वे हाथी भला क्यों युद्ध न करेंगे अर्थात् अवश्य ही करेंगे ॥ २२५ ॥ जिसप्रकार हरिण भयभीत होकर उलटे भागते हैं उसीप्रकार मृग जातिके हाथी युद्धमें आते ही भयसे उलटे होकर (पीछेकी ओर) भागने लगे थे, इससे उन्होंने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था, इससे कहना पडता है कि भयभीत मनुष्योंके स्थूलपन अथवा बडप्पनको भी धिक्कार है ॥ २२६ ॥ उस युद्धमें शक्तिवाले योद्धा अपने शक्ति नामके हथियारसे जिनके पास शक्ति हथियार नहीं है ऐसे शक्तिवाले योद्धाओंको भी शक्ति रहित कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामका हथियार था परंतु वे स्वयं असमर्थ थे उन्हें भी शक्ति रहित कर रहे थे अर्थात् उनसे शक्ति नामका हथियार छुडा रहे थे इसलिये आचार्य कहते हैं कि कमी होना अर्थात् किसीप्रकारकी सामग्रीके अभाव होनेको भी बार बार धिक्कार हो २२७ ॥ शस्त्रोंके प्रहारोंसे जिनके सब शरीर छिद भिद गये हैं, नेत्र बंद होगये हैं, जिन्होंने युद्धका सब प्रारंभ

संभावितपराक्रमाः ॥ २२८ ॥ बुध्द्वैव बद्धपल्यंकास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । समत्याक्षुरसूंच्छ्रा निधाय हृदयेऽर्हतः ॥ २२९ ॥ कस्यचित् क्रोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । निष्ठायामायुषोऽत्रासीदभ्यासात्किं न साध्यते ॥ २३० ॥ हृदि नाराचनिर्भिन्ना वक्त्रात्स्रवदसृक्प्लवाः । शिवाकृष्टान्त्रतंत्रांताः पर्यंतव्यस्तपत्करा. ॥ २३१ ॥ गृध्रपक्षानिलेच्छिन्नमूर्च्छा. सप्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धा श्रद्धा शूरगतिं गता' ॥ २३२ ॥ छिन्नैश्चक्रेण शूराणा शिरोंऽभोजैर्विकाशिभिः । रणरगोऽन्वितो वाभात् नृत्यै जयजयश्रियः ॥ २३३ ॥ स्वामिसन्मानदानादिमहोपकृतिनिर्भराः । प्राप्याधमर्णता प्राणै.

संकोच लिया है अपना पराक्रम भी जिन्होंने दिखाया है, बुद्धिसे ही जिन्होंने अपना पर्यंकासन बांध लिया है और सब परिग्रह छोड दिये हैं ऐसे कितने ही शूर बीरोंने हृदयमें श्रीअरहंतदेवको स्थापन कर अपने प्राण छोडे थे ॥ २२८–२२९ ॥ किसी योद्धाके मरनेके समय क्रोध शांत होगया था और वे पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करने लगे थे, सो ठीक ही है क्योंकि अभ्याससे क्या क्या सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो जाता है ॥ २३० ॥ जिनके हृदय बाण लगनेसे छिन्न भिन्न हो गये हैं हृदय फटजानेसे जिनके मुहमेंसे रुधिरका समूह निकल रहा है, गीदडोंने जिनकी अंतडियोंका अंतिम भाग सब खींच लिया है और जिनके हाथ पैर सब फट गये हैं ऐसे कितने ही शूरवीर पुरुष गीधोंके पंखोंकी हवा लगनेसे मूर्च्छा रहित होकर कुछ होशमें आगये थे और शुद्ध श्रद्धा धारणकर अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक समाधिमरणकर शूरगति अर्थात् स्वर्गगतिको प्राप्त हुये थे ॥२३१-२३२॥ चक्रनामके हथियारसे जो शूर बीरोंके प्रफुल्लितहुये (हँसते हुये) मस्तकरूपी कमल कट गये थे उनसे सुशोभित हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों जयकुमारकी जयलक्ष्मीके लिये नृत्य ही करना चाहती हो ॥ २३३ ॥ स्वामीके द्वारा पाये हुये आदर सत्कार और पारितोषक आदि बडे बडे उपकारोंके बोझसे दबे हुये और इसलिये ही स्वामीके कर्जदार ऐसे कितने ही सेवक लोगोंने अपने प्राण देकर स्वामीकी सेवा की थी तथा कितने ही सेवकोंने शत्रु राजाओंके प्राण नाशकर,

सेवा सपाद्य सेवका. ॥ २३४ ॥ स्वप्राणव्ययसतुष्टैस्तद्भृद्भिः स्वभूभृत. । लब्धपूजान् विधायान्ये धन्या नैर्ऋण्यमागमन् ॥ २३५ ॥ जयमुक्ता द्रुतं पेतुरविमुक्तजयाः शराः । अष्टचद्रान्प्रति प्रोच्चैः प्रदीप्योल्कोपमाः सम ॥ २३६ ॥ जयप्रहितशस्त्राली तैर्निषिद्धा च विद्यया । ज्वलती परितश्चंद्रान् परिवेषाकृतिर्बभौ ॥ २३७ ॥ विश्वविद्याधराधीशमादिराजात्मजस्तदा । द्विषो निःशेषयाशेषानित्याह सुनमिं रुषा ॥ २३८ ॥ सोऽपि सर्वैः खगैः सार्द्धं निर्धूताराातिविक्रमः । वह्निवृष्टिमिवाकाशे ववर्ष शरसततिं ॥२३९॥ भीकराः किंकराकारा स्वतोरुद्धदिङ्मुखाः । काँस्कान् श्रृणाम नेतीव सुतीक्ष्णा. शरवोऽपतन् ॥ २४० ॥ मेघप्रभो जयादेशादिभेंद्र वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमी शस्त्रैरौत्सीत्त विहायसि ॥ २४१ ॥ तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः

उन्हें संतुष्ट किया था तथा उनसे अपने स्वामीका आदर सत्कार कराया था और इसप्रकार वे धन्य पुरुष अपने कर्जसे छूट गये थे ॥ २३४-२३५ ॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोडा नहीं है और जो अपनी भडी भारी कांतिसे उल्कापातके समान जान पडते हैं ऐसे जयकुमारके छोडे हुये वाण अष्ट चंद्रोंके पास बहुत शीघ्र एक साथ जाकर पड रहे थे ॥ २३६ ॥ जयकुमारने जो शस्त्रोंकी पंक्तियां छोडी थीं वे उन अष्ट चंद्रोंने अपनी विद्यासे रोक दी थीं तथा रुकी हुई वे शस्त्रोंकी पंक्तियां उन अष्ट चंद्रोंके चारों ओर जलती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों चंद्रमाके चारों ओर गोल मंडल ही हो ॥ २३७ ॥ उसी समय आदिराज भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने वडे क्रोधसे सब विद्याधरोंके स्वामी सुनमिसे कहा कि तुम सब शत्रुओंका नाश करो ॥ २३८ ॥ जिसने शत्रुओंका पराक्रम सब नष्ट कर दिया है ऐसा वह सुनमिकुमार भी सब विद्याधरोंके साथ साथ अग्निकी वर्षाके समान आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २३९ ॥ वडे भयानक, सेवकके समान काम करनेवाले, वेगसे जाते समय शब्द करनेवाले, और सब दिशाओंको रोकनेवाले ऐसे वे तीक्ष्ण बाण शत्रुओंमेंसे किस किसको नहीं मारना चाहिये अर्थात् सबको मारना चाहिये यही सोचकर शत्रुकी सेनापर पड रहे थे ॥ २४० ॥ जिसप्रकार सिंह हाथीपर पडता है उसीप्रकार खूब पराक्रमी ऐसे मेघप्रभ नामके विद्या-

सुनमियोजिताः। तुच्छीकृत्य स चिच्छेद सहसा भास्करादिभिः ॥ २४२ ॥ जयपुण्योदयात्सद्यो विजग्ये खचराधिपं । संग्रामेऽनुगुणे दैवे क्षोदिमा बंहिमेति न ॥ २४३ ॥ प्रवृद्धप्रावृडारंभसभृताभोधरावालिं । विलंघ्यानेकपानीकं कौमारं जयमारुणत् ॥ २४४ ॥ जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयार्द्धं गजाधिपं । धीरोद्धत रुषा प्राप्तं धीरोदात्तोऽब्रवीदिदं ॥ २४५ ॥ न्यायमार्गाः प्रवर्त्यंते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणा । तेषामेभिर्दुराचारैः कृतस्त्व पारिपथिकः ॥ २४६ ॥ बुद्धिमास्त्वं तवाहार्यबुद्धित्वमपि दूषणं । कुमार नीयसे पापैस्तृतीयं तद्विगर्हितं ॥ २४७ ॥ अंतःकोपोऽप्ययं पापैर्महानुत्थापितो वृथा। सर्वतंत्रक्षयो भर्तुः सहसा येन तादृशः ॥ २४८ ॥ आहवः परिहार्योऽयं ममाद्य भवता सह । अकीर्ति-

---

धरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमणकर उसे शस्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥ २४१ ॥ सुनमिने तमोबाण, अग्निबाण, गजबाण और मेघबाण आदि अनेक विद्यामयी बाण चलाये परंतु मेघप्रभने सूर्यबाण, जलबाण, सिंहबाण और पवनबाण आदि अनेक बाणोंसे उन सबको न कुछ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥ २४२ ॥ मेघप्रभने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे बहुत शीघ्र सुनमिको जीत लिया, सो ठीक ही है जब दैव अनुकूल होता है तब छोटापन और बडप्पन कुछ काम नहीं आता है ॥ २४३ ॥ बढी हुई वर्षाऋतुके प्रारंभमें भरे हुये काले बादलोंकी पंक्तिके समान हाथियोंकी सेनाको उलंघनकर अर्ककीर्तिने जयकुमारको आकर रोक लिया ॥ २४४ ॥ जयकुमारने भी विजयार्द्ध नामका अपना उत्तम हाथी अर्ककीर्तिके सामने चलाया और क्रोधसे प्राप्त हुये तथा धीर और उद्धत ऐसे अर्ककीर्तिको धीर और उदात्त ऐसा वह जयकुमार इस प्रकार कहने लगा ॥ २४५ ॥ कि चक्रवर्तीने सब न्यायमार्ग अच्छीतरह चलाये हैं परंतु इन दुष्ट लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गका शत्रु बना दिया है ॥ २४६ ॥ हे कुमार तू बुद्धिमान है परंतु तेरी बुद्धि दूसरेके कहने अनुसार चलती है यह भी तुझमें एक दोष है, अब ये पापी लोग निंदित ऐसे तीसरे दोषको अर्थात् कामदेवके दोषको तुझसे कराना चाहते हैं ॥ २४७ ॥ इन पापियोंने व्यर्थ ही तेरे

श्चावयोरस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवं ॥ २४९ ॥ चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं त्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्यन्यायवर्तनात् ॥ २५० ॥ द्रोग्धुर्न्यायस्य भूभर्तुस्तव चैतांस्ततः क्षणात् । दुष्टान्सखेचरान् सर्वान् बध्वाऽद्य भवतोऽर्पये ॥ २५१ ॥ नागमारुह्य तिष्ठात्र काष्ठात प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तत्यागो महीयसः ॥२५२॥ कुमार ! समरे हानिस्तवैव महती मया । हंत्यात्मानमनुन्मत्तः कः स तीक्ष्णासिना स्वय ॥ २५३॥ अभव्य इव सद्धर्ममपकर्ण्येत्युदीरित । आघातयितुमारेभे गजेन स गजाधिप ॥ २५४ ॥ तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयार्द्धेन

अंतःकरणमें बडा भारी क्रोध उत्पन्न किया है जिससे भरतकी सब सेनाका एकसाथ ऐसा नाश हो रहा है ॥ २४८ ॥ मेरा आपका जो यह युद्ध चल रहा है इसे आज बंद कर देना चाहिये क्योंकि इस युद्धसे अवश्य ही हम दोनोंकी कल्पकालतक टिकनेवाली अपकीर्ति होगी ॥ २४९ ॥ चक्रवर्ती अपने सब पुत्रोंमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्याय करनेसे उसके मनको दुख नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥ २५० ॥ ये विद्याधर और कुछ दुष्ट लोग महाराज भरतके न्यायमार्गका नाश करना चाहते हैं इसलिये विद्याधरोंके साथ इन सब तुम्हारे दुष्ट लोगोंको बांधकर आज क्षण भरमें ही आपको सौंप देता हूं ॥ २५१ ॥ मैं प्रार्थना करता हूं कि आप हाथीपर चढे हुये क्षणभर यहां ठहरिये क्योंकि महात्मा लोगोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है उस अन्यायका त्याग करना कुछ तिरस्कार नहीं है ॥ २५२ ॥ हे कुमार ! मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बडी हानि है क्योंकि सावधान वा बुद्धिमान मनुष्योंमें ऐसा कौन है जो पैनी तलवारसे अपने आत्माका स्वयं घात करे ॥ २५३ ॥ जिसप्रकार अभव्य जीव सच्चे धर्मका स्वरूप नहीं सुनता उसीप्रकार जयकुमारके इसप्रकारके कहे हुये बचन अर्ककीर्तिने भी नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर चोट मारना प्रारंभ कर दिया ॥ २५४ ॥ उस समय गज युद्ध करनेमें अत्यंत चतुर ऐसे जयकुमारको भी बहुत क्रोध हुआ और उसने अपने विजयार्द्ध हाथीसे अष्ट चंद्र

दंतघातैरघातयत् ॥२५५॥ नवापि कुपितेभेद्रनवदंताहतिक्षताः । अष्टचंद्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हतदंतिनः ॥२५६ ॥ चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽयाद्युयुत्सया । तदा तदायुर्वा रक्षदहः क्षयमपद्यत ॥ २५७ ॥ सोढुमर्कः खलस्तेजो जयस्याशक्नुवन्निव । जयन् जयोद्गमच्छाया संहृताशेषदीधितिः ॥२५८॥ शरैरिवोस्रैरारक्तैर्विमुक्तैः खचरान्प्रति । जयीयैः स्वागसलग्नैः क्षरत्क्षतजरजितैः ॥ २५९ ॥ गतप्रतापः क्रूरात्मा सर्वनेत्राप्रियस्तदा । पपात कातरीभूय करालंबितभूधरः ॥ २६० ॥ अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं वा मत्वा रोषेण भास्करः । अस्तं जयजयस्यायात्कुर्वन्कालविलंबन ॥ २६१ ॥ स्फुटालोकोऽपि

और अर्ककीर्तिके नौ हाथियोंपर दांतोंकी चोटका प्रहार कराया ॥२५५॥ अष्ट चंद्र और अर्ककीर्ति इन नौ योद्धाओंके नौ हाथी क्रोधित हुये विजयार्द्ध हाथीके दांतोंके नौ प्रहारोंसे घायल होगये, उनके दांत टूट गये और वे पड गये ॥ २५६ ॥ जिससमय युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ जयकुमार अर्ककीर्तिकी सेनाको घेरता हुआ आया था उसीसमय मानों आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त होगया ॥ २५७ ॥ जो अपनी कांतिसे जपाकुसुमकी कांतिको जीतता है, जिसने अपनी सब किरणें संकोच ली हैं, विद्याधरों पर छोडे हुये व जिनकी चोटसे निकलते हुये रुधिरके लगजानेसे लाल लाल दिखते हुये तथा अपने शरीरमें लगे ऐसे जयकुमारके तेजकी किरणोंके समान जयकुमारके बाणोंसे जिसका सब पराक्रम नष्ट हो गया है, जो क्रूर है, सबके नेत्रोंको अप्रिय है ऐसा वह दुष्ट सूर्य मानों जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर होकर और हाथोंसे (किरणोंसे) अस्तचलको पकडकर नीचे गिर पडा ॥ २५८--२६० ॥ अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति ही मानता हुआ वह सूर्य क्रोधसे जयकुमारके विजयमें देर करता हुआ अस्त होगया ॥ २६१ ॥ जिसका प्रकाश स्पष्ट है और जो सद्वृत्त अर्थात् सदाचारी वा गोल है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पडा सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यका सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो भावार्थ—जैसे मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी अधोगतिको जाता है

सद्वृत्तोऽप्यगादस्तमहर्पतिः । आश्रित्य वारुणीं रक्तः को न गच्छत्यधोगतिं ॥ २६२ ॥ उदये वर्धितच्छायो व्याप्य विश्वं प्रतापवान् । दिनेनैनोऽप्यनश्यत्कस्तिष्ठेत्तीव्रकरः परः ॥ २६३ ॥ इनं स्वच्छानि विच्छायं तापहारीणि वा भृशं । द्रष्टुं सरास्यनिच्छंति कंजाक्षीणि शुचा न्यधुः ॥ २६४॥ जयनिस्त्रिंशनिस्त्रिंशनिपातपतितान् खगान् । प्राविशन्निजनीडानि वीक्षितुं विक्षमाः खगाः ॥ २६५ ॥ स प्रतापः प्रभा साऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता । पातः प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्यः कर्कशो विधिः ॥ २६६ ॥ कीर्त्योपमानता यातो यातोऽर्कश्चेददृश्यता । उपमेयस्य का वार्तेत्यवादीद्विदुषां गणः ॥२६७॥

उसीप्रकार सूर्य भी गोल और प्रकाशमान् होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर नीचे जा रहा था ॥२६२॥ उदय होते समय जिसकी कांति बढती है और जो संसारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्र किरणवाला सूर्य एक ही दिनमें नष्ट होगया फिर भला तीव्र कर लगानेवाला और संताप देनेवाला अन्य कौन है जो इस संसारमें टिक जाय ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २६३ ॥ संतापको दूर करनेवाले और निर्मल सरोवर कांतिरहित सूर्यको देखना नहीं चाहते थे इसलिये ही मानों उन्होंने शोकसे अपने कमल रूपी नेत्रोंको बंद कर लिया था ॥ २६४ ॥ जो विद्याधर जयकुमारकी तीक्ष्ण तलवारोंकी चोटसे पडगये थे उनके देखनेमें असमर्थ होकर ही क्या मानों सब पक्षी अपने अपने घोंसलोंमें घुसगये थे ॥२६५॥ इस संसारमें सूर्यका असाधारण प्रताप है असाधारण कांति है और असाधारण रीतिसे ही सब लोग उसकी पूजा करते हैं तथापि सूर्यको प्रतिदिन गिरना पडता है इसलिये कहना पडता है कि इस निष्ठुर दैवमें किसीका तर्क वितर्क नहीं चल सकता ॥ २६६ ॥ अर्ककीर्तिके लिये उपमानताको प्राप्त हुआ सूर्य ही जब अदृश्य हो गया तब उपमेयकी तो बात ही क्या है ऐसा विद्वान लोगोंका कथन है भावार्थ–जिसकी उपमा देते हैं उसे उपमान कहते हैं और जिसके लिये उपमा दी जाती है उसे उपमेय कहते हैं, उपमेयसे उपमानमें सदा अधिक गुण रहते हैं, । यहांपर अर्ककीर्तिके लिये सूर्यकी उपमा दी है, परंतु जब सूर्य ही अस्त होगया तब अर्ककीर्ति की तो बात ही क्या है ॥२६७॥

दुर्निरीक्ष्यः करैस्तीक्ष्णः संततप्तनिजमंडलः । अलं कुवलयध्वंसी दुस्सुतो दुर्मतिस्तुतः ॥२६८॥ निस्सहायो निरालंबोऽप्यसोढा परतेजसां । सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहसोच्छ्रित्य मूर्द्धगः ॥ २६९ ॥ पापरोगी परप्रेर्यो रविर्विषममार्गगः । रक्तरुक् सकलद्वेषी वर्धिताशोऽक्रमाग्रगः ॥ २७० ॥ सता बुधेन

जो बडी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंसे तीक्ष्ण है, जिसने अपना मंडल भी संतप्त कर दिया है, जो कुवलय अर्थात् कमोदिनियोंको खूब नाश करता है, कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जो कष्ट देनेवाला है अथवा जिसका पुत्र शनि दुष्ट है, दुष्ट लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जिसका कोई सहायक नहीं है, कोई आधार नहीं है, जो चंद्र आदि दूसरे नक्षत्रोंका तेज सह नहीं सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, एक साथ उछलकर मस्तकपर चलता है, पापरोगी है अर्थात् वैदिक मतके अनुसार शनिके उत्पन्न होते ही जिसे कोढ रोग होगया है, जो दूसरेके सहारेसे (बाहक देवोंके सहारेसे) चलता है, विषम मार्ग अर्थात् आकाशमें चलता है, रक्तरुक् अर्थात् जिसकी किरणें लाल हैं, जो सकलद्वेषी अर्थात् कलावाले चंद्रमाका द्वेषी है, जिसने सब दिशायें बढाई हैं, अक्रम अर्थात् बिना पैरवाला अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य बुध और गुरु नामके सज्जन मित्रोंके साथ होकर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे रोगीके समान बहुत दोषी (अनेक दोषवाला रात्रिवाला जिसके आगे पीछे रात्रि है) होनेसे अस्त होगया सो ठीक ही है क्योंकि क्रूरताके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता, जो तीव्र कर बिठानेसे तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारको भी संताप देनेवाला है कुवलय अर्थात् पृथ्वीके सब लोगोंका खूब नाश करता है, मूर्ख लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं वा मानते हैं, जिसका कोई सहायक नहीं है, कोई आधार नहीं है, जो दूसरेके तेजको सह नहीं सकता, सिंह राशिपर जिसका जन्म है, जो चंचल है, क्रूर है, अकस्मात् उठकर सबके मस्तकपर चलता है अर्थात्

मित्रेण गुरुणाऽप्यस्तमाश्रयत् । बहुदोषो भिषग्वर्यैर्दुश्चिकित्स्य इवातुरः ॥२७१॥ तदा बलद्वयामात्याः श्रित्वा बद्धरुषौ नृपौ । इत्यधर्म्यं निशायुद्धमनुबध्य न्यषेधयन् ॥ २७२ ॥ ताभ्यां तत्रैव सा रात्रिर्नेतुमिष्टा रणाङ्गणे । भटतीव्रव्रणासह्यवेदनारावभीषणे ॥ २७३ ॥ प्रतीची येन जातोऽहमगिलत्तमहस्करं इति सध्याच्छलेनाहस्तत्र कोपमिवागत ॥ २७४ ॥ लज्जे सपर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे । इयं वेलेति वा संध्याऽप्यन्वगादात्तविग्रहा ॥ २७५ ॥ अगादहः पुरस्कृत्य मामको रात्रिगामिना । तेन पश्चात्कृतेतीव शोकात्संध्या व्यलीयत ॥ २७६ ॥ तमः सर्वं तदा व्यापत्क्वचिल्लीनं गुहादिषु । शत्रुशेषं

सबसे उद्धत है, जो बुरे रोगोंसे घिरा हुआ है' दूसरे के कहे अनुसार चलता है, विषममार्ग अर्थात् बुरे मार्गपर चलता है, रक्तरुक् अर्थात् जिसे खूनका विकार है. जो सबसे द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बढ रही है, जो बिना क्रमके चाहे जिसतरह अपना वर्ताव रखता है, और बुद्धिमान मित्र और सज्जन गुरुके साथ रहकर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे रोगीके समान जिसमें बहुत दोष हैं ऐसा पुरुष अस्त वा नष्ट होता ही है ॥ २६८—२७१ ॥ उससमय दोनों सेनाके मंत्रियोंने क्रोधित हुये उन अर्ककीर्ति और जयकुमार दोनों राजाओंके पास जाकर रात्रिमें युद्ध करना अधर्म है शास्त्रविरुद्ध है, ऐसा नियमकर वह युद्ध बंद कराया ॥ २७२ ॥ उन दोनोंने योद्धाओंके बडे बडे घावोंकी असह्य वेदनाके शब्दोंसे भयंकर ऐसे उसी युद्धके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा ॥ २७३ ॥ संध्या होगई, दिन लाल होगया, मानों जिससे मैं पैदा हुआ हूं ऐसे सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर संध्याके बहानेसे वह दिन वहांपर क्रोध ही कर रहा हो ॥ २७४ ॥ मैं सबके देखते हुये सूर्यके साथ स्पर्श करनेकेलिये लज्जित होती हूं यही समझकर मानों शरीरको धारण करती हुई वह संध्याकी वेला सूर्यके पीछे चली गई थी ॥ २७५ ॥ सूर्य दिनको आगे आगेकर मेरे पास आया था परंतु रात्रिके पास जाते समय मुझे पीछे कर गया इसी शोकसे मानों वह संध्या नष्ट होगई थी अर्थात् रहा सहा प्रकाश भी सब नष्ट हो गया ॥२७६॥

न कुर्वंति तत एव विचक्षणाः ॥ २७७ ॥ अवकाशं प्रकाशस्य यथाऽऽत्मानमधात्पुरा । तथैव तमसः पश्चाद्धिग्महत्वं विहायसः ॥ २७८ ॥ तमोबलात्प्रदीपादिप्रकाशाः प्रदिदीपिरे । जिनेनेव विनेनेन कलौ कष्टं कुलिंगिनः ॥ २७९ ॥ तमोविमोहितं विश्वं प्रबोधयितुमुद्यतः । विधिनेव सुधाकुंभो दौर्वर्णो विधुरुद्ययौ ॥ २८० ॥ चंद्रमाः करनालीभिरपिबद्बहलं तमः । वृद्धकासक्षयं हंतुं धूमपानमिवाचरन् ॥ २८१ ॥ निःशेषं नाशकद्धंतुं ध्वांतं हरिणलाच्छनः । अशुद्धमंडलो हन्यान्निष्प्रतापः कथं रिपून् ॥ २८२ ॥ विधुः तत्करसंस्पर्शाद्भृशमासन्विकासिभिः । सरस्यो ह्लादयंत्यो वा मुदा कुमुद-

---

उससमय गुफा आदि अंधेरी जगहोंमें छिपा हुआ अंधकार सब जगह फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिये ही शत्रुको कुछ भी बाकी नहीं छोडते हैं ॥ २७७ ॥ आकाशने जिसप्रकार पहिले प्रकाशको अपनेमें जगह दी थी उसीप्रकार पीछेसे अंधकारको भी जगह दे दी इसलिये आकाशके ऐसे बडप्पनको भी धिक्कार हो भावार्थ—प्रकाशको जगह देकर अंधकारको जगह देना अयोग्य है इसलिये ही आकाशको धिक्कार दिया गया है ॥ २७८ ॥ अंधकारके फैलनेसे दीपकोंके प्रकाश चमकने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि जिसप्रकार कलियुगमें सूर्यके समान श्रीजिनेंद्रदेवके विना कुलिंगी लोगोंको दुख होता है उसीप्रकार रात्रिमें सूर्यके विना दुःख ही होता है ॥ २७९ ॥ जो संसार अंधकारसे मोहित हो रहा था उसे प्रबोध करानेके लिये (जगाने वा प्रकाशित करनेके लिये) ही क्या मानों विधाताने अमृतके भरे हुये चांदीके घडेके समान चंद्रमाका उदय किया ॥ २८० ॥ उससमय चंद्रमा अपनी किरण रूपी नालियोंके द्वारा गाढ अंधकारको भी पी रहा था और ऐसा जान पडता था मानों जिसमें खांसी बढ रही है ऐसे क्षय रोगके नाश करनेकेलिये धूँआं ही पी रहा हो ॥ २८१ ॥ जिसके हिरणका चिन्ह है ऐसा चंद्रमा समस्त अंधकारको नाश नहीं कर सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मंडल (मांडलिक राजा अथवा गोलाई) अशुद्ध है और जो प्रताप रहित है वह शत्रुओंको कैसे नाश कर सकता है ॥ २८२॥ तालावोंमें चंद्रमाके किरणोंके स्पर्श होनेसे

लोचनै. ॥ २८३ ॥ उत्थितः पिटकोऽस्माकं विधुर्गंडस्य वोपरि । का जीविकेति निर्विण्गा प्रायः प्रोषितयोषित. ॥ २८४ ॥ लब्धचद्रबलस्योच्चै स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेष सान्द्रश्चन्द्रातपोऽतत ॥ २८५ ॥ रूढो रागाकुरश्चिने प्रम्लानो भानुभानुभि. । तदा चंद्रिकया प्रान्यवृष्ट्येवानर्द्र- तागिनाम् ॥ २८६ ॥ खडिताना तथा तापो नाभूद्भास्कररश्मिभिः । यथाऽशुभिस्तुषाराशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ २८७ ॥ खंडनादेव कातानां ज्वलितो मदनानलः । जाज्वलीत्ययमेतेनेत्यत्यजन्मधु काश्चन ॥ २८८ ॥ वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहातरिताः काश्चित्सखीभिरति-

---

जो कमोदनियां फूल रही थीं उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों प्रफुल्लित हुये अपने कमोदनी रूपी नेत्रोंके द्वारा आनंदसे चंद्रमाको प्रसन्न ही कर रहे हों ॥ २८३ ॥ जिनके पति परदेशमें थे ऐसी वियोगिनी स्त्रियां सोच रही थीं कि यह चंद्रमा हमारे गालपर फोडेके समान उठा है अर्थात् जैसे गालपरका फोडा वहुत दुख देता है उसीप्रकार यह चंद्रमा भी वहुत दुख देता है इसलिये अव जीवित रहनेसे क्या लाभ है इसप्रकार प्रायः उन्हें वहुत ही वैराग्य हुआ था ॥ २८४ ॥ जिसे चंद्रमाके बलकी सहायता मिली है और जो वहुत आनंदी है ऐसे कामदेवकी जोरकी हँसीके समान चंद्रमाका गाढ प्रकाश सब संसारमें फैल गया था ॥ २८५ ॥ सब मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अंकूरा सूर्यकी किरणोंसे मुरझा गया था वही रागका अंकूरा जलकी भारी वर्षाके समान फैली हुई चांदनीसे उससमय खूब वढने लगा था ॥ २८६ ॥ जिनका पति किसी अन्य नायिकाके समीप जाता था ऐसी खंडिता स्त्रियोंको चंद्रमाकी किरणोंसे जैसा संताप हुआ था वैसा संताप उन्हें सूर्यकी किरणोंसे भी नहीं हुआ था. इसलिये ही कहना पडता है कि द्रव्योंमें वडी ही आश्चर्य करनेवालीं शक्तियां हैं ॥ २८७ ॥ प्रिय पतिके वियोगसे ही जो कामदेव रूपी अग्नि जल रही थी वह 'इस मद्यके पीनेसे ही जल रही है' यही समझकर कितनी ही वियोगिनी स्त्रियोंने मद्यका पीना छोड दिया था ॥ २८८ ॥ बिना ही कारणके उत्पन्न हुये अभिमानको नाश करनेके लिये मद्यके सिवाय और

पायिताः ॥ २८९ ॥ प्रेम नः कृत्रिमं नैतत्किमनेनेति काश्चन । दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकं ॥ २९० ॥ मधु द्विगुणितं स्वादु पीतं कांतकरार्पितं । कांताभिः कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनं ॥ २९१ ॥ इत्याविर्भावितानंगरसास्ताः प्रियसंगमात् ।प्रीतिं वाग्गोचरातीता स्वीचक्रुर्वक्रवीक्षणाः ॥ २९२ ॥ तत्र काचित्प्रियं वीक्ष्य कथाशेषं द्विषच्छरैः । स्वय कामशरैरक्षतांगी चित्रमभूद्व्यसुः ॥२९३॥ क्षतैरनुपलक्ष्यांगं वीक्ष्य कांतमजानती । परा परासुता प्राप ज्ञात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः ॥२९४॥ मया निवारितोऽप्यायाः वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कठे रव्रणैरेवं जातोऽसीति मृता परा ॥ २९५ ॥

कोई औषध नहीं हैं यही समझकर आये हुये पतिके साथ कलहकर उनके चले जानेसे वियोगिनी हुई कितनी ही स्त्रियोंको उनकी सखियां खूब मद्य पिला रही थीं ॥ २८९ ॥ पतिके साथ यह हमारा प्रेम कुछ बनावटी नहीं हैं इसलिये इस मद्यके पीनेसे क्या होता है यही समझकर पतिमें प्रेम करनेवालीं कितनी ही स्त्रियोंने श्राविकाओंके समान वह मद्य दूरसे ही छोड दिया था ॥ २९० ॥ कितनी ही स्त्रियां जो किसीसे निवारण न हो सके ऐसे कामदेव रूपी हाथीके मदको बढानेवाले और अपनी पतिके हाथसे दिये हुये स्वादिष्ट मद्यको दूना पी गई थीं ॥ २९१ ॥ इसप्रकार जिनके कामका रस प्रगट हुआ है और जिनकी चितवन वा दृष्टि कुछ तिरछी है ऐसी कितनी ही स्त्रियां अपने पतिके समागम होनेसे जो बचनसे कहा नहीं जा सकता ऐसे सुखका अनुभव कर रहीं थीं ॥ २९२ ॥ उन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री शत्रुओंके बाणोंसे जिसकी कथा ही बाकी रह गई है अर्थात् जो प्राण रहित हो गया है ऐसे अपने पतिको देखकर आश्चर्य है कि वह कामके बाणोंसे बिना घावके ही स्वयं प्राण रहित हो गई थी भावार्थ—पतिको मरा हुआ देखकर कामके बाणोंसे व्याकुल होकर वह खुद भी मर गई थी ॥ २९३ ॥ अन्य कोई अजान स्त्री घावोंसे जिसके अंग उपांग साफ दिखाई नहीं देते ऐसे अपने प्रियको देखकर और उन्हें अपने नख दांतोंके ही घाव समझकर प्राण रहित हो गई थी ॥ २९४ ॥ हे वीरलक्ष्मीको प्रिय माननेवाले प्रिय ! मैने तुम्हें रोका था तथापि तुम उसीके पास

मा निवार्य सहायांतीं कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः । निर्मलेति विपर्यस्तो जानन्नपि बहिश्चरीं ॥ २९६ ॥ स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं विदंति नरोऽतरं । इति सासूयमुक्त्वाऽन्या प्रायासीत्प्रियपद्धतिं ॥२९७॥ न किं निवारिताऽप्यायां त्वया सार्द्धं विचेतना । सन्निधौ मे किमेव त्वा नयति गणिकाधमाः ॥२९८॥ अस्तु किं यातमद्यापि तत्र त्वा न हराणि किं । विलप्यैवं कलालापा काचित्कांतानुगाऽभवत् ॥ २९९ ॥ शरनिर्भिन्नसर्वांगः कीलितासुरिवापरः । कातागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनार्थितजीवितः ॥३००॥ कोपदष्टविमुक्तौष्ठं कांतमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुमत्यजत् ॥ ३०१ ॥

(वीर लक्ष्मीके पास) जा पहुंचे अब उसी वीर लक्ष्मीके कठोर घावोंसे तुम्हारी यह दशा हो गई है अर्थात् तुम मूर्छित होगये वा मर गये हो यही समझकर कोई अन्य स्त्री मर गई थी ॥ २९५ ॥ हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ आती थी परंतु तुमने मुझे तो साथ आनेसे रोक दिया और कीर्तिको अपनानेके लिये यहां आये थे, तुम यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर फिरनेवाली है तथापि वह शुद्ध है, निर्दोष है, ऐसा तुम्हें भ्रम हो गया था परंतु वह कीर्ति वहीं रहगई, हाय क्या मनुष्य विरहको जानते हैं ? इसप्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुंची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर खुद भी मर गई थी ॥ २९६–२९७ ॥ हे प्रिय ! यद्यपि तुमने रोका था तथापि मूर्खिणी नीच मैं तुम्हारे साथ क्यों न आई? क्या मेरे सामने यह नीच देवांगना वेश्या तुम्हें इस तरह स्वर्गको ले जाती ? अच्छा जाना है जाओ आज ही मैं वहां आकर क्या तुम्हें हरण नहीं करूंगी? अपने पास नहीं ले आऊंगी ? इसप्रकार विलापकर (रोकर) मीठे स्वरवाली कोई अन्य स्त्री अपने पतिके पीछे ही चली गई थी अर्थात् वह भी मर गई थी ॥ २९८–२९९ ॥ जिसका शरीर वाणोंसे छिद भिद गया है और इस लिये ही मानों जिसके प्राण कीलितसे हो गये हैं चारों ओरसे जकडे हुये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन ठहरा हुआ है ऐसा अन्य कोई योद्धा अपनी स्त्रीके आनेकी वाट देख रहा था ॥ ३०० ॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ चबाकर छोड दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर

हृदि निर्भिन्ननाराचो मत्वा कांतां हृदि स्थिता । हा मृतेयं वराकीति सद्यः प्राणान् व्यसर्जयत् ॥ ३०२ ॥ शस्त्रसभिन्नसर्वांगमंतको नेतुमागतः । कांताचितापरं कतुस्तद्धस्तादहृतापरं ॥ ३०३ ॥ कंठेनालिंगितः प्रेमशोकाभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तां त्यक्तदेहोऽगान्निर्वाणं सव्रणस्तया ॥ ३०४ ॥ श्वः स्वर्गे किं किमत्रैव सगमो नौ न सशय' । तत्र त्व बहुकांतोऽस्य रमेऽन्येत्याह सव्रत ॥ ३०५ ॥ अत्र वाऽमुत्र वासोस्तु ।किं तया चिंतयाऽवयोः । वियोगः क्वापि नास्तीति कांता कांतमतर्पयत् ॥३०६॥ सव्रतो वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं चैहि चिरायुपा। हंतु मामेव कामोऽयमिति कांताऽवदद्रुपा॥३०७॥

थोडी देरतक क्रोध करती हुई और वीर लक्ष्मीके साथ ईर्षा वा द्वेष करती हुई अन्य किसी स्त्रीने अपने प्राण छोड दिये थे ॥ ३०१ ॥ जिसके हृदयमें बाण घुस गया है ऐसे किसी वीर पुरुषने 'मेरी स्त्री मेरे ही हृदयमें है' यही मानकर तथा 'हाय यह विचारी इस वाणसे मरी' यही समझकर बहुत शीघ्र अपने प्राण छोड दिये थे ॥ ३०२ ॥ शस्त्रोंसे जिसका सब शरीर छिन्न भिन्न हो गया है ऐसे किसी वीर पुरुषको यह यमराज लेनेके लिये आया है परंतु इस कामदेवने स्त्रीकी चिंत्तामें लगे हुये उसे यमराजके हाथसे भी छुडा लिया था ॥ ३०३ ॥ प्रेम और शोकसे अपनी स्त्रीके द्वारा कंठ-तक आलिंगन किया हुआ तथा घावसहित कोई योद्धा उसी प्रियाका ध्यानकर और शरीरको छोड कर उसी प्रियाके साथ मरगया था ॥ ३०४ ॥ मरनेके सन्मुख हुये जिस किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे उससे उसकी स्त्री कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या क्या होगा, यहां तो हम दोनोंका समागम है ही इसमें संदेह नहीं है परंतु स्वर्गमें तो तुम्हें बहुत सी देवांगनायें मिल जायंगी इस लिये मैं तो आज ही क्रीडा करूंगी ॥ ३०५ ॥ हम दोनों चाहें यहां या परलोकमें रहें इसकी चिंता तो हम लोगोंको करनी ही नहीं चाहिये क्योंकि हम दोनों का वियोग तो कहीं भी नहीं हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको संतुष्ट कर रही थी ॥ ३०६ ॥ कोई स्त्री क्रोधमें आकर अपने पतिसे कह रही थी कि हे प्रिय! तुम तो व्रत धारणकर वीरलक्ष्मी और कीर्तिके

जयस्य विजयः प्राणैस्तवैवैतद्विनिश्चितं । सव्रतावद्य यास्यावो दिवमित्यत्रवीत्परा ॥ ३०८ ॥ शरा' पौष्पास्तव त्वं च सयुक्तेष्वतिशीतलः । तत्र विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो भय तत्र ॥ ३०९ ॥ आयसाः सायकाः काम त्वमप्यस्माकमंतकः । इति काम समुद्दिश्य खंडिताः स्वगत जगुः ॥ ३१० ॥ सा रात्रिरिति सँल्लापैः प्रेमप्राणैरनीयत । तावत्संध्याऽऽगता रागाद्राक्षसीवेक्षितु रण ॥ ३११ ॥ प्राभातानककोटीनां नि:स्वनः सेनयो. सम । आक्रामति स्म दिक्चक्रमक्रमेणोच्चरॅस्तदा ॥३१२॥ प्रतीच्याऽपि युतश्चंद्रो मयैवोदेति भास्करः। इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाद्रवे. ॥३१३॥ सरसा कमलाक्षिभ्यः

पास जाओ और वडी आयु होनेके कारण मुझे ही इस कामदेवके द्वारा मरने दो ॥ ३०७ ॥ अन्य कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी विजय तेरे ही प्राणोंसे होगी और व्रतोंको धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्गको चलेंगे ॥३०८॥ कोई खंडिता (जिसका पति किसी अन्य नायकाके पास जाता है) स्त्री कामदेवको उद्देशकर अपने ही मनमें कह रही थी कि अरे काम तेरे फूलके वाण हैं, एक जगह इकट्ठे हुये स्त्रीपुरुषोंमें तू ठंडा है, सुख देनेवाला है, एक जगह इकट्ठे हुये स्त्री पुरुषोंमें ही तेरा सार वा वल समझा जाता है परंतु तू पुरुषोंसे डरता है क्योंकि उनके लोहेके बाण हैं और हमारा तो तू यमराज ही है अर्थात् हमें तो मारनेवाला है ॥ ३०९–३१० ॥ जिनके प्रेम ही वाण है ऐसे स्त्री पुरुषोंने इसतरहकी वात चीत करते हुये वह रात पूरी की, इतनेमें ही क्रोधसे संग्राम देखनेके लिये आई हुई राक्षसीके समान संध्या (सवेरेकी लाली) आगई ॥३११॥ उसी समय दोनों सेनाओंमें एक साथ उत्पन्न हुये आकाशकी ओर जाते हुये सवेरे वजनेवाले करोडों नगाडोंके शब्दोंने सब दिशायें एक साथ दवा ली थीं अर्थात् वे शब्द सव दिशाओंमें भर गये थे ॥ ३१२ ॥ यदि चंद्रमा पश्चिम दिशाके साथ था तथापि सूर्य मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे ही क्या मानों पूर्व दिशा सूर्योदय होनेसे पहिले ही सुशोभित होने लगी थी ॥ ३१३ ॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति प्रबुद्ध हुये (सुशोभित हुये) तलावोंके कमलरूपी नेत्रोंसे अपना इष्ट पदार्थ (फूलका

प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययौ स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥ ३१४ ॥ गतायां स्वेन संकोचं पद्मिन्यां स्वोदये रविः । लक्ष्मीं निजकरेणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता ॥ ३१५॥ रक्तः करैः समाश्लिष्य संध्या सद्यो व्यरज्यत । वदन्निव रविर्भोगान्पर्यंतविरसान्स्फुटं ॥३१६॥ पर्यष्वंजीत्पुरैवैता स्वां संध्यामिति वेर्ष्यया । रविं रक्तमपि स्थित्यै प्राच्यक्षमत न क्षणं ॥३१७॥ शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा नियामिनः । स्नात्वा सतर्पिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥ अर्चित्वा विधिना

रस) लेकर और प्रसन्न होकर निद्राके समान निकल गई थी ॥ ३१४ ॥ कमलकी बेल मेरे अस्त होनेसे ही संकुचित होगई थी इसलिये ही सूर्यने अपने उदय होते ही अपने ही कर अर्थात् किरण-रूपी हाथोंसे बहुत अच्छी शोभा स्थापन की, सो ठीक ही है क्योंकि मित्रताका यही लक्षण है भावार्थ—सूर्यका नाम मित्र है और कमलकी सूर्यके साथ मित्रता भी है इसलिये ही सूर्यने कमलमें शोभा स्थापन की थी ॥ ३१५ ॥ ये भोग अंतमें नीरस ही होते हैं इसी बातको मानों स्पष्टरीतिसे कहता हुआ और रक्त अर्थात् प्रेम करनेवाला अथवा लाल सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे वा हाथोंसे संध्याका आलिंगनकर बहुत शीघ्र उससे विरक्त होगया था। भावार्थ—सूर्यने बहुत शीघ्र ललाई छोड दी थी ॥ ३१६ ॥ इस सूर्यने पहिलेके समान ही अपनी संध्या रूपी स्त्रीसे आलिंगन किया है उसी ईर्षासे ही क्या मानों पूर्व दिशाने रक्त अर्थात् अपनेमें प्रेम करनेवाले अथवा लाल ऐसे सूर्यकी स्थितिको क्षण भर भी क्षमा नहीं किया था अर्थात् पूर्व दिशाने सूर्यको अपने पास ठहरने नहीं दिया उसे बहुत शीघ्र ऊपरको रवाना कर दिया था ॥३१७॥ व्रत नियम पालन करनेवाले और युद्ध करनेके लिये उत्सुक हुये मुख्य मुख्य सब योद्धाओंने वीर शय्यापर सोकर रात्रि व्यतीत की, सबेरे ही स्नानकर सब दीन, अनाथ और याचक लोगोंको संतुष्ट किया तथा तीनों लोक जिन्हें नमस्कार करता है ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवकी विधि पूर्वक पूजा कर स्तुति की और फिर वे अपनी अपनी सेनाका विभागकर युद्धके लिये खडे रहे ॥३१८॥ बंदीजन और मागध लोगोंके समूह जिसके नाम

स्तुत्वा जिनेन्द्राँस्त्रिजगन्नतान् । अतिष्ठन्नायका' सर्वे परिच्छिद्य रणोन्मुखाः ॥ ३१९ ॥ अरिंजयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितं । गृहीत्वा वज्रकांडं च दत्तं यच्चक्रिणा पुरा ॥ ३२० ॥ बंदिमागधवृंदेन वद्यमानाकमालिकः । गजध्वजं समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥ ३२१ ॥ जयो ज्यास्फालन कुर्वन् कृतांतविकृताकृतिः । द्विपाना भीषणस्तस्थौ दिशामप्याहरन्मदं ॥३२२॥ उपोदयायशस्कीर्तिरर्ककीर्तिरच्युतच्छविः । कारागारमिवाध्यास्य स्यदन मंदवाजिनं ॥ ३२३ ॥ अष्टचद्रान्सखीकुर्वन् नष्टचद्रोपमान् युधः । स्वोत्पातकेतुसंकाशचक्रकेतूपलक्षितः ॥ ३२४ ॥ प्रत्यायातमहावातविहतस्वजवैः शरैः ।

के अक्षरोंकी स्तुति करते हैं अर्थात् जिसकी स्तुति करते हैं, जो जयलक्ष्मीके लिये उत्कंठित है, यमराजके समान जिसका भयानक आकार है, जो दिग्गजोंके मदको भी हरण करनेवाला है और भयंकर है ऐसा वह जयकुमार जिसमें सफेद घोडे जुते हुये हैं ऐसे अरिंजय नामके रथपर सवार होकर तथा जो पहिले चक्रवर्तीने दिया था ऐसे वज्रकांड नामके धनुषको हाथमें लेकर और हाथीकी ध्वजा उडाता हुआ तथा धनुषकी डोरीको खींचकर शब्द करता हुआ खडा था ॥ ३१९–३२२ ॥ जिसकी अपकीर्ति फैल रही है, कांति सब नष्ट होगई है, युद्धके नष्ट चंद्रमाके समान अष्टचंद्रोंको ही जिसने अपना मित्र बनाया है, जिसपर अपने अनिष्टको सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिन्हवाली ध्वजा फहरा रही है, प्रतिकूल महावायुके द्वारा जिनका वेग सब नष्ट होगया है और जो देवताओं-पर चोट करनेके लिये छोडे गये हैं ऐसे बाणोंसे जो ऐसा जान पडता है मानों दोपहरके सूर्यको ही भेदन कर रहा हो, भावार्थ--जैसे सूर्यपर छोडे हुये बाण अपने शिरपर ही पडते हैं उसीप्रकार प्रतिकूल वायुके द्वारा जिसके बाण उसीकी सेनापर आकर पड रहे हैं और पापकर्मोंने ही जिसे आगे किया है ऐसा वह अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोडोंसे जुते हुये और जेलखानेके समान ऐसे अपने रथपर सवार होकर बडे घमंडसे शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुये तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर इसप्रकार आया मानों हाथीका बच्चा हाथी पकडनेके गढेमें ही

विध्यन्मध्यंदिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥ ३२५ ॥ जयं शत्रुदुरालोक ज्वलत्तेजोमयं समयात् । कलभो वाऽगमद्वारिं प्रेरितः खलकर्मणा ॥ ३२६ ॥ जयोऽपि शरसतानवनीकृत्यघनाघनः । सहार्ककीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहतप्रभ ॥ ३२७ ॥ प्रतीयायातरे छिंदन् रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो धावन् भ्रनस्येवोदयेंऽशवः ॥ ३२८ ॥ अच्छैत्सीच्छत्रमस्त्राणि वैजयंती च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तेरौद्धत्य विहत्य विनिनीपया ॥ ३२९ ॥ अष्टचद्रास्तदाऽभेत्य विद्याबलविजृम्भणात् । न्यषेधयन् जयस्येषूनभोदा वा रवेः करान् ॥ ३३० ॥ भुजबल्यादयोऽभ्येयुर्योद्धु हेमागद क्रुधा । सानुजं सिंहसंघात सिंहसघ इवापरः ॥ ३३१ ॥ सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । आगकेयो यथा यूथः कालिंगजमतगजान् ॥ ३३२ ॥ अन्येऽप्यन्योंश्च

आ पडा हो ॥ ३२३–३२६ ॥ वह जयकुमार भी उसके सामने आया, उसने बाणोंसे बरसते हुये बादलोंको भी सघन कर दिया था, अर्ककीर्तिको सूर्यके साथ साथ प्रभा रहित कर दिया था, शत्रुके चलाये हुये बाण बीचमें ही छेद दिये थे और जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेपर उसके किरण उसके साम्हने जाते हैं उसीप्रकार उसके चलाये हुये बाण ठीक उसके सामने जा रहे थे ॥ ३२७–३२८ ॥ जो बडी कठिनतासे जीता जाय ऐसे जयकुमारने उस अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना सब दूरकर उसका छत्र शस्त्र और ध्वजा सब छेद डाली ॥ ३२९ ॥ जिसप्रकार बादल सूर्यकी किरणोंको रोक लेते हैं उसीप्रकार उस समय अष्टचंद्रोंने आकर अपनी विद्या और बलकी वृद्धि होनेसे जयकुमारके सब बाण रोक लिये थे ॥ ३३० ॥ जिसप्रकार एक सिंहोंका समूह दूसरे सिंहके समूह पर पडता है उसीप्रकार भुजबली आदि बाहुबलिके पुत्र बडे क्रोधसे छोटे भाइयोंके साथ साथ खडे हुये हेमांगदसे लडनेको आये ॥३३१॥ अंगदेशमें उत्पन्न हुये हाथियोंका समूह जिसप्रकार कलिंग देशके हाथियोंके समूहपर पडता है उसीप्रकार अनंतसेन भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ जयकुमारके छोटे भाइयोंके साम्हने जा पहुंचा ॥३३२॥ उससमय और भी क्रोध करनेवाले राजा लोग दूसरे राजाओंपर इसप्रकार जा टूटे मानों चलते हुये कुलपर्वत कुलपर्वतोंपर जा पडे हों ॥ ३३३ ॥

भूपाला भूपालान्कोपिनस्तदा । अभिपेतु कुलाद्रीन्वा सचलतः कुलाद्रयः ॥ ३३३ ॥ नात्येरामीदृगी शक्तिर्विद्येयमिति विद्यया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा मित्रभुजंगमः ॥ ३३४ ॥ विदित्वा विष्टराकंपाज्जयं सम्प्राप्य सादरं । नागपाशं शरं चार्द्धचंद्रं दत्वा ययावसौ ॥ ३३५ ॥ तं सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरं । कौरवः शरमादाय वज्रकांडे प्रयोजयत् ॥३३६॥ हत एव सुतो भर्तुर्भुवोऽनेनेति सभ्रमं । नरविद्याधराधीशा महांतमुदपादयन् ॥३३७॥ रथान्नव तथा दुष्टानष्टचंद्रान् ससारथीन् । स शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥ ३३८ ॥ छिन्नदंतकरो दंतीवांतको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्थाद्धिक्कष्टं चेष्टितं विधेः ॥ ३३९ ॥ इति दंतग्रहं वीरं गजं वा पादपाशकैः । अपायुधैरुपायज्ञैर्विधिज्ञस्तमजीग्रहत् ॥ ३४० ॥ तच्छौर्य

जयकुमारने देखा कि इन मेरे पक्षवालोंमें न तो ऐसी शक्ति ही है और न यह विद्या ही है यही सोचकर वह स्वयं युद्ध करनेके लिये तैयार हुआ, उसीसमय उसका मित्र जो सर्पका जीव देव हुआ था (जयकुमारके साथ धर्म सुनकर जो देव हुआ था) उसका आसन कंपित हुआ और उससे उसने जयकुमारका सब हाल जान लिया। तदनंतर वह वडे आदरके साथ जयकुमारके पास आया और एक नागपाश तथा अर्द्धचद्र नामका वाण देकर अपने घर गया ॥ ३३४-३३५ ॥ हजार सूर्यकी दैदीप्यमान किरणोंके समान जिसकी कांति है ऐसे उस वाणको लेकर जयकुमारने अपने वज्रकांड नामके धनुषपर चढाया ॥३३६॥ भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजाओंको इस वाणसे समस्त पृथ्वीके स्वामी भरतका पुत्र अर्ककीर्ति अवश्य ही मारा जायगा, यह बडा भारी भ्रम पैदा हुआ था ॥३३७॥ जिसप्रकार वज्र सबको नष्ट कर देता है उसीप्रकार उस वाणने नौ रथ, सारथि सहित आठों दुष्ट अष्टचंद्र और सब शस्त्र भस्म कर दिये ॥ ३३८ ॥ जिसप्रकार दांत और सूंड टूट जानेसे हाथी चेष्टारहित खडा रहता है अथवा हथियार नष्ट हो जानेसे यमराज चेष्टा रहित हो जाता है उसीप्रकार जिसका मान भंग हो गया है ऐसा वह कुमार अर्ककीर्ति भी चेष्टा रहित खडा था, हाय दुःख के साथ कहना पडता है कि दैवकी इस चेष्टाको भी धिक्कार है ॥ ३३९ ॥ शस्त्ररहित परंतु उपायको

यत्पराभूतेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धार्ष्ट्यात् स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥ सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥ वीरपट्टेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । व्रणपट्टपद नीतः पश्य कार्यविपर्ययं ॥ ३४३ ॥ पतत्पतगसंकाशमर्ककीर्तिमनायुधं । स्वरथे स्थापयित्वोच्चैरारुह्यानेकपं स्वय ॥३४४॥ विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत् । निष्पदं निर्जितारातिर्न्यधत्सीत्सिंहविक्रमान् ॥३४५॥ इति सौलोचने युद्धे समिद्धे शमिते तदा । पपात पंचभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसा दिवः ॥३४६॥ जयश्रीदुर्जय स्वामित नूजविजयार्जिता । नोत्सेकायेति तस्यैन त्रपैव

जाननेवाले लोग जिसप्रकार जिसके दांत बंधेहुये हैं ऐसे वीर हाथीको पैरोंकी फांससे बांध लेते हैं उसीप्रकार वीरको पकडनेकी विधि जाननेवाले जयकुमारने उस अर्ककीर्तिको पकड लिया ॥ ३४० ॥ तिरस्कार होनेके पहिले पहिले जो लडना है उसे शूरवीरता कहते हैं और जिनका तिरस्कार हो चुका है ऐसे लोग जो पीछेसे धीठतासे लडनेका साहस करते हैं उसे उनका दूसरा तिरस्कार समझना चाहिये ॥ ३४१ ॥ अर्ककीर्तिका वही तो वंश है, वही भरत पिता है, वही युवराजका पद है और वही सेनाका समूह है तथापि उसकी यह दशा हुई, इससे कहना पडता है कि दुराचार किसको दुख नहीं देता है ! अर्थात् सबको ही देता है ॥ ३४२ ॥ चक्रवर्तीने इस जयकुमारको वीरपट्टसे बांधा था परंतु इसने उसी चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बनाया, कार्यके इस उलटपुलटनेको तो देखो ॥ ३४३ ॥ जिसने सब शत्रु जीत लिये हैं ऐसे जयकुमारने अग्नि पर पडते हुये पतंगेके समान तथा हथियार रहित ऐसे अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक वडे हाथीपर सवार होकर सिंहके समान पराक्रमी ऐसे शत्रुओंके विद्याधर राजाओंको वरुणके समान नागपाशसे इसप्रकार बांधा कि जिससे वे हलन चलनकी कुछ भी क्रिया न कर सकें ॥३४४–३४५॥ इसप्रकार जब वह वढा हुआ सुलोचना संबंधी युद्ध शांत हो गया तब आकाशके कल्पवृक्षोंसे फूलोंकी वर्षा हुई ॥ ३४६ ॥ जिसका जीतना अत्यंत कठिन है ऐसे अपने स्वामीके(भरतके) पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे जो जयश्री

प्रत्युताश्रयत् ॥ ३४७ ॥ जयेनास्थानसंग्रामजयायातेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्दिगंतमगमत्तदा ॥३४८॥ अकंपनमहीशस्य यूथेश वा वनद्विपैः । भूपैः संयमितैः सार्धमर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥ ३४९ ॥ विजयार्धमहागंधसिंधुरस्कंधसंधृतः । निर्भर्त्सितोदयक्ष्माभृन्मूर्धस्थब्रध्नमंडलः ॥३५०॥ रणभूमिं समालोक्य समताद्बहुविस्मयः । मृताना प्रेतसंस्कारं जीवता जीविकाक्रिया ॥ ३५१ ॥ कारयित्वा पुरीं सर्वसमदाविष्कृतोदया । प्राविशत्प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥ ३५२ ॥ अकंपनोऽप्यनुप्राप्य वृतैरंतः समाकुलः । राजकंठीरवै र्वामा राजपुत्रशतैः पुरं ॥ ३५३ ॥ सरक्षान् धृतभूपालान् कुमार

उत्पन्न हुई थी उससे जयकुमारको कुछ घमंड नहीं हुआ था किंतु इसे उलटा लज्जाने आ घेरा था ॥३४७॥ अयोग्य समयमें किये हुये युद्धके जीतनेसे जयकुमारकी जो कीर्ति आई थी उसे जयकुमारने लज्जाके मारे दूर ही फेंक दी थी इसलिये वह कीर्ति उसीसमय सब दिशाओंकी ओर चली गई थी ॥ ३४८ ॥ जिसप्रकार बनके हाथियोंके साथ साथ झुंडके मालिक बडे हाथीको पकडकर राजाके सुपुर्द करते हैं उसीप्रकार जयकुमारने बंधे हुये अनेक राजाओंके साथ साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकंपनके सुपुर्द किया, तदनंतर उदयाचल पर्वतके मस्तक पर सुशोभित ऐसे सूर्य मंडलको भी लज्जित करता हुआ वह कुमार विजयार्द्ध नामके बडे भारी गंध हाथीके कंधेपर सवार होकर युद्धके मैदानको देखनेके लिये निकला, उस युद्धके मैदानको चारोंओरसे देखकर उसे बडा भारी आश्चर्य हुआ, जो लोग मर गये थे उनका दहन संस्कार (दाग लगाना) कराया और जो जीवित थे उनके अच्छे होनेका उपाय कराया, इसप्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रगट है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदि विद्याधरोंके साथ २ सबको आनंद मिलनेसे जिसकी शोभा खूब बढाई गई है ऐसे काशी नगरमें प्रवेश किया ॥ ३४९–३५२ ॥ महाराज अकंपन भी चारोंओर चलते हुये सैकडों राजपुत्रों और सिंहके समान अच्छे २ राजाओंके साथ साथ अपने नगरमें पहुंचे और रक्षा करनेवाले लोग जिनके साथ हैं ऐसे बंधे हुये अनेक राजाओंको तथा कुमार अर्ककीर्तिको आश्वासन देनेमें (सम-

च नियोगिभिः । आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथास्थानमवापयत् ॥ ३५४ ॥ विचिंत्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽर्हत्प्रसादतः । इति वंदितुमाजग्मुः सर्वे नित्यमनोहरं ॥ ३५५ ॥ दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः शांतचेतसः । परीत्यार्थ्याभिरागत्य तुष्टुवुस्स्तुतिभिर्जिनान् ॥३५६॥ जयोऽपि जगदीशानमित्याप्तविजयोदयः । अस्तावीदस्तकर्माणं भक्तिनिर्भरचेतसा ॥ ३५७ ॥ शमिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छता । शुचिशुक्तिपुटेंबुसधृत ननु मुक्ताफलता प्रपद्यते ॥ ३५८ ॥ घटयाति न विघ्नकोटयो निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिना । पटवोऽपि फलं दवाग्निभिर्भयमस्त्यबुधिमध्यवर्तिना ॥ ३५९ ॥ हृदये त्वयि सन्निधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः । अमृताशिषु सत्सु संततं विषभेदार्पितविप्लवः कुतः ॥ ३६० ॥ उपयाति समस्तसंपदो विपदो विच्युति-

---

ज्ञानेमें) चतुर ऐसे नियुक्त किये हुये लोगोंके द्वारा समझा बुझाकर उन्हें उनके योग्य स्थानमें पहुंचाया ॥ ३५३–३५४ ॥ अरहंतदेवके प्रसादसे ही संसारके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं यही सोचकर सब लोग वंदना करनेके लिये नित्य मनोहर नामके चैत्यालयमें आये ॥ ३५५ ॥ वे लोग शांत चित्त होकर दूरसे ही अपनी अपनी सवारियोंसे उतरे, मंदिरमें आये, तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर अर्थोंसे भरी हुई स्तुतियोंसे श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति की ॥ ३५६ ॥ जिसे विजय मिलनेकी उत्कृष्टता प्राप्त हुई है ऐसा वह जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुये अतंःकरणसे समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले और जगतके स्वामी ऐसे जिनेंद्रदेवकी स्तुति करने लगा ॥ ३५७ ॥ हे समस्त विघ्नोंको शांत करनेवाले ! आपके लिये जो स्तुति की जाती है वह थोडीसी होकर भी बडे महत्त्वको प्राप्त हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके संपुटमें पडी हुई पानीकी एक बूंद भी मोतीका रूप धारण करती ही है ॥ ३५८ ॥ हे प्रभो ! दुख देनेमें चतुर ऐसे करोडों ही विघ्न क्यों न हों तथापि वे आपके चरणकमलोंके समीप रहनेवाले लोगोंको कुछ फल नहीं दे सकते; क्या समुद्रके बीचमें रहनेवाले लोगोंको दावानल अग्निसे कभी भय होता है ? ॥ ३५९ ॥ हे नाथ ! आपको हृदयमें धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु हैं जो भय देनेकी इच्छा कर सकें, जो सदा अमृत पिया करते हैं उन्हें

माप्नुवत्सल । वृषभ वृषमार्गदेशिनं झषकेतुद्विपमाप्नुवा सता ॥ ३६१ ॥ इत्थ भवंतमतिमक्तिपथ निनीषोः प्रागेवबंधकलयः प्रलय व्रजंति । पश्चादन श्वरमयाचितमप्यवश्यं सपत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्र भद्र ॥ ३६२ ॥ परिणतपरितापात्स्वेदधारो विलक्षो विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेता. । अधित विधिविधान चिंतयंश्चक्रिसूनुर्विरहविधुरवृत्तिं वीरलक्ष्मीवियोगे ॥ ३६३ ॥ येषामयं जितसुरः समरे सहायस्तानप्यहं कृतरति. समुपासयामि । धुर्योऽयमेव यदि काऽत्र विलंबनेति मत्वेव मक्षु समियाय जयं जयश्रीः ॥ ३६४ ॥ स बहुतरमराजत्प्रोन्छ्रिनान् शत्रुपासून् द्रुतमिति शमयित्वा वृष्टिभिः सायकानां।

किसी तरहके विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव भला कैसे हो सकता है ? ॥ ३६० ॥ जो सज्जन पुरुष धर्मके मार्गका उपदेश देनेवाले और कामदेवके शत्रु ऐसे वृषभदेवकी शरण लेते हैं उन्हें समस्त संपत्तियां प्राप्त होती हैं और उनकी सब विपत्तियां अच्छीतरह नाश हो जाती हैं ॥३६१॥ अच्छीतरह सुशोभित हुये गुणोंसे कल्याण करनेवाले हे जिनेंद्र ! इसप्रकार जो आपको मर्यादा रहित भक्तिके मार्गको ले जाना चाहता है अर्थात् आपमें जो अटल भक्ति रखता है उसके कर्मबंधके सब दोष पहिले ही से नष्ट हो जाते हैं;और फिर पीछेसे विना मांगे ही कभी नाश न होनेवाला ऐसा मोक्ष रूप कल्याण अवश्य ही मिलता है ॥३६२॥ प्राप्त हुये संतापसे जिसे पसीना आ रहा है जिसका चित्त डवांडोल (चंचल) होरहा है, 'मैं सबका स्वामी हूं' यह अभिप्राय जिसने छोड दिया है, जिसका चित्त व्याकुल हो रहा है, और दैवकी गतिको जो विचार रहा है ऐसे उस अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीके वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुरवृत्ति (रडुँआपन) धारण की अर्थात् वीरलक्ष्मीके वियोगसे उसे बहुत दुःख हुआ ॥३६३॥ " जिसने देवोंतक को जीत लिया है ऐसा यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है उनकी उपासना भी मैं बडे प्रेमसे करती हूं फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो फिर इसमें देर ही क्यों करनी चाहिये " यही मानकर मानों वह जयलक्ष्मी जयकुमारके पास बहुत शीघ्र आगई थी ॥ ३६४ ॥ जिसप्रकार सूर्य जब सिंहराशिपर रहकर कन्याराशिपर आना चाहता है तब बहुत ही प्रतापी होकर सुशोभित

उपगतहरिभूमिः प्राप्य भूरिप्रताप दिनकर इव कन्यासंप्रयोगाभिलाषी ॥ ३६५ ॥ सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदैवापरं वीरो वीरमवार्यवीर्यविभवो विभ्रश्य विश्वद्विषः । वीरश्रीविहित दधौ स शिरसाऽम्लान यश.शेखरं लक्ष्मीवान् विदधाति साहससखः किं वा न पुण्योदय' ॥ ३६६ ॥ जयोऽयात्सोऽयश्च प्रभवति गुणेभ्यो गुणगणः सदाचारात्सोऽपि तद्विहितवृत्तिः श्रुतमपि । प्रणीत सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिनास्ततस्तान् विद्वान् सँश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥ ३६७ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्त्वारिंशत्तमं पर्व ।

होता है उसीप्रकार उडती हुई शत्रुरूपी धूलको ऊपर लिखे अनुसार बाणोंकी वर्षासे बहुत शीघ्र शांत कर पराक्रमसे जिसे सिंहका स्थान प्राप्त हुआ है और अब जो कन्याके साथ संयोग होनेकी इच्छा कर रहा है अर्थात् जो वीररससे शृंगाररसपर आ रहा है ऐसा वह जयकुमार बडे भारी प्रतापको पाकर बहुत ही सुशोभित होने लगा था ॥ ३६५ ॥ अत्यंत शूरवीर और जो किसीसे निवारण न हो सके ऐसी पराक्रमरूपी संपत्तिको धारण करनेवाले उस जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वशसे अपने वक्षःस्थलपर (गलेमें) सुलोचनाकी डाली हुई माला धारण की थी उसीसमय सब शत्रुओंको नाशकर वीर लक्ष्मीका बना हुआ और जो कभी मुरझाता नहीं, सदा ही हरा बना रहता है ऐसा एक दूसरा यशरूपी फूलोंका मुकुट भी अपने मस्तकपर धारण किया था. सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीवान है साहस ही जिसका मित्र है और जिसके पुण्यका उदय है वह पुरुष क्या नहीं कर सकता है ? अर्थात् वह सब कुछ करसकता है अथवा उसे सब कुछ मिल सकता है ॥ ३६६ ॥ इस संसारमें विजय पुण्योदयसे मिलता है, वह पुण्य गुणोंसे उत्पन्न होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका भी निरूपण शास्त्रोंमें कहा है, वे शास्त्र परंपरासे सर्वज्ञदेवके कहे हुये हैं और सबको जाननेवाले सर्वज्ञ देव श्रीजिनेंद्रदेव ही हैं, इसलिये विजय मिलनेकी इच्छा करनेवाले विद्वान लोगोंको चाहिये कि वे जयकुमारके समान उन्हीं जिनेंद्रदेवोंका आश्रय करें अर्थात् उन्हीं अरहंतदेवकी सेवा करें ॥ ३६७ ॥

इसप्रकार गुणभद्राचार्यविरचित महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें जयकुमारके विजयका वर्णन करनेवाला यह चवालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पंचचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथ मेघस्वरो गत्वा प्रथमानपराक्रमः । मथितागतिदुर्गर्वैः पृथु स्वावासमास्थितः ॥ १ ॥ स्वयं च सचिताघानि हंतुं स्तुत्वा जिनेशिनः । अकंपनमहाराजः समालोक्य सुलोचनां ॥ २ ॥ कृताहारपरित्यागनियोगामायुधस्तदा । सुप्रभाकृतपर्युष्टिं कायोत्सर्गेण सुस्थिता ॥ ३ ॥ सर्वशांतिकरीं ध्यातिं ध्यायतीं स्थिरचेतसा । धर्म्यामैकाग्र्यनिष्पदा जिनेंद्राभिमुखीं मुदा ॥ ४ ॥ समभ्यर्च्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । भवन्माहात्म्यतः पुत्रि शांतं सर्वममंगलं ॥ ५ ॥ प्रतिध्वस्तानि पापानि नियाममुपसंहर । इत्युत्क्षिप्तकरामुक्त्वा पुरस्कृत्य सुता सुते ॥ ६ ॥ दृष्टः सुप्रभया चामा राजगेहं

पैंतालीसवां पर्व ।

अथानंतर–जिसका पराक्रम सबजगह प्रसिद्ध है और जिसने शत्रुओंका मिथ्या अभिमान सब नष्ट कर दिया है ऐसा वह जयकुमार अपने रहनेके विशाल भवनमें (वडे भारी मकानमें) जाकर रहने लगा ॥ १ ॥ इधर महाराज अकंपनने जो स्वयं पापोंका संग्रह किया था उनको नाश करनेके- लिये श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति की और फिर सुलोचनाको देखा । उससमय सुलोचनाने युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम कर रक्खा था, सुप्रभा माता उसकी रक्षा और पूजाकी सहायता कर रही थी, वह कायोत्सर्गसे खडी थी, स्थिर चित्तसे सब विघ्नोंको शांत करनेवाला ध्यान कर रही थी, धर्मध्यानमें लीन थी, एकाग्र मनसे निश्चल थी और प्रसन्न चित्त होकर श्रीजिनेंद्रदेवके सामने खडी थी ॥ २–४ ॥ इसप्रकार सुलोचनाको देखकर महाराज अकंपनने उसका आदरसत्कार कर उसे धीरज देकर उसके गुणोंकी बहुत सी प्रशंसा की और फिर कहा कि " हे पुत्रि ! तेरे माहात्म्यसे सब विघ्न शांत होगये और सब पाप नष्ट होगये, अब तू अपने नियमोंका संकोचकर अर्थात् छोड " इसप्रकार हाथ जोडे खडी हुई सुलोचनासे कहा और उस पुत्रीको आगे कर पुत्र तथा सुप्रभा रानीके साथ साथ प्रसन्न होकर राजभवनमे प्रवेश किया ' हे पुत्री तू अपने स्थानपर जा ' इसतरह

प्रविश्य सः। याहि पुत्रि निजागारं विसर्ज्येति सुलोचनां ॥ ७ ॥ अन्यथा चिंतितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा। इति कर्तव्यतामूढः सुश्रुतादिभिरिद्धधीः ॥ ८ ॥ औत्पत्तिक्यादिधीभेदैर्वाऽऽलोच्य सचिवोत्तमैः। विद्याधरधराधीशान् विपाशीकृत्य कृत्यवित् ॥ ९ ॥ विश्वानाश्वास्य तद्योग्यैः सामसारैरुदीरितैः। सम्यग्विहितसत्कारः स्नानवस्त्रासनादिभिः ॥ १० ॥ कुमार वंशौ युष्माभिर्विहितौ वर्धितौ च नः। तद्विषमयोऽप्येति यतोऽभून्न ततः क्षयं ॥ ११ ॥ पुत्रबंधुपदातीनामपराधशतान्यपि। क्षमते हि महात्मानस्तद्धि तेषां विभूषणं ॥ १२ ॥ भवेद्दैवादपि स्वामिन्यपराधविधायिना। आकल्पमयशः पापं चानुबंधनिबंधनं ॥ १३ ॥ अपराधः कृतोऽस्माभिरेकोऽयमविवेकिभिः। वयं वो बंधुभृत्यास्तत्कुमार क्षंतुमर्हसि ॥ १४ ॥ एषाऽकीर्तिरियं चैतत्प्रसादात्ते

कहकर सुलोचनाको बिदा किया और फिर सोचने लगा कि यह कार्य किसतरह सोचा गया था और किसीतरह हो गया अब क्या करना चाहिये कुछ समझमें नहीं आता, इसप्रकार असमंजसमें पडकर उस बुद्धिमानने जन्म, व्रत, विनय औषध और तप आदिसे उत्पन्न हुये ज्ञानोंके भेदोंके समान सुश्रुत आदि अच्छे अच्छे मंत्रियोंके साथ विचार किया। तदनंतर करने योग्य कार्यको जाननेवाले अकंपनने नागपाशमें बंधे हुये सब विद्याधरोंके राजाओंको छोड दिया तथा वडी शांततासे वा प्रेमसे उनके योग्य कहे हुये वचनोंसे उन सबको धीरज बंधाया और स्नान वस्त्र आसन आदिके द्वारा उनका खूब आदर सत्कार किया ॥ ५-१० ॥ तथा अर्ककीर्तिसे कहने लगा कि हे कुमार ये हमारे नाथवंश और सोमवंश दोनों आपने ही वनाये हैं और आपसे ही बढ रहे हैं, विषका पेड भी जिससे पैदा होता है उससे फिर नाश नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ महात्मा लोग पुत्र, भाई और पियादे लोगोंके सैकडों अपराध क्षमा कर देते हैं उनकी इसीमें शोभा है ॥ १२ ॥ जो लोग दैवके आधीन होकर भी स्वामीका अपराध करते हैं उनका अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला पाप और अपयश कल्पांतकालतक बना रहता है ॥ १३ ॥ हे कुमार हम मूर्खोंने यह एक अपराध किया है, हम लोग आपके भाई और सेवकोंमें से हैं इसलिये यह अपराध तो क्षमा कर देना ही चाहिये ॥ १४ ॥ यह हमारी अपकीर्ति

प्रशाम्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं वेधेहि नः ॥ १५ ॥ अर्केणालोकनारोधि हन्यते जगतस्तमः । अस्माकं स भवानर्कस्तस्मादतस्तमो हरेत् ॥ १६ ॥ प्रातिकूल्यं तवास्मासु स्तन्यस्येव स्तनधये । अस्मज्जन्मान्तरादृष्टपरिपाकविशेषत ॥ १७ ॥ विश्वविश्वंभराह्लादी यदि क्षिपति वारिदः । कदाऽप्यशनिमेकस्मिँस्तत्तस्यैवाशुभोदयः ॥ १८ ॥ हयेनेव दुरारोहाज्जयेनेहासि पातितः । स ते प्रेष्यः किमत्रास्ति वैमनस्यस्य कारण ॥१९ ॥ सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्व नस्तवैव तत् । निषिद्धश्चेत्त्वया पूर्वं क्रियते किं स्वयंवरः ॥ २० ॥ लक्ष्मीवतीं गृहाणेमामक्षमालापराभिधा । निर्मला वा यशो-

---

और पाप आपके प्रसादसे शांत हो सकता है क्योंकि आप उपकार करने और शाप देने दोनोंमें समर्थ हैं इसलिये इस पापसे हम लोगोंको विशुद्ध कर लीजिये ॥ १५ ॥ संसारके प्रकाशको रोकनेवाले अंधकारको सूर्य ही नष्ट करता है और हमारे लिये तो आप ही अर्क अर्थात् सूर्य हैं इसलिये हमारे हृदयके अंधकारको आप ही दूर कीजिये ॥ १६ ॥ जिसप्रकार पुत्रके लिये माताके दूधका विरोध होता है उसीप्रकार हमलोगोंके पहिले जन्मके पापकर्मोंके विशेष उदयसे हम लोगोंके लिये आपका विरोध उत्पन्न हुआ है ॥ १७ ॥ बादल सब पृथ्वीको प्रसन्न करनेवाले हैं वे ही बादल जो कभी किसी पर बिजली पटक देते हैं परंतु इसमें बादलोंका कोई दोष नहीं है जिसपर वह बिजली पडी है उसी मनुष्यके अशुभ कर्मका उदय समझना चाहिये ॥ १८ ॥ जिसपर चढना कठिन है ऐसे घोडेके समान जयकुमारने आपको पटक दिया है परंतु वह आपका सेवक है इसमें बुरा माननेका क्या कारण है ॥ १९ ॥ सुलोचनाकी तो बात ही क्या है इस संसारमें जो कुछ हमारा है वह सब आपका ही है, यदि आप पहिलेसे मना कर देते तो स्वयंबर ही क्यों किया जाता ॥ २० ॥ आप जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी लक्ष्मीवती पुत्रीको स्वीकार कीजिये, वह यशकी मालाके समान निर्मल है, पाषाणके समान रत्नोंकी मालासे आपको क्या प्रयोजन है ॥ २१ ॥ आज यह आपका विकार भोजनके विकारके समान है, क्या आपके बिना हम लोगोंकी जीविका रह सकती है, इसलिये

माला किं ते पाषाणमालया ॥ २१ ॥ आहारस्य यथा तेऽद्य विकारोऽय विना त्वया । जीविकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु विभो भवान् ॥ २२ ॥ यद्वयं भिन्नमर्यादे त्वय्यवार्येऽनुधाविव । तत्तेवशिष्टाः पुण्येन भवत्प्रेपणकारिणः ॥२३॥ त्वं वह्निनेव केनापि पापिना विश्वजीवनः । उष्णीकृतोऽसि प्रत्यस्मान् शीतीभव हि वारि वा ॥ २४ ॥ न चेदिमान् सुतान् दारान् प्रतिग्राहय पालय । मम तावाश्रयौ यामि पुरूणा पादपादपौ ॥ २५ ॥ इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपं । अर्ककीर्तिं पुरोधाय वृतं भूचरखेचरैः ॥ २६ ॥ शांतिपूजां विधायाष्टौ दिनानि विविधर्द्धिका । महाभिषेकपर्यंता सर्वपापोपशातये ॥ २७ ॥ जयमानीय संधाय संधानविधिवित्तदा । नितरां प्रीतिमुत्पाद्य कृत्वैकीभावमक्षरं ॥ २८ ॥ अक्षमाला महाभूल्या दत्वा सर्वार्थ-

---

हे प्रभो आप हमपर प्रसन्न हूजिये ॥ २२ ॥ हे देव ! हम तो आपके वाहर भेजने योग्य सेवक हैं और आप किसीसे निवारण न हो सकें ऐसे समुद्रके समान गंभीर हैं, जव आपने अपनी मर्यादा छोड दी और फिर भी हम लोग जीते बच रहे इसमें आपका पुण्य ही कारण है ॥ २३ ॥ आप पानीके समान सबको जीवन देनेवाले हैं अग्निके समान किसी भी पापीने हमारेलिये आपको गर्म अर्थात् क्रोधित किया है इसलिये अव पानीके समान ही शीतल हो जाइये ॥ २४ ॥ यदि आप शांत नहीं होना चाहते तो इन पुत्र और स्त्रियोंको संभालिये, इनका पालन कीजिये, मैं हम आप दोनोंके आश्रय ऐसे श्रीवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोंके समीप जाता हूं ॥ २५ ॥ इसप्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोंसे घिरे हुये अर्ककीर्तिको प्रसन्नकर संतुष्टकर और उत्तम हाथीपर सवार कराकर सबसे आगेकर जिनालयतक लाये और सबतरहके पाप शांत करनेके-लिये आठदिनतक बडी विभूतिके साथ महाभिषेक होनेतक शांति पूजा की ॥ २६—२७ ॥ मेल मिलाप करानेकी विधिको जाननेवाले अकंपनने जयकुमारको भी वहीं पर बुलाया, उसीसमय उन दोनोंका मेल मिलाप करा दिया, सदा रहनेवाला प्रेम उत्पन्न करा दिया और कभी न नाश होने-वाली एकता करा दी ॥२८ ॥ तदनंतर अर्ककीर्तिको बडे ठाठ बाट और सबतरहके धन संपदाओंके

संपदा । संपूज्य गमयित्वैनमनुगम्य यथोचितं ॥ २९ ॥ तथेतरांश्च सम्मान्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रत्नगजवाजिभिः ॥ ३० ॥ ते स्वदुर्नयलज्जास्तवैराः स्व स्वमगुः पुर । सा धीर्दैवापराधस्य प्रतिकर्त्री हि याऽचिरात् ॥ ३१ ॥ तदा पूर्वोदितो देवः समागत्य सुसंपदा । सुलोचना-विवाहोरुकल्याणं समपादयत् ॥ ३२ ॥ मेघप्रभसुकेत्वादिसत्सहायान् सहानुजान् । जयोऽप्यगमयत्सर्वान् संतर्प्यार्थैर्बहुप्रियः ॥ ३३ ॥ नाथवंशाग्रणी-श्चामा जामात्राऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः स्वगृहसाराणि बध्वा रत्नान्युपायनं ॥ ३४ ॥ विदितप्रस्तुतार्थोऽसि यथाऽसौ न. प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रेशं सुमुखाख्यमजीगमत् ॥ ३५ ॥ आशु गत्वा निवेद्यासौ दृष्ट्वेश धरणौ तनुं । क्षिप्त्वा प्रणम्य दत्वा च प्राभृतं निभृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥ देवस्या-

---

साथ साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, खूब आदर सत्कार किया और फिर उनकी योग्यताके अनुसार थोडी दूर तक साथ जाकर उन्हें विदा किया ॥ २९ ॥ इसीतरह अच्छे अच्छे रत्न हाथी घोडे आदि भेट देकर अन्य रहे हुये भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजाओंका आदर सत्कारकर बहुत शीघ्र उन्हें विदा कर दिया ॥ ३० ॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर विरोध सब शांत हो गया है ऐसे वे सब लोग अपने अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि वही कहलाती है जो भाग्य वश किये हुये अपराधका बहुत शीघ्र इलाज कर ले अर्थात् उस अपराधको शीघ्र ही दूर कर दे ॥ ३१ ॥ उसीसमय बडी विभूतिके साथ पहिले कहा हुआ देव आया और उसने वडे उत्सवसे सुलोचनाके विवाहकी विधि समाप्त की ॥ ३२ ॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने सब छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ और सुकेतु आदि अच्छे अच्छे सहायकोंको बहुतसा धन देकर संतुष्ट किया और सबको विदा किया ॥ ३३ ॥ तदनंतर नाथवंशके शिरोमणि अकंपनने बहुत शीघ्र ही अपने जंवाई जयकुमारसे सलाह की तथा सुमुख नामके दूतको बुलाकर अपने घरके अच्छे अच्छे रत्न भेटमें देनेके लिये बांधकर, देकर समझाया कि " तू बुद्धिमान है, वर्तमानके व्यवहारका जानकार है इसलिये चक्रवर्ती जिसतरह हम लोगोंपर प्रसन्न हो वही काम कर " इसतरह समझा

नुचरो देव प्रणंम्या॑ऽपंनो भयात् । देवं विज्ञापयत्येवं प्रसादं कुरु तच्छृणु ॥ ३७ ॥ सुलोचनेति नः कन्यासारस्त्वद्विहितश्रिये। स्वयंवरविधानेन संप्रादाय जैयाय सा ॥ ३८ ॥ तत्रागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनुमत्य तत् । विद्याधरधराधीशैः सुप्रसन्नैः सह स्थितः ॥ ३९ ॥ पश्चात्कोपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह शुभग्रहम् । खलो बलाद्यथाऽस्मभ्यं वृथा कोपयति स्म त ॥ ४० ॥ विज्ञातमेव देवेन सर्वं तत्संविधानकं । चारचक्षुश्च वेत्त्येतत्किं पुनः सावधिर्भवान् ॥ ४१ ॥ कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । तत्र तस्य सदोपाः स्मो वयमेव प्रमादिनः ॥ ४२ ॥ तस्मै कन्यां गृहाणेति

बुझाकर उसे चक्रवर्तीके समीप भेजा ॥ ३४–३५ ॥ वह दूत शीघ्र ही भरतके यहां जा पहुंचा, चोबदारके द्वारा खबर पहुंचाकर उनके साम्हने गया, स्वामी भरतको देखकर पृथ्वीपर अपना शरीर डालकर प्रणाम किया, हाथ जोडकर साथमें लाई हुई भेट समर्पण की और फिर कहने लगा कि हे देव अकंपन नामका राजा आपका एक अनुचर है उसने प्रणाम कर डरसे नीचे लिखे अनुसार आपसे कुछ प्रार्थना की है, हे देव प्रसन्न हूजिये और उसे सुन लीजिये ॥ ३६–३७ ॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक सबसे सुंदर कन्या थी वह मैंने स्वयंवर विधिसे आपने ही जिसका ऐश्वर्य और शोभा बढाई है ऐसे जयकुमारके लिये दी थी ॥ ३८ ॥ उस स्वयंवरमें कुमार अर्ककीर्ति भी पधारे थे, उन्होंने पहिले स्वयंवरकी सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुये विद्याधरोंके राजाओंके साथ साथ वहां विराजमान थे ॥ ३९ ॥ तदनंतर जिसप्रकार कोई दुष्ट ग्रह किसी शुभ ग्रहके साथ रहकर उसे दुष्ट कर देता हे उसीप्रकार किसी दुष्टने जबर्दस्ती हम लोगोंपर व्यर्थ ही कुमारको क्रोधित कराया ॥ ४० ॥ इसके बाद जो कुछ वहां हुआ था वह सब समाचार आपको मालूम ही है, क्योंकि सेवकोंके द्वारा सब जगहके समाचार जाननेवाले साधारण राजा लोग भी ऐसे समाचारोंको जान लेते हैं फिर भला आप तो अवधिज्ञानी हैं ॥ ४१ ॥ कुमार अर्ककीर्ति तो कुमार (लडका) ही है उसमें उसका तो कुछ अपराध ही नहीं है प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग

नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽसौ यत्प्रकुप्यंति देवताः ॥ ४३ ॥ मयैव विहिताः सम्यक् वर्धिता वंशवोऽपि नः । स्निग्धाश्च कथमेतेषा विदधामि विनिग्रह ॥ ४४ ॥ इत्येतदेव मा मंस्थाः स्यात्सदोषो यदि त्वया । कुमरोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रम' ॥ ४५ ॥ तदादिश विधेयोऽत्र को दण्डस्त्रिविधेऽपि नः । किं वध. किं परिक्लेशः किं वाऽर्थहरणं प्रभो ॥ ४६ ॥ तवादेशविधानेन नितरा कृतिनो वयं । इहामुत्र च तद्देव यथार्थ मनुशाधि नः ॥ ४७ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं निगद्य हृदयप्रिया । सुमुखो राजराजस्य व्यरसात्करसज्ञया ॥ ४८ ॥ सता वचासि चेतासि हरंत्यपि हि

ही उसमें दोषी हैं॥ ४२॥ "तुम इस कन्याको स्वीकार करो" इसतरह कहकर तो हम लोगोंने जयकुमारके लिये वह दी नहीं थी तथापि देवता जो क्रोधित हो जाते हैं उसमें आराधना वा उपासना करनेवालेका ही दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! "वंश सब मेरे ही बनाये हुये हैं मैंने ही बढाये हैं, ये सब लोग हमारे ही भाई हैं और हमसे सदा प्रेम रखते हैं इसलिये इनको कैसे दंड दिया जाय" ऐसा भी आप मत मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी सदोषी हो तो आप उसको भी दंड देते हैं, यह न्याय ही आपसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४४–४५ ॥ इसलिये हे प्रभो आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनों तरहके दंडोंमेंसे कौनसा दंड मिलना चाहिये, क्या फांसी ? या शरीरका क्लेश ? अथवा धन हरण कर लेना ? ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक और परलोक दोनों जगह खुदको धन्य मानते हैं इसलिये हमारे अपराधके अनुसार हमें अवश्य दंड दीजिये ॥ ४७ ॥ इसप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले और नम्र बचन कहकर वह सुमुख दूत भरतके इशारे करनेमात्रसे ही चुप हो गया ॥४८॥ सज्जनोंके ऐसे बडे कोमल बचन राक्षसोंके चित्तको भी मोहित कर लेते हैं फिर भला सबको एकसी दृष्टिसे देखनेवाले भरत ऐसे महापुरुषोंकी तो बात ही क्या है ॥४९॥ जिसका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे उस चक्रवर्तीने बडे प्रसन्न बचनोंसे कहा कि "यहां समीप आओ" इसप्रकार कहकर अपने सिंहासनके समीप

रक्षसां। किं पुनः सामसाराणि तादृशा समतादृशां ॥ ४९॥ इहेहीति प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः। उपसिंहासनं चक्री निसृष्टार्थं निवेश्य तं॥५०॥ अकंपनैः किमित्येवमुदीर्य प्रहितो भवान्। गुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च संप्रति ॥ ५१ ॥ गृहाश्रमे त एवार्च्यास्तैरेवाहं च बंधुमान्। निषेद्धारः प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥ ५२ ॥ पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसंततेः। श्रेयांश्च चक्रिणां वृत्तेर्यथे ह्यस्म्यहमग्रणीः ॥ ५३ ॥ तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकंपनाः। कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ५४ ॥ मार्गांश्चिरंतनान् येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्। कुर्वंति नूतनान्संतः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥ न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिस्तथा। बलेन न षडंगेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥ ५६ ॥ तदेतत्सार्वभौमत्वं जयेनैकेन

डाले हुये दूसरे आसनपर उसे बिठाया और फिर वे उससे कहने लगे कि महाराज अकंपनने इसतरहके बचन कहकर तुमको क्यों भेजा है वे तो हमारे पिता श्रीवृषभदेवके समान हैं और वर्तमानमें तो वे हम सबमें बडे हैं ॥ ५०–५१ ॥ गृहस्थाश्रममें तो हमारे वे ही पूज्य हैं और उन्हींसे हम भाई बंधुवाले (जिनपर कोई प्रेम करनेवाला हो) गिने जाते हैं, वे तो अन्यायमार्गमें यदि मैं प्रवृत्त हो जाऊं तो मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमें जैसे मोक्षमार्गको प्रगट करनेके लिये श्रीवृषभदेव गुरु हैं, दानकी परंपरा चलानेकेलिये राजा श्रेयान् गुरू है और चक्रवर्तियोंकी प्रवृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूं उसीप्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं। यदि महाराज अकंपन न होते तो दूसरा कौन इस मार्गको प्रगट करता ? और यह मार्ग अनादि कालका है (आजका नहीं है) ॥५३–५४ ॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुये अनादिकालके मार्गोंको जो नये कर दिखाते हैं अवश्य ही वे सज्जन इस संसारमें सज्जनोंके द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह सुप्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न और रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है न सब जगह फैली हुई छह प्रकारकी सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है किंतु केवल एक जयकुमारसे ही मिला है क्योंकि शूरबीरताके सब कामोंमें मेरा विजय उसीसे हुआ है॥५६-५७॥

नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽसौ यत्प्रकुप्यति देवताः ॥ ४३ ॥ मयैव विहिताः सम्यक् वर्धिता वधनोऽपि नः । स्निग्धाश्च कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहं ॥ ४४ ॥ इत्येतदेव मा मंस्थाः स्यात्तदोषो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः ॥ ४५ ॥ तदादिश विधेयोऽत्र को दण्डस्त्रिविधेऽपि नः । किं वध. किं परिक्लेशः किं वाऽर्थहरणं प्रभो ॥ ४६ ॥ तवादेशविधानेन नितरां कृतिनो वयं । इहामुत्र च तद्देव यथार्थमनुशाधि नः ॥ ४७ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं निगद्य हृदयप्रियां । सुमुखो राजराजस्य व्यरमत्करसंज्ञया ॥ ४८ ॥ सतां वचांसि चेतांसि हरन्त्यपि हि

ही उसमें दोषी हैं॥ ४२॥ "तुम इस कन्याको स्वीकार करो" इसतरह कहकर तो हम लोगोंने जयकुमारके लिये वह दी नहीं थी तथापि देवता जो क्रोधित हो जाते हैं उसमें आराधना वा उपासना करनेवालेका ही दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! "वंश सव मेरे ही वनाये हुये हैं मैंने ही वढाये हैं, ये सब लोग हमारे ही भाई हैं और हमसे सदा प्रेम रखते हैं इसलिये इनको कैसे दंड दिया जाय" ऐसा भी आप मत मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी सदोषी हो तो आप उसको भी दंड देते हैं, यह न्याय ही आपसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४४-४५ ॥ इसलिये हे प्रभो आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनों तरहके दंडोंमेंसे कौनसा दंड मिलना चाहिये, क्या फांसी ? या शरीरका क्लेश ? अथवा धन हरण कर लेना ? ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक और परलोक दोनों जगह खुदको धन्य मानते हैं इसलिये हमारे अपराधके अनुसार हमें अवश्य दंड दीजिये ॥ ४७ ॥ इसप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले और नम्र वचन कहकर वह सुमुख दूत भरतके इशारे करनेमात्रसे ही चुप हो गया ॥४८॥ सज्जनोंके ऐसे वडे कोमल वचन राक्षसोंके चित्तको भी मोहित कर लेते हैं फिर भला सवको एकसी दृष्टिसे देखनेवाले भरत ऐसे महापुरुषोंकी तो वात ही क्या है ॥४९॥ जिसका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे उस चक्रवर्तीने बडे प्रसन्न बचनोंसे कहा कि "यहां समीप आओ" इसप्रकार कहकर अपने सिंहासनके समीप

रक्षसा । किं पुनः सामसाराणि तादृशा समतादृशां ॥ ४९ ॥ इहेहीति प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः । उपसिंहासनं चक्री निसृष्टार्थं निवेश्य तं॥५०॥ अकंपनैः किमित्येवमुदीर्य प्रहितो भवान् । गुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च संप्रति ॥ ५१ ॥ गृहाश्रमे त एवार्च्यास्तैरेवाहं च, बंधुमान् । निषेद्धारः प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥ ५२ ॥ पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसततेः । श्रेयाश्च चक्रिणा वृत्तेर्यथे हास्म्यहमग्रणीः ॥ ५३ ॥ तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकंपनाः। कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ५४ ॥ मार्गांश्चिरतनान् येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वंति नूतनान्संतः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥ न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिस्तथा । बलेन न षडंगेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥ ५६ ॥ तदेतत्सार्वभौमत्वं जयेनैकेन

डाले हुये दूसरे आसनपर उसे बिठाया और फिर वे उससे कहने लगे कि महाराज अकंपनने इसतरहके बचन कहकर तुमको क्यों भेजा है वे तो हमारे पिता श्रीवृषभदेवके समान हैं और वर्तमानमें तो वे हम सबमें बडे हैं ॥ ५०–५१ ॥ गृहस्थाश्रममें तो हमारे वे ही पूज्य हैं और उन्हींसे हम भाई बंधुवाले (जिनपर कोई प्रेम करनेवाला हो) गिने जाते हैं, वे तो अन्यायमार्गमें यदि मैं प्रवृत्त हो जाऊं तो मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमें जैसे मोक्षमार्गको प्रगट करनेके लिये श्रीवृषभदेव गुरु हैं, दानकी परंपरा चलानेकेलिये राजा श्रेयान् गुरू है और चक्रवर्तियोंकी प्रवृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूं उसीप्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं। यदि महाराज अकंपन न होते तो दूसरा कौन इस मार्गको प्रगट करता ? और यह मार्ग अनादि कालका है (आजका नहीं है) ॥५३–५४ ॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुये अनादिकालके मार्गोंको जो नये कर दिखाते हैं अवश्य ही वे सज्जन इस संसारमें सज्जनोंके द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह सुप्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न और रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है न सब जगह फैली हुई छह प्रकारकी सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है किंतु केवल एक जयकुमारसे ही मिला है क्योंकि शूरवीरताके सब कामोंमें मेरा विजय उसीसे हुआ है॥५६-५७॥

केवल । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम'॥५७॥ म्लेच्छराजान् विनिर्जित्य नाभिशैले यशोमय । मन्नाम स्थापितं तेन किम त्रान्येन केनाचित् ॥५८॥ अर्ककीर्तिरकीर्ति मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाङ्कमहाकार्पीन्मषीमाषमलीमसा ॥ ५९ ॥ अमुनाऽन्यायवर्त्मैव प्रावर्तीति न केवल । इह स्वयं च दण्ड्यानां प्रथम. परिकल्पितः ॥ ६० ॥ अभूदयशसो रूपं मत्प्रदीपादिवांजनं । नार्ककीर्तिरसौ स्पष्टमयश.कीर्तिरेव हि ॥ ६१ ॥ जय एव मदादेशाद्दाद्दशोऽन्यायवर्तिनः । समीकुर्यात्ततस्तेन स साधु दमितो युधि ॥ ६२ ॥ सदोषो यदि निग्राह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूभुजा । इति मार्गमहं तस्मिन्नद्य वर्तयितुं स्थितः ॥ ६३ ॥ अक्षमाला किल प्रत्ता तस्मै कन्याऽवलेपिने । भवद्भिरविचार्यैतद्विरूपकमनुष्ठितं ॥ ६४ ॥ पुरस्कृत्येह तामेतां नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यता।

म्लेच्छ राजाओंको जीतकर नाभि पर्वतपर कीर्तिसे भरा हुआ मेरा नाम उसीने स्थापित किया, इसमें और किसीने कुछ भी नहीं किया है ॥५८॥ इस अर्ककीर्तिने तो अपकीर्तियोंमें गिनने योग्य अर्थात् मुख्य तथा शाही और उडदके समान काली और जवतक इस संसारमें चंद्रमा रहे तवतक टिकनेवाली ऐसी मेरी अपकीर्ति फैला दी है ॥ ५९ ॥ इसने अन्यायमार्गकी प्रवृत्ति की है, केवल इतना ही नहीं है किंतु इस संसारमें जिन्हें दंड देना चाहिये ऐसे लोगोंमें उसने आपको (खुदको) प्रथम वा मुख्य वना लिया है ॥ ६० ॥ दीपकके समान मुझसे यह काजलके समान अपकीर्तिरूप उत्पन्न हुआ है । यह अर्ककीर्ति नहीं है किंतु साक्षात् अयशःकीर्ति (अपकीर्तिको फैलानेवाला) ही है ॥ ६१ ॥ जयकुमार ही मेरी आज्ञासे इसतरहका अन्याय करनेवाले लोगोंको उचित दंड देता है इसालिये ही उसने, युद्धमें इसे (अर्ककीर्तिको) बहुत ही अच्छा दंड दिया है ॥ ६२ ॥ यदि अपराध करनेवला बडा ही पुत्र क्यों न हो तथापि राजाको उसेभी दंड देना चाहिये यही नीतिका मार्ग है, अर्ककीर्तिको यही मार्ग दिखानेके लिये अर्थात् अपराधी होनेसे उसे दंड देनेके लिये आज मैं बिलकुल तैयार हूं ॥ ६३ ॥ परंतु आप लोगोंने विचार किये विना ही अभिमान करनेवाले उसे अक्षमाला नामकी कन्या दी है, यही काम आप लोगोंने बुरा किया है ॥ ६४ ॥ उस अक्षमाला

सकलंकेति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्विधोः ॥ ६५ ॥ उपेक्षितः सदोषोऽपि स्वपुत्रश्चक्रवर्तिना । इतीदमयशः स्थायि व्यधायि तदकंपनैः ॥ ६६ ॥ इति संतोष्य विश्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं तुज तोकमकरोन्न्यायमौरसं ॥ ६७ ॥ सुमुखस्तदयाभारमिव वोढुं तदाक्षमः । सजयोऽकंपनो देव देवस्य नमति क्रमौ ॥ ६८ ॥ लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽगानि प्रणम्य तं । विकसद्वदनाभोजः समुत्थाय कृतांजलिः ॥ ६९ ॥ इत एवोन्मुखौ

कन्याको भेट देकर आप लोगोंने उसे पूज्य वनाया है सो ठीक ही है क्योंकि चंद्रमाकी मूर्ति कलंक सहित है यही समझकर क्या वह छोडी जाती है ? ॥ ६५ ॥ परंतु " चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा की अर्थात् उसे कुछ दंड नहीं दिया " इसप्रकारके मेरे इस अपयशको महाराज अकंपनने चिरस्थायी बनादिया ॥ ६६ ॥ इसप्रकार समस्त भरतके अधिपति महाराज भरतने सौमुख्य नामके दूतको संतुष्टकर उसका मुख प्रसन्न किया और इसतरह अपने वडे पुत्र अर्ककीर्तिको छोडकर उसने न्यायको ही अपना औरस (खास) पुत्र वनाया, भावार्थ--न्यायके सामने उसने अपने वडे पुत्रका भी पक्ष नहीं किया ॥ ६७ ॥ उसीसमय चक्रवर्तीकी दिखाई हुई दयाके भारको न सह सकनेके कारण ही क्या मानों वह सुमुख कहने लगा कि " हे देव जिन्हें आपका प्रसाद मिल चुका है ऐसे महाराज अकंपन और जयकुमार दोनों ही आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं " इसतरह कहकर उस दूतने अपना शरीर जमीनपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और फिर जिसका मुखरूपी कमल प्रफुलित (प्रसन्न) हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड रक्खे हैं ऐसा वह दूत खडा होकर फिर कहने लगा कि " हे देव ! जिसप्रकार दो चातक पक्षी वर्षा ऋतुमें आये हुये पहिले वादलोंसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसीप्रकार जयकुमार और अकंपन दोनों ही आपके समीपसे मेरे पहुंचनेकी इच्छा करते हुये इसी दिशाको ऊपरकी ओर ही अपना मुख किये वैठे होंगे " इसतरहके निवेदन करनेपर चक्रवर्तीने उसे जानेकी आज्ञा दी, आज्ञा पाकर

तौ त्वत्प्रतीच्छंतौ मदागतिं । आस्थाता चातकौ वृष्टिं प्रावृषो वाऽदिवार्मुचः ॥७०॥ इति विज्ञाप्य चक्रेशात् कृतानुज्ञः कृतत्वरः । सप्राप्याकंपनं नत्वा सजयं विहितादरं ॥ ७१ ॥ गोभिः प्रकाश्य रक्तस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा वासरारम्भस्तद्वक्त्राब्जं व्यकाशयत् ॥ ७२ ॥ साधुवादैः सदानैश्च सम्मानैस्तौ च तं तदा । आनिन्यतुरतिप्रीतिं कृतज्ञा हि महीभृतः ॥ ७३ ॥ इत्यतर्क्योदयावाप्तिविभासितशुभोदयः । अनूषिवान् जयः श्रीमान् सुखेन श्वासुरं कुलं ॥ ७४ ॥ सुलोचनामुखाम्भोजषट्पदायितलोचनः । अनंगानणुबाणैकतूणीरायितविग्रहः ॥ ७५ ॥ तथा प्रवृत्ते संग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः । पेलवैः कुसुमैरेभिर्विचित्रा विधिवृत्तयः ॥ ७६ ॥ अस्मिता सस्मिता कुर्वन्नहसतीं सहासिका । सभया निर्भया बालामाकुलां तामनाकुला ॥ ७७ ॥

बडी शीघ्रतासे वह अपने स्थानपर जा पहुंचा और जयकुमारके साथ बैठे हुये महाराज अकंपनको नमस्कार किया, उन दोनोंने ही दूतका आदर सत्कार किया और फिर जैसे सबेरेका समय किरणोंसे लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रगटकर कमलोंको खिला देता है उसीप्रकार उस दूतने भी अपने बचनोंसे प्रेम करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रगटकर उन दोनोंके मुखकमल प्रफुल्लित कर दिये थे ॥ ६८-७२॥ उस समय उन दोनों राजाओंने उस दूतको शाबासी दी, बहुतसा दान दिया, खूब आदर सत्कार किया और इसतरह उसे बहुत ही संतुष्ट किया, सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग कृतज्ञ (किये हुयेका उपकार माननेवाले) होते ही हैं ॥ ७३ ॥ इसप्रकार जो विचारमें भी न आ सके ऐसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनेसे जिसके शुभ कर्मोंका उदय प्रगट हो रहा है ऐसा वह श्रीमान जयकुमार सुखसे ससुरके घर रहने लगा ॥ ७४ ॥ उसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान सदा लगे रहते थे, जिसका शरीर कामदेवके बडे बडे बाणोंके लिये एक तरकसके समान था, वह इसतरहके घोर युद्धमें भी बाणोंसे घायल नहीं हुआ था परंतु बडे कोमल ऐसे इन कामदेवके पुष्पोंके बाणोंसे घायल हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि दैवकी लीला भी बडी ही आश्चर्य करनेवाली है॥७५-७६॥ वह जयकुमार धीरे धीरे न हँसनेवाली अर्थात् चुपचाप बैठी हुई सुलोचनाको धीरे धीरे हँसाता था,

अत्तालपंतीमालाप्य लोकमानो विलोकिनीं । अस्पृशंतीं समास्पृश्य व्यधाद् व्रीडाविलोपनं ॥ ७८ ॥ कृतो भवांतराबद्धतत्स्नेहबलशालिना । सुलोचनायाः कौरव्यः कामं कामेन कामुकः ॥ ७९ ॥ सुलोचनामनोवृत्ती रागामृतकरोध्दुरा । क्रमाच्चचाल वेलेव कामनाममहांबुधेः ॥ ८० ॥ मुकुले वा मुखे चक्रे विकासोऽस्याःक्रमात्पदं । आक्रांतशर्पकारातिग्रहानक्षरसूचनः ॥ ८१ ॥ सखीमुखानि सवीक्ष्य जंजपित्वा दिशामसौ । स्वैरं हासितुमारब्ध गृहीतमदनग्रहा ॥ ८२ ॥ सितासितासितालोलकटाक्षेक्षणतोमरैः । जयतद्भ्र जितानंग कृत्वानग प्रतिष्कशं ॥ ८३ ॥ ससाध्वसा सलज्जा सा विव्याध विविधै-

---

न हँसनपरे जोरसे हँसाता था, भयभीत होनेपर निर्भय करता था, व्याकुल होनेपर निराकुल करता था, बात चीत न करनेपर उसके साथ बात चीत करता था, अपनी ओर देखनेपर उसकी ओर देखता था और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श वा आलिंगन करता था, इसतरह वह कुमार उसकी लज्जा दूर कर रहा था ॥ ७७-७८ ॥ पहिले जन्मका बंधा हुआ स्नेह ही जिसका बल है ऐसे कामदेवने अपनी इच्छानुसार जयकुमारको सुलोचनाका कामुक (चाहनेवाला) बना दिया था ॥ ७९ ॥ अनुरागरूपी चंद्रमाके संबंधसे बढी हुई ऐसी कामदेव रूपी महासागरकी लहरके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति [भाव] क्रमक्रमसे बढ रही थी ॥ ८० ॥ सब शरीरमें घुसा हुआ कामदेव रूपी पिशाच विना बोले ही जिसकी सूचना कर रहा है ऐसी प्रसन्नताने इस सुलोचनाके प्रफुल्लित हुये मुखपर धीरे धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥ ८१ ॥ जिसके शरीरमें कामदेवरूपी पिशाच बैठा हुआ है ऐसी वह सुलोचना सखियोंके मुख देखकर कुछ निरर्थक बचन कहकर और दिशाओंकी ओर देखकर इच्छानुसार हँसने लगी थी ॥ ८२ ॥ उससमय भयभीत और लज्जित हुई वह सुलोचना जिसने अपनी सुंदरतासे कामदेवको भी जीत लिया है ऐसे जयकुमारको जो देखनेका समय नहीं है ऐसे समयमें भी उसे ठगने की इच्छासे कामदेवको अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुये तथा चंचल ऐसे कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी तोमर नामके अनेक तरहके हथियारोंसे

मेनाक्। अनालोकनवेलायामतिसंधित्सयेव तं ॥ ८४ ॥ न भुजंगेन संदष्टा नापि संसेवितासवा । न श्रमेण समाक्रांता तथापि स्विद्यति स्म सा ॥ ८५ ॥ स्खलंति स्म कलालापाश्चकंपे हृदयं भृशं । चलान्यालेकितान्यासन्नवशेवात्मनश्च सा ॥ ८६ ॥ प्रक्षालितेव लज्जाऽगात्सुदत्याः स्वेदवारिभिः । वागिंधनैर्व्यदीपिष्ट विचित्रश्चित्तजानलः ॥ ८७ ॥ तावत्त्रपा भय तावत्तावत्कृत्यविचारणा । तावदेव धृतिर्यावज्जृंभते न स्मरज्वरः ॥ ८८ ॥ विषयीकृत्य सर्वेषामिंद्रियाणा परस्परं । परामवापतुः प्रीतिं दंपती तौ पृथक् पृथक् ॥ ८९ ॥ अत्यासंगात्क्रमग्राहिकरणैस्तावतर्पितौ । आनिंदतामशेषैककरणाकारिणं

धीरे धीरे मार रही थी भावार्थ–बार बार तिरछी निगाहसे देख रही थी ॥ ८३–८४ ॥ उससमय न तो वह सर्पने काटी थी, न उसने मद्य ही पिया था और न कुछ परिश्रम हीं किया था तथापि वह पसीनेसे डूब रही थी ॥ ८५ ॥ उसके मधुर भाषण स्खलित हो रहे थे हृदय थर थर कंप रहा था, दृष्टि चंचल हो रही थी, और वह ऐसी जान पडती थी मानों अपने होशमें न हो ॥ ८६ ॥ सुंदर दांतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इसतरह चली गई थी मानों उसके पसीनेके जलसे धुल गई ही हो और अंतःकरणसे उत्पन्न हुई अद्भुत अग्नि अर्थात् कामदेवरूप अग्नि बचन रूपी ईंधनसे ही क्या मानों खूब जल रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेव रूपी ज्वर नहीं बढता है तबतक ही इस संसारमें लज्जा है, तबतक ही भय है, तबतक ही करने योग्य कामोंका बिचार है और तबतक ही धीरज है ॥८८॥ वे दोनों ही स्त्रीपुरुष अर्थात् जयकुमार और सुलोचना परस्पर अलग अलग सब इंद्रियोंके विषयोंका सेवनकर बडे भारी सुखका अनुभव कर रहे थे ॥ ८९ ॥ अत्यंत निकट संबंध होनेपर भी एक एक विषयको अनुक्रमसे ग्रहण करनेवालीं इंद्रियोंसे वे तृप्त नहीं होते थे और इसलिये ही वे दोनों सब इंद्रियोंके बदले एक ही इंद्रियको न करनेवाले विधाताकी निंदा करते थे । भावार्थ–सब इंद्रियोंका अनुभव एक साथ नहीं हो सकता इसलिये जिस नाम कर्मरूपी विधाताने सब इंद्रियां अलग अलग बनाई हैं सबको मिलाकर एक नहीं बनाई यदि सबको मिलाकर एक इंद्रिय बनाता तो सबका अनुभव

विधिं ॥ ९० ॥ अन्योन्यविषय सौख्य त्यक्त्वाऽशेपान्यगोचर । स्तोकेन सुखमप्राप्तं प्रापतुः परमात्मनः ॥ ९१ ॥ सप्राप्तभावपर्यंतौ विदतुर्न स्वयं च तौ । मुक्त्वैक श सहैवोद्यत्स्वक्रियोद्रेकसभवं ॥ ९२ ॥ रतावसाने निःशक्त्योर्गाढौत्सुक्यात् प्रपश्यतोः । तयोरन्योन्यमाभाता नेत्रयोरिव पुत्रिके ॥ ९३ ॥ अत्रापि या तया प्रीतिस्तस्मात्तेन च या ततः । तयोरन्योन्यमेवासीदुपमानोपमेयता ॥ ९४ ॥ भुक्तमात्मभरित्वेन यत्सुखं परमात्मना । ततोऽप्यधिकमासीद्वा संविभागेऽपि तत्तयोः ॥ ९५ ॥ इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिस्फीतामृताम्भसि । कामाम्भोधौ निमग्नौ तौ स्वैरं चिक्रीडतुश्चिरं ॥ ९६ ॥ तदा स्वमंत्रि-

---

एकसाथ होसकता था उस विधाताकी निंदा करते थे ॥ ९० ॥ उन दोनोंने परस्पर एक दूसरेके आधीन रहनेवाला और सब साधारण लोगोंको मिलनेवाला सुख छोड दिया था और जो छोटे छोटे साधारण लोगोंको न मिल सके ऐसा आत्माका उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर लिया था ॥ ९१ ॥ जिनके अंतःकरणमें उत्पन्न हुये विकारोंका अंत आ चुका है ऐसे वे दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओंकी अधिकतासे उत्पन्न हुये एक सुखको छोडकर स्वयं और कुछ नहीं जानते थे ॥ ९२ ॥ सुरतक्रीडाके अंतमें अशक्त हुये तथा गाढ उत्कंठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुये वे दोनों ऐसे जान पडते थे मानों आंखकी पुतलीमें पडेहुये चित्र ही हों ॥ ९३ ॥ जो सुख सुलोचनाको जयकुमारसे मिला था और जयकुमारको सुलोचनासे मिला था उसका उपमान उपमेय भाव उन्हीं दोनोंमें था । भावार्थ—उन दोनोंके प्रेम और सुखके समान अन्य किसीका सुख और प्रेम नहीं था वह सुख और प्रेम उन्हींमें था ॥ ९४ ॥ यद्यपि उन दोनोंका सुख परस्पर एक दूसरेको बांट दिया गया था तथापि परमात्माने सबके स्वामी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उससे भी कहीं अधिक सुखको वे दोनों अनुभव करते थे ॥ ९५ ॥ इसप्रकार परस्पर एक दूसरेसे उत्पन्न हुये प्रेमरूपी निर्मल अमृत ही जिसमें जल भरा हुआ है ऐसे कामदेव रूपी समुद्रमें डूबकर वे दोनों ही इच्छानुसार बहुत देर तक क्रीडा करते रहते थे ॥ ९६ ॥ इतनेमें ही जयकुमारके मंत्रीका एक पत्र आया,

प्रहितगूढपत्रार्थचोदितः । जयो जिगमिषुस्तूर्णं स्वं स्थानीयं वियो वशः ॥ ९७ ॥ भवद्भिर्भावितैश्वर्यं मां मदीया दिदृक्षवः। इति मामं समभेत्य प्रस्थानार्थमबूबुधत् ॥ ९८ ॥ तद्बुध्वा नाथवंशेशः किंचिदासीत्ससंभ्रमः। जये जिगमिषौ स्वस्मान्न स्यात्कस्याकुलं मनः ॥ ९९ ॥ विचार्य कार्यपर्यायं तथास्त्वित्याह स नृप.। स्नेहानुवर्तिनीं नैति दीपिका वा धिय सुधीः ॥ १०० ॥ प्रादात्प्रागेव सर्वस्वं तस्मै दत्तसुलोचनः। तथापि लौकिकाचारं परिपालयितु प्रभु ॥ १०१ ॥ दत्वा कोशादि सर्वस्वं स्वीकृत्य प्रीतिमात्मन.। अनुगम्य स्वयं दूर शुभेऽहनि वधूवर ॥ १०२ ॥ कथं कथमपि त्यक्त्वा स

उसे देखते ही अपने मंत्रीके द्वारा भेजे हुये पत्रका गूढ अर्थ ही जिसें जानेके लिये प्रेरणा कर रहा है, जो अपनी बुद्धिके आधीन है और अपने स्थानपर वहुत जल्दी जाना चाहता है ऐसे उस जयकुमारने अपने मामाके (ससुर अकंपनके) पास पहुंच कर अपने जानेकी सूचना दी कि हे तात! आपने जिसका ऐश्वर्य प्रगट किया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है ॥ ९७–९८ ॥ इसबातको जानकर नाथवंशका स्वामी अकंपन कुछ घबडाया, सो ठीक ही है क्योंकि अपनेसे जयके (जयकुमार अथवा विजय) अलग होनेपर किसका मन व्याकुल नहीं होता है? ॥ ९९ ॥ आगे होनेवाले सब कार्योंको सोचकर राजाने कहा "अच्छा ठीक है" सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोग दीपकके समान स्नेह अर्थात् तेल वा प्रेमके अनुसार अपनी बुद्धिको नहीं चलाते हैं भावार्थ--प्रेममें फंसकर अपनी बुद्धिको नहीं छोड देते हैं ॥ १०० ॥ यद्यपि महाराज अकंपन सुलोचनाको देकर उसके साथ साथ ही उस जयकुमारको पहिले ही सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिये अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर किसी शुभ दिनमें उनको विदा किया, सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ और सबके स्वामी ऐसे वे महाराज अकंपन थोडी दूरतक तो स्वयं उन दोनों स्त्री पुरुषोंके (जयकुमारसुलोचनाके) साथ साथ गये, फिर उन्होंने जिसतिसतरह बडी कठिनतासे उन्हें छोडा और उनके छोडनेसे शोक करते हुये वे वापिस लौटे, सो ठीक ही है क्योंकि अपनी संतानका

सजानिर्जनाग्रणीः । न्यावर्तत ततः शोकी तुग्वियोगो हि दुःसहः॥ १०३ ॥ विजयार्द्धं समारुह्य जयोऽपि ससुलोचनः । आरूढसामजैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभि. ॥ १०४ ॥ हेमागदकुमारेण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्याः परिहासमनोहराः ॥ १०५ ॥ वृतः शशीव नक्षत्रैरनुगंगं ययौ शनैः । इला सचालयन् प्राग्वा श्रीमान् स जयसाधन' ॥ १०६ ॥ स्कंधावारं यथास्थान पारेगंग न्यवीविशत् । वीक्ष्य कक्षपुटत्वेन प्रशास्ता शास्त्रवित्तदा ॥ १०७ ॥ हटत्पटकुटीकोटिनिकटाटोपनिर्गमः । बभासे शिबिरावासः स्वर्गावास इवापरः ॥ १०८ ॥ तं प्राप्य सिंधुरं रुध्वा स राजद्वारि

वियोग होना असह्य होता ही है ॥ १०१–१०३ ॥ वह जयकुमार सुलोचनाके साथ साथ विजयार्द्ध नामके हाथीपर सवार हुआ, विजयकुमार आदि सब छोटे भाई भी दूसरे हाथियोंपर सवार हुये, अपने छोटे भाइयों सहित हेमांगदकुमार भी इनके साथ चला, जिसप्रकार सब नक्षत्रोंसे घिरकर चंद्रमा चलता है उसीप्रकार इन सब लोगोंसे घिरा हुआ वह श्रीमान जयकुमार सब सेनाके साथ साथ जिसप्रकार पहिले दिग्विजय करनेके लिये निकला था उसीप्रकार बडे उत्सवके साथ रास्तेमें कहने योग्य हँसी विनोदकी मनोहर कथायें कहता हुआ तथा पृथ्वीको हिलाता हुआ धीरे धीरे गंगाके किनारे किनारे चला ॥ १०४-१०६ ॥ सबतरहके शास्त्रोंको जाननेवाले और सबपर आज्ञा करनेवाले महाराज जयकुमारने गंगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर नदीका किनारा और घासवाली जगह देखकर अपनी सेनाके डेरे कराये अर्थात् सेनाका पडाव डाला ॥ १०७ ॥ बडे बडे कपडोंके करोडों तंबुओंके समीप ही जिसमें आने जानेका रास्ता बनाया गया है ऐसा वह सेनाका पडाव ठीक दूसरी स्वर्गभूमिके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १०८ ॥ महाराज जयकुमारने बडे तंबूके पास पहुंचकर बडे दरवाजेके पास ही अपने हाथीको रोका, वहीं सब राजाओंको बिदा किया, फिर तंबूके भीतर जाकर हाथीको बिठाकर अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको धीरेसे उतारा और वे अपने योग्य स्थानपर कोमल शय्यापर सुखसे विराजमान हुये । उसी समयके योग्य

राजकं । विसर्ज्योच्चैः प्रविश्यातरवतीर्य निपाद्य त ॥ १०९ ॥ राजा सुलोचनां चावरोप्य स्वभुजलंबिनीं । निविश्य स्वोचिते स्थाने मृदुशय्यातले सुख ॥ ११० ॥ तत्कालोचितवृत्तज्ञः प्रिया संतर्पयन् प्रियैः । स्नानभोजनवाग्वाद्यगीतनृत्यविनोदनै. ॥ १११ ॥ नीत्वा रात्रिं सुखं तत्र प्रत्याय्य प्रत्ययं स्थितेः । ता निवेश्य समाश्वास्य हेमागदपुरस्सरान् ॥ ११२ ॥ नियोज्य स्वानुजान् सर्वान् सम्यक्कटकरक्षणे । आप्तैः कतिपयैरेव प्रत्ययोध्यामियाय सः ॥ ११३ ॥ अर्ककीर्त्यादिभि· प्रष्ठैः प्रत्यागत्य प्रतीक्षित· । सस्नेह सादर भूयः कुमारेणालपन् पुरिं ॥ ११४ ॥ तानुरागान्स्वय रागात्प्राविशद्वा विशापति. । न पूजयति के वाऽन्ये पुरुष राजपूजितं ॥११५॥ इंद्रो वेभाद्वहिर्द्वाराज्जिनस्योत्तीर्य भूपतेः । सभागेहं समासाद्य मणिकुट्टिमभूतलं ॥११६॥

समाचारोंको जाननेवाले उन जयकुमारने स्नान, भोजन, वातचीत, वाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर विनोदोंसे प्रिया सुलोचनाको संतुष्ट किया, रात वहीं सुखसे विताई, और फिर वहां ठहरनेका कारण समझाया, उसे सवतरह समझा बुझाकर वहींपर रक्खा, हेमांगद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वहीं सुलोचनाके पास रक्खा, अपने सव छोटे भाइयोंको अच्छीतरह सेनाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया और फिर थोडेसे वडे पुरुषोंको साथ लेकर वह अयोध्याको निकला ॥ १०९-११३ ॥ जव वह अयोध्या पहुंचा तव अर्ककीर्ति आदि मुख्य मुख्य राजा उसे लेनेके लिये सामने आये थे, वह महाराज जयकुमार कुमार अर्ककीर्तिके साथ वडे प्रेम और आदरके साथ वात चीत कर रहे थे इसतरह वडे प्रेमसे प्रेम करनेवाले सव लोगोंके साथ साथ उन्होंने उस अयोध्या नगरमें प्रवेश किया, सो ठीक ही है क्योंकि राजाके सिवाय अन्य ऐसे कौन पुरुष हैं जो राजमान्य पुरुषका आदर सत्कार न करें ॥ ११४-११५ ॥ जिसप्रकार इंद्र समवसरणके दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी राजभवनके दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरा और सभाभवनमें पहुंचा, उस सभाभवनका फर्श मणियोंका वना हुआ था, उसके वीचोंवीच एक रत्नमंडप था जोकि दैदीप्यमान रत्नोंके जडे हुये खंभों पर खडा किया गया था, अनेक तरहके रेशमी वस्त्रोंका उसपर चंदोवा ताना

मध्ये तस्य स्फुरद्ररत्नखचितस्तंभसभृते । विचित्रनेत्रविन्यस्तसद्वितानविराजिते ॥ ११७ ॥ मणिमुक्ताफलाप्रोतलंब्रलंबूषभूषणे । परार्ध्यरत्नभाजालजटिले रत्नमंडपे ॥ ११८ ॥ विधु ज्योतिर्गणेनेव राजकेन विराजित । स्वकीर्तिनिर्मलैर्वीज्यमानं चमरजन्मभिः ॥११९॥ वेष्टितं वेंद्रधनुषा नानाभरणरोचिषा । रोचिषेव कृताकारं पूज्य पुण्यैश्चतुर्विधैः ॥ १२० ॥ तुगसिंहासनासीनं भास्वत वोदयाद्रिगं । राजराजं समालोक्य बहुशो भक्तिनिर्भरः ॥ १२१ स वा प्रणम्य तीर्थेश स्पृष्ट्वाऽष्टांगैर्धरातलं । कर प्रसार्य संभाव्य राज्ञैवासन्नमासनं ॥१२२॥ निजहस्तेन निर्दिष्ट दृग्गाऽलङ्कृत्य तुष्टवान् । व्यभासिष्ट सभामध्ये स

गया था जिसमें उसकी शोभा और भी बढगई थी, माणि और मोतियोंसे गुंथी हुई तथा लटकती हुई झालरोंसे वह बहुत ही सुशोभित हो रहा था और बहुमूल्य रत्नोंकी कांतिके समूहसे भर रहा था। जिसप्रकार उदयाचल पर्वतपर सूर्य सुशोभित होता है उसीप्रकार उस रत्नमंडपमें एक ऊंचे सिंहासनपर महाराज भरत विराजमान थे, जिसप्रकार तारा नक्षत्र आदि ज्योतिर्मंडलसे चंद्रमा सुशोभित होता है उसीप्रकार वे भरत भी अनेक राजाओंसे सुशोभित थे, अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर उनपर ढुलाये जा रहे थे, इंद्रधनुषके समान अनेक तरहके आभूषणोंकी कांति उनके चारोंओर पड रही थी, उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों कांतिसे ही उनका शरीर बनाया गया हो तथा शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र और सातावेदनीय इन चारोंतरहके पुण्यकर्मोंसे वे पूज्य थे, इसप्रकारके राजाधिराज महाराज भरतको देखकर बहुतसी भक्तिसे भरे हुये जयकुमारने तीर्थकरके समान जमीनको छूकर अष्टांग नमस्कार किया। महाराज भरतने भी अपना हाथ फैलाकर उसे आगे लिया, क्षेम कुशल पूछी, तथा अपने हाथके इशारेसे बताये हुये अपने समीपके ही आसनपर उसे बिठाया और अपनी प्रसन्न दृष्टिसे उसे सुशोभित किया। इसप्रकार संतुष्ट हुआ वह जयकुमार उससमय उस सभामें एक बडे ही विलक्षण तेजसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११६-१२३ ॥ तदनंतर वह चक्रवर्ती प्रसन्न मुख रूपी चंद्रमासे उत्पन्न हुई और सबको प्रसन्न करनेवालीं अपने

तदाऽन्येन तेजसा ॥१२३॥ प्रसन्नवदनेंदूद्यदाह्लादिवचनांशुभिः। वधूः किमिति नानीता तां द्रष्टुं वय मुत्सुकाः॥१२४॥वय किमिति नाहूतास्तद्विवाहोत्सवे नवे। अकपनैरिदयुक्त सनाभिभ्यो बहिष्कृताः॥१२५॥ नन्वह त्वत्पितृस्थाने मा पुरस्कृत्य कन्यका। त्वयाऽसौ परिणेतव्या त्व तद्विस्मृतवानसि॥१२६॥इत्यकृत्रिमसामोक्त्वा तर्पितश्चक्रवर्तिना। तदा विभावयन् भक्तिं स्ववक्त्र मणिकुट्टिमे ॥ १२७ ॥ नत्वाऽपराधवत्प्रमादीव प्रतिगृह्य प्रमोदया। जय· प्रांजलिरुत्थाय राजराजं व्यजिज्ञपत् ॥ १२८ ॥ काशीदेशेशिना देव देवस्याज्ञाविधायिना। विवाहविधिभेदेषु प्रागप्यस्ति स्वयंवरः ॥ १२९ ॥ इति सर्वैः समालोच्य सचिवैः शास्त्रवेदिभि.। कल्याणं तत्समारब्धं दैवेन कृतमन्यथा ॥ १३० ॥ शात तत्त्वत्प्रसादेन मन्मूलोच्छेद कारण। रणं शरणमायात इत्येप भवतः

बचनरूपी किरणोंसे सबको प्रसन्न करता हुआ कहने लगा कि क्यों जयकुमार ! तुम बहूको (अपनी स्त्रीको) क्यों नहीं लाये, हम तो उसके देखनेके लिये बडे उत्कंठित हो रहे थे, और यह तो कहो कि इस नये विवाहके उत्सवमें हमको क्यों नहीं बुलाया ?, महाराज अकंपनने अपने भाई बंधुओंसे हमको अलग कर दिया, क्या यह उचित किया है ॥१२४-१२५॥ भला मैं तो बिल्कुल तुम्हारे पिताके समान था, तुम्हें मुझे आगेकर उस कन्याके साथ विवाह करना चाहिये था, खेद है कि तुम इस बातको भूलगये ॥ १२६ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीने स्वाभाविक मधुर भाषणोंसे उसे संतुष्ट किया, तब अपनी भक्तिको प्रगट करता हुआ जयकुमार नमस्कारकर एक अपराधीके समान अपना मुंह मणियोंकी बनी हुई जमीनमें देखने लगा और फिर महाराज भरतसे दया संपादनकर हाथ जोडकर उठा तथा महाराज भरतसे नीचे लिखे अनुसार निवेदन करने लगा ॥ १२७-१२८॥ कि हे देव ! आपकी आज्ञाको पालन करनेवाले काशीनरेश महाराज अकंपनने शास्त्रोंके जाननेवाले सब विद्वान और सब मंत्रियोंसे पाहिले ही इस बातका विचार कर लिया था कि विवाहकी जितनी विधियां हैं उनमें एक स्वयंवरकी विधि भी अनादिकालसे चली आ रही है, यही सोचविचारकर यह उत्सव प्रारंभ किया था परंतु दैवने उसे उलट ही दिया ॥ १२९-१३० ॥ मुझे मूलसहित नाश करनेवाला वह युद्ध आपकी

क्रमौ ॥ १३१ ॥ सुरखेचरभूपालास्त्वत्पदांभोरुहालिनः । चक्रेणाक्रांतदिक्चक्र किंकरास्तत्र कोऽस्म्यहं ॥ १३२ ॥ देवेनानन्यसामान्यमाननां मम कुर्वता । ऋणीकृतः क्वाऽऽनृण्यं भवांतरशतेष्वपि ॥ १३३ ॥ नाथेंदुवंशसरोहौ पुरुणा विहितौ त्वया । वर्द्धितौ पालितौ स्थापितौ च यावद्धरातलम् ॥ १३४ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं श्रुत्वा तस्य निधीश्वरः । तुष्ट्या सपूज्य पूजाविद्वस्त्राभरणवाहनैः ॥ १३५ ॥ दत्वा सुलोचनायै च तद्योग्यं विससर्ज तं । महीं प्रियामिवालिंग्य तं प्रणम्य ययौ जयः ॥ १३६ ॥ संपत्सपन्नपुण्यानामनुबध्नाति संपद । पौरैर्वनीपकानीकैः स्तूयमानस्वसाहसः ॥ १३७ ॥ पुराद्गजं

कृपा वा प्रसादसे शांत हो गया इसलिये ही यह सेवक आपके चरणोंकी शरण आया है ॥ १३१ ॥ हे देव ! आपने अपने चक्रसे सब दिशाओंका समूह जीत लिया है अनेक देव, विद्याधर और राजा आपके चरणकमलके भ्रमर बनकर आपके सेवक होकर रह रहे हैं उन सबमें मैं भला किस गिनती में हूं ॥ १३२ ॥ हे देव ! आपने मुझे जो दूसरे साधारण लोगोंको न मिलसके ऐसा बडा मान देकर ऋणी (आभारी) बनाया है सो क्या मैं सैकडों भवोंमें भी इस ऋणसे छूट सकता हूं ? ॥ १३३ ॥ हे प्रभो ! ये नाथवंश और सोमवंश दोनों ही श्रीआदिनाथने तो प्रगट किये हैं और आपने इनको बढाया है, पालन किया है, तथा जबतक यह पृथ्वी रहेगी तबतकके लिये मजबूत कर दिया है ॥ १३४ ॥ आदर सत्कार किसतरह करना चाहिये इस बातको जाननेवाला वह चक्रवर्ती इसतरहके विनयसे भरे हुये वचन सुनकर बहुत संतुष्ट हुआ, वस्त्र, आभूषण और सवारी आदि देकर जयकुमारका आदर सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिये भी उसकी योग्यतानुसार वस्त्र आभूषण देकर उसे विदा किया। जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथ्वीका स्पर्श कर भरतको प्रणाम किया और फिर वह वहांसे रवाना हुआ। इससे सिद्ध है कि जिनका पुण्य संपत्तियोंसे भराहुआ है ऐसे मनुष्योंकी ही संपदायें दिनपरदिन बढती रहती हैं। नगर निवासी लोग तथा याचकोंके समूह जिसके साहसकी स्तुति कर रहे हैं, जिसके मनमें प्रियासे मिलने की इच्छा है ऐसा वह जयकुमार नगरसे ही हाथीपर सवार

समारुह्य निष्क्रम्येप्सुर्मनःप्रिया । सद्यो गंगा समासन्नः स्वमनोवेगचोदितः ॥ १३८ ॥ शुष्कभूरुहशाखाग्रे समुखीभूय भास्वतः । रुवंत ध्वाक्षमालोक्य कातायाश्चितयग्भय ॥ १३९ ॥ मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात्तादृशो धिक् सुखं रतेः । समाश्वास्य तदोपायै. सुखमास्ते सुलोचना ॥ १४० ॥ जलाद्भयं भवेत्किंचिदस्माकं शकुनादितः । इत्युदीर्येंगितज्ञेन शकुनज्ञेन सांत्वितः ॥ १४१ ॥ सुरदेवस्य तद्वाक्यं कृत्वा प्राणावलंबन । व्रजन्स सत्वरं मोहादतीर्थेऽचोदयद्गजं ॥ १४२ ॥ हेयोपेयविवेकः कः कामिना मुग्धचेतसा । उत्पुष्करं स्फुरद्दतं प्रोद्यत्तत्प्रतिमानकं ॥ १४३ ॥ तरंतं मकराकारं मध्येह्रदमिभाधिपं । देवी कालीति पूर्वोक्ता

होकर निकला और अपने मनके वेगकी प्रेरणासे बहुत शीघ्र गंगा नदीके किनारे आगया॥१३५-१३८॥ वहांपर सूके वृक्षकी डालीके ऊपरी भागपर सूर्यकी ओर मुह किये एक कौवा रो रहा था, उसे देखकर वह कुमार 'प्रियाको कुछ भय हुआ होगा' यही सोचकर अत्यंत धीरवीर होकर भी प्रेमके वशसे मूर्छित होगया, (गैतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं) कि हे राजन्! ऐसे प्रेमसे उत्पन्न हुये सुखको भी धिक्कार हो। इशारेसे ही वातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसीसमय अनेक उपायोंसे उसे सचेत किया, दिलासा दी और कहा कि "सुलोचना तो राजी खुशी है, इस शकुनका यही फल है कि हम लोगोंको जलसे कुछ भय होगा" इसप्रकार कहकर उस पुरोहितने जयकुमारको शांत किया ॥१३९-१४१॥ शकुनको जाननेवाले उस पुरोहितके वचनोंको प्रमाण मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और भूलसे उसने अघाटमें ही अपना हाथी चलाया ॥१४२॥ सो ठीक ही है क्योंकि विचार रहित कामी लोगोंको हेय और उपादेयकी बुद्धि कहां होती है। वह हाथी पानीमें चलने लगा उससमय उसकी सूंड ऊंची उठ रही थी, दांत दैदीप्यमान हो रहे थे, गंडस्थल पानीके ऊपर था, वह तैर रहा था, मगर सरीखा दिख रहा था और एक गढेके बीचमें पहुंच गया था। उसीसमय दूसरी सार्पिणीके साथ समागम करते समय जिस सर्पको पहिले जयकुमारकी सेनाके लोगोंने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धारणकर

सरय्वाः संगमेऽग्रहीत् ॥ १४४ ॥ नक्राकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महता बली । दृष्ट्वा गज निमज्जंतं प्रत्यागत्य तटे स्थिताः ॥ १४५ ॥ ससंभ्रमं सहापेतुः ऱ्हदं हेमांगदादयः । सुलोचनाऽपि तान्वीक्ष्य कृतपचनमस्कृतिः ॥१४६॥ मंत्रमूर्तीन् समाधाय हृदये भक्तितोऽर्हतः । उपसर्गापसर्गांतं त्यक्ताहारशरीरिका ॥ १४७ ॥ प्राविशद्बहुभिः सार्धं गगा गगेव देवता । गंगापातप्रतिष्ठानगगाकूटाधिदेवता ॥ १४८ ॥ विबुध्यासनकपेन कृतज्ञाऽऽगत्य सत्वर । तानानयत्तट सर्वान् संतर्ज्य खलकालिका ॥१४९॥ स्वयमागत्य के नात्र रक्षति कृतपुण्यकान् । गंगातटे विकृत्याशु भवन सर्वसंपदा ॥१५०॥

उस हाथीको पकड लिया, सो ठीक ही है क्योंकि अपने देशमें रहनेवाला क्षुद्र भी वडेवडोंसे वलवान हो जाता है। जयकुमारके हाथीको डूबते हुये देखकर हेमांगद आदि सव लोग भी गंगाके किनारे आकर खडे हो गये और घवडाकर वे उसी गडेमें घुसने लगे, सुलोचनाने भी उन सवको घुसते हुये देख कर अपने मनमें पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण किया, उसी मंत्रकी मूर्तिस्वरूप ऐसे अरहंत भगवानको वडी भक्तिसे हृदयमें स्थापन किया और उस उपसर्गके दूर होनेतक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥ १४३–१४७ ॥ इस तरह वह गंगा देवताके समान अनेक सखियोंके साथ साथ गंगामें घुस गई । इतनेमें ही जहां हिमवान् पर्वतसे गंगा नदी पडती है उस गंगाप्रपातकुंडमें गंगाकूटपर निवास करनेवाली गंगा देवीका आसन कंपायमान हुआ, इससे उसने सव समाचार जान लिया तथा किये हुये उपकारको माननेवाली वह वडी शीघ्रतासे आकर दुष्ट कालिका देवीको ललकारकर उन सब लोगोंको किनारेपर ले आई ॥ १४८–१४९ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें ऐसे कौन हैं जो पुण्यवान लोगोंकी स्वयं आकर रक्षा न करें । तदनंतर उस गंगा देवीने अपनी विक्रियासे बहुत शीघ्र सब संपदाओंसे सुशोभित एक राजभवन बनाया, तथा मणियोंके वने हुये सिंहासनपर सुलोचनाको विराजमानकर उसकी पूजा की और कहा कि " पहिले तेने मुझे नमस्कारमंत्र दिया था उसीके प्रसादसे मैं गंगाकी अधिष्ठात्री देवता हुई हूं और सौधर्म इंद्रकी नियोगिनी

मणिपीठे समास्थाप्य पूजयित्वा सुलोचनां । तत्र दत्तनमस्काराज्जाते गंगाभिदेवता ॥ १५१ ॥ तत्त्वमादादिदं सर्वमयत्ननामरेगिनः । तयेत्युक्ते जयोऽप्येतत्किमित्याह सुलोचना ॥ १५२ ॥ उपविंध्यादि विख्यातो विंध्यपुर्यामभूद्विभु । विंध्यकेतुः प्रिया तस्य प्रियंगुश्रीस्तयोः सुता ॥ १५३ ॥ विंध्यश्रीस्ता पिता तस्याः शिक्षितुं सकलान् गुणान् । मया सह मयि स्नेहान्महीशस्य समर्पयत् ॥ १५४ ॥ वसंततिलकोद्याने क्रीडंती नैकदा दिना । दष्टा तत्र मया दत्तनमस्कारपदान्यल ॥ १५५ ॥ भावयंती मृताऽत्रैव भूत्वायातस्नेहिनी मयि । इत्यत्रावेदसौ सोऽपि ज्ञात्वा सतुष्टचेतना ॥ १५६ ॥ तत्कालोचितमामोक्त्वा गंगादेवीं विसर्ज्य ता । सवलाकं प्रकुर्वंत स्वं चलत्केतुमालया ॥ १५७ ॥ स्वावासं संप्रविश्यैने सप्रिय. सह बंधुभिः । सस्नेहं

हुई हूं यह सब तेरे ही प्रसादसे हुआ है " गंगा देवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने सुलोचनासे पूछा कि ' यह क्या बात है ' ॥ १५०-१५२ ॥ तब सुलोचनाने कहा कि विंध्याचल पर्वतके समीप विंध्यपुरी नामकी एक नगरी है उसका स्वामी विंध्यकेतु नामका प्रसिद्ध राजा है, उसकी रानीका नाम प्रियंगुश्री है, उन दोनोंके विंध्यश्री नामकी कन्या थी, उसके पिताने मुझपर प्रेम होनेसे मेरे साथ सब गुण सीखनेकेलिये महाराज अकंपनको समर्पण की ॥१५३-१५४॥ वह किसी एक दिन वसंततिलक नामके वागमें खेल रही थी, वहीं पर उसे किसी सांपने काट लिया, उसीसमय मैंने उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाया, उसी मंत्रका चिंतवन करती हुई वह मर गई और मरकर यह देवी हुई है, मुझपर प्रेम होनेसे यह इससमय यहां आई है, इतना कहनेसे जयकुमारने भी सब समचार जान लिया और चित्तमें बहुत संतुष्ट होकर उसने उसीसमयके योग्य मधुर वचन कहकर उस गंगादेवीको विदा किया । तदनंतर उसने अपनी प्रिया सुलोचना और सब भाई बंधुओंके साथ साथ फहराती हुई ध्वजाओंसे जिसका आकाश ऐसा दिखाई दे रहा है मानों उसमें बगुलाओंकी पंक्तियां ही उड रही हों ऐसे अपने पडावमें जाकर प्रवेश किया । बडे प्रेमसे महाराज भरतके कहे हुये वचन सबको सुनाये, उनकी दी हुई भेट स्वयं सबको अलग अलग दी, प्रिय सुलोचनाको बहुत ही प्रसन्न किया,

राजराजोक्तमुक्त्वा तत्प्रहितं स्वयं ॥ १५८ ॥ पृथक् पृथक् प्रदायातिमुदमासाद्य वल्लभां । नीत्वा तत्रैव ता रात्रिं प्रातरुत्थाय भानुवत् ॥ १५९ ॥ विधातुमनुरक्तानां भुक्तिमुद्योतिताखिलः । अनुगंगं प्रयान् प्रेम्णा कामिन्याः कुरुवल्लभः ॥ १६० ॥ कमनीयैरतिप्रीतिमालापैरतनोत्तरा । जान्हवी दर्शितावर्तनाभिः कूलनितंबिका ॥ १६१ ॥ चटुलोज्वलपाठीनलोचना रमणोन्मुखी । तरंगबाहुभिर्गाढमालिंगनसमुत्सुका ॥ १६२ ॥ स्वभावसुभगा दृष्टहृदया स्वच्छतागुणात् । तटद्वयवनोत्फुल्लसुमनोमालभारिणी ॥१६३॥ अभिवृद्धरसा वेगं संधर्तुमसहा द्रुतं । पश्य काते प्रिय याति स्वानुरूपं पयोनिधिं ॥१६४॥ रतेः कामाद्विना नेच्छा न नीचेपूत्तमस्पृहा । संगमे तन्मयी जाता प्रेम नामेदृशं मतं । साफल्यमेतया नित्यमेति लावण्यमंबुधेः ॥ १६५ ॥ उत्पत्तिर्भूभृता

वह रात्रि वहीं बिताई, अपनेमें अनुरक्त हुये लोगोंके उदर पोषण (जीविका) करनेकेलिये जिसने सब दिशायें प्रकाशित कर दी हैं ऐसे सूर्यके समान वह सवेरे ही उठा और कुरुवंशियोंमें सबको प्रिय ऐसे उस जयकुमारने प्रिया सुलोचनाके प्रेमसे गंगाके किनारे किनारे ही प्रयाण किया ॥१५५–१६० ॥ तथा मनोहर बचनोंसे सुलोचनाको बहुत ही प्रसन्न किया, और फिर वह कहने लगा कि हे प्रिये देखो यह गंगानदी है, यह अपनी भंवररूपी नाभि दिखला रही है, दोनों, किनारे ही इसके नितंव हैं, चंचल और सफेद मछलियां ही नेत्र हैं, यह अभी क्रीडा करनेके सन्मुख होरही है, लहरें रूपी भुजाओंसे गाढ आलिंगन करनेके लिये उत्कंठित है, स्वभावसेही सुंदर है, स्वछता गुणसे इसका हृदय (भीतरी भाग) भी साफ दिखाई देरहा है, दोनों किनारेके बनोंमें फूलेहुये फूलोंकी माला पहनेहुये हैं, इसका रस (पानी वा प्रेम) बढ रहा है, अपने वेगको संभाल नहीं सकती इसलिये ही अपने योग्य ऐसे समुद्र रूपी अपने पतिके समीप बडी शीघ्रतासे जा रही है ॥ १६१-१६४ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके विना रतिकी इच्छा किसी दूसरी जगह नहीं होती है, उत्तम पुरुषोंकी इच्छायें कभी नीच पदार्थपर नहीं होती हैं, यह नदी समद्रमें मिलकर समुद्ररूप ही होगई है सो ठीक ही है क्योंकि सच्चा प्रेम इसीको कहते हैं, समुद्रका लावण्य [सुंदरता वा खारापन] इसीके समागमसे सदा सफल

पत्युर्धरण्या वर्धिता सती । वार्धिरेव पतिस्तस्मादेषाऽभूत्पापनाशिनी ॥ १६६ ॥ धवला धार्मिकैर्मान्या सतीनामुपमानतां । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तूयते देवतेति च ॥ १६७ ॥ गुणिनश्चेन्न के कान्या संस्तुवंति गुणप्रियाः । इति गंगागतैः श्रव्यैरन्यैश्चातिमनोहरैः ॥ १६८ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः कुरुजांगल । प्राप्य तद्वर्णनान्याजान्मोदयन्काशिपात्मजा ॥१६९॥ आसजानपदानीतफलपुष्पादिमिश्च सः । विकसन्नीलनीरेजसरोजातिविराजितैः ॥१७०॥ प्रत्येत्येव प्रपश्यंतीं सरोनेत्रैर्वधूवर । सद्व्रजवनाभोगां वापीकूपोरुनाभिका ॥ १७१ ॥ परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिम्त्रिकां । अलंकृतमहावीथिविलसद्वा- ड्वल्लरीं ॥ १७२ ॥ सौधोत्तुंगकुचा भास्वद्गोपुराननशोभिनीं । कुंकुमागुरुकर्पूरकर्दमाद्रितगात्रिका ॥ १७३ ॥ नानाप्रसवसंदब्धमालाधम्मिल्लधारि-

---

होता है ॥ १६५-१६६ ॥ इस सती (वहुत अच्छी) गंगाकी उत्पत्ति वा निकास पर्वतोंके पति हिमवान पर्वतसे है, पृथ्वीपर आकर यह बढी है और समुद्र ही इसका पति है इसलिये ही यह संसारमें पापोंको नाश करनेवाली कही जाती है ॥ १६७ ॥ यह सफेद है, धर्मात्मा लोग इसे पूज्य समझते हैं, सती लोगोंको इसकी उपमा दी जाती है, सब कवीश्वर देवता कहकर इसकी स्तुति करते हैं, सो ठीकही है क्योंकि गुणोंको प्रिय माननेवाले पुरुष यदि गुणवालोंकी स्तुति न करें तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा । इसप्रकार सुनने योग्य गंगाकी महिमा तथा और भी मनोहर कथायें कहकर वह रास्ता तय किया ॥ १६८ ॥ तदनंतर कितनेही मुकाम चलकर वह जयकुमार अपने कुरु जांगल देशमें जा पहुंचा, उस देशमें जो हस्तनागपुरी नगरी थी वह मानों उससमय अपनी शोभाके वहानेसे तथा आये हुये देशके लोग महाराजके लिये जो फल पुष्प आदि भेटमें लाये थे उनके वहानेसे काशीके महाराज अकंपनकी कन्या सुलोचनाको ही प्रसन्न कर रही थी, खिले हुये नीलकमल और सफेद कमलोंसे व- हुत ही सुशोभित ऐसे सरोवररूपी नेत्रोंसे कुछ आगे आकर ही क्या मानों जयकुमार और सुलोचना की जोडीको देख रही थी, ऊंचा सुंदर कोट ही उसका जघनभाग था, वावडी और कूए ही उसकी नाभि थी, चारों ओर खडाहुआ सुवर्णका ऊंचा परकोटा ही करधनी थी, वडी वडी सडकें जो सुशो-

र्णी । तोरणाबद्धरत्नादिमालालंकृतविग्रहा ॥ १७४ ॥ आह्वयंतीमिवोर्ध्वाधःपतत्केत्वग्रहस्तकैः । द्वारासंवृतिविश्रंभनेत्रा वासातरुत्सुका ॥ १७५ ॥ पुरोहितैः पुरधीभिर्मंत्रिभिर्वैश्यविश्रुतैः । दत्तशेषः पुरःस्थित्वा साशीर्वादैः समुत्सुकैः ॥ १७६ ॥ तूर्यमंगलनिर्घोषैः पुरंदर इवापरः । सुलोचनामिवान्यां स्वां प्रविश्य नगरीं जयः ॥ १७७ ॥ राजगेहं महानंदविधायि विविधर्धिभिः । आवसत्कातया सार्द्धं नगर्या हृदय मुदा ॥ १७८ ॥ तिथ्यादिपंचभिः शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवे । सर्वसंतोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसर ॥ १७९ ॥ विश्वमंगलसपर्या स्वोचितासनसुस्थिता । हेमांगदादिसान्निध्ये राजा जातमहो-

---

भित हो रही थीं वे ही उसकी सुंदर भुजारुपी लतायें (भुजायें) थीं, बडे बडे राजभवन ही ऊंचे कुच थे, दैदीप्यमान नगरका बडा दरवाजा ही सुंदर मुख था, कुंकुम अगरु कपूर आदिकी कीचड ही उसके शरीरका सुगंध लेप था, अनेक तरहके फूलों की गुंथी हुई मालायें ही उसके केश थे, अनेक तरहके रत्नोंकी मालाओंसे जो तोरण बांधे गये थे उनसे उसका शरीर बहुत ही सुशोभित हो रहा था, ऊपर नीचे उडती हुई ध्वजाओंके अग्रभाग रूपी हाथोंसे ऐसी जान पडती थी मानो बुला रही ही हो, खुले हुये दरवाजे ही उसके टिमिकार रहित नेत्र थे और घर घर होनेवाले उत्सवोंसे मानों वह उत्कंठित हो रही थी, इसप्रकार वह नगरी ठीक दूसरी सुलोचनाके समान जान पडती थी, ऐसी उस अपनी नगरीमें, महाराजके दर्शनके लिये उत्कंठित हुये और अनेक आशीर्वाद देते हुये ऐसे पुरोहित, स्त्रियां, मंत्री और प्रसिद्ध शेठोंने साम्हने आकर, खडे होकर जिसे शेषाक्षत दिये हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरई आदि मांगलिक बाजोंके शब्दोंके साथ साथ दूसरे इंद्रके समान प्रवेश किया और अनेक तरहकी भरी हुई संपदाओंसे बडे भारी आनंदको देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें अपनी प्रिया सुलोचनाके साथ साथ बडी प्रसन्नतासे निवास किया ॥ १६९–१७८ ॥ तदनंतर जिसका ऐश्वर्य बहुत बढ गया है ऐसे महाराज जयकुमारने, बडा भारी उत्सव कराया, सबको संतुष्ट किया, सबसे पाहिले भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर पंचमी आदि शुद्ध तिथि नक्षत्र वार

दयः ॥ १८० ॥ सुलोचनां महादेवीं पट्टबंधं व्यधान्मुदा । स्त्रीषु संचितपुण्यासु पत्युरेतावती रतिः ॥ १८१ ॥ हेमांगदं ससोदर्यमुपचर्य ससम्भ्रमं । पुरोभूय स्वयं सर्वैर्भोग्यैः प्राघूर्णकोचितैः ॥ १८२ ॥ नृत्यगीतसुखालापैर्वारणारोहणादिभिः । वनवापीसरःक्रीडाकंदुकादिविनोदनैः ॥ १८३ ॥ अहानि स्थापयित्वैवं सुखेन कतिचित्कृती । तदीप्सितगजाश्वादिगणिकाभूषणादिकं ॥ १८४ ॥ प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितं । चतुर्विधेन कोशेन तत्पुरीं तमजीगमत् ॥ १८५ ॥ सुखप्रयाणैः संप्राप्य दृष्ट्वा भूपं ससुप्रभं । प्रगम्याह्लादयन्नस्थान् वधूवरवार्तया ॥ १८६ ॥ सुगं काले गल-

---

योग आदिसे देखे हुये शुद्ध मुहूर्तमें सवतरहकी मंगल संपदाओंके साथ साथ हेमांगद आदि सुलोचनाके भाइयोंके साम्हने ही वडी प्रसन्नतासे अपने योग्य आसनपर विराजमान महादेवी सुलोचनाके पट्टवंध वांधा अर्थात् उसे पट्टरानी बनाया, सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पुण्य संचय किया है ऐसी स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥ १७९–१८१ ॥ उसके वाद चतुर जयकुमारने स्वयं साम्हने होकर सवतरहके भोगोपभोगोंकी चीजोंसे, नृत्य गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी घोडे आदिकी सवारियोंसे, वन, वावडी सरोवर आदिकी क्रीडाओंसे गेंदके खेल आदि प्रसन्न करनेवाली चीजोंसे तथा और भी आये हुये पाहुनोंके योग्य खेल तमाशोंसे आनंदके साथ होनेवाली शीघ्रतासे हेमांगद और उसके सव छोटे भाइयोंकी सेवा की, थोडे दिनतक उन्हें वडे सुखसे रक्खा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी घोडे वस्त्र, गणिका (दासी) आभूषण आदि देकर अपनी योग्यतानुसार उनके सव परिवारको संतुष्ट किया तथा रत्न, सोना, चांदी और व्यवहारमें चलनेवाले रुपये पैसे आदि चारों तरहका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर वनारसको विदा कर दिया ॥ १८२–१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही मुकाम चलकर वे हेमांगद आदि सव भाई वनारस पहुंचे, माता सुप्रभाके साथ महाराज अकंपनको देखते ही प्रणाम किया, जयकुमार सुलोचनाकी कुछ वातचीतोंसे उन्हें प्रसन्न किया और इसतरह वे सव रहने लगे ॥ १८६ ॥ इसतरह उनका वहुतसा समय निकल गया

स्त्वेवमकंपनमहीपतिः । तदा संचिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥ १८७ ॥ अहो मया प्रमत्तेन विषयांधेन नेक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरं ॥ १८८ ॥ आदावशुच्युपादानमशुच्यवयवात्मकं । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुश्चेष्टितालयं ॥ १८९ ॥ निरंतरस्रवोत्कोथनवद्वारशरीरकं । कृमिपुंजचिताभस्मविष्ठानिष्ठं विनश्वरं ॥ १९० ॥ तदध्युष्य जडो जंतुस्तप्तः पंचेंद्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः कुलिंगीव भूयोऽयात्कुत्सितां गतिं ॥ १९१ ॥ साऽऽशाखनिः किलात्रैव यत्र विश्वमणूपमं । तां पुपूर्षुः किलायाहं धनैः सत्यातिबधनैः ॥ १९२ ॥ यदादाय भवेज्जन्मी यन्मुक्त्वा मुक्तिभाग्भवेत् । तद्याथात्म्यमिति ज्ञात्वा कथं पुष्णाति धीधनः ॥ १९३ ॥ हा हतोऽसि चिरं जंतो मोहेनाद्यापि ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागः क्वातिदुर्ल-

---

तब एक दिन महाराज अकंपन काम भोगोंसे विरक्त होकर सोचने लगे ॥ १८७ ॥ कि अरे ! विषयोंमें अंधे हुये और विचाररहित मैंने शरीर संसार और भोगोंकी असारता इतने दिन तक नहीं देखी? यह बडे ही दुखकी बात है ॥ १८८ ॥ पहिले तो यह शरीर जिनसे बना है ऐसे माता पिताके शुक्र शोणित ही अपवित्र हैं, फिर इसके अवयव सब अपवित्र हैं, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापस्वरूप है, तथा दुःख और बुरी बुरी क्रियाओंका घर है ॥ १८९ ॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र ही बहा करता है, अंतमें या तो इसमें कीडे पडजायंगे या चितामें जल जायगा अथवा गीदड आदि खाकर विष्ठा कर देंगे, इसके सिवाय यह शरीर क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है ॥ १९० ॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह अज्ञानी जंतु संसारके विषयरुप ईंधनोंसे बढी हुई पांचों इंद्रियोंकी अग्नियोंसे तपाया जाता है और फिर भी कुलिंगी जीवके समान नीच गतियोंमें पहुंचता है ॥ १९१ ॥ जिसमें यह सब संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशा रूपी गढा इसी शरीरमें है, इसी आशाको आज मैं थोडेसे नियमित धनसे पूरा करना चाहता हूं ॥ १९२ ॥ जिस शरीरको ग्रहणकर यह जीव जन्म मरण धारण करता है और जिसे छोडकर यह मुक्त हो जाता है। इसतरह शरीरके यथार्थ स्वरूपको जानकर भी बुद्धिमान लोग न जाने कैसे इसका भरण पोषण करते हैं ॥ १९३ ॥ हां ! हे

भः ॥ १९४ ॥ दुःखी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दुःख्येव केवलं । धन्यधन्योऽधनो धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥ १९५ ॥ एवं विधैस्त्रिभिर्जंतुरीप्सितानीप्सितैश्चिर । चतुर्थं भंगमप्राप्य बभ्रमीति भवार्णवे ॥१९६॥ या वष्टययमसौ वष्टि पर वष्टि स चापरा । साऽपि वष्टयपर कष्टमनिष्टिष्टपरंपरा॥१९७॥ यदिष्टं तदनिष्ट स्याद्यदनिष्टं तदिष्यते । इष्टेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥ १९८ ॥ स सा सा तत्तदेवैषा सा स स्यात्तोऽपि तत्पुनः । तत्स स्यात्तत्तदेवात्र चक्रके वक्रसंक्रमः ॥ १९९ ॥ अतमस्य विधास्यामि चिंतयित्वा जिनोदित । सतत जन्मकातारभ्रातो भीतोऽहमंतकात् ॥२००॥

जीव ! इस मोहनीय कर्मसे तू वहुत दिनसे ठगा गया है क्योंकि इस शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान आजतक तुझे नहीं हुआ है, अत्यंत दुर्लभ ऐसा इस शरीरका त्याग भला कहां मिल सकता है? ॥१९४॥ इस संसारमें जो दुखी हैं वे सुखी हो जाते हैं, जो सुखी हैं वे दुखी हो जाते हैं, वहुतसे दुखी केवल दुखी ही रहते हैं, इसीतरह धनी निर्धन हो जाते हैं, निर्धन धनी हो जाते हैं और निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते हैं। इसप्रकार इस जीवको " जो धनी हैं वे धनी ही रहें, जो सुखी हैं वे सदा सुखी ही रहें " यह चौथा भंग तो कभी प्राप्त नहीं होता, केवल ऊपर लिखे हुये इष्ट अनिष्ट ऐसे तीनों तरहके भंगोंसे यह सदा संसारमें भ्रमण किया करता है ॥ १९५–१९६ ॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है, वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह पुरुष किसी अन्य स्त्रीको चाहता है और वह स्त्री भी किसी दूसरे पुरुषको चाहती है। इसतरह यह इष्ट और आनिष्टकी परंपरा वडी ही दुःखदायक है ॥ १९७ ॥ आज जो इष्ट है कल वही आनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इसतरह इससंसारमें इष्ट और आनिष्टकी स्थिति कहीं नियमरूपसे एक जगह नहीं रहती ॥ १९८ ॥ आज जो पुरुष है वह आगिले जन्ममें स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाता है, नपुंसक स्त्री हो जाती है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी फिर नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इसप्रकारके

भोगोऽयं भोगिनो भोगो भोगिनो भोगिनामकृत् । तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेष्विति ध्रुवं ॥ २०१ ॥ भुज्यते यः स भोगः स्याद्भुक्तिर्वा भोग इष्यते । तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद्भोगेषु का रतिः ॥ २०२ ॥ भोगास्तृष्णाग्निसंवृद्ध्यै दीपनायौषधोपमाः । एभिः प्रवृद्धतृष्णाग्नेः शांत्यै चिंत्यमिहापरं ॥ २०३ ॥ इत्यतो नु सुधीः सद्यो वाततृष्णाविषो भृशं । हेमागदं समाहूय पूज्यपूजापुरस्सरं ॥ २०४ ॥ अभिषिच्य चला मत्वा बध्वा पट्टेन वाऽचल । लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैरभ्यासं वृषभेशितुः ॥२०५॥ प्रव्रज्य बहुभिः सार्धं मूर्धन्यैः स ससुप्रभः । क्रमाच्छ्रेणीं समारुह्य कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥

इस चक्रमें बदलने की गति बडी ही टेडी है ॥ १९९ ॥ इसलिये श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये बचनोंका चिंतवनकर मैं अवश्य इस संसारका नाश करूंगा, क्योंकि निरंतर जन्म मरणरूपी बनके परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूं ॥ २०० ॥ भोग करनेवालोंके ये भोग ठीक सर्पके फणाके समान भयंकर हैं और इस जीवको भोगी अर्थात् सर्प ऐसा नाम देनेवाले हैं तथा वे भोग ऐसे होकर भी हमारे नहीं है निश्चयसे विषयोंमें रहनेवाले हैं ॥ २०१ ॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग करनेको भोग कहते हैं, वे दोनों तरहके भोग नरकमें भी मौजूद हैं फिर भला इन भोगोंमें क्यों प्रेम करना चाहिये ॥ २०२ ॥ जिसप्रकार औषधसे पेटकी अग्नि बढ जाती है उसीप्रकार इन भोगोंसे भी तृष्णारूपी अग्नि बढती है, इन भोगोंसे जिन लोगोंकी तृष्णारूपी अग्नि बढ गई है ऐसे लोगोंको उस अग्निको शांत करनेके लिये कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिये ॥२०३॥ जिसने तृष्णारूपी विष उगल दिया है ऐसे उस बुद्धिमान अकंपनने इसप्रकार सोचविचारकर बहुत शीघ्र हेमांगदको बुलाया, सबसे पहिले पूज्य परमेष्ठियोंकी पूजा की और फिर हेमांगदका राज्याभिषेककर लक्ष्मीको चंचल समझकर उसे पट्टसे बांध दिया, इसतरह लक्ष्मीको अचल बनाकर हेमांगदके सुपुर्द की और स्वयं अनेक राजाओं तथा सुप्रभा रानीके साथ साथ भगवान वृषभदेवके समीप जाकर दीक्षा धारण की, उन्होंने अनुक्रमसे श्रेणी चढीं और केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥ २०४–२०६॥

अथ जन्मांतरायातमहास्नेहातिनिर्भरः । सुलोचनाननानंदनेंदुबिंबात्स्रुतां सुधां ॥ २०७ ॥ उन्मीलन्नीलनीरेजराजिभिर्लोचनैः पिबन् । पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां तद्वीर्गीतरसायन ॥ २०८ ॥ हरन् करिकराकारकरालिंगनसंगतः । तद्गात्रकूपिकातःस्थं रसं स्पर्शनवेदिनं ॥ २०९ ॥ तद्बिंबाधरसंभवामृतास्वादनोत्सुकः । तद्वक्त्रवारिजामोदान्मोदमानोऽनिशं भृश ॥ २१० ॥ अत्रैव न पुनर्नेति मम वामासमागमः । स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥ २११ ॥ प्रमाणकालभावेभ्यो यद्रतेः समता तयोः । ततः संभोगशृंगारावारापारातगौ हि तौ ॥ ११२ ॥ अतिपरिणतरत्या लोपितालेपनादिः

अथानंतर–वह जयकुमार पहिले जन्मसे आये हुये महास्नेहसे खूब भर रहा था, खुले हुये नील कमलोंके समान सुशोभित नेत्रोंसे सुलोचनाके मुखरूपी आनंद देनेवाले चंद्रमाके प्रतिबिंबसे निकले हुये अमृतको पीता था, उस सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने दोनों कान रूपी पात्रोंसे भीतर भरता था, हाथीकी सूंडके समान हाथोंके आलिंगनसे स्पर्शन इंद्रियसे जानने योग्य ऐसे उसके शरीर रूपी कूएके भीतर रहनेवाले रसको हरण करता था, बिंबाफलके समान उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतके स्वाद लेनेके लिये वह सदा उत्कंठित बना रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगंधिसे सदा खूब आनंदित रहता था, " मुझे स्त्रीका समागम इसी जन्ममें है आगे नहीं होगा " यही समझकर वह सुलोचनाके द्वारा अपनी चक्षु आदि इंद्रियोंको खूब तृप्त करता था॥२०७-२११ ॥ अवयवोंका प्रमाण, उमर और भाव इन सबसे उन दोनोंका प्रेम समान था इसलिये ही वे दोनों संभोगसे उत्पन्न हुये शृंगार रूपी समुद्रके पार पहुंच गये थे ॥ २१२ ॥ जिसने खूब बढे हुये प्रेमसे सुगंधि द्रव्योंका लेप माला आदि सब छोड दिये हैं ऐसा वह जयकुमार उस सुलोचनाके सब इंद्रियोंका विषयभूत होता था अर्थात् उसकी सब इंद्रियोंको तृप्त करता था, तथा वह सुलोचनाभी उस जयकुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी। इसतरह ये दोनों ही समान प्रेम करना ही जिनमें सारभाग है ऐसे सुखोंका अनुभव करते थे ॥२१३॥ अलग अलग उत्पन्न हुये परिणामोंसे

स सकलकरणानां गोचरीभूय तस्याः । हितपरविषयाणा साऽपि तस्यैवमेतौ समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥ ११३ ॥ मनसि मनसिजस्यावापि सौख्यं न ताभ्यां पृथगनुगतभावैः संगताभ्यां नितातं । करणमुखसुखैस्तैस्तन्मनः प्रीतिमापत् भवति परमुखं च कापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥ २१४ ॥ शिशिरसुरभिमंदोच्छ्वासजैः स्वैः समीरैर्मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः । ललिततनुलताभ्या मार्दवैकाकराभ्यामखिलमनयता तौ सौख्यमात्मेंद्रियाणि ॥ २१५ हृतसरसिजसारैरिष्टचेटीयमानैः सततरतनिमित्तैर्जालमार्गं प्रवृत्तैः । मृदुशिशिरतरैः संप्रापतुस्तौ समीरैः सुरतविरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यं ॥ २१६ ॥ तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्याश्चैन तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् । प्रेमापदत्र निजभावमचिंत्यमंत्यसातोदयश्च भवभूतिफलं तदेव ॥ २१७ ॥

अथवा पदार्थोंसे खूब मिले हुये उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवके सुखका अनुभव नहीं किया था किंतु इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये उन उन सुखोंसे उन दोनोंने एक दूसरेका मन संतुष्ट किया था, सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं किसीको तृप्त कर सकता है ? ॥ २१४ ॥ अपनी उच्छ्वाससे (उसाससे) उत्पन्न हुई शीतल मंद सुगंध वायुसे कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद लेनेयोग्य ऐसे ओठ आदि अंगोंसे, तथा कोमलताकी एक खानके समान सुंदर शरीररूपी लतासे वे दोनों ही अपनी इंद्रियोंको पूर्ण सुख पहुंचाते थे ॥ २१५ ॥ जिसने कमलका सारभाग (परागरज) हरण कर लिया है, जो प्यारे दासके समान काम करता है, सदा रतिसुखका साधन होता है, झरोखेके रास्तेसे आता है और जो अत्यंत मंद तथा शीतल है ऐसे वायुसे वे दोनों ही संभोग सुखके अंतमें उत्पन्न हुये पसीनेके सूखनेके सुखको अनुभव करते थे ॥ २१६ ॥ जयकुमारके मनकी वृत्ति सुलोचनाके अनुसार होती थी तथा सुलोचनाके मनकी वृत्ति जयकुमारके मनके अनुसार होती थी, उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके आधीन होना ही उनके प्रेमको तृप्त करनेका साधन था । जयकुमार और सुलोचनामें उत्पन्न हुआ प्रेम जो चिंतवनमें न आ सके ऐसे दंपतिके पूर्ण भावको पहुंच गया था, उनके साता वेदनीयका उदय अंतिम था अर्थात् सबसे अधिक था और

कामोऽगमत्सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्यभावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः । को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥ २१८ ॥
एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च नैवेयतुश्चिररतेऽप्यभिलापकोटिं । धिक्कष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय तद्वीतविश्वविषयाय बुधा यतध्वं ॥ २१९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचनासुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्व ।

यही उनका संसारमें जन्म लेनेका फल था ॥ २१७ ॥ कामदेव वडा ही चतुर था इसलिये ही वह संभोग करते समय जयकुमारका शिष्य वनगया था और रति सुलोचनाकी चेली वनगई थी, सो ठीक ही है क्योंकि यदि यह मनुष्य व्यर्थ अभिमान करनेवाला न हो तो फिर ऐसा कौन है जो जिससे अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धि हो सकती है और जो गुणोंमें भी वडा है ऐसे पुरुषके साथ अभिमान करे ? भावार्थ–रति कामदेव जयकुमार सुलोचनासे कुछ सीखनेके लिये ही अभिमान छोडकर उनके शिष्य वनगये थे ॥ २१८ ॥ इसप्रकार उन दोनोंने ही शरीरसे उत्पन्न हुये सुखोंका अनुभव किया था, वहुत दिनतक सुखोंका अनुभव करते हुये भी उन दोनोंकी इच्छा पूरी नहीं हुई थी, इसलिये दुखके साथ कहना पडता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुये सुखको भी वार वार धिक्कार हो, अतएव हे पंडितो ! जिसमें संसारके सव विषय नष्ट होगये हैं ऐसे मोक्षसुखके लिये प्रयत्न करो ॥ २१९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यविरचित महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें जयकुमार सुलोचनाके सुखोंके अनुभवका वर्णन करनेवाला यह पैंतालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

जयः प्रासादमध्यास्य दत्तावलगनो मुदा । यदृच्छयाऽन्यदाऽऽलोक्य गच्छंतौ खगदंपती ॥ १ ॥ हा मे प्रभावतीत्येतदालपन्नतिविह्वलः । रतिमेवाहितः सद्यः सहायीकृत्य मूर्च्छया ॥ २ ॥ तथा पारावतद्वंद्वं तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥ ३ ॥ दक्षचेटीजनाक्षिप्रकृतशीतक्रिया क्रमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतदीधितेः ॥ ४ ॥ हिमचंदनसंमिश्रवारिभिर्मंदमारुतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मंदमंदं तनुत्रपः ॥ ५ ॥ यूयं सर्वेऽपि सायतनाभोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः ॥ ६ ॥ अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्खलनदुःखितां ।

अथ छ्यालीसवां पर्व ।

अथानंतर--किसी एक दिन जयकुमार अपने राजभवनके ऊपर आनंदसे गद्दीपर बैठा था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुये दंपती विद्याधर अर्थात् स्त्रीपुरुष ऐसे दो विद्याधर देखे उन्हें देखकर "हा मेरी प्रभावती" इसतरह कहता हुआ वह बहुत ही व्याकुल हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर बहुत शीघ्र प्रेममें डूब गया भावार्थ—जातिस्मरण (पूर्व भवकी याद) होनेसे वह मूर्छित होगया ॥१-२॥ इसीतरह वह सुलोचना भी उसी जगह कबूतरके जोडेको देखकर "हा मेरा रतिवर" ऐसा कहकर मूर्छित हो गई ॥ ३ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे कमोदनी खिल जाती है उसीप्रकार चतुर दासी जनोंने बहुत शीघ्र जो शीतोपचार क्रिया की थी उससे वह सुलोचना भी सचेत हो गई थी ॥ ४ ॥ कपूर चंदन मिले हुये जलसे तथा मंदमंद वायुसे कुछ लज्जित होता हुआ और सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी सावधान हुआ ॥ ५ ॥ यद्यपि वह जयकुमार चतुर था और सब कुछ जानता था तथापि पूछने लगा कि तुम सब लोगोंका मुंह शामके कमलके समान कांति रहित क्यों हो रहा है ? ॥ ६ ॥ जयकुमारके मुंहसे जो प्रभावती शब्द निकलगया था उसे सुनकर दुखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक तरहके विनय और उपायोंसे समझाया, विश्वास दिलाया, तथा

सुलोचना समाश्वास्य स्मरन् जन्मांतरप्रिया ॥ ७ ॥ आकारसंवृतिं कृत्वा तामेवालपयन् स्थितः । वचनाचचवः सर्वे प्रायः कांतासु कामिनः ॥ ८ ॥ तयोर्जन्मांतरात्मीयवृत्तात्तस्मृत्यनतर । स्वर्गादनुगतो बोधस्तृतीयो व्यक्तिमीयिवान् ॥ ९ ॥ तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या श्रीमती सशिवंकरा । पराश्च मत्सरो-द्रेकादित्यन्योन्य तदाऽब्रुवन् ॥ १० ॥ स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्या तामद्य कुर्वती । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः प्रत्ययीकृत्य मायया ॥ ११ ॥ पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंवृतिः । संततांतःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥ १२ ॥ कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरेत्युक्त्वाऽयान्मूर्च्छां कुलदूषिणी ॥ १३ ॥ इयं शीलवतीत्येव निस्त्वनन्वर्णयत्यय । प्रायो रक्तस्य दोषोऽपि गुणवत्प्रतिभासते ॥ १४ ॥ प्रभावतीति समुद्य कितवः कोपि-

---

सुलोचनाको दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुंहके उस आकारको समेटकर उसी सुलोचनाके साथ बात चीत करने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः सब कामी पुरुष स्त्रियोंके ठगनेमें चतुर होते ही हैं ॥७-८॥ इन दोनोंको जब जन्मांतरके सब समाचार स्मरण हो आये उसके बाद ही उनके पहिले स्वर्गमें जो अवधिज्ञान था वह भी प्रगट होगया ॥ ९ ॥ इन सब बातोंको देखकर श्रीमती शिवंकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौत थीं वे उससमय ईर्षाके बढ आनेसे परस्पर एक दूसरेसे कहने लगीं ॥ १० ॥ कि " स्त्रियोंमें वडी ही मायाचारी (छल कपट) होती है यह जो कहावत है सो बिल्कुल ठीक है, देखो वही मायाचारी आज सुलोचनाने की है, पतिको मूर्छित देखकर मायाचारीसे स्वयं मूर्छित होगई है और इसतरह पतिको विश्वास दिलाकर बनावटी मूर्च्छासे इसने अपने मनका प्रगट हुआ भाव साफ ढक लिया है, सदासे अंतःकरणमें बैठे हुये गाढ प्रेमके जोशमें आकर पहिले जो कन्याव्रतका (शीलव्रतका) भंग किया था उसीसे भूलकर पहिले पतिका नाम लेनेसे यह सदोष है तथा इसलिये ही कुलको दोष लगानेवाली यह पहिले पतिको रतिवर नामसे पुकारकर बनावटी मूर्च्छासे मूर्छित हो गई है ॥ ११-१३ ॥ यह जयकुमार इसे "यह बडी शीलवती है" इसतरह कहकर वर्णन करता है, सो ठीक ही है क्योंकि अनुराग करनेवाले पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके

नीमिमा । प्रसिसादयिषुः शोकं तत्प्रीत्या विदधाति नः ॥ १५ ॥ एनान् सर्वांस्तदालापान् जयोऽवधिविलोचनः । विदित्वा सस्मित पश्यन् प्रियायाः स्मेरमानन ॥ १६ ॥ काते जन्मातरावात विश्व वृत्तातमावयोः । व्यावर्ण्येमा सभा तुष्टिकौतुकापहृता कुरु ॥ १७ ॥ इति प्रचोदयत्तसाऽपि प्रिया तद्भाव· वेदिनी । कथा कथयितु कृत्स्ना प्राक्रंस्त कलभाषिणी ॥ १८ ॥ इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि पुष्कलावती विषयमध्यस्था नगरी पुडरीकिणी ॥१९॥ तत्राभवत्प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फल धर्मार्थकामाना स्वीकुर्वन् कृतिना वरः ॥ २० ॥ कुबेरमित्रस्तस्यासीद्राजश्रेष्ठी प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशत् धनवत्याद्या भार्यास्तस्य मनःप्रियाः ॥ २१ ॥ गृहे तस्य समुत्तुगे नानाभवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान्पारावतोत्तमः ॥ २२ ॥ कदाचिद्रा-

---

समान ही जान पडते हैं ॥ १४ ॥ प्रभावतीका नाम लेकर मूर्छित हुआ और क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोंको शोक उत्पन्न कर रहा है" ॥ १५ ॥ अवधिज्ञान ही जिसका नेत्र है ऐसा वह जयकुमार अवधिज्ञानसे इन सब कही हुई बातोंको जानकर और कुछ हँसीके साथ हँसते हुये सुलोचनाके मुखको देखता हुआ कहने लगा कि "हे प्रिये तू हम दोनोंके पहिले जन्मके सब समाचारोंको कहकर इस सभाको संतुष्ट और संदेहरहित कर" यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली तथा मधुर भाषण करनेवाली उस सुलोचनाने भी पहिले जन्मकी सब कथा कहनी प्रारंभ की ॥ १६-१८ ॥ इस जंबूद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें एक पुष्कलावती देश है और उसीमें एक पुंडरीकिणी नगरी है ॥ १९ ॥ उसी नगरीमें प्रजाका पालन करता हुआ प्रजापाल नामका राजा था जो कि धर्म अर्थ काम इन तीनोंके फल संपादनकर सब पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ था ॥ २० ॥ उसी राजाका कुबेरमित्र नामका एक प्रतिष्ठित राज शेठ था और उसके मनको अच्छी लगनेवाली धनवती आदि उसके बत्तीस स्त्रियां थीं ॥ २१ ॥ अनेक घरोंसे घिरे हुये उस शेठके बहुत ऊंचे मकानमें एक रतिवर नामका उत्तम और बुद्धिमान कबूतर रहता था ॥ २२ ॥ कभी तो राजभवनसे आये हुये शेठ कुबेरमित्र बडे प्रेमसे हँसहँसकर बात-

जगेहागतेन वैश्येशिना स्वयं । स्नेहेन सस्मितालपैः स्वहस्तेन समुद्धृतः ॥ २३ ॥ कदाचित्कामिनीकांतकराब्जार्पितशर्करा- । संमिश्रितान् सुशालीयतंडुलानभिभक्षयन् ॥ २४ ॥ कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टहेतुदृष्टांतपूर्वकं । अहिंसालक्षणं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितं ॥ २५ ॥ कदाचिद्भवनायातयतिपादसरोजज । रेणुजालं निराकुर्वन् पक्षाभ्यां प्रत्युपागतः ॥ २६ ॥ स कदाचिद्गतिः का स्यात्पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुंडेन निर्दिशन् ॥ २७ ॥ अधोभागमथोर्ध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यात्तिर्यंचोऽपि विवेकिनः ॥ २८ ॥ क्रीडन्नानाप्रकारेण कातया रतिषेणया । सार्धमेवं चिरं तत्र सुख कालमजीगमत् ॥ २९ ॥ असौ रतिवरः कांतस्त्वमहं सा तत्र प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जंतुः किं किं न जायते ॥ ३० ॥

चीत करते हुये उसे स्वयं अपने हाथपर उठाकर रखते थे, कभी वह स्त्रियोंके मनोहर करकमलोंसे दिये हुये मिश्री मिले हुये शालीय चांवलोंको खाता था, कभी शेठ कुबेरमित्र हेतु दृष्टांत पूर्वक प्राणियोंके हित करनेवाले अहिंसाधर्मका उपदेश देते थे उसका चिंतवन करता था, कभी अपने घरपर आहार लेनेके लिये मुनिराज आते थे उनके सपीप जाकर उनके चरणकमलोंपर लगी हुई धूलको अपने पंखोंसे हटाता था, जब कभी कोई कौतुकसे उसे पूछता कि पापी लोगोंकी क्या गति होती है, और पुण्यवान लोगोंकी कैसी गति होती है ! तो वह जिसप्रकार शास्त्रोंमें पारंगत हुआ (अच्छी तरह आगमको जाननेवाला) कोई मौनी इशारेसे बतलाता है उसीप्रकार वह भी अपनी चोंचसे नीचेका भाग दिखलाकर पापी लोगोंकी गति कहता था और आकाशकी ओर ऊपरका भाग (स्वर्ग) दिखलाकर पुण्यवान लोगोंकी गति कहता था, सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यंच भी विवेकी हो जाते हैं ॥ २३-२८ ॥ उस कबूतरकी रतिषेणा नामकी एक कबूतरी थी, उसीके साथ बहुत दिनतक अनेकतरहसे क्रीडा करता हुआ वह वहीं सुखसे काल बिताने लगा ॥ २९ ॥ सुलोचना कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूं, देखो इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव भला कौन कौन नहीं होता है अर्थात् किस किस

सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकांताख्यः कुबेरो वा परः सुधीः ॥ ३१ ॥ द्वितीय इव तस्यासीत्प्राणः सोऽनुचराग्रणीः । प्रियसेना ह्यो बाल्यादारभ्य कृतसंगतिः ॥ ३२ ॥ आजन्मनः कुमारस्य कामधेनुरनुत्तमा । मनोभिलषितं दुग्धे समस्तसुखसाधनं ॥ ३३ ॥ क्षेत्रं निष्पादयत्येक गधशालिमनारतं । इक्षूनमृतदेशीयानन्यत्स्थूलास्तनुत्वचः ॥ ३४ ॥ स्वय मनोहर वीणा दन्ध्वनीति निरंतर । तत्स्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापह ॥ ३५ ॥ सुगंधिसलिलं गागं गंभीरं मधुर ध्वनन् । अमोधरो नभोमागादासन्नादवमुचति ॥ ३६ ॥ कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूपणानि प्रयच्छति । अन्नपानं ददात्यन्यद्द्वयं कल्पमहीरुहः ॥ ३७ ॥ एवमन्यच्च भोगागमशेषं देवनिर्मित । शश्वन्निर्विशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिक वयः ॥ ३८ ॥ तद्वीक्ष्य

गतिमें उत्पन्न नहीं होता है?॥ ३०॥ उस कुबेरमित्र शेठके धनवती स्त्रीसे पुण्यवान, बुद्धिमान् और दूसरे कुबेरके समान एक कुबेरकांत नामका पुत्र हुआ था ॥ ३१ ॥ उस कुबेरकांतके दूसरे प्राणके समान बालकपनसे ही साथ रहनेवाला एक प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था ॥ ३२ ॥ एक अत्यंत उत्कृष्ट कामधेनु कुमार कुबेरकांतके जन्मसे ही लेकर उसकी इच्छानुसार सब सुखके साधनोंको पूरा करती थी ॥ ३३ ॥ वह कामधेनु प्रतिदिन एक खेत तो सुगंधित शालि चांवलोंका उत्पन्न करती थी और एक खेत जिनका छिलका पतला है ऐसे पतले छिलकेवाले अमृतके समान बडे बडे ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥ ३४ ॥ तथा वही कामधेनु प्रतिदिन उस कुमारके सामने मनोहर वीणा बजाती थी, जब वह कुमार स्नान करता था तब बादल (मेघकुमार देव) उसके समीप आकर मधुर और गंभीर शब्द करते हुये आकाशसे सब तरहके रोग पसीना और मलको दूर करनेवाला सुगंधित गंगाका जल बरसाते थे ॥ ३५–३६ ॥ उस कुमारके लिये एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था, और एक पीनेकी चीजें देता था ॥ ३७ ॥ इनके सिवाय और भी देवोंके दिये हुये सब तरके भोगोपभोगोंका निरंतर उपभोग करते हुये उस कुमारकी पहिली कुमार अवस्था पूर्ण होगई थी ॥ ३८ ॥ जब उसकी जवानी आई तब उसे देखकर माता पिताओंको चिंता हुई कि यह

पितरावेष किमेकामभिलाषुकः । किं बन्हीरिति चिंतेन सदिहानौ समाकुलौ ॥ ३९ ॥ प्रियसेनं समाहूय तत्प्रश्नात्तन्मनोगतं । अवादीधरतां, मैत्री सैव यात्वेकचित्तता ॥ ४० ॥ ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या सहाभवत् । स्वसा कुबेरमित्रस्य तन्नाभैवैतयोः सुता ॥ ४१ ॥ प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेटिका रतिकारिणी । कन्यकास्ता विधायादिं द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥ ४२ ॥ श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन प्रियदत्तां गुणान्विता ॥ ४३ ॥ अवधार्यास्य पुत्रस्य पचताराबलान्विते । दिने महाविभूत्यैना कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥ ४४ ॥ तन्निमित्तपरीक्षायामवलोकितुमा-

---

एक कन्याके साथ विवाह करना चाहता है या बहुतोंके साथ, उसी चिंतासे उनके चित्तमें कुछ संदेह हो रहा था और वे कुछ व्याकुल हो रहे थे, तब कुबेरकांतके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उससे उसके मनकी बात पूछी और कहनेपर उन्होंने 'इसके एक पत्नीव्रत है' ऐसा अपना पक्का विचार कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहलाती है ॥ ३९–४० ॥ तदनंतर उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीका भाई था। उसे कुबेरमित्रकी बहिन कुबेरमित्रा व्याही गई थी। इन दोनोंसे प्रियदत्ता नामकी एक कन्या हुई थी और रतिकारिणी नामकी एक उसकी सखी थी, उस समुद्रदत्तके प्रियदत्ताको आदि लेकर सुंदर आकारवाली सब बत्तीस कन्यायें थीं ॥ ४१–४२ ॥ किसी एक दिन उस विद्वान् शेठ कुबेरमित्रने एक बागमें यक्षकी पूजा करतेसमय अपने निमित्तसे उन बत्तीसों कन्याओंकी परीक्षा की और सबमें प्रियदत्ताको ही गुणवती समझा। फिर जिस दिन सूर्य चंद्र गुरू शुक्र और मंगळ ये पांचों नक्षत्र अपने इष्ट स्थानपर थे उसी दिन बडी विभूतिके साथ कल्याण करनेवाली शास्त्रोंमें कही हुई विधिसे अपने पुत्रके लिये वह कन्या स्वीकार की ॥ ४३–४४ ॥ (कुबेरमित्रने जो उन कन्याओंमेंसे प्रियदत्ताकी परीक्षा की थी वह यह थी कि बत्तीस पात्रोंमे अनेक तरहके घी दूधके भोजन परोसकर किसी एकमें एक बहुमूल्य रत्न डाल दिया था और इसतरह परोसे हुये वे सब पात्र यक्षके

गते । सुते गुणवती राज्ञो यशस्वत्यभिधा परा ॥ ४५ ॥ भाजनं भक्षसंपूर्णमदत्तवति मातुले । स्वाभ्या लज्जाभरानम्रवदने जातनिर्विदे ॥ ४६ ॥ अमितानतमत्यार्यिकाभ्याशे सयम पर । आददाते स्म यात्येव काले तस्मिन्महीपतौ ॥ ४७ ॥ लोकपालाय दत्वाऽऽत्मलक्ष्मीं संयममागते । शीलगुप्तगुरोः पार्श्वे शिवकरवनांतरे ॥ ४८ ॥ देव्यः कनकमालाद्याः पुरो चोपाययुस्तपः । दुर्गमं च व्रजंत्यल्पाः प्रभुर्यदि पुरस्सरः ॥ ४९ ॥ लोकपालोऽपि संप्राप्त-राज्यश्रीर्विश्रुतोदयः । कुबेरमित्रबुध्यैव धरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥ ५० ॥ मत्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचःप्रियः । सवयस्को नृपस्याज्ञः प्रकृत्या

सामने रख दिये थे, फिर उन बत्तीसों कन्याओंको एक एक पात्र देकर भोजन कराया था, सबके भोजन कर चुकनेपर उसने सबसे पूछा था कि वह रत्न किसको मिला है वह रत्न प्रियादत्ताको मिला था इसलिये उसीको अपने पुत्रके योग्य समझा था) राजा प्रजापालकी गुणवती और यशस्वती नामकी दो कन्यायें थीं वे भी उस नैमित्तिक परीक्षामें देखनेके लिये आईं थीं, वे दोनों कन्यायें शेठ कुबेरमित्रकी भानजी थीं, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुये पात्र उन्हें नहीं दिये तब अपने आप ही लज्जाके भारसे उनका मुह नीचा होगया और उन्हें उसीसमय वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥४५-४६॥ उन दोनोंने उसीसमय अमितमती और अनंतमती आर्जिकाके समीप जाकर उत्तम संयम धारण किया । इसतरह कितना ही समय व्यतीत होजानेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब राज्यलक्ष्मी अपने पुत्र लोकपालको देकर शिवंकर नामके बनमें शीलगुप्त गुरुके समीप जाकर संयम धारण किया । इसीतरह कनकमाला रानी तथा नगरकी और भी अच्छी अच्छी (बडे घरोंकी) स्त्रियोंने कठिन तपश्चरण धारण किया, सो ठीक ही है क्योंकि जब अपना राजा ही सबसे आगे चलता है तो छोटे छोटे मनुष्य भी उसी कठिन रास्तेसे निकल जाते हैं ॥ ४७–४९ ॥ महाराज लोकपाल भी राज्यलक्ष्मी पाकर सब संसारमें प्रसिद्ध हुआ और कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथ्वीका पालन करने लगा ॥ ५० ॥ फल्गुमति नामका उस राजाका एक मंत्री था जो कि अज्ञानी था, झूठ बोलना

चपलः खलः ॥ ५१ ॥ तत्समीपे नृपेणामा यद्वातद्वा मुखागतं । शंकमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठ्यपायं विचिंत्य सः॥ ५२ ॥ स्वीकृत्य शयनाध्यक्षं सामदानैस्त्वया निशि । देवतावत्तिरोभूय राजन् पितृसमं गुरुं ॥ ५३ ॥ विनयाद्विच्युत राजश्रेष्ठिनं तव सन्निधौ । विधाय सर्वदा मा स्थाः कार्यकाले स हूयता ॥ ५४ ॥ इति वक्तव्यमित्याख्यत्सोऽपि सर्वं तथाऽकरोत् । अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किंचन ॥ ५५ ॥ श्रुत्वा तद्वचन राजा सभीराहूय मातुलं । नागंतव्यमनाहूतैरित्यनालोच्य सोऽब्रवीत् ॥ ५६ ॥ पश्चाद्विषविपाकिन्यः प्रागनालोचितोक्तयः । श्रेष्ठी तद्वचनात्सद्यः सोद्वेगं स्वगृहं ययौ ॥५७॥

उसे पसंद था, उम्रमें राजा लोकपालके समान था, राजाकी आज्ञा माननेवाला था और स्वभावसे ही वह चंचल और दुष्ट था ॥ ५१ ॥ वह मंत्री कुबेरमित्रके साम्हने मुँहपर आये हुये यद्वा तद्वा बचन कहनेमें कुछ डरता था इसलिये उसने शेठका कुछ बुरा करना सोचा ॥ ५२ ॥ उसने समझा बुझाकर और कुछ धन देकर महाराजके सोनेके (शयन करनेके) मकानके मुख्य पहरेदारको (शय्याके अधिकारीको) अपने वश किया, उसे समझाया कि तू रातमें देवताके समान छिपकर महाराजसे कहना कि हे राजन् ! राजश्रेष्ठी कुबेरमित्र पिताके समान बडे हैं, उन्हें सदा अपने पास रखनेमें उनकी विनय नहीं हो सकती इसलिये उन्हें सदा अपने पास मत रखिये जब कभी काम हो तब बुला लिया कीजिये ॥ ५३–५४ ॥ इसप्रकार फल्गुमतिने शय्याके अधिकारीको समझा दिया, उस अधिकारीने भी उसके कहनेसे सब काम ज्योंका त्यों कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें धनके लोभी लोगोंके लिये न करनेयोग्य काम कुछ भी नहीं है ॥ ५५ ॥ शय्याके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा कुबेरमित्रको बुलाकर कह दिया कि अबसे आप बिना बुलाये न आवें ॥ ५६ ॥ जो बात पाहिले विचार किये बिना ही कही जाती है उसका फल पीछेसे बिषके समान बहुत ही बुरा मिलता है, राजाके बचन सुनकर शेठको कुछ दुःख हुआ और वह शीघ्र ही अपने घर लौट आया ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन वह राजा ललितघट

राजा कदाचित्प्राव्राजीद्घटया ललिताख्यया । विहारार्थं वनं तत्र वाप्यामालोक्य विस्मयात् ॥ ५८ ॥ तटशुष्काग्रिपासन्नशाखाग्रस्थपरिस्फुरन् । परार्ध्यवायसानीतपद्मरागमणिप्रभा ॥ ५९ ॥ मणिं मत्वा प्रविश्यांतर्नैषु केनाप्यलंभ्यसौ । भ्रांत्या प्रवर्तमानाना कुतः क्लेशाद्विना फलं ॥ ६० ॥ चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णाः सर्वे ते पुरमागमन् । बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य न निर्बंधः फलत्यसौ ॥ ६१ ॥ कदाचिद्भूपतिः श्रेष्ठिसुतया रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावर्यामात्मसौभाग्यसूचिना ॥ ६२ ॥ क्रमेण कुकुमार्द्रेण ललाटे स्फुटमंकितः । काताः किं किं न कुर्वंति स्वभागपतिते नरे ॥ ६३ ॥ पट्टबंधात्परं

नामके हाथीपर बैठकर बनमें विहार करनेकेलिये गया था, उस बनमें एक बावडी थी, उसके किनारेपर एक सूखा पेड था उसकी ऊंची शाखापर एक कौवेने दैदीप्यमान और बहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रखदी थी उस मणिकी कांति उस बावडीके पानीमें पड रही थी, राजाने तथा राजाके सब साथियोंने उस पानीमें पडती हुई कांतिको ही मणि समझा और उसे देखकर बडा आश्चर्य किया, उस मणिको लेनेके लिये वे सब पानीमें घुसे परंतु उन सबमेंसे वह मणि किसीको भी नहीं मिला सो ठीक ही है क्योंकि जो लोग भ्रांतिसे ही (निश्चय किये विना) हरएक काममें प्रवृत्त हो जाते हैं उन्हें क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥ ५८–६० ॥ उन लोगोंने बहुत देरतक वह मणि उस बावडीमें ढूंढा परंतु वह नहीं मिला तब लाचार होकर वे सब लोग अपने नगरको लौट आये, सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि मुख्य नहीं होती है वह प्रयत्न कभी नहीं फलता है ॥ ६१ ॥ राजा लोकपालको शेठ कुबेरमित्रकी पुत्री वसुमती ब्याही गई थी, वह रानी वसुमती अपने पति राजासे बहुत ही अनुराग रखती थी । एक दिन रातको राजा वसुमतीके साथ लेटा था, इतनेमें ही रानीने अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले और कुंकुम लगनेसे गीले ऐसे अपने पैरका राजाके ललाटपर साफ दिखनेवाला चिन्ह कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य जब अपने वश हो जाता है तब फिर स्त्रियां क्या क्या नहीं करती हैं ॥ ६२--६३ ॥ राजाने उस पैरके चिन्हको

मत्वा तत्क्रमाकं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनित्यबूबुधत् ॥ ६४ ॥ ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः । कर्तव्य तस्य किं वाच्यं ततो मन्त्र्यब्रवीदिद ॥ ६५ ॥ पट्टात् ललाटो नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद्वध्यः स प्राणान्तामिति स्फुटं ॥ ६६ ॥ तदाकर्ण्यावधूयैनं स्मितेनाहूय मातुलं । नृपोऽप्राक्षीत्स चाहैतत्प्रस्तुत प्रस्तुतार्थवित् ॥ ६७ ॥ तस्य पूजा विधातव्या सर्वालंकारसपदा । इतितद्वचनात्तुष्ट्वा मणिवार्तां न्यवेदयत् ॥ ६८ ॥ मणिर्न जलमध्येऽस्ति तटस्थतरुसश्रितः । प्रभा वाप्यामिति प्राह तद्विचिंत्य वणिग्वरः ॥ ६९ ॥ तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्य च मंत्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपतिः ॥ ७० ॥ पश्य धूर्तैरहं मूढो वंचितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं प्राप्तसन्मानं प्रत्यासन्न व्यधा-

---

पट्टबंधसे भी बढकर माना और सबेरा होते ही राजाने सभामें बैठकर मंत्री आदिकों से पूछा ॥६४॥ कि यदि कोई अपने पैरसे राजाके ललाटका ताडन करे तो उसका क्या करना चाहिये? यह सुनकर फल्गुमति मंत्री कहने लगा कि राजाके ललाटको पट्ट ही (राजाका मुकुट ही) छू सकता है दूसरा नहीं यदि उसपर किसीने पैरसे ताडना की है तो अवश्य ही प्राण निकलने तक मारना चाहिये॥ ६५-६६॥ यह सुनकर राजाने उस मंत्रीका खूब तिरस्कार किया तथा कुछ हँसकर मामा कुबेरमित्रको बुलाया और उससे यह सब हाल पूछा, इन सब बातोंको जाननेवाला कुबेरमित्र भी कहने लगा " कि जिसने आपके ललाटपर ताडना की है उसकी सब तरहके अलंकार रूपी संपात्तियोंसे पूजा करनी चाहिये " इसतरहके मामाके बचनोंसे संतुष्ट होकर राजाने बावडीमें दिखनेवाली मणिकी बात भी पूछी ॥ ६७-६८ ॥ उसे सुनकर सब वैश्योंमें उत्तम ऐसे कुबेरमित्रने सोचकर कहा कि वह मणि जलके भीतर नहीं थी किंतु किनारेके पेड पर थी, बावडीमें तो उसकी कांति पड रही थी ॥ ६९ ॥ यह सुनकर राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमानी अपनी मूर्खता और मंत्रीकी दुष्टता जानकर पछताने लगा और कहने लगा कि देखो इन धूर्तोंने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा, यह कहकर शेठ कुबेरमित्रका खूब आदर सत्कार किया और वह बुद्धिमान उसे सदा अपने पास रखने लगा॥७०-७१॥

क्षुधीः ॥ ७१ ॥ तत्रावापमहाभारं ततः प्रभृति भूपतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्मं काममन्वभूत् ॥ ७२ ॥ कदाचित्कांतया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी ता सत्यमद्य त्वं धर्मपत्नीत्यभिष्टुवन् ॥ ७३ ॥ हृष्ट्वा विमोच्य राजान वरधर्मगुरोस्तपः । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैरादाय सुरभूधरे ॥ ७४ ॥ तावुभौ ब्रह्मलोकातेऽभूता लौकातिकौ सुरौ । किन्न साध्य यथाकालपरिस्थित्या मनीषिभिः ॥ ७५ ॥ अन्येद्युः प्रियदत्ताऽसौ दत्वा दानं मुनीशिने । भक्त्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचित ॥ ७६ ॥ संप्राप्य नवधा पुण्यं तपसः सन्निधिर्मम । किमस्तीत्यत्रवीद्व्यक्तविनया मुनिपुंगव ॥ ७७ ॥ पुत्रलाभार्थि

उस दिनसे उस राजाने तंत्र अर्थात् अपनी प्रजाकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् अन्य राजाओंके संबंधका विचार करना इन दोनोंका बडा भारी भार शेठ कुबेरमित्रको सोंप दिया और आप निराकुल होकर धर्म और काम इन दो पुरुषार्थोंका अनुभव करने लगा ॥ ७२ ॥ किसी एक दिन शेठ कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने शेठके शिरमें एक सफेद बाल देखकर शेठसे कहा, शेठने यह बात सुनकर उसकी बडी स्तुति की और कहा कि आज तू सचमुच धर्मपत्नी हुई है, वह शेठ बडा ही प्रसन्न हुआ तथा राजाको छोडकर और शेठ समुद्रदत्त आदिको साथ लेकर उसने देव नामके पर्वतपर बरधर्म गुरुके समीप दीक्षा धारण की, शेठ समुद्रदत्त और कुबेरमित्र दोनों ही तपकर ब्रह्मलोक स्वर्गमें लौकांतिक देव हुये, सो ठीक ही है क्योंकि समयपर उत्पन्न हुये ज्ञानसे बुद्धिमानोंको क्या क्या सिद्ध नहीं होता है ? ॥ ७३-७५ ॥ दूसरे किसी एक दिन विपुलमति नामके चारण महामुनि प्रियदत्ताके (समुद्रदत्ताकी पुत्री और कुबेरकांतकी स्त्री) घर पधारे थे, प्रियदत्ताने उन्हें नौ तरहकी भक्ति और यथोचित विधिसे दान दिया, बडा भारी पुण्य संपादन किया और फिर बडी विनयसे मुनि महाराजसे पूछा कि मेरे तपश्चरण धारण करनेका समय समीप है या नहीं ? ॥ ७६-७७ ॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले मुनिराजने देखा कि इसके चित्तमें पुत्र होनेकी इच्छा है तब उन बुद्धिमान मुनिराजने अपने दाहिने हाथकी पांच उंगली और बायें हाथकी सबसे छोटी

तच्चित्तं विदित्वाऽवधिलोचनः । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमंगुलिपंचकं ॥ ७८ ॥ कनिष्ठमंगुलिं वामहस्तेऽसौ समदर्शयत् । पुत्रान् कालांतरे पंच साऽऽचैकामात्मजामपि ॥ ७९ ॥ ते कदाचिज्जगत्पालचक्रेशस्य सुते सम । अमितानंतमत्याख्ये गुणिन्यौ गुणभूषणे ॥ ८० ॥ प्रजापालतनूजाभ्या यशस्वत्या तपोभृता । गुणवत्या च संप्राप्ते पुरं तत्परमर्द्धिक ॥ ८१ ॥ राजा सांतःपुरः श्रेष्ठी चानयोर्निकटे चिरं । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमाययौ ॥ ८२ ॥ कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहं जंघाचारणयोर्युगं । प्राविशद्भक्तितो स्थापयता तौ दंपती मुदा ॥ ८३ ॥ तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्राग्भव तत्पदाबुजं । कपोतमिथुनं पक्षैः परिस्पृश्याभिनम्य तत् ॥ ८४ ॥ गलितान्योन्यसंप्रीति बभूवालोक्य तन्मुनी । जातसंसारनिर्वेगौ निर्गत्यापगतौ गृहात् ॥ ८५ ॥ प्रियदत्तेंगितज्ञैतदव-

---

उंगुली दिखाई अर्थात् दिखलाया कि पांच पुत्र और एक पुत्री होगी तथा कालांतरमें उस प्रियदत्ताके भी पांच पुत्र और एक पुत्री हुई ॥ ७८-७९ ॥ किसी एक दिन जिनके गुण ही आभूषण हैं, जो गुणवती हैं तथा जगतपाल चक्रवर्तीकी पुत्री हैं ऐसी अमितमति और अनंतमति नामकी अर्जिकायें तपश्चरणको धारण करनेवालीं राजा प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ साथ अनेक तरहकी धन संपदाओंसे सुशोभित ऐसी उस पुंडरीकिणी नगरीमें आईं ॥ ८०-८१ ॥ सब रानियोंके साथ साथ राजा लोकपाल और शेठ कुबेरकांत उन अर्जिकाओंके समीप गये, वहुत देरतक सद्धर्मका अस्तित्व तथा स्वरूप सुना और फिर दान देना आदि कार्योंको स्वीकार किया ॥ ८२ ॥ किसी एक दिन शेठ कुबेरकांतके घर दो जंघाचारण मुनि पधारें, उन दोनों स्त्री पुरुषोंने बडी प्रसन्नतासे और बडी भक्तिसे उन मुनियोंका पडगाहन किया ॥ ८३ ॥ उन मुनियोंके दर्शन करनेमात्रसे कुबेरकांतके घर रहनेवाले रतिवर रतिषेणा नामके कबूतर कबूतरीको पहिले जन्मका सब हाल मालूम होगया, उन दोनोंने ही अपने पंख फैलाकर उन मुनियोंके चरण कमलोंको स्पर्श किया तथा नमस्कार किया और उन दोनोंने परस्परका प्रेम छोड दिया, यह देखकर उन मुनियोंको भी संसारसे और वैराग्य बढा तथा दोनों ही निराहार शेठके घरसे निकल कर बनको

गम्यान्यदा तु तां । रतिषेणामपृच्छत्ते नाम प्राग्जन्मनीति किं ॥ ८६ ॥ सा तुडेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत् । ममैषा पूर्वभार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥ ८७ ॥ तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम प्रियदत्तया । सुकाताख्योऽहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद्भुवि ॥ ८८ ॥ तन्निरीक्ष्य ममैवार्य पतिरित्यभिलाषुका । रतिषेणाऽप्यगात्तेन संगमं विध्यनुग्रहात् ॥ ८९ ॥ तत्सभावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलं । पुनः शुश्रूषवश्चासन् कथाशेषं सकौतुकाः॥९०॥ अन्यच्चाकर्णितं दृष्टमावाभ्यां यदि चेत्त्वया । ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तवति कौरवे ॥ ९१ ॥ निजवागमृताम्भोभिः सिंचती तां सभां शुभां । सुलोचनाऽब्रवीत्सम्यग्ज्ञायते श्रूयतामिति ॥ ९२ ॥ तदा मुनेर्गृहाद्भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणं । अज्ञात्वा भूपतेः प्रश्नादाहामितमतिः श्रुतं ॥ ९३ ॥ विषयेऽस्मि-

---

चले गये ॥ ८४-८५ ॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने वह सब समाचार जानकर किसी एक दिन उस रतिषेणा कबूतरीसे पूछा कि पहिले जन्ममें तेरा क्या नाम था ॥ ८६ ॥ उसने भी अपनी चोंचसे रतिवेगा ऐसा नाम लिख दिया उसे देखकर 'यह पहिले जन्मकी मेरी स्त्री है' यह समझकर वह कबूतर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ८७ ॥ इसीतरह प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी पहिले जन्मका उसका नाम पूछा तब उसने भी जमीनपर "पहिले मेरा नाम सुकांत था" ऐसे अक्षर लिख दिये ॥ ८८ ॥ उन अक्षरोंको देखकर और 'यह मेरा ही पति है' यह जानकर उसीके साथ रहनेकी इच्छा करती हुई वह रतिषेणा भी शुभ कर्मोंके उदयसे उसीके साथ रहने लगी ॥ ८९ ॥ सुलोचनाकी कही हुई ये सब बातें सुनकर उस सभामें बैठनेवाले सब लोग बहुत ही प्रसन्न हुये और बाकी बची हुई कथाको सुननेकी इच्छा करते हुये बडी उत्कंठासे बैठे ॥ ९० ॥ तब जयकुमारने कहा कि हम दोनोंने इसके सिवाय और जो कुछ देखा वा सुना है वह यदि तुम्हें मालूम हो तो कहो, यह सुनकर अपने वचनामृतरूपी जलसे उस समस्त शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी कि "हां अच्छी तरह जानती हूं आप लोग सुनो" ॥ ९१-९२ ॥ जब वे मुनि शेठके घरसे आहार छोडकर चले गये और राजा लोकपालको उनके इसतरह जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब उसने अमित-

न्खगक्ष्माभृत्प्रत्यासन्न वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्णे पुरं पर ॥९४॥ शोभानगरमस्येशः प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत्सुखदा श्रीरिवापरा ॥ ९५ ॥ शक्तिषेणोऽस्य सामन्तस्तस्याभूत्प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः सत्यदेवः सूनुरिमे सम ॥ ९६ ॥ सर्वेऽप्यासन्नभव्यत्वादस्मत्पादसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्मद्यमासयोः ॥ ९७ ॥ त्यागं पर्वोपवासं च शक्तिषेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवेलात्यये भुक्तिमग्रहीत्स गृहिव्रतं ॥९८॥ तत्पत्नी शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे पञ्चसमास्त्यागमाहारस्य समग्रहीत् ॥ ९९ ॥ अनुप्रवृद्धकल्याणनामधेयमुपोषितं । सत्यदेवश्च साधूनां स्तवनं प्रत्यपद्यत ॥ १०० ॥ इत्यभूवन्नमी श्रद्धाविहीनव्रतभूषणाः । स मृणालवतीं नेतु कदाचिदटवीश्रियं ॥ १०१ ॥ पित्रोः पुरीं प्रवृत्तः सन् शक्तिषेणः

मति अर्जिकासे पूछा, अमितमतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥ कि इसी पुष्कलावती देशमें विजयार्द्ध पर्वतके समीप धान्यकमाल नामका एक वडा भारी वन है और उस वनके समीप ही शोभानगर नामका एक बडा नगर है। उस नगरका शासन राजा प्रजापाल करता था और उसकी पट्टरानीका नाम देवश्री था, वह पट्टरानी दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४-९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका शूरवीर था उसको सुख देनेवाली अटवीश्री नामकी उसकी स्त्री थी और उन दोनोंके सत्यदेव नामका पुत्र था, ये सब निकटभव्य थे, एक दिन सबने साथ आकर मुझसे कुछ धर्मोपदेश सुना, तथा राजा रानीने मद्य मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया, भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थोंके व्रत धारण किये और नियम किया कि मैं मुनिके भोजन करनेके समयको टालकर भोजन करूंगा, ॥ ९६-९८ ॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पांच पर्वतक शुक्लपक्षकी पडवा और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका (उपवास करनेका) नियम लिया तथा अनुप्रवृद्धकल्याण नामका उपवास (व्रत) करना स्वीकार किया और सत्यदेवने पंच परमेष्ठियोंका स्तोत्र करना स्वीकार किया ॥९९–१००॥ इसतरह ये सब सम्यग्दर्शनके बिना ही व्रतोंके धारण करनेवाले, होगये। किसी एक दिन अटवीश्री अपने

ससैन्यकः । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरं ॥ १०२ ॥ निविष्टवानिद चान्यत्प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिर्मृणालवत्याख्यनगर्यां धरणीपतिः॥१०३॥ सुकेतुस्तत्र वैश्येशस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियः ॥ १०४ ॥ तत्रैव दुहिता जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रिया ख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥ १०५ ॥ सुकांतोऽशोकदेवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि । भवदेवस्य दुर्वृत्त्या दुर्मुखाख्योऽप्यजायत ॥ १०६ ॥ स एव द्रव्यमावर्ज्य रतिवेगां जिघृक्षुकः । वाणिज्यार्थं गतस्तस्मान्नायात इति सा तदा ॥ १०७ ॥ मातापितृभ्यां प्रादायि सुकांताय सुतेजसे । देशांतरात्समागत्य तद्वार्ताश्रवणाद्भृश ॥ १०८ ॥ दुर्मुखे कुपिते भीत्वा तदानीं तद्वधूवरं । व्रजित्वा शक्तिषेणस्य शरण समुपागतं ॥ १०९ ॥ तद्दुर्मुखोऽपि निर्बंधादनु-

माता पिताके यहां मृणालवती नगरमें गई थी, उसे लेनेके लिये सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ गया, उसने वापिस आते समय धान्यकमाल नामके वनमें सर्प सरोवरके समीप डेरा डाले, इसी समय एक दूसरी कथा हुई थी, वह इस तरहसे है कि उस मृणालवती नगरका राजा धरणीपति था, उसी नगरमें सुकेतु नामका एक राजशेठ था जोकि शेठ रतिवर्माका पुत्र था, सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके भवदेव नामका एक पुण्यहीन पुत्र हुआ था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त शेठ थे उनकी स्त्रीका नाम विमलश्री था, उन दोनोंके बहुत प्यारी और सती रतिवेगा नामकी पुत्री हुई थी ॥ १०५ ॥ उसी नगरमें अशोकदेव नामके एक शेठके उसकी जिनदत्ता नामकी स्त्रीसे सुकांत नामका पुत्र हुआ था। सुकेतुका पुत्र भवदेव वडा ही दुराचारी था इसलिये दुर्मुख भी उसका नाम पड गया था ॥ १०६ ॥ वह दुर्मुख रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था परंतु उसके पास कुछ धन नहीं था इसलिये वह व्यापार करनेके लिये बाहर गया, जब वह समयपर लौटकर नहीं आया तो रतिवेगाके माता पिताने वह तेजस्वी सुकांतके लिये दे दी। जब वह दुर्मुख देशांतरसे लौटा और उसने यह बात सुनी तब वह वडा ही क्रोधित हुआ, उसके डरसे सुकांत और रतिवेगा दोनों ही स्त्रीपुरुष भागे और भागकर शक्तिषेणके शरणमें जा पडे ॥ १०७-१०९ ॥ दुर्मुख भी अपने हठसे उन

गत्य वधूवरं । शक्तिशेणभयाद्बद्धवैरो निववृते ततः ॥ ११० ॥ तत्रैकस्मै वियच्चारणद्वंद्वाय समीयुषे । शक्तिषेणो ददावन्नं पाथेयं परजन्मनः ॥१११॥ तत्रैवागत्य सार्थेशो निविष्टो बहुभिः सह । विभुर्मेरुकदत्ताख्यः श्रेष्ठी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥ मंत्रिणस्तस्य भूतार्थः शकुनिः सबृहस्पतिः । धन्वंतरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥ ११३ ॥ एभिः परिवृतः श्रेष्ठी हीनांगं कंचिदागतं । समीक्ष्यैनं कुतो हेतोर्जातोऽयमिति तान् जगौ ॥ ११४ ॥ शकुनिः शकुनाद्दुष्टाद्ग्रहात्पापाद्बृहस्पतिः । धन्वतरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समादिशत् ॥ ११५ ॥ भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपार्जितं ।

दोनोंके पीछे २ भागा परंतु शक्तिषेणके डरसे अपना बैर मनमें ही रखकर वहांसे लौट आया ॥ ११० ॥ किसी एक दिन दो चारणमुनि शक्तिषेणके डेरेमें पधारे थे, शक्तिषेणने दूसरे जन्मकेलिये रक्खे हुये खर्चके समान शुद्ध आहार दिया था ॥ १११ ॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके मालिक ऐसे मेरुदत्त नामके शेठने अनेक लोगोंके साथ आकर डेरे दिये थे, उस शेठकी स्त्रीका नाम धारिणी था ॥११२॥ उस शेठके चार मंत्री थे, भूतार्थ, शकुनि, वृहस्पति और धन्वंतरि, ये चारों ही अपने अपने शास्त्रों में बडे ही निपुण थे ॥ ११३ ॥ एक दिन मेरुदत्त इन सबके साथ बैठा था कि इतनेमें ही वहांपर कोई हीन शरीरवाला (जिसका कोई अंग या उपांग नहीं था) आया, उसे देखकर शेठने उन लोगोंसे पूछा कि किस कारणसे यह ऐसा होगया है?॥ ११४॥ इसके उत्तरमें शकुन जाननेवालेने कहा कि जन्मके समय इसे बुरे सगुन हुये थे इसलिये ही यह ऐसा हुआ है, ज्योतिषको जाननेवाले वृहस्पतिने कहा कि इसके जन्ममें बुरे ग्रह पडे हैं इसलिये ही यह ऐसा होगया है, और वैद्य धन्वंतरिने कहा कि जन्मके समय इसे वात पित्त कफका विकार था इस लिये ही यह ऐसा होगया है ॥११५॥ तब भूतार्थने एक अच्छी युक्तिके साथ कहा कि आप लोग अपने सब कारणोंको रहने दीजिये, इसके हीनांग होनेका कारण यही है कि इसने हिंसा झूठ चोरी आदि पापकर्म किये होंगे इसीसे यह हीनांग हुआ है ॥११६॥ इतनेमेंही शक्तिषेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र मानकर पालन पोषण किया था ऐसे उस सत्यदेवका पिता

प्रधानकारणं तेन हीनांग इति सूक्तवान् ॥ ११६ शक्तिशेणमहीपालप्रतिपन्नतुजः पिता । सत्यदेवस्य दृष्ट्वाऽस्मिंस्तमन्विष्यन्यदृच्छया ॥ ११७ ॥ तदा कृत्वा महद्दुःखं सभ्यैराकर्ण्यतामिदं । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्तंडुलानपि ॥ ११८ ॥ भक्ष्यमाणान्कपोताद्यैः पश्यंस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रोधान्मातुः कनीयस्या भर्त्सनादागतोऽसहः ॥ ११९ ॥ अधस्ताद्वक्त्रविवर घ्राणस्येति तदप्ययं । क्षमते नेति सर्वेषा तदकर्मण्यता ब्रुवन् ॥ १२० गंतुं सहात्मना तस्यानभिलाषाद्विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयास भवे ते स्नेहगोचरः ॥ १२१ ॥ इति कृत्वा निदानं स द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं तद्गतस्नेहमोहितः ॥ १२२ ॥ कदाचिच्छुक्लपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिशेणो भक्तिपुरस्सरः ॥ १२३ ॥ मुनिभ्या दत्तदानेन पचाश्र-

---

अपनी इच्छानुसार उसे ढूंढता हुआ वहां आनिकला, उस हीनांग पुत्र सत्यदेवको देखकर उसे बहुत दुख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो ! सुनो "एकवार घरमें चांवल पक रहे थे सो पानीके उफानसे बटलोईसे चांवल नीचे गिर गये और वे गिरे हुये चांवल कबूतर आदि पक्षियोंने चुगालिये, यह उन पक्षियोंको देख रहा था तथापि चुपचाप खडा रहा, वे पक्षी भगाये नहीं, तब इसकी माकी छोटी बहिनको क्रोध आया, उसने इसे कुछ ताडना की उस ताडनाको न सह सकनेके कारण यह यहां चला आया है " तेरी नाकके नीचे मुंहका छेद है " इस बातको भी यह नहीं सह सकता है " इस तरह उसके पिताने सब सभासदोंसे उसकी कर्तव्यहीनता कही ॥ ११७-१२० ॥ तथा उससे साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, परंतु वह नहीं जाना चाहता था इसालिये दुःखी होकर उसने निदान किया कि " दूसरे जन्ममें भी तेरे साथ मेरा बहुत स्नेह हो " ऐसा निदानकर वह द्रव्यलिंगी मुनि होगया और उस सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर वह मरकर लोकपाल हुआ ॥ १२१-१२२ ॥ किसी एक समय शुक्लपक्षकी पडवाके दिन शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने उपवास किया था; उसी दिन उसके घर दो मुनिराज पधारे थे, शक्तिषेणने बडी भक्तिसे अटवीश्रीके साथ २ उन दोनों मुनिराजोंको आहारदान दिया था, जिससे उसके घर पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई थी, उसे देखकर शेठ मेरुदत्त और

र्यमवाप्तवान् । दृष्ट्वा तच्छ्रेष्ठिधारिण्यावावयोरन्यजन्मनि ॥ १२४ ॥ एतावपत्ये भूयास्ता निदानं कुरुतामिति । मंत्रिणस्तस्य चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥ १२५ ॥ तपो विधाय कालांते समापन् लोकपालताः ; वधूवर च दानानुमोदपुण्यमवाप्तवत् ॥ १२६ ॥ तदाकर्ण्य महीशस्य देवी वसुमती तदा । स्वजन्मांतरसंबोधमूर्च्छानंतरबोधिता ॥ १२७ ॥ अह पूर्वोक्तदेवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमां श्रियं । प्राप्ता तदातनो राजा वद क्वाद्य प्रवर्तते ॥ १२८ ॥ इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूपतिः । लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजं ॥ १२९ ॥ जन्मावबुध्य वदित्वा साऽटवीश्रीरियं त्वह । शक्तिषेणो मम प्रेयानसौ क्वाद्य प्रवर्तते ॥ १३० ॥ इति पृष्टाऽवदच्छक्तिषेणस्तेऽय मनोरमः । कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥ १३१ ॥ देवभूय गताः

शेठानी धारिणीने निदान किया कि " अगिले जन्ममें ये दोनों हमारे ही संतान हों अर्थात् शक्तिषेण पुत्र हो और अटवीश्री पतोहू हो " शेठ मेरुदत्तके चारों मंत्रियोंने सब तरहका परिग्रह छोडकर तपश्चरण धारण किया और आयुके अंतमें शरीर छोडकर लोकपाल हुये । इसीतरह सुकांत और रतिवेगा जो शक्तिषेणके शरण आये थे उन्होंने भी उस दानकी अनुमोदना की और वडा भारी पुण्य संपादन किया ॥१२३-१२६॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको जातिस्मरण होगया और पहिले जन्मकी सब बात यादकर वह मूर्छित होगई, जब वह सचेत हुई तो अमितमति अर्जिकासे कहने लगी कि मैं पहिले जन्ममें शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मुझे यह लक्ष्मी प्राप्त हुई है, कहिये तो मेरा पहिले जन्मका पति राजा प्रजापाल आज कहां है ? ॥ १२७-१२८ ॥ वसुमतीका यह प्रश्न समाप्त होते ही अमितमतिने कहा कि तेरा पति राजा प्रजापाल इस जन्ममें भी तेरा पति लोकपाल हुआ है, इतनेमें ही प्रियदत्ताको जातिस्मरण होगया वह भी पहिले जन्मकी सब बातें जानकर नमस्कार कर बोली कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो यह मैं हूं, कहिये मेरा पति शक्तिषेण आज कहां है!, इसके उत्तरमें अमितमतिने कहा वह शक्तिषेणका जीव तेरा पति कुबेरकांत हुआ है, और सत्यदेव यह तेरा कुबेरदयित नामका पुत्र हुआ

श्रेष्ठिसाचिवास्त्वत्पतेर्भृशं । आरभ्य जन्मनः स्नेहात्परिचर्यां प्रकुर्वते ॥ १३२ ॥ कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः स सत्यकः । पाता गत्यंतरस्थाश्च पुण्या त्लिह्यति देहिनः ॥ १३३ ॥ भवदेवेन निर्दग्ध द्विजावेतौ वधूवरं । सार्थेशो धारिणी चेह पत्युस्ते पितराविमौ ॥ १३४ ॥ इत्युक्त्वा सेदमप्याह खगाचलसमीपगे । वसंतौ चारणावद्रौ मुनी मलयऽकाचने ॥१३५॥ पूर्वं वननिवेशे तौ भिक्षार्थं समुपागतौ । तत्र पुत्रसमुत्पत्तिमुपदिश्य गतौ ततः॥१३६॥ अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षामनादाय वन गतौ ॥ १३७ ॥ गुर्वोगुरुत्व युवयोरुपयातौ तयोरिदं । उपदेशात्समाकर्ण्य

है ॥ १२९-१३१ ॥ शेठ मेरुदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मंत्री थे और तपश्चरणकर लोकपल हुये थे वे अब प्रेमके कारण जन्मसे लेकर ही तेरे पतिकी सेवा कर रहे हैं (कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर वे लोकपाल ही सेवा कर रहे हैं) ॥ १३२ ॥ कुबेरदयितका पहिले जन्मका पिता जो सत्यक था वह तपश्चरण धारण करनेके कारण देव हुआ था वह अब कुबेरदयितकी रक्षा करता है, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य कर्मके उदयसे दूसरी गतिमें रहनेवाले जीव भी प्रेम करने लग जाते हैं ॥१३३॥ भवदेवने (दुर्मुखने) रतिवेगा और सुकांत उन स्त्रीपुरुषोंको जलादिया था इसलिये वे दोनों ही मरकर ये कबूतर कबूतरी हुये हैं, शेठ मेरुदत्त और धारिणी तेरे पति कुबेरकांतके माता पिता हुये हैं ॥ १३४ ॥ इतना कहकर वह अमितमति फिर कहने लगी कि विजयार्द्ध पर्वतके समीप मलयकांचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज निवास करते हैं, जब पहिले जन्ममें शक्तिषेणने सर्प सरोवरके समीप डेरा डाले थे तब वे आहारके लिये तेरे यहां आये थे और तेरे पांच पुत्र और एक पुत्री होगी ऐसा कहकर चले गये थे, तदनंतर किसी दूसरे दिन इस जन्ममें तेरे घर पधारे थे उस समय तेरे पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई थी, परंतु वे कबूतर कबूतरीको देखकर पहिले जन्मकी बात सोचकर करुणा आजानेसे आहार किये बिना ही वनको लौट गये थे, वे ही दोनों तेरे पिता और तेरे पतिके (कुबेरमित्र और समुद्रदत्तके) गुरु हुये हैं, उन्हींके उपदेशसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं, जोकि

सर्वमुक्तं यथाक्रमं ॥ १३८ ॥ इति तेऽमितमत्युक्तकथावगमतत्पराः । स्वरूपं संसृतेः सम्यक् मुहुर्मुहुरभावयन् ॥ १३९ ॥ एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसगतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्या केन हेतुना ॥ १४० ॥ इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । ते च तत्कारण स्पष्ट यथावृत्तमवोचता ॥ १४१ ॥ ततो धनवती दीक्षा गणिन्याः सन्निधौ ययौ । माता कुबेरसेना च तयोरार्यिकयोर्द्वयोः ॥ १४२ ॥ तावन्येद्युः कपोतौ च ग्रामातरमुपाश्रितौ । तंडुला पयोगाय समवर्तिप्रचोदितौ ॥ १४३ ॥ भवदेवचरेणानुबद्धवैरेण पापिना । दृष्टमात्रोत्थपापेन मारितौ पुन्दंशसा ॥ १४४ ॥ तद्राष्ट्रविजयार्द्धस्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते । गंधारविषयोशीरवत्याख्यनगरेऽधिपः ॥ १४५ ॥ आदित्यगतिरस्यासीन्महा देवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्माख्यः

अनुक्रमसे आप लोगोंको कहीं हैं ॥ १३५-१३८ ॥ इसप्रकार जब अमितमतिने यह सब कथा कही तब कथाके सुननेमें तल्लीन हुये सब लोग संसारका यथार्थ स्वरूप वार वार चिंतवन करने लगे ॥१३९॥ इसप्रकार कितना ही समय व्यतीत हो जानेपर एक दिन प्रियदत्ताने प्रसंग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है ? तब उन दोनोंने साफ साफ अपनी दीक्षाका सच्चा कारण बतला दिया ॥ १४०-१४१ ॥ तदनंतर संघकी अधिकारिणी अमितमतिके समीप कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने भी दीक्षा धारण की और अमितमती अनंतमती दोनों अर्जिकाओंकी माता चक्रवर्तीकी रानी कुबेरसेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥१४२॥ किसी एक दिन यमराजके भेजे हुये ही क्या मानों वे दोनों ही कबूतर चांवल चुगनेके लिये किसी दूसरे जंबू नामके गांवमें पहुंचे । वहांपर एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव मरकर हुआ था, उस पापीको पहिले जन्मके बंधे हुये वैरके कारण उन दोनों कबूतर कबूतरीको देखते ही क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने उन दोनोंको मार डाला ॥ १४३-१४४ ॥ उसी पुष्कलावती देशके विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गांधार नामका देश है और उसमें उशीरवती नामकी एक नगरी है, आदित्यगति नामका राजा उसका राज्य करता था और उसकी पट्टरानीका नाम शशिप्रभा था, रतिवर कबूतरका जीव मरकर उन

सुतो रतिवरोऽभवत् ॥ १४६ ॥ तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीविषयविश्रुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥ १४७ ॥ तस्य स्वयंप्रभादेव्यां रतिषेणा प्रभावती । बभूव जैनधर्मांशोऽप्यभ्युद्धरति देहिनः ॥ १४८ ॥ माता पिताऽपि या यश्च सुकातरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन्किलाभूतां चित्रं तावेव संसृतिः ॥ १४९ ॥ हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चेत्ससुलोचनः । रूपादिवर्णनं तस्याः किं पुनः क्रियते पृथक् ॥ १५० ॥ यौवनेन समाक्रातां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीं । कस्मै देयेयामित्याह खगशो मंत्रिणस्ततः॥ १५१ ॥ शशिप्रभा स्वसा देव्या भ्रातादित्यगतिस्तथा। परे च खचराधीशाः प्रीत्या

दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥ १४५-१४६ ॥ उसी विजयार्द्धकी उत्तरश्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके नगरमें विद्याधरोंका स्वामी वायुरथ नामका राजा राज्य करता था, उसकी पट्टरानीका नाम स्वयंप्रभा था, रतिषेणा कबूतरीका जीव मरकर उन दोनोंके प्रभावती नामकी कन्या हुई, सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी जीवोंका उद्धार कर देता है ॥ १४७-१४८ ॥ सुकांत और रतिवेगाके जो पाहिले माता पिता थे वे ही इस जन्ममें भी माता पिता हुये हैं अर्थात् सुकांतके माता पिता अशोक और जिनदत्ता तो आदित्यगति और शशिप्रभा हुये हैं तथा रतिवेगा के माता पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस जन्ममें स्वयंप्रभा और वायुरथ हुये हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बडा ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ १४९ ॥ जब जयकुमारने सुलो-चना ऐसी सुंदरी स्त्रीके साथ बैठकर भी " हा मेरी प्रभावती " कहा तब फिर उसके रूपका अलग वर्णन करना व्यर्थ है, भावार्थ—वह बहुत ही सुंदरी थी ॥ १५० ॥ जब वह प्रभावती कन्या युवावस्थाको प्राप्त हुई तब उसे देखकर वायुरथ विद्याधरने मंत्रियोंसे विचार किया कि यह कन्या किसको देनी चाहिये ? ॥ १५१ ॥ मंत्रियोंने आपसमें निश्चयकर कहा कि " शशिप्रभा आपकी बहिन है और आदित्यगति आपकी पट्टरानीका भाई है। ये दोनों ही अपने पुत्र हिरण्यवर्माके लिये इस कन्याको मांग रहे हैं, इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर बडे प्रेमसे इसे मांग रहे हैं इसलिये

याचंत कन्यकां ॥ १५२ ॥ ततः स्वयवरो युक्तो विरोधस्तत्र केनचित् । इत्यभाषंत निश्चित्य तद्भूपोऽप्यभ्युपागमत् ॥ १५३ ॥ ततः सर्वेऽपि तद्वार्ताकर्णनादागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहीद्रत्नमालया ॥ १५४ ॥ मातापितृभ्या तद्दृष्ट्वा सपृष्टा प्रियकारिणी । यो जयेद्गतियुद्धे मा माला संयोजयाम्यह ॥ १५५ ॥ कठे तस्येति वक्त्येषा प्रागित्याह सखी तयोः । श्रुत्वा तत्रदिने सर्वानुचितोक्त्या व्यसर्जयत् ॥ १५६ ॥ अन्येद्युः खचराधीशो घोषयित्वा स्वयंवरं । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य माला पुरः स्थिता ॥ १५७ ॥ अपातयन्महामेरोस्त्रिःपरीत्य महीतलं । अस्पृष्टां खेचराः केचित्ता ग्रहीतुमनीश्वराः ॥ १५८ ॥ त्रपां गताः समादाय प्रभावत्या विनिर्जिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानभंगेन मानिनां ॥ १५९ ॥ ततो हिरण्यवर्माऽया-

---

स्वयंवर करना ठीक है इसमें किसीका विरोध नहीं है " यह सुनकर राजाने भी यह बात स्वीकार की ॥ १५२-१५३ ॥ तदनंतर स्वयंवरकी बात सुनकर बहुतसे राजकुमार आये, परंतु प्रभावतीने इन सबमेंसे किसीको भी गलेमें रत्नमाला डालकर स्वीकार नहीं किया ॥ १५४ ॥ यह देखकर माता पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इसका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि इस कुमारीने पहिले ऐसा कहा था कि " जो कोई मुझे गतियुद्धमें जीतेगा उसीके गलेमें मैं रत्नमाला डालूंगी " यह सुनकर राजा वायुरथने यथायोग्य बातचीतकर उस दिन सबको बिदा कर दिया ॥१५५-१५६॥ दूसरे दिन विद्याधरोंके स्वामी वायुरथने फिर स्वयंवरकी घोषणा की और कहा कि " सिद्धकूट नामके चैत्यालयके द्वारसे यह माला नीचे छोडी जायगी, जो कोई विद्याधर माला छोडे बाद मेरुपर्वतकी तीन प्रदक्षिणा देकर प्रभावतीके पहिले उसे अधर (जमीनपर न लगनेके पहिले) ले लेगा वही इसका पति होगा " यह सुनकर बहुतसे विद्याधरोंने ऐसा किया परंतु प्रभावतीके पहिले उसे न ले सके इसलिये प्रभावतीसे हारकर वे बहुत ही लज्जित हुये, सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोंके मानभंगकी बराबरी नहीं कर सकती है ॥ १५७-१५९ ॥ तदनंतर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उसने प्रभावतीके पहिले वह माला ले ली तब प्रभावतीने हारकर

द्वितियुद्धविशारदः । मालामासंजयामास तत्कंठे तेन निर्जिता ॥ १६०॥ तयोः जन्मातरस्नेहसमृद्धसुखसंपदा । काले गच्छति कस्मिंश्चित्कपोतद्वयदर्शना-त् ॥ १६१ ॥ ज्ञातप्रागभवसंबंधा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिता शोकाकुलेवैव चिंतयती किमप्यसौ ॥ १६२ ॥ हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटं । पट्टकं प्रियकारिण्या हस्ते समवलोक्य त ॥ १६३ ॥ क लब्धमितमित्याख्यत् प्राह साऽपि प्रियेण ते । लिखित चेटकस्तस्य सुकांतो मे समर्पयत् ॥ १६४ ॥ इति तद्वचनं त्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकं । प्राक्तनं पट्टके तस्या लिखित्वाऽसौ करे ददौ ॥ १६५ ॥ तद्विलोक्य कुमारोऽभूत्प्रभावत्यां प्रसक्तधीः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या द्विगुणाऽभवत् ॥ १६६ ॥ संभूय बांधवाः सर्वे कल्याणाभिषवं तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं

वह माला उसीके गलेमें डाल दी ॥ १६० ॥ उन दोनोंका पहिले जन्मका प्रेम था इसलिये उस स्नेहसे उन दोनोंकी सुख संपत्ति खूब ही बढ गई थी, इसतरह उनका बहुतसा काल व्यतीत हो गया, तब एक दिन एक कबूतर कबूतरीके जोडेको देखकर प्रभावतीको जातिस्मरण हुआ, पहिले जन्मका संबंध जानकर उदास और शोकसे व्याकुल होकर अकेली ही बैठी बैठी वह कुछ सोच रही थी ॥१६१-१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जातिस्मरण हुआ था, इसने एक कपडेपर पहिले जन्मका सब हाल साफ साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह चित्र देखकर उसे पूछा कि "यह चित्र तुझे कहांसे मिला है? " सखीने कहा कि "यह चित्र तेरे पतिने लिखा है और उसके नौकर सुकांतने मुझे दिया है " सखीकी यह बात सुनकर प्रभावतीने भी एक कपडेपर अपने पहिले जन्मका सब हाल लिखा और लिखकर कुमार हिरण्यवर्माको देनेके लिये सखीके हाथमें दिया ॥ १६३-१६५ ॥ उस चित्रको देखकर हिरण्यवर्मा भी प्रभावतीसे बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मासे बहुत अनुराग करने लगी, पहिले जन्मके स्नेहसे उन दोनोंका प्रेम परस्पर दूना होगया था ॥ १६६ ॥ कुटुंबके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगला-भिषेक किया मानों उन्होंने दूसरा कल्याण ही करना विचारा हो॥१६७॥किसी एक दशमीके दिन ये दोनों

ते चिकीर्षवः ॥ १६७ ॥ दशम्या सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ क्वचित् । हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणः ॥ १६८ ॥ प्रभावत्या च पृष्टोऽसौ स्वपूर्वभववृत्तक । अभाषत मुनिश्चैवमनुग्रहधिया तयोः ॥ १६९ ॥ तृतीयजन्मनीतोऽत्र संभूतौ वाणिजा कुले । रतिवेगा सुकांतश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥ १७० ॥ भर्तृभार्याभिसंवंवं संप्राप्यारिभयाद्गतौ । कृत्वाऽनुमोदन शक्तिशेणदाने सपुण्यकौ ॥ १७१ ॥ पारावतभवे चाप्य धर्मं जातौ युवामिति । विधाय पितरौ वैश्यजन्मनोर्याविहापि वौ ॥ १७२ ॥ तृतीयजन्मनो युष्मद्गुरवोऽह च सगताः । रतिषेणगुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरं ॥ १७३ ॥ जिनेंद्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा । विधाय पूजा समजायामहीह खगाधिपाः ॥ १७४ ॥ पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा श्रीध-

---

ही स्त्री पुरुष सिद्धकूट पर्वतपर गये थे वहां स्नान पूजा आदि करते समय हिरण्यवर्माने परम अवधिज्ञानको धारण करनेवाले चारण मुनि देखे तव प्रभावतीने अपने पहिले भवका वृतांत पूछा, मुनिराजभी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोंके पहिले भवका वृतांत इसप्रकार कहने लगे ॥ १६८-१६९ ॥ कि तुम इस जन्मसे तीसरे भवमें मृणालवती नगरमें वैश्यकुलमें रतिवेगा और सुकांत हुये थे ॥१७०॥ तुम दोनोंका स्त्रीपुरुषका संवंध हुआ था, शत्रुके भयसे तुम दोनों ही भागकर शक्तिषेणके यहां गये थे, वहांपर शक्तिषेणने जो मुनिराजको दान दिया था उसकी अनुमोदनाकर तुम दोनोंने पुण्य उपार्जन किया था, फिर मरकर तुम दोनों कबूतर कबूतरी हुये थे, वहां तुम्हें धर्मकी प्राप्ति हुई थी और वहांसे आकर तुम विद्याधर विद्याधरी हुये हो, तुम दोनोंके वैश्यजन्मके जो माता पिता थे वे ही इस जन्ममें भी तुम्हारे माता पिता हुये हैं तीसरे जन्मके तुम्हारे माता पिता और मैं इन सवने एकसाथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषधोपवास धारण किया था, हम सवने उसे वहुत दिनतक पालन किया, श्रीजिनेंद्रदेवके चैत्यालयमें भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोंसे सदा पूजा की थी, इसलिये ही हम सब इस जन्ममें विद्याधर हुये हैं, मैं पहिले जन्ममें भवदेवका पिता रतिवर्मा था, सो अव इस जन्ममें श्रीवर्मा नामका विद्याधर हुआ हूं, मैंने शुद्ध चित्तसे संयम धारण किया है और इसलिये ही मुझे

मैनामाऽतः संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥ १७५ ॥ चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतांतरां च तौ ॥ १७६ ॥ एवं सुखेन यात्येषा काले वायुरथः पृथु । विशारुं समालोक्य स्तनयित्नुं प्रतिक्षणं ॥ १७७ ॥ विश्व विनश्वरं पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकीं मतिं । जनः करोति-सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः ॥ १७८ ॥ इति याथात्म्यमासाद्य दत्वा राज्यं विरज्य सः । मनोरथाय नैस्संग्यं प्रपित्सुरभवत्तदा ॥ १७९ ॥ आदित्यगति-मभ्येत्य प्रीत्या सर्वेऽपि बाधवाः । प्रभावतीसुता देया भवतेयं रतिप्रभा ॥ १८० ॥ मनोरथस्य पुत्राय कन्या- चित्ररथाय सा । इत्याहुः सोऽप्यनुज्ञाय कृत्वा बंधुविसर्जनं ॥ १८१ ॥ हिरण्यवर्मणः सर्वखगराज्याभिषेचनं । विधाय बहुभिः सार्द्धं संप्राप्य मुनिपुगवं ॥ १८२ ॥ सँयमं प्रतिपन्नः सन्

चारण ऋद्धि और तीसरा ज्ञान (अवधिज्ञान) प्राप्त हुआ है ” इसप्रकार बचनोंको सुनकर हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ही बडे संतुष्ट हुये ॥ १७१-१७६ ॥ इसतरह इन सब लोगोंका बहुतसा समय सुखसे निकल गया। किसी एक दिन प्रभावतीके पिता वायुरथने प्रत्येक क्षणमें नष्ट होता हुआ एक बडा बादल देखा, उसे देखकर वे सोचने लगे कि “ यह सब संसार इसीतरह विनश्वर है, नष्ट होनेवाला है फिर लोग इसे सदा एकसा रहनेवाला मानते हैं, सब पदार्थोंमें ऐसी ही बुद्धि कर लेते हैं यह कितना बडा भारी अज्ञान है ” इसतरह संसारके यथार्थ स्वरूपका विचारकर, और संसारसे विरक्त होकर उन्होंने अपने पुत्र मनोरथके लिये राज्य दिया और उसीसमय वे परिग्रहरहित होकर मुनिव्रत धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥ १७७-१७९ ॥ वायुरथ और उनके सब भाई बंधु बडे प्रेमसे हिरण्यवर्माके पिता आदित्यगतिके समीप आये, वायुरथने आदित्यगतिसे प्रार्थना की कि “प्रभावतीकी पुत्री इस रतिप्रभा कन्याको आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथको दे दीजिये ” आदित्यगतिने भी उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की और आये हुये सब भाई बंधुओंको विदा किया ॥ १८०--१८१॥ महाराज आदित्यगतिने सब विद्याधरोंके राज्यपर हिरण्यवर्माका राज्याभिषेक किया, अनेक लोगोंके साथ एक मुनिराजके समीप पहुंचे, वायुरथके साथ साथ उन्होंने स्वयं दीक्षा धारण की और वे सब

सहवायुरथः स्वयं । तपो द्वादशधा प्रोक्त यथाविधि समाचरत् ॥ १८३ ॥ इत्युक्त्वा रतिवेगाऽहं रतिषेणा प्रभावती । चाहमेवेति सभ्याना निजगाद सुलोचना ॥ १८४ ॥ तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं क्रमात् । जाये स्म तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृद्वचः ॥ १८५ ॥ पुनः प्रिया जयः प्राह प्रकृत किंचिदस्त्यतः । अवशिष्ट तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यता ॥ १८६ ॥ इति पत्यु परिप्रश्नाद्दशनज्योत्स्नया सभा । मूर्तिः कुमुद्वती वेन्दोर्विकाशमुपनीय ता ॥ १८७ ॥ साऽब्रवीदिति तद्वृत्त स्वपुण्यपरिपाकज । सुख राज्यसमुद्भूत यथेष्टमपि निर्विशन् ॥ १८८ ॥ परेद्युः कान्तया सार्धं स्वेच्छया विहरन्वन । सरो धान्यकमालाख्य वीक्ष्यादित्यगतेः सुत. ॥ १८९ ॥ स्वप्राच्यभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिबलाल्लब्धनिर्वेदो विदुषा-

---

विधिपूर्वक शास्त्रोंमें कहे हुये बारह तरहके तपश्चरणको करने लगे ॥ १८२-१८३॥ यह सब कहकर सुलोचना सब सभासदोंसे कहने लगी कि वह रतिवेगा भी मैं हूं, रतिषेणा कबूतरी भी मैं हूं और प्रभावती विद्याधरी भी मैं हूं ॥ १८४ ॥ यह सुनकर जयकुमार भी संसारको आश्चर्य करनेवाले इसतरहके वचन कहने लगा कि "उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही तेरा पति हुआ था" ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये ! इस कही हुई बातमें कुछ बात बाकी रह गई है उसे भी तू अच्छीतरह कह दे ॥ १८६ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाका प्रतिबिंब कमोदिनीको प्रफुल्लित कर देता है उसीप्रकार वह सुलोचना भी इसतरह अपने पतिके प्रश्न करनेपर अपने दांतोंकी कांतिसे उस सभाको प्रफुल्लित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोंको इसतरह कहने लगी कि " वह हिरण्यवर्मा विद्याधर अपनी इच्छानुसार राज्यसे उत्पन्न हुये सुखको भोगने लगा ॥ १८७-१८८ ॥ किसी एक दिन अपनी रानीके साथ इच्छानुसार विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें पहुंचा, वहांपर सर्प सरोवरको देखकर उसे जातिस्मरण हुआ और पहिले भवके सब संबंध उसने प्रत्यक्षके समान जान लिये। विद्वानोंमें श्रेष्ठ ऐसे उस राजाको काल लब्धिके निमित्तसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगा कि " ये संसारी जीव रात दिन जिसकी अभिलाषा

वरः ॥ १९० ॥ भंगुरः सगमः सर्वोऽप्यंगिनामभिवांच्छितः । किं नाम सुखमत्रेदमल्पसंकल्पसंभव ॥ १९१ ॥ आयुर्वायुचलं कायो हेय एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते लोलैर्बालिशैर्बहुदोषलं ॥ १९२ ॥ अदूरपारः कायोऽयमसारो दुरिताश्रयः । तादात्म्यमात्मनोऽनेन धिगेनमशुचिप्रिय ॥ १९३ ॥ देहवासो भय नास्य यानमस्मान्महद्भयं । देहिनः किल मार्गस्य विपर्यासोऽत्र निर्वृतेः ॥ १९४ ॥ नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैररूपता । निर्वाणात्तिरतो हेयो देह एव यथा तथा ॥ १९५ ॥ बधः सर्वोऽपि सवंधो भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासयत्यायुस्तृष्णाग्नेरिंधन धन ॥ १९६ ॥ आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽतेऽप्यंतकः खलः । इति चक्रकसभ्रातिर्जंतोर्मध्ये भवार्णवे ॥ १९७ ॥ भोगिनो भोगवद्रोगा भोगा नाम न भोग्यकाः । एव भावयतो

करते रहते हैं ऐसा यह विषयोंका समागम क्षणभंगुर है, इस संसारमें थोडेसे संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या चीज है अर्थात् कुछ भी नहीं है, यह आयु वायुके समान चंचल है, अनेक रोगोंसे भरा हुआ यह शरीर अवश्य ही त्याग करने योग्य है, अनेक दोषोंसे भरे हुये इस साम्राज्यको चंचल हुये मूर्ख लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अंत अत्यंत पास है, यह असार है और मल मूत्र आदि बुरी चीजोंके आश्रय है, इसी शरीरके साथ आत्माका सवंध हो रहा है इसलिये अपवित्र पदार्थको प्रिय माननेवाले इस आत्माको शरीरमें रहनेसे तो कुछ भय नहीं लगता है परंतु शरीरमेंसे निकलनेमें बडा भारी भय लगता है, निश्चयसे इस संसारमें ये जीव मोक्षमार्गसे विल्कुल उलटे चलने लगे हैं ॥ १८९-१९४ ॥ यह जीव वास्तविक स्वरूपसे रूपरहित है परंतु शरीरके संवंधसे रूपी हो रहा है और रूप रहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति होना है, इसलिये जिसतरह बने उसतरहसे यह शरीर ही त्याग करने योग्य है ॥ १९५ ॥ इस संसारमें स्त्री पुत्र आदिका संवंध ही बंध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लंबी आयु ही दुःख देती है और तृष्णा रूपी आग्निके लिये यह धन ईंधन है ॥ १९६ ॥ इस जीवको प्रथम तो जन्म लेना पडता है, मध्यमें जरा तथा अनेक रोग हैं और अंतमें दुष्ट मरण है इसतरह इस जीवको इस संसाररूपी समुद्रमें चक्रके समान फिरना पडता

भोगान् भूयोऽभूवन् भयावहाः ॥ १९८ ॥ निषेव्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदीप्यते बुभुक्षाभिर्दीपनीयैरिवौषधैः ॥ १९९ ॥ न तृप्तिरेभिरित्येष एव दोषो न पोषकाः । तृषश्च विषवल्लर्याः ससृतेश्चावलंबनं ॥ २०० ॥ वनि तातनुसंभूतकामाग्निःस्नेहदीपनैः । कामिन भस्मसाद्भावमनीत्वा न निवर्तते ॥ २०१ ॥ जतोभोंगेषु भोगाते सर्वत्र विरतिर्ध्रुवा । स्थैर्ये तस्याः प्रयत्नोऽस्य क्रियाशेषो मनीषिणः ॥ २०२ ॥ प्रापितोऽप्यसकृद्दुखं भोगैस्तानेव याचते । धत्तेऽवताडितोऽप्यङ्घ्रि मात्राऽस्या एव बालकः ॥ २०३ ॥ अध्रुवत्वं गुणं मन्ये भोगायुःकाल संपदां । ध्रुवेष्वेषु कुतो मुक्तिर्विना

है ॥ १९७ ॥ भोगोपभोग करनेवालोंके ये भोग ठीक सर्पकी फणाके समान हैं इसलिये ये भोग करने योग्य नहीं है इसतरह इन भोगोंके लिये जो वार वार विचार किया जाय तो ये बडे ही भयंकर जान पडते हैं ॥ १९८ ॥ ये सेवन किये हुये विषय विषके समान विषम हैं जिसप्रकार पेटकी अग्निको बढानेवाली औषधियोंसे पेटकी अग्नि भडक उठती है उसीप्रकार ज्यों ज्यों इन भोगोंके भोगनेकी इच्छा होती है त्यों त्यों ही ये तेज होते जाते हैं ॥ १९९ ॥ 'इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती' इनमें केवल इतना ही दोष नहीं है किंतु इनसे तृष्णा और बढती है, विषकी लताके समान इस संसारको सहारा देनेवाले ये विषय ही हैं ॥ २०० ॥ स्त्रीके शरीरसे उत्पन्न हुई और स्नेह (प्रेम वा तेल) से बढी हुई यह कामरूप अग्नि कामी लोगोंको भस्म किये बिना कभी वापिस नहीं लौटती है ॥ २०१ ॥ इन सब भोगोंमें इस जीवको भोग करनेके अंतमें अवश्य ही वैराग्य होता है, बुद्धिमान लोगोंको और जो तपश्चरण आदि क्रियायें करनी पडती हैं वे केवल उस वैराग्यके स्थिर करनेके लिये एक उपाय है ॥ २०२ ॥ यद्यपि यह जीव इन भोगोंसे अनेकवार दुखी हुआ है तथापि यह फिर भी उन्हीं भोगोंकी याचना करता है सो ठीक ही है क्योंकि माता जिस पांवसे बालकको मारती है वह बालक फिर भी उस माताके उसी पांवको पकडता है ॥ २०३ ॥ मुझे तो निश्चय है कि भोग, आयु, शरीर और संपदाओंमें जो अस्थिरपना है वह एक बडा भारी गुण है क्योंकि यदि ये सब स्थिर

मुक्तेः कुतः सुखः॥२०४॥ विस्रंभजननैः पूर्वं पश्चात्प्राणार्थहारिभिः । पारिपंथिकसंकाशैर्विषयैः कस्य नापदः ॥ २०५ ॥ तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात्सुखं विषयैश्च यत् । यत्कारवेल्लकं स्वादु प्राभवं ननु तत्क्षुधः ॥ २०६ ॥ संकल्पसुखसंतोषाद्विमुखश्चात्मजात्सुखात् । गुंजाग्नितापसंतुष्टशाखामृगसमो जनः ॥ २०७ ॥ सदाऽस्ति निर्जरा नासौ मुक्त्यै बंधच्युतेर्विना । तच्च्युतिश्च हतेर्बंधहेतोस्तत्तद्धतौ यतं ॥ २०८ ॥ केन मोक्षः कथं जीव्य कुतः सौख्यं क्व वा मतिः । परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥ २०९ ॥ किं भव्य. किमभव्योऽयमिति सगेरते बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यता लक्ष्मीकटाक्ष-

---

होते तो इस जीवको मोक्ष कैसे मिलती ? और बिना मोक्षके इसे सुख कहांसे मिलता ? ॥ २०४ ॥ ये विषय ठीक शत्रुके समान हैं क्योंकि शत्रु जैसे पहिले विश्वास दिलाकर पीछेसे प्राण और धन हरण कर लेते हैं उसीप्रकार ये विषय भी पहिले तो विश्वास उत्पन्न कराते हैं और फिर प्राण और धन हरण कर लेते हैं ऐसे इन विषयोंसे भला किसको दुःख नहीं होगा ! ॥ २०५ ॥ यह प्राणी इन विषयोंसे सुख मान लेता है यह उन विषयोंसे होनेवाले दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि इस जीवको ये कच्चे करेले जो अच्छे लगते हैं वह पहिले लगी हुई भूखका ही प्रभाव है ॥ २०६ ॥ यह जीव कल्पना किये हुये झूठे सुखोंसे संतुष्ट होकर ही आत्मासे उत्पन्न हुये सुखसे विमुख हो रहा है, इसलिये यह जीव गोंगचीकी ललाईको अग्नि समझकर उसके तापनेसे संतुष्ट हुये बंदरके समान है भावार्थ—जैसे उस अग्निसे बंदरका जाडा नहीं जाता उसीप्रकार झूठे सुखोंमें ही संतोष मान लेनेसे इस जीवको वास्तविक सुख नहीं मिलता ॥ २०७ ॥ इस जीवके कर्मोंकी निर्जरा तो सदा होती रहती है परंतु वह बंधके नाश हुये बिना मोक्षका कारण नहीं होती, तथा उस बंधका नाश मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय योग आदि जो बंधके कारण हैं उनके नाश करनेसे होता है, इसलिये सबसे पहिले मिथ्यात्व आदि बंधके कारणोंके नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २०८॥ इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करनेरूप पिशाच लगा है उन्हें भला मोक्ष किसतरह मिल सकती है

शरशायिते ॥ २१० ॥ अयं कायद्रुमः कांताव्रततीततिवेष्टितः । जरित्वा जन्मकांतारे कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥ २११ ॥ यदि धर्मकणादित्थं निदानविषदूषितात् । सुख धर्मामृताम्भोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥ अबोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः । मोक्षश्चेद्वीक्षितो विद्भिः कः क्षेपो मोक्षसाधने ॥२१३॥ यदि देशादिसाकल्ये न तपस्तत्पुनः कुतः । मध्येऽर्णव यतो वेगात्कराग्रन्युतरत्नवत् ॥ २१४ ॥ आत्मन् स्वं परमात्मानमात्मन्यात्मानमात्मना । हित्वा

उनका जीवन कैसे निभ सकता है उन्हें सुख कहांसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि ही कहां उत्पन्न हो सकती है ॥ २०९ ॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी बाणोंसे घायल हुये विद्वान् लोग यद्यपि जानते हैं कि यह लक्ष्मी वा संसार अनित्य है तथापि " क्या यह भव्य है अथवा अभव्य है इस संशयमें पड ही जाते हैं ॥ २१० ॥ यह शरीर रूपी वृक्ष स्त्री रूपी अनेक वेलोंसे घिरा हुआ है सो संसाररूपी वनमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निसे भस्म हो जायगा ॥ २११ ॥ देखो *निदानरूपी विषसे दूषित ऐसे धर्मके एक अंशसे जो मुझे ऐसा सुख मिला है तो फिर धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें डूबनेसे तो कहना ही क्या है ? (उससे तो अवश्य ही अनंत सुख मिलेगा) ॥ २१२ ॥ " यह संसार अज्ञान द्वेष तथा रागस्वरूप है और मोक्ष इससे विपरीत है " इसप्रकार यदि विद्वान् लोग सदा देखते रहें तो फिर मोक्ष प्राप्त होनेमें देर ही क्या लगे ॥ २१३ ॥ जिसप्रकार वेगसे जाते हुये पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिलता उसीप्रकार आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तपश्चरण धारण नहीं किया तो वह तपश्चरण भला फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू आत्माका हित करनेवाले रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोडकर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें जो अपना ही आत्मा परमात्मा है उसे स्वीकार कर ॥ २१५ ॥

* मरते समय कबूतर कबूतरी दोनोंने एक विद्याधरका विमान देखकर निदान किया था कि हम लोगोंने जो कुछ पुण्योपार्जन किया है उससे अगिले जन्ममें हम विद्याधर विद्याधरी हों । उसी निदानके कारण ये विद्याधर विद्याधरी हुये थे

दुरात्मतामात्मनीनेऽध्वनि वरं कुरु ॥ २१५ ॥ इति संचिंतयन् गत्वा पुरं परमतत्त्ववित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिषेकं वितीर्य सः ॥२१६॥ अवतीर्य महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनं । दीक्षां जैनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुसन्निधौ ॥ २१७ ॥ परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोंऽशुभिः । हिरण्यवर्मा घर्मांशु-निर्मलो व्यद्युतत्तरा ॥ २१८ ॥ प्रभावती च तन्मात्रा गुणवत्यास्तपोऽगमत् । कुतश्चंद्रमसं मुक्त्वा चंद्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥ २१९ ॥ सद्वृत्तस्त-पसा दीप्तो दिगम्बरविभूषणः । निस्संगो व्योमगाम्येकाविहारी विश्ववंदितः ॥ २२० ॥ नित्योदयो बुधाधीशो विश्वदृश्वा विरोचनः । स कदाचित्समाग-

---

इसप्रकार चिंतवन करता हुआ आत्माके परम तत्त्वको जाननेवाला वह राजा हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनसे अपने नगरमें गया और अपने पुत्र सुवर्णवर्माका राज्याभिषेक कर उसे सब राज्य सौंप दिया, तदनंतर वह विजयार्द्ध पर्वतसे नीचे पृथ्वीपर उतरा और लक्ष्मीके नगरके समान श्रीनिकेतपुरमें जाकर श्रीपाल गुरुके समीप उसने श्री जैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २१६-२१७ ॥ परिग्रहरूपी पिशाचसे छूटकर और दीक्षा धारणकर सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल हुआ वह हिरण्यवर्मा तपश्चरणकी किरणोंसे बहुत ही दैदीप्यमान हो रहा था ॥ २१८ ॥ हिरण्यवर्माकी रानी प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता शशिप्रभाके साथ साथ गुणवती अर्जिकाके समीप दीक्षा धारण की, सो ठीक ही है क्योंकि चंद्रमाको छोडकर चांदनी भला अलग कहां रह सकती है ॥ २१९ ॥ वे हिरण्यवर्मा मुनि तपश्चरण करते हुये सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है आतपसे दैदीप्यमान है और दिशा तथा आकाशको सुशोभित करनेवाला है उसीप्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले थे, तपश्चरणसे देदीप्यमान थे और दिगम्बर अवस्थारूप आभूषणको धारण करनेवाले थे, सूर्य जिसप्रकार सहायता रहित, अकेला ही आकाशमें गमन करता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी परिग्रहरहित थे, एकाविहारी थे और चारण ऋद्धि होनेसे आकाशमें गमन करते थे, सूर्यको जिसप्रकार सब लोग नमस्कार करते हैं उसीप्रकार

च्छन्मोदयन् पुंडरीकिणीं ॥ २२१ ॥ सप्रभा चंद्रलेखेव सह तत्र प्रभावती । गुणवत्या समागँस्त संगतिः स्याद्यदृच्छया ॥ २२२ ॥ गुणवत्यार्यका दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्तया । कुतोऽसौ गणिनीत्याख्यत्स्वर्गतेति प्रभावती ॥ २२३ ॥ तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नौ सैवेति शुचमागता । कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽब्रवीत्प्रियदत्तया ॥२२४॥ न स्मरिष्यासि किं पारावतद्वंद्व भवद्गृहे । तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥ २२५ ॥ क्वासौ रतिवरोऽद्येति

उनको भी सब लोग नमस्कार करते थे, सूर्य जिसप्रकार नित्य उदय होता है उसीप्रकार उनका ज्ञान भी नित्य ही प्रगट होता रहता था, सूर्य जिसप्रकार बुध नक्षत्रका खामी है और संसारका नेत्र है उसीप्रकार वे भी बुध अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे और संसारके नेत्र अर्थात् सबको देखने वा जानने वाले थे और सूर्यका दूसरा नाम जिसप्रकार विरोचन है उसीप्रकार वे मुनिराज भी विरोचन अर्थात् रुचिरहित उदासीन वा विरक्त थे । जिसप्रकार सूर्य पुंडरीकिणी अर्थात् कमलकी बेलको प्रफुल्लित करता हुआ चलता है उसीप्रकार किसी एक समय विहार करते हुये वे मुनिराज पुंडरीकिणी नगरीको प्रसन्न करते हुये वहीं आ विराजमान हुये ॥ २२०-२२१ ॥ कांतिसहित चंद्रमाकी कलाके समान अर्जिका प्रभावती भी वहां आ पहुंची और गुणवतीके साथ रहने लगी । इसतरह इच्छानुसार विहार करते हुये वे दोनों एक ही नगरमें आ इकट्ठे हुये ॥ २२२ ॥ गुणवती अर्जिकाको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार किया और पूछा कि संघाधिकारिणी अमितमति कहां है ? तब उसने कहा कि उसका तो स्वर्गवास होगया, यह सुनकर प्रभावती कुछ सोच करने लगी और कहने लगी कि " हम दोनोंकी आंखें (मार्ग दिखानेवाली) वही थी " तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ तब प्रभावती कहने लगी कि ॥ २२३-२२४ ॥ " क्या आपको याद नहीं है आपके घरमें हम दोनों कबूतर कबूतरी थे, उनमेंसे मैं रतिषेणा कबूतरी हूं " यह सुनकर प्रियदत्ताको बडा ही आश्चर्य हुआ और वह कहने लगी कि " आज रतिवर कबूतर कहां पैदा हुआ है "

सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा कर्मारिर्घातिरत्रेति साऽब्रवीत् ॥ २२६ ॥ प्रियदत्ताऽपि त गत्वा वादित्वैत्य महामुनिं । प्रभावतीपरिप्रश्नात्पत्युरित्याह वृत्तक ॥ २२७ ॥ विजयार्द्धगिरेरस्य गाधारनगरादिह । विहर्तुं रतिषेणोऽमा गांधार्या प्रियया्ऽगमत् ॥ २२८ ॥ गांधारी सर्पदष्टाऽहमिति तत्र मृषा स्थिता । मत्रौषधीः प्रयोज्यास्याः श्रेष्ठी विद्याधरश्च सः ॥ २२९ ॥ मायया नास्मि शातेति तद्वाक्याखेदमागते । आहर्तुं स्वपतौ याते वनं शक्तिमदौषध ॥ २३० ॥ गाधारी बधकीभावमुपेत्य स्मरविक्रिया । दर्शयती निरीक्ष्याह वणिग्वर्यो दृढव्रत. ॥ २३१ ॥ अह वर्षवरो वेत्सि न किं मामित्युपाय-

---

तब प्रभावतीने कहा कि " वह भी हिरण्यवर्मा नामका विद्याधरोंका राजा हुआ है और कर्मरूप शत्रुओंको नाश करता हुआ आज यहां ही विराजमान है ॥ २२५-२२६ ॥ प्रियदत्ताने भी वहां जाकर महामुनिराजकी बंदना की और फिर वह प्रभावतीके पूछनेपर इसतरह अपने पतिका वृतांत कहने लगी ॥ २२७ ॥ कि रतिषेण नामका एक विद्याधर अपनी स्त्री गांधारीके साथ साथ इसी देशके विजयार्द्ध पर्वतके गांधार नगरसे यहां विहार करनेकेलिये आया था ॥ २२८ ॥ यहां गांधारीने आकर झूठमूठको कह दिया कि मैं सर्पने काट खाई " यह कहकर वहाना वनाकर वह पडगई, शेठ कुबेरकांत और विद्याधरने वहुतसे मंत्र और औषधियोंका प्रयोग किया परंतु गांधारीने मायाचारीसे कह दिया कि " मेरा दुख कुछ शांत नहीं हुआ है " यह सुनकर रतिषेणको वहुत दुख हुआ और वह अधिक शक्तिवाली औषधि लेनेके लिये विजयार्द्ध पर्वतके वनमें चलागया, उसके चलेजानेपर गंधारीने अपना कुलटापन प्रगट किया और कामदेवके सब विकार दिखलाए, यह देखकर उपायोंको जाननेवाले और अपने व्रतोंमें दृढ रहनेवाले वैश्यवर कुवेरकांतने कहा कि " क्या तुझे मालूम नहीं है मैं तो नपुंसक हूं " इस तरह कहकर शेठने अपनी ओरसे उस गांधारीका चित्त विरक्त करादिया (वह गांधारी झकमारकर रह गई) सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही कहलाता है ॥ २२९-२३२ ॥ इसके बाद ही उसका पति औषधि लेकर आगया तव गंधारीने उससे कहदिया

वित् । व्यधाद्विरक्तचित्तां तां तदेव हि धियः फलं ॥२३२॥ तदानीमागते पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वौषधप्रयोगेत्युक्त्वाऽगात्सपतिः पुरं ॥२३३॥ दयितातकुबेराद्यो मित्रातश्च कुबेरवाक् । परः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चांतदेववाक् ॥ २३४ ॥ कुबेरादिप्रियश्चान्यः पचैते सचितश्रुताः । कलाकौशलमापन्नाः संपन्ननवयौवनाः ॥ २३५ ॥ एतैः स्वसूनुभिः सार्धमारुह्य शिबिका वनं । धृत्वा कुबेरश्रीगर्भं मा विहर्तुं समागता ॥ २३६ ॥ दृष्ट्वा कदाचिद्गांधारी पृथक् पृष्टवती पुमान् । त्वच्छ्रेष्ठी नेति तत्सत्यमुत नेत्यन्ववादिशं ॥ २३७ ॥ तत्सत्यमेव मत्तोऽन्या प्रन्यसौ न पुमानिति । तदाकर्ण्य विराग्यासौ सपतिः सयमं श्रिता ॥ २३८ ॥ पुनस्तत्रागता दृष्टा दीक्षेय केन हेतुना । तत्रेति सा मया पृष्टा प्रणम्य प्रियोक्तिभि. ॥ २३९ ॥ श्रेष्ठ्येव ते तपो-

---

कि " पहिली दी हुई औषधिसे ही मेरी तवियत ठीक हो गई है " इसके वाद वह पतिके साथ अपने नगरको चली गई ॥ २३३ ॥ कुबेरदयित, कुबेरमित्र कुबेरदत्त कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पांच मेरे पुत्र थे, ये पांचों ही पुत्र सव शास्त्रोंके जानकार थे, कला कौशलमें निपुण थे और नई जवानीसे सुशोभित थे। किसी एक दिन जव कुबेरश्री नामकी कन्या मेरे गर्भमें थी तव मैं अपने पांचों पुत्रोंके साथ साथ पालकीमें बैठकर वनमें विहार करनेके लिये गई थी, उसीसमय वहां गांधारीने मुझे देखकर और अलग लेजाकर पूछा कि एकवार तुम्हारे शेठने कहा था कि " मैं पुरुष नहीं हूं नपुंसक हूं " यह बात सत्य है या झूठ है, तव मैंने कहा कि " यह वात बिल्कुल ठीक है क्योंकि मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके लिये वह नपुंसक ही है " यह सुनकर वह विरक्त हुई और अपने पतिके साथ उसने संयम धारण कर लिया ॥ २३४-२३८ ॥ किसी एक दिन वह गांधारी आर्जिका फिर यहां आई थी तव मैंने नमस्कारकर मीठे वचनोंसे पूछा था कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है, इसके उत्तरमें इसने कहा था कि मेरे तपश्चरणका कारण तेरा शेठ ही है " शेठने भी यह बात छिपकर सुन ली थी, सुनकर वे बाहर साम्हने आये और पूछने लगे कि जिसने तपश्चरण धारणकर मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहां है ? इसके उत्तरमें गांधारी आर्जिकाने कहा

हेतुरिति प्रत्यब्रवीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठी श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥ २४० ॥ मामजैषीत्सखाऽसौ मे क्वाद्येति परिपृष्टवान् । सोऽपि मत्कारणेनैव गृहीत्वेहागतस्तपः ॥ ॥ २४१ ॥ इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठी नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिं । वंदित्वा धर्ममापृच्छ्य काललब्ध्या महीपतिः ॥ २४२ ॥ गुणपालाय तद्राज्यं दत्वा सँयममाददौ । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशिनः ॥ २४३ ॥ पंचम स्वपदे सूनु नियोज्यान्यैः सहात्मजैः । ययौ श्रेष्ठी च तत्रैव दीक्षां मोक्षाभिलाषुकः ॥ २४४ ॥ तथोक्त्वा कांतवृत्तांतं सा समुत्पन्नसँविदा । विरज्य गृहसँवासात्कुबेरादिश्रियं सती ॥ २४५ ॥ गुणपालाय दत्वा स्वां सुतां गुणवतीं श्रिता । प्रभावत्युपदेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत ॥ २४६ ॥ मुनिं हिरण्यवर्माणं कदाचित्प्रेतभूतले । दिनानि सप्त संगीर्य प्रतिमायोगधा-

---

कि " वे भी मेरे ही कारणसे तपश्चरण धारणकर यहां पधारे हैं ॥ २३९-२४१ ॥ अर्जिकाकी यह बात सुनकर शेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये, उनकी वंदना की और धर्मका स्वरूप पूछा, काल लब्धिके निमित्तसे राजा लोकपालने पुत्र गुणपालको अपना राज्य देकर विद्याधर मुनिराज रतिषेणके समीप संयम धारण किया ॥ २४२-२४३ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले शेठने भी अपने राजशेठके पदपर अपने पांचवें पुत्र कुबेरप्रियको नियुक्त किया और अन्य चारों पुत्रोंके साथ साथ उन्हीं रतिषेण मुनिके समीप दीक्षा धारण की ॥ २४४ ॥ प्रियदत्ताने इसप्रकार अपने पतिके समाचार कहे उस समय उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया था और वह गृहस्थीके निवाससे विरक्त हो गई थी, उस सतीने अपनी पुत्री कुबेरश्री राजा गुणपालके लिये दी और स्वयं प्रभावतीके उपदेशसे गुणवतीके समीप जाकर दीक्षा धारण की ॥ २४५-२४६ ॥ किसी एक समय मुनिराज हिरण्यवर्माने किसी स्मशानमें सात दिनका नियमकर प्रतिमायोग धारण किया था, नगरके सब लोग उनकी वंदना करनेको गये थे, वंदना कर उनके पहिले भवकी कथायें कहते हुये सब लोग नगरको आ रहे थे, एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी सखीसे उनकी सब कथायें सुनी, सुनकर उसे उन मुनिके लिये एक तरहका क्रोध उत्पन्न हुआ और उस क्रोधके होनेसे उसीसमय उसके मिथ्या अवधिज्ञान होगया, उस विभंगावधिसे

रिण ॥ २४७ ॥ वंदित्वा नागराः सर्वे तत्पूर्वभव संकथां । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरित ॥ २४८ ॥ चेटक्याः प्रियदत्तायास्तन्मुनेः प्राक्तन भव । विदित्वा तद्गतक्रोधात्तदोत्पन्नविभंगतः ॥ २४९ ॥ मुनिं पृथक्प्रदेशस्थ प्रतिमायोगमास्थित । प्रभावतीं च सयोज्य चितिकाया दुराशयः ॥ २५० ॥ एकस्यामेव निक्षिप्याधाक्षीदघाजिघृक्षया । सोढ्वा तदुपसर्गं तो विशुद्धपरिणामतः ॥ २५१ ॥ स्वर्गं समुदपद्येता क्षमया किं न जायते । सुवर्णवर्मा तद्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहं ॥२५२॥ करिष्यामीति कोपेन पापिनः संगरं व्यधात् । विदित्वाऽवधिबोधेन तत्तौ स्वर्गनिवासिनौ॥२५३॥ प्राप्य सयमरूपेण सुत धर्मकथादिभिः । तत्त्वं श्रद्धाप्य तं कोपादपास्य कृपयाऽऽहितौ ॥ २५४ ॥ दिव्यं रूपं समादाय निगद्य निजवृत्तकं । प्रदायाभरण तस्मै परार्ध्यं स्वपदं गतौ ॥ २५५ ॥ कदाचिद्वत्सविषये सुसीमानगरे मुने. । शिवघोपस्य कैवल्यमुदपादस्तघातिनः ॥ २५६ ॥ शक्रप्रिये

उसने उन मुनिके पहिले भवके सब समाचार जान लिये ॥२४७-२४९॥ मुनिराज प्रतिमायोग धारण किये हुये अलग विराजमान थे और प्रभावती अलग थी उस दुष्टने पाप संचय करनेकी इच्छासे ही दोनोंको एक जगहकर और एक ही चितामें रखकर जला दिया, उन दोनोंने विशुद्ध परिणामोंसे वह उपसर्ग सहन किया और शरीर छोडकर स्वर्गमें उत्पन्न हुये' सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या क्या नहीं मिलता है । जब यह बात राजा सुवर्णवर्माने सुनी तो उसने क्रोधमें आकर प्रतिज्ञा की " कि मैं पापी विद्युच्चोरको जरूर मारूंगा " इस प्रतिज्ञाको स्वर्गमें रहनेवाले विरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव दोनों देवदेवियोंने अवधिज्ञानसे जान लिया, तुरंत ही वे आये और धर्मकथायें आदि कहकर पुत्र सुवर्णवर्माको संयमी बनाया, उसे तत्त्वोंका श्रद्धान कराया, और दयासे जिनका चित्त भीग रहा है ऐसे उन दोनोंने उसका क्रोध दूर किया ॥ २५०-२५४ फिर उन दोनोंने अपना दिव्य रूप प्रगट किया, अपना सब हाल कहा और उसे बहुमूल्य आभूषण देकर वे दोनों ही अपने स्थान पर चले गये ॥ २५५ ॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमा नगरके समीप घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले शिवघोष मुनिको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥ २५६ ॥ वहांपर शची और मेनका नामकी दो

शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरं । समाश्रित्य सुराधीश स्थिते प्रश्नात्सुरेशितुः ॥ २५७ ॥ अत्रैव सप्तमेऽह्नि प्राक् समात्तश्रावकव्रते । नाम्ना पुष्पवती साऽन्या प्रथमा पुष्पपालिता ॥ २५८ ॥ कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥ २५९ ॥ प्रभावतीचरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसंबंधं तत्रागाता सभावनेः ॥ २६० ॥ निजान्यजन्मसौख्यानुभूतदेशान्निजेच्छया । आलोकयतौ तत्सर्पसरोवण-समीपगौ ॥ २६१ ॥ सह सार्थेन भीमाख्य साधु दृष्ट्वा समागतं । विनयेनाभिवद्यैन धर्मं तौ समपृच्छता ॥ २६२ ॥ मुनिस्तद्वचन श्रुत्वा नाहं धर्मो-पदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्येऽसमर्थो नवसयतः ॥ २६३ ॥ प्ररूपयिष्यते किंचित्स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्य यथाशक्त्यवधानवत् ॥२६४॥

इंद्रकी देवांगनायें इंद्रके साथ साथ आईं और भगवानको नमस्कारकर अपने स्थानपर जा बैठीं, इंद्रने भगवानसे पूछा कि ये दोनों ही किस कारणसे देवांगनायें हुई हैं ? तव तीर्थकर भगवान कहने लगे कि ये दोनों ही पहिले भवमें मालिनकी लडकी थीं, पहिलीका नाम पुष्पपालिता और दूसरीका पुष्पवती था, इन दोनोंने आजसे सातवें दिन (सात दिन पहिले) श्रावकके व्रत धारण किये थे, एक दिन ये एक बनमें फूल तोड रही थीं इतनेमें ही एक सर्पकी विषरूपी अग्निसे अर्थात् सर्पके काटनेसे मरगईं और मरकर ये दोनों देवियां हुई हैं ॥२५७-२५९॥ प्रभावती और हिरण्यवर्माके जीव जो देव देवी हुये थे उन्होंने भी उसी समवसरणमें आकर अपने पहिले भवोंका संबंध सुना और फिर वहांसे निकलकर अपनी इच्छानुसार जहां जहां अपने पहिले जन्ममें सुखोंका अनुभव किया था उन देशोंको देखते हुये सर्प सरोवरके समीपवाले वनमें आये ॥ २६०-२६१ ॥ वहांपर एक संघके साथ भीम नामके मुनिराज विराजमान थे उन्हें देखकर वे दोनों ही उनके समीप आये और विनयसे नमस्कार कर धर्मका स्वरूप पूछने लगे ॥ २६२ ॥ उनकी बात सुनकर वे मुनिराज कहने लगे, कि मुझे दीक्षा लिये अभी थोडे ही दिन हुये हैं, मैं सब शास्त्रोंको नहीं जानता, इसलिये मुझमें धर्मोपदेश देनेकी सामर्थ्य भी नहीं है तथापि तुम्हारे अनुरोधसे मैं अपनी शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूं तुम

इति सम्यक्त्वसत्पात्रदानादिश्रावकाश्रयं । यमादियतिसबधं धर्मं गतिचतुष्टयं ॥ २६५ ॥ तद्धेतुफलपर्यंतं भुक्तिमुक्तिनिबंधनं । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत्प्रत्यपादयत् ॥ २६६ ॥ तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां भवता केन हेतुना । प्रव्रज्येत्यनुयुक्तोऽसौ वक्तुं प्रक्रांतवान्मुनिः ॥ २६७ ॥ विदेहे पुष्कलावत्यां नगरी पुंडरीकिणी । तत्राहं भीमनामाऽऽसं स्वपापाद्दुर्गते कुले ॥ २६८ ॥ अन्येद्युर्यतिमासाद्य किंचित्कालादिलब्धितः । श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकं ॥ २६९ ॥ तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा । दारिद्र्यकर्दमालिप्तदेहानां निष्फलैरिह ॥ २७० ॥ व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्लोककांक्षिणे । ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥ व्रत दत्तवतः स्थानं तस्य मे दर्शयेत्यसौ । मामवादीद्गृहीत्वैनमात्रजन्नहमंतरे ॥२७२॥

लोग सावधान होकर सुनो ॥ २६३-२६४ ॥ यह कहकर उन्होंने सम्यग्दर्शन, सत्पात्रोंको दान देना आदि श्रावकधर्मका स्वरूप कहा, संयम आदि मुनियोंके धर्मका स्वरूप कहा, चारों गतियोंका निरूपण किया, चारों गतियोंके कारण और उनके फल सब कहे, स्वर्गमोक्षके कारण कहे और जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोंका वास्तविक स्वरूप कहा, ॥ २६५-२६६ ॥ यह सब सुनकर वे दोनों ही देव देवी फिर पूछने लगे कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है ? तब वे मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥ कि विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुंडरीकिणी नगरी है, वहांपर मैं अपने पापकर्मोंके उदयसे एक दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, भीम मेरा नाम है ॥ २६८ ॥ किसी एक दिन थोडीसी काल आदि लब्धियोंके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके समीप पहुंचा और उनसे धर्मका स्वरूप सुनकर मैंने गृहस्थियोंके आठ मूलगुण धारण किये ॥ २६९ ॥ मेरे पिताने यह हाल जानकर मुझसे कहा कि "हे पुत्र ! हम लोग दरिद्रताकी कीचडमें फंसे हुये हैं हमें इन निष्फल और कठिनाईसे पलनेवाले व्रतोंसे क्या लाभ है, हमारे लिये तो ये व्यर्थ हैं, इसलिये स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उन्हीं मुनिराजके लिये ये व्रत दे आवें, हमें तो इस संसारसंबंधी फलोंकी आवश्यकता है जिससे कि कुछ जीविका चले॥२७०-२७१ ॥ इसलिये जहां ये व्रत लिये हैं वह स्थान मुझे दिखा " ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब उनको

वज्रकेतोर्महावीथ्या देवतागृहकुक्कुटं । भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनं ॥ २७३ ॥ पुसो हतवतो दडं जिनदेवार्पितं धन । लोभादपन्हुवानस्य धनदेवस्य दुर्मतेः ॥ २७४ ॥ रसनोत्पाटनं हारमनर्घ्यमणिनिर्मित । श्रेष्ठिनः प्राप्य चौर्येण गणिकायै समर्पणात् ॥ २७५ ॥ रतिपिंगलसज्ञस्य शूले तलवरार्पण । निशि मातु' कनीयस्याः कामनिर्लुनसविदः ॥ २७६ ॥ पुत्र्या गेह गतस्यांगच्छेदन पुररक्षिण. । क्षेत्रलोभान्निजे ज्येष्ठे मृते दंडहते सति ॥ २७७ ॥ लोलस्यान्वर्थसज्ञस्य विलाप देशनिर्गमे । द्युते सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥ २७८ ॥ दातु समुद्रदत्तस्य निरशक्तरातपे कुधा । परिवर्द्धितदुर्गंधधूमातर्वर्तिनश्चिर ॥ २७९ ॥ निरोधमभयोद्घोषणायामानददेशनात् । अंगकस्य नृपोरभ्रघातिनः करखडन ॥ २८० ॥ आनदराजपुत्रस्य

लेकर मैं चला, रास्तेमें एक वज्रकेतु नामके पुरुषको राज्यके कुछ सिपाही मार रहे थे, मैंने पिताजीसे इसका कारण पूछा, पिताजीने कहा कि "यह सूर्यकी धूपमें अपना कुछ अनाज सुखा रहा था और किसी मंदिरका मुर्गा उसे खा रहा था, उसे इसने इतना मारा कि वह मर गया, इसलिये ही लोग इसे मार रहे हैं।" दूसरी जगह मैने देखा कि,, जिनदेवने धनदेवके पास कुछ धन धरोहर रख दिया था, दुष्ट धनदेवने लोभमें आकर वह धन उसे देनेसे इनकार कर दिया, इसलिये कुछ राज्यके कर्मचारी उसकी जीभ निकाल रहे थे" तीसरी जगह एक चोरने रतिपिंगल नामके शेठके घर जाकर मणियोंका बना हुआ एक बहुमूल्य हार चुराकर एक वेश्याको दिया था इसलिये कोतवाल उसे शूलीपर चढा रहा था, चौथी जगह कामकी उन्मत्ततासे जिसका सब ज्ञान नष्ट होगया है ऐसा एक कोतवाल रातमें माताकी छोटी बहिनकी पुत्रीके घर गया था, इसलिये राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे थे, पांचवीं जगह सार्थक नामको धारण करनेवाला एक लोल नामका किसान था उसने खेतके लोभसे अपने बडे बेटेको डंडोंसे मारते मारते मार डाला था इसलिये उसे देशनिकालेकी भारी सजा दी जा रही थी और वह रो रहा था, छठी जगह सागरदत्तने जूआमें समुद्रदत्तका बहुतसा धन

तद्भुक्त्वाऽवस्कराशनं । मद्यविक्रयणे बालं कंचिदाभरणेच्छया ॥ २८१ ॥ हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तत्संविधानकं । प्रकाशितवती स्वात्मजं शुंडायाश्च निग्रहं ॥ २८२ ॥ पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाकं दुरुत्तर ॥ १८३ ॥ अवधार्यानभिप्रेतव्रतत्यागो भवाद्भयात् । रोपमोपमृपायोपाहिंसाश्लेत्रादिदूपिताः ॥ २८४ ॥ नात्रैव किंत्वमुत्रापि ततश्चित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दौर्गत्य प्राक्तनात्पापकर्मणः ॥२८५॥ इद तस्मात्समुच्चेय पुण्य सच्चेष्टितैः पुरुः । इति त मोचयित्वाऽग्रहीप दीक्षा मुमुक्षया ॥ २८६॥ सद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्धिपारगः । विशुद्धमति-

---

जीत लिया था परंतु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था, इसलिये क्रोधसे उसे धूपमें बिठाल रक्खा था और जिसके भीतर दुर्गंधका धूंआ खूब भरगया था ऐसी एक कोठरीमें उसे रोक रक्खा था, सातवीं जगह एकवार आनंद महाराजकी आज्ञासे सब जीवोंके लिये अभयघोषणा दी गई थी अर्थात् किसी जीवको न मारनेकी आज्ञा दी गई थी परंतु आनंदराजके पुत्र अंगकने एक मेडा मारा था और उसका मांस खाया था, इसलिये उसके हाथ काटे जा रहे थे और उसके मुंहमें विष्ठा दिया जा रहा था, आठवीं जगह एक मद्य पीनेवाली औरतने मद्य खरीदनेके लिये आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें गाड दिया था और यह समाचार वह अपने पुत्रसे कह रही थी, किसी राजकर्मचारीने उसे सुनलिया था इसलिये पकडकर उसे दंड दिया जा रहा था ॥२७२-२८२॥ हिंसादि दोषोंसे उत्पन्न हुये इन पापकार्योंको देखकर मैंने निश्चय किया कि इस लोक और परलोक दोनों जगह पापका फल बहुत ही बुरा होता है, मैंने संसारके भयसे व्रतोंका त्याग करना अनुचित समझा मैं सोचने लगा कि "हिंसा झूठ चोरी परस्त्रीसेवन और परिग्रह इन पांचों पापोंसे दूषित हुये जीवोंको इसी लोकमें अनेक तरहका बध वंधन भोगना पडता हो इतना ही नहीं है किंतु इनके साथ साथ परलोकमें भी नरकादिके अनेक दुख भोगने पडते हैं, हम लोगोंको यह दरिद्रता भी पहिले जन्मके पापकर्मोंके उदयसे ही मिली है, इसलिये सदाचारी लोगोंको इस पुण्यका खूब अच्छीतरह संचय

रन्येद्युः समीपे सर्ववेदिनः ॥ २८७ ॥ मद्दुष्टपूर्वजन्मानि समश्रौष यथाश्रुतं । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वा कौतुकं महत् ॥ २८८ ॥ इहैव पुष्कलावत्या विषये पुडरीकिणी । परिपालयति प्रीत्या वसुपालमहीभुजि ॥ २८९ ॥ विद्युद्वेगाह्वयं चोरमवष्टभ्य करस्थितं । धन स्वीकृत्य शेष च भवता दीयतामिति ॥ २९० ॥ आरक्षिणो निगृह्णीयुर्दत्त विमतये धन । इत्यब्रवीत्स सोऽप्याह गृहीत न मयेति तत् ॥ २९१ ॥ विमतेरेव तद्गेहे दृष्ट्वोपायेन केनचित् । दडकारणिकैः प्रोक्त मृत्स्ना पात्रीत्रयोन्मित ॥ २९२ ॥ शकृतो भक्षगं मल्लैस्त्रिंशन्मुष्ट्यभिताडन । सर्वस्वहरग चैतत्रय जीवितवांछ-

करना चाहिये" यही सोचकर मैंने अपने पिताजीको छोड दिया और मोक्ष प्राप्त होनेकी इच्छासे दीक्षा धारण करली ॥ २८३-२८६ ॥ गुरुके प्रसादसे शीघ्र ही मैं सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया और मेरी बुद्धि विशुद्ध होगई, किसी एक दिन मैंने सर्वज्ञदेवके समीप अपने पहिले दुष्ट भव सुने थे, जिसतरह मैंने वे पहिले जन्म सुने थे उसीतरह मैं तुम लोगोंको वडा भारी कौतुक उत्पन्न करनेके लिये कहता हूं ॥ २८७-२८८ ॥ इसी पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीको वडे प्रेमसे राजा वसुपाल पालन करता था ॥ २८९ ॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्वेग नामके चोरको पकडा, उसके हाथ जो कुछ चुराया हुआ धन था वह तो उससे लेलिया और फिर कहा कि वाकीका धन दो, धन न देनेपर कोतवालने उसे दंड दिया तब कहीं उसने कहा कि मैंने वह धन विमतिको देदिया है, विमतिने पूछनेपर कहा कि "मैंने नहीं लिया है" इसके वाद कोतवालने किसी उपायसे विमतिके घरमें ही वह धन ढूंढ निकाला तब दंड देनेवालेने कहा कि "या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर विष्ठा खाओ या मल्लके तीस मुक्कोंकी चोट सहो अथवा अपना घर धन आदि सब दे दो तुम्हारे लिये ये तीन तरहके दंड हैं" यह सुनकर जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पहिले तो विष्ठा खाना स्वीकार किया, जब नहीं खा सका तब मुक्कोंकी चोट सही, जब वे भी सब नहीं सहे गये तब अपना सर्वस्व देदिया, इसतरह सबका अनुभव कर वह मरगया और मरकर नरकमें पहुंचा, इधर

या ॥ २९३ ॥ स सर्वमनुभूयायात्प्राणाते नारकी गतिं । विद्युच्चोरस्त्वया हन्यतामित्यारक्षको नृपात् ॥ २९४ ॥ लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि नैन हिंसादिवर्जन । प्रतिज्ञात मया साधोरित्याज्ञा नाकरोदसौ ॥ २९५ ॥ गृहीतोत्कोच इत्येप चोरारक्षकयोर्नृपः । शृंखलाबंधनं दृष्ट्वा कारयामास निर्घृण॥२९६॥ त्वयाऽह हेतुना केन हतो नेत्यनुयुक्तवान् । प्रत्युष्यारक्षक चोरः सोऽप्येव प्रत्यपादयत् ॥ २९७ ॥ एतत्पुरममुष्यैव राज्ञः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसंज्ञया ॥ २९८ ॥ अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । आस्थायिकाया भावेन स्थायिनानृत्यदुद्रम ॥ २९९ ॥ तदालोक्य महीपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥ ३०० ॥ श्रेष्ठिनःशमिनोऽन्येद्युः प्रतिमायोगधारिण. । सोपवासस्य पूज्यस्य

राजाने एक चांडालको आज्ञा दी कि " तू इस विद्युच्चोरको मार डाल " परंतु राजासे इसतरहकी आज्ञा मिलनेपर भी चांडालने कहा कि " मैं इसको नहीं मार सकता क्योंकि मैंने साधुके समीप हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा ली है " इसतरह उसने राजाकी आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ २९०-२९५ ॥ राजाने समझा कि इसने कुछ रिशवत ली है इसलिये उसने क्रोधित होकर चोर और चांडाल दोनोंको बडी निर्दयतासे एक सांकलमें बंधवा दिया ॥ २९६ ॥ चोरने संतुष्ट होकर उस चांडालसे पूछा कि किस कारणसे तूने मुझे नहीं मारा, तब चांडाल कहने लगा ॥ २९७ ॥ कि पहिले इसीनगरमें इसी राजाका पिता गुणपाल राज्य करता था और उसके पास कुबेरप्रिय नामका एक महा शेठ रहता था ॥ २९८ ॥ इसी नगरमें एक नाट्यमाला नामकी नाटकाचार्यकी लडकी थी एक दिन उसने राजाकी सभामें रति, हास, शोक, क्रोध उत्साह, भय जुगुप्सा और विस्मय ये आठों शृंगार रसके स्थायी भाव दिखलाकर बहुत ही रसीला नृत्य किया ॥ २९९ ॥ उस नृत्यको देखकर राजाको बहुत ही आश्चर्य हुआ, यह देखकर उत्पलमाला नामकी वेश्याने कहा कि " हे देव ! इसमें क्या आश्चर्य है (नृत्य करनेवाली नृत्य करती ही है) एक आश्चर्य मैंने देखा है उसे सुनिये । किसी एकदिन अत्यंत शांत और पूज्य कुबेरप्रिय शेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उसीदिन मैं

गत्वा चालयितुं मनः ॥ ३०१ ॥ नाशकं तदिहाश्चर्यमित्याख्यद्भूभुजाऽपि सा । गुणप्रिये वृणीष्वेति प्रोक्ता शीलाभिरक्षणम् ॥ ३०२ ॥ अभीष्टं मम देहीति तद्दत्त व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृह सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥ ३०३ ॥ रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा त बाह्याऽद्येति तेन तत् । प्रतिपादनवेलायामेवायान्मन्त्रिण. सुतः ॥ ३०४ ॥ नृपतेर्मैथुनो नाम्ना पृथुधीस्त निरीक्ष्य सा । मञ्जूषाया विनिक्षिप्य गणिका सर्वरक्षित ॥ ३०५ ॥ त्वया मदीयाभरण सत्यवत्यै समर्पित । त्वद्भगिन्यै तदानेयमित्याह नृपमैथुन ॥३०६॥ सोऽपि प्राक् प्रतिपाद्यैतद्व्रतग्रहणसश्रुतेः । प्रातिकूल्यमगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुन. ॥ ३०७ ॥ साक्षिण परिकल्प्यैन मञ्जूषास्थ महीपतेः । सन्निधौ याचितो वित्तमसावुत्पलमालया ॥ ३०८ ॥ न गृहीत मयेत्यस्मिन्मिथ्या-

---

उनका मन डिगानेके लिये गई थी परंतु मैं उनके मनको नहीं चला सकी, इस संसारमें यह बडे आश्चर्यकी बात है " यह सुनकर राजाने कहा कि " तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिये तू जो चाहे सो वर मांग " तब उस वेश्याने कहा कि " अब शील पालन करनेकी मेरी इच्छा है आप कृपाकर मुझे यही वरदान दीजिये " राजाने वह वरदान उसे दिया और इस तरह उसने शीलव्रत स्वीकार किया। किसी एक दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातमें उसके घर गया उसे देखकर उत्पलमालाने कहा कि " आज मैं रजस्वला हुई हूं " इन दोनोंकी इसतरह बात चीत हो रही थी इतनेमें ही पृथुधी नामका राजाका साला और मंत्रीका पुत्र आया, उसे आता देखकर उस वेश्याने कोतवालको एक संदूकमें छिपा दिया और वह उस राजाके सालेसे कहने लगी कि " आपने मेरे सब आभूषण जो अपनी बहिन सत्यवतीके लिये दिये थे वे लाओ " पृथुधीने कहा " हां अभी लाता हूं " परंतु जब पीछेसे उसे यह मालूम हुआ कि इसने शीलव्रत ले लिया है तब ईर्ष्यामें आकर वह प्रतिकूल होगया अर्थात् उसने कह दिया कि मैं नहीं लाया हूं । दूसरे दिन वह उत्पलमाला वेश्या संदूकमें बैठे हुये कोतवालको गवाही बनाकर राजाके पास गई और उसने राजाके साम्हने ही उस राजाके सालेसे अपने आभूषण मांगे ॥ ३००-३०८ ॥ पृथुधीने राजाके साम्हने भी झूठमूठ ही

वादिनि भूभुजा । पृष्टा सत्यवती तस्य पुरस्तान्यक्षिपद्धनं ॥ ३०९ ॥ मैथुनाय नृपः क्रुध्वा खलोऽयं हन्यतामिति । आज्ञापयत्पदातीन् स्वान् युक्तं तन्न्यायवर्तिनः ॥ ३१० ॥ पठन्मुनींद्रसद्धर्मशास्त्रसश्रवणात्द्रुत । अन्येद्युः प्राक्तन जन्म विदित्वा शममागते ॥ ३११ ॥ यागहस्तिनि मांसस्य पिंडदानमनिच्छति । तद्वक्रियोपायविच्छ्रेष्ठी विबुध्यानेकपोगित ॥३१२॥ सर्पिर्गुडपयोमिश्रशाल्योदनसमर्पित । पिंडं प्रयोजयत्सोऽपि द्विरदस्तमुपाहरत् ॥३१३॥ तदा तुष्ट्वा महीनाथो वृणीष्वेष्ट तवेति त । प्राह पश्चाद्गृहीष्यामीत्यभ्युपेत्य स्थितः स त ॥ ३१४ ॥ सचिवस्य सुतं दृष्ट्वा नीयमान शुचा नृपात् । वरमादाय तद्दातात् दुर्वृत्त त व्यमोचयत् ॥ ३१५ ॥ श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं ममाकारीत्यमँस्त सः । पापिनामुपकारोऽपि स भुजंगपयायते ॥ ३१६ ॥

कह दिया कि "मैने नहीं लिये हैं" तब राजाने अपनी रानी सत्यवतीसे पूछा, सत्यवतीने राजाके साम्हने ही सब धन लाकर रख दिया ॥ ३०९ ॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर बहुत क्रोधित हुआ और अपने सिपाहियोंको आज्ञा दी कि "इस दुष्टको मारो" सो ठीक ही है क्योंकि न्याय करनेवाले राजाको ऐसा करना उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिनकी बात है कि एक मुनिराज किसी धर्मशास्त्रका पाठ कर रहे थे उसे सुनकर राजाके पट्ट हाथीको (मुख्य हाथीको) जातिस्मरण होगया वह पहिले जन्मकी सब बातें जानकर शांत होगया और उसने मांसका भोजन लेना भी छोड दिया, यह देखकर अनेक उपायोंको जाननेवाले शेठ कुबेरप्रियने भी हाथीके सब इशारे समझ लिये और घी गुड दूध मिलाकर शालि चांवलोंका भात उसे खानेको दिया, हाथीने भी वह दिया हुआ शुद्ध आहार खा लिया ॥ ३११-३१३ ॥ उससमय संतुष्ट होकर राजाने शेठसे कहा कि "तुम अपनी इच्छानुसार चाहे सो वर मांग लो" शेठने कहा कि "अच्छा इस वचनको अभी आप अपने ही पास रखिये मैं पीछे कभी ले लूंगा" यह कहकर शेठ आनंदसे रहने लगा ॥ ३१४ ॥ इससमय मंत्रीके पुत्रको मारनेके लिये ले जाते हुये देखकर उसे शोक हुआ और उसने राजासे अपना रक्खा हुआ वर मांगकर उस दुराचारी मंत्रीके पुत्रको मरनेसे बचाया ॥ ३१५ ॥ परंतु मंत्रीके पुत्रने अपने मनमें यही समझा कि यह मेरा तिरस्कार शेठने ही

अन्येद्युर्मैथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन्वने । खेचरान्मुद्रिकामापकामरूपविधायिनीं ॥ ३१७ ॥ करांगुलौ विनिक्षिप्य तां वसोः स्वकनीयसः । संकल्प्य श्रेष्ठिनो रूपं सत्यवत्या निकेतनं ॥ ३१८ ॥ प्रविश्य पापधी राजसमीपं स्वयमास्थितः । वसुं गृहीतश्रेष्ठीस्व रूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥ ३१९ ॥ श्रेष्ठी किमर्थमायातोऽकाल इत्यवदत्तदा । अनात्मज्ञोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥ ३२० ॥ मदनानलसंतप्त इति मैथुनिकोऽब्रवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहन्यता ॥ ३२१ ॥ श्रेष्ठी त्वयेति श्रेष्ठी च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥ ३२२ ॥ पृथुधीस्तमवष्टभ्य गृहीत्वा घोषयन् जने । अपराधमसतं च नीत्वा प्रेतमहीतलं ॥ ३२३ ॥ आरक्षक्रूरे हतुमर्पयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्यहन्नसिना

किया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी लोगोंका उपकार करना भी सर्पको दूध पिलानेके समान है ॥ ३१६ ॥ किसी एक दिन, वह राजाका साला अपनी इच्छानुसार बनमें विहार कर रहा था, वहां उसे एक विद्याधरसे अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना देनेवाली एक अंगूठी मिली ॥३१७॥ पृथुधीने वह अंगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी उंगलीमें पहना दी तथा शेठका रूप बनाकर उसे (अपनी बहिन रानी) सत्यवतीके घर भेज दिया और वह पापी स्वयं राजाके समीप जाकर बैठ गया । राजाने वसुको शेठके रूपमें देखकर उसीसमय पूछा कि ' शेठ इस असमयमें तुम यहां क्यों आये ? ' तब समय देखकर राजाके सालेने कहा कि " इस समय इसे अपने परायेका कुछ ज्ञान नहीं है, काम रूप अग्निसे संतप्त होकर यह पापी सत्यवतीके पास आया है " सालेकी यह बात सुनकर बिना परीक्षा किये ही राजाने उसी मंत्रीके पुत्र पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम शेठको मार दो " । शेठ उस दिन रातमें अपने घर पर ही प्रतिमायोग धारण कर ध्यान कर रहा था ॥ ३१८-३२२ ॥ मंत्रीके पुत्र पृथुधीने उसे वहीं जाकर बांध लिया और जो अपराध उसने कभी नहीं किया था उसे भी लोगोंको प्रगट करता हुआ वह साला शेठको स्मशानमें ले गया ॥ ३२३ ॥ वहांपर उस पापीने मारनेके लिये चांडालको सोंप दिया, चांडालने भी उसे राजाकी आज्ञा समझकर

दढ ॥ ३२४ ॥ तस्य वक्षस्स्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलवतो भक्तस्यार्हत्परमदैवते ॥ ३२५ ॥ दण्डनादपरीक्ष्यस्य महोत्पातः पुरेऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद्भवेत् ॥ ३२६ ॥ नरेशो नागराश्चैनदालोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं स्मशानाभिमुखं ययुः ॥ ३२७ ॥ तदोपसर्गनिर्णाशे विस्मयान्नाकवासिनः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वर्यमपूजयन् ॥ ३२८ ॥ अपरीक्षितकार्याणामस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयत्रस्तमानसेषु नृपादिषु ॥ ३२९ ॥ अस्मदर्जितदुष्कर्मपरिपाकादभूदिदम् । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवम् ॥ ३३० ॥ वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्ठः क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत्पुरीम् ॥ ३३१ ॥ एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणा सुता नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त

उसपर तलवारका भारी प्रहार किया ॥ ३२४ ॥ श्रीअरहंत परमदेवकी भक्ति करनेवाले और शील व्रतको पालन करनेवाले उस शेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार एक मणियोंका हार बन गया ॥ ३२५ ॥ बिना परीक्षा किये ही उस शेठको दंड देनेसे नगरमें ऐसा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सब लोगोंका क्षय हो सकता था, सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंको वध करनेसे क्या नहीं होता है ॥ ३२६ ॥ राजा और नगरके सब लोग उस उपद्रवको देखकर भयसे घबडाये और उसी शेठकी शरणमें जानेके लिये स्मशानकी ओर दौडे ॥ ३२७ ॥ तब कहीं जाकर वह उपसर्ग शांत हुआ, स्वर्गके रहनेवाले देवोंने बडे आश्चर्यसे उस शेठके शीलव्रतका प्रभाव वर्णन किया और उसकी पूजा की ॥ ३२८ ॥ जिनका मन भयसे कुछ घबडा गया है ऐसे राजा आदि सब लोग उस शेठसे प्रार्थना करने लगे कि हम लोग विचार कर काम नहीं करते इसलिये आप हमें क्षमा कर दीजिये, इसप्रकार कहनेपर क्षमा करनेवालोंमें मुख्य ऐसे शेठने कहा कि " मेरे कमाये हुये अशुभ कर्मके उदयसे ही यह सब हुआ है निश्चयसे इसमें आप लोगोंको कुछ विषाद नहीं करना चाहिये " इसतरह कह कर उसने सबकी उदासी दूर की तब सब लोगोंने उस पूज्य शेठको आगेकर बडी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश कराया ॥ ३२९-३३१ ॥ इसतरह कितना ही समय व्यतीत होनेपर इस ऐश्वर्यशाली राजाने

विंभूतिमान् ॥ ३३२ ॥ अथान्येद्यः सभामध्ये पृष्टवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्य धर्मादीति चतुष्टय ॥३३३ ॥ परस्परानुकूलास्ते सम्यग्दृष्टिपु साधुषु । न मिथ्यादृक्ष्विति प्राह श्रेष्ठी धर्मादितत्त्ववित् ॥ ३३४ ॥ इति तद्वचनाद्राजा तुष्टोऽभीष्ट त्वयोच्यता । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यजातिमृत्युक्षयाविति ॥ ३३५ ॥ न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मुच साधयामीति तमवोचद्वणिग्वर. ॥ ३३६ ॥ तदाकर्ण्य गृहत्यागमह च सह तेऽधुना । करोमि किंतु मे पुत्रा बालका इति चिंतयन् ॥ ३३७ ॥ सद्यो भिन्नाडकोद्भूतान् मक्षिकादानतत्परान् । क्षुधापीडाहतान्वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥ ३३८ ॥ सर्वेऽपि जीवनोपायं जतवो जानते तरा । स्वेपा विनोपदेशेन तत्कि मे बालचिंतया ॥ ३३९ ॥ इत्यसौ वसुपालाय दत्वा-

---

वारिषेणा नामकी इसी शेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिये ली ॥ ३३२ ॥ किसी एक दिन राजाने सभामें बैठकर शेठसे पूछा कि धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ परस्पर विरुद्ध हैं या नहीं है ॥ ३३३ ॥ तब धर्म आदि चारों पदार्थों के यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले शेठने उत्तर दिया कि सम्यग्दृष्टी सज्जनोंके लिये तो ये चारों ही पदार्थ परस्पर अनुकूल हैं और मिथ्यादृष्टियोंके लिये ये चारों ही प्रतिकूल वा विरुद्ध हैं ॥ ३३४ ॥ शेठके इन वचनोंसे राजाको बहुत ही संतोष हुआ उसने शेठसे कहा कि जो तुमको अच्छा लगे वही वर मांग लो, मैं दूंगा, तब शेठने कहा कि मैं अपने जन्म मरणको नाश करना चाहता हूं ॥ ३३५ ॥ इसपर राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे वश नहीं हैं अर्थात् मैं इन्हें नहीं दे सकता " तब शेठने कहा कि " अच्छा आप मुझे छोड दीजिये मैं इन दोनोंको सिद्ध कर लूंगा ॥ ३३६ ॥ यह सुनकर राजाने कहा कि " अब तेरे साथ मैं भी घर छोड़ूंगा, परंतु मेरे पुत्र अभी बालक हैं इस तरह वह राजा विचार कर ही रहा था कि इतनेमें ही अकस्मात् उसकी दृष्टि एक छिपकलीके बच्चेपर पडी वह बच्चा उसीसमय अंडेसे निकला था, भूखसे पीडित हो रहा था और इसलिये ही वह मक्खियोंको पकडनेमें तत्पर हो रहा था । यह देखकर राजा सोचने लगा कि " संसारके सब जीव जीविकाके उपायोंको तो बिना किसीके उपदेशके अपने

राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकं ॥ ३४० ॥ गुणपालमहाराजः सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूभुजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥ ३४१ ॥ श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकान्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतं । तस्मात्त्वं न हतोऽसीति ततस्तुष्टाव सोऽपि तं ॥ ३४२ ॥ इत्युक्त्वा सोऽब्रवीदेव प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं भवदेवाख्यो रतिवेगासुकान्तयोः ॥ ३४३ ॥ बद्धवैरो निहताऽभूः पारावतभवेऽप्यनु । मार्जारः सन्मृतिं कृत्वा पुनः खचरजन्मनि ॥ ३४४ ॥ विद्युच्चोरत्वमासाद्य सोपसर्गौ मृतिं व्यधाः । तत्पापान्नरके दुःखमनुभूयागतस्ततः ॥३४५॥ अत्रेत्याखिलविद्युक्त व्यक्तवाग्विसरः स्फुटं । व्यधात्सुधीः स्ववृत्तांतं भीमसाधुः सुधाशिनोः ॥ ३४६ ॥ त्रिःप्राक् त्वन्मारितावावामिति शुद्धित्रयान्वितौ । जातसद्धर्मसद्भावावभिवद्य मुनिं

आप ही बहुत अच्छीतरह जान लेते हैं, इसलिये मुझे पुत्रोंकी चिंता करनेसे क्या लाभ है ?" यही सोचकर उसने विधिपूर्वक वसुपालको राज्य दिया और श्रीपालको पट्टसहित युवराज पद दिया इसतरह महाराज गुणपालने शेठ कुबेरप्रिय और अनेक राजाओंके साथ साथ मुनिराजके समीप जाकर तपश्चरण धारण किया ॥ ३३७-३४१ ॥ वह चांडाल कहने लगा कि " शेठके अहिंसा फलको देखकर मैंने भी अहिंसाव्रत धारण किया है और इसलिये ही मैंने तेरा वध नहीं किया है " यह सुनकर विद्युच्चोर भी बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ३४२ ॥ यह सब समाचार कहकर वह भीम मुनि फिर कहने लगा कि श्रीसर्वज्ञदेवने मुझसे प्रगट अक्षरोंमें साफ कहा है कि " तू पहिले मृणालवती नगरमें भवदेव नामका एक वैश्य हुआ था, वहां तूने रतिवेगा और सुकांतसे बैर बांधा था और उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर कबूतरी हुये थे और तू बिलाव हुआ था, बिलावके भवमें भी तूने उन दोनों कबूतर कबूतरीको मारा था, वे मरकर विद्याधर विद्याधरी हुये और तू विद्युच्चोर हुआ था उस भवमें भी तूने मुनि और अर्जिका अवस्थामें विराजमान उन दोनों विद्याधर विद्याधरीको उपसर्ग देकर मारा था, उसी पापके फलसे तू नरक गया था और वहांके दुःखोंका अनुभव कर वहांसे निकलकर यहां भीम हुआ है " इसतरह उस बुद्धिमान भीम साधुने उन देव देवियोंके लिये अपना

गतौ ॥ ३४७॥ इति व्याहृत्य हेमांगदानुजेदं च साऽब्रवीत् । भीमः साधुः पुरे पुंडरीकिण्यां घातिघातनात् ॥ ३४८ ॥ रम्ये शिवकरोद्याने पचमज्ञानपूजितः । तस्थिवाँस्तं समागत्य चतस्रो देवयोषितः ॥ ३४९ ॥ वंदित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिर्मृतः । त्रिलोकेश वदास्माक पतिः कोऽन्यो भविष्यति ॥ ३५० ॥ इत्यपृच्छन्नसौ चाह पुरेऽस्मिन्नेव भोजकः । सुरदेवाह्वयस्तस्य वसुषेणा वसुंधरा ॥३५१॥ धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सवसतिका ॥ ३५२ ॥ चतस्रश्चेटिकास्तासामन्येद्युस्ता वनातरे । सर्वा यतिवराभ्यासे धर्मं दानादिनाऽऽददुः ॥३५३॥ तत्फलेनाच्युते कल्पे प्रतींद्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिषेणा सुसीमाख्या मुख्याऽन्या च सुखावती ॥ ३५४ ॥ सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेटिकाः

सब वृतांत कहा ॥३४३-३४६॥ उसे सुनकर उन दोनो देव देवियोंने कहा कि " आपने जिन्हें पहिले तीन बार मारा है ऐसे वे हमी हैं " यह कह कर जिनके मन बचन काय तीनों शुद्ध हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों ही देव देवी उन मुनिकी बंदनाकर अपने स्थानको चले गये ॥ ३४७ ॥ यह सब कहकर हेमांगदकी बहिन सुलोचना फिर कहने लगी कि पुंडरीकिणी नगरके शिवंकर नामके मनोहर उद्यानमें मुनिराज भीमको घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे पांचवां केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, सबने उनकी पूजा की, वे वहींपर विराजमान थे, वहीं चार देवांगनाओंने आकर उनकी बंदना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी ! हम लोगोंके पापके उदयसे हमारा पति मर गया है, कृपाकर आप कहिये कि अब कौन दूसरा हमारा पति होगा ? तब सर्वज्ञदेव भीम कहने लगे कि इसी नगरके राजा सुरदेवके वसुषेण, वसुंधरा, धारिणी और पृथिवी ये चार प्यारी रानिया थीं तथा श्रीमती, वीतशोका विमला और वसंतिका ये चार दासियां थीं। किसी एक दिन वे सब किसी बनमें मुनिराजके समीप गईं थीं और वहां उन्होंने दान आदि धर्म करना स्वीकार किया था ॥ ३४८-३५३ ॥ उस धर्मके प्रसादसे वे चारों ही रानियां सोलहवें अच्युत स्वर्गमें प्रतींद्रकी तुम प्रिय देवांगनायें हुई हों, रतिषेणा, सुसीमा, मुख्य सुखावती, और सुभगा तुम्हारे

पुनः । चित्रषेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती सती ॥ ३५५ ॥ धनश्रीरित्यमूर्जाता वनदेवस्य कन्यकाः । सुरदेवोऽप्यभूत्तत्र पिङ्गलः पुररक्षकः ॥ ३५६ ॥
स तत्र निजदोषेण प्राप्तनिगलबन्धनः । मातुस्तत्सुरदेवस्य प्राप्ता या राजपुत्रता ॥ ३५७ ॥ श्रीपाल[illegible] [illegible] । तदा पिङ्गल-
ख्योऽपि मुक्तः संन्यस्य सम्प्रति ॥ ३५८ ॥ भूत्वाऽच्युतविमानेऽसौ [illegible] । [illegible] ॥ ३५९ ॥ [illegible]
कृतं तेन तत्राऽऽगत्य मुनेर्वचः । पृष्ट्वाऽनुकन्यकाभि[illegible] ॥ ३६० ॥ [illegible] पिङ्गल[illegible] । सोऽपि संन्यस्य
युष्माकं रतिदायी भविष्यति ॥ ३६१ ॥ [illegible] ॥ ३६२ ॥ [illegible]

नाम हैं, तथा वे चारों दासियां चित्रषेणा चित्रवेगा, सती धनवती और धनश्री नामकी वनदेवकी कन्या हुई हैं । राजा सुरदेव मरकर पिंगल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही किसी दोषसे जेलखानेमें पडगया है । सुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और वह श्रीपाल कुमारको व्याही गई है, उसके विवाहके उत्सवमें जब सब कैदी छोड गये थे तब उनमें पिंगल भी छूट गया था । अब वह सन्यास धारण कर अच्युत विमानमें उत्पन्न होगा और वही तुम्हारा स्वामी होगा । सुलोचना कहने लगी कि वह पिंगल वहीं आकर उत्पन्न हुआ और इसतरह मुनिराजके मनोहर वचन उसने सत्य कर दिखाये । इतनेमें ही वे चारों वनदेवकी कन्यायें आईं और सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगीं ॥ ३५६-३६० ॥ तब वे मुनिराज कहने लगे कि जिस पिंगल कोतवालकी बात ऊपर कही है उसीके पुत्रका नाम अतिपिंगल है, वही सन्यास धारणकर मरकर तुम्हारा पति होगा ॥ ३६१ ॥ केवलीके ये वचन सुनकर वे चारों ही व्यंतरी देवियां अतिपिंगलकी सेवा करनेके लिये गईं, उसे देखकर उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ ॥ ३६२ ॥ सुलोचना फिर कहने लगी कि उन देवियोंने रतिकूल नामके मुनिका सब चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना, सुकेतुका चरित्र सुना और सबको सत्य पाया, तब वे सब देवांगनायें संतुष्ट होकर तथा उन

धानस्य संविधान मुनेः श्रुतं । तत्पितुर्भणिनागादिदत्तस्य प्रकृतं तथा ॥ ३६३ ॥ सुकेतोश्चाखिले तस्मिन्सत्यीभूते मुनीश्वरं । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवंद्य तं ॥ ३६४ ॥ आवामपि तदा वदनाय तत्र गताविद । श्रुत्वा दृष्ट्वा गतौ प्रीतिपरीतहृदयौ दिव ॥ ३६५ ॥ इत्यात्मीयभवावली-मनुगतैर्मान्यैर्मनोरजनैः स्पष्टैरस्खलितैः कलैरविरलैरव्याकुलैर्जल्पितैः । आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोच्चनीचस्थिति. संसर्पद्दशनांशुभूपितसभासन्धान-सात्वम्यधात् ॥ ३६६ ॥ त्वा ता हृदयप्रियोक्तिमतुषत्कातो रतांते यथा संसच्च व्यकसत्तरा शरदि वा लक्ष्मीः सरःसश्रया । काताना वदनेदुकातिरगल-त्तद्वाग्दिनेशोद्गतेरस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्त्याज्यस्ततोऽसौ वुधैः ॥३६७॥ कातोऽभूद्रतिवेगया वणिगसौ पूर्वं सुकातस्ततः संजातो रतिषेणया रतिवरो

मुनिराजकी वंदना कर अपने स्थानको चली गईं ॥ ३६३-३६४ ॥ सुलोचना कह रही है कि हम दोनों देव देवी (कनकप्रभ कनकप्रभा) भी उनकी वंदना करनेके लिये गये थे वहांपर यह सब सुनकर देखकर और प्रेमसे अपने अपने हृदयमें संतुष्ट होकर स्वर्गको चले गये थे ॥ ३६५ ॥ इस प्रकार अपने किये हुये शुभ अशुभ कर्मके उदयसे जिसे ऊंची तथा नीची स्थिति प्राप्त हुई है, निकलती हुई अपनी दांतोंकी किरणोंसे जिसने सब सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी उस सुलोचनाने वहां पर बैठे हुये सभासदोंको मान्य, मनोहर, स्पष्ट, मधुर, अस्खलित, जिनमें किसीतरह रुकावट नहीं, घबडाहट नहीं, ऐसे अनुक्रमसे कहे हुये वचनोंसे अपने पहिले भवकी सब कथायें सुनाईं ॥३६६॥ वह जयकुमार जिसप्रकार संभोगके अंतमें संतुष्ट होता था उसीप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाली सुलोचनाकी इन बातोंको सुनकर बहुत संतुष्ट हुआ, तथा शरदऋतुमें जिसप्रकार सरोवरकी शोभा विकसित हो जाती है उसीप्रकार वह सभा भी उसे सुनकर प्रसन्न हुई, और सुलोचनाके बचनरूपी सूर्यके उदय होनेपर अन्य स्त्रियोंके (सुलोचनाकी सोतोंके) मुखरूपी चंद्रमाकी कांति बिलकुल नष्ट हो गई, सो ठीक ही है क्योंकि जो ईर्षा अयोग्य जगहपर की जाती है वह दुःख देनेवाली होती है इसलिये बुद्धिमानोंको ऐसी ईर्षाका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ३६७ ॥ सुलोचना जयकुमारसे

गेहे कपोतो विशां । वत्यंतप्रभयाऽभवत्खगपतिर्वर्मा हिरण्यादिवाक् देवः कल्पगतो मया सह महादेव्याऽजनीड्यो भवान् ॥ ३६८ ॥ सकलमविकलं तत्सप्रपंच रमण्या मुखकमलरसाक्त श्रोत्रपात्रे निधाय । तदुदितमपरं च श्रोतुकामो जयोऽभून्न रसिकदयितोक्तैः कामुकास्तृप्नुवंति ॥ ३६९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचनाभवांतरवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

कहने लगी कि आप पहिले तो मेरे जीव रतिवेगाके साथ (मेरे ही जीवके पति) सुकांत नामके वैश्य हुये थे, फिर शेठके घर रतिषेणा कबूतरीके साथ रतिवर नामके कबूतर हुये थे, उसके बाद मेरे जीव प्रभावतीके साथ हिरण्यवर्मा नामके विद्याधरोंके राजा हुये थे और फिर मेरे जीव महादेवी के ही साथ साथ पूज्य कल्पवासी देव हुये थे ॥ ३६८ ॥ जयकुमारने प्रियाके मुखकमलके रससे भरे हुये, मनोहर, पूर्ण और सविस्तर सुलोचनाके बचनोंको अपने कान रूपी पात्रोंमें रक्खा अर्थात् उसे अच्छीतरह सुना और फिर वह और भी उसके कहे हुये बचनोंको सुननेकी इच्छा करने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुष स्त्रीके कहे हुये रसीले बचनोंसे कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥ ३६९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे जयकुमार सुलोचनाके पूर्व भवोंका वर्णन करनेवाला यह छयालीसवा पर्व समाप्त हुआ ।



अथ सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

काते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसंबंधमित्यप्राक्षीत्स तां पुनः ॥ १ ॥ बाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकं । यथैवाद्येक्षितं वेति सा प्रवक्तु प्रचक्रमे ॥ २ ॥ जंबूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुंडरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥ ३ ॥ श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचंद्रमसौ च तौ । जित्वा महीं सहैवावतः स्मेव नयविक्रमौ ॥ ४ ॥ जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽन्यदा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥ ५ ॥ गुणपालमुनीशोऽस्मत्पतेः सुरगिराविति । निवेदितवति ज्ञात्वा पुरः सप्तपदांतरं ॥ ६ ॥ प्रणम्य वनपालाय दत्वाऽसौ पारितोषिकं । पौराः सपर्यया सर्वेऽप्याययुरिति घोषणा ॥ ७ ॥ विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवंतमवंदत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥ ८ ॥ प्रमदाख्य

अथ सैंतालीसवां पर्व ।

यह सुनकर जयकुमार सुलोचनासे फिर पूछने लगा कि हे प्रिये! इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे संबंध रखनेवाली एक कथा और है वह तुझे याद है या नहीं ॥ १ ॥ तब सुलोचनाने कहा कि हां खूब याद है, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानों मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उस कथाको कहने लगी ॥ २ ॥ इसी जंबूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें इंद्रकी नगरी अमरावतीके समान एक प्रसिद्ध पुंडरीकिणी नगरी है ॥ ३ ॥ नीति और पराक्रमको धारण करनेवाले सूर्य और चंद्रमाके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई सब पृथ्वीको जीतकर उसका राज्य करते थे ॥ ४ ॥ किसी एक दिन एक माली आया उसने राजा वसुपालकी माता कुबेरश्रीको समाचार सुनाया कि सुरगिर पर्वतपर आपके स्वामी मुनिराज महाराज गुणपालको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने साम्हने ही सात पेंड चलकर नमस्कार किया, उस मालीको बहुतसा पारितोषक दिया, नगरमें घोषणा कराई कि सब लोग पूजाकी सामग्री ले लेकर भगवानके दर्शन करनेके लिये चलो ?, वह स्वयं सबसे पहिले वहां पहुंची और भगवानकी वंदना की । माताके पीछे ही राजा वसुपाल और श्रीपाल दोनों ही भाई बडी प्रसन्नतासे चले ॥५-८॥

वन प्राप्य सद्द्रुमै रम्यमंतरे । प्राग्जगत्पालचक्रेशो यस्मिन्न्यग्रोधपादपे ॥ ९ ॥ देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमं । तस्याधस्तात्समीक्ष्यैक्ष्यं प्रवृत्त नृत्तमादरात् ॥ १० ॥ तयोः कुमारः श्रीपालःपुरुषो नर्तयत्ययं । अस्तु स्त्रीवेषधार्यत्र स्त्री चेत्पुरुषधारिणी ॥११॥ स्यादेवं स्त्री प्रनृत्यती नृत्त युक्तमिद भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटीमूर्च्छामुपागता ॥ १२ ॥ उपायैः प्रतिबोध्यैना तदा प्रश्रयपूर्वकं । इति विज्ञापयामास काचित्त भाविचक्रिणं ॥ १३॥ सुरम्यविषये श्रीपुराधिपः श्रीधराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यभूत् ॥ १४ ॥ तज्जातो चक्रिणो देवी भाविनीत्यादिशन्विदः । अभिज्ञानं च तस्यैतत् नटनट्योर्विवेत्ति यः ॥ १५ ॥ भेद स चक्रवर्तीति तत्परीक्षितुमागताः । पुण्याद्दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिकल्पो यदृच्छया ॥ १६ ॥ अहं प्रिय-

---

रास्तेमें प्रमद नामके बनमें पहुंचे, वह बन अच्छे अच्छे वृक्षोंसे मनोहर था उसी बनमें जिसके नीचे किसी देवताकी प्रतिमा रक्खी हुई है ऐसे एक बडके वृक्षके नीचे महाराज जगतपाल चक्रवर्तीने खडे होकर संयम धारण किया था। उसी वृक्षके नीचे एक देखने योग्य नृत्य हो रहा था उसे दोनों भाई वडे आदरसे देखने लगे ॥ ९-१० ॥ देखते देखते कुमार श्रीपालने कहा कि " यह स्त्रीका भेष बनाकर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका भेष बनाकर यह स्त्री नाच रही है, यदि यह स्त्री स्त्रीकेही भेषमें नाचती तो यह नाच बहुत ही अच्छा होता " श्रीपालकी इस बातको सुनकर उस नाचनेवाली नटीको मूर्छा आगई ॥ ११-१२ ॥ कितने ही उपायोंसे जब उसे सचेत किया तब उनमेंसे एक स्त्री होनहार चक्रवर्ती कुमार श्रीपालसे बडी नम्रताके साथ कहने लगी ॥ १३ ॥ कि सुरम्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी देवीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी एक पुत्री है ॥ १४ ॥ उसके जन्म होते ही ज्योतिषियोंने कहा था कि " यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी तथा उस चक्रवर्तीकी पहिचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है हे देव ! हम लोग उसकी परीक्षा करनेके लिये ही आये हैं, पुण्यकर्मके उदयसे हम लोगोंको अपनी इच्छानुसार निधिके समान आपके दर्शन हुये हैं ॥ १५-१६ ॥ हे प्रभो ! मेरा नाम प्रियरति है, यह

रतिर्नाम्ना सुतेयं नर्तकी मम । ज्ञेया मेदनवगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥ १७ ॥ नटोऽय वासवो नाम ख्यातः स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तुष्ट्वा तां संतर्प्य यथोचितं ॥ १८ ॥ गुरु वदितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः । अश्व केनचिदानीतमारुह्यासक्तचेतसा ॥ १९ ॥ अधावयदसौ किंचिदतरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तीकृतखगाकृतिः ॥२०॥ न्यग्रोधपादपाध.स्थप्रतिमावासिना भृश । देवेन तर्जितो भीत्वाऽशनिवेगोऽमुचत् खग. ॥२१॥ कुमारं पर्णलघ्वाख्यविद्यया स्वनियुक्तया । रत्नावर्तगिरेर्मूर्ध्नि स्थित त सति भाविनः ॥ २२ ॥ बहवोऽप्यस्य लभा इत्यग्रहीत्वा निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिँश्चित्स्नानादिविधिना श्रमं ॥ २३ ॥ मार्गज स्थितमुध्दूय तमेकस्मात्सुवागृहात् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितं ॥ २४ ॥ दृष्ट्वा

पुरुषका भेष बनाकर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी लडकी है और स्त्रीका भेष बनाकर नृत्य करनेवाला यह वासव नामका नट है" यह सुनकर राजाने संतुष्ट होकर योग्यतानुसार उन लोगोंको संतुष्ट किया और आप अपने पिताकी वंदना करनेके लिये सुरगिर पर्वतपर चला। रास्तेमें कोई पुरुष एक घोडा लाया था उसपर मोहित होकर श्रीपालने सवारी की और दौडाया, थोडी दूरतक तो वह पृथ्वीपर दौडा परंतु फिर अपना विद्याधरका रूप प्रगटकर उसे आकाशमें ले उडा ॥ १७-२० ॥ उस पहिले कहे हुये वडके वृक्षके नीचेकी प्रतिमापर निवास करनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा तब उस देवसे डरकर उस अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजी हुई पर्णलघु नामकी विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पहाडके शिखरपर छोड दिया। देवने यह देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुतसे लाभ होनेवाले हैं इसलिये यह कुमारको वहीं छोड-कर लौट आया। कुमारने भी वहां किसी एक तालावमें स्नान किया और मार्गमें उत्पन्न हुआ सब परिश्रम दूर किया। इतनेमें ही एक सफेद भवनमेंसे छह राजकन्यायें निकलकर आई और उस कुमारको राजपुत्र समझकर और यथायोग्य रीतिसे देखकर अपने समाचार निवेदन करने लगीं, पहिले तो उन्होंने अपने गोत्र तथा कुलका नाम बतलाया और फिर कहा कि " एक अशनिवेग

षड्राजकन्यास्ताः स्ववृत्तातं न्यवेदयन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य खचरेशिना ॥ १५ ॥ बलादशनिवेगेन वयमस्मिन्निवेशिताः । इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकंपितः ॥ २६ ॥ निजागमनवृत्तातकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥ २७ ॥ पापिनाऽशनिवेगेन हंतुमेन प्रयोजिता । समीक्ष्य मदनाक्राताऽभूच्चित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २८ ॥ सूनुस्तनितवेगस्य राज्ञो गजपुरेशिनः । खगेशोऽशनिवेगाख्यो ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥ त्वमत्र तेन सौहार्दादानीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मैथुनः ॥ ३० ॥ रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरं । भवत्समीपं प्राप्तैवमिति रक्तविचेष्टितं ॥ ३१ ॥ दर्शयंती समीपस्थ यावत्सौधगृहांतरं । इत्युक्त्वाऽनभिलाषं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥ तत्रैव विद्यया सौधगेहं

नामके विद्याधरने जबर्दस्ती लाकर हमको यहां पटक दिया है" कन्याओंकी यह बात सुनकर कुमारको दया आई और उसने अपने आनेका भी समाचार कहा। वह कुमार अपना समाचार कह ही रहा था कि इतनेमें एक दूसरी विद्युद्वेगा नामकी विद्याधरी वहां आई ॥ २१-२७ ॥ पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिये उसे यहां भेजा था परंतु वह उस कुमारको देखकर कामदेवके वश होगई, सो ठीक ही है क्योंकि चित्तकी वृत्ति बडी ही विचित्र होती है ॥ २८ ॥ वह कहने लगी कि राजा अशनिवेग विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है, ॥ २९ ॥ वह अशनिवेग अपने मित्रपनेके नातेसे आपको यहां लाया है वह मेरा बडा भाई है, विद्युद्वेगा नामकी मैं उसकी छोटी बहिन हूं मुझे उसीने आपके पास भेजा है क्योंकि अब वह आपका साला है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि आप रत्नावर्त पर्वतपर सादर विराजमान हैं तू वहीं जा, इसलिये मैं आपके पास आई हूं, इसतरह कहकर उसने बहुतसी रागरूप चेष्टायें दिखलाई और कहा कि हे स्वामिन् चलिये यह पास ही सफेद भवन है" परंतु इतना करने और कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा न देखी तब उसने विद्याके जोरसे वहींपर एक बडा भवन बना लिया और वह निर्लज्ज होकर वहींपर उन छह राजकन्याओंके साथ साथ बैठ गई सो

निर्माप्य निस्त्रपा। स्थिता तद्राजकन्याभिः सह का कामिनां त्रपा ॥ ३३ ॥ एत्यानंगपताकाऽस्यास्तं सखीत्थमवोचत । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशिनः ॥ ३४ ॥ ज्योतिर्वेगागुरु प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं क्वापि श्रीपालस्वामिनं मम॥ ३५ ॥ स्वयं स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेषयेदिति । प्रतिपन्नः स तत्प्रोक्त भवत मैथुनस्तव ॥ ३६ ॥ आनीतवानिहेत्येतदवबुध्यात्मना द्विषं । पतिं मत्वोत्तरश्रेणेराशक्यानलवेगकं ॥ ३७ ॥ त्रय तदा समालोच्य निवार्य खचराधिप । उदीर्यान्वेषणोपायं त्वत्स्नेहाहितचेतसः ॥ ३८ ॥ आनीयता प्रयत्नेन कुमार इति बाधवाः । आवां प्रिय सकाश ते प्रहैषुस्तादिहागते ॥ ३९ ॥ विद्युद्वेगाऽवलोक्य त्वामनुरक्ताऽभवत्त्वया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य सविचिंत्योचित वचः ॥ ४० ॥ मयोपनयनेऽग्राहि

ठीक ही है क्योंकि कामी लोगोंके भला लज्जा कहां रह सकती है ॥ ३१-३३ ॥ इतनेमें अनंगपताका नामकी विद्युद्वेगाकी सखी आई और कुमारसे कहने लगी कि" आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेंद्रदेवके दर्शन करनेके लिये गई थी, वहां उसने बडे प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा था (कि मेरा पुत्र श्रीपाल तुम्हारे यहां गया है उसे ले आओ) ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जंवाई स्तनितवेगसे कहा कि हमारा स्वामी कुमार श्रीपाल तुम्हारे यहां आया है उसे ले आओ ॥३४-३५ ॥ स्तनितवेगने अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहां लाया है वह आपका साला है ! उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है वह इस विद्युद्वेगाको मागना चाहता है, जिनके चित्तमें आपका स्नेह भर रहा है ऐसे सब भाइयोंने मिलकर आपके लानेका उपाय बतलाया, अशनिवेगसे कहा कि तुम बडे प्रयत्नसे कुमारको लाकर यहां रखना, वे सब भाई अगलवेगको रोकनेके लिये गये हैं और हमको यहां आपके पास भेजा है, यहां आनेपर यह विद्युद्वेगा आपको देखकर आपपर मोहित होगई है इसलिये अब आपको यह छोडनी नहीं चाहिये " कुमारने ये सब बातें सुनी और सोचाविचार कर उचित उत्तर दिया कि "जब मेरा यज्ञोपवीत हुआ था तब गुरुजनोंने मुझे एक व्रत दिया था कि " गुरुजनोंकी साक्षी पूर्वक जो विवाह

व्रतं गुरुगिरार्पितं । मुक्त्वा गुरुजनानीतां स्वीकरोमि न चापरां ॥ ४१ ॥ इत्यवोचत्ततस्ताश्च शृंगाररसचेष्टितैः । नानाविधै रंजयितुं प्रवृत्ता नाशकं-स्तदा ॥ ४२ ॥ विद्युद्वेगा ततोऽगच्छत्स्वमातृपितृसन्निधौ । पिधाय द्वारमारोप्य सौधाग्रं प्राणवल्लभं ॥ ४३ ॥ तावानेतुं कुमारोऽपि सुप्तवान् रक्तकंबलं । प्रावृत्य तं समालोक्य भेरुडः पिशितोच्चयं ॥ ४४ ॥ मत्वा नीत्वा द्विजः सिद्धकूटाग्रे खादितुं स्थितः । चलंतं वीक्ष्य सोऽस्याक्षीत्स तेषां जातिजो गुणः ॥ ४५ ॥ ततोऽवतीर्य श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमान् । सुपुष्पाणि सुगंधीनि समादाय जिनालयं ॥ ४६ ॥ परीत्य स्तोतुमारेभे विवृत्तं द्वारस्तदा स्वयं । तन्निरीक्ष्य प्रसन्नस्सन्नभ्यर्च्य जिनपुंगवान् ॥ ४७ ॥ अभिवंद्य यथाकामं विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य खगः कश्चित्समुद्धृत्य नभःपथे ॥ ४८ ॥

किया जाता है उसे छोडकर मैं और किसीको स्वीकार नहीं करूंगा" यह व्रत मैंने उससमय स्वीकार किया था ॥ ३६-४१ ॥ जब कुमारने यह सूखा उत्तर दिया तब वे सब कन्यायें अनेक तरहकी शृंगारसे भरी हुई चेष्टायें कर उसे रिझाने लगीं, जब वे उसे अपने वश न कर सकीं तब विद्युद्वेगा अपने पति कुमार श्रीपालको मकानकी छतपर छोडकर और बाहरसे दरवाजा बंदकर अपने माता पिताको बुलानेके लिये उनके पास चली गई, कुमार श्रीपाल भी उसी छतपर लाल कंबल ओढकर सोगया। उधर कहींसे भेरुड पक्षी जा रहा था, उसने लौटकर देखा और उसे ऊपरसे मांसका पिंड समझकर उठाकर लेगया, जाकर उसने सिद्धकूट चैत्यालयके सामने रक्खा और उसे खानेके लिये तैयार हुआ, जब उसने उन्हें हलते चलते देखा तब वह छोडकर भाग गया, सो ठीक ही है क्योंकि उन पक्षियोंका यह स्वाभाविक गुण है अर्थात् वे मरे हुयेको ही खाते हैं जीतेहुयेको नहीं ॥ ४२-४५ ॥ तदनंतर वह श्रीपालकुमार उस कंबलमेंसे निकला, सरोवरमें स्नान किया और बडी भक्तिसे सुगंधित पुष्पोंको लेकर श्रीजिनालयमें गया ॥ ४६ ॥ वहां जाकर पहिले प्रदक्षिणा दी और फिर स्तुति करना प्रारंभ किया, उसीसमय चैत्यालयका दरवाजा अपने आप खुल गया, उसे देखकर वह वहुत ही प्रसन्न हुआ अपनी इच्छानुसार उसने विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की, वंदना की

गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्यानिलवेगस्य कांता कांतवतीत्यभूत् ॥ ४९ ॥ तयोः सुता भोगवतीमाकाशस्फटिकालये । मृदुशय्यातले सुप्तां का कुमारीयमित्यसौ ॥ ५० ॥ अपृच्छत्सोऽब्रवीदेषा भुजगी विषमेति च । तदुक्ते स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपगं ॥ ५१ ॥ तमस्मत्कन्यकामेष भुजगीति खलोऽब्रवीत् । इत्युवाच ततः क्रुध्वा दुष्टो निक्षिप्यतामयं । ५२ ॥ दुर्द्धरोरुतपोभारधारियोग्ये घने वने । इत्यभ्यधान्नृपस्तस्य वचनानुगमादसौ ॥ ५३ ॥ विजयार्द्धोत्तरश्रेणिमनोहरपुरांतिके । स्मशाने शीतवैतालीविद्यया तं शुभाकृतिं ॥ ५४ ॥ कृत्वा व्यत्यक्षिपत्पापी जरतीरूपधारिणं । तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयं ॥ ५५ ॥ स्वं ग्राममृगरूपेण स्वसुताचरणद्वये । समताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य भृशं ततः ॥ ५६ ॥

और फिर वह कुछ विश्राम लेनेके लिये वहां बैठ गया। इतनेमें ही एक विद्याधर आकर उसे उठाकर आकाशमें लेगया, जाते जाते वे मनोहर राज्यके शिवंकर नगरमें पहुंचे, वहांके राजा अनिलवेगकी रानी कांतिवतीकी पुत्री भोगवती ऊपर आकाशमें एक स्फटिकके भवनमें कोमल शय्यापर सो रही थी, उसे दिखाकर उस विद्याधरने कुमार श्रीपालसे पूछा कि यह कुमारी कोन है ? यह सुनकर श्रीपालने उत्तर दिया कि " यह विषम सर्पिणी है " श्रीपालके इस उत्तरसे उस विद्याधरको बडा क्रोध आया, वह उसे उस कन्याके बापके पास ले गया और कहा कि " यह दुष्ट आपकी कन्याको सर्पिणी बतलाता है " यह सुनकर राजा अनिलवेग भी क्रोधित हुआ और आज्ञा दी कि " जिसमें कठिन और भारी तपश्चरणका भार धारण किया जाता है ऐसे किसी घने वनमें इसे ले जाकर डाल दो " राजाकी इस बातको सुनकर उस पापी विद्याधरने भी शीतवैताली नामकी विद्यासे उसके सुंदर स्वरूपको बूढेका रूप बनाकर विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीके मनोहर नामके नगरके समीप वाले स्मशानमें पटक दिया। वहांपर एक चांडालिनीने अपने जंवाईको कुत्ताका रूप बनाकर अपनी लडकीके दोनों पैरोंपर खूब लिटाया और इसतरह अपनी लडकीको अच्छीतरह प्रसन्न किया तदनंतर ॥ ४७-५६ ॥ उस दुष्ट चांडालिनीने फिर उसका पुराना रूप बना दिया। यह देखकर

तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत्खला । तद्विलोक्य कुमारोसौ खगाः स्वाभिमताकृतिं ॥ ५७ ॥ विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याशंक्य विचिंतयन् । यमाग्रयायिशं-काशकाशप्रसवहारिभिः ॥ ५८ ॥ शिरोरुहैर्जराभोधितरंगाभतनुत्वचा । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितं ॥ ५९ ॥ लज्जाशोकाभिभूतः सन्मक्षु गच्छँस्ततः पर । तत्र भोगवतीभ्रातु र्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥ विद्यया शवरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य समुद्वम्य निर्वांतमविचारयन्॥६१॥ उध्दृत्येद विशकस्त्व पिबेत्युक्त प्रपीतवान् । तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वा सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ ६२ ॥ विद्या श्रितेति सप्रीतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः कुमारो वटभूरुह ॥ ६३ ॥ गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कांचिन्नभश्चरं । प्रदेशः कोऽयमित्येवमपृच्छत्सोऽब्रवीदिद ॥ ६४ ॥ खगाद्रेः

कुमारको कुछ शंका हुई और वह सोचने लगा कि " विद्याधर लोग अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकते हैं " उससमय वह यमराजके साम्हने ही जाने योग्य अर्थात् बिल्कुल वृद्धके समान था, फूले हुये कांसोंकी ओर भी हँसनेवाले उसके बाल थे, और बुढापेरूपी समुद्रकी तरंगोंके समान उसके शरीरका चमडा था, इसतरह उस दुष्ट विद्याधरके द्वारा किये हुये अपने रूपको देखकर लज्जा और शोकसे उसका सिर कुछ नीचा हुआ, वह शीघ्र ही आगे चला । वहां थोडी ही दूरपर उसी भोगवतीकन्याके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे प्रार्थना की' तब उसने मुरदेका रूप धारणकर कुमार श्रीपालके हाथपर कुछ उगलकर रख दिया और कहा कि तू बिना किसी विचार और शंकाके इसको उठाकर पीजा, कुमार भी शीघ्र ही उसे पी गया, यह देखकर उसने कुमारसे कहा कि " तुझे सर्वव्याधिविनाशनी (सब रोगोंको दूर करनेवाली) विद्या सिद्ध हुई ", यह कहकर उसे विद्या देकर और प्रसन्न होकर वह चलागया, इधर कुमारका असली रूप प्रगट होगया तब वह आगे चला, चलते चलते उसने एक बडके पेडके नीचे बैठे हुये एक विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौनसा देश है, तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥ ५७-६४ ॥ यह विजयार्द्ध पर्वतके पूर्व दिशाका भाग है, यह नील पर्वतके पश्चिमकी ओर सुसीमा नामका देश है, इसमें यह

पूर्वदिग्भागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमध्यदः॥ ६५ ॥ तद्भूतवनमेतत्त्वं सम्यक् चित्तेवधारय । अस्मिन्नेता. शिलाः सप्त परस्परधृताः कृताः ॥ ६६ ॥ येनासौ चक्रवर्तित्वं प्राप्तेत्यादेश ईदृशः । इति तद्वचनादेष तास्तथा कृतवांस्तदा ॥ ६७ ॥ दृष्ट्वा तत्साहस वक्तु सोऽगमन्नगरेशितुः । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो निर्विण्णचेतसा ॥ ६८ ॥ काचिज्जरावर्ती कुत्स्यशरीरा कस्यचित्तरो । अध स्थितामधोभागे विषय पुष्कलावतीं ॥ ६९ ॥ वद प्रयाति कः पथा इत्यप्राक्षीत्प्रियवदः । विना गगनमार्गेण प्रयातु नैव शक्यते ॥ ७० ॥ सगव्यूतिशतोत्सेधविजयार्द्धगिरेरपि । परिस्मिन्नित्यसावाह तदाकर्ण्य नृपात्मज. ॥ ७१ ॥ ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति ता प्रत्यभाषत । इह जम्बूमति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥ ७२ ॥

महानगर नामका नगर है और यह इस नगरका बन है, इस बातको तू अपने मनमें अच्छीतरह रख ले, दूसरी बात यह है कि इस बनमें ये सात शिलायें पडी हैं जो कोई इन्हें एकके ऊपर एक इसतरह रख देगा उसे चक्रवर्तीका पद मिलेगा ऐसी सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है, इस बातको सुनकर कुमारने उसी समय उन शिलाओंको एकके ऊपर एक करके रख दिया, ॥ ६५-६७ ॥ उसके इस साहसको देखकर वह विद्याधर उस नगरके राजाको खबर देनेके लिये चला गया और वह कुमार कुछ विरक्त होकर वहांसे आगे चला, आगे किसी वृक्षके नीचे बुढियाका रूप धारण किये बुरे शरीरकी एक स्त्री बैठी थी उससे मीठा बोलनेवाले उस कुमारने पूछा कि पुष्कलावती देशको कौनसा रास्ता जाता है, यह सुनकर उस स्त्रीने कहा कि " आकाशमार्गके विना वहां कोई नहीं जा सकता ॥ ६८-७० ॥ क्योंकि पच्चीस योजन ऊंचा तो यह विजयार्द्ध पर्वत है इसके दूसरी ओर वह देश है " यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने कहा कि वहांपर पहुंचनेका उपाय बतला, तब वह कहने लगी कि " इसी जंबूद्वीपमें एक वत्सकावती देश है ॥ ७१-७२ ॥ उसके विजयार्द्ध पर्वतपर एक राजपुर नगर है वहांके विद्याधरोंका चक्रवर्ती राजा धरणीकंप है, चंद्रमाकी चांदनीके समान उसकी रानीका नाम प्रभावती है, ॥ ७३ ॥ उन दोनोंकी सुखावती नामकी मैं प्रसिद्ध पुत्री हूं मुझे

तत्खेचरगिरौ राजपुरे खेचरचक्रिणः । देवी धरणिकंपस्य सुप्रभा वा प्रभाकरी ॥ ७३ ॥ तयोरह तनुजाऽस्मि विख्याताख्या सुखावती । त्रिप्रकारोरुविद्याना पारगाऽन्येद्युरागता ॥ ७४ ॥ विषये वत्सकावत्या विजयार्धमहीतले । अकंपनसुता पिप्पलाख्या प्राणसमा सखीं ॥ ७५ ॥ ममाभिवीक्षितु तत्र चित्रमालोक्य कवलं । कथयाय कुतस्त्यस्ते तन्वीति प्रश्नतो मम ॥ ७६ ॥ जगाद साऽपि मामेप प्रापादेशवशादिति । कंबलप्रातितस्तद्वत समाध्याय विह्वला ॥ ७७ ॥ एता तस्याः सखी श्रुत्वा समन्वेष्टु समागता । काचनाख्यपुरान्नाम्ना मदनादिवती तदा ॥ ७८ ॥ दृष्ट्वा तत्कंबलस्याते निबद्धा रत्नमुद्रिका । तत्र श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसस्मृते. ॥ ७९ ॥ अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूदह तत । कथ वैद्याधर लोकमिम श्रीपालनामभृत् ॥८०॥ समागतः स इत्येतन्निश्चेतु पुडरिकिणी । उपगत्य जिनागारे वदित्वा समुपास्थिना ॥ ८१ ॥ त्वत्प्रवासकथा सर्वां तव मातु' प्रजल्पनात् । विदित्वा

जाति विद्या (माताके वंशकी विद्यायें) कुलविद्या (पिताके वंशकी विद्यायें) और सिद्ध की हुई अनेक विद्यायें आती हैं । किसी एक दिन मैं वत्सकावती देशके विजयार्द्ध पर्वतपर मेरे प्राणोंके समान प्यारी सखी राजा अकंपनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिये गई थी, वहां मैंने एक विचित्र कंबल देखा, उसे देखकर मैंने पूछा कि यह कंबल कहांसे आया तब वह तन्वी मेरे प्रश्नके उत्तरमें कहने लगी कि " मेरी आज्ञासे ही यह कंबल यहां आया है । जबसे उसे वह कंबल मिला था तभीसे वह कंबलवालेका ध्यान करती हुई विव्हल हो रही थी ॥ ७४-७७ ॥ उसकी ऐसी बुरी हालत सुनकर मदनावती नामकी उसकी सखी उसी समय उसे देखनेके लिये कांचनपुर नामके नगरसे आई उसने वह कंबल देखा उसके ठोकमें बंधी हुई रत्नोंकी अंगूठी देखी, उसमें श्रीपालका नाम खुदा हुआ था उसे देखकर मुझे (गुरुकी) आज्ञाका स्मरण हुआ ॥ ७८-७९ ॥ उसके स्मरण होनेसे ही मेरा हृदय कामदेवके बाणोंसे भिद गया और मैं सोचने लगी कि श्रीपाल नामका भूमिगोचरी मनुष्य इस विद्याधर लोकमें कैसे आया ? इसीके निश्चय करनेके लिये मैं पुंडरीकिणी नगरमें पहुंची वहांपर जिनालयमें जाकर भगवानकी वंदनाकर बैठी थी कि इतनेमें ही आपकी माता वहां आई,

विस्तरेण त्वामानेष्यामीति निश्चयात् ॥ ८२ ॥ आगच्छंती भवद्वार्तां विद्युद्वेगामुखोद्गतां । अवगत्य त्वया सार्द्धं योजयिष्यामि ते प्रियं ॥ ८३ ॥ न विवाहो विधातव्य इत्याश्वास्य भवत्प्रिया । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालय ॥ ८४ ॥ अभिवंद्यागताऽस्म्येहि मयाऽमा पुंडरीकिणी । मातरं भ्रातरं चान्यांस्त्वद्बंधूंश्च समीक्षितु ॥ ८५ ॥ यदिच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुत्वा पुनः कुतः । त्वमेव जरती जातेत्यब्रवीत्स सुखावतीं ॥ ८६ ॥ कुमारवचनाकर्ण्यैतद्वार्द्धक्यमागत । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदित ॥ ८७ ॥ जराभिभूतमालोक्य स्वशरीरमिदं त्वया । कृतमेवविधं केन हेतुनेत्यनुयुक्तवान् ॥ ८८ ॥ तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीदेवं पिप्पलेत्याख्ययोदिता । मदनादिवती या च मैथुनौ विश्रुतौ तयो ॥ ८९ ॥ बलवान् धूमवेगाख्य-

---

उनके कहनेसे विस्तार पूर्वक आपके प्रवासकी (परदेश जानेकी) सब कथा सुनी, तब मैंने आपकी माताको विश्वास दिलाया कि मैं आपके पुत्रको (श्रीपालको) अवश्य लेकर आऊंगी ॥८०-८२॥ तदनंतर आपको ढूंडनेके लिये मैं वहांसे निकली, रास्तेमे विद्युद्वेगाके मुखसे आपकी सब बातें मालूम हुई, तब मैंने आपकी प्रियाको भी विश्वास दिलाया कि" तू विवाह मतकर, मैं तेरे इष्ट पतिको तुझसे अवश्य मिला दूंगी" उसे विश्वास दिलाकर फिर मैं वहांसे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुंची ॥ ८३-८४ ॥ वहांकी बंदना कर मैं यहां आई हूं, यदि माता, भाई तथा और भी भाई बंधुओंको देखनेकी आपकी इच्छा है तो आप मेरे साथ पुंडरीकिणी नगरीको चलिये " इसतरह उस सुखावतीकी कही हुई बातोंको सुनकर कुमारने फिर उससे पूछा कि तू इसतरहकी बूढी क्यों होगई है ? ॥ ८५-८६ ॥ कुमारकी इस बातको सुनकर उस स्त्रीने हँसीके साथ कहा कि " क्या आप अपने शरीरमें आये हुये बुढापेको नहीं जानते हैं ? " इसतरह उसके कहनेपर जब कुमारने अपना शरीर देखा तो उसे खूब ही बूढा पाया, तब कुमारने उस सुखावतीसे पूछा कि तूने मेरे शरीरको इसतरहका बूढा क्यों बना दिया है ! ॥ ८७ ८८ ॥ कुमारकी इस बातको सुनकर वह कहने लगी, कि " पहिले कही हुई जो पिप्पला और मदनावती नामकी कन्यायें हैं उनके चाहनेवाले दो विद्याधर बडे ही प्रसिद्ध

स्ताद्दग्घरिवरोऽपि च । तद्भयात्त्वां निरोधाय पुरं प्रापयितुं मया ॥९०॥मायारूपद्वयं विद्याप्रभावात्प्रकटीकृतं । कुमारमत्करस्थामृतास्वादफलभक्षणात्॥९१॥ विगतक्षुच्छ्रमः शीघ्र मामारुह्य पुर प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपममामक ॥ ९२ ॥ न स्पृशामि कथं चाहमारोहामि पुरा गुरो । सन्निधावाददामीद्व्रतमित्यब्रवीदिद ॥ ९३ ॥ सा तदाकर्ण्य संचिंत्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारमुद्वहती तामित्वरी ॥ ९४ ॥ वदित्वा सिद्धकूटाख्य तत्र विश्रांतये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती शशिनमात्मनः ॥ ९५ ॥ प्रविश्य भवन कांत्या कलाभिश्चाभिवर्द्धित । निवर्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमागल्यशांतये ॥९६॥ तत्सिद्धकूटपूजार्थं कांता कांतवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकांतया ॥९७॥ सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला मदनावती ।

हैं और दोनों ही बलवान हैं, उनमेंसे एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर है, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुंचानेकेलिये विद्याके बलसे मायामयी दो रूप बनाये हैं, हे कुमार मेरे हाथमें यह स्वादिष्ट अमृतफल है इसे खाकर आप अपनी भूख और परिश्रम दूर कीजिये और फिर मुझपर सवार होकर नगरको चलिये, यह सुनकर कुमारने कहा कि "मेरे चढनेके लिये स्त्रीका रूप मेरे योग्य नहीं है, मैं उसे स्पर्श भी नहीं करूंगा फिर भला उसपर सवार कैसे हो सकूंगा क्योंकि मैंने अपने गुरुके समीप इसतरहका व्रत स्वीकार किया है" यह सुनकर उसने सोचा कि इसमें क्या हुआ, तब फिर उसने विद्याके बलसे पुरुषका रूप धारण किया और श्रीपालको लेकर बडी शीघ्रतासे चली, चलते चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुंची, चैत्यालयकी बंदनाकर वह वहीं विश्राम लेनेके लिये बैठ गई। उसी दिन भोगवतीने एक स्वप्न देखा था कि "कांति और कलाओंसे खूब बढा हुआ चंद्रमा अपने मकानमें आया था परंतु वह वापिस लौट गया" इस स्वप्नको देखकर अमंगलकी शांति करनेके लिये वह सिद्धकूट चैत्यालयकी पूजा करनेके लिये आई थी, उसके साथमें सुंदरी कांतवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा अमितमती, रतिकांता, चित्तवेगा पिप्पला मदनावती विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्यायें आई थीं ॥ ८९-९८ ॥ उन सबोंने

विद्युद्वेगा तथैवान्यास्ताभिः सा परिवारता ॥ ९८ ॥ समागत्य महाभक्त्या परीत्य जिनमंदिरं । यथाविधि प्रणम्येशं संपूज्य स्तोतुमुद्यता ॥ ९९ ॥ ताश्च तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्रताक्रातमाननं ॥ १०० ॥ आदिष्टसन्निधानेन विलोक्य प्रकृतिं गतं । सुखावती तदुद्देशादपनीय कुमारकं ॥ १०१ ॥ स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेनं तत्राप्यंबुनि मुद्रया । स्वरूप कामरूपिण्या प्रेक्षमाणं यदृच्छया ॥ १०२ ॥ दृष्ट्वा हरिवरस्तस्मान्नीत्वा कोपात्स पापभाक् । निचिक्षेप महाकालगुहाया विहितायक ॥ १०३ ॥ वसस्तत्र महाकालस्त गृहीतुमुपागतः । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिंचित्करो गतः ॥ १०४ ॥ तत्र शय्यातले सुप्त्वा शुचौ मृदुनि विस्तृते । परेद्युर्निर्गतं तस्याः सुप्रयुक्तैः परीक्षितु ॥ १०५ ॥ आदिष्टपुरुष

आकर बडी भक्तिसे जिनमंदिरकी प्रदक्षिणा दी विधिपूर्वक भगवान अरहंत देवको नमस्कार किया, पूजा की और फिर वे सब स्तुति करने लगीं ॥ ९९ ॥ स्तुति करते समय भी उन सब राजकन्याओंका चित्त व्याकुल हो रहा था। उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राजपुत्र आया, था उसका मुँह टेडा था परंतु श्रीपालको देखनेसे ही वह सीधा हो गया था, यह देखकर सुखावतीने उस कुमारको उस जगहसे हटाकर किसी दूसरी जगहपर रख दिया। वहांपर वह कुमार अपनी कामरूपिणी मुद्राके द्वारा अपनी इच्छानुसार जलमें अपना खास रूप देख रहा था ॥ १००-१०२ ॥ उसीसमय पापी हरिवरने भी उसे देख लिया और पहिले जन्ममें पुण्य करनेवाले उस कुमारको क्रोधसे उस जगहसे उठाकर महाकाल नामकी गुफामें पटक दिया ॥१०३॥ उस गुफामें एक महाकाल नामका व्यंतर रहता था, वह उसे पकडनेके लिये आया परंतु उस कुमारके पुण्यके प्रभावसे वह कुछ कर नहीं सका ऐसे ही वापिस चलागया ॥ १०४ ॥ वह कुमार उस दिन वहींपर पवित्र कोमल और बडी शय्यापर सोया, दूसरे दिन उस गुफासे निकला, उससमय उसने अपना बूढेका रूप बना लिया था, परंतु धूमवेगने उसकी परीक्षा करनेके लिये बहुतसे सेवक नियुक्त किये थे, उन्होंने उसे पहिचान लिया, वे उसे पकडकर अपने स्वामीके पास ले गये और कुमार श्रीपालके लानेका सब

भृत्यैर्ज्ञात्वाऽभ्येत्य निवेदितं । गृही वा स्थविराकार कोपपावकदीपितः ॥ १०६॥ त वीक्ष्य धूमवेगाख्यः खगश्चन्द्रपुराद्बहि । स्मशानमध्ये पाषाणनिशात-विविधायुधैः ॥ १०७॥ न्यगृह्णत्तानि चास्यामन् पतति कुसुमानिरा । परोऽपि खेचरस्तत्र नरेशोऽतिव्रलाह्वय ॥ १०८ ॥ स्वदेव्या चित्रसेनाया भृत्ये दुष्टतरे सति । त निहत्यादहत्तस्मिन् धूमवेगो निधाय त ॥ १०९॥ कुमार चागमत्तत्र महौषवजशक्तितः । निराकृतज्वलद्वह्निशक्तिस्तस्मात्स निर्गतः ॥११०॥ हतानुचरभार्याऽत्र काचिन्निरपराधकः । हतो नृपेण मद्भर्तेत्यस्य शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥ तत्कुमारस्य संस्पर्शान्निःशक्तिं सा हुताशन । विदित्वा प्राविश-द्दृष्ट्वा कुमारस्ता सकौतुकः ॥ ११२ ॥ अभेद्यमपि वज्रेण स्त्रीणा मायाविनिर्मि । कवच दिविजेशा च नीरध्रमिति निर्भय. ॥ ११३॥ स्थितस्तत्र

समाचार कह सुनाया, जिसकी क्रोधरूपी अग्नि बढ रही है ऐसे उस धूमवेग नामके विद्याधरने कुमारको देखकर आज्ञा दी कि इसे चंद्रपुर नगरके बाहर स्मशानमें पत्थरपर घिसे हुये अनेक तरहके शस्त्रोंसे मार डालो, सेवक लोग मारने लगे परंतु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पडते थे। इसी समयसे संबंध रखनेवाली एक कथा और है वह इसतरह है कि अतिबल नामका एक कोई दूसरा विद्याधरोंका राजा था ॥ १०५-१०८ ॥ उसकी रानीका नाम चित्रसेना था, उस रानीसे कोई दुष्ट नौकर फँसगया था इसलिये राजाने उसे मारकर जलानेकी आज्ञा दी थी, उसकी जो चिता जल रही थी उसीमें वह धूमवेग उस कुमारको पटककर चला गया था, कुमारकी महौषधिकी शक्तिसे उस जलती हुई अग्निकी शक्ति नष्ट होगई थी, इसलिये वह उससे बाहर निकल आया था ॥१०९-११०॥ उसे देखकर जो सेवक मारकर जलादिया गया था उसकी स्त्रीको यह बात मालूम होगई कि इसके स्पर्शसे ही इस अग्निकी शक्ति नष्ट होगई है, तब वह स्वयं उस अग्निमें घुस गई और फिर उसमेंसे निकलकर चिल्लाचिल्लाकर यह कहती हुई अपने पतिकी शुद्धता प्रगट करने लगी कि "देखो मेरा पति निरपराध था, राजाने व्यर्थ ही उसे मरवा डाला है, वह निरपराध था इसलिये ही मैं उसकी चितामें जाकर भी साफ बच आई हूं" कुमार भी यह सब चरित्र देख रहा था, देखकर

स्मरन्नेव सुता तन्नगरेशिनः । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यतकमकाह्वया ॥ ११४ ॥ कामग्रहाहिता तस्यास्तद्ग्रहापजिहीर्षया । जने समुदिते सद्यः कुमारस्तमपाहरत् ॥ ११५ ॥ सत्योऽभूत्प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपतिः । तुष्ट्वा ता कन्यका दित्सुस्तस्यानिच्छा विबुध्य सः ॥ ११६ ॥ अभ्यर्णं वधुवर्गस्य नेयोऽयं भवता द्रुत । यत्नेनेत्यात्मज स्वस्य वरसेन समादिशत् ॥ ११७ ॥ नीत्वा सोऽपि कुमार तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृष्णोपसतस्त स्थापयित्वा गतोंबुने ॥ ११८ ॥ तदा सुखावती कुब्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृपा नीत्वा कन्यका त चकार सा ॥ ११९ ॥ धूमवेगो हरिवरश्चैता

उसे बडा आश्चर्य हुआ, वह सोचने लगा कि स्त्रियोंकी मायासे बने हुये इस कवचको इंद्र भी नहीं भेद सकता यह विलकुल ही छिद्र रहित है " यही सोचता हुआ वह निडर होकर बैठा था। इधर उसी चंद्रनगरके राजाका नाम विमलसेन था और उसकी कन्याका नाम कमलावती था ॥१११-११४॥ उसे काम रूपी पिशाचने पकड रक्खा था, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छासे सब लोग वहां इकट्ठे हुये थे, उनमें कुमार श्रीपाल भी गया था और उसने बहुत शीघ्र उस पिशाचको दूर भगा दिया था, राजाने पहिले निमित्तज्ञानीसे सुने हुये बचनोंको सच माना (राजाने किसी निमित्तज्ञानीसे पूछा था मेरी पुत्रीका वर कौन होगा तब उसने कहा था कि जिसे देखकर यह पुत्री नीरोग हो जाय वही इसका पति होगा) संतुष्ट होकर राजाने वह कन्या उसी कुमारको देनी चाही परंतु जब कुमारने अपनी अनिच्छा प्रगट की तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि " तुम इसे बडे प्रयत्नसे इसके भाई बंधुओंके समीप ले जाओ ॥ ११५-११७ ॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला, विमलपुर नामके नगरके वाहर जाकर कुमारको प्यास लगी तब वरसेनने उसे वहीं विठाया और आप उसके लिये पानी लेनेको गया ॥ ११८ ॥ उसीसमय कूबडीका रूप बनाकर सुखावती वहां आगई उसने अपनी मायामयी फूलोंकी मालाका स्पर्शकराकर उसकी प्यास दूर की और उसे कन्याके रूपमें बना दिया ॥ ११९ ॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी

वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूतां बद्धमात्सर्यौ तस्याः स्त्रीकरणं प्रति ॥ १२० ॥ द्वेषवंतौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विग्रहो वृथा । पतिर्भवत्वसावस्या यमेषाऽभिलषिष्यति ॥ १२१ ॥ इति बधुजनैर्वार्यमाणौ वैराद्विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात्प्रीतिघातः परस्पर ॥ १२२ ॥ कन्याकृत्यैव गत्वाऽतः कातया स सुकातया । रतिकाताख्यया कातवत्याच सहितः पुनः ॥१२३ ॥ स्थितं प्राक्तनरूपेण काचित्तं वीक्ष्य लाज्जिता। रतिं समागमत्काचिन्नैकभावा हि योषितः ॥१२४॥ प्रसुप्तवंतं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोध्दृत्य गच्छंती तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥ विहाय मामिहैकाकिनं त्व क प्रस्थितेति सा। पृष्टा न कापि याताऽहं त्वत्समीपगता सदा ॥ १२६ ॥ आदिष्टोत्रनितारत्नलाभो नैवात्र ते भयं। इत्यतींहितरूपाऽथ स्वरूपेण समा-

---

इच्छा करने लगे, उसके साथ विवाह करनेके लिये दोनोंमें ही परस्पर ईर्षा बढ गई और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे, यह देखकर उनके भाई वंधुओंने उन्हें लडनेसे रोका और कहा कि " तुम दोनोंका लडना व्यर्थ है, तुम दोनोंमेंसे जिसको यह कन्या चाहे वही इसका पति होगा " इसतरह रोकनेपर उन दोनोंने अपना अपना वैर छोड दिया। देखो ! इस स्त्रीके लिये परस्पर किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है अर्थात् स्त्रीके पीछे सबका प्रेम छूट जाता है ॥ १२०-१२२ ॥ उस कन्याने किसीकी इच्छा न की तब सुखावती उसे कन्याके रूपमें ही उठाकर ले चली और जहां सुकांता रतिकांता, कांतवती आदि उसको चाहनेवालीं कन्यायें थीं वहां लेगई, वहां जाकर उसने कुमारका असली रूप प्रगट कर दिया, उसे देखकर कोई लज्जित हो गई और कोई उसके साथ प्रेम करनेकी इच्छा करने लगी, सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके परिणाम अनेक तरहके होते हैं ॥ १२३-१२४ ॥ श्रीपाल सो रहा था सोते ही सोते सवेरेके समय सुखावती बडे प्रयत्नसे उठाकर ले चली, रास्तेमें कुमारकी आंख खुल गई तब उसने पूछा कि तू मुझे यहां अकेला छोडकर कहां चली गई थी ? इसके उत्तरमें सुखावतीने कहा कि " मैं कहीं नहीं गई, मैं तो सदा आपके पास ही रही हूं, यहां आपको स्त्री रत्न मिलेगा आपको यहां, किसी तरहका भय नहीं है आजतक तो मैं छिपी हुई रहती थी परंतु

गमः ॥ १२७ ॥ इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रमुदैत्य खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्थं गजादिं तत्समीपगं ॥ १२८ ॥ कांचिद्गजपतिं स्तंभमुन्मूल्यारूढदर्पकं । द्वात्रिंशद्युक्तक्रीडाभिः क्रीडित्वा वशमानयत् ॥ १२९ ॥ ततः समुदिते चंडदीधितौ निर्जिताद्गजात् । कुमारागमनं पौरा बुध्वा संतुष्टचेतसः ॥ १३० ॥ प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताकका: । प्रत्युद्गममकुर्वंस्ते तत्पुण्योदयचोदिताः ॥ १३१ ॥ ततोनभस्यसौ गच्छन् कांचिद्धयपुरे हय । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य स्वयं पश्यन्नविस्मयः ॥ १३२ ॥ तत्रापि विदितादेशैर्नागरैः प्राप्तपूजनः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥ १३३ ॥ चतुर्जनपदाभ्यंतरस्थसीममहाचले । जने महति संभूय स्थिते केनापि हेतुना ॥ १३४ ॥ कस्यचित्कोशतः खड्गं कस्मिंश्चिदपि यत्नतः । सत्यशक्ते

आज आपसे असली रूपमें मिली हूं ॥ १२५-१२७ ॥ सुखावतीकी इस बातको सुनकर श्रीपाल बहुत ही प्रसन्न हुआ और वहांसे चलकर विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके गजपुर नगरके समीप जा पहुंचा ॥ १२८ ॥ वहांपर एक गजराज किसी खंभेको उखाडकर मदोन्मत्त हो रहा था उसे कुमारने शास्त्रमें कही हुई बत्तीस तरहकी क्रीडाओंसे क्रीडा कराकर वश किया ॥ १२९ ॥ तदनंतर सूर्योदय होते ही नगरके सब लोगोंने हाथीको जीतनेसे कुमारका आना जान लिया, मनमें संतुष्ट होकर सबने अपने अपने घर ध्वजायें फहराईं और कुमारके पुण्योदयके द्वारा प्रेरणा किये हुये वे सब लोग आदर सत्कार करनेके लिये उसके साम्हने आये ॥ १३०-१३१ ॥ कुमार वहांसे भी आकाशमार्गसे चला और हयपुर नगरमें आया, वहांपर एक घोडा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर आ खडा हुआ, उसे देखकर भी कुमारको कुछ आश्चर्य नहीं हुआ ॥ १३२ ॥ तव निमित्त ज्ञानियोंके कहनेसे वहांके नगर निवासियोंने भी इसका आना जान लिया और इसकी पूजा की। कुमार वहांसे भी निकलकर अपनी इच्छानुसार चलने लगा, ॥ १३३ ॥ चलते चलते चार देशोंके बीचमें पडे हुये एक सीमा नामके पर्वतपर आया, वहांपर किसी कारणसे वहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे लोग बडे प्रयत्नसे एक तलवारको एक म्यानमेंसे निकाल रहे थे परंतु उसे उनमेंसे कोई नहीं

समुत्खातुं तं समुद्दीर्थ हेलया ॥ १३५ ॥ कुमारः प्राहरद्वंशस्तंब सभृतवंशकं । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादादरं व्यधात् ॥ १३६ ॥ तत्र काश्चित्समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयशब्दपुरस्सर ॥ १३७ ॥ कुणिश्च काश्चिदगुल्या प्रसारितकरागुलिः । अजलिं मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थितः ॥ १३८ ॥ यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुदा । तेषा पाके व्यलोकिष्ट कुमारं विनयेन स· ॥ १३९ ॥ प्रागुक्तकरवालेशः पुरेऽभूद्विजयाह्वये । सोऽस्य सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥ १४० ॥ तत्पुरे वरकीर्तिष्टकीर्तिमत्यात्मजायने । खड्गोत्पाटनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥ १४१ ॥ मूकः श्रेयःपुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवशेनमहीपालः श्रीमास्तन्नगरेश्वरः ॥ १४२ ॥ वीतशोकाह्वया तस्य तनूजा वनजेक्षणा । मूकभाषणमादेश·

निकाल सका था, तब कुमारने लीलामात्रमें ही उसे निकाल लिया और उसे जिसमें बहुतसे बांस खडे हुये हैं ऐसे एक बांसके बिडेपर चलाया, यह देखकर वे सब लोग प्रसन्न हुए और सबने कुमारका खूब आदर सत्कार किया ॥ १३४-१३६ ॥ इतनेमें ही वहां एक गूंगा मनुष्य आया और कुमारको देखते ही उसने जय जय शब्द करते हुये प्रणाम किया, भावार्थ—कुमारको देख कर वह गूंगा बोलने लगा ॥ १३७ ॥ वहींपर एक बिना उंगलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी उंगली पूरी होगई उसने हाथकी उंगली फैलाकर हाथ जोडे, नमस्कार किया और वह पास ही आ खडा हुआ ॥ १३८ ॥ वहींपर एक हीराओंकी भस्म बना रहा था, वह बनती नहीं थी परंतु कुमारके वहां पहुंचनेसे वह बन गई, इसलिये उसने भी बडी विनयसे आकर कुमारके दर्शन किये ॥ १३९ ॥ श्रीपालने जिसकी तलवार म्यानमेंसे निकाली थी वह विजयपुरका रहनेवाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका सेनापति होनेवाला था ॥१४०॥ उसी विजयपुरके राजा वरकीर्तिकी रानी कीर्तिमतीकी पुत्रीके लिये राजाने किसी निमित्तज्ञानीसे वर पूछा था तब उसने कहा था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और वह म्यानमेंसे तलवारको निकाललेनेसे पहिचाना जायगा ॥१४१॥ वह गूंगा श्रेयस्पुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुरका स्वामी श्रीमान राजा शिवसेन था और उसके

कुमारस्य तदायने ॥ १४३ ॥ कुणिः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाव्यसौ । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥ १४४ ॥ रत्यादिविमला सार्द्धं तयैतस्य समागमः । अंगुलिप्रसर दिशात्स्मरव्ययदया चिर ॥ १४५ ॥ स वज्रमणिपाक्यस्य प्रधानपुरुषो भवेत् । तस्य धान्यपुरे जातिर्विशालस्तत्पुराधिपः ॥ १४६ ॥ सुता विमलसेनाऽस्य श्रीपालस्य तदाप्तये । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥ १४७ ॥ इत्यादेशनरं ज्ञात्वा सर्वे स्व स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमूढ्वाऽयान्नभोभागे सुखावती ॥ १४८ ॥ धूमवेगो विलोक्यैनं विद्विषो भीषणारवः । अभितर्ज्य स्थितो रुध्वा खे खेटकयुतासि-

---

कमलकेसे नेत्रवाली वीतशोका नामकी कन्या थी, एक दिन राजाने निमित्तज्ञानीसे पूछा था कि इसका वर कौन होगा तब निमित्तज्ञानीने कहा था कि " जिसे देखकर यह गूंगा बोलने लगे वही इसका वर होगा ॥ १४२-१४३ ॥ जिसके उंगली नहीं थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार शिलावट रत्न था, उसी शिल्पपुरके राजाका नाम नरपति था और उसकी कन्याका नाम रतिविमला था। उसके वरके लिये भी निमित्तज्ञानीने कहा था कि जिसको देखकर इस टोंटेकी उंगली ठीक हो जाय उसीके साथ कामदेवकी अनेक क्रीडायें करनेवाली इस कन्याका बहुतदिनतक समागम रहेगा ॥ १४४-१४५ ॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा था वह धान्यपुरमें उत्पन्न हुआ था और इस कुमारका होनहार मंत्री था, उसी धान्यपुरके राजाका नाम विशाल था और उसकी कन्याका नाम विमलसेना था, उसके वरके लिये भी निमित्तज्ञानीने कहा था कि जिसके आनेपर हीराओंकी भस्म बन जाय वही महा तेजस्वी राजा श्रीपाल इसका पति होगा ॥ १४६-१४७ ॥ इसतरह निमित्तज्ञानियोंके कहे अनुसार उसी पुरुषको (महाराज श्रीपालको) पहिचानकर वे सब लोग अपने नगरको चले गये। इधर सुखावती भी कुमारको लेकर आकाशमार्गसे चली ॥ १४८ ॥ चलते चलते रास्तेमें इसे कुमारका शत्रु धूमवेग मिल गया, वह कुमारको देखकर भयंकर शब्द करने लगा, खेटक और तलवार ये दोनों ही शस्त्र उसके हाथमें थे। इसतरह कुमारको ललकारता हुआ वह उसे रोककर

भृत् ॥ १४९ ॥ तदा पूर्वोदिताचार्यो देवता याऽस्य पालिका । सा विद्याधररूपेण समुपेत्य सुखावतीं ॥ १५० ॥ मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीर्विद्याधराधमं । नियुध्य विजयस्वेति निजगाद निराकुल ॥ १५१ ॥ साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं घूमवेगं रणागणे । चिरं युध्वा स्वविद्याभिर्न्यरौत्सीच्छौर्यशालिनी ॥ १५२ ॥ कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणीधरे । शनैः समापतत्तस्य देवश्रीजननी पुरा ॥ १५३ ॥ यक्षीभूता तदाऽऽगत्य संस्पृशंती करेण तं । अपास्यास्य श्रमं मक्षु कुमार प्रविश ह्रद ॥ १५४ ॥ जगादैनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं शिलास्तंभस्योपरि स्थितवान्निशि ॥ १५५ ॥ कुर्वन्पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनं । प्रभाते तदुदग्भागे जिनेंद्रप्रतिबिंबकं ॥ १५६॥ विलोक्य कृतपुष्पादिसंपूजननमस्क्रियः।

आकाशमें खडा हो गया ॥ १४९ ॥ उसीसमय प्रमदवनमें प्रतिमापर जो श्रीपालकी रक्षा करनेवाला देव रहता था वह विद्याधरका रूप धरकर आया और सुखावतीको छोडकर कुमारको उठाकर ले गया तथा सुखावतीसे कह गया कि तू निर्भय और निराकुल होकर इस नीच विद्याधरके साथ लडना और इसे जीतना ॥ १५०-१५१ ॥ सुखावतीने भी कुमारको तो छोड दिया और शूरवीरताको धारण करनेवाली वह धूमवेगसे लडने लगी, उसने बहुत देरतक उसके साथ युद्ध किया और अपनी विद्याओंसे उसे रोक लिया ॥ १५२ ॥ श्रीपाल कुमार भी पास ही एक पर्वतका शिलापर धीरे धीरे जा पडा, वहांपर उसके पहिले जन्मकी माता देवश्री जो मरकर यक्षिणी हुई थी वह आई, उसे हाथसे स्पर्श करने लगी, उसका सब परिश्रम दूर किया और उससे कहा कि तू शीघ्र ही इस तालावमें घुस जा, यह सुनकर श्रीपालने भी उसकी बातका विश्वास कर, उस तालावमें घुसकर एक पत्थरके खंभेपर सब रात बिताई ॥ १५३-१५५ ॥ पंचनमस्कार मंत्रका बार बार स्मरण करता हुआ वह सबेरे ही उठा, तालावके उत्तर ओर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा देखी, पुष्प आदि सामग्रीसे पूजा की और नमस्कार किया । तदनंतर उसी यक्षिणीके उपदेशसे उस पुण्यवानने एक हजार दलवाले कमलको चक्ररत्न रूप देखा, जिसकी हजार फणायें उठ रहीं हैं ऐसे नागराजको दंडरत्नके रूपमें

सहस्रपत्रमंभोजं चक्ररत्नं सकूर्मकं ॥ १५७ ॥ आतपत्रं सहस्रोरुफणं च फणिनां पतिं । दंडरत्नं समंडूकं नक्रं चूडामणिं तथा ॥ १५८ ॥ चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं काकिणीमणिं । ईक्षाचक्रे स पुण्यात्मा तत्र यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥ तदा मुदितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दंडभृत् । प्रद्योतमानरत्नोपानत्को यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥ सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभेदैर्विभूषित । निर्जगाम गुहानोऽसौ तदैवैत्य सुखावती ॥ १६१॥ धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा हिमद्युतिं । वृध्यै कुमारमापन्ना सकलाऽसिलतान्विता ॥१६२॥ एतया सह गत्वातः संप्राप्त सुरभूधरं । गुणपालजिनाधीशसभामंडलमाप्तवान् ॥ १६३ ॥ तत्र त सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्कायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥ १६४ ॥ तदाशीर्वादसंतुष्टः सविष्टो मातृसन्निधौ । सुखावतीप्रभावेण युष्मदतिक्रमाप्तवान् ॥ १६५ ॥ क्षेमेणेति तयोरग्रे प्राशसत्ता नृपानुजः । सता स सहजो भावो यत्स्तुवत्युपकारिणः ॥ १६६ ॥ वसुपालमहीपाल

देखा एक कछूएको छत्ररूप देखा, एक मेडकको चूडामणि रत्नके रूपमें देखा, नाकू वा घडियालको चर्मरत्नके रूपमें देखा और दैदीप्यमान लाल बिच्छूको काकिणी रत्नके रूपमें देखा ॥ १५६-१५९ ॥ तब उसने प्रसन्न चित्त होकर छत्र धारण किया, हाथमें दंड लिया, पैरोंमें देदीप्यमान रत्नोंक जूते पहने, और यक्षीके दिये हुये तथा सब रत्नोंके बने हुये अनेक तरहके दिव्य आभूषण पहिने और फिर वह वहांसे निकला। उसीसमय जिसप्रकार चंद्रमाकी वृद्धिके लिये शुक्लपक्षकी पडिवा आती है उसीप्रकार धूमवेगको जीतकर हाथमें तलवार लिये हुये सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिये उसके पास आगई। महाराज श्रीपालकुमार उसके साथ साथ चला, सुरगिरि नामके पर्वतपर जाकर श्रीगुणपाल जिनेंद्रदेवके समवसरणमें जा पहुंचा ॥ १६०-१६३ ॥ वहांपर बहुत देरतक शुद्ध मन बचन कायसे भगवानकी स्तुति की, माता तथा भाईको देखकर उनका यथायोग्य आदर सत्कार किया, माता भाईके दिये हुये आशीर्वादसे संतुष्ट हुआ, माताके पास बैठ गया और फिर उस राजपुत्रने अपने माता भाई दोनोंके साम्हने सुखावतीकी प्रशंसा की कि "मैं इसीके प्रभावसे क्षेम कुशल पूर्वक आपके पास पहुंचा हूं" सो ठीक ही है क्योंकि "उपकार करनेवालेकी स्तुति करना" यह सज्जन

प्रश्नाद्भगवतोदितैः। स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलंभान् समापिवान् ॥ १६७ ॥ ततः सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशत्पुरं। संचितोर्जितपुण्यानां भवेदापच्च संपदे ॥ १६८ ॥ वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समं। कन्याभिरभवत्कल्याणविधिर्विविधर्द्धिकः ॥ १६९ ॥ स श्रीपालकुमारश्च जयावत्यादिभिः कृती। तदा चतुरशीतीष्टकन्यकाभिरलंकृतः॥ १७० ॥ सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रभाव्याप्तदिक्तटौ। पालयंतौ धराचक्रं चिरं निर्विशतः स्म शं॥ १७१॥ जयावत्या समुत्पन्नो गुणपालो गुणोज्वलः। श्रीपालस्यायुधागारे चक्रं च समजायत ॥ १७२ ॥ स सर्वांश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भृशं। शक्रलीलां व्यलंघीष्टलक्ष्मीलक्षितविग्रहः ॥ १७३ ॥ अभूज्जयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः। जयसेनाह्वया कात्या सा सेनेव विजित्वरी ॥ १७४ ॥ मनोवेगोऽश-

---

लोगोंका सहज स्वभाव होता है ॥ १६४-१६६ ॥ इधर महाराज वसुपालने भगवानसे श्रीपालके चले जानेका सब हाल पूछा था तब भगवानने उसका सब हाल कहा था, उनके कहे अनुसार ही उस कुमारको विद्याधरोंकी श्रेणीमें रहनेसे अनेक तरहके लाभ प्राप्त हुये थे। तदनंतर सात दिनमें ही वह सुखसे अपने नगरमें चला गया था, देखो जिन्होंने बहुतसा पुण्य संचय किया है उनके लिये आपत्तियां भी अनेक तरहकी संपदायें देनेवाली हो जाती हैं ॥ १६७-१६८ ॥ नगरमें जाकर अनेक तरहकी विभूतियोंसे वारिषेणा आदि अनेक कन्याओंके साथ महाराज वसुपालका विवाहोत्सव हुआ ॥ १६९ ॥ तथा जयावती (जो बडके वृक्षके नीचे नटका रूप रखकर नाच रही थी) आदि चौरासी इष्ट कन्याओंके साथ चतुर श्रीपालका विवाहोत्सव हुआ ॥ १७० ॥ जिन्होंने अपनी कांतिसे सब दिशाओंके किनारे ढक दिये हैं ऐसे सूर्य और चंद्रमाके समान दोनों भाइयोंने पृथ्वीका पालन करते हुये बहुत दिनतक सुखका अनुभव किया ॥ १७१ ॥ कुछ दिन बाद रानी जयावतीके गुणोंसे उज्वल ऐसा गुणपाल नामका पुत्र हुआ और श्रीपालकी आयुधशालामें चक्ररत्न हुआ ॥ १७२ ॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुये सब तरहके भोगोंका खूब अनुभव करता हुआ इंद्रकी लीलाको भी उलंघन कर रहा था ॥ १७३ ॥ श्रीपालकी रानी जया-

निवरः शिवाख्योऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः क्षमाभुजः खगनायकाः ॥ १७५ ॥ जयसेनाद्यमुख्याभिस्तेषां तुग्भिः सहाभवत् । विवाहो गुणपालस्य स ताभिः प्राप्तसंमदः ॥ १७६ ॥ कदाचित्कालळब्ध्यादिचोदितोऽभ्यर्णनिर्वृतिः । विलोकयन्नभोभागमकस्मादंधकारितं ॥ १७७॥ चन्द्रग्रहण-मालोक्य धिगेतस्यापि चेदियं । अवस्था ससृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥ १७८ ॥ इति निर्विद्य संजातजातिस्मृतिरुदारधीः । स्वपूर्वभवसंबंधं प्रत्यक्षमिव संस्मरन् ॥ १७९ ॥ पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाह्वये । विषये विश्रुते कांतपुराधीशोऽवनीश्वरः ॥ १८० ॥ रथांतकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तयोर्भूत्वा प्रभापास्तभास्करः कनकप्रभः ॥ १८१ ॥ तस्मिन्नन्येद्युरुद्याने दष्टा सर्पेण मत्प्रिया । विद्युत्प्रभाह्वया तस्या वियोगेन विषण्ण-

---

वतीके भाई जयवर्माकी पुत्री जयसेना थी जो कि सेनाके समान अपनी कांतिसे सबको जीतनेवाली थी ॥ १७४ ॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिवघोष, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अच्छे अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर उन सब राजाओंकी पुत्रियोंके साथ गुणपालका विवाह हुआ, उन सब कन्याओंके मिलनेसे गुणपाल भी बहुत प्रसन्न हुआ ॥ १७५-१७६ ॥

अथानंतर–किसी एक दिन शीघ्र ही मुक्त होनेवाला वह गुणपाल काललब्धिके वशसे आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें ही उसे अकस्मात् अंधकार दिखाई दिया ॥१७७॥ चंद्रग्रहणको देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार है जिसमें इस चंद्रमाकी भी यह अवस्था हो जाती है फिर भला अन्य पापी लोगोंकी तो न जाने कैसी बुरी दशा होती होगी ? ॥ १७८ ॥ इसतरह वह विरक्त हुआ और उदार बुद्धिवाले उसको उसी समय जातिस्मरण हुआ तथा उसने अपने पहिले भवके सब संबंध प्रत्यक्षके समान जान लिये, वह सोचने लगा कि ॥१७९॥ पुष्करार्द्ध द्वीपके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें पद्मक नामका प्रसिद्ध देश है उसके कांतपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था, उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोंके मैं अपनी कांतिसे सूर्यको भी जीतनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था ॥१८०-१८१॥ किसी एक दिन किसी बगीचेमें विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको

वान् ॥ १८२ ॥ सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयम परं । संप्राप्तवानतिस्निग्धैः पितृमातृसनाभिभिः ॥ १८३ ॥ तत्र सम्यक्त्वशुध्यादिषोडश प्रत्ययान् भृशं । भावयित्वा भवस्यान्ते जयंताख्यविमानजः ॥ १८४ ॥ प्राप्ते ततोऽहमागत्य जातोऽत्रैवमिति स्फुटं । समुद्रदत्तेनादित्यगतिर्वायुरयाह्वय. ॥१८५॥ श्रेष्ठी कुबेरकांतश्च लौकांतिकपदं गताः । बोधितस्तैः समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥ १८६ ॥ मोहपाशं समुच्छिद्य तत्तवाश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदमागमत् ॥ १८७ ॥ यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमं । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥ १८८ ॥ राजराजस्तदा भूरिविभूत्याऽभ्येत्य तं मुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु श्रुत्वा धर्मं द्वयात्मकं ॥ १८९ ॥ ततः स्वभवसंबंधमप्राक्षीत्प्रश्रयाश्रयः । भगवांश्चेत्युवाचेति

सर्पने काट खाया था, उसके वियोगसे मैं विरक्त हुआ था और मुझपर वहुत प्रेम करनेवाले माता पिता तथा भाई बंधुओंके साथ साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिके पास उत्कृष्ट संयम धारण किया था ॥ १८२-१८३ ॥ वहांपर मैंने दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका खूब चिंतवन किया था और आयुके अंतमें मैं जयंत नामके विमानमें अहमिंद्र उत्पन्न हुआ था ॥ १८४ ॥ वहांकी आयु पूरीकर मैं यहां श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूं। इसप्रकार वह विचार कर रहा था कि इतनेमें ही प्रियदत्ताका पिता शेठ समुद्रदत्त, हिरण्यवर्माका पिता आदित्यगति, प्रभावतीका पिता वायुरथ और कुबेरमित्रका पिता कुबेरकांत ये सब जो दीक्षा धारणकर लौकांतिक देव हुये थे उन्होंने आकर समझाया। इसतरह गुणपालको आत्मज्ञान हुआ उसीसमय उन्होंने मोहजालको काटकर तपश्चरण धारण किया और घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञान प्राप्तकर तेरहवें सयोगी गुणस्थानमें जा विराजमान हुये १८५-१८७ ॥ सुखावतीके पुत्र यशपालने भी उन्हीं गुणपालसे दीक्षा धारण की और वह उनका प्रथम गणधर हुआ ॥ १८८ ॥ उसीसमय राजाधिराज महाराज श्रीपालने वडी विभूतिसे आकर वडी प्रसन्नतासे गुणपाल तीर्थंकरकी पूजा की और उनसे गृहस्थ तथा यतिका धर्म सुना ॥ १८९ ॥ तदनंतर उसने वडी नम्रतासे अपने पहिले भवका संबंध पूछा तब भगवान नीचे लिखे अनुसार कहने

कुरुराज सुलोचना ॥ १९० ॥ निवेदितवती पृष्टा मृष्टवाक्सौष्ठवान्विता । विदेहे पुंडरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥ १९१ ॥ तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनजयानुजाताऽसौ धनश्रीर्धनवर्द्धिनी ॥ १९२ ॥ तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठी तद्भगिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥ १९३ ॥ सुता सागरसेनस्य जयसेनासमाह्वया । धनंजयवणीशस्य जयदत्ताभिधाऽपरा ॥ १९४ ॥ देवश्रीरनुजा श्रेष्ठिपितुस्तस्या तनूद्भवौ । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्परः ॥ १९५ ॥ ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ सागरसेनानुजाया जातमहोदयौ ॥ १९६ ॥ जातौ सागरसेनायां दत्ता वैश्रणादिवाक् । दत्तो वैश्रवणादिश्च दायादः श्रेष्ठिनः स तु ॥ १९७ ॥ भार्या सागरदत्तस्य दत्ता वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य सा सर्वदयिता प्रिया ॥ १९८ ॥ सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्ताता सागराह्वया । तेषां सुखसुखेनैव काले गच्छति सततं ॥ १९९ ॥ यशःपालमहीपाल

लगे । यह सब बातें महाराज जयकुमारके पूछनेपर मधुर भाषण करनेवाली सुंदरी सुलोचना जयकुमारसे कह रही थी, वह श्रीपालके पूर्व भव इसतरह कहने लगी कि विदेहक्षेत्रकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा यशपाल राज्य करता था ॥ १९०-१९१ ॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य था और उसकी स्त्री धनको बढानेवाली और धनंजयकी छोटी बहिन धनश्री थी ॥ १९२ ॥ उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित नामका शेठ था, उसकी बहिनका नाम सती सर्वदायिता था और उसके दो स्त्रियां थीं एक सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनंजयशेठकी पुत्री यमदत्ता ॥ १९३-१९४ ॥ शेठ सर्वदायितके पिताकी छोटी बहिनका नाम देवश्री था, वह शेठ सागरसेनको व्याही गई थी, उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र हुये थे और सागरदत्ता नामकी पुत्री हुई थी । सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके बडी ऋद्धिको धारण करनेवाली दो संतानें हुईं थीं, एक वैश्रवणदत्त नामका पुत्र और दूसरी वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री । वह वैश्रवणदत्त शेठ सर्वदायितका कुछ उत्तराधिकारी था ॥ १९५-१९७ ॥ वैश्रवणदत्ता शेठ सागरदत्तकी स्त्री थी, सती सर्वदायिता शेठ समुद्रदत्तकी स्त्री थी और सागरदत्ता वैश्रवणदत्तको व्याही गई थी । इसतरह उन सबका समय निरंतर बडे

मावर्जितमहाधनः । वणिग्धनंजयोऽन्येद्युः सद्रत्नैर्दर्शनीकृतैः ॥ २०० ॥ व्यलोकिष्ट स भूपोऽपि तस्मै सन्मानपूर्वकं । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितोचितं ॥ २०१ ॥ विलोक्य त वणिक्पुत्राः सर्वेऽपि धनमर्जितु । ग्रामे पुरोपकंठस्थे संभूय विनिवेशिरे ॥ २०२ ॥ तन्निवेशादथान्येद्युः स समुद्रादिदत्तकः । रात्रौ स्वगृहमागत्य भार्यासंपर्कपूर्वक ॥२०३॥ केनाप्यविदितो रात्रावेव सार्थमुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्याः पापो दुश्चरितोऽभवत्॥२०४॥ इति सागरदत्ताख्यस्तया भर्तृसमागमं । बोधितोऽप्यपरीक्ष्यासौ स्वगेहात्तामपाकरोत् ॥ २०५ ॥ ततः श्रेष्ठिगृह याता तेनापि त्व दुराचरा । नास्मद्गृहं

सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥ १९८-१९९ ॥ किसी एक दिन जो वहुतसा धन कमाकर लाया है ऐसे शेठ धनंजयने वहुतसे अच्छे अच्छे रत्न भेटकर महाराज यशपालके दर्शन किये, राजाने भी उसका आदर सत्कार किया और बडे प्रेमसे यथायोग्य वहुतसा सुवर्ण आदि धन उसे वापिस दिया ॥२००-२०१ ॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्रोंने धन कमानेके लिये बाहर जानेका निश्चय किया, सब निकले और सबने मिलकर नगरके समीप ही एक गांवमें जाकर डेरे डाले ॥ २०२ ॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोंसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग किया ॥ २०३ ॥ वह विना किसीको मालूम किये ही रात्रिमें ही अपने डेरोंमें चलागया । समयानुसार उसका गर्भ वढा और वह समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तको मालूम हुआ, तव वह सोचने लगा कि अवश्य ही यह इसका दुराचरण वा पाप है ? समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने उसे समझाया भी " कि पति छिपकर रातमें ही आये थे और रातमें ही चले गये थे " परंतु सागरदत्तने इसकी कुछ परीक्षा नहीं की और उसे अपने घरसे निकाल दिया ॥ २०४-२०५ ॥ तव वह सर्वदयिता अपने भाई शेठ सर्वदयितके घर पहुंची, परंतु उसने भी यही कहा कि तू दुराचारिणी है इसलिये हमारे घरमें मत आ, इसतरह अपनी अज्ञानतासे उसने भी वह अपने घरसे निकाल दी ॥२०६॥ तब वह पासके ही किसी एक घरमें रहने लगी, नौ महिने पूरे होनेपर उसके एक बडा ही पुण्यावान पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २०७ ॥ शेठ सर्वदयितको भी

समागच्छेत्यज्ञानात्सा निवारिता ॥ २०६ ॥ समीपवर्तिन्येकस्मिन्केतने विहितस्थितिः । नवमासावधौ पुत्रमलब्धानल्पपुण्यकं ॥ २०७ ॥ तद्विदित्वा कुलस्येष समुत्पन्नःपराभवः । यत्र क्वचन नीत्वैनं निक्षिपेत्यनुजीविकः ॥ २०८ ॥ प्रत्येयः श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । स्मशाने साधितुं विद्यामागतस्य खयायिनः ॥ २०९ ॥ वाल समर्पयामास विचित्रो दुरितोदयः । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामाऽस्य वल्लभा ॥ २१० ॥ तौ भोगपुरवास्तव्यौ जितशत्रुसमाह्वयं । कृत्वा वर्धयता पुत्रमिव मत्वौरसं मुदा ॥ २११ ॥ तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिंदनान्मृत्वा संप्रापज्जन्म पौरुष ॥ २१२ ॥ ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्थेनामा समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तांन निंदित्वा भ्रातर निज ॥ २१३ ॥ श्रेष्ठिनेऽनपराधाया

यह खबर लगी, उसने सोचा कि इस लडकेसे हमारे कुलको बट्टा लगेगा, नीचा देखना पडेगा इसलिये उसने एक सेवकको यह कह कर भेजा कि इस बालकको कहीं दूसरी जगह रख आ। वह सेवक बुद्धिमान् था, वह उस बालकको ले गया और एक शेठका मित्र जयधाम विद्याधर स्मशानमें विद्या सिद्ध करनेके लिये आया था उसे वह बालक सोंपादिया, सो ठीक ही है क्योंकि पापकर्मका उदय वडा ही विचित्र होता है। वह जयधाम नामका विद्याधर भोगपुर नगरका रहनेवाला था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था। उन दोनोंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रक्खा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर बडी प्रसन्नतासे वे उसका पालन पोषण करने लगे ॥ २०८-२११ ॥ उस समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने अपने पुत्रके वियोगसे बहुत दिनतक स्त्रीवेदकी निंदा की और मरकर पुरुषका जन्म पाया ॥ २१२ ॥ तदनंतर समुद्रदत्त भी अपने समूहके साथ आगया और अपनी स्त्रीका हाल सुनकर अपने भाईकी निंदा करने लगा ॥ २१३ ॥ शेठने उसकी स्त्रीको बिना अपराधके भी घरमें नहीं रहने दिया था इसलिये वह शेठपर सदा क्रोधित रहने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि बिना विचारे किये हुये कामको भला कौन सहन कर सकता है ॥ २१४ ॥ कुछ दिन बाद वैश्रवणदत्त शेठ सर्वदयितसे क्रोध करने लगा और कहने लगा कि "मैं वडा हूं न्यायसे मुझे पद मिलना चाहिये, मेरे

गृहवेशनिवारणात् । अकुप्यन्नितरां क्रत्यं कः सहेताविचारितं ॥ २१४ ॥ ज्येष्ठे न्यायागतं योग्ये मयि स्थितवति स्वयं । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि कोपवान् ॥ २१५ ॥ स वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तकः । सार्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनः स्थिताः ॥२१६॥ दुस्सहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि कचित्नृणां । अन्येद्युर्जितशत्रु तं दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥ २१७ ॥ समुद्रदत्तसारूप्य दधत्संसदमागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥ २१८ ॥ नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तद्धस्तसंस्थिता । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकता निजा ॥ २१९ ॥ मैथुनस्य च संस्मृत्य तस्मै सर्वश्रियं सुतां । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ दत्वा निर्विण्णमानसः ॥ २२० ॥ जयधामा जयभामा जयसेना तथाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका ॥ २२१ ॥ सा वैश्रवणदत्ता च परे चोत्पन्नबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठि संयम प्रत्यपद्यत ॥ २२२ ॥ मुनिं रतिवरं प्राप्य चिरं

रहते हुये भी यह क्यों शेठ बन गया है" इसीतरह सागरदत्त और समुद्रदत्त ये भी शेठके साथ ईर्षा करने लगे ॥२१५-२१६॥ परंतु यह ईर्षा मनुष्योंको कहीं कहीं कठिन तपश्चरण करनेमें अच्छी लगती है दूसरी जगह नहीं। किसी एक दिन शेठ सर्वदयितने जितशत्रुको देखकर पूछा कि "तू समुद्रदत्तके समान क्यों दिखाई देता है और इस सभामें तू क्यों आया है?" तब उस जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब कारण कह दिया ॥ २१७-२१८ ॥ तब शेठने उसके हाथमें पहिनी हुई अंगूठीको देखकर निश्चय कर लिया कि " यह मेरा भानजा ही है दूसरा कोई नहीं है" उसे अपनी और बहनोई समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तकी भूल याद आई और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुतसा धन और अपना शेठ पद देदिया। उस समय उसका चित्त संसारके भोगोंसे विरक्त होगया, उसी समय जितशत्रुको पालनेवाला जयधाम नामका विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी दोनों स्त्रियां, वैश्रवणदत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहिन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ अर्थात् सब संसारसे विरक्त हो गये, उन सबके साथ साथ शेठ सर्वदयितने रतिवर मुनिके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने

विहितसयमाः । एते सर्वेऽपि कालांते स्वर्गलोकं समागमन् ॥ २२३ ॥ प्राते स्वर्गादिहागत्य जयधामा तदातनः । वसुपालोऽत्र संजातो जयभामाऽप्यजायत ॥ २२४ ॥ जयवत्यात्तसौंदर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पली जयदत्ता तु वत्यतमदनाऽभवत् ॥ २२५ ॥ विद्युद्वेगाऽभवद्वैश्रवणदत्ता कलाखिला । जाता सागरदत्ताऽपि स्वर्गादेत्य सुखावती ॥ २२६ ॥ तदा सागरदत्ताख्य स्वर्गलोकात्समागत. । पुत्रो हरिवरो जातः स पुरूरवसः प्रियः ॥ २२७ ॥ समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुषः ॥ २२८ ॥ स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनिवेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्त्वमिहाभवः ॥ २२९ ॥ त्व जामातुर्निराकृत्या सनाभिभ्यो वियोजित. । तदात्वद्द्वेपिणोऽस्मिंश्च तत्र द्वेषिण एव ते ॥ २३० ॥ तदा प्रियास्तवात्रापि संजाता नितराप्रियाः । अहिंसयाऽभक्तस्यासीद्बंधुभिस्तत्र सगमः ॥ २३१ ॥ तत्तपःफलतो जातं चक्रित्वं

बहुत दिनतक तपश्चरण किया और आयु पूरी कर वे सब लोग स्वर्गमें देव उत्पन्न हुये ॥२१९-२२३॥ वहांकी आयु पूरीकर स्वर्गसे आकर पहिलेके जयधामाका जीव राजा वसुपाल हुआ है, जयभामाका जीव वसुपालकी बहुत सुंदरी रानी जयावती हुई है, जयसेनाका जीव पिप्पली हुई है, जयदत्ताका जीव मदनावती हुई है ॥ २२४-२२५ ॥ वैश्रवणदत्ताका जीव सब कलाओंमें निपुण ऐसी विद्युद्वेगा हुई है और सागरदत्ताका जीव स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है ॥ २२६ ॥ उससमय जो सागरदत्त था वह स्वर्गसे आकर पुरुरवाका प्रिय पुत्र हरिवर हुआ है ॥२२७॥ समुद्रदत्तका जीव ज्वलननेगका प्रसिद्ध पुत्र और विद्यासे ही अपना पराक्रम दिखानेवाला ऐसा धूमवेग नामका विद्याधर हुआ है ॥ २२८ ॥ वैश्रवणदत्तका जीव इस भवमें आकर अशनिवेग विद्याधर हुआ है और सर्वदायित शेठका जीव तू श्रीपाल हुआ है ॥ २२९ ॥ भगवान गुणपालने श्रीपालसे कहा था कि तूने अपने जंवाईको (जितशत्रु नामके भानेजको) पैदा होते ही उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिये तुझे भी इस भवमें अपने भाई बंधुओंका वियोग सहना पडा था, पहिले भवमें जो (वैश्रवणदत्त, सागरदत्त समुद्रदत्त) तेरे द्वेषी थे वे इस भवमें भी द्वेष करनेवाले (धूमवेग अशनिवेग हरिवर)

सकलक्षितेः । सर्वसंगपरित्यागान्मंक्षु मोक्षं गमिष्यसि ॥ २३२ ॥ अथोदीरिततीर्थेशवचनाकर्णनेन ते । मर्वे परस्परद्वेषाद्विरमंति स्म विस्मयात् ॥२३३ ॥ जन्मरोगजरामृत्यूनिहतु सततानुगान् । सन्निधाय धियं धन्योऽवात्सीद्धर्मामृतं ततः ॥ २३४ ॥ धिगिदं चक्रिसाम्राज्यं कुलालस्येव जीवितं । भुक्तिश्चक्रं परिभ्राम्य मृदुत्पन्नफलाशितः ॥ २३५ ॥ आयुर्वायुरयं मेघो भोगो भंगी हि संगमः । वपुः पापस्य दुष्पात्रं विद्युल्लोला विभूतयः ॥ २३६ ॥ मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद्यौवनं गहनं वनं । या रतिर्विषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिं ॥ २३७ ॥ सर्वमेतत्सुखाय स्याद्यावन्मतिविपर्ययः ।

हुये हैं ॥ २३० ॥ जो उसभवमें तेरी स्त्रियें थीं वे इस भवमें भी तेरी स्त्रियां हुई हैं, तूने जितशत्रु नामके भानेजकी हिंसा नहीं की थी इसलिये ही तुझे फिर भाई वंधुओंका समागम हुआ है॥ २३१ ॥ तपश्चरणके फलसे ही तू सब पृथ्वीका चक्रवर्ती राजा हुआ है और अंतमें सब परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे ही तू शीघ्र मोक्ष जायगा ! ॥ २३२ ॥ इसप्रकार तीर्थंकर भगवानके कहे हुये वचनोंको सुनकर सब लोगोंको आश्चर्य हुआ और सबने अपना अपना द्वेष छोड दिया ॥ २३३ ॥ जिसका जन्म धन्य है ऐसे श्रीपालने सदासे इस जीवके पीछे चले आये ऐसे जन्म, रोग, जरा, और मृत्युको नाश करनेके लिये ही अपनी बुद्धि स्थिर की और धर्मामृतका पान किया ॥ २३४ ॥ वह विचार करने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुंभारकी जीविकाके समान है क्योंकि जिसप्रकार कुंभार चाक फिराकर मिट्टीसे वनाये हुये घडे आदि वर्तनोंसे ही अपनी जीविका करता है उसीप्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र फिराकर मिट्टी वा पृथ्वीसे उत्पन्न हुये रत्न वा कर आदि से ही अपने भोगोपभोगकी सामिग्री इकट्ठी करता है इसलिये ऐसे इस चक्रवर्तीके साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, भाई वंधुओंका समागम सब नाश होनेवाला है. शरीर पापोंका निंद्य पात्र है, और ये संपदायें सब बिजलीके समान चंचल हैं ॥ २३६ ॥ यह यौवन श्रेष्ठ मार्गसे भ्रष्ट करनेवाला है इसलिये गहन वनके समान है और यह विषयोंमें प्रेम करना द्वेषका

प्रगुणाया मतौ सत्या किं तत्त्याज्यमतः परं ॥ २३८ ॥ चित्तद्रुमस्य चेद्वृद्धिरभिलाषविषांकुरैः । कथ दुःखफलानि स्युः सभोगाविटपेषु न ॥ २३९ ॥ भुक्तो भोगो दशागोऽपि यथेष्टं सुचिर मया । मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तृतिस्तृष्णाविघातिनी ॥ २४० ॥ अस्तु वस्तु समस्त च सकल्पविषयीकृतं । इष्टमेव तथाप्यस्मान्नास्ति व्यस्ताऽपि निर्वृतिः ॥ २४१ ॥ किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुष किमतःपर । दैन्यमात्मनि सभाव्य सौख्य स्या परमः पुमान् ॥ २४२ ॥ इति श्रीपालचक्रेशः संत्यजन् वक्रतां धियः । अक्रमेणाखिल त्यक्तु सचक्र मतिमातनोत् ॥ २४३ ॥ ततः सुखावतीपुत्र नरपा-

---

उत्पन्न करनेवाला है ॥ २३७ ॥ जबतक यह बुद्धि उलटी रहती है तबतक इनसब चीजोंसे सुख जान पडता है परंतु जब यह बुद्धि सीधी होजाती है अर्थात् अपना भ्रम छोडदेती है तब यह जानपडता है कि संसारमें इनके सिवाय छोडने योग्य और क्या होगा ? अर्थात् सबसे अधिक छोडने योग्य येही पदार्थ हैं ॥२३८॥ इस चित्त रूप वृक्षकी वृद्धि इच्छा रूपी विषके अंकूरोंसे ही होती है फिर भला संभोगरूपी शाखाओंपर दुःखरूपी फल क्यों न लगेंगे, भावार्थ–इच्छा करना विषके अंकूरोंके समान है, इनसे ही मन रूपी पेड बढता है तथा उस पेडकी भोगोपभोग रूपी शाखायें फैलती हैं और फिर उनपर दुःखरूपी फल लगते हैं॥२३९॥ मैंने अपनी इच्छानुसार बहुत दिन तक दशतरहके भी भोगोपभोगोंका सेवन किया तथापि मुझे इसभवमें तृष्णाको नाश करनेवाली तृप्ति एक क्षणमात्रभी नहीं हुई॥२४०॥जिन जिन चीजोंकी हम इच्छा करते हैं वे सब चीजें यदि अपनी इच्छानुसार ही मिल जायं तो भी उनसे थोडा सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ " स्त्रियोंसे सुखकी प्राप्ति होना ही पौरुष है " यह बात प्रसिद्ध है परंतु इसके सिवाय दीनता ही क्या होगी ? इसलिये " अपना असली सुख आत्मामें ही है " यही निश्चयकर अवश्य ही मैं परम पुरुष हूंगा ॥ २४२ ॥ इसतरह श्रीपाल चक्रवर्तीने अपनी बुद्धिकी सब वक्रता (टिढाई) छोड दी और उसने चक्रसहित सब परिग्रहोंका त्याग करना सोच लिया ॥ २४३ ॥ तदनंतर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेककर उसे अपना बहुत बडा सिंहासन

लाभिधानकं । कृताभिषेकमारोप्य समुत्तुंगं निजासनं ॥ २४४ ॥ जयवत्यादिभि: स्वाभिर्देवीभिर्धरणीश्वरैः । वसुपालादिभिश्चामा संयमं प्रत्यपद्यत ॥ २४५ ॥ स बाह्यमंतरंगं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिमारुह्य मोहारातिजयार्जितं ॥ २४६ ॥ यथाख्यानमवाप्योरुचारित्रं निष्कषायकं । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना ॥ २४७ ॥ घातिकर्मत्रयं हत्वा सप्राप्तनवकेवलः । सयोगस्थानमाक्रम्य त्रियोगो वीतकल्मषः ॥ २४८ ॥ शरीरत्रितयापायादाविष्कृतगुणोत्करः । अनंतं शांतमप्राप्तमवाप्तः सुखमुत्तमं ॥ २४९ ॥ तस्य राज्ञश्च ताः सर्वा विधाय विविधं तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योरुविमानेष्वभवन् सुराः ॥ २५० ॥ आवां चाकर्ण्य तं नत्वा गत्वा नाकं यथोचितं । अनुभूय सुखं प्रांते शेषपुण्यविशेषतः ॥ २५१ ॥

दिया और आप जयावती आदि अनेक देवियोंके साथ तथा, वसुपाल आदि अनेक राजाओंके साथ दीक्षा धारण की ॥ २४४-२४५ ॥ उन्होंने विधि पूर्वक वाह्य और अंतरंग तपश्चरण किया, क्षपकश्रेणी चढे, मोह रूप शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त हुआ तथा कषाय रहित ऐसा यथाख्यात चारित्र धारण किया, वीचाररहित दूसरे एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका ध्यानकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मोंका नाशकर नौ केवल लब्धियां प्राप्त कीं, वे सयोगी (तेरहवें) गुणस्थानमें पहुंचकर चौदहवें अयोगी गुणस्थानमें पहुंचे, वहांपर उन्होंने सब कर्मोंका नाश किया तथा औदारिक तैजस कार्मण तीनों शरीरोंके नाश होनेसे उनके आत्माके सब गुणोंके समूह प्रगट होगये और वे अनंत शांत तथा जो पहिले कभी नहीं प्राप्त हुआ था ऐसे उत्तम सुखको प्राप्त होगये अर्थात् सिद्ध होगये ॥ २४६-२४९ ॥ श्रीपालचक्रवर्त्तीकी रानियोंने भी अनेक तरहका तपश्चरण किया और वे स्वर्गलोकमें जाकर सब अपनी २ योग्यतानुसार बडे २ विमानोंमें देव हुये ॥ २५० ॥ सती सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों ही ये सब कथायें सुनकर और गुणपाल तीर्थंकरको नमस्कारकर स्वर्गमें चले गये, वहांपर यथायोग्य रीतिसे सुखोंका अनुभव किया और आयुके अंतमें व हुये पुण्यविशेषसे हम दोनों ही यहां आकर उत्पन्न हुये हैं, ये सब कथायें सुलो-

इहागताविति व्यक्तं व्याजहार सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावादतुषत्तदा ॥ २५२ ॥ तदा सदस्सदः सर्वे प्रतीयुस्तदुदाहृतं । कः प्रत्येति न दुष्टश्चेत्सद्भिर्निगदितं वचः ॥ २५३ ॥ एवं सुखेन साम्राज्यभोगसारं निरंतरं । भुंजानौ रंजितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥ २५४ ॥ तदा खगभवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखाः श्रिताः । विद्यास्ता च महीशं च सप्रीत्या वर्द्धितश्रियः ॥ २५५ ॥ तद्बलात्कातया सार्धं विहर्तुं सुरगोचरान् । वाञ्छन् देशान् निजं राज्यं नियोज्य विजयेऽनुजे ॥ २५६ ॥ यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरितां पतिं । कुलशैलान्नदीरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२५७॥ विहरन्नन्यदा मेघस्वरः कैलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णादसौ किंचिदपासरत् ॥ २५८ ॥ अमरेंद्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसनं । जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकु-

---

चनाने साफ २ कहीं और उन्हें सुनकर अपनी प्यारी रानीकी बुद्धिके प्रभावसे जयकुमार भी उस समय बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २५२ ॥ उससमय उससभामें बैठे हुये सब लोगोंने उसके कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है क्योंकि जो दुष्ट नहीं है सज्जन है वह ऐसा कौन है जो सज्जनोंके कहे हुये वचनोंपर विश्वास न करे ? ॥२५३॥ इसतरह सुखपूर्वक साम्राज्य और उत्तम भोगोपभोगोंका निरंतर सेवन करते हुये तथा परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुये वे दोनों ही सुखसे काल विताने लगे ॥२५४॥ उन्हीं दिनोंमें पहिले विद्याधरके भवमें जो लक्ष्मीको बढानेवालीं प्रज्ञप्ति आदि विद्यायें थीं वे भी बडे प्रेमसे आकर जयकुमार और सुलोचना दोनोंको प्राप्त होगईं ॥ २५५॥ तब महाराज जयकुमारने उन विद्याओंके बलसे अपनी रानी सुलोचनाके साथ साथ देवोंके विहार करने योग्य देशोंमें घूमनेकी इच्छा की और इसालिये ही उसने अपने छोटे भाई विजयकुमारको अपना राज्य देदिया ॥ २५६ ॥ तदनंतर वह सुलोचनाके साथ साथ विद्याकी वनी हुई सवारियोंपर चढकर समुद्र, कुलपर्वत, नदियां और अनेक तरहके मनोहर बनोंमें विहार करने लगा, विहार करते करते किसी एक दिन वह जयकुमार कैलास पर्वतके बनमें पहुंचा, वह वहांपर किसी कारणसे सुलोचनासे कुछ दूर हो गया था ॥ २५७-२५८ ॥ उन्हीं दिनोंमें किसी समय इंद्रने अपनी सभामें जयकुमार और सुलोचनाके

वंति कदाचन ॥ २५९ ॥ श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः । श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषण प्रति ॥ २६० ॥ प्रेषिता कांचना नाम देवी प्राप्य जय सुधी. । क्षेत्रेऽस्मिन्भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्तटे ॥ २६१ ॥ मनोहराख्यविषये राजा रत्नपुराधिपः । अभूत्पिंगलगाधारः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥ २६२ ॥ तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमेर्भार्या यदृच्छया । त्वा नदने महामेरौ क्रीडत वीक्ष्य सोत्सुका ॥ २६३ ॥ तदाप्रभृति मच्चित्तेऽभवस्त्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायती दैवयोगतः ॥ २६४ ॥ दृष्टवत्यस्मि कातऽस्मिन्विरहं सोढुमक्षमा । इत्यपास्योपकठस्थान्स्वकीयान्स्मरविह्वला ॥ २६५ ॥ स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्वक्रितेक्षणा । तदुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापमीदृश ॥ २६६ ॥ सोदर्या त्व ममादायि मया मुनि-

शीलकी महिमा वर्णन की थी ॥ २५९ ॥ उसे सुनकर पहिले स्वर्गके रविप्रभ नामके विमानमें उत्पन्न हुये और बडी ऋद्धिको धारण करनेवाले रविप्रभ नामके देवने उनकी परीक्षा करनेके लिये कांचना नामकी देवी भेजी । वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आई और कहने लगी कि " इसी भरत क्षेत्रमें विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है और उसके रत्नपुर नगरमें महाराज पिंगलगांधार नामका राजा राज्य करता है, उसको सुख देनेवाली सुप्रभा नामकी उसकी रानी है उसकी मैं पुत्री हूं, विद्युत्प्रभा मेरा नाम है और मैं राजा नमिकी रानी हूं, महा मेरुपर्वतके नंदनवनमें अपनी इच्छानुसार क्रीडा करते हुये आपको देखकर मैं उत्कंठित हुई हूं ॥२६०-२६३ ॥ हे कांत ! उसीसमयसे मेरे चित्तमें आपका आकार लिखा हुआसा जान पडता है और मैं सदा आपके समागमका ही ध्यान करती रहती हूं, दैवयोगसे आज आपको देख पाया है, हे नाथ, अब मैं आपके वियोगको सह नहीं सकती हूं " यह कहकर उसने समीपके अपने सब लोगोंको हटा दिया और कामदेवसे विह्वल होकर तथा तिरछी दृष्टि फेंकती हुई वह देवी जयकुमारमें अपना अनुराग साफ साफ प्रगट करने लगी । जयकुमार उसकी इस दुष्ट चेष्टाको देखकर कहने लगा कि " तू ऐसे पाप करनेका विचार मतकर, तू मेरी बाहनिके समान है मैने मुनिराजसे यह व्रत लिया है कि

वराद्व्रतं । परांगनागसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥ २६७ ॥ महीशेनेति संप्रोक्त मिथ्या सा कोपवेपिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं समुध्दृत्य गत्वरी ॥ २६८ ॥ पुष्पावचयसंसक्तनृपकाताभितर्जिता । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात्काचनाऽदृश्यता गता ॥२६९॥ अबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्य गत्वा स्वस्वामिन प्रति ॥ २७० ॥ प्राशंसत्सा तयोस्ताद्ङ्माहात्म्य सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभ· समागत्य तावुभौ तद्गुण-प्रियः ॥ २७१ ॥ स्ववृत्तांत समाख्याय युवाभ्या क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोकं समीयिवान् ॥ २७२ ॥ तया चिर विहृत्यात्तसंप्रीतिः कातया समं । निवृत्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥ २७३ ॥ अथान्यदा समुत्पन्नबोधिर्मेघस्वराधिपः । तीर्थादिनाथमासाद्य वंदित्वाऽऽनंदभाजनं

परस्त्रीके संबंधसे उत्पन्न हुआ सुख मेरे लिये विष खानेके समान है" ॥ २६४-२६७ ॥ जयकुमारके इसप्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे ही कांपने लगी और राक्षसीका भेष धारणकर जय-कुमारको उठाकर ले चली ॥२६८॥ पासमें ही सुलोचना फूल तोड रही थी, उसने देखकर उस कांच-नादेवीको ललकार लगाई, तब वह देवी उसके शीलके माहात्म्यसे डरगई और अदृश्य होगई ॥२६९॥ देखो देवता भी शीलवती स्त्रीसे डर जाते हैं फिर भला औरोंकी तो बात ही क्या है? वह कांचना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामी रविप्रभ देवके पास गई ॥ २७० ॥ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर उस रविप्रभ देवको भी आश्चर्य हुआ और उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ वह उनके पास आया ॥ २७१ ॥ उसनें अपना सब हाल कहा, उन दोनोंसे क्षमा मांगी बडे बडे रत्नोंसे उन दोनोंकी पूजा की और फिर वह अपने स्वर्गलोकमें चलागया ॥ २७२ ॥ इधर जयकुमारने संतुष्ट होकर बहुत दिनतक रानी सुलोचनाके साथ विहार किया और फिर वह लौटकर अपने नगरमें आकर उत्तम उत्तम सुखोंका अनुभव करने लगा ॥ २७३ ॥

अथानंतर—जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसा जयकुमार किसी एक दिन साक्षात् आनंदके पात्र ऐसे श्रीआदिनाथ तीर्थकरके दर्शनके लिये गया, वहां उसने उनकी वंदना की, धर्मके प्रश्न पूछे

॥ २७४ ॥ कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं श्रुत्वा तस्माद्यथोचितं । आक्षेपिण्यादिकाः कृत्वा कथा बंधोदयादिकाः ॥२७५ ॥ कर्मनिर्मुक्तसंप्राप्यशर्मसारंप्रवुद्धधीः । शिवंकरमहादेव्यास्तनूजो जनताप्रियः ॥ २७६ ॥ अवार्योऽनतवीर्याख्यः शत्रुभिः शस्त्रशास्त्रवित् । आकुमारं यशस्तस्य शौर्यं शत्रुजयावधि ॥ २७७ ॥ त्यागः सर्वार्थिसंतर्पी सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लुतं । विधायाभिषवं तस्मै प्रदायात्मीयसंपद ॥ २७८ ॥ पदं परं परिप्राप्तुमन्यग्रमभिलाषुकः । विसर्जितसगोत्रादिर्विनिर्जितनिजेंद्रियः ॥ २७९ ॥ वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभास्रवः । विजयेन जयतेन संजयतेन सानुजैः ॥ २८० ॥ अन्यैश्च निश्चितत्यागै रागद्वेषाविदूषितैः । रविकीर्ती रविजयोऽरिंदमोऽरिंजयाह्वयः ॥ २८१ ॥ सुजयश्च सुकांतश्च सप्तमश्चाजितंजयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च वरंजयसमाह्वयः

और यथायोग्य उनका उत्तर सुना । इसके सिवाय उसने आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी, और निर्वेजिनी कथायें कहीं और कर्मोंके वंध उदय आदि होनेकी कथायें कहीं ॥ २७४-२७५ ॥ तदनंतर जिसकी बुद्धि जग उठी है, प्रगट हुई है ऐसा वह जयकुमार कर्मोंके नाश होनेपर प्राप्त होने योग्य उत्तम सुखको अर्थात् शांत परिणामोंको प्राप्त हुआ । उसने अपनी शिवंकर नामकी महादेवीका जो अनंतवीर्य नामका पुत्र था, जो कि लोगोंको वहुतही प्रिय था, शत्रु जिसे नहीं रोक सकते थे, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंका जानकार था, कुमार अवस्थामें ही जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध थी, जिसकी शूरवीरता शत्रुको जीतने तक ही थी, जिसका दान सबको संतुष्ट करनेवाला था और जिसका सत्य स्वप्नमें भी कभी खंडित नहीं हुआ था, उसका राज्याभिषेक किया और उसे अपनी सब राज्यसंपदा दे दी ॥२७६-२७८ ॥ तदनंतर उसने जिसमें कभी व्याकुलता नहीं होती ऐसे उत्कृष्ट सिद्धपदके प्राप्त होनेकी इच्छा की, अपने सब कुटंब परिवारका त्याग किया, अपनी इंद्रियोंको वश किया, महामोहको ललकारा, और शुभास्रवका संचय किया। तदनंतर चरम शरीरको और विशुद्ध परिणामोंको धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयंत, संजयंत तथा जिन्होंने सब परिग्रहके त्याग करनेका निश्चय करलिया है और जो राग द्वेषके द्वेषसे रहित हैं ऐसे अन्य छोटे भाइयोंके साथ २ दीक्षा धारण की । रविकीर्ति, रविजय,

॥ २८२ ॥ रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च सार्धं सुनिर्विण्णैश्चरमागो विशुद्धिभाक् ॥ २८३ ॥ एष पात्रविशेषस्ते संवोढुं शासनं महत् । इति विश्वमहीशेन देवदेवस्य सोऽर्पितः ॥ २८४ ॥ कृतग्रंथपरित्यागः प्राप्तग्रथार्थसंग्रहः । प्रकृष्ट संयमं प्राप्य सिद्धसप्तर्द्धिवर्द्धितः ॥ २८५ ॥ चतुर्ज्ञानामलज्योतिर्हतातततमनस्तमाः । अभूद्गणधरो भर्तुरेकसप्ततिपूरकः ॥ २८६ ॥ सुलोचनाप्यसंहार्यशोका पतिवियोगतः । गलिता कल्पवल्लीव भ्रष्टादमरभूरुहात् ॥ २८७ ॥ शमिता चक्रवर्तीष्टकांतयाऽशु सुभद्रया । ब्राह्मीसमीपे प्रव्रज्य भाविसिद्धिश्चिरं तपः ॥ २८८ ॥ कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत्कल्पेऽच्युतेमरः । आदितीर्थाधिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥ २८९ ॥ चतुरुत्तरयाऽशीत्या विविधर्द्धिविभूषितैः । चिरं वृषभसेनादिगणेशैः

अरिंदम, अरिंजय, सुजय, सुकांत, सातवां अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय रविवीर्य तथा और भी जो चक्रवर्तीके पुत्र विरक्त हुये थे उन्होंने भी जयकुमारके साथ ही दीक्षा धारण की ॥ २७१-२८३ ॥ उस समय जयकुमारने भगवान ऋषभदेवसे इसप्रकार दीक्षा धारण की थी मानों' आपके वडे भारी शासनको धारण करनेके लिये यह एक अच्छा पात्र है " यही समझकर राजाधिराज भरतने उसे भगवानको समर्पण किया हो ॥ २८४ ॥ जयकुमारने सब परिग्रहोंका त्याग किया, पूर्ण श्रुतज्ञानका अध्ययन किया, उत्कृष्ट संयम पालन किया और इसलिये ही उसे सात ऋद्धियां प्राप्त हुईं ॥ २८५ ॥ उसे मनःपर्ययज्ञानकी निर्मल ज्योति प्रगट हुई, मनके अंधकारका सब समूह नष्ट हो गया और वह श्रीआदिनाथका इकहत्तरिवां गणधर हुआ ॥ २८६ ॥ सुलोचनाको पतिके वियोगसे वडा भारी शोक हुआ, जिसप्रकार कल्पवृक्षके नाश हो जानेसे कल्पलता मुरझा जाती है उसी प्रकार वह सुलोचना पतिके वियोगसे मुरझा गई ॥ २८७ ॥ चक्रवर्तीकी प्यारी रानी सुभद्राने उसे शांत किया, तब ब्राह्मी अर्जिकाके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली । जिसे आगेके भवमें मोक्ष होनेवाली है ऐसी सुलोचनाने वहुत दिनतक तपश्चरण किया और आयुके अंतमें वह सोलहवें अच्युत स्वर्गके अनुत्तर नामके विमानमें देव हुआ। इधर प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेव भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करने लगे॥२८८-

परिवेष्टितः ॥ २९० ॥ खपंचसप्तवारांशिमितपूर्वधरान्वितः । खपंचैकचतुर्मेयशिक्षकैर्मुनिभिर्वृतः ॥ २९१ ॥ तृतीयज्ञानसन्नेत्रैः सहस्रैर्नवभिर्युतः । केवलावगमैर्विंशतिसहस्रैः समन्वितः ॥ २९२ ॥ खद्वयर्तुखपक्षोक्तविक्रियर्द्धिविवर्द्धितः । खपंचसप्तपक्षैकमितर्तुर्यक्दिन्वितः ॥ २९३ ॥ तावद्भिर्वादिभिर्वंद्यो निरस्तपरवादिभिः । चतुरष्टखवार्ध्यष्टगितैः सर्वैश्च पिंडितैः ॥ २९४ ॥ सयगस्थानसंप्राप्तसपद्भिस्सद्भिरर्चित. । खचतुष्कोद्गिसम्युक्तब्राह्म्यार्यिकादिभिः ॥ २९५ ॥ आर्यिकाभिरभिष्टूयमाननानागुणोदयः । दृढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोक्तै. श्रावकैः श्रितः ॥ २९६ ॥ श्राविकाभिः स्तुतः पंचलक्षाभि. सुव्रतादिभि· । भावनादिचतुर्भेददेवदेवीडितक्रम ॥२९७॥ चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चानिषेवितः । चतुस्त्रिंशदतीशयविशेषैर्लक्षितोदयः ॥२९८॥

---

२८९ ॥ उनके साथ साथ अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित ऐसे वृषभसेन आदि चौरासी गणधर थे ॥२९०॥ चारहजार सातसौ पचास मुनिराज ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके जानकार थे, चारहजार एकसौ पचास मुनिराज उनके शिक्षक थे, नौ हजार मुनि अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले थे, वीस हजार केवलज्ञानी थे, वीस हजार छहसौ मुनि विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले थे, वारह हजार सातसौ पचास मुनि मनःपर्ययज्ञानी थे ॥ २९१-२९३ ॥ परवादियोंको हटानेवाले बारह हजार सातसौ पचास मुनि उनकी वंदना करते थे। इसतरह जिन्हें तपश्चरणरूपी उत्तम संपदायें प्राप्त हुई हैं ऐसे सब मिलकर चौरासी हजार चौरासी उत्तम मुनिराज उनकी पूजा करते थे। ब्राह्मी आदिको मुख्य लेकर तीन लाख पचास हजार अर्जिकायें उनके अनेक गुणोंकी स्तुति करती थीं और दृढ व्रतोंको धारण करनेवाले दृढव्रतको आदिलेकर तीन लाख श्रावक उनकी सेवा करते थे ॥ २९४-२९६ ॥ सुव्रताको आदि लेकर पांच लाख श्राविकायें उनकी स्तुति करती थीं और भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क तथा कल्पवासी चारोंप्रकारके देव देवियां उनके चरण कमलोंकी पूजा करती थीं ॥ २९७ ॥ पशुपक्षी आदि अनेक तरहके तिर्यंच उनकी सेवा करते थे, और चौंतीस अतिशयोंसे उनका उदय प्रगट होता था ॥ २९८ ॥ केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान केवलदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य उनका

आत्मोपाधिविशिष्टावबोधदृक् सुखवीर्यगः । देहसौंदर्यवान् स्वोक्तसप्तसंस्थानसंगतः ॥ २९९ ॥ प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टघातिचतुष्टयः । वृषभाद्यन्विताथोष्टसहस्राह्वयभाषितः ॥ ३०० ॥ विकासितविनेयाब्जावलिर्वचनांशुभिः । संवृताजलिपकेजमुकुलेनाखिलेशिना ॥ ३०१ ॥ भरतेन समभ्यर्च्य पृष्टो धर्ममभाषत । ध्रियते धारयत्युच्चैर्विनेयान् कुगतेस्ततः ॥ ३०२ ॥ धर्म इत्युच्यते सद्भिश्चतुर्भेदं समाश्रितः । सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोरूपः क्रियापरः ॥ ३०३ ॥ जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धानं यत्स्वतोऽजसा । परप्रणयनाद्वा तत्सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥ ३०४ ॥ शंकादिदोषनिर्मुक्तं भावत्रयविवेचितं । तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविसर्जनात् ॥ ३०५ ॥ याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथा कर्मास्त्रवो न स्याच्चारित्रं संयमस्तथा

प्रगट हो रहा था, शरीर अत्यंत प्रशंसनीय अर्थात् परमौदारिक हो गया था, और सज्जाति आदि सातों परमस्थान उन्हें प्राप्त हो गये थे ॥ २९९ ॥ उनके आठ प्रातिहार्य प्रगट हो गये थे, चारों घातिया कर्म नष्ट होगये थे और नामके अनुसार ही अर्थको धारण करनेवाले वृषभआदि एक हजार आठ नामोंसे वे कहे जाते थे अर्थात् उनके एकहजार आठ नाम थे ॥ ३०० ॥ तथा अपने वचनरूपी किरणोंसे शिष्यरूपी कमलसमूहोंको सदा प्रफुल्लित करते रहते थे ।

अथानंतर—मुकुलित कमलके समान हाथ जोडे हुये सब पृथ्वीके स्वामी भरतने भगवानकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा । तब भगवान कहने लगे कि जो शिष्योंको कुगतिसे निकालकर उत्तम स्थानमें पहुंचा दे अथवा जिससे शिष्य कुगतिसे निकलकर उत्तम स्थानमें पहुंचजायं उसे सज्जन लोग धर्म कहते हैं तथा उस धर्मके चार भेद हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपश्चरणरूप क्रियाओंमें तत्पर रहना अर्थात् तपश्चरण धारण करना ॥ ३०१-३०३ ॥ जो अपने आप अथवा किसी गुरुके उपदेशसे (निसर्ग अथवा अधिगमसे) जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंमें श्रद्धान हो जाना है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ३०४ ॥ यह सम्यग्दर्शन शंका कांक्षा आदि आठों दोषोंसे रहित होता है और औपशामिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इन तीनों भावोंमेंसे किसी एक

॥ ३०६ ॥ निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतं । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥ ३०७ ॥ निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणा । चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तेर्दुष्प्रापमगिभिः ॥ ३०८ ॥ मिथ्यात्वमव्रताचारः प्रमादाः सकषायता । योगा. शुभाशुभा जतोः कर्मणा बंधहेतवः ॥ ३०९ ॥ मिथ्यात्वं पंचधा चाष्टशतधाऽविरतिर्मता । प्रमादाः पचदश च कषायास्ते चतुर्विधाः ॥ ३१० ॥ योगाः पचदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः ॥ ३११ ॥ बधश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युदयसंप्राप्त्या हेतवः फलबंधयोः

भावरूप होता है। संशय विमोह विभ्रम रहित उन्हीं जीवादि सातों तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना, उनका यथार्थ स्वरूप जान लेना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मोंका आस्रव न हो ऐसे संयमका पालन करना चारित्र है और जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी अपनी वृत्ति धारण करना ही तप कहलाता है। ये चारों ही आराधनायें यदि कषाय सहित हों तो ये स्वर्गकी कारण हैं और यदि ये ही चारों आराधनायें कषाय रहित हों तो आत्माका हित चाहनेवाले लोगोंको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण हैं अर्थात् कषायरहित आराधनाओंसे स्वर्गादिके सुख मिलकर मोक्ष प्राप्त होती है। ये चारों ही मोक्षके मार्ग हैं और जीवोंको बडी कठिनतासे प्राप्त होते हैं॥३०५-३०८॥ मिथ्यात्व, अव्रतरूप आचरण, प्रमाद, कषाय, और शुभाशुभ योग ये जीवोंके कर्मबंधके कारण हैं॥ ३०९ ॥ मिथ्यात्वके पांच भेद हैं, अविरति एकसौ आठ तरहकी है, प्रमाद पंद्रह हैं और कषाय चार तरहके हैं॥ ३१० ॥ सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले मुनिराज योगोंको पंद्रह तरहके बतलाते हैं तथा विद्वान लोग कर्मोंके मूल आठ और उत्तर भेद एकसौ अडतालीस कहते हैं॥ ३११॥ प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशके भेदसे चारतरहका बंध है तथा कर्म उदय होकर फल और बंधके कारण होते हैं अर्थात् कर्म उदय होकर सुख दुख आदि फल देते हैं और नवीन कर्मबंधके कारण होते हैं॥ ३१२ ॥ इसलिये हे सभासदो ! तुम लोग जो संसारके परिभ्रमणका कारण है, जिसमें दोष,

॥ ३१२ ॥ तद्यूयं संसृतेर्हेतुं परित्यज्य गृहाश्रमं । दोषदुःखजरामृत्युपापप्रायं भयावहं ॥ ३१३ ॥ भक्तिमंतस्समासन्नविनेया विदितागमाः । गुप्त्यादिषड्विधं सम्यगनुगत्य यथोचितं ॥ ३१४ ॥ प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु व्यपेतानागारकादिषु ॥ ३१५ ॥ प्रमत्तादिगुणस्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तमुपाध्व मोक्षमुत्तमं ॥ ३१६ ॥ तथा गृहाश्रमस्थाश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकं । दानशीलोपवासार्हदादिपूजोपलक्षिताः ॥ ३१७ ॥ आश्रितैकादशोपासकव्रताः सुशुभाशयाः । सप्राप्तपरमस्थानसप्तकाः संतु धीधनाः ॥ ३१८ ॥ इति सत्तत्त्वसदर्भगर्भवाग्विभवा-

---

दुःख, बुढापा मरण और अनेक पाप भरे हुये हैं और जो भयानक है ऐसे इस गृहस्थाश्रमको,छोडो ॥ ३१३ ॥ तुम लोग भक्तिमान हो, निकट भव्य हो और आगम वा शास्त्रोंको अच्छीतरह जानते हो इसलिये अपनी अपनी योग्यतानुसार गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन छहोंको अच्छीतरह पालन करो ॥३१४॥ उपेक्षा संयम और वीतरागसंयमको पालन करनेवाले जो मुनि हैं तथा पुलाक, वकुश,कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक आदि जो मुनियोंके भेद हैं, उनमेंसे किसी एक अवस्थाको धारण करो ॥ ३१५ ॥ तथा प्रमत्त आदि जो ऊंचेके गुणस्थान हैं उनमें अनुक्रमसे निवास करो और इसतरह निश्चय तथा व्यवहार दोप्रकारके कहे हुये मोक्षका सेवन करो अर्थात् दोनोंतरहकी मोक्ष प्राप्त करो ॥ ३१६ ॥ इसीतरह जो गृहस्थाश्रममें रहनेवाले हैं वे दान शील, उपवास, और अरहंतादि परमेष्ठियोंकी पूजा करें ॥३१७॥ शुभ परिणामोंसे श्रावकोंकी कही हुई ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करें और वे ही बुद्धिमान सातों परमस्थानोंको प्राप्त हों ॥ ३१८ ॥ इसतरह भरतेश्वरने तत्त्वोंकी रचनासे भरी हुई भगवानकी वचनरूपी विभूति सुनी और उसे सुनकर सब सभाके साथ साथ ज्योंका त्यों माना अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धान किया ॥ ३१९ ॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रोंको तथा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको धारण करनेवाला और देशसंयमी महाराज भरत आदिब्रह्मा श्रीवृषभदेवकी वंदना

द्विभोः । ससभो भरताधीशः सर्वमेवममन्यत ॥ ३१९ ॥ त्रिज्ञाननेत्रसम्यक्त्वशुद्धिभाग्देशसयतः । स्रष्टारमभिवंद्यायात्कैलासान्नगरोत्तमं ॥ ३२० ॥ जगत्त्रितयनाथोऽपि धर्मक्षेत्रेष्वनारत । उप्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यापिंचद्धर्मवृष्टिभिः ॥ ३२१ ॥ सतां सत्फलसप्राप्त्यै विहरन्स्वगणैः समं । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्दोनपूर्वकं ॥ ३२२ ॥ लक्ष कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरांतरे । पौर्णमासीदिने पौषे निरिच्छः समुपाविशत् ॥ ३२३ ॥ तदा भरतराजेंद्रो महामंदरभूधर । आप्राभार व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितं ॥ ३२४ ॥ तदैव युवराजोऽपि स्वर्गादेत्य महौषधिः । द्रुमश्छित्वा नृणां जन्मरोग स्वर्यांतमैक्षत ॥ ३२५ ॥ कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्वा नृभ्यो निरंतरं । गृहेट् निशामयामास स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतं ॥ ३२६ ॥ रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो नानारत्न-

---

कर कैलासपर्वतसे अपने उत्तम अयोध्या नगरको आया ॥ ३२० ॥ इधर तीनों लोकोंके स्वामी भगवन वृषभदेवने निरंतर ही धर्मक्षेत्रम सद्धर्मका बीज बोया और धर्मवृष्टिके द्वारा उसे सींचा ॥३२१॥ सज्जनोंको मोक्षरूप उत्तम फल मिलनेके लिये उन्होंने अपने गणधरोंके साथ साथ एकहजारवर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । (उनकी चौरासी लाख पूर्वकी आयु थी उसमेंसे बीस लाख पूर्व कुमार कालके, तिरेसठलाख पूर्व राज्य अवस्थाके, एक हजार वर्ष तपश्चरणके, एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहारके और चौदह दिन योगनिरोधके थे) जब आयुके चौदह दिन बाकी रहे तब योगोंका निरोधकर पौष शुक्ला पौर्णमासीके दिन श्रीक्षिखर और सिद्ध शिखरके बीचमें कैलास पर्वतपर पद्मासनसे विराजमान हुये ॥ ३२२-३२३ ॥ जिस दिन भगवान योग निरोधकर कैलासपर विराजमान हुये उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि सुमेरुपर्वत लंबा होकर सिद्धक्षेत्रतक पहुंच गया है ॥ ३२४ ॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका पेड स्वर्गसे आया था और मनुष्योंका जन्म रोग नष्टकर फिर स्वर्गमें चला गया ॥ ३२५ ॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगोंको सदा उनकी इच्छानुसार पदार्थ देता था परंतु अब वह स्वर्ग जानेके लिये तैयार हुआ है ॥ ३२६ ॥ मुख्य मंत्रीने स्वप्नमें देखा कि

कदंबकं । प्रादायाभ्रगमोद्युक्तमद्राक्षीत्साचिवाग्रिमः ॥ ३२७ ॥ वज्रपंजरमुद्भिद्य कैलास गजवैरिणं । उल्लंघयितुमुद्यंतं सेनापतिरपश्यत ॥ ३२८ ॥ आलुलोके बुधोऽनतवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यात त्रैलोक्यमाभास्य सतारं तारकेश्वर ॥ ३२९ ॥ यशस्वतीसुनदाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोचंतीश्चिरमद्राक्षीत्सुभद्रा स्वप्नगोचरा ॥ ३३० ॥ वाराणसीपतिश्चित्रागदोऽप्यालोकताकुलः । खमुत्पततं भास्वत प्रकाश्य धरणीतलं ॥ ३३१ ॥ एवं विलोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधस फल तेषामपृच्छन्नर्यमोदये ॥ ३३२ ॥ कर्माणि हत्वा निर्मूल मुनिभिर्बहुभिः समं । पुरोः सर्वेऽपि शंसंति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिता ॥ ३३३ ॥ इति स्वप्नफल तेषा भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानंदनामैत्य भर्तुः स्थितिमवेदयत् ॥ ३३४ ॥ ध्वनौ भगवता दिव्ये

एक रत्नद्वीप चाहनेवाले लोगोंके लिये अनेक तरहके रत्नसमूह देकर अब आकाशमें जानेके लिये तैयार हआ है ॥ ३२७ ॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजडेको तोडकर कैलास पर्वतको उलंघन करनेके लिये तैयार हुआ है ॥ ३२८ ॥ जयकुमारके पुत्र श्रीमान् बुद्धिमान अनंतवीर्यने स्वप्नमें देखा कि चंद्रमा तीनों लोकोंको प्रकाशकर ताराओंसहित जा रहा है ॥ ३२९ ॥ चक्रवर्तीकी रानी सुभद्राने स्वप्नमें देखा कि श्रीऋषभदेवकी रानी यशस्वती और सुनंदाके साथ साथ वैठी हुई इंद्रानी बहुत देरतक शोक कर रही है ॥ ३३० ॥ बनारसके राजा चित्रांगदने भी व्याकुल होकर यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथ्वीका प्रकाशकर आकाशकी ओर उडा जा रहा है ॥ ३३१ ॥ इसतरह भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही पुरोहितसे उनके फल पूछे ॥ ३३२ ॥ पुरोहितने कहा कि ये सब स्वप्न यही सूचित करते हैं कि भगवान वृषभदेव सब कर्मोंको बिल्कुल नाशकर अनेक मुनियोंके साथ साथ मोक्ष पधारेंगे ३३३ ॥ पुरोहित यह सब स्वप्नोंका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनंद नामका एक मनुष्य आया और उसने भगवान वृषभदेवकी सब हालत कही ॥ ३३४ ॥ उसने कहा कि जिसप्रकार सूर्यके अस्त हो जानेपर सरोवरके कमल सब मुकुलित हो जाते हैं उसीप्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि वंद हो जानेपर सब सभा हाथ जोडे हुये मुकुलित

संहृते मुकुलीभवत् ! करांबुजा सभा ज़ाता पूष्णीव सरसीत्यसौ ॥ ३३५ ॥ तदाकर्णनमात्रेण सत्वरः सर्वसंगतः । चक्रवर्ती तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥ ३३६ ॥ महामहमहापूजा भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं । चतुर्दश दिनान्येवं भगवंतमसेवत ॥ ३३७ ॥ माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यको मुनिभिः समं ॥ ३३८ ॥ प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमंत्येन ध्यानेनाघातिकर्मणा ॥ ३३९ ॥ पंचन्हस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयं । कालेन विदधत्प्रातगुणस्थानमधिष्ठितः ॥ ३४० ॥ शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययं । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणाततनुवातकः ॥ ३४१ ॥ नित्योनिरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतं ॥ ३४२ ॥

हो रही है ॥ ३३५ ॥ यह समाचार सुनकर वह चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ साथ कैलास पर्वतपर पहुंचा, उसने जाकर भगवानकी तीन प्रदाक्षिणायें दीं, स्तुति की, भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी महापूजा की और इसीतरह चौदह दिनतक भगवानकी सेवा की ॥३३६-३३७॥ माघकृष्णा चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमें भगवान् वृषभदेवने पूर्व दिशाकी ओर मुहकर अनेक मुनियोंके साथ साथ पर्यंकासन विराजमान हुये, उन्होंने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्लध्यानसे मन वचन काय तीनों योगोंका निरोध किया और फिर अंतके चौदहवें गुणस्थानमें ठहरकर जितनी देरमें अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पांच ह्रस्व अक्षरोंका उच्चारण होता है उतने ही समयमें चौथे व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामके शुक्लध्यानसे वेदनीय आयु नाम गोत्र इन चारों अघातिया कर्मोंका नाश किया ॥ ३३८-३४० ॥ औदारिक तैजस कार्मण इन तीनों शरीरोंके नाश होनेसे उन्हें सिद्ध पर्याय प्राप्त हुई, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सूक्ष्मत्व, अव्यावाध और अवगाहनत्व ये निजके आठ गुण पूरे पूरे प्रगट होगये, क्षणभरमें ही (उसी समयमें) तनुवातवलयमें जा पहुंचे तथा वहांपर नित्य, निरंजन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त्त, आत्मासे उत्पन्न हुये सुखमें तल्लीन और निरंतर संसारको देखते हुये विराजमान हुये ॥ ३४१-३४२ ॥ उसीसमय

तदाऽऽगत्य सुरा. सर्वे प्रांतपूजाचिकीर्षया । पवित्रं परमं मोक्षसाधन शुचि निर्मलं ॥ ३४३ ॥ शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्यशिबिकार्पितं । अग्नींद्ररत्नभोभासिप्रोत्तुगमुकुटोद्भुवा ॥ ३४४ ॥ चंदनागरुकर्पूरपारीकाश्मीरजादिभिः । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥ ३४५ ॥ जगद्गृहस्य सौगंध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं । तदाकारोपमर्देन पर्यायातरमानयन् ॥ ३४६ ॥ अभ्यर्चिताग्निकुंडस्य गधपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद्गणभृत्संस्क्रियानलः ॥ ३४७ ॥ तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एव वन्हित्रय भूमाववस्थाप्यामरेश्वराः ॥ ३४८ ॥ ततो भस्म समादाय पचकल्याणभागिनः । वय चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥ ३४९ ॥ कंठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः । तत्पवित्रतम मत्वा धर्मरागरसाहिताः ॥ ३५० ॥

मोक्षकल्याणकी पूजा करनेकी इच्छा करते हुये सब देव आये, उन्होंने पविल, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल ऐसे भगवानके शरीरको बहुमूल्य पालकीमें विराजमान किया । तदनंतर जो अग्निकुमार जातिके देवोंके इंद्रके रत्नोंकी कांतिसे देदीप्यमान ऐसे बडे भारी मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चंदन अगर कपूर केशर आदि सुगंधित पदार्थोंसे और घी दूध आदिसे बढाई गई है ऐसी अग्निसे जो पहिले कभी देखने सुननेमें नहीं आई ऐसी जगतरूपी घरकी सुगंधि प्रगटकर उस शरीरका पहिला आकार नष्टकर दूसरा आकार बना दिया अर्थात् उसे भस्म कर दिया॥३४३-३४६॥गंध पुष्प आदि द्रव्योंसे उस अग्निकुंडकी पूजा की तथा उसके दांई ओर गणधर देवोंके शरीरका अग्निसंस्कार किया और बाईं ओर तीर्थंकर तथा गणधरोंको छोडकर बाकी बचे हुये केवलज्ञानियोंके शरीरका अग्निसंस्कार किया। इसतरह इंद्रने पृथ्वीपर तीन तरहकी वन्हि स्थापन की ॥ ३४७-३४८ ॥ तदनंतर सब देव और इंद्रोंने बडी भक्तिसे जिनके पांचों कल्याणक हुये हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठाई और " हम भी ऐसे हों " यही सोचकर अपने माथेपर, दोनों भुजाओंमें, गलेमें और छातीपर लगाई । उन्होंने वह भस्म भडी ही पवित्र मानी और उसे लगाकर, वे धर्मके रसमें डूब गये ॥ ३४९-३५० ॥ संतुष्ट होकर सबने मिलकर आनंद नाटक किया और फिर उन्होंने श्रावकोंको

तोषात्संपादयामासुः संभूयानंदनाटकं । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः ॥ ३५१ ॥ गार्हपत्याभिधं पूर्वं परमाहवनीयकं । दाक्षिणाग्निं ततो न्यस्य संध्यासु तिसृषु स्वय ॥ ३५२ ॥ तच्छिखित्रयसान्निध्ये चक्रमातपवारणं । जिनेंद्रप्रतिमाश्चावस्थाप्य मंत्रपुरस्सरं ॥ ३५३ ॥ तास्त्रिकालं समभ्यर्च्य गृहस्थैर्विहितादराः । भवतातिथयो यूयमित्याचख्युरुपासकान् ॥ ३५४ ॥ स्नेहेनेष्टवियोगोत्थः प्रदीप्तः शोकपावकः । तदा प्रबुद्धमप्यस्य चेतोऽधाक्षीद्धीशितुः ॥ ३५५ ॥ गणी वृषभसेनाख्यस्तच्छोकापनिनीषया । प्राक्रंस्त वक्तुं सर्वेषां स्वेषां व्यक्तां भवावलीं ॥ ३५६ ॥ जयवर्मा भवे पूर्वे द्वितीयेऽभून्महाबलः । तृतीये ललितागाख्यो वज्रजंघश्चतुर्थके ॥ ३५७ ॥ पचमे भोगभूजोऽभूत् षष्टेऽयं श्रीधरोऽमरः । सप्तमे सुविधिःक्षमाभृदष्टमेऽच्युतनाय-

---

उपदेश दिया कि " तुम लोगोंमेंसे सातवें उपासकाध्ययनको पढनेवाले जो सात आठ नौ दश ग्यारहवीं प्रतिमाके ब्रह्मचारी हैं उन्हें वे गार्हपत्य परमाहवनीयक और दक्षिणाग्नि ये तीन अग्निकुंड बनाना चाहिये और उनमें सवेरे दुपहर तथा शाम इन तीनों संध्याओंमें स्वयं इन तीनों अग्नियोंकी स्थापना करनी चाहिये । उन तीनों अग्नियोंके समीप ही चक्र छत्र तथा श्रीजिनेंद्रदेवकी स्थापना करनी चाहिये और तीनों समय मंत्र पूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये । इसतरह गृहस्थोंके द्वारा आदर सत्कार पाते हुये तुम लोग अतिथि बनो । यह सब उपदेश इंद्रने ब्रह्मचारियोंको दिया ॥३५१-३५४ ॥ उससमय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे वढी हुई भरतकी शोकरूपी अग्नि जग उठी थी और वह उनके प्रबुद्ध हुए चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ तब श्रीवृषभसेन गणधर भरतके शोकको दूर करनेकी इच्छासे अपने सब लोगोंके पहिले भव स्पष्ट रीतिसे कहने लगे ॥ ३५६ ॥ कि श्रीवृषभदेवका जीव पहिले जयवर्मा था, दूसरे जन्ममें राजा महाबल हुआ, तीसरेभवमें ललितांग देव हुआ और चौथे भवमें राजा वज्रजंघ हुआ ॥ ३५७ ॥ पांचवें भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, छठेमें श्रीधर देव हुआ, सातवेंमें राजा सुविधि हुआ, और आठवें भवमें अच्युतस्वर्गका इंद्र हुआ ॥ ३५८ ॥ नौवें भवमें राजा वज्रनाभि हुआ, दशवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर सब इंद्रोंके

कः ॥ ३५८ ॥ नवमे वज्रनाभीशो दशमेऽनुत्तरांत्यजः । ततोऽवतीर्य सर्वेंद्रवंदितो वृषभोऽभवत् ॥३५९॥ धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्णामिका ततः । स्वयप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥ ३६० ॥ स्वयंप्रभः सुरस्तस्मादस्मादपि च केशवः । ततः प्रतींद्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिंद्रता ॥ ३६१॥ गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य नायकः । आश्चर्यपंचकस्यापि प्रथमोऽभूत्प्रवर्तकः ॥३६२ अतिगृद्धः पुरा पश्चान्नारकोऽनु चमूरकः । दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥ ३६३ ॥ ततोऽहमिंद्रस्तस्माच्च सुबाहुरहमिंद्रतां । प्राप्य त्व भरतो जातः षट्खंडाखंडपालकः ॥ ३६४ ॥ आद्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभंकरः । ततोऽकंपनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥ महाबाहुस्ततश्चाभूदहमिंद्रस्ततश्च्युतः । एवबाहुबली जातो जातापूर्वमहोद-

---

द्वारा पूज्य ऐसा श्रीवृषभदेव हुआ है ॥ ३५९ ॥ श्रेयान्‌का जीव पहिले जन्ममें धनश्री था, दूसरे जन्ममें निर्नामिका, तीसरे भवमें स्वयंप्रभा देवी, चौथे भवमें वज्रजंघकी रानी श्रीमती, पांचवें भवमें भोगभूमिमें आर्या, छट्ठे भवमें स्वयंप्रभदेव, वहांसे आकर सातवें भवमें राजा सुविधिका पुत्र केशव, आठवें भवमें सोलहवें स्वर्गमें प्रतींद्र, नौवें भवमें वज्रनाभिचक्रवर्तीका गृहपति रत्न धनदत्त और फिर दशवें भवमें अहमिंद्र हुआ ॥ ३६०-३६१ ॥ वहांसे आकर दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला और पंचाश्चर्यका स्वामी यह राजा श्रेयान् हुआ है ॥ ३६२ ॥ तेरा जीव पहिले राजा अतिगृद्ध था दूसरे जन्ममें नरक गया, तीसरे भवमें सिंह,, चौथेमें दिवाकरप्रभ नामका देव और पांचवें भवमें राजा वज्रजंघका मतिवर नामका मंत्री हुआ था ॥ ३६३ ॥ छट्ठे भवमें अहमिंद्र, सातवें भवमें वज्रनाभि चक्रवर्तीका छोटा भाई सुवाहु हुआ । आठवें भवमें अहमिंद्र पद पाकर नौवें भवमें तू छहों खंड पृथ्वी का पालन करनेवाला राजा भरत हुआ है ॥ ३६४ ॥ बाहुवलिका जीव पहिले जन्ममें सेनापति था, दूसरे जन्ममें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, तीसरे जन्ममें प्रभंकर देव हुआ, चौथे भवमें राजा वज्रजंघका अकंपन नामका सेनापति हुआ, पांचवें भवमें ग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ, छट्ठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई महावाहु हुआ, वहांसे जाकर सातवें भवमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर अपूर्व महा

यः ॥ ३६६ ॥ मंत्री प्राग्भोगभूजोऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः । आनंदोऽन्वहमिंद्रोऽनु तत पीठाह्वयस्ततः ॥ ३६७ ॥ अहमिंद्रोऽग्रिमोऽभूवमहमद्य गणाधिपः । पुरोहितस्ततश्चार्यो बभूवास्मात्प्रभजनः ॥ ३६८ ॥ धनमित्रस्ततस्तस्मादहमिंद्रस्ततश्च्युतः । महापीठोऽहमिंद्रोऽस्मादनताविजयो भवत् ॥३६९॥ उग्रसेनश्चमूरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः । ततश्चित्रांगदस्तस्माद्वरदत्तः सुरो जयः ॥ ३७० ॥ ततो गत्वाऽहमिंद्रोऽभूत्तस्माच्चागत्य भूतल । महासेनोऽभवत्कर्ममहासेनाजयोर्जितः ॥ ३७१ ॥ हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत् । मणिकुंडल्यतस्तस्माद्वरसेनःसुरोत्तमः ॥ ३७२ ॥ ततोऽस्माद्विजयस्तस्मादहं-

---

उदयको धारण करनेवाला यह बाहुबलि-हुआ है ॥ ३६५-३६६ ॥ मैं पहिले भवमें राजा प्रीतिवर्द्धनका मंत्री था, दूसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, तीसरे भवमें कनकप्रभ नामका देव हुआ, चौथे भवमें वज्रजंघका आनंद पुरोहित हुआ, पांचवें भवमें ग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ, और वहांसे आकर छट्ठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई पीठ हुआ, ॥ ३६७ ॥ फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर तेरा छोटा भाई और प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवका पहिला गणधर हुआ हूं। अनंतविजयका जीव पहिले भवमें राजा प्रीतिवर्द्धनका पुरोहित था, दूसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ और फिर वह प्रभंजन नामका देव हुआ ॥ ३६८ ॥ वहांसे आकर चौथे भवमें धनमित्र नामका राजा वज्रजंघका राजशेठ हुआ, पांचवें भवमें अहमिंद्र, वहांसिच्युत होकर छठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई महापीठ तथा वहांसे फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर यह मेरा छोटा भाई अनंतविजय गणधर हुआ है ॥ ३६९ ॥ महासेनका जीव पहिले भवमें उग्रसेन था, दूसरे भवमें सिंह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें चित्रांगद नामका देव हुआ, पांचवें भवमें वरदत्त नामका राजा हुआ, फिर देव हुआ, सातवें भवमें वज्रनाभि चक्रवर्तीका भाई विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे पृथ्वीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अत्यंत बलवान् ऐसा यह महासेन हुआ है ॥ ३७०-३७१ ॥ श्रीषेणका जीव पहिले हरिवाहन था,

मिंद्रो दिवश्च्युतः । अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥ ३७३ ॥ नागदत्तस्ततो वानरार्योऽस्माच्च मनोहरः । देवाश्चित्रांगदस्तस्मादभूत्सामानिकः सुरः ॥ ३७४ ॥ ततश्च्युतो जयंतोऽभूदहमिंद्रस्ततस्ततः । महीतल समासाद्य गुणसेनोभवद्गणी ॥ ३७५ ॥ लोलुपो नकुलार्योऽस्मादेतस्मात्स मनोरथः । ततोऽपि शातमदनस्ततः सामानिकामरः ॥ ३७६ ॥ राजाऽपराजितस्तस्मादहमिंद्रस्ततोऽजनि । ततो ममानुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥ ३७७ ॥ इत्यस्मिन्भवसंकटे भवभृतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशं । त्वं जानन्नपि (किं विपण्णहृदयो) विश्लिष्टकर्माष्टको निर्वाण

फिर सूअर हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें मणिकुंडल देव हुआ, पांचवें भवमें वरसेन राजा और छठे भवमें उत्तम देव हुआ ॥ ३७२ ॥ सातवें भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई वैजयंत हुआ फिर अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर जिसकी लक्ष्मी पूजा सेवा करती है और जो सबसे पूज्य है ऐसा यह भाई श्रीषेण हुआ है ॥ ३७३ ॥ गुणसेनका जीव पहिले नागदत्त था, फिर बंदर हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, पांचवें भवमें राजा चित्रांगद हुआ, छठे भवमें सामानिक देव हुआ, वहांसे आकर वज्रनाभिका भाई जयंत हुआ, फिर आठवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे पृथ्वीपर आकर गुणसेन गणधर हुआ है ॥ ३७४-३७५ ॥ जयसेनका जीव पहिले लोलुप नामका छोटा हलवाई था, फिर दूसरे भवमें न्योला हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें मनोरथ नामका देव हुआ, पांचवें भवमें राजा शांतमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, सातवें भवमें वज्रनाभिका भाई अपराजित हुआ, वहांसे जाकर आठवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर यह मेरा छोटा भाई भाग्यशाली जयसेन हुआ है ॥ ३७६-३७७ ॥ श्रीवृषभसेन गणधर महाराज भरतसे कह रहे हैं कि इसतरह इस संसाररूपी संकटमें सब प्राणियोंको इसीतरह इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंका संयोग होता है और वह अंतमें अकस्मात् ही नाश हो जाता है, तू इस बातको जानता हुआ भी अपने

भगवानवापदतुलं तार्षे विषादः कुतः ॥ ३७८ ॥ वयमपि चरमांगाः संगमाच्छुद्धबुद्धेः सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपाः । निरुपमसुखसारं चक्रवर्ती स्तदीयं पदमचिरतरेण प्राप्नुमो नाप्यमन्यैः ॥ ३७९ ॥ भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिर्भवति हि स चेत्तेपामस्मिन्पुनर्जननावहः । त्रिनिहतभवे प्रार्थ्ये तस्मिन्स्वयं समुपागते कथमयमहो धीमान्कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥ ३८० ॥ अद्यापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूलं नष्टा गुणैर्गुरुभिरष्टभिरेष जुष्टः । किं नष्टमत्र निधिनाथ जहीहि मोहं संधेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धां ॥ ३८१ ॥ देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरु शोचसि त्वं तं भस्मसात्कृतिम-

हृदयमें क्यों विषाद करता है ? भगवान वृषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्ट कर संसारमें जिसकी कोई उपमा नहीं ऐसे मोक्ष स्थानको पधारे हैं फिर भला ऐसी संतोषकी वातमें विषाद क्यों करता है ? ॥ ३७८ ॥ हे चक्रवर्ती भरत ! हम सब लोग भी चरमशरीरी हैं, शुद्ध केवलज्ञानको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके संबंधसे हमारे भी सब पाप कर्म नष्ट हो गये हैं, हमें आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो गई है और जिसमें उपमारहित सुखका सार भरा हुआ है तथा जिसे अन्य मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे भगवानके सिद्धपदको बहुत ही शीघ्र प्राप्त होंगे ॥ ३७९ ॥ यदि अपने इष्ट लोगोंके मरनेपर शोक हो तो हो, क्योंकि उनका वह मरना शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे होता है और वह फिर उन जीवोंको इस संसारमें जन्म दिलाता है । परंतु जिसने संसारको नाश कर दिया है और जिसके लिये सदा प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वयं प्राप्त हो जाय तो इस बुद्धिमान जीवको यदि वह शत्रु न हो तो कैसे शोक करना चाहिये ? भावार्थ—सिद्धपद पानेपर उसके शत्रु भले ही शोक करें परंतु उसके बुद्धिमान् हितैषीको कभी शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८० ॥ हे निधियोंके स्वामी भरत ! भगवान वृषभदेवके कर्मरूपी आठों ही दुष्ट शत्रु शाखा जड आदि सहित (बिल्कुल] नष्ट होगये हैं और सम्यक्त्व आदि बडे बडे आत्माके आठों गुणोंसे वे सुशोभित हो गये हैं । भरत ! इसमें हानि क्या हो गई ? इसलिये तू मोह छोड

वाप्य विवृद्धरागाः। प्राग्जन्मनोऽपि परिकर्मकृतोऽस्य कस्मादानंदनृत्तमधिकं विदधुर्युनाथाः ॥ ३८२ ॥ नेक्षे विश्वदृशं श्रृणोमि न वचो दिव्यं तदंघ्रिद्वये नम्रस्तन्नखभाविभासिमुकुटं कर्तुं लभे नाधुना। तस्मात्स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतर शोकीति चेदस्त्विदं किंतु भ्रांतिरियं व्य तीताविषयप्राप्त्यै भवत्प्रार्थना ॥८३॥ त्रिज्ञानधृक् त्रिभुवनैकगुरुर्गुरुस्ते स्नेहेन मोहविहितेन विनाशयेः किम्। स्वौदात्ततां शतमखस्य न लज्जसे किं तस्मात्तव प्रथममुक्तिगतिं न वेत्सि ॥ ३८४ ॥ इष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं संकल्प्य जतुर्जडः किंचिद्द्वेष्ट्यपि वष्टि किंचिदनयोः कुर्यादपि व्ययसं। तेनैनोऽनुगतिस्ततो भववने भव्योऽप्यभव्योपमो

और शोकको जीतनेके लिये विशुद्ध बुद्धि धारण कर ॥ ३८१ ॥ पूज्य पिताका शरीर छूट जानेपर तू भी इतना बडा शोक करता है, भला देख तो भगवानके जन्मके पहिलेसे ही जो भगवानकी सेवा कर रहे हैं और इसलिये ही जिनका प्रेम खूब वढा हुआ है ऐसे ये इंद्रादि देव उन्हीं भगवानके शरीरको भस्मकर कैसा वडा आनंद नृत्य कर रहे हैं ! भावार्थ—आज तो आनंद माननेका दिन है शोकका नहीं ॥ ३८२ ॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि " अब मुझे सर्वज्ञदेवके दर्शन नहीं होते ? उनकी दिव्यध्वनि सुनाई नहीं पडती और उनके दोनों चरणकमलोंमें नम्र होकर मैं उनके नखोंकी कांतिसे अपने मुकुटको दैदीप्यमान नहीं कर सकता, इसलिये ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है " परंतु यह तेरा कहना तो एक ओर रहा, जो वस्तु वीत चुकी है उसकी प्राप्तिके लिये जो तू यह प्रार्थना कर रहा है सो तेरी यह बडी भारी भूल है ॥ ३८३ ॥ हे भरत तेरे पिता श्रीजिनेंद्रदेव तो तीनों लोकोंके सबसे बडे गुरु हैं और तू मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाला है इसलिये इस मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुये प्रेमसे तू अपनी उत्तमताका क्यों नाश करता है ? क्या तुझे इस इंद्रकी भी लाज नहीं आती ? अथवा तू " इस इंद्रसे पहिले ही मुक्त हो जायगा " इस बातको नहीं जानता है ? ॥ ३८४ ॥ हे भरत ! इस संसारमें यह अज्ञानी जीव अपना सुख देनेवाला इष्ट क्या है और दुख देनेवाला अनिष्ट क्या है इसमें झूठा ही संकल्पकर

भ्राम्यत्येष कुमार्गवृत्तिरधनो वाऽऽतंकभीर्दुःखितः ॥ ३८५ ॥ भव्यस्यापि भवोऽभवद्भगवतः कालादिलब्धेर्विना कालोऽनादिरचिंत्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थितिं सस्रुतेः । इत्येतद्विदुषाऽत्र शोच्यमथवा नैतच्च यद्देहिना । भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥ ३८६ ॥ गतानि संबन्धशतानि जंतो रनंतकालं परिवर्तनेन । नावैहि किं त्वं हि विबुद्धविश्वो वृथैव मुह्येः किमिहेतरो वा ॥ ३८७ ॥ कर्मभिः कृतमस्यापि न स्थास्नु त्रिजगत्पतेः । शरीरादि ततस्त्याज्यं मन्वते तन्मनीषिणः ॥ ३८८ ॥ प्रागाक्षिगोचरं संप्रत्येष चेतसि वर्तते । भगवाँस्तत्र कः

किसी वस्तुमें तो द्वेष करता है और किसीमें प्रेम करता है तथा इन दोनोंको उलटी रीतिसे भी मान लेता है अर्थात् सुख देनेवाली चीजोंको बुरी समझलेता है और दुःख देनेवाली चीजोंको अच्छी समझलेता है। इलालिये ही भव्य होकर भी यह जीव अभव्यके समान अपने पाप कर्मोंके अनुसार दुखी, दरिद्री, कुमार्गको सेवन करनेवाला और अनेक रोगोंसे भयभीत होकर उन राग द्वेषके वशसे ही इस संसाररूपी बनमें भ्रमण किया करता है ॥ ३८५ ॥ काल लब्धिके बिना पूज्य भव्यको भी अनेक भव धारण करने पडते हैं और यह काल अनादिकालसे चला आ रहा है कोई इसका चिंतवन भी नहीं कर सकता और अनेक दुखोंसे भरा हुआ है इसलिये संसारकी इस ऐसी स्थितिको भी बार बार धिक्कार है। यही समझकर इस संसारमें विद्वानोंको कुछ शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जीवोंका यह भव्यपना भी तो दूरानुदूर भव्य, दूरभव्य, और आसन्नभव्य आदि अनेक तरहका है। हे राजन् ! यह पदार्थोंकी स्थिति स्वभावसे ही ऐसी है ॥ ३८६ ॥ हे संसारका स्वरूप जाननेवाले भरत ! क्या तू नहीं जानता कि अनंत कालसे परिभ्रमण करते हुये इस जीवको पिता माता आदिके सैकडों संबंध प्राप्त हो चुके हैं ! फिर अज्ञानी जीवोंके समान तू व्यर्थ ही क्यों मोहित होता है ॥ ३८७ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवका शरीर आदि भी कर्मके उदयसे बना है, इसलिये वह सदा रहनेवाला नहीं है, इसलिये ही बुद्धिमान लोग उसे भी त्याज्य ही

शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥ ३८९ ॥ इति मनसि यथार्थं चिंतयन् शोकवह्निं शमय विमलबोधांभोभिरित्यावभाषे । गणभृदथ स चक्री दावदग्धो महीध्रो । नवजलदजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशांतः ॥ ३९० ॥ चिंता व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेशमानम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः । निंदन्वितातविसरां निजभोगतृष्णां मोक्षोत्सुकः स्वनगरं व्यविशद्विभूत्या ॥ ३९१ ॥ अथ कदाचिदसौ वदनांबुजं समभिवीक्ष्य समुज्वलदर्पणे । पलितमैक्षत दूतमिवागतं परमसौख्यपदात्पुरुसान्निधेः ॥ ३९२ ॥ आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन् । आदातुमात्महि-

---

समझते हैं ॥ ३८८ ॥ हां भगवान जो पहिले आंखोंसे दिखाई देते थे वे अब चित्तमें साक्षात् विराजमान हैं फिर भला इसमें शोक करनेकी क्या बात है तू अपने चित्तमें उन्हें सदा देखता रह ॥३८९॥ इसतरह अपने मनमें यथार्थ वस्तुका चिंतवन करता हुआ तू अपने निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोकरूपी अग्निको शांत कर। इसप्रकार गणधर वृषभसेनने कहा तब चक्रवर्ती भी जिसप्रकार दावानल अग्निसे जला हुआ पर्वत नये बादलोंके जलसे शांत हो जाता है उसीप्रकार उनके बचनोंसे शांत हो गया ॥ ३९० ॥ जिसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नवा हुआ है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिंता छोड दी और गणधरदेवको नमस्कार किया तथा खूब बढी हुई अपनी भोगोंकी तृष्णाकी निंदा करते हुये तथा मोक्षके लिये उत्कंठित हुये उसने बडी विभूतिके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३९१ ॥

अथानंतर—भरतने किसी एक दिन एक निर्मल दर्पणमें अपना मुख देखा और उसमें परम सुखके स्थान ऐसे मोक्षसे भगवान वृषभदेवके समीपसे ही आये हुये एक दूतके समान एक सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर उनके मोहका सब रस नष्ट हो गया, उसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्रगट हो गया, बडी भारी इच्छा करता हुआ वह अपने आत्माका हित ग्रहण करनेके लिये तैयार हुआ और अपने राज्यको पुराने तिनकेके समान मानकर उसने अपनी सब राज्य लक्ष्मी

तमात्मजमर्ककीर्तिं लक्ष्म्यां स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥ ३९३ ॥ विदितसकलतत्त्वः सोऽपवर्गस्य मार्गं जिगमिषुरपसत्त्वैर्दुर्गमं निष्प्रयासं । यमसमितिसमग्रं संयमं शंबलं वाऽदित विदितसमर्थाः किं परं प्रार्थयंते ॥ ३९४ ॥ मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः समुत्पन्नवत् केवलं चानु तस्मात् । तदैवाभवद्भव्यता तादृशी सा विचित्रांऽगिना निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥ ३९५ ॥ स्वदेशोद्भवैरेव संपूजितोऽसो सुरेंद्रादिभिः सांप्रतं वंद्यमानः । त्रिलोकाधिनाथोऽभवत्किं न साध्यं तपो दुष्करं चेत्समादातुमीशः ॥ ३९६ ॥ परिचितयतिहंसो धर्मवृष्टिं निषिंचन् नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुंगवृत्तिः । फलमविकलमग्र्यं भव्यसस्येषु कुर्वन् व्यहरदखिलदेशान् शारदो वा स मेघः ॥ ३९७ ॥ विहृत्य सुचिरं विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो मुहूर्तपरिमास्थितौ

स्वयं बडे पुत्र अर्ककीर्तिको दे डाली ॥ ३९३ ॥ जो समस्त तत्त्वोंका जानकार है और थोडी शक्ति वाले जीव जिसे धारण नहीं कर सकते ऐसे मोक्षके मार्गमें जाना चाहता है ऐसे उस भरतने रास्तेमें खाने योग्य भोजनके समान बिना परिश्रम ही मूलगुण समिति आदि पूर्ण संयम धारण किया, सो ठीक ही है क्योंकि जो पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं वे संयमके सिवाय और किसकी प्रार्थना करते हैं ? ॥ ३९४ ॥ भरतको दीक्षा लेनेके बाद बहुत ही शीघ्र मनःपर्यय ज्ञान होगया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट होगया । भरतका भव्यपना उसीसमय ऐसा प्रगट हुआ इससे जान पडता है कि इस संसारमें जीवोंका मोक्ष होना भी बडा ही विचित्र है ॥ ३९५ ॥ जो भरत पहिले अपने देशके राजा महाराजाओंसे पूज्य था वही भरत अब इंद्रादिकोंसे पूज्य हुआ, तीनों लोकोंका स्वामी हुआ, सो ठीक ही है क्योंकि जो दुष्कर तपश्चरण धारण करनेमें समर्थ है उसे क्या क्या सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् वह सब कुछ सिद्ध कर सकता है ॥ ३९६ ॥ मुनिरूपी राजहंस जिनसे सदा परिचित रहते हैं, जो सदा धर्मकी वर्षा करते रहते हैं, आकाशमें निवास करते हैं, जिनकी वृत्ति उत्तम है, और जो भव्यरूपी धानोंमें पूर्णरूपसे मोक्षरूप प्रधान फल लगाते रहते हैं ऐसे ठीक शरद-ऋतुके मेघके समान भरतने सब देशोंमें विहार किया ॥ ३९७ ॥ सब लोगोंका उपकार करनेवाले भरतने बहुत दिन तक विहार किया और जब आयुका अंतमुहूर्त बाकी रह गया तब योगनिरोधकर

विहितसक्रियो विच्युतौ । तनुत्रितयबंधनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन् जगत्त्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥ ३९८ ॥ सर्वेऽपि ते वृषभसेनमुनीशमुख्याः सख्यं गताः सकलजंतुषु शांतचित्ताः । कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणींद्राः ॥ ३९९ ॥ यो नेतेव पृथु जघान दुरितारातिं चतुस्साधनो येनात्तं कनकाश्मनेव विमलं रूपं स्वमाभास्वरं । आभेजुश्चरणौ सरोजजयिनौ यस्यालिनो वाऽमरास्त त्रैलोक्यगुरु पुरु श्रितवतां श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥ ४०० ॥ योऽभूत्पंचदशो विभुः कुलभृतां तीर्थेशिनां चाग्रिमो दृष्टो येन मनुष्यजीवनविधिर्मुक्तेश्च मार्गो महान् । बोधो रोधविमुक्तवृत्तिरखिलो यस्योदपाद्यंतिमः स श्रीमान् जनकोऽखिलावनिपतेराद्यः स दद्याच्छ्रियं ॥ ४०१ ॥ साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः सद्धर्म-

---

सब कर्म और औदारिक तैजस कार्माण तीनों शरीरोंको नष्ट किया। सम्यक्त्व आदि सार गुणरूप ही जिसकी मूर्ति है, जो दैदीप्यमान है तीनों लोकोंका शिखामणि है और सुखका खजाना है ऐसा उनका आत्मा अपने मुक्तरूप आत्मामें ही तल्लीन होगया ॥ ३९८ ॥ जिनका चित्त शांत है, जो सब प्राणियोंमें मित्रता धारण करते हैं, जिन्होंने मूलगुण शीलव्रत और उत्तरगुण पूर्ण रीतिसे पालन किये हैं तथा पूर्ण गुणवान हैं ऐसे मुनियोंमें मुख्य वृषभसेन आदि सब गणधर अपने अपने समयके अनुसार जिसका कभी अंत नहीं होता ऐसे निर्वाणको प्राप्त हुये ॥ ३९९ ॥ जिन्होंने सेनापतिके समान चार आराधनारूपी शस्त्रोंको लेकर कर्मरूपी बडे बलवान शत्रुको नाश किया, कनक पाषाणके समान जिन्होंने अपने आत्माके रूपको निर्मल और दैदीप्यमान बनाया, भ्रमरोंके समान सब देवलोग कमलको जीतनेवाले जिनके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम लोगोंको वे ही ऋषभदेव भगवान अनेक कल्याण करनेवाले हों ॥४००॥ जो कुलकरोंमें पंद्रहवें कुलकर थे, तीर्थकरोंमें प्रथम तीर्थकर थे, जिन्होंने मनुष्योंके जीविकाकी विधि और मोक्षका बडाभारी मार्ग प्रत्यक्ष देखा, और जिन्हें ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे पूर्ण अंतिम केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ऐसे वे भरत चक्रवर्तीके पिता प्रथम तीर्थकर श्रीमान् भगवान वृषभदेव तुम लोगोंको सबतरहकी लक्ष्मी देनेवाले हों ॥ ४०१ ॥ जिन्होंने प्रसिद्ध जीवादि पदार्थोंका समूह साक्षात् देखा

क्तिर्वनस्पतेः । यथा तथैव कर्मापि फलं दत्ते शुभाशुभं ॥१४५॥ मूलोत्तरप्रकृत्यादिबंधसत्त्वाद्युपाश्रयं । कर्मणामुदयश्चित्रः प्राप्य द्रव्यादिसन्निधिं ॥१४६॥ यतश्च तद्विपाकज्ञस्तदपायाय चेष्टते । ततो ध्येयमिदं ध्यानं मुक्त्युपायो मुमुक्षुभिः ॥ १४७ ॥ संस्थानविचयं प्राहुर्लोकाकारानुचिंतनं । तदंतर्भूतजीवादितत्त्वान्वीक्षणलक्षणं ॥ १४८ ॥ द्वीपाब्धिवलयानद्रीन्सरितश्च सरांसि च । विमानभवनव्यंतरावासनरकक्षिती ॥ १४९ ॥ त्रिजगत्सन्निवेशेन सममेतान्यथागमं । भावान्मुनिरनुध्यायेत्संस्थानविचयोपगः ॥ १५० ॥ जीवभेदांश्च तत्रत्यान्ध्यायेन्मुक्तेतरात्मकान् । ज्ञत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वद्रष्टृत्वादींश्च यद्गुणान् ॥ १५१ ॥ तेषां स्वकृतकर्मानुभावोत्थमतिदुस्तरं । भवाब्धिं व्यसनावर्त्तं दोषयादःकुलाकुलं ॥ १५२ ॥ संज्ञाननावा संतार्यमतार्यं ग्रथिकात्मभिः । अ-

---

प्रकृति इन सबका बंध (बंध होना) सत्त्व (सत्तामें मौजूद रहना) आदिको आश्रय लेकर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदिका निमित्त पाकर कर्मोंका उदय अनेकप्रकारका हुआ करता है ॥१४६॥ चूंकि कर्मोंके विपाकको जाननेवाला मुनि कर्मोंको नष्ट करनेकेलिये उपाय करता है इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले मुनियोंको मोक्षका उपाय भूत यह विपाकविचय नामका धर्म्यध्यान अवश्य ही चिंतवन करने योग्य है ॥१४७॥ इसीप्रकार लोकके आकारका वार वार चिंतवन करना संस्थानविचय कहलाता है, इस लोकमें भरेहुये जीव अजीव आदि तत्त्वोंका चिंतवन करना भी इसी संस्थानविचय धर्मध्यानमें शामिल है ॥१४८॥ संस्थानविचय धर्मध्यानको धारण करनेवाला मुनि तीनों लोकोंकी रचनाके साथ साथ द्वीप समुद्र पर्वत नदी सरोवर विमान भवन व्यंतरके रहनेके स्थान और नरकोंकी भूमियां आदि पदार्थोंको भी शास्त्रानुसार चिंतवन करे ॥ १४९-१५० ॥ इसके सिवाय संसारी और मुक्त ऐसे जो लोकमें भरे हुये जीवोंके दो भेद हैं और ज्ञान, कर्तापना, भोक्तापना और देखना आदि जो जीवोंके गुण हैं उनका भी ध्यान करे ॥ १५१ ॥ अध्यात्मको जाननेवाला मुनि उन जीवोंके स्वयं किये हुये कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुआ, अत्यंत दुस्तर (कठिनतासे तरने योग्य,) व्यसनरूपी भंवरोंसे भरा हुआ, दोषरूपी मगर मच्छोंसे भरा हुआ, सम्यग्ज्ञानरूपी नावसे तिरने योग्य, अत्यंत

पारमतिगंभी रंध्यायेदध्यात्मविद्यति. ॥ १५३ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः । नयभंगशताकीर्णो ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये ॥ १५४ ॥ तदप्रमत्तताल्वं स्थितिमातर्मुहूर्त्तिकीं । दधानमप्रमत्तेषु परा कोटिमधिष्ठित ॥ १५५ ॥ सद्दृष्टिषु यथाम्नाय शेषेष्वपि कृतास्थिति । प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितं ॥ १५६ ॥ क्षायोपशमिक भावं स्वसात्कृत्य विजृंभित । महोदर्कं महाप्राज्ञैर्महर्षिभिरुपासितं ॥ १५७ ॥ वस्तुधर्मानुयायित्वात्प्राप्तान्वर्थनिरुक्तिकं । धर्मध्यानमनुध्येय यथोक्तध्येयविस्तरं ॥ १५८ ॥ प्रसन्नचित्तता धर्मसवेग. शुभयोगता । सुश्रुतत्वं समाधानमाज्ञाधिगमजा रुचि. ॥ १५९ ॥ भवन्त्येतानि

गंभीर, जिसका पार नहीं और स्वेतांवर आदि परिग्रह रखनेवाले मुनिलोग जिसे कभी नहीं तिर सकते ऐसे संसाररूपी समुद्रका भी चिंतवन करे ॥ १५२-१५३ ॥ अथवा अधिक कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि शास्त्रोंमें जो कुछ पदार्थोंका विस्तार कहा है जो कि नयोंके सैकडों भंगोंसे भरा हुआ है वह सब अध्यात्मकी विशुद्धि होनेकेलिये चिंतवन करना चाहिये ॥ १५४ ॥ यह धर्म्यध्यान अप्रमत्त अवस्थाका आलंवनकर अंतर्मुहूर्ततक ठहरता है और अप्रमत्त गुणस्थानमें ही वह सबसे उत्कृष्ट माना जाता है ॥ १५५ ॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान शास्त्रानुसार असंयतसम्यग्दृष्टि नामके चौथे गुणस्थानमें भी रहता है और शेषके पांचवें छट्ठे गुणस्थानमें भी रहता है, परंतु वह न्यूनाधिक रीतिसे रहता है अर्थात् चौथेसे पांचवें में अधिक, पांचवेंसे छट्ठेमें अधिक और छट्ठेसे सातवेंमें अधिक रहता है, तथा पीत पद्म और शुक्ल इन अत्यंत शुद्ध ऐसी तीनों लेश्याओंके बलसे बढता है, अर्थात् धर्म्यध्यानमें अशुभ लेश्यायें नहीं होती हैं, ऊपरकी तीन शुभलेश्यायें ही होती हैं ॥ १५६ ॥ यह चारोंप्रकारका धर्म्यध्यान क्षायोपशमिक भावोंको आश्रय लेकर बढता है, अर्थात् इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं, इसका फल भी बहुत बड़ा (अति उत्तम) है और बडे बडे बुद्धिमान महर्षिलोग भी इसे धारण करते हैं ॥ १५७ ॥ इस धर्म्यध्यानमें यथार्थ पदार्थोंके धर्मका चिंतवन किया जाता है इसलिये इसका धर्म्यध्यान यह सार्थक नाम है, तथा ऊपर कहे हुये अरंहत सिद्ध आदिका विस्तृत स्वरूप इसमें

लिंगानि धर्मस्यातर्गतानि वै । सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता विविधा शुभभावना॰ ॥ १६० ॥ बाह्यं च लिंगमंगाना सन्निवेश पुरोदित । प्रसन्नवक्तता सौम्या दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यता ॥ १६१ ॥ फल ध्यानवरस्यास्य विपुला निर्जरैनसा । शुभकर्मोदयोद्भूत सुख च विवुधेशिना ॥ १६२ ॥ स्वर्गापवर्गसप्राप्ति फलमस्य प्रचक्षते । साक्षात्स्वर्गपरिप्राप्ति पारपर्यात्पर पद ॥ १६३ ॥ ध्यानेऽप्युपरते धीमानभीक्ष्ण भावयेन्मुनि । सानुप्रेक्षा. शुभोदर्का भवाभावाय भावनाः ॥ १६४ ॥ इत्युक्तलक्षणं धर्म्यं मगधाधीश निश्चिनु । शुक्लध्यानमितो वक्ष्ये साक्षान्मुक्त्यंगमंगिनां ॥१६५॥ कषायमलविश्लेषाच्छुक्लशब्दाभिधेयता ।

चिंतवन किया जाता है, इसलिये इस धर्म्यध्यानका वार २ चिंतवन करना चाहिये ॥ १५८ ॥ प्रसन्न चित्त रहना, धर्ममें प्रेम रखना, मनवचन कायके योग शुभ रखना, शास्त्रोंका अधिक अभ्यास करना, व्याकुल नहीं होना और आज्ञा अर्थात् अरहंतदेव वीतराग और सर्वज्ञ होनेसे कभी अन्यथा नहीं कह सकते ऐसी श्रद्धा तथा अधिगम अर्थात् शास्त्र इन दोनोंसे एक प्रकारकी रुचि उत्पन्न होना ये सब धर्म्यध्यानके वाह्य चिन्ह हैं, तथा इसीप्रकार पहिले कही हुई वारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन करना और अनेक प्रकारके शुभ परिणाम होना इसके अंतरंग चिन्ह हैं ॥ १५९-१६० ॥ पहिले कहा हुआ अंगोंका सन्निवेश होना अर्थात् पर्यंकासन वा खड्गासनसे स्थिर होना, मुखकी प्रसन्नता होना और सौम्य दृष्टि होना आदि इस धर्म्यध्यानके वाह्य चिन्ह समझना चाहिये ॥ १६१ ॥ अशुभकर्मोंकी वहुतसी निर्जरा होना तथा शुभकर्मोंके उदय होनेसे उत्पन्न हुआ इंद्र अहमिंद्र आदि उत्तम देवोंका सुख प्राप्त होना इस उत्तम धर्म्यध्यानका फल है ॥ १६२ ॥ अथवा स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होना इस धर्म्यध्यानका फल है, स्वर्गकी प्राप्ति होना तो इसका साक्षात् फल है और परंपद अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होना इसका परंपरा फल है ॥ १६३ ॥ जिस समय धर्म्यध्यान छूटजाय उस समय बुद्धिमान मुनिको जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेकेलिये वारह अनुप्रेक्षायें सहित शुभ फल देनेवालीं भावनायें चिंतवन करनी चाहिये ॥ १६४ ॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे मग-

उपेयिवदिदं ध्यानं सान्तर्भेदं निबोध मे ॥ १६६ ॥ शुक्लं परमशुक्लं चेत्याम्नाये तद्द्विधोदितं । छद्मस्थस्वामिकं पूर्वं परं केवलिनां मतं ॥ १६७ ॥ द्वेधाऽऽद्यं स्यात्पृथक्त्वादिवीचारात् वितर्कणं । तथैकत्वाद्यवीचारपदान्तं च वितर्कणं ॥ १६८ ॥ इत्याद्यस्य भिदे स्यातामन्वर्थौ श्रुतिमाश्रिते । तदर्थव्यक्तये चैतत्तन्नामद्वयनिर्वचः ॥ १६९ ॥ पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र तद्विदुः । सवितर्कं सवीचारं पृथक्त्वादिपदाह्वयं ॥ १७० ॥ एकत्वेन वितर्कस्य स्याद्यत्राविचारिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधं ॥ १७१ ॥ पृथक्त्वं विद्धि नानात्वं वितर्कः श्रुतमुच्यते । अर्थव्यञ्जनयोगानां वीचारः संक्रमो

धाधीश ! इसप्रकार ऊपर कहे अनुसार धर्म्यध्यानका लक्षण तू समझ । अब तुझे मैं जीवोंको साक्षात् मोक्षका कारण ऐसे शुक्लध्यानका स्वरूप कहता हूं ॥ १६५ ॥ कपायरूपी मलके नष्ट होनेसे जो शुक्ल ऐसे नामको धारण करता है ऐसा यह शुक्लध्यान तुझे भेद प्रभेद सहित कहता हूं, तू मुझसे अच्छी तरह समझ ले ॥ १६६ ॥ शास्त्रोंमें इस शुक्लध्यानके दो भेद कहे हैं एक शुक्लध्यान और दूसरा परम शुक्लध्यान, इनमेंसे पहिला शुक्लध्यान छद्मस्थ अवस्थाको धारण करनेवाले अर्थात् बारहवें गुणस्थान-तक रहनेवाले अल्पज्ञानी मुनियोंके होता है और दूसरा परमशुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होता है ॥ १६७ ॥ इनमेंसे पहिले शुक्लध्यानके दो भेद हैं एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्क-वीचार ॥ १६८ ॥ इसप्रकार प्रथम शुक्लध्यानके जो दो भेद किये हैं वे सार्थक हैं, इन दोनोंका अर्थ अच्छी तरह समझनेकेलिये इन दोनों नामोंका निर्वचन कहते हैं अर्थात् नामोंके अनुसार इन दोनों-का अर्थ कहते हैं ॥ १६९ ॥ जिस ध्यानमें वितर्क अर्थात् शास्त्रका अथवा सूत्रोंका पृथक् २ वीचार अर्थात् परिवर्तन वा संक्रमण होता है उसे पृथक्त्ववितर्कवीचार कहते हैं, भावार्थ—जिसमें अर्थ व्यंजन और योगोंका पृथक् पृथक् संक्रमण होता रहे उसे पृथक्त्ववितर्क वीचार ध्यान कहते हैं ॥ १७० ॥ जिस ध्यानमें वितर्कका एकत्वरूपसे वीचार नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थव्यंजन योगकी संक्रांति नहीं हो और श्रुतज्ञान करके सहित हो उसे एकत्ववितर्कवीचार कहते हैं ॥ १७१ ॥ अब

मत ॥ १७२ ॥ अर्थादर्थांतर गच्छन्व्यंजनाद्व्यंजनांतरं । योगाद्योगांतरं गच्छन्ध्यायतीदं वशी मुनिः ॥ १७३ ॥ त्रियोगः पूर्वविद्यस्माद्ध्यायत्येनं मुनीश्वरः । सवितर्कं सवीचारमतः स्याच्छुक्लमादिमं ॥ १७४ ॥ ध्येयमस्य श्रुतस्कंधवार्धेर्वागर्थविस्तरः । फलं स्यान्मोहनीयस्य प्रक्षयः प्रशमोऽपि वा

इन शब्दोंका अलग २ अर्थ कहते हैं, अनेक प्रकारताको पृथक्त्व कहते हैं, शास्त्रज्ञानको वितर्क कहते हैं और अर्थ अर्थात् जीव अजीव आदि पदार्थोंके वाच्य पदार्थ, व्यंजन अर्थात् शब्द तथा मन वचन काय ये तीनों योग इन सबका संक्रमण होना अर्थात् एक शब्दसे दूसरा शब्द वदलना, शब्द छोडकर किसी पदार्थका ध्यान करना, एक पदार्थको छोडकर किसी दूसरे पदार्थका ध्यान करना, मनोयोग छोडकर वचनयोग वा काययोगसे ध्यान करना, अथवा काययोग छोडकर वचन वा मनोयोगसे ध्यान करना वीचार कहलाता है ॥ १७२ ॥ इंद्रियोंको वश करनेवाला मुनि एक पदार्थको छोडकर दूसरे पदार्थका ध्यान करता है फिर तीसरे चौथे आदिका करता है, एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका आश्रय लेता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका आश्रय लेता है, इसीप्रकार एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे वा पहिलेसे ध्यान करता है, इसप्रकार वह इस प्रथम शुक्लध्यानको चिंतवन करता है ॥ १७३ ॥ जो मुनिराज मन वचन काय इन तीनों योगोंको धारण करनेवाला है, ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका जाननेवाला है वही इस प्रथम शुक्लध्यानको धारण करसकता है, इसलिये ही इस प्रथम शुक्लध्यानको सवितर्क अर्थात् पूर्ण श्रुतज्ञानसहित और सवीचार अर्थात् अर्थ व्यंजन योग संक्रांतिसहित कहते हैं ॥ १७४ ॥ श्रुतस्कंधरूपी समुद्रके शब्द और अर्थोंका जो विस्तार है वह सब इस प्रथम शुक्लध्यानका ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य विषय कहलाता है, तथा मोहनीय कर्मका क्षय होना अथवा उपशम होना इसका फल माना जाता है ॥ १७५ ॥ यहां ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि ध्यान करनेवाला मुनि श्रुतस्कं-

|| १७५ || इदमत्र तु तात्पर्यं श्रुतस्कंधमहार्णवात् । अर्थमेकं समादाय ध्यायन्नर्थांतरं व्रजेत् || १७६ || शब्दाच्छब्दांतरं यायाद्योगं योगांतरादपि । सवीचारमिदं तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते || १७७ || वागर्थरत्नसंपूर्णं नयभंगतरंगकं । प्रसृतध्यानगंभीरं पदवाक्यमहाजलं || १७८ || उत्पादादित्रयोद्वेलं सप्तभंगीवृहद्ध्वनिं । पूर्वपक्षवशायातमतयादःकुलाकुलं || १७९ || कृतावतारमुद्बोधयानपात्रैर्महर्द्धिभिः । गणाधीशमहासार्थवाहैश्चारित्रकेतनैः ||१८०||

धरूपी महासागरमेंसे किसी एक पदार्थको अथवा उसकी पर्यायको मुख्यकर उसका ध्यान करता है, फिर उसे छोडकर दूसरा पदार्थ अथवा उसकी किसी एक पर्यायको ग्रहणकर उसका ध्यान करता है, इसीप्रकार एक शब्दको छोडकर दूसरे शब्दका ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरे चौथे आदि शब्दोंका ध्यान करता है, तथा एक योगको छोडकर दूसरेसे ध्यान करता है, दूसरेको छोडकर तीसरेसे और तीसरेको छोडकर पहिले वा दूसरेसे ध्यान करता है, इसलिये ही इस ध्यानको सवीचार कहते हैं, और यह ध्यान श्रुतज्ञानियोंके ही होता है इसलिये इसे सवितर्क कहते हैं, इसप्रकार इसे सवितर्क और सवीचार कहते हैं || १७६-१७७ || यह श्रुत स्कंधरूपी एक महासागर है इसमें सब ओर शब्द और अर्थरूपी रत्न भरे हुये हैं, नैगम संग्रह आदि नयोंके अनेक भेद ही इसकी अनेक तरंगें हैं, मुनियोंके मुखसे निकले हुये शब्दोंसे जो अत्यंत गंभीर है, पद और वाक्यरूपी अगाध जल जिसमें भराहुआ है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ही जिसमें ज्वारभाटा (घटना बढना) हैं, स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति आदि सप्तभंगी ही जिसके गंभीर शब्द हैं, पूर्वपक्ष करनेकेलिये बौद्ध नैयायिक आदि परमतके पदार्थोंका जो वर्णन किया है वही इसमें मगर मच्छ आदि जलचर जीव हैं उनसे भी यह श्रुतस्कंधरूप महासागर भरा हुआ है, गणधरादि देव ही जिनके चलानेवाले खेवटिया हैं और सम्यक्चारित्र ही जिनकी ध्वजा हैं ऐसे सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजोंके द्वारा बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले मुनिराज ही जिसके पार जा सकते हैं, नैगम संग्रह आदि अथवा द्रव्यार्थिक पर्या-

नयोपनयम्पातमहावातविघूर्णितं । रत्नत्रयमयैर्द्वीपैरवगाढमनेकधा ॥ १८१ ॥ श्रुतस्कन्धमहाम्भोनिधिमवगाह्य महामुनिः । ध्यायेत्पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानम-ग्रिमं ॥ १८२ ॥ प्रशान्तक्षीणमोहेषु श्रेण्योः शेषगुणेषु च । यथाम्नायमिदं ध्यानमामनन्ति मनीषिणः ॥ १८३ ॥ द्वितीयमाद्यवज्ज्ञेयं विशेषस्त्वेकयोगिनः । प्रक्षीणमोहनीयस्य पूर्वज्ञस्यामितद्युतेः ॥ १८४ ॥ सवितर्कमवीचारमेकत्वध्यानमूर्जितं । ध्यायन्नस्तकषायोऽसौ घातिकर्माणि शातयन् ॥ १८५ ॥ फल-मस्य भवेद्घातित्रितयप्रक्षयोद्भवं । कैवल्यं प्रमिताशेषपदार्थं ज्योतिरक्षरं ॥ १८६ ॥ ततः पूर्वविदामाद्ये शुक्ले श्रेण्योरुभयोस्तथा । निर्दिष्टे त्वेकयोगानां यथो-

---

यार्थिक आदि नय तथा सद्भूत असद्भूत आदि उपनय इनके कथन करनेरूप महावायुके द्वारा ही इसमें अनेक प्रकारकी कल्लोलें उठ रही हैं और रत्नत्रयरूपी अनेक प्रकारके द्वीप इसमें भरेहुये हैं, ऐसे इस श्रुतस्कंधरूपी महासागरमें अवगाहनकर (स्नानकर) महामुनिराज पृथक्त्ववितर्कवीचार नामके प्रथम शुक्लध्यानका ध्यान करे ॥१७८-१८२॥ यह प्रथम शुक्लध्यान उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियोंमें होता है, उपशम श्रेणीमें आठ नौ दश ग्यारह गुणस्थानतक रहता है और क्षपकश्रेणीमें आठ नौ दश गुणस्थानतक रहता है, परंतु वह इन गुणस्थानोंमें शास्त्रानुसार हीनाधिक भावसे रहता है ॥१८३॥ इसप्रकार पहिले शुक्लध्यानका स्वरूप कहा। अब दूसरा शुक्लध्यान कहते हैं। दूसरा एकत्ववितर्क शुक्लध्यान पहिलेके समान ही है, विशेष इतना है कि जिसका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है, जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वका जाननेवाला है, जिसकी अपरिमित कांति है और जो तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगका आलंबन करता है उसके ही यह दूसरा शुक्लध्यान होता है ॥ १८४ ॥ जिस मुनिके कषाय सब नष्ट हो गये हैं और जो घातिया कर्मोंको नष्ट कर रहा है ऐसा मुनि वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान सहित और वीचार (अर्थ व्यंजन और योगका संक्रमण) रहित तथा अति उत्तम ऐसे इस एकत्ववितर्क नामके दूसरे शुक्लध्यानका चिंतवन करता है ॥ १८५ ॥ ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे समस्त पदार्थोंको प्रगट करनेवाला अविनाशिक

क्तफलयोगिनी ॥ १८७ स्नातकः कर्मवैकल्यात्कैवल्यं परमापिवान् । स्वामी परमशुक्लस्य द्विधा भेदमुपेयुषः ॥ १८८ ॥ स हि योगनिरोधार्थमुद्यत' केवली जिनः । समुद्घातविधि पूर्वमाविःकुर्यान्निसर्गत. ॥ १८९ ॥ दंडमुच्चैःकवाट च प्रतर लोकपूरण । चतुर्भि. समयै' कुर्वंल्लोकमापूर्य तिष्ठति ॥ १९० ॥ तदा सर्वगतः सार्व. सर्ववित्पूरको भवेत् । तदते रेचकावस्थामधितिष्ठन्महीयते ॥ १९१ ॥ जगदापूर्य विश्वज्ञ. समयात्प्रतर श्रितः । ततः

ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञान उत्पन्न होना ही इस दूसरे एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका फल है ॥ १८६ ॥ इसलिये ये दोनों ही शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ग्यारह अंग चौदह पूर्वके जाननेवाले मुनियोंके ही होते हैं, पृथक्त्ववितर्क उपशम और क्षपक दोनों ही श्रेणियोंमें होता है और एकत्ववितर्क क्षपक श्रेणीमें ही होता है, अर्थात् पहिला आठसे ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है और दूसरा बारहवें गुणस्थानमें ही होता है, पृथक्त्ववितर्क तीनों योगोंसे होता है और एकत्ववितर्क किसी एक योगसे होता है, पृथक्त्ववितर्कका फल मोहनीय कर्मका नाश होना है और एकत्ववितर्कका फल घातिया कर्मोंका नाश होना है, इसप्रकार पहिलेके दोनों शुक्लध्यानोंका स्वरूप जानना चाहिये । अब परम शुक्लध्यानका स्वरूप कहते हैं ॥१८७॥ जो घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे उत्कृष्ट केवलज्ञानको प्राप्त हुआ है ऐसा स्नातक मुनि ही दोनोंप्रकारके परमशुक्लध्यानोंका स्वामी होता है, भावार्थ—अंतके दोनों शुक्लध्यान केवली भगवानके ही होते हैं ॥ १८८ ॥ वे जिनेंद्रदेव केवली भगवान जब योग निरोध करनेकेलिये उद्यत होते हैं तब योग निरोध करनेसे पहिले उनके सहज ही केवलिसमुद्घात प्रगट होता है ॥ १८९ ॥ पहिले समयमें उनके आत्माके प्रदेश चौदह राजू ऊंचे दंडाकार होते हैं, दूसरे समयमें कवाटरूप चौडे होते हैं, तीसरे समयमें मेघपटलके समान मोटे प्रतररूप होते हैं और चौथे समयमें समस्त लोकाकाशमें भर जाते हैं, इसप्रकार चौथे समयमें वह लोकमें व्याप्त होकर रहता है ॥१९०॥ उससमय समस्त लोकमें व्याप्त हुआ, सबका हित करनेवाला और सबको जान-

कपाटं दंडं च क्रमेणैवोपसहरन् ॥ १९२ ॥ तत्राघातिस्थितेर्भागानसंख्येयान्निहंत्यसौ । अनुभागस्य चानंतान्भागानशुभकर्मणा ॥ १९३ ॥ पुनरतर्मुहूर्त्तेन निरुधन्योगमास्रव । कृत्वा वाड्मनसी सूक्ष्मे काययोगव्यपाश्रयात् ॥ १९४ ॥ सूक्ष्मीकृत्य पुनःकाययोगं च तदुपाश्रय । ध्यायेत्सूक्ष्मक्रियाध्यान प्रतिपातपराड्मुख ॥ १९५ ॥ ततो निरुद्धयोग. सन्योगी स विगतास्रव· । समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमनिवर्ति तदा भजेत् ॥ १९६ ॥ अतर्मुहूर्त्तमातन्वस्त-

---

नेवाला वह केवली पूरक अर्थात् लोकपूरण वा व्याप्त कहलाता है, अनंतर अर्थात् लोकपूर्ण होनेके बाद वह रेचक अवस्थाको धारण करता है अर्थात् अपने आत्माके प्रदेशोंको संकुचित करता है, इसप्रकार वह केवली उससमय परम पूज्य गिना जाता है ॥ १९१ ॥ वह सर्वज्ञ भगवान लोक पूर्ण होनेके एक समय बाद ही अर्थात् पांचवें समयमें ही प्रतर अवस्थाको प्राप्त होता है छट्ठे समयमें कवाटरूप होता है, सातवें समयमें दंडरूप होता है और आठवें समयमें शरीरप्रमाण होता है, इसप्रकार वह अनुक्रमसे उपसंहार (संकोच) करता है ॥ १९२ ॥ उससमय अर्थात् समुद्धात अवस्थामें वह केवली भगवान अघातिया कर्मोंकी स्थितिके असंख्यात भागोंको नष्ट करता है और अशुभ कर्मोंके अनुभाग अर्थात् रसविशेषके अनंत भागोंको नष्ट करता है ॥ १९३ ॥ तदनंतर अंतर्मुहूर्तमें योगरूप आस्रवका निरोधकर काययोगके आश्रयसे वाग्योग और मनोयोगको सूक्ष्मकर तथा फिर सूक्ष्म वाग्योग और मनोयोगके आश्रयसे काययोगको सूक्ष्मकर जिसका नाश नहीं होता ऐसा जो सूक्ष्मक्रिया ध्यान है अर्थात् सूक्ष्माक्रियाप्रतिपाति नामका तीसरा शुक्लध्यान है उसका ध्यान करता है ॥ १९४-१९५ ॥ तदनंतर चौदहवें गुणस्थानमें योगोंको निरोधकर जिसके किसीप्रकारका आस्रव नहीं होता ऐसे योगिराजके नाश रहित ऐसा समुच्छिन्नक्रिया अर्थात् समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति चौथा शुक्लध्यान होताहै ॥ १९६ ॥ इस प्रकार अत्यंत निर्मल जो चौथा शुक्लध्यान है उसे वह योगिराज अंतर्मुहूर्त तक ध्यान करता है और फिर उस अंतमुहूर्तके वाद ही समस्त कर्मोंको नष्टकर वह जिनेंद्रदेव

ध्यानमतिनिर्मलं । विधूताशेषकर्मांशो जिनो निर्वात्यनंतर ॥ १९७ ॥ त्रयोदशास्य प्रक्षीणाः कर्मांशाश्चरमे क्षणे । द्वासप्ततिरुपान्त्ये स्युरयोगपरमेष्ठिनः ॥ १९८ ॥ निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निर्व्याबाधो निरामयः । सूक्ष्मोऽव्यक्तस्तथा व्यक्तो मुक्तो लोकांतमावसन् ॥ १९९ ॥ ऊर्ध्वव्रज्यास्वभावत्वात्समयेनैकेन नीरजाः । लोकांतं प्राप्य शुद्धात्मा सिद्धस्चूडामणीयते ॥ २०० ॥ तत्र कर्ममलापायाच्छुद्धिरात्यंतिकी मता । शरीरापायतोऽनंत भवेत्सुखमतींद्रिय ॥ २०१ ॥ निष्कर्मा विधुताशेषसांसारिकसुखासुख । चरमांगात्किमप्यूनपरिमाणस्तदाकृतिः ॥ २०२ ॥ अमूर्तोऽप्ययमत्यागसमाकारोपलक्षणात् । मूषागर्भनिरुद्धस्य स्थितिं व्योम्नः परामृशन् ॥ २०३ ॥ शारीरमानसाशेषदुःखबंधनवर्जितः । निर्द्वंद्वो निष्क्रियः शुद्धो गुणैरष्टाभिरन्वित. ॥ २०४ ॥

मुक्त हो जाता है ॥१९७॥ चौदहवें गुणस्थानमें रहने वाले इन अयोगि परमेष्ठीके चौदहवें गुणस्थानके उपांत्य समयमें वहत्तरि प्रकृतियां नष्ट होती हैं और अंतके समयमें तेरह प्रकृतियां नष्ट होती हैं ॥१९८॥ चौदह गुणस्थानके अंतमें वह जिनराज लेपरहित (कर्मरहित) शरीररहित, शुद्ध अव्यावाध (वाधा वा पीडारहित) रोगरहित, सूक्ष्म, अव्यक्त, व्यक्त और मुक्त होता हुआ लोकके अंतमें निवास करता है ॥ १९९ ॥ तदनंतर ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे एक ही समयमें कर्म रहित होकर लोकके अंतभागमें पहुंचता है और वहां शुद्धात्मा सिद्ध होकर लोकाशिखरपर चूडामणिके समान सुशोभित होता है ॥ २०० ॥ वहां सिद्ध अवस्थामें कर्मरूपी मलके नष्ट होनेसे आत्मा अत्यंत शुद्ध हो जाता है और शरीरके नष्ट होनेसे उसे अतींद्रिय अनंतसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २०१ ॥ वहांपर कर्म सव नष्ट होजाते हैं, संसार संवंधी सुख दुख सब नष्ट होजाते हैं और अंतके शरीरसे (जिस शरीरसे मुक्त होता है) कुछ कम परिमाणको धारण करनेवाला उसका आकार रहता है ॥ २०२ ॥ जिसप्रकार मूसा अर्थात् सांचेके भीतर अमूर्त आकाशका भी आकार होता है उसप्रकार यद्यपि वे सिद्ध भगवान अमूर्त हैं तथापि उपलक्षणसे उनका आकार चरमशरीरके समान ही कहा जाता है ॥ २०३ ॥ वे सिद्धभगवान शरीर और मनसंवंधी समस्त दुःखोंसे रहित हैं, विकल्परहित, क्रियारहित और शुद्ध हैं और

अभेद्यसंहतिर्लोकशिखरैकशिखामणिः । ज्योतिर्मयः परिप्राप्तस्वात्मा सिद्धः सुखायते ॥ २०५ ॥ कृतार्था निष्ठिता सिद्धा कृतकृत्या निरामया । सूक्ष्मा निरञ्जनाश्चेति पर्यायाः सिद्धिमीयुषा ॥ २०६ ॥ तेषामतींद्रिय सौख्य दु खप्रक्षयलक्षण । तदेव हि पर प्राहु सुखमानल्यवेदिन ॥ २०७ ॥ क्षुदादिवेदनाभावान्नैषा विषयकामिता । किमु सेवेत भैषज्यं स्वस्थावस्थ. सुधी. पुमान् ॥ २०८ ॥ न तत्सुख परद्रव्यसबन्धादुपजायते । नित्यमव्ययमक्षय्यमात्मोत्थ हि पर शिव ॥ २०९ ॥ स्वास्थ्य चेत्सुखमेतेषामदोऽस्त्यानल्यमाश्रित । ततोऽन्यच्चेत्सुख नाम न किंचिद्भुवनोदरे ॥ २१० ॥ सकलक्लेशनिर्मुक्तो

सम्यक्त्वादि आठ गुण सहित हैं ॥२०४॥ उनका आकार अभेद्य है उसे कोई छेदन भेदन नहीं करसकता, वे लोकशिखरके मुख्य शिखामणि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, उन्हें ही अपने शुद्ध स्वात्माकी प्राप्ति हुई है और इसालिये ही वे सिद्ध हैं तथा अनंत सुखका अनुभव करते हैं ॥२०५॥ कृतार्थ निष्ठित (परिपूर्ण) सिद्ध, कृत्यकृत्य, निरामय, सूक्ष्म और निरंजन ये सब सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके पर्यायवाचक शब्द हैं ॥२०६॥ उन सिद्धोंके समस्त दुःखोंके नष्ट होनेसे उत्पन्न हुआ अतींद्रिय सुख है और केवली भगवान उसी अतींद्रिय सुखको सबसे उत्कृष्ट सुख बतलाते हैं ॥२०७॥ क्षुधा आदि वेदनाओंके नष्ट होनेसे उनके किसी विषयकी इच्छा नहीं है, सो ठीक ही है क्योंकि जिसके शरीरका स्वास्थ्य बहुत अच्छा है ऐसा कौन बुद्धिमान् औषधियोंका सेवन करता है, अर्थात् कोई नहीं ॥२०८॥ जो सुख परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होता है वह वास्तविक सुख नहीं कहलाता, जो सुख केवल शुद्ध स्वात्मासे उत्पन्न होता है वही नित्य और अविनश्वर है, कभी कम भी नहीं होता तथा परमकल्याणस्वरूप है, इसलिये वही वास्तविक सुख कहलाता है ॥२०९॥ यदि स्वास्थ्य अवस्थासे उत्पन्न हुआ ही सुख है तो वह यही सिद्धोंका अनंत सुख है इसके सिवाय तीनों लोकोंमें भी अन्य कोई सुख नहीं है ॥ २१० ॥ वे सिद्ध भगवान समस्त क्लेशोंसे रहित हैं, मोहरहित हैं, उपद्रवरहित हैं और सूक्ष्म हैं इसलिये उन्हें कौन बाधा देसकता है अर्थात् कोई नहीं, इसलिये उनका सुख भी निरतिशय अनंत सुख कहलाता है

निर्मोहो निरुपद्रवः । केनासौ बाध्यते सूक्ष्मस्तदस्यात्यांतिकं सुखं ॥२११॥ इदं ध्यानफलं प्राहुरानंत्यमृषिपुंगवाः । तदर्थं हि तपस्यंति मुनयो वांतवल्कलाः ॥ २१२ ॥ यद्वद्वातहताः सद्यो विलीयते घनाघनाः । तद्वत्कर्मघना यांति लय ध्यानानिलाहताः ॥ २१३ ॥ सर्वांगीण विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्याऽपकृष्यते । तद्वत्कर्मविषं कृत्स्न ध्यानशक्त्याऽपसार्यते ॥ २१४ ॥ ध्यानस्यैव तपोयोगाः शेषाः परिकरा मताः । ध्यानाभ्यासे ततो यत्न. शश्वत्कार्यो मुमुक्षुभिः ॥ ११५ ॥ इति ध्यानविधिं श्रुत्वा तुतोष मगधाधिपः । तदा विबुद्धमस्यासीत्तमोऽपायान्मनोऽम्बुज ॥ २१६ ॥ ततस्तमृषयो भक्त्या गौतम कृतवदनाः । पप्रच्छुरिति योगींद्रं योगद्वैधानि कानिचित् ॥ २१७ ॥ भगवन्योगशास्त्रस्य तत्त्व त्वत्तः श्रुतं मुहुः । इदानीं बोद्धुमिच्छामस्तद्विगतरशोवन

॥ २११ ॥ गणधरादि उत्तम ऋषिलोग इसी अनंत सुखको ध्यानका फल कहते हैं और इसी अनंत सुखकेलिये दिगंबर अवस्थाको धारण करनेवाले मुनिलोग तपश्चरण करते हैं ॥ २१२ ॥ जिसप्रकार हवाके झकोरेसे बडे बडे बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार ध्यानरूपी वायुके झकोरेसे कर्मरूपी बादल भी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥ २१३ ॥ जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे समस्त शरीरमें फैलाहुआ विष भी खींच लिया जाता है उसीप्रकार ध्यानकी शक्तिसे भी समस्त कर्मरूपी विष दूर कर दिया जाता है ॥ २१४ ॥ शेष ग्यारह प्रकारके तपश्चरण इस ध्यानके ही सहायक हैं, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले जीवोंको ध्यानका अभ्यास करनेकेलिये ही निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २१५ ॥ इसप्रकार ध्यानका स्वरूप सुनकर राजा श्रेणिक बहुत ही प्रसन्न हुआ था तथा उससमय अज्ञानरूपी अंधकारके नष्ट हो जानेसे इसका मनरूपी कमल भी प्रफुल्लित होगया था ॥ २१६ ॥ तदनंतर भक्तिपूर्वक बंदना करते हुये समस्त ऋषिलोग योगिराज गौतम गणधरसे आगे लिखे हुये और भी कुछ एक ध्यानके भेद पूछने लगे ॥ २१७ ॥ कि हे भगवन् इन लोगोंने आपसे योगशास्त्रके समस्त तत्त्व कईवार सुने हैं अब आपसे अन्यप्रकारके ध्यानोंका निराकरण सुनना चाहते हैं ॥ २१८ ॥ हे देव जिसप्रकार सूर्य अंधकारके समूहको नष्ट करदेता है उसीप्रकार इस योगशास्त्रमें

॥ २१८ ॥ तदस्य ध्याननागस्य मार्गा विप्रतिपत्तयः । निराकृत्य त्वयैवास्मान्बोधनीया यथाश्रुतिः ॥ २१९ ॥ ऋद्धिप्राप्तेर्ऋषिस्त्वं हि त्वं हि प्रत्यक्षविन्मुनिः । अनगारोऽस्यसंगत्वाद्यतिः श्रेणीद्वयोन्मुखः ॥ २२० ॥ ततो भागवतादीनां योगानामभिभूतये । ब्रूहि नो योगबीजानि त्वयागम्य यथाश्रुत ॥ २२१ ॥ इति तद्वचनं श्रुत्वा भगवानित्युवाच गौतमः । यत्पृष्टं योगतत्त्वं च तत्सर्वं वच्मि तत्स्फुटम् ॥ २२२ ॥ षड्भेदयोगवादी यः सोऽनुयोज्य समाहितैः । योगः कः किं समाधानं प्राणायामश्च कीदृशः ॥ २२३ ॥ का धारणा किमाध्यानं किं ध्येयं कीदृशी स्मृतिः । किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृशः ॥ २२४ ॥ कायवाङ्मनसां कर्म योगो योगविदां मतः । स शुभाशुभभेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ॥ २२५ ॥ तत्त्वज्ञानादिगा-

---

जो कुछ संदेह वा वादविवाद अथवा प्रतिकूलता है उसे भी निराकरण (खंडन) कर समझा दीजिये ॥ २१९ ॥ हे स्वामिन् आपको अनेक ऋद्धियां प्राप्त हैं इसलिये आप ऋषि हैं, आप समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जाननेवाले हैं इसलिये मुनि कहलाते हैं, आप समस्त अंतरंग बहिरंग परिग्रह रहित हैं इसलिये अनगार कहलाते हैं और आपमें उपशम क्षपक दोनों श्रेणियोंके चढनेकी सामर्थ्य है इसलिये आप यति कहलाते हैं ॥ २२० ॥ इसलिये वैष्णव आदि अन्य मतानुसार कहे हुये योगशास्त्रका पराभव (तिरस्कार) करनेकेलिये युक्ति शास्त्रके अनुसार जैसा आपने सुना है वैसा ही योगशास्त्रके समस्त बीजाक्षरोंको कहिये ॥ २२१ ॥ उन ऋषियोंके ये वाक्य सुनकर भगवान गौतमस्वामी कहने लगे कि आप लोगोंने योगशास्त्रके जो जो तत्त्व पूछे हैं वे सब अच्छी तरह कहूंगा ॥२२२॥ संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और संबंधविशेषणता इन छह प्रकारके योगोंको माननेवाले जो योगवादी हैं उनसे विद्वान लोगोंको पूछना चाहिये कि योग क्या है, समाधान क्या है, प्राणायाम किसप्रकार किया जाता है, धारणा क्या है, ध्यान क्या है, ध्यान करनेयोग्य ध्येय क्या है, स्मरण क्या है, ध्यानका फल क्या है, ध्यानके बीजाक्षर कौन कौन हैं और इसके प्रत्याहार कौन कौन हैं ॥ २२३-२२४ ॥ योगको जाननेवाले मुनिराज काय वचन और मनकी क्रिया-

मेषु चित्तस्याधानमंजसा । स समाधिरिति ज्ञेयः स्मृतिर्वा परमेष्ठिना ॥ २२६ ॥ प्राणायामो भवेद्योगनिग्रहः शुभभावनः । धारणा श्रुतिनिर्दिष्टबीजानामवधारण ॥ २२७ ॥ आध्यान स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिर्चिंतनैः । ध्येयं स्यात्परम तत्त्वमवाङ्मानसगोचरं ॥ २२८ ॥ स्मृतिर्जीवादितत्त्वानां याथात्म्यानुस्मृति. स्मृता । गुणानुस्मरण वा स्यात्सिद्धार्हत्परमेष्ठिनां ॥२२९॥ फल यथोक्त बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात् । प्रत्याहारस्तु तस्योपसहृतौ चित्तनिर्वृतिः ॥ २३० ॥ अकारादिहकारांतरेफमध्यांतबिंदुक । ध्यायन्परमिद बीज मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥ २३१ ॥ षडक्षरात्मकं बीजमिहार्हद्भ्यो नमोऽस्त्विति ।

को योग कहते हैं, वह योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारका है ॥ २२५ ॥ चित्तको उत्तम परिणामोंमें निश्चल रखना समाधि वा समाधान कहलाता है, अथवा पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करना भी समाधि कहलाती है ॥ २२६ ॥ मन बचन और काय तीनों योगोंका निग्रह करना तथा शुभ परिणाम रखना प्राणायाम कहलाता है और शास्त्रमें कहे हुये वीजाक्षरोंका अवधारण (निश्चय) करना धारणा कहलाती है ॥ २२७ ॥ अनित्य आदि बारह भावनाओंका वारवार चिंतवन करना आध्यान कहलाता है और जो न बचनसे कहा जा सकता न मनसे चिंतवन किया जा सकता है ऐसा जो परम आत्मतत्त्व है वह ध्येय कहलाता है ॥ २२८ ॥ जीव अजीव आदि तत्त्वोंके यथार्थस्वरूपका स्मरण करना स्मरण कहलाता है अथवा अरहंत और सिद्ध परमेष्ठीके गुणोंके स्मरण करनेको भी स्मरण कहते हैं ॥ २२९ ॥ फल जो ऊपर कहा है वही समझना चाहिये, वीजाक्षरोंको अनुक्रमसे कहते हैं और चित्तको संकोच करनेसे चित्तको जो एकप्रकारका सुख मिलता है वही प्रत्याहार है ॥ २३० ॥ जिसकी आदिमें अकार है, अंतमें हकार है, मध्यमें रेफ है और अंतमें अनुस्वार है ऐसा जो 'अर्ह' यह परम वीजाक्षर है, उसको ध्यान करता ऐसा मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि कभी खेद खिन्न नहीं होता ॥ २३१ ॥ अथवा 'अर्हद्भ्यो नमोस्तु' अर्थात् अरहंदेवको नमस्कार हो " इसप्रकार जो छह अक्षरोंका वीजाक्षर है उसको ध्यानकर

ध्यात्वा मुमुक्षुरार्हंत्यमनंतगुणमृच्छति ॥ २३२ ॥ नमः सिद्धेभ्य इत्येतद्दशार्द्धस्तवनाक्षरं । जपन्जप्येषु भव्यात्मा स्वेष्टान्कामानवाप्स्यति ॥ २३३ ॥ अष्टाक्षरं परं बीजं नमोऽर्हत्परमेष्ठिने । इतीदमनुसस्मृत्य पुनर्दुःख न पश्यति ॥ २३४ यत् षोडशाक्षर बीजं सर्वबीजपदान्वित । तत्त्ववित्तदनुध्यायन्ध्रवमेष मुमुक्षते ॥ २३५ ॥ पंचब्रह्ममयैर्मंत्रैः सकलीकृत्य निष्कल । परं तत्त्वमनुध्यायन्योगी स्याद्ब्रह्मतत्त्ववित् ॥ २३६ ॥ योगिनः परमानंदो योऽस्य

मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुनि केवलज्ञान आदि अनंत गुणोंको धारण करनेवाली अरहंत अवस्थाको प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥ तथा जप करने योग्य अक्षरोंमेंसे ' नमः सिद्धेभ्यः ' अर्थात् ' सिद्धोंको नमस्कार हो ' इन सिद्धोंके स्तोत्ररूप पांच अक्षरोंका जप करता हुआ भव्य जीव अपने इच्छानुसार पदार्थोंको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी समस्त इच्छायें पूर्ण होती हैं ॥ २३३ ॥ तथा नमोर्हत्परमेष्ठिने " अर्थात् ' अरहंत परमेष्ठीको नमस्कार हो ' यह जो आठ अक्षरोंका परम बीज है उसे चिंतवन करता हुआ भव्य जीव भी फिर कभी दुखोंको नहीं देखता है ॥ २३४ ॥ तथा जिसमें समस्त बीज शामिल हैं ऐसा जो " अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाया साहू " अथवा अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः " यह सोलह अक्षरोंका बीज है उसका बारबार ध्यान करता हुआ ऐसा जो तत्त्वोंका जाननेवाला मुनि है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥२३५॥ अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधु इस पंच ब्रह्मस्वरूप अर्थात् परमेष्ठी स्वरूप जो मंत्र हैं उनके द्वारा जो मुनिराज शरीररहित ऐसे परमतत्त्व परमात्माको शरीरसहित मानकर उसका बारबार ध्यान करता है वही ब्रह्मतत्त्वको जाननेवाला कहलाता है, भावार्थ—यद्यपि परमात्मा अशरीर है तथापि उसे शरीरसहित मानकर मंत्रोंके द्वारा जो उसका ध्यान करता है वह परमतत्त्वका जाननेवाला कहलाता है ॥ २३६ ॥ इस ध्यान करनेवाले योगीके चित्तकी प्रसन्नता होनेसे जो परमानंद उत्पन्न होता है वही सबसे अधिक ऐश्वर्य है उससे बढकर और कोई ऐश्वर्य नहीं है, अथवा योगसेउत्पन्न होनेवाली ऋद्धियोंकी भी कुछ कमी

स्याच्चित्तनिर्वृतेः । स एवैश्वर्यपर्यंतो योगजाः किमुतर्द्धय. ॥ २३७ ॥ अणिमादिगुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयं । भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥ २६८ ॥ बीजान्येतान्यजानानो नाममात्राणि मंत्रवित् । मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबंधनैः ॥ २३९ ॥ नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिना । नित्यश्चेदविकार्यत्वान्न ध्येयध्यानसगतिः ॥२४०॥ सुखासुखानुभवनस्मरणेच्छाद्यसंभवात् । प्रागेवास्य न दिध्यासा दूरात्तत्त्वानुचिंतन ॥२४१॥

नहीं है, योगसे अनेक ऋद्धियां भी प्राप्त होती हैं ॥ २३७ ॥ जिसमें अणिमा महिमा आदि अनेक गुण हैं और जिसका सुख बहुत बडा है ऐसे संसार संबंधी इंद्रादिके ऐश्वर्यको भोगकर योग को जाननेवाला मुनि कर्मोंसे छूटकर सिद्ध होता है ॥ २३८ ॥ ये ऊपर कहे हुये बीजाक्षर हैं इनको जो नहीं जानता है तथा केवल नाम ही जानकर मंत्रोंका जाननेवाला गिना जाता है ऐसा मिथ्या अभिमानसे दग्ध हुआ जीव केवल कर्मबंधनोंसे बंधता है, भावार्थ—जो इन बीजाक्षरोंको न जानकर भी मंत्रोंका जाननेवाला कहलाता है वह कर्मोंसे बंधता ही है छूटता नहीं ॥ २३९ ॥ इसप्रकार संक्षेपसे अपना योगका स्वरूप कहकर अब अन्यमतसंबंधी योगका खंडन करते हैं। योगका अभिमान करनेवाले अर्थात् मिथ्या योगको ही योग माननेवाले मीमांसकोंके मतमें जीव नित्य है अथवा अनित्य है, यदि जीव नित्य माना जायगा तो उसके विकार वा पर्याय नहीं हो सकेंगे और जिस जीवके पर्याय वा परिणाम नहीं हो सकेंगे उनके न तो ध्यान ही बन सकेगा और न कोई ध्येय बन सकेगा, क्योंकि ध्यानकी इच्छा होना वा ध्यान करना भी जीवका एक परिणाम है और मीमांसकके मतमें माना हुआ जीव नित्य है अतएव उसके परिणाम हो नहीं सकते हैं और परिणाम न होनेसे ध्यान भी नहीं हो सकता ॥ २४० ॥ दूसरा कारण यह भी है कि नित्य जीवके सुख दुख अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणाम उत्पन्न होना ही असंभव है और स्मरण इच्छा आदि न होनेसे प्रथम ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है, तत्त्वोंका चिंतवन करना तो दूर रहो। भावार्थ-ध्यानकी इच्छाके

तन्निवृत्तौ कुतो ध्यानं कुतस्त्यो वा फलोदयः । बंधमोक्षाद्यधिष्ठानाप्रक्रियाप्यफला ततः ॥ २४२ ॥ क्षणिकानां च चित्तानां संततौ कानुभावना । ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ॥ ॥ २४३ ॥ सतानातरवत्तस्मान्न दिध्यासादिसभवः । न ध्यानं न च निर्मोक्षो नाप्यस्याष्टांगभावना ॥ २४४ ॥

बिना तत्त्वोंका चिंतवन भी नहीं हो सकता है ॥ २४१ ॥ और जब तत्त्वोंका चिंतवन ही नहीं होगा तो ध्यान ही कैसे हो सकता है तथा बिना ध्यानके मोक्ष प्राप्त होना आदि फल ही कैसे हो सकता है, और मोक्षप्राप्त होने आदि फलके विना बंधकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी प्रवृत्ति तथा मोक्षकी कारण शुभ अशुभ परिणामोंकी निवृत्ति आदि होना भी व्यर्थ ही मानना पडेगा, तथा नित्य जीवके ये सब हो भी नहीं सकता है, इसलिये जीव नित्य भी नहीं हो सकता है ॥ २४२ ॥ अब कदाचित् जीवको क्षणिक माना जाय सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जब जीव क्षणिक है प्रतिसमयमें नाश होता रहता है तथा नवीन उत्पन्न होता रहता है ऐसा माननेसे नवीन उत्पन्न हुई जीवकी संतान दर संतानमें ध्यानकी भावना ही नहीं हो सकती है। क्योंकि ध्यानका कारण पहिले अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण होना है और वह स्मरण क्षणिक जीवके होना अत्यंत कठिन है, हो ही नहीं सकता, इसलिये क्षणिक जीवके ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है। क्षणिक जीवके स्मरण न होनेका भी कारण यह है कि जिस जीवने किसी पदार्थका अनुभव किया था वह तो उसी क्षणमें नष्ट हो गया दूसरे क्षणमें तो उसकी संतान उत्पन्न होती है, इसलिये अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसकी संतानको उसका स्मरण भी नहीं हो सकता और स्मरण न होनेसे ध्यानकी भावना भी नहीं हो सकती है ॥२४३॥ जिसप्रकार जिनदासके द्वारा अनुभव किये हुये पदार्थोंका स्मरण पार्श्वदासको नहीं होता है उसीप्रकार अनुभव करनेवाला जीव नष्ट हो जानेसे उसका स्मरण उसकी संतान प्रतिसंतानको भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि संतान प्रतिसंतान उस अनुभव करनेवाले जीवसे भिन्न है और

तथा पुद्गलवादेऽपि देहपुद्गलतत्त्वयोः । तत्त्वान्यत्वाद्यवक्तव्यसंगराध्यातुरस्थितिः ॥ २४५ ॥ दिध्यासापूर्विका ध्यानप्रवृत्तिर्नात्र युज्यते । न ह्यसतः खपुष्पस्य काचिद्गंधादिकल्पना ॥ २४६ ॥ विज्ञप्तिमात्रवादे च ज्ञप्तेर्नास्त्येव गोचरः । ततो निर्विषया ज्ञप्तिः क्वात्मानं बिभृयात्कथं ॥ २४७ ॥ तदभावे च

अनुभव किये हुये पदार्थके स्मरणके बिना ध्यान करनेकी इच्छा होना भी असंभव है, ध्यानकी इच्छाके विना ध्यान नहीं हो सकता और ध्यानके विना मोक्ष भी नहीं हो सकती तथा सम्यक्त्व, संज्ञा, संज्ञी, वाक्, काय, कर्म, अंतर्व्यायाम, और स्मृति इन आठ अंगोंकी भावना भी नहीं होसकती है, इसलिये जीवको क्षणिक माननेसे भी ध्यान नहीं हो सकता ॥२४४॥ अब चार्वाकमतपर विचार करते हैं चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ नहीं मानता है किंतु पृथ्वी जल तेज वायु इन चारोंके मिलनेसे ही चेतना शक्तिकी उत्पत्ति मानना है, परंतु ऐसा माननेसे चेतना शक्तिरूप शरीर और पुद्गल दोनों एक ही तत्त्व ठहरते हैं पृथक् पृथक् नहीं हो सकते, तथा जीव और पुद्गलको पृथक् पृथक् न माननेसे एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव मानना पडेगा और एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओंका अभाव माननेसे ध्यान करनेवालेकी स्थिति भी नहीं रह सकेगी, अर्थात् ध्यान करनेवालेके स्वरूपका ही निश्चय नहीं हो सकेगा ॥ २४५ ॥ दूसरी वात यह है कि ध्यानकी प्रवृत्ति ध्यानकी इच्छा पूर्वक ही होती है, विना ध्यानकी इच्छाके ध्यानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, चार्वाक मतवाला जीवको पृथक् पदार्थ मानता ही नहीं है इसलिये उसके मतमें ध्यानकी इच्छा ही नहीं हो सकती है क्योंकि इच्छा होना जीवका ही विभाव परिणाम है वह जीवके विना नहीं हो सकता, जब आकाशका पुष्प नहीं है तो उसकी सुगंध अथवा दुर्गंध कल्पना भी नही हो सकती है, इसप्रकार चार्वाकमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४६ ॥ अब विज्ञानवादीका खंडन करते हैं, विज्ञानवादी जगतमें एक विज्ञानको ही मानता है, विज्ञानके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं

न ध्यानं नाध्येयं मोक्ष एव वा । प्रदीपार्कहुताशादौ सत्यर्थे चार्थभासनं ॥ २४८ ॥ नैरात्म्यवादपक्षेपि किंतु केन प्रमीयते । कच्छपागरुहैस्तत्स्यात्खपुष्पापीडबंधनं ॥ २४९ ॥ ध्येयतत्त्वेऽपि नेतव्या विकल्पद्वययोजना । अनादेयाप्रहेयातिशयेऽस्थाज्ञौ न किंचन ॥ २५० ॥ मुक्तात्मनोपिऽ चैतन्यविरहा-

मानता, वह घट पट आदि पदार्थोंको विज्ञानका ही विकार मानता है, परंतु ऐसा माननेसे विज्ञानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान उसीको कहते हैं जो अन्य पदार्थोंको जानें, जब ज्ञानका विषयभूत कोई अन्य ज्ञेय (जिसे ज्ञान जाने) पदार्थ ही नहीं है तब वह किसीको जानेगा भी नहीं और जब वह किसीको नहीं जानेगा तो ज्ञान भी नहीं कहलावेगा ॥ २४७ ॥ तथा विज्ञानवादियोंके मतमें जब ज्ञानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और आत्मा पुद्गल आदिको वह पृथक् पदार्थ मानता नहीं तब उसके मतमें ध्यान ध्येय और मोक्ष आदिकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि पदार्थोंके होते हुये ही उन्हें दीपक, सूर्य वा अग्नि आदि प्रकाश करनेवाले पदार्थ प्रकाशित कर सकते हैं, यदि पदार्थ न माने जायं तो न तो सूर्य वा दीपक किसीको प्रकाशित कर सकते हैं और न उनका नाम प्रकाशक ही पड सकता है इसलिये विज्ञानवादियोंके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २४८ ॥ इसीप्रकार जो आत्माको नहीं मानते ऐसे शून्यवादियोंके मतमें भी ध्यान नहीं बन सकता, क्योंकि जब आत्मा आदि पदार्थ ही नहीं है तब ज्ञान आदि गुण भी नहीं हो सकते तथा ज्ञान आदि गुण और आत्मा आदि पदार्थोंके विना कौन किसको किसके द्वारा जानेगा अर्थात् न तो अनुभव करनेवाला ही है न अनुभव करनेयोग्य पदार्थ हैं और न अनुभव करनेका साधन है, इसलिये उसके ध्यान होना कछुएके वालोंसे आकाशके फूलोंका शेखर बनानेके समान है अर्थात् न तो कछुएके बाल होते हैं और न आकाशका फूल होता है इसलिये उनसे जैसे मुकुट नहीं बन सकता उसीप्रकार शून्यवादीके मतमें ध्यान नहीं बन सकता है ॥ २४९ ॥ इसीप्रकार शून्यवादियोंके

लक्षणक्षते । न ध्येयं कापिलाना स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ॥ २५१ ॥ सुषुप्तसदृशो मुक्त स्यादित्येव ब्रुवाणक । सुषुप्तस्त्येप मूढात्मा ध्येयतत्त्वविचारणे ॥ २५२ ॥ शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यानध्येयनिर्णय । एकांतदोषदुष्टत्वात् द्वैताद्वैतादिवादिना ॥ २५३ ॥ नित्यानित्यात्मकं जीवतत्त्वमभ्युपगच्छता ।

मतमें ध्येय तत्त्व भी नहीं बन सकता है क्योंकि ध्येय तत्वमें दो विकल्प हो सकते हैं एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य, जब शून्यवादीके मतमें कोई पदार्थ ही नहीं है तो उसके मतमें हेय उपादेय कल्पना ही नहीं हो सकती है और हेय उपादेय कल्पनाके विना ध्यान भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार शून्यवादीके मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥२५० ॥ इसीप्रकार सांख्यमतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सांख्यमतमें मुक्त आत्माकास्वरूप चैतन्यरहित माना है, जब मुक्तावस्थामें चैतन्य ही नहीं रहता तो चैतन्यरूप लक्षणके न होनेसे लक्ष्यभूत आत्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती। जिसप्रकार सुगंधि आदि गुणोंके न होनेसे आकाश कमलकी सिद्धि नहीं हो सकती उसीप्रकार चैतन्य रूप विशेष गुणोंके अभाव होनेसे मुक्तात्माकी सिद्धि भी नहीं हो सकती, और मुक्तात्माकी सिद्धि हुये विना ध्येय भी सिद्ध नहीं हो सकता तथा ध्येयके विना ध्यान नहीं बन सकता ॥ २५१ ॥ जिसप्रकार गाढ निद्रामें सोते हुये पुरूषका स्वरूप होता है उसीप्रकार मुक्त आत्माका स्वरूप है ऐसा सांख्यमत कहता है परंतु वह मूर्ख सांख्य जिससमय ध्येय तत्त्वका अर्थात् परमात्माका विचार करता है उस समय स्वयं सो जाता है अर्थात् परमात्माका स्वरूप विचार करते समय उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है ॥ २५२ ॥ इसीप्रकार जो द्वैतवादी हैं अथवा अद्वैतवादी हैं वे सब एकांतरूपीदोषसे दुष्ट हैं अर्थात् सब एकांतको माननेवाले हैं, अनेकांतको माननेवाला कोई नहीं है, इसलिये उन सब मतोंमें न तो ध्यानका ही निर्णय हो सकता है और न ध्येयका ही निर्णय हो सकता है ॥ २५३ ॥ अतएव जीव तत्त्वको नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकारसे मानने-

ध्यान स्याद्वादिनामेव घटते नान्यवादिनां ॥ २५४ ॥ विरुद्धधर्मयोरेकं वस्तु नाधारतां व्रजेत् । इति चेन्नार्पणाभेदादविरोधप्रसिद्धितः ॥ २५५ ॥ नित्यो द्रव्यार्पणाच्चात्मा न पर्यायभिदार्पणात् । अनित्यः पर्ययोत्पादविनाशैर्द्रव्यतो न तु ॥ २५६ ॥ देवदत्तः पिता च स्यात्पुत्रश्चैवार्पणावशात् । विवक्षेतरयोर्योगः स्याद्वस्तुन्युभयात्मनि ॥ २५७ ॥ जिनप्रवचनाभ्यासप्रसरद्बोधसंपदा । युक्तं स्याद्वादिना ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदं ॥ २५८ ॥ जिनो मोहारिविजयादाप्तः

वाले स्याद्वादी अर्थात् जैनमतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है अन्य किसी मतमें भी ध्यानकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ २५४ ॥ कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि एक ही बस्तुमें दो विरुद्ध धर्म किसप्रकार रह सकते हैं अर्थात् जो जीव नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकता है तो उसका उत्तर यह है कि अपेक्षाके भेदसे अर्थात् मुख्यता और गौणताकी अपेक्षासे एक ही पदार्थमें विरुद्ध दोनों धर्म रहते हैं । जैसे जीव तत्त्वमें जब द्रव्यकी मुख्यता करेंगे और पर्यायोंकी गौणता करेंगे तो उससमय उस जीव तत्त्वको नित्य मानना पडेगा क्योंकि द्रव्यका कभी विनाश नहीं होता है किसी न किसी रूपसे वह रहता ही है, तथा उसी नित्य जीवतत्त्वमें जब पर्यायोंकी मुख्यता करते हैं और द्रव्यकी गौणता करते हैं तो उसे अनित्य मानना पडता है, पर्यायोंकी अपेक्षा उसे नित्य नहीं कह सकते क्योंकि उसी जीवतत्त्वकी पर्यायें प्रति समयमें उत्पन्न होती रहती हैं तथा प्रति समयमें नष्ट होती रहती हैं। प्रति समयमें पहिली पर्याय नष्ट होती है और दूसरी उत्पन्न होती है । इसलिये सिद्ध हुआ कि जीवतत्त्व द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है पर्यायकी अपेक्षा नित्य नहीं है, तथा पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है द्रव्यकी अपेक्षा अनित्य नहीं है ॥२५५-२५६॥ इसका उदाहरण यह है कि देवदत्त नामका एक पुरुष पिताकी अपेक्षासे पुत्र है और पुत्रकी अपेक्षासे पिता है, अपेक्षा भेदसे पितृत्व और पुत्रत्व दोनों ही विरुद्ध धर्म उसमें मौजूद हैं, इसीप्रकार प्रत्येक वस्तुमें अपेक्षाके भेदसे नित्यत्वअनित्यत्व, एकत्त्व अनेकत्व, आदि विरुद्ध धर्म भी रहते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप है ॥२५७॥ इसलिये

स्याद्वीतघीमल । वाचस्पतिरसौ वाग्भिः सन्मार्गप्रतिबोधनात् ॥ २५९ ॥ स्यादर्हन्नरिघातादिगुणेरपरगोचरैः । बुद्धस्त्रैलोक्यविश्वार्थबोधनाद्विभ्वभुग्विभुः ॥ २६० ॥ स विष्णुश्च विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयंकरः । शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परममक्षरं ॥ २६१ ॥ इत्यन्वर्थानि नामानि यस्य लोकेशिनः

जैन शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे जिनकी ज्ञानरूपी संपत्ति चारों ओर फैली हुई है ऐसे अनेकांतवादी वा स्याद्वादी ऐसे जैनियोंके मतमें ही ध्यानकी सिद्धि हो सकती है, इस सध्यानकी सिद्धि अन्य किसी मिथ्यामतियोंके मतमें नहीं हो सकती ॥ २५८ ॥ भगवान् अरहंत देवने मोहरूपी परम शत्रुको जीता है इसलिये वे जिन कहलाते हैं, उनके ज्ञानका मल अर्थात् ज्ञानावरण कर्म सब नष्ट हो गया है इसलिये वे आप्त कहलाते हैं तथा उन्होंने अपने वचनोंके द्वारा सर्वश्रेष्ठ ऐसे मोक्षमार्गका उपदेश दिया है इसलिये वे वाचस्पति कहलाते हैं ॥ २५९ ॥ इसके सिवाय जो अन्य किसीमें न पाये जायं ऐसे राग द्वेष आदि शत्रुओंका नाश होना आदि अनेक गुण उनमें पाये जाते हैं इसलिये वे अर्हन् वा अरिहंत कहलाते हैं, वे तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये बुद्ध कहलाते हैं और उनका ज्ञान समस्त अनंत आकाशमें व्याप्त है इसलिये वे विभु कहलाते हैं ॥ २६० ॥ इसीप्रकार वे भगवान ज्ञानके द्वारा व्यापक अर्थात् सर्वज्ञ होनेसे विष्णु कहलाते हैं, कर्मोंको जीतलेनेसे विजिष्णु कहे जाते हैं, सबको सुख देनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं, सब जीवोंको अभय देते हैं इसलिये अभयंकर कहे जाते हैं, सबका कल्याण करते हैं इसलिये शिव कहलाते हैं, आदि अंतरहित हैं इसलिये सनातन कहलाते हैं, करनेयोग्य सब काम करचुके हैं इसलिये सिद्ध कहे जाते हैं, सब पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले और अविनश्वर हैं इसलिये अविनाशीक परम ज्योतिस्वरूप कहलाते हैं, ॥२६१॥ इसप्रकार जिस त्रैलोक्यनाथ प्रभुके अनेक सार्थक नाम हैं वही अरहंतदेव विद्वान् पुरुषोंके हृदयमें आप्तबुद्धिको उत्पन्न कर सकता है अर्थात् विद्वान् पुरुष ऐसे अरिहंत देवको ही आप्त मान सकते हैं

प्रभो । विदुषा हृदयेष्वासबुद्धिं कर्तुमल तरा ॥ २६२ ॥ यस्य रूपमधिज्योतिरनबरविभूषण । शास्ति कामज्वरापायमकटाक्षनिरीक्षण ॥ २६३ ॥ निरायुधत्वान्निर्धूतभयकोपमकोपनात् । अरक्तनयन सौम्य सदा प्रहसितायित ॥ २६४ ॥ रागाद्यशेषदोषाणा निर्जयादतिमानुष । मुखाब्ज यस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः ॥ २६५ ॥ स एवाप्तो जगद्व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः । तदुपज्ञमतो ध्यान श्रेय श्रेयोऽर्थिनामिद ॥ २६६ ॥ इति गदति गणेंद्रे ध्यानत-

---

अन्य किसी दूसरेको नहीं ॥ २६२ ॥ जिसका रूप वस्त्र और आभूषणोंसे रहित प्रकाशमय अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, तथा जिसका कटाक्ष रहित देखना कामरूपी ज्वरके अभावको सूचित करता है अर्थात् जो कामके विकारोंसे सर्वथा रहित है ॥ २६३ ॥ जिसके हाथमें कोई किसी प्रकारका आयुध (शस्त्र) नहीं है इसलिये जिसका रूप भय और क्रोध रहित है तथा क्रोधका अभाव होनेसे जिसके नेत्र लाल भी नहीं है और जिसका रूप सदा सौम्य (शांत) और आनंदमय है ॥ २६४ ॥ जिसने रागद्वेष आदि समस्त दोष जीतलिये हैं इसलिये जिसका मुखकमल अमानुषिक भावको अर्थात् परम पुरुषके भावको दिखलाता है, तथा जिसका वही मुखकमल विद्वान लोगोंको शासकत्वका उपदेश देता है अर्थात् विद्वान्‌लोग जिसका मुखकमल देखकर ही जानलेते हैं कि यह परमदेव अवश्य ही सबका गुरु वा शिक्षक अथवा शासन करनेवाला है ॥ २६५ ॥ इसके सिवाय जिसके ज्ञान और वैराग्यकी विभूति समस्त संसारमें व्याप्त है ऐसा जो अरंहतदेव है वही आप्त कहलाता है, इसलिये ऐसे आप्तने जो यह ध्यानका स्वरूप कहा है वही कल्याण चाहनेवालोंको कल्याणका मार्ग समझना चाहिये ॥ २६६ ॥ इसप्रकार जब अनेक बडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाले गौतम गणधरदेवने मुनियोंकी उस समवसरणरूप सभामें ध्यानका स्वरूप कहा तब उसे सुनकर परम भक्तिको धारण करनेवाले वे मुनिराज बहुत ही संतुष्ट हुये, और जिसप्रकार सूर्यकी किरणोंके संयोगसे कमलोंके समूह प्रफुलित हो जाते हैं उसीप्रकार उन मुनियोंका शरीर परम आनंदसे रोमांचित होगया

स्व महर्द्धौं मुनिसदसि मुनीद्राः प्रातुषन्भक्तिभाजः । वनपुलकितमूहुर्गात्रमाविर्मुखाब्जं दिनकरकरयोगादाकराबाबुजानां ॥ २६७ ॥ स्तुतिमुखरमुखास्ते योगिनो योगिमुख्यं क्षणमिव जिनसेनाधीश्वरं त प्रणुत्य । प्रणिदधुरथ चेतः श्रोतुमार्हंत्यलक्ष्मीं समधिगतसमग्रज्ञानधाम्नः स्वधाम्न. ॥ २६८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे ध्यानतत्त्वानुवर्णनं नाम एकविंश पर्व.

था और उनका मुखकमल खूब प्रफुल्लित होगया था ॥ २६७ ॥ स्तुति करनेसे जिनके मुख वाचालित हो रहे हैं अर्थात् जो अनेकप्रकारकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे उस समवसरणमें विराजमान मुनियोंने समस्त योगियोंमें मुख्य और जिनसेनके स्वामी अथवा श्री जिनेंद्रदेवकी जो चारप्रकारकी संघरूप सेना है उसमें जो अधीश्वर अर्थात् स्वामी हैं ऐसे उन गौतम गणधरको थोडी देरतक नमस्कार किया और फिर सबने जिनको समस्त ज्ञानरूपी तेज प्राप्त हुआ है और जो अपने आत्मामें ही स्थिर हैं ऐसे श्री वृषभदेव भगवानकी अरहंत पदकी विभूतिके सुननेकेलिये एकाग्र चित्त किया ॥२६८॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें ध्यानतत्त्वका निरूपण करनेवाला यह इक्कीसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ द्वाविंशं पर्व।

अथ घातिजये जिष्णोरनुष्णीकृतविष्टपे। त्रिलोक्यामभवत्क्षोभ कैवल्योत्पत्तिवात्यया ॥ १॥ तदा प्रक्षुभिताम्भोधिवेलाध्वानानुकारिणी । घंटा मुखरयामास जगत् कल्पामरेशिना ॥ २ ॥ ज्योतिर्लोके महान् सिंहप्रणादोऽभूत्समुत्थित । येनाशु विमदीभावमवापन् सुरवारणा ॥ ३ ॥ दध्वान ध्वनदम्भोदध्वनि-तानि तिरोदधत् । वैयतरेपु गेहेषु महानानकनि.स्वन· ॥ ४ ॥ शख ग खेचरै सार्द्ध यूयमेत जिघृक्षव· । इतीव वोपयन्नुच्चै फणींद्रभवनेऽध्वनत् ॥ ५ ॥ विष्टराण्यमरेशानामशनै· प्रचकम्पिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढु जिनजयोत्सवे ॥ ६ ॥ पुष्करैः स्वैरथोत्क्षिप्तपुष्करार्घाः सुरद्विपाः । ननृतु पर्व-

---

अथ वाईसवां पर्व

अथानंतर—भगवान वृषभदेवके जब घातिया कर्मोंका नाश होगया तब समस्त संसारका संताप नाश होगया और केवलज्ञानके उत्पन्न होनेरूप महा वायुके समूहसे तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न हो-गया ॥ १ ॥ उससमय जिसप्रकार क्षुब्ध हुये समुद्रकी लहरें शब्द करती हैं उसीप्रकार कल्पवासी दे-वोंके विमानोंमें अपने आप बजता हुआ घंटा संसारको वाचालित कर रहा था ॥ २ ॥ ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें सिंहनादका शब्द हो रहा था जिसे सुनकर ऐरावत हाथी भी बहुत शीघ्र मदरहित हो गये थे ॥ ३ ॥ व्यंतर देवोंके आवासोंमें बडे २ नगाडोंके शब्द होने लगे थे और वे ऐसे थे जो गर्जते हुये वादलोंके शब्दोंको भी नीचा दिखाते थे ॥ ४ ॥ " भो पृथ्वीमें रहनेवाले भवनवासी देव हो ! तुम भी कल्पवासियोंके साथ २ भगवानके उत्सव देखनेसे उत्पन्न हुये सुखको ग्रहण करनेकेलिये चलो " इसप्रकार घोषणा करता हुआ शंख भवनवासियोंके भवनमें अपने आप शब्द करने लगा था ॥ ५ ॥ उसीसमय समस्त इंद्रोंके आसन कंपायमान होगये थे मानों भगवानको घातिया कर्मोंके जीतलेनेसे जो अहंकार हुआ है उसे सहन न कर सकनेके कारण ही चलायमान हुये हों, (भगवान यद्यपि निरहंकार हैं अठारह दोषोंसे रहित हैं तथापि उत्प्रेक्षासे यहां ऐसा कहा गया है) ॥ ६ ॥

तोदग्रा महाहिमिरिवाद्रय. ॥ ७ ॥ पुष्पाजलिमिवातेनुः समतात्सुरभूरुहाः । चलच्छाखाकरैर्दीर्घैर्विगलत्कुसुमोत्करै ॥ ८ ॥ दिशः प्रसत्तिमासेदुर्वभ्राजे व्यभ्रमंवर । विरजीकृतभूलोक. शिशिरो मरुदाववौ ॥ ९ ॥ इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद्भुवनोदरे । केवलज्ञानपूर्णेंदुर्जगदाब्धिमवीवृधत् ॥ १० ॥ चिन्हैर-मीभिरह्नाय सुरेंद्रोऽवोधि सावधि । वैभव भुवनव्यापि वै भवध्वसि वैभव ॥ ११ ॥ अथोत्थायासनादाशु प्रमोदं परमुद्वहन् । तद्भरादिव नम्रोऽभून्नतमूर्द्धा शचीपतिः ॥ १२ ॥ किमेतदिति पृच्छन्तीं पौलोमीमतिसभ्रमात् । हरि प्रबोधयामास विभो कैवल्यसभवं ॥ १३ ॥ प्रयाणपटहपून्चैः प्रध्वनत्सु

जिन्होंने पूजा करनेकेलिये कमल पकडकर अपनी सूंड ऊंचेको उठाई है ऐसे पर्वतके समान ऊंचे २ हाथी अपनी २ सूंड उठाकर नृत्य कर रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों वडे २ सर्पों-सहित पर्वत ही नृत्य कर रहे हों ॥ ७ ॥ उससमय कल्पवृक्षों की लंवी लंवी शाखाओंसे पुष्पोंके स-मूह गिर रहे थे जिनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानको पुष्पांजलि ही अर्पण कर रहे हों ॥ ८ उससमय दिशायें सव प्रसन्न (साफ) हो रही थीं, आकाश विना वादलोंके निर्मल सुशोभित हो रहा था और जिसने समस्त पृथ्वीलोककी धूल नष्ट कर दी है ऐसा शीतल वायु वह रहा था ॥ ९ ॥ इसप्रकार संसारमें अकस्मात् आनंद उत्पन्न करता हुआ केवलज्ञान रूपी पूर्ण चंद्रमा संसार-रूपी समुद्रको वढा रहा था अर्थात् आनंदित कर रहा था ॥ १० ॥ अवधिज्ञानको धारण करनेवाले इंद्रने इन सर्व चिन्होंसे संसारमें व्याप्त हुई, संसारका नाश करनेवाली और संसारका नाशकर उत्पन्न हुई ऐसी भगवानकी केवलज्ञानरूपी विभूतिको वहुत शीघ्र जान लिया ॥ ११॥ तदनंतर अत्यंत आ-नंदित होता हुआ वह इंद्र वहुत शीघ्र अपने आसनसे उठा और मानों उस आंनदके वोझसे ही जि-सका मस्तक नवगया है ऐसे उस प्रथम स्वर्गके इंद्रने वहींसे भगवानको नमस्कार किया ॥ १२ ॥ इंद्रानीने उससमय वडे आश्चर्यसे पूछा कि यह क्या है तव इंद्रने भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका शुभ समाचार उसे भी समझाया ॥१३॥ उसीसमय जोर २ से गमन करनेकी सूचना देनेवाले, वडे २

शताध्वर । भर्तुः कैवल्यपूजायै निश्चक्राम सुरैर्वृतः ॥ १४ ॥ ततो बलाहकाकारं विमानं कामकाह्वयं । चक्रे बलाहको देवो जंबूद्वीपप्रमान्वितं ॥ १५ ॥ मुक्तालंबनसंशोभि तदाभाद्रत्ननिर्मितं । तोषात्प्रहासमातन्वदिव किंकिणिकास्वनैः ॥ १६ ॥ शारदाभ्रमिवादभ्रं श्वेतिताखिलदिग्मुखं । नागदत्ताभियोग्येशो नागमैरावतं व्यधात् ॥ १७ ॥ ततस्तद्विक्रियारब्धमारूढो दिव्यवाहनं । हरिवाहः सहैशानः प्रतस्थे सपुलोमजः ॥ १८ ॥ इंद्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषदामराः । सात्मरक्षजगत्पालाः सानीकाः सप्रकीर्णकाः ॥ १९ ॥ पुरः किल्विषिकेपूच्चैरातन्वत्स्वानकस्वनान् । स्वैरं स्वैर्वाहनैः शक्रं व्रजतमनुवव्रजुः ॥२०॥

बाजे बजने लगे और इसप्रकार सब देवोंके साथ २ इंद्र भगवानके केवलज्ञानकी पूजा करनेके-लिये निकला ॥ १४ ॥ उसीसमय बलाहक देवने एक कामक नामका विमान बनाया जोकि जंबूद्वीपके समान बडा था और जिसका आकार बादलोंके आकारके समान था ॥ १५ ॥ वह विमान रत्नोंका बना हुआ था, उसपर चारों ओर मोतियोंकी मालायें लटक रही थीं जिनसे वह बहुत ही अच्छा जान पडता था, उसमें जो किंकिणियोंके (छोटी २ घंटियोंके) शब्द हो रहे थे उससे वह ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर हंस रहा ही हो ॥ १६ ॥ अभियोग्य जातिके देवोंमें मुख्य ऐसे नागदत्त नामके देवने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे एक ऐरावती हाथी बनाया, वह हाथी बहुत बडा था शरदऋतुके बादलोंके समान सफेद था और उसकी सफेदीसे सब दिशायें सफेद हो गईं थीं ॥ १७ ॥ तदनंतर इंद्र अपनी इंद्राणी और ऐशान इंद्रके साथ साथ विक्रिया ऋद्धिसे बने हुये उन दिव्य सवारियोंपर सवार होकर निकला ॥ १८ ॥ सबसे आगे किल्विषिक जातिके देव जोर जोरसे नगाडे बजाते जाते थे और उनके पीछे इंद्र, सामानिक त्रायस्त्रिंश, पारिषद आत्मरक्ष, लोकपाल अनीक प्रकीर्णक जातिके देव अपने २ वाहनोंपर सवार हुये इच्छानुसार सौधर्म इंद्रके पीछे २ चले जा रहे थे ॥१९-२०॥ इसीप्रकार देवोंकी सेना भी बडे ठाठसे जा रही थी, उसमें अप्सरायें नृत्य करती जाती थीं, गंधर्वजातिके देव बाजे बजाते जाते थे और किन्नरी जातिकी देवियां गीत गाती जा रहीं थीं ॥ २१ ॥

अप्सरस्सु नटतीपु गन्धर्वातोद्यवादनै । किन्नरीपु च गायत्सु चचाल सुरवाहिनी ॥ २१ ॥ इन्द्रादीनामथैतेषां लक्ष्म किंचिदनूद्यते । इंदनादणिमाद्यैश्च गुणैरिंद्रो ह्यनन्यजे ॥ २२ ॥ आज्ञैश्वर्याद्विनाऽन्यैस्तु गुणैरिंद्रेण संमिता । सामानिका भवेयुस्ते शक्रेणापि गुरूकृताः ॥ २३ ॥ पितृमातृगुरुप्रख्याः समतास्ते सुरेशिना । लभते सममिंद्रैश्च सत्कारं मान्यतोचितं ॥ २४ ॥ त्रायस्त्रिंशास्त्रयस्त्रिंशदेव देवाः प्रकीर्तिताः । पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां सदृशास्ते दिवौ-शिना ॥ २५ ॥ भवाः परिषदीयास्सुरा पारिषदाह्वयाः । ते पीठमर्दसदृशाः सुरेंद्रैरतिलालिताः ॥ २६ ॥ आत्मरक्षं शिरोरक्षसमानाः प्रोद्यतासयः ।

अब यहांपर प्रसंगपाकर इंद्र आदि दशप्रकारके देवोंका थोडा थोडा लक्षण लिखदेते हैं, अन्य देवोंमें न पाये जायं ऐसे अणिमा महिमा आदि गुणोंसे जो अतिशय ऐश्वर्यको प्राप्त हो उसे इंद्र कहते हैं ॥ २२ ॥ जिनमें आज्ञा और ऐश्वर्यके विना अन्य सब गुण इंद्रके समान हैं और जिन्हें इंद्र भी बडा करके मानता है उन्हें सामानिक जातिके देव कहते हैं, ये सामानिक जातिके देव इंद्रके माता पिता और गुरुके समान गिने जाते हैं और उनके बडप्पनके अनुसार अन्यदेव भी इंद्रके समान ही उनका आदरसत्कार करते हैं ॥ २३-२४ ॥ इंद्रोंके पुरोहित मंत्री और अमात्योंके समान जो गिनतीके तेतीस देव होते हैं उन्हें त्रायस्त्रिंश कहते हैं ॥ २५ ॥ जो इंद्रकी सभामें सदा उपस्थित रहें उन्हें पारिषद कहते हैं, ये पारिषद जातिके देव इंद्रके मित्र समान होते हैं और इंद्र उनपर बहुत ही प्रेम रखता है ॥ २६ ॥ जो देव अंगरक्षकके समान हाथोंमें तलवार लेकर तथा हाथोंको ऊंचाकर सदा इंद्रके पास खडे रहते हैं उन्हें आत्मरक्षक कहते हैं, यद्यपि इंद्रको कुछ भय नहीं है तथापि इंद्रकी विभूति और माहात्म्य दिखानेकेलिये ये देव सदा इंद्रके आस पास ही फिरा करते हैं ॥ २७ ॥ जो कोटपालके समान स्वर्गलोककी रक्षा करनेवाले हैं उन्हें लोकपाल कहते हैं, लोकपालोंके विमान भी स्वर्गलोकके अंतमें ही हैं, और सेनाके समान जो पियादे आदि सातप्रकारके देव होते हैं उन्हें अनीक कहते हैं, हाथी, घोडे, रथ, पियादे, बैल, गंधर्व और नृत्य करनेवाली देवियां यह सातप्रकारकी देवों-

विभवायैव पर्यतात्पर्यटत्यमरोशिना ॥ २७ ॥ लोकपालास्तु लोकातपालका दुर्गपालवत् । पदात्यादीन्यनीकानि दडकल्पानि सप्त वै ॥ २८ ॥ पौरजानपदप्रख्या. सुरा ज्ञेया. प्रकीर्णका । भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमा ॥ २९ ॥ मता॰ किल्विषमरल्पेपामिति किल्विषिकामरा । बाह्याः प्रजा इव स्वर्गे स्वल्पपुण्योदितर्द्धय॰ ॥ ३० ॥ एकैकस्मिन्निकाये स्युर्दशभेदाः सुरा इमे । व्यन्तरा ज्योतिपस्त्रायस्त्रिंशलोकपवर्जिता. ॥ ३१ ॥ ऐद्रस्तम्बेरम कीदृगिति चेत्सोऽनुवर्ण्यते । तुगवंशो महावर्ष्मा सुवृत्तोन्नतमस्तक ॥ ३२ ॥ बह्वाननो बहुरदो बहुदोर्विपुलासन. । लक्षणैर्व्यजनैर्युक्त॰ सात्विको जवनो बली

की सेना होती है ॥ २८ ॥ नगर किंवा देशोंमें रहनेवाले लोगोंके समान जो विमानोंमें रहनेवाले साधारण देव हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं, और जो नौकर चाकरोंके समान दासकर्म करनेमें नियुक्त हैं वे आभियोग्य कहलाते हैं ॥ २९ ॥ जिनके पाप कर्मका उदय हो ऐसे चांडालोंके समान देवोंको किल्विषिक कहते हैं, जिसप्रकार चांडाल शहरसे बाहर रहते हैं उसीप्रकार किल्विषिक जातिके देव भी बाहर रहते हैं, उनका पुण्य भी थोडा है इसलिये उनके ऋद्धियां भी बहुत थोडी होती हैं ॥ ३० ॥ इसप्रकार प्रत्येक निकायके देवोंमें ऊपर लिखे हुये इंद्र सामानिक आदि दश भेद होते हैं, परंतु व्यंतर और ज्योतिष्क जातिके देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जातिके देव नहीं होते, भावार्थ—व्यंतर और ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद ही होते हैं ॥ ३१ ॥ अब इंद्रके ऐरावत हाथीका वर्णन करते हैं, उसका वंश अर्थात् पीठपरकी हड्डी (रीढ) बहुत ऊंची थी, शरीर बहुत बडा था, मस्तक सुगोल और ऊंचा था ॥ ३२ ॥ उसके अनेक मुख, अनेक दांत और बहुतसी सूंडें थीं, मस्तक बहुत बडा था, उसपर अनेक बडे २ शुभ चिन्ह और अनेक छोटे २ शुभ चिन्ह थे. वह शक्तिशाली, शीघ्र गमन करनेवाला, बलवान् ॥ ३३ ॥ इच्छानुसार चाहे जहां गमन करनेवाला, इच्छानुसार चाहे जैसा रूप धारण करनेवाला और अतिशय शूरवीर था, उसके कंधे अतिशय गोल थे, संस्थान समचतुरस्र अर्थात् समान आकार था, शरीरका बंधन अति मनोहर था,

॥ ३३ ॥ कामग. कामरूपी च शूर' सद्वृत्तकधरः । समः सवंधनो धुर्यो मधुस्निग्धरदेक्षणः ॥ ३४ ॥ तिर्यग्लोलायतस्थूलक्रमवृत्तर्जुसत्कर. । स्निग्धताम्रपृथुस्त्रोतोदीर्घागुलिसपुष्कर ॥ ३५ ॥ वृत्तगात्रापर स्थेयान्दीर्घमेहनवालधि । व्यूढोरस्को महाध्वानकर्ण. सत्कर्णपल्लव. ॥ ३६ ॥ अर्द्धेंदुनिभसुश्लिष्टविद्रुमाभानखोत्कर । सच्छायस्ताम्रताल्वास्यः शैलोदग्रो महाकट ॥ ३७ ॥ वराहजघन श्रीमान्दीर्घोष्ठो दुदुभिस्वन. । मुगाधिर्दीर्घनि.श्वास. सोऽमितायुः कृतादर. ॥ ३८ ॥ अन्वर्थवेदी कल्याण कल्याणप्रकृतिः शुभ' । अयोनिज सुजातश्च समधा सुप्रतिष्ठित. ॥ ३९ ॥ मदनिर्झरसमिक्तकर्णचा-

---

वह सेनामें धुरंधर था, उसके दांत और नेत्र दोनों ही मनोहर और चिकने थे ॥ ३४ ॥ उसकी उत्तम सूंड नीचेकी ओर तिरछी लटकती हुई, चंचल, लंबी, मोटी तथा अनुक्रमसे पतली होती हुई गोलाकार और सरल थी, सूंडका अग्रभाग चिकना और लाल, था, उसमें बडे २ छेद थे और बडी २ दो उंगलियोंके समान चिन्ह थे ॥ ३५ ॥ उसके शरीरका पिछला भाग गोल था, वह हाथी अत्यंत गंभीर और स्थिर था, शरीरके अनुसार उसकी पूंछ और लिंग भी बडा था, उसका वक्षःस्थल बहुत मजबूत था, उसके कानोंके शब्द दूरतक सुने जाते थे, तथा उसके कर्णरूपी कोमल पत्ते बहुत मनोहर थे ॥ ३६ ॥ उसके नखोंके समूह आधे चंद्रमाके समान मजबूतीसे जडे हुये थे और उनकी कांति मूगाके समान कुछ २ लाल पड रही थी, उसकी छाया भी बहुत अच्छी थी, उसका मुख और तालु लाल थे, वह पर्वतके समान ऊंचा था और उसके कपोल बहुत बडे थे ॥ ३७ ॥ वह अत्यंत शोभायमान था, उसके जघन सूअरके समान थे, ओठ बहुत बडे थे, उसका शब्द दुंदुभिके समान गंभीर था, उच्छ्वास दीर्घ और सुगंधित था, आयु बहुत बडी थी और उसका सबकोई आदर सत्कार करते थे ॥ ३८ ॥ वह यथार्थ शब्दार्थका जाननेवाला था, देखने और स्पर्श करनेमें मंगलरूप था, उसका स्वभाव शुभ था, वह स्वयं मंगलस्वरूप था, अयोनिज अर्थात् विना योनिके उत्पन्न हुआ था, उसकी जाति सबसे उत्तम थी और वह सातप्रकारकी प्रतिष्ठासे प्रसिद्ध था अर्थात् पराक्रम, तेज,

मरलविनी. । मदश्रुतीरिवाविभ्रदपरा. पट्पदावली ॥ ४० ॥ मुखैर्बहुभिराकीर्णो गजराज. स्म राजते । सेव्यमान इवायातैर्भक्त्या विश्वैरनेकपै ॥ ४१ ॥ अशोकपल्लवाताम्रतालुच्छायाछलेन य. । वमन्मुहुरिवारुच्यात्पल्लवान्कवलीकृतान् ॥ ४२ ॥ मृदगमन्द्रनिर्घोषै' कर्णतालाभिताडनै । सालिवीणारुतैर्हृद्यैरारब्धातोद्यविभ्रम. ॥ ४३ ॥ कर सुदीर्घनि श्वास मदवेणीं च यो वहन् । सनिर्झरस्य सगयोर्बिभर्ति स्म गिरे' श्रिय ॥ ४४ ॥ दताल्ग्नैर्मृणालैर्यो राजते

बल, शूरता, शक्ति संहनन और वेग ये सातों ही उत्तमगुण उसमें विद्यमान थे ॥३९॥ उसके कर्णरूपी चमरोंपर जो भ्रमरोंकी पंक्तियां वैठी हुई थीं वे सव उसके गंडस्थलसे निकलते हुये मदके निर्झरनेसे भीग गई थीं और इसलिये वे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों मदकी दूसरी धारा ही हो ॥ ४० ॥ इसप्रकार अनेक मुखोंसे सुशोभित वह गजराज ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भक्तिपूर्वक आये हुये संसारके समस्त हाथी उसकी सेवा ही कर रहे हों ॥ ४१ ॥ अशोक वृक्षके नवीन लाल पत्तोंके समान उसका तालु था जिससे वह हाथी ऐसा जान पडता था मानों वह उस लाल तालुकी छायाके वहानेसे खाये हुये नवीन पत्तोंको अच्छे न लगनेके कारण वार वार वमन ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ उसके कर्णरूपी तालोंकी ताडनासे मृदंगके समान गंभीर शब्द हो रहा था और उसीके साथ साथ वहांपर वैठे हुये भ्रमरोंका वीणाके समान मनोहर शब्द होता था जिससे ऐसा जान पडता था मानों उस हाथीने वाजा वजाना ही प्रारंभ किया हो ॥ ४३ ॥ जिसमेंसे दीर्घ निश्वास निकल रहा है ऐसी उसकी सूंड थी और गंडस्थलोंसे मदकी धारा वह रही थी, इन दोनोंसे उस हाथीकी शोभा ऐसी जान पडती थी मानों निर्झरने और सर्पसहित कोई पर्वत ही हो ॥ ४४ ॥ उसके दांतोंमें जो बहुत लंबे कमलके तंतु लग रहे थे उनसे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों चंद्रमाके टुकडोंके समान निर्मल ऐसी दांतोंकी किरणोंसे ही सुशोभित हो रहा हो, भावार्थ—दांतोंमें लगे हुये कमलके तंतु दांतोंकी किरणोंके समान जान पडते थे ॥ ४५ ॥ वह सुंदर हाथी एक सरोवर

समायतैर्भृश । प्रारोहैरिव दंतानां शशांकशकलामलैः ॥ ४५ ॥ पद्माकर इव श्रीमान्दधानः पुष्कराश्रियं । कल्पद्रुम इव प्राशुर्दानार्थिभिरुपासित. ॥ ४६ ॥
रेजे सहैमकक्ष्योऽसौ हेमवल्लीवृताद्रिवत् । नक्षत्रमालयाऽक्षिप्तशरदभ्रविभ्रमः ॥ ४७ ॥ ग्रैवेयमालया कंठं स वाचालितमुद्वहन् । पक्षिमालावृतस्याद्रिनितंबस्य
श्रियं दधौ ॥ ४८ ॥ घटाद्वयेन रेजेऽसौ सौवर्णेन निनादिना । सुराणामवबोधाय जिनार्चामिव घोषयन् ॥ ४९ ॥ जंबूद्वीपविशालोरुकायश्री ससरोव-

के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार सरोवर पुष्कर अर्थात् कमलोंकी शोभाको धारण करता है उसीप्रकार वह हाथी भी पुष्कर अर्थात् सूंडके अग्रभागकी शोभाको धारण करता था, अथवा वह हाथी एक ऊंचे कल्पवृक्षके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दान ग्रहण करनेवाले याचक लोग कल्पवृक्षकी उपासना करते हैं उसीप्रकार दान अर्थात् मद ग्रहण करनेवाले भ्रमर उस हाथीकी उपासना कर रहे थे अर्थात् बहुतसे भ्रमर उस हाथीके गंडस्थलोंपर बैठे हुये थे ॥४६॥ उसके गलेमें सुवर्णकी सांकल लटक रही थी जिससे वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सुवर्णमयी लतासे ढका हुआ पर्वत ही हो। तथा उसके गलेमें नक्षत्रमाला नामकी माला पडी हुई थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र मालाओंसे सुशोभित शरदृतुका बादल ही हो ॥ ४७ ॥ उसके गलेमें कंठाभरण पडा हुआ था जोकि मस्तक हिलानेसे रुणझुण शब्द कर रहा था उससे वह हाथी ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पक्षियोंकी पंक्तियोंसे घिरा हुआ पर्वतका नितंवभाग अर्थात् शिखरके नीचेका प्रदेश ही हो ॥ ४८ ॥ उस हाथीपर सुवर्णके दो घंटा शब्द कर रहे थे जिनसे वह ऐसा जान पडता था मानों देवोंको जाननेकेलिये भगवानकी पूजाकी घोषणा ही कर रहा हो ॥ ४९ ॥ वह हाथी ठीक जंबूद्वीपकी शोभा धारण करता था क्योंकि जंबूद्वीपके समान ही बहुत बडा उसका स्थूल शरीर था और बहुतलंबे ऐसे उसके दांत ही कुलपर्वतोंके समान सुशोभित थे तथा कुलपर्वतोंपर जिसप्रकार सरोवर होते हैं उसीप्रकार उसके दांतोंपर भी एक एक सरोवर

रान् । कुलाद्रीनिव वभ्रेऽसौ रदानायामशालिन ॥ ५० ॥ श्वेतिम्ना वपुषः श्वेतद्वीपलक्ष्मीमुवाह सः- । चलत्कैलासशैलाभः प्रक्षरन्मदनिर्झरः ॥ ५१ ॥ इति व्यावर्णितारोहपरिणाहचतुर्गुण । गजानीकेश्वरश्चक्रे मैहैरावतदंतिन ॥ ५२ ॥ तमैरावणमारूढः सहस्राक्षोऽद्युतत्तरा । पद्माकर इवोत्फुल्लपंकजो गिरिमस्तके ॥ ५३ ॥ द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्यास्य च रदाष्टक । सर. प्रतिरद तस्मिन्नब्जिन्येका सरःप्रति ॥ ५४ ॥ द्वात्रिंशत्प्रसवास्तस्या तावत्प्रमितपत्रकाः । तेष्वायतेषु देवाना नर्तक्यस्तत्प्रमा पृथक् ॥ ५५ ॥ नृत्यति सलय स्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रुव. । पश्यच्चित्तद्रुमेषूच्चैर्न्यस्यत्यः प्रमदाकुरान् ॥ ५६ ॥ तासा

था ॥५०॥ उसका शरीर श्वेत था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों श्वेत द्वीपकी शोभा ही धारण कर रहा हो, अथवा मदरूपी पानीके निर्झरने जिससे वह रहे हैं ऐसा चलते हुये कैलास पर्वतके समान जान पडता था ॥ ५१ ॥ इसप्रकार शोभा सहित एक लाख योजन लंबा पच्चीस हजार योजन ऊंचा ऐसा ऐरावत हाथी गज जातिकी सेनाके नायकने निर्मापण किया ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतके मस्तकपर फूलेहुये कमलोंसे सुशोभित सरोवर अच्छा लगता है उसीप्रकार उस ऐरावत हाथीपर चढा हुआ इंद्र भी बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ ५३ ॥ उस ऐरावत हाथीके बत्तीस मुख थे, प्रत्येक मुखमें आठ आठ दांत थे (सब ३२×८=२५६ दांत थे) एक एक दांतपर एक एक सरोवर था, एक एक सरोवरमें एक एक कमलिनी अर्थात् कमलकी लता थी अर्थात् २५६ दांतोंपर २५६ सरोवर और २५६ ही कमलिनियां थीं, एक एक कमलिनीपर बत्तीस बत्तीस कमल थे सब मिलकर २५६×३२=८१९२ कमल थे, एक एक कमलमें बत्तीस बत्तीस दल (पखुरियें) थे अर्थात् सब मिलकर ८१९२×३२=२६२१४४ दल थे और एक एक दलपर एक एक अप्सरा नृत्य कर रही थीं, इसप्रकार सब २६२१४४ अप्सरायें नृत्य कर रहीं थीं ॥५४-५५॥ जिनके मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं तथा जिनकी भोहें बहुत सुंदर हैं और जो देखनेवालोंके चित्त रूपी वृक्षोंमें आनंदके अंकूरे अर्थात् रोमांच उत्पन्न करती

भाषाटीकामें एक एक दलपर बत्तीस २ अप्सरायें नृत्य कर रही थीं ऐसा अर्थ लिखा है। अर्थात् तत् शब्दसे ३२ सख्या ली है। ऐसा अर्थ करनेसे २६२१४४×३२=८३८८६०८ अप्सराओं की सख्या होती है।

सहास्यश्रृंगाररसभावलयान्वित । पर्यंतः कैशिकीप्राय नृत्त पिप्रियिरे सुराः ॥ ५७ ॥ प्रयाणे सुरराजस्य नेटुरप्सरसः पुरः । रक्तकंठाश्च किन्नर्यो जगुर्जिनपतेर्जय ॥ ५८ ॥ ततो द्वात्रिंशदिंद्राणा पृतना बहुकेतनाः । प्रससुर्विलसच्छत्रचामरा· प्रततामराः ॥ ५९ ॥ अप्सर.कुकुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके । तद्वक्त्रपंकजच्छन्ने लसत्तनयनोत्पले ॥ ६० ॥ नभ.सरसि हारांशुस्वच्छवारिणि हारिणि । चलतश्चामरापीडा हसायंते स्म नाकिना ॥ ६१ ॥ इद्रनीलमया-

हैं ऐसी वे अप्सरायें ताल और लयके साथ नृत्य कर रहीं थीं ॥५६॥ उन अप्सराओं का हास्य, श्रृंगाररस, भाव और लय सहित जो लज्जासहित श्रृंगाररससे भराहुआ नृत्य था उसे देखते हुये देवलोग बडे ही प्रसन्न हो रहे थे ॥५७॥ उससमय इंद्रके प्रयाण (गमन) करते समय इंद्रके सामने अप्सरायें नृत्य कर रही थीं और जिनके कंठ लाल हो रहे हैं ऐसी किन्नरी जातिकी देवियां भगवानका यशोगान कर रहीं थीं ॥५८॥ तदनंतर छत्र चमरोंसे सुशोभित और जिसमें चारोंओर देव ही देव फैले हुये हैं तथा जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं हैं ऐसी बत्तीस इंद्रोंकी सेना चारोंओर फैल गईं थीं, कल्पवासियोंके बारह, भवनवासियोंके दश, व्यंतरोंके आठ और ज्योतिषियोंके दो इसप्रकार मुख्यरीतिसे बत्तीस इंद्र होते हैं ॥५९॥ उससमय आकाश एक सरोवरके समान जान पडता था क्योंकि उसमें कुंकमसे लाल हुये अप्सराओंके कुचरूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोडे निवास कर रहे थे, वह आकाशरूपी सरोवर उन अप्सराओंके मुख रूपी कमलोंसे ढका हुआ था उसमें अप्सराओंके नेत्र रूपी कमल सुशोभित हो रहे थे और उनके हारोंकी किरणें ही मनोहर और स्वच्छ जल भरा हुआ था, ऐसे उस आकाशरूपी सरोवरमें उन देवोंपर ढुलते हुये चमरोंके समूह ठीक हंसोके समान जान पडते थे ॥ ६०-६१ ॥ कहीं कहीं पर वह आकाश इंद्रनील मणिके बने हुये देवोंके आभूषणोंकी कांतिसे व्याप्त हो रहा था और स्वच्छ की हुई तलवारके समान देदीप्यमान हुआ वह आकाश अपनी निराली ही शोभा धारण कर-रहा था ॥ ६२ ॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंसे व्याप्त हुआ वह कुछ कुछ लाल आकाशतल ऐसा

हार्यरुचिभिः क्वचिदाततं । स्वामाभा विभरामास धौतासिनिभमंबर ॥ ६२ ॥ पद्मरागरुचा व्याप्त क्वचिव्द्योमतलं बभौ । साध्यं रागमिवाबिभ्रदनुरंजितदिग्मुख ॥ ६३ ॥ क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रांतमभान्नभः । सशैवलमिवाभोधेर्जल पर्यंतसंश्रित ॥ ६४ ॥ देवाभरणमुक्तौघशबल सहविद्रुम । भेजे पयोमुचा वर्त्म विनील जलधेः श्रिय ॥ ६५ ॥ तन्व्यः सुरुचिराकारा लसदशुकभूषणाः । तदाऽमरस्त्रियो रेजुः कल्पवल्ल्य इवाम्बरे ॥ ६६ ॥ स्मेरवक्त्राबुजा रेजुर्नयनोत्पलराजिताः । सरस्य इव लावण्यरसापूर्णा. सुरागनाः ॥ ६७ ॥ तासा स्मेराणि वक्त्राणि पद्मबुध्याऽनुधावता । रेजे मधुलिहा माला धनुर्ज्येव मनोभुवः ॥ ६८ हाराश्रितस्तनोपाता रेजुरप्सरसस्तदा । दधाना इव निर्मोकसमच्छायं स्तनाशुक ॥ ६९ ॥ सुरानकमहाध्वानै. पूजावेला परा दध-

---

अच्छा जान पडता था मानों समस्त दिशाओंको अनुरंजित करनेवाली संध्यासमयकी लालिमा ही हो ॥ ६३ ॥ कहीं कहीं पर मरकतमणियोंकी छायासे व्याप्त हुआ वह आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों जिसके किनारेपर चारोंओर शैवाल फैला हुआ है ऐसा समुद्रका जल ही हो ॥६४॥ देवोंके आभूषणोंमें लगे हुये मोतियोंके समूहोंसे चित्र विचित्र हुआ तथा मूंगाओंकी कांतियोंसे व्याप्त हुआ वह नीला आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों मोती और मूंगाओंसे भरा हुआ समुद्र ही हो ॥ ६५ ॥ जो अत्यंत तन्वी (पतली) हैं, जिनका आकार सुंदर है और जो वस्त्र तथा आभूषणोंसे दैदीप्यमान हो रही हैं ऐसी देवांगनायें उससमय आकाशमें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों कल्पलतायें ही हो ॥६६॥ अथवा वे देवांगनायें सरोवरके समान जान पडती थीं क्योंकि कुछ कुछ हंसते हुये मुख ही उसमें कमल थे, नेत्र ही नीलकमलोंके समान सुशोभित हो रहे थे और लावण्यरूपी जलसे वे खूब भरी हुई थीं ॥ ६७ ॥ भ्रमरोंकी माला (समूह) कमल समझकर उन देवांगनाओंके मुखोंपर पडती थी और वह ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कामदेवके धनुषकी डोरी ही हो ॥ ६८ ॥ जिनके स्तनोंके समीपभाग हारोंसे सुशोभित हो रहे हैं ऐसी वे अप्सरायें उससमय ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों उन्होंने सांपकी काचलीके समान कपडेकी चोली ही पहनी हो

न् । प्रचलद्देवकल्लोलो बभौ देवागमांबुधिः ॥ ७० ॥ ज्योतिर्मय इवैतस्मिन् जाते सृष्ट्यतरे भृश । ज्योतिर्गणा ह्नियेवासन्विच्छायत्वादलक्षिता ॥७१॥ तदा दिव्यागनारूपैर्हयहस्त्यादिवाहनै । उच्चावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटश्रिय ॥ ७२ ॥ देवागद्युतिविद्युद्भिस्तदाभरणरोहितै । सुरेभनीलजीमूतैर्व्योमाधात्प्रावृष श्रिय ॥ ७३ ॥ इत्यापतत्सु देवेषु सम यानविमानकै । सजानिपु तदा स्वर्गश्चिरादुद्वासितोऽभवत् ॥ ७४ ॥ समारुध्य नभोऽगेपमित्यायाते सुरासुरैः । जगत्प्रादुर्भवद्दिव्यस्वर्गांतरमिवारुचत् ॥ ७५ ॥ सुरैर्दूरादथालोकि विभोरास्थानमडल । सुरशिल्पिभिरारब्धपरार्घ्यरचनाशतं ॥ ७६ ॥ द्विप-

---

॥ ६९ ॥ उससमय वह देवोंका आगमन एक समुद्रके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिसप्रकार समुद्रमें उसकी गरजनासे वेला अर्थात् ज्वार भाटा होते हैं उसीप्रकार देवोंका आगमन भी देवोंके नगाडोंके महा शब्दोंके द्वारा भगवानकी पूजाकी उत्तम वेला अर्थात् पूजाके समयको धारण करता था, और समुद्रमें जिसप्रकार लहरें उठती हैं उसीप्रकार उस देवोंके आगमनमें भी जो देव लोग इधर उधर चल रहे थे वे ही लहरोंके समान जान पडते थे ॥ ७० ॥ इसप्रकार जिससमय वह देवोंकी सेना नीचे उतर रही थी उससमय उसके प्रकाशसे ऐसा जान पडता था मानों ज्योतिषी देवोंकी एक दूसरी ही सृष्टि उत्पन्न हुई हो और इसलिये ही ज्योतिषी जातिके देव मानों लज्जासे ही कांतिरहित होकर अदृश्य हो गये हों ॥ ७१ ॥ उससमय देवांगनाओंके रूपोंसे तथा ऊंचे नीचे हाथी घोडे आदिकी सवारियोंसे वह आकाश एक विचित्र चित्रपटके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ७२ ॥ अथवा उससमयका वह आकाश वर्षाऋतुके समान जान पडता था क्योंकि देवोंके शरीरकी कांति ही उसमें विजलीके समान दैदीप्यमान थी, देवोंके आभरण ही इंद्रधनुषके समान थे और देवोंके हाथी ही काले बादलोंके समान थे ॥ ७३ ॥ इसप्रकार जब सब देव अपनी अपनी सवारियां और विमानोंके साथ साथ तथा अपनी २ देवांगनाओंके साथ २ भगवानकी पूजा करनेकेलिये आ रहे थे उससमय स्वर्गलोक वहुत देरतक शून्य पडा रहा था ॥ ७४ ॥ इसप्रकार उससमय समस्त आकाश-

व्योजनविस्तारमभादास्थानमीशितु' । हरिनीलमहारत्नघटित विलरुत्तल ॥ ७७ ॥ सुरेंद्रनीलनिर्माणं समवृत्त तदा दभौ । त्रिजगच्छ्रीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रम ॥ ७८ ॥ आस्थानमडलस्यास्य विन्यास कोऽनुवर्णयेत् । सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठ. ॥ ७९ ॥ तथाप्यनूद्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चय । श्रुतेन येन सप्रीतिं भजेद्भव्यात्मना मन ॥ ८० ॥ तस्य पर्यतभूभागमलचक्रे स्फुरद्द्युति । धूलीसालपरिक्षेपो रत्नपासुभिराचित ॥ ८१ ॥ धनुरैंद्रमिवोद्भासि वलयाकृतिमुद्वहत् । सिषेवे ता महीं विश्वग्धूलीसालापदेशत ॥ ८२ ॥ कटिमूत्रश्रिय तन्वन्धूलीसालपरिच्छद । परीयाय जिनास्थान

में व्याप्त होकर आयेहुये सुर और असुरोंसे भराहुआ यह जगत उत्पन्न हुये एक अन्य दिव्य स्वर्गके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ७५ ॥

अथानंतर–जिसमें देव शिल्पकारोंने अर्थात् कारीगर देवोंने सैकडोंप्रकारकी उत्तम २ रचना की है ऐसा भगवान वृषभदेवका समवसरण देवोंने दूरसे ही देखा ॥ ७६ ॥ वह भगवानका समवसरण बारह योजन लंबा और बारह योजन चौडा था तथा इंद्रनीलमणि रत्नोंसे बनीहुई उसकी भूमि बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ ७७ ॥ वह समवसरण इंद्रनील मणियोंसे बनाहुआ था, चारोंओर समान गोल था और ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों तीनोंलोकोंकी लक्ष्मीके मुख देखनेकेलिये मंगलरूप एक दर्पण ही हो ॥ ७८ ॥ उस समवसरणके बनानेमें सब कामोंमें चतुर ऐसा इंद्र स्वयं सूत्रधार (मुख्य कारीगर) था इसलिये यद्यपि उसकी वास्तविक रचनाका वर्णन कोई नहीं कर सकता है ॥ ७९ ॥ तथापि थोडासा उसकी शोभाका महात्म्य कहते हैं; क्योंकि उसके सुननेसे भव्य जीवोंका मन प्रसन्न होगा ॥८०॥ उस समवसरणके बाहरी भागमें अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे बनाहुआ और जिसकी कांति अतिशय दैदीप्यमान हो रही है ऐसा एक धूलिसालका घेरा था जो कि अपनी आसपासकी जमीनको बहुत ही सुशोभित कर रहा था ॥ ८१ ॥ वह धूलिसाल ऐसा जान पडता था मानों अतिशय दैदीप्यमान और कंकणका आकार धारण करता हुआ इंद्रधनुष ही धूलि-

भूमिं ता वलयाकृतिः ॥ ८३ ॥ क्वचिदंजनपुंजाभः क्वचिच्चामीकरच्छविः । क्वचिद्विद्रुमसंच्छायः सोऽद्युतद्रत्नपांसुभिः ॥ ८४ ॥ क्वचिच्छुकच्छदच्छायैर्मणिपांसुभिरुच्छिखैः । स रेजे नलिनीबालपलाशैरिव संततः ॥ ८५ ॥ चंद्रकांतशिलाचूर्णैः क्वचिज्ज्योत्स्नाश्रियं दधत् । जनानामकरोच्चित्रमनुरक्ततरं मनः ॥ ८६ ॥ स्फुरन्मरकताम्भोजरागालोकैः करम्बितैः । क्वचिदिंद्रधनुर्लेखां खांगणे गुणयन्निव ॥ ८७ ॥ क्वचित्पद्मरागेंद्रनीलालोकैः परिष्कृतः । परागसात्कृतैर्भर्त्रा कामक्रोधारिकैरिव ॥ ८८ ॥ क्वचित्क्व चित्तजन्मासौ लीनो जाल्मो विलोक्यताम् । निर्दाह्योऽस्माभिरित्युच्चैर्ज्वालार्चिष्मानिवोत्थितः ॥८९॥

सालके बहानेसे चारों ओरसे उस समवसरणकी भूमिकी सेवा कर रहा हो ॥ ८२ ॥ कटिसूत्रकी शोभाको धारण करताहुआ और कंकणके आकारका ऐसा वह धूलीसालका घेरा उस समवसरणकी भूमिको घेरेहुये चारोंओर था ॥ ८३ ॥ अनेकप्रकारके रत्नोंकी धूलिसे वनाहुआ वह धूलिसाल कहीं तो अंजनके समूहके समान काला २ चमक रहा था, कहीं सुवर्णकी कांतिके समान सुशोभित हो रहा था और कहीं मूंगाकी कांतिके समान अच्छा लगरहा था ॥ ८४ ॥ जिनकी किरणें ऊंचेको उठ रहीं हैं ऐसी तोतेके पंखोंके समान हरित वर्णकी मणियोंकी धूलिसे वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों कमलिनीके नये पत्ते ही चारोंओर फैले हों ॥ ८५ ॥ कहींपर चंद्रकांतमणिके चूर्णसे वनाहुआ था वह वहांपर चांदनीकी शोभा धारण करता था और लोगोंके मनमें विचित्र अनुराग उत्पन्न करता था ॥ ८६ ॥ कहींपर मरकतमणि और पद्मरागमणि दोनोंकी कांति मिल रही थी जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों आकाशमें इंद्रधनुषकी शोभा ही बढा रहा हो ॥ ८७ ॥ कहींपर पद्मरागमणि और इंद्रनील मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ उसका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानों भगवानने जो काम और क्रोधको चूर्ण किया है उसकी धूलिसे ही वह बना हो ॥ ८८ ॥ कहीं कहींपर सुवर्णकी धूलिसमूहसे देदीप्यमान होताहुआ वह धूलिसाल ऐसा जान पडता था मानों वह धूर्त कामदेव कहां छिपा हुआ है उसे जलाना चाहिये इसप्र-

विभाव्यते स्म यः प्रोच्चैर्ज्वलत्रैरजश्चयै । यश्चोच्चावचरत्नांशुजालैर्जटिलयन्नभः ॥ ९० ॥ चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा मकरास्योदरत्नमाला विरेजिरे ॥ ९१ ॥ ततोऽन्तरान्तरं किंचिद्गत्वा हाटकनिर्मिताः । रेजुर्मध्येषु वीथीनां मानस्तम्भाः समुच्छ्रिताः ॥ ९२ ॥ चतुर्गोपुरसम्बद्धसालत्रितयवेष्टिता । जगती जगतीनाथस्नपनाम्बुपवित्रिता ॥ ९३ ॥ हैमषोडशसोपाना स्वमध्यार्पितपीठिका । न्यस्तपुष्पोपहारार्च्चामर्च्यां नृसुरदानवैः ॥ ९४ ॥ अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तम्भा नभोलिहः । ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तंभयन्त्याशु दुर्दृशां ॥ ९५ ॥ नभःस्पृशो महामाना घंटाभिः परिवारिताः । सचाम-

---

कार उसे देखता हुआ ध्यानरूपी अग्निका समूह ही उठ रहा हो, तथा उसमें जो छोटे बडे अनेकप्रकारके रत्न लग रहे थे उनकी किरणोंके समूहसे वह आकाशको भी अनेक रंगका कर रहा था ॥ ८९-९० ॥ इस धूलिसालके बाहर चारों दिशाओंमें सुवर्णके बनेहुये खंभोंपर मत्स्यके मुखके आकारके सुवर्ण और रत्नोंकी बनीहुई मालाओंके लटकते हुये तोरण बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥९१॥ उस धूलिसालसे भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर गलियोंके बीचों बीचमें सुवर्णके बनेहुये और बहुत ऊंचे ऐसे चारों दिशाओंमें चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे ॥ ९२ ॥ जिस जगहपर वे मानस्तंभ थे उसके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटमें चारों दिशाओंमें चार चार गोपुर (बडे दरवाजे) थे, तीनों कोटोंके भीतर एक पीठिका थी, वह पीठिका तीनों लोकोंके स्वामी भगवान अरहंत देवके अभिषेकके जलसे पवित्र थी तथा वह इतनी ऊंची थी कि उसपर सुवर्णकी सोलह सीढी बनी हुई थीं, मनुष्य सुर असुर आदि सब उसकी पूजा करते थे, तथा वह पूजा किये हुये पुष्पोंसे सदा सुशोभित रहती थी, ऐसी उसपीठिकापर आकाशको स्पर्श करते हुये वे मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, उन्हें दूरसे देखते ही मिथ्यादृष्टियोंका अभिमान बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता था ॥ ९३-९४-९५ ॥ वे चारों ही मानस्तंभ दिग्गजोंके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार दिग्गज आकाशतक ऊंचे होते हैं उसीप्रकार वे मानस्तंभ भी आकाशतक

रध्वजा रेजुस्तंभास्ते दिग्गजायिताः ॥ ९६ ॥ दिक्चतुष्टयमाश्रित्य रेजे स्तंभचतुष्टयं । तत्तन्व्याजादिवोद्भूतं जिनानंतचतुष्टयं ॥ ९७ ॥ हिरण्मयीर्जिनेंद्रार्च्चास्तेषा बुध्न प्रतिष्ठिता. । देवेंद्रा. पूजयति स्म क्षीरोदाम्भोऽभिषेचनैः ॥ ९८ ॥ नित्यातोद्यमहावाद्यैर्नित्यसंगीतमगलैः । नृत्तैर्नित्यप्रवृत्तैश्च मानस्तभाः स्म भात्यमी ॥ ९९ ॥ पीठिका जगतीमध्ये तन्मध्ये च त्रिमेखल । पीठ तन्मूर्ध्नि सद्बुध्ना मानस्तंभाः प्रतिष्ठिता' ॥ १०० ॥ हिरण्मयागाः प्रोत्तुगा मूर्ध्नि छत्रत्रयाकिता. । सुरेंद्रनिर्मितत्वाच्च प्रासेंद्रध्वजरूढिकाः ॥ १०१ ॥ मानस्तभान्महामानयोगात्त्रैलोक्यमाननात् । अन्वर्थसज्ञया तज्ज्ञैर्मानस्तभाः

ऊंचे थे, दिग्गज जिसप्रकार बडे होते हैं उसीप्रकार वे भी वहुत बडे थे, दिग्गजोंपर जिसप्रकार घंटा लटकते रहते हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी घंटे लटकते थे और दिग्गजोंपर जिसप्रकार चमर और ध्वजायें रहती हैं उसीप्रकार उन मानस्तंभोंपर भी चमर और ध्वजायें लटक रहीं थीं ॥ ९६ ॥ वे मानस्तंभ चारों दिशाओंमें चार थे और ऐसे जान पडते थे मानों उन मानस्तंभोंके बहानेसे भगवानके अनंतचतुष्टय ही प्रगट हुये हों ॥ ९७ ॥ उन मानस्तंभोंके मूलभागमें सुवर्णमय भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं जिनकी इंद्रलोग क्षीरसागरके जलसे अभिषेककर पूजा करते थे ॥ ९८ ॥ उन मानस्तंभोंके समीप ही अनेकप्रकारके बडे २ वाजे नित्य बजते थे, नित्य ही मंगलगान होता था और नित्य ही नृत्य होता था, जिनसे वे मानस्तंभ वहुत ही सुशोभित होते थे ॥९९॥ जिसप्रकार ऊपर कह चुके हैं उसीप्रकार जगती अर्थात् पृथ्वीके मध्यभागमें एक पीठिका (वेदिका) थी, उस पीठिकापर तीन कटनीदार एक पीठ था उसीपीठके ऊपर ही वे मानस्तंभ थे तथा उन मानस्तंभोंके मूलभाग वहुत ही मनोहर थे ॥ १०० ॥ वे मानस्तंभ सुवर्णके वने हुये थे, ऊंचे थे, उनके मस्तकपर तीन छत्र फिर रहे थे तथा वे इंद्रके बनाये हुये थे इसलिये लोग उन्हे इंद्रध्वज भी कहते थे ॥ १०१ ॥ इन मानस्तंभोंसे समस्त लोगोंका मान दूर हो जाता है तथा उनका पारिमाण भी वहुत वडा है और तीनों लोक उनकी पूजा करता है इसलिये ही विद्वान् लोग यथार्थ अर्थके अनुसार

प्रकीर्तिता ॥ १०२ ॥ स्तम्भपर्यंतभूभागमलंचक्रु महोपला । प्रसन्नसलिला वाप्यो भव्यानामिव शुद्धय ॥ १०३ ॥ वाप्यस्ता रेजिरे फुल्लसितेन्दीवरपंकजा । लसपद । भक्त्या जैनीं श्रियं द्रष्टुं भुवेवोद्घाटिता दृश. ॥ १०४ ॥ निलीनालिकुलै रेजुः पद्मैस्ता किम्यरैः । महोत्पलैश्च नद्यः साञ्जनैरिव लोचनै ॥ १०५ ॥ दिशः प्रति चतस्रस्ता. स्रस्ता: काञ्चीरिवाकुला । दधति स्म शकुनाना भनती. स्वनटाश्रिना ॥ १०६ ॥ वभुस्ता मणिसोपाना स्फटिकोच्चतटीभुव. । भुवः प्रसृतलावण्यरसाः कुल्या इव श्रुताः ॥ १०७ ॥ द्विरेफगुञ्जनैर्भृङ्ग गायन्तो जाह्नवी गुणान् । नृत्यन्त इव जैनेशजयनीयगमहो-

---

उन्हें मानस्तंभ कहते हैं ॥ १०२ ॥ इन मानस्तंभोके समीपवर्ती देशको वावडियां सुशोभित कर रहीं थीं, उन वावडियोंमें कमल फूले हुये थे, निर्मल जल भरा हुआ था और ऐसी जान पडती थीं मानों भव्य जीवोंके अंतःकरणकी विशुद्धता ही हो ॥ १०३ ॥ वे वावडियें फूले सफेद कमल और नीलकमलोंकी शोभासे सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों श्रीजिनेंद्रदेवकी लक्ष्मी देखनेके लिये पृथ्वीने ही भक्तिपूर्वक अपने नेत्र उघाडें हों ॥ १०४॥ वे वावडियें फूले हुये सफेद कमल तथा लालकमलोंसे ढक रहीं थीं और उन कमलोंपर भ्रमरोंके समूह वैठे हुये थे इसलिये वे वावडियें ऐसी जान पडती थीं मानों अंजन (काजल) सहित नेत्र ही हों ॥ १०५ ॥ वे वावडियें एक दिशामें चार चार थीं अर्थात् प्रत्येक मानस्तंभके चारोंओर प्रत्येक दिशामें एक २ थी, इसप्रकार चारों मानस्तंभोंके चारों ओर सोलह वावडियें थीं, उन वावडियोंके किनारोंपर पंक्तिरूपसे शब्द करते हुये पक्षी वैठे हुये थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों उन्होंने वजती हुई ढीली करधनी ही पहनी हो ॥ १०६ ॥ उन वावडियोंके किनारेके ऊपरकी जमीन स्फटिक मणियोंकी वनी हुई थी, सीढियां मणियोंकी वनी हुईं थीं और उनमें पृथ्वीसे निकलता हुआ लावण्यरूपी जल भरा हुआ था, इसप्रकार वे प्रसिद्ध वावडियें कृत्रिम नदीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१०७॥ उन वावडियोंके कमलोंपर जो भ्रमर वैठे हुये गुंजार शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें

र्मिभिः ॥ १०८ कुर्वंत्यो वा जिनस्तोत्र चक्रवाकविकूजितैः । सतोष दर्शयन्त्यो वा प्रसन्नोदकधारणात् ॥ १०९ ॥ नंदोत्तरादिनामान सरस्यस्तास्तटाश्रितैः । पादप्रक्षालनाकुंडैर्बभुः सप्रसवा इव ॥ ११० ॥ स्तोकातर ततोऽतीत्य ता महीमवुजैश्रिता । परिवव्रेऽतरा वीर्थीवीर्थी च जलखातिका ॥१११॥ स्वच्छावुसंभृता रेजे सा खाता पावनी नृणा । सुरापगेव तद्रूपा विभु सेवितुमाश्रिता ॥ ११२ ॥ सक्रांताशेषतारर्क्षप्रतिविंवाऽवरश्रिय । याधात्स्फटिकसद्रावशुचिभिः सलिलैर्भृता ॥ ११३ ॥ सा स्म रत्नतटैर्धत्ते पक्षिमाला कलस्वना । तग्गक्रसधार्यां रसनामिव सद्रुच ॥ ११४ ॥ यादोदोर्घट्टनोद्धूतैस्त-

---

अरहंत देवके गुण ही गा रहीं हों, उनमें जो वडी २ लहरें आ रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानने घातिया कर्मोंको जीता है इसलिये संतुष्ट होकर वे वावडियें नृत्य ही कर रहीं हों, उनमें जो चकवा चकवी पक्षी शब्द कर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानों वे वावडियें भगवानकी स्तुति ही कर रहीं हों, तथा उनमें निर्मल जल भरा हुआ था इसलिये ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानको केवलज्ञान होनेसे संतोष ही दिखा रहीं हों, इसप्रकार नंदोत्तरा आदि नामोंको धारण करनेवालीं वे वावडियें बहुत ही सुंदर जान पडती थीं, उनके किनारेपर दो दो पादप्रक्षालन कुंड थे (पांव धोनेके कुंड) उनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे पुत्र सहित ही वैठी हों ॥ १०८-१०९-११० ॥ वावडियोंके थोडी ही दूर आगे जाकर प्रत्येक गलीको (जानेके मार्गको) छोडकर जलसे भरी हुई खाई थी जोकि कमलोंसे सुशोभित थी और समवसरणकी भूमिको चारोंओर घेरे हुये थी ॥१११॥ निर्मल जलसे भरी हुई और मनुष्योंको पवित्र करनेवाली वह खाई ऐसी सुशोभित होती थी मानों खाईके वहानेसे आकाशगंगा ही भगवानकी सेवा करनेकेलिये आई हो ॥११२॥ वह खाई चंद्रकांत मणिसे निकले हुये पवित्र जलसे भरी हुई थी और तारा नक्षत्र आदिका प्रतिबिंव उसमें पड रहा था, इसलिये वह खाई ठीक आकाशकी शोभा धारण करती थी ॥ ११३ ॥ उसके किनारे रत्नोंके वने हुये थे उनपर म-

१ पूर्व दिशाके मानस्तभके चारोंओर नदोत्तरा, नदा, नदघोषा नदावती, दक्षिण दिशाके मानस्तभके चारोंओर विजया वैजयती जयती अपराजिता, पश्चिम दिशामें अशोका सुप्रसिद्धा कुमुदा पुडरीकिणी ओर उत्तर दिशाकी ओर हृदयानदा महानदा सुप्रवुद्धा ओर प्रभकरी इसप्रकार सव सोलह वावडी है ।

रंगैःपवनाहतैः । प्रनृत्यंतीव सा रेजे तोषाज्जिनजयोत्सवे ॥ ११५ ॥ वीन्यंतर्वलितोद्वृत्तशफरीकुलसंकुला । सा प्रायोऽभ्यस्यमानेव नाकस्त्रीनेत्रविभ्रमान् ॥ ११६ ॥ नून सुरागनानेत्रविलासैस्ता पराजिताः । सफर्यो वीचिमालासु न्हियेवांतर्दधुर्मुहुः ॥ ११७ ॥ तदभ्यंतरभूभाग पर्यष्कृतलतावन । वल्ली-गुल्मद्रुमोद्भूतसर्वर्तुकुसुमाचितं ॥ ११८ ॥ पुष्पवल्ल्योऽव्यराजत यत्र पुष्पास्मितोज्ज्वलाः । स्मितलीला द्युनारीणा नाटयत्य इव स्फुटं ॥ ११९ ॥ भ्रमरै-र्मंजुगुजद्भिरावृताता विरेजिरे । यत्रनीलपटच्छन्नविग्रहा इव वीरुधः ॥ १२० ॥ अशोकलतिका यत्र दधुराताम्रपल्लवान् । स्पर्द्धमाना इवाताम्रैरप्सरःकर-

धुर शब्द करते हुये पंक्तिरूपसे पक्षी बैठे हुये थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों उस खाईने अपनी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्तम कांतिको धारण करनेवाली करधनी ही पकडी हो ॥११४॥ उस खाईमें जो जलचर जीव थे उनके हाथपैरके आघातसे उत्पन्न हुई और वायुके द्वारा ऊपरको उछलती हुई लहरोंसे वह खाई ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके घातिया कर्मोंको जीतलेनेके उत्सवमें संतुष्ट होकर वह नृत्य ही कर रही हो ॥ ११५ ॥ लहरोंके भीतर गोलरूपसे चक्कर खाती हुई और ऊपरको उछलती हुई चंचल मछलियोंके समूहसे वह खाई भरी हुई थी, और ऐसी जान पडती थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंका अर्थात् कटाक्षोंका प्रायः अभ्यास ही कर रही हो ॥ ११६ ॥ जो मछलियां उसकी लहरोंमें बार बार डूब रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों वे अवश्य ही देवांगनाओंके नेत्रोंके विलासोंसे हार गई थीं इसलिये लज्जावश होकर ही वे लहरोंके मध्यभागमें बार २ डूब रहीं हों ॥ ११७ ॥ ऐसी उस खाईके भीतरकी ओरकी पृथ्वीको घेरकर एक लताबन था, जो कि लता, छोटे २ पौधे और वृक्षोंसे उत्पन्न हुये सब ऋतुओंके फूलोंसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ११८ ॥ उस लताबनमें पुष्परूपी मंद हास्यसे उज्वल ऐसी अनेक पुष्पलतायें सुशोभित हो रहीं थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों देवांगनाओंके मंदहास्यको देखकर जोरसे हंस रहीं हों ॥११९॥ मनोहर शब्द करते हुये भ्रमरोंसे ढकी हुई उस बनकी लतायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों

पल्लवैः ॥ १२१ ॥ यत्र मंदानिलोध्दूतैःकिंजल्कैस्ततमंबरं । धत्ते स्म पटवासाभा पिंजरीकृतदिग्मुखं ॥ १२२ ॥ प्रतिप्रसवमासीनमंजुगुंजन्मधुव्रतं । विडंबयदिवाभाति यत्सहस्राक्षविभ्रम ॥ १२३ ॥ सुमनोमजरीपुंजात्किंजल्क साद्रमाहरन् । यत्र गंधवहो मंद वाति स्मान्दोलयँल्लता· ॥ १२४ ॥ यत्र क्रीडाद्रयो रम्याः सशय्याश्च लतालया· । धृतये स्म सुरस्त्रीणां कल्पते शिशिरानिलाः ॥ १२५ ॥ वल्ली कुसुमिता यत्र स्पृशति स्म मधुव्रताः । रजस्व-

उन्होंने नीले कपडेसे अपना शरीर ही ढक लिया हो ॥ १२० ॥ वहांकी अशोक जातिकी लताओं-पर लाल पत्ते लग रहे थे जिनसे वे ऐसी जान पडती थीं मानों अप्सराओंके हाथकी लाल हथेलि-योंके साथ ईर्षा ही कर रही हों ॥ १२१ ॥ मंद मंद वायुके द्वारा उठेहुये परागसे व्याप्त हुआ (भरा-हुआ) और जिसने समस्त दिशायें लाल पीली करदी हैं ऐसा उस लतावनका आकाश तनेहुये सु-गंधित चंदोवेके समान जान पडता था ॥ १२२ ॥ उस लतावनमें अनेक पुष्प फूले हुये थे और प्र-त्येक पुष्पपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमर बैठे हुये थे, जिनसे वह लतावन ऐसा जान पडता था मानों हजारों नेत्रोंको धारण करनेवाले इंद्रके नेत्रोंके विलासकी समानता ही धारण करता हो ॥ १२३ ॥ पुष्पोंकी कलियोंके समूहसे परागको ग्रहण करता हुआ और लताओंको हिलाता हुआ वायु उस बनमें धीरे २ चल रहा था ॥ १२४ ॥ उस बनमें अनेक मनोहर क्रीडापर्वत थे तथा जिनमें शीतल वायु चल रहा है और शय्यायें बिछी हुई हैं ऐसे अनेक लतामंडप थे, उन क्रीडापर्वत और लतामं-डपोंसे देवांगनाओंको बहुत ही संतोष होता था ॥ १२५ ॥ उस बनमें अनेक रजस्वला अर्थात् पुष्पों-की रज वा पराग सहित और कुसुमित अर्थात् फूली हुई ऐसी अनेक लतायें थीं जिन्हें मधुव्रत अर्थात् भ्रमर स्पर्श कर रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि मधुव्रत अर्थात् मद्य पीनेवालोंके पवित्रता कहां हो सकती है क्योंकि वे रजस्वला पुष्पवती लताओंको भी स्पर्श कर रहे थे, मद्य पीनेवालेके भी ऐसी स्त्रीके स्पर्श करनेका विचार नहीं होता है ॥ १२६ ॥ उस लतावनके मध्यभागमें वर्फके

ला अपि प्राय. क शौच मधुपायिना ॥ १२६ ॥ लताभवनमध्यस्था हिमानीस्पर्शशीतला । चन्द्रकातशिला यत्र विश्रामायामरेशिना ॥ १२७ ॥ ततोऽध्वानमतीत्यात कियतमपि ता महीं । प्राकार प्रथमो वत्रे निषधाभो हिरण्मय ॥ १२८ ॥ रुरुचेऽसौ महान् साल. क्षितिं ता परित. स्थित । यथाऽसौ चक्रवालाद्रिर्नृलोकाध्युषिता भुव ॥ १२९ ॥ नून सालनिभेनेत्य सुरचापपर शत । तामलं कुरुते स्म क्षमा पिंजरीकृतखांगणं ॥ १३० ॥ यस्योपरितले लग्ना सुव्यक्ता मौक्तिकावली । ताराततिरिय किं स्विदित्याशकास्पद नृणा ॥ १३१ ॥ कचिद्विद्रुमसघात. पद्मरागाशुरजित. । यस्मिन्साध्यघनच्छायामाविष्कर्तुमल तरा ॥ १३२ ॥ कचिन्नवघनच्छाय. कचिच्छाड्वलसन्छवि । कचिच्च सुरगोपाभोऽविद्युदापिंजरः कचित् ॥ १३३ ॥ कचिद्विचित्र-

---

समान शीतल चंद्रकांत शिलायें पडी हुई थीं जिनपर इंद्रलोग आकर विश्राम लेते थे ॥ १२७ ॥ उस लताबनके भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर निषध पर्वतके समान सुवर्णमय एक कोट था जोकि उस समवसरणकी भूमिको चारों ओरसे घेरे हुये था, उस समवसरणमें वह प्रथम कोट कहलाता था ॥ १२८ ॥ उस समवसरणकी भूमिको चारोंओरसे घेरे हुये वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों मनुष्यलोककी पृथ्वीको घेरे हुये मानुषोत्तर पर्वत ही हो ॥ १२९ ॥ वह कोट ऐसा जान पडता था मानों आकाश प्रदेशको अनेक वर्णका चित्र विचित्र करता हुआ सैकडों इंद्रधनुषोंका समूह ही आकर उस समवसरणकी भूमिको सुशोभित कर रहा हो ॥ १३० ॥ उसके ऊपरी भागपर प्रगट दिखाई देते हुये मोतियोंके समूह जड रहे थे जोकि क्या यह नक्षत्रोंका समूह है इसप्रकार लोगोंको शंकायें उत्पन्न कर रहे थे ॥ १३१ ॥ कहीं कहींपर उस कोटमें बहुतसा मूंगा लग रहा था और वह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे और अधिक लाल हो रहा था, तथा ऐसा जान पडता था मानों संध्याकालके लाल बादलोंकी शोभाको ही उत्पन्न कर रहा हो ॥ १३२ ॥ कहींपर श्याम मणियोंसे नवीन काले बादलके समान जान पडता था, कहींपर हरित मणियोंसे हरी घासके समान जान पडता था कहीं कहींपर लाल मणियोंसे लाल लाल इंद्रगोपके (लाल मखमलके रंग समान

रत्नांशुरचितेंद्रशरासनः । घनकालस्य वैदग्धीं स सालोऽलं व्यडंबयत् ॥ १३४ ॥ क्वचिद्‌द्विपहरिव्याघ्ररूपैर्मिथुनवृत्तिभिः । निचितः क्वचिदुद्देशे शुकैर्हंसैश्च बर्हिणैः ॥१३५॥ विचित्ररत्ननिर्माणैर्मनुष्यमिथुनैः क्वचित् । क्वचिच्च कल्पवल्लीभिर्बहिरतश्च चित्रितः ॥१३६॥ हसन्निवोन्मिषद्रत्नमयूखनिवहैः क्वचित् । क्वचित्सिंहरवान्कुर्वन्निवोत्सर्पत्प्रतिध्वनि. ॥ १३७ ॥ दीप्ताकारः स्फुरद्रत्नरुचिराद्धखांगणः । निषधाद्रिप्रतिस्पर्धी स सालो व्यरुचत्तरां ॥ १३८ ॥ महांति गोपुराण्यस्य विबभुर्दिक्चतुष्टये । राजतानि खगेंद्राद्रेः शृंगाणीव स्पृशंति खं ॥१३९॥ ज्योत्स्नमन्यानि तान्युच्चैस्त्रिभूमानि चकासिरे । प्रहासमिव तन्वंति निर्जित्य त्रिजगच्छ्रियं ॥ १४० ॥ पद्मरागमयैरुच्चैः शिखरैर्व्योमलंघिभिः । दिशः पल्लवयतीव प्रसरैः शोणरोचिषा ॥ १४१ ॥ जगद्‌गुरोर्गुणा-

---

कीडोंके रामकी गुडियोंके) समान जान पडता था और कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे इंद्रधनुषकी शोभा उत्पन्न कर रहा था, इसप्रकार वह कोट वर्षाऋतुकी विचित्र शोभाका अनुकरण कर रहा था ॥ १३३-१३४ ॥ उस कोटमें कहीं कहींपर स्त्री पुरुषोंके जोडेसे हाथी घोडे और व्याघ्र आदिके आकार बने हुये थे, कहीं कहींपर तोते हंस तथा मयूरोंके चित्र खिचे हुये थे, कहीं कहींपर अनेक प्रकारके रत्नोंसे मनुष्य और स्त्रियोंके जोडे बने हुये थे और कहीं कहींपर भीतर बाहर दोनोंओर कल्पलताओंके चित्र बने हुये थे, कहीं कहींपर दैदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंके समूहसे वह कोट हँसता हुआसा जान पठता था और कहीं कहींपर उसमेंसे जो प्रतिध्वनि निकल रही थी उससे ऐसा जान पडता था मानों सिंहनाद ही कर रहा हो ॥ १३५-१३६-१३७ ॥ जिसके दैदीप्यमान रत्नोंकी कांति आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसा अतिशय प्रकाशमान वह कोट ऐसा सुशोभित होता था मानों निषिध पर्वतके साथ स्पर्द्धा (ईर्षा) ही कर रहा हो ॥ १३८ ॥ उस, कोटके चारों दिशाओंमें चांदीके बने हुये चार बडे,२ दरवाजे थे जोकि विजयार्द्ध पर्वतकी शिखरोंके समान आकाशका स्पर्श कर रहे थे ॥१३९॥ चांदनीके समूहके समान अतिशय स्वच्छ और बहुत ऊंचे तीन मांजिले वे दरवाजे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंकी शोभाको जीतकर हँस रहे ही हों ॥१४०॥

नत्र गायंति सुरगायनाः । केचिच्छृण्वति नृत्यति केचित्समाविर्भवत्स्मिता. ॥ १४२ ॥ शतमष्टोत्तरं तेषु मगलद्रव्यसपद । भृंगारकलशाब्दाद्याः प्रत्येक गोपुरेष्वभात् ॥ १४३ ॥ रत्नाभरणभाभारपरिपिंजरिताम्बरा । प्रत्येक तोरणास्तेषु शतसंख्या बभासिरे ॥ १४४ ॥ स्वभावभास्वरे भर्त्तुर्देहे स्थानवकाशता । मत्वेवाभरणान्यास्थुरुद्बद्धान्यनुतोरण ॥ १४५ ॥ निधयो नव शखाद्यास्तद्द्वारोपातसेविनः । शशमु प्राभव जैन भुवनत्रितयातिग ॥ १४६ ॥ त्रिजगत्प्रभुणा नून विमोहेनावधीरिताः । बहिर्द्वार स्थिता दूरान्निधयस्त सिपेविरे ॥ १४७ ॥ तेषामतर्महावीथेरुभयोर्भागयोरभूत् । नाट्यशालाद्वय दिक्षु

उन दरवाजोंके आकाशको उलंघन करनेवाले पद्मराग मणियोंके वनेहुये ऊंचे शिखर थे उनकी लाल किरणें चारोंओर फैल रही थीं जिनसे ऐसा जान पडता था मानों वे दरवाजे सव दिशाओंमें लाल नये पत्ते ही फैला रहे हों ॥१४१॥ उन दरवाजोंमें कितने गानेवाले देव जगतगुरु भगवान वृषभदेवके गुणोंको गा रहे थे, कितने ही देव उसे सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही हँस रहे थे ॥१४२॥ उन दरवाजोंमेंसे प्रत्येक दरवाजेपर भृंगार, कलश दर्पण आदि एकसौ आठ मंगल द्रव्य सुशोभित हो रहे थे ॥ १४३ ॥ तथा प्रत्येक दरवाजेपर रत्नमय आभरणोंकी कांतिके समूहसे आकाशको अनेकवर्णका करनेवाले ऐसे सौ सौ तोरण सुशोभित हो रहे थे ॥ १४४ ॥ प्रत्येक तोरणमें लगे हुये वे आभरण ऐसे जान पडते थे मानों भगवानका शरीर स्वभावसे ही देदीप्यमान है इसलिये वहां रहनेकेलिये जगह न पाकर प्रत्येक तोरणमें ही बंध गये हों ॥ १४५ ॥ उन दरवाजोंके समीपमें शंख पद्म आदि नौ निधियां रक्खी हुई थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों तीनों लोकोंको उलंघन करनेवाले भगवानके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रही हों ॥ १४६ ॥ अथवा दरवाजेके समीप रक्खी हुई वे निधियां ऐसी जान पडती थीं मानों निर्मोह ऐसे तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवने उनका तिरस्कार ही किया था इसलिये दरवाजेके बाहर रहकर दूरसे ही वे भगवानकी सेवा कर रही हों ॥ १४७ ॥ उन दरवाजोंके भीरतसे आने जानेका बडा रास्ता था और उस रास्तेके दोनोंओर

प्रत्येक चतसृष्वपि ॥ १४८ ॥ तिसृभिर्भूमिभिर्नाट्यमंडपौ तौ विरेजतुः । विमुक्तेस्त्र्यात्मकं मार्गं नृणां वक्तुमिवोद्यतौ ॥ १४९ ॥ हिरण्मयमहास्तंभौ शुभस्फटिकभित्तिकौ । तौ रत्नशिखरारुद्धनभोभागौ विरेजतु' ॥ १५० ॥ नाट्यमडपरंगेषु नृत्यंति स्मामराङ्गिय' । शतहृदा इवामग्नमूर्तय. स्वप्रभाम्हदे ॥ १५१ ॥ गायंति जिनराजस्य विजय ता' स्म सगता. । तमेवाभिनयन्त्योऽमू चिक्षिपुः पौष्पमजलिं ॥ १५२ ॥ समं वीणानिनादेन मृदगध्वनिरुच्चरन् । व्यतनोत्प्रावृडारभशंकां तत्र शिखडिना ॥ १५३ ॥ शरदभ्रनिभे तस्मिन् द्वितये नाट्यशालयो । विद्युद्विलासमातेनुर्नृत्यन्त्य' सुरयोषित ॥ १५४ ॥

(बगलमें) दो नाट्यशालायें थीं इसीतरह चारों दरवाजोंमें प्रत्येकमें दो दो नाट्यशालायें थीं ॥ १४८ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें तीन मंजिलीं ऊंची थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों स्वरूप ही मोक्षमार्ग है यही लोगोंको बतलानेकेलिये तैयार हुई हों ॥ १४९ ॥ उन नाट्यशालाओंके बडे २ खंभे सुवर्णके बने हुये थे, दीवालें देदीप्यमान स्फटिकमणिकी बनी हुई थीं और रत्नोंके शिखर बने हुये थे जिनसे समस्त आकाश रुक गया था, इसप्रकार वे नाट्यशालायें बडी ही सुशोभित हो रही थीं ॥ १५० ॥ उन नाट्यशालाओंकी रंगभूमियोंमें देवांगनायें नृत्य कर रही थीं, उनके शरीर उनकी कांतिरूपी कुंडमें डूब रहे थे जिससे वे देवांगनायें बिजलीके समान चमक रही थीं ॥ १५१ ॥ उन नाट्यशालाओंमें नृत्य करती हुई वे देवांगनायें भगवानकी विजयका गान कर रहीं थीं और उसी विजयका अभिनय (नाटक) करती हुई भगवानकेलिये पुष्पांजलि समर्पण कर रही थीं ॥ १५२ ॥ उन नाट्यशालाओंमें वीणाकी आवाजके साथ साथ जो मृदंगकी आवाज निकल रही थी वह मयूरोंको वर्षाऋतुके प्रारंभ होनेकी शंका उत्पन्न करती थी ॥ १५३ ॥ वे दोनों ही नाट्यशालायें शरदऋतुके बादलोंके समान सफेद थीं इसलिये उनमें जो देवांगनायें नृत्य कर रहीं थीं वे ठीक बिजलीके समान सुशोभित हो रहीं थीं ॥१५४॥ उन नाट्यशालाओंमें किन्नर जातिके देव वीणा बजाते हुये गा रहे थे इसलिये उनके मधुर शब्दोंसे

किन्नराणा कलकाणै. मोद्रानैरुपवीणिनै. । तत्रासक्तिं परा भेजुः प्रेक्षिणा चित्तवृत्तय. ॥ १५५ ॥ ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशो' । धूपधूमैर्निरुद्धाता प्रसरद्भिर्नभोऽगण ॥ १५६ ॥ तद्धूपधूमसरुद्ध नभो वीक्ष्य नभोजुपः । प्रावृट्पयोधराशकामकालेऽपि व्यतानिपु ॥ १५७ ॥ दिश सुरभयन्धूपो मदानिलवशोत्थित' । स रेजे पृथिवीदेव्या मुखामोद इवोच्छ्वसन् ॥ १५८ ॥ तदामोद समाघ्राय श्रेणयो मधुलेहिना । दिशा मुखेपु वितता वितेनुरलकाश्रिय ॥ १५९ ॥ इतो धूपवटामोदमितश्च सुरयोपितां । सुगधिमुखनिश्वासमलिनो जघ्नुराकुला. ॥ १६० ॥ मद्रध्वानैर्मृदगानां स्तनयित्नुविडबिभिः । पतत्या पुष्पवृष्ट्या च सदाऽत्रासीद्घनागम. ॥ १६१ ॥ तत्र वीथ्यतरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । नंदनाद्या वनश्रेण्यो विभु द्रष्टुमिवागताः

देखनेवालोंके चित्त उनमें अतिशय आसक्त हो रहे थे ॥ १५५ ॥ उन नाट्यशालाओंसे कुछ दूर आगे जाकर रास्तेके दोनों ओर एक एक धूपघट था अर्थात् प्रत्येक दिशाके रास्तेपर एक इधर और एक उधर इसप्रकार दो दो धूपके घडे थे, उन घडोंसे चारोंओर फैलता हुआ जो धूआं निकल रहा था उससे सब आकाशरूपी आंगन भर रहा था ॥ १५६ ॥ उन धूपघडोंसे निकलता हुआ धूआं आकाशमें भर रहा था उस धूआंसे भरे हुये आकाशको देखकर विद्याधर लोगोंको असमयमें ही वर्षा ऋतुके बादलोंकी शंका होती थी ॥ १५७ ॥ मंद मंद वायुसे फैलती हुई और समस्त दिशाओंको सुगंधित करती हुई वह धूपकी सुगंधि ऐसी जान पडती थी मानों पृथिवी देवीका सुगंधित उच्छ्वास ही हो ॥ १५८ ॥ उस धूपकी सुगंधि सूंघकर भ्रमरोंके समूह पंक्तिवद्ध होकर सब दिशाओंमें फैलगये थे और ऐसे जान पडते थे मानों पृथ्वी देवीके खुले हुये केश ही फैले हों ॥ १५९ ॥ एकओर उन धूपघडोंसे सुगंधि निकल रही थी और दूसरी ओर देवांगनाओंके मुखके उच्छ्वासकी सुगंधि फैल रही थी सो व्याकुल हुये भ्रमर दोनोंको ही सूंघ रहे थे ॥ १६० ॥ वहांपर मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाले मृदंगोंके गंभीर शब्द होते थे और सदा पुष्पवृष्टि होती थी जिससे वहां सदा वर्षाऋतुसी ही जान पडती थी ॥ १६१ ॥ उन धूपघटोंसे कुछ दूर आगे चलकर रास्तोंके पार्श्वभागमें (बगल-

॥ १६२ ॥ अशोकसप्तपर्णाह्वचंपकाम्रमहीरुहा । वनानि तान्यधुस्तोपादिवोचैः कुसुमस्मितं ॥ १६३ ॥ वनानि तरुभिश्चित्रैः फलपुष्पोपशोभिभिः । जिनस्यार्घ्यमिवोत्क्षिप्य तस्थुस्तानि जगद्गुरोः ॥ १६४ ॥ वनेषु तरवस्तेषु रेजिरेपवनाहतैः । शाखाकरैर्मुहुर्नृत्तं तन्वाना इव समदात् ॥ १६५ ॥ सन्छाया. सफलास्तुंगा जननिर्वृतिहेतवः । सुराजान इवाभूवंस्ते द्रुमा सुखशीतलाः ॥ १६६ ॥ पुष्पामोदसमाहूतैर्मिलितैरलिना कुलैः । गायत इव गु-

में) चार बन बीथी अर्थात् गलीरूपसे चार बन थे जोकि ऐसे जान पडते थे मानों नंदन सौमनस आदि बन ही भगवानको देखनेकेलिये आये हों ॥ १६२ ॥ उन चारों वनोंमेंसे एक अशोक वृक्षों-का बन था, दूसरा सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका वन था, तीसरा चंपक वृक्षोंका वन था और चौथा आमके वृक्षोंका बन था, उन सब वृक्षोंपर फूल खिल रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष संतोषसे हंस रहे हों ॥ १६३ ॥ उन बनोंमें फल और पुष्पोंसे शोभायमान ऐसे अनेक प्रकारके वृक्ष थे जिनसे वे बन ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवान वृषभदेवके लिये अर्घ लेकर ही खडे हों ॥ १६४ ॥ उन बनोंमें वृक्षोंकी शाखायें वायुके द्वारा हिल रही थीं जिससे वे वृक्ष ऐसे अ-च्छे जान पडते थे मानों वे हर्षित होकर शाखारूपी हाथ हिलाकर नृत्य ही कर रहे हों ॥ १६५ ॥ अथवा वे वृक्ष एक नीतिमान् राजाके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार नीतिमान राजाकी छाया अर्थात् आश्रय अच्छा होता है उसीप्रकार उन वृक्षोंकी छाया भी अच्छी थी, नीतिमान रा-जासे जिसप्रकार अच्छे फल मिलते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंपर भी फल लगे हुये थे, जिसप्रकार राजा तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होता है उसीप्रकार वे भी तुंग अर्थात् ऊंचे थे, नीतिमान राजासे जिसप्रकार मनुष्योंको सुख मिलता है उसीप्रकार उन वृक्षोंके नीचे भी जीवोंको सुख मिलता था, और नीति-मान् राजा जिसप्रकार सुख देनेवाला तथा शीतल अर्थात् शांत होता है उसीप्रकार वे वृक्ष भी सुख देनेवाले और शीतल थे ॥ १६६ ॥ उन वृक्षोंपर लगे हुये पुष्पोंकी सुगंधिसे बुलाये हुये और इसलि-

जद्भिर्जिन रेजुर्वनद्रुमा. ॥ १६७ ॥ क्वचिद्विरलमुन्मुक्तकुसुमास्ते महीरुहा । पुष्पोपहारमतेनुरिव भक्त्या जगद्गुरो. ॥ १६८ ॥ क्वचिद्विरुवता ध्वानैरलिना मदमञ्जुभिः । मदन तर्जयतीव वनान्यासन्समततः ॥ १६९ ॥ पुंस्कोकिलकलक्वाणैराह्वयतीव सेवितु । जिनेंद्रममराधीशान्वनानि विव्रभुस्तरा ॥ १७० ॥ पुष्परेणुभिराकीर्णा वनस्याधस्तले मही । सुवर्णरजसास्तीर्णतलेवासीन्मनोहरा ॥ १७१ ॥ इत्यमूनि वनान्यासन्नतिरम्याणि पादपैः । यत्र पुष्पमयी वृष्टिर्नर्तुपर्यायमैक्षत ॥ १७२ ॥ न रात्रिर्न दिवा तत्र तरुभिर्भास्वरैर्भृश । रुतशैत्यादिवाबिभ्यत्सजहार करान्रवि ॥ १७३ ॥ अंतर्वण क्वचि-

---

ये ही उन वृक्षोंपर इकट्ठे हुये तथा गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे वे वृक्ष ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानका यश ही गा रहे हों ॥ १६७ ॥ कहीं कहीं दूर दूरपर उन वृक्षोंसे टूटकर फूल गिर रहे थे जिनसे वे वृक्ष ऐसे जान पडते थे मानों जगतगुरु भगवानकेलिये भक्तिपूर्वक पुष्पोंकी भेट ही अर्पणकर रहे हों ॥ १६८ ॥ कहीं कहींपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके मदोन्मत्त गुंजार शब्दोंसे वे बन ऐसे जान पडते थे मानों चारोंओरसे कामदेवको तर्जना ही कर रहे हों ॥ १६९ ॥ उन बनोंमें उत्तम कोयलोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिनसे वे बन ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये इंद्रोंको बुला रहे ही हों ॥ १७० ॥ उन बनोंमें वृक्षोंके नीचेकी पृथ्वीपर पुष्पोंका पीला पराग फैला हुआ था जिससे वह पृथ्वी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों सुवर्णकी धूलिसे ही ढक रही हो ॥ १७१ ॥ इसप्रकार वे बन वृक्षोंसे बहुत ही सुंदर जान पडते थे, वहांपर होनेवाली पुष्पोंकी वृष्टि ऋतुओंके बदलनेको कभी नहीं देखती थी, भावार्थ—वहां सब ऋतुओंके फूल पाये जाते थे ॥ १७२ ॥ वहांके वृक्ष इतने प्रकाशमान थे कि वहां रात दिनका भेद नहीं होता था, तथा सूर्य वहांके वृक्षोंकी शीतलतासे डरकर वहांपर कभी अपने कर (हाथ) अर्थात् किरणें नहीं डालता था अर्थात् वहां सूर्यकी किरणें कभी नहीं पडती थीं ॥ १७३ ॥ उन बनोंमें कहींपर त्रिकोण (तिखूंटी) वावडियें थीं और कहींपर चौकर थीं, उन वावडियोंमें स्नानकर

द्वाप्यस्त्रिकोणचतुरस्त्रिकाः । स्नानोत्तीर्णामरस्त्रीणा स्तनकुंकुमपिंजरा' ॥ १७४ ॥ पुष्करिण्यः क्वचिन्नासन्क्वचिच्च कृतकाद्रयः । क्वचिद्रम्याणि हर्म्याणि क्वचिदाक्रीडमडपाः ॥ १७५ ॥ क्वचित्प्रेक्षागृहाण्यासंश्चित्रशाला' क्वचित्क्वचित् । एकशालाद्विशालाद्या 'महाप्रासादपक्तय' ॥ १७६ ॥ क्वचिन्न शाद्वलाभूमिरिंद्रगोपैस्तता क्वचित् । सरास्यतिमनोज्ञानि सरितश्च ससैकता. ॥ १७७ ॥ हारि मेदुरमुन्निद्रकुसुम सश्रि कामद । सुकलत्रमिवाभ्नीत्तत्सेव्य वनचतुष्टय ॥ १७८ ॥ अपास्तातपसबाधं विलसत्पल्लवाचित । पयोधरस्पृगाभाभि तत्स्त्रीणामुत्तरीयवत् ॥ १७९ ॥ वभासे वनमाशोक शोकापनुदम-

---

बाहर निकली हुई देवांगनाओंके स्तनोंका केशर धुल गया था जिससे उन वावडियोंका पानी कुछ २ पीला पडगया था ॥ १७४ ॥ उन बनोंमें कहींपर सुंदर तालाब थे, कहींपर कृत्रिम पर्वत थे, कहींपर मनोहर मकान थे और कहींपर खेलनेके क्रीडामंडप बने हुये थे ॥ १७५ ॥ कहींपर शोभा देखनेके घर बने हुये थे, कहीं कहीं पर चित्रशालायें बनी हुई थीं और कहीं कहींपर एक मंजिलकी तथा कहीं दोमंजिलकी बडे २ मकानोंकी पंक्तियां लगी हुई थीं ॥ १७६ ॥ कहीं कहींपर उन वनोंमें छोटी २ हरी घास उग रही थी, कहींपर इंद्रगोपजातिके लाल रंगके कीडे दिखाई दे रहे थे, कहींपर सुंदर सरोवर थे, और कहींपर वालूरेतसे भरी हुई नदियां वह रहीं थीं ॥ १७७ ॥ वे चारों ही वन सुंदर स्त्रियोंके समान सेवन करने योग्य थे क्योंकि स्त्रियां जिसप्रकार मनोहर होती हैं उसीप्रकार वे वन भी मनोहर थे, स्त्रियां जिसप्रकार मेदुर अर्थात् चिकनी वा प्रेम करनेवाली होती हैं उसीप्रकार वे वन भी मेदुर अर्थात् गीले थे, स्त्रियां जिसप्रकार उन्निद्रकुसुम अर्थात् पुष्पवती होती हैं उसीप्रकार वे वन भी उन्निद्रकुसुम अर्थात् फूलोंसे फूल रहे थे, स्त्रियां जिसप्रकार सश्री अर्थात् शोभायमान होती हैं उसीप्रकार वे वन भी सश्री अर्थात् सुशोभित थे और स्त्रियां जिसप्रकार मनकी अभिलाषा पूर्ण करती हैं उसीप्रकार वे वन भी कामद अर्थात् इच्छित पदार्थोंके देनेवाले थे ॥ १७८ ॥ अथवा वे वन स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्र जिसप्रकार

गिना । रागं वमदिवात्मीयमारक्तैः पुष्पपल्लवैः ॥ १८० ॥ पर्णानि सप्त बिभ्राण वन साप्तच्छदं बभौ । सप्त स्थानानि वा भर्तुर्दर्शयत्प्रतिपर्व यत् ॥ १८१ ॥ चांपकं वनमत्राभात्सुमनोभरभूषण । वन दीपांगवृक्षाणा विभु भक्तुमिवागत ॥ १८२ ॥ कम्रमाम्रवन रेजे कलकंठीकलस्वनैः । स्तुवानमिव भक्त्यैनमीशान पुण्यशासन ॥ १८३ ॥ अशोकवनमध्येऽभूदशोकानोकहो महान् । हैम त्रिमेखल पीठ समुत्तुंगमधिष्ठितः ॥ १८४ ॥ चतुर्गो-

---

धूपकी बाधा दूर करते हैं उसीप्रकार वे वन भी धूपकी बाधा दूर करते थे, जिसप्रकार स्त्रियोंके ओढनेके वस्त्रके पल्लव अर्थात् अंचल (ठोक) दैदीप्यमान होते हैं उसीप्रकार उन वनोंके पल्लव अर्थात् पत्ते भी बहुत अच्छे सुशोभित हो रहे थे और स्त्रियोंके वस्त्र जिसप्रकार पयोधर अर्थात् स्तनोंको स्पर्श करते हैं उसीप्रकार वे वन भी पयोधर अर्थात् बादलोंको स्पर्श करते थे अर्थात् बहुत ऊंचे थे ॥ १७९ ॥ उन चारों वनोंमेंसे पहिला अशोक वन प्राणियोंका शोक दूर करताहुआ सुशोभित हो रहा था तथा लालरंगके पुष्प और पत्तोंसे ऐसा जान पडता था मानों अपने अनुरागका [प्रेमका] वमन ही कर रहा हो ॥ १८० ॥ प्रत्येक गांठपर सात सात पत्तोंको धारण करनेवाले सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका दूसरा वन भी बहुत ही सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पडता था मानों वह वृक्षकी प्रत्येक गांठपर भगवानके सात परम स्थानोंको[1] ही दिखा रहा हो ॥ १८१ ॥ इसीप्रकार पुष्पोंके समूहोंसे सुशोभित चंपक वृक्षोंका वन भी ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये दीपांग जातिके वृक्षोंका वन ही आया हो ॥ १८२ ॥ तथा कोइलोंके मधुर शब्दोंसे अत्यंत सुंदर ऐसा आमके वृक्षोंका वन ऐसा अच्छा जान पडता था मानों पवित्र उपदेश देनेवाले भगवानकी भक्तिपूर्वक स्तुति ही कर रहा हो ॥ १८३ ॥ उन चारों वनोंमेंसे जो अशोक

---

१ सज्जाति सद्गृहस्थत्व पारिव्राज्य सुरेंद्रता । साम्राज्य परमार्हंत्य निर्वाणं चेति सप्तधा ॥ १ ॥ सज्जाति, उत्तम गृहस्थपना, दीक्षालेना, इंद्रपदपाना, चक्रवर्ती होना, अरहंत होना और निर्वाण पद पाना ये सात परमस्थान कहलाते हैं ।

पुरसंवद्धत्रिसालपरिवेष्टितः । छत्रचामरभृंगारकलशाद्यैरुपस्कृत. ॥ १८५ ॥ जंबूद्वीपस्थलीमध्ये भाति जंबूद्रुमो यथा । तथा वनस्थलमिध्ये स बभौ चैत्यपादप ॥ १८६ ॥ शाखाग्रव्याप्तविश्वाशः स रेजेऽशोकपादपः । अशोकमयमेवेद जगत्कर्तुमिवोद्यत ॥ १८७ ॥ सुरभीकृतविश्वाशै. कुसुमै. स्थगिताबरः । सिद्धाध्वानमिवारुधन्रेजेऽसो चैत्यपादप ॥ १८८ ॥ गारुडोपलनिर्माणै. पत्रैश्चित्रैश्चितोऽभित. । पद्मरागमयै. पुष्पस्तवकैः परितो वृतः ॥ १८९ ॥ हिरण्मयमहोदग्रशाखो वज्रेद्धबुध्नकः । कलालिकुलझकारैस्तर्जयन्निव मन्मथ ॥ १९० ॥ सुरासुरनरेंद्रांतरक्षेभालानविग्रह । स्वप्रभापरिवेषेण

बन था उसमें सुवर्णकी बनी हुई तीन कटनीदार बहुत ऊंची एक वेदिका थी और उस वेदिकापर विराजमान एक बहुत वडा अशोकवृक्ष था ॥ १८४ ॥ उस वेदिकाके चारोंओर तीन कोट थे, प्रत्येक कोटके चार चार दरवाजे थे और उनपर छत्र,चामर भृंगार कलश आदि मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ १८५ ॥ जिसप्रकार उत्तरकुरुमें जंबूद्वीप नामकी छोटी वेदिकापर जंबूवृक्ष सुशोभित होता है उसी-प्रकार उस बनकी वेदिकापर वह अशोक नामका चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहा था ॥ १८६ ॥ उस अशोकवृक्षकी शाखाओंके अग्रभाग समस्त दिशाओंमें व्याप्त हो रहे थे जिससे वह अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों समस्त संसारको अशोकमय अर्थात् शोकरहित करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ १८७ ॥ उस अशोकवृक्षके पुष्पोंकी सुगंधिसे समस्त दिशायें सुगंधित होगई थीं, पुष्पों-से समस्त आकाश भरगया था, जिससे वह चैत्यवृक्ष ऐसा जान पडता था मानों आकाशको रोक रहा ही हो ॥ १८८ ॥ मरकतमणियोंके बने हुये अनेक प्रकारके उसके पत्र बहुत ही अच्छे जान पडते थे और पद्मरागमणियोंके बने हुये फूलोंके गुच्छे उसपर चारोंओर लगे हुये थे ॥ १८९ ॥ सुव-र्णमय उसकी बहुत बडी २ शाखायें थीं, बज्रका बनाहुआ उसका मूलभाग था और भ्रमर बैठे हुये उसपर मधुर झंकार शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पडता था मानों वह कामदेवको तर्जना ही कर रहा हो ॥ १९० ॥ वह चैत्यवृक्ष सुर असुर चक्रवर्ती आदि सबके मनरूपी हाथियोंको बांध-

द्योतिताखिलदिग्मुख ॥ १९१ ॥ रणदालविवटाभिर्वधिरीकृतविश्वभू । भूर्भुव स्वर्जय भर्तु प्रतोपादिव घोपयन् ॥ १९२ ॥ ध्वजांशुकपरामृष्टनिर्मेघवनपद्धति । जगज्जनागसंलग्नमाग. परिमृजन्निव ॥ १९३ ॥ मूर्ध्ना छत्रत्रय बिभ्रन्मुक्तालम्बनभूषित । विभोस्त्रिभुवनैश्वर्य विना वाचेव दर्शयन् ॥ १९४ ॥ भेजिरे बुध्नभागेऽस्य प्रतिमा दिक्चतुष्टये । जिनेश्वरगणामिंद्राद्यै. संमवाप्ताभिषेचना ॥ १९५ ॥ गन्धस्रग्धूपदीपाद्यै फलैरपि सहाक्षतै. । तत्र नित्यार्चनं देवा जिनार्चाना वितेनिरे ॥ १९६ ॥ क्षीरोदोदकधौतागीरमलास्ता हिरण्ययी । प्रणिपत्यार्हतामर्चा॰ प्रानर्चुर्नृसुरासुरा ॥ १९७ ॥

नेकेलिये खंभेके समान था अर्थात् उससे सबका चित्त मोहित होता था वह वृक्ष अपने प्रभामंडलसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता था ॥ १९१ ॥ उसपर जो शब्द करते हुये घंटे लग रहे थे उनसे वह समस्त पृथ्वीको वहिरी (वधिर-सुनाई न देने योग्य) कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर स्वर्गलोक मध्यलोक और अधोलोक इन तीनों लोकोंमें भगवानकी जय घोषणा ही कर रहा हो ॥ १९२ ॥ उस वृक्षपर जो ध्वजायें लग रहीं थीं उनके वस्त्रोंसे बादलोंको पोंछ पोंछकर उसने आकाशमार्गको (बादल रहित) निर्मल कर दिया था और ऐसा जान पडता था मानों संसारी लोगोंमें जो पाप लग रहा है उसे ही पोंछ रहा हो ॥ १९३ ॥ उस चैत्यवृक्षके मस्तकपर तीन छत्र लगे हुये थे उन छत्रोंसें मोतियोंकी लडियें लटक रहीं थीं जिनसे वे बहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों भगवानके तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको बिना वचनके ही दिखला रहे हों ॥ १९४ ॥ चैत्यवृक्षके मूलभागमें चारों दिशाओंमें श्रीजिनेंद्रदेवकी चार प्रतिमायें विराजमान थीं जिनका इंद्रलोग भी स्वयं अभिषेक करते थे ॥ १९५ ॥ देवलोग वहांपर विराजमान उन प्रतिमाओंकी गंध, पुष्पमाल धूप, दीप फल अक्षत आदि द्रव्योंसे सदा पूजन करते थे ॥ १९६ ॥ क्षीरसागरके जलसे जिनका अभिषेक हुआ है और जो अत्यंत निर्मल हैं ऐसी उन सुवर्णमयी अरहंतकी प्रतिमाको नमस्कारकर मनुष्य, देव और असुर अर्थात् भवनवासी व्यंतर ज्यो-

स्तुवंति स्तुतिभिः केचिदर्थ्याभिः प्रणमंति च । स्मृत्वाऽवधार्य गायंति केचित्स्म सुरसत्तमा' ॥ १९८ ॥ यथाऽशोकस्तथाऽन्येऽपि विज्ञेयाश्चैत्यभूरुहाः । वने स्वे स्वे सजातीया जिनबिंबेद्धबुध्नकाः ॥१९९॥ अशोक सप्तपर्णश्च चंपकश्चूत एव च । चत्वारोऽमी वनेष्वासन्प्रोत्तुगाश्चैत्यपादपा' ॥ २०० ॥ चैत्याधिष्ठितबुध्नत्वादूढतन्नामरूढय. । शाखिनोऽमी विभाति स्म सुरेंद्रै. प्राप्तपूजनाः ॥ २०१ ॥ फलैरलङ्कृता दीप्राः स्वपादाक्रांतभूतलाः । पार्थिवाः

तिष्क देव सब ही उनकी पूजन करते थे ॥ १९७ ॥ कितने ही उत्तमोत्तम देव अनेकप्रकारके अर्थों-से भरे हुये स्तोत्रोंसे उन प्रतिमाओंकी स्तुति करते थे, कितने ही देव उन्हें नमस्कार करते थे और कितने ही देव उनके गुणोंका स्मरणकर तथा चिंतवनकर गान करते थे ॥ १९८ ॥ जिसप्रकार अ-शोकबनमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष था उसीप्रकार अन्य तीनों बनोंमें भी अपनी अपनी जातिका एक एक चैत्यवृक्ष था और उन सबके मूलभागमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान थीं ॥ १९९ ॥ अशोक सप्तपर्ण चंपक और आम्रबनमें अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्र इन नामोंके ही बहुत ऊंचे ऐसे चार चैत्यवृक्ष थे ॥ २०० ॥ उनके मूलभागमें चैत्य अर्थात् भगवानकी प्रतिमा विराजमान थीं इसलिये ही वे चैत्यवृक्ष कहलाते थे तथा इंद्र भी उनकी पूजन करता था ऐसे वे चैत्यवृक्ष वहुत ही अच्छे सुशोभित हो रहे थे ॥ २०१ ॥ पार्थिव अर्थात् पृथ्वीसे उत्पन्न हुये वे वृक्ष सचमुच ही पा-र्थिव अर्थात् राजाके समान थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा इष्ट फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलोंसे सुभोभित हो रहे थे, राजा जिसप्रकार तेजस्वी होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी तेजस्वी थे, राजा जिसप्रकार अपने पैरोंसे समस्त पृथ्वीको आक्रमण करते हैं उसीप्रकार उन वृक्षोंके जडभाग भी बहुतसी पृथ्वीको घेरे हुये थे और राजा जिसप्रकार पत्र अर्थात् सवारी वाहन आदिसे भरपूर होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी पत्र अर्थात् पत्तोंसे भरपूर थे ॥ २०२ ॥ उन वृक्षोंपर जो लाल कोंपल (नये पत्ते) लग रहे थे उनसे वे मानों अपना अनु-

सत्यमेवैते पार्थिवाः पत्रसमृताः ॥ २०२ ॥ प्रव्यजितानुरागाः स्वै. पल्लवैः कुसुमोत्करैः । प्रसाद दर्शयंतोऽतर्विभुं भेजुरिमे द्रुमाः ॥ २०३ ॥ तरूणामेव तावॉश्चेदीदृशो विभवोदय. । किमस्ति वाच्यमीशस्य विभवेऽनीदृशात्मनः ॥ २०४ ॥ ततो वनाना पर्यंते वभूव वनवेदिका । चतुर्भिर्गोपुरैस्तुंगैरारुद्धगगनांगणा ॥ २०५ ॥ कांचीयष्टिर्वनस्येव सा बभौ वनवेदिका । चामीकरमयै रत्नैः खचितांगी समततः ॥ २०६ ॥ सा बभौ वेदिकोदग्रा सचर्या समया वनं । भव्यधीरिव संश्रित्य सचर्या समयावन ॥ २०७ ॥ सुगुप्तागी सती वासौ रुचिरा सूत्रपा वन । परीयाय श्रतं जैनं सद्धीर्वा सूत्र-

---

राग अर्थात् भक्ति ही प्रगट कर रहे थे और उनपर जो पुष्पोंके समूह लगे हुय थे उनसे वे मानों अपनी प्रसन्नता ही दिखला रहे थे, इसप्रकार वे वृक्ष सबतरह भगवानकी सेवा कर रहे थे ॥२०३॥ इसप्रकार उन वृक्षोंका ही जब इतना बडा माहात्म्य है तब उपमारहित ऐसे भगवान ऋषभदेवकी केवल ज्ञानरूपी विभूतिके माहात्म्यका क्या पूछना है ॥ २०४ ॥ उन बनोंके अंतमें चारोंओर एक बनवेदी थी उसमें चारों दिशाओंमें चार बडे बडे ऊंचे दरवाजे थे, जिनसे ऐसा जान पडता था मानों उसने आकाशरूपी आंगनको ही रोक लिया हो ॥ २०५ ॥ वह बनवेदिका सुवर्णकी बनीहुई थी और उसमें चारोंओर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनसे वह ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उन बनोंकी करधनी ही हो ॥ २०६ ॥ अथवा वह बनकी वेदिका भव्य जीवोंकी बुद्धिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि सचर्या अर्थात् चारित्र सहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सचर्या अर्थात् रक्षासहित थी, भव्य जीवोंकी बुद्धि जिसप्रकार समयावनं अर्थात् शास्त्रकी मर्यादाके आश्रय रहती है अथवा शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसीप्रकार वह वेदी भी समयावनं अर्थात् बनके समीप थी और जिसप्रकार भव्य जीवोंकी बुद्धि उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट होती है उसीप्रकार वह वेदी भी उदग्र अर्थात् बहुत ऊंची थी ॥ २०७ ॥ अथवा वह वेदिका सम्यग्दृष्टी जीवकी बुद्धिके समान जान पडती थी, क्योंकि सम्यग्दृष्टीकी सुबुद्धि जिसप्रकार सुगुप्तां-

पावन ॥ २०८ ॥ घंटाजालानि लंबानि मुक्तालंबनकानि च । पुष्पस्रजश्च सरेजुरमुष्या गोपुरं प्रति ॥ २०९ ॥ राजतानि बभुस्तस्या गोपुराण्यष्टमगलैः । सगीतातोंद्यनृत्तैश्च रत्नाभरणतोरणैः ॥२१०॥ तत. परमलंचक्रुर्विविधा ध्वजपक्तय । महीं वीथ्यतरालस्था हेमस्तभाग्रलंबिता ॥ २११ ॥ सुस्थास्ते मणिपीठेपु ध्वजस्तभा. स्फुरद्रुचः । विरेजुर्जगता मान्याः सुराजान इवोन्नता ॥ २१२ ॥ अष्टाशीत्यगुलान्येपा रुंद्रत्व परिकीर्तित । पचविंशतिको-

---

गी अर्थात् पापाचारोंसे अपने शरीरको छिपानेवाली वा पापाचार रहित होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी सुगुप्तांगी अर्थात् सुरक्षित थी, सुबुद्धि जिसप्रकार समीचीन होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी समीचीन थी, सुबुद्धि जिसप्रकार मनोहर होती है उसीप्रकार वह वेदिका भी मनोहर थी, सुबुद्धि जिस प्रकार सूत्रपा अर्थात् सिद्धांत शास्त्रकी रक्षा करनेवाली होती है उसी प्रकार वह वेदिका भी सूत्रपा अर्थात् सूत्रबद्ध (सूत व डोराके नापसे बनी हुई) थी ऊंची नीची नहीं थी और सुबुद्धि जिसप्रकार सूत्रोंसे पवित्र ऐसे जैनशास्त्रके चारोंओर रहती है उसीप्रकार वह वेदिका भी उन बनोंको चारोंओरसे घेरे हुये थी ॥ २०८ ॥ उस वेदीके प्रत्येक दरवाजेमें बहुतसे घंटा लटक रहे थे तथा मोतियोंकी मालायें और पुष्पोंकी मालायें भी लटकतीं हुई सुशोभित हो रहीं थीं ॥ २०९ ॥ उस वेदिकाके चारों दरवाजे सफेद चांदीके बने हुये थे, उनके समीप ही अष्ट मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे, उनपर संगीत (गाना) हो रहा था, बाजे बज रहे थे, नृत्य हो रहा था और अनेक रत्नमय आभरणोंसे सुशोभित तोरण लटक रहे थे, जिनसे वे दरवाज बहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ २१० ॥ उस वेदिकाके आगे बडे रास्तोंके इधर उधरकी जमीनमें सुवर्णके खंभोंपर लटकती हुई अनेक प्रकारकी ध्वजायें थीं जो कि वहांकी पृथ्वीको सुशोभित कर रही थीं ॥ २११ ॥ उन ध्वजाओंके खंभे नीतिवान राजाके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार राजा मणिमय सिंहासनपर विराजमान होता है उसीप्रकार वे खंभे भी मणिमय

दडान्यमीपामतर विदु ॥ २१३ ॥ सिद्धार्थचैत्यवृक्षाश्च प्राकारवनवेदिका' । स्तूपा' सतोरणा मानस्तभाः स्तभाश्च केतवा ॥ २१४ ॥ प्रोक्तास्तीर्थकृदुत्सेधादुत्सेधेन द्विषड्गुणाः । दैर्ध्यानुरूपमेतेपा रौद्रमाहुर्मनीषिण. ॥ ११५ ॥ वनाना सगृहाणा च पर्वताना तथैव च । भवेदुन्नतिरेपैव वर्णिताऽऽगमकोविदैः ॥ २१६॥ भवेयुर्गिरयो रुद्रा' स्वोत्सेधादष्टसगुण । स्तूपाना मुच्छ्रते व्यास साति रेक विदो विदुः ॥२१७॥ उगति वेदिकादीना स्वोत्सेधस्य चतुर्थक । पार्थव परमज्ञानमहाकूपारपारगाः ॥ २१८ ॥ स्रग्वस्त्रसहसानाव्जहसवीनमृगेशिना । वृपभेभेद्रचक्राणा ध्वजाः स्युर्दशभेदका. ॥ २१९ ॥

वेदियोंपर खडे थे, राजा जिसप्रकार कांतिमान् होता है उसीप्रकार वे खंभे भी देदीप्यमान थे, राजा जिसप्रकार जगतपूज्य होता है उसीप्रकार वे खंभे भी जगतमें मान्य अर्थात् उत्कृष्ट थे और राजा जिसप्रकार उन्नत अर्थात् उत्कृष्ट होता है उसीप्रकार वे खंभे भी उन्नत अर्थात् ऊंचे थे ॥२१२॥ ये ध्वजाओंके खंभे अठासी अंगुल अर्थात् श्रीवृषभदेवके हाथसे आठ अंगुल कम चार हाथ चौडे थे और प्रत्येक खंभेका अंतर पच्चीस धनुष था ॥ २१३ ॥ पहिले जो चैत्यवृक्ष कह चुके हैं उनकी तथा, आगे जो सिद्धार्थवृक्ष कहेंगे उनकी, कोट, वनवेदिका, रत्नोंके स्तूप, तोरण सहित मानस्तंभ और ध्वजाओंके खंभ इन सबकी उंचाई तीर्थकरोंके शरीरकी उंचाईसे वारह गुनी होती है और विद्वान लोगोंने इनकी चौडाई मोटाई आदि लंवाईके अनुसार ही वतलाई है ॥-२१४-२१५॥ इसीप्रकार आगमको जाननेवाले गणधरआदि देवोंने वन, वनके मकान और पर्वत इन सबकी उंचाई तीर्थकरके शरीरसे वारहगुणी वतलाई हे ॥ २१६ ॥ पर्वतोंकी चौडाई उंचाईसे आठगुणी होती है और स्तूपोंका व्यास अर्थात् लंवाई चौडाई गणधरादि देवोंने उंचाईसे कुछ अधिक बतलाई है ॥ २१७ ॥ परमज्ञानरूपी महासमुद्रके पारगामी गणधरदेवोंने वनवेदीकी चौडाई उंचाईसे चौथाई बतलाई है ॥ २१८ ॥ ऊपर कही ध्वजाओंमें अलग अलग माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस, गरुड, सिंह, बैल, हाथी, और चक्र, इनके चिन्ह थे जिनसे उन ध्वजाओंके दश भेद होगये

अष्टोत्तरशतं ज्ञेयाः प्रत्येक पालिकेतनाः । एकैकस्यां दिशि प्रोच्चास्तरंगास्तोयधेरिव ॥ २२० ॥ पवनादोलितस्तेषां केतूनामशुकोत्करः । व्याजुहूषुरिवाभासीज्जिनेज्यायै नरामरान् ॥ २२१ ॥ स्रग्ध्वजेषु स्रजो दिव्याः सौमनस्यो ललबिरे । भव्याना सौमनस्याय कल्पितास्त्रिदिवाधिपैः ॥ २२२ ॥ श्लक्ष्णाशुकध्वजा रेजु पवनादोलितोत्थित. । व्योमाबुधेरिवोद्भूतास्तरगास्तुगमूर्तयः ॥ २२३ ॥ बर्हिध्वजेषु बर्हाली लीलयोत्क्षिप्य बर्हिणः । रेजुग्रस्ताशुकाः सर्पबुध्यैव ग्रस्तकृत्तय. ॥ २२४ ॥ पद्मध्वजेषु पद्मानि सहस्रदलसंस्तरैः । नभ.सरसि फुल्लानि सरोजानीव रेजिरे ॥ २२५ ॥ अधःप्रतिमया तानि सक्रा-

---

थे ॥ २१९ ॥ एक एक दिशामें एक एक प्रकारकी ध्वजायें एकसौ आठ थीं अर्थात् एक एक दिशामें दशोंप्रकारकी ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं, चारों दिशाओंमें चारहजार तीनसौ वीस थीं । वे ध्वजायें बहुत ऊंची थीं इसलिये आकाशमें समुद्रकी लहरोंके समान जान पडती थीं ॥ २२० ॥ उन ध्वजाओंके वस्त्रोंका समुदाय वायुके झकोरेसे उड रहा था जिससे वे ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं मानों भगवानकी पूजा करनेकेलिये मनुष्य और देवोंको बुला रही ही हों ॥ २२१ ॥ उन ध्वजाओंमेंसे जिनपर मालाओंके चिन्ह थे उनपर फूलोंकी वनी हुई दिव्य मालाओंके चिन्ह ऐसे लटक रहे थे मानों भव्य जीवोंका सौमनस्य अर्थात् सरल परिणाम दिखलानेकेलिये ही इन्द्रोंने उन्हें वनाया हो ॥ २२२ ॥ वस्त्रोंके चिन्हवाली ध्वजायें महीन और सफेद कपडेकी बनी हुई थीं और वायुके झकोरेसे उडती हुई वे बडी बडी तथा ऊंची ध्वजायें ऐसी जान पडती थीं मानों आकाशरूपी समुद्रकी तरंगे ही उठ रही हों ॥ २२३ ॥ मयूरके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो मयूरोंके चिन्ह थे वे लीलापूर्वक अपनी पूंछको फैलाये हुये थे और सांप समझकर वस्त्रोंको निगलते हुये ऐसे जान पडते थे मानों सांपकी कांचलीको ही निगल रहे हों ॥ २२४ ॥ कमलके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो एकहजार दलके कमलोंके चिन्ह थे वे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों आकाशरूपी सरोवरमें कमल ही फूल रहे हों ॥ २२५ ॥ रत्न खचित पृथ्वीपर उन ध्वजाओंमें लगे हुये कृत्रिम कमलोंके जो प्रतिबिंब पड

तानि महीतले । भ्रमरान्मोहयति स्म पद्मबुध्याऽनुपातिन ॥ २२६ ॥ तेषां तदातनीं शोभा दृष्ट्वा नान्यत्रभाविनीं । कजान्युत्सृज्य कार्त्स्न्येन लक्ष्मीस्तेषु पद दधे ॥ २२७ ॥ हंसध्वजेष्वमुहंसाश्चञ्चा ग्रसितवासस. । निजां प्रसारयतो वा द्रव्यलेश्यां तदात्मना ॥ २२८ ॥ गरुत्मत्ध्वजदण्डाग्राण्यध्यासीना विनायका । रेजु' स्वै पक्षविक्षेपैर्लिलङ्घयिषवो नु ख ॥ २२९ ॥ वभुर्नीलमणिक्ष्मास्था गरुटा प्रतिमागता । समाक्रष्टुमिवाहींद्रान्प्रविशतो रसातल ॥ २३० ॥ मृगेंद्रकेतनाग्रेषु मृगेंद्राः क्रमधित्सया । कृतयत्ना विरेजुस्ते जेतु वा सुरसामजान् ॥ २३१ ॥ स्थूलमुक्ताफलान्येषां मुखलम्बीनि रेजिरे । ग-

रहे थे वे कमल समझकर उनपर पडते हुये भ्रमरोंको वडा ही भ्रम उत्पन्न करते थे ॥ २२६ ॥ ध्वजाओंमें लगे हुये कमलोंकी उससमयकी जो शोभा थी वह दूसरी जगह कहीं नहीं थी इसलिये उन्हें देखकर लक्ष्मीने समस्त कमलोंको छोडकर उन्हींमें अपना निवास स्थान वनाया था अर्थात् लक्ष्मी ध्वजाओंके चिन्हरूप उन्हीं कमलोंमें रहती थी ॥ २२७ ॥ हंसोंके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हंसोंके चिन्ह लग रहे थे वे अपनी चोंचसे वस्त्रोंको पकडे हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों मुंहमें पकडे हुये सफेद वस्त्रके वहानेसे अपनी द्रव्यलेश्या अर्थात् सफेद रंग ही उगलते हुये फैला रहे हों ॥ २२८ ॥ गरुडके चिन्हवाली ध्वजाओंमें खंभोंके ऊपर ध्वजाओंपर गरुडोंके चिन्ह वने हुये थे और अपने पंखोंको हिलाते हुये वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशको उलंघन करना ही चाहते हों ॥ २२९ ॥ नीलमणिकी वनी हुई पृथ्वीमें जो उन गरुडोंका प्रतिबिंव पड रहा था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वे गरुड नागेंद्रको पकडनेकेलिये पातालमें (अधोलोकमें) ही प्रवेश कर रहे हों ॥ २३० ॥ सिंहके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो सिंहोंके चिन्ह थे वे उडान मारते हुये ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों देवलोगोंके हाथियोंको जीतनेकेलिये ही प्रयत्न कर रहे हों ॥ २३१ ॥ उन चित्ररूप सिंहोंके मुखमेंसे जो बडे बडे मोती लटक रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों बडे २ हाथियोंके मस्तक विदीर्ण करनेसे इकट्ठा हुआ यश ही लटक रहा हो ॥ २३२ ॥ वैलके चिन्हवाली

जेद्रकुभसभेदात्साचितानि यशांसि वा ॥ २३२ ॥ वृषाः शृंगाग्रससक्तलंबमानध्वजांशुकाः । रेजुर्विपक्षजीत्येव सलब्धजयकेतनाः ॥ २३३ ॥ उत्पुष्करैः करैरूढध्वजा रेजुर्गजाधिपाः । गिरींद्रा इव कूटाग्रनिपतत्पृथुनिर्झराः ॥ २३४ ॥ चक्रध्वजाः सहस्त्रारैश्चक्रैरुत्सर्पदंशुभिः । बभुर्भानुमता सार्द्धं स्पर्द्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥ २३५ ॥ नभः परिमृजतो वा श्लिष्यतो वा दिगंगनाः । भुवमास्फालयतो वा स्फूर्जंति स्म महाध्वजाः ॥ २३६ ॥ इत्यमी केतवो मोहनिर्जयोपार्जिता बभुः । विभोस्त्रिभुवनेशत्वं शसतोऽनन्यगोचरं ॥ २३७ ॥ दिश्येकस्यां ध्वजाः सर्वे सहस्रं स्यादशीतियुक् । चतसृष्वथ ते दिक्षु शून्यद्वि-

---

ध्वजाओंमें जिनके सींगोंमें ध्वजाओंके वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे वैलोंके चिन्ह वने हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों अपने शत्रुओंको जीतलेनेसे उन्हें जीतकी ध्वजा ही प्राप्त हुई हों ॥२३३॥ हाथीके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो हाथी वने हुये थे उनकी सूंड ऊपरको उठ रही थी और उन सूंडोंमें ध्वजायें लग रहीं थीं, उन ध्वजाओंसे वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानों जिनके शिखरपर वडे वडे निर्झरने वह रहे हों ऐसे वडे पर्वत ही हों ॥ २३४ ॥ इसीप्रकार चक्रके चिन्हवाली ध्वजाओंमें जो चक्रके चिन्ह वने हुये थे उनमें हजार हजार आरा (चक्रके वीचमें लगी हुई लकडियोंके समान) थे तथा उनकी किरणें चारोंओर फैल रही थीं, उन चक्रोंसे वे ध्वजायें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों सूर्यके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही तैयार हुई हों ॥ २३५ ॥ इसप्रकार वे सव महा ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानों आकाशको वुहारकर साफ कर रही हों, अथवा दिशारूप स्त्रियोंसे आलिंगन ही कर रही हों, अथवा पृथ्वीकी ओर देख ही रही हों ॥ २३६ ॥ इसप्रकार मोहनीयकर्मको जीतलेनेसे प्राप्त हुई वे ध्वजायें ऐसी सुशोभित हो रहीं थीं मानों जो अन्य किसीमें न पाया जाय ऐसे भगवानके तीनों लोकोंके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहीं हों ॥ २३७ ॥ एक एक दिशामें वे सब ध्वजायें एकहजार अस्सी थीं और चारों दिशाओंमें सब ध्वजाओंकी संख्या चार हजार तीनसौ वीस थी ॥ २३८ ॥ उन ध्वजाओंके समूहके वाद ही भीतरकी ओर एक वडाभारी कोट

त्रिकसागरा ॥ २३८ ॥ ततोऽनतरमेवातर्भागे सालो महानभूत् । श्रीमानर्जुननिर्माणो द्वितीयोऽप्यद्वितीयक ॥ २३९ ॥ पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि रराजिरे । हासलक्ष्मीर्भुवो नून पुंजीभूता तदात्मना ॥ २४० ॥ तेष्वाभरणविन्यस्ततो रणेषु परा द्युति. । तेने निधिभिरुद्भूतैः कुबेरैश्वर्यहासिनी ॥ २४१॥ शेषो विधिरशेषोऽपि सालेनानेन वर्णितः । पौनरुक्त्यभयान्नात्र तत्प्रपंचो निदर्शितः ॥ २४२ ॥ अत्रापि पूर्ववद्वेद्य द्वितय नाट्यशालयो । तद्वद्धूपघटी-द्वंद्व महावीथ्युभयातयोः ॥ २४३ ॥ ततो वीथ्यंतरेष्वस्याकक्षायां कल्पभूरुहा । नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्वनमासीत्प्रभास्वर ॥ २४४ ॥ कल्पद्रुमा. समुत्तुगाः स-

---

था जोकि चांदीका बनाहुआ वहुत हीं सुशोभित था और द्वितीय अर्थात् दूसरा होकर भी अद्वितीय अर्थात् वहुत ही सुंदर था भावार्थ—वह दूसरा कोट था ॥ २३९ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटके चार बडे २ दरवाजे कहे थे उसीप्रकार इस कोटके भी चांदीके वने हुये चार वडे दरवाजे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों उन दरवाजोंके वहानेसे पृथ्वीरूपी देवीकी हास्यरूपी लक्ष्मी ही एक जगह इकट्ठी हुई हो ॥ २४० ॥ उन दरवाजोंपर जो अनेक आभरण सहित तोरण लगे हुये थे और समीपमें ही जो निधियां रक्खी हुई थीं उनसे उन दरवाजोंमें कुवेरके ऐश्वर्यको भी हंसनेवाली अर्थात् उसको भी नीचा दिखानेवाली ऐसी उत्कृष्ट कांति फैल रही थी ॥ २४१ ॥ उस कोटकी और सव शोभा पहिले कोटके समान ही जानना चाहिये, यहां यदि वही वर्णन फिर किया जाय तो पुनरुक्त दोष होगा इसलिये यहां उसका पूरा वर्णन नहीं दिखलाते हैं ॥ २४२ ॥ जिसप्रकार पहिले कोटमें दो नाट्यशालायें थीं उसीप्रकार इसकोटमें दो नाट्यशालायें समझनी चाहिये और वडे रास्तेके दोनों ओर जैसे पहिले धूप घट रक्खे हुये वतलाये थे उसीप्रकार यहां भी वडे रास्तेके दोनों ओर दो धूपघट रक्खे हुये थे ॥ २४३ ॥ धूपघटोंके बाद भीतरकी ओर कुछ दूर आगे जाकर रास्ताओंके वगलमें कल्पवृक्षोंका वन था, यह वन अनेक प्रकारके रत्नोंकी कांतिके फैलनेसे अत्यंत प्रकाशमान हो रहा था ॥ २४४ ॥ उस बनके वे कल्पवृक्ष अपनी शोभासे राजाओंके समान जान पडते थे क्योंकि

च्छाया. फलशालिनः । नानास्त्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायते स्म संपदा ॥ २४५ ॥ देवोदक्कुरवो नूनमागताः सेवितु जिन । दशप्रभेदैः स्वै. कल्पतरुभिः श्रेणिसात्कृता· ॥ २४६ ॥ फलान्याभरणान्येपामशुकानि च पल्लवाः । स्रजः शाखाग्रलम्बिन्यो महाप्रारोहयष्टय. ॥ २४७ ॥ तेपामधस्तलच्छायामध्यासीना सुरोरगा । स्वावासेपु धृतिं हित्वा चिर तत्रैव रेमिरे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्का ज्योतिरगेपु दीपागेपु च कल्पजा । भावनेन्द्राः स्रगगेपु यथायोग्या धृतिं दधु ॥ २४९ ॥ स्रग्वि साभरण भास्वदशुक पल्लवाधर । ज्वलद्दीप वन कात वधूवरमिवारुचत् ॥ २५० ॥ अतर्वणमथाभूवन्निह सिद्धार्थपादपाः । सिद्धा-

---

राजा समुत्तुंग अर्थात् उत्कृष्ट होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी समुत्तुंग अर्थात् ऊंचे थे, राजा जिसप्रकार सच्छाया अर्थात् उत्तम आश्रय देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी सच्छाया अर्थात् अच्छी छायावाले थे, राजा जिसप्रकार फलशाली अर्थात् अनेक तरहके फल देनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी फलशाली अर्थात् फलोंसे सुशोभित थे और राजा जिसप्रकार अनेक प्रकारकी माला वस्त्र आभूषण आदिसे सुसज्जित होते हैं उसीप्रकार वे वृक्ष भी माला वस्त्र आभूषण आदि सहित थे ॥ २४५ उन कल्पवृक्षोंके बनोंको देखकर ऐसा जान पडता था मानों पंक्तिरूपसे अपने दशप्रकारके कल्पवृक्षोंको साथ लेकर देवकुरु और उत्तरकुरु ही भगवानकी सेवा करनेके लिये आये हों ॥२४६॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान सुशोभित हो रहे थे, पत्ते वस्त्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे और शाखाओंके ऊपर लटकती हुई मालायें वटवृक्षकी जटाओंके समान जान पडती थीं ॥२४७॥ जो देव और नागकुमार आदि उन वृक्षोंके नीचे उनकी छायामें बैठते थे वे फिर अपने रहनेके विमानोंमें वा भवनोंमे भी प्रेम छोड देते थे और चिरकालतक उन्हीं वृक्षोंके नीचे क्रीडा किया करते थे ॥ २४८ ॥ ज्योतिष्क जातिके देवोंको ज्योतिरंग जातिके कल्पवृक्षोंके नीचे अच्छा लगता था, कल्पवासी देवोंको दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंमें प्रेम था और भवनवासियोंके इंद्र मालांग जातिके वृक्षोंको पसंद करते थे, इसप्रकार सब देव अपनेको अच्छे लगनेवाले यथायोग्य वृक्षोंके नीचे क्रीडा

चोधिष्ठिताधीद्धबुध्ना ब्रध्ना इवोद्बुच ॥ २५१ ॥ चैत्यद्रुमेषु पूर्वोक्ता वर्णनाऽत्रापि गोज्यता । किंतु कल्पद्रुमा एते सकल्पितफलप्रदा ॥ २५२ ॥ कचिद्वाप्य कचिन्नद्य कचित्सैकतमडल । कचित्सभागृहादीनि बभुरत्र वनांतरे ॥ २५३ ॥ वनवीथीमिमामतर्वव्रेऽसौ वनवेदिका । कलधौतमयी तुग-

करते थे ॥ २४९ ॥ वह कल्पवृक्षोंका वन वर वधू (दूल्हा दुलहिन) के समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार वरवधू सृग्वी अर्थात् मालाओंसे अलंकृत रहते हैं उसीप्रकार वह बन भी मालाओंसे सुशोभित था, वरवधू जिसप्रकार आभूपण पहने रहते हैं उसीप्रकार वह बन भी आभूपणोंसे सुशोभित था, वरवधू जिसप्रकार सुंदर वस्त्र पहने रहते हैं, उसीप्रकार उस वनमें भी देदीप्यमान वस्त्र टंगे हुये थे, जिसप्रकार वरवधुओंके अधर (ओठ) लाल होते हैं उसीप्रकार उसवनके पत्ते लाल थे, वरवधुओंके चारोंओर जिसप्रकार दीपक जलते रहते हैं उसीप्रकार उस बनमें भी दीपांग जातिके वृक्षोंपर दीपक जल रहे थे और वरवधू जिसप्रकार मनोहर होते हैं उसीप्रकार वह बन भी मनोहर था ॥ २५० ॥ उन कल्पवृक्षोंके बनके मध्यभागमें सिद्धार्थवृक्ष थे उन वृक्षोंके मूलभागमें भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे उनका मूलभाग बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था और वे वृक्ष प्रकाशमान सूर्यके समान जान पडते थे ॥ २५१ ॥ पहिले अशोक आदि बनोंमें जो चैत्यवृक्षोंकी शोभा वर्णन की गई है वही सब शोभा इन सिद्धार्थवृक्षोंकी समझनी चाहिये, किंतु इनमें और उनमें अंतर केवल इतना ही था कि ये कल्पवृक्ष इच्छानुसार फल देनेवाले थे ॥ २५२ ॥ उन कल्पवृक्षोंके बनमें कहींपर वावडियां थी, कहींपर नदियां थीं, कहींपर वालुओंके ढेर थे और कहींपर सभागृह बने हुये सुशोभित हो रहे थे ॥२५३॥ उस कल्पवृक्षोंके बनको चारोंओरसे बनवेदिका घेरे हुये थी, वह वन वेदिका सुवर्णकी बनी हुई थी और उसके चार बडे २ दरवाजे थे ॥२५४॥ उन दरवाजोंमें तोरण और मंगलद्रव्य आदि संपदायें पहिली वेदिकाके

चतुर्गोपुरसगता ॥ २५४ ॥ तत्र तोरणमागल्यसपद. पूर्ववर्णिता: । गोपुराणि च पूर्वोक्तमानोन्मानान्यमुत्र च ॥ २५५ ॥ प्रतोलीं तामयोल्लंघ्य परत' परिवीथ्यभात् । प्रासादपक्तिर्विविधा निर्मिता सुरशिल्पिभिः ॥ २५६ ॥ हिरण्मयमहास्तभा वज्राविष्ठानवधना: । चद्रकातशिलाकातभित्तयो रत्नचित्रिता: ॥ २५७ ॥ सुहर्म्या द्वितला' केचित्केचिच्च त्रिचतुस्तला. । चद्रशालायुज केचिद्वलभिच्छदशोभिन: ॥ २५८ ॥ प्रासादास्ते स्म राजते स्वप्रभामग्नमूर्तय. । नभोलिहाना: कूटाग्रैर्ज्योत्स्नयेव विनिर्मिता' ॥ २५९ ॥ कूटागारसभागेहप्रेक्षागाला' क्वचिद्वमु. । सशय्या सासनास्तुंगसोपाना: श्वेतिताम्बरा: ॥ २६० ॥ तेषु देवा' सगधर्वा: सिद्धा विद्याधरा. सदा । पन्नगा: किन्नरै: सार्द्धमरमत कृतादरा: ॥ २६१ ॥ केचिद्गानेषु वादित्रवादने केचिदुद्यता: ।

समान जानना चाहिये, तथा दरवाजोंकी लंबाई चौडाई उंचाई आदि भी पहिलेके समान ही थी ॥२५५॥ गोपुरके बडे दरवाजेके आगे भीतरकी ओर बडे रास्तेके इधर उधर अनेक प्रकारके मकानोंकी पंक्तियां थीं जोकि कारीगर देवोंने बनाई थीं ॥ २५६ ॥ उन मकानोंके बडे २ स्तंभ सुवर्णके बने हुये थे, नीम [जमीनके नीचेकी दीवाल] वज्रकी बनी हुई थी, मनोहर दीवालें चंद्रकांतमणियोंकी बनी हुई थीं और उन दीवालोंमें अनेकप्रकारके रत्न जडे हुये थे ॥ २५७ ॥ उन मकानोंमेंसे कितने ही मकान दुमंजिले थे, कितने ही तिमंजिले और कितने ही चार मंजिलके थे, कितने ही मकानों-पर अटारियां बनी हुईं थीं और कितने ही मकान बंशपंजरके आकारके थे, तथा कितने ही गोल, कोई चार दरवाजेवाले और कोई बडे ही सुंदर आलीशान मकान बने हुये थे ॥२५८॥ वे मकान अपनी कांतिके समूहमें डूबे हुये थे तथा अपनी शिखरोंसे आकाशको स्पर्श करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों चांदनीसे ही बने हों ॥२५९॥ कहींपर कूटागार अर्थात् अनेक शिखरवाले मकान थे, कहींपर सभागृह और कहींपर नाट्यशालायें सुशोभित हो रहीं थीं, उन मकानोंमें शय्या आसन आदि रक्खे हुये थे, ऊंची ऊंची सीढियां बनी हुईं थीं और वे मकान अपनी कांतिसे आकाशको सफेद कर रहे थे ॥ २६० ॥ उन मकानोंमें देव, गंधर्व, सिद्ध अर्थात् एक प्रकारके देव, विद्याधर नागकुमार और

संगीतनृत्यगोष्ठीभिर्विभुमाराधयन्नमी ॥ २६२ ॥ वीथीना मध्यभागेऽत्र स्तूपा नव समुद्ययु । पद्मरागमयोत्तुंगवपुष खाग्रलंघिन ॥ २६३ ॥ जनानुरागास्ताद्रूप्यमापन्ना इव ते वभु । सिद्धार्हत्प्रतिबिंबोघैरभितश्चित्रमूर्त्तय. ॥ २६४ ॥ स्वोन्नत्या गगनाभोग रुधाना स्म विभात्यमी । स्तूपा विद्याधराराध्या प्रासेव्या मेरवो यथा ॥ २६५ ॥ स्तूपा समुच्छ्रिता रेजुराराध्या. सिद्धचारणै. । ताद्रूप्यमिव विभ्राणा नवकेवललब्धय ॥ २६६ ॥ स्तूपानामन्तरेष्वेषा रत्नतोरणमालिका: । वभुरिंद्रधनुर्मय्य इव चित्रितखांगण। ॥ २६७ ॥ सच्छत्रा सपताकाश्च सर्वमंगलसभृता । राजान इव रेजुस्ते स्तूपा कृतजनोत्स-

---

किन्नर जातिके देव वडे आदरके साथ क्रीडा करते थे ॥ २६१ ॥ उन क्रीडा करनेवाले देवोंमेंसे कोई गानेको उद्यत हो रहा था और कोई वाजे वजानेकेलिये उद्यत हो रहा था, इसप्रकार वे देव संगीत नृत्य आदिके द्वारा भगवानकी आराधना कर रहे थे ॥ २६२ ॥ वडे रास्तेके मध्यभागमें नौ स्तूप खडे हुये थे जो पद्मरागमणियोंके वनें हुये तथा आकाशको उलंघन करते हुये वहुत ही ऊंचे थे ॥ २६३ ॥ उन स्तूपोंपर अरहंत और सिद्ध भगवानकी प्रतिमायें विराजमान थीं जिनसे वे चित्र विचित्रके वहुत ही सुशोभित हो रहे थे तथा पद्मरागमणियोंके होनेसे ऐसे जान पडते थे मानों सव मनुष्योंका अनुराग ही मिलकर स्तूप सरीखा वन गया हो ॥ २६४ ॥ वे स्तूप ठीक मेरुपर्वतके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वत ऊंचा है उसीप्रकार वे स्तूप भी उंचाईसे आकाशको घेर रहे थे, जिसप्रकार मेरु पूज्य है उसीप्रकार वे स्तूप भी पूज्य थे और विद्याधरलोग जिसप्रकार मेरुकी आराधना करते हैं उसीप्रकार वे स्तूपोंकी आराधना करते थे ॥ २६५ ॥ अनेक चारणमुनि जिनकी आराधना करते हैं ऐसे वे वहुत ऊंचे स्तूप ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानकी केवल लब्धियां स्तूपरूप ही परिणत हो गई हों ॥ २६६ ॥ उन स्तूपोंके वीचमें एकसे दूसरे स्तूपतक रत्नोंके वंदनवार वंधे हुये थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों आकाशको अनेक वर्णके चित्र विचित्रित करते हुये वे इंद्रधनुषके ही वने हुये हों ॥ २६७ ॥ अथवा वे स्तूप राजा-

वा॰ ॥ २६८ ॥ तत्राभिषिच्य जैनेंद्रीरर्चाः कीर्तितपूजिताः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य भव्या मुदमयासिषुः ॥ २६९ ॥ स्तूपहर्म्यावलीरुद्धां भुवमुल्लंघ्य ता ततः । नभ स्फटिकसालोऽभाज्जातं खमिव तन्मय ॥२७०॥ विशुद्धपरिणामत्वाज्जिनपर्यंतसेवनात् । भव्यात्मेव बभौ सालस्तुगः सदृत्ततान्वित॰ ॥२७१॥ खगेंद्रैरुपसेव्यत्वात्तुगत्वादचलत्वत. । रूप्याद्रिरिव ताद्रूप्यमापन्नः पर्यगाद्विभु ॥ २७२ ॥ दिक्षु सालोत्तमस्यास्य गोपुराण्युदाशिश्रियन् । पद्मरागमयान्युच्चै-

ओंके समान जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार राजाओंपर छत्र लगा रहता है और समीपमें ध्वजायें फहराती हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी छत्र लग रहा था और उनके समीप ही ध्वजायें फहरा रहीं थीं, जिसप्रकार राजाओंके समीप मंगलद्रव्य रक्खे रहते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंके समीप भी मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे और जिसप्रकार राजाओंकेलिये लोग उत्सव करते हैं उसीप्रकार उन स्तूपोंपर भी लोग उत्सव कर रहे थे ॥ २६८ ॥ उन स्तूपोंपर जो अरहंतकी प्रतिमायें विराजमान थीं भव्यलोग उनका अभिषेक करते थे, स्तुति और पूजा करते थे तथा अंतमें प्रदक्षिणा देकर वडे ही प्रसन्न होते थे ॥ २६९ ॥ उन स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंके घेरनेवाली पृथ्वीको उल्लंघनकर अर्थात् उनके वाद भीतरकी ओर कुछ दूर जाकर आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकका बना हुआ कोट था जोकि ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों आकाश ही कोटका रूप धारणकर भगवानकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥ २७० ॥ अथवा वह कोट भव्यजीवके समान सुशोभित हो रहा था क्योंकि जिसप्रकार भव्यजीवके परिणाम विशुद्ध होते हैं उसीप्रकार उस कोटका परिणमन अर्थात् बनावट भी विशुद्ध अर्थात् स्वच्छ थी, भव्यजीव जिसप्रकार भगवानके समीप ही सेवा करते हैं उसीप्रकार वह कोट भी भगवानके समीप सेवा करता था, भव्यजीव जिसप्रकार तुंग अर्थात् श्रेष्ठ होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी तुंग अर्थात् ऊंचा था और भव्यजीव जिसप्रकार सद्वृत्त अर्थात् सदाचारी होते हैं उसीप्रकार वह कोट भी सद्वृत्त अर्थात् सुगोल था ॥ २७१ ॥ अथवा वह कोट ऐसा जान प-

भ्व्यरागमयानि वा ॥ २७३ ॥ ज्ञेयाः पूर्ववदत्रापि मगलद्रव्यसंपद. । द्वारोपाते च निधयो ज्वलद्गंभीरमूर्तयः ॥ २७४ ॥ सतालमगलच्छत्रचामरध्वजदर्पणाः । सुप्रतिष्ठकभृंगारकलशा' प्रतिगोपुर ॥ २७५ ॥ गदादिपाणयस्तेषु गोपुरेष्वभवन्सुरा. । क्रमात्सालत्रये द्वा'स्था भौमभावनकल्पजाः ॥ २७६ ॥ ततः स्वस्फाटिकात्सालादापीठात समायता. । भित्तयः षोडशाभूवन्महावीथ्यतराश्रिताः ॥ २७७ ॥ नभःस्फटिकनिर्माणा. प्रसरन्निर्मलत्विषः । आद्यपीठ-

डता था मानों विजयार्द्ध पर्वत ही कोटरूप होकर भगवानकी प्रदक्षिणा दे रहा हो, क्योंकि जिसप्रकार विजयार्द्ध पर्वतपर विद्याधर लोग रहते हैं उसीप्रकार उस कोटकी सेवा भी विद्याधरलोग करते थे और विजयार्द्ध पर्वत जिसप्रकार ऊंचा और अचल है उसीप्रकार वह कोट भी ऊंचा और अचल था ॥ २७२ ॥ उस उत्तम कोटके चारों दिशाओंमें चार बडे २ दरवाजे थे जो कि पद्मरागमणियोंके बने हुये थे और ऐसे जान पडते थे मानों भव्यजीवोंका अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हो गया हो ॥ २७३ ॥ जिसप्रकार पाहिले कोटोंके दरवाजोंपर मंगलद्रव्य और निधियां रक्खी हुई थीं उसीप्रकार इन दरवाजोंपर मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं और दरवाजेके समीप ही दैदीप्यमान और गंभीर ऐसी निधियां रक्खी हुई थीं ॥ २७४ ॥ प्रत्येक दरवाजेपर पंखा, छत्र, चामर, ध्वजा, दर्पण, सुप्रतिष्ठक भृंगार और कलश ये आठ आठ मंगलद्रव्य रक्खे हुये थे ॥ २७५ ॥ प्रथम कोटके चारों दरवाजोंपर व्यंतर जातिके देव गदा तलवार आदि हाथमें लिये हुये खडे थे, दूसरे कोटके चारों दरवाजोंपर भवनवासी जातिके देव खडे हुये थे और तीसरे कोटके दरवाजोंपर कल्पवासी देव हथियार बांधे खडे हुये थे ॥ २७६ ॥ उस आकाशरूपी स्फटिकमणिके कोटसे आगे प्रथम पीठपर्यंत लंबी और चारों बडे रास्तोंके आश्रय ऐसी सोलह दीवालें थीं भावार्थ—चारों रास्तोंके अगल वगल दोनोंओर पीठ पर्यंत रास्तेकी लंबाईके समान लंबी आठ दीवालें थीं और रास्तेको छोडकर दो दो दीवालोंके वीचमें दो दो दीवालें और थीं, इसप्रकार सोलह दीवालोंसे चारों रास्ते छूट जाते

तटालग्ना ज्योत्स्नायते स्म भित्तयः ॥ २७८ ॥ शुचयो दर्शिताशेषवस्तुबिंबा महोदया. । भित्तयस्ता जगद्भर्तुरधिविद्या इवाबभुः ॥ २७९ ॥ तासामुपरि विस्तीर्णो रत्नस्तभैः समुध्दृतः । वियत्स्फटिकनिर्माणः सश्री. श्रीमडपोऽभवत् ॥ २८० ॥ सत्य श्रीमडपः सोऽयं यत्रासौ परमेश्वरः । नृसुरासुरसान्निध्ये स्वीचक्रे त्रिजगच्छ्रिय ॥ २८१ ॥ यो बभाववरस्याते विवितान्याबरोपम. । त्रिजगज्जनतास्थानसग्रहावाप्तवैभवः ॥ २८२ ॥ यस्योपरितले मुक्ता गुह्यकैः कुसुमोत्कराः । विदधुस्तारकाशकामधोभाजां नृणां हृदि ॥ २८३ ॥ यत्र मत्तरुवद्भृगसंसूच्या. कुसुमस्रज. । न म्लानिमीयुर्जैनाङ्घ्रिच्छा-

---

थे और बारह सभायें बन जाती थीं ॥ २७७ ॥ वे दीवालें आकाशके समान स्वच्छ स्फटिक मणिकी बनी हुई थीं, उनकी निर्मल कांति चारोंओर फैल रही थी और प्रथम पीठके किनारेतक लगी हुई वे दीवालें चांदनीके समान जान पडती-थीं ॥२७८॥ वे दीवालें परम पवित्र थीं, उनमें समस्त वस्तुओंका प्रतिबिंब दिखाई पडता था, और उनका ऐश्वर्य भी बहुत बडा था इसलिये वे ऐसी सुशोभित होती थीं मानों तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी अधिविद्या ही हों ॥ २७९ ॥ उन दीवालोंके ऊपर रत्नमय खंभे खडे थे, उन खंभोंपर वहुत बडा, आकाशके समान स्फटिकमणिका बना हुआ और अतिशय शोभायुक्त ऐसा श्रीमंडप सुशोभित हो रहा था ॥ २८० ॥ वह मंडप वास्तवमें ही श्रीमंडप था, क्योंकि उस मंडपमें परमेश्वर भगवान वृषभदेवने मनुष्य सुर और असुर आदि सबके सामने तीनों लोकोंकी लक्ष्मी स्वीकार की थी ॥ २८१ ॥ उस श्रीमंडपको ऐसा वैभव प्राप्त था कि उसमें तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको स्थान मिल सकता था, तथा वह आकाशपर्यंत ऊंचा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों प्रतिबिंबित हुआ दूसरा आकाश ही हो ॥ २८२ ॥ उसके ऊपर जो यक्ष लोग फूलोंकी वर्षा कर रहे थे वे फूल नीचे रहनेवाले मनुष्योंके हृदयमें ताराओंकी शंका उत्पन्न करते थे ॥ २८३ ॥ उस स्फटिकके बने हुये आकाशके समान स्वच्छ श्रीमंडपमें जो सफेद फूलोंकी मालायें लटक रहीं थीं वे उन्मत्त हुये भ्रमरोंके शब्दोंसे ही जानी जाती थीं, तथा वे मालायें कभी

याशैत्याश्रयादिव ॥ २८४ ॥ नीलोत्पलोपहारेषु निलीना भ्रमरावलिः । विरुतैरगमदव्यक्ति यत्र साम्यादलक्षिता ॥ २८५ ॥ योजनप्रमिते यस्मिन्संममुर्नृसुरासुराः । स्थिताः सुखमसंबाधमहो ! माहात्म्यमीशितुः ॥ २८६ ॥ यस्मिन् शुचिमणिप्रान्तमुपेता हंससंहतिः । गुणसादृश्ययोगेऽपि व्यज्यते स्म विकूजितैः ॥ २८७ ॥ यद्भित्तयः स्वसंक्रान्तजगत्त्रितयबिम्बिकाः । चित्रिता इव संरेजुर्जगच्छ्रीदर्पणश्रियः ॥ २८८ ॥ यदुत्सर्पत्प्रभाजालजलस्नापितमूर्तयः । तीर्थावगाहनं चक्रुरिव देवाः सदानवाः ॥ २८९ ॥ तद्रुद्धक्षेत्रमध्यस्था प्रथमा पीठिका बभौ । वैडूर्यरत्ननिर्माणा कुलाद्रिशिखरायिता ॥ २९० ॥ तत्र

नहीं मुरझाती थीं मानों भगवानके चरणकमलोंकी छायाकी शीतता (शांतता) के आश्रयसे ही नहीं मुरझाती हों ॥ २८४ ॥ वहांपर फैले हुये नीलकमलोंमें जो भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे वे केवल उनके गुंजार शब्दोंसे ही जाने जाते थे, अन्यथा भ्रमर और नीलकमलोंका एकसा रंग होनेसे उन्हें कोई नहीं जान सकता था ॥ २८५ ॥ यद्यपि वह श्रीमंडप एक योजन लंबा चौडा था तथापि उसमें मनुष्य सुर असुर आदि सब जीव सुखपूर्वक एक दूसरेको बाधा न देते हुये रहते थे, यह भगवानका ही ऐसा माहात्म्य था ॥ २८६ ॥ उस श्रीमंडपमें लगे हुये स्वच्छ मणियोंके समीपमें जो हंसोंकी पंक्तियां बैठी हुई थीं वे भी स्वच्छ थीं और मणियोंके ही समान थीं तथापि वे मधुर शब्दोंसे जानी जाती थीं ॥ २८७ ॥ उस श्रीमंडपकी दीवालोंमें तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता था जिससे चित्र विचित्रित हुई वे दीवालें ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों जगतकी लक्ष्मीके दर्पणकी शोभा ही हों ॥ २८८ ॥ उन दीवालोंकी कांतिका समूह जो चारोंओर फैल रहा था वह जलके समान जान पडता था और उसमें जो कल्पवासी तथा भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि देवोंके शरीर स्नान करनेके समान डूब रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों किसी तीर्थमें स्नान ही कर रहे हों ॥ २८९ ॥ उस श्रीमंडपसे घिरे हुये क्षेत्रके बीचमें बनी हुई पहिली पीठिका सुशोभित हो रही थी, वह पीठिका वैडूर्यमणियोंकी बनी हुई थी और ऐसी जान पडती थी मानों कुलपर्वत-

षोडश सोपानमार्गाः स्युः षोडशांतराः । महादिक्षु सभाकोष्ठप्रवेशेषु च विस्तृताः ॥ २९१ ॥ तां पीठिकामलंचक्रुरष्टमंगलसंपदः । धर्मचक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्द्धभिः ॥ २९२ ॥ सहस्राराणि तान्युद्यद्रत्नरश्मीनि रेजिरे । भानुबिंबानि वोद्यंति पीठिकोदयपर्वतात् ॥ २९३ ॥ द्वितीयमभवत्पीठं तस्योपरि हिरण्मयं । दिवाकरकरस्पर्द्धिद्युतिद्योतिताम्बरं ॥ २९४ ॥ तस्योपरितले रेजुर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजाः । लोकपाला इवोत्तुंगाः सुरेशामभिसंमताः ॥ २९५ ॥ चक्रेभवृषभाम्भोजवस्त्रसिंहगरुत्मताः । माल्यस्य च ध्वजा रेजुः सिद्धाष्टगुणनिर्मलाः ॥ २९६ ॥ नूनं पापपरागस्य समार्जनमिव ध्वजाः । कुर्वंति स्म मरु-

---

का शिखर ही हो ॥ २९० ॥ उस पीठिका पर सोलह जगह अंतर देकर सोलह जगह ही सीढियां बनी हुई थीं, अर्थात् बीचमें जगह छोडकर सोलह जगह सीढियां बनी हुई थीं, चार जगह तो चारों दिशाओंमें बडे रास्तोंके सामने थीं और बारह जगह सभाके कोठोंके प्रत्येक दरवाजेपर थीं, वे सब सीढियां बहुत ही बडी बडी थीं ॥ २९१ ॥ उस प्रथम पीठिकापर आठ मंगल द्रव्य रक्खे हुये थे और यक्षोंके ऊंचे ऊंचे मस्तकोंपर धर्मचक्र रक्खे हुये थे ॥ २९२ ॥ एक एक हजार दैदीप्यमान किरणोंसे वा आराओंसे सुशोभित होनेवाले वे धर्मचक्र ऐसे जान पडते थे मानों पीठिका रूप उदयाचल पर्वतसे सूर्यके बिंब ही उदय हुये हों ॥ २९३ ॥ उस प्रथम पीठिकाके ऊपर सुवर्णका बना हुआ दूसरा पीठ था, वह कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणोंसे स्पर्द्धा ही कर रहा हो तथा उसके प्रकाशसे आकाशभी प्रकाशित हो गया था ॥ २९४ ॥ उस दूसरे पीठके ऊपरी भागपर आठों दिशाओंमें आठ महाध्वजायें सुशोभित हो रही थीं, जोकि बहुत ऊंची थीं और इंद्रोंको भी स्वीकृत ऐसी आठ लोकपालोंके समान जान पडती थीं ॥ २९५ ॥ उन ध्वजाओंपर क्रमसे चक्र, हाथी, बैल, कमल, वस्त्र, सिंह, गरुड और मालाओंके चिन्ह बने हुये थे, तथा वे ध्वजायें अत्यंत निर्मल थीं इसलिये सिद्धोंके आठ गुणोंके समान जान पडती थीं ॥२९६॥ वायुके झकोरेसे उन ध्वजाओंके दैदीप्यमान कपडे हिल रहे थे जिससे वे ऐसी जान पडती थीं मानों पापरूपी धूलीको झाडकर फेंक ही रही हों ॥ २९७ ॥

ध्वस्तस्फुरदंशुकृजृम्भितैः ॥ २९७ ॥ तस्योपरि स्फुरद्रत्नरोचिर्भिन्नतमस्तति । तृतीयमभवत्पीठं सर्वरत्नमयं पृथु ॥ २९८ ॥ त्रिमेखलमदः पीठं परार्ध्यमणिनिर्मित । बभौ मेरुरिवोपास्त्यै भर्तुरात्तत्रिपीठकम् ॥ २९९ ॥ चक्रकरीन्द्र ... सुरद्रिवत् । मणिनिर्मितमेतद्धि पीठत्रितयमाबभौ ॥ ३०० ॥ पुष्पप्रकरमाघ्रातु निलीना यत्र षट्पदाः । हेमच्छायासमाक्रान्ताः सौवर्णा इव रेजिरे ॥ ३०१ ॥ अधरीकृतनिःशेषभुवनं भासुरद्युति । जिनस्येव वपुर्भाति यत्स्म देवासुरार्चितम् ॥ ३०२ ॥ ज्योतिर्गणपरीतत्वात्सञ्चरन्नाडीनाम् । न्यक्कार श्रियं मेरोर्धत्ते जगद्गुरोः ॥३०३॥ ईदृङ्निर्माणं पीठमस्यो-

---

उस दूसरे पीठके ऊपर तीसरा पीठ था वह समस्त रत्नोंका वना हुआ था और वहुत वडा था. उससे देदीप्यमान रत्नोंकी किरणें निकल रहीं थीं जिससे वह समस्त अंधकारको नष्ट कर रहा था ॥२९८॥ उस पीठकी तीन कटनी थीं तथा वह अनेक वहुमूल्य रत्नोंसे वना हुआ था. इसलिये वह ऐसा जान पडता था मानों मेरु पर्वत ही भगवानकी उपासना करनेकेलिये तीसरे पीठरूप परिणत हो कर आया हो ॥२९९॥ वह पीठरूपी पर्वत चक्रसहित होनेसे चक्रवर्तीके समान जान पडता था, ध्वजाओं-सहित होनेसे ऐरावत हाथीके समान जान पडता था और सुवर्णका वना हुआ होनेसे महामेरुके समान सुशोभित होता था ॥३००॥ उस पीठिकापर फैले हुये पुष्पोंके समूहोंको सूंघनेके लिये जो भ्रमर आये थे उनपर सुवर्णकी छाया पड रही थी, इसलिये वे भ्रमर सुवर्णकेसे रंगके जान पडते थे ॥३०१॥ वह पीठ अरहंतदेवके शरीरके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिसप्रकार भगवानका शरीर अपने गुणोंसे तीनों लोकोंको नीचा दिखलाता है उसीप्रकार वह पीठ भी अपनी शोभासे तीनों लोकोंको नीचा दिखला रहा था, भगवानका शरीर जिसप्रकार प्रकाशमान होता है उसीप्रकार वह पीठ भी प्रकाशमान था और भगवानके शरीरकी पूजा जिसप्रकार देव लोग करते हैं उसीप्रकार उस पीठकी पूजा भी चारोंप्रकारके देव करते थे ॥ ३०२ ॥ अथवा वह पीठ मेरु पर्वतकी शोभाको भी तिरस्कार करता था क्योंकि जिसप्रकार मेरुपर्वतके चारोंओर ज्योतिष्क जातिके देव रहते हैं उसीप्रकार

परि जिनाधिपः । त्रिलोकशिखरे सिद्धपरमेष्ठीव निर्बभौ ॥३०४॥ नभ.स्फटिकसालस्य मध्य योजनसंमित । वनत्रयस्य रुद्रत्व ध्वजरुद्धावनेरपि ॥३०५॥ प्रत्येक योजन ज्ञेय धूलीसालाच्च खातिका । गत्वा योजनमेक स्याज्जिनदेशितविस्तृतिः ॥ ३०६ ॥ नभ.स्फटिकसालात्तु स्यादाराद्वनवेदिका । योजनार्द्धं तृतीयाच्च सालात्पीठ तदर्द्धग ॥ ३०७ ॥ क्रोशार्द्धं पीठमूर्ध्न. स्यान्द्रिक्रमो मेखलेऽपरे । प्रत्येक धनुषा रौन्द्रे स्यातामर्द्धाष्टमं शत ॥ ३०८ ॥ क्रोश रुद्रा

उस पीठके चारोंओर भी ज्योतिष्क जातिके देव रहते थे, मेरुपर्वत जिसप्रकार सब ओरसे उत्तर अर्थात् सब ओरसे वा सब जगहसे उत्तर दिशामें है उसीप्रकार वह पीठ भी सबसे उत्तर अर्थात् उत्कृष्ट था और मेरु पर्वत जिसप्रकार जगतगुरु तीर्थंकरको धारण करता है उसीप्रकार वह पीठ भी जगत गुरु तीर्थंकर वृषभदेवको धारण करता था ॥३०३॥ इसप्रकार तीन कटनीदार वह पीठ था, उसपर विराजमान हुये श्रीजिनेंद्रदेव ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों तीनों लोकोंके शिखरपर सिद्ध परमेष्ठी ही विराजमान हों ॥३०४॥ तीसरा जो आकाशके समान स्फटिक मणियोंका बना हुआ कोट था उसके भीतरके भागका व्यास (गोलजगहकी लंबाई अथवा चौडाई) एक योजन था तथा लतावन एक योजन चौडा था, अशोक, सप्तपर्ण, चंपक और आम्रवृक्षके वन एक योजन चोडे थे और कल्पवृक्षोंका वन भी एक योजन चौडा था; इसीप्रकार ध्वजाओंकी जमीनकी चौडाई भी एक योजन थी और धूलीसालसे खाई भी एक योजन दूर थी, यह सब विस्तार श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है ॥३०५-३०६॥ आकाशके समान स्फटिक मणियोंके बने हुये कोटसे कल्पवृक्षोंकी वनबेदिका आधा योजन अर्थात् दो कोश दूर थी और उसी तीसरे कोटसे चौथाई योजन अर्थात् एक कोशकी दूरीपर प्रथम पीठ था ॥ ३०७ ॥ पहिले पीठका मस्तक जो दूसरे पीठके नीचे मेखला सरीखा निकल रहा था वह आधाकोस चौडा था तथा इसीप्रकार दूसरे तीसरे पीठकी मेखलायें भी साडे सातसौ धनुष चौडी थीं अर्थात् प्रत्येककी चौडाई साडे सातसौ धनुष थी ॥ ३०८ ॥ उस समवसरणमें चारों दिशाओंमें जो चार बडे रास्ते थे वे सब एक

महावीथ्यो भित्तय' स्वोच्छ्रितेर्मिताः । रौद्रेगाष्टमभागेन प्राग्निर्णीता तदुच्छ्रिति ॥ ३०९ ॥ अष्टदडोच्छ्रिता ज्ञेया जगती पीठमादिमं । द्वितीय च तदर्द्धेन मितोच्छ्राय विदुर्बुधा. ॥ ३१० ॥ तावदुच्छ्रितमत्य च पीठ सिंहासनोन्नति. । धनुरेकमिहाम्नात धर्मचक्रस्य चोच्छ्रिति. ॥ ३११ ॥ इत्युक्तेन विभागेन जिनस्यास्थायिका स्थिता । तन्मध्ये तदवस्थानमित. श्रृणुत मन्मुखात् ॥ ३१२ ॥ इत्युच्चैर्गणनायके निगदति व्यक्त जिनास्थायिका प्रव्यक्तैर्मधुरैर्वचोभिरुचितैस्तत्त्वार्थसबोधिभि. । बुद्धात करणो विकासिवदन वभ्रे नृप. श्रेणिक. प्रीतः प्रातरिवाब्जिनीवनचय. प्रोन्मीलित पंकज ॥ ३१३ ॥

एक कोश चौडे थे, पहिले जो सोलह दीवालें कहीं थीं उनकी चौडाई उंचाईसे आठवां भाग थी, दीवालोंकी उंचाई पहिले कह ही चुके हैं ॥ ३०९ ॥ प्रथम पीठरूपी जो जगती थी वह आठ धनुष ऊंची थी अर्थात् प्रथम पीठ आठ धनुष ऊंचा था और दूसरे पीठकी उंचाई विद्वान् लोगोंने उससे आधी अर्थात् चार धनुष कही है ॥ ३१० ॥ इसीप्रकार तीसरे पीठकी उंचाई भी चार धनुष थी तथा सिंहासनकी उंचाई एक धनुष थी और धर्मचक्रकी उंचाई भी एक धनुष ही थी ॥ ३११ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये विभागके अनुसार भगवानका समवसरण बना हुआ था। गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि राजन्, उस समवसरणके मध्यभागमें जो गंधकुटी बनी हुई थी उसका वर्णन भी अब मेरे मुखसे ही सुनो ॥ ३१२ ॥ इसप्रकार जब गौतम गणधरने तत्त्वार्थके स्वरूपको समझानेवाले, उचित, मधुर और स्पष्ट वचनोंसे भगवानके समवसरणका स्पष्ट वर्णन किया उससमय जिसप्रकार प्रातःकालके समय कमलिनियोंके बनके कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं उसीप्रकार जिसके अंतःकरणमें ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे आनंद युक्त राजा श्रेणिकका मुख भी खूब प्रसन्न होगया था और वह बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥३१३॥ जिसप्रकार सूर्यकी दैदीप्यमान लक्ष्मीका आश्रय पाकर कमलोंके समूह प्रफुल्लित हो जाते हैं उसीप्रकार असभ्य अर्थात् मिथ्यात्वियोंके कहे हुये मिथ्यामतरूपी अंधकारको नाश करनेवाली, अतिशय योग्य और अत्यंत निर्दोष ऐसी श्री गौतम गणधर स्वामीकी वाणी

सभ्याः सभ्यतमामसभ्यकुमतध्वांतच्छिदं भारती श्रुत्वातामपवाङ्मलां गणभृतः श्रीगौतमस्वामिनः । सार्द्धं योगिभिरागमन् जिनपतौ प्रीतिं स्फुरल्लोचनाः प्रोत्फुल्लाः कमलाकरा इव रवेरासाद्य दीप्तिश्रियं ॥ ३१४ ॥ स जयति जिननाथो यस्य कैवल्यपूजा विततनिपुलदम्रामद्भुतश्रीर्महेंद्र । सममरनिकायैरेत्य दूरात्प्रणम्रः समवसरणभूमिं पिप्रिये प्रेक्षमाण. ॥ ३१५ ॥ किमयममरसर्गः किं नु जैनानुभावः किमुत नियतिरेषा किंस्विदैंद्र प्रभाव. । इति विततवितर्कैः कौतुकाद्वीक्ष्यमाणा जयति सुरसमाजैर्भर्तुरास्थानभूमिः ॥ ३१६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसरणवर्णनं नाम द्वाविंशं पर्व.

सुनकर श्रेणिक आदि समस्त देव मनुष्य विद्याधर तथा समस्त मुनिराज आदि सभाके लोग प्रफुल्लित नेत्रोंसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करते थे और भगवानके चरणकमलोंमें सबका प्रेम बढगया था ॥ ३१४ ॥ अद्भुत विभूतिको धारण करनेवाले इंद्रने चारों प्रकारके देवोंके साथ आकर जिसके केवल ज्ञानकी पूजा बडे ठाठ बाटसे तथा उत्तम रीतिसे की, जिन्हें दूरसे ही नमस्कार किया और जिसकी समवसरण भूमिको देखकर ही अत्यंत प्रसन्न हुआ ऐसा श्री जिनेंद्र देव सदा जयशील (जयवंत) हो ॥ ३१५ ॥ क्या यह कोई स्वर्गलोककी नई सृष्टि उत्पन्न हुई है ? अथवा यह श्री जिनेंद्रदेवका प्रभाव है ? अथवा तीर्थंकरको केवल ज्ञान होनेके समय ऐसे समवसरणकी रचना होनेका नियोग ही है ? अथवा यह इंद्रका ही प्रभाव है इसप्रकार अनेकप्रकारकी कल्पनायें करता हुआ देवोंका समूह जिस समवसरण भूमिको बडे कौतुकके साथ देखता था ऐसी वह समवसरणकी भूमि सदा जयवंत हो अर्थात् उसकी सदा जय हो ॥ ३१६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे भगवानके
समवसरणका वर्णन करनेवाला यह बाईसवां पर्व समाप्त हुआ

अथ त्रयोविंशं पर्व ।

अथ त्रिमेखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृते । स्फुरन्मणिविभाजालरचितामरकार्मुके ॥ १ ॥ सुरेंद्रकरविक्षिप्तपुष्पप्रकरशोभिनि । हसतीव वनापायस्फुरत्तारकमंबरं ॥ २ ॥ चलच्चामरसंघातप्रतिबिंबनिभागतैः । हंसैरिव सरोबुध्या सेव्यमानतले पृथौ ॥ ३ ॥ मार्त्तंडमंडलच्छायाप्रस्पर्द्धिनि महर्द्धिके । स्वर्धुनीफेनसंकाशैः स्फटिकैर्वटिते क्वचित् ॥४॥ पद्मरागसमुत्सर्पन्मयूखैः क्वचिदासृते । जिनपादतलच्छायाशोणिम्नेवानुरंजिते ॥ ५ ॥ शुचौ स्निग्धे मृदु-

---

अथ तेईसवां पर्व

अथानंतर—तीन कटनीदार जो यह तीसरा पीठ था उसका मस्तक अर्थात् ऊपरीभाग बहुत ही बडा था, उसमें जो अनेकप्रकारके मणि लगे हुये थे उनकी कांतिके समूहसे उस पीठके ऊपर इंद्रधनुष सरीखा पड रहा था ॥ १ ॥ उस पीठपर जो इंद्रने अपने हाथसे बहुतसे पुष्प फैलाये थे उनसे वह पीठ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वादलोंके दूर होनेसे जिसमें तारे चमक रहे हैं ऐसे आकाशकी ओर हँस रहा ही हो ॥ २ ॥ उसपर ढुरते हुये चामरोंके समूहोंका प्रतिबिंब पड रहा था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों उसे सरोवर समझकर हंस ही उसके बहुत बडे तलकी सेवा कर रहे हों ॥ ३ ॥ वह पीठ अपनी दैदीप्यमान कांतिसे ऐसा जान पडता था मानों सूर्यमंडलकी कांतिके साथ स्पर्द्धा ही कर रहा हो, इसके सिवाय वह अनेकप्रकारकी वडी २ ऋद्धियोंको धारण करनेवाला था तथा कहीं कहीं पर वह गंगानदीके फेनके समान स्वच्छ स्फटिक मणियोंसे बना हुआ था ॥ ४ ॥ कहींपर पद्मरागमणियोंकी फैलती हुई किरणोंसे व्याप्त था और ऐसा जान पडता था मानों भगवानके चरणतलकी अरुण (लाल) कांतिसे ही लाल हो गया हो ॥ ५ ॥ वह पीठ अत्यंत पवित्र था, चिकना था, उसका स्पर्श कोमल था, भगवानके चरणकमलोंके स्पर्शसे वह अत्यंत पवित्र था और उसके चारोंओर बहुतसी मंगलद्रव्यरूपी संपत्तियां रक्खी हुई थीं ॥ ६ ॥ ऐसे उस

स्पर्शे जिनाङ्घ्रिस्पर्शपावने । पर्यंतरचितानेकमंगलद्रव्यसंपदि ॥ ६ ॥ तत्र गंधकुटीं पृथ्वीं तुंगशालोपशोभिनीं । रैरण्णिवेशयामास स्वर्विमानातिशायिनीं ॥ ७ ॥ त्रिमेखलांकिते पीठे सैषा गंधकुटी बभौ । नंदनादिवनश्रेणीत्रयाद्वोपरि चूलिका ॥ ८ ॥ यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिवमूर्द्धनि । तथा गंधकुटी दीप्ता पीठस्याधितलं बभौ ॥ ९ ॥ नानारत्नप्रभोत्सर्पैर्यत्कूटैस्ततमंबरं । सचित्रमिव भाति स्म सेंद्रचापमिवाऽथवा ॥ १० ॥ या तुंगैः शिखरैर्बद्ध-जयकेतनकोटिभिः । भुजशाखाः प्रसार्येव नभोगानाजुहूषत ॥ ११ ॥ त्रिभिस्तलैरहेनेना या भुवनत्रितयश्रियः । प्रतिमेव बभौ व्योमसरोमध्येऽम्बुबिंबिता ॥ १२ ॥ स्थूलैर्मुक्तामयैर्जालैर्लंबमानैः समंततः । महाब्धिभिरिवानीतैर्योपायनशतैरभात् ॥ १३ ॥ हैमैर्जालैः क्वचित्स्थूलैरायतैर्या विदिद्युते । कल्पाङ्घ्रि-

तीसरे पीठपर कुवेरने बहुत बडी गंधकुटी बनाई थी, वह गंधकुटी ऊंचे कोटसे सुशोभित थी और स्वर्गोंके विमानोंसे भी अधिक सुंदर थी ॥ ७ ॥ तीन कटनीदार उस पीठपर वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों नंदनवन सौमनसवन और पांडुकवन इन तीनों वनोंके ऊपर चूलिका ही हो ॥ ८ ॥ अथवा जिसप्रकार तीनों लोकोंके मस्तकपर सर्वार्थसिद्धि है उसीप्रकार उस पीठके ऊपरी भागपर दैदीप्यमान गंधकुटी भी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥ उस गंधकुटीके शिखरोंपर अनेकप्रकारके रत्न लगे हुये थे जिनकी फैलती हुई कांतिसे आकाश व्याप्त होगया था जिससे वह आकाश अनेक वर्णका चित्र विचित्र जान पडता था अथवा वह इंद्रधनुषके समान जान पडता था ॥ १० ॥ उस गंधकुटीकी ऊंची ऊंची शिखरोंपर करोडों जयपताकायें बंधी हुई थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों अपने हाथोंको फैलाकर देवोंको बुला रही हो ॥ ११ ॥ तीनों पीठों सहित वह गंधकुटी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों आकाशरूपी सरोवरके मध्यभागके जलमें तीनों लोकोंकी लक्ष्मीकी प्रतिमा ही प्रतिबिंबित हुई हो ॥ १२ ॥ उसके चारोंओर जो बडे २ मोतियोंकी जाली (झालरि) लटक रही थी उससे वह ऐसी जान पडती थी मानों बडे २ समुद्रोंने मोतियोंकी सैकडों भेट उसे अर्पण की हों ॥ १३ ॥ कहीं कहींपर उसमें सुवर्ण-

पोद्भवैर्दीप्तैः प्रारोहैरिव लंबितै ॥ १४ ॥ रत्नाभरणमालाभिर्लंबिताभिरितोऽमुत । या बभौ स्वर्गलक्ष्म्येव प्रहितोपायनर्द्धिभिः ॥ १५ ॥ स्रग्भिराकृष्टगंधांध-मायन्मधुपकोटिभिः । जिनेंद्रमिव तुष्टूषुरभाद्या मुखरीकृता ॥ १६ ॥ स्तुवत्सुरेंद्रसंदृब्धगद्यपद्यस्तवस्वनैः । सरस्वतीव भाति स्म या विभुं स्तोतुमुद्यता ॥ १७ ॥ रत्नालोकैर्विसर्पद्भिर्या वृतांगी व्यराजत । जिनेंद्रांगप्रभालक्ष्म्या घटितेव महाद्युतिः ॥ १८ ॥ या प्रोत्सर्पद्भिराहूतमदालिकुलसंकुलैः । धूपैर्दिशा-मिवायाम प्रमित्सुस्ततधूमकैः ॥ १९ ॥ गधैर्गंधमयीवासीत्सृष्टिः पुष्पमयीव च । पुष्पैर्धूपमयीवाभाद्धूपैर्या दिग्विसर्पिभिः ॥ २० ॥ सुगंधिधूपनिःश्वासा

की मोटी और लंबी जाली सुशोभित हो रही थी जोकि ऐसी जान पडती थी मानों कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये छोटे २ दैदीप्यमान अंकूरे ही लटक रहे हों ॥ १४ ॥ उस गंधकुटीके इधर उधर रत्नोंके बने हुये आभरणोंकी मालायें लटक रहीं थीं जिनसे वह गंधकुटी ऐसी सुंदर जान पडती थी मानों स्वर्गकी लक्ष्मीने उसे अनेक प्रकारके रत्नोंकी भेट ही भेजी हो ॥ १५ ॥ उस गंधकुटीपर अनेक पुष्पमालायें लटक रहीं थीं जिनकी सुगंधिसे आये हुये करोडों भ्रमर सुगंधिसे अंधे और उन्मत्त होकर गुंजार शब्द कर रहे थे, उनसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों-श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति ही कर रही हो ॥ १६ ॥ इंद्र जो भगवानकी स्तुति कर रहा था उसके द्वारा रचे हुये गद्य पद्य मय स्तोत्रोंके शब्दोंसे शब्दायमान हुई वह गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों सरस्वतीदेवी ही भगवानकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुई हो ॥ १७ ॥ उसमें लगे हुये रत्नोंका प्रकाश जो चारोंओर फैल रहा था उससे व्याप्त वा आच्छादित हुई वह अतिशय दैदीप्यमान गंधकुटी ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानके शरीरकी प्रभारूपी लक्ष्मीने ही उसे बनाया हो ॥ १८ ॥ अपनी सुगंधिसे अनेक उन्मत्त भ्रमरसमूहोंको बुलाता हुआ जो धूपका धूआं निकल रहा था वह सबओर फैल रहा था और उससे वह गंधकुटी ऐसी जान पडती थी मानों सब दिशाओंकी लंबाई ही नापना चाहती हो ॥१९॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सुगंधिसे वह गंधकुटी ऐसी-

सुमनोमालभारिणी । नानाभरणदीप्तांगी या वधूरिव दिद्युते ॥ २१ ॥ धूपगंधैर्जिनेंद्रांगसौगंध्यबहलीकृतै. । सुरभीकृतविश्वाशा याधाद्गंधकुटीश्रुतिं ॥२२॥ गंधानामिव या सूतिर्भासा येवाधिदेवता । शोभाना प्रसवक्ष्मेव या लक्ष्मीमधिकां दधे ॥ २३ ॥ धनुषां षट्शती सैषा विस्तीर्णा तावदायता । विष्कंभा-त्साधिकोच्छ्राया मानोन्मानप्रमान्विता ॥ २४ ॥ तस्या मध्ये सैहं पीठं नानारत्नव्राताकीर्णं । मेरोः शृंग न्यक्कुर्वाणं चक्रे शक्रादेशाद्वित्तेट् ॥ २५ ॥ भा-

---

जान पडती थी मानों वह सुगंधिसे ही बनी हो; चारोंओर फैले हुये पुष्पोंसे ऐसी जान पडती थी मानों पुष्पोंसे ही बनी हो और सब दिशाओंमें फैलती हुई धूपसे ऐसी जान पडती थी मानों वह धूपसे बनी हो ॥२०॥ अथवा वह गंधकुटी नवीन स्त्रीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिस-प्रकार नवीन स्त्रीका श्वास सुगंधित होता है उसीप्रकार उस गंधकुटीसे जो सुगंधित धूप निकल रही थी वही उसके सुगंधित श्वासके समान थी, स्त्री जिसप्रकार पुष्पमाला धारण करती है उसीप्रकार उस गंधकुटीपर भी अनेक पुष्पमालायें लटक रही थीं और स्त्रीका शरीर जिसप्रकार अनेक प्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान रहता है उसीप्रकार वह गंधकुटी भी अनेकप्रकारके आभरणोंसे दैदीप्यमान-हो रही थी ॥२१॥ भगवानके शरीरकी सुगंधिसे जिसको अतिशयता प्राप्त हुई है ऐसी धूपकी सुगंधिसे उसने समस्त दिशायें सुगंधित कर दी थीं इसलिये ही उसका गंधकुटी यह यथार्थ नाम पडगया था ॥ २२ ॥ अथवा बहुत कहनेसे क्या ? वह गंधकुटी सुगंधिको उत्पन्न करनेवाली थी, कांतिकी अधि-देवता अर्थात् स्वामिनी थी और सबप्रकारकी शोभाओंकी उत्पन्न करनेवाली भूमि थी, इसप्रकार वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २३ ॥ वह गंधकुटी छह सौ धनुष चौडी थी, छहसौ धनुष लंबी थी और चौडाईसे कुछ अधिक ऊंची थी, इसप्रकार यथा योग्य मान और उन्मानसे वह गंधकुटी बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ २४ ॥ उस गंधकुटीके मध्यभागमें इंद्रकी आज्ञासे कुबेरने एक सिंहासन बनाया था जोकि अनेकप्रकारके रत्नोंके समूहसे बना हुआ था और मेरु पर्वतकी

नुन्हेपि श्रीमद्धैम तुगं भक्त्या जिष्णु भक्तु । मेरु श्रृंगं स्व वा निन्ये पीठव्याजादीसं भासा ॥ २६ ॥ यत्प्रसर्पदंशुदष्ट दिङ्मुख महार्द्रिभासि । चारुरत्नसारमूर्ति भासते स्म नेत्रहारि ॥ २७ ॥ पृथुप्रदीप्तदेहक स्फुरत्प्रभाप्रतानक । परार्ध्यरत्नभासुर सुराद्रिहासि यद्बभौ ॥ २८ ॥ विष्टर तदल चक्रे भगवानादितीर्थकृत् । चतुर्भिरगुलै. स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टतत्तल: ॥ २९ ॥ तत्रासीन तमिंद्राद्या. परिचेरुर्महेज्यया । पुष्पवृष्टिं प्रवर्षतो नभोमार्गाद्घना इव ॥ ३० ॥ अपप्तत्कौसुमी वृष्टि. प्रोर्णुवाना नभोऽगण । दृष्टिमालेव मत्तालिमालावाचालिता नृणा ॥ ३१ ॥ द्विषड्योजनभूभागमामुक्ता सुरवारिदैः ।

शिखरको भी तिरस्कार कर रहा था ॥ २५ ॥ वह सुवर्णका बना हुआ, अतिशय शोभायुक्त, ऊंचा और अपनी कांतिसे सूर्यको भी लज्जित करनेवाला सिंहासन ऐसा जान पडता था मानों सिंहासनके बहानेसे कांतिसे दैदीप्यमान ऐसा मेरुपर्वत अपना शिखर ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करनेकेलिये लाया हो ॥ २६ ॥ उस सिंहासनसे निकलती हुई किरणोंसे समस्त दिशायें व्याप्त हो रही थीं, अपने ऐश्वर्यसे वह प्रकाशमान हो रहा था, अनेक सुंदर रत्न उसमें जडे हुये थे और वह नेत्रोंको बहुत सुंदर लगता था, इसप्रकार वह सिंहासन बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ २७ ॥ वह सिंहासन बहुत ही दैदीप्यमान और बडा था, उसकी कांतिका समूह चारोंओर प्रकाशमान हो रहा था, अनेक बहुमूल्य रत्नोंसे वह चमक रहा था और ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मेरुपर्वतकी ओर हँस रहा ही हो ॥ २८ ॥ उस सिंहासनपर भगवान वृषभदेव विराजमान हो कर उसे सुशोभित कर रहे थे । वे भगवान अपने माहात्म्यसे उस सिंहासनके तलसे चार अंगुल ऊंचे अधर विराजमान थे ॥ २९ ॥ उस सिंहासनपर विराजमान हुये भगवानकी पूजा इंद्रलोग बडे समारोहके साथ करते थे और बादलोंके समान आकाशमार्गसे पुष्पोंकी वर्षा करते थे ॥ ३० ॥ आकाशरूपी आंगनमें व्याप्त होती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा ऐसी जान पडती थी मानों उन्मत्त भ्रमरके समूहके समान शब्दायमान होता हुआ मनुष्योंके नेत्रोंका समूह ही हो ॥ ३१ ॥ देवरूपी बादलोंसे बारह योजनतककी

पुष्पवृष्टि. पतंती सा व्यधाच्चित्रं रजस्ततं ॥ ३२ ॥ वृष्टिरसौ कुसुमाना तुष्टिकरी प्रमदाना । दृष्टिततीरनुकृत्य स्रष्टुरपप्तदुपाते ॥ ३३ ॥ पट्पदवृंदवि-
कीर्णैं. पुष्परजोभिरुपेता । वृष्टिरमर्त्यविसृष्टा सौमनसी रुरुचेऽसौ ॥ ३४ ॥ शीतलैर्वारिभिर्गांगै रार्द्रिता कौसुमी वृष्टिः । पट्पदैराकुलाऽपप्तत् पत्युरग्रे
ततामोदा ॥ ३५ ॥ मरकतहरितैः पत्रैर्मणिमयकुसुमैश्चित्रैः । मरुदुपविधुताः शाखा श्चिरमधृत महाऽशोकः ॥ ३६ ॥ मदकलविरुतैर्भृंगै रपि परपुष्ट-
विहगैः । स्तुतिमिव भर्तुरशोको मुखरितदिक्कुरुते स्म ॥ ३७ ॥ व्यायतशाखादोश्चलनैः स्वै र्नृत्यमथासौ कर्तुमिवाग्रे । पुष्पसमूहैरजलिमिद्ध भर्त्तुरकार्पी-

---

पृथ्वीपर पडती हुई वह पुष्पोंकी वर्षा अपने परागके समूहसे पृथ्वीको चित्र विचित्रकी कर रही थी, अथवा वह पुष्पोंकी वर्षा पृथ्वीपर धूली बढा रही थी। यह एकप्रकारका विरोध है क्योंकि वर्षासे धूलि दब जाती है वढती नहीं परंतु उस पुष्पोंकी वर्षासे परागकी धूलि वढती ही थी ॥ ३२ ॥ वह पुष्पोंकी वर्षा स्त्रियोंको अत्यंत प्रसन्न करती हुई भगवानके समीपभागमें पड रही थी और ऐसी जान पडती थी मानों नेत्रोंकी संतति ही पुष्पोंका रूप धारणकर भगवानके समीपमें पड रही हो ॥ ३३ ॥ भ्रमरोंके समूहोंके द्वारा इधर उधर फैलाये हुये पुष्पोंके परागोंसे सुशोभित और देवोंके द्वारा वरसाई हुई वह पुष्पोंकी वृष्टि बहुत ही मनोहर जान पडती थी ॥ ३४ ॥ जो गंगाके शीतल जलसे भीगी हुई है, जिसपर अनेक भ्रमर बैठे हुये हैं और जिसकी सुगंधि चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह पुष्पोंकी वर्षा भगवानके सामने पड रही थी ॥ ३५ ॥ भगवानके समीप ही महा अशोक वृक्ष था जिसके मरकतमणियोंके बने हुये हरे पत्ते थे, मणियोंके वने हुये अनेक वर्णके फूल थे और वायुके द्वारा धीरे २ उसकी शाखायें हिल रहीं थीं ॥ ३६ ॥ उस अशोक वृक्षपर अनेक उन्मत्त भ्रमर मधुर गुंजार शब्द कर रहे थे, कोयलें भी मधुर शब्दोंसे बोल रहीं थीं जिनसे सब दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ वह अशोक ऐसा जान पडता था मानों भगवानकी स्तुति ही कर रहा हो ॥ ३७ ॥ वह अशोकवृक्ष अपनी लंबी लंबी शाखारूपी भुजाओंके हिलनेसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके

द्व्यक्तमशोक. ॥ ३८ ॥ रेजेऽ शोकतरुरसौ रुधन् मार्गं व्योमचरमहेशाना । तन्वन्योजनविस्तृता: शाखा धुन्वन् शोकमयमदो ध्वांत ॥ ३९ ॥ सर्वा हरितो विटपैस्ततै समार्ष्टुमिवोद्यतधीरसौ । व्यापद्भिरुचैः कुसुमोत्करै पुष्पोपहृतिं विदधद् द्रुम ॥ ४० ॥ वज्रमूलमिद्धरत्नबुध्न सज्जपाभरत्नचित्रसून । मत्तकोकिलालिसेव्यमेन चक्रुरग्र्यमत्रिप सुरेशाः ॥ ४१ ॥ छत्र धवल रुचिमत्कात्या चान्द्रीमजयद्रुचिरा लक्ष्मी । त्रेधा रुरुचे शशभृन्नून सेवा विदधज्जगता पत्यु. ॥ ४२ ॥ छत्राकार दधदिव चान्द्र बिंब शुभ्र छत्रत्रितयमदो वाभासत् । मुक्ताजालैः किरणसमूहैर्वा स्वै श्रक्रे सुत्रामवचनतोऽसौ रैराट् ॥४३॥

सामने नृत्य ही कर रहा हो और पुष्पोंके समूहोंसे ऐसा जान पडता था मानों भगवानके सामने प्रत्यक्ष पुष्पांजलि ही समर्पण कर रहा हो ॥३८॥ आकाशमें चलनेवाले देव और विद्याधरोंके स्वामियोंका मार्ग रोकताहुआ, एक योजनतक अपनी लंबी शाखायें फैलाताहुआ और शोकरूपी अंधकारको नष्ट करताहुआ वह अशोकवृक्ष बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ३९ ॥ उसकी शाखायें सब दिशाओंमें फैली हुई थीं, जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों अपनी फैली हुई शाखाओंसे सब दिशाओंको साफ करनेकेलिये ही तैयार हुआ हो, तथा उसके पुष्पोंके समूह फूल रहे थे जिनसे ऐसा जान पडता था मानों वह भगवानकेलिये पुष्पोंकी भेट समर्पण करताहुआ ही सबजगह व्याप्त हो रहा हो ॥ ४० ॥ इंद्रने वह वृक्ष सब वृक्षोंमें मुख्यवृक्ष बनाया था, उसकी जड वज्रकी बनी हुई थी, ऊपर दिखनेवाला मूलभाग देदीप्यमान रत्नोंका बनाहुआ था, जपापुष्पकी कांतिके समान पद्मरागमणियोंके अनेकप्रकारके पुष्प बने हुये थे तथा उन्मत्त कोयलें और भ्रमर उसपर गुंजार कर रहे थे ॥४१॥ जो अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर है तथा चंद्रमाकी मनोहर शोभाको भी जीत रहा है ऐसा सफेद छत्र भगवानके ऊपर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों चंद्रमा ही अपने तीन रूप धारणकर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेकेलिये आया हो ॥४२॥ वे सफेद तीनों छत्र ऐसे सुशोभित होते थे मानों चंद्रमाका मंडल ही छत्रका आकार धारण कर रहा हो, उस

रत्नैरनेकैः खचितं परार्ध्यैः रुद्यदिनेशश्रियमाहसद्भिः । छत्रत्रयं तद्रुरुचेऽतिवीध्रं चन्द्रार्कसंपर्कविनिर्मितं वा ॥ ४४ ॥ सन्मौक्तिकं वार्द्धिजलायमान सश्रीक-मिंद्रद्युतिहारि हारि । छत्रत्रय तल्लसदिंद्रवज्र दध्रे परां कांतिमुपेत्य नाथ ॥ ४५ ॥ किमेष हासस्तनुते जगच्छ्रियः किमु प्रभोरुल्लसितो यशोगुणः । उत स्मयो धर्मनृपस्य निर्मलो जगत्त्रयानंदकरो नु चन्द्रमाः ॥ ४६ ॥ इति प्रतर्कं जनतामनस्स्वदो वितन्वदिद्धातपवारणत्रयं । बभौ विभोर्मोहविनिर्जयार्जित यशोमयं बिंबमिव त्रिधा स्थित ॥ ४७ ॥ पयःपयोधेरिव वीचिमाला प्रकीर्णकाना समितिः समंतात् । जिनेंद्रपर्यंतनिषेवियक्ष करोत्करैराविरभूद्विधूता

छत्रमें जो मोतियोंकी जाली लगी हुई थीं वे चंद्रमाकी किरणोंके समान जान पडती थीं इसप्रकार वह छत्र इंद्रकी आज्ञासे कुवेरने बनाया था ॥ ४३ ॥ वह छत्रत्रय उदय होते हुये सूर्यकी शोभाकी ओर भी हँसनेवाले बहुमूल्य अनेक रत्नोंसे बना हुआ था तथा बहुत ही निर्मल था इसलिये ऐसा अच्छा जान पडता था मानों सूर्य और चंद्रमाके परस्पर मिलनेसे ही बना हो ॥ ४४ ॥ उस छत्रमें बडे ही उत्तम मोती लगे हुये थे, वह क्षीरसागरके जलके समान जान पडता था, बहुत ही शोभा-यमान और मनोहर था, इंद्रकी कांतिको भी जीतता था और उसमें इंद्रनील मणि भी लगे हुये थे, ऐसा वह छत्रत्रय भगवानकी समीपता पाकर बडी ही उत्कृष्ट कांतिको धारण करता था ॥ ४५ ॥ क्या यह जगतकी लक्ष्मीका हास्य ही फैल रहा है, अथवा भगवानका प्रकाशमान यश रूपी गुण है, अथवा धर्मराजका निर्मल मंद हास्य है, अथवा तीनों लोकोंको आनंदित करनेवाला चंद्रमा है इसप्र-कार लोगोंके मनमें तर्क वितर्क उत्पन्न करता हुआ तथा भारी आतापको भी दूर करनेवाला वह छत्रत्रय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों मोहरूपी शत्रुके जीत लेनेसे भगवानका जो यशरूपी मं-डल इकट्ठा हुआ है वही अपने तीन रूप धारणकर वहां ठहरा हो ॥ ४६-४७ ॥ भगवानके समीपमें सेवा करनेवाले यक्षोंके ऊपरको उठे हुये हाथोंके समूहोंसे जो चमरोंके समूह चारोंओर ढुराये जा रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों क्षीरसागरकी लहरें ही हों ॥ ४८ ॥ अत्यंत निर्मल कांतिको धा-

॥ ४८ ॥ पीयूषशल्कैरिव निर्मितांगी चान्द्रैरिवांशैर्घटिताऽमलश्रीः । जिनाङ्घ्रिपर्यंतमुपेत्य भेजे प्रकीर्णकाली गिरिनिर्झराभा ॥ ४९ ॥ जिनेंद्रमासेवितुमागतेयं दिवापगा स्यादिति तर्क्यमाणा । पंक्तिर्विरेजे शुचिचामराणां यक्षैः सलीलं परिवीजितानां ॥ ५० ॥ जैनी किमंगद्युतिरुद्भवती किमिंदुभासां ततिरापतंती । इति स्म शकां तनुते पतंती सा चामराली शरदिंदुशुभ्रा ॥ ५१ ॥ सुधामलांगी रुचिरा विरेजे सा चामराणां ततिरुल्लसंती । क्षीरोदफेनावलिरुच्चलंती मरुद्विधूतेव समिद्धकांतिः ॥ ५२ ॥ लक्ष्मीं परामाप परापतंती शशांकपीयूषसमानकांतिः । सिषेविषुस्तं जिनमाव्रजंती पयोधिवेलेव सुचामराली

रण करनेवाला वह चमरोंका समूह ऐसा जान पडता था मानों अमृतके टुकडेसे ही बना हो, अथवा चंद्रमाकी किरणोंसे ही बना हो तथा वही स्वच्छ चमरोंका समूह ऊपरसे पडता हुआ भगवानके चरणकमलोंके समीप पहुंचकर अथवा भगवानरूपी पर्वतके समीप पहुंचकर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों किसी पर्वतसे निर्झरना ही पड रहा हो ॥ ४९ ॥ जिसे यक्ष लोग लीलापूर्वक धीरे धीरे ढुरा रहे हैं ऐसी वह पवित्र चमरोंकी पंक्ति बडी ही सुशोभित हो रही थी तथा उसे देखकर लोग कल्पना करते थे कि भगवानकी सेवा करनेकेलिये अवश्य यह आकाशगंगा ही आई है ॥ ५० ॥ शरद ऋतुके चंद्रमाके समान अतिशय स्वच्छ ऐसी ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति लोगोंको ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी कि क्या यह भगवानके शरीरकी कांति ही प्रगट हो रही है अथवा चंद्रमाकी कांतिका समूह ही आ रहा है ॥ ५१ ॥ वह ढुरती हुई चमरोंकी पंक्ति अमृतके समान निर्मल शरीर और अतिशय कांतिको धारण करती थी, बडी ही प्रकाशमान और सुंदर थी इसलिये वह ऐसी जान पडती थी मानों क्षीरसागरके फेनकी पंक्ति ही हो ॥ ५२ ॥ अथवा ऊपरसे पडती हुई वह चमरोंकी पंक्ति बडी उत्कृष्ट शोभाको धारण करती थी, चंद्रमाके वा अमृतके समान उसकी कांति थी और वह ऐसी जान पडतीथी मानों भगवानकी सेवा करनेकी इच्छासे समुद्रकी वेला ही आई हो ॥ ५३ ॥ क्या ये आकाशसे हंस उतर रहे हैं, अथवा भगवानका यश ही पड रहा है इसप्रकार

॥ ५३ ॥ पतंति हसाः किमु मेघमार्गोत्किमुत्पतंतीश्वरतो यशांसि । विशक्यमानानि सुरैरितीशः पेतुः समंतात्सितचामराणि ॥ ५४ ॥ यक्षैरुदक्षिप्यत चामराली दक्षैः सलीलं कमलायताक्षैः । न्यक्षेऽपि भर्त्तुर्वितताबलक्षा तरंगमालेव मरुद्भिरब्धेः ॥ ५५ ॥ जिनेंद्रभक्त्या सुरनिम्नगेव तद्व्याजमेत्यावरतः पतंती । सा निर्बभौ चामरपंक्तिरुच्चै र्जोत्स्नेव भव्योरुकुमुद्वतीना ॥ ५६ ॥ इत्यात्ततोषैः स्फुरदक्षयक्षैः प्रवीज्यमानानि शशांकभासि । रेजुर्जगन्नाथगुणोत्करैर्वा स्पर्द्धां वितन्वंत्यथ चामराणि ॥ ५७ ॥ लसत्सुधाराशिविनिर्मलानि तान्यप्रमेयद्युतिकांतिभाजि । विभोर्जगत्प्राभवमद्वितीयं शशंसुरुच्चैश्चमरीरुहाणि ॥ ५८ ॥ लक्ष्मीसमालिंगितवक्षसोऽस्य श्रीवृक्षचिन्हं दधतो जिनेशः । प्रकीर्णकानाममितद्युतीना विज्ञाश्चतु:षष्टिमुदाहरति ॥ ५९ ॥ जिनेश्वराणामिति चा-

---

जिन्हें देखकर देवलोग शंका करते थे ऐसे वे सफेद चमर भगवानके चारोंओर ढुराये जा रहे थे ॥ ५४ ॥ कमलके समान दीर्घ नेत्रोंको धारण करनेवाले ऐसे चतुर यक्ष लीलापूर्वक धीरे धीरे उन चमरोंको ऊंचेकी ओर उठाते थे उससमय भगवानके समीप पहुंचे हुये वे सफेद और विस्तीर्ण चमर ऐसे जान पडते थे मानों वायुके द्वारा उठाहुआ समुद्रकी लहरोंका समूह ही हो ॥ ५५ ॥ अथवा वह ऊंची चमरोंकी पंक्ति ऐसी अच्छी सुशोभित होती थी मानों उन चमरोंके बहानेसे भगवानकी भक्तिसे आकाश गंगा ही आकाशसे उतर रही हो, अथवा भव्यरूपी बडी बडी कमोदिनियोंको प्रसन्न करनेकेलिये चांदनी ही खिल रही हो ॥५६॥ इसप्रकार जिन्हें अत्यंत आनंद प्राप्त हो रहा है और जिनके सुंदर नेत्र प्रकाशमान हो रहे हैं ऐसे यक्ष चंद्रमाके कांतिकी समान दैदीप्यमान जिन चमरोंको ढुरा रहे थे वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके गुणसमूहोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ॥५७॥ अथवा सुंदर अमृतकी राशिके समान अत्यंत निर्मल तथा अपार तेज और कांतिको धारण करनेवाले वे उत्कृष्ट चमर ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों भगवानके अद्वितीय (सबसे उत्कृष्ट) जगतके प्रभुत्वको ही प्रगट कर रहे हों ॥ ५८ ॥ जिनका वक्षःस्थल अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मीसे आलिंगित है और जो श्रीवृक्षके चिन्हसे सुशोभित हैं ऐसे भगवानके अपारकांतिको धारण करनेवाले चमरोंकी

मराणि प्रकीर्तितानीह सनातनाना । अर्धार्धमानानि भवंति तानि चक्रेश्वराद्यावदसौ सुराजा ॥ ६० ॥ सुरदुंदुभयो मधुरध्वनयो निनदंति तदा स्म नभोविवरे । जलदागमशंकिभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परिवीक्षितपद्धतयः ॥ ६१ ॥ पणवैस्तुणवैः कलमद्ररुतैः सह काहलशंखमहापटहैः । ध्वनिरुत्ससृजे ककुभा विवर मुखर विदधत्पिदधच्च नभः ॥ ६२ ॥ घनकोणहताः सुरपाणविकैः कुपिता इव ते द्युसदा पटहाः । ध्वनिमुत्ससृजुः किमहो वठराः परिताडयथेति विसृष्टगिर. ॥६३॥ ध्वनिरबुमुचा किमय स्फुरति क्षुभितोऽब्धिरुत स्फुरदूर्मिरवः । कृततर्कमिति प्रसरन्जयतात् सुरतूर्यं वो जिनभर्तुरसौ ॥६४॥

संख्या विद्वान लोगोंने चौंसठ बतलाई है ॥ ५९ ॥ सनातन भगवान अरहंतदेवके जो चमरोंकी चौंसठ संख्या कही हे उससे चक्रवर्तीके चमरोंकी संख्या आधी अर्थात् बत्तीस होती है तथा इसीप्रकार राजा पर्यंत आधी आधी संख्या लेनी चाहिये। भावार्थ—जिनेंद्रदेवके चौंसठ, चक्रवर्तीके बत्तीस, अर्धचक्रीके सोलह, मंडलेश्वरपर आठ, अर्द्धमंडलेश्वरपर चार, महाराजपर दो और राजापर एक चमर ढुरता है ॥ ६० ॥ इसीप्रकार उससमय मधुर शब्द करते हुये देवोंके दुंदुभी आकाशमें बजाये जा रहे थे जिन्हें बादलकी शंका करते हुये उन्मत्त मयूर बडे आदरसे देख रहे थे ॥ ६१ ॥ मधुर शब्द करते हुये पणव, तुणव, काहल, शंख, नगाडे आदि अनेक वाजोंके शब्द समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये और आकाशको आच्छादित करते हुये सब जगह फैल रहे थे ॥ ६२ ॥ बजानेवाले देवोंके मजबूत दंडेसे ताडित हुये नगाडे जो शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों वे क्रोधित होकर देवोंको स्पष्ट शब्दोंसे यही कह रहे हों कि अरे दुष्ट हो तुम लोग जोर जोरसे क्यों मारते हो ॥ ६३ ॥ क्या यह बादल गरज रहे हैं, अथवा समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है, अथवा समुद्रकी बडी २ लहरोंकी आवाज है इसप्रकार तर्क वितर्क उत्पन्न करते हुये भगवानके देवोंके द्वारा बजाये हुये नगाडोंकी आवाज सदा जय रूप हो अर्थात् सदा जय वंती हो ॥ ६४ ॥ सुर असुर और मनुष्य तिर्यचोंसे भरी हुई वह समवसरणकी भूमि भगवानके शरीरसे उत्पन्न हुई और चारोंओर फैली

प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवादिसृतेः । रुरुचे ससुरासुरमर्त्यजना किमथाद्भुतमीदृशि धाम्न विभोः ॥ ६५ ॥ तरुणार्करुचिं नु तिरो दधती सुरकोटिमहांसि नु निर्धुनती । जगदेकमहोदयमासृजती प्रथते स्म तदा जिनदेहरुचिः ॥ ६६ ॥ जिनदेहरुचावमृताब्धिशुचौ सुरदानवमर्त्यजना ददृशुः । स्वभवातरसप्तकमात्तमुदो जगतो बहुमंगलदर्पणके ॥ ६७ ॥ विधुमाशु विलोक्य नु विश्वसृजो गतमातपवारणता त्रितयीं । रविरिद्धवपुः स पुराणकविं समशिश्रियदंगविभानिभतः ॥ ६८ ॥ दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत् । भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽ-

---

हुई कांतिसे अर्थात् प्रभामंडलसे बहुत ही सुशोभित हो रही थी, सो ठीक ही है क्योंकि भगवानका इतना बडा तेज है उसमें विशेष आश्चर्यकी बात क्या है ॥ ६५ ॥ उससमय वह भगवानके शरीरकी कांति (प्रभामंडल) दोपहरके अति तेजस्वी सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार कर रही थी, करोडों देवताओंके प्रतापको प्रक्षालित कर रही थी वा धो रही थी अर्थात् तुच्छ कर रही थी और जगतको सबसे अधिक प्रकाशमान कर रही थी, इसप्रकारकी वह कांति चारोंओर फैल रही थी ॥ ६६ ॥ अमृतसे भरे हुये समुद्रके समान निर्मल और जगतको अनेक मंगल करनेवाले दर्पणके समान ऐसे भगवानके शरीरके प्रभामंडलमें सुर असुर और मनुष्य लोग अतिशय प्रसन्न होकर अपने अपने सात भव देखते थे ॥ ६७ ॥ चंद्रमा तीनों छत्रोंका रूप धारण कर भगवानकी सेवा करनेकेलिये बहुत शीघ्र आगया है उसे देखकर अतिशय प्रकाशमान सूर्य भी भगवानके शरीरके प्रभामंडलके बहानेसे पुराण कवि भगवान वृषभदेवकी सेवा करने लगा था, भावार्थ—वह प्रभामंडल सूर्यके समान जान पडता था ॥ ६८ ॥ भगवानके मुखरूपी कमलसे बादलोंकी गर्जनाके समान अनेक अतिशय युक्त महा दिव्यध्वनि निकल रही थी और जिसप्रकार अंधकारको नाश करता हुआ सूर्य दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार भव्य जीवोंके मनके मोहरूपी अंधकारको नाश करती हुई वह दिव्यध्वनि भी दैदीप्यमान हो रही थी ॥ ६९ ॥ यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकारकी थी तथापि उसमें सब देव

रिः ॥ ६९ ॥ एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुभाषाः । अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ ७० ॥ एकतयोऽपि यथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात् । पात्रविशेषवशाच्च तथाऽस्य सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्व ॥ ७१ ॥ एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभास । स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥ ७२ ॥ देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात् । साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥ ७३ ॥ इत्थभूता देवराड्विश्वभर्तु र्भक्त्या देवैः कारयामास भूतिं । दिव्यास्थानीं

और मनुष्योंकी भाषायें तथा अनेक प्रकारकी कुभाषायें अर्थात् पशुओंकी भाषायें भी अंतर्भूत होती थीं, वह दिव्यध्वनि भगवानके प्रभावसे समस्त जीवोंका अज्ञान दूरकर सबको जीवादि तत्त्वोंका बोध कराती थी ॥ ७० ॥ जिसप्रकार बादलोंका एकसा पानी भी वृक्षोंके भेदसे अनेक रसरूप हो जाता है उसीप्रकार सर्वज्ञदेवकी वह दिव्यध्वनि भी पात्रोंके अनेक भेद होनेसे अनेक प्रकारकी हो जाती थी ॥ ७१ ॥ अथवा जिसप्रकार स्फटिकमणि एक ही प्रकारका होता है तथापि वह अतिशय स्वच्छ होनेसे जपाकुसुम आदि उपाधियोंके भेदसे अनेक रंगोंको धारण करता है, उसीप्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि भी श्रोताओंके भेदसे अनेकप्रकारकी हो जाती है ॥ ७२ ॥ कोई कोई ऐसा कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि देवोंकी की हुई है भगवानकी नहीं है परंतु यह उनका कहना मिथ्या है, क्योंकि यदि दिव्यध्वनि होना देवोंका अतिशय मानलिया जायगा तो भगवानके इस गुणका घात ही हो जायगा इसलिये वह दिव्यध्वनि भगवानकी ही होती है। दूसरे कोई कोई यह बात कहते हैं कि वह दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक है परंतु उनका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संसारमें वर्णसमूहोंके विना कभी अर्थज्ञान नहीं होता है अर्थात् शब्दोंसे ही पदार्थोंका ज्ञान हुआ करता है, दिव्यध्वनिसे भी पदार्थोंका ज्ञान होता है इसलिये वह भी (शक्तिरूपसे) अक्षरात्मक ही है ॥७३॥ इसप्रकार भगवानकी वह बाह्य विभूति इंद्रने भक्तिपूर्वक देवोंसे कराई थी, सब इंद्रोंके द्वारा पूज्य ऐसे उस समव-

देवराजोपसेव्यामध्यास्तैना श्रीपतिर्विश्वदृश्वा ॥ ७४ ॥ देवः साक्षात्सकल वस्तुतत्त्व विद्वान्विद्वज्जनतावदिताघ्रि. । हैमं पीठ हरिभिर्व्यात्तवक्त्रैरूढ भेजे जगता बोधनाय ॥ ७५ ॥ दृष्ट्वा देवा. समवसृतिमहीं चक्रुर्भक्त्या परिगतिमुचिता । त्रि.सम्भ्राता प्रमुदितमनसो देव द्रष्टु विविशुरथ सभा ॥ ७६ ॥ व्योममार्गपरिरोधिकेतनै. सम्मिमार्जिषुमिवाखिल नभ. । धूलिसालवलयेन वेष्टिता सततामरधनुर्वृतामिव ॥ ७७ ॥ स्तभशब्दपरमानवाग्मितान् या स्म धारयति खाग्रलघिन. । स्वर्गलोकमिव सेवितु विभु व्याजुहूषुरमलाग्रकेतुभिः ॥ ७८ ॥ स्वच्छवारिशिशिराः सरसीश्च याऽविभर्विकसितोत्पलनेत्रा. ।

सरणमें सब लोकालोकको जाननेवाले भगवान वृषभदेव विराजमान थे ॥ ७४ ॥ गणधर आदि अनेक विद्वानलोग जिनके चरणकमलोंकी बंदना करते हैं तथा जो जीव अजीव आदि समस्त तत्त्वोंको प्रत्यक्ष जानते हैं ऐसे वे वृषभदेव भगवान जगतके जीवोंको उपदेश देनेकेलिये मुंह फाडे हुये सिंहोंके द्वारा धारण किये हुये सुवर्णके सिंहासनपर विराजमान थे ॥ ७५ ॥ इसप्रकार समवसरणकी भूमिको देखकर देवलोग बहुत ही प्रसन्न हुये तथा उन्होंने भक्ति पूर्वक तीनवार चारोंओर फिरकर योग्य रीतिसे तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर भगवानको देखनेकेलिये सभाके भीतर प्रवेश किया ॥ ७६ ॥उस समवसरणकी भूमिमें जो आकाशमार्गको रोकनेवालीं ध्वजायें लगी हुईं थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों समस्त आकाशको साफ करना ही चाहती हो, तथा वह जो गोल धूलिसालसे घिरी हुई थी इसलिये ऐसी जान पडती थी मानों वह सदा इंद्रधनुषसे ही घिरी रहती हो ॥ ७७ ॥ उसी समवसरणकी भूमिमें आकाशको उलंघन करनेवाले चार मानस्तंभ सुशोभित हो रहे थे, तथा उन मानस्तंभोंपर जो निर्मल ऊंची ध्वजायें लग रहीं थीं उनसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये (मानस्तंभरूपी हाथ उठाकर) स्वर्गलोकको ही बुला रही हो ॥ ७८ ॥ जिनमें कमल प्रफुल्लित हो रहे हैं और स्वच्छ तथा शीतल जल भरा हुआ है ऐसी अनेक सरोवरियां सुशोभित हो रहीं थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों उस भूमिने जन्ममरण

द्रष्टुमीशमसुरातकमुच्चै र्नेत्रपंक्तिमिव संघटयती ॥ ७९ ॥ खातिका जलविहगविरावै रुन्नतैश्च वितर्तोर्मिकरौघैः । या दधे जिनमुपासितुमिन्द्रानाजुहूषुरिव निर्मलतोया ॥ ८० ॥ बहुविधवनलतिकाकात मदमधुकरविरुतातोद्य । वनमुपवहति च वल्लीना स्मितमिव कुसुमाचित या स्म ॥ ८१ ॥ सालमाद्यमुच्च-गोपुरोद्गम सविभर्ति भासुर स्म हैमन । हैमनार्कसौम्यदीप्तिमुन्नतिं भर्तुरक्षरैर्विनेव या प्रदर्शिका ॥ ८२ ॥ शरद्धनसमश्रियौ नर्तकी तडिद्विलासिते नृते शालिके । दधाति रुचिरे स्म योपासितु जिनेन्द्रमिव भक्तिसभाविता ॥ ८३ ॥ घटीद्वयद्वद्वमुपात्तधूपक बभार या द्विस्तनयुग्मसान्निभ । जिनस्य धूत्यै श्रत-

नाशकरनेवाले भगवानको देखनेकेलिये बडी बडी नेत्रोंको पंक्तियां ही धारण की हों ॥७९॥ उस भूमिमें जो निर्मल जलसे भरी हुई खाई सुशोभित हो रही थी उसपर जलचर जीव मधुर शब्द कर रहे थे और बडी २ ऊंची लहरें उठ रहीं थीं जिनसे वह खाई ऐसी जान पडती थी मानों लहरेंरूपी बडे २ अनेक ऊंचे हाथोंको उठाकर और पक्षियोंके द्वारा शब्द करती हुई भगवानकी सेवा करनेकेलिये इंद्रोंको ही बुला रही हो ॥८०॥ उस भूमिमें जो लतावन थे वे अनेकप्रकारकी लताओंसे मनोहर थे, उन्मत भ्रमरोंके मधुर शब्द ही उसमें वाजे बज रहे थे और फूले हुये फूलोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों धीरे २ हँस रही ही हो ॥ ८१ ॥ उस भूमिमें जो पहिला कोट सुशोभित हो रहा था वह सुवर्णका बना हुआ था, बहुत ऊंचा था और चार उसके बडे २ दरवाजे थे, उस कोटसे वह समवसरणकी भूमि ऐसी जान पडती थी मानों अक्षरोंके विना ही हिमऋतुके सूर्यकी कांतिके समान भगवानकी अतिशय सौम्य कांतिको दिखला रही हो ॥ ८२ ॥ सब दरवाजोंके दोनोंओर जो नाट्यशालायें थीं वे शरदऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ थीं और उनमें नृत्य करनेवाली देवांगनायें बिजलीके समान जान पडती थीं, उन मनोहर नाट्यशालाओंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने भक्ति पूवर्क भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही यह सब धारण किया हो ॥ ८३ ॥ नाट्यशालाओंके आगे जो दो दो धूपघट थे वे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानकी सेवा करनेकेलिये तीनों लोकों-

देवता स्वय तथास्थितेव त्रिजगच्छ्रिया सम ॥ ८४ ॥ रम्यं वनं भृगसमूहसेवितं बभ्रे चतु.सव्यमुपात्तकांतिकं । वासो विनीलं परिधाय तन्निभाद्वरेण्य-माराधयितु स्थितेव या ॥ ८५ ॥ उपवनसरसीना बालपद्मै र्द्युयुवतिमुखशोभामाहसती । अधृत च वनवेदी रत्नदीप्रा युवतिरिव कटिस्था मेखला या ॥ ८६ ॥ ध्वजावरततांबरैः परिगता यका ध्वजनिवेशनैर्दशतयै. । जिनस्य महिमानमारचयितु नभोऽगणमिवामृजत्यतिविभौ ॥ ८७ ॥ खमिव सतार कुसुमाढ्य या वनमतिरम्यं सुरभूजाना । सह वनवेद्या परितःसालाद्व्यरुचदिवोढ्वा सुकृताराम ॥ ८८ ॥ अधृत च याऽस्मात्परतो दीप्त स्फुरदुरुरत्नं भ-

---

की लक्ष्मीके साथ साथ स्वयं सरस्वती देवी ही बैठी हो और उसीके दोनों कुचोंके समान वे धूपघट हों ॥ ८४ ॥ धूपघडोंके आगे चार मनोहर बन सुशोभित हो रहे थे, वे बन आतिशय दैदीप्यमान थे और उसमें भ्रमरोंके समूह बैठे हुये थे, उन वनोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों वनोंके बहानेसे नीला वस्त्र पहन कर सर्वश्रेष्ठ भगवानकी सेवा करनेकेलिये ही खडी हो ॥ ८५ ॥ जिसप्रकार स्त्रियां कटिभागपर करधनी धारण करती हैं उसीप्रकार उपवनकी सरोवरियोंमें फूले हुये छोटे २ कमलोंके द्वारा स्वर्गरूपी स्त्रीके मुखकी शोभाकी ओर हँसती हुई वह भूमि अनेक प्रकारके रत्नोंसे दैदीप्यमान ऐसी बनकी वेदिकाको धारण करती थी, भावार्थ—वह वनवेदिका उस समवसरणकी भूमिकी करधनीके समान सुशोभित थी ॥ ८६ ॥ बनवेदिकाके आगे उस भूमिमें दश प्रकारकी ध्वजायें फहरा रही थीं तथा उन ध्वजाओंके हिलते हुये बडे २ वस्त्रोंसे वह भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों भगवानकी महिमा स्थापन करनेकेलिये आकाशको साफ ही कर रही हो ॥ ८७ ॥ ध्वजाओंके बाद द्वितीय कोट था, द्वितीय कोटके चारोंओर वनवेदिका सहित कल्पवृक्षोंका अत्यंत मनोहर बन था, उसमें फूल खिल रहे थे जिससे वह तारे सहित आकाशके समान जान पडता था, इसप्रकार पुण्यके बगीचेके समान उस बनको धारण करती हुई वह समवसरणकी भूमि बडी ही सुशोभित हो रही थी ॥ ८८ ॥ उस वनके वाद उस भूमिमें अनेक बडे २ रत्नोंसे प्रकाशमान और दै-

वनाभोग । मणिमयदेहान्नव च स्तूपान् भुवनविजित्या इव बद्धेच्छा ॥ ८९ ॥ स्फटिकमयं या रुचिर साल प्रावैततमूर्तीः खमणिसुभित्तीः । उपरितन च त्रिजगद्वाहि व्यधृत परार्थ्यं सदन लक्ष्म्याः ॥ ९० ॥ समं देववर्यैः पराध्योरुशोभा प्रपश्यंस्तथैना मही विस्मिताक्ष. । प्रविष्टो महेद्रः प्रणष्टप्रमोहं ।जिन द्रष्टुकामो महत्या विभूत्या ॥ ९१ ॥ अथापश्यदुच्चैर्ज्वलत्पीठमूर्ध्नि स्थित देवदेव चतुर्वक्रशोभ । सुरेंद्रैर्नरेंद्रैर्मुनींद्रैश्च वद्यं जगत्सृष्टिसंहारयोर्हेतुमाद्य ॥ ९२ ॥ शरच्चद्रबिंबप्रतिस्पर्धिवक्त्र शरज्ज्योत्स्नयेव स्वकात्याऽतिकात । नवोत्फुल्लनीलाब्जसशोभि नेत्र सर. साब्जनीलोत्पलं व्याहसंत ॥ ९३ ॥ ज्वल-

---

दीप्यमान अनेक मकान थे तथा अनेक प्रकारके मणियोंसे बने हुये नौ स्तूप थे, उन मकान और स्तूपोंसे वह भूमि ऐसी जान पडती थी मानों उसने जगतको जीतनेकेलिये ही अपनी इच्छा प्रगट की हो ॥ ८९ ॥ उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ बहुत सुंदर कोट था जो कि बहुत बडा था और आकाशके समान स्फटिक मणियोंकी बनी हुई उसकी दीवालें थीं, तथा उसी तृतीय कोटके ऊपर तीनों जगतको अवकाश देनेवाला बहुमूल्य लक्ष्मीमंडप (श्रीमंडप) बना हुआ था वह पृथ्वी इस सब शोभासे भी सुशोभित हो रही थी, (ऐसी उस समवसरणकी भूमिकी प्रदक्षिणा देकर इंद्रने भीतर प्रवेश किया) ॥ ९० ॥

अथानंतर—इसप्रकार अत्यंत उत्कृष्ट शोभाको धारण करनेवाली उस समवसरणकी भूमिको देखते हुये तथा आश्चर्य सहित नेत्रोंको धारण करते हुये सौधर्मस्वर्गके इंद्रने मोहनीय कर्मको नष्ट करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवके देखनेकेलिये बडी विभूतिके साथ उस समोसरणमें प्रवेश किया ॥ ९१ ॥ वहां जाकर इंद्रने अतिशय देदीप्यमान पीठिकाके ऊपर विराजमान देवाधिदेव भगवान वृषभदेवके दर्शन किये, उससमय चारों दिशाओंमें भगवानके चार मुख सुशोभित हो रहे थे, सुरेंद्र नरेंद्र और मुनींद्र सब उनकी वंदना करते थे, वे मोक्षमार्गरूप सृष्टिके प्रधान कारण थे और पापरूप सृष्टिके संहार करनेके कारण थे ॥ ९२ ॥ उनका मुख शरद ऋतुके चंद्रमाके समान था, शरद ऋतुकी चांद-

द्धासुरागं स्फुरद्भानुबिंबप्रतिद्वंद्विदेहप्रभाब्धौ निमग्नं । समुत्तुंगकायं सुराराधनीयं महामेरुकल्पं सुचामीकराभं ॥ ९४ ॥ विशालोरुवक्षस्स्थलस्थात्मलक्ष्म्या जगद्भर्तृभूयं विनोक्त्या ब्रुवाणं । निराहार्यवेषं निरस्तोरुभूषं निरक्षाववोधं निरुद्धात्मरोधं ॥९५॥ सहस्रांशुदीप्तप्रभामध्यभाजं चलच्चामरोघैः सुरैर्वीज्यमानं । ध्वनद्दुंदुभिध्वाननिर्घोषरम्यं चलद्वीचिवेलं पयोब्धेर्यथैव ॥ ९६ ॥ सुरोन्मुक्तपुष्पैस्ततप्रांतदेशं महाशोकवृक्षाश्रितोत्तुंगमूर्तिं । स्वकल्पद्रुमोद्यानमुक्तप्रसूनै

नीके समान अपनी कांतिसे बहुत ही मनोहर था, उनके नेत्र नवीन प्रफुल्लित हुये नीलकमलके समान सुशोभित थे और उन नेत्रोंसे वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों सुवर्णकमल और नीलकमल सहित सरोवरकी ओर हँस रहे ही-हों ॥ ९३ ॥ उनका शरीर अतिशय प्रकाशमान और दैदीप्यमान था, और वह दैदीप्यमान सूर्यकांतमणिके समान शरीरकी कांति अर्थात् प्रभामंडलरूपी समुद्रमें डूबा हुआ था, उत्तम सुवर्णके समान उनका शरीर अत्यंत ऊंचा था और देव भी उसकी आराधना करते थे इसलिये वे भगवान ठीक महामेरुके समान जान पडते थे ॥ ९४ ॥ उनके विशाल और बडे वक्षःस्थलपर जो अनंत चतुष्टय स्वरूप आत्मलक्ष्मी सुशोभित हो रही थी उससे वे भगवान बिना ही बचनोंके अपने तीनों जगतके स्वामीपनेको प्रगट कर रहे थे, इसके सिवाय वे भगवान कवलाहार ग्रहण नहीं करते थे, वस्त्राभूषण रहित थे, इंद्रियोंसे होनेवाला ज्ञान उनके नहीं था अर्थात् उनके दिव्य केवल ज्ञान था और वे ज्ञानावरणादि घातियाकर्मोंसे सर्वथा रहित थे ॥ ९५ ॥ वे भगवान सूर्यके समान दैदीप्यमान प्रभामंडलके मध्यमें विराजमान थे, देव लोग अनेक चमर उनपर ढुरा रहे थे, दुंदुभियोंके मधुर शब्द हो रहे थे जिससे भगवानकी शोभा और भी बढ गई थी तथा दुंदुभीके शब्द और चमरोंसे वह स्थान ऐसा जान पडता था मानों उठती हुई लहरों सहित गरजता हुआ समुद्र ही हो ॥ ९६ ॥ उनका समीपभाग देवोंके द्वारा-वरसाये हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान हो रहा था और उनका ऊंचा शरीर महा अशोक वृक्षके नीचे विराजमान था इसलिये उस स-

स्ततात सुराद्रिं रुचा न्हेपयत ॥ ९७ ॥ प्रविस्तारिशुभ्रातपत्रत्रयेण स्फुरन्मौक्तिकेनानृतशुचिनेन । स्वमाहात्म्यमैश्वर्यमुग्रयशश्च स्फुटीकर्तुमीश तमीशानमाय ॥ ९८ ॥ प्रदस्याथ दूरान्नतस्वोत्तमागा' सुरेंद्रा' प्रणेमुर्महीस्पृष्टजानु । किरीटाग्रभाजा स्रजा माल्किाभि जिनेंद्रांघ्रियुग्म स्फुट प्रार्चयन ॥ ९९ ॥ तदार्हत्प्रणामे समुत्फुल्लनेत्राः सुरेंद्रा विरेजु. शुचिस्मेरवक्त्रा । सम वा सरोभि सपद्मोत्पलै स्वै कुलक्ष्माधरेंद्रा सुराद्रि भजत. ॥ १०० ॥ शची चाप्सरोशेषदेवीसमेता जिनाघ्र्यो. प्रणाम चकारार्चयन्ती । स्ववक्त्रोत्पलै स्वनेत्रोत्पलैश्च प्रसन्नैश्च भावप्रसूनैरनूनै ॥ १०१ ॥ जिनस्यांघ्रिपद्मौ नखांशुप्रतानै

मय वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों कल्पवृक्षोंके वनोंमेंसे पुष्पोंके समूह जिसके समीप फैले हों ऐसे मेरु पर्वतको भी अपनी कांतिसे लज्जित कर रहे हों ॥ ९७ ॥ अतिशय विशाल और मोतियोंसे दैदीप्यमान ऐसे सफेद तीन छत्र आकाशमें लटक रहे थे जिनसे उनकी महिमा ऐश्वर्य और यश प्रगट हो रहा था, इसप्रकार अपना ऐश्वर्य प्रगट करते हुये वे प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् विराजमान थे ॥ ९८ ॥ उनको दूरसे ही देखकर इंद्रोंने अपने घोंटू पृथ्वीपर टेककर और अपना मस्तक नवाकर प्रणाम किया- प्रणाम करतेसमय वे इंद्र ऐसे जान पडते थे मानों अपने मुकुटपर लगी हुई मालाओंकी किरणोंसे भगवानके दोनों चरणकमलोंकी पूजा ही कर रहे हों ॥ ९९ ॥ उन अरहंत भगवानको प्रणाम करते समय इंद्रोंके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे थे और उनके पवित्र मुखोंपर प्रसन्नतासे कुछ कुछ हंसी आ रही थी, इसलिये वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनमें कमल खिल रहे हैं ऐसे अपने अपने सरोवरोंके साथ साथ कुलपर्वत ही मेरु पर्वतकी सेवा कर रहे हों ॥ १०० ॥ उससमय अनेक अप्सरा और देवियोंके साथ २ शची इंद्रानीने भी भगवानके चरणकमलोंको प्रणाम किया था, उससमय वह इंद्रानी ऐसी जान पडती थी मानों अपने मुखरूपी कमलोंसे नेत्ररूपी नील कमलोंसे और शुद्ध परिणामरूपी अनेक पुष्पोंसे भगवानकी पूजा ही कर रही हो ॥ १०१ ॥ भगवानके दोनों ही चरणकमल अपने नखोंकी किरण समूहोंके द्वारा देवोंके मस्तकपर आकर उन्हें स्प-

सुरानास्पृशतौ समेत्याधिमूर्द्धं। स्रजाम्लानमूर्ल्या स्वगेषां पवित्रा शिरःस्वर्पिपातामिवानुग्रहीतु ॥१०२॥ जिनेंद्राघ्रिभासा पवित्रीकृत ते स्वमूह सुरेंद्रा प्रणम्यातिभक्त्या। नखांशुप्रतानाबुलब्धाभिषेक समुत्तुगमत्युत्तम चोत्तमाग ॥१०३॥ नखाशूत्करव्याजमव्याजशोभ पुलोमात्मजा साप्सरा भाक्तिनम्रा। स्तनोपात्तलग्न समूहेऽशुकात प्रहासायमानं लसन्मुक्तिलक्ष्म्याः ॥ १०४ ॥ प्रणामक्षणे ते सुरेंद्रा विरेजु स्वदेवीसमेता ज्वलद्भूपणागाः। महाकल्पवृक्षा' समकल्पवल्लीसमित्येव भक्त्या जिन सेवमानाः ॥ १०५ ॥ ॥ अथोत्थाय तुष्ट्या सुरेंद्राः स्वहस्तै जिनस्याघ्रिपूजा प्रचक्रु प्रतीता। सुगधै' समाल्यै स-

---

र्श करते थे और उससमय ऐसे जान पडते थे मानों देवोंकी मलिन न होनेवाली मालाके वहानेसे उनपर अनुग्रह करते हुये उनके मस्तकपर पवित्र शेषाक्षत (सिद्ध शेष) ही अर्पण कर रहे हों ॥ १०२ ॥ इंद्र जिससमय भक्तिपूर्वक भगवानको प्रणाम करते थे उससमय वे अपने ऊंचे और उत्तम मस्तकको भगवानके चरणकमलोंकी कांतिसे अतिशय पवित्र मानते थे और नखोंकी किरणसमूहरूपी जलसे अभिषेक किये हुयेके समान मानते थे ॥ १०३ ॥ इंद्रानी भी जिससमय अप्सराओंके साथ भक्तिपूर्वक नमस्कार कर रही थी उससमय देदीप्यमान मुक्तिरूपी लक्ष्मीके उत्कट हास्यके समान और स्वभावसे ही सुंदर ऐसा भगवानके चरणोंके नखोंकी किरणोंका समूह इंद्रानीके स्तनोंके समीपभागमें पड रहा था और वह ऐसा जान पडता था मानों स्तनोंपरका सुंदर वस्त्र (कांचली) ही हो ॥ १०४ ॥ उससमय प्रकाशमान आभूपणोंसे सुशोभित ऐसे इंद्र अपनी अपनी इंद्रानियों सहित भगवानको नमस्कार कर रहे थे और वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों जिनपर कल्पलतायें चढी हुई हैं ऐसे महाकल्पवृक्ष ही भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा कर रहे हों ॥ १०५ ॥

अथानंतर—इंद्र वडे हर्षित होकर उठे और उन्होंने संतुष्ट होकर अपने हाथसे गंध, पुष्पमाल, धूप, दीप, दिव्य अक्षत और उत्कृष्ट अमृतके पिंडोंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १०६ ॥ भगवानके सामनेकी भूमि रंगावलीसे (रंगकी वनी हुई रेखायें वा चौकसे) सुशोभित हो रही थी

धूपै. सदीपै: सदिव्याक्षतै. प्राज्यपीयूषपिंडै ॥ १०६ ॥ पुरो रंगवल्या तते भूमिभागे सुरेंद्रोपनीता बभौ सा सपर्या । शुचिद्रव्यसंपत्समस्तेव भर्तु. पदोपास्तिमिच्छुः श्रिता तच्छलेन ॥ १०७ ॥ शचीरत्नचूर्णैर्बलिं भर्तुरग्रे ततानोन्मयूखप्ररोहैर्विचित्रा । मृदुस्निग्धसूक्ष्मैरनेकप्रकारैः सुरेंद्रायुधानामिव श्लक्ष्णचूर्णै. ॥ १०८ ॥ ततो नीरधारा शुचिं स्वानुकारा लसद्रत्नभृंगारनालस्नुता ता । निजां स्वांतवृत्तिं प्रसन्नामिवाच्छां जिनोपात्रि न्यपातयामास भक्त्या ॥ १०९ ॥ स्वरुद्भूतगंधै. सुगंधीकृताशै भ्रमद्भृंगमालाकृतारावहृद्यै. । निनात्री स्मरती विभो पादपीठं समानर्च भक्त्या तदा शक्रपत्नी ॥ ११० ॥ व्यधान्मौक्तिकौघैर्विभोस्तदुलेज्या स्वचित्तप्रसादैरिव स्वच्छभाभि· । तथाऽम्लानमदारमालाशतैश्च प्रभोः पादपूजामकार्षीत्प्रहर्षात् ॥ १११ ॥ ततो रत्नदी-

---

तथा उसपर - इंद्रके द्वारा लाई हुई पूजाकी सामग्री ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों उस सामग्रीके वहानेसे संसारकी समस्त पवित्र द्रव्यरूपी संपत्तियां भगवानके चरणकमलोंकी सेवा करनेकी इच्छासे ही वहां आई हों ॥ १०७ ॥ इंद्रानीने भगवानके सामने कोमल चिकने और सूक्ष्म ऐसे अनेकप्रकारके रत्नोंके चूर्णसे मंडलकी रचना की थी, उन रत्नोंके चूर्णसे किरणोंके अंकूरे निकल रहे थे जिनसे वह मंडल वडा ही विचित्र जान पडता था तथा ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों वह इंद्रधनुषके कोमल चूर्णसे ही वना हो ॥ १०८ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिपूर्वक भगवानके चरणकमलोंके समीपमें दैदीप्यमान रत्नोंके भृंगार [झारी) के नालसे निकलती हुई पवित्र जलकी धारा अर्पण की, वह जलकी धारा इंद्रानीके समान ही पवित्र थी और इंद्रानीके शुद्ध अंतःकरणके समान निर्मल थी ॥ १०९ ॥ उसीसमय इंद्रानीने भगवानके दोनों चरणकमलोंका स्मरण करते हुये भक्तिपूर्वक जिस गंधकी सुगंधिसे सब दिशायें सुगंधित हो रही हैं और जिसपर फिरते हुये भ्रमरोंके समूहोंसे मनोहर शब्द हो रहे हैं ऐसी स्वर्गकी सुगंधित गंधसे [चंदनसे] भगवानके सिंहासनकी पूजा की ॥ ११० ॥ इसीप्रकार अपने चित्तकी प्रसन्नताके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाले मोतियोंके समूहोंसे भगवानकी अक्षतसे होनेवाली पूजा की, तथा हर्षित होकर प्रफुल्लित कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे वनी हुई

वैर्जिनांगद्युतीनां प्रसर्पेण मंदीकृतात्मप्रकाशैः । जिनार्कं शची प्रार्चिचद्भक्तिनिघ्ना न भक्ता हि युक्तं विदंत्यप्ययुक्तं ॥ ११२ ॥ ददौ धूपमिद्धं च पीयूषपिंडं महास्थालसंस्थं ज्वलद्दीपदीप्रं । सतारं शशांकं समाश्लिष्टराहुं जिनाङ्घ्र्यब्जयोर्वा समीपं प्रपन्नं ॥ ११३ ॥ फलैरप्यनल्पैस्ततामोदहृद्यैर्ध्वनद्भृंगयूथैरुपासेव्यमानैः । जिनं गातुकामैरिवातिप्रमोदात् फलायार्चयामास सुत्रामजाया ॥ ११४ ॥ इतीत्थं स्वभक्त्या सुरैरर्चितोऽर्हन् किमेभिस्तु कृत्यं कृतार्थस्य भर्तुः । विरागो न तुष्यत्यपि द्वेष्टि वाऽसौ फलैश्च स्वभक्तानहो योयुजेति ॥ ११५ ॥ अथोच्चैः सुरेशा गिरामीशितारं जिनं स्तोतुकामाः प्रहृष्टां-

---

सैकडों मालाओंसे भगवानके चरणकमलोंकी पूजा की ॥ १११ ॥ तदनंतर इंद्रानीने भक्तिवश होकर भगवानके शरीरकी फैलती हुई कांतिसे जिनका प्रकाश मंद पडगया है ऐसे रत्नमय दीपकोंसे जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा की, सो ठीक ही है क्योंकि भक्तपुरुषोंको योग्य अयोग्यका कुछ भी विचार नहीं रहता है, भावार्थ—यद्यपि जिनेंद्ररूपी सूर्यकी पूजा दीपकसे करना अयोग्य है तथापि इंद्रानीने केवल भक्तिसे ही की थी ॥११२॥ तदनंतर इंद्रानीने धूपसे पूजा की तथा जलते हुये अनेक दीपकोंसे देदीप्यमान और बडेभारी थालमें रक्खा हुआ अमृतका पिंड भगवानके चरणकमलोंमें समर्पण किया, वह थालमें रक्खा हुआ और दीपकोंसे शोभायमान अमृतका पिंड ऐसा जान पडता था मानों राहुसे ढका हुआ और तारों सहित चंद्रमा ही भगवानके चरण कमलोंके समीप आया हो ॥११३॥ तदनंतर जिनकी मनोहर सुगंध चारोंओर फैल रही है और जिनपर बैठे हुये तथा मधुर गुंजार शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों हर्षसे भगवानका यश ही गा रहे हों ऐसे अनेक फलोंसे इंद्रानीने मोक्षफल प्राप्त होनेकेलिये भगवानकी पूजा की ॥ ११४ ॥ इसप्रकार देवोंने अपनी भक्तिसे अरहंत भगवानकी पूजा की । यद्यपि वे भगवान कृतकृत्य हैं, उन्हें इस पूजासे कुछ प्रयोजन नहीं है, वे भगवान वीतराग हैं, न तो पूजा आदिसे कुछ प्रसन्न होते हैं और न किसीसे द्वेष ही करते हैं तथापि भक्तपुरुषोंको पूजाका फल मिल ही जाता है यह एक आश्चर्यकी बात है ॥ ११५ ॥

तरगा । वचस्सूनमालामिमा चित्रवर्णां समुच्चिक्षिपुर्भक्तिहस्तैरिति स्वै ॥ ११६ ॥ जिननायसंस्तवकृतौ भवतो वयमुद्यता स्म गुणरत्ननिधे । विधियोऽपि मदवचसोऽपि ननु त्वयि भक्तिरेव फलतीष्टफलं ॥ ११७ ॥ मतिशक्तिसारकृतवाग्विभवास्त्वयि भक्तिमेव वयमातनुमः । अमृताम्बुधेर्जलमशेषमहो न पुमान्निखिलं प्रपातुमिति किं न पिबेत् ॥ ११८ ॥ क वयं जडाः क च गुणाम्बुनिधिस्तव देव पाररहितः परमः । इति जानतोऽपि जिन संप्रति नस्त्वयि भक्तिरेव मुखरीकुरुते ॥ ११९ ॥ गणभृद्भिरप्यगणितानणून्स्तव सद्गुणान्वयमभिष्टुमहे । किमु चित्रमेतदथवा प्रभुता तव संश्रितं किमिव नेशि-

---

इसतरह पूजा करनेके अनंतर इंद्रोंको समस्त वार्णीके स्वामी भगवान वृषभदेवकी स्तुति करनेकी इच्छा हुई, अतएव प्रसन्नचित्त होकर वे अनेकप्रकारके वचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंको लेकर भक्तिरूपी अपने हाथोंसे इसप्रकार भगवानको समर्पण करने लगे ॥ ११६ ॥ कि हे जिननाथ ! आप अनेक गुणरूपी रत्नोंके खजाने हैं तथा हम लोग बुद्धिहीन और मंदवचन होकर भी आपकी स्तुति करनेकेलिये उद्यत हुये हैं, यद्यपि हमारा यह कार्य व्यर्थ है तथापि आपमें की हुई भक्ति ही अनेक इष्ट फल देती है ॥ ११७ ॥ हम लोग आपकी स्तुति नहीं कर सकते हैं केवल बुद्धिकी सामर्थ्यके अनुसार किये हुये बचनोंके द्वारा आपमें भक्ति प्रकट करते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि जो अमृतके समुद्रका समस्त जल नहीं पी सकता है वह अपने पीने योग्य थोडेसे ही अमृतको क्यों न पीवे, अर्थात् उसे थोडा अमृत अवश्य पीना ही चाहिये उसीप्रकार हम भी अपनी शक्तिके अनुसार आपकी भक्ति करते हैं ॥ ११८ ॥ हे देव ! कहां तो जडबुद्धि हम लोग और कहां आपका अपार और बहुत बडा गुणरूपी समुद्र, हे जिनेंद्र यद्यपि इस बातको हम लोग भी जानते हैं तथापि इससमय आपमें उत्पन्न हुई गाढ भक्ति ही हम लोगोंको वाचालित कर रही है ॥ ११९ ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि आपके बडे २ गुण जो गणधरोंसे गिने भी नहीं गये हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ? अथवा इसमें कोई आश्चर्यकी बात भी नहीं है, क्योंकि आपके आश्रय आया हुआ

शिपुः ॥ १२० ॥ तदियमीडिडिपून्विदधाति नस्त्वयि निगूढतरा जिन निश्चला । प्रसृतभक्तिरपारगुणोदया स्तुतिपथेऽद्य ततो वयमुद्यताः ॥ १२१ ॥ त्वमसि विश्वदृगीश्वर विश्वसृट् त्वमसि विश्वगुणाम्बुधिरक्षयः । त्वमसि देव जगद्धितशासनः स्तुतिमतोऽनुगृहाण जिनेश नः ॥ १२२ ॥ तव जिनार्क विभाति गुणांशवः सकलकर्मकलङ्कविनिःसृताः । घनवियोगविनिर्मलमूर्तयो दिनमणेरिव भास्वरभानवः ॥ १२३ ॥ गुणमणींस्त्वमनन्ततयान्वितान् जिन समुद्वहसेऽतिविनिर्मलान् । जलधिरात्मगभीरजलाश्रितानिव मणीनमलाननणुत्विषः ॥ १२४ ॥ त्वमिन संसृतिवल्लरिकामिमामतिततामुरुदुःखफलप्रदां ।

मनुष्य क्या नहीं कर सकता है ॥ १२० ॥ इसलिये हे जिनेंद्र अनंतगुणोंको उत्पन्न करनेवाली, निश्चल और अत्यंत गूढ ऐसी आपमें उत्पन्न हुई परम भक्ति ही हमलोगोंको आपकी स्तुति करनेकेलिये प्रेरणा करती है, और इसलिये ही हमलोग आपकी स्तुति करनेकेलिये तैयार हुये हैं ॥ १२१ ॥ हे देव ! आप समस्त लोकालोकको जाननेवाले सबके स्वामी और कर्मभूमिरूप संसारके उत्पन्न करनेवाले हैं, आप विनाशरहित हैं, समस्त गुणोंके समुद्र हैं, हे जिनेंद्र ! आपका उपदेश समस्त जीवोंका हित करनेवाला है इसलिये आप हमारी स्तुतिको अवश्य ही स्वीकार कीजिये ॥ १२२ ॥ हे जिनेंद्ररूपीसूर्य ! जिसप्रकार बादलके हटजानेसे अतिशय निर्मल मूर्तिको धारण करनेवाली सूर्यकी दैदीप्यमान किरणें सुशोभित होती हैं उसीप्रकार समस्त कर्मरूपी कलंकके दूर हो जानेसे प्रगट हुई आपके गुणोंकी किरणें बडी ही अच्छी सुशोभित हो रहीं हैं ॥ १२३ ॥ हे जिनेंद्र ! जिसप्रकार समुद्र अपने गंभीर जलमें अतिशय दैदीप्यमान निर्मल मणियोंको धारण करता है उसीप्रकार आप भी अतिशय निर्मल ऐसे गुणरूपी अनंत मणियोंको धारण करते हैं ॥ १२४ ॥ हे भगवन् ! बडे २ दुःखरूपी फलोंको देनेवाली और जन्म मरण बुढापा आदि फूलोंसे फूली हुई ऐसी अनादिकालसे चारों ओर फैली हुई इस संसाररूपी लताको आपने शांतपरिणामरूपी हाथोंसे उखाडकर फेंक दिया ॥ १२५ ॥ हे जिनवर ! मोहरूपी बडी भारी सेनाके सेनापति क्रोध मान माया लोभ ये चार बडे

जननमृत्युजराकुसुमाचिता शमकरैर्भगवन्लुदपीपट. ॥१२५॥ जिनवर मोहमहापृतनेशान् प्रबलतराश्वतुरस्तु कपायान् निशिततपोमयतीव्रमहासिप्रहतिभिराशुतरामजयस्त्व ॥१२६॥ मनसिजशत्रुमजय्यमलक्ष्य विरतिमयी शितहेतिततिस्ते । समरभरे विनिपातयति स्म त्वमसि ततो भुवनैकगरिष्ठः ॥१२७॥ जितमदनस्य तवेश महत्त्व वपुरिदमेव हि शास्ति मनोज्ञ । न विकृतिभाग्न कटाक्षनिरीक्षा परमविकारमनाभरणोद्ध ॥१२८॥ प्रविकुरुते हृदि यस्य मनोज. स विकुरुते स्फुटरागपराग । विकृतिरनगजितस्तव नाभूद्विभव भवान्भुवनैकगुरुस्तत् ॥१२९॥ स किल विनृत्यति गायति वल्गत्यपलपति प्रहसत्यपि मूढ. । मदनवशो जितमन्मथ ते तु प्रशमसुख वपुरेव निराह ॥ १३० ॥ विरहितमानमत्सर तवेद वपुरपरागमम्तकलिपंक । तव भुवनेश्वरत्वमपराग प्रकटयति

बलवान कषायरूपी योद्धा थे, वे आपने तीव्र तपश्चरणरूपी पैनी और वडी तलवारकी मारसे वहुत शीघ्र जीतलिये ॥१२६॥ हे देव ! जो किसीके द्वारा जीता न जाय और जो दिखाई भी न पडे ऐसे कामदेव रूपी शत्रुको वडे भारी युद्धमें आपके चारित्र रूपी तीक्ष्ण हथियारोंने मार गिराया, इसलिये हे नाथ ! आप तीनों लोकोंमें सवसे वडे गुरु हैं ॥ १२७ ॥ हे स्वामिन् यद्यपि आप कामदेवको जीतनेवाले हैं, आपका यह शरीर मनोज्ञ है, विकार भावोंसे रहित है, आभरणोंसे रहित है, विकृत नहीं है, तथा न वह कटाक्षोंसे किसीको देखता है और इसलिये ही वह आपके पूज्यपनेको प्रगट दिखला रहा है ॥ १२८ ॥ हे जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेवाले जिनेंद्र ! कामदेव जिस मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करता है वह रागरूप परागसे आच्छादित होकर अनेक विकारयुक्त चेष्टायें करता है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके किसीप्रकारका विकार नहीं पाया जाता है, इसलिये ही आप समस्त संसारके एक उत्कृष्ट गुरु हैं ॥ १२९ ॥ जो मूर्ख पुरुष कामदेवके वश होता है वह नाचता है, गाता है, उन्मत्त होता है, सत्यको छिपाता है और हँसता भी है, परंतु कामदेवको जीतनेवाले आपके शरीरमें ये विकार न होनेसे आपका शांत शरीर ही आपके शांतता आदि अनेक सुखोंको प्रगट कर रहा है ॥ १३० ॥ हे देव ! आप मान मत्सर आदि दोषोंसे रहित हैं। कषायरूपी

स्फुटं निकृतिहीन ॥ १३१ ॥ तव वपुरामिलत्सकलशोभासमुदयमस्तवस्त्रमपि रम्य । अतिरुचिरस्य रत्नमणिराशेरपवरण किमिष्टमुरुदीप्ते. ॥ १३२ ॥ स्विदिरहित विहीनमलदोष सुरभितर सुलक्ष्मघटित ते । क्षतजवियुक्तमस्ततिमिरौघ व्यपगतधातु वज्रघनसंधि ॥ १३३ ॥ समचतुरस्रमप्रमितवीर्यं प्रियहितवाग्निमेषपरिहीणं । वपुरिदमन्छदिव्यमणिदीप्रं त्वमसि ततोऽविरोधादभागी ॥ १३४ ॥ इदमतिमानुर तव शरीर सकलविकारमोहमदहीनं । प्रकटयतीश ते भुवनलघि प्रभुतमवैभव कनककांति ॥ १३५ ॥ स्पृशति न हि भवंतमागश्चय: किमु दिनपमभिद्रवेत्तामसं । वितिमिर स भवान् जगत्सदने

धूलिसे रहित, कर्मरूपी मलसे रहित, तथा माया [छल कपट] और राग रहित ऐसा आपका यह शरीर इस संसारमें आपका ईश्वरपना स्पष्ट प्रगट कर रहा है ॥ १३१ ॥ हे नाथ ! जिसमें समस्त शोभाओंका समुदाय मिला हुआ है ऐसा आपका शरीर यद्यपि वस्त्र रहित है तथापि वह अतिशय मनोहर दिखाई पडता है, सो ठीक ही है, क्योंकि जो अत्यंत सुंदर है और जिसकी कांति बडी ही दैदीप्यमान है ऐसे रत्नमणियोंके समूहको किसी वस्त्र आदिसे ढक देना क्या किसीको अच्छा लगता है ? भावार्थ—जिसप्रकार रत्नराशि खुली अच्छी लगती है उसीप्रकार भगवानका शरीर भी वस्त्ररहित ही अच्छा लगता है ॥ १३२ ॥ हे भगवन् ! आपका शरीर स्वेद (पसीना) रहित है, मलरूपी दोषोंसे रहित है, अत्यंत सुगंधित है, अनेक सुलक्षणोंसे सुशोभित है, रक्तरहित, अंधकारको नाश करनेवाला और धातु उपधातुओंसे रहित है, उसकी हड्डियोंका संबंध वज्रके समान सुदृढ है, संस्थान समचतुरस्र है, अनंत वीर्यको धारणकरनेवाला, प्रिय और हितकारक बचनोंको कहनेवाला, निमेषरहित अर्थात् पलकोंसे पलक न लगनेवाला और स्वच्छ दिव्यमणियोंके समान दैदीप्यमान है, इसलिये हे देव ! तीनों लोकोंमें आप ही देवाधिदेव हैं ॥ १३३-१३४ ॥ हे स्वामिन् जो कभी किसी मनुष्यको प्राप्त नहीं होता ऐसा सुवर्णके समान दैदीप्यमान आपका शरीर सबप्रकारके विकार तथा मोह मद आदिसे सर्वथा रहित है, इसलिये हे नाथ ! संसारको उलंघन करनेवाली आ-

ज्वलदुरुमहसा प्रदीपायते ॥ १३६ ॥ रैधारा ते द्युसमवतारेऽपतन्नाकेशानां पदवीमशेषां रुन्धा । स्वर्गादारात्कनकमयीं वा सृष्टिं तन्वानाऽसौ भुवनकुटी-रस्यातः ॥ १३७ ॥ रैधौरैरावतकरदीर्घा रेजे रे जेतार भजत जना इत्येव । मूर्तीभूता तत्र जिन लक्ष्मीर्लोके संगीर्थं वा सन्नदि समातन्वाना ॥१३८॥ त्वत्संभूतौ सुरकरमुक्ता व्योम्न' पौष्पी वृष्टिः सुरभितरा सरेजे । मत्तालीना कलरुतमातन्वाना नाकस्त्रीणा नयनततिर्वायाती ॥ १३९ ॥ मेरो शृंगे समजनि दुग्धांबोधेः स्वच्छाभोभिः कनकघटैर्गंभीरैः । माहात्म्य ते जगति वितन्वन्स्वामिन् स्वर्धैरैर्गुरुरभिषेकः पूतः ॥ १४० ॥ त्वा निष्क्रातौ मणिमयया-

---

पकी अद्वितीय प्रभुताकी विभूतिको वह स्पष्ट प्रगट करता है ॥ १३५ ॥ हे अज्ञानांधकारसे रहित जिनेंद्रदेव ! पापोंका समूह आपको कभी स्पर्श नहीं करता, सो ठीक ही है क्योंकि क्या अंधकार कभी सूर्यके सन्मुख जा सकता है ? हे स्वामिन् ! आप इस जगतरूपी घरमें दैदीप्यमान अत्यंत प्रकाशसे प्रदीपके समान जान पडते हो ॥ १३६ ॥ हे स्वामिन् ! जिससमय आपने स्वर्गसे आकर यहां अवतार लिया था उससमय रत्नोंकी धारा समस्त आकाशको रोकती हुई स्वर्गलोकसे बहुत ही शीघ्र इस जगतरूपी कुटीरके मध्यभागमें पड रही थी और वह ऐसी जान पडती थी मानों इस समस्त सृष्टिको सुवर्णमय करनेकेलिये ही पड रही हो ॥ १३७ ॥ हे जिनेंद्र ! आकाशसे पडनेसे ऐरावत हाथीकी सूंडके समान लंवायमान वह रत्नोंकी धारा लोकमें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों आपकी लक्ष्मी साक्षात् मूर्ति धारणकर लोगोंको शीघ्र यही समझा रही हो कि अरे मनुष्य हो ! कर्मोंको जीतनेवाले इन अरहंतदेवकी सेवा करो ॥ १३८ ॥ हे भगवन् जिससमय आपका जन्म हुआ था उससमय अत्यंत सुगंधित और जिनपर मत्त भ्रमर बैठे हुये मधुर गुंजार शब्द कर रहे हैं ऐसी देवोंके हाथसे आकाशसे वरसती हुई पुष्पोंकी वृष्टि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों देवांगनाओंके नेत्रोंकी पंक्ति ही आ रही हो ॥ १३९ ॥ हे स्वामिन् ! स्वर्गके मुख्य २ देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर क्षीरसागरके स्वच्छ जलसे भरे हुये सुवर्णमय गंभीर घडोंसे (आगामिकालमें होनेवाले) ती-

नारूढं वोढुं सज्जा वयमिति नैतच्चित्रं । आनिर्वाणान्नियतममी गीर्वाणाः किंकुर्वाणा ननु जिन कल्याणे ते ॥ १४१ ॥ त्वं धातासि त्रिभुवनभर्त्ताऽद्य-त्वे कैवल्यार्के स्फुटमुदितेऽस्मिन्दीप्ते । तस्मादेवं जन्मजरातङ्का तं त्वा ननमो गुणनिधिमग्र्यं लोके ॥ १४२ ॥ त्व मित्रं त्वमसि गुरुस्त्वमेव भर्त्ता त्व स्रष्टा भुवनपितामहस्त्वमेव । त्वा ध्यायन्नमृतिसुख प्रयाति जंतुस्त्रायस्व त्रिजगदिदं त्वमद्य पातात् ॥ १४३ ॥ पर पद परमसुखोदयास्पद विदित्सवश्चिरमिह

र्थंकरके माहात्म्यको तीनों लोकोंमें प्रगट करनेवाला ऐसा वडाभारी पवित्र अभिषेक किया था ॥१४०॥ हे जिन ! जिससमय आपका तपकल्याणक हुआ था अर्थात् आपने दीक्षा धारण की थी उससमय मणियोंकी बनी हुई पालकीपर सवार कराकर उस पालकीको कंधेपर रखकर लेजानेकेलिये हमलोग स्वयं तैयार हुये थे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि गर्भावतारसे लेकर निर्वाणपर्यंत सब ही कल्याणोंमें स्वर्गके सब देव आपके किंकरके समान ही उपस्थित रहते हैं ॥ १४१ ॥ हे जिनेंद्र ! आप स्वर्ग मोक्षके प्राप्त होनेके कारण ऐसे उपदेश देनेवाले हैं इसलिये आप धाता अर्थात् मोक्षमार्ग-रूप सृष्टिके प्रगट करनेवाले हैं तथा तीनों लोकोंके स्वामी हैं, हे नाथ आज जो केवलज्ञानरूपी सूर्य उदय हुआ है उससे आप बहुत ही देदीप्यमान हो रहे हैं, इसके सिवाय जन्म जरा रोग आदि दो-षोंको नष्ट करनेवाले हैं, गुणोंके खजाने हैं, और जगतमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसलिये हे देव आपको हमलोग बार बार नमस्कार करते हैं ॥ १४२ ॥ हे देव ! इस जगतमें आप ही मित्र हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही सबके स्वामी हैं, आप ही इस मोक्षमार्गरूप जगतके प्रगट करनेवाले ब्रह्मा हैं और आप ही इस जगतके पितामह हैं, हे स्वामिन् ! आपका ध्यान करनेसे यह प्राणी जन्ममरणरहित अनंत सुख-को प्राप्त होता है इसलिये आज इस जगतको जन्ममरणरूप संसारमें पडनेसे वचाइये ॥ १४३ ॥ हे जिनराज ! परमसुख प्राप्त होनेका उत्तम स्थान और विनाशरहित ऐसे मोक्षस्थानको जाननेकी इ-च्छा करनेवाले अतिशय बुद्धिमान् योगी पुरुष जन्ममरणरूप संसारके नाश करनेकेलिये आपके द्वा-

योगिनोक्षर । त्वयोदित जिन परमागमाक्षर विचिन्वते भवविलयाय सद्धियः ॥ १४४ ॥ त्वयोदिते पथि जिन ये वितन्वते परा धृतिं प्रमदपरपरायुजः । त एव ससृतिलतिका प्रतायिनीं दहत्यल स्मृतिदहनार्चिषा भृश ॥ १४५ ॥ वातोद्धूता क्षीरपयोधेरिव वीचीरुत्प्रेक्ष्यामूश्चामरपङ्क्तीर्भवदीया. । पीयूषाशोर्दीप्तिसामेतीरिव शुभ्रा मोमुच्यते ससृतिभाजो भवबधात् ॥ १४६ ॥ सैह पीठ स्वा द्युतिमिद्धामतिभानु तन्वान तद्भाति विभोस्ते पृथुतुग । मेरोः श्रृग वा मणिनद्ध सुरसेव्य न्यक्कुर्वाण लोकमशेष स्वमहिम्ना ॥ १४७ ॥ महितोदयस्य शिवमार्गदेशिन' सुरशिल्पिनिर्मितमदोऽर्हतस्तव । प्रथते सितातपवारणत्रयं शरदिंदुबिंबमिव कातिमत्तया ॥ १४८ ॥ वृक्षोशोको मरकतरुचिरस्कधो भाति श्रीमानयमतिरुचिरा. शाखा. । बाहूकृत्य स्फुटमिव नटित

रा कहे हुये परमागमके अक्षरोंका विचार करते हैं ॥ १४४ ॥ हे जिनवर ! आपने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है उसमें जो परम संतोष धारण करते हैं अथवा अतिशय आनंदित होते हैं वे आपके ध्यानरूपी अग्निकी ज्वालासे सब जीवोंको ठगनेवाली इस संसाररूपी लताको बहुत शीघ्र जला देते हैं ॥ १४५ ॥ हे भगवन् ! आपका यह सफेद चमरोंका समूह वायुसे उठी हुई क्षीरसागरकी लहरोंके समान है, अथवा चंद्रमाकी दैदीप्यमान किरणोंके समूहोंके समान है, इसे देखकर संसारी जीव भवबंधनसे बहुत ही शीघ्र छूट जाते हैं ॥ १४६ ॥ हे विभो ! सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार करनेवाली और अतिशय दैदीप्यमान, ऐसी अपनी कांतिको धारण करता हुआ तथा बहुत ऊंचा, देवोंके द्वारा पूज्य, मणियोंसे जडा हुआ और अपनी महिमासे समस्त लोकको नीचा दिखलाता हुआ ऐसा आपका सिंहासन मेरुपर्वतकी शिखरके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४७ ॥ हे देव ! सर्वोत्कृष्ट विभूतिको धारण करनेवाले और मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले ऐसे अरहंत देव ! आपका कारीगर देवोंके द्वारा बना हुआ यह सफेद छत्र त्रय अपनी प्रकाशमान कांतिके द्वारा शरदऋतुके चंद्रमाके समान सुशोभित हो रहा है ॥ १४८ ॥ हे स्वामिन् मरकत मणियोंका बना हुआ हरे रंगका जिसका स्कंध है और जिसपर मधुर शब्द करते हुये भ्रमरोंके समूह बैठे हैं ऐसा यह अतिशय शोभायमान

तन्वन् वातोध्दूतः कलरुतमधुकृन्माल: १४९ ॥ पुष्पाकीर्णो नृसुरमुनिवरैः कांतो मंद मंदं मृदुतरपवनोद्धूतः । सच्छायोयं विहतनृसुराशोकोऽगो भाति श्रीमास्त्वमिव हि जगता श्रेयः ॥ १५० ॥ व्याप्ताकाशां वृष्टिमलिकलरुतोद्गीतां पौष्पीं देवास्त्वा प्रति भुवनगृहस्याग्रात् । मुंचत्येते दुदुभिमधुररवैः सार्द्धं प्रावृड्जीमूतास्तनितमुखरितान्जित्वा ॥ १५१ ॥ त्वदमरपटहैर्विशंकन घनागम पटुजलदघटानिरुद्धनभोंगण । विरचितरुचिमत्कलापसुमंथरा मदकलमधुना रुवंति शिखावलाः ॥ १५२ ॥ तव जिन ततदेहरुचिसरवणे चमररुहततिः सितविहगरुचिं । इयमनुतनुते रुचिरतरतनुर्मणिमकुटसमिद्धरुचिसुरधुता

और वायुसे हिलता हुआ अशोकवृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों अपनी सुंदर शाखारूप हाथोंको उठाकर स्पष्ट रीतिसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ १४९ ॥ हे भगवन् ! पुष्पोंसे सुशोभित, देव मनुष्य और मुनिराज आदिके द्वारा प्रशंसा करनेयोग्य, अतिशय कोमल, वायुके द्वारा धीरे २ हिलता हुआ, सुंदर छाया युक्त, देव मनुष्योंका समस्त शोक दूर करनेवाला, पाप रहित, अतिशय शोभायमान और जगतका कल्याण करनेवाला यह आपका अशोकवृक्ष आपके समान ही सुशोभित हो रहा है ॥ १५० ॥ हे स्वामिन् ! ये देवलोग आपके सामने गरजते हुये वर्षाकालके मेघोंके शब्दोंको जीतते हुये जिसपर भ्रमरोंके समूह मधुर शब्द कर रहे हैं और जो आकाशमें व्याप्त हो रही है ऐसी पुष्पोंकी वर्षा दुंदुभियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ कर रहे हैं ॥ १५१ ॥ हे प्रभो ! देवोंके द्वारा बजाये हुये आपके दुंदुभियोंकी आवाज सुनकर चारोंओर भरी हुई बादलोंकी घटाओंसे आकाशको रोकनेवाले वर्षा ऋतुकी शंका करते हुये मयूर इससमय अपनी अनेक रंगकी चमकती हुई पूंछको ऊपर फैलाकर तथा धीरे धीरे गमन करते हुये उन्मत्त होकर मधुर शब्द कर रहे हैं ॥ १५२ ॥ हे जिनेंद्र ! मणियोंके बने हुये मुकुटोंसे जिनकी कांति खूब बढ गई है ऐसे देवोंके द्वारा जो ढुराई जा रही है और जिसकी शोभा बहुत ही सुंदर है ऐसी यह आपके चमरोंकी पंक्ति आपके शरीरकी कांतिरूप सरोवरके जलमें सफेद पक्षियोंकी शोभाको धारण करती है ॥ १५३ ॥ हे भगवन् आपकी इस दि-

॥ १५३ ॥ त्वद्दिव्यवागियमशेषपदार्थगर्भा भाषांतराणि सकलानि निदर्शयंती । तत्त्वावबोधमचिरात्कुरुते बुधानां स्याद्वादनीतिनिहतान्यमताधकारा ॥ १५४ ॥ प्रक्षालयत्यखिलमेव मनोमल नस्त्वद्भारतीमयमिदं शुचि पुण्यमंबु । तीर्थं तदेव हि विनेयजनाजवंजवात्वारसतरणवर्त्म भवत्प्रणीत ॥ १५५ ॥ त्वं सर्वगः सकलवस्तुगतावबोधस्त्व सर्ववित्प्रमितविश्वपदार्थसार्थः । त्व सर्वजिद्विजितमन्मथमोहशत्रुस्त्व सर्वदृग्निखिलभावविशेषदर्शी ॥ १५६ ॥ त्वं तीर्थकृत्सकलपापमलापहारिसद्धर्मतीर्थविमलीकरणैकनिष्ठः । त्व मत्रकृन्निखिलपापाविपापहारिपुण्यश्रुतिप्रवरमत्रविधानचचुः ॥ १५७ ॥ त्वामामनति मुनयः

व्यध्वनिमें संसारके समस्त पदार्थ भरे हुये हैं, वह समस्त भाषाओंका स्वरूप धारण करती है, स्याद्वादरूप नीतिसे अन्यमतियोंके एकांतरूप अंधकारको सर्वथा नष्ट करती है और विद्वान् लोगोंको जीवादि यथार्थ तत्त्वोंका ज्ञान बहुत शीघ्र करा देती है ॥ १५४ ॥ हे विभो ! आपकी वाणीरूप यह पवित्र पुण्य जल मनके समस्त मलोंको बहुत शीघ्र धो डालता है, संसारमें यही तीर्थ है और यही आपका कहा हुआ धर्मरूपी तीर्थ भव्यजीवोंको संसाररूपी समुद्रसे पार होनेका सरल मार्ग है ॥ १५५ ॥ हे प्रभो ! आपका ज्ञान संसारके समस्त पदार्थोंको ग्रहण करता है इसलिये आप सर्वग अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं, आप संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आप सर्वज्ञ हैं, आपने कामदेव और मोहरूपी शत्रुओंको जीता है इसलिये सर्वजित् अर्थात् सबको जीतनेवाले हैं और आप समस्त पदार्थोंको विशेषरीतिसे देखनेवाले हैं इसलिये आप सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) हैं ॥ १५६ ॥ हे स्वामिन् ! आप समस्त पापरूपी मलके दूर करनेवाले सद्धर्मरूपी तीर्थके द्वारा समस्त जीवोंको निर्मल (पवित्र वा कर्मोंसे रहित) करनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं इसलिये आप तीर्थंकर कहलाते हैं, तथा आप समस्त पापरूपी विषको हरण करनेवाले और पुण्यस्वरूप शास्त्ररूपी उत्तम मंत्रके निर्माणकरनेमें चतुर हैं इसलिये आप मंत्रकृत् अर्थात् मंत्र करनेवाले वा मंत्रवादी कहलाते हैं ॥ १५७ ॥ हे देव ! मुनिलोग आपको पुराण पुरुष कहते हैं तथा आपको ही

पुरुषं पुराणं त्वा प्राहुरच्युतमृषीश्वरमक्षयार्द्धिं । तस्माद्भवातक भवंतमचिंत्ययोगं योगीश्वरं जगदुपास्यमुपास्महे स्म ॥ १५८ ॥ तुभ्यं नमः सकलघाति-मलव्यपायसभूतकेवलमयामललोचनाय । तुभ्य नमो दुरितबंधनशृखलाना छेत्रे भवार्गलभिदे जिनकुजराय ॥ १५९ ॥ तुभ्य नमस्त्रिभुवनैकपितामहाय तुभ्य नमः परमनिर्वृतिकारणाय । तुभ्यं नमोऽधिगुरवे गुरवे गुणौघैस्तुभ्यं नमो विदितविश्वजगत्रयाय ॥ १६० ॥ इत्युच्चकैः स्तुतिमुदारगुणानुरागा-दस्माभिरीश रचितां त्वयि चित्रवर्णां । देव प्रसीद परमेश्वर भक्तिपूता पादार्पिता स्रजमिवानुगृहाण चार्वीं ॥ १६१ ॥ त्वामीड्य हे जिन भवतमनुस्मराम-

---

अच्युत (नाशरहित) ऋषीश्वर और अक्षय ऋद्धिको धारण करनेवाले कहते हैं, इसलिये हे संसार-को नाश करनेवाले, जिनेंद्र, अचिंत्य योगको धारण करनेवाले, समस्त जगतके उपासना करने यो-ग्य, ऐसे योगीश्वर ! आपकी मैं बार बार सेवा करता हूं ॥ १५८ ॥ हे देव ! आप समस्त घातिया-कर्मरूपी मलको नष्ट करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपको केवलज्ञानरूपी निर्मलनेत्र प्राप्त हुआ है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप पापोंकी बंधरूपी सांकलको तोडदेनेवाले और संसाररूपी अर्गलको नाश करनेवाले हाथीके समान हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १५९ ॥ हे भगवन् ! आप तीनों लोकोंके पितामह हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परममोक्षके साक्षात् कारण हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप सबके गुरु हैं गुणोंके समूहोंसे भी गुरु अर्थात् उत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप तीनों लोकोंके समस्त पदार्थोंको जानते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १६० ॥ हे देव ! हे परमेश्वर ! इसप्रकार आपके तत्त्वोपदेशरूपी उदार गु-णोंमें अनुराग होनेसे हम लोगोंने आपकी यह अनेक वर्णोंकी (अनेक अक्षरोंसे बनी हुई अथवा अनेक तरहकी) उत्तम स्तुति की है, इसलिये हे ईश ! हमपर प्रसन्न हूजिये और भक्तिसे पवित्र और चरणोंमें चढाई हुई ऐसी सुंदर मालाके समान इसे स्वीकार कीजिये ॥ १६१ ॥ हे जिनेंद्र ! आपकी पूजाकर हम लोग आपका स्मरण करते हैं। हाथ जोडकर आपको नमस्कार करते हैं। हे

स्त्वा कुड्मलीकृतकरा वयमानमामः । त्वत्संस्तुतावुपचितं यदिहाद्यपुण्यं तेनास्तु भक्तिरमला त्वयि न प्रसन्ना ॥ १६२ ॥ इत्थं सुरासुरनरोरगयक्षसिद्ध गंधर्वचारणगणैस्समममिद्धबोधाः । द्वात्रिंशदिंद्रवृषभा वृषभाय तस्मै चक्रुर्नमः स्तुतिशतैर्नतमौलयस्ते ॥ १६३ ॥ स्तुत्वेति तं जिनमजं जगदेकबंधुं भक्त्या नतोरुमकुटैरमरैः सहेंद्राः । धर्मप्रिया जिनपतिं परितो यथास्वमास्थानभूमिमभजन्जिनसंमुखास्याः ॥ १६४ ॥ देहे जिनस्य जयिनः कनकावदाते रेजुस्तदा भृशममी सुरदृष्टिपाताः । कल्पाङ्घ्रिपाग इव मत्तमधुव्रतानामोघाः प्रसूनमधुपानपिपासितानां ॥ १६५ ॥ कुंजरकराभभुजमिंदुसमवक्त्रं कुंचितमितस्थितशिरोरुहकलापं । मंदरतटाभपृथुवक्षसमधीशं तं जिनमवेक्ष्य दिविजाः प्रमदमीयुः ॥ १६६ ॥ विकसितसरसिजदलनिभनयनं करिकरसुरुचिरभुजयु-

---

देव ! आज यहां आपकी स्तुति करनेसे जो कुछ पुण्यकी प्राप्ति हुई हो उससे हम लोगोंकी आपमें निर्मल और प्रगटरूप भक्ति हो ॥ १६२ ॥ इसप्रकार प्रकाशमान ज्ञानको धारण करनेवाले मुख्य २ बत्तीस इंद्रोंने देव, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, मनुष्य, नागकुमार, यक्ष, सिद्ध, गंधर्व और चारणोंके साथ २ सैकडों स्तुतियोंके द्वारा मस्तकको झुकाते हुये उन भगवान वृषभदेवकेलिये नमस्कार किया ॥ १६३ ॥ इसप्रकार धर्ममें प्रेम रखनेवाले इंद्रोंने अपने मुकुटको नम्रीभूत करनेवाले देवोंके साथ साथ भक्तिपूर्वक फिर कभी उत्पन्न न होनेवाले और जगतके एकमात्र बंधु ऐसे भगवान वृषभदेवकी स्तुति की और फिर वे उस समवसरणमें भगवानके चारोंओर भगवानकी ओर मुख करके बैठ गये ॥ १६४ ॥ उससमय घातिया कर्मोंको जीतनेवाले भगवान वृषभदेवके सुवर्णके समान दैदीप्यमान शरीरपर उन देवोंके वे दृष्टिपात (नेत्रोंके प्रतिबिंब) ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानों कल्पवृक्षके अवयवोंपर पुष्पोंका रस पीनेकी इच्छा करनेवाले उन्मत्त भ्रमरोंका समूह ही हो ॥ १६५ ॥ जिनकी भुजायें हाथीकी सूंडके समान हैं, मुख चंद्रमाके समान है, जिनके केशोंका समूह संकुचित और परिमित है, जिनका वक्षःस्थल सुमेरु पर्वतके तटके समान विशाल है और जो सबके स्वामी हैं ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवको देखकर देवलोग बडे ही प्रसन्न हुये थे ॥ १६६ ॥ जिसके नेत्र फूले हुये कम-

गममलं । जिनवपुरतिशयरुचियुतममरा निदद्दशुरतिधृतिविमुकुलनयनाः ॥ १६७ ॥ विधुरुचिहरचमररुहपरिगतं मनसिजशरगतनिपतनाविजयि । जिनवरवपुरवधुतसकलमल निपपुरमृतमिव शुचिसुरमधुपाः ॥ १६८ ॥ कमलदलविलसदनिमिषनयन प्रहसितनिभमुखमतिशयसुरभि । सुरनरपरिवृढनयनसुखकरं व्यरुचदधिकरुचि जिनवृषभवपु. ॥ १६९ ॥ जिनमुखशतदलमनिमिषनयनभ्रमरमतिसुरभि विधुतविधुरुचि । मनसिजहिमहतिविरहितमतिरुक् पपुरविदितधृति सुरयुवतिदृशः ॥ १७० ॥ विजितकमलदलविलसदसदृशदृशं सुरयुवतिनयनमधुकरततवपुष । वृषभमजरमजममरपतिसुमहितं नमत परममतममि-

---

लके दलके समान सुशोभित हैं, दोनों निर्मल भुजायें हाथीकी सूंडके समान सुंदर जान पडती हैं और जो अतिशय मनोहर है ऐसे भगवानके शरीरको देवलोग अत्यंत संतोषसे नेत्रोंको उघाडकर देखते थे ॥ १६७ ॥ जो चंद्रमाकी कांतिको हरण करनेवाले सफेद चमरोंसे घिरा हुआ है, जो कामदेवके सैकडों पडते हुये वाणोंको जीतनेवाला है, जिसने समस्त मल धो डाले हैं और जो अत्यंत पवित्र है ऐसे भगवानके शरीरको देवरूपी भ्रमर अमृतके समान पान करते थे। भावार्थ—देवलोग भगवानके शरीरको बडी लालायित दृष्टिसे देखते थे ॥१६८॥ जिसके निमेषरहित (पलकसे पलक न लगनेवाले) नेत्र कमलके दलके समान सुशोभित हो रहे हैं, तथा अतिशय सुगंधित मुख हँसते हुयेके समान जान पडता है, और जो देव मनुष्य आदि जीवोंके स्वामियोंके नेत्रोंको भी सुख देनेवाला है ऐसा भगवान वृषभदेवका शरीर उस समय बहुत ही कांतियुक्त और मनोहर सुशोभित हो रहा था ॥ १६९ ॥ जिसपर निमेषरहित नेत्र ही भ्रमर बैठे हुये हैं, जो अत्यंत सुगंधित है, चंद्रमाकी कांतिको भी लज्जित करनेवाला है, कामदेवरूपी सरदीकी पीडा जिसे बिलकुल नहीं होती अर्थात् जो कभी संकुचित नहीं होता, सदा प्रफुलित रहता है और जो अतिशय दैदीप्यमान है ऐसे भगवानके मुखरूपी कमलको देवांगनाओंके नेत्र उसमें तल्लीन होनेसे जिन्हें आनंद भी मालूम नहीं होता इसप्रकार पी रहे थे, भावार्थ— उससमय देवांगनायें भगवानके मुखको बडे ध्यानसे देख रहीं थीं ॥१७०॥ भो भव्य पुरुषो

तरुचिमृषिपतिं ॥ १७१ ॥ सरसिजनिभवक्रं पद्मकिंजल्कगौरं कमलदलविशालव्यायतास्पंदिनेत्रं । सरसिरुहसमानामोदमच्छायमच्छस्फाटिकमणिविभासि श्री-
जिनस्यागमीडे ॥ १७२ ॥ नयनयुगमताम्र वक्ति कोपव्यपायं भ्रुकुटिरहितमास्य शातता यस्य शास्ति । मदनजयमपागालोकनापायसौम्य प्रकटयति य-
दंग त जिनं नन्नमीमि ॥ १७३ ॥ गात्रमनगभगक्रुदतिसुरभि रुचिरं नेत्रमताम्रमत्यमलतररुचिविसरं । वक्रमदष्टसदशनवसनामिवहसद्यस्य विभाति त
जिनमवनमत सुधियः ॥ १७४ ॥ सौम्यवक्रममलकमलदलनिभदृश हेमपुजसदृशवपुपमृपभमृषिप । रक्तपद्मरुचिभृदमलमृदुपदयुग सन्नतोऽस्मि परमपुरु-

---

तुम लोग उन भगवान वृषभदेवको नमस्कार करो जिनके असाधारण नेत्र कमलदलको जीतते हुये सुशोभित हो रहे हैं, जिनका शरीर देवांगनाओंके नेत्ररूपी भ्रमरोंसे व्याप्त हो रहा है, जो जरारहित हैं, जन्मरहित हैं, इंद्रोंके द्वारा भी पूज्य हैं, जिनका मत वा शासन सर्वोत्कृष्ट है, कांति अपार है और जो ऋषियोंके स्वामी हैं ॥ १७१ ॥ जिसका मुख कमलके समान है, जो कमलकी परागके समान गौर है, जिसके निमेषरहित नेत्र कमलदलके समान विशाल और लंबे हैं, जिसकी सुगंधि कमलके समान है, जिसका प्रतिबिंब पडता नहीं और स्वच्छ स्फटिकमणिके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे भगवानके शरीरकी मैं स्तुति करता हूं ॥ १७२ ॥ जिन भगवानके ललाईरहित नेत्र 'भगवानके विलकुल क्रोध नहीं है' इसबातको बतलाते हैं, जिसमें भोहोंकी टिढाई विलकुल नहीं है ऐसा मुख शांतताको प्रगट करता है और जिसकी दृष्टिमें कटाक्षादि विकार न होनेसे विलकुल सौम्य शरीर कामदेवके जीतनेको प्रगट करता है ऐसे उन वृषभदेव भगवानको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥ १७३ ॥ भो बुद्धिमान पुरुषो ! जिनका शरीर कामदवको नष्ट करनेवाला तथा अत्यंत सुगंधित और सुंदर है, नेत्र ललाईरहित तथा अत्यंत निर्मल कांतिको फैलानेवाले हैं, जिनका मुख ओठोंको दवाये हुये नहीं है तथा हंसते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है ऐसे उन वृषभदेवको शिर नवाकर नमस्कार करो ॥ १७४ ॥ जिनका मुख सौम्य है, नेत्र निर्मल कमलदलके समान हैं, शरीर

षमपरुषगिरं ॥ १७५ ॥ स जयति यस्य पादयुगलं जयतपंकजं विलसति पद्मगर्भमधिशय्य सल्लक्षणं । मनसिजरागमर्दनसहं जगत्प्रीणन सुरपतिमौलिशिखरगलद्रज:पिंजर ॥ १७६ ॥ जयति वृषभो यस्योत्तुग विभाति महासन हरिपरिधृतं रत्नानद्धं परिस्फुरदशुकं । अधरितजगन्मेरोर्लीला विडंबयदुच्चकैर्नतसुरतिरीटाग्रग्रावद्युतीरिव तर्जयत् ॥ १७७ ॥ समग्रा वैदग्धी सकलशशभृन्मंडलगता सितच्छत्रं भाति त्रिभुवनगुरोर्यस्य विहसत् । जयत्येष श्रीमान्वृषभजिनराड् निर्जितरिपुर्नमद्देवेद्रोद्यन्मकुटमणिघृष्टाघ्रिकमल. ॥ १७८ ॥ जयत्यमरनायकैरसकृदर्चितांघ्रिद्वयः सुरोत्करकराधुतैश्चमरयोत्करैर्वीजितः । गिरीं-

सुवर्णके समूहके समान है, जो ऋषियोंका भी स्वामी है, जिनके निर्मल और कोमल दोनों चरणकमल लाल कमलकी कांतिको धारण करते हैं, जिनकी वाणी बडी ही कोमल है और जो परम पुरुष हैं ऐसे श्रीवृषभदेवको मैं बडी भक्तिसे नमस्कार करता हूं ॥ १७५ ॥ जिन भगवानके दोनों ही चरणकमल कमलोंको जीतनेवाले हैं, कामसे उत्पन्न होनेवाली रागादि वासनाओंको नाश करनेमें समर्थ हैं, जगतको संतोष देनेवाले हैं, इंद्रके मुकुटमें लगी हुई मालाओंसे गिरतेहुये परागसे कुछ कुछ पीले हो रहे हैं और कमलके मध्यभागमें विराजमान होते हुये सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७६ ॥ जिनका सिंहासन वहुत बडा और ऊंचा है, रत्नजडित है, जिसे सिंह धारण कर रहे हैं, जिसकी किरणें चारोंओर दैदीप्यमान हो रही हैं, जो जगतको नीचा दिखला रहा है, मेरु पर्वतकी शोभाको खूब तिरस्कारकर रहा है और जो नमस्कार करते हुये देवोंके मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी कांतिको तर्जना कर रहा है ऐसा जिनका सिंहासन सुशोभित हो रहा है वे भगवान वृषभदेव सदा जयशील हों ॥ १७७ ॥ तीनों जगतके गुरु ऐसे जिन भगवानका सफेद छत्र पूर्ण चंद्रमंडलकी समस्त शोभाको हंसता हुआ सुशोभित हो रहा है, जिनके चरण कमल नमस्कार करते हुये इंद्रके दैदीप्यमान मुकुटकी मणियोंसे स्पर्श किये जा रहे हैं, जो समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं और अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं ऐसे ये श्री वृषभ जिनेंद्रदेव सदा

द्रशिखरे गिरींद्र इव योऽभिषिक्तः सुरैः पयोऽब्धिशुचिवारिभिः शशिकराङ्कुरस्पर्धिभिः ॥ १७९ ॥ यस्य ननु रश्मयो गुणगणा इव रुचिरतरा भांत्यभितो-
मयूखनिवहा गुणसलिलनिधेः । विश्वजनीनचारुचरितः सकलजगदिनः सोऽस्तु भव्यकमलवनतिग्मरश्मिरनिशम् ॥ १८० ॥ यस्याशोकश्चलकिसलयश्चित्र-
पत्रप्रसूनो भाति श्रीमान्मरकतमयस्कंधबंधोज्ज्वलांगः । सांद्रच्छायः सकलजनताशोकविच्छेददक्षः सोऽयं श्रीशो जयति वृषभो भव्यपद्माकरार्कः ॥१८१॥
जीयाज्जैनेंद्र सुरुचिरतनुः श्रीरशोकाङ्घ्रिपो यो वातोद्धूतैः स्वैः प्रचलविटपैर्नित्यपुष्पोपहारं । तन्वन्भाति ... परभृतनिनादैः ... जिन-

---

जयशील हों ॥ १७८ ॥ इंद्रोंने जिनके चरणोंकी पूजा कईवार की है, जिनपर अनेक देव अपने हाथोंसे चमरोंके समूह ढुराते हैं और देवोंने मेरुपर्वतके शिखरपर मेरुपर्वतके समान ही जिन्हें विराजमानकर चंद्रमाकी किरणोंके समान स्वच्छ ऐसे क्षीरसागरके पवित्र जलसे जिनका अभिषेक किया है ऐसे श्रीवृषभदेवकी सदा जय हो ॥ १७९ ॥ जो भगवान गुणोंके समुद्र हैं, जिनके अतिशय उज्वल और अत्यंत सुंदर ऐसे किरणोंके समूह गुणोंके समूहोंके समान चारोंओर सुशोभित हो रहे हैं, जिनका चरित्र संसारके समस्त जीवोंको हित करनेवाला है, जो समस्त जगतके स्वामी हैं और भव्यरूपी कमलोंको प्रफुल्लित करनेकेलिये जो सूर्यके समान हैं ऐसे वे श्रीवृषभजिनेंद्रदेव हमलोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ १८० ॥ जिसके पत्ते हिल रहे हैं तथा जिसके पत्ते और फूल अनेक वर्णके सुशोभित हो रहे हैं, जो बहुत ही शोभायमान है, जिसके स्कंधकी रचना मरकतमणियोंसे की गई है, जिसका शरीर अत्यंत उज्वल है, जिसकी छाया बहुत ही घनी है और समस्त लोगोंका शोक दूर करनेकी जिसकी इच्छा है ऐसा अशोकवृक्ष जिन भगवानका सुशोभित हो रहा है, जो भव्यरूपी कमलोंके समूहको प्रफुल्लित करनेकेलिये सूर्यके समान हैं और जो अंतरंग बहिरंग दोनों प्रकारकी लक्ष्मीके स्वामी हैं ऐसे ये श्रीवृषभदेव भगवान सदा जयशील हों ॥ १८१ ॥ जिसका शरीर बहुत सुंदर है जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे सदा पुष्प अर्पण करता रहता है, जिसने अपने

मिव भजन्भाति भक्त्येवभव्यः ॥ १८२ ॥ यस्या पुष्पप्रततिममराः पातयंति द्युमूर्ध्नः प्रीता नेत्रप्रततिमिव ता लोलमत्तालिजुष्टां । वातोध्दूतैर्ध्वजावितमिव भजन्भाति ... तिभिर्व्योम समार्जतीवाभाति श्रेय. समवसृतिभू. सा चिर नस्तनोतु ॥ १८३ ॥ ॥ यस्मिन्मग्नरुचिर्विभाति नितरा रत्नप्रभाभास्वरे भास्वान् सालवगे जयत्यमालिनो धूलीमयोऽसौ विभो. । स्तभाः कल्पतरुप्रभातिरुचये. मानादिकाश्चोद्ध्वजा. जीयासुर्जिनभर्तुरस्य गगनप्रोल्लंघिनो भास्वरा' ॥ १८४ ॥ वाप्यो रत्नतटा. प्रसन्नसलिला नीलोत्पलैरातता गधाधभ्रमरारवैर्मुखरिता भाति स्म यास्ताः स्तुम' । ता चापि स्फुटपुष्पहासरुचिरा प्रोद्यत्प्रवालाकुरा वल्लीनां

फैलावसे सब दिशायें घेरली हैं, जो कोइलोंके मधुर शब्दरूपी गाने बजानेसे मनोहर है और जो नृत्य करती हुई छोटी शाखाओंसे भक्तिपूर्वक भगवानकी सेवा करते हुयेके समान सुशोभित हो रहा है इसप्रकार सवतरह शोभायुक्त भव्य पुरुषके समान यह श्रीजिनेंद्रदेवका अशोक वृक्ष सदा विजयरूप हो ॥ १८२ ॥ जिस समवसरणकी भूमिमें देवलोग प्रसन्न होकर अपने नेत्रोंके समूहके समान जिनपर चंचल उन्मत्त भ्रमर बैठे हुये हैं ऐसे पुष्पोंके समूहोंकी वर्षा आकाशसे करते हैं और जो वायुसे हिलती हुई ध्वजाओंके समूहसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानों आकाशको वुहार रही ही हो ऐसी यह समवसरणकी भूमि चिरकालतक हमलोगोंको कल्याण देनेवाली हो ॥१८३॥ अत्यंत निर्मल और रत्नोंकी प्रभासे देदीप्यमान तथा जिसकी दीप्तिमें डूबकर सूर्य कांतिरहित होकर भी अत्यंत ही सुशोभित होता है ऐसा यह भगवानका धूलिसाल (रत्नोंकी धूलिका बना हुआ साल) सदा जयशील हो, तथा जो कल्पवृक्षकी कांतिके समान अत्यंत मनोहर हैं, जिनकी ध्वजायें बहुत ऊंची हैं, जो आकाशको उलंघन करनेवाले हैं और अत्यंत प्रकाशमान हैं ऐसे जिनेंद्रदेवके ये मानस्तंभ सदा जयवंत हों ॥१८४॥ जिन वावडियोंके किनारे रत्नोंके बने हुये हैं, जिनमें स्वच्छ पानी भराहुआ है, जो नील कमलोंसे भरीहुई हैं और सुगंधिसे अंधे ऐसे भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे शब्दायमान होती हुईं सुशोभित हो रही हैं ऐसी वावडियोंकी मैं स्तुति करता हूं, तथा जो खिले हुये पुष्परूपी हास्यसे सुंदर है और जिसमें प्रवाल अर्थात्

वनवीथिका तमपि च प्राकारमाद्य विभो ॥ १८५ ॥ प्रोद्यद्विद्रुमसन्निभैः किशलयैरारञ्जयद्दिशो भान्त्युच्चैः पवनाहतैश्च विटपैर्नृत्यन्तितु वीचन । रक्ताशोकवनादिक वनमदश्चैत्यद्रुमैरङ्कितं वन्देऽह समवादिका सृतिमित जैनीं चतुष्काश्रितं ॥ १८६ ॥ रक्ताशोकवन वनं च रुचिमत्सप्तच्छदानामदश्चूतानामपि नदन परतर यच्चंपकाना वन । तच्चैत्यद्रुममण्डित भगवतो वन्दामहे वंदित देवैर्द्रैर्विनयानतेन गिरसा श्रीजैनबिंबांकित ॥ १८७ ॥ प्राकारादपरतो विभाति रुचिरा हरिवृषगरुडैः श्रीमन्माल्यगजाम्बरैश्च शिखिभि· प्रकटितमहिमा । हंसैश्चाप्युपलक्षिता प्रविलसद्ध्वजवनननतिः या तामप्यमरार्चितामभिनुम· पवनविलुलिता ॥ १८८ ॥ यद्दूराद्व्योममार्गं कलुषयति दिशा प्रात स्थगयति प्रोत्सर्पद्धूपधूमैः सुरभयति जगद्विश्वं द्रुततरं । तत्र नद्धूपकुंभद्वयसुर

नये कोमल पत्तोंके अंकूरे उठ रहे हैं ऐसे लतावनोंकी भी स्तुति करता हूं और इसीप्रकार भगवानका वह जो प्रसिद्ध पहिला कोट है उसकी भी मैं स्तुति करता हूं ॥ १८५ ॥ इसीप्रकार देदीप्यमान मूंगाके समान नवीन पत्तोंसे जो सब दिशाओंको लाल कर रहे हैं, जो वायुसे हिलती हुई अपनी शाखाओंसे ऐसे अच्छे सुशोभित हो रहे हैं मानों नृत्य करनेकेलिये ही तैयार हुये हों, जिनकी संख्या चार है जिनके मध्यभागमें चैत्यवृक्ष सुशोभित हो रहे हैं और जो श्रीजिनेंद्रदेवकी समवसरणकी भूमिमें प्राप्त हुये हैं ऐसे ये रक्त अशोक आदि वृक्षोंके वन अर्थात् अशोक वृक्षोंका वन, सप्तच्छद, आम्र और चंपक वन इन चारोंकी मैं वंदना करता हूं ॥ १८६ ॥ जो चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित हैं जिनमें श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं और इंद्र भी जिन्हें विनयपूर्वक मस्तक नवाकर नमस्कार करता है ऐसे भगवानके लाल अशोक वृक्षका वन यह देदीप्यमान सप्तच्छद जातिके वृक्षोंका वन, आम्रवृक्षोंका वन और उसके वाद यह चंपक जातिके वृक्षोंका वन इन चारों वनोंको मैं नमस्कार करता हूं ॥ १८७ ॥ कोटके वाद जो वहुत सुंदर तथा सिंह, वैल, गरुड, सुंदरमाला, हाथी, वस्त्र, मयूर, हंस, चक्र और कमल इन चिन्होंसे शोभायमान ऐसी देदीप्यमान ध्वजाओंके वस्त्रोंकी पंक्तियां सुशोभित हैं, जो कि देवोंके द्वारा भी पूज्य हैं और वायुसे हिल रही हैं उन्हें भी मैं न-

मनसः प्रीतिं घटयतु श्रीमत्तनाट्यशालाद्वयमपि रुचिरं सालत्रयगतं ॥ १८९ ॥ पुष्पपल्लवोज्ज्वलेषु कल्पपादपोरुकाननेषु हारिषु श्रीमदिंद्रवंदिताः स्वबुध्न-सुस्थितेद्रसिद्धबिंबका द्रुमाः । संति तानपि प्रणौम्यहं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपंक्तिमप्यमूं समग्ररत्नविग्रहां जिनेंद्रबिंबिनीं ॥ १९० ॥ वीथीं सुस्थितेद्रसिद्धबिंबका द्रुमा । संति तानपि प्रणौम्यहं नमामि च स्मरामि च प्रसन्नधीः स्तूपपंक्तिमप्यमूं समग्ररत्नविग्रहां जिनेंद्रबिंबिनीं ॥ १९० ॥ वीथीं कल्पद्रुमाणां सवनपरिवृतिं तामतीत्य स्थिता या शुभ्रा प्रासादपंक्तिः स्फटिकमणिमयः सालवरस्तृतीयः । भर्तुः श्रीमंडपश्च त्रिभुवनजनतासंश्रयात्तप्रभावः पीठं चोद्यत्त्रिभूमं श्रियमनुतनुतादन्वकुट्याश्रितं नः ॥ १९१ ॥ मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलसत्खातिका पुष्पवाटी प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं

मस्कार करता हूं ॥ १८८ ॥ जो प्रत्येक दिशाके दो दो धूपघट फैलते हुये धूपके धुंएसे दूरसे ही आकाशको मलिन कर रहे हैं, दिशाओंके समीपभागको आच्छादन कर रहे हैं और जो समस्त जगतको बहुत शीघ्र सुगंधित कर देते हैं ऐसे धूपघट हमारे मनमें प्रेम उत्पन्न करो। तथा तीनों कोटोंके प्रत्येक दरवाजेपर अत्यंत सुशोभित ऐसी दो दो मनोहर नाट्यशालायें भी हम लोगोंके मनमें भगवानमें बहुत बडा प्रेम संपादन करो ॥ १८९ ॥ इसके आगे पुष्प और पत्तोंसे देदीप्यमान और बडे ही मनोहर ऐसे जो कल्पवृक्षोंके बडे बडे वन हैं और उनमें अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवाले इंद्रोंके द्वारा पूज्य तथा जिनके मूलभागमें सिद्धप्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे सिद्धपादप वृक्ष हैं उनको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम करता हूं, नमस्कार करता हूं तथा स्मरण करता हूं। इसके सिवाय अनेक प्रकारके रत्नोंसे बने हुये तथा जिनपर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें विराजमान हैं ऐसे इस स्तूपोंके समूहोंको भी मैं प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम, नमस्कार और स्मरण करता हूं ॥ १९० ॥ वनकी वेदीसे घिरी हुई जो कल्पवृक्षोंके वनोंकी पंक्ति है, उसके बाद सफेद मकानोंके समूह हैं, उसके बाद स्फटिक मणियोंका बना हुआ तीसरा कोट है, तदनंतर तीनों लोकोंके समस्त जीवोंको आश्रय देनेकेलिये जिसकी शक्ति है ऐसा भगवानका श्रीमंडप है और उसके बाद गंधकुटीसे सुशोभित तीन कटनीदार तीन पीठ हैं वे सब हम लोगोंको कल्याण देनेवाले हों ॥ १९१ ॥ चारों दिशाओंमें चार

वेदिकातर्ध्वजाव्या । साल. कल्पद्रुमाणां सवरिवृतवन स्तूपहर्म्यावली च प्राकारः स्फटिकोऽन्तर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥ १९२ ॥ देवोऽर्हन् प्राङ्मुखो वा नियतिमनुसरन्नुत्तराशामुखो वा यामध्यास्ते स्म पुण्या समवसृतिमही तां परीत्याध्यवात्सुः । प्रादक्षिण्येन धीन्द्रा सुरयुवतिगणिनीनृस्त्रियास्त्रिश्च देव्यो देवा. सेन्द्राश्च मर्त्याः पशव इति गणा द्वादशामी क्रमेण ॥ १९३ ॥ योगीन्द्रा कल्पजा वा विबुधयुवतय. सार्यिका राजपत्न्यो ज्योतिर्वन्येशकन्या भव-

---

मानस्तंभ हैं, मानस्तंभोंके चारोंओर सरोवर हैं, तदनंतर निर्मल जलसे भरी हुई खाई है, उसके वाद पुष्पोंके वाग अर्थात् लतावन हैं, तदनंतर कोट है, कोटके चारों दरवाजोंपर दो दो नाट्यशालायें हैं, कोटके वाद दूसरा (अशोकादि का) वन है, तदनंतर वनकी वेदी है, उसके वाद ध्वजाओंका समूह है, फिर दूसरा कोट है, तदनंतर वनकी वेदिकासे घिरा हुआ कल्पवृक्षोंका वन है, उसके वाद स्तूप और मकानोंकी पंक्ति हैं, फिर स्फटिकमय तीसरा कोट है, उस कोटके भीतर मनुष्य देव और मुनियोंकी सभायें हैं और सव सभाओंके मध्यभागमें पीठिकाके ऊपर सिंहासनपर स्वयंभू भगवान-अरहंतदेव विराजमान हैं, इसप्रकार संक्षेपमे समवसरणकी रचना समझनी चाहिये ॥ १९२ ॥ भगवान अरहंतदेव स्वभावसे ही पूर्वदिशाकी ओर मुखकरके विराजमान होते हैं अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान होते हैं । भगवान पुण्यरूप जिस समवसरणकी भूमिके मध्यभागमें विराजमान होते हैं उस भूमिके चारोंओर प्रदक्षिणा रूपसे गणधर आदि मुनिजन १ कल्पवासिनी देवियां २ अर्जिकायें और मनुष्योंकी स्त्रियां ३ भवनवासिनी देवियां ४ व्यंतरिणी देवियां ५ ज्योतिष्क देवियां ६ अपने अपने इंद्रोंके साथ कल्पवासी देव ७ भवनवासी देव ८ व्यंतर देव ९ ज्योतिष्क देव १० मनुष्य ११ और पशु १२ ये इन वारह संघोंके अनुक्रमसे वेठनेके स्थान हैं ॥ १९३ ॥ उनमें पहिले कोठेमें अतिशय ज्ञानको धारण करनेवाले गणधर आदि मुनिराज वेठते हैं, दूसरे कोठेमें कल्पवासी देवोंकी देवांगनायें, तीसरे कोठेमें आर्जिका और मनुष्योंकी स्त्रियां, चौथेमें ज्योतिष्क देवोंकी

नजवनिता भावना व्यंतराश्च । ज्योतिष्काः कल्पनाथा नरवरवृषभास्तिर्यगोवै' सहामी कोष्ठेप्वक्तेष्वतिष्ठन् जिनपतिमभितो भक्तिभारावनम्राः ॥ १९४ ॥ प्रादुष्यद्वाङ्मयूखैर्विघटिततिमिरो धूतससाररात्रिस्तत्सध्यासधिकल्पा मुहुरपघटयन् क्षीणमोहीमवस्था । सज्ज्ञानोदग्रसादिप्रतिनियतनयोद्वेगसतिप्रयुक्तः स्याद्वादस्यदनस्थो भृगमथ रुरुचे भव्यवधुर्जिनार्कः ॥ १९५ ॥ इत्युचैः सगृहीता समवसृतिमही धर्मचक्राविभर्त्त भव्यात्मा संस्मरेद्यः स्तुतिमुखरमुखो भक्ति-

---

देवांगनायें, पाचवेंमें व्यंतरदेवोंकी देवांगनायें, छट्ठेमें भवनवासिनी देवांगनायें, सातवेंमें भवनवासी देव, आठवेंमें व्यंतर देव, नौवेंमें ज्योतिष्क देव, दशवेंमें कल्पवासी देव, ग्यारहवेंमें चक्रवर्ती आदि राजा महाराजा तथा साधारण मनुष्य और वारहवेंमें तिर्यंचोंका समुदाय वैठता है, इसप्रकार ये जीव भगवानकी भक्तिके भारसे नम्रीभूत होकर भगवानके चारोंओर ऊपर लिखे हुये कोठोंमें वैठते- हैं ॥ १९४ तदनंतर प्रगट होते हुये स्याद्वादरूपी वचनोंकी किरणोंसे जिन्होंने समस्त अंधकार दूर कर दिया है, संसाररूपी रात्रि भी जिन्होंने नष्ट कर दी है तथा रात्रिके नष्ट करते समय रात्रि औ- र उदय होनेवाले दिनकी संधिके समान अर्थात् प्रातःकालकी संध्याके समान वारहवें गुणस्थानमें होनेवाली क्षीणमोह अवस्था (जिसमें केवल मोहनीयकर्म नष्ट हुआ है) को भी जिन्होंने नष्ट किया है जो सम्यग्ज्ञानरूपी अतिशय सामर्थ्यको धारण करनेवाले सारथि सहित तथा अन्यमतियोंके ए- कांतनयको उद्वेग करनेवाले अनेकांतरूपी घोडोंसे चलते हुये स्याद्वादरूपी रथपर सवार हैं और जो भव्यरूपी कमलोंको प्रफुलित करनेवाले हैं ऐसे श्रीजिनेंद्ररूपी सूर्य वहुत ही देदीप्यमान हो रहे थे ॥१९५॥ इसप्रकार ऊपरलिखे अनुसार जिसका विस्तार है ऐसी धर्मरूपी चक्रके अधिपति भगवान वृषभदेवकी समवसरण भूमिको जो भव्यपुरुष भक्तिसे मस्तक नवाकर तथा मुखसे अनेकप्रकारकी स्तुति करता हुआ स्मरण करता है वह मणियोंके वने हुये मुकुटोंसे शोभायमान ऐसे देवोंके अनेक प्रफुलित पुष्प- मालाओंको धारण करनेवाले मस्तकके द्वारा पूज्य, समस्त गुणोंसे भरपूर, समवसरण आदि अनेक

नम्रेण मूर्ध्ना । जैनीं लक्ष्मीमचिन्त्यां सकलगुणमयीं प्राश्नुतेऽसौ महर्द्धिं चूडाभिर्नाकभाजां मणिमकुटजुपामर्चितां स्रग्धराभिः ॥ १९६ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भगवत्समवसृतिविभूतिवर्णनं नाम त्रयोविंशं पर्व ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशं पर्व ।

स जीयाद् वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटाविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठपत् ॥ १ ॥ श्रीमान् भरतराजर्षिर्बुबुधे युगपत्त्रयं । गुरोः कैवल्य-संभूतिं सूतिं च सुतचक्रयो. ॥ २ ॥ धर्मस्थाद्गुरुकैवल्यं चक्रमायुधपालतः । काञ्चुकीयात्सुतोत्पत्तिं विदामास तदा विभु. ॥ ३ ॥ पर्याकुल इवासीच्च

बडी २ ऋद्धियोंसे सुशोभित और अचिंत्य (जिसे कोई चिंतवन भी नहीं करसकता) ऐसी जिनेंद्रकी लक्ष्मी अर्थात् तीर्थंकरकी पदवीका अवश्य ही अनुभव करता है ॥ १९६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भगवानके समवसरणकी विभूतिका वर्णन करनेवाला यह तेईसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ चौवीसवां पर्व

अथानंतर—जिसका ज्ञान विषको दूर करनेवाली विद्याके समान मोहरूपी विषसे सोते हुये इस जगतको बहुत शीघ्र जगा देता है वह वृषभदेव सदा जयवंत हो ॥ १ ॥ राज्य करते हुये भी जो शम दम आदि गुणोंसे ऋषियोंके समान हैं ऐसे महाराज भरतने एक ही साथ अपने पूज्य पिता भगवान वृषभदेवके केवलज्ञानका उत्पन्न होना, पुत्रकी उत्पत्ति होना और आयुधशालामें चक्रकी उत्पत्ति होना ये तीनों बातें सुनी ॥ २ ॥ उसने धर्माधिकारी पुरुषसे पिताके केवलज्ञानका उत्पन्न होना सुना आयुधशालाकी रक्षा करनेवालेके मुखसे चक्रकी उत्पत्ति सुनी और कंचुकीसे पुत्र उत्पन्न होनेके समाचार सुने ॥ ३ ॥ वह महाराज तीनों बातें एकसाथ सुनकर क्षणभरकेलिये व्याकुलसा हो गया और सोचनेलगा कि इन तीनोंमेंसे पहिले कौनसा कार्य करना चाहिये ॥४॥ पुण्यतीर्थ तथा चक्रका उत्पन्न

क्षणं तद्योगपद्यतः । किमत्र प्रागनुष्ठेयं संविधानमिति प्रभुः ॥ ४ ॥ त्रिवर्गफलसंभूतिरक्रमोपनता मम । पुण्यतीर्थं सुतोत्पत्तिश्चक्ररत्नमिति त्रयी ॥ ५ ॥ तत्र धर्मफलं तीर्थं पुत्रः स्यात्कामजं फल । अर्थानुबंधिनोर्थस्य फल चक्रं प्रभास्वरं ॥ ६ ॥ अथवा सर्वमप्येतत्फलं धर्मस्य पुष्कलं । ततो धर्मतरोरर्थः फलं कामस्तु तद्रसः ॥ ७ ॥ कार्येषु प्राग्विधेयं तद्धर्म्यं श्रेयोऽनुबंधि यत् । महाफल च तद्देवसेवा प्राथमकल्पिकी ॥ ८ ॥ निश्चिचायेति राजेन्द्रो गुरुपूजनमादितः । अहो धर्मात्मना चेष्टा प्रायः पुण्यानुबंधिनी ॥ ९ ॥ सानुजन्मा समेतोंऽतःपुरपौरपुरोगमैः । प्राज्यामिज्यां पुरोधाय सज्जोऽभूद्गमनं प्रति ॥ १० ॥ गुरौ भक्तिं परां तन्वन्कुर्वन्धर्मप्रभावना । स भूत्या परयोत्तस्थे भगवद्वदनाविधौ ॥ ११ ॥ अथ सेनाबुधेः क्षोभमातन्वन्नब्धिनिःस्वनः ।

होना और पुत्र उत्पन्न होना ये तीनों ही धर्म अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके फल मुझे एकसाथ ही प्राप्त हुये हैं ॥ ५ ॥ इनमेंसे भगवानके केवलज्ञान उत्पन्न होना धर्मका फल है, पुत्र उत्पन्न होना कामका फल है और दैदीप्यमान चक्रकी प्राप्ति होना आगामी कालमें अर्थकी प्राप्ति करानेवाले अर्थका फल है ॥ ६ ॥ अथवा यह सब धर्मका पूर्ण फल है क्योंकि अर्थ धर्मरूपी वृक्षका फल है और काम उसका रस है ॥ ७ ॥ समस्त कार्योंमें सबसे पहिले धर्मकार्य करना चाहिये, क्योंकि धर्मकार्य ही सबतरहके कल्याण प्राप्त करानेवाला है और बडे २ फल देनेवाला है, उन धर्मकार्योंमें भी सबसे पहिले अरहंतदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥ ८ ॥ इसप्रकार विचार करते हुये महाराज भरतने सबसे पहिले भगवानकी पूजन करना ही निश्चय किया, सो ठीक ही है क्योंकि धर्मात्मा पुरुषोंकी क्रियायें प्रायः पुण्य उत्पन्न करनेवाली ही होती हैं ॥ ९ ॥ तदनंतर महाराज भरत अपने छोटे भाई, अंतःपुरकी रानियां और नगरके बडे २ लोगोंके साथ पूजाकी बडीभारी सामिग्री लेकर चलनेकेलिये तैयार हुआ ॥ १० ॥ वह महाराज भरत भगवानमें परम भक्ति करता हुआ, और धर्मकी प्रभावना करता हुआ बडी विभूतिके साथ भगवानकी बंदना करनेकेलिये उठा ॥ ११ ॥

अथानंतर—सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ तथा दिशाओंमें प्रतिध्वनि उत्पन्न कर-

आनंदपटहो मंद्रं दध्वान ध्वानयन् दिशः ॥ १२ ॥ प्रतस्थेऽथ महाभागो वदारुर्भरताधिपः । जिनं हस्त्यश्वपादातरथकव्यावृतोऽभित. ॥ १३ ॥ रेजे प्रचलिता सेना ततानकपृथुध्वनिः । वेलेव वारिधेः प्रेखदसंख्यध्वजवीचिका ॥ १४ ॥ तया परिवृतः प्राप स जिनास्थानमंडलं । प्रसर्पत्प्रभया दिक्षु जितमार्तंडमडल ॥ १५ ॥ परीत्य पूजयन्मानस्तंभानस्थैत्ततः पर । खातां लतावनं साल वनाना च चतुष्टय ॥ १६ ॥ द्वितीयं सालमुत्क्रम्य ध्वजान्कल्पद्रुमावलिं । स्तूपान्प्रासादमाला च पश्यन् विस्मयमाप सः ॥ १७ ॥ ततो दौवारिकैर्देवै संभ्राम्याद्भिः प्रवेशितः । श्रीमंडपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीं ॥ १८ ॥ ततः प्रदक्षिणीकुर्वन्धर्मचक्रचतुष्टय । लक्ष्मीवान्पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिका ॥ १९ ॥ ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्व-

---

ता हुआ समुद्रकी गर्जनाके समान आनंदके समयमें वजनेवाले नगाडोंका गंभीर शब्द होने लगा ॥ १२ ॥ महा भाग्यशाली और भरतक्षेत्रका स्वामी वह महाराज भरत वंदना करनेकी इच्छा करता हुआ हाथी, घोडे, पदाति (पैदल) और रथोंके समूहको चारोंओर कर भगवानकी वंदना करनेकेलिये निकला ॥ १३ ॥ उससमय वह चलती हुई सेना समुद्रकी वेलाके समान जान पडती थी क्योंकि फडकती हुई असंख्यात ध्वजायें ही लहरोंके समान जान पडती थीं और सब जगह व्याप्त हुई ऐसी नगाडोंकी बडी भारी आवाज ही गर्जनाके समान जान पडती थी ॥ १४ ॥ इसप्रकार सेनाके साथ २ महाराज भरत सब दिशाओंमें फैलते हुये प्रकाशसे सूर्यमंडलको भी जीतनेवाले भगवानके समवसरणमें जा पहुंचा ॥ १५ ॥ पहिले ही उसने समवसरणकी प्रदक्षिणा दी, फिर मानस्तंभोंकी पूजा की, तदनंतर वहांसे आगे चला और खाई, लतावन, कोट, चारों वन और दूसरे कोटको पारकर ध्वजाओंके समूह, कल्पवृक्षोंके वन, स्तूप और मकानोंकी पंक्तियोंको देखता हुआ वडा ही आश्चर्य करने लगा ॥ १६-१७ ॥ तदनंतर आदर सत्कार करनेवाले ऐसे दरवाजेपर खडे हुये द्वारपालदेवोंने उसे भीतर प्रवेश कराया और वहां जाकर उसने स्वर्गको भी जीतनेवाली श्रीमंडपकी शोभा देखी ॥ १८ ॥ तदनंतर अतिशय शोभायुक्त उस भरतने प्रदक्षिणा देते हुय प्रथम पीठिकापर पहुंच-

जान् । सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥ २० ॥ मध्येगंधकुटीद्धर्द्धि परार्ध्ये हरिविष्टरे । उदयाचलमूर्धस्थमिवार्कं जिनमैक्षत ॥ २१ ॥ चलच्चामरसघातवज्यिमानमहातनु । प्रपतन्निर्ज्झरं मेरुमिव चामीकरच्छविं ॥ २२ ॥ महाशोकतरोर्मूले छत्रत्रितयसश्रितं । त्रिधाभूतविधूद्भासिबलाहकमिवाद्रिपं ॥ २३ ॥ पुष्पवृष्टिप्रतानेन परितो भ्राजित प्रभु । कल्पद्रुमप्रगलितप्रसूनमिव मंदरं ॥ २४ ॥ नभोव्यापिभिरुद्घोषं सुरदुंदुभिनिस्वनैः । प्रसर्पद्वेलमंभोधिमिव वातविघूर्णितं ॥ २५ ॥ धीरध्वानं प्रवर्षंतं धर्मामृतमतर्कितं । आल्हादितजगत्प्राणं प्रावृषेण्यमिवाबुद ॥२६॥ स्वदेहविसरज्ज्योत्स्नासलिलक्षा-

---

कर चारों धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥१९॥ उसके बाद उसने अत्यंत प्रसन्न होकर दूसरे पीठपर विराजमान भगवानकी आठों ध्वजाओंकी पवित्र जल चंदनादि द्रव्योंसे पूजा की ॥ २० ॥ तदनंतर उदयाचल पर्वतके मस्तकपर विराजमान सूर्यके समान गंधकुटीके मध्यभागमें बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान और दैदीप्यमान अनेकप्रकारकी विभूतियोंको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवको उसने देखा ॥ २१ ॥ ढुरते हुये अनेक चमरोंसे शोभायमान और सुवर्णके समान उनका महा शरीर ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों जिससे अनेक पानीके निर्झरने पड रहे हैं ऐसा मेरुपर्वत ही हो ॥ २२ ॥ महा अशोकवृक्षके नीचे तीन छत्रोंसे सुशोभित उनका शरीर ऐसा जान पडता था मानों तीनरूप धारण किये हुये चंद्रमासे शोभायमान ऐसे काले बादलसे मेरुपर्वत ही सुशोभित हो रहा हो ॥२३॥ चारोंओरसे वरसते हुये पुष्पोंके समूहोंसे शोभायमान भगवानका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कल्पवृक्षोंसे गिरे हुये पुष्पोंसे शोभायमान मेरुपर्वत ही हो ॥ २४ ॥ आकाशमें व्यास होनेवाले ऐसे देव दुंदुभियोंके शब्दोंकी भारी आवाज ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा चलायमान हुआ और जिसकी उठती हुई लहरें किनारेतक आ रहीं हैं ऐसा समुद्र ही हो ॥२५॥ जो जगतके समस्त प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाली है और जिसका गंभीर शब्द है ऐसी संदेहरहित धर्म्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले अर्थात् दिव्यध्वनि प्रगट करनेवाले भगवान ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों वर्षाऋ-

लिताखिल। क्षीराब्धिमध्यसंवृद्धमिव भूध्रं हिरण्मयं ॥ २७ ॥ सोऽन्वक्प्रदक्षिणीकृत्य भगवंतं जगद्गुरुं। इयाज यायजूकानां ज्यायान्प्राज्येज्यया प्रभुं ॥ २८ ॥ पूजाते प्रणिपत्येश महीनिहितजान्वसौ। वचःप्रसूनमालाभिरित्यानर्च्च गिरापतिं ॥ २९ ॥ त्व ब्रह्मा परमज्योतिस्त्व प्रभूष्णुरजोऽरजाः। त्वमादिदेवो देवानामधिदेवो महेश्वरः ॥ ३० ॥ त्वं स्रष्टा त्व विधाताऽसि त्वमीशानः पुरः पुमान्। त्वमादिपुरुषो विश्वेट् विश्वराट् विश्वतो मुखः ॥ ३१ ॥ विश्वव्यापी जगद्भर्त्ता विश्वदृग्विश्वभुग्विभुः। विश्वतोऽक्षिमयं ज्योतिर्विश्वयोनिर्वियोनिकः ॥ ३२ ॥ हिरण्यगर्भो भगवान्वृषभो वृषभध्वजः। परमेष्ठी परं

तुका बादल ही हो ॥२६॥ चारोंओर फैलती हुई अपने शरीरकी प्रभारूपी जलसे समस्त सभाको प्रक्षालित करतेहुये वे भगवान ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों क्षीरसागरके मध्यभागमें बढा हुआ सुवर्णका पर्वत ही हो ॥ २७ ॥ इसप्रकार आठ प्रातिहार्य संयुक्त जगतगुरु भगवान वृषभदेवको देखकर पूजा करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतने उनकी प्रदक्षिणा दी और फिर उत्तम पूजाकी सामग्रीसे उनकी पूजा की ॥ २८ ॥ पूजाके बाद महाराज भरतने अपने दोनों घोंटू पृथ्वीपर रखकर सब भाषाओंके स्वामी भगवान वृषभदेवको नमस्कार किया और फिर बचनरूपी पुष्पोंकी मालाओंसे उनकी पूजा करने लगा अर्थात् उनकी स्तुति करने लगा ॥ २९ ॥ कि हे भगवन् ! आप ब्रह्मा हैं, परम ज्योतिस्वरूप अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले हैं, प्रभूष्णु अर्थात् समर्थ हैं, जन्मरहित तथा पापरहित हैं, सबदेवोंमें मुख्य देव हैं तथा आप ही अधिदेव और महेश्वर हैं ॥ ३० ॥ आप ही स्रष्टा अर्थात् धर्मरूप सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले हैं, विधाता अर्थात् उपदेश देनेवाले हैं, सबके ईश्वर हैं, सबसे उत्कृष्ट हैं, सबको पवित्र करनेवाले हैं, सबमें आदि पुरुष हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतमें शोभायमान हैं और सब ओर देखनेवाले अर्थात् सर्वदर्शी हैं ॥ ३१ ॥ आप अपने ज्ञानके द्वारा समस्त संसारमें व्याप्त हैं, जगतके स्वामी हैं, जगतको देखनेवाले हैं, जगतके द्वारा पूज्य हैं, विभु हैं, आप ही संसारमें आत्मरूप ज्योतिस्वरूप हैं, समस्त जीवोंके ज्ञान बढानेमें कारण हैं, योनि अर्थात्

तत्त्वं परमात्मात्मभूरसि ॥ ३३ ॥ त्वमिनस्त्वमधिज्योतिस्त्वमीशस्त्वमयोनिजः । अजरस्त्वमनादिस्त्वमनन्तस्त्वं त्वमच्युतः ॥ ३४ ॥ त्वमक्षरस्त्वमक्षय्यस्त्वमनक्षोऽस्यनक्षर. । विष्णुर्जिष्णुर्विजिष्णुश्च त्वं स्वयंभूः स्वयंप्रभः ॥ ३५ ॥ त्वं शंभुः शंभवः शंयुः शंवदः शंकरो हर. । हरिर्मोहासुरारिश्च तमोऽरिर्भव्यभास्करः ॥३६॥ पुराणः कविराद्यस्त्व योगी योगविदांवर । त्व शरण्यो वरेण्याऽग्रयस्त्वं पूतः पुण्यनायकः ॥३७॥ त्व योगात्मा सयोगश्च सिद्धो बुद्धो निरुद्धव. । सूक्ष्मो निरजन. कजसजातो जिनकुंजर. ॥ ३८ ॥ छंदोविच्छन्दसा कर्त्ता वेदविद्वदतांवरः । वाचस्पतिरधर्मारिर्धर्मादिर्धर्मनायकः ॥ ३९ ॥ त्व

जन्म मरण रहित हैं ॥ ३२ ॥ आप ही हिरण्यगर्भ अर्थात् प्रकाशमय हैं, भगवान हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, वृषभकेचिन्हवाली ध्वजासे सुशोभित हैं, परमेष्ठी अर्थात् परमस्थानमें रहनेवाले हैं, परमतत्त्व हैं, परमात्मा हैं और आत्मभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये हैं ॥३३॥ हे प्रभो ! आप इन अर्थात् स्वामी हैं, ज्योतिःस्वरूप हैं, ईश हैं, अयोनिज अर्थात् बिना योनिके उत्पन्न हुये हैं, अजर हैं, अनादि हैं, अनंत हैं और अच्युत हैं ॥ ३४ ॥ हे प्रभो ! आप अक्षर अर्थात् विनाशरहित हैं, अक्षय्य अर्थात् क्षयहोने अयोग्य हैं, अनक्ष अर्थात् इंद्रियरहित हैं, अनक्षर अर्थात् नित्य अनित्य दोनोंसे रहित हैं, आप ही विष्णु हैं, जिष्णु हैं विजिष्णु हैं, स्वयंभू हैं और स्वयंप्रभ हैं ॥३५॥ आप ही शंभु हैं, शंभव हैं, आप ही शंयु अर्थात् सुखी हैं, शंवद हैं, शंकर हैं, हर अर्थात् पाप नाश करनेवाले हैं, हरि अर्थात् श्रेष्ठ हैं, मोहरूपी असुरके नाश करनेवाले हैं, अज्ञानरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं और भव्य जीवोंको प्रसन्न करनेकेलिये सूर्यके समान हैं ॥ ३६ ॥ हे प्रभो ! आप सबसे पहिलेके हैं, सबसे प्रथम कवि हैं, योगी हैं, योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ हैं, सबको शरण देनेवाले हैं, सबसे मुख्य हैं, अग्रेसर हैं पवित्र हैं और समस्त पुण्यके स्वामी हैं ॥ ३७ ॥ आप योगात्मा (योगस्वरूप) हैं, सयोगी हैं, सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, निरुद्धव अर्थात् संसारका उत्साह नष्ट करनेवाले हैं, सूक्ष्म हैं, निरंजन अर्थात् कर्मरहित हैं, कमलपर विराजमान हैं और जिनकुंजर अर्थात् जिनवरोंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ३८ ॥ आप द्वादशांग रूप

जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहारहाः । धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिशुभनः ॥ ४० ॥ त्व हि भव्याब्जिनीबधुस्त्व हविर्भुक्त्वमध्वरः । त्वं मखांगं मखज्येष्ठस्त्वं होता हव्यमेव च ॥ ४१ ॥ यज्वाज्य च त्वमिज्या च पुण्योऽगण्यो गुणाकरः । त्वमपारिरपारश्च त्वममध्योऽपि मध्यमः ॥ ४२ ॥ उत्तमोऽनुत्तमो ज्येष्ठो गरिष्ट. स्थेष्ठ एव च । त्वमणीयान्महीयाश्च स्थवीयान्गरिमास्पद ॥ ४३ ॥ महान्महीयितो मह्यो भूष्णुः स्थास्नुरनश्वरः । जित्वरोऽनित्वरो निय. शिवः शातो भवातकः ॥ ४४ ॥ त्व हि ब्रह्मविदा ध्येयस्त्व हि ब्रह्मपदेश्वरः । त्वा नाममालया देवमित्यभिष्टुमहे वयं ॥ ४५ ॥ अष्टोत्तरशतं नाम्ना-

---

वेदको जाननेवाले हैं, द्वादशांग श्रुतज्ञानरूपवेदके कर्ता हैं, आगमके जाननेवाले हैं, वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, वाचस्पति अर्थात् वाणीके स्वामी हैं, अधर्मको नाश करनेवाले हैं, धर्मोंमें प्रथम धर्म हैं और धर्मके स्वामी हैं ॥ ३९ ॥ आप जिन हैं, कामको जीतनेवाले हैं, विजयी हैं, पूज्य हैं, घातिया कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं, अंतराय रहित हैं, धर्मकी महिमा बढानेवाले हैं धर्मके पति हैं और कर्मरूप शत्रुको घात करनेवाले हैं ॥ ४० ॥ हे स्वामिन् ! आप भव्यरूपी कमलिनियोंके बंधु अर्थात् सूर्य हैं, कर्मरूप हविको जलानेकेलिये अग्नि हैं, ध्यानरूपी अग्निके द्वारा यज्ञ हैं, यज्ञके कारण हैं, श्रेष्ठ यज्ञ हैं, यज्ञ करनेवाले हैं और यज्ञमें होम करने योग्य द्रव्य हैं ॥ ४१ ॥ शुद्ध परिणामोंकी पूजा करनेवाले हैं, अपने शुद्ध परिणामोंसे पूजाकी सामग्रीरूप हैं, पूजा स्वरूप हैं, पुण्यरूप हैं, अगण्य हैं, गुणोंके खजाने हैं, शत्रुरहित हैं, अपार हैं और अमध्यम अर्थात् उत्कृष्ट होकर भी मध्यम अर्थात् केवलज्ञान रूप लक्ष्मीसे सुशोभित हैं, (मध्ये मा केवलज्ञानलक्ष्मीर्यस्य सः) ॥ ४२ ॥ हे प्रभो ! आप उत्तम हैं, अनुत्तम अर्थात् जिससे बढकर और कोई उत्तम न हो ऐसे हैं, ज्येष्ठ हैं, सबसे बडे गुरु हैं, अतिशय स्थिर हैं, अत्यंत सूक्ष्म हैं, अत्यंत बडे हैं, अत्यंत स्थूल हैं और जगतपूज्य हैं ॥४३॥ आप सबसे बडे हैं क्षमागुणसे पृथ्वी ऐसे हैं, पूज्य हैं, होनेवाले हैं, अत्यंत स्थिर हैं, विनाशरहित हैं, विजयी हैं, अचल, नित्य, शिव तथा शांत हैं और संसारको नाश करनेवाले हैं ॥४४॥ हे प्रभो ! ब्रह्म अ-

मित्यनुध्याय चेतसा । त्वामीडे नीडमीडाना प्रातिहार्योष्टकप्रभु ॥ ४६ ॥ तवायं प्रचलच्छाखस्तुंगोऽशोकमहांघ्रिपः । स्वच्छायासंश्रितान्पाति त्वत्तः शिक्षामिवाश्रित. ॥ ४७ ॥ तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः । निर्धुनंतीव निर्व्याजमागोगोमक्षिका नृणा ॥ ४८ ॥ त्वामापतति पग्तिः सुमनोंजल्यो दिवः । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव मुक्ता हर्षाश्रुबिंदव. ॥ ४९ ॥ छत्रत्रितयमाभाति सूच्छ्रितं जिन तावकं । मुक्तालंवनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितं ॥ ५० ॥ तव हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्भवद्धरं । कृतयत्नैरिवोद्वोढुं न्यग्भूयोढं मृगाधिपैः ॥ ५१ ॥ तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः । पुण्या-

---

र्थात् आत्माको जाननेवालोंकेलिये आप ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य हैं और ब्रह्मपदके ईश्वर हैं। हे देव ! इसप्रकार अनेक नामोंसे हम लोग आपकी स्तुति करते हैं ॥ ४५ ॥ हे भगवन् इसप्रकार एकसौ आठ नामोंके द्वारा चित्तमें आपको स्मरणकर अष्ट प्रातिहार्योंके स्वामी और स्तुतियोंके स्थानभूत ऐसे आपकी मैं स्तुति करता हूं[1] ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! जिसकी शाखायें चलायमान हो रहीं हैं ऐसा यह बहुत ऊंचा अशोक महावृक्ष अपनी छायामें आये हुये जीवोंको इसप्रकार रक्षा करता है मानों इसने आपसे ही शिक्षा पाई हो ॥ ४७ ॥ यक्षोंके द्वारा ऊंचे हाथोंसे ढुरते हुये ये आपके चमरोंके समूह ऐसे जान पडते हैं मानों विना ही कारणके मनुष्योंके पापरूप बडी २ मक्खियोंको उडा रहे ही हों ॥ ४८ ॥ हे स्वामिन् आपके चारोंओर स्वर्गसे जो पुष्पांजलियोंकी वर्षा हो रही है वह ऐसी जान पडती है मानों आपको देखकर संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीकी स्वर्गसे पडती हुई ऐसी हर्षसे उत्पन्न हुई आंसुओंकी बूंदें ही हों ॥४९॥ हे जिनेंद्र ! मोतियोंकी जालियोंसे शोभायमान और ऊंचा लटकता हुआ आपका यह छत्रत्रितय ऐसा सुशोभित हो रहा है मानों लक्ष्मीके क्रीडा करनेका एक स्थान ही हो ॥ ५० ॥ हे प्रभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ आपका सिंहासन ऐसा सुशोभित

---

१ पहिली दो पुस्तकोंमें " जिनसेनमुनींद्रेण वागडाम्नायशोभिना । शतमष्टोत्तरं नाम्ना कृत कल्याणकृत् नृणा । " अर्थात् ' वागड आम्नायको सुशोभित करनेवाले जिनसेन मुनिने जीवोंको कल्याणकरनेवाले ये एकसौ आठ नाम कहे हैं । यह ४७ नम्बरपर अधिक श्लोक पाया जाता है ।

भिषेकसंभारं लंभयद्भिरिवाभितः ॥ ५२ ॥ तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः । मोहांधतमसं धुन्वँस्त्वं ज्ञानार्कांशुकोपमः ॥ ५३ ॥ प्रातिहार्याण्यहार्याणि तवामूनि चकासति । लक्ष्मीहंस्याः समाक्रीडपुलिनानि शुचीनि वा ॥ ५४ ॥ नमो विश्वात्मने तुभ्य तुभ्य विश्वसृजे नमः । स्वयभुवे नमस्तुभ्यं क्षायिकैर्लब्धिपर्ययैः ॥ ५५ ॥ ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः शुद्धदर्शनं । दानादिलब्धयश्चेति क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥ ५६ ॥ ज्ञानमप्रातिघ

हो रहा है मानों आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपके बोझेको सिंहोंने कुछ टेडे होकर बडे प्रयत्नसे धारण किया हो ॥ ५१ ॥ हे नाथ ! आपके शरीरकी प्रभाका यह समूह समस्त सभामें व्याप्त हो रहा है और वह ऐसा जान पडता है मानों चारोंओरसे जीवोंको पुण्यरूप अभिषेकका समूह ही पहुंचाता हो ॥ ५२ ॥ हे ईश ! आपकी चारोंओर फैलती हुई दिव्यध्वनि मोहरूपी गाढ अंधकारको नष्टकर संसारी जीवोंके मनको पवित्र करती है, इसलिये ही हे प्रभो ! आप ज्ञानरूपी किरणोंको फैलाते हुये सूर्यके समान हैं ॥ ५३ ॥ हे विभो इसप्रकार परमपवित्र और किसीसे हरण न किये जा सकें ऐसे ये आपके आठ प्रातिहार्य ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों लक्ष्मीरूपी हंसिनीके क्रीडा करनेके स्वच्छ नदीके किनारे ही हों ॥ ५४ ॥ हे प्रभो ! ज्ञानके द्वारा आप समस्त संसारमें व्याप्त हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप जगतकी सृष्टि करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे प्राप्त हुई नौ लब्धियोंसे आप स्वयंभू अर्थात् अपनेआप उत्पन्न होनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ५५ ॥ हे विभो ! क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिकसम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र, ये नौ आपकी क्षायिक शुद्धि गिनी जाती हैं ॥ ५६ ॥ हे देव ! जिसकी कुछ भी मर्यादा नहीं है ऐसा आपका ज्ञान भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों कालोंके समस्त द्रव्यपर्यायोंको एक साथ ग्रहण करता है, क्योंकि व्यवधान होना, इंद्रियोंकी आवश्यकता होना और क्रमसे जानना ये

विश्वं पर्यच्छैत्सीत्तथाक्रमात् । त्रय ह्यावरणादेतद्वयवधिः करण क्रम. ॥ ५७ ॥ चित्र जगदिदं चित्रं त्वयाऽबोधि यदक्रमात् । अक्रमोऽपि क्वचित् श्लाघ्यः प्रभुमाश्रित्य लक्ष्यते ॥ ५८ ॥ इन्द्रियेषु समग्रेषु तव सत्स्वप्यतीन्द्रिय । ज्ञानमासीदचिन्त्या हि योगिना प्रभुशक्तयः ॥ ५९ ॥ यथा ज्ञान तथैवाभूत्क्षायिक तव दर्शन । ताभ्या युगपदेवासीदुपयोगस्तवाद्भुत ॥ ६० ॥ तेन त्व विश्वविज्ञेयव्यापिज्ञानगुणोद्भुतः । सर्वज्ञः सर्वदर्शी च योगिभिः परिगीयसे ॥६१॥ विश्व विजानतोऽपीश यत्ते न स्तः श्रमक्लमौ । अनतवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्य परिस्फुट ॥६२॥ रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव । विरतिः

तीनों ही ज्ञानावरण कर्मसे होते हैं, आपका ज्ञानावरण सर्वथा नष्ट हो गया है इसलिये आप समस्त पदार्थोंको मर्यादारहित एक साथ जानते हैं ॥ ५७ ॥ हे प्रभो ! यह एक आश्चर्यकी बात है कि अनेकप्रकारके इस जगतको भी आपने एकसाथ जान लिया, अथवा कहीं कहीं बडे आदमियोंके आश्रयसे अनुक्रमका छूट जाना भी प्रशंसनीय गिना जाता है ॥५८॥ हे स्वामिन् यद्यपि आपके समस्त इंद्रियां विद्यमान हैं तथापि आपका ज्ञान अतींद्रिय अर्थात् विना इंद्रियोंके ही होता है, सो ठीक ही है क्योंकि आपकी शक्तियोंको योगीलोग भी चिंतवन नहीं कर सकते हैं ॥ ५९ ॥ जिसप्रकार आपका क्षायिक ज्ञान है उसीप्रकार आपका क्षायिक दर्शन है और वे दोनों ही उपयोग आपके एक साथ होते हैं यह भी एक आश्चर्यकी बात है ॥ ६० ॥ हे देव ! इसलिये ही आप जगतके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानगुणसे सुशोभित हैं तथा संसारमें आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं और योगी लोग भी आपकी सर्वज्ञ (सबको जाननेवाले) तथा सर्वदर्शी (सबको देखनेवाले) इन नामोंसे स्तुति करते हैं ॥ ६१ ॥ हे ईश ! संसारके समस्त पदार्थोंको जानते हुये भी आपको किसी प्रकारका परिश्रम अथवा खेद नहीं होता है यह आपके अनंतवीर्यपनेकी शक्तिका प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला माहात्म्य है ॥ ६२ ॥ हे विभो ! राग द्वेष आदि चित्तको कलुषित करनेवाले आपके विकार सब नष्ट होगये हैं और उनके नष्ट होनेसे जो आपके विरति अर्थात्

सुखमात्मोत्थ व्यनक्त्यात्यंतिकं विभो ॥ ६३ ॥ विरति:सुखमिष्टं चेत्सुख त्वय्येव केवल । नो चेन्नैनासुख नाम किंचिदत्र जगत्रये ॥ ६४ ॥ प्रशात-कलुष तोय यथेह स्वच्छता व्रजेत् । मिथ्यात्वकर्दमापायात् दृक्शुद्धिस्ते तथा मता ॥ ६५ ॥ सत्योऽपि लब्धय शेषास्त्वयि नार्थक्रियाकृत. । कृतकृत्ये बहिर्द्रव्यसंबधो हि निरर्थकः ॥ ६६ ॥ एवप्रायो गुणा नाथ भवतोऽनतधा मता । तानह लेशतोपीश न स्तोतुमलमल्पधी. ॥ ६७ ॥ तदास्ता ते गुणस्तोत्र नाममात्र च कीर्तित । पुनाति नस्ततो देव त्वा नामोद्देशतः श्रिताः ॥ ६८ ॥ हिरण्यगर्भमाहुस्त्वा यतो वृष्टिर्हिरण्मयी । गर्भावतरणे नाथ

क्षायिक चारित्र उत्पन्न हुआ है वह विनाशरहित और केवल आत्मासे उत्पन्न हुये ऐसे आपके सुखको प्रगट करता है ॥ ६३ ॥ यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त होना ही सुख माना जायगा तव तो वह पूर्ण सुख केवल आपमें ही मानना पडेगा, यदि कषाय वा विषय भोगादिकोंसे विरक्त न होनेको ही सुख माना जायगा तो फिर तीनों जगतमें दुख है ही नहीं, यही मानना पडेगा क्योंकि संसारमें विषय भोगादिकोंसे कोई विरक्त नहीं है इसलिये सबको ही सुखी मानना चाहिये, परंतु संसारी जीव कोई सुखी नहीं है इसलिये विरक्त होना ही सुख है और वह आपमें ही है ॥ ६४ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार मल रहित अर्थात् निर्मल जल स्वच्छताको धारण करता है उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी कीचडके नाश होनेसे आपका शुद्ध सम्यक्त्व भी अत्यंत निर्मलता धारण करता है ॥६५॥ हे देव ! यद्यपि दान लाभ भोग उपभोग आदि शेष लब्धियां भी आपके विद्यमान हैं तथापि वे कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि जो कृतार्थ हो चुका है उसके वाह्य पदार्थोंका संबंध होना बिल्कुल व्यर्थ है ॥६६॥ हे नाथ ! ऐसे ऐसे आपके अनंत गुण हैं, हे ईश ! अल्पशक्तिको धारण करनेवाला मैं लेशमात्र भी उन सबकी स्तुति नहीं कर सकता हूं ॥ ६७ ॥ इसलिये हे देव ! गुणोंका स्तोत्र करना दूर ही रहा आपका केवल नाम लेना ही हम लोगोंको पवित्र कर देता है अतएव हम लोगोंने केवल आपका नाम लेकर ही आपका आश्रय किया है ॥ ६८ ॥ हे नाथ !

प्रादुरासीत्त्वादद्भुता ॥ ६९ ॥ वृषभोसि सुरैर्वृष्टरत्नवर्षः स्वसंभवे । जन्माभिषिक्तये मेरुमृष्टवानृषभोप्यासि ॥ ७० ॥ अशेषज्ञेयसक्रान्तज्ञानमूर्तिर्यतो भवा-न् । अतः सर्वगत प्राहुस्त्वां देव परमर्षयः ॥ ७१ ॥ त्वयीत्यादीनि नामानि विभर्त्यन्वर्थता यत । ततोऽसि त्व जगज्ज्येष्ठः परमेष्ठी सनातन. ॥ ७२ ॥ त्वद्भक्तिचोदितामेना मामिका धियमक्षमः । धर्तुं स्तुतिपथे तेऽद्य प्रवृत्तोस्म्यहमक्षर ॥ ७३ ॥ त्वयोपदर्शितं मार्गमुपास्य शिवमीप्सतः । त्वा देवमित्यु-पासीनान्प्रसीदानुगृहाण नः ॥ ७४ ॥ भवतमित्यभिष्टुत्य विष्टपातिगवैभवं । त्वय्येव भक्तिमक्रशां प्रार्थये नान्यदर्थये ॥ ७५ ॥ स्तुत्यंते सुरसघातैरी-

---

आपके गर्भकल्याणके समयमें जगतको आश्चर्य करनेवाली हिरण्य अर्थात् सुवर्णकी वृष्टी हुई थी इ-सलिये ही लोग आपको हिरण्यगर्भ कहते हैं ॥ ६९ ॥ आपके जन्म समयमें देवोंने रत्नोंकी वर्षा की थी इसलिये ही आप वृषभ कहलाते हैं, तथा जन्माभिषेक करनेके लिये देव लोग आपको मेरु पर्वत पर ले गये थे इसलिये आप ऋषभ कहलाते हैं । (वर्षणात् वृषभः । ऋष्टवान् गतवान् इति ऋषभः) ॥ ७० ॥ हे देव ! चूंकि आप संसारमें जानने योग्य समस्त पदार्थोंको ग्रहण क-रनेवाले ज्ञानकी मूर्ति ही हैं इसलिये ही बडे २ ऋषि लोग आपको सर्वगत अर्थात् ज्ञानके द्वारा सब जगह रहनेवाला कहते हैं ॥ ७१ ॥ हे विभो ! ऊपर कहे हुये नामोंको आदि लेकर अनेक यथार्थ नाम आपमें पाये जाते हैं इसलिये ही आप जगतज्येष्ठ [सबसे बडे] परमेष्ठी और सनातन कह-लाते हैं ॥ ७२ ॥ हे अक्षर ! अर्थात् कभी नाश न होनेवाले ! आपकी भक्तिके द्वारा प्रेरणा की हुई इस मेरी बुद्धिको मैं स्वयं ही धारण नहीं कर सका था इसलिये ही मैं आपकी स्तुति करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं । भावार्थ—यद्यपि मैं आपकी स्तुति करने योग्य नहीं हूं तथापि केवल आपकी भक्तिकी प्रे-रणासे ही आपकी स्तुति करनेमें मेरी प्रवृत्ति हुई है ॥७३॥ हे प्रभो ! आपके द्वारा उपदेश दिये हुये मोक्षमार्गकी उपासना करके केवल मोक्षकी इच्छा करनेवाले, तथा आपकी उपासना करनेवाले ऐसे हम लोगोंपर प्रसन्न हूजिये और अनुग्रह कीजिये ॥ ७४ ॥ हे देव ! जगतकी विभूतिकी

क्षितो विस्मितेक्षणे. । श्रीमंडप प्रविश्यास्मिन्नध्युवासोचित सद. ॥ ७६ ॥ ततो निभृतमासीने प्रबुद्धकरकुड्मले । सद पद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिलाषुके ॥ ७७ ॥ प्रीत्या भरतराजेन विनयानतमौलिना । विज्ञापनमकारीत्थ तत्त्व जिज्ञासुना गुरोः ॥ ७८ ॥ भगवन् श्रोतुमिन्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः । मार्गो मार्गफल चापि कीदृक्तत्त्वविदावर ॥ ७९ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थ भगवानादितीर्थकृत् । तत्त्व प्रपचयामास गभीरतरया गिरा ॥ ८० ॥ प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काऽप्यभूत् । दर्पणे किमु भावाना विक्रियाऽस्ति प्रकाशने ॥ ८१ ॥ ताल्वोष्ठमपरिस्पदि न च्छायातरमानने । अस्पृष्टकरणा

अपेक्षा वहुत अधिक विभूतिको धारण करनेवाले ऐसे आपकी स्तुति करके हम लोग स्तुतिका केवल फल आपमें ही बडी भारी भक्ति हो यही प्रार्थना करते हैं इसके सिवाय और कुछ नहीं मांगते ॥ ७५ ॥ इसप्रकार स्तुति करचुकनेपर जिसे देवलोग आश्चर्य सहित नेत्रोंसे देख रहे हैं ऐसा वह महाराज भरत श्रीमंडपमें प्रवेशकर अपनी सभामें यथायोग्य स्थानपर बैठगया ॥ ७६ ॥ तदनंतर जब वह सभारूपी सरोवर भगवानसे कुछ भी तत्त्वोंका स्वरूप समझनेकी इच्छा करता हुआ शांत हो गया और सबके हाथ रूपी कुड्मल ऊंचे होगये अर्थात् सबने हाथ जोड लिये उससमय तत्त्वोंको जाननेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने विनयपूर्वक मस्तक नवाकर तथा बडे प्रेमसे भगवान वृषभदेवके सामने इसप्रकार प्रार्थना की ॥७७-७८॥ कि हे भगवन् ! हे तत्त्वोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ ! तत्त्वोंका स्वरूप कैसा है ? यह जिनमार्ग क्या है और उसका फल कैसा है यह सब मैं सुनना चाहता हूं ॥ ७९ ॥ इसप्रकार जब भरतका प्रश्न समाप्त होगया तब भगवान वृषभदेव अतिशय गंभीर वाणीसे तत्त्वोंका स्वरूप कहने लगे ॥ ८० ॥ जिससमय भगवान तत्त्वोंका स्वरूप कह रहे थे उससमय उनके मुखरूपी कमलमें कुछ भी विकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि दर्पणमें जिससमय पदार्थोंका प्रतिबिंब पडता है उससमय क्या कोई उसमें विकार होता है, भावार्थ—साधारण वक्ताओंके मुखपर क्रोध आनंद खेद आदि विकार होते हैं

वर्णा मुखादस्य विनिर्ययु. ॥ ८२ ॥ स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिश्रुध्वनिसन्निभ । प्रस्पष्टवर्णो निरगात् ध्वनि. स्वायभुवान्मुखात् ॥ ८३ ॥ विवक्षामंतरेणास्य विविक्तासीत्सरस्वती । महीयसामचिंत्या हि योगजाः शक्तिसंपदः ॥ ८४ ॥ आयुष्मन् श्रृणु तत्त्वार्थान्वक्ष्यमाणाननुक्रमात् । जीवादीन्कालपर्यंतान्सप्रभेदान्सपर्ययान् ॥ ८५ ॥ जीवादीना पदार्थाना याथात्म्य तत्त्वमिष्यते । सम्यग्ज्ञानागमेतद्धि विद्धि सिध्यगमगिना ॥ ८६ ॥ तदेक तत्त्वसामान्याज्जीवाजीवाविति द्विधा । त्रिधा मुक्तेतराज्जीवविभागात्परिकीर्त्यते ॥ ८७ ॥ जीवो मुक्तश्च ससारी ससार्यात्मा द्विधा मत । भव्योभव्यश्च साजीवास्ते

परंतु भगवानके मुखपर दिव्यध्वनिके समय कुछ भी विकार नहीं होता था ॥ ८१ ॥ उससमय भगवानके मुखसे जो अक्षर निकलते थे उनके निकलनेमें तालु ओठ आदि उच्चारणस्थान भी नहीं हिलते थे, मुखपर कुछ विकार भी नहीं होता था और इंद्रियोंसे कुछ प्रयत्न भी नहीं करना पडता था ॥ ८२ ॥ जिसप्रकार किसी पर्वतकी गुफामेंसे प्रतिध्वनि निकलती हैं उसीप्रकार भगवानके मुखसे जिसमें सब अक्षर स्पष्ट हैं ऐसी वह दिव्यध्वनि निकल रही थी ॥ ८३ ॥ बोलनेकी इच्छा न होते हुये भी भगवानके मुखसे वह सरस्वती प्रगट हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि महात्मा पुरुषोंके योगसे उत्पन्न हुई ऐसी ऐसी शक्तिरूप संपदाओंको कोई भी चिंतवन नहीं कर सकता है ॥ ८४ ॥ भगवान् कहने लगे कि हे आयुष्मन् ! [बडी आयुवाले] जीवसे आदि लेकर कालपर्यंत अर्थात् जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये जो छह तत्त्वार्थ वा द्रव्य हैं जिनके भेद और पर्याय अनुक्रमसे आगे कहे हैं उन्हें तू सुन ॥ ८५ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंका जो यथार्थ स्वरूप है उसे तत्त्व कहते हैं, यह तत्त्व ही सम्यग्ज्ञान होनेका कारण है और इसे ही तू जीवोंके मुक्त होनेका कारण समझ ॥ ८६ ॥ वह तत्त्व सामान्य रीतिसे एकप्रकार है, जीव और अजीवके भेदसे दो प्रकार है, तथा जीवोंके संसारी और मुक्त ऐसे दो भेद करनेसे संसारी जीव मुक्तजीव और अजीव ऐसे तीन भेद भी उस तत्त्वके कहे जाते हैं ॥ ८७ ॥ संसारी जीवोंके भी दो भेद होते हैं एक भव्य और

चतुर्धा विभाविताः ॥ ८८ ॥ मुक्तेतरात्मको जीवो मूर्तामूर्तात्मकः परः । इति वा तस्य तत्त्वस्य चातुर्विध्यं विनिश्चितं ॥ ८९ ॥ पंचास्तिकायभेदेन तत्त्वं पंचधा स्मृतं । ते जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः सपर्ययाः ॥ ९० ॥ त एव कालसंयुक्ताः षोढा तत्त्वस्य भेदकाः । इत्यनंतो भवेदस्य प्रस्तारो विस्तरैषिणा ॥ ९१ ॥ चेतनालक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थितिः । ज्ञाता द्रष्टा च कर्त्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥ ९२ ॥ गुणवान्कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रज्यास्वभावकः । परिणतोपसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ ९३ ॥ तस्येमे मार्गणोपाया गत्यादय उदाहृताः । चतुर्दशगुणस्थानैः सोऽत्र मृग्यः सदादिभिः

दूसरा अभव्य, इसप्रकार संसारी जीवोंके दो भेद करनेसे भव्यजीव, अभव्यजीव, मुक्तजीव और अजीव इसप्रकार उस तत्त्वके चार भेद भी होते हैं ॥ ८८ ॥ अथवा जीवोंके दो भेद हैं संसारी और मुक्त, तथा अजीवोंके भी दो भेद हैं एक मूर्त्त और दूसरे अमूर्त्त, इसप्रकार भी तत्त्वके चार भेद निश्चय किये जाते हैं ॥ ८९ ॥ पांच अस्तिकायोंके भेदसे उस तत्त्वके पांच भेद होते हैं, अपनी अपनी पर्यायों सहित जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय ये पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं ॥ ९० ॥ उन्हीं पांचों अस्तिकायोंमें कालके मिलानेसे तत्त्वके छह भेद भी होते हैं, इसप्रकार इस तत्वके अनंत भेद होते हैं, विस्तार जाननेवालोंको उन सबका विस्तार जानलेना चाहिये ॥ ९१ ॥ जिसमें चैतन्य शक्ति हो उसे जीव कहते हैं, वह अनादि अनिधन है अर्थात् न तो कभी उत्पन्न हुआ है, अनादि कालसे बराबर है, और न उसका कभी नाश होगा, सदा बना रहेगा, तथा वह जीव जाननेवाला है, देखनेवाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है और शरीरके प्रमाणके बराबर है ॥ ९२ ॥ उसमें अनेक गुण हैं, कर्मोंके नाश होनेपर ऊर्ध्वगमन करना उसका स्वभाव है, वह परिणमनशील है और दीपकके प्रकाशके समान संकोच और विस्ताररूप हो जाता है अर्थात् कर्मके उदयसे छोटा बडा जैसा शरीर पाता है उतना ही बडा हो जाता है ॥ ९३ ॥ उस जीवका स्वरूप जाननेकेलिये गति आदि चौदह मार्गणायें निरूपण की हैं अर्थात् मार्गणाओंसे जीव-

|| ९४ || गतींद्रिये च कायश्च योगवेदकषायकाः । ज्ञानसंयमदृग्लेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञिनः || ९५ || सममाहारकेण स्युर्मार्गणास्थानकानि वै । सोन्वेष्यस्तेषु सत्संख्याद्यनुयोगैर्विशेषतः || ९६ || सत्संख्याक्षेत्रसस्पर्शकालभावान्तरैरयं । बहुत्वाल्पत्वतश्चात्मा मृग्यः स्यात्स्मृतिचक्षुषा || ९७ || स्युरिमेऽधिगमोपाया जीवस्याधिगमः पुनः । प्रमाणनयनिक्षेपैरवसेयो मनीषिभिः || ९८ || तस्यौपशमिको भावः क्षायिको मिश्र एव च । स्वतत्त्वमुदयोत्थश्च पारिणामिक इत्यपि || ९९ || निश्चितो यो गुणैरेभिः स जीव इति लक्ष्यता । द्वेधा तस्योपयोगः स्यात् ज्ञानदर्शनभेदतः || १०० || ज्ञानमष्टतयं ज्ञेयं

का स्वरूप जाना जाता है, इसीप्रकार चौदह गुणस्थान और सत् संख्या आदिके द्वारा भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९४ ॥ गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहारक ये चौदह मार्गणास्थान कहलाते हैं, इन चौदह मार्गणाओंमें सत् संख्या आदि अनुयोगोंके द्वारा विशेष रीतिसे उस जीवका स्वरूप जानना चाहिये ॥ ९५-९६ ॥ सत्, संख्या क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर, भाव और अल्पबहुत्व ये आठ अनुयोग कहलाते हैं, सिद्धांतशास्त्रको जाननेवाले भव्य जीवोंको इनके द्वारा जीवका स्वरूप समझ लेना चाहिये ॥ ९७ ॥ इसप्रकार मार्गणास्थान गुणस्थान और सत् संख्या आदि अनुयोग ये सब जीवादि पदार्थोंके जाननेके उपाय हैं, इनके सिवाय विद्वान् लोगोंको प्रमाण, नय और नाम स्थापना द्रव्य भाव इन निक्षेपोंसे भी जीवका स्वरूप जाना जाता है ॥ ९८ ॥ औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिकभाव तथा औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये पांच भाव जीवके निज तत्त्व कहलाते हैं ॥ ९९ ॥ इन गुणोंसे जो निश्चय किया जाय उसे जीव कहते हैं, उस जीवका उपयोग अर्थात् परिणामविशेष दो प्रकार है एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग ॥ १०० ॥ उसमेंसे ज्ञानके आठ भेद हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति कुश्रुत और कुअवधि । दर्शनोपयोगके चार भेद हैं चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल, इन दोनोंमें भी ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार

दर्शन च चतुष्टय । साकार ज्ञानमुद्दिष्टमनाकारं च दर्शनं ॥ १०१ ॥ भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया । सामान्यमात्रनिर्भासादनाकारं तु दर्शन ॥ १०२ ॥ जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञ. पुरुषस्तथा । पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः ॥ १०३ ॥ यतो जीवत्यजीवीच्च जीविष्यति च जन्मसु । ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्ध. स्ताद्भूतपूर्वतः ॥ १०४ ॥ प्राणा दशाऽस्य सतीति प्राणी जन्तुश्च जन्मभाक् । क्षेत्र स्वरूपमस्य स्यात्तज्ज्ञानात्स तथोच्यते ॥ १०५ ॥ पुरुष. पुरुभोगेषु शयनात्परिभाषितः । पुनात्यात्मानमिति च पुमानिति निगद्यते ॥ १०६ ॥ भवेष्वतति सातत्यादेतीत्यात्मा

अर्थात् आकार रहित होता है ॥ १०१ ॥ घडा, कपडा लोटा थाली आदि भिन्न २ पदार्थोंमें भेद ग्रहण करनेको आकार कहते हैं उस आकारसहित जो हो वह साकार ज्ञान कहलाता है, तथा जिसमें पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास हो किसी भेदका ग्रहण न हो उसे निराकार अर्थात् आकार रहित दर्शन कहते हैं ॥ १०२ ॥ जीव, प्राणी, जंतु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अंतरात्मा, ज्ञ, और ज्ञानी ये सब जीवके ही पर्याय वाचक शब्द हैं ॥ १०३ ॥ जो वर्तमानकालमें भी किसी जन्ममें जीवित है, पहिले भी अनेक जन्मोंमें जीवित था और जो आगे भी अनेक जन्मोंमें जीवित रहेगा उसे जीव कहते हैं । सिद्ध परमात्मा पहिले भूतकालमें जीवित थे इसलिये वे भी जीव कहलाते हैं ॥ १०४ ॥ पांच इंद्रिय, मन, बचन, काय, आयु, और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण कहलाते हैं, यह जीव इन प्राणोंको धारण करता है इसलिये वह प्राणी कहलाता है, वह बार बार जन्म लेता है इसलिये जंतु कहलाता है, आत्माके स्वरूपको क्षेत्र कहते हैं, यह आत्मा अपने स्वरूपको जानता है इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है ॥ १०५ ॥ यह जीव पुरु अर्थात् अनेकप्रकारके भोगोपभोगोंमें शयन करता है अर्थात् तल्लीन रहता है इसलिये इसे पुरुष कहते हैं, तथा यह अपने आत्माको ही पवित्र करता है, इसलिये पुमान् कहलाता है ॥ १०६ ॥ यह जीव नर नारक आदि अनेक भवोंमें निरंतर गमन करता रहता है इसलिये आत्मा कहलाता है, और ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंसे यह ढका

निरुच्यते । सोंऽतरात्माष्टकर्मांतर्वर्तित्वादभिलप्यते ॥ १०७ ॥ ज्ञः स्याज्ज्ञानगुणोपेतो ज्ञानी च तत एव सः । पर्यायशब्दैरेभिस्तु निर्ज्ञेयोऽन्यैश्च तद्विधैः ॥ १०८ ॥ शाश्वतोऽय भवेज्जीवः पर्यायास्तु पृथक्पृथक् । मृद्द्रव्यस्येव पर्यायैस्तस्योत्पत्तिविपत्तयः ॥ १०९ ॥ अभूत्वा भाव उत्पादो भूत्वा वाभवनं

हुआ है, इसलिये इसे अंतरात्मा भी कहते हैं ॥ १०७ ॥ इस जीवमें ज्ञान गुण पाया जाता है इसलिये ज्ञ कहलाता है और उसी ज्ञान गुणसे इसे ज्ञानी कहते हैं, इसप्रकार ऊपर कहे हुये पर्याय शब्दोंसे तथा ऐसे ही ऐसे अन्य अनेक पर्याय शब्दोंसे जीवका स्वरूप समझना चाहिये ॥ १०८ ॥ जिसप्रकार मिट्टी यद्यपि नित्य है तथापि पर्यायोंके द्वारा वह उत्पन्न भी होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है, जब वह मिट्टी घटरूप परिणत होती है तब घटकी उत्पत्ति मानी जाती है तथा जब घटकी पर्याय बदलकर कपालरूप (घटके टुकडे) परिणत होती है तब घटका नाश और कपालकी उत्पत्ति मानी जाती है, मिट्टी सब अवस्थाओंमें विद्यमान है। इसीप्रकार यह जीव भी नित्य है, कभी नष्ट नहीं होता है तथापि मनुष्य देव आदि उसकी पर्यायें भिन्न भिन्न हैं, तथा उत्पन्न नष्ट भी होती रहती हैं ॥ १०९ ॥ जो भाव वा अवस्था पहिले नहीं थी फिर उत्पन्न हुई उसे उत्पाद कहते हैं जैसे मिट्टीका घडा बन जाना, तथा जो अवस्था मौजूद है उसका अभाव वा नाश हो जाना व्यय कहलाता है जैसे घडेके बननेके पहिले मिट्टीकी जो अवस्था थी उसका नाश हो जाना। इसीप्रकार ज्योंके त्यों बने रहनेको ध्रौव्य कहते हैं जैसे घडा कपाल आदि सब अवस्थाओंमें मिट्टीका बना रहना। ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ जिसमें पाये जायं उसे द्रव्य कहते हैं। आत्मामें भी ये तीनों पाये जाते हैं क्योंकि देव पर्यायका नाश होता है. मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है। अथवा मनुष्यपर्यायका विनाश होता है सिद्धपर्यायकी उत्पत्ति होती है और आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है। इसप्रकार उत्पाद व्यय और

व्ययः । ध्रौव्यं तु तादवस्थ्य स्यादेवमात्मा त्रिलक्षणः ॥ ११० ॥ एव धर्माणमात्मानमजानानाः कुदृष्टयः । बहुधाऽत्र विमन्वाना विवदंते परस्परं ॥१११॥ नास्त्यात्मेत्याहुरेकेऽन्ये सोऽस्त्वनित्य इति स्थिता. । न कर्त्तेत्यपरे केचिदभोक्तेति च दुर्दृशः ॥ ११२ ॥ अस्त्यात्मा किंतु मोक्षोऽस्य नास्तीत्येके विमन्वते । मोक्षोऽस्ति तदुपायस्तु नास्तीतीच्छति केचन ॥ ११३ ॥ इत्यादिदुर्णयानेतानपास्य सुनयान्वयात् । यथोक्तलक्षण जीव त्वमायुष्मन्विनिश्चिनु ॥ ११४ ॥ संसारश्चैव मोक्षश्च तस्यावस्थाद्वय मत । संसारश्चतुरंगेऽस्मिन्भवावर्त्ते विवर्तन ॥ ११५ ॥ निःशेषकर्मनिर्मोक्षो मोक्षोऽनतसुखात्मकः ।

ध्रौव्य ये तीनों आत्मामें पाये जाते हैं इसलिये आत्मा द्रव्य है ऐसा सिद्ध होता है ॥ ११० ॥ इस प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूप आत्माको नहीं जानते हुये कितने ही मिथ्यादृष्टी उसका स्वरूप अनेक प्रकारसे मानते हैं और परस्पर विवाद करते हैं ॥ १११ ॥ चार्वाक आदि कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा कोई अलग पदार्थ नहीं है । कोई (विज्ञानवादी) कहते हैं आत्मा है तो सही परंतु वह अनित्य है, कोई (सांख्य) कहते हैं वह कर्ता नहीं है और कोई मिथ्यादृष्टी (वेदांती) कहते हैं वह भोक्ता नहीं है ॥ ११२ ॥ कोई मानते हैं कि आत्मा तो है परंतु उसकी मोक्ष नहीं होती, तथा कोई कहते हैं कि आत्मा भी है और उसकी मोक्ष भी होती है परंतु मोक्ष प्राप्त होनेका कोई उपाय नहीं है ॥ ११३ ॥ इसलिये हे आयुष्मान् भरत ! ऊपर लिखे अनुसार मिथ्यानयोंके अनेक भेद हैं, उन सबको छोडकर यथार्थ नयोंके द्वारा जिसका स्वरूप ऊपर कहा है ऐसे जीव पदार्थको तू निश्चय समझ ॥ ११४ ॥ उस जीवकी दो अवस्थायें हैं एक संसारी जीव दूसरा मोक्ष जीव, जो नरक तिर्यंच मनुष्य देव इन चारों गतियोंमें जन्ममरणरूप भँवरमें पडकर परिभ्रमण करता है वह संसारी जीव कहलाता है ॥ ११५ ॥ तथा जिसके समस्त कर्म नष्ट होगये हैं और जो अनंत सुखस्वरूप है वह मुक्त जीव कहलाता है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंका मिलना ही मोक्ष प्राप्त होनेका साक्षात् कारण है ॥ ११६ ॥ आप्त अर्थात् अरहंत देव, अरहंत देवका

सम्यग्विशेषणज्ञानदृष्टिचारित्रसाधनः ॥ ११६ ॥ आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं परया मुदा । सम्यग्दर्शनमाम्नातं प्रथमं मुक्तिसाधनं ॥ ११७ ॥ ज्ञानं जीवादिभावानां याथात्म्यस्य प्रकाशकं । अज्ञानध्वान्तसंतानप्रक्षयानंतरोद्भवं ॥ ११८ ॥ माध्यस्थलक्षणं प्राहुश्चारित्रं वितृषो मुनेः । मोक्षकामस्य निर्मुक्तचेलस्याहिंसकस्य तत् ॥ ११९ ॥ त्रयं समुदितं मुक्तेः साधनं दर्शनादिकं । नैकांगविकलत्वेऽपि तत्स्वकार्यकृदिष्यते ॥ १२० ॥ सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदं । ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासान्निध्ये मुक्तिकारणं ॥ १२१ ॥ चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतं । प्रपातायैव तद्धि स्यादंधस्येव विव-

कहा हुआ शास्त्र और जीव अजीव आदि यथार्थ पदार्थोंका प्रसन्नता पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह सम्यग्दर्शन मोक्षका मुख्य कारण है ॥ ११७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाश करनेवाला और अज्ञान वा मिथ्याज्ञानरूपी अंधकारकी संतानपरंपराके नष्ट होनेके बाद उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है ॥ ११८ ॥ जो मुनि तृष्णा रहित है, मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, समस्त परिग्रह रहित है और अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंको धारण करनेवाला है उसके जो इष्ट अनिष्ट आदि पदार्थोंमें राग और द्वेषका त्यागकर मध्यस्थभावोंका धारण करना है उसे सम्यक् चारित्र कहते हैं ॥ ११९ ॥ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही मिले हुये मोक्षके कारण होते हैं, यदि इनमेंसे एक भी कम हो तो फिर उनसे मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कभी नहीं होती है ॥ १२० ॥ सम्यग्दर्शनके होते हुये ही ज्ञान और चारित्र फलदायी होते हैं, इसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रके होते हुये ही सम्यग्ज्ञान मोक्षका कारण होता है ॥ १२१ ॥ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र भी कुछ फल देनेवाला नहीं होता किंतु उलटा वह जीवोंको नरक तिर्यंच आदि नीच गतियोंमें ढकेलनेवाला होता है सो ठीक ही है क्योंकि यदि अंधा पुरुष दौडनेका साहस करेगा तो वह कहीं न कहीं गिरेगा ही ॥ १२२ ॥ इन तीनोंमेंसे कोई २ तो अलग अलग एक एकसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं और कोई २

लितं ॥ १२२ ॥ विष्वेकद्वयाविश्लेषादुद्भूता मार्गदुर्णयाः । षोढा भवंति मूढानां तेष्वत्र विनिपातिताः ॥ १२३ ॥ इतो नाधिकमस्त्यन्यन्नाभूनैव भविष्यति । इत्याप्तादित्रये दार्ढ्याद्दर्शनस्य विशुद्धिता ॥ १२४ ॥ आप्तो गुणैर्युतो धूतकलंको निर्मलाशयः । निष्ठितार्थो भवेत्सार्वस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १२५ ॥ आगमस्तद्वचोऽशेषपुरुषार्थानुशासनं । नयप्रमाणगंभीरं तदाभासोऽसतां वचः ॥ १२६ ॥ पदार्थस्तु द्विधा ज्ञेयो जीवाजीवविभागतः ।

दो दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, अर्थात् कोई अकेले दर्शनसे, कोई अकेले ज्ञानसे, कोई अकेले चारित्रसे, कोई दर्शन ज्ञान दोसे, कोई दर्शन चारित्र इन दोसे और कोई ज्ञान चारित्र इन दोसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं, इसप्रकार मूर्ख लोगोंने मिथ्यानयोंके द्वारा मोक्षमार्गके छह भेद कल्पना किये हैं परंतु उन सब का निराकरण ऊपर लिखे कथनसे होता है, भावार्थ—तीनों मिले हुये ही मोक्षके कारण हैं भिन्न भिन्न नहीं ॥ १२३ ॥ जैनधर्ममें ओ कुछ आप्त आगम और पदार्थोंका स्वरूप कहा है उससे अधिक वा कम न तो है, न कभी पाहिले था और न कभी आगे होगा, इस प्रकार आप्त आगम और पदार्थोंमें दृढता वा मजबूती रखना सम्यग्दर्शनकी विशुद्धता कहलाती है, ॥१२४॥ जो अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य इन गुणोंका धारण करनेवाला हो, घातिया कर्म रूपी कलंकसे रहित हो, जिसका आशय निर्मल हो अर्थात् वीतराग हो, कृत कृत्य हो और सबका भला करनेवाला अर्थात् हितोपदेशी हो वह आप्त कहलाता है, जिसमें ये ऊपर लिखे हुये लक्षण नहीं पाये जायँ वह आप्ताभास वा अनाप्त (कुदेव) कहलाता है ॥१२५॥ जो आप्तका कहा हो, धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके स्वरूपका उपदेश देनेवाला हो और नय तथा प्रमाणोंसे गंभीर हो उसे आगम कहते हैं, जो आप्तका कहा हुआ नहीं है किसी साधारण पुरुषका कहा हुआ है वह आगमाभास वा कुशास्त्र कहलाता है, ॥१२६॥ पदार्थोंके दो भेद हैं एक जीव दूसरा अजीव । उसमेंसे उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तनिों धर्म जिसमें पाये जायँ उसे जीव कहते हैं यह बात पहिले

यथोक्तलक्षणो जीवास्त्रिकोटिपरिणामभाक् ॥ १२७ ॥ भव्याभव्यौ तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः । भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ॥१२८॥ अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादंधपाषाणसन्निभः । मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ १२९ ॥ कर्मबंधननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः । सिद्धो निरंजनः प्रोक्तः प्राप्तानंतसुखोदयः ॥ १३० ॥ इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः । अजीवतत्त्वमप्येवमवधारय धीधन ॥ १३१ ॥ अजीवलक्षणं तत्त्व पंचधैवं प्रपच्यते । धर्माधर्मावथाकाश काल· पुद्गल इत्यपि ॥ १३२ ॥ जीवपुद्गलयोर्यत्स्याद्गत्युपग्रहकारण । धर्मद्रव्य तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥ १३३ ॥ गतिस्थितिमतामेतौ गतिस्थित्योरुपग्रहे । धर्माधर्मौ प्रवर्तेते न स्वयं प्रेरकौ मतौ ॥ १३४ ॥ यथा मत्स्यस्य गमन विना नैवाम्भसा भवेत् ।

भी कह चुके हैं ॥१२७॥ भव्य अभव्य और मुक्त ऐसे जीवके तीन भेद हैं, जिसप्रकार कनकपाषाण शुद्ध करनेसे सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार जो आगामी कालमें सिद्ध हो सके उसे भव्य कहते हैं ॥१२८॥ तथा जिसप्रकार अंधपाषाण शुद्ध करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता उसीप्रकार जो कभी सिद्ध न हो सके उसे अभव्य कहते हैं। अभव्य जीवको मोक्ष प्राप्त होनेकी सामग्री कभी प्राप्त नहीं होती है॥ १२९ ॥ जो आठों कर्मोंसे रहित हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं, अज्ञान रहित हैं और जिन्हें अनंत सुख प्राप्त हुआ है उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १३० ॥ इस प्रकार हे बुद्धिमन्। संक्षेपसे जीव पदार्थका स्वरूप तुझसे कहा। अब अजीव तत्वका स्वरूप कहता हूं सो भी सुन ॥१३१॥ धर्म अधर्म आकाश काल और पुद्गल इस प्रकार अजीवतत्वके पांच भेद निरुपण किये हैं ॥ १३२ ॥ जो जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक हो उसे धर्म द्रव्य कहते हैं, तथा जो जीव और पुद्गलोंको स्थिति अर्थात् ठरनेमें कारण हो उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं॥ १३३ ॥ गमन करना और ठहरना ये जीव और पुद्गल दोनोंका स्वभाव है इसलिये जब ये दोनों गमन करते हैं तब धर्मद्रव्य सहायक हो जाता है और जब ठहरते हैं तब अधर्म सहायक हो जाता है। धर्म और अधर्म ये दोनों ही द्रव्य गमन करने और ठहरनेके लिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करते हैं॥ १३४ ॥ जिस

न चाभः प्रेरयत्येनं तथा धर्मेल्यनुग्रह' ॥ १३५ ॥ तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वत. । न लेपा प्रेरयत्येनमथ च स्थितिकारणं ॥ १३६ ॥ तथैवाधर्मकायोपि जीवपुद्गलयोः स्थितिं । निर्वर्तयत्युदासीनो न स्वय प्रेरकः स्थितेः ॥ १३७ ॥ जीवादीना पदार्थानामवगाहनलक्षण । यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्त्तं व्यापि निष्क्रिय ॥ १३८ ॥ वर्तनालक्षणः कालो वर्त्तना स्वपराश्रया । यथास्वं गुणपर्यायैः परिणेतृत्वयोजना ॥ १३९ ॥ यथा कुलाल-

प्रकार गमन करनेकी शक्ति मछलीमें है परंतु वह विना पानीके गमन नहीं कर सकती, पानीके सहारे से ही चलती है, पानी चलनेके लिये उसे प्रेरणा भी नहीं करता है, जब मछली अपने आप चलती है तब वह केवल उसकी सहायता कर देता है। ठीक इसी प्रकार धर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गलोंको गमन करनेमें सहायक होता है वह कभी किसीको चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता है। ॥ १३५ ॥ जिस प्रकार कोई रास्ता चलनेवाला पथिक किसी वृक्षकी छाया देखकर यदि ठहरना चाहता है तो उसकी स्थितिमें वह छाया सहायता करती है, किसी भी पथिकको अपने यहां ठहरनेके-लिये कोई छाया कभी भी प्रेरणा नहीं करती, परंतु स्थितिमें सहायक अवश्य होती है, ठीक इसीप्रकार अधर्म द्रव्य भी उदासीन होकर जीव और पुद्गलोंकी स्थितिमें सहकारी कारण होता है वह स्वयं ठहरनेकेलिये किसीको भी प्रेरणा नहीं करता है ॥ १३६-१३७ ॥ जीव अजीव आदि पदार्थोंको जो ठहरनेकेलिये जगह दे उसे आकाश कहते हैं, उस आकाशको कोई स्पर्श नहीं कर सकता, वह अमूर्त्त है, सर्वत्र व्याप्त है और क्रिया रहित है ॥ १३८ ॥ जिसका वर्तना लक्षण हो उसे काल कहते हैं, वह वर्तना कालके आश्रय है और कालसे भिन्न जीव अजीव आदि पदार्थोंके भी आश्रय है, काल जीव पुद्गल आदि पदार्थ जो अपने २ गुण पर्यायोंसे सदा परिणमनशील होते रहते हैं उन सब पदार्थोंके परिणमनमें जो सहकारी कारण है उसे वर्तना वा काल कहते हैं ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार कुंभारके चाकके फिरनेमें ' चाकके नीचेकी शिला वा कीली कारण है ' यद्यपि फिरनेकी

चक्रस्य भ्रमणेऽधःशिला स्वयं । धत्ते निमित्ततामेवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥ १४० ॥ व्यवहारात्मकात्कालान्मुख्यकालविनिर्णयः । मुख्ये सत्येव गौणस्य बाल्हीकादेः प्रतीतितः ॥१४१॥ स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितैः । ज्ञेयोऽन्योन्यमसकीर्णै रत्नानामिव राशिभिः ॥ १४२ ॥ प्रदेशप्रचयायोगादकायोऽयं प्रकीर्तितः । शेपाः पचाऽस्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥ १४३ ॥ धर्माऽधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवर्जिताः । मूर्तिमत्पुद्गलद्र-

शक्ति चाकमें है चाक ही फिरता है परंतु वह बिना नीचेकी कीलीके फिर नहीं सकता, इसीप्रकार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थ जो अपने आप परिणमन होते रहते हैं उनके परिणमनमें काल निमित्त कारण है ऐसा विद्वान् लोगोंने निरूपण किया है ॥ १४० ॥ वह काल दो प्रकारका है एक व्यवहारकाल और दूसरा निश्चयकाल, घडी घंटा आदि व्यवहार काल कहलाता है, इसी व्यवहार कालसे निश्चय कालका निश्चय होता है, क्योंकि किसी मुख्य पदार्थके रहते हुये ही गौण पदार्थकी प्रतीति होती है, जैसे जब बाल्हीक नामका कोई देश प्रसिद्ध है तब वहांके रहनेवालोंको बाल्हीक [म्लेच्छ] कह सकते हैं, यदि बाल्हीक नामका कोई देश न होता तो वहांके रहनेवालोंको भी बाल्हीक नहीं कह सकते थे, इसीप्रकार जब निश्चय काल कोई पदार्थ है तब ही घडी घंटा आदि पर्यायरूप व्यवहार कालकी प्रतीति होती है, यदि वह न होता तो व्यवहार काल भी नहीं हो सकता था ॥ १४१ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें भरे हुये हैं जितने लोकाकाशके प्रदेशोंकी संख्या है उतने ही निश्चयकालके प्रदेश हैं और वे लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक एक करके स्थित हैं तथा रत्नोंकी राशिके समान परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते हैं उन्हीं प्रदेशोंसे निश्चयकाल जाना जाता है ॥ १४२ ॥ उस निश्चयकालके प्रदेश परस्पर आपसमें कभी नहीं मिलते अर्थात् वह कभी बहुप्रदेशी नहीं होता सदा एकप्रदेशी ही रहता है इसलिये वह अकाय वा कायरहित कहा जाता है, कालको छोडकर शेष पांच द्रव्योंके प्रदेश आपसमें मिले हुये हैं वा मिल

व्यं तस्य भेदानितः शृणु ॥ १४४ ॥ वर्णगंधरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः । पूरणाद्गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥ १४५ ॥ स्कंधाऽणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः । स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कंध इष्यते ॥ १४६ ॥ द्व्यणुकादिर्महास्कंधपर्यंतस्तस्य विस्तरः । छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥ १४७ ॥ अणवः कार्यलिंगाः स्युर्द्विस्पर्शाः परिमंडलाः । एकवर्णरसा नित्याः स्युरनित्याश्च पर्ययैः ॥ १४८ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः

जाते हैं अर्थात् शेष पांच द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इसलिये वे पांचो अस्तिकाय कहलाते हैं ॥१४३॥ धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चारो पदार्थ अमूर्त्त हैं, एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है, आगे उसी पुद्गलके भेद कहते हैं, सो हे वत्स ध्यानसे सुन ॥ १४४ ॥ जिसमें वर्ण गंध रस और स्पर्श ये चार गुण पाये जाँय उन्हें पुद्गल कहते हैं, जो पूरणगलनस्वभाव हो अर्थात् जो परमाणु वा गुणोंके घटने बढनेसे घटता बढता रहे उसे पुद्गल कहते हैं इसप्रकार पुद्गल यह अन्वर्थक वा यथार्थ नाम सिद्ध होता है ॥ १४५ ॥ उस पुद्गलके दो भेद हैं एक स्कंध और दूसरा अणु। उनमेंसे जो स्निग्ध (चिकने) वा रूक्ष (रूखे) परमाणुओंके परस्पर मिलनेसे समुदाय वा समूह होता है उसे स्कंध कहते हैं ॥ १४६ ॥ दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक नामका स्कंध होता है, तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्र्यणुक नामका स्कंध होता है, इसीप्रकार चार पांच संख्यात असंख्यात अनंत और अनंतानंत परमाणुओंके मिलनेसे महास्कंधतक अनेक प्रकारके स्कंध होते हैं, तथा छाया, आतप, अंधकार, चांदनी बादल आदि अनेक भेद प्रभेद पुद्गलोंके होते हैं ॥ १४७ ॥ परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होते हैं वे इंद्रियोंसे नहीं जाने जाते। घट पट आदि उनके कार्य दिखाई देते हैं इसलिये वे अनुमानसे सिद्ध किये जाते हैं, उन परमाणुओंमें कोई भी अविरुद्ध दो स्पर्श रहते हैं, एक वर्ण, एक रस और एक गंध रहता है, वे परमाणु गोल और नित्य हैं, तथा पर्यायोंसे अनित्य भी हैं ॥ १४८ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये पुद्गलोंके सूक्ष्मसूक्ष्म, सूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, स्थूलसूक्ष्म,

सूक्ष्मस्थूलात्मका: परे । स्थूलसूक्ष्मात्मका: स्थूला: स्थूलस्थूलाश्च पुद्गला ॥ १४९ ॥ सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेक.स्याददृश्योऽस्पृश्य एवं च । सूक्ष्मास्ते कर्मण: स्कधा प्रदेशानंत्ययोगत. ॥ १५० ॥ शब्द: स्पर्शो रसो गध: सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते । अचाक्षुपत्वे सत्येपामिंद्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ १५१ ॥ स्थूलसूक्ष्मा. पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादय: । चाक्षुपत्वेऽप्यसंहार्यरूपत्वादविघातका: ॥ १५२ ॥ द्रवद्रव्य जलादि स्यात् स्थूलभेदे निदर्शन । स्थूलस्थूल: पृथिव्यादिर्भेद्य: स्कध: प्रकीर्तित. ॥ १५३ ॥ इत्यमीषां पदार्थाना याथात्म्यमविपर्ययात् । य: श्रद्धत्ते स भव्यात्मा परब्रह्माधिगच्छति ॥ १५४ ॥ तत्त्वार्थस-

---

स्थूल और स्थूलस्थूल ये छह भेद होते हैं ॥ १४९ इनमेंसे परमाणु सूक्ष्मसूक्ष्म है क्योंकि न तो वह देखा जा सकता है और न स्पर्श किया जा सकता है, कर्मवर्गणाओंका समूह सूक्ष्म है, क्योंकि यद्यपि वह न देखा जाता है और न स्पर्श किया जाता है तथापि वह अनंतानंत प्रदेशोंका समूह है, इसलिये सूक्ष्म कहलाता है ॥ १५० ॥ शब्द, स्पर्श, गंध और रस ये सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं, क्योंकि यद्यपि इनको आंखोंसे नहीं देख सकते तथापि स्पर्शन रसना आदि अन्य इंद्रियोंसे इन्हें जान सकते हैं इसलिये इनमें मुख्यतासे सूक्ष्मता और गौणतासे स्थूलता होनेसे सूक्ष्मस्थूल कहलाते हैं ॥१५१॥ छाया चांदनी आतप आदि पदार्थ जो आंखोंसे दिखाई तो देते हैं परंतु एक जगह इकट्ठे नहीं किये जा सकते अथवा जिनका घात वा ताडना नहीं हो सकती इसलिये जो विघात रहित हैं वे स्थूलसूक्ष्म कहलाते है, उनमें स्थूलता मुख्यतासे और सूक्ष्मता गौणतासे रहती है ॥ १५२ ॥ दूध पानी आदि जो पतले पदार्थ हैं जो अलग करनेपर भी मिल सकते हैं उन्हें स्थूल कहते हैं तथा पत्थर पृथ्वी आदि जो भेदन करने योग्य स्कंध हैं जो भिन्न होकर मिल नहीं सकते वे स्थूलस्थूल कहलाते हैं ॥ १५३ ॥ इसप्रकार ऊपर कहे हुये जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं जो भव्यपुरुष इन द्रव्योंका विपरीत रहित यथार्थ श्रद्धान करता है वह अवश्य ही उत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप सिद्धगतिको प्राप्त होता है ॥ १५४ ॥ इसप्रकार महाज्ञानी भगवान वृषभदेवने भरतकेलिये समस्त त-

ग्रह कृत्स्नमित्युक्त्वास्मै विदांवरः । कानिचित्तत्त्वबीजानि पुनरुद्देशतो जगौ ॥ १५५ ॥ पुरुषं पुरुषार्थं च मार्गं मार्गफलं तथा । बंधमोक्षौ तयो हेतुं बद्धं मुक्तं च सोऽभ्यधात् ॥ १५६ ॥ त्रिजगत्समवस्थानं नरकप्रस्तरानपि । द्वीपाब्धिह्रदशैलादीनप्यथास्मायुगादिशत् ॥ १५७ ॥ त्रिषष्टिपटलं स्वर्गं देवायुर्भोगविस्तरं । ब्रह्मस्थानमपि श्रीमान् लोकनाडीं च संजगौ ॥ १५८ ॥ तीर्थेशानां पुराणानि चक्रिणामर्द्धचक्रिणां । तत्कल्याणानि तद्धेतूनप्याचख्यौ जगद्गुरुः ॥ १५९ ॥ गतिमागतिमुत्पत्तिं च्यवनं च शरीरिणां । भुक्तिमृद्धिं कृतं चापि भगवान्व्याजहार सः ॥ १६० ॥ भवद्भाविभूतं च यत्सर्व-

स्वार्थोंका स्वरूप कहा और संक्षेपसे फिर भी कुछ तत्वोंका रहस्य कहने लगे ॥ १५५ ॥ उन्होंने आत्माका स्वरूप कहा, धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ बतलाये, मुनि तथा श्रावकोंका मार्ग बतलाया, उस मार्गका स्वर्ग मोक्ष आदि फल बतलाया, बंध, बंधके कारण, मोक्ष, मोक्षके कारण बतलाये तथा कर्मसहित संसारी जीवका स्वरूप और मुक्त जीवका स्वरूप बतलाया ॥ १५६ ॥ इसीप्रकार तीनों लोकोंका आकार, नरकोंके पटल, असंख्यात द्वीप, समुद्र कुलाचल, ह्रद आदि सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥ १५७ ॥ श्रीमान् वृषभदेवने स्वर्गोंके तिरेसठ पटल, देवोंकी आयु, देवोंके भोगोपभोगोंका वर्णन, मोक्षस्थान और लोकनाडी आदि सबका स्वरूप कहा ॥ १५८ ॥ जगतगुरु भगवानने तीर्थंकरोंके पुराण, चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकोंके पुराण, तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणक तथा पांचों कल्याणक प्राप्त होनेकी कारण ऐसी सोलह भावनाओंका स्वरूप कहा ॥ १५९ ॥ भगवानने परलोक गमन, इसलोकमें आगमन, जीवोंका जन्म, मरण, भोग उपभोग आदि सुख अथवा छहों खंड पृथ्वीका भोग, मुनियोंकी ऋद्धियां अथवा चक्रवर्ती अर्धचक्री आदिकी विभूतियां तथा जीवोंके करने योग्य काम और न करने योग्य काम आदि सबका उपदेश दिया ॥ १६० ॥ सबको जाननेवाले और सबका कल्याण करनेवाले भगवान वृषभदेवने भूत भविष्यत वर्तमान तीनों काल संबंधी द्रव्योंका सब स्वरूप अर्थात् समस्त द्रव्योंकी जो अवस्थायें हो चुकी हैं, हैं, और होगीं

द्रव्यगोचरं । तत्सर्वं सर्ववित्सार्वो भरतं प्रत्यबूबुधत् ॥१६१॥ श्रुत्वेति तत्त्वसद्भावं गुरोः परमपूरुषात् । प्रल्हाद परमं प्राप भरतो भक्तिनिर्भरः ॥१६२॥ ततः सम्यक्त्वशुद्धिं च व्रतशुद्धिं च पुष्कला । निष्कलाद्भरतो भेजे परमानंदमुद्वहन् ॥ १६३ ॥ प्रबुद्धो मानसीं शुद्धिं परमा परमर्षितः । संप्राप्य भरतो रेजे शरदीवाबुजाकर ॥ १६४ ॥ स लेभे गुरुमाराध्य सम्यग्दर्शननायका । व्रतशीलावली मुक्ते. कंठिकामिव निर्मला ॥ १६५ ॥ दिदीपे लब्धसंस्कारो गुरुतो भरतेश्वरः । यथा महाकरोद्भूतो मणिः संस्कारयो ।।ः ॥ १६६ ॥ त्रिदशासुरमर्त्याना सा सभा समुनीश्वरा । पीतसद्धर्मपीयूषा परामाप

उन सबका स्वरूप भरतकेलिये कहा ॥१६१॥ इसप्रकार जगतगुरु और पूज्यपुरुष भगवान वृषभदेवसे तत्त्वोंका सब स्वरूप सुनकर पूर्ण भक्तिमान् महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये ॥ १६२ ॥ तदनंतर जिनका शरीरके साथ कोई संबंध नहीं रहा है ऐसे भगवान वृषभदेवसे महाराज भरतने अतिशय-आनंदित होकर सम्यग्दर्शनकी परम विशुद्धि और अणुव्रतोंकी परम विशुद्धि धारण की ॥ १६३ ॥ जिसप्रकार शरद ऋतुमें कमलोंका समूह प्रफुल्लित होकर सुशोभित होता है उसीप्रकार परमदेव भगवान वृषभदेवसे प्रबुद्ध होकर अर्थात् समस्त तत्त्वोंका स्वरूप जानकर और मनकी परम विशुद्धि धारणकर महाराज भरत बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६४ ॥ महाराज भरतने अपने गुरु भगवान वृषभदेवकी उपासनाकर जिसके बीचमें सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाशमान रत्न सुशोभित हो रहा है ऐसी पांच व्रत और सात शीलोंकी निर्मल माला इसप्रकार धारण की थी मानों मोक्ष रूपी लक्ष्मीके गलेकी माला ही हो, भावार्थ—उसने शुद्ध सम्यग्दर्शन, निर्दोष व्रत और सात शील धारण किये थे ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार किसी खानिसे निकला हुआ मणि संस्कारके निमित्तसे अर्थात् शाणपर रखनेसे देदीप्यमान हो जाता है उसीप्रकार महाराज भरत भी अपने गुरुसे उपदेश रूपी संस्कार पाकर बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १६६ ॥ उससमय देव भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क मनुष्य तिर्यंच और मुनियोंसे भरी हुई वह सभा धर्मरूपी अमृतको पीकर बडी ही संतुष्ट हुई थी ॥१६७॥ जिसप्रकार

धृतिं तदा ॥ १६७ ॥ घनध्वनिमिव श्रुत्वा विभोर्दिव्यध्वनिं तदा । चातका इव भव्यौघाः परं प्रमदमाययुः ॥ १६८ ॥ दिव्यध्वनिमनुश्रुत्य जलदस्तनितोपमं । अशोकविटपारूढाः सस्वनुर्दिव्यबर्हिणः ॥१६९॥ सप्तार्चिषमिवासाद्य तं त्रातारं प्रभास्वरं । विशुद्धिं भव्यरत्नानि भेजुर्दिव्यप्रभास्वरां ॥१७०॥ योसौ पुरिमतालेशो भरतस्यानुजः कृती । प्राज्ञः शूरः शुचिर्धीरो धौरेयो मानशालिनाम् ॥ १७१ ॥ श्रीमान्वृषभसेनाख्यः प्रज्ञापारमितो वशी । स संबुध्य गुरोः पार्श्वे दीक्षित्वाभूद्गणाधिपः ॥ १७२ ॥ स सप्तर्द्धिभिरिद्धर्द्धिस्तपोदीप्त्यावृतोऽभितः । व्यदीपि शरदीवार्को धूतांधतमसोदयः ॥ १७३ ॥ स

बादलोंकी गर्जना सुनकर चातक पक्षियोंको आनंद होता है उसीप्रकार उससमय बादलोंकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर भव्योंका समुदायरूपी चातक बडे ही आनंदित हुये थे ॥१६८॥ मेघकी गर्जनाके समान भगवानकी दिव्यध्वनिको सुनकर अशोक वृक्षपर बैठे हुये दिव्य मयूर भी आनंदसे शब्द करने लग गये थे ॥१६९॥ सब जीवोंकी रक्षा करनेवाले और अग्निके समान अतिशय दैदीप्यमान ऐसे भगवान् वृषभदेवका निमित्त पाकर भव्यरूप रत्न दिव्य कांतिको धारण करनेवाली ऐसी परम विशुद्धिको प्राप्त हुये थे॥१७०॥ उसीसमय जो पुरिमतालका स्वामी था जो कि महाराज भरतका छोटा भाई था तथा जो पुण्यवान्, विद्वान्, शूरवीर, पवित्र, धीरवीर स्वाभिमान करनेवालोंमें श्रेष्ठ, अतिशय बुद्धिमान्, श्रीमान् और जितेंद्रिय था तथा वृषभसेन जिसका नाम था उसने भी भगवानका उपदेश सुनकर उन्हीं भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी और वह भगवानका पहिला गणधर हुआ था ॥ १७१-१७२ ॥ जिसप्रकार शरदऋतुका सूर्य समस्त अंधकारको नष्टकर दैदीप्यमान होता है उसीप्रकार प्राप्त हुई सात ऋद्धियोंसे जो अत्यंत दैदीप्यमान हैं और तपश्चरणकी कांति जिनके चारों ओर फैली हुई है ऐसे वे भगवान वृषभसेन गणधर देव बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ १७३ ॥ वृषभसेनके समान कुरुदेशका राजा महाराजा सोमप्रभ और श्रेयांस तथा और भी अनेक राजा उसीसमय भगवानसे दीक्षा लेकर गणधर हुये थे ॥ १७४ ॥ महाराज भरतकी छो-

श्रीमान्कुरुशार्दूलः श्रेयान्सोमप्रभोपि च । नृपाश्चान्ये तदोपात्तदीक्षा गणभृतोभवन् ॥ १७४ ॥ भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात् । गणिनीपदमार्याणा सा भेजे पूजितामरै. ॥ १७५ ॥ रराज, राजकन्या सा राजहंसीव सुस्वना । दीक्षाशरन्नदीशीलपुलिनस्थलशायिनी ॥ १७६ ॥ सुंदरी चात्तनिर्वेदा तां ब्राह्मीमन्वदीक्षत । अन्ये चान्याश्च संविग्ना गुरोः प्राव्राजिषुस्तदा ॥ १७७ ॥ श्रुतकीर्तिर्महाप्राज्ञो गृहीतोपासकव्रतः । देशसंयमिनामासीद्धौरेयो गृहमेधिनाम् ॥ १७८ ॥ उपात्ताणुव्रता धीरा प्रयतात्मा प्रियव्रता । स्त्रीणां विशुद्धवृत्ताना बभूवाग्रेसरी सती ॥ १७९ ॥ विभोः कैवल्यसंप्राप्तिक्षण एव महर्धयः । योगिनोन्येऽपि भूयांसो बभूवु र्भुवनोत्तमाः ॥ १८० ॥ सबुद्धोऽनन्तवीर्यश्च गुरोः संप्राप्तदीक्षण. । सुरैरवाप्तपूजर्द्धिरग्र्यो मोक्षगता-

---

टी बहिन ब्राह्मी भी जगतगुरुके अनुग्रहसे दीक्षा धारण कर सब अर्जिकाओंमें मुख्य मानी गई थी और देवोंने भी उसकी पूजा की थी ॥ १७५ ॥ उससमय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतुकी स्वच्छ नदीके शीलरूप किनारेपर बैठी हुई तथा मधुर शब्द करती हुई हंसिनीके समान सुशोभित हो रही थी ॥१७६॥ उस समय वृषभदेवकी दूसरी पुत्री सुंदरीको वैराग्य उत्पन्न हुआ था और उसने भी ब्राह्मीके पीछे दीक्षा धारण करली थी, इनके सिवाय उससमय और भी अनेक राजा और राजकन्याओंने विरक्त होकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी॥१७७॥ श्रुतकीर्ति नामके अतिशय बुद्धिमान् किसी गृहस्थने श्रावकके व्रत धारण किये थे और वह एक देश व्रत पालन करनेवाले देशसंयमी गृहस्थ लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हुआ था ॥१७८॥ इसीप्रकार अत्यंत धीरवीर, शुद्ध अंतःकरणको धारण करनेवाली और सती ऐसी प्रियव्रता नामकी किसी स्त्रीने श्रावकके अणुव्रत धारण किये थे और वह शुद्ध आचरणको धारण करनेवाली स्त्रियोंमें सबसे मुख्य हुई थी ॥१७९॥ जिससमय भगवान वृषभदेवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था उसीसमय अन्य कितने ही उत्तमोत्तम भाग्यशाली पुरुष दीक्षा धारणकर अनेक ऋद्धियोंके धारण करनेवाले मुनिराज हुये थे ॥ १८० ॥ भरतके भाई अनंतवीर्यने भी संसारका यथार्थ स्वरूप समझकर भगवानके समीप दीक्षा धारण की थी, देवोंने भी उसकी अनेकप्रकारसे पूजा की

वभूत् ॥ १८१ ॥ मरीचिवर्ज्याः सर्वेऽपि तापसास्तपसि स्थिताः । भट्टारकाते सबुध्य महाप्राव्राज्यमास्थिताः ॥ १८२ ॥ ततो भरतराजेन्द्रो गुरु सं-
पूज्य पुण्यधीः । स्वपुराभिमुखो जज्ञे चक्रपूजाकृतत्वर ॥ १८३ ॥ युवा बाहुबली धीमानन्ये च भरतानुजाः । तमन्वीयुः कृतानन्दमभिवंद्य जगद्-
गुरु ॥ १८४ ॥ भरतपतिमथाविर्भूतदिव्यानुभावप्रसरमुदयराग प्रत्युपात्ताभिमुख्यं । विजयिनमनुजग्मु र्भ्रातरस्त दिनाते दिनपमिव मयूखा दिङ्मुखा-

थी और वह इस अवसर्पिणी कालमें सबसे पहिले मोक्षगतिको प्राप्त हुआ था ॥ १८१ ॥ जो तपस्वी पहिले भ्रष्ट हो गये थे उनमेंसे मरीचिको छोडकर वाकी सब तपस्विओंने भगवानके उपदेशसे मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप समझकर दीक्षा धारण की थी ॥ १८२ ॥ तदनंतर जिन्हें चक्रकी पूजा करनेकेलिये कुछ जल्दी हो रही है ऐसा वह अतिशय पुण्यवान् महाराज भरत जगतगुरुकी पूजाकर अपने नगरमें जानेके लिये निकला ॥ १८३ ॥ तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला बुद्धिमान बाहुवली तथा और भी भरतके छोटे भाई आनंदके साथ जगतगुरु भगवानकी वंदनाकर भरतके पीछे पीछे अपने अपने स्थानको गये ॥ १८४ ॥ अथानंतर—उससमय नगरको जाते हुये महाराज भरत सूर्यके समान सुशोभित हो रहे थे, क्योंकि जिसप्रकार सूर्य दिव्य प्रकाशको फैलानेवाला है उसीप्रकार भरतका प्रकाशका फैलाव भी उसीसमय उदय हुआ था, सूर्य जिसप्रकार उदय होते समय राग अर्थात् लालिमा धारण करता है उसीप्रकार भरत भी उदय अर्थात् अपने प्रतापके उदय होते समय राग अर्थात् प्रजासे अनुराग धारण करते थे, सूर्य जिसप्रकार जानेकोलिये सन्मुख होता है उसीप्रकार भरत भी नगरमें जानेकोलिये तैयार हुये थे, अथवा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंमें मुख्य है उसीप्रकार भरत भी सबसे मुख्य थे तथा सूर्य जिसप्रकार सब ग्रहोंको जीतकर विजयी कहलाता है उसीप्रकार भरत आगामी कालमें समस्त पृथ्वीको जीतनेसे विजयी कहलाते थे, इसप्रकार सायंकालके समय समस्त दिशाओंको प्रकाशित करती हुई सूर्यकी किरणें जिसप्रकार सू-

क्रातिभाजः ॥ १८५ ॥ स्वातनीतसमस्तवस्तुविसरा प्रस्तीर्णवर्णोज्वला निर्णिक्ता नयचक्रसन्निधिगुरुं स्फीतप्रमोदाह्वतिं । विश्वास्या निखिलांगभृत्परिचिता जैनिमिव व्याहृतिं प्राविक्षत्परया मुदा निधिपतिः स्वामुत्पताकां पुरीं ॥ १८७ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्धर्मोपदेशनोपवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमं पर्व.

र्यके पीछे २ जाती हैं उसीप्रकार समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये भरतके भाई भी भरतके ही पीछे २ जा रहे थे ॥ १८५ ॥ इसप्रकार चलते हुये महाराज भरतने वडी प्रसन्नताके साथ अपनी अयोध्या नगरीमें प्रवेश किया, उससमय उस अयोध्यामें अनेक ध्वजायें फहरा रहीं थीं और वह ठीक जिनवाणीके समान सुशोभित हो रही थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणीके भीतर समस्त पदार्थों का विस्तार भरा रहता है उसीप्रकार उस अयोध्यामें भी रत्न आदि समस्त पदार्थ भरे हुये थे, जिसप्रकार जिनवाणीमें अनेक उज्वलवर्ण (अक्षर) रहते हैं उसीप्रकार अयोध्यामें भी अनेक क्षत्रिय आदि उज्वल वर्ण थे, जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवलियोंके द्वारा प्रशंसनीय है उसीप्रकार अयोध्या भी सबसे प्रशंसनीय थी, जिनवाणी जिसप्रकार अनेक नयोंके निमित्तसे पूज्य है उसीप्रकार वह अयोध्या भी नीतिके समूहके निमित्तसे पूज्य थी अथवा नीतिको प्रगट करनेवाले चक्रके निमित्तसे पूज्य थी, जिनवाणी जिसप्रकार आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी जीवोंको आनंद देनेवाली थी, जिनवाणी जिसप्रकार विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करने योग्य है अथवा सब ओर मुह करनेवाली अर्थात् सब पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली है उसीप्रकार वह अयोध्या भी विश्वास्य अर्थात् सबको विश्वास करनेयोग्य थी अथवा सबओर उसका मुह था अर्थात् चारों दिशाओं में उसके बडे २ चार दरवाजे थे, तथा जिनवाणी जिसप्रकार समस्त वारह अंगोंको धारण करनेवा-

अथ पंचविंशातितमं पर्व.

गते भरतराजर्षौ दिव्यभाषोपसंहृतौ । निवातास्तिमितं वार्द्धिमिवाऽनाविष्कृतध्वनिं ॥ १ ॥ धर्मांबुवर्षसंसिक्तजगज्जनवनद्रुमं । प्रावृट्घनमिवोद्भातवृष्टिमुत्सृष्टनिःस्वनं ॥ २ ॥ कल्पद्रुममिवाभीष्टफलविश्राणनोद्यतं । स्वपादाभ्यर्णविश्रांतत्रिजगज्जनमूर्जितं ॥ ३ ॥ विवस्वतमिवोद्भूतमोहाधतमसोदय । नवकेवललब्धीद्धकरोत्करविराजितं ॥ ४ ॥ महाकरमिवोद्भूतगुणरत्नोच्चयाचितं । भगवत जगत्कांतमचिंत्यानतवैभव ॥ ५ ॥ वृतं श्रमणसंघेन चतुर्धा भेदमी-

---

ले श्रुतकेवलियोंके द्वारा जानी जाती है उसीप्रकार वह अयोध्या भी सब जीवोंके द्वारा परिचित थी अर्थात् संसारके समस्त जीव उसे जानते थे ॥ १८६ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे भगवानका धर्मोपदेश वर्णन करनेवाला यह चौवीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पच्चीसवां पर्व

अथानंतर—जिससमय महाराज भरत चलेगये, भगवानकी दिव्यध्वनि बंद होगई उससमय वायु बंद होनेसे शांत हुये समुद्रके समान जिनका शब्द बिलकुल बंद हो गया है ॥ १ ॥ जिन्होंने धर्मरूपी जलकी वर्षाकर संसारी जीवरूपी बनके वृक्ष सींच दिये हैं, जो शरद ऋतुके बादलोंके समान दिव्यध्वनिरूप जलकी वर्षाकर शब्द रहित हो गये हैं ॥ २ ॥ जो कल्पवृक्षके समान इष्ट फल देनेकेलिये सदा तत्पर रहते हैं, जिनके चरणकमलोंके समीपमें तीनों लोकोंके समस्त जीव विश्रांत लेते हैं ॥ ३ ॥ जो अत्यंत दैदीप्यमान हैं, सूर्यके समान मोह रूपी अंधकारको नष्टकर जिनका उदय हुआ है, तथा क्षायिक सम्यक्त्व आदि नौ केवललब्धिरूपी किरणोंके समूहसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ ४ ॥ वडी भारी खानिके समान जिनमें दैदीप्यमान गुणरूपी रत्नोंके समूह भरे हुये हैं, जो भगवान हैं, तीनों लोकोंमें मनोहर हैं, अचिंत्य और अनंत विभूतिको धारण करनेवाले हैं, ॥ ५ ॥

युपा । चतुर्विधवनाभोगपरिष्कृतमिवाद्रिप ॥ ६ ॥ प्रातिहार्याष्टकोपेत सिद्धकल्याणपंचकं । चतुस्त्रिंशदतीशेषैरिद्धार्वें त्रिजगत्प्रभुं ॥ ७॥ प्रपश्यन्विकसन्नेत्रसहस्र. प्रीतमानस । सौधर्मेंद्र स्तुतिं कर्तुमथारेभे समाहितः ॥ ८ ॥ स्तोष्ये त्वा परम ज्योतिर्गुणरत्नमहाकर । मतिप्रकर्षहीनोपि केवल भक्तिचोदित. ॥ ९ ॥ त्वामभिष्टुवता भक्त्या विशिष्टाः फलसपदः । स्वयमाविर्भवतीति निश्चित्य त्वा जिन ' स्तुवे ॥ १० ॥ स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता भव्य प्रसन्नधीः । निष्ठितार्थों भवान् स्तुत्यः फल नैश्रेयसं सुखं ॥ ११ ॥ इत्याकलय्य मनसा तुष्टूषु मा फलार्थिन । विभो प्रसन्नया दृष्ट्या त्व पुनीहि

जो मुनि यति ऋषि और अनागार इन चार प्रकारके मुनियोंके संघसे घिरे हुये ऐसे जान पडते हैं मानों भद्रसाल, नंदन, सौमनस और पांडुक इन चारों बनोंसे घिरा हुआ मेरु पर्वत ही हो ॥ ६ ॥ जो आठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, जिनके पांच कल्याणक हुये हैं, चौंतीस अतिशयोंके द्वारा जिनकी विभूति बहुत बढी हुई है और जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥ ७ ॥ ऐसे भगवान वृषभदेवको देखकर जिसके हजार नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं और मन प्रसन्न हो रहा है ऐसे सौधर्म स्वर्गके इंद्रने स्वस्थचित्त होकर भगवानकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ ८ ॥ हे प्रभो ! आप परम ज्योतिस्वरूप हैं तथा गुणरूपी रत्नोंकी खानि हैं और मैं अत्यंत बुद्धिहीन हूं तथापि केवल भक्तिके वश होकर आपकी स्तुति करता हूं ॥ ९ ॥ हे जिनेंद्र ! भक्तिपूर्वक जो पुरुष आपकी स्तुति करता है उसे विशेष विशेष फलरूपी संपात्तियें अपने आप प्राप्त होती हैं यही समझकर मैं आपकी स्तुति करता हूं ॥ १० ॥ पुण्यरूप गुणोंका निरूपण करना स्तुति है, प्रसन्नचित्तवाला और भव्यजीव ऐसा मैं स्तुति करनेवाला हूं, सब पुरुषार्थोंको सिद्ध करनवाले ऐसे आपकी स्तुति की जायगी और मोक्षका सुख प्राप्त होना उसका फल है ॥ ११ ॥ हे विभो ! हे सनातन ! इसप्रकार स्तुतिकी सब सामग्री इकट्ठी हुई जानकर मनसे स्तुति करनेवाले और मोक्षरूप फलकी इच्छा करनेवाले ऐसे मुझे आप अपनी पवित्र दृष्टिसे पवित्र कीजिये ॥ १२ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि मैं सांसारिक विषयोंसे निस्पृह हूं तथापि

सनातन ॥ १२ ॥ मा मुदाकुरुते भक्तिस्त्वद्गुणैः परिचोदिता । ततः स्तुतिपथे तेऽस्मिन् लग्नः सविभ्रमानसः ॥ १३ ॥ त्वयि भक्तिः कृताल्पापि महतीं फलसपद । पफुलीति विभो कल्पक्ष्माजसेवेव देहिना ॥ १४ ॥ तत्वारिजयमाचष्टे वपुरस्पृष्टकैतव । दोषावेशविकारा हि रागिणा भूषणादयः ॥१५॥ निर्भूषमपि कात ते वपुर्भुवनभूषण । दीप्त हि भूषण नैव भूषणातरमीक्षते ॥ १६ ॥ न मूर्ध्नि कबरीबंधो न शेखरपरिग्रहः । न किरीटादिभारस्ते तथापि रुचिर शिर. ॥ १७ ॥ न मुखे भ्रुकुटीन्यासो न दष्टो दशनच्छद. । नास्त्रे व्यापारितो हस्तस्तथापि त्वमरीनहन् ॥ १८ ॥ त्वया नाताम्रिते नेत्रे

आपके गुणोंके द्वारा प्रेरणा की हुई भक्ति स्तुति करनेकेलिये मुझे उत्साह दिला रही है. इसलिये ही मैं आपकी इस स्तुति करनेकेलिये प्रवृत्त हुआ हूं ॥ १३ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार कल्पवृक्षोंकी सेवा करनेसे जीवोंको अनेक प्रकारकी संपदायें प्राप्त होती हैं उसीप्रकार आपकी थोडीसी भक्ति करनेपर भी जीवोंको सर्वोत्कृष्ट फल रूपी संपत्तियां प्राप्त होती हैं ॥ १४ ॥ हे देव ! आभूषण आदि उपाधियोंसे रहित ऐसा आपका शरीर राग द्वेष रूपी शत्रुओंके जीतलेने को साक्षात् प्रगट कर रहा है, क्योंकि आभूषण आदि दोषोंको प्रगट करनेवाले विकार हैं ॥ १५ ॥ हे प्रभो! जगतको सुशोभित करनेवाला आपका यह शरीर आभूषण रहित होनेपर भी अतिशय मनोहर है सो ठीक ही है, क्योंकि अतिशय प्रकाशमान आभूषण किसी दूसरे आभूषणकी अपेक्षा नहीं रखता है ॥ १६ ॥ हे देव! यद्यपि आपके मस्तकपर सुंदर केश नहीं हैं, न फूलमाल है और न मुकुटका भार है तथापि आपका मस्तक बहुत ही सुंदर जान पडता है ॥ १७ ॥ आपके मुखपर न तो भौंह टेडी हुई है, न आपने अपने मुखसे ओठोंको ही दवाया है और न अपने हाथसे कोई शस्त्र पकडा है तथापि आपने अपने घातिया कर्म रूपी शत्रु सब नष्ट कर दिये हैं ॥ १८ ॥ हे देव! मोहरूपी शत्रुके जीतनेमें नील कमलके दलके समान आपके वडे वडे नेत्र किंचित् भी लाल लाल नहीं हुये, इससे यह सिद्ध होता है कि आपकी शक्ति वडी ही विचित्र है ॥ १९ ॥ हे जिनेंद्र! आपके दोनों नेत्रोंमें कटाक्षकी दृष्टि

नीलोत्पलदलायते । मोहारिविजये देव । प्रभुशक्तिस्तवाद्भुता ॥ १९ ॥ अनपांगानलोकं ते जिनेंद्र नयनद्वय । मदनारिजयं वक्ति व्यक्तं नः सौम्यवीक्षितं ॥ २० ॥ त्वद्दृशोरमला दीप्तिरास्पृशंती शिरःसु नः । पुनाति पुण्यधारेव जगतामेकपावनी ॥ २१ ॥ तवेदमाननं धत्ते प्रफुल्लकमलश्रियं । स्वकांतिज्योत्स्नया विश्वमाक्रामच्छरदिंदुवत् ॥ २२ ॥ अनाट्टहाससहुंकारमदष्टोष्ठपुटं मुखं । जिनाख्याति सुमेधोभ्यस्तावकीं वीतरागतां ॥ २३ ॥ त्वन्मुखादुद्गता दीप्तिः पावनीव सरस्वती । विधुन्वती तमो भाति जितबालातपद्युतिः ॥ २४ ॥ त्वन्मुखांबुरुहालग्ना सुराणां नयनावली । भातीयमलिमालेव तदामोदानुपातिनी ॥ २५ ॥ मकरंदमिवापीय त्वद्वक्त्राब्जोद्गतं वचः । अनासितभवं भव्यभमरा यांत्यमी मुदं ॥ २६ ॥ एकतोभिमुखोऽपि त्वं लक्ष्यसे

नहीं है, इसलिये आपकी सौम्यदृष्टि हम लोगोंको कामदेव रूपी शत्रुके जीतलेनेको स्पष्ट रीतिसे बतला रही है ॥ २० ॥ हे स्वामिन् ! हम लोगोंके मस्तकको स्पर्श करती हुई और जगतको अति पवित्र करनेवाली ऐसी आपके नेत्रोंकी निर्मल कांति पुण्यधाराके समान हम लोगोंको पवित्र करती है ॥ २१ ॥ हे नाथ शरदऋतुके चंद्रमाके समान अपनी कांतिरूपी चांदनीसे समस्त जगतमें व्याप्त होता हुआ आपका यह मुख प्रफुल्लित हुये कमलकी शोभाको धारण करता है ॥ २२ ॥ हे जिनदेव ! आपके मुखपर न तो अट्टहास अर्थात् जोरका हँसना ही है न हुंकार है और न वह ओठोंको दबाये है इसलिये बुद्धिमान लोगोंको वह आपकी वीतरागताको स्पष्ट रीतिसे प्रगट कर रहा है ॥ २३ ॥ हे देव ! जिस प्रकार प्रातःकालमें सूर्यकी कांति अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित होती है उसीप्रकार प्रातःकालके उदय होते हुये सूर्यकी कांतिको जीतती हुई आपके मुखसे निकली हुई पवित्र सरस्वती अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सुशोभित हो रही है ॥ २४ ॥ हे विभो ! आपके मुखरूपी कमलपर लगी हुई देवोंके नेत्रोंकी पंक्तियां ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही हैं मानों उस मुखरूपी कमलकी सुगंधिके लोभसे प्राप्त हुई भ्रमरोंकी पंक्ति ही हो ॥ २५ ॥ हे स्वामिन् जिनसे कभी तृप्ति न हो ऐसे आपके मुखरूपी कमलसे निकले हुये वचनरूपी परागरसको पी-

विश्वतोमुख' । तपोगुणस्य माहात्म्यमिदं नून तवाद्भुत ॥ २७ ॥ विश्वाढिक्क विसर्पति तावका वागभीषव । तिरश्चामपि हृद्ध्वातमुद्भुन्वतो जिनांशुमत् ॥ २८ ॥ तव वागमृत पीत्वा वयमद्यामराः स्फुट । पीयूषमिदमिष्ट नो देव सर्वरुजाहर ॥ २९ ॥ जिनेंद्र तव वक्त्राब्ज प्रक्षरद्वचनामृतं । भव्याना प्राणन-भाति धर्मस्येव निधानक ॥ ३० ॥ मुखेंदुमडलाद्देव तव वाक्किरणा इमे । विनिर्यांतो हतध्वाताः सभामाह्लादयत्यल ॥ ३१ ॥ चित्र वाचा विचित्राणामक्रमप्रभवः प्रभो. । अथवा तीर्थकृत्त्वस्य देव ! वैभवमीदृश ॥ ३२ ॥ अस्वेदमलमाभाति सुगधि शुभलक्षणं । सुसस्थानमरक्तासृग्वपुर्वज्रास्थिरं त-

---

कर ये भव्यजीवरूपी भ्रमर वडे ही प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥ हे भगवान यद्यपि आप एक ओर मुंह किये हुये विराजमान हैं तथापि आपका मुख चारोंओरसे दिखता है, हे देव यह आपके तपश्चरणरूपी गुणका माहात्म्य अवश्य ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ २७ ॥ हे जिनेंद्ररूपी सूर्य ! तिर्यंच जीवोंकेभी हृदयके अंधकारको नष्ट करती हुई आपकी वचनरूपी किरणें सव दिशाओंकी ओर फैल रही हैं ॥ २८ ॥ हे देव ! आपके वचनरूपी अमृतको पीकर हम लोग आज वास्तवमें 'अमर' हो गये हैं, इसलिये समस्त रोगोंको दूर करनेवाला यह आपका वचनरूपी अमृत हम लोगोंको वहुत ही प्रिय है ॥२९॥ हे जिनेंद्र ! जिससे वचनरूपी अमृत खिर रहा है और जो भव्य जीवोंका जीवन है ऐसा आपका मुख रूपी कमल धर्मके खजानेके समान वहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥३०॥ हे देव ! आपके मुखरूपी चंद्रमंडलसे निकलती हुई वचनरूपी किरणें अज्ञानरूपी अंधकारको नष्ट करती हुई सभाको वहुत ही आनंदित कर रही हैं ॥ ३१ ॥ हे देव ! यह भी एक आश्चर्यकी वात है कि आपसे अनेक प्रकारकी जुदी २ अनेक भाषाओंकी उत्पत्ति एक साथ होती है, अथवा आपके तीर्थकरपनेका माहात्म्य ही ऐसा है ॥ ३२ ॥ हे विभो ! जिसमें पसीना आदि मल नहीं है, जो अत्यंत सुगंधित है, शुभलक्षणोंसे सुशोभित है, समचतुरस्रसंस्थान है, जिसमें लाल रक्त नहीं और जो वज्रके समान स्थिर है ऐसा आपका यह शरीर वहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥ हे स्वामिन् ! आपकी

मोहानिलप्रतीकारे तस्यान्वेष्यं जरद्घृत ॥ ४० ॥ असद्वेद्यविष घातिविध्वसध्वस्तशक्तिक । त्वय्यकिंचित्कर मन्त्रशक्त्येवापबलं विष ॥ ४१ ॥ असद्वेद्योदयो घातिसहकारिव्यपायत । त्वय्यकिंचित्करो नाथ सामग्र्या हि फलोदय ॥ ४२ ॥ नेतयो नोपसर्गाश्च प्रभवन्ति त्वयीशितः । जगतां पालके हेलाक्षालिताँहःकलङ्कके ॥ ४३ ॥ त्वय्यनतसुखोत्सर्पत्केवलामललोचने । चातुरास्यमिद युक्त नष्टे घातिचतुष्टये ॥ ४४ ॥ सर्वविद्येश्वरो योगी चतुरास्यस्त्वम-

उनकी मोहरूपी अग्नि शांत करनेकेलिये पुराना घी अवश्य ढूंढना चाहिये ॥ ४० ॥ हे देव ! जिसप्रकार मंत्रकी शक्तिसे जिसका बल नष्ट होगया है ऐसा विष कुछ नहीं कर सकता उसीप्रकार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे जिसकी शक्ति नष्ट होगई है ऐसा असाता वेदनीय कर्मरूपी विष आपके लिये कुछ नहीं कर सकता है ॥ ४१ ॥ हे नाथ ! असातावेदनीयका उदय घातिया कर्मोंकी सहायतासे ही दुख देता है, आपके घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये असाता वेदनीयका उदय भी आपकेलिये कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि सब सामिग्री इकट्ठी होनेसे ही फलका उदय होता है ॥ ४२ ॥ हे ईश । आप जगतको पालन करनेवाले हैं, आपने लीलामात्रसे ही समस्त पापरूपी कलंक नष्ट करदिये हैं इसलिये आपको न तो कोई ईति भीतिका डर है और न कोई उपसर्ग ही होते हैं ॥ ४३ ॥ हे स्वामिन् ! आपके अनंत सुख है आपका केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्र चारोंओर फैल रहा है, आपके चारों घातिया कर्म नष्ट हो गये हैं तथापि आपको चातुराश्य अर्थात् चारप्रकारका आहार करना क्या योग्य है ? यह विरुद्ध वात है इसका परिहार इसप्रकार होता है कि आपके चारों घातिया कर्म नष्ट होगये हैं इसलिये चातुरास्य अर्थात् चारों दिशाओंकी ओर मुंह दिखना यह आपकेलिये योग्य ही है ॥ ४४ ॥ हे अधीश्वर ! आप समस्त विद्याओंके स्वामी हैं, योगी हैं, आपका एक मुख चारोंओर दिखाई देता है, आपका कभी नाश नहीं होता, आपकी आत्मरूप ज्योति अर्थात् केवलज्ञान चारोंओर फैला हुआ है इसलिये हे देव ! आप बहुत ही सुशोभित हो रहे हैं ॥४५॥

क्षर॰ । सर्वतोऽक्षिमयंज्योतिस्तवाऽतो भास्यधीशितः ॥ ४५ ॥ अन्छायत्वमनुन्मेषनिमेषत्वं च ते वपुः । धत्ते तेजोमयंदिव्यं परमौदरिकाह्वयं ॥ ४६ ॥ बिभ्राणोऽप्यध्यधिछत्रमच्छायांगस्त्वमीक्षसे । महता चेष्टितं चित्रमथवौजस्तवेदृश ॥ ४७ ॥ निमेषापायधीराक्षं तव वक्त्राब्जमीक्षित । त्वय्येव नयनस्पंदो नून देवैश्च संहृतः ॥ ४८ ॥ नखकेशमितावस्था तवाऽविःकुरुते विभो । रसादिविलय देहे विशुद्धस्फटिकामले ॥ ४९ ॥ इत्युदारैर्गुणैरेभिस्त्वमनन्यत्रभाविभिः । स्वयमेत्य वृतो नूनमदृष्टशरणांतरैः ॥ ५० ॥ अप्यमी रूपसौंदर्यकांतिदीप्त्यादयो गुणाः । स्पृहणीयाः सुरेंद्राणां तव हेयाः किलाद्भुतं ॥५१॥

हे देव । अत्यंत प्रकाशमान् और दिव्यस्वरूप ऐसे आपके परमौदारिक शरीरकी न तो छाया ही पडती है और न आखोंकी टिमिकार ही लगती है ॥ ४६ ॥ हे भगवन् ! यद्यपि आप तीन छत्रोंसे सुशोभित हो रहे हैं तथापि आप छाया रहित ही दिखाई देते हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि बडे आदमियोंकी चेष्टायें आश्चर्य करनेवालीं होती ही हैं, अथवा यह कहना चाहिये कि आपका तेज ही ऐसा है ॥ ४७ ॥ हे देव ! टिमिकार न लगनेसे जिसके नेत्र बिलकुल निश्चल हैं ऐसे आपके मुखरूपी कमलको देखनेकेलिये देवोंने अपने नेत्रोंका प्रवाह आपमें ही रोक रक्खा है । भावार्थ— सब देव केवल आपकी ओर ही देख रहे हैं ॥ ४८ ॥ हे विभो ! आपके जो नख केश नहीं वढते हैं सदा एकसे परिमित रहते हैं वे विशुद्ध स्फटिकके समान आपके निर्मल शरीरमें रुधिर मांस आदि धातु उपधातुरूप रसोंके नष्ट होनेको प्रगट करते हैं ॥ ४९ ॥ हे स्वामिन् इसप्रकार ऊपर कहे हुये तथा जो दूसरी जगह कहीं नहीं पाये जायं ऐसे आपके इन उदार गुणोंने अपने रहने योग्य अन्य कोई जगह न मिलनेसे आपके पास स्वयं आकर आपको स्वीकार किया है ॥ ५० ॥ हे देव ! यह भी एक बडे आश्चर्यकी बात है कि जिनकी प्राप्तिकेलिये इंद्र भी सदा इच्छा करता रहता है ऐसे रूप, सुंदरता, कांति, दीप्ति आदि इत्तम २ गुण भी आपकेलिये त्याज्य हैं, अर्थात् इनमें भी आपका अनुराग नहीं है ॥ ५१ ॥ हे भगवन् ! अन्य सब गुणोंको छोडकर केवल आपकी उपासना करनेवाले

गुणिनस्त्वामुपासीना निर्धूतगुणबंधनाः । त्वया सारूप्यमायाति स्वामिच्छद तु शिक्षितुः ॥ ५२ ॥ अय मदानिलोद्धूतचलच्छाखाकरोत्करैः । श्रीमानशोकवृक्षस्ते नृत्यतीवात्तसमद ॥ ५३ ॥ चलत्क्षीरोदवीचीभिःस्पर्धां कर्तुमिवाभितः । चामरौघा पतति त्वा मरुद्भिर्लीलयाधृता ॥५४॥ मुक्तालंबनविभ्राजि भ्राजते विधुनिर्मल । छत्रत्रय तवोन्मुक्तप्ररोहमिव खांगणे ॥५५॥ सिंहेरूढ विभातीद तव विष्टरमुच्चकैः । रत्नांशुभिर्भवत्स्पर्शान्मुक्तहर्षांकुरै रिव ॥५६॥ ध्वनति मधुरध्वानाः सुरदुंदुभिकोटयः । घोषयंत्य इवापूर्य रोदसी त्वज्जयोत्सव ॥ ५७ ॥ तव दिव्यध्वनिं धीरमनुकर्तुमिवोद्यता । ध्वनति सुरतूर्याणां को-

अर्थात् केवल आपकी उपासनारूप एक गुणको धारण करनेवाले गुणी पुरुष आप ही सरीखे हो जाते हैं सो ठीक ही है स्वामीके अनुसार चलना ही शिष्य लोगोंका कर्तव्य है ॥ ५२ ॥ हे स्वामिन् ! मंद मंद वायुके चललेसे जिसकी शाखारूपी हाथोंके समूह हिल रहे हैं ऐसा यह अत्यंत सुशोभित आपका अशोकवृक्ष ऐसा जान पडता है मानों आनंदित होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ ५३ ॥ हे पूज्य ! देवोंके द्वारा लीला पूर्वक धारण किये हुये चमरोंके समूह जो आपपर ढुराये जा रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों वे चारोंओरसे क्षीरसागरकी चंचल लहरोंके साथ स्पर्द्धा ही कर रहे हों ॥५४॥ हे प्रभो ! चंद्रमाके समान निर्मल और मोतियोंकी जालियोंसे सुशोभित ऐसे आपके तीन छत्र आकाशमें लटकते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों उनसे छोटे छोटे अंकूरे ही उत्पन्न हुये हों ॥५५॥ हे विभो ! सिंहोंके द्वारा धारण किया हुआ यह आपका ऊंचा सिंहासन रत्नोंकी किरणोंसे ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा है मानों आपका स्पर्श होनेसे इसमेंसे हर्षके अंकूरे ही निकले हों ॥ ५६ ॥ मधुर शब्द करते हुये जो देवोंके द्वारा बजाये हुये करोडों दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आकाश पातालमें व्याप्त होकर आपके जयोत्सवकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ५७ ॥ हे देव ! जो साडे बारह करोड देवोंके दुंदुभि बज रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों आपकी गंभीर दिव्यध्वनिका अनुकरण करनेकेलिये ही तैयार हुये हों ॥ ५८ ॥ देव लोग जो आकाशसे यह पुष्पोंकी वर्षा कर

टयोऽर्द्धत्रयोदश ॥ ५८ ॥ सुरैरियं नभोरंगात्पौष्पी वृष्टिर्वितन्यते । तुष्टया स्वर्गलक्ष्म्येव चोदितैः कल्पशाखिभिः ॥ ५९ ॥ तवं देहप्रभोत्सर्पसमाक्रामन्नभोऽभितः । शश्वत्प्रभातमास्थानीजनाना जनयत्यदः ॥ ६० ॥ नखांशवस्तवाताम्राः प्रसरंति दिशास्त्रमी । त्वदंघ्रिकल्पवृक्षाग्रात्प्ररोहा इव निःसृताः ॥६१॥ शिरःसु नः स्पृशत्येते प्रसादस्येव तेऽशकाः । त्वत्पादनखशीतांशुकराः प्रह्लादिताखिलाः ॥ ६२ ॥ त्वत्पादाम्बुरुहच्छायासरसीमवगाहते । दिव्यश्रीकलहंसीय नखरोचिमृणालिका ॥ ६३ ॥ मोहारिमर्दनालग्नशोणितार्द्रच्छटामिव । तलछायामिदं धत्ते त्वत्पादाम्बुरुहद्वय ॥ ६४ ॥ त्वत्पादनखभानीरसरसि प्रति-

---

रहे हैं वह ऐसी जान पडती है मानों संतुष्ट हुई स्वर्गलक्ष्मीके द्वारा प्रेरणा किये हुये कल्पवृक्ष ही उसे वरसा रहे हों ॥ ५९ ॥ हे भगवन् ! आकाशमें चारोंओर व्याप्त होता हुआ आपके शरीरका यह प्रभामंडल समवसरणमें बैठे हुये सभासद लोगोंको सदा प्रभातकालकी शोभा दिखलाता है ॥ ६० ॥ हे प्रभो ! आपके नखोंकी ये कुछ कुछ लाल किरणें सब दिशाओंमें ऐसी फैल रही हैं मानों आपके चरणरूपी कल्पवृक्षोंके अग्रभागसे अंकूरे ही निकल रहे हों ॥ ६१ ॥ समस्त जगतको आनंदित करनेवाले आपके चरणोंके नखरूपी चंद्रमाके किरण हमलोगोंके शिरको स्पर्श करते हुये ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों आपके प्रसादके कुछ अंश ही हों ॥ ६२ ॥ हे नाथ ! यह दिव्य लक्ष्मी रूपी मनोहर हंसिनी आपके नखोंकी कांति रूपी कमलनालसे सुशोभित ऐसी आपके चरणकमलोंकी छाया रूप सरोवरीमें अवगाहन करती है । भावार्थ—आपके चरणकमलोंकी छाया नखोंकी कांतिसे बडी ही मनोहर जान पडती है ॥ ६३ ॥ हे देव ! आपके दोनों चरणकमलोंके तलवोंकी (पैरके नीचेके भागकी) ललाई ऐसी अच्छी शोभा धारण करती है मानों जिससमय आपने मोहरूपी शत्रुको नाश किया था उससमय कुछ गीला रक्त ही आपके तलवोंमें लगगया हो और उसीकी यह अपूर्व शोभा हो ॥ ६४ ॥ हे जिनेंद्र ! आपके चरणोंके नखोंकी कांतिरूप पानीके सरोवरमें प्रतिबिंबित हुई देवांगनाओंके मुखोंकी शोभा ऐसी अच्छी जान पडती है मानों उस सरोवरमें कमल ही

त्रिविता । सुरागनाननच्छायास्तन्वते पङ्कजश्रियं ॥६५॥ स्वयंभुवे नमस्तुभ्यमुत्पाद्यात्मानमात्मनि । स्वात्मनैव तथोद्भूतवृत्तयेऽचिन्त्यवृत्तये ॥६६॥ नमस्ते जगतां पत्ये लक्ष्मीभर्त्रे नमोस्तु ते । विदांवर नमस्तुभ्यं नमस्ते वदतांवर ॥६७॥ कामशत्रुहणं देवमामनन्ति मनीषिणः । त्वामानमत्सुरेण्मौलिभामालाभ्यर्चितक्रमं ॥ ६८ ॥ ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः । अनन्तभवसन्तानजयादासीदनन्तजित् ॥ ६९ ॥ त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयं । मृत्युराजं विजित्यासीज्जिन ! मृत्युंजयो भवान् ॥ ७० ॥ विधुताशेषसंसारबन्धनो भव्यबान्धवः । त्रिपुरारिस्त्वमेवासि जन्ममृत्युजरान्तकृत् ॥ ७१ ॥ त्रिका-

---

फूले हों ॥ ६५ ॥ हे भगवन् ! आपने अपने आत्मामें अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको प्रगट किया है इसलिये आप स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये कहलाते हैं, इसके सिवाय आपके आत्मवृत्ति अर्थात् आत्मामें ही तल्लीन होनेरूप चारित्रकी प्राप्ति हुई है तथा अचिंत्य माहात्म्यकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको मेरा नमस्कार हो ॥ ६६ ॥ आप जगतके स्वामी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अंतरंग वहिरंग लक्ष्मीके अधीश्वर हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप विद्वानोंमें श्रेष्ठ हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, और आप वक्ताओंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ६७ ॥ हे देव ! बुद्धिमान लोग आपको कामदेवरूपी शत्रुको नाश करनेवाला मानते हैं, और इंद्र लोग भी अपने मुकुटकी कांतिके समुदायसे आपके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं इसलिये मैं भी आपकी स्तुति करता हूं ॥ ६८ ॥ आपने अपने ध्यानरूपी कुठारसे वहुत मजबूत ऐसा घातिया कर्म रूपी वडा वृक्ष काट डाला है तथा अनंत जन्ममरण रूप संसारकी संतान परंपराको जीतलिया है इसलिये ही आप अनंतजित् कहलाते हैं ॥ ६९ ॥ हे जिन ! तीनों लोकोंको जीतलेनेसे जिसे अत्यंत अभिमान उत्पन्न हुआ है तथा जो किसीसे भी नहीं जीता जाता है ऐसे मृत्युराजको भी आपने जीतलिया है इसलिये ही आप मृत्युंजय कहलाते हैं ॥ ७० ॥ आपने संसाररूपी समस्त वंधन नष्ट कर दिये हैं, भव्य जीवोंके आप वंधु हैं, और आप ही जन्म मरण तथा बु-

लविपयाशेपतत्त्वभेदात्रिधोत्थितं । केवलाख्यं दधच्चक्षुस्त्रिनेत्रोसि त्वमीशित. ॥ ७२ ॥ त्वामंधकांतक प्राहुर्मोहांधासुरमर्दनात् । अर्द्धं ते नारयो यस्मादर्द्धनारीश्वरोस्यतः ॥ ७३ ॥ शिवः शिवपदाध्यासाद् दुरितारिहरो हरः । शंकरः कृतशं लोके शंभवस्त्व भवन्मुखे ॥ ७४ ॥ वृषभोसि जगच्छ्रेष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयै. । नाभेयो नाभिसभूतेरिक्ष्वाकुकुलनंदनः ॥ ७५ ॥ त्वमेक. पुरुपस्कंधस्त्व द्वे लोकस्य लोचने । त्व त्रिधाबुद्धसन्मार्गस्त्रिज्ञस्त्रिज्ञानधारकः

ढापा इन तीनोंको नाश करनेवाले हैं इसलिये आप ही त्रिपुरारि कहे जाते हैं ॥ ७१ ॥ हे अधीश्वर ! भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके समस्त तत्त्वोंको जाननेसे जिसके तीन भेद होते हैं अर्थात् भूतकालके पदार्थोंको जाननेवाला भविष्यतकालके पदार्थोंको जाननेवाला और वर्तमानकालके पदार्थोंको जाननेवाला इसप्रकार जिसके तीन भेद होते हैं ऐसे केवलज्ञानरूप नेत्रको आप धारण करते हैं इसलिये आप ही त्रिनेत्र कहलाते हैं ॥ ७२ ॥ आपने मोहरूपी अंधासुरका नाश किया है, इसलिये आप अंधकांतक कहलाते हैं, आठ कर्मरूपी शत्रुओंमेंसे आपके आधे शत्रु अर्थात् चार घातिया कर्म नहीं हैं इसलिये आप अर्धनारीश्वर (अर्ध-न-अरि-ईश्वर) कहलाते हैं ॥ ७३ ॥ आप शिवपद अर्थात् मोक्षस्थानमें निवास करते हैं इसलिये शिव कहे जाते हैं, पापरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं इसलिये हर कहलाते हैं, जगतमें आनंद करनेवाले हैं इसलिये शंकर कहलाते हैं और सुखसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव कहे जाते हैं ॥ ७४ ॥ जगतमें श्रेष्ठ होनेसे वृषभ कहलाते हैं आपमें बहुतसे गुण प्रसिद्ध होनेसे पुरु कहे जाते हैं, महाराज नाभिरायसे आप उत्पन्न हुये हैं इसलिये नाभेय कहलाते हैं और इक्ष्वाकु कुलमें उत्पन्न हुये हैं इसलिये इक्ष्वाकुकुलनंदन कहे जाते हैं ॥ ७५ ॥ सब पुरुषोंमे श्रेष्ठ आप एक ही हैं, लोगोंके नेत्र होनेसे आप दो रूप धारण करते हैं तथा आपने मोक्षका मार्ग तीनरूपसे जाना है अथवा भूत भविष्यत वर्तमान तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये त्रिज्ञ अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको धारण करनेवाले वा

॥ ७६ ॥ चतुरशरणमांगल्यमूर्तिस्त्वं चतुरस्रधीः । पंचब्रह्ममयो देव पावनस्त्वं पुनीहि मा ॥ ७७ ॥ स्वर्गावतरणे तुभ्यं सद्योजातात्मने नमः । जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोस्तु ते ॥ ७८ ॥ सुनिष्क्रातावघोराय पद परममीयुषे । केवलज्ञानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते ॥ ७९ ॥ पुरस्तत्पुरुषत्वेन विमुक्तिपदभागिने । नमस्तात्पुरुषावस्था भाविनी तेऽद्य बिभ्रते ॥ ८० ॥ ज्ञानावरणनिर्ह्रासान्नमस्तेनंतचक्षुषे । दर्शनावरणोच्छेदान्नमस्ते विश्वदृश्वने ॥८१॥ नमो दर्शनमोहघ्ने क्षायिकामलदृष्टये । नमश्चारित्रमोहघ्ने विरागाय महौजसे ॥ ८२ ॥ नमस्तेनंतवीर्याय नमोनंतसुखात्मने । नमस्तेनंतलोकाय लोकालो-

---

तीनोंकालके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं ॥ ७६ ॥ अरहंत सिद्ध साधु और केवलीप्रणीत धर्म ये चार शरण तथा मंगलरूप हैं आप इन चारोंरूप हैं इसके सिवाय आप चतुरस्रधी अर्थात् चारोंओरके समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कहलाते हैं। हे देव ! आप ही पंच परमेष्ठीखरूप, हैं अतिशय पवित्र हैं इसलिये मुझे भी पवित्र कीजिये ॥ ७७ ॥ हे भगवन् ! आप स्वर्गवतारके समय ही सद्योजात (अर्थात् उसीसमय उत्पन्न होनेवाले) कहलाये थे इसलिये आपको नमस्कार हो। आप जन्माभिषेकके समय बहुत ही सुंदर दिखाई पडते थे इसलिये हे वामदेव आपको नमस्कार हो ॥ ७८ ॥ दीक्षाकल्याणके समय आपने परम शांतता धारण की थी तथा केवल ज्ञानके समय आप परम पदको प्राप्त हुये और ईश्वर कहलाये इसलिये आपको बार २ नमस्कार हो ॥ ७९ ॥ अब आगे शुद्ध आत्मस्वरूपके द्वारा मोक्षस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये आगामी कालमें सिद्ध अवस्थाको धारण करनेवाले आपकेलिये आज ही मेरा नमस्कार हो ॥ ८० ॥ ज्ञानावरण कर्मके नाश होनेसे आप अनंतज्ञानी कहलाते हैं तथा दर्शनावरण कर्मके नाश होनेसे आप विश्वदृश्वा अर्थात् समस्त जगतको देखनेवाले कहलाते हैं इसलिये हे देव ! आपकेलिये नमस्कार हो ॥ ८१॥ आप दर्शनमोहनीयके नाश करनेवाले तथा निर्मल क्षायिकसम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले हैं, इसीप्रकार चारित्र मोहनीयकर्मको नाश करनेवाले हैं, वीतराग और अतिशय तेजस्वी हैं इसलिये आ-

कावलोकिने ॥ ८३ ॥ नमस्तेनंतदानाय नमस्तेनंतलब्धये । नमस्तेनंतभोगाय नमोनंतोपभोगिने ॥ ८४ ॥ नमः परमयोगाय नमस्तुभ्यमयोनये । नमः परमपूताय नमस्ते परमर्षये ॥८५॥ नम· परमविद्याय नमः परमतच्छिदे । नमः परमतत्त्वाय नमस्ते परमात्मने ॥८६॥ नमः परमरूपाय नम· परमतेजसे । नम. परममार्गाय नमस्ते परमेष्ठिने ॥ ८७ ॥ परम भेजुषे धाम परमज्योतिषे नम· । नमः पारेतम.प्राप्तधाम्ने परतरात्मने ॥ ८८ ॥ नम. क्षीणकलकाय

पकेलिये नमस्कार हो ॥ ८२ ॥ अनंत वीर्यको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो, अनंतसुखको धारण करनेवाले आपकेलिये नमस्कार हो तथा लोक अलोकको देखनेवाले और अनंत प्रकाशरूप आपकेलिये नमस्कार हो ॥ ८३ ॥ दानांतराय कर्मके नाश होनेसे आपको अनंत दानकी प्राप्ति हुई है इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंत लब्धियोंको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अनंतभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, तथा आप अनंत उपभोगको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८४ ॥ आप परमध्यानी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप चौरासी लाख योनियोंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम पवित्र हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परम ऋषि वा सर्वोत्कृष्ट मुनि हैं इसलिये आपको नसस्कार हो ॥ ८५ ॥ आप परमाविद्या अर्थात् केवलज्ञानको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप अन्य सब मतोंका नाश करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप परमतत्त्वस्वरूप हैं अर्थात् रत्नत्रयरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो तथा आप सर्वोत्कृष्ट परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८६ ॥ आप बहुत सुंदर रूपको धारण करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम तेजस्वी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप रत्नत्रयरूप होनेसे साक्षात् मोक्षमार्गस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और आप परमस्थानमें रहनेवाले परमेष्ठी हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८७ ॥ आप मोक्षस्थानको सेवन करनेवाले हैं तथा परम

क्षीणबध नमोस्तु ते । नमस्ते क्षीणमोहाय क्षीणदोपास्तु ते नमः ॥ ८९ ॥ नमः सुगतये तुभ्यं शोभना गतिमीयुषे । नमस्तेतींद्रियज्ञानसुखायानिंद्रियात्मने ॥९०॥ कायबंधननिर्मोक्षादकायाय नमोस्तु ते । नमस्तुभ्यमयोगाय योगिनामधियोगिने ॥९१॥ अवेदाय नमस्तुभ्यमकषायाय ते नमः । नमः परमयोगींद्रवंदिताङ्घ्रिद्वयाय ते ॥९२॥ नमः परमविज्ञान नमः परमसंयम । नमः परमदृग्दृष्टपरमार्थाय तायिने ॥९३॥ नमस्तुभ्यमलेश्याय शुद्धलेश्यांशकस्पृशे ।

ज्योतिस्वरूप हैं इसलिये आपको नमस्कार हो; आप अज्ञानरूपी अंधकारके पारंगत अर्थात् सर्वज्ञ हैं और इसलिये ही प्रकाशरूप हैं तथा सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ८८ ॥ आप कर्मरूपी कलंकसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप कर्मोंके बंधनसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आपका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है इसलिये आपको नमस्कार हो और आप सब दोषोंसे रहित हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ८९ ॥ आप मोक्षरूपी शुभगतिको प्राप्त होनेवाले सुगति हैं इसलिये आपको नमस्कार हो आप अतींद्रिय (जो इंद्रियोंसे न जाना जाय) ज्ञान सुखको धारण करनेवाले हैं तथा स्वयं इंद्रियोंके अगोचर अतींद्रिय हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९० ॥ आप शरीरका बंधन नामके नामकर्मको नष्ट करनेसे शरीर रहित कहलाते हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप मनवचनकायके योगोंसे रहित हैं और योगियोंमें भी सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९१ ॥ आप स्त्रीपुंनपुंसक तीनों वेदोंसे रहित हैं इसलिये आपको मनस्कार हो, आप कषायरहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो और परम योगिराज भी आपके दोनों चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९२ ॥ हे परमविज्ञान ! अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको धारण करनेवाले ! आपकेलिये नमस्कार हो परमसंयम अर्थात् उत्कृष्ट चारित्रको धारण करनेवाले! आपकेलिये नमस्कार हो। हे देव ! आप परमदृष्टिसे परमार्थको देखनेवाले हैं तथा जगतकी रक्षा करनेवाले है इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥९३॥ आप लेश्याओंसे

नमो भव्येतरावस्थाव्यतीताय विमोक्षिणे ॥९४॥ सञ्ज्ञासंज्ञिद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने । नमस्ते वीतसंज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥९५॥ अनाहाराय तृप्ताय नमः परमभाजुषे । व्यतीताशेषदोषाय भवाब्धेः पारमीयुषे ॥९६॥ अजराय नमस्तुभ्यं नमस्ते स्तादजन्मने । अमृत्यवे नमस्तुभ्यमचलायाक्षरात्मने ॥९७॥ अलमास्तां गुणस्तोत्रमनंतास्तावका गुणाः । त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥ ९८ ॥ प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिं । नाम्नामष्टसहस्रेण

रहित हैं तथापि शुद्ध शुक्ललेश्याके कुछ उत्तम अंशोंको स्पर्श करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप भव्य अभव्य दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं और मुक्तरूप हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९४ ॥ आप सेनी असेनी दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं, निर्मल शुद्ध आत्माको धारण करनेवाले हैं तथा आहार भय मैथुन और परिग्रह चारों संज्ञाओंसे रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, इसके सिवाय आप क्षायिक सम्यग्दृष्टी हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९५ ॥ आप आहार रहित होकर भी सदा तृप्त रहते हैं, अतिशय कांतियुक्त हैं, समस्त दोषोंसे रहित हैं और संसाररूपी समुद्रके पार पहुंचे हुये हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ ९६ ॥ आप जरा रहित हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप जन्मरहित हैं इसलिये आपको नस्मकार हो, आप मृत्युरहित हैं तथा अचल और अविनश्वर हैं इसलिये भी आपको नमस्कार हो ॥ ९७ ॥ हे देव ! आपके अनंतगुण हैं सबका स्तोत्र हो नहीं सकता इसलिये अब आपके गुणोंका स्तोत्र बंद कर केवल आपके नामोंको स्मरण करके ही आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥ ९८ ॥ आप समस्त वाणियोंके स्वामी हैं, आपके एक हजार आठ लक्षण प्रसिद्ध हैं इसलिये हमलोग भी अपनी इष्टसिद्धिकेलिये एक हजार आठ नामोंसे आपकी स्तुति करते हैं ॥ ९९ ॥ आप अनंत चतुष्टयरूप अंतरंग लक्ष्मी और समवसरणरूप बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित हैं इसलिये श्रीमान् १ कहलाते हैं, अपने आप उत्पन्न हुये हैं, अथवा बिना गुरुके अपने आप समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं, अथवा अपने ही आत्मामें

तोष्टुमोभीष्टसिद्धये ॥९९॥ श्रीमान् स्वयम्भूर्वृषभः शंभव शंभुरात्मभूः । स्वयप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥१००॥ विश्वात्मा विश्वलोकेशो विश्वतश्चक्षुरक्षरः ।

रहते हैं, अथवा आपने अपने आप ही अपना कल्याण किया है, अथवा अपने ही गुणोंसे आप वृद्धिको प्राप्त हुये हैं, अपने आप केवलज्ञान और केवलदर्शनके द्वारा समस्त लोकालोकमें व्याप्त हो रहे हैं, वा भव्य जीवोंको मोक्षरूप संपत्ति देनेवाले हैं, वा द्रव्य पर्यायोंको अपने आप जान सकते हैं, अथवा ध्यान करनेवाले योगियोंको आप प्रत्यक्ष दिखाई पडते हैं, अथवा लोकशिखरपर अपने आप जाकर विराजमान होते हैं इसलिये आप स्वयंभू २ कहलाते हैं, आप वृष अर्थात् धर्मसे भा अर्थात् सुशोभित रहते हैं अथवा धर्मकी वर्षा करते हैं अथवा भक्त लोगोंको इष्टवस्तुकी वर्षा करनेवाले हैं इसलिये वृषभ ३ कहलाते हैं, आपसे सब जीवोंको सुख मिलता है अथवा आपका भव अर्थात् जन्म अत्यंत ही उत्कृष्ट है अथवा आप सुखपूर्वक उत्पन्न हुये हैं इसलिये शंभव वा संभव ४ कहलाते हैं, आप परमानंद मोक्षरूप सुखको देनेवाले हैं इसलिये शंभु ५ कहलाते हैं, आप अपने आत्माके द्वारा ही कृतकृत्य हुये हैं अथवा शुद्ध बुद्ध चिच्चमत्कारस्वरूप आत्मामें ही रहते हैं अथवा ध्यानके द्वारा योगियोंकी आत्मामें ही प्रत्यक्ष होतं हैं इसलिये आत्मभू ६ कहे जाते हैं, आप अपने आप ही प्रकाशमान होते हैं किंवा शोभायमान होते हैं इसलिये स्वयंप्रभ ७ कहलाते हैं, सबके स्वामी हैं वा समर्थ हैं इसलिये प्रभु ८ हैं, परमानंद स्वरूप सुखका उपभोग करनेवाले हैं इसलिये भोक्ता ९ हैं, केवल ज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त हैं वा समस्त लोकमें मंगल करनेवाले हैं अथवा ध्यानादिके द्वारा समस्तलोकमें प्रत्यक्ष प्रगट होते हैं अथवा समस्त लोकालोकको जाननेवाले हैं, इसलिये विश्वभू १० हैं, तथा अब आपका जन्म मरण रूप संसार बाकी नहीं है वा अब आप संसारमें उत्पन्न नहीं होंगे इसलिये ही आपको अपुनर्भव ११ कहते हैं ॥ १०० ॥ आप समस्त लोकको अपने समान जानते हैं

विश्वविद्विश्वविद्येशो विश्वयोनिरनश्वर॰ ॥ १०१ ॥ विश्वदृश्वा विभुर्धाता विश्वेशो विश्वलोचनः । विश्वव्यापी विधुर्वेधा शाश्वतो विश्वतोमुखः ॥ १०२ ॥

अथवा आप विश्व अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हैं इससिये विश्वात्मा १२ कहे जाते हैं, तीनों लोकोंमें र-
हनेवाले समस्त प्राणियोंके आप स्वामी हैं इसलिये विश्वलोकेश १३ हैं, आपके चक्षु अर्थात् केवल द-
र्शन समस्त जगतमें व्याप्त है इसलिये विश्वतश्चक्षु १४ हैं, कभी नाश नहीं होते इसलिये अक्षर १५
हैं, छह द्रव्योंसे भरे हुये इस विश्व अर्थात् जगतको जानते हैं इसलिये विश्ववित् १६ हैं, समस्त वि-
द्याओंके ईश्वर हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं अथवा समस्त विद्याओंके जाननेवाले गणधरादि-
कोंके स्वामी हैं इसलिये विश्वविद्येश १७ कहे जाते हैं, समस्त पदार्थोंकी उत्पत्तिके कारण हैं अर्थात्
सव पदार्थोंका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये विश्वयोनि १८ कहलाते हैं, तथा आपके स्वरूपका कभी
विनाश नहीं होता इसलिये अनश्वर १९ कहे जाते हैं ॥ १०१ ॥ समस्त लोक अलोकको देखनेसे
विश्वदृश्वा २० कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा सवजगह व्याप्त हैं अथवा जीवोंको संसारसे पार करने
में समर्थ हैं अथवा परम विभूति संयुक्त हैं इसलिये आपको विभु २१ कहते हैं, चारों गतियोंमें परि-
भ्रमण करनेवाले जीवोंका उद्धारकर मोक्षस्थानमें पहुंचानेवाले हैं, अथवा दयालु होनेसे सव
जीवोंकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये धाता २२ कहलाते हैं, समस्त जगतके स्वामी होनेसे वि-
श्वेश २३ कहे जाते हैं, समस्त जीवोंको सुखकी प्राप्तिका उपाय दिखलाया है इसलिये सव
जीवोंको नेत्रोंके समान होनेसे विश्वलोचन २४ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा समस्त लोकालोकमें
व्याप्त हैं अथवा केवलिसमुद्घात करतेसमय आपके आत्माके प्रदेश समस्त लोकाकाशमें व्याप्त हो
जाते हैं इसलिये आपको विश्वव्यापी २५ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेवाले हैं अथवा केवलज्ञानरू-
पी किरणोंके द्वारा मोहरूपी अंधकारको नाश करनेवाले हैं इसलिये विधु २६ कहे जाते हैं, ध-

विश्वकर्मा जगज्ज्येष्ठो विश्वमूर्तिर्जिनेश्वरः । विश्वदृग्विश्वभूतेशो विश्वज्योतिरनीश्वरः ॥ १०२ ॥ जिनो जिष्णुरमेयात्मा विश्वरीशो जगत्पतिः । अनन्तजि

मेरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले हैं इसलिये वेधा २७ कहलाते हैं, नित्य हैं सदा विद्यमान रहते हैं इसलिये शास्वत २८ कहे जाते हैं, तथा आपके चारों दिशाओंमें चार मुख दिखते हैं, अथवा आपके मुखके दर्शन करनेमात्रसे जीवोंका संसार नष्ट हो जाता है, अथवा विश्वतोमुख नाम जलका है आप जलके समान कर्मरूप मलको धोनेवाले हैं विषयोंकी तृष्णाको नष्ट करनेवाले और अत्यंत स्वच्छ हैं इसलिये विश्वतोमुख २९ कहलाते हैं ॥ १०२ ॥ आपके मतमें समस्त कर्म ही दुख देनेवाले हैं अथवा आपने जीविकाके लिये छह कर्मोंका उपदेश दिया है इसलिये आपको विश्वकर्मा ३० कहते हैं, जगतके समस्त प्राणियोंमें आप वृद्ध हैं अथवा श्रेष्ठ हैं इसलिये जगज्ज्येष्ठ ३१ कहते हैं, आप अनंतगुणमय हैं इसलिये विश्वमूर्ति ३२ कहलाते हैं, अनेक कर्मोंके नाश करनेसे गणधरदेवोंको अथवा चौथे गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थानतक रहनेवाले जीवोंको जिन कहते हैं आप उनके ईश्वर हैं इसलिये आपको जिनेश्वर ३३ कहते हैं, समस्त जगतको देखते हैं इसलिये विश्वदृक् ३४ कहलाते हैं, समस्त प्राणियोंके ईश्वर हैं अथवा तीनों लोकोंकी लक्ष्मीके स्वामी हैं इसलिये विश्वभूतेश ३५ कहे जाते हैं, आपका केवल दर्शन रूपी तेज सब जगह भरा हुआ है अथवा आप समस्त जगतको प्रकाश करनेवाले हैं इसलिये विश्वज्योति ३६ कहलाते हैं, आपका कोई ईश्वर वा स्वामी नहीं है इसलिये आपको अनीश्वर ३७ कहते हैं ॥ १०३ ॥ आपने कर्मरूपी शत्रु अथवा काम क्रोध आदि रागद्वेष शत्रु जीते हैं इसलिये जिन ३८ कहलाते हैं आपका स्वभाव ही सबसे उत्कृष्ट रूप किंवा प्रकाशरूप है इसलिये जिष्णु ३९ कहे जाते हैं, आपका ज्ञान प्रमाण रहित अनंत है इसलिये अमेयात्मा ४० कहलाते हैं, विश्वरी अर्थात् पृथ्वीके ईश अर्थात् स्वामी हैं इसलिये विश्वरीश ४१ कहलाते हैं, तीनों

दचिंत्यात्मा भव्यबंधुरबंधनः ॥ १०४ ॥ युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचब्रह्ममयः शिवः । परः परतरः सूक्ष्मः परमेष्ठी सनातनः ॥ १०५ ॥ स्वयंज्योतिरजोजन्मा ब्रह्मयोनिरयोनिजः । मोहारिविजयी जेता धर्मचक्री दयाध्वजः ॥ १०६ ॥ प्रशांतारिरनंतात्मा योगी योगीश्वरार्चितः । ब्रह्मवित् ब्रह्मतत्त्वज्ञो ब्रह्मोद्या-

लोकोंके स्वामी हैं इसलिये जगतपति ४२ कहे जाते हैं, अनंत संसारको जीतनेवाले हैं अथवा मोक्षको रोकनेवाले अनंत नामके ग्रहको जीतनेवाले हैं इसलिये अनंताजित् ४३ कहे जाते हैं, आपके आत्माका स्वरूप मनसे भी चिंतवन नहीं किया जा सकता इसलिये आपको अचिंत्यात्मा ४४ कहते हैं, भव्य जीवोंका आप सदा उपकार करते हैं इसलिये भव्यबंधु ४५ कहलाते हैं, आपके कर्मका बंध नहीं है, अथवा घातिया कर्मोंके द्वारा आप बंधे हुये नहीं हे इसलिये आप अबंधन ४६ कहे जाते हैं ॥ १०४॥ आप कर्मभूमिके प्रारंभमें हुये हैं इसलिये युगादिपुरुष ४७ कहलाते हैं, आपके यहां केवल ज्ञान आदि समस्त गुण वृद्धिको प्राप्त होते हैं इसलिये ब्रह्मा ४८ कहे जाते हैं, पंच परमेष्ठी स्वरूप हैं इसलिये पंचब्रह्ममय ४९ कहलाते हैं, सदा परमानंदमें रहते हैं अथवा सबका कल्याण करनेवाले हैं इसलिये आपको शिव ५० कहते हैं, आप जीवोंको मोक्षस्थानमें पहुंचाते हैं इसलिये पर ५१ कहे जाते हैं, धर्मोपदेश देनेसे सबके गुरु हैं किंवा सबसे श्रेष्ठ हैं इसलिये परतर ५२ कहलाते, हैं इंद्रियोंके द्वारा आप जाने नहीं जा सकते केवल ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं इसलिये सूक्ष्म ५३ कहलाते हैं, इंद्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसे मोक्षस्थानमें किंवा अरहंत पदमें रहते हैं इसलिये परमेष्ठी ५४ कहलाते हैं, और तीनों कालोंमें आप सदा नित्य रहते हैं इसलिये सनातन ५५ कहे जाते हैं ॥ १०५ ॥ आप स्वयं प्रकाशरूप हैं इसलिये स्वयंज्योति ५६ हैं, संसारमें उत्पन्न नहीं होते इसलिये अज ५७ हैं, कभी शरीर धारण नहीं करते इसलिये अजन्मा ५८ हैं, आप ब्रह्म अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी योनि अर्थात् खानि हैं इसलिये ब्रह्मयोनि ५९ कहे जाते हैं, मोक्षस्थानमें चोरासी लाख योनियोंसे र-

विघ्रतीश्वर: ॥१०७॥ शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धात्मा सिद्धार्थ सिद्धशासनः । सिद्धसिद्धांतविद्ध्येय: सिद्धसाध्यो जगद्धित: ॥१०८॥ सहिष्णुरच्युतोनंत: प्रभविष्णु-

हित होकर उत्पन्न होते हैं इसलिये अयोनिज ६० कहलाते हैं, आप मोहनीय कर्मरूपी शत्रुके जीतनेवाले हैं इसलिये मोहारि विजयी ६१ कहे जाते हैं, सबसे उत्कृष्ट रीतिसे रहते हैं इसलिये जेता ६२ कहे जाते हैं, गमन करते समय सदा आपके आगे धर्मचक्र रहता है इसलिये आपको धर्मचक्री ६३ कहते हैं, तथा सब प्राणियोंपर दया करना ही आपकी प्रसिद्ध ध्वजा फहरा रही है इसलिये आप दयाध्वज ६४ कहलाते हैं ॥१०६॥ आपके कर्मरूप शत्रु शांत हो गये हैं इसलिये प्रशांतारि ६५ कहलाते हैं अनंतगुणोंको धारण करनेवाले हैं, अथवा आपका आत्मा कभी नष्ट नहीं होता अथवा आप केवलज्ञानी हैं इसलिये अनंतात्मा ६६ कहे जाते हैं, आपने अपने योगोंका निरोध किया है इसलिये योगी ६७ हैं, गणधरादि योगीश्वर भी आपकी पूजा करते हैं इसलिये योगीश्वरार्चित ६८ हैं, आप अपने ब्रह्म अर्थात् आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये ब्रह्मवित् ६९ हैं, ब्रह्मतत्त्व अर्थात् आत्मतत्त्वका अथवा केवलज्ञानका वा दयाका अथवा कामदेवके नष्ट करनेका मर्म जानते हैं इसलिये ब्रह्मतत्त्वज्ञ ७० हैं, ब्रह्म अर्थात् आत्माके द्वारा कहे हुये समस्त तत्त्वोंको अथवा आत्मविद्याको जानते हैं इसलिये ब्रह्मोद्यावित् ७१ कहलाते हैं, रत्नत्रय सिद्ध करनेवाले यतियोंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिये यतीश्वर ७२ कहे जाते हैं ॥ १०७ ॥ क्रोध आदि कषायोंसे रहित होनेसे शुद्ध ७३ हैं, केवलज्ञानी होनेसे अथवा सबको जाननेसे बुद्ध ७४ हैं, अपने आत्माका स्वरूप जानते हैं इसलिये प्रबुद्धात्मा ७५ हैं, धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों पुरुषार्थ आपको सिद्ध हो चुके हैं अथवा मोक्ष प्राप्त होनेका ही आपका मुख्य प्रयोजन है अथवा आपके द्वारा जीवादि पदार्थोंकी सिद्धि होती है अथवा मोक्षके अर्थ अर्थात् कारण रत्नत्रय आपको सिद्ध हुये हैं इसलिये आपको सिद्धार्थ ७६ कहते हैं, आपका शासन अर्थात् मत पूर्ण वा प्रसिद्ध-

है इसलिये सिद्धशासन ७७ कहते हैं, कर्मोंको नाश करनेसे सिद्ध ७८ कहलाते हैं, द्वादशांगसिद्धांतके पारगामी हैं इसलिये सिद्धांतवित् ७९ कहलाते हैं, योगीलोग भी आपका ध्यान करते हैं इसलिये ध्येय ८० हैं, मुनिलोग भी आपकी आराधना करते हैं अथवा सिद्ध जातिके देव आपकी आराधना करते हैं इसलिये सिद्धसाध्य ८१ कहे जाते हैं, तथा आप जगतका हित अथवा उपकार करते हैं इसलिये आपको जगतहित कहते ८२ हैं ॥ १०८ ॥ सहनशील होनेसे सहिष्णु ८३ हैं, आत्माके स्वरूपसे कभी च्युत नहीं होते इसलिये अच्युत ८४ हैं आपके गुणोंका अंत नहीं वा विनाश नहीं इसलिये अनंत ८५ है, आपमें अनंत शक्ति है इसलिये प्रभविष्णु ८६ हैं, संसारमें जन्ममरण होना आपका नष्ट होगया है अथवा संसारमें आपका जन्म उत्कृष्ट गिना जाता है इसलिये आप भवोद्भव ८७ हैं, अपनी स्वाभाविक परिणातिसे समय समयमें परिणत होते हैं अथवा सौ इंद्रोंके प्रभुत्व प्राप्त होनेका आपका स्वभाव है इसलिये प्रभूष्णु ८८ कहलाते हैं, जरा अर्थात् बुढापारहित हैं इसलिये अजर ८९ हैं, कोई भी आपको जीत नहीं सकता इसलिये अजय्य ९० है, करोडों सूर्य चंद्रमाकी कांतिसे भी आपकी कांति अधिक है इसलिये आपको भ्राजिष्णु ९१ कहते हैं, आप पूर्ण ज्ञानके स्वामी हैं इसलिये धीश्वर ९२ हैं, सदा अविनश्वर हैं कभी नाशरूप किंवा कम जियादा नहीं होते इसलिये अव्यय ९३ कहलाते हैं ॥ १०९ ॥ कर्मरूपी ईंधनको जलानेसे विभावसु अर्थात् अग्नि हैं, मोहरूपी अंधकारको नाश करनेसे विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा धर्मरूपी अमृतकी वर्षा करनेसे

१ किसी २ पुस्तकमें सिद्धसिद्धांतवित् एक नाम है जिनके मतमें यह एक नाम है दो नहीं है उनके मतमें इकसठवां मोहारिविजयी नामके मोहारि और विजयी ऐसे दो नाम गिनायेगये हैं ।

दिव्यभाषापतिर्दिव्यः पूतवाक् पूतशासनः । पूतात्मा परमज्योतिर्धर्माध्यक्षो दमीश्वरः ॥ १११ ॥ श्रीपतिर्भगवानर्हन्नरजा विरजाः शुचिः । तीर्थकृत्केवली-

विभावसु अर्थात् सूर्य हैं, अथवा रागद्वेष आदि विभाव परिणामोंको आपने नाश किया है इसलिये भी विभावसु ९४ कहे जाते है, संसारमें उत्पन्न होना आपका स्वभाव नहीं है इसलिये असंभूष्णु ९५ हैं, अपने आप ही आप प्रगट अर्थात् प्रकाशरूप हुये हैं इसलिये स्वयंभूष्णु ९६ कहलाते हैं, अनादि सिद्ध हैं इसलिये पुरातन ९७ हैं, आपका आत्मा परमोत्कृष्ट है इसलिये आपको परमात्मा ९८ कहते हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले हैं इसलिये परंज्योति ९९ कहे जाते है और तीनों लोकोंमें आप उत्कृष्ट हैं अथवा तीनों लोकोंके आप स्वामी हैं इसलिये आप त्रिजगत्परमेश्वर १०० कहलाते हैं ॥ ११० ॥ आप दिव्यध्वनिके स्वामी हैं इसलिये दिव्यभाषापति १०१ हैं, अतिशय मनोहर होनेसे दिव्य १०२ हैं, आपकी वाणी निर्दोष है इसलिये आपको पूतवाक् १०३ कहते हैं आपका उपदेश वा मत पवित्र है इसलिये पूतशासन १०४ हैं, आपका आत्मा पवित्र है अथवा आप भव्यजीवोंको पवित्र करते हैं इसलिये पूतात्मा १०५ हैं, आपका केवलज्ञानरूपी तेज सर्वोत्कृष्ट है इसलिये परमज्योति १०६ हैं, धर्मके अधिकारी हैं इसलिये धर्माध्यक्ष १०७ हैं, और इंद्रियोंको निग्रह करनेमें श्रेष्ठ हैं इसलिये दमीश्वर १०८॥ १११ ॥ हैं मोक्षादि लक्ष्मीके भोक्ता वा स्वामी हैं अतएव श्रीपति १०९ हैं, महाज्ञानी होनेसे भगवान् ११० हैं, परम पूज्य होनेसे किंवा सबके द्वारा आराधना करनेयोग्य होनेसे अर्हन् १११ हैं कर्मरूपी रज रहित होनेसे अरजा ११२ हैं, आपके द्वारा भव्यजीवोंके कर्ममल दूर होते हैं अथवा आप ज्ञानावरण दर्शनावरणरहित हैं अतएव विरजा ११३ हैं, परम पवित्र हैं किंवा पूर्ण ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले हैं अथवा मलमूत्ररहित हैं अथवा मोहरहित हैं अतएव शुचि ११४ हैं, धर्मरूप तीर्थके कर्ता हैं अथवा संसारसे पार करने-

शानः पूजार्हः स्नातकोऽमलः ॥ ११२ ॥ अनंतदीप्तिर्ज्ञानात्मा स्वयंबुद्धः प्रजापतिः । मुक्तः शक्तो निराबाधो निष्कलो भुवनेश्वरः ॥ ११३ ॥ निरंज-

वाले द्वादशांगरूप तीर्थके कर्ता हैं इसलिये तीर्थकृत् ११५ हैं, केवलज्ञानी होनेसे केवली ११६ हैं अनंत शक्तिमान् किंवा सबके ईश्वर होनेसे ईशान ११७ हैं, आप आठ प्रकारकी पूजाके योग्य होनेसे पूजार्ह ११८ हैं, घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे किंवा पूर्णज्ञान होनेसे स्नातक ११९ हैं और धातु उपधातु आदि मलरहित होनेसे अमल १२० हैं ॥ ११२ ॥ आपकी केवलज्ञानरूपी दीप्ति अनंत हैं अथवा आपकी शरीरकी कांति अनंत है इसलिये आपको अनंतदीप्ति १२१ कहते हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ज्ञानात्मा १२२ कहलाते हैं, अपने आप ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त हुये हैं अथवा विना गुरुके स्वयं महाज्ञानी हुये हैं इसलिये स्वयंबुद्ध १२३ कहलाते हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे किंवा सबको उपदेश देनेसे प्रजापति १२४ हैं, संसार और कर्मोंसे रहित होनेसे मुक्त १२५ हैं, समर्थ होनेसे अथवा अनंत शक्ति होनेसे शक्त १२६ हैं, बाधारहित होनेसे वा दुखरहित होनेसे निराबाध १२७ हैं, शरीर रहित होनेसे निष्कल १२८ हैं, और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे भुवनेश्वर १२९ हैं ॥ ११३ ॥ कर्मरूपी अंजनसे रहित होनेसे निरंजन १३० कहलाते हैं, जगतको प्रकाशित करनेसे अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे जगज्ज्योति १३१ हैं, आपके वचन पूर्वापर अविरुद्ध होनेसे प्रमाण हैं इसलिये आपको निरुक्तोक्ति १३२ कहते हैं, रोगरहित अथवा पसीना रहित होनेसे अनामय १३३ हैं, अनंतकाल बीतनेपर भी आपकी स्थिति अचल रहती है इसलिये अचलस्थिति १३४ हैं, व्याकुलतारहित होनेसे अथवा आपकी शांतिका कभी भंग न होनेसे अक्षोभ्य १३५ कहलाते हैं, सदा नित्य रहनेसे अथवा लोकशिखरपर विराजमान होनेसे कूटस्थ १३६ कहे जाते हैं, गमनागमनरहित होनेसे स्थाणु १३७ हैं और क्षयरहित होनेसे अक्षय १३८ हैं, ॥ ११४ ॥ तीनों लो-

नो जगज्ज्योतिर्निरुक्तोक्तिरनामय. । अचलस्थितिरक्षोभ्यः कूटस्थः स्थाणुरक्षय ॥ ११४ ॥ अग्रणीर्ग्रामणीर्नेता प्रणेता न्यायशास्त्रकृत् । शास्ता धर्मपतिर्धर्म्यो धर्मात्मा धर्मतीर्थकृत् ॥ ११५ ॥ वृषध्वजो वृषाधीशो वृषकेतुर्वृषायुधः । वृषो वृषपतिर्भर्ता वृषभाङ्को वृषोद्भवः ॥ ११६ ॥ हिरण्यनाभिर्भूतात्मा

कोंमें मुख्य होनेसे अग्रणी १३९ हैं, मोक्षपदको प्राप्त होनेसे ग्रामणी १४० कहे जाते हैं समस्त प्रजाको धर्मके अनुसार चलाते हैं अतएव नेता १४१ हैं, शास्त्रको उत्पन्न करनेवाले हैं किंवा धर्म वा मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाले हैं इसलिये प्रणेता १४२ कहे जाते हैं, प्रमाण और नयोंका स्वरूप दिखानेवाले शास्त्रोंके कहनेवाले हैं इसलिये न्यायशास्त्रकृत् १४३ कहलाते हैं, सबको हितरूप उपदेश देनेसे शास्ता १४४ हैं, रत्नत्रय धर्मके अथवा उत्तम क्षमा आदि धर्मोंके स्वामी होनेसे धर्मपति १४५ हैं, धर्मस्वरूप होनेसे धर्म्य १४६ हैं, धर्मकी वृद्धि करनेसे धर्मात्मा १४७ हैं, और धर्मरूप तीर्थकी प्रवृत्ति करनेसे धर्मतीर्थकृत् १४८ कहलाते हैं ॥ ११५ ॥ आपकी ध्वजापर बैलका चिन्ह होनेसे अथवा वृष अर्थात् धर्मकी ध्वजा फहरानेसे वृषध्वज १४९ कहलाते हैं, अहिंसारूप धर्मके स्वामी होनेसे वृषाधीश १५० हैं, धर्मको प्रसिद्ध करनेसे वृषकेतु १५१ हैं, कर्मरूप शत्रुको नाश करनेकेलिये आपने धर्मरूपी शस्त्र धारण कर रक्खा है इसलिये वृषायुध १५२ कहलाते हैं, धर्मकी वृष्टि करनेसे वृष १५३ हैं, धर्मके नायक होनेसे वृषपति १५४ हैं, सबके स्वामी होनेसे भर्ता १५५ हैं, बैलका चिन्ह होनेसे वृषभाक १५६ हैं, माताको स्वप्नमें वृषभ दिखाई देकर आप उत्पन्न हुये हैं अथवा महापुण्यसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये वृषोद्भव १५७ कहलाते हैं ॥ ११६ ॥ सुंदर नाभि होनेसे अथवा नाभिराजाकी संतति होनेसे हिरण्यनाभि १५८ हैं, आपका स्वरूप यथार्थ है कभी नाश नहीं होता इसलिये आप भूतात्मा १५९ हैं, जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा कल्याण करनेसे भूतभृत् १६० कहे जाते हैं, आपकी भावना सदा मंगलरूप है इसलिये भूतभावन १६१ कहलाते हैं, आपका जन्म प्रशंसनीय है अथवा आपसे आपके वं-

भूतभृद्भूतभावनः । प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवांतकः ॥११७॥ हिरण्यगर्भ श्रीगर्भः प्रभूतविभवोऽभवः । स्वयंप्रभु प्रभूतात्मा भूतनाथो जगत्प्रभुः ॥११८॥ सर्वादिः सर्वदृक् सार्वः सर्वज्ञः सर्वदर्शन. । सर्वात्मा सर्वलोकेश सर्ववित्सर्वलोकजित् ॥११९॥ सुगतिः सुश्रुतः सुश्रुत् सुवाक् सूरिर्व-

शकी वृद्धि हुई है इसलिये प्रभव १६२ कहे जाते हैं, संसाररहित होनेसे विभव १६३ हैं केवलज्ञानरूपी कांतिसे प्रकाशमान होनेसे भास्वान् १६४ हैं, समय समयमें आपमें उत्पाद होता रहता है इसलिये आप भव १६५ हैं, अपने स्वभावमें सदा लीन हैं इसलिये भाव १६६ हैं, और भव अर्थात् संसार परिभ्रमणका आपने नाश किया है इसलिये आप भवांतक १६७ कहलाते हैं ॥ ११७ ॥ आपके गर्भावतारके समय सुवर्णकी वृष्टि हुई थी इसलिये आपको हिरण्यगर्भ १६८ कहते हैं, आपके गर्भावतारके समय लक्ष्मीने भी सेवा की थी अथवा आपके अंतरंगमें स्फुरायमान लक्ष्मी शोभायमान है इसलिये आपको श्रीगर्भ १६९ कहते हैं, अनंत विभूतिके स्वामी होनेसे आपको प्रभूतविभव १७० कहते हैं, जन्मरहित होनेसे अभव १७१ कहे जाते हैं, अपने आप समर्थ होनेसे स्वयंप्रभु १७२ कहलाते हैं, केवलज्ञानके द्वारा आपका आत्मा व्याप्त होनेसे प्रभूतात्मा १७३ कहते हैं समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे भूतनाथ १७४ और तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगत्प्रभु १७५ कहे जाते हैं ॥११८॥ सबसे प्रथम अर्थात् श्रेष्ठ होनेसे सर्वादि १७६ हैं, समस्त लोकालोकको देखनेसे सर्वदृक् १७७ हैं, हितोपदेश देकर सबका कल्याण करनेसे सार्व १७८ हैं, सबको जाननेसे सर्वज्ञ १७९ हैं, पूर्ण सम्यक्त्वको धारण करनेसे सर्वदर्शन १८० हैं, सबको प्रिय होनेसे सर्वात्मा १८१ हैं, तीनों लोकोंके समस्त जीवोंके स्वामी होनेसे सर्वलोकेश१८२ हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञाता होनेसे सर्ववित् १८३ हैं, तथा अनंतवीर्य होनेके कारण समस्त लोकको जीतनेवाले हैं इसलिये सर्वलोकजित् १८४ कहलाते हैं ॥११९॥ आपकी पंचम मोक्षगति अतिशय सुंदर होनेसे अथवा आपका ज्ञान प्रशंसनीय होनेसे सुगति १८५ कहलाते हैं, अत्यंत प्रसिद्ध होनेसे अथवा उत्तम शास्त्रज्ञानको

ड्रश्रुत । विश्रुतो विश्वत.पादो विश्वशीर्ष. शुचिश्रवा ॥१२०॥ सहस्रशीर्ष. क्षेत्रज्ञ. सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूतभव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वर. ॥१२१॥ स्थविष्ठ. स्थविरो ज्येष्ठः पृष्ठ' प्रेष्ठो वरिष्ठधी. । स्थेष्ठो गरिष्ठो वंहिष्ठः श्रेष्ठोऽणिष्ठो गरिष्ठगी' ॥१२२॥ विश्वमुट् विश्वसृट् विश्वेट् विश्वभुग्विश्वनायकः ।

धारण करनेसे सुश्रुत १८६ हैं, भक्तोंकी प्रार्थनाको अच्छीतरह सुनते हैं इसलिये सुश्रुत् १८७ कहलाते हैं, आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप होनेसे अथवा हितोपदेश देनेसे सुवाक् १८८ कहते हैं, सबके गुरु होनेसे सूरि १८९ हैं, शास्त्रोंके पारगामी होनेसे बहुश्रुत १९० हैं, जगत प्रसिद्ध होनेसे अथवा शास्त्रोंसे भी आपका यथार्थ स्वरूप नहीं जाना जाता इसलिये आप विश्रुत १९१ हैं, आपकी केवलज्ञानरूपी किरणें सबओर फैली हुई हैं इसलिये आपको विश्वतःपाद १९२ कहते हैं, लोकके शिखरपर विराजमान होनेसे विश्वशीर्ष १९३ हैं, तथा आपका ज्ञान अत्यंत निर्दोष है इसलिये आपको शुचिश्रवा १९४ कहते हैं ॥ १२० ॥ अनंत सुखी होनेसे सहस्रशीर्ष १९५ हैं, आत्माका स्वरूप जाननेसे अथवा लोकालोकको जाननेसे क्षेत्रज्ञ १९६ हैं, अनंतदर्शी होनेसे सहस्राक्ष १९७ हैं, अनंत वीर्यको धारण करनेसे सहस्रपात् १९८ हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके स्वामी होनेसे भूतभव्यभवद्भर्ता १९९ हैं, और समस्त विद्याओंके अथवा केवलज्ञानके स्वामी होनेसे विश्वविद्यामहेश्वर २०० कहे जाते हैं ॥ १२१ ॥ सद्गुणोंसे पूर्ण होनेसे अथवा आपके प्रदेशोंमें समस्त जीवोंको अवकाश देनेकी शक्ति होनेसे आपको स्थविष्ट २०१ कहते हैं, आदि अंतरहित होनेसे अत्यंत वृद्ध हैं अथवा ज्ञानसे वृद्ध हैं इसलिये स्थविर २०२ कहते हैं, मुख्य होनेसे ज्येष्ठ २०३ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे पृष्ठ २०४ हैं, अत्यंत प्रिय होनेसे प्रेष्ठ २०५ हैं, अतिशय बुद्धिको धारण करनेसे वरिष्ठधी २०६ कहलाते हैं, अत्यंत स्थिर अर्थात् अविनाशी होनेसे स्थेष्ठ २०७ कहेजाते हैं, अत्यंतगुरु होनेसे गरिष्ट २०८ हैं, अनंतगुणोंको धारण करनेसे अथवा अनेक स्वरूप होनेसे वंहिष्ठ २०९ हैं, प्रशंसनीय होनेसे श्रेष्ठ २१० हैं, अतिशय सूक्ष्म अर्थात् केवलज्ञानके

विश्वासी विश्वरूपात्मा विश्वजिद्विजितांतकः ॥१२३॥ विभवो विभयो वीरो विशोको विजरोजरन्। विरागो विरतोसंगो विविक्तो वीतमत्सरः ॥१२४॥

गोचर होनेसे अणिष्ठ २११ कहलाते हैं, तथा आपकी वाणी पूज्य होनेसे गरिष्टगी २१२ कहे जाते हैं ॥१२२॥ चतुर्गतिरूप संसारको नाश करनेसे विश्वमुद् २१३ हैं, विधि विधानके कर्ता होनेसे विश्वसृट् २१४ हैं, तीनों भुवनोंका स्वामी होनेसे विश्वेट् २१५ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे विश्वभुक् २१६ हैं, सबके स्वामी होनेसे विश्वनायक २१७ हैं, समस्त प्राणियोंके विश्वास योग्य होनेसे अथवा केवलज्ञानके द्वारा सब जगह निवास करनेसे विश्वासी २१८ कहे जाते हैं, विश्वरूप अर्थात् केवलज्ञान ही आपका स्वरूप है, अथवा आपका आत्मा अनंतस्वरूप है इसलिये आपको विश्वरूपात्मा २१९ कहते हैं, संसारको जीतनेसे विश्वजित् २२० और कालको जीतलेनेसे विजितांतक २२१ कहलाते हैं, ॥१२३॥ आपके किसीप्रकारका मनोविकार नहीं है इसलिये आपको विभव २२२ कहते हैं, भयरहित होनेसे विभय २२३ कहते हैं, लक्ष्मीका स्वामी होनेसे अथवा अतिशय बलशाली होनेसे वीर २२४ हैं, शोक रहित होनेसे विशोक २२५ हैं, जरा रहित होनेसे विजर २२६ हैं, नवीन न होनेसे अर्थात् अनादिकालीन होनेसे जरन् वा वृद्ध २२७ हैं, रागरहित होनेसे विराग २२८ हैं, समस्त विषयोंसे विरक्त होनेसे विरत २२९ हैं, पर वस्तुका संबंध न रखनेसे असंग २३० हैं, एकाकी अथवा पवित्र होनेसे विविक्त २३१ हैं और किसीसे ईर्षा द्वेष न करनेसे वीतमत्सर २३२ कहे जाते हैं ॥ १२४ ॥ अपने भक्त लोगोंके आप बंधु हैं इसलिये विनेयजनताबंधु २३३ हैं, कर्मरूपी समस्त कालिमासे रहित होनेसे विलीनाशेषकल्मष २३४ हैं, अन्य किसी वस्तुके साथ संबंध न होनेसे अथवा योग रहित होनेसे वियोग २३५ हैं, योगके जानकार होनेसे योगवित् २३६ हैं, महापंडित अथवा पूर्णज्ञानी होनेसे विद्वान् २३७ हैं, धर्मरूप सृष्टिके कर्ता होनेसे अथवा सबके गुरु होनेसे विधाता २३८ हैं, आपका अनुष्ठान वा क्रिया अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे सुविधि २३९ हैं, अतिशय बुद्धिमान होनेसे

विनेयजनतावधुर्विलीनाशेषकल्मषः । वियोगो योगविद्विद्वान् विधाता सुविधिः सुधीः ॥१२५॥ क्षांतिभाक् पृथिवीमूर्तिः शांतिभाक् सलिलात्मकः । वायुमूर्तिरसंगात्मा वन्हिमूर्तिरधर्मधक् ॥१२६॥ सुयज्वा यजमानात्मा सुत्वा सुत्रामपूजितः । ऋत्विग्यज्ञपतिर्यज्यो यज्ञागममृतं हविः ॥१२७॥ व्योममूर्तिरमू-

सुधी २४० हैं, ॥ १२५ ॥ उत्तम क्षमाको धारण करनेसे क्षांतिभाक् २४१ कहे जाते हैं, पृथ्वीके समान सबको सहन करनेकी शक्ति होनेसे पृथिवीमूर्ति २४२ हैं, शांतता धारण करनेसे शांतिभाक् २४३ हैं, जलके समान अत्यंत निर्मल होनेसे तथा अन्य जीवोंको कर्ममलरहित शुद्ध करनेसे सलिलात्मक २४४ कहे जाते हैं, वायुके समान परके संबंधसे रहित होनेसे वायुमूर्ति २४५ हैं, परिग्रह रहित होनेसे असंगात्मा २४६ हैं, अग्निके समान ऊर्ध्वगमन स्वभाव होनेसे अथवा कर्मरूपी इंधनको जलानेसे वन्हिमूर्त्ति २४७ हैं और अधर्मका नाश करनेसे अधर्मधक् २४८ कहलाते हैं ॥ १२६ ॥ कर्मरूप सामग्रीका होम करनेसे सुयज्वा २४९ हैं, स्वभावभावका आराधन करनेसे अथवा भाव पूजाके कर्ता होनेसे यजमानात्मा २५० हैं, परमानंद सागरमें अभिषेक करनेसे सुत्वा २५१ हैं, इंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे सुत्रामपूजित २५२ हैं ध्यानरूपी अग्निमें शुभाशुभरूप कर्मोंको भस्म करनेमें अथवा ज्ञानरूप यज्ञ करनेमें आचार्य कहलाते हैं इसलिये आपको ऋत्विक् २५३ कहते हैं, यज्ञके मुख्य अधिकारी होनेसे यज्ञपति २५४ हैं, पूज्य होनेसे यज्य २५५ हैं यज्ञके साधन अर्थात् मुख्य कारण होनेसे यज्ञांग २५६ हैं, मरण रहित होनेसे अथवा संसार तृष्णाको निवारण करनेसे अमृत २५७ हैं और अपने आत्मामें तल्लीन रहनेसे हवि २५८ हैं ॥१२७॥ आकाशके समान निर्मल अथवा केवलज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी होनेसे व्योममूर्ति २५९ हैं, रूपरसगंध स्पर्श रहित होनेसे अमूर्त्तात्मा २६० हैं, कर्मरूपी लेपसे रहित होनेसे निर्लेप २६१ हैं, रागादि रहित होनेसे अथवा मलमूत्रादि रहित होनेसे निर्मल २६२ हैं, सर्वदा स्थिर रहनेसे अचल २६३ हैं, चंद्रमाके समान प्रकाशमान और शांत होनेसे अथवा अत्यंत सुशोभित होनेसे सोममूर्ति २६४ हैं, अतिशय सौम्य होनेसे सुसौम्यात्मा २६५ हैं, सूर्यके स-

र्तात्मा निर्लेपो निर्मलोऽचलः । सोममूर्तिः सुसौम्यात्मा सूर्यमूर्तिर्महाप्रभः ॥ १२८ ॥ मंत्रविन्मंत्रकृन्मंत्री मंत्रमूर्तिरनंतगः । स्वतंत्रस्तंत्रकृत्स्वंतः कृतांतांतः कृतांतकृत् ॥१२९॥ कृती कृतार्थः सत्कृत्यः कृतकृत्यः कृतक्रतुः । नित्यो मृत्युंजयोऽमृत्युरमृतात्माऽमृतोद्भवः ॥ १३० ॥ ब्रह्मनिष्ठः परब्रह्म ब्रह्मात्मा ब्रह्म-

मान अत्यंत कांति सहित होनेसे सूर्यमूर्ति २६६ हैं और अतिशय प्रभावशाली होनेसे अथवा केवलज्ञान-रूपी तेजसे सुशोभित होनेसे महाप्रभ २६७ हैं, ॥ १२८ ॥ मंत्रके जाननेवाले होनेसे मंत्रवित् २६८ कहे जाते हैं, प्रथमानुयोग आदि चारों अनुयोगरूप मंत्रोंके अथवा जप करनेयोग मंत्रोंके कर्ता होनेसे मंत्र-कृत् २६९ हैं, आत्माको विचार करनेसे अथवा लोककी रक्षा करनेसे अथवा मुख्य होनेसे मंत्री २७० हैं, मंत्रस्वरूप होनेसे मंत्रमूर्ति २७१ हैं, अनंतज्ञानी होनेसे अनंतग २७२ हैं, स्वाधीन होनेसे अथवा आत्मा ही आपका सिद्धांत होनेसे स्वतंत्र २७३ हैं, आगमके मुख्यकर्ता होनेसे तंत्रकृत् २७४ हैं, शुद्ध अंतःकरण होनेसे स्वंत २७५ है, यम अर्थात् मरणको नाश करनेसे कृतांतांत २७६ हैं, और पुण्यवृद्धिके कारण हो-नेसे कृतांतकृत् २७७ हैं ॥ १२९ ॥ प्रवीण अथवा अतिशय पुण्यवान् अथवा हरहरादि द्वारा पूज्य होनेसे कृती २७८ है, मोक्षरूप परमपुरुषार्थको सिद्ध करनेसे कृतार्थ २७९ हैं, आपका कृत्य अतिशय प्रशंसनीय होनेसे सत्कृत्य २८० हैं, करनेयोग्य समस्त कार्य करनेसे अथवा सब कार्य सफल होनेसे कृतकृत्य २८१ है, ध्यानरूपी अग्निमें कर्म नोकर्म आदिको भस्म करनेसे अथवा ज्ञानरूपी यज्ञको करनेसे, अथवा तप-श्चर्यारूपी यज्ञ समाप्त होनेसे कृतक्रतु २८२ हैं, अविनाशी होनेसे अर्थात् सदा वर्तमान रहनेसे नित्य २८३ हैं, मृत्युको जीतनेसे मृत्युंजय २८४ हैं, आपका आत्मा कभी मृत्युको प्राप्त नहीं होता इसलिये अमृत्यु २८५ हैं, मरणरहित होनेसे अथवा अमृतस्वरूप शांतिदायक होनेसे अमृतात्मा २८६ हैं और जन्ममरणरहित होनेसे अथवा अविनश्वर अवस्थाको प्राप्त होनेसे अथवा भव्यजीवोंको मोक्ष प्राप्तिका कारण होनेसे अ-मृतोद्भव २८७ हैं, ॥ १३० ॥ शुद्ध आत्मामें तल्लीन रहनेसे ब्रह्मनिष्ठ २८८ कहलाते हैं, सबमें उत्कृष्ट अथ-

सभवः । महाब्रह्मपति र्ब्रह्मेट् महाब्रह्मपदेश्वर ॥१३१॥ सुप्रसन्नः प्रसन्नात्मा ज्ञानधर्मदमप्रभु । प्रशमात्मा प्रशातात्मा पुराणपुरुषोत्तमः ॥१३२॥ महाशोकध्वजोऽशोकः कः स्रष्टा पद्मविष्टरः । पद्मेशः पद्मसभूतिः पद्मनाभिरनुत्तरः ॥१३३॥ पद्मयोनिर्जगद्योनिरित्यः स्तुत्यः स्तुतीश्वरः । स्तवनार्हो हृषीकेशो जितजे

वा उत्कृष्ट केवलज्ञानको धारण करनेसे परंब्रह्म २८९ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे ब्रह्मात्मा २९० हैं, आपसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है अथवा शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है इसलिये ब्रह्मसंभव २९१ हैं, गणधरादि बड़े २ ज्ञानियोंके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपति २९२ हैं, केवली भी आपकी स्तुति करते हैं अथवा केवलज्ञानके स्वामी हैं इसलिये ब्रह्मेट् २९३ हैं, तथा मोक्षके स्वामी अथवा समवसरणके स्वामी होनेसे महाब्रह्मपदेश्वर २९४ हैं ॥ १३१ ॥ भक्तोंको स्वर्गमोक्ष देनेसे अथवा सदा आनंदस्वरूप होनेसे सुप्रसन्न २९५ हैं, मलरहित होनेसे प्रसन्नात्मा २९६ हैं, केवलज्ञान दयाधर्म और इंद्रियनिग्रहरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे ज्ञानधर्मदमप्रभु २९७ कहलाते हैं, क्रोधादिरहित होनेसे प्रशमात्मा २९८ हैं परमशांतरूप होनेसे प्रशांतात्मा २९९ हैं, और अनादिकालसे मोक्षस्थानमें निवास करनेसे अथवा अनादिकालसे सदा होनेवाले त्रेसठशलाका पुरुषोंमें उत्कृष्ट होनेसे पुराणपुरुषोत्तम ३०० कहलाते हैं ॥ १३२ ॥ महा अशोकवृक्ष ही आपका चिन्ह है इसलिये आपको महाशोकध्वज ३०१ कहते हैं, शोकरहित होनेसे अशोक ३०२ कहते हैं, सबके पितामह होनेसे अथवा सबको सुख देनेसे क ३०३ कहते हैं भक्त लोगोंको स्वर्ग मोक्ष देनेसे स्रष्टा ३०४ हैं, आपका आसन कमल है वा कमल ही सिंहासन है इसलिये पद्मविष्टर ३०५ कहते हैं, लक्ष्मीके स्वामी होनेसे पद्मेश ३०६ हैं विहार करतेसमय इंद्रलोग आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं इसलिये पद्मसंभूति ३०७ कहते हैं, कमलके समान सुंदर नाभि होनेसे पद्मनाभि ३०८ कहेजाते हैं, तथा आपसे श्रेष्ठ अन्य कोई नहीं है अतएव अनुत्तर ३०९ कहलाते हैं ॥ १३३ ॥ लक्ष्मीके उत्पन्न होनेका स्थान होनेसे पद्मयोनि ३१० हैं, धर्मरूप जगतकी उत्पत्तिके कारण होनेसे जगतयोनि ३११ हैं, ज्ञानगम्य

य: कृतक्रिय. ॥१३४॥ गणाधिपो गणज्येष्ठो गण्य: पुण्यो गणाग्रणी: । गुणाकरो गुणाम्भोधिर्गुणज्ञो गुणनायक: ॥१३५॥ गुणादरी गुणोच्छेदी निर्गुण: पुण्यगी र्गुण: । शरण्य: पुण्यवाक् पूतो वरेण्य: पुण्यनायक. ॥१३६॥ अगण्य पुण्यधीर्गुण्य: पुण्यकृत्पुण्यशासन. । धर्मारामो गुणग्राम: पुण्यापुण्यनिरोधक: ॥१३७॥

होनेसे स्तुत्य ३१२ हैं, सबके द्वारा स्तुति करने योग्य होनेसे स्तुत्य ३१३ हैं, समस्त स्तुतियोंके ईश्वर होनेसे स्तुतीश्वर ३१४ हैं, स्तुतियोंके पात्र होनेसे स्तवनार्ह ३१५ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे हृषीकेश ३१६ हैं, काम क्रोध रागआदिको जीतलेनेसे जितजेय ३१७ हैं, आपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके कृत्य सब पूर्ण किये हैं इसलिये कृतक्रिय ३१८ हैं ॥ १३४ ॥ बारह प्रकारकी सभाओंका स्वामी होनेसे गणाधिप ३१९ हैं, समस्त संघके मुख्य होनेसे गणज्येष्ठ ३२० हैं, अनंत गुणोंके स्वामी होनेसे गण्य ३२१ हैं, पवित्र होनेसे पुण्य ३२२ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे गणाग्रणी ३२३ हैं गुणोंकी खानि होनेसे गुणाकर ३२४ हैं, गुणोंका समुद्र होनेसे गुणांभोधि ३२५ हैं, गुणोंको जाननेसे गुणज्ञ ३२६ हैं, तथा समस्त गुणोंके नायक होनेसे गुणनायक ३२७ हैं ॥ १३५ ॥ गुणोंका आदर करनेसे गुणादरी ३२८ हैं, क्रोधादि गुणोंका नाश करनेसे अथवा इंद्रियोंका नाश करनेसे गुणोच्छेदी ३२९ हैं, केवलज्ञानादिगुण निश्चितरूपसे होनेसे अथवा विभाव गुणोंका नाश करनेसे अथवा गुण अर्थात् तंतु वा वस्त्र रहित होनेसे निर्गुण ३३० हैं, आपकी वाणी पवित्र है इसलिये पुण्यगी ३३१ हैं, शुद्ध गुणस्वरूप होनेसे गुण ३३२ हैं, सबके शरणभूत होनेसे शरण्य ३३३ हैं पुण्यरूप वचन होनेसे पुण्यवाक् ३३४ हैं, पवित्र होनेसे पूत ३३५ हैं, सबमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जीवोंको अपनासा मुक्तस्वरूप करनेसे वरेण्य ३३६ हैं, तथा पुण्यके स्वामी होनेसे पुण्यनायक ३३७ हैं, ॥ १३६ ॥ आपका परिमाण नहीं किया जा सकता अथवा आपके गुण गिने नहीं जा सकते इसलिये अगण्य ३३८ हैं, पवित्र ज्ञान होनेसे पुण्यधी ३३९ हैं, सबका कल्याण करनेसे अथवा समवसरणके योग्य होनेसे गण्य ३४० हैं, पुण्यका

पापापेतो विपापात्मा विपाप्मा वीतकल्मषः । निर्द्वंद्वो निर्मदः शांतो निर्मोहो निरुपद्रवः ॥ १३८ ॥ निर्निमेषो निराहारो निष्क्रियो निरुपप्लवः । निष्कलंको निरस्तैना निर्धूतागो निरास्रवः ॥ १३९ ॥ विशालो विपुलज्योतिरतुलोऽचिंत्यवैभवः । सुसंवृतः सुगुप्तात्मा सुभृत् सुनयतत्त्ववित् ॥ १४० ॥

कर्ता होनेसे पुण्यकृत् ३४१ हैं, आपका मार्ग वा मत पुण्यरूप होनेसे पुण्यशासन ३४२ हैं, धर्मका बगीचारूप (समूह) होनेसे धर्माराम ३४३ हैं, गुणोंके समूह होनेसे गुणग्राम ३४४ हैं, तथा पुण्य और पाप दोनोंका निरोध करनेसे पुण्यापुण्यनिरोधक ३४५ कहे जाते हैं ॥ १३७ ॥ हिंसादि समस्त पापोंसे रहित होनेसे पापापेत ३४६ पापरहित होनेसे विपापात्मा ३४७ हैं, पापकर्म नष्ट होनेसे विपाप्मा ३४८ हैं, कर्ममल रहित होनेसे वीतकल्मष ३४९ हैं, परिग्रहरहित होनेसे निर्द्वंद्व ३५० अहंकार न होनेसे निर्मद ३५१ हैं, उपाधि रहित होनेसे शांत ३५२ हैं, मोहरहित होनेसे निर्मोह ३५३ हैं, तथा उपद्रवरहित होनेसे निरुपद्रव ३५४ हैं ॥ १३८ ॥ आपके नेत्रोंके पलक दूसरे पलकसे नहीं लगते हैं इसलिये निर्निमेष ३५५ हैं, कवलाहार न करनेसे निराहार ३५६ हैं, क्रिया रहित होनेसे निष्क्रिय ३५७ हैं, सबप्रकारके संकट रहित होनेसे निरुपप्लव ३५८ हैं, कलंकरहित होनेसे निष्कलंक ३५९ हैं, पापोंको दूर करनेसे निरस्तैना ३६० हैं, अपराधोंका नाश करनेसे निर्धूताग ३६१ हैं, तथा आस्रवरहित होनेसे निरास्रव ३६२ हैं ॥ १३९ ॥ अतिशय विशाल होनेसे विशाल ३६३ है, केवलज्ञानरूप अपार ज्योतिको धारण करनेसे विपुलज्योति ३६४ हैं, आपके समान अन्य कोई न होनेसे अतुल ३६५ हैं, आपकी विभूतिको कोई चिंतवन भी नहीं करसकता इसलिये अचिंत्यवैभव ३६६ हैं, संवररूप होनेसे अथवा गणधरादिकोंसे वेष्ठित रहनेसे सुसंवृत ३६७ हैं, आपका आत्मा गुप्त होनेसे अथवा आस्रवादिसे अलग होनेसे सुगुप्तात्मा ३६८ हैं, उत्तम ज्ञाता होनेसे सुभृत ३६९ हैं, तथा नैगम संग्रह आदि नयोंका मर्म जाननेसे सुनयतत्त्ववित् ३७० कहलाते हैं ॥ १४० ॥ एक केवलज्ञानको धारण करनेसे अथवा एक अध्यात्मविद्याको धारण करनेसे एकविद्य ३७१

एकविद्यो महाविद्यो मुनिः परिवृढः पतिः । धीशो विद्यानिधिः साक्षी विनेता विहतांतकः ॥ १४१ ॥ पिता पितामहः पाता पवित्रः पावनो गतिः । त्राता भिषग्वरो वर्यो वरदः परमः पुमान् ॥ १४२ ॥ कविः पुराणपुरुषो वर्षीयान् ऋषभः पुरुः । प्रतिष्ठाप्रसवो हेतुर्भुवनैकपितामहः ॥ १४३ ॥ श्री-

कहलाते हैं, अनेक विद्यायें धारण करनेसे महाविद्य ३७२ हैं, प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे मुनि ७३ हैं, तपस्वियोंके स्वामी होनेसे परिवृढ ७४ हैं, जगतकी रक्षा करनेसे अथवा दुख दूर करनेसे पति ७५ हैं, बुद्धिके स्वामी होनेसे धीश ७६ हैं, ज्ञानके सागर होनेसे विद्यानिधि ७७ हैं, त्रैलोक्यको प्रत्यक्ष जाननेसे साक्षी ७८ हैं, मोक्षमार्गको प्रगट करनेसे विनेता ७९ हैं, तथा यमका नाश करनेसे विहितांतक ८० कहे जाते हैं, ॥ १४१ ॥ नरकादि गतियोंसे रक्षा करनेसे पिता ८१ हैं, सबके गुरु होनेसे पितामह ८२ हैं, सबकी रक्षा करनेसे पाता ८३ हैं, भक्तोंको पवित्र करनेसे पवित्र ८४ हैं, सबको शुद्ध करनेसे पावन ८५ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे गति ८६ हैं, सबकी रक्षा करनेसे त्राता ८७ हैं, नाम लेनेसे ही समस्त रोगोंको अथवा जन्म जरा मरण आदि रोगोंको दूर करनेसे भिषग्वर अर्थात् उत्तम वैद्य ८८ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे वर्य ८९ हैं, स्वर्गमोक्षादिके देनेवाले हैं इसलिये वरद ९० हैं, भक्तोंकी इच्छा पूर्ण करनेसे परम ९१ हैं, अपने आत्माको तथा भक्तोंको पवित्र करनेसे पुमान् ९२ हैं ॥१४२॥ धर्म अधर्मका निरूपण करनेसे कवि ९३ हैं, अनादि कालीन होनेसे पुराणपुरुष ९४ हैं, अतिशय वृद्ध होनेसे वर्षीयान् ९५ हैं, ज्ञानी होनेसे ऋषभ ९६ हैं, सबमें अग्रगामी होनेसे पुरु ९७ हैं, आपसे स्थैर्य गुणकी उत्पति हुई है अथवा आपकी सेवा करनेसे यह जीव जगतमान्य हो जाता है इसलिये प्रतिष्ठाप्रसव ९८ हैं, मोक्षके साक्षात् कारण होनेसे अथवा सबको जाननेसे हेतु ९९ हैं, और तीनों लोकोंके जीवोंकी रक्षा करनेसे किंवा हितोपदेश देनेसे भुवनैकपितामह ४०० हैं ॥ १४३ ॥ श्रीवृक्षका चिन्ह होनेसे श्रीवृक्षलक्षण १ कहलाते हैं, सूक्ष्म होनेसे अथवा लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन करनेसे श्ल-

वृक्षलक्षणः श्लक्ष्णो लक्षण्यः शुभलक्षणः। निरक्षः पुण्डरीकाक्षः पुष्कलः पुष्करेक्षणः ॥ १४४ ॥ सिद्धिदः सिद्धसंकल्पः सिद्धात्मा सिद्धसाधनः। बुद्धबोध्यो महाबोधिर्वर्द्धमानो महर्द्धिकः ॥ १४५ ॥ वेदांगो वेदविद्वेद्यो जातरूपो विदांवरः। वेदवेद्यः स्वसंवेद्यो विवेदो वदतांवरः ॥ १४६ ॥ अनादिनि-

क्षण २ हैं, लक्षण सहित होनेसे लक्षण्य ३ हैं, अनेक शुभ लक्षण होनेसे शुभलक्षण ४ हैं, इंद्रियरहित होनेसे निरक्ष ५ हैं, कमलके समान सुंदर नेत्र होनेसे पुंडरीकाक्ष ६ हैं, केवलज्ञानसे वृद्धिगत होनेसे पुष्कल ७ हैं, और कमलदलके समान दीर्घ नेत्र होनेसे पुष्करेक्षण ८ हैं ॥ १४४ ॥ मोक्षरूप सिद्धिको देनेसे सिद्धिद ९ हैं, समस्त मनोरथ सफल होनेसे सिद्धसंकल्प १० हैं, पूर्ण आनंदस्वरूप होनेसे सिद्धात्मा ११ हैं, मोक्षमार्ग रूप साधन होनेसे सिद्धसाधन १२ हैं सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा अथवा विज्ञानियोंके द्वारा जाननेयोग्य होनेसे बुद्धबोध्य १३ हैं, आपका रत्नत्रय अत्यंत प्रशंसनीय होनेसे अथवा अतिशय ज्ञानी होनेसे महाबोधि १४ हैं, आपका पूज्यपना अतिशय बढा हुआ होनेसे वर्द्धमान १५ हैं, तथा बडी भारी विभूतिको धारण करनेसे महर्द्धिक १६ हैं ॥ १४५ ॥ प्रथमानुयोग आदि चारों वेदोंके कारण होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वेदांग १७ हैं, चारों अनुयोगोंको जाननेसे अथवा आत्माका स्वरूप जाननेसे वेदवित् १८ हैं, आगमके द्वारा जानने योग्य हैं इसलिये वेद्य १९ हैं, उत्पन्न होनेके समान ही आपका दिगंबर रूप है अथवा आप रूप रहित हैं इसलिये जातरूप २० हैं, विद्वानोंमें श्रेष्ठ होनेसे विदांवर २१ हैं, केवलज्ञानके द्वारा अथवा आगमके द्वारा जानने योग्य होनेसे वेदवेद्य २२ हैं, अनुभव गम्य होनेसे स्वसंवेद्य २३ हैं, विलक्षण ज्ञानी होनेसे अथवा आगमके अगोचर होनेसे विवेद २४ हैं, तथा वक्ताओंमें श्रेष्ठ होनेसे वदतांवर २५ हैं ॥१४६॥ आदि अंतरहित होनेसे अनादिनिधन २६ हैं, ज्ञानके द्वारा स्पष्ट प्रतिभासित होनेसे व्यक्त २७ हैं, आपके वचन समस्त प्राणियोंके समझने योग्य हैं, इसलिये आप व्यक्तवाक् २८ हैं, आपकी आज्ञा वा मत समस्त संसारमें

धनो व्यक्तो व्यक्तवाग्व्यक्तशासनः । युगादिकृद्युगाधारो युगादिर्जगदादिजः ॥ १४७ ॥ अतींद्रोतींद्रियो धींद्रो महेंद्रोतींद्रियार्थदृक् । अनिंद्रियोऽहमिंद्रार्च्यो महेंद्रमहितो महान् ॥ १४८ ॥ उद्भवः कारण कर्ता पारगो भवतारकः । अगाह्यो गहन गुह्य परार्घ्यः परमेश्वर. ॥ १४९ ॥ अनतर्द्धिरमेयर्द्धिरचिंत्यर्द्धिः

प्रसिद्ध होनेसे अथवा आपके कहे हुये शास्त्रोंमें पूर्वापर विरोध न होनेसे आप व्यक्तशासन २९ हैं, युगकी आदि अर्थात् कर्मभूमिके कर्ता हैं इसलिये युगादिकृत् ३० हैं, युगोंका आधार होनेसे युगाधार ३१ हैं, युगके प्रारंभमें होनेसे युगादि ३२ हैं, और जगतकी आदिमें अर्थात् कर्मभूमिकी आदिमें उत्पन्न होनेसे जगदादिज ३३ कहलाते हैं ॥ १४७ ॥ इंद्र नरेंद्र आदि सबके विशेष स्वामी होनेसे अतींद्र ३४ हैं इंद्रियगोचर न होनेसे अतींद्रिय ३५ हैं, ज्ञानके स्वामी होनेसे अथवा शुक्लध्यानके द्वारा परमात्मस्वरूप होनेसे धींद्र ३६ हैं, पूजाके अधिपति होनेसे अथवा इंद्रसे भी अधिक संपत्तिमान् होनेसे महेंद्र ३७ हैं, इंद्रिय और मनके अगोचर पदार्थोंको भी जाननेसे अतींद्रियार्थदृक् ३८ हैं, इंद्रियरहित होनेसे अनिंद्रिय ३९ हैं, अहमिंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे अहमिंद्रार्च्य ४० हैं, समस्त बडे २ इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रमहित ४१ हैं, तथा सबसे पूज्य व बडे होनेसे महान् ४२ हैं ॥ १४८ ॥ जन्ममरणरहित होनेसे अथवा आपका जन्म सर्वोत्कृष्ट होनेसे उद्भव ४३ हैं, मोक्षके कारण होनेसे कारण ४४ हैं, शुद्ध भावोंके कर्ता होनेसे कर्ता ४५ हैं, संसारसमुद्रके पारगामी होनेसे पारग ४६ हैं, भव्य जीवोंको संसारसमुद्रसे पार करदेनेसे भवतारक ४७ हैं, किसीके भी द्वारा अवगाहन न करनेसे अगाह्य ४८ हैं, आपका स्वरूप हर कोई नहीं जान सकता इसलिये गहन ४९ हैं, परम रहस्यरूप अर्थात् गुप्तरूप होनेसे गुह्य ५० हैं, उत्कृष्ट विभूतिके स्वामी होनेसे परार्घ्य ५१ हैं, और सबके स्वामी होनेसे अथवा मोक्षलक्ष्मीके स्वामी होनेसे परमेश्वर ५२ हैं ॥ १४९ ॥ अनंत ऋद्धियोंको धारण करनेसे अनंतर्द्धि ५३ हैं, अपरिमित ऐश्वर्यको धारण करनेसे अमेयर्द्धि

समग्रधीः । प्राग्र्य प्राग्रहरोऽभ्यग्र्यः प्रत्यग्रोऽग्र्योऽग्रिमोऽग्रज ॥१५०॥ महातपा महातेजा महोदर्को महोदयः । महायशा महाधामा महासत्त्वो महाधृति. ॥ १५१ ॥ महाधैर्यो महावीर्यो महासंपन्महाबल. । महाशक्तिर्महाज्योतिर्महाभूतिर्महाद्युति. ॥ १५२ ॥ महामतिर्महानीतिर्महाक्षान्तिर्महादय । म-

५४ हैं, आपकी संपत्तिका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता इसलिये आप अचिंत्यर्द्धि ५५ हैं, जगतके समस्त पदार्थोंको जानने योग्य पूर्ण ज्ञान होनेसे समग्रधी ५६ कहे जाते हैं, सबमें मुख्य होनेसे प्राग्र्य ५७ हैं, सबमें श्रेष्ठता प्राप्त करनेसे प्राग्रहर ५८ हैं, श्रेष्ठोंमें भी सबसे श्रेष्ठ होनेसे अभ्यग्र्य ४५९ हैं, बलवानोंमें भी अत्यंत श्रेष्ठ होनेसे अथवा लोकका मुख्यभाग पसंद करनेसे प्रत्यग्र ४६० हैं, सबके नायक होनेसे अग्र्य ४६१ हैं, सबके अग्रेसर होनेसे अग्रिम ४६२ हैं, तथा सबसे बडे होनेसे अग्रज ४६३ हैं ॥ १५० ॥ कठिन कठिन तपश्चरण करनेसे महातपा ४६४ हैं, अतिशय तेजस्वी होनेसे अथवा अतिशय पुण्यवान् होनेसे महातेजा ६५ हैं, आपकी तपश्चर्याका फल सबसे बडा अर्थात् केवलज्ञान है इसलिये आप महोदर्क ६६ कहलाते हैं, अतिशय प्रतापी होनेसे अथवा आपका जन्म सबको आनंद देनेवाला होनेसे महोदय ६७ हैं, अतिशय यशस्वी होनेसे महायशा ६८ हैं, अतिशय प्रकाशरूप होनेसे महाधामा ६९ हैं, अतिशय बलवान् होनेसे महासत्त्व ७० हैं और अतिशय धीर वीर होनेसे महाधृति ७१ हैं ॥१५१॥ कभी भी व्यग्र न होनेसे महाधैर्य ७२ हैं, अतिशय सामर्थ्यवान् होनेसे महावीर्य ७३ हैं, समवसरण रूप अद्वितीय विभूतिको धारण करनेसे महासंपत् ७४ हैं, अतिशय बलवान् होनेसे महाबल ७५ हैं, अनंत शक्ति होनेसे महाशक्ति ७६ हैं, अतिशय कांतियुक्त होनेसे महाज्योति ७७ हैं, पंचकल्याणकोंकी महाविभूतिके स्वामी होनेसे महाभूति ७८ हैं, और अतिशय शोभायमान होनेसे महाद्युति ७९ हैं ॥१५२॥ अतिशय बुद्धिमान् होनेसे महामति ८० हैं, अतिशय न्यायवान् होनेसे महानीति ८१ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षांति ८२ हैं, अतिशय दयालु होनेसे महादय ८३ हैं, अतिशय प्रवीण

हाप्राज्ञो महाभागो महानंदो महाकविः ॥ १५३ ॥ महामहा महाकीर्तिर्महाकान्तिर्महावपुः । महादानो महाज्ञानो महायोगो महागुणः ॥ १५४ ॥ महामहपतिः प्राप्तमहाकल्याणपंचकः । महाप्रभुर्महाप्रातिहार्याधीशो महेश्वरः ॥ १५५ ॥ महामुनिर्महामौनी महाध्यानी महादमः । महाक्षमो महाशीलो म-

होनेसे महाप्राज्ञ ८४ हैं, अतिशय भाग्यशाली होनेसे महाभाग ८५ हैं, अतिशय आनंद स्वरूप होनेसे अथवा भव्यजीवोंको आनंद देनेसे महानंद ८६ हैं, तथा शास्त्रोंके मुख्य कर्ता होनेसे महाकवि ८७ हैं ॥ १५३ ॥ अत्यंत तेजस्वी होनेसे महामहा ८८ हैं, आपकी कीर्ति सबजगह व्याप्त होनेसे महाकीर्ति ८९ हैं, अत्यंत कांतियुक्त होनेसे महाकांति ९० हैं, अतिशय सुंदर शरीर होनेसे महावपु ९१ हैं, वडे-भारी दानी होनेसे महादान ९२ हैं, सबसे वडे केवलज्ञानको धारण करनेसे महाज्ञान ९३ हैं, योगोंको अत्यंत निरोध करनेसे महायोग ९४ हैं, तथा लोकोंको कल्याण करनेवाले गुणोंसे सुशोभित होनेसे महागुण ९५ हैं ॥ १५४ ॥ पंचकल्याणरूप महा पूजाके स्वामी होनेसे महामहपति ९६ हैं, आपको गर्भावतार आदि पांचो कल्याण प्राप्त हुये हैं इसलिये प्राप्तमहाकल्याणपंचक ९७ कहे जाते हैं, अतिशय समर्थ अथवा सबसे वडे स्वामी होनेसे महाप्रभु ९८ हैं अशोकवृक्ष आदि आठों प्रातिहार्योंके स्वामी होनेसे महाप्रातिहार्याधीश ९९ हैं और इंद्रादि सब देवोंके अधीश्वर होनेसे महेश्वर ५०० कहलाते हैं ॥ १५५ ॥ सब मुनियोंमें उत्तम होनेसे अथवा प्रत्यक्षज्ञानी होनेसे महामुनि १ हैं, वचनालाप रहित होनेसे महामौनी २ हैं, शुक्लध्यानका ध्यान करनेसे महाध्यानी ३ हैं, विषय कषायोंको दमन करनेसे अथवा शक्तिमान् होनेसे महादम ४ हैं, अतिशय क्षमावान् होनेसे महाक्षम ५ हैं, पूर्ण ब्रह्मचारी होनेसे अथवा शीलयुक्त होनेसे महाशील ६ हैं, स्वाभाविक परिणतिरूप अग्निमें विभाव परिणतिरूप सामग्रीको हवनकर अथवा तपश्चरणरूप अग्निमें विषयाभिलाषाको हवनकर महायज्ञ करनेसे अथवा केवलज्ञानरूप महायज्ञ प्राप्त होनेसे महायज्ञ ७ कहलाते हैं, तथा अतिशय पूज्य होनेसे महाम-

हायज्ञो महामखः ॥ १५६ ॥ महाव्रतपतिर्मह्यो महाकांतिधरोऽधिपः। महामैत्रीमयोऽमेयो महोपायो महोमयः ॥ १५७ ॥ महाकारुणिको मंता महामंत्रो महायतिः। महानादो महाघोषो महेज्यो महसांपतिः ॥ १५८ ॥ महाध्वरधरो धुर्यो महौदार्यो महिष्ठवाक्। महात्मा महसांधाम महर्षिर्महितोदयः ॥ १५९ ॥ महाक्लेशांकुशः शूरो महाभूतपतिर्गुरुः। महापराक्रमोऽनंतो महाक्रोधरिपुर्वशी ॥ १६० ॥ महाभवाब्धिसंतारी महामोहाद्रिसूदनः। महागु

ख ८ कहे जाते हैं ॥ १५६ ॥ पंच महाव्रतोंके स्वामी होनेसे महाव्रतपति ९ हैं, जगतपूज्य होनेसे मह्य १० हैं, अत्यंत तेजको धारण करनेसे महाकांतिधर ११ हैं, समस्त जीवोंकी रक्षा करनेसे अथवा सबके स्वामी होनेसे अधिप १२ हैं, समस्त जवोंके साथ मैत्रीभाव रखनेसे महामैत्रीमय १३ हैं, किसी भी परिमाणसे गिने अथवा नापे नहीं जाते इसलिये अमेय १४ हैं, मोक्षकेलिये सवसे वडा उपाय करनेसे महोपाय १५ हैं, तथा मंगलमय, ज्ञानमय अथवा तेज स्वरूप होनेसे महोमय १६ कहलाते हैं ॥ १५७ ॥ सब जीवोंमें दया करनेसे महाकारुणिक १७ हैं, सवको जाननेसे मंता १८ हैं, अनेक मंत्रोंके स्वामी होनेसे महामंत्र १९ हैं, इंद्रियनिग्रह करनेवालोंमें सबसे श्रेष्ठ होनेसे महायति २० हैं, गंभीर दिव्यध्वनि सहित होनेसे महानाद २१ हैं, आपकी ध्वनि अतिशय सुंदर होनेसे महाघोष २२ हैं, वडे पुरुषोंके द्वारा पूज्य होनेसे अथवा केवलज्ञान रूप यज्ञ करनेसे महेज्य २३ हैं, और समस्त तेजके अधिकारी होनेसे महसांपति २४ हैं, ॥ १५८ ॥ अहिंसादि व्रतोंके धारण करनेसे महाध्वरधर २५ कहलाते हैं, धुरंधर होनेसे धुर्य २६ हैं, अतिशय उदार होनेसे महौदार्य २७ हैं, आपकी वाणी परम पूज्य होनेसे महिष्ठवाक् २८ हैं, सबमें बडे अथवा पूज्य होनेसे महात्मा २९ हैं, समस्तप्रकाश वा तेजके स्थान होनेसे महसांधाम ३० हैं, सबप्रकारकी ऋद्धियोंको प्राप्त होनेसे महर्षि १ हैं, और आपका तीर्थंकररूप अवतार सबको पूज्य होनेसे महितोदय २ कहलाते हैं ॥ १५९ ॥ वडे २ क्लेशोंको दूर करनेसे अथवा महाक्लेश अर्थात् तपश्चरणरूप अंकुशको धारण करनेसे महाक्लेशांकुश ३ हैं, घा-

णाकरः क्षांतो महायोगीश्वरः शमी ॥ १६१ ॥ महाध्यानपतिर्ध्यातमहाधर्मो महाव्रत. । महाकर्मारिहात्मज्ञो महादेवो महेशिता ॥ १६२ ॥ सर्वक्लेशापहः साधुः सर्वदोपहरो हर. । असख्येयोऽप्रमेयात्मा शमात्मा प्रशमाकरः ॥ १६३ ॥ सर्वयोगीश्वरोऽचिंत्यः श्रुतात्मा विष्टरश्रवाः । दातात्मा दमनीर्थेशो योगात्मा

तियाकर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे शूर ४ हैं, गणधर चक्रवर्ती आदि वडे २ पुरुषोंके स्वामी होनेसे महाभूतपति ५ हैं, सबको धर्मोपदेश देनेसे गुरु ६ हैं, अतिशय पराक्रमी होनेसे अथवा ज्ञानशक्ति अधिक होनेसे महापराक्रम ७ हैं, अंतरहित अपार होनेसे अनंत ८ हैं, क्रोधके भारी शत्रु होनेसे महाक्रोधरिपु ९ हैं और सबको वश करनेसे अथवा इंद्रियोंको वश करनेसे वशी ४० कहलाते हैं ॥ १६० ॥ संसाररूप महासागरसे पार कर देनेसे महाभवाब्धिसंतारी ४१ हैं, मोहरूपी महापर्वतको भेदन करनेसे महामोहाद्रिसूदन ४२ हैं, सम्यग्दर्शन आदि अनेक गुणोंकी खानि होनेसे महागुणाकर ४ कहलाते हैं, कषायरहित होनेसे क्षांत ४४ हैं, गणधर आदि महायोगियोंके स्वामी होनेसे महायोगीश्वर ४५ हैं तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेसे अथवा परम सुखी होनेसे शमी ४६ कहलाते हैं ॥ १६१ ॥ परम शुक्लध्यानके स्वामी होनेसे महाध्यानपति ४७ हैं, अहिंसाधर्मका ध्यान करनेसे ध्यातमहाधर्म ४८ हैं, महाव्रतोंको धारण करनेसे महाव्रत ४९ हैं, कर्मरूप महा शत्रुओंको नाश करनेसे महाकर्मारिहा ५० हैं, आत्माका स्वरूप जाननेसे आत्मज्ञ ५१ हैं, समस्त देवोंके स्वामी होनेसे महादेव ५२ हैं, तथा विलक्षण ऐश्वर्यको धारण करनेसे महेशिता ५ कहलाते हैं ॥ १६२ ॥ शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको दूर करनेसे सर्वक्लेशापह ५४ हैं, निश्चय रत्नत्रयको सिद्ध करनेसे साधु ५५ हैं, भव्य जीवोंके समस्त दोप दूर करनेसे सर्वदोषाहर ५६ हैं, अनेक जन्मोंके किये हुये पापोंको हरण करनेसे हर ५७ हैं, असंख्यात गुणोंको धारण करनेसे असंख्येय ५८ हैं, प्रमाणरहित शक्तिको धारण करनेसे अप्रमेयात्मा ५९ हैं, परम शांतस्वरूप होनेसे शमात्मा ६० हैं, तथा शांतताकी खानि होनेसे प्रशमा-

ज्ञानसर्वग: ॥ १६४ ॥ प्रधानमात्मा प्रकृति परम परमोदय: । प्रक्षीणबंध कामारि क्षेमकृत्क्षेमशासन ॥ १६५ ॥ प्रणव. प्रणय प्राण प्राणद. प्रणतेश्वर. । प्रमाण प्रणिधिर्दक्षो दक्षिणोऽध्वर्युरध्वर ॥ १६६ ॥ आनंदो नंदनो नंदो वंद्योऽनिंद्योऽभिनंदन. । कामहा कामद: काम्य: कामधेनुर

कर ६१ हैं ॥ १६३ ॥ समस्त योगियोंके ईश्वर होनेसे सर्वयोगीश्वर ६२ हैं, किसीके चिंतवनमें नहीं आते इसलिये अचिंत्य ६३ हैं, समस्त शास्त्रोंके रहस्यरूप होनेसे अथवा भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे श्रुतात्मा ६४ हैं तीनोंलोकोंके समस्त पदार्थोंको जाननेसे विष्टरश्रवा ६५ हैं, जितेंद्रिय होनेसे अथवा सबको शिक्षा देनेसे दांतात्मा ६६ हैं, इंद्रियोंको दमन करनेरूप तीर्थके स्वामी होनेसे अथवा योगशास्त्रके स्वामी होनेसे दमतीर्थेश ६७ कहलाते हैं, योगस्वरूप होनेसे योगात्मा ६८ हैं, तथा ज्ञानके द्वारा सबजगह होनेसे ज्ञानसर्वग ६९ कहलाते हैं ॥ १६४ ॥ एकाग्रतासे आत्माका ध्यान करनेसे प्रधान ७० हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे आत्मा ७१ हैं, आपकी समवसरण रूप लक्ष्मी उत्कृष्ट है अथवा धर्मोपदेशरूप कार्य प्रशंसनीय है अथवा सबके कल्याणकारी हैं इसलिये प्रकृति ७२ हैं, उत्कृष्ट लक्ष्मीको धारण करनेसे परम ७३ हैं, परम उदयको धारण करनेसे अथवा आपका उदय कल्याणकारी होनेसे परमोदय ७४ हैं, कर्मबंध सब नष्ट होनेसे प्रक्षीणबंध ७५ हैं, कामदेवके परम शत्रु होनेसे कामारि ७६ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमकृत् ७७ हैं, और आपका उपदेश वा मत सबको कल्याणकारी होनेसे क्षेमशासन ७८ कहलाते हैं ॥ १६५ ॥ ओंकार स्वरूप होनेसे प्रणव ७ हैं, सबके मित्र होनेसे प्रणय ८० हैं, जगतको प्रिय होनेसे अथवा सबको शरण होनेसे प्राण ८१ हैं अतिशय दयालु होनेसे प्राणोंको देनेवाले हैं इसलिये प्राणद ८२ हैं, प्रणाम करते हुये इंद्रादिकोंके स्वामी हैं अथवा प्रणाम करते हुये भव्य जीवोंका पालन पोषण करनेवाले हैं इसलिये प्रणतेश्वर ८३ हैं, प्रमाण नयके वक्ता होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे वा ज्ञानका साधन होनेसे अथवा लोकप्रमाण वा देह प्रमाण होनेसे प्रमाण ८४ हैं,

रिंजयः ॥ १६७ ॥ असंस्कृतसुसंस्कारोऽप्राकृतो वैकृतांतकृत् । अतकृत्कांतगुः कांतश्चिंतामणिरभीष्टदः ॥ १६८ ॥ अजितो जितकामारिरमितोऽमितशासनः । जितक्रोधो जितामित्रो जितक्लेशो जितातंक. ॥ १६९ ॥ जिनेंद्रः परमानंदो मुनींद्रो दुंदुभिस्वनः । महेंद्रवंद्यो योगींद्रो यतींद्रो नाभिनंदनः

योगी लोग आपको बडी गुप्त रीतिसे चिंतवन करते हैं अथवा सबके मर्मों वा जाननेवाले हैं इसलिये आपको प्रणधि ८५ कहते हैं, मोक्ष प्राप्त करनेमें चतुर होनेसे दक्ष ८६ हैं, सरलस्वभाव होनेसे दक्षिण ८७ हैं, केवलज्ञानरूप यज्ञको करनेसे अथवा पापरूप कर्मोंका हवन करनेसे अध्वर्यु ८८ हैं, तथा सन्मार्गकी प्रवृत्ति करनेसे अध्वर ८९ हैं ॥ १६६ ॥ सदा संतुष्ट रहनेसे आनंद ९० हैं, सबको आनंद देनेसे नंदन ९१ हैं, सदा बढते रहनेसे नंद ९२ हैं, सबके द्वारा वंदना अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे वंद्य ९३ हैं, अठारह प्रकारके दोषोंसे रहित होनेके कारण सबप्रकारकी निंदाके अयोग्य हैं इसलिये अनिंद्य ९४ हैं, सर्वथा आनंददायक होनेसे अथवा आपके समवसरणके चारों वन भयरहित होनेसे अभिनंदन ९५ हैं, कामदेवको नाश करनेसे कामहा ९६ हैं, भक्त भव्य जीवोंकी इच्छा पूर्ण करदेनेसे कामद ९७ हैं, अतिशय मनोहर होनेसे अथवा आपकी प्राप्तिकी सबको इच्छा होनेसे काम्य ९८ हैं, इच्छित पदार्थोंको देनेसे कामधेनु ९९ हैं, और रागादि समस्त शत्रुओंको जीतलेनेसे अरिंजय ६०० कहलाते हैं ॥ १६७ ॥ बिना किसी संस्कारके स्वभावसे ही सुंदर होनेसे असंस्कृतसुसंस्कार १ हैं, आपका स्वरूप प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हुआ है असाधारण वा अद्वितीय है इसलिये आप अप्राकृत २ हैं, रोग अथवा विकारोंको नाश करनेसे वैकृतांतकृत् ३ हैं, जन्ममरणरूप संसारको नाश करनेसे अथवा मोक्षको समीप करनेसे अंतकृत् ४ हैं, सुंदर वाणी अथवा सुंदर प्रभा होनेसे कांतगु ५ हैं, शोभायुक्त होनेसे कांत ६ हैं, चिंतामणिके समान इच्छित पदार्थोंको देनेसे चिंतामणि ७ हैं, तथा भव्य जीवोंको इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कराते हैं इसलिये अभीष्टद ८ है ॥१६८॥ काम क्रोधादि किसी भी योद्धासे आप जीते नहीं जाते इसलिये अजित ९ हैं, कामरूप शत्रु

॥ १७० ॥ नाभेयो नाभिजोऽजातः सुव्रतो मनुरुत्तमः । अभेद्योऽनत्ययोऽनाश्वानधिकोऽधिगुरुः सुगीः ॥ १७१ ॥ सुमेधा विक्रमी स्वामी दुराधर्षो निरुत्सुकः । विशिष्टः शिष्टभुक् शिष्टः प्रत्ययः कामनोऽनघः ॥ १७२ ॥ क्षेमी क्षेमंकरोऽक्षय्यः क्षेमधर्मपतिः क्षमी । अग्राह्यो ज्ञाननिग्राह्यो ध्यानगम्यो

को जीतनेसे जितकामारि १० हैं, मर्यादारहित होनेसे अमित ११ हैं, आपका शासन अपार होनेसे अमितशासन १२ हैं, क्रोधको जीतलेनेसे जितक्रोध १३ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेसे जितामित्र १४ हैं, समस्त क्लेशोंको जीतनेसे जितक्लेश १५ हैं, और यमको जीतनेसे जितांतक १६ कहे जाते हैं ॥ १६९ ॥ गणधरादि जिनोंके इंद्र होनेसे जिनेंद्र १७ हैं, उत्कृष्ट आनंदस्वरूप होनेसे परमानंद १८ हैं, मुनियोंके इंद्र होनेसे मुनींद्र १९ हैं, दुंदुभियोंके समान आपकी ध्वनि होनेसे दुंदुभिस्वन २० हैं, महेंद्रके द्वारा पूज्य होनेसे महेंद्रवंद्य २१ हैं, योगियोंके इंद्र होनेसे योगींद्र २२ हैं, यतियोंके इंद्र होनेसे यतींद्र २३ हैं, और महाराज नाभिके पुत्र होनेसे नाभिनंदन २४ कहलाते हैं ॥ १७० ॥ पिताका नाम नाभि होनेसे नाभेय २५ कहलाते हैं, महाराज नाभिके घर जन्म लेनेसे नाभिज २६ हैं, उत्पत्तिरहित होनेसे अजात २७ हैं, अहिंसा आदि उत्तम व्रत होनेसे सुव्रत २८ हैं, कर्मभूमिकी रचनाका अथवा मोक्षमार्गका स्वरूप बतानेसे मनु २९ हैं, सबसे श्रेष्ठ होनेसे उत्तम ३० हैं, किसीसे भी आपका भेदन नहीं हो सकता इसलिये अभेद्य ३१ हैं, नाशरहित होनेसे अनत्यय ३२ हैं, अनशन आदि तपश्चरण करनेसे अनाश्वान ३३ हैं, सबमें अधिक अर्थात् पूज्य होनेसे अधिक ३४ हैं, सबसे उत्तम उपदेश देनेसे अधिगुरु ३५ हैं, तथा आपकी दिव्यध्वनि सबको कल्याणकारी होनेसे सुगी ३६ कहलाते हैं ॥ १७१ ॥ सम्यग्ज्ञान होनेसे सुमेधा ३७ हैं, महापराक्रमी होनेसे विक्रमी ३८ हैं, सबके स्वामी होनेसे अथवा सब पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानी होनेसे स्वामी ३९ हैं, किसीके द्वारा निवारण नहीं किये जाते इसलिये दुराधर्ष ४० हैं, अभिलाषा रहित होनेसे अथवा स्थिरस्वभाव होनेसे निरुत्सुक ४१ हैं, विशेषरूप होनेसे विशिष्ट ४२ हैं, शिष्ट पुरुषोंका

निरुत्तरः ॥ १७३ ॥ सुकृती धातुरिज्यार्हः सुनयश्चतुराननः । श्रीनिवासश्चतुर्वक्रश्चतुरास्यश्चतुर्मुखः ॥ १७४ ॥ सत्यात्मा सत्यविज्ञानः सत्यवाक् सत्यशासनः । सत्याशीः सत्यसंधानः सत्यः सत्यपरायणः ॥ १७५ ॥ स्थेयान् स्थवीयान्नेदीयान् दवीयान् दूरदर्शनः । अणोरणीयाननणुर्गुरुराद्यो गरीयसां

पालन करनेसे शिष्टभुक् ४३ हैं, रागद्वेष मोह आदि दोषोंसे रहित होनेसे शिष्ट ४४ हैं, विश्वासरूप होनेसे अथवा ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रत्यय ४५ हैं, मनोहर होनेसे कामन ४६ हैं, और पापरहित होनेसे अनघ ४७ हैं ॥ १७२ ॥ मोक्ष प्राप्त होनेसे क्षेमी ४८ हैं सबका कल्याण करनेसे क्षेमंकर ४९ हैं, आपका कभी क्षय नहीं होता इसलिये अक्षय्य ५० हैं सब जीवोंका कल्याण करनेवाले जैनधर्मके प्रवर्तक होनेसे क्षेमधर्मपति ५१ हैं, क्षमावान् होनेसे क्षमी ५२ हैं, इंद्रियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अथवा मिथ्यात्वियोंके द्वारा ग्रहण न होनेसे अग्राह्य ५३ हैं, निश्चयज्ञानके द्वारा ग्रहण करने योग्य होनेसे ज्ञाननिग्राह्य ५४ हैं, ध्यानके द्वारा जानने योग्य होनेसे ध्यानगम्य ५५ हैं, और सबसे उत्कृष्ट होनेसे निरुत्तर ५६ हैं ॥ १७३ ॥ पुण्यवान् होनेसे सुकृती ५७ हैं, शब्दोंकी खानि होनेसे धातु ५८ हैं, पूजा करनेके योग्य होनेसे इज्यार्ह ५९ हैं, नयोंके अच्छे जानकर होनेसे सुनय ६० हैं, लक्ष्मीके निवासस्थान होनेसे श्रीनिवास ६१ हैं, और एक मुख होकर भी चारोंओरसे दर्शन होनेसे अथवा लोगोंको चार मुख दिखनेसे चतुरानन ६२ चतुर्वक्त्र ६३ चतुरास्य ६४ तथा चतुर्मुख ६५ कहलाते हैं ॥१७४॥ सत्यस्वरूप होनेसे अथवा जीवोंका कल्याण करनेसे सत्यात्मा ६६ हैं, आपका विज्ञान सत्य अथवा सफल होनेसे सत्यविज्ञान ६७ हैं, आपकी वाणी यथार्थ पदार्थोंका निरूपण करनेवाली होनेसे सत्यवाक् ६८ हैं, आपका शासन (मत) यथार्थ होनेसे अथवा सफल अर्थात् साक्षात् मोक्ष प्राप्त करानेवाला होनेसे सत्यशासन ६९ हैं, दोनों लोकोंमें फलदायक होनेसे सत्याशी ७० हैं, प्रतिज्ञाको दृढ रखनेसे अथवा सत्यस्वरूप रखनेसे सत्यसंधान ७१ हैं, शुद्ध मोक्षस्वरूप होनेसे सत्य ७२ हैं, तथा सत्य स्वरूपमें त-

॥ १७६ ॥ सदायोगः सदाभोगः सदातृप्तः सदाशिवः । सदागतिः सदासौख्यः सदाविद्यः सदोदयः ॥ १७७ ॥ सुघोषः सुमुखः सौम्यः सुखदः सहितः सुहृत् । सुगुप्तो गुप्तिभृद्गोप्ता लोकाध्यक्षो दमेश्वरः ॥ १७८ ॥ बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधीः । मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गि-

त्पर होनेसे सत्यपरायण ७३ कहेजाते हैं ॥ १७५ ॥ अत्यंत स्थिर होनेसे स्थेयान् ७४ हैं, अतिशय स्थूल होनेसे स्थवीयान् ७५ हैं, भक्तोंके समीप होनेसे नेदीयान् ७६ हैं, पापोंसे दूर रहनेसे दवीयान् ७७ हैं, आपके दर्शन दूरसे ही होते हैं इसलिये दूरदर्शन ७८ हैं, परमाणुसे भी अत्यंत सूक्ष्म होनेसे अणोरणीयान् (अणोः—अणीयान्) ७९ हैं, सूक्ष्म न होनेसे अनणु ८० हैं, बडोंमें सबसे बडे होनेसे गरीयसां आद्य गुरु ८१ कहलाते हैं ॥ १७६ ॥ सदा योगस्वरूप होनेसे सदायोग ८२ हैं, सदा आनंदके भोक्ता होनेसे सदाभोग ८३ हैं, सदा तृप्त रहनेसे सदातृप्त ८४ हैं, सदा कल्याणस्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप रहनेसे सदाशिव ८५ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप होनेसे सदागति ८६ हैं, सदा सुखस्वरूप होनेसे सदासौख्य ८७ हैं, सदा ज्ञानस्वरूप रहनेसे सदाविद्य ८८ हैं, और सदा उदयरूप होनेसे अर्थात् सदा कल्याणस्वरूप अथवा प्रकाशस्वरूप रहनेसे सदोदय ८९ कहलाते हैं ॥ १७७ ॥ आपका सुंदर शब्द होनेसे सुघोष ९० हैं, सुंदर मुख होनेसे सुमुख ९१ हैं, शांत रहनेसे सौम्य ९२ हैं, सबको सुखदेनेसे सुखद ९३ हैं, सबका हित करनेसे सुहित ९४ हैं, निष्कपट शुद्ध निर्मल होनेसे सुहृत् ९५ हैं, मिथ्यादृष्टियोंको आपका स्वरूप न जाननेसे सुगुप्त ९६ हैं, तीनों गुप्तियोंको पालन करनेसे गुप्तिभृत् ९७ हैं, पापोंसे आत्माकी रक्षा करनेसे अथवा जीवोंकी रक्षा करनेसे गोप्ता ९८ हैं, तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेसे लोकाध्यक्ष ९९ हैं, और इंद्रिय दमन करनेरूप तपश्चरणके स्वामी होनेसे दमेश्वर ७०० कहलाते हैं[1] ॥ १७८ ॥ इंद्रोंके सबसे बडे गुरु होनेसे बृहद्बृहस्पति १ हैं, विलक्षण वक्ता होनेसे वाग्मी २ हैं, वाणीके स्वामी होनेसे वाचस्पति

१ इस शतकमें ६२७-६२८ वा दोनों मिलकर जात सुव्रत एक नामभी है और फिर ६८१ के गरीयसां आद्य तथा गरीयसां गुरु ऐसे दो नाम हैं,

रांपतिः ॥ १७९ ॥ नैकरूपो नयोत्तुंगो नैकात्मा नैकधर्मकृत् । अविज्ञेयोऽप्रतर्क्यात्मा कृतज्ञः कृतलक्षणः ॥ १८० ॥ ज्ञानगर्भो दयागर्भो रत्नगर्भः प्रभास्वरः । पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भः सुदर्शनः ॥ १८१ ॥ लक्ष्मीवान् त्रिदशाध्यक्षो द्रढीयानिन ईशिता । मनोहरो मनोज्ञाङ्गो धीरो गम्भीरशासनः

३ हैं, उदार बुद्धि होनेसे अर्थात् सबको धर्मका उपदेश देनेसे उदारधी ४ हैं, बुद्धिमान होनेसे मनीषी ५ हैं, अपार बुद्धिमान होनेसे धिषण ६ हैं, धीमान् ७ हैं, बुधिके स्वामी होनेसे शेमुषीश ८ हैं और सबप्रकारकी भाषाओंके स्वामी होनेसे गिरांपति ९ हैं ॥ १७९ ॥ अनेकरूप होनेसे नैकरूप १० हैं, नयोंका उत्कृष्ट स्वरूप कहनेसे नयोत्तुंग ११ हैं, अनेक गुणोंको धारण करनेसे नैकात्मा १२ हैं, पदार्थोंको अनेक धर्मरूप कथन करनेसे नैकधर्मकृत् १३ हैं, साधारण पुरुषोंके द्वारा जाननेके अयोग्य होनेसे अविज्ञेय १४ हैं, आपके स्वरूपमें कोई तर्क वितर्क नहीं कर सक्ते इसलिये अप्रतर्क्यात्मा १५ हैं, जीवोंके समस्त कृत्य जाननेसे कृतज्ञ १६ हैं, और समस्त सुलक्षणों सहित होनेसे कृतलक्षण १७ हैं, ॥ १८० ॥ अंतरंगमें ज्ञान होनेसे ज्ञानगर्भ १८ हैं, दयालु होनेसे दयागर्भ १९ हैं, रत्नत्रयोंको धारण करनेसे अथवा गर्भावस्थामें ही रत्नत्रयका स्वरूप जाननेसे अथवा गर्भावतार होनेसे पहिले ही रत्नोंकी वर्षा होनेसे रत्नगर्भ २० हैं, अतिशय प्रभावशाली होनेसे प्रभास्वर २१ हैं गर्भावस्थामें ही लक्ष्मी प्राप्त होनेसे पद्मगर्भ २२ हैं, आपके ज्ञानके भीतर समस्त जगत होनेसे जगद्गर्भ २३ हैं, आपका आत्मा सुवर्णके समान निर्मल होनेसे अथवा गर्भावतारके समय सुवर्णकी वर्षा होनेसे हेमगर्भ २४ है, तथा आपका सुंदर दर्शन होनेसे सुदर्शन २५ हैं, ॥ १८१ ॥ समवसरणादि ऐश्वर्य सहित होनेसे लक्ष्मीवान २६ हैं, देवोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा तेरह प्रकारके चारित्रको धारण करनेवाले मुनियोंको प्रत्यक्ष होनेसे अथवा बाल युवा वृद्ध तीनों अवस्थाओंमें एकसा प्रत्यक्ष होनेसे त्रिदशाध्यक्ष २७ हैं, अत्यंत दृढ होनेसे दृढीयान् २८ हैं, सबके स्वामी होनेसे इन २९ हैं, तेजोनिधि अथवा ऐश्वर्यवान् होनेसे ईशिता ३० हैं, भव्य जीवों-

॥ १८२ ॥ धर्मयूपो दयायागो धर्मनेमिर्मुनीश्वरः । धर्मचक्रायुधो देवः कर्महा धर्मघोषणः ॥ १८३ ॥ अमोघवागमोघाज्ञो निर्मलोऽमोघशासनः । सुरूप सुभगस्त्यागी समयज्ञः समाहितः ॥ १८४ ॥ सुस्थितः स्वास्थ्यभाक् स्वस्थो नीरजस्को निरुद्धवः । अलेपो निष्कलंकात्मा वीतरागो गतस्पृहः

के अंतःकरणको हरण करनेसे मनोहर ३१ हैं, अंग उपांग मनोहर होनेसे मनोज्ञांग ३२ हैं, बुद्धिको प्रेरणा करनेसे अथवा भव्य जीवोंको सुबुद्धि देनेसे धीर ३३ हैं, आपका शासन अथवा शास्त्र गंभीर होनेसे गंभीरशासन ३४ हैं ॥ १८२ ॥ धर्मके स्तंभ होनेसे धर्मयूप ३५ हैं, सब जीवोंपर दया करना ही आपकी पूजा होनेसे दयायाग ३६ हैं, धर्मरूप रथकी धुरा होनेसे धर्मनेमि ३७ हैं, मुनियोंके ईश्वर होनेसे मुनीश्वर ३८ हैं, धर्मचक्र ही आपका आयुध होनेसे धर्मचक्रायुध ३९ हैं, परमानंदमें क्रीडा करनेसे देव ४० हैं, शुभाशुभ कर्मोंको नाश करनेसे कर्महा ४१ हैं, और धर्मका उपदेश देनेसे धर्मघोषण ४२ हैं, ॥ १८३ ॥ श्रोताओंको यथार्थ बोध करनेवाली आपकी वाणी होनेसे अमोघवाक् ४३ हैं, आपकी आज्ञा कभी व्यर्थ न होनेसे अमोघाज्ञ ४४ हैं, ममत्वरहित होनेसे निर्मल ४५ हैं, आपका शास्त्र कभी व्यर्थ न होनेसे अर्थात् जीवोंको मोक्ष प्राप्त करदेनेसे अमोघशासन ४६ हैं, आपका स्वरूप आनंद दायक होनेसे सुरूप ४७ हैं, आपके ज्ञानका अतिशय माहात्म्य होनेसे सुभग ४८ हैं, ज्ञानदान अभयदान आदि देनेसे त्यागी ४९ हैं, आत्मा सिद्धांत अथवा कालका स्वरूप जाननेसे समयज्ञ ५० हैं, और समाधानरूप होनेसे अथवा ध्यानस्वरूप होनेसे समाहित ५१ हैं, ॥ १८४ ॥ निश्चल अथवा सुखमें निमग्न रहनेसे सुस्थित ५२ हैं, आत्माकी निश्चलताको सेवन करनेसे स्वास्थ्यभाक ५३ हैं, सदा आत्मनिष्ट होनेसे स्वस्थ ७५४ हैं, कर्मरूप रजसे रहित होनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मरहित होनेसे नीरजस्क ५५ हैं, आपका कोई स्वामी न होनेसे निरुद्धव ५६ हैं, कर्मके लेपसे रहित होनेसे अलेप ५७ हैं, दोषरहित होनेसे निष्कलंकात्मा ५८ हैं, रागादि दोषोंसे रहित होनेसे अथवा मोक्षल-

॥ १८५ ॥ वश्येंद्रियो विमुक्तात्मा निःसपत्नो जितेंद्रियः । प्रशांतोऽनंतधामर्षिर्मंगल मलहाऽनघः ॥ १८६ ॥ अनीदृगुपमाभूतो दिष्टिर्दैवमगोचरः । अमूर्तो मूर्तिमानेको नैको नानैकतत्त्वदृक् ॥ १८७ ॥ अध्यात्मगम्योऽगम्यात्मा योगविद्योगिवंदितः । सर्वत्रग. सदाभावी त्रिकालविपयार्थदृक् ॥ १८८ ॥

क्ष्मीमें प्रेम होनेसे वीतराग ५९ हैं, तथा इच्छा रहित होनेसे गतस्पृह ६० हैं, ॥ १८५ ॥ इंद्रियोंको वश करनेसे वश्येंद्रिय ६१ हैं, संसाररूपी बंधनसे रहित होनेके कारण विमुक्तात्मा ६२ हैं, दुष्टभाव न रहनेसे अथवा निष्कंटक होनेसे निःसपत्न ६३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जितेंद्रिय ६४ हैं, शांत होनेसे अथवा राग द्वेष रहित होनेसे प्रशांत ६५ हैं, अनंत प्रकाश को धारण करते हुये भी पूज्य होनेसे अनंतधामर्षि ६६ हैं, सबको सुख देनेसे मंगल ६७ हैं, पापको दूर करनेसे मलहा ६८ हैं, और पाप रहित होनेसे अनघ ६९ हैं ॥ १८६ ॥ आपके समान अन्य कोई न होनेसे अनीदृक् ७० हैं सबके लिये उपमायोग्य होनेसे उपमाभूत ७१ हैं, महा भाग्यशाली अथवा शुभाशुभदाता होनेसे दिष्टि ७२ हैं, प्रबल अथवा स्तुति करने योग्य होनेसे दैव ७३ हैं, इंद्रियोंके अगोचर अथवा बचनोंके अगोचर होनेसे अगोचर ७४ हैं, शरीर रहित होनेसे अमूर्त ७५ हैं, पुरुषाकार होनेसे मूर्तिमान ७६ हैं, अद्वितीय होनेसे अथवा विना किसीकी सहायतासे मोक्षप्राप्ति करलेनेसे एक ७७ है, अनेकरूप होनेसे अथवा सब भव्यजीवोंको सहायक होनेसे नैक ७८ हैं, और आत्माके सिवाय अन्य तत्त्वोंको न देखनेसे अर्थात् उनमें तल्लीन न होनेसे नानैकतत्त्वदृक् ७९ हैं ॥ १८७ ॥ केवल अध्यात्मशास्त्रोंसे जानने योग्य होनेसे अध्यात्मगम्य ८० हैं, संसारी जीवोंके जानने योग्य न होनेसे अगम्यात्मा ८१ हैं, योगके जानकार होनेसे योगवित् ८२ हैं, योगियोंके द्वारा बंदना करनेयोग्य होनेसे योगिवंदित ८३ हैं, ज्ञानके द्वारा सबजगह व्याप्त होनेसे सर्वत्रग ८४ हैं, सदा विद्यमान रहनेसे सदाभावी ८५ हैं, और तीनों काल संबंधि समस्त पदार्थोंको देखनेसे त्रिकालविषयार्थदृक् ८६ हैं ॥ १८८ ॥ सबको सुखको कर्ता होनेसे शंकर ८७ हैं, यथार्थसुखके अर्थात् मोक्षरूप

शंकरः शंवदो दांतो दमी क्षांतिपरायणः । अधिपः परमानंदः परात्मज्ञः परात्परः ॥ १८९ ॥ त्रिजगद्वल्लभोऽभ्यर्च्यस्त्रिजगन्मंगलोदयः । त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रिस्त्रिलोकाग्रशिखामणिः ॥ १९० ॥ त्रिकालदर्शी लोकेशो लोकधाता दृढव्रतः । सर्वलोकातिगः पूज्यः सर्वलोकैकसारथिः ॥ १९१ ॥ पुराणः पु-

सुखके वक्ता होनेसे शंवद ८८ हैं, मनको वश करनेसे दांत ८९ हैं, इंद्रियोंको निग्रह करनेसे दमी ९० हैं, क्षमा करनेमें सदा तत्पर रहनेसे क्षांतिपरायण ९१ हैं, जगतके आधिपति होनेसे आधिप ९२ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे परमानंद ९३ हैं, निज परके ज्ञाता होनेसे अथवा विशुद्ध आत्माका स्वरूप जाननेसे परात्मज्ञ ९४ हैं, तथा सबसे श्रेष्ठ होनेसे परात्पर ९५ हैं ॥ १८९ ॥ तीनों लोकोंको प्रिय होनेसे त्रिजगद्वल्लभ ९६ हैं, सबके पूज्य होनेसे अभ्यर्च्य ९७ हैं, तीनों लोकोंमें मंगलदाता होनेसे त्रिजगन्मंगलोदय ९८ हैं, आपके चरणकमल तीनों लोकोंके इंद्रोंके द्वारा पूज्य होनेसे त्रिजगत्पतिपूज्यांघ्रि ९९ कहलाते हैं, और तीनोंलोकोंके शिखरके शिखामणि होनेसे त्रिलोकाग्रशिखामणि ८०० कहे जाते हैं ॥ १९० ॥ भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंको प्रत्यक्ष देखनेसे त्रिकालदर्शी १ हैं, तीनों लोकोंके प्रभु होनेसे लोकेश २ हैं, समस्त प्राणियोंकी रक्षाका उपदेश देनेसे लोकधाता ३ हैं, स्वीकार किये हुये चारित्रको निश्चल रखनेसे दृढव्रत ४ हैं, तीनोंलोकोंके प्राणियोंमें सर्वोत्कृष्ट होनेसे सर्वलोकातिग ५ हैं, पूजाके योग्य होनेसे पूज्य ६ हैं, और समस्त प्राणियोंकेलिये मुख्य रीतिसे मोक्षमार्गका स्वरूप दिखलानेसे सर्वलोकैकसारथि ७ कहे जाते हैं ॥ १९१ ॥ सबसे प्राचीन होनेसे अथवा मुक्तपर्यंत शरीरमें निवास करनेसे पुराण ८ हैं, सबमें बडे होनेसे अथवा सबको तृप्त करनेसे अथवा पूज्य समवसरणमें स्थित रहनेसे पुरुष ९ हैं, सबसे पूर्व अर्थात् अग्रेसर होनेसे पूर्व १० हैं, ग्यारह अंग चौदह पूर्वका समस्त विस्तार निरूपण करनेसे कृतपूर्वांगविस्तर ११ हैं, सब देवोंमें मुख्य होनेसे आदिदेव १२ हैं, सब पुराणोंमें प्रथम होनेसे पुराणाद्य १३ हैं, इंद्रादि देव मुख्यतासे आपकी ही आराधना करते हैं, अथवा आप सबके ईश्वर हैं,

रूपः पूर्वः कृतपूर्वांगविस्तरः । आदिदेवः पुराणाद्य. पुरुदेवोऽधिदेवता ॥१९२॥ युगमुख्यो युगज्येष्ठो युगादिस्थितिदेशकः । कल्याणवर्ण. कल्याणः कल्यः कल्याणलक्षण. ॥ १९३ ॥ कल्याणप्रकृतिर्दीप्तकल्याणात्मा विकल्मषः । विकलंकः कलातीतः कलिलघ्नः कलाधरः ॥ १९४ ॥ देवदेवो जगन्नाथो जगद्बंधुर्जगद्विभु' । जगद्धितैषी लोकज्ञो सर्वगो जगदग्रज' ॥ १९५ ॥ चराचरगुरुर्गोप्यो गूढात्मा गूढगोचर' । सद्योजात. प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलन-

इसलिये पुरुदेव १४ हैं और देवोंके भी देव होनेसे अधिदेवता १५ हैं ॥१९२॥ इस अवसर्पिणी कालमें मुख्य होनेसे युगमुख्य १६ कहे जाते हैं, इसी युगमें सबसे वडे होनेसे युगज्येष्ट १७ हैं, कर्मभूमिके प्रारंभमें कर्मभूमिकी स्थितिके मुख्य उपदेशक होनेसे युगादिस्थितिदेशक १८ कहलाते हैं, आपके शरीरकी कांति सुवर्णके समान होनेसे कल्याणवर्ण १९ हैं, कल्याण स्वरूप होनेसे कल्याण २० हैं, सबके कल्याण करनेमें समर्थ होनेसे कल्य २१ हैं, तथा मंगलस्वरूप होनेसे अथवा कल्याणरूप लक्षणोंको धारण करनेसे कल्याणलक्षण २२ कहलाते हैं, ॥ १९३ ॥ आपका स्वभाव ही कल्याणस्वरूप होनेसे कल्याणप्रकृति २३ कहे जाते हैं, चारों ओर प्रकाशमान होता हुआ पुण्य अथवा कल्याण ही आपका स्वरूप है, इसलिये आप दीप्तकल्याणात्मा २४ हैं, पापरहित होनेसे विकल्मष २५ हैं, काम आदि कलंकसे रहित होनेके कारण विकलंक २६ हैं, शरीररहित होनेसे कलातीत २७ हैं, पापोंको नाश करनेवाले हैं, अतएव कलिलघ्न २८ हैं, और अनेक कलाओंको धारण करनेसे कलाधर २९ कहे जाते हैं, ॥ १९४ ॥ इंद्रादि सब देवोंके देव होनेसे देवदेव ३० हैं, तीनों लोकोंके स्वामी होनेसे जगन्नाथ ३१ हैं, तीनों लोंकोंके हित करनेसे जगद्बंधु ३२ हैं, समस्त जगतके प्रभु होनेसे जगद्विभु ३३ हैं, तीनोंलोकोंकेलिये कल्याण करनेकी इच्छा रखनेसे जगद्धितैषी ३४ हैं, तीनों लोकोंको जाननेसे लोकज्ञ ३५ हैं, केवलज्ञानके द्वारा सब जगह व्याप्त होनेसे सर्वग ३६ हैं, तथा समस्त जगतमें श्रेष्ठ होनेसे अथवा जगतके मुख्य स्थानमें उत्पन्न होनेसे जगदग्रज ३७ हैं, ॥ १९५ ॥ त्रस स्थावर आदि सब जी-

सप्रभः ॥ १९६ ॥ आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभः कनकप्रभः । सुवर्णवर्णो रुक्माभः सूर्यकोटिसमप्रभः ॥ १९७ ॥ तपनीयनिभस्तुंगो बालार्काभोऽनलप्रभः । सन्ध्याभ्रबभ्रुर्हेमाभस्तप्तचामीकरप्रभः ॥ १९८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायः कनत्काञ्चनसन्निभः । हिरण्यवर्णः स्वर्णाभः शातकुम्भनिभप्रभः ॥१९९॥ द्युम्नाभो जातरूपाभो तप्तजाम्बूनदद्युतिः । सुधौतकलधौतश्रीः प्रदीप्तो हाटकद्युतिः ॥ २०० ॥ शिष्टेष्टः पुष्टिदः पुष्टः स्पष्टः स्पष्टाक्षरः क्षमः । शत्रुघ्नो-

वोंके गुरु होनेसे चराचरगुरु ३८ हैं, हृदयमें बडे यत्नसे स्थापन करनेके योग्य होनेसे गोप्य ३९ हैं, आपका स्वरूप अत्यंत गुप्त होनेसे गूढात्मा ४० हैं, गूढ अर्थात् जीवादि पदार्थोंको जाननेसे गूढगोचर ४१ हैं, आप सदा तुरत उत्पन्न होनेके समान देख पडते हैं, अर्थात् सदा नवीन ही जान पडते हैं इसलिये सद्योजात ४२ हैं प्रकाशस्वरूप होनेसे प्रकाशात्मा ४३ हैं, और जलती हुई अग्निके समान दैदीप्यमान होनेसे ज्वलज्ज्वलनसप्रभ ४४ कहे जाते हैं, ॥ १९६ ॥ सूर्यके समान तेजस्वी होनेसे आदित्यवर्ण ४५ कहलाते हैं सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे भर्माभ ४६ हैं, मनको आनंद दायक सुंदर कांति होनेसे सुप्रभ ४७ हैं, सुवर्णके समान उज्वल कांति होनेसे कनकप्रभ ४८ सुवर्णवर्ण ४९ तथा रुक्माभ ५० कहे जाते हैं, और करोडों सूर्यके समान प्रभा होनेसे सूर्यकोटिसमप्रभ ५१ कहलाते हैं, ॥१९७॥ सुवर्णके समान पीतवर्ण होनेसे तपनीयनिभ ५२ हैं, ऊंचे शरीरको धारण करनेसे तुंग ५३ हैं, उदय होते हुये सूर्यके समान कांतिमान् और सुंदर होनेसे बालार्काभ ५४ हैं, अग्निके समान होनेसे अनलप्रभ ५५ हैं, संध्याके वादलोंके समान सुंदर होनेसे संध्याभ्रबभ्रु ५६ कहे जाते हैं, सुवर्णके समान होनेसे हेमाभ ५७ हैं, तथा तपाये हुये सुवर्णके समान कांति युक्त होनेसे तप्तचामीकरप्रभ ५८ कहलाते हैं, ॥ १९८॥ सुवर्णके समान उज्वल और कांतियुक्त होनेसे निष्टप्तकनकच्छाय ५९ कनत्कांचनसन्निभ ६० हिरण्यवर्ण ६१ स्वर्णाभ ६२ शातकुंभनिभप्रभ ६३ द्युम्नाभ ६४ जातरूपाभ ६५ तप्तजांबूनदद्युति ६६ सुधौतकलधौतश्री ६७ और हाटकद्युति ६८ कहलाते हैं, तथा दैदीप्यमान होनेसे प्रदीप्त ६९ कहलाते हैं ॥१९९-२००॥

प्रतिघोऽमोघः प्रशास्ता शासिता स्वभूः ॥ २०१ ॥ शांतिनिष्ठो मुनिज्येष्ठः शिवतातिः शिवप्रदः । शांतिदः शांतिकृत् शांतिः कांतिमान् कामितप्रदः ॥ २०२ ॥ श्रेयोनिधिरधिष्ठानमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठित. । सुस्थितः स्थावरः स्थाणु. प्रथीयान् प्रथितः पृथुः ॥ २०३ ॥ दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रंथेशो निरंबरः । निष्किंचनो निराशंसो ज्ञानचक्षुरमोमुह. ॥ २०४ ॥ तेजोराशिरनंतौजा ज्ञानाब्धिः शीलसागरः । तेजोमयोऽमितज्योतिर्ज्योतिर्मूर्तिस्तमोऽपहः

इंद्रादि उत्तम पुरुषोंके प्रिय होनेसे शिष्टेष्ट ७० हैं, पुष्टिके दाता होनेसे पुष्टिद ७१ हैं, महा वलवान् होनेसे पुष्ट ७२ हैं, सबको प्रगट दिखाई देनेसे स्पष्ट ७३ हैं, आपकी वाणी स्पष्ट तथा आनंद दायिनी होनेसे स्पष्टाक्षर ७४ हैं, समर्थ होनेसे क्षम ७५ हैं कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे शत्रुघ्न ७६ हैं, क्रोधरहित होनेसे अप्रतिग ७७ हैं, सफल अर्थात् कृतकृत्य होनेसे अमोघ ७८ हैं, धर्मोपदेश देनेसे प्रशास्ता ७९ हैं रक्षक होनेसे शासिता ८० हैं, तथा अपने आप उत्पन्न होनेसे स्वभू ८१ हैं ॥ २०१ ॥ काम क्रोध आदिको नष्ट करनेसे अथवा शांत होनेसे शांतनिष्ठ ८२ हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ होनेसे मुनिज्येष्ठ ८३ हैं, सुखकी परंपरा होनेसे शिवताति ८४ हैं, कल्याणके दाता होनेसे शिवप्रद ८५ हैं, शांतिदायक होनेसे शांतिद ८६ हैं, समस्त उपद्रवोंको शांत करनेसे शांतिकृत् ८७ हैं, कर्मोंको क्षय करनेसे शांति ८८ हैं, कांतियुक्त होनेसे कांतिमान् ८९ हैं, तथा मनवांच्छित फलोंको देनेसे कामितप्रद ९० कहे जाते हैं ॥ २०२ ॥ कल्याणके समुद्र होनेसे श्रेयोनिधि ९१ हैं, धर्मके मूलकारण वा आधार होनेसे अधिष्ठान ९२ हैं, अपने आप ही ईश्वर होनेसे अप्रतिष्ठ ९३ हैं, सब जगह प्रतिष्ठित होनेसे प्रतिष्ठित ९४ हैं, अतिशय स्थिर होनेसे सुस्थित ९५ हैं, विहार रहित होनेसे स्थावर ९६ हैं, निश्चल होनेसे स्थाणु ९७ हैं, विस्तृत होनेसे प्रथीयान् ९८ हैं, अतिशय प्रसिद्ध होनेसे प्रथित ९९ हैं, और वहुत वडे होनेसे पृथु १०० कहलाते हैं ॥ २०३ दिशारूप वस्त्रोंको धारण करनेसे दिग्वासा १ हैं, वायुरूपी करधनीको धारण करनेसे वातरशन २ हैं, निर्ग्रंथ मुनियोंमें भी श्रेष्ठ होनेसे निर्ग्रंथेश ३ हैं, वस्त्ररहित होनेसे नि-

॥ २०५ ॥ जगच्चूडामणिर्दीप्तः शंवान् विघ्नविनायकः । कलिघ्नः कर्मशत्रुघ्नो लोकालोकप्रकाशकः ॥ २०६ ॥ अनिद्रालुरतन्द्रालुर्जागरूकः प्रमामयः । लक्ष्मीपतिर्जगज्ज्योतिर्धर्मराजः प्रजाहितः ॥ २०७ ॥ मुमुक्षुर्बंधमोक्षज्ञो जिताक्षो जितमन्मथः । प्रशांतरसशैलूषो भव्यपेटकनायकः ॥ २०८ ॥ मूलक-

रंबर ४ हैं, परिग्रह रहित होनेसे निष्किंचन ५ हैं, इच्छा वा आशा रहित होनेसे निराशंस ६ हैं, ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेसे ज्ञानचक्षु ७ कहे जाते हैं अत्यंत निर्मोह होनेसे अमोमुह ८ कह लाते हैं, ॥ २०४ ॥ तेजके समूह होनेसे तेजोराशि ९ हैं, अनंत पराक्रमी होनेसे अनंतौजा १० हैं, ज्ञानके सागर होनेसे ज्ञानाब्धि ११ हैं, शीलके सागर अथवा स्वस्वभावके सागर होनेसे शीलसागर १२ हैं, तेजस्वरूप होनेसे तेजोमय १३ हैं, अनंत ज्योतिको धारण करनेसे अमितज्योति १४ हैं, तेजस्वरूप होनेसे ज्योतिर्मूर्ति १५ हैं, तथा अज्ञानरूपी अंधकारके नाशक होनेसे तमोपह १६ कहलाते हैं ॥ २०५ ॥ तीनों लोकोंके मस्तकके रत्न होनेसे जगच्चूडामणि १७ हैं, तेजस्वी अथवा प्रकाशवान् होनेसे दीप्त १८ हैं, अत्यंत सुखी होनेसे शंवान् १९ हैं, विघ्नोंको अथवा अंतराय कर्मको नाश करनेसे विघ्नविनायक २० हैं, दोषोंको दूर करनेसे कलिघ्न २१ हैं, कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे कर्मशत्रुघ्न २२ हैं, तथा लोक और अलोकको जानने और देखनेसे लोकालोकप्रकाशक २३ हैं ॥ २०६ ॥ निद्रारहित होनेसे अनिद्रालु २४ हैं, प्रमाद रहित होनेसे अतंद्रालु २५ है, अपने स्वरूपकी सिद्धिकेलिये सदा जाग्रतरूप रहनेसे जागरूक २६ हैं, ज्ञानस्वरूप होनेसे प्रमामय २७ हैं, मोक्षरूप अविनाशिनी लक्ष्मीके स्वामी होनेसे लक्ष्मीपति २८ हैं, जगतको प्रकाश करनेसे जगज्ज्योति २९ हैं, धर्मके स्वामी होनेसे धर्मराज ३० हैं, तथा प्रजाके हितैषी होनेसे प्रजाहित ३१ कहलाते हैं ॥२०७॥ निर्वाणकी रुचिस्वरूप होनेसे मुमुक्षु ३२ हैं, बंध और मोक्षका स्वरूप जाननेसे बंधमोक्षज्ञ ३३ हैं, इंद्रियोंको जीतनेसे जिताक्ष ३४ हैं, कामदेवको जीतनेसे जितमन्मथ ३५ हैं, शांतरूपी रसका नृत्य करने-

र्ता जगज्ज्योतिर्मलघ्नो मूलकारणं । आप्तो वागीश्वरः श्रेयान्श्रायसोक्तिनिरुक्तवाक् ॥ २०९ ॥ प्रवक्ता वचसामीशो मारजिद्विश्वभाववित् । सुतनुस्तनुनिर्मुक्तः सुगतो हतदुर्नयः ॥ २१० ॥ श्रीशः श्रीश्रितपादाब्जो वीतभीरभयंकरः । उत्सन्नदोषो निर्विघ्नो निश्चलो लोकवत्सलः ॥ २११ ॥ लोकोत्तरो

से प्रशांतरसशैलूष ३६ कहे जाते हैं, भव्य जीवोंके समुदायके नायक होनेसे भव्यपेटकनायक ३७ कहलाते हैं ॥ २०८ ॥ धर्मके मुख्य प्रकाशक होनेसे मूलकर्ता ३८ हैं, अनंत ज्योतिस्वरूप होनेसे जगज्ज्योति ३९ हैं, राग द्वेष आदि मलका नाश करनेसे मलघ्न ४० हैं, मोक्षके मूल कारण होनेसे मूलकारण ४१ हैं, यथार्थ वक्ता होनेसे आप्त ४२ हैं, सब प्रकारकी वाणीके स्वामी होनेसे वागीश्वर ४३ हैं, कल्याणस्वरूप होनेसे श्रेयान् ४४ हैं, आपकी वाणी कल्याणस्वरूप होनेसे श्रायसोक्ति ४५ कहलाते हैं, तथा निसंदेह वाणी होनेसे निरुक्तवाक् ४६ कहलाते हैं ॥ २०९ ॥ सबसे उत्तम वक्ता होनेसे प्रवक्ता ४७ हैं, सबप्रकारके वचनोंके स्वामी होनेसे वचसामीश ४८ हैं, कामदेवको जीतनेसे माराजित् ४९ हैं, संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेसे अथवा समस्त प्राणियोंके अभिप्राय जाननेसे विश्वभाववित् ५० कहलाते हैं, उत्कृष्ट शरीरको धारण करनेसे सुतनु ५१ हैं, शरीर रहित होनेसे तनुनिर्मुक्त ५२ हैं, आत्मामें तल्लीन होनेसे अथवा सम्यग्ज्ञान धारण करनेसे सुगत ५३ हैं और मिथ्यादृष्टियोंकी खोटी नयोंका नाश करनेसे हतदुर्नय ५४ हैं, ॥ २१० ॥ अंतरंग और बाह्य लक्ष्मीके स्वामी होनेसे श्रीश ५५ हैं, आपके चरण कमलोंकी सेवा लक्ष्मी करती है इसलिये आप श्रीश्रितपादाब्ज ५६ कहे जाते हैं, भयरहित होनेसे वीतभी ५७ हैं, भक्त लोगोंका भय दूर करनेसे अभयंकर ५८ हैं, समस्त दोषोंको नष्ट करनेसे उत्सन्नदोष ५९ हैं, विघ्न रहित होनेसे निर्विघ्न ६० हैं, स्थिर होनेसे निश्चल ६१ हैं, और लोगोंको अत्यंत प्रिय होनेसे लोकवत्सल ६२ कहे जाते हैं, ॥ २११ ॥ समस्त लोकमें उत्कृष्ट होनेसे लोकोत्तर ६३ हैं, तीनोंलोकोंके स्वामी होनेसे लोकपति ६४ हैं, समस्त लोकको चक्षुके समान यथार्थ

लोकपतिर्लोकचक्षुरपारधीः । धीरधीर्बुद्धसन्मार्गः शुद्धः सूनृतपूतवाक् ॥ २१२ ॥ प्रज्ञापारमितः प्राज्ञो यतिर्नियमितेंद्रियः । भदंतो भद्रकृद्भद्रः कल्पवृक्षो वरप्रदः ॥ २१३ ॥ समुन्मूलितकर्मारिः कर्मकाष्ठशुशुक्षणिः । कर्मण्यः कर्मठ. प्रांशुर्हेयादेयविचक्षणः ॥२१४॥ अनंतशक्तिरच्छेद्यस्त्रिपुरारिस्त्रिलोचनः ।

पदार्थोंके दर्शक होनेसे लोकचक्षु ६५ हैं, अनंत ज्ञानको धारण करनेसे अपारधी ६६ हैं, आपका ज्ञान सदा स्थिर रहता है इसलिये धीरधी ६७ हैं, यथार्थ मोक्षमार्गको जाननेसे बुद्धसन्मार्ग ६८ हैं, शुद्धस्वरूप होनेसे शुद्ध ६९ हैं, तथा आपके वचन यथार्थ और पवित्र होनेसे सूनृतपूतवाक् ७० कहे जाते हैं, ॥ २१२ ॥ बुद्धिके पारगामी होनेसे प्रज्ञापारमित ७१ हैं, अतिशय बुद्धिमान् होनेसे प्राज्ञ ७२ हैं, मनको जीतनेसे अथवा सदा मोक्षमार्गका प्रयत्न करनेसे यति ७३ हैं, इंद्रियोंको वश करनेसे नियमितेंद्रिय ७४ हैं, पूज्य होनेसे भदंत ७५ हैं, कल्याणकारी होनेसे भद्रकृत् ७६ हैं, निष्कपट अथवा कल्याणस्वरूप होनेसे भद्र ७७ हैं, इच्छित पदार्थोंके दाता होनेसे कल्पवृक्ष ७८ हैं, तथा इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति कर देनेसे वरप्रद ७९ कहलाते हैं ॥ २१३ ॥ कर्मरूप शत्रुओंको उखाडकर फेंकदेनेसे समुन्मूलितकर्मारि ८० कहे जाते हैं, कर्मरूपी लकडीको जलानेके लिये अग्निके समान होनेसे कर्मकाष्ठशुशुक्षणि ८१ कहलाते हैं, क्रिया अर्थात् चारित्रमें नितांत कुशल होनेसे कर्मण्य ८२ हैं क्रिया करनेमें शूरवीर अथवा सर्वदा तैयार रहनेसे कर्मठ ८३ हैं, सबसे ऊंचे अर्थात् उत्कृष्ट वा प्रकाशमान् होनेसे प्रांशु ८४ हैं, और छोडनेयोग्य और ग्रहण करनेयोग्य पदार्थोंके जाननेमें चतुर होनेसे हेयादेयविचक्षण ८५ कहलाते हैं, ॥ २१४ ॥ आपमें अनंतशक्तियां प्रगट होनेसे अनंत शक्ति ८६ हैं, छिन्न भिन्न करनेयोग्य न होनेसे अछेद्य ८७ हैं, जन्म जरा और मरण इन तीनोंको नाश करनेसे त्रिपुरारि ८८ कहलाते हैं, भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालोंके पदार्थोंके जानने और देखनेसे त्रिलोचन ८९ त्रिनेत्र ९० त्र्यंवक ९१ तथा त्र्यक्ष ९२ कहेजाते हैं, और केवल ज्ञान ही आपके नेत्र होनेसे केवलज्ञानवीक्षण ९३ कहलाते हैं, ॥ २१५ ॥

लायुकः ॥ २२६ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमां ॥ २२७ ॥ भगवन्भव्यसस्यानां पापाऽवग्रहशोषिणां । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥ २२८ ॥ भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधनं ॥ २२९ ॥ निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीं । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥ इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयंभर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥ अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहं कर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥ मोक्षाधिरोहनिः

की[1] ॥ २२७ ॥ कि हे भगवन् भव्यरूपी हरे धान्य पापरूपी अनावृष्टिके (वर्षा न होनेके) कारण सूख रहे हैं, हे विभो ! उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनकेलिये आप ही शरण हूजिये ॥ २२८ ॥ हे भव्यजीवोंके स्वामी ! फडकती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित ! श्री जिनेंद्रदेव ! आपके जगतविजय करनेका साधन ऐसा यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥ हे देव ! मोक्षमार्गको रोकनेवाली ऐसी यह मोहकी सेना (चार घातियाकर्म) नष्ट हो गई है, अब सन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश देनेकेलिये आपका यह समय समीप आगया है ॥ २३० ॥ जिन्हें समस्त तत्त्वोंका ज्ञान है और जिन्हें सबजगह दिग्विजय करनेकी स्वयं इच्छा हुई है ऐसे स्वयं भगवान् वृषभदेवकेलिये इंद्रके कहे हुये वचन दुबारा कहे हुये न हुये, भावार्थ—भगवान विहार करनेको तैयार ही थे उस समय इंद्रने जो प्रार्थना की थी वह सरीखी थी ॥ २३१ ॥

थानंतर—जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा जिनको पुण्य ही सहाय है ऐसे भगवान वृषभदेवरूपी सूर्य भव्यरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३२ ॥ वे महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान ऐसे तीन छत्रोंसे शोभायमान थे, और यशरूपी

---

१ वाग्गदी जिनसेनेन जिननामानि सार्थकं । अष्टाधिकसहस्राणि सर्वाभीष्टकराणि च ॥
तकमें यह श्लोक २२८ नम्बरपर अधिक है परंतु अन्य किसी पुस्तकमें न होनेसे तथा संबंध भी बराबर न मिलनेसे मूलमें नहीं मिलाया है

जगद्वन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् । त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ २२० ॥ त्वमेकं जगताज्योतिस्त्व द्विरूपोपयोगभाक् । त्व त्रिरूपैकमुक्त्यंगः स्वोत्थानतचतुष्टयः ॥२२१॥ त्व पचब्रह्मतत्त्वात्मा पचकल्याणनायकः । षड्भेदभावतत्त्वज्ञस्त्वं सप्तनयसग्रहः ॥२२२॥ दिव्याष्टगुणमूर्तिस्त्व नवकेवललब्धिक. । दशावतारनिर्वार्यो मा पाहि परमेश्वर ॥२२३॥ युष्मन्नामावलीदृब्धविलसत्स्तोत्रमालया । भवत वरिवस्याम. प्रसीदानुगृहाण नः ॥२२४॥ इद स्तोत्रमनुस्मृत्य पूतो भवति भाक्तिकः । यः सपाठ पठत्येतत्स स्यात्कल्याणभाजन ॥२२५॥ ततः सदेद पुण्यार्थी पुमान् पठतु पुण्यधी. । पौरुहूतिं श्रिय प्राप्तु परमामभि-

---

दर्शन तथा ज्ञान इन दोनों उपयोगोंको धारण करनेसे दो हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंस्वरूप मोक्षका कारण होनेसे तीन हैं, अपने आत्मासे उत्पन्न हुये चार अनंतचतुष्टयोंको धारण करनेसे चाररूप हैं ॥ २२१ ॥ पंच परमेष्ठीस्वरूप होनेसे अथवा गर्भावतार आदि पांचों कल्याणोंके स्वामी होनेसे पांच रूप हैं, जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल इन छहों तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जाननेसे छहरूप हैं, और सातों नयोंके समूहरूप होनेसे सात रूप भी कहे जाते हैं ॥ २२२ ॥ सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप होनेसे आठ हैं, नौ केवललब्धियोंको धारण करनेसे नौ हैं और महाबल आदि दश अवतार (पर्याय) धारण करनेसे दशस्वरूप हैं, अतएव हे परमेश्वर मेरी रक्षा कीजिये ॥ २२३ ॥ हे प्रभो ! हम लोग आपके एक हजार आठ नामोंकी बनीहुई सुंदर स्तोत्रोंकी मालासे आपकी आराधना करते हैं, हे देव हमपर प्रसन्न हूजिये और कृपा कीजिये ॥ २२४ ॥ जो भगवानका भक्त पुरुष इस स्तोत्रका स्मरण करता है वह पवित्र हो जाता है तथा जो इस स्तोत्रका पाठ पढता है उसे सबप्रकारके कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ २२५ ॥ इसलिये जो पुरुष इंद्रकी परम विभूतिको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते हैं अथवा जो पुण्यकी इच्छा रखते हैं ऐसे सुबुद्धिमान् पुरुषोंको इस स्तोत्रका सदा पाठ करना चाहिये ॥ २२६ ॥ इसप्रकार इंद्रने चर अचररूप इस जगतके गुरु ऐसे देवाधिदेवकी स्तुति की, और फिर तीर्थविहार करनेकेलिये नीचे लिखी हुई प्रार्थना

लाघुकः ॥ २२६ ॥ स्तुत्वेति मघवा देवं चराचरजगद्गुरुं । ततस्तीर्थविहारस्य व्यधात्प्रस्तावनामिमां ॥ २२७ ॥ भगवन्भव्यसस्यानां पापाऽवग्रहशोषिणा । धर्मामृतप्रसेकेन त्वमेधि शरणं विभो ॥ २२८ ॥ भव्यसार्थाधिप प्रोद्यद्दयाध्वजविराजित । धर्मचक्रमिदं सज्जं त्वज्जयोद्योगसाधन ॥ २२९ ॥ निर्धूय मोहपृतनां मुक्तिमार्गोपरोधिनीं । तवोपदेष्टुं सन्मार्गं कालोऽयं समुपस्थितः ॥ २३० ॥ इति प्रबुद्धतत्त्वस्य स्वयंभर्तुर्जिगीषतः । पुनरुक्ततरा वाचः प्रादुरासन् शतक्रतोः ॥ २३१ ॥ अथ त्रिभुवनक्षोभी तीर्थकृत्पुण्यसारथिः । भव्याब्जानुग्रहं कर्तुमुत्तस्थे जिनभानुमान् ॥ २३२ ॥ मोक्षाधिरोहनि:

की[1] ॥ २२७ ॥ कि हे भगवन् भव्यरूपी हरे धान्य पापरूपी अनावृष्टिके (वर्षा न होनेके) कारण सूख रहे हैं, हे विभो ! उन्हें धर्मरूपी अमृतसे सींचकर उनकेलिये आप ही शरण हूजिये ॥ २२८ ॥ हे भव्यजीवोंके स्वामी ! फडकती हुई दयारूपी ध्वजासे सुशोभित ! श्री जिनेंद्रदेव ! आपके जगतविजय करनेका साधन ऐसा यह धर्मचक्र तैयार है ॥ २२९ ॥ हे देव ! मोक्षमार्गको रोकनेवाली ऐसी यह मोहकी सेना (चार घातियाकर्म) नष्ट हो गई है, अब सन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश देनेकेलिये आपका यह समय समीप आगया है ॥ २३० ॥ जिन्हें समस्त तत्त्वोंका ज्ञान है और जिन्हें सबजगह दिग्विजय करनेकी स्वयं इच्छा हुई है ऐसे स्वयं भगवान् वृषभदेवकेलिये इंद्रके कहे हुये वचन दुबारा कहे हुयेके समान हुये, भावार्थ—भगवान विहार करनेको तैयार ही थे उस समय इंद्रने जो प्रार्थना की थी वह व्यर्थ ही सरीखी थी ॥ २३१ ॥

अथानंतर—जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा जिनको पुण्य ही सहाय है ऐसे तीर्थंकर भगवान वृषभदेवरूपी सूर्य भव्यरूपी कमलोंका अनुग्रह करनेकेलिये तैयार हुये ॥ २३२ ॥ वे भगवान् मोक्षरूपी महलपर चढनेकेलिये सीढीके समान ऐसे तीन छत्रोंसे शोभायमान थे, और यशरूपी

---

१ वाग्गद्दी जिनसेनेन जिननामानि सार्थकं । अष्टाधिकसहस्राणि सर्वाभीष्टकराणि च ॥

[क] पुस्तकमें यह श्लोक २२८ नम्बरपर अधिक है परंतु अन्य किसी पुस्तकमें न होनेसे तथा संबंध भी बराबर न मिलनेसे मूलमें नहीं मिलाया है

श्रेणीभूतच्छत्रत्रयोद्धुरः । यशःक्षीरोदफेनाभसितचामरवीजितः ॥ २३३ ॥ ध्वनन्मधुरगंभीरधीरदिव्यमहाध्वनिः । भानुकोटिप्रतिस्पर्धिप्रभावलयभास्वरः ॥ २३४ ॥ मरुत्प्रहतगंभीरदध्वनद्दुदुभिः प्रभुः । सुरोत्करकरोन्मुक्तपुष्पवर्षार्चितक्रम ॥ २३५ ॥ मेरुशृंगसमुत्तुंगसिंहविष्टरनायकः । सच्छायसफलाशोकप्रकटीकृतचेष्टित ॥ २३६ ॥ धूलीसालवृतास्थानजगतीपरिमंडलः । मानस्तंभनिरुद्धान्यकुदृष्टिमदविभ्रमः ॥ २३७ ॥ स्वच्छाम.खातिकाभ्यर्णलतावनवेष्टिता । सभाभूमिमलंकुर्वन्नपूर्वविभवोदया ॥ २३८ ॥ समग्रगोपुरोदग्रैः प्राकारवलयैस्त्रिभिः । परार्ध्यरचनोपेतैराविष्कृतमहोदयः ॥ २३९ ॥

क्षीरसागरके फनके समान सफेद चमर उनपर ढुलाये जा रहे थे ॥ २३३ ॥ उनके शरीरसे मधुर गंभीर और धीर ऐसी महादिव्यध्वनि निकल रही थी तथा उनके शरीरका प्रभामंडल करोडों सूर्योंके साथ स्पर्द्धा करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥ २३४ ॥ भगवानके समीप ही देवोंके द्वारा बजाये हुये और गंभीर शब्द करते हुये दुंदुभी बाजे बज रहे थे, तथा अनेक देवोंके हाथोंसे बरसते हुये पुष्पोंकी वर्षासे उनके चरणकमलोंकी पूजा हो रही थी ॥ २३५ ॥ सुमेरु पर्वतकी शिखरके समान अतिशय ऊंचे सिंहासनपर वे विराजमान थे, और फल तथा छायासे सुशोभित ऐसे अशोकवृक्षसे भगवानकी शांत मुद्रा खूब ही प्रगट हो रही थी ॥ २३६ ॥ भगवानके समवसरणकी भूमिका घेरा धूलिसालसे चारोंओर घिरा हुआ था, और मानस्तंभसे अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियोंका अहंकार नष्ट होता था ॥ २३७ ॥ निर्मल जलसे भरी हुई खाइयोंके समीपमें लगी हुई लताओंके बनसे घिरी हुई और अपूर्व विभूतिको धारण करनेवाली ऐसी समवसरणकी भूमिको वे भगवान बहुत ही सुशोभित कर रहे थे ॥ २३८ ॥ अनेक बहुमूल्य रचनासे सुशोभित ऐसे तीन कोट और उनके समस्त ऊंचे ऊंचे बडे दरवाजोंसे भगवानका माहात्म्य प्रगट हो रहा था ॥२३९॥ अशोक आदि बनसमूहोंसे भगवानका वह समवसरण सघन हो रहा था और माला वस्त्र आदि ध्वजाओंके फडकनेसे ऐसा जान पडता था मानों जगतके समस्त जीवोंको बुला रहा ही हो ॥२४०॥ कल्पवृक्षोंके बनकी छायामें विश्राम लेते हुये देव भगवानकी पूजा कर रहे थे तथा बडे राजभवनोंसे

अशोकादिवनश्रेणीकृतच्छायसभावनि । स्रग्वस्त्रादिध्वजोल्लाससमाहूतजगज्जनः ॥ २४० ॥ कल्पवृक्षवनच्छायाविश्रांतामरपूजितः । प्रासादरुद्धभूमिष्ठकिन्नरोद्गीतसद्यशाः ॥ २४१ ॥ ज्वलन्महोदयस्तूपप्रकटीकृतवैभवः । नाट्यशालाद्वयेद्धर्द्धिसंवर्द्धितजनोत्सवः ॥ २४२ ॥ धूपामोदितदिग्भागमहागंधकुटीश्वरः । त्रिविष्टपपतिप्राज्यपूजार्हः परमेश्वरः ॥ २४३ ॥ त्रिजगद्वल्लभः श्रीमान् भगवानादिपूरुषः । प्रचक्रे विजयोद्योगं धर्मचक्राधिनायक. ॥ २४४ ॥ ततो- भगवदुद्योगसमये समुपेयुषे । प्रचेलुः प्रचलन्मौलिकोटयः सुरकोटयः ॥ २४५ ॥ तदासम्भ्रातनाकींद्रतिरीटोच्चलिता ध्रुवं । जगन्नीराजयामासुर्मणयो दिग्जये विभोः ॥ २४६ ॥ जयेत्युच्चैर्गिरो देवाः प्रोर्णुवाना नभोगणं । दिशा मुखानि तेजोभिर्द्योतयंतः प्रतस्थिरे ॥ २४७ ॥ जिनोद्योगमहावात्या क्षु-

---

घिरी हुई भूमिपर बैठे हुये किन्नर जातिके देव भगवानका उत्तम यश गा रहे थे ॥२४१॥ अतिशय विभूतिको धारण करनेवाले और दैदीप्यमान स्तूपोंसे भगवानकी अनंता विभूति प्रगट होती थी, और दोनों नाट्यशालाओंकी बढी हुई ऋद्धियोंसे लोगोंका उत्सव खूब ही बढ रहा था ॥२४२॥ वे भगवान धूपकी सुगंधिसे दशों दिशाओंको सुगंधित करनेवाली ऐसी गंधकुटीके स्वामी थे तथा वे ही परमेश्वर इंद्रके द्वारा की हुई महापूजाके योग्य थे ॥ २४३ ॥ इसप्रकार तीनों लोकोंको प्रिय, अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित और धर्मचक्रके स्वामी ऐसे आदिपुरुष भगवान वृषभदेवने विजय करनेका उद्योग अर्थात् विहार करना प्रारंभ किया ॥ २४४ ॥ तदनंतर भगवानके विहारका समय प्राप्त होनेपर जिनके मुकुटका अग्रभाग चलायमान हो रहा है ऐसे करोडों देव चलने लगे ॥ २४५ ॥ भगवानके उस दिग्विजयके समय घबडाये हुये इंद्रोंके मुकुटकी चंचल मणियें ऐसी जान पडती थीं मानों जगतकी आरती ही उतार रही हों ॥ २४६ ॥ उस समय देवलोग जय जय ऐसे ऊंचे शब्दोंके द्वारा आकाशरूपी आंगनको व्याप्त करते हुये तथा अपने तेजके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हुये चल रहे थे ॥ २४७ ॥ उस समय भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चारों प्रकारके देवोंका समूह और उनके इंद्रोंका समूह भगवानके विहार रूपी महावायुके द्वारा क्षुब्ध हुये महासागरके समान जान पडता था ॥ २४८ ॥ इसप्रकार कल्प-

भिता देवनायकाः । चतुर्निकायाश्चत्वारो महाब्धय इवाभवन् ॥ २४८ ॥ प्रतस्थे भगवानित्थमनुयात' सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विका वृत्तिमास्कंदन्भानुमानिव ॥ २४९ ॥ अर्धमागधिकाकारभाषापरिणताखिलः । त्रिजगज्जनतामैत्रीसपादनगुणाद्भुतः ॥ २५० ॥ स्वसन्निधानसफुल्लफलिताकुरितद्रुमः । आदर्शमंडलाकारपरिवर्तितभूतलः ॥ २५१ ॥ सुगंधिशिशिरानुच्चैरनुयायी समीरणः । अकस्माज्जनतानंद्रसंपादिपरमोदयः ॥ २५२ ॥ मरुत्कुमारसंमृष्टयोजनांतररम्यभू' । स्तनितामरसासिक्तगंधाबुविरजोऽवनिः ॥ २५३ ॥ मृदुस्पर्शसुखाभोजविन्यस्तपदपंकजः । शालिव्रीह्यादिसपन्नवसुधासूचितागमः ॥२५४॥

वासी और भवनत्रिक देवोंके साथ २ भगवान वृषभदेवने सूर्यके समान इच्छा रहित वृत्तिको धारणकर विहार करनेके लिये गमन किया ॥ २४९ ॥ उस समय भगवानने अर्द्धमागधी भाषासे जगतकी समस्त भाषा रूप परिणत होकर सब जीवोंका कल्याण किया था और वे तीनों लोकोंके समस्त जीवोंमें मित्रता करनेरूप अद्भुत गुणसे सर्वोत्कृष्ट गिनेजाते थे ॥ २५० ॥ जहां भगवान विराजमान होते हैं वहांके सब वृक्षोंपर फल फूल और नवीन अंकूरे आजाते हैं, तथा समीपकी समस्त भूमि दर्पणके समान निर्मल हो जाती है ॥ २५१ ॥ वहांकी वायु शीतल मंद और सुगंधित बहती है तथा वह लोगोंको एक साथ आनंदित करती हुई अपना बडप्पन प्राप्त करती है ॥ २५२ ॥ वायुकुमार जातिके देव एक योजनतककी सुंदर भूमिको झाड बुहारकर साफ रखते हैं और मेवकुमार जातिके देव उतनी ही जमीनको सुगंधित जलसे सींचकर धूलिरहित कर देते हैं ॥ २५३ ॥ जिनका स्पर्श कोमल सुख देनेवाला है ऐसे रचे हुये कमलोंपर वे भगवान अपने चरण कमल रखते हैं तथा शालि व्रीहि आदि अनेक प्रकारके धानोंसे भरपूर हुई पृथ्वी भगवानके आगमनको सूचित करती है ॥ २५४ ॥ शरद ऋतुके सरोवरके समान निर्मल हुआ आकाश भगवानके समीप आनेको सूचित करता है और प्रसन्न हुआ अर्थात् निर्मल हुआ दिशाओंका मध्यभाग भी भगवानके आगमनको सूचित करता है, भावार्थ—जहां २ भगवान विहार करते हैं वहां २ ये सब बातें अपने आप हो जाती हैं ॥ २५५ ॥ उससमय देव लोग जो

शरत्सरोवरस्पार्द्धिव्योमोदाहृतसान्निधिः । ककुब्वंतरवैमल्यसंदर्शितसमागमः ॥ २५५ ॥ द्युसत्परस्पराह्वानध्वानरुद्धहरिन्मुखः । सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुरःसरः ॥ २५६ ॥ पुरस्कृताष्टमाङ्गल्यध्वजमालाततांबर । सुरासुरानुयातोऽभाद्विजिहीर्षुस्तदा विभु ॥ २५७ ॥ तदा मधुरगंभीरो जजृंभे दुंदुभिध्वनिः । नभः समंतादापूर्य क्षुभ्यदब्धिस्वनोपमः ॥ २५८ ॥ ववृषुः सुमनोवृष्टिमापूरितनभोंगण । सुरा भव्यद्विरेफाणां सौमनस्यविधायिनी ॥ २५९ ॥ समंततः स्फुरंति स्म पालिकेतनकोटयः । आह्वातुमिव भव्यौघानेतैतेति मरुद्धताः ॥ २६० ॥ तर्जयन्निव कर्मारीनूर्जस्वी रुद्धदिङ्मुखः । ढक्कार एव ढक्कानामभूत्प्रतिपदं विभोः ॥ २६१ ॥ नभोरंगे नटंतिस्म प्रोल्लसद्भ्रूपताकिका । सुरांगना विलुप्ताशाः स्वदेहप्रभया दिशः ॥ २६२ ॥ विबुधाः पेठुरुत्साहात्किन-

परस्पर एक दूसरेको बुलाते हैं उनके शब्दोंसे सब दिशायें भर जाती हैं और एक हजार आराओंसे दैदीप्यमान ऐसा धर्मचक्ररूपी रत्न भगवानके सामने चलता है ॥ २५६ ॥ उससमय भी भगवानके सामने अष्ट मंगलद्रव्य और ध्वजाओंकी पंक्तिओंसे आकाश शोभायमान हो रहा था, इसप्रकार चारोंप्रकारके देवोंके साथ विहार करते हुये वे भगवान उससमय बडे ही सुशोभित हो रहे थे ॥ २५७ ॥ उससमय क्षुब्ध हुये समुद्रकी गर्जनाके समान आकाशमें चारोंओरसे व्याप्त होता हुआ दुंदुभियोंका मधुर और गंभीर शब्द हो रहा था ॥ २५८ ॥ देवलोग भव्यजीव रूपी भ्रमरोंके चित्तको आनंद देनेवाली तथा आकाशरूपी आंगनको पूर्ण भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ २५९ ॥ जिनके वस्त्र वायुसे हिल रहे हैं ऐसी करोडों ध्वजायें चारोंओर फहरा रही थीं और वे ऐसी जान पडती थीं मानों इधर आओ इधर आओ इसप्रकार भव्य जीवोंको बुला रही हों ॥ २६० ॥ भगवानके विहारके समय पद पदपर समस्त दिशामंडलमें व्याप्त होनेवाला और ऊंचा जो बाजोंका शब्द हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों कर्मरूपी शत्रुओंको तर्जना ही कर रहा हो ॥ २६१ ॥ जिनकी भौंहरूपी पताकायें उड रहीं हैं और जिन्होंने अपने शरीरकी कांतिसे समस्त दिशायें लुप्त कर दी हैं ऐसी देवांगनायें आकाशरूपी रंगभूमिमें नृत्य कर रहीं थीं ॥ २६२ ॥ उससमय

भेजुः प्रमदस्य परंपरा । तेनुः पारस्परी मैत्रीं बंधूभूयमिवाश्रिताः ॥ २७१ ॥ मकरंदरजोवर्षि प्रत्यग्रोद्भिन्नकेसरं । विचित्ररत्ननिर्माणकार्णिक विलसद्दलं ॥ २७२ ॥ भगवच्चरणन्यासप्रदेशेऽधिनभस्तल । मृदुस्पर्शमुदाराश्रि पंकज हैममुद्बभौ ॥ २७३ ॥ पृष्ठतश्च पुरश्चास्य पद्माः सप्त विकासिनः । प्रादुर्बभूवुरुद्गधिसाद्रकिंजल्करेणवः ॥ २७४ ॥ तथान्यान्यपि पद्मानि तत्पर्यंतेषु रेजिरे । लक्ष्म्यावसथसौधानि सचारीणीव खागणे ॥ २७५ ॥ हेमाम्भोजमयीं श्रेणीमलिश्रेणीभिरन्विता । सुरा व्यचरयन्नेना सुरराजनिदेशतः ॥ २७६ ॥ रेजे राजीवराजी सा जिनपत्पद्मजोन्मुखी । आदित्सुरिव तत्कातिमतिरेकादधः-

---

तरहका कल्याण था, पूर्ण आरोग्य था और कहींपर भी जीवोंकी हिंसा नहीं होती थी ॥२७०॥ संसारके प्राणियोंको अकस्मात् बहुत ही आनंद हुआ था, और वे सब भाई भाइयोंके समान परस्पर मित्रताको प्राप्त हुये थे ॥२७१॥ जिस जगह भगवानके चरणकमल पडते थे उस जगहके नीचे आकाशमें ही देवलोग जिन सुवर्णमय कमलोंकी रचना करते थे, वे कमल पराग रजकी वर्षा कर रहे थे, उनपर नवीन केसर उत्पन्न हो रही थी, उनकी कर्णिका अनेक प्रकारके रत्नोंसे बनी हुई थी, उनके दल बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका स्पर्श कोमल था और उनकी शोभा बहुत ही बढी हुई थी ॥ २७२-२७३ ॥ जिनकी परागरज और केसरके रेणु बहुत ही सुगंधित हैं ऐसे वे प्रफुल्लित कमल सात तो भगवानके चरणके आगे उत्पन्न हुये थे तथा सात पीछे रचे गये थे (और एक चरणकमलके नीचे था ॥ २७४ ॥ तथा इसीप्रकार उन कमलोंके समीपमें और भी अनेक कमल शोभायमान हो रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों आकाशरूपी आंगनमें चलते हुये लक्ष्मीके निवास करनेके घर ही हों ॥ २७५ ॥ जिनपर भ्रमरोंके समूह बैठे हुये हैं ऐसी सुवर्णकी बनी हुई इन कमलोंकी पंक्तियोंको देवलोग इंद्रकी आज्ञासे निर्माण करते थे ॥ २७६ ॥ भगवानके चरणकमलोंके सन्मुख हुई वह कमलोंकी पंक्ति ऐसी सुशोभित होती थी मानों अपनी अधिकतासे भगवानके चरणकमलोंकी नीचेकी कांतिको ही प्राप्त होना चाहती हो ॥ २७७ ॥ भगवानके विहारके समय आकाशरूपी सरोवरमें उ-

मभग्नवृत्तिः । देवासुरैरनुगतो विजहार पृथ्वीं । हेमाब्जगर्भविनिवेशितपादपद्मः ॥ २८५ ॥ तीव्राजवंजवदवानलदह्यमानमाह्लादयन् भुवनकाननमस्ततापः । धर्मामृताम्बुपृषतैः परिषिच्य देवो रेजे घनागम इवोदितदिव्यनादः ॥ २८६ ॥ काशीमवन्तिकुरुकोसलसुह्मपुण्ड्रान् चेद्यंगवंगमगधान्ध्रकलिंगमद्रान् । पंचालमालवदशार्णविदर्भदेशान् सन्मार्गदेशनपरो विजहार वीरः ॥ २८७ ॥ देवःप्रशान्तचरितः शनकैर्विहृत्य देशान् बहूनिति विनीतविनेयसत्त्वः । भेजे जगत्त्रयगुरुर्विधुवीध्रमुच्चैः कैलासमात्मयशसोऽनुकृतिं दधान ॥ २८८ ॥ तस्याऽग्रे सुरनिर्मिते सुरुचिरे श्रीमत्सभामण्डले पूर्वोक्ताखिलवर्ण-

---

की जिनकी उच्छा है, जिनकी वृत्ति अर्थात् उपदेश देनेरूप कार्य अखंडित है और जिनके चरणकमल सुवर्णकमलपर विराजमान हैं तथा जिनके साथ वैमानिक भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क आदि सब देव चलते हैं ऐसे उन भगवानने समस्त पृथ्वीपर विहार किया ॥ २८५ ॥ उससमय वे भगवान ठीक वर्षा ऋतुके समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार वर्षाऋतु दावानल अग्निसे जले हुये बनको वर्षासे सींचकर आनंदित करती है उसीप्रकार वे भगवान् तीव्र संसाररूपी दावानल अग्निसे जले हुये जगतरूपी बनको धर्मामृतरूपी जलकी वर्षासे सींचकर आनंदित करते थे, जिसप्रकार वर्षाऋतु संताप नष्ट करती है उसीप्रकार वे भगवान भी संसाररूपी संताप नष्ट करते थे और वर्षाऋतुमें जिसप्रकार गंभीर शब्द होता है उसीप्रकार भगवानका भी दिव्यध्वनिरूप गंभीर शब्द होता था ॥ २८६ ॥ मोक्षमार्गके उपदेश देनेमें तत्पर तथा धीरवीर ऐसे भगवान् वृषभदेवने काशी, अवंती कुरुजांगल, कोशल, सुह्म, पुंड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, अंध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव दशार्ण और विदर्भ आदि अनेक देशोंमें विहार किया ॥ २८७ ॥ इसप्रकार जिनका चारित्र अत्यंत शांत है जिन्होंने अनेक भव्य जीवोंको उपदेश देकर आत्मज्ञानी बनाया है और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे वे देवाधिदेव भगवान वृषभदेव धीरे धीरे अनेक देशोंमें विहारकर चंद्रमाके समान निर्मल, बहुत ऊंचे और अपने यशका अनुकरण करनेवाले सफेद ऐसे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुये

अथ षड्विंशतितमं पर्व ।

अथ चक्रधरः पूजा चक्रस्य विधिवद्व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमानभ्यनददनुक्रमात् ॥१॥ नो दरिद्री जनः कश्चिद्विभोस्तस्मिन्महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थलाभे तु जातं विश्वाशितंभवे ॥ २ ॥ चतुष्केषु च रथ्यासु पुरस्यांतर्बहि पुर । पुंजीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो ददौ नृपः ॥ ३ ॥ अभिचारक्रियेवासीच्चक्रपूजास्य विद्विषा । जगतः शांतिकर्मेव जातकर्माप्यभूत्तदा ॥ ४ ॥ ततोस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदापतत् । जयलक्ष्मीरिवामुष्य प्रसन्ना विमलाम्बरा ॥ ५ ॥ अलका इव सरेजुरस्या मधुकरव्रजाः । सप्तच्छदप्रसूनोत्थरजोभूषितविग्रहाः ॥ ६ ॥ प्रसन्नमभवत्तोय सरसां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं

अथ छब्बीसवां पर्व ।

अथानंतर—श्रीमान् चक्रवर्ती महाराज भरतने विधिपूर्वक चक्रकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र होनेकी भी खुशी मनाई ॥ १ ॥ महाराज भरतके उस महोत्सवमें संसारके समस्त लोग तृप्त होगये थे, कोई भी दरिद्री मनुष्य नहीं रहा था, दरिद्रता केवल मागनेवालोंकी होगई थी अर्थात् उससमय मागनेवाला कोई नहीं रहा था ॥२॥ उससमय चक्रवर्तीने चौरस्तेमें गलियोंमें नगरके भीतर बाहर आदि सब जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब मांगनेवालोंको बांट दिये थे ॥ ३ ॥ उससमय भरतने जो चक्रकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिये जारण मारण (जलना मरना) आदि क्रियाके समान मालूम हुई थी, तथा जो जातकर्म (पुत्रोत्सवमें होनेवाली उत्सव आदि क्रियायें) किया था वह संसारको शांतकर्मके समान जान पडा था ॥ ४ ॥ ये दोनों कर्म कर चुकनेपर महाराज भरतने दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं, उससमय शरद ऋतुका समय आगया था, और आकाश भरतकी जय लक्ष्मीके समान साफ और निर्मल हो गया था ॥ ५ ॥ उससमय सप्तछद जातिके फूलोंकी फैली हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे इधर उधर उडते हुये भ्रमरोंके समूह ठीक इस शरद ऋतुके अलकोंके (केशपाश=फूलोंसे सजे हुये केश) समान जान पडते थे ॥ ६ ॥

भूमयः । सहंससैकता नद्यो जन्हुश्वेतासि कामिनां ॥ १४ ॥ प्रसन्नसलिला रेजुः सरस्यः सहसारसाः । कूजितैः कलहंसानां जितनूपुरसिंजनैः ॥१५॥ नीलोत्पलेक्षणा रेजे शरच्छ्रीः पंकजानना । व्यक्तमाभाषमाणेव कलहंसीकलस्वनैः ॥ १६ ॥ पक्वशालिभुवो नम्रकणिशा पिंजरश्रियः । स्नाता हरिद्रयेवासन् शरत्कालप्रियागमे ॥ १७ ॥ मदमाना मदं भेजुः सहमाना मदं जहुः । शरल्लक्ष्मीं समालोक्य शुध्यशुध्योरयं निजः ॥ १८ ॥ कलहंसा हसंतीव विरुतैः स्म शिखंडिनः । अहो जलप्रिया यूयमिति निर्मलमूर्तयः ॥ १९ ॥ चित्रवर्णा घनाबद्धरुचयो गिरिसंश्रयाः । सम गतमखेष्वासैर्बर्हिण स्वो-

---

से सुशोभित खेत और हंसोंसे सुशोभित वालूके टीले ये सव कामीलोगोंके अंतःकरणको हरण करते थे ॥१४॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और चारोंओर सारस पक्षियोंके जोडे फिर रहे हैं ऐसे छोटे तालाव नूपुरोंकी (स्त्रियोंके पैरोंकी उंगलियोंके विछुओंकी) आवाजको जीतनेवाले हंसोंके मधुर शब्दोंसे वहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १५ ॥ नीलकमल ही जिसके नेत्र हैं, सफेद कमल ही जिसका मुख है और जो सुंदर हंसनिकोंके मधुर शब्दोंके द्वारा स्पष्ट भाषण कर रही है ऐसी वह शरदऋतु रूपी लक्ष्मी वहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १६ ॥ जो चावलोंकी वालसे कुछ झुक गई है तथा जो कुछ २ पीली हो गई है ऐसी पके चावलोंकी पृथ्वी उससमय ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों शरदसमयरूप अपने पतिके आनेपर वह हल्दी उवटन आदिके द्वारा स्नानकर सुसज्जित हो हुई हो ॥१७॥ उस शरदऋतुकी शोभा देखकर हंस वहुत संतुष्ट हुये थे और मयूरोंने अपनी सव प्रसन्नता छोड दी थी, सो ठीक ही है शुद्ध और अशुद्ध पदार्थोंका यह स्वभाव ही है, भावार्थ—शरदऋतुकी शोभा सफेद है क्योंकि उसमें आकाश, दिशायें, पानी आदि सव स्वछ हो जाता है हंस भी सफेद होते हैं, इसलिये सफेद शरदऋतुको देखकर सफेद हंसोंको आनंद होना ही चाहिये इसीतरह मयूर काले होते हैं उन्हें सफेद शरदऋतु देखकर खेद होता है उन्हें अपने रंगके समान अर्थात् काली वर्षाऋतुको देखकर ही आनंद होता है, यह शुद्ध अशुद्ध पदार्थोंका स्वाभाविक धर्म है ॥ १८ ॥ स्व-

त्यर्चिंतयेवाकुलीकृता ॥ २५ ॥ नभः सतारमारेजे विहसत्कुमुदाकरं । कुमुद्वतीवन चाभाजयत्तारकितं नभः ॥ २६ ॥ तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः ॥ २७ ॥ नभोगृहांगणे तेनुः श्रियं पुष्पोपहारजा । तारका दिग्वधूहारतारमुक्ताफलत्विषः ॥ २८ ॥ बभुर्नभोबुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका इव मेघौघैर्निहिताहिमशीतला ॥ २९ ॥ ज्योत्स्नासलिलसंभूता इव बुद्बुदपंक्तयः । तारका रुचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नभोगणे ॥ ३० ॥ तनुभूतपयोवेणीर्नद्यः परिकृशा दधुः । वियुक्ता घनकालेन विरहिण्य इवागनाः ॥ ३१ ॥ अनुद्धतागभीरत्व भेजुः

बाण और आसन जातिके पुष्पोंका अलंकार धारण किया था सो ठीक ही है, क्योंकि सब दिशाओंको जीतनेकी इच्छा करनेवालेको बाणासन अर्थात् धनुष धारण करना प्रशंसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस शरदऋतुमें मेघमाला सब दिशाओंको छोडती हुई कृश और सफेद हो गई थी तथा ऐसी जान पडती थी मानों वर्षाके वियोगसे उत्पन्न हुई चिंतासे व्याकुल ही हो रही हो ॥ २५ ॥ उन दिनों ताराओंसे सुशोभित आकाश ऐसा अच्छा जान पडता था मानों खिली हुई कमोदिनिओं सहित (चंद्रविकासी कमलों सहित) सरोवरकी ओर ही हँस रहा हो तथा कमोदिनियों सहित सरोवर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ताराओंसे सुशोभित आकाशको भी जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारेरूपी कमोदिनियोंसे भरे हुये आकाशरूपी निर्मल सरोवरमें अपनी किरणरूपी पंखोंको फैलाता हुआ चंद्रमा ठीक हंसके समान जान पडता था ॥ २७ ॥ दिशारूपी स्त्रियोंके हार संबंधी सुंदर मोतियोंकी कांतिको धारण करते हुये तारे आकाशरूपी घरके आंगनमें पुष्पोंसे की हुई पूजाकी शोभाको बढा रहे थे ॥ २८ ॥ दैदीप्यमान मोतियोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बादलोंके समूहसे बरफके समान ठंडे ओले ही बरसकर पडे हों ॥ २९ ॥ आकाशरूपी आंगनमें इधर उधर फैले हुये तारे ऐसी अच्छी शोभाको धारण करते थे मानों चांदनीरूपी जलसे उत्पन्न हुये बुद्बुदोंके (बबूलोंके) समूह ही हों ॥ ३० ॥ वर्षा-

विन्यस्तरागा बाणकृतद्युतिः । हंसीसखीवृता रेजे नवोढेव शरद्वधूः ॥ ३७ ॥ स्वयं धौतमभाद्व्योम स्वयंप्रक्षालितः शशी । स्वयंप्रसादिता नद्यः स्वयं समार्जिता दिशः ॥ ३८ ॥ शरत्श्रीमुखालोकदर्पणे शशिमंडले । प्रजादृशो धृतिं भेजुरसमृष्टसमुज्ज्वले ॥ ३९ ॥ वनराजीस्ततामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुव्रता भवतिस्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥ ४० ॥ तन्व्यो वनलता रेजुर्विकासिकुसुमस्मिताः । सालका इव गंधांधविलोलालिकुलाकुलाः ॥ ४१ ॥ दर्पोध्दुराः खुरोत्खातभुवस्ताम्रीकृतेक्षणाः । वृषाः प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनुः ॥ ४२ ॥ अपारिस्फुरतः शृंगाग्रैर्वप्रभा धीरनिःस्वनाः ।

र्थात् भाई वंधुओंमें राग अर्थात् प्रेम करती है उसीप्रकार शरदऋतु भी वंधुजीव अर्थात् दुपहरियाके पुष्पोंमें राग अर्थात् लालिमा धारण करती थी, नवोढा जिसप्रकार दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार शरदऋतु भी वाण अर्थात् कांस जातिके वृक्षोंके फूलनेसे दैदीप्यमान हो रही थी और नवोढा जिसप्रकार सखियों सहित रहती है उसीप्रकार शरदऋतु भी हंसिनीरूपी सखियों सहित रहती थी ॥ ३७ ॥ उससमय आकाश अपने आप साफ हुयेके समान जान पडता था, चंद्रमा अपने आप धोये हुयेके समान जान पडता था, नदियां अपने आप निर्मल हुई सी जान पडती थीं और दिशायें अपने आप झाड बुहारकर साफ की हुई के समान जान पडती थीं ॥ ३८ ॥ शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेलिये दर्पणके समान और विना ही साफ किये अतिशय उज्वल ऐसे चंद्रमंडलमें प्रजाके नेत्र बडे ही संतुष्ट होते थे ॥ ३९ ॥ जिनकी सुगंधि चारोंओर फैल रही है और जो पुष्परूपी आभरणोंसे उज्वल हो रही हैं ऐसी वन पंक्तियोंको भ्रमरोंके समूह कोलाहल शब्द करते हुये सेवन कर रहे थे ॥ ४० ॥ उससमय अत्यंत कृश ऐसी वनकी लतारूपी स्त्री वहुत ही सुशोभित हो रही थी, क्योंकि फूले हुये पुष्प ही उसका मंदहास्य था और उनकी सुगंधिसे अंधे हुये चंचल भ्रमरोंका समूह ही सुंदर केशपाश था ॥ ४१ ॥ उससमय मदोन्मत्त हुये वैल भी दूसरे बैलोंको देखकर क्रोधित होते थे, खुरोंसे पृथ्वीको खोदते थे उनकी आंखें लाल हो रही थीं और वे अन्य वैलोंके शब्द

वनस्थलीं स्थलाभोजमृणालशकलाचितां ॥ ४३ ॥ वृषाः ककुदसंलग्नमृदः कुमुदपाडुराः । व्यक्ताकस्य मृगांकस्य लक्ष्मीमविभरुस्तदा ॥ ४४ ॥ क्षीरप्लवमयीं कृत्स्नामातन्वाना वनस्थलीं । प्रस्रुवाना वनातेषु प्रसस्रुर्गोमतल्लिकाः ॥ ४५ ॥ कुंडोध्न्योमृतपिंडेन घटिता इव निर्मलाः । गोगृष्ट्यो वनातेषु शरच्छ्रिय इवाभवन् ॥ ४६ ॥ हंभारवभृतों वत्सानापिप्यन्प्रक्रुतस्तनान् । पीनापीना' पयस्विन्यः पयःपीयूषमुत्सुकान् ॥ ४७ ॥ क्षीरस्यूतो निजान् वत्सान् हंभागभीरनिःस्वनाः । धेनुष्यः पाययंति स्म गोपैरपि नियंत्रिताः ॥ ४८ ॥ प्राक् प्रिया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो क-

---

सुनकर स्वयं शब्द कर रहे थे ॥ ४२ ॥ उसीप्रकार गंभीर शब्द करते हुये वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके [तंतुओंके] टुकडोंसे व्याप्त हुई वनकी पृथ्वीको खोद रहे थे ॥ ४३ ॥ इसीतरह उस शरदऋतुमें जिनके कंधेके समीपके पीठके ऊंचे भागपर काली मिट्टी लग रही है ऐसे कमोदनीके समान सफेद बैल स्पष्ट लांच्छनवाले चंद्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी संपूर्ण पृथ्वीको दूधके प्रवाह रूप करती हुई वनमें चारोंओर फिर रहीं थीं ॥ ४५ ॥ इसी तरह जिनके स्तन दूधसे भरे हुये हैं और अमृतके समूहसे बनी हुईके समान अत्यंत निर्मल वा सफेद हैं अथवा मीठा दूध देनेसे अमृतसे बनी हुईके समान हैं ऐसी तुरंतकी प्रसूत हुई गायें वनोंमें शरदऋतुकी शोभाके समान जान पडती थीं ॥ ४६ ॥ जिनके स्तन बहुत बडे हैं और जो ' हंभा ' ऐसा शब्द कर रहीं हैं ऐसी दूधवाली गायें दूध पीनेकेलिये उत्सुक हुये और ' हंभा ' शब्द करते हुये अपने बच्चोंको दूधरूपी अमृत पिला रही थीं ॥ ४७ ॥ इसीतरह ' हंभा ' ऐसा गंभीर शब्द करती हुई गायें यद्यपि ग्वालाओंके द्वारा कुछ अलग बांधदी गई थीं तथापि दूधकी इच्छा करनेवाले अपने बच्चोंको दूध पिला ही रहीं थीं ॥४८॥ पहले वर्षाऋतुमें जो बादल मयूरोंको बहुत ही प्रिय थे वे ही अब शरदऋतुमें जलरूपी धनको नाशकर खाली हो जानेसे अप्रिय (बुरे) होगये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता भी बहुत ही बुरी होती

ष्टा दरिद्रता ॥ ४९ ॥ व्यापहासीमिवातेनुर्गिरयः पुष्पितैर्द्रुमैः । व्यात्युक्षीमिव तन्वानाः स्फुरन्निर्झरसीकरैः ॥ ५० ॥ प्रवृद्धवयसो रेजुः कलमा भृशमानताः । परिणामात्प्रपुष्यतो जरतः पुरुषा इव ॥ ५१ ॥ विरेजूरसनाःपुष्पैर्मदालिपटलावृतैः । इद्रनीलकृतातर्यैः सौवर्णैरिव भूषणैः ॥ ५२ ॥ घनावरणनिर्मुक्ता दधुराशा दशा मुद । नटिका इव नेपथ्यगृहाद्रगमुपागताः ॥ ५३ ॥ अदधुर्वनवृदानि मुक्तासाराणि भूधराः । सदशानीव वासांसि निष्प्रवाणीनि सानुभिः ॥ ५४ ॥ पवनाधोरणारूढा भ्रेमुर्जीमूतदंतिनः । सातर्गर्जा निकुंजेषु सासारमदसीकराः ॥ ५५ ॥ शुकावली प्रवालाभचचुस्तेने दिवि-

हे ॥ ४९ ॥ फूले हुये वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पडते थे मानों परस्पर हँसी ही कर रहे हों तथा झरते हुये झरनोंकी बूंदोंसे ऐसे जान पडते थे मानों एक दूसरेपर जल ही सींच रहे हों ॥५०॥ कलमी चांवलोंके खेत जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनपर अनेक पक्षी बैठे थे तथा जो खूब नव रहे थे और जो फल लगनेसे अनेक जीवोंका पालन कर रहे थे वे ठीक वृद्धपुरुषोंके समान जान पडते थे ॥ ५१ ॥ सहजनाके वृक्ष मदोन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे घिरे हुये पुष्पोंसे ऐसे अच्छे सुशोभित होते थे मानों जिनके मध्यभागमें इंद्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णके बने हुये आभूषण ही हों ॥ ५२ ॥ जिसप्रकार आभूषण पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमें आई हुई नटी (नृत्य करनेवाली) नेत्रोंको आनंद देती है उसीप्रकार जिनपरसे बादलोंका आवरण दूर होगया है ऐसी दिशायें भी नेत्रोंको आनंद दे रहीं थीं ॥ ५३ ॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरोंपर जलरहित बादलोंके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने नवीन सफेद वस्त्र ही धारण किये हों ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत चढे हुये हैं, जो भीतर ही भीतर गरज रहे हैं और लतागृहोंमें जलकी बूंदे रूपी मदकी धारा बहा रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी चारोंओर इधर उधर फिर रहे थे ॥ ५५ ॥ जिनकी चोंच मूंगाके समान लाल है ऐसी सूआओंकी (तोतोंकी) पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा धारण करती थी मानों पद्मराग मणियोंकी कांति सहित हरितमणियोंकी बनी हुई तोरणोंकी पंक्ति ही

श्रिय । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणालीसपद्मभा ॥५६॥ चेतांसि तरणागोपजीविनामुद्धतात्मना । पुंसा च्युताऽविकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥ ५७ ॥ प्रतापी भुवनस्यैक चक्षुर्नित्यमहोदयः । भास्वानाक्रांततेजस्वी बभासे भरतेशवत् ॥ ५८ ॥ इति प्रस्पष्टचद्रांशुप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोद्योग चक्री चक्रपुर'सरः ॥ ५९ ॥ प्रस्थानभेर्यो गभीरप्रध्वानाः प्रहतास्तदा । श्रुता बर्हिभिरुद्ग्रीवैर्घनाडंबरशंकिभिः ॥६०॥ धृतमगलनेपथ्यो बभौरोरस्स्थलप्रभु' । शरल्लक्ष्म्येव संभक्तं सहारहरिचदनं ॥ ६१ ॥ ज्योत्स्नामये दुकूले च श्लक्ष्णे परिदधौ नृपः । शरच्छ्रियोपनीते वा मृदुनी दिव्यवाससी ॥ ६२ ॥ आजा-

---

हो ॥ ५६ ॥ जिसप्रकार जिनका अधिकार छूट गया है ऐसे पुरुषोंके चित्त दीनताको धारण करते हैं उसीप्रकार जो लोग नावोंके द्वारा आजिविका करते थे ऐसे उद्धत मल्लाहोंके चित्त भी [नदियोंमें पानी कम हो जानेसे] दीनता धारण करने लगे थे ॥ ५७ ॥ उस शरदऋतुके समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान सुशोभित होने लगा था क्योंकि जिसप्रकार महाराज भरत प्रतापी थे उसीप्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिसप्रकार भरत संसारके एक मात्र चक्षु थे अर्थात् सबको मार्ग दिखानेवाले थे उसीप्रकार सूर्य भी संसारका एक मात्र चक्षु था, जिसप्रकार भरतका तेज प्रतिदिन वढता जाता था उसीप्रकार सूर्यका तेज भी वढता जाता था और भरतने जिसप्रकार सब प्रतापी राजा अपने वश कर लिये थे उसीप्रकार सूर्यने भी चंद्र आदि सबका प्रताप अपनेसे नीचा कर दिया था ॥ ५८ ॥ इसप्रकार अत्यंत निर्मल चंद्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य हैंऐसी शरदऋतुके आनेपर चक्रवर्ती महाराज भरतने अपने चक्रको आगे २ कर दिग्विजय करनेकी तैयारी कीं ॥ ५९ ॥ उससमय गंभीर शब्द करते हुये गमन करनेके नगाडे बज रहे थे जिन्हें मेघके आडंबरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी गर्दन ऊंचीकर सुन रहे थे ॥६०॥ उससमय जिन्होंने मंगलकारक वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत पुष्पोंका हार और सफेद चंदन सहित जो वक्षःस्थल धारण कर रहे थे वह ऐसा जान पडता था मानों शरद ऋतु रूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥ ६१ ॥ महाराज भरत चांदनीके समान सफेद, को-

नुलंबिना ब्रह्मसूत्रेण विबभौ विभुः । हेमाद्रिरिव गंगाबुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥ ६३ ॥ किरीटोदग्रमूर्धासौ कर्णाभ्यां कुंडले दधौ । चद्राऽर्कमंडले वक्तुमिवायाते जयोत्सवं ॥ ६४ ॥ वक्ष·स्थलेऽस्य रुरुचे रुचिरः कौस्तुभो मणिः,। जयलक्ष्मीसमुद्वाहमगलाशंसिदीपवत् ॥ ६५ ॥ विधुर्बिंबप्रतिस्पार्द्धि दधेस्यातपवारण । तन्निभेनैदव बिंबमागत्येव सिसेविपु ॥ ६६ ॥ तदस्य रुचिमातेने धृतमातपवारणं । चूडारत्नांशुभिर्भिन्न सारुणाश्विव पंकज ॥ ६७ ॥ स्वर्धुनीसीकरस्पार्धि चामराणा कदबकं । दुधुवुर्वारनार्योस्य दिक्कन्या इव संसृताः ॥ ६८ ॥ ततः स्थपतिरत्नेन निर्ममे स्यंदनो महान् । सुवर्णमाणिचित्रा-

---

मल और बारीक ऐसे जो दो [धोती डुपट्टा] रेशमी दिव्य वस्त्र पहने हुये थे वे ऐसे जान पडते थे मानों शरदृतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही लाये गये हों ॥ ६२ ॥ जिसप्रकार किनारेको स्पर्श करनेवाले गंगाजलके प्रवाहसे हिमवान पर्वत सुशोभित होता है उसीप्रकार घोंटूतक लटकते हुये यज्ञोपवीतके द्वारा महाराज भरत भी बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ ६३ ॥ मुकुट पहननेसे जिनका मस्तक बहुत ऊंचा हो रहा है ऐसे भरतेश्वरने दोनों कानोंमें जो कुंडल पहने थे वे ऐसे जान पडते थे मानों दिग्विजयके उत्सवकी बधाई देनेकेलिये सूर्यमंडल और चंद्रमंडल, ही आये हों ॥ ६४ ॥ महाराज भरतके वक्षःस्थलपर जो सुंदर कौस्तुभमणि सुशोभित हो रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों जयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना करनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ महाराजने चंद्रमंडलकी स्पर्द्धा करनेवाला जो छत्र धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों छत्रके बहानेसे चंद्रमडल ही आकर भरतकी सेवा कर रहा हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छत्र धारण किया था और उसपर जो मुकुटमें लगे हुये रत्नोंकी किरणें पड रहीं थीं उससे मिला हुआ वह छत्र ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी किरणों सहित कमल ही हो ॥ ६७ ॥ बारांगनायें जो गंगाके जलकी बूंदोंके साथ स्पर्द्धा करनेवाले चमरोंके समूह ढाल रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों दिक्कन्यायें ही उतरकर आ गई हों ॥ ६८ ॥ तदनंतर स्थपति (सिलावट) रत्नने एक बहुत बडा रथ तैयार किया

गमेरुकुंजश्रियं हसन् ॥ ६९ ॥ चक्ररत्नप्रतिस्पर्द्धिचक्रद्वितयसंगतः । वज्राक्षघटितो रेजे रथोस्येव मनोरथः ॥ ७० ॥ कामगैर्वायुरंहोभिः कुमुदोज्वलकांतिभिः । यशोवितानसकाशैः स रथोऽयोजि वाजिभिः ॥ ७१ ॥ स त स्यन्दनमारुक्षद्युक्तसारथ्यधिष्ठित । नितंबदेशमद्रीशः सुरराडिव चक्रराट् ॥ ७२ ॥ ततः प्रास्थानिकैः पुण्यनिर्घोषैरभिनंदित । प्रतस्थे दिग्जयोद्युक्तः कृतप्रस्थानमंगल ॥ ७३ ॥ तदा नभोंगणं कृत्स्नं जयघोषैररुध्यत । नृपांगणं च सरुद्धमभवत्सैन्यनायकैः ॥ ७४ ॥ महामुकुटवद्धास्तं परिवत्रु समंतत । दूरात्प्रणतमूर्द्धानः सुरराजमिवामराः ॥ ७५ ॥ प्रचचाल वल विष्व-

---

जो कि ऐसा जान पडता था मानों सुवर्ण और मणियोंसे चित्र विचित्र दिखनेवाले मेरुपर्वतकी कुंजोंकी शोभाकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उस रथमें चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले दो पहिये लगे हुये थे और वज्रकी धुरी वनी हुई थी इसलिये वह रथ भरतके मनोरथोंके समान वहुत ही सुंदर जान पडता था ॥ ७० ॥ उस रथमें जो घोडे जोते गये थे उनका वेग किसीसे रोका नहीं जा सकता था, वायुके समान उनका तेज वेग था, सफेद कमलके समान उनकी निर्मल कांति थी और वे ऐसे जान पडते थे मानों यशका समूह ही हों ॥ ७१ ॥ जिसप्रकार इंद्र मेरुपर्वतके नितंवदेश [तट] पर विराजमान होता है उसीप्रकार जिसपर वहुत अच्छा हांकनेवाला सारथि वैठा है ऐसे उस रथपर भरतेश्वर विराजमान हुआ ॥ ७२ ॥ तदनंतर प्रस्थानके समय ' जय जय ' ऐसे पुण्य शव्दोंके द्वारा अनेक लोग जिसे वधाई दे रहे हैं और जिसपर गमन करते समयकी मंगलारति उतारी जा रही है ऐसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतने प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥ उससमय आकाशरूपी समस्त आंगन जय जय शव्दोंसे भरगया था और महाराजका आंगन वडे वडे सेनापतियोंसे भरगया था ॥ ७४ ॥ जिसप्रकार इंद्रके चारोंओर देवलोग खडे रहते हैं उसीप्रकार दूरसे ही मस्तक नवाकर नमस्कार करते हुये महामुकुटवद्ध राजालोग भरतको घेरे हुये चारोंओर खडे थे ॥ ७५ ॥ समस्त नगर और गलियोंको रोकती हुई वह सेना चलने लगी और वह उससमय ऐसी जान पडती थी मा-

गारुद्धपुरवीथिकं । महायोधमयीसृष्टिरपूर्वेवाभवत्तदा ॥७६॥ पुरः पादातमाश्वीयं रथकट्या च हास्तिकं । क्रमान्निरीयुरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥ ७७ ॥ रथ्या रथाऽश्वसघट्टादुत्थितैर्हेमरेणुभिः । बलक्षोदाक्षमा व्योम समुत्पेतुरिव स्वयं ॥ ७८ ॥ रौक्मैरजोभिराकीर्णं तदा रेजे नभोऽजिरं । स्पष्ट बालातपेनेव पटवासेन चातत ॥ ७९ ॥ शनैःशनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः । कल्लोलैरिव वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः ॥ ८० ॥ पुरागनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोंजलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिर्दृष्टिपातैः समं प्रभौ ॥ ८१ ॥ जयेश विजयिन् विश्व विजयस्व दिशो दश । पुण्याशिषां शतैरित्थ पौराः प्रभुमपूजयन् ॥ ८२ ॥ सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं तदातनीं । शनैः प्रतोलीं सप्रापद्रत्नतोरणभासुरा ॥ ८३ ॥ पुरोवहिः पुरः पश्चात्समंच विभुनाऽसु-

---

नों बडे बडे योद्धाओंकी एक नई सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७६ ॥ सबसे पहिले पैदल सेना थी, उसके पीछे घोडेसवार थे, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हस्तियोंका समूह था, इसप्रकार अनेक पताकाओंसे शोभायमान ऐसे महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे सेना निकली ॥ ७७ ॥ जिस मार्गसे सेना निकल रही थी वह मार्ग रथ और घोडोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलसे ऐसा जान पडता था मानों वह सेनाका बोझा सह नहीं सकता इसलिये वह स्वयं आकाशमें ही उडना चाहता हो ॥ ७८ ॥ उससमय सुवर्णमय धूलिसे व्याप्त हुआ आकाशरूप आंगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों उदय होते हुये सूर्यकी धूपसे स्पर्श किया गया हो, और मकरंदकी रजसे भरगया हो ॥७९॥ धीरे धीरे नगरकी गलियोंमेंसे सबलोग निकल गये इसलिये खाली हुई वे गलियां ऐसी जान पडती थीं मानों समुद्रकी बेलासे (ज्वारसे) उठीहुई लहरोंके चले जानेपर समुद्रके किनारेकी पृथ्वी ही हो ॥ ८० ॥ उससमय बडे बडे मकानोंके झरोखोंमें खडी हुई नगर निवासिनी स्त्रियां महाराज भरतके ऊपर अपने कटाक्षोंके साथ २ पुष्पांजलि फेंक रहीं थीं ॥ ८१ ॥ हे प्रभो ! सबको जीतनेवाले आपकी जय हो, आप संसारको विजय करें और दसों दिशाओंका विजय करें, इसप्रकार सैकडों पुण्याशीर्वादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस-

ना । ददृशे दृष्टिपर्यंतमसंख्यमिव तद्बलं ॥ ८४ ॥ जगतः प्रसवागारादिव तस्मात्पुराद्बलं । निरियाय निरुच्छ्वास शनैरारुद्धगोपुरं ॥ ८५ ॥ किमिद प्रलयक्षोभात् क्षुभितं वारिधेर्जलं । किमुत त्रिजगत्सर्गः प्रत्यग्रोऽय विजृंभते ॥ ८६ ॥ इत्याशक्य नभोभाग्भिः सुरैः साश्चर्यमीक्षित । प्रससार बल विष्वक् पुरान्निर्याय चक्रिणः ॥ ८७ ॥ ततः प्राचीं दिशं जेतु कृतोद्योगो विशापतिः । प्रययौ प्राङ्मुखो भूत्वा चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥ ८८ ॥ चक्रमस्य ज्वलद्व्योम्नि प्रयातिस्म पुरो विभो. । सुरैः परिवृत विश्वग् भास्वद्दिंवप्रभास्वर ॥ ८९ ॥ चक्रानुयायि तद्वेजे निधीनामीशितुर्बल । गुरोरिच्छाऽनुवर्तिष्णु मुनीनामिव मडलं ॥ ९० ॥ दंडरत्न पुरोधाय सेनानीरग्रणीरभूत् । स्थपुटानि समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययत्नतः ॥ ९१ ॥ अग्रण्या दडरत्नेन पथि राज-

---

प्रकार उससमय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुये महाराज भरत धीरे २ रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान ऐसे नगरके बडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ ८३ ॥ उससमय महाराज भरतको नगरके वाहर अपने पीछे आगे और साथ साथ जहांतक दृष्टि पडती थी वहांतक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पडती थी ॥ ८४ ॥ जगतको उत्पत्तिके घरके समान उस नगरसे नगरके बडे दरवाजेको रोकती हुई धीरे धीरे बडी कठिनतासे वह सेना निकली ॥ ८५ ॥ क्या यह प्रलयकालका क्षोभ होनेसे समुद्रका जल क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इसप्रकार आशंका करते हुये देव लोग आकाशमें खडे होकर बडे आश्चर्यके साथ जिसे देख रहे थे ऐसी वह चक्रवर्तीकी सेना नगरसे निकलकर चारोंओर फैलगई ॥ ८६-८७ ॥

अथानंतर—महाराज भरतने प्रथम ही पूर्वदिशाके जीतनेकी तैयारी कीं और चक्ररत्नके पीछे २ चलता हुआ वह पूर्वदिशाकी ओर मुखकर निकला ॥ ८८ ॥ सूर्यमंडलके समान प्रकाशमान और चारोंओरसे देवलोगोंसे घिरा हुआ ऐसा जाज्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें महाराज भरतके सामने चल रहा था ॥८९॥ जिसप्रकार गुरुकी इच्छानुसार मुनियोंका समूह चलता है उसीप्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्रके पीछे पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ सबसे आगे दंडरत्नको

पथीकृते । यथेष्टं प्रययौ सैन्यं क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥ ९२ ॥ ततोध्वनि विशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियं । दिशां प्रसाधनी कीर्तिमात्मीयामिव निर्मलां ॥ ९३ ॥ सरांसि कमलामोदमुद्वमंति शरच्छ्रियः । मुखायितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनंददधीशिता ॥ ९४ ॥ स हसान् सरसा तीरेष्वपश्यत्कृताशींजिनान् । मृणालपीथसपुष्टान् शरदः पुत्रकानिव ॥ ९५ ॥ चन्चा मृणालमुद्धृत्य हंसो हंस्यै समर्पयन् । राजहसस्य हृद्यस्य महती धृतिमादधे ॥ ९६ ॥ सध्रीचीं वीचिसंरुद्धामपश्यन्परितः सरः । कोकः कोकूयमानोऽस्य मनसः प्रीतिमातनोत् ॥९७॥ हसयूनाब्जकिंजल्करजःपिंजरिता निजा । वधू विधूता सोपश्य-

---

आगेकर सेनापति चल रहा था और वह कठिन तथा ऊंची नीची जमीनको दंडके द्वारा लीलापूर्वक एकसी करता जाता था ॥ ९१ ॥ सबसे आगे जो दंड रत्न था वह सब मार्गको राजमार्ग ऐसा बडा मार्ग करता जाता था इसलिये कहीं भी स्खलित न होती हुई वह सेना अपनी इच्छानुसार जा रही थी ॥ ९२ ॥ इसी बीचमें मार्गमें महाराज भरतने सब दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी निर्मल कीर्तिके समान शरदऋतुकी शोभा देखी ॥ ९३ ॥ शरदऋतुकी शोभाके मुखके समान जो सरोवर कमलोंकी सुगंध छोड रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे॥ ९४ ॥ सरोवरोंके किनारेपर मनोहर शब्द करते हुये और मृणाल (कमलका तंतु) रूपी मक्खन (लोनी) खाकर पुष्ट हुये हंसोंको वह भरत शरदऋतुके पुत्रोंके समान देख रहा था ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोंचसे कमलतंतुको उठाकर हंसिनीकेलिये दे रहा था वह सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतके हृदयको बहुत ही संतुष्ट कर रहा था ॥ ९६ ॥ जो चकवा पानीकी लहरोंसे रुकी हुई चकवीको नहीं देखता हुआ सरोवरके चारोंओर जोर जोरसे शब्द कर रहा था वह भी भरतके मनको प्रसन्न कर रहा था ॥ ९७ ॥ एक तरुण हंसने कमलकी परागरजसे कुछ २ पीली हुई अपनी हंसनीको भूलसे चकवी समझकर छोड दिया था उसे भी वह देख रहा था ॥९८॥ एक बूढा हंस पानीकी सफेद लहरोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर और उसपर मोहित होकर उसके

चक्रवाकीविशंकया ॥ ९८ ॥ तरंगैर्धवलीभूतविग्रहा कोकक़ामिनीं । व्यामोहादनुधावंत स जरद्धंममैक्षत ॥ ९९ ॥ नदीपुलिनदेशेषु हंससारसहारिषु । शयनेष्विव तस्यासीद्धृतिः शुचिमसीमसु ॥ १०० ॥ रोधोलताशिखोत्सृष्टपुष्पप्रकरशोभिनीः । सरित्तीरभुवोऽद्राक्षीत्सोऽम्बुप्लवतरंगिताः ॥ १०१ ॥ लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयंगलत्प्रसूनौघरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥ १०२ ॥ क्वचिल्लतागृहान्तस्थचंद्रकांतशिलाश्रितान् । स्वयशोगानसंसक्तान् किंनरान् प्रभुरैक्षत ॥ १०३ ॥ क्वचिल्लताप्रसूनेषु विलीनमधुपावलीः । विलोक्य स्रस्तकेशीना सस्मार प्रिययोषिता ॥ १०४ ॥ सुमनोवर्षमातेनुः प्रीत्येवास्याधिमूर्द्धज । पवनाधूतशाखाग्राः प्रफुल्ला मार्गशाखिनः ॥ १०५ ॥ सच्छायान्सफलांस्तुङ्गान् सर्वसंभोग्यसंपदः । मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत् स नृपाननुकु-

---

पीछे २ दौड रहा था उसे भी वह भरत देख रहा था ॥ ९९ ॥ जिसकी समियें अत्यंत पवित्र हैं और जो हंस सारस आदि पक्षियोंसे शोभायमान है ऐसी शय्याके समान स्वच्छ नदीके किनारेकी जगह-पर महाराज भरतको वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १०० ॥ जो समीप वाली लताके आग्रभागसे छूटे हुये पुष्पोंके समूहसे सुशोभित होरही है और जो जलके प्रवाहसे मिल रही है ऐसी नदियोंके किनारेकी जमीनको भी भरतेश्वर देख रहा था ॥ १०१ ॥ जिसमें अपनेआप गिरे हुये फूलोंके समूहसे शय्या वनी हुई है ऐसे सुंदर लतागृहोंको देखते हुये भरतको उनमें वहुत ही प्रेम उत्पन्न हुआ था ॥ १०२ ॥ वह महाराज कहीं कहीं लतागृहोंके भीतर पडी हुई चंद्रकांत मणियोंकी शिलाओंपर वैठे हुये और महाराज भरतका यश गानेमें लगे हुये किन्नरोंको देख रहा था ॥ १०३ ॥ कहीं कहींपर लताओंके फूलोंपर वैठे हुये भ्रमरोंके समूहोंको देखकर जिनकी चोटियोंमें फूल गुथे हुये हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंको स्मरण करता था ॥ १०४ ॥ जिनकी शाखायें वायुसे हिल रही हैं ऐसे फूले हुये मार्गके वृक्ष मानों वडे प्रेमसे महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १०५ ॥ वह भरत जिनकी वहुत अच्छी छाया है, जिनपर फल लगे हुये हैं, जो वहुत ऊंचे हैं और जिनकी फल पुष्परूपी संपत्ति सबके उपभोग करने योग्य है तथा इसलिये ही जो मानों राजाओंका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे

वंतः ॥ १०६ ॥ सरस्तीरभुवोऽपश्यत्सरोजरजसा ततः । सुवर्णरजसा शङ्कामध्वन्यहृदि तन्वतीः ॥ १०७ ॥ बलरेणुभिरारुद्धे दोषामन्ये नभस्यसौ । करुणा रुदतीं वीक्ष्य चक्रे चक्राह्वकामिनीं ॥ १०८ ॥ गवां गणानथापश्यद्गोष्पदारण्यचारिणः । क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतातिकान् ॥ १०९ ॥ सोरभेयान् स शृङ्गाग्रसमुत्खातस्थलांबुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥ ११० ॥ वात्सकं क्षीरसपोपादिव निर्मलविग्रहं । सोऽपश्य-च्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतं ॥ १११ ॥ स पक्वकणिशानम्रकलमक्षेत्रमैक्षत । नौद्धत्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यत ॥ ११२ ॥ वप्रातर्भवमा-

---

मार्गके वृक्षोंको भी देखता जाता था ॥ १०६ ॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमि कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थी और इसलिये ही जो मार्गमें चलनेवाले लोगोंके हृदयमें क्या यह भूमि सुवर्णकी धूलिसे बनी हुई है ऐसी शंका उत्पन्न कर रही थी उसे भी भरतेश्वर देखता जा रहा था ॥ १०७ ॥ सेनाकी धूलिसे व्याप्त हुये और इसलिये ही रात्रिके समान जान पडनेवाले आकाशमें रात्रि समझ-कर रोती हुई चकवीको देखकर महाराजके हृदयमें करुणा उत्पन्न हो रही थी ॥ १०८ ॥ दूधके बाद-लोंके समान जिन्होंने अपने आप निरंतर निकलते हुये दूधसे समीपका देश भर दिया है और जो अपने चरने योग्य जंगलोंमें चर रहीं हैं ऐसी गायोंके समूहको भी देख रहा था ॥ १०९ ॥ जो अपने सींगोंसे स्थल कमलोंको उखाड रहे हैं तथा जो अपने यशके समान कमल तंतुओंको फेंक रहे हैं ऐसे उन्मत्त बैलोंको भी देख रहा था ॥ ११० ॥ दूधसे पालन पोषण होनेके कारण ही मानों जिनका सफेद निर्मल शरीर है जिन्होंने चपलताकी अंतिम सीमा धारण की है और जो बार बार उडी मार रहे हैं ऐसे गायोंके बच्चोंके समूहको भी देखता जाता था ॥ १११ ॥ वह महाराज पके हुये धान्योंसे नम्रीभूत हुये कलमी चावलोंके खेतको देख रहा था, उस समय वे खेत ऐसे जान पडते थे मानों लोगोंको "उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है नम्र होनेसे ही फल मिलता है" यही कहनेकेलिये तैयार हुये हों ॥ ११२ ॥ खेतमें ही उत्पन्न हुये कमलोंको सूंघने

घ्रातुमिवोत्पलमिवानतान् । स केदार्येषु कलमान् वीक्ष्यानंदं परं ययौ ॥ ११३ ॥ फलानतान् स्तंबकरीन् सोपश्यद्वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून्केदारान् नमस्यत इवादरात् ॥ ११४ ॥ आपीतपयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत्प्रसूताः शालिसपदः ॥ ११५ ॥ अवतासितनालाब्जा. कजरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदडभृतोऽपश्यच्छालीछोत्कुर्वतीः स्त्रिय· ॥ ११६ ॥ हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हसमंडलैः । शालिगोप्यो दृशोरस्य मुद तेनुर्वधूटिकाः ॥ ११७ ॥ कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सतीः । न्यस्तावतसाः कणिशै शालिगोपीर्ददर्श सः ॥ ११८ ॥ सुगधिमुखनिःश्वासात् भ्र

केलिये ही जो मानों नव रहे हैं ऐसे खेतोंमें खडे हुये कलमी चांवलोंको देखकर महाराजको बहुत ही संतोष हुआ था ॥ ११३ ॥ अपने खेतोंमें फलोंसे नम्रीभूत हुये चांवलोंको भी वह महाराज देखता था, उससमय वे चांवल ऐसे जान पडते थे मानों अपने जन्म देनेमें कारण ऐसे खेतोंको बडे आदरसे नमस्कार कर रहे हों ॥ ११४ ॥ अथवा वह महाराज चांवलोंकी शोभाको गायोंके समान देख रहा था क्योंकि जिसप्रकार गाय जल पीती है उसीप्रकार चांवलोंने भी जल पिया था, जिसप्रकार गाय दूध और घी देनेवाली होती है उसीप्रकार चांवल भी दूध और घीके समान सफेद और स्वादिष्ट थे, गाय जैसे सब लोगोंका उपकार करती है उसीप्रकार चांवल भी सब लोगोंका उपकार करते थे और गायें जैसे बहुत थीं उसीप्रकार चांवल भी बहुत थे ॥ ११५ ॥ तथा जिन्होंनें नालसहित कमल अपने कानोंका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड रही है, हाथमें जो ईखका दंडा लिये हुये हैं और जो खेत रखानेकेलिये ' छो छो ' शब्द करती हुई पक्षियोंको उडा रही हैं ऐसी स्त्रियोंको भी देखता जाता था ॥ ११६ ॥ मनोहर गीतोंके शब्दोंसे आये हुये हंसोंके समूहोंसे घिरी हुई ऐसी खेत रखानेवाली नई स्त्रियां महाराज भरतके नेत्रोंको बहुत ही आनंदित कर रही थीं ॥ ११७ ॥ जो मार्ग चलनेवालोंको रोकनेवाले गीत गा रही हैं जिन्हें सुनकर मार्ग चलनेवाले लोग चलना छोडकर वहीं रुक जाते हैं ऐसे गीतोंको गानेवालीं तथा जिन्होंने चांवलोंके

मैराकुलीकृताः' । 'मनोऽस्य जहुः शालीना पालिकाः 'कुलबालिकाः ॥ '११९ ॥ उग्राध्वं प्रकृतक्षेत्रान् क्षेत्रिणः' परिधावतः । बलेपरोधैरायस्तानैक्षता-ऽसौ सकौतुकं ॥ १२० ॥ उपशल्यभुवोऽद्राक्षीन्निगमानभितो विभुः । केदारलवैराकीर्णाः स भ्राम्याद्भिः कृषीवलैः ॥ १२१ ॥ सोऽपश्यन्निगमोपाते पथः सम्त्यानकर्दमान् । प्रव्यक्तगोखुरक्षोदस्थपुटानतिसंकटान् ॥१२२॥ निगमान् परितोऽपश्यद्ग्राममुख्यान् महाबलान् । वयस्तिरोजनैः सेव्यान्महाराम-तरूनपि ॥ १२३ ॥ ग्रामान्कुक्कुटसंपात्यान्सोऽत्यगाद्वृतिभिर्वृतान् । कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥ १२४ ॥ कुटीपरिसरेष्वस्य धृतिरासी-

---

वृक्षोंका ही कर्णभूषण बनाया है ऐसी चांवलोंके खेत रखानेवालीं स्त्रियोंको भी वह देखता जाता था ॥ ११८ ॥ जो अपने मुखके निश्वासकी सुगंधिसे आये हुये भ्रमरोंसे व्याकुल हो रही हैं ऐसी खेत रखानेवालीं अच्छे २ घरोंकी कुलीन लडकियां महाराज भरतके मनको हरण कर रही थीं ॥ ११९ ॥ किसान लोग सेनाके लोगोंसे खेतोंकी रक्षा करनेकेलिये मार्गके समीप बोये हुये खेतोंके चारोंओर दौड रहे थे तथा सेनाके लोगोंसे वलात्कार (जवर्दस्ती) करनेपर (रोकनेपर) खेदखिन्न हो रहे थे ऐसे किसानोंको भी वह नरेंद्र लीलापूर्वक देख रहा था ॥ १२० ॥ जो खेत काटनेवाले इधर उधर दौडते हुये किसानोंसे व्याप्त हो रही थी ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारोंकी [खरियानोंकी] जमीनको भी देखता जाता था ॥ १२१ ॥ जो साफ साफ दिखनेवाले गायोंके खुरोंके चिन्होंसे ऊंचा नीचा हो रहा है तथा जो अत्यंत विकट है ऐसे थोडी थोडी कीचडसे भरे हुये गांवोंके समीपवाले मार्गको भी वह महाराज देखता जाता था ॥ १२२ ॥ जिनमें बडे बडे बलवान लोग रहते हैं ऐसे शहरके समीपवर्ती मुहल्लोंको तथा मुख्य २ गांवोंको चारोंओरसे देखता जाता था और पक्षी तिर्यंच मनुष्य आदि सब जिनकी सेवा कर रहे हैं ऐसे बडे २ बगीचोंके वृक्षोंको भी देखता था ॥ १२३ ॥ जिनपर इधर उधर चारोंओर पुष्प लदे हुये हैं ऐसी ककडी, परबल आदिकी लताओंसे घिरे हुये तथा जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उडकर जा सकता है ऐसे समीप २ बसे हुये गांवोंको उनमें कोई उप-

त्रपश्यतः । फलपुष्पानता वल्लीः प्रसवाढ्याः सतीरपि ॥ १२५ ॥ योषितो निष्कमालाभिर्वत्रैश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनोजह्रुर्ग्रामीणाः संसृतावृतीः ॥ १२६ ॥ हैयंगवीनकलशैर्दध्नामपि निहित्रकैः । ग्रामेषु फलभेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥ १२७ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वान पृतनावृतः । गंगामुपासदद्वीरः प्रयाणैः कतिथैरपि ॥ १२८ ॥ हिमवद्विभृता पूज्या सतीमासिंधुगामिनीं । शुचिप्रवाहामाकल्पवर्त्ती कीर्तिमिवात्मनः ॥ १२९ ॥ शफरीप्रेक्षणामुद्यत्तरंगभ्रूविनर्तना । वनराजीबृहच्छाटीपरिधाना वधूमिव ॥ १३० ॥ विस्तीर्णजनसभोग्यैः कूजद्धसाऽलिमेखलैः । तरंगवसनैः कान्तैः पुलिनैर्ज-

---

द्रव न हो इसालिये दूरसे ही छोडता जाता था ॥ १२४ ॥ तथा गांवोंके घरोंके आंगनोंमें पुष्पफलोंसे नम्रीभूत हुई और पुष्पोंसे व्याप्त हो रहीं ऐसी अच्छी २ लताओंको देखकर भरतको वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १२५ ॥ जिन्होंने सुवर्णकी माला और सुवर्णके कडोंका अलंकार किया है तथा जो लताओंके समीप खडी होकर देख रही हैं ऐसी गांवोंकी स्त्रियां भी देखनेवाले महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥ १२६ ॥ गांवोंके वडे २ आदमी घी मक्खनोंके घडे, दहींके घडे और अनेक प्रकारके फल भेट कर महाराजके दर्शन करते थे ॥ १२७ ॥ तदनंतर वह वीरपुरुष सेना सहित कितनी ही मंजिल चलकर कितने ही मार्गको दूर उलंघनकर गंगानदीके समीप जा पहुंचा ॥१२८॥ उसने वहां जाकर अपनी कीर्तिके समान गंगानदीको देखा, क्योंकि जिसप्रकार कीर्ति हिमवान पर्वततक फैल रही थी उसीप्रकार गंगा भी हिमवानपर्वतसे निकली थी, जिसप्रकार कीर्ति पूज्य और मनोहर थी उसीप्रकार गंगा भी पूज्य और मनोहर थी, कीर्ति जिसप्रकार समुद्रतक फैली हुई थी उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी, जिसप्रकार कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसीप्रकार गंगाका प्रवाह भी पवित्र था और कीर्ति जिसप्रकार कल्पांतकालतक टिकनेवाली थी उसीप्रकार गंगा भी अनंत कल्पकालतक टिकनेवाली थी ॥ १२९ ॥ अथवा वह गंगा एक स्त्रीके समान जान पडती थी, क्योंकि चंचल मछालियें ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगें ही भोहोंका नचाना था और दोनों ओर

घनैरिव ॥ १३१ ॥ लोलोर्मिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपितं यत्र तन्वतीं वा तटद्रुमैः ॥ १३२ ॥ क्षतीर्वनेभदन्तानां रोधोजघनवर्तिनीः । रुंधतीमब्धिभीत्येव लसदूर्मिदुकूलकैः ॥ १३३ ॥ रोमराजिमिवानीला बनराजीं बिभ्रतीं । तिष्ठमानामिवावर्तव्यक्तनाभिमुदन्वते ॥ १३४ ॥ विलोलवीचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलिं । पताकामिव बिभ्राणा लब्धा सर्वापगाजयात् ॥ १३५ ॥ समासमीनां पर्याप्तपयस धीरनिःस्वना । जगता पावनीमान्यां

बनोंकी पंक्ति रूप बडी साडीको पहने हुये थी ॥ १३० ॥ उस गंगाके किनारे स्त्रियोंके जघनके समान जान पडते थे क्योंकि वे बहुत बडे थे, लोगोंके उपभोग करने योग्य थे, शब्द करते हुये हंसोंकी पंक्ति ही करधनी थी, लहरें ही उसके बस्त्र थे और वे बडे मनोहर थे ॥ १३१ ॥ चंचल लहरें रूपी हाथोंके द्वारा उडाये हुये पक्षियोंके समूह जो मधुर शब्द कर रहे थे उनसे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों वह किनारेके वृक्षोंको कुछ कहनेकेलिये ही प्रयत्न कर रही हो ॥ १३२ ॥ वह गंगा लहरोंसे ऐसी जान पडती थी मानों किनारेरूपी जघनभागपर बनमें फिरनेवाले हाथियोंके दांतोंके जो घाव लग रहे थे उन्हें अपने पति समुद्रके भयसे दैदीप्यमान लहरें रूपी वस्त्रसे ढक रही ही हो ॥ १३३ ॥ वह गंगा समुद्रकेलिये रोमोंकी रेखाके समान खूब हरी ऐसी बन पंक्तियोंको प्रगट कर रही थी और भंवररूपी प्रगट नाभिको दिखलाती हुई स्थिर थी ॥ १३४ ॥ चंचल लहरोंके संघट्टसे जो पक्षियोंकी पंक्ति उड रही थी उससे वह गंगा ऐसी जान पडती थी मानों उसने समस्त नादियोंके जीतनेसे प्राप्त हुई पक्षियोंकी पंक्तिरूपी ध्वजा ही फहराई हो ॥ १३५ ॥ अथवा वह गंगा उत्तम गायके समान जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार गाय समांसमीना अर्थात् प्रतिवर्ष गर्भ धारण करती थी उसीप्रकार गंगा भी मछली आदि जल चर जीवोंको धारण करती थी, गाय जिसप्रकार दूधसे भरी रहती है उसीप्रकार गंगा भी पय अर्थात् जलसे भरी थी, गायका जैसा गंभीर शब्द होता है उसीप्रकार गंगाका भी गंभीर शब्द था, गाय जिसप्रकार जगतको पवित्र करनेवाली है

हसंती गोमचार्चिका ॥ १३६ ॥ गुरुप्रवाहप्रसूता तीर्थकामैरुपासितां । गंभीरशब्दसंभूतिर्जैनीं श्रुतिमिवाऽमला ॥ १३७ ॥ राजहंसैः कृतोपास्यामलंघ्या विवृतायतिं । जयलक्ष्मीमिवस्फीतामात्मीयामब्धिगामिनीं ॥ १३८ ॥ विलसत्पद्मसभूता जनतानददायिनीं । जगद्भोग्यामिवात्मीया श्रियमायतिशालिनी-

उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी और गाय जिसप्रकार मान्य है उसीप्रकार वह गंगा भी सबको मान्य थी इसप्रकार वह गंगा अपनी उत्तमतासे गायकी भी हँसी कर रही थी ॥ १३६ ॥ अथवा वह गंगा जिनवाणीके समान निर्मल जान पडती थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनवाणी केवली श्रुतकेवली आदि गुरुओंके परंपरा पूर्वक उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी पानीके वडे प्रवाहसे उत्पन्न हुई थी, जिसप्रकार संसारसे पार होनेकी इच्छा करनेवाले भव्यजीव जिनवाणी की सेवा करते हैं उसीप्रकार तीर्थस्नानकी इच्छा करनेवाले जीव गंगाकी भी सेवा करते थे और जिनवाणीमें जैसे गंभीर शब्द उत्पन्न होते हैं उसीप्रकार गंगामें भी गंभीर शब्द उत्पन्न हो रहे थे ॥ १३७ ॥ अथवा उस भरतने वह गंगा अपनी जयलक्ष्मीके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी सेवा बडे २ राजा लोग करते हैं उसीप्रकार गंगाकी सेवा भी राजहंस करते थे, जयलक्ष्मी जिसप्रकार अलंघ्य [लंघन करने अयोग्य] है उसीप्रकार गंगा भी अलंघ्य थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीकी लंबाई बहुत दूरतक फैली थी उसीप्रकार गंगाकी लंबाई भी वहुत थी, जिसप्रकार जयलक्ष्मीका विस्तार बहुत था उसीप्रकार गंगाका विस्तार भी बहुत था और जयलक्ष्मी जिसप्रकार समुद्रतक गई है उसीप्रकार गंगा भी समुद्रतक गई थी ॥ १३८ ॥ अथवा वह गंगा भरतने अपनी लक्ष्मीके समान देखी थी क्योंकि जिसप्रकार लक्ष्मी उत्तम पद्मनिधिसे उत्पन्न हुई है उसीप्रकार गंगा भी देदीप्यमान पद्मनामके सरोवरसे निकली थी, लक्ष्मी जैसे लोगोंको आनंद देनेवाली होती है उसीप्रकार गंगा भी लोगोंको आनंद देनेवाली थी, लक्ष्मी जैसे सबके भोगने योग्य थी उसीप्रकार गं-

॥ १३९ ॥ विजयार्द्धतटाक्रांतिकृतश्लाघ्यां सुरंहसं । अभग्नप्रसरां दिव्यां निजामिव पताकिनीं ॥ १४० ॥ व्यालोलोर्मिकरस्पृष्टैः स्वतीरवनपादपैः । दधद्भिरकुरोद्भेदमाश्रितां कामुकैरिव ॥ १४१ ॥ रोधोलताऽलयासीनान् स्वेच्छया सुरदंपतीन् । हसंतीमिव सुस्वानैः सीकरोत्थैर्विसारिभिः ॥ १४२ ॥ किन्नराणा कलक्वाणैः सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यंतभूभागलतामंडपमंडनां ॥ १४३ ॥ हारिभिः किन्नरोद्गीतैराहूता हरिणागनाः । दधतीं तीरकच्छेषु

गा भी सबके भोगने योग्य थी और लक्ष्मी जैसे बहुत बडी थी उसीप्रकार गंगा भी बहुत बडी थी ॥ १३९ ॥ अथवा वह गंगा अपनी सेनाके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार सेना विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, उसीप्रकार गंगा भी विजयार्द्ध पर्वतके किनारेको आक्रमण करनेसे प्रशंसनीय गिनी जाती थी, जिसप्रकार सेनाका वेग तेज था उसीप्रकार गंगाका वेग भी तेज था, जिसप्रकार सेनाके प्रसारको कोई रोक नहीं सकता उसीप्रकार गंगाके विस्तारको भी कोई रोक नहीं सकता था और सेना जैसी मनोहर थी गंगा भी वैसी ही मनोहर थी ॥ १४० ॥ जिस प्रकार स्त्री रोमांच धारण करनेवाले और हाथोंके स्पर्श किये हुये कामी पुरुषोंके आश्रित रहती है उसीप्रकार वह गंगा अपनी चंचल लहरेंरूपी हाथोंसे स्पर्श किये हुये औरअंकूरोंकी उत्पत्तिको धारण करनेवाले अपने किनारेके बनके वृक्षोंके आश्रित थी ॥ १४१ ॥ किनारेपर जो लताओंके घर बने थे और उनमें जो अपनी इच्छानुसार देव देवांगनायें बैठी थीं उनकी ओर मानों वह गंगा मीठे शब्द करती हुई और चारोंओर उडती हुई सफेद बूंदोंसे हँसती हुईके समान जान पडती थी ॥ १४२ ॥ अथवा किन्नरोंके मधुर शब्द और बजते हुये वीणाके साथ होनेवाले गायनके द्वारा जिनकी सेवा की जा रही है अर्थात् जहां किन्नर गा बजा रहे हैं ऐसी समीपवर्ती पृथ्वीपरके लतामंडपोंसे वह गंगा बहुत ही सुशोभित हो रही थी ॥ १४३ ॥ जिन्होंने सुखसे अपने गले सीधे फैला रक्खे हैं और जो किन्नरोंके मधुर गीतोंके द्वारा बुलाई हुई हैं ऐसी अनेक हिरणियां उस गंगाके किनारेकी

प्रसारितगलद्वला: ॥१४४॥ ध्वनैस्ससारसारावैः पुलिनैर्दिव्ययोषितां। नितंबानि सकाचीनि हसंतीमिव विस्तृतैः ॥१४५॥ चतुर्दशभिरान्वितां सहस्रैरब्धियोषिता । सध्रीचीनामिवोद्वीचिबाहूना परिरभणे ॥ १४६ ॥ इत्याविष्कृतसंशोभा जान्हवीमैक्षत प्रभुः । हिमवद्गिरिणाम्भोधेः प्राहितामिव कंठिकां ॥१४७॥ शरदुपहितकांतिं प्रांतकांताराजीविरचितपरिधाना सैकतारोहरम्या । युवतिमिव गभीरावर्तनाभिं प्रपश्यन् प्रमदमतुलमूहे क्ष्मापतिः स्वस्रवंतीं ॥ १४८ ॥ सरसिजमकरंदोद्गंधिराधूतरोधोवनकिसलयमंदादोलनादूढमायः । असकृदमरसिंधोराधुनानस्तरंगान् अद्धतदृस्वधूनामध्वखेदं समीरः ॥ १४९ ॥ तामाक्रा-

---

जमीनपर खडी थीं ॥ १४४ ॥ सारस पक्षियोंके मनोहर शब्द और बडे २ पुलिनोंके (किनारोंके) द्वारा वह गंगा ऐसी जान पडती थीं मानों देवांगनाओंके करधनी सहित नितंबोंकी ओर ही हंस रही हो ॥ १४५ ॥ जो गंगाको आलिंगन करनेकेलिये अपनी तरंगेरूप भुजाओंको उठा रही हैं ऐसी चौदह हजार नदियोंकी सखीके समान वह बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १४६ ॥ इसप्रकार जिसकी शोभा प्रगट दिखाई दे रही है और जो हिमवान पर्वतके द्वारा समुद्रकेलिये भेजी हुई मोतियोंकी मालाके समान जान पडती है ऐसी गंगानदी महाराज भरतने देखी ॥ १४७ ॥ शरदऋतुके द्वारा जिसकी कांति बहुत बढगई है, किनारेके वनोंकी पंक्ति ही जिसके पहननेके वस्त्र हैं, बालूके टीलेरूप नितंबोंसे जो बहुत मनोहर जान पडती है,और पडते हुये गंभीर भंवर ही जिसकी नाभि है ऐसी गंगा नदीको तरुण स्त्रीके समान देखते हुये महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १४८ ॥ जो कमलोंकी परागसे अत्यंत सुगंधित है तथा किनारेके बनके पत्तोंको धीरे २ हिलानेसे जिसका मंदपना प्रगट हो रहा है और जो गंगानदीकी लहरोंको वार वार हिला रहा है ऐसा वहांका वायु रानियोंके मार्गके परिश्रमको दूर कर रहा था ॥ १४९ ॥ महाराज भरतने वह गंगा ठीक जिनेंद्रदेवकी कीर्तिके समान देखी थी, क्योंकि जिसप्रकार जिनेंद्रदेवकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैली हुई है उसीप्रकार गंगा भी पूर्व दिशाकी ओर फैली हुई थी, जैसे जिनेंद्रकी कीर्ति रज अर्थात् पापोंको ना-

तहारिन्मुखां कृतरजोधूर्तिं जगत्पवनीमासेव्यां द्विजकुंजरैरविरतं संतापविच्छेदिनीं । जैनीं कीर्तिमिवाततामपमलां शश्वज्जनाऽनंदिनीं निध्यायन्विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परामासदत् ॥ १५० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजदिग्विजयोद्योगवर्णनो नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥ २६ ॥

श करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी रज अर्थात् धूलिको नाश करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे जगतको पवित्र करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी जगतको पवित्र करनेवाली थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्री वैश्यरूप हाथियोंके द्वारा सेवन की जाती है उसीप्रकार गंगा भी द्विज अर्थात् बडे २ पक्षियोंके द्वारा सेवन की जाती थी, जिनेंद्रकी कीर्ति जैसे निरंतर संतापको दूर करनेवाली है उसीप्रकार गंगा भी निरंतर संताप दूर करनेवाली थी, जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे बहुत बडी और निर्मल है उसीप्रकार वह गंगा भी बहुत बडी और निर्मल थी तथा जिनेंद्रदेवकी कीर्ति जैसे लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली है उसीप्रकार वह गंगा भी लोगोंको निरंतर आनंद देनेवाली थी, ऐसी उस गंगाको देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुये थे ॥ १५० ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे महाराज भरतके दिग्विजयका उद्योग वर्णन करनेवाला छव्वीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ सप्तविंशं पर्व.

अथ व्यापारयामास दृशं तत्र विशांपतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाद्य वितरंत्यामिवाऽत्मनः ॥ १ ॥ व्यापारितदृशं तत्र प्रभुमालोक्य सारथिः । प्राप्तावसरामित्यूचे वचश्चेतोनुरजनं ॥ २ ॥ इयमाह्लादिताशेषभुवना देवनिम्नगा । रजोविधुन्वती भाति भारतीव स्वयंभुवः ॥ ३ ॥ पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरंच महानदी । प्रसूतौच प्रवेशे च गभीरा निर्मलाशया ॥ ४ ॥ इमां वनगजाः प्राप्य निर्वात्येते मदच्युताः । मुनींद्रा इव सद्विद्या गंभीरा तापविच्छिद ॥ ५ ॥ इतः पिवन्ति वन्येभाः पयोस्याः कृतनिःस्वनाः । इतोमी पूरयंत्येनां मुक्तासाराः शरद्घनाः ॥ ६ ॥ अस्याः प्रवाहमंभोधिर्धत्ते गाभीर्ययो-

---

अथ सत्ताईसवां पर्व

अथानंतर—वहांपर जो मानों स्वच्छ जलसे भरतको अर्घ ही दे रही हो ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥१॥ उससमय सारथीने गंगाको देखते हुये महाराज भरतसे समय देखकर मनको प्रसन्न करनेवाले इसप्रकारके बचन कहे कि ॥२॥ हे महाराज! समस्त जगतको आनंदित करनेवाली और रज अर्थात् धूलि अथवा पापको नाश करनेवाली यह गंगा ठीक ऋषभदेवकी वाणीके समान जान पडती है ॥ ३ ॥ गंभीर और निर्मल जलसे भरी हुई यह गंगा नदी उत्पन्न होते समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और मिलते समय समुद्रको भी पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिसप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली सद्विद्या [उत्तमज्ञान] को पाकर मुनिलोग मद छोडकर मुक्त हो जाते हैं उसीप्रकार गंभीर और संताप दूर करनेवाली गंगाको पाकर अर्थात् उसमें स्नानकर ये हाथी भी अपना मद छोडकर शांत हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये बनके हाथी गंभीर शब्द करते हुये इस गंगाका पानी पी रहे हैं, और इधर जलकी वृष्टि करते हुये ये शरदऋतुके बादल इस गंगाको भर रहे हैं ॥ ६ ॥ यद्यपि विजयार्द्ध पर्वत ऊंचा और निश्चल है तथापि वह इस गंगाके प्रवाहको धारण नहीं कर सका है, इसके प्रवाहको केवल समुद्र ही धारण कर सकता है क्योंकि वह

गतः-। असोढं विजयार्द्धेन तुंगेनाप्यचलात्मना ॥ ७ ॥ अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमब्धिर्वितृट् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दह्यमानांतराशयः ॥ ८ ॥ पद्मन्हदाद्धिमवतः प्रसन्नादिव मानसात् । प्रसूता पप्रथे पृथ्व्या शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥ ९ ॥ व्योमापगामिमा प्राहुर्वियतः पतिता क्षितौ । गंगादेवीगृह विष्वगाप्लाव्य स्वजलप्लवैः ॥ १० ॥ बिभर्ति हिमवानेनां शशाककरनिर्मला । आसिंधोः प्रसृता कीर्तिमिव स्वां लोकपावनीं ॥ ११ ॥ वनराजीद्वयेनेयं बिभर्ति तटवर्तिना । वाससोरिव युग्मेन विनीलेन धृतश्रिया ॥ १२ ॥ स्वतटाश्रयिणी धत्ते हसमालां कलस्वनां । कांचीमिवेयमंभोजरजःपिंजरविग्रहां ॥ १३ ॥ नदी सखीरिय स्वच्छमृणालशकलामलाः । संबिभर्ति स्वसात्कृत्य सख्यं श्लाघ्यं हि तादृशां ॥ १४ ॥ राजहंसैरियं सेव्या लक्ष्मीरिव विभाति

अतिशय गंभीर है ॥ ७ ॥ अपने क्षार जलसे जिसके अंतःकरणमें दाह उत्पन्न हो रहा है ऐसा समुद्र अवश्य ही इस गंगाके जलके प्रवाहसे प्यासरहित अर्थात् संतुष्ट हो गया है ॥ ८ ॥ यह गंगा शुद्ध मनके समान जो हिमवान पर्वतका पद्म सरोवर है उससे निकलकर पृथ्वीमें प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध है वह पूज्य होता ही है ॥ ९ ॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारोंओरसे भिगोकर आकाशसे ऊपरसे अर्थात् हिमवान पर्वतसे पृथ्वीपर आई है इसलिये इसे आकाशगंगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चंद्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्रतक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गंगाको यह हिमवान् पर्वत अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥ ११ ॥ इसके दोनों किनारोंपर जो जो बनोंकी पंक्तियां हैं उससे यह गंगा ऐसी सुशोभित हो रही है मानों इसने नीले दो वस्त्रोंकी शोभा ही धारण की हो ॥ १२ ॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर कुछ कुछ पीला हो रहा है और जो मधुर शब्द कर रही हैं ऐसी हंसोंकी पंक्तियां इस गंगाके दोनों किनारे पर ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानों इसने करधनी ही पहनी हो ॥ १३ ॥ यह गंगा नदी सफेद कमलनालके समान निर्मल ऐसी अन्य अनेक सखीरूप नदियोंको अपनेमें मिलाकर आदरसे धारण करती है, सो ठीक ही है क्योंकि इसप्रकार आदर-

ते । तन्वती जगतः प्रीतिमलंघ्यमहिमापरैः ॥ १५ ॥ वनवेदीमिव धत्ते समुत्तुगां हिरण्मयीं । आज्ञामिव तवालंघ्या नभोमार्गविलंघिनीं ॥ १६ ॥ इतः प्रसीद देवेमा शरल्लक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु सरूढां सरित्सु सरसीषु च ॥ १७ ॥ इमे सप्तच्छदाः पौष्पं विकिरंति रजोऽभितः । पटवासमिवामोदसवासितहरिन्मुखं ॥ १८ ॥ बाणैः कुसुमबाणस्य बाणैरिव विकासिभिः । ह्रीयते कामिना चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥ १९ ॥ विकसति सरोजानि सरःसु समसुत्पलैः । विकासिलोचनानीव वदनानि शरच्छ्रियः ॥ २० ॥ पकजेषु निलीयते भ्रमरा गधलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः

से ग्रहण करनेवालोंका ही सखीपना प्रशंसनीय है ॥ १४ ॥ अथवा यह गंगा आपकी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी लक्ष्मी राजहंस अर्थात् वडे २ राजाओंके द्वारा सेवन करने योग्य है उसी प्रकार यह गंगा भी राजहंस अर्थात् उत्तम हंसोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, आपकी लक्ष्मी जैसे संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है उसी प्रकार यह गंगा भी संसारको प्रेम उत्पन्न करनेवाली है और जिसप्रकार अन्य कोई भी आपकी लक्ष्मीकी महिमा उलंघन नहीं कर सकते उसी प्रकार इस गंगाकी महिमाभी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ १५ ॥ इस गंगाकी जो यह सुवर्णमयी तथा वहुत ऊंची वनवेदी है वह आकाशमार्गको उलंघन करनेवाली और कोईभी जिसे लंघन नहीं कर सकता ऐसी आपकी आज्ञाके समान जान पडती है ॥ १६ ॥ सारथी कह रहा है कि हे देव प्रसन्न हूजिये और इधर नदी सरोवर और वनपंक्तियोंमें फैली हुई शरदऋतुकी शोभा देखिये ॥ १७ ॥ ये सप्तच्छद जातिके वृक्ष अपनी सुगंधिसे समस्त दिशाओंको सुगंधित करनेवाले सुगंधि चूर्णके समान पुष्पोंकी पराग चारों ओर फैला रहे हैं ॥ १८ ॥ कामदेवके वाणोंके समान जो ये वाणोंके वृक्ष फूल रहे हैं वे कामी पुरुषोंके चित्तोंको मोहित कर रहे हैं, सो ठीक ही है क्योंकि मनोहर वस्तु किसको मनोहर नहीं जान पडती है ॥ १९ ॥ सरोवरोंमें चंद्रविकासी कमलोंके साथ नीलकमल फूल रेहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे शरद-

॥ २१ ॥ मनोजशरपुंखाभैः पक्षैर्मधुकरा इमे । विचरंत्यब्जिनीखंडे मकरंदरसोत्सुकाः ॥ २२ ॥ रूषिताः कंजकिंजल्कैराभात्येते मधुव्रताः । सुवर्णकपिशैरंगै कामाग्नेरिव मुर्मुरा ॥ २३ ॥ स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसंत्यश्चकासति । शरच्छ्रियो जिगीषन्त्यो दूष्यशाला इवोत्थिताः ॥ २४ ॥ स्थलाऽब्जशंकिनी हसी सरस्यब्जरजस्तते । सहृत्य पक्षविक्षेपं विशतीय निमज्जति ॥ २५ ॥ हंसोऽयं निजशावाय चञ्चोद्धृत्य लसद्बिसं । पीयबुद्ध्या ददात्यस्मै शशाककरकोमल ॥ २६ ॥ कृतयत्न प्लवंतेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णे धूतपक्षाः शनैः शनैः ॥ २७ ॥ चक्रवाकीं सरस्तीरे तरंगैः

ऋतुकी शोभाके मुख ही हों ॥ २० ॥ जिसप्रकार कामी पुरुष अस्पष्ट शब्द करते हुये स्त्रियोंके मुखकमलोंमें तल्लीन हो जाते हैं उसी प्रकार सुगंधिके लोलुपी ये भ्रमर भी अस्पष्ट शब्द करते हुये कमलोंमें तल्लीन हो रहे हैं ॥ २१ ॥ पुष्पका रस पीनेके लिये उत्कंठित हुये ये भ्रमर कामदेवके वाण रखनेके तरकसके समान अपने पंखोंसे कमलोंके समूहोंमें इधरसे उधर फिर रहे हैं ॥ २२ ॥ कमलोंकी परागसे व्याप्त होनेसे जिनका शरीर सुवर्णके समान कुछ कुछ पीला हो रहा है ऐसे ये भ्रमर ठीक कामरूप अग्निके फुलिंगोंके समान जान पडते हैं ॥ २३ ॥ पृथ्वीपर जो स्थलकमल फूल रहे हैं वे ऐसे सुशोभित हो रहे हैं मानों सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाली शरदऋतुकी शोभाके कपडेके बने हुये तंबू ही खडे हों ॥२४॥ जिसके ऊपर कमलकी पराग व्याप्त हो रही है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हंसिनी अपने पंखोंको सकुचितकर अर्थात् विना हिलाये ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल और देदीप्यमान ऐसे कमलतंतुको अपनी चोंचसे उठाकर और उसे मक्खनके समान कोई पतली चीज समझकर अपने इस बच्चेके लिये दे रहा है ॥२६॥ ये राजहंस कमलिनीकी परागसे व्याप्त हुये सरोवरके जलपर धीरे २ पंख हिलाते हुये बडे प्रयत्नसे अर्थात् परिश्रमसे तैर रहे हैं ॥ २७ ॥ सरोवरके किनारेपर तरंगोंसे आच्छादित हुई इस चकवीको नहीं देखता हुआ यह चकवा नेत्रोंमें आंसू भरभरकर बडी करुणाके

स्थगितामम्ं । अपश्यन् करुणं रौति चक्राह्वः साश्रुलोचनः ॥ २८ ॥ अन्वेति वा रतार्थी वा धार्तराष्ट्रः स्वनन् । सरस्तरङ्गधुताङ्गीं कोककान्तामनिच्छतीं ॥ २९ ॥ अनुगंगातटं भाति सप्तपर्णमिदं वनं । सुमनोरेणुभिर्व्योम्नि वितानमिव पादयन् ॥ ३० ॥ गंगासिन्धुतरंगोत्थः श्रमापनोदं हरन् । मंदं स्पृशति नोंगानि रोधोवनविधूननः ॥ ३१ ॥ आतिथ्यमिव नस्तन्वन् गृहीतगांगशीकरैः । अन्वेति पवमानोऽयं वनवीथीर्विधूनयन् ॥ ३२ ॥ अगोष्पदमिदं देव देवैरध्युषितं वनम् । लताऽगारैर्विभात्येतैः कुसुमप्रस्तरान्वितैः ॥ ३३ ॥ मंदारतरुवीथीनां मंदच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलापट्टे रम्यते नभःसदः ॥ ३४ ॥ अहो तटवनस्यास्य रामणीयकमद्भुतं । यदमी निजमावासं हित्वा रमन्तेऽत्र नाकिनः ॥ ३५ ॥ मनोभवनिवासश्च ...

साथ रो रहा है ॥२८॥ संभोगकी इच्छा करता हुआ और इसलिये शब्द करता हुआ यह धार्तराष्ट्र अर्थात् काले पैर और काली चोंचका एक प्रकारका हंस सरोवरकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो रहा है ऐसी चकवीको हंसिनी समझकर हंसकी इच्छा न करनेवाली इस चकवीके पीछे २ जा रहा है ॥ २९ ॥ गंगाके किनारे २ यह सप्तपर्ण वृक्षोंका वन ऐसा अच्छा जान पडता है मानों उसने आकाशमें व्याप्त फूलोंकी परागसे चंदोवाकी शोभा धारण की हो ॥ ३० ॥ मार्गके खेदको दूर करता हुआ और किनारेके वनको हिलाता हुआ ऐसा गंगाकी तरंगोंसे उठा हुआ यह वायु धीरे २ हम लोगोंके शरीरको स्पर्श कर रहा है ॥ ३१ ॥ वनकी पंक्तियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी बूंदोंसे ऐसा जान पडता है मानों हम लोगोंका सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥३२॥ हे देव जो मर्यादारहित वहुत वडा है और जिसमें देव आकर क्रीडा करते हें ऐसा यह वन फूलोंके समूहोंसे व्याप्त ऐसे इन लताओंके घरसे वहुत ही शोभायमान है ॥ ३३ ॥ मंदार वृक्षोंके वनपंक्तियोंकी घनी छायामें वैठे हुये ये देवलोक चंद्रकांत मणियोंकी शिलापर कैसी क्रीडा कर रहे हैं ॥ ३४ ॥ अहा इस वनके किनारेकी सुंदरता कैसी सुंदर है कि देवलोक भी अपने रहनेके स्थान छोड २ कर यहां आकर क्रीडा करते हें ॥ ३५ ॥ देव देवांगनायें अपनी इच्छानुसार यहां आकर संभोगादि क्री-

तन्यते । सुरदंपातिभिः स्वैरमारब्धरतिविभ्रमैः ॥ ३६ ॥ इयं निधुवनाशक्ताः सुरस्त्रीरतिकाहलाः । हसंतीव तरंगोत्थैः शीकरैरमरापगा ॥ ३७ ॥ इतः किन्नरसगीतमितः सिद्धोपवीणित । इतो विद्याधरीनृत्तमितस्तद्गतिविभ्रमः ॥ ३८ ॥ नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वंस्तद्गीतनिःस्वनं । वाजिवक्त्रोऽयमुदग्रीवः सममास्ते स्वकातया ॥ ३९ ॥ निष्पर्यायो वनेऽमुष्मिन्नृभुवर्गो विवर्द्धते । परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुकायितमानसः ॥ ४० ॥ अशोकतरुरत्राऽय तनुते पुष्पमंजरी । लाक्षारक्तैः खगस्त्रीणा चरणैरभिताडितः ॥ ४१ ॥ पुंस्कोकिलानामालापमुखरीकृतादिङ्मुखः । चूतोय मजरीर्वत्ते मदनस्येव तारकाः ॥ ४२ ॥

डा करते हैं इसलिये कामदेवके रहनेकी शोभा यहां और भी खूब बढ रही है ॥ ३६ ॥ यह गंगा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पडती है मानों जो देवांगनायें संभोग करनेमें असमर्थ होकर कुछ कुछ अस्पष्ट शब्द करती हैं उनकी ओर हँस रही ही हो ॥ ३७ ॥ हे प्रभो ! इधर देखिये ये किन्नरदेव मधुर गीत गा रहे हैं, इधर सिद्ध जातिके देव वीणा वजा रहे हैं, इधर विद्याधरियां नृत्य कर रही हैं और इधर कितनी ही विद्याधरियां सुंदर चालसे टहल रही हैं ॥ ३८ ॥ यह अश्वमुख व्यंतर देव अपनी देवांगनाके साथ साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ और उनके मधुर गीत सुनता हुआ सुखसे गला ऊंचाकर बैठा है ॥ ३९ ॥ परस्पर एक दूसरेको देखनेकेलिये ही जिसका मन उत्कंठित हो रहा है ऐसा यह देवोंका समूह इस वनमें एक साथ जमा होता हुआ बढ रहा है ॥ ४० ॥ जिनपर लाखका लाल महावर लगा हुआ है ऐसे देवियोंके चरणोंसे ताडित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें कैसी अच्छी पुष्प मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४१ ॥ पुरुषरूप कोकिलोंके मधुर शब्दोंसे सव दिशाओंको वाचालित करता हुआ यह आम्रवृक्ष जो मंजरियां धारण करता है वे ऐसी जान पडती हैं मानों कामदेवके आंखकी पुतली ही हों ॥ ४२ ॥ वसंतऋतुके फैलनेपर ये चंपक जातिके वृक्ष जो फूल रहे हैं वे ऐसे जान पडते हैं मानों पुष्पोंके समूहको धारण करनेवाले कामदेवके दीपक ही हों ॥ ४३ ॥ ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्रवृक्षोंपर कैसा गुंजार शब्द कर

चपका विकसत्यत्र कुसुमर्तौ वितन्वति । प्रदीपानिव पुष्पोघान्दधतोऽमी मनोभुवः ॥ ४३ ॥ सहकारेष्वमी मत्ता विरुवति मधुव्रताः । त्रिजिगीषोरनंगस्य काहला इव पूरिताः ॥ ४४ ॥ कोकिलानकनिःस्वानैरलिज्यारवजृंभितैः । अभिषेणयतीवाऽत्र मनोभूर्भुवनत्रय ॥ ४५ ॥ निचुलः सहकारेण विकसन्नत्र माधवीं । तनोति लक्ष्मीमक्षूणामहो प्रावृट्श्रिया सम ॥ ४६ ॥ माधवीस्तबकेष्वत्र माधवोद्य विजृंभते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विश्वत. ॥४७॥ वासत्यो विकसत्येता वसतर्तुस्मितश्रियं । तन्वानाः कुसुमामोदैराकुलीकृतषट्पदाः ॥ ४८ ॥ मल्लिकाविततामोदैर्विलोलीकृतषट्पद. । पादपेषु पद धत्ते शुचिः पुष्पशुचिस्मितः ॥ ४९ ॥ कदंबामोदसुरभि. केतकीधूलिधूसरः । तपात्ययानिलो देव नित्यमत्र विजृंभते ॥ ५० ॥ मायति कोकिलाः शश्वत्स-

रहे हैं मानों सवको जीतने वाले कामदेवके वाजे ही हों ॥ ४४ ॥ कोकिलाओंके मधुर शब्दरूप नगाडोंके द्वारा और भ्रमरोंके गुंजाररूप धनुषके टंकोरके द्वारा ऐसा जान पडता है मानो यह कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेकेलिये सेनासहित चढाई कर रहा हो ॥ ४५ ॥ आम्रवृक्षके साथ जो निचुल (जलवेत) जातिका वृक्ष फूल रहा है वह ऐसा जान पडता है मानों इन देवोंकेलिये वह वर्षाऋतुके साथ २ वसंतऋतुकी शोभा वढा रहा हो, (यद्यपि यह एक आश्चर्यकी वात है क्योंकि निचोलवृक्ष वर्षाऋतुमें फूलता है परंतु यह सव देवकृत होनेसे, कोई विरोध नहीं होता) ॥४६॥ हे स्वामिन् इस वनमें चारोंओरसे वनलक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा वढानेवाले माधवीलताके गुच्छोंपर आज यह वसंत वहुत ही सुशोभित हो रहा है ॥ ४७ ॥ उसीप्रकार जो वसंतऋतुकी हास्यकी शोभा वढा रही है और जो पुष्पोंकी सुगंधसे भ्रमरोंको व्याकुल कर रही है ऐसी यह माधवी लता बहुत ही अच्छी फूल रही है ॥ ४८ ॥ मल्लिकाकी [मोगरेकी] फैली हुई सुगंधिसे जिसने भ्रमरोंको व्याकुल कर रक्खा है और खिलहुये पुष्प ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्म ऋतु अव वृक्षोंपर अपना पैर रखता जाता है ॥ ४९ ॥ हे देव ! इधर देखिये कदंवोंके पुष्पोंसे सुगंधित हुआ और केतकीकी परागसे धूसरित हुआ यह वर्षाऋतुका वायु इस वनमें सदा ही वहा करता है ॥५०॥

ममत्र शिखंडिभिः । कलहंसीकलस्वानैः संमूर्छितविकूजिताः ॥ ५१ ॥ कूजंति कोकिला मत्ता केकायंते कलापिनः । उभयस्याऽस्य वर्गस्य हंसाः प्रत्यालपत्यमी ॥५२॥ इतोमी किन्नरीगीतमनुकूजंति षट्पदाः । सिद्धोपवीणितान्येष निन्हुतेन्यभृतस्वनः ॥ ५३ ॥ जितनूपुरझंकारमितो हसंविकूजित । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्याच्छिखावलं ॥ ५४ ॥ इतश्च सैकतोत्संगे सुप्तान् हसान् सशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युच्चैः खेचरीनूपुरारवः ॥ ५५ ॥ इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चन्द्रकांतशिलागर्भाः सुरैर्भोग्या लतालयाः ॥ ५६ ॥ इतीद वनमत्यतरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतां प्रीतिं जनये-

---

इस बनमें मयूरोंके साथ २ कोकिलायें सदा उन्मत्त रहती हैं और मनोहर हंसिनियोंके मधुर शब्दोंके साथ २ अपना शब्द मिलाकर बोलती हैं, भावार्थ—इस बनमें वसंत वर्षा और शरद इन तीनों ही ऋतुओंकी बहार आ रही है ॥ ५१ ॥ यह देखिये उन्मत्त कोकिलायें बोल रही हैं, मयूर शब्द कर रहे हैं और हंस इन दोनोंके शब्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं, अभिप्राय यह है कि वसंत वर्षा और शरद ये तीनों ही ऋतुयें यहां एक साथ इकट्ठी हो रही हैं ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नर जातिकी देवांगनाओंके द्वारा गाये हुये गीतोंका अनुकरण कर रहे हैं और ये कोकिलाओंके शब्द सिद्ध जातिके देवोंके द्वारा बजाई हुई वीणाकी ध्वनिको भी छिपा रहे हैं ॥ ५३ ॥ इधर देखिये यह बिछुओंके झंकार शब्दको जीतता हुआ हंसोंका मधुर शब्द हो रहा है और जिसका अनुकरण करता हुआ यह मयूरोंका समूह नृत्य कर रहा है ऐसा यह विद्याधरियोंका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर देखिये बालूके टीलोंपर अपने बच्चों सहित सोये हुये हंसोको सबेरेके समय यह विद्याधरियोंके बिछुओंका ऊंचा शब्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ जिनमें बहुतसे पुष्पोंसे शय्या बनाई गई है और इसलिये ही जो मनोहर जान पडते हैं तथा जिनमें चंद्रकांत शिलायें पडी हुई हैं और जो देवोंके उपभोग्य करने योग्य हैं ऐसे ये लतागृह भी इधर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ५६ ॥ इसप्रकार यह बन अनेक अत्यंत मनोहर सामग्रियोंसे भरा हुआ है और इसलिये यह देवोंको सदा स्वर्गके नंदन बनके प्रेमको उत्पन्न करता रहता

त्वंसदा सदा ॥ ५७ ॥ बहिस्तटवनादेतद्दृश्यते काननं महत् । नानाद्रुमलतागुल्मवीरुद्भिरतिदुर्गमं ॥ ५८ ॥ दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदंबकं । नानाजातीयमुद्भ्रात सैन्यक्षोभात्प्रधावति ॥ ५९ ॥ इदमस्मद्बलक्षोभादुत्त्रस्तमृगसकुलं । वनमाकुलितप्राणमिवाभात्यधकारितं ॥ ६० ॥ गजयूथमित कच्छादधकारमिवाभितः । विश्लिष्टं बलसक्षोभादपसर्पत्यतिद्रुतं ॥ ६१ ॥ शनैः प्रयाति सजिघ्रन् दिशः प्रोत्क्षिप्तपुष्करः । समहाहिरिवाद्रींद्रो भद्रोऽयं गजयूथपः ॥ ६२ ॥ महाहिरयमायामं मिमान इव भूरुहां । श्वसन्नागच्छते कच्छादूर्ध्वीकृतशरीरकः ॥ ६३ ॥ शयुपोता निकुंजेस्मिन् पुंजीभू-

---

है ॥५७॥ हे प्रभो ! गंगाके किनारेके बनके वाहर भी यह एक वडाभारी वन दिखाई दे रहा हे जोकि अनेक प्रकारके वृक्ष, लतायें, छोटे २ पौधे और अंकूरोंसे दुर्गम (सघन, जिसमें कोई जा नहीं सके) हो रहा है ॥५८॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे घवडाया हुआ अनेक प्रकारके हिरणोंका समूह कैसा दौडा जा रहा है ॥५९॥ हमारी सेनाके क्षोभसे जिसमें हिरणोंका समूह भयभीत हो रहा है और जिसमें पशुओंके प्राण व्याकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अंधकारके समान सुशोभित हो रहा है, भावार्थ–जिसप्रकार अंधकारमें व्याकुल और भयभीत हो जाते हैं उसीप्रकार सेनाके क्षोभसे भी सव पशु व्याकुल और भयभीत हो रहे हैं ॥६०॥ इधर सेनाके क्षोभसे गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशपरका यह हाथियोंका समूह अलग अलग हुये अंधकारके समूहके समान चारोंओरसे बहुत शीघ्र दौडा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोंका स्वामी यह भद्र गजराज [भयभीत होकर भी] अपनी सूंडको ऊंचा करता हुआ और सव दिशाओंको सूंघता हुआ धीरे धीरे इसप्रकार जा रहा है मानों बडे सर्पसहित मेरु पर्वत ही हो ॥ ६२ ॥ यह महासर्प अपने मस्तकको ऊंचा किये हुये और जोरजोरसे श्वास लेता हुआ गंगाके किनारेके जलवाले प्रदेशसे इसप्रकार आ रहा है मानों वृक्षोंकी लंबाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥ ६३ ॥ इधर इन लतागृहोंमें एक जगह इकट्ठे हुये ये अजगरोंके वच्चे इसप्रकार पडे हुये श्वास ले रहे हैं मानों सेनाके क्षोभ-

ताः श्वसंत्यमी । वनस्येवांतसंतानाश्चमूक्षोभाद्विनिःसृताः ॥ ६४ ॥ अयमेकचरः प्रोथसमुत्खातांतिकस्थलः । रुणद्धि वर्त्म सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥ ६५ ॥ सैनिकैरयमारुद्धः पाषाणलकुटादिभिः । आकुलीकुरुते सैन्यं गंडो गंड इव स्फुटं ॥ ६६ ॥ प्राणा इव वनादस्माद्विनिष्क्रामति संतता । सिंहा बद्धदवज्वाला धुन्वानाः केशरच्छटाः ॥ ६७ ॥ गुग्गुलूनां बनादेष महिषो घनकर्बुरः । निर्याति मृत्युदंष्ट्राभविषाणाग्रोऽतिभीषणः ॥ ६८ ॥ लसद्वालधयो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला बलस्य सक्षोभममी तन्वंत्यनाकुलाः ॥ ६९ ॥ शरभः खं समुत्पत्य पतन्नुत्तानितोऽपि सन् । नैष दुःखासिका वेद चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥ ७० ॥ चमूरोऽय चमूरोधाद्विद्रुतो द्रुतमुत्पतन् । क्षोभं तनोति सैन्यस्य दर्पो रूपी च दुर्द्धरः ॥ ७१ ॥ शशः शस-

---

से इस बनकी अंतडियोंका समूह ही निकल पडा हो ॥ ६४ ॥ जिसने अपनी नाकसे समीपकी पृथ्वी खोद डाली है, जिसे तीव्र क्रोध आ रहा है और जो अकेला ही फिरा करता है ऐसा यह शूकर [सूअर] सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥ ६५ ॥ इधर देखिये सेनाके लोगोंने जिसे लकडी पत्थर आदिसे रोक रक्खा है ऐसा यह छोटे पर्वतके समान साफ दिखनेवाला गैंडा सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥ ६६ ॥ दावानल अग्निके समान कुछ २ पीले ऐसे अपने गर्दनपरके बालोंको हिलाते हुये ये सिंह अनुक्रमसे इस बनसे इसप्रकार निकल रहे हैं मानों इस बनके प्राण ही हों ॥ ६७ ॥ जो मेघके समान श्यामवरण है, मृत्युकी दाढोंके समान जिसके सींग हैं और जो अत्यंत भयानक है ऐसा यह भैंसा गूगुलके बनसे निकलकर बाहर जा रहा है ॥ ६८ ॥ जिनकी पूंछ हिल रही है जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र लाल हो रहे हैं ऐसे सिंह आदि क्रूर जीव अथवा सर्प निराकुल रहकर ही सेनाको क्षोभ उत्पन्न कर रहे हैं ॥ ६९ ॥ यह अष्टापद आकाशमें उडता है और ऊपरकी ओर मुहकर अर्थात् पीठके बल गिरता है परंतु पीठपर भी पैर होनेसे उसे किसीप्रकारका दुख नहीं होता ॥ ७० ॥ इसीप्रकार मूर्तिमान् अहंकारके समान और अजेय ऐसा यह हिरण सेनाके द्वारा रुक जानेसे इधर उधर भागता हुआ तथा बार २ उडी मारता हुआ सेनाको क्षोभित कर रहा है

न्नयं देव सैनिकैरननुद्रुतः । शरणायेव भीतात्मा मध्येसैन्य निलीयते ॥ ७२ ॥ सारगोयं तनुच्छायाकल्मापितवनः शनै । प्रयाति शृंगभारेण शाखिनेव-प्रशुष्यता ॥७३॥ दक्षिणेगतया विष्वगभिधावन्प्रवीक्ष्यता । प्रजानुपालन न्याय्य तवाचष्टे मृगव्रजः ॥७४॥ कालापी वर्हभारेण मद मद व्रजत्यसौ । केशपाशश्रिय तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहै ॥ ७५ ॥ नेत्रावली मिवातन्वन् वनभूम्याः सचद्रकै । कलपिनामय सवो विभात्याम्मिन्वनस्थले ॥ ७६ ॥ संक्रीडता रथागाना स्वनमाकर्णयन्मुहुः । हरिणानामिद यूथ नापसर्पति वर्त्मनः ॥ ७७ ॥ हरिणीप्रेक्षितेष्वेताः पश्यति सकुतूहल । स्वा नेत्रशोभा कामि-

---

॥ ७१ ॥ हे देव ! इधर देखिये यह खरगोश (शशा) कैसा भाग रहा है, यद्यपि सेनाके लोग इसके पीछे नहीं पडे हैं तथापि भयभीत होकर यह शरण ढूंढनेकेलिये आपकी सेनाके वीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥ ७२ ॥ यह देखिये अपने शरीरकी छायासे जिसने वनको भी श्याम करदिया है ऐसा यह कृष्णसार नामका हिरण सूके वृक्षके समान अनेक शाखावाले सींगोंके भारसे धीरे २ जा रहा है ॥ ७३ ॥ जो अपने शरीरके दाईओर इकट्ठे होकर चारोंओर दौड रहे हैं ऐसे इन हिरणोंके समूहको देखिये । ये ऐसे जान पडते हैं मानों आपको सव प्रजाका पालन करना योग्य है यही वात आपसे कह रहे हों ॥ ७४ ॥ अपनी पूंछका भार धारण करता हुआ यह मयूर धीरे २ इसप्रकार जा रहा हे मानों अपनी पूंछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभा ही वढा रहा हो ॥ ७५ ॥ हे राजन् ! अपनी पूंछपरके वहुतसे चंद्रोंसे वनकी पृथ्वीरूपी स्त्रीके नेत्रसमूहोंकी शोभा धारण करता हुआ यह मयूरोंका समूह वनकी इस भूमिपर कैसा अच्छा सुशोभित होता है ॥ ७६ ॥ यह देखिये चलते हुये रथके पहियोंके शव्दको वार वार सुनता हुआ यह हिरणोंका समूह मार्गसे थोडा भी एक ओर नहीं होता है, भावार्थ—वह शव्द सुननेमें तन्मय हो रहा है ॥ ७७ ॥ ये स्त्रियां हरिणोंकी दृष्टियोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा वडे आश्चर्यके साथ देख रहीं हैं तथा मयूरोंकी पूंछमें अपने केशोंकी शोभा देख रही हैं ॥ ७८ ॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सव जीव शांततासे निवास करते

न्यो बर्हिबर्हेषु मूर्धजान् ॥ ७८ ॥ इत्यनाकुलमेवेद सैन्यैरप्याकुलीकृतं । वनमालक्ष्यते विष्वगसंबाधमृगाद्विज ॥ ७९ ॥ जरठोऽप्यातपो नायमिहास्मान् देव बाधते । वने महातरुच्छायानैरंतर्यानुबाधिनि ॥ ८० ॥ इमे वनद्रुमा भांति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । त्वद्भक्त्यै वनलक्ष्म्येव मडपा विनिवेशिताः ॥ ८१ ॥ सरस्यः स्वच्छसलिला वारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा भाति क्लमच्छिदः ॥ ८२ ॥ बहुबाणासनाकीर्णमिद खड्गिभिराततं । सहास्तिकमपर्यंत वन युष्मद्बलायते ॥ ८३ ॥ इत्थं वनस्य सामृध्य निरूपयति सारथौ । वनभूमिमतीयाय सम्राडविदितातरां ॥ ८४ ॥ तदाश्वीय

हैं ऐसा यह बन यद्यपि निराकुल है तथापि अब सेनाके द्वारा कुछ व्याकुलित हुआ सा जान पडता है ॥ ७९ ॥ हे देव ! जिसमें बडे २ वृक्षोंकी घनी छाया सदा रहती है ऐसे इस बनमें यह तेज धूप भी हमलोगोंको कुछ बाधा नहीं करती है ॥ ८० ॥ बडी घनी छाया वाले ये बनके मनोहर वृक्ष ऐसे अछे जान पडते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने आपकी भक्ति प्रगट करनेकेलिये मंडप ही खडे किये हों ॥ ८१ ॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जिनपरकी सूर्यकी गरमी किनारेके वृक्षोंके द्वारा रुकी हुई है ऐसे ये छोटे २ सरोवर ऐसे सुशोभित होते हैं मानों बनकी लक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापन की हों ॥ ८२ ॥ हे देव ! यह बन ठीक आपकी सेनाके समान जान पडता है, क्योंकि जिसप्रकार आपकी सेनामें बहुतसे बाणासन अर्थात् धनुष हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुतसे बाणासन जातिके वृक्ष हैं, जिसप्रकार आपकी सेना खडग धारण करनेवाले शूरवीरोंसे व्याप्त है उसीप्रकार यह बन भी खड्गि अर्थात् गेंडाओंसे भरा हुआ है, जिसप्रकार आपकी सेनामें अनेक हाथी हैं उसीप्रकार इस बनमें भी बहुत हाथी हैं और जिसप्रकार आपकी सेना अपार है उसीप्रकार यह बन भी अपार अर्थात् बहुत बडा है ॥८३॥ इसप्रकार सारथी उस बनकी शोभा निरूपण कर रहा है और महाराज वह सब शोभा देख रहे हैं, देखते २ महाराज जिसकी लंबाई मालूम भी नहीं हुई है ऐसे बनकी सब भूमिके पार होगये ॥ ८४ ॥ उससमय सब दिशाओंमें फैली हुई ऐसी घोडोंके खुरोंके घातसे

खुरोद्घातादुत्थिता वनरेणवः । दिशा मुखेषु सॅल्लग्नास्तेनुर्जवनिकाश्रियं ॥ ८५ ॥ सादिनां वारबाणानि स्यूतान्यपि सितांशुकैः । कषायाणीव जातानि तानि वनरेणुभिः ॥ ८६ ॥ वनरेणुभिरालग्नैर्जडीभूतानि योषितः । स्तनांऽशुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वश्रमाऽलसाः ॥ ८७ ॥ कुंभस्थलेषु ससक्ता. करिणामध्वरेणवः । सिंदूरश्रियमातेनुर्धातुभूमिसमुत्थिताः ॥ ८८ ॥ ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीव्रमंशुमान् । विजिगीषुरिवारूढप्रतापः शुद्धमंडलः ॥ ८९ ॥ सरस्तीरतरुच्छायामाश्रयंति स्म पक्षिणः । शरदातपसतापात् सकुचत्पत्रसंपदः ॥ ९० ॥ हंसाः कमलखंडेषु पुंजीभूतान् स्वशावकान् । पक्षैराच्छादयामासुरसोढजरठातपान् ॥ ९१ ॥ वन्याः स्तबेरमा भेजुः सरसीवरगाहितु । मदस्रुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरव्रजैः ॥ ९२ ॥ शाखाभंगैः कृतच्छायां

उठी हुई बनकी धूलि परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८५ ॥ घुडसवारोंके कवच यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढके हुये थे तथापि वे बनकी धूलिसे भरे हुये ऐसे जान पडते थे मानों लाल रंगमें रंगे हों ॥ ८६ ॥ मार्गके परिश्रमसे थकी हुई स्त्रियां बनकी धूलि पडनेसे भारी हुये ऐसे अपने स्तन ढकनेवाले कपडोंको (चोलियोंको) बडी कठिनतासे धारण कर रहीं थीं ॥ ८७ ॥ लाल रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि हाथियोंके गंडस्थलोंमें लगकर ठीक सिंदूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥ ८८ ॥ तदनंतर मध्याह्नका समय हुआ, उससमय बादल न रहनेसे जिसका प्रतिबिंब साफ दिखाई दे रहा है और जिसकी उत्कट गर्मी बढ रही है ऐसा सूर्य मानों सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ ही अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥ ८९ ॥ शरदृतुकी उष्णताके संतापसे जिनके पंख सब संकुचित हो गये हैं ऐसे पक्षीगण सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें आश्रय ले रहे थे ॥ ९० ॥ दोपहरकी गरमीको सहन करनेमें असमर्थ हुये और इसलिये ही जो कमलोंके बनोंमें एक जगह इकट्ठे हुये ऐसे अपने बच्चोंको हंस पक्षी अपने पंखोंसे आच्छादन कर रहे थे ॥ ९१ ॥ जिनके गंडस्थलके मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिनके गंडस्थलसे भ्रमरोंका समूह भी उड गया है ऐसे बनके हाथी पानीमें भीतर बैठनेकेलिये सरोवरोंकी ओर जा रहे थे ॥९२॥ सूर्यकी तीव्र किरणोंसे

प्रयांतो गजयूथपाः । शाखोद्धारमिवातन्वन् खरांशोः करपीडिताः ॥ ९३ ॥ यूथं वनवराहाणामुपर्युपरि पुंजितं । तदा प्रविश्य वेशंतमधिशिश्ये सकर्दमं ॥ ९४ ॥ मृणालैरंगमावेष्ट्य स्थिता हंसा विरेजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशांककरपंजरं ॥ ९५ ॥ चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततं । सर्वांगलग्नमुष्णालुर्विनीलमिवकंचुकं ॥ ९६ ॥ पुंडरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽब्जिनीवने । राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मज्जनं ॥ ९७ ॥ बिसभंगैः कृताहारा मृणालैरवगुंठिताः । बिसिनीपत्रतल्पेषु शिश्यिरे हंसशावकाः ॥ ९८ ॥ इति शारदिके तीव्रं तन्वाने तापमातपे । पुलिनेषु प्रतप्तेषु न हंसा धृतिमादधुः ॥ ९९ ॥ मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तताप तरणिर्भुवं । नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकं ॥ १०० ॥ स्वेदबिंदुभिराबद्धजालकानि नृपस्त्रियः ।

दुखी हुये बडे २ हाथी शाखाओंको तोड २ कर की हुई छायामें प्रवेश करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों शाखोद्धार ही कर रहे हों ॥ ९३ ॥ उस दोपहरके समय वनेल्रू सूअरोंका समूह कीचड सहित छोटे २ तालावोंमें घुसकर परस्पर एक दूसरेके ऊपर इकट्ठे होकर सो रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरपर कमलके तंतु लपेटकर बैठे हुये हंस पक्षी ऐसे सुशोभित होते थे मानों अपनी रक्षा करनेकेलिये चंद्रमाकी किरणोंके वने हुये पिंजरेमें ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ उष्णताको सहन करनेमें असमर्थ हुये तरुण चकवाने जो समस्त शरीरमें लगा हुआ मोटा मोटा शैवाल धारण किया था वह ऐसा जान पडता था मानों नीले रंगका वहुत बडा कंचुक [वस्त्र] ही हो ॥ ९६ ॥ जिसने कमलोंके बनमें सफेद कमलरूप छत्रकी छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस दोपहरके समय अपनी हंसिनियोंके साथ साथ जलमें डूब रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होंने कमलके तंतुओंका ही आहार किया है और कमलके तंतुओंसे ही जिनका शरीर ढका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलके पत्ररूप शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इसप्रकार शरदऋतुमें सूर्यकी तीव्र उष्णता होनेसे नदियोंके किनारे सब उष्ण हो गये थे और इसलिये ही वहां हंसोंको कुछ संतोष नहीं होता था ॥ ९९ ॥ उससमय यद्यपि सूर्य मध्यस्थ [ठीक ऊपर] अर्थात् पक्षपातरहित था तथापि वह पृथ्वीको बहुत ही संतप्त कर रहा था, सो ठीक ही है क्यों-

वदनान्यूहुरब्जिन्यः पद्मानीवाम्बुशीकरैः ॥ १०१ ॥ नृपवल्लभिकावक्त्रपङ्कजेष्वपुपन्छियं । घर्मबिंदूद्गमो निर्यल्लावण्यरसपूरवत् ॥ १०२ ॥ गलद्घर्माम्बुबिंदूनि मुखानि नृपयोषिता । अवश्यायततानीव राजीवानि विरेजिरे ॥ १०३ ॥ नृपाङ्गनामुखाब्जानि घर्मबिंदुभिरावभुः । मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥ १०४ ॥ रथवाहा रथानूहुरायस्तैः फेनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिग्मांशौ समेपि प्रस्खलत्खुराः ॥ १०५ ॥ ह्रस्ववृत्तखुरास्तुंगास्तनुस्निग्धतनूरुहाः । पृथ्वासना महावाहाः प्रययुर्वातरहसः ॥ १०६ ॥ महाजवजुषो वक्त्रादुद्वमंत. खुरानिव । महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा द्रुत जग्मुर्महाहयाः ॥ १०७ ॥

कि जिनका अधिक प्रताप होता है उनका मध्यस्थ रहना भी अधिक संताप करनेवाला होता है ॥ १०० ॥ जिसप्रकार सरोवरी पानीकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती है उसीप्रकार उससमय महाराज भरतकी स्त्रियां पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंकी जालियां सरीखी हो रही हैं ऐसे अपने सुंदर मुखोंको धारण कर रहीं थीं ॥ १०१ ॥ राजाओंकी स्त्रियोंके मुखकमलोंपर उठी हुई पसीनेकी बूंदें ऐसी अच्छी शोभाको धारण करती थीं मानों भीतरसे लावण्यरूप रसका प्रवाह ही निकला हो ॥ १०२ ॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रहीं हैं ऐसे महाराजकी स्त्रियोंके मुख ऐसे सुशोभित होते थे मानो ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हुये कमल ही हों ॥ १०३ ॥ केशपाशोंमें गुथे हुये मोती ही मानो गल गये हों ऐसी पसीनेकी बूंदोंसे महाराजकी स्त्रियोंके मुखकमल बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ १०४ ॥ उससमय सूर्य बहुत उष्ण हो जानेसे फेनसहित फटे हुये मुखोंको धारण करते हुये और समान जमीनपर भी जिनके खुर स्खलित हो रहे हैं ऐसे घोडे रथोंको ले जा रहे थे ॥ १०५ ॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने बाल हैं, जो बहुत ऊंचे हैं और जिनके आसन अर्थात् पीठ बहुत बडी है ऐसे उत्तम घोडे वायुके वेगके समान जा रहे थे ॥ १०६ ॥ जो तीव्र वेगको धारण करनेवाले हैं, [तेज चालमें आगेके खुर ऊंचे होनेसे] जिनके खुर मानो मुखमेंसे ही निकल रहे हैं, वक्षःस्थल भी जिनका बहुत बडा है और जिनकी नाकके घोंडे कुछ कुछ हिल रहे

समुच्छ्रितपुरोभागाः शुद्धावर्ता मनोजवाः । अपर्याप्तेषु मार्गेषु द्रुतमीयुस्तुरंगमाः ॥ १०८ ॥ मेधासत्वजवोपेता विनीताश्चटुलक्रमाः । राहूमाणा इव स्प्रष्टु महीमश्वा द्रुत ययुः ॥ १०९ ॥ अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्तयो वेगितं ययुः । सोपानत्कैः पदैः स्थाणुकण्टकोपललङ्घिनः ॥ ११० ॥ शाक्तिकाः सह याष्टीकैः प्रासिका धन्विभिः समं । नैस्त्रिंशिकाश्च तेऽन्योन्यं स्पर्द्धयेव ययुर्द्रुतं ॥१११॥ पुर. प्रधावितैः प्रेंखद्वारबाणाग्रपल्लवाः । जातपक्षा इवोड्डीय भटा जग्मुरभिद्रुत ॥ ११२ ॥ प्रयात धावताऽपेत मार्गं मारुध्वमग्रतः । इत्युच्चैरुच्चरध्वाना: पौरस्त्यानत्ययुर्भटाः ॥ ११३ ॥ इतोऽपसर्पताश्चीयादितो धावत

हैं ऐसे उत्तम घोडे वडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिनके आगेका भाग वहुत ऊंचा है, जिनके आवर्त (वालोंकी गुलाई) आदि लक्षण [देवमणि आदिक] शुद्ध हैं, मनके समान जिनका वेग है ऐसे घोडे शेष बचे हुये मार्गमें वहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ १०८ ॥ जो धारणा वल और वेगको धारण करनेवाले हैं, विनयवान हैं, गमन भी जिनका मनोहर है ऐसे घोडे पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित समझकर उसे स्पर्श करनेकी इच्छा न करते हुये वडी ही तेजीसे जा रहे थे ॥ १०९ ॥ पैदल चलनेवाली सेना पैरोंमें जोडा होनेसे सूके वृक्षोंके गडे हुये छोटे टुकडे, कांटे और पत्थर आदिको लंघन करती हुई घोडे और रथोंसे भी शीघ्र जा रही थी ॥ ११० ॥ शक्तिको धारण करनेवाले लोग लट्ठ धारण करनेवालोंके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर मानों एक दूसरेके साथ स्पर्द्धा करते हुये ही शीघ्रतासे जा रहे थे ॥ १११ ॥ आगे आगे दौडनेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग शीघ्रतासे इसप्रकार जा रहे थे मानों उनके पंख उत्पन्न हो जानेसे उडे ही जा रहे हों ॥ ११२ ॥ चलो ! दौडो ! रास्ता छोडो ! आगेका रास्ता मत रोको, इसप्रकार जोरजोरसे वोलनेवाले योद्धा सामनेवाले लोगोंको हटा रहे थे ॥ ११३ ॥ अरे इन घोडोंके समूहसे एकओर हटो, इन हाथियोंके समूहसे भी भागो और हाथियोंसे भयभीत हुये इन रथोंसे भी

हास्तिकात् । इतो रथादपत्रस्तात् दूरं नश्यत नश्यत ॥ ११४ ॥ अमुष्माज्जनसंघट्टादुत्थापयत डिंभकान् । इतो हस्त्युरसादश्वानपसारयत द्रुतं ॥११५॥ इतः पंथानमारुध्य स्थितोऽय घातुको गजः । मध्येऽध्वं प्राजितुर्दोषात्पर्यस्तोऽयमितो रथः ॥ ११६ ॥ क्रमेलकोऽयमुत्त्रस्तः प्रतीप पथि धावति । उत्सृष्टभारो लंबोष्ठो जनानिव विडंबयन् ॥ ११७ ॥ वित्रस्ताद्वेसरादेना पततीमवरोधिका । संधारयन् प्रपातेऽस्मिन् सौविदल्लः पतत्यय ॥ ११८ ॥ यवीयानेप पण्यस्त्रीमुखालोकनविस्मितः । पतितोऽप्यश्वसघट्टैर्नात्मान वेद शून्यधीः ॥ ११९ ॥ हरिद्रारजितश्मश्रुः कज्जलाकिंतलोचनः । कुट्टिनीमनुयन्नेप प्रवयास्तरुणायते ॥ १२० ॥ इति प्रयाणसंजल्पैरजाताध्वपरिश्रमाः । सैनिकाः शिविर प्रापन् सेनान्या प्राङ्निवेशितं ॥ १२१ ॥ ततोऽवरोधनवधूमुख-

---

दूर भागजाओ ॥ ११४ ॥ अरे इन बच्चोंको लोगोंके इस संघट्टमेंसे उठाओ और इन हाथियोंके सामनेसे घोडोंको बहुत शीघ्र दूर ले जाओ ॥ ११५ ॥ देखो इधर यह लोगोंपर घात करनेवाला मस्त हाथी रास्तेको रोककर खडा है और यह रथ सारथिकी असावधानीसे मार्गके बीचमें ही उलट गया है अथवा टूट गया है ॥ ११६ ॥ इधर देखो जिसने अपना ऊपरका भार पटक दिया है जिसके लंबे ओठ हैं और जो बहुत घबडा गया है ऐसा यह ऊंट मार्गमें इसप्रकार उलटा वा टेडा दौड रहा है मानो लोगोंको त्रास ही देना चाहता हो ॥ ११७ ॥ इधर इस ऊंची जगहपर घबडाये हुये खच्चरपरसे पडती हुई अंतःपुरकी, कोई स्त्री पड रही है और उसे बीचमें ही धारण करता हुआ यह कंचुकी भी उसके साथ ही साथ पड रहा है ॥ ११८ ॥ यह तरुण पुरुष किसी वेश्याका मुख देखकर आश्चर्य करता हुआ घोडेके धक्केसे पडगया है तथापि उस मूर्खको 'मैं पड गया हूं' यह भी अभीतक मालूम नहीं हुआ है ॥ ११९ ॥ जिसने खिजाब [सफेद बालोंको काले करनेकी एक औषधि] लगाकर अपने बाल काले करलिये हैं तथा जिसके आखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनी दूतीके पीछे पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढा ठीक तरुण पुरुषके समान जान पडता है ॥ १२० ॥ इसप्रकारकी अनेक तरहकी बात चीत करनेसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं

च्छायाविलघिनि । मध्यंदिनाधिपे संम्राट् सप्राप शिविरांतिक ॥ १२२ ॥ छत्ररत्नकृतच्छायो दिव्य रथमाविष्ठित· । न तदातपसवाधा विदामास विशांपतिः ॥ १२३ ॥ वर्षीयोभिरथासन्नैरारब्धमुखसकथ । प्रयातमपि नाध्वान विवेद भरताऽधिप ॥ १२४ ॥ नोद्वात. कोऽप्यभूदगे रथागपरिवर्तनैः । रथवेगेऽपि नास्याऽभूत्क्लेशो दिव्यानुभावतः ॥ १२५ ॥ रथवेगानिलोदस्त व्यायत तत्ध्वजांशुक । पश्चादागामिसैन्यानामिव मार्गमसूत्रयत् ॥ १२६ ॥ रथोद्धतगतिक्षोभादुद्भूतागपरिश्रमा· । कथ कथमपि प्रापन्नथिनोऽन्ये रथ प्रभो ॥ १२७ ॥ तमध्वशेपमध्वन्यैस्तुरगैरत्यवाहयन् । सादिनः प्रभुणा सार्धं

हुआ है ऐसे सेनाके लोग सेनापतिके द्वारा पहिलेसे ही खडे किये हुये डेरे तंबुओंमें जा पहुंचे ॥ १२१ ॥ तदनंतर जव दोपहरका सूर्य अंतःपुरकी स्त्रियोंके मुखकी कांतिको भी मलिन कर रहा था उससमय महाराज भरत अपने तंबूके समीप जा पहुंचे ॥ १२२ ॥ उससमय महाराज भरतके मस्तकपर छत्ररत्नकी छाया हो रही थी, और दिव्य (देवनिर्मित) रथपर वे विराजमान थे, इसलिये उन्हें गरमीका कोई भी त्रास मालूम नहीं हुआ था ॥ १२३ ॥ उससमय महाराज भरत अपने समीप चलनेवाले उमरमें वडे ऐसे कुलीन राजाओंके साथ २ अनेकप्रकारकी कथायें कह और सुन रहे थे इसलिये उन्हें बीता हुआ मार्ग भी मालूम नहीं हुआ था ॥ १२४ ॥ भरतेश्वरकी दिव्य सामर्थ्य होनेसे रथके बराबर चलनेसे भी उनके शरीरमें कोई धका नहीं लगा था और रथका तीव्र वेग होनेपर भी उन्हें किसीतरहका क्लेश नहीं हुआ था ॥ १२५ ॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुये वायुसे ऊपरकी ओर उडता हुआ तथा चौडा होगया ऐसा भरतके रथकी ध्वजाका कपडा ऐसा जान पडता था मानों पीछे पीछे आनेवाली सेनाको मार्ग ही दिखला रहा हो ॥ १२६ ॥ रथकी वेगवाली गतिके क्षोभसे जिनके शरीरको बहुत परिश्रम हुआ है ऐसे अन्य कितने ही राजा लोग वडी कठिनतासे भरतके रथके समीप पहुंचे थे ॥ १२७ ॥ भरतेश्वरके साथ तंबुओंमें प्रवेश करनेकी इच्छा करनेवाले घुडसवार लोगोंने बचे हुये मार्गको उन्हीं चलते हुये घोडोंसे पूरा किया था ॥ १२८ ॥ जो वडे २

शिविरं प्रविविक्षवः ॥ १२८ ॥ दूराद्दूष्यकुटीभेदानुत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः सौधशोभापहासिनः ॥ १२९ ॥ रौप्यदण्डेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥ १३० ॥ किमेतानि स्थलाब्जानि हसयूथान्यमूनि वा । इत्याशंक्य स्थलाग्राणि दूराद्ददृशिरे जनैः ॥ १३१ ॥ सामताना निवेशेषु कायमानानि नैकधा । निवेशितानि विन्यासैर्निदध्यौ प्रभुरग्रत. ॥ १३२ ॥ परितः कायमानानि वीक्ष्य कंटकिनीर्वृतीः । निष्कटके निजे राज्ये मेने तानेव कटकान् ॥ १३३ ॥ तरुशाखाग्रसंसक्तपर्याणादिपरिच्छदान् । स्कंधावाराद्बहिः कांश्चिदावासान् प्रभुरैक्षत ॥ १३४ ॥ बहिर्निवेशमित्यादिविशेषान्स विलोकयन् । प्रवेशे शिविरस्यास्य महाद्वारमथासदत् ॥ १३५ ॥ तदतीत्य समं सैन्यैः स गच्छन् किं-

---

राजभवनोंकी शोभाको भी हँस रहे हैं, ऐसे सेनाके रहने योग्य स्थानके चारोंओर खडे हुये रावटी तंबू आदि अनेकप्रकारके डेराओंको महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥ १२९ ॥ सज्जन पुरुषोंके समान लोगोंका संताप दूर करनेवाले और चांदीके खंभोंपर खडे हुये ऐसे वहुत वडे कपडेके तंबुओंको भी महाराजने देखा ॥ १३० ॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा ये हंसोंके समूह हैं इसप्रकारकी आशंका करते हुये लोग दूरसे ही उन तंबुओंके शिखरोंको देख रहे थे ॥ १३१ ॥ अन्य अनेक राजाओंके तंबुओंमें परदे टट्टी आदिकी रचनाकर जो अनेकप्रकारके वडे २ घर वने थे उन्हें भी महाराज सामनेसे देख रहे थे ॥ १३२ ॥ तंबुओंके चारोंओर जो कांटोंकी वाड वनाई गई थी उसे देखकर " अपने निष्कंटक राज्यमें ये ही कंटक [कांटे] हैं " ऐसा महाराज मानने लगे थे ॥ १३३ ॥ जहांपर वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागपर घोडोंकी जीन वगैरह वहुतसी चीजें रक्खी हैं ऐसे कितने ही तंबुओंको महाराजने छावनीके वाहर भी देखा था ॥ १३४ ॥ इसप्रकार छावनीके वाहर तंबू आदि अनेक विशेष २ वस्तुयें देखते हुये भरतराज पडावके वडे दरवाजेपर जा पहुंचे ॥ १३५ ॥ दरवाजेको उलंघनकर सेनाके थोडी दूरतक और गये तथा महासागरके समान गंभीर शब्द जिसमें हो रहे हैं ऐसे वाजारमें वे जा पहुंचे ॥ १३६ ॥ जिसकी शोभा वहुत अच्छी की गई

चिंदंतरं । महाब्धिसमनिर्घोषमाससाद वणिक्पथ ॥ १३६ ॥ कृतोपशोभमाबद्धतोरणं चित्रकेतनं । वणिग्भिरूढरत्नार्घं स जगाहे वणिक्पथं ॥१३७॥ प्रत्यापणमसौ तत्र रत्नराशीन्निधीनिव । पश्यन्मेने निधीयत्ता प्रसिद्धैव तथास्थितान् ॥ १३८ ॥ समौक्तिकं स्फुरद्रत्नं जनतोत्कलिकाकुलं । रथा वणिक्पथाभोधिं पोता इव ललंघिरे ॥ १३९ ॥ चलदश्वीयकल्लोलैः ूरनिस्त्रिंशरोहितैः । राजमार्गोंबुधेर्लीला महेभमकरैरधात् ॥ १४० ॥ राजन्यकेन संरुद्धः समतादान्नृपालयं । तदासौ विपणीमार्गः सत्यं राजपथोऽभवत् ॥ १४१ ॥ ततः पर्यंतविन्यस्तरत्नभासुरतोरणं । रथकट्यापरिक्षेपकृतबाह्यपरिच्छदं ॥ १४२ ॥ आरुध्यमानमश्वीयैर्हास्तिकेनातिदुर्गम । बहुनागबलैर्जुष्टं कलभैश्च करेणुभिः ॥ १४३ ॥ छत्रखंडकृतच्छायं महोद्यानमिव क्वचित् ।

है, जिसमें अनेक तोरण बंधे हुये हैं, अनेकप्रकारकी ध्वजायें फहरा रही हैं और अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका अर्घ लेकर सामने आये हैं अथवा अनेक व्यापारी जिसमें रत्नोंका मूल्य कह सुन रहे हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहांपर उन्होंने प्रत्येक दूकानपर निधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखीं और उन्हें देखकर निश्चय किया कि संख्याका परिमाण दिखलानेकेलिये ही निधियोंकी नौ संख्या प्रसिद्ध है वास्तवमें निधियां अनेक हैं ॥ १३८ ॥ जिसमें रत्न दैदीप्यमान हैं, मोती भरे हुये हैं, लोगोंके समूहरूप लहरोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्रमें रथ जहाजके समान पार हो गये थे ॥ १३९ ॥ उससमय वह राजमार्ग चलते हुये घोडोंके समुदाय रूप लहरोंसे दैदीप्यमान तलवाररूपी मछलियोंसे और हाथीरूपी मगरोंसे ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १४० ॥ वह बाजारका रास्ता महाराजके तंबूतक चारोंओरसे अनेक क्षत्रियोंसे भरा हुआ था इसलिये उससमय वह ठीक राजमार्ग हो रहा था ॥१४१॥ तदनंतर महाराज भरतने राजांगण देखा, उस राजांगणके चारोंओर दैदीप्यमान रत्नोंके तोरण लगे हुये थे तथा बाहरकी ओर चारोंओर रथोंके समूह खडे थे जिनसे बाहरकी शोभा बहुत अच्छी हो रही थी ॥ १४२ ॥ घोडोंके समूहसे वह भरा हुआ था, हाथियोंके समूहसे वह भीतर जानेकेलिये कठिन होगया था, अनेकप्रकारके हाथियोंकी

क्वचित्सामंतमडल्या रचितास्थानमडल ॥ १४४ ॥ प्रविशद्भिश्च निर्यद्भिरपर्यंतैर्नियोगिभिः । महाब्धेरिव कल्लोलैस्तटमाविर्भवद्ध्वनिः ॥ १४५ ॥ जनतोत्सारणव्यग्रमहादौवारपालिक । कृतमगलनिर्घोष वाग्देव्येव कृतास्पद ॥ १४६ ॥ चिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपांगण पश्यन् किमप्यासीत्साविस्मयः ॥ १४७ ॥ निधयो यस्य पर्यंते मध्ये रत्नान्यनतशः । महतः शिबिरस्यास्य विशेष को नु वर्णयेत् ॥ १४८ ॥ स श्रीमानिति विश्वतः स्वशिबिर लक्ष्म्या निवासायित पश्यन्नात्तधृतिर्विलघ्य विशिखाः स्वर्गापहारिश्रियः । सभ्राम्यत्प्रतिहाररुद्धजनतासवाधमुत्केतन प्राविक्षत्कृतसन्निवेशमाचिरा-

---

सेनासे व्याप्त हो रहा था और हथिनी तथा हाथियोंके बच्चोंसे भी भरा हुआ था ॥१४३॥ वह राजा का आंगन कहीं तो अनेक छत्रोंकी छाया होनेसे किसी बडे उद्यानके समान जान पडता था और कहीं कहीं-पर बडे २ राजाओंके विराजमान होनेसे सभामंडपके समान सुशोभित होता था ॥ १४४ ॥ अनेक कर्मचारी लोग उसके भीतर जा रहे थे और अनेक बाहर निकल रहे थे जिससे वह राजांगण लहरोंके द्वारा गर्जना करते हुये महासागरके किनारेके समान जान पडता था ॥ १४५ ॥ वहांपर बडे २ द्वारपाल (पहरेदार वा चोवदार) लोगोंके समूहको हटानेमें लगे हुये थे तथा उसमें अनेक मांगलिक शब्द हो रहे थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों सरस्वतीदेवीका स्थान ही हो ॥ १४६ ॥ यद्यपि वह राजांगण महाराजने कईवार देखा था, बहुत दिनसे वे उसे जानते थे तथापि इसप्रकारकी शोभासे वह अपूर्व ही जान पडता था, ऐसे सुंदर राजांगणको देखकर महाराज भरतको भी कुछ आश्चर्य सा जान पडा था ॥ १४७ ॥ जिसके चारोंओर निधियां रक्खी हुई हैं, बीचमें अनंत प्रकारके रत्न रक्खे हुये हैं ऐसे उस बडे पडावकी [छावनीकी] विशेष शोभा भला कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इसप्रकार वे श्रीमान् भरतेश्वर लक्ष्मीके निवासस्थानके समान अपने पडावको चारोंओरसे देखते हुये तथा देखकर अतिशय संतुष्ट होते हुये स्वर्गकी शोभाको भी जीतनेवाली गलियोंको उलंघनकर चारोंओर दौडते हुये द्वारापालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीडका

दात्मालयं श्रीपति ॥ १४९ ॥ तत्राविष्कृतमगले सुरसरिद्वीचीभुवा वायुना समृष्टागणवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकरान् । शस्ते वास्तुनि विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते लक्ष्मीवान् सुखमावसन्निधिपति' प्राचीं दिग निर्जयन् ॥ १५० ॥ राज्ञामावसथेपु शातजनताक्षोभेपु पीतांभसामश्वाना पटमंडपेपु निवहे स्वैर तृणग्रासिनि । गगातीरसरोऽवगाहिनि वनेष्वालानिते हास्तिके जिष्णोस्तत्कटक चिरादिव कृतावास तदा लक्ष्यते ॥ १५१ ॥

सब उपद्रव दूर किया जा रहा है, पताकायें फहरा रही हैं और जिसकी रचना वहुत अच्छी की गई है ऐसे अपने तंबूमें बहुत शीघ्र प्रवेश कर गये ॥ १४९ ॥ जिसमें सव जगह मंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं, संतापको दूर करनेवाली जलकी बूंदोंको थोडा २ वरसाते हुये और गंगानदीकी लहरोंमें होकर आनेवाले वायुके द्वारा जिसके आंगनकी वेदी साफ की गई है, जो प्रशंसनीय है, वहुत वडा है और स्थपति सिलावट नामके रत्नके द्वारा वहुत शीघ्र वनाया गया है ऐसे वडे तंबूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतेश्वर महाराज सुख पूर्वक निवास करने लगे ॥ १५० ॥ जिससमय सव राजा लोग अपने २ डेरोंमें पहुंच गये थे, लोगोंका क्षोभ सव शांत हो गया था, घोडोंके समूह जल पीकर कपडोंकी वनी हुई अपनी घुडसालमें चले गये थे तथा वहां अपनी इच्छानुसार घास खाने लगे थे और हाथियोंका समूह गंगाके किनारेके सरोवरोंमें (किनारेके गहरे जलमें) स्नान कराकर निकटके ही वनमें खंभोंसे बांध दिये गये थे उससमय विजयी महाराज भरतकी सेना ऐसी जान पडती थी मानो वह वहुत दिनसे ही वहां रह रही हो ॥ १५१ ॥ जिसप्रकार अद्भुत महिमाको धारण करनेवाले जिनेंद्रदेवको देव लोग नमस्कार कर आराधन करते हैं उसीप्रकार अद्भुत मीहमाको धारण करनेवाले और उस मंडपमें विराजमान ऐसे भरतेश्वरको पूर्व दिशाके समस्त बडे २ राजा लोगोंने कुलपरंपरासे आया हुआ धन भेट देकर उत्तम कन्यायें देकर तथा और भी यथायोग्य वस्तुओंके द्वारा संतुष्ट कर प्रणाम किया था तथा महाराजकी सेनाके द्वारा रोके हुये अन्य

तत्रासीनमुपायनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः प्राच्या मंडलभूभुजः समुचितैराराधयन् साधनैः । सरुद्राः प्रविहाय मानमपरे प्राणंशिपुश्चक्रिणं दूरादानतमौल्यो जिनमिव प्राज्योदय नाकिन ॥ १५२ ॥

•इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजयप्रयाणवर्णन नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥ २७ ॥

अथ अष्टाविंशतितमं पर्व ।

अथान्येद्युर्दिनारम्भे कृतप्राभातिकक्रियः । प्रयाणमकरोच्चक्री चक्ररत्नानुमार्गतः ॥ १ ॥ अलंघ्यचक्रमाक्रातपरचक्रपराक्रमं । दण्डश्च दंडितारातिर्द्वयमस्य पुरोऽभवत् ॥ २ ॥ रक्ष्य देवसहस्रेण चक्र दण्डश्च तादृशः । जयागमिदमेवास्य द्वय शेषः परिच्छद. ॥ ३ ॥ विजयार्द्धप्रतिस्पर्द्धिवर्ष्माण याग-

---

कितने ही राजाओंने अपना अभिमान छोडकर दूरसे ही मस्तक नवाकर महाराजको प्रणाम किया था ॥ १५२ ॥

इसप्रकार भववज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे महाराज भरतका विजयकरनेके लिये गमन करनेका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवा पर्व समाप्त हुआ

अथ अठाईसवां पर्व

अथानंतर–दूसरे दिन सवेरा होते ही चक्रवर्तीने प्रातःकालकी सब क्रियायें कीं और फिर चक्ररत्नके पीछे पीछे प्रस्थान किया ॥ १ ॥ शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला और जिसे कोईभी उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसा चक्ररत्न तथा समस्त शत्रुओंको दंड देनेवाला दंड रत्न ये दोनों ही चक्रवर्तीकी सेनाके आगे २ चलते थे ॥ २ ॥ एक हजार देव सदा चक्रकी रक्षा करते थे और इतने ही देव दंडकी रक्षा करते थे, वास्तवमें चक्रवर्तीके विजयके कारण ये ही दो थे, शेष हाथी घोडे आदिकी सेना केवल शोभाके लिये थी ॥ ३ ॥ उस चक्रवर्तीने विजयार्ध्द पर्वतके साथ स्पर्द्धा करने-

हस्तिनं । प्रतस्थे प्रभुरारुह्य नाम्ना विजयपर्वतं ॥ ४ ॥ प्राचीं दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतं । ननु स्तंबेरमव्याजाद्दूहे विजयपर्वतः ॥ ५ ॥ सुरेभं शरदभ्राभमारूढो जयकुंजर । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं सुरराडिव ॥ ६ ॥ सितातपत्रमस्योच्चैर्विधृतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवागारमिव तद्व्याजजृंभितं ॥ ७ ॥ लक्ष्मीप्रहासविशदा चामराली समंततः । व्यधूयतास्य निरस्ततापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥ ८ ॥ जयद्विरदमारूढो ज्वलज्जैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणामगमत्स शरव्यता ॥ ९ ॥ महामुकुटवद्धाना सहस्राणि समंततः । तमनुप्रचलंतिस्म सुराधिपमिवामराः ॥ १० ॥ दूरमद्य प्रयातव्य निवेष्ट-

---

वाला जिसका शरीर है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥ ४ ॥ उससमय समुद्रपर्यंत पूर्व दिशा जीतनेकेलिये तैयार हुये महाराज भरतको जो विजयपर्वत हाथी धारण कर रहा था वह ऐसा जान पडता था मानों हाथीके बहानेसे विजयार्द्ध पर्वत ही महाराज भरतको धारण कर रहा हो ॥ ५ ॥ जिसप्रकार दैदीप्यमान मुकुट पहने हुये इंद्र ऐरावत हाथीपर चढा हुआ सुशोभित होता है उसीप्रकार शरदऋतुके बादलके समान सफेद और देवोंके द्वारा प्राप्त हुये उस विजयपर्वत नामके हाथीपर दैदीप्यमान मुकुट पहने हुये महाराज भरत सुशोभित हो रहा था ॥ ६ ॥ उस भरतेश्वरके मस्तकपर लटकता हुआ सफेद और ऊंचा छत्र ऐसा सुशोभित होता था मानों छत्रके बहानेसे यश उत्पन्न होनेका स्थान ही हो ॥ ७ ॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और संतापको दूर करनेवाली चामरोंकी पंक्ति जो चक्रवर्तीके मस्तकपर चारों ओरसे ढुलाई जा रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों शरद ऋतुकी चांदनी ही हो ॥ ८ ॥ विजय नामके हाथीपर सवार हुआ और विजय प्राप्त करनेवाले दैदीप्यमान शस्त्रोंसे सुशोभित ऐसा वह चक्रवर्ती जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका स्थान बन गया था ॥९॥ जिसप्रकार देव लोग इंद्रके पीछे २ चलते हैं उसीप्रकार हजारों मुकुटवद्ध राजा लोग चारों ओर भरतेश्वरके पीछे २ चल रहे थे ॥१०॥ आज बहुत दूर चलना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिये जल्दी करो इसप्रकार सेनापति लोग सेनाको जल्दी २ उठा रहे थे ॥११॥ अरे जल्दी करो,

व्यमुपार्णवं । त्वरध्वमिति सेनान्यः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥ ११ ॥ त्वर्यता प्रस्थितो देवो दवीयश्च प्रयाणक । बलाधिकारिणामित्थं वचो बलमचुक्षुभत् ॥ १२ ॥ अद्यासिंधु प्रयातव्य गगाद्वारे निवेशन । ससाध्यो मागधोद्यैव विलध्य पयसा निधिं ॥ १३ ॥ समुद्रमद्य पश्यामः समुद्र गत्तरगक । समुद्रलघनेऽद्यैव समुद्र शासन विभोः ॥ १४ ॥ अन्योन्यस्येति सजल्पैः सप्रास्थिपत सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानस्तदोद्यन्व्यामदिध्वनत् ॥ १५ ॥ ततः प्रचलिता सेना सानुगग धृतायतिः । मिमानेव तदायाम पप्रथे प्रथितध्वनि ॥ १६ ॥ सचामरा चलद्धसा सबलाका पताकिनी । अन्वियाय चमूर्गंगा

महाराज प्रस्थान करगये, आजका प्रवास बहुत लंबा है, इसप्रकार सेनापतियोंके बचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥ १२ ॥ आज समुद्रतक चलना है, आज गंगाके द्वारपर (जहां गंगा नदी समुद्रमें मिलती है) ठहरना है, समुद्रको उलंघनकर मागध नामके देवको आज ही वश करना है ॥ १३ ॥ जिसमें ऊंची नीची लहरें वरावर उठ रही हैं ऐसे समुद्रको आज देखेंगे, आज समुद्रको उलंघन करनेकेलिये ही महाराजकी मुहरसहित (अलंघनीय) आज्ञा है ॥ १४ ॥ इसप्रकार परस्पर एक दूसरेसे बात चीत करते हुये सेनाके लोगोंने प्रस्थान किया, उससमय निकलते समयके बजते हुये नगाडोंके उठे हुये शब्द आकाशमें प्रतिध्वनि कर रहे थे अर्थात् भरगये थे ॥ १५ ॥ जिसके चलनेकी आवाज चारोंओर फैली हुई है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे २ लंबी होकर निकली, उससमय वह लंबी सेना ऐसी जान पडती थी मानों गंगा नदीकी लंबाई ही नाप रही हो ॥ १६ ॥ गंगानदीके किनारे २ चलती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो गंगाकी नकल ही कर रही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें हंसपक्षी थे उसीप्रकार सेनामें सफेद चमर ढुलाये जा रहे थे, जैसे गंगामें क्रौंच पक्षियोंकी (अथवा बगलाओंकी) पक्तियां थीं उसीप्रकार सेनामें ध्वजायें फहरा रही थीं और गंगामें जैसे लहरें चल रही थीं उसीप्रकार सेनामें घोडोंके समूह चल रहे थे ॥ १७ ॥ वह सेना समुद्रकी ओर इसप्रकार जा रही थी मानो दूसरी गंगानदी ही हो क्योंकि जिसप्रकार गंगामें राजहंस

सतुरगा तरंगिणी ॥१७॥ राजहंसैः कृताध्यासा काचिदप्यस्खलद्गतिः । चमूरब्धि प्रति प्रायात्सा द्वितीयेव जान्हवी ॥१८ ॥विपरीतामतद्वृत्तिर्निम्नगामुन्नतस्थितिः । त्रिमार्गगा व्यजेष्टासौ पृतना बहुमार्गगा ॥ १९ ॥ अनुगगातट याती ध्वजिनी सा ध्वजांशुकैः । वनरेणुभिराकीर्णं सममार्जेव खागण ॥ २० ॥

अर्थात् उत्तम हंस होते हैं उसीप्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् वडे २ राजा थे और जिसप्रकार गंगाकी गति कभी स्खलित नहीं होती उसीप्रकार सेनाकी गति भी कभी स्खलित नहीं होती थी ॥ १८ ॥ वास्तवमें चक्रवर्तीकी सेनाने गंगा जीत ली थी क्योंकि गंगा वि–परीत थी और सेना विपरीत नहीं थी, महाराजकी इच्छानुसार काम करती थी, [यहांपर गंगा वि–परीत अर्थात् राजहंस आदि अनेक पक्षियोंसे व्याप्त थी ऐसा अर्थ समझना चाहिये] इसके सिवाय गंगा निम्नगा अर्थात् नीचेकी ओर जानेवाली थी और सेना वरावर उन्नत अवस्थाको प्राप्त हो रही थी अर्थात् वढ रही थी, तथा गंगा त्रिमार्गगा अर्थात् पूर्व-दक्षिण-पूर्व ऐसे तीन मार्गसे जानेवाली कहलाती है और सेना अनेक मार्गोंसे जानेवाली थी ॥ १९ ॥ गंगाके किनारे किनारे जाती हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुये आकाशरूपी आंगनको ध्वजाओंके कपडोंसे साफ ही कर रही हो ॥ २० ॥ उत्तर दिशामें गंगाके साथ साथ चलनेवाली अनेक नदियां और नादियोंके समान ही अनेक सेनायें मिली थीं क्योंकि जिसप्रकार नादियोंमें प्रवेश करना कठिन था उसीप्रकार उन सेनाओंमें भी प्रवेश करना कठिन था, जिसप्रकार नादियां महाग्राहा अर्थात् मगरमच्छ आदि बडे २ जलचर जीवोंसहित थीं उसीप्रकार वे सेनायें भी महाग्राहा अर्थात् वडे २ योद्धाओंको स्वीकार करनेवाली थीं, नादियें वहुत थीं और सेनायें भी वहुत थीं, नादियें अनेक राजाओंके राज्योंमें वहती थीं और सेनायें भी अनेक राजाओंकी थीं इसप्रकार समान ऐसी नादियां और सेनायें दोनोंको चक्रवर्तीकी सेनाके लोग पार कर गये थे ॥ २१ ॥ अतिशय धनी महाराज भरत मार्गमें

दुर्विगाहा महाग्राहाः सैन्यान्युत्तेरुरुत्तरे । गगानुगा धुनीर्वह्वीर्वहुराजकुलस्थितीः ॥ २१ ॥ मार्गे वहुस्थितान् देगान् सरितः पर्वतानपि । धनवान्वनदुर्गाणि खनीरप्यत्यगात्प्रभु' ॥ २२ ॥ अगोष्पदेष्वरण्येषु दश व्यापारयन्विभुः । भूमिच्छिद्रापिधानाय क्षण यत्नमिवातनोत् ॥ २३ ॥ पथि प्रणेमुरागत्य संभ्राता मडलाधिपा. । दंडोपनतवृत्तस्य विपयोयमिति प्रभु ॥ २४ ॥ सचक्र धेहि राजेद्र सधुर प्राज सारथे । सजल्प इति नास्यासीदयत्नावनतद्विपः ॥ २५ ॥ प्रतियोध्दुमशक्तास्त प्रवनेषु जिगीपव' । तत्पद प्रणतिव्याजात् स्वमौलिभिरताडयन् ॥ २६ ॥ विभुत्वमरिचक्रेपु भूपरागानुरजन । स्वचक्र

पडते हुये अनेक देश, नदियां, पर्वत, बन, किले खानि इन सबको छोडता हुआ आगे चला ॥२२॥ जिनमें गाय आदि जानवरोंके खुरोंके चिन्ह तक नहीं हैं ऐसे वनोंमें क्षणभर दृष्टि डालता हुआ महाराज भरत ऐसा जान पडता था मानों पृथ्वीमें जो छिद्र हैं उन्हें ढकनेकेलिये क्षणभर प्रयत्न ही कर रहा हो ॥ २३ ॥ मार्गमें आश्चर्यको प्राप्त हुये अनेक मांडालिक राजा " जिसे दंडरत्न प्राप्त होता है वही इस देशका स्वामी होता है" यही समझकर भरतके समीप आकर उन्हें नमस्कार करने लगे थे ॥ २४ ॥ मार्गमें समस्त शत्रु बिना ही प्रयत्नके नम्रीभूत होगये थे इसलिये " हे राजन् आप चक्र हाथमें लीजिये, हे सारथि तू रथ चला " इसप्रकारका शब्द महाराज भरतको कभी नहीं कहना पडा था ॥ २५ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतके साथ लड नहीं सके थे इसलिये भरतके पैरोंको नमस्कार करते हुये ऐसे जान पडते थे मानों नमस्कारके बहानेसे अपने मस्तकके द्वारा भरतके पैरोंको ताडन ही कर रहे हों ॥ २६ ॥ भरतराज जैसे अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् अधिकार रखते थे उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी विभुत्व अर्थात् शासन वा कर धारण करते थे तथा जिसप्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरंजन अर्थात् अन्य राजाओंको प्रेमसे संतुष्ट किया था उसीप्रकार शत्रुओंके राज्यमें भी भू-परागानुरंजन अर्थात् शत्रुओंको पृथ्वीकी धूलिमें मिला दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि बडे आदमियोंकी सब चेष्टायें आश्चर्य करनेवाली

इव सोधत्त महता चित्वमीहित ॥ २७ ॥ संध्यादिविपये नास्य समकक्षो हि पार्थिवः । पाड्गुण्यमतएवास्मिंश्चरितार्थमभूत्प्रभौ ॥ २८ ॥ प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभृतान्विपयाधिपान् । सभावयन्प्रसादेन सोऽत्यगाद्विषयान् बहून् ॥ २९ ॥ नासौ व्यापारितो हस्तो मौर्वी धनुपि नार्पिता । केवल प्रभुशक्त्यैव प्राचीदिग्विजितामुना ॥ ३० ॥ गोकुलानामुपातेपु सोपश्यद्युवबल्लवान् । वनवल्लीभिराबद्धजूटकान् गोऽभिरक्षिणः ॥ ३१ ॥ मंथाकर्पश्रमोद्भूतस्वेदबिंदुचिताननाः । मथ्ननीः सकुचोत्कप सलीलत्रिकनर्तनैः ॥ ३२ ॥ मंथरज्जुसमाकृष्टिक्लातबाहू श्लथांशुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यत्रिवलीभगुरोदराः

होती हैं ॥ २७ ॥ संधि, (परस्परके नियम) विग्रह अर्थात् युद्ध, यान [शत्रुके देशमें जाना] आसन [कहीं बैठना] द्वैधीभाव [परस्पर शत्रुता कर देना] और आश्रय इन विषयोंमें अन्य कोई भी राजा भरतके बराबर नहीं था इसलिये ऊपरलिखे हुये छह गुण भरतमें केवल नाममात्रकेलिये चरितार्थ थे, भावार्थ—जब अन्य सब राजा लोग भरतके आधीन थे इसलिये भरतको किसीके साथ भी संधि विग्रह आदि नहीं करना पडा था ॥ २८ ॥ मार्गमें प्रत्येक राज्यके जो नरेश भेट लेकर आये थे, अपनी प्रसन्नतासे उनका आदर सत्कार करता हुआ भरतेश्वर वहुतसे देशोंको छोडता हुआ आगे जा रहा था ॥ २९ ॥ महाराज भरतने न तो हाथ ही उठाया था और न कभी धनुषकी डोरी ही धनुषपर चढाई थी, उसने केवल अपनी शक्तिसे ही पूर्व दिशा जीत ली थी ॥ ३० ॥ गोशालाओंके समीपमें ही उसने गायोंकी रक्षा करनेवाले और वनकी बेलोंसे जिनके शिरके बाल बंधे हुये हैं ऐसे अनेक तरुण ग्वाला देखे ॥ ३१ ॥ तथा अनेक गोपियां अर्थात् ग्वालाओंकी स्त्रियां देखीं, नौतियोंके (दही चलानेकी रस्सियोंके) खींचनेके परिश्रमसे जो पसीना आया है उसकी बूंदोंसे जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीला पूर्वक नितंबोंको हिलाहिलाकर कुचोंको हिलाती हुई दही चला रही हैं, दही चलानेकी रस्सी खींचनेसे जिनकी भुजायें शिथिल होगई हैं, जिनके कपडे भी सब शिथिल होगये हैं, स्तनोंकी चोली भी उतरगई है, उदरका त्रिवलीभंग साफ

॥ ३३ ॥ क्षुब्धाभिघातोच्छलितस्थूलगोरसाबिंदुभिः । विरलैरगसंलग्नैः शोभा कामपि पुष्णतीः ॥ ३४ ॥ मथारवानुसारेण किंचिदारब्धमूर्छनाः । विस्रस्तकवरीबंधाः कामस्येव पताकिका. ॥ ३५ ॥ गोष्ठांगणेषु सलापैः स्वैरमारब्धमंथनाः । प्रभुर्गोपवधूः पश्यन्किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ ३६ ॥ बने वनगजैर्जुष्टे प्रभुमेन वनेचरा. । दंतैर्वनकरींद्राणामद्राक्षुः सहमौक्तिकैः ॥ ३७ ॥ श्यामागीरनभिव्यक्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवव्यक्तसवृतीः ॥ ३८ ॥ चमरीवालकाविद्धकबरीबंधबंधुरा. । फलिनीफलसद्दग्धमालारचितकठिकाः ॥ ३९ ॥ कस्तूरिकामृगाध्यासवासिताः सुरभीर्मृदः । सचिन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिघृक्षया ॥ ४० ॥ पुलिंदकन्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः । अव्याजसुंदराकारा दूरादालोकयत्प्रभुः ॥ ४१ ॥ चमरीवाल

दिखाई दे रहा है, रईके चलनेके आघातसे जो छाछकी बडी २ बूंदें उछलकर शरीरपर दूर दूर पडी हुई हैं उनसे जो एक विचित्र शोभा धारण कर रही हैं, रईके चलानेसे होनेवाले शब्दके अनुसार ही जिन्होंने कुछ गाना प्रारंभ किया है, जिनका केशपाश भी खुल गया है और इसलिये ही जो कामदेवकी पताकाके समान जान पडती हैं तथा गोशालाके आंगनमें इच्छानुसार परस्पर बातचीत करते हुये ही जिन्होंने दही चलाना प्रारंभ किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखकर भरतेश्वरको एकप्रकारकी उत्कंठासी उत्पन्न हुई थी ॥ ३२-३६ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये बनमें रहनेवाले भील लोगोंने जंगली हाथियोंके मोती और दांत भेट कर भरतके दर्शन किये थे ॥ ३७ ॥ जिनका शरीर सब श्याम है, शरीरपर केश भी दिखाई नहीं पडते, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुये चंचल पत्तोंसे जिनका ढका हुआ अंग व्यक्त हो रहा है, जिनके केशपाश चमरी गायके कोमल बालोंसे गुथे रहनेसे जो बहुत मनोहर जान पडती हैं, प्रयंगु अथवा गुंजाफलोंको गूंथकर बनाई हुई मालायें जिनके कंठमें पडी हुई हैं, बनके एक भागमें जो मिट्टी कस्तूरीवाले हिरणोंके बैठनेसे सुगंधित हो गई थी उसे अपने आभूषण बनानेकेलिये जो इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार स्वभावसे ही सुंदर है और जो सेनाको देखकर चकित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने

कान् केचित् केचित्कस्तूरिकांडकान् । प्रभोरुपायनीकृत्य ददृशुर्म्लेच्छराजकाः ॥ ४२ ॥ तत्रांतपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रधरादेशः सेनानीः समशिश्रियत् ॥ ४३ ॥ अपूर्वरत्नसदर्भैः कुप्यसारधनैरपि । अतपालाः प्रभोराज्ञा सप्रणामैरमानयन् ॥ ४४ ॥ ततो विदूरमुल्लंघ्य सोऽध्वानं सह सेनया । गगाद्वारमनुप्रापत् स्वमिवालंघ्यमर्णव ॥ ४५ ॥ वहिःसमुद्रमुद्रिक्त द्वैप्य निम्नोपग जल । समुद्रस्येव निष्पदमब्धेराराद्व्यलोकयत् ॥४६॥ वर्षारभो युगारभे योऽभूत्कालानुभावतः । ततः प्रभृति सवृद्ध जल द्वीपातमावृणोत् ॥ ४७ ॥ अलंघ्यत्वान्महीयस्त्वाद्द्वीपपर्यंतवेष्टनात् । द्वैप्यमवु समुद्रिक्तमगादुपसमुद्रता ॥ ४८ ॥ पश्यन्नुपसमुद्रं त गत्वा सुखपथेन स । गगोपवनवेद्यतभागे सैन्यमवीविशत् ॥ ४९ ॥ वेदिकातोरणद्वारमस्ति तत्रो-

---

दूरसे ही देखा ॥ ३८-४१ ॥ अनेक म्लेच्छ राजाओंमेंसे कितनोंहीने तो चमरी गायके बाल और कितनोंहीने कस्तूरीवाले हिरणकी नाभि भरतकी भेटकर भरतके दर्शन किये थे ॥ ४२ ॥ सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञासे गंगाके संगमपरके लाखों ही मजबूत किले अपने वश किये ॥ ४३ ॥ किलोंके रक्षक लोग अपूर्व अपूर्व रत्नोंके समूह, अनेक वस्तुयें और उत्तमधन भेटकर नमस्कार करते हुये भरतकी आज्ञा मानने लगे थे ॥ ४४ ॥ तदनंतर सेनाके साथ साथ कुछ दूर मार्गको और व्यतीतकर भरत अपने ही समान अलंघनीय और जहां गंगा समुद्रमें मिलती है ऐसे समुद्रके किनारे जा पहुंचा ॥ ४५ ॥ समुद्रके बाहर जो ऊपरको उछल रहा है, समुद्रके समान ही जिसका प्रवाह है, और जो नीचेकी ओर जा रहा है ऐसे द्वीप और समुद्रके मिले हुये जलको भरतने दूरसे ही देखा ॥४६॥ कर्मभूमिके प्रारंभमें जो वर्षा हुई थी तवसे लेकर कालके प्रभावसे वही वढता हुआ जल द्वीपके सव किनारोंतक पहुंच गया था ॥ ४७ ॥ समुद्रसे उछल कर द्वीपमें बाहर आया हुआ जल अलंघनीय अर्थात् तिरनेके अयोग्य था, वहुत गहरा था और दूरतक फैलकर उसने द्वीपके सव समीपभागको ढकलिया था, इसलिये ही वह मानो उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥ ४८ ॥ उस उपसमुद्रको देखते हुये भरतने सुलभमार्गसे जाकर गंगाके उपवनकी वेदीके भीतरी भागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥४९॥

तरं महत् । शनैस्तेन प्रविश्यांतर्वणं सैन्यं न्यविक्षत ॥ ५० ॥ तत्र वास्तुवशादस्य किंचित् संकुचितायतः । स्कंधावारनिवेशोऽभूदलंघ्यव्यूहविस्तृतिः ॥ ५१ ॥ नदनप्रतिमे तस्मिन् वने रुद्धातपाङ्घ्रिपे । गंगाशीतानलस्पर्शैस्तद्वल सुखमाविशत् ॥ ५२ ॥ तस्मिन् पौरुषसाध्येऽपि कृत्ये दैव प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्युक्तः सोऽभ्यैच्छद्दैविकीं क्रिया ॥ ५३ ॥ अधिवासितजैत्रास्त्र. स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मत्रानुस्मृतिपूतात्मा शुचितल्पोपगः शुचिः ॥ ५४ ॥ सायंप्रातिकनि.शेषकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितः पूजा स व्यधात्परमेष्ठिना ॥ ५५ ॥ सेनान्यं बलरक्षायै नियोज्य विधिवद्विभुः । प्रतस्थे धृत-

गंगाके उपवनकी वेदीमें वेदिकाका एक बडा भारी तोरणद्वार है जोकि उत्तरद्वार कहलाता है उस द्वारसे धीरे २ प्रवेशकर भीतरके बनमें सेनाको ठहराया ॥ ५० ॥ जिसकी सेनाका विस्तार अलंघनीय है ऐसा वह सेनाका पडाव उस क्षेत्रके अनुसार ऐसा हुआ था जिसकी लंबाई अधिक थी और चौडाई कुछ कम थी ॥ ५१ ॥ नंदन बनके समान और सूर्यकी किरणोंको भी रोकनेवाले वृक्षोंसे भरे हुये उस बनमें चक्रवर्तीकी सेना गंगाके शीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक रहने लगी थी ॥ ५२ ॥ यद्यपि मागध देवको वश करना पौरुष साध्य है, पराक्रमसे तथा उद्योगसे सिद्ध हो सकता है तथापि प्रत्येक कार्यमें दैवको ही प्रमाण मानकर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छा करते हुये भरतने भगवान अरहंतदेवके आराधन करनेका विचार किया ॥ ५३ ॥ जिसने मंत्र तंत्रोंके द्वारा विजयके शस्त्रोंका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मंत्रोंके स्मरण करनेसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र दाभकी शय्यापर निवास करनेवाला है, स्वयं पवित्र है सायंकाल, और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओंके करनेमें सावधान है और कुलगुरु पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे चक्रवर्ती भरतने पंच परमेष्ठीकी पूजा की ॥ ५४-५५ ॥ भरतने नियमानुसार सेनाकी रक्षा करनेका भार सेनापतिको दिया और वह स्वयं लवणसमुद्रको जीतनेकी इच्छासे दिव्य अस्त्र शस्त्रोंको धारणकर निकला ॥५६॥ समुद्रको उलंघन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमें 'क्या २ साथ लेना चाहिये और क्या २

दिव्यास्त्रो जिगीषुर्लवणाबुधिं ॥ ५६ ॥ प्रतिग्रहापसारादिर्चिंताभून्नास्य चेतसि । विलिलंघयिषोरब्धिमहो स्थैर्यं महात्मनां ॥ ५७ ॥ अजितंजयमारुक्ष-द्रथ दिव्यास्त्रसभृत । योजित वाजिभिर्दिव्यैर्जलस्थलविलाघिभि: ॥ ५८ ॥ पत्रश्यामरथ प्रोच्चैश्चलच्चक्राककेतन । तमूहूर्जवना वाहा दिव्यसर्व्येष्टचोदिनं ॥ ५९ ॥ ततोस्मै दत्तपुण्याशी. पुरोधा धृतमगल । त्व देव ! विजयस्वेति स इमामृचमापठत् ॥ ६० ॥ जयति विधुताशेपबंधना धर्मनायकाः । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाखिलं ॥ ६१ ॥ संत्यब्धिनिलया देवास्त्वद्भुक्त्यंतर्निवासिन. । तान्विजेतुमयं कालस्तवेत्युच्चैर्जुघोष च ॥ ६२ ॥ ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः । जगतीतलमारुक्षद्गङ्गाद्वारस्य चक्रभृत् ॥ ६३ ॥ न केवल समुद्रांतःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमस्त र-

---

यहां छोड देना चाहिये ' यह भी चिंता नहीं हुई थी, सो ठीक ही है क्योंकि वडे पुरुषोंका धैर्य ऐसा ही आश्चर्य जनक होता है ॥ ५७ ॥ जिसमें जल और स्थल दोनोंपर एकसे चलनेवाले दिव्य घोडे जुते हुये हैं और जो दिव्य अस्त्र शस्त्रोंसे भरा हुआ है ऐसे अजितंजय नामके रथपर वह चक्रवर्ती सवार हुआ ॥ ५८ ॥ जो पत्तोंके समान हरितवर्ण है, जिसपर चक्रके चिन्हवाली ध्वजा बहुत ऊंची फहरा रही है और दिव्य सारथी जिसे हांक रहा है ऐसे उस रथको वहुत तेज चलनेवाले घोडे ले जा रहे थे ॥ ५९ ॥ तदनंतर हे देव आपकी जय हो इसप्रकार भरतके लिये पुण्यरूप आशीर्वाद देकर पुरोहितने प्रस्थान समयके समस्त मंगल कार्य करनेवाले भरतकेलिये नीचे लिखा हुआ श्लोक पढा ॥ ६० ॥ समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले और धर्मकी प्रवृत्ति करनेवाले तीर्थंकर देव सदा जयवंत रहते हैं इसलिये हे राजन् तूं भी उनके प्रसादसे धर्मधारण करनेमें विजयी होकर सबको जीत ॥ ६१ ॥ उस पुरोहितने उसीसमय यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव ! इस समुद्रमें जो देव रहते हैं वे आपके उपभोग (विजय) करनेयोग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिये उन्हें जीतनेके-लिये आपका यह समय है ॥ ६२ ॥ इसप्रकार आशीर्वाद ग्रहण करनेके बाद वह चक्रवर्ती कितने ही वीर पुरुषोंके साथ साथ गंगाके संगमकी वेदीपरकी भूमिपर जा चढा ॥ ६३ ॥ वह चक्रवर्ती उस

थागभृत् ॥ ६४ ॥ धृतमंगलवेषस्य तद्वेद्यारोहणं विभोः । विजयश्रीसमुद्वाहवेद्यारोहणवद्बभौ ॥ ६५ ॥ मद्गृहांगणवेदीयं जगतीति विकल्पयन् । दृशं व्यापारयामास कुल्याबुद्ध्या महोदधौ ॥ ६६ ॥ स प्रतिज्ञामिवारूढो जगतीं ता महायती । निस्तीर्णमिव तत्पार पारावारमजीगणत् ॥ ६७ ॥ मुहुः प्रचलदुद्वेलकल्लोलमनिलाहत । विलघनभया ुचैः फूत्कुर्वंतमिवारवैः ॥ ६८ ॥ वीचीबाहुभिरुन्मुक्तैः सरत्नै. सीकरोत्करैः । पाद्य स्वस्येव तन्वान मौक्तिकाक्षतमिश्रितैः ॥ ६९ ॥ असख्यशखमाक्रातविश्वद्वीपमपारक । परैरलघ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणं ॥ ७० ॥ उत्फेनजृंभिकारभैः सापस्मारमिवोल्बण ।

गंगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रमें प्रवेश करनेका ही द्वार नहीं समझता था किंतु उसे अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझता था ॥ ६४ ॥ जिसने अपना मंगलवेश धारण किया है ऐसे भरतका उस वेदीपर चढना ऐसा सुशोभित होता था मानो वह विजयलक्ष्मीके साथ विवाह करनेकी वेदीपर ही चढा हो ॥ ६५ ॥ यह मेरे घरके आंगनकी वेदी है इसप्रकार उस वेदीमें कल्पना करता हुआ भरत कृत्रिम नदी (नहर बंबा) के समान ही महासागरमें अपनी दृष्टि डाल रहा था ॥ ६६ ॥ वह, भरतेश्वर बहुत लंबी उस वेदीपर इसप्रकार चढा मानों समुद्र जीतनेकी अपनी बडी भारी प्रतिज्ञापर ही चढा हो और जिसका पार नही है ऐसे समुद्रको भी इसप्रकार मानता था मानो उसे पारकर उसके दूसरे किनारेपर ही पहुंच गया हो ॥ ६७ ॥ चक्रवर्तीने उस वेदीपरसे समुद्र देखा, उस समुद्रकी लहरें उसमें बार बार उठते हुये ज्वारको भी उलंघन कर रही थीं, तीव्र वायु उसे ताडन कर रहा था और गंभीर शब्दोंसे वह ऐसा जान पडता था मानो चक्रवर्तीके द्वारा उलंघन होनेके भयसे जोरसे चिल्ला रहा ही हो ॥ ६८ ॥ लहरें रूपी भुजाओंके द्वारा किनारेपर फेंके हुये रत्नसहित जलकी बूंदोंके समूहसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपनेलिये (चक्रवर्तीकेलिये) मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ ही दे रहा हो ॥ ६९ ॥ अथवा वह समुद्र अपनी सेनाका अनुकरण करता हुआ जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सेनामें असंख्यात संख थे

केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वाचिदप्यनवस्थितं ॥ ७१ ॥ अकस्मादुच्चरद्ध्वानमनिमित्तचलाचलं । अकारणकृतावर्तमतिसंकसुकास्थिति ॥ ७२ ॥ हसंतमिव फेनोत्थैर्लसतमिव वीचिभिः । चलतमिव कल्लोलैर्माद्यतमिव घूर्णितैः ॥७३॥ सरत्नमुल्बणविषं मुक्तसूत्कारभीकर स्फुरत्तरंगनिर्मोकं । स्फुरंतमिव भोगिन ॥७४॥

उसीप्रकार समुद्रमें भी असंख्यात शंख थे, सेना अनेक देशोंपर अधिकार करनेवाली थी और समुद्र अनेक द्वीपोंमें व्याप्त था, सेना अपार थी और समुद्र भी अपार था, सेना कभी व्याकुल नहीं होती थी और समुद्र भी कभी क्षुब्ध नहीं होता था और जिसप्रकार सेनाको कोई उलंघन नहीं कर सकता उसीप्रकार समुद्रको भी कोई उलंघन नहीं कर सकता था ॥ ७० ॥ अथवा वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी) रोगीके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार अपस्मार रोगी फेनसहित मुखको फाडकर विह्वल होजाता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मुख अर्थात् किनारेपर फेन सहित था और लहरों से विह्वल हो रहा था, जिसप्रकार अपस्मार रोगी किसी एक जगह स्थिर नहीं रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचलतासे एक जगह स्थिर नहीं था और जिसप्रकार अपस्मार रोगीको कोई हिलानेसे बंद नहीं कर सकता उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरोंको भी कोई बंद नहीं कर सकता था ॥७१॥ वह समुद्र अकस्मात ही गंभीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था, बिना कारण ही उसमें भंवर पडते थे और उसकी स्थिति बहुत ही अस्थिर थी ॥ ७२ ॥ सफेद फेनोंके उठनेसे ऐसा जान पडता था मानों हँस रहा हो, ज्वारभाटाओंसे ऐसा जान पडता था मानों नृत्य कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा जान पडता था मानों चल रहा ही हो और भँवरोंसे ऐसा जान पडता था मानों उन्मत्त ही हो रहा हो ॥ ७३ ॥ अथवा वह समुद्र एक सर्पके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार सर्पके फणामें रत्न होता है उसीप्रकार समुद्रमें भी रत्न थे, सर्पमें उत्कट विष रहता है उसीप्रकार समुद्रमें उत्कट विष अर्थात् जल था, जिसप्रकार सर्प शू शू आदि निश्वासोंके

अत्यंबुपानादुद्रिक्तप्रतिश्यायमिवाधिकं । क्षुतानीव विकुर्वाण ध्वनितानि सहस्रशः ॥ ७५ ॥ आपूर्नमसकृत्पीतविश्वस्रोतस्विनीरसं । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव खात्कृतैः ॥ ७६ ॥ निजगंभीरपातालमहागर्भोपदेशत । अतृप्यतमिवाभोभिरातालुविवृताननं ॥ ७७ ॥ दिशा रावणमाक्रात्याचलग्राहं विभी-

छोडनेसे भयंकर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गंभीर शब्दोंके करनेसे भयंकर हो रहा था, जिसप्रकार सर्पकी काचली दैदीप्यमान होती है उसीप्रकार उस समुद्रकी लहरेंरूप काचली भी दैदीप्यमान थी और सर्प जैसे चंचल रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी चंचल था ॥ ७४ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों अधिक पानी पीनेसे उसे भारी पीनसका रोग हो गया हो और इसलिये ही वह मानो हजारों शब्दोंके द्वारा छींके ही ले रहा हो ॥ ७५ ॥ अथवा जिसप्रकार भूखा मनुष्य वहुत पानी पीकर ही डकारें लिया करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी ऐसा जान पडता था मानों वार वार संसारकी नदियोंका जल पीनेसे पेटमे अधिक जल हो जानेपर गंभीर शब्दोंके द्वारा डकारें ही ले रहा हो ॥ ७६ ॥ अपने गंभीर पाताल रूपी महा उदरके वहानेसे अर्थात् पेटके वहानेसे पातालको भरनेकेलिये जो कभी जलसे तृप्त नहीं होता था और इसलिये ही जो ऐसा जान पडता था मानों तालुपर्यंत उसने अपना मुख फाड रक्खा हो ॥ ७७ ॥ अथवा वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो, क्योंकि जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अधिक व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् रावण ही मुख्य था उसीप्रकार वह समुद्र भी अधिक देशोंमें व्याप्त होनेसे सब दिशाओंमें रावण अर्थात् शब्द करनेवाला था, जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें अचलग्राह नामका राक्षसवंशी था उसीप्रकार वह समुद्र भी अचलग्राह अर्थात् पर्वतोंको भी अपनेमें मिलानेवाला था, राक्षसोंके समूहमें जैसे विभीषण रावणका छोटा भाई था उसीप्रकार वह समुद्र भी विभीषण अर्थात् भयानक था, जिसप्रकार राक्षसोंका समूह अतिकाय अर्थात् वहुत वडा है अथवा

षणं । रक्षसामिव संपातमतिकायं महोदरं ॥ ७८ ॥ वीचीबाहुभिराघ्नतमजस्रं तटवेदिकां । समर्यादत्वमाहत्य श्रावयतमिवात्मनः ॥ ७९ ॥ चलद्भिरचलोदग्रैः कल्लोलैरतिवर्तिनं । सरिद्युवतिसंभोगादसंमातमिवात्मनि ॥ ८० ॥ तरंगिततनुं वृद्धं पृथुकं व्यक्तरिंगितं । सरतमतिकातांग सग्राहमतिभीषणं ॥ ८१ ॥ लावण्येऽपि न सभोग्यं गाभीर्येऽप्यनवस्थितं । महत्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयं ॥ ८२ ॥ नचास्य मदिरासंगो न कोऽपि मदनज्वरः ।

कुछ असुंदर है उसीप्रकार वह समुद्र भी अतिकाय अर्थात् बहुत बडा था और जिसप्रकार राक्षसोंके समूहमें महोदर अर्थात् महोदर नामका राक्षस है इसीप्रकार वह समुद्र भी महोदर अर्थात् बहुत गहरा था ॥ ७८ ॥ लहरेंरूप अपनी भुजाओंके द्वारा बार बार किनारेकी वेदीको स्पर्श करता हुआ वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपने मर्यादपनेको साक्षात् ही सुना रहा हो ॥ ७९ ॥ पर्वतके समान उडती हुई ऊंची २ लहरोंसे सबको उलंघन करनेवाला वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों नदीरूप स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे अपने आत्मामें भी न समा रहा हो ॥ ८० ॥ जिसके शरीरमें तरंगे रूपी त्रिवलियां उठ रही हैं ऐसा वह समुद्र वृद्धके समान जान पडता था, अथवा वह समुद्र बालकके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार बालक पृथ्वीपर घुटनोंके बल चलता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके द्वारा पृथ्वीपर बह रहा था, जिसप्रकार बालक धीरे २ सरकता है उसीप्रकार समुद्र भी ज्वारभाटाके द्वारा सरकतासा जान पडता था और जिसप्रकार बालकका शरीर सुंदर होता है उसीप्रकार समुद्र भी सुंदर था, इसके सिवाय उस समुद्रमें अनेक मगर मच्छ थे और वह अत्यंत भयानक था ॥ ८१ ॥ अथवा वह समुद्र प्रगट जलाशय (ल तथा डमें अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् जडबुद्धि था क्योंकि लावण्य सहित होनेपर भी उपभोग करने योग्य नहीं था, अर्थात् जो लावण्य अर्थात् सुंदरता सहित होता है वह उपभोग करने योग्य होता है, समुद्र लावण्य अर्थात् लवणका खारा था इसलिये किसीके भी पीनेयोग्य नहीं था, तथा गं-

तथाप्युद्रिक्तकदर्पमारूढमधुविक्रिय ॥ ८३ ॥ अनाशितभवं पीत्वा सुस्वादु सरिता जलं । गतागतानि कुर्वत संतोषादिव वीचिभिः ॥ ८४ ॥ नदीवधूभिरासेव्य कृतरत्नपरिग्रह । महाभोगिभिराराध्य चातुरंतमिव प्रभु ॥ ८५ ॥ यादोदोर्घातनिर्धूतैर्दूरोच्छलितशीकरैः । सपताकमिवाशेषपशेषार्णवविनिर्जयात्

भीर होकर भी वह स्थिर नहीं था, जो गंभीर होता है वह अवश्य स्थिर होता है, समुद्र गंभीर था परंतु स्थिर नहीं था लहरोंके द्वारा चंचल था और बडा होकर भी आक्रोश शब्द करनेवाला था अर्थात् जो बडा [महान् वा पूज्य] होता है वह कभी चिल्लाता नहीं, समुद्र बडा था तथापि वह गरज २ कर चिल्ला रहा था, इसलिये वह साफ जडाशय अर्थात् जडबुद्धि-मूर्ख वा जलाशय अर्थात् पानीसे भरा हुआ जान पडता था ॥ ८२ ॥ उस समुद्रके न तो मद्यका संगम था और न कामज्वर ही था तथापि वह उद्रिक्तकंदर्प था अर्थात् उसे तीव्रकामका विकार था और उसे मधु वा मद्यका विकार अर्थात् उन्मत्तता भी थी, इस श्लोकका ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये कंदर्प शब्दका अर्थ कं-दर्प अर्थात् उसे बहुत पानीका अभिमान था ऐसा अर्थ करना चाहिये और इसीतरह मधु शब्दका अमृत अर्थ लेकर उससे अमृतका (जलका) समूह उत्पन्न हुआ था ऐसा अर्थ करना चाहिये ॥ ८३ ॥ अथवा जिसके पीनेसे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका स्वादिष्ट जल पीकर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर लहरोंके द्वारा गमनागमन (आना जाना) ही कर रहा हो ॥ ८४ ॥ अथवा वह समुद्र चक्रवर्ती के ही समान था क्योंकि जिसप्रकार अनेक स्त्रियां चक्रवर्तीकी सेवा करती हैं उसीप्रकार नदीरूपी अनेक स्त्रियां समुद्रकी सेवा करती थीं अर्थात् अनेक नदियां उसमें आ मिली थीं, जिसप्रकार चक्रवर्तीके पास बहुतसे रत्न होते हैं उसीप्रकार उस समुद्रमें भी बहुत रत्न थे, जिसप्रकार महाभोगी अर्थात् महाराज लोग चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं उसीप्रकार महाभोगी अर्थात् बडे २ सर्प उस समुद्रमें थे और चक्रवर्ती चारों दिशाओंमें प्रसिद्ध था तथा समुद्र

॥ ८६ ॥ कुलाचलपृथुस्तंभजंबूद्वीपमहौकसः । विनीलरत्ननिर्माणमेकं शालमिवोत्थितं ॥ ८७ ॥ अनादिमस्तपर्यंतमखिलार्थावगाहिनं । गंभीरशब्दसंदर्भं श्रुतस्कंधमिवापरं ॥ ८८ ॥ नित्यप्रवृत्तशब्दत्वात् द्रव्यार्थिकनयाश्रित । वीचीना क्षणभंगित्वात्पर्यायनयगोचर ॥ ८९ ॥ नित्यानुबद्धतृष्णत्वाच्छश्वज्जलप-

चारोंदिशाओंमें व्याप्त था ॥ ८५ ॥ मगर मच्छ आदि वडे २ जलचर जीवोंके घातसे ऊपरको उठी हुई और दूरतक पहुंची हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे उसने अपनी जयपताका ही फहराई हो ॥ ८६ ॥ अथवा नीला और ऊंचा पानी होनेसे वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानों कुलपर्वतरूपी खंभोंपर खडे हुये जंबूद्वीपरूपी विशाल घरका नीलमणि रत्नोंसे बना हुआ ऊंचा कोट ही हो ॥ ८७ ॥ अथवा वह सागर ऐसा जान पडता था मानों दूसरा श्रुतस्कंध (जैनशास्त्र) ही हो क्योंकि जिसप्रकार श्रुतस्कंध आदिअंतरहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी आदि अंत रहित था अर्थात् अनादि अनिधन था, श्रुतस्कंध जिसप्रकार समस्त जीव अजीव आदि पदार्थोंको धारण करनेवाला (निरूपण करनेवाला) होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अनेक पदार्थ अर्थात् रत्नोंको धारण करनेवाला था, अथवा वह इतना गहरा था कि उसमें सब पदार्थ समा सकते थे और श्रुतस्कंधमें जिसप्रकार गंभीर शब्दोंकी रचना है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी गंभीरशब्द होते रहते थे ॥ ८८ ॥ अथवा वह समुद्र द्रव्यार्थिक नयका आश्रय ले रहा था क्योंकि जिसप्रकार द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थ नित्य कहलाता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसीप्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्दकी प्रवृति थी अर्थात् उसमें सदा शब्द होता रहता था, तथा वह समुद्र पर्यायार्थिक नयके गोचर भी था क्योंकि जिसप्रकार पर्यार्थिक नयसे समस्त पदार्थ क्षणभंगुर हैं उसीप्रकार लहरोंके द्वारा वह समुद्र भी क्षणभंगुर था ॥ ८९ ॥ अथवा वह समुद्र प्रतिदिन किसी दुष्ट राजाके समान जान पडता था क्योंकि जिसप्रकार दुष्ट राजाकी सदा तृ-

रिग्रहात् । गुरूणां च तिरस्कारात्किंराजानमिवान्वहं ॥ ९० ॥ ससत्त्वमतिगंभीरं भोगिभिर्धृतवेलकं । सुराजानमिवात्युच्चैर्वृत्तिं मर्यादया धृतं ॥ ९१ ॥ अनेकमतरद्वीपमतर्वर्तिनमात्मनः । दुर्गदेशमिवाहार्यं पालयतमल घनैः ॥ ९२ ॥ गर्जद्भिरतिगंभीरं नभोव्यापिभिरूर्जितैः । आपूर्यमाणमंभोभिर्घनौघैः किंकरैरिव ॥ ९३ ॥ रागितैश्चलितैः क्षोभैरुत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवोज्जृंभं सघ्वान च सघूर्णित ॥ ९४ ॥ रत्नांशुचित्रिततलं मुक्ताशवलितार्णसं ।

ष्णा रहती है उसीप्रकार उस समुद्रको भा सदा तृष्णा वना रहती थी अर्थात् अनेक नदियोंके जलसे भी कभी तृप्त नहीं होता था तथा दुष्ट राजा जिसप्रकार सदा जल [जड] अर्थात् मूर्ख लोगोंसे घिरा रहता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सदा जलसे भरा रहता था और जिसप्रकार दुष्ट राजा गुरुजनोंका तिरस्कार करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी पदार्थोंका तिरस्कार करता था अर्थात् उन्हें नीचे डवोता था अथवा रत्नादि वहुमूल्य पदार्थोंका तिरस्कार करता था ॥ ९० ॥ अथवा वह समुद्र एक अच्छे राजाके समान था क्योंकि जिसप्रकार अच्छा राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रम सहित होता है और वडा गंभीर होता है उसीप्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जलचर जीवों सहित था और वहुत गंभीर था, तथा जिसप्रकार भोगी अर्थात् राजालोग अच्छे राजाकी आज्ञा धारण करते हैं उसीप्रकार भोगी अर्थात् सर्प उस समुद्रकी लहरोंमें रहते थे अथवा उसकी लहरें भोगी अर्थात् नागकुमार देव धारण करते थे, और अच्छा राजा जिसप्रकार अपनी वृत्ति ऊंची और मर्यादा पूर्वक धारण करता है उसीप्रकार समुद्रकी वृत्ति भी ऊंची और मर्यादा पूर्वक थी ॥ ९१ ॥ उस समुद्रमें अनेक अंतर्द्वीप थे, उन अंतर्द्वीपोंको कोई उलंघन नहीं कर सकता था और न कोई हरण ही कर सकता था इसलिये वे ठीक किलेके समान जान पडते थे ॥ ९२ ॥ तथा अतिशय गंभीर वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो सेवकोंके समान उत्तरोत्तर वढतेहुये, गर्जतेहुये और आकाशमें फैलेहुये वादलोंके द्वारा ही पानीसे भरागया हो ॥ ९३ ॥ अथवा वह समुद्र किसी भूत लगेहुये मनुष्यके स-

ग्राहैरध्यासितं विष्वक् सुखालोकं च भीषणं ॥ ९५ ॥ नदीन रत्नभूयिष्ठमप्राणं चिरजीवितं । समुद्रमपि चोन्मुद्रं झषकेतुममन्मथं ॥ ९६ ॥ अदृष्टपारमक्षोभ्यमसहार्यमनुत्तरं । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तममृतास्पद ॥ ९७ ॥ क्वचिन्महोत्पलच्छायाधृतसध्याभ्रविभ्रम । कृतांधतमसारंभं क्वचिन्नीलाश्मरश्मिभिः

मान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार भूत लगाहुआ मनुष्य पृथिवीपर पडता है, चंचल होता है, क्षुब्ध होता है, ऊंचा उछलता है और इधर उधर फिरता है उसीप्रकार वह समुद्र भी पृथ्वीपर फैलाहुआ था, लहरोंके द्वारा चंचल था, क्षुब्ध था, ऊंचा उछल रहा था और उसमें अनेक भँवर पड रहे थे, तथा भूत लगाहुआ मनुष्य जिसप्रकार उज्जृंभ अर्थात् जंभाई लेता है शब्द करता है और घूमता है उसीप्रकार वह समुद्र भी उज्जृंभ अर्थात् चारोंओर फैल रहा था, गंभीर शब्द कर रहा था और चारोंओर घूम रहा था ॥९४॥ उस समुद्रका तलभाग अनेक रत्नोंसे चित्रित था, उसका जल मोतियोंसे मिला हुआ था इसलिये वह देखनेमें बहुत अच्छा जान पडता था, तथा वह चारोंओरसे अनेक मगर मच्छोंसे भरा हुआ था इसलिये वह भयानक भी जान पडता था ॥ ९५ ॥ अथवा वह समुद्र विरुद्ध स्वभाववालासा जान पडता था क्योंकि वह नदीन अर्थात् दीन नहीं था तथापि नदीन अर्थात् नदियोंका स्वामी था, अनेक रत्नोंसे भरा था तथा अप्राण अर्थात् प्राणरहित होकर भी चिरजीवी अर्थात् अनेक दिन तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रा सहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था, और झषकेतु अर्थात् मछलीकी ध्वजा सहित होकर भी कामदेव नहीं था, इसप्रकार इन शब्दोंका अर्थ करनेसे विरोध आता है इसलिये इन शब्दोंका अर्थ ऐसा करना चाहिये, यथा—अप्प्राण अर्थात् जलस्वरूप होकर अनंत कालतक टिकनेवाला था, समुद्र होकर उन्मुद्र अर्थात् स्वामीरहित था और मछलियोंसे भरा हुआ होकर भी कामदेव नहीं था क्योंकि वह जल स्वरूप था ॥ ९६ ॥ अथवा वह समुद्र सिद्धालय [सिद्धशिला] के समान जान पडता था क्योंकि सिद्धालय जिसप्रकार अपार और

॥ ९८ ॥ हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैः क्वचिच्छैवलशंकितं । क्वचित् कौंकुमीं कांतिं [illegible] विद्रुमांकुरैः ॥ ९९ ॥ क्वचित् [illegible] ।
तारकानिकराकीर्णं हसत [illegible] ॥ १०० ॥ [illegible] ॥ १०१ ॥ [illegible]
रिशुचैः सभृत रत्नकोटिभिः । महानिधि[illegible] ॥ १०२ ॥ [illegible] महाभागः [illegible] । [illegible]

व्याकुलता रहित है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपार और व्याकुलतारहित (जो किसीके द्वारा हिला-या न जासके) था, जिसप्रकार सिद्धालयका संहार नहीं होता उसीप्रकार समुद्रका संहार भी नहीं होता, सिद्धालय जिसप्रकार अनुत्तर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है उसीप्रकार समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् पार-रहित था, सिद्धालय जिसप्रकार प्रगट और अगम्य है उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट और अगम्य था और सिद्धालय जिसप्रकार अ-मृतास्पद अर्थात् मरनेका स्थान नहीं है वहां मरण नहीं होता उसीप्रकार वह समुद्र भी अमृतास्पद अर्थात् जलका स्थान था जलसे भरा हुआ था ॥ ९७ ॥ कहीं तो वह समुद्र पद्मरागमणियोंकी कांतिसे संध्याकालके बादलोंके समान जान पडता था. और कहीं-पर नीलमणियोंकी कांतिसे इकट्ठे हुये अंधकारके समूहके समान जान पडता था ॥ ९८ ॥ कहींपर हरितमणियोंकी कांतिके समूहसे उसमें शैवालका संदेह होता था और कहींपर वह मूंगाओंके अंकु-रोंसे कुंकुमकी शोभा चढा रहा था ॥ ९९ ॥ तथा कहींपर सीपोंके संपुट खुलजानेसे ऊपर जो मोती तैर रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो ताराओंके समूहसे भरेहुये आकाशकी ओर हँस रहा ही हो ॥ १०० ॥ और कहींपर किनारेतक समस्त रत्नोंकी किरणोंसहित जलकी बूंदें पड रहीं थीं उनसे ऐसा जान पडता था मानो आकाशमें इंद्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो ॥ १०१ ॥ इसप्रका-र जो सुशोभित था अनेक रत्नोंसे भरा हुआ था और जिसमें बहुतसे मगर मच्छ थे ऐसे महासाग-रको अपूर्व महानिधिके समान चक्रवर्तीने देखा ॥ १०२ ॥ तदनंतर महाभाग्यशाली और अतिशय

ज्ञयार्णवं ॥ १०३ ॥ ततोभिमतसंसिध्यै कृतसिद्धनमस्क्रियः । रथं प्रचोदयेत्युच्चैः प्राजितारमचोदयत् ॥ १०४ ॥ विमुक्तप्रग्रहैर्वाहैरूह्यमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुत प्रायाद्यानपात्रायितो रथः ॥ १०५ ॥ रथो मनोरथात्पूर्वं रथात्पूर्वं मनोरथः । इति सभाव्यवेगोऽसौ रथो वार्द्धि व्यगाहत ॥ १०६ ॥ जलस्तभप्रयुक्तं नु जल नु स्थलता गत । स्यदन यदमी वाहा जले निन्युः स्थलास्थया ॥ १०७ ॥ तथैव चक्रचीत्कारस्तथैवाश्वैः प्रधैरित । यथा वहिर्जलं पूर्वमहो पुण्य रथागिनः ॥ १०८ ॥ महद्भिरपि कल्लोलैः शीकयमानास्तुरंगमाः । रथं निन्युरनायासात्प्रत्युतैपा स विश्रमः ॥ १०९ ॥ रथच-

---

विद्वान् भरत गंभीर शब्द करते हुये उस समुद्रको देखकर अपनी दृष्टिसे ही कीचडमें वनेहुये गायके खुरके समान तुच्छ मानने लगा ॥ १०३ ॥ और फिर उसने अपनी इच्छा पूर्ण करनेकेलिये सिद्धों-को नमस्कार किया तथा रथको तेजीके साथ आगे वढानेकेलिये सारथीको आज्ञा दी ॥ १०४ ॥ जिनकी लगाम ढीली करदी गई है ऐसे मनके समान शीघ्र जानेवाले घोडोंसे जुता हुआ वह रथ लवणसमुद्रमें इसप्रकार शीघ्र जा रहा था मानो जहाज ही हो ॥ १०५ ॥ मनोरथसे पहिले रथ जा-ता है अथवा रथसे पहिले मनोरथ जाता है इसप्रकार जिसके वेगकी (तेजीकी] संभावना की जा रही है ऐसा वह रथ वडी तेजीसे समुद्रमें जा रहा था ॥ १०६ ॥ क्या यह समुद्रका जल जलस्तंभि-नीविद्यासे थंभा दिया गया था अथवा स्थल ही होगया था क्योंकि ये चक्रवर्तीके घोडे जलमें भी स्थल (भूमि) समझकर ही रथको खींचे लिये जा रहे थे ॥ १०७ ॥ जिसप्रकार जलके वाहर जमीनपर रथके पहियोंका चीत्कार होता था उसीप्रकार पहियोंका चीत्कार जलमें भी हो रहा था तथा जिसप्रकार घोडे जलके वाहर जमीनपर दौडते थे उसीप्रकार वे जलमें भी दौड रहे थे, अहा चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्य करनेवाला होता है ॥ १०८ ॥ वे घोडे वडी वडी लहरोंसे भीग-कर भी विना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे, उन लहरोंकी छींटोंसे घोडोंको कुछ तकलीफ नहीं होती थी किंतु उलटी वे छींटें घोडोंका परिश्रम दूर कर रही थीं ॥ १०९ ॥ रथके पहियेके आ-

क्रसमुत्पीलाज्जलोत्पील: खमुच्छलन् । न्यधात् ध्वजांशुके जाड्य जलानामीदृशी गतिः ॥ ११० ॥ नांगरागस्तुरंगाणामार्दितः श्रमघर्मितैः । क्षालितः सुरवेगोत्थैः केवल शीकरैरपा ॥ १११ ॥ क्षण रथागसंघट्टाज्जलमब्धेर्द्विधाभवत् । व्यभावि भाविना वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितं ॥ ११२ ॥ रथोस्याभिमता भूमिं प्रापत्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि ससिद्धिं पुण्यसारथिनोदितः ॥ ११३ ॥ गत्वा कतिपयान्यब्धौ योजनानि रथः प्रभोः । स्थितोऽस्तर्जलमाक्रम्य ग्रस्ताश्व इव वार्द्धिना ॥ ११४ ॥ द्विषड्योजनमागाह्य स्थिते मध्येऽर्णव रथे । रथागपाणिरारुष्टो जग्राह किल कार्मुकं ॥ ११५ ॥ स्फुरज्ज्यं

घातसे जो पानी ऊपर आकाशकी ओर उछलता था उससे ध्वजाका वस्त्र भीगकर जड (भारी) हो जाता था सो ठीक ही है क्योंकि जलकी ऐसी गति होती ही है, भावार्थ—काव्यमें ल और ड में कोई भेद नहीं माना जाता इसलिये जलकी जगह जड वांचकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जड अर्थात् मूर्खोंका ऐसा ही स्वभाव होता है जो वे दूसरोंको भी मूर्ख वना देते हैं ॥ ११० ॥ शोभाके लिये घोडोंके शरीरपर लगाया हुआ रंग पसीनेसे गीला भी नहीं हुआ था किंतु वह रंग केवल घोडोंके तेज चलनेसे खुरोंसे उठे हुये पानीकी बूंदोंसे धुल गया था । भावार्थ—घोडोंको परिश्रम न होनेसे पसीना विलकुल नहीं आया था ॥ १११ ॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षणभरकेलिये जो समुद्रका जल फटकर अलग अलग होगया था वह ऐसा जान पडता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिये डोरी डालकर मार्ग ही प्रगट किया हो ॥ ११२ ॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ वह रथ चक्रवर्तीके इष्ट स्थानमें पहुंच गया और पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरणा किया हुआ इसका मनोरथ भी उसीसमय पूरा हो गया था ॥११३॥ भरतका रथ समुद्रमें थोडेसे योजन चलकर पानीके बीचमें ही ठहर गया मानो समुद्रने खींचकर घोडोंकी लगाम ही पकड ली हो ॥११४॥ जब वह चक्रवर्तीका रथ समुद्रमें बारह योजन चलकर ठहरगया था तव उसने कुछ क्रोधित होकर धनुष हाथमें लिया ॥ ११५ ॥ जिसकी डोरी स्फुरायमान है और वज्रके समान जिसका कांड है ऐसा वह धनुष

वज्रकांडं तद्धनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलारूढमभूज्जगत् ॥ ११६ ॥ स्फुरन्मौर्वीरवस्तस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रक्षोभमनयद्वार्द्धिं चलत्तिमिकुलाकुलं ॥ ११७ ॥ संहार्यः किममुष्याब्धिरुत विश्वमिद जगत् । इत्याशंक्य क्षण तस्थे तदा नभसि खेचरैः ॥ ११८ ॥ वक्रेऽपि गुणवत्यस्मिन्नृजुकर्मणि कार्मुके । अमोघ सदधे बाण श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥ ११९ ॥ अह हि भरतो नाम चक्री वृषभनंदनः । मत्साद्भवंतु मद्भुक्तिवासिनो व्यंतरामराः ॥ १२० ॥ इति व्यक्तलिपिन्यासो दूतमुख्य इव द्रुत । स पत्री चक्रिणा मुक्तः प्राङ्मुखीमास्थितो गतिं ॥ १२१ ॥ जितनिर्घातनिर्घोषं

जिससमय चक्रवर्तीने अपने हाथमें लिया था उसीसमय यह जगत भी अपने जीवित रहनेके संदेहमें झूलने लगा था अर्थात् अपने जीवित रहनेका सबको संदेह होगया था ॥ ११६ ॥ समस्त दिशाओंको शब्दायमान करते हुये चक्रवर्तीके उस धनुषकी डोरीके शब्दने इधर उधर भागतेहुये मगर मच्छोंसे भरे हुये समुद्रकों भी क्षोभित कर दिया था ॥ ११७ ॥ क्या यह चक्रवर्ती धनुष चढाकर इस समुद्रका संहार करेगा अथवा इस समस्त संसारका संहार करेगा इसप्रकार आशंका करते हुये विद्याधर उससमय क्षणभर आकाशमें ठहर गये थे ॥ ११८ ॥ यद्यपि वह धनुष टेडा था तथापि गुणवाला था यद्यपि टेडा गुणवाला नहीं होता तथापि वह टेडा होकर भी गुणवाला अर्थात् डोरीसहित था तथा लोकोपकारी सरल कार्य करनेवाला था अथवा सीधा वाण छोडनेवाला था ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने योग्य आसनसे अर्थात् धनुष चलानेके वैशाख नामके आसनसे वैठकर अमोघ नामका (जो कभी व्यर्थ न हो) बाण रक्खा ॥११९॥ भरतने जो बाण उस धनुषपर रक्खा था उसपर ये समाचार लिखे हुये थे कि " मैं श्रीवृषभदेवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूं इसलिये मेरे क्षेत्रमें रहनेवाले व्यंतरदेव सब मेरे आधीन हों " इसप्रकार प्रधान दूतके समान कहनेवाले स्पष्ट अक्षर जिसपर लिखे-हुये थे ऐसा वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ बाण पूर्व दिशाकी ओर चला और ॥ १२०-१२१ ॥ वज्रपातके शब्दको जीतनेवाला शब्द करताहुआ तथा मागधदेवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करताहुआ वह

ध्वानं कुर्वन्नभस्तलात् । न्यपतन्मागधावासे तत्सैन्यक्षोभमानयन् ॥ १२२ ॥ किमेष क्षुभितोंभोधिः कल्पांतपवनाहतः । निर्घातः किंस्विदुद्ध्वानो भूमिकंपो नु जृंभते ॥ १२३ ॥ इत्याकुलाकुलधियस्तन्निकायोपगा. सुराः । परिवव्रुरुपेत्यैन सन्नद्धा मागध प्रभु ॥ १२४ ॥ देव ! दीप्रः शरः कोऽपि पतितोऽस्मत्सभागणे । तेनाय प्रकृतः क्षोभो न किंचित्कारणातर ॥ १२५ ॥ येनायं प्रहितः पत्री नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमे सज्जा वयं प्रभो ॥ १२६ ॥ इत्यारक्षिभटैस्तूर्णमेत्य विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्व भटालापैरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥ १२७ ॥ यूय त एव मद्गृह्याः सोऽहमेवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोढपूर्वो मयेत्यरिः ॥ १२८ ॥ बिभर्ति यः पुमान्प्राणान् परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिंगमात्रेण पुमानेष प्रती-

---

वाण आकाशसे मगधदेवके निवासस्थानमें जा पडा ॥ १२२ ॥ क्या यह कल्पकालके अंतसमयके वायुसे ताडित हुआ समुद्र ही क्षुब्ध हुआ है ? अथवा यह भयानक शब्द करता हुआ वज्र (विजली) ही पडा है ? अथवा यह चारोंओर भूमिकंप ही हो रहा है ? ॥ १२३ ॥ इसप्रकारके भयसे जिनकी बुद्धि चंचल हो रही है ऐसे मागधके समीप रहनेवाले व्यंतरदेव शस्त्रोंसे तयार होकर आये और आकर अपने स्वामी मागधदेवके चारोंओर खडे हो गये ॥ १२४ ॥ तथा कहने लगे कि हे देव ! हमारे सभाभवनमें कोई दैदीप्यमान वाण आकरके पडा है उसीका यह क्षोभ है, इस क्षोभका कोई अन्य कारण नहीं है ॥ १२५ ॥ हे प्रभो ! जिस किसी देव अथवा दैत्यने (भवनवासी वा व्यंतर आदिने) यह वाण छोडा है उसका प्रतीकार करनेकेलिये हमलोग तैयार हैं ॥ १२६ ॥ इसप्रकार रक्षा करनेवाले वीर पुरुषोंने बहुत शीघ्र आकर मागधसे निवेदन किया, तब मागधने उत्तरमे बडे जोरसे कहा कि चुप रहो ऐसे वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे आधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध हूं क्या मुझे कभी अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुमलोगोंने पहिले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष मानभंगसे मलिन हुये अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलता किंतु केवल चिन्हसे ही पुरुष कहलाता है ॥ १२९ ॥ जो

यते ॥ १२९ ॥ स चित्रपुरुषो वास्तु चर्चापुरुष एव वा । यो विनापि गुणैः पौरुषैर्नाम्नैव-पुरुषायते ॥ १३० ॥ स पुमान्यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भटब्रुवो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवानिर्भुवि ॥ १३१ ॥ विजिगीषुतया देवा वय नेच्छाविहारत । ततोऽरिविजयादेव संपदस्तु सदापि नः ॥ १३२ ॥ वस्तुवाहनराज्याङ्गैराराधयति यः पर । परभोगीणमैश्वर्य तस्य मन्ये विडबन ॥ १३३ ॥ शरशाली प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं धनमिच्छति । धनायतोस्य दास्यामि निधन प्रधने. सम ॥ १३४ ॥ विचूर्ण्यैन शर तावत्कोपाग्नेः प्रथमेधन । करवाणीदमेवास्तु तनुशल्कैरुपेधनं ॥ १३५ ॥ साक्षेपमिति संरभादुदीर्य गिरमूर्जिता.। व्यरसीद्दशनज्योत्स्ना संहरन्मागधामरः ॥ १३६ ॥ ततस्तमूचुरभ्यर्णाः सुरा दृष्टपरपराः । प्रभु शमयितु क्रोधाद्विधा-

---

पुरुष पुरुषके गुणोंके बिना ही केवल नामसे ही पुरुष कहलाते हैं वे यातो चित्रमें लिखे हुये पुरुष हैं अथवा किसी लकडी वगैरहके बने हुये पुरुष हैं ॥ १३० ॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वही पुरुष है तथा जो केवल अपने मुखसे ही वीर बनना चाहता है वास्तवमें वह वीर नहीं है उसका संसारमें जन्म न लेना ही अच्छा है ॥ १३१ ॥ हम लोग अपनी इच्छानुसार विहार करनेसे देव नहीं है किंतु शत्रुओंको जीतनेसे ही देव कहलाते हैं, इसलिये हम लोगोंकी देवरूप संपत्ति सदा शत्रुओंके जीतनेसे ही रहो ॥ १३२ ॥ जो पुरुष किसी दूसरेको रत्न आदि वस्तु हाथी घोडे आदि वाहन और चमर छत्र आदि राज्यके चिन्ह भेटकर आराधना (सेवा) करता है उसका ऐश्वर्य केवल दूसरोंकेलिये है और मैं उसे केवल विडंवना समझता हूं ॥ १३३ ॥ यह वाण चलानेवाला कोई वीर पुरुष मुझसे धन चाहता है सो धनकी इच्छा करनेवाले इस वीरको आज मैं युद्धके साथ साथ निधन अर्थात् मरण दूंगा, भावार्थ आज उसे मारूंगा ॥ १३४ ॥ प्रथम ही मैं इस वाणके टुकडेकर अपनी क्रोधरूप अग्निका पहिला ईंधन बनाऊंगा, यही बाण अपने छोटे छोटे टुकडोंसे मेरी क्रोधरूपी अग्निको अधिक बढानेवाला होगा ॥ १३५ ॥ इसप्रकार वह मगध नामका व्यंतरदेव क्रोधसे तिरस्कार पूर्वक कठोर वचन कहकर दांतोकी कांतिको संकुचित करता हुआ चुप हो-

वृद्धैः प्रभोः स्थितिः ॥ १३७ ॥ यथावसरमर्थ्यं च मितं च बहुविस्तरं । अनाकुलं च गभीरं नाधियामीदृशं वचः ॥ १३८ ॥ सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥ १३९ ॥ सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रभुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥ १४० ॥ अलब्धलाभो लब्धार्थपरिरक्षणमित्यपि । द्वयमेतत्सुखाल्लभ्य जिगीषोर्नाश्रयं विना ॥ १४१ ॥ बलिनामपि सत्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः प्रभो ॥ १४२ ॥ न किंचिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिकाम्यता । ततः शरः कुतस्त्योऽयं किमीयो वेति मृग्यता

गया ॥ १३६ ॥ तब कुलपरंपराको जाननेवाले मागधके समीपवर्ती देव उसका क्रोध शांत करनेकेलिये उससे निवेदन करने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि जो विद्याबुद्धिसे वडे हैं उन्हींसे राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है ॥ १३७ ॥ वे लोग समयके अनुसार, वहुत थोडे, जिनमें अर्थका विस्तार वहुत है, जो आकुलता रहित हैं और गंभीर हैं ऐसे वचन कहने लगे, सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंसे ऐसे वचन कभी नहीं निकल सकते हैं ॥ १३८ ॥ वे देव कहने लगे कि हे प्रभो ! यह बात ठीक है कि अभिमानी पुरुषोंको दूसरेका किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं हो सकता है, परंतु बलवानके साथ विरोध करना भी तो अपने अपमानका कारण है ? ॥ १३९ ॥ यह बात ठीक है कि धन देकर तथा प्राण देकर भी अपने यशकी रक्षा करना चाहिये, परंतु वह यश किसी बलवान स्वामीके आश्रय किये विना बुद्धिमान लोगोंको किसप्रकार मिल सकता है ? ॥ १४० ॥ जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई है उसे प्राप्त करना तथा प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी वडेके आश्रय विना जीतनेकी इच्छा करनेवालेको सुखसे सिद्ध नहीं हो सकते हैं ॥ १४१ हे प्रभो ! संसारमें जो बलवान है उनकी अपेक्षा भी अन्य अधिक बलवान और बुद्धिमान् हैं, इसलिये संसारमें मैं ही एक बलवान् हूं ऐसा अभिमान कभी नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥ अपने कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषको विना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिये इसलिये यह वाण किसका है ? कहांसे

॥ १४३ ॥ श्रुतं च बहुशोस्माभिरिरातीयं पुष्कलं वच. । जिनाश्चक्रधरैः सार्धं वर्त्स्यंतीहेति भारते ॥ १४४ ॥ नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसी शरागमः । धूताधतमसोद्योतः सभाव्योऽन्यत्र किं रवेः ॥ १४५ ॥ अथवा खलु सशय्य चक्रपाणेरय शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवैनं तन्नामाक्षरमालिका ॥ १४६ ॥ तदेन शरमभ्यर्च्य गंधमाल्याक्षतादिभिः । पूज्यायैव विभोराज्ञा गत्वास्माभि. शरार्पणात् ॥ १४७ ॥ मागा मागध वैचित्य कार्यमेतद्विनिश्चिनु । न युक्तं तत्प्रतीपत्व तव तद्देशवर्तिनः ॥ १४८ ॥ तदलं देव सरम्भ तत्प्रातीप्यं न शातये । महतः सरिदोघस्य कः प्रतीपं तरत्सुखी ॥ १४९ ॥ बलवाननुवर्त्यश्चेदनुनेयोऽद्य चक्रभृत् । महत्सु वैतसीं वृत्तिमामनत्यविपत्करीं ॥ १५० ॥ इहामुत्र च जंतूनामुन्नत्यै पूज्यपूजनं । पापं तत्रानुबध्नाति पूज्यपूजाव्यति-

---

आया है ? पहिले यह देख लेना चाहिये ॥ १४३ ॥ इस भारतवर्षमें तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि रहते हैं यह बात अनेकबार भगवान अरहंतदेवसे सुनी है ॥ १४४ ॥ जगतको विजय करनेकी सूचना करनेवाला यह बाण अवश्य चक्रवर्तीका ही होगा, क्या समस्त अंधकारको नाश करनेवाला प्रकाश सूर्यके सिवाय किसी अन्यका हो सकता है ॥ १४५ ॥ अथवा इसमें संशय ही क्यों ? यह बाण चक्रवर्तीका ही है इस बाणपर खुदी हुई अक्षरोंकी पंक्ति उस चक्रवर्तीके नामको साफ प्रगट कर रही है ॥ १४६ ॥ इसलिये गंध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजाकर तथा चक्रवर्तीका यह बाण उन्हें अर्पण कर हमलोगोंको आज ही स्वामीकी आज्ञा मान्य करनी चाहिये ॥ १४७ ॥ हे मागध ! आप चित्तमें किसीतरहका विकार अर्थात् अभिमान न करें, आपको मेरा कहा हुआ कार्य अवश्य करना चाहिये, उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना ठीक नहीं है ॥ १४८ ॥ इसलिये हे देव अपना क्रोध शांत कीजिये, चक्रबर्तीके साथ विरोध करनेसे कुछ शांति नहीं होगी, भला नदीके बडे भारी पूरके प्रतिकूल [सामने) तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ॥ १४९ ॥ यदि अपनेसे अधिक बलवानके अनुकूल ही रहना चाहिये यही नीति है तब तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिये, क्योंकि बडोंके साथ बेतके समान नम्र वृत्ति धारण करना ही

क्रमः ॥ १५१ ॥ इति तद्वचनात्किंचित्प्रबुद्ध इव तत्क्षणं । अज्ञातमेतमेतस्यादित्यमो प्रत्यपद्यत ॥ १५२ ॥ नमस्तनामिमात्राभृचित्तं किंचित्सनाथतं । साशंकमिव सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणं ॥ १५३ ॥ ततः प्रमेदुषी तस्य न चिरादस्य शेमुषी । पूर्वापरं व्यलोकिष्ट कोपापायात्प्रशेमुषी ॥ १५४ ॥ सोऽ-य चक्रभृतामाद्यो भरतोऽलंघ्यशासन । प्रतीक्ष्यः सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरं ॥ १५५ ॥ चक्रित्वं चरमांगत्वं पुत्रत्वं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमे-कैकं किं पुनस्तत्समुदितं ॥ १५६ ॥ इति निश्चित्य नम्रान्तेरनुयातः सुरोत्तमैः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुमुपचाल स मागधः ॥ १५७ ॥ समुन्मणिति-

दुःखोंका नाश करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ १५० ॥ पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे ही जीवोंको इस लोक और परलोककी उन्नति होती है तथा पूज्य पुरुषोंका अनादर करनेसे पापका वंध होता है ॥ १५१ ॥ इसप्रकार उन देवोंके वचन सुनकर उसीसमय मागधको कुछ बोध हुआ और उसे मालूम हुआ कि जो इस वाणका हाल अबतक मुझे मालूम नहीं था वह मेरा अज्ञान था ॥ १५२ ॥ जिसप्रकार भरतके नामसे मागधका चित्त कुछ व्यग्र हुआ था उसीप्रकार उसका चित्त कुछ भयसहित भी हुआ था तथा कुछ अनादर करनेसे शंका भी हुई थी और उसे समझकर ज्ञानी के समान ही कुछ २ उद्वेग भी हुआ था ॥ १५३ ॥ तदनंतर थोडी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोध शांत होनेसे शांत हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब देख लिया ॥ १५४ ॥ तथा उसी निर्मल बुद्धिसे वह सोचने लगा कि यह भरत चक्रवर्तियोंमें पहिला चक्रवर्ती है, इसकी आज्ञा कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको सबतरहसे इसकी पूजा करना चाहिये तथा आदर पूर्वक इसकी आज्ञा माननी चाहिये ॥ १५५ ॥ यह भरत चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगतगुरु भगवान् वृ-षभदेवका पुत्र है, इनमेंसे एक एक गुण ही पूज्य होता है फिर जहां तीनोंका समुदाय हो वहां तो पूज्य माननेके लिये कहना ही क्या है अर्थात् वह तो अवश्य पूज्य है ॥ १५६ ॥ इसप्रकार निश्चय-कर संभ्रांत होकर जल्दी करनेवाले अनेक देवोंको साथ लेकर वह मागध देव अकस्मात् चक्रवर्तीके

रीटांशुरचितेंद्रशरासनं । क्षणेनोल्लंघ्य संप्राप्तं देशं यत्र चक्रभृत् ॥ १५८ ॥ पुरोधाय शरं रत्नपटले सुनिवेशितं । मागधः प्रभुमानंसीदार्य स्वीकुरु मामिति ॥ १५९ ॥ चक्रोत्पत्तिक्षणे भद्र यन्नायामोऽनभिज्ञकाः । महातपमराधं नस्तं क्षमस्वार्थितो मुहुः ॥ १६० ॥ युष्मत्पादरज स्पर्शाद्वार्द्धिरेव न केवल । पूता वयमपि श्रीमॅस्त्वत्पादाबुजसेवया ॥१६१॥ रत्नान्यमून्यनर्घाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च । अधो निधीनामाधातु सोपयोगानि सतु ते ॥१६२॥ हारोऽयमतिरोचिष्णुरवाराहैरशुक्तिजैः । अवेणुद्विपसंभूतैर्दब्धो मुक्ताफलैर्युजै ॥ १६३ ॥ तव वक्षःस्थलाश्लेपादुपेयादुपहारता । स्फुरती कुंडले चेमे क-

---

देखनेलिये चला ॥ १५७ ॥ जिसमें दैदीप्यमान मणियोंसे जडे हुये मुकुटकी किरणोंसे इंद्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षणभरमें ही उलंघनकर वह मागधदेव जहां चक्रवर्ती था उस स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५८ ॥ रत्नके पिटारेमें रक्खे हुये वाणको भरतके सामने रखकर मागधने भरतको नमस्कार किया और कहा कि हे प्रभो मैं उपस्थित हूं अब मुझे अपना ही समझिये ॥ १५९ ॥ हे स्वामिन् ! हम अज्ञानीलोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही उपस्थित नहीं हुये यह हमारा बडा अपराध हुआ है, हे प्रभो हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि आप इसे क्षमा कर दीजिये ॥ १६० ॥ हे ऐश्वर्यशालिन् ! आपके चरणोंकी धूलिका स्पर्श करनेसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं होगया है किंतु आपके चरणकमलकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥ १६१ ॥ हे प्रभो ! आपकी भेटमें किये हुये ये रत्न यद्यपि बहुमूल्य हैं स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि वे निधियोंके नीचे रखनेके काममें आओ ॥ १६२ ॥ यह हार बहुत ही दैदीप्यमान है, यह ऐसे दिव्य मोतियोंसे गुंथा हुआ है जो न तो सूअरमेंसे निकले हैं, न सीपमेंसे निकले हैं, न वांससे उत्पन्न हुये हैं और न हाथीके मस्तकमेंसे निकले हैं, ऐसा यह हार आपके वक्षःस्थलपर पडाहुआ पूज्यताको प्राप्त हो, तथा ये दोनों ही दैदीप्यमान कुंडल आपके कानोंके संबंधसे पवित्रता धारण करें ॥ १६३-१६४ ॥ इसप्रकार उस मागधने मानो तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंका समुदाय ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ऐसा वह हार और

र्णासगात्पवित्रता ॥ १६४ ॥ ट्यसै कुंडले दिव्ये हार च विततार नः। त्रैलोक्यनारन्दोहमिवैकथ्यमुपागन ॥ १६५ ॥ रत्नश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः। प्रभोरवाप्तसत्कारस्तन्मतात्स्वमगात्पद ॥ १६६ ॥ अथ तत्रस्थ एवाब्धिं नातद्वीप विलोकयन् प्रभुर्विसिस्मये किंचित् बह्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥ १६७ ॥ तत कुतूहलाद्वार्द्धि पश्यत सूर्गत पति। तमित्युवाच दन्तांशुसुमनोमजरीं किरन् ॥ १६८ ॥ अयं जलधिरुच्छलत्तरलवीचिबाहूद्धृत स्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसख्यशखाकुल। तवार्घमिव सविधित्सुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्धुतजलानको दिशतु शश्वदानंदथु ॥ १६९ ॥ अमुष्य जलमुत्पत-

दिव्य दोनों कुंडल महाराज भरतकेलिये अर्पण किये ॥ १६५ ॥ तदनंतर उस मागधने प्रसन्न चित्त होकर अनेक प्रकारके रत्नोंसे अनेक रत्नोंके स्वामी चक्रवर्तीकी पूजा की तथा अपने स्वामी भरतसे आदरसत्कार पाकर वह उसकी आज्ञासे अपने स्थानको चला गया ॥ १६६ ॥

अथानंतर—वहांके समुद्र और अंतर्द्वीप देखकर भरतको कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवण समुद्र अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ था ॥ १६७ ॥ जिससमय भरत उस समुद्रको बडे कौतुकसे देख रहा था उसीसमय सारथी अपने दांतोंकी किरणेंरूपी पुष्पमंजरीको वखेरता हुआ अपने स्वामी भरतसे कहने लगा ॥ १६८ ॥ कि हे प्रभो ! उछलती हुई चंचल लहरेंरूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुये देदीप्यमान मणियोंका समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, शब्द करते हुये असंख्यात शंखोंसे जो व्याकुल हो रहा है, प्रत्येक ज्वारकी वडी लहरके साथ जो शब्द करता है, वायुके द्वारा हिलाया हुआ जल ही जिसके नगाडे हैं और इस सव सामग्रीसे जो ऐसा जान पडता है मानो आपके लिये अर्घ ही देना चाहता हो ऐसा यह लवण समुद्र सदा आनंद देवो ॥१६९॥ ऊपरकी ओर उछलता हुआ और इसलिये ही जो चंद्रमाकी किरणोंके समान कोमल कांतिको धारण करनेवाली जलकी बूंदोंसे व्याप्त हुआ इस समुद्रका यह जल ऐसा जान पडता है मानो दिशारूप स्त्रियोंसे परिचय करनेकेलिये उनके साथ चारोंओरसे हँसी ही कर रहा हो, अथवा अपने यशको वांटकर प्रत्येक दिशामें

द्रुमनमेतदालक्ष्यते शशाककरकोमलच्छविभिराततं शीकरैः । प्रहासमिव दिग्वधूपरिचयाय विष्वग्दधत् तितासदिव चात्मनः प्रतिदिशं यशो भागशः ॥ १७० ॥ क्वचित्स्फुटितशुक्तिमौक्तिकततं सतारं नभो जयत्यलिमलीमसं मकरमीनराशिश्रितं । क्वचित्सलिलमस्य भोगिकुलसंकुलं सून्नतं नरेंद्रकुलमुत्तमस्थिति जिगीषतीवोद्भटं ॥ १७१ ॥ इतो विशति गागमंबु शरदंबुदाच्छच्छवि स्रुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैंधवं । तथापि न जलागमेन धृति-

फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ कहीं कहीं सीपोंके खुल जानेसे उनके मोतियोंसे व्याप्त हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानो ताराओंसहित आकाश ही हो, क्योंकि जिसप्रकार यह आकाश मकर मीन आदि राशियोंसे भराहुआ है तथा भ्रमरके समान श्याम है उसीप्रकार यह समुद्र भी मकर मीन अर्थात् मगरमच्छ आदिके समूहोंसे भरा हुआ है और भ्रमरोंके समान श्याम है, तथा कहीं कहींपर इसका जल राजाओंके कुलको भी जीत रहा है क्योंकि जिसप्रकार राजाओंका कुल अनेक भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसीप्रकार यह समुद्र भी भोगी अर्थात् सर्पोंके समूहसे व्याप्त है, राजाओंका कुल जिसप्रकार उन्नत होता है उत्तम स्थितिको धारण करता है उसीप्रकार यह समुद्र भी उन्नत है तथा उत्तम स्थितिको धारण करता है और राजाओंका कुल जिसप्रकार उद्भट अर्थात् प्रबल है अथवा योद्धाओंको उत्पन्न करनेवाला है उसीप्रकार यह समुद्र भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥ १७१ ॥ हे प्रभो ! यह देखिये इधर तो हिमवान पर्वतसे निकलाहुआ और शरदृतुके बादलोंके समान निर्मल कांतिको धारण करनेवाला यह गंगाका पानी इस समुद्रमें मिल रहा है और इधर यह बहुत मीठा सिंधुनदीका पानी इसमें मिल रहा है, यद्यपि दोनोंओरसे अपार जलका प्रवाह आ रहा है तथापि जलके आनेसे इस समुद्रका संतोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो जलाशय अर्थात् जलसे भरा समुद्र है अथवा जडाशय अर्थात् जडबुद्धि है उसे जलके समुदायसे अथवा जड अर्थात् मूर्खोंके समुदायसे कभी संतोष नहीं होता है, भावार्थ—जैसे जलाशयको जलसे सं-

रस्य पोपूर्यते ध्रुवं न जलसंग्रहैरिह जलाशयो धायति ॥ १७२ ॥ व्याप्योदरं चलकुलाचलसन्निकाशाः पुत्रा इवास्य तिमयः पयसा प्रपुष्टाः । कल्लोलकाश्च परिमारहिता. समतादन्योन्यघट्टनपराः सममाविशति ॥ १७३ ॥ आपोधनं धृतरसाः सरितोऽस्य दारा पुत्रायिता जलचराः सिकताश्च रत्न । इत्थ विभूतिलवदुर्ललितोऽपि चित्र धत्ते महोदधिरिति प्रथिमानमेपः ॥ १७४ ॥ नि श्वासधूममलिनाः फणमंडलात मुव्यक्तरत्नरुचय परितो भ्रमतः । व्यायच्छमानतनयो रुपितैरकस्मादत्रोल्मुकश्रियममी दधते फणींद्राः ॥ १७५ ॥ पादैरय जलनिधिः शिशिरैरपींदोरास्पृश्यमानसलिलः सहसा खमुद्यन् ।

तोष नहीं होता है उसीप्रकार मूर्खोंको भी मूर्खोंके समुदायसे भी संतोप नहीं होता है ॥ १७२ ॥ हे देव ! इस समुद्रके उदर अर्थात् मध्यभागमें अथवा उदरमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अतिशय पुष्ट हुये तथा चलतेहुये कुलपर्वतोंके समान वडे वडे ऐसे इसके पुत्रोंके समान मगर मच्छ और प्रमाणरहित अर्थात् अनंत कल्लोलें ये सव चारोंओरसे एक दूसरेको धक्का देतेहुये एकसाथ इस समुद्रमें प्रवेश कर रहे हैं ॥ १७३ ॥ हे नाथ ! इस समुद्रके जल ही धन है, रस अर्थात् जल अथवा शृंगारको धारण करनेवालीं नदियां ही स्त्रियां हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही पुत्रके समान हैं और वालू ही रत्न हैं, इसप्रकार यह समुद्र यद्यपि तुच्छ विभूतिको धारण करता है तथापि संसारमें 'महोदधि' इस नामसे प्रसिद्ध है, यह एक वडे आश्चर्यकी वात है ॥ १७४ ॥ उच्छ्वासमें निकलते हुये धूमसे जो मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कांति साफ प्रगट हो रही है, जो चारोंओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर वहुत वडे हैं और जो विना कारणके ही क्रोधित हो रहे हैं ऐसे ये सर्प समुद्रमें आलातचक्रकी [चारोंओर फिरती हुई अग्निकी] शोभाको धारण करते हैं ॥ १७५ ॥ इस समुद्रकी ज्वारकी लहरें जो ऊंचको उठ रही हैं तथा यह गरज रहा है उससे ऐसा जान पडता है मानों चंद्रमाके शीतल पैरोंसे (किरणोंसे) इसका जल स्पर्श किया जा रहा है इसलिये ही क्रोधसे गंभीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके वहानेसे चंद्रमाको छूनेकेलिये अकस्मा-

रोपादिवोच्छ्वलति मुक्तगभीररावो वेलाच्छलेन न महान् सहतेऽभिभूतिं ॥ १७६ ॥ नाकौकसा प्रतरसां सह कामिनीभिराक्रीडनानि समनोहरकाननानि । द्वीपस्थलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सत्यंतरीपमिव दुर्गनिवेशनानि ॥ १७७ ॥ अयमनिभृतवेलो रुद्धरोदोतरालैरनिलवलविलोलैर्भूरिकल्लोलजालैः । तटवनमभिहति व्यक्तमस्मै प्ररुष्यन् । मम किल बहिरस्मान्नास्ति वृत्तिर्मुधेति ॥ १७८ ॥ अविगणितमहत्वा यूयमस्मान् स्वपादैरभिहत्य किमलंघ्य वो वृथा तौंग्यमेतत् । वयमिव किमलध्या. किं गभीरा इतीत्थ परिवदति विरावैर्नूनमब्धि कुलाद्रीन् ॥ १७९ ॥ अत्राय भुजगशिशुर्बिलाभिशकी व्यात्तास्यं ति-

---

त् आकाशकी ओर उछलता हुआ दौड रहा है, सो ठीक ही है क्योंकि वडे आदमी किसीका भी तिरस्कार नहीं सह सकते हैं ॥ १७६ ॥ जिसप्रकार जलके मध्यभागमें वडी कठिनतासे प्रवेश करने योग्य स्थान होते हैं उसी प्रकार इस समुद्रमें देवियोंके साथ बडे वेगसे आते हुये देवोंके अनेक क्रीडा करनेके स्थान हैं, वृक्ष आदिकोंसे मनोहर अनेक वन हैं और अनेक ही सुंदर द्वीप हैं ॥ १७७ ॥ ज्वारभाटाओंसे चंचल हुआ यह समुद्र " इस बनके वाहर मेरा जाना नहीं हो सकता है अर्थात् यह बन मुझे रोकनेवाला है " इसलियेही इसपर प्रगट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके बनको वायुके वेगसे अतिशय चंचल और पृथ्वी आकाशके मध्यभागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे ताडना कर रहा है, परंतु इसका यह ताडन करना सव व्यर्थ है ॥ १७८ ॥ हे देव ! गरजता हुआ यह समुद्र ऐसा जान पडता है मानों अपने ऊंचे शब्दोंसे कुलपर्वतोंको यही कह रहा हो कि हे कुलपर्वतो ! तुम्हारी उंचाई बहुत है इसलिये ही क्या तुम अपने पैरोंसे अर्थात् अंतके भागसे हम लोगोंको ताडना करते हो ? याद रक्खो तुमको उलंघन करना कुछ कठिन नहीं है तुम्हारी यह उंचाई व्यर्थ है, क्या तुम हमारे समान अलंघ्य (लंघन करने अयोग्य) हो ? अथवा गंभीर हो ? ॥ १७९ ॥ हे प्रभो ! देखिये यह सर्पका बच्चा अपना विल समझकर खुश होकर मुखफाडे हुये मच्छके मुखमें दौडा जा रहा है तथा वह मच्छ भी अपने गलेमें

मिमभिधावति प्रहृष्टः । त सोऽपि स्वगलविलावलग्न स्वत्रस्थाविहितदयो निर्जिगिलीति ॥ १८० ॥ एप महामणिरश्मिविकीर्णं तोयममुष्य धृतामिषशङ्कः । मीनगणोऽनुसरन् सहसास्माद्वह्निधिया पुनरप्यपयाति ॥ १८१ ॥ लोलतरगविलोलितदृष्टिर्वृद्धतरोऽसुमति सुमत नः । ही रथमेप तिमिंगिलशङ्की पश्यति पश्य तिमिस्तिमिताक्ष. ॥ १८२ ॥ इहामी भुजगा. सरत्नैः फणाग्रे समुत्क्षिप्य भोगान् खमुद्वीक्षमाणाः । विभाव्यत एते तरंगोरुहस्तैर्धृता दीपिकौघा महावार्द्धिनेव ॥ १८३ ॥ भुजगप्रयातैरिदं वारिराशेर्जल लक्ष्यतेऽतःस्फुरद्रत्नकोटि । महानीलवेश्मेव दीपैरनेकैर्ज्वलद्भिश्चलद्भिस्ततध्वान्तवृद्धिः ॥ १८४॥ वातावातात्पुष्करवाद्यध्वनिमुच्चैस्तन्वानेऽब्धौ मद्रगभीर कृतलास्या । द्वीपोपाते सततमस्मिन् सुरकन्याः ररम्यते मत्तमयूरैः सममेतैः ॥ १८५ ॥ नीलं

चिपटे हुये उस सर्पको अपने अंतरंगमें भरी हुई निर्दयताके कारण निगल रहा है ॥ १८० ॥ इधर देखिये यह मछलियोंका समूह पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुये इस समुद्रके जलको कुछ कुछ लाल होनेसे मांस समझकर उसे लेनेके लिये दौडता है और फिर अकस्मात् उसे लाल अग्नि समझकर वहांसे लौट आता है ॥ १८१ ॥ चंचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चंचल हो रही है और जो बहुत बूढा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला वडा मच्छ समझकर बडी निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हे देव ! इसे भी देखिये, हम लोगोंको यह बहुत ही बुद्धिहीन जान पडता है ॥ १८२ ॥ हे स्वामिन्, इधर रत्नसहित फणाओंके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊंचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुये ये सर्प ऐसे जान पडते हैं मानों इस महासागरने लहरेंरूपी अपने बडे बडे हाथोंसे दीपकोंका समूह ही धारण किया हो ॥ १८३ ॥ जिसके भीतर करोडों रत्न स्फुरायमान हो रहे हैं ऐसा इस महासागरका जल सर्पोंके इधर उधर चलनेसे ऐसा जान पडता है मानो अंधकारके समूहको नाश करनेवाले जलते हुये और चलते हुये अनेक दीपकों सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर ही हो ॥ १८४ ॥ जिससमय यह समुद्र वायुके आघातसे नगाडेके समान गंभीर और ऊंचे शब्द करता है उससमय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोंके साथ साथ ये

श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतमोदा विद्युद्वतः स्फुरितभुजगोत्फणरत्नं । आश्लिष्यंतो जलदसमूहा जलमस्य व्यक्तं नोपव्रजितुमलं ते घनकाले ॥ १८६ ॥ पश्याभोधेरनुतटमेना वनराजीं राजीवास्य ! प्रशमिततापा विततापा । वेलोत्सर्पज्जलकणिकाभिः परिधौता नीला शाटीमिव सुमनोभिः प्रविकीर्णां ॥ १८७ ॥ परित सरसी. सरसैः कलमै. सहितः सुचिर विचरंति मृगाः । उपतीरममुष्य निसर्गसुखा वसतिं निरुपद्रुतिमेत्य वने ॥ १८८ ॥ अनुतीरवन मृगयूथमिद कनकस्थलमुज्ज्वलित रुचिभिः । परिवीक्ष्य दवानलशंकि भृशं परिधावति धावति तीरभुवः ॥ १८९ ॥ लावण्यादयमभिसारयन् सरित्स्त्री रालस्त-

---

नृत्य करती हुई देवांगनायें सदा क्रीडा किया करती हैं ॥१८५॥ वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एकसे जान पडते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादल भी काले होते हैं और इस समुद्रका जल भी काला रहता है, बादल आनंदित होकर गरजते हैं और समुद्रका जल भी ऊंचे शब्दोंसे गरजता है, बादलोंमें बिजली चमकती है और इस समुद्रके जलमें देदीप्यमान सर्पोंके फणाओंमें लगे हुये रत्न चमकते हैं, इसप्रकारके बादल अपने समान इस समुद्रके जलको आलिंगन करते हुये वर्षाऋतुमें कहीं भी नहीं जा सकते हैं, यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुंदर मुखको धारण करनेवाले हे देव ! लहरोंके उछलतेहुये जलकी बूंदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साडीके समान सूर्यके संतापको रोकनेवाली और जिसमें पानी भराहुआ है ऐसी इस समुद्रके किनारे किनारेकी वनकी पंक्तियां फैलेहुये फूलोंसे कैसी अच्छी जान पडती हैं इन्हें भी देखिये ॥ १८७ ॥ हे प्रभो ! इस समुद्रके किनारेके वनमें सबतरहके उपद्रवोंसे रहित और इसलिये ही स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर हरे कलमी धानोंको खातेहुये ये हिरण बहुत देरतक इन तालावोंके चारोंओर फिरा करते हैं ॥ १८८ ॥ हे देव देखिये इस समुद्रके किनारेके बनमें अपनी कांतिसे प्रकाशमान ऐसे सुवर्णमयी स्थानोंको देखकर यह हिरणोंका समूह उसे दावानल अग्नि समझकर बहुत शीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लौटताहुआ दौड रहा है ॥ १८९ ॥ हे राजन् ! यह समुद्र सूक्ष्म (महीन) जलरूपी वस्त्रोंको

प्रतनुजलाशुकास्तरंगैः । आश्लिष्यन् मुहुरपि नोपयाति तृप्तिं सभोगैरतिरसिको न तृप्यतीह ॥ १९० ॥ रोधोभुवोऽस्य तनुशीकरवारिसिक्त समार्जिता विरलमुच्छलितैस्तरंगैः । भातीह सततलताविगलत्प्रसूननित्योपहारसुभगा द्युसदा निषेव्याः ॥ १९१ ॥ स्वर्गोद्यानश्रियमिव हसत्युत्प्रसूने वनेऽस्मिन् मंदाराणा सरति पवने मदमद वनातात् । मदाक्रांताः सललितपद किंचिदारब्धगानाश्चक्रम्यते खगयुवतयस्तीरदेशेष्वमुष्य ॥ १९२ ॥ अप्सन्यस्तिमिरयमाजिघांसुरारादभ्येति द्रुतमभिभावुकोऽप्सुयोनीन् । शैलेन्द्रानपि निगिलॅस्तिमीनितोऽन्यो व्यत्यास्ते सममसुना युयुत्समानः ॥ १९३ ॥ जलादजगर-

---

पहिनेहुये इन नदीरूपी स्त्रियोंको अतिशय लावण्य (लवणरूप- खारा) अर्थात् सुंदर होनेसे अपनी ओर बुलाताहुआ तथा अपनी तरंगोंके द्वारा वार वार उनका आलिंगन करताहुआ कभी तृप्त नहीं होता है सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यंत रसिक (जलसहित) होता है वह इस संसारमें अनेकबार संभोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है, ॥ १९० ॥ जो छोटी छोटी बूंदोंके पानीके सींचनेसे साफ होगई है, निरंतर लताओंसे गिरतहुये फूलोंकी भेटसे जो सदा सुंदर जान पडती है और देव लोग जिसपर सदा निवास किया करते हैं ऐसी यह यहांकी किनारेकी भूमि सदा उछलती हुई लहरोंसे बहुत ही अच्छी जान पडती है ॥ १९१ ॥ हे देव ! जो स्वर्गके नंदनवनकी शोभाकी ओर मानो हॅस रहा है ऐसे इस फूलोंसे भरेहुये वनमें मंदार जातिके वृक्षोंके मध्यभागमें यह वायु धीरे धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ कुछ गाना आरंभ किया है ऐसी ये धीरे धीरे चलनेवालीं विद्याधरियें इस समुद्रके किनारेकी भूमिपर लीलापूर्वक पैर रखती उठातीहुई इधर उधर टहल रही हैं ॥१९२॥ इधर देखिये इस जलमें उत्पन्न हुये अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कारकर मारनेकी इच्छा करताहुआ यह इसी जलमें उत्पन्नहुआ बडा मच्छ वहुत शीघ्र दूरसे आकर उनपर टूट रहा है और पर्वतके समान बडे बडे मच्छोंको निगलताहुआ यह दूसरा बडा मच्छ उस पहिले बडे मच्छके साथ लडनेकी इच्छा करता हुआ खडा है ॥ १९३ ॥ हे स्वामिन् ! इधर देखिये इस समुद्रके किनारेपर बडा भारी अ-

स्तिमिं शयुमपि स्थलादंडजो विकर्षति युयुत्सया कृतदृढग्रहो दुर्ग्रहः । तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरेनयो ध्रुवं न समकक्षयोरिह जयेतरप्रक्रमः ॥ १९४ ॥ वनं वनगजैरिद जलनिधेः समास्फालितं वनं वनगजैरिव स्फुटविमुक्तसाराविणं । मृदंगपरिवादनश्रियमुपादधद्दिक्तटे तनोति तटमुच्छलत्सपदि दत्तसमार्ज्जनं ॥ १९५ ॥ तरत्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशल्काचितं स्फुरत्परुषनिःस्वनं विधृतरंध्रपातालकं । भयानकमितो जलं जलनिधेर्ल्ललत्पन्नगप्रमुक्ततनुकृत्तिसशयितवीचिमालाकुलं ॥ १९६ ॥ इतो धुतवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरन् उपैति शनकैस्तटं द्रुमसुगंधिपुष्पाहरः । इतश्च परुषोऽनिलः

जगर जलमेंसे किसी बडे मच्छको अपनीओर खींच रहा है और यह मजबूतीसे पकडनेवाला मच्छ भी उससे लडनेकी इच्छा करताहुआ बहुत मजबूतीसे उसे पकडे हुये जमीनपरसे अपनीओर खींच रहा है तथापि ये दोनों ही एकसे बलवान् हैं इसलिये किसीका भी जय पराजय नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जो एकसे बलवान होते हैं उनका जय पराजय कभी निश्चय नहीं होता है ॥१९४॥ जंगली हाथियोंने अपनी सूंडसे जिसका खूब ताडन किया है ऐसा यह समुद्रका पानी जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट और जोरके शब्द कर रहे हैं ऐसे किसी बनके समान तथा मृदंगके बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और सब दिशाओंमें उछलता हुआ बहुत शीघ्र शीघ्र किनारेको शुद्ध [साफ] करता हुआ जान पडता है ॥ १९५ ॥ जिसमें अनेक मछलियोंका कलेवर तैर रहा है, खुलीहुई सीपोंके टुकडोंसे जो भर रहा है, जिसमें प्रगट कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने छिद्रोंमें पातालको भी धारण कर रक्खा है और जो तैरते हुये सांपोंसे छूटीहुई सफेद कांचलियोंसे लोगोंको ऐसा संदेह उत्पन्न करता है मानों लहरोंके समूहसे व्याप्त ही हो रहा है ऐसा इधर यह समुद्रका जल बहुत ही भयानक हो रहा है ॥१९६॥ हे स्वामिन् ! इधर तो बनको हिलाताहुआ, शीतल जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगंधित पुष्पोंकी सुगंध हरण करता हुआ वायु धीरे धीरे किनारेकी ओर वह रहा है और इधर बडे बडे मच्छोंके कलेवरोंको हिलाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोंके

स्फुरति धौतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुवन् ॥ १९७ ॥ अस्योपांतभुवश्चकासति तरा वेलोच्छलन्मौक्तिकैराकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृश । सेवंते सह सुंदरीभिरमरा याः स्वर्गलोकातर तन्वाना धृतसमदास्तटवनच्छायातरून् संश्रिताः ॥ १९८ ॥ एते ते मकरादयो जलचरा मत्वेव कुक्षिंभरिं वाराराशिमनतरायमधिक पुत्रा इवास्यौरसाः । भागस्य प्रतिलिप्सया नु जनकस्याक्रोशतोऽप्यग्रतो युध्यते मिलिताः परस्परमहो बद्धक्रुधो धिग्धन ॥ १९९ ॥ लोकानंदिभिरप्रमापरिगतैरुच्चावचैर्भोगिनामारूढैरधिमस्तक शुचितमैः सतापविच्छेदिभिः । पातालैर्विवृताननैर्मुहुरपि प्राप्तव्ययैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विगमो रत्नैर्जलैर्वैरपि ॥ २०० ॥ वज्रद्रोण्याममुष्य कथदिव जठर व्यक्तमुद्बुद्बुदाबु स्फूर्जत्पातालरध्रोच्छ्वसदनिलबलादि-

---

शब्दोंसे भयानक ऐसा यह जोरका वायु बह रहा है ॥ १९७ ॥ जो बडी बडी लहरोंसे उछलते हुये मोतियोंसे व्याप्त होकर भेटमें आयेहुये फूलोंसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती है, दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढाती है और जहां किनारेके बनके वृक्षोंकी छायामें बैठे हुये देव लोग आनंदित होकर अपनी अपनी देवांगनाओंके साथ क्रीडा करते हैं ऐसी यह समुद्रके किनारेकी भूमि बडी ही अच्छी जान पडती है ॥ १९८ ॥ मगर मच्छ वगैरह जलचर जीव जिसके पास जल रत्न आदि बहुतसा द्रव्य है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन पोषण करनेवाला पिता समझकर खास पुत्रके समान बांटकर अपने भागमें आयेहुये धनको लेनेकी इच्छा करते हुये गर्जनाके शब्दोंके द्वारा रोते हुये अपने पिताके सामने ही क्रोध करते हुये इकठे होकर परस्पर एक दूसरेके साथ लड रहे हैं, हाय ? ऐसे धनके लिये भी धिकार हो ॥ १९९ ॥ हे प्रभो ! यद्यपि इस समुद्रमें मुंह फाडे हुये अनेक बडवानल हैं उनके द्वारा प्रत्येक क्षणमें बहुतसा पानी कम हो जाता है, जल जाता है तथापि जबतक संसार है तबतक लोगोंको आनंद देनेवाले, प्रमाण रहित अर्थात् अनंत, अनेक प्रकारके सर्पोंके मस्तकोंपर चमकते हुये, अतिशय शुद्ध, संतापको दूर करनेवाले और विनाश रहित ऐसे इस समुद्रके रत्न और जलका कभी भी नाश नहीं होता ॥ २०० ॥ हे राजन् ! बहुत बडे पातालरूपी

ष्वगावर्त्यमान । प्रस्तीर्णानेकरत्नान्युपहरति जने नूनमुत्तप्तमतः प्रायो रायां वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमंतर्विदाहं ॥ २०१ ॥ आयुष्मान्निति बह्वविस्मयोऽयमब्धिः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः । (गभीर प्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः) गभीरप्रकृतिरनालसत्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते विना जलर्ध्या ॥ २०२ ॥

छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढते हुये वायुके जोरसे जिसपर चारोंओर भँवर पड रहे हैं तथा जिसमें अनेक बुद्बुदा स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं इसप्रकार यह समुद्रका उदर ऐसा जान पडता है मानो वज्रकी कढाईमें औटाया गया ही हो अथवा लोग इसके बडे बडे अनेक रत्न निकाल लिया करते हैं इसलिये मानो इसका अंतःकरण [मन) संतप्त ही हुआ हो, सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग होना प्रायः बडे बडे लोगोंके हृदयको भी बहुत ही संतप्त किया करता है ॥ २०१ ॥ हे चिरंजीव इसप्रकार यह समुद्र प्रायः आपका अनुकरण कर रहा है क्योंकि जिसप्रकार आप आश्चर्य करनेवाली विभूति धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र अनेक आश्चर्यकी विभूतियोंसे भरा है, जिसप्रकार आपके पास बहुतसे रत्न हैं उसीप्रकार इसमें भी बहुत रत्न हैं, जिसप्रकार आप समस्त संसारके लोगोंको जीवित रखनेके (पालन पोषण करनेके) कारण हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी समस्त संसारके जीवोंकी व्यपार आदि उपजीविका करनेका कारण है, जिसप्रकार आप गंभीर स्वभाववाले हैं उसीप्रकार इस समुद्रका स्वभाव भी गंभीर है और जिसप्रकार आप अनलपसत्त्वयोग अर्थात् अनंत शक्तिको धारण करते हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्वयोग अर्थात् अनंत जलचर जीवोंको धारण करता है अथवा जिसप्रकार आप अनालसत्व-योग अर्थात् आलसरहित हैं उसीप्रकार यह समुद्र भी अनाल-सत्वयोग अर्थात् नालरहित प्राणियोंसे भराहुआ है {जलचर जीवोंके नाल (नाभिनाल) नहीं होता} इसप्रकार यह समुद्र आपका अनुकरण कर रहा है परंतु अंतर केवल इतना है कि यह समद्र जलकी ऋद्धि अर्थात् जलके समूहसे भराहुआ है और आप जल अर्थात् जडके समु-

इत्थं नियतरि परां श्रियमबुराशोरावर्णयत्यनुगतैर्वचनैर्विचित्रैः । प्राप प्रमोदमधिकं न चिराच्च संम्राट् सेनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥ २०३ ॥ अथ रथपरिवृत्यै सारथौ कृच्छ्रकृच्छ्रात् विषमवलनभुग्नग्रीवमश्वान् नुनुत्सौ । धुवति मरुति मंदं वीचिवेगोपघाते शिबिरमभि निधीनामीशिता सप्रतस्थे ॥ २०४ ॥ कथमपि रथचक्रं सारयित्वावरुद्धं प्रवहणकृतकोपान्वाजिनोऽनुप्रसाद्य । रथमविजलमध्यौ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानुव्रज्ययेवोच्चचाल ॥ २०५ ॥ अयमयमुदभारो वारिराशेर्वरूथं स्थगयति रथवेगादेष भिन्नोर्मिरब्धिः । इति किल तटसंस्थैस्तर्क्यमाणो रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः प्राप पारेसमुद्रं ॥२०६॥ तरगात्य-

---

दायसे रहित हैं ॥ २०२ ॥ इसप्रकार सारथीने जव अनेकप्रकारके मनोहर वचनोंसे समुद्रकी उत्कृष्ट शोभा वर्णन की तव महाराज भरत वहुत ही प्रसन्न हुआ तथा वहुत शीघ्र उसने अपनी छावनीमें जानेकी इच्छा प्रगट की ॥ २०३ ॥

अथानंतर—सारथीने वडी कठिनतासे रथ लौटानेकेलिये कुछ टेडे होकर और गलेको कुछ टेडा-कर घोडोंको हांका और जव वायु धीरे धीरे वहने लगा था लहरोंका वेग कुछ शांत होगया था तव निधियोंके स्वामी भरतने डेरोंकी ओर प्रस्थान किया ॥ २०४ ॥ रथके पहिये जो पानीसे रुक गये थे उन्हें किसीतरह [वडे कष्टसे] ऊपर निकालकर वहुत हांकनेसे जिन्हें क्रोध आ रहा है ऐसे घोडोंको धीरज देकर प्रसन्नकर सारथीने समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चलाया, उससमय समुद्रमें भी रथके चलनेसे लहरें उठने लगीं थीं जिससे ऐसा जान पडता था मानो समुद्र वह चक्रवर्तीके पीछे पीछे ही जा रहा हो ॥२०५॥ अरे यह समुद्रकी वडी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढकलेगी तथा रथ-के वेगसे इस समुद्रकी लहरें भी फटगई हैं इसप्रकार किनारेपर खडेहुये लोग जिसकेलिये तर्क वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह तेज घोडोंसे खींचाहुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुंचा ॥ २०६ ॥ जिसमें समस्त अंगोंकी रंचना सुंदर और एकसी है ऐसा यह रथ समुद्रकी लहरोंको उलंघन करता हुआ राजीखुशी किनारेतक आ पहुंचा है तथा चक्रको धारण करनेवाला यह चक्रवर्ती भी कुशलतापूर्वक

स्तोऽयं समघटितसर्वांगघटनो रथ' क्षेमात्प्राप्तो रथचरणहेतिश्च कुशली । तुरंगा धौतांगा जलविसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिष्णोरिति किल जजल्पुस्तटजुषः ॥ २०७ ॥ नृपैर्गंगाद्वारे प्रणतिमणिमौल्यार्पितकरैरधस्तात्तद्वेद्या' सजयजयघोपैरधिकृतैः । बहिर्द्वारं सैन्यैर्युगपदसकृद्घोपितजयैर्विभुर्दृष्ट' प्राप्तस्त्वाशिबिरबहिस्तोरणभुव ॥ २०८ ॥ तत्रोद्घोपितमंगलैर्जयजयेत्यानंदितो बंदिभिर्गत्वातश्शिबिरं नृपालयमहाद्वार समासादयन् । अंतर्वंशिकलोकवारवनितादत्ताक्षताशासनः प्राविक्षन्निजकेतनं निधिपतिर्वातोल्लसत्केतन ॥ २०९ ॥ देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् ते यूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः । आशाध्व-

---

आगया है, समुद्रके पानीसे घोडोंका शरीर कैसा धुलगया है, पानीपर चलनेसे इनके खुर भी नहीं घिसे हैं, अहा महाराज भरतका पुण्य वहुत बडा है, इसप्रकार किनारेके लोग उससमय परस्पर बातचीत कर रहे थे ॥ २०७ ॥ जो वेदीके नीचे गंगाके द्वारपर [जहां गंगा समुद्रमें मिलती है] रक्षाके लिये नियुक्त किये गये हैं तथा जिन्होंने नवायेहुये मणियोंसे जडेहुये मुकुटपर अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं और जय जय शब्द कर रहे हैं ऐसे राजालोग जिसे देख रहे हैं तथा वेदीके दरवाजेके बाहर बार बार एक साथ जय जय शब्द करते हुये सेनाके लोग जिसे देख रहे हैं ऐसा वह प्रभु भरत अपने डेरोंके बाहरवाली तोरणोंकी जमीनपर आ पहुंचा ॥ २०८ ॥ वहांपर जय जय ऐसे मंगल शब्द करतेहुये बंदीजन जिसे आनंदित कर रहे हैं ऐसा वह भरत डेरोंके (छावनीके) भीतर जाकर राजभवनके बडे दरवाजेपर जा पहुंचा, और वहां रणवासके सेवकोंने तथा वेश्याओंने उसे मंगलाक्षत दिये और आशीर्वाद दिया, इसप्रकार उस निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने राजभवनमें प्रवेश किया ॥ २०९ ॥ अरे ये भरतेश्वर स्वामी समुद्रको जीतकर बिना किसी जखमके आगये हैं इसलिये तुम मंगलाक्षत तथा सिद्ध शेषाक्षत आदि मंगल पदार्थ लाओ, तुम आशीर्वाद दो, तुम यहां बैठो और तुम बहुत शीघ्र महाराजके सामने चलो, इसप्रकार बडा भारी कोलाहल शब्द उससमय सेनामें उठ रहा था ॥ २१० ॥ हे देव ! आप चिरं-

माध्वमिह समुखमेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटके तदाभूत् ॥ २१० ॥ जीवेति नंदतु भवानिति वर्द्धपीष्ट देवेति निर्जय रिपूनिति गां जयेति । त्व स्ताच्चिरायुरिति कामितमाप्नुहीति पुण्याशिषा शतमलभि तदा स वृद्धैः ॥ २११ ॥ जीयादरीनिह भवानिति निर्जितारिर्देव प्रसाधि वसुधामिति सिद्धरत्न. । त्व जीवताच्चिरमिति प्रथमश्चिरायुरायोजि मगलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥ २१२ ॥ देवोऽयमवुधिमगाधमलब्ध्यपारमुल्लङ्घ्य लब्धविजयः पुनरप्युपायात् । पुण्यैकसारथिरिहेति विनातरायै. पुण्ये प्रसेदुषि नृणा किमिवास्त्यलभ्य ॥ २१३ ॥ पुण्यादय भरतचक्रधरो जिगीषुरुद्भिन्नवेलमानिलाहतवीचिमाल । प्रोल्लङ्घ्य वार्द्धिममर सहसा विजिग्ये पुण्ये वलीयसि किमस्ति जगत्यजय्यं ॥ २१४ ॥ पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमा पृथ्वीं स्वसादकृत चक्रधरः

जीव रहें, सदा सुखोंका अनुभव करें, लक्ष्मी आदिके द्वारा सदा वढते रहें, हे देव ! आप शत्रुओंको जीतिये, पृथ्वीको जीतिये, हे देव ! आप चिरकालतक जीवित रहें, और आपकी सव इच्छायें पूर्ण हों इसप्रकार भरतने उससमय वृद्ध लोगोंसे सेकडों पुण्यरूप आशीर्वाद प्राप्त किये ॥ २११ ॥ शत्रुओंको जीतनेवाले हे देव ! तू सदा शत्रुओंको जीत, चक्र आदि समस्त रत्नोंको सिद्ध करनेवाले हे प्रभो ! पृथ्वीका पालनकर, हे चक्रवर्तियोंमें चिरंजीवी प्रथम चक्रवर्ती तू वहुत दिनतक जीवित रह, इसप्रकार आशीर्वादके वाक्य मंगल समझकर वृद्ध लोग वार वार कह रहे थे ॥ २१२ ॥ जिसको पुण्य ही एक सहायक है ऐसा यह भरतेश्वर अगाध और पाररहित ऐसे समुद्रको उलंघनकर तथा विजय प्राप्तकर विना किसी विघ्नके यहां वापिस आगया है सो ठीक ही है क्योंकि जव मनुष्योंका पुण्य निर्मल होता है तव अलंघनीय अर्थात् न मिलने योग्य पदार्थ कौनसा रह जाता है अर्थात् कोई नहीं ॥ २१३ ॥ सवको जीतनेकी इच्छा करनेवाले इस भरत चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही जिसमें ज्वारकी ऊंची लहरें उठ रहीं हैं और जिसकी लहरोंके समूहको वायु ताडना कर रहा है ऐसे समुद्रको उलंघनकर विना किसी परिश्रमके मागधदेवको जीतलिया, सो ठीक ही है जव पुण्य वलवान् होता है तव फिर संसारमें ऐसा कौनसा पुरुष वाकी रहजाता है जो जीता न जा सके ?॥२१४॥ जिसकी

पृथुश्रीः । दुर्लंघ्यमब्धिमवगाह्य विनोपसर्गैः पुण्यात्परं न खलु साधनमिष्टसिध्यै ॥ २१५ ॥ चक्रायुधोऽयमरिचक्रभयंकरश्रीराक्रम्य सिंधुमतिभीषणनक्रचक्रं । चक्रे वशे सुरमवश्यमनन्यवश्य पुण्यात्पर नहि वशीकरण जगत्यां ॥ २१६ ॥ पुण्य जले स्थलमिवाभ्युपपद्यते नृन् पुण्यं स्थले जलमिवाशु निहंति ताप । पुण्य जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्त ॥ २१७ ॥ पुण्यं पर शरणमापदि दुर्विलंघ्यं पुण्यं दरिद्रति जने धनदायि पुण्यं । पुण्य सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्न पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिनुध्व ॥ २१८ ॥ पुण्य जिनेंद्रपरिपूजनसाध्यमाद्य पुण्य सुपात्रगतदान-

---

संपत्ति बहुत बडी है ऐसे इस चक्रवर्तीने पुण्यकर्मके उदयसे ही विना किसी उपद्रव और विघ्नके उलंघन करने अयोग्य ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर समुद्रका जल ही जिसकी सीमा है ऐसी पृथ्वी अर्थात् समुद्रतककी समस्त पृथ्वी अपने वश की, इसलिये कहना पडता है कि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिकेलिये पुण्यके सिवाय और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिये जिसकी संपत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे भरत चक्रवर्तीने मगर मच्छ आदि जलचर जीवोंसे अत्यंत भयानक ऐसे समुद्रको भी उलंघनकर अन्य किसीके वश न होने योग्य ऐसे मागध देवको भी नियमित रीतिसे अपने वश किया, इससे सिद्ध है कि तीनों लोकोंमें पुण्यके सिवाय अन्य कोई वश करनेवाला नहीं है ॥२१६॥ यह पुण्य मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान बहुत शीघ्र संताप दूर करता है, तथा पुण्य ही जल और स्थल दोनों जगहके भयमें एक तीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिये हे प्राणियो ! तुम लोग जिनेंद्रदेवके कहेहुये पुण्यकर्मोंको करो ॥ २१७ ॥ यह पुण्य आपत्तियोंमें परम शरण है, इसे कोई उलंघन नहीं कर सकता, पुण्य ही दरिद्री मनुष्योंको धन देने वाला है और पुण्य ही सुख चाहनेवाले लोगोंको सुख देनेवाला एक रत्न है, इसलिये सज्जन पुरुषो ! इस जिनेंद्रदेवके कहे हुये पुण्य कर्मको अवश्य संचय करो ॥ २१८ ॥ श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करनेसे उत्पन्न हुआ पहिला पुण्य है तथा सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ दूसरा पुण्य है, मुनि और श्रावकोंके व्रत पालन करनेसे उत्पन्न

समुत्थमन्यत् । पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयं ॥ २१९ ॥ इत्थं स्वपुण्यपरिपाकजमिष्टलाभं स श्लाघयन् जनतया श्रुतपुण्यघोषः । चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवात्सीत् ॥ २२० ॥ धुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भिदि स्पृशति पवने मंदं मंदं तरगविभेदिनि । अनुसुरसरित्सैन्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिधिजयश्लाघाशीर्भिर्जिनाननुचिंतयन् ॥ २२१ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं नामाष्टाविंशं पर्व ॥ २८ ॥

हुआ तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ चौथा पुण्य है, इसप्रकार जिनेंद्रदेवकी पूजन करना, सुपात्रको दान देना, व्रत पालन करना और उपवास करना यह चार प्रकार पुण्य है सो पुण्य उत्पन्न करनेवालोंको सदा संचय करना चाहिये ॥ २१९ ॥ इसप्रकार जिसने समस्त लोगोंसे पुण्यकी घोषणा सुनी है तथा अपने पुण्यकर्मके उदयसे समस्त इष्ट वस्तुयें प्राप्त की हैं ऐसा वह चक्रवर्ती सभामंडपमें आकर राजाओंके समूहके मध्यमें इंद्रके समान बडे भारी सिंहासनपर विराजमान हुआ ॥ २२० ॥ उससमय किनारेके वनोंको हिलानेवाला, रक्त अशोक आदि वृक्षोंके नवीन छोटे छोटे पत्तोंके संपुटको अलग अलग करनेवाला और समुद्रकी लहरोंको भिन्न भिन्न करनेवाला वायु धीरे धीरे बह रहा था ऐसे उससमय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और अनेक आशीर्वादोंके साथ साथ श्रीजिनेंद्रदेवको स्मरण करते हुये उस चक्रवर्तीने गंगाके किनारे किनारे पडी हुई सेनाके साथ साथ सुखसे निवास किया ॥ २२१ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे समुद्रके पूर्वद्वारको विजय करनेका वर्णन करनेवाला यह अट्ठाईसवा पर्व समाप्त हुआ ।

एकोनत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं कृत्वेज्यामिष्टसाधनीं । प्रतस्थे दक्षिणामाशा जिगीषुरनुतोयधिं ॥ १ ॥ यतोऽस्य पटुढक्काना ध्वनिरामद्रमुच्चरन् । मूर्छितः काहलारावैरब्धिध्वानं तिरोदधे ॥ २ ॥ प्रयाणभेरीनिस्वानः समूर्छन् गजबृंहितैः । दिङ्मुखान्यनयत्क्षोभ हृदयानि च विद्विषां ॥ ३ ॥ विभ्रमु' पवनोध्दूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव कल्लोलानुद्वेलानाजुहूपवः ॥ ४ ॥ एकतो लवणाम्भोधिरन्यतोप्युपसागरः । तन्मध्ये यान्बलौघोऽस्य तृतीयोऽब्धिरिवाबभौ ॥ ५ ॥ हस्त्यश्वरथपादात देवाश्च सनभश्वराः । पडगबलमस्येति पप्रये व्याप्य रोदसीः ॥ ६ ॥ पुरः प्रतस्थे दडेन चक्रेण तदनतर । ताभ्या विशोधिते

अथ उन्तीसवां पर्व.

अथानंतर—चक्रवर्तीने सेवेरे ही उठकर समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर, दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करता हुआ वह समुद्रके किनारे किनारे चला ॥ १ ॥ जिससमय चक्रवर्ती जा रहा था उससमय तुरईके शब्दोंसे मिली हुई बडे बडे नगाडोंकी निकलती हुई गंभीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥ २ ॥ हाथियोंकी चिंघारोंके साथ साथ चलनेके समय होनेवाले नगाडोंके शब्द सब दिशाओंको क्षुब्ध कर रहे थे और शत्रुओंके हृदयोंको भी क्षुब्ध (व्याकुल) कर रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे हिलती हुई जयपताकायें (जीतकी ध्वजायें) ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी बडी बडी लहरोंको बुला रही हीं हों ॥ ४ ॥ चलती हुई सेनाके एकओर तो [दक्षिणकी ओर) समुद्र था और दूसरी उत्तरकी ओर उपसागर था, इन दोनोंके बीचमें चलती हुई वह चक्रवर्तीकी सेना ऐसी अच्छी जान पडती थी मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥ ५ ॥ हाथी, घोडे, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना पृथ्वी आकाश दोनोंमें व्याप्त होकर फैल गई थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दंडरत्न और फिर चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा

मार्गे तद्बल प्रययौ सुखं ॥ ७ ॥ तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितं । दडोऽपि दस्युपक्षस्य कालदंड इवापर. ॥ ८ ॥ प्रययौ निकषांमोधिं समया तटवेदिका । अनु वेलावनं संम्राट् सैन्यैः सश्रावयन् दिशः ॥ ९ ॥ अनु वार्धितटं कर्षन्नलंघ्या स्वामनीकिनीं । आज्ञालता नृपाद्रीणा मूर्ध्नि रोपयति स्म स· ॥ १० ॥ चलिते चलित पूर्वं निर्याते नि.सृत पुरः । प्रयाते यातमेवास्मिन् सेनानीभिरिवारिभि. ॥ ११ ॥ निष्क्रात इति सभ्रान्तैरायात इति भीवशै· । प्राप्त इत्यनवस्थैश्च प्रणेमे सोऽरिभूमिपै. ॥ १२ ॥ महापगारयस्येव तरस्य बलीयसः । यो यः प्रतीपमभवत्स स निर्मूलता ययौ ॥ १३ ॥ प्र-

---

साफ किये हुये मार्गमें सुख पूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ वह चक्र शत्रुओंको विदारण (नाश) करनेके लिये करौंत वा आरीके समान था तथा दंड भी अपराधी लोगोंके लिये दूसरे कालदंडके समान था ॥ ८ ॥ वह चक्रवर्ती समुद्रके किनारे किनारे, किनारेकी वेदीके पास पास किनारेके वनके अनुसार अपनी सेनाके शब्दोंके द्वारा समस्त दिशाओं और शत्रुओंको सचेत करता हुआ चला ॥ ९ ॥ अपनी अलंघनीय सेनाको समुद्रके किनारे किनारे चलाता हुआ वह चक्रवर्ती अपनी आज्ञारूपी वेलको अनेक राजा रूपी पर्वतोंके मस्तकोंपर चढाता जाता था ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उसके सेनापतिके समान थे क्योंकि जिसप्रकार सेनापति महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिलेसे ही अपनी तैयारी करलेता था उसीप्रकार शत्रु भी महाराजकी चलनेकी इच्छा होते ही पहिले ही अपनी चलनेकी तैयारी कर लेते थे, सेनापति जिसप्रकार महाराजके निकलनेपर आगे निकल जाता है उसीप्रकार वे शत्रु भी महाराजके निकलनेपर उनके आगे निकल जाते थे और सेनापति जिसप्रकार महाराजके चलनेपर चलने लगता है उसीप्रकार शत्रु भी महाराजके चलनेपर उनके साथ चलते थे ॥ ११ ॥ ' राजा भरत निकला ' यह सुनकर शत्रु राजा व्याकुल होकर उसे प्रणाम करते थे, ' चक्रवर्ती आया ' यह सुनते ही डरकर आकर प्रणाम करते थे और ' समीप आया ' यह सुनकर अस्थिर चित्त होकर आकर उसे प्रणाम करते थे ॥ १२ ॥ जिसप्रकार बडे

तीपवृत्तिमादर्गे छायात्मानं च नात्मनः । विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ किमुत द्विप ॥ १४ ॥ चमूरवश्रवादेव कैश्चिदस्य विरोधिभिः । चमूरुवृत्तमारब्धमतिदूरं पलायिभि. ॥ १५ ॥ महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद्भयादुत्सृष्टमडलैः । भुजगैरिव निर्मोकस्तत्यजेऽपि परिच्छदः ॥ १६ ॥ प्रदुष्टान्भोगिनः कॉश्चित्प्रभुरुध्दृत्य मंत्रतः । वल्मीकेष्विव दुर्गेषु कुल्यानन्यानतिष्ठपत् ॥ १७ ॥ अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यषेवि सुखशीतला ॥ १८ ॥ केषाचित्पत्रनिर्मोक्षं छायापाय च भूभुजा । पादपानामिव ग्रीष्म' समभ्यर्णश्चकार सः ॥ १९ ॥ ध्वस्तोष्मप्रसरा गाढमुच्छ्वसंतोऽतराकुलाः ।

वेगवाली नदीके किनारेका वृक्ष यदि वह नव न जाय तो जडसे उखडकर वह जाता है उसीप्रकार जो राजा इस महा बलवानका विरोधी हुआ था वह वंश सहित नष्ट हो गया था ॥ १३ ॥ एक महा पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह चक्रवर्ती दर्पणमें उलटी पडीहुई अपनी छायाको (प्रतिबिंब) भी देख नहीं सकता था वह क्या अपने विरोधी शत्रुओंको सहन कर सकेगा ? ॥ १४ ॥ उसकी सेनाके शब्द सुनकर ही कितने ही विरोधी राजाओंने बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति धारण की थी, अर्थात् वे बहुत दूर भाग गये थे ॥ १५ ॥ जिसप्रकार बडे २ फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपनी काचली छोड जाते हैं उसीप्रकार भयसे जिन्होंने अपना राज्य भी छोड दिया है ऐसे बडे बडे कितने ही राजा लोगोंने अपने छत्र चामर सेना आदि राजचिन्ह भी छोड दिये थे ॥ १६ ॥ जिसप्रकार दुष्ट सर्पोंको मंत्रके जोरसे उठाकर वामीमें स्थापन कर देते हैं उसीप्रकार भरतने अन्य कितने ही दुष्ट राजाओंको उखाडकर किलोंमें बंद कर दिया था और उनकी जगहपर अन्य कुलीन राजाओंको विठाया था ॥ १७ ॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं था और जो अपनेको किसीतरहका संताप नहीं देना चाहते थे ऐसे अन्य कितने ही राजाओंने सुख और शांति, देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥ १८ ॥ जिसप्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु कितने ही वृक्षोंके पत्ते नाश कर देता है और कितने ही वृक्षोंको छायारहित कर देता है उ-

प्रातेरिमन्वैरिभूपालाः प्रापुर्मर्तव्यशेषता ॥ २० ॥ वैरकाम्याति यो नास्मिन्प्रागेव विननाश सः । विदध्यापयिपुर्वह्निं शलभ कुशली किमु ॥ २१ ॥ वस्तुवाहनसर्वस्वमाछिद्य प्रभुराहरत् । अरित्वमरिचक्रेषु व्यक्तमेव चकार सः ॥ २२ ॥ स्वयमर्पितसर्वस्वा नमतश्चक्रवर्तिनं । पूर्वमप्यरयः पश्चादाधिकारित्वमाचरन् ॥ २३ ॥ साधनैरमुना क्राता या धरा धृतसाध्वसा । सा धनैरेव त तोष नीत्वाभूद्धृतसाध्वसा ॥ २४ ॥ कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्वा

सीप्रकार भरतने समीप जाकर कितने ही अभिमानी राजाओंके हाथी घोडे आदि वाहन नष्ट कर दिये और कितनोंको हा कांति रहित करदिया ॥ १९ ॥ भरतके समीप पहुंचने पर अन्य कितने ही शत्रु राजाओंका तेज नष्ट होगया था, उनके श्वासोच्छ्वास शीघ्र शीघ्र आने लगे थे और उनका अंतःकरण बहुत व्याकुल हो गया था, उनका केवल मरना ही वाकी रह गया था शेष सव मरनेके चिन्ह हो गये थे ॥ २० ॥ जिसने भरतके साथ विरोध करनेकी इच्छा की थी वह पहिले ही नष्ट हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो पतंगा अग्निको बुझाना चाहता है वह क्या राजी खुशी रह सकता है ॥ २१ ॥ भरतने शत्रुओंके मोती मणि आदि रत्न, हाथी घोडे आदि वाहन और इसके सिवाय सब धन खींचकर ले लिया था और इसप्रकार समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको साफ अ-रि अर्थात् निर्धन बना दिया था ॥ २२ ॥ जिन राजाओंने अपना सव धन स्वयं भेटकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया था वे यद्यपि पहिले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे भरतकी सेनामें वडे अधिकारी हुये थे ॥ २३ ॥ इसप्रकार जो पृथ्वी पहिले भरतकी सेनासे व्याप्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथ्वी अपने धनसे भरतको संतुष्टकर निर्भय हो गई थी ॥ २४ ॥ वडे वडे कुलोंमें उत्पन्न हुये अनेक राजाओंने महाराज भरतको अपने कुलपरंपरासे चला आया ऐसा रत्न आदि धन देकर फिरसे अपनी पृथ्वी प्राप्त की, सो ठीक ही है क्योंकि रत्न आदि कुलपरंपरासे चला आया धन और नदीका पानी ये दोनों ही पृथ्वीसे उत्पन्न हुये हैं इसलिये ये सब जीतनेवालेके है, भावार्थ—रत्न आदि जो भरतको

स्वां भुवमार्जिजन् । कुल्याधनजलौघाश्च जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥ २५ ॥ प्रजाः करभराक्रांता यस्मिन् स्वामिनि दुःखिताः । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदंडं न्यधाद्विभुः ॥ २६ ॥ निजग्राह नृपान्दृप्तानन्वग्रहीत्सत्क्रियान् । न्यायः क्षात्रोऽयमित्येवं प्रजाहितविवित्सया ॥ २७ ॥ योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापालेष्वपि प्रायस्तस्य चिंत्यत्वमीयतुः ॥ २८ ॥ पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्य मता वर्णाश्रमाः प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजायते नते धृताः ॥ २९ ॥ पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकं । तद्द्वयं साध्यसिद्ध्यंगं सेनांगानि विभूतये ॥ ३० ॥ इति मंडलभूपालान्बलात्प्रणमयन्नयं ।

दिये गये थे वे सब उसीके समझने चाहिये क्योंकि वह ही सबका जीतनेवाला था ॥ २५ ॥ जिस राजाकी प्रजा करके बोझसे दवकर दुखी हो रही थी उसे राज्य पदसे हटाकर भरतने उसकी जगह पर किसी नीतिमान् राजाको बिठाया ॥ २६ ॥ जो राजा संपत्ति आदिके अभिमानसे अभिमानी हो रहे थे उन्हें भरतने यथायोग्य दंड दिया और जो नीतिमान् थे उनपर कृपा की, सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाके हितकी इच्छा होनेसे क्षत्रियोंका यह इस प्रकारका ही न्याय है ॥ २७ ॥ जो वस्तु नहीं है उसको प्राप्त करना योग कहलाता है और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम कहलाता है, भरतने जगतकी स्थितिके लिये केवल प्रजाके लिये ही योग और क्षेमकी चिंता नहीं की थी किंतु प्रजाको पालन करनेवाले अन्य राजाओंके लिये भी योग क्षेमकी चिंता उसे हुई थी ॥ २८ ॥ किसी एक देशके राजाकी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चारों ही वर्णवाली प्रजा रहती है, तथा चक्रवर्तीकी प्रजा नम्र हुये सब ही राजा हैं, इसलिये ही चक्रवर्तीको राजा प्रजा सबकी चिंता रहती है ॥ २९ ॥ भरतको सबको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही कारण था, तथा चक्ररत्न इसकी पुष्टि करनेवाला था, और पुण्य तथा चक्ररत्न ये दोनों ही उसके विजयरूप साध्यकी सिद्धिके मुख्य कारण थे, बाकी हाथी घोडे आदि सेनाके अंग सब उसकी विभूति अर्थात् वडप्पन दिखलानेके लिये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार भरतने सब मांडलिक राजाओंसे जवर्दस्ती प्रणाम कराया, उसने उन मांडलिक राजाओंका केवल

मानमेवाभनक् तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥ ३१ ॥ प्रतिप्रयाणमभ्येत्य प्राणमिनुमं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहंतः स्वेषु मूर्द्धसु ॥ ३२ ॥ प्रणताननुजग्राह सातिरेकैः फलैः प्रभुः । किमु कल्पतरोः सेवास्यफलाऽल्पफलापि वा ॥ ३३ ॥ सप्रेक्षणैः स्मितैर्हासैः सविश्रम्भैश्च जल्पितैः । सम्राट् सभावयामास नृपान्संमाननैरपि ॥ ३४ ॥ स्मितैः प्रसाद संजल्पैर्विश्रभ हसितैर्मुदं । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्तिस्म नृपेषु सः ॥ ३५ ॥ अतार्प्सीत्प्रणतानेष समताप्सीद्विरोधिनः । शमप्रतापौ क्ष्मा जेतु पार्थिवस्योचितौ गुणौ ॥३६॥ प्रसन्नया दृशैवास्य प्रसादः प्रणते रिपौ । भ्रूभंगेण स्फुटः कोपः सत्यं बहुनटो

मानभंग किया था, अपनी सेवा करनेके लिये जो उनका प्रेम था वह उसने भंग नहीं किया ॥ ३१ ॥ अपने प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करतेहुये अनेक राजालोग प्रत्येक पडावपर आकर उसे नमस्कार करते थे ॥ ३२ ॥ जिन राजाओंने आकर प्रणाम किया था उनपर भरतने विशेष अधिक फल देकर कृपा की थी सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा करना क्या कभी विना फल देनेवाली अथवा थोडा फल देनेवाली हुई है ? ॥ ३३ ॥ महाराज भरतने कितने ही राजाओंको उनकी ओर देखकर प्रसन्न किया, कितने ही को थोडा हँसकर प्रसन्न किया, कितनेको कुछ अधिक हँसकर प्रसन्न किया, कितनोंके साथ बातचीतकर उन्हें प्रसन्न किया और कितनोंको ही आदर सत्कारकर प्रसन्न किया ॥ ३४ ॥ भरतने कितनोंके ही साथ कुछ हँसकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की, कितनोंके साथ बातचीतकर अपना विश्वास प्रगट किया, कितनोंके साथ हँसकर अपना हर्ष प्रगट किया और कितने ही राजाओंको देखकर अपना प्रेम प्रगट किया ॥ ३५ ॥ जिन राजाओंने आकर उसे प्रणाम किया था उन्हें भरतने संतुष्ट किया और जिन्होंने उसके साथ विरोध किया था उन्हें उसने संताप दिया, सो ठीक ही है क्योंकि पृथ्वीको जीतनेके लिये शांतता और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण हैं ॥ ३६ ॥ जो उसे आकर प्रणाम करते थे उनके लिये अपनी प्रसन्न दृष्टिसे अपनी प्रसन्नता प्रगट करता था और जो उसके शत्रु थे उनकेलिये

नृपः ॥ ३७ ॥ अगान्मणिभिरत्यगैर्वंगास्तुगेर्मतंगजैः । तैश्च तैश्च कालिंगेशान्सोऽभ्यनदद्दुपानतान् ॥ ३८ ॥ मागधीयितमेवास्य स्फुटं मागधकैर्नृपैः । कीर्तयद्भिर्गुणानुच्चैः प्रसादमभिलाषुकैः ॥ ३९ कुरूनवंतीन्पांचालान्काशींश्च सह कोसलैः । वैदर्भानप्यनायासादाचकर्ष चमूपतिः ॥ ४० ॥ व्रजन्मद्रांश्च कच्छांश्च वेदीन्वत्सान्ससुह्मकान् । पुंड्रानौंड्रांश्च गौडांश्च मतमश्रावयद्विभो ॥ ४१ ॥ दशार्णान्कामरूपांश्च काश्मीरानप्युशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान्सोऽचिराद्वशमानयत् ॥ ४२ ॥ ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकालिंगागारजान्गजान् । गिरीनिव महोच्छ्रायान्प्रश्चोतन्मदनिर्झरान् ॥ ४३ ॥ दशार्णकवनोद्भूता

अपनी भौंहें टेडीकर अपना क्रोध प्रगट कर रहा था, सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग प्रायः महानट [अनेक तरहके देखपडने वाले] होते ही हैं ॥ ३७ ॥ वहुमूल्य मणियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये अंगदेशके राजाओंपर, ऊंचे ऊंचे हाथियोंको भेटकर नमस्कार करते हुये बंगाल देशके राजाओंपर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेटकर नमस्कार करते हुये कालिंग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥ ३८ ॥ मगधदेशके राजा भरतको प्रसन्न करनेकेलिये उसके वडे बडे गुण गा रहे थे इसलिये वे ठीक वंदीजनोंके [गुण गानेवाले भाट वा चारणोंके] समान जान पडते थे ॥ ३९ ॥ भरतके सेनापतिने कुरु, अवंती (उज्जैन) पंचाल, काशी कोशल और विदर्भ आदि देशोंके राजाओंको सहज ही अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् वश करलिया था ॥ ४० ॥ मंद्र, कच्छ, वेदी, वत्स, सुह्म पुंड्र, औंड्र और गौड देशमें फिरते हुये सेनापतिने सब जगह अपने स्वामी भरतकी विजय आज्ञा सुनाई थी ॥ ४१ ॥ उसने दशार्ण, कामरूप, काश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वश कर लिया था ॥ ४२ ॥ वहांके अनेक राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने बह रहे हैं ऐसे पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले, कलिंग और अंगारदेशमें उत्पन्न होनेवाले पर्वतोंके समान बडे बडे ऊंचे हाथी महाराजके भेट किये थे ॥ ४३ ॥ जिन बनोंमें हाथी उत्पन्न होते थे उनके स्वामियोंने दिग्गजोंकी स्पर्द्धा करनेवाले दशार्णक वनमें उत्पन्न हुये तथा

नपि चेदिकसेरुजान् । दिङ्नागस्पर्द्धिनो नागानदुर्नागवनाधिपाः ॥ ४४ ॥ विभोर्बलभरक्षोभमसहतीव दुःसह । सुपुवेऽनंतरत्नानि गार्भिणीव वसुंधरा ॥ ४५ ॥ आ पाडुरगिरिप्रस्थादा च वैभारपर्वतात् । आ शैलाद्गोरथादस्य विचेरुर्जयकुजरा॰ ॥ ४६ ॥ वगागपुड्रमगधान्मालवान्काशिकोशलान् । सेनानी परिबभ्राम जिगीपुर्जयसाधनै॰ ॥ ४७ ॥ कालिंदकालकूटौ च किरातविषय तथा । मल्लदेश च सप्रापन्मतादस्य चमूपति. ॥ ४८ ॥ धुनीं सुमागधीं गगा गोमतीं च कपीवतीं । रेवस्या च नदीं तीर्त्वा भ्रेमुरस्य चमूगजाः ॥ ४९ ॥ गभीरामतिगंभीरा कालतोया च कौशिकीं । नदीं कालमहीं ताम्रामरुणा निधुरामपि ॥ ५० ॥ त लौहित्यसमुद्र च कबुक च महत्सर. । चमूमतगजास्तस्य भेजुः प्राच्यवनोपगाः ॥ ५१ ॥ दक्षिणेन नद शोणमु-

---

चेदि और कसेरू देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट किये थे ॥ ४४ ॥ उससमय गर्भिणीके समान उस पृथ्वीने चक्रवर्तीकी सेनाका बडी कठिनतासे सहन करने योग्य बोझको न सह सकनेके कारण ही क्या मानो अनंत रत्न उत्पन्न किये थे ॥ ४५ ॥ हिमवान पर्वतके नीचले भागसे लेकर वैभार पर्वततक तथा गोरथ पर्वततक सब जगह भरतके विजयी हाथी फिरते थे ॥ ४६ ॥ सबको जीतनेकी इच्छा करता हुआ भरतका सेनापति अपनी सब सेना लेकर वंग, अंग, पुंड्र, मगध, मालवा, काशी, कौशल आदि सब देशोंमें घूमा था ॥ ४७ ॥ भरतकी आज्ञासे वह सेनापति कालिंद देशमें, कालकूट देशमें, भीलोंके देशमें और मल्ल देशमें पहुंचा था ॥ ४८ ॥ उस भरतकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रेवस्या आदि नदियोंको तैरकर चारोंओर घूम रहे थे ॥ ४९ ॥ पूर्व दिशाके बनके समीप समीप जानेवाले उसकी सेनाके हाथी अतिशय गहरी ऐसी गंभीर नामकी नदी तथा कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा, निधुरा आदि नदियोंमें तथा लौहित्यसमुद्र और कुंबुक नामके बडे सरोवरमें घूमे थे ॥ ५०-५१ ॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उडती हुई धूलिसे सब दिशायें भर दी हैं, जिनकी नाकके नथुने चंचल हो रहे हैं और जो बडे वेगवाले तथा विजयके मुख्य कारण हैं ऐसे भरतके घोडे शोण नामके नदकी दक्षिणओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर,

त्तरेण च नर्मदा । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीं ॥ ५२ ॥ विचेरुः स्वखुरोद्भूतधूलिसंरुद्धादिमुखाः । जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा जयसाधनवाजिनः ॥ ५३ ॥ उदुंबरीं च पनसां तमसां प्रमृशामपि । ययुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥ ५४ ॥ चेदिपर्वतमुल्लंघ्य चेदिराष्ट्रं विजिग्यिरे । पपासरोम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरगमाः ॥ ५५ ॥ तमृष्यमूकमाक्रम्य कोलाहलगिरिं श्रिता' । प्राङ्माल्यगिरिमासेदुर्जयिनोऽस्य जयद्विपा' ॥ ५६ ॥ नागप्रियाद्रिमाक्रम्य कुतपावज्ञया विभोः । सेनाचरा स्वसाचक्रुर्गजाश्चेदिकसेरुजान् ॥ ५७ ॥ नदीं छत्रवतीं क्रात्वा वन्येभक्षततरोधस । भेजुश्चित्रवतीमस्य चमूवीरास्तुरङ्गमैः ॥ ५८ ॥ रुध्वा माल्यवतीतीरवन वन्येभसकुल । यामुन च पयः पीत्वा जिग्युरस्य द्विपा दिश. ॥ ५९ ॥ अनु वेणुमतीतीर गत्वाऽस्य

बीजा नामकी नदीके दक्षिण उत्तर दोनों किनारोंपर और मेखला नदीके चारोंओर घूमे थे ॥ ५२-५३ ॥ भरतके हाथी उदुंवरीं, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना आदि नदियोंतक जा पहुंचे थे ॥ ५४ ॥ चेदि नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि नामके राज्यको जीता था तथा भरतके वे घोडे पंपा नामके सरोवरके जलको पारकर घूम रहे थे ॥ ५५ ॥ सबको विजय करनेवाले उस भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक नामके पर्वतको उलंघनकर कोलाहल नामके पर्वतपर जा पहुंचे थे और फिर माल्यनामके पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुंचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने लीला पूर्वक ही नागप्रिय नामके पर्वतको उलंघनकर चेदि और कमेरु देशमें उत्पन्न हुये हाथियोंको भी अपने वश कर लिया था ॥ ५७ ॥ उसकी सेनाके वीर पुरुष घोडोंके द्वारा छत्रवती नदीको उलंघनकर जिसके किनारे बनके हाथियोंसे खूंदे गये हैं ऐसी चित्रवती नदीतक जा पहुंचे थे ॥ ५८ ॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुये ऐसे माल्यवती नदीके किनारेके बनको घेरकर और यमुनाका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उधरकी दिशायें अर्थात् सब देश जीते थे ॥ ५९ ॥ उसकी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे किनारे जाकर वत्सदेशकी भूमि उलंघन की और फिर दशार्ण देशकी भूमि उलंघन की थी ॥ ६० ॥

---

(१) यहांपर मूलमें पपु ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ यह है कि उन हाथियोंने इन नदियोंका पानी पीया था ।

जयसाधन । वत्सभूमिं समाक्रम्य दशार्णामप्यलङ्घयत् ॥ ६० ॥ विशाला नालिका सिंधु पारा नि·कुदरीमपि । बहुवज्रा च रम्या च नदीं सिकतिनीमपि ॥ ६१ ॥ कुहा च समतोया च कजामपि कपीवतीं । निर्विंध्या च धुनीं जबूमतीं च सरिदुत्तमा ॥ ६२ ॥ वसुमत्यापगामब्धिगामिनीं शर्करावतीं । सिप्रा च कृतमाला च परिंजा पनसामपि ॥ ६३ ॥ नदीमवंतिकामा च हस्तिपानीं च निम्नगा । कागधुन्यापगा व्याघ्रीं धुनी चर्मण्वतीमपि ॥ ६४ ॥ शतभागा च नदा च नदी करभवेगिनी । चुल्लितापीं च रेवा च सप्तपारा च कौशिकीं ॥६५॥ सरितोऽमूरगाधापा विष्वगारुध्य तद्बल । तुरगमखुरोत्खाततीरा विस्तारिणीर्व्यधात् ॥ ६६ ॥ तैराश्रिक गिरिं क्रांत्वा रुध्वा वैडूर्यभूधर । भटाः कुटाद्रिमुल्लङ्घ्य पारियात्रमशिश्रयन् ॥ ६७ ॥ गत्वा पुष्पगिरेः प्रस्थान्सानून्स्मितगिरेरपि । गदागिरेर्निकुंजेषु बलान्यस्य विशश्रमुः ॥ ६८ ॥ वातपृष्ठदरीभागानृक्षवत्कुक्षिभिः समम् । तत्सैनिकाः श्रयति स्म कवलाद्रि-

---

भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिंधु, पारा, निष्कुंदरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतनी, कुहा, समतोया, कुंजा, कपीवती, निर्विंध्या अति उत्तम जंबूमति, वसुमती, समुद्रतक पहुंचनेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिंजा, पनसा, अवंतिकामा, हस्तिपानी, कागंधुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नदा, करभवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा और कौशिकी आदि अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारोंओरसे घेरकर घोडोंके खुरोंसे जिनके किनारे खुदकर पडगये हैं ऐसी बहुत चौडी बना दी थीं ॥ ६१-६६ ॥ शूरवीरोंने तैराश्रिक नामके पर्वतको उलंघनकर वैडूर्य नामका पर्वत अपने वश किया, और फिर कूटाचलको उलंघनकर पारियात्र नामके पर्वतपर विश्राम किया ॥ ६७॥ इसीप्रकार वह सेना पुष्पगिरिके शिखरपर चढकर स्मित नाम पर्वतके ऊपर चढी, और फिर वहांसे चलकर उसने गदा नामके पर्वतकी लतामंडपोंमें विश्राम लिया ॥ ६८ ॥ तथा जिसकी गुफायें रीछोंसे भरी हुई हैं ऐसे बातपृष्ट नाम पर्वतकी गुफाओंका आश्रय भी उस सेनाने लिया और फिर वह सेना कंवल नामके पर्वत पर भी जा चढी ॥ ६९ ॥ फिर वह सेना वासवंत महापर्वतको उलंघनकर असुर और धूपन पर्वतपर कुछ ठहरकर मदेभ और अंगिरेयिक पर्वतपर जा पहुंची ॥ ७० ॥ सेनाके लोग

तटान्यपि ॥ ६९ ॥ वासवतं महाशैलं विलंघ्यासुरधूपने । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन्मदेभानंगिरेर्विकान् ॥ ७० ॥ निःसपत्नमिति भ्रेमुरितश्चेतश्च सैनिकाः । द्विपान्वनविभागेषु कर्षतोऽस्य निजैर्गजैः ॥ ७१ ॥ दुस्तराः सुतरा जाताः सभुक्ताः सरितो बलैः । स्वारोहाश्च दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥ ७२ ॥ राष्ट्राण्यवधयस्तेषां राष्ट्रीयाश्च महीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चामुना फलैः ॥ ७३ ॥ नृपानवारपारीणान् द्वैप्यानप्युपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य पुपोष वनजान्गजान् ॥ ७४ ॥ रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सित । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराज्ञया ॥ ७५ ॥ महाति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलरुद्धानि किमसाध्य महीयसा ॥ ७६ ॥ इत्थ स पृथिवीमध्यात्पौरस्त्यान्निर्जयन्नृपान् । प्रतस्थे दक्षि-

---

उस सब देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनोंमें अनेक हाथियोंको पकडते हुये इधर उधर घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियां गहरीं थीं जिनमें तैरना भी कठिन था उनका पानी जब सेनाने नहा धो पीकर खर्च कर दिया तब वे ही नदियां सहज तैरने योग्य कम गहरी रह गई थीं तथा जिन पर्वतोंपर चढना कठिन था उनके शिखर सेनाके द्वारा टूट जानेसे वे पर्वत सहजरीतिसे चढने योग्य होगये थे ॥ ७२ ॥ देशोंकी सीमायें और उन देशोंके राजा लोग फलके लिये ही भरतके समीप आये थे तथा भरतने भी अनेक प्रकारके फलोंसे उन्हें संतुष्ट किया था ॥ ७३ ॥ जो राजा उपसागरके पार रहते थे अथवा उपसागरके द्वीपोंमें रहते थे उन सबको भरतने अपनी सेनासे वश किया था तथा जंगली हाथियोंको पकड पकडकर पालन किया था ॥ ७४ ॥ भरतने उन राजाओंसे अपनी इच्छानुसार अनेकप्रकारके रत्न प्राप्त किये थे तथा फिर अपनी आज्ञामें रखकर उन्हें उनके उसी राज्यपर विराजमान किया था ॥ ७५ ॥ जो बडे बडे किले पहाडोंके ऊपर थे तथा जो जमीनके नीचे थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके आधीन होगये थे, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यवान पुरुषोंको ऐसी कौनसी वस्तु है जो सिद्ध न होसके ॥ ७६ ॥ इसप्रकार भरतने पूर्व दिशाके सब राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशामें रहनेवाले राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथ्वीके (भरतक्षेत्रके) मध्य-

णामाशा दाक्षिणात्यजिगीषया ॥ ७७ ॥ यतो यतो बलं जिष्णो· प्रचलत्युद्धनायक । ततस्ततः ससामता नमंत्यानम्रमौलयः ॥ ७८ ॥ त्रिकलिंगाधिपानौद्रान् कच्छाध्रविषयाधिपान् । प्रातरान्केरलॉश्चैरान्पुन्नाटॉश्च व्यजेष्ट सः ॥ ७९ ॥ कूटस्थानोलिकॉश्चैव समाहिषकमेकुरान् । पाड्यानतरपाड्याश्च दडेन वशमानयत् ॥ ८० ॥ नृपानेतान्विजित्याशु प्रणमय्य स्वपादयोः । हृत्वा सत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत्परा मुद ॥ ८१ ॥ सेनानीरपि बभ्राम प्रभोराज्ञा समुद्वहन् । गिरीन्ससरितो देशान् कालिंगकवनाश्रितान् ॥ ८२ ॥ स साधनैः सम भेजे तैलाभिक्षुमतीमपि । नदीं नक्ररवा वगा श्वसना च महानदीं ॥ ८३ ॥ धुनीं वैतरणीं मापवतीं च समहेद्रका । सैनिकै. सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावर तीर्थं पश्यन्गोदावरीं शुचिं । सरो मानसमासाद्य मुमुदे शुचिमानस. ॥ ८५ ॥ सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवर्णां च निम्नगा । सन्नीरा च प्रवेणीं च व्यतीयाय सम बलैः ॥ ८६ ॥

भागसे दक्षिण दिशाकी ओर गमन किया ॥ ७७ ॥ उत्कृष्ट सेनापतिसहित भरतकी सेना जहां जहां गई थी वहां वहांके राजाओंने अपने शूरवीरोंसहित आकर मस्तक नवाकर नमस्कार किया था ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिंग, औद्र, कच्छ, आंध्र, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाट देशके सब राजाओंको जीता था ॥ ७९ ॥ तथा कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पांड्य और अंतरपांड्य आदि देशोंके राजाओंको दंडरत्नसे अपने वश किया था ॥ ८० ॥ भरतने इन सब राजाओंको बहुत शीघ्र अपने वशकर सबसे अपने पैरोंपर नमस्कार कराया और उनके सार रत्न लेकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८१ ॥ प्रभुकी आज्ञा पालन करता हुआ सेनापति भी कलिंग देशके बनके पवत नदी और सब देशोंमें घूमा था ॥ ८२ ॥ वह अपनी सेनाके साथ साथ तैला, इक्षुमती, नक्ररवा, वंगा, श्वसना, आदि बडी २ नदियोंमें पहुंचा था ॥ ८३ ॥ तथा वैतरणी माषवती महेंद्रका इन नदियोंको अपनी सेनाके साथ पारकर शुष्कनदीपर जा पहुंचा था ॥ ८४ ॥ सप्तगोदावर नामके सरोवरको देखता हुआ पवित्र गोदावरीको पारकर निर्मल अंतःकरणवाला वह सेनापति मानस सरोवर पर पहुंचकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ८५ ॥ तदनंतर उसने सुप्रयोगा नदीको पारकर सेनाके साथ साथ कृष्णवर्णा सन्नीरा

कुब्जा धैर्यां च चूर्णी च वेणां सूकारिकामपि । अवर्णां च नदी पश्यन् दाक्षिणात्यानशुश्रुवत् ॥ ८७ ॥ महेद्राद्रिं समाक्रामन्विंध्योपांत च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयाचलं ॥ ८८ ॥ गोशीर्षं दर्दुराद्रिं च गिरिं पाड्यकवाटकं । सशीतगुहमासीदन्नग श्रीकटनाह्वय ॥ ८९ ॥ श्रीपर्वत च किष्किंध निर्जयन् जयसाधनै. । तत्र तत्रोचितैर्लाभैरवर्धत चमूपति ॥ ९० ॥ कर्णाटकान्स्फुटाटोपविकटोद्भटवेषकान् । हरिद्राजनताम्बूलप्रियान्प्रायो यशोधनान् ॥ ९१ ॥ आधात्प्रहारेषु कृतलक्षान्कदर्यकान् । पाषाणकठिनानगैर्न पर हृदयैरपि ॥ ९२ ॥ कालिंगकान्गजप्रायसाधनान्सकलाधनान् । प्रायेण तादृशानोड्रान्जडानुद्धमरप्रियान् ॥९३॥ चोलिकान्नालिकप्रायान्प्रायशोऽनृजुचेष्टितान् । केरलान्सरलालापान्कलगोष्ठीषु चचुरान् ॥९४॥ पाड्यान्प्रच-

---

और प्रवेणी नदीको पार किया ॥ ८६ ॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णा, वेणा, सूकरिका और अंवर्णा आदि नदियोंको देखता हुआ वहांके सब राजाओंको भरतकी आज्ञा सुनाई ॥ ८७ ॥ इसीतरह महेंद्र पर्वतको उलंघनकर विंध्याचलकी तलहटीको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढकर वह सेनापति मलयाचल पर्वतपर गया ॥ ८८ ॥ और अपनी सेनाके साथ गोशीर्ष, दर्दुर, पांड्य, कवाट और शीतगुह पर्वतपर पहुंचा तथा श्रीकटन श्रीपर्वत और किष्किंधा आदि पर्वतोंको जीतता हुआ वहांके राजाओंसे यथायोग्य धन सत्कार आदि पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ ८९-९० ॥ भयंकर शरीर होनेसे जिनका भेष कुछ विकट और शूरवीरताजनक है, जिन्हें (शरीर सुशोभित करनेकेलिये) हल्दी अंजन और तांबूल वहुत प्रिय हैं तथा जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णाटक देशके राजाओंको, तथा कठिन प्रहार करनेमें जिन्हें खूब अभ्यास है, जो वहुत कृपण हैं, पत्थरके समान जिनका शरीर भी कठिन है और हृदय भी कठिन हैं ऐसे अंध्रदेशके राजाओंको, जिनके प्राय: हाथियोंकी सेना है और जो कला कौशलमें निपुण हैं ऐसे कलिंगदेशके राजाओंको, तथा प्राय: कलिंगदेशके समान और वडे लडनेवाले ऐसे औड्र देशके राजाओंको, तथा प्राय झूठ वोलनेवाले, कुटिल चेष्टायें करनेवाले ऐसे चोल देशके राजाओंको तथा मधुर भाषण करनेमें प्रवीण और

उद्दोर्दण्डान्खण्डितारातिमंडलान् । प्रायो गजप्रियान्पाण्ड्यान्विकृतभूयिष्ठसाधनान् ॥ ९५ ॥ दृष्टापदानानन्यांश्च तत्र तत्र व्युदुत्थितान् । जयनैर्जयरस्कंध सेनानीरनयद्वश ॥ ९६ ॥ ते च सत्कृत्य सेनान्य पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमति स्म दूराद्दूरीकृतायतिं ॥ ९७ ॥ करग्रहेण संपीड्य दक्षिणाशा वधूमिव । प्रसभं हततत्सारो दक्षिणाब्धिमगात्प्रभु ॥ ९८ ॥ लवगलवलीप्रायमेलागुल्मलताकितं । वेलोपातवनं पश्यन् महतीं तृप्तिमाप स. ॥ ९९ ॥ तमासिषेविरे मंदमादोलितसरोजला । एलासुगंधय सौम्या वेलातवनवायव ॥ १०० ॥ मन्दुद्रुशाखाग्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलि । नूनं प्रत्यगृहीदेन वनोद्दे-

---

सरल बोलनेवाले ऐसे केरल देशके राजाओंको, तथा प्रचंड भुजाओंको धारण करनेवाले और शत्रुओंके समूहको नाश करनेवाले, युद्धमें धनुष और भाला आदि शस्त्रोंको अधिकतासे रखनेवाले और हाथियोंसे प्रेम रखनेवाले ऐसे पांड्यदेशके राजाओंको, तथा जिन्हें जगह जगह अपना नाश देखना पडा है ऐसे अन्य कितने ही उद्धत राजाओंको सेनापतिने अपनी विजय करनेवाली सेनाके द्वारा आक्रमणकर अपने वश किया ॥ ९१-९६ ॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कारकर तथा भयके साथ कुछ भेट देकर जिसने भेटमें दी हुई संपत्ति स्वीकार की है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही नमस्कार किया ॥ ९७ ॥ जिसप्रकार स्त्रीको पाणिग्रहणकर अपने वश करते हैं उसीप्रकार दक्षिण दिशाको अर्थात् दक्षिण दिशाके राजाओंपर कर बिठाकर उन्हें अपने वश किया और फिर अच्छीतरह उनका सार धन लेकर प्रभु भरत दक्षिण समुद्रपर जा पहुंचा ॥ ९८ ॥ वह चक्रवर्ती लोंग चंदनलता तथा इलायचीके छोटे छोटे पौधोंकी वेलें आदिसे भराहुआ समुद्रके किनारेके वनको देखताहुआ बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥ ९९ ॥ जो तालावोंके जलको धीरे धीरे हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगंधि भरी हुई है और जो सौम्य है ऐसा समुद्रके किनारेके वनका वायु धीरे धीरे उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रहा था ॥ १०० ॥ वायुके हिलनेसे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसने अनेक प्रकारकी पुष्पांजलि बखेर रक्खी हैं इसप्रकारका वह वनका प्रदेश ऐसा जान पडता था मानो वह इस चक्रवर्तीको बुलानेकेलि-

शो विशापतिं ॥ १०१ ॥ पवनाऽऽधूतशाखाग्रैर्व्यक्तपट्पदनिस्वनैः । विश्रायै सैनिकानस्य व्याहरन्निव पादपाः ॥ १०२ ॥ अथ तस्मिन्वनाभोगे सैन्यमावसयद्विभुः । वैजयतमहाद्वारानिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥ १०३ ॥ सनाग बहुपुन्नाग सुमनोभिरधिष्ठित । बहुपत्ररथ जिष्णोर्बल तद्वनमावसत् ॥ १०४ ॥ सच्छायान्सफलॉस्तुगान्बहुपत्रपरिच्छदान् । आसेवत जनाः प्रीत्या पार्थिवास्तापविच्छिदः ॥ १०५ ॥ सच्छायानप्यसम्भाव्यफलान्प्रोज्झ्य महाद्रुमान् । सफ-

ये सामने ही आया हो ॥ १०१ ॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर बैठे-हुये भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे जिससे ऐसा जान पडता था मानों वे वृक्ष विश्राम करनेकेलिये चक्रवर्तीकी सेनाके लोगोंको बुला रहे ही हों ॥ १०२ ॥

अथानंतर—भरतने उस बनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयंत महाद्वारके समीप अपनी सेनाके डेरा कराये ॥१०३॥ वह बन और चक्रवर्तीकी सेना दोनों समान थे क्योंकि जिसप्रकार वनमें नागजातिके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें सनाग अर्थात् उत्तम हाथी थे, जिसप्रकार बनमें बहुपुन्नाग अर्थात् बहुतसे नागकेसरके वृक्ष थे उसीप्रकार सेनामें बहुपुन्नाग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुष थे, जिसप्रकार वन सुमन अर्थात् पुष्पोंसे सुशोभित था उसीप्रकार सेना भी सुमन अर्थात् अच्छे हृदयवाले सज्जन लोगोंसे भरी थी और बन जिस-प्रकार बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सुंदर था उसीप्रकार सेना भी बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक हाथी घोडे आदि-सवारी और रथोंसे सुंदर थी, इसप्रकार भरतकी उस सेनाने अपने समान बनमें निवास किया ॥१०४॥ जिसप्रकार हाथी घोडे आदि विभूति सहित, अच्छा आश्रय और फल देनेवाले तथा संताप दूर करनेवाले बडे राजाओंकी लोग सेवा करते हैं उसीप्रकार वे सेनाके लोग जिनकी अच्छी छाया है, जो फल सहित हैं, बहुतसे पत्ते होनेसे जिनका घेरा भी बहुत है, जो ऊंचे हैं और संताप दूर करनेवाले हैं ऐसे वृक्षोंका आश्रय बडे प्रेमसे कर रहे थे ॥ १०५ ॥ सेनाके अनेक लोग जिनकी घनी छाया है, परंतु जो फल रहित हैं ऐसे बडे बडे वृक्षोंको भी छोडकर थोडी छायावाले किंतु फल-

लान्निरलच्छायानप्यहो शिश्रियुर्जना. ॥ १०६ ॥ आकालिकीमनादृत्य बहिच्छायां तदातनीं । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रयुर्जनाः ॥ १०७ ॥ वनस्थलीतरुच्छायानिरुद्धद्युमणित्विषः । सजानयः सरस्तीरेष्वध्यासिषत सैनिकाः ॥ १०८ ॥ सप्रेयसीभिराबद्धप्रणयैराश्रिता नृपैः । कल्पपादपजा लक्ष्मीं व्यक्तमूहूर्वनद्रुमाः ॥ १०९ ॥ कपय कपिकच्छूनामुद्धुन्वानाः फलच्छटाः । सैनिकानाकुलॉश्चक्रुर्निविष्टान्वीरुधामधः ॥ ११० ॥ सर.परिसरेष्वासन्प्रभोराश्वीयमदुरा । सुदराः स्वैरमाहार्यैर्वाष्पच्छेद्यैस्तृणाकुरै. ॥ १११ ॥ अवतारितपर्याणमुखभाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरत्प्रोथैर्मुखैरश्वा. क्ष्मा विजिघ्रुर्विवृत्तस-

सहित वृक्षोंके नीचे विश्राम लेते थे ॥ १०६ ॥ सेनाके लोग उससमयकी थोडी देर रहनेवाली वाहरकी छाया छोडकर वृक्षके नीचे आनेवाली छायामें वैठे थे ॥ १०७ ॥ वनके वृक्षोंकी घनी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक रही है ऐसे कितने ही सेनाके लोग अपनी अपनी स्त्रियोंसहित सरोवरोंके किनारोंपर आराम कर रहे थे ॥१०८॥ जो परस्परके प्रेमसे वंधेहुये हैं ऐसे अपनी अपनी स्त्रियोंसहित अनेक राजा लोग जिनके नीचे वैठे हुये हैं ऐसे कितने ही वनके वृक्ष कल्पवृक्षसे उत्पन्न हुई शोभाको स्पष्ट प्रगट कर रहे थे, भावार्थ–वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पडते थे और स्त्रीपुरुष भोगभूमियोंके समान जान पडते थे ॥ १०९ ॥ वहांके वंदर कौंचके फल समूहोंको हिलाते थे जिससे वेलोंके नीचे वैठे हुये सेनाके लोग वडे ही व्याकुल होते थे, भावार्थ–कौंचकी फली शरीरपर छू जानेसे खुजली उठती है, वंदरोंके हिलानेसे वे फलियां नीचे वैठे हुये लोगोंके शरीरपर पडती थीं जिससे उनके खुजली उठती थी और वे व्याकुल होते थे ॥ ११० ॥ तालावके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य और वाफसे ही टूटनेवाले अर्थात् बहुत कोमल ऐसी घासके अंकूरोंसे शोभायमान चक्रवर्तीके घोडोंकी घुडसाल थी ॥ १११ ॥ जिनपरसे पलान (गद्दा वा काठी) और लगाम आदि सामिग्री उतार ली गई है ऐसे घोडे जमीनपर लोटनेकी इच्छासे नाकके नथुनोंको हिलाते हुये मुखसे जमीनको सूंघ रहे थे ॥ ११२ ॥ जिसपर बहुत घनी कमलकी पराग बिछी हुई है ऐसी तालावके समीप-

वः ॥ ११२ ॥ सांद्रपद्मरजःकीर्णे सरसामंतिकस्थले । मंदं दुधुवुरंगानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥ ११३ ॥ विवभावंबरे कंजरजःपुंजोऽनिलोध्दुतः । अयं नु रचितोश्वानामिवोच्चैः पटमंडपः ॥ ११४ ॥ रजस्वला महीं दृष्ट्वा जुगुप्सव इवोत्थिताः । द्रुतं विविशुरभासि सरसीना महाहयाः ॥ ११५ ॥ वारि वारिजकिंजल्कततमश्वा विगाहिताः । धौतमप्यगराग स्वं भेजुरभोजरेणुभिः ॥ ११६ ॥ सरोवगाहनिर्धूतश्रमा.·पीतांभसो हयाः । आमीलिताक्षमध्यूपुर्वितताम्पटमंडपान् ॥ ११७ ॥ नालिकेरद्रुमेष्वासीदुचितो वर्ष्मशालिन. । निवेशो हास्तिकस्यास्य त्रिभोस्तालीवनेषु च ॥ ११८ ॥ प्रपतन्नालिकेरौघस्थपुटा

की जमीनपर लोटकर वे घोडे धूल झाडनेके लिये धीरे धीरे अपने शरीरको हिला रहा थे ॥११३॥ उनके शरीर हिलानेसे जो कमलकी परागका समूह वायुसे उडकर आकाशमें छा गया था वह ऐसा जान पडता था मानो घोडोंके लिये बहुत ऊंचा कपडेका मंडप ही बनाया गया हो ॥ ११४ ॥ बडे बडे घोडे पृथ्वीको रजस्वला [धूलिसे भरी हुई] देखकर ग्लानि करते हुये उठे और बहुत शीघ्र तालावोंके पानीमें घुस गये, भावार्थ—जैसे कोई रजस्वला स्त्रीको स्पर्शकर स्नान करता है उसीप्रकार स्पर्श की हुई पृथ्वीको रजस्वला अर्थात् धूलिसहित देखकर ही क्या मानो वे घोडे ग्लानि करते हुये नहानेके लिये तालावोंके पानीमें घुसे थे ॥ ११५ ॥ कमलकी परागसे भरे हुये पानीमें स्नान करनेसे शोभाके लिये उनके शरीरपर लगाया हुआ रंग यद्यपि उतर गया था तथापि वे कमलकी परागसे फिर रंगे हुयेके समान जान पडते थे ॥ ११६ ॥ तालावोंमें स्नान करलेनेसे जिनका परिश्रम सब दूर हो गया है तथा जिन्होंने खूब पानी पी लिया है ऐसे वे घोडे कपडेके बडे बडे मंडपोंमें कुछ कुछ नेत्रोंको बंद कर आरामसे खडे थे ॥ ११७ ॥ महाराजके हाथियोंके डेरे नारियल और ताडवृक्षोंके बनमें बनाये गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि वे हाथी बहुत मोटे और ऊंचे थे ॥ ११८ ॥ ऊपरसे पडते हुये नारियरोंके समूहसे जो बनकी भूमि ऊंची नीची हो रही थी वहांपर उन हाथियोंने अपनी सूंडसे उन नारियरोंको एक जगह हटाकर अपने लिये यथायोग्य स्थान बना लिया था ॥ ११९ ॥

वनभूमयः । हस्तिना स्थानतामीयुस्तैरेव प्रांतसरितैः ॥ ११९ ॥ द्विपानुदस्यतस्तीव्रं वमथुव्यंजितश्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरांस्यभिनिपादिनः ॥ १२० ॥ नीचैर्गतेन सुव्यक्तमार्गसंजनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसीरवगाहने ॥ १२१ ॥ प्रवेष्टुमब्जिनीपत्रच्छन्न नागो नवग्रहः । नैच्छत्प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारिधिशंकया ॥ १२२ ॥ वनं विलोकयन्स्वैरं कवलोचितपल्लव । गजश्चिरगृहीतोऽपि किमप्यासीत्समुत्सुकः ॥ १२३ ॥ स्वैर न पपुरंभासि नागृह्णन्कवलानपि । केवल वनसंभोगसुखाना सस्मरुर्गजाः ॥ १२४ ॥ उत्पुष्करान् स्फुरद्रौक्मकक्षान्निन्युर्द्विपान्सरः । सशयूनिव नीलाद्रीन्सविद्युत इवांबुदान् ॥१२५॥ वनद्विपमदामोदवाहिने गधवाहिने । गजः कुप्यन् जलोपांते निन्ये कृच्छ्रान्निषादिना ॥१२६॥ अकस्मात्कुपितो दती शिरस्तिर्य-

---

जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो सूंडसे पानीकी छींटें निकालनिकालकर अपना परिश्रम प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग जलमें स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२०॥ जो धीरे धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुये परिश्रमको प्रगट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग स्नान करानेके लिये तालावोंपर ले गये थे ॥ १२१ ॥ कोई नया पकडा हुआ हाथी बार बार हांकनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुये जलमें कुछ हरा होनेसे उसे समुद्र समझकर प्रवेश करना नहीं चाहता था ॥ १२२ ॥ बहुत दिनका पकडा हुआ भी कोई हाथी अपनी इच्छानुसार खाने योग्य कोमल पत्तेवाले बनको देखकर बनमें रहनेके लिये एक विलक्षण रीतिसे उत्कंठित हुआ था ॥१२३॥ बहुतसे हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी पिया था और न चारा ही खाया था, वे केवल बनके संभोग सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥ १२४ ॥ जिनकी सूंड ऊंची है तथा जिनके बगलमें सुवर्णकी झूल चमक रही है ऐसे हाथियोंको महावत लोग तालावोंपर ले जा रहे थे, उससमय वे हाथी ऐसे जान पडते थे मानो अजगर सहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजली सहित बादल ही हो ॥ १२५ ॥ जिसमें बनके हाथियोंके मदकी गंध आ रही है ऐसे वायुको सूंघकर क्रोधित हुये किसी हाथीको उसका महावत बडी कठिनतासे जलके समीप ले गया था ॥ १२६ ॥ अकस्मात् क्रोधित हुआ कोई हाथी

विधूनयन् । अनंकुशवशस्तीव्रमाधोरणमखेदयत् ॥ १२७ ॥ वन्यानेकपसंभोगसंक्रांतमदवासना । विगाढुं सरसीं नैच्छन्मदेभः करिणीमिव ॥ १२८ ॥ पीतं वनद्विपैः पूर्वमंबु तद्दानवासित । द्विपः करेण संजिघ्रन्नापादास्फालयत्परं ॥ १२९ ॥ पीतांभसो मदासारैर्वृद्धिं निन्युः सरोजल । गजा मुधा धनादानं नून वाछंति नोन्नताः ॥ १३० ॥ उत्पुष्कर सरोमध्ये निमग्नोऽपि मदद्विपः । रंरणद्भिः खमुत्पत्य व्यज्यते स्म मधुव्रतैः ॥ १३१ ॥ पीताबुरबुदस्पर्द्धिबृंहितो मदकुंजरः । दुधाव गडकंडूया चंडगंडूषवारिभिः ॥ १३२ ॥ विमुक्तं व्यक्तसूत्कारं करमुत्क्षिप्य वारणैः । बारि स्फटिकदंडस्य लक्ष्मीमूहे

अपने शिरको तिरछा हिला रहा था वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको बहुत ही खेद खिन्न कर रहा था ॥ १२७ ॥ जिससे जंगली हाथियोंके संभोगकी गंध फैल रही है ऐसी हथिनीको जिसप्रकार हाथी नहीं चाहता है उसीप्रकार जिससे जंगली हाथियोंके क्रीडा करनेसे मदकी गंध फैल रही है ऐसे तालावोंमें घुसनेके लिये भी कोई कोई मदोन्मत्त हाथी इच्छा नहीं करता था ॥ १२८ ॥ जिस पानीको पहिले जंगली हाथी पी चुके थे और इसलिये ही जिससे मदकी गंध आ रही थी ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने पिया नहीं था, वे केवल सूंडसे सूंघ सूंघकर उसे उछाल रहे थे ॥ १२९ ॥ जिन हाथियोंने तालावका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहाकर उस तालावका पानी बढा दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जो बडे होते हैं वे किसीका व्यर्थ धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥ १३० ॥ जिसकी सूंड पानीके ऊपर उठ रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि तालावके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि उसके ऊपर आकाशमें गुंजार करतेहुये भ्रमरोंसे वह ' यहां हाथी है ' ऐसा साफ समझ पडता था ॥ १३१ ॥ जो पानी पी चुका है और जो मानो बादलके साथ स्पर्द्धा करनेकेलिये ही गरज रहा है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी सूंडसे छोडतेहुये पानीके जोरसे अपने कपोलोंकी खुजली शांत करता था ॥ १३२ ॥ अनेक हाथी अपनी सूंड ऊंचीकर फू फू कर ऊपरको पानी छोड रहे थे, उससमय वह आकाशमें उछलताहुआ पानी ठीक स्फटिक-

खमुच्छ्वलत् ॥ १३३ ॥ उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः केचिन्मतंगजाः । विसभंगैरधुस्तृप्ति हेलया कवलीकृतैः ॥ १३४ ॥ मृणालैरधिदताग्रमर्पितैर्विबभुर्गजाः । अजस्रमबुसेकाद्दतैः प्ररोहितैरिव ॥ १३५ ॥ प्रमाद्यद्विरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोद्धृतं । ददावालानवुध्यैव नियंत्रे द्विगुणीकृत ॥ १३६ ॥ चरणालग्नमाकर्षन् मृणालं भीरुको गजः । वहिः सरस्तट व्यास्थदद्दुतंतुकशंकया ॥ १३७ ॥ करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तंबेरमा बभुः । देवतानुस्मृतिं किंचित्कुर्वतोऽर्घैरिवोद्धृतैः ॥ १३८ ॥ सरस्तरगधौतागा रेजुस्तुगा मतगजाः । शृंगारिता इवालग्नै. साद्रैरभोजरेणुभिः ॥ १३९ ॥ ययुः करिभिरारुद्ध परिहृत्य सरोजल । पतत्रिणः सरस्तीर तद्युक्तमबलीयसा ॥ १४० ॥ सरोऽवगाहनिर्णिक्तमूर्तयोऽपि मतगजाः । रजः प्रमाथैरात्मान चक्रुरेव मलीमसं

के बने हुये एक दंडेकी शोभा धारण करता था ॥ १३३ ॥ पानीमें स्नान करनेसे जिनका परिश्रम सब दूर होगया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक कमलके तंतुओंको खाकर ही संतुष्ट हो रहे थे ॥ १३४ ॥ कितने ही हाथी अपने दांतोके अग्रभागपर रक्खेहुये कमलके तंतुओंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों निरंतर पानीके सींचनेसे उनके दांतोंके अंकूरे ही निकले हों ॥१३५॥ मदसे उन्मत्त-हुआ कोई हाथी अपनी सूंडसे पकडेहुये कमलतंतुको बांधनेकी सांकल समझकर उसे दुहरीकर महावतको देता था ॥ १३६ ॥ अपने पैरमें लगेहुये कमलतंतुको खींचताहुआ कोई डरपोक हाथी तालावके बाहरी किनारेपर उसे बांधनेकी सांकल समझकर अर्थात् सांकलसे अपनेको बंधाहुआ समझकर वहीं ठहर गया था ॥ १३७ ॥ अपनी सूंडसे कमलोंको उठाकर खडे हुये कितने ही हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो हाथमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥ १३८ ॥ जिनका शरीर तालावोंकी लहरोंसे धुलगया है ऐसे कितने ही बडे बडे हाथी ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो उनके शरीरपर लगीहुई कमलकी बहुतसी परागसे उनका अलंकार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोंसे व्याप्त हुये तालावके जलको छोडकर सब पक्षी तालावके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि कमजोर जीवोंको ऐसा करना योग्य ही है ॥ १४० ॥ तालावोंमें स्नान करनेसे जिन-

॥ १४१ ॥ वयं जात्यैव मातंगा मदेनोद्दीपिताः पुनः । कुतस्त्या शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु रजो गजैः ॥ १४२ ॥ इत्थं सरस्सु सुचिरं प्रविहृत्य नागाः सतापमंतरुदितं प्रशमय्य तोयैः । तीरद्रुमानुपययुः किमपि प्रतोषात् बंध तु तत्र नियत न विदाबभूवुः ॥ १४३ ॥ हृत्वा सरोंबु करिणो निजदानवारिसंवर्द्धितं विनिमयादतृषाः श्वसतः । तद्वीचिहस्तजनितप्रतिरोधशंकाव्यासंगिनो नु सरसः प्रसभं निरीयुः ॥ १४४ ॥ आधोरणा मदमषीमलिनान्करीन्द्रान् निर्णेक्तुमंबु सरसामवगाहयंतः । शेकुर्न केवलमपामुपयोगमात्र तीरे स्थितानुनयैस्तदचीकरंतः ॥ १४५ ॥ स्वैरं न चांबु परिपीतमयत्नलभ्यं ती-

के शरीर निर्मल होगये हैं ऐसे कितने ही हाथी फिर धूल उडाकर अपना शरीर मैला कर रहे थे ॥ १४१ ॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग (हाथी) अर्थात् चांडाल हैं और फिर मदसे (गंडस्थलसे बहते हुये मदसे) अर्थात् मद्यपान करनेसे अधिक उत्तेजित हो रहे हैं इसलिये हम लोगोंके भला शुद्धि [निर्मलता] अर्थात् पवित्रता कहांसे हो सकती है यही समझकर मानो उन हाथियोंने अपने शरीरपर धूल डाल ली थी ॥ १४२ ॥ इसप्रकार वे हाथी बहुत देरतक तालावोंमें क्रीडा कर तथा अंतःकरणमें उत्पन्न हुये संतापको जलसे शांतकर किनारेके वृक्षोंके समीप आ गये थे और क्रीडा करनेसे जो विलक्षण आनंद हुआ था उससे उन्हें अपना बंधाहुआ बंधन भी नहीं जान पडा था ॥ १४३ ॥ हाथियोंने जो तालावोंका पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेकेलिये ही अपने मदके जलसे बढा दिया था, इसप्रकार प्यास बुझजानेपर आरामसे श्वासोच्छ्वास लेते हुये तालावोंकी लहरेंरूपी हाथोंसे उत्पन्न हुई अपने रोकनेकी शंका करतेहुये बहुत शीघ्र उन तालावोंसे निकल गये थे ॥१४४॥ जो हाथी मदके जलसे मलिन हो रहे थे उन्हें स्वच्छ करनेकेलिये तालावोंके जलमें प्रवेश कराते हुये महावत लोग किनारेपर खडेहुये उन हाथियोंसे बहुत प्रार्थना करनेपर भी उन्हें केवल पानी भी नहीं पिला सके थे, भावार्थ—उन हाथियोंने न पानी ही पिया था और न वे जलमें घुसे थे, ॥ १४५ ॥ मदोन्मत्त हाथियोंने न तो अपनी इच्छानुसार विना यत्नके प्राप्तहुआ पानी ही पिया था

रुद्रुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि । छायास्वलंभि न तु विश्रमण प्रभिन्नैः स्तंबेरमैर्वत ! मदः खलु नात्मनीनः ॥ १४६ ॥ नाध्वा द्रुतं गुरुतरैरपि नानुयातो युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमेभिः । भारक्षमाश्च करिण' सविशेषमेव बद्धास्तथाप्यनिभृता इति धिक् चलत्वं ॥ १४७ ॥ बध्नीथ नः किमिति हंत विनापराधात् जानीत भोः प्रतिफलत्यचिरादिदं व' । इत्युच्छ्लत्सृणि विधूय शिरासि वधैर्वैरं नियंत्रिषु गजाः स्म विभावयंति ॥ १४८ ॥ आघातुको द्विरदनः सविशेषमेव गात्रापरातकरवालधिषु न्ययोजि । वधेन सिंदुरवरास्वितरे तथा नो गाढीभवत्यविरतान्न परत्र बंधाः ॥ १४९ ॥ आलानिता

न किनारेके वृक्षोंसे कुछ खाया था और न वृक्षोंकी छायामें विश्राम ही लिया था, खेद है कि यह मद कभी जीवको सुख देनेवाला नहीं होता ॥ १४६ ॥ देखो ! हाथियोंने शरीर भारी होनेसे मार्गको शीघ्र तय नहीं किया अर्थात् मार्गमें शीघ्र न चले यह वात भी नहीं है, न इन्होंने किसी युद्धमें कभी कुछ अपराध किया है, वोझा लेजानेकेलिये भी ये सवसे अधिक समर्थ हैं तथापि केवल चंचल होनेसे इन्हें बंधनमें पडना पडा है इसलिये इस चंचलताको ही धिक्कार हो ॥ १४७ ॥ अजी ! तुमलोग बिना अपराधके हमको क्यों बांधते हो ! इसके वदलेमें तुम्हें शीघ्र फल मिलेगा यह बात तुम खूब समझ लो ? इसप्रकार बांधनेके बदलेमें महावतोंके साथ जो वैर था उसे वे हाथी कानपर रक्खेहुये अंकुशको ऊपर फेंककर अपना मस्तक हिलातेहुये स्पष्ट दिखला रहे थे ॥ १४८ ॥ जो हाथी जीवोंको मारनेवाले थे उनका शरीर आदिसे अंततक तथा सूंड पूंछ आदि सब विशेष रीतिसे बांधा गया था, और जो हाथी किसीको नहीं मारते थे उन्हें बिलकुल नहीं बांधा था, इससे यह सिद्ध होता है कि जो अविरती हैं अर्थात् जिनके हिंसाका त्याग नहीं है उनके कर्मोंका बंध बहुत मजबूतीसे होता है और जो त्यागी हैं कभी हिंसा नहीं करते हैं, उनके कर्मका बंध नहीं होता ॥ १४९ ॥ जिनकी शाखायें बहुत ऊंची गई हैं तथा जो स्वयं बहुत ऊंचे हैं ऐसे जंगली वृक्षोंके नीचे उन बडे बडे हाथियोंको बांधा था सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंको धारण करनेकेलिये जिसकी शक्ति कम नहीं हुई

वनतरुष्वतिमात्रमुचस्कंधेपु सिंदुरवराश्च तथोच्चकैर्यत् । तन्नूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव संधारणाय महतामहतात्मसारं ॥ १५० ॥ इत्थं नियंतृभिरनेकपवृंदमुच्चैरालानित तरुपु सामिनिमीलिताक्षं । तस्थौ सुखं विचतुरेण कृतागहारं लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालं ॥ १५१ ॥ उत्तारिताखिलपरिच्छिदलाघवेन प्रव्यजितद्रुतगतिक्रमलक्षवेगा. । आपातुमंबु सरसा परितः प्रसस्रुरुच्छृखलैरनुगताः कलभैः करिण्यः ॥ १५२ ॥ प्राक्पीतमबु सरसां कृतमौष्ट्रकेण स्वोद्गालदूषितमुपात्ततदगगंध । नापातुमैच्छदुदक तृषितोऽपि वर्कः ? सर्वो हि वाछति मनोविषयं मनोज्ञं ॥ १५३ ॥ पीतं पुरा गजतया सलिलं मदांबुसंवासित सरसिजाकरमेत्य तूर्णम् । प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुरुदितो हि सगंधभावः ॥ १५४ ॥ पीत्वांभो व्यपगमितातरंगतापाः संतापं

है ऐसा बहुत बडा ही आश्रय चाहिये ॥ १५० ॥ इसप्रकार महावतोंके द्वारा ऊंचे वृक्षोंसे बांधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आंखें बंदकर अपने सब शरीरको हिलाता हुआ, लीला पूर्वक ग्रास लेताहुआ और कानोंको फडकाता हुआ सुखसे खडा था ॥ १५१ ॥ जिनका पलान आदि सब सामान उतार लिया है इससे हलकी होकर जल्दी जल्दी चलकर जिन्होंने अपनी शीघ्रगति प्रगट की है, तथा इधर उधर दौडनेवाले बच्चे जिनके पीछे पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियां कंठतक तालावोंका पानी पीनेके लिये चारों ओरसे जा रहीं थीं ॥१५२॥ जो तालावोंका पानी पहिले ऊंटोंने पीया था, जो ऊंटोंके मुखसे निकलतेहुये फेनसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊंटके शरीरकी गंध आने लगी थी ऐसे पानीको प्यासा हुआ भी कोई तरुण हाथी पीनेकी इच्छा नहीं करता था सो ठीक ही है क्योंकि अपने मन को अच्छा लगनेवाला पदार्थ मनोज्ञ होना चाहिये यह सबकी ही इच्छा रहती है ॥१५३॥ जिसका पानी पहिले हाथियोंकासमूह पी चुका है और जिसमें हाथीके मदकी गंध आ रही है ऐसे सरोवरपर हाथीके बच्चे और हथिनियां दोनों ही बहुत शीघ्र आकर बडे प्रेमसे पानी पी रही थीं, सो ठीक ही है क्योंकि जिसकी गंध आदि विषय सब समान हैं ऐसे ही पदार्थ उपभोग करने योग्य होते हैं, अथवा जिनकी समान मैत्री है ऐसे ही पुरुष साथ साथ खाने पीने योग्य होते हैं ॥ १५४ ॥ जिन्होंने पानी

बहिरुदितं सरोऽवगाहैः । नीत्वात गजकलभैः समं करिण्यः संभोक्तु सपदि वनद्रुमान्विचेरु ॥ १५५ ॥ वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रभंगान् गुल्मौघानपि सरसान्कडगरीश्च । सुस्वादून्मृदुविटपान्वनद्रुमाणा तद्यूथ कवलयति स्म धेनुकाना ॥ १५६ ॥ कुजेषु प्रतनुतृणांकुरान्प्रमृद्नन् वप्रांतानपि रदनैः शनैर्विनिघ्नन् । वल्यग्रग्रसनचणः फलेग्रहि. सन् व्यालोलः कलभगणश्चिरं विजन्हे ॥ १५७ ॥ प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखाभग्युच्चैर्वनगहनं निषीद कुजे । सभोग्यानुपसर सल्लकीवनातानित्येव व्यह्वत वने करेणुवर्गः ॥ १५८ ॥ सभोगैर्वनमिति निर्विशन्यथेष्ट स्वातत्र्यान्मुहुरपि धूर्गतैर्निषिद्ध. । बद्धव्यः सहकलभः करेणुवर्गः संप्रापत्समुचितमात्मनो निवेश ॥ १५९ ॥ वित्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरगैः पर्यस्तो रथ इह भग्नधूर्निरक्षः । एतास्ता द्रुतमुपयाल्य-

---

पीकर अंतरंगका संताप दूर किया है तथा तालावमें डूबकर बाहरी संताप दूर किया है ऐसी हथिनियां अपने बच्चोंको साथ लेकर बहुत शीघ्र बनके वृक्षोंकी ओर खानेके लिये चली गईं ॥ १५५ ॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्प सहित पत्तोंके अग्रभागको, छोटे छोटे पौधोंको, रसीले कडंगरी जातिके वृक्षोंको और बनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट कोमल शाखाओंको खाने लगा था ॥ १५६ ॥ लतामंडपोंमें पतली घासके अंकूरोंको खूंदता हुआ, खेतोंके अंतभागको (मेड) अपने दांतोंसे धीरे धीरे तोडता हुआ, लताओंके अग्रभागको खानेमें चतुर और फलोंको तोडता हुआ चंचल हाथियोंके बच्चोंका समुदाय बहुत देरतक क्रीडा कर रहा था ॥ १५७ ॥ नवीन पत्तेवाली लताओंको ग्रहण कर, जिसमें अनेक शाखायें टूटी हुई हैं ऐसे बडे गहन बनमें बैठ तथा लतामंडपोंमें खाने योग्य सल्लकीके वनोंके समीप जा, इसप्रकार उस हथिनियोंके समूहको महावत लोग विहार करा रहे थे ॥ १५८ ॥ इसप्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीडा करते हुये इच्छानुसार वनमें प्रवेश करता है, स्वतंत्रतासे आगे आगे चलनेसे महावत लोग जिसे बार बार रोक रहे हैं, जो बांधने योग्य है और बच्चोंसहित है ऐसा हथिनियोंका समूह अपने योग्य रहनेके स्थानपर जा पहुंचा ॥ १५९ ॥ यह देखो हाथियोंसे डरकर इन घोडोंने यह रथ कुमार्गमें लेजाकर पटक दिया है, इसका धुरा जूआ आदि

पेत्य मार्गाद्वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्यः ॥ १६० ॥ वित्रस्तः करभनिरीक्षणाद्गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः । उत्त्रस्तात्पतति च वेसरादमुष्माद्विस्रस्तस्तनजघनांशुका पुरंध्री ॥ १६१ ॥ इत्युच्चैर्व्यतिवदतां पृथग्जनानां सजल्पैः क्षुभितखरोष्ट्रकौक्षकैश्च । व्याक्रोशैर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणमभवच्चमूषु राज्ञः ॥ १६२ ॥ अवनिपतिसमाजेनानुयातस्तुरंगैरकृशविभवयोगान्निर्जयन् लोकपालान् । प्रतिदिगमुपशृण्वन्नाशिषश्चक्रपाणिः शिबिरमविशदुच्चैर्बंदिनां पुण्यघोषैः ॥ १६३ ॥ अथ सरसिजिनीनां गंधमादाय सान्द्रं धुततटवनवीथीमंदमावात्समतात् । श्रममखिलमनैत्सीत्कर्तुमस्योपचारं प्रहित इव स-

---

टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेवाली ये खच्चरियां अपना मार्ग छोडकर बहुत शीघ्र दौडी जा रही हैं ॥ १६० ॥ यह हाथी भी ऊंटको देखकर डर गया है और दौडता हुआ अपना डरपोकपना प्रगट कर रहा है तथा जिसके स्तनकी चोली और जघनकी धोती छूट गई है ऐसी यह स्त्री भी इस डरे हुये खच्चरसे गिर गई है ॥ १६१ ॥ इसप्रकार जो लोग अलग अलग परस्पर जोरसे बातचीत करते थे उनके शब्दोंसे, क्षुब्ध होकर चिल्लाते हुये गधा ऊंट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुये सेनाके कठोर शब्दोंसे उस चक्रवर्तीकी सेनामें क्षणभरके लिये एक वडा भारी क्षोभ उत्पन्न हुआ था ॥ १६२ ॥ घोडोंपर बैठकर अनेक राजालोग जिसके पीछे पीछे चल रहे हैं ऐसा वह चक्रवर्ती अपनी बडी विभूतिसे सब लोकपालोंको जीतता हुआ, प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ, और बंदीजनोंके द्वारा गाये हुये मंगलपाठोंके साथ साथ प्रत्येक दिशामें आशीर्वाद सुनता हुआ अपने वडे तंबूमें जा पहुंचा ॥ १६३ ॥

अथानंतर– जो किनारेके वनमें वृक्षोंकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनियों की उत्कट गंध लेकर धीरे धीरे चारों ओरसे वह रहा था और वह चक्रवर्तीका सब परिश्रम दूर कर रहा था, उस समय वह वायु ऐसा जान पडता था मानो इस भरतकी सेवा करनेके लिये समुद्रने अपना एक दूत ही भेजा हो ॥ १६४॥ उस समय वह सेना का स्थान ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था

गंधः सिंधुना गधवाह. ॥ १६४ ॥ अविदितपरिमाणैरन्वितो शखरत्नैः स्फुरितमणिशिखाग्रैर्भोगिभिः सेवनीयः । सततमुपचितात्मा रुद्धदिक्चक्रवालो जलनिधिमनुजन्हे तस्य सेनानिवेशः ॥ १६५ ॥ तत्रावासितसाधनो निधिपतिर्गत्वा रथेनाबुधिं जैत्रास्त्रप्रतिनिर्जितामरसभस्तं व्यतराधीश्वर । जित्वा मागधवत्क्षणाद्वरतनु तत्साह्वमभोनिधिद्वीप शश्वदलंचकार यशसा कल्पातरस्थायिना ॥ १६६ ॥ लेभेऽभेद्यमुरश्छद वरतनोर्ग्रैवेयक च स्फुरच्चूडारत्नमुदशु दिव्यकटकान्सूत्र च रत्नोज्ज्वल । सद्रत्नैरिति पूजित स भगवान् श्रीवैजयतार्णवद्वारेण प्रतिसन्निवृत्य कटक प्राविक्षदुत्तोरण ॥ १६७ ॥ स्वच्छ स्व हृदयं

क्योंकि जिसप्रकार समुद्र परिमाणरहित अर्थात् असंख्यात शंख और रत्नोंसे भरा हुआ है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी असंख्यात शंख आदि निधि और चक्रादि रत्नोंसे भरा था, जिस प्रकार समुद्रमें जिनके मस्तकपर अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे सर्प रहते हैं उसी प्रकार उस सेनाके स्थानमें जिनके मस्तकके मुकुटमें अनेक मणि चमक रहे हैं ऐसे अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग रहते थे, समुद्र जिसप्रकार सदा वढता रहता है उसी प्रकार वह सेनाका स्थान भी सदा वढता रहता था और समुद्रने जिसप्रकार सव दिशायें घेर लीं थीं उसीप्रकार उस सेनाके स्थाननेभी सव दिशायें घेर लीं थीं ॥ १६५ ॥ जिसने अपनी सव सेना समुद्रके किनारेपर छोड दी है और विजय करनेवाले शस्त्रोंसे मागध देवकी सभा जिसने जीत ली है ऐसे उस निधियोंके स्वामी भरतने रथमें वैठकर समुद्रमें जाकर व्यंतरोंके स्वामी वरतनु देवको भी मागध देवके समान जीता और उस वर-तनु नामके समुद्रके द्वीपको कल्पांतकाल तक टिकनेवाले यशसे सदाके लिये सुशोभित किया ॥ १६६ ॥ भरतको कभी न टूटनेवाला कवच, दैदीप्यमान हार, प्रकाशमान चूडारत्न, दिव्य कडे और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत (जनेऊ) ये सव जीजें वरतनु देवसे प्राप्त हुई, इसप्रकार उत्तम रत्नोंसे जिसका सत्कार किया गया है ऐसा वह ऐश्वर्यशाली चक्रवर्ती वैजयंत नामके समुद्रके दरवाजेसे पीछे लौटा और जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे अपने सेनास्थानमें (छावनीमें) आ

स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलच्छद्मना स्वं चातर्गतरागमाशु कथयन्नुद्यत्प्रवालाकुरैः। सर्वस्वं च समर्पयन्नुपनयन्नंतर्धनं दक्षिणो वाराराशिरमात्यवद्विभुमसौ निर्व्याजमाराधयत् ॥ १६८ ॥ आस्थाने जयदुदुभीननुनदन्प्राभातिके मंगले गंभीरध्वनितैर्जयध्वनिमिव प्रस्पष्टमुच्चारयन्। सुव्यक्त सजलाशयोप्यजलधीर्वारापतिः

पहुंचा ॥ १६७ ॥ उस समय वह समुद्र ठीक मंत्रीके समान कपटरहित भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार मंत्री अपने हृदयकी स्वच्छता सदा प्रगट करता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके बहानेसे अपने अंतःकरणकी स्वच्छता साफ प्रगट करता था, जिसप्रकार मंत्री अपना अंतरंगका अनुराग प्रगट करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी निकलतेहुये प्रवालके अंकूरोंके द्वारा अपने अंतरंगका अनुराग शीघ्रताके साथ प्रगट करता था, मंत्री जिसप्रकार राजाको अपना सर्वस्व अर्पण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी अपना रत्नादि सर्वस्व अर्पण करता था, मंत्री जिसप्रकार अपना खास धन महाराजके समीप रखता है उसीप्रकार वह समुद्रभी अपना खास धन पानी भरतके समीप पहुंचाता था और मंत्री जिसप्रकार दाक्षिण अर्थात् चतुर होता है उसीप्रकार वह समुद्रभी दाक्षिण अर्थात् दक्षिणादिशाका था ॥ १६८ ॥ जिसप्रकार इंद्र दास होकर प्रथम तीर्थकर भगवान वृषभदेवकी पूजा करता था उसीप्रकार वह समुद्र भी दास होकर भरतकी सेवा करता था, क्योंकि जिसप्रकार इंद्र आस्थान अर्थात् समवसरणमें जाकर जय दुंदुभी वजाता है उसीप्रकार वह समुद्रभी आस्थान अर्थात् सेनाके समीप ही गरजता हुआ जय दुंदुभियोंका अनुकरण कर रहा था, इंद्र जिसप्रकार प्रातःकालमें मंगलपाठ पढनेकेलिये गंभीर ध्वनिके द्वारा स्पष्ट रीतिसे जय जय शब्दोंका उच्चारण करता है उसीप्रकार वह समुद्र भी लहरोंके शब्दोंसे ऐसा जान पडता था मानों भरतकेलिये प्रातःकालका मंगलपाठ पढनेकेलिये स्पष्टरीतिसे जय जय शब्दोंका ही उच्चारण कर रहा हो, और इंद्र जिसप्रकार केवलज्ञानकी अपेक्षा प्रगट जलाशय (जडाशय) अर्थात् अल्पज्ञानी है तथापि अजलधी (अजडधी) अर्थात् पूर्ण विद्वा-

श्रीपतिं निर्भृत्यस्थितिरन्वियाय सुचिर शक्रो यथार्थ जिन ॥ १६९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णन नामैकोनत्रिंश पर्व ॥ २९ ॥

अथ त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथापरात निर्जेतुमुद्यतः प्रभुरुच्ययौ । दक्षिणापरदिग्भागं वशीकुर्वन्स्वसाधनैः ॥ १ ॥ पुर. प्रयातमाश्वीयैरन्वक्प्रचलित रथै. । मध्ये हस्तिघटा प्रायात्सर्वत्रैवात्र पत्तय ॥ २ ॥ सदेवं वलमित्यस्य चतुरग विभेर्वलं । विद्याभृता वलै' सार्धं षड्भिरगैर्विपप्रथे ॥ ३ ॥ प्रचलद्वलसक्षोभादुच्चचाल किला-

न् है [मतिज्ञान पूर्णश्रुतज्ञान और अवधिज्ञानको धारण करनेवाला है] उसीप्रकार वह समुद्र भी प्रगट जलाशय अर्थात् जलसे भराहुआ होकर भी अजलधी अर्थात् जल उत्पन्न करनेवाला नहीं था, इसप्रकार वह समुद्र चिरकालतक भरतकी सेवा करता रहा था ॥ १६९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला यह उन्तीसवा पर्व समाप्त हुआ २९ ॥

अथ तीसवां पर्व ।

अथानंतर—पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये तैयार हुआ वह चक्रवर्ती अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण पश्चिमके वीचकी नैऋतदिशाको जीतताहुआ निकला ॥ १ ॥ सवसे आगे घुडसवार चल रहे थे, रथ सवसे पीछे थे, हाथियोंका समूह वीचमें चलता था और पैदल सेना चारोंओर चल रही थी ॥ २ ॥ हाथी घोडे रथ पियादे इसप्रकार चारतरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ सा-थ चल रही थी, और इसप्रकार छहप्रकारकी वह सेना चारोंओर फैल रही थी ॥ ३ ॥ उस चलती हुई सेनाके क्षोभसे समुद्र भी क्षुब्ध हो गया था और वह ऐसा जान पडता था मानो जिस रीतिसे

णेव' । महतामनुवृत्तिं नु श्रावयन्ननुजीविनां ॥ ४ ॥ वलैः प्रसह्य निर्भुक्ताः प्रह्वतिस्म महीभुज. । सरितः कर्दमंतिस्म स्थलंतिस्म महाद्रय' ॥ ५ ॥ सुरसा' कृतनिर्वाणा' स्पृहणीया बुभुक्षुभि' । महद्भिः सममुद्योगै' फलतिस्मास्य सिद्धय. ॥ ६ ॥ अभेद्या दृढसधाना विपक्षक्षयहेतव । शक्तयोऽस्य स्फुरति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥ ७ ॥ फलेन योजितास्तीक्ष्णा. सपक्षा दूरगामिनः । नाराचै सममतस्य योधा जग्मुर्जयागता ॥ ८ ॥ दूरमुत्सारिता सैन्यैः परित्यक्तपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्य विपक्षत्वमुपाययु. ॥ ९ ॥ आक्राता भूभृतो निल्य भुजाना. फलसपद । कुपतित्व ययुश्चित्र कोपेप्यस्य

बडे आदमी चलते हैं उसीतरह सबको चलना चाहिये यही सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥ ४ ॥ सेनाके द्वारा जवर्दस्ती आक्रमण कियेहुये राजालोग सव नम्र होगये थे, नदियोंमें कीचड हो गया था और बडे बडे पर्वत जमीनके समान सपाट हो गये थे ॥ ५ ॥ जिनका उपभोग सुखदेनेवाला वा स्वादिष्ट है, जो सब दुखोंको नाश करनेवाली हैं और फल चाहनेवाले लोग जिनकी इच्छा करते हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी सव कार्योंकी सिद्धियें इसके बडे भारी उद्योगके साथ साथ फलती थीं, भावार्थ— चक्रवर्तीके सब कार्य सहज ही सिद्ध हो जाते थे ॥ ६ ॥ भरतकी सेना और शक्ति दोनों ही वहुत मजबूत थीं उन्हें कोई भेद नहीं सकता था और वे दोनों ही शत्रुओंका क्षय करनेवाली थीं, इसप्रकार वे दोनों ही शत्रुओंपर अपना प्रभाव डाल रहीं थीं ॥ ७ ॥ भरतके योद्धा उसके वाणोंके समान थे क्योंकि जिसप्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभ मिलानेवाले थे उसीप्रकार वाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोक सहित थे, जिसप्रकार योद्धा अर्थात् वीरपुरुष तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर वा तेज थे उसीप्रकार वाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, योद्धा जिसप्रकार पक्ष अर्थात् सहायकों सहित थे उसीप्रकार वाण भी पक्ष अर्थात् पीछे लगे हुये लोहेके पंख सहित थे और योद्धा जिसप्रकार दूर तक धावा मारनेवाले थे उसीप्रकार वाण भी वहुत दूर जानेवाले थे, इसप्रकार वे दोनो ही साथ साथ विजयके कारण हो रहे थे ॥ ८ ॥ भरतके विपक्षी अर्थात् शत्रुगण सेनाने दूर भगा दिये थे और छत्र

विरोधिन. ॥ १० ॥ संधिविग्रहचिंतास्य पदविद्यास्वभूत्पर । धूतयातव्यपक्षस्य क संधान क विग्रह ॥ ११ ॥ इत्यजेतव्यपक्षोऽपि यदयं दिग्जयोद्यत. । तन्नून भुक्तिमात्मीया तद्व्याजेन परीयिवान् ॥ १२ ॥ आक्रांता सैनिकैरस्य विभोः पारेऽर्णवं भुव. । पूगद्रुमकृतच्छाया नालिकेरवनैस्तता. ॥ १३ ॥ निपपे नालिकेराणां तरूणानां सुतो रस । सरस्तीरतरुच्छायाविश्रांतैरस्य सैनिकैः ॥ १४ ॥ स्फुरत्तरुरसपात पवनाधूननोत्थित । तालीवनेषु तत्सैन्यै.

चमर आदि सब सामिग्री उन्होंने फेंक दी थी इसलिये वे सचमुच ही विपक्ष अर्थात् सहायरहित हो-गये थे ॥ ९ ॥ यह भी एक आश्चर्यकी वात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर तथा भरतके क्रोधित होनेपर भी अनेक तरहकी फल संपत्तियोंका सदा उपभोग करते हुये कुपति अर्थात् पृथ्वीके स्वामी वने रहे थे, इस श्लोकका ऊपरके समान अर्थ करनेसे विरोध आता है क्योंकि भरतके क्रोध करनेपर और उसकी सेनाके द्वारा आक्रमण करनेपर कभी कोई राजा सुखी नहीं हो सकता इसलिये इस विरोधको दूर करनेकेलिये ऐसा अर्थ करना चाहिये कि भरतके क्रोधि-त होनेपर तथा सेनाके द्वारा दवाये जानेपर अनेक राजा फल पत्ते आदि जंगलकी संपत्तिका उप-भोग करते हुये कुपति अर्थात् दरिद्र होगये थे ॥ १० ॥ उस भरतको संधि [दो स्वर अथवा व्यंज-नोंका मिलना] और विग्रह [व्युत्पत्ति] की चिंता केवल व्याकरण शास्त्रमें थी शत्रुओंमें नहीं थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने सव शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे शत्रुओंके साथ कहां संधि अ-र्थात् इकरारनामा करना पडेगा ? और कहां विग्रह अर्थात् युद्ध करना पडेगा ? ॥ ११ ॥ इसप्रकार यद्यपि उसका जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वह जो दिग्विजय करनेकेलिये निकला था वह केवल दिग्विजयके बहानेसे अपने उपभोग करने योग्य पृथ्वीपर फिर आया था ॥१२॥ उस भरतकी सेनाने जिसपर सुपारीके वृक्षोंकी घनी छाया हो रही है और जो नारियरके वनोंसे भर रही है ऐसी समुद्रके किनारेकी भूमिपर भी आक्रमण किया था ॥ १३ ॥ सरोवरके किनारेके वृक्षोंकी छायामें वि-

शुश्रुवे मर्मरध्वनि॰ ॥ १५ ॥ सम तांबूलवल्लीभिरपश्यत्क्रमुकान्विभु. । एककार्यत्वमस्माकमितीव मिलितान्मिथः ॥ १६ ॥ नृपस्तांबूलवल्लीनामुपघ्नान्क्रमुकद्रुमान् । निध्याय वेष्टितांस्ताभिर्मुमुदे दंपतीयितान् ॥ १७ ॥ स्वाध्यायमिव कुर्वाणान्वनेष्वविरतस्वन । वीन्मुनीनिव सोऽपश्यद्यत्रास्तमितवासिन. ॥१८॥ पनसानि मृदून्यत॰ कटकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यमृतानीव जना॰ प्रादन्यथेप्सित ॥ १९ ॥ नालिकेररसः पान पनसान्यशन पर । मरीचान्युपदंशश्च वन्या वृत्तिरहो सुख ॥ २० ॥ सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विष्किरान् । रुवत. प्रभुरद्राक्षीद्गलदश्रुविलोचनान् ॥ २१ ॥ विदंश्य मजरीस्तीक्ष्णा मरीचानामशकित । शिरोविधूनतोऽपश्यत्प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥ २२ ॥ वनस्पतीन्फलानम्रान्वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कल्पद्रुमास्तित्वे निरारेकास्तदा

श्राम लेनेवाले उसकी सेनाके लोगोंने तरुण वृक्षोंसे निकलता हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहांपर भरतकी सेनाके लोगोंको ताडवृक्षोंके बनमें वायुके हिलनेसे उत्पन्न हुई बहुत कठोर सूके पत्तोंकी मर्मरध्वनि सुनाई पड रही थी ॥ १५ ॥ वहां जो सुपारियोंके वृक्ष मानों हम लोगोंका मिलकर ही एक कार्य होगा यही समझकर पानोंकी बेलोंसे परस्पर मिल रहे थे उन्हें भरतने देखा ॥ १६ ॥ जो सुपारीके वृक्ष पानोंकी वेलोंके आश्रय थे और स्त्री पुरुष सरीखे होकर उन बेलोंसे लिपट रहे थे उन्हें देखकर भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ था ॥१७॥ सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले जो पक्षी उसवनमें विराम रहित बराबर शब्द कर रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों सूर्य अस्त होनेपर ही निवास करनेवाले स्वाध्याय करतेहुये मुनी हों उन्हें भी भरतने वहां देखा था ॥ १८ ॥ जो भीतर कोमल हैं और जिनके बाहरीभागपर बहुत कांटे हैं ऐसे अमृतके समान मधुर कटहलोंके फलोंको सेनाके लोग इच्छानुसार खाते थे ॥१९॥ अहा जहांपर पीनेको नारियरका रस मिलता है, खानेको कटहलके फल और चटनी आदि व्यंजनोंके लिये मिरचें मिलती हैं इसप्रकार बनमें रहकर शरीरका निर्वाह करना भी बहुत ही सुख देनेवाला है ॥२०॥ जो गीली मिरचें खाकर कुछ कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनके नेत्रोंसे आंसू बह रहे हैं ऐसे पक्षियोंको भी भरतने वहां देखा ॥ २१ ॥ बहुत तेज मिरचोंके गुच्छोंको निशं-

जनाः ॥ २३ ॥ लतायुवतिससक्ताः प्रसवाढ्याः वनद्रुमाः । करदा इव तस्यासन्प्रीणयंतः फलैर्जनान् ॥ २४ ॥ नालिकेरासवैर्मत्ताः किंचिदाघूर्णितेक्षणाः । यशोऽस्य जगुरामद्रकुहर सिंहलागनाः ॥ २५ ॥ त्रिकूटे मलयोत्संगे गिरौ पाञ्यकवाटके । जगुरस्य यशो मद्रमूर्च्छनाः किन्नरांगनाः ॥ २६ ॥ मलयोपातकातारे सह्याचलवनेपु च । यशो वनचरस्त्रीभिरुज्जगेऽस्य जयार्जित ॥ २७ ॥ चदनोद्यानमाधूय मद गन्धवहो ववौ । मलयाचलकुजेभ्यो हरन्निर्झरशीकरान् ॥ २८ ॥ विष्वग्विसारी दाक्षिण्यं समुज्झन्नपि सोऽनिल' । सभावयन्निवातिथ्यैर्विभोः श्रममुपाहरत् ॥ २९ ॥ एलालवगसवासमुरभिश्व-

---

कपनेसे खाकर चटपटी लगनेसे शिरको हिलातेहुये ऐसे तरुण बंदरोंको भी चक्रवर्तीने देखा ॥ २२ ॥ उससमय वहांपर लोगोंका उपकार करनेवाली और फलोंसे नवीहुई ऐसी अनेक बनस्पतियोंको देखकर कल्पवृक्षोंके अस्तित्वमें लोग निःसंदेह होगये थे ॥ २३ ॥ जिनपर बहुतसे फल फले हुये हैं ऐसे लतारूप स्त्रियोंसे लिपटेहुये बनके वृक्ष अपने फलोंसे सेनाके लोगोंको संतुष्ट करतेहुये ऐसे जान पडते थे मानो भरतको कर ही दे रहे हों ॥ २४ ॥ वहांपर नारियरका मद्य पीकर उन्मत्त हुई और इसलिये ही जिनके नेत्र कुछ कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहलद्वीपकी तरुण स्त्रियें गदगद स्वरसे भरतका यश गा रहीं थीं ॥ २५ ॥ तथा त्रिकूटाचल पर्वतपर मलयागिरिके शिखरपर और पांड्यकवाटक नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियां गंभीरस्वरसे इस चक्रवर्तीका यश गा रहीं थीं ॥ २६ ॥ इसीतरह मलयपर्वतके समीपके बनमें और सह्य पर्वतके बनोंमें भीलोंकी स्त्रियां इसके विजयसे उत्पन्न हुआ यश गा रही थीं ॥२७॥ उससमय मलयपर्वतके लतामंडपोंसे झरनोंके पानीकी बूंदें हरण करताहुआ और चंदनके बगीचोंको हिलाताहुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ २८ ॥ वह वायु दक्षिण दिशाको छोडकर सबओर बहता हुआ भी भरतका आदर सत्कार करताहुआ ही क्या मानो उसका सब परिश्रम दूर कर रहा था, भावार्थ—यद्यपि वह दक्षिण दिशाका वायु था तथापि सबओर बहकर भरतका परिश्रम दूर कर रहा था ॥ २९ ॥ समुद्रके किनारे हरे हरे वृक्षोंकी गलियोंमें इच्छानुसार फिरती हुई

सितैर्मुखैः । स्तनैरापांडुभिः सांद्रचंदनद्रवचर्चितैः ॥ ३० ॥ सलीलमृदुभिर्यानैर्नितंबभरमत्सरैः । स्मितैरनंगपुष्पास्त्रस्तवकोद्भेदविभ्रमैः ॥ ३१ ॥ कोकिलालापमधुरैर्जल्पितैरनतिस्फुटैः । मृदुबाहुलतादोलसुभगैश्च विचेष्टितैः ॥ ३२ ॥ लास्यैः स्खलत्पदन्यासैर्मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मदमञ्जुभिरुद्गीतैर्जितालिकुलसिंजनैः ॥ ३३ ॥ तमालवनवीथीषु सचरंत्यो यदृच्छया । मनोस्य जन्हुरारूढयौवनाः केरलस्त्रियः ॥ ३४ ॥ प्रसाध्य दक्षिणामाशा विमुखैगज्यपालकान् । सम प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥ ३५ ॥ कालिंगकैर्गजैरस्य मलयोपातभूधराः । तुलयाद्भिरिवोन्मानमाक्रांताः स्वेन वर्ष्मणा ॥ ३६ ॥ दिशाप्रांतेषु विश्रांतैर्दिग्जयेऽस्य चमूगजैः । दिग्गजत्व स्वसाच्चक्रे शोभायै तत्कथांतर ॥ ३७ ॥ ततोऽपरांतमारुह्य सह्याचलतटोपगः । पाश्चिमार्णववेलांतपाल-

---

केरल देशकी तरुण स्त्रियां इलाइची लोंग आदि सुगंधित वस्तुओंसे जिनके श्वासोच्छ्वास सुगंधित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जिनपर घिसेहुये गाढे चंदनका लेप हो रहा है ऐसे सफेद स्तनोंसे, नितंबोंके बोझके साथ ईर्षा करनेवाले अर्थात् धीरे धीरे लीलासहित सुंदर गमनसे, कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान अपने मंदहास्यसे, कोयलकी वाणीके समान मधुर ऐसी अव्यक्त वाणीसे, अपनी भुजारूपी लताओंके इधर उधर फिरानेसे उत्पन्न हुई मनोहर चेष्टासे, जिसमें पैर पडते पडते स्खलित हो जाते हैं ऐसे नृत्यसे, जिनमें प्रायः मोती ही लगे हैं ऐसे आभूषणोंसे और भ्रमरोंके मधुर गुंजारोंको जीतनेवाले मंद तथा मनोहर गीतोंसे महाराज भरतका मन हरण कर रहीं थीं ॥३०-३४॥ इसप्रकार भरतने अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको जीतकर चोल केरल और पांड्य इन तीनों राजाओंको एक साथ जीता और उनसे प्रणाम कराया ॥ ३५ ॥ अपने शरीरसे जो मानों उंचाईको ही नाप रहे हों ऐसे कलिंगदेशके अनेक हाथियोंसे मलय पर्वतके समीपकी सब पृथ्वी भरगई थी ॥ ३६ ॥ दिग्विजय करनेकेलिये दिशाओंके अंतभागमें विश्राम लेतेहुये इसकी सेनाके हाथियोंने दिग्गजपना भी अपने वश करलिया था अर्थात् वे स्वयं दिग्गज बन गये थे, इसलिये लोकमें जो आठ दिग्गजोंकी कथा प्रसिद्ध है वह केवल शोभाके लिये थी ॥ ३७ ॥ तदनंतर पश्चिम दिशापर आ-

कानजयत्प्रभुः ॥ ३८ ॥ जयसाधनमस्याब्धेराराती रे विजृंभित । महासाधनमित्युच्चैः परं पारमवाप्टभत् ॥ ३९ ॥ उपसिंधुरिति व्यक्तमुभयोस्तीरयोर्बल । दृष्ट्वास्य साध्वसात्क्षुभ्यन्निवाभूदाकुलाकुलः ॥ ४० ॥ तत स्म वलसक्षोभादितो वार्द्धिः प्रसर्पति । इतः स्म वलसंक्षोभात्ततोऽब्धि· प्रतिसर्पति ॥ ४१ ॥ हरिन्मणिप्रभोत्सर्पैस्ततमब्धेर्वभौ जलं । चिराद्विवृत्तमस्यैव सशैवलमधस्तल ॥ ४२ ॥ पद्मरागांशुभिर्भिन्न क्वचनाब्धेर्व्यभाज्जल । क्षोभादिवास्य हृच्छीर्णमुच्छलच्छोणितच्छट ॥ ४३ ॥ सह्योत्सगे लुठन्नब्धिर्नून दुःख न्यवेदयत् । सोऽपि सधारयन्नेन वुधुकृत्यमिवातनोत् ॥ ४४ ॥ असह्यैर्वलस-

क्रमणकर सह्य पर्वतके किनारेपर ठहरकर भरतने पश्चिम समुद्रके किनारेके राजाओंको जीता ॥३८॥ विजय करनेवाली वह भरतकी सेना समुद्रके किनारे किनारे सवजगह फैलगई थी वह वहुत वडी थी इसलिये उसने समुद्रका सव किनारा घेर लिया था ॥३९॥ उपसमुद्र अपने दोनों किनारोंपर भरतकी-सेना देखकर भयसे क्षुब्ध होकर वहुत ही व्याकुल हो गया था ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारे पर पडीहुई सेनाके क्षोभसे इस किनारेका समुद्र उस किनारेको लौटकर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैलीहुई हरे मणियोंकी कांतिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा अच्छा जान पडता था मानों इस समुद्रका शेवाल सहित नीचेका भाग वहुत दिनके वाद लौटकर ऊपर ही आगया हो ॥४२॥ कहीं कहींपर पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे [कांतिसे] मिलाहुआ उस समुद्रका जल ऐसा जान पडता था मानो दोनों ओरकी सेनाके क्षोभसे इस समुद्रका हृदय ही फटगया हो और उसीसे यह रुधिरकी छटायें निकल रही हों ॥ ४३ ॥ सह्य पर्वतकी गोदीपर अर्थात् नीचले भागपर लहरोंके द्वारा लोटताहुआ समुद्र ऐसा जान पडता था मानो वह अपना दुख ही कह रहा हो तथा वह सह्य पर्वत भी अपनी गोदीपर उसे धारण करता हुआ ऐसा जान पडता था मानों उसके साथ अपना वंधुभाव ही दिखला रहा हो ॥ ४४ ॥ सेनाके असह्य संघटनोंसे अत्यंत पीडित हुआ वह सह्य पर्वत अपने टूटेहुये वृक्षोंसे ऐसा जान पडता था मानो अपने मस्तकपर पत्ते रखकर भरतसे

घट्टैः सह्यः स ह्यतिपीडितः । शाखोद्धारमिव व्यक्तमकरोद्भग्नपादपैः ॥ ४५ ॥ चलत्सत्त्वो गुहारंध्रैर्विमुंचन्नाकुलं स्वनं । महाप्राणोऽद्रिरुत्क्रातिमियायेत्र बलक्षतः ॥ ४६ ॥ चलच्छाखी चतत्सत्त्वश्चलच्छिथिलमेखलः । नाम्नैवाचलतां भेजे सोऽद्रिरेव चलाचलः ॥ ४७ ॥ जनतावनसभोगैस्तुरगखुरघट्टनैः । सह्योत्संगभुव क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद्ययुः ॥ ४८ ॥ आ पश्चिमार्णवतटादा च मध्यमपर्वतात् । आ तुगवरकाद्द्रेस्तुगगडोपलाकितात् ॥ ४९ ॥ तं कृष्णगिरिमुल्लंघ्य त च शैल सुमदरं । मुकुद चाद्रिमुद्दता जयेभास्तस्य बभ्रमुः ॥ ५० ॥ तत्रापरातकान्नागान् ह्रस्वग्रीवान्परान्रदे । युक्तान्पीनायितस्निग्धैः श्यामान्स्वक्षान्मृदुत्वचः ॥ ५१ ॥ महोत्सगानुदग्रागान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घबालोष्ठान्पद्मगधमदच्युतः ॥ ५२ ॥ सतुष्टान्स्वे वने

अपना दुख ही प्रगट कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अनेक प्राणियोंसे भराहुआ वह पर्वत भी सेनाके द्वारा टूट फूट गया था, उसके सब प्राणी इधर उधर भागने लगे थे तथा वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और ऐसा जान पडता था मानो मरनेके निकट ही हो ॥ ४६ ॥ उसके सब वृक्ष हिलने लगे थे, प्राणी इधर उधर भागने लगे थे और चारोंओरके छोटे छोटे शिखर भी टूट फूटकर हिल रहे थे इसप्रकार सेनाके द्वारा आंदोलन कियाहुआ वह पर्वत केवल नाममात्रसे ही अचल था वास्तवमें वह चलायमान होगया था ॥ ४७ ॥ उसके वनोंमें सेनाके लोगोंके द्वारा की हुई अनेक तरहकी क्रीडासे और घोडोंके खुरोंके संघट्टनसे सह्यपर्वतके ऊपरकी भूमि टूटफूटकर थोडी ही देरमें जमीनके बराबर सपाट होगई थी ॥ ४८ ॥ चक्रवर्तीके विजय करनेवाले मदोन्मत्त हाथी पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वततक और मध्यमपर्वतसे बडे बडे पत्थरोंसे भरेहुये तुंगवरक नामके पर्वततक कृष्णगिरि, सुमंदरपर्वत और मुंकुद नामके पर्वतको उलंघनकर चारोंओर फिर रहे थे ॥४९-५०॥ जिनका गला कुछ छोटा है जो देखनेमें सुंदर हैं, जिनके दांत लंबे मजबूत और चिकने हैं, जो काले हैं जिनकी सब इंद्रियां अच्छी हैं, चमडा नरम है, पीठ चौडी है, शरीर ऊंचा है, जीभ, ओठ और तालु लाल हैं, जो क्रोधी हैं, जिनकी पूंछ और ओठ लंबे हैं, जिनसे कमलके समान सुगंध मद

शूरान्दृढपादान्सुवर्ष्मणः । स भेजे तद्वनाधीशैः ससंभ्रममुपाहृतान् ॥ ५३ ॥ वनरोमावलीस्तुंगतटारोहा बहूर्नदीः । पूर्वापराब्धिगाः सोऽत्येत्सह्याद्रेर्दुहितॄरिव ॥ ५४ ॥ सचरद्वीपणग्राहैर्भीमा भीमरथीं नदीं । नक्रचक्रकृतावर्तैर्दारुवेणा च दारुणा ॥ ५५ ॥ नीरां तीरस्थवानीरशाखाग्रस्थगिताम्भसा । मूला कूलंकषैरोघैरुन्मूलिततटद्रुमां ॥ ५६ ॥ बाणामविरताबाणा केतबामवुसभृता । करीरिततटोत्संगा करीरीं सरिदुत्तमां ॥ ५७ ॥ प्रहरा विषमग्राहैर्दूषितामसतीमिव । मुररा कुररैः सेव्यामपपका सतीमिव ॥ ५८ ॥ पारा पारेजलं कूजत्क्रौञ्चकादम्बसारसा । मदना समनिम्नेषु समानामस्खलद्गतिं ॥ ५९ ॥ मद-

---

बह रहा है, जो अपने ही बनमें रहनेसे संतोष मानते हैं, जो शूर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन उन जंगलोंके स्वामी बडे आदरसे भेट देनेके लिये लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको भी भरतने स्वीकार किया ॥ ५१-५३ ॥ अनेक बन ही जिनकी रोमावली हैं और ऊंचे पर्वतके किनारे ही जिनके नितंब हैं ऐसी सह्य पर्वतकी पुत्रीके समान पूर्व पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियां उसने उलंघन कीं ॥ ५४ ॥ फिरते हुये भयंकर मगर मच्छोंसे भयानक ऐसी भीमरथी नदी, नाकू घडियाल आदि जलचर जीवोंके फिरनसे उत्पन्न होनेवाले भंवरोंसे भयंकर दिखनेवाली दारुवेणा नदी, किनारेपर उत्पन्न होनेवाले बेतोंकी शाखाके अग्रभागसे जिसका पानी ढका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोडनेवाले तेज प्रवाहसे जिसने किनारेके सब वृक्ष उखाड दिये हैं ऐसी मूला नदी जिसमें निरंतर पानीका शब्द होता रहता है, ऐसी बाणा नदी जलसे, सदा भरपूर रहनेवाली केतवा नदी, जिसके किनारेका प्रदेश सब हाथियोंने तोड दिया है ऐसी उत्तम करीरी नदी, विषमग्राह अर्थात् क्रूर नीच मनुष्योंसे दूषित ऐसी दुराचारिणी स्त्रीके समान विषमग्राह अर्थात् क्रूर मगर मच्छोंसे भरी हुई ऐसी प्रहरा नदी, निष्कलंक पतिव्रता स्त्रीके समान कीचड रहित और जिसपर अनेक कुरर पक्षी निवास करते हैं ऐसी मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर कौंच, कलहंस, और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारानदी, जो समान और नीची पृथ्वीपर

स्रुतिमिवाबद्धवेणिकां सह्यदंतिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृता ॥ ६० ॥ करीरवनसंरुद्धतटपर्यंतभूतलां । तापीमातपसंतप्तात्कवोष्णां बिभ्रतीमपः ॥ ६१ ॥ रम्या तीरतरुच्छायासमुप्तमृगशावका । खातामिवापरातस्य नदी लांगलखातिका ॥ ६२ ॥ सरितोऽमूस्सम सैन्यैरुत्ततार चमूपति. । तत्र तत्र समाकर्षन्मदिनो वनसामजान् ॥ ६३ ॥ प्रसारितसरिज्जिह्वो योऽब्धि पातुमिवोद्यतः । सह्याचल तमुल्लंघ्य विंध्याद्रि प्राप तद्बल ॥ ६४ ॥ भूभृता

समान जलसे भरी है और जिसकी गति कहीं रुकती नहीं ऐसी मदना नदी, जो सह्य पर्वतरूपी हाथीके बहते हुये मदके समान जान पडती है, जिसकी छटायें वहुत बडी बडी उड रही हैं, जिसका प्रवाह निरंतर बहता रहता है और जिसका फाट बहुत चौडा है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेकी भूमि करीर के वनोंसे रुक रही है और धूपसे गरम होकर जिसका पानी सदा थोडा थोडा गरम रहता है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हिरणोंके बच्चे सो रहे हैं जो मनोहर है और पश्चिमदेशकी खाईके समान है ऐसी लांगलखातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियोंके किनारेके जंगलोंमेंसे मदोन्मत्त हाथियोंको पकडवाता हुआ वह सेनापति अपनी सेनाके साथ साथ ऊपर लिखी हुई सब नदियोंके पार होगया था ॥ ५५-६३ ॥ जो अपनी नदियांरूपी जीभोंको फैलाकर समुद्रको पीनेकेलिये तैयार हुआ है उस सह्य पर्वतको उलंघनकर भरतकी वह सेना विंध्याचलपर पहुंची ॥ ६४ ॥ वहांपर उसने अपने समान विंध्याचलको देखा, क्योंकि जिसप्रकार आप भूभृत अर्थात् राजाओंका स्वामी था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी भूभृत अर्थात् पर्वतोंका स्वामी था, जिसप्रकार आप उत्तुंग अर्थात् बडा था उसीप्रकार पर्वत भी उत्तुंग अर्थात् ऊंचा था, जिसप्रकार आप पृथुवंश अर्थात् बडे वंशमें उत्पन्न हुआ था उसीप्रकार विंध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बडे बडे बांसोंके वनोंसे भरा था, जिसप्रकार आप धृतायति अर्थात् प्रयत्न करनेवाला था उसीप्रकार विंध्याचल भी धृतायति अर्थात् बहुत लंबा था और आप जिसप्रकार दूसरोंके द्वारा उलंघन नहीं किया

पतिमुत्तुग पृथुवश कृतायति । पौरल्घ्यमद्राक्षीद्रिं यादि स्वमिव प्रभु ॥ ६५ ॥ भाति यः शिखरैस्तुगैर्दूरव्यापतनिर्झरैः । सपताकैर्विमानौघैर्विश्रानायेव सश्रित. ॥ ६६ ॥ य पूर्वापरकोटिभ्या विगाह्याबुनिधिं स्थित' । नूनं दावभयात्सख्यमसुना प्रचिकीर्षति ॥ ६७ ॥ नयति निर्झरा यस्य शश्वत्पुष्टि तटद्रुमान् । स्वपादाश्रयिण पोष्याः प्रभुणेवेति शसितु ॥ ६८ ॥ तटस्थपुष्पपाषाणस्खलितोच्चलितांभस. । नदीवधू कृतध्वाननिर्झरैर्हसतीव य ॥ ६९ ॥ वनाभोगमपर्यन्त यस्य दग्धुमिवाक्षम. । भृगुपाताय दावाग्नि शिखराण्यधिरोहति ॥ ७० ॥ ज्वलद्दावपरीतानि यत्कूटानि वनेचरैः । चामीकरमयाणीव लक्ष्य-

जासकता था उसीप्रकार वह विंध्याचल भी दूसरोंके द्वारा उलंघन नहीं किया जा सकता था ॥ ६५ ॥ जिनसे निकलते हुये निर्झरने वहुत दूर जाकर पडते हैं ऐसे ऊंचे ऊंचे अनेक शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानों ध्वजाओंसहित विमानोंके समूहके विश्राम करनेकेलिये ही खडा हो ॥ ६६ ॥ उसके पूर्व ओर पश्चिमके दोनों किनारे समुद्रमें भीतर घुस गये थे जिससे वह ऐसा जान पडता था मानो दावानलके भयसे इस समुद्रके साथ मित्रता ही करना चाहता हो ॥ ६७ ॥ उस पर्वतके झरने अपने किनारेके वृक्षोंको सदा पालन पोषण करते रहते थे ओर ऐसे जान पडते थे मानों स्वामीको अपने चरणोंके आश्रय आये हुये पुरुषोंका पालन पोषण अवश्य करना चाहिये यही सव लोगोंको सूचित कर रहे हों ॥ ६८ ॥ शब्द करते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो जिनका पानी अपने किनारेपर पडे हुये ऊंचे नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर ऊपरको उछल रहा है ऐसी नदीरूप स्त्रियोंकी ओर हँस रहा ही हो ॥ ६९ ॥ उसकी शिखरोंपरका दावानल अग्नि ऐसा जान पडता था मानो सीमारहित वनके वहुत वडे प्रदेशको जलानेकेलिये असमर्थ है इसलिये ही वह पर्वतसे नीचे पडनेके लिये उसके शिखरपर चढ रहा हो ॥ ७० ॥ असाढ महीनेमें अर्थात् ग्रीष्म ऋतुमें जलती हुई दावानल अग्निसे घिरे हुये उसके शिखर वहांके भीलोंको सुवर्णके समान जान पडते थे ॥ ७१ ॥ उस पर्वतका वन कहीं कहींपर मातंग अर्थात् जंगली हाथियोंसे भरा था,

ते शुचिसन्निधौ ॥ ७१ ॥ समातंगं वनं यस्य समुजंगपरिग्रहं । विजातिकंटकाकीर्णं क्वचिद्वत्तेऽतिकष्टता ॥ ७२ ॥ क्षीवकुंजरयोगेऽपि क्वचिदक्षीवकुंजरं । विपत्रमपि सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनं ॥ ७३ ॥ स्फुटद्वेणूदरान्मुक्तैर्व्यस्तैर्मुक्ताफलैः क्वचित् । वनलक्ष्म्यो हसतीव स्फुरद्दंतांशु यद्वने ॥ ७४ ॥ गुहामुख स्फुरद्धीरनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥ ७५ ॥ स्फुट निम्नोन्नतैर्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः । मृगरूपैरतर्क्यैश्च चित्राकार विभर्ति यः ॥ ७६ ॥ ज्वलत्यौषधयो यस्य वनांतेषु तमीमुखे । देवतानिरिवोत्क्षिप्ता दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥ ७७ ॥ क्वचिन्मृगेंद्रभिन्नेभकुंभोन्मुक्ति-

---

अथवा चांडालोंका साथ करता था तथा उसमें बहुतसे सर्प थे अथवा भुजंग अर्थात् व्यभिचारी आदि नीच लोग थे और अनेकप्रकारके कांटोंसे भरा था अथवा नीच दुष्ट लोगोंसे भरा था इसलिये वह बहुत ही भयानक हो रहा था अथवा निंदनीय हो रहा था ॥ ७२ ॥ यद्यपि वह वन क्षीवकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे भरा था तथापि वह अक्षीवकुंजर था अर्थात् उसमें समुद्रका नमक बहुत था, तथा यद्यपि वह विपत्र अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे भरा था तथापि सत्पत्रपल्लव था अर्थात् सुंदर नये पत्तोंसे सुशोभित था इसप्रकार वह बन बहुत अच्छा जान पडता था ॥७३॥ कहीं कहींपर फटे हुये बांसोंके भीतरसे निकलकर चारोंओर फैले हुये मोतियोंसे वह बन ऐसा जान पडता था मानों उसमें अनेक बनलक्ष्मियां अपने दांतोंकी किरणें फैलाती हुई हँस रही हों ॥ ७४ ॥ गुफाओंके द्वारपर झरते हुये और गंभीर शब्द करते हुये झरनोंकी प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो बडप्पनसे कुलपर्वतोंके साथ ईर्षा करता हुआ गरज रहा ही हो ॥७५॥ नीचे ऊंचे अनेक प्रदेशोंसे, गेरू आदि अनेकतरहकी धातुओंसे और अनेक रंगके असंख्यात पशुओंसे वह पर्वत प्रगट रीतिसे एक विचित्र आकारकी शोभा धारण करता था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें सायंकालके समय कुछ अंधेरा होनेपर जो अनेक प्रकारकी औषधियां प्रकाशमान हो रहीं थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानो देवताओंने अंधकारको नाश करनेवाले दीपक ही जलाये हों ॥ ७७ ॥ कहीं कहींपर पर्वतके समीपका भाग सिंहोंने फाडेहुये अनेक

तमौक्तिकैः । यदुपातस्थल धत्ते प्रकीर्णकुसुमाश्रियं ॥ ७८ ॥ स तमालोकयन्दूरादाससाद महागिरिं । आह्वयतमिवासक्त मरुद्धूतैस्तटद्रुमैः ॥ ७९ ॥ स तद्वनगतान्दूरादपश्यद्वनकर्बुरान् । सयूथानुद्धनुर्वंशान्किरातान्कारिणोऽपि च ॥ ८० ॥ सरिद्वधूस्तदुत्सगे विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वल्लभा इवापश्यत्स्फुरद्द्विरुतमुन्मना ॥ ८१ ॥ मध्येविंध्यमथैक्षिष्ट नर्मदा सरिदुत्तमा । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमवारिता ॥ ८२ ॥ तरंगितपयोवेगा भुवो वेणीमिवायता । पताकामिव विंध्याद्रेः शेषाद्रिजयशंसिनी ॥ ८३ ॥ सा धुनी बलसंक्षोभादुड्डीनविहगावलिः । विभोरागमे बद्धतोरणेव क्षणं व्यभात् ॥ ८४ ॥ नर्मदा

हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पडेहुये मोतियोंसे ऐसी अच्छी शोभा धारण करता था मानो उसपर किसीने फूल ही फैलाये हों ॥ ७८ ॥ वायुके द्वारा हिलतेहुये किनारेके वृक्षोंसे मानों अपनेको बुला रहा ही हो ऐसे अपनेमें आसक्त उस महा पर्वतको दूरसे ही देखताहुआ वह चक्रवर्ती उसपर जा पहुंचा ॥ ७९ ॥ वहांपर जाकर उसने उस वनमें रहनेवाले झुंडके झुंड हाथी और भीलोंको देखा, वे भील भी बादलोंके समान काले थे और वांसोंके धनुषोंको ऊंचाकर कंधेपर रक्खेहुये थे तथा हाथी भी बादलोंके समान काले थे और उनका वंश अर्थात् रीढ [पीठपरकी हड्डी] धनुषके समान ऊंची उठी हुई थी ॥ ८० ॥ तथा पर्वतके किनारेपर उसने चंचल मछलियां ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुये पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विंध्याचलकी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंको वडी अभिलाषाके साथ देखा ॥ ८१ ॥ तदनंतर उस चक्रवर्तीने विंध्याचलके मध्यभागमें समुद्रतक फैली हुई और किसीसे न रुकनेवाली ऐसी उस पर्वतकी कीर्तिके समान उत्तम नर्मदा नदी देखी ॥८२॥ जिसके जलके प्रवाहमें अनेक लहरें उठ रही हैं ऐसी वह नर्मदानदी पृथ्वीकी लंबी चोटीके समान जान पडती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको विजय करनेकी सूचना करनेवाली विंध्याचलकी जयपताकाके समान जान पडती थी ॥ ८३ ॥ सेनाके क्षोभसे जो पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही थी उससे वह नदी क्षणभरके लिये ऐसी अच्छी जान पडती थी, मानो भरतके आनेपर उसने तोरण

सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोषितां । यदपो ह्युत्तरंतीस्ताः शफरीभिरघट्टयत् ॥ ८५ ॥ तामुत्तीर्य जनक्षोभादुत्पतत्पतगावलिं । बलं विंध्योत्तरस्थानमाक्रामत्कृत-पास्थया ॥ ८६ ॥ तस्य दक्षिणतोऽपश्यद्विंध्यमुत्तरतोऽप्यसौ । द्विधाकृतमिवात्मानमपर्यंतं दिशोर्द्वयोः ॥ ८७ ॥ स्कधावारनिवेशोऽस्य नर्मदामभितोऽद्युतत् । प्रथिम्ना विंध्यमावेष्ट्य स्थितो विंध्य इवापरः ॥ ८८ ॥ गजैर्गंडोपलैरश्वैरश्ववक्त्रैश्च विद्रुतैः । स्कधावार स विन्ध्यश्च भिदा नावापतुर्मिथः ॥८९॥ बलोपभुक्तानि.शेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विंध्योवध्यस्तदाभवत् ॥ ९० ॥ वैणवैस्तडुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चना । अध्यूपु. सैनिकाः स्वैर

ही बांधा हो ॥ ८४ ॥ वह नर्मदा नदी सचमुच ही रानियोंकेलिये नर्म-दा अर्थात् क्रीडा करानेवाली थी, क्योंकि जब वे स्त्रियां उस नदीके जलको पार करती थीं तब वह नदी मछलियोंके द्वारा उन स्त्रियोंको धक्का देती थी ॥ ८५ ॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके किनारेके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपरको उड रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली (दरवाजा) समझकर विंध्याचलके उत्तरकी ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहांपर भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों दिशाओंकी ओर विंध्याचलको देखा, उससमय दोनोंओर वह ऐसा जान पडता था मानो अपने दो भागकर दोनों दिशाओंको अर्पण ही कर रहा हो ॥ ८७ ॥ भरतकी सेनाका पडाव नर्मदाके दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा अच्छा जान पडता था मानो अपने फैलावसे विंध्याचलको घेरकर कोई दूसरा विंध्याचल ही पडा हो ॥ ८८ ॥ उससमय सेनाके पडाव और विंध्याचलमें आपसमें कोई भेद नहीं जान पडता था दोनों ही एकसे जान पडते थे, क्योंकि जिसप्रकार पडावमें हाथी थे उसीप्रकार विंध्याचलमें वडे बडे पत्थर थे और पडावमें जिसप्रकार इधर उधर दौडनेवाले घोडे थे उसीप्रकार विंध्याचलमें इधर उधर दौडनेवाले किन्नर जातिके देव थे ॥ ८९ ॥ सेनाने उस विंध्याचलके बनोंके समस्त फल पत्ते और वृक्षोंका उपभोग करलिया था, लतायें और छोटे छोटे पौधे सब पुष्प रहित हो गये थे इसलिये उससमय वह विंध्याचल वंध्याचल अर्थात् वंध्याके समान पुष्प फल आदि सब संपत्तिसे रहित होगया

रम्या विंध्याचलस्थितिः ॥ ९१ ॥ कृतावासं च तत्रैनं ददृशुस्तद्वनाधिपाः । वन्यैरुपायनैः श्लाघ्यैरगदैश्च महौषधैः ॥ ९२ ॥ उपानिन्युः करीन्द्राणां दन्तानस्मै समौक्तिकान् । किरातवर्याश्चर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभोः ॥ ९३ ॥ पश्चिमातेन विंध्याद्रिमुल्लंघ्योत्तीर्य नर्मदां । विजेतुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलं ॥ ९४ ॥ गत्वा किंचिदुदग्भूयः प्रतीचीं दिशमानशे । प्राप्तप्रतापोऽस्य दुर्वारः सचक्रं चरमं बलं ॥ ९५ ॥ तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतमहीरजः । न केवलं द्विषां तेजो रुरोध द्युमणेरपि ॥ ९६ ॥ लाटा ललाटसंघृष्टभूपृष्ठाः स्वादुभाषिणः । लालाटिकपदं भेजुः प्रभोराज्ञावशीकृताः ॥९७॥

था ॥ ९० ॥ मोतियोंसे मिलेहुये वांसी चावलोंसे भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा करते हुये सेनाके लोगोंने इच्छानुसार वहां निवास किया सो ठीक ही है क्योंकि विंध्याचल पर रहना आनंद देनेवाला ही है ॥ ९१ ॥ वहांके जंगली राजाओंने बनमें उत्पन्न हुई रोग दूर करनेवालीं अनेक औषधियां आदि अच्छी अच्छी भेट देकर वहांपर निवास करनेवाले महाराज भरतके दर्शन किये ॥ ९२ ॥ भीलोंके राजाओंने बडे बडे हाथियोंके दांत और मोती भरतकी भेट किये, सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यतानुसार ही करना चाहिये ॥ ९३ ॥ विंध्याचलको पश्चिमी किनारेके अंतकी ओरसे उलंघनकर तथा नर्मदाको पारकर वह चक्रवर्तीकी सेना पश्चिम दिशाको जीतनेकेलिये निकली ॥ ९४ ॥ जो किसीसे न रोकाजाय ऐसा भरतका प्रताप आगे आगे जा रहा था और उसके पीछे पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी, वह प्रताप पहिले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढा और फिर पश्चिम दिशामें जाकर फैल गया ॥ ९५ ॥ उससमय चलतेहुये घोडोंके खुरोंसे जो पृथ्वीकी धूलि उड रही थी उसने केवल शत्रुओंका ही प्रताप नहीं रोका था किंतु सूर्यका प्रताप भी उससे रुक गया था ॥ ९६ ॥ जिन्होंने अपना ललाट पृथ्वीतलपर घिसा है अर्थात् मस्तक नवाकर नमस्कार किया है और जो चक्रवर्तीको अच्छे लगनेवाले मधुरभाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञाके वशमें हुये लाट देशके राजा लालाटिक पदपर नियुक्त हुये थे (स्वामीका अभिप्राय समझकर उनकी आज्ञानु-

केचित्सौराष्ट्रिकैर्नागैः परे पाचनदैर्गजैः । त तद्वनाधिपा वीक्षाचक्रिरे चक्रचालिताः ॥ ९८ ॥ चक्रसदर्शनादेव त्रस्ता निर्मंडलग्रहाः । ग्रहा इव नृपाः केचिच्चाक्रिणो वशमाययु ॥ ९९ ॥ दिश्यानिव द्विपान् क्ष्मापान्पृथुवशान्मदोध्दुरान् । प्रचक्रे प्रगुणाश्चक्री बलादाक्रम्य दिक्पतीन् ॥ १०० ॥ नृपान्सौराष्ट्रकानुष्ट्रवामीशतभृतोपदान् । सभाजयन्प्रभुर्भेजे रम्या रैवतकस्थली. ॥ १०१ ॥ सुराष्ट्रेपूर्जयताद्रिमद्रिराजमिवोन्छ्रित । ययौ प्रदक्षिणीकृत्य भावितीर्थमनुस्मरन् ॥ १०२ ॥ क्षौमाशुकदुकूलैश्च चीनपट्टाबरैरपि । पटीभेदैश्च देशेशा ददशुस्तमुपायनै. ॥ १०३ ॥ काश्चित्समानदानाभ्या कांश्चिद्विश्रभभापि-

---

सार काम करनेवालोंका पद लालाटिक पद कहलाता है) ॥ ९७ ॥ चक्रके भयसे भयभीत हुये कितने ही जंगली राजाओंने सोरठ देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर, तथा अन्य कितनोंने ही पंचनद (पंजाब) देशमें उत्पन्न हुये हाथी भेट देकर भरतके दर्शन किये ॥ ९८ ॥ जिसप्रकार समस्त ग्रह भरतके वश थे अर्थात् कोई उपद्रव नहीं करते थे उसीप्रकार जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हुये हैं और जिनका देशाभिमान छूटगया है ऐसे अनेक राजा लोग भरतके वश होगये थे ॥ ९९ ॥ जो राजा दिग्गजोंके समान थे अर्थात् जिसप्रकार दिग्गज पृथुवंश अर्थात् बडी रीढवाले होते हैं उसीप्रकार जो पृथुवंश अर्थात् बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये थे और दिग्गज जिसप्रकार मदोध्दुर अर्थात् मदोन्मत्त होते हैं उसीप्रकार जो मदोध्दुर अर्थात् अभिमानसे उन्मत्त थे उन सब राजाओंको जबर्दस्ती आक्रमणकर भरतने वश कर लिया था ॥ १०० ॥ सैकडों ऊंट और घोडोंको भेटमें लेकर आयेहुये सोरठदेशके राजाओंसे सेवा कराता हुआ अर्थात् उन्हें वश करता हुआ वह चक्रवर्ती गिरनार पर्वतकी मनोहर तराईमें जा पहुंचा ॥ १०१ ॥ होनेवाले बाईसवें तीर्थकर श्रीनेमिनाथका स्मरण करताहुआ वह चक्रवर्ती उस सोरठ देशमें मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा देकर आगे बढा ॥ १०२ ॥ उन उन देशोंके स्वामियोंने पाटके बनेहुये वस्त्र, अच्छे अच्छे रेशमी वस्त्र तथा और भी अनेक प्रकारके विलक्षण वस्त्र भेट देकर

तैः । प्रसन्नैर्वीक्षितैः काँश्चिद्भूपान्विभुररञ्जयत् ॥ १०४ ॥ गजप्रवेकैर्जात्यश्वैरत्नैरपि पृथग्विधैः । तमानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगत प्रभुं ॥ १०५ ॥ तरस्विभिर्वपुर्मेधावयःसत्त्वगुणान्वितैः । तुरगमैस्तुरुष्काद्यैर्विभुमाराधयन्परे ॥ १०६ ॥ केचित्काम्बोजबाह्लीकतैतिलारट्टसैन्धवैः । वानायुजैः सगांधारैर्वाणपैरपि वाजिभि ॥ १०७ ॥ कुलोपकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिभिः । आजानेयैः समग्राङ्गैः प्रभुमैक्षत पार्थिवाः ॥ १०८ ॥ प्रतिप्रयाणमित्यस्य रत्नलाभो न केवल । यशोलाभश्च दुःसाध्यान्बलात्साधयतो नृपान् ॥ १०९ ॥ जलस्थलपथान्विष्वगारुध्य जयसाधनैः । प्रत्यन्तपालभूपालानजयत्तच्चमूपतिः ॥११०॥

भरतके दर्शन किये ॥ १०३ ॥ भरतने कितने ही राजाओंको आदर सत्कारकर, कितनोंको कुछ देकर, कितनोंसे स्नेह पूर्वक बातचीत कर और कितने ही राजाओंको प्रसन्न दृष्टिसे देखकर प्रसन्न किया ॥ १०४ ॥ कितने ही राजाओंने संतुष्ट होकर उत्तम हाथी उत्तम घोडे और अनेकप्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आयेहुये महराज भरतका आदर सत्कार किया ॥ १०५ ॥ अन्य कितने ही राजाओंने अच्छा शरीर, अच्छी धारणा, जवानी, बल आदि अनेक गुणोंको धारण करनेवाले तथा तेज चलनेवाले ऐसे तुरुष्क आदि देशोंमें उत्पन्नहुये घोडे भेटकर भरतकी सेवा की ॥ १०६ ॥ कितने ही राजाओंने जो उसी देशके घोडे घोडियोंसे उत्पन्न हुये तथा एकदेशके घोडे और अन्य देशकी घोडियोंसे उत्पन्नहुये, अनेक देशोमें संचार करनेवाले, नम्र और जिनके अंग उपांग सब पूर्ण हैं ऐसे कंबोज, बाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सिंध, बानायु, गांधार और बाण देशमें उत्पन्नहुये अनेक घोडे भेटदेकर भरतके दर्शन किये ॥ १०७-१०८ ॥ भरतको प्रत्येक मुकामपर केवल रत्नोंकी प्राप्ति ही नहीं हुई थी किंतु अपने पराक्रमसे बडे बडे बलवान राजाओंको जीतनेसे यशकी प्राप्ति भी हुई थी ॥ १०९ ॥ भरतके सेनापतिने अपनी सेनाके द्वारा जल और स्थलके सब रास्ते रोककर पर्वतीय देशोंके राजाओंको जीता ॥ ११० ॥ सेनापतिने अनेकप्रकारके देश जंगल नदियां और पर्वत उल्लंघनकर उन सब जगह भरतकी आज्ञा स्थापन की ॥ १११ ॥ उसने पूर्वदिशाके समान अनुक्रमसे

विलंघ्य विविधान् देशानरण्यानीः सरिद्गिरीन् । तत्र तत्र प्रभोराज्ञां सेनानीराश्वशिश्रियत् ॥ १११ ॥ प्राच्यानिव स भूपालान्प्रतीच्यानप्यनुक्रमात् । साधयन्हृततन्मानधनः प्रायात्पराम्बुधिं ॥ ११२ ॥ वेलासरित्कराब्धिर्रतिदूरं प्रसारयन् । नूनं प्रत्यग्रहीदेनं नानारत्नार्घमुद्वहन् ॥ ११३ ॥ शूर्पोन्मेयानि रत्नानि वार्द्धेरित्यप्रशंसिभिः । यानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥ ११४ ॥ नाम्नैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघूकृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेने तदा नृपैः ॥ ११५ ॥ पतन्यत्र पतंगोपि तेजसा याति मंदतां । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रतीच्यान् जयतो नृपान् ॥ ११६ ॥ धारयंश्चक्ररत्नस्य पारयन् समरोदधेः । द्विषामुद्वेजयंस्तीव्रं स तिग्मांशुरिवाद्युतत् ॥ ११७ ॥ अनुवार्द्धितटं गत्वा सिंधुद्वारे न्यवेशयत् । स्कंधावारं स लक्ष्मीवानक्षोभ्यं स्वमिवाशयं

पश्चिम दिशाके सब राजाओंको भी वश किया और उनका अभिमान तथा धन हरणकर वह पश्चिमसमुद्रकी ओर चला ॥ ११२ ॥ उससमय वह समुद्र ऐसा जान पडता था मानो अपनी लहरें और नदीरूपी हाथोंको बहुतदूरतक फैलाकर अनेक प्रकारके रत्न रूपी अर्घको धारण करताहुआ महाराज भरतके सन्मुख होकर उनको सत्कार ही कर रहा हो ॥ ११३ ॥ समुद्रकी प्रशंसा करनेवाले लोग कहते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं परंतु इससे वह कुछ धनी नहीं हो सकता क्योंकि चक्रवर्तीके रत्न बडे बडे जहाजोंसे नापे जा सकते हैं ॥ ११४ ॥ यह समुद्र लवणसमुद्रके नामसे तो बहुत ही हलका किया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है, यही समझकर उससमय भरत उसे बहुत कुछ मानने लगे थे ॥ ११५ ॥ जिस दिशामें जाकर सूर्यका प्रताप भी मंद पड जाता है उसी दिशामें जाकर वहांके अनेक राजाओंको जीतते हुये उस भरतका प्रताप बहुत ही दैदीप्यमान हो गया था ॥ ११६ ॥ चक्ररत्नको धारण करताहुआ, संग्रामरूपी समुद्रके पार होताहुआ और शत्रुओंको खेदखिन्न करताहुआ वह भरत उससमय ठीक सूर्यके समान तेजस्वी दिख रहा था ॥ ११७ ॥ लक्ष्मीके मुख्य स्थान ऐसे उस भरतने समुद्रके किनारे किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाली अपनी सेनाको सिंधुनदीके संगमपर ठहराया ॥ ११८ ॥ भरतकी सेनाके लोगोंने, सेनाके

॥ ११८ ॥ सिंधोस्तटवने रम्ये न्यविक्षतास्य सैनिका । चमूद्विरदसंभोगनिकुंजीभूतपादपे ॥ ११९ ॥ तत्राविधानितानोद्गः पुरश्चरणकर्मवित् । पुरोधा धर्मचक्रेशानभ्यूच्य विधिवत्तत ॥ १२० ॥ सिद्धशेषाक्षते पुण्यैर्गंधोदकविमिश्रितै । अभ्यनदन्नुपत्या त पुण्याशीर्भिश्च चक्रिणं ॥ १२१ ॥ ततोऽस्मौ धृतदिव्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत् । जगाहे लवणाभोधिं गोष्पदावज्ञया प्रभुः ॥ १२२ ॥ प्रभानन्नयत्तत्र प्रभास व्यंतरप्रभु । प्रभासमूहमर्कस्य स्वभासा तर्जयन्प्रभु. ॥ १२३ ॥ जयश्रीशफरीजाल मुक्ताजाल ततोऽमरात् । लेभे सातानिकीं माला हेमजालं च चक्रभृत् ॥ १२४ ॥ इति पुण्योदयाज्जिष्णुर्व्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात्पुण्यधन प्राज्ञाः शश्वदर्जयतोर्जितं ॥ १२५ ॥ नगचुगतुरगनाथनगुरुक्षुण्णान्महीधाडित्याद्रु द्रुतैरथरेणुभिर्जलानिधेः कालुष्यमा-

---

हाथियोंने खा लेनेसे जिसके पेड सब छोटे छोटे रह गये हैं ऐसे मनोहर सिंधुनदीके किनारेके वनमें निवास किया ॥११९॥ तदनंतर देवपूजा आदि समस्त विधिविधान जाननेवाले पुरोहित उपाध्यायने वहांपर मंत्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजाकर विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर गंधोदकसे मिले हुये पवित्र सिद्धशेषाक्षतोंसे अर्थात् पूजा करनेके वाद जो अक्षत आदि सामग्री वचती है उससे उस चक्रवर्तीको पुण्यरूप आशीर्वाद देकर उसका आनंद वढाया ॥ १२०-१२१ ॥ तदनंतर भरतने पहिलेके समान दिव्य शस्त्र धारणकर और रथमें वेठकर गोष्पदके समान तुच्छ समझकर लवणसमुद्रमें प्रवेश किया ॥ १२२ ॥ अपनी कांतिसे सूर्यकी कांतिके समूहको लज्जित करते हुये भरतने वहां जाकर प्रभास नामके व्यंतरोंके स्वामीको जीता और प्रभास नामके क्षेत्रको अपने आधीन किया ॥१२३॥ तथा चक्रवर्तीको उस प्रभासदेवसे भेटमें आया हुआ जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकडनेके लिये जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षोंके फूलोंकी माला और एक सुवर्णका जाल प्राप्त हुआ ॥१२४॥ इसप्रकार सवको विजय करनेवाले भरत चक्रवर्तीने अपने पुण्यकर्मके उदयसे वडे वडे देवोंको भी जीता, इसलिये हे विद्वान लोगो तुम भी उत्तम फल देनेवाले पुण्यरूप धनको सदा संपादन करो ॥ १२५ ॥ जिसकी शोभा अपार है ऐसा वह प्रथम चक्रवर्ती भरत जिसके ऊंचे ऊंचे टीले सव उछ-

पादयन् । सिंधुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासामरं तस्मात्सारधनान्यवापदतुलश्रीरग्रणीश्चक्रिणा ॥ १२६ ॥ लक्ष्म्यांदोललतामिवोरसि दधत्संतानपुष्पस्रज मुक्ताहेममयेन जालयुगलेनालंकृतोच्चैस्तनुः । लक्ष्म्युद्वाहगृहादिवाप्रतिभयो निर्यन्निधेरंभसा लक्ष्मीशो रुरुचे भृशं नववरच्छाया परामुद्वहन् ॥१२७॥ प्राच्यानाजलधेरपाच्यनृपतीनावैजयतादयं निर्जित्यापरसिंधुसीमघटितामाशा प्रतीचीमपि । दिक्पालानिव पार्थिवान्प्रणमयन्नाकपयन्नाकिनो दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोदित्थ स भूभृत्प्रभुः ॥ १२८ ॥ पुण्याच्चक्रधरश्रियं विजयिनीमैंद्रीं च दिव्यश्रियं पुण्यात्तीर्थिकरश्रियं च परमा नैश्रेयसीं चाश्नुत । पुण्यादित्य-

---

लते हुये सेनाके बडे बडे घोडोंके खुरोंसे खुद गये है ऐसी पृथ्वीपर उडती हुई रथकी धूलिसे समुद्रको गदला करताहुआ सिंधु नदीके द्वारपर (जहां सिंधु नदी समुद्रमें मिलती हे) पहुंचा और वहां उसने विधिपूर्वक प्रभास नामके व्यंतरदेवको जीतकर उसका सब सारधन प्राप्त किया ॥ १२६ ॥ जिसके वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूलेकी लताके समान कल्पवृक्षके फूलोंकी माला पडी हुई है, जिसका बडा शरीर मोती और सोनेके बने हुये दो जालोंसे सुशोभित हो रहा है, जिसे किसीका भय नहीं है और जो लक्ष्मीका स्वामी है ऐसा वह भरत लक्ष्मीके विवाह मंडपके समान समुद्रसे निकला और नये वरकी उत्कृष्ट शोभा धारण करता हुआ वह बहुत ही सुंदर दिखाई देने लगा ॥ १२७ ॥ इसप्रकार समस्त राजाओंके स्वामी भरतने समुद्रतक पूर्व दिशाके राजाओंको तथा वैजयंत पर्वततक दाक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिमसमुद्रतक समस्त पश्चिम दिशाको जीता, दिक्पालोंके समान सब राजाओंसे नमस्कर कराया, देवोंको कंपायमान किया और समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥ १२८ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे राजन् ! पुण्यसे सबको विजय करने वाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इंद्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थकरकी लक्ष्मी मिलती है और परम कल्याण करनेवाली मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इसप्रकर यह भव्य जीव पुण्यसे ही चारोंप्रकारकी लक्ष्मियोंका पात्र होता है, इसलिये हे पंडितजनो तुम भी श्रीजिनेंद्र-

सुभ्रान्छ्रिया चतसृणामाविर्भवेद्भाजनं तस्मात्पुण्यमुपार्जयंतु सुधियः पुण्याज्जिनेंद्रागमात् ॥ १२९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे पश्चिमार्णवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंश पर्व ॥ ३० ॥

एकत्रिंशत्तमं पर्व ।

कौबेरीमथ निर्जेतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठै साधनैः स्थगयन् दिशः ॥ १ ॥ धौरितैर्गतमुत्साहैः सत्वं शिक्षा च लाववैः । जातिं वपुर्गणैस्तज्ज्ञास्तदाश्वाना विजज्ञिरे ॥ २ ॥ धौरित गतिचातुर्यमुत्साहस्तु पराक्रमः । शिक्षा विनयसपत्तीरोमच्छाया वपुर्गुणः ॥ ३ ॥ पुरोभागा-

---

देवके पवित्र आगमके अनुसार पुण्य संपादन करो ॥ १२९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमे पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला यह तीसवा पर्व समाप्त हुआ ॥ ३० ॥

इकतीसवां पर्व

अथानंतर—जिसमें अनेक घोडे हैं ऐसी अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंमें व्याप्त होता हुआ यह चक्रवर्ती उत्तर दिशाको जीतनेकेलिये तैयार होकर निकला ॥१॥ उससमय घोडोंके सब गुण जाननेवाले लोगोंने घोडोंकी धौरित नामकी चालसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, हलका चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥ २ ॥ गतिकी चतुरताको धौरित कहते हैं, पराक्रमको उत्साह, विनय अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलना शिक्षा और शरीरपरके केशोंकी कांति शरीरका गुण कहलाता है ॥ ३ ॥ रास्तेमें अच्छीतरह चलनेवाले वे घोडे

निवाल्येतुं पश्चाद्भागैः कृतोद्यमाः । प्रययुर्द्रुतमध्यानमध्वनीनास्तुरंगमाः ॥ ४ ॥ खुरोद्धूतान् महीरेणून् स्वांगस्पर्शभयादिव । केचिद्व्यतीयुरध्यध्वं महाश्वाः कृतविक्रमा. ॥ ५ ॥ छायात्मनः सहोत्थानं केचित्सोढुमिवाक्षमाः । खुरैरघट्टयन् वाहाः स तु सौक्ष्म्यान्न बाधितः ॥ ६ ॥ केचिन्नृत्तमिवातेनुर्महीरंगे तुरगमा. । क्रमैश्चक्रमणारम्भे कृतमड्डुकवादनै· ॥ ७ ॥ स्थिरप्रकृतिसत्त्वानामश्वाना चलताऽभवत् । प्रचलत्खुरसक्षुण्णभुवा गतिषु केवल ॥ ८ ॥ कोटयोष्टादशास्य स्युर्वाजिना वायुरहसा । आजानेयप्रधानाना योग्याना चक्रवर्तिन. ॥ ९ ॥ रुद्धरोधोवना क्षुण्णतटभूर्न्हासयत्यप । सिंधोः प्रतीपता

रास्तेमें बहुत शीघ्र जा रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानो अपने पीछेके भागसे अगले भागको उलंघन करनेकेलिये ही उद्यम कर रहे हों, भावार्थ—शीघ्र चलनेसे उनका पिछाडीका भाग आगेके भागमें प्रवेश कर गयासा जान पडता था ॥ ४ ॥ अपने खुरोंसे खुदकर उडती हुई पृथ्वीकी धूलि अपने ही शरीरपर आ पडेगी इस भयसे मानो कितने ही बडे बडे घोडे अपना पराक्रम प्रगट करते हुये मार्गमें उस धूलको उलंघन कर रहे थे, अर्थात् रास्तेमें उडी मारतेहुये बहुत शीघ्र जा रहे थे ॥ ५ ॥ कितने ही घोडे अपनी छायाका भी अपने साथ चलना सह नहीं सकते थे इसलिये उसे खुरोंसे तोडते थे परंतु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥ ६ ॥ अनेक तरहसे चलते हुये कितने ही घोडे ऐसे जान पडते थे मानो चलनेके प्रारंभमें बजते हुये नगाडे आदि बाजोंके साथ साथ अपनी अनेकतरहकी चालसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥ ७ ॥ जिनका स्वभाव और सामर्थ्य स्थिर है परंतु चलतेसमय जिन्होंने अपने खुरोंसे पृथ्वी खोदडाली है ऐसे घोडोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी, अन्यत्र नहीं थी ॥ ८ ॥ जो उत्तम उत्तम जातिके हैं, वायुके समान जिनका वेग है और जो योग्य अर्थात् सवारकी इच्छानुसार चलनेवाले हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोडोंकी संख्या अठारह करोड थी ॥ ९ ॥ जो किनारेके वनोंमें भरगई है, जिसने किनारेकी पृथ्वी तोड दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना सिंधुनदीकी शत्रु वन

भेजे प्रयाती सा पताकिनी ॥ १० ॥ प्रभोरिवागमात्तुष्टा सिंधुः सैन्याधिनायकान् । तरंगपवनैर्मंदमासिषेवे सुखाहरैः ॥ ११ ॥ गंगात्वर्णनगोपेता फेनाढ्या समुखागता । ता पश्यन्नुत्तरामाशा जिता मेने निधीश्वरः ॥ १२ ॥ अनुसिंधुतटं सैन्यैरुदीच्यान्साधयन्नृपान् । विजयार्द्धाचलोपातमाससाद शनैर्मनु ॥ १३ ॥ स गिरिर्मणिनिर्माणनवकूटविशंकटः । ददृशे प्रभुणा दूराद्धृतार्घ इव राजतः ॥ १४ ॥ स शैलः पवनाधूतचलशाखाग्रबाहुभिः । दूरादभ्यागतं जिष्णुमाजुहावेव पादपैः ॥ १५ ॥ सोऽचलः शिखरोपातनिपतन्निर्झराम्बुभिः । प्रभोरुपागमे पाद्यं साविधित्सुरिवाचकात् ॥ १६ ॥ स नगो नागपुन्नागपूगादिद्रुमसंकुलैः । रम्यैस्तटवनोद्देशैराह्वत्प्रभुमिवासितुं ॥ १७ ॥ रजोवितानयन्पौष्पं पवनैः परितो वनं । सोऽभ्युत्तिष्ठन्निवास्यासीत्कूजत्कोकिलडिंडिम.

गई थी ॥ १० ॥ उस समय वह सिंधुनदी मानों भरतके आनेसे संतुष्ट होकर ही सुख देनेवाले और अपनी लहरोंपर बहनेसे शीतल ऐसे वायुसे धीरे धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ सब तरह गंगाके समान, फेनोंसे भरीहुई और सामने आई हुई ऐसी सिंधु नदीको देखताहुआ वह निधियोंका स्वामी भरत उत्तर दिशाको जीतीहुईके समान मानने लगा ॥ १२ ॥ सोलहवां कुलकर वह भरत सिंधुनदीके किनारे किनारे अपनी सेनाके द्वारा उत्तर दिशाके सब राजाओंको वश करता हुआ धीरे धीरे विजयार्द्ध पर्वतके समीप जा पहुंचा ॥ १३ ॥ जिसपर मणियोंके नौ बडे बडे शिखर बने हुये हैं ऐसा वह चांदीका सफेद पर्वत भरतने दूरसे इसप्रकार देखा मानो वह शिखरोंके बहानेसे अर्घ ही लिये हो ॥ १४ ॥ जिनकी शाखाके आगेकी छोटी शाखायें वायुके हिलनेसे चंचल हो रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो दूरसे अपने समीप आये हुये विजयी भरतको बुला रहा ही हो ॥ १५ ॥ शिखरोंके समीप ही झरते हुये झरनोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानो भरतके आनेपर उसके लिये पाद्य अर्थात् पानीका अर्घ ही देना चाहता हो ॥ १६ ॥ उस पर्वतके किनारेके बनके प्रदेश नाग, नागकेसर और सुपारी आदि वृक्षोंके समूहसे भरेहुये बहुत ही मनोहर थे और उनसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो भरतको विश्राम लेनेकेलिये बुला रहा

॥ १८ ॥ किमत्र बहुना सोऽद्रिर्विभुं दिग्विजयोद्यतं । प्रत्यैच्छदिव सप्रीत्या सत्कारागैरतिस्फुटैः ॥ १९ ॥ विभक्ततोरणामुच्चैरतीत्य वनवेदिकां । नियन्त्रित बलाध्यक्षैर्जगाहेऽतर्वणं बलं ॥ २० ॥ वनोपातभुवः सैन्यैरारुद्धा रुद्धदिङ्मुखैः । उड्डीनविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥ २१ ॥ अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वान बलध्वनिं । श्रुत्वा बलवदुत्रेसुस्तिर्यंचो वनगोचराः ॥ २२ ॥ बलक्षोभादिभो निर्यन्वलक्षोऽभाद्वनातरात् । सुरेभः सुविभक्तांग सुरेभ इव वर्ष्मणा ॥ २३ ॥ प्रबोधजृंभणादास्यं व्याददौ किलकेसरी । न मेऽस्त्यतर्भयं किंचित्पश्यतेतीव दर्शयन् ॥ २४ ॥ शरभो रभसादूर्ध्वमुत्पत्योत्तानितः

ही हो ॥ १७ ॥ जो अपने बनके चारोंओर वायुके द्वारा उडती हुई फूलोंकी परागरजका चंदोवा तान रहा है और कोकिलाओंका मधुर शब्द ही जिसका नगाडा बज रहा है ऐसा वह पर्वत इस भरतके आदर सत्कार करनेकेलिये सामने खडेहुयेके समान जान पडता था ॥ १८ ॥ अधिक कहांतक कहा जाय, वह पर्वत बडे प्रेमसे प्रगटकर दिखाये हुये सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजयके लिये तैयार हुये भरतका सामने आकर सत्कार करता हुआसा जान पडता था ॥ १९ ॥ जिसके चारोंओर तोरण बने हुये हैं ऐसी बनकी बेदीको उलंघनकर वह सेना सेनापतियोंके साथ साथ निश्चित किये हुये भीतरवाले बनमें जा पहुंची ॥ २० ॥ सब दिशाओंमें फैलनेवाली सेनासे वह वनके समीपकी भूमि भरगई थी, उसके पक्षीरूपी प्राण उडगये थे और उससमय वह ऐसी जान पडती थी मानो उसका श्वासोच्छ्वास ही बंद हो गया हो ॥ २१ ॥ जिसकी प्रतिध्वनि उठ रही है और जो पहिले कभी सुननेमें नहीं आया था ऐसा सेनाका कलकल शब्द सुनकर जंगली पशुओंको बहुत ही त्रास हुआ था ॥ २२ ॥ जिसका शरीर ऐरावतहाथीके समान है, जिसके अंग उपांग सब साफ दिखाई देते हैं, जो मधुर शब्दसे गरज रहा है ऐसा कोई सफेद हाथी सेनाके क्षोभसे बनके भीतरसे निकलताहुआ बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ २३ ॥ मेरे मनके भीतर कोई भय नहीं है, जिसकी इच्छा हो सो देखले, इसप्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह सोतेसे उठकर जंभाई लेताहुआ मुंह फाड रहा

पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठयैरभून्निर्मातृकौशलात् ॥ २५ ॥ पाषाणोल्लिखितस्कंधो रुषिताऽऽताम्रितेक्षण । खुरोत्खातावनिः सैन्यैर्ददृशे महिषो विभी. ॥ २६ ॥ चमूरवश्रवोद्भूतसाध्वसा. क्षुद्रका मृगाः । विजयार्द्धगुहोत्सगान् युगक्षय इवाश्रयन् ॥ २७ ॥ अनुद्रुता मृगा' शावै' पलायाचक्रिरेऽभित । वित्रस्ता वेपमानागाः सिक्ता भयरसैरिव ॥ २८ ॥ वराहाररतिं मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः । विविशुर्विस्फुटद्यूथाः चमूक्षोभादितोऽमुत' ॥ २९ ॥ वरणावरणास्तस्थु करिणोऽन्ये भयद्रुताः । हरिणा हरिणारातिगुहातानविशिश्रियरे ॥ ३० ॥ इति सत्त्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृश । प्रत्यापत्ति चि-

---

था ॥ २४ ॥ अष्टापद बहुत शीघ्र ऊपर उछलकर ऊपरकी ओर मुंह करके नीचे पड गया था तथापि उत्पन्न करनेवाले नामकर्मकी कुशलतासे पीठपरके पैरोंसे आरामसे आ पडा था, [अष्टापदके नीचे चार और पीठपर चार ऐसे आठ पैर होते हैं] ॥ २५ ॥ जो पत्थरसे अपने कंधे घिस रहा है, क्रोधित होनेसे जिसके दोनों नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं और जो खुरोंसे पृथ्वी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय जंगली भैंसा भी सेनाके लोगोंने देखा ॥ २६ ॥ जिसप्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्द्धपर्वतकी गुफामें छिपते हैं उसीप्रकार सेनाके शब्द सुननेसे भयभीत हुये छोटे छोटे पशु विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके भीतर छिप गये थे ॥२७॥ जिनके पीछे पीछे बच्चे दौड रहे हैं और जिनका शरीर कंप रहा है ऐसे कितने ही भयभीत हिरण चारों ओर भाग रहे थे और उससमय वे ऐसे जान पडते थे मानो भयरूपी रससे भीग रहे ही हों ॥ २८ ॥ जिन्होंने पानी भरे छोटे छोटे तलाव छोड दिये हैं और सेनाके क्षोभसे जिनके झुंड सब बिखर गये हैं ऐसे सूअर नागरमोथा आदि अपना श्रेष्ठ आहार छोडकर इधर उधर भाग रहे थे ॥ २९ ॥ भयभीत हुये अन्य कितने ही हाथी वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें जा छिपे थे और हिरण सिंहोंकी गुफाओंके भीतर ही घुस गये थे ॥ ३० ॥ इसप्रकार बनके प्राणोंके समान खूब चंचल हुये प्राणी सेनाका कलकल शांत होनेपर बडी देरसे अपने अपने स्थानपर आये ॥ ३१ ॥ तदनंतर वह सेना बनके सहारे सहारे कुछ दूर जाकर विज-

रादीयुः सैन्यक्षोभे प्रसेदुषि ॥ ३१ ॥ प्रयायानुवनं किंचिदंतरं तदनंतरं । रौप्याद्रेर्मध्यमं कूटं सन्निकृष्य स्थितं बलं ॥ ३२ ॥ ततस्तस्मिन्वने मंदमरुतां-दोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षाः स्कधावारं न्यवेशयन् ॥ ३३ ॥ स्वैरं जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमत्तटे । स्वयं गलत्प्रसूनौघघनशाखिघने वने ॥ ३४ ॥ सरस्तीरतरूपांतलतामंडपगोचराः । रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामयत्नतः ॥ ३५ ॥ वनप्रवेशमुन्मुग्धाः प्राहुर्वैराग्यकारणं । तत्प्रवेशो यत-स्तेषामभवद्रागवृद्धये ॥ ३६ ॥ अथ तत्र कृतावासं ज्ञात्वा सनियमं प्रभुं । अगान्मागधवत्द्रष्टुं विजयार्द्धाधिपः सुरः ॥ ३७ ॥ तिरीटशिखरोदग्रो लंब-प्रालंबनिर्झरः । स भास्वत्कटको रेजे राजताद्रिरिवापरः ॥ ३८ ॥ सितांशुकधरः स्रग्वी हरिचंदनचर्चितः । स बभौ धृतरत्नार्घो निधिः शंख इवोच्छ्रितः

यार्द्ध पर्वतके बीचके [पांचवें] शिखरके समीप ठहर गई ॥ ३२ ॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे मंद वायुके द्वारा जिसके वृक्ष हिल रहे हैं ऐसे उस बनमें पडाव डाल दिया ॥ ३३ ॥ जिसमें अपने आप गिरते हुये फूलोंके समूह पडे हैं और अनेक घने वृक्ष लग रहे हैं ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके किनारेके बनमें सेनाके लोगोंने इच्छानुसार जगह ले ली थी ॥ ३४ ॥ तालावोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतामंडप थे वे बिना बनाये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥ ३५ ॥ 'बनमें जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है' ऐसा जो कहते हैं वे वास्तवमें मूर्ख हैं क्योंकि सेनाके लोगोंको उस बनमें जाना आनंद बढानेवाला था ॥ ३६ ॥

अथानंतर—भरतने नियमानुसार वहां डेरे दिये हैं यह जानकर विजयार्द्धपर्वतका स्वामी व्यंतर देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिये आया ॥ ३७ ॥ उससमय वह देव अन्य विजयार्द्ध पर्वतके समान जान पडता था, क्योंकि जिसप्रकार विजयार्द्ध शिखरोंसे ऊंचा है उसीप्रकार वह देव भी मुकुटकी शिखरसे ऊंचा था, जिसप्रकार विजयार्द्धपर झरने झरते हैं उसीप्रकार उसके गलेमें लटकता हुआ हार झरनेके समान जान पडता था और जिसप्रकार विजयार्द्धके कटक अर्थात् छोटे शिखर सुशोभित हैं उसीप्रकार उसके हाथोंमें कटक अर्थात् कडे शोभायमान थे ॥ ३८ ॥ जिसने

॥ ३९ ॥ ससभ्रम च सोऽभ्येत्य प्रह्वतामगमत्प्रभो. । ससत्कारं च त चक्री भद्रासनमलम्भयत् ॥ ४० ॥ गोपायिताऽहमस्याद्रेर्मध्यमं कूटमावसन् । स्वैरचारी चिराद्य त्वयाऽस्मि परवान्विभो ॥ ४१ ॥ विद्धि मा विजयार्द्धाख्यममु च गिरिमूर्जित । अन्योऽन्यमश्रयादावामलंघ्यावचलस्थिती ॥ ४२ ॥ देव ! दिग्विजयस्यार्द्धं विभजन्नेष सानुमान् । विजयार्द्धश्रुतिं धत्ते तात्स्थ्यात्तद्रूढयो वय ॥ ४३ ॥ आयुष्मन् ! युष्मदीयाज्ञा मूर्ध्ना स्रजमिवोद्वहन् । पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विज्ञाप्य किमत· पर ॥ ४४ ॥ इति ब्रुवस्तयोत्थाय शिवैस्तीर्थांबुभि· प्रभु । सोऽभ्यषिंचत्सुरै. सार्द्धं स्व नियोग निवेदयन् ॥ ४५ ॥ तदा

सफेद वस्त्र धारण किये हैं, जो माला पहनेहुये है, मलय चंदन जिसके शरीरपर लगाहुआ हे और जिसने रत्नोंका अर्घ हाथमें लिया है ऐसा वह देव खडे हुये शंखनिधिके समान सुशोभित होता था ॥ ३९ ॥ वह देव वडी शीघ्रतासे आया और भरतके सामने आकर नवा, भरतने भी यथायोग्य सत्कारकर उसे अच्छे आसनपर विठाया ॥ ४० ॥ भरतसे वह देव कहने लगा कि हे प्रभो मैं इस विजयार्द्ध पर्वतकी रक्षा करनेवाला हूं और इस पर्वतके वीचके शिखरपर रहता हूं, आजतक मैं अपनी इच्छानुसार रहता था परंतु वहुत दिनसे आज मैं आपके आधीन हुआ हूं ॥ ४१ ॥ हे प्रभो मेरा नाम विजयार्द्ध है और इस ऊंचे पर्वतका नाम भी विजयार्द्ध है, हम दोनों ही एक दूसरेके आश्रयसे अलंघ्य और निश्चल हैं अर्थात् मेरे आश्रयसे यह निश्चल है तथा इसे कोई लंघन नहीं कर सकता और इसके आश्रयसे मैं निश्चल हूं तथा मुझे भी कोई उलंघन नहीं कर सकता ॥ ४२ ॥ हे देव ! यह पर्वत दिग्विजयका आधा आधा विभाग करता है इसलिये ही इसका नाम विजयार्द्ध पडा है और मैं इसपर रहता हूं इसलिये मेरा नाम भी विजयार्द्ध पडगया है ॥ ४३ ॥ हे आयुष्मन् ! (चिरंजीव) आपकी अज्ञाको मैं मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूं, आपकी सेनाके पैदल सिपाहियोंके समान ही एक मुझे भी समझिये इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूं ॥ ४४ ॥ इसप्रकार कहताहुआ तथा ' प्रसन्न होकर मुझे अभिपेक करनेकी आज्ञा मिलनी चाहिये ' इसतरह अपने नि-

प्रणेदुरामंद्रमानकाः पथि वार्मुचा । विचेरुर्मरुतो मंदमाधूतवनवीथयः ॥ ४६ ॥ ननृतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभ्रुवः । जगुश्च मंगलान्यस्य जयशंसीनि किन्नराः ॥ ४७ ॥ कृताभिषेकमेनं च शुभ्रनेपथ्यधारिणं । युयोज रत्नलाभेन लभयन्स जयाशिषः ॥ ४८ ॥ स तस्मै रत्नभृंगार सितमातपवारणं । प्रकीर्णकयुग दिव्य ददौ च हरिविष्टर ॥ ४९ ॥ इति प्रसाधितस्तेन वचोभि. सानुवर्तनैः । प्रसादतरला दृष्टिं तत्र व्यापारयत्प्रभुः ॥ ५० ॥ विसर्जितश्च सानुज्ञ प्रभुणा कृतसक्रियः । भृत्यत्व प्रतिपद्यास्य स्वमोक प्रत्यगात्सुरः ॥ ५१ ॥ विजयार्द्धे जिते कृत्स्न जित दक्षिणभारत । मन्वानो निधिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥ ५२ ॥ गंधैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चरुभिर्दिव्यैश्चक्रेज्या निरवर्तयत् ॥ ५३ ॥ विजयार्द्धजयेऽप्यासीदम-

---

योगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक व्यंतर देवोंके साथ कल्याण करनेवाले तीर्थजलसे भरतका अभिषेक करने लगा ॥ ४५ ॥ उससमय आकाशमें गंभीर शव्द करतेहुये नगाडे बजनेलगे और बनके वृक्षोंकी पंक्तियोंको धीरे धीरे हिलाताहुआ वायु बहने लगा ॥४६॥ लीला पूर्वक भोंहोंको नचाती हुई नृत्य करनेवालीं व्यंतरी देवियां नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतके दिग्विजयके मंगलगीत गा रहे थे ॥ ४७ ॥ तदनंतर जिसका अभिषेक हो चुका है और जिसने सफेद वस्त्र धारण कर लिये हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुये उस देवने अनेक रत्न भेट किये ॥ ४८ ॥ उस देवने भरतके लिये रत्नोंका एक भृंगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन अर्पण किया ॥ ४९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार किये हुये सत्कारसे तथा विनय सहित अनेकतरहके भाषणसे प्रसन्न हुये भरतने प्रसन्नतासे चंचलहुई अपनी दृष्टि उस देवपर डाली, अर्थात् प्रसन्नतासे उसे देखा ॥ ५० ॥ अनंतर जिसे भरतने विदा किया है और 'जा' इसप्रकार जिसका आज्ञा पूर्वक आदर सत्कार किया है ऐसा वह देव भरतका सेवकपना स्वीकारकर अपने घर गया ॥ ५१ ॥ 'विजयार्द्ध पर्वतके जीतनेपर समस्त दक्षिण भारत जीतलिया गया' इसप्रकार मानतेहुये निधियोंके स्वामी भरतने उस चक्र रत्नकी पूजा की ॥ ५२ ॥ गंध, पुष्प, धूप, दीप, जल,

दोऽस्य जयोद्यम । उत्तरार्द्धजयाशसां प्रत्यागूर्णस्य चाक्रिण ॥ ५४ ॥ ततः प्रतीपमागत्य रौप्याद्रे' पश्चिमा गुहां । निकपावनमारुध्य बलैरीशो न्यविक्षत ॥ ५५ ॥ दक्षिणेन तमद्रींद्र मध्ये वेदिकयोर्द्वयोः । बल निविविशे भर्तु' सिंधोस्तटवनाद्वहि ॥ ५६ ॥ भूयो द्रष्टव्यमत्रास्ति बह्वाश्चर्ये धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥ ५७ ॥ चिरासनेऽपि तत्रास्य नासीत्स्वल्पोऽप्युपक्षय । प्रत्युतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्यताब्धिवत् ॥ ५८ ॥ कृतासन च तत्रैन श्रुत्वा द्रष्टुमुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यान्मध्ये नद्योर्द्वयोः स्थित. ॥ ५९ ॥ दूरानतचलन्मौलिमदष्टकरकुड्मला । प्रणमतः स्फुटीचक्रु. प्रभौ भार्क्ति महीभुजः ॥ ६० ॥ कुकमागरुकर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकै । रत्नैरन्यैश्च रत्नेश भक्त्याऽनर्चुर्नृपा. पर ॥ ६१ ॥ विष्वगापूर्यमाणस्य रैराशिभिरना-

---

अक्षत, फल और दिव्य चरुसे चक्रकी पूजा समाप्त की ॥ ५३ ॥ विजयार्द्ध तक दक्षिणभाग जीतलेनेपरभी उत्तरार्द्ध जीतनेकी आशासे तैयार हुये उस भरत चक्रवर्तीका विजय करनेका उद्योग बिलकुल मंद नहीं हुआ था ॥ ५४ ॥ तदनंतर वह भरत कुछ पश्चिमकी ओर हटकर अपने सेनाके द्वारा विजयार्द्धपर्वतकी पश्चिम गुफाके समीपवाले वनको घेरकर ठहर गया ॥ ५५ ॥ विजयार्द्ध पर्वतके दक्षिणओर पर्वतकी वेदी और वनकी वेदी इन दोनोंके बीचमें सिंधु नदीके किनारेके वनके वाहर भरतकी सेनाने पडाव डाला ॥ ५६ ॥ यह पर्वत अनेक आश्चर्योंसे भराहुआ है इसपर देखने योग्य वस्तु वहुत हैं यही समझकर भरतने वहांपर वहुत दिन रहना भी अच्छा समझा था ॥ ५७ ॥ वहांपर वहुत दिन रहनेपर भी भरतका कुछ भी खर्च नहीं हुआ था, उलटा अपूर्व अपूर्व वस्तुओंका लाभ होनेसे समुद्रके समान वह भरगया था ॥ ५८ ॥ भरतने उस जगहपर पडाव डाला है यह सुनकर गंगा और सिंधुनदीके वीचकी पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक राजा लोग उसके दर्शन करनेके लिये आये ॥ ५९ ॥ दूरसे नमस्कार करनेसे चंचल हुये मुकुटपर जिन्होंने अपने हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे नमस्कार करतेहुये कितने ही राजा भरतपर अपनी भक्ति प्रगट कर रहे थे ॥ ६० ॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु चंदन, कपूर, सुवर्ण, मणि मोती तथा अन्य कितने ही रत्नोंसे वडी भक्तिसे

रतं : कोशप्रावेशरत्नानामियत्तां कोऽस्यनिर्णयेत् ॥ ६२ ॥ देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैर्बलं सुकृतरक्षणं । यवसेधनसंधानैस्तदोपजगृहुश्चिरं ॥ ६३ ॥ उत्तरार्द्धजयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तदागमन्। पार्थिवाः कुरुराजाद्याः समग्रबलवाहनाः ॥ ६४ ॥ आहूताः केचिदाजग्मु' प्रभुणा मडलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुर्विभु चारुभटाः परे ॥ ६५ ॥ विदेशः किल यातव्यो जेतव्या म्लेच्छभूभुजः । इति संचिंत्य सामंतै. प्राय. सज्ज धनुर्बल ॥ ६६ ॥ धन्विन. शरनाराचसभृतेषुधिबंधनैः । न्यवेदयन्निवात्मानमृणदासमधीशिना ॥ ६७ ॥ धनुर्धरा धनुः सज्ज्यमास्फाल्याऽऽचक्रुः परे । चिकीर्षव इवारीणा जीवाकर्षं सहुं-

---

रत्नोंके स्वामी भरतका आदर सत्कार किया था ॥ ६१ ॥ धनकी राशियोंसे निरंतर चारोंओरसे भरतेहुये इसभरतके खजानेमें रखने योग्य रत्नोंकी संख्या भला कौन करसकता था ? अर्थात् उसके खजानेमें असंख्यात रत्न इकट्ठे हो गये थे ॥ ६२ ॥ उस समय उस देशके राजाओंने सेनापतियोंके द्वारा बहुत अच्छी तरह जिसकी रक्षा की गई है ऐसी भरतकी सेनाको बहुत दिनतक घास ईंधन शाकभाजी आदिसे पोषणकर उसका उपकार किया था ॥ ६३ ॥ भरत विजयार्द्ध पर्वतके उत्तर भागको जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुरुदेशके राजा जयकुमार तथा और भी अनेक राजा अपनी अपनी समस्त सेना सवारी लेकर उसीसमय आ उपस्थित हुये थे ॥ ६४ ॥ कितने ही मंडलेश्वर राजा भरतके बुलायेहुये आये थे और अन्य कितने ही वडे वडे योद्धा विना बुलाये ही भरतके समीप आगये थे ॥ ६५ ॥ अव अवश्य ही विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचारकर योद्धाओंने प्रायः धनुषबाण धारण करनेवालोंकी सेना तैयार की थी ॥ ६६ ॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धाओंने जो छोटे बडे बाणोंसे भरेहुये तरकस बांधे थे उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों अपने स्वामियोंको अपना ऋणका दासपना ही निवेदन कर रहे हों, भावार्थ—हमने जो आपका अन्न खाया है उसके बदले हम लोग मरनेको भी तैयार हैं यही अपने स्वामियोंसे कह रहे हों ॥६७॥ तथा अभिमान पूर्वक हूं शब्द करते हुये अन्य कितने ही धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुष अपने

कृता. ॥ ६८ ॥ करवालान्करे कृत्वा तुलयति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण नून तान्प्रमिमित्सवः ॥६९॥ सवर्मिता भृश रेजुर्भटाः प्रोल्लासितासयः । निर्मोकैरिव विश्लिष्टैर्ललज्जिह्वा महाहय ॥ ७० ॥ साटोप स्फुटिता केचिद्वल्गति स्माभितो भटाः । अस्युद्यताः पुरोऽरातीन्पश्यत इव समुख ॥ ७१ ॥ अस्त्रैर्व्यस्त्रैश्च शस्त्रैश्च शिरस्त्रैः सतनुत्रकै । दधुर्जयनशालाना लीला रथ्याः सुसभृता ॥७२॥ रथिनो रथकट्यासु गुर्वीरायुधसपद. । समारोप्यापि पत्तिभ्यो भेजुरेवातिगौरवं ॥ ७३ ॥ हस्तिना पदरक्षायै सुभटा योजिता नृपै. । राजन्यै' सह युध्वानः कृताश्चाभिनिषादिन' ॥ ७४ ॥ प्रवीरा राजयुध्वान. क्लृप्ता'

सजाये हुये धनुषको टंकोर शब्द करते हुये खींच रहे थे और उस समय ऐसे जान पडते थे मानों शत्रुओंके जीवोंको खींचनेकी ही इच्छा कर रहे हों ॥ ६८ ॥ कितने योद्धा हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानों स्वामीसे प्राप्त हुये सत्कारके बोझेके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥ ६९ ॥ जो कवचसे ढके हुये हैं और जिनकी तलवारें दैदीप्यमान हो रही हैं ऐसे कितने ही शूर-वीर ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो जिनकी काचली कुछ शिथिल होगई है और जिनकी जीभ बार बार हिलरही है ऐसे बडे सर्प ही हों ॥ ७० ॥ कितने ही योद्धा अभिमान सहित हाथमें तलवार उठाये भुजाओंको हिलाते हुये चारोंओरसे इसप्रकार गरज रहे थे मानों शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥ ७१ ॥ अग्निवाण मेघवाण आदि दिव्य शस्त्र, व्यस्त्र अर्थात् महास्तंभ महाशिला आदि फेंककर मारनेके शस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहेके टोप और कवच आदि-से भरे हुये रथोंके समूह ठीक आयुधशालाकी शोभा धारण करते थे ॥७२॥ रथमें सवार होनेवाले योद्धा रथमें शस्त्रोंका भारी समूह रखकर अपने कंधे पर भारी शस्त्र रखने वाले पैदल सिपाहियोंसे भी बहुत बडे माने गये थे ॥७३॥ राजाओंनें हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये बडे बडे शूर वीर नियुक्त किये थे, वे शूर वीर अनेक राजाओंके साथ लडते थे और समयपर महावत भी बनाये जाते थे, अथवा उन हाथियोंपर भी बैठते थे ॥ ७४ ॥ जो वीर पुरुष राजाओंके साथ भी युद्ध करनेको तैयार थे वे पैदल

पत्तिषुः नायकाः । आश्वीये च ससन्नाहाः सोत्तरंगास्तुरंगिण ॥ ७५ ॥ आरचय्य बलान्येके स्वानीक्षांचक्रिरे नृपाः । दंडमडलभोगासंहतव्यूहैः सुयोजितैः ॥ ७६ ॥ चक्रिणोऽवसरः कोऽस्य योऽस्माभिः स्मर्यतेऽल्पकैः । भक्तिरेषा तु नः काले प्रभोर्यदनुसर्पण ॥ ७७ ॥ प्रभोरवसरः सार्य प्रसार्यं नो यशोधन । विरोधिबलमुत्सार्यं सधार्यं पुरुषव्रत ॥ ७८ ॥ द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिषः । इत्युदाचक्रिरेऽन्योन्य भटाः श्लाघ्यैरुदाहृतैः ॥ ७९ ॥ गिरिदुर्गोऽयमुल्लंघ्यो महत्यः सरितोऽतरा । इत्यपर्येक्षिणः केचिदयान बहु मेनिरे ॥ ८० ॥ इति नानाविधैर्भावैः सजल्पैश्च लघूत्थिता । प्र-

---

सेनाके सेनापति बनाये गये थे और जो घुडसवार कवच पहनेहुये थे और नदीके प्रवाहके समान उद्योगी थे उन्हें घुडसवार सेनाके सेनापति बनाया था ॥ ७५ ॥ कितने ही राजा अच्छीतरह रचेहुये दंडव्यूह अर्थात् सेनाको सीधी रेखामें खडा करना, मंडलव्यूह अर्थात् गोलाकार खडा करना, भोगव्यूह अर्थात् अर्द्ध गोलाकार खडाकरना और संहतव्यूह अर्थात् अलग अलग टोलीकर सेनाको खडा करना इत्यादि रीतिसे अपनी सेनाकी रचनाकर उसे देख रहे थे ॥ ७६ ॥ सेनाके लोग आपसमें कह रहे थे कि जो हम न कुछ होकर भी भरतका स्मरण करते हैं यह इस चक्रवर्तीका कोई ऐसा ही समय है, अथवा हम लोग जो अपने स्वामीकी आज्ञानुसार चलते हैं यह हम लोगोंकी इस समयपर होनेवाली एक भक्ति है ॥ ७७ ॥ इस समय हम लोगोंको स्वामीका काम करना चाहिये, अपना यशरूपी धन फैलाना चाहिये, शत्रुओंकी सेना मार भगानी चाहिये, अपना पौरष धारण करना चाहिये ॥ ७८ ॥ अनेक देश देखने चाहिये और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिये इसप्रकार अनेक प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा वे योद्धा लोग परस्पर बात चीत कर रहे थे ॥ ७९ ॥ यह दुर्गम पर्वत उलंघन करना है और बीचमें बडी बडी नदियां उलंघन करनी हैं तथा यह सब हो जाना असंभव है इसप्रकार विचार करते हुये कितने ही लोग आगे नहीं जाना ही अच्छा मानते थे ॥ ८० ॥ इसप्रकार अनेकप्रकारके अभिप्राय प्रगट करनेवाले परस्परकी बात चीतसे जल्दी जल्दी पैर उठातेहुये

स्थिताः सैनिकाः प्रापन्स्वेश्वराः शिविरं प्रभोः ॥ ८१ ॥ प्रचेलुः सर्वसामग्र्या भूपाः संभृतकोष्ठिकाः । प्रभोश्चिरं जयोद्योगमाकलय्याहिमाचल ॥ ८२ ॥ भटैर्लाकुटकैः केचिद्धृता लालाटिकैः परे । नृपाः पश्चात्कृतानीका विभोर्निकटमाययुः ॥ ८३ ॥ समंतादिति सामतैरापतद्भिः ससाधनैः । समिद्धशासनश्चक्री समेत्य जयकारित ॥ ८४ ॥ सामवायिकसामतसमाजैरिति सर्वतः । सरिदोघैरिवाम्भोधिरापूर्यत विभोर्बल ॥ ८५ ॥ सवनः सावनिः सोऽद्रिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे मेरुरनीकैरिव नाकिना ॥ ८६ ॥ विजयार्द्धाचलप्रस्था विभोरध्यासिता बलैः । स्वर्गावासश्रियं तेनुर्विभक्तैर्नृपमडपैः ॥ ८७ ॥ प्रक्ष्वेलितरथ विष्वक् प्रहेषिततुरगमं । प्रबृंहितगज सैन्य ध्वनिसादकरोद्गिरिं ॥ ८८ ॥ बलध्वानं गुहारंध्रैः प्रतिश्रुद्धृतमुद्वहन् । सोऽद्रिरुद्रिक्त-

---

तथा चलतेहुये सेनाके लोग अपने अपने स्वामियों सहित पडावमें जा पहुंचे ॥ ८१ ॥ भरतका हिमवान् पर्वततकका विजयकरनेका यह कार्य बहुत दिनमें होगा यही समझकर राजा लोग धान्य वस्त्र आदि समस्त सामिग्रीसे अनेक कोठे भरकर निकले ॥ ८२ ॥ कितनेही राजा लकडी लियेहुये योद्धाओंके साथ और अन्य कितने ही राजा सब कामोंमें समर्थ ऐसे अभिप्राय जाननेवालोंके साथ साथ अपनी सेना पीछे छोडकर भरतके समीप आये ॥ ८३ ॥ इसप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आते हुये अनेक योद्धाओंने एक जगह इकट्ठे होकर जिसकी आज्ञा सबजगह प्रसिद्ध है ऐसे भरत चक्रवर्तीका जयजयकार किया ॥ ८४ ॥ जिसप्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसीप्रकार अपनी अपनी सेना सहित चारोंओरसे आयेहुये अनेक राजाओंके समूहसे भरतकी सेना खूब भर गई थी ॥८५॥ जिसप्रकार भगवानके जन्मोत्सवमें वन और भूमि सहित मेरुपर्वत देवोंकी सेनासे भर जाता है उसीप्रकार वह विजयार्द्धपर्वत बन और भूमि सहित चारोंओरसे सेनासे भर गया था ॥ ८६ ॥ जिनपर भरतकी सेना निवास कर रही है ऐसे विजयार्द्ध पर्वतके शिखर अलग अलग तनेहुये राजमंडपोंसे ठीक स्वर्गकी शोभा धारण करते थे ॥ ८७ ॥ जिसमें चारोंओरसे रथ चीत्कार शब्द कर रहे हैं, घोडे हींस रहे हैं और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने वह विजयार्द्ध पर्वत

तद्रोधोध्रुवं फूत्कारमातनोत् ॥ ८९ ॥ अत्रांतरे ज्वलन्मौलिप्रभापिंजरितांबरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरेरवतरन्सुरः ॥ ९० ॥ स ततोऽवतरन्नद्रेर्भौ सानुचरोऽमरः । सवनः कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥ ९१ ॥ दिव्यः प्रभान्वयः कोऽपि संमूर्छति किमंबरे । तडित्पुंजः किमग्न्यर्चिरिति दृष्टः क्षणं जनैः ॥ ९२ ॥ किमप्येतदधिज्योतिरित्यादावविशेषतः । पश्चादवयवव्यक्त्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतिः ९३ ॥ कृतमालश्रुतिव्यक्त्यै कृतमाल स चंपकैः । कृतमाल इवोत्फुल्लो निदध्ये प्रभुणाऽग्रतः ॥ ९४ ॥ सप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मायासनं प्रत्यपादयत् ॥ ९५ ॥ प्रभु-

---

शब्दमय कर दिया था ॥ ८८ ॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेनाके शब्दोंको धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानो वह उस सेनासे खूब घिर गया है इसलिये दुखी होकर फू फू शब्द ही कर रहा हो ॥ ८९ ॥

अथानंतर— भरतने इसी समय देदीप्यमान मुकुटकी कांतिसे जिसने आकाश भी कुछ कुछ पीला कर दिया है और जो पर्वतसे नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥ ९० ॥ वस्त्राभरणोंसे प्रकाशमान और सेवकों सहित उस पर्वतसे उतरता हुआ वह देव ऐसा अच्छा जान पडा था मानों वस्त्र आभरणोंसे प्रकाशमान वन सहित कल्पवृक्ष ही हो ॥ ९१ ॥ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता ऐसा दिव्य प्रभाका कोई समुदाय आकाशमें फैल रहा है क्या ? अथवा क्या यह विजलीका समूह है ? अथवा अग्निकी ज्वाला है ? इसप्रकारकी अनेक कल्पनाओंसे क्षणभर वह देव लोगोंने देखा ॥ ९२ ॥ पहिले तो वह देव यह कोई प्रकाशका समूह है इसप्रकार सामान्य रीतिसे देखनेमें आया था और फिर अवयवोंके प्रगट दिखाई देनेसे साफ पुरुषके आकारसा जान पडा था ॥९३॥ उसने अपना कृतमाल नाम प्रगट करनेकेलिये चंपाके फूलोंकी माला पहिनी थी जिससे वह फूले हुये कृतमाल नामके वृक्षके समान जान पडता था ऐसा वह देव भरतके सामने आ खडा हुआ ॥९४॥ आते ही उसने नमस्कार किया, अकस्मात् आकर नमस्कार करते हुये उसे देखकर भरतने यथा

णाऽनुमतश्चायं कृतासनपरिग्रहः । क्षणं विसिस्मिये पश्यन् धामामुष्यातिमानुषं ॥ ९६ ॥ सभाविनश्च सम्राजा पूर्वं पूर्वाभिभाषिणा । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्वच ॥ ९७ ॥ क वयं क्षुद्रका देवाः क भवान्दिव्यमानुषः । पोतत्यमुचितं मन्ये वाचाटयति नः स्फुटं ॥ ९८ ॥ आयुष्मन्कुशलं प्रष्टुं जिह्मीमः शासितुस्तव । त्वदायत्ता यतः कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥ ९९ ॥ लोकस्य कुशलाधाने निरूढं यस्य कौशलं । कुशलं दक्षिणस्याऽस्य बाहोस्ते क्ष्मां जिगीषतः ॥ १०० ॥ देवानां प्रिय ! देवत्वं तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥ १०१ ॥ गीर्वाणा वयमन्य-

---

योग्य सत्कारके साथ उसकेलिये आसन दिया ॥ ९५ ॥ भरतकी आज्ञासे वह आसनपर बैठा और मनुष्योंके तेजको अतिक्रमण करनेवाला अर्थात् सबसे अधिक भरतका प्रताप देखताहुआ वह क्षणभरके लिये आश्चर्य करने लगा ॥ ९६ ॥ प्रथम ही 'आप कौन हैं कहांसे आये हैं' इत्यादि पहिले पूछने योग्य बातोंसे चक्रवर्तीने बात चीत की तब वह देव नम्रताके साथ नीचे लिखे अनुसार वचन कहने लगा ॥ ९७ ॥ हे देव ! हम क्षुद्र देव कहां ? और आप दिव्य मनुष्य कहां ? तथापि मैं ऐसा मानता हूं कि हम लोगोंका यथायोग्य देवपना ही हमलोगोंको बोलनेके लिये प्रगट वाचालित कर रहा है, अर्थात् जबर्दस्ती बुलवा रहा है ॥ ९८ ॥ हे आयुष्मन् (दीर्घायुवाले) आप शासन करनेवाले हैं इसलिये आपका कुशल मंगल पूछनेमें भी हम लोग लज्जित होते हैं, क्योंकि इस जगतका सबतरहका कल्याण करना आपके आधीन है ॥ ९९ ॥ जगतको कल्याणरूप करनेकेलिये जिसकी चतुरता प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथ्वीको जीतना चाहती है ऐसी यह आपकी दाहिनी भुजा कुशल पूर्वक है न ? ॥ १०० ॥ हे देव ! आप देवोंको भी प्रिय हैं, समस्त जगतको जीतनेसे यह देवपना आपके ही योग्य है, हम लोग देवयोनिमें उत्पन्न होनेसे केवल नाममात्रके देव हैं ॥ १०१ ॥ हमारा नाम गीर्वाण है सो निर्मल वाणी रूपी बाणोंको धारण करनेवाले हम लोग अन्य जीवोंको जीतनेके लिये गी–र्वाण अर्थात् वचनरूपी बाणोंको धारण करनेवाले हैं, परंतु हे देव आपके समीप

त्र जिगीषौ सितंगीस्सरा । त्वयि कुठगिरो जाता' प्रस्खलद्गर्वगद्गदा ॥ १०२ ॥ राजोक्तिस्त्वयि राजेंद्र राजतेऽनन्यगामिनी । अखडमंडला कृत्स्ना षट्खडा गा नियच्छति ॥ १०३ ॥ चक्रात्मना ज्वलत्येप प्रतापस्तव दु'सह. । प्रथते दडनीतिश्च दडरत्नच्छलाद्विभोः ॥ १०४ ॥ ईशितव्या मही कृत्स्ना स्वतंत्रस्त्वमसीश्वरः । निधिरत्नर्द्धिरैश्वर्यं क. परस्त्वादृश. प्रभु ॥ १०५ ॥ भ्रमत्येकाकिनी लोक शश्वत्कीर्तिरनर्गला । सरस्वती च वाचाला कथ ते ते प्रिये प्रभोः ॥ १०६ ॥ इति प्रतीतमाहात्म्य त्वा सभाजयितु दिवः । त्वद्बलध्वानसक्षोभसाध्वसाद्वयमागताः ॥ १०७ ॥ कूटस्था वयमस्याद्रे स्वपदादविचालिनः । भूमिमेतावतीं तावत्त्वया देवावतारिता. ॥ १०८ ॥ विप्रकृष्टातरावासत्रासिनो व्यतरा वय । सविधेयास्त्वयेदानीं प्रत्यासन्नाः पदातयः

आकर हमारी बाणी भी कुंठित हो गई है, अहंकार सब दूर होगया है और गदगदस्वरसे वचन निकल रहे हैं ॥ १०२ ॥ हे राजाधिराज ! छह खंडोंमें वटी हुई समस्त प्रदेश सहित इस पूर्ण पृथ्वीपर आप शासन करते हैं इसलिये दूसरी जगह न रहनेवाला राजपना केवल आपमें ही शोभायमान होता है ॥ १०३ ॥ हे विभो ! यह चक्रके बहानेसे आपका असह्य प्रताप प्रकाशमान हो रहा है और दंडरत्नके बहानेसे आपकी दंडनीति प्रसिद्ध हो रही है ॥ १०४ ॥ हे प्रभो ! आपको यह समस्त पृथ्वी पालन करनी चाहिये, क्योंकि आप स्वतंत्र ईश्वर हैं अथवा निधि और रत्नोंका समूह ही ऐश्वर्य कहलाता है ऐसा ऐश्वर्यशाली आपके सिवाय अन्य कौन है ? ॥ १०५ ॥ हे प्रभो आपकी कीर्ति निरंकुश होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल अर्थात् बहुत बोलनेवाली है ! न जाने ऐसी ये दोनों ही स्त्रियां आपको कैसे प्रिय हैं ? ॥ १०६ ॥ इसप्रकार जिसका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेकेलिये आपकी सेनाके कलकल शब्दके क्षोभसे भयभीत हुये हम लोग आकाशसे यहां आये हैं ॥१०७॥ हे देव ! हम लोग इस पर्वतके शिखरपर रहते हैं, अपने स्थानसे कभी नहीं हिलते, परंतु इस भूमिपर केवल आपने ही हमको नीचे उतार लिया है ॥१०८ ॥ हे देव ! हमलोग दूर दूर तक अनेक देशोंमें निवास करनेवाले व्यंतर हैं, अब आप हमलोगोंको आपके समीप

॥ १०९ ॥ विद्धि मा विजयार्द्धस्य मर्मज्ञममृताशनं । कृतमालं गिरेरस्य कूटेऽमुष्मिन्कृतालयं ॥ ११० ॥ मयि स्वसात्कृते देव स्वीकृतोऽयं महाचलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरेर्गर्भविदस्म्यह ॥ १११ ॥ गर्भज्ञोऽह गिरेरस्मीत्यत्यल्पमिदमुच्यते । द्वीपाब्धिवलये कृत्स्ने नास्माक कोऽप्यगोचरः ॥ ११२ ॥ वटस्थानवटस्थाश्च कूटस्थान्कोटरोटजान् । अक्षपाटान्क्षपाटाँश्च विद्धि नः सार्वसर्वगान् ॥ ११३ ॥ इति प्रशातमोजस्वि वचः संभाष्य सादरं । सोऽमरो वितताराऽस्मै भूषणानि चतुर्दश ॥ ११४ ॥ तान्यनन्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री परा मुद । भेजे तत्कृतसत्कारै सुरः सोऽप्याप समदं ॥ ११५ ॥ तं रौप्याद्रिगुहाद्वारप्रवेशोपायशसिन । प्रविसर्ज्य स्वसेनान्य प्राहिणोत्प्रभुरग्रत ॥ ११६ ॥ त्वमुद्घाट्य गुहाद्वारं यावन्निर्वाति सा गुहा । तावत्पाश्चात्यखडस्य

रहनेवाले सिपाहियोंके समान बना लीजिये ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्द्ध पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव समझिये ॥११०॥ हे देव ! मुझे वश करलेनेपर इस पर्वतको अपने वश कर लिया ही समझिये, क्योंकि मैं इस पर्वतकी गुफामें वन आदि सवका भीतरी हाल जानता हूं ॥ १११ ॥ अथवा मैं इस पर्वतका भीतरी हाल जानता हूं यह बहुत ही थोडा कहा गया है क्योंकि समस्त द्वीप समुद्रोंके भीतर हमलोगोंका न जाना हुआ कुछ भी नहीं है ॥ ११२ ॥ हे सबका हित करनेवाले ! हमलोगोंको बडके वृक्षोंपर, छोटे छोटे खड्डोंमें, पर्वतोंकी शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलोंमें और पत्तोंकी स्वयमेव बनी हुई झोंपडियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले सब जगह जानेवाले समझिये ॥ ११३ ॥ इसप्रकार आदरपूर्वक शांत और तेजस्वी बचन कहकर उस देवने भरतके लिये चौदह आभूषण अर्पण किये ॥ ११४ ॥ अन्य किसीको प्राप्त न होनेयोग्य ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती बहुत ही प्रसन्न हुआ तथा उस देवका बार बार सत्कार किया जिससे वह देव भी बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ११५ ॥ अनंतर उस देवने विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे होकर प्रवेश करनेका मार्ग बतलाया और फिर मार्ग बतलानेवाले उस देवको भरतने बिदा किया तथा गुफाका द्वार उघाडनेके लिये सबसे पाहिले अपने सेनापतिको भेजा ॥११६॥

निर्जयाय कुरूद्यमं ॥ ११७ ॥ इति चक्रधरादेशं मूर्ध्ना माल्यमिवोद्वहन् । कृतमालामरोद्दिष्टकृत्स्नोपायप्रयोगवित् ॥ ११८ ॥ कृती कतिपयैरेव तुरंगैः सपरिच्छदैः । प्रतस्थे वाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥ किंचिद्वातरमुल्लंघ्य स सिंधोर्वनवेदिकां । विगाह्य विजयार्द्धस्य संप्राप्तत्तटवेदिकां ॥१२०॥ तत्सोपानेन रौप्याद्रेरारुह्य जगतीतलं । प्रत्यङ्मुखो गुहोत्सगमाससाद चमूपतिः ॥ १२१ ॥ जयताच्चक्रवर्तीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठितं । दण्डेन ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्ध्वनिः ॥ १२२ ॥ दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरर्गले । तद्गर्भाद्दलवानूष्मा निर्ययौ किल संततं ॥ १२३ ॥ दधद्दण्डाभिघातोत्थं क्रेंकारमर

भरतने सेनापतिसे कहा कि तू सबसे पहिले गुफाका द्वार उघाड और फिर जबतक वह गुफा शांत हो तबतक पश्चिमखंडके जीतनेका उद्योग कर ॥ ११७ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ, तथा कृतमाल नाम देवके कहे अनुसार समस्त उपायोंके प्रयोगोंको जाननेवाला वह चतुर सेनापति थोडेसे घोडे और थोडीसी सेनाके साथ साथ हाथमें दंड रत्न लेकर चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न ऐसे घोडेपर चढकर निकला ॥ ११८- ११९ ॥ थोडी दूर जाकर उसने सिंधुनदीके बनकी बेदी उलंघन की और फिर वह विजयार्द्ध पर्वतके किनारेकी वेदीपर जा पहुंचा ॥ १२० ॥ सीढियोंके द्वारा विजयार्द्धपर्वतकी वेदीपर चढा और फिर पश्चिमकी ओर मुखकर वह सेनापति उस गुफाके दरवाजेपर जा खडा हुआ ॥ १२१ ॥ अश्वरत्नपर (घोडेपर) चढेहुये उस सेनापतिने ' चक्रवर्तीकी जय हो , इसप्रकार कहकर दंड रत्नसे गुफाका द्वार ताडन किया अर्थात् द्वारपर दंडा मारा, जिसकी मारसे एक बडा भारी शब्द हुआ ॥ १२२ ॥ दंडकी चोटसे गुफाका द्वार खुलजानेपर उसके भीतर बडीभारी गरमी निरंतर निकलने लगी ॥ १२३ ॥ दंडकी चोटसे उत्पन्न हुये ' कर कर ' शब्द करनेवाले वे दोनों ही फाटक ऐसे जान पडते थे मानो उन्हें दुख ही हो रहा हो, दुखसे पसीना आगया हो और गुफासे निकलती हुई गरमीके बहानेसे उनके प्राण ही निकल रहे हों ॥ १२४ ॥ किवाडोंके उघडनेपर गुफाके द्वारसे गरमीको निकालता हुआ वह रजतम-

रीपुट । सवेदनामिवाख्येदि निर्गतामु गुहोष्मणा ॥ १२४ ॥ उद्घाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्वमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥ १२५ ॥ कवाटपुटविश्लेषादुच्चचार महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्रेराक्रोश इव विस्फुरन् ॥ १२६ ॥ गुहोष्मणा स नास्प्रेचि विदूरमपवाहितः । तरस्विनाऽश्वरत्नेन देवताभिश्च रक्षितः ॥ १२७ ॥ निपेतुरमरस्त्रीणां दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥ १२८ ॥ तटवेदीं ससोपानां रौप्याद्रेः समतीयिवान् । सोऽभ्यैत्सतोरणां सिंधोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥ १२९ ॥ वेदिकां तामतिक्रम्य संजगाहे परां भुवं । नानाकरपुरग्रामसीमारामैरलंकृताम् ॥ १३० ॥ प्रविष्टमात्र एवास्मिन्प्रजास्त्रासमुपाययुः । सम दारगवैरन्या घटने स्म पलायितुं ॥ १३१ ॥ केचित्कृतक्रियो धीराः

य सफेद विजयार्द्ध पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता था मानों उसने बहुत दिनमें उच्छ्रास लिया हो ॥ १२५ ॥ दोनों फाटक खुलनेसे एक वडी भारी आवाज हुई थी और वह ऐसी जान पडी थी मानो दंडकी चोट लगनेसे उस पर्वतके रोनेकी आवाज ही हो ॥ १२६ ॥ वेगवाला अश्वरत्न (घोडा) जिसे बहुत दूर भगाकर ले गया है और देवताओंने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमीने स्पर्शतक भी नहीं किया था ॥ १२७ ॥ उससमय उस सेनापतिपर देवियोंके कटाक्षोंके साथ साथ आकाशसे फूलोंके समूह आकर पडे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानो जयलक्ष्मीका हास्य ही हो ॥ १२८ ॥ सेनापतिने सीढियों सहित विजयार्द्धपर्वतके किनारेकी वेदी उलंघन की और फिर वह तोरणसहित सिंधु नदीके पश्चिम ओर वाली वनकी वेदीपर जा पहुंचा ॥ १२९ ॥ उसने उस वेदीको भी उलंघनकर अनेक खानि, नगर, ग्राम, सीमा, और वाग वगीचोंसे सुंदर ऐसी उस म्लेच्छखंडकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥ १३० ॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही सव प्रजा घवडा गई, उसमेंसे कितने ही लोग स्त्री पुत्र गाय भैंस आदि लेकर भागनेकी तैयारी करने लगे ॥ १३१ ॥ कितने ही धीर वीर बुद्धिमान लोग मंगलाक्षत आदिसे वनाहुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके समीप गये और यथायोग्य उसका आदर सत्कार किया ॥ १३२ ॥ अरे 'डरोमत, जि-

सार्धाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीपुरभ्येत्य सवलं वलनायकः ॥ १३२ ॥ न भेतव्यं न भेतव्यमाध्वमाध्वं यथासुखं । इत्यस्याज्ञाकरा विष्वक् भ्रेमुराश्वासितप्रजाः ॥ १३३ ॥ म्लेच्छखंडमखडाज्ञः परिक्रामन्प्रदाक्षिणं । तत्र तत्र विभोराज्ञां म्लेच्छराजैरजिग्रहत् ॥ १३४ ॥ इदं चक्रधरक्षेत्रं स चैष निकटे प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनैः ॥ १३५ ॥ भरतस्यादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनं । शासनं शिरसा दध्वं यूयमित्यन्वशाच्च तान् ॥ १३६ ॥ जाता वयं चिरादद्य सनाथा इत्युदाशिषः । केचिच्चक्रधरस्याज्ञामशठाः प्रत्यपत्सत ॥ १३७ ॥ संधिविग्रहयानादिषाड्गुण्यकृतविक्रमाः । बलात्प्रणामिताः केचिदैश्वर्यलवदूषिताः ॥ १३८ ॥ काँश्चिद्दुर्गाश्रितान्म्लेच्छानवस्कंदनिरोधनैः । सेनानीर्वशमानिन्ये नमत्यज्ञोऽधिकं क्षतः ॥ १३९ ॥

सको जिस तरह अच्छा लगे उसीतरह रहो ' इसप्रकार प्रजाको आश्वासन देते हुये चक्रवर्तीके कितने ही सेवक चारोंओर घूम रहे थे ॥ १३३ ॥ जिसकी आज्ञा कभी भंग नहीं होती ऐसा वह सेनापति उस म्लेच्छखंडमें प्रदक्षिणा रूपसे घूमा और उसने वहांवहांके सब म्लेच्छ राजाओंसे अपने स्वामी भरतकी आज्ञा स्वीकार कराई ॥ १३४ ॥ सेनापतिने वहांके लोगोंको यह भी सिखलाया कि जिसमें तुम रहते हो वह चक्रवर्तीका क्षेत्र है, तुम्हारा वह स्वामी समीप ही है इसलिये तुम लोग स्वामीकी सेवा करनेकेलिये अपनी सेनाके साथ बहुत शीघ्र जाओ, और भरत चक्रवर्ती सबसे मुख्य राजा है उसकी आज्ञा कभी भंग नहीं होती इसलिये तुम लोग उसीकी आज्ञा अपने मस्तकपर धारण करो ॥ १३५-१३६ ॥ आज हमलोग वहुत दिनमें सनाथ हुये हैं इसप्रकार जोर जोरसे आशीर्वाद देतेहुये कितने ही बुद्धिमान लोगोंने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार की थी ॥ १३७ ॥ जिन्होंने संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, संश्रय आदि छह राजनैतिक गुणोंसे अपना कुछ पराक्रम दिखाया था और जो थोडेसे ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे जवर्दस्ती नमस्कार कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर बैठे हुये कितने ही म्लेछराजाओंको सेनापतिने चारोंओरसे उनका रास्ता रोककर वश किया सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खलोग अधिक दुखी होनेपर ही नवते हैं ॥ १३९ ॥ कि-

कीचिद्बलैरवष्टब्धास्तत्पीडा सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नापीलितात्खलात् ॥ १४० ॥ इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुज. । तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ॥ १४१ ॥ धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मता. । अन्यथाऽन्यै. समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः ॥ १४२ ॥ इति प्रसाध्य ता भूमिमभूमिं धर्मकर्मणां । म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृतत्पुनः ॥ १४३ ॥ रराज राजराजस्य साश्वरत्नचमूपतिः । सिद्धदिग्विजयो जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥ १४४ ॥ सतोरणामतिक्रम्य स सिंधोर्वनवेदिका । विगाढश्च ससोपाना रौप्याद्रेर्वनवेदिकां ॥ १४५ ॥ आरूढो जगतीमद्रेर्व्यूढोरस्को महाभुजः । षड्भिर्मासैः प्रशातोष्म सोऽध्यवासीद्गुहामुख ॥ १४६ ॥ तत्रासीनश्च सशोध्य बहुपाय गुहोदरं । कृतरक्षाविधिः सम्यक्प्रत्यायाच्छिवि-

---

तने ही म्लेच्छ राजा सेनासे घिरकर और उस दुखको सहन करनेमें असमर्थ होकर चक्रवर्तीकी आज्ञामें आये थे सो ठीक ही है क्योंकि जिसप्रकार विना पेले [दवाये] खलसे तेल नहीं निकलता है उसीप्रकार विना दुखी हुये दुष्टमें प्रेम भी उत्पन्न नहीं होता ॥ १४० ॥ इसप्रकार अनेक उपायोंको जाननेवाले उस सेनापतिने अनेक उपायोंसे म्लेच्छराजाओंको वश किया और स्वामीके उपभोग करने योग्य ऐसे कन्या आदि अनेक रत्न उनसे लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्म क्रियासे रहित हैं व्रत आदि धर्म क्रियायें नहीं करते इसलिये ही म्लेछ कहलाते हैं, धर्म क्रियाके सिवाय विवाह आदि उनके सब आचरण आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥ १४२ ॥ इसप्रकार धर्मक्रियासे रहित उस म्लेच्छभूमिको अपने वशकर अनेक म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ वह सेनापति फिर वापिस लौटा ॥ १४३ ॥ जिसने सब दिग्विजय कर लिया है, जो सबको जीतने वाला है और अश्व रत्नपर चढा हुआ है ऐसा वह महाराजाधिराज भरतका सेनापति उससमय ऐसा सुशोभित होता था मानो प्रतापने ही शरीर धारण किया हो ॥ १४४ ॥ तोरणों सहित सिंधुनदीके वनकी वेदीको उलंघनकर वह सीढियोंवाली विजयार्द्ध पर्वतकी बनकी वेदीपर जा चढा ॥ १४५ ॥ जिसका वक्षःस्थल बहुत बडा है और जिसकी भुजायें बहुत लंबी हैं ऐसा वह सेनापति विजयार्द्ध पर्वतकी वेदीपर चढकर

र प्रभोः ॥ १४७ ॥ अथ संमुखमागत्य सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगृह्यत सेनानीः सजयानकनिस्वनं ॥ १४८ ॥ विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिका । महावीथीमतिक्रम्य प्राविक्षत्स नृपालयं ॥ १४९ ॥ तुरंगमवराद्दूरात्कृतावतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमंडप ॥ १५० ॥ दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुड्मलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैर्वीक्ष्यमाण. सविस्मितैः ॥ १५१ ॥ मुखरैर्जयकारेण म्लेच्छगजै· ससाध्वस । प्रणेमे प्रभुरभ्येत्य ललाटस्पृष्टभूतलै· ॥ १५२ ॥ तदुपाहृतरत्नाद्यैरर्घ्यैरलुपढौकितै· । नामादेश च तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥ १५३ ॥ सप्रसाद च संमान्य सत्कृतास्ते म-

छह महीनेमें जिसकी गरमी शांत हो गई है ऐसी गुफाके दरवाजेपर ठहर गया ॥ १४६ ॥ वहींपर ठहरकर उसने अनेक विघ्नोंसे भरे हुये उस गुफाके भीतरी भागको साफ किया और फिर वहुत अच्छीतरहसे उसकी रक्षाका उपायकर चक्रवर्तीके डेरोंमें लौट आया ॥ १४७ ॥ सेनापतिके वहां पहुंचनेपर जय जय और नगाडोंके गंभीर शब्दोंके साथ अपनी अपनी सेनाके साथ अनेक अच्छे अच्छे राजाओंने सामने आकर सेनापतिका आदर सत्कार किया ॥ १४८ ॥ जिसमें अनेक तोरण खडे किये हैं और जिसमें अनेक ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे राजमार्गको उलंघन कर उस सेनापतिने महाराजके तंबूमें प्रवेश किया ॥ १४९ ॥ राजमर्यादाको जाननेवाला वह सेनापति दूरसे ही उस उत्तम घोडेपरसे उतर पडा और जहांपर महाराज भरत राजसिंहासनपर विराजमान थे उस सभामंडपमें जा पहुंचा ॥ १५० ॥ दूरसे ही नम्र होनेसे चंचल हुये मुकुटपर जिसने अपने दोनों ही हाथ जोडकर रक्खे हैं और सभासद लोग जिसे वडे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसे उस सेनापतिने वहां जाकर भरतको नमस्कार किया ॥ १५१ ॥ जिन्होंने अपने मस्तकसे पृथ्वीको स्पर्श किया है और जो जयजयकार करनेसे बाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओंने डरतेहुये आकर महाराजको नमस्कार किया ॥ १५२ ॥ वे म्लेच्छ राजा जो रत्न आदि भेट करनेके लिये लाये थे उन्हें सामने रखकर उस सेनापतिने अपने स्वामी भरतसे सबका नाम निवेदन किया, अर्थात् यह अमुक राजा

हीभुज' । प्रभोरनुमताद्भूय' स्वमोकः प्रत्ययासिषु' ॥ १५४ ॥ इत्थं पुण्योदयाच्चक्री बलात्प्रत्यंतपालकान् । विजिग्ये दंडमात्रेण जयः पुण्यादृते कुतः ॥ १५५ ॥ अथ नृपतिसमाजेनार्चितं सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन्म्लेच्छनाथान् । पुनरपि विजयायायोजि सोऽग्रेसरत्वे जय इव जयचिन्हैर्मानितो रत्नभर्त्रा ॥ १५६ ॥ जयति जिनवराणां शासनं यत्प्रसादात्पदमिदमधिराज्ञां प्राप्यते हेलयैव । समुचितनिधिरत्नप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरिसंपत्प्रसारं ॥ १५७ ॥ छत्रं चंद्रकरापहासि रुचिरं चामीकरप्रोज्ज्वलदंडं चामरयुग्मकं सुरसरिड्डिंडीरपिंडच्छवि. । रुक्माद्रेरिव साविभक्तमपरं कूटं मृगेंद्रासनं

है यह अमुक है इसतरह स्वामीसे सबकी भेट कराई ॥ १५३ ॥ महाराजने प्रसन्न होकर सब राजाओंको मान दिया और सबका आदर सत्कार किया, तदनंतर वे राजा भी महाराजकी आज्ञासे अपने अपने घर चले गये ॥ १५४ ॥ इसप्रकार उस चक्रवर्तीने अपने पुण्यकर्मके उदयसे केवल दंड रत्नसे ही विजयार्द्ध पर्वतके समीपवर्ती राजाओंको जबर्दस्ती अपने वश किया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्योदयके विना विजय कहां प्राप्त हो सकता है ? ॥ १५५ ॥

अथानंतर—अनेक राजाओंके समूहने प्रेम पूर्वक जिसका आदर सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये हैं और सब म्लेच्छ राजाओंको जिसने नवाया है ऐसे साक्षात् विजयके समान उस सेनापतिका ध्वजापताका आदि जयचिन्होंसे आदरसत्कारकर रत्नोंके स्वामी भरतने फिर भी दिग्विजय करनेके लिये प्रधान सेनापतिके स्थानपर उसे नियुक्त किया ॥ १५६ ॥ अनेक योग्य निधियां और रत्नोंसे भरेहुये अनेक भोगोपभोगोंसे जिसमें समस्त सुखोंका सार प्रगट होता है और जिसमें अनेक तरहकी संपदाओंकी अधिकता रहती है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लीलामात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह श्रीजिनेंद्रदेवका शासन सदा विजयी रहो ॥ १५७ ॥ महाराज भरतको विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको जीतनेसे उससे चंद्रमाकी किरणोंको भी लज्जित करनेवाला छत्र, जिनके सुवर्णकी बनी हुई मूठ प्रकाशमान हो रही हैं और जो गंगाके फे-

लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयाद्रत्नान्यथान्यान्यपि ॥ १५८ ॥ गीर्वाण· कृतमाल इत्यभिमतः सपूज्य न सादर प्रादादाभरणानि यानि न पुनस्तेपामिहाऽस्त्युन्मिति. । सम्राट् तैरचकादलंकृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पितो मेरोः सानुमिवाश्रितो मणिमय सोऽध्यासितो विष्टर ॥ १५९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे विजयार्द्धगुहाद्वारोद्घाटनवर्णनं नामैकत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३१ ॥

अथ द्वात्रिंशत्तमं पर्व ।

अथान्येद्युरुपारूढसभ्रमैर्बलनायकै· । प्रत्यपाल्यत सन्नद्धै· प्रयाणसमयः प्रभोः ॥ १ ॥ गजताश्वीयसैन्यानां पदातीनां च सकुलैः । न नृपाजिरमेवासीद्रुध्दमद्रेर्वनान्यपि ॥ २ ॥ जयकुंजरमारूढ· परीतो नृपकुंजरै· । रेजे निर्गन्प्रयाणाय संम्राट् शक्र इवामरैः ॥ ३ ॥ किंचित्पश्चान्मुख गत्वा सेनान्या

नके समूहके समान सफेद हैं ऐसे दो मनोहर चमर और सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुये किसी एक शिखरके समान सिंहासन तथा और और भी अनेक रत्न प्राप्त हुये ॥ १५८ ॥ कृतमाल नामके प्रसिद्ध देवने भरतकी पूजा की और आदर पूर्वक उसे अमूल्य और उपमा रहित अनेक अलंकार समर्पण किये, उन अलंकारोंके पहिननेसे जिसका शरीर सुशोभित हो रहा है ऐसा रत्नोंके बनेहुये सिंहासनपर विराजमान वह भरत उससमय ऐसा अच्छा जान पडता था मानो सुमेरु पर्वतके शिखरपर फूलाहुआ कल्पवृक्ष ही सुशोभित हो ॥ १५९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें विजयार्द्धपर्वतकी गुफाका द्वार उघाडनेका वर्णन करनेवाला यह इकतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

बत्तीसवां पर्व ।

अथानंतर— दूसरे दिन जिन्हें बहुत जल्दी हो रही है और जो चलनेके लिये तैयार हो रहे हैं ऐसे सेनापति लोग भरतके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १ ॥ हाथियोंके समूहकी सेना घोडोंके समूहकी सेना और पैदल चलनेवाली सेनाकी भीडसे केवल महाराजका आंगन ही नहीं

शोधिते पथि । ध्वजिनी संकुचन्त्यासीदीर्याशुद्धिं श्रितेव सा ॥ ४ ॥ प्रगुणस्थानसोपाना रूप्याद्रेः श्रेणिमश्रमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीमारूढा सा पताकिनी ॥ ५ ॥ तमिस्रेति गुहा यासौ गिरिव्यासससमायतिः । उच्छ्रिता योजनान्यष्टौ ततोऽर्द्धाधिकविस्तृतिः ॥ ६ ॥ वाज्र कपाटयोर्युग्म या स्वोच्छ्रायमितोच्छ्रिति । दध्रे पृथक् स्वविष्कम्भसाधिकद्वयशाविस्तृति ॥ ७ ॥ परार्ध्यमणिनिर्माणरुचिमद्द्वारबन्धना । तदधस्तलनिस्सर्पत्सिंधुस्रोतोविराजिता ॥ ८ ॥ अशक्योद्घाटनाऽन्येषा मुक्त्वा चक्रिचमूपतिं । तन्निर्गलितत्वाच्च प्रागेव कृतनिर्वृतिः ॥ ९ ॥ जगत्स्थितिरिवानाद्या घटितेव च केनचित् । जैनीश्रुति-

---

भरगया था किंतु विजयार्द्ध पर्वतके बन भी भरगये थे ॥ २ ॥ जिसप्रकार ऐरावत हाथीपर चढाहुआ तथा देवोंसे घिराहुआ इंद्र शोभायमान होता है उसीप्रकार विजयी हाथीपर चढाहुआ और बडे बडे राजाओंसे घिराहुआ वह चक्रवर्ती विजय करनेकेलिये निकलता हुआ सुशोभित होता था ॥३॥ जिसप्रकार ईर्यापथ शुद्धि करनेवाले कुछ संकुचित होकर चलते हैं उसीप्रकार वह सेना भी कुछ पाश्चिमकी ओर चलकर सेनापतिके द्वारा साफ किये मार्गमें संकुचित होकर चलने लगी ॥ ४ ॥ जिसप्रकार मुनियोंकी विशुद्धि आठ नौ दश आदि गुणस्थानोंकी श्रेणियोंपर चढती है उसीप्रकार वह सेना भी जिसपर सीधी सीढी बनी हुई हैं ऐसी विजयार्द्ध पर्वतकी श्रेणीपर जा चढी थी ॥ ५ ॥ वहांपर जो तमिस्रा नामकी गुफा है, जो कि पर्वतकी चौडाईके समान लंबी है, आठ योजन ऊंची है और उससे ड्योढी अर्थात् बारह योजन चौडी है ॥ ६ ॥ जिसके दोनों किवाड वज्रके बने हुये हैं उनकी उंचाई दरवाजेकी उंचाईके समान हैं और चौडाई कुछ आधिक छह छह योजनकी है ॥ ७ ॥ जिसके दरवाजेकी चौखट अमूल्य मणियोंसे बनी हुई होनेसे बहुत ही दैदीप्यमान है और उसके, नीचेसे सिंधु नदीका जो प्रवाह निकलता है उससे वह बहुत ही अच्छी जान पडती है ॥ ८ ॥ तथा चक्रवर्तीके सेनापतिको छोडकर अन्य कोई भी जिसे उघाड नहीं सकता ऐसी वह गुफा भरतके सेनापतिके द्वारा उघडजानेसे पहिले ही से शांत हो चुकी थी, अर्थात् उसकी गरमी निकल चुकी थी ॥ ९ ॥ जिसप्र

रिवोपात्तगांभीर्या मुनिभिर्मता ॥ १० ॥ व्यायता जीविताशेव मूर्च्छेव च तमोमयी । गतेवोल्लावता कृच्छ्रान्मुक्तोष्मा शोधितांतरा ॥ ११ ॥ कुटीव च प्रसूता या निषिद्धान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिर्द्वारे धृतमगलसंविधिः ॥ १२ ॥ तामालोक्य बल जिष्णोर्दूरादासीत्ससाध्वस । तमसा सूचिभेद्येन कज्जलेनेव सभृता ॥ १३ ॥ चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहित. । तत्तमोनिर्गमोपाये प्रयत्नमकरोत्तत. ॥ १४ ॥ काकिणीमणिरत्नाभ्या प्रतियोजनमालिखत् । गुहाभित्तिद्वये सूर्यसोमयोर्मंडलद्वय ॥ १५ ॥ तत्प्रकाशकृतोद्योत सज्योत्स्नातपसन्निधिं । गुहामध्यमपध्वात व्यगाहत ततो बल ॥ १६ ॥ च-

कार जगतकी स्थिति अनादि अनिधन है उसीप्रकार वह गुफा भी अनादि अनिधन है तथापि किसीके द्वारा बनाई हुई सी जान पडती है और जिसप्रकार जिनवाणी गंभीर है उसीप्रकार वह गुफा भी गंभीर है ऐसा गणधरादि मुनियोंने माना है ॥ १० ॥ वह गुफा जीवित रहनेकी आशाके समान लंबी है, मूर्छाके समान अंधकारमयी है और उसकी ज्वररूप गरमी निकलजानेसे तथा भीतरका भाग अर्थात् उदर साफ हो जानेसे नीरोगके समान जान पडती है ॥ ११ ॥ उसमें चक्रवर्तीके सेनाके सिवाय अन्य सबका प्रवेश करना मना है, उसके द्वारपर रक्षाकी विधि की गई है और अष्टमंगलद्रव्य रक्खे हुये हैं इसलिये वह प्रसूता स्त्रीकी [जच्चाकी] कोठरीके समान जान पडती है ॥ १२ ॥ सुईकी नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ अंधकारसे भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही कुछ भयभीत हुई थी ॥ १३ ॥ चक्रवर्तीकी आज्ञाके अनुसार पुरोहितके साथ साथ सेनापतिने फिर उस अंधकारसे निकलनेका उपाय करनेकेलिये प्रयत्न किया ॥ १४ ॥ उन्होंने गुफाकी दोनों दीवालोंपर काकणी और चूडामणि रत्नसे एक एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चंद्रमाके प्रतिबिंब लिखे, एक दीवालपर सूर्य और एक दीवालपर चंद्रमा लिखे ॥ १५ ॥ तदनंतर चांदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं और उनके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश हो रहा है तथा अंधकार नष्ट हो गया है ऐसी उस गुफामें वह सेना प्रवेश करने लगी ॥ १६ ॥

क्रतज्वलद्दीपे ससेनान्या पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा ययौ ॥१७॥ परिसिंधुनदीस्रोतः प्राक्पश्चाच्चोभयोः पथोः । बलं प्रायाजल सिंधोरुपयुज्योपयुज्य तत् ॥१८॥ पथि द्वैधे स्थिता तस्मिन्सेनाग्रण्यानियंत्रिता । सा चमू सशयद्वैध तदा प्रापद्दिगाश्रय ॥१९॥ ततः प्रयाणकैः कैश्चित्प्रभूतयवसोदकैः । गुहार्द्धसमिता भूमिं व्यतीयाय पतिर्विशा ॥२०॥ यत्रोन्मग्नजला सिंधुर्निमग्नजलया सम । प्रविष्टा तिर्यगुद्देश त प्राप बलमीशितु. ॥२१॥ तयोराराच्तटे सैन्य निवेश्य भरतेश्वर. । वैषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षाचक्रे सकौतुक ॥२२॥ एकाऽधःपातयत्यन्या दार्वाद्युत्प्लावत्यर । मिथोविरुद्धसागत्ये सगते ते कथचन ॥ २३ ॥

आगे आगे सेनापतिके साथ साथ चक्ररत्न रूपी प्रकाशमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे पीछे उसी मार्गसे दो भागोंमें बंटकर वह सेना चल रही थी ॥ १७ ॥ सिंधु नदीके पूर्व पश्चिमकी ओरके दोनों किनारोंके मार्गोंमें सिंधुनदीके जलका उपभोग करती हुई वह सेना चलने लगी ॥ १८ ॥ गुफाके पूर्वी पश्चिमी दोनों किनारोंपर चलतीहुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय पूर्व दिशा कौनसी और पश्चिम दिशा कौनसी इसमें भी संदेह करने लगी थी ॥ १९ ॥ तदनंतर जिसमें घास पानी बहुत है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥ २० ॥ और जहांपर निमग्नजला नदीके साथ साथ उन्मग्नजला नदी पूर्व पश्चिमकी दीवालोंके कुंडोंसे निकलकर सिंधु नदीमें प्रवेश करती हैं उस जगहपर वह भरतेश्वरकी सेना जा पहुंची ॥ २१ ॥ वहांपर उन दोनों नदियोंके किनारेके समीप ही भरतने अपनी सेना ठहराई और आप स्वयं बडे आश्चर्यके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता [विरोधपना] देखने लगा ॥ २२ ॥ उन दोनोंमेंसे एक निमग्नजला नदी तो लकडी आदि प्रत्येक पदार्थको नीचे ले जाती है और दूसरी उन्मग्नजला नदी सब पदार्थोंको ऊपरकी ओर उछाल देती है, ऐसी ये दोनों ही नदियां परस्पर विरुद्ध होकर भी मानों किसीतरह आपसमें मिलनेकेलिये ही एक जगह सिंधु नदीमें आ मिली हैं ॥ २३ ॥ इन दोनोंनदियोंके पार जानेका क्या उपाय है इसप्रकार विचार करते हुये और उसीजगह खडे हुये भरतने

नद्योरुत्तरणोपाय: को नु स्यादिति तर्कयन्। द्रुतमाह्वाययामास तत्रस्थ: स्थपतिं पतिः ॥ २४ ॥ स तन्नदीद्वयं पश्यन्नुत्पतन्निपतज्जलं। दृष्ट्यैव तुलयामास जलाञ्जलिमिव क्षण ॥ २५ ॥ उपर्युच्छ्वासयत्येना महान्वायुः स्फुरन्नध. । वायुस्तदन्यथावृत्तिरमुष्या च विजृंभते ॥ २६ ॥ उपनाहादृते कोऽन्य: प्रतीकारोऽनयोरिति । भिषग्वर इवारेभे सङ्क्रमोपक्रम कृती ॥ २७ ॥ अमानुषेष्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः । स तानानाययामास दिव्यशक्त्यनुभावतः ॥ २८ ॥ सारदारुभिरुत्तभ्य स्तम्भानतर्जले स्थिरान् । स्थपतिः स्थापयामास तेषामुपरि सङ्क्रम ॥ २९ ॥ बलव्यसनमाशङ्क्य चिरवृत्तौ स धीरधीः । क्षणान्निष्पादयामास सङ्क्रम प्रभुशासनात् ॥ ३० ॥ कृतः कलकल: सैन्यैर्निष्ठिते सेतुकर्मणि । तत्रैव च बल कृत्स्नमुत्ततार पर तट ॥ ३१ ॥ नायकैः स-

बहुत शीघ्र अपने सिलावट रत्नको बुलाया ॥ २४ ॥ सिलावटने जिनका पानी एकका ऊपरको उछल रहा है और दूसरीका नीचेको जा रहा है ऐसी वे दोनों ही नदियां देखीं और दृष्टिमात्रसे ही क्षणभरमें उन्हें अंजलिभर पानीके समान समझलिया ॥ २५ ॥ उसने समझ लिया कि उन्मग्नजला नदीके भीतर भराहुआ महा वायु इसके पानीको ऊपरकीओर उछालता है और निमग्नजलानदीका ऊपरका वायु उसके पानीको नीचेकी ओर ले जाता है ॥ २६ ॥ इसलिये इन दोनोंका पुल बांधनेके सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसप्रकार एक उत्तम वैद्यके समान वह सिलावट उनसे पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बांधनेका प्रयत्न करने लगा ॥ २७ ॥ उसने दिव्य शक्तिकी (रक्षा करनेवाले देवोंकी) सामर्थ्यसे निर्जनबनोंमें कितने ही जो बडे वृक्ष थे वे मगाये ॥ २८ ॥ और पानीके भीतर मजबूत लठ्ठोंको खडा कर मजबूत खंबे खडे किये तथा उनके ऊपर उसने पुल बांधकर तैयार किया ॥ २९ ॥ अधिक समय लग जानेसे सेनाको दुख होगा यही समझकर उस धीर वीर शिलावटने महाराज भरतकी आज्ञासे क्षणभरमें ही वह पुल तैयार कर दिया ॥ ३० ॥ जब वह पुल बंधकर तैयार हो चुका तब सेनाने आनंदसे कोलाहल मचाया, तथा वह समस्त सेना उन दोनों नदियोंके दूसरे किनारेपर पार होकर पहुंच गई ॥ ३१ ॥ दूसरे दिन अनेक हाथियोंकी घटाओंसे घिरे हुये भरतने अनेक रा-

समन्येद्युः प्रभुर्गजघटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलंघयत् ॥ ३२ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैरनिराकृतैः । गिरिदुर्गं विलंघ्योदग्गुहाद्वारमवासदत् ॥ ३३ ॥ निरर्गलीकृत द्वार पौरस्त्यैरिभसाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रेरध्युवास वनावनिं ॥ ३४ ॥ अधिवास्य गुहागर्भं चिरं मातुरिवोदरं । लब्धजन्मान्तरं मेने निःसृतैः सैनिकैर्बहिः ॥ ३५ ॥ गुहेयमतिगृध्नुत्वाद् गिलित्वा जननामिमां । जरणाशक्तितो नूनमुद्गिरत्यद्य बहिः पुनः ॥ ३६ ॥ व्यजनैरिव शाखाग्रैर्वीजयन्वनवीरुधा । गुहोष्मणा चिरं खिन्नां चमूमाश्वासयन्मरुत् ॥ ३७ ॥ तदा वनं पवनाधूतं चकम्पे शाखाकरोत्करैः । प्रभोरागमने तोषान्ननर्तेव प्रनर्तितं

जाओंके साथ साथ उसी महामार्गसे विषम जलको पार किया ॥३२॥ अनंतर कितने ही मुकाम चलकर तथा विजयार्द्ध पर्वतरूपी कठिन मार्गको पारकर वह उस गुफाके उत्तर द्वार पर जा पहुंचा ॥३३॥ उस गुफाका उत्तर द्वार हाथियोंको लेकर आगे चलनेवाली सेनाके लोगोंने पहिलेसे ही उघाड रक्खा था, उस द्वारको पार कर भरतने विजयार्द्ध पर्वतके वनकी भूमिमें पहुंचकर निवास किया ॥ ३४ ॥ जिसप्रकार बहुत दिनतक माताके उदरमें रहकर वहांसे निकलतेहुये अपना दूसरा जन्म मानते हैं उसीप्रकार बहुत दिनतक उस गुफाके भीतर रहकर बाहर निकलते हुये सेनाके लोगोंने अपना दूसरा जन्म प्राप्त होनेके समान ही माना था ॥ ३५ ॥ जिससमय वह सेना गुफासे बाहर निकल रही थी उससमय वह गुफा ऐसी जान पडती थी मानों वह बहुत खानेकी इच्छासे इस सब मनुष्य समूहको निगल गई थी परंतु उसमें पचानेकी शक्ति न होनेसे वह अवश्य ही उसे फिरसे बाहर उगल रही हो ॥ ३६ ॥ उस समय पंखोंके समान वनके वृक्षोंकी शाखाओंके ऊपरी भागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पडता था मानों गुफाकी गरमीसे बहुत दिनतक दुःखित हुई उस सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥ ३७ ॥ ऋतु संबंधी अनेक फल पुष्पोंको धारण करता हुआ और वायुके द्वारा हिलाया हुआ वह वन उससमय ऐसा जान पडता था मानों भरतके आनेपर संतुष्ट होकर हिलते हुये अपने शाखारूपी हाथोंके समूहोंसे नृत्य ही कर रहा हो ॥ ३८ ॥ सेनापतिने जैसे

॥ ३८ ॥ पूर्ववत्पश्चिमे खंडे बलाग्रण्या प्रसाधिते । विजेतु मध्यमं खंडं साधनैः प्रभुरुद्ययौ ॥ ३९ ॥ न करैः पीडितो लोको न भुवः शोषितो रसः । नार्केणेव जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताध्युदक् ॥ ४० ॥ कौबेरीं दिशमास्थाय तपत्येकांततः करैः । भानुर्भरतराजस्तु भुवस्तापमपाकरोत् ॥ ४१ ॥ कृत व्यूहानि सैन्यानि सहतानि परस्पर । नातिभूमिं ययुर्जिष्णोर्न स्वैरं परिबभ्रमुः ॥ ४२ ॥ प्रसाधितानि दुर्गाणि कृत चाशक्यसाधन । परचक्रमवष्टब्ध चक्रिणो जयसाधनैः ॥ ४३ ॥ बलवान्नाभियोक्तव्यो रक्षणीयाश्च साश्रिताः । यतितव्य क्षितित्राणे जिगीषोर्वृत्तमीदृग ॥ ४४ ॥ इत्यलंघ्यबलश्चक्री चक्ररत्न

पहिले दक्षिणकी ओरका पश्चिम म्लेच्छ खंड जीता था उसीप्रकार यहांका भी पश्चिम म्लेच्छ खंड जीता तथा मध्यम खंड जीतनेके लिये महाराज भरत स्वयं अपनी सेनाके साथ तैयार हुआ ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर निकला था तथापि जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंमे लोगोंको पीडित करता है उसप्रकार उसने अपने करसे लोगोंको पीडित नहीं किया था, सूर्य जिसप्रकार पृथ्वीका रस पानी सोख लेता है उसप्रकार उसने पृथ्वीका रस अर्थात् आनंद नहीं सोखा था तथा सूर्य जिसप्रकार लोगोंको संतप्त करता है उसप्रकार भरतने किसीको भी संतप्त नहीं किया था ॥४०॥ सूर्य उत्तर दिशामें पहुंचकर अपने कर अर्थात् किरणोंसे अत्यंत संताप करता है परंतु भरतने उत्तर दिशामें पहुंचकर पृथ्वीका सब संताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिसमें अनेक व्यूहोंकी रचना हुई है और जो परस्पर मिली हुई है ऐसी वह सेना भरतसे न तो बहुत दूर ही चली गई थी और न अपनी इच्छानुसार इधर उधर फिरती थी ॥४२॥ विजय करनेवाली उस चक्रवर्तीकी सेनाने अनेक किले अपने वश किये, अजेय देश जीते और शत्रुओंकी सेना भी रोकी ॥४३॥ बलवानके साथ युद्ध नहीं करना, जो अपने आश्रय आया हो उसकी रक्षा करना और पृथ्वीको रक्षा करनेकेलिये सदा प्रयत्न करना यही विजय चाहनेवाले राजाका योग्य आचरण है ॥४४॥ जिसकी सेनाको कोई उलंघन नहीं करसकता ऐसे भरतचक्रवर्तीने चक्ररत्नके पीछे पीछे चलतेहुये अपनी सेनाके द्वारा उस देशकी कितनी ही पृथ्वी वश कर ली ॥४५॥

मनुव्रजन् । कियतीमपि तां भूमिमवाप्स्यन्नभितःस्वसाधनैः ॥ ४५ ॥ तावच्च परचक्रेण स्वचक्रस्य पराभवं । चिलातावर्तनामानो प्रभू शुश्रुवतु किल ॥४६॥
अभूतपूर्वमेतन्नौ परचक्रमुपस्थित । व्यसन प्रतिकर्तव्यमित्यास्ता सगतौ मिथः ॥ ४७ ॥ ततो धनुर्धरप्रायं महाश्वीय सहास्तिकं । इतोऽनुतश्च सं-
जग्मे तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥ ४८ ॥ कृतोच्चविग्रहारंभौ सरभं प्रतिपन्न तौ । विक्रम्य चक्रिण सैन्यैर्भजतुर्विजिगीषुता ॥ ४९ ॥ तावच्च सुधियो धीराः
कृतकार्याश्च मन्त्रिणः । निषिध्य तौ रणारंभादूचः पथ्यमिद जगु ॥ ५० ॥ न किंचिदप्यनालोच्य विधेय सिद्धिकाम्यता । अनालोचितकार्याणा दवीय-
स्योऽर्थसिद्धय ॥ ५१ ॥ कोऽय प्रभुरयष्टभी कुतस्यो वा कियद्बलः । बलवानित्यनालोच्य नाभिषेण्यः कथंचन ॥ ५२ ॥ विजयार्द्धचलोद्धंवी नैव ना-

---

इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेना का तिरस्कार होता सुना ॥ ४६ ॥ हमारे देशमें शत्रुकी सेनाका आकर उपस्थित होना हमारे लिये बिलकुल नई बात है, इस आये हुये संकटके दूर करनेका उपाय करना चाहिये ऐसा विचारकर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिलगये ॥ ४७ ॥ तदनंतर जिसमें प्रायः धनुष धारण करनेवाले बहुतसे योद्धा हैं, तथा हाथी और घोडोंका बहुतसा समुदाय है ऐसी दोनों म्लेच्छ राजाओंकी वह सेना इधर उधरसे आकर इकट्ठी हुई ॥ ४८ ॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा अपना समस्त पराक्रम प्रगटकर चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जीतनेकी इच्छा करनेलगे ॥ ४९ ॥ इस प्रकार युद्धका उद्योग करनेपर बुद्धिमान धीर वीर और समस्त कार्य कर चुकनेवाले पुराने मंत्रियोंने उन दोनों राजाओंको युद्ध करनेके उद्योगसे रोका और नीचे लिखे अनुसार हितकरनेवाले वचन कहे ॥ ५० ॥ हे प्रभो, अपना कार्य सिद्ध करनेकी इच्छा करनेवालोंको विना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिये क्योंकि विना विचारे कार्य करनेवालोंका कार्य सिद्ध होना बहुत दूर रहता है ॥ ५१ ॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन है? कहांसे आया है? इसकी सेना कितनी है और कितना बलवान है ? इत्यादि बातोंका विचार किये विना ही उसकी

मान्यमानुष' । दिव्यो दिव्यानुभावो वा भवेदेष न सशय' ॥ ५३ ॥ तदास्ता समरारभः संभाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासाज्जेतु शक्यो रिपुर्महान् ॥ ५४ ॥ स्वभावदुर्गमेतन्नः क्षेत्र केनाभिभूयते । हिमवद्विजयार्द्धाद्रिगागसिंधुतटावधि ॥ ५५ ॥ अन्यच्च देवताः सति सत्यमस्मत्कुलोचिताः । नागमेघमुखा नाम ते निरुधतु शात्रवान् ॥ ५६ ॥ इति तद्वचनाज्जातजयाशंसौ जनेश्वरौ । देवतानुस्मृतिं सद्यश्चक्रतुः कृतपूजनौ ॥ ५७ ॥ ततस्ते जलदाकारधारिणो घनगर्जिताः ॥ परितो वृष्टिमातेनुः सानिलामनिलाशनाः ॥ ५८ ॥ तज्जल जलदोद्गीर्णं बलमाप्लाव्य जैष्णव । अवस्तिर्यगथोर्ध्वं च समतादभ्यद्रवत् ॥ ५९ ॥ नचेलक्नोपमस्यासीच्छिबिरे वृष्टिरीशितुः । बहिरेकार्णव कृत्स्नमकरोद्व्याप्य रोदसी ॥ ६० ॥ छत्ररत्नमुपर्यासीच्चर्मरत्नमधोऽभवत् । ताभ्या-

---

सेनाके सन्मुख जाना कभी योग्य नहीं है ॥ ५२ ॥ विजयार्द्ध पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई सामान्य मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य सामर्थ्य धारण करनेवाला होगा इसमें कोई संदेह नहीं है ॥ ५३ ॥ इसलिये युद्धका उद्योग करना तो बंद कर देना चाहिये और किसी किलेका आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि किलेमें रहकर हम लोग बडे भारी शत्रुको भी सहज रीतिसे जीत सकते हैं ॥ ५४ ॥ हिमवान पर्वतसे विजयार्द्ध पर्वततक और गंगा नदीसे लेकर सिंधु नदीके किनारे तकका यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किले के समान है, इसे कौन जीत सकता है ॥ ५५ ॥ इसके सिवाय हमारे कुल परंपरासे चले आये पूज्य ऐसे नागमुख और मेघमुख नामके देव भी तो हैं, वे ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार मंत्रियोंके वचन सुनकर जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों ही राजा बहुत शीघ्र देवताओंका पूजनकर उनका स्मरण करने लगे ॥ ५७ ॥ स्मरण करते ही नागमुख और मेघमुख देव बादलका रूप धारणकर बादलके समान गरजते हुये भरतकी सेनाके चारों ओर झंझा वायुके साथ साथ जलकी वर्षा करने लगे ॥५८॥ मेघमुखके द्वारा बरसाये हुये उस जलने भरतकी सब सेना डुबो दी और वह उस सेनाके नीचे ऊपर अगल बगल चारों ओर बहने लगा ॥ ५९ ॥ यद्यपि वह इतना बरसा था कि बाहर

मविष्ठग तद्रुध्दं बल स्यूतमिवाभित· ॥ ६१ ॥ मध्ये रत्नद्वयस्यास्य स्थितमासप्तमादिनात् । जलप्लवे बल भर्तुर्व्यक्तमडायित तदा ॥ ६२ ॥ चक्ररत्नक्षतोद्योते रुद्धद्वादशयोजने । तत्राडके स्थित जिष्णोर्निराबाधमभूद्बल ॥ ६३ ॥ प्रविभक्तचतुर्द्वार सेनान्याऽतः सुरक्षित । बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल तद्बल ॥ ६४ ॥ तदा पटकुटीभेदाः किटिकाश्च विशंकटा· । कृताः स्थपतिरत्नेन रथाश्चाम्बरगोचराः ॥ ६५ ॥ बहिः कलकल श्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवा. । कर व्यापारयामासु· क्रुद्धा कौक्षेयक प्रति ॥ ६६ ॥ ततश्चक्रधरादिष्टा गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासुरुग्रा हुङ्कृतैः क्षणात् ॥ ६७ ॥

आकाश पातालमें फैलकर सब प्रदेश एक समुद्रके समान बन गया था तथापि महाराज भरतके तंबू में एक वस्त्रका टुकडा भिगोने योग्य भी जलकी वृष्टि नहीं हुई थी ॥ ६० ॥ उससमय भरतकी सेनाके ऊपर छत्र रत्न रक्खा गया था और नीचे चर्म रत्न विछाया गया था, इन दोनोंसे घिरकर रुकी हुई वह सेना ऐसी जान पडती थी मानों उसके चारोंओर बुनावट ही की गई हो ॥ ६१ ॥ उस जलके समूहमें छत्र और चर्म इन दोनों रत्नोंके भीतर भरतकी वह सेना सात दिन-तक ठहरी थी और उससमय वह ठीक अंडाके समान जान पडती थी ॥ ६२ ॥ वह चर्म और छत्र-से बना हुआ अंडाकार तंबू बारह योजन था और उसमें चक्ररत्नका प्रकाश पडता था, उसी बडे तंबूमें भरतकी वह सेना सब तरहकी पीडासे रहित हो गई थी ॥ ६३ ॥ उस बडे तंबूके चारों दिशा-ओंमें चार दरवाजे किये गये थे उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे उस सेनाकी रक्षा जयकुमारने की थी ॥ ६४ ॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपडेके तंबू खडे किये थे, बडी बडी घासकी झोंपडियां बनाई थीं और आकाशमें चलनेवाले रथ भी बनाये थे ॥ ६५ ॥ बाहर भारी कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इसप्रकार कहते हुये राजाओंने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारपर रक्खा ॥ ६६ ॥ अनंतर उस समय चक्रवर्तीकी आज्ञासे गणबद्ध जातिके देवोंने क्रो-धित होकर हुंकार शब्दोंके द्वारा क्षणभरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥ ६७ ॥ अतिशय बलवान

बलवान्कुरुराजोऽपि मुक्तसिंहप्रगार्जितः । दिव्यास्त्रैरजयन्नागान् रथं दिव्यमधिष्ठितः ॥ ६८ ॥ तदा रणांगणे वर्षन् शरधारामनारत । स रेजे धृतसन्नाहः प्रावृषेण्य इवाबुदः ॥ ६९ ॥ तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रेजिरे समराजिरे । द्रष्टुं तिरोहितान्नागान्दीपिका इव बोधिताः ॥ ७० ॥ ततो निववृते जित्वा नागान्मेघमुखानसौ । कुमारो रणसरभात्प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः ॥ ७१ ॥ कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्यस्तनितोर्जितैः । गर्जितैर्निर्जयन्मेघमुखान्ख्यातस्तदाख्यया ॥ ७२ ॥ तोपितैरवदानेन घोषितोऽस्य जयोऽमरैः । दध्वनद्दुंदुभिध्वानबधिरीकृतादिङ्मुखैः ॥ ७३ ॥ ततो दृष्टावदातोऽय तुष्टुवे चक्रिणा मुहुः । नियोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराग्रणीपदे ॥ ७४ ॥ इन्द्रजाल इवामुष्मिन्व्यतिक्रान्तेऽहिविप्लवे । प्रत्यापत्तिमगाद्भूयो बलमाविर्भवज्जयं ॥ ७५ ॥ विध्वस्ते

ऐसे कुरुवंशी राजा जयकुमारने दिव्य रथपर बैठ कर सिंहनाद करतेहुये दिव्य शस्त्रोंके द्वारा उन नागमुखोंको जीता ॥ ६८ ॥ उससमय लडाईके मैदानमें निरंतर वाणोंकी वर्षा करताहुआ तथा शरीरपर कवच पहनेहुये वह जयकुमार ऐसा अच्छा जान पडता था मानों वर्षाऋतुका बादल ही हो ॥ ६९ ॥ जयकुमारके द्वारा छोडे हुये वे तेज वाण उस युद्धके मैदानमें ऐसे अच्छे जान पडते थे मानो छिपे हुये नागमुखोंको देखनेकेलिये जलायेहुये दीपक ही हों ॥ ७० ॥ तदनंतर वह जयकुमार नागमुख और मेघमुखको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे लौटा ॥ ७१ ॥ उससमय वह जयकुमार फैले हुये बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥ ७२ ॥ वजते हुये दुंदुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने सब दिशायें बहिरी कर दी हैं ऐसे देवोंने इस जयकुमारके पराक्रमसे संतुष्ट होकर जयजयकार किया था ॥ ७३ ॥ जिसका पराक्रम सबने देखलिया है ऐसे उस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी वार वार प्रशंसा की और उस वीर पुरुषका आदर सत्कारकर उसे मुख्य शूर वीरके स्थानपर नियुक्त किया ॥ ७४ ॥ इंद्रजालके समान आश्चर्य करनेवाला वह नागमुख देवोंका उपद्रव शांत हो जानेपर जिसका विजय प्रगट हुआ है ऐसी वह भरतकी सेना आरामसे अपने अपने स्थानपर जा पहुंची ॥ ७५ ॥ नागमुख देवों-

पन्नगानीके विनलौ म्लेच्छनायकौ। चक्रिणश्चरणावेत्य भयभ्रांतो प्रणेमतु ७६ ॥ धनं यशोधन चास्मै कृतागःपरिशोधनं । दत्वा प्रसीद देवेति तौ भृत्यत्वमुपेयतुः ॥ ७७ ॥ निस्सपत्ना महीमेना कुर्वन्नर्वाङ्निधीश्वरः । आ हिमाद्रितटाद्भूय प्रयाणमकरोद्बलैः ॥ ७८ ॥ सिंधुरोधोभुवः क्षुदन् प्रयाणे जयसिंधुरैः । सिंधुप्रपातमासीदन् सिंधुदेव्या न्यपेचि सः ॥ ७९ ॥ ज्ञात्वा समागत जिष्णुं देवी स्वावासगोचरं । उपेयाय समुध्दल्य रत्नार्घं सपरिच्छदा ॥ ८० ॥ पुण्यैः सिंधुजलैरेनं हेमकुंभशतोद्धृतैः । साभ्यर्षिचत्स्वहस्तेन भद्रासननिवेशित ॥ ८१ ॥ कृतमगलनेपथ्यमभ्यनंदज्जयाशिषा । देव त्वद्दर्शनाद्य पूताऽस्मीत्यवदच्च त ॥ ८२ ॥ तत्र भद्रासनं दिव्य लब्ध्वा तदुपढौकितं । कृतानुव्रजना किंचित्सिंधुदेवीं व्यसर्जयत् ॥ ८३ ॥ हिमाचलमनुप्राप्त-

की सेनाके भागजानेपर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा निर्बल होगये और भयसे घवडाकर चक्रवर्तीके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥ ७६ ॥ अपना अपराध क्षमा करानेके लिये उन्होंने भरतको अपना धन और यश रूपी धन दिया तथा हे देव ! प्रसन्न हूजिये ऐसा कहकर वे दोनों ही चक्रवर्तीके दास होगये ॥ ७७ ॥ उत्कृष्ट निधियोंके स्वामी भरतने यह समस्त पृथ्वी शत्रुरहित कर दी और फिर अपनी सेनाके साथ साथ हिमवान पर्वतके किनारेतक गमन किया ॥ ७८ ॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिंधु नदीके किनारेको खूंदता हुआ वह जहांपर हिमवान पर्वतसे सिंधु नदी पडती है ऐसे सिंधु कुंडके समीप आ पहुंचा और सिंधु देवीने वहांपर उसका अभिषेक किया ॥ ७९ ॥ अपने निवासस्थानके समीप ही भरतको आया हुआ जानकर सिंधु देवी अनेक तरहके रत्नोंका अर्घ लेकर अपने परिवारके साथ आई ॥ ८० ॥ और सैकडों सुवर्णके कलशोंमें भरे हुये पुण्यरूप सिंधु नदीके जलसे भद्रासनपर विराजमान महाराज भरतका अभिषेक अपने हाथसे किया ॥ ८१ ॥ जिसने मंगलरूप वस्त्र आभूषण पहने हैं ऐसे उस भरतको जयजयकार आशीर्वादोंसे उस देवीने संतुष्ट किया और निवेदन किया कि हे देव ! आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूं ॥ ८२ ॥ वहांपर भरतको सिंधुदेवीके द्वारा अर्पण किया हुआ भद्रासन प्राप्त हुआ और फिर

स्तत्तटानि जयन् जयन् । कैश्चित्प्रयाणकैः प्रापाद्धिमवत्कूटसान्निधिं ॥ ८४ ॥ पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवसनाक्रियः । अध्यशेत शुचिं शय्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन् ॥ ८५ ॥ विधिरेष नचाशक्तिरिति संभावितो नृपैः । स सज्यमकरोच्चाप वज्रकाण्डमयत्नतः ॥ ८६ ॥ तत्रामोघ शरं दिव्य समधत्तोर्ध्वगामिनं । वैशाखस्थानमास्थाय स्वनामाक्षरचिन्हित ॥ ८७ ॥ मुक्तसिंहप्रणादेन यदा मुक्तः शरोऽमुना । तदा सुरगणैस्तुष्टैर्मुक्तोऽस्य कुसुमांजलिः ॥ ८८ ॥ स शरो दूरमुत्पत्य क्वचिदप्यस्खलद्गतिः । सप्रापद्धिमवत्कूटं तद्देशमाकंपयन्पतन् ॥ ८९ ॥ स मागधवदाध्याय ज्ञातचक्रधरागमः । उच्चचाल चलन्मौलिस्तन्निवासी सुरोत्तमः ॥ ९० ॥ संप्राप्तश्च तमुद्देशं यमध्यास्ते स्म चक्रभृत् । दरोपरुद्धसरंभो धनुर्ज्यामसकृत्स्पृशन् ॥ ९१ ॥ तुंगोऽय हिमवानद्रिरलव्यश्च पृथ-

---

थोडी दूरतक पीछे पीछे आनेवाली सिंधु देवीको भरतने बिदा किया ॥ ८३ ॥ हिमवान् पर्वतके समीप प्राप्त हुआ वह भरत उसके किनारोंको जीतता हुआ कितने ही मुकाम चलकर हिमवान पर्वतके हिमवत् शिखरके समीप जा पहुंचा ॥ ८४ ॥ वहांपर उसने पुरोहितके साथ साथ विधि पूर्वक उपवास किया और दीप धूप आदिसे दिव्य शस्त्रोंकी पूजा कर वह पवित्र डाभकी शय्यापर सोया ॥ ८५ ॥ शस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि वा नियोग है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नहीं है, इसप्रकार राजाओंने जिसका सत्कार किया है ऐसे भरतने बिना ही प्रयत्नके अपना वज्र कांड नामका धनुष सजाया ॥ ८६ ॥ तथा वैशाख नामके आसनसे बैठकर जिसपर अपना नाम खुदा हुआ है ऐसा ऊपरकी ओर जानेवाला अमोघ नामका दिव्य बाण उस धनुषपर रक्खा ॥ ८७ ॥ जिससमय सिंहनाद करते हुये भरतने वह बाण छोडा था उससमय देव लोगोंने संतुष्ट होकर उसपर फूलोंकी वर्षा की ॥ ८८ ॥ जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकती ऐसा वह बाण ऊपरकी ओर दूर तक गया और उसके भवनमें पडकर उस भवनको हिलाता हुआ हिमवत् शिखरपर जा पहुंचा ॥ ८९ ॥ वहांके रहनेवाले देवने मागध देवके समान कुछ विचार कर चक्रवर्तीका आगमन समझा और फिर वह अपना मस्तक नवाकर चला ॥ ९० ॥ जहांपर चक्रवर्ती विराजमान था

'ग्जनैः । लंघितोऽद्य त्वया देव ! त्वद्वृत्तमतिमानुषं ॥९२॥ विप्रकृष्टांतराः क्वाऽस्मदावासाः क भवच्छरः । तथाप्याकंपितास्तेन पतत्तैकपदे वयं ॥ ९३ ॥ त्वत्प्रतापः शरव्याजादुत्पतन् गगनांगण ।, गणबद्धपदे कर्तुमस्मान्वाहूतवान् ध्रुव ॥ ९४ ॥ विजिताब्धि' समाक्रातविजयार्द्धगुहोदरः । हिमाद्रिशिखरेष्वद्य जृंभते ते जयोद्यमः ,॥ ९.५ ॥ जयवादोऽनुवादोऽत्र सिद्धदिग्विजयस्य ते ।, जयतान्नंदताज्जिष्णो वर्द्धिषीष्ट भवानिति ॥ ९६ ॥ समुच्चरन्जयध्वानमुखर' स सुरै. सम । प्रभु सभाजयामास सोपचार सुरोत्तमः ॥ ९७ ॥ अभिषिच्य च राजेंद्र राजवद्विधिना ददौ । गोशीर्षचदनं सोऽस्मै सममौषधिमालया

वहांपर वह देव बार बार उस धनुषकी चापको स्पर्श करता हुआ और अपने क्रोधको थोडासा रोकता हुआ आ पहुंचा ॥ ९१ ॥ और भरतमे निवेदन करने लगा कि यह हिमवान् पर्वत अत्यंत ऊंचा है, अन्य कोई भी इसे उलंघन नहीं कर सकता, हे देव वह भी आज आपने उलंघन कर लिया है इसलिये ही आपके सब चरित्र मनुष्योंको उलंघन करनेवाले हैं ॥ ९२ ॥ हे देव ? अतिशय दूर ऐसे हम लोगोंके आवास तो कहां! और यह आपका वाण कहां ! तथापि इस वाणने एक ही समयमें हम सब देवोंको कंपायमान कर दिया है ॥ ९३ ॥ हे प्रभो ! यह आपका प्रताप वाणके व्याजसे आकाशरूपी आगनमें उछलताहुवा अवश्य ही हम लोगोंको आपकी सेनामें भर्ती करनेके लिये ही बुलारहासा जान पडता है ॥ ९४ ॥ जिसने समुद्रकोभी जीत लिया है, विजयार्द्धपर्वतकी गुफाका भीतरी भाग भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान पर्वतके शिखरपर भी फैल रहा है ॥ ९५ ॥ हे प्रभो ! आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिये यह आपका जयवाद करना सार्थक है ! हे जिष्णो (जयशील) आपकी जय हो, आप सदा आनंदित रहें और सदा बढते रहें, ॥ ९६ ॥ उच्चारण करतेहुये जय जय शब्दोंसे वाचाल होता हुआ वह उत्तम व्यंतर देव अन्य अनेक देवोंके साथ सब तरहके उपचारोंसे भरतकी सेवा करने लगा ॥ ९७ ॥ तथा राजाओंके योग्य ऐसी विधिसे चक्रवर्तीका अभिषेक कर पुष्पोंकी

॥ ९८ ॥ त्वद्भुक्तिवासिनो देव दूरानमितमौलयः । देवास्त्वामानमंत्येते त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणः ॥ ९९ ॥ धेहि देव ततोऽस्मासु प्रसादतरलां दृशं । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तिलाभोऽनुजीविना ॥ १०० ॥ निदेशैरुचितैश्चास्मान्संभावयितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तल्लाभः किंकरैर्मतः ॥ १०१ ॥ मानयन्निति तद्वाक्यं स तानमरसत्तमान् । व्यसर्जयत्स्वसात्कृत्य यथास्व कृतमाननान् ॥ १०२ ॥ हिमवज्जयगसीनि मगलान्यस्य किन्नरा. । जगुस्तत्कुजदेशेषु स्वैरमारब्धमूर्च्छनाः ॥ १०३ ॥ असकृत्किन्नरस्त्रीणामाधुन्वानाः स्तनावृतीः । सरोवीचिभिदो मन्दमाववुस्तद्वनानिलाः ॥ १०४ ॥ स्थलाब्जिनीवनाद्विष्वक्किरन् किंजल्कजं रजः । हिमो हिमाद्रिकुंजेभ्यस्तं सिषेवे समीरणः ॥ १०५ ॥ स्थलाभोरुहिणीवास्य कीर्तिः साकं जयश्रिया । हिमाचलनिकुंजेषु

मालाके साथ साथ हरिचंदन नामका चंदन उसे समर्पण किया ॥ ९८ ॥ और निवेदन किया कि हे देव ! आपकी प्रसन्नताकी अभिलाषा करते हुये ये आपके क्षेत्रमें रहनेवाले देव दूरसे ही मस्तक नवाकर आपको नमस्कार करते हैं ॥ ९९ ॥ इसलिये हे देव ! हमपर प्रसन्नतासे चंचल हुई दृष्टि रखिये, क्योंकि सेवक लोगोंको स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही उपजीविका प्राप्त होना है ॥ १०० ॥ हे देव ! आप उचित आज्ञाके द्वारा हमलोगोंका सत्कार करने योग्य हैं क्योंकि सेवक लोग प्रायः उपजीविकाकी प्राप्ति होनेसे भी स्वामीकी आज्ञा मिलनेको वहुत कुछ मानते हैं ॥ १०१ ॥ इसप्रकारके उस देवके वाक्योंको सत्कार करते हुये भरतने यथायोग्य उन देवोंका आदर सत्कारकर तथा अपना दास बनाकर बिदा किया ॥ १०२ ॥ उस समय अपनी इच्छानुसार स्वरोंकी तान खींचनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतामंडपोंमें इसभरतके हिमवान् देवको जीतनेवाले मंगल गीत गा रहे थे ॥ १०३ ॥ उस समय वहांपर किन्नर जातिकी देवियोंके स्तन ढकनेवाले वस्त्रोंको वार वार हिलाता हुआ तथा सरोवरकी लहरोंको छिन्न भिन्न करता हुआ वनका वायु धीरे धीरे बह रहा था ॥ १०४ ॥ स्थलकमलोंके बनके चारोंओर कमलकी परागरज फैलाता हुआ ऐसा हिमवान पर्वतके लता मंडपोंसे आया हुआ शीतल वायु भरतकी सेवा कर रहा था ॥ १०५ ॥ दिग्विजय करनेसे प्राप्त हुई भरत-

पप्रथे दिग्जयार्जिता ॥ १०६ ॥ हिमाचलस्थलेष्वस्य धृतिराजीत्प्रपश्यतः । कृतोपहारेष्विव स्थलाम्भोजैर्विकस्वरैः ॥ १०७ ॥ तमुच्चैर्वृत्तिमाक्रान्तदिक्चक्रं विधृतायतिं । स्वमिवानल्परत्नर्द्धिं हिमाद्रिं बहुमस्त सः ॥ १०८ ॥ अत्रान्तरे गिरीन्द्रेऽस्मिन्व्यापारितदृशं प्रभुं । विनोदयितुमित्युच्चैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥ १०९ ॥ हिमवानयमुत्तुङ्गः सगतः सततं श्रिया । कुलक्षोणीभृतां धुर्यो धत्ते युष्मदनुक्रियां ॥ ११० ॥ अहो ! महानयं शैलो दुरारोहो दुरुत्तरः । शरसंधानमात्रेण साध्यो युष्मन्महोदयात् ॥ १११ ॥ चित्ररत्नकृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्मयी । शतयोजनमात्रोच्चा टङ्कच्छिन्नेव भात्यसौ ॥ ११२ ॥

की कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ साथ हिमवान पर्वतके लतामंडपोंमें स्थलकमलिनियोंके समान फैल रही थी ॥ १०६ ॥ चारोंओर देखतेहुये भरतको फूलेहुये स्थलकमलोंसे जिसने उपहारकी [भेटकी] शोभा बढाई है ऐसे हिमवान पर्वतके स्थलोंमें बहुत ही संतोष हुआ था ॥ १०७ ॥ भरत उस हिमवान पर्वतको अपने समान ही देखकर बहुत कुछ मानता था क्योंकि जिसप्रकार भरत सबसे बडा था उसीप्रकार वह पर्वत भी बहुत ऊंचा था, भरतने जिसप्रकार सब दिशायें आक्रमण अर्थात् वश करली थीं उसीप्रकार वह पर्वत भी सब दिशाओंमें फैला हुआ था, जिसप्रकार भरत लंबा था उसीप्रकार वह पर्वत भी बहुत लंबा था, और जिसप्रकार भरतके समीप रत्न आदि अनेक ऋद्धियां थीं उसीप्रकार हिमवान् पर्वत भी अनेक रत्नोंसे सुशोभित था ॥ १०८ ॥ इसी वीचमें जबकि महाराज भरत उस हिमवान् पर्वतको देख रहे थे उससमय उन्हें प्रसन्न करनेकेलिये पुरोहित नीचे लिखे अनुसार वाक्य कहने लगा ॥ १०९ ॥ हे प्रभो ! यह हिमवान् पर्वत बहुत ऊंचा है, इसपर लक्ष्मी सदा निवास करती है और यह सब कुल पर्वतोंमें मुख्य है, इसलिये यह सदा लक्ष्मीसे सुशोभित, बडे और राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे आपका अनुकरण ही कर रहा सा जान पडता है ॥ ११० ॥ अहा यह पर्वत बहुत बडा है इसपर कोई चढ नहीं सकता और न कोई इसके पार जा सकता है तथापि आपके पुण्योदयसे केवल एक बाण छोडनेसे ही आपके वश होगया है ॥ १११ ॥ इसकी सुवर्णमय श्रेणी अनेकप्रकारके र-

स्वपूर्वापरकोटिभ्यां विगाह्य लवणार्णवं । स्थितोऽयं गिरिराभाति मानदण्डायितो भुवः ॥ ११३ ॥ द्विर्विस्तृतोऽयमद्रींद्रो भरताद्भरतर्षभः । मूले चोपरिभागे च तुल्या विस्तारसंमितिः ॥ ११४ ॥ अस्यानुसानु रम्येयं वनराजी विराजते । शश्वदध्यूषिता सिद्धविद्याधरमहोरगैः ॥ ११५ ॥ तटाभोगा विभांत्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्रांतैः स्वर्वधूप्रतिबिंबकैः ॥११६॥ पर्यटति तटेष्वस्य सप्रेयस्यो नभश्चरा. । स्वैरसंभोगयोग्येषु हारिभिर्लतिकागृहैः ॥ ११७ ॥ विविक्तरमणीयेषु सानुष्वस्य धृतोत्सवाः । न धृतिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥ ११८ ॥ पर्यंतस्य वनोद्देशा विकासिकुसुमास्मिताः । हसंतीवामरोद्यानश्रियमात्मीयया श्रिया ॥ ११९ ॥ स्वेन मूर्ध्ना बिभर्त्येष श्रियं नित्यानपायिनीं । स्मार्ता. स्मरति यां शच्याः सौभाग्यमदकर्षिणीं

तोंसे जडी हुई सुशोभित है, सौ योजन ऊंची है और ऐसी अच्छी जान पडती है मानों टांकीसे गढकर बनाई हो ॥ ११२ ॥ अपने पूर्व पश्चिमके किनारेसे लवण समुद्रमें अवगाहनकर (घुसकर) पडाहुआ यह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानो पृथ्वीके नापनेका एक दंडा ही हो ॥ ११३ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! यह पर्वत भरतक्षेत्रसे दूना चौडा है तथा मूल मध्यभाग और ऊपर तीनोंजगह एकसा चौडा है ॥ ११४ ॥ देव विद्याधर और नागकुमार जिसमें निरंतर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर बनपंक्ति इसके प्रत्येक शिखरपर शोभायमान है ॥ ११५ ॥ देदीप्यमान मणियोंसे जडेहुये इसके किनारेके प्रदेश बहुत अच्छे शोभायमान हैं और ऐसे जान पडते हैं मानों उनमें प्रतिबिंबित हुये स्वर्गकी देवियोंके प्रतिबिंबोंके द्वारा ही बनाये गये हों ॥११६॥ यह देखिये-मनोहर लता मंडपोंसे इच्छानुसार संभोग करनेयोग्य ऐसे इसके किनारोंपर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहलते हैं॥११७॥ इसके निर्जन पवित्र और मनोहर किनारोंपर अपनी अपनी देवियोंके साथ उत्सव करतेहुये देवलोगोंको दूसरी जगह कहीं भी संतोष नहीं होता है ॥ ११८ ॥ जो फूलेहुये फूलोंसे हंस रहे हैं ऐसे इसके चारोंओरके बनके प्रदेश ऐसे जान पडते हैं मानो अपनी शोभासे देवोंके बगीचेकी शोभाकी ओर हँस रहे ही हों ॥ ११९ ॥ पंडित लोग जिसे इंद्राणीके सौभाग्यके मदको दूर करनेवाली कहते हैं तथा जो सदा

॥ १२० ॥ मूर्ध्नि पद्मन्हदोऽस्यास्ति धृतश्रीर्बहुवर्णनः । प्रसन्नवारिरुत्फुल्लहैमपंकजमंडनः ॥ १२१ ॥ ह्रदस्यास्य पुरःप्रत्यक्तोरणद्वारानिर्गते । गंगासिंधू महानद्यौ धत्तेऽय धरणीधरः ॥ १२२ ॥ सरितं रोहितास्या च दधात्येष शिलोच्चयः । तदुदक्तोरणद्वारान्निःसृत्योदङ्मुखीं गता ॥ १२३ ॥ महापगाभिरित्याभिरलंघ्याभिर्विभात्यय । तिसृभिः शक्तिभिः स्व वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥ १२४ ॥ शिखरैरेष कुत्कील. कीलयन्निव खांगण । सिद्धाध्वान रुण द्धीद्धैः परार्ध्यै रुद्धदिङ्मुखैः ॥ १२५ ॥ परःशतमिहाद्रींद्रे संत्यावासाः सुधाशिना । येऽनल्पां कल्पजां लक्ष्मीं हसतीव स्वसंपदा ॥ १२६ ॥ इत्यनेक-

---

नाशरहित है ऐसी शोभाको यह पर्वत अपने मस्तकपर धारण करता है ॥ १२० ॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका सरोवर है जिसमें श्रीदेवीका निवास है, शास्त्रकारोंने इस सरोवरका वहुत कुछ वर्णन किया है यह स्वच्छ जल और फूले हुये सुवर्णकमलोंसे वहुत ही सुशोभित है ॥ १२१ ॥ यह पर्वत इस पद्म सरोवरके पूर्व दिशाके तोरण द्वारसे निकली हुई गंगा महानदीको तथा पश्चिम तोरण द्वारसे निकली हुई सिंधु महानदीको भी धारण करता है ॥ १२२ ॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर द्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर वहती हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥ १२३ ॥ इन अलंघ्य तीन महानदियोंसे वह पर्वत ऐसा अच्छा जान पडता है मानों मंत्र उत्साह और प्रभुत्व इन शक्तियोंसे अपनेको भूभृतपना अर्थात् पर्वतपना अथवा राजापना ही लोगोंको दिखला रहा हो ॥ १२४ ॥ दिशाओंमें फैले हुये और अनेक रत्नोंसे सुंदर ऐसे अपने शिखरोंसे आकाशरूपी आंगनको खोदता हुआ यह पर्वत ऐसा जान पडता है मानो देवोंके मार्गको रोक रहा ही हो ॥ १२५ ॥ इस पर्वतपर देवोंके असंख्यात आवास हैं जोकि अपनी शोभासे स्वर्गकी वहुत वडी शोभाको भी हँस रहे हैं ॥१२६॥ इसप्रकार इस पर्वतमें अनेक गुण है तथापि एक बडा भारी दोष है और वह यह है कि यह स्वयं गुरु अर्थात् वडा होकर भी अपने चारोंओर अगुरु अर्थात् छोटे छोटे वृक्षोंको धारण करता है, यहांपर इस दोषको दूर करनेके लिये अगुरु अर्थात् अगुरु वा अगर जातिके सुगंधित वृक्ष

गुणेऽप्यस्मिन्दोषोऽस्त्येको महान्गिरौ । यत् पर्यंतगतान्धत्ते गुरुष्यगुरुद्रुमान् ॥ १२७ ॥ अलंघ्यमाहिमोदग्रो गरिमाक्रांतविष्टप । जगद्गुरोः पुरेराभामय धत्ते धराधरः ॥ १२८ ॥ इत्यस्याद्रेः परा शोभां शंसत्युच्चैः पुरोधसि । प्रशसस तमद्रींद्र संप्रीतो भरताधिपः ॥ १२९ ॥ स्वभुक्तिक्षेत्रसीमान सोऽभिनंद्य हिमाचल । प्रत्यावृतत्प्रभुर्द्रष्टु वृषभाद्रिं कुतूहलात् ॥ १३० ॥ यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः । तदर्धविस्तृतिर्मूर्ध्नि भुवो मौलिरिवोदतः ॥ १३१ ॥ यस्योत्संगभुवो रम्याः कदलीखडमंडितैः । सभोगाय नभोगाना कल्पते स्म लतालयैः ॥ १३२ ॥ सनागमसनागैश्च सपुन्नागैः परिष्कृत । यदुपातवन सेव्यं मुच्यते जातु नामरैः ॥ १३३ ॥ स्वतटस्फाटिकोत्सर्पत्प्रभादिग्वहरिन्मुखं । शरदभ्रैरिवारब्धवपुष सनभोजुषं ॥ १३४ ॥ त शैलं भुव-

---

लेना चाहिये अर्थात् उसके चारोंओर अगर जातिके सुगंधित वृक्ष हैं ॥ १२७ ॥ यह पर्वत जगत गुरु श्री वृषभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योंकि जिसप्रकार वृषभदेव अपनी अलंघ्य महिमासे सबसे बडे हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अपनी अलंघ्य महिमासे वडा है और वृषभदेव जिसप्रकार अपने गुरुपनेसे जगतमें व्याप्त हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अपने गुरुपनासे अर्थात् भारीपनसे संसारमें प्रसिद्ध है ॥ १२८ ॥ इसप्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी बहुत बडी शोभा वर्णन की तब भरतने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥ १२९ ॥ अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रकी सीमा ऐसे हिमवान पर्वतकी प्रशंसाकर महाराज भरत कुतूहल वश वृषभाचल पर्वतको देखनेकेलिये लौटे ॥ १३० ॥ वह वृषभाचल सौ योजन ऊंचा है, उसकी चौडाई नीचे मूलमें सौ योजन है और ऊपर मस्तकपर पचास योजन है, ऐसा वह पर्वत ऊपरको ओर उठे हुये पृथ्वीके मस्तकके समान जान पडता है ॥ १३१ ॥ उस वृषभाचलके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलेके खेतोंसे सुशोभित ऐसे लता मंडपोंसे केवल विद्याधरोंके संभोग करनेके लिये ही कल्पना किये जाते थे ॥ १३२ ॥ नागवृक्ष सेजना और नागकेसर जातिके वृक्षोंसे सुशोभित और सदा रहने योग्य ऐसे उस पर्वतके समीपके वनोंको देवलोग कभी भी नहीं छोडते थे ॥ १३३ ॥ अपने किनारेपर लगे हुये स्फटिक मणियोंकी फैलती-

नस्यैक ललामेव निरूपयन् । तल्यामास लक्ष्मीवान्स्वयशःप्रतिमानकं ॥ १३५ ॥ तमेकपाडुर शैलमाकल्पातमनश्वर । स्वयशोराशिनीकाश पश्यन्नभिन नद स. ॥१३६॥ सोऽचल प्रभुमायात गायातमखिलद्विपा । प्रत्यग्रहीदिवाभ्येत्य विष्वग्भिर्वनानिलैः ॥१३७॥ तत्तटोपातविश्रातखचरोरगकिन्नरैः । प्रोद्गीयमानममल शुश्रुवे स्वयशोऽमुना ॥ १३८ ॥ जयलक्ष्मीमुखालोकमगलादर्शविभ्रमा । तत्तटीभित्तयो जन्हुर्मनोस्य स्फटिकामलाः ॥ १३९ ॥ अधिमेखलमस्यासीच्छिलाभित्तिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे धृतिर्विश्वक्षमाजितः ॥ १४० ॥ काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिषत्यय । तदा राजसहस्राणा

हुई कांतिसे जिसने समस्त दिशायें व्याप्त करली हैं, जिसका शरीर शरदऋतुके सफेद बादलोंसे बने हुयेके समान ही जान पडता है और जिसपर देव निवास करते हैं ऐसे उस पर्वतको पृथ्वीकी एक सुंदरताके समान देखता हुआ श्रीमान् भरत उसे अपने यशके प्रतिबिंबके समान मानता था ॥ १३४-१३५ ॥ जो एक सफेद रंगका है और कल्पांतकालतक कभी नाश नहीं होता ऐसे उस पर्वतको अपने यशकी राशिके समान देखकर भरत वहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १३६ ॥ उससमय वह पर्वत भी ऐसा जान पडता था मानों समस्त शत्रुओंके कपटको नाश करनेवाले चक्रवर्तीको अपने समीप आया जानकर चारोंओर वहनेवाले वनके वायुके द्वारा उसके सामने जाकर उसका आदर सत्कार ही कर रहा हो ॥ १३७ ॥ वहांपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम लेते हुये विद्याधर नागकुमार और किन्नर आदिके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥ १३८ ॥ स्फटिकके समान निर्मल और जयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिये मंगल दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारेकी दीवालें भरतके मनको अपनी ओर खींच रहीं थीं ॥ १३९ ॥ समस्त पृथ्वीको जीतनेवाले चक्रवर्तीको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवालपर अपने नामके अक्षर खोदनेके लिये वहुत ही संतोष हुआ था ॥ १४० ॥ जिससमय चक्रवर्तीने हाथमें काकिणी रत्न लेकर अपना नाम लिखनेकी इच्छा की परंतु उसीसमय उसने वहां हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नाम लिखे देखे ॥ १४१ ॥ असंख्यात

नामान्यत्रैक्षताधिराट् ॥ १४१ ॥ असंख्यकल्पकोटीषु येऽतिक्रांता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं त पश्यन्स विसिष्मये ॥ १४२ ॥ ततः किंचित्स्खलद्गर्वो विलक्षीभूय चक्रिराट् । अनन्यशासनामेनां न मेने भरतावनीं ॥ १४३ ॥ स्वय कस्यचिदेकस्य निरस्यन्नामशासनं । स मेने निखिल लोकं प्रायः स्वार्थपरायण ॥ १४४ ॥ अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले । प्रशस्तिमित्युदात्तार्थां व्यलिखत्स यशोधनः ॥ १४५ ॥ स्वस्तीक्ष्वाकुकुलव्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरंतमहीभर्ता भरतः शातमातुरः ॥ १४६ ॥ श्रीमानानम्रनिःशेषखचरामरभूचर । प्राजापत्यो मनुर्मान्यः शूरः शुचिरुदारधीः

करोड कल्पोंमें जितने चक्रवर्ती राजा हुये थे उनके नामोंसे भरे हुये उस पर्वतको देखकर भरतको बहुत ही आश्चर्य हुआ ॥ १४२ ॥ तदनंतर जिसका कुछेक अभिमान दूर हुआ है और जो आश्चर्यसे डूब रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती इस भरत क्षेत्रकी पृथ्वीको इसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चलती ही नहीं [एक मेरी ही आज्ञा चलती है] ऐसा नहीं मानने लगा अर्थात् उसने स्वीकार किया कि इसपर मेरे ऐसे अनेक चक्रवर्ती हो गये हैं ॥ १४३ ॥ जिससमय उसने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्ति मिटाई थी उससमय उसने इस समस्त जगतको प्रायः स्वार्थ परायण अर्थात् अतिशय स्वार्थी समझा था ॥ १४४ ॥

अथानंतर–जिसका यश ही धन है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने हाथकी हथेलीके समान चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार गंभीर अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखने लगा ॥१४५॥ स्वस्ति श्री इक्ष्वाकुकुलरूपी आकाशमें चंद्रमाके समान उद्योत करनेवाला, चारों दिशाओंकी पृथ्वीका स्वामी मैं भरत हूं, मेरी माताके सौ पुत्रोंमेंसे मैं एक बडा पुत्र हूं ॥ १४६ ॥ मैं राज्यलक्ष्मीका स्वामी हूं मैंने समस्त देव विद्याधर और राजाओंको नवाया है, मैं प्रजापति अर्थात् वृषभदेवका पुत्र हूं सोलहवां मनु (कुलकर) हूं, मान्य, शूरवीर, पवित्र, उदार बुद्धिको धारण करनेवाला, चरम शरीरी, धीर और चक्रवर्तियोंमें मुख्य अर्थात् प्रथम चक्रवर्ती हूं, इसके सिवाय जिस विजयी राजाने दिग्विजय करते समय

॥ १४७ ॥ चरमांगधरो धीरो धौरेयश्चक्रधारिणा । परिक्रांतं धराचक्रं जिष्णुना येन दिग्जये ॥ १४८ ॥ यस्याष्टादशकोट्योऽश्वा जलस्थलविलंघिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेभा जयसाधने ॥ १४९ ॥ यस्य दिग्विजये विष्वग्बलरेणुभिरुत्थितैः । सदिङ्मुखं खमारुद्धं कपोतगलकर्बुरैः ॥ १५० ॥ प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलं । सुरैरसकृदुद्गीतं कुलक्षोणीध्रकुक्षिषु ॥ १५१ ॥ दिग्जये यस्य सैन्यानि विश्रातान्यधिदिक्तटं । चक्रानुभ्रातितानि क्रांत्वा हैमवतीस्थलीः ॥ १५२ ॥ नता श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । षट्खंडमंडितामेनां यः स्म शास्त्यखिलां महीं ॥ १५३ ॥ मत्वाऽसौ गत्वरीं लक्ष्मीं जित्वरः सर्वभूभृतां । जगद्विसृत्वरीं कीर्तिमतिष्ठिपदिहाचले ॥ १५४ ॥ इति प्रशस्तिमात्मीयां व्यलिखत्स्वयमक्षरैः । प्रसूनप्रकरैर्मुक्तैर्नृपोऽवचकिरेऽमरैः ॥ १५५ ॥ तत्रोच्चैरुच्चरद्ध्वाना मंद्रदुदुभयोऽध्वनन् । दिवि देवा जयेत्याशीश्शतान्युच्चैरघोषयन् ॥ १५६ ॥ स्वर्धुनीसीकरासा-

समस्त पृथ्वीमंडलको आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल दोनों जगह चलनेवाले अठारह करोड घोडे हैं, जिसकी विजय करनेवाली सेनामें चौरासी लाख मदोन्मत्त हाथी हैं, जिसके दिग्विजय करते समय कबूतरके गलेके समान कुछ कुछ मलिन ऐसी चारोंओर उठी हुई सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओंके साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओंको जीतनेवाले जिसका चंद्रमाकी कलाओंके समान निर्मल यश कुलपर्वतोंके मध्यभागमें देवलोग वार वार गाते हैं, चक्रके चलनेके अनुसार उसके पीछे पीछे चलनेवाली जिसकी सेनाने हिमवान् पर्वतके नीचेकी जमीनको उलंघनकर दिशाओंके अंतभागमें विश्राम लिया है, जो नाभिराजका पौत्र है, श्रीवृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खंडोंसे सुशोभित इस समस्त पृथ्वीका पालन किया है तथा जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुझ भरतने लक्ष्मीको चंचल समझकर जगतमें फैलनेवाली कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापन किया ॥ १४७-१५४ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीने अपना यश फैलानेवाली प्रशस्ति स्वयं अक्षरोंमें लिखी, जिससमय चक्रवर्तीने यह प्रशस्ति लिखी थी उस समय देवोंने उसपर फूलोंकी वर्षा की थी ॥ १५५ ॥ जोर जोरसे शब्द करते हुये गंभीर नगाडे बज रहे थे, आकाशमें देव जय जय इसप्रकार सैकडों आशी-

रवाहिनो गंधवाहिनः । मंदं विचेलुराध्मातसांद्रमंदारनंदनाः ॥ १५७ ॥ न केवलं शिलाभित्तावस्य नामाक्षरावली । लिखितानेन चंद्रेऽपि बिंबे तल्लांछनच्छलात् ॥ १५८ ॥ लिखितं साक्षिणो भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखित सोऽचलो भुक्तिर्दिग्जये साक्षिणोऽमराः ॥ १५९ ॥ अहो ! महानुभावोऽयं चक्री दिक्कानिर्जये । येनाक्रांत महीचक्रमानक्रवसतित्रिकात् ॥ १६० ॥ खचराद्रिरलंघ्योऽपि हेलया लंघितोऽमुना । कीर्तिः स्थलाब्जिनीवास्य रूढा हैमाचलस्थले ॥ १६१ ॥ इति दृष्टावदातं तं तुष्टुवुर्नाकिनायकाः । दिष्ट्या स्म वर्धयंत्येनं सांगनाश्च नभश्चराः ॥ १६२ ॥ भूयः प्रोत्साहितो देवैर्जयो-

वाद जोर जोरसे दे रहे थे ॥ १५६ ॥ तथा गंगाके जलकी बूंदोंके समूहको धारण करता हुआ तथा घने कल्पवृक्षोंके बनको हिलताहुआ वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ १५७ ॥ भरतने केवल शिलाकी दीवालपर ही अपने नामके अक्षरोंकी पंक्ति नहीं लिखी थी किंतु चंद्रमामें जो काला चिन्ह है उसके बहानेसे उसने चंद्रमाके मंडलमें भी अपना नाम लिख दिया था, भावार्थ—चंद्रमामें चिन्ह नहीं है किंतु भरतका लिखा हुआ नाम ही समझना चाहिये ॥ १५८ ॥ किसी भी प्रशस्तिमें लेख, साक्षी [गवाही] और उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र ये तीन बातें लिखी जाती हैं वे तीनों ही बातें इस प्रशस्तिमें भी हैं क्योंकि लेख तो वृषभाचल पर्वतपर लिखा ही गया है दिग्विजय करनेसे छह खंड भारत उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र है और देवलोग साक्षी हैं ॥ १५९ ॥ " अहा यह चक्रवर्ती बडा पराक्रमी है क्योंकि सब दिशाओंको जीतनेके समय इसने पूर्व दक्षिण पश्चिमके तीनों समुद्रपर्यंत समस्त पृथ्वीको अपने वश करलिया है ॥ १६० ॥ यद्यपि विजयार्द्ध पर्वत अलंघ्य है तथापि इसने लीलामात्रमें ही उसे उलंघन किया है तथा इसकी कीर्ति स्थलकमलके समान हिमवान् पर्वतके ऊपरी भागपर चढ गई है " ॥ १६१ ॥ इसप्रकार मुख्य मुख्य देव भी जिसकी सामर्थ्य सबने देखली है ऐसे भरतकी स्तुति करते थे तथा अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग संतुष्ट होकर इसके भाग्यकी प्रशंसा करते हुये इसे आशीर्वाद दे रहे थे ॥ १६२ ॥ तदनंतर जिसे देवोंने फिर भी उत्साह दिलाया

द्योगमनूनयन् । गंगापातमभीयाय व्याहूत इव तत्स्वनैः ॥ १६३ ॥ गलद्गंगाम्बुनिष्ठ्यूताः शीकरा मदशीकरैः । संमुमूर्च्छुर्नृपेभाणां व्यात्युक्षीं वा तितांसवः ॥ १६४ ॥ पतद्गंगाजलावर्तपरिवर्द्धितकौतुक. । प्रत्याग्राहि स तत्पाते गंगादेव्या धृतार्घया ॥ १६५ ॥ सिंहासने निवेश्यैन प्राङ्मुख सुखशीतलैः । सोऽभ्यषिंचज्जलैर्गांगैः शशांककरहासिभिः ॥ १६६ ॥ कृतमंगलसंगीतनादीतूर्यरवाकुलं । निर्वर्त्य मज्जन जिष्णुर्भेजे मडनमप्यतः ॥ १६७ ॥ अथाऽस्मै व्यतरत्प्रांशुरत्नांशुस्थगिताम्बरं । सेंद्रचापमिवाद्रींद्रशिखर हरिविष्टर ॥ १६८ ॥ चिरं वर्द्धस्व वर्द्धिष्णो जीवतान्नदताद्भवान् । इत्यनंतरमाशास्य

है ऐसा वह भरत अपने विजय करनेके उद्योगको पूर्ण करता हुआ जहांपर गंगानदी हिमवान पर्वतसे पडती है वहांपर इसप्रकार आ पहुंचा मानों गंगाके पडनेके शब्दोंके द्वारा बुलाया गया ही हो ॥१६३॥ ऊपरसे पडती हुई गंगानदी के पाससे उछलकर पडतेहुये जलबिंदु राजाओंके हाथियोंके मदकी बूंदोंके साथ इसप्रकार मिलगये थे मानों वे दोनों ही परस्पर एक दूसरेको सिंचन करना चाहते हों ॥ १६४ ॥ जहां गंगा नदी पडती है वहांके जलके भंवरोंसे जिसे कौतुक (आश्चर्य) बढ रहा है ऐसे भरतका गंगादेवीने हाथमें अर्घ लेकर गंगाके पडनेके स्थानपर सामने आकर आदर सत्कार किया ॥ १६५ ॥ गंगादेवीने भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सिंहासनपर विराजमान किया और फिर चंद्रमाकी किरणोंकी ओर भी हंसनेवाले स्वच्छ, शीतल और सुख देनेवाले गंगाके जलसे इसका अभिषेक किया ॥ १६६ ॥ जिसमें मंगलगीत संगीत, मंगलपाठ, और तुरई आदिकोंके शब्द मिलेहुये हैं ऐसे अभिषेकको [स्नानको] समाप्तकर विजयी भरतने उसी देवीसे सब वस्त्र अलंकार पहने ॥ १६७ ॥ यह सब कार्य हो चुकनेपर बडे बडे रत्नोंकी किरणोंसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर दिया है और जो इंद्रधनुष सहित सुमेरुपर्वतके शिखरके समान जान पडता है ऐसा एक सिंहासन गंगादेवीने महाराज भरतको समर्पण किया ॥ १६८ ॥ और फिर " सदा बढनेवाले महाराज भरत ! आप बहुत दिनतक बढते रहिये बहुत दिनतक जीवित रहिये तथा बहुत दिनतक

तिरोऽभूत्सा विसर्जिता ॥ १६९ ॥ अनुगंगातटं सैन्यैराव्रजन्विषयाधिपैः । सिषेवे पवमानैश्च गंगांबुकणवाहिभिः ॥ १७० ॥ गंगातटवनोपांतनिवेशेषु विशांपतिं । सुखयामासुरन्वीयमायाता वनवायवः ॥ १७१ ॥ वने वनचरस्त्रीणामुदस्यन्नलकावलीः । मुहुस्स्खलन्कलापेषु नृत्यद्वनशिखंडिनां ॥ १७२ ॥ विलोलितालिराधुन्वन्नुत्फुल्ला वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मरुदाववौ ॥ १७३ ॥ प्रतिप्रयाणमानम्रा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमाराधयाचक्रुरा-क्रांता जयसाधनैः ॥ १७४ ॥ कृत्स्नामिति प्रसाध्यैनामुत्तरा भरतावनिं । प्रत्यासीददथो जिष्णुर्विजयार्द्धचलस्थलीं ॥ १७५ ॥ तत्रावासितसैन्यश्च सेनान्यं प्रभुरादिशत् । अपावृतगुहाद्वारःप्राच्यखडं जयेत्वर ॥ १७६ ॥ यावदभ्येति सेनानीर्म्लेच्छराजजयोद्यमात् । तावत्प्रभोः किलातीयुर्मासाः षट् सुखसं-

---

आनंद प्राप्त कीजिये ” इसप्रकार अनेक आशीर्वाद देकर भरतके द्वारा विदा की हुई वह देवी अदृश्य हो गई ॥ १६९ ॥

अथानंतर—अपनी सेनाके साथ गंगाके किनारे किनारे जातेहुये भरतकी वहांके अनेक राजाओंने तथा गंगाके जलकी बूंदोंको धारण करनेवाले वायुने सेवाकी थी ॥ १७० ॥ गंगाके किनारेके बनके समीपभागोंमें पीछेसे आनेवाला बनका वायु महाराज भरतको सुखी कर रहा था ॥ १७१ ॥ उसी बनमें भिल्लिनी स्त्रियोंके केशसमूहोंको उडताहुआ, नृत्य करतेहुये मयूरोंकी पूँछपर बार बार अटकताहुआ, भ्रमरोंको इधर उधर भागता हुआ, फूलीहुई बनकी लताओंको हिलताहु आ और पर्वतके झरनोंको स्पर्श करनेसे ठंडा ऐसा वायु बह रहा था ॥ १७२-१७३ ॥ इसके प्रत्येक पडावपर विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दवायेहुये उस देशके राजालोग नम्र होकर चक्रवर्तीकी सेवा करने लगे थे ॥ १७४ ॥ इसप्रकार उत्तर भरतक्षेत्रकी समस्त पृथ्वी अपने वशकर महाराज भरत विजयार्द्ध पर्वतके नीचेकी जमीनके समीप जा पहुंचे ॥ १७५ ॥ वहांपर भरतने सेनाके डेरा कराये और ‘गुफाका द्वार उघाडकर पूर्वखंडको शीघ्र जीत’ इसप्रकार सेनापतिको आज्ञा दी ॥ १७६ ॥ जबतक सेनापति म्लेच्छ देशके राजाओंको जीतकर आया तबतकके छह महीने महाराज भरतके वहींपर सुखसे

गिनः ॥ १७७ ॥ दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्निवसंतोंवरेचराः । विद्याधराधिपैः सार्द्धं प्रभुं द्रष्टुमिहाययुः ॥ १७८ ॥ विद्याधरधराधीशैराराद्दानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाव्याजादाज्ञाऽस्य गिरसा धृता ॥ १७९ ॥ नमिश्च विनमिश्चैव विद्याधरधराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या प्रभु द्रष्टुमुपेयतुः ॥ १८० ॥ विद्याधरधरासारधनोपायनसंपदा । तदुपानीतयाऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्धृतिः ॥ १८१ ॥ तदुपाकृतरत्नौघैः कन्यारत्नपुरःसरैः । सरिदोघैरिवोदन्वानापूर्यत तदा प्रभुः ॥ १८२ ॥ स्वसारं च नमेर्धन्या सुभद्रा नाम कन्यकां । उदुवाह स लक्ष्मीवान्कल्याणैः खचरोचितैः ॥ १८३ ॥ ता मनोज्ञा रसस्येव स्रुतिं सप्राप्य चक्रभृत् । स्व मेने सफलं जन्म परमानदनिर्भरः ॥ १८४ ॥ तावन्निर्जितनिःशेषम्लेच्छराजबलोत्बलैः । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभु-

---

व्यतीत हुये ॥ १७७ ॥ विजयार्द्धपर्वतकी दक्षिण उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधरलोग अपने अपने राजाओंके साथ वहींपर भरतके दर्शन करनेके लिये आये ॥ १७८ ॥ दूरसे ही मस्तक नवातेहुये विद्याधरोंके राजाओंने अपने मस्तकपर जो (नमस्कार करतेसमय) भरतके पैरोंके नखोंकी किरणें धारण की थीं उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों उन किरणोंके वहानेसे उन्होंने भरतकी आज्ञा ही अपने शिरपर रक्खी हो ॥ १७९ ॥ नमि और विनमि दोंनों ही विद्याधरोंके राजा अपने मुख्य धनकी सामिग्री साथ लेकर भरतके दर्शन करनेकेलिये आये ॥१८०॥ नमि और विनमिने जो अन्य किसीको न मिलनेवाला ऐसा विद्याधरोंके देशका मुख्यधन भरतको भेंट दिया था उस संपत्तिसे महाराज भरतको वहुत ही संतोप हुआ था ॥ १८१ ॥ जिसप्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भरजाता है उसीप्रकार नमि विनामिके द्वारा समर्पण कियेहुये कन्यारत्नको आदि लेकर अनेक रत्नोंके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा भी पूर्ण होगई थी ॥१८२॥ सुभद्रा नामकी कन्या जो कि समस्त गुणोंसे भूषित और राजा नमिकी वहिन थी उसके साथ श्रीमान् राजा भरतने विद्याधरोंके योग्य ऐसे मंगलकार्योंके साथ विवाह किया ॥ १८३ ॥ रसकी धाराके समान अतिशय मनोहर ऐसी उस स्त्रीको पाकर चक्रवर्तीने उत्कृष्ट आनंदमें डूवकर अपना चक्रवर्तीपनेका जन्म सफल

मैक्षत ॥ १८५ ॥ कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत्प्रत्यायातुमपाङ्मही ॥ १८६ ॥ जयप्रयाणशंसिन्यस्तदा भेर्यः प्रदध्वनुः । विष्वग्बलार्णवे क्षोभमातन्वत्यो महीभृता ॥ १८७ ॥ ता काडकप्रपाताख्या प्रागेवोद्घाटितां गुहा । प्रविवेश बल जिष्णोश्चक्ररत्नपुरोगमां ॥ १८८ ॥ गगापगोभयप्रातमहावीथीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहा सेना कृतद्वारां चमूभृता ॥ १८९ ॥ मुच्यमाना गुहा सैन्यैश्चिरादुच्छ्वसितेव सा । चमूरपि गुहारोधान्निःसृत्योज्जीवितेव सा ॥ १९० ॥ नाट्यमालामरस्तत्र रत्नार्घैः प्रभुमर्चयन् । प्रत्यगृह्णाद्गुहाद्वारि पूर्णकुंभादिमंगलैः ॥ १९१ ॥

माना था ॥ १८४ ॥ इतनेमें ही अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेछ राजाओंकी सेना जीतकर सेनापतिने भी जयलक्ष्मी सामनेकर महाराज भरतके दर्शन किये ॥ १८५ ॥ जिसने अपना कर्तव्य कर्म किया है ऐसे सेनापतिका भरतने आदर सत्कार किया तथा आयेहुये उन म्लेछ राजाओंको विदा किया, अनंतर वह संम्राट दक्षिण देशकी ओर चलनेके लिये तैयार हुआ ॥ १८६ ॥ उससमय राजाओंकी समस्त सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाले तथा विजय करनेके लिये चलनेकी सूचना देनेवाले नगाडे बजनेलगे ॥ १८७ ॥ चक्ररत्न जिसके आगे आगे चल रहा है ऐसी उस भरतकी सेनाने जिसका द्वार पहिलेसे ही उघाड दिया गया है ऐसी उस कांडकप्रपात नामकी गुफामें प्रवेश किया ॥ १८८ ॥ उस सेनाने गंगा नदीके दोनों किनारेपरकी बडी बडी दो गलियोंसे (रास्तेसे) सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहिलेसेही उघाड दिया गया है ऐसी उस गुफाको तय किया ॥१८९॥ सेनाके द्वारा छोडी हुई वह गुफा ऐसी जांन पडती थी मानों चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो तथा वह सेना भी गुफाकी रुकावटसे निकलकर ऐसी जान पडती थी मानों उसने फिरसे ही जीवन पाया हो ॥ १९० ॥ गुफाके दक्षिण द्वारपर नाट्यमाल नामके देवने पूर्णकलश आदि मंगल द्रव्योंके साथ साथ रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरतके सामने आकर आदर सत्कार किया ॥ १९१ ॥ सर्वश्रेष्ठ महाराज भरतने जिसने अनेक प्रार्थना व स्तुतिकी हैं ऐसे इस नाट्यमाल नामके उत्तमदेवका आदर

कृतोपच्छन्दनं चामुं नाव्यमाल सुरर्षभं । व्यसर्जयच्चयोद्देशं सत्कृत्य भरतर्षभः ॥ १९२ ॥ कृतोदयमिनं ध्वांतापरितो गगनेचराः । परिचेरुर्नभोमार्गमारुध्य धृतसायकाः ॥ १९३ ॥ नमिविनमिपुरोगैरन्वितः खेचरेंद्रैः खचरगिरिगुहांतर्ध्वांतमुत्सार्य दूरं । रविरिव किरणौघैर्द्योतयन्दिग्विभागान् निधिपतिरुदियाय प्रीणयन् जीवलोकं ॥ १९४ ॥ सरसकिसलयांतः स्पदमदे सुरस्त्रीस्तनतटपरिलग्नक्षौमसंक्रांतवासे । न्नरति मरुति मंद कदरेष्वद्रिभर्तुर्निधिपतिशिविराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥ १९५ ॥ किसलयपुटभेदी देवदारुद्रुमाणामसकृदमरसिंधोः सीकरान्व्याधुनानः । श्रमसलिलममुष्णादुष्णसंभूष्णु जिष्णोः खचरगिरितटातान्निष्पतन्मातरिश्वा ॥ १९६ ॥ सपदि विजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखंडः समुपहृतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमात्रात् । जिनमिव जयलक्ष्मीसन्निधानं निधीना

सत्कारकर उसे उसके स्थानपर जानेकेलिये विदा करदिया ॥ १९२ ॥ धनुषवाण धारण करनेवाले विद्याधर चारोंओरसे आकाशको घेरकर सूर्यके समान अंधकारको नाशकर उदय होनेवाले चक्रवर्तीकी सेवा करते थे ॥ १९३ ॥ जिसमें नमि विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरों सहित तथा विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाका भीतरी अंधकार दूरकर सूर्यके समान दूरसे ही अपनी किरणोंके समूहसे समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका स्वामी चक्रवर्ती सव जीवोंको आनंदित करताहुआ उदय हुआ अर्थात् गुफाके वाहर आया ॥ १९४ ॥ रससे भरेहुये कोमल पत्तोंके भीतर प्रवेश करनेसे मंद हुआ तथा देवांगनाओंके स्तनपर लगेहुये रेशमी वस्त्रमें भी जिसकी सुगंधि प्रवेश कर गई है ऐसा वायु जिससमय उस विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाओंमें वह रहा था उससमय चक्रवर्तीके डेरोंका पडाव पडना प्रारंभ हुवा था ॥ १९५ ॥ देवदारु जातिके वृक्षोंके कोमल पत्तोंके संपुटको प्रफुल्लित करनेवाला तथा वार वार गंगानदीके जलकी बूंदोंको हिलाता हुआ और विजयार्द्ध पर्वतके किनारे के वनसे आयाहुआ वायु गर्मीसे उत्पन्न हुये महाराज भरतके पसीनेके जलको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीकी आज्ञामात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाके द्वारा वहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खंड जीत लिया है और जयलक्ष्मीको जवर्दस्ती ले आया है ऐसा अपना मस्तक नवाये हुये सेनापती जिसके

परिवृढमुपतस्थौ नम्रमौलिश्चमूभृत् ॥ १९७ ॥ जित्वा म्लेच्छनृपौ विजित्य सुचिरं प्रालेयशैलेशिनं देव्यौ च प्रणमय्य दिव्यमुभय स्वीकृत्य भद्रासनं । हेलानिर्जितखेचराद्रिरधिराट् प्रत्यतपालान् जयन् सेनान्या विजयी व्यजेष्ट निखिलां पट्खडभूषा भुवं ॥ १९८ ॥ पुण्यादित्ययमाहिमाह्वयगिरेरातोयधे प्राक्तनादावाऽपाच्यपयोनिधेर्जलनिधेराच प्रतीच्यादितः । चक्रे क्ष्मामरिचक्रभीकरकरश्चक्रेण चक्री वशे । तस्मात्पुण्यमुपार्जयंतु सुधियो जैने मते सुस्थिताः ॥ १९९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३२ ॥

समीप जिनेंद्र देवके समान जयलक्ष्मी सदा रहती है ऐसे निधियोंके स्वामी भरतके समीप आ उपस्थित हुआ ॥ १९७ ॥ विजयी महाराज भरत ने चिलात और आवर्त दोनों म्लेच्छ राजाओंको जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही कालमें जीता तथा गंगा सिंधु दोनों ही देवियोंसे नमस्कार कराकर उनके द्वारा दिये हुये दो दिव्य भद्रासन स्वीकारकिये और विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको लीलामात्रमें जीतकर विजयार्द्ध पर्वतके समीपवर्ती राजाओंको जीतते हुये उसने सेनापतिके साथ साथ छह खंडोंसे सुशोभित इस समस्त भरत क्षेत्रकी पृथ्वीको जीता ॥१९८॥ शत्रुओंके समूहमें जिसका भयंकर कर है अथवा जिसका हाथ शत्रुओंके समूहको भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे उस भरत चक्रवर्तीने चक्रके द्वारा पुण्य कर्मके उदयसे ही यह हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्वदिशाके समुद्रतक तथा दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्रतक समस्त पृथ्वी अपने वश की, इसलिये बुद्धिमान् लोगोंको जैनमतमें दृढ रहकर सदा पुण्य संपादन करना चाहिये ॥ १९९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें भरतका उत्तरार्द्धके विजयका वर्णन करनेवाला यह बत्तीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ।

श्रीमानानमिताशेषनृपविद्याधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृत्तत्स्वां पुरीप्रति ॥ १ ॥ नवास्य निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धा विद्याधरैः सार्द्धं षट्खडधरणीभुजः ॥ २ ॥ जित्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणांभोधिमेखलां । प्रयाणमकरोच्चक्री साकेतनगर प्रति ॥ ३ ॥ प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्बुदा । निर्ययौ विजयार्द्धाद्रितटाद्गंगेव सा चमूः ॥ ४ ॥ करिणीनौभिराश्वीयकल्लोलैर्जनतोर्मिभिः । दिशो रुंधन्बलाभोधिः प्रससर्प स्फुरद्ध्वनिः ॥ ५ ॥ चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः । बृंहितैश्च गजेंद्राणां शब्दाद्वैत तदाभवत् ॥ ६ ॥ भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो नेदुरामद्रनिःस्वनाः ।

अथ तेतीसवां पर्व ।

अथानंतर–जिसने समस्त राजा विद्याधर और देव नम्र किये हैं और जिसे समस्त दिग्विजय सिद्ध हुआ है ऐसा वह श्रीमान् भरत चक्रवर्ती अपनी अयोध्या नगरीको जानेके लिये लौटा ॥१॥ इस भरतको नौ निधि और चौदह रत्न सिद्ध हुये थे तथा विद्याधरोंके साथ साथ छहों खंडोंके समस्त राजा वश होगये थे ॥ २ ॥ लवण समुद्र ही जिसकी करधनी अर्थात् सीमा है ऐसी इस समस्त पृथ्वीको जीतकर चक्रवर्तीने अयोध्यानगरको जानेके लिये प्रस्थान किया ॥ ३ ॥ ढुलते हुये चमर ही जिसकी लहरें हैं और देदीप्यमान छत्र ही जिसके बुद्बुदे हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्द्ध पर्वतके किनारेसे निकली ॥ ४ ॥ हथिनी रूपी नावोंसे, घोडोंके समूहरूपी लहरोंसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी छोटी तरंगोंसे सब दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब जोरसे शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारोंओर फैलने लगा ॥५॥ उससमय जो चलते हुये रथोंके पहियोंके चीत्कार [चूं चूं] शब्द हो रहे थे, घोडे हींस रहे थे और बडे बडे हाथी गरज रहे थे उनसे ऐसा जान पडता था मानो यह जगत् केवल शब्दरूप ही हो रहा हो ॥ ६ ॥ गंभीर शब्द करतेहुये जो चलनेकी सूचना करनेवाले नगाडे बज रहे थे उनसे मयूरोंको असमयमें ही बादलोंके गरजनेकी शंका

अकालस्तनिताशंकामातन्वानाः शिखंडिनां ॥ ७ ॥ तदाऽभूद्रुद्धमश्वीयं हास्तिकेन प्रसर्पता । न्यरोधि पत्तिवृंदं च प्रयांत्या रथकव्यया ॥ ८ ॥ पादात-कृतसंवाधापथः पर्यंतपातिन. । हया गजा वरूथाश्च भेजुस्तिर्यक्प्रचोदिताः ॥ ९ ॥ पर्वतोदग्रमारूढो गजं विजयपर्वतं । प्रतस्थे विचलन्मौलिश्चक्री शक्रसमद्युतिः ॥ १० ॥ अनुगंगातटं देशान् विलंघ्य ससरिद्गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्य सप्रापच्चक्रिणो वल ॥ ११ ॥ कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथागभृत् । निवेश्य निकटे सैन्य प्रययौ जिनमर्चितु ॥ १२ ॥ प्रयांतमनुजग्मुस्तं भरतेशं महाद्युतिं । रोचिष्णुमौलयः क्ष्मापाः सौधर्मेंद्रमिवामराः ॥१३॥ अचिराच्च तमासाद्य शरदंबरसच्छविं । जिनस्येव यशोराशिमभ्यनंदद्विशापतिः ॥ १४ ॥ निपतन्निर्झरारावैराह्वयंतमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्यारात्सेवध्व-

---

उत्पन्न हो रही थी ॥ ७ ॥ उससमय दौडतीहुई हाथियोंकी सेनासे घोडोंकी सेना रुक गई थी और चलतेहुये रथोंके समूहोंसे पैदल सेना रुक गई थी ॥ ८ ॥ पैदल सेनाके चलनेसे दुखी होकर मार्गके किनारेपर चलनेवाले हाथी घोडे और रथ कुछ दूरतक तिरछे चलकर रास्तेपर आये ॥ ९ ॥ जिसका मुकुट चमक रहा है और इंद्रके समान जिसकी कांति है ऐसा वह चक्रवर्ती पर्वतके समान ऊंचे ऐसे विजयपर्वत नामके हाथीपर चढकर चलने लगा ॥ १० ॥ वह चक्रवर्तीकी सेना गंगाके किनारे किनारे अनेक देश नदी और पर्वतोंको उलंघन करतीहुई कैलाश पर्वतके समीप जा दहुंची ॥ ११ ॥ तदनंतर कैलाशपर्वतको समीप ही देखकर चक्रवर्तीने अपनी सेना उसी कैलाशपर्वतके समीप ठहराई और वह आप स्वयं भगवानकी पूजन करनेके लिने निकला ॥ १२ ॥ जिसप्रकार सौधर्म इंद्रके पीछे पीछे दैदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते हैं उसीप्रकार अत्यंत कांतिको धारण करनेवाले और भगवानकी पूजनके लिये जातेहुये भरतके पीछे पीछे दैदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजालोग जा रहे थे ॥ १३ ॥ महाराज भरत शरदऋतुके वादलके समान तथा भगवानकी कीर्तिके समूहके समान उस कैलाश पर्वतपर बहुत शीघ्र पहुंच गया और वहां पहुंचकर बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ १४ ॥ पडते हुये झरनोंके शब्दोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों

मिति सादर ॥ १५ ॥ मरुदादोलितोदग्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यंतं विकासिकुसुमस्मितैः ॥ १६ ॥ तटनिर्झरसपातैर्दातु पाद्यमिवोद्यत । वंदारोर्भव्यवृंदस्य विष्वगास्कंदतो जिन ॥ १७ ॥ शिखरोल्लिखिताभोदपटलोद्गीर्णवारिभिः । दावभीत्येव सिंचंत स्वपर्यंतलतावन ॥ १८ ॥ शुचिग्रावविनिर्माणैः शिखरैः स्पर्गतांबरैः । गतिप्रसरमर्कस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥ १९ ॥ क्वचित्किन्नरसंभोगैः क्वचित्पन्नगसेवितैः । क्वचिच्च खचराक्रीडैर्वनैराविष्कृतश्रियं ॥ २० ॥ क्वचिद्विरलनीलांशुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशांकमंडलाशंकामातन्वान नभोजुषां ॥ २१ ॥ हरिन्मणिप्रभाजालैर्भाजालैश्च प्रभा-

---

" तीनों जगतके गुरु भगवान वृषभदेवकी सेवा शीघ्र ही आकर करो " इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक बुला रहा ही हो ॥ १५ ॥ जो फूले हुये फूलोंसे हँस रहेसे जान पडते हैं और जिनकी ऊंची ऊंची शाखाओंके ऊपरी भाग वायुके द्वारा हिल रहे हैं ऐसे किनारेके वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों संतुष्ट होकर नृत्य ही कर रहा हो ॥ १६ ॥ उसके किनारेपरसे जो झरने पड-रहे थे उनसे वह ऐसा जान पडता था मानों भगवानकी वंदना करनेकेलिये चारोंओरसे आते हुये भव्य जीवोंके समूहोंको अर्घ देनेकेलिये ही तैयार हुआ हो ॥ १७ ॥ उसके शिखरोंसे विदीर्ण हुये बादलोंके पटलोंसे जो पानी गिर रहा था उससे ऐसा जान पडता था मानों वह दावानलके डरसे ही अपने चारोंओरके लतावनोंको सींच रहा हो ॥ १८ ॥ जो स्फटिकमणिके सफेद पत्थरोंसे बने हुये हैं, जिन्होंने आकाश घेर रक्खा है और जो वहुत ऊंचे हैं ऐसे शिखरोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों सूर्यकी गतिके फैलावको ही रोक रहा हो ॥ १९ ॥ जिनमें कहीं तो किन्नर जातिके देव क्रीडा कर रहे हैं कहीं पन्नग जातिके देव (नागकुमार) सेवा कर रहे हैं और कहीं विद्याधरलोग क्रीडा कर रहे हैं ऐसे अनेक बनोंसे उस पर्वतकी शोभा साफ प्रगट हो रही थी ॥ २० ॥ जहां कहीं स्फटिकमणिके पत्थरपर थोडी नीलमणियोंकी किरणें दूर दूर पड रहीं थीं वहां उस पर्वतपर विद्याधरोंको चंद्रमंडलकी शंका उत्पन्न हो रही थी ॥ २१ ॥ कहीं कहींपर नीलमणियोंकी किरणोंके समू-

श्मना । क्वचिदिंद्रधनुर्लेखामालिखतं नभोगणे ॥ २२ ॥ पद्मरागांशुभिर्भिन्नैः स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तश्वेतवप्रांतं किलासिनमिव क्वचित् ॥ २३ ॥ क्वचिद्विश्लिष्टशैलेयपटलैर्बहुदद्रुणैः । मृगेंद्रनखरोल्लेखसहैर्गंडोपलैस्ततं ॥ २४ ॥ क्वचिद्गुहातराद्गुजन्मृगेंद्रप्रतिनादिनीः । तटीर्दधानमुद्वद्धमदैः परिहृता गजैः ॥ २५ ॥ क्वचित्सितोपलोत्सगचारिणीरमरागनाः । बिभ्राण शरदभ्रातर्वर्तिनीरिव विद्युतः ॥ २६ ॥ तमित्यद्भुतया लक्ष्म्या परीत भूभृता पतिं । स्वामिवालघ्यमालोक्य चक्रपाणिरगान्मुद ॥ २७ ॥ गिरेरधस्तले दूराद्वाहनादिपरिच्छद । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥ २८ ॥ पद्भ्यामा-

होंसे तथा स्फटिकमणियोंके किरणसमूहोंसे वह पर्वत ऐसा जान पडता था मानों आकाशरूपी आंगनमें इंद्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो ॥ २२ ॥ कहींपर पद्मराग मणियोंकी लाल किरणोंसे मिलीहुई स्फटिकमणिकी सफेद किरणोंसे उसके किनारेका अंतिमभाग लाल और सफेद मिलेहुये रंगका होगया था जिससे वह ऐसा जान पडता था मानों उसे सिध्मरोग होगया हो ॥ २३ ॥ कहीं कहीं जिनपर गेरू हरताल आदि अनेक धातुओंके टुकडे टूटकर पडे हैं तथा जो सिंहोंके नखोंके घातको सहनेवाले हैं और इसलिये जो ऐसे जानपडते हैं मानों उनपर बहुतसा दाद हो गया हो (क्योंकि दादपर भी लाल पीली फुंसी उठी रहती हैं और नखोंका घात सहता है) ऐसे अनेक बडे २ पत्थरोंसे वह कैलाशपर्वत भर रहा था ॥ २४ ॥ कहीं कहींपर गुफाओंके भीतर गरजतेहुये सिंहोंकी प्रतिध्वनि जिनमें हो रही है और इसलिये ही मदोन्मत्त हाथियोंने भी जिन्हें छोड दिया है ऐसे अनेक किनारोंको वह पर्वत धारण करता था ॥ २५ ॥ कहीं कहींपर शरदऋतुके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिजलीके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको भी वह पर्वत धारण करता था ॥ २६ ॥ इसप्रकार अद्भुत शोभासहित भूभृत् अर्थात् पर्वतोंके स्वामी उस कैलाश पर्वतको अद्भुत शोभासहित और भूभृत् अर्थात् राजाओंके स्वामी ऐसे अपने समान अलंघ्य देखकर वह भरत चक्रवर्ती बहुत ही संतुष्ट हुआ ॥ २७ ॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले भरतने पर्वतके नीचे

रोहतोऽस्याद्रिं नासीत्खेदो मनागपि । हितार्थिनां हि खेदाय नात्मनीनः क्रियाविधिः ॥ २९ ॥ आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिविनिर्मितैः । विविक्तैर्मणि-सोपानैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥ ३० ॥ अधित्यकासु सोऽस्याद्रेः प्रस्थाय वनराजिषु । लम्भितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्वनानिलैः ॥ ३१ ॥ क्वचिदुत्फुल्ल-मदारवणवीथीविहारिणीः । विविक्तसुमनोभूषा सोऽपश्यद्वनदेवताः ॥३२॥ क्वचिद्वनातससुतनिजशावानुशायिनीः । मृगीरपश्यदारब्धमृदुरोमथमथराः ॥३३॥ क्वचिन्निकुजसंसुप्तान् बृहतः शयुपोतकान् । पुरीतन्निकरानद्रेरिवापश्यत्स पुजितान् ॥ ३४ ॥ क्वचिद्गजमदामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददर्शे हरिरा-रोपादुल्लिखन्नखराकुरैः ॥ ३५ ॥ किंचिदतरमारुह्य पश्यन्नद्रेः परां श्रियं । प्राप्तावसरमित्यूचे वचनं स पुरोधसा ॥ ३६ ॥ पश्य देव गिरेरस्य प्रदेशान्बहु-

---

दूरसे ही सवारी छत्र चमर आदि राज चिन्ह छोड दिये और वह स्वयं पैदल चलने लगा ॥ २८ ॥ पैदल ही पर्वतपर चढतेहुये इस भरतको कुछ भी खेद नहीं हुआ सो ठीक ही है क्योंकि आत्म-कल्याण चाहनेवाले लोगोंको आत्माका हित करनेवालीं क्रियाओंके करनेसे कुछ भी खेद नहीं होता है ॥ २९ ॥ स्वर्गकी सीढियोंके समान देव कारीगरोंके द्वारा बनाईहुई अलग मणियोंकी सीढियोंके द्वारा वह भरत उस पर्वतपर चढनेलगा ॥ ३० ॥ चढते चढते वह पर्वतकी ऊपरकी भूमिपर पहुंचा और वहांकी बन पंक्तियोंमें बनकी शीतल वायुके द्वारा मानों उसने आतिथिसत्कार ही प्राप्त किया ॥३१॥ वहांपर उसने कहीं तो फूलेहुये मंदारवृक्षके बनोंकी गलियोंमें विहार करनेवालीं तथा अलग अलग फूलोंके बनेहुये जिनके आभूषण हैं ऐसी अनेक बन देवताओंको देखा ॥ ३२ ॥ वहांपर उसने देखा कि कहींपर बनके भीतर सोतेहुये अपने बच्चोंके साथ लेटीहुई हिरणियां धीरे धीरे थोडा थोडा रोमंथ (रोंथ) कररही हैं ॥ ३३ ॥ कहींपर लतामंडपोंमें सोतेहुये बहुत लंबे और एकजगह इकट्ठेहुये अज-गरके बच्चे इस पर्वतकी निकलीहुई अंतडियोंके समान पडेहुये हैं ॥ ३४ ॥ और कहींपर वह देखता है कि हाथियोंके मदके गंधसे सुगंधित हुये ऊपरसे पडे हुये बडे बडे पत्थरोंपर सिंह उन्हें हाथी समझ क्रोधित होकर अपने तीव्र नखोंका आघात कर रहे हैं ॥३५॥ भरत वहांसे आगे थोडी

विस्मयान् । रमंते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽप्यनादराः ॥ ३७ ॥ पर्याप्तमेतदेवास्य प्राभवं भुवनातिगं । देवो यदेनमध्यास्ते चराचरगुरुः पुरुः ॥ ३८ ॥ महाद्रिरयमुत्सगसंगिनीः सरिदंगनाः । शश्वद्बिभर्ति कामीव गलन्नीलजलांशुकाः ॥ ३९ ॥ क्रीडाहेतोरहिंस्रोऽपि मृगेंद्रो गिरिकंदरात् । महाहिमयमाकर्ष्य न्दैर्घ्यान्मुंचत्यपारयन् ॥ ४० ॥ सर्वद्वंद्वसहान्सार्वान् जनतातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष धत्तेऽधिमेखलं ॥ ४१ ॥ हरीन्नखरानिर्भिन्नमदद्विरदम-

दूर और चढा और वहां उसपर्वतकी उत्कृष्ट शोभा देखने लगा, समय पाकर पुरोहित भी इसीसमय नीचे लिखे अनुसार बचन कहने लगा ॥ ३६ ॥ कि हे देव ! देखिये इस पर्वतके प्रदेश कैसे आश्चर्य करनेवाले हैं, देव लोग भी स्वर्गके निवाससे कुछ दुखी हो यहां आकर क्रीडा करते हैं ॥ ३७ ॥ तीनों जगतको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा कहना इतनी ही बहुत है कि चर अचर सब जीवोंके गुरु भगवान वृषभदेव इस पर्वतपर विराजमान हैं ॥ ३८ ॥ यह कैलाश महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् तराइयोंमें रहनेवालीं और जिनके नीले जलरूपी वस्त्र छूटकर गिर रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामीपुरुषके समान सदा धारण करता है ॥ ३९ ॥ हे देव ! यद्यपि यह सिंह अहिंसक है, भगवानके प्रभावसे हिंसा नहीं करता है तथापि केवल क्रीडा करनेकेलिये इस पर्वतकी गुफामेंसे एक बडे भारी सर्पको खींच रहा है परंतु वह सर्प बहुत लंबा है इसलिये खींच न सकनेके कारण उसे छोड भी रहा है ॥ ४० ॥ यह पर्वत अपनी तलहटियोंमें मुनियोंके समान अनेक बनके प्रदेशोंको धारण करता है क्योंकि जिसप्रकार मुनि शीत उष्ण आदि सब उपद्रवोंको सहन करते हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी अनेक द्वंद्व अर्थात् पशुओंके स्त्री पुरुष रूप जोडोंको धारण करते हैं, मुनि जिसप्रकार सबका कल्याण करनेवाले हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी सबका कल्याण करनेवाले हैं, मुनि जिसप्रकार लोगोंका संताप दूर करते हैं उसीप्रकार वे बनके प्रदेश भी सब लोगोंका संताप दूर करनेवाले हैं ॥ ४१ ॥ शब्द करते हुये झरनोंसे यह पर्वत ऐसा जान पडता है मानों

स्तकान् । निर्झरैः पापभीत्येव तर्जयत्येष सारवैः ॥ ४२ ॥ धत्ते सानुचरान् भद्रानुच्चैर्वंशान् सुविग्रहान् । वनद्विपानयं शैलो भवानिव महीभुजः ॥४३॥ ध्वनतो घनसंघातान् शरभा रभसादमी । द्विरदाशङ्कयोत्पत्य पततो याति शोच्यताम् ॥ ४४ ॥ कपोलकाषसंलग्नत्वचो मदजलाविलाः । द्विपानां वनसंभोगं सूचयन्तीह शाखिनः ॥४५॥ शाखामृगा मृगेन्द्राणां गर्जितैरिह तर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वसात् ॥४६॥ मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैरितो रम्यमिदं वनम् । तृणाग्रकवलग्रासिकुरङ्गकुलसंकुलम् ॥ ४७ ॥ इतश्च हरिणारातिकठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदि प्रपलायितकुंजरम् ॥ ४८ ॥ जरज्जरतशृंगाग्र-

जिन्होंने अपने तीव्र नखोंसे मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तकोंको फाडदिया है ऐसे सिंहोंको पापके डरसे ही क्या मानों शब्द करते हुये अपने झरनोंके द्वारा तर्जना ही कर रहा हो ॥ ४२ ॥ हे प्रभो ! जिसप्रकार आप सेवकोंसहित, भद्र, अच्छे कुलमें उत्पन्न होनेवाले और जिनके अच्छे शरीर हैं ऐसे अनेक राजाओंको धारण करते हैं अर्थात् अनेक राजा आपके वश हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोंपर रहनेवाले, भद्र जातिके अर्थात् जिनके मस्तकमें मोती होते हैं, उच्चैर्वंश अर्थात् जिनकी पीठकी रीढ वहुत ऊंची है और जिनका शरीर वहुत अच्छा है ऐसे अनेक जंगली हाथियोंको धारण करता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! इधर देखिये ये अष्टापद गरजते हुये वादलोंको हाथी समझकर उनपर वडी शीघ्रतासे उछलकर चोट करना चाहते हैं परंतु फिर नीचे पडकर वडा ही शोक करते हैं ॥ ४४ ॥ कपोलोंके घिसनेसे जिनकी छाल कुछ घिस गई है और जिनपर मदका जल पडा हुआ है ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीडाको साफ प्रगट कर रहे हैं ॥ ४५ ॥ ये हिरण सिंहोंकी गरजनासे भयभीत होकर डरसे लतावनोंमें इकट्ठे होकर वैठे हैं इन्हें भी देखिये ॥ ४६ ॥ यह वन इधर मुनियोंके पाठ करनेके शब्दोंसे वहुत ही मनोहर हो रहा है और इधर ऊपर ऊपरकी घास खानेवाले हिरणोंके समूहसे भर रहा है ॥ ४७ ॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयानक हो रहा है और यहांसे हाथियोंके समूह अपना खाना पीना छोडकर तथा अपने झुंडसे अलग होकर इधर उधर

क्षतवल्मीकरोधसः । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः ॥ ४९ ॥ मृगैः प्रविष्टवेशतैर्वंशस्तंबोपगैर्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रांत वनमेतद्भयानक ॥५०॥ वनप्रवेशिभिर्नित्य नित्यं स्थंडिलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमद्रींद्रो मृगैर्मुनिगणैरपि ॥ ५१ ॥ इति प्रशांतो रौद्रश्च सदैवाऽय धराधरः । सन्निधानाज्जिनेंद्रस्य शांत एवाधुना पुनः ॥ ५२ ॥ गजैः पश्य मृगेंद्राणा सॅवासमिह कानने । नखरक्षतमार्गेषु स्वैरमास्पृशतामिभान् ॥ ५३ ॥ चारणाध्युषितानेते गुहोत्सगानशंकिताः । विशंत्यनुगताः शावैः पाकसत्त्वैः सम मृगाः ॥ ५४ ॥ अहो ! परममाश्चर्यं तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयात मुनींद्राणामज्ञातभयसंपदा ॥ ५५ ॥ सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो मृगैरन्वर्थनामाभिः । पुनरष्टापदख्यातिं पुरैति त्वदुपक्रम ॥ ५६ ॥ स्फुरन्मणितटोपांत तारकाचक्रमापतत् । न

भाग रहे हैं ॥ ४८ ॥ इधर वृद्ध जंगली भैंसाके सींगोंकी नोकसे वामीके (सांपोंके निवासस्थानके) किनारे तोड दिये गये हैं और इधर सूअरोंने छोटे छोटे तलावोंको खोद डाला है जिनसे ये वनके प्रदेश बहुत ही अच्छे जान पडते हैं ॥ ४९ ॥ हिरण छोटे छोटे तलावोंमें घुस गये हैं, हाथी वांसोंके खंबोंके समीप छिपगये हैं इनसे जान पडता है कि सिंहके द्वारा आक्रमण कियाहुआ यह वन बहुत ही भयानक है ॥ ५० ॥ सदा बनमें प्रवेश करनेवाले और सदा जमीनपर सोनेवाले ऐसे हिरण और मुनिलोग इस महापर्वतको कभी नहीं छोडते हैं ॥ ५१ ॥ इसप्रकार यह पर्वत सदा शांत रहता है और सदा ही भयानक रहता है परंतु इससमय श्रीजिनेंद्रदेवके समीप विराजमान रहनेसे यह बिलकुल ही शांत होगया है ॥ ५२ ॥ इधर देखिये इससमय श्रीजिनेंद्रदेवके यहां विराजमान रहनेसे सिंह हाथियोंके साथ रहते हैं तथा वे हाथियोंके मस्तकपर अपने नखोंसे कियेहुये घावोंको इच्छानुसार स्पर्श-कर रहे हैं ॥ ५३ ॥ बच्चे जिनके पीछे पीछे चल रहे हैं ऐसे हिरण सिंह बाघ आदि क्रूर पशुओंके साथ २ जिनमें चारणमुनि निवास करते हैं ऐसी गुफाओंमें निडर होकर प्रवेश करते हैं ॥ ५४ ॥ अहा ! यह भी एक बडा आश्चर्य है कि अनेक पशुओंके समूह निर्भय होकर जिन्हें बनका भय और शोभा कुछ भी मालूम नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे पीछे फिर रहे हैं ॥ ५५ ॥ सार्थक नामको धारण

याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिरछन्नमंडल ॥ ५७ ॥ ज्वलत्यौषधिजालेऽपि निशि नाभ्येति किन्नरः । तमोविशंकयाऽस्याद्रेरिंद्रनीलमयीस्तटी' ॥ ५८ ॥ हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानत्र भूधरे । तृणांकुरधियोपेत्य मृगा याति विलक्ष्यतां ॥ ५९ ॥ सरोजरागरत्नांशुच्छुरिता वनराजय. । तताः सध्यातपेनेव पुष्णतीह परा श्रियं ॥ ६० ॥ सूर्यांशुभिः परामृष्टाः सूर्यकाता ज्वलंत्यमी । प्रायस्तेजस्विसपर्कस्तेज' पुष्णाति तादृश ॥ ६१ ॥ इहेंदुकरसस्पर्शात्प्रक्षरतोऽप्यनुक्षप । चद्रकाता न हीयते विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥ सुराणामभिगम्यत्वात्सिंहासनपरिग्रहात् । महत्वादचलत्वाच्च गिरिरेष जिनायते ॥६३॥

करनेवाले अष्टापद [जिनके ऊपर पीठपर चार और नीचे चार ऐसे आठ पैर होते हैं] नामके पशुओंसे यह पर्वत आपके चढनेके वाद अष्टापद नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ५६ ॥ जिनपर दैदीप्यमान मणियां लग रही हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप देशमें उन मणियोंकी कांतिसे जिनका मंडल (प्रभामंडल) छिपगया है ऐसा लगाहुआ नक्षत्रोंका समूह साफ प्रगट नहीं होता है ॥ ५७ ॥ यद्यपि यहां रात्रिमें औषधियोंका समूह दीपकके समान प्रकाशमान रहता है तथापि इंद्रनीलमणियोंके वनेहुये इस पर्वतके किनारोंपर अंधकारकी शंका करतेहुये किन्नर जातिके देव नहीं आ पाते हैं ॥ ५८ ॥ इस पर्वतपर नीलमणियोंके वनेहुये किनारोंकी फैलतीहुई किरणोंको हरी घासके अंकूरे समझकर हरिण वहां आते हैं और फिर घास न पाकर वडा ही आश्चर्य करते हैं ॥ ५९ ॥ पद्मरागमणियोंकी किरणोंसे सुशोभित वन पंक्तियां ऐसी अच्छी शोभा धारण करती हैं मानों सायंकालकी थोडी थोडी लाल धूप ही उनपर फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्य कांतमणि सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्राय तेजस्वी पदार्थका संवंध प्रकाशमान पदार्थको और भी प्रकाशित कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर इन चंद्रकांत मणियोंसे चंद्रमाकी किरणोंके स्पर्श होनेपर प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये मणियां कुछ भी कम नहीं होतीं सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव वहुत ही विचित्र अर्थात् आश्चर्य करनेवाला है ॥६२॥ हे देव ! यह कैलाशपर्वत ठीक श्रीजिनेंद्रदेवके समान जान पडता है क्योंकि जिसप्र-

शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥ ६४ ॥ इति शंसति तस्याद्रेः परां शोभा पुरोधसि । शसाद्भूत इवानद पर प्राप परतप ॥ ६५ ॥ किंचिच्चातरमुल्लंघ्य प्रसन्नेनांतरात्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदावरः ॥ ६६ ॥ निपतत्पुष्पवर्षेण दुंदुभीना च नि.स्वनै. । विदाम्बभूव लोकेशमभ्यासक्कतसन्निधिं ॥ ६७ ॥ मदारकुसुमोद्गधिरादोलितलतावनः । पवनस्तमभीयाय प्रत्युद्यन्निव पावनः ॥ ६८ ॥ सुमनोवृष्टिरापसदापूरितनभोगणा । विरजीकृतभूलोकैः सम शीतैरपा कणैः ॥ ६९ ॥ शुश्रुवे ध्वनिरामंद्रो दुदुभीना नभोंगणे । श्रुतः केकिभिरुद्ग्रीवैर्घन-

---

कार श्रीजिनेंद्रदेवके समीप देव आते हैं उसीप्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिसप्रकार श्रीजिनेंद्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसीप्रकार इस पर्वतने भी सिंह और आसन अर्थात् सेंजनाके वृक्ष स्वीकार किये है अर्थात् इसपर सिंह भी बहुत हैं और सेंजनाके वृक्ष भी वहुत हैं, तथा श्रीजिनेंद्रदेव जिसप्रकार सबसे वडे हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी वडा है और जिसप्रकार श्रीजिनेंद्र अचल हैं स्थिर हैं उसीप्रकार यह पर्वत भी अचल है ॥ ६३ ॥ हे प्रभो ! जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकमणिके समान निर्मल है ऐसा शुद्ध आत्माके समान यह महापर्वत आपका कल्याण करनेवाला हो ॥ ६४ ॥ इसप्रकार उस पुरोहितने जब उस पर्वतकी बडी भारी शोभा वर्णन की तव वह शत्रुओंको त्रास देनेवाला भरत ऐसे उत्तम आनंदको प्राप्त हुआ मानों वह सुखमय ही हो गया हो ॥६५॥ जाननेवालोंमें भी उत्तम ज्ञानी वह भरत प्रसन्नचित्त होकर कुछ आगे बढा और वहांपर समीप ही श्रीजिनेंद्रदेवका समवसरण उसे जान पडा ॥ ६६ ॥ ऊपरसे पडतीहुई पुष्पोंकी वर्षासे और दुंदुभियोंके गंभीर शब्दोंसे उसने समझलिया कि श्रीजिनेंद्रदेव अब समीप ही विराजमान है ॥ ६७ ॥ जो मंदार वृक्षोंके फूलोंसे सुगंधित हो रहा है और जो लताओंके बनको हिला रहा है ऐसा पवित्र वायु महाराज भरतके सामने इसप्रकार आया मानों उठकर भरतका आदर सत्कार ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथ्वीमंडल सब धूलरहित कर दिया है ऐसी शीतल जलकी बूंदोंके साथ साथ आकाशरूपी

स्तनितशाकिभि ॥ ७० ॥ गुल्फदघ्नप्रसूनौघमम‌र्दमृदुना पथा । तमद्रिमश्रात प्रययौ स नृपाग्रणी ॥ ७१ ॥ ततोऽधिरुह्य त शैलमपश्यत्सोऽस्य मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेत जैनमास्थानमडल ॥ ७२ ॥ समेत्यावसरापेक्षास्तिष्ठन्त्यस्मिन्सुरासुराः । इति तज्ज्ञैर्निरुक्त तत्सरण समवादिक ॥ ७३ ॥ आख डलधनुर्लेखामखडपरिमडला । जनयत निजोद्योतैर्धूलीसालमथासदत् ॥ ७४ ॥ हेमस्तभाग्रविन्यस्तरत्नतोरणभासुर । धूलीसालमतीत्यासौ मानस्तभमपूजयत् ॥ ७५ ॥ मानस्तभस्य पर्यंतसरसीः ससरोरुहाः । जैनीरिव श्रुतीः स्वच्छशीतलापो ददर्श सः ॥ ७६ ॥ धूलीसालपरिक्षेपस्यातर्भागे समततः ।

आंगनको भरती हुई पुष्पोंकी वर्षा पड रही थी ॥ ६९ ॥ जिन्हें मयूरोंके समूह बादलोंकी गरजना समझकर अपनी गर्दन ऊंचीकर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आंगनमें दुंदुभियोंके गंभीर शब्द भी महाराज भरतने सुने ॥ ७० ॥ सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसा वह भरत एडीके ऊपरकी गांठतक फूलोंके समूह फैलनेसे जो बहुत ही कोमल हो रहा है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बचे हुये पर्वतपर चढगया ॥ ७१ ॥ तदनंतर उस कैलाश पर्वतपर चढकर भरतने उसके मस्तकपर पहिले जिसका वर्णन कर चुके हैं ऐसा समवसरण देखा ॥ ७२ ॥ इसमें वैमानिक भवनवासी आदि सब देव आकर दिव्यध्वनिके समयकी बाट देखते हुये बैठते हैं इसलिये इसे गणधरादिदेव समवसरण इस नामसे वर्णन करते हैं ॥ ७३ ॥

अथानंतर—जो अपने प्रकाशसे संपूर्ण अखंड मंडलसहित इंद्रधनुषकी रेखा उत्पन्न कर रहा है ऐसे धूलीसालके समीप वह भरतेश्वर जा पहुंचा ॥ ७४ ॥ सुवर्णके खंबोंके ऊपर रक्खे हुये रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यंत प्रकाशित हो रहा है ऐसे धूलीसालको उलंघनकर भरतने मानस्तंभकी पूजा की ॥ ७५ ॥ वहांपर उसने स्वच्छ और शीतल जल जिनमें भराहुआ है और कमल जिनमें फूल रहे हैं ऐसी जिनेंद्रदेवकी वाणीके समान मानस्तंभके चारोंओरकी बावडियां देखीं ॥ ७६ ॥ धूलीसालके परकोटाके भीतर चारोंओर गलियोंके बीचमें उसने देवोंके निवास करने योग्य पृथ्वी भी देखी ॥७७॥

वीथ्यंतरेषु सोऽपश्यद्देवावासोचिता भुवः ॥ ७७ ॥ अतीत्य परत. किंचिद्ददर्श जलखातिकां । सुप्रसन्नामगाधां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥ ७८ ॥ वल्लीवनं ततोऽद्राक्षीन्नानापुष्पलताततं । पुष्पासवरसामत्तभ्रमद्भ्रमरसंकुलं ॥ ७९ ॥ ततः किंचित्पुरो गच्छन्सालमाद्यं व्यलोकत । निषधाद्रितटस्पर्धिवपुषं रत्नभाजुषं ॥ ८० ॥ सुरदौवारिकारक्ष्यतत्प्रतोलीतलाश्रितान् । सोऽपश्यन्मंगलद्रव्यभेदाँस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥ ८१ ॥ ततोऽतः प्रविशन्वीक्ष्य द्वितयं नाट्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परां चक्री शक्रस्त्रीनर्तनोचितं ॥ ८२ ॥ स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीक्ष्युभयातयोः । सुगंधीधनसदोहोद्गधिधूपं व्यलोकयत् ॥ ८३ ॥ कक्षांतरे द्वितीयेऽस्मिन्नसौ वनचतुष्टयं । निदध्यौ विगलत्पुष्पैः कृतार्घमिव शाखिभिः ॥ ८४ ॥ प्रफुल्लवनमाशोकं साप्तपर्णं च चापकं । आम्रेडितवनं

भीतरकी ओर कुछ और आगे चलकर उसने जलकी खाई देखी, वह खाई सज्जनोंके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और अगाध [गहरी] थी ॥ ७८ ॥ तदनंतर उसने अनेकतरहके पुष्प और लताओंसे भरेहुये तथा फूलोंके मधुके रससे उन्मत्त होकर चारोंओर फिरते हुये भ्रमरोंसे व्याप्त ऐसे लतावन देखे ॥ ७९ ॥ उसके बाद कुछ और आगे चलकर जो निषध पर्वतके किनारेकी स्पर्धा करनेवाला है और रत्नोंकी कांतिके समान जिसकी कांति है ऐसा पहिला कोट देखा ॥ ८० ॥ द्वारपालका काम करते हुये देव लोग जिनकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे उस कोटके छज्जोंपर रक्खे हुये आठप्रकारके अलग अलग मंगलद्रव्योंको भी उसने देखा ॥ ८१ ॥ कोटके भीतर प्रवेशकर इंद्रानीके नृत्य करने योग्य ऐसी दोनों ओरकी दोनों नाट्यशालाओंको देखकर वह चक्रवर्ती वहुत ही संतुष्ट हुआ ॥८२॥ कुछ आगे चलकर रास्तेके बगलमें दोनोंओर रक्खेहुये तथा सुगंधित लकडीके समुदायसे जिनमेंका धूम निकलकर चारोंओर फैल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥ ८३ ॥ तदनंतर कुछ और आगे चलकर दो दो मार्गोंके बीचमें उसने चार बन देखे, वे बन ऐसे जान पडते थे मानों जिनसे फूल खिर रहे हैं ऐसे वृक्षोंके द्वारा अर्घ ही दे रहे हों ॥८४॥ फूले हुये अशोक वृक्षोंका वन, सप्तपर्ण वृक्षोंका बन, चंपाका बन और आमोंका मनोहर बन देखकर भरतका आनंद भी दूना होगया ॥ ८५ ॥

प्रेक्ष्य सोऽभूदाम्रेडितोत्सवः ॥ ८५ ॥ तत्र चैत्यद्रुमॉस्तुंगान् जिनबिंबैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान्पूजितान्नृसुरेशिना ॥ ८६ ॥ तत्र किन्नरनारीणां गीतैरामंद्रमूर्च्छनैः । लेभे परां धृतिं चक्री गायतीनां जिनोत्सवं ॥ ८७ ॥ सुगाधिपवनामोदनिःश्वासा कुसुमस्मिता । वनश्रीः कोकिलालापैः संजजल्पेव चक्रिणा ॥ ८८ ॥ भृंगीसंगीतसमूर्च्छत्कोकिलानकनिस्स्वनैः । अनंगविजयं जिष्णोर्वनानीवोदघोषयन् ॥ ८९ ॥ त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरभसोत्थितं । तत्राश्रृणोन्महाघोषमपां घोषमिवोदधेः ॥ ९० ॥ वनवेदीमथापश्यद्वनरुद्धावने. परं । वनराजीविलासिन्याः कांचीमिव कणन्मणीं ॥ ९१ ॥ तद्बोपुरावनिं

श्रीमान् महाराज भरतने उन बनोंमें जिनके नीचे जिनबिंब विराजमान हैं इंद्र नरेंद्र आदि सब जिनकी पूजा करते हैं और जो बहुत ऊंचे हैं ऐसे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥ ८६ ॥ वहांपर जो किन्नर जातिकी देवियां भगवानका उत्सव गा रही थीं उनके गंभीर तानवाले गीतोंसे भरतको बहुत ही संतोष हुआ ॥ ८७ ॥ सुगंधित वायुकी सुगंध ही जिसका निश्वास है और फूले हुये फूल ही जिसका हास्य हे ऐसी वह बनकी शोभा कोइलोंके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पडती थी मानों भरत चक्रवर्तीके साथ बात चीत ही कर रही हो ॥ ८८ ॥ वे सब बन भ्रमरियोंके गुंजार शब्दोंसे मिले हुये कोकिलारूपी नगाडोंके शब्दोंसे ऐसे जान पडते थे मानों भगवानने जो कामदेव जीतलिया है उसके जीतकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ ८९ ॥ वहांपर तीनों लोकोंके जनसमूह जो निरंतर प्रवेश कर रहे थे उनके प्रवेश करनेकी जल्दीसे उत्पन्नहुआ समुद्रकी महा गर्जनाके समान जो बडा भारी कोलाहल हो रहा था वह भी भरतको सुनाई दिया ॥ ९० ॥ तदनंतर उस बनको रोकनेवाली पृथ्वीके आगे उसने बनपंक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमय करधनीके समान मणियोंसे जडीहुई बनकी वेदी देखी ॥ ९१ ॥ उस वेदीके बाहरकी भूमि उलंघनकर उस चक्रबर्तीने ध्वजाओंसे भरीहुई पृथ्वी देखी वह पृथ्वी उससमय ऐसी जान पडती थी मानों वायुके द्वारा हिलतेहुये ध्वजाओंके वस्त्रोंसे उसे बुलारही ही हो ॥ ९२ ॥ जहांपर यज्ञभूमिके समान फहराती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाश भर

क्रांत्वा ध्वजरुद्धावनिं सुराट् । आजुहूषुमिवाऽपश्यन्मरुध्दूतैर्ध्वजांशुकैः ॥ ९२ ॥ सावनिः सावनीवोद्यत्ध्वजमालाततांबरा । सचक्रा सगजा रेजे जिनराज-जयोर्जिता ॥ ९३ ॥ केतवो हरिवस्त्राब्जबर्हिणेभगरुत्मनां । स्रगुक्षहंसचक्राणां दशधोक्ता जिनेशिनः ॥ ९४ ॥ तानेकशः शतं चाष्टौ ध्वजान्प्रातिदिशं स्थितान् । वरिवस्यन्नगाच्चक्री स तद्रुद्धावने. परं ॥ ९५ ॥ द्वितीयमार्जुनं सालं सगोपुरचतुष्टयं । व्यतीत्य परतोऽपश्यन्नाट्यशालादि पूर्ववत् ॥ ९६ ॥ तत्र पश्यन्सुरस्त्रीणां नृत्यं गीतं निशामयन् । धूपामोदं च सजिघ्रन्सुप्रीताक्षोऽभवद्विभुः ॥ ९७ ॥ कक्षांतरे ततस्तस्मिन्कल्पवृक्षवनावनिं । स्रग्वस्त्राभरणा-दीष्टफलदां स प्ररूपयत् ॥ ९८ ॥ सिद्धार्थपादपांस्तत्र सिद्धबिंबैरधिष्ठितान् । परीत्य प्रणमन्प्रार्चीदर्चितान्नाकिनायकैः ॥ ९९ ॥ वनवेदीं ततोऽतीत्य

रहा है और जो श्रीजिनेंद्रदेवके विजयसे प्रगट हुई है ऐसी वह ध्वजाभूमि चक्र और हाथियोंके चिन्होंसे सुशोभित बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ९३ ॥ वे जिनेंद्रदेवकी ध्वजायें सिंह, वस्त्र, कमल, मयूर, हाथी, गरुड, पुष्पमाला, बैल, हंस और चक्र इन चिन्होंके भेदसे दशप्रकारकी थीं ॥९४॥ प्रत्येक दिशामें एक एक प्रकारकी एकसौ आठ ध्वजायें फहरा रहीं थीं, उन ध्वजाओंकी पूजा करता हुआ वह चक्रवर्ती उन ध्वजाओंसे घिरीहुई भूमिको उलंघनकर आगे गया ॥ ९५ ॥ आगे चलकर उसने चार बडे बडे दरवाजोंसहित चांदीका बनाहुआ दूसरा कोट देखा, उसे उलंघनकर उसके सामने ही पहिलेके समान नाट्यशाला आदि देखीं ॥ ९६ ॥ वहांपर उसने देवियोंका नृत्य देखा, उनके गीत सुने और धूपकी सुगंध सूंघी, इन सब बातोंसे महाराज भरतकी इंद्रियां बहुत ही संतुष्ट हुई ॥ ९७ ॥ आगे चलकर उसी मार्गमें उसने पुष्पमाला वस्त्र आभरण आदि इष्टफल देनेवाली कल्पवृक्षोंकी वन-भूमि देखी ॥ ९८ ॥ वहांपर उसने जिनपर सिद्धोंकी प्रतिमा विराजमान हैं और इंद्र भी आकर जिनकी पूजा करते हैं ऐसे सिद्धार्थ वृक्षोंकी प्रदक्षिणा दी, प्रणाम किया और उनकी पूजा की ॥९९॥ कल्पवृक्षोंके बनकी वेदीको उलंघनकर महाराज भरतने चार बडे दरवाजोंसे सुशोभित ऐसी बडे बडे मकानोंसे घिरीहुई पृथ्वी देखी तथा साथ ही साथ स्तूप भी देखे ॥ १०० ॥ देवोंके निवास करनेके

चतुर्गोपुरमंटना । प्रासादरुद्धामवनी स्तूपांश्च प्रभूरैक्षत ॥ १०० ॥ प्रासादा विविधास्तत्र सुरावासाय कल्पिताः । त्रिचतुष्पचभूम्याद्या नानाच्छंदैरलंकृता ॥ १०१ ॥ स्तूपाश्च रत्ननिर्माणा, सातरा रत्नतोरणैः । समताजिनाविम्बैस्ते निचितागाश्चकाशिरे ॥ १०२ ॥ तान्पश्यन्नर्चयँस्तांश्च तांश्च तांश्च स कीर्तयन् । ता च कक्षा व्यतीयाय विस्मय परमीयिवान् ॥ १०३ ॥ नभःस्फटिकनिर्माण प्राकारवलय ततः । प्रत्यासत्तेर्जिनस्येव लब्धशुद्धिं ददर्श सः ॥ १०४ ॥ तत्र कल्पोपगैर्देवैर्महादौवारपालकैः । सादर सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश सभा विभोः ॥ १०५ ॥ समताद्योजनायामविष्कंभपरिमंडल । श्रीमडप जगद्विश्वमपश्यन्मातमात्मनि ॥ १०६ ॥ तत्रापश्यन्मुनीनिद्धबोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्यिका नृपकाताश्च जोतिर्वन्योरगामरीः ॥ १०७ ॥

लिये रचना कियेहुये वे मकान तिखने चौखने पंचखने आदि कितने ही प्रकारके थे तथा वे स्वस्तिक सर्वतोभद्र नंद्यावर्त आदि अनेक तरहसे वनाये गये थे ॥ १०१ ॥ स्तूप भी रत्नोंके बनेहुये थे रत्नोंके वनेहुये तोरणोंसे परस्पर मिलेहुये थे ओर चारोंओर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमायें उनपर विराजमान थीं, इसप्रकार वे वहुत ही सुंदर जान पडते थे ॥ १०२ ॥ उन स्तूपोंको देखतेहुये, उनकी पूजा करते हुये और उन सब तोरणोंका वर्णन करतेहुये भरतको बहुत ही आश्चर्य हुआ, और फिर उसने उस मार्गको भी व्यतीत किया ॥ १०३ ॥ आगे चलकर उसने आकाशके समान स्फटिकमणिका बना-हुआ तीसरा कोट देखा वह कोट ऐसा जान पडता था मानों श्रीजिनेंद्रदेवके समीप होनेसे उसे विशुद्धि ही प्राप्त हो गई हो ॥ १०४ ॥ उस कोटके दरवाजेपर कल्पवासी जातिके देव महाद्वारपाल वनेहुये वैठे थे, उनसे सादर आज्ञा लेकर भरतने श्रीजिनेंद्रदेवकी सभामें प्रवेश किया ॥ १०५ ॥ वहांपर उसने चारोंओरसे एक योजन लंबा एक योजन चौडा, गोल तथा जो अपने भीतर समस्त जगतको विठा सकता है अर्थात् तीनों जगतके प्राणी जिसमें बैठ सकते हैं ऐसा श्रीमंडप देखा ॥१०६॥ वहांपर उसने भगवानके चरणकमलोंके दर्शन करनेसे उत्पन्नहुये प्रेमसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठहुये अतिशयज्ञानी मुनि १ कल्पवासिनी देवियां २ अर्जिका सहित महारानी आदि

भावनव्यंतरज्योतिःकल्पेंद्रान्पार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥ १०८ ॥ गणानितिक्रमात्पश्यन्परीयाय परंतपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमा मेखलां श्रितः ॥ १०९ ॥ तत्रानर्च मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टय । यक्षेंद्रैर्विधृत मूर्ध्नी ब्रध्नबिंबानुकारि यत् ॥ ११० ॥ द्वितीयमेखलायां च प्रार्चदष्टौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपंचास्यस्रग्वस्त्रगरुडांकितान् ॥ १११ ॥ मेखलाया तृतीयस्यामयैक्षिष्ट जगद्गुरु । वृषभं स कृती यस्या श्रीमद्गंधकुटीं स्थिता ॥ ११२ ॥ तद्गर्भे रत्नसदर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृंग इवोत्तुंगे सुनिविष्टं महातनु ॥ ११३ ॥ छत्रत्रयकृतच्छायमप्यच्छायमघच्छिदं ।

स्त्रियां ३ ज्योतिषी देवोंकी देवियां ४ व्यंतरदेवोंकी देवियां ५ भवनवासीदेवोंकी देवियां ६ भवनवासीदेव ७ व्यंतरदेव ८ ज्योतिषीदेव ९ कल्पवासीदेव १० महाराज आदि मनुष्य ११ और सिंह आदि पशु १२ ऐसे बारह संघ देखे, इन्हें देखकर महाराज भरतने पहिली कटनीका आश्रय लेकर तीन कटनीदार उस सिंहासनकी प्रदक्षिणा दी ॥ १०७-१०९ ॥ वहांपर चक्रवर्तीने प्रसन्न होकर जो सूर्यके बिंबका अनुकरण कर रहे हैं और जिन्हें यक्षोंके इंद्रोंने अपने मस्तकोंपर धारण कर रक्खा है ऐसे चारों धर्मचक्रोंकी पूजा की ॥ ११० ॥ दूसरी कटनीपर उसने चक्र, हाथी, बैल, कमल सिंह, पुष्पमाला, वस्त्र और गरुड इन आठ चिन्होंसे शोभायमान आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥ १११ ॥ तदनंतर विद्वान उस चक्रवर्तीने जिसपर अतिशय शोभायुक्त गंधकुटी विराजमान है उस तीसरी कटनीपर जगतगुरु भगवान वृषभदेवको देखा ॥ ११२ ॥ उस गंधकुटीके भीतर महाराज भरतने श्रीवृषभदेव भगवानको देखा वे भगवान रत्नोंकी बनावटसे बहुत सुंदर और मेरुपर्वतके शिखरके समान ऊंचे ऐसे सिंहासनपर विराजमान थे, उनका शरीर बहुत बडा था ॥ ११३ ॥ तीन छत्र उनपर छाया कर रहे थे, परंतु भगवान छायारहित थे अर्थात् उनकी छाया नहीं पडती थी, वे पापोंके नाश करनेवाले थे और अपने प्रभामंडलसे उन्होंने मनुष्य कल्पवासी भवनवासी आदि सब जीवोंके मंडपको आच्छादन कर रक्खा था ॥ ११४ ॥ उनके समीप जो अशोक वृक्ष था उससे वे अपने चरणकमलोंका आश्रय लेनेवाले

स्वतेजोमंडलाक्रांतनृसुरासुरमंडलं ॥ ११४ ॥ अशोकशाखिचिन्हेन व्यंजयंतमिवाजसा । स्वपादाश्रयिणा शोकनिरासे शक्तिमात्मनः ॥ ११५ ॥ चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यंतं कातविग्रह । रुक्माद्रिमिव वप्रातपतन्निर्झरसकुल ॥ ११६ ॥ तेजसा चक्रवालेन स्फुरता परितो वृत । परिवेषवृतस्यार्कमंडलस्यानुकारक ॥ ११७ ॥ वियद्दुंदुभिभिर्मंद्रघोषैरुद्घोपितोदय । सुमनोवर्षिभिर्दिव्यजीमूतैरूर्जितश्रयं ॥ ११८॥ स्फुरद्गंभीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगत्सभ । प्रावृषेण्यं पयोवाहमिव धर्मांबुवर्षिणं ॥ ११९ ॥ नानाभाषात्मिका दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयंतमयत्नेन हृद्ध्वांत नुदतीं नृणा ॥ १२० ॥ अमेयवीर्यमाहा-

---

जीवोंका शोक दूर करनेकी अपनी शक्तिको बहुत शीघ्र प्रगट कर रहे थे ॥ ११५ ॥ ढुलतेहुये चमरों से जिसके चारोंओरका भाग व्याप्त हो रहा है इसप्रकारका उनका वह मनोहर शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों शिखरके किनारोंसे पडतेहुये झरनोंसे व्याप्त सुमेरुपर्वत ही हो ॥ ११६ ॥ दैदीप्यमान प्रभामंडलसे चारोंओर घिरेहुये वे भगवान ऐसे जान पडते थे मानों जिसके चारोंओर गोलमंडल लग रहा है ऐसे सूर्यमंडलका अनुकरण ही कर रहे हों ॥ ११७ ॥ गंभीर शब्द करनेवाले ऐसे आकाशमें बजतेहुये दुंदुभियोंसे उनका माहात्म्य प्रगट हो रहा था, तथा पुष्पोंकी वर्षा करनेवाले देवरूप मेघोंसे उनकी शोभा सबसे उत्कृष्ट हो रही थी ॥ ११८ ॥ वे भगवान चारोंओर फैलतेहुये गंभीर शब्दोंके द्वारा अर्थात् दिव्यध्वनिके द्वारा तीनों लोकोंके जीवोंकी सभाको तृप्त करते हुये वर्षाऋतुके मेघोंके समान धर्मरूपी जलकी वर्षा कर रहे थे ॥११९॥ उनकी दिव्यध्वनि यद्यपि एक थी तथापि वे उसे जीवोंके हृदयका अंधकार दूर करनेवाली अनेक भाषारूपसे फैला रहे थे ॥ १२० ॥ वे अनंतवीर्यको धारण करते थे, वस्त्र आभरण रहित होनेपर भी अतिशय सुंदर थे, उनकी वाणीकी विभूति बहुत ही अच्छी थी, शरीरसे सुगंध फैल रही थी और उनके सब लक्षण शुभ थे ॥ १२१ ॥ उनके शरीरपर पसीना नहीं आता था, किसीतरहका मल नहीं था, उसकी छाया नहीं पडती थी, आंखोंकी पलक न लगनेसे वह बहुत ही सुंदर था, समचतुरस्र नामका

येविरहेप्यतिसुंदरं । सुवाग्विभवमुत्सर्पत्सौरभं शुभलक्षण ॥ १२१ ॥ अस्वेदमलमच्छायमपक्ष्मस्पंदबंधुरं । सुसंस्थानमभेद्यं च दधानं वपुरूर्जितं ॥१२२॥ इत्यप्रतर्क्यमाहात्म्य दूरादालोकयन् जिन । प्रह्वोऽभूत्स महीपृष्ठजानुरानदनिर्भरः ॥ १२३ ॥ दूरानतचलन्मौलिरालोलमणिकुंडल । स रेजे प्रणमन्भक्त्या जिन रत्नैरिवार्घयन् ॥ १२४ ॥ ततो विधिवदानर्चे जलगंधस्रगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेप्सया ॥ १२५ ॥ कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेष्ठिनं । स्तोतु म्तुतिभिरत्युच्चैरारेभे भरताधिपः ॥ १२६ ॥ त्वाँस्तोष्ये परमात्मानमपारगुणमच्युतं । चोदितोऽहं बलाद्भक्त्या शक्त्या मदोऽप्यम

सुंदर संस्थान था, बहुत देदीप्यमान था और कभी छिद भिद नहीं सकता था, ऐसे शरीरको वे भगवान धारण किये हुये थे ॥ १२२ ॥ इसप्रकार जिनका अकथनीय माहात्म्य है ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवको दूरसे ही देखता हुआ भरत चक्रवर्ती आनंदमें डूब गया तथा उसने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर भगवानको नमस्कार किया ॥ १२३ ॥ दूरसे ही नम्र होनेसे जिसका मुकुट कुछ हिल रहा है मणियोंके बने हुये कुंडल चंचल हो रहे हैं ऐसा भक्ति पूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवको प्रणाम करता हुआ वह चक्रवर्ती रत्नोंके द्वारा अर्घ देते हुये के समान सुशोभित हो रहा था ॥ १२४ ॥ तदनंतर उसने मोक्ष फल प्राप्त होनेकी इच्छासे जल, चंदन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे विधिपूर्वक भगवानकी पूजा की ॥ १२५ ॥ पूजाकी विधि समाप्तकर उसने परमेष्ठी भगवान वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर उस भरतेश्वरने अच्छे अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा भगबानकी स्तुति करना प्रारंभ किया ॥ १२६ ॥ हे भगवन् ! आप परमात्मा हैं, घातियाकर्म नष्ट होनेसे आपमें अनंत गुण प्रगट हुये हैं, आप अविनश्वर हैं तथा मैं शक्तिसे अत्यंत हीन हूं अर्थात् स्तुति करने अयोग्य हूं तथापि (बडी भारी) भक्तिके द्वारा जबर्दस्ती प्रेरणा किया हुआ मैं आपकी स्तुति करता हूं ॥ १२७ ॥ हे देव ! कहां तो गणधरदेव भी जिनकी संख्या नहीं कर सकते ऐसे आपके अनंत गुण ? और कहां मेरे ऐसा मंदबुद्धि ? तथापि आपके गुणोंके वशीभूत ऐसी भक्तिसे ही आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न

देया ॥ १२७ ॥ क्व ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगम्या क्व मादृशः । तथापि प्रयते स्तोतुं त्वन्न्या त्वद्गुणानिनया ॥ १२८ ॥ फलाय त्वद्गता भक्तिरनन्याय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्प्रपुष्णाति ननु सपत्परंपरा ॥ १२९ ॥ घातिकर्ममलापायात्प्रादुरासन्गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्तेर्भानोर्यथाऽन्त ॥ १३० ॥ यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जाता घातिकर्मविनिर्जयात् ॥ १३१ ॥ कैवल्याख्य परं ज्योतिस्तव देव यदोदगात् । तदा लोकमलोकं च त्वमबुद्धा विनाऽवधि ॥ १३२ ॥ सार्वज्ञं तव वक्तीश वच शुद्धिरशेषगा । न हि वाग्विभवो मन्दवियामस्तीह पुष्कलः ॥ १३३ ॥ वक्तृप्रामाण्यतो देव वच प्रामाण्यमिष्यते । नह्यशुद्धतराद्वक्तुः प्रभवत्युज्वला गिर. ॥ १३४ ॥ सप्तभङ्गात्मिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आप्तप्रतीतिममलां

करता हूं ॥१२८॥ हे देव ! आपमें भक्ति करनेसे अनंत फलकी प्राप्ति होती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी संपत्तिसे सेवकोंकी संपत्तिकी परंपराकी भी वृद्धि होती है ॥ १२९ ॥ जिसप्रकार सूर्यमंडलपरसे वादलोंका आवरण हट जानेसे सूर्यकी अनंत किरणें प्रगट होती हैं उसीप्रकार घातिया कर्ममल दूर होनेसे आपके भी अनंत गुण प्रगट हुये हैं ॥ १३० ॥ हे नाथ ! घातिया कर्मोंको जीतलेनेसे आपकी केवल दर्शन, केवल ज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य आदि लब्धियां क्षायिक प्रगट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव ! जिससमय आपके केवलज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति उत्पन्न हुई थी उसीसमय आपने मर्यादारहित लोक अलोक सबको जान लिया था ॥ १३२ ॥ हे स्वामिन् ! सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारकी समस्त भाषारूप परिणत होनेवाली आपकी वचनशुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको सिद्ध करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगतमें वचनोंकी इतनी अधिक विभूति मंदबुद्धियोंको कभी नहीं हो सकती है ॥ १३३ ॥ हे देव ! वक्ताकी (उपदेशककी) प्रमाणतासे वचनकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि जो वक्ता अत्यंत अशुद्ध है अर्थात् दोषोंसे भरा हुआ है उसकी वाणी उज्वल कभी नहीं हो सकती है ॥ १३४ ॥ हे प्रभो ! समस्त संसारमें फैलनेवाली यह आपकी वाणी सप्तभंगी स्वरूप है, यही सप्तभंग स्वरूप वाणी आपमें आप्तपनेका (देवपनेका) निर्मल विश्वास उत्पन्न करा-

त्वय्युद्भावयितु क्षमा ॥ १३५ ॥ स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमित्यपि । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति ते सार्व भारती ॥ १३६ ॥ विरुद्धाबद्ध-

नेके लिये समर्थ है, भावार्थ—आपकी वाणी सप्तभंग स्वरूप है इसलिये ही आपमें देवपना सिद्ध होता है क्योंकि कत्येप्र पदार्थमें सात धर्म हैं और उन सात धर्मोंको कहनेके लिये सात भंग हैं इसलिये आपकी वाणी पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप वर्णन करनेवाली होनेसे आपमें ही देवपना सिद्ध करती है ॥ १३५ ॥ हे सब जीवोंका हित करनेवाले! आपकी वाणीके वे सात भंग ये हैं स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्वादस्ति च नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यादस्ति चावक्तव्यं च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च, स्यादास्तिनास्ति चावक्तव्यं च, अर्थात् कथंचित् घट है ही, कथंचित् नहीं ही है, कथंचित् दोनोंरूप ही है, दोनों स्वरूपोंको एक साथ कह नहीं सकते इसलिये कथंचित् अवक्तव्य अर्थात् वचनके अगोचर ही है, उसका अस्तित्व होकर भी अवक्तव्य होनेसे कथंचित् है और अवक्तव्य ही है, नास्तिस्वरूप होकर भी अवक्तव्य होनेसे कथंचित् नहीं और अवक्तव्य ही है तथा दोनों स्वरूप होकर भी अवक्तव्य होंनेसे कथंचित् है, नहीं और अवक्तव्य ही है, इसका भी खुलासा यह है कि प्रत्येक पदार्थमें अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन मुख्य धर्म रहते हैं इन तीनोंकी ही मिलावटसे अलग अलग सात धर्म हो जाते हैं, जैसे 'घट है' यहांपर घट और है इन दोनोंका विशेष्य विशेषण संबंध है, घटका अस्तिव घटमें ही है दूसरी जगह नहीं है क्योंकि विशेषण विशेष्यमें ही रहता है, इसीतरह घट नहीं है यहांपर घट और नास्तित्व इन दोनोंका विशेष्य विशेषण संबंध है विशेषण विशेष्यमें ही रहता है वह दूसरी जगह कभी नहीं रह सकता इसलिये नास्तित्व भी घटमें ही है, इन दोनों धर्मोंको अक्रमसे (एक साथ) कह नहीं सकते इसलिये उसमें

वाग्जालरुद्रव्यामुग्धबुद्धिषु । अश्रद्धेयमनाप्तेषु सार्वज्ञ त्वयि तिष्ठते ॥ १३७ ॥ रविः पयोधरोत्संगसुप्तरश्मिर्विकासिभिः । सूच्यतेऽब्जैर्यथा तद्वद्दैर्वा ग्विभवैर्भवान् ॥ १३८ ॥ यथाधतमसे दूरात्तर्क्यते विरुतैः शिखी । तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैराप्तोक्तिमर्हसि ॥ १३९ ॥ आस्तामाध्यात्मिकीयं ते

एक ऐसा भी धर्म है जिसके द्वारा उसे कह नहीं सकते, इस धर्मका नाम अवक्तव्य है, इन तीनोंको ही क्रम अक्रमसे कहनेसे ऊपर लिखेहुये सात भेद हो जाते हैं, चूंकि उसमें अन्य भी धर्म हैं उन सब धर्मोंका अभाव सिद्ध न हो जाय, गौणरूपसे उनकी सत्ता भी बनी रहे इसालिये प्रत्येक धर्मके साथ 'स्यात्' अर्थात् कथंचित् शब्द लगाया गया है तथा कथंचित् कहनेसे संदेह न हो जाय इसलिये उस धर्मको निश्चयरूपसे कहनेके लिये एव अथवा च शब्द लगाया गया है, इसप्रकार भगवानकी सप्तभंगस्वरूप वाणी प्रसिद्ध है ॥ १३६ ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध तथा परस्पर संबंधरहित ऐसे वचनोंके जालसे तिरस्कारको प्राप्त हुये और इसलिये ही जिनकी मुग्धबुद्धि हो रही है ऐसे अदेवोंमें श्रद्धा न करने योग्य ऐसा सर्वज्ञपना हे देव ! आपमें ही विराजमान है, भावार्थ—जो सर्वज्ञपना अन्य देवोंमें कभी नहीं हो सकता वह आपमें विराजमान है ॥ १३७ ॥ जिसप्रकार वादलोंके संबंधसे जिसकी सब किरणें छिप गई हैं ऐसा सूर्य दिखाई नहीं देता परंतु फूले हुये कमलोंसे उसका अस्तित्व जान लिया जाता है उसीप्रकार आपका सर्वज्ञपना अथवा अमूर्तस्वभाव यद्यपि देखा नहीं जाता तथापि आपकी सप्तभंगस्वरूप प्रशंसनीय वाणीकी विभूतिसे वह सिद्ध अवश्य हो जाता है ॥ १३८ ॥ अथवा जिसप्रकार अंधकारमें मोर दिखाई नहीं देता तथापि उसके बोलनेपर उसके शब्दोंसे वह दूरसे ही जान लिया जाता है उसीप्रकार आपका देवपना भी आपके स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोंसे ही सिद्ध होता है ॥ १३९ ॥ अथवा हे भगवन् ! जिसका विस्तार बहुत बडा है ऐसी इस आपकी

ज्ञानसपन्महोदया । बहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तृता त्वयि ॥ १४० ॥ परार्ध्यमासनं सैह कल्पितं सुरशिल्पिभिः । रत्नरुक्छुरितं भाति तावकं मेरुशृंगवत् ॥ १४१ ॥ सुरैरुच्छ्रितमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितं । त्रिजगत्प्राभवे चिन्हं न प्रतीमः कथं वयं ॥ १४२ ॥ चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शशत्यनन्यसामान्यमैश्वर्यं भुवनातिगं ॥ १४३ ॥ परितस्त्वत्सभां देव वर्षंत्येते सुरांबुदाः । सुमनोवर्षमुद्गंधि व्याहूतमधुपव्रजं ॥ १४४ ॥ सुरदुंदुभयो मंद्रं नदत्येते नभोगणे । सुरकिंकरहस्ताग्रताडितास्त्वज्जयोत्सवे ॥ १४५ ॥ सुरैरासेवितोपांतो जनताशोकतापनुत् । प्रायस्त्वामयमन्वेति

आत्मसंबंधी अंतरंग ज्ञानरूपी संपत्तिको रहने दीजिये आपकी यह समवसरण आदि बाह्य विभूति ही हम लोगोंको आपमें मोक्षमार्गका उपदेशपना प्रगट करती है अर्थात् आपकी बाह्य विभूतिसे ही आपमें देवपना सिद्ध होता है ॥ १४० ॥ यह देखिये देवकारीगरोंके द्वारा रचना किया हुआ और रत्नोंकी कांतिसे व्याप्त ऐसा यह आपका उत्कृष्ट सिंहासन मेरुपर्वतके शिखरके समान कैसा अच्छा शोभायमान हो रहा है ॥ १४१ ॥ देव लोग जिन्हें ऊपरकी ओर धारण किये हुये हैं ऐसे ये प्रकाशमान तीन छत्र आपकी तीनों जगतकी प्रभुताके चिन्ह हैं इसप्रकारका विश्वास हम लोगोंको क्यों न हो ? अर्थात् ऐसा विश्वास अवश्य ही होता है ॥ १४२ ॥ देवोंके द्वारा ढुलाये हुये ये आपके चमर तीनों जगतको उलंघन करनेवाला और जो आपको छोडकर अन्य किसीमें न पाया जाय ऐसे आपके सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यको प्रगट करते हैं ॥ १४३ ॥ हे देव ! ये देवरूपी बादल आपकी सभाके चारोंओर जिसकी सुगंध सब ओर फैल रही है और जो भ्रमरोंको अपनी ओर बुला रही है ऐसी फूलोंकी वर्षा वरसा रहे हैं ॥ १४४ ॥ हे प्रभो ! आपके विजयके उत्सवमें देवरूप सेवकोंके हाथोंकी उंगलियोंसे बजाये हुये देवोंके नगाडे आकाशरूपी आंगनमें कैसे गंभीर शब्दोंसे बज रहे हैं ॥ १४५ ॥ जिसके समीपभागकी देव लोग सेवा कर रहे हैं अर्थात् जिसके नीचे देव बैठे हुये हैं तथा जो समस्त जीवोंके शोक और संतापको दूर करनेवाला है ऐसा यह आपका अशो-

तवाशोकमहीरुहः ॥ १४६ ॥ त्वद्देहदीप्तयो दीप्राः प्रसरंत्यभितः सभां । धृतबालातपच्छायास्तन्वाना नयनोत्सवं ॥ १४७ ॥ दिव्यभाषा तवाशेषभाषाभेदानुकारिणी । निरस्यति मनोध्वातमवाचामपि देहिना ॥१४८॥ प्रातिहार्यमयी भूतिरियमष्टतयी प्रभो । महिमान तवाचष्टे विस्पष्ट विष्टपातिग ॥१४९॥ त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयस. । चूलिकेव विभात्युच्चैः सेव्या गधकुटी तव ॥ १५० ॥ वन्दारूणा मुनींद्राणा स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहुः । स्तोतुकामेव भक्त्या त्वा सैषा भात्यतिसंमदात् ॥ १५१ ॥ परार्घ्यरत्ननिर्माणामेनामत्यतभास्वरां । त्वामध्यासीनमानम्रा नाकभाजो भजत्यमी ॥ १५२ ॥ सशिखाम-

कवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योंकि आप भी शोक संताप दूर करनेवाले हैं और देवोंके पूज्य हैं ॥ १४६ ॥ उदय होते हुये सूर्यके समान जिसकी कांति है और जो नेत्रोंको अत्यंत आनंद देनेवाली है ऐसी अत्यंत दैदीप्यमान आपके शरीरकी कांति अर्थात् प्रभा (भामंडल) सभाके चारों ओर फैल रही है ॥ १४७ ॥ समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली यह आपकी दिव्यध्वनि पशु पक्षी आदि तिर्यच जीवोंके हृदयके अंधकारको भी दूर करती है ॥ १४८ ॥ हे प्रभो ! यह प्रातिहार्यस्वरूप आपकी आठ प्रकारकी विभूति जगतको उलंघन करनेवाली आपकी महिमाको स्पष्ट रीतिसे प्रगट करती है ॥ १४९ ॥ मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे तीन कटनी दार पीठपर [वेदीपर] सबके सेवन करने योग्य ऐसी यह आपकी ऊंची गंधकुटी मेरु पर्वतकी चूलिकाके समान बहुत ही अच्छी सुशोभित हो रही है ॥ १५० ॥ वंदना करनेवाले उत्तम मुनि जो स्तोत्र कर रहे हैं उनके शब्दोंके बार बार होनेवाली प्रतिध्वनियोंसे यह गंधकुटी ऐसी अच्छी जान पडती है मानों भक्तिसे अत्यंत हर्षित होकर आपकी स्तुति करना ही चाहती हो ॥ १५१ ॥ हे प्रभो ! बहुमूल्य रत्नोंसे बनी हुई और अतिशय दैदीप्यमान ऐसी इस गंधकुटीमें विराजमान आपकी स्वर्गमें रहनेवाले ये देव भी नम्र होकर सेवा करते हैं ॥ १५२ ॥ नमस्कार करतेहुये इन देवोंके मुकुटमें लगेहुये माणियों-सहित मस्तक ऐसे अच्छे जान पडते हैं मानों आपके चरणकमलोंके समीप दीपकसहित रत्नोंके अर्घ

णयोऽमीषां नम्राणां भाति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्घाः स्थापितास्त्वत्पदान्तिके ॥ १५३ ॥ नताना सुरकोटीना चकासत्यधिमस्तकं । प्रसादांशा इवा- लग्ना युष्मत्पादनखाऽशवः ॥ १५४ ॥ नखदर्पणसंक्रांतविंबान्यमरयोषितां । दधत्यमूनि वक्त्राणि त्वदुपाग्रयंबुजश्रिय ॥ १५५ ॥ वक्त्रेष्वमरनारीणां संधत्ते कुकुमश्रिय । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरती जपाऽरुणा ॥ १५६ ॥ गणाध्युषितभूभागमध्यवर्ती त्रिमेखलः । पीठाद्रिरयमाभाति तवाविष्कृत- मगलः ॥ १५७ ॥ प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरलंकृतः । द्वितीयोऽपि तवाऽमीभिर्दिक्ष्वष्टासु महाध्वजैः ॥ १५८ ॥ श्रीमडपनिवेशस्ते योजनप्रमि- तोऽप्ययं । त्रिजगज्जनताऽजस्रप्रावेशोपग्रहक्षमः ॥१५९॥ धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तभाः सरासि च । खातिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

ही स्थापन किये हों ॥ १५३ ॥ नमस्कार करतेहुये करोडों देवोंके मस्तकपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड रही हैं वे ऐसी जान पडती हैं मानों उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हों ॥ १५४ ॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जिनका प्रतिबिंब पड रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीप कमलोंकी शोभाको धारण करते हैं ॥ १५५ ॥ हे भगवन् ! जपाके फूलके समान लाल ऐसी यह जो आपके चरणोंके तलवोंकी कांति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखपर कुंकुमकी शोभा धारण करती है ॥ १५६ ॥ जिसने समस्त मंगलद्रव्य प्रगट किये हैं और जिसमें तीन कटनी हैं ऐसा यह बारह सभाओंकी पृथ्वीके बीचमें विराजमान आपका पीठरूपी पर्वत वहुत ही अच्छा जान पडता है ॥ १५७ ॥ इस पीठकी पहिली गोलाई अर्थात् पहिली कटिनी धर्मचक्रोंसे सुशोभित है और दूसरी कटनी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन महाध्वजाओंसे शोभाय- मान है ॥ १५८ ॥ यह आपके श्रीमंडपकी रचना यद्यपि एक योजन लंबी चौडी है तथापि तीनों जगतके जीवोंका समूह जो इसमें सदा प्रवेश करता रहता है इस सबके उपकारकोलिये यह समर्थ है भावार्थ—इसमें समस्त जीव मा सकते हैं ॥ १५९ ॥ हे देव ! यह धूलीसालकी चारोंओरकी वाड, ये मानस्तंभ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरीहुई खाई लतावनोंका समूह, ऊंचे चार चार बडे दरवाजोंसे

सालत्रितयमुत्तुगचतुर्गोपुरमंडित । मंगलद्रव्यसंदोहो निधयस्तोरणानि च ॥ १६१ ॥ नाट्यशालाद्वयं दीप्तं लसद्धूपघटीद्वयम् । वनराजिपरिक्षेपश्चैत्यद्रुमपरिष्कृत ॥ १६२ ॥ वनवेदीद्वयं प्रोच्चैर्ध्वजमालाततावनि. । कल्पद्रुमवनाभोगाः स्तूपहर्म्यावलीत्यपि ॥ १६३ ॥ सदोऽवनिरियं देव नृसुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसंदोह इवैकत्र निवेशितः ॥ १६४ ॥ बहिर्विभूतिरित्युच्चैराविष्कृतमहोदया । लक्ष्मीमाध्यात्मिकीं व्यक्त व्यनक्ति जिन तावकीं ॥ १६५ ॥ सभापरिच्छदः सोऽयं सुरैस्तत्र विनिर्मित' । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहत्यप्रतर्कितः ॥ १६६ ॥ इत्यत्यद्भुतमाहात्म्यस्त्रिजगद्वल्लभो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमानं मां पुनीतात्पूतशासन' ॥ १६७ ॥ अलं स्तुतिप्रपंचेन तवाचिंत्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति संक्षेपतः स्तुवे ॥ १६८ ॥ जयेश

सुशोभित तीनों कोट, मंगलद्रव्योंका समूह, निधियां, तोरण, प्रत्येक कोटके दरवाजेपर दैदीप्यमान दो दो नाट्यशालायें, दो दो सुंदर धूपघट, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वनकी पंक्तियोंका घेरा, दो वनवेदी, ऊंची ऊंची ध्वजाओंके समूहसे भरीहुई पृथ्वी, कल्पवृक्षोंके बनका फैलाव, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति, इसप्रकार कल्पवासी भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क मनुष्य आदि सब जीवोंको पवित्र करनेवाली यह आपकी सभाकी पृथ्वी ऐसी अच्छी जान पडती है मानों तीनों जगतकी अच्छी अच्छी सार वस्तुओंका समूह सब एक जगह ही आकर इकट्ठा हुआ हो ॥ १६०-१६४ ॥ हे जिनेंद्र ! जिसने आपकी बहुत वडी महिमा प्रगट की है ऐसी इसप्रकारकी यह आपकी भारी वाह्य विभूति आपकी अंतरंग लक्ष्मीकोभी स्पष्ट प्रगट करती है, भावार्थ—वाह्य विभूतिसे आपकी अंतरंग लक्ष्मीभी सिद्ध होती है ॥ १६५ ॥ हे नाथ ! जिसकेलिये कोई तर्क वितर्क नहीं कर सकता अर्थात् कह नहीं सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रचना की हुई आपके समवसरणकी सामिग्री आपके अतिशय वैराग्यको नाश नहीं कर सकती है ॥ १६६ ॥ इसप्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनों जगतके स्वामी हैं और जिनकी शास्त्ररूप आज्ञा पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा पूजा करनेवाले मुझे पवित्र कीजिये ॥ १६७ ॥ हे विभो ! आपकी बहुत स्तुति करना व्यर्थ है, क्योंकि आपके गुण अचिंत्य हैं उन्हें कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता, इसलिये हे ईशान आपकी जय हो, आपको

जय निर्दग्धकर्मेंधन जयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताज्जय जिन्वर ॥ १६९ ॥ जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानंतगुणोज्वल । जय विश्वजगद्बंधो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥ जयाखिलजगद्वेदिन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरा ॥१७१॥ जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमन्मथ जय जन्मजरातंकविजयिन्विजितांतक ॥ १७२ ॥ जय निर्मद निर्माय जय निर्मोह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल पुष्कळ ॥१७३॥ जय प्रबुद्धसन्मार्ग जय दुर्मार्गरोधन । जय कर्मारिमर्माविद्धर्मचक्रजयोध्दुर ॥ १७४ ॥ जयाध्वरपते यज्वन् जय पूज्य महोदय । जयोध्दुरदयाचिन्ह सद्धर्म-

---

नमस्कार हो, बस मैं संक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हूं ॥ १६८ ॥ हे ईश ! आपकी जय हो, हे कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले आपकी जय हो, हे जरारहित ! आपकी जय हो, हे तीनों लोकोंके गुरु ! आपकी जय हो, हे सबका हित करनेवाले ! आपकी जय हो और हे जयनशील ! आपकी जय हो ॥ १६९ ॥ हे लक्ष्मीके स्वामी ! जयनशील ! आपकी जय हो, हे अनंतगुणोंसे प्रकाशमान ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतके बंधु ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतका हित करनेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७० ॥ हे समस्त जगतको जाननेवाले ! आपकी जय हो, हे अनंत सुख प्राप्त करनेवाले ! आपकी जय हो, हे समस्त जगतमें श्रेष्ठ ! आपकी जय हो और हे समस्त जगतके गुरु ! आपकी जय हो ॥ १७१ ॥ हे मोहरूप शत्रुको जीतनेवाले ! आपकी जय हो, हे कामदेवको ललकारनेवाले ! आपकी जय हो, जन्म, बुढापा रोग आदि दोषोंको जीतनेवाले तथा कालको [मरणको] भी जीतनेवाले आपकी जय हो ॥ १७२ ॥ हे अभिमान रहित ! माया रहित [छलकपट रहित] आपकी जय हो, हे मोहरहित ! ममत्व रहित ! आपकी जय हो, हे मलरहित ! कलह रहित ! आपकी जय हो, हे शरीरके बंधनसे रहित ! तथा हे पूर्ण ज्ञानको धारण करनेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७३ ॥ हे मोक्षमार्गको प्रगट करनेवाले ! आपकी जय हो, हे नरक आदि खोटे मार्गको रोकनेवाले आपकी जय हो, हे कर्मरूप शत्रुके मर्मको नाश करनेवाले ! तथा धर्मचक्रके द्वारा विजय

रथसारये ॥ १७५ ॥ जय निस्तीर्णसंसारपारावार गुणाकर । जय निःशेषनिष्पीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥ १७६ ॥ नमस्ते परमानंतसुखरूपाय तायिने। नमस्ते परमानंदमयाय परमात्मने ॥ १७७ ॥ नमस्ते भुवनोद्भासिज्ञानभाभारभासिने । नमस्ते नयनानंदिपरमौदरिकत्विषे ॥ १७८ ॥ नमस्ते मस्तकन्यस्तस्वहस्ताञ्जलिकुड्मलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशैः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥ १७९ ॥ नमस्ते प्रचलन्मौलिघटिताञ्जलित्रिधनैः । नुताय मेरुशैलाग्रस्नाताय

करनेसे श्रेष्ठ ! आपकी जय हो ॥ १७४ ॥ हे पूजा प्रभावना आदि क्रियाओंके स्वामी ! हे यज्ञस्वरूप ! आपकी जय हो, हे पूज्य हे महोदय ! आपकी जय हो, हे उत्कृष्ट दयाको धारण करनेवाले ! हे सद्धर्मरूपी रथके चलानेवाले ! आपकी जय हो ॥ १७५ ॥ हे संसाररूपी समुद्रके पार जानेवाले हे गुणोंकी खानि ! आपकी जय हो, हे समस्त विद्यारूपी समुद्रको पी जाने वाले । हे प्रभो ! आपकी जय हो ॥ १७६ ॥ आप उत्कृष्ट अनंतसुखरूप हैं तथा जगतकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिये आपको नमस्कार हो, आप परम आनंदमय हैं, परमात्मा हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १७७ ॥ आप तीनों जगतको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी किरणसमूहोंसे प्रकाशमान हैं इसलिये आपकेलिये नमस्कार है तथा आपके परमौदारिक शरीरकी कांति नेत्रोंको आनंद देनेवाली है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १७८ ॥ हे नाथ ! जिससमय आपके स्वर्गसे अवतार लेनेका अर्थात् गर्भकल्याणका उत्सव मनाया था उससमय स्वर्गके इंद्रोंने अपने हाथोंकी अंजलिरूपी मुकुलित [विना खिले] कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १७९ ॥ जन्मकल्याणके समय जिन्होंने अपने नम्र हुये मस्तकपर हाथ जोडकर रक्खे हैं ऐसे उत्तम उत्तम देवोंने आपको नमस्कार किया है तथा मेरुपर्वतके अग्रभागपर आपका स्नान किया है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८० ॥ आपके दीक्षाकल्याणके उत्सवके समय जिन्होंने अपने मुकुटके समीप

सुरसत्तमैः ॥ १८० ॥ नमस्ते मुकुटोपाग्रलग्नहस्तपुटोद्धटैः । लौकांतिकैरधीष्टाय परिनिष्क्रमणोत्सवे ॥ १८१ ॥ नमस्ते स्वकिरीटाग्ररत्नग्रावांतचुंबिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलेज्याय नाकिना ॥ १८२ ॥ नमस्ते परिनिर्वाणकल्याणेपि प्रवत्स्यति । पूजनीयाय वन्हींद्रैर्ज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥ नमस्ते प्राप्तकल्याणमहेज्याय महौजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥ १८४ ॥ नमस्ते नतनाकींद्रचूलारत्नार्चिताङ्घ्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जितश्रिये ॥ ८५ ॥ नमोऽस्तु तुभ्यमिद्धर्द्धे सपर्यामर्हते परा । रहोरजोऽरिघाताच्च प्राप्ततन्नामरूढये ॥ ८६ ॥ जितांतक नमस्तुभ्य जित-

---

ही दोनों हाथ जोडकर रक्खे हैं तथा जिन्हें बडा आनंद हो रहा है ऐसे लौकांतिक देवोंने आपका सत्कार किया है इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८१ जिस समय आपको केवल ज्ञान हुआ था उससमय देवोंने अपने मुकुटके ऊपर लगे हुये रत्नोंको स्पर्श करनेवाले अपने जुडेहुये हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा आपकी पूजा की थी अर्थात् दोनों हाथ जोड मस्तकपर रखकर आपकी पूजा की थी इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८२ ॥ जिस समय आपका मोक्षकल्याणक हो रहा था उससमय जिनके करोडों मुकुट जाज्वल्यमान हो रहे हैं ऐसे वन्हिकुमार जातिके देवोंके इंद्रोंने आपकी पूजा की थी इसलिये हे देव आपको नमस्कार है ॥ १८३ ॥ गर्भकल्याण आदि पांचों कल्याणोंमें आपकी बडी भारी पूजा की गई है, तथा आप अनंत तेजको धारण करनेवाले हैं, तीनों लोकोंका समस्त राज्य आपको प्राप्त हुआ है और बडोंमेंभी आप सबसे बडे हैं, इसलिये आपको नमस्कार है ॥ १८४ ॥ नमस्कार करतेहुये स्वर्गके इंद्रोंके मुकुटमें लगे हुये रत्नोंके द्वारा आपके चरण कमलोंकी पूजा हुई है इसलिये आपको नमस्कार है तथा कर्मरूप कठिन शत्रुओंके जीतनेसे आपको अनंतचतुष्टय रूपी संपत्ति प्राप्त हुई है इसलिये आपको नमस्कार है ॥१८५॥ हे उत्कृष्ट ज्ञान ऋद्धिको धारण करनेवाले आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य हैं, रह अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण, रज अर्थात् मोहनीय और अरि अर्थात् अंतराय इन चारों घातिया कर्मोंके नाश करनेसे

मोह नमोऽस्तुते । जितानग नमस्ते स्ताद्विरागाय स्वयंभुवे ॥ ८७ ॥ त्वां नमस्यन्जनैर्नम्रैर्नम्येत सुकृती पुमान् । गां जयेजितजेतव्यस्त्वज्जयोद्घोपणात्कृती ॥ १८८ ॥ त्वत्स्तुतेः पूतवागस्मि त्वत्स्मृतेः पूतमानस. । त्वन्नतेः पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥ १८९ ॥ अहमद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफल मम । सुनिर्वृत्ते दृशौ मेऽद्य सुप्रसन्न मनोऽद्य मे ॥ १९० ॥ त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसभृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृत' ॥ १९१ ॥ त्वत्पादनखभाजालसलिलैरस्तकल्मषैः । अधिमस्तकमालग्नैरभिषिक्त इवास्म्यह ॥ १९२॥ एकतः सार्वभौमश्रीरियमप्रतिशासना ।

आपका अर्हत् अथवा अरिहंत नाम प्राप्त हुआ है इसलिये ही आपको नमस्कार हो ॥ १८६ ॥ मृत्युको सदाकेलिये जीतनेवाले हे देव ! आपके लिये नमस्कार हो, हे मोहको जीतनेवाले ! आपके लिये नमस्कार हो, हे कामदेवको जीतनेवाले ! आप वीतराग स्वयंभू हैं इसलिये आपको नमस्कार हो ॥ १८७ ॥ हे प्रभो ! जो मनुष्य आपको नमस्कार करता है उस पुण्यवान पुरुषको अनेक लोग नम्र होकर नमस्कार करते हैं तथा जो आपके विजय करनेकी घोषणा देता है वह पुण्यवान जीतने योग्य कषायोंको ज़ीतकर समस्त पृथ्वीको जीतता है ॥ १८८ ॥ हे नाथ ! आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये हैं, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर पवित्र होगया है और आपके दर्शन करनेसे मैं धन्य होगया हूं ॥१८९॥ हे प्रभो ! आज मैं कृतार्थ होगया हूं, आज मेरा यह जन्म सफल होगया है, आज ये मेरे दोनों नेत्र अत्यंत सुखी हुये हे और मेरा मन आज बहुत ही प्रसन्न हुआ है ॥ १९० ॥ हे भगवन् ! अत्यंत निर्मल और पुण्य रूप जलसे लवालव भरे हुये आपके तीर्थरूपी सरोवरमें आज मैंने बहुतदिनसे स्नान किया है इसलिये ही आज मैं पवित्र और परम सुखी हुआ हूं ॥ १९१ ॥ हे स्वामिन् ! जिसने समस्त पाप नाश कर दिये हैं ऐसा यह जो आपके चरणोंके नखोंकी कांतिका समूह रूपी जल मेरे मस्तकपर पड रहा है उससे मैं ऐसा होगया हूं मानों मेरा अभिषेक ही किया गया हो ॥ १९२ ॥

एकतश्च भवत्पादसेवा लोकैकपावनी ॥ १९३ ॥ यद्दिग्भ्रांतिविमूढेन महदेनो मयाऽर्जितं । तत्त्वत्सदर्शनाल्लीनं तमो नैशं रवेर्यथा ॥ १९४ ॥ त्वत्पद-स्मृतिमात्रेण पुमानेति पवित्रता । किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैवं सुप्रयुक्तया ॥ १९५ ॥ भगवँस्त्वद्गुणस्तोत्राद्यन्मया पुण्यमर्जितं । तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदाऽपि मे ॥ १९६ ॥ इत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिपैः सममिद्धबोधः । आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रदेशो भक्त्या ननाम करकुड्मललग्नमौलिः ॥ १९७ ॥ श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मारिचक्रजयलब्धविशुद्धबोधात् । सप्रीतिमाप परमां भरताधिराजः

हे देव ! एक ओर तो मुझे जिसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चल नहीं सकती ऐसी चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर लोकको पवित्र करनेमें अद्वितीय ऐसी आपके चरण कमलोंकी सेवा प्राप्त हुई है ॥ १९३ ॥ इन दोनोंमेंसे मैंने जो दिग्विजयके लिये भ्रमण करनेमें मुग्ध होकर महा पाप इकट्ठा किया था वह भी आपके दर्शन करनेमात्रसे इसप्रकार नष्ट होगया जैसे सूर्यके उदय होनेसे रात्रिका अंधकार नष्ट हो जाता है ॥ १९४ ॥ हे विभो ! यह मनुष्य आपके चरण कमलोंके स्मरण करनेमात्रसे पवित्र हो जाता है फिर इसप्रकार भक्ति पूर्वक अच्छीतरह की हुई आपके गुणोंकी स्तुति से भला क्यों न पवित्र होगा ? भावार्थ—वह अवश्य ही पवित्र होगा ॥ १९५ ॥ हे भगवन् आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो कुछ मैंने पुण्य प्राप्त किया है उसके संबंधसे आपके चरणकमलोंमें मेरी परम भक्ति सदा ही बनी रहे यही चाहता हूं ॥ १९६ ॥ इसप्रकार चर अचर सब जीवोंके गुरु तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे श्री वृषभदेवकी स्तुति कर आनंदके आंसुओंकी बूंदोंसे जिसने अपने सामनेका प्रदेश सब भिगोदिया है, जिसका ज्ञान स्फुरायमान हो रहा है और जिसने अपने दोनों हाथ जोडकर अपने मस्तकपर रक्खे हैं ऐसे भरतेश्वरने सब राजाओंके साथ साथ भक्तिपूर्वक भगवानको नमस्कार किया ॥ १९७ ॥ कर्मरूपी शत्रुओंके समूह को जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई है ऐसे पुराणपुरुष भगवान वृषभदेवसे अनादि कालसे चले आये पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर महा-

प्रायो वृत्तिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥ १९८ ॥ आपृच्छ्य च गुरुं ... निधीशो ... । भूयोऽनुगम्य च मुनीन्
प्रणतेन मूर्ध्ना साकेतभूमिमभिगन्तुमना बभूव ॥ १९९ ॥ भक्त्यार्पितां जिनपदाम्बुजविकासि ... सुमनोविकासां । शेषामिवैष च
पुनर्विनिवर्त्य कृच्छ्रात् चक्राधिपो जिनसभाभवनात्प्रतस्थे ॥ २०० ॥ आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिद्धां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः । पृथ्वीश्वरै-

राज भरत बहुत ही प्रसन्न हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोगोंको प्रायः अपना हित करनेमें ही संतोष होता है॥ १९८ ॥ तदनंतर नमस्कार करतेसमय कुछ कुछ हिलते हुये मुकुटके किनारेसे जिसने भगवानका पादपीठ अर्थात् तीन कटनीदार वेदी स्पर्श की है ऐसे निधियोंके स्वामी भरतने अपने पिता श्री वृषभदेवसे आज्ञा ली और फिर नम्रहुये मस्तकसे वहां विराजमान मुनियोंकी आराधना की, इतना सब कामकर फिर उसने अयोध्या जानेकी इच्छा की ॥१९९॥ भगवानके चरणकमलोंमें खिलेहुये फूलोंके द्वारा क्रमानुसार सुंदरतासे गूंथी हुई और भक्तिसे अर्पण की हुई मालाके समान मनकी प्रसन्नतासे सुंदर दिखनेवाली अपनी दृष्टि शेषा[1] समझकर ही भरतने बडी कठिनतासे वहांसे हटाई और फिर वह भगवानके समवसरणसे वाहर निकला ॥ २०० ॥ भगवानके समवसरणकी वडी भारी विभूतिको देखता हुआ और इसलिये ही जिसके दोनों नेत्र प्रफुलित होकर फट रहे हैं, जिसकी दोनों भुजायें गलनेवाली एकप्रकारकी लकडीके समान लंबी हैं, जो कुलकरोंके वंशमें ध्वजाके समान शोभायमान है और मस्तक नवाकर नमस्कार करते हुये अनेक राजा महाराजा जिसके साथ हैं ऐसा वह भरत अपने मकानके लिये लौटा ॥ २०१ ॥ पुण्यकर्मके उदयसे निधियोंके स्वामी महाराज भरतने समस्त दिशायें जीतीं तथा उनके जीतनेमें उसे साठ हजार वर्ष लगे

१ इससे यह भी सिद्ध होता है कि पूजनसे बची हुई सामग्रीको शेषा कहते हैं, पूजन करते समय सब सामग्री न चढाकर कुछ शेषाक्षत बचालेना बहुत जरूरी है वे शेषाक्षत पवित्र गिने जाते हैं।

रनुगतः प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृतत्स्वसदनं मनुवंशकेतुः ॥ २०१ ॥ पुण्योदयान्निधिपातीर्विजिताखिलाशस्तान्निर्जितो गमितपश्चिममामहस्त्रः । प्रीत्याऽभिवद्य जिनमाप परं प्रमोदं तत्पुण्यसंग्रहविधौ सुधियो यतध्वं ॥ २०२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजकैलासाभिगमनवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ३३ ।

अथ चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथावरुह्य कैलासादद्रींद्रादिव देवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद्विनीताभिमुखं कृती ॥ १ ॥ सैन्यैरनुगतो रेजे प्रयाँश्चक्री निजालयं । गागौघ इव दुर्वारः सरिदोघैरपांपतिं ॥ २ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैश्चक्रिणो बलं । अयोध्या प्रापदाबद्धतोरणा चित्रकेतना ॥ ३ ॥ चंदनद्रवसंसिक्तसुसमृष्टमहीतला ।

और फिर वह प्रेमपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी बंदना कर वहुत ही प्रसन्न हुआ, इसलिये बुद्धिमान लोगोंको पुण्यसंचय करनेमें ही सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ २०२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे महाराज भरतका कैलाश पर्वतपर जानेका वर्णन करनेवाला यह तेतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ चौंतीसवां पर्व ।

अथानंतर—जिसप्रकार इंद्र सुमेरु पर्वतसे उतरता है उसीप्रकार वह पुण्यवान चक्रवर्ती कैलाश पर्वतसे उतरा और अयोध्या जानेके लिये चलनेलगा ॥ १ ॥ अपनी सेनाके साथ साथ अपने घरकी ओर चलता हुआ वह चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानों अनेक नदियोंके साथ साथ किसीसे न रुकनेवाला ऐसा गंगाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥ २ ॥ तदनंतर कितने ही मुकामकर वह चक्रवर्तीकी सेना जिसमें अनेक तरहकी ध्वजायें फहरा रही हैं और तोरण बंधे हुये हैं ऐसी अयोध्या नगरीके समीप जा पहुंची ॥ ३ ॥ जिसकी पृथ्वी बुहारकर साफ की गई है और घिसेहुये

पुरी स्नातानुलिप्तेव सा रेजे पत्युरागमे ॥ ४ ॥ नातिदूरे निविष्टस्य प्रवेशसमये विभोः । चक्रमस्तारिचक्रं च नाक्रंस्त पुरगोपुरे ॥ ५ ॥ सा पुरी गोपुरोपातस्थितचक्रांशुरंजिता । धृतसध्यातपेवासीत्कुंकुमापिंजरच्छविः ॥ ६ ॥ सत्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिव्येव सा जज्ञे ज्वलच्चक्रा पुरः पुरी ॥७॥ ततः कतिपये देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपदे चक्रं वीक्ष्य विस्मयमाययुः ॥८॥ सुरा जातरुषः केचित्किं किमित्युच्चरद्गिरः । अलातचक्रवद्भ्रेमु करवालार्पितैः करैः ॥९॥ किमवरमणेर्बिंबमवरात्परिलंबते । प्रतिसूर्यः किमुद्भूत इत्यन्ये मुमुहुर्मुहुः ॥ १० ॥ कस्याप्यकालचक्रेण पति-

गीले चंदनसे छिडकी गई है इसप्रकारकी वह अयोध्या नगरी उससमय ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों अपने स्वामीके आनेपर उसने स्नानकर चंदनका लेप ही किया हो ॥ ४ ॥ महाराज भरतने नगरके समीप ही डेरा दिये थे वहांसे नगरमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुसमूहको नाश कर दिया है ऐसा चक्रवर्तीका वह चक्ररत्न नगरके वडे दरवाजेके वाहर ही रुक गया ॥ ५ ॥ वाहरके वडे दरवाजेके समीप ही रुके हुये चक्रकी किरणोंसे कुंकुमके समान जिसकी कांति कुछ कुछ लाल हो रही है इसप्रकारकी वह नगरी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उसने सायंकालकी लालिमा ही धारण की हो ॥ ६ ॥ सचमुच ही यह भरतेश्वर चक्रवर्तियोंमें मुख्य है इसलिये ही मानों जिसके सामनें चक्र जाज्वल्यमान हो रहा है ऐसी वह अयोध्या नगरी दिव्य शक्ति धारण की हुईके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ७ ॥ तदनंतर चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एकस्थानपर खडाहुवा देखकर आश्चर्य करने लगे ॥ ८ ॥ उनमेंसे कितने ही देव क्या है क्या है इसप्रकार चिल्लाते हुये वडे ही क्रोधित हुये और हाथमें तलवार लेकर आलातचक्रके समान उस चक्रके चारों ओर फिर रहे थे ॥ ९ ॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका विंव ही लटक पडा है ? अथवा यह कोई दूसरा सूर्य उदय हुआ है ? इसप्रकार उस चक्रको देखकर कितनेही लोग वार वार मोहित हो रहे थे ॥ १० ॥ आज यह चक्र क्रूर ग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिये अकाल चक्रके समान किसी

सव्यं विरोधिनः । क्रूरेणेव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण वक्रित ॥ ११ ॥ अथवाद्यापि जेतव्यपक्ष. कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कैश्चिदित्थं तज्ज्ञैर्वितर्कित ॥ १२ ॥ सेनानीप्रमुखास्तावत्प्रभवे तन्न्यवेदयन् । तद्वार्ताऽऽकर्णनाच्चक्री किमप्यासीत्सविस्मयः ॥१३॥ अचिंतयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थिते स्खलत्यद्य क्वचिदप्यस्खलद्गति ॥ १४ ॥ सप्रधार्यमिद तावदित्याहूय पुरोधसं । धीरो धीरतरा वाचमित्युच्चैराजगौ मनु ॥ १५ ॥ वदतोऽस्य मुखाम्भोजाद्व्यक्ताकूता सरस्वती । निर्ययौ सदलकारा शफलीव जयश्रियः ॥ १६ ॥ चक्रमाक्रांतदिक्चक्रमरिचक्रभयकरं । कस्मान्नास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यक्कृतार्करुक् ॥ १७ ॥ विश्वदिग्विजये पूर्वदक्षिणापरवार्द्धिषु । यदासीदस्खलद्वृत्ति रूप्याद्रेश्च गुहाद्वये ॥ १८ ॥ चक्र तदधुना कस्मात्स्खलत्यस्मद्-

---

शत्रुपर अवश्य ही पडेगा ॥ ११ ॥ अथवा चक्रवर्तीको अवतकभी किसी शत्रुको जीतना बाकी रह गया है इसप्रकार चक्रके रुक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग तर्क वितर्क कर रहे थे ॥ १२ ॥ सेनापति आदि कितने ही मुखिया लोगोंने यह बात भरतसे कही, भरत यह बात सुनतेही एक तरहका आश्चर्य करनेलगा ॥ १३ ॥ और सोचने लगा कि जिसकी आज्ञा कहीं भी रुक नहीं सकती ऐसे मेरे रहते हुये भी जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकी है ऐसा यह चक्र आज क्यों रुक रहा है ? इसका क्या कारण है ? ॥ १४ ॥ इसका विचार करना चाहिये यही सोचकर तुरंत ही उसने पुरोहितको बुलाया और वह धीर वीर मनु नीचे लिखे अनुसार बहुत ही गंभीर वचन कहने लगा ॥ १५ ॥ जिससमय भरत कह रहा था उससमय उसके मुखकमलसे उत्तम उत्तम अलंकारों सहित सरस्वती (वाणी) ऐसी स्पष्टरीतिसे प्रगट हो रही थी मानो जयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥ १६ ॥ भरत कहने लगा– कि जिसने सब दिशायें आक्रमण की हैं जो शत्रुओंके समूहके लिये भयंकर है और जो सूर्यकी कांतिको भी तिरस्कार करनेवाला है ऐसा यह चक्र मेरेही नगरके दरवाजेमें क्यों प्रवेश नहीं करता है ? ॥१७॥ जो चक्र समस्त देशके दिग्विजय करनेमें पूर्व दक्षिण पश्चिम समुद्रमें कहीं नहीं रुका जो विजयार्द्ध पर्वतकी दोनों गुफाओंमें नहीं रुका वही चक्र आज मेरे घरके आंगनमें ही क्यों रुक रहा है? प्रायः मुझे जीतनेकी इच्छा रखनेवाला कोई मेरे विरुद्ध शत्रु

गृहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विलब्धेन भवितव्यं जिगीषुणा ॥ १९ ॥ किमनाध्यो द्विषन्कश्चिदस्त्यस्मद्भुक्तिगोचरे । सनाभिः कोऽपि किंवाऽस्मान् द्वेष्टि दुष्टांतराशयः ॥ २० ॥ यः कोऽप्यकारणद्वेषी खलोस्मान्नाभिनन्दति । प्रायः स्खलति चेतांसि महत्स्वपि दुरात्मनाम् ॥ २१ ॥ विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु तान्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥ २२ ॥ अथवा दुर्मदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदोच्छित्त्यै नूनं चक्रेण वक्रितं ॥ २३ ॥ खल्वपेक्ष्य लघीयानप्युच्छेद्यो लघु तादृशः । क्षुद्रो रेणुरिवाक्षिस्थो रुजत्यरिरुपेक्षितः ॥ २४ ॥ बलादुद्धरणीयो हि क्षोदीयानपि कण्टकः । अनुद्धृतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो भृशं ॥ २५ ॥ चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमं । गतिस्खलनमेतस्य न विना कारणाद्भवेत् ॥ २६ ॥ ततो

ही होना चाहिये ॥ १८–१९ ॥ क्या मेरे राज्यमें ही कोई अजेय शत्रु वाकी है ? अथवा कोई दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्रका ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥ २० ॥ अथवा विनाकारण ही द्वेष करनेवाले किसी अन्य दुष्ट पुरुषको हम लोगोंकी वृद्धि सहन नहीं होती है ? सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः वडे आदमियोंपर ही दुष्ट लोगोंके हृदय विगडा करते हैं ॥ २१ ॥ दूसरे लोगोंकी वृद्धी होनेपर वडे आदमियोंके हृदयमें कभी मत्सर नहीं होता है परंतु क्षुद्र लोगोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर सदा मत्सर (डाह, ईर्षा) करते रहते हैं ॥ २२ ॥ अथवा दुष्ट अहंकारसे घिराहुआ कोई मेरे घरका ही मनुष्य मुझे नमस्कार नहीं करता है अवश्य ही उसका अहंकार दूर करनेके लिये यह चक्र रुक रहा है ॥ २३ ॥ अत्यंत छोटे शत्रुकीभी उपेक्षा करना अच्छा नहीं छोटा होकर भी यदि द्वेष करनेवाला हो तो उसका नाश अवश्य करना चाहिये क्योंकि आंखमें पडी हुई धूलिकी कणिकाके समान यदि छोटे शत्रुकी भी उपेक्षा की जायगी तो वह भी पीडा देनेवाला हो जायगा ॥ २४ ॥ कांटा यदि बहुत ही छोटा हो तथापि उसे जबर्दस्ती निकालकर बाहर फेंक देना चाहिये, क्योंकि पैरमें लगा हुआ कांटा यदि नहीं निकाला जायगा तो वह अवश्य ही दुखदेनेवाला होगा ॥ २५ ॥ यह चक्ररत्न देवोंकी शक्तियोंका उत्तम समुदाय है और चौदह रत्नोंमें सबसे मुख्य है बिना कारणके इसकी गति कभी नहीं रुक सकती ॥ २६ ॥ इसलिये हे आर्य ! इस चक्रने जो कार्य सूचित किया

नाल्पमिदं कार्यं यच्चक्रेणार्य सूचित । सूचिते खलु राज्यागे विक्रतिर्नाल्पकारणात् ॥२७॥ तदत्र कारणं चिंत्यं त्वया धीमन्निदंतया । अनिरूपितकार्याणा नेह नामुत्र सिद्धयः ॥ २८ ॥ त्वयीद कार्यविज्ञान तिष्ठते दिव्यचक्षुपि । तमसा छेदने कोऽन्य' प्रभवेदशुमालिनः ॥ २९ ॥ निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय मिताक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभवो मितभाषिणः ॥ ३० ॥ ततः प्रसन्नगंभीरपदालंकारकोमला । भारतीं भरतेशस्य प्रबोधायेति सोऽब्रवीत् ॥ ३१ ॥ अस्ति माधुर्यमस्त्योजस्तदस्ति पदसौष्टव । अस्त्यर्थानुगमो व्यक्तं यन्नास्ति त्वद्वचोमये ॥ ३२ ॥ शास्त्रज्ञा वयमेकातान्नाभिज्ञाः कार्य-

---

है वह कुछ छोटा नहीं हैं क्योंकि यह राज्यका अंग चक्र वहुत ही योग्य है, इसका विकार कुछ थोडेसे कारणसे नहीं हो सकता है ॥ २७ ॥ इसलिये हे चतुर पुरोहित ! इस चक्रके रुकनेमें क्या कारण है उसका हेतु तुम अच्छी तरह सोचो, क्योंकि बिना विचार किये हुये कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमें होती है और न परलोकमें होती है ॥ २८ ॥ तुम्हारे निमित्तज्ञान रूपी दिव्य नेत्र हैं इसलिये ऐसे कार्योंका ज्ञान तुम्हारेमें ही रहता है अर्थात् इसका कारण तुम ही जान सकते हो क्यों कि सूर्यको छोडकर अंधकार दूर करनेके लिये और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ २९ ॥ इसप्रकार वह भरत थोडेसे ही अक्षरोंमें इस निमित्तज्ञानी पुरोहितसे अपना कार्य निवेदनकर चुप हो रहा, सो ठीक ही है क्योंकि बडे लोग प्रायः थोडा ही बोलते हैं ॥ ३० ॥ तदनंतर वह पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिये अर्थको स्पष्ट रीतिसे कहनेवाले और गंभीर ऐसे पद तथा अलंकारोंसे मनोहर बचन कहने लगा ॥ ३१ ॥ जो मधुरता तेरी वाणीमें नहीं है क्या वह कहीं दूसरी जगह है? जो प्रौढता जो पदोंका लालित्य और जो स्पष्ट अर्थका बोध होना आपके बचनोंमें नहीं है क्या वह दूसरी जगह है ? अर्थात् जो आपके बचनोंमें नहीं है वह मधुरता आदि कहीं भी नहीं है ॥ ३२ ॥ हम लोग केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं, कार्यकरनेकी युक्तियोंमें निपुण नहीं हैं, हे स्वामिन् ! राजनीतिमें शास्त्रोंके प्रयोगोंको जाननेवाला भला आपके समान अन्य कौन है ॥ ३३ ॥ आप राजा-

युक्तिषु । शास्त्रप्रयोगवित्कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥ त्वमादिराजो राजर्षिस्त्वद्विद्यास्त्वदुपक्रमं । तद्विदस्तत्प्रयुञ्जाना न जिन्हीमः कथं वयं ॥३४॥ तथाऽपि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरव लोके ततः स्मो वक्तुमुद्यताः ॥ ३५ ॥ इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञशासन । नास्ति चक्रस्य विश्रातिः सावशेषे दिशा जये ॥ ३६ ॥ ज्वलदर्चिःकरालं वो जैत्रमस्त्रमिद ततः । सस्तभितमिवाव्यक्त पुरद्वारि विलंबते ॥ ३७ ॥ अरिर्मित्र-मरेर्मित्र मित्रमित्रमिति श्रुति. । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥ ३८ ॥ तथाप्यस्त्येव जेतव्यः पक्षः कोऽपि तवाधुना । योऽन्तर्गृहे कृतो-

---

ओंमें प्रथम राजा अर्थात् प्रथम चक्रवर्ती हैं, राजर्षि अर्थात् राजाओंमें भी ऋषियोंके समान श्रेष्ठ हैं यह राजविद्या अर्थात् राजनीति केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है उसी राजनीतिको जाननेवाले आपके सामने उस राजनीतिका थोडा बहुत प्रयोग करनेवाले हमलोग भला कैसे लज्जित न होंगे, अर्थात् अवश्य ही होंगे ॥ ३४ ॥ तथापि आपने जो असाधारण सत्कार किया है उससे संसारमें हम लोगों-की गौरवता बढती है वह संसारमें मेरा गौरव बढाता है इसलिये ही कुछ कहनेकेलिये मैं तैयार हुआ हूं ॥ ३५ ॥ हे देव ! निमित्तशास्त्रमें हम लोगोंनें ऐसा सुना है कि सब दिशाओंके जीत लेने-पर फिर चक्र कहीं भी नहीं रुकता है ॥ ३६ ॥ यह आपका विजयी शस्त्र जलती हुई अग्निके समान भयंकर है और इसलिये नगरके दरवाजेपर गुप्त रीतिसे स्तंभित हुयेके समान ही अटक गया है ॥ ३७ ॥ हे देव ! आपके प्रजाका शासन [पालन] करतेहुये शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रोंमें सुननेके लिये रह गयें हैं अर्थात् आपका न तो कोई शत्रु है और न कोई मित्र है सब आपके सेवक हैं ॥ ३८ ॥ तथापि जिसप्रकार उदरमें दवा हुआ कोई भयंकर रोग एक साथ प्रगट होता है उसीप्रकार अब भी आपके जीतनेके लिये आपके घरमें ही कोई बाकी रह गया है जो कि अब प्रगट हुआ है ॥ ३९ ॥ आपने यह सब बाहरका मंडल जीत-लिया है परंतु अंतर्मंडलकी विशुद्धता अर्थात् घरके लोगोंकी अनुकूलता अबतक भी कुछ नहीं हुई

स्थानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥ ३९ ॥ वहिर्मंडलमेवासीत्परिक्रांतमिदं त्वया । अतर्मंडलसशुद्धिर्मनागद्यापि जायते ॥ ४० ॥ जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युत्थिताश्च सजातीया विघाताय न नु प्रभोः ॥ ४१ ॥ स्वपक्षैरेव तेजस्वी महानप्युपरुध्यते । प्रत्यर्कमर्ककांतेन ज्वलतेदमुदाहृत ॥ ४२ ॥ विवलोऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्ण प्रतिश्रय । दड. परश्वधस्येव निवर्हयति पार्थिव ॥ ४३ ॥ भ्रातरोऽमी तवाजय्या वलिनो मानशालिन' । यवीयॉस्तेषु धौरेयो धीरो बाहुवली वली ॥ ४४ ॥ एकोनशतसख्यास्ते सोदर्या वीर्यशालिनः । प्रभोरादिगुरोर्नान्यं प्रणमाम इति स्थिता: ॥ ४५ ॥ तदत्र प्रतिकर्त्तव्यमाशु चक्रधर त्वया । ऋणव्रणाग्निशत्रूणा शेष नोपेक्षते कृती ॥ ४६ ॥ राजन् राजन्वती भूयात्त्वयैवेय वसुधरा । माभूद्राजवती तेषा भूम्ना

है ॥ ४० ॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु जीत लिये हैं तथापि आपके भाइयोंने आपको नमस्कार नहीं किया है, वे आपकी बराबरी करनेके लिये तैयार हुये हैं, वे आपके सजातीय अर्थात् भाई हैं इसलिये वे आपके द्वारा नाश करने योग्य भी नहीं हैं ॥ ४१ ॥ तेजस्वी पुरुष वडा होनेपर भी अपने पक्षवाले अर्थात् सजातीय लोगोंसे रोका जा सकता है जैसे जलती हुई सूर्यकांता मणिसे सूर्यका मंडल छिप जाता है यही इसका उदाहरण है ॥ ४२ ॥ जिस प्रकार बलरहित दंड कुल्हाडीकी तीव्र सहायता पाकर अपना जातिवाला होनेसे वृक्षको काट डालता है उसीप्रकार अपना भाई निर्वल होकर भी तीव्र सहायता पाकर राजाका नाश कर देता है ॥ ४३ ॥ अतिशय बलवान् और अभिमानी ये आपके भाई अजेय हैं और उनमेंभी अतिशय युवा (जवान) धीरवीर और बलवान् बाहुबली मुख्य है ॥ ४४ ॥ वे आपके निन्यानवे भाई बडे ही बलवान् हैं, आदिगुरु श्री वृषभदेव भगवानको छोडकर अन्य किसीको नमस्कार नहीं करेंगे यही वे निश्चय कर बैठे हैं ॥ ४५ ॥ इसलिये हे चक्रधर ! आपको इसके बदलेका उपाय बहुत शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि बुद्धिमान मनुष्य ऋण [कर्ज] घाव, अग्नि और शत्रु इनमेंसे जो थोडा भी बाकी रह जाय तो उसकी भी उपेक्षा नहीं करते हैं अर्थात् उसका भी नाश कर डालते हैं ॥ ४६ ॥ हे राजन् ! यह वसुंधरा [अनेक

द्वैराज्ये स्थिता ॥ ४७ ॥ त्वयि राजनि राजोक्तिर्देव नान्यत्र राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा बिभृयुः कथम् ॥ ४८ ॥ देव त्वामनुवर्तन्तां भ्रातरो धूतमत्सराः । ज्येष्ठस्य कालमुख्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनं ॥ ४९ ॥ त्वच्छासनहरा गत्वा सोपायमुपजप्य तान् । त्वदाज्ञानुवशान् कुर्युर्विगृह्य त्रूयुर-न्यथा ॥ ५० ॥ मिथ्यामदोद्धतः कोऽपि नोपेयाद्यदि ते वशं । स नाशयेद्धतात्मानमात्मगृह्यं च राजकं ॥ ५१ ॥ राज्यं कुलकलत्रं च नेष्टं साधारणं

रत्नोंको धारण करनेवाली) पृथ्वी आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजाके द्वारा पालन की जानेवाली हो, आपके भाई बहुत हैं इसलिये उनके संबंधसे अनेक स्वामी होनेसे जिसकी स्थिति बिगडगई है ऐसी होकर केवल नाममात्रकेलिये राजाओंके द्वारा पालन की जानेवाली न हो, भावार्थ— अनेक राजा होनेसे पृथ्वीकी स्थिति बिगड जाती है और एक ही स्वामी होनेसे उसकी स्थिति अच्छी बनी रहती है ॥ ४७ ॥ हे देव ! आप महाराज होते हुये राजा यह शब्द दूसरी जगह सुशो-भित नहीं होता, क्योंकि सिंहके रहतेहुये हरिण मृगेंद्र नामको कैसे धारण कर सकते हैं ? भावार्थ— हरिणोंके स्वामीका नाम मृगेंद्र है परंतु सिंह ही मृगेंद्र कहलाता है ॥४८॥ हे देव ! आपके भाई अपनी अपनी ईर्षा छोडकर आपके अनुकूल रहें, क्योंकि आप इस चतुर्थकालमें मुख्य हैं तथा सबसे वडे हैं इसलिये उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रानुसार है ॥४९॥ आपके दूत जाकर युक्तिके साथ वातचीत कर आपके आज्ञाकारी बनावें; यदि वे आज्ञाकारी न हों तो उनसे लडनेकेलिये कहें ॥ ५० ॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश न होगा तो वह दुख है कि अपनेको तथा उसकी सहायता करनेवाले राजाओंके समूहको भी नाश करेगा ॥ ५१ ॥ राज्य और विवाहित कुलवधूयें ये दो पुरुषोंके आधीन कभी नहीं होते हैं अर्थात् इनका भोगनेवाला एक ही होता है, जो इनका उपभोग दूसरोंके साथ साथ करता है वह मनुष्य नहीं है उसे पशु समझना चाहिये ॥ ५२ ॥ इस

द्वयं । भुक्ते सार्द्धं परैर्यस्तन्न नरः पशुरेव सः ॥ ५२ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन त्वामेत्य प्रणमतु ते । यांतु वा शरणं देवं त्रातारं जगतां जिनं ॥ ५३ ॥ न तृतीया गतिस्तेषामेषैवा द्वितयी गतिः । प्रविशतु त्वदास्थानं वनं वामी मृगैः समं ॥ ५४ ॥ स्वकुलान्युल्मुकानीव दहन्त्यननुवर्तनैः । अनुवर्तीनि तान्येव नेत्रस्यानदथु' परं ॥ ५५ ॥ प्रशांतमत्सराः शांतास्त्वा नत्वा नम्रमौलयः । सोदर्याः सुखमेधंतां त्वत्प्रसादाभिकांक्षिण. ॥ ५६ ॥ इति शासति शास्त्रज्ञे पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री चुक्रोध तत्क्षणं ॥ ५७ ॥ आरुष्टकलुषा दृष्टिं क्षिपन्दिक्षु त्वदिग्बलिं । सधूमामिव कोपाग्नेः शिखां भ्रुकुटिमुत्क्षिपन् ॥ ५८ ॥ भ्रातृभांडकृतामर्षविषवेगमिवोद्वमन् । वाक्छलेनोच्छलन्रोपाद्बभाषे परुषा गिरः ॥ ५९ ॥ किं किमाध्य दुरात्मानो भ्रातरः

विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको नमस्कार करें या जगतको रक्षा करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवकी शरण जायं ॥ ५३ ॥ आपके भाइयोंकी अन्य कोई तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपकी सेनामें आकार मिलें अथवा हिरणोंके साथ साथ वनमें जाकर रहें ॥ ५४ ॥ सजातीय लोग अर्थात् भाई भाई परस्पर विरुद्ध होकर अंगारेके समान जलाते रहते हैं और वे ही लोग एक दूसरेकी सलाहमें रहकर अर्थात् परस्पर मिलकर नेत्रोंको अतिशय आनंद देते हैं ॥ ५५ ॥ इसलिये हे देव ! ये आपके भाई परस्पर ईर्षाभाव छोड शांत होकर तथा मस्तक नवाकर आपको नमस्कार करें और आपकी प्रसन्नताकी अभिलाषा रखते हुये सदा सुखी रहें ॥ ५६ ॥ इसप्रकार शास्त्र जाननेवाले बुद्धिमान पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्तीने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार किया और वह उसी क्षणमें क्रोधित हुआ ॥ ५७ ॥ उसने क्रोधसे लाल हुई अपनी दृष्टि दिशाओंको बलि देनेके समान सब दिशाओंमें फेंकी और धूम सहित क्रोधरूपी अग्निकी शिखाके समान अपनी भ्रकुटियां ऊंची चढाई ॥ ५८ ॥ भाईरूपी मूलधनपर कियेहुये ईर्षारूपी विषके वेगको मानों वचन कहनेके वहानेसे उगलताहुआ और क्रोधसे उछलताहुआ वह चक्रवर्ती नीचेलिखे अनुसार कठिन वचन कहने

प्रणता न मा । पश्य मद्दंडचडोल्कापातात्तान् शल्कसात् कृतान् ॥ ६० ॥ अदृष्टमश्रुतं कृत्यमिदं वैरमकारणं । अवध्याः किलकुल्यत्वादिति तेषां मनीषित ॥ ६१ ॥ यौवनोन्मादजस्तेषां भटवातोस्ति दुर्मदः । ज्वलच्चक्राभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥ ६२ ॥ अकरा भोक्तुमिच्छंति गुरुदत्तामिमा तके । तत्किंभटावलेपेन भुक्तिं ते श्रावयंतु मे ॥ ६३ ॥ प्रतिशय्यानिपातेन भुक्तिं ते साधयतु वा । शिताम्रकटकोत्सगपतितागा रणागणे ॥ ६४ ॥ क्व वय जितजेतव्या भोक्तव्ये संगताः क्व ते । तथापि सविभागोऽस्तु तेषा मदनुवर्तने ॥ ६५ ॥ न भोक्तुमन्यथाकार महीं तेभ्यो ददाम्यह । कथंकार-

---

लगा ॥ ५९ ॥ हे पुरोहित ! क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे नमस्कार नहीं करते हैं ? अच्छा तो मेरे दंडरत्नरूपी प्रचंड उल्कापातसे उनके कियेहुये टुकडे टुकडे तू शीघ्र ही देख ॥ ६० ॥ हे पुरोहित ! बिना कारणके कियाहुआ यह उनका वैर देखने और सुनने योग्य नहीं है क्योंकि वे अबतक यही समझते हैं कि हम एक कुलमें उत्पन्न हुये हैं इसलिये अवध्य हैं अर्थात् मारने योग्य नहीं हैं ॥६१॥ यौवनकी उन्मत्ततासे उन्हें स्वयं योद्धा होनेका कठिन वायुका रोग हुआ है इसलिये जलतेहुये चक्रके संतापसे उत्पन्न हुआ पसीना ही उस रोगका उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिता श्रीवृषभदेवकी दी हुई पृथ्वीको बिना करदिये ही भोगना चाहते हैं और वह भी केवल योद्धापनेके अहंकारसे ही भोगना चाहते हैं, अच्छा तो वे अब मुझसे पृथ्वी लें और हम ही उसके भोगनेवाले हैं ऐसा लोगोंको सुनावें ॥६३॥ अथवा लडाईके मैदानमें कठोर शस्त्ररूपी कांटोंके ऊपर जिनका शरीर पडाहुआ है ऐसे वे मेरे भाई प्रतिशय्या अर्थात् रणशय्यापर पडकर भावार्थ—मरकर राज्यको ग्रहण करें ॥६४॥ कहां तो जीतनेयोग्य सबको जीतनेवाला मैं और कहां थोडेसे क्षेत्रमें इकट्ठे हुये अर्थात् थोडेसे क्षेत्रके स्वामी वे सबलोग ? तथापि यदि वे मेरी आज्ञानुसार चलें तो मैं उन्हें भी विभागकर अर्थात् वांटकर यह पृथ्वी दे सकता हूं ॥ ६५ ॥ इसके सिवाय और किसीतरह उनके भोगनेकेलिये यह पृथ्वी मैं नहीं दे सकता ? मैं क्या करूं यह चक्र ही उन्हें जीते बिना विश्राम नहीं लेता ॥ ६६ ॥ देखो यह भी एक बडी लोक

मिद चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये ॥६६॥ इदं महदनाख्येयं यत्प्राज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाह्वोऽपि भजते विकृतिं कृती ॥ ६७ ॥ अबाहुबलिनानेन राजकेन नतेन किं । नगरेण गरेणव भुक्तेनापोदनेन किं ॥६८॥ किं किंकरैः करालास्त्रप्रतितार्जितशात्रवैः । अनाज्ञावशमेतस्मिन्नवविक्रमशालिनि ॥६९॥ किं वा सुरभटैरेभिरुद्भटारभटीरसैः । मयैवमसमा स्पर्धां तस्मिन्कुर्वति गर्विते ॥ ७० ॥ इति जल्पति संरंभाच्चक्रपाणावुपक्रम । तस्योपचक्रमे कर्तुं पुन. रित्थ पुरोहितः ॥ ७१ ॥ जितजेतव्यता देव घोषयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वशिना हि सः ॥ ७२ ॥ बालास्ते बालभावेन

निंदाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला और विचारशील ऐसे बाहुबलीकोभी विकार हुआ है अर्थात् वह भी दुष्टता करने लगा है ॥ ६७ ॥ अथवा बाहुबलीको छोडकर अन्य सब राजपुत्रोंने आकर नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके विना विषके समान यह नगर भी मिल गया तो भी इससे क्या लाभ है ॥ ६८ ॥ जो शील पराक्रमको धारण करनेवाला बाहुबली यदि मेरी आज्ञाके वशमें नहीं हुआ तो फिर भयंकर शस्त्रोंके द्वारा शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले इन मेरे सेवकोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ६९ ॥ अथवा महा अभिमानी यह बाहुबलि जब मेरे साथ अयोग्य ईर्षा कर रहा है तब जिनमें शूरवीरता रस अत्यंत उत्कृष्ट है ऐसे इन मेरे देवरूप योद्धाओंसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ७० ॥ इसप्रकार जब वह चक्रवर्ती क्रोधसे युद्ध करनेका अभिप्राय प्रगट कर रहा था उस समय उसे शांत करनेकेलिये पुरोहितने नीचे लिखे अनुसार कहना प्रारंभ किया ॥ ७१ ॥ कि हे देव ! जीतनेयोग्य सबको जीतलिया ऐसी घोषणा करतेहुये भी आप क्रोधके वेगसे क्यों व्यर्थ ही जीतेगये ? जो जितेंद्रिय हैं उन्हें यह क्रोध तो सबसे पहिले जीतना चाहिये ॥ ७२ ॥ वे आपके भाई तो विचार रहित बालक हैं वे अपने बालस्वभावसे खोटे मार्गमें भी इच्छानुसार क्रीडा कर सकते हैं अर्थात् क्रोध मान आदि कर सकते हैं, परंतु जिसने काम क्रोध लोभ मान मद हर्ष इन छहों शत्रुओंको जीतलिया है ऐसे आपमें यह अंधकार ठहरने

वै ॥ ८५ ॥ बिभ्यता जननिर्वादादनुष्ठेयमिदं त्वया । स्थायुकं हि यशो लोके गरीयो ननु संपदः ॥ ८६ ॥ इति तद्वचनाच्चक्री वृत्तिमारभटीं जहौ । अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥ ८७ ॥ आस्तां भुजबली तावद्यत्नासाध्यो महाभुजः । शेषैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृभिस्तद्विजिह्मताम् ॥ ८८ ॥ इति निर्धार्य कार्यज्ञान् कार्ययुक्तौ विविक्तधीः । प्राहिणोत्स निसृष्टार्थान् दूताननुजसन्निधिं ॥ ८९ ॥ गत्वा च ते यथोद्देशं दृष्ट्वा तॉस्तान्यथोचितं । जगुः संदेशमीशस्य तेभ्यो दूता यथास्थितं ॥ ९० ॥ अथ ते सह संभूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानित्यूचुरारूढप्रभुत्वमदकर्कशाः ॥ ९१ ॥ यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं नोऽभिसंमतं । गुरोरसन्निधौ पूज्यो ज्यायान्भ्राताऽनुजैरिति ॥ ९२ ॥ प्रत्यक्षो गुरुरस्माकं प्रतपत्येष विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं

वश करनेका विचार छोड दिया, सो ठीक ही है क्योंकि वडे आदमियोंके चित्तकी वृत्ति उनके अनुसार मीठे और हितरूप वचन कहनेसे ही अनुकूल हो जाती है ॥ ८७ ॥ इससमय शूरवीर बाहुबलीको तो रहने दीजिये क्योंकि वह प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकेगा, हां शेष भाइयोंके द्वारा उसकी कुटिलताकी परीक्षा करूंगा ॥ ८८ ॥ इसप्रकार निश्चयकर कार्य करनेकी युक्तियोंमें जिसकी बुद्धि कभी मोहित नहीं होती ऐसे भरतने कार्यको जाननेवाले और जिन्होंने लेख और जवानी कहनेकी सब बाते समझ लीं हैं ऐसे दूतोंको अपने छोटे भाइयोंके समीप भेजा ॥ ८९ ॥ वे दूत भरतकी आज्ञानुसार उनके समीप गये और उन्होंने उनकी योग्यताके अनुसार भरतकी भेजी हुई भेट देकर उनके दर्शन किये तथा भरतके कहे हुये सब समाचार उनसे कहे, तदनंतर वे सब भाई मिलकर ' क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये ' इसकी परस्पर सलाहकर प्राप्त हुये राजपनेके अहंकारसे जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे राजकुमार दूतोंसे इसप्रकार कहने लगे ॥ ९१ ॥ कि जो भरत चक्रवर्तीने कहा है वह सत्य है और हम लोगोंको स्वीकार है क्योंकि पूज्य पिताके न होते हुये छोटे भाइयोंको वडा भाई ही पूज्य है ॥ ९२ ॥ परंतु समस्त संसारको देखने जाननेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विजयी होते हुये विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं यह हमारा ऐश्वर्य उन्हींका दिया

हि नः ॥ ९३ ॥ तदत्र गुरुपादाज्ञातंत्रा न स्वैरिणो वयं । न देयं भरतेशेन नादेयमिह किंचन ॥ ९४ ॥ यत्तु नः संविभागार्थमिदमामंत्रणं कृतं । चक्रिणा तेन सुप्रीता प्रीणाश्च वयमागलात् ॥ ९५ ॥ इति सत्कृत्य तान्दूतान् सन्मानैः प्रभुवत्प्रभौ । विहितोपायनाः सद्य प्रतिलेखैर्व्यसर्जयन् ॥९६॥ दूतसात्कृतसन्मानां. प्रभुसात्कृतवीचिका । गुरुसात्कृत्यतत्कार्य प्रापुस्ते गुरुसन्निधिं ॥९७॥ गत्वा च गुरुमद्राक्षुर्मितोचितपरिच्छदा । महागिरिमिवोत्तुग कैलासशिखरालय ॥९८॥ प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निद वाक्य कुमारा मारविद्विप ॥ ९९ ॥ त्वत्तः स्मो लब्धजन्मानस्त्वत्त'

हुआ है ॥ ९३ ॥ इसलिये हमलोग यहां रहते हुये भी पिताके चरणकमलोंकी आज्ञाके आधीन हैं स्वतंत्र नहीं हैं, इस संसारमें हमें भरतेश्वरके साथ न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥ ९४ ॥ तथा चक्रवर्तीने विभाग कर देनेकेलिये जा हमको यह बुलाना दिया है अर्थात् वुलाया है उससे हम लोग वहुत संतुष्ट हुये हैं तथा गलेतक तृप्त हो गये हैं ॥ ९५ ॥ इसप्रकार राजाओंको करने योग्य आदर सत्कारके द्वारा उन दूतोंका सत्कार कर तथा भरतकेलिये अनेक तरहकी भेंट देकर और आये हुये पत्रका उत्तर लिखकर राजकुमारोंने उन दूतोंको शीघ्र ही विदा किया ॥ ९६ ॥ दूतोंका आदर सत्कार कर तथा भरतके लिये उत्तर देकर और भरतके कार्यको पूज्य पितापर सोंपकर वे सब राजकुमार पूज्य पिताके समीप जा पहुंचे ॥ ९७ ॥ जिनके समीप थोडी और उचित सामिग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने महा मेरु पर्वतके समान कैलाशके शिखरपर विराजमान भगवान वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥ ९८ ॥ उन्होंने विधि पूर्वक नमस्कार किया, विधि पूर्वक पूजन की और फिर वे राजकुमार कामदेवको नाश करनेवाले भगवान वृषभदेवसे नीचे लिखे वाक्योंमें प्रार्थना करनेलगे ॥९९॥ कि हे देव ! आपसे ही हम लोगोंने जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पाई है और अव भी आपकी प्रसन्नताकी ही इच्छा रखते हैं अव हम आपको छोडकर अन्य किसीकी उपासना करना नहीं चाहते ॥ १०० ॥ इस संसारमें लोग " यह पिताजीका प्रसाद है " इसप्रकार केवल कहते हैं

प्राप्ताः परां श्रियं । त्वत्प्रसादैषिणो देव त्वत्तो नान्यमुपास्महे ॥ १०० ॥ गुरुप्रसाद इत्युच्चैर्जनो वक्तीदं केवलं । वयं तु तद्रसाभिज्ञास्त्वत्प्रसादोर्जि-
ताश्रियः ॥ १०१ ॥ त्वत्प्रणामानुरक्तानां त्वत्प्रसादाभिकांक्षिणां । त्वद्वच.किंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु नापर ॥ १०२ ॥ इति स्थिते प्रणामार्थं
भरतोऽस्मान् जुहूषति । तदत्र कारणं विद्मः किं मदः किंतु मत्सरः ॥ १०३ ॥ युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्ललितं शिर । नान्यप्रणमने देव धृतिं
बध्नाति जातु नः ॥ १०४ ॥ किमंभोजरजःपुंजपिंजरं वारि मानसे । निपेव्य राजहंसोऽयं रमतेऽन्यसरोजले ॥ १०५ ॥ किमप्सरःशिरोजांतसुमनो
गंधलालितः । तुंबीवनातमभ्येति प्राणांतेऽपि मधुव्रतः ॥१०६॥ मुक्ताफलाच्छमापीय गगनांबु नवांबुदात् । शुष्यत्सरोंबु किं वाञ्छेदुदन्यन्नपि चातकः ॥१०७॥

परंतु आपके प्रसादसे ही जिन्हें संपत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग तो इस वाक्यके मर्मको बहुत
अच्छी तरह अनुभव कर चुके हैं ॥ १०१ ॥ आपको प्रणाम करनेमें तल्लीन, आपकी प्रसन्नताकी
आकांक्षा करनेवाले और आपके वचनके ही सेवक ऐसे हम लोगोंका चाहे जो हो परंतु अब हम
किसी दूसरेको स्वामी बनाना नहीं चाहते ॥ १०२ ॥ ऐसा होनेपर भी महाराज भरत हम लोगोंको
प्रणाम करानेके लिये बुलाता है, इसमें क्या कारण है ? भरतका अहंकार है ? अथवा वह हमसे ईर्षा
करता है सो हम लोग कुछ नहीं जानते ॥ १०३ ॥ हे देव ! यह हमारा मस्तक आपको प्रणाम कर-
नेके अभ्याससे उत्पन्न हुये आनंदके वश हो रहा है सो अब यह अन्य किसीको प्रणाम करनेकेलिये
कभी भी इच्छा नहीं करता है ॥ १०४ ॥ क्या यह राजहंस जो मानस सरोवरमें कमलोंकी परागके
समूहसे कुछ कुछ पीले हुये जलकी सेवा कर चुका है वह क्या अब किसी अन्य सरोवरके जलमें
क्रीडा करेगा ? ॥ १०५ ॥ क्या देवांगनाओंके केशोंमें लगे हुये फूलोंके सुगंधसे संतुष्ट हुआ भ्रमर
प्राण जानेपर भी तूंबीके वनमें जाता है ? ॥ १०६ ॥ अथवा जो चातक नये बादलसे गिरे हुये
मोतियोंके समान स्वच्छ ऐसे आकाशके अधर पानीको पी चुका है वह क्या खूब प्यासा होकर भी
सूखते हुये किसी सरोवरके मैले पानीके पीनेकी इच्छा करेगा ? ॥ १०७ ॥ इसप्रकार जिनके मस्तक

इति युष्मत्पदाब्जन्मरजोरंजितमस्तकाः । प्रणंतुमसदाप्तानामिहामुत्र च नेश्महे ॥ १०८ ॥ परप्रणामविमुखीं भयसंगविवर्जितां । वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पार्श्वमुपागताः ॥ १०९ ॥ तदेव कथयास्माकं हितं पथ्यं च वर्त्म यत् । येनेहामुत्र च स्यामस्त्वद्भक्तिदृढवासनाः ॥ ११० ॥ परप्रणामसजातमानभंगभयातिगा । पदवीं तावकीं देव भवेमहि भवे भवे ॥१११॥ मानखडनसंभूतपरिभूतिभयातिगाः । योगिनः सुखमेधंते वनेषु हरिभिः समं ॥११२॥ ब्रुवाणानिति साक्षेपं स्थापयन्पथि शाश्वते । भगवानिति तानुच्चैरन्वशादनुशासिता ॥ ११३ ॥ महामाना वपुष्मंतो वयस्सत्त्वगुणान्विताः । कथमन्यस्य

आपके चरण कमलोंकी परागसे रंग रहे हैं ऐसे हम लोग इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें आप्त रहित ऐसे देव मनुष्योंको नमस्कार करनेके लिये तैयार नहीं हैं ॥ १०८ ॥ इसलिये जिसमें किसी अन्य अदेवको नमस्कार नहीं करना पडता और जो भयके संवंधसे सदा रहित है ऐसी वीर-दीक्षा धारण करनेकेलिये हम लोग आपके समीप उपस्थित हुये हैं ॥ १०९ ॥ इसलिये हे देव ! जो मार्ग कल्याण करनेवाला और सुख देनेवाला है वह हम लोगोंको कहिये कि जिससे हम लोगोंमें इस-लोक और परलोक दोनों लोकोंमें आपकी भक्तिकी मजबूत वासना भर जाय ॥ ११० ॥ हे देव ! जिसमें अन्यको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुये मानभंगका भय बिल्कुल नहीं है ऐसी आपकी पदवी हम लोगोंको जन्म जन्ममें प्राप्त हो ॥ १११ ॥ जो मानके खंडन होनेसे उत्पन्न हुये तिरस्कारके भयसे सर्वदा रहित है ऐसे योगी लोग वनोंमें सिंहोंके साथ विहार करते हुये सदा सुखी रहते हैं ॥ ११२ ॥ इसप्रकार तिरस्कार पूर्वक कहते हुये उन राजकुमारोंको विनाशरहित ऐसे मोक्षमार्गमें स्थापन करते हुये जगतगुरु भगवान वृषभदेव इसप्रकार उपदेश देने लगे ॥ ११३ ॥ कि अतिशय मान और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य बल और गुणोंसे विभूषित ऐसे तुम लोग भद्र [उत्तम] हाथीके समान दूसरेके सेवक कैसे हो सकोगे ॥ ११४ ॥ हे राजकुमारो ! अवश्य नाश होनेवाले इस राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा इस चंचल जीवितसे क्या प्रयोजन है और ऐश्वर्य तथा वलको दूषित

सेवाद्या यूय भद्रा द्विपा इव ॥ ११४ ॥ भगिना किमु राज्येन जीवितेन चलेन ।किं । किं च भो यौवनोन्मादैरैश्वर्यबलदूपिते ॥ ११५ ॥ किं बलैर्ब-लिना गम्यैः किं हार्यैर्वस्तुवाहनैः । तृष्णाग्निबोधनैरेभिः किं धनैरिंधनैरिव ॥ ११६ ॥ मुक्त्वाऽपि सुचिरं कालं यैर्न तृप्ति क्रम परं । विपवैस्तैरलं मुक्तैर्विषमिश्रैरिवाशनैः ॥ ११७ ॥ किं च भो विपयास्वाद. कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति व. । स एव पुनरास्वाद किं तेनास्त्यभिनभव ॥ ११८ ॥ यत्र शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रबाधवः । कलत्र सर्वभोगीणा धरा राज्य धिगीदृश ॥ ११९ ॥ भुनक्तु नृपशार्दूलो भरतो भरतावनिं । यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्राल वोऽतितिक्षया ॥ १२० ॥ तेनाऽपि त्याज्यमेवेदं राज्य भगि यदातना । हेतोरशाश्वतस्यास्य युध्यध्वे बत किं मुधा ॥ १२१ ॥ तदलं स्पर्द्धया

करनेवाली इस यौवनकी उन्मत्ततासे भी क्या प्रयोजन है ॥ ११५ ॥ वलवान लोग जिसका तिरस्कार कर सकते हैं ऐसी सेनासे भी क्या प्रयोजन है तथा जो चोरीमें जा सकते हैं ऐसे सोना चांदी हाथी घोडा रथ पालकी आदि वस्तुओंसे भी क्या प्रयोजन हैं और इंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको वढानेवाले ऐसे धनसे भी क्या प्रयोजन निकलता है ? ११६ ॥ वहुत दिनतक भोगकर भी जिनसे कभी तृप्ति नहीं होती उलटा अधिक परिश्रम होता है ऐसे विप मिले हुये अन्नके समान वे भोगेहुये विषय अव पूर्ण हों ॥ ११७ ॥ हे पुत्रो ! तुमने जिसका कभी उपभोग नहीं किया है क्या ऐसा कोई भोग उपभोग संसारमें वाकी है ? ये सव भोग उपभोग वे ही हैं जिन्हें तुम अनेक वार भोग चुके हो, फिर भला तुम्हें इनसे तृप्ति कैसे हो सकती है ? ॥ ११८ ॥ जिसमें पुत्र भाई आदि सव शत्रु हो जाते हैं, शस्त्र ही मित्र वनाने पडते हैं और सवके भोगनेयोग्य ऐसी पृथ्वी ही स्त्री प्राप्त होती है ऐसे इस राज्यको भी धिकार हो ॥ ११९ ॥ जवतक पुण्यका उदय है तवतक सव राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतको इस भरतक्षेत्रकी पृथ्वीका उपभोग करने दो, इसमें तुम लोग क्यों क्रोध करते हो ॥१२०॥ वह भरत भी इस विनश्वर राज्यको कभी न कभी अवश्य ही छोडेगा इसलिये खेदके साथ कहना पडता है कि अवश्य नष्ट होनेवाले इस राज्यके लिये व्यर्थ ही तुम लोग क्यों लडते हो ॥ १२१ ॥

दध्व यूय धर्ममहातरोः । दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिमहाफल ॥ १२२ ॥ पराराधनदैन्योनं परैराराध्यमेव यत् । तद्धां महाभिमानाना तपो मानाभिरक्षण ॥ १२३ ॥ दीक्षा रक्षा गुणा भृत्या दयेय प्राणवल्लभा । इति ज्यायस्तपोराज्यमिद श्लाघ्यपरिच्छद ॥ १२४ ॥ इत्याकर्ण्य विभोर्वाक्यं पर निर्वेदमागताः । महाप्राव्राज्यमास्थाय निष्क्रातास्ते गृहाद्वनं ॥ १२५ ॥ निर्दिष्टा गुरुणा साक्षाद्दीक्षा नववधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपार्थिवाः ॥ १२६ ॥ या कचग्रहपूर्वेण प्रणयेनातिभूमिगा । तस्या' पाणिद्वर्या प्राप्य सुखमतरुपागताः ॥ १२७ ॥ तपरतीव्रमथासाद्य ते चकासुर्नृपर्षयः ।

इसलिये ईर्षा करनसे कुछ लाभ नहीं है तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो सदा प्रफुलित रहता है और जिसपर मोक्ष रूपी महाफल लगता है ॥ १२२ ॥ जो दूसरेकी सेवा करनेसे उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है और अन्य लोग जिसकी सेवा अवश्य करते हैं ऐसा तपश्चरण धारण करना ही महा अभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोंके अभिमानकी रक्षा करनेवाला है ॥ १२३ ॥ जिसमें दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, मूलगुण और उत्तर गुण ही सेवक हैं और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इसप्रकार जिसकी सब सामिग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपश्चरण रूपी राज्य ही सबसे श्रेष्ठ है ॥ १२४ ॥ इसप्रकार भगवान वृषभदेवके वाक्य सुनकर उन राजकुमारोंको बडा वैराग्य हुआ और वे महा दीक्षा धारणकर घर छोडकर वनको चले गये ॥ १२५ ॥ भगवान वृषभदेवके द्वारा कही हुई दीक्षाको साक्षात् नई स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अच्छे जान पडते थे ॥ १२६ ॥ जिसप्रकार कोई राजकन्या केश पकडकर बडे प्रणयके साथ समीप आती है उसीप्रकार जिसमें पहिले केशलोंच करना पडता है और उत्तम नयोंसे अर्थात् शुद्ध नयोंसे काम लेना पडता है ऐसी समीपमें आई हुई दीक्षाके दोनों हाथ पाकर अर्थात् उसे ग्रहणकर वे राजकुमार अंतःकरणमें बडे ही सुखी हुये ॥ १२७ ॥

स्वतेजोरुद्धविश्वाशा ग्रीष्मममर्काशवो यथा ॥ १२८ ॥ तेऽतितीव्रैस्तपोयोगैस्तनूभूतां तनु दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णामिव दीप्तां तपोगुणैः ॥ १२९ ॥ स्थिताः सामयिके वृत्ते जिनकल्पविशेषिते । ते तेपिरेतपस्तीव्रं ज्ञानशुद्ध्युपबृंहितं ॥ १३० ॥ वैराग्यस्य परां काष्ठामारूढास्ते युवेश्वराः । स्वसाच्चक्रुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुत्सुकाः ॥ १३१ ॥ तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता मुक्तिलक्ष्म्यां कृतस्पृहाः । ज्ञानसंपत्प्रशक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥ १३२ ॥ द्वादशांगश्रुतस्कंधमधीत्यैते महाधियः । तपोभावनयात्मानमलंचक्रुः प्रकृष्टया ॥ १३३ ॥ स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽक्षाणां विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायाधियमादधुः ॥ १३४ ॥ आचारांगेन निःशेषं साध्वाचारमवेदिषुः । चर्याशुद्धिमतो भेजुरतिक्रमविवर्जिताम् ॥ १३५ ॥ ज्ञात्वा सूत्रकृत

अथानंतर–जिसप्रकार गरमीमें सूर्यकी किरणें दैदीप्यमान होती हैं उसीप्रकार वे उत्तम ऋषि राजकुमार तीव्र तपश्चरण धारणकर अपना तेज सब दिशाओंमें फैलाते हुये बडे ही दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ १२८ ॥ अत्यंत तीव्र तपश्चरणके संबंधसे उनका शरीर अत्यंत कृश होकर भी तपश्चरणके गुणोंसे अत्यंत दैदीप्यमान होगया था और ऐसा जान पडता था मानों तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा गया ही हो ॥ १२९ ॥ वे लोग जिनकल्प नामके सामयिक चारित्रमें तल्लीन हुये और ज्ञानकी विशुद्धतासे अत्यंत वृद्धिको प्राप्त हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥ १३० ॥ वे तरुण राजकुमार वैराग्यको प्राप्त हुये और राज्यलक्ष्मीकी इच्छा छोडकर उन्होंने तपश्चरणरूपी लक्ष्मी अपने वश की ॥१३१॥ वे राजकुमार तपश्चरणरूपी लक्ष्मीके द्वारा आलिंगन किये जा रहे थे, मुक्ति लक्ष्मीके प्राप्त होनेकी इच्छा कर रहे थे, और ज्ञानरूपी संपत्तिमें आसक्त हो रहे थे इसप्रकार वे राज्यलक्ष्मीको बिल्कुल भूलगये थे ॥ १३२ ॥ उन महा बुद्धिमानोंने द्वादशांग श्रुतस्कंधका अध्ययन किया था और उत्तम तपश्चरणकी भावनासे आत्माको सुशोभित किया था ॥ १३३ ॥ स्वाध्याय करनेसे मन वश हो जाता है और मन वश होजानेसे इंद्रियोंका निग्रह होता है, यही समझकर उन धीर वीर राजकुमारोंने अपनी बुद्धि स्वाध्याय करनेमें लगाई थी ॥ १३४ ॥ आचारांगका स्वाध्यायकर उन्होंने मुनियोंके समस्त

सूक्तं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः । धर्मक्रियासमाधाने ते दधुः सूत्रधारताम् ॥ १३६ ॥ स्थानाध्ययनमध्यायशतैर्गंभीरमब्धिवत् । विगाह्य तत्त्वरत्नानामयुस्ते भेदमञ्जसा ॥ १३७ ॥ समवायाख्यमंगं ते समधीत्य सुमेधसः । द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायमबुद्धत ॥ १३८ ॥ स्वभ्यस्तात्पंचमादंगाद्व्याख्याप्रज्ञप्तिसंज्ञितात् । साध्ववादीधरन् धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी ॥ १३९ ॥ ज्ञात्वा धर्मकथां सम्यग्बुद्ध्वा बोधूनबोधयन् । धर्म्यां कथामसंमोहात्ते यथोक्तां महर्षिणा ॥ १४० ॥ तेऽधीत्योपासकाध्यायमंगं सप्तममूर्जितं । निखिलं श्रावकाचारं श्रोतृभ्यः समुपादिशन् ॥ १४१ ॥ तथांतकृद्दशादंगात् मुनीनंतकृतो दश । तीर्थंप्रति विदामासुः सोढासह्योपसर्गकान् ॥ १४२ ॥ अनुत्तरविमानौपपादिकान्दश तादृशान् । शमिनो नवमादंगाद्विदांचक्रुर्विदांवरा ॥ १४३ ॥

आचरण जाने और आचरण जानकर अतिचार रहित शुद्ध चारित्र धारण किया ॥१३५॥ सूत्रकृत नामके दूसरे समस्त अंगको शब्द और अर्थ दोनों तरहसे अर्थात् अर्थसहित जानकर धर्मक्रियाओंके धारण करनेमें सवसे अग्रेसर (मुख्य) हुये ॥ १३६ ॥ समुद्रके समान सैकडों अध्यायोंसे गंभीर ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अंगमें प्रवेशकर अर्थात् उसे जानकर उन्होंने तत्त्वरूपी रत्नोंके भेद वहुत शीघ्र जान लिये ॥ १३७ ॥ उन सुबुद्धिमान मुनियोंने समवाय नामका चौथा अंग पढा और उससे उन्होंने समस्त द्रव्योंका समूह अच्छी तरह जान लिया ॥१३८॥ उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति नामका पांचवां अंग पढा और उसे पढकर उन धीर वीर पुरुषोंने अनेक तरहके प्रश्न उत्तर अच्छी तरह जानलिये ॥१३९॥ उन्होंने धर्मकथा नामका छट्ठा अंग पढा और उसे अच्छी तरह जानकर बडे वडे ऋषियोंके द्वारा कही हुई धर्म संबंधी कथायें न जाननेवाले लोगोंको बिना किसी गलतीके समझाई ॥ १४० ॥ बहुत सुंदर ऐसा उपासकाध्ययन नामका सातवां अंग भी उन्होंने पढा और फिर श्रोताओंके लिये पूर्ण श्रावकाचारका उपदेश दिया ॥ १४१ ॥ अंतकृतदश नामका आठवां अंग पढकर प्रत्येक तीर्थंकरके समयमें असह्य उपसर्गोंको जीतकर होनेवाले अंतकृत मुनियोंका हाल जानलिया॥१४२॥ ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ ऐसे उन राजकुमारोंने अनुत्तर विमानौपपादिक नामका नौवां अंग पढकर असह्य उपसर्गोंको जीतकर

प्रश्नव्याकरणात्प्रश्नमुपादाय शरीरिणां । सुखदु.खादिसम्प्राप्तिं व्याचक्रुस्ते समाहिता. ॥ १४४ ॥ विपाकसूत्रनिर्ज्ञातसदसत्कर्मपक्तय. । बद्धकक्षास्तदुच्छित्तौ तपश्चक्रुरतन्द्रिताः ॥ १४५ ॥ दृष्टिवादेन निर्ज्ञातदृष्टिभेदा जिनागमे । ते तेनु' परमा भक्तिं पर संवेगमाश्रिता. ॥ १४६ ॥ तदतर्गतानि.शेषश्रुतत्त्वावधारिण. । चतुर्दशमहाविद्यास्थानान्यध्यैषत क्रमात् ॥१४७॥ ततोऽमी श्रुतनि:शेषश्रुतार्था. श्रुतचक्षुष. । श्रुतार्थभावनोत्कर्षाद्दधु. शुद्धिं तपोविधौ ॥ १४८ ॥ वाग्देव्या सममालापो मया मौनमनारत । इतीर्ष्यतीव सताप व्यधतैषु तप.क्रिया ॥ १४९ ॥ तनुतापमसह्य ते सहमाना मनस्विन. ।

अनुत्तर विमानमें उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक तीर्थंकरके समयके दश दश मुनियोंका हाल जाना ॥१४३॥ प्रश्नव्याकरण नामका दशवां अंग पढकर वे शुद्ध अंतःकरणवाले मुनि जीवोंके सब प्रश्न समझकर उनके सुख दुःख आदिकी प्राप्तिका वर्णन करने लगे ॥ १४४ ॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवें अंगसे उन्होंने समस्त शुभ अशुभ कर्मकी प्रकृतियां जानीं और फिर उनके नाश करनेके लिये आलस रहित तैयार होकर तपश्चरण करने लगे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवें अंगसे उन्होंने समस्त मत मतातरोंके भेद जाने और फिर वे अत्यंत विरक्त होकर जिनागममें उत्कृष्ट भक्ति करनेलगे ॥ १४६ ॥ बारहवें अंगके अंतर्गत समस्त श्रुतज्ञानसे तत्त्वोंका निश्चय करनेवाले उन मुनियोंने महाविद्याके चौदह स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोंको भी क्रमसे पढा ॥ १४७ ॥ तदनंतर श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने समस्त पदार्थ जान लिये हैं तथा श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे राजकुमार अर्थरूप श्रुतज्ञानकी उत्कृष्ट भावनासे अपने तपश्चरणमें बहुत ही शुद्धि धारण करने लगे ॥ १४८ ॥ सरस्वती देवीके साथ तो निरंतर बात चीत करते रहते हैं और मेरे साथ सदा मौन धारण करते हैं इसप्रकारकी ईर्षा करती हुई ही मानों तपश्चरणरूपी क्रिया उन्हें बहुत संताप देती थी, भावार्थ—उन्होंने अपना तपश्चरण बहुत बढा लिया था ॥ १४९ ॥ असह्य कायक्लेश सहन करते हुये वे मुनिलोग बहुत दिनतक बाह्य और अंतरंग दोनों प्रकारका कठिन तपश्चरण करने लगे ॥ १५० ॥ गरमियोंके दिनोंमें पर्वतों-

वाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥ १५० ॥ ग्रीष्मेऽर्ककरसंताप सहमानाः सुदुःसह । ते भेजुरातपस्थानमारूढगिरिमस्तकाः ॥१५१ ॥ शिलातलेषु तप्तेषु निवेशितपदद्वयाः । प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रग्रावगोचरे ॥ १५२ ॥ तत्पाशुचिता भुमिर्दावदग्धा वनस्थली । याता जलाशयाः शोष दिशो धूमाधकारिता. ॥ १५३ ॥ इत्यत्युग्रतरे ग्रीष्मे सप्लुष्टगिरिकानने । तस्थुरातपयोगेन ते सोटजरठातपाः ॥ १५४ ॥ मेघावकारिताशेषदिक्चक्रे जलदागमे । योगिनो गमयंति स्म तरुमूलेषु शर्वरीः ॥ १५५ ॥ मुसलस्थूलधाराभिर्वर्षत्सु जलवाहिषु । निशामनैपुरव्यथ्या वार्षिकीं ते महर्षयः ॥१५६॥ ध्यानगर्भगृहान्तःस्था धृतिप्रावारसंवृताः । सहते स्म महासत्वास्ते वनाघनदुर्दिन ॥ १५७ ॥ ते हिमानीपरिक्लिष्टा तनुयष्टिं हिमागमे । दधुरभ्रावकाशेषु

के शिखरपर चढकर अत्यंत असह्य ऐसे सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुये वे अधिक गरमीके स्थानमें जा पहुंचते थे ॥ १५१ ॥ पर्वतके शिखरकी ऊपरकी चट्टानकी गर्म हुई पत्थरकी शिलापर अपने दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजायें लटकाकर खडे होते थे ॥ १५२ ॥ जिस गर्मऋतुमें समस्त पृथ्वी सूर्यकी किरणोंसे गर्म हुई धूलिसे भर रही है, वन सब दावानल अग्निसे जल गये हैं, तालाव सब सूख गये हैं, दिशायें सब धूएंसे अंधेरी हो रही हैं इसप्रकारके अत्यंत कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन सब जलगये हैं ऐसी ग्रीष्म ऋतुमें तीव्र संताप सहन करते हुवे वे मुनि आतापन योग धारणकर खडे होते थे ॥ १५३–१५४ ॥ जिसमें वादल छा जानेसे सव दिशाओंके समूहमें अंधकार फैल गया है ऐसी वर्षाऋतुमें वे मुनि वृक्षोंके नीचे ही अपनी सव रात्रियां व्यतीत करते थे ॥ १५५ ॥ जिस समय वादलसे मूसलके समान मोटी धाराओंसे पानी वरसता था उस समय भी वे मुनि निश्चल होकर उन वर्षाऋतुकी रात्रियोंको व्यतीत करते थे ॥ १५६ ॥ ध्यान रूपी गर्भगृह अर्थात् भीतरी घरमें निवास करनेवाले तथा संतोष रूपी भारी वस्त्रको ओढे हुये वे महा वलवान मुनि वादलोंसे ढके हुये दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥ १५७ ॥ जाडेके दिनोंमें मौन धारण कर छायारहित चौपटेमें शयन करते हुये वे कुमार वर्फके समूहसे अत्यंत दुखी हुये अपने शरीरको

शयाना मौनमास्थिताः ॥ १५८ ॥ अनग्नमुषिता एव नग्नास्तेऽनाग्निसेविनः । धृतिसंवर्मितैरंगैः सेहिरे हिममारुतान् ॥ १५९ ॥ हिमानीषु त्रियामासु स्थगितास्ते हिमोच्चयैः । प्रावारितैरिवांगैः स्वैर्धीराः स्वैरमशेरत ॥ १६० ॥ त्रिकालविषय योगमास्थायैव दुरुद्वह । सुचिरं धारयति स्म धीरास्ते धृतियोगतः ॥ १६१ ॥ दधानास्ते तपस्तापमतर्दीप्त दुरासद । रेजुस्तरगितैरंगैः प्रायोऽनुकृतवार्द्धयः ॥ १६२ ॥ ते स्वभुक्तोज्झित भूयो नैच्छन् भोग-परिच्छद । निर्भुक्तमाल्यनिःसार मन्यमाना मनीषिणः ॥ १६३ ॥ फेनोर्मिहिमसंध्याभ्रचल जीवितमगिनां । मन्वाना दृढमासक्तिं भेजुस्ते पथि शाश्वते ॥ १६४ ॥ ससारावासनिर्विण्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैने मार्गे विमुक्त्यगे ते परा धृतिमादधुः ॥ १६५ ॥ इतोऽन्यदुत्तर नास्तीत्यारूढ-

---

लकडीके समान निश्चल धारण करते थे ॥ १५८ ॥ वे कुमार नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे सदा वस्त्रसे ढके हुये के समान निराकुल रहते थे और धैर्य रूपी कवचके द्वारा ढके हुये अपने शरीरसे ठंडी हवाओंको सहन करते रहते थे ॥ १५९॥ वे धीर वीर जाडेकी रात्रियोंमें वर्फसे जकडकर लकडीके समान निश्चल होकर भी स्वतंत्रतासे इसप्रकार सोते थे मानों उनका शरीर कपडोंसे ही ढका हो ॥ १६० ॥ वे धीरवीर इसप्रकार गर्मी वर्षा जाडे इन तीनों ऋतुओंमें योग धारणकर अपनी धीरताके कारण अत्यंत कठिन कठिन तपश्चरण बहुत दिनतक धारण करते थे ॥ १६१ ॥ अंतरंगमें दैदीप्यमान और अत्यंत कठिन ऐसे तपश्चरणरूपी तेजको धारण करते हुये वे राजकुमार तरंगोंके समान अपने हाथ पैर आदि अंगोंके द्वारा प्रायः समुद्रका अनुकरण करते हुयेके समान सुंदर जान पडते थे ॥ १६२ ॥ वे बुद्धिमान उपभोगकर छोडी हुई अपनी भोगोपभोग-की सामिग्रीको गलेमें पहिनकर फेंकी हुई फूलोंके मालाके समान निःसार मानते हुये फिर कभी उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥ १६३ ॥ "प्राणियोंका यह जीवन फेन, लहरें, ओस अथवा शामके बादलोंके समान चंचल है" इसप्रकार मानते हुये वे मुनि विनाश रहित ऐसे मोक्षके मार्गमें दृढताके साथ तल्लीन हो गये थे ॥ १६४ ॥ संसारके निवास करनेसे विरक्त हुये और घरके निवाससे अलग

दृढभावना: । तेऽमी मनोवच कायैः श्रद्दधुर्गुरुशासन ॥ १६६ ॥ तेऽनुरक्ता जिनप्रोक्ते मुक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठंते स्म मुक्त्यर्थं वद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥ १६७ ॥ संवेगजनितश्रद्धा' शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरे । दुरापां भावयामासुस्ते महाव्रतभावना ॥ १६८ ॥ अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य विमुक्ततां । रात्र्यभोजनषष्ठानि व्रतान्येतान्यभावयन् ॥ १६९ ॥ यावज्जीव व्रतेष्वेषु ते दृढीकृतसगरा' । त्रिविधेन प्रतिक्रांतदोषाः शुद्धिं परां दधु. ॥ १७० ॥ सर्वारंभविनिर्मुक्ता निर्ममा निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयन् जैनं व्युत्सृष्टतनुयष्टयः ॥ १७१ ॥ सर्वोपधिविनिर्मुक्ता. स्थिता धर्मे जिनोदिते । नैच्छन्

हुये वे ऋषि मोक्षका साक्षात् कारण ऐसे जिनेंद्रदेवके मार्गमें वहुत ही संतोप मानते थे ॥ १६५ ॥ भगवानके शासनसे अर्थात् भगवानके कहे हुये मोक्षमार्गमे अधिक अन्य कोई मार्ग नहीं है इस-प्रकारकी मजबूत भावनाओंमें निश्चल रहते हुये वे ऋषि मन वचन कायसे भगवानके शासनका श्रद्धान करते थ ॥ १६६ ॥ भगवानके कहे हुये और अनादिसे चले आये ऐसे यथार्थ जैन धर्ममें तल्लीन हुये तथा मोक्षकी इच्छा करते हुये वे राजपुत्र मोक्षके लिये कमर वांधकर खडे हो रहे थे ॥ १६७ ॥ संसारसे विरक्त होनेसे मोक्षमार्गमें जिन्हें अच्छा श्रद्धान हुआ है ऐसे वे मुनि जिससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं है ऐसे शुद्ध मोक्षमार्गमें वडी कठिनतासे मिलने योग्य ऐसी महाव्रतकी भावनाओंका चिंतवन करते थे ॥ १६८ ॥ अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रहत्याग महाव्रत, और रात्रि भोजनका त्याग इन छहों व्रतोंको वे मुनि पालन करते थे ॥ १६९ ॥ उन्होंने जन्म पर्यंत इन छहों व्रतोंके पालन करनेकी दृढ प्रतिज्ञा की थी, और मन वचन काय इन तीनों योगोंसे उन व्रतोंके दोष दूर किये थे, इसप्रकार उन्होंने वहुत ही उत्कृष्ट शुद्धि धारण की थी ॥ १७० ॥ उन्होंने सव तरहके आरंभोंका त्याग कर दिया था, सवतरहके परिग्रहोंका त्याग कर दिया था और शरीररूपी लकडीसे भी विल्कुल ममत्व छोड दिया था, इसप्रकार वे सवतरहसे ममत्वरहित होकर श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥ १७१ ॥

वालाग्रमात्र च द्विधाम्नातं परिग्रहं ॥ १७२ ॥ निर्मूर्च्छास्ते स्वदेहेऽपि धर्मवर्त्मनि सुस्थिताः । सतोषभावनापास्ततृष्णा. सतो विजह्रिरे ॥ १७३ ॥ वसति स्मानिकेतास्ते यत्रास्त भानुमानितः । तत्रैकत्र क्वचिद्देशे नैस्सग्य परमास्थिताः ॥ १७४ ॥ विविक्तैकांतसेवित्वाद्ग्रामेष्वेकाहवासिन । पुरेष्वपि न पचाहात्पर तस्थुर्नृपर्षय· ॥१७५॥ शून्यागारस्मशानादिविविक्तालयगोचराः । ते वीरवसतीर्भेजुरुज्झिताः सप्तभिर्भयैः ॥१७६॥ तेऽभ्यनदन्महासत्त्वाः पाकसत्त्वैरधिष्ठितः । गिर्यग्रकदरारण्यवसतीः प्रतिवासर ॥१७७॥ सिंहर्क्षवृकशार्दूलतरक्ष्वादिनिषेविते । वनांते ते वसंति स्म तदारसितभीषणे ॥१७८॥

सवतरहकी उपधि अर्थात् परिग्रहसे रहित होकर भगवानके कहे हुये धर्मका आचरण करते हुये वे मुनि बाह्य और अभ्यंतर ऐसे दो प्रकारके कहे हुये परिग्रहोंमेंसे बालकी नोकके समान भी किसी परिग्रहकी इच्छा नहीं करते थे ॥ १७२ ॥ जिन्हें अपने शरीरमें भी मोह नहीं है जो धर्ममार्गमें दृढ हैं और संतोषकी भावनासे जिन्होंने अपनी सव तृष्णा (इच्छा) नष्ट कर दी है ऐसे वे मुनि सव जगह विहार करते थे ॥ १७३ ॥ परिग्रहत्याग नामके व्रतको उत्कृष्ट रीतिसे पालन करतेहुये ऐसे घर रहित वे मुनि जहां सूर्य अस्त हो जाता था वहीं एकांतमें किसी एक जगह निवास करते थे ॥ १७४ ॥ वे मुनिराज विविक्तैकांत अर्थात् विशुद्ध निर्जन देशमें रहना पसंद करते थे इसलिये वे किसी गांवके समीप एक दिन रहते थे तथा किसी वडे नगरके समीप भी पांचदिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥ १७५ ॥ वे मुनि इस लोकका भय, परलोकका भय, मरनेका भय, रोगका भय, रक्षा न होनेका भय, चोरोंका भय और अकस्मात् भय इन सातों भयोंसे रहित होकर सूने मकानोंमें स्मशानभूमिमें अथवा और भी किसी एकांत जगहमें धीरताके साथ निवास करते थे ॥ १७६ ॥ महा बलशाली वे राजकुमार सिंह आदि क्रूर जीवोंसे भरी हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलोंमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥ १७७ ॥ सिंह, रीछ, भेडिया, वाघ चीता आदि हिंसक जीवोंसे भरे हुये तथा उन्हीं हिंसक जीवोंके शब्दोंसे भयानक ऐसे वीच वनमें निवास करते थे ॥१७८॥

स्फुरत्पुरुषशार्दूलगर्जितप्रतिनिःस्वनैः । आगुंजत्पर्वतप्राते ते स्म तिष्ठंत्यसाध्वसाः ॥१७९॥ कंठीरविकिशोराणां कठिनैः कंठनिःस्वनैः । प्रोन्नादिनि वने ते स्म निवसत्यस्तभीतयः ॥ १८० ॥ नृत्यत्कवधपर्यंतसचरड्डाकिनीगणाः । प्रचंडकौशिकध्याननिरुद्धोपांतकानना ॥ १८१ ॥ शिवानामशिवैर्ध्वानैरारुद्धाखिलदिङ्मुखाः । महापितृवनोद्देशा निशास्वेभिः सिषेविरे ॥ १८२ ॥ सिंहा इव नृसिंहास्ते तस्थुर्गिरिगुहाश्रयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वांतैरनुद्विग्नैः समाहिताः ॥ १८३ ॥ पाकसत्त्वशताकीर्णां वनभूमिं भयानका । तेऽध्ययात्सुस्तमिस्रासु निशासु ध्यानमास्थिताः ॥ १८४ ॥ न्यषेवंत वनोद्देशान् निषेव्यान्वनदंतिभिः । ते तद्दताग्रनिर्भिन्नतरुस्थपुटितातरान् ॥ १८५ ॥ वनेषु वनमातगबृंहितप्रतिनादिनीः । दरीस्तेऽध्यूपुरारुद्धैराक्राताः करिश-

जिनपर चारों ओर फैलती हुई वाघकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियां गूंज रहीं हैं ऐसे पर्वतके किनारोंपर भी वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ जो वन सिंहोंके बच्चोंके कठोर शब्दोंसे शब्दमय हो रहे हैं अर्थात् जिनमें चारों ओर सिंहोंके बच्चोंके कठोर शब्द सुनाई दे रहे हैं ऐसे वनोंमें भी वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥ १८० ॥ वे मुनिराज जिनमें बिना शिरके केवल धड नाच रहे हैं और उनके चारों ओर डाकिनियां फिर रहीं हैं, जिनके समीपके वन घुग्घुओंके प्रचंड शब्दोंसे भर रहे हैं जहां गीदडोंके अपशकुन करनेवाले शब्दोंसे सब दिशायें व्याप्त हो रही हैं ऐसी बडी बडी मसानभूमियोंमें रात्रि व्यतीत करते थे ॥ १८१–१८२ ॥ सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ ओर पर्वतोंकी गुफाओंमें शयन करनेवाले ऐसे वे मुनिराज श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये शास्त्रोंके अनुसार चलनेवाले और इसलिये ही खेदरहित ऐसे अपने चित्तको शांत रखकर निवास करते थे ॥ १८३ ॥ जिनमें सैकडों क्रूर जीव भरे हुये हैं ऐसी भयानक बनकी जगहोंमें वे मुनि अंधेरी रातोंमें ध्यान धारण कर निवास करते थे ॥ १८४ ॥ जिनमें जंगली हाथी निवास करते हैं तथा जिनके मध्यभाग उन जंगली हाथियोंके दांतोंसे टूटे हुये वृक्षोंसे ऊंचे नीचे हो रहे हैं ऐसी वनकी जगहोंमेभी वे मुनि निवास करते थे ॥ १८५ ॥ जिनमें जंगली हाथियोंकी गर्जनाकी प्रतिध्वनि हो रही है और उस

त्रुभि. ॥ १८६ ॥ स्वाध्याययोगससक्ता न स्वपति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनोद्युक्ता जागरूका सदाप्यमी ॥ १८७ ॥ पल्यंकेन निषण्णास्ते वीरासनजुषोऽथवा । शयाना वैकपार्श्वेन शर्वरीरत्यवाहयन् ॥ १८८ ॥ त्यक्तोपधिभरा धीरा व्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बरा । नैष्किंचन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥ १८९ ॥ निर्व्यपेक्षा निराकाक्षा वायुवीथ्यनुगामिनः । व्यहरन् वसुधामेनां सग्रामनगराकरां ॥ १९० ॥ विहरन्तो महीं कृत्स्नां ते कस्याप्यनभिद्रुह. । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥ १९१ ॥ जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानोद्योतस्फुरद्दृश. । सावद्य परिजन्तुस्ते प्रासुकावसथाशनाः ॥१९२॥

गर्जनाको सुनकर क्रोधित हुये सिंह जिन में आकर भर गये हैं ऐसी वनकी गुफाओंमें भी वे मुनि निवास करते थे ॥ १८६ ॥ उन मुनियोंका उपयोग सदा स्वाध्याय करनेमें तल्लीन रहता था और सूत्रोंका अर्थ चिंतवन करनेमें लगा रहता था इसलिये वे रात्रियोंमें भी नहीं सोते थे, वे सदा जगते ही रहते थे ॥ १८७ ॥ वे राजकुमार पर्यंकासनसे बैठकर अथवा वीरासन बैठकर अथवा एक करवट से ही सोकर तमाम रात्रियां व्यतीत कर देते थे ॥ १८८ ॥ जिन्होंने समस्त परिग्रहके भारका त्याग कर दिया है, शरीरसे ममत्व छोड दिया है, जो वस्त्र रहित हैं और आकिंचन्य तपसे अर्थात् अंतरंग बाह्य परिग्रह रहित होनेसे अत्यंत शुद्ध हैं ऐसे वे धीरवीर मुनि सदा मोक्षमार्गका चिंतवन करते रहते थे ॥ १८९ ॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, सवतरहकी आकांक्षाओंसे रहित और परिग्रह रहित ऐसे वे मुनि गांव और नगरोंसे भरी हुई इस पृथ्वीपर विहार करते थे ॥ १९० ॥ समस्त पृथ्वीपर विहार करते हुये और किसी जीवकी भी हिंसा न करते हुये वे मुनि दयालु होनेसे पुत्रोंके समान समस्त प्राणियोंपर स्वयं माताके समान होकर दया करते थे ॥ १९१ ॥ वे मुनिराज जीव अजीवके भेदको अच्छीतरह जाननेवाले थे, उनका ज्ञानका प्रकाशरूपी नेत्र स्फुरायमान था और उनके भोजन तथा रहनेकी जगह आदि सव प्रासुक अर्थात् हरतरहके जीवोंसे रहित थे इसलिये उन्होंने पापरूप मन वचन कायके योग सव छोड दिये थे ॥ ॥ १९२ ॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयको

स्याद्यत्किंचिच्च सावद्यं तत्सर्व त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयशुध्यर्थं यावज्जीवमवर्जयन् ॥ १९३ ॥ त्रसान् हरितकायाश्च पृथिव्यप्पवनानलान् । जीवकायानकायेभ्यस्ते स्म रक्षति यत्नतः ॥ १९४ ॥ अदीनमनसः शाताः परभोपेक्षयाऽन्विताः । मुक्तिसाध्यास्त्रिभिर्गुप्ता कामभोगेष्वविस्मिताः ॥ १९५ ॥ जिनाज्ञानुगताः शश्वत्ससारोद्विग्नमानसाः । गर्भवासजरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥ १९६ ॥ श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः । ज्ञानदीपिकया साक्षाचक्रुस्ते पदमक्षर ॥ १९७ ॥ ते चिर भावयति स्म सन्मार्ग मुक्तिसाधन । परदत्तविशुद्धान्नभोजिनः पाणिपात्रका. ॥ १९८ ॥ शंकिताभिहतोद्दिष्टक्रयक्रीतादिल-

---

विशुद्ध रखनेकेलिये संसारमें जितने पापरूप कार्य हैं वे सव मन वचन कायसे जन्मभरके लिये छोड दिये थे ॥ १९३ ॥ वे मुनि हरितकाय अर्थात् वनस्पति, पृथ्वीकाय जलकाय अग्निकाय वायुकाय ये पांच प्रकारके स्थावर तथा त्रस इन छहों कायके जीवोंको वडे यत्नपूर्वक अपने आत्मासे रक्षा करते थे अर्थात् वे सव जीवोंकी रक्षा करते थे ॥ १९४ ॥ उन मुनियोंमें किसीतरहकी दीनता नहीं थी, वे सदा शांत रहते थे, परम उपेक्षा (सबसे विरक्त रहना) रूप संयमका पालन करते थे, सदा मोक्षके लिये ही प्रयत्न करते रहते थे, मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंका पालन करते थे और कामभोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे अर्थात् उनसे सदा विरक्त थे ॥ १९५ ॥ वे सदा जिनेंद्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चलते थे उनका चित्त संसारसे सदा उदास रहता था और जन्म लेना बुढापा तथा मरना इन तीनोंकी वारवारकी फिरनसे सदा डरते रहते थे ॥ १९६ ॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं और जो विचक्षण अर्थात् सबतरह चतुर हैं ऐसे वे मुनिराज ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा कभी नाश न होनेवाले परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष देखते थे ॥१९७॥ दूसरेके द्वारा दिये हुये विशुद्ध निर्दोष आहारसे उदर शांति करनेवाले और हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षका कारण ऐसे रत्नत्रयरूप श्रेष्ठ मार्गको सदा वहुत देरतक चिंतवन करते रहते थे ॥ १९८ ॥ यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है ऐसी शंका जिसमें हो जाय, जो किसी दूसरेके

क्षणं । सूत्रे निपिद्धमाहारं नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥ १९९ ॥ भिक्षां नियतवेलायां गृहपंक्त्यनतिक्रमात् । शुध्दामाददिरे धीरा मुनिवृत्तौ समाहिताः ॥ २०० ॥ शीतमुष्णं विरूक्ष च स्निग्ध सलवणं न वा । तनुस्थित्यर्थमाहारमाजह्रुस्ते गतस्पृहाः ॥ २०१ ॥ अक्षम्रक्षणमात्रं ते प्राणधृत्यै विपष्वणुः । धर्मार्थमेव च प्राणान् धारयति स्म केवल ॥ २०२ ॥ न तुष्पंति स्म ते लब्धौ व्यषीदन्नाप्यलब्धित. । मन्यमानास्तपोलाभमधिक धुतकल्मषाः ॥ २०३ ॥ स्तुतिं निंदा सुख दुःख तथा मानं विमानना । समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥ २०४ ॥ वाचयमत्वमास्थाय चरतो गोचरार्थिनः । निर्यांति स्माप्यलाभेन नाभजन्मौनसंगरं ॥ २०५ ॥ महोपवासम्लानागा यतते स्म तनुस्थितौ । तत्राप्यशुद्रमाहार नैषिपुर्मनसाऽ-

---

यहांसे लाया जाय, जो खास अपने लिये तैयार किया जाय और जो खरीदकर लाया जाय ऐसा आहार मुनियोंके लिये शास्त्रोंमें निषिद्ध कहा है, वे मुनिराज ऐसा निषिद्ध आहार प्राण जानेपर भी कभी ग्रहण नहीं करते थे ॥ १९९ ॥ मुनियोंकी वृत्ति धारण करनेमें अत्यंत निश्चल और धीर वीर ऐसे वे मुनिराज घरोंकी पंक्तिओंको नहीं छोडते हुये नियमित समयपर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥ २०० ॥ इच्छा रहित वे मुनि केवल धर्मार्थ शरीरकी रक्षा करनेके लिये ठंडा, गर्म, रूखा, चिकना, नमकीन अथवा विना निमकका जैसा कुछ मिलता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥ २०१ ॥ जिसप्रकार गाडी औंगनेके लिये थोडेसे तेलसे ही काम चल जाता है उसी प्रकार वे मुनि केवल प्राण धारण करनेके लिये वहुत थोडा आहार लेते थे और केवल धर्म साधन करनेके लिये प्राणोंको धारण करते थे ॥ २०२ ॥ आहार मिल जानेपर वे कुछ संतुष्ट नहीं होते थे और न मिलनेपर उपवास रूप तपश्चरणका अधिक लाभ समझते हुये पाप रहित वे मुनि कभी खिन्न नहीं होते थे ॥ २०३ ॥ सव पदार्थोंको समान रीतिसे देखनेवाले अर्थात् समता धारण करनेवाले वे मुनि स्तुति, निंदा, सुख, दुःख और मान अपमान सवको समान रीतिसे देखते थे ॥ २०४ ॥ वे मुनि आहारके लिये मौन धारणकर गांव या नगरमें जाते थे, यदि आहार न मिला तो अपने मौनव्रतका भंग न करते हुये वापिस लौट आते थे ॥ २०५ ॥ अनेक महोपवास करनेसे जिनका शरीर क्षीण

ध्यमी ॥ २०६ ॥ गोचराग्रगतायोग्य भुक्त्वान्नमविलंबितं । प्रत्याख्याय पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनं ॥ २०७ ॥ तपस्तापतनूभूततनवोऽपि मुनीश्वराः । अनुबद्धात्तपोयोगान्नोरसुर्दृढसगराः ॥२०८॥ तीव्रं तपस्यतां तेषां गात्रेषु श्लथताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सध्यानसिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥ नाभूत्परिषहैर्भंगस्तेषां चिरमुपोषिषां । गताः परिषहा एव भंगं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥ तपस्तनूनपात्तापादभूत्तेषां पराद्युतिः । निष्टप्तस्य सुवर्णस्य दीप्तिर्निर्व्यतिरेकिणी ॥ २११ ॥ तपोग्नितप्तदीप्तांगास्तेऽतःशुद्धिं परां दधुः । तप्तायां तनुमूषाया शुध्यत्यात्मा हि हेमवत् ॥ २१२ ॥ त्वगस्थिमात्रदेहास्ते ध्यानशुद्धिम-

---

हो गया है ऐसे वे मुनि केवल शरीर धारण करनेके लिये ही आहारको जाते थे और वहां मनसेभी कभी अशुद्ध आहारकी इच्छा नहीं करते थे ॥ २०६ ॥ भिक्षा लेनेमें मुख्य अर्थात् अंतराय रहित निर्दोष भिक्षा ग्रहण करनेवाले वे धीरवीर मुनि बहुत शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजनकर तथा प्रत्याख्यान स्वीकारकर तपोवनके लिये चले जाते थे ॥ २०७ ॥ यद्यपि तीव्र तपश्चरणके संतापसे उनका शरीर क्षीण हो गया था तथापि वे अपनी प्रतिज्ञा इतनी दृढतासे पालन करते थे कि निरंतर पालन करते हुये अपने तपश्चरणसे कभी विश्राम नहीं लेते थे ॥ २०८ ॥ तीव्र तपश्चरण करते हुये उन मुनियोंके शरीरमें शिथिलता आगई थी परंतु उत्तम ध्यानकी सिद्धिके लिये उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी वह बिलकुल शिथिल नहीं हुई थी ॥ २०९ ॥ अनेक दिनका उपवास करते हुये भी उन मुनियोंका व्रतभंग परिषहोंसे नहीं हो सका था, किंतु परिषह ही उन मुनियोंको जीतनेमें असमर्थ होकर स्वयं नष्ट हो गई थीं ॥ २१० ॥ तपश्चरण रूपी अग्निके संतापसे उनकी कांति बहुत ही उत्कृष्ट हो गई थी सो ठीक ही है क्योंकि तपाये हुये सुवर्णकी कांति कुछ कम नहीं होती है किंतु बहुत ही बढ जाती है ॥ २११ ॥ तपश्चरण रूपी अग्निसे तप्त होकर जिनका शरीर बहुत ही दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे उन मुनियोंका अंतःकरण बहुत ही विशुद्ध हो गया था, सो ठीक ही है क्यों कि तपश्चरणसे तपाये हुये शरीर रूपी मूसली में [जिसमें सोना तपाया जाता है] यह आत्मा सुवर्णके

.धुस्तरा। सर्वं हि परिकर्मेदं बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥ योगजाः सिद्धयस्तेषामणिमादिगुणर्द्धयः। प्रादुरासन्विशुद्ध हि तपः सूते महत्फलं ॥२१४॥ तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्याहुतयोऽभवन्। विधिगास्ते सुयज्वानो मंत्रः स्वायंभुव वच ॥२१५॥ महाध्वरपतिर्देवो वृषभो दक्षिणा दया। फलं कामितसंसिद्धिरपवर्गः क्रियावधिः ॥२१६॥ इतीमामार्षभीमिष्टिमभिसंधाय तेऽजसा। प्रावीभूतश्रनूचानास्तपोयज्ञमनुत्तरं ॥२१७॥ इत्यमूमनगाराणा परां सगीर्य भावनां। ते तथा संवहति स्म निसर्गोऽयं महीयसा ॥२१८॥ किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्यनिष्ठिता। ता कृत्वा तेरवशाचकुस्त्यक्तराजन्यविक्रियाः ॥२१९॥ इत्थ पुराणपु-

समान शुद्ध हो जाता है ॥ २१२ ॥ यद्यपि उनके शरीरमें केवल चमडा और हड्डी रह गया था तथापि उनके ध्यानकी विशुद्धि बहुत ही वढ गई थी, सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि बाहरके सब साधन केवल अध्यात्मकी विशुद्धिके लिये है ॥ २१३ ॥ योगके प्रभावसे उन मुनियोंके अणिमा महिमा आदि गुणोंको वढानेवालीं अनेक सिद्धियां प्रगट हो गई थीं सो भी ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तपश्चरणसे बहुत बडे बडे फल प्राप्त होते हैं ॥ २१४ ॥ विधिको जाननेवाले वे मुनि यज्ञ करनेवाले होता थे, तपश्चरणरूपी संस्कार की हुई अग्नि थी, आठों कर्म आहूति देनेके लिये होम द्रव्य थे और श्रीजिनेंद्र देवकी वाणी ही मंत्र थे ॥ २१५ ॥ इस महायज्ञके शासन करनेवाले स्वामी श्रीवृषभदेव थे, होमके अंतमें यज्ञ करनेवालोंको देने योग्य दक्षिणा दया थी अपनी इच्छा पूरी हो जाना ही फल था और मोक्ष प्राप्त हो जाना ही क्रियावधि थी ॥ २१६ ॥ इसप्रकार वे मुनि श्रीवृषभदेवके कहे हुये यज्ञको पूर्णकर तथा बहुत शीघ्र श्रुतकेवली होकर सबसे उत्कृष्ट तपश्चरणरूपी यज्ञ करने लगे ॥ २१७ ॥ इसप्रकार उन मुनियोंने मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञाकर उन भावनाओंका पूर्ण रीतिसे पालन किया सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥ २१८ ॥ बहुत कहांतक कहा जाय जिन्होंने राजकी सब विक्रीया छोड दी है ऐसे उन राजकुमारोंने अनादि कालसे चली आई ऐसी धर्मकी जितनी क्रियायें थीं वे सब अपने आधीन कर लीं थीं अर्थात् वे उन

रुषादधिगम्यबोधिं तत्तीर्थमानससरःप्रियराजहंसाः । ये राज्यभूमिमवधूय विधूतमोहाः प्राव्राजिपुर्भरतराजमनंतुकामाः ॥ २२० ॥ ते पौरवा मुनिवराः पुरुधैर्यसारा धीरानगारचरिते तेषु कृतावधाना । योगीश्वरानुगतमार्गमनुप्रपन्नाः श वो दिशत्वखिललोकहितैकताना: ॥ २२१ ॥ नत्वा विश्वसृजं चराचर-गुरुं देवं दिवीशार्चितं नान्यस्य प्रणतिं व्रजाम इति ये दीक्षा परां सश्रिताः । ते नः संतु तपोविभूतिमुचिता स्वीकृत्य मुक्तिश्रिय वद्धेच्छा वृषभात्मजा

सबका पालन करते थे ॥ २१९ ॥ जो राजकुमार इसप्रकार पुराण पुरुष श्री वृषभदेवसे ज्ञान पाकर वृषभदेवके तीर्थरूपी मानस सरोवरके प्रिय राजहंस हुये थे, जिन्होंने मोह छोडकर राज्यभूमिका तिरस्कार किया था और जिन्होंने महाराज भरतको नमस्कार न करनेकी इच्छासे ही दीक्षा धारण की थी ऐसे पुरु वंशमें उत्पन्न हुये तथा उत्कृष्ट धैर्य ही जिनके आत्माका बल है, मुनियोंके धीरवीर आचरण करनेमें जो सदा सावधान हैं जिन्होंने उत्कृष्ट मुनियोंके धारण करनेयोग्य मार्गका पालन किया है और जो समस्त लोकके हित करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं ऐसे वे श्रीवृषभदेवके पुत्र मुनिराज तुम श्रोता लोगोंका कल्याण करो ॥ २२०–२२१ ॥ इंद्रादि देवोंके द्वारा पूज्य, त्रस तथा स्थावर सब जीवोंके गुरु और धर्मरूप जगतको उत्पन्न करनेवाले ऐसे श्रीवृषभदेवको नमस्कार कर अब अन्य किसीको प्रणाम न करेंगे यही निश्चयकर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की है, जिन्होंने राजकुमारोंके योग्य तपश्चरण रूपी विभूति धारणकर मोक्षलक्ष्मीकी इच्छा प्रगट की है और जो श्रीजिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे वे श्रीवृषभदेवके पुत्र हम लोगोंका कल्याण करनेवाले हों ॥ २२२ ॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत चक्रवर्ती भी अपने दूतोंके द्वारा जिन्हे नम्र न कर सका, पृथ्वीका विभागकर भी जिनके साथ साथ समस्त पृथ्वीका उपभोग न कर सका ऐसे तथा कल्याण करनेवाले मोक्षकेलिये जिन्होंने अपने पिता श्रीजिनेंद्र वृषभदेवका आश्रय लिया ऐसे

जिनजुषामग्रेसराः श्रेयसे ॥ २२२ ॥ स श्रीमान्भरतेश्वरः प्रणिधिभिर्यान्प्रह्वतां नानयत् संभोक्तुं निखिलां विभज्य वसुधां सार्द्धं च यैर्नाशकत् । निर्वाणाय पितृषभ जिनवृष ये शिश्रियुः श्रेयसे ते नो मानधना हरंतु दुरितं निर्दग्धकर्मेंधनाः ॥ २२३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व.

अभिमान रूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईंधनको जलानेवाले वे मुनिराज हम लोगोंके पापोंका नाश करें ॥ २२३ ॥

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत, महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें महाराज भरतके छोटे भाइयोकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला चौतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पंचत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्यासीत्किंचित् चिंताकुल मनः । दोर्बलिन्यतुनेतव्ये यूनि दोर्दर्पशालिनि ॥ १ ॥ अहो भ्रातृगणोऽस्माक नाभिनंदति नंदथु । सनाभित्वादवध्यत्व मन्यमानोऽयमात्मनः ॥ २ ॥ अवध्य शतमित्यास्था नून भातृगणस्य मे । यतः प्रणामविमुख गतवतः प्रतीपता ॥ ३ ॥ न तथाऽस्मा-

---

अथ पेंतीसवां पर्व.

अथानंतर–जिसे भुजाओंका गर्व है और जो जवान है ऐसे बाहुबलिको वश करनेके लिये चक्रवर्तीका मन कुछ चिंतासे व्याकुल हुआ ॥ १ ॥ वह सोचने लगा यह हमारे भाइयोंका समूह एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपनेको अवध्य अर्थात् मारने के अयोग्य मानता हुआ मेरे आनंदकी वृद्धि नहीं चाहता है ॥ २ ॥ मेरे भाइयोंको यह श्रद्धान है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसलिये ही वे प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु बन गये हैं ॥ ३ ॥ यदि कोई शत्रु मुझे प्रणाम न करे तो मुझे इतना खेद नहीं

ईशा खेदो भवत्यप्रणते द्विषि । दुर्गर्विते यथा ज्ञातिवर्गेऽन्तर्गेहवर्तिनि ॥ ४ ॥ मुखैरनिष्टवाग्वन्हिदीपितैरतिधूमिताः । दहंत्यलातवच्च स्वा. प्रातिकूल्यानिलेरिताः ॥ ५ ॥ प्रतीपवृत्तयः काम सतु वाऽन्ये कुमारकाः । बाल्यात्प्रभृतियेऽस्माभिः स्वातंत्र्येणोपलालिताः ॥ ६ ॥ युवा तु दोर्बली प्राज्ञः क्रमज्ञः प्रश्रयी पटुः । कथ नाम गतोऽस्मासु विक्रिया सुजनोऽपि सन् ॥ ७ ॥ कथ च सोऽनुनेतव्यो वशी मानधनोऽधुना । जयाग यस्य दोर्दपः श्लाघ्यते रणमूर्द्धनि ॥ ८ ॥ सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महानिव गजो माद्यन् दुर्ग्रहोऽनुनयैर्विना ॥ ९ ॥ न स सामान्यसंदेशैः प्रह्वीभवति दुर्मदी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो मंत्रविद्याचणैर्विना ॥ १० ॥ शेपक्षत्रिययूना च तस्य चात्यंतरं महत् । मृगसामान्यमानायैर्धर्तुं किं शक्यते हरिः ॥ ११ ॥

होता जितना कि अपने ही घरमें रहनेवाले और मिथ्या अभिमानी ऐसे मेरे भाइयोंके प्रणाम न करनेसे हुआ है ॥ ४ ॥ अनिष्ट वचन रूपी अग्निसे उद्दीपित हुये मुखसे जो धूम सहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलतारूप वायुसे बढाये जा रहे हैं ऐसे ये मेरे भाई अलातचक्रके समान मुझे जला रहे हैं ॥ ५ ॥ जो हमने बालकपनसे ही इच्छानुसार खिलापिलाकर बडे किये हैं ऐसे ये अन्य कुमार यदि प्रतिकूल हों तो खुशीसे हों परंतु बाहुबलि तरुण, बुद्धिमान, अनुक्रमको जाननेवाला विनयवान्, चतुर और सज्जन होकर भी मुझसे क्यों प्रतिकूल हुआ ? ॥ ६-७ ॥ जिसके अभिमान ही धन है अर्थात् जो महा अभिमानी है और विजयका कारण ऐसा इसकी भुजाओंका गर्व मुख्य मुख्य युद्धोंमें भी प्रशंसित गिना जाता है ऐसा यह बलवान बाहुबलि इससमय किसप्रकार वश करना चाहिये ॥ ८ ॥ अभिमान रूपी मदसे उद्धत हुआ और भुजाओंके बलसे शोभायमान ऐसा यह बाहुबलि कुमार मदोन्मत्त बडे हाथीके समान कोमल वचनोंके विना और किसी तरह वश नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ यह अत्यंत उन्मत्त हुआ बहुबलि साधारण संदेशोंसे वश नहीं हो सकता, क्योंकि किसीके शरीरमें घुसाहुआ दुष्ट पिशाच मंत्रविद्यामें प्रवीण पुरुषके विना और किसीतरह शांत नहीं हो सकता ॥ १० ॥ बाहुबलिमें और उसके सिवाय अन्य तरुण क्षत्रियोंमें बहुत बडा अंतर है, भला

सोऽभेद्यो नीतिचचुत्वाद्दंडसाध्यो न विक्रमी । नैप सामप्रयोगस्य विपयो विकृताशयः ॥ १२ ॥ ज्वलत्येव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । घृताहुतिप्रसेकेन यथेद्धार्चिर्मखानिलः ॥ १३ ॥ स्वभावपरुपे चास्मिन्प्रयुक्तं साम नार्थकृत् । वपुपि द्विरदस्येव योजितं त्वच्यमौषधं ॥ १४ ॥ प्रायो व्याख्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः । मदाज्ञाविमुखैस्त्यक्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः ॥ १५ ॥ भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे मतं । तथाप्यप्रणते तस्मिन्विधेयं चिंत्यमुत्तरं ॥ १६ ॥ ज्ञातिव्याजानिगूढांतर्विक्रियो निष्प्रतिक्रियः । सोऽतर्गृहोत्थितो वन्हिरिवाशेषं दहेत्कुलं ॥ १७ ॥ अंतः प्रकृतिजः कोपो विघाताय

जो जाल साधारण पशुओंके पकडनेकेलिये बनाया गया है उससे क्या सिंह पकडा जा सकता है ? ॥ ११ ॥ राजनीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है अर्थात् वह किसीतरह फोडा नहीं जा सकता, पराक्रमी होनेसे वह युद्धमें भी वश नहीं किया जा सकता, और विकारसहित होनेसे अर्थात् कुटिल अथवा क्रोधित होनेसे समझा बुझाकर भी वश नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥ जिसप्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहूति देनेसे और बढती है उसीप्रकार स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकार किया हुआ भी यह पराक्रमी और अधिक प्रज्वलित हो रहा है ॥१३॥ जिसप्रकार कोमल चमडा करनेकेलिये हाथीके शरीरपर लगाई हुई औषधि कुछ काम नहीं करती उसीप्रकार कठिन स्वभाव वाले उस बाहुबलिमें नर्मीका उपाय करना भी कुछ काम नहीं देगा ॥ १४ ॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख हुये हैं, जिन्होंने राज्यभोग सब छोड दिया है और बनमें जानेकेलिये तैयार हुये हैं ऐसे बाकीके कुमारोंने इस बाहुबलिका अभिप्राय प्रायः स्पष्ट कर दिया है ॥१५॥ तथापि फिर भी एकवार कोमल वचनोंसे इसके अभिप्रायकी परीक्षा करनी चाहिये, यदि फिर भी नमस्कार न करे तो फिर 'आगे क्या करना चाहिये' इसका विचार करना चाहिये ॥ १६ ॥ जिसने भाईपनेके कपटसे अंतःकरणमें शत्रुता धारण की है और जिसका कोई उपाय नहीं है ऐसा यह बाहुबलि घरके भीतर जलती हुई अग्निके समान समस्त कुलको जला-देगा ॥ १७ ॥ जिसप्रकार पर्वतोंके बनोंमें वृक्षोंकी ऊंची शाखाओंकी रगडसे उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतको

प्रभोर्मतः । तरुशाखाग्रसंघट्टजन्मा वन्हिर्यथा गिरेः ॥१८॥ तदाशु प्रतिकर्तव्यं स वली वक्रतां श्रितः । क्रूरे ग्रह इवामुष्मिन्प्रशाते शातिरेव नः ॥१९॥ इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मंत्रविशारदं । तत्प्रात प्राहिणोच्चक्री निसृष्टार्थतयाऽन्वितं ॥ २० ॥ उचित युग्यमारूढो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदतिकं ॥ २१ ॥ आत्मनेव द्वितीयेन स्निग्धेनानुगतो द्रुत । निजानुजीविलोकेन हस्तशवलवाहिना ॥ २२ ॥ सोऽन्वीय चक्रि चेदेवमह ब्रूयामकच्छनः । विगृह्य यदि स ब्रूयाद्विरहं विग्रहे वटे ॥ २३ ॥ सधिं च पणवधं च कुर्यात्सोऽतरमेव नः । विक्रम्य क्षिप्रमेष्यामि विजिगी-

---

जला देती है उसीप्रकार भाइयोंके अंतरंगमें उत्पन्न हुआ क्रोध राजाके नाश होनेका कारण समझना चाहिये ॥ १८ ॥ वह वाहुवलि इस समय वक्र (प्रतिकूल) हो रहा है इस लिये उसके सीधे करनेका उपाय शीघ्र करना चाहिये, क्योंकि क्रूर ग्रहके समान इस वाहुवलिके शांत होनेपर ही मुझे शांति मिल सकेगी ॥ १९ ॥ इस प्रकार निश्चय कर उस चक्रवर्तीने राजकीय कार्यको जाननेवाले मंत्र अर्थात् विचार करनेमें चतुर और जिसने अनेकवार कार्य किया है ऐसा दूत महाराज वाहुवलिके पास भेजा ॥ २० ॥ वह न तो कम उमर था और न अधिक बूढा था ऐसा वह दूत अपने योग्य रथ आदि सवारीपर चढकर नम्रताके भेषसे वाहुवलिके समीप चलने लगा ॥ २१ ॥ जिसने मार्गमें लगनेवाली सामिग्री सब साथ ली है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपनेही समान अपने एक सेवकको साथ लेकर वह दूत वहांसे वहुत शीघ्र निकला ॥ २२ ॥ वह दूत रास्तेमें सोचता जाता था कि यदि वह मेरे अनुकूल वात चीत करेगा तो मैं भी विना किसी तरहकी प्रशंसा किये वैसी ही वात चीत करूंगा, यदि युद्ध करनेकी वात चीत करेगा तो मैं भी युद्ध करनेके लिये ही अपना मत प्रकाश करूंगा ॥ २३ ॥ यदि वह संधि करेगा अथवा पणवंध अर्थात् कुछ भेट देनेका नियम करेगा तो यह वातभी हमारे लिये इष्ट ही है, यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेकी इच्छा रक्खेगा चक्रवर्तीके वश नहीं होगा तो मैं अपना पराक्रम दिखलाकर शीघ्र ही वापिस लौट आऊंगा ॥ २४ ॥ इस प्रकार

षावशगते ॥ २४ ॥ गुणयन्निति सपत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वय निगूढमंत्रत्वादनिर्भेद्योऽन्यमंत्रिभिः ॥ २५ ॥ मन्त्रभेदभयाद्गूढ स्वपन्नेक· प्रयाणके । युद्धापसारभूमीश्च स पश्यन्दूरमभ्यगात् ॥ २६ ॥ क्रमेण देशान सिंधूश्च देशसधींश्च सोऽतियन् । प्रापत्सख्यातरात्रैस्तत्पुर पोदनसाह्वयं ॥२७ ॥ बहिःपुरमथासाद्य रम्याः सस्यवतीर्भुव· । पक्वशालिवनोद्देशान्स पश्यन्प्राप नंदथु ॥ २८ ॥ पश्यन्स्तंबकरिस्तम्वान्प्रभूतफलशालिनः । कृतरक्षान्जनैर्यत्नात्स मेने स्वार्थिन जन ॥ २९ ॥ सकुटुंबिभिरुद्दात्रैर्नृत्यद्भिराभिनंदितान् । केदारलावसघर्षतूर्यघोषान्यशामयत् ॥ ३० ॥ क्वचिच्छुकमुखाकृष्टकणाः कणिश-

---

अपने पक्षकी संपत्ति अर्थात् उन्नति और बाहुबलिके पक्षकी विपत्ति अर्थात् अवनति चिंतवन करता हुआ वह दूत जा रहा था, वह अपने विचारोंको बहुत छिपाकर रखता था इस लिये अन्य राजाओंके मंत्रियोंके द्वारा वह कभी भेद रूप नहीं हो सकता था अर्थात् अन्य कोई भी मंत्री उसके विचार नहीं जान सकता था ॥२५॥ कहीं उसके विचारोंको कोई पहिचान न ले इसी डरसे रास्तेमें वह किसी छिपी जगहमें अकेला सोता था तथा युद्धकी भूमि और उससे निकलनेके रास्ते देखता हुआ वह बहुतही दूर निकल गया ॥ २६ ॥ अनुक्रमसे अनेक देश अनेक नदी और अनेक देशकी सीमाओंको उलंघन करता हुआ वह दूत कितनेही दिनोंमें बाहुबलिके पोदनपुर नगरमें जा पहुंचा ॥ २७ ॥ नगरके बाहर धानोंसे शोभायमान मनोहर पृथ्वीको पाकर और पके हुये चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह बहुतही प्रसन्न हुआ ॥ २८ ॥ किसान लोग बडे यत्नसे जिनकी रक्षा कर रहे हैं और जो बहुतसे फलोंसे सुशोभित हैं ऐसे चांवलोंके गुच्छोंको देखता हुआ वह दूत अपने मनमें सोचने लगा कि यहांके मनुष्य बडे ही स्वार्थी हैं ॥ २९ ॥ जो खेतोंको देख देखकर नृत्य कर रहे हैं और जिन्होंने खेत काटनेके लिये अपने अपने हसिया या खुरपा ऊंचे उठा रक्खे हैं ऐसे कुटुंब सहित किसानोंके द्वारा बढे हुये खेतोंके काटनेके संघर्षण रूपी तुरईके शब्दोंकोभी वह दूत सुन रहा था ॥ ३० ॥ कहींपर खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओंने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी

मंजरीः । शालिवप्रेषु सोऽपश्यद्विटैर्भुक्ता इव स्त्रियः ॥ ३१ ॥ सुगंधिकलमामोदसंवादि श्वसितानिलैः । वासयंतीर्दिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥ ३२ ॥ पीनस्तनतटोत्संगगलद्घर्मांबुबिंदुभिः । मुक्तालंकारजां लक्ष्मीं घटयतीर्निजोरसि ॥ ३३ ॥ सरजोऽब्जरजःकीर्णसीमतरुचिरैः कचैः । चूलामावघ्नतीः स्वैरग्रथितोत्पलदामकैः ॥ ३४ ॥ दधतीरातपक्लांतमुखपर्यंतसंगिनीः । लावण्यस्येव कणिका श्रमघर्मांबुविप्रुशः ॥ ३५ ॥ शुकान् शुकच्छदच्छायै रुचिरागीमृतनांशुकैः । छोत्कुर्वतीः कलक्वाण सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥ ३६ ॥ भ्रमद्यन्त्रकुटीयन्त्रचीत्कारैरिक्षुवाटकान् । फूत्कुर्वत इवाद्राक्षीदतिपीडाभयेन

चांवलोंकी वालको इस प्रकार देखता था मानों व्यभिचारी लोगोंके द्वारा भोगी हुई स्त्रियां ही हों ॥ ३१ ॥ वहांपर उसने चांवलोंके खेत रखानेवालीं स्त्रियां देखीं वे स्त्रियां सुगंधी चांवलोंके गुच्छोंकी सुगंधके समान अपनी श्वासकी वायुसे सब दिशाओंको सुगंधित कर रहीं थीं, उन्होंने चांवलोंकी वालोंके कर्णभूषण बनाये थे, अपने वक्षःस्थलपर (छातीपर) कठिन स्तनोंके समीप भागमें गिरती हुई पसीनेकी बूंदोंसे वे मोतियोंकी मालाकी शोभा धारण कर रहीं थीं, सरोवरके कमलोंकी परागरजसे भरे हुये केश वेश अर्थात् मांगसे सुंदर तथा जिनपर कमलोंकी मालायें यथायोग्य गुथी हुई हैं ऐसे केशोंसे उन स्त्रियोंकी चोटियां बंधी हुई थीं, तथा वे गर्मीसे मलिन हुये मुखपर लगी हुई ऐसी परिश्रमसे उत्पन्न हुई पसीनेकी बूंदोंको लावण्यके छोटे छोटे टुकडोंके समान धारण कर रहीं थीं, तोतेके पंखोंके समान हरे रंगकी चोलियोंसे उनका शरीर बहुत ही अच्छा जान पडता था और वे मधुर शब्द करती हुई छू छू करके तोतोंको उडा रहीं थीं ऐसी वे सुंदर स्त्रियां उस दूतने देखीं ॥ ३२–३६ ॥ जहां कहीं ईखका रस निकाला जा रहा था वहांपर उसने झोंपडियोंमें फिरते हुये यंत्रोंके (कोल्हुओंके) चीं चीं शब्दोंके द्वारा अत्यंत पीडाके डरसे मानों रो रहे ही हों ऐसे अनेक ईखोंके डंडे देखे ॥ ३७ ॥ खेतोंके समीप ही बडे भारी एनके (थनोंका ऊपरी भाग जिसमें दूध रहता है) बोझसे जो धीरे धीरे चल रही हैं, अपने अपने बच्चोंके लिये जो उत्कंठित हो रहीं हैं और

सः ॥ ३७ ॥ 'उपक्षेत्र च गोधेनूर्महोधेोभरमर्थराः । वात्सकेनोत्सुका स्तन्य क्षरतीर्निचचाय सः ॥ ३८ ॥ इति रम्यान्पुरस्यास्य सीमातान्स विलोकयन्। मेने कृतार्थमात्मान लब्धतद्दर्शनोत्सव ॥ ३९ ॥ उपशल्यभुवः कुल्याप्रणालीप्रसृतोदका । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैर्वृतास्तस्य मनोऽहरन् ॥ ४० ॥ वापीकूपतडागैश्च सारामैरबुजाकरैः । पुरस्यास्य वहिर्देशास्तेनादृश्यत हारिण ॥ ४१ ॥ पुरगोपुरमुल्लङ्घ्य स निचाय्यन्वाणिक्पथान् । तत्र पुञ्जीकृतान्मेने रत्नराशीन्निधीनिव ॥ ४२ ॥ नृपोपायनवाजीभलालामदजलाविलं । कृतच्छटमिवालोक्य सोऽभ्यनन्दन्नृपाङ्गण ॥ ४३ ॥ स निवेदितवृत्तातो महादौवारपालकैः ।

जिनके थनोंसे दूध निकल रहा है ऐसी हालकी प्रसूता गायें भी उस दूतने देखीं ॥ ३८ ॥ इस प्रकार इस नगरकी सीमाके बाहर मनोहर स्थानोंको देखता हुआ और उन्हें देखकर आनंदित होता हुआ वह दूत अपनेको बहुत ही कृतार्थ मानने लगा ॥ ३९ ॥ जिनके चारोंओर छोटे छोटे सरोवर और झरनोंसे बहकर पानी फैला हुआ है और जो चांवल ईख और जीरेके खेतोंसे घिरी हुई है ऐसी नगरके बाहरकी पृथ्वी उस दूतका मन हरण कर रही थी ॥ ४० ॥ वापी, कूए, सरोवर, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उसे बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥ ४१ ॥ उसने प्रथम ही नगरका बडा दरवाजा तय किया और फिर वहांके बाजारोंको देखता हुआ ढेरकी ढेर लगी हुई रत्नोंकी राशियोंको निधियोंके समान मानने लगा ॥ ४२ ॥ महाराज बाहुबलिके भेटमें आये हुये घोडे और हाथियोंके लार और मदके जलसे अर्थात् घोडोंकी लार और हाथियोंके मदके जलसे कीचड सहित हुये राजाके आंगनको मानों उसपर जलसे ही छिडकाव किया गया हो ऐसा देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हुआ ॥ ४३ ॥ मुख्य द्वारपालके द्वारा जिसने अपना सब वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत सिंहासनपर विराजमान महाराज बाहुबलिके समीप जा पहुंचा ॥ ४४ ॥ वहांपर उसने महाराज बाहुबलिको देखा, उस समय वे बाहुबलि विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीडा करनेके लिये एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पडते थे क्योंकि वे ऊंचे थे, उनका वक्षःस्थल

नृपं नृपासनासीनमुपासीदद्वचोहरः ॥ ४४ ॥ पृथुवक्षस्तट तुंगं मुकुटोदग्रश्रृंगक । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशैलमिवैकक ॥ ४५ ॥ ललाटपट्टमारूढ-पट्टबंध सुविस्तृत । जयश्रियइवोद्वाहपट्ट दधतमुच्चकैः ॥ ४६ ॥ दधान तुलिताशेपराजन्यकयशोधन । तुलादंडमिवोदूढभूभारं भुजदंडक ॥ ४७ ॥ मुखेन पकजछाया नेत्राभ्यामुत्पलश्रियं । दधानमप्यनासन्नविजातिमजलाशय ॥ ४८ ॥ विभ्राणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्द्वय । वाग्देवीकमलावत्योर्गत नित्यावकाशता ॥ ४९ ॥ रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्राम महाफल । निवेशयतमात्मागे मनःसु च महीयसा ॥ ५० ॥ स्फुरदाभरणोद्योतछद्मना निखिला

रूपी किनारा वहुत बडा था और ऊंचे मुकुटका ऊपरी भाग पर्वतके शिखरके समान जान पडता था ॥ ४५ ॥ जिसपर पट्टबंध वंधा हुआ है ऐसा उनका लंबा चौडा ललाटपट्ट (माथा) ऐसा अच्छा जान पडता था मानों उन्होंने बहुत ऊंचा विजयलक्ष्मीका विवाहपट्ट ही धारण किया हो ॥ ४६ ॥ वे महाराज बाहुबलि जिसने समस्त राजाओंका यशरूपी धन तौल लिया है और जिसने समस्त पृथ्वीका भार धारण किया है ऐसे तराजूकी डंडीके समान भुजारूपी डंडोंको धारण कर रहे थे ॥ ४७ ॥ यद्यपि वे अपने मुखसे गुलावी कमलकी और नेत्रोंसे नीलकमलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके समीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोंकी जातियां थीं और न वे जलाशय थे भावार्थ—कमलकी शोभा सरोवरमें होती है सरोवर स्वयं जलाशय है और उसपर अनेक तरके पक्षी रहतें हैं बाहुबलि यद्यपि कमलकी शोभा धारण करते थे तथापि वे जलाशय—जडाशय अर्थात् जडबुद्धि नहीं थे और न उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसंकार निवास करने पाता था ॥ ४८ ॥ जिसपर सरस्वती सदा निवास करती है ऐसा उनका मन बहुत उदार था और जिसपर लक्ष्मी सदा निवास करती है ऐसा उनका वक्षःस्थलभी बहुत बडा था इन दोनोंको ही वे धारण करते थे ॥ ४९ ॥ वे महाराज प्रजाकी रक्षा करनेका कारण और अनेक बडे बडे फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमें धारण करते थे और बडे आदमियोंके मनमें धारण कराते थे भावार्थ—गुणोंको वे स्वयं धारण करते

दिशः । प्रतापज्वलनेनेव लिंपंतमलघीयसा ॥ ५१ मुखेन चंद्रकांतेन पद्मरागेण चारुणा । चरणेन विराजत वज्रसारेण वर्ष्मणा ॥ ५२ ॥ हरिन्मणिमयस्तम्भमिवैकं हरितत्विप । लोकावष्टंभमाधातु सृष्टमाद्येन वेधसा ॥ ५३ ॥ सर्वांगसंगत तेजो दधान क्षात्रमूर्जित । नून तेजोमयैरेव घटित परमाणुभिः ॥ ५४ ॥ तमित्यालोकयन् दूराद्धाम्नः पुजमिवोच्छिखं । चचाल प्रणिधिः किंचित्प्रणिधानान्निधीशितुः ॥ ५५ ॥ प्रणमश्चरणावेत्य दधद्दूरानत शिरः । ससत्कार कुमारेण नातिदूरे न्यवेशि सः ॥ ५६ ॥ त शासनहर जिष्णोर्निविष्टमुचितासने । कुमारो निजगादेति स्मिताशून् विष्वगाकिरन् ॥५७॥

थे और बडे आदमी भी अपने मनमें उनके गुण स्मरण करते थे ॥५०॥ उनके दैदीप्यमान आभूषणोंका प्रकाश जो चारों ओर पड रहा था उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों उस प्रकाशके बहानेसे अपने बडे भारी प्रतापरूपी अग्निसे सब दिशाओंको प्रकाशित ही कर रहें हो ॥ ५१ ॥ अपने चंद्रकांत मणिके समान अपने मुखसे, पद्मराग मणिके समान अपने सुंदर चरणोंसे और व्रजके समान अपने शरीरसे वे महाराज बहुत ही अच्छे जान पडते थे ॥ ५२ ॥ हरितमणियोंके बने हुये किसी खंभके समान ऊंचा हरितवर्णका उनका शरीर ऐसा अच्छा जान पडता था मानों आदि ब्रह्मा श्री वृषभदेवने लोकको सहारा देनेके लिये एक खंभ ही बनाया हो ॥५३॥ स्वामी, मंत्री, मित्र, खजाना, देश, किला और सेना इन सब अंगोसहित ऐसे राजाओंके दैदीप्यमान तेजको धारण करते हुये वे ऐसे जान पडते थे मानों अवश्य ही वे तेजरूप परमाणुओंसे बनाये गये हों ॥५४॥ जिसकी ज्वाला ऊपरको उठ रही है ऐसे तेजके समूहके समान महाराज बाहुबलिको देखता हुआ वह भरतका दूत अपने विचारोंसे कुछ च्युत हो गया अर्थात् उन्हें देखकर वह कुछ घवडा गया ॥ ५५ ॥ दूतने दूरसे ही अपना मस्तक नवाया और कुमारके चरणोंमें जाकर नमस्कार किया, कुमारनेभी आदर सत्कारके साथ उस दूतको अपने कुछ समीपमें बिठलाया ॥ ५६ ॥ कुमार बाहुबलि अपने थोडेसे हास्यकी किरणोंको चारोंओर फैलाते हुये यथायोग्य आसनपर बैठे हुये उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने

चिराच्चक्रधरस्याद्य वयं चिंत्यत्वमागताः । भद्र भद्र जगद्भर्तुर्बहुचिंत्यस्य चाक्रिणः ॥ ५८ ॥ विश्वक्षत्रजयोद्योगमद्यापि न समापयन् । स कच्चिद्भूभुजां भर्तुः कुशली दक्षिणो भुजः ॥ ५९ ॥ श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च निखिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥ ६० ॥ इति प्रश्नतमोजस्वि वचः सार मिताक्षर । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसर व्यधात् ॥ ६१ ॥ अथोपाचक्रमे वक्तु वचो हारि वचोहर । वागर्थाविव सपिण्ड्य दर्शयन्दशनांशुभिः ॥ ६२ ॥ त्वद्वचःसंमुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि यत्रार्थं प्रत्यक्षयति मादृशः ॥ ६३ ॥ वय वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मदास्तच्छदचारिणः ॥ ६४ ॥ ततश्चक्रधरेणार्य यदादिष्टं प्रियोचितं । प्रयोक्तृगौरवादेव तद्ग्राह्य

लगे ॥ ५७ ॥ कि चक्रवर्तीने आज बहुत दिनमें हम लोगोंको स्मरण किया, हे भद्र ! समस्त पृथ्वीके स्वामी और जिन्हें अनेक लोगोंकी चिंता रहती है ऐसा चक्रवर्ती कुशल मंगलसे है न ? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षत्रियोंको विजय करनेका उद्योग आजतक भी पूर्ण नहीं किया है ऐसी राजाधिराज भरतकी वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल पूर्वक है न? ॥५९॥ सुना है कि भरतने सब दिशायें अपने वश करली हैं और समस्त राजा जीत लिये हैं, दूत ! कहो अब भी भरतको कुछ काम बाकी रहा है या नहीं ॥ ६० ॥ इस प्रकार जिनमें अक्षर थोडे हैं, जो साररूप हैं, तेजस्वी और शांत हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिये समय दिया ॥ ६१ ॥ तदनंतर अपने दांतोंकी किरणोंसे शब्द अर्थ दोनोंको मिलाकर दिखलाते हुये दूतने मनोहर वचन कहना प्रारंभ किया ॥ ६२ ॥ कि हे प्रभो ! आपके इस वचनरूपी दर्पणमें आगेका कार्य साफ दिखाई देता हे क्योंकि उसका अर्थ मेरे ऐसा संस्कार न किया हुआ मूर्ख मनुष्य भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥ ६३ ॥ हे नाथ हम लोग तो दूत हैं, केवल स्वामीका समाचार ले जाने वाले हैं, हम लोग सदा स्वामीकी आज्ञानुसार चलते हैं इसलिये गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी हमलोग असमर्थ हैं ॥ ६४ ॥ इसलिये हे आर्य ! चक्रवर्तीने जो कुछ प्रिय और उचित आज्ञा की है वह चाहे अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके

साध्वसाधु वा ॥ ६५ ॥ गुरोर्वचनमादेयमविकल्प्येति या श्रुतिः । तत्प्रामाण्यादमुष्याज्ञा सा विधेया त्वयाऽधुना ॥ ६६ ॥ ऐक्ष्वाकः प्रथमो राज्ञा भरतो भवदग्रजः । परिक्राता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥ ६७ ॥ गगाद्वार समुल्लंघ्य यो रथेनाप्रतिष्कशः । चलदाविद्धकल्लोलमकरोन्मकरालयं ॥६८॥ शरव्याजः प्रतापाग्निर्ज्वलत्यस्य जलेऽबुधेः । पपौ न केवल वार्द्धिं मान च त्रिदिवौकसा ॥ ६९ ॥ मा नाम प्रणतिं यस्य त्राजिपुर्द्युसदः कथ । आकृष्टाः शरपाशेन प्राध्वकृत्य गले बलात् ॥ ७० ॥ शरव्यमकरोद्यस्य शरपातो महाबुधौ । प्रसभ मगधावास क्रातद्वादशयोजनः ॥ ७१ ॥ विजयार्द्धाचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयार्द्धेश शरेणामोघपातिना ॥ ७२ ॥ कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयता । कृतमस्योभयश्रेणिनभोगैर्जय-

---

महत्वपनेसे स्वीकार कर लेनी चाहिये ॥ ६५ ॥ "जो अपने गुरुजन हैं उनकी आज्ञा बिना किसी सोच विचारके मान लेना चाहिये" यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको भरतकी आज्ञा मान लेना ही चाहिये ॥ ६६ ॥ वह भरत इक्ष्वाकु वंशमें मुख्य है, राजाओंमें श्रेष्ठ है और आपका बडा भाई है, इसके सिवाय उसने देवोंसेभी नमस्कार करा लिया है और समस्त पृथ्वी अपने वश कर ली है ॥ ६७ ॥ उसने अकेले ही रथमें बैठकर गंगाद्वारको उलंघन किया और रथ चलनेसे जिसकी चंचल लहरें ताडित होकर एक दूसरे पर पड रहीं हैं इसप्रकार समुद्रको क्षोभित कर दिया ॥ ६८ ॥ बाणके बहानेसे जिसकी प्रतापरूप अग्नि समुद्रके जलमें भी जलती है, उस अग्निने केवल समुद्रको ही नहीं पिया है किंतु देवोंका अभिमानभी पी डाला है ॥ ६९ ॥ भला देवलोक भी उसे कैसे नमस्कार न करेंगे क्योंकि उसने अपने बाणरूपी जालसे गलेमें बांधकर उन्हें जबर्दस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥ ७० ॥ बारह योजन दूर तक जानेवाले जिसके बाणने समुद्रमें रहनेवाले मगधदेवके उत्तम निवासस्थानको भी अपना निशाना बनाया था ॥ ७१ ॥ अमोघ बाणके द्वारा विजयार्द्ध पर्वतके स्वामी विजयार्द्ध देवको जीता था तथा उसके इस विजयकी घोषणा विजयार्द्ध पर्वतपर भी देवलोगोंने की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि अनेक देव उसके सेवक हो

वर्णनैः॥ ७३ ॥ गुहामुखमपध्वांत व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयार्द्धाद्रेर्यो व्यगाहत ता महीं ॥ ७४ ॥ म्लेच्छाननिच्छतोऽप्याज्ञां प्रच्छाद्य जयसाधनैः । सेनान्या यो जय प्राप बलादाच्छिद्य तद्धन ॥ ७५ ॥ कृतोऽभिषेको यस्यारादभ्येत्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेपु स्थलपद्मायित यशः ॥७६॥ रत्नार्घैः पर्युपासाता य स्वर्धुन्यधिदेवते । वृषभाद्रितटे येन टकोत्कीर्णं कृतं यशः ॥ ७७ ॥ घटदासी कृता लक्ष्मीः सुराः किंकरता गता. । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवते धन ॥ ७८ ॥ स यस्य जयसैन्यानि निर्जित्य निखिला दिशः । भ्रमंति स्माखिलांभोधितटांतवनभूमिषु ॥ ७९ ॥ त्वामायुष्मन् जगन्मान्यो मानयन्कुशलाशिषा । समादिशति चक्राका प्रथयन्नधिराजता ॥ ८० ॥ मदीय राज्यमाक्रातनिखिलद्वीपसागरं । राजतेऽस्मत्प्रिय-

---

चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणीके विद्याधरोंने उसकी जयजयकारका वर्णन करते हुये आज्ञा पालन की है ॥ ७३ ॥ जिसका अंधकार गुफाके दरवाजेको अपनी सेनाके साथ उलंघन कर विजयार्द्ध पर्वतके उत्तर दिशाकी ओरकी उस अगम्य पृथ्वीपर भी उसने अपना अधिकार किया है ॥ ७४ ॥ भरतकी आज्ञाको नहीं मानते हुये भी म्लेच्छ लोगोंको सेनापतिके द्वारा अपनी सेनासे हराकर तथा जबर्दस्ती उनका धान छुडाकर जिसने विजय प्राप्त किया है ॥ ७५ ॥ तथा अच्छे अच्छे देवोंने शीघ्रतासे आकर जिसका अभिषेक किया है और जिसका यश बडे बडे पर्वतोंकी शिखरोंपर स्थल कमलोंके समान सुशोभित हो रहा है ॥ ७६ ॥ गंगा सिंधु दोनों नदियोंके देवताओंने रत्नोंका अर्घ देकर जिसकी पूजा की है तथा जिसने वृषभाचलपर्वतकी दीवालपर अपना यश टांकीसे उकेरकर लिखा है ॥ ७७ ॥ जिसने लक्ष्मीको जल भरनेवाली छोटी दासीके समान की है, देव सेवक किये हैं, सब रत्न जिसके आधीन हैं और निधियां जिसे अनंत धन देती हैं ॥ ७८ ॥ और जिसकी विजय करनेवाली सेनाने सब दिशाओंको जीतकर तीनों ओरके सब समुद्रोंके किनारेके बनोंकी पृथ्वीमें खूब भ्रमण किया था ॥ ७९ ॥ हे दीर्घायु बाहुबलि ! उस जगतमें मान्य महाराज भरतने अपने चक्रवर्तीपनेके राज्यको प्रसिद्ध करतेहुये आपको कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे

भ्राता न बाहुबलिना विना ॥ ८१ ॥ ताः सपदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छद. । ये समं बधुभिर्भुक्तारसविभक्तसुखोदये ॥ ८२ ॥ अन्यच्च नामिताशेषनृसुरासुरखेचर । नाधिराज्य विभात्यस्य प्रणामविमुखे त्वयि ॥ ८३ ॥ न दुनोति मनस्तीव्र रिपुरप्रणतस्तथा । बधुरप्रणमन्गर्वाद्दुर्विदग्धो यथा प्रभु ॥ ८४ ॥ तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यता प्रभुरक्षमी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु सपदा ॥ ८५ ॥ अवध्यशासनस्यास्य शासन ये विमन्वते । शासन द्विषता तेषा चक्रमप्रतिशासनं ॥ ८६ ॥ प्रचडदडनिर्घातनिपातपरिखंडितान् । तदाज्ञाखडनव्यग्रान्पश्यैतान्मंडलाधिपान् ॥ ८७ ॥ तदेत्य द्रुतमायुष्मन्

आदरसत्कार कर आज्ञा की है कि ॥८०॥ यद्यपि मेरा राज्य समस्त द्वीप और समुद्रोंतक फैलाहुआ है तथापि वह हमारे प्रिय भाई बाहुबलिके बिना शोभा नहीं देता है ॥ ८१ ॥ संपत्ति वही है, ऐश्वर्य वही है, भोग उपभोग वे ही हैं और सामग्री वही है जिसे सब भाई लोग सुखके उदयको बांटतेहुये उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि जबतक आप प्रणाम न करेंगे तबतक जिसमें समस्त राजा, देव, व्यंतर और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा यह भरतका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥ ८३ ॥ यदि कोई शत्रु प्रणाम न करे तो उससे स्वामीके मनमें इतना क्लेश नहीं होता है कि जितना अपनेको झूठ मूठ पंडित माननेवाले और अभिमानसे प्रणाम न करतेहुये भाईसे होता है ॥ ८४ ॥ इसलिये आप किसी अपराधकी क्षमा न करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामकर उनका आदरसत्कार कीजिये, क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक तरहकी संपदाओंको देनेवाला है, संसारमें यही प्रशंसनीय है ॥ ८५ ॥ भरतकी आज्ञा कभी उलंघन नहीं की जा सकती जो लोग उसे नहीं मानते हैं उन शत्रुओंको जिसपर किसीका वल नहीं चल सकता ऐसा चक्र रत्न स्वयं दंड देनेवाला मौजूद है ॥ ८६ ॥ आप भरतकी आज्ञाका उलंघन करनेसे व्याकुल हुये इन मंडलेश्वर राजाओंको देखिये, भयंकर दंडरत्नरूपी वज्रपातसे इनके कैसे टुकडे टुकडे हुये हैं ॥ ८७ ॥ इसलिये हे दीर्घायु कुमार ! आप शीघ्र ही चलकर भरतकी इच्छा पूर्ण कीजिये, आप दोनों भाइयोंके

पूरयास्य मनोरथ ॥ युवयोरस्तु सांगत्यात्संगत निखिलं जगत् ॥ ८८ ॥ इति तद्वचनस्यांते कृतमंदास्मितो युवा । धीर वचो गंभीरार्थमाचचक्षे विचक्षणः ॥ ८९ ॥ साधूक्तं साधुवृत्तत्व त्वया घटयता प्रभोः । वाचस्पत्यं तदेवेष्ट पोषक स्वमतस्य यत् ॥ ९० ॥ सामदर्शयता नाम भेददडौ विशेषतः । प्रयुजानेन साध्येऽर्थे स्वातत्र्य दर्शित त्वया ॥ ९१ ॥ स्वतत्रस्य प्रभोः सत्य स त्वमतश्चरश्चर. । अन्यथा कथमेवास्य व्यनक्त्यन्तर्गतं गत ॥ ९२ ॥ निसृष्टार्थतयाऽस्मासु निर्दिष्टस्त्वं निधीशिना । विशिष्टोऽसि न वैशिष्ट्यं परमर्मस्पृगीदश ॥ ९३ ॥ अय खलु खलाचारो यद्वलात्कारदर्शन । स्वगुणोत्कीर्तन दोषोद्भावन च परेषु यत् ॥ ९४ ॥ विवृणोति खलोऽन्येषा दोषान्स्वाँश्च गुणान् स्वय। सँवृणोतिच दोषान् स्वान् परकीयान्गुणानपि ॥९५॥

मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥ ८८ ॥ इसप्रकार जब वह दूत कह चुका तब चतुर और जवान बाहुबलि कुमार कुछ कुछ हंसकर जिसमें गंभीर अर्थ भराहुआ है ऐसे धीरवीर वचन कहने लगे ॥ ८९ ॥ कि हे दूत ! अपने स्वामीकी सदाचरणताका संपादन करनेवाले तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टता करनेवाला हो वही कहना ठीक है ॥९०॥ साम अर्थात् नर्मी दिखलातेहुये तूने विशेष करके भेद और दंड भी दिखला दिये तथा उन भेद और दंडको दिखलातेहुये तूने यह भी दिखला दिया कि तू अपना मतलब सिद्ध करनेमें बहुत ही स्वतंत्र है ॥ ९१ ॥ इसप्रकार कहनेवाला तू अवश्य ही स्वतंत्र रहनेवाले अपने स्वामीका अंतरंग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तेरे स्वामीके निश्चित कियेहुये हृदयके समाचार कैसे प्रगट होते ॥ ९२ ॥ तूने पहिले अपने स्वामीके बहुतसे काम किये हैं इसलिये ही चक्रवर्तीने तुझे मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इसप्रकार दूसरेका मर्म छेदन करना मेरी समझमें अच्छा नहीं जान पडता ॥ ९३ ॥ अपनी जबर्दस्ती दिखलाना तो वास्तवमें दुष्टोंका काम है, तथा अपने गुणोंका वर्णन करना और दूसरोंके दोष दिखलाना भी एक तरहकी दुष्टता है ॥ ९४ ॥ दुष्ट लोग भी अपने गुणोंका वर्णन स्वयं किया करते हैं और दूसरोंके दोष प्रगट किया करते हैं, इसीतरह वे अपने दोष और दूसरोंके गुणोंको भी सदा

अनिराकृतसंतापा सुमनोभिः समुज्झिता । फलहीना श्रयत्यज्ञाः खलता खलतामिव ॥ ९६ ॥ सतामसमता विष्वगाचितां विरसैः फलैः । मन्ये दुःख लतामेनां खलतां लोकतापिनीं ॥ ९७ ॥ सोपप्रदानं सामादौ प्रयुक्तमपि वाध्यते । पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये विप्रतिषेधिनि ॥ ९८ ॥ यथाविषयमेवैषामुपायानां नियोजनं । विष्वग् तद्विपर्यासः फलिष्यति पराभवं ॥ ९९ ॥ नैकांतशमनं साम समाम्नातं सहोष्माणि । स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पि-

---

छिपाते रहते हैं ॥ ९५ ॥ जिसप्रकार खलता अर्थात् आकाशकी बेलसे किसीका संताप दूर नहीं होता है वह सुमन अर्थात् फूलोंसे शून्य और फल रहित रहती है उसीप्रकार खलता अर्थात् दुष्टतासे भी किसीका संताप दूर नहीं होता, वह भी सुमन अर्थात् उत्तम मनुष्योंसे शून्य रहती है अर्थात् उत्तम मनुष्य उससे अलग ही रहते हैं और वह फल रहित होती है अर्थात् दुष्टतासे कुछ भी फल नहीं निकलता है, ऐसी इस दुष्टताको केवल मूर्ख लोग ही आश्रय देते हैं ॥ ९६ ॥ सज्जन लोग जिसमें कभी संमति भी नहीं देते हैं जो विरस अर्थात् रस रहित अथवा विरसता—अनेकता उत्पन्न करनेवाले फलोंसे सबओर भरीहुई है और जो लोगोंको संताप उत्पन्न करनेवाली है ऐसी इस खलता अर्थात् दुष्टताको मैं केवल दुःखकी लता ही मानता हूं ॥ ९७ ॥ जो पुरुष न्यायवान है परंतु भेद और दंडसे जिसमें कुछ विकार होगया है ऐसे पुरुषकेलिये साम आदिका प्रयोग करते समय कुछ देनेका विधान करना भी वाधित होता है, भावार्थ—जो न्यायवान् और अपने ऐसा बलवान है उसकेलिये भेद दंडके द्वारा कुछ विकार होनेपर नर्मीका उपाय करना या कुछ देकर वश करनेका उपाय करना व्यर्थ ही है ॥ ९८ ॥ साम दाम दंड भेद इन चारों उपायोंको यथायोग्य स्थानमें लगानेसे ही कार्यसिद्धि होती है, यदि विपरीत रीतिसे इन्हें लगाया जाय अर्थात् जो जिसके योग्य नहीं है उसकेलिये उसका प्रयोग किया जाय तो उससे उलटा प्रयोग करनेवालेका तिरस्कार होता है, भावार्थ—जो नर्मीके योग्य है उसके साम्हने नर्मी दिखलाना, जो दंडके योग्य है उसे दंड ही देना उचित है, जो दंडपानेकी

घीवांबुसचन ॥ १०० ॥ उपप्रदानमप्येवंप्राय मन्ये महौजसि । समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कुतः शमः ॥ १०१ ॥ लोहस्येवोपतप्तस्य मृदुता न मनस्विनः । दण्डोऽप्यनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि ॥ १०२ ॥ ततो व्यत्यासयन्नेतानुपायाननुपायवित् । स्वयं प्रयोगवैगुण्यात्सीदत्येव भवादृश. ॥१०३॥ साम्नाऽपि दुष्करं साध्या वयमित्युपसँह्वते । तत्रोत्सेक प्रयुञ्जानो व्यक्त मुग्धायते भवान् ॥ १०४ ॥ वयसाऽधिक इत्येव न श्लाघ्यो भरताधिपः । जरन्नपि

योग्यता रखता है उसे साम या दाम देना अथवा जो सामकी योग्यता रखता है उसे दाम भेद या दंड देना उलटा तिरस्कार करनेवाला है ॥ ९९ ॥ जो प्रतापशाली पुरुष है उसके लिये साम अर्थात् नर्मीका प्रयोग करना भी सवतरह शांत करनेवाला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतापशाली पुरुष स्निग्ध अर्थात् प्रिय होनेपर भी यदि वह क्रोधित हो जाय तो उसकेलिये सामका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किंतु गर्म घीमें पानी डालनेके समान है भावार्थ—जैसे गर्म घी पानी डालनेसे शांत नहीं होता उलटा अधिक छटपटाता है उसीप्रकार प्रतापशाली पुरुष सामसे शांत नहीं होता उलटा वह उससे अधिक चिड जाता है ॥ १०० ॥ इसीप्रकार प्रतापशाली पुरुषकेलिये दाम अर्थात् कुछ देना भी ऊपरके ही समान है अर्थात् देनेसे भी प्रतापशाली पुरुष शांत नहीं होता है, क्योंकि हजारों समिधायें [लकडियां] देनेपरभी प्रज्वलित हुई अग्नि भला कैसे शांत हो सकती है ॥ १०१ ॥ जिसप्रकार लोहा तपानेसे नर्म नहीं होता उसीप्रकार अभिमानी पुरुष दुख देनेपर भी नर्म नहीं होते हैं इसलिये उनपर दंडका प्रयोग करना भी व्यर्थ है क्योंकि आदरसत्कारकर पकडने योग्य साधारण पशुओंपर दंड चल सकता है, उसका प्रयोग सिंहपर नहीं किया जा सकता ॥ १०२ ॥ इसलिये उलटी रीतिसे साम दाम दंड भेद इन चारों उपायोंका प्रयोग करनेवाले और इसलिये ही उपाय न जाननेवाले आप सरीखे लोग इन चारों उपायोंके प्रयोग करनेकी अज्ञानतासे अपने आप दुखी होते हैं ॥ १०३ ॥ हे दूत ! हमको नर्मीसे भी वश करना असाध्य है यह बात तू जानता है तथापि चुप-

गजः कक्ष्या गाहते किं हरेः शिशोः ॥ १०५ ॥ प्रणयः प्रश्रयश्चेति सगतेषु सनाभिषु । तेष्वेवासगतेष्वंग तद्द्वयस्य हता गतिः ॥ १०६ ॥ ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतत्काममस्त्वन्यदा सदा । मूर्ध्न्यारोपितखड्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः ॥ १०७ ॥ दूत नो दूयते चित्तमन्योत्सेकानुवर्तनैः । तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्त्यतः परः ॥ १०८ ॥ राजोक्तिर्मयि तस्मिंश्च संविभक्ताऽदिवेधा । राजराजः स इत्यद्य स्फोटो गडस्य मूर्धनि ॥ १०९ ॥ कामं स राजराजोऽस्तु रत्नैर्यातोऽतिगृध्नुताम् । वयं राजन इत्येव सौराज्ये स्वे व्यवस्थिताः ॥ ११० ॥ बालानिव छलादस्मानाहूय प्रणमय्य च । पिंडीखड त्वा-

चाप वैठेहुये हमलोगोंके लिये वल और अभिमान दिखलाता है इससे तू साफ मूर्ख जान पडता है ॥ १०४ ॥ भरतेश्वर उमरमें वडे हैं केवल इतनेसे ही वे प्रशंसनीय नहीं गिने जा सकते, क्योंकि हाथी बूढा होनेपर भी क्या सिंहके बच्चेकी वरावरी करसकता है ॥ १०५ ॥ हे दूत ! प्रेम और नम्रता ये दोनों ही परस्पर प्रेम करनेवाले कुटुंवी लोगोंमें संभव हो सकते हैं, यदि उन्हीं कुटुंवियोंमें परस्पर विरोध हो जाय तो उन दोनोंही की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है अर्थात् विरोधी कुटुंवियोंमें प्रेम और नम्रता दोनों नष्ट हो जाती हैं ॥ १०६ ॥ वडा भाई नमस्कार करने योग्य है यह वात अन्य समयमें इच्छानुसार हमेशा हो सकती है परंतु जिसने हमारे मस्तकपर तलवार रख छोडी है उसको प्रणाम करना यह कौनसी रीति है ॥ १०७ ॥ हे दूत ! दूसरेके अहंकारके अनुसार चलनेसे हमारा चित्त दुखी होता है, क्योंकि संसारमें एक सूर्य ही तेजस्वी है क्या सूर्यसे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ? ॥ १०८ ॥ आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने ' राजा ' नह शब्द मेरेलिने और भरतकेलिये दोनोंकेलिये दिया है, परंतु भरत आज राजराजा होगया है अर्थात् उसके पीछे एक राज शब्द अधिक लग गया है सो यह कपोलके ऊपर गूमडेके समान व्यर्थ है ॥ १०९ ॥ अथवा वह भरत रत्नोंसे अत्यंत लोभी होगया है इसलिये वह खुशीसे राजराजा अर्थात् कुवेर रहो, हम अपने धर्मराज्यमें रहकर राजा ही वने रहेंगे ॥ ११० ॥ वह भरत वालकोंके समान छल कपटसे हम लोगोंको बुलाकर तथा

भाति महीखंडस्तदर्पितः ॥ १११ ॥ स्वदोर्द्रुमफलं श्लाघ्यं यत्किंचन मनस्विना । न चातुरंतमप्यैश्यं परभूलतिकाफलं ॥ ११२ ॥ पराज्ञोपहतां लक्ष्मीं यो वाछेत्पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति तामुक्तिं सर्पोक्तिमिव डुंडुभः ॥ ११३ ॥ परावमानमलिना भूतिं धत्ते नृपोऽपि यः । नृपशोस्तस्य नन्वेष भारो राज्यपरिच्छदः ॥ ११४ ॥ मानभंगार्जितैर्भोगैर्यः प्राणान्धर्तुमीहते । तस्य भग्नरदस्येव द्विरदस्य कुतो भिदा ॥ ११५ ॥ छत्रभगाद्विनाप्यस्य छायाभंगोऽभिलक्ष्यते । यो मानभगभारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥ ११६ ॥ मुनयोऽपि समानाश्चेत्त्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थी पुमानु-

---

प्रणाम कराकर पृथ्वी देना चाहता है, सो इसप्रकार उसका दियाहुआ यह पृथ्वीका टुकडा हमारेलिये खलके टुकडेके समान व्यर्थ है ॥ १११ ॥ अभिमानी लोगोंको जो कुछ थोडा बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल मिले वही प्रशंसनीय है उनकेलिये दूसरेकी भौंहरूपलताका फल अर्थात् भौंहके इशारेसे दियाहुआ यदि चार समुद्र पर्यंत पृथ्वीका ऐश्वर्य भी मिले तो वह भी प्रशंसनीय नहीं है ॥ ११२ ॥ जिसप्रकार विषरहित दुमुही 'सर्प' इस शब्दको व्यर्थ धारण करता है उसीप्रकार जो राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे मलिन हुई लक्ष्मीकी इच्छा करता है वह 'राजा, इस शब्दको भी व्यर्थ धारण करता है ॥ ११३ ॥ जो राजा होकर भी दूसरेके अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है उस मनुष्यरूप पशुकेलिये राज्यकी यह सब सामिग्री बोझेके समान है ॥ ११४ ॥ जिसके दांत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष अपना मानभंग होनेपर प्राप्त हुये भोगोपभोगोंसे प्राणोंको धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें क्या भेद है? अर्थात् वह पुरुष अशक्त पशुके समान है ॥ ११५ ॥ जो राजा मानभंगके बोझसे नम्र हुये अपने शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके बिना ही हो जाता है, भावार्थ—जो अपना मानभंगकर नीचा शिर कियेहुये छत्र धारण करते हैं, राजा कहलाते हैं वे कांतिरहित निस्तेज हो जाते हैं ॥ ११६ ॥ जिन्होंने भोगोपभोगकी सब सामग्रियां छोड दी हैं ऐसे मुनियोंको भी जब अभिमान रहता है तब फिर जो राज्य

ज्ज्ञेत्समानता ॥ ११७ ॥ वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनं । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता ॥ ११८ ॥ मानमेवाभिरक्षंतु धीराः प्राणैः प्रणश्वरैः । नन्वलंकुरुते विश्वं शश्वन्मानार्जितं यशः ॥ ११९ ॥ वरं चक्रधरस्याय त्वयाऽत्युक्तः पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं स्तुतिनिंदापरायणः ॥ १२० ॥ वचोभिः पोषयंत्येव पंडिताः परिफल्ग्वपि । प्रक्रांतायां स्तुतावित्थं सिंहो ग्राममृगो ननु ॥ १२१ ॥ इदं वाचनिकं कृत्स्नं त्वदुक्तं प्रतिभाति नः । क्वाऽस्य दिग्विजयारंभः क्व धनोच्छनचंचुता॥ १२२ ॥ दधच्चाक्रधरीं वृत्तिं बलिं भिक्षामिवाहरन् । दीनतायाः परां कोटिं प्रभुरारोपि-

---

भोगनेकी इच्छा करना चाहता है ऐसा कौन पुरुष अभिमानको छोड देगा ॥ ११७ ॥ वनमें निवास करना अच्छा है, प्राणोंको छोडदेना अच्छा है, किंतु जिन्हें अपने कुलका अभिमान है ऐसे पुरुषोंको दूसरेकी आज्ञाके वश रहना अच्छा नहीं है ॥ ११८ ॥ धीरवीर पुरुषोंको अवश्य नाश होनेवाले इन प्राणोंके द्वारा अर्थात् प्राण देकर भी अभिमानकी ही रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि अभिमानके द्वारा कमायाहुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥ ११९ ॥ तूने जो यह चक्रवर्तीका पराक्रम बहुत बढाकर कहा है सो ठीक ही है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुतिनिंदा कहनेवाला है अर्थात् स्तुतिमें निंदाको सूचित करता है ॥ १२० ॥ पंडितलोग सार रहित छोटीसी वस्तुको भी अपने बचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि जब स्तुति करना प्रारंभ किया तब कुत्तेको भी सिंह कहना ही पडता है ॥ १२१ ॥ तूने अबतक जो कुछ कहा है वह सब हमलोगोंको केवल बचनाडंबर ही जान पडता है क्योंकि भरतका कहां तो दिग्विजयका प्रारंभ करना और कहां धन इकट्ठा करनेकी तृष्णा ? भावार्थ—यह दिग्विजय केवल धन इकट्ठा करनेका एक साधन है ॥१२२॥ जिसप्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर घरघरसे भीख मांगता है उसीप्रकार चक्रवर्तीके आचरण करताहुआ और भिक्षाके समान कर वसूल करताहुआ तेरा प्रभु भरत तूने दीनताकी परमहद्दको पहुंचा दिया है अर्थात् अतिशय दीन बना दिया है ॥१२३॥ यह बात ठीक है कि चक्रवर्तीने अपने दिग्विज-

तस्त्वया ॥ १२३ ॥ सत्यं दिग्विजये चक्री जितवानमरानिति । प्रत्येयमिदमेतत्तु चिंत्यमत्र ननु त्वया ॥ १२४ ॥ स किं न दर्भशय्याया सुप्तो नोपोषितोऽथवा । प्रवृत्तो जलमायाया शरपात समाचरन् ॥ १२५ ॥ कृतचक्रपरिभ्रातिर्दंडेनायतिशालिना । घटयन्पार्थिवानेष स कुलालायते तव ॥१२६॥ आगःपरागमातन्वन् स्वयमेष कलंकितः । चिर कलंकयत्येष कुल कुलभृतामपि ॥ १२७ ॥ नृपानाकर्षतो दूरान्मन्त्रैस्तन्त्रैश्च योजितैः । श्लाघ्यते कियदेतस्य पौरुष लज्जया विना ॥ १२८ ॥ दुनोति नो भृश दूत श्लाघ्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायित जले यस्य बल म्लेच्छबलैस्तदा ॥१२९॥ यशोधनम-

---

में देवोंको भी जीतलिया है परंतु यह बात केवल मान लेना चाहिये, अन्यथा इस विषयमें तू इतना तो विचार कर कि ॥ १२४ ॥ विद्याके द्वारा जलको स्थिर करनेमें (जलस्तंभन करनमें) लगेहुये तेरे चक्रवर्तीने जब समुद्रमें बाण छोडा था तब वह क्या दर्भ शय्यापर नहीं सोया था ? अथवा उसने उपवास नहीं किया था ? ॥ १२५ ॥ जिसप्रकार कुंभार अपने लंबे डंडेसे चक्रको फिराताहुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घडे बनाता है उसीप्रकार भरत भी अपने लंबे डंडेसे (दंड रत्नसे) चक्र अर्थात् चक्र रत्नको फिराता हुआ पार्थिव अर्थात् राजाओंको वश करता फिरता है, इसलिये दुःखके साथ कहना पडता है कि वह ठीक कुंभारके समान जान पडता है ॥ १२६ ॥ वह भरत पापकी धूलको चारोंओर उडाताहुआ स्वयं कलंकित हुआ है और हमारे ऐसे कुलीन पुरुषोंके कुलको भी सदाके लिये कलंकित कर रहा है ॥ १२७ ॥ हे दूत ! नियुक्त कियेहुये मंत्र तंत्रोंके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओंको बुलानेवाले इस भरतका पराक्रम बिना लज्जाके अर्थात् निर्लज्ज होकर तू कितना वर्णन कर रहा है ? ॥ १२८ ॥ हे दूत ! जिससमय तू भरतके युद्धकी प्रशंसा करता है उससमय हम लोगोंको बहुत ही दुःख होता है, क्योंकि उससमय म्लेच्छोंकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें झूलेके समान हिंडोले खा रही थी, अर्थात् खूब ही हिल रही थी ॥ १२९ ॥ क्षत्रियोंके पुत्रोंको तो जिसे कोई भी ग्रहण न कर सके ऐसे यशरूपी धनकी ही रक्षा करना चाहिये, क्योंकि इस पृथ्वीमें

सॅहार्य क्षत्रपुत्रेण रक्ष्यता । निखनंतो निधीन् भूमौ बहवो निधनं गताः ॥१३०॥ रत्नैः किमस्ति वा कृत्यं यान्यरत्निमितां भुवं । न याति यत्कृते यांति केवलं निधन नृपाः ॥ १३१ ॥ तुलापुरुष एवायं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्नपुंजेन वत नैश्वर्यमीदृशं ॥ १३२ ॥ ध्रुवं स्वगुरुणा दत्तामाच्छि- चित्सति नो भुव । प्रत्याख्येयत्वमुत्सृज्य गृध्नोरस्य किमौषध ॥ १३३ ॥ दूत तातवितीर्णां नो महीमेना कुलोचिता । भ्रातृजायामिवाऽऽदित्सोर्नास्य लज्जा भवत्पतेः ॥ १३४ ॥ देयमन्यत्स्वतंत्रेण यथाकाम जिगीषुणा । मुक्त्वा कुलकलत्र च क्षमातल च भुजार्जित ॥ १३५ ॥ भूयस्तदलमालप्य स वा भुंक्ता महीतलं । चिरमेकातपत्रांकमहं वा भुजविक्रमी ॥ १३६ ॥ कृतं वृथा भटालापैरर्थसिद्धिवहिष्कृतैः । संग्रामनिकषे व्यक्तिः पौरुषस्य ममास्य

निधियोंको गाढ गाढकर रखनेवाले तो अनेक लोग मर चुके हैं ॥ १३० ॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथ्वीकी दूरीपर भी साथ नहीं जा सकते, जिन्हें इकट्ठा करनेकेलिये राजाओंको केवल मरना पडता है ऐसे रत्नोंसे क्या कार्य निकल सकता है ? ॥ १३१ ॥ जिसे सब राजाओंने मिलकर रत्नोंके समूहसे तोला है वह यह भरत एकप्रकारका तुलापुरुष है, खेद है कि यह ऐसा कुछ ऐश्वर्य नहीं कहलाता है ॥१३२॥ वह भरत अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवकी दी हुई इस हमारी पृथ्वीको जबर्दस्ती लेना चाहता है, सो अवश्य ही ऐसे लोभीका निराकरण अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥ १३३ ॥ हे दूत ! पिताके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथ्वी भरतकेलिये भाईकी बहूके समान है, अब वह भरत उसे ही लेना चाहता है, क्या ऐसे तेरे स्वामीको लज्जा नहीं आती है ? ॥ १३४ ॥ जो पुरुष शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं तथा स्वतंत्र हैं वे अपने कुलकी स्त्रियोंको और भुजाओंसे जीती हुई पृथ्वीको छोडकर बाकी सब वस्तु इच्छानुसार दे सकते हैं, भावार्थ—स्त्री और पृथ्वीको छोडकर बाकी सब कुछ देने योग्य है ॥१३५॥ इसलिये बार बार कहनेसे कुछ लाभ नहीं है, इस पृथ्वीको एक छत्र होकर अर्थात् सबका आधिपति होकर वह भरत ही उप- भोग करे अथवा भुजाओंमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही चिराकालतक उपभोग करूं ॥ १३६ ॥ जिसमें

ष ॥ १३७ ॥ ततः समरसंघट्टे यद्वा तद्वाऽस्तु नौ द्वयोः । नीरेकामिदमेकं नो वचो हर वचोहर ॥ १३८ ॥ इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण वचोहरः । द्रुतं विसर्जितो गच्छ पतिं सन्नाहयेत्वरं ॥ १३९ ॥ तदा मुकुटसंघट्टादुच्छलन्मणिकोटिभिः । कृतोल्मुकशतक्षेपैरिवोत्तस्थे महोशिभिः ॥ १४० ॥ क्षणं समरसंघट्टपिशुनो भटसंकटे । श्रूयते स्म भटालापो बले भुजबलीशितुः ॥ १४१ ॥ चिरात्समरसंमर्दः स्वामिनोऽयमभूदिह । किं वयं स्वामिसत्कारादनृणीभवितुं क्षमाः ॥ १४२ ॥ पोषयंति महीपाला भृत्यानवसरं प्रति । न चेदवसरः सार्यः किमेभिस्तृणमानुषैः ॥ १४३ ॥ कलेवरमिदं त्याज्यमर्जनीय

कुछ भी अर्थसिद्धि नहीं है ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ बचनोंसे कुछ लाभ नहीं है, अब तो युद्धरूपी कसौटीपर ही मेरा और भरतका पराक्रम स्पष्ट प्रगट होना चाहिये ॥ १३७ ॥ इसलिये हे दूत ! तू यह हमारा संदेहरहित बचन भरतसे जाकर कह कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी बडीभारी भीडमें ही होगा ॥ १३८ ॥ इसप्रकार जिसने अपना अभिमान प्रगट कर दिखाया है ऐसे कुमार बाहुबलिने दूतको शीघ्र ही बिदा किया और यह कह दिया कि जा और अपने स्वामी भरतको शीघ्र ही युद्धके लिये तैयार कर ॥ १३९ ॥ जिसप्रकार आलातचक्रसे अग्निके सैकडों फुलिंगे निकलकर चारोंओर फैलते हैं उसीप्रकार जिनके मुकुटोंकी रगडसे करोडों मणि उछलकर इधर उधर पड रहे हैं ऐसे अनेक राजा महाराजा उससमय उस सभामें उठ खडे हुये ॥१४०॥ उससमय क्षणभर अनेक योद्धाओंसे भरेहुये महाराज बाहुबलिकी सेनामें युद्धकी भीडको सूचित करताहुआ योद्धालोगोंका परस्परका भाषण सुनाई दे रहा था ॥ १४१ ॥ इससमय स्वामीकी यह युद्धकी तैयारी वहुत दिनसे हुई है, क्या अब हम अपने स्वामीके (पालनपोषण द्वारा किये हुये) सत्कारके ऋणसे छूट सकेंगे ? ॥ १४२ ॥ राजालोग समयकेलिये ही सेवक लोगोंका पालन पोषण करते हैं, यदि समय पडनेपर भी स्वामीका कार्य नहीं किया तो फिर ऐसे घास फूसके बनेहुये मनुष्योंसे क्या लाभ है ? ॥ १४३ ॥ अब यह शरीर छोडना होगा, यशरूपी धंन कमाना होगा और युद्धके विजय करनेमें

यशोधनं । जयश्रीर्विजये लभ्या नाल्पोदर्को रणोत्सवः ॥१४४॥ मदातपगरच्छाये प्रत्यगेर्व्रणजर्जरैः । लप्स्यामहे कदा नाम विश्रामं रणमंडपे ॥१४५॥ प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं निर्भिद्य सायकैः । शरशय्यामसंबाधमध्यासिष्ये कदाऽन्वह ॥ १४६ ॥ कर्णतालानिलाधूतिविधूतसमरश्रमः । गजस्कंधे निषीदामि कदाऽह क्षणमूर्छितः ॥ १४७ ॥ दंतिदंतार्गलप्रोतात्प्रलदंत्रस्खलद्वचाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाऽहं लक्ष्यतां भजे ॥ १४८ ॥ गजदंतांतरालंबिस्वान्त्रमालावलत्रया । कर्हि दोलामिवारोप्य तुलयामि जयश्रियं ॥ १४९ ॥ ब्रुवाणैरिति संग्रामरसिकैरुद्भटैर्भटैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् बले

जयलक्ष्मी प्राप्त करनी होगी ! यह युद्धका उत्सव कुछ थोडा फल देनेवाला नहीं है ॥ १४४ ॥ वह कौनसा दिन होगा कि जब हमलोग घावोंसे जरजरित हुये शरीरके प्रत्येक अंगसे जिसमें थोडी थोडी गर्मी आ रही है ऐसी वाणोंकी छाया जिसमें पड रही है ऐसे युद्धके मंडपमें [मैदानमें] विश्राम लेंगे ॥ १४५ ॥ कोई कहता था कि मैं किस दिन अपने वाणोंसे प्रत्येक सेनाके कियेहुये अनेक व्यूहोंको (सेनाकी रचना विशेषको) छेदकर विना किसी उपद्रवक वाणोंकी शय्यापर सोऊंगा ॥ १४६ ॥ कोई कहता था कि मैं किस दिन युद्धमें क्षणभर मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताडके पंखेकी वायुक चलनेसे जिसके युद्धका परिश्रम कुछ दूर हुआ है ऐसा होताहुआ हाथीक कंधेपर बैठूंगा ॥ १४७ ॥ हाथियोंके दांतरूपी अर्गलोंमें (एकप्रकारके डंडेमें) पिरोये जानेसे जिसकी अंतडियां सब निकल रहीं हैं और जिसके मुंहसे टूटे फूठे वचन निकल रहे हैं ऐसा होताहुआ मैं किस दिन जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बनाया जाऊंगा, अर्थात् मैं मरताहुआ भी कब विजय पाऊंगा ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दांतोंके बीचमें लटकतेहुये अंतडियोंके समूहरूपी मोटी रस्सियोंपर झूलाके समान विजयलक्ष्मीको बिठाकर कब मैं उसे तोलूंगा भावार्थ—मैं कब अपने मरेहुये शरीरके साथ विजयलक्ष्मीको तौलूंगा ॥ १४९ ॥ इसप्रकार परस्पर बातचीत करतेहुये युद्धके प्रेमी बडे बडे योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने अपने शस्त्र और शिरपर देनेकी लोहेकी टोपी

बले ॥१५०॥ ततः कृतभय भूयो भटभ्रुकुटितर्जितैः। पलायितमिव क्वाऽपि परिच्छित्तिमगादहः॥१५१॥ अथारुष्यद्भटानीकनेत्रच्छायार्पितां रुच। दधान इव तिग्मांशुरासीदारक्तमडल॥१५२॥ क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननक्ष्माजपल्लवैः। स दृगालोहितच्छायो ददृशेऽर्कांशुसस्तरः॥ १५३ ॥ करैर्गिर्यग्रसँलग्नैर्मानुरालक्ष्यत क्षण। पातभीत्या करालम्बैः करालबमिवाश्रयन्॥१५४॥ पतत वारुणीसगात्परिलुप्तविभावसु। नालम्बत वतास्ताद्रिर्भानुं बिभ्यदिवैनसः॥१५५॥ गतो नु दिनमन्वेष्टु प्रविष्टो नु रसातलं। तिरोहितो नु शृङ्गाग्रैरस्तादेर्नैक्षि भानुमान्॥ १५६ ॥ विघटय्य तमो नैश करैराक्रम्य भूभृतः। दिवाऽवसाने

संभाली॥ १५० ॥ तदनंतर योद्धाओंकी भ्रकुटियोंके तिरस्कारसे मानों भयभीत हुआ ही वह दिन कहीं भागेहुयेके समान ही नष्ट होगया भावार्थ–दिन डूबने लगा ॥ १५१ ॥

अथानंतर–सायंकालके समय सूर्यका प्रतिबिंब लाल होगया मानों उसने क्रोधित हुये योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई गुलाबी कांति ही धारण की हो ॥ १५२ ॥ उससमय क्षणभरके लिये सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल पर्वतके शिखरपरके बनोंमें लगेहुये वृक्षोंके नये कोंपलोंके समान कुछ कुछ लाल रंगका दिखाई देरहा था ॥ १५३ ॥ उससमय वह सूर्य अस्ताचल पर्वतके शिखरपर लगेहुये किरणोंसे क्षणभरके लिये ऐसा जान पडता था मानों वह नीचे गिरनेके डरसे अपने लंबे किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥ १५४ ॥ जो सूर्य वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाके समागमसे (दूसरे अर्थमें वारुणी अर्थात् मद्यके समागमसे) नीचे पड रहा है और जिसका कांतिरूपी धन सब नष्ट होगया है ऐसे सूर्यको पापसे डरतेहुये ही मानों अस्ताचल पर्वतने सहारा नहीं दिया। भावार्थ–जिसे वारुणी अर्थात् मद्यका समागम होता है उसे स्पर्श करनेसे भी पाप लगता है, इससमय सूर्यको भी वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशाका समागम था अस्ताचलने उसे वारुणी अर्थात् मद्यका समागम समझ पापसे डरकर सहारा नहीं दिया इसलिये सूर्य पश्चिम दिशाकी ओर नीचे ही गिरपडा अर्थात् डूबगया ॥ १५५ ॥ उससमय सूर्य बिलकुल दिखाई

पर्यास्थदहो रविरनंशुकः ॥ १५७ ॥ तिर्यङ्मंडलगत्यैव शश्वद्वानुरयं भ्रमन् । विप्रकर्षाज्जनैर्मूढैरग्राहींव पतन्नधः ॥ १५८ ॥ व्यसनेऽस्मिन्दिनेशस्य शुचेव परिपीडिताः । विच्छायानि मुखान्यूहुस्तमोरुद्धा दिगंगनाः ॥ १५९ ॥ पद्मिन्यो म्लानपद्मास्या द्विरेफकरुणारुतैः । शोचंत्य इव संवृत्ता वियोगादहिमत्विषः ॥ १६० ॥ सध्यातपततान्यासन् वनान्यस्तमहीभृतः । परीतानीव दावाग्निशिखयाऽतिकरालया ॥ १६१ ॥ अनुरक्ताऽपि सन्ध्येयं परित्यक्ता

नहीं पडता था, ऐसा जान पडता था मानों वह वीतेहुये दिनको ढूंढनेकोलिये ही गया हो, अथवा पातालमें घुस गया हो अथवा अस्ताचल पर्वतके वडे वडे शिखरोंसे छिप गया हो ॥ १५६ ॥ हा ! देखो ! जिसप्रकार कोई वीर दरिद्ररूपी अंधकारको नष्ट कर और अपने करके द्वारा सव राजाओंपर आक्रमणकर भाग्यके अंतमें बिना ही वस्त्रोंके योंही चलाजाता है, उसीप्रकार जिसने रात्रिका सव अंधकार दूर किया था और जिसने अपनी किरणोंसे सव पर्वतोंपर आक्रमण किया था वही सूर्य दिनके अंतमें अर्थात् मायंकालके समय विना ही किरणोंके योंही चलागया, यह कितने दुखकी वात है ॥ १५७ ॥ यह सूर्य तो मेरुपर्वतके चारोंओर गोलाकार तिरछी गतिसे सदा फिरता रहता है, तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं पडता इसलिये मूर्ख लोगोंको नीचे पडतेहुयेके समान जान पडता है ॥ १५८ ॥ सूर्यकी इस आपत्तिके समय मानों शोकसे ही दुखी हुई दिशारूपी स्त्रियां अंधकारसे भरजानेके कारण अपने कांतिरहित मुखको धारण करतीं थीं, अर्थात् सव दिशाओंमें अंधकार छा गया था ॥ ९५९ ॥ जिनके कमलरूपी मुख मुरझागये हैं ऐसी कमलनियां (कमलोंकी बेलें) अपने स्वामी सूर्यके वियोगसे ही क्या मानों भ्रमरोंके करुणाजनक रुदनके द्वारा शोक करतीहुई सी जान पडती थीं ॥ १६० ॥ सायंकालके प्रकाशसे व्याप्त हुये अस्ताचल पर्वतके वन ऐसे जान पडते थे मानों अत्यंत भयंकर दावानल अग्निकी शिखासे घिरगये हों ॥ १६१ ॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली अथवा लाल रंगकी थी तथापि सूर्यने उसे छोडदिया था, इसलिये ही लाल

विवस्वता । प्रविष्टेवाऽग्निमारक्तच्छविरालक्ष्यतांबरे ॥१६२॥ शनैराकाशवाराशिविद्रुमोद्यानराजिवत् । रुरुचे दिशि वारुण्यां संध्यासिंदूरसच्छवि. ॥ १६३ ॥ चक्रावाकी मनस्तापदीपनो नु हुताशनः । पप्रथे पश्चिमा शाते संध्यारागो जपारुणः ॥ १६४ ॥ संध्यारागः स्फुरन् दिक्षु क्षणमैक्षि प्रियागमे । मानिनीना मनोरागः कृत्स्नो मूर्छन्निवैकतः ॥ १६५ ॥ धृतरक्तांशुका सध्यामनुयातीं दिनाधिपं । बहु मेने सतीं लोकः कृतानुमरणामिव ॥ १६६ ॥ चक्रवाकी धृतोत्कठमनुयातीं कृतस्वना । विजहावेव चक्राको नियतिं को नु लंघयेत् ॥ १६७ ॥ रवेः किमपराधोऽय कालस्य नियतेः किमु ।

रंगकी वह आकाशमें ऐसी जान पडती थी मानों उसने अग्निमें प्रवेश किया हो ॥ १६२ ॥ सिंदूरकी श्रेष्ठ कांतिके समान वह संध्या धीरे धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानों आकाश रूपी समुद्रमें मूगोंके बगीचोंकी पंक्तियां ही हों ॥ १६३ ॥ जपाके फूलके समान लालरंगकी वह संध्याकी लालिमा पश्चिम दिशाके अंतमें ऐसी बढ रही थी मानों चकवियोंके मनके संतापको बढानेवाला अग्नि ही हो, (रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग होनेसे उन्हें दुःख होता है)॥ १६४ ॥ सब दिशाओंमें फैलती हुई सायंकालकी लालिमा क्षणभरकेलिये ऐसी दिखाई पडती थी मानों प्रिय पतियोंके आनेके समय मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग एक जगह ही इकट्ठा हुआ हो ॥ १६५ ॥ जिसप्रकार पतिके साथ साथ मरनेवाली सतीको लोग बहुत कुछ मानते हैं उसीप्रकार जो अपने स्वामीके पीछे पीछे जा रही है और जिसने लाल किरणेंरूपी वस्त्र पहन रक्खे हैं ऐसी संध्याको भी लोग बहुत कुछ मानते थे ॥ १६६ ॥ उस सायंकालके समय चकवाने बडी उत्कंठासे अपने पीछे पीछे आतीहुई और शब्द करतीहुई चकवीको भी छोड दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि नियमसे होनहारका उलंघन भला कौन कर सकता है, [रात्रिमें चकवा चकवियोंका वियोग होता ही है] ॥१६७॥ उससमय चकवा चकवियोंके जोडे सब परस्पर अलग अलग होगये, सो क्या यह सूर्यका दोष है? अथवा कालका दोष है ? अथवा भाग्यका ही दोष है ? ॥१६८॥ उससमय बिना सूर्यके सब दिशाओंमें

रथांगमिथुनान्यासन् वियुक्तानि यतो मिथः ॥ १६८ ॥ घनं तमो विनार्केण व्यानशे निखिला दिशः । विना तेजस्विना प्रायस्तमो रुधे नु संततं ॥ १६९ ॥ तमोऽवगुंठिता रेजे रजनी तारकातता । विनीलवसना भास्वन्मौक्तिकेवाभिसारिका ॥ १७० ॥ तताघतमसे लोके जनैरुन्मीलितेक्षणैः । नादृश्यत पुरः किंचिन्मिथ्यात्वेनेव दूषितैः ॥ १७१ ॥ प्रसह्य तमसा रुद्धो लोकोतर्व्याकुलीभवन् । दृष्टिवैफल्यदृष्टेनु बहु मेने शयालुता ॥ १७२ ॥ दीपिका रचिता रेजुः प्रतिवेश्म स्फुरत्त्विषः । घनाघतमसोभेदे प्रक्लृप्ता इव सूचिकाः ॥ १७३ ॥ तमो विधूय दूरेण जगदानंदिभिः करैः । उदियाय शशी लोकं क्षीरेण क्षालयन्निव ॥ १७४ ॥ अखंडमनुरागेण निज मडलमुद्वहन् । सुराजेव कृतानदमुदगाद्विधुरुत्करः ॥ १७५ ॥ दृष्ट्वेवाक्रष्टहरिणं

गाढ अंधकार फैलगया था, सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके विना प्रायः सवओर अंधकार भर ही जाता है ॥ १६९ ॥ अंधकारसे घिरीहुई और ताराओंसे भरीहुई वह रात ऐसी अच्छी जान पडती थी मानो जिसने नीला कपडा पहिन रक्खा है और जिसके आभूषणोंसे मोती चमक रहे हैं ऐसी कोई अभिसारिणी (छिपकर उपपतिके समीप जानेवाली) स्त्री ही हो ॥ १७० ॥ जिसप्रकार मिथ्यात्वसे दूषितहुये पुरुपको कुछ भी तत्त्वज्ञान नहीं होता है उसीप्रकार घोर अंधकारसे भरेहुये इस लोकमें लोगोंको खुलीहुई आंखोंसे सामनेकी भी कुछ चीज दिखाई नहीं देती थी ॥ १७१ ॥ जवर्दस्ती अंधकारसे भराहुआ यह लोक अर्थात् लोगोंका समूह अंतरंगमें कुछ व्याकुल होगया था, उससमय उसकी दृष्टि भी कुछ काम नहीं देती थी इसलिये वह उससमय सोना [नींद लेना] ही अच्छा समझता था ॥१७२॥ प्रत्येक घरमें जिनका प्रकाश चारोंओर फैल रहा है इसप्रकारके लगायेहुये दीपक ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बडे भारी गाढ अंधकारको फोडनेके लिये सुइयां ही तैयार की गई हों ॥ १७३ ॥ इतनेमें ही संसारको आनंदित करने वाले किरणों से दूरसे ही अंधकारको नष्ट करता हुआ चंद्रमा इस प्रकार उदय हुआ मानों इस लोकको दूधसे ही स्नान करा रहा हो ॥ १७४ ॥ जिस प्रकार कोई अच्छा राजा प्रजाके प्रेमसे अपने पूर्ण देशको पालन करता हुआ, चारों ओर अपना

हरिं हरिणलांछन । तिमिरौघः प्रदुद्राव करियूथसदृग्महान् ॥ १७६ ॥ तततारावली रेजे जोत्स्नापूरः सुधाछवेः । सबुद्बुद इवाकाशसिंधोरोघः परिक्षरन् ॥ १७७ ॥ हसपोत इवान्विष्यन् शशी तिमिरशैवलं । तारासहचरीक्रात विजगाहे नभः सरः ॥ १७८ ॥ तमो निःशेषमुध्दूय जगदाप्लावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तदा विश्व सुधामयमिवातनोत् ॥ १७९ ॥ तमो दूर विधूयाऽपि विधुरासीत्कलंकवान् । निसर्गज तमो नून महताऽपि सुदुस्त्यज ॥ १८० ॥ भिषजेव करैः स्पृष्टा दिशास्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दश इवालोकमातेनुः शिशिरत्विषा ॥ १८१ ॥ इति प्रदोषसमये जाते प्रस्पष्टता-

---

कर बिठाता हुआ और संसारको प्रसन्न करता हुआ उदय होता है उसी प्रकार वह चंद्रमा प्रेमसे अपने पूर्ण विंबको धारण करता हुआ, किरणोंको फैलाता हुआ और संसारको आनंदित करता हुआ उदय हुआ ॥ १७५ ॥ जिसने हिरण पकडलिया है ऐसे सिंहके समान हिरणके चिन्हवाले चंद्रमाको देखकर अंधकारका समूह हाथियोंके झुंडके समान बडा होनेपर भी एकदम भाग गया ॥ १७६ ॥ जिसमें तारा नक्षत्रोंकी पंक्ती फैली हुई है ऐसा चंद्रमाका समूह उस समय ऐसा अच्छा जान पडता था मानों बुद्बुदों सहित ऊपरसे पडता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह ही हो ॥ १७७ ॥ हंसके बच्चेके समान वह चंद्रमा अंधकाररूपी शेवालको ढूंढता हुआ, तारे रूपी हंसनियोंसे भरे हुये आकाशरूपी सरोवरमें इधर उधर चारों ओर फिर रहा था ॥ १७८ ॥ समस्त अंधकारको दूरकर अपनी किरणोंसे जगतको पूर्ण रूपसे भरते हुए चंद्रमाने उस समय यह समस्त संसार अमृतरूप बना दिया था ॥ १७९ ॥ अंधकारको दूर करके भी वह चंद्रमा कलंकी बना रहा था, सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अंधकार (दोष वा अज्ञान) बडे आदमियोंसे भी छूटना कठिन है ॥ १८० ॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा नेत्रोंका अंधकार दूर करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई दृष्टि धीरे धीरे अपना प्रकाश फैलाती है उसी प्रकार चंद्रमाके द्वारा अंधकारको नाश करनेवाले किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशायें धीरे धीरे अपना प्रकाश फैला रहीं थी । भावार्थ—सब दिशायें प्रकाशित हो रहीं

रके। सौधोत्संगभुवा भेजुः पुरंध्र्यः सह कामिभिः ॥ १८२ ॥ चंदनद्रवसिक्तांग्यः स्रग्विण्यः सावतंसिकाः। लसदाभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता इव ॥ १८३ ॥ इंदुपादैः समुत्कर्षमागान्मकरकेतनः। तदोदन्वानिवोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिना ॥ १८४ ॥ रमणा रमणीयाश्च चंद्रपादाः सचंदनाः। मदाश्च मदनारंभमातन्वन् रमणीजने ॥ १८५ ॥ शशांककरजैत्रास्त्रैस्तर्जयन्निखिलं जगत्। नृपवल्लभिकावासान्मनोभूरभ्यषेणयत् ॥ १८६ ॥ नास्वादि मदिरा स्वैरं नाजघ्रे न करेऽर्पिता। केवलं मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कतां ॥ १८७ ॥ उत्संगसंगिनी भर्तुः काचिन्मदविघूर्णिता। कामिनी मोहनास्त्रेण

थीं ॥ १८१ ॥ इस प्रकार जिसमें तारागण सब स्पष्ट दिखाई देरहे हैं ऐसा सायंकालका समय होजानेपर नगरकी सब स्त्रियां अपने अपने पतियोंके साथ अपने मकानकी ऊपरकी छतपर जा पहुंची ॥ १८२ ॥ उस समय वे स्त्रियां कल्पलताओंके समान सुशोभित होती थीं क्योंकि जिस प्रकार कल्पलताका शरीर घिसे हुये चंदनसे सींचाहुआ होता है उसीप्रकार उन स्त्रियोंका शरीरभी घिसेहुये चंदनसे सींचा हुआ था, जिसप्रकार कल्पलतापर मालायें रहती हैं कर्णभूषण और दैदीप्यमान आभूषण रहते हैं उसीप्रकार उन स्त्रियोंके गलेमें मालायें पडी थीं, वे कर्णभूषण पहने थीं और उनके शरीरपर दैदीप्यमान आभूषण सुशोभित हो रहे थे ॥ १८३ ॥ उस समय चंद्रमाकी किरणोंसे जिसप्रकार समुद्रमें लहरें वढती हैं उसी-प्रकार कामी लोगोंके मनमें कामदेव खूब ही बढ रहा था ॥ १८४ ॥ सुंदर पति, मनोहर चंद्रमाकी किरणें और सुगंधित चंदनसहित मद उत्पन्न करनेवाले अनेक पदार्थ ये सव मिलकर स्त्रियोंमें काम-देवकी उत्पत्ति बढा रहे थे ॥ १८५ ॥ चंद्रमाके किरणरूपी जीतनेके शस्त्रोंसे समस्त जगतको तिर-स्कार करताहुआ कामदेव राजाओंकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी अपनी सेनासहित जा पहुंचा ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मद्यका (पौष्टिक और कामोत्पादक रसका) स्वाद लिया न इच्छानुसार उसे सूंघा और न हाथमें ही लिया, वे केवल कामदेवकी प्रवलतासे [जोशसे] ही उत्कंठित अर्थात् उन्मत्त हो गईं ॥ १८७ ॥ अपने पतिकी गोदीमें वैठीहुई और मदमें डूबीहुई अर्थात् उन्मत्त हुई कोई

वत्तानंगेन तर्जिता ॥ १८८ ॥ सखीवचनमुलंध्य भंक्त्वा मानं निरर्गला । प्रयांती रमणावासं काप्यनंगेन धीरिता ॥ १८९ ॥ शंफलीवचनैर्दूना काचित्पर्यश्रुलोचना । चक्राह्वेव भृश तेपे नायाति प्राणवल्लभे ॥ १९० ॥ शून्यगानस्वनैः स्त्रीणामलिज्याकलझकृतैः । पूर्वरंगमिवानंगो रचयामास कामिना ॥ १९१ ॥ गोत्रस्खलनसंवृद्धमन्युमन्यामनन्यजः । नोपैक्षिष्ट प्रियोत्सगमनयन्नवसंगता ॥ १९२ ॥ नेंदुपादैर्धृतिं लेभे नोशीरैर्न जलार्द्रया । खंडिता मानिनी काचिदतस्तापे वलीयसि ॥ १९३ ॥ काचिदुत्तापिभिर्बाणैस्तापिताऽपि मनोभुवा । नितंबिनी प्रतीकारं नैच्छद्धैर्यावलंबिनी ॥ १९४ ॥

स्त्री कामदेवके द्वारा मोहनशस्त्रसे ताडित की गई थी, भावार्थ—मोहित होकर कामदेवसे पीडित हो गई थी ॥ १८८ ॥ कोई स्त्रीने कामदेवके वेगसे सखीका वचन उलंघन कर दिया था, मान छोडादिया था तथा वह प्रतिबंध रहित अर्थात् स्वतंत्र और निर्भय होकर अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥ १८९ ॥ कोई स्त्री अपने पतिके न आनेपर वापिस लौटी हुई दूतीके वचनोंसे दुखी हो रही थी, उसके नेत्रोंसे आंसू बरस रहे थे और वह चकवीके समान वहुत ही तडफ रही थी ॥ १९० ॥ चित्तको मोहित करनेवाले स्त्रियोंके गीतोंसे तथा पंक्तिरूपसे उडतेहुये भ्रमरोंके मनोहर झंकार शब्दोंसे वह कामदेव कामी पुरुषोंकेलिये पूर्वरंगके समान बनाकर दिखा रहा था ॥ १९१ ॥ भूलसे किसी दूसरे स्त्रीका नाम लेनेसे जिसका क्रोध बढगया है ऐसी अन्य किसी नवोढा [नई व्याही हुई] स्त्रीको भी कामदेवने छोड नहीं दिया किंतु उसे भी उसके पतिके समीप पहुंचा दिया, भावार्थ—उससमय नवोढा स्त्री भी अपना मान छोडकर अपने पतिके पास पहुंच गई ॥ १९२ ॥ जिस किसी स्त्रीका पति किसी अन्य स्त्रीके समीप गया था ऐसी अभिमान करनेवाली खंडिता स्त्रीके अंतःकरणका संताप बिरहसे इतना बढ गया था कि उसे न तो चंद्रमाकी किरणोंसे शांति मिलती थी, न चंदन आदि शीतल द्रव्योंसे शांति मिलती थी और न जलसे भीगेहुये कपडेसे कुछ ठंडक पडती थी ॥ १९३ ॥ धैर्यको धारण करनेवाली कोई नितंबिनी स्त्री कामदेवके अत्यंत दुख देनेवाले वाणोंसे दुखी होकर भी उसके

अनुरक्ततया दूर नीतया प्रणयोचिता । भूमिं यूनाऽन्यया सोढः सदेशः परुषाक्षरः ॥ १९५ ॥ आलि त्वनालिक ब्रुहि गत. किं नु विलक्षता । प्रियानामाक्षरैः क्षीणैर्मोहान्मय्यवतारितै ॥ १९६ ॥ यया तव हृत चेतस्तया लज्जाऽप्यहारि किं । येन निस्त्रप भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥ १९७ ॥ सैवानुवर्तनीया ते सुभगमन्य मानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिर्जायतेऽनुशयाय ते ॥ १९८ ॥ इति प्राणप्रिया काचित्सदिशती सखीजने । युवा सादरमभ्येत्य नानुनिन्येऽथ मानिनीं ॥ १९९ ॥ चन्द्रपादास्तपतीव चदन दहतीव मां । संधुक्ष्यत इवाऽमीभि. कामाग्निर्व्यजनानिलैः ॥ २०० ॥

इलाज करनेकी इच्छा नहीं करती थी, भावार्थ–वह समझती थी कि पति समागम ही इसका उपाय है अन्य नहीं है ॥ १९४ ॥ कोई तरुण पुरुष प्रेम करनेवाली किसी अन्य अपनी स्त्रीको किसी प्रेम करनेके योग्य दूर स्थानमें ले गया था, वह वहांपर उस तरुणके कठोर वचन भी चुपचाप सुन रही थीं, भावार्थ–प्रेमसे सब सहन कर रही थी ॥ १९५ ॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखी तू तो झूठ नहीं बोलती, सचकह कि क्या वह [पति] भ्रमसे मेरी ओर इशारा करनेवाले और अत्यंत दीन ऐसे अपनी प्रियाके नामके कहेहुये अक्षरोंसे कुछ चकित हुआ था ? ॥ १९६ ॥ अन्य स्त्रीके समीप जानेवाले पतिसे कोई स्त्री कह रही थी कि हे निर्लज्ज ! जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी लेली है ? क्योंकि तू फिर अब भी मुझसे प्रेम करना चाहता है ॥ १९७ ॥ अपने स्वरूपको स्वयं सुंदर माननेवाली और इसलिये ही मान करनेवाली उसी स्त्रीकी सेवा तू जाकर कर, क्योंकि मुझ ऐसे अयोग्य स्थानमें लगाईहुई तेरी प्रीति तुझे संताप देनेवाली हो जायगी, भावार्थ–मुझसे प्रेम करनेसे तुझे दुख होगा इसलिये वहीं जा, उसीकी सेवाकर ॥ १९८॥ इसप्रकार सखियोंके द्वारा अपने पतिके पास समाचार भेजनेवाली तथा पतिसे मान करनेवाली किसी प्राण प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बडे आदरसे नहीं मना रहा था क्या ? भावार्थ–कोई तरुणपुरुष अपनी ऐसी मान करनेवाली स्त्रीको बडे आदरसे मना रहा था ॥ १९९ ॥ कोई स्त्री

तमानयानुनयेह नय मा वा तदन्तिकं । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणेशे बहुवल्लभे ॥ २०१ ॥ इत्यनङ्गातुरा काचित्सन्दिशन्ती सखीं मिथः । भुजोपरोधमाश्लेषि पत्या प्रत्यग्रखण्डिता ॥ २०२ ॥ राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वैरं रम्यतामिति । कामिनीकलकाञ्चीभिरुद्घोषीव घोषणा ॥ २०३ ॥ कर्णोत्पलनिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे किमु स्त्रीणां कर्णजाहे मनोभुवा ॥ २०४ ॥ स्तनाङ्गरागसंमर्दी परिरम्भोऽतिनिर्दयः । ववृधे कामिवृन्देषु रभसश्च कचग्रहः ॥ २०५ ॥ आरक्तकलुषा दृष्टिर्मुखमापाटलाधरं । रतान्ते कामिनामासीत्सीत्कृतं वाऽसकृत्कृतं ॥ २०६ ॥ पुष्पसंमर्दसुरभिरास्रस्त-

सखीसे कहरही थी कि हे सखी ये चंद्रमाकी किरणें मुझे संताप दे रही हैं, चंदन मुझे जलारहा है और यह पंखेकी हवा मेरे कामकी अग्निको और अधिक बढा रहीसी जान पडती है ॥ २०० ॥ इसलिये हे सखी ! या तो मनाकर उसे (मेरेपतिको) मेरेपास ले आ, अथवा मुझे उसके पास पहुंचा दे। मेरे पतिके तो अनेक स्त्रियां हैं अर्थात् उसे मेरी परवाह नहीं है किंतु मेरे प्राण तेरे आधीन हैं ॥ २०१ ॥ इस प्रकार कामदेवसे व्याकुल होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे संदेशा कह रही थी कि इतने में ही तुरंतकी ही विरहीणी उस स्त्रीको पास ही छिपे हुये उसके पतिने अपनी दोनों भुजाओंसे पकडकर परस्पर आलिंगन किया ॥ २०२ ॥ उससमय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोंकी करधनियां ऐसी जान पडती थीं मानों " यह कामदेवका राज्य है, इसमें तुम लोग इच्छानुसार क्रीडा करो " इसी बातकी घोषणा बडे ऊंचे स्वरोंसे कर रही हों ॥ २०३ ॥ स्त्रियोंने जो कमलोंके कर्णफूल बनाये थे और उन कमलोंमें छिपे हुये भ्रमरोंके समूह जो कोलाहल शब्द कररहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों कामदेव उन शब्दोंके द्वारा स्त्रियोंके कानमें समीप जाकर कुछ गुप्त (छिपी हुई) बातें ही कह रहा हो ॥ २०४ ॥ उससमय कामी लोगोंमें स्त्रियोंके स्तनोंपर लगे हुये केशर आदि सुगंधित लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यंत निर्दय (गाढ) आलिंगन बढ रहा था तथा इसी तरह वेगसे केश पकडना आदि क्रियायें भी बढ रहीं थीं ॥ २०५ ॥ संभोग करलेनेके बाद कामी लोगोंके नेत्र

जघनांशुका । सभोगावसतौ शय्या मिथुनान्यधिशेरत ॥२०७॥ कैश्चिद्वीरभटैर्भाविरणारंभक्ततोत्सवैः । प्रियोपरोधान्मंदेच्छैरप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥ केचित्कीर्त्यंगनासंगसुखसगक्ततस्पृहाः । प्रियागनापरिष्वगमंगीचक्रुर्न मानिनः ॥ २०९ ॥ निर्जितारिभटैर्भोग्या प्रिया नास्माभिरन्यथा । इति जातिभटाः केचिन्न भेजुः शयनान्यपि ॥ २१० ॥ शरतल्पगतानल्पसुखसंकल्पतः परे । नाभ्यनदन् प्रियातल्पमनल्पेच्छा भटोत्तमाः ॥ २११ ॥ स्वकामिनीभिरार ब्धवीरालापैर्भटैः परैः । विभावरी विभाताऽपि सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥ २१२ ॥ केचिद्रणरसासक्तमनसोऽपि पुरः स्थित । कातासंगरसं स्वैरं भेजुः

कुछ कुछ लाल और कुछ कलुषित होगये थे, मुख लाल ओठोंसे सुशोभित होगया था और वे बार बार 'सी' 'सी' शब्द कर रहे थे ॥ २०६ ॥ संभोगके बाद स्त्री पुरुष दोनों ही जो फूलोंके मर्दन होनेसे सुगंधित होरही है तथा जिसपर धोती आदि पहिननेके वस्त्र खुलकर पडगये हैं ऐसी शय्या पर सोगये ॥ २०७ ॥ जो शूरवीर थे, जिन्हें होनेवाले युद्धका आनंद होरहा था ऐसे योद्धाओंने इच्छा न रहते हुये भी अपनी प्रिय स्त्रियोंके आग्रहसे संभोग सुखका अनुभव किया था ॥ २०८ ॥ कीर्तिरूपी स्त्रीके साथ सुख पूर्वक समागम करनेकी इच्छा करनेवाले कितने ही अभिमानी योद्धाओंने अपनी प्रिय स्त्रियोंके साथ आलिंगन करना भी स्वीकार नहीं किया था ॥ २०९ ॥ "हमलोग शत्रुओंके योद्धाओंको जीत लेंगे तबही स्त्रीका उपभोग करेंगे विना शत्रुओंके जीते स्त्रीका उपभोग नहीं कर सकते" इस प्रकार प्रतिज्ञा करते हुये कितने ही स्वाभाविक शूरवीर अपनी शय्यापर भी नहीं सोये थे ॥ २१० ॥ जिनकी इच्छा बहुत बडी है ऐसे अन्य कितनेही अच्छे योद्धाओंने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे उत्पन्न हुये बडे भारी सुखका संकल्प किया था इसलिये ही उन्होंने अपनी स्त्रीकी शय्यापर सोनेकी इच्छा नहीं की थी ॥ २११ ॥ युद्धमें सन्मुख हुये अन्य कितनेही योद्धा लोग अपनी स्त्रियोंके साथ अन्य शूरवीरोंकी कथायें कह रहे थे इसलिये सवेरा होतेहुये भी वह रात उन्हें जान नहीं पडी थी । भावार्थ—सवेरा होनेपर भी उन्हें मालूम

समरसा भटाः ॥ २१३ ॥ प्रहारकर्कशो दष्टदशनच्छदनिष्ठुरः । रतारंभो रणारंभनिर्विशेषो न्यपेवि तैः ॥ २१४ ॥ रतानुवर्तनैर्गाढं परिरंभैर्मुखार्पणैः । मनांसि कामिनां जह्नुः कामिन्यस्ताः स्मरातुराः ॥ २१५ ॥ दृगर्द्धवीक्षितैः सांतर्हासैर्मन्मनजल्पितैः । अकाडरुषितैश्चंडैर्विवृतैरसमभ्रुभिः ॥ २१६ ॥ तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः । रसिकोऽभूद्रतारभः सभोगातेषु कामिना ॥ २१७ ॥ तेषा निधुवनारंभमतिभूमिगतं तदा । सद्रष्टुमसहतीव पर्य-

---

नहीं हुआ था ॥ २१२ ॥ युद्ध और संभोग दोनोंमें एकसा आनंद मानने वाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्धके रसमें तलीन हो रहा था तथापि उन्होंने साम्हने प्राप्त हुये स्त्रीसमागमके रसको इच्छानुसार सेवन किया था ॥ २१३ ॥ कितन ही योद्धाओंने युद्धके प्रारंभके समान ही संभोग-का प्रारंभ किया था, क्योंकि जिस प्रकार युद्धके प्रारंभमें परस्पर कठिन प्रहार (चोट) होते हैं उसीप्रकार संभोगके प्रारंभमें भी कचग्रह आलिंगन आदि कठिन प्रहार होते थे, तथा युद्धके प्रारंभमें जिसप्रकार निर्दयताके साथ ओठ चवाये जाते हैं उसीप्रकार संभोगके प्रारंभमें भी परस्पर निर्दयताके साथ ओठ चवाये जाते थे ॥२१४॥ कामदेवसे पीडित हुई कितनी ही स्त्रियां पतियोंको गाढ आलिंगनकर, उनके मुहमें मुह देकर और उनके साथ संभोगकी क्रिया कर अपने कामी पतियोंका मन हरण कर रहीं थीं ॥ २१५ ॥ आधी नजरसे देखना, अंतरंगमें कुछ हँसना, अव्यक्त शब्द कहना, विना ही कारणके रूठजाना, जोरसे एक साथ मुह फेरलेना, भोओंको आडी तिरछी करना और स्वाभाविक स्नेहसे भरे हुये झूठा अभिमान छल कपट आदि स्त्रियोंके अनेक तरहके व्यापारोंसे संभोगके अंतमें भी कामी पुरुषोंके संभोगका प्रारंभ बडा ही रसीला हो रहा था ॥ २१६-२१७ ॥ उससमय उस रातको भी पोदनपुरके स्त्रीपुरुषोंकी वह इसप्रकार पृथ्वीपर कहीं न होनेवाली अर्थात् सबसे अधिक संभोग क्रियाका देखना सहन नहीं हुआ था इसलिये ही मानों वह रात उलट पडी थी अर्थात् बीत चुकी थी सवेरा होनेपर आगया था, ॥ २१८ ॥ जिसका चंद्रमारूपी

वर्तत सा निशा ॥ २१८ ॥ अल बत चिरं रत्वा दंपती ताम्यता युवां । लंबितेदुमुखी तस्थावितीवापरदिग्वधू ॥ २१९ ॥ विघटय्य रथांगाना मिथुनानि मिथोऽशुमान् । तापेन तत्कृतेनेव परीतोऽभ्युदियाय स ॥ २२० ॥ तावदासीद्दिनारम्भो गत नैश तमो लय । सहस्रांशुर्दिश प्राचीं परिरेभे करोत्करैः ॥ २२१ ॥ किरणैस्तरुणैरेव तमः शार्वरमुध्दत । तरणेः करणीय तु दिनश्रीपरिरंभण ॥ २२२ ॥ कोककातानुरागेण सम पद्माकरे श्रिय । पुष्णन्नुष्णांशुरुद्रच्छन्नमुष्णात्कौमुदीं श्रिय ॥ २२३ ॥ तम.कवाटमुद्घाट्य दिङ्मुखानि प्रकाशयन् । जगदुद्घाटिताक्षं वा व्यधादुष्णकरः करैः ॥२२४॥ प्रातस्तरामयोत्थाय पद्माकरपरिग्रह । तन्यन् भानुः प्रतापेन जिगीषोर्वृत्तिमन्वगात् ॥ २२५ ॥ सुकठा पेठुरत्युच्चैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा । स्वय प्रबु-

---

मुख नीचेको लटक रहा है ऐसी पश्चिमं दिशारूपी स्त्री मानों यही कहती कहती खडी हुई सी जान पडती थी कि हे स्त्री पुरुषो ! बहुत देरतक क्रीडा कर चुके, अब अपनी यह क्रीडा बंद करो, नहीं तो तुम दोनों ही थक जाओगे अर्थात् दुख पाओगे ॥ २१९ ॥ सूर्यने पहिले दिन अस्त होते समय चकवा चकवियोंके जोडोंको परस्पर अलग अलग किया था, इसी संतापसे मानों व्याप्त हुआ वह सूर्य फिरसे उदय होनेलगा ॥ २२० ॥ इतनेमें ही दिनका प्रारंभ हुआ, रात्रिका सब अंधकार नष्ट होगया और सूर्यने अपने किरणसमूहसे पूर्व दिशाका आलिंगन किया ॥ २२१ ॥ रात्रिका अंधकार तो सूर्यकी तेज किरणोंसे ही नष्ट हो चुका था अब तो सूर्यको केवल दिवसरूपी लक्ष्मीसे आलिंगन करना बाकी रह गया था ॥ २२२ ॥ सूर्य चकवियोंके अनुरागके साथ साथ कमलोंकी शोभा वढाताहुआ उदय हो रहा था और वह उदय होनेके साथ ही चांदनीकी शोभा नष्ट कर रहा था ॥ २२३ ॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अंधकाररूपी किवाड खोल दिये थे, दिशाओंके मुह प्रकाशित कर दिये थे और जगतके नेत्र सब खोल दिये थे ॥ २२४ ॥ जिसप्रकार कोई विजय करनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष अपने प्रतापसे ही पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीको स्वीकार करता है उसीप्रकार सूर्यने भी सबेरे ही उठकर अर्थात् उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहको प्रफुल्लित किया

द्रुमप्येनं प्रबोधनयुयुक्षवः ॥ २२६ ॥ अशिशिरकरो लोकानंदी जनैरभिनंदितो बहुमतकरं तेजस्तन्वन्नितोऽयमुदेष्यति । नृवर जगतामुद्योताय त्वमप्युदयोचित विधिमनुसरन् शय्योत्सग जहीहि मुदे श्रियः ॥ २२७ ॥ कतरकतमे नाक्रांतास्ते वलैर्बलशालिनो भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति तवाल्पकः । भरतपतिना सार्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो नृपवर भवान् भूयाद्भर्ता नृवीरजयश्रियः ॥ २२८ ॥ रविरविरलानश्रून्जातानिवाश्रमशाखिनां तुहिनकणिकापातानाशु प्रमृज्य करोत्करैः । अयमुदयति प्राप्तानदैरितोऽम्बुजिनीवनैरुदयसमये प्रत्युद्यातो धृतार्घमिवाऽम्बुजैः ॥ २२९ ॥ अयमनुसरन्कोकः कांता तटां

था और इसप्रकार उसने विजय करनेवाले किसी राजाका अनुकरण किया था ॥ २२५ ॥ यद्यपि उससमय महाराज वाहुवलि स्वयं जग गये थे तथापि उन्हें जगानेकी इच्छा करतेहुये, मीठे स्वरवाले बंदीजन ऊंचे स्वरसे नीचे लिखेहुये मंगलपाठ पढ रहे थे ॥२२६॥ हे महाराज ! जिसकी किरणें उष्ण हैं, जो लोगोंको आनंद देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोंको अच्छा लगनेवाले तेजको प्रकाश करताहुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिये लक्ष्मीको प्रसन्न करनेवाले आप भी सूर्योदयके समय होनेवालीं योग्य क्रियाओंके अनुसार चलतेहुये अर्थात् उन क्रियाओंको करतेहुये संसारका उद्योत करनेके लिये इस शय्याका साथ छोडिये ॥ २२७ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! आपकी सेनाने कितने कितने बलवान राजाओंको वश नहीं किया है ? ये छोटे छोटे लोग आपके इस वडे भारी भुजाओंके बलको प्रायः जानते भी नहीं हैं, हे देव ! आपने भरत चक्रवर्तीके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेका उद्यम किया है, इसलिये हे वीर पुरुष ! आप ही विजय लक्ष्मीके स्वामी हूजिये ॥२२८॥ हे देव ! बाहर वगीचेके वृक्षोंपर पडीहुई ओसकी बूंदोंको पडतेहुये वहुतसे आंसुओंके समान अपनी किरणोंकी समूहोंसे वहुत शीघ्र पोंछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होतेसमय ऐसा जान पडता है मानों जिन्हें आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलिनियोंके (कमलकी वेलके) वन कमलोंके द्वारा मानों अर्घ ही लेकर सूर्यको अपने सन्मुख करा रहे हों, भावार्थ–ओसकी बूंदोंको

तरशायिनीमविरलगलद्बाष्पव्याजादिवोत्सृजतीं शुच। विशति बिसिनीपत्रच्छन्ना सरोजसरस्तटीं सरसिजरजःकीर्णौ पक्षौ विधूय शनैः शनैः ॥ २३० ॥ जरठबिसिनीकदच्छायामुषस्तरलास्त्विषस्तुहिनकिरणो दिक्पर्यंतादय प्रतिसहरन्। अनु कुमुदिनीखंडं तन्वन् करानमृतश्च्युतो द्रढयति परिष्वगासंग वियोगभयादिव ॥ २३१ ॥ तिमिरकरिणा यूथं भित्वा तदस्रपरिप्लुतामिव तनुमय विभ्रच्छोणा निशाकरकेसरी। वनमिव नभः क्रात्वाऽस्ताद्रेर्गुहागहनान्यतः श्रयति नियतं निद्रासंगाद्विजिह्मिततारकः ॥ २३२ ॥ सरति सरसीतीरं हसः ससारसकूजितं झटिति घटते कोकद्वंद्व विशापमिवाधुना। पतति

सुखाता हुआ और कमलोंको खिलाता हुआ सूर्य उदय हो रहा है ॥ २२९ ॥ इधर देखिये जो दूसरे किनारेपर सो रही है और नेत्रोंसे निरंतर निकलते हुये आंसुओंके वहानेसे जो मानों शोकको ही छोड रही है ऐसी अपनी चकवीके पीछे पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोंकी परागसे भरे हुये अपने दोनों पंखोंको झडकाकर अर्थात् धूल हटाकर धीरे धीरे कमलिनियोंके पत्तोंसे ढके हुये पद्मसरोवरके किनारेपर प्रवेश कर रहा है ॥ २३० ॥ जो पकी हुई कमलिनीकी जडकी कांतिको भी चुरा रही है अर्थात् उससे अधिक है ऐसी अपनी चंचल कांतिको यह चंद्रमा सब दिशाओंके अंतसे अपनी ओर खींच रहा है अर्थात् अपनी कांतिको सब तरफसे समेट रहा है तथा अमृत बरसानेवाली अपनी किरणोंको प्रत्येक कमोदिनियोंके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही क्या मानों उन कमोदिनियोंके साथ आलिंगनके संबंधको मजबूत कर रहा है, भावार्थ— चंद्रमाकी कांति मंद पड रही है और उसकी किरणें सब जगहसे हटकर केवल कमोदिनियोंपर ही पड रही हैं ॥ २३१ ॥ अंधकाररूपी हाथियोंके समूहको फाडकर उसके रक्तसे भरे हुयेके समान ही क्या मानों अपने लाल मंडलको धारण करता हुआ तथा नींद आजानेसे जिसकी नक्षत्र रूपी आखोंकी पुतली कुछ कुछ टेढ़ी हो रही है ऐसा चंद्रमारूपी सिंह आकाशरूपी बनको उलंघनकर अब अस्ताचल पर्वतकी गुफाके एकांत स्थानमें देर तकके लिये आश्रय ले रहा है, भावार्थ— अब चंद्रमा और तारे दोनों ही अस्त हो रहे हैं ॥ २३२ ॥ सूर्यके उदय

पतता वृन्दं विष्वक् द्रुमेषु कृतारवं गतमिव जगत्प्रत्यापत्तिं समुचति भास्वति ॥ २३३ ॥ उदयशिखरिग्रावश्रेणीसरोरुहरागिणी गगनजलधेरातन्वाना प्रवालवनश्रिय । दिगिभवदने सिंदूरश्रीरलक्तकपाटला प्रसरतितरां संध्यादीप्तिर्दिगाननमंडिनी ॥ २३४ ॥ कमलमलिनी नालं वेष्टु वत प्रविकस्करं गतमरुणता बालार्कस्य प्रसारिभिरंशुभिः । परिगतमिव प्रादुष्याद्भिः कणैरनिलार्चिषा नियतविपद धिग्व्यामूढि विवेकपराङ्मुखीं ॥ २३५ ॥ उपवनतरूनाधुन्वाना विलोलितषट्पदाः कृतपरिचया वीचीचक्रैः सरस्सु सरोरुहा । रतिपरिमलानाकर्षंतः सरोजरजोजडाः प्रतिदिगममी मन्द वान्ति प्रगेतनमारुताः ॥ २३६ ॥ नृपवर जिनभर्तुर्मंगलैरेभिरिष्टैः प्रकटितजयघोषैस्त्व विबुध्यस्व भूयः । भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्यतस्ते रणशिरसि जयश्रीकामिनी-

---

होते ही हंस जिसपर सारस पक्षी बोल रहे हैं ऐसे सरोवरके किनारेपर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोडे इसप्रकारकी शीघ्रतासे परस्पर मिल रहे हैं मानों अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुये वृक्षोंपर पड रहे हैं और एक तरहसे नष्ट हुआ यह जगत् फिर भी अपनी पहिलेकी दशापर आ रहा है, अर्थात् कलके समान लोग काम काजमें लग रहे हैं, ॥ २३३ ॥ उदयाचल पर्वतके बडे बडे पत्थरोंपर उत्पन्न होनेवाले स्थलकमलों के समान गुलाबी, तथा आकाशरूपी समुद्रमें प्रवालोंके (मूंगाके) वनकी शोभा बढाती हुई, दिशारूपी हाथियोंके मुखपर सिंदूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान लाल रंगकी और दिशाओंके मुखकी अर्थात् पूर्व दिशाकी शोभा बढाती हुई यह प्रातःकालकी कांति चारों ओर फैल रही है ॥२३४॥ हे देव! यह कुछ कुछ खिला हुआ कमल उदय होतेहुये सूर्यकी फैलती हुई किरणोंसे कुछ कुछ लाल हो रहा है और ऐसा जान पडता है मानों अग्निकी ज्वाला के फैलते हुये फुलिंगोंसे ढक रहा ही हो इसी डरसे यह भ्रमरी ऐसे कमलमें प्रवेश नहीं कर सकती, इसलिये विवेक रहित और नियमरूपसे विपत्तिका कारण ऐसी इस मूढताको धिक्कार हो ॥ २३५ ॥ हे देव! जो बगीचेके वृक्षों-को हिला रहा है, भ्रमरोंको चंचल कर रहा है, जिसने कमलोंसे सुशोभित सरोवरोंमें लहरोंकी समू-

कामुकस्य ॥ २३७ ॥ जयति दिविजनाथैः प्राप्तपूजर्द्धिरर्हन् धुतदुरितपरागो वीतरागोऽपरागः । कृतनतिशतयज्वप्रज्वलन्मौलिरत्नच्छुरितरुचिररोचिर्मंजरीपिंजराङ्घ्रिः ॥ २३८ ॥ जयति जयविलासः सूच्यते यस्य पौष्पैरलिकुलरुतगर्भैर्निर्जितानगमुक्तैः । अनु पदयुगमस्त्रैर्भंगशोकादिवाविष्कृतकरुणानिनादैः सोऽयमाद्यो जिनेंद्रः ॥२३९॥ जयति जितमनोभूर्भूरिधामा स्वयंभूर्जिनपतिरपरागः क्षालितागःपरागः । सुरमुकुटविटंकोदूढपादाबुजश्रीर्जगदजगदगारप्रा

होंसे परिचय किया है अर्थात् जो सुगंधित जलसे शीतल हो रहा है, जो रात्रिमें स्त्रीपुरुषोंके द्वारा भोगी हुई कपूर कस्तूरी आदि सुगंधित वस्तूओंको अपनी ओर खींच रहा है अर्थात् जिसमें कस्तूरी आदिकी सुगंधि मिली हुई है और जो कमलोंकी पराग मिलजानेसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रातःकालका वायु सर्व दिशाओंमें धीरे धीरे वह रहा है ॥ २३६ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! जिसमें जय जय शब्द प्रगट रीतिसे दिखाये गये हैं ऐसे आगे कहे हुये भगवान वृपभदेवके इष्ट मंगलोंसे आप जगते हुये भी फिरसे जग जाइये, क्योंकि उन्हीं मंगलोंसे रणसंग्राममें विजय लक्ष्मीरूपी स्त्रीको चाहनेवाले आपके समस्त विघ्न बहुत अच्छी तरह शांत हो जायंगे ॥ २३७ ॥ (आगे उसी मंगलाष्टकको दिखलाते हैं) जिन्हें अनेक देवोंके द्वारा पूजाकी ऋद्धि प्राप्त हुई है अर्थात् अनेक देव जिनकी पूजा करते हैं जिन्होंने पापरूपी धूल सब धो डाली है, जो राग द्वेप रहित हैं, वीतराग कहलाते हैं और नमस्कार करतेहुये इंद्रोंके प्रकाशमान मुकुटके रत्नोंकी प्रभाके साथ साथ मिलीहुई सुंदर शरीरकी कांतिरूपी मंजरीसे जिनके चरण कुछ कुछ पीले हो रहे हैं ऐसे अरहंतदेवकी सदा जय हो ॥ २३८ ॥ जिनके भीतर भ्रमर गुंजार शब्द कर रहे हैं ऐसे पुष्प जो भगवानके चरणोंपर वरस रहे हैं उनसे ऐसा जान पडती है मानों भगवानसे हारा हुआ कामदेव ही क्या मानों अपनी हारके शोकसे करुणा पूर्वक रो रहा हो और उसीने अपने ये पुष्परूपी शस्त्र भगवानके चरणोंपर डाले हों ऐसे पुष्पोंसे जिनके विजयकी लीला साफ प्रगट हो रही है ऐसे श्री प्रथम जिनेंद्र वृषभदेवकी

तविश्रांतबोधः ॥ २४० ॥ जयति मदनबाणैरक्षतात्मापि योऽधात्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनीं वक्षसि स्वे । स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी यं विरूपाप्यनवमसुखतातिं तन्वती सोऽयमर्हन् ॥ २४१ ॥ जयति समरभेरीभैरवारावभीमं बलमरचि न कूजच्चंडकोदंडकाड । भ्रुकुटिकुटिलमास्यं येन नाकारि वोच्चैर्मनसिजरिपुघाते सोऽयमाद्यो जिनेंद्रः ॥ २४२ ॥ स जयति जिनराजो दुर्विभावप्रभावः प्रभुरभिभवितुं य नाशकन्मारवीरः । दिविजविजयदूरारूढग-

---

सदा जय हो ॥ २३९ ॥ जिन्होंने कामदेवको जीता है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयंभू और जिनपति हैं, जो रागद्वेषरहित हैं, जिन्होंने पापरूपी धूल सब धो डाली है, जिनके चरणकमलोंकी शोभा देवोंने अपने मुकुटके शिखरपर धारण की है और जिनका ज्ञान लोकअलोकरूपी घरके अंततक फैला हुआ है ऐसे श्रीआदिदेव सदा जयशील हों ॥ २४० ॥ जो भगवान कामदेवके बाणोंसे घायल नहीं हुये तथापि जिन्होंने तीनों लोकोंकी विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया, तथा मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वयंबर बनाया और वही मुक्तिरूपी स्त्री रूपरहित (कुरूपा) अर्थात् अमूर्त्त होकर भी जिनकेलिये अत्यंत उत्कृष्ट सुखसमूहोंको बढा रही है ऐसे वे आदि ब्रह्मा अरहंत सदा जयशील हों ॥ २४१ ॥ जिन्होंने संसारको जीतनेवाले कामदेवरूप शत्रुके नाश करनेकेलिये न तो युद्धके नगाडोंके भयंकर शब्दोंसे भयानक और जिसमें प्रचंड धनुषोंके चापोंके शब्द हो रहे हैं ऐसी सेनाकी ही रचना की और न अपना मुह ही टेढ़ी भोहोंसे भयानक बनाया ऐसे अद्भुत शक्तिको धारण करनेवाले वे प्रथम जिनेंद्र सदा जयशील हों ॥ २४२ ॥ वडी कठिनतासे भी जिनका प्रभाव चिंतवन करनेमें नहीं आ सकता, जो सबके स्वामी हैं, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हें जीतनेकेलिये समर्थ न हो सका और जिनके साम्हने देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार खूब बढ गया है ऐसे कामदेवने भी अपने शस्त्र और सामर्थ्य कुंठित हो जानेसे अपने हृदयमें अहंकार धारण नहीं किया ऐसे वे प्रसिद्ध जिनराज सदा विजयी हों ॥२४३॥ अशोक वृक्ष, दुंदुभि,

वोऽपि गर्वं न हृदि हृदिशयोऽधावत्र कुंठास्त्रवीर्यः ॥२४३॥ जयति तरुरशोको दुंदुभिः पुष्पवर्षं चमरिरुहसमेतं विष्टरं सैहमुद्वं। वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजस्त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य सार्वो जिनोऽसौ ॥२४४॥ जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाब्जं विपुलफलदमारान्नम्रनाकीद्रभृंग। समुपनतजनानां प्रीणनकल्पवृक्षास्थितिमतनुमाहिम्ना सोऽवतात्तीर्थकृद्वः ॥२४५॥ नृवर भरतराजोऽप्यूर्जितस्यास्य युष्मद्भुजपरिघयुगस्य प्राप्नुयान्नैव कक्षां। भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते रणनिकषगतस्य स्थातुमीशः क्षितीशः ॥२४६॥ तदलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां जहिहि महति कृत्ये जागरूकस्त्वमेधि। सपदि च जय-

---

पुष्पोंकी वर्षा, चमरोंका समूह, उत्तम सिंहासन, विलक्षण बचन अर्थात् दिव्यध्वनि, ऊंचा छत्र और प्रभामंडल ये आठ प्रातिहार्य जिसके तीनों लोकोंको जीतनेके चिन्ह हैं ऐसे ये सबका हित करनेवाले श्रीवृषभजिनेंद्र सदा विजयी हों ॥ २४४ ॥ जिनके चरणकमल जन्ममरणरूप संतापको नष्ट करनेवाले हैं, स्वर्ग मोक्ष आदि अनेक फलोंको देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करतेहुये इंद्र ही जिनके भ्रमर हैं और जो लोग उन्हें नमस्कार करते हैं उन्हें संतुष्ट करनेकेलिये जो कल्पवृक्षके समान हैं ऐसे वे तीर्थंकर भगवान सदा विजयी हों और अपनी अद्भुत सामर्थ्यसे तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २४५ ॥ (इसप्रकार भगवानकी स्तुति कर वे बंदीजन फिर कहने लगे कि) हे देव ! महाराज भरत भी अत्यंत बलवान ऐसे आपके दोनों भुजारूपी लोहेके दंडोंकी समानता नहीं कर सकते हैं, अथवा आपकी भुजाओंका बल तो दूर ही रहो जब आप युद्धके समीप भी जा पहुंचते हैं तब आपके देखनेमात्रसे ही ऐसा कौन राजा है जो आपके सामने ठहर सके ॥ २४६ ॥ इसलिये हे स्वामिन् ! व्यर्थ ही समय व्यतीत करनेसे कुछ लाभ नहीं है, अब नींद छोडिये और बडे बडे कामोंमें सावधान होकर आप सदा उन्नति करते रहिये, शीघ्र ही विजय लक्ष्मीको प्राप्त कीजिये और फिर सब जगह विजय प्राप्त करनेकेलिये सबपर शासन करनेवाले भगवान जिनेंद्रदेवको भक्ति पूर्वक नमस्कार कीजिये ॥ २४७ ॥ इसप्रकार जिनमें सुंदर पदोंकी योजना की गई है और जो राजाओंकी स्तुतिके

लक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं जिनमवनम भक्त्या शासितार जयाय ॥ २४७ ॥ इति समुचितैरुच्चैरुच्चावच्चैर्जयमंगलैः सुघटितपदैर्भूयोऽमीभिर्जयाय विबोधितः। शयनममुचन्निद्रापायात्स पार्थिवकुंजरः सुरगज इवोत्संग गंगाप्रतीरभुवःशनैः ॥ २४८ ॥ जयकरिघटाबंधैरुंधन् दिशो मदविह्वलैर्बलपरिवृढैरारूढश्रीरुदूढपराक्रमः। नृपकतिपयैरारादेत्य प्रणम्य दिदृक्षितो भुजबलियुवा भेजे सैन्यैर्भुव समरोचितां ॥ २४९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे कुमारबाहुबलिरणोद्योगवर्णनं नाम पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व ॥ ३५ ॥

योग्य हैं ऐसे अनेकप्रकारके उत्कृष्ट विजय करनेवाले मंगलगीतोंके द्वारा तथा भगवानकी स्तुतिकेलिये पढेगये मंगलाष्टकके द्वारा वे बाहुबलि महाराज विजय करनेकेलिये जगे और जिसप्रकार ऐरावत हाथी गंगाके किनारेकी पृथ्वीका साथ धीरे धीरे छोडता है उसीप्रकार राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे बाहुबलिने भी निद्रा छूटजानेसे धीरे धीरे अपनी शय्याका त्याग किया ॥ २४८ ॥ सेनाके मुख्य मुख्य लोगोंके द्वारा जिसकी शोभा खूब बढ रही है तथा जिसका पराक्रम भी खूब बढ रहा है और कितने ही राजालोग दूरसे ही आकर प्रणाम करतेहुये जिसे देख रहे हैं ऐसा वह तरुण बाहुबलिकुमार विजय करनेवाले मदोन्मत्त हाथियोंके अनेक समूहोंसे सब दिशाओंको रोकताहुआ सेनाके साथ साथ युद्धके योग्य ऐसे मैदानमें जा पहुंचा ॥ २४९ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे कुमार बाहुबलिके युद्धके उद्यमका वर्णन करनेवाला यह पैंतीसवां पर्व समाप्त हुआ।

अथ षट्त्रिंशत्तमं पर्व ।

अथ दूतवचश्चडमरुदाघातघूर्णितः । प्रचचाल बलाभोधिर्जिष्णोरारुध्य रोदसी ॥ १ ॥ सांग्रामिक्यो महाभेर्यस्तदा धीरं प्रदध्वनुः । सुध्वानैः साध्वसं भेजुः खड्गव्यग्रा नभश्चराः ॥ २ ॥ बलानि प्रविभक्तानि निधीशस्य विनिर्ययुः । पुर. पादातमाश्वीयमारादाराच्च हास्तिकम् ॥ ३ ॥ रथकव्यापरिक्षेपो बलस्योभयपक्षयोः । अग्रतः पृष्ठतश्चासीदूर्ध्वं च खचरामरा ॥ ४ ॥ षडगबलसामग्र्या संपन्नः पार्थिवैरमा । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीषया ॥ ५ ॥ महान् गजघटावंधो रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव संघातः संचारी सह शाखिभिः ॥ ६ ॥ श्च्योतन्मदजलासारसिक्तभूभिर्मद-

---

अथ छत्तीसवां पर्व

अथानंतर—दूतके बचनरूपी प्रचंड वायुके आघातसे व्याकुल हुआ चक्रवर्तीका सेनारूपी समुद्र आकाश पाताल दोनोंको रोकता हुआ चलने लगा ॥ १ ॥ उससमय युद्धकी सूचना करनेवाली महाभेरी (बडे बडे नगाडे) गंभीर शब्दोंसे बजने लगीं और उन शब्दोंको सुनकर अपने अपने शस्त्र लेनेमें व्याकुल हुये विद्याधर कुछ डरने लगे ॥ २ ॥ चक्रवर्तीकी सेना अलग अलग विभागों में बटकर चल रही थी, सबसे आगे पैदल सेना थी, उससे कुछ दूरपर घुडसवार थे, और उससे कुछ दूर हाथियोंका समूह था ॥ ३ ॥ सेनाके अगल बगल दोनोंओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर देव और विद्याधर चलरहे थे ॥ ४ ॥ इसप्रकार महाराज भरतेश्वर छह प्रकारकी सेनाकी सब सामिग्री लेकर तथा सब राजाओंके साथ साथ अपने छोटे भाईके जीतनेकी इच्छासे निकला ॥ ५ ॥ उससमय जिनपर विजयकी ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे चलतेहुये अनेक हाथियोंके समूह ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों अपने बनके वृक्षोंके साथ साथ चलते हुये पर्वतोंके समूह ही हों ॥ ६ ॥ जिनसे झरते हुये मदके जलकी धारासे सब पृथ्वी सींची गई है तथा जिन्होंने सब दिशायें रोक ली हैं ऐसे मदोन्मत्त हाथियोंके साथ वह चक्रवर्ती चलने लगा, उस समय वे हाथी ऐसे जान

द्विपैः । प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रैः शैलैरिव सनिर्झरैः ॥ ७ ॥ जयस्तंबेरमा रेजुस्तुंगाः शृंगारितांगकाः । सांद्रसंध्यातपाक्रांताश्चलंत इव भूधराः ॥ ८ ॥ चमूमतंगजा रेजुः सज्जाः सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने ॥ ९ ॥ गजस्कंधगता रेजुर्धुर्गता विधृतांकुशाः । प्रदीप्तोद्भटनेपथ्या दर्पाः सपिंडिता इव ॥ १० ॥ कौक्षेयकैर्निशाताग्रधाराग्रैः सादिनो बभुः । मूर्त्तीभूय भुजोपाग्रलग्नैर्वा स्वैः पराक्रमैः ॥ ११ ॥ धन्विनः शरनाराचसंभृतेषुधयो बभुः । वनक्ष्माजा महाशाखाः कोटरस्थैरिवाहिभिः ॥ १२ ॥ रथिनो रथकट्यासु सभृतोचितहेतयः । सग्रामवार्धितरणे प्रस्थिता नाविका

पडते थे मानों जिनसे झरने झर रहे हैं ऐसे पर्वत ही हों ॥ ७ ॥ अथवा जिनके सब अंग उपांगोंका शृंगार किया गया है और जो बहुत ऊंचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों जिनपर संध्याकालकी सघन पीली पीली धूप पड रही है ऐसे चलतेहुये पर्वत ही हों ॥८॥ जिनपर विजयकी ध्वजायें फहरा रही हैं और जो सबतरह सजाये गये हैं इसप्रकारके वे सेनाके हाथी ऐसे जान पडते थे मानों स्वामी भरतको अपना बल दिखानेके लिये कुलाचल ही आये हों ॥ ९ ॥ जिन्होंने दैदीप्यमान और वीररसके योग्य आभूषण पहने हैं और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रक्खा है ऐसे हाथियोंके कंधोंपर बैठे हुये महावत लोग इसप्रकार सुशोभित हो रहे थे मानों एक जगह इकट्ठा हुआ सब अभिमान ही हो ॥ १० ॥ घुडसवार लोग जिनकी आगेकी धार बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे अच्छे मालूम होते थे मानों उनका पराक्रम ही मूर्तिमान होकर उनकी भुजाओंके समीप आ लगा हो ॥ ११ ॥ बाण, लोहे के बाण आदि अनेक तरहके बाणोंसे जिनकी तूणीर (जिसमें बाण भरे रहते हैं) भरीहुई है ऐसे धनुष धारण करनेवाले लोग इसप्रकार जान पडते थे मानों बडी बडी शाखावाले बनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥ १२ ॥ जिन्होंने युद्धके योग्य सब शस्त्र रथोंमें भरलिये हैं ऐसे रथोंमें बैठे हुये योद्धा लोग इसप्रकार चल रहे थे मानों युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिये नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥ १३ ॥ जिन्होंने

इव ॥ १३ ॥ भटा हस्त्युरसं भेजुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः । समुत्खातनिशातासिपाणयः पादरक्षणे ॥ १४ ॥ पुस्फुरुः स्फुरदस्त्रौघा भटाः संदशिताः परे । औत्पातिका इवानीलाः सोल्का मेघाः समुत्थिताः ॥१५॥ करवाल करालाग्रं करे कृत्वा भटोऽपरः । पश्यन्मुखरस तस्मिन्स्व शौर्यं परिजाज्ञिवान् ॥१६॥ कराग्रविधृत खड्ग तुलयन्कोऽप्यभाद्भटः । प्रतिमित्सुरिवानेन स्वामिसत्कारगौरवं ॥ १७ ॥ महामुकुटवद्धाना साधनानि प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्वीयरथकव्यापरिच्छदैः ॥ १८ ॥ बभुर्मकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमौलयः । सलीला लोकपालानामशा भुवमिवागताः ॥ १९ ॥ परिवेष्टय निरैयत पार्थिवाः पृथिवीश्वरं । दूरात्स्वबलसामग्री दर्शयतो यथायथं ॥ २० ॥ प्रत्यग्रसमरारभसश्रवोद्भ्रातचेतसः । भटीराश्वासयामासुर्भटाः प्रत्याय्य धीरितैः ॥ २१ ॥

शिरपर लोहेका टोप और शरीरपर कवच पहन रक्खा है तथा हाथमें तीक्ष्ण तलवार लेकर ऊंची उठा रक्खी है ऐसे योद्धा लोग हाथियोंके सामने उनके पैरोंकी रक्षा करनेके लिये चलते हुये सुशोभित हो रहे थे ॥ १४ ॥ जिनपर शस्त्रोंके समूह चमचमा रहे हैं और जो लोहेके काले कवच पहने हुये हैं ऐसे अन्य कितने ही योद्धा इसप्रकार देदीप्यमान हो रहे थे मानो उदय होते हुये उल्का सहित काले बादल ही इकट्ठे हो रहे हों ॥ १५ ॥ अन्य कोई योद्धा तीक्ष्ण धारवाली तलवार हाथमें लेकर तथा उसमें अपने मुखका रंग (तेज) देखता हुआ अपनी बीरता प्रगट कर रहा था ॥ १६ ॥ अन्य कोई योद्धा हाथमें धारण की हुई तलवारको तोलता हुआ (आजमाता हुआ) ऐसा जान पडता था मानों इस तलवारके द्वारा अपने स्वामीके आदर सत्कारके वडप्पनको तोलना ही चाहता हो ॥ १७ ॥ पैदल सेना, हाथियोंका समूह, घुडसवार और रथोंका समूह इत्यादि सामग्रीके साथ साथ महा मुकुटवद्ध राजाओंकी सेना भी चलरही थी ॥ १८ ॥ रत्नोंके किरणोंसे जिनके मुकुट बहुत ऊंचे दिखाई दे रहे हैं ऐसे मुकुटवद्ध राजा इसप्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लोकपालोंके कुछ अंश लीला पूर्वक पृथ्वीपर ही आगये हों ॥ १९ ॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और साथमें दूरसे ही यथायोग्य रीतिसे अपनी सेनाकी सामिग्री भी देखते जाते थे ॥ २० ॥

भूरेणवस्तदाश्वीयखुरोध्दूताः खलंघिनः । क्षणाविघ्नितसंप्रेक्षाः प्रचक्रुरमरांगनाः ॥ २२ ॥ रजःसंतमसे रुद्धदिक्चक्रे व्योमलंघिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दृशः स्वविषयोन्मुखीः ॥२३॥ समुद्भटरसप्रायैर्भटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुर्जनजल्पैरपीदृशैः ॥२४॥ रणभूमिं प्रसाध्याराात्स्थितो बाहुबली नृपः । अयं च नृपशार्दूलः प्रस्थितो निर्नियंत्रणः ॥२५॥ न विद्मः किं नु खल्वत्र स्याद्भ्रात्रोरनयोरिति । प्रायो न शातये युद्धमेनयोरनुजीविनां ॥२६॥ विरूपकमिदं युद्धमारब्धं

नवीन युद्धका प्रारंभ सुननेसे जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको योद्धा लोग वडी धीरताके साथ विश्वास दिलाकर आश्वासन दे रहे थे, भावार्थ—डरी हुई स्त्रियोंको योद्धा लोग समझा रहे थे ॥ २१ ॥ उस समय घोडोंके खुरोंसे उठी हुई और आकाशको भी उलंघन करनेवाली पृथ्वी की धूल थोडी देरके लिये देवांगनाओंके देखनेमें भी विघ्न कर रही थी। भावार्थ—धूल इतनी उड रही थी कि देवियोंको देखना भी कठिन होगया था ॥ २२ ॥ उडती हुई उस धूलसे आकाशको उलंघन करनेवाला और सब दिशाओंमें भरा हुआ गाढ अंधकार होगया था, ऐसे उस अंधकारमें चक्र रत्नके प्रकाशसे ही सब लोगोंके नेत्र अपना अपना विषय देखते थे ॥ २३ ॥ चक्रवर्तीके अनुयायी राजा लोग रास्तेमें अत्यंत वीररससे भरी हुई योद्धा लोगोंकी परस्परकी बातचीतसे ही उत्साहित हो रहे थे तथा इसके सिवाय अन्य लोग भी नीचे लिखे अनुसार परस्पर बात चीत कर रहे थे उन्हें भी वे सुनते जाते थे ॥ २४ ॥ लोग कह रहे थे कि महाराज बाहुबलि युद्धकी भूमिको दूरसे ही अपने युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुये हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान यह भरत भी उच्छृंखल होकर उनके सन्मुख जा रहे हैं ॥ २५ ॥ निश्चयसे नहीं जान सकते कि इस युद्धमें दोनों भाइयोंका क्या होगा? बहुत करके इन दोनोंके इस युद्धमें सेवक लोगोंका कल्याण नही है ॥ २६ ॥ महाराज भरतने जो यह युद्ध प्रारंभ किया है वह बहुत ही दुख देनेवाला और अयोग्य है। सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे किसी तरह रोके नहीं जा सकते ऐसे ये प्रभु लोग स्वेच्छा

भरतेशिना । ऐश्वर्यमदुर्वाराः स्वैरिणः प्रभवो यतः ॥२७॥ इमे मकुटवद्धाः किं नैनौ वारयितु क्षमाः । येऽमी समग्रसामग्र्या संग्रामायितुमागताः ॥२८॥ अहो महानुभावोऽय कुमारो भुजविक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येवं यो योध्दुं संमुख स्थित ॥ २९ ॥ अथवा तत्रभूयस्त्व न जयाग मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः सहितानपि दतिनः ॥ ३० ॥ अय च चक्रभृद्देवो नेष्टः सामान्यमानुपः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्राणा सुधाभुजा ॥ ३१ ॥ तन्माभूदनयोर्युद्ध जनसक्षयकारण । कुर्वंतु देवताः शातिं यदि सन्निहिता इमाः ॥ ३२ ॥ इति माध्यस्थ्यवृत्त्यैके जनाः श्लाघ्य वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित्स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥ ३३ ॥ एव प्रायैर्जनालापैर्महीनाथा विनोदिता । द्रुत प्रातास्तमुद्देश यत्र वीराग्रणीरसौ ॥ ३४ ॥ दोर्दर्पं विगणय्यास्य

चारी ही (अपनी इच्छानुसार चलनेवाले) होते हैं ॥ २७ ॥ जो ये मुकुटवद्ध राजा अपनी समस्त सामिग्रीके साथ युद्ध करनेके लिये आये हैं वे क्या इन दोनोंके युद्धको नही रोक सकते हैं? ॥ २८ ॥ अहो भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला वह बाहुबलि कुमार अद्भुत पराक्रमको धारण करनेवाला है। क्योंकि चक्रवर्तीके क्रोध करनेपर भी जो युद्ध करनेके लिये सन्मुख खडा हुआ है? ॥ २९ ॥ अथवा शूरवीर लोगोंको बहुतसी सामिग्री भी विजय करनेका कारण नहीं है। क्योंकि एक ही सिंह समूहके समूह हाथियोंको भी जीत लेता है ॥ ३० ॥ चक्रको धारण करनेवाला यह भरत भी कोई सामान्य पुरुष नहीं है क्योंकि नमस्कार करतेहुये हजारों देव इसकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥ इसलिये अनेक लोगोंके नाश होनेका कारण ऐसा इन दोनोंका युद्ध न हो तो ही अच्छा है। यदि देव लोग यहां समीप हों तो वे इस युद्धकी शांति करें ॥ ३२ ॥ इसप्रकार जो लोग मध्यस्थ भावोंको धारण करनेवाले थे वे ऐसे प्रशंसनीय बचन कर रहे थे, और जो कोई पक्षपातके चंगुलमें फंसे हुये थे वे अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ ३३ ॥ प्रायः लोगोंकी इसीप्रकारकी बातचीतसे प्रसन्न होते हुये राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर पहुंच गये जहां कि अनेक शूरवीरोंमें मुख्य ऐसा यह बाहुबलि कुमार विराजमान था ॥ ३४ ॥ बाहुबलीके समीप पहुंचते ही भरतके योद्धा जिसे शत्रु

दुर्विलंघ्यमरातिभिः । त्रेसुः प्रतिभटाः प्रायस्तस्मिन्नासन्नसंनिधौ ॥ ३५ ॥ इत्यभ्यर्णे बले जिष्णोर्बलं भुजबलीशिनः । जलमब्धेरिवाक्षुभ्यद्वीरध्वानानिरुद्धदिक् ॥ ३६ ॥ अथोभयबले वीराः सन्नद्धगजवाजयः । बलान्यारचयामासुरन्योन्य प्रयुयुत्सया ॥ ३७ ॥ तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः संप्रधार्यावदन्निति । शातये नानयोर्युद्धं ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥ ३८ ॥ चरमाङ्गधरावेतौ नानयोः काचन क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य व्याजेनानेन जृम्भितः ॥ ३९ ॥ इति निश्चित्य मन्त्रज्ञा भीत्वा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥ ४० ॥ अकारणरणेनालं जनसँहारकारिणा । महानेवमधर्मश्च

कभी जीत नही सकते ऐसा बाहुबलिके भुजाओंका बल देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥३५॥ इसप्रकार जब चक्रवर्तीकी सेना समीप पहुंच गई तब जिसने शूरवीरोंके शब्दोंसे सब दिशायें भर दी हैं ऐसी बाहुबलिकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥ ३६ ॥

अथनंतर—दोनों ही सेनाके योद्धा लोग परस्पर एक दूसरेके साथ युद्ध करनेकी इच्छासे अपने अपने हाथी घोडे आदि सजाकर सेनाकी व्यूह रचना करने लगे ॥ ३७ ॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य मुख्य मंत्री अपने अपने विचारोंको निश्चयकर इसप्रकार कहने लगे कि क्रूर ग्रहोंके समान इन दोनोंका युद्ध कुछ शांति करनेवाला नहीं है ॥ ३८ ॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं इन दोनों में से किसीका भी विनाश नहीं हो सकता है, केवल इन दोनोंके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होनेवाला है ॥ ३९ ॥ इसप्रकार निश्चयकर और असंख्यात प्राणियोंकी हानिसे डरकर दोनों ओरके मंत्रियोंने अपने अपने स्वामियोंकी अर्थात् भरत और बाहुबली दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा की ॥ ४० ॥ उन्होंने घोषणा कर दी कि असंख्यात जीवोंका संहार करनेवाले विना कारणके इस युद्धसे कोई लाभ नहीं है, अब यह ऐसा युद्ध नहीं होगा, क्योंकि ऐसा युद्ध करनेसे बडा भारी अधर्म होगा और बडे बडे यश सब मिट्टीमें मिल जायंगे ॥ ४१ ॥ इस युद्धसे केवल यही परीक्षा करनी है कि बल किसमें अधिक है। वह बलकी परीक्षा दूसरी तरहसे भी हो

गरीयांश्च यशोवधः ॥ ४१ ॥ बलोत्कर्षपरीक्षेयमन्यथाऽप्युपपद्यते । तदस्तु युवयोरेव मिथो युद्धं त्रिधात्मकं ॥ ४२ ॥ भ्रूभंगेन विना भगः सोढव्यो युवयोरिह । विजयश्च विनोत्सेकात् धर्मो ह्येष सनाभिषु ॥ ४३ ॥ इत्युक्तौ पार्थिवैः सर्वैः सोपरोधैश्च मंत्रिभि. । तौ कृच्छ्रात्प्रत्यपत्सातां तादृश युद्धमु द्धतौ ॥ ४४ ॥ जलदृष्टिनियुद्धेषु योऽनयोर्जयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पातिरस्तु स्वयवृतः ॥ ४५ ॥ इत्युद्घोष्य कृतानंदमानदिन्या गभीरया । भेर्या चमूप्रधानाना न्यधुरेकत्र सान्निधिं ॥ ४६ ॥ नृपा भरतगृह्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृह्याश्च पार्थिवास्तानतोऽन्यतः ॥ ४७ ॥ मध्ये

सकती है इसलिये तुम दोनोंका ही (भरत और बाहुबलिका ही) परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इन तीनों प्रकारके युद्धमें जो पराजय होगा वह तुम दोनोंको ही भोंहके चढाये विना अर्थात् क्रोध ईर्ष्या आदि किये बिना ही सहन कर लेना चाहिये तथा इसीतरह जो विजयी होगा वह भी बिना किसी अहंकारके तुम दोनोंको सहन करना होगा अर्थात् मानना होगा, एक कुलमें उत्पन्न हुये भाई भाइयोंका यहीं धर्म है ॥४३॥ इसप्रकार सब राजाओंने तथा मंत्रियोंने बडी विनयके साथ प्रार्थना की, तब कहीं बडी काठिनतासे उद्धत हुये दोनों भाइयोंने [भरत और बाहुबलिने] इसप्रकारका युद्ध स्वीकार किया ॥४४॥जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और बाहुयुद्ध इन तीनों युद्धोंमें इन दोनों भाइयोंमेंसे जो विजय प्राप्त करेगा वही विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति माना जायगा। भावार्थ–इन तीनों युद्धोंमें जो जीतेगा वही विजयका अधिकारी होगा ॥४५॥ इसप्रकार निश्चयकर जिसमें सबको आनंद हो इसरीतिसे प्रसन्न करनेवाले गंभीर नगाडोंके द्वारा सब जगह वही घोषणा करा दी और फिर सेनाके मुख्य मुख्य सब लोगोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥ ४६ ॥ जो भरतकी पक्षवाले राजा थे उन्हें एकओर बिठाया और जो बाहुबलिकी पक्षवाले राजा थे उन्हें इनके ठीक सामने दूसरी ओर बिठाया ॥ ४७ ॥ उन सब राजाओंके बीचमें बैठे हुये वे भरत और बहुबलि दोनों महाराज ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों किसी कारणसे निषध और नील पर्वत ही एक जगह आकर इकट्ठे हो

महीभृतां तेषां रेजतुस्तौ नृपौ स्थितौ । गतौ निषधनीलाद्री कुतश्चिदिव सान्निधिं ॥ ४८ ॥ तयोर्भुजबली रेजे गरुडग्रावसच्छविः । जंबूद्रुम इवोत्तुंगः सभृंगोऽशितिमूर्द्धजः ॥ ४९ ॥ रराज राजराजोऽपि तिरीटोदग्रविग्रहः । सचूलिक इवाद्रींद्रस्तप्तचामीकरच्छविः ॥ ५० ॥ दधद्धीरतरां दृष्टिं निर्निमेषामनुद्धटां । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसभं भुजविक्रमी ॥ ५१ ॥ विनिवार्य कृतक्षोभमनिवार्यं बलार्णवं । मर्यादया यवीयांसं जयेनायोजयन्नृपाः ॥ ५२ ॥ सरसीजलमागाढौ जलयुद्धे मदोद्धतौ । दिग्गजाविव तौ दीर्घैर्व्यात्युक्षीमासतुर्भुजैः ॥ ५३ ॥ अधिवक्षस्तटं जिष्णोरेजुरच्छा जलच्छटाः । शैलभर्तुरिवो-

---

गये हों ॥ ४८ ॥ उन दोनोंमें मस्तक पर काले केशोंसे सुशोभित और नीलमणिके समान सुंदर कांतिको धारण करता हुआ बाहुबलि ऐसा अच्छा जान पडता था मानों भ्रमरोंसे घिराहुआ और बहुत ऊंचा जंबूवृक्ष [जामुनका पेड] ही हो ॥ ४९ ॥ इसप्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊंचा हो रहा है और ताये हुये सुवर्णके समान जिसकी कांति है ऐसा राजराजेश्वर भरत भी इसप्रकार सुशोभित हो रहा था मानों चूलिका सहित मेरु पर्वत ही हो ॥ ५० ॥ [प्रथम दृष्टि युद्ध प्रारंभ हुआ] बाहुबलिने अपनी दृष्टि बडी शांत तथा धीरताके साथ रक्खी और पलकसे पलक नहीं लगने दिया, इसलिये उन्होंने बहुत शीघ्र इस दृष्टि युद्धमें विजय प्राप्त किया ॥५१॥ उससमय बाहुबलिका सेनारूपी समुद्र जो किसीसे निवारण न किया जा सके इसप्रकार क्षोभित हो गया अर्थात् उसमें बाहुबलि "जीतगये जीतगये" ऐसा कोलाहल होने लगा । राजा लोगोंने उस कोलाहलको शांत किया और फिर बडी मर्यादाके साथ उन्होंने छोटे भाई बाहुबलिका विजय स्वीकार किया ॥५२॥ तदनंतर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उन्मत्त हुये उन दोनों कुमारोंने जलयुद्ध करनेके लिये सरोवरके जलमें प्रवेश किया और अपनी लंबी लंबी भुजाओंसे वे दोनों ही परस्पर एक दूसरेपर पानी डालने लगे ॥ ५३ ॥ बाहुबलिने जो पानी उडाया था उसकी निर्मल छटायें भरतके वक्षःस्थलपर ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों सुमेरु पर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही बह रहा हो ॥ ५४ ॥ उसके बाद

त्संगसंगिन्यः सुतयोऽभवन् ॥ ५४ ॥ जलौघो भरतेशेन मुक्तो दोर्वलिशालिनः । प्रांशोरप्राप्य दूरेण मुखमासन्नमपतत् ॥ ५५ ॥ भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा । वलैर्भुजवलीशस्य भूयोऽप्युद्घोषितो जयः ॥ ५६ ॥ नियुद्धमथ धीरौ तौ नृसिंहौ सिंहविक्रमौ । धीरावाभिकृतस्पर्धौ तौ रंगावनिमीयतुः ॥ ५७ ॥ वल्गितास्फोटितैश्चित्रैः करणैर्बंधपीडितैः । दोर्दर्पशालिनोरासीद् बाहुयुद्धं तयोर्महत् ॥५८॥ स्फुरन्मुकुटभाचक्रो हेलयोत्क्षिप्तो विनामुना । लीलामलातचक्रस्य चक्री भेजे क्षणं भ्रमन् ॥ ५९ ॥ यवीयान् नृपशार्दूल ज्यायांसं जिनभास्वरं । जित्वाऽपि नानयन्मूर्ध्नि प्रसृतिर

भरतने भी वाहुवलिके ऊपर पानी फेंका परंतु वाहुवलि ऊंचे थे इसलिये वह पानी मुखको वहुत दूर छोडकर दूरसे ही नीचे जा पडा । भावार्थ–जो पानी वाहुवलिने फेंका था वह तो भरतके वक्षःस्थलपर वहता हुआ मुखतक पहुंच गया था परंतु जो पानी भरतने फेंका था वह वाहुवलिके मुह और वक्षःस्थलसे वहुत नीचे रह गया, वहांतक नहीं पहुंचने पाया ॥ ५५ ॥ इसप्रकार जब भरतने इस युद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तव फिर भी वाहुवलिकी सेनाने अपने विजयका डंका वजाया ॥ ५६ ॥ तदनंतर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले, धीरवीर और परस्पर स्पर्धा करनेवाले वे दोनों ही मनुष्यसिंह वाहुयुद्धकी प्रतिज्ञाकर रंगभूमि में आ कूदे ॥ ५७ ॥ अपनी अपनी भुजाओंका अभिमान रखनेवाले उन दोनोंका अनेक तरहसे हाथ हिलाने पैर फैलाने (पैंतरा वदलने) और भुजाओंके व्यायाम (दाव पेच) आदिसे वहुत वडा मल्लयुद्ध हुआ ॥ ५८ ॥ देदीप्यमान मुकुटकी प्रभाके समूहको धारण करतेहुये उस चक्रवर्तीको वाहुवलिने लीलामात्रमें ही उठाकर घुमा दिया था, और उस समय घूमते हुये उस चक्रवर्तीने क्षणभरके लिये आलातचक्रकी शोभा धारण की थी । भावार्थ–अनेक वारीक छिद्र सहित किसी पोली चीजको उसमें पिसे हुये कोयलेकी अग्नि भरकर घुमाते हैं उसे आलातचक्र कहते हैं । जिससमय भरतको घुमाया था उससमय उसके मुकुटकी कांति उन छिद्रोंसे निकलती हुई अग्निके कणोंके समान चमकती थी इसलिये ही वे आलातचक्रके समान

गौरवात् ॥ ६० ॥ भुजोपरोधमुध्दृत्य स तं धत्ते स्म दोर्बली । हिमाद्रिमिव नीलाद्रिर्महाकटकभास्वरं ॥ ६१ ॥ तदा कलकलश्चक्रे पक्ष्यैर्भुजबलीशिनः । नृपैर्भरतगृह्यैस्तु लज्जया नमितं शिरः ॥ ६२ ॥ समक्षमीक्षमाणेषु पार्थिवेषूभयेष्वपि । परां विमानतां प्राप्य ययौ चक्री विलक्षतां ॥ ६३ ॥ वद्धभ्रुकुटिरुद्भ्रांतरुधिरारुणलोचनः । क्षणं दुरीक्षतां भेजे चक्री प्रज्वलितः क्रुधा ॥ ६४ ॥ क्रोधांधेन तदा दध्ये कर्तुमस्य पराजयं । चक्रमुत्क्षिप्तनिःशेषद्विषच्चक्रं निधीशिना ॥ ६५ ॥ आध्यानमात्रमेत्याराददः कृत्वा प्रदक्षिणां । अवध्यस्यास्य पर्यंते तस्थौ मंदीकृतातपं ॥ ६६ ॥ कृतं कृतं वतानेन साहसे-

जान पडते थे ॥ ५९ ॥ छोटे भाई बाहुबलिने भरतक्षेत्रको जीतनेवाले, बडे और सब राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसे भरतको जीतकर भी 'ये बडे हैं' इसी महत्वसे अर्थात् उनके वडप्पनसे उन्हें पृथ्वीपर नहीं पटका ॥ ६० ॥ किंतु जिसप्रकार नीलपर्वत बडे बडे शिखरोंसे शोभायमान हिमवान पर्वतको धारण करता है उसीप्रकार बाहुबलिने भी भरतको अपनी दोनों भुजाओंसे पकडकर ऊंचा उठाकर कंधेपर धारण किया ॥ ६१ ॥ उससमय बाहुबलिकी पक्षवाले लोगोंने विजयका बडा भारी कोलाहल मचाया और भरतके पक्षवाले राजाओंने लज्जासे अपना शिर नीचा कर लिया ॥ ६२ ॥ दोनों पक्षवाले राजा लोगोंके साक्षात् देखतेहुये भरतका अत्यंत अपमान हुआ था इसलिये ही भरतको बहुत भारी आश्चर्य हुआ ॥ ६३ ॥ उस चक्रवर्तीने अपनी दोनों भौंहें चढा लीं, उसकी दोनों आंखें लाल होगई, आंखोंकी पुतलियां इधर उधर फिरने लगीं तथा वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा जो क्षणभरभी देखा नहीं जा सकता था ॥ ६४ ॥ उस समय निधियोंके स्वामी भरतने क्रोधसे अंधे होकर बाहुबलिका पराजय करनेके लिये समस्त शत्रुओंके समूहको नाश करनेवाले चक्रका स्मरण किया ॥ ६५ ॥ स्मरण करनेपर तुरंत ही वह चक्र भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलिपर चलाया परंतु (चरमशरीर और एक ही कुटंबके होनेसे) बाहुबलि अवध्य [जिसका घात न हो सके] थे इसलिये वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित होता हुआ बाहुबलिके समीप जा ठहरा ॥ ६६ ॥ उससमय अनेक बडे बडे

नेति धिक्कृतः । तदा महत्तमैश्चक्री जगामानुशयं परं ॥ ६७ ॥ कृतोपदान इत्युच्चैः करेण तुलयन्नृपं । सोऽवतीर्यांसतो धीरो निकृष्टां भूमिमापयत् ॥ ६८ ॥ सत्कृतः सजयाशसमभ्येत्य नृपसत्तमैः । मेने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजवली प्रभुः ॥ ६९ ॥ अचिंतयच्च किं नाम कृते राज्यस्य भगिनः । लज्जाकरो विविर्भ्रात्रा ज्येष्ठेनायमधिष्ठितः ॥ ७० ॥ विपाककटु साम्राज्यं क्षणध्वंसि धिगस्त्विदं । दुस्त्यजं त्यजदप्येतदागिभिर्दुष्कलत्रवत् ॥ ७१ ॥ अहो विषयसौख्यानां वैरूप्यमपकारिता । भगुरत्वमरुच्यत्वं सक्तैर्नान्विष्यते जनैः ॥ ७२ ॥ को नाम मतिमानीप्सेद्विषयान्विपदारुणान् ।

राजाओंने चक्रवर्ती को धिकार दिया और खेदके साथ कहा कि 'बस! बस! ऐसे साहसको अब बंद करो' यह सुनकर चक्रवर्तीको और भी अधिक पश्चात्ताप हुआ ॥ ६७ ॥ उस धीर वीर बाहुबलिने महाराज भरतको पहिले तो हाथोंसे तौला और फिर ऊंचे स्वरसे "आप बडे पराक्रमी हैं" ऐसी प्रशंसा कर अपने कंधेसे उतारकर उन्हें अच्छे स्थानपर विराजमान किया ॥ ६८ ॥ तदनंतर अनेक बडे बडे राजाओंने बाहुबलिके समीप आकर उनके विजयकी प्रशंसाकर उनका आदर सत्कार किया। उससमय प्रभु महाराज बाहुबलि भी आपको सबसे उत्कृष्ट मानने लगे थे ॥ ६९ ॥ तथा वे उस समय यह भी चिंतवन करने लगे कि देखो अवश्य नाश होनेवाले इस राज्यकेलिये हमारे बडे भाईने यह कैसा लज्जाजनक काम किया है ॥ ७० ॥ यह साम्राज्य क्षणभंगुर है, इसका परिणाम भी बहुत दुख देनेवाला है इसलिये इसे धिकार हो। यह साम्राज्य व्यभिचारिणी स्त्रीके समान हे, जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको छोड देती है उसीप्रकार यह राज्य भी एक दिन इस मनुष्यको अवश्य छोड देता है तथापि अविवेकी लोग इसे छोड नहीं सकते हैं, यह दुखकी बात है ॥ ७१॥ हा! विषयोंमें आसक्त हुये लोग इन विषयोंके सुखोंका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और अंतमें होनेवाले नीरसपनेको कभी नहीं सोचते हैं ॥ ७२ ॥ भला ऐसा कौन बुद्धिमान है जो विषके समान भयंकर इन विषयोंकी इच्छा करे? क्योंकि इन्हीं विषयोंके वश होकर यह प्राणी अनेक दुखोंके समूहको प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

येषां वशगतो जंतुर्यात्यनर्थपरंपरां ॥ ७३ ॥ वरं विषं यदेकस्मिन्भवे हंति न हंति वा । विषयास्तु पुनर्घ्नंति हंत जंतूननंतशः ॥ ७४ ॥ आपातमात्ररम्याणां विपाककटुकात्मनां । विषयाणां कृते नाज्ञो यात्यनर्थाननर्थकं ॥ ७५ ॥ अत्यंतरसिकानादौ पर्यंते प्राणहारिणः । किंपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥ ७६ ॥ शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिमहोरगा । न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥ ७७ ॥ महाब्धिरौद्रसंग्रामभीमारण्यसरिद्गिरीन् । भोगार्थिनो भजत्यज्ञा धनलाभधनायया ॥ ७८ ॥ दीर्घदोर्घातनिर्घातनिर्घोषविषमीकृते । यादसा यादसांपत्यौ चरंति विषयार्थिनः ॥ ७९ ॥

विष खा लेना किसीतरह अच्छा भी है, क्योंकि विष खा लेनेसे यह प्राणी एक ही भवमें मरता है, अथवा कभी कभी नहीं भी मरता है, परंतु विषय सेवन करना अच्छा नहीं, क्योंकि विषय सेवन करनेसे इस प्राणीको अनंतवार मरना पडता है यह कितने दुखकी बात है ॥ ७४ ॥ ये विषय सेवन करते समय तो अच्छे जान पडते हैं परंतु इनका फल वहुत ही कडवा (दुख देनेवाला) होता है, ऐसे विषयोंकेलिये यह मूर्ख पुरुष क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको नहीं प्राप्त होता है ? ॥ ७५ ॥ ये विषय ठीक किंपाकफलके समान हैं, क्योंकि किंपाकफल जैसे खानेके प्रारंभमें वहुत मीठे लगते हैं परंतु अंतमें उनसे प्राण चले जाते हैं उसीप्रकार ये भी प्रारंभमें तो वहुत ही अच्छे और मीठे जान पडते हैं परंतु अंतमें इनसे अवश्य ही प्राण नष्ट हो जाते हैं इसलिये ऐसे इन विषम विषयोंको भला कौन बुद्धिमान पुरुष सेवन कर सकता है ॥ ७६ ॥ इन मनुष्योंको विषयरूपी शत्रु जैसा दुःख देते हैं वैसा दुःख शस्त्रोंका प्रहार, जलती हुई अग्नि, वज्र, बिजली और वडेवडे सर्प आदि कोई भी नहीं दे सकते हैं ॥ ७७ ॥ भोगोपभोगोंकी इच्छा करनेवाले मूर्खलोग केवल धन मिलनेकी इच्छासे महासागर, प्रचंड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंपर जाकर निवास करते हैं ॥ ७८ ॥ विषयोंमें लंपटी हुये पुरुष जलचर जीवोंकी लंबी लंबी भुजाओंके घातसे उत्पन्न हुये वज्रपातके समान भयंकर शब्दोंसे जो अत्यंत विषम (क्षुब्ध) हो रहा है ऐसे समुद्रमें भी जाकर संचार

समापतच्छरव्रातनिरुद्धगगनाङ्गण । रणाङ्गणं विशन्त्यस्तभियो भोगैर्विलोभिताः ॥ ८० ॥ चरन्ति वनमातङ्गा यत्र यत्र सशङ्कितम् । तां पर्यटन्त्यरण्यानीं भोगाशोपहता जडाः ॥ ८१ ॥ तरितुं विषमावर्तभीषणा ग्राहसंकुलाः । निम्नगा वाञ्छन्ति [illegible] ॥ ८२ ॥ आरोहन्ति दुरारोहान् गिरीनप्यभियोगिनः । रसायनरसज्ञानविज्ञानविमोहिताः ॥ ८३ ॥ अनिष्टानितेव [illegible] । [illegible] ॥ ८४ ॥ भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद हिताहितम् । युक्तस्य जरया जन्तोः [illegible] न [illegible] ॥ ८५ ॥ [illegible] । जरसानो

करते हैं ॥ ७९ ॥ जिन्हें भोग उपभोगोंका लोभ उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही पुरुष पडते हुये वाणोंके समूहसे जहां आकाशरूपी मैदान भी सब भरगया है ऐसे युद्धके मैदानमें भी निर्भय होकर घुस जाते हैं ॥ ८० ॥ जिनमें भील आदि वनचर लोग भी भयभीत नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर वनोंमें भी भोगोंकी आशासे पीडित हुये मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥ ८१ ॥ अत्यंत दुःख देनेवाले विषयरूपी पिशाचोंसे जकडे हुये कितने ही मनुष्य मगरमच्छ आदि भयंकर जलचर जीवोंसे भरी हुई तथा विकट भँवरोंसे भयानक ऐसी बडी बडी नदियोंको भी योंही तिरना चाहते हैं, ये सब कितने खेदकी बातें हैं ॥ ८२ ॥ स्तंभन आदि रसायनोंके रसको जानने-का उद्योग करनेके लिये मोहित हुये कितने ही पुरुष बडी कठिनतासे चढने योग्य पर्वतोंपर भी निर्भय होकर चढ जाते हैं ॥ ८३ ॥ यह जरा (बुढापा) सफेद केशोंके बहानेसे जबर्दस्ती बालोंको पकडती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जबर्दस्ती ही आलिंगन करती है ॥ ८४ ॥ जिसकी भोगोंमें अत्यंत उत्कंठा है वह पुरुष प्रायः अपना हित अहित कुछ नहीं जान सकता है, तथा जो बुढापेने घेर लिया है और जो मरगया है इन दोनोंमें क्या अंतर है ? भावार्थ—बूढा मनुष्य भी मरे हुयेके समान है क्योंकि दोनों ही बेकार हैं ॥ ८५ ॥ यह बुढापा मनुष्योंको शीतज्वरके समान अनेक तरहके दुःख देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर इस मनुष्यको जबर्दस्ती पृथ्वीपर पटक देता

नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥ ८६ ॥ अगस्माद् मतिभ्रंश वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा घटयत्याशु देहिनाम् ॥ ८७ ॥ कालव्याल-गजेनेदमायुरालानकं बलात् । चाल्यते यद्बलाधानं जीवितालवनं नृणाम् ॥ ८८ ॥ शरीरबलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम् । रोगाखूपहतं चेदं जरद्देहकुटीरकम् ॥ ८९ ॥ इत्यशाश्वतमप्येतद्राज्यादि भरतेश्वरः । शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः ॥ ९० ॥ चिरमाकलयन्नेवमग्रजस्यानुदात्तताम् । व्याजहारैनमुद्दिश्य गिरः प्रपरुषाक्षराः ॥ ९१ ॥ शृणु भो नृपशार्दूल क्षणं वैलक्ष्यमुत्सृज । मुह्यतेदं त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम् ॥ ९२ ॥ अभेद्ये मम देहाद्रौ

है उसी प्रकार यह बुढापा भी इस मनुष्यको जबर्दस्ती पृथ्वीपर पटक देता है अर्थात् दोनोंसे ही शरीरकी शक्ति नष्ट हो जाती है और शीतज्वरसे जिस प्रकार शरीर कंपता है उसी प्रकार बुढापेसे भी शरीर कंपा करता है ॥ ८६ ॥ शरीरमें प्रविष्ट हुआ यह बुढापा ठीक मद्यके समान लोगोंके शरीरको शिथिल कर देता है, बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है और वचनोंको अस्पष्ट बना देता है ॥८७॥ जिसके बलके सहारे मनुष्योंका यह जीवन टिका हुआ है ऐसे आयुरूपी खंभेको यह कालरूपी दुष्ट हाथी जबर्दस्ती उठाकर फेंक देता है । भावार्थ—यह काल बडीसे बडी आयुको भी पूर्ण कर देता है॥ ८८ ॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और जीर्ण हुआ यह शरीररूपी झोंपडा रोगरूपी चूहोंका खाया हुआ है ॥ ८९ ॥ इसप्रकार राज्य आदि विभूति विनश्वर होनेपरभी मोहके उदयसे जिसकी बुद्धि नष्ट होगई है ऐसा यह भरत उसे नित्य मानता है ? यह कितने दुःख की बात है ॥ ९० ॥ इस प्रकार बडे भाई भरतकी नीचताको देरतक विचार करतेहुये बाहुबलिने भरतको पुकारकर कठोर अक्षरोंकी वाणीसे इस प्रकार कहा कि ॥ ९१ ॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ ! थोडी देरके लिये तू अपनी उदासी छोड और मैं कहता हूं सो सुन । तूने मोहित होकर ही न करने योग्य ऐसे बडे भारी साहसका अवलंबन किया है ॥ ९२ ॥ जो कभी भिद नहीं सकता ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया, सो जिस प्रकार वज्रके बने हुये पर्वतपर वज्रका पडना व्यर्थ है उसी

त्वया चक्रं नियोजितं । विध्यकिंचित्कर वाज्रे शैले वज्रमिवापतत् ॥ ९३ ॥ अन्यत्र भ्रातृभाडानि भंक्त्वा राज्यं यदीप्सितं । त्वया धर्मो यशश्चैव तेन पेशलमर्जितं ॥ ९४ ॥ चक्रभृद्भरतः स्रष्टुः सूनुराद्यस्य योऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूदितीडाऽस्थापि च त्वया ॥ ९५ ॥ जिता च भवतैवाद्य यत्पापोपहतामिमां । मन्यसेऽनन्यभोगीनां नृपश्रियमनश्वरीं ॥ ९६ ॥ प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽदृता । नोचितैषा ममायुष्मन् बंधो न हि सतां मुदे ॥ ९७ ॥ दूषिता कटकैरेना फलिनीमपि ते श्रियं । करेणापि स्पृशेद्धीमॉल्लतां कटकिनीं च कः ॥ ९८ ॥ विषकंटकजालीव त्याज्यैषा सर्वथाऽपि नः । निष्कंटकां तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कुर्तुमिच्छतां ॥ ९९ ॥ मृष्यतां च तदस्माभिः कृतमागो यदीदृशं । प्रच्युतो विनयात्सोऽहं स्वं

प्रकार मेरे शरीरपर भी यह तेरा चक्र व्यर्थ है यह तू अच्छीतरह समझ ॥ ९३ ॥ दूसरी यह बात है कि भाइयोंके भोगोपभोगकी सामिग्रीको नाश कर तूने जो इस राज्यकी इच्छा की है सो इस राज्यकी इच्छासे तूने वहुत ही अच्छा धर्म और यश उपार्जन किया है ॥ ९४ ॥ तूने अपनी यह कीर्ति भी संसारमें स्थापित कर दी कि आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवका जो ज्येष्ट पुत्र था वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥ ९५ ॥ हे भरत ! जिसे तूने जीता है, जो पापसे भरी हुई है और एक दिन अवश्य नष्ट होनेवाली है ऐसी इस राज्यलक्ष्मीको तू मानता है कि इसका भोक्ता अकेला मैं ही हूं ? ॥ ९६ ॥ इस राज्यलक्ष्मीका तूने आदर किया है इसलिये यह तूझे ही प्रिय रहो । हे आयुष्मन् ! अव यह मेरे योग्य नहीं है, क्योंकि कर्मवंधका कारण ऐसा यह परिग्रह सज्जनोंके लिये कभी हर्ष उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता ॥ ९७ ॥ यह तेरी राज्यलक्ष्मी यद्यपि फलवती है अर्थात् फल देनेवाली है तथापि अनेक तरहके कांटोंसे (आपत्तियोंसे) दूषित है। भला ऐसी कांटेवाली लताको कौनसा बुद्धिमान् हाथसे भी छूना चाहता है ॥ ९८ ॥ अव हम कंटकरहित तपश्चरणरूपी लक्ष्मीको अपने आधीन करना चाहते हैं इसलिये विषके कांटोंकी श्रेणीके (समूहके) समान यह राज्यलक्ष्मी हम लोगोंके लिये सर्वथा त्याज्य है॥ ९९ ॥ इसलिये मैंने जो यह ऐसा

चापलमदीदृशं ॥ १०० ॥ इत्युच्चरद्गिरामोघो मुखाद्बाहुबलीशितुः । ध्वनिरुद्धादिवाऽऽतप्तस जिष्णोराह्लादयन्मनः ॥ १०१ ॥ हा दुष्टं कृतमित्युच्चैरात्मान स विगर्हयन् । अन्ववातप्स पापेन कर्मणा स्वेन चक्रराट् ॥ १०२ ॥ प्रयुक्तानुनय भूयो मनुमत्यं स धीरयन् । न्यवृतन्न स्वसकल्पादहो स्थैर्यं मनस्विना ॥ १०३ ॥ महाबलिनि निक्षिप्तराज्यर्द्धिः स स्वनदने । दीक्षामुपादधे जैनीं गुरोराराधयन्पद ॥ १०४ ॥ दीक्षावल्या परिष्वक्तस्त्यक्ताशेषपरिच्छदः । स रेजे सलत. पत्रमोक्षक्षाम इव द्रुमः ॥ १०५ ॥ गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिता । प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल सवृत. ॥ १०६ ॥

अपराध किया है उसे क्षमा कीजिये, मैंने विनयका बिल्कुल त्याग कर दिया था अर्थात् आपका विनय नहीं किया था यह मेरी चंचलता थी, आप इसे क्षमा कीजिये ॥ १०० ॥ महाराज बाहुबलिके मुखसे बादलोंकी गर्जनाके समान निकलतेहुये वाणीके समूहसे अत्यंत संतप्त हुआ भरतका मन कुछ प्रसन्न हुआ ॥ १०१ ॥ तुरंत ही वह चक्रवर्ती "हा यह काम मैंने बहुत बुरा किया" इस प्रकार जोर जोरसे अपनी निंदा करने लगा और अपने पापकार्यका बहुत ही पश्चात्ताप [पछतावा] करने लगा ॥ १०२ ॥ जिसके लिये फिर भी बारबार प्रार्थना की है ऐसे अंतके कुलकर भरतको प्रसन्न करता हुआ वह बाहुबलि अपने संकल्पसे च्युत नहीं हुआ अर्थात् उसके विरक्त परिणाम नष्ट नहीं हुये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोगोंकी स्थिरता भी आश्चर्य जनक होती है ॥१०३॥ बाहुबलिने अपने पुत्र महाबलको राज्यलक्ष्मी सौंपी और अपने गुरु श्रीवृषभदेवके चरणकमलोंका आराधन करतेहुये जैनेंद्री दीक्षा धारण की ॥ १०४ ॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड दिये हैं और जो दीक्षारूपी वेलसे ढका हुआ है ऐसा वह बाहुबलि उससमय ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों पत्तोंके गिर जानेसे कृश हुआ ऐसा लता [वेल] सहित कोई वृक्ष ही हो ॥ १०५ ॥ इंद्रियोंको जीतनेवाले बाहुबलिने गुरूकी आज्ञानुसार सब शास्त्र पढे, एकाविहारीपन धारण किया और एक वर्षतक प्रतिमायोग (एक जगह खडे रहनेका नियम) धारण किया ॥ १०६ ॥

स शसितव्रतोऽनाश्वान् वनवल्लीततातिकः । वल्मीकरध्रनिःसर्पत्सर्पैरासीद्भयानकः ॥ १०७ ॥ श्वसदाविर्भवद्भोगभुजगशिशुजृंभितैः । विषांकुरैरिवोपांघ्रि स रेजे वेष्टितोऽभितः ॥ १०८ ॥ दधानः स्कधपर्यंतलंबिनीः केशवल्लरीः । सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमंडल हरिचंदनं ॥ १०९ ॥ माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया । शाखाबाहुभिरावेष्टय सध्रीच्येव सहारया ॥ ११० ॥ विद्याधरीकराळूनपल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनीवास्य सामिनम्राऽनुनेष्यती ॥ १११ ॥ रेजे स तदवस्थोऽपि तपो दुश्चरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्या स्पृहयालुः कृशीभवन् ॥ ११२ ॥

जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किया है, उपवास धारण किया है और जिनके समीपमें अनेक तरहकी लताओंके समूह खडे हैं ऐसे वे बाहुबलि वामीके (सर्पोंके बिलोंके) छिद्रोंसे निकलते हुये सर्पोंसे बहुत ही भयानक जान पडते थे। भावार्थ—वे तो निश्चल खडे थे परंतु उनके समीप अनेक सर्प फिरा करते थे ॥ १०७ ॥ श्वासोश्वासके फुंकारोंसे जिनके फणा साफ दिखाई दे रहे थे ऐसे उछलकूद मचाते हुये सर्पोंके बच्चोंसे चारों ओरसे घिरे हुये वे बाहुबलि ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनके पैरके समीप विषके अंकूरे ही लग रहे हों ॥ १०८ ॥ जिनके केशरूपी लतायें कंधेंतक लटक रही हैं ऐसे वे बाहुबलि मुनि जिसपर अनेक काले सर्पोंका समूह लगा हुआ है ऐसे मलयागिर चंदनके वृक्षका अनुकरण करते हुयेके समान जान पडते थे। भावार्थ—काले सर्प सहित चंदनके वृक्षके समान सुशोभित होते थे ॥ १०९ ॥ फूली हुई वसंतलताके द्वारा शाखारूपी भुजाओंसे घेरकर गाढ आलिंगन किये हुये वे मुनि ऐसे जान पडते थे मानों हार लिये हुये किसी सखीने ही अपनी भुजाओंसे उन्हें गाढ आलिंगन किया हो ॥ ११० ॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधरियोंने अपने हाथसे तोडलिये हैं ऐसी भगवान बाहुबलिके पैरोंपर पडी हुई वह वसंतलता इसप्रकार सूक गई थी मानों कुछ नम्र होकर प्रार्थना करती हुई कोई स्त्री ही हो ॥ १११ ॥ ऐसी अवस्था होनेपरभी कठिन तपश्चरण करते हुये और इसलिये ही कृश हुये वे मुनि ऐसे जान पडते थे मानों मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता

तपस्तनूनपात्तापसंतप्तस्यास्य केवलं । शरीरमशुषन्नोर्ध्वशोप कर्माप्यशर्मदं ॥ ११३ ॥ तीव्र तपस्यतोऽप्यस्य नासीत्कश्चिदुपप्लवः । अचिंत्यं महतां धैर्यं येनायाति न विक्रिया ॥ ११४ ॥ सर्वंसहः क्षमाभारं प्रशांतः शीतलं जलं । निःसंगः पवनं दीप्तः स जिगाय हुताशनं ॥ ११५ ॥ क्षुधं पिपासां शीतोष्णं सदंशमशकद्वयं । मार्गाच्यवनसंसिध्यै द्वद्वानि सहते स्म सः ॥ ११६ ॥ स नाग्न्यं परमं बिभ्रन्नाभेदींद्रियधूर्तकैः । ब्रह्मचर्यस्य सा गुप्तिर्नाग्न्यं नाम परं तपः ॥ ११७ ॥ रतिं चारतिमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते । न रत्यरतिबाधा हि विषयानाभिषंगिनः ॥ ११८ ॥ नास्यासीत्स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेद-

---

हुआ कोई कामी पुरुष ही हो ॥ ११२ ॥ तपश्चरणरूपी अग्निके संतापसे संतप्त हुये बाहुबलिका केवल खड्गासन शरीर ही नहीं सूख गया था किंतु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥ ११३ ॥ यद्यपि ये मुनि तीव्र तपश्चरण करते थे तथापि इनके कोई किसीतरहका उपद्रव नहीं हुआ था, सो ठीक ही है क्योंकि बडे पुरुषोंका धैर्य भी अचिंत्य होता है उसी धैर्यसे उन्हें किसी तरहका विकार नहीं होता ॥ ११४ ॥ वे उपसर्ग परिषह आदि सबको सहन करते थे इसलिये सहन शीलतागुणसे उन्होंने पृथ्वी भी जीत ली थी, वे इतने शांत थे कि उस शांततासे शीतल जल भी जीत लिया था, वे सब तरहके परिग्रहोंसे रहित थे इसलिये संगरहित गुणसे उन्होंने वायुभी जीत लिया था और शरीर इतना दैदीप्यमान था कि उससे उन्होंने अग्नि भी जीत ली थी ॥ ११५ ॥ मोक्षमार्गसे च्युत न होनेके लिये वे भूख, प्यास, शीत, उष्ण [गर्मी] और दंशमसक (डांस मच्छर विच्छू आदि कीडोंका दुःख) परिषहोंको सहन करते थे ॥ ११६ ॥ वे उत्कृष्ट नाग्न्य (बिलकुल नग्न दिगंबर रहना) परिषहको धारण करते थे तथापि धूर्त इंद्रियोंने उन्हें भेदन नहीं किया था अर्थात् वे नग्न रहकर भी इंद्रियोंके वश नहीं हुये थे । ब्रह्मचर्यकी उत्तम रीतिसे रक्षा करना ही नाग्न्य परिषह है और यही उत्तम तप है ॥ ११७ ॥ वे रति और अरति [राग द्वेष] इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे, सो ठीक ही है जिन्हें विषयोंकी इच्छा ही नहीं है उन्हें रति और अरतिकी बाधा भी नहीं हो सकती है ॥ ११८ ॥ स्त्रीके अपवित्र शरीरको चर्मकी [चमडेकी] पुतलीके

मायुपः ; शरीरमशुचि स्त्रैणं पश्यतश्चर्मपुत्रिका ॥ ११९ ॥ स्थितश्चर्यां निषद्यां च शय्यां चासोढ हेलया । मनसाऽनभिसंवित्सन्नुपानच्छयनासन ॥ १२० ॥ स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदांवरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दथुः ॥ १२१ ॥ याचित्रिमेण नास्येष्टा विश्वाणेन तनुस्थितिः । तेन वाचयमो भूत्वा याचाबाधामसोढ सः ॥ १२२ ॥ जल्लं मलं तृणस्पर्शं सोऽसोढोढोत्तमक्षमः । व्युत्सृष्टतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुखः ॥ १२३ ॥ रोगस्यायतनं देहमाध्यायन् धीरधीरसौ । विविधातकजा बाधां सहते स्म सुदुःसहा ॥ १२४ ॥ प्रज्ञापरिषहं प्राज्ञो ज्ञानजं गर्वमुत्सृ-

---

समान देखते हुये और भोगोंसे विरक्त हुये बाहुबलिके स्त्रियोंकी कोई बाधा नहीं हुई थी, अर्थात् वे स्त्री परिषहको भी पूर्ण रीतिसे सहन करते थे ॥ ११९ ॥ चर्या निषद्या और शय्या परिषहोंको भी वे दृढचित्त होकर लीलामात्रमें जीतते थे तथा पैरोंकी रक्षा करनेके लिये खडाऊं जूता आदि और शय्या आसन आदिकी कभी मनसे भी इच्छा नहीं करते थे ॥ १२० ॥ परमार्थको जाननेवाले वे मुनि शरीरको स्वयं त्याज्य अर्थात् किसी दिन अवश्य नष्ट होनेवाला समझकर सदा उससे निस्पृह (उदासीन, इच्छारहित) रहते थे शरीरमें कभी किसी तरहका आनंद नहीं मानते थे और इसतरह वे बध और आक्रोश दोनों परिषहोंको सहन करते थे ॥ १२१ ॥ वे याचनासे प्राप्त हुये भोजनसे शरीरकी स्थिति रखना अच्छा नहीं समझते थे, इसलिये मौन धारण कर याचना परिषहको सहन करते थे अर्थात् कभी किसीसे कुछ नहीं मांगते थे ॥ १२२ ॥ जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार सब छोड दिया है और सुख दुःखमें समान भाव धारण किया है ऐसे वे मुनि सब शरीरपर जमे हुये मलको अर्थात् मलपरिषहको और तृणस्पर्श (कांटा वगैरह लगना) परिषहको भी सहन करते थे ॥ १२३ ॥ 'यह शरीर अनेक रोगोंका घर है' इसप्रकार चिंतवन करते हुये तथा धीरवीर बुद्धिको धारण करनेवाले वे मुनि बडी कठिनतासे सहन करने योग्य ऐसी अनेक प्रकारके रोगोंकी पीडाको भी सहन करते थे ॥ १२४ ॥ ज्ञानकी वृद्धि सर्वज्ञ होनेतक है अर्थात् जब

जन् । आसर्वज्ञं तदुत्कर्षोत्स ससाह ससाहसः ॥ १२५ ॥ स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुद नागात्सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥ १२६ ॥ परीषहमलाभ च संतुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनोद्भूता बाधाऽऽसीन्नास्य योगिन. ॥ १२७ ॥ परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत् । कर्मणा निर्जरोपायः परीषहजयः परः ॥ १२८ ॥ पचेद्रियाण्यनायासात्सोऽजयज्जितमन्मथः । विषयेधनदीप्तस्य कामाग्नेः शमनं तपः ॥ १२९ ॥ क्रोधं तितिक्षया मानमुत्सेकपरिवर्जनैः । मायामृजुतया लोभ संतोषेण जिगाय सः ॥ १३० ॥ आहारभयसंज्ञे च समैथुनपरिग्रहे ।

तक सर्वज्ञ न हो तबतकका ज्ञान अपूर्ण ही गिना जाता है इसप्रकार ज्ञानके अभिमानका त्याग करते हुये अतिशय विद्वान् और साहसी वे मुनि प्रज्ञा पारिषहको सहन करते थे ॥ १२५ ॥ इसी प्रकार उन्हें अपने सत्कार पुरस्कारके लिये भी कभी इच्छा नहीं होती थी। किसीने पुरस्कार [सामने खडे होना हाथ जोडना आदि] किया तो कभी आनंद नहीं माना और किसीने सत्कार किया तो कभी संतुष्ट नहीं हुये। भावार्थ—उन्होंने सत्कार पुरुस्कार पारिषहको अच्छीतरह सहन किया था ॥ १२६ ॥ उन्होंने संतुष्ट होकर अलाभ पारिषह जीती थी, तथा उन मुनिको अज्ञान और अदर्शनसे भी कोई पीडा नहीं हुई थी। भावार्थ—अज्ञान और अदर्शन पारिषह भी सहन की थीं ॥ १२७ ॥ ऊपर लिखी हुई बाईस पारिषहोंको सहन करनेसे उनके अनेक कर्मोंकी निर्जरा होगई थी, सो ठीक ही है क्योंकि पारिषहोंका सहन करना ही कर्मोंकी निर्जरा करनेका अर्थात् कर्मोंको नष्ट करनेका सबसे अच्छा उपाय है ॥ १२८ ॥ कामदेवको जीत लेनेसे उन्होंने पांचों इंद्रियोंको सहज ही जीत लिया था, सो ठीक ही है क्योंकि तपश्चरण ही विषयरूपी ईंधनसे जलती हुई कामदेवरूप अग्निको शांत करनेवाला है ॥ १२९ ॥ उन्होंने क्षमा धारणकर क्रोधको जीता, अभिमानका त्यागकर मानको जीता, सरल परिणाम धारणकर माया जीती और संतोष धारणकर लोभको जीता था ॥ १३० ॥ कामदेवको जीत लेनेसे ही उन्होंने आहार भय मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥ १३१ ॥

अनगविजयादेताः सज्ञाः क्षपयति स्म स. ॥ १३१ ॥ त्वंतरंगगत्रूणा स भंजन्प्रसरं मुहु । जयति स्माऽऽत्मनाऽऽत्मानमात्मविद्विदिताखिलः ॥१३२॥ व्रत च समितीः सर्वाः सम्यगिंद्रियरोधन । अचेलता च केशाना प्रतिलुचनसंगर ॥ १३३ ॥ आवश्यकेष्वसवाधामस्नान क्षितिशायिता । अदतधावन स्थित्वा भुक्ति भक्त च नासकृत् ॥ १३४ ॥ प्राहुर्मूलगुणानेतास्तथोत्तरगुणा. परे । तेपामाराधने यत्नं सोऽतनिष्टातनुर्मुनि. ॥ १३५ ॥ एतेष्वहाप-यन्किंचिद्व्रतशुद्धिं परां श्रित. । सोऽदीपि किरणैर्भास्वानिव दीप्तैस्तपोऽशुभिः ॥ १३६ ॥ गौरवैस्त्रिभिरुन्मुक्तः परा निःशल्यता गतः । धर्मैर्दशभिरा-

---

अपने आत्माका स्वरूप जाननेवाले तथा समस्त पदार्थोंका स्वरूप जाननेवाले और ऊपर लिखे अनुसार क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओंके समूहको वार वार नष्ट करते हुये उन मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥ १३२ ॥ उन्होंने पांचों महाव्रत और पांचों समितियां धारण की थीं, पांचों इंद्रियोंको अच्छीतरह वश किया था, परिग्रहोंका त्यागकर दिगंवर अवस्था धारण की थी, केशोंके लोंच करनेकी प्रतिज्ञा ली थी, समता वंदना आदि छह आवश्यक निर्विघ्न रीतिसे पालन किये थे, वे कभी स्नान नहीं करते थे, पृथ्वीपर सोते थे, कभी दतौन नहीं करते थे, खडे होकर भोजन करते थे, और एक ही वार भोजन लेते थे ॥ १३३ ॥१३४ ॥ इसप्रकार मुनियोंके ये अट्ठाईस मूलगुण हैं तथा चौरासी लाख उत्तर गुण हैं । इन सवके पालन करनेकेलिये उन महा मुनिराजने बहुत ही प्रयत्न किया था ॥ १३५ ॥ इन मूलगुण और उत्तर गुणोंमें कुछ भी न छोडते हुये अर्थात् इनको पूर्ण रीतिसे पालन करते हुये उन्होंने उत्कृष्ट व्रतोंकी शुद्धि धारण की थी और जिसप्रकार सूर्य अपनी किरणोंसे दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार वे मुनिराज भी दैदीप्यमान तपश्चरणकी किरणोंसे बहुत ही दैदीप्यमान जान पडते थे ॥ १३६ ॥ रसगौरव शब्दगौरव और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे वे रहित थे, माया मिथ्या निदान ये तीनों शल्य उनके बिल्कुल नहीं थीं और उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंको पालन करनेसे वे मोक्षमार्गमें बडे ही मजबूत होगये थे ॥१३७॥

रूढदार्ढ्योऽभून्मुक्तिवर्त्मनि ॥ १३७ ॥ गुप्तित्रयमयीं गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिभासुरः । संवर्मितः समितिभिः स भेजे विजिगीषुतां ॥ १३८ ॥ कषाय-तस्करैर्नास्य हृत रत्नत्रयं धन । सतत जागरूकस्य भूयोभूयोऽप्रमाद्यतः ॥ १३९ ॥ वाचयमस्य तस्यासीन्न जातु विकथादरः । नाभिद्यतेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुसवृतं ॥ १४० ॥ मनोऽगारे महत्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । व्यदीपि तत एवासन्विश्वेऽर्था ध्येयतापदे ॥ १४१ ॥ मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थतत्त्वं विचिन्वतः । करामलकवद्विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥ १४२ ॥ परीषहजयैर्दीप्तो विजितेन्द्रियशात्रवः । कषायशत्रुनुच्छेद्य स तपोराज्यम-

---

उन्होंने मनोगुप्ति बचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियोंको ही अपनी रक्षा करनेका स्थान अर्थात् किला बनाया था, ज्ञानरूपी तलवारसे वे दैदीप्यमान थे और पांचों समितियोंका ही उन्होंने कवच बना रक्खा था। इसप्रकार वे कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा कर रहे थे ॥ १३८ ॥ वे सदा जगते रहते थे और बारबार प्रमादरहित होते थे अर्थात् अप्रमत्त सातवें गुणस्थानमें पहुंचते थे इसलिये ही कषायरूपी चोरोंसे उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था ॥ १३९ ॥ वे सदा मौनव्रत धारण करते थे इसलिये विकथाओंका आदर कभी नहीं होता था अर्थात् उनके मुंहसे कभी विकथायें नहीं निकलती थीं, तथा उनका मनरूपी किला बहुत अच्छीतरह सुरक्षित था इसलिये वह इंद्रियोंके द्वारा कभी नहीं तोडा गया था ॥ १४० ॥ उनके बडे भारी मनरूपी घरमें ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान हो रहा था और उसी दीपकके द्वारा ध्यान करते समय समस्त पदार्थ प्रकाशमान हो रहे थे। भावार्थ–ज्ञानके द्वारा वे समस्त पदार्थ जानते थे ॥ १४१ ॥ वे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंका चिंतवन करते थे इसलिये उन्हें हथेलीपर रक्खे हुये आंवलेके समान यह समस्त जगत स्पष्ट दिखाई देता था ॥ १४२ ॥ परिषहोंको जीत लेनेसे वे तेजस्वी हो रहे थे, उन्होंने इंद्रिय-रूपी शत्रुओंको जीतलिया था और कषायरूपी शत्रुओंको नाशकर वे तपश्चरणरूपी राज्यका अनु-

न्वभूत् ॥ १४३ ॥ योगजाश्चर्यस्तस्य प्रादुरासंस्तपोवशात् । यतोऽस्याविरभूच्छक्तिस्त्रैलोक्यक्षोभणं प्रति ॥ १४४ ॥ चतुर्भेदेऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्ष स्तदोदभूत् । तत्तदावरणीयाना क्षयोपशमजृंभितः ॥ १४५ ॥ मतिज्ञानसमुत्कर्षात्कोष्ठबुध्यादयोऽभवन् । श्रुतज्ञानेन विश्वाङ्गपूर्ववित्त्वादिविस्तर ॥ १४६॥ परमावधिमुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासदत् । मनःपर्ययबोधेऽपि च संप्रापद्विपुलां मतिं ॥ १४७ ॥ ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरो ॥ १४८ ॥ तपसोग्रेण चोग्रोग्रतपसा चातिकर्शितः । स दीप्ततपसाऽत्यन्तं दिदीपे दीप्तिमानिव ॥ १४९ ॥ सोऽतप्यत

भव कर रहे थे ॥ १४३ ॥ तपश्चरणके बलसे उनके योगसे उत्पन्न हुई ऐसी अनेक ऋद्धियां प्रगट हुई थीं, उन्हीं ऋद्धियोंके निमित्तसे उन मुनिराजके जो तीनों लोकोंको क्षोभ उत्पन्न कर सके ऐसी शक्ति प्रगट होगई थी ॥ १४४ ॥ उस समय उन मुनिराजके मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होनेसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनःपर्यज्ञान इन चारों ज्ञानोंकी वृद्धि होगई थी ॥ १४५ ॥ मतिज्ञानके बढनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियां प्रगट हुई थीं और श्रुतज्ञानके बढनेसे ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंके जानने तथा उनके निरूपण करनेकी शक्ति बढगई थी ॥ १४६ ॥ अवधिज्ञानमें परमावधिको उलंघनकर सर्वावधिज्ञान [पूर्ण अवधिज्ञान] प्रगट होगया था और मनःपर्ययमें विपुलमति मनःपर्ययज्ञान प्राप्त होगया था ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी विशुद्धि होनेसे तपश्चरणकी अत्यंत विशुद्धि हो गई थी, सो ठीक ही है, क्योंकि बडे भारी वृक्षके खडे होनेके लिये मूलकारण उसकी जड है उसीप्रकार तपश्चरणका मूलकारण ज्ञान ही है ॥ १४८ ॥ समस्त तपश्चरणोंमें मुख्य ऐसे उग्र उग्र अर्थात् महाउग्र तपश्चरणसे वे अत्यंत कृश हो गये थे, और जिसमें दीप्ति ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे दीप्त नामके कठिन तपश्चरणसे वे सूर्यके समान अत्यंत दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ १४९ ॥ उन्होंने तप्त नामका तपश्चरण [जिससे उत्पन्न हुई ऋद्धिसे मलमूत्रका अभाव हो जाता है] किया था तथा सबसे बडा घोर नामका तपश्चरण [जिसमें

तपस्तप्तं तपो घोरं महच्च यत् । तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुत्कर्षाण्यनुक्रमात् ॥ १५० ॥ तपोभिरकृशैरेभिः स बभौ मुनिसत्तमः । घनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गभस्तिमान् ॥ १५१ ॥ विक्रियाऽष्टतयी चित्र प्रादुरासीत्तपोबलात् । विक्रिया निखिला हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः ॥ १५२ ॥ प्राप्तौषधर्द्धेरस्यासीत्सान्निधिर्जगते हितः । आमर्शक्ष्वेलजल्लाद्यैः प्राणिनामुपकारिणः ॥ १५३ ॥ अनाशुषोऽपि तस्यासीद्रसर्द्धिः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुद्भूता बलर्द्धिरपि पप्रथे ॥ १५४ ॥ अक्षीणावसथः सोऽभूत्तथाऽक्षीणमहानसः । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासितम् ॥ १५५ ॥

पराक्रम बढजाय] भी किया था । इनके सिवाय प्रायश्चित्त विनय आदि अंतरंग तपश्चरण भी अनुक्रमसे खूब बढ गये थे ॥ १५० ॥ इन बडे बडे तपश्चरणोंसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों बादलोंकी ओटसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥ १५१ ॥ यद्यपि वे मुनिराज रागद्वेष आदि समस्त विक्रिया अर्थात् विकारोंको छोडकर तीव्र तपश्चरण करते थे तथापि यह आश्चर्यकी बात है कि उन्हें तपश्चरणके प्रभावसे आठ प्रकारकी विक्रिया उत्पन्न होगई थी । भावार्थ—अणिमा महिमा आदि आठ प्रकारकी विक्रियाऋद्धि भी उन्हें प्राप्त हो गई थी ॥ १५२ ॥ उन्हें अनेक औषधिऋद्धियां प्राप्त हुई थीं, इसलिये जगतका कल्याण उनके ही समीप था, अर्थात् उनसे सब जगतका कल्याण होता था, तथा आमर्श क्ष्वेल और जल्ल आदि ऋद्धियोंके द्वारा उनसे अनेक प्राणियोंका उपकार होता था । भावार्थ—उनके पसीना कफ आदि शरीरके मलको स्पर्शकर आई हुई वायुके द्वारा ही प्राणियोंके अनेक रोग चले जाते थे ॥ १५३ ॥ यद्यपि अवतक उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया था तथापि उनकी सामर्थ्यसे ही रस ऋद्धि उत्पन्न हुई थी, तथा इसी प्रकार तपश्चरणके बलसे उत्पन्न हुई बल ऋद्धि भी उनके प्रगट हुई थी ॥ १५४ ॥ अक्षीण महालय तथा अक्षीणमहानस ये ऋद्धियां भी उनके प्राप्त हुई थीं सो ठीक ही है क्योंकि अतिचार रहित अर्थात् पूर्ण रीतिसे पालन किये हुये तपश्चरणसे

निर्द्वंद्ववृत्ति रध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वर' । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदांवर' ॥ १५६ ॥ क्षमामयोत्तमा भेजे पर मार्दवमार्जव ॥ सत्यं शौच तपस्त्यागा- वाकिंचन्य च सयम ॥ १५७ ॥ ब्रह्मचर्य च धर्म्यस्य ध्यानस्यैता हि भावना: । योगसिद्धौ परा सिद्धिमामनतीह योगिन: ॥ १५८ ॥ अनित्यात्राणससारै- कत्वाऽन्यत्वान्यशौचता । निर्जरास्रवसरोधलोकस्थित्यनुचिंतन ॥ १५९ ॥ धर्मस्याख्यातता बोधेर्दुलभत्व च लक्षयन् । सोऽनुपेक्षाविधिं दध्यौ विशुद्ध द्वादशात्मक ॥ १६० ॥ आज्ञापायौ विपाक च संस्थान चानुचिंतयन् । स ध्यानमभजद्धर्म्यं कर्मांशान्परिशातयन् ॥ १६१ ॥ दीपिकायामिवामुष्या

अक्षीणफल मिलता ही है ॥ १५५ ॥ विकल्परहित चित्तकीवृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है यही समझकर योग जाननेवालोंमें श्रेष्ठ और विजयी ऐसे उन योगिराजने पहिले मनको जीतकर फिर उसे ध्यानके अभ्यास करनेमें लगाया ॥ १५६ ॥ उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम संयम और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावना हैं अर्थात् इनका स्वरूप चिंतवन करनेसे धर्मध्यान होता है, योगी लोग इस संसारमें ध्यानकी सिद्धि होनेपर ही मोक्ष प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ १५७ ॥ १५८ ॥ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, निर्जरा, आस्रव, संवर, लोकस्थिति धर्मस्वाख्यात और बोधिदुर्लभ इनको विचार पूर्वक चिंतवन करते हुये उन मुनिराजने ये ऊपर लिखी हुई बारह प्रकार- की विशुद्ध अनुप्रेक्षायें धारण की थीं । भावार्थ—आत्माको विशुद्ध करनेवालीं इन बारह भावनाओं- को वे चिंतवन करते थे ॥ १५९ ॥ १६० ॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानवि- चय इन चारों ध्यानोंका चिंतवन करते हुये और कर्मोंके अंशोंको नष्ट करते हुये उन मुनिराजने धर्मध्यान धारण किया था ॥ १६१ ॥ जिस प्रकार दीपकमें चारों ओर काजल दिखाई देता है उसी प्रकार ध्यानरूपी दीपकके प्रज्वलित होनेपर क्षणभर नष्ट हुये कर्मोंके अंश चारों ओर काजल-

ध्यानदीप्तौ निरीक्षिताः । क्षणं विशीर्णाः कर्मांशाः कज्जलांशा इवाभितः ॥ १६२ ॥ तद्देहदीप्तिप्रसरो दिग्मुखेषु परिस्फुरन् । तद्वनं गारुडग्रावच्छाया-ततमिवातनोत् ॥ १६३ ॥ तत्पदोपातविश्रान्ता विस्रब्धा मृगजातयः । बबाधिरे मृगैर्नान्यैः क्रूरैरक्रूरतां श्रितैः ॥ १६४ ॥ विरोधिनोऽप्यमी मुक्तवि-रोधाः स्वैरमासिताः । तस्योपाघ्रीभसिंहाद्याः शशंसुर्वैभवं मुनेः ॥ १६५ ॥ जरज्जंतुकमाघ्राय मस्तके व्याघ्रधेनुका । स्वशावनिर्विशेषं तमापीप्यत्स्तन्यमा-त्मनः ॥ १६६ ॥ करिणो हरिणारातीनन्वीयुः सह यूथपैः । स्तनपानोत्सुका भेजुः करिणीः सिंहपोतकाः ॥ १६७ ॥ कलभान्कलभाकारमुखरान्नखरैः खरैः । कण्ठीरवः स्पृशन् कण्ठे नाभ्यनन्दि न यूथपैः ॥ १६८ ॥ करिण्यो बिसिनीपत्रपुटैः पानीयमानयन् । तद्योगपीठपर्यंतभुवः संमार्जनेच्छया ॥ १६९ ॥

के समान दिखाई पड रहे थे ॥ १६२ ॥ उनके शरीरकी कांतिका फैलाव सब दिशाओंमें प्रकाशमान हो रहा था और उस कांतिके समूहसे वह वन ऐसा जान पडता था मानों मरकत मणियोंकी कांति-से ही भर रहा हो ॥ १६३ ॥ उनके समीप आकर सिंह आदि क्रूर जीव भी शांत हो जाते थे इस लिये ही उनके चरणोंके समीप विश्राम लेते हुये और विश्वास रखनेवाले हरिण आदि पशुओंको शांत हुये सिंह आदि क्रूर पशु भी कभी किसी तरहका दुःख नहीं देते थे ॥ १६४ ॥ उनके चरणोंके समीप हाथी सिंह आदि जाति विरोधी जीव भी अपना अपना वैर छोडकर इच्छानुसार निवास करते थे, और इसतरह वे उन मुनिराजका ऐश्वर्य इस संसारमें प्रगट करते थे ॥१६५॥ हालकी व्यानी हुई (प्रसूता) सिंहनी भैंसेके मस्तकको सूंघकर और उसे अपना बच्चा ही समझकर अपना दूध पिलाती थी ॥ १६६ ॥ हाथी अपने झुंडके साथ साथ सिंहोंके पीछे पीछे जा रहे थे, तथा सिंहके बच्चे दूध पीनेकी इच्छासे हथिनियोंके समीप जा पहुंचे थे ॥ १६७ ॥ बालकपनके मधुर शब्द करते हुये और वाचालित हुये हाथियोंके बच्चोंको सिंह अपने तेज नखोंसे उनकी गर्दनके (गलेके) समीप ही स्पर्श कर रहा था और उससे हाथियोंके समूह बहुत ही प्रसन्न हो रहे थे ॥ १६८ ॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके समीपकी पृथ्वीको धो डालनेकी इच्छासे ही मानों हथिनियां कमलिनीके पत्तोंका

पुष्करैः पुष्करोदस्तैर्न्यस्तैराधिपदद्वय । स्तवेरमा मुनिं भेजुरहो शमकरं तपः ॥१७०॥ उपांघ्रि भोगिनां भोगैर्विनीलैर्व्यरुचन्मुनिः । विन्यस्तैरर्चनायेव नीलैरुत्पलदामकैः ॥ १७१ ॥ फणमात्रोद्गता रन्ध्रात्फणिनः सितयोऽद्युतन् । कृता· कुवलयैर्वा मुनेरिव पदान्तिके ॥ १७२ ॥ रेजुर्वनलता नम्रैः शाखाग्रैः कुसुमोज्ज्वलैः । मुनिं भजत्यो भक्त्येव पुष्पार्घैर्नतिपूर्वकं ॥ १७३ ॥ शश्वद्विकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहतैः । वभुर्वनद्रुमास्तोपात्प्रनृत्यन्त इवासकृत् ॥ १७४ ॥ कलैरलिरुतोद्गीतैः फणिनो ननृतुः किल । उत्फणा· फणरत्नांशुदीप्तैर्भोगैर्विवर्तितैः ॥ १७५ ॥ पुंस्कोकिलकलालापडिंडिमानुगतैर्लयैः।

दोना वनाकर उनमें भरभरकर पानी ला रही थीं ॥ १६९ ॥ हाथी अपने सूंडसे उठाकर लाये हुये कमल उन मुनिराजके चरणोंके समीप रखते थे और इसतरह वे उन मुनिराजकी पूजा करते थे। अहा ! तपश्चरण भी कैसी शांति उत्पन्न करनेवाला है ? ॥ १७० ॥ वे मुनिराज अपने पैरोंके समीप आये हुये सर्पोंके काले फणाओंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उनकी पूजा करनेके लिये नील कमलोंकी माला ही वनाकर रक्खी हो ॥ १७१ ॥ जिन्होंने वमईके विलसे केवल फणा ही वाहर निकाले हैं ऐसे सफेद सर्प उन मुनिराजके चरणोंके समीप इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों उनके चरणोंके समीप किसीने सफेद कमलोंका अर्घ ही दिया हो ॥ १७२ ॥ वनकी लतायें खिले हुये फूलोंसे सफेद दिखाई देती हुई और नवी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों पुष्पोंका अर्घ लेकर भक्ति पूर्वक नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥ १७३ ॥ वनके वृक्ष जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और वायुसे जो हिल रही हैं ऐसी शाखाओंकी छोटी छोटी डालियोंसे ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों संतुष्ट होकर वार वार नृत्य ही कर रहे हों ॥ १७४ ॥ जिनके फणा ऊंचे उठ रहे हैं ऐसे वहांके सर्प भ्रमरोंके सुंदर गुंजाररूपी अच्छे गानेके साथ साथ फणाओंपर लगे हुये रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान ऐसे अपने फणाओंको नचा नचाकर नृत्य कर रहे थे ॥ १७५ ॥ मोर कोकिलोंके सुंदर शब्दरूपी वडिंडिम वाजेके अनुसार

चक्षुःश्रवस्सु पश्यत्सु तद्विषो नटिषुर्मुहुः ॥ १७६ ॥ महिम्ना शमिनः शांतमित्यभूत्तच्च काननं । धत्ते हि महतां योगः शममप्यशमात्मसु ॥ १७७ ॥ शातस्वनैर्नदति स्म वनातेऽस्मिन् शकुतयः । घोषयत इवात्यत शातमेतत्तपोवन ॥ १७८ ॥ तपोऽनुभावादस्यैवं प्रशातेऽस्मिन्वनाश्रमे । विनिपातः कुतोऽप्यासीत्कस्यापि न कथचन ॥ १७९ ॥ महसाऽस्य तपोयोगजृंभितेन महीयसा । बभूवुर्हृतहृद्ध्वातास्तिर्यंचोऽप्यनभिद्रुहः ॥ १८० ॥ गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थ त मुनीश्वरं । असकृत्पूजयामासुरवतीर्य नभश्चराः ॥ १८१ ॥ महिम्नाऽस्य तपोवीर्यजनितेनालवीयसा । मुहुरासनकपोऽभून्नतमूर्ध्नां सुधाशिना ॥ १८२ ॥ विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोरुपागताः । वल्लीरुद्वेष्टयामासुर्मुनेः सर्वांगसगिनी. ॥ १८३ ॥ इत्युपारूढसध्यानबलोद्भूतत-

---

होनेवाले लयके साथ साथ सर्पोंके देखतेहुये भी वार वार नृत्य कर रहे थे ॥ १७६ ॥ इसप्रकार महा शांत ऐसे उन मुनिराजके प्रभावसे वह वन बहुत ही शांत हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंके संयोगसे क्रूर जीवोंमें भी शांति उत्पन्न हो जाती है ॥ १७७ ॥ इस बनमें अनेक पक्षी शांत शब्दोंसे कूज रहे थे और वे ऐसे जान पडते थे मानों 'यह तपोबन अत्यंत शांत है' इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों ॥ १७८ ॥ उन मुनिराजके तपश्चरणके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शांत होगया था कि यहांके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा किसी प्रकारका कुछ उपद्रव (दुःख) नहीं हुआ था ॥ १७९ ॥ तपश्चरणके संबंधसे बढे हुये उन मुनिराजके वडे भारी तेजसे वहांके तिर्यंचोंके भी हृदयका अंधकार सब दूर हो गया था और वे सबतरहसे अहिंसक हो गये थे ॥ १८० ॥ उन मुनिराजके समीप आते ही विहार करते हुये विद्याधर लोगोंकी गति रुक जाती थी और फिर वे उतरकर ध्यानमें लीन हुये उन मुनिराजकी वारवार पूजा करते थे ॥ १८१ ॥ तपश्चरणकी सामर्थ्यसे प्राप्त हुये ऐसे उन मुनिराजके वडे भारी प्रभावसे जिनके मस्तक नवे हुये हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार बार कंपायमान होते थे अर्थात् हिल जाते थे ॥ १८२ ॥ कभी कभी क्रीडाके लिये आई हुई विद्याधरियें उन मुनिराजके समस्त शरीरपर लगी हुई लताओंको हटा

पोवल' । स लेश्याशुद्धिमास्कदन् शुक्लध्यानोन्मुखोऽभवत् ॥ १८४ ॥ वत्सरानशनस्याते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमज्योतिः केवलाख्यं यदक्षर ॥ १८५ ॥ सक्लिष्टो भरताधीशः सोऽस्मत्त इति यत्किल । हृद्यस्य हार्दं तेनासीत्तत्पूजाऽपेक्षि केवल ॥ १८६ ॥ केवलार्कोदयात्प्राक्च पश्चाच्च विधिवद्व्यधात् । सपर्यां भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसन्नधीः ॥ १८७ ॥ स्वागःप्रमार्जनार्थेज्या प्राक्तनी भरतेशिनः । पाश्चात्याऽस्यायताऽपीज्या केवलोत्पत्तिमन्वभूत् ॥ १८८ ॥ या कृता भरतेशेन महेज्या स्वानुजन्मनः । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥ १८९ ॥ स्वाजन्यानुगमोऽस्त्येको

जाती थीं ॥ १८३ ॥ इसप्रकार धारण कियेहुये उत्तम ध्यानके बलसे जिन्हें तपश्चरणकी सामर्थ्य उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनिराज लेश्याकी विशुद्धि धारण करतेहुये शुक्लध्यानके सन्मुख हुये, अर्थात् उन्होंने शुक्लध्यान धारण किया ॥ १८४ ॥ उन बाहुबलिने एक वर्षका उपवास धारण किया था सो जिस दिन वह एक वर्षका उपवास पूरा हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की, पूजा करते ही उन मुनिराजके कभी विनाश न होनेवाली ऐसी केवलज्ञानरूपी परम ज्योति प्रगट हुई ॥ १८५ ॥ 'युद्धके समय भरतेश्वरको मुझसे कुछ कष्ट पहुंचा है' इसप्रकारका जो प्रेम बाहुबलिके हृदयमें बैठा हुआ था इसलिये उस केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी। भावार्थ— 'भरतको मुझसे कष्ट पहुंचा है' यह जो प्रेमका शल्य बाहुबलिके हृदयमें था वह भरतके पूजा करते ही निकल गया और उस प्रेमरूप शल्यके निकलते ही उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया ॥ १८६ ॥ भरतेश्वरने प्रसन्न चित्तसे केवलज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेसे पहिले और पीछे दोनों ही समय उन मुनिराजकी विधिपूर्वक पूजा की ॥ १८७ ॥ भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले जो पूजा की थी वह अपने अपराध नाश करनेके लिये की थी, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पीछे जो बडी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेका आनंद मनानेके लिये की थी ॥ १८८ ॥ भरतेश्वरने जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे भाई बाहुबलिकी जो बडी भारी पूजा की थी उसके वर्णन करनेकेलिये भला किसकी सामर्थ्य है? अर्थात् उसे कोई कह भी नहीं सकता ॥१८९॥ प्रथम

धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मांतरानुबंधश्च प्रेमवघोऽतिनिर्भरः ॥ १९० ॥ इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां तु सर्वसामग्री कां न पुष्णाति सत्क्रिया ॥ १९१ ॥ सामात्यः समहीपालः सातःपुरपुरोहितः । त बाहुबलियोगींद्र प्रणनामाधिराट् मुदा ॥ १९२ ॥ किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्घः स्वर्णदीजल । पाद्य रत्नार्चिषो दीपास्तडुलेज्या च मौक्तिकैः ॥ १९३ ॥ हविः पीयूपपिंडेन धूपो देवद्रुमाशकैः । पुष्पार्चा पारिजातादिसुरागसुमनश्चयैः ॥ १९४ ॥ सरत्ना निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां रत्नमयीमित्थ रत्नेशो निरवर्तयत् ॥ १९५ ॥ सुराश्चासनकपेन ज्ञाततत्केवलोद-

---

तो बाहुबलि भरतका छोटा भाई था, दूसरे भरतको धर्मका बहुत अनुराग था, तीसरे उन दोनोंका अनेक जन्मोंसे संबंध चला आ रहा था और चौथे उन दोनोंमें बडा भारी प्रेम था, इन चारोंमेंसे एक एक भी भक्तिकी उत्कृष्टता बढानेवाले हैं, यदि यह सब सामिग्री एक जगह मिल जाय तो फिर उनके लिये कौनसी अच्छी क्रिया नहीं हो सकती ? भावार्थ—जहां ये सब कारण इकट्ठे मिलजाते हैं वहां सबतरहकी अच्छी क्रियायें (सत्कर्म) हो सकती हैं ॥ १९०—१९१ ॥ चक्रवर्ती भरतेश्वरने मंत्रियोंके साथ अनेक राजाओंके साथ, रणवासकी समस्त रानी और पुरोहितके साथ प्रसन्न होकर उन मुनिराज बाहुबलिको नमस्कार किया ॥ १९२ ॥ उस पूजाका वर्णन बहुत कहांतक कहा जाय, रत्नोंके स्वामी भरतेश्वरने रत्नोंका अर्घ चढाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढाये थे, मोतियोंसे अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिंडका नैवेद्य चढाया था, मलयागिरि चंदन आदि देवमयी वृक्षोंके टुकडोंसे धूप बनाकर चढाई थी, कल्पवृक्ष आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी पूजा की थी और फलोंकी जगह सब रत्न और सब निधियां चढा दी, थीं इसप्रकार उसने रत्नमयी अर्थात् रत्नोंसे ही सब पूजा की थी ॥ १९३—१९४—१९५ ॥ उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही इंद्र आदि देवोंके आसन कंपायमान हुये, आसन कंपायमान होते ही उन्होंने बाहुबलिका केवलज्ञान होना जान लिया और उसीसमय आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥ १९६ ॥

यां । चक्रुरस्य परामिज्यां शताध्वरपुरःसराः ॥ १९६ ॥ ववुर्मंदं स्वरुद्यानतरुधूननचंचवः । तदा सुगंधयो वाता' स्वर्धुनीशीकराहराः ॥ १९७ ॥ मद्र पयोमुचा मार्गे दध्वनुश्च सुरानकाः । पुष्पोत्करो दिवोऽपप्तत्कल्पानोकहसंभवः ॥ १९८ ॥ रत्नातपत्रमस्योच्चैर्निर्मितं सुरशिल्पिभि' । परार्घ्यमणिनिर्माणमभादिव्यं च विष्टर ॥ १९९ ॥ स्वयं व्यधूयतास्योच्चैः प्रातयोश्चामरोत्कर' । सभावनिश्च तद्योग्या पप्रथे प्रथितोदया ॥ २०० ॥ सुरैरित्यर्चितः प्राप्तकेवलर्द्धिः स योगिराट् । व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः शशीवोडुभिराश्रित. ॥ २०१ ॥ घातिकर्मक्षयोद्भूतामुद्वहन्परमेष्ठिता । विजहार महीं कृत्स्नां सोऽभिगम्यः सुधाशिना ॥ २०२ ॥ इत्थं स विश्वविद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः । कैलासमचल' प्रापत्पूतं सन्निधिना गुरोः ॥ २०३ ॥ सकलनृपसमाजे

उससमय गंगानदीकी ठंडी बूंदोंको हरण करता हुआ और स्वर्गके वगीचेके वृक्षोंको अर्थात् कल्पवृक्षोंको हिलाता हुआ सुगंध वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ १९७ ॥ देवोंके नगाडे गंभीरतासे आकाशमें बज रहे थे तथा कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुये पुष्पोंका समूह आकाशसे पड रहा था ॥ १९८ ॥ भगवान बाहुबलिके ऊपर देवकारीगरोंके द्वारा वनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और वहुमूल्य मणियोंसे बना हुआ दिव्य सिंहासन भी वहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ १९९ ॥ भगवानके दोनों ओर ऊंचा चमरोंका समूह अपने आप ढुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उन केवलीके योग्य सभाकी पृथ्वी अर्थात् गंधकुटी भी वनाई गई थी ॥ २०० ॥ इसप्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है तथा जिन्हें केवलज्ञानरूपी महा ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे मुनिराज भगवान अनेक मुनियोंसे इसप्रकार सुशोभित होते थे मानों तारे नक्षत्रोंसे घिरा हुआ चंद्रमा ही हो ॥ २०१ ॥ घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे जिन्हें अरहंत परमेष्ठीका पद प्राप्त हुआ है और इसलिये ही सब देव जिनकी आराधना करते हैं ऐसे उन बाहुबलि भगवानने समस्त पृथ्वीपर विहार किया था ॥ २०२ ॥ इसप्रकार समस्त जगतको जाननेवाले अर्थात् सर्वज्ञ भगवान बाहुबलि अपने बचनरूपी अमृतसे [दिव्यध्वनिसे] जगतको संतुष्ट करते हुये अपने पूज्य पिता श्रीवृषभदेवके संबंधसे अत्यंत पवित्र ऐसे कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुये ॥ २०३ ॥ जिन्होंने समस्त राजाओंकी स-

दृष्टिमल्लांबुयुद्धैर्विजितभरतकीर्तिर्यः प्रवव्राज मुक्त्यै । तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद्वः ॥ २०४ ॥ भरतविजयलक्ष्मीर्जाज्वलच्चक्रमूर्त्या यमिनमभिसरती क्षत्रियाणां समक्षं । चिरतरमवधूतापत्रपापात्रमासीदधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद्दोर्बली वः ॥ २०५ ॥ स जयति जयलक्ष्मीसंगमाशामवंध्यां विदधदधिकधामा सन्निधौ पार्थिवानां । सकलजगदगारव्याप्तकीर्तिस्तपस्यामभजत यशसे यः सूनुराद्यस्य धातुः ॥ २०६ ॥ जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य प्रथितमभवदग्रे क्षत्रियाणां नियुद्धे । भरतनृपतिनाऽमा यस्य नामाक्षराणि स्मृतिपथमुपयान्ति

भाम दृष्टियुद्ध मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरतेश्वरकी सब कीर्ति जीत ली थी तथा जिन्होंनें बडे भारी राज्यके भारको तृणके समान तुच्छ समझकर मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये दीक्षा धारण की थी और जो चरम शरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे वे बाहुबलि भगवान तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०४ ॥ सब क्षत्रियोंके सामने महाराज भरतेश्वरकी विजय लक्ष्मी दैदीप्यमान चक्ररत्नकी मूर्ति धारण कर अर्थात् चक्रके बहानेसेही जिन बाहुबलि स्वामीके समीप आई थी परंतु जिन बाहुबलिने सदाके लिये उसका तिरस्कार कर उसे लज्जित किया था, तथा जिन्होंने अपने पिता श्रीवृषभदेवका मार्ग अर्थात् मुनिमार्ग अथवा मोक्षमार्ग स्वीकार किया था ऐसे वे बाहुबलि भगवान तुम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०५ ॥ जिन्होंने समस्त राजाओंके सामने सफल हुई ऐसी विजयलक्ष्मीके साथ समागम करनेकी आशा धारण की थी, जो सबसे अधिक तेजस्वी थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगतरूपी घरमें फैल गई थी और जिन्होंने अपने यशके लिये ही तपश्चरण धारण किया था ऐसे वे प्रथम जिनेंद्र श्रीवृषभदेवके पुत्र बाहुबलि भगवान सदा जयशील हो ॥ २०६ ॥ जिनके भुजाओंका बल सब क्षत्रियोंके सामने महाराज भरतके साथ किये हुये मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था और जिनके नामके अक्षर स्मरण करनेसे ही समस्त प्राणियोंको पवित्र कर देते हैं ऐसे वे बाहुबलि भगवान् सदा जयशील

प्राणिवृन्दं पुनंति ॥ २०७ ॥ जयति भुजगवक्त्रोद्वांतनिर्यद्गराग्निः प्रशममसकृदापत्प्राप्य पादौ यदीयौ । सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रोद्ग्रथितविततवीरुद्वेष्टितो दोर्वलीशः ॥ २०८ ॥ जयति भरतराजप्रांशुमौल्यग्ररत्नोपलल्लुलितनखेदुः स्रष्टुराद्यस्य सूनुः । भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्व धृतिनलकालितो यो योगभृन्नेव भेजे ॥ २०९ ॥ शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लवमानैः पिहितभुजविटको मूर्धजैर्वेल्लिताग्रैः । जलधरपरिरोधध्याममूर्द्धेव भूध्रः श्रियमपुपदनूना दोर्वली यः स नोऽव्यात् ॥ २१० ॥ स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीत । वपुरचल इवोच्चैर्बिभ्रदाविर्बभूव । नववनसलिलैर्वैर्यश्च

हों ॥ २०७ ॥ जिनके चरणकमलोंको पाकर सर्पोंके मुंहके उच्छ्वाससे निकलती हुई विषरूपी अग्नि बार बार शांत हो जाती थी, जो समस्त लोकमें पूज्य हैं और जिनके शरीरपर फैली हुई लताओंको विद्याधरोंकी स्त्रियां अपने हाथकी उंगलियोंसे हटा देती थीं ऐसे वे बाहुवलि स्वामी सदा जयशील हों ॥ २०८ ॥ महाराज भरतके बहुत ऊंचे मुकुटपर लगे हुये रत्नोंसे जिनके नखरूपी चंद्रमा बहुत ही सुंदर प्रकाशमान हो रहे थे, जो क्रोधित हुये अनेक सर्पोंके समूहसे भी व्याकुल नहीं हुये थे और जो धैर्य और बलसे शोभायमान थे ऐसे वे आदि ब्रह्मा श्रीआदिनाथके पुत्र बाहुबलि मुनिराज सदा जयवान हों ॥ २०९ ॥ भ्रमरोंके समूहकी कांतिके समान काले तथा भुजापर्यंत लटकते हुये और जिनके आगेके भाग मुडकर टेढे हो गये हैं ऐसे सिरके बालोंसे जिनकी भुजाओंका अग्रभाग (हाथतक) ढक रहा है और इसलिये जो जिसका ऊपरी भाग अर्थात् मस्तक बादलोंसे ढककर काला हो रहा है ऐसे पर्वतकी पूर्ण शोभाको धारण कर रहे थे ऐसे वे बाहुबलि भगवान हम लोगोंकी सदा रक्षा करें ॥ २१० ॥ जो बाहुबलि भगवान जाडेके दिनोंमें बर्फसे ढके हुये अपने ऊंचे शरीरको धारण करते हुये पर्वतके समान दिखाई दे रहे थे, जो वर्षाऋतुमें नये बादलोंके जल समूहसे सदा प्रक्षालन किये जाते थे अर्थात् भीगते रहते थे और जो गर्मीके दिनोंमें सूर्यकी तेज किरणोंको भी सहन करते थे ऐसे वे बाहुबलि सदा विजयी रहें ॥ २११ ॥ जो जगतमें विजयी कहलाते हैं,

धौतोऽब्दकाले खरघृणिकिरणानप्युष्णकाले विषेहे ॥ २११ ॥ जगति जयिनमेनं योगिन योगिवर्यैरधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः । स्मरति हृदि नितांतं यः स शातातरात्मा भजति विजयलक्ष्मीमाशु जैनीमजय्या ॥ २१२ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भुजबलिजलमल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ।

बडे बडे योगिराज ही जिनकी महिमा जान सकते हैं और बडे बडे पूज्य लोग भी जिनको पूज्य मानते हैं ऐसे योगिराज बाहुबलिको जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अंतरात्मा अत्यंत शांत हो जाता है और वह शीघ्र ही जिसे कोई भी जीत नहीं सकता ऐसी जिनेंद्र संबंधी विजयलक्ष्मी अर्थात् मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त होता है ॥ २१२ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणकी नवीन हिंदीभाषानुवादमें बाहुबलिका जलयुद्ध मल्लयुद्ध दृष्टियुद्धमे विजय प्राप्त करना, दीक्षा धारण करना और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन करनेवाला यह छत्तीसवां पर्व समाप्त हुआ.

अथ सप्तत्रिंशत्तमं पर्व।

अथ निर्वर्तिताशेषदिग्जयो भरतेश्वरः । पुर साकेतमुत्केतु प्राविक्षत्परया श्रिया ॥ १ ॥ तत्रास्य नृपशार्दूलैरभिषेकः कृतो मुदा । चातुरंगजयश्रीस्ते प्रथता भुवनेष्विति ॥ २ ॥ तमभ्यार्षिचन्पौराश्च सातःपुरपुरोधसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं क्रियादेव भवानिति ॥ ३ ॥ राज्याभिषेचने भर्तुर्यो

अथ सेंतीसवां पर्व.

अथानंतर—जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे महाराज भरतने बडी विभूति और शोभाके साथ फहराती हुई बडी बडी ध्वजाओंसे शोभायमान ऐसे अयोध्यानगरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥ इस संसारमें चारों दिशाओंमें उत्पन्न होनेवाली विजयलक्ष्मी आपके प्राप्त हुई है यही समझकर उस अयोध्या नगरमें बडे बडे राजा लोगोंने हर्षके साथ महाराज भरतका राज्याभिषेक किया ॥ २ ॥ हे देव ! आप दीर्घजीवी होते हुये बहुत दिनतक पृथ्वीका राज्य करें इसप्रकार आ-

विधिर्वृषभेशिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थांबुसंभारादिः कृतो नृपैः ॥ ४ ॥ तथाऽभिषिक्तस्तेनैव विधिनाऽलंकृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥ ५ ॥ तथैव सत्कृता विश्वे पार्थिवाः सनाभयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दानसंपदा ॥ ६ ॥ तथाऽध्वनन्महाघोषा नांदीघोषा महानकाः। प्रक्षुभ्यदब्धिनिर्घोषो येषां घोषैरधःकृतः ॥ ७ ॥ आनंदिन्यो महाभेर्यस्तथैवाभिहता मुहुः । संगीतविधिरारब्धस्तथा प्रमदमंडपे ॥ ८ ॥ मूर्धाभिषिक्तैः प्राप्ताभिषेकस्यास्याजनि द्युतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकींद्रैरादिवेधसः ॥ ९ ॥ गंगासिंधू सरिद्देव्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः । अभ्यौक्षिष्टां तम-

---

शीर्वाद देते हुये अंतःपुर [रणवासके लोग] और पुरोहितोंके साथ साथ नगरनिवासी लोगोंने महाराज भरतका अभिषेक किया ॥ ३ ॥ जो विधि महाराज वृषभदेवके राज्याभिषेकके समय हुई थी वह सब अर्थात् तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि सब विधि महाराज भरतके राज्याभिषेकके समय भी राजा लोगोंने की थी ॥ ४ ॥ देवताओंके साथ साथ सब राजा लोगोंने महाराज वृषभदेवके समान ही भरतका अभिषेक किया, उसी प्रकार आभूषण पहनाये और उसीतरह जयघोषणा की ॥ ५ ॥ उसीप्रकार सब राजा लोगोंका तथा भरतके सब कुटुंबी लोगोंका आदरसत्कार किया गया था और उसीप्रकार दानमें बहुत संपत्ति देकर सब लोग संतुष्ट किये गये थे ॥ ६ ॥ जिनकी आवाजने क्षुब्ध हुये महासागरकी आवाज भी नीची कर दी थी ऐसे बडे बडे आवाजके मंगलीक नगाडे उसीप्रकार बजाये गये थे ॥ ७ ॥ उसीप्रकार आनंद महाभेरी बार बार बजाई जा रहीं थीं और आनंद मंडपमें उसीप्रकार गाने बजानेका ठाठ प्रारंभ किया गया था ॥ ८ ॥ जिस समय इंद्र लोगोंने मेरु पर्वतके ऊपर भगवान वृषभदेवका जन्माभिषेक किया था और उस अभिषेकसे उनकी जैसी कांति चकचका रही थी ठीक वैसी ही कांति अनेक गद्दीनशीन राजाओंने जिसका अभिषेक किया है ऐसे भरतकी सुशोभित हो रही थी ॥ ९ ॥ गंगा सिंधु नदियोंकी अधिदेवता गंगा सिंधू नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भृंगारोंमें भरे हुये अक्षत सहित तीर्थ जलसे भरतका अभिषेक किया

भ्येत्य रत्नभृंगारसभृतैः ॥ १० ॥ कृताभिषेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितं। गणबद्धामरा भेजुः प्रणम्रैर्मणिमौलिभिः ॥ ११ ॥ हिमवद्विजयार्धेशौ मागधाद्याश्च देवता। खेचराश्चोभयश्रेण्योस्त नेमुर्नम्रमौलयः ॥ १२ ॥ सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो बभूव नृपसत्तमैः। महता हि मनोवृत्तिर्नोत्सेकपरिरम्भिणी ॥ १३ ॥ चामरैर्वीज्यमानोऽपि न निर्वृतिमगाद्विभुः। भ्रातृष्वसंविभक्ताश्रीरितीहानुशयातुर. ॥ १४ ॥ दोर्बलिभ्रातसंघर्षान्नास्य तेजो विकर्षितं। प्रत्युतोत्कर्षि हेम्नो वा घृष्टस्य निकषोपले ॥ १५॥ निष्कंटकमिति प्राप्य साम्राज्य भरताधिपः। बभौ भास्वानिवोद्रिक्तप्रतापः शुद्धमंडलः ॥ १६ ॥ क्षेमैकतानता

था ॥ १० ॥ जिस समय महाराज भरतका अभिषेक समाप्त हो चुका और वे राज्य सिंहासनपर विराजमान हुये उस समय अनेक अंगरक्षक देव अपने मणिमयी मुकुटोंको नवा नवा कर उनकी आराधना वा सेवा कर रहे थे ॥ ११ ॥ हिमवान् और विजयार्द्ध पर्वतके अधीश्वर हिमवान और विजयार्द्ध देव तथा मागध आदि अन्य अनेक देव और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणीके विद्याधर ये सब अपना मस्तक नवाते हुये उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥ १२ ॥ यद्यपि अनेक वडे बडे राजा लोगोंने उनका अभिषेक किया था तथापि उन्हें अहंकार विलकुल नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति [मनके परिणाम] अहंकारका स्पर्श भी नहीं करती ॥ १३ ॥ यद्यपि उनपर चमर ढुलाये जा रहे थे तथापि वे उनसे कुछ सुखी नहीं हुये थे, क्योंकि मैंने अपनी विभूति भाइयोंको नहीं बांट पाई इसी पछतावेसे वे दुःखी हो रहे थे ॥ १४॥ भाई बाहुबालिके मर्दन करनेसे इनका तेज कुछ कम नहीं हुआ था किंतु जिस प्रकार कसोटीपर घिसनेसे सोनेका तेज बढता है उसीप्रकार उस समय भरतका तेज बढ रहा था ॥ १५ ॥ इसप्रकार महाराज भरत निष्कंटक (शत्रुरहित) साम्राज्यको पाकर ऐसे दैदीप्यमान हो रहे थे मानों जिसका मंडल शुद्ध है और जिसका प्रताप बढ रहा है ऐसा सूर्य ही हो ॥ १६ ॥ अप्राप्य वस्तुकी प्राप्ति होना योग है और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना क्षेम है। योग और क्षेम दोनोंको फैलाते हुये महाराज भरतके राज्यमें

भेजुः प्रजास्तास्मिन्सुराजनि ॥ योगक्षेमौ वितन्वाने मन्वानाः स्वा सनाथता ॥ १७ ॥ यथास्व सविभज्यामी सम्भुक्ता निधयोऽमुना । संभोगः सँविभागश्च फलमर्थार्जने द्वयं ॥ १८ ॥ रत्नान्यपि यथाकामं निर्विघ्नानि निधीशिना । रत्नानि ननु तान्येव यानि यांत्युपयोगिता ॥ १९ ॥ मनुश्चक्रभृतामाद्यः षट्खंडभरताधिपः । राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्धोषितं यशः ॥ २० ॥ नंदनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः । इत्यस्य रोदसी व्याप शुभ्रा कीर्तिरनश्वरी ॥ २१ ॥ कीदृक् परिच्छदस्तस्य विभवश्चक्रवर्तिनः । इति प्रश्नवशादस्य विभवोद्देशकीर्तनं ॥ २२ ॥ गलन्मदजलास्तस्य गजाः सुरगजोपमाः । लक्षाश्चतुरशीतिस्ते रदैर्बद्धैः सुकल्पितैः ॥ २३ ॥ दिव्यरत्नविनिर्माणा रथास्तावंत एव हि । मनोवायुजवाः सूर्यरथप्रस्पर्धिरंहसः ॥ २४ ॥ कोटयोऽष्टा-

---

सब प्रजा आपको सनाथ मान रही थी और सब कुशल मंगलसे रहती थी ॥ १७ ॥ महाराज भरतने अपने पास प्राप्त हुई निधियोंको यथा योग्य रीतिसे विभागकर उनका उपभोग किया सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं उपभोग करना और विभागकर देना ये दो ही द्रव्य कमानेके मुख्य फल हैं ॥ १८ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने अपनी इच्छानुसार रत्नोंका भी उपभोग किया सो ठीक ही है क्योंकि रत्न उन्हें ही कहते हैं जो अपने उपयोग वा काममें आवें ॥ १९ ॥ यह भरतेश्वर छहों खंड भरतका स्वामी है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, मनु है, राजराजेश्वर है, अधिराट् है, और सम्राट् है इसप्रकार उस समय इसका यश गाया जा रहा था ॥ २० ॥ यह भरत महाराज वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सौ पुत्र हैं अर्थात् इसके सौ भाई हैं इसप्रकार उसकी निर्मल और कभी न विनाश होनेवाली कीर्ति पृथ्वी आकाश सब जगह व्याप्त हो रही थी ॥ २१ ॥ उसीसमय उस चक्रवर्तीका परिवार कितना था और विभूति कितनी थी यह प्रश्न राजा श्रेणिकने किया था इसके उत्तरमें गौतमस्वामी उसकी विभूतिका वर्णन करने लगे कि ॥ २२ ॥ महाराज भरतके जिनके गंडस्थलसे मदका जल बह रहा है और अच्छी तरह ढाले हुये वथा वंधे हुये दांतोंसे जो ऐरावत हाथीके समान हैं ऐसे चौरासी लाख हाथी थे ॥ २३ ॥ जिनका वेग सूर्यके रथकी स्पर्धा करनेवाला है अथ-

दशाश्वनां भूजलावरचारिणां । यत्खुराग्राणि धौतानि पूतैस्त्रिपथगाजलैः ॥ २५ ॥ चतुर्भिरधिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषा सुभटसम्मर्दे निरूढ पुरुषव्रतम् ॥ २६ ॥ वज्रास्थिबंधनैर्वाज्रैर्वलयैर्वेष्टित वपुः । वज्रनाराचनिर्भिन्नमभेद्यमभवत्प्रभोः ॥ २७ ॥ समसुप्रविभक्तागं चतुरस्र सुसहति ! वपुः सुंदरमस्यासीत्संस्थानेनादिना विभोः ॥ २८ ॥ निष्टप्तकनकच्छायं सचतुःषष्टिलक्षण । रुरुचे व्यजनैस्तस्य निसर्गसुभग वपुः ॥ २९ ॥ शारीर यच्च यावच्च बलं षट्खडभूभुजा । ततोऽधिकतर तस्य बलमासीद्बलीयसः ॥ ३० ॥ शासन तस्य चक्राकमासिंधोरानिवारित । शिरोभिरूढमारूढविक्रमैः

वा जिनका वेग वायुके समान वा मनके समान है ऐसे दिव्य रत्नोंके बनाये हुये उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥ २४ ॥ जिनके खुरोंकी अगाडीका भाग पवित्र गंगाके जलसे धोये हुये हैं और जो पृथ्वी जल तथा आकाश इन सब जगह चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड घोडे थे ॥ २५ ॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पौरुष प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड पियादे थे ॥ २६ ॥ वज्रमय हड्डियोंके बंधन और वज्रमय वेष्ठनसे वेष्ठित तथा हड्डियोंके संधियोंके कीले भी जिसके वज्रमय हैं ऐसा भरतका शरीर वज्रवृषभनाराच संहननका धारण करनेवाला अभेद्य [जो किसीसे भिद न सके] था ॥ २७ ॥ भरतका शरीर चतुरस्र था, उसके अंग उपांग समान भागोंमें विभक्त थे अर्थात् अंग उपांगोंकी लंबाई चौडाई मुटाई आदि जहां जितनी चाहिये वहां उतनी ही थी, अंगोंकी मिलावट भी अच्छी थी और वह समचतुरस्रनामके पहिले संस्थानसे बहुत ही सुंदर था ॥ २८ ॥ उसके शरीरकी कांति तपाये हुये सूवर्णके समान थी, उसपर अच्छे अच्छे चौंसठ शुभ लक्षण थे वह सहज ही सुंदर और तिल आदि अनेक व्यंजनोंसे बहुत ही देदीप्यमान जान पडता था ॥ २९ ॥ छहों खंडके होनेवाले राजाओंमें जितना कुछ शारीरिक बल था उससे भी अधिक उस बलवान भरतके शरीरमें बल था ॥ ३० ॥ जिसका चक्ररत्न ही चिन्ह है और जिसे कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे समुद्रतक फैले हुये उसके शासनको [आज्ञाको] बडे बडे पराक्रमको धारण

पृथिवीश्वरैः ॥ ३१ ॥ द्वात्रिंशन्मौलिबद्धाना सहस्राणि महीक्षितां । कुलाचलैरिवाद्रीद्रः स रेजे यै. परिष्कृतः ॥ ३२ ॥ तावंत्येव सहस्राणि दशाना सुनिवेशिना । यैरलंकृतमाभाति चक्रभृत्क्षेत्रमायतं ॥ ३३ ॥ कुलजात्यभिसपन्ना देव्यस्तावत्प्रमास्मृताः । रूपलावण्यकातीना याः शुद्धाऽऽकरभूमयः ॥ ३४ ॥ म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावंत्यो नृपवल्लभाः । अप्सरःसकथा' क्षोणीं यकाभिरवतारिताः ॥ ३५ ॥ अवरुद्धाश्च तावत्यस्तन्व्यः कोमलविग्रहाः । मदनोद्दीपनैर्यासा दृष्टिबाणैर्जित जगत् ॥ ३६ ॥ नखांशुकुसुमोद्भेदैरारक्तैः पाणिपल्लवैः । तास्तन्व्यो भुजशाखाभिर्भेजुः कल्पलताश्रियं ॥ ३७ ॥ स्तना-

---

करनेवाले अनेक राजा लोग शिरपर धारण करते थे ॥ ३१ ॥ उसके सेवक बत्तीसहजार मुकुटबद्ध राजा थे जो कि कुलाचलोंके समान जान पडते थे, उन कुलाचलोंके समान राजाओंसे वेष्ठित [घिरा हुआ] वह भरत ठीक सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होता था ॥ ३२ ॥ उस भरतके राज्यमें बत्तीस हजार ही बहुत सुंदर बने हुये देश थे उनसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लंबा चौडा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पडता था ॥ ३३ ॥ उसके बत्तीस हजार देवियां वा रानियां थीं जो कि ऊंच कुल और अच्छी जातिसे सुशोभित थीं और जो रूप, लावण्य, तथा कांतिकी शुद्ध खानिके समान जान पडती थीं ॥ ३४ ॥ इनके सिवाय म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रिय रानियां और थीं, जिन्होंने अप्सराओंकी कथाओंको पृथ्वीपर उतार लिया था अर्थात् जिन्हें देखदेखकर लोग अप्सराओंकी कथायें कहा करते थे ॥ ३५ ॥ इसी प्रकार कोमल शरीरको धारण करनेवालीं बत्तीस हजार विद्याधारियें भी उसकी प्रिय रानियां थी और वे ऐसी थी कि कामदेवको उद्दीपन करनेवाले उनके कटाक्षरूपी बाणोंसे यह समस्त संसार जीता गया था ॥ ३६ ॥ वे छ्यानबे हजार रानियां अपने नखोंकी किरणें रूपी फूलोंके खिलनेसे, गुलाबी रंगकी हथेलीरूपी नये कोमल पत्तोंसे और भुजायेंरूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभाको धारण करती थीं ॥ ३७ ॥ कामदेवके निवास करनेकी स्थानभूत वे रानियां स्तनरूपी कमलकी कलियोंसे, और प्रफुल्लित हुये मुखरूपी

ञ्जकुड्मलैरास्यपंकजैश्च विकासिभिः । अब्जिन्य इव ता रेजुर्मदनावासभूमिका ॥ ३८ ॥ मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । यदावेशव-शादेप दशा प्राप्तोऽतिवर्तिनी ॥ ३९ ॥ शंके निशानपापाणान्नखानासा मनोभुवः । यत्रोपारूढतैक्ष्ण्यैः स्वैरविध्यत्कामिनः शरैः ॥ ४० ॥ सत्यं महेषुधी जंघे तासां मदनधन्विनः । कामस्यारोहनिःश्रेणीस्थानीयावूरुदण्डकौ ॥ ४१ ॥ कटी कुटी मनोजस्य कांचीसालकृतावृतिः । नाभिरासां गभीरैका कूपिका चित्तजन्मनः ॥ ४२ ॥ मनोभुवोऽतिवृद्धस्य मन्येऽवष्टम्भयष्टिका । रोमराजिः स्तनौ चासां कामरत्नकरण्डकौ ॥ ४३ ॥ कामपाशायितौ बाहू शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्योच्छ्वसितं कण्ठः सुकण्ठीनां मनोहरः ॥ ४४ ॥ मुखं रतिसुखागारप्रमुखं मुखबंधनं । वैराग्यरससंगस्य तासां च रदन-

---

कमलोंसे ठीक कमलकी बेलके समान सुशोभित होती थीं ॥ ३८ ॥ ग्रंथकर्ता कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूं कि उन रानियोंके शरीर कामदेवरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे, क्योंकि उनके आवेशके वशसे ही [अर्थात् उन रानियोंके शरीररूपी पिशाचोंके पात्रोंके शरीरमें प्रवेश करनेसे ही] यह चक्रवर्ती इतनी विशाल वा अलंघनीय अवस्थाको प्राप्त होगया है ॥ ३९ ॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उनके नख शस्त्र पैने करनेकी सिली वा शाण थे क्योंकि कामदेव उन्हींपर रखकर अपने बाण पैने (तीक्ष्ण) किया करता है और फिर उनसे कामीलोगोंपर प्रहार किया करता है ॥ ४० ॥ तथा यह बात भी सत्य है कि उनको दोनों जंघायें कामदेवरूपी धनुर्धारीके तरकस थे और ऊरू दंड (जंघाके ऊपरी भाग) कामदेवके चढनेके लिये नसेनीके समान थे ॥ ४१ ॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवके गहरे कूएके समान थी ॥ ४२ ॥ मुझे ऐसा जान पडता है कि उनकी रोमराजि [नाभिके पासकी बालोंकी रेखा] अत्यंत वृद्ध हुये [बढे हुये] कामदेवके सहारेकी लकडी थी और दोनों स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥ ४३ ॥ सरसोंके फूलके समान कोमल ऐसी उनकी दोनों भुजायें कामदेवके पाश वा जालके समान थीं और अच्छे कंठवाली उन देवियोंका मनोहर कंठ कामदेवके जीवितके समान था ॥ ४४ ॥ उनका मुख सुरतसुखरूपी मंदिरका

च्छदः ॥ ४५ ॥ दृग्विलासाः शरास्तासां कर्णांतो लक्ष्यतां गतौ । भ्रूवल्लरी धनुर्यष्टिर्जिगीषोः पुष्पधन्विनः ॥ ४६ ॥ ललाटाभोगमेतासां मन्ये बाह्यालिकास्थलं । अनङ्गनृपतेरिष्टभोगकन्दुकचारिणः ॥ ४७ ॥ अलकाः कामकृष्णाहेः शिशवः परिपुञ्जिताः । कुंचिताः केशवल्लर्यो मदनस्येव वागुराः ॥ ४८ ॥ इत्यनङ्गमयीं सृष्टिं तन्वानाः स्वाङ्गसंगिनीं । मनोऽस्य जगृहुः कांताः कांतैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥ ४९ ॥ तासां मृदुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मनैः ॥ ५० ॥ स्मितेष्वासां दरोद्भिन्नो हसितेषु विकस्वरः । फलितः परिरंभेषु रसिकोऽभूद्रतद्रुमः ॥ ५१ ॥ भ्रू-

---

प्रधान दरवाजा था और उनके ओठ वैराग्य रसकी प्राप्तिके मुखबंधन अर्थात् द्वारबंद करनेवाले परदेके समान थे ॥ ४५ ॥ उनके नेत्रोंके कटाक्ष बाणोंके समान थे, कानके अंतिम भाग उन बाणोंके निशानोंके समान थे और उनकी भोंहरूपी लतायें (समस्त संसारको) जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके धनुषकी लकडीके समान थीं ॥ ४६ ॥ उनके ललाटका विस्तार ऐसा जान पडता था मानों इष्टभोग (इच्छानुसार भोग) रूपी गेंदसे खेलनेवाले ऐसे कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मैदान ही हो ॥ ४७ ॥ उनके टेढे केश [घूंघरवाले बाल] ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी काले सर्पके छोटे छोटे बच्चे ही एक जगह इकट्ठे हो गये हों और कुछ कुछ टेढे हुये केश ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवकी कामीरूपी हिरणोंके पकडनेकी रस्सी ही हो ॥ ४८ ॥ इसप्रकार अपने शरीरके साथ होनेवाली समस्त रचनाको कामदेवमयी ही प्रकाश करती हुई वे छ्यानबे हजार रानियां अपनी मनोहर कामकी चेष्टाओंसे इस भरत चक्रवर्तीका मन हरण करती थीं ॥ ४९ ॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमसे भरी हुई सरस दृष्टिसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इस चक्रवर्तीको बहुत ही संतोष होता था ॥ ५० ॥ सुरतरूपी वृक्ष इनके मंद मंद हंसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हंसनेपर पूर्ण रूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर उसपर फल लग आते थे, इसप्रकार वह बहुत ही रसिक जान पडता था ॥ ५१ ॥ भोहोंके चलानेरूप गोफनोंमें

क्षेपयंत्रपाषाणैर्दृक्क्षेपक्षेपणीकृतैः । बहुदुर्गरणस्तासा स्मरोऽभूत्सकचग्रहः ॥ ५२ ॥ खरः प्रणयगर्भेषु कोपेष्वनुनये मृदुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु मुग्ध. प्रणयकैतवे ॥ ५३ ॥ निर्दयः परिरम्भेषु सानुज्ञानो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु समूढः पटु' करणचेष्टिते ॥ ५४ ॥ सकल्पेष्वाहितोत्कर्षो मदः प्रत्यग्रसगमे । प्रारभे रसिको दीप्तः प्राते करुणकातरः ॥ ५५ ॥ इत्युच्चावचता भेजे तासा दीप्तः स मन्मथः । प्रायो भिन्नरसः कामः कामिना हृदयगमः ॥ ५६ ॥ प्रकाममधुरानित्थ कामान् कामातिरेकिणः । स ताभिर्निर्विशन् रेमे वपुष्मानिव मन्मथः ॥ ५७ ॥ ताश्च तच्चित्तहारिण्यरत-

---

फेंके हुये. पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी रस्सियोंसे बनाये हुये यंत्रोंके द्वारा उन स्त्रियोंका अनेक तरहसे किलेबंदीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबका बाल पकडनेवाला था ॥ ५२ ॥ कामदेव इनके प्रेमसे भरे हुये क्रोधके समय कठिन हो जाता था, पतिके द्वारा प्रार्थना करने वा मनानेके समय कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करते समय उदासीन, प्रेमसे कपट करते समय अनजान वा अज्ञानी, आलिंगन करतेसमय निर्दय, चुंबन करनेके लिये मुख देते समय अपनी संमति प्रकाश करनेवाला, स्वीकार करते समय विचारशून्य, हाव भाव विलास आदि इंद्रियोंकी चेष्टा करते समय अत्यंत चतुर, किसी संकल्पके करतेसमय प्रशंसाको प्राप्त होनेवाला, नवीन समागम करतेसमय अत्यंत मंद, संभोग प्रारंभ करते समय अत्यंत रसिक और सुरतक्रीडाके अंतमें करुणासे कातर वा दीन हो जाता था इसप्रकार उन रानियोंका अत्यंत प्रज्वलित हुआ कामदेव प्रसंगानुसार ऊंची नीची अवस्थाको प्राप्त होता था, सो ठीक ही है क्योंकि यह कामदेव प्रायः जुदे जुदे रसोंसे भरा हुआ ही कामीलोगोंको मनोहर जान पडता है ॥ ५३–५४–५५–५६ ॥ इसप्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यंत मधुर वा संतोष उत्पन्न करनेवाले और इच्छासे भी अधिक वा मनोरथोंकी वृद्धि करनेवाले भोगोंको भोगता हुआ मूर्ति वा शरीरको धारण करनेवाले साक्षात् कामदेवके समान क्रीडा करता था ॥ ५७ ॥ भरतके चित्तको हरण करनेवालीं और प्रेमसे भरी हुई लक्ष्मीके समान सुंदर वे युवती स्त्रियां सुरत क्रीडास-

रुण्यः प्रणयोध्दुराः । वभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव रत्युत्सवे श्रियः ॥ ५८ ॥ नाटकानां सहस्राणि द्वात्रिंशत्प्रमितानि वै । सातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः ॥ ५९ ॥ द्वासप्तति: सहस्राणि पुरामिंद्रपुरश्रिया । स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको यैरलङ्कृतः ॥ ६० ॥ ग्रामकोट्यश्च विज्ञेया विभोः षण्णवतिप्रमाः । नदनोद्देशजित्वर्यो यासामारामभूमयः ॥ ६१ ॥ द्रोणामुखसहस्राणि नवतिर्नवं चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनां अधिष्ठानानि यानि वै ॥ ६२ ॥ पत्तनाना सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवाभाति येषामुद्वा वणिक्पथाः ॥ ६३ ॥ षोडशैव सहस्राणि खेटाना परिमा मता । प्राकारगोपुराट्टालखातवप्रादिशोभिना ॥ ६४ ॥ भवेयुरतरद्वीपाः षट्पचाशत्प्रमा मिताः । कुमानुपजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः ॥ ६५ ॥ सँवाहाना

मयमें ऐसी जान पडती थीं मानों समस्त साम्राज्य उन्हें ही प्राप्त हुआ हो ॥ ५८ ॥ भरतकी विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि सुंदर भेषसे बहुत ही मनोहर जान पडते थे और जिनमें सदा गाना बजाना होता रहता था ॥ ५९ ॥ इंद्रकी नगरीकीसी शोभा धारण करनेवाले बहत्तर हजार ऐसे नगर थे कि जिनसे सुशोभित हुआ यह मनुष्यलोक ठीक स्वर्गलोकके समान सुंदर जान पडता था ॥ ६० ॥ उस चक्रवर्तीके जिनके बगीचोंकी शोभा नंदनवनको भी जीत रही थी ऐसे छ्यानवे करोड गांव थे ॥ ६१ ॥ जो धन धान्य आदि समृद्धियोंके मुख्य स्थान थे ऐसे निन्यानवे हजार द्रोण मुख वा समुद्रके समीपवर्ती प्रदेश (बंदर) थे ॥ ६२ ॥ जहांके प्रशंसनीय बाजार रत्नाकर (रत्नोंसे भरे हुये समुद्रके समान) के समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अडतालीस हजार पत्तन (जहां रत्नोंकी खानियां हों) थे ॥ ६३ ॥ जिनके कोट, कोटके बडे बडे दरवाजे, अटारियां, खाइयां और परकोटाओंसे अत्यंत शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट [एक ओर पहाड और दूसरी ओर नदियोंसे घिरे हुये शहर] थे ॥ ६४ ॥ जो समुद्रके बीचमें बहुत लंबे चौडे और कुभोगभूमिया मनुष्योंसे भरे हुये थे ऐसे छप्पन अंतरद्वीप थे ॥ ६५ ॥ जो लोगोंके सबतरहके योग क्षेमके भेद उपभेद आदिको धारण करते थे, और जिनके चारों ओर खाई थी ऐसे चौदह हजार संवाह अर्थात् पर्वतों-

सहस्राणि सखातानि चतुर्दश । वहंति यानि लोकस्य योगक्षेमविधाविधिं ॥ ६६ ॥ स्थालीनां कोटिरेकोक्ता रंधने या नियोजिता । पक्त्री स्थालीविलेयाना तडुलानां महानसे ॥ ६७ ॥ कोटीशतसहस्र स्याद्धलाना कुलियैः समं । कर्मांतकर्षणे यस्य विनियोगो निरंतरः ॥ ६८ ॥ तिस्रोऽस्य वज्रकोट्यः स्युर्गोकुलैः शश्वदाकुलाः । यत्र मथरवाकृष्टास्तिष्ठति स्माध्वगाः क्षण ॥ ६९ ॥ कुक्षिवासशतान्यस्य सप्तैवोक्तानि कोविदैः । प्रत्यतवासिनो यत्र न्यवात्सुः कृतसश्रयाः ॥ ७० ॥ दुर्गाटवीसहस्राणि तस्याष्टाविंशतिर्मता । वनधन्वननम्रादिविभागैर्या विभागिताः ॥ ७१ ॥ म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदश संख्यया । रत्नानामुद्भवक्षेत्र यैः समंतादधिष्ठितं ॥ ७२ ॥ कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाडुकाह्वया । पद्ममाणवपिंगाब्जसर्वरत्नपदादिकाः ॥ ७३ ॥ निधयो नव तस्यासन् प्रतीतैरिति नामभिः । यैरय गृहवार्ताया निश्चिंतोऽभून्निधीश्वरः ॥ ७४ ॥ निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो

पर वसनेवाले शहर थे ॥ ६६ ॥ भोजनशालामें पकानेके लिये जिनमें डालकर चांवल पकाये जाते हैं ऐसे बडे बडे हंडे एक करोड थे ॥ ६७ ॥ धानोंके पकानेपर जो सदा काममें लाये जाते हैं, और जिनके साथ बीजबोनेकी बोनेकी नली लगी हुई है ऐसे एकलाख करोड हल थे ॥ ६८ ॥ जहांपर छाछ चलानेसे होनेवाले शब्दोंको सुनकर पथिक लोग भी थोडी देरके लिये ठहर जाते हैं और जो सदा गायोंसे भरी रहती हैं ऐसी तीन करोड गौशालायें थीं ॥ ६९ ॥ जहांपर म्लेच्छ लोग व्यापारके लिये आकर निवास करते थे ऐसे कुक्षिवास अर्थात् जहां रत्नोंका व्यापार होता है ऐसे स्थानोंकी संख्या पंडित लोगोंने सातसौ बतलाई है ॥ ७० ॥ अट्ठाईस हजार गहन बन थे जो कि बन, निर्जल देश और ऊंचे ऊंचे पर्वतोंके विभागोंमें वटे हुये थे ॥ ७१ ॥ जिनके चारों ओर रत्नोंकी खानें भरी हुई थीं ऐसे अठारह हजार आर्यखंडके म्लेच्छ राजा थे ॥ ७२ ॥ काल, महाकाल, नैस्सर्प, पांडुक, पद्म, माणव, पिंगल, संख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नौ निधियां महाराज भरतके घर थीं कि जिनसे वह निधियोंका स्वामी चक्रवर्ती घरकी जीविकाके लिये बिलकुल चिंता रहित था ॥ ७३–७४ ॥ पुण्यके निधि ऐसे इस भरतके पहिली काल नामकी निधि थी, इस कालनिधिसे

लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहं ॥ ७५ ॥ इंद्रियार्थां मनोज्ञा ये वीणावगानकादयः । तान्प्रसूते यथाकालं निधिरेष विशेषतः ॥ ७६ ॥ असिमष्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसंपद ॥ यतः शश्वत्प्रसूयते महाकालो निधिः स वै ॥ ७७ ॥ शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यात्प्रभवो निधेः । पाडुकाद्धान्यसंभूतिः षड्रसोत्पत्तिरप्यतः ॥ ७८ ॥ पट्टांशुकदुकूलादिवस्त्राणां प्रभवो यत । स पद्माख्यो निधिः पद्मगर्भाविर्भावितोऽद्युतत् ॥ ७९ ॥ दिव्याभरणभेदानामुद्भवः पिंगलान्निधेः । माणवान्नीतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भव. ॥ ८० ॥ शखात्प्रदक्षिणावर्तात्सौवर्णी सृष्टिमत्सृजन् । स शंखनिधिरुत्प्रेंखद्रुक्म-

लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण शास्त्र आदि शब्दसे काव्य, कोश, अलंकार, तर्क, आदि अनेक प्रकारके शास्त्र निरंतर उत्पन्न होते रहते थे तथा इसी निधिसे वीणा, वांसुरी, नगाडे आदि जो जो इंद्रियोंके मनोज्ञ विषय थे वे भी समयानुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न होते रहते थे ॥ ७५–७६ ॥ दूसरी महाकाल नामकी निधि थी उससे असि मसी अर्थात् तलवार शाही आदि जीविकाके छहों कर्मोंके साधन ऐसे समस्त पदार्थ और संपदायें निरंतर उत्पन्न होती रहती थीं ॥ ७७ ॥ नैसर्प नामकी निधिसे शय्या आसन मकान आदि उत्पन्न होते रहते थे और पांडुक निधिसे समस्त धान्योंकी उत्पत्ति और छहों रसोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥ ७८ ॥ जिससे रेशमी सुती आदि सवतरहके वस्त्र उत्पन्न होते रहते थे और जिसकी भीतरकी कांति पद्मराग मणिके समान थी ऐसी पद्मनामकी निधि भी बहुत सुशोभित होती थी ॥ ७९ ॥ पिंगल नामकी निधिसे अनेक तरहके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र और अनेक तरहके शस्त्र उत्पन्न होते रहते थे ॥ ८० ॥ जिस प्रदक्षिणावर्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न होती थी अर्थात् इच्छानुसार सुवर्ण मिलता था और जिसकी उछलती सुवर्णमय कांतिसे सूर्यकी प्रभा भी लज्जित हो रही थी ऐसी आठवीं शंख नामकी निधि थी ॥ ८१ ॥ जिसमें भरे हुये मणियोंकी कांतिसे इंद्रधनुषकी शोभा प्रगट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, इंद्रनील पद्मराग, वैडूर्य, स्फटिक आदि अनेक

रोचिर्जितार्करुक् ॥ ८१ ॥ सर्वरत्नान्महानीलनीलस्थूलोपलादयः। प्रादुष्यंति मणिच्छायारचितेंद्रायुधत्विषः ॥ ८२ ॥ रत्नानि द्वितयान्यस्य जीवाजीव-विभागतः । क्ष्मात्राणैश्वर्यसभोगसाधनानि चतुर्दश ॥ ८३ ॥ चक्रातपत्रदडासिमणयश्चर्म काकिणी। चमूगृहपतीभाश्वयोषित्तक्षपुरोधसः ॥ ८४ ॥ चक्रदडासिरत्नानि सच्छत्राण्यायुधालयात् । जातानि मणिचर्मम्या काकिणी श्रीगृहोदरे ॥ ८५ ॥ स्त्रीरत्नगजवाजीना प्रभवो रौप्यशैलतः। रत्नान्यन्यानि साकेताज्जज्ञिरे निधिभिः सम ॥ ८६ ॥ निधीना सह रत्नाना गुणान् को नाम वर्णयेत् । यैरावर्जितमूर्जास्वि हृदयं चक्रवर्तिनः ॥ ८७ ॥ भेजे षट्‌ऋतुजानिष्टान् भोगान् पचेंद्रियोचितान् । स्त्रीरत्नसाराथस्ताद्धि निधान सुखसपदा ॥ ८८ ॥ कातारत्नमभूत्तस्य सुभद्रेत्यनुपद्रुतं । भद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव जात्या

तरहके रत्न व मणियां उत्पन्न होती थीं ॥ ८२ ॥ इन नौ निधियोंके सिवाय चोदह रत्न थे जिनमें सात सजीव और सात निर्जीव थे, ये सब रत्न पृथ्वीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ॥ ८३ ॥ चक्र, छत्र, दंड, खड्ग, मणि, चर्म और कांकिणी ये सात निर्जीव रत्न थे और सेना-पति, गृहपति, हाथी, घोडा, स्त्री, तक्ष [सिलावट] और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥ ८४ ॥ चक्र, दंड, खडग, और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामें उत्पन्न हुये थे तथा मणि, चर्म और काकि-णी ये तीन श्रीगृहमें उत्पन्न हुये थे ॥ ८५ ॥ स्त्रीरत्न, हाथी और घोडा विजयार्द्ध पर्वतपर उत्पन्न हुये थे और बाकीके सब रत्न नौ निधियोंके साथ साथ अयोध्या नगरमें ही उत्पन्न हुये थे ॥ ८६ ॥ जिनके द्वारा आराधन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अत्यंत प्रतापी हो रहा था ऐसी उन नौ निधि और चौदह रत्नोंके गुण भला कौन वर्णन कर सकता है ॥ ८७ ॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ साथ छहों ऋतुओंसे उत्पन्न हुये और पंचेंद्रियोंके योग्य ऐसे अनेक इष्ट भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख संपत्तियोंका खजाना है ॥ ८८ ॥ उस चक्रवर्तीके सब रोगादि दोषोंसे रहित ऐसा सुभद्रा नामका स्त्री रत्न था वह सुभद्रा स्वभावसे ही कल्याणरूप थी और जा-तिसे विद्याधरोंके वंशमें उत्पन्न हुई थी ॥ ८९ ॥ उस सुभद्राका शरीर सरसोंके फूलके समान कोमल

विद्याधरान्वया ॥ ८९ ॥ शिरीषसुकुमारांगी चंपकच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटलापाटलाधरा ॥ ९० ॥ प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नीलोत्पलदलेक्षणा । सुभ्रूरलिकुलानीलमृदुकुंचितमूर्द्धजा ॥ ९१ ॥ तनूदरी वरारोहा वामोरूर्निबिडस्तनी । मृदुबाहूलता साऽभून्मदनाग्नेरिवारणिः ॥ ९२ ॥ तत्क्रमौ नूपुरामञ्जुगुंजितैर्मुखरीकृतौ । मदनाद्विरदस्येव तेनतुर्जयडिंडिमं ॥ ९३ ॥ नि.श्रेणीकृत्य तज्जंघे सदूरुद्वारबंधन । वासगेहास्थयाऽनगस्तच्छ्रेणीं नूनमासदत् ॥ ९४ ॥ निःसृत्य नाभिवल्मीकात्कामकृष्णभुजंगमः । रोमावलीछलेनास्या ययौ कुचकरंडक ॥ ९५ ॥ निर्मोकमिव कामाहेर्दधानोद्धं स्तनांशु-

था, कांति चंपाके फूलके दलके समान थी, निश्वास मौलसिरीके पुष्पके समान सुगंधित था, अधर पाटलके फूलके समान गुलाबी रंगके थे, मुह खिले हुये कमलके समान सुंदर था, नेत्र नील कमलके दलके समान थे, भोंहें बहुत सुंदर थीं, भ्रमरोंके समूहके समान काले, कोमल और कुछ कुछ टेढे केश थे, कमर पतली थी, नितंब बहुत सुंदर थे, ऊरू (जंघाके ऊपरी भाग) बहुत मनोहर थे, स्तन कठोर थे, और भुजारूपी लतायें कोमल थीं, इसप्रकार वह सुभद्रा कामदेवरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिये अरणिके [जिस लकडीसे अग्नि उत्पन्न होती है] समान थी ॥ ९०–९१–९२ ॥ उसके दोनों चरण नूपुरोंके (बिछुओंके) मनोहर शब्दोंसे वाचालित हो रहे थे और ऐसे जान पडते थे मानों कामदेवरूपी हाथीके विजयके नगाडे ही बजा रहे हों ॥ ९३ ॥ ऐसा जान पडता था मानों कामदेव अपने निवास करनेके घरपर पहुंचनेकी इच्छासे उस महारानीके दोनों जंघाओंको नसेनी बनाकर उत्तम ऊरू ही (जंघाके ऊपरी भाग) जिनके दरवाजेके बंधन वा खंबे हैं ऐसे उसके नितंब भागोंपर जा पहुंचा हो ॥ ९४ ॥ उसकी रोमावली ऐसी जान पडती थी मानों उसके बहानेसे कामदेवरूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी वामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारेमें जा घुसा हो ॥ ९५ ॥ वह सुभद्रा कामदेवरूपी सर्पकी कांचलीके समान बहुत सुंदर स्तनपरका वस्त्र वा कांचली धारण करती थी और उस कामदेवरूपी सर्पको संतुष्ट करनेके लिये सर्पिणीके समान मुख्य

कं । भुजगीमिव तद्धत्यै सैकामेकावलीमधात् ॥ ९६ ॥ बभ्रे हारलतां कंठलग्नां सा नाभिलंबिनीं । मंत्ररक्षामिवानंगग्रथिता कामदीपिनीं ॥ ९७ ॥ हाराक्रांतस्तनाभोगा सा स्म धत्ते परा श्रियं । सीतेव यमकाद्रिस्पृक्प्रवाहा सरिदुत्तमा ॥ ९८ ॥ बाहू तस्या जितानंगपाशौ लक्ष्मीमुदूहतुः । कामकल्पद्रुमस्येव प्ररोहौ दीप्तभूषणौ ॥ ९९ ॥ रेजे करतल तस्या. सूक्ष्मरेखाभिराततं । जयरेखा इवाबिभ्रदन्यस्त्रीनिर्जयार्जिताः ॥ १०० ॥ मुखमुद्भ्रु तनूदर्यास्तरलापागमावभौ । सशरं समहेष्वास जयागारमिवातनोः ॥ १०१ ॥ वक्त्रमस्याः शशांकस्य कांतिं जित्वा स्वशोभया । दधे नु भ्रूपताकांक कर्णा-

---

एकावली नामके हारको धारण करती थी ॥ ९६ ॥ कामदेवको उद्दीपित करनेवाली और नाभितक लटकती हुई ऐसी उसके कंठमें पडी हुई हारलता ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों कामदेवने स्वयं बनाया हुआ और मंत्रसे अभिमंत्रण किया हुआ डोरा ही हो ॥ ९७ ॥ जिसके दोनों स्तनोंके मध्यभागका प्रदेश हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इसप्रकारकी उत्तम शोभा धारण करती थी मानों दो यमक पर्वतोंके बीचके भागको स्पर्श करता हुआ जिसका प्रवाह [धारा] जा रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥ ९८ ॥ दैदीप्यमान आभूषणोंसे सुशोभित और कामदेवके पाशको (केशबंधन वा चोटी) जीतनेवाली उसकी दोनों भुजायें ऐसी अच्छी शोभा धारण करती थीं मानों कामदेवरूपी कल्पवृक्षके दैदीप्यमान आभूषणोंसहित दो अंकूरे ही हों ॥ ९९ ॥ सूक्ष्म रेखाओंसे भरी हुई उसकी हथेलियां ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों अन्य स्त्रियोंके जीतनेसे जो विजयकी रेखायें इकट्ठी हुई हैं उन्हें ही वह धारण कर रही हो ॥ १०० ॥ जिसकी भोहें ऊंचेको उठी हुई हैं और जिसमें चंचल कटाक्ष हो रहे हैं इसप्रकारका उस कृशोदरीका मुख ऐसा अच्छा जान पडता था मानों बाण और महाचाप सहित कामदेवकी आयुधशाला ही हो ॥ १०१ ॥ उसका मुख अपनी शोभासे चंद्रमाकी कांतिको जीतता हुआ ऐसा जान पडता था मानों दोनों कानोंके बहानेसे भौंहरूपी पताकाके चिन्ह सहित विजयपत्र ही धारण कर रहा हो ॥ १०२ ॥

भ्या जयपत्रकं ॥ १०२ ॥ हेमपत्राकितौ तस्याः कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्वधूनिर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥ १०३ ॥ कपोलावुज्वलौ तस्या दध- तुर्दर्पणाश्रियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥ १०४ ॥ मध्येचक्षुरधीराक्ष्या नासिकाऽभान्मुखोन्मुखी । तदामोदमिवाघ्रातुं कृतयत्ना कुतूहलात् ॥ १०५ ॥ कृत्वा श्रोतृपदे कर्णौ तन्नेत्रे विभ्रमैर्मिथः । कृतस्पर्धे इवाऽऽभाता पुष्पबाणे सभापतौ ॥ १०६ ॥ अभूत्कातिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालके । हेमपट्टातसलग्ननीलोत्पलविडंबिनी ॥ १०७ ॥ तस्या विनीलविस्रस्तकबरीबंधबंधुर । केशपाशमनगस्य मन्ये पाशं प्रसा-

---

जिनमें सोनेके पत्र वा कर्णपूर लगे हुये हैं ऐसे उसके दोनों कान ऐसी अच्छी शोभा धारण करते थे मानों उन्होंने देवांगनाओंके जीतनेके लिये हाथमें कागज पत्र ही ले लिये हों ॥ १०३ ॥ उसके दोनों उज्वल कपोल ऐसे जान पडते थे मानों उन्होंने चिंतवन, इच्छा, दीर्घ श्वासोच्छ्वास, कामज्वर, संताप, अप्रीति, मूर्च्छा, उन्माद, प्राणसंदेह और प्राणत्याग इन दश प्रकारकी अपनी नियत अवस्थाओंको देखनेकी इच्छा करनेवाले ऐसे कामदेवके दर्पणकी शोभा धारण की हो ॥ १०४ ॥ जिसके नेत्र चंचल हैं ऐसी उस सुभद्राकी नाक दोनों नेत्रोंके बीचमें मुंहकी ओर अपना मुंह झुकायेहुये ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों उसके मुखका सुगंध सूंघनेके लिये कौतूहलसे प्रयत्न ही कर रही हो ॥ १०५ ॥ उसके दोनों नेत्र ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों कामदेवके सभापतित्वमें दोनों कानोंको गवाही वा साक्षी बनाकर परस्पर एक दूसरेके साथ अपने हाव भाव विलासोंके द्वारा स्पर्धा (ईर्षा) ही कर रहे हों ॥ १०६ ॥ जिसपर काली अलकें (केश) फहरा रहीं हैं ऐसे चकोरके समान सुंदर नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर सुवर्णके पाटपर लटकती हुई नील कमलोंकी मालाके समान बहुत ही सुंदर कांति सुशोभित हो रही थी ॥ १०७ ॥ अत्यंत काले और गुंथी हुई केशोंकी रचनासे सुंदर ऐसे उसके केशपाश (सिरके बालोंका समूह) ऐसा अच्छा जान पडता था मानों फैला हुआ कामदेव- का पाश वा जाल ही हो ॥ १०८ ॥ इसप्रकार जिसकी उत्तमता प्रगट है ऐसे उसके रूपको तीनों

रितं ॥ १०८ ॥ इत्यस्या रूपमुद्भूतसौष्ठव त्रिजगजयि । मत्वाऽनंगस्तदंगेषु सन्निधानं व्यधात् ध्रुवं ॥ १०९ ॥ तद्रूपालोकनोच्चक्षुस्तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयश्चासकृन्मुख ॥ ११० ॥ तद्गेयकलनिकाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलारामे स रेमे सुखनिर्वृतः ॥ १११ ॥ पंच बाणाननंगस्यैं वदंत्येतानकुंठितान् । पुष्पेषुसंकथा लोके प्रसिध्दैव गता प्रथा ॥ ११२ ॥ धनुर्लता मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं जडाः । सुकुमारतरं स्त्रैण वपुरेवातनोर्धनुः ॥ ११३ ॥ पच बाणाननंगस्य नियच्छति कुतो जडाः । यदेव कामिना हारि तदस्त्रं कामदीपन ॥ ११४ ॥

जगतके जीतनेवाला (अत्यंत सुंदर वा मनोहर) जानकर ही मानों कामदेवने उसके शरीरमें ही अपने रहनेका स्थान बनाया था भावार्थ–काम सदा उसके शरीरमें निवास करता था ॥ १०९ ॥ उसका रूप देखनेके लिये जिसके चक्षु सदा टकटकी लगाये रहते हैं, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिये जिसे सदा उत्कंठा बनी रहती है, जो सदा उसके मुंहकी सुगंध सूंघा करता है, बार बार उसके मुखका आस्वादन किया करता है और उसके गानेके मनोहर शब्दोंके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते हैं ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बडे भारी बगीचेमें सुखसे संतुष्ट होकर क्रीडा किया करता था ॥ ११०–१११ ॥ पंडित लोग जिनका कहीं प्रतिबंध वा रुकावट नहीं होती ऐसे उस सुभद्राका रूप, ओंठोंका रस, मुखकी सुगंध, शरीरका कोमल स्पर्श और मधुर शब्द इन पांचोंको ही कामदेवके बाण बतलाते हैं, संसारमें जो पुष्पोंमें कामदेवके बाण कहनेकी प्रथा चल पडी है वह केवल प्रसिद्धी मात्र है, वास्तविक नहीं है वास्तवमें तो सुभद्राके रूप आदि ही कामदेवके पांच बाण थे ॥ ११२ ॥ कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि कामदेवका धनुष पुष्पोंका है परंतु यह उनकी भूल है वास्तवमें स्त्रियोंका अत्यंत कोमल शरीर ही कामदेवका धनुष है· क्योंकि धनुषका जो काम है वह उनका शरीर ही करता है ॥ ११३ ॥ न जाने क्यों मूर्ख लोग कामदेवके पांच बाण बतलाते हैं परंतु यह उनका कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कुछ कामी लोगोंके चित्तको हरण कर-

स्मितमालोकितं हासो जल्पितं मदमन्मनं । कामाङ्गानिदमेवान्यत्कैतवं तस्य पोषकं ॥ ११५ ॥ आरूढयौवनोष्माणौ स्तनावस्या हिमागमे । रोमाञ्चं हृषितमस्याङ्गे शिशिरोत्थं निनिन्यतुः ॥ ११६ ॥ हिमानिलैः कुचोत्कम्पमाहितं सा प्रशान्तये । प्रियस्य करसंस्पर्शैरपानैषीदनर्गलानिर्ना ॥ ११७ ॥ साशोककलिका चूतमञ्जरीं कर्णसङ्गिनीं । बिभ्रती चम्पकप्रोतैः केशान्तैः साऽरुचन्मधौ ॥ ११८ ॥ मधौ मधुमदारक्तलोचनामास्खलद्गतिं । बहु मेने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदश्रियं ॥ ११९ ॥ कलैरलिकुलक्वाणैः सान्यपुष्टविकूजितैः । मधुर मधुरम्भस्तौत् तुष्टेवामुं विशांपतिं ॥ १२० ॥ कलकंठीकलक्काण-

---

नेवाला है वही कामको वढानेवाला कामदेवका शस्त्र है । भावार्थ—स्त्रीका रूप ही वाण है पुष्पादि नहीं ॥ ११४ ॥ स्त्रियोंका मंद हास्य, कुछ ढिढाईसे देखना. जोरसे हंसना और कामदेवके आवेशसे जिसमें अक्षर साफ नहीं निकलते ऐसा उनका भाषण ये ही सब कामदेवके अंग वा शस्त्र हैं, इनके सिवाय जो कुछ उनका कपट व्यवहार है वह सब इन्हीं अंगोंको पुष्ट करनेवाला है ॥ ११५ ॥ चढती हुई जवानीके कारण जो गर्म हो रहे हैं ऐसे उस सुभद्राके दोनों स्तन हेमंत ऋतुमें (जाडेमें) जाडेसे उठे हुये भरतके शरीरके रोमांचोंको दूर करते थे ॥ ११६ ॥ भरतकी गोदमें सोनेवाली वह पट्टरानी शीतल वायुके द्वारा उत्पन्न हुई कुचोंकी कपकंपीको क्लेश दूर करनेवाले अपने प्रिय पतिकी हथेलीके स्पर्शसे दूर करती थी ॥ ११७ ॥ अशोक वृक्षकी कलीके साथ साथ कानपर लगी हुई आमकी मंजरीको वांधनेवाली वह सुभद्रा वसंत ऋतुमें चंपाके फूलोंसे गुंथी हुई अपनी चोटीसे वहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ ११८ ॥ उस वसंत ऋतुमें वह पति भरत मद्यके मदसे जिसके नेत्र कुछ लाल हो रहे हैं और जिसकी गति कुछ स्खलित हो रही है ऐसी उस पट्टरानीको मूर्तिमान मदकी शोभाके समान वहुत कुछ मानता था ॥ ११९ ॥ वह वसंतऋतु मानों संतुष्ट होकर मनोहर भ्रमरोंके झंकारोंसे तथा कोकिलाओंके शब्दोंसे उस राजा भरतकी वहुत अच्छी स्तुति करता था ॥ १२० ॥ नगाडेके समान कोइलोंके मधुर शब्दोंसे मिले हुये ऐसे भ्रमरोंके झंकार शब्दोंसे ऐसा जान पडता

मूर्च्छितैरलिझंकृतैः । व्यज्यते स्म स्मराकाडावस्कंदो डिंडिमायितैः ॥ १२१ ॥ पुष्पचूतवनोद्गंधिरुत्फुल्लकमलाकरः । पप्रथे सुरभिर्मासः सुरभीकृत दिग्मुखः ॥ १२२ ॥ हृतालिकुलझंकारः संचरन्मलयानिलः । अनगनृपतेरासीद्घोषयन्निव शासन ॥ १२३ ॥ सध्यारुणा कलामिंदोर्मेने लोको जगद्ग्रसः । करालामिव रक्ताक्ता दंष्ट्रा मदनरक्षसः ॥ १२४ ॥ उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तषट्पदे । नानुन्मत्तो जनः कोऽपि मुक्त्वानंगद्रुहो मुनीन् ॥ १२५ ॥ सायोदगाहनिर्णिक्तैरगैस्तुहिनशीतलै. । ग्रीष्मे मदनतापार्तं साऽस्याग निरवापयत् ॥ १२६ ॥ चंदनद्रवसासिक्तसुंदरागलतां

था मानों कामदेवने अकस्मात् ही छापा मारा हो ॥ १२१ ॥ फूले हुये आमके वनोंसे जो अत्यंत सुगंध युक्त है, जिसमें कमलोंके समूह फूल रहे हैं और जिसने समस्त दिशायें सुगंधित कर दी हैं ऐसा वह वसंतका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥ १२२ ॥ जिसमें अनेक भ्रमरोंके झंकारशब्द मिले हुये हैं ऐसा चारोंओर फिरता हुआ मलयाचल पर्वतका अर्थात् सुगंधित वायु ऐसा जान पडता था मानों महाराज कामदेवकी आज्ञाकी घोषणा ही सब ओर कर रहा हो ॥ १२३ ॥ उस समय संध्याकी ललाईसे कुछ कुछ लाल ऐसी चंद्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानों अत्यंत भयंकर और रक्तसे रंगी हुई ऐसी जगतको निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी डाढ ही हो ॥ १२४ ॥ जिसमें कोइल भी सब उन्मत्त हो जाती हैं और भ्रमर भी सब उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उस वसंत ऋतुमें कामदेवको नाश करनेवाले मुनियोंको छोडकर अन्य कोई मनुष्य ऐसा नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥ १२५ ॥ संध्याकालके समय स्नान करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो वरफके समान शीतल हैं ऐसे अपने सब अंगोंसे वह सुभद्रा गर्मीके दिनोंमें कामदेवके संतापसे पीडित हुये महाराज भरतके शरीरको शांत करती थी ॥ १२६ ॥ वे महाराज भरत जिसकी शरीररूपी सुंदर लतापर घिसे हुये चंदनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको दोनों हाथोंसे गाढ

प्रिया । परिरभ्य दृढं दोर्भ्यां स लेभे गात्रनिर्वृतिं ॥ १२७ ॥ मदनज्वरतापार्तां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहां । स तां निर्वापयामास स्वांगस्पर्शसुखांबुभिः ॥ १२८ ॥ उत्फुल्लमल्लिकामोदवाहिभिर्गंधवाहिभिः । स सायंप्रातिकैर्भेजे धृतिं रतिसुखाहरैः ॥ १२९ ॥ उत्फुल्लपाटलोद्गंधिमल्लिकामालभारिणीं । उपगूह्य प्रियां प्रेम्णा नैदाघीं सोऽनयन्निशां ॥ १३० ॥ सा घनस्तनितव्याजात्तर्जितेव मनोभुवा । भुजोपपीडमाश्लिष्य शिश्ये पत्या तपात्यये ॥ १३१ ॥ नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिरुन्मदकेकिनां । कदम्बामोदिनो वाताः कामिनां धृतयेऽभवन् ॥ १३२ ॥ आरूढकालिका पश्यन् बलाकामालभारिणीं । घनालीं पथिकः साश्रुर्दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥ १३३ ॥ धरा रज्जुभिरानद्धा वागुरेव प्रसारिता । रोधाय पथिकैणानां लुब्धकेनेव

आलिंगन कर अपना शरीर शांत करते थे ॥ १२७ ॥ जो कामज्वरके संतापसे दुखी है और फिर ग्रीष्म ऋतुकी तीव्र गर्मी जिसे बिल्कुल सहन नहीं हो सकती ऐसी अपनी उस प्रिया सुभद्राको वह चक्रवर्ती अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाले सुखरूपी जलसे शांत करता था ॥ १२८ ॥ फूली हुई मालतीकी सुगंधको धारण करनेवाला और रतिसमयमें सुख देनेवाला ऐसे सायंकाल और प्रातःकालके वायुके द्वारा उस चक्रवर्तीको बहुत ही संतोष होता था ॥ १२९ ॥ फूले हुये पाटलकी सुगंधयुक्त ऐसी मालतीकी मालाको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगनकर वह चक्रवर्ती बडे प्रेमसे गर्मियोंकी रातें व्यतीत करता था ॥ १३० ॥ गर्मी बीत जानेपर अर्थात् वर्षाऋतुमें बादलोंके गर्जनेके बहानेसे मानों कामदेवने उसका तिरस्कार ही किया हो ऐसी वह सुभद्रा आलिंगन करनेमें जिसकी भुजाओंमें कुछ पीडा हो रही है इसप्रकार पतिके साथ आलिंगन कर सोती थी ॥ १३१ ॥ उस वर्षाऋतुमें वर्षासे पडे हुये नये पानीके खबीले [मैले] पानीके पूर उन्मत्त हुये मयूरोंके शब्द और कदंबके फूलोंसे सुगंधित वायु ये सब कामी लोगोंको संतोष उत्पन्न करते थे ॥ १३२ ॥ जिसपर अत्यंत कालिमा छाई हुई है और क्रौंचपक्षी वा बगुलाओंकी पंक्तिरूपी माला जिसने धारण की है ऐसे बादलोंके समूहको देखते हुये पथिक [मुसाफिर] लोग आंखोंसे आंसू डालते हुये सब दिशाओंको अंधकाररूप मानते थे ॥ १३३ ॥ उस वर्षाऋतुमें जो पानीकी धारा पडती थी उससे ऐसा

हृद्भुवा ॥ १३४ ॥ कृतावधिः प्रियो नागादगाच्च जलदागमः । इत्युदीक्ष्य वनात्काचिद्धृदि शून्याऽभवत्सती ॥ १३५ ॥ विभिंदन् केतकीसूचीस्तत्पासूनाकिरन्मरुत् । पाथाना दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥ १३६ ॥ इत्यभ्यर्णतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियामरमयन्मुहुः ॥ १३७ ॥ आकृष्टनिचुलामोदं तद्वक्त्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्सगे सोऽनैपीद्वार्षिकी निशां ॥ १३८ ॥ स रेमे शरदारभे विहरन् कातया समं ॥ वनेष्वभिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगंधिपु ॥ १३९ ॥ स कांतां रमयामास हारज्योत्स्नाचिनस्तनीं । शारदीं निर्विशन् ज्योत्स्ना सौधोत्सगेषु

जान पडता था मानों कामदेव रूपी पारधीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिये डोरीके वने हुये जाल ही चारों ओर फैलाये हों ॥ १३४ जो आनेकी अवधि वा मर्यादा कहकर परदेश गया था ऐसा पति समय बीतनेपर भी नहीं आया और यह वर्षाऋतु आगई यह देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने चित्तमें अत्यंत खिन्न हो रही थी ॥ १३५ ॥ केतकीकी बालको प्रफुल्लित करता हुआ और उसकी धूल वा परागको उडाता हुआ वायु ऐसा जान पडता था मानों पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिये ही धूल उडा रहा हो ॥ १३६ ॥ इसप्रकार जब बादल अत्यंत समीप आ जाते थे ऐसे उस वर्षाकालमें वह चक्रवर्ती मनोहर महलमें बार बार अपनी उस प्रियाको प्रसन्न करता था वा उसके साथ क्रीडा करता था ॥ १३७ ॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होनेवाले वेतकी वा कमलोंकी सुगंध खींचकर अपनी ओर कर ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखके सुगंधको सेवन करता हुआ वा सूंघता हुआ वह चक्रवर्ती उस सुभद्रादेवीके स्तनतटके समीप ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥ १३८ ॥ शरदऋतुके प्रारंभमें वह चक्रवर्ती जिनमें नवीन उत्पन्न हुये सप्तछदवृक्षकी सुगंध फैल रही है ऐसे वनोंमें अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥ १३९ ॥ उस शरदऋतुमें राजभवनकी मनोहर ऊंची छतपर शरदऋतुकी चांदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती गलेमें पडे हुये हारकी कांतिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी अपनी प्रियाको प्रसन्न करता था अर्थात् उसके साथ क्रीडा

हारिषु ॥ १४० ॥ सोत्पलां कुब्जकैर्दब्धां मालां चूडांतलंबिनी । वाला पत्युरुरस्यस्य स्थिता संजिघ्रति स्म सा ॥ १४१ ॥ इति सोत्कर्षमेवास्यां प्रथयन्प्रेमनिघ्नता । स रेमे रतिसाद्भूतो भोगाङ्गैर्दशधोदितैः ॥ १४२ ॥ सरत्ना निधयो देव्यः पुर शय्यासने चमूः । नाट्य सभाजन भोज्य वाहन चेति तानि वै ॥ १४३ ॥ दशाङ्गमिति भोगांगं निर्विशन् स्वाशितभव । सुचिर पालयामास भुवमेकोष्णवारणा ॥ १४४ ॥ षोडशास्य सहस्राणि गणवद्धामराः प्रभो. । ये युक्ता धृतनिस्त्रिंशा निधिरत्नात्मरक्षणे ॥ १४५ ॥ क्षितिसार इति ख्यात. प्राकारोऽस्य गृहावृतिः । गोपुर सर्वतोभद्रं प्रोल्लसद्रत्नतोरणं ॥ १४६ ॥ नद्यावर्तो निवेशोऽस्य शिविरस्यालघीयसः ; प्रासादो वैजयताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥ १४७ ॥ दिक्स्वस्तिका सभा

करता था ॥ १४० ॥ इस पतिके वक्षःस्थलपर लेटी हुई वह पट्टरानी कमलोंसहित और मस्तकपर लटकती हुई ऐसी कंचुकियोंके द्वारा वनाई हुई भरतकी मालाको सूंघती थी ॥ १४१ ॥ इसप्रकार इस सुभद्रा देवीमें प्रेमकी परवशता अच्छीतरह प्रगट करता हुआ और रतिसुखके आधीन हुआ वह चक्रवर्ती दशप्रकारके कहे हुये भोगोंके साधनोंसे क्रीडा करता था ॥ १४२ ॥ रत्नोंके साथ नौ निधियां, पटरानियां, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वर्तन भोजन, और सवारी ये दश प्रकारके भोगोपभोगके साधन गिने जाते हैं ॥ १४३ ॥ इसप्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले ऊपर लिखे दश प्रकारके भोगोपभोगोंके साधनोंको स्वीकार करते हुये उस चक्रवर्तीने वहुत दिनतक जिसपर एक छत्र है ऐसी पृथ्वीका पालन किया, भावार्थ--समस्त पृथ्वीका वह एक ही राजा था ॥ १४४ ॥ उस महाराज भरतके सोलह हजार गणवद्ध जातिके व्यंतर देव थे जोकि हाथमें तलवार लेकर निधि, रत्न और चक्रवर्तीकी रक्षा करनेमें नियुक्त थे ॥ १४५ ॥ उस चक्रवर्तीके घरको घेरे हुये क्षितिसार नामका प्रसिद्ध कोट था और जिसपर रत्नोंके तोरण सुशोभित हो रहे हैं ऐसा सर्वतोभद्र नामका गोपुर (नगरका वडा दरवाजा) था ॥ १४६ ॥ उस चक्रवर्तीके बडे बडे डेरे खडे करनेके लिये नंद्यावर्त नामका स्थान था और जिसमें सब ऋतुओंमें सुख मिले ऐसा वैजवंत नामका राजमहल था ॥ १४७ ॥ बहुमूल्य मणियोंसे जिसके दरवाजेकी इधरउधरकी भूमि और दीवाल वनी

भूमिः परार्ध्यमणिकुट्टिमा । तस्य चंक्रमणी यष्टिः सुविविर्मणिनिर्मिता ॥ १४८ ॥ गिरिकूटकमित्यासीत्सौधं दिगवलोकने । वर्धमानकमित्यन्यत्प्रेक्षागृहमभूद्विभोः ॥ १४९ ॥ धर्मांतोऽस्य महानासीद्धारागृहसमाह्वयः । गृहकूटकमित्युच्चैर्वर्षावासः प्रभोरभूत् ॥ १५० ॥ पुष्करावर्त्यभिख्यं च हर्म्यमस्य सुधासित । कुवेरकांतमित्यासीद्भांडागार यदक्षयं ॥ १५१ ॥ वसुधारकमित्यासीत्कोष्ठागार महान्यय । जीमूतनामधेयं च मज्जनागारमूर्जित ॥ १५२ ॥ रत्नमालाऽतिरोचिष्णुर्वभूवास्यावतंसिका । देवरम्येति रम्या सा मता दूष्यकुटी पृथु. ॥ १५३ ॥ सिंहवाहिन्यभूच्छय्या सिंहैरूढा भयानकैः । सिंहासनमथोऽस्योच्चैर्गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तर ॥ १५४ ॥ चामराण्युपमामान व्यतल्यानुपमान्यभान् । विजयार्द्धकुमारेण वितीर्णानि निधीशिने ॥ १५५ ॥

हुई है ऐसी दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलते समय हाथमें लेनेके लिये मणियोंकी वनी हुई सुविधि नामकी लकडी वा छडी थी ॥ १४८ ॥ सव दिशायें देखनेकेलिये गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं महाराज भरतके नृत्य देखनेके लिये वर्द्धमान नामकी नृत्यशाला थी ॥ १४९ ॥ उसके घर्मांत (गर्मीको नाश करनेवाला) नामका वडा भारी धारागृह था (जहां गर्मीके दिनोंमें भी पानी वरसा करता था) और वर्षाऋतुमें रहनेके लिये वहुत ऊंचा गृहकूटक नामका राजभवन था ॥ १५० ॥ चूनासे सफेद हुआ ऐसा पुष्करावर्ती नामका चांदनीका महल था और कुवेरकांतनामका भाडांगार था जो कभी खाली नहीं होता था ॥ १५१ ॥ वसुधारक नामका अटूट कोठार था और वहुत सुंदर जीमूत नामका स्नानघर था ॥ १५२ ॥ उस चक्रवर्तीके अवतंसिका नामकी अत्यंत प्रकाशमान रत्नोंकी माला थी तथा वहुत वडा और मनोहर ऐसा देव-रम्य नामका कपडेका वना हुआ तंवू था ॥ १५३ ॥ जिसे भयंकर सिंह धारण कर रहे थे अर्थात् जिसके पाये रत्नमयी सिंहके आकारके थे ऐसी सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और अनुत्तर नामका वहुत ऊंचा सिंहासन था जो कि गुणोंसे भी अनुत्तर अर्थात् सवसे उत्तम था और नाम भी उसका अनुत्तर था ॥ १५४ ॥ जो विजयार्द्धकुमारने निधियोंके स्वामी महाराज भरतकेलिये समर्पण किये थे और

भास्वत्सूर्यप्रभ तस्य बभूवातपवारण। पराध्यर्यरत्ननिर्माण जितसूर्यशतप्रभं ॥ १५६ ॥ नाम्ना विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुडले। जित्वा ये वैद्युतीं दीप्तिं रुरुचाते स्फुरत्त्विषी ॥ १५७ ॥ रत्नांशुजटिलास्तस्य पादुका विषमोचिकाः। परेषा पदसस्पर्शादमुचन्त्यो विषमुल्वणं॥ १५८॥ अभेद्याख्यमभूत्तस्य तनुत्राण प्रभास्वरं। द्विषता शरनाराचैर्यदभेद्य महाहवे ॥ १५९ ॥ रथोऽजितजयो नाम्ना जयलक्ष्मीभरोद्वहः। यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासन्ननेकशः ॥ १६० ॥ चडाकाडाशनिप्रख्यज्याघाताऽऽकंपिताखिल। जितदैत्यामर तस्य वज्रकाडमभूद्धनुः ॥ १६१ ॥ अमोघपातास्तस्यासन्नमोघाख्या

संसारमें जिनकी अन्य कोई उपमा नहीं है ऐसे अनुपमान नामके चमर बहुत ही सुशोभित होते थे ॥ १५५ ॥ उस चक्रवर्तीके बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ सैकडों सूर्योंकी प्रभाको जीतनेवाला और अत्यंत दैदीप्यमान ऐसा सूर्यप्रभ नामका छत्र था ॥ १५६ ॥ महाराज भरतके जिनकी कांति बहुत प्रकाशमान है ऐसे विद्युत्प्रभ नामके बहुत सुंदर दो मणिकुंडल बिजलीकी भी कांतिको जीतकर सुशोभित हो रहे थे ॥ १५७ ॥ रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त ऐसी विषमोचिका नामकी भरतकी खडाऊं थी जो कि चक्रवर्तीके सिवाय अन्य किसीके पैरका स्पर्श होनेसे ही तीव्र विष छोडती थी ॥ १५८ ॥ उसके अभेद्य नामका कवच था जो कि बहुत दैदीप्यमान था और जो महायुद्धमें शत्रुओंके तीक्ष्ण बाणोंसे भी टूट नहीं सकता था ॥ १५९ ॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितंजय नामका रथ था जिसमें कि शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक शस्त्र और अनेक दिव्य अस्त्र भरे हुये थे ॥ १६० ॥ अकस्मात् होनेवाले प्रचंड वज्रपातके समान जिसकी डोरीके धक्केसे समस्त संसार कँप जाता था और जो दैत्य देव सबको जीतनेवाला था ऐसा वज्रकांड नामका धनुष उस चक्रवर्तीके था ॥ १६१ ॥ जिनकी मार कभी निष्फल नहीं जाती ऐसे उसके अमोघ नामके महा बाण थे उन्हीं बाणोंके द्वारा वह चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें भी प्रशंसनीय होता

महेषवः । यैरसाध्यजये चक्री कृतश्लाघो रणागणे ॥ १६२ ॥ प्रचंडा वज्रतुडाख्या शक्तिरस्यारिखडिनी । वभूव वज्रनिर्माणा श्लाघ्या वज्रिजयेऽपि या ॥ १६३ ॥ कुतः सिंहाटको नाम य. सिंहनखराकुरैः । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदंडाग्रमंडनः ॥ १६४ ॥ तस्यासिपुत्रिका दीप्रा रत्नाऽऽनद्धस्फुरत्सरुः । लोहवाहिन्यभून्नाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥ १६५ ॥ कणवोऽस्य मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विपत्कुलकुलक्ष्माध्रदलने योऽशनीयितः ॥ १६६ ॥ सौनदकाख्यमस्याभूदसिरत्नं स्फुरत्द्युति । यस्मिन्करतलारूढे दोलारूढमिवाखिल ॥ १६७ ॥ प्रादुर्भूतमुख खेट विभोर्भूतमुखांकि-

---

था ॥ १६२ ॥ महाराज भरतके शत्रुको नाश करनेवाली वज्रतुंडा नामकी प्रचंड शक्ति थी जो कि वज्रकी बनी हुई थी और जो इंद्रको जीतनेमें भी प्रशंसनीय थी ॥ १६३ ॥ इसीप्रकार सिंहाटक नामका भाला था जो कि सिंहोंके पैने नाखूनोंके साथ स्पर्द्धा करता था, अर्थात् उनके समान पैना था, जिसकी नोक बहुत तेज थी और जो माणियोंकी बनी हुई लकडीके आगेके भागपर सुशोभित हो रहा था ॥ १६४ ॥ उस चक्रवर्तीके लोहवाहिनी नामकी छुरी थी जो कि अत्यंत दैदीप्यमान थी, रत्नोंकी बनी हुई जिसकी मूठ बहुत ही चमकती थी और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पडती थी ॥ १६५ ॥ मनोवेग नामका कणव जातिका एक विशेष शस्त्र था जो कि विजय लक्ष्मीपर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके समूहरूपी कुलपर्वतोंको नाश करनेके लिये जो वज्रके समान था ॥ १६६ ॥ उस चक्रवर्तीके सौनंदक नामकी तलवार थी, जिसकी कांति अत्यंत प्रकाशमान थी और जिसे हाथमें लेते ही " अब क्या होगा " इसप्रकार समस्त संसार संदेहके झूलेमें पड जाता था ॥ १६७ ॥ उन महाराज भरतके भूतमुख नामका खेट जातिका हाथियार था, जिसपर भूतोंके मुखोंके चिन्ह थे और युद्धमें चमकता हुआ जो शस्त्र समस्त शत्रुओंको मृत्युके मुखके समान जान पडता था ॥ १६८ ॥ उस विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्ररत्न था जो कि समस्त दिशाओंमें

त । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां मृत्युमुखायितं ॥ १६८ ॥ चक्ररत्नमभूज्जिष्णोर्दिक्चक्राक्रमणक्षमं । नाम्ना सुदर्शनं दीप्रं यद्दुर्दर्शमरातिभिः ॥ १६९ ॥ प्रचण्डश्चण्डवेगाख्यो दण्डोऽभूच्चक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद्बिलकंटकशोधने ॥ १७० ॥ नाम्ना वज्रमयं दिव्यं चर्मरत्नमभूद्विभोः । तद्बल यद्बलाधानान्निस्तीर्णं जलविप्लवात् ॥ १७१ ॥ मणिश्चूडामणिर्नाम चिंतारत्नमनुत्तरं । जगच्चूडामणेरस्य चित्तं येनानुरंजितं ॥ १७२ ॥ सा चिंताजननीत्यस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्याद्रिगुहाध्वान्तविनिर्भेदैकदीपिका ॥ १७३ ॥ चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत्प्रभोः । समरेऽरिजयाद्यस्य रोदसी व्यानशे यशः ॥ १७४ ॥ बुद्धिसागरनामाऽस्य पुरोधाः पुरुधीरभूत् । धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविके ॥ १७५ ॥ सुधीर्गृहपतिर्नाम्ना कामवृष्टिरभीष्टदः । व्ययोपव्ययचिंताया नियुक्तो यो निधीशिनः ॥ १७६ ॥ रत्नं स्थपतिरप्यस्य वास्तुविद्यापदात्तधीः । नाम्ना भद्रमुखोऽने-

---

आक्रमण कर सकता था, अत्यंत दैदीप्यमान था और जो शत्रु लोगोंसे देखा भी नहीं जा सकता था ॥ १६९ ॥ तथा उस चक्रवर्तीके वहुत वडा चंडवेग नामका प्रचंड (भयंकर) दंड था कि जिसका नियोग गुफाके कांटे वगैरह शोधनेमें था ॥ १७० ॥ उस महाराजके वज्रमय नामका दिव्य चर्मरत्न था कि जिसके आश्रयसे उसकी सेना पानीके उपद्रवसे वची थी ॥ १७१ ॥ तथा इच्छानुसार फल देनेवाला चूडामणि नामका चिंतामणि रत्न था जिसने कि जगतके चूडामणि ऐसे इस भरतके उत्तम हृदयको भी प्रसन्न किया था ॥ १७२ ॥ अत्यंत दैदीप्यमान ऐसी चिंता जननी नामकी काकिणी थी जो कि विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाके अंधकारको दूर करनेके लिये एक अपूर्व दीपकके समान थी ॥ १७३ ॥ उस प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योंमें रत्न था और युद्धमें शत्रुओंके जीतनेसे जिसका यश पृथ्वी आकाश दोनों जगह भर गया था ॥ १७४ ॥ उसके बुद्धिसागर नामका पुरोहित था जिसकी बुद्धि बहुत निर्मल थी, समस्त धर्मक्रियायें जिसके आधीन थीं और जो देवोंके वश करनेमें प्रतिकाररूप था अर्थात् देवोंको वश करने वा जीतनेके उपायोंमें निपुण था ॥ १७५ ॥ कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था जो कि अत्यंत बुद्धिमान था, इच्छानुसार देनेवाला था और निधियोंके स्वामी भरतने जिसे घरका सब जमा खर्च करनेके काममें नियुक्त किया था ॥ १७६ ॥ भद्रमुख नामका शिलावट रत्न

कप्रासादघटने पटुः ॥ १७७ ॥ शैलोदग्रो महानस्य यागहस्ती क्षरन्मदः । भद्रो गिरिवरः शुभ्रो नाम्ना विजयपर्वतः ॥ १७८ ॥ पवनस्य जयन्वेगं हयोऽस्य पवनजयः । विजयार्द्धगुहोत्सग हेलया यो व्यलघयत् ॥ १७९ ॥ प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं रूढनामक । स्वभावमधुर हृद्य रसायनमिवापरं ॥ १८० ॥ रत्नान्येतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलध्यानि विद्विषा ॥ १८१ ॥ आनंदिन्योऽब्धिनिर्घोषा भेर्योऽस्य द्वादशाभवन् । द्विषड्योजनमापूर्य स्वैर्ध्वानैर्याः प्रदध्वनुः ॥ १८२ ॥ आसान्विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरे । गृहकेकिभिरुद्ग्रीवैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥ १८३ ॥ गंभीरावर्त्तनामानः शखा गंभीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्याब्धिसभवाः ॥ १८४ ॥ कटका रत्ननिर्माणा विभो-

---

था जिसकी बुद्धि मकान बनानेकी विद्याके सब विषयोंको जानती थी और जो अनेक मकानोंके बनानेमें चतुर था ॥ १७७ ॥ विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था जो कि पर्वतके समान ऊंचा था, बहुत बडा था, पूज्य था, जिसके गंडस्थलसे मदकी धारा बहती थी, जो भद्र जातिका था और जिसकी गर्जन बहुत श्रेष्ठ थी ॥ १७८ ॥ उस चक्रवर्तीके पवनंजय नामका घोडा था जो कि वायुके वेगको भी जीतता था और जिसने विजयार्द्ध पर्वतकी गुफाका द्वार सहज रीतिसे उलंघन किया था ॥ ६७९ ॥ जिसका वर्णन पहिले कर चुके हैं ऐसा सुभद्रा नामका स्त्री रत्न था जो कि स्वभावसे ही मधुर, हृदयको मनोहर और किसी दूसरे रसायनके समान आनंद देनेवाला था ॥ १८० ॥ उस चक्रवर्तीके ये ऊपर लिखे हुये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा करते थे और शत्रु लोग जिन्हें कभी उलंघन नहीं कर सकते थे अर्थात् कोई जिनका तिरस्कार नहीं कर सकता था ॥ १८१ ॥ उस चक्रीके समुद्रकी गर्जनाके समान जिनकी गंभिर आवाज है ऐसी आनंदिनी नामकी बारह भेरी थीं जो अपनी आवाजको बारह योजनतक फैला कर बजा करती थीं ॥ १८२ ॥ इनके सिवाय विजयघोष नामके बारह नगाडे थे जिनकी आवाज घरपरके मयूर ऊंची गर्दनकर आनंदके साथ सुना करते थे ॥ १८३ ॥ तथा गंभीरावर्त नामके चोवीस शंख थे, जिनकी आवाज बहुत गंभीर थी, जो

वीरागदाह्वयाः । रेजुः प्रकोष्ठमावेष्ट्य तडिद्वलयविभ्रमाः ॥ १८५ ॥ पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुत्प्रेंखोलितोत्प्रेंखदंशुकोन्मृष्टखाङ्गणाः ॥ १८६ ॥ महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूद्विभोः । कल्याणांगस्य येनास्य तृप्तिपुष्टी बलान्विते ॥ १८७ ॥ भक्षाश्चामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगंधयः । नान्ये जरयितुं शक्ता यान् गरिष्ठरसोत्कटान् ॥ १८८ ॥ स्वाद्यं चामृतकल्पाख्यं हृद्यास्वादं सुसंस्कृतं । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥ १८९ ॥ पुण्यकल्पतरोरासन्फलान्येतानि चक्रिणः । यान्यनन्योपभोग्यानि भोगांगान्यतुलानि वै ॥ १९० ॥ पुण्याद्विना कुतस्ताद्रू-

शुभ थे और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुये थे ॥ १८४ ॥ उस प्रभुके वीरांगद नामके रत्नोंके बने हुये कडे थे जो कि हाथकी कलाईको घेरे हुये सुशोभित थे और बिजलीके कडोंके समान जिनकी चमक थी ॥ १८५ ॥ वायुके झकोरेसे उडते हुये जिनके कपडोंसे आकाशरूपी आंगन भी वुहारकर साफ हो गया था ऐसी पताकायें उसके अडतालीस करोड थीं ॥ १८६ ॥ उस चक्रवर्तीके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था कि जिसके खानेसे कल्याणमय शरीर धारण करनेवाले उस चक्रवर्तीके बलके साथ साथ तृप्ति और पुष्टि होती थी ॥ १८७ ॥ जो अत्यंत रुचिकर, स्वादिष्ट, और सुगंधित हैं जो गरिष्ट (पौष्टिक) रससे भरे हुये अत्यंत ऊत्कट हैं जिन्हें अन्य कोई नहीं पचा सकता ऐसे अमृतगर्भ नामके भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ थे ॥ १८८ ॥ जिनका स्वाद बहुत मनोहर है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है अर्थात् जो तैयार किये गये हैं ऐसे अमृतकल्प नामके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान सुख देनेवाले रससे भरी हुई अमृत नामकी दिव्य पानक अर्थात् पीनेके चीजें थीं ॥ १८९ ॥ उस चक्रवर्तीके ये सब चीजें पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे जो कि अन्य किसीके भोगोपभोगमें नहीं आ सकते थे और संसारमें अद्वितीय थे ॥ १९० ॥ पुण्यके बिना इस संसारमें जो दूसरी जगह कहीं न पाई जाय ऐसी रूपसंपदा कैसे मिल सकती है, पुण्यके बिना जो किसीसे छिद भिद न सके ऐसा शरीरका बंधन भी कहांसे मिल सकता है, पुण्यके बिना अत्यंत

पसंपदनीदृशी । पुण्याद्विना कुतस्तादृगभेद्यं गात्रवधनं ॥ १९१ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृङ्निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता । पुण्याद्विना कुतस्तादृगिभाश्वादिपरिच्छदः ॥ १९२ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृगतःपुरमहोदयः । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्दशांगो भोगसंभव. ॥ १९३ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृगाज्ञा द्वीपाब्धिलंघिनी । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्जयश्रीर्जित्वरी दिशा ॥ १९४ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक्प्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद्विना कुतस्तादृगुद्योगो लंघितार्णवः ॥ १९५ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृग्प्राभव त्रिजगज्जयि । पुण्याद्विना कुतस्तादृक् नगराजजयोत्सवः ॥ १९६ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक् सत्कारस्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद्विना कुतस्तादृक् सरिद्देव्यभिषेचन ॥ १९७ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद्विना कुतस्तादृग्रत्नला-

---

उत्कृष्ट ऐसी निधि और रत्नोंकी ऋद्धियां भी कैसे मिल सकती हैं और विना पुण्यके इसप्रकारके उत्कृष्ट हाथी घोडे आदि सामग्री भी कहांसे मिल सकती है ॥ १९१–१९२ ॥ पुण्यके बिना इस प्रकारके रणवासकी परम शोभा कहां मिल सकती है, पुण्यके बिना इसतरहके दश प्रकारके भोगोपभोगोंका मिलना, कहां ? पुण्यके विना द्वीप और समुद्रोंको उलंघन करनेवाली इसप्रकारकी आज्ञा कहां ? पुण्यके बिना सव दिशाओंको जीतनेवाली इसप्रकारकी जयश्री कहां ? विना पुण्यके देवताओंसे भी नमस्कार करनेवाला इसप्रकारका प्रताप कहां ? और बिना पुण्यके समुद्रको भी उलंघन करनेवाला इसप्रकारका उद्योग भला कहां मिल सकता है ॥ १९३–१९४–१९५ ॥ विना पुण्यके तीनों जगतको जीतनेवाली इसप्रकारकी प्रभुता कहां ? विना पुण्यके हिमवान पर्वतको विजय करनेका इसप्रकारका उत्सव कहां ? विना पुण्यके हिमवान देवके द्वारा किया हुआ इसप्रकारका अधिक सत्कार कहां और विना पुण्यके गंगा सिंधु आदि नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ इसप्रकारका अभिषेक कहां ? ॥ १९६–१९७ ॥ विना पुण्यके इसप्रकारका विजयार्द्ध पर्वतका जीतना कहां ? विना पुण्यके अन्य लोगोंको दुर्लभ इसप्रकारके रत्नोंका लाभ होना कहां ? विना पुण्यके समस्त भारतवर्षसे इसप्रकारका धन मिलना कहां ? और सव दिशाओंके किनारोंको उलंघन करनेवाली इसप्रकारकी कीर्ति

भोऽन्यदुर्लभः ॥ १९८ ॥ पुण्याद्विना कुतस्तादृगायतिर्भरतेऽखिले । पुण्याद्विना कुतस्तादृक्कीर्तिर्दिक्तटलंघिनी ॥ १९९ ॥ ततः पुण्योदयाद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियं । चिनुध्वं भो बुधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदां ॥ २०० ॥ इत्याविष्कृतसंपदो विजयिनस्तस्याखिलक्ष्माभृतां । स्फीतामप्रतिशासनां प्रथयतः षट्खंडराज्यश्रियं । कालोऽनल्पतरोऽप्यगात्क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मोदयादुद्भूतैः प्रमदावहैः षट्ऋतुजैर्भोगैरतिस्वादुभिः ॥ २०१ ॥ नानारत्ननिधानदेशविलसत्संपत्तिगुर्वीमिमां साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां कृत्वाऽखिलां पालयन् । योऽभून्नैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाकस्थितां सोऽयं चक्रधरोऽभुनक् भुवममूमेकातपत्रां चिरं ॥ २०२ ॥ यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खंडभूषा मही येनासेतुहिमाद्रि रक्षितमिदं क्षेत्रं कृतारिक्षयं । यस्याविर्निधिरत्नसंप-

---

कहां ? ॥ १९८-१९९ ॥ इसलिये चक्रवर्तीकी समस्त लक्ष्मीको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर भो पंडित जनो ! जो पुण्य सुख और संपदाओंको देनेवाला दुकानके समान है ऐसे पुण्यको इकट्ठा करो, संचय करो ॥ २०० ॥ इस प्रकार जिसने अपनी संपत्ति प्रगट की है, समस्त राजा लोग जिसने जीत लिये हैं और अत्यंत उत्कृष्ट जिसपर किसी दूसरेकी आज्ञा चल नहीं सकती ऐसी छहों खंडकी राज्यलक्ष्मी जिसने फैलाई है ऐसे उस भरतका बहुत बडा समय भी पूर्व जन्ममें किये हुये पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुये सबतरहका आनंद देनेवाले और अत्यंत स्वादिष्ट ऐसे छहों ऋतुओंमें उत्पन्न हुये भोगोपभोगोंके द्वारा एक क्षणके समान व्यतीत हो गया था ॥ २०१ ॥ अनेक रत्न, निधियां, और देश आदिके द्वारा प्रगट हुई संपत्तिसे जो अत्यंत महत्वको प्राप्त हुई है ऐसी समस्त साम्राज्य लक्ष्मीको एक अपने ही साथ उपभोग करने योग्य बनाकर और उसका पालन करता हुआ वह भरत गोदमें बैठी हुई एक कुलस्त्रीके समान उस लक्ष्मीका सेवन करता हुआ कभी व्याकुल नहीं हुआ था. सो वह चक्रवर्ती जिसपर एकही छत्र लगा है ऐसी इस पृथ्वीका बहुतदिनतक उपभोग करता रहा था ॥ २०२ ॥ जिसके नामसे छह खंडोंसे विभूषित यह पृथ्वी भरतभूमिके नामसे प्रसिद्ध हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान पर्वततक समस्त क्षेत्रमें शत्रुओंका नाश कर उसका पालन किया, और जिसमें निधि

दुचिता लक्ष्मीरुर:शायिनी स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिभुजामग्रेसरोऽभूत्प्रभुः ॥ २०३ ॥ यः स्तुत्यो जगता त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्ध्ये- यो योगिजनस्य यश्च न तरां ध्याता स्वयं कस्यचित् । यो नंतॄनपि नेतुमुन्नतिमलं नंतव्यपक्षे स्थितः स श्रीमान्जयताज्जगत्त्रयगुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥ २०४ ॥ य नत्वा पुनरानमंति न परं स्तुत्वा च यं नापर भव्याः सँस्तुवते श्रयति न पर यं संश्रिताः श्रेयसे । यं सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरं स श्रीमान्वृषभो जिनो भवभयान्नस्त्रायता तीर्थकृत् ॥ २०५ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतेश्वराभ्युदयवर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ।

रत्न आदि संपदायें मुख्य हैं ऐसी योग्य लक्ष्मी जिसके वक्षःस्थलपर सोती थी, वह प्रसिद्ध श्रीमान् प्रभु भरतेश्वर निधियोंके स्वामी चक्रवर्तियोंमें मुख्य और प्रथम हुआ था ॥ २०३ ॥ तीनों जगतके लोग जिसकी स्तुति करते हैं परंतु तो भी जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करता, योगी लोग भी जिसका ध्यान करते हैं परंतु तो भी जो स्वयं किसीका ध्यान नहीं करता, जो नमस्कार करनेवालों- को भी उच्चस्थानपर पहुंचा देनेको समर्थ है परंतु जो स्वयं किसीको नमस्कार नहीं करता अर्थात् जो स्वयं सबके द्वारा नमस्कार करने योग्य ही बना रहता है वह तीनों जगतका गुरु, अत्यंत पवित्र श्रीमान् वृषभदेव भगवान सदा जयशील हो ॥ २०४ ॥ भव्य लोग जिनको नमस्कारकर फिर अन्य किसीको नमस्कार नहीं करते हैं, जिनकी स्तुतिकर फिर अन्य किसीकी स्तुति नहीं करते हैं, जि- नका आश्रय लेकर कल्याणके लिये फिर अन्य किसीका आश्रय नहीं लेते हैं और बुद्धिमान लोग

सबने जिनका आदर किया है ऐसे जिनका आदर सत्कारकर फिर अन्य किसीका आदर सत्कार नहीं करते ऐसे वे प्रसिद्ध श्रीमान् वृषभदेव जिनेंद्र तीर्थंकर संसारके भयसे हम लोगोंकी रक्षा करें ॥ २०५ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे भरतेश्वरके अभ्युदयका वर्णन करनेवाला यह सेतीसवा पर्व समाप्त हुआ ।



अथाष्टत्रिंशत्तमं पर्व।

जयत्यखिलवाङ्मार्गगामिन्यः सूक्तयोऽर्हता । धूतांधतमसा दीप्रा यास्त्विषोऽशुमतामिव ॥ १ ॥ स जीयाद्वृषभो मोहविषसुप्तमिदं जगत् । पटविद्येव यद्विद्या सद्यः समुदातिष्ठपत् ॥ २ ॥ त नत्वा परमं ज्योतिर्वृषभ वीरमन्वतः । द्विजन्मनामथोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥ ३ ॥ भरतो भारत वर्षं निर्जित्य सह पार्थिवैः । षष्ठया वर्षसहस्रैस्तु दिशा निववृते जयात् ॥ ४ ॥ कृतकृत्यस्य तस्यातश्चिंतेयमुदपद्यत । परार्थे सपदास्माकी सोपयोगा कथ भवेत् ॥ ५ ॥ महामहमह कृत्वा जिनेंद्रस्य महोदय । प्रीणयामि जगद्विश्व विष्वक् विश्राणयन् धन ॥ ६ ॥ नानगारा वसून्यस्मत्प्रतिगृह्णति निः

अथ अडतीसवां पर्व.

अथानंतर—जो अरहंतदेवकी वाणी समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली है और अज्ञानरूपी गाढ अंधकारको नाश करनेवाली सूर्यकी किरणोंके समान दैदीप्यमान है वह वाणी सदा जयशील हो ॥ १ ॥ गारुडी विद्याके समान जिसकी विद्याने मोहरूपी विषसे सोते हुये इस समस्त संसारको बहुत शीघ्र जगा दिया वह श्रीवृषभदेव स्वामी सदा विजयी रहे ॥ २ ॥ गौतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक मैं उन परम ज्योतिस्वरूप वृषभदेवको नमस्कारकर तथा वर्द्धमान स्वामीको नमस्कारकर अनुक्रमसे द्विजोंकी उत्पत्ति कहता हूं तू सुन ॥ ३ ॥ महाराज भरत अनेक राजाओंके साथ साथ साठ हजार वर्षतक इस भारतवर्षको जीतकर फिर दिग्विजयसे लौटे ॥ ४ ॥ जब वे और और सब काम कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिंता उत्पन्न हुई कि यह मेरा धन दूसरेके उपकार करनेमें किस तरह काम आवे ? ॥ ५ ॥ मैं श्रीजिनेंद्रदेवका महोदय (अत्यंत प्रभावशाली) महामह नामका यज्ञ करके इस समस्त संसारको अपना समस्त धन दान देकर संतुष्ट करूं ॥ ६ ॥ जो मुनि हैं वे तो निस्पृह हैं इसलिये हम लोगोंसे धन लेते नहीं है परंतु गृहस्थ ऐसे

स्पृहा: । सागारः कतमः पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥ ७ ॥ अणुव्रतधरा धीरा धौरेया गृहमेधिनां । तर्पणीया हि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनैः ॥ ८ ॥ इति निश्चित्य राजेंद्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । परीचिक्षिषुराह्वास्त तदा सर्वान्महभुजः ॥ ९ ॥ सदाचारैर्निजैरिष्टैरनुजीविभिरन्विताः । अद्यास्मदुत्सवे यूयमायातेति पृथक् पृथक् ॥ १० ॥ हरितैरंकुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमगण । सम्राडचीकरत्तेषा परीक्षायै स्ववेश्मनि ॥ ११ ॥ तेष्वव्रता विना सगात्प्राविक्षन्नृपमंदिर । तानेकतः समुत्सार्य शेषानाह्वययत्प्रभुः ॥ १२ ॥ ते तु स्वव्रतसिध्यर्थमीहमाना महान्वया. । नैषुः प्रवेशन तावद्यावदार्द्रांकुराः पथि ॥ १३ ॥ सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपांगण । निश्चक्रमुः कृपालुत्वात्केचित्सावद्यभीरवः ॥ १४ ॥ कृतानुबंधना भूयश्चक्रिणः किल

कितने हैं जो धनधान्य आदि संपदा देकर पूजा करने योग्य समझे जाने चाहिये ॥ ७ ॥ जो अणुव्रत धारण करनेवाले हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं ऐसे धीरवीर पुरुष ही इच्छानुसार धन, सवारी आदि देकर हम लोगोंको संतुष्ट करना चाहिये ॥ ८ ॥ इस प्रकार निश्चयकर सबकी परीक्षा करनेकी इच्छा करनेवाले महाराज भरतने उससमय जो आदर सत्कारके योग्य थे उनका आदर सत्कार करनेके लिये समस्त राजाओंको बुलाया ॥ ९ ॥ और सबसे कहला भेजा कि तुम लोग अपने अपने सदाचारी इष्टमित्र, और नौकर चाकर आदिके साथ साथ आज हमारे उत्सवमें अलग अलग आओ ॥ १० ॥ इधर महाराज भरतने उन सबकी परीक्षा करनेके लिये अपने घरमें आंगनको हरे अंकूरे, पुष्प, और फलोंसे खूब भर दिया ॥ ११ ॥ जो लोग अव्रती थे वे विना कुछ सोच विचार किये उन्हीं हरे अंकूरोंपर होकर राजाके महलमें घुस गये परंतु भरतने उन सबको एक ओर निकालकर जो लोग नहीं आये थे बाहर खडे थे उन्हें बुलाया ॥ १२ ॥ परंतु बडे बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये और अपने व्रतोंकी सिद्धिके पूर्ण रूपसे चेष्टा करते हुये उन लोगोंने जबतक मार्गमें हरे अंकूरे हैं तबतक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥ १३ ॥ पापोंसे डरनेवाले कितने दयालु लोग जो राजाका आंगन हरे धान्योंसे भरा हुआ था उसे विना उलंघन किये ही वापिस लौटने लगे ॥ १४ ॥ तब

तऽतिकं । प्रासुकेन पथाऽन्येन भेजुः क्रान्त्वा नृपांगणं ॥ १५ ॥ प्राक्केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः । केन ब्रूतेति पृष्टास्ते प्रत्यभाषंत चक्रिण ॥ १६ ॥ प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणं । न कल्पतेऽद्य तज्जाना जतूना नोऽनभिद्रुहा ॥ १७ ॥ सत्येवानतशो जीवा हरितेष्वकुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः ॥ १८ ॥ तस्मान्नास्माभिराक्रातमद्यत्वे त्वद्गृहागण । कृतोपहारमार्द्रार्द्रैः फलपुष्पाकुरादिभिः ॥ १९ ॥ इति तद्वचनात्सर्वान् सोऽभिनंद्य दृढव्रतान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् दानमानादिसत्कृतैः ॥ २० ॥ तेषा कृतानि चिन्हानि सूत्रैः पद्माह्वयान्निधेः ।

फिर अत्यंत आग्रह करनेपर दूसरे प्रासुक मार्गसे महाराजके आंगनको उलंघनकर वे लोग चक्रवर्तीके समीप पहुंचे ॥ १५ ॥ तब चक्रवर्तीने उन लोगोंसे पूछा कि आप लोग किस कारणसे पहिले नहीं आये थे और फिर किस कारणसे आये ? इसप्रकार पूछनेपर वे लोग चक्रवर्तीसे कहने लगे ॥ १६ ॥ कि आज पर्वके दिन नये कोमल पत्ते और पुष्पादिकोंका घात नहीं कर सकते और अपना कुछ विगाड न करनेवाले ऐसे उन पत्ते और फूलोंमें उत्पन्न हुये जीवोंका घात भी नहीं कर सकते ॥ १७ ॥ हे देव ! " अंकूरे आदि हरितकायमें निगोदराशिके अनंत जीव रहते है " इसप्रकार सर्वज्ञदेवके वचन हमने सुने हैं ॥ १८ ॥ इसलिये अत्यंत गीले ऐसे फल, पुष्प और अंकूरे आदिसे सुशोभित ऐसा आपके घरका आंगन आज हम लोगोंने नहीं खूंदा अर्थात् उसपर होकर हम लोग नहीं गये ॥ १९ ॥ इसप्रकार उनके बचन सुनकर ऐश्वर्यशाली महाराज भरतने व्रतोंमें दृढ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा की और दान मान आदि आदर सत्कारके द्वारा उनकी पूजा की ॥ २० ॥ पद्मनामकी निधिसे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत वा जनेऊ) नामका सूत्र लेकर उससे एकसे लेकर ग्यारहतक अलग अलग उनके चिन्ह किये ॥ २१ ॥ ग्यारह प्रतिमाओंके भेदसे जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं अर्थात् जिसके पहिली प्रतिमा थी उसने एक यज्ञोपवीत धारण किया, जिसके दूसरी प्रतिमा थी उसने दो, तीसरी प्रतिमावालेने तीन, चौथीवालेने चार इसीक्रमसे जिन्होंने ग्यारहतक यज्ञोपवीत

उपात्तैर्ब्रह्मसूत्राद्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥ २१ ॥ गुणभूमिकृताद्भेदात्क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कारः क्रियते स्मैषामव्रताश्च बहिः कृताः ॥ २२ ॥ अथ ते कृतसन्मानाश्चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं लोकश्चैनानपूजयत् ॥ २३ ॥ इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥ २४ ॥ कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनं । तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥ २५ ॥ प्रोक्ता पूजाऽर्हतां नित्या सा चतुर्धा सदार्चनं । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥ २६ ॥ तत्र नित्यमहो नाम शश्वत् जिनगृहं प्रति । स्वगृहान्नीयमानाऽर्चा गंधपुष्पाक्षतादिका ॥ २७ ॥ चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनं ॥ २८ ॥ या च पूजा मुनीं-

---

धारण किये हैं ऐसे उन सब लोगोंका चक्रवर्तीने आदर सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन सबको बाहर निकाल दिया ॥ २२ ॥ अथानंतर—चक्रवर्तीने भी जिनका आदर सत्कार किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने अपने व्रतोंमें और भी दृढ हो गये तथा लोग भी इनकी पूजा वा आदर सत्कार करने लगे ॥ २३ ॥ महाराज भरतने उपासकाध्ययन नामके सातवें अंगसे उन व्रती लोगोंके लिये इज्या [पूजा], वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तपका उपदेश दिया ॥ २४ ॥ अरहंत देवकी पूजा करना, वार्ता, दत्ति, आदि इन व्रती लोगोंका कुलधर्म है यही समझकर उस समय महाराज भरतने अनुक्रमसे इन सबका वर्णन किया ॥ २५ ॥ वह कहने लगा कि भगवान अरहंतदेवकी पूजा नित्य करनी चाहिये, वह पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन अर्थात् नित्यमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह और अष्टान्हिकमह ॥ २६ ॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गंध पुष्प अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करना नित्यमह कहलाता है ॥ २७ ॥ अथवा जो भक्तिपूर्वक जिनप्रतिमा अथवा जिनालयका बनवाना और सदा पूजा होनेके लिये दानपत्रकर गांव, खेत आदिका दान देना है वह भी नित्यमह है ॥ २८ ॥ तथा अपनी शक्तिके अनुसार मुनीश्वरोंकी पूजाकर जो नित्य उन्हें दान देना है वह भी नित्यमह समझना

द्राणां नित्यदानानुषंगिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित. ॥ २९ ॥ महामुकुटवद्धैश्च क्रियमाणो महामह । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥ ३० ॥ दत्वा किमिच्छकं दान सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽय जगदाशाप्रपूरणः ॥ ३१ ॥ अष्टाह्निको मह ,सार्वजनिको रूढ एव सः । महानैंद्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो मह' ॥ ३२ ॥ वलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसंध्यासेवया सम । उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशं ॥ ३३ ॥ एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेशिना । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्या वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३४ ॥ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता दत्तिर्दया पात्रसमान्वये ॥ ३५ ॥ सानुकंपमनुग्राह्ये प्राणिवृंदेऽभयप्रदा । त्रिशुद्ध्यनुगता सेयं दयादत्तिर्मता बुधै. ॥ ३६ ॥

चाहिये ॥ २९ ॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुखयज्ञ कहते हैं इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥ ३० ॥ चक्रवर्ती किमिच्छक दान देकर अर्थात् तुमको क्या चाहिये इसप्रकार पूछ पूछकर मांगनेवालोंकी पूर्ण इच्छानुसार दान देकर जो महायज्ञ करता है जिसमें संसारके सब लोगोंकी सब आशायें पूरी हो जाती हैं उसे कल्पवृक्षयज्ञ कहते हैं ॥ ३१ ॥ चौथा आष्टान्हिक यज्ञ है यह यज्ञ जगतमें प्रसिद्ध है और रूढ है अर्थात् अष्टान्हिकाके दिनोंमें जो विधि पूर्वक पूजा की जाती है उसे आष्टान्हिक यज्ञ कहते हैं इनके सिवाय एक ऐंद्रध्वज महान् यज्ञ है जिसे इंद्र किया करता है ॥ ३२ ॥ इनके सिवाय बलि [भात आदि नैवेद्य चढाना] अभिषेक, तीनों समय सदा पूजन करना, तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब ऊपरके भेदोंमें ही शामिल हो जाते हैं ॥ ३३ ॥ इसप्रकार विधि पूर्वक जो श्रीजिनेंद्रदेवकी महा पूजा करना है उसे आचार्य लोग इज्या कहते हैं और श्रावकके छह कर्मोंके प्रथम कर्म वा मुख्य कर्तव्य समझते हैं ॥ ३४ ॥ शुद्ध आचरण पूर्वक खेती व्यापार आदि करना वार्ता [आजीविकाके उपाय] कहलाती है, तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समानदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति वा दान कहलाते हैं ॥ ३५ ॥ अनुग्रह करने योग्य ऐसे दीन प्राणियोंपर कृपापूर्वक मन, वचन, कायसे उनके

महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरं । प्रदानमशनादीना पात्रदानं तदिष्यते ॥ ३७ ॥ समानायात्मनाऽन्यस्मै क्रियामंत्रव्रतादिभिः । निस्तारकोत्तमायेह भूहेमाद्यतिसर्जन ॥ ३८ ॥ समानदत्तिरेषा स्यात्पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्त्या श्रद्धयाऽन्विता ॥ ३९ ॥ आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनये यदशेषतः । समं समयवित्ताभ्या स्ववर्गस्यातिसर्जन ॥ ४० ॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात्स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणं ॥ ४१ ॥ विशुद्धा वृत्तिरेषैषा पट्तयीष्टा द्विजन्मना । योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ॥ ४२ ॥ तप. श्रुतं च जातिश्च त्रय ब्राह्मणकारणं । तपःश्रुताभ्या यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥ ४३ ॥ अपापोपहता वृत्तिः स्यादेषा जातिरुत्तमा ॥ दत्तीज्याधीतिमुख्यत्वाद्व्रतशुध्या

भय दूर करनेको पंडित लोग दयादत्ति कहते हैं ॥ ३६ ॥ उत्तम तप करनेवाले महातपस्वी मुनियोंके लिये उनका सत्कार पूर्वक पडगाहन पादप्रक्षालन पूजा आदिकर जो उनके लिये आहार, औषध, पुस्तक, पीछी, कमंडलु आदि देना है उसे पात्रदान कहते हैं ॥ ३७ ॥ गर्भाधानादि क्रिया, मंत्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाला है ऐसे अन्य किसी गृहस्थके लिये जो भूमि सुवर्ण आदि देना है उसे समानदत्ति कहते हैं अथवा मध्यमपात्र अथवा व्रती सत्पात्र श्रावकके लिये समान बुद्धिसे श्रद्धापूर्वक दान देनेको भी समानदत्ति कहते हैं ॥ ३८--३९ ॥ अपना वंश स्थिर रखनेके लिये अपने पुत्रको समस्त धन और धर्मके साथ अपना कुटुंब समर्पण करनेको सकलदत्ति कहते हैं, श्रुतज्ञानकी भावना करना अर्थात् शास्त्रोंका पढना पढाना चिंतवन करना आदि स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम कहलाता है ॥ ४०--४१ ॥ यह ऊपर लिखी हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति वा शुद्ध आचरण इन द्विज लोगोंके करने योग्य है, जो मूर्ख इनका उलंघन करता है वह केवल नामसे द्विज है गुणसे द्विज नहीं है ॥ ४२ ॥ ब्राह्मणपनेके तीन कारण हैं तप, शास्त्रज्ञान और जाति, जो तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है उसे केवल जातिसे ब्राह्मण समझना चाहिये ॥ ४३ ॥ इन द्विज लोगोंकी जीविका

सुसँस्कृता ॥ ४४ ॥ मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा । वृत्तिभेदाहिताद्भेदाचातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥ ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिज्योऽर्थार्जनान्न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात् ॥ ४६ ॥ तपः श्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते । असंस्कृतस्तु यस्ताभ्या जातिमात्रेण स द्विजः ॥ ४७ ॥ द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवल नामधारकः ॥ ४८ ॥ तदेषा जातिसंस्कारं दृढयन्निति सोऽधिराट् । संप्रोवाच द्विजन्मेभ्यः क्रियाभेदानशेषतः ॥ ४९ ॥ ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽम्नाताः श्रावकाध्यायसंग्रहे । सद्दृष्टिभिरनुष्ठेया महोदर्काः शुभावहाः ॥ ५० ॥ गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तास्त्रिधैव बुधैर्मताः ॥ ५१ ॥ आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशत् ज्ञेया गर्भा-

---

पापरहित है और इसलिये ही इनकी जाति उत्तम है तथा दान, पूजन, पठन पाठन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी अच्छे संस्कारोंको प्राप्त हुई है ॥ ४४ ॥ यद्यपि जातिनाम कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि जीविकाके भेदसे वह भिन्न भिन्न चार प्रकारकी हो गई है ॥ ४५ ॥ व्रतोंके संस्कारोंसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक द्रव्य कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र कहलाते हैं ॥ ४६ ॥ इसलिये द्विज जातिका संस्कार तप और शास्त्रज्ञानसे ही कहा गया है, तप और श्रुतज्ञानसे जिसका संस्कार नहीं हुआ है उसे केवल जातिसे द्विज समझना चाहिये ॥ ४७ ॥ एकवार गर्भसे और दूसरीवार क्रियाओंसे इसप्रकार दो जन्मोंसे जो उत्पन्न हो उसे द्विज कहते हैं, जो क्रिया तथा मंत्रसे रहित है वह केवल नाम धारण करनेवाला द्विज है वास्तविक नहीं ॥ ४८ ॥ इसलिये इन द्विजोंकी जातिके संस्कारोंको दृढ करते हुये महाराज भरत चक्रवर्तीने उन द्विजोंके लिये सब क्रियाओंके भेद कहे ॥ ४९ ॥ वे कहने लगे कि श्रावकाध्यायसंग्रहमें वे क्रियायें तीन प्रकारकी कहीं हैं, सम्यग्दृष्टी पुरुषोंको वे क्रियायें अवश्य करनी चाहिये क्योंकि वे सब क्रियायें उत्तम फल देनेवाली हैं और शुभ करनेवाली हैं ॥ ५० ॥ गर्भान्वयक्रिया, दीक्षान्वयक्रिया, और कर्त्रन्वयक्रिया इसप्रकार

न्वयक्रियाः । चत्वारिंशदथाष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥ ५२ ॥ कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुच्चिताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनूद्यते ॥ ५३ ॥ अंगाना सप्तमादंगाद्दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुन्नेष्ये प्राप्तं ज्ञानलव मया ॥ ५४ ॥ आधान प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्याननिपद्याः प्राशन तथा ॥ ५५ ॥ व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः । उपनीतिर्व्रत चर्या व्रतावतरण तथा ॥ ५६ ॥ विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशांतिश्च गृहत्यागो दीक्षाद्य जिनरूपता ॥ ५७ ॥ मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृत्वस्य भावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥ ५८ ॥ स्वगुरुस्थानसंक्रांतिर्निस्संगत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसंप्राप्तिर्योगनिर्वाणसाधन ॥ ५९ ॥ इंद्रोपपादाभिषेकौ विधिदान सुखोदयः । इंद्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥ ६० ॥ मदरेंद्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलभनं । यौवराज्य स्वराज्य च चक्रलाभो दिशाजयः ॥ ६१॥

विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियायें मानी हैं ॥ ५१ ॥ गर्भान्वयक्रिया आधान आदि (गर्भाधानादि) तिरेपन जानना तथा दीक्षान्वयक्रिया अडतालीस समझना और उन क्रियाओंको जाननेवाले गणधर देवोंने कर्त्रन्वयक्रिया सात कही हैं, आगे उन सब क्रियाओंके नाम अनुक्रमसे कहते हैं ॥ ५२--५३ ॥ महासागरसे भी अत्यंत अपार ऐसा जो श्रुतज्ञानके बारह अंगोंमें उपासकाध्ययन नामका सातवां अंग है उससे जो कुछ मुझे ज्ञानकी एक बूंद प्राप्त हुई है वह मैं नीचेके आठ श्लोकोंसे प्रगट करता हूं भावार्थ--आठ श्लोकोंमें गर्भान्वय क्रियाओंके नाम कहता हूं ॥ ५४ ॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ वहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपिसंख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ व्रतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशांति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृतभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरुस्थानसंक्राति, ३० निस्संगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इंद्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इंद्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्ट-

चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रांतिर्योगसम्महः । आर्हंत्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥ ६२ ॥ त्रयः पंचाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भाधानादिनिर्वाणपर्यंताः परमागमे ॥ ६३ ॥ अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञौ दृढचर्योपयोगिता ॥ ६४ ॥ इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमायुक्तास्ताः स्युर्दीक्षान्वयाक्रियाः ॥ ६५ ॥ तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभि । फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥ ६६ ॥ सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेंद्रता । साम्राज्यं परमार्हंत्यं परं निर्वाणमित्यपि ॥ ६७ ॥ स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतास्वादात्प्रतिलभ्यानि देहिनां ॥ ६८ ॥ क्रियाकल्पोऽयमाम्नातो बहुभेदो महर्षिभि, । संक्षेपतस्तु तल्लक्ष्म वक्ष्ये संचक्ष्य

जन्मता, ४० मंदरेंद्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलंभन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रांति, ४९ योगसन्मह, ५० आर्हंत्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति। परमागममें गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत ये तिरेपन गर्भान्वय क्रियायें मानी गई हैं ॥ ५५–६३ ॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या, और ८ उपयोगिता इन आठ क्रियाओंके साथ साथ चौदहवीं उपनीति क्रियासे लेकर तिरेपनवीं क्रियापर्यंत चालीस क्रियायें अर्थात् चालीस ये और आठ अवतार आदि इसप्रकार अडतालीस दीक्षान्वय क्रियायें कहलाती हैं ॥ ६४–६५ ॥ जो पुण्यवान वा पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं और जो श्रेष्ठ मोक्षमार्गके आराधन करनेके फल रूपसे प्रवृत्त होती हैं वा की जाती हैं उन्हें कर्त्रन्वय क्रियायें कहते हैं ॥ ६६ ॥ सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेंद्रता, साम्राज्य, परमार्हंत्य और परनिर्वाण ये सात तीनों लोकोंमें परमस्थान माने जाते हैं और जीवोंको अरहंतदेवकी वाणीरूपी अमृतके आस्वादन करनेसे अर्थात् जिनवाणीका अभ्यास करनेसे प्राप्त होते हैं, [ये ही सात कर्त्रन्वय क्रियायें हैं] ॥ ६७–६८ ॥ इन सब क्रियाओंका समूह महर्षियोंने अनेक

विस्तरं ॥ ६९ ॥ आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मंत्रपूर्वकः। पत्नीमृतुमतीं स्नातां पुरस्कृत्यार्हदिज्यया ॥ ७० ॥ तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितं जिनार्चामभितः स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभिः ॥ ७१ ॥ त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृतौ। ये हुतास्ते प्रणेतव्याः सिद्धार्चावेद्युपाश्रयाः ॥ ७२ ॥ तेष्वर्हदिज्याशेषांशैराहुतिर्मंत्रपूर्विका। विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥ ७३ ॥ तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यतेऽन्यत्र पर्वणि। सप्तधा पीठिका-जातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥ ७४ ॥ विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः। अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥ ७५ ॥ गर्भाधानक्रि-

---

तरहसे निरूपण किया है परंतु हम यहांपर उनका विस्तार छोडकर संक्षेपसे उनका लक्षण कहते हैं ॥ ६९ ॥ जो प्रथम रजस्वला हुई ऐसी स्नान की हुई स्त्रीको मुख्यकर गर्भाधानके पहिले भगवान अरहंत देवकी पूजाके द्वारा मंत्र पूर्वक जो संस्कार किया जाता है उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियामें जो पूजा की जाती है उसमें जिन प्रतिमाके दाईं ओर तीन चक्र, वाईं ओर तीन छत्र और सामने तीन प्रकारकी पुण्याग्नि स्थापन करे ॥ ७१ ॥ सिद्धप्रतिमाकी जो वेदी है उसके समीप ही तीन प्रकारकी अग्नि उत्पन्न करनी चाहिये, एक अरहंत भगवानके निर्वाण समयकी, दूसरी गणधर देवोंके निर्वाण समयकी और तीसरी इन दोनोंके सिवाय शेष केवलियोंके निर्वाण समयकी ॥ ७२ ॥ प्रथम ही श्रीअरहंतदेवकी पूजा करचुकनेपर जो पवित्र शेषांश द्रव्य वचता है उससे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मंत्र पूर्वक उन उत्पन्न की हुई तीनों अग्नियोंमें आहूति देनी चाहिये अर्थात् होम करना चाहिये ॥ ७३ ॥ उन आहूति देनेके जो मंत्र हैं वे सब शास्त्रानुसार आगेके पर्वमें कहेंगे, पीठिका मंत्र जातिमंत्र आदिके भेदसे वे सब सात प्रकारके हैं ॥ ७४ ॥ श्री-जिनेंद्रदेवने इन्हीं मंत्रोंका प्रयोग सब क्रियाओंमें वतलाया है इसलिये उन क्रिया और मंत्रोंको जाननेवाले श्रावकोंको प्रमाद छोडकर बडी सावधानीसे उन मंत्रोका प्रयोग करना चाहिये ॥ ७५ ॥ इसप्रकार कही हुई इस गर्भाधान क्रियाको प्रथम ही शास्त्रानुसार करके फिर दंपती अर्थात् स्त्री

यामेनां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सतानार्थं विना रागाद्दंपतिभ्या विधीयतां ॥ ७६ ॥ इति गर्भाधानं ॥ गर्भाधानात्परं मासे तृतीये सप्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतैर्याऽनुष्ठेया द्विजन्मभिः ॥ ७७ ॥ तत्रापि पूर्ववन्मत्रपूर्वा पूजा जिनोगिनां । द्वारितोरणविन्यासः पूर्णकुभौ च संमतौ ॥ ७८ ॥ तदादि प्रत्यह भेरीशब्दो घटास्वनान्वितः । यथाविभवमेवैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिभिः ॥ ७९ ॥ इति प्रीतिः ॥ आधानात्पंचमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकव्रतैः ॥ ८० ॥ तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽर्हद्बिंबसन्निधौ । कार्यो मत्रविधानज्ञै. माक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥ ८१ ॥ धृतिस्तु सप्तमे मासि कार्या तद्वत्कृतादरैः । गृहमेधिभिरव्यग्रमनोभिर्गर्भवृद्धये ॥ ८२ ॥ नवमे मास्यतोऽभ्यर्णे मोदो नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवाहतैः

पुरुष दोनोंको विषयानुरागके विना केवल संतानके लिये समागम करना चाहिये ॥ ७६ ॥ इसप्रकार यह गर्भाधान विधि समाप्त हुई । गर्भाधानके तीसरे महीनेमें प्रीति नामकी क्रिया की जाती है जिसे संतुष्ट हुये द्विज लोग करते हैं ॥ ७७ ॥ इस क्रियाके करनेमें भी पहिलेके समान मंत्रपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है, दरवाजेपर तोरण लगाया जाता है और दो पूर्णकुंभ स्थापन किये जाते हैं ॥ ७८ ॥ उस दिनसे लेकर इन द्विज गृहस्थोंको अपनी विभूतिके अनुसार प्रतिदिन घंटा और नगाडे बजवाने चाहिये ॥ ७९ ॥ [इसका नाम प्रीति क्रिया है] गर्भाधानसे पांचवें महीनेमें सुप्रीति क्रिया की जाती है यह क्रिया भी अत्यंत संतुष्ट हुये और श्रावकके उत्तमव्रत धारण करनेवाले गृहस्थोंके द्वारा की जाती है ८० ॥ इस क्रियामें भी मंत्र और क्रियाओंकी विधिको जाननेवाले श्रावकोंके द्वारा अग्नि और देवताओंको साक्षी कर.के भगवान अरहंत देवकी प्रतिमाके समीप ही पहिले कही हुई सव विधि करनी चाहिये ॥ ८१ ॥ (इसका नाम सुप्रीति क्रिया है) धार्मिक क्रियाओंमें जिनका आदर है और जिनका चित्त चंचल नहीं है निश्चल है ऐसे गृहस्थोंके द्वारा गर्भकी वृद्धि होनेके लिये प्रीति सुप्रीतिके ही समान सातवें महीनेमें धृति क्रिया की जाती है ॥ ८२ ॥ (यह चौथी धृति क्रिया है) गर्भसे नौवें महीनेमें मोद नामकी क्रियाकी विधि की जाती है, यह क्रिया भी

कार्यो गर्भपुष्ट्यै द्विजोत्तमैः ॥ ८३ ॥ तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो मागल्यं च प्रसाधनं । रक्षासूत्रविधानं च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥ ८४ ॥ इति मोदः ॥ प्रियोद्भवः प्रसूताया जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥ ८५ ॥ अवांतरविशेषोऽत्र क्रियामंत्रादिलक्षणः । भूयान्समस्त्यसौ ज्ञेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥ ८६ ॥ द्वादशाहात्परं नामकर्म जन्मदिनान्मतं । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥ ८७ ॥ यथाविभवमत्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनं । शस्तं च नामधेयं तत्स्थाप्यमन्वयवृद्धिकृत् ॥ ८८ ॥ अष्टोत्तरसहस्राद्वा जिननामकदंबकात् । घटपत्रविधानेन ग्राह्यमन्यतमं

धार्मिक क्रियाओंमें आदर करनेवाले उत्तम द्विजोंके द्वारा पहिली क्रियाओंके समान ही गर्भकी पुष्टि होनेके लिये की जाती है ॥ ८३ ॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबंध अर्थात् मंत्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिये, मंगलाचार करना चाहिये, गर्भिणीको आभूषण पहिनाना चाहिये और उसकी रक्षाके लिये कंकणसूत्रके बांधनेकी विधि करनी चाहिये ॥ ८४ ॥ (यह पांचवीं मोद क्रिया है) पुत्रके उत्पन्न होनेपर अर्थात् प्रसूति होनेपर छट्ठी प्रियोद्भव क्रिया की जाती है इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि (उत्पन्न होनेके समय करने योग्य क्रियाओंकी विधि) भी है। यह क्रिया श्रीजिनेंद्रदेवको स्मरणकर शास्त्रानुसार की जाती है ॥ ८५ ॥ इस क्रियामें अवांतर विशेष है अर्थात् मध्यमें करनेकी जो विशेष विधि है और क्रिया मंत्र आदिके जो लक्षण हैं वे वहुत हैं और वडे हैं वे सब उपासकाध्ययन मूल सूत्रसे जान लेना ॥ ८६ ॥ (यह प्रियोद्भव वा जातकर्म विधि है) जन्मसे वारहवें दिन अथवा वारह दिनके वाद जिस दिन चंद्रमा नक्षत्र आदि माता पिता और पुत्रके अनुकूल हों सुख देनेवाले हों, उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥ ८७ ॥ इस क्रियामें अपनी विभूति और शक्तिके अनुसार अरहंत देव और ऋषियोंका पूजन करना चाहिये, द्विजोंका यथायोग्य आदर सत्कार करना चाहिये और जो प्रशंसनीय हो और अपने वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा नाम उस वालकका रखना चाहिये ॥ ८८ ॥ अथवा भगवानके जो एक हजार आठ नाम

शुभं ॥ ८९ ॥ इति नामकर्म ॥ बहिर्यानं ततो द्वित्रैर्मासैस्त्रिचतुरैरुत । यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यं तूर्यादिमंगलैः ॥ ९० ॥ ततः प्रभृत्यभीष्टं हि शिशोः प्रसववेश्मनः । बहिःप्रणयन मात्रा धात्र्युत्सगगतस्य वा ॥ ९१ ॥ तत्र बधुजनादर्थलाभो यः पारितोषिकः । स तस्योत्तरकालेऽर्ध्यो धनं पित्र्य यदाऽऽ-

हैं उनमेंसे घटपत्रकी विधिसे एक शुभनाम ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ ८९ ॥ यह (सातवीं नामकर्म क्रिया है। तदनंतर दूसरे तीसरे अथवा तीसरे चौथे महीनेमें किसी शुभ दिन तुरई आदि मांगलिक बाजोंके साथ साथ अपनी योग्यता वा अनुकूलताके अनुसार बहिर्यान क्रिया करनी चाहिये ॥ ९० ॥ जिस दिन बहिर्यान (प्रसूतिघरसे बाहर निकालना) क्रिया की जाय उस दिनसे लेकर माता अथवा धायकी गोदमें बिठाकर उस बालकको प्रसूतिके घरसे बाहर निकालना शास्त्रसंमत माना जाता है ॥ ९१ ॥ इस क्रियाके करते समय जब वह बालक प्रसूति घरसे बाहर लाया जाय उससमय सब भाई बंधु आदि उसे पारितोषक रूप कुछ धन देवें, जो वह धन इकट्ठा हो उसे जब वह पुत्र पिताके

१ भगवानके एक हजार आठ नामोंको एक हजार आठ कागजके टुकडोपर लिखकर उन कागजोकीं गोली बनालेवे और एक घडेमे भरदेवे, एक कागजपर ' नाम ' ऐसा शब्द लिखकर गोली बनालेवे और एक हजार सात कोरे कागजोके टुकडोकी गोली बनालेवे, नाम शब्दकी लिखी हुई गोली और कोरे कागजोंकी गोलिया एक दूसरे घडेमे भर देवे, इन दोनो गोलियोसे भरे हुये घडोमेसे एक वेसमझ बालकसे एक एक गोली निकलवाता जाय अर्थात् एक गोली भगवानके लिखे हुये नामोंमेसे और एक गोली कोरे कागजोकी गोलियोमेसे, इसप्रकार दोनो गोलिया साथ साथ निकलवाता जाय, कोरे कागजकी गोलियोके साथ भगवानके नामकी गोलियां आतीं जाय उन्हे अलग रखता जाय, जो ' नाम ' शब्द लिखी गोलीके साथ जिनेंद्रके नामकी गोली आवे उसमे जो नाम निकले वही नाम उस पुत्रका रखना चाहिये (इसी दिन कान छेदना और झूला झुलानेका मुहूर्त किया जाता है)

प्स्यति ॥ ९२ ॥ इति बहिर्यान ॥ ततः परं निषद्याऽत्र क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तल्प आस्तीर्णे कृतमंगलसन्निधौ ॥ ९३ ॥ सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र च । यतो दिव्यासनार्हत्वमस्य स्यादुत्तरोत्तर ॥ ९४ ॥ इति निषद्या । गते मासपृथक्त्वे च जन्मायस्य यथाक्रम । अन्नप्राशनमाम्नात पूजाविधिपुरःसर ॥ ९५ ॥ इति अन्नप्राशनम् ॥ ततोऽस्य हायनेपूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतं ॥ ९६ ॥ तत्राऽपि पूर्ववद्दान जैनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टबंधुसमाह्वान समाशादिश्च लक्ष्यता ॥ ९७ ॥ केशवापस्तु केशाना शुभेऽह्नि व्यपरोपणं । क्षौरेण कर्मणा देवगुरु-

---

धनका अधिकारी हो उससमय उसके लिये समर्पण कर दें ॥ ९२ ॥ [यह आठवीं बहिर्यान क्रिया है] तदनंतर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है, इस क्रियामें मांगलिक सब क्रियायोंके साथ साथ उस बालकके योग्य लंबी चौडी शय्यापर उस बालकको बिठलाते हैं ॥ ९३ ॥ तथा सिद्ध भगवानकी पूजन करना आदि अन्य सब विधि पहिलेके समान ही की जाती है, इस विधिसे उस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता हो यही इस क्रियाका अभिप्राय है ॥ ९४ ॥ (यह नौवीं निषद्या क्रिया है) जन्मसे सात आठ महीने वीत जानेपर उस बालककी अन्नप्राशन क्रिया करनी चाहिये, इस क्रियामें शास्त्रानुसार भगवानकी पूजा करके बालकको अन्न खिलाना चाहिये ॥ ९५ ॥ (यह दशवीं अन्नप्राशन क्रिया है) तननंतर उस बालकका एक वर्ष पूर्ण हो जाने पर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है, इस क्रियाका शास्त्रानुसार दूसरा नाम वर्षवर्द्धन वा वर्षगांठ है ॥ ९६ ॥ इस क्रियामें भी पहिलेके समान दान दिया जाता है, पहिलेके समान ही श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की जाती है, भाई बंधु आदि इष्ट मित्रोंको बुलाया जाता है और उन सबको भोजन कराया जाता है, इस क्रियामें ये सब बातें जान लेनी चाहिये ॥ ९७ ॥ (यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है) तदनंतर किसी शुभदिन केशवाप क्रिया करनी चाहिये, देव गुरु आदिकी पूजा कर लेनेके बाद उस्तरासे बाल बनवाना केशवाप क्रिया है, प्रथम ही बालोंको गंधोदकसे गीले करना चाहिये, उन

पूजापुरःसरं ॥ ९८ ॥ गंधोदकार्द्रितान्कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् । मौड्यमस्य विधेयं स्यात्सचूलं वाऽन्वयोचितं ॥ ९९ ॥ स्नपनोदकधौतागमनुलिप्तं सभूषणं । प्रणमय्य मुनीन् पश्चाद्योजयेद्बंधुताशिषा ॥ १०० ॥ चौलाख्यया प्रतीतेयं कृतपुण्याहमंगला । क्रियाऽस्यामादृतो लोको यतते परया मुदा ॥ १०१ ॥ इति केशवापः ॥ ततोऽस्य पचमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नाम्ना लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥ १०२ ॥ यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य मतोऽधीती गृहव्रती ॥ १०३ ॥ लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥ क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्राप-

---

पर शेषाक्षत (पूजाके बचे हुये अक्षत) रखना चाहिये और फिर चोटी सहित अथवा जिसतरह अपने वंशमें चला आता है उसतरह उस बालकका मुंडन करना चाहिये ॥ ९८–९९॥ फिर स्नानके लिये लाये हुये पानीसे उसका स्नान कराकर उसका सब शरीर साफ करना चाहिये, चंदन आदिका लेप करना चाहिये, आभूषण पहिनाना चाहिये और फिर उससे मुनियोंको नमस्कार कराना चाहिये, इसके बाद सब भाई बंधु लोगोंको उसे आशीर्वाद देना चाहिये ॥ १०० ॥ इस क्रियामें पुण्याहमंगल किया जाता है और यह चौलक्रिया नामसे प्रसिद्ध है, इस क्रियामें आदर करते हुये लोग बडे हर्षके साथ प्रवर्त होते हैं ॥ १०१ ॥ (इसप्रकार यह वारहवीं केशवाप क्रिया है) तदनंतर उस बालकको पांचवें वर्षमें प्रथम ही अक्षरोंका दर्शन करानेके लिये लिपिसंख्यानसंग्रह नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥ १०२ ॥ इस क्रियामें भी अपनी विभूतिके अनुसार दान पूजा आदि की जाती है, गृहस्थ व्रतियोंको उचित है कि वे उस बालकको गुरुके स्थानमें निवास कराकर पढावें ॥ १०३ ॥ (यह तेरहवीं लिपिसंख्यानसंग्रह क्रिया है) तदनंतर–गर्भसे आठवें वर्षमें उस बालककी उपनीतिक्रिया (यज्ञोपवीत वा जनेऊ) की जाती है, इस क्रियामें केशोंका मुंडन, व्रतबंधन और मौंजीबंधन आदि क्रियायें की जाती हैं १०४ ॥ प्रथम उस बालकको जिनालयमें लेजाकर उससे अरहंत भगवानकी पूजन करानी चाहिये और फिर गुरुकी साक्षी पूर्वक उसे व्रत देकर

नीतकेशस्य, मौंजी सव्रतबधना ॥ १०४ ॥ कृतार्हत्पूजनस्यास्य मोजीवंधो जिनालये । गुरुसाक्षि विधातव्यो व्रतार्पणपुरस्सरं ॥ १०५ ॥ शिखी सिता-शुक. सातर्वासा निर्वेषविक्रियः । व्रतचिह्न दधत्सूत्र तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ ॥ १०६ ॥ चरणोचितमन्यच्च नामधेय तदाऽस्य वै ॥ वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥ १०७ ॥ सोऽतःपुरे चरेत्पात्र्या नियोग इति केवलं । तदग्र देवसात्कृत्य ततोऽन्न योग्यमाहरेत् ॥ १०८ ॥ इत्युपनीतिः ॥ व्रत-चर्यामह वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः । कटयूरूरःशिरोलिंगमनूचानव्रतोचित ॥ १०९ ॥ कटीलिंग भवेदस्य मौजीबधात्रिभिर्गुणैः । रत्नत्रितयशुध्यंग तद्धि चिन्ह द्विजन्मना ॥ ११० ॥ तस्येष्टमूरुलिंग व सुधौतसितशाटक । आर्हताना कुल पूत विशाल चेति सूचने ॥ १११ ॥ उरोलिंगमथास्य

मौंजीबंधन करना चाहिये अर्थात् कमरमें मूंजकी रस्सी वा करधनी बांधनी चाहिये ॥ १०५ ॥ उस समय उसके चोटी रहती है, सफेद धोती और सफेद डुपट्टा रहता है वेष और विकारोंसे वह रहित होता है तथा व्रतोंका चिन्ह स्वरूप ऐसे यज्ञोपवीतको वह धारण करता है उस समय उसकी ब्रह्मचारी संज्ञा कही जाती है ॥ १०६ ॥ उससमय उसके आचरणोंके योग्य उसके और भी नाम रक्खे जा सकते हैं, उससमय बडे ऐश्वर्यशाली राजपुत्रको छोडकर शेष लोगोंको भिक्षासे अपना निर्वाह करना चाहिये, तथा राजपुत्रको रणवासमें जाकर किसी पात्रमें अपनी माता आदिसे भिक्षा लेनी चाहिये, उससमय भिक्षा लेनेका एक नियोग है जो कि सबको करना पडता है, भिक्षामें जो कुछ मिले उसमेंका मुख्य भाग श्रीअरहंतदेवको समर्पण कर फिर बचे हुये योग्य अन्नका भोजन करना चाहिये ॥१०७-१०८॥ इस प्रकार यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है । आगे—कमरका चिन्ह, जंघाका चिन्ह, वक्षःस्थलका चिन्ह और शिरका चिन्ह इन ब्रह्मचर्यके व्रतके योग्य चिन्होंको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारीकी व्रतचर्या नामकी क्रिया कहते हैं ॥ १०९ ॥ तीन लरकी मूंजकी रस्सी कमरमें बांधना इसका कमरका चिन्ह कहलाता है, यह मौंजीवंधन रत्नत्रयकी विशुद्धिका एक अंग है और द्विज लोगोंका एक चिन्ह है ॥ ११० ॥ उसके जंघाका चिन्ह धुली हुई सफेद धोती है और अरहंत भगवानका कुल पवित्र तथा विशाल है यही वह सफेद धोती सूचित करती

स्याद्ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः । यज्ञोपवीतकं सप्तपरमस्थानसूचकं ॥ ११२ ॥ शिरोलिंगं च तस्येष्टं परं मौड्यमनाविलं । मौड्यं मनोवचःकायगतमस्योपबृंहयत् ॥ ११३ ॥ एवप्रायेण लिंगेन विशुद्ध धारयेद्व्रतं । स्थूलहिंसाविरत्यादि ब्रह्मचर्योपबृंहित ॥ ११४ ॥ दंतकाष्ठग्रहोनास्य न ताम्बूलं न चाजनं । न हरिद्रादिभिः स्नान शुद्धस्नानं दिन प्रति ॥ ११५ ॥ न खट्वाशयनं तस्य नान्यागपरिघट्टनं । भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥ ११६ ॥ यावद्विद्यासमाप्तिः स्यात्तावदस्येदृशं व्रत । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रत तत्स्याद्यन्मूल गृहमेधिना ॥ ११७ ॥ सूत्रमौपासिक चास्य स्यादध्येय गुरोर्मुखात् । विनयेन

है ॥ १११ ॥ उसके वक्षःस्थलका चिन्ह सात लरका गुंथा हुआ यज्ञोपवीत है जो कि सात परमस्थानोंका सूचक है ॥ ११२॥ उसके शिरका चिन्ह स्वच्छ और उत्कृष्ट मुंडन है जो कि उसके मन वचन कायके मुंडनको अर्थात् विषयोंकी अनासक्तिको बढानेवाला है ॥ ११३ ॥ प्रायः इसप्रकारके चिन्होंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्य व्रतसे वृद्धिको प्राप्त हुये ऐसे स्थूल हिंसाका त्याग आदि व्रत उसे धारण करना चाहिये, भावार्थ—इन चिन्होंके साथ साथ पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुये उसे अणुव्रत धारण करने चाहिये ॥ ११४ ॥ इस व्रती ब्रह्मचारीको लकडीका दतौन नहीं करना चाहिये, तांबूल (लगा हुआ पान) नहीं खाना चाहिये, आंखोंमें अंजन नहीं लगाना चाहिये और हल्दी आदिका उवटन लगाकर स्नान नहीं करना चाहिये, उसे प्रतिदिन केवल जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिये ॥ ११५ ॥ उसे पलंगपर नहीं सोना चाहिये, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगडना चाहिये और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिये उसे केवल अकेला पृथ्वीपर सोना चाहिये ॥११६॥ जबतक इसकी विद्या समाप्त न हो तबतक इसे इसीप्रकारके व्रत धारण करने चाहिये और जब विद्या समाप्त हो जाय अर्थात् पढना लिखना समाप्त हो जाय तब उसे वे व्रत धारण करने चाहिये कि जो गृहस्थियोंके मूलगुण कहलाते हैं, भावार्थ-जबतक वह पढता है विद्याभ्यास करता है तबतकके लिये उसे ये व्रत धारण करने पडते हैं, विद्याभ्यास समाप्त हो जानेपर ये व्रत छूट जाते हैं और फिर वह केवल मूलगुण

ततोन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरं ॥ ११८ ॥ शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दूष्यते । सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ ११९ ॥ ज्योतिर्ज्ञानमथ छंदोज्ञानं ज्ञानं च शाकुनं । संख्याज्ञानमितीदं च तेनाध्येयं विशेषत: ॥ १२० ॥ ततोऽस्याधीतविद्यस्य व्रतवृत्त्यवतारणं । विशेषविषयं तच्च स्थितस्यौत्सर्गिके व्रते ॥ १२१ ॥ मधुमांसपरित्यागः पंचोदुंबरवर्जनं । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकं ॥ १२२ ॥ व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनं । वत्सराद्द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परं ॥ १२३ ॥ कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितं । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥ १२४ ॥

धारण करता है ॥ ११७ ॥ इस ब्रह्मचारीको प्रथम ही गुरुमुखसे उपासकाचार पढना चाहिये और फिर विनयपूर्वक अन्य अध्यात्मशास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये ॥ ११८ ॥ अपने संस्कार बढानेके लिये और धृष्ट होनेके लिये इसे व्याकरणशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि पीछेसे इन शास्त्रोंके पढनेमें भी कोई दोष नहीं है ॥ ११९ ॥ इनके सिवाय उसे ज्योतिःशास्त्र, छंदशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदि शास्त्रोंका विशेष रीतिसे अध्ययन करना चाहिये ॥ १२० ॥ (इसप्रकार यह पंद्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है) तदनंतर--विद्याभ्यास समाप्त हो जानेपर इसके व्रतावतरण (व्रतोंका अवतरण वा त्याग) क्रिया की जाती है, इस क्रियामें श्रावकके जो साधारण व्रत हैं उनको पालन करता हुआ वह विशेष व्रतोंका अवतरण वा त्याग कर देता है ॥ १२१ ॥ फिर उसके मधुका त्याग, मांसका त्याग, पांचो उदंबरोंका त्याग और हिंसादि स्थूल पापोंका त्याग ये व्रत सार्वकालिक वा सर्वदा जन्मपर्यंत रहते हैं ॥ १२२ ॥ यह व्रतावतरण क्रिया अर्थात् व्रतोंका छोडना गुरुकी साक्षीपूर्वक भगवानकी पूजाकर बारह वर्षके बाद अथवा सोलह वर्षके बाद करना चाहिये ॥ १२३ ॥ प्रथम ही द्विजोंका आदर सत्कारकर फिर व्रतावतरण क्रिया करना उचित है, इस क्रियाके बाद फिर गुरुकी आज्ञानुसार वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण किया जाता है ॥ १२४ ॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय है तो उसे अपनी जीवि-

शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्यदः । स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥ १२५ ॥ भोगब्रह्मव्रतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामब्रह्मव्रतं चास्य तावद्यावत्क्रियोत्तरा ॥ १२६ ॥ इति व्रतावतरण ॥ ततोऽस्य गुर्वनुज्ञानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥ १२७ ॥ सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृताग्नित्रयसपूजाः कुर्युस्तत्साक्षि ता क्रिया ॥ १२८ ॥ पुण्याश्रमे क्वचित्सिद्धप्रतिमाभिमुखं तयोः । दंपत्योः परया भूत्या कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥ १२९ ॥ वेद्यां प्रणीतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककं । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनं ॥ १३० ॥ पाणि-

---

काकी रक्षा करनेके लिये शस्त्र धारण करना चाहिये अथवा केवल शोभाके लिये उसे शस्त्र धारण करना चाहिये ॥ १२५ ॥ इस समयतक उसके जो भोगोपभोगोंसे ब्रह्मव्रत था अर्थात् भोगोपभोगोंका जो त्याग था उसका अवतरण वा त्याग होता है। भावार्थ--वस्त्र आभरण तांबूल आदिका जो त्याग था वह छूट जाता है परंतु जबतक आगेकी विवाह क्रिया न की जाय तबतक उसे कामरूप ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना ही चाहिये ॥१२६॥ (इस प्रकार यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है) तदनंतर–जिसमें विवाह हो सकता है ऐसे कुलमें उत्पन्न हुई योग्य कन्याके साथ जिसकी विवाह करनेकी इच्छा है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञानुसार विवाह संबंधी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ विवाहकी क्रिया करते समय उत्तम द्विजोंको प्रथम ही अच्छीतरह सिद्ध भगवानकी पूजन करनी चाहिये तीनों अग्नियोंकी पूजा करनी चाहिये और फिर सिद्ध भगवानकी प्रतिमा और उन तीनों अग्नियोंकी साक्षी पूर्वक विवाह संबंधी क्रिया करनी चाहिये ॥ १२८ ॥ किसी पवित्र स्थानमें बडे ठाठ वाटके साथ सिद्ध प्रतिमाके सामने उन दोनों वर वधुओंका विवाहोत्सव करना चाहिये ॥ १२९ ॥ वेदीमें जो तीन कुंडोंमें अग्नि उत्पन्न की थी अथवा दो वा एक ही कुंडमें अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणा देकर उन दोनों वर वधुओंको समीप ही बैठना चाहिये ॥ १३० ॥ उस पाणिग्रहण दीक्षामें जो वर वधू नियुक्त किये गये हैं अर्थात् जिनका विवाहोत्सव किया गया है उन्हें देव और

ग्रहणदीक्षाया नियुक्त तद्वधूवरं । आसप्ताहं चरेद्ब्रह्मव्रतं देवाग्निसाक्षिक ॥ १३१ ॥ क्रांत्वा स्वस्योचितां भूमिं तीर्थभूमीर्विहृत्य च । स्वगृहं प्रविशेद्भूत्या परया तद्वधूवरं ॥ १३२ ॥ विमुक्तकंकण पश्चात्स्वगृहे शयनीयक । अधिशय्य यथाकाल भोगांगैरुपलालितं ॥ १३३ ॥ संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ॥ शक्तिकालव्यपेक्षोऽय क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥ १३४ ॥ इति विवाहक्रिया ॥ एवं कृतविवाहस्य, गार्हस्थ्यमनुतिष्ठत. । स्वधर्मानतिवृत्त्यर्थं वर्णलाभमतोब्रुवे ॥ १३५ ॥ ऊढभार्योऽप्ययं तावदस्वतंत्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातंत्र्यसिध्यर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥ १३६ ॥ गुरोरनुज्ञया

अग्निकी साक्षी पूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्यव्रत धारण करना चाहिये ॥ १३१ ॥ फिर अपने योग्य किसी स्थानमें देशाटन कर, किसी तीर्थभूमिपर विहार कर वे दोनों ही वरवधू वडी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥ १३२ ॥ तदनंतर उनका कंकण छोड देना चाहिये और फिर वे दोनों ही स्त्रीपुरुष अपने घरमें भोगोपभोगकी सामग्रीसे सुशोभित ऐसी शय्यापर योग्य समयमें शयन करें ॥ १३३ ॥ वे दोनों ही परस्पर केवल संतानके लिये ऋतुकालमेंही काम सेवन करें, ऋतुकालमें काम सेवनकी अपेक्षा केवल शक्तिवाले सामर्थ्यवाले लोगोंके लिये है, जो अशक्त हैं उनके लिये इससे विपरीत समझना अर्थात् वे अपनी शक्तिके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन करें ॥१३४॥ [इसप्रकार यह सत्रहवीं विवाह क्रिया है] इसप्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गृहस्थधर्म पालन कर रहा है वह अपने धर्मका उलंघन न करे इसलिये उसक लिये वर्णलाभ क्रिया कही जाती है ॥ १३५ ॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि जवतक वह पिताके घर रहता है तवतक वह स्वतंत्र नहीं रह सकता इसलिये उसको स्वतंत्रता प्राप्त करनेके लिये यह वर्णलाभ क्रिया वर्णन की जाती है ॥ १३६ ॥ मातापिताकी आज्ञानुसार जिसे धन धान्य आदि संपदायें प्राप्त हो चुकी हैं और जिसे रहनेके लिये मकान भी अलग मिल चुका है ऐसे उस गृहस्थकी प्रवृत्तिको अर्थात् पिताकी

लब्धधनधान्यादिसंपदः । पृथक्कृतालयस्यास्य वृत्तिर्वर्णाप्तिरिष्यते ॥ १३७ ॥ तदाऽपि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमार्चनमग्रतः । कृत्वाऽन्योपासकान्मुख्यान्साक्षी कृत्यार्पयेद्धन ॥ १३८ ॥ धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन्स्वगृहे पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणः ॥ १३९ ॥ यथाऽस्मत्पितृदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितं । यशो धर्मश्च तद्वत्त्व यशोधर्मानुपार्जय ॥ १४० ॥ इत्येवमनुशिष्यैनं वर्णलाभे नियोजयेत् । सदाचारः स तद्धर्मं तथाऽनुष्ठातुमर्हति ॥ १४१ ॥ इति वर्णलाभक्रिया ॥ लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचार्योऽनुकीर्त्यते । सा त्विज्यादात्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपाचिता ॥ १४२ ॥ विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मानुप्रवर्तनं । गृहिणा कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥ १४३ ॥ कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दार्ढ्यमथोद्वहन् । गृहस्थाचार्यभावेन

आज्ञानुसार धन धान्य आदि संपदा लेकर अलग रहनेको वर्णलाभ कहते हैं ॥ १३७ ॥ इस क्रियामें भी पहिले सिद्ध भगवानकी पूजन की जाती है और फिर पिता अन्य मुख्य मुख्य श्रावकोंको साक्षी बनाकर उस पुत्रको धन समर्पण करता है और कहता है कि तुम इस धनको लेकर इस अपने घरम अलग रहो और दान देना, जिन पूजन करना आदि गृहस्थका जो पूर्ण धर्म है उसे धारण करो ॥ १३८–१३९ ॥ जिसप्रकार हमारे पिताके दिये हुये धनसे हमने अपने यश और धर्मका उपार्जन वा संग्रह किया है उसी प्रकार तुम भी अपना यश और धर्मका संग्रह करो ॥ १४० ॥ इसप्रकार उस पुत्रको शिक्षा देकर उसे वर्णलाभमें अर्थात् स्वतंत्र घरमें स्थापन करे। इसप्रकार वह पुत्र भी सदाचारका पालन करता हुआ उस गृहस्थधर्मको उसीप्रकार (पिताके समान) पालन करनेके योग्य होता है ॥ १४१ ॥ (यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है) जिसे वर्णलाभ वा स्वतंत्रता प्राप्त हो चुकी है उसके लिये कुलचर्या क्रिया कही जाती है। देवपूजा करना, दान देना, जीविका करना आदि कुलचर्याके सब लक्षण पहिले वर्णन कर चुके हैं ॥ १४२ ॥ विशुद्ध रीतिसे जीविका करना और देवपूजा आदि छह कर्म करना यही गृहस्थियोंकी कुलचर्या कहलाती है इसीको लोग कुलधर्म भी कहते हैं ॥ १४३ ॥ [यह उनईसवीं कुलचर्या क्रिया है] अथानंतर–जिसे कुलचर्या प्राप्त हो चुकी

सश्रयेत्स गृहीशितां ॥ १४४ ॥ ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत्स्वां गृहीशिता । शुभवृत्तिक्रियामंत्रविवाहैःसोत्तराक्रियैः ॥ १४५ ॥ अनन्यसदृशैरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियादिभिः । स्वमुन्नतिं नयन्नेष तदाऽर्हति गृहीशिता ॥ १४६ ॥ वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिर्मानार्हश्चेति मानित. ॥ १४७ ॥ इति गृहीशिता ॥ सोऽनुरूप ततो लब्ध्वा सूनुमात्मभरक्षमं । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशातिमतः श्रयेत् ॥ १४८ ॥ विषयेष्वनभिष्वगो नित्यस्वाध्यायशीलता । नानाविधोपवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशातता ॥ १४९ ॥ इति प्रशातिः ॥ ततः कृतार्थमात्मान मन्यमानो गृहाश्रमे ।

है ऐसे उस गृहस्थको धर्ममें दृढता धारण करते हुये गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिता स्वीकार करनी चाहिये अर्थात् उसे गृहस्थाचार्य बनकर सब गृहस्थोंका स्वामी बनना चाहिये ॥ १४४ ॥ तदनंतर उसे आपको उत्तम वर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापन करनी चाहिये अर्थात् जो अन्य गृहस्थोंमें न पाई जायं ऐसी शुभ वृत्ति, शुभ क्रियायें, मंत्र, विवाह, आगे कहीजानेवालीं क्रियायें, शास्त्रज्ञान, और चारित्र आदिकी क्रियाओंसे अपनी उन्नति करते हुये, आपको उत्कृष्ट बनाते हुये उसे गृहस्थाचार्यका पद स्वीकार करना चाहिये ॥ १४५–१४६ ॥ उससमय वर्णोत्तम (तीनों वर्णोंमें उत्तम), महीदेव, सुश्रुत [अच्छा शास्त्रज्ञानी] द्विजसत्तम (उत्तम द्विज) निस्तारक [संसारसे पार कर देनेवाला] ग्रामपति (गांव वा शहरका मालिक) और मानार्ह अर्थात् सत्कार करने योग्य इसप्रकार कहकर लोगोंको उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥ १४७ ॥ (यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है) तदनंतर अपने कुटुंब पालनका भार धारण करनेको समर्थ ऐसे अपने समान पुत्रको पाकर उस गृहस्थाचार्यको अपने गृहस्थधर्मका सब भार उस पुत्रको सोंप देना चाहिये और फिर इसप्रकार अपने आत्माको शांति देनी चाहिये ॥ १४८ ॥ तथा शांत गृहस्थको विषयोंकी लालसा छोड देनी चाहिये, सदा स्वाध्याय करते रहना चाहिये और अनेक प्रकारके उपवासकर अत्यंत शांततासे अपनी वृत्ति रखनी चाहिये ॥ १४९ ॥ (यह इक्कीसवीं प्रशांति क्रिया है) तदनंतर—गृहस्थाश्रममें अपने

यदोद्यतो गृहत्यागे तदाऽस्यैषक्रियाविधिः ॥ १५० ॥ सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान् । तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥ १५१ ॥ कुलक्रमस्त्वया तात संपाल्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो द्रव्य त्वयेत्थं विनियोज्यता ॥ १५२ ॥ एकोऽशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः सँविभागाय भवेत्त्वत्सहजन्मना ॥ १५३ ॥ पुत्र्यश्च सँविभागार्हाः सम पुत्रैः समाशकैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्टः संतातिं नोऽनुपालय ॥ १५४ ॥ श्रुतवृत्ताक्रियामत्राविधिज्ञस्त्वमतंद्रितः । प्रपालय कुलाम्नाय गुरु देवाँश्च पूजयन् ॥ १५५ ॥ इत्येवमनुशिष्य स्वं ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षा समा-

---

आत्माको कृतार्थ मानता हुआ वह गृहस्थाचार्य जब घर छोडनेके लिये उद्यत होता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥ १५० ॥ इस क्रियामें भी पहिले सिद्ध भगवानकी पूजन करनी चाहिये और फिर अपने इष्ट ऐसे समस्त जातिके वा धर्मात्मा लोगोंको बुलाकर उनकी साक्षी पूर्वक अपने पुत्रके लिये सब कुछ समर्पणकर अर्थात् धन धर्म आदि सब सौंपकर घरका त्याग कर देना चाहिये ॥ १५१ ॥ अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इसप्रकार कहना चाहिये कि हे तात ! हमारे पीछे तुमको यह कुलक्रम (कुलपरंपरासे चला आया धर्म, क्रिया, संस्कार आदि) पालन करना चाहिये, मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उन भागोंको तुझे इसप्रकार काममें लाना चाहिये कि उनमेंसे एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना, दूसरा भाग अपने घरखर्चके लिये रखना और तीसरा भाग तू अपने भाइयोंमें बांट देना ॥ १५२--१५३ ॥ पुत्रोंके समान पुत्रियोंको भी बराबर भाग बांट कर देना चाहिये अर्थात् उस तीसरे भागमेंसे भाई और वहिनोंको बांटकर सबको बराबर भाग देना, हे पुत्र तू सब कुलमें बडा होकर मेरी सब संतानका पालन कर ॥ १५४ ॥ तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मंत्र, और विधि आदि सबका जाननेवाला है इसलिये आलस छोडकर देव और गुरुओंकी पूजन करता हुआ मेरे इस कुलपरंपराका पालन कर ॥ १५५ ॥ इसप्रकार निराकुल होता हुआ अपने ज्येष्ठ पुत्रको शिक्षा देकर फिर वह द्विज दीक्षा धारण करनेके लिये अपने घरका

दातु द्विजः स्व गृहमुत्सृजेत् ॥ १५६ ॥ इति गृहत्यागः ॥ त्यक्तागारस्य सद्दृष्टेः प्रशांतस्य गृहीशिनः । प्राग्दीक्षौपयिकात्कालादेकशाटकधारिणः ॥ १५७ ॥ यत्पुरश्चरण दीक्षागृहणप्रति धार्यते । दीक्षाद्यं नाम तज्ज्ञेय क्रियाजात द्विजन्मनः ॥ १५८ ॥ इति दीक्षाद्यं ॥ त्यक्तचेलादिसंगस्य जैनीं दीक्षामुपेयुषः । धारण जातरूपस्य यत्तत्स्याज्जिनरूपता ॥ १५९ ॥ अशक्यधारण चेद जतूना कातरात्मनां । जैन निस्संगतामुख्य रूप धीरैर्निषेव्यते ॥ १६० ॥ इति जिनरूपता ॥ कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविधौ । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः ॥ १६१ ॥ वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणत्रयः ।

त्याग कर देवे ॥ १५६ ॥ (यह बाईसवीं गृहत्याग क्रिया है) जिसने घरका त्याग कर दिया है, जो सम्यग्दृष्टी है, प्रशांत है गृहस्थाचार्य है और दीक्षा धारण करनेके समयके कुछ पहिले जिसने एक वस्त्र धारण किया है अर्थात् क्षुल्लकके व्रत धारण किये हैं उसके दीक्षा धारण करनेके लिये उससे पहिले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणोंके समूहको अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजोंकी दीक्षाद्य नामकी क्रिया कहते हैं। भावार्थ—दीक्षा धारण करनेके पहिले क्षुल्लकके व्रत धारण कर फिर जो कुछ क्रियायें की जाती हैं उनका नाम दीक्षाद्य क्रिया है ॥ १५७--१५८ ॥ [यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है] जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रहोंका त्याग कर दिया है और जो जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण करना चाहता है वह जो दिगंबर अवस्था धारण करता है उसे जिनरूपता (जैसा जिनेंद्रका दिगंवर रूप है वैसा धारण करना) कहते हैं ॥ १५९ ॥ जिनका आत्मा कातर वा दीन है ऐसे जीव इस दिगंबर अवस्थाको धारण नहीं कर सकते इसलिये जिसमें परिग्रह रहितपना ही मुख्य है ऐसा जो श्रीजिनेंद्रदेवका रूप है उसे धीरवीर पुरुष ही सेवन करते हैं धारण करते हैं ॥ १६० ॥ यह चौवीसवीं जिनरूपता है) जिसने दीक्षा धारण कर उपवास किया है तथा विधिपूर्वक पारणा करनेमें प्रवृत्त हुआ है ऐसा साधु शास्त्रज्ञानकी समाप्ति होनेपर्यंत जो मौन धारणकर पढनेमें अपनी प्रवृत्ति रखता है उसे मौनाध्ययनवृत्ति कहते हैं ॥ १६१ ॥ जिसने मौन धारण किया है जिसका आत्मा नम्र

सोऽधीयीतश्रुतं कृत्स्नमामूलाद्गुरुसन्निधौ ॥ १६२ ॥ श्रुतं हि विधिनाऽनेन भव्यात्माभिरुपासितं । योग्यतामिह पुष्णाति परत्रापि प्रसीदति ॥ १६३ ॥ ततोऽधीताखिलाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत्तीर्थकृत्त्वस्य भावना ॥ १६४ ॥ सातु षोडशधाऽऽम्नाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपंचिता ॥ १६५ ॥ इति तीर्थकृद्भावना ॥ ततोऽस्य विदिताशेषविद्यस्य विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः सम्मतो गुर्वनुग्रहात् ॥ १६६ ॥ ज्ञानविज्ञानसंपन्न. स्वगुरोरभिसम्मतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽर्हति गुरोः पदं ॥ १६७ ॥ गुरुस्थानाभ्युपगमः ॥ ततः

है और मन वचन काय शुद्ध हैं ऐसा वह साधु गुरुके समीप प्रारंभसे लेकर समस्तशास्त्रोंका (पूर्ण श्रुतज्ञानका) अध्ययन करे ॥ १६२ ॥ भव्यपुरुष इसप्रकारकी विधिसे जो श्रुतज्ञानकी उपासना करते हैं उसका अध्ययन करते हैं वह अध्ययन किया हुआ श्रुतज्ञान इस लोकमें उनकी योग्यता बढा देता है और परलोकमें भी उसे प्रसन्न वा सुखी रखता है ॥ १६३ ॥, (यह पचीसवीं मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है) जिसने समस्त आचारशास्त्रोंका (आचारांग सूत्रोंका) अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रोंका अध्ययनकर पूर्ण श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसके सब आचरण विशुद्ध हैं ऐसे उस साधुको तीर्थंकर पदकी कारण ऐसी भावनाओंका अभ्यास करना चाहिये ॥ १६४ ॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिनका वर्णन पहिले कर चुके हैं और जो पंचकल्याणक समवसरण आदि महा अभ्युदयकी देनेवाली हैं ऐसी वे भावनायें सोलह प्रकारकी कही गई हैं ॥ १६५ ॥ (यह छव्वीसवीं तीर्थकृद्भावना नामकी क्रिया है) तदनंतर--जो समस्त विद्याओंका जानकार है, जिसने अपना अंतःकरण वा आत्मा वश कर लिया है ऐसा साधु गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करने योग्य होता है ॥ १६६ ॥ जो ज्ञान विज्ञान करके सहित हैं, गुरु जिसे आचार्य पदके योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुकास्थान (आचार्यपद) प्राप्त करने योग्य गिना जाता है ॥ १६७ ॥ (यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है) तदनंतर जो सदाचार पालन करता है और चारों प्रकारके संघ पालन

सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणे । गणोपग्रहणं नाम क्रियाम्नाता महर्षिभिः ॥ १६८ ॥ श्रावकानार्यिकासंघं श्राविकाः सँयतानपि । सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत् ॥ १६९ ॥ श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्यादीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षण । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत्प्रतिपादयेत् ॥ १७० ॥ सद्वृत्तान्सारयन्सूरिरसद्वृत्तान्निवारयन् ॥ शोधयॅश्च कृतादागोमलात्स विभृयाद्गण ॥ १७१ ॥ इति गणोपग्रहणं ॥ गणपोषणमित्याविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसङ्क्रातो यत्नवान्भवेत् ॥ १७२ ॥ अधीतविद्य तद्विद्यैरादृत मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमथाहूय तस्मै स्व भारमर्पयेत् ॥ १७३ ॥ गुरोरनु-

---

करनेमें जो तत्पर है उसके बडे बडे ऋषियोंने गणोपग्रहण नामकी क्रिया कही है ॥ १६८ ॥ जिसकी गणोपग्रहण (चारों संघका पालन करना) क्रिया की जा चुकी है ऐसे आचार्यको श्रावक, अर्जिकाआका समूह, श्राविका और मुनियोंको मोक्षमार्गमें प्रवर्त्त कराते हुये चारों प्रकारके संघका पालन करना चाहिये ॥ १६९ ॥ ऐसे आचार्यको उचित है कि जो शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहें उन्हें शास्त्रोंका अध्ययन करावे, जो दीक्षा लेना चाहें उन्हें दीक्षा देवे, और जो धर्म स्वीकार करना चाहें वा धर्मका स्वरूप जानना चाहें उनके लिये सदा सद्धर्मका स्वरूप प्रतिपादन करता रहे ॥ १७० ॥ तथा श्रेष्ठ आचरण धारण करनेके लिये सबको प्रेरणा करता रहे, बुरे आचरणोंको निवारण करता रहे और किये हुये पाप रूप मलोंको शोधता रहे अर्थात् प्रायश्चित्तादिके द्वारा सबके दोष दूर करता रहे, इसप्रकार वह सब संघका पालन करे ॥ १७१ ॥ (यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहण क्रिया है) तदनंतर— इसप्रकार चारों प्रकारके संघका पालन करते हुये उस उत्तम आचार्यको अपने गुरुके स्थानपर प्राप्त होनेके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये ॥ १७२ ॥ जिसने समस्त विद्यायें पढली हैं तथा उस आचारांग सूत्रोंकी विद्याको जानलेवाले उत्तम उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं और जो आचार्य पदके सर्वथा योग्य है ऐसे शिष्यको बुलाकर उसे अपना आचार्यपदका सब भार समर्पण कर दे अ-

मतात्सोऽपि गुरुस्थानमधिष्ठितः । गुरुवृत्तौ स्वयं तिष्ठेद्वर्तयेत्सकलं गणं ॥ १७४ ॥ इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ॥ तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिद्व्यथः । कुर्यादेकविहारी स निःसगत्वात्मभावना ॥ १७५ ॥ निःसगवृत्तिरेकाकी विहरन्स महातपाः ॥ चिकीर्षुरात्मसस्कारं नान्य सस्कर्तुमर्हति ॥ १७६॥ अपि राग समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः सँश्चर्याशुद्धिं तदाऽश्रयेत् ॥ १७७ ॥ इति निःसंगत्वात्मभावना ॥ कृत्वैवमात्मसस्कार ततः सँल्लेखनोद्यत' ॥ कृतात्मशुद्धिरध्यात्म योगनिर्वाणमाप्नुयात् ॥ १७८ ॥ योगो ध्यान तदर्थो यो यत्नः सँवेगपूर्वक' । तमाहुर्योगनिर्वाणसंप्राप्त परम

र्थात् उसे आचार्य पद देदे ॥ १७३ ॥ गुरुकी आज्ञानुसार वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर (आचार्यपदपर) विराजमान होवे, गुरुके सब आचरणोंको स्वयं आचरण करे और सब संघको धर्मानुसार चलावे ॥ १७४ ॥ (यह उनतीसवीं स्वगुरुस्थानावाप्ति क्रिया है) इसप्रकार जिसने अपने पदका सब भार अपने शिष्यको सोंप दिया है, जो किसी कालमें भी किसी तरहका दुःख नहीं करता, सदा अकेला विहार करता है ऐसे उस परम साधुको " मेरा आत्मा सब तरहके परिग्रहसे रहित है " इस प्रकारकी भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १७५ ॥ समस्त परिग्रहरहित जिसकी वृत्ति है, जो अकेला ही विहार करता है, महा तपश्चरण करता है और जो केवल अपने आत्माका संस्कार करना चाहता है उसे अन्य किसी तरहसे संस्कार नहीं करना चाहिये ॥ १७६ ॥ शिष्य पुस्तक आदि सबसे राग छोडकर और निर्ममत्व भावनामें अपनी एकाग्र बुद्धि लगाकर उससमय उसे चारित्रकी विशुद्धता धारण करनी चाहिये ॥ १७७ ॥ [यह तीसवीं निःसंगत्वात्मभावना क्रिया है) इसप्रकार जिसने अपने आत्माका संस्कार किया है जो समाधिमरण धारण करनेके लिये तत्पर हुआ है और जिसने अपने आत्माकी विशुद्धि धारण की है ऐसा वह साधु अपने आत्मामें योगनिर्वाणको प्राप्त होता है अथवा अध्यात्मरूप योगनिर्वाणको प्राप्त होता है॥ १७८ ॥ योग नाम ध्यानका है उस ध्यानके लिये जो संवेगपूर्वक प्रयत्न किया जाता है उस परम तपको योगनिर्वाणसंप्राप्ति कहते हैं॥ १७९ ॥ प्रथम ही शरीरको

तपः ॥ १७९ ॥ कृत्वा परिकर योग्य तनुशोधनपूर्वकं । शरीर कर्शयेद्दोषैः सम रागादिभिस्तदा ॥ १८० ॥ तदेतद्योगनिर्वाणं संन्यासे पूर्वभावना । जीविताशा मृतीच्छा च हित्वाभव्याकलब्धये ॥ १८१ ॥ रागद्वेषौ समुत्सृज्य श्रेयोऽवाप्तौ च सश्रयेत् । अनात्मीयेषु चात्मीयसंकल्पाद्विरमेत्तदा ॥ १८२ ॥ नाह देहो मनो नास्मि न वाणी न च कारण । तत्त्रयस्येत्यनुद्विग्नो भजेदन्यत्वभावना ॥ १८३ ॥ अहमेको न मे कश्चिन्नैवाहमपि कस्यचित् । इत्यदीनमनाः सम्यगेकत्वमपि भावयेत् ॥ १८४ ॥ मतिमावाय लोकाग्रे नित्यानतसुखास्पदे । भावयेद्योगनिर्वाण स योगी योगसिद्धये ॥ १८५ ॥ इति

शुद्ध करना चाहिये (विरेचन वा वस्तिकर्मके द्वारा उदर शुद्ध करना चाहिये) फिर सल्लेखनाके योग्य आचरण करके उससमय रागादि दोषोंके साथ साथ शरीरको कृश करना चाहिये अर्थात् राग द्वेष छोडकर आहारादिका त्यागकर शरीरको कृश करना चाहिये ॥ १८० ॥ जीवित रहनेकी आशा और मरनेकी इच्छा छोडकर " यह भव्य है " इसप्रकारकी विरुदावली प्राप्त होनेके लिये जो संन्यास धारण करनेके पहिले भावना की जाती है उसे योग निर्वाण कहते हैं ॥ १८१ ॥ उससमय उसे राग और द्वेष छोड देना चाहिये, अपने आत्माका कल्याण प्राप्त होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये और जो स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि आत्माके नहीं हैं उनमें ये मेरे हैं इस संकल्पका त्याग कर देना चाहिये ॥ १८२ ॥ मैं शरीर नहीं हूं, मन नहीं हूं, वाणी नहीं हूं, और न इन तीनोंके कारणस्वरूप हूं इसप्रकार इन मन वचन काय तीनोंमें उद्विग्न न होकर 'मैं सबसे भिन्न हूं' ऐसी अन्यत्व भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८३ ॥ इस संसारमें मैं अकेला हूं, न मेरा कोई है और न मैं किसीका हूं इसप्रकार उदारचित्त होकर अच्छीतरहसे एकत्व भावनाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८४ ॥ लोकके अग्रभागपर जो नित्य और अनंत सुखका स्थान मोक्ष है उसमें अपनी बुद्धि स्थापनकर उस योगीको अपना योग सिद्ध करनेके लिये योगनिर्वाण नामकी क्रियाका चिंतवन करना चाहिये ॥ १८५ ॥ (यह एकतीसवीं योग निर्वाणसंप्राप्ति क्रिया है) तदनंतर—चारोंप्रका-

निर्वाणसंप्राप्तिः ॥ ततो निःशेषमाहारं शरीरं च समुत्सृजन् । योगींद्रो योगनिर्वाणसाधनायोद्यतो भवेत् ॥ १८६ ॥ उत्तमार्थे कृतास्थानः संन्यस्ततनुरुद्धधीः । ध्यायन्मनोवचःकायान्बहिर्भूतान्स्वकान्स्वत ॥ १८७ ॥ प्रणिधाय मनोवृत्तिं पदेषु परमेष्ठिनां । जीविताते स्वसात्कुर्याद्योगनिर्वाणसाधन ॥ १८८ ॥ योगः समाधिर्निर्वाण तत्कृता चित्तनिर्वृतिः । तेनेष्टसाधन यत्तद्योगनिर्वाणसाधन ॥ १८९ ॥ इति योगनिर्वाणसाधनं ॥ तथा योगं समाधाय कृतप्राणविसर्जनः । इंद्रोपपादमाप्नोति गते पुण्ये पुरोगता ॥ १९० ॥ इंद्राः स्युस्त्रिदशाधीशास्तेषूत्पादस्तपोबलात् । यः स इंद्रोपपादः स्या-

---

रके आहार और शरीरका त्याग करता हुआ वह योगिराज योगनिर्वाण साधनके लिये उद्यत हो ॥ १८६ ॥ जिसने संन्यास धारण करनेमें आदर किया है, शरीरसे ममत्वका त्याग कर दिया है और जिसकी बुद्धि उत्तम है ऐसे उस योगिराजको अपने मन बचन काय अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न चिंतवन करने चाहिये ॥ १८७ ॥ अपने मनकी प्रवृत्ति पंच परमेष्ठियोंके चरण कमलोंमें रखनी चाहिये और जीवनके अंतिम समयमें योगनिर्वाण साधन स्वीकार करना चाहिये वा धारण करना चाहिये ॥ १८८ ॥ योग समाधिको कहते हैं, उस समाधिके द्वारा जो चित्तको आनंद होता है उसे निर्वाण कहते हैं, यह योगनिर्वाण स्वर्ग मोक्षादि इष्ट पदार्थोंका साधन वा कारण है इसलिये इसे योगनिर्वाण साधन कहते हैं ॥ १८९ ॥ [यह बत्तीसवीं योगनिर्वाण साधन क्रिया है] ऊपर लिखे अनुसार मन बचन कायके योगोंकी समाधि लगाकर और प्राणोंका त्यागकर पुण्यके अग्रेसर होनेसे अर्थात् आगे आगे पुण्य चलनेसे वह योगी इंद्रोपपाद (इंद्र पदमें उत्पन्न होना) क्रियाको प्राप्त होता है ॥ १९० ॥ देवोंके स्वामीको इंद्र कहते हैं, तपश्चरणके बलसे उस इंद्रपदमें उत्पन्न होना इंद्रोपपाद कहलाता है, वह इंद्रोपपाद क्रिया भगवान अरहंत देवके मोक्षमार्गको सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥ १९१ ॥ तदनंतर अर्थात् इंद्रपदमें उत्पन्न होनेके अनंतर क्षणभरमें ही वह पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त हो जाता है और दिव्य तेजके द्वारा देदीप्यमान होता हुआ वह परम आनंदमें मग्न

त्क्रियाऽर्हन्मार्गसेविना ॥ १९१ ॥ ततोऽसौ दिव्यशय्याया क्षणादापूर्णयौवनः । परमानंदसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥ १९२ ॥ अणिमादिभिरष्टाभिर्युतोऽसाधारणैर्गुणैः । सहजावरदिव्यस्रङ्मणिभूपणभूपितः ॥ १९३ ॥ दिव्यानुभावमभूतप्रभाव परमुद्वहन् । वोवुध्यते तदाऽत्मीयमैंद्र दिव्यावधित्विषा ॥ १९४ ॥ इति इंद्रोपपादक्रिया ॥ पर्याप्तमात्र एवाय प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिंद्राभिषेकेण योज्यतेऽमरसत्तमैः ॥ १९५ ॥ दिव्यसंगीतवादित्रमंगलोद्गीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनृत्तैर्निवृत्तेंद्राभिषेचनः ॥ १९६ ॥ तिरीटमुद्वहन् दीप्र स्वसाम्राज्यैकलाछनं । सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥ १९७ ॥ स्रग्वी सदंशुको दीप्रैर्भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐंद्रविष्टरमारूढो महानेष महीयते ॥ १९८ ॥ इति इंद्राभिषेकः ॥ ततोऽयमानतानेता

हो जाता है ॥ १९२ ॥ अणिमामहिमा आदि जो असाधारण आठ गुण हैं उनसे वह विभूषित होता है और साथ साथ उत्पन्न हुये वस्त्र, दिव्यमाला और मणियोंके आभूषणोंसे वह सदा सुशोभित रहता है ॥ १९३ ॥ जव वह दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुये उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता है तव दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा " मैं इंद्रपदमें उत्पन्न हुआ हूं " ऐसा उसे मालूम पडता है ॥ १९४ ॥ (यह तेतीसवीं इंद्रोपपाद क्रिया है) पर्याप्ति पूर्ण होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे उस इंद्रका फिर उत्तम देव लोग इंद्राभिषेक करते हैं १९५ ॥ दिव्य संगीत, दिव्य वाजे, दिव्य मंगलगीतोंके शब्द और विचित्र अप्सराओंके नृत्योंसे वह इंद्रका अभिषेक समाप्त किया जाता है ॥ १९६ ॥ तदनंतर वह अपने साम्राज्यका एक चिन्ह ऐसा देदीप्यमान मुकुट धारण करता है और आनंदको प्राप्त हुये करोडों देवता उसका जयजयकार मनाते हैं अर्थात् उसकी जय बोलते हैं ॥ १९७ ॥ माला पहिने हुये, उत्तम वस्त्र धारण किये हुये और देदीप्यमान दिव्य आभूषणोंसे सुशोभित ऐसा वह इंद्रके सिंहासनपर विराजमान होता है और उससमय वह वहुत ही पूज्य समझा जाता है ॥ १९८ ॥ (यह चौंतीसवीं इंद्राभिषेक क्रिया है) तदनंतर—नमस्कार करते हुये इन उत्तम उत्तम देवोंका आदर सत्कारकर उन्हें अपने अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इंद्र विधिदान

न्सत्कृत्य सुरसत्तमान्। पदेषु स्थापयन्स्वेषु विधिदाने प्रवर्तते ॥ १९९ ॥ स्वविमानर्द्धिदानेन प्रीणितैर्विबुधैर्वृत। सोऽनुभुंक्ते चिरं कालं सुकृती सुखमामरं ॥ २०० ॥ तदेतद्विधिदानेंद्रसुखोदयविकल्पितं। क्रियाद्वय समाम्नात स्वर्लोकप्रभवोचित ॥ २०१ ॥ इति विधिदानसुखोदयौ ॥ प्रोक्तास्त्विद्रोपपादाभिषेकदानसुखोदयाः। इद्रत्यागाख्यमधुना सप्रवक्ष्ये क्रियातर ॥ २०२ ॥ किंचिन्मात्रावशिष्टाया स्वस्यामायुःस्थितौ स्वराट्। वुध्वा स्वर्गावतारस्व सोऽनुशास्त्यमरानिति ॥ २०३ ॥ भो भोः सुधाशना यूयमस्माभिः पालिताश्चिर। केचित्पित्रीयिताः केचित्पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥ २०४ ॥ पुरोधोमंत्र्यमात्याना पदे केचिन्नियोजिताः। वयस्यपीठमर्दीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥ १०५ ॥ स्वप्राणनिर्विशेषं च केचित्त्राणाय संमताः। केचिन्मान्यपदे दृष्टाः

क्रियामें प्रवृत्त होता है, भावार्थ-वह इंद्र उन सब देवोंको अपने अपने पदपर नियुक्त करता है यही विधिदान क्रिया है ॥ १९९ ॥ अपने अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे अत्यंत संतुष्ट हुये ऐसे सब देवोंसे वेष्टित वह पुण्यवान इंद्र बहुत दिनतक स्वर्गोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥ २०० ॥ इसप्रकार स्वर्गलोकमें उत्पन्न होनेके योग्य ऐसी ये विधिदान और इंद्रसुखका उदय इन भेदोंसे दो क्रियायें निरूपण कीं ॥ २०१ ॥ (ये विधिदान और सुखोदय नामकी पेंतीसवीं और छत्तीसवीं क्रियायें हैं) इसप्रकार इंद्रोपपाद, इंद्राभिषेक विधिदान और सुखोदय ये इंद्रकी चार क्रियायें निरूपण कीं अब इंद्रत्याग नामकी जो अलग क्रिया है उसे निरूपण करता हूं ॥ २०२ ॥ इंद्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोडी वाकी रही है ऐसा समझ लेता है और अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंको इसप्रकार शिक्षा वा आज्ञा देता है ॥ २०३ ॥ कि भो देवो! तुम लोगोंको मैंने बहुत दिनसे पालन किया है कितने ही देवोंको मैंने पिताके समान माना है, कितने देवोंको पुत्रके समान बडे प्रेमसे खिलाया है ॥ २०४ ॥ कितने ही देवोंको पुरोहितके स्थानपर, कितनोंहीको मंत्रीके स्थानपर और कितनोंहीको अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितनोंहीको मित्रके समान देखा है और कितनोंहीको अपने समान माना है ॥ २०५ ॥ कितनेही देवोंको अपने प्राणोंके समान मान-

पालका' स्वर्निवासिनां ॥ २०६ ॥ केचिच्चमूचरस्थाने केचिच्च स्वजनास्थया ।' प्रजासामान्यमन्ये च केचिच्चानुचराः पृथक् ॥ २०७ ॥ केचित्परिजन-स्थाने केचिच्चांतःपुरेचराः । काश्चिद्वल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥ २०८ ॥ इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु दर्शिता । स्वामिभक्तिश्च युष्माभिर्म-य्यसाधारणी धृता ॥ २०९ ॥ सांप्रत स्वर्गभोगेषु गतो मदेच्छतामह । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरद्य भूलोकगोचरा ॥ २१० ॥ युष्मत्साक्षि ततः कृत्स्नं स्वःसाम्राज्य मयोज्झित । यश्चान्यो मत्समोभावी तस्मै सर्वं समर्पितं ॥ २११ ॥ इत्यनुत्सुकता तेषु भावयन्ननुशिष्य तान् । कुर्वन्निंद्रपदत्याग स व्यथा नैति धीरधीः ॥ २१२ ॥ इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वभोगातिसर्जन । धीरास्त्यजत्यनायासादैश्यं तादृशमप्यहो ॥ २१३ ॥ इति इन्द्रत्यागः ॥

कर अपने शरीरकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया, और कितनों हीको देवोंके रक्षा करनेके लिये कोटपालके स्थानपर देखा अर्थात् नियुक्त किया ॥ २०६ ॥ कितनोंही को सेनापतिके स्थानपर नि-युक्त किया, कितनोंहीको स्वजन माना, कितनों हीको सामान्य प्रजाके समान जाना और कितनों ही को अलग अलग सेवक नियुक्त किया ॥ २०७ ॥ कितनेही देवोंको परिजन [कुटंबी] के स्थान पर और कितनों हीको अंतःपुरमें (रणवासमें) रहनेवालोंकी जगहपर नियुक्त किया, कितनी ही देवियोंको वल्लभिका बनाया और कितनी ही देवियोंको महादेवीके स्थानपर नियुक्त किया ॥ २०८ ॥ इसप्रकार मैंने तुम लोगोंमें असाधारण प्रीति दिखलाई है और तुम लोगोंने भी मुझमें असाधरण स्वामिभक्ति धारण की है ॥ २०९ ॥ अब इससमय मेरी इच्छा समस्त भोगोंमें मंद पड गई है और अवश्य ही आज पृथ्वीलोकमें रहनेवाली लक्ष्मी मेरे समीप आ रही है ॥ २१० ॥ इसलिये मैं आज तुम लोगोंकी साक्षी पूर्वक यह समस्त अपना साम्राज्य छोड देता हूं और जो मेरे पीछे मेरे समान ही दूसरा इंद्र होनेवाला है उसके लिये यह सब समर्पण कर देता हूं ॥ २११ ॥ इसप्रकार उन सब देवोंमें अपनी अनिच्छाका चिंतवन करता हुआ उन सबको शिक्षा दे और निश्चल बुद्धिवाला वह इंद्रपदका त्याग करता हुआ कभी दुखी न हो ॥ २१२ ॥ इसप्रकार जो स्वर्गोंके भोगोंका त्याग

अवतारक्रियाऽस्यान्या ततः संपरिवर्तते । कृतार्हत्पूजनस्याते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥ २१४ ॥ सोऽहं नृजन्मसम्प्राप्त्या सिद्धिं द्रागभिलाषुकः । चेतः सिद्धनमस्याया समाधत्ते सुराधिराट् ॥ २१५ ॥ शुभैः षोडशभिः स्वप्नैः ससूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्या कल्याणीमश्नुते क्रियां ॥ २१६ ॥ इति इंद्रावतार. ॥ ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयित्र्या महादेव्याः श्रीदेवीभिर्विशोधिते ॥ २१७ ॥ हिरण्यवृष्टिं धनदे प्राक् षण्मासान्प्रवर्षति । अन्वायात्यामिवानदात्स्वर्गसंपदि भूतल ॥ २१८ ॥ अमृतश्वसने मदमायाति व्याप्तमारुते । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रक्लृप्ते पवनामरैः ॥ २१९ ॥

करना है वह यह इंद्रत्याग क्रिया कहलाती है, यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर लोग स्वर्गके ऐसे उत्कृष्ट ऐश्वर्यको भी अनायास ही छोड देते हैं ॥ २१३ ॥ (यह सेंतीसवीं इंद्रत्याग क्रिया है) तदनंतर–जो वह इंद्र भगवान अरहंत देवकी पूजन करनेके वाद स्वर्गसे च्युत होना चाहता है उसके आगेकी अवतार क्रिया प्रवृत्त होती है ॥ २१४ ॥ मैं मनुष्य जन्म पाकर बहुत शीघ्र सिद्ध (मुक्त) होना चाहता हूं यही समझकर वह इंद्र अपना चित्त सिद्ध भगवानको नमस्कार करनेमें लगाता है ॥ २१५ ॥ शुभ सोलह स्वप्नोंसे जिसने अपना महोदय सूचित किया है ऐसा वह इंद्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है, भावार्थ–वह वहांसे च्युत होकर माताके गर्भमें आता है ॥ २१६ ॥ (यह अडतीसवीं इंद्रावतार क्रिया है) तदनंतर–वे माता महादेवीके श्री ऱ्ही आदि देवियोंके द्वारा विशुद्ध किये हुये रत्नोंकी कोठरीके समान गर्भमें आकर अवतार लेते हैं ॥ २१७ ॥ गर्भमें आनेके छह महीने पहिलेसे कुबेर उनके घरपर रत्नोंकी वर्षा करता है वह रत्नोंकी वर्षा ऐसी जान पडती है मानों आनंदसे स्वर्गकी संपदा ही भगवानके साथ साथ पृथ्वीपर आ रही हो ॥ २१८ ॥ उससमय अमृतके समान सुख देनेवाला मंद मंद वायु फैलकर समस्त संसारमें बहता है और ऐसा जान पडता है मानों वायुकुमार देवोंके द्वारा पृथ्वीरूपी देवीका निश्वास ही निर्मापण किया गया हो ॥ २१९ ॥ आकाशमें बजते हुये दुंदुभियोंकी गंभीर आवाज

दुंदुभिध्वनिते मंद्रमुत्थिते पथि वार्मुचा । अकालस्तनिताशंकामातन्वति शिखडिना । २२० ॥ मंदारस्रजमम्लानिमामोदाहृतषट्पदां । मुंचत्सु गुह्यकाख्येषु निकायेष्वमृताशिना ॥ २२१ ॥ देवीषूपचरंतीषु देवीं भुवनमातर । लक्ष्म्या स्वय समागत्य श्रीन्हीधीधृतिकीर्तिषु ॥ २२२ ॥ कस्मिंश्चित्सुकृतावासे पुण्ये राजर्षिमंदिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥ २२३ ॥ हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्यत्वात्स तथा श्रुतिं । बिभ्राणा ता क्रिया धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिबोधभृत् ॥ २२४ ॥ इति हिरण्यजन्मता ॥ विश्वेश्वरी जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमगला चेति धत्ते रूढिं जिनाविका ॥ २२५ ॥ कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीन्हीधीधृतिकीर्तय । समं लक्ष्म्या षडेताश्च संमता जिनमातृकाः ॥ २२६ ॥ जन्मानतरमायातैः सुरेंद्रैर्मेरुमूर्द्ध-

---

फैलती है और असमयमें ही मयूरोंको वादलोंके गरजनेकी शंका उत्पन्न करती है ॥.२२० ॥ जिस समय देवोंमेंसे गुह्यक जातिके देव जो कभी मलिन नहीं होते, जिन्होंने अपनी सुगंधसे सव भ्रमरोंको अपनी ओर खींच लिया है ऐसे कल्पवृक्षोंके फूलोंकी वर्षा करते हैं ॥ २२१ ॥ जिस समय लक्ष्मी देवीके साथ साथ श्री, न्ही, धृति, बुद्धि और कीर्ति ये देवियां आकर संसारकी माता ऐसी उस महादेवीकी सेवा करती हैं ॥ २२२ ॥ उस समय किसी पुण्यस्थानमें पुण्यस्वरूप राजर्षिके राजभवनमें वे हिरण्यगर्भ भगवान हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥ २२३ ॥ हिरण्य अर्थात् सुवर्ण वा रत्नोंकी वर्षा होनेसे उस जन्मकी उत्तमता सूचित होती है इसलिये ही इस भगवानके जन्मको हिरण्योत्कृष्ट जन्म कहते है, इसप्रकार गर्भमें ही मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाले वे भगवान ' हिरण्योत्कृष्ट जन्म ' इस नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ।। २२४ ॥ (यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्टजन्मता क्रिया है) उससमय वह भगवानकी माता विश्वेश्वरी अर्थात् संसारकी स्वामिनी, जगतमाता, महादेवी, महासती, पूज्या, और सुमंगला (उत्तम कल्याण करनेवाली) इत्यादि नामोंको धारण करती है ॥ २२५ ॥ छह कुल पर्वतोंपर रहनेवालीं श्री, न्ही, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मीदेवी ये छह देवियां जिनमातृका वा माताकी सेवा

नि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥ २२७ ॥ मंदरेंद्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिन. । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद्भूयो नेह प्रतन्यते ॥ २२८ ॥ इति मदरेंद्राभिषेक. ॥ ततो विद्योपदेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । शिष्यभावव्यतिक्रातिर्गुरुपूजोपलभनं ॥ २२९ ॥ तदेंद्राः पूजयंत्येतं त्रातार त्रिजगद्गुरु । अशिक्षितोऽपि देवत्वं समतोऽसीति विस्मिताः ॥ २३० ॥ इति गुरुपूजनं ॥ तत' कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलभनं । पट्टबधोऽभिषेकश्च तदाऽस्य स्यान्महौजसः ॥ २३१ ॥ इति यौवराज्यं ॥ स्वराज्यमधिराज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीश्वरैः । शासतः सार्णवामेना क्षितिमप्र-

---

करनेवाली कहलाती हैं ॥ २२६ ॥ भगवानके जन्म लेते ही जो सव देव और इंद्र आते हैं तथा मेरुपर्वतके मस्तकपर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवानका अभिषेक करते हैं वह उन परमेष्ठीकी मंदराभिषेक नामकी क्रिया कहलाती है वह मंदराभिषेक क्रिया प्रसिद्ध है, (भगवान वृषभदेवके जन्म के समय पहिले कह चुके हैं) इसलिये फिर दुवारा उसका विस्तार नहीं करते हैं ॥ २२७–२२८ ॥ (यह चालीसवीं मंदराभिषेक क्रिया है) तदनंतर–स्वयंभू और स्वतंत्र वे भगवान् विद्याके उपदेशको प्राप्त होते हैं, शिष्यभावके विना ही अर्थात् विना किसीके शिष्य वने वे भगवान गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् सवके गुरु वनकर पूज्य होते हैं ॥ २२९ ॥ उससमय सव इंद्र आकर " हे देव ! आप विना शिक्षा प्राप्त किये ही हम लोगोंको मान्य हैं " इसप्रकार कहते हुये आश्चर्यके साथ साथ तीनों जगतके गुरु और सबकी रक्षा करनेवाले ऐसे उन भगवानकी पूजा करते हैं ॥ २३० ॥ (यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है) तदनंतर–कुमारकाल प्राप्त होनेपर उनको युवराजकी प्राप्ति होती है उससमय अत्यंत तेजस्वी ऐसे उन भगवानका पट्टबंध किया जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥ २३१ ॥ यह बियालीसवीं यौवराज्य क्रिया है । तदनंतर–सव राजा लोगोंने सम्राट्के स्थानपर जिनका अभिषेक किया है और जो जिसपर अन्य किसीकी आज्ञा नहीं चलती ऐसी समुद्र सहित इस समस्त पृथ्वीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवानके स्वराजकी प्राप्ति होती है ॥२३२ ॥(यह तेतालीसवीं

श्चापि बिभ्राणः कुलक्ष्माध्रद्वयायितं ॥ २४६ ॥ कटिमंडलसंसक्तलसत्कांचीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपांतरत्नवेदीपरिष्कृत. ॥ २४७ ॥ मंदारकुसुमामोदलग्नालिकुलझंकृतैः । किमप्यारब्धसंगीतमिव शेखरमुद्वहन् ॥ २४८ ॥ तत्कालोचितमन्यच्च दधन्मंगलभूषण । स तदाऽऽलक्ष्यते साक्षाल्लक्ष्म्याः पुंज इवोच्छिखः ॥ २४९ ॥ प्रीताश्चाभिष्टुवत्येन तदाऽमी नृपसत्तमाः । विश्वंजयो दिशाजेतादिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥ २५० ॥ पौराः प्रकृतिमुख्याश्च कृतपादाभिषेचनाः । तत्क्रमार्चनमादाय कुर्वंति स्वशिरोधृतं ॥ २५१ ॥ श्रीदेव्यश्चसरिद्देव्यो देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगैः स्वैस्तदैन पर्युपास-

अर्थात् कंधे ऊंचे होते हैं और कुलपर्वत जिस प्रकार लंबाईमें प्रशंसनीय हैं उसीप्रकार वे भुजायें भी लंबाईमें प्रशंसनीय होती हैं इसप्रकारकी कडोंसे सुशोभित भुजायें वे धारण करते हैं॥ २४६ ॥ कमरपर सटी हुई दैदीप्यमान करधनीसे वे ऐसे जान पडते हैं मानों चारों ओर रत्नकी वेदीसे घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो ॥ २४७ ॥ मंदार जातिके फूलोंसे वना हुआ ऐसा शेखर धारण करते हैं जो उस शेखरमें लगे हुये फूलोंकी सुगंधके कारण आये हुये भ्रमरोंके समूहके झंकरोंसे ऐसा जान पडता है मानों उसने कुछ गाना ही प्रारंभ किया हो ॥ २४८ ॥ वे उससमयके योग्य ऐसे और भी मांगलिक आभूषण धारण करते हैं और इसलिये उससमय वे ऐसे जान पडते हैं मानों जिसकी शिखा ऊंची है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुंज वा ढेर (समूह) ही हो ॥ २४९ ॥ उससमय अन्य उत्तम उत्तम राजा लोग संतुष्ट होकर " आपने समस्त संसार जीत लिया है, आप सव दिशाओंके जीतनेवाले हैं और दिव्य मूर्ति हैं " इसप्रकार उनकी स्तुति करते हैं ॥ २५० ॥ मंत्रियोंमें मुख्य मुख्य मंत्री और नगरवासी लोग उनके चरणोंका अभिषेक करते हैं और उनका चरणोदक लेकर अपने अपने मस्तक पर रखते हैं ॥ २५१ ॥ श्री ह्री आदि देवियां, गंगा सिंधु आदि देवियां तथा विश्वेश्वरा आदि देवियां अपने अपने नियोगके अनुसार आकर उनकी सेवा करती हैं ॥ २५२ ॥ (यह छ्यालीसवीं चक्राभिषेक क्रिया है) इसप्रकार यह एक चक्राभिषेक नामकी क्रिया कही, उसके बाद अब उसकी

ते ॥ २५२ ॥ इति चक्राभिषेकः ॥ चक्राभिषेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनंतरमस्य स्यात्साम्राज्याख्यं क्रियांतरं ॥ २५३ ॥ अपरेद्युर्दिनारंभे धृतपुण्यप्रसाधनः । मध्येमहान्नृपसभ नृपासनमधिष्ठितः ॥ २५४ ॥ दीप्रैः प्रकीर्णकव्रातैः स्वर्धुनीसीकरोज्वलैः । वारनारीकराधूतैर्वीज्यमानः समंततः ॥ २५५ ॥ सेवागतैः पृथिव्यादिदेवतांशैः परिष्कृतः । धृतिप्रशातिदीप्त्योजोनिर्मलत्वोपपादिभिः ॥ २५६ ॥ तान् प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । संमानदानविश्रंभैः प्रकृतीरनुरंजयन् ॥ २५७ ॥ पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः । अन्यायेषु प्रवृत्तिश्चेद्वृत्तिलोपो ध्रुव हि वः ॥ २५८ ॥ न्यायश्च द्वितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालन । सोऽय सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥ २५९ ॥ दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्युर्वि-

---

साम्राज्य नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं ॥ २५३ ॥ दूसरे किसी दिन प्रातःकालके समय जिन्होंने पवित्र अलंकार धारण किये हैं ऐसे वे महाराज बडे बडे राजाओंकी सभाके बीचमें सिंहासनपर विराजमान हों ॥ २५४ ॥ उससमय अत्यंत दैदीप्यमान, गंगा नदीके जलकी छींटोंके समान उज्वल और गणिकाओंके हाथसे ढुलाये जारहे ऐसे अनेक चमर उनपर ढुलाये जाने चाहिये ॥ २५५ ॥ धीरता, शांति, दीप्ति, पराक्रम और निर्मलता आदि गुणोंको उत्पन्न करनेवाले क्रमसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनकी विक्रियासे बने हुये शरीरोंसे वेष्ठित वे महाराज उन देवताओंको समाधान पूर्वक सदा प्रजाके अनुग्रह करनेमें लगाते हैं तथा आदरसत्कारकर दान देकर और स्नेह वा विश्वास दिलाकर प्रजाको प्रसन्न करते हैं ॥ २५६–२५७ ॥ जो राजा महाराजा लोग आकर नमस्कार करते हैं उन्हें वे शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि तुम लोग अन्यायमें अपनी प्रवृति रक्खोगे तो अवश्य ही तुम लोगोंकी वृत्तिका लोप हो जायगा अर्थात् तुम्हारा राज्य नष्ट हो जायगा ॥ २५८ ॥ न्याय दो प्रकारका है एक दुष्ट पुरुषोंको निग्रह करना अर्थात् उन्हें दंड देना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना, यह दो प्रकारका क्षत्रियोंका सनातन धर्म है, राजाओंको इस धर्मकी रक्षा अच्छीतरह करनी चाहिये ॥ २५९ ॥ राजा-

धानतः । ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यभावुको जय ॥ २६० ॥ राजवृत्तिमिमां सम्यक्पालयद्भिरतन्द्रितैः । प्रजासु वर्तितव्यं भो भवद्भिर्न्यायवर्त्मना ॥ २६१ ॥ पालयेद्य इम धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्ष्मा जयेद्विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविक ॥ २६२ ॥ इहैवं स्याद्यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमुत्राभ्युदयावाप्तिः क्रमात्त्रैलोक्यनिर्जयः ॥ २६३ ॥ इति भूयोऽनुशिष्यैतान्प्रजापालनसंविधौ । स्वय च पालयत्येतान्योगक्षेमानुचिंतनै. ॥ २६४ ॥ तदिद तस्य साम्राज्यं नाम धर्म्यं क्रियातर । येनानुपालितेनायमिहामुत्र च नंदति ॥ २६५ ॥ इति साम्राज्य ॥ एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयत-

---

ओंको अग्निवाण आदि जो दिव्य शस्त्र हैं उनके इन देवताओंको भी विधि पूर्वक आराधन करना चाहिये क्योंकि यदि उन दिव्य शस्त्रोंके अधिष्ठाता देवता प्रसन्न हो जायंगे तो फिर युद्धमें अवश्य ही जीत हो जायगी ॥ २६० ॥ इस राजवृत्तिको (राजाओंके कर्तव्योंको) अच्छीतरह पालन करते हुये आप लोग आलस्य छोडकर प्रजाके साथ न्यायमार्गसे अपना वर्ताव करो ॥ २६१ ॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है और इसप्रकार जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी जीविका है ऐसा वह क्षत्रिय समस्त पृथ्वीको जीत लेता है ॥ २६२ ॥ इसप्रकार न्यायपूर्वक राजधर्म पालन करनेसे इस संसारमें उसे यश मिलता है, वहुतसी पृथ्वीका लाभ होता है अर्थात् वहुतसी पृथ्वी जीत लेता है और जिसकी प्रशंसातक न होसके ऐसे महोदय (उन्नति) की प्राप्ति होती है, तथा परलोकमें स्वर्गादि अभ्युदयकी प्राप्ति होती है और अनु क्रमसे वह तीनों लोकोंको जीत लेता है अर्थात् सिद्ध पद पाकर तीनों लोकोंके ऊपर जा विराजमान होता है ॥ २६३ ॥ इसप्रकार वे महाराज प्रजाको पालन करनेकी रीतियोंके विषयमें उन राजा लोगोंको वार वार शिक्षा देते हैं और योग अर्थात् जो वस्तु नहीं है उसकी प्राप्ति करना और क्षेम अर्थात् जो वस्तु प्राप्त हुई है उसकी रक्षा करना इन दोनोंको रातादिन चिंतवन करते हुये उन राजा लोगोंका पालन करते हैं ॥ २६४ ॥ इसप्रकार धर्मसे प्राप्त हुई यह उनकी साम्राज्य नामकी क्रिया

श्चिर । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥ २६६ ॥ सैषा निष्क्रांतिरस्येष्टा क्रिया राज्याद्विरज्यतः । लौकांतिकामरैर्भूयो बोधितस्य समागतैः ॥ २६७ ॥ कृतराज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ पार्थिवसाक्षिक । संतानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनं ॥ २६८ ॥ त्वया न्यायधनेनाग भवितव्य प्रजाधृतौ । प्रजा कामदुघाधेनुर्मता न्यायेन योजिता ॥ २६९ ॥ राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन धनार्जन । वर्धन रक्षण चास्य तीर्थेच प्रतिपादनं ॥ २७० ॥ प्रजाना पालनार्थं च मत मत्यनुपालन । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥ २७१ ॥ ततः कृतेंद्रियजयो वृद्धसंयोगसपदा । धर्मार्थशास्त्रविज्ञानात्

है, इस क्रियाके पालन करनेसे यह जीव इस लोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख संपत्तियोंको प्राप्त होता है ॥ २६५ ॥ (यह सेंतालीसवीं साम्राज्य क्रिया है) इसप्रकार बहुत दिनतक राजा लोगोंका पालन करते हुये वे महाराज किसी समय भेद ज्ञान होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उद्यमी होते हैं ॥ २६६ ॥ जो राज्यसे विरक्त हुये हैं और आये हुय लौकांतिक देव फिर भी जिन्हें प्रबोध करा रहे हैं ऐसे उन भगवानकी वह निष्क्रांति वा निष्क्रमण क्रिया कही जाती है ॥ २६७ ॥ वे महाराज सब राजाओंकी साक्षी पूर्वक अपने वडे पुत्रको राज्य समर्पण करते हैं और फिर संतान पालन करनेके लिये उसे इसप्रकार शिक्षा देते हैं ॥ २६८ ॥ कि हे पुत्र ! प्रजाके पालन करनेमें तू न्याय रूपी धनसे काम लेना अर्थात् न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करना क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा कामधेनु गायके समान इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाली मानी जाती है ॥ २६९ ॥ हे पुत्र ! मैं जो आगे कहता हूं उन्हें ही तू राजवृत्त वा राजाओंके चरित्र समझ, और वे ये हैं, न्यायपूर्वक धनका उपार्जन करना, उपार्जन किये हुये धनको वढाना, रक्षा करना और सिद्धक्षेत्र आदि तीर्थ और योग्य पात्रोंको देना ॥ २७० ॥ प्रजाका पालन करनेके लिये सबसे पहिले अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिये, इस लोक और परलोकमें होनेवाले पदार्थोंके विषयमें हित अहितका ज्ञान होना ही बुद्धि कहलाती है, भावार्थ--ऐसी बुद्धिकी रक्षा करनेसे प्रजाका पालन अच्छीतरहसे हो सकता

प्रज्ञा संस्कर्तुमर्हसि ॥ २७२ ॥ अन्यथा विमतिर्भूयो युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥ २७३ ॥ कुलानुपालने चाय महांतं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत्कुलं ॥ २७४ ॥ तथाऽऽत्मानुरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत्सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥ २७५ ॥ अपायो हि सपत्नेभ्यो नृपस्यारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च क्रुद्धलुब्धविमानितात् ॥ २७६ ॥ तस्मादनंदतीक्ष्णादीनपायानरियोजितान् । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्व प्रयत्नेन पालयेत् ॥ २७७ ॥ स्यात्समंजनवृत्तित्वमप्यस्यात्माभिरक्षणे । असमंजसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभू-

---

है ॥ २७१ ॥ इसलिये वृद्ध पुरुषोंकी संगतिरूपी संपत्तिसे इंद्रियोंका विजय करना चाहिये और धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्रके विज्ञानसे अपनी वुद्धिका अच्छा संस्कार करना चाहिये अर्थात् अपनी वुद्धि निर्मल करनी चाहिये ॥ २७२ ॥ यदि राजा अपनी वुद्धिको निर्मल नहीं रक्खेगा तो योग्य अयोग्यका जानकर न होनेसे उसकी वुद्धि भ्रष्ट हो जायगी, अथवा वह मिथ्याज्ञानके लेशसे उद्धत हुये ऐसे अन्य लोगोंके विपरीत रूपसे वश हो जायगा अर्थात् मिथ्याज्ञानियोंके वश होकर कुमार्गगामी हो जायगा (इसलिये राजाओंको अपनी वुद्धिकी रक्षा करना सवसे पहिला काम है) ॥ २७३ ॥ राजा लोगोंको अपने कुलकी मर्यादा पालन करनेके लिये सवसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जो अपने कुलके धर्मोंको नहीं जानेगा तो वह दुराचारी होकर अवश्य ही अपने कुलको दोष लगावेगा ॥ २७४ ॥ इसीप्रकार राजाको अपनी रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये क्योंकि अपनी रक्षा करनेपर ही राजा लोग कुल, प्रजा आदि सवकी रक्षा कर सकते हैं ॥ २७५ ॥ जो राजा अपनी रक्षा नहीं करता है वह शत्रुओंके द्वारा नष्ट होता है तथा क्रोधी, लोभी और जिनका अपमान किया है ऐसे अपने ही सेवक लोगोंसे उसका नाश होता है ॥ २७६ ॥ इसलिये शत्रुओंके द्वारा किये हुये प्रारंभमें सुख देनेवाले परंतु अत्यंत कठिन ऐसे अपायोंको दूर कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्न पूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिये ॥ २७७ ॥ इसके सिवाय रा-

यते ॥ २७८ ॥ समंजसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता । आनृशंस्यमवाग्दंडपारुष्यादिविशेषितं ॥ २७९ ॥ ततो जितारिषड्वर्गः स्वां वृत्तिं पालयन्निमा । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेत्य चेह च नंदति ॥ २८० ॥ सम समजसत्वेन कुलमत्यात्मपालनं । प्रजानुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिता ॥ २८१ ॥ ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये यशो धर्मं विजयं च स्वमाप्नुहि ॥ २८२ ॥ प्रशांतधीः समुत्पन्नबोधिरित्यनुशिष्य तं । परिनि-

जाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेकेलिये समंजस वृत्ति अर्थात् योग्य आचरण करनेवाला वा सबको एकसा देखनेवाला होना चाहिये क्योंकि जो राजा सबको एकसा न देखेगा किसीका पक्षपात करेगा तो उसके ही सेवक लोग उसका तिरस्कार कर देंगे ॥ २७८ ॥ सब प्रजाको पक्षपात रहित एकसा देखना राजाका समंजसत्व नामा गुण है उस समंजसत्व गुणमें क्रूरता वा घातकपना नहीं होना चाहिये, कठोर बचन और कठोरता अर्थात् कठिन दंडदेना आदि नहीं होने चाहिये भावार्थ—इन दोषोंसे रहित सब प्रजाको एकसा देखना ही समंजसत्व गुण है ॥ २७९ ॥ तदनंतर—काम, क्रोध, मान, लोभ, हर्ष और मद इन अंतरंग छह शत्रुओंको जीतकर ऊपर लिखे हुये अपने धर्मको अर्थात् राजओंके वा क्षत्रियोंके धर्मको पालन करता हुआ अपने राज्यमें स्थिर रहता है वह राजा इसलोक और परलोक दोनों जगह सुखी रहता है ॥ २८० ॥ पक्षपात रहित सबको एकसा देखना, कुलकी मर्यादा पालन करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना, इसप्रकार यह राजाओंका धर्म वा वृत्ति कही जाती है ॥ २८१ ॥ इसलिये हे पुत्र ऊपर लिखे अनुसार इस क्षात्रियोंके धर्मको यथायोग्य रीतिसे पालन करता हुआ तू अपने राज्यमें स्थिर होकर अपना यश, धर्म, और विजय प्राप्त कर ॥ २८२ ॥ जिनकी बुद्धि अत्यंत शांत है और जिन्हें भेद ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान ऊपर लिखे अनुसार अपने पुत्रको शिक्षा देते हैं और फिर निष्क्रमण वा दीक्षा कल्याण करनेके लिये इंद्र लोग आकर उनका पूजन करते हैं ॥ २८३ ॥ तदनं-

ष्क्रातिकल्याणे सुरेंद्रैरभिपूजित ॥ २८३ ॥ महादानमथो दत्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्क्रामति गृहाद्वनं ॥ २८४ ॥ धौरेयैः पार्थिवै· किंचित्समुत्क्षिप्ता महीतलात् । स्कंधाधिरोपिता भूयः सुरेंद्रैर्भक्तिनिर्भरैः ॥ २८५ ॥ आरूढ शिबिका दिव्या दीप्तरत्नविनिर्मिता । विमानवसति भानोरिवाऽऽयाता महीतल ॥ २८६ ॥ पुरस्सरेषु निःशेषनिरुद्धव्योमवीथिषु । सुरासुरेषु तन्वत्सु संदिग्धार्कप्रभं नभः ॥ २८७ ॥ अतःस्थितेषु संप्रीत्या पार्थिवेषु ससभ्रम । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवोदय ॥ २८८ ॥ अनुयायिनि तत्यागादिव मंदीभवद्द्युतौ । निधीनां सह रत्नानां संदोहेऽभ्यर्णसक्षये ॥ २८९ ॥ सैन्ये च कृतसन्नाहे शनै. समनुगच्छति । मरुद्धूतध्वजव्रातानिरुद्धपवनाध्वनि ॥ २९० ॥ ध्वनत्सु सुरतूर्येषु नृत्यत्यप्सरसा गणे ।

तर महादान देकर साम्राज्यपदका त्याग करते हुये वे राजर्षि महाराजाधिराज घरसे वनके लिये निकलते हैं ॥ २८४ ॥ जिस पालकीपर वे सवार होते हैं उस पालकीको प्रथम ही मुख्य मुख्य राजा लोग पृथ्वीसे उठाकर कंधेपर रखकर थोडी दूर तक लेजाते हैं और फिर भक्तिसे भरे हुये इंद्र लोग उस पालकीको ले जाते हैं ॥ २८५ ॥ जो पालकी दिव्य अर्थात् देवोंकी वनाई हुई है, दैदीप्यमान रत्नोंसे वनी हुई है और जो ऐसी जान पडती है मानों सूर्यका विमान ही उतरकर पृथीपर आगया हो ऐसी पालकीपर वे भगवान सवार होते हैं ॥ २८६ ॥ जिससमय समस्त आकाशको रोकते हुये और अपनी कांतिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका संदेह उत्पन्न करते हुये चारों प्रकारके देव आगे चलते हैं ॥ २८७ ॥ जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रगट हुआ है ऐसे कुमारको (जिसे भगवानने राज्य समर्पण किया है) आगे करके वडे प्रेम और संभ्रम [चाकित होना] के साथ साथ सब राजा लोग भगवानके समीप खडे होते हैं ॥ २८८ ॥ जिनका भगवानके समीप रहना छूट चुका है और भगवानने छोड देनेसे ही मानों जिनकी कांति मंद होगई है ऐसे निधि और रत्नोंका समूह जिससमय उनके पीछे पीछे आता है ॥ २८९ ॥ जिससमय वायुके द्वारा उडती हुई ध्वजाओंके समूहसे जिसने वायुका मार्ग भी रोक दिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना वा व्यूह वनाकर

गायतीषु कलक्काणं किन्नरीषु च मगलं ॥ २९१ ॥ भगवानभिनिष्क्रातः पुण्ये कस्मिँश्चिदाश्रमे । स्थितः शिलातले स्वस्मिँश्चेतसीवातिविस्तृते ॥ २९२ ॥ निर्वाणदीक्षयाऽऽत्मान योजयन्नद्भुतोदयः । सुराधिपैः कृतानदमर्चितः परयेज्यया ॥ २९३ ॥ योऽत्र शेपो विधिर्मुक्तकेशपूजादिलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रातौ वृपभेशिनः ॥ २९४ ॥ इति निष्क्राति· । परिनिष्क्रांतिरेषा स्यात्क्रिया निर्वाणदायिनी । अतःपरं भवेदस्य मुमुक्षोर्योगसंमहः ॥ २९५ ॥ यदाऽय त्यक्तबाह्यातरसंगोनैस्सग्यमाचरेत् । सुदुर्धर तपोयोग जिनकल्पमनुत्तरं ॥ २९६ ॥ तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे । शुक्लध्यानाग्निनि-

धीरे धीरे पीछे पीछे आती है ॥२९०॥ जिससमय देवताओंके तुरई आदि मंगल बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी जातिकी देवियां मधुर मधुर शब्दोंसे मंगल गीत गाती हैं ॥ २९१ ॥ उस समय किसी पुण्यवान् आश्रममें अपने चित्तके समान अत्यंत विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर वे भगवान दीक्षा लेते हैं ॥ २९२ ॥ इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है ऐसे वे भगवान निर्वाण दीक्षासे अपने आत्माको विभूषित करते हैं और इंद्रलोग बडी उत्कृष्ट पूजाकी सामग्रीसे बडे आनंदके साथ उनकी पूजा करते हैं ॥ २९३ ॥ इस क्रियामें केशलोंच करना, भगवानकी पूजा करना आदि जो बाकीकी विधि है वह सब भगवान वृषभदेवके दीक्षा कल्याणके समय पहिले कह चुके हैं ॥ २९४ ॥ (इसप्रकार यह अडतालीसवीं निष्कांति क्रिया है) यह मोक्ष देनेवाली परिनिष्क्रांति नाम है । इसके वाद मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवानकी योगसम्मह नामकी क्रिया होती है ॥ २९५ ॥ जब वे भगवान बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह छोडकर परिग्रह रहित होते हैं और जो अत्यंत कठिन है, जिससे उत्तम और तप नहीं है ऐसे जिनकल्प नामके तपश्चरणके योगको धारण करते हैं, तब जिन्होंने क्षपक श्रेणी प्रारंभ की है और यथायोग्य स्थानपर जाकर अर्थात् योग्य गुणस्थानमें शुक्लध्यान रूपी अग्निसे घातिया कर्म रूपी अत्यंत सघन बन जलादिया है ऐसे उन भगवानके समस्त बाह्य अंतरंग मलके नाश

दग्धघातिकर्मवनाटवेः ॥ २९७ ॥ प्रादुर्भवति निःशेषबहिरंतर्मलक्षयात् । केवलाख्यं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकं ॥ २९८ ॥ तदेतत्सिद्धसाध्यस्य प्राप्तुपः परम मह. । योगसम्मह इत्याख्यामनुभुत्ते क्रियातरं ॥ २९९ ॥ ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः। महिमातिशयः सोऽयमाम्नातो योगसम्मह' ॥ ३०० ॥ इति योगसमह' ॥ ततोऽस्य केवलोत्पत्तौ पूजितस्यामरेश्वरैः । बहिर्विभूतिरुद्भूता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥ ३०१ ॥ प्रातिहार्याष्टकं दिव्य गणो द्वादशधोदितः । स्तूपहर्म्यावली सालवलयः केतुमालिका ॥ ३०२ ॥ इत्यादिकामिमा भूतिमद्भुतामुपविभ्रतः । स्यादार्हंत्यमिति ख्यातं क्रियातर मनंतर ॥ ३०३ ॥ इति आर्हंत्यक्रिया ॥ विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपंचितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥ ३०४ ॥

होजानेसे लोक और अलोकको प्रकाश करनेवाला परम ज्योतिःस्वरूप केवलज्ञान प्रगट होता है ॥ २९६-२९७-२९८ ॥ उस समय जिन्हें सिद्ध पद प्राप्त करना ही शेष रह गया है और जिन्हें परम तेज प्राप्त हुआ है ऐसे उन भगवानके योगसम्मह नामकी एक भिन्न क्रिया होती है ॥ २९९ ॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो परम अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसम्मह कहलाता है ॥ ३०० ॥ (यह उनंचासवीं योगसम्मह क्रिया है) तदनंतर–केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इंद्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवानके प्रातिहार्य आदि वाह्य विभूति उत्पन्न होती है, आठ प्रातिहार्य, वारह प्रकारकी दिव्य सभा, स्तूप हर्म्यावली (मकानोंकी पंक्ति), कोट, धूलिवलय, पताकाओंकी पंक्ति इत्यादि इस अद्भुत विभूतिको जो वे भगवान धारण करते हैं उनके वह केवलज्ञानके वाद होनेवाली आर्हंत्य नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ३०१-३०२-३०३ ॥ (यह पचासवीं आर्हंत्य नामकी क्रिया है) धर्मचक्रको आगेकर जो भगवानका विहार होता है, जो प्रसिद्ध है और जिसका वर्णन पहिले कर चुके है इसलिये फिर दुवारा जिसका निरूपण नहीं करते हैं वह यह इक्यावनवीं विहार क्रिया हैं ॥ ३०४ ॥ तदनंतर परमार्थकी सिद्धिके लिये धर्ममार्गको प्रगट करनेके लिये जिन्होंने तीर्थ विहार किया है उनके योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥ ३०५ ॥

इति विहारक्रिया ॥ ततः परार्थसंपत्त्यै धर्ममार्गोपदेशनेः । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥ ३०५ ॥ विहारस्योपसंहारः संहृतिश्च सभावने"। वृत्तिश्च योगरोधार्था योगत्यागःस उच्यते ॥ ३०६ ॥ यत्र दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियांतरं । तदंतर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥ ३०७ ॥ इति योगत्यागक्रिया ॥ ततो निरुद्धनिःशेषयोगास्यास्य जिनेशिन' । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य प्रक्षीणाघातिकर्मणः ॥ ३०८ ॥ क्रियाऽग्रनिर्वृतिर्नाम परनिर्वाणमायुष. । स्वभावजनितामूर्ध्वव्रज्यामास्कदतो मता ॥ ३०९ ॥ इति अग्रनिर्वृतिः । इति निर्वाणपर्यंताः क्रिया गर्भादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयास्त्रिपचाशत्समुच्चयाः ॥ ३१० ॥ यथोक्तविधिनैताः स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रातर्गतो भेदस्त वच्म्युत्तरपर्वणि ॥ ३११ ॥ इत्युच्चैर्भरताधिपः

जिसमें विहार करना समाप्त करदेना पडे, समवसरण विघट जाय और योग निरोध करनेके लिये अपनी वृत्ति करनी पडे उसे योगत्याग कहते हैं ॥ ३०६ ॥ दंड कपाट आदिकी प्रसिद्धिके लिये जो विशेष क्रियायें की जाती हैं और जो केवलिसमुद्घात किया जाता है वह भी इस योगत्याग नामकी क्रियामें ही अंतर्भूत (शामिल) हो जाता है इसलिये उसे योगत्यागसे अलग नहीं कहा है ॥ ३०७ ॥ (यह बावनवीं योगत्याग क्रिया है) तदनंतर जिनके समस्त योगोंका निरोध हो गया है, जो जिनोंके भी स्वामी जिनेंद्र हो गये हैं, जिन्हें शीलके अठारह हजार भेदोंके स्वामीपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है अर्थात् जो अठारह हजार शीलके स्वामी हो गये हैं, जिनके अघातिया कर्म भी नष्ट हो गये हैं, जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हुये हैं और उत्कृष्ट मोक्षस्थान पहुंच गये हैं उनके अग्रनिर्वृत्ति नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ३०८-३०९ ॥ (यह तिरेपनवीं अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है) इसप्रकार गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत जो सब मिलाकर तिरेपन क्रियायें हैं भव्यात्मा लोगोंको उनका सदा अनुष्ठान करना चाहिये ॥ ३१० ॥ द्विज लोगोंको ऊपर लिखी हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओंका अनुष्ठान करना चाहिये, इन क्रियाओंके और जो अतर्गत भेद हैं

स्वसमये संस्थापयन् तान्द्विजान् संप्रोवाच कृती सता बहुमता गर्भान्वयोत्थाः क्रियाः । गर्भाद्याः परिनिर्वृतिप्रगमनप्रांतास्त्रिपञ्चाशतं प्रारेभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाख्याः क्रियाः ॥ ३१२ ॥ यस्त्वेता द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सत्क्रियाः श्रुत्वा सम्यगधीत्य भावितमतिर्जैनेश्वरे दर्शने । सामग्रीमुचितां स्वतश्च परतः संपादयन्नाचरेद्भव्यात्मा स समग्रधीस्त्रिजगतिचूडामणित्वं भजेत् ॥ ३१३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे द्विजोत्पत्तौ गर्भान्वयक्रियावर्णनं नामाष्टत्रिंशत्तमं पर्व ।

वे सब हम आगेके पर्वमें कहेंगे ॥ ३११ ॥ इसप्रकार उन पुण्यवान् महाराज भरतने उन द्विजोंको अपने जैनमार्गमें स्थापन करते हुये सज्जनोंको अतिशय मान्य ऐसी जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाण-गमनपर्यंत तिरेपन गर्भान्वय क्रियायें हैं वे सब कहीं और गर्भान्वय क्रियाओंके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियायें हैं उनका कहना प्रारंभ किया ॥ ३१२ ॥ उत्तम उत्तम द्विजोंको मान्य ऐसी जो ये गर्भाधानादिक उत्तम क्रियायें कहीं हैं उन्हें सुनकर, अच्छीतरह पढकर जो अरहंत भगवानके दर्शनमें वा मतमें निर्मल बुद्धि धारण करता है तथा उचित सामग्रीके मिलनेपर दूसरेलोगोंसे इन क्रियाओंको कराता हुआ स्वयं भी इनका अनुष्ठान करता है वह भव्यात्मा पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंका चूडामणि होता है ॥ ३१३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्ति और गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला यह अडतीसवा पर्व समाप्त हुआ.

अथ एकोनत्रिंशत्तमं पर्व।

अथाब्रवीद्द्विजन्मभ्यो मनुर्दीक्षान्वयक्रियाः। यास्ता निःश्रेयसोदर्काश्चत्वारिंशदथाष्ट च ॥ १ ॥ श्रूयता भो द्विजन्मानो वक्ष्ये निःश्रेयसीः क्रिया। अवतारादिनिर्वाणपर्यंता दीक्षितोचिताः ॥ २ ॥ व्रताधिकरणं दीक्षा द्विधाऽऽम्नात च तद्व्रतं। महच्चाणु च दोपाणा कृत्स्नदेशनिवृत्तितः ॥ ३ ॥ महाव्रत भवेत्कृत्स्नहिंसाद्यागोविवर्जन। विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रत मत ॥ ४ ॥ तदुन्मुखस्य या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्यसौ मता। तामान्विता क्रिया या तु सा स्याद्दीक्षान्वयक्रिया ॥ ५ ॥ तस्यास्तु भेदसख्यान प्राग्निर्णीत पडष्टकं। क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्ष्मवर्णनं ॥ ६ ॥ तत्रावतारसंज्ञा

अथ उन्तालीसवां पर्व

अथानंतर—सोलहवें मनु महाराज भरत उन द्विजोंके लिये मोक्ष फल देनेवाली अडतालीसवीं दीक्षान्वय क्रियायें कहने लगे ॥ १ ॥ वे कहने लगे कि हे द्विजो! अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यंत जो मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियायें हैं उन्हें कहता हूं तुम लोग सुनो ॥ २ ॥ व्रतोंका धारण करना दीक्षा है वे धारण करने योग्य व्रत दो प्रकारके हैं एक तो हिंसादि पांचों पापोंका पूर्ण त्याग जिसे महाव्रत कहते हैं और दूसरा उन्हीं पापोंका एकदेश त्याग जिसे अणुव्रत कहते हैं ॥ ३ ॥ हिंसादि पांचों पापोंका पूर्ण रीतिसे त्याग करना महाव्रत है और हिंसादि पापोंका स्थूलरूपसे त्याग करना अणुव्रत कहलाता है ॥ ४ ॥ उन व्रतोंके ग्रहणकरनेके लिये जो मनुष्यकी प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं उस दीक्षाके साथ होनेवाली जो क्रियायें हैं उन्हें दीक्षान्वय क्रियायें कहते हैं ॥ ५ ॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंके भेद अडतालीस हैं जो कि पाहिले कहे जा चुके हैं। अब उनके भेदोंके लक्षण निरूपण करते हैं ॥ ६ ॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंमें पाहिली क्रियाका नाम अवतार क्रिया है। जब मिथ्यात्वसे दूषित ऐसा मिथ्यादृष्टी पुरुष श्रेष्ठ जैनधर्मको स्वीकार करनेके सन्मुख होता है तब यह

स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥ ७ ॥ स तु संसृत्य योगींद्र युक्ताचारं महाधियं । गृहस्थाचार्यमथवा पृच्छतीति विचक्षण. ॥ ८ ॥ ब्रूत यूय महाप्राज्ञा मह्य धर्ममनाविल । प्रायो मतानि तीर्थ्यानां हतानि प्रतिभाति मा ॥ ९ ॥ श्रौतान्यपि हि वाक्यानि समतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि दुःप्रणीतानि तानि वै ॥ १० ॥ इति पृष्टवते तस्मै व्याचष्टे स विदांवर. । तथ्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठित॥ ११ ॥ विद्धि सत्योद्यमाप्तीय वच· श्रेयोऽनुशासन । अनाप्तोपज्ञमन्यत्तु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥ १२ ॥ विरागः सर्ववित्सार्वः सूक्तसूनृतपूतवाक् । आप्त. सन्मार्गदेशी यस्तदाभासास्ततोऽपरे ॥ १३ ॥ रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्मर्द्धिदत्तिभि । कान्तताविजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥ १४ ॥ प्रकृष्टो यो

क्रिया की जाती है ॥ ७ ॥ प्रथम ही वह चतुर गृहस्थ योग्य आचरणोंको पालन करनेवाले और महा बुद्धिमान ऐसे मुनिराजके समीप आकर अथवा ऐसे किसी गृहस्थाचार्यके समीप आकर इसप्रकार पूछता है कि ॥ ८ ॥ हे महा बुद्धिमान्! आप मेरे लिये निर्दोष धर्मका स्वरूप कहिये, क्योंकि मिथ्यामार्गमें प्रवृत्त होनेवाले अन्य लोगोंके मत मुझे दुष्ट वा दूषित जान पडते हैं ॥ ९ ॥ धर्मक्रियाओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचार करनेपर कुछ अच्छे नहीं जान पडते, अवश्य ही वे वाक्य दुष्ट लोगोंके वनाये हुये हैं ॥ १० ॥ इसप्रकार पूछनेपर वे महाज्ञानी पुरुष उसके लिये युक्तियोंसे पूर्ण, यथार्थ और मोक्षके मार्गस्वरुप धर्मका निरूपण करते हैं ॥ ११ ॥ कि हे वत्स ! मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला ऐसा आप्तका कहा हुआ वचन ही तू यथार्थ मान, जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है आप्तके बचनोंसे भिन्न है उसे तू केवल वाणीका दोष समझ ॥ १२ ॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सवका भला करनेवाला है, जिसकी वाणी समीचीन, सत्य और पवित्र है तथा जो श्रेष्ठ मोक्षमार्गका उपदेश देता है उसे आप्त कहते हैं, जिनमें ये ऊपर लिखे हुये लक्षण नहीं हैं वे सब आप्ताभास हैं, आप्त ऐसे दिखते हैं परंतु वास्तवमें आप्त नहीं हैं ॥ १३ ॥ जो रूप, तेज, गुणस्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, मनोहरता, विजय, ज्ञान, सम्यग्दर्शन, वीर्य, और सुखामृत इन गुणोंसे

गुणैरेभिश्चक्रिकल्पाधिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥ १५ ॥ ततः श्रेयोर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकं । अव्याहतमनालीढपूर्वं सर्वज्ञमानिभिः ॥ १६ ॥ हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैतं दीप्तं गंभीरशासनं । अल्पाक्षरमसंदिग्धं वाक्यं स्वायंभुवं विदुः ॥ १७ ॥ इतश्च तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमत्राक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र यतो नान्यमतोचिताः ॥ १८ ॥ यथाक्रममतोऽनूमस्तान्पदार्थान् प्रपचतः । यैः सनिकृष्यमाणाः स्युर्दुःस्थिताः परसूक्तयः ॥ १९ ॥ वेदः पुराणं स्मृतयश्चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिंगमाहाराद्याश्च शुद्धयः ॥ २० ॥ एतेऽर्था यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गस्तदाभासाः स्युरन्यथा ॥ २१ ॥ श्रुतं सुविहितं वेदो द्वादशांगमकल्मषं । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं

चक्रवर्ती इंद्र आदिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, वही सर्वज्ञ है और वही समस्त लोकका परमेश्वर है ॥ १४–१५ ॥ इसलिये आप्तका कहा हुआ जो मत है, जिसका कोई खंडन नहीं कर सकता और अपनेको सर्वज्ञ मानने वाले अल्पज्ञानियोंने कभी स्पर्शतक नहीं किया है, वही कल्याण चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करने वाला है ॥ १६ ॥ युक्त्यागम और परमागमकरसहित, अद्वितीय, अत्यंत देदीप्यमान, जिसकी आज्ञा अत्यंत गंभीर है, जिसमें अक्षर थोडे हैं और जिसके सुननेसे किसीतरहका संदेह नहीं रहता ऐसा जो वाक्य है उसे अरहंत देवका कहा हुआ मानते हैं ॥ १७ ॥ इस अरहंतदेवके कहे हुये मतमें शास्त्र मंत्र और क्रिया आदि पदार्थ सव अच्छीतरह निरूपण किये गये हैं, ऐसे पदार्थ दूसरे किसी मतमें निरूपण नहीं किये हैं, इसलिये ही अरहंत देवका कहा हुआ मत प्रमाण है ॥ १८ ॥ हे वत्स! इसलिये ही मैं अनुक्रमसे उन पदार्थोंको विस्तारके साथ कहता हूं क्योंकि उन पदार्थोंका विचार करनेसे ही अन्यमतोंके सव वचन दुष्ट जान पडते हैं ॥ १९ ॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकीविधि, मंत्र, देवता, लिंग, आहार और शुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही श्रेष्ठ मार्ग है इसके सिवाय और सब धर्माभास हैं अथवा सन्मार्गाभास हैं ॥२०–२१॥ जिसके आचारांगादि बारह अंग हैं, जो शुद्ध है

न वेदोऽसौ कृतातवाक् ॥ २२ ॥ पुराणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद्वधनिषेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकं ॥ २३ ॥ सावद्यविरतिर्वृत्तमार्यषट्कर्मलक्षण । चतुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्तमसदंजसा ॥ २४ ॥ क्रिया गर्भादिका यास्ता निर्वाणाताः पुरोदिताः । आधानादिस्मशानाता न ताः सम्यक्क्रिया मताः ॥ २५ ॥ मंत्रास्त एव धर्म्याःस्युर्ये क्रियासु नियोजिता. । दुर्मंत्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥ २६ ॥ विश्वेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शातिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासा स्याद्वृत्तिरामिषैः ॥ २७ ॥ निर्वाणसाधनं यत्स्यात्तल्लिंगं जिनदेशितं । एणाजिनादिचिन्हं तु कुलिंग

और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोंका निरूपण किया गया है ऐसा जो श्रुतज्ञान है उसे वेद कहते हैं, जो हिंसाका उपदेश करनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य समझना चाहिये ॥ २२ ॥ जो हिंसाका निषेध करनेवाला है वही पुराण है और वही धर्मशास्त्र वा स्मृति है, जो पुराण वा धर्मशास्त्र हिंसाके उपदेश करनेवाले हैं उन्हें तो धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिये ॥ २३ ॥ देवपूजा आदि जो आर्योंके करने योग्य छह कर्म हैं, जिनमें पापरूप उपयोगका त्याग किया जाता है वही चारित्र है, अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमोंका चारित्र निरूपण किया है वह निश्चयसे बुरा है अच्छा नहीं है ॥ २४ ॥ क्रियामें जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यंत पहिले कहचुके हैं वे समझनी चाहिये, जो गर्भाधानसे लेकर स्मशान पर्यंत क्रियायें अन्य लोगोंने कहीं है वे कभी समीचीन नहीं मानी जा सकतीं ॥ २५ ॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें उपयुक्त होते हैं, पढजाते हैं वे ही धार्मिक मंत्र कहे जाते हैं, जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें उपयुक्त किये जाते हैं उन्हें यहां दुर्मंत्र वा खोटे मंत्र समझना चाहिये ॥ २६ ॥ तीर्थंकरादि देव ही शांति करनेवाले देवता हैं, जिनकी जीविका मांसपर निर्भर है ऐसे क्रूर देवता सदा छोडने योग्य हैं ॥ २७ ॥ साक्षात् मोक्षका कारण ऐसा जिनेंद्रदेवका कहा हुआ जो निर्ग्रंथपना वा परिग्रहरहितपना है वही लिंग है, हिरणके चमडा आदिको जो चिन्ह मानते हैं उसे कुलिंगियोंका (कुभेषियोंका) बनाया हुआ कुलिंग समझना चाहिये ॥२८॥

तद्विधैः कृतं ॥ २८ ॥ स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वंकषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥ २९ ॥ अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद्ये निःसं-
गा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥ ३० ॥ कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेंद्रियाः । संतुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे
विडम्बकाः ॥ ३१ ॥ इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितं । स एवाप्तस्तदुन्नीतो धर्मः श्रेयो हितार्थिनां ॥ ३२ ॥ श्रुत्वेति देशनां तस्माद्भव्योऽसौ
देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मतिमाधत्ते दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥ ३३ ॥ गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसँस्कृतः । तदा तत्रावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्म-
जन्मना ॥ ३४ ॥ अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवदिष्यते । यतो जन्मपरिप्राप्तिरुभयत्र न विद्यते ॥ ३५ ॥ इति अवतारक्रिया ॥ ततोऽस्य वृत्तलाभः

मांस रहित भोजन करना ही आहारकी शुद्धि समझनी चाहिये, जो मांस भोजी हैं उन्हें तो सबका घात करनेसे सर्वघाती समझना चाहिये ॥ २९ ॥ जो परिग्रहरहित दयालु मुनि हैं अहिंसाशुद्धि उन्हींके समझना चाहिये, जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर हैं वे दुष्ट कभी शुद्ध नहीं हो सकते ॥३०॥ जो कामरहित जितेंद्रिय मुनि हैं उन्हींके काम शुद्धि समझनी चाहिये अथवा जो गृहस्थ स्वदारसंतोषी हैं उनके भी कामशुद्धि मानी गई है, इनके सिवाय जो लोग हैं उन्हें अन्यलोगोंको फंसानेवाले समझना चाहिये ॥ ३१ ॥ इसप्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त है और उसका कहा हुआ जो धर्म है वही आत्माका हित चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥ ३२ ॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इसप्रकारका उपदेश सुनकर मिथ्यामार्गमें अपना प्रेम छोडता हुआ अपनी बुद्धिको श्रेष्ठमार्गमें लगाता है ॥ ३३ ॥ उससमय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वोंका ज्ञान होना ही संस्कार कियाँ हुआ गर्भ है, उससे वह भव्य पुरुष धर्मरूप जन्म धारणकर अवतीर्ण होता है ॥ ३४ ॥ इस भव्य पुरुषकी यह अवतार क्रिया गर्भाधान क्रियाके समान मानी जाती है, क्योंकि जन्मकी प्राप्ति न तो गर्भाधान क्रियामें हैं और न अवतार क्रियामें है ॥ ३५ ॥ (यह पहिली अवतार क्रिया है) तदनंतर—उसीसमय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करतेहुये

स्यात्तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतव्रातं विधानेनोपसेदुषः ॥ ३६ ॥ इति वृत्तलाभः ॥ ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरःसरः । स्थानलाभो भवेदस्य तत्रायमुचितो विधिः ॥ ३७ ॥ जिनालये शुचौ रंगे पद्ममष्टदलं लिखेत् । विलिखेद्वा जिनास्थानमंडलं समवृत्तकं ॥ ३८ ॥ श्लक्ष्णेन पिष्टचूर्णेन सलिलालोडितेन वा । वर्तनं मंडलस्येष्टं चंदनादिद्रवेण वा ॥ ३९ ॥ तस्मिन्नष्टदले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमंडले । विधिना लिखिते तज्ज्ञैर्विष्वग्विरचितार्चने ॥ ४० ॥ जिनार्चाभिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् । तवोपासकदीक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥ ४१ ॥ पंचमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकं । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषं च लंभयेत् ॥ ४२ ॥ ततः पंचनमस्कारपदान्यस्मा उपादिशेत् । मंत्रोऽयमखिलात्पापात्त्वा पुनीतादितीरयन् ॥ ४३ ॥

और विधिपूर्वक व्रतोंके समूहको धारण करतेहुये उसके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ (यह दूसरी वृत्तलाभ क्रिया है) तदनंतर जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी क्रिया होती है, उसक्रियामें यह नीचे लिखी हुई विधि करना उचित है ॥ ३७ ॥ जिनालयके किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीके कमलकी रचना करावे अथवा एकसा गोल ऐसे समवसरणकी रचना करावे ॥ ३८ ॥ इस कमल अथवा समवसरणके मंडलकी रचना पानी मिले हुये महीन पिसे हुये चूर्णसे होनी चाहिये अथवा घिसे हुये गीले चंदनसे वा केसर आदिसे होनी चाहिये ॥ ३९ ॥ यह श्रीजिनेंद्रदेवके समवसरणकी रचना अथवा अष्ट दल कमलकी रचना उस रचनाको जाननेवाले विद्वान लोगोंके द्वारा विधिपूर्वक निर्मापण करानी चाहिये और फिर उसकी पूर्ण पूजा कर लेनी चाहिये ॥ ४० ॥ तदनंतर वह—गृहस्थाचार्य उस भव्य पुरुषको विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमाके सामने बिठलावे और उसके मस्तकको वार वार स्पर्श करता हुआ उससे इसप्रकार कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है अर्थात् तुझे यह श्रावककी दीक्षा देताहूं ॥ ४१ ॥ पंचगुरुमुद्राकी रीतिसे (पंचगुरुमुद्रा बनाकर) उसके मस्तकका स्पर्श करै तथा तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ है इसप्रकार उससे कहे और फिर सिद्धशेष अर्थात् पूजाके बचे हुये अक्षत उससे ग्रहण करावे ॥ ४२ ॥ "तदनंतर

कृत्वा विधिमिमं पश्चात्पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात्सोऽपि संप्रीतः स्वगृहं व्रजेत् ॥ ४४ ॥ इति स्थानलाभः ॥ निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद्विनिःसारयतो गृहात् ॥ ४५ ॥ इयत कालमज्ञानात्पूजिताः स्थ कृतादरं । पूज्यास्त्विदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥ ४६ ॥ ततोऽपमृषितेनालमन्यत्र स्वैरमास्यता । इति प्रकाशमेवैतान्नीत्वाऽन्यत्र क्वचित्त्यजेत् ॥ ४७ ॥ गणग्रहः स एषः स्यात्प्राक्तनं देवतागण । विसृज्यार्चयतः शाता देवता. समयोचिताः ॥ ४८ ॥ इति गणग्रहक्रिया ॥ पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यादतः परा । पूजोपवाससंपत्त्या

यह मंत्र समस्त पापोंसे हटाकर तुझे पवित्र करेगा ” इसप्रकार कहता हुआ वह गृहस्थाचार्य उसे पंचनमस्कार मंत्रका उपदेश दे ॥ ४३ ॥ यह सब विधि करके फिर वह गृहस्थाचार्य उसे पारणाके लिये विदा करे और गुरुके अनुग्रहसे संतुष्ट हुआ वह भव्य भी अपने घर जावे ॥ ४४ ॥ (यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।) जिसके लिये स्थानलाभ नामकी क्रिया ऊपर कही जा चुकी है वही भव्य पुरुष जब मिथ्या देवताओंको अपने घरसे वाहर निकालता है तव उसके गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥ ४५ ॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि “मैने अपने अज्ञानसे इतने दिनतक वडे आदरके साथ आप लोगोंकी पूजा की परंतु अव केवल अपने मतके देवताओंकी पूजा करूंगा ॥ ४६ ॥ इसलिये क्रोध करनेसे कुछ लाभ नहीं है आप अपनी इच्छानुसार दूसरी जगह रहिये” इसप्रकार कहकर प्रगटरूपसे उन देवताओंको लेजाकर किसी दूसरे स्थानमें जाकर छोडदे ॥ ४७ ॥ इसप्रकार पहिले देवताओंका विसर्जनकर अपने मतके तीर्थंकरादि शांत देवताओंकी पूजन करनेवाले उस भव्यके यह गणग्रह नामकी क्रिया कही जाती है ॥ ४८ ॥ (वह चौथी गणग्रह क्रिया है) तदनंतर–पूजा और उपवासरूप संपत्तिको धारणकर अर्थात् पूजा और उपवासकर वारह अंगोंके अर्थसमूहको वा बारह अंग संवंधी द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथोको सुननेवाले उस श्रावकके गणग्रहके बाद पूजाराध्य नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है ॥ भावार्थ द्वादशांगका अर्थ सुनना पूज्याराध्य क्रिया है ॥ ४९ ॥

शृण्वतोऽगार्थसग्रह ॥४९॥ इति पूजाराध्यक्रिया ॥ ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः ॥५०॥ इति पुण्ययज्ञक्रिया ॥ तथाऽस्य दृढचर्या स्यात्क्रिया स्वसमयश्रुतं । निष्ठाप्य शृण्वतो ग्रथान्बाह्यानन्यांश्च कांचन ॥ ५१ ॥ इति दृढचर्याक्रिया ॥ दृढव्रतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता । पर्वोपवासपर्यंते प्रतिमायोगधारण ॥ ५२ ॥ इति उपयोगिता क्रिया ॥ क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपबिभ्रत. । उपनीतिरनूचानयोग्यलिंगग्रहो भवेत् ॥ ५३ ॥ उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद्विधिवत्प्रतिपालन ॥ ५४ ॥ शुक्लवस्त्रो-पवीतादिधारण वेष उच्यते । आर्यषट्कर्मजीवित्व वृत्तमस्य प्रचक्षते ॥ ५५ ॥ जैनोपासकदीक्षा स्यात्समयः समयोचित । दधतो गोत्रजात्यादि नामां-

---

(यह पांचवी क्रिया है) तदनंतर—अपने साधर्मी पुरुषोंके साथ साथ चोदह पूर्वोंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको वढानेवाली पुण्ययज्ञ नामकी छट्टी क्रिया है ॥ ५० ॥ (यह छट्टी क्रिया है) इसके वाद अपने मतके सव शास्त्रोंको समासकर अन्यमतके ग्रंथ अथवा और कोई ग्रंथोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥ ५१ ॥ (यह सातवीं दृढचर्या क्रिया है) तदनंतर जिसके व्रत दृढ हो चुके हैं उसके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है । पर्वके दिन उपवास करनेके अंतमें अर्थात् उपवासकी रात्रिको प्रतिमायोग धारण करना ही आठवीं उपयोगिता क्रिया है ॥ ५२ ॥ (यह आठवीं उपयोगिता क्रिया है) ऊपर जो क्रियाओंका समूह कहागया है उसके द्वारा जिसने शुद्धता धारण की है ऐसे उस भव्यके अंगसहित शास्त्रोंके पढने योग्य चिन्हको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥ ५३ ॥ देवता और गुरुकी साक्षी पूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, वृत्त और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥ ५४ ॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करनेको वेष कहते हैं, देवपूजा आदि आर्योंके करने योग्य छह कर्मोंका करना वृत्त कहलाता है, और षट्कर्म करनेके वाद जव यह अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करता है उसके जो श्रीजिनेंद्रदेवकी श्रावक दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥ ५५-५६ ॥

तरमतः परं ॥ ५६ ॥ इति उपनीतिक्रिया ॥ ततोऽयमुपनीतः सन् व्रतचर्यां समाश्रयेत् ॥ सूत्रमौपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रंथतोऽर्थतः ॥ ५७ ॥ इति व्रतचर्याक्रिया ॥ व्रतावतरण तस्य भूयो भूषादिसंग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसान्निधौ ॥ ५८ ॥ इति व्रतावतरणक्रिया ॥ विवाहस्तु भवेदस्य नियुजानस्य दीक्षया । सुव्रतोचितया सम्यक् स्त्रा धर्मसहचारिणीं ॥ ५९ ॥ पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य संमतः । सिद्धार्चना पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥ ६० ॥ इति विवाहक्रिया ॥ वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात्संबंधं संविधित्सतः । समानाजीविभिर्लब्धवर्णैरन्यैरुपासकैः ॥ ६१ ॥ चतुरः श्रावकज्येष्ठानाहूय कृतसत्क्रियान् । तान्ब्रूयादस्म्यनुग्राह्यो भवद्भिः स्वसमीकृतः ॥ ६२ ॥ यूय निस्तारका देवब्राह्मणा लोकपूजिताः । अह च कृतदीक्षो-

---

(यह नौवीं उपनिति क्रिया है) तदनंतर--यज्ञोपवीतको धारणकर जब यह शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छीतरह उपासकाध्ययनके सूत्रोंका अध्ययन करता है तब उसके व्रतचर्या नामकी क्रिया होती है ॥ ५७ ॥ [यह दशवीं व्रतचर्या क्रिया है] जब यह विद्या पढना समाप्त करचुकता है और विधिके अनुसार गुरूके समीप फिरसे वस्त्र आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है॥ ५८ ॥ (यह ग्यारहवीं व्रतावतरण क्रिया है) तदनंतर वह भव्य अपनी धर्मपत्नीको उत्तम श्रावकके व्रत देने योग्य दीक्षासे अच्छीतरह नियुक्त करता है अर्थात् दीक्षा देकर उससे श्रावकके व्रत धारण कराता है तब उसके विवाह क्रिया की जाती है ॥ ५९ ॥ अपनी धर्मपत्नीके संस्कार चाहनेवाले उस भव्य पुरुषके उसी स्त्रीके साथ फिर दुवारा विवाहका संस्कार किया जाता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवानकी पूजाको आदि लेकर जो कुछ पाहिले कहचुके हैं वह सब किया जाता है ॥ ६० ॥ (यह बारहवीं विवाह क्रिया है) तदनंतर--जिन्हें वर्णलाभ प्राप्त होचुका है और अपने समान षट्कर्म करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोंके साथ संबंध करनेकी इच्छा करने वाले इस भव्य पुरुषके वर्णलाभ क्रिया की जाती है ॥ ६१ ॥ इस क्रियाके करते समय उस भव्यको उचित है कि वह बडे २ चार श्रावकोंको आदर सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोगोंको मुझे अपने

ऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥ ६३ ॥ मया तु चारितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनां । दत्तान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजन ॥ ६४ ॥ अयोनिसभव जन्म लब्ध्वाऽह गुर्वनुग्रहात् । चिरभावितमुत्सृज्य प्राप्तो वृत्तमभावित ॥ ६५ ॥ व्रतसिध्द्यर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साप्रत । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि स्वधीतोपासकव्रतः ॥ ६६ ॥ व्रतावतरणस्याते स्वीकृताभरणोऽस्म्यह । पत्नी च संस्कृताऽऽमीया कृतपाणिग्रहा पुन. ॥ ६७ ॥ एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो ममोचित. । सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात्सधर्मणा ॥ ६८ ॥ इत्युक्तास्ते च त सत्यमेवमस्तु समजन । त्वयोक्त श्लाघ्यमेवैतत्कोऽन्यस्त्वत्समद्विजो

समान बनाकर मेरा उपकार करना चाहिये ॥ ६२ ॥ आप संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं और संसारमें पूज्य हैं तथा मैंने दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत स्वीकार किये ह ॥ ६३ ॥ गृहस्थोंका जो धर्म है वह मैंने वहुत कुछ धारण किया है, वहुतसे दान दिये हैं और गुरुओंकी पूजनभी की है॥ ६४ ॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे विना योनिसे उत्पन्न हुआ (केवल मंत्रोंसे संस्कार किया) जन्म धारण किया है और वहुत दिनोंसे पालन किये हुये मिथ्यात्वको छोडकर जो पहिले कभी चिंतवन नहीं किया था ऐसा सम्यक् चारित्र धारण किया है ॥ ६५ ॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिये ही इस समय मैंने यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचार पढकर तथा अन्य विद्याओंको पढकर मैं विद्वानभी होगयाहूं ॥ ६६॥ व्रतावतरण क्रियाके अंतमें मैंने वस्त्र और आभूषण स्वीकार किये हैं और अपनी स्त्रीका भी संस्कार किया ह तथा उसके साथ फिर दुवारा पाणिग्रहण भी किया है ॥ ६७ ॥ इसप्रकार मैंने व्रत धारण किये हैं इसलिये आज मेरेलिये वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित ही है और उसकी भी प्राप्ति आप ऐसे साधर्मी पुरुषोंकी आज्ञानुसार सहज रीतिसे प्राप्त हो सकती ह ॥ ६८ ॥ इस प्रकार कह चुकने पर वे श्रावक लोग कहें कि ठीक है जो आपने कहा है वह सव उसी तरह होगा, आपने जो कुछ कहा है वह सब प्रशंसनीय है, आपके सिवाय अन्य ऐसा कौनसा द्विज है जो आपके समान हो ॥ ६९ ॥ आप ऐसे पुरुषोंके न मिलने पर हम लोगोंको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टि-

द्विजः ॥ ६९ ॥ युष्मादृशामलाभे तु मिथ्यादृष्टिभिरप्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं संबंधोऽभिमतो हि नः ॥ ७० ॥ इत्युक्त्वैनं समाश्वास्य वर्णलाभेन युजते । विधिवत्सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षता ॥ ७१ ॥ इति वर्णलाभक्रिया ॥ वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽधुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात्कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥ ७२ ॥ इति कुलचर्या ॥ विशुद्धस्तेन वृत्तेन ततोऽभ्येति गृहीशिता । वृत्ताध्ययनसंपत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥ ७३ ॥ प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तस्तदा धत्ते गृहीशिता ॥ ७४ ॥ गृहीशिताक्रिया ॥ ततः पूर्ववदेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभावनाः समुपेयुषः ॥ ७५ ॥ इति प्रशांतताक्रिया ॥ गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद्गृहवासाद्विरज्यतः । योग्य सूनु यथान्यायमनु-

---

योंके साथ साथ अपना संबंध करना पडता है ॥ ७० ॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दें और वर्णलाभ क्रियाकी योजना करावें। वह भव्य भी विधिके अनुसार उस वर्णलाभ क्रियाको प्राप्त कर उन सब श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है अर्थात् वह सबके बराबर मानाजाता है ॥ ७१ ॥ (यह तेरहवीं वर्णलाभ क्रिया है) यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके, अब कुलचर्या क्रिया कहते हैं, आर्योंके करने योग्य ऐसे देवपूजा आदि छह कर्म करना आजीविका करना दान देना आदि जो कुलमें करने योग्य बहुतसी क्रियायें हैं उन्हें करना कुल चर्या है॥ ७२ ॥ (यह चौदहवीं कुलचर्या क्रिया है) तदनंतर—उन आचरणोंसे विशुद्ध हुआ वह श्रावक गृहीशिता नामकी क्रियाको प्राप्त होता है। जब वह चारित्र और अध्ययन (विद्या) रूपी संपत्तिसे अन्यजीवोंका उपकार करनेमें समर्थ होता है, प्रायश्चित्त आदि सब विधानोंको जान लेता है, वेद स्मृति और पुराण आदिका जानकार हो जाता है तब वह गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है॥७३-७४॥ (यह पंद्रहवीं गृहीशिता क्रिया है) तदनंतर—अनेक तरहके उपवास आदिकी भावनाओंको धारण करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्यके पहिलेके समान ही प्रशांतता क्रिया मान्य की जाती है॥ ७५॥ (यह सोलहवीं प्रशांतता क्रिया है) तदनंतर—जब वह अपने घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य

शिष्य गृहोज्झन ॥ ७६ ॥ गृहत्यागक्रिया ॥ त्यक्तागारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुष. । एकशाटकधारित्व प्राग्वद्दीक्षाद्यमिष्यते ॥ ७७ ॥ इति दीक्षाद्य-क्रिया ॥ ततोऽस्य जिनरूपत्वमिष्यते त्यक्तवाससः । धारण जातरूपस्य युक्ताचाराद्गणोगिनः ॥ ७८ ॥ इति जिनरूपता ॥ क्रियाशेषास्तु नि शेषाः प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपाद्या स्यु र्न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥ ७९ ॥ यस्त्वेतास्तत्त्वतो ज्ञात्वा भव्य समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वा-णमचिरात्सुखसाद्भवन् ॥ ८० ॥ इति दीक्षान्वयक्रिया ॥ अथातः सप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रिया । याः प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयुर्भव्यदेहिन ॥८१॥

पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोडता है घरमें रहनेका त्याग करता है तव उसके गृह त्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ (यह सत्रहवीं गृहत्याग क्रिया है) उसके वाद जिसने घरका त्याग कर दिया है और जो तपोवनको जाना चाहता है ऐसा वह भव्य जो पहिलेके समान क्षुल्लकके व्रत लेकर एक वस्त्र धारण करता है उसकी वह दीक्षाद्य क्रिया कहलाती है ॥ ७७ ॥ (यह अठारहवीं दीक्षाद्य क्रिया है) तदनंतर वह भव्य सव वस्त्रोंका त्याग कर योग्य आचरणोंको धारण करनेवाले आचार्यसे जो दिगंवर अवस्था धारण करता है उसकी उस क्रियाको जिनरूपता क्रिया कहते हैं ॥७८॥ (यह उनईसवीं जिनरूपता क्रिया है) इसके सिवाय आगेकी जो क्रियायें वाकी रहगई हैं वे सव जिसप्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गई हैं उसीप्रकार करलेनी चाहियें, इन वची हुई दीक्षान्वय क्रियाओंमें और गर्भान्वय क्रियाओंमें कोई किसीतरहका भेद नहीं है ॥ ७९ ॥ जो भव्य पुरुष इन क्रियाओंको यथार्थ रीतिसे जानकर इनका अनुष्ठान करता है वह अनंत सुखमें तल्लीन होता हुआ वहुत शीघ्र मुक्त होता है ॥ ८० ॥ (इस प्रकार दीक्षान्वय क्रियायें समाप्त हुईं)

अथानंतर—भो द्विजो आगे मैं कर्त्रन्वय क्रियायें कहता हूं जिस जीवके मोक्षकी प्राप्ति निकट रहती है अर्थात् जो निकट भव्य है उसीके ये क्रियायें होती हैं ॥८१॥ उन कर्त्रन्वय क्रियाओंमें कल्याणकरने वाली सज्जाति नामकी सवस पहिली क्रिया है । जव किसी आसन्नभव्य पुरुषको मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होती है

तत्र सज्जातिरित्याद्या क्रिया श्रेयोऽनुबंधिनी । या सा चासन्नभव्यस्य नृजन्मोपगमे भवेत् ॥८२॥ स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सदन्वये । विशुद्धं लभते जन्म सैषा सज्जातिरिष्यते ॥ ८३ ॥ विशुद्धकुलजात्यादिसंपत्सज्जातिरुच्यते । उदितोदितवंशत्वं यतोऽभ्येति पुमान्कृती ॥ ८४ ॥ पितुरन्वय शुद्धिर्या तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिलप्यते ॥ ८५ ॥ विशुद्धिरुभयस्यास्य सज्जातिरनुवर्णिता । यत्प्राप्तौ सुलभा बोधिरयत्नोपनतैर्गुणैः ॥८६॥ सज्जन्मप्रतिलम्भोऽयमार्यावर्तविशेषतः । सत्या देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिना ॥ ८७ ॥ शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता । एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः ॥ ८८ ॥ संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते । यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥ ८९ ॥ विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कार-

---

तब उसे यह क्रिया प्राप्त होती है ॥ ८२ ॥ मनुष्य जन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करनेके योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी क्रिया होती है ॥ ८३ ॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी संपदाकी प्राप्ति होनेको सज्जाति कहते हैं, इस सज्जातिके प्राप्त होनेसे ही पुण्यवान मनुष्यको उत्तरोत्तर अधिक अधिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है ॥ ८४ ॥ परंपरासे चले आये पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और परंपरासे चले आये माताके वंशकी जो शुद्धि है उसे जाति कहते हैं ॥ ८५ ॥ तथा जो कुल और जाति दोनोंकी विशुद्धि है वह सज्जाति कहलाती है । उस सज्जातिके प्राप्त होनेसे विना ही प्रयत्नके सहज रीतिसे प्राप्त हुये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सहज रीतिसे हो जाती है ॥ ८६ ॥ आर्य खंडकी विषेशतासे इस सज्जन्मकी प्राप्ति होनेपर और शरीर आदिकी योग्य सामग्री मिलनेपर जीवोंको अनेक तरहके कल्याण प्राप्त होते हैं ॥ ८७ ॥ यह सज्जाति उत्तम शरीरके जन्मसे वर्णन की गई है क्योंकि सज्जातिके होनेसे ही मनुष्योंको समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि होती है ॥ ८८ ॥ संस्कारोंसे उत्पन्न हुये जन्मसे जो सज्जाति है वह दूसरी तरहसे वर्णन की जाती है जिस संस्कारोंसे उत्पन्न हुई सज्जातिको पाकर भव्य पुरुष द्विजपनेको प्राप्त होता है ॥ ८९ ॥

योगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैव क्रियामन्त्रैः सुसंस्कृतः ॥ ९० ॥ सुवर्णधातुरथवा शुध्येदासाद्य संस्क्रिया । यथा तथैव भव्यात्मा शुध्यत्यासादितक्रियः ॥ ९१ ॥ ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानमनुत्तर । यदाऽथ लभते साक्षात्सर्वविन्मुखत. कृती ॥ ९२ तदैप परमज्ञानगर्भात्संस्कारजन्मना । जातो भवेद्द्विजन्मेति व्रतैः शीलैश्च भूषितः ॥ ९३ ॥ व्रताचिन्हं भवेदस्य सूत्र मत्रपुरःसर । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य द्रव्यभावविकल्पित ॥ ९४ ॥ यज्ञोपवीतमस्य स्याद्द्रव्यतस्त्रिगुणात्मक । सूत्रमौपासिक तु स्याद्भावारूढैस्त्रिभिर्गुणैः ॥ ९५ ॥ यदैव लब्धसंस्कारः पर ब्रह्माधिगच्छति । तदैनमभिनद्या-

---

जिसप्रकार विशुद्ध खानसे उत्पन्न हुई मणि संस्कारके निमित्तसे अत्यंत उज्वल हो जाती है उसी प्रकार यह आत्मा भी क्रिया मंत्रोंके संस्कारसे अत्यंत निर्मल हो जाता है ॥ ९० ॥ अथवा जिसप्रकार सुवर्णपाषाण उत्तम क्रियाको पाकर शुद्ध हो जाता है उसीप्रकार यह भव्य पुरुष भी उत्तम क्रियाओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥ ९१ ॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्तम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है । जब वह पुण्यवान जीव साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञानको प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न हाता है और प च अणुव्रत तथा सात शील इनसे विभूषित होकर द्विजन्मा अथवा द्विज कहलाता है ॥ ९२--९३ ॥ सर्वज्ञदेवकी आज्ञाको ही प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मंत्र पूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिन्ह समझा जाता है वह सूत दो प्रकारका है एक द्रव्य सूत्र और दूसरा भाव सूत्र ॥ ॥ ९४ ॥ वह जो तीन लरका यज्ञोपवीत धारण करता है वह उसका द्रव्यसूत्र कहलाता है और अंतःकरणमें उत्पन्न हुये दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन गुणोंका बनाहुआ अर्थात् इन तीन लरोंका बनाया हुआ जो श्रावकाचार संबंधी सूत्र है वह भावसूत्र कहलाता है ॥ ९५ ॥ जब वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ज्ञान अथवा परम तपश्चरणको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वाद रूप बचनोंसे उसकी प्रशंसा करते हैं और श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजासे बचे हुये पुष्प अथवा अक्षतोंकी

शीर्वचोभिर्गणनायकाः ॥ ९६ ॥ लंभयंत्युचितां शेषां जैनीं पुष्पैरथाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहनं परं ॥ ९७ ॥ अयोनिसंभवं दिव्यज्ञान-गर्भसमुद्भव । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥ ९८ ॥ ततोऽधिगतसज्जातिः सद्गृहित्वमसौ भजेत् । गृहमेधीभवन्नार्यषट्कर्माण्यनुपालयन् ॥ ९९ ॥ यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विशुद्धिमत् । तदाप्तविहितं कृत्स्नमतंद्रालुः समाचरन् ॥ १०० ॥ जिनेंद्राल्लब्धसज्जन्मा गणेंद्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं द्विजसत्तमः ॥ १०१ ॥ तमेनं धर्मसाद्भूतं श्लाघ्यते धार्मिका जनाः । परं तेज इव ब्राह्ममवतीर्णं महीतलं ॥ १०२ ॥

यथा योग्य शेषाको उसे ग्रहण कराते हैं यह एक प्रकारका स्थितिकरण वा स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यंत उत्साह दिलानेवाला है॥ ९६-९७ ॥ इसप्रकार जब वह भव्य जीव विना योनिके प्राप्त हुये और दिव्य ज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न हुये उत्कृष्ट जन्मको पाता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला गिना जाता है ॥ ९८ ॥ (यह सज्जाति नामकी पहिली क्रिया है) तदनंतर--जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य दूसरी सद्गृहित्व सद्गृहस्थपना नामकी क्रियाको प्राप्त होता है, उस समय वह गृहस्थ होकर देव पूजा आदि आर्योंके करने योग्य जो छह कर्म हैं उनका पालन करता है॥९९॥ गृहस्थोंके करने योग्य जो जो अत्यंत विशुद्ध आचरण कहे हैं उन अरहंतदेवके कहे हुये समस्त आचरणोंको आलस छोडकर सावधानीके साथ पालन करता है ॥ १०० ॥ जिसने श्रीजिनेंद्रदेवसे (जिनेंद्र देवका उपदेश सुनकर) उत्तम जन्म पाया है और गणधर देवसे शिक्षा पाई है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट चारित्र और अध्ययनको अर्थात् विद्याकी ऋद्धियोंको धारण करता है ॥ १०१ ॥ उससमय साक्षात् धर्म स्वरूप हुये इस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि तू ज्ञानसंबंधी उत्कृष्ट तेजके समान इस पृथ्वीपर अवतीर्ण हुआ है। भावार्थ--उत्कृष्ट ज्ञानके समान ही तैने अवतार लिया है ॥ १०२ ॥ पूजा करनेवाले अन्य यजमान भी जिसकी उपासना वा सेवा करते हैं ऐसा वह बुद्धिमान भव्य स्वयं पूजा करता है और अन्य लोगोंसे कराता है तथा द्वादशांग

स यजन्याजयन् धीमान् यजमानैरुपासितः । अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदांगविस्तरं ॥ १०३ ॥ स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चितैर्गुणैः ॥१०४॥ नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवं । प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥ गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवन् । बिभ्रल्लोकातिगं धाम मह्यामेपमहीयते ॥ १०६ ॥ धर्म्यैराचरितैः सत्यशौचक्षांतिदमादिभिः ॥ देवब्राह्मणता श्लाघ्या स्वस्मिन्संभावयत्यसौ ॥ १०७ ॥ अथ जातिमदावेशात्कश्चिदेन द्विजब्रुवः । ब्रूयादेव किमद्यैव देवभूय गतो भवान् ॥ १०८ ॥ त्वमामुष्यायणः किंन्न किं

रूप वेद और प्रकीर्णक आदि वेदांग इनके विस्तारको स्वयं पढता हुआ दूसरे लोगोंको पढाता है ॥ १०३ ॥ यद्यपि वह पृथ्वीका स्पर्श करता है तथापि काम क्रोध आदि पृथ्वीके दोषोंसे वह कभी स्पर्श नहीं किया जाता, वह इसी मनुष्यभवमें पूज्य गुणोंको धारणकर देवपनेको प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ देवोंकी ऋद्धियोंमेंसे इसके अणिमा अर्थात् छोटापन नहीं होता है किंतु महिमा अर्थात् वडप्पन वा पूज्यपना ही रहता है। इसी तरह लघिमा अर्थात् लघुता नहीं होती, सदा गरिमा अर्थात् गुरुता ही रहती है। इसी तरह प्राप्ति [रत्नत्रयकी प्राप्ति] प्राकाम्य (सबको प्रिय) ईशित्व (सबका स्वामी) और वशित्व (सबको वश वा आज्ञाकारी करनेवाला) ये गुण भी उसमें रहते हैं ॥ १०५ ॥ इन गुणोंसे जिसकी महिमा प्रगट हुई है, जो देवपनेको प्राप्त हुआ है और समस्त लोकको उलंघन करनेवाले तेजको जो धारण करता है ऐसा वह भव्य पुरुष इस पृथ्वीपर पूज्य गिना जाता है ॥ १०६ ॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम अर्थात् इन्द्रियोंको वश रखना इत्यादि धर्म संबंधी उत्तम आचरणोंको धारण करनेसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी संभावना करता है अर्थात् वह प्रशंसनीय देवब्राह्मणके समान माना जाता है ॥ १०७ ॥ अथानंतर--कदाचित् अपनेको झूठ मूठ द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेशसे इस देवब्राह्मणको इस प्रकार कहे कि क्या आप आज ही देवपनेको प्राप्त होगये हैं ॥ १०८ ॥ क्या तू अमुक प्रसिद्ध

तेऽबाऽमुष्य पुत्रिका । येनैवमुन्नसो भूत्वा यास्यसत्कृत्य मद्विधान् ॥ १०९ ॥ जातिः सैव कुल तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः । तथाऽपि देवतात्मा-नमात्मानं मन्यते भवान् ॥ ११० ॥ देवताऽतिथिपित्रग्निकार्येष्वप्राकृतो भवान् । गुरुद्विजातिदेवाना प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥ १११॥ दीक्षां जैनीं प्रप-न्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥ ११२ ॥ इत्युपारुढसंरंभमुपालब्धः स केनचित् । ददात्युत्तरमित्य-स्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः ॥ ११३ ॥ श्रूयता भो द्विजमन्य त्वयाऽस्मद्दिव्यसंभव. । जिनो जनयिताऽस्माक ज्ञानं गर्भोऽतिनिर्मलः ॥ ११४ ॥ तत्राहंतीं

पुरुषका पुत्र नहीं है ? क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? किस कारणसे तू आज अपनी ऊंची नाक कर मेरे ऐसे द्विजोंका आदर सत्कार किये विना ही जाता है ? ॥ १०९ ॥ तेरी जाति वही है जो पहिले थी, तेरा कुल वही है जो पहिले था और तू वही है जो पहिले था तथापि तू आज अपनेको देवस्वरूप मानता है ? ॥ ११० ॥ यद्यपि तू देव पूजन आदि देवकार्यमें, मुनियोंको दान देना आदि अतिथिकार्योंमें, पितृकार्योंमें और होम आदि अग्नि संबंधी अग्निके कार्योंमें सबसे उत्तम है तथापि तू गुरु द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है अर्थात् तू द्विज गुरु और देवोंको प्रणाम नहीं करता ॥ १११ ॥ तुझे जिनेंद्रदेवकी दीक्षा धारण करनेसे कौनसा अतिशय प्राप्त होगया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है, पृथ्वीको स्पर्श करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ! ॥ ११२ ॥ इसप्रकार अत्यंत क्रोध करता हुआ कोई द्विज आकर उपालंभ (उलाहना) दे तो उसकेलिये युक्तियोंसे भरे हुये वचनोंसे इसप्रकार उत्तर दे ॥ ११३ ॥ कि हे अपनेको द्विज मान-नवाले ! तू आज मेरा दिव्य जन्म (देवपनेको प्राप्त करनेवाला जन्म] सुन । श्रीजिनेंद्रदेव ही मेरा पिता है और ज्ञान ही अत्यंत निर्मल गर्भ है ॥ ११४ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और सस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित जो अरहंतदेव संबंधिनी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ये तीन भिन्न भिन्न शक्ति हैं उनको स्वीकारकर मैं संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुआ हूं ॥ ११५ ॥ मैं विना योनिके उत्पन्न हुआ

त्रिधा भिन्नां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रितां । स्वमात्कृत्य समुद्भूता वयं संस्कारजन्मना ॥ ११५ ॥ अयोनिसंभवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवान्येऽपि सति चेद्ब्रूहि तद्विधान् ॥ ११६ ॥ स्वायंभुवान्मुखाज्जातास्ततो देवद्विजा वयं । व्रतचिन्हं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितं ॥ ११७ ॥ पापसूत्रानुगा यूय न द्विजा सूत्रकंठका. । सन्मार्गकंटकास्तीक्ष्णाः केवल मलदूषिताः ॥ ११८ ॥ शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मत । जन्मागिना मृतिश्चैवं द्विधाम्नाता जिनागमे ॥ ११९ ॥ देहांतरपरिप्राप्ति पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेय देहभाजां भवांतरे ॥ १२० ॥ तथालब्धात्मलाभस्य पुन. सँस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म सँस्कारजं स्मृतं ॥ १२१ ॥ शरीरमरण स्वायुरंते देह विसर्जनं । सँस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागः

हूं इसलिये देव ही हूं मनुष्य नहीं हूं, जो मेरे समान और भी हों तो उन्हें भी तू देवब्राह्मण करके पुकार ॥ ११६ ॥ मैं भगवान श्रीस्वयंभूके मुखसे उत्पन्न हुआ हूं इसलिये देवद्विज वा देवब्राह्मण हूं और मेरे व्रतोंका चिन्ह शास्त्रमें कहा हुआ पवित्र सूत्र है ॥ ११७ ॥ आप लोग तो, गलेमें सूत्र पहिनकर श्रेष्ठ मोक्षमार्गमें तीक्ष्ण कांटे वनतहुये पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥ ११८ ॥ जीवोंके जन्म दो प्रकारके हैं एक तो शरीरका जन्म और दूसरा संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म, तथा इसीप्रकार जैनशास्त्रोंमें मरण भी दो प्रकारका कहा है ॥ ११९ ॥ पहिले शरीरके नष्ट होनेपर दूसरे भवमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोंका शरीर जन्म समझना चाहिये ॥ १२० ॥ इसीप्रकार जिसे अपने आत्माकी प्राप्ति कभी नहीं हुई है ऐसे जीवको जो संस्कारोंके निमित्तसे द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥ १२१ ॥ इसीतरह अपनी आयु पूर्ण हो जानेपर जो शरीरका छोडना है उसे शरीरमरण कहते हैं और व्रतोंको धारणकर जो पापोंका छोडना है उसे संस्कार मरण कहते हैं ॥ १२२ ॥ जिसे सव संस्कार प्राप्त हुये हैं वह जीव मिथ्यादर्शनरूप पहिली पर्यायको छोड देता है इसलिये वह एकतरहसे मर ही जाता है ॥ १२३ ॥ इसलिये गुरुकी आज्ञानुसार उन दोनों जन्मोंमेसे जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्का-

समुज्ज्ञनं ॥ १२२ ॥ यतोयंलब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतन । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन मृतो भवेत् ॥ १२३ ॥ तत्र संस्कारजन्मेदमपापोपहतं परं । जातं नो गुर्वनुज्ञानादतो देवद्विजा वयं ॥ १२४ ॥ इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं ख्यापयन्न्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत्प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरं ॥ १२५ ॥ भूयोऽपि संप्रवक्ष्यामि ब्राह्मणान्सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य निरासार्थमतः परं ॥ १२६ ॥ ब्रह्मणोऽपत्यमित्येव ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान्परमेष्ठी जिनोत्तमः ॥ १२७ ॥ स ह्यादिपरमब्रह्मा जिनेंद्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदायत्तमामनंति मुनीश्वराः ॥ १२८ ॥ नैणाजिनधरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । य. कामगर्दभो भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्चसात् ॥ १२९ ॥ दिव्यमूर्तेर्जिनेंद्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलात् । समासादितजन्मानो द्विज-

---

रसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म मुझे प्राप्त हुआ है इसलिये मैं देवद्विज वा देवब्राम्हण कहलाता हूं ॥ १२४ ॥ इसप्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माको गुणोंकी उत्कृष्टता प्रगट करता हुआ और सबसे उत्तम ऐसी सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर वह जीव श्रेष्ठ गृहस्थ होता है ॥ १२५ ॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ऐसे ब्राह्मणोंको जातिवादका अभिमान दूर करनेके लिये फिर भी इसके आगे कहता हूं ॥ १२६ ॥ जो ब्रह्माकी संतान हो उसे ब्राह्मण कहते हैं और जो स्वयंभू भगवान परमेष्ठी जिनेंद्रदेव है उसे ब्रह्मा कहते हैं। भावार्थ—जो जिनेंद्रदेवकी संतान है जिनेंद्रदेवका उपदेश सुनकर जो संस्कृत हुये हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं ॥ १२७ ॥ वे श्रीजिनेंद्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा कहलाते हैं क्योंकि वे ही आत्माके सम्यग्दर्शनादि गुणोंको वढानेवाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान उन्हीं जिनेंद्रदेवके आधीन है ऐसा महर्षि लोग मानते हैं ॥ १२८ ॥ जो हिरणका चमडा धारण करता है, जटा डाढी आदि चिन्होंको धारण करता है, तथा जिसने कामके वश होकर गधेका मुह वनाया और ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता ॥ १२९ ॥ इसलिये जिन्होंने दिव्य मूर्त्तिको धारण करनेवाले श्रीजिनेंद्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म धारण किया है वे ही द्विज कहलाते हैं ॥ १३० ॥ व्रत, मंत्र आदिके संस्कारोंसे जिन्हें महत्व प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोंको

न्मानस्ततो मता: ॥ १३० ॥ वर्णांतःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमा: । व्रतमंत्रादिसंस्कारसमारोपितगौरवा: ॥ १३१ ॥ वर्णोत्तमानिमान् विद्म: क्षांतिशौचपरायणान् । सतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यानक्लिष्टाचारभूषणान् ॥ १३२ ॥ क्लिष्टाचारा: परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिन: । पापारम्भरता: शश्वदाहत्य पशुघातिन: ॥ १३३ ॥ सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेत्य पशुघ्नता । का नाम गतिरेषां स्यात्पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥ चोदनालक्षणं धर्ममधर्मं प्रतिजानते । ये तेभ्य: कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरान् भुवि ॥ १३५ ॥ पार्थिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्टाका: पापपण्डिता: । तेऽमी धर्मद्रुहो बाह्या ये निघ्नन्त्यघृणा:

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंके भीतर नहीं मानना चाहिये अर्थात् ये ब्राह्मण वा द्विज तीनों वर्णोंसे अलग हैं ॥ १३१ ॥ जो क्षमा शौच आदि गुणोंको धारण करनेमें सदा तत्पर हैं जो, सदा संतुष्ट रहते हैं, निर्दोष उत्तम आचरण रूपी आभूषणोंको धारण करते हैं और जिन्हें विशिष्टता वा उत्तमता प्राप्त हुई है ऐसे इन द्विजोंको ही सब वर्णोंमें उत्तम मानते हैं ॥ १३२ ॥ इनके सिवाय जो पिताका श्राद्ध करना आदि निंद्य आचरण पालते हैं, अपनेको झूठ मूठ द्विज मानते हैं, पापरूप आरंभ करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और जो निरंतर हठसे अथवा साक्षात् स्वयं पशुओंका घात किया करते हैं वे कभी ब्राह्मण नहीं हो सकते ॥ १३३ ॥ जिन्होंने समस्त हिंसामय धर्म स्वीकारकर पशुओंका घातकरना स्वीकार किया है ऐसे इन पापशास्त्रोंसे आजीविका करनेवालोंकी न जाने कौनसी दुर्गति होगी ॥ १३४ ॥ जो अधर्मस्वरूप ऐसे वेदमें कहे हुये धर्मको स्वीकार करते हैं उनके सिवाय इस संसारमें मैं और किसीको कर्मचांडाल नहीं देखता हूं अर्थात् वेदको माननेवाले सबसे बढकर कर्मचांडाल हैं ॥ १३५ ॥ जो निर्दयी अथवा निर्लज्ज होकर पशुओंको मारते हैं वे पापरूप कार्योंमें पंडित हैं, लुटेरे हैं और धर्मात्मा लोगोंसे बाह्य हैं, ऐसे लोग राजा लोगोंके द्वारा दंडनीय होते हैं अर्थात् राजाओंको ऐसे लोगोंको दंड देना चाहिये ॥ १३६ ॥ पशुओंकी हिंसा करनेरूप उद्योगसे जो राक्षसोंसे भी अधिक निर्दयी हैं यदि ऐसे लोग ही उत्कृष्ट माने जांयगे तो वडे दुःखके साथ कहना

मलिनाचारिता ह्येते कृष्णवर्गे द्विज- पशून् ॥ १३६ ॥ पशुहत्यासमारंभात्क्रव्यादेभ्योऽपि निष्कृपाः । यदुच्छ्रुतिमुशंत्येते हंतैवं धार्मिका हताः ॥१३७॥
त्रुवा. । जैनास्तु निर्मलाचाराः शुक्लवर्गे मता बुधैः ॥ १३८ ॥ श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तवृत्तमन्त्रक्रियाश्रिता । देवतालिंगकामानकृता शुद्धिर्द्विजन्मना ॥१३९॥
ये विशुद्धतरा वृत्तिं तत्कृता समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोद्धव्याः शेषाः शुद्धेः बहिःकृताः ॥ १४० ॥ तच्छुद्ध्यशुद्धी बोद्धव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः ।
न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारण ॥१४१॥ विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । वर्णांतः पातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थित ॥ १४२॥

पडता है कि इसतरह विचारे धार्मिक लोग व्यर्थ ही मारे गये ॥ १३७ ॥ ये बनावटी द्विज पापरूप आचरणोंका पालन करते हैं और झूठ मूठ अपनेको द्विज कहते हैं इसलिये विद्वान् लोग इन्हें पापियोंके समूहमें शामिल करते हैं और जैनी लोग निर्मल आचरणोंका पालन करते हैं इसलिये विद्वान लोग इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें गिनते हैं ॥ १३८ ॥ द्विज लोगोंकी शुद्धि द्वादशांगरूप वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, चारित्र, मंत्र और क्रियाओंसे होती है तथा देवताओंका चिन्ह धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥ १३९ ॥ जो धर्मशास्त्र, पुराण चारित्र मंत्र, क्रिया आदिके द्वारा कीगई ऐसी अत्यंत विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ग अथवा पुण्यवानोंमें समझना चाहिये और इनसे बाकी बचे हुओंको शुद्धतासे बाहर (महा अशुद्ध) समझना चाहिये ॥ १४० ॥ उनकी शुद्धता और अशुद्धता न्यायरूप प्रवृत्तिसे जानना चाहिये। दयासे कोमल परिणामोंका होना न्याय है और जीवोंका मारना अन्याय है ॥ १४१ ॥ इसलिये अर्थात् सब जीवोंपर दया पालन करनेसे विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं वे ही द्विज हैं, ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंमें से इन्हे किसीमें नहीं गिनना चाहिये ये सबसे अलग हैं और जगतपूज्य हैं यह बात निश्चय हो चुकी ॥ १४२ ॥ अब यहांपर एक यह शंका उत्पन्न होती है कि जो आजीविकाके लिये छह कर्म करनेवाले गृहस्थ जैनी द्विज हैं उनके भी हिंसाके दोषका संबंध

स्यादारेका च षट्कर्मजीविना गृहमेधिना । हिंसादोषोऽनुसंगी स्याज्जैनानां च द्विजन्मनां ॥ १४३ ॥ इत्यत्र ब्रूमहे सत्यमल्पसावद्यसंगतिः । तत्रास्त्येव तथाप्येषा स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिता ॥ १४४ ॥ अपि चैषा विशुध्यग पक्षश्चर्या च साधन । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृण्महे ॥ १४५ ॥ तत्र पक्षो हि जैनाना कृत्स्नहिंसाविवर्जन । मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपावृंहित ॥ १४६ ॥ चर्यातु देवतार्थं वा मंत्रसिध्यर्थमेव वा । औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टित ॥ १४७ ॥ तत्राकामकृते शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाचात्मान्वय सूनौ व्यवस्थाप्य गृहोज्झन ॥ १४८ ॥ चर्यैषा गृहिणा प्रोक्ता जीवितान्ते तु साधन । देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुध्याऽऽत्मशोधन ॥ १४९ ॥ त्रिष्वेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्द्विजन्मना ।

लगसकता है (क्योंकि आजीविकाके लिये छह कर्म करनेमें हिंसा ही होगी) परंतु इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जो तुमने कहा है वहतो ठीक है आजीविकाके लिये छह कर्म करनेमें थोडीसी हिंसाका दोष लगता है तथापि उन गृहस्थोंके लिये उन दोषोंकी शुद्धि भी शास्त्रोंमें दिखलाई है ॥१४३–१४४॥ उनगृहस्थोंके दोषोंकी विशुद्धिके कारण पक्ष चर्या और साधन ये तीन हैं अव मैं आगे इन तीनोंका ही स्वरूप निरूपण करता हूं ॥ १४५ ॥ इन तीनोंमेंसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन गुणोंसे वृद्धिको प्राप्त हुआ ऐसा समस्त हिंसाका त्याग करना ही जैनियोंके लिये पक्ष कहा जाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिये, अथवा, किसी मंत्रकी सिद्धि करनेके लिये, अथवा कोई औषध वा भोजन वनवानेके लिये मैं कभी किसी जीवको नहीं मारूंगा ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं ॥१४७॥ इस हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञामें कदाचित् कोई दोष प्रमादसे वनजाय तो प्रायश्चित्त लेकर उसकी शुद्धि करना चाहिये, तथा अंतमें अपना सब कुटंव और गार्हस्थ्यधर्म पुत्रको सोंपकर घरका त्याग करदेना चाहिये ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोंकी चर्याका निरूपण किया, अव आगे साधन कहते हैं, जीवन के अंत समयमें अर्थात् मरनेके समय शरीर, आहार और सव चेष्टाओंका त्यागकर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥ १४९ ॥ अरहंत देवको माननेवाले द्विजोंको पक्ष चर्या और

इत्यात्मपक्षनिक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥ १५० ॥ चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते । चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुंदर ॥ १५१ ॥ ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥ १५२ ॥ ज्ञातव्याः स्युः प्रपंचेन सांतर्भेदाः पृथग्विधाः । ग्रंथगौरवभीत्या तु नात्रैतेषा प्रपंचना ॥ १५३ ॥ सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणं । पारिव्राज्यमितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियांतरं ॥ १५४ ॥ गार्हस्थ्यमनुपाल्यैवं गृहवासाद्विरज्यतः । यद्दीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्षते ॥ १५५ ॥ पारिव्राज्यं परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणं । तत्र निर्ममतावृत्त्या जातरूपस्य धारणं ॥ १५६ ॥ प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नग्रहांशकैः । निर्ग्रंथाचार्यमाश्रित्य दीक्षा ग्राह्या मुमुक्षुणा ॥ १५७ ॥ विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृ-

---

साधन इन तीनोंमें हिंसाका कुछ स्पर्शतक नहीं होता, इसप्रकार जो दोष जैन द्विजोंपर ठहराया गया था उसका निराकरण होता है ॥ १५० ॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी श्रीअरहंतदेवके मतमें ही है, अन्य लोगोंने जो चार आश्रम माने हैं वे केवल जबतक विचार न किया जाय तबतक ही अच्छे हैं, विचार करनेपर उनमें बहुतसे दोष दिखाई पडते हैं ॥ १५१ ॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके माने हुये चार आश्रम हैं इनमें उत्तरोत्तर अधिक शुद्धि होती जाती है ॥ १५२ ॥ इन चारों आश्रमोंके अंतर्भेद यदि विस्तारके साथ कहे जायं तो अनेक हैं ऐसा समझ लेना चाहिये, ग्रंथ बढजानेके भयसे उन सबका विस्तार यहांपर नहीं लिखा है ॥ १५३ ॥ इसप्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्गृहित्व क्रिया है, अब यहांसे आगे अत्यंत विशुद्ध ऐसी जो पारिव्राज्य नामकी तीसरी क्रिया है उसको कहेंगे ॥ १५४ ॥ [यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है] जो गृहस्थ धर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होकर दीक्षा धारण करता है उसे पारिव्राज्य कहते हैं ॥ १५५ ॥ परिव्राजका जो भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं, इस पारिव्राज्य क्रियामें ममत्व छोडकर दिगंबर अवस्था धारण करनी पडती है ॥ १५६ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न, और शुभ ग्रहोंके अंशमें अर्थात् जिस

त्तस्य वपुष्मतः । दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥ १५८ ॥ ग्रहोपरागग्रहणे परिवेषेंद्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेंबरे ॥ १५९ ॥ नष्टाधिमासदिनयो. सक्रातौ हानिमत्तिथौ । दीक्षाविधिं मुमुक्षूणां नेच्छंति कृतबुद्धय' ॥ १६० ॥ सप्रदायमनादृत्य यस्त्विमं दीक्षयेदधी. । स साधुभिर्बहिःकार्यो वृद्धात्यासादनारतः ॥ १६१ ॥ तत्र सूत्रपदान्याहुर्योगींद्राः सप्तविंशतिं । यैर्निर्णीतैर्भवेत्साक्षात्पारिव्राज्यस्य लक्षणं ॥ १६२ ॥ जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुंदराङ्गता । प्रभामंडलचक्राणि तथाऽभिषवनाथते ॥ १६३ ॥ सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः । अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभाऽवगाहने ॥ १६४ ॥ क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञासभाः कीर्तिर्वंद्यता वाहनानि च । भाषाऽऽहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥ १६५ ॥ जात्यादिकानिमान्स-

---

समय ये सब शुभ हों उस समय निर्ग्रंथ आचार्यके समीप जाकर दीक्षा धारण करना चाहिये ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, जिसके आचरण उत्तम हैं, जिसका मुख सुंदर है और जो अच्छा बुद्धिमान् है ऐसा भव्य पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य समझा जाता है ॥ १५८ ॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चंद्रमापर परिवेष (सूर्य चंद्रमाके चारों ओर कुछ दूर पर जो सफेद रेखासी खिच जाती है उसे परिवेष कहते हैं) हो इंद्रधनुष लगा हो, वक्र ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघपटलसे घिर गया हो, नष्टमास तथा अधिक मासका दिन हो, संक्रांति और क्षयतिथिका दिन हो तो उस दिन वा उस समय बुद्धिमान लोग मोक्षकी इच्छा करनेवालेके लिये दीक्षाकी विधि करना नहीं चाहते हैं अर्थात् उसदिन दीक्षा नहीं देनी चाहिये ॥ १५९-१६० ॥ जो मंदबुद्धि वा मूर्ख इस संप्रदायका अनादरकर अर्थात् ऊपर लिखे हुये निषिद्ध दिनोंमें ही इस शिष्यको दीक्षा देदेता है वह वृद्ध लोगोंके उलंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधु लोगोंके द्वारा वहिष्कृत कर दिया जाता है अर्थात् असमयमें दीक्षा देनेवालेको साधु लोग संघके वाहर कर देते हैं ॥ १६१ ॥ मुनिराज इस पारिव्राज्यक्रियामें जिनका निर्णय करनेसे पारिव्राज्यका लक्षण साक्षात् प्रगट होता है ऐसे सत्ताईस सूत्रपद बतलाते हैं ॥१६२॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुंदरता, प्रभा, मंडल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन,

त्रविंशतिं परमेष्ठिना। गुणानाद्भर्भजेद्दीक्षा स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥ १६६ ॥ जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदर्हतां क्रमौ। यतो जात्यंतरे जात्या याति जातिचतुष्टयीं ॥ १६७ ॥ जातिरैंद्री भवेद्दिव्या चक्रिणा विजयाश्रिता। परमाजातिरार्हंत्ये स्वात्मोत्था सिद्धिमीयुषां ॥ १६८ ॥ मूर्त्यादिष्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी। पुराणज्ञैरसंमोहात्क्वाचिच्च त्रितयी मता ॥ १६९ ॥ कर्शयेन्मूर्तिमात्मीयां रक्षन्मूर्तीः शरीरिणा ॥ तपोऽधितिष्ठेद्दिव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥ १७० ॥ स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिना। लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ १७१ ॥ म्लापयन् स्वांगसौंदर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत्

वस्त्र, छत्र, चामर, घोषणा, अशोकवृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्र, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वंद्यता, बाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥ १६३-१६४-१६५ ॥ ये जो जाति आदि सत्ताईस गिनाये हैं ये परमेष्ठियोंके गुण हैं इन गुणोंमें तथा अपनेमें आदर सत्कार न करते हुये उस भव्य पुरुषको दीक्षा धारण करनी चाहिये ॥ १६६ ॥ यद्यपि वह स्वयं उत्तम जातिवाला है तथापि वह अपनी उत्तम जातिका अभिमान छोडकर अरहंतदेवके चरण कमलोंकी सेवा करता है क्योंकि ऐसा करनेसे दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर उसे दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा ये चार जातियां प्राप्त होती हैं ॥१६७॥ इंद्रकी दिव्य जाति कहलाती है, चक्रवर्तियोंकी विजयाश्रिता अरहंतदेवकी परमा और सिद्ध पद प्राप्त होनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्यके, जो अपने आत्मासे उत्पन्न होती है वह स्वा अथवा स्वामोत्था जाति कहलाती है ॥१६८॥ दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वात्मोत्था इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें भी समझलेनी चाहिये पुराणोंको जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी किसी जगह अर्थात् सिद्ध आदिकोंमें तीन ही मानते हैं स्वात्मोत्था मूर्ति नहीं मानते ॥ १६९ ॥ जो दिव्या, विजयाश्रिता आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उस मुनिको अपना शरीर कृश करते हुये और जीवोंके शरीरोंकी (जीवोंकी) रक्षा करते हुये तपश्चरण करना चाहिये ॥ १७० ॥ इसीप्रकार गुणोंमें विश्वास करता हुआ वह विद्वान् अपने

वाछन्दिव्यादिसौंदर्यमनिवार्यपरपरं ॥ १७२ ॥ मलीमसांगो व्युत्सृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः प्रभां मुनिर्ध्यायन् भवेत्क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥ १७३ ॥
स्व मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिन भजन् । तेजोमयमय योगी स्यात्तेजोवलयोज्वलः ॥ १७४ ॥ त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रशस्त्राणि प्राक्तनानि प्रशातिभाक् ।
जिनमाराध्य योगींद्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १७५ ॥ त्यक्तस्नानादिसंस्कारः सश्रित्य स्नातक जिनं । मूर्ध्नि मेरोरवाप्नोति पर जन्माभिषेचनं ॥ १७६ ॥
स्व स्वाम्यमैहिक त्यक्त्वा परमस्वामिन जिनं । सेवित्वा सेवनीयत्वमेष्यत्येप जगज्जनैः ॥ १७७ ॥ स्वोचितासनभेदाना त्यागात्यक्तावरो मुनिः । सैह

लक्षणोंको कहनेके अयोग्य मानता हुआ श्रीजिनेंद्रदेवके लक्षणोंको चिंतवन करता हुआ तपश्चरण करे ॥ १७१ जिनकी परंपरा निवारण नहीं की जा सकती ऐसे दिव्यसौंदर्य, विजयाश्रितसौंदर्य, परमसौंदर्य और स्वात्मोत्थसौंदर्य इनकी इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरकी सुंदरताको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥ १७२ ॥ इसीप्रकार जिसका शरीर मलिन है और जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न हुई प्रभाका त्याग कर दिया है ऐसा जो मुनि श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रभाका ध्यान करता है वह बहुत शीघ्र अत्यंत देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि चारों प्रकारकी प्रभाओंको प्राप्त होता है ॥ १७३ ॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दीपक आदिके तेजको छोडकर अत्यंत तेजस्वरूप ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवका चिंतवन करता है वह प्रभामंडलसे अत्यंत देदीप्यमान हो जाता है ॥ १७४ ॥ जो मुनिराज पहिलेके सब अस्त्र, वस्त्र, और शस्त्रोंको छोडकर तथा अत्यंत शांत होकर श्री जिनेंद्रदेवका आराधन करता है वह धर्मचक्रका स्वामी होता है ॥ १७५ ॥ जो मुनि स्नान आदि सब संस्कारोंको छोडकर स्नातक अर्थात् तेरहवें गुणस्थानमें विराजमान केवली भगवान अरहंतदेवका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिंतवन करता है वह मेरु पर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है, अर्थात् इंद्रादि देव उसका जन्माभिषेक करते हैं ॥ १७६ ॥ जो मुनि अपने इस लोकके स्वामीपनेको छोडकर परमस्वामी श्रीजिनेंद्रदेवका सेवन करता है वह समस्त जगतके

विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥ १७८ ॥ स्वोपधानाद्यनादृत्य योऽभून्निरुपधिर्भुवि । शयानः स्थंडिले बाहुमात्रार्पितशिरस्तटः ॥ १७९ ॥ स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैर्विरचितं दीप्रमाप्नोत्युपधानकं ॥ १८० ॥ त्यक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुद्भासिरत्नैरुद्भासते स्वयं ॥ १८१ ॥ विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ठ्या वीज्यते जिनपर्यये ॥१८२॥ उज्झितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिं । स्यात् सुदुंदुभिनिर्घोषैर्घुष्यमाणजयोदयः ॥ १८३ ॥ उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य

लोगोंके द्वारा सेवनीय हो जाता है अर्थात् फिर उसकी सब लोग सेवा करते हैं ॥ १७७ ॥ जो मुनि अपने योग्य ऐसे अनेक आसनोंके भेदोंका त्यागकर दिगम्बर अवस्था धारण करता है वह सिंहासनको पाकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला तीर्थंकर होता है ॥ १७८ ॥ जो मुनि बिछोना तकिया आदि सबको छोडकर सब तरहके परिग्रहोंको छोड देता है और पृथ्वीपर केवल अपनी भुजाको शिरके समीप रखकर ऊंची नीची कंकरीली जमीनपर सोता है वह महा अभ्युदयको पाकर जिन हो जाता है, सब लोग उसका आदर सत्कार करते हैं और उसे देवोंके द्वारा बना हुआ देदीप्यमान उपधान (तकिया) प्राप्त होता है ॥ १७९–१८० ॥ जो मुनि शीत छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह छोड देता है वह जिनमें देदीप्यमान रत्न लगे हुये हैं ऐसे तीन छत्रोंसे स्वयं सुशोभित होता है ॥ १८१ ॥ जिसने अनेक तरहके पंखाओंका त्यागकर तपश्चरण किया है उसे जिनेंद्रदेवकी पर्याय प्राप्त होती है और चौसठ चमर उसपर ढुलाये जाते हैं ॥ १८२ ॥ जो नगाडे, संगीत आदिके शब्दोंके सुननेका त्यागकर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुंदुभियोंके गंभीर शब्दोंसे घोषणा किया जाता है ॥ १८३ ॥ चूंकि पहिले उसने अपने उद्यान बगीचा आदिकी छाया छोडकर तपश्चरण किया था इसलिये ही उसे अब अरहंत-अवस्थामें महा अशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ अपना योग्य धन छोडकर यह अत्यंत निर्ममत्वको प्राप्त हुआ था इसलिये ही ये निधियां स्वयं आकर दूर

स्यादशोकमहाद्रुम ॥ १८४ ॥ स्व स्वापतेयमुचित त्यक्त्वा निर्ममतामित· । स्वय निधिभिरभ्येत्य सेव्यते द्वारि दूरत ॥ १८५ ॥ गृहशोभाकृतारक्षा दूरीकृत्य तपस्यत. । श्रीमडपादिशोभाऽस्य स्वतोऽभ्येति पुरोगता ॥ १८६ ॥ तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठत. । त्रिजगज्जनतास्था स्सह स्यादवगाहन ॥ १८७ ॥ क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुपः । स्वाधीनत्रिजगत्क्षेत्रमैश्यमस्योपजायते ॥ १८८ ॥ आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनमास्थितवानय । प्राप्नोति परमामाज्ञा सुरासुरशिरोधृता ॥ १८९ ॥ स्वामिष्टभृत्यवन्ध्वादिसभामुत्सृष्टवानय । परमात्पदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभा ॥ १९० ॥ स्वगुणोत्कीर्तन त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिंदासमो भूय· कीर्त्यते भुवनेश्वरैः ॥ १९१ ॥ वदित्वा वद्यमर्हंत यतोऽनुष्ठितवॉस्तपः । ततोऽय वद्यते

दरवाजेपर रहकर ही उसकी सेवा करती हैं ॥ १८५ ॥ जिसकी रक्षा बहुत अच्छीतरहसे की गई थी ऐसी घरकी शोभाको छोडकर इसने तपश्चरण किया था इसलिये ही यह समवसरणकी शोभा अपने आप उसके सामने आती है ॥ १८६ ॥ जो तपश्चरण करनेके लिये गहन वनमें प्रवेश करता है उसके समवसरणमें तीनों जगतके समस्त लोगोंको स्थान देने योग्य अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ १८७ ॥ जो क्षेत्र वास्तु आदि समस्त परिग्रहको छोडकर अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगतके क्षेत्रको अपने आधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥ १८८ ॥ जो यह मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोडकर मौन धारण करता है इसलिये जिसे चारोंप्रकारके देव अपने शिरपर धारण करते हैं ऐसी उत्कृष्ट आज्ञा उसे प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञाको सब जीव मानते हैं १८९ ॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक और भाई बंधु आदिकी सभाको छोडता है इसलिये उत्कृष्ट अरहंत पदकी प्राप्तिके समय उसे यह समवसरण रूप तीनों जगतकी सभा प्राप्त होती है ॥ १९० ॥ जो अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोडकर तथा सब इच्छाओंको छोडकर महा तपश्चरण करता है और स्तुति तथा निंदामें समान परिणाम रखता है वह फिर इंद्र धरणेंद्र आदि लोगोंके द्वारा भी स्तुति किया जाता है अर्थात् ये लोग भी उसकी स्तुति करते हैं ॥ १९१ ॥ जो सबके

वंद्यैरनिंद्यगुणसान्निधि' ॥ १९२ ॥ तपोऽयमनुपानत्कः पादचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भेषु चरणन्यासमर्हति ॥ १९३ ॥ वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्त्या
यतोऽय तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्प्रीणयंत्याखिला सभा ॥ १९४ ॥ अनाश्वान्नियताहारपारणोऽतप्त यत्तपः । तदस्य दिव्यविजयपरमा-
मृततृप्तयः ॥ १९५ ॥ त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिर यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानंदथु भजेत् ॥ १९६ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्ट
यथाविध । त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत्सूतेऽस्य तत्तपः ॥ १९७ ॥ प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिंतामणेः फल । यतोऽर्हज्जातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुव-

---

द्वारा बंदना करने योग्य ऐसे अरहंत देवको बंदना कर तप करता है वह समस्त निर्दोष गुणोंको प्राप्त होता है और वंदना करने योग्य वा पूज्य लोगोंके द्वारा भी बंदना किया जाता है ॥ १९२ ॥ जो जूता आदि पैरोंकी रक्षा करनेवाली चीजोंको छोडकर सबतरहकी सवारियोंको छोडकर तथा केवल पैरोंसे चलकर तपश्चरण करता है वह कमलोंके ऊपर अपने चरण कमल रखने योग्य हो जाता है अर्थात् अरहंत अवस्थामें उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना होती है ॥ १९३ ॥ जो यह मुनि बचन गुप्तिको धारणकर अथवा हितमितवचन रूप भाषा समितिको धारणकर तपश्चरण करनेमें तल्लीन हुआ था इसलिये ही इसकी दिव्यध्वनि समस्त सभाको प्रसन्न करती है ॥ १९४ ॥ जो इस मुनिने पहिले उपवास धारणकर अथवा नियमित रूप आहार और पारणाओंको धारण कर तपश्चरण किया था इसलिये ही उसे दिव्यतृप्ति, विजयतृप्ति, परमतृप्ति और अमृतरूप तृप्ति ये चारों तृप्तियां प्राप्त हुई हैं ॥ १९५ ॥ इस मुनिने कामादि विषय सुखोंको छोड कर बहुत दिनतक तपश्चरण किया था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानंद पदको अर्थात् मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥ १९६ ॥ इसविषयमें बहुत कहांतक कहा जाय थोडेसेमें इतना समझलेना चाहिये कि जो मुनि अपनी अपनी इष्ट वस्तुओंको विधिपूर्वक बिना किसी संकल्पके त्यागकर तपश्चरण करता है उसे उस तपश्चरणके प्रभावसे उसी उसी इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है ॥ १९७ ॥

णिता ॥१९८॥ जैनेश्वरीं परामाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन्। तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदांजसं ॥१९९॥ अन्यच्च बह्वाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितं। पारिव्राज्यं परित्यज्य ग्राह्य चेदमनुत्तमं ॥ २०० ॥ इति पारिव्राज्यं ॥ या सुरेंद्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्। सैषा सुरेंद्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥ २०१ ॥ साम्राज्यमाधिराज्यं स्याच्चक्ररत्नपुरःसर। निधिरत्नसमुद्भूतभोगसपत्परंपर ॥ २०२ ॥ इति साम्राज्य ॥ आर्हंत्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया। यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसंपदः ॥ २०३ ॥ याऽसौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसंपदा। तदार्हंत्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभ-

---

जिस तपश्चरणरूपी चिंतामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहंत देवकी जाति मूर्ति आदि प्राप्त होती है ऐसी जो पारिव्राज्य नामकी क्रिया है उसका निरूपण कर चुके ॥ १९८ ॥ जो उपासक सूत्रोंके अनुसार कही हुई श्रीजिनेंद्रदेवकी उत्कृष्ट आज्ञाको प्रमाण मानकर दीक्षा धारण करता है उसीके यह पारमार्थिक पारिव्राज्य गिना जाता है ॥ १९९ ॥ अन्य लोगोंने बहुतसे वचनोंके जाल फैलाकर युक्तियोंसे बाधित ऐसा जो पारिव्राज्य निरूपण किया है उसे छोडकर इस सबसे उत्तम पारिव्राज्यको स्वीकार करना चाहिये ॥ २०० ॥ (यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है) उस पारिव्राज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेंद्र पदकी प्राप्ति होती है जिसका वर्णन पहिले करचुके हैं वह यह सुरेंद्रता नामकी क्रिया है (यह चौथी क्रिया है) ॥ २०१ ॥ जिसमें चक्ररत्नकी प्राप्ति होकर निधि और रत्नोंसे उत्पन्न हुये भोगोपभोग संपदाओंकी परंपरा प्राप्त होती है ऐसा जो चक्रवर्तीका बहुत बडा राज्य प्राप्त होता है उसे साम्राज्य कहते हैं ॥ २०२ ॥ (यह पांचवीं साम्राज्य क्रिया है) अरहंतका भावस्वरूप अथवा अरहंतका कर्मस्वरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हंत्य क्रिया कहते हैं। इस आर्हंत्य क्रियामें स्वर्गावतार आदि पांच महा कल्याणकोंकी संपदायें प्राप्त होती हैं ॥ २०३ ॥ जब यह सुरेंद्र स्वर्गसे अवतार लेकर पंच कल्याणक संपदाओंको प्राप्त होता है तब उसके जो तीनों लोकोंको क्षोभ करनेवाला आर्हंत्य पद प्राप्त होता है उसीको छट्ठी आर्हंत्य क्रिया समझनी चाहिये ॥२०४॥

कारणं ॥ २०४ ॥ भवबंधनमुक्तस्य याऽवस्था परमात्मनः । परिनिर्वृतिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥ २०५ ॥ कृत्स्नकर्ममलापायात्संशुद्धिर्योऽतरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा नाभावो न गुणोच्छिदा ॥ २०६ ॥ इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्त्रन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिना ॥ २०७ ॥ योऽनुतिष्ठत्यतंद्रालुः क्रिया ह्येतास्त्रिधोदिताः । सोऽधिगच्छेत्परं धाम यत्सप्राप्तौ पर शिव ॥ २०८ ॥ जिनमतविहितं पुराणधर्मं य इममनुस्मरति क्रियानिबद्ध । अनुचराति च पुण्यधीः स भव्यो भवभयबधनमाशु निर्धुनाति ॥ २०९ ॥ परमाजिनपदानुरक्तधीर्भजति पुमान् य

संसारके बंधनसे छूटकर जो परमात्माकी अवस्था प्राप्त होती है उसे परिनिर्वृति कहते हैं इसका दूसरा नाम परं निर्वाण भी है ॥ २०५ ॥ समस्त कर्मरूपी मलोंके नष्ट हो जानेसे जो अंतरात्माकी शुद्धि होती है उसे शुद्धि अथवा सिद्धि कहते हैं और इसीको अपने आत्माकी प्राप्ति होना कहते हैं । वह सिद्धि आत्माका अभाव स्वरूप भी नहीं है और सुख दुख इच्छा आदि गुणोंके नाश होने रूप भी नहीं है । भावार्थ—मुक्तावस्थामें न तो आत्माका अभाव हो जाता है और न स्वाभाविक गुणोंका ही नाश होता है ॥ २०६ ॥ (यह सातवीं परिनिर्वृति क्रिया है) इसप्रकार शास्त्रानुसार ये सात कर्त्रन्वय क्रियायें कही गई हैं । इन क्रियाओंके अनुष्ठान करनेसे योगियोंको परमस्थान अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ २०७ ॥ (इसलिये ही इन्हीं क्रियाओंको परमस्थान कहते हैं) जो भव्य आलस छोडकर सावधान होकर गर्भान्वय, कर्त्रन्वय, और दीक्षान्वय इन तीनोंप्रकारकी निरूपण की हुई क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उत्कृष्ट मोक्ष स्थान जा पहुंचता है और वहां पहुंचनेसे उसे परमोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २०८ ॥ जो कोई पुण्यकर्मोंमें बुद्धि रखनेवाला भव्य पुरुष इन उत्तम क्रियाओं सहित जिनमतमें कहे हुये पुराणके धर्मको अथवा प्राचीन धर्मको स्मरण करता है, जानता है, और उसके अनुसार अपने आचरण करता है वह संसारमें भय उत्पन्न करनेवाले कर्मोंके बंधनोंसे बहुत शीघ्र छूट जाता है ॥ २०९ ॥ अत्यंत उत्कृष्ट ऐसे श्री जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंमें अपनी

इम क्रियाविधिं । स धुतनिखिलकर्मबंधनो जननजरामरणांतकृद्भवेत् ॥ २१० ॥ भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवं । तत्रैंद्रीं श्रियमाप्तवान्पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां प्राप्तार्हंत्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिं ॥ २११ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णनं नामैकोनचत्वारिंशत्तम पर्व ।

बुद्धिको तल्लीन करनेवाला जो भव्य पुरुष इन ऊपर कही हुई क्रियाओंकी विधिको सेवन करता है अर्थात् विधिपूर्वक इन क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह अपने समस्त कर्मबंधनोंका नाश कर जन्म मृत्यु और बुढापा आदिका भी नाश करनेवाला हो जाता है भावार्थ-वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१० ॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही उत्तम जाति (सज्जाति) को पाकर फिर सद्गृहस्थ होता है अर्थात् सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है, तदनंतर गुरुकी आज्ञानुसार सबसे उत्कृष्ट पारिव्राज्य वा दीक्षा धारणकर (तपश्चरणकर) स्वर्ग जाता है वहां उसे इंद्रकी विभूति प्राप्त होती है तथा फिर वहांसे च्युत होकर (मनुष्य जन्म धारणकर) चक्रवर्ती होता है, फिर अरहंत पदको प्राप्त होता है और इसतरह अपनी पूर्ण महिमा धारणकर अंतमें मुक्त होकर सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ २११ ॥ (इस श्लोकमें सातों ही कर्त्रन्वय क्रियायें आगई हैं)

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओंका निरूपण करनेवाला यह उन्तालीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथातः सप्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकां । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणा तिसृणामपि ॥ १ ॥ तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये । मंत्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मंत्राधीना हि योगिना ॥ २ ॥ आधानादिक्रियारंभे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणि च्छत्राणि चक्राणा त्रय त्रींश्च हविर्भुजः ॥ ३ ॥ मध्येवेदि जिनेंद्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मंत्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ॥ ४ ॥ नमोऽतो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यंतोऽत्र पठ्यता । जलेन भूमिबधार्थं परा

अथ चालीसवां पर्व.

अथानंतर—अब आगे इन क्रियाओंकी उत्तर चूलिका कहते हैं इस उत्तर चूलिकामें तीनों प्रकारकी क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥ १ ॥ इस उत्तर चूलिकामें भी सबसे पहिले क्रियाकल्पकी (क्रियाओंके समूहकी वा सव क्रियाओंकी) सिद्धिके लिये मंत्रोद्धार अर्थात् मंत्रोंकी रचना कहता हूं क्योंकि योगी लोगोंको भी क्रियाओंकी सिद्धि मंत्रोंके ही आधीन है ॥ २ ॥ आधानादि सब क्रियाओंके प्रारंभमें सबसे पहिले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नि स्थापन करनी चाहिये, ॥ ३ ॥ तथा वेदीके मध्यभागमें विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिये गर्भाधानादि क्रियाओंके प्रारंभमें जो उन स्थापन किये हुये तीन छत्र तीन चक्र और तीनों अग्नियोंकी पूजन की जाती है उसमें यह सबसे पहिले मंत्रकल्प कहा गया है ॥ ४ ॥ भूमि शुद्ध करनेके लिये मंत्र-जलसे भूमिको सिंचन वा पवित्र करनेकेलिये इन सव क्रियाओंमें नमः शब्दको अंतमें रखकर नीरजशब्दकी चतुर्थीका पाठ पढना चाहिये अर्थात् नीरजसे नमः ” (कर्ममलरहित भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये तथा उत्तम शुद्धि होना इस मंत्रका फल समझना चाहिये ॥ ५ ॥

इम क्रियाविधिं । स धुतनिखिलकर्मबंधनो जननजरामरणातकद्भवेत् ॥ २१० ॥ भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवं । तत्रैंद्रीं श्रियमाप्तवान्पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां प्राप्ताहंत्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिं ॥ २११ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसग्रहे दीक्षाकर्त्रन्वयक्रियावर्णन नामैकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

बुद्धिको तल्लीन करनेवाला जो भव्य पुरुष इन ऊपर कही हुई क्रियाओंकी विधिको सेवन करता है अर्थात् विधिपूर्वक इन क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह अपने समस्त कर्मबंधनोंका नाश कर जन्म मृत्यु और बुढापा आदिका भी नाश करनेवाला हो जाता है भावार्थ-वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है ॥ २१० ॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही उत्तम जाति (सज्जाति) को पाकर फिर सद्गृहस्थ होता है अर्थात् सद्गृहित्व क्रियाको प्राप्त होता है, तदनंतर गुरुकी आज्ञानुसार सबसे उत्कृष्ट पारिव्राज्य वा दीक्षा धारणकर (तपश्चरणकर) स्वर्ग जाता है वहां उसे इंद्रकी विभूति प्राप्त होती है तथा फिर वहांसे च्युत होकर (मनुष्य जन्म धारणकर) चक्रवर्ती होता है, फिर अरहंत पदको प्राप्त होता है और इसतरह अपनी पूर्ण महिमा धारणकर अंतमें मुक्त होकर सिद्ध पदको प्राप्त होता है ॥ २११ ॥ (इस श्लोकमें सातों ही कर्त्रन्वय क्रियायें आगई हैं)

इस प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय क्रियाओंका निरूपण करनेवाला यह उन्तालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथातः सप्रवक्ष्यामि क्रियासूत्तरचूलिकां । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणा तिसृणामपि ॥ १ ॥ तत्रादौ तावदुन्नेष्ये क्रियाकल्पप्रक्लृप्तये । मंत्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मंत्राधीना हि योगिना ॥ २ ॥ आधानादिक्रियारंभे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणि च्छत्राणि चक्राणा त्रय त्रींश्च हविर्भुजः ॥ ३ ॥ मध्येवेदि जिनेद्रार्चाः स्थापयेच्च यथाविधि । मंत्रकल्पोऽयमाम्नातस्तत्र तत्पूजनाविधौ ॥ ४ ॥ नमोऽतो नीरजश्शब्दश्चतुर्थ्यंतोऽत्र पठ्यता । जलेन भूमिबंधार्थं परा

अथ चालीसवां पर्व.

अथानंतर—अब आगे इन क्रियाओंकी उत्तर चूलिका कहते हैं इस उत्तर चूलिकामें तीनों प्रकारकी क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥ १ ॥ इस उत्तर चूलिकामें भी सबसे पहिले क्रियाकल्पकी (क्रियाओंके समूहकी वा सब क्रियाओंकी) सिद्धिके लिये मंत्रोद्धार अर्थात् मंत्रोंकी रचना कहता हूं क्योंकि योगी लोगोंको भी क्रियाओंकी सिद्धि मंत्रोंके ही आधीन है ॥ २ ॥ आधानादि सब क्रियाओंके प्रारंभमें सबसे पहिले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नि स्थापन करनी चाहिये, ॥ ३ ॥ तथा वेदीके मध्यभागमें विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा स्थापन करनी चाहिये गर्भाधानादि क्रियाओंके प्रारंभमें जो उन स्थापन किये हुये तीन छत्र तीन चक्र और तीनों अग्नियोंकी पूजन की जाती है उसमें यह सबसे पहिले मंत्रकल्प कहा गया है ॥ ४ ॥ भूमि शुद्ध करनेके लिये मंत्र-जलसे भूमिको सिंचन वा पवित्र करनेकेलिये इन सब क्रियाओंमें नमः शब्दको अंतमें रखकर नीरजशद्धकी चतुर्थीका पाठ पढना चाहिये अर्थात् नीरजसे नमः " (कर्ममलरहित भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये तथा उत्तम शुद्धि होना इस मंत्रका फल समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शुद्धिस्तु तत्फलं ॥ ५ ॥ दर्भास्तरणसंबंधस्ततः पश्चादुदीर्यतां । विघ्नोपशांतये दर्पमथनाय नमःपदं ॥ ६ ॥ गंधप्रदानमंत्रश्च शीलगंधाय वै नमः । पुष्पप्रदानमत्रोऽपि विमलाय नमःपद ॥ ७ ॥ कुर्योदक्षतपूजार्थमक्षताय नमः पद । धूपार्थे श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥ ८ ॥ ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नम पद । मंत्रः परमसिद्धाय नम. इत्यमृतोध्दतौ ॥९॥ मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जगतीतल । ततोऽन्वक् पीठिकामंत्रः पठनीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥ पीठिकामत्र.—सत्यजातपद पूर्वं चतुर्थ्यंतं नमः पर । ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदंतस्तत्परो मतः ॥ ११ ॥ ततः परमजाताय नम इत्यपरं पद ।

तदनंतर डाभका बनाहुआ आसन ग्रहण करना चाहिये, इस आसनको ग्रहण करनेके पीछे समस्त विघ्नोंको शांत करनेकेलिये "दर्पमथनाय नमः" (अहंकारको नाश करनेवाले भगवानको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ६ ॥ भूमिको गंध समर्पण करनेकोलिये " शीलगंधाय नमः " (शीलरूप सुगंधको धारण करनेवाले भगवानके लिये नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तथा पुष्प समर्पण करनेकेलिये " विमलायनमः " (मलरहित अरहंतदेवको नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ७ ॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिये " अक्षताय नमः " (क्षयरहित भगवानको नमस्कार हो) मंत्र पढना चाहिये, और धूपसे पूजा करनेके लिये " श्रुतधूपाय नमः " (जिनकी वासना सब जगह सुनाई दे रही है ऐसे भगवानके लिये नमस्कार हो) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ८ ॥ दीप चढाते समय " ज्ञानोद्योताय नमः " (केवलज्ञानरूपी उद्योतको धारण करनेवाले जिनेंद्रदेवको नमस्कार हो) मंत्र पढना चाहिये और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढाते समय " परमसिद्धाय नमः " [सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार हो] यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ९ ॥ इस प्रकार इन मंत्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका संस्कार वा पूजा करनी चाहिये और फिर उसके पीछे उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मंत्र पढना चाहिये ॥१०॥ सत्यजात शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर सत्यजाताय नमः (सत्यस्वरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) फिर अर्हज्जात शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर

ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदं ॥ १२ ॥ ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः । अचलाय नम शब्दादक्षयाय नम· परं ॥ १३ ॥ अव्याबाधपद चान्यदनतज्ञानशब्दन । अनतदर्शनानतवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥ १४ ॥ अनतसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥ १५ ॥ ततोऽमराप्रमेयोक्ती सागर्भावासशब्दने । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमादिर्घनध्वनि· ॥ १६ ॥ पृथकपृथागिमे शब्दास्तदतास्तत्परा

अर्हज्जाताय नमः (पूज्य जन्मको धारण करनेवालेके लिय नमस्कारहो)॥ ११ ॥ फिर तीसरा परम जाताय नमः (उत्कृष्ट जन्म ग्रहण करनेवाले जिनेंद्रके लिये नमस्कार हो) चौथा अनुपमजाताय नमः (उपमा रहित जन्म धारण करनेवालेको नमस्कार) यह मंत्र पढना चाहिये। फिर स्वप्रधानाय नमः [सबमें आपही मुख्य ऐसे जिनराजके लिये नमस्कार] यह मंत्र पढना चाहिये तदनंतर अचलाय नमः (परम निश्चल वीतराग देवको नमस्कार) अक्षयाय नमः (अविनश्वर परमेश्वरको नमस्कार)॥ १२-१३ ॥ अव्याबाधायनमः (सवतरहकी बाधाओंसे रहित जिनराजको नमस्कार) अनंतज्ञानायनमः (अनंतज्ञानस्वरूप भगवानको नमस्कार) अनंतदर्शनाय नमः (अनंत दर्शनको धारण करनेवालेको नमस्कार) अनंतवीर्याय नमः (अनंतवीर्यको धारण करनवाले अरहंतको नमस्कार) अनंतसुखाय नमः (अनंतसुखको धारण करनेवालेको नमस्कार) नीरजसे नमः (मोहरूपी मलसे शून्य ऐसे जिनराजको नमस्कार) निर्मलाय नमः (कर्ममल रहित भगवानको नमस्कार) अच्छेद्याय नमः (जो किसीतरह छिदनहीं सकता ऐसे जिनेंद्रको नमस्कार) अभेद्याय नमः (जो किसीतरह भिद नहीं सकता ऐसे अरहंतको नमस्कार) अजराय नमः (जरा=बुढापारहित भगवानको नमस्कार) अमराय नमः (मरण रहित जिनराजको नमस्कार) अप्रमेयाय नमः (जो वा जिसकी महिमा प्रमाणमें न आवे ऐसे वीतरागको नमस्कार) अगर्भवासाय नमः (जो कभी किसीके गर्भमें निवास नहीं करते ऐसेके लिये नमस्कार) अक्षोभ्याय नमः [व्याकुलता रहित परमानंदस्वरूपकेलिये नमस्कार] अविलीनाय नमः (कभी नष्ट न

मताः । उत्तराण्यनुसंधाय पदान्येभिः पदैर्वदेत् ॥ १७ ॥ आदौ परमकाष्ठेति योगरूपायवाक्परं । नमःशब्दमुदीर्यांते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥ १८ ॥ लोकाग्रवासिनेशब्दात्परः कार्यो नमो नम । एव परमसिद्धेभ्योऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥ १९ ॥ एव केवलिसिद्धेभ्यः पदाद्भूयोंतकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परपरपदादपि ॥ २० ॥ अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव पदात्पर । अनाद्यनुपमादिभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥ २१ ॥ इति मंत्रपदान्युक्त्वा

होनेवालेके लिये नमस्कार) तथा परमघनाय नमः (उत्कृष्ट घनरूपके लिये नमस्कार हो) ये अव्यावाध आदि शब्दोंकी चतुर्थीके आगे नमः लगाकर अर्थात् आव्यावाधाय नमः आदि जैसे ऊपर लिखे गये हैं उसप्रकार पढना चाहिये ॥ १४-१५-१६-१७ ॥ इसीतरह इसके आगे मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको परमकाष्ठयोगरूपाय नमः (अत्यंत उत्कृष्ट योगको धारण करनेवाले योगिराजको नमस्कार) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ १८ ॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दसे नमो नमः शब्द लगाना चाहिये अर्थात् लोकाग्र वासिने नमो नमः [लोकके शिखरपर निवास करनेवालेकेलिये नमस्कार] यह मंत्र पढना चाहिये, फिर परम सिद्धेभ्यो नमो नमः (परमसिद्ध भगवानको नमस्कार) अर्हंतसिद्धेभ्यो नमो नमः (अरहंत सिद्धको बार बार नमस्कार ॥१९॥इसीतरह केवलिसिद्धेभ्यो नमोनमः (केवली सिद्धोंको नमस्कार) अंतकृत्सिद्धेभ्यो नमोनमः (जो अंतकृत्केवली सिद्ध हुये उनको नमस्कार)परंपरासिद्धेभ्यो नमोनमः (परंपरासे हुये सिद्धोंको नमस्कार) अनादिपरंपरासिद्धेभ्यो नमोनमः (अनादि कालसे हुये परम सिद्धोंको नमस्कार) अनाद्यनुपम सिद्धेभ्यो नमोनमः (अनादिसे हुये उपमा रहित सिद्धोंको नमस्कार)॥ २०—२१ ॥ ये मंत्र पढकर फिर नीचे लिखे मंत्र पढना चाहिये । इन नीचे लिखे शब्दोंको आमंत्रणरूपसे दो दो बार उच्चारण करना चाहिये । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे ! हे सम्यग्दृष्टे ! फिर हे आसन्नभव्य ! हे आसन्नभव्य ! हे निर्वाणपूजार्ह ! हे निर्वाणपूजार्ह ! (इन मंत्रोंको दो दो बार जैसे लिखे हैं उच्चारण करना चाहिये और फिर) अग्नींद्र स्वाहा यह मंत्र पढना चाहिये (इनका भावार्थ—हे सम्यग्दृष्टी, आसन्नभव्य

पदानीमान्यतः पठेत् । द्विरुक्त्वाऽऽमंत्र्य वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥ २२ ॥ आसन्नभव्यशब्दश्च द्विर्वाच्यस्तद्वदेव हि । निर्वाणादिश्च पूजार्हस्वाहा-तोऽग्नींद्र इत्यपि ॥ २३ ॥ काम्यमंत्रः—ततः स्वकाम्यसिध्यर्थमिदं पदमुदाहरेत् । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परं ॥ २४ ॥ अपमृत्युविनाशनं भवत्वतं पदं पठेत् । भवत्वतमतो वाच्यं समाधिमरणाक्षरं ॥ २५ ॥ पीठिकामंत्र एवं स्यात्पदैरेभिः समुच्चितैः । जातिमंत्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्र-

---

निर्वाणकल्याणकी पूजा करने योग्य ऐसे अग्निकुमार देवोंके इंद्र ! तेरे लिये यह हवि वा होम करने योग्य द्रव्य समर्पण करता हूं) ॥ २२–२३ ॥ तदनंतर अपनी इष्ट सिद्धिके लिये नीचे लिखे मंत्र पढना चाहिये-सेवा फलं षट् परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु अर्थात् इस सेवाकाफल मुझे छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो मेरे कुमरणका नाशहो और समाधिमरण हो ॥२४-२५॥ (इस सेवाफलं आदि मंत्रको काम्य मंत्र कहते हैं)

चूर्णि—अर्थात् सवका संग्रह—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपम-जाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्यावाधाय नमः, अनतज्ञानाय नमः, अनंतदर्शनाय नमः, अनंतवीर्याय नमः, अनंतसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः अभेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः अक्षोभ्याय नमः, अविलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमोनमः, परमसिद्धेभ्यो नमोनमः, अर्हत्सिद्धेभ्यो नमोनमः, केवलिसिद्धेभ्यो नमोनमः, अंतकृतसिद्धे-भ्यो नमोनमः, परंपरसिद्धेभ्यो नमोनमः, अनादिपरंपरसिद्धेभ्यो नमोनमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमोनमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्य आसन्नभव्य निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नींद्र स्वाहा सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऊपर जिन पदोंके द्वारा मंत्र कहे गये हैं वे सव पीठिकामंत्र हैं ।

मात् ॥ २६ ॥ सत्यजन्मपद नांतमादौ शरणमप्यतः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्यादर्हज्जन्मपदं तथा ॥ २७ ॥ अर्हन्मातृपदं तद्वत्त्वंतमर्हत्सुताक्षर । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मन. ॥ २८ ॥ रत्नत्रयस्य शरण प्रपद्यामीत्यतःपर । बोध्यत च ततः सम्यग्दृष्टिं द्वित्वेन योजयत् ॥ २९ ॥ ज्ञानमूर्तिपद तद्वत्सरस्वतिपद 'तथा । स्वाहांतमते वक्तव्य काम्यमत्रश्च पूर्ववत् ॥ ३० ॥ जातिमत्रोऽयमाम्नातो जातिसस्कारकारण । मत्र निस्तारकादिं च यथाम्नाय-

अब आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमंत्र कहते हैं ॥ २६ ॥ नांत सत्यजन्म पदकेआगे शरण और फिर उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहने चाहिये अर्थात् 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले अरहंतदेवका शरण लेता हूं)फिर 'अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहंतपदके योग्य जन्म लेनेवालेका शरण लेता हूं) अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि (अरहंतकी माताका शरण लेता हूं) अर्हत्सुतस्य शरण प्रपद्यामि (अरहंत देवके पुत्रका शरण लेता हूं) अनादि गमनस्य शरणं प्रपद्यामि (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरणलेता हूं) अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि (उपमारहित जन्मकोधारण करनेवालेका मैं शरण लेता हूं) रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि (मैं रत्नत्रयका शरण लेता हूं) ये मंत्र पढना चाहिये इसके बाद संबोधनके सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वति शब्दोंको दो दो बार उच्चारण कर अंतमें स्वाहा पढना चाहिये अर्थात् 'हे सम्यग्दृष्टे' हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, हे ज्ञानमूर्ते हे सरस्वति हे सरस्वति स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि ज्ञानमूर्ते सरस्वती मैं तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये और फिर काम्यमंत्र पहिलेके समान पढना चाहिये ॥ २७-२८-२९-३० ॥

चूर्णि अर्थात् सबका संग्रह—सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हज्जन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हत्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे हे ज्ञानमूर्त्ते हे ज्ञानमूर्त्ते हे सर-

मितो ब्रुवे ॥ ३१ ॥ निस्तारकमंत्रः—स्वाहांतं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृत । तदंतमर्हज्जातायपद स्यात्तदनंतर ॥ ३२ ॥ ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेत् द्विजः । स्याद्ग्रामपतये स्वाहा पद तस्मादनंतर ॥ ३३ ॥ अनादिश्रोत्रियायेति ब्रूयात्स्वाहापद तत । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वय ॥ ३४ ॥ स्याद्देवब्राह्मणायेति स्वाहेत्यंतमतः पदं । सुब्राह्मणाय स्वाहातः स्वाहाताऽनुपमाय गीः ॥ ३५ ॥ सम्यग्दृष्टिपद चैव तथा निधिपतिश्रुतिं । ब्रूयाद्वैश्रवणोक्तिं च द्विःस्वाहेति ततः पद ॥ ३६ ॥ काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववन्मन्त्रविद्द्विजः । ऋषिमंत्रमितो वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥ ३७ ॥

स्वाति हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऊपर जातिका संस्कार करनेवाले जातिमंत्रोंको कह चुके, अब आगे शास्त्रानुसार निस्तारक मंत्रोंको कहते हैं ॥ ३१ ॥ प्रथम ही सत्यजाताय स्वाहा (सत्यरूपजन्मको धारण करनेवालेके लिये मैं समर्पण करता हूं) फिर ' अर्हज्जाताय स्वाहा [अरहंतरूप जन्मको धारण करनेवालेकोलिये समर्पण करता हूं] ॥ ३२ ॥ षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्मोंके लिये समर्पण, करता हूं) इसके वाद द्विजोंको ' ग्रामपतये स्वाहा ' (ग्रामपति के लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ३३ ॥ उसके बाद अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा (अनादि कालके श्रोत्रियको समर्पण करता हूं) स्नातकाय स्वाहा (केवली अरहंतके लिये समर्पण करता हूं) श्रावकाय स्वाहा (श्रावकके लिये समर्पण करता हूं) देवब्राह्मणाय स्वाहा (देवब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूं) सुब्राह्मणाय स्वाहा (सुब्राह्मणके लिये समर्पण करता हूं) अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहित भगवानके लिये समर्पण करता हूं) फिर सम्यग्दृष्टि निधिपति और वैश्रवण इनको दो दो वार कहकर स्वाहा शब्द कहना चाहिये अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा [हे सम्यग्दृष्टी निधियोंके स्वामी कुबेर तेरे लिये समर्पण करता हूं] यह मंत्र पढना चाहिये । इसके वाद मंत्रोंको जाननेवाले द्विजोंको पहिलेके समान काम्यमंत्र पढना चाहिये । अब इसके आगे जिसप्रकार उपासकाध्ययन शास्त्रमें लिखा है उसी प्रकार ऋषिमंत्रोंको कहता हूं ॥ ३४-३५-३६-३७ ॥

ऋषिमंत्रः—प्रथम सत्यजाताय नमःपदमुदीरयेत् । गृणीयादर्हज्जाताय नमःशब्द तत. पर ॥ ३८ ॥ निर्ग्रंथाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्वं च नमःपदमनतर ॥ ३९ ॥ त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यत. । ततो विविधयोगाय नम इत्यनु पठ्यता ॥ ४० ॥ विविधर्द्धिपद चास्मान्नम. शब्देन योजित । ततोंगधरपूर्वं च पठेत्पूर्वधरध्वनिं ॥ ४१ ॥ नमःशब्दपरौ चैतौ चतुर्थ्यंतावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पद युक्तनम.पद ॥ ४२ ॥

चूर्णि अर्थात् सबका संग्रह—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामपतये स्वाहा, अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवा फलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमंत्र—प्रथम ही सत्यजाताय नमः [यथार्थजन्मको धारण करनेवालेकेलिये नमस्कार] यह पद पढना चाहिये, फिर अर्हज्जाताय नमः (अरहंत रूप जन्म धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) यह कहना चाहिये ॥३८॥ तदनंतर—निर्ग्रंथाय नमः (निर्गंथ वा परिग्रहरहितके लिये नमस्कार) वीतरागाय नमः [वीतरागके लिये नमस्कार) महाव्रताय नमः (महाव्रतियोंके लिये नमस्कार) त्रिगुप्ताय नमः (तीनोंगुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) महायोगाय नमः (महायोगको धारण करनेवाले ध्यानियोंके लिये नमस्कार) और विविधयोगाय नमः (अनेक तरहके योगोंको धारण करनेवालोंके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥३९-४०॥ फिर नमः शब्द लगाकर विविधर्द्धिकी चतुर्थी पढना चाहिये अर्थात् विविधर्द्धये नमः (अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) तदनंतर अंगधर और पूर्वधरकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर दो पद पढना चाहिये अर्थात् अंगधराय नमः (ग्यारह अंगाको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) पूर्वधराय नमः (चौदह पूर्वोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये । फिर गणधराय नमः (गणधरदेवके लिये नमस्कार) पढना

परमर्षिभ्यः इत्यस्मात्पर वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीरयेत् ॥ ४३ ॥ सम्यग्दृष्टिपदं चांते वोध्यंतं द्विरुदाहरेत् । ततो भूपति-शब्दश्च नगरोपपदः पतिः ॥ ४४ ॥ द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ वोध्यंतौ मंत्रवेदिभिः । मंत्रशेषोऽप्यय तस्मादनंतरमुदीर्यतां ॥ ४५ ॥ कालश्रमणशब्दश्च द्विरुक्त्वाऽऽमंत्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्वत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥ ४६ ॥ मुनिमंत्रोऽयमाम्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये

चाहिये ॥ ४१–४२ ॥ इसके बाद–परमर्षिभ्यो नमो नमः (परमर्षियोंके लिये बार बार नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ४३ ॥ फिर अनुपमजाताय नमोनमः (उपमा रहित जन्म पानेवालेके लिये बार बार नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये इसके बाद मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको संबोधनका सम्यग्दृष्टि पद दो बार पढना चाहिये और फिर संबोधनका भूपति शब्द और नगरपति शब्द दो वार कहने चाहिये और फिर बाकी बचा हुआ मंत्र जिसे अभी आगे कहते हैं पढना चाहिये । संबोधनके अंतका कालश्रमण शब्द भी दो बार कहना चाहिये और फिर स्वाहा शब्दका उच्चारण कर काम्यमंत्रोंको पाहिलेके समान पढना चाहिये भावार्थ–सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा (सम्यग्दृष्टी पृथ्वी और नगरका स्वामी कालश्रमण यक्ष मैं तेरे लिये यह आहूति समपर्ण करता हूं) यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ४४–४५–४६ ॥

चूर्णि–अथवा सबका संग्रह–सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रंथाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्द्धये नमः, अंगधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

तत्त्वोंके जाननेवाले मुनियोंने इन ऊपर लिखे हुये मंत्रोंको मुनिमंत्र अथवा ऋषिमंत्र कहा है अब आगे

सुरेंद्रमंत्र च यथा स्माहार्षभी श्रुतिः ॥ ४७ ॥ प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदं ॥ ४८ ॥ ततः दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्चजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥ ४९ ॥ ब्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनंतरं । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वहोक्त्यतमनुस्मरेत् ॥ ५० ॥ कल्पाधिपतये स्वाहापदं वाच्यमतः परं । भूयोऽप्यनुचरायादिं स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥ ५१ ॥ ततः परंपरेंद्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदं । सपठेदहमिंद्राय स्वाहेत्येतदनंतरं ॥ ५२ ॥ ततः परमार्हताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितं ॥ ५३ ॥

श्रीऋषभदेवकी श्रुति वा धर्मशास्त्रमें जिसप्रकार कहा है उसी प्रकार मैं सुरेंद्रमंत्रोंको कहता हूं ॥ ४७ ॥ प्रथम ही सत्यजाताय स्वाहा (मैं यथार्थ जन्म लेने वालेके लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये, फिर–अर्हज्जाताय स्वाहा (अरहंतके योग्य जन्म लेनेवालेकेलिये समर्पण) यह उत्कृष्ट पद पढना चाहिये ॥ ४८ ॥ फिर–दिव्यजाताय स्वाहा (दिव्यस्वरूप जन्मको धारण करनेवालेको समर्पण) यह पढना चाहिये और फिर दिव्यार्चजाताय स्वाहा (जिसका जन्म दिव्य तेजस्वरूप है उसके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये ॥ ४९ ॥ तदनंतर नेमिनाथाय स्वाहा (नेमिनाथके लिये अथवा धर्मरूप चक्रकी धुरी के स्वामी ऐसे जिनराजके लिये मैं समर्पण करता हूं) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर--सौधर्माय स्वाहा (सौधर्म इंद्रके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५० ॥ इसके आगे कल्पाधिपतये स्वाहा (स्वर्गके इंद्रोंके लिये समर्पण) पढना चाहिये, और फिर--अनुचराय स्वाहा (इंद्रके अनुचरोंके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये ॥ ५१ ॥ तदनंतर--परंपरेंद्राय स्वाहा (परंपरासे होनेवाले इंद्रोंके लिये समर्पण) यह मंत्र उच्चारण करना चाहिये और फिर--अहमिंद्राय स्वाहा (अहमिंद्रके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये ॥ ५२ ॥ इसके बाद परमार्हताय स्वाहा (अरहंत देवके उपासक लोगोंमें जो सर्व श्रेष्ठ हैं उनके लिये समर्पण) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहितके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५३ ॥

सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद्बोध्यंतं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च संपठेत् ॥ ५४ ॥ द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत्काम्यमंत्रोऽपि पाठ्योऽस्यांते त्रिभिः पदैः ॥५५॥ सुरेंद्रमंत्र एषः स्यात्सुरेंद्रस्यानुतर्पणं । मत्रं परमराजादिं वक्ष्यामीतो यथाश्रुतं ॥ ५६ ॥ प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पद पठेत् । ततः स्यादर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्पर पद ॥ ५७ ॥ ततश्चानुपमेंद्राय स्वाहेत्येतत्पद मत । विजयार्चादिजाताय पदं

तदनंतर संबोधनका सम्यग्दृष्टिपद दोवार उच्चारण करना चाहिये तथा कल्पपति और दिव्य मूर्ति शब्दोंको भी संबोधनांत दोवार पढना चाहिये, फिर संबोधनांत वज्रनाम शब्दको दो बार पढकर स्वाहा पढना चाहिये और फिर अंतमें पहिलेके समान तीन पदोंसे काम्यमंत्र पढना चाहिये भावार्थ--सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा [सम्यग्दृष्टि स्वर्गके स्वामी दिव्यमूर्तिको धारण करनेवाले वज्रनाम तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं] यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ५४–५५ ॥

चूर्णि–वा संग्रह–सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्चजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परंपरेंद्राय स्वाहा, अहमिंद्राय स्वाहा; परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु। इति सुरेंद्रमंत्रः ॥

यह सुरेंद्रको तृप्त करनेवाला सुरेंद्र मंत्र कहा अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परमराजादि मंत्रोंको कहते हैं ॥ ५६ ॥ इन मंत्रोंमें सबसे पहिले--सत्यजाताय स्वाहा, (मैं यथार्थ जन्म धारण करनेवालेके लिये समर्पण करता हूं) यह पद पढना चाहिये, फिर अर्हज्जाताय स्वाहा (अरहंत पदके योग्य जन्म लेनेवालेके लिये समर्पण) यह उत्तम पद पढना चाहिये ॥५७॥ इसके बाद--अनुपमेंद्राय

स्वाहांतमन्वतः ॥ ५८ ॥ ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पठेत्पदं । ततः परमजाताय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ॥ ५९ ॥ परमार्हताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहाताऽनुपमायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्मभिः ॥ ६० ॥ सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद्बोध्यत द्विरुदीरयेत् । उग्रतेजःपदं चैव दिशाजयपदं तथा ॥ ६१॥ नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात्स्वाहापदोत्तरं । काम्यमंत्रं च तं ब्रूयात्प्राग्वदते पदैस्त्रिभिः ॥ ६२ ॥ मंत्रः परमराजादिर्मतोऽयं परमेष्ठिना । परं मंत्रमितो वक्ष्ये

स्वाहा (जिसकी अन्य उपमा नहीं ऐसे इंद्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिये समर्पण, (इंद्र तपश्चरण नहीं कर सकता, चक्रवर्ती इंद्रकेसे भोग भोगकर तपश्चरण कर सकता है इसलिये वह उपमारहित इंद्र है) यह पद कहना चाहिये, फिर अनुक्रमसे विजयार्चजाताय स्वाहा (विजयरूप और तेजस्वी जन्म लेने वालेके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ५८ ॥ तदनंतर--नेमिनाथाय स्वाहा (धर्मरूपी रथको चलानेवालेके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये और फिर--परमजाताय स्वाहा (सर्वोत्तम जन्म लेनेवालेके लिये समर्पण) यह कहना चाहिये ॥ ५९ ॥ इसके बाद--परमार्हताय स्वाहा (अरहंत केउपासकोंमें सबसे उत्तम उपासक चक्रवर्तीके लिये समर्पण) यह पद पढना चाहिये, और फिर उन ब्राह्मणोंको--अनुपमाय स्वाहा (उपमा रहित जिनभक्त चक्रवर्तीके लिये समर्पण) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ६० ॥ तदनंतर--संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पद दो बार कहना चाहिये, तथा इसी प्रकार संबोधनांत उग्रतेज पद, दिशांजय पद और नेमिविजय पद दो दो बार पढकर अंतमें स्वाहा पढना चाहिये और फिर पहिलेके समान तीन पदोंसे काम्यमंत्र पढना चाहिये। भावार्थ--सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (सम्यग्दृष्टी, उग्र तेजको धारण करनेवाले, दिशाओंको जीतनेवाले नेमिविजयके लिये समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढकर काम्यमंत्र पढना चाहिये ॥ ६१--६२ ॥

चूर्णि--अर्थात् संग्रह--सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, अनुपमेंद्राय स्वाहा, विजयार्च-

यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥ ६३ ॥ तत्रादौ सत्यजाताय नमःपदमुदीरयेत् । वाच्य ततोर्हज्जाताय नम इत्युत्तर पदं ॥ ६४ ॥ ततः परमजाताय नमःपदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यंत नम.पर्ं ॥ ६५ ॥ तत. परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभय वाच्य पदमध्यात्मदर्शिभिः ॥ ६६ ॥ परमादिगुणायेति पद चान्यन्नमोयुत । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यंतो नमोन्वित. ॥ ६७ ॥ उदाहार्यं क्रम ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय

जाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशांजय दिशांजय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु ।

ये ऊपर लिखे हुये परमराजादिमंत्र माने जाते हैंअब आगे जिसप्रकार शास्त्रोंमें लिखे हैं उसीप्रकार परमेष्ठियोंके मंत्र कहते हैं ॥६३॥ इन परमेष्ठियोंके मंत्रोंमें सबसे पहिले--सत्यजाताय नमः (यथार्थ जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद पढना चाहिये, और फिर आगे--अर्हज्जाताय नमः (अरहंतके योग्य अथवा पूज्य जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद कहना चाहिये ॥ ६४ ॥ इसके बाद परमजाताय नमः (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिये नमस्कार) यह पद पढना चाहिये और फिर परमार्हत शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर परमार्हताय नमः (उत्तम जिनधर्मीके लिये नमस्कार) यह कहना चाहिये ॥ ६५ ॥ तदनंतर उत्तम अध्यात्म तत्त्व जाननेवाले द्विजोंको--परमरूपाय नमः (उत्तम निर्ग्रंथ रूपको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) और--परमतेजसे नमः (सबसे अधिक तेजस्वीके लिये नमस्कार) ये दोनों मंत्र पढने चाहिये ॥ ६६ ॥ फिर नमः शब्दके साथ परमगुणाय अर्थात्--परमगुणाय नमः (उत्तम गुणवालेके लिये नमस्कार) कहना चाहिये और बाद परमस्थान शब्दकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर परमस्थानाय नमः [मोक्षरूप उत्तम स्थानवालेके लिये नमस्कार] पढना चाहिये ॥ ६७ ॥ तदनंतर अनुक्रमको जानकर अर्थात् अनुक्रमके अनुसार--परमयोगिने नमः

नम इत्युभयं पदं ॥ ६८ ॥ परमर्द्धिपद चान्यच्चतुर्थ्यंतं नमः पर । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तर पद ॥ ६९ ॥ स्यात्परमकाक्षिताय नम इत्यत उत्तर । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तर वचः ॥ ७० ॥ स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्तदनतरं । स्यात्परमदर्शनाय नम·पदमतःपर ॥ ७१ ॥ ततः परमवीर्याय पद चास्मान्नमःपर । परमादिसुखायेति पदमस्मादनंतर ॥ ७२ ॥ सर्वज्ञाय नमो वाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नम. पद चास्मात्स्यात्परं परमेष्ठिने ॥ ७३ ॥ परमादिपदान्नेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्यग्दृष्टिपद चाते वोध्यत द्विः प्रयुज्यता ॥ ७४ ॥ द्वि स्ता त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे

(परम योगीके लिये नमस्कार) और परमभाग्याय नमः (परमभाग्यशाली तीर्थंकरकेलिये नमस्कार) ये दोनों मंत्र पढने चाहिये ॥ ६८ ॥ इसके वाद परमर्द्धि पदकी चतुर्थीके आगे नमः शब्द लगाकर परमर्द्धये नमः (उत्कृष्ट ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिये नमस्कार) और परमप्रसादाय नमः (जिनका प्रसाद सबसे उत्तम संसारको नाश करनेवाला है उनके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ६९ ॥ इसके आगे परमकांक्षिताय नमः (उत्कृष्ट स्वरूपानंदकी इच्छा करनेवालेके लिये नमस्कार) और फिर–परमविजयाय नमः (कर्म शत्रुओंकी परम विजय पानेवालेके लिये नमस्कार) ये पद पढना चाहिये ॥ ७० ॥ तदनंतर परमविज्ञानानाय नमः (सर्वोत्तमज्ञानीके लिये नमस्कार) और फिर परमदर्शनाय नमः (परमदर्शीके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७१ ॥ इसके बाद-परम वीर्याय नमः (अनंत वीर्यशालीके लिये नमस्कार) और फिर--परमसुखाय नमः (परमसुखके लिये नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७२ ॥ तदनंतर--सर्वज्ञाय नमः (सर्वज्ञकेलिये नमस्कार) तथा अर्हते नमः (अरहंतदेवकेलिये नमस्कार) और फिर--परमेष्ठिने नमो नमः (परमेष्ठिके लिये बार २ नमस्कार) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ ७३ ॥ इसके बाद परमनेत्रे नमो नमः (उत्तम नेताके लिये बार २ नमस्कार) यह मंत्र कहना चाहिये और फिर संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना चाहिये, तथा इसी तरह त्रिलोक विजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि इन पदोंको भी दो दो बार उच्चारणकर

ततः । धर्मनेमिपद वाच्यं द्विः स्वाहेति ततः पर ॥७५॥ काम्यमन्त्रमतो ब्रूयात्पूर्ववद्विधिवद्द्विज. । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राःस्मृता बुधैः ॥ ७६ ॥ एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त ज्ञेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादिक्रियाविधौ ॥७७॥ क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणध-

---

अंतमें स्वाहा पढना चाहिये । सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (सम्यग्दृष्टी तीनोंलोकोंको विजय करनेवाले धर्ममूर्ती और धर्म धुरंधर में तेरे लिये आहूति समर्पण करता हूं) यह मंत्र पढना चाहिये ॥ ७४-७५ ॥ इसके बाद द्विजोंको विधि पूर्वक काम्यमंत्र पढना चाहिये क्योंकि विद्वान लोग सब मंत्रोंसे छह परमस्थानकी प्राप्ति होना, अपमृत्युका नाश होना और समाधिमरण होना इन इच्छित पदार्थोंकी सिद्धि होना ही मुख्य फल मानते हैं. ॥ ७६ ॥

चूर्णि—वा संग्रह--सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः,परम रूपाय नमः परमतेजसे नमः परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकांक्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परम-दर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अर्हते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परम-नेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु अपमृत्युविनाशनं भवतु समाधिमरणं भवतु (इति परमेष्ठिमंत्राः)

ब्राह्मणोंको ये ऊपर लिखेहुये (आहूति मंत्र, जातिमंत्र, निस्तारकमंत्र, ऋषिमंत्र सुरेंद्रमंत्र परमराजमंत्र और परमेष्ठिमंत्र) सात पीठिका मंत्र समझना चाहिये और गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें इन मंत्रोंसे सिद्धपूजन करना चाहिये ॥ ७७ ॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधिमें ये

रोद्धार्ये याति साधनमंत्रता ॥ ७८ ॥ सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसाधिताः ॥ ७९ ॥ सिद्धार्चासन्निधौ मंत्रान्जपेदष्टोत्तर शतं । गंधपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुरःसर ॥ ८० ॥ सिद्धविद्यस्ततो मंत्रैरेभि. कर्म समाचरेत् । शुक्लवासा' शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानस' ॥ ८१ ॥ त्रयोऽग्नयः प्रणेयाः स्युः कर्मारंभे द्विजोत्तमैः । रत्नात्रितयसंकल्पादग्नीन्द्रमकुटोद्भवाः ॥ ८२ ॥ तीर्थकृद्गणभृच्छेषकेवल्यन्त्यमहोत्सवे । पूजाङ्गत्व समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥ ८३ ॥ कुडत्रये प्रणेतव्यास्त्रय एते महाग्नय. । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धय ॥ ८४ ॥ अस्मिन्नग्नित्रये पूजा मंत्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येज्या यस्य सद्मनि ॥ ८५ ॥ हविष्पाके च धूपे च दीपोद्बोधनसविधौ । वह्नीना विनियोगः

मंत्र क्रियामंत्र कहलाते हैं और गणधरोंके द्वारा कहे हुये सूत्रोंमें ये ही मंत्र साधनमंत्र हो जाते हैं ॥ ७८ ॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुये ये ही मंत्र प्रातःकाल मध्यान्हकाल और सायंकाल इन तीनों समय तीनों प्रकारकी अग्निमें देवपूजन करते समय और नित्यकर्म करते समय आहुतिमंत्र कहे जाते हैं ॥ ७९ ॥ सिद्ध भगवानकी प्रतिमाके सामने गंध पुष्प अक्षत और अर्घ आदि समर्पणकर एक सौ आठ बार इन मंत्रोंको जपना चाहिये ॥ ८० ॥ तदनंतर जिसे विद्यायें सिद्ध होगई हैं, जो सफेद वस्त्र पहिने हुये है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुये है और जिसका चित्त व्याकुल नहीं है निराकुल है ऐसे द्विजको इन मंत्रोंके द्वारा सब क्रियायें करनी चाहिये ॥ ८१ ॥ गर्भाधान आदि क्रियाओंके प्रारंभमें ब्राह्मणोंको रत्नत्रयका संकल्पकर अग्निकुमारदेवोंके इंद्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई ऐसी तीन अग्नि उत्पन्न करनी चाहिये ॥ ८२ ॥ ये तीनों ही अग्नियां तीर्थंकर गणधर और शेष केवली इनके मोक्ष कल्याणके महोत्सवमें अत्यंत पूज्य मानी गई थीं इसलिये ही ये अत्यंत पवित्र मानी जाती हैं ॥ ८३ ॥ तीन कुडोंमें जो गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं ऐसी तीन महा अग्नि स्थापन करनी चाहिये ॥ ८४ ॥ जो इन तीनोंप्रकारकी अग्नियोंमें इन मंत्रोंसे पूजा करता है वह उत्तम द्विज वा ब्राह्मण कहलाता है और जिसके घर ऐसी पूजा नित्य होती है

स्यादमीषां नित्यपूजने ॥ ८६ ॥ प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे । नैव दातव्यमन्येभ्यस्तेऽन्ये ये स्युरसंस्कृताः ॥ ८७ ॥ न स्वतोऽग्नेः पवित्रत्वं देवतारूपमेव वा । किं त्वर्हद्दिव्यमूर्तीज्यासंबंधात्पावनोऽनलः ॥ ८८ ॥ ततः पूजागतामस्य मत्वार्चंति द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजावत्तत्पूजाऽतो न दुष्यति ॥ ८९ ॥ व्यवहारनयापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरध्यवहार्योऽयं नयोऽद्यत्वेऽग्रजन्मभिः ॥ ९० ॥ साधारणास्त्विमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथासंभवमुन्नेष्ये विशेषविषयाश्च तान् ॥ ९१ ॥ गर्भाधानमन्त्रः—सज्जातिभागी भव सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानिमान्यतः

उसे आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री समझना चाहिये ॥ ८५ ॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों अग्नियोंका नियोग हव्य अर्थात् नैवेद्यका पाक करनेमें, धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है भावार्थ—गार्हपत्यसे नैवेद्य तैयार किया जाता है, आहवनीयमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥ ८६ ॥ घरमें बडे प्रयत्नके साथ इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् कभी बुझनेदेना नहीं चाहिये और जिनके गर्भाधान आदि संस्कार नहीं हुये हैं ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिये ॥ ८७ ॥ अग्नि स्वयं पवित्र नहीं है और न कोई देवता ही है किंतु अरहंतदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके संबंधसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥ ८८ ॥ इसलिये ही ब्राह्मण लोग इसे पूज्य मानकर इसकी पूजा करते हैं । अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें भी कोई दोष नहीं है । भावार्थ—जिसप्रकार अरहंत देवके संबंधसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं उसीप्रकार निर्वाणकल्याणकी पूजाके संबंधसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है ॥ ८९ ॥ ब्राह्मणोंको व्यवहार नयकी अपेक्षासे ही वह अग्नि पूज्य है और जैन ब्राह्मणोंको आज यह व्यवहार नय अवश्य काममें लाना चाहिये ॥ ९० ॥ ये ऊपर लिखे हुये मंत्र साधारण हैं सब क्रियाओंमें काम आते हैं । अब विशेष क्रियाओंके जो विशेष मंत्र हैं उन्हें यथासंभव कहते हैं ॥ ९१ ॥

गर्भाधानके मंत्र—सज्जातिभागी भव (सज्जातिको धारण करनेवाला हो) सद्गृहिभागी भव

पठेत् ॥ ९२ ॥ आदौ मुनींद्रभागीति भवेत्यते पदं वदेत् । सुरेंद्रभागी परमराज्यभागीति च द्वय ॥ ९३ ॥ आर्हंत्यभागी भवेति पदमस्मादनतर । तत. परमनिर्वाणभागी भव पद भवेत् ॥ ९४ ॥ आधाने मत्र एष. स्यात्पूर्वमत्रपुर·सरः । विनियोगश्च मत्राणा यथाम्नाय प्रदर्शितः ॥ ९५ ॥ स्यात्प्रीतिमत्रस्त्रैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्यय ॥ ९६ ॥ मत्रोऽवतारकल्याणभागी भव पदादिक. । सुप्रीतौ मदरेंद्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥ ९७ ॥ भागीभवपदोपेतस्ततो निष्क्रातिवाक्परः । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥ ९८ ॥ ततश्चार्हंत्य-

(सद्गृहस्थ हो) ये दो मंत्र पढकर फिर नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये ॥ ९२ ॥ प्रथम ही--मुनींद्रभागी भव (उत्तम मुनिपदका प्राप्त करनेवाला हो) पढना चाहिये और फिर--सुरेंद्रभागी भव (इंद्रपदका भोक्ता हो) परमराज्यभागी भव (चक्रवर्तीके परम राज्यका भोक्ता हो) ये दो पद पढना चाहिये ॥ ९३ ॥ तदनंतर--आर्हंत्यभागी भव (अरहंत पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिये और फिर--परमनिर्वाणभागी भव (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो) यह कहना चाहिये ॥ ९४ ॥ गर्भाधान क्रियामें पहिले पीठिका मंत्रोंको काममें लाकर फिर ये मंत्र पढने चाहिये, यह शास्त्रानुसार मंत्रोंको काममें लानेकी विधि दिखलाई है अर्थात् सब जगह मंत्रोंको इसीप्रकार काममें लाना चाहिये ॥ ९५ ॥

चूर्णि--सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनींद्रभागी भव, सुरेंद्रभागी भव, परमराज्यभागी भव, आर्हंत्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव (आधानमंत्रः)

प्रीतिमंत्र--त्रैलोक्यनाथो भव (तीनों लोकोंका स्वामी हो) त्रैकाल्यज्ञानी भव (तीनों कालका जानने वाल हो) और--त्रिरत्नस्वामी भव (रत्नत्रयका स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मंत्र हैं ॥ ९६ ॥

चूर्णि--त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव (प्रीतिमंत्रः)

सुप्रीतिक्रियाके मंत्र--सुप्रीति क्रियामें--अवतारकल्याणभागी भव (गर्भकल्याणको प्राप्त करनेवाला

कल्याणभागी भवपदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसंगतः ॥ ९९ ॥ भागीभवपदातश्च क्रमाद्वाच्यो मनीषिभिः । धृतिमंत्रमतो वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत भो द्विजाः ॥ १०० ॥ धृतिक्रियामंत्रः—आधानमत्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥ १०१ ॥ मोदक्रियामत्रः—मत्रो मोदक्रियाया च मतोऽय मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पद वदेत् ॥ १०२ ॥ ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं

हो) मंदरेंद्राभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरु पर्वतपर इंद्रके द्वारा किये हुये जन्माभिषेक कल्याणको प्राप्त हो) निष्क्रांतिकल्याणभागी भव (तप कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) आर्हंत्यकल्याण भागी भव (केवलकल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) और–परमनिर्वाणकल्याणभागी भव (परम निर्वाणकल्याण को प्राप्त करनेवाला हो) ये मंत्र अनुक्रमसे विद्वानोंको पढना चाहिये । अब आगे धृति क्रियाके मंत्रोंको कहते हैं, भो ब्राह्मणो तुम प्रेमसे सुनो ॥ ९७-९८-९९-१०० ॥

चूर्णि–अवतारकल्याणभागी भव, मंदरेंद्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रांतिकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागीभव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव । (सुप्रीतिमंत्रः)

धृतिक्रियाके मंत्र--आधान क्रियाके मंत्रोंमें सब जगह मध्यमें दातृ शब्द लगानेसे वे ही मंत्र धृति क्रियाके मंत्र हो जाते हैं । आधानक्रियाके मंत्रोंसे इन मंत्रोंमें और कुछ भेद नहीं है ॥ १०१ ॥

चूर्णि--सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनींद्रदातृभागी भव, सुरेंद्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हंत्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव (धृतिक्रिया मंत्रः) अनुक्रमसे इन मंत्रोंका अर्थ–तू सज्जातिका देनेवाला हो, सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो, मुनिपदका देनेवाला हो, सुरेंद्रपदका देनेवाला हो, चक्रवर्तीके परमराज्यका देनेवाला हो, अरहंतपदका देनेवाला हो तथा परमनिर्वाणपदका देनेवाला हो ।

अब मोदक्रियाके मंत्र कहते हैं–उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मंत्र इसप्रकार माने हैं कि सबसे

पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पदं मतं ॥ १०३ ॥ ततो मुनींद्रकल्याणभागी भव पदं स्मृत । पुनः सुरेंद्रकल्याणभागी भव पदात्परं ॥ १०४ ॥ मंदराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतं ॥ १०५ ॥ भागीभवपदं वाच्यं मंत्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागीभवपदं परं ॥ १०६ ॥ भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहित मत। भागी भवेत्यथार्हंत्यकल्याणेन च योजितं ॥ १०७ ॥ प्रियोद्भवमंत्रः—प्रियोद्भवे

पहिले—सज्जातिकल्याणभागी भव (सज्जातिके कल्याण वा उत्सवको धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिये, फिर—सद्गृहिकल्याणभागी भव (सद्गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद और फिर—वैवाहकल्याणभागी भव (विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिय ॥ १०२-१०३ ॥ तदनंतर—मुनींद्रकल्याणभागी भव (मुनिपदके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह मंत्र और फिर—सुरेंद्रकल्याणभागी भव (इंद्र पदके कल्याणका भोक्ता हो) यह पढना चाहिये ॥ १०४ ॥ इसके वाद—मंदराभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरुपर्वत पर होनेवाले अभिषेकके कल्याणका भोक्ता हो) और—यौवराज्यकल्याणभागी भव (युवराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तदनंतर—मंत्रके प्रयोग करनेमें विद्वान ऐसे लोगोंको—महाराज्यकल्याणभागी भव (महाराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) परमराज्यकल्याणभागी भव (परम राज्यके कल्याणका भोक्ता हो) और फिर—आर्हंत्यकल्याणभागी भव (अरहंत पदके कल्याणका भोक्ता हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १०५-१०६-१०७ ॥

चूर्णि—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनींद्रकल्याणभागी भव, सुरेंद्रकल्याणभागी भव, मंदराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागी भव । (मोदक्रिया मंत्रः)

च मंत्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरः । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥ १०८ ॥ विजयायेत्यथार्हत्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मंत्राक्षरैरेभिः स्वाहातः सम्मतो द्विजैः ॥ १०९ ॥ जन्मसस्कारमत्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगधाम्बुससिक्त शिरासि स्पृशेत् ॥ ११० ॥ कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥ १११ ॥ सम्यग्दृष्टिस्तवाम्बेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥ ११२ ॥ इत्यगानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगनः । तत्राधायात्मसंकल्प ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥ ११३ ॥ अगादंगात्संभवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शत ॥ ११४ ॥ क्षीराज्यममृतं पूत नाभावावर्ज्य युक्तितः । घातिजयो भवेत्स्य ह्रासयेन्नाभि-

---

अब आगे--प्रियोद्भवमंत्र कहते हैं--प्रियोद्भवक्रियामें सिद्धभगवानकी पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये--दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय और आर्हत्यनेमिविजयाय । इन मं के बाद ब्राह्मण लोग स्वाहा पढना स्वीकार करते हैं ॥ १०८--१०९ ॥

चूर्णि-दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय, आर्हत्यनेमिविजयाय स्वाहा । (प्रियोद्भवमंत्रः)

ये जन्म संस्कारके मंत्र हैं। प्रथम ही सिद्धप्रतिमाका अभिषेक कर उस गंधोदकसे बच्चेका सिंचन कर फिर ये मंत्र पढकर उसका शिर स्पर्श करना चाहिये ॥ ११० ॥ तथा यह कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, वय रूप आदि गुणोंसे विभूषित है, शीलवती है, उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली है, भाग्यवती है, सौभाग्यवती है और शांत है, इन गुणोंसे विभूषित होकर भी वह सम्यग्दृष्टी है इसलिये हे पुत्र उस माताके संबंधसे तूभी दिव्यचक्र विजयचक्र और परमचक्र इन तीनों चक्रोंको अनुक्रमसे प्राप्त होकर प्रसन्न होना ॥ १११-११२ ॥ इसप्रकार पिता पुत्रको आशीर्वाद देकर उसके सब अंगोंका स्पर्श करे और फिर सब तरह अपने समान होनेसे उस पुत्रमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मैं ही हूं ऐसा संकल्पकर पीछेसे नीचे लिखे हुये सुवाक्य पढे ॥ ११३ ॥ हे पुत्र ! तू मेरे प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू मेरा आत्मा है तू सैकडों

पठेत् । ततो वैवाहकल्याणभागी भव पद मतं ॥ १०३ ॥ ततो मुनींद्रकल्याणभागी भव पद स्मृतं । पुनः सुरेंद्रकल्याणभागी भव पदात्परं ॥ १०४ ॥ मंदराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादि कल्याणपदसयुतं ॥ १०५ ॥ भागीभवपदं वाच्यं मंत्रयोगविशारदैः । स्यान्महाराज्यकल्याणभागीभवपदं पर ॥ १०६ ॥ भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहित मत । भागी भवेत्यथार्हंत्यकल्याणेन च योजितं ॥ १०७ ॥ प्रियोद्भवमंत्रः—प्रियोद्भवे

पहिले—सज्जातिकल्याणभागी भव (सज्जातिके कल्याण वा उत्सवको धारण करनेवाला हो) यह पद पढना चाहिये, फिर—सद्गृहिकल्याणभागी भव (सद्गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद और फिर—वैवाहकल्याणभागी भव (विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिय ॥ १०२-१०३ ॥ तदनंतर—मुनींद्रकल्याणभागी भव (मुनिपदके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह मंत्र और फिर—सुरेंद्रकल्याणभागी भव (इंद्र पदके कल्याणका भोक्ता हो) यह पढना चाहिये ॥ १०४ ॥ इसके बाद—मंदराभिषेककल्याणभागी भव (सुमेरुपर्वत पर होनेवाले अभिषेकके कल्याणका भोक्ता हो) और—यौवराज्यकल्याणभागी भव (युवराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) यह मंत्र पढना चाहिये, तदनंतर—मंत्रके प्रयोग करनेमें विद्वान ऐसे लोगोंको—महाराज्यकल्याणभागी भव (महाराजपदके कल्याणका भोक्ता हो) परमराज्यकल्याणभागी भव (परम राज्यके कल्याणका भोक्ता हो) और फिर—आर्हंत्यकल्याणभागी भव (अरहंत पदके कल्याणका भोक्ता हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १०५-१०६-१०७ ॥

चूर्णि—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहकल्याणभागी भव, मुनींद्रकल्याणभागी भव, सुरेंद्रकल्याणभागी भव, मंदराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हंत्यकल्याणभागी भव । (मोदक्रिया मंत्रः)

च मंत्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरः । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिवाक् ॥ १०८ ॥ विजयायेत्यथार्हत्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मंत्राक्षरैरेभिः स्वाहातः सम्मतो द्विजैः ॥ १०९ ॥ जन्मसस्कारमत्रोऽयमेतेनार्भकमादितः । सिद्धाभिषेकगधांबुसंसिक्तं शिरसि स्पृशेत् ॥ ११० ॥ कुलजातिवयोरूपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवतासौम्यमूर्तित्वैः समधिष्ठिता ॥ १११ ॥ सम्यग्दृष्टिस्तवाबेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥ ११२ ॥ इत्यगानि स्पृशेदस्य प्रायः सारूप्ययोगनः । तत्राधायात्मसकल्पं ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥ ११३ ॥ अगादंगात्संभवसि हृदयादपि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामाऽसि स जीव शरदः शत ॥ ११४ ॥ क्षीराज्यममृत पूतं नाभावावर्ज्य युक्तितः । घातिंजयो भवेत्स्य ह्यासयेन्नाभि-

---

अब आगे--प्रियोद्भवमंत्र कहते हैं--प्रियोद्भवक्रियामें सिद्धभगवानकी पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मंत्र पढने चाहिये--दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय और आर्हत्यनेमिविजयाय । इन मं के बाद ब्राह्मण लोग स्वाहा पढना स्वीकार करते हैं ॥ १०८--१०९ ॥

चूर्णि-दिव्यनेमिविजयाय, परमनेमिविजयाय, आर्हत्यनेमिविजयाय स्वाहा । (प्रियोद्भवमंत्रः)

ये जन्म संस्कारके मंत्र हैं। प्रथम ही सिद्धप्रतिमाका अभिषेक कर उस गंधोदकसे बच्चेका सिंचन कर फिर ये मंत्र पढकर उसका शिर स्पर्श करना चाहिये ॥ ११० ॥ तथा यह कहना चाहिये कि यह तेरी माता कुल, जाति, वय रूप आदि गुणोंसे विभूषित है, शीलवती है, उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली है, भाग्यवती है, सौभाग्यवती है और शांत है, इन गुणोंसे विभूषित होकर भी वह सम्यग्दृष्टी है इसलिये हे पुत्र उस माताके संबंधसे तूभी दिव्यचक्र विजयचक्र और परमचक्र इन तीनों चक्रोंको अनुक्रमसे प्राप्त होकर प्रसन्न होना ॥ १११-११२ ॥ इसप्रकार पिता पुत्रको आशीर्वाद देकर उसके सब अंगोंका स्पर्श करे और फिर सब तरह अपने समान होनेसे उस पुत्रमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मैं ही हूं ऐसा संकल्पकर पीछेसे नीचे लिखे हुये सुवाक्य पढे ॥ ११३ ॥ हे पुत्र ! तू मेरे प्रत्येक अंगसे उत्पन्न हुआ है और हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिये तू मेरा आत्मा है तू सैकडों

नालकं ॥ ११५ ॥ श्रीदेव्यो जात ते जातक्रियां कुर्वंत्विति ब्रुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन शनैरुद्वर्त्य यत्नतः ॥ ११६ ॥ त्वं मंदराभिषेकार्हो भवेति स्नापयेत्ततः । गंधाबुभिश्चिर जीव्या इत्याशास्याक्षत क्षिपेत् ॥ ११७ ॥ नश्यात्कर्ममल कृत्स्नमित्यास्येऽस्य सनासिके । घृतमौषधसंसिद्धमावपेन्मात्रया द्विजः ॥ ११८ ॥ ततो विश्वेश्वरीस्तन्यभागी भूया इतीरयन् । मातुस्तनमुपामंत्र्य वदनेऽस्य समासजेत् ॥ ११९ ॥ प्राग्वर्णितमथानंदं प्रीतिदानपुरःसर।

वर्षतक चिरंजीव रह ॥ ११४ ॥ तदनंतर--घी और दूध रूप पवित्र अमृतसे युक्ति पूर्वक नाभिका सिंचनकर ' घातिंजयो भव ' अर्थात् तू घातिया कर्मोंका जीतनेवाला हो यह मंत्र पढकर धीरेसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिये ॥ ११५ ॥ तदनंतर ' हे पुत्र श्रीदेव्यः ते जातक्रियां कुर्वंतु ' अर्थात् हे पुत्र श्री ह्री आदि देवियां तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुये वडे प्रयत्नसे धीरे २ उसके शरीरपर सुगंधित चूर्णका उवटन करना वा डालना चाहिये तथा ' त्वं मंदराभिषेकार्हो भव ' अर्थात् तू सुमेरु पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मंत्र पढकर सुगंधित जलसे उसे स्नान कराना चाहिये और फिर ' चिरं जीव्या ' अर्थात् तू वहुत दिनतक जीवित रह यह मंत्र पढते हुये उसे आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत फेंकना चाहिये ॥ १६-१७ ॥ इसके वाद द्विजोंको ' नश्यात्कर्ममलं कृत्स्नं ' अर्थात् तेरे समस्त कर्मरूपी मल नष्ट हों यह मंत्र पढकर उस वालकके मुख और नाकमें औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार थोडासा छोडदेना चाहिये ॥ ११८ ॥ तदनंतर ' विश्वेश्वरीस्तन्य भागी भूयाः ' अर्थात् तू तीर्थंकरकी माताका स्तनपान करनेवाला हो यह मंत्र पढकर माताके स्तनको मंत्रित करना चाहिये और फिर उस स्तनको वालकके मुंहमें लगादेना चाहिये ॥ ११९ ॥ जिसप्रकार पहिले वर्णन कर चुके हैं उसी प्रकार पुत्रोत्सवका आनंद मनाना चाहिये और संतुष्ट होकर खूव दान देना चाहिये । इसप्रकार विधि पूर्वक सव क्रियायें करके उस पुत्रका जातकर्म अथवा जन्मोत्सव समाप्त करना चाहिये ॥ १२० ॥ उसके जरायुपटलको नाभिसे काटे हुये नालके साथ २ किसी पवित्र

विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत् ॥ १२० ॥ जरायुपटलं चास्य नाभिनालसमायुतं । शुचौ भूमौ निखातायां विक्षिपेन्मंत्रमापठन् ॥ १२१ ॥ सम्यग्दृष्टिपदं बोध्ये सर्वमातेति चापर । वसुंधरापदं चैव स्वाहांत द्विरुदाहरेत् ॥ १२२ ॥ मन्त्रेणानेन संमंत्र्य भूमौ सोदकमक्षतं । क्षिप्त्वा गर्भमल न्यस्तपचरत्नतले क्षिपेत् ॥ १२३ ॥ त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासुश्चिरजीविनः । इत्युदाहृत्य सस्यार्हे तत्क्षेतव्यं महीतले ॥१२४॥ क्षीरवृक्षोपशाखाभिरुप- हृत्य च भूतलं । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुखोष्णैर्मंत्रितैर्जलैः ॥१२५॥ सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभव्येति तद्वद्विश्वेश्वरीत्यपि ॥१२६॥

पृथ्वीको खोदकर वहां मंत्र पढकर गाढ देना चाहिये ॥ १२१ ॥ संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पद तथा सर्वमाता पद और वसुंधरा पद इनको दो दो वार कहकर अंतमें स्वाहा कहना चाहिये।

चूर्णि--'सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुंधरे वसुंधरे स्वाहा' अर्थात् सम्यग्दृष्टी सबकी माता पृथ्वी! मैं यह समर्पण करता हूं अथवा तू कल्याण करनेवाली हो ॥ १२२॥ इस मंत्रसे मंत्रित कर उस खुदी हुई भूमिमें जल और अक्षत डालकर पांच रत्नोंके नीचे गर्भका सब मल स्थापन कर देना चाहिये ॥ १२३ ॥ तदनंतर त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्राः चिरंजीविनः भूयासुः अर्थात् हे पृथ्वी! तेरे पुत्र कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिर जीवी हों यह कहकर जिस खेतमें धान्य उपजता हो उस खेतमें पृथ्वीपर उस गर्भमलको रख देना चाहिये ॥ १२४ ॥ इसके वाद वड पीपर आदि क्षीर वृक्षोंकी कोमल डालियोंसे पृथ्वीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको बिठाकर नीचे लिखे मंत्रोंसे सुहाते गर्म जलको मंत्रितकर उस जलसे उसका स्नान कराना चाहिये ॥ १२५ ॥ माताको स्नान करानेका मंत्र–प्रथम ही संबोधनांत सम्यग्दृष्टि पदको दो वार कहना चाहिये फिर–आसन्नभव्य, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या और जिनमाता इन पदोंकोभी संबोधनांत दो दो वार उच्चारण करना चाहिये और फिर स्वाहा कहना चाहिये। उस पुत्रकी माताको स्नान कराते समय यही मंत्र आचार्योंने वतलाया है।

चूर्णि–सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये

तत ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपद तथा । स्वाहातो मंत्र एव स्यात्तन्मातुः स्नानसंविधौ ॥ १२७ ॥ यथा जिनाम्बिका पुत्रकल्याणान्यभिपश्यति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेम विधिं भजेत् ॥ १२८ ॥ तृतीयेऽहनि चानतज्ञानदर्शी भवेत्यमु । आलोकयेत्समुत्क्षिप्य निशि ताराकितं नभः ॥ १२९ ॥ पुण्याहघोषणापूर्वं कुर्याद्दान च शक्तितः । यथायोग्यं निघ्याच्च सर्वस्याभयघोषणा ॥ १३० ॥ जातकर्मविधिः सोऽयमाम्नातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यत्वेपि द्विजोत्तमः ॥ १३१ ॥ नामकर्मविधाने च मंत्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सप्त मंत्राः प्रागनुवर्णिताः ॥ १३२ ॥ ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिक ! पदत्रितयमुच्चार्य मन्त्रोऽत्र परिवर्त्यता ॥ १३३ ॥ शेषो विधिस्तु निःशेषः प्रागुक्तो नोच्यते पुन. । बहिर्यानक्रिया-

---

जिनमातःजिनमातःस्वाहा। भावार्थ-हे सम्यग्दर्शन धारण करनेवाली निकट भव्य सवकीस्वामिनी अत्यंत पुण्य संचय करनेवाली जिनमाता तू कल्याण करनेवाली हो ॥ १२६-१२७ ॥ जिस प्रकार तीर्थंकरकी माता पुत्रके अनेक कल्याणोंको देखती है उसीप्रकार यह मेरी स्त्री भी देखे इसप्रकारकी श्रद्धासे यह सव स्नान आदिकी विधि करनी चाहिये ॥ १२८ ॥ तीसरे दिन रातके समय 'अनंतज्ञानदर्शी भव' अर्थात् तू अनंतज्ञानका देखनेवाला हो यह मंत्र पढकर उस पुत्रको गोदीमें लेकर ताराओंसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिये ॥ १२९ ॥ उसीदिन पुण्याहवाचनका पाठ पढना चाहिये, शक्तिके अनुसार दान देना चाहिये और जितना वन सके उतना सवको अभयदान देनेकी घोषणा करनी चाहिये ॥ १३० ॥ इसप्रकार पूर्वाचार्योंने जातकर्म अर्थात् जन्मोत्सवकी विधि कही है। ब्राह्मणोंको आज भी अर्थात् इस कालमें भी यथा योग्य रीतिसे इसका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ १३१ ॥

अब नामकर्मकी विधिके लिये ये मंत्र कहते हैं। नाम कर्म करनेमें सिद्धभगवानकी पूजा करनेकेलिये तो पहिले सात पीठिका मंत्र कह चुके ही हैं ॥ १३२ ॥ उनके आगे--दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव आदि तीनों पदोंको उच्चारणकर मंत्र वना लेना चाहिये अर्थात् दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव (दिव्य एक हजार आठ नामोंको पानेवाला हो) विजयाष्टसहस्रनामभागी भव (विजयरूप एकहजार

मंत्रस्ततोऽयमनुगम्यता ॥ १३४ ॥ बहिर्यानक्रिया ॥ तत्रोपनयनिष्क्रांतिभागी भव पदात्परं । भवेद्वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव पदं ततः ॥ १३५ ॥ क्रमान्मुनींद्रनिष्क्रांतिभागी भव पद वदेत् । ततः सुरेंद्रनिष्क्रांतिभागी भव पद स्मृत ॥ १३६ ॥ मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव पद ततः । यौवराज्य-महाराज्यपदे भागीभवान्विते ॥ १३७ ॥ निष्क्रांतिपदमध्ये स्ता परमराज्यपदं तथा । आर्हंत्यराज्यनिष्क्रांतिभागी भव शिखापदं ॥ १३८ ॥ पदैरेभिरयं

आठ नामोंको धारण करनवाला हो और परमाष्टसहस्रनामभागी भव) अति उत्तम एकहजार आठ नामोंको पानेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ।

चूर्णि--दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव; ॥ १३३ ॥ बाकीकी विधि सब पहिले कह चुके हैं इसलिये अव दुवारा नहीं कहते हैं । अव बहिर्यानक्रियाके मंत्र नीचे लिखे अनुसार जानना ॥ १३४ ॥

प्रथम ही ' उपनयनिष्क्रांतिभागी भव (तू यज्ञोपवीतके लिये निकलनेवाला हो) यह मंत्र पढना चाहिये, फिर--वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव (विवाहके लिये निकलनेवाला हो) और फिर अनुक्रमसे--मुनींद्रनिष्क्रांतिभागी भव (मुनिपदके लिये निकलनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये । तदनंतर-सुरेंद्रनिष्क्रांतिभागी भव (सुरेंद्रपदके लिये निकलनेवाला हो) मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव (सुमेरु पर्वतपर स्नान करनेकेलिये निकलनेवाला हो) तथा-यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (युवराज पदके लिये निकलनेवाला हो) महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (महाराज पदके लिये निकलनेवाला हो) इसीतरह--परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (चक्रवर्तीके परम राज्यके लिये निकलनेवाला हो) और आर्हंत्यराज्यनिष्क्रांतिभागी भव (अरहंतकी पदवीरूप राज्यकेलिये निकलनेवाला हो) य मंत्र पढना चाहिये । इसप्रकार मंत्रके जाननेवाले द्विजोंको इन पदोंके द्वारा मंत्रोका जप करना चाहिये, शेष विधि सब पहिले कह ही चुके हैं । अव आगे निषद्यामंत्र कहते हैं ॥ १३५-१३६-१३७-१३८-१३९ ॥

मंत्रस्ताद्विद्भिरनुजप्यतां । प्रागुक्तो विधिरन्यस्तु निषद्यामंत्र उत्तरः ॥ १३९ ॥ निषद्या ॥ दिव्यसिंहासनपदाद्भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयात् ॥ १४० ॥ अन्नप्राशनक्रिया ॥ प्राशनेऽपि तथा मत्र पदैस्त्रिभिरुदाहरेत् । तानि स्युर्दिव्यविजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥ १४१ ॥ भागी भव पदेनाते युक्तेनानुगतानि च । पदैरेभिरयं मंत्रः प्रयोज्यः प्राशने बुधै. ॥ १४२ ॥ व्युष्टिः ॥ व्युष्टिक्रियाश्रितं मत्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतं ।

चूर्णि--उपनयनिष्क्रांतिभागी भव, वैवाहनिष्क्रांतिभागी भव, मुनींद्रनिष्क्रांतिभागी भव, सुरेंद्रनिष्क्रांतिभागी भव, मंदराभिषेकनिष्क्रांतिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रांतिभागी भव, आर्हत्यनिष्क्रांतिभागी भव, (वहिर्यानमंत्रः)

अब निषद्यामंत्र कहते हैं-दिव्यसिंहासनभागी भव (इंद्रके सिंहासनका भोक्ता हो) विजयसिंहासनभागी भव (चक्रवर्तीके सिंहासनका भोक्ता हो, परमसिंहासनभागी भव (तीर्थंकरके सिंहासन का भोक्ता हो) ये तीन मंत्र पढना चाहिये ।

चूर्णि--दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव ॥ १४० ॥

अब अन्नप्राशन क्रियाके मंत्र कहते हैं, अन्नप्राशन क्रियामें तीन पदोंके द्वारा मंत्र कहने चाहिये र वे पद दिव्यामृत विजयामृत और अक्षीणामृत इनके आगे भागी भव ये योग्य पद लगाकर ब चाहिये अर्थात्--दिव्यामृतभागी भव (दिव्य अमृतका भोक्ता हो) विजयामृतभागी भव (चक्रवर्तीके विजयरूप अमृतका भोक्ता हो) अक्षीणामृतभागी भव (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) अन्न प्राशन क्रियामें विद्वानोंको इन तीन पदोंके द्वारा मंत्रोच्चारण करना चाहिये ॥ १४१-१४२ ॥

चूर्णि--दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव, (प्राशनक्रियामंत्रः)

अब यहांसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टिक्रियाके मंत्र कहते हैं प्रथम ही उपनयनके आगे जन्मवर्द्धन वर्षवर्द्धन पद लगाकर भागी भव पद लगाना चाहिये और फिर अनुक्रमसे वैवाहनिष्ठ, मुनींद्रजन्म,

तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतं ॥ १४३ ॥ भागी भव पदं ज्ञेयमादौ शेषपदाष्टके । वैवाहनिष्ठशब्देन मुनिजन्मपदेन च ॥ १४४ ॥ सुरेंद्रजन्मना मदराभिषेकपदेन च । यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥ १४५ ॥ परमार्हत्यराज्याभ्या वर्षवर्धनसयुत । भागीभवपदं योज्य ततो मंत्रोऽयमु द्भवेत् ॥ १४६ ॥ चौलकर्म ॥ चौलकर्मण्यथो मंत्रः स्याच्चोपनयनादिक । मुडभागीभवांत च पदमादावनुस्मृतं ॥ १४७ ॥ ततो निर्ग्रंथमुंडादि-

---

सुरद्रेंजन्म, मंदराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य परमराज्य और आर्हत्यराज्य इन पदोंके साथ वर्ष वर्द्धन लगाकर भागी भव यह पद लगाना चाहिये ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मंत्र बन जायंगे भावार्थ--उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (यज्ञोपवीतमें होनेवाले जन्मके वर्षका वढानेवाला हो) वैवाह-निष्ठ वर्षवर्द्धनभागी भव (विवाह क्रियाके वर्षका वढानेवला हो) मुनींद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (मुनिपद धारण करणेवाले वर्षका वढानेवाला हो) सुरेंद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव (इंद्रके जन्मके वर्षका बढानेवालाहो) मंदराभिषेक वर्षवर्द्धनभागी भव (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेकके वर्षका वढानेवाला हो) यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (युवराज्य पदके वर्षका वढानेवाला हो) महाराज्य वर्ष वर्द्धनभागी भव (महाराज पदके वर्षका बढानेवाला हो) परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (चक्रवर्ती के राज्यके वर्षका वढानेवाला हो) आर्हत्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव (अरहंत पदके राज्यके वर्षका वढानेवाला हो) ॥ १४३-१४४-१४५-१४६ ॥

चूर्णि--उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाह निष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनींद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेंद्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मंदराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महा-राज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हत्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव । (व्युष्टिक्रियामंत्रः)

अब आगे चौलक्रियाकेमंत्र कहते हैं, प्रथमही उपनयन शब्दसे मुंडभागी भव पद जोडकर पहिला मंत्रबनाना चाहिये अर्थात्--उपनयनमुंडभागी भव (उपनीतिक्रियामें मुंडन करनेवाला हो) यह

भागीभवपद पर । ततो निष्क्रांतिमुंडादिभागीभवपदं पर ॥१४८॥ स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेंद्रपदादिश्च केशभागीभवध्वनिः ॥१४९॥ परमार्हंत्यराज्यादिकेशभागीति वाग्द्वयं । भवेत्यतपदोपेत मंत्रोऽस्मिन्स्याच्छिखापद ॥ १५० ॥ शिखामेतेन मंत्रेण स्थापयेद्विधिवद्द्विज. । ततो मंत्रोऽयमाम्नातो लिपिसख्यानसग्रहे ॥ १५१ ॥ शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसंबंधपारभागी भवेत्यपि ॥ १५२ ॥ उपनीतिक्रियामंत्र

मंत्र पढना चाहिये ॥ १४७ ॥ फिर--निर्गंथ मुंडभागी भव (निर्गंथ अवस्था धारण करतेसमय मुंडन करनेवाला हो) और निष्क्रांतिमुंडभागी भव (विरक्त अवस्था अर्थात् मुनिपदमें भी मुंडन (लोंच) करनेवाला हो) पढना चाहिये ॥ १४८ ॥ तदनंतर--परमनिस्तारक केशभागी भव (संसारसे पार करनेवाले आचार्यके केशोंको धारण करनेवाला हो) परमेंद्रकेशभागी भव (इंद्रपदके केशोंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये, तथा अंतमें--परमराज्यकेशभागी भव (चक्रवर्तीके केशोंको धारण करनेवाला हो) और-आर्हत्यराज्यकेशभागी भव [अरहंत अवस्थाके केशोंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १४९-१५० ॥ ब्राह्मणोंको इन मंत्रोंसे विधि पूर्वक चोटी रखवाना चाहिये । अब आगे लिपिसंख्यानके मंत्र नीचे लिखते हैं ॥ १५१ ॥

चूर्णि--उपनयनमुंडभागीभव, निर्गंथमुंडभागी भव, निष्क्रांतिमुंडभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेंद्रकेशभागीभव, परमराज्यकेशभागीभव, आर्हत्यराज्यकेशभागी भव । (इति चौलक्रियामंत्रः)

लिपिसंख्यानक्रियाके मंत्रः—शब्दपारभागी भव (शब्दोंका पारगामी हो) अर्थपारभागी भव (अर्थका पारगामी हो) और–शब्दार्थसंबंधपारभागी भव (शब्द और अर्थ दोनोंके संबंधका पारगामी हो)

चूर्णी—शब्दपारभागी भव, अर्थपारभागी भव, शब्दार्थसंबंधपारभागी भव । [लिपिसंख्यानमंत्रः] ॥१५२॥

आगे उपनीतिक्रियाके मंत्रः--ब्राह्मणलोग नीचे लिखे मंत्रोंको उपनीतिक्रियाके मंत्र कहते हैं

स्मरंतीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिंगभागी भवेत्यतः ॥ १५३ ॥ युक्तं परमर्षिलिंगेन भागी भवपदं भवेत् । परमेंद्रादिलिंगादि भागी भवपदं पर ॥ १५४ ॥ एव परमराज्यादि परमार्हंत्यादि च क्रमात् । युक्त परमनिर्वाणपदेन च शिखापद ॥ १५५ ॥ मंत्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वस्त्रेण कुर्यादेन सवाससम् ॥ १५६ ॥ कौपीनाच्छादन चैनमंतर्वासेन कारयेत् । मौंजीवधमतः कुर्यादनुवद्धात्रिमेखल ॥ १५७ ॥ सूत्र गणधरैर्दृब्ध व्रतचिन्ह नियोजयेत् । मंत्रपूतमतो यज्ञोपवीती स्यादसौ द्विजः ॥ १५८ ॥ जात्येव ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतसंस्कृतः । द्विर्जातो द्विज

प्रथम ही परमनिस्तारकलिंगभागी भव (तू उत्तम आचार्यके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) फिर-परमर्षिलिंगभागी भव (परम ऋषियोंके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) और परमेंद्रलिंगभागी भव (परम इंद्रपदके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये । तदनंतर-परमराज्य परमार्हंत्य और परमनिर्वाण इन पदोंके अंतमें लिंगभागी भव पद लगाकर मंत्र वनालेना चाहिये भावार्थ—परमराज्यलिंगभागी भव (चक्रवर्तीके परमराज्यके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) परमार्हंत्य लिंगभागी भव (परम अरहंत अवस्थाके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) परमनिर्वाणलिंगभागी भव (परम निर्वाणके चिन्होंको धारण करनेवाला हो) ये मंत्र पढना चाहिये ॥ १५३-१५४-१५५ ॥

चूर्णि—परमनिस्तारक लिंगभागी भव, परमर्षिलिंगभागी भव, परमेंद्रलिंगभागी भव, परमराज्य-लिंगभागी भव, परमार्हंत्यलिंगभागी भव, परमनिर्वाणलिंगभागी भव । इति उपनीतिक्रिया मंत्राः)

इन मंत्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार करना चाहिये और फिर उसे विकार रहित सफेद कपडे देकर वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ १५६ ॥ वस्त्रके भीतर इसे लंगोटी देनी चाहिये और उसपर तीन लरकी बनी हुई मूंजकी रस्सी बांधना चाहिये ॥ १५७ तदनंतर व्रतोंका चिन्हस्वरूप और मंत्रसे पवित्र किया हुआ ऐसा गणधरदेवोंके द्वारा कहा हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत पहनाना चाहिये । यज्ञोपवीत पहनकर फिर वह द्विज कहलाता है ॥ १५८ ॥ पहिलेतो वह केवल जन्मसे ब्राह्मण था और

इत्येवं रूढिमास्तिघ्नुते गुणैः ॥ १५९ ॥ देयान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुसाक्षि यथाविधि । गुणशीलानुगैश्चैनं संस्कुर्याद्व्रतजातकैः ॥ १६० ॥ ततोऽतिबालविद्यादीन्नियोगादस्य निर्दिशेत् । दत्वोपासकाध्ययन नामापि चरणोचित ॥ १६१ ॥ ततोऽय कृतसंस्कारः सिद्धार्चनपुरःसर । यथाविधानमाचार्यपूजा कुर्यादतःपरं ॥ १६२ ॥ तस्मिन्दिने प्रविष्टस्य भिक्षाथ जातिवेश्मसु । योऽर्थलाभः स देयः स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥ १६३ ॥ शेषो विधिस्तु प्राक्प्रोक्तस्तमनूनं समाचरेत् । यावत्सोऽधीतविद्यः सन्भजेत्सद्ब्रह्मचारितां ॥ १६४ ॥ अयातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमात् । स्याद्यत्रोपासकाध्यायः

अब व्रतोंसे विभूषित होकर दूसरीवार उत्पन्न हुआ, इसप्रकार दो वार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रूढिको प्राप्त होता है॥ १५९॥ उस समय उस पुत्राको विधिके अनुसार और गुरुकी साक्षी पूर्वक अणुव्रत तथा गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि शीलव्रत देना चाहिये, और इसप्रकार व्रत देकर उसका संस्कार करना चाहिये ॥ १६० ॥ तदनंतर गुरु उसे उपासकाध्ययन (श्रावकाचार आदि) पढाकर और उसके चारित्रके अनुसार उसका नाम रखकर अति बालविद्या आदिजो आगे कहेंगे उनका नियोगके अनुसार उपदेश दे ॥ १६१ ॥ इसके बाद जिसका संस्कार होचुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवानकी पूजाकर फिर विधिके अनुसार अपने गुरु गृहस्थाचार्यकी पूजा करे ॥ १६२ ॥ उस दिन पुत्राको अपने कुटुंब व जातिके लोगोंके घर जाकर भिक्षा मांगना चाहिये और भिक्षामें जो कुछ धन मिले वह आदर पूर्वक उपाध्यायको समर्पण करदेना चाहिये ॥ १६३ ॥ बाकीकी विधि जिसतरह पहिले कह चुके हैं उसी तरह पूरी करनी चाहिये अर्थात् उसमें किसीतरहकी कमी नहीं करनी चाहिये. और जबतक वह विद्याका अभ्यास करता रहे तबतक उसे उत्तम ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये ॥ १६४ ॥

अथानंतर–जिसमें संक्षेपसे उपासकाध्यायका संग्रह किया गया है ऐसी इसकी व्रतचर्याक्रियाको अब आगे अनुक्रमसे कहता हूं ॥ १६५ ॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे पुरुषके लिये शिरका चिन्ह [मुंडन] वक्षस्थलका चिन्ह (सात लरका यज्ञोपवीत) कमरका चिन्ह (तीन लरकी

समासेनानुसंहृतः ॥ १६५ ॥ शिरोलिंगमुरोलिंगं लिंगं कट्यूरुसंश्रितं । लिंगमस्योपनीतस्य प्राग्निर्णीतं चतुर्विधं ॥ १६६ ॥ तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वं वर्तमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनां ॥ १६७ ॥ कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं संप्राप्तदूषणं । सोऽपि राजादिसंमत्त्या शोधयेत्स्वं यदा कुलं ॥ १६८ ॥ तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ । न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥ १६९ ॥ अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥ १७० ॥ तेषां स्यादुचितं लिंगं स्वयोग्यव्रतधारिणां । एकशाटकधारित्वं

मूंजकी रस्सी और जांघका चिन्ह [सफेद धोती] ये चार प्रकारके चिन्ह हैं, इनका निर्णय पहिले होचुका है ॥ १६६ ॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोंके द्वारा, शाहीके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी जीविका करते हैं ऐसे सम्यग्दृष्टी द्विजोंके लिये वे ऊपर लिखे हुये चारोंप्रकारके चिन्ह कहे गये हैं ॥ १६७ ॥ कदाचित् किसी कारणसे किसीके कुलमें कोई दोष लगगया हो तो जब वह राजा आदिकी संमतिसे अपने कुलको शुद्ध करलेता है तब यदि उसके पूर्वज (पुरखा) लोग दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुये हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि संतानके यज्ञोपवीत संस्कार करनेकेलिये शास्त्रोंमें कहींभी निषेध नहीं किया है ॥ १६८-१६९ ॥ जिसमें दीक्षा धारण नहीं की जा सकती ऐसे कुलमें जो उत्पन्न हुये हैं और जो विद्या (नाचना गाना आदि) तथा शिल्पसे अपनी जीविका करते हैं ऐसे लोगोंके लिये यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा शास्त्रोंमें नहीं है ॥ १७० ॥ ऐसे शूद्रलोग यदि अपनी योग्यताके अनुसार व्रत धारण करें तो उनकेलिये उनके योग्य चिन्ह कहा है । ऐसे लोग संन्यासमरण करने पर्यंत एक धोती पहिन सकते हैं ॥ १७१ ॥ व्रती लोगोंको आकांक्षा रहित भोजन करना चाहिये, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका ही सेवन करना चाहिये अर्थात् उसके स्वदारसंतोष व्रत होना चाहिये, अनारंभी हिंसाका त्याग करना चाहिये तथा अभक्ष्य और पीनेके अयोग्य पदार्थोंका त्याग करदेना चाहिये ॥ १७२ ॥ जो द्विज इसप्रकार व्रतोंसे

सन्यासमरणावधि ॥ ७१ ॥ स्यान्निरामिषभोजित्व कुलस्त्रीसेवनव्रत । अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जन ॥ ७२ ॥ इति शुद्धतरां वृत्तिं व्रतपूतामुपेयिवान् । योद्विजस्तस्य सपूर्णो व्रतचर्याविधि. स्मृत. ॥ १७३ ॥ दशाधिकारास्तस्योक्ताः सुत्रेणोपासकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रचक्ष्महे ॥ १७४ ॥ तत्रातिबालविद्याऽऽद्या कुलावधिरनतर । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिता ॥ १७५ ॥ व्यवहारेशिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदड्यता । मानार्हता प्रजासंबंधातरं चेत्यनुक्रमात् ॥ १७६ ॥ दशाधिकारवस्तूनि स्युरुपासकसंग्रहे । तानीमानि यथोद्देश सक्षेपेण विवृण्महे ॥ १७७ ॥ बाल्यात्प्रभृति यो विद्याशिक्षोद्योगो द्विजन्मनः । प्रोक्ताऽतिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसंमता ॥ १७८ ॥ तस्यामसत्यां मूढात्मा हेयादेयानभिज्ञक ।

पवित्र ऐसी अपनी अत्यंत शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याकी पूर्ण विधि समझनी चाहिये ॥ १७३ ॥ आगे उन व्रती द्विजोंके लिये उपासक सूत्रोंमें जो दश अधिकार निरूपण किये हैं उन्हीं दश अधिकारोंको अनुक्रमसे केवल नाममात्र कहता हूं ॥ १७४ ॥ उन दश अधिकारोंमें अतिबालविद्या, दूसरा कुलविद्या तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पांचवां सृष्ट्यधिकारिता, छठा व्यवहारेशिता, सातवां अवध्यत्व, आठवां अदंड्यता, नौवां मानार्हता और दशवां प्रजासंबंधांतर। उपासकाध्ययन अंगमें अनुक्रमसे ये दश अधिकार वस्तु बतलाई गई हैं, उन्हीं अधिकार वस्तुओंको जिस क्रमसे ऊपर कहा है उसी अनुक्रमके अनुसार संक्षेपसे स्पष्टकर दिखलाता हूं ॥ १७५-१७६-१७७॥ ब्राह्मणोंको जो बालकपनसे लेकर विद्याभ्यास करानेका उद्योग है उसे ब्राह्मणलोग अतिबालविद्या नामकी क्रिया कहते हैं ॥ १७८ ॥ जिसके यह अतिबालविद्या नामकी क्रिया नहीं है वह अज्ञानी रहता है, उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं होसकता तथा वह अपनेको झूठ मूठ ब्राह्मण माननेवाले मिथ्या दृष्टियोंके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्याशास्त्रोंके पढने पढानेमें लगजाता है ॥ १७९ ॥ इसलिये द्विजोंको उचित है कि वे बालक अवस्थामें ही उपासकाचार शास्त्रोंका अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचार शास्त्रोंके द्वारा जिसके अच्छे संस्कार हो जाते हैं वह आपको और अन्य लोगोंको संसारसागरसे पार

मिथ्याश्रतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः प्रतारितः ॥ १७९ ॥ बाल्य एव ततोऽभ्यस्येद्द्विजन्मौपासिकीं श्रुतिं । स तया प्राप्तसंस्कारः स्वपरोत्तारको भवेत् ॥ १८० ॥ कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्नसत्यसौ नष्टक्रियोऽन्यकुलतां व्रजेत् ॥ १८१ ॥ वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वाधिक्यमस्य वै । तेनायं श्लाघ्यतामेति स्वपरोद्धारणक्षमः ॥ १८२ ॥ वर्णोत्तमोत्वं यद्यस्य न स्यान्न स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेन्न परानपि ॥ १८३ ॥ ततोऽय शुद्धिकामः सन्सेवेतान्य कुलिंगिन । कुब्रह्म वा ततस्तज्जान्दोषान्प्राप्नोत्यसंशय ॥ १८४ ॥ प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवात् । गुणाधिको हि लोकेऽस्मिन्पूज्यः स्याल्लोकपूजितैः ॥१८५ ॥ ततो गुणकृतां स्वस्मिन्पात्रतां द्रढयेद्द्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद्धियतेऽस्य धनं

करदेनेवाला हो जाता है ॥ १८० ॥ अपने कुलके आचार विचार आदिकी रक्षा करनाही द्विजोंकी कुलावधिक्रिया कहलाती है यदि वह कुलावधिक्रिया न की जाय अर्थात् अपने कुलके आचरणोंकी रक्षा न की जाय तो उसकी सब क्रियायें नष्ट होजायंगी और वह अपने कुलसे भ्रष्ट होकर किसी दूसरे कुलवाला कहलायगा ॥ १८१ ॥ सब वर्णोंमें श्रेष्ठपना होना ही इसकी वर्णोत्तमत्व क्रिया है, इस वर्णोत्तमत्व क्रियासे ही यह प्रशंसनीय गिना जाता है और इसीसे अपना तथा दूसरेका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥ १८२ ॥ यदि उसके लिये वर्णोत्तमत्वका अधिकार न हो तो वह सबसे उत्कृष्ट नहीं हो सकता और जो उत्कृष्ट नहीं है वह नतो अपने आत्माको शुद्ध कर सकता है और न दूसरोंको शुद्ध कर सकता है ॥ १८३ ॥ तथा अपनी शुद्ध करनेकी इच्छा करनेवाला यह ब्राह्मण फिर अन्य जटाधारी आदि मिथ्यादृष्टी कुलिंगियोंकी सेवा करता है तथा कुब्रह्मकी सेवा करता है और फिर उन कुलिंगी और कुब्रह्मकी सेवा करनेसे निःसंदेह उनसे उत्पन्न हुये दोषोंको प्राप्त होता है (इसलिये इसे सर्वश्रेष्ठ माननेका अधिकार है) ॥ १८४ ॥ ब्राह्मण लोग गुणोंमें सबसे बडे हैं इसलिये दान देनेके लिये योग्य पात्रता भी इन्हींमें है अर्थात् ये पात्र हैं इन्हे अवश्य दान देना चाहिये, क्योंकि जो गुणोंमे बडा होता है वह संसारमें सब लोगोंके द्वारा पूज्य ऐसे पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूज्य गिना जाता है ॥ १८५ ॥

नृपैः ॥ १८६ ॥ रक्ष्यः सृष्ट्यधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः । असद्दृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥ १८७ ॥ अन्यथा सृष्टिवादेन दुर्दृष्टेन कुदृष्ट्यः । लोकं नृपाश्च समोह्य नयत्युत्पथगामिताम् ॥१८८॥ सृष्ट्यन्तरमतो दूरमपास्य नयतत्त्ववित् । अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ॥१८९॥ तीर्थकृद्भिरियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून्प्रकाशयेत् ॥ १९० ॥ अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः । ततो

इसलिये द्विजोंको अपनेमें गुणोंसे उत्पन्न होनेवाली पात्रता भी अत्यंत दृढ करनी चाहिये अर्थात् उन्हें गुणी पात्र बनना चाहिये, यदि वे गुणी पात्र न होंगे तो वे संसारमें मान्य नहीं कहलायंगे और मान्य न होनेसे राजा लोग भी उनका धन हरण कर लेंगे ॥ १८६ ॥ आगे सृष्ट्यधिकारको कहते हैं जिनकी उत्पत्ति उत्तम है निर्दोष है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा कही हुई धर्मसृष्टिको दूरसे ही छोडकर अपनी सृष्टिके अधिकारकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १८७ ॥ यदि वह अपनी धर्मसृष्टिकी रक्षा नहीं करेगा तो मिथ्यादृष्टि लोग अपने बिना विचारे हुये (बाधित) सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहितकर उन सबको बुरे मार्गमें लेजायंगे ॥ १८८ ॥ इस लिये नय और तत्वोंको जाननेवाले द्विजोंको अन्य विधर्मियोंकी धर्मरचनाको दूरसे ही छोडकर अनादिकालसे क्षत्रियोंके द्वारा निर्मापण की हुई इस धर्मसृष्टिकी ही वृद्धि करनी चाहिये ॥ १८९ ॥ तथा इस धर्मसृष्टिको माननेवाले जो राजा लोग हैं उनको इस सृष्टिके कारण इसप्रकार कहना चाहिये कि तीर्थंकरोंके द्वारा निर्मापण की हुई यह धर्मसृष्टि अनादिकालसे चली आई है। भावार्थ—इस धर्मसृष्टिका उपदेश तीर्थंकरने दिया है और आप ऐसे क्षत्रिय लोग सदा इसका पालन करते आये हैं इसलिये आप भी सदा इसकी वृद्धि करते रहिये ॥ १९० ॥ यदि द्विज राजा लोगोंको इस प्रकार उपदेश देकर दृढ न करते रहेंगे तो राजालोग अन्य लोगोंकी कही हुई धर्मसृष्टिको मानने लगेंगे, यदि राजालोग ही अन्य धर्मको मानने लगेंगे तो फिर उनका कुछ ऐश्वर्य नहीं रहेगा और अरहंतके मतको माननेवालेभी उसी धर्मको

नैश्वर्यमेषां स्यात्तत्रस्थाश्च स्युरार्हताः ॥ १९१ ॥ व्यवहारेशितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिं ॥ १९२ ॥ तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिमभीप्सन्नकृतो भवेत् ॥ १९३ ॥ स्यादवध्याधिकारेऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षान्नान्यतोवधमर्हति ॥ १९४ ॥ सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां वधेऽपि द्व्यात्मता मता ॥ १९५ ॥ तस्मादवध्यतामेष पोषयेद्धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्स्थो यन्नाभिभूयते ॥ १९६ ॥ तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत्प्रामाण्यमर्हता ॥ १९७ ॥ ततःसर्वप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥ १९८ ॥ स्याददण्ड्यत्वम-

---

मानने लगेंगे (इसलिये द्विजोंको इस धर्मसृष्टिकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १९१ ॥ अरहंतदेवके कहे हुये परमागमका आश्रय लेनेवाले इन द्विजोंको प्रायश्चित्त आदि कर्मोंमें जो स्वतंत्रता है उसे व्यवहारेशिता कहते हैं ॥ १९२ ॥ यदि यह व्यवहारेशिता द्विजोंको न होगी अर्थात् यदि वे प्रायश्चित्त आदि कर्मोंमें स्वतंत्र न होंगे तो वे न तो अपनी शुद्धि कर सकेंगे और न दूसरोंको शुद्ध कर सकेंगे, तथा इसीतरह यदि वे अशुद्ध ही रहकर दूसरे अन्यमतियोंसे शुद्ध होनेकी इच्छा करेंगे तो वे कभी कृती वा सफल मनोरथ नहीं हो सकेंगे ॥ १९३ ॥ अब आगे अवध्याधिकार कहते हैं–जिसका अंतःकरण स्थिर है और जो ब्राह्मण है ऐसा उत्तम द्विज सबसे अधिक गुणी होनेसे दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नहीं होता ॥ १९४ ॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिये और विशेषकर ब्राह्मणको कभी नहीं मारना चाहिये । इसप्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनता होनेसे हिंसा भी दो प्रकारकी मानी गई है ॥ १९५ ॥ इसलिये धार्मिक जनोंके सामने इसे अपनी अवध्यता भी पुष्ट करना चाहिये यह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममें रहकर किसीसे तिरस्कार नहीं पा सकता ॥ १९६ ॥ यदि वह ब्राह्मण अपनी अवध्यता पुष्ट नहीं करेगा तो सब लोग इसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेसे अरहंतदेवके इस जैन धर्मकी प्रमाणता ही नष्ट हो जायगी ॥ १९७ ॥ इसलिये अपने सबतरहके

प्येवमस्य धर्मे स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दंडप्रस्थापने प्रभुः ॥ १९९ ॥ तद्धर्मस्थीयमाम्नायं भावयन् धर्मदर्शिभिः । अधर्मस्थेषु दंडस्य प्रणेता धार्मिको नृपः ॥ २०० ॥ परिहार्यं यथा देवगुरुद्रव्य हितार्थिभिः । ब्रह्मस्व च तथाभूतं न दडार्हस्ततो द्विजः ॥ २०१॥ युक्त्याऽनया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन्वशी । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मान स्थापयेद्दडधारिणा ॥ २०२ ॥ अधिकारे ह्यसत्यस्मिन् स्याद्दण्ड्योऽय यथेतरः । ततश्च निस्स्वता प्राप्तो

प्रयत्नोंसे इस सनातन जैन धर्मकी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि यदि इस धर्मकी रक्षा अच्छीतरह की जायगी तो रक्षा किया हुआ धर्म ही जगतमें उसकी रक्षा करेगा॥ १९८ ॥ इसीप्रकार जिसका अंतः-करण धर्ममें स्थिर है ऐसे उस ब्राह्मणको अपने अदंड्यत्वका (किसीके द्वारा दंडित न होनेका) भी अधिकार है क्योंकि जो पुरुष धर्मात्मा है वही दूसरे लोगोंको दंड देने योग्य होता है ॥ १९९ ॥ इस-लिये ही जो गृहस्थाचार्यके मतानुसार ही दंड देनेकी विधि मानते हैं ऐसे लोगोंके द्वारा धर्मको प्रति-पादन करनेवाले शास्त्रोंको प्रगट करता हुआ धर्मात्मा राजा अधर्मी लोगोंको दंड देनेवाला होता है ॥ २०० ॥ जिसप्रकार अपना आत्मकल्याण चाहनेवाले लोगोंको देव द्रव्य और गुरु द्रव्य त्याग करने योग्य है उसीप्रकार ब्राह्मणोंका धन भी ग्रहण करने योग्य नहीं है । इसलिये ही द्विज (ब्राह्मण) दंड देने योग्य नहीं हैं अर्थात् ब्राह्मणोंको कभी दंड नहीं देना चाहिये ॥ २०१ ॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका संपादन करता हुआ वह जितेंद्रिय दंड देने योग्य ऐसे राजा लोगोंके द्वारा भी आ-पको दंड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापन करता है । भावार्थ–वह अधिक गुण संपादन करता हुआ ऐसा अधिकार प्राप्त करलेता है जो फिर उसे कोई दंड न दे सके ॥ २०२ ॥ यदि ब्राह्मणकेलिये यह अधिकार न दिया जाय तो जिसप्रकार औरोंको दंड मिला करता है उसी प्रकार उसे भी दंड मिला करेगा तथा ऐसा होनेसे वह निर्धनी होजायगा और निर्धनी होनेसे वह न तो इसलोकमें ही सुखी होसकता है और न परलोकमें सुखी हो सकता है ॥ २०३ ॥ यह ब्राह्मण जो अच्छीतरह सत्कार करने योग्य

नेहासुत्र च नंदति ॥ २०३ ॥ मान्यत्वमस्य संधत्ते मानार्हत्व सुभावितं। गुणाधिको हि मान्यः स्याद्वंद्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥ २०४ ॥ असत्यस्मिन्न मान्यत्वमस्य स्यात्सम्मतैर्जनैः। ततश्च स्थानमानादिलाभाभावात्पदच्युतिः ॥ २०५ ॥ तस्मादय गुणो यत्नादात्मन्यारोप्यता द्विजः। यत्नश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोज्झता न तैः ॥ २०६ ॥ स्यात्प्रजातरसबधे स्वोन्नतेरपरिच्युतिः। याऽस्य सोक्ता प्रजासंवधातरं नामतो गुणः ॥२०७॥ यथा कालायसाविद्ध स्वर्णं याति विवर्णता। न तथाऽस्यान्यसबवे स्वगुणोत्कर्षविप्लव ॥ २०८ ॥ किंतु प्रजांतरं स्वेन सबद्ध स्वगुणानयं। प्रापयत्याचिरादेव लोहधातु यथा

होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जिसमें गुण अधिक होते हैं वह उत्तम लोगोंके द्वारा भी सत्कार करने योग्य, वंदना करने योग्य और पूजा करने योग्य हो जाता है॥ २०४ ॥ यदि यह मान्यत्व अधिकार इसे न होगा तो उत्तम लोग इसका आदर सत्कार नहीं करेंगे इसलिये अच्छा स्थान और आदर सत्कारकी प्राप्ति न होनेसे वह अपने उच्च पदसे च्युत हो जायगा ॥ २०५ ॥ इसलिये ब्राह्मणोंको यह गुण (मान्यत्व अधिकार) अपनेमें वडे यत्नसे संपादन करना चाहिये। ज्ञान और चारित्र आदि संपदाओंको धारण करना ही उसके संपादन करनेका प्रयत्न है। इसलिये द्विजोंको ज्ञान और चारित्ररूपी संपदायें कभी नहीं छोडनी चाहिये ॥ २०६ ॥ आगे प्रजांतरसंबंध कहते हैं—प्रजांतर अर्थात् अन्य मतोंको धारण करनेवाले लोगोंके साथ संवंध होते हुये भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है अपना वडप्पन बराबर कायम रखना है वह इस ब्राह्मणका प्रजांतरसंबंध नामका गुण कहलाता है ॥ २०७ ॥ जिस प्रकार लोहेमें मिलकर सोना भी बुरा वा काला होजाता है उसतरह अन्य लोगोंका अथवा अन्यमतियोंका संवंध होनेपर भी इस ब्राह्मणके अपने गुणोंकी उत्तमतामें कुछ कमी नहीं होती है ॥ २०८ ॥ इतना ही नहीं किंतु जैसा रसायनके संबंधसे लोहा भी सोना होजाता है उसी तरह जो अन्य लोग इस ब्राह्मणके साथ रहते हैं उनमें भी यह अपने गुणोंको पहुंचा देता है अर्थात् उन्हें भी गुणी कर देता है ॥ २०९ ॥ इसलिये कहना

रसः ॥ २०९ ॥ ततो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । येनाय स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२१०॥ असत्यस्मिन्गुणेऽन्यस्मात्प्राप्नुयात्स्वगुणच्युतिं । सत्येवं गुणवत्ताऽस्य निष्कृष्येत द्विजन्मनः ॥२११॥ अतोऽतिबालविद्यादीन्नियोगान्दशधोदितान् । यथार्हमात्मसात्कुर्वन् द्विजः स्याल्लोकसम्मतः ॥२१२॥ गुणेष्वेप विशेपोऽन्यो यो वाच्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धांतादधिगम्यः प्रपंचतः ॥ २१३ ॥ क्रियामंत्रानुषंगेण व्रतचर्याक्रियाविधौ । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्वृत्तैरादृता द्विजैः ॥ २१४ ॥ क्रियामंत्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामंत्ररूढयः ॥ २१५ ॥ ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । तत औत्सर्गिकानेतान्मंत्रान्मंत्रविदो विदुः ॥ २१६ ॥ विशेषविषया मंत्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति

चाहिये कि यह प्रजांतरसंबंध नामका गुण सबसे बडा है और धर्मके प्रभावका खूब उद्योत करनेवाला है । क्योंकि इसी गुणके द्वारा यह गृहस्थाचार्य अपने गुणोंसे अन्य लोगोंको भी अपने समान कर-लेने योग्य हो जाता है ॥ २१० ॥ यदि ब्राह्मणमें यह गुण न हो तो वह अन्य लोगोंके संबंधसे अपने गुणोंको नाश कर सकता है और गुण नष्ट होनेसे फिर इस ब्राह्मणका गुणीपना ही नष्ट हो जायगा ॥ २११ ॥ इसलिये अतिबालविद्या आदि जो दशप्रकारके नियोग वर्णन किये हैं उन्हे जो यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करता है वही द्विज सब लोगोंको मान्य होता है ॥ २१२ ॥ इन गुणोंमें जो बहुत विस्तारके साथ कहने योग्य अन्य विशेष है वह उपासकाध्ययन सिद्धांतसे विस्तारके साथ जानलेना चाहिये ॥ २१३ ॥ इसप्रकार व्रतचर्या नामकी क्रियाकी विधि वर्णन करते समय क्रियामंत्रों के संबंधसे उत्तम आचरणोंको पालन करनेवाले द्विजोंके द्वारा मान्य ऐसे जो दश अधिकार हैं उनका वर्णन किया ॥ २१४ ॥ इस क्रियाप्रकरणमें जिनका वर्णन पहिले कर चुके हैं उन्हें क्रियामंत्र समझना चाहिये और जो रूढिसे पीठिकामंत्र कहलाते हैं वे सातों प्रकारके मंत्र सामान्य हैं, सब क्रियाओंमें काम आते हैं ॥ २१५ ॥ वे साधारण मंत्र सब क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिये ही मंत्रोंके जानने वाले विद्वान इनको (पीठिकामंत्रोंको) औत्सर्गिक मंत्र कहते हैं ॥ २१६ ॥ तथा जो प्रत्येक क्रियाके

चाम्यूह्यास्ते यथाम्नायमग्रजैः ॥ २१७ ॥ मंत्रानिमान्यथायोग्यं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके सम्मतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥ २१८ ॥ क्रियामंत्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणा न सिद्धये । यथा सुकृतसन्नाहाः सेनाध्यक्षा विनायकाः ॥ २१९ ॥ ततो विधिममु सम्यगवगम्य कृतागमैः । विधानेन प्रयोक्तव्याः क्रियामंत्रपुरस्कृताः ॥ २२० ॥ इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि । तान् सुव्रतान्द्विजवरान्विनियम्य सम्यक् धर्मप्रिय. समसृजत् द्विजलोकसर्गं ॥ २२१ ॥ इति भरतनरेंद्रात्प्राप्तसत्कारयोगा व्रतपरिचयचारूदारवृत्ताः श्रुतार्थाः । जिनवृषभ-

जो अलग अलग मंत्र हैं वे ऊपर अलग अलग क्रियाओंके अलग अलग दिखलाये ही हैं। व्रतचर्यासे आगे जो विशेष मंत्र हैं वे ब्राह्मणोंको शास्त्रानुसार समझ लेना चाहिये ॥ २१७ ॥ जो ब्राह्मण इन मंत्रोंको क्रियाओंमें यथा योग्य रीतिसे काम लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज (ब्राह्मण) संसारमें प्रशंसनीय गिना जाता है ॥ २१८ ॥ जिस प्रकार जिनके कवच शस्त्र आदि अच्छे हैं ऐसे मुख्य मुख्य योद्धा विना सेनापतिके कुछ नहीं कर सकते, उसीप्रकार मंत्र रहित क्रियायें भी करनेवालेके लिये कुछ कार्यकारी नहीं हो सकतीं ॥ २१९ ॥ इसलिये शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मंत्रोच्चारण पूर्वक सब क्रियायें विधिके अनुसार करनी चाहिये ॥ २२० ॥ इसतरह जिसने धर्मके प्रसादसे विजय प्राप्त करली है, जो धर्म क्रियाओंमें निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भारत देशके अधिपति महाराज भरतने सब लोग और राजाओं के सामने अच्छे अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन ब्राह्मणोंको अच्छीतरह शिक्षा देकर ब्राह्मणोंकी सृष्टि उत्पन्न की, अर्थात् ब्राह्मण वर्ण स्थापन किया ॥ २२१ ॥ इसप्रकार जिन्हें महाराज भरतसे आदर सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोंका परिचय होनेसे जिनका चारित्र सुंदर और उदार होगया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले हैं और भगवान वृषभदेवके मतके अनुसार धारण की हुई दीक्षासे जो पूज्य हुये हैं ऐसे वे ब्राह्मण खूब ही प्रसिद्ध हुये थे और संसारमें उनका खूब ही आदर सत्कार

मनानुव्रज्यया पूज्यमानाः जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः ख्यातिमीयुः ॥ २२२ ॥ वृत्तस्थानत्र तान्विधाय सभवानिक्ष्वाकुचूडामणिर्जैने वर्त्मनि सुस्थितान् द्विजवरान्सम्मानयन्प्रत्यह । स्व मेने कृतिन मुदा परिगता स्वां सृष्टिमुच्चैःकृता पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥ २२३ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसग्रहे द्विजोत्पत्तौ क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

किया जाता था ॥ २२२ ॥ तदनंतर उन ब्राह्मणोंको व्रतोंमें अत्यंत दृढकर और जैन मार्गमें अच्छी तरह चलनेवाले उन ब्राह्मणोंका प्रतिदिन आदर सत्कार करता हुआ भरत अपनेको धन्य मानने लगा था, सो ठीक ही है क्योंकि अत्यंत उत्कृष्टता और हर्षको प्राप्त हुई ऐसी अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान पुरुष है जो आपको कृतकृत्य न माने? भावार्थ—अपनी उत्कृष्ट और प्रसन्न सृष्टिको देखकर सब ही आपको धन्य और कृतकृत्य मानते हैं ॥ २२३ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके हिंदी भाषानुवादमे ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिमे क्रियामंत्रोंका वर्णन करनेवाला यह चालीसवा पर्व समाप्त हुआ ।

एकचत्वारिंशत्तमं पर्व.

अथ चक्रधरः काले व्यतिक्राते कियत्यपि। स्वप्नान्यशामयत्काँश्चिदेकदाऽद्भुतदर्शनान् ॥१॥तत्स्वप्नदर्शनात्किंचिदुत्त्रस्त इव चेतसा । प्रबुद्धः सहसा तेषां फलानीति व्यतर्कयन् ॥२॥ असत्फला इमे स्वप्नाः प्रायेण प्रतिभाति मा । मन्ये दूरफलाँश्चैतान् पुराकल्पे फलप्रदान् ॥३॥ कुतश्चिद्भगवत्यद्य प्रतपत्यादिभर्तरि । प्रजाना कथमेवैवंविधोपप्लवसंभवः ॥ ४ ॥ ततः कृतयुगस्यास्य व्यतिक्रान्तौ कदाचन । फलमेते प्रदास्यंति नूनमेनःप्रकर्षतः ॥ ५ ॥ युगांतविप्लवोदर्कास्त एतेऽनिष्टशंसिनः । स्वप्नाः प्रजाप्रजापालसाधारणफलोदयाः ॥ ६ ॥ यद्वच्चन्द्रार्कबिंबोत्थविक्रियाजनितं फलं । जगत्साधारणं तद्वत्स-

---

इकतालीसवां पर्व.

अथानंतर—कितने ही काल बीतजानेपर एकादिन भरत चक्रवर्तीने अद्भुत फल दिखानेवाले कितने ही स्वप्न देखे ॥ १ ॥ उन स्वप्नोंके देखनसे मानों जिनके चित्तेमें कुछ खेद हुआ है ऐसे वे भरत अकस्मात् जग पडे और उन स्वप्नोंके फल इसतरह विचारने लगे ॥ २ ॥ कि मुझे ये स्वप्न प्रायःबुरे फल देनेवाले जान पडते हैं तथा यह भी जान पडता है कि इन स्वप्नोंका फल कुछ दूर आगेके पंचमकालमें जाकर होगा ॥ ३ ॥ क्योंकि इस समय तो भगवान वृषभदेव प्रकाशमान हैं, उनके प्रकाशमान होते हुये भला प्रजाको इसप्रकारका उपद्रव होना कैसे संभव हो सकता है ॥ ४ ॥ इसलिये कदाचित् इस चतुर्थकालके बीतजानेपर पांचवें कालमें जब पापका अधिक विस्तार होगा तब ये स्वप्न अपना फल देंगे ॥ ५ ॥ चतुर्थ कालके अंतमें उपद्रवरूप फल देनेवाले और अनिष्टकी सूचना करनेवाले ऐसे ये स्वप्न राजा और प्रजा दोनोंको साधारण फल देनेवाले होंगे ॥ ६ ॥ जिसप्रकार चंद्रमा और सूर्यके बिंबसे उत्पन्न हुई विक्रियाका अच्छा बुरा फल समस्त जगतको साधारण रीतिसे होता है उसीप्रकार मेरे देखेहुये स्वप्नोंका अच्छा बुरा फल भी समस्त जगतको साधारण रीतिसे

दसच्चास्मदीक्षितं ॥ ७ ॥ इतीदमनुमानं नः स्थूलार्थानुप्रचिंतनं । सूक्ष्मतत्त्वप्रतीतिस्तु प्रत्यक्षज्ञानगोचरा ॥ ८ ॥ केवलार्कादृते नान्यः संशयध्वांतभेदकृत् । को हि नाम तमो नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ॥ ९ ॥ तत्त्वादर्शे स्थिते देवे को नामास्मन्मतिभ्रमः । सत्यादर्शे करामर्शात्क· पश्येन्मुखसौष्ठवं ॥ १० ॥ तदत्र भगवद्वक्त्रमंगलादर्शदर्शनात् । युक्ता नस्तत्त्वनिर्णीतिः स्वप्नानां शांतिकर्म च ॥ ११ ॥ अपि चास्मदुपज्ञं यद्द्विजलोकस्य सर्जनं । गत्वा तदपि विज्ञाप्यं भगवत्पादसन्निधौ ॥ १२ ॥ द्रष्टव्या गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितं । महेज्यया च यष्टव्या शिष्टानामिष्टमीदृशं ॥ १३ ॥ इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्सगात्परार्ध्यतः । प्रातस्तरां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रिय· ॥ १४ ॥ ततः क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वंदनाभक्तये गंतुमुद्यतोऽभूद्विशां-

---

होगा ॥ ७ ॥ इसप्रकारका यह हमारा अनुमान केवल स्थूल (मोटमोटे) पदार्थोंका विचार करनेवाला है, इनके सूक्ष्म तत्त्वोंका ज्ञान तो प्रत्यक्षज्ञानके गोचर है अर्थात् केवलज्ञानसे जाना जा सकता है ॥ ८ ॥ केवलज्ञान रूपी सूर्यको छोडकर और कोई ज्ञान संदेहरूपी अंधकारको नाश करनवाला नहीं है सो ठीक ही है क्योंकि सूर्यको छोडकर और ऐसा कौन है जो रात्रिका अंधकार दूर कर सके? ॥ ९ ॥ दर्पणके समान तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप दिखानेवाले भगवान वृषभदेवके रहते हुये मुझे बुद्धिका भ्रम अथवा संदेह क्यों रहना चाहिये, क्योंकि दर्पणके रहते हुये ऐसा कौन पुरुष है जो हाथके स्पर्शसे अपने मुखकी सुंदरता देखे? ॥ १० ॥ इसलिये इस विषयमें भगवानके मुखरूपी मंगलदर्पणको देखकर ही मुझे अपने स्वप्नोंके यथार्थ फलका निर्णय करना चाहिये और वहीं इन बुरे स्वप्नोंका कुछ शांतिकर्म करना चाहिये ॥ ११ ॥ तथा मैंने जो ब्राह्मण लोगोंकी सृष्टि निर्मापण की है उसे भी भगवानके चरण कमलोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिये ॥ १२ ॥ इसके सिवाय भले आदमियोंका यह भी एक कर्तव्य है कि वे प्रतिदिन गुरुके दर्शन किया करें, अपना हिताहित पूछा करें और बडी भारी सामग्रीसे उनकी पूजा किया करें ॥ १३ ॥ इसप्रकार अपने मनमें विचारकर महाराज भरत बहुत ही सवेरे अपनी बहुमूल्य शय्यासे उठ और प्रातःकालकी सब क्रियायें कीं ॥ १४ ॥

पतिः ॥ १५ ॥ वृतः परिमितैरेव मौलिबद्धैरनूत्थितैः । प्रतस्थे वंदनाहेतोर्विभूत्या परयाऽन्वितः ॥ १६ ॥ ततः क्षेपीय एवासौ गत्वा सैन्यैः परिष्कृतः । सम्राट् प्राप तमुद्देशं यत्रास्तेस्म जगद्गुरुः ॥ १७ ॥ दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्निधीश्वरः । प्रणनाम चलन्मौलिघटितांजलिकुड्मलः ॥ १८ ॥ स ता प्रदक्षिणीकृत्य बहिर्भागे सदोऽवनिं । प्रविवेश विशामीशः क्रात्वा कक्षाः पृथग्विधाः ॥ १९ ॥ मानस्तंभमहाचैत्यद्रुमसिद्धार्थपार्थिवान् । प्रेक्षमाणो व्यतीयाय स्तूपाँश्चार्चितपूजितान् ॥ २० ॥ चतुष्टयीं वनश्रेणीं ध्वजान् हर्म्यावलीमपि । तत्रतत्रेक्षमाणोऽसौ तां ता कक्षामलंघयत् ॥ २१ ॥ प्रतिकक्षं सुरस्त्रीणा गीतैर्नृत्तैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिस्तत्रास्यासीत्परा धृतिः ॥ २२ ॥ ततः प्राविक्षदुत्तुंगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरध्युषितां भूमिं श्रीमंडप-

---

तदनंतर वे सम्राट थोडी देरतक सभामें बैठे और फिर अनेक राजाओंके साथ साथ वंदना और भक्ति करनेके लिये जानेको तैयार हुये ॥ १५ ॥ तथा साथ साथ चलनेवाले कितने ही मुकुटबद्ध राजाओंके साथ साथ अपनी उत्कृष्ट विभूतिसहित वंदना करनेकेलिये निकले ॥ १६ ॥ तदनंतर अपनी सेनाके साथ वे सम्राट् जाकर बहुत शीघ्र वहां पहुंच गये कि जहां जगतगुरु भगवान वृषभदेव विराजमान थे ॥ १७ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने दूरसे ही भगवानके समोसरणकी भूमि देखी और अपने मुकुटको कुछ हिलाते हुये कमलकी कलीके समान जोडे हुये दोनों हाथोंको अपने मस्तकपर रखकर नमस्कार किया ॥ १८ ॥ उन महाराजाधिराजने प्रथम ही उस समवसरणभूमिके बाहिरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक तरहके अलग अलग स्थानोंको उलंघन करते हुये उसमें प्रवेश किया ॥ १९ ॥ मानस्तंभ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामिग्रीसे पूज्य ऐसे स्तूपोंको देखते हुये वे आगे बढे ॥ २० ॥ चारोंतरहकी वनकी पंक्तियां, ध्वजायें, और हर्म्यावली इन सबकी शोभा देखते हुये उन्होंने वे सब स्थान उलंघन किये अर्थात् सबको छोडकर आगे गये ॥ २१ ॥ समवसरणके प्रत्येक विभागमें होनेवाले देवांगनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे उनके चित्तकी वृत्ति बहुत ही अनुरक्त हो रही थी और इसलिये वे वहां बहुत ही संतुष्ट हुये थे ॥ २२ ॥

परिष्कृतां ॥ २३ ॥ त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय धर्मचक्राणि पूजयन् ॥ २४ ॥ मेखलायां द्वितीयस्यां वरिवस्य महाध्वजाम् । प्रापद्गधकुटीं चक्री न्यक्कृतत्रिजगच्छ्रियं ॥ २५ ॥ देवदानवगंधर्वसिद्धविद्याधरेडित । भगवंतमथालोक्य प्राणमद्भक्तिनिर्भरः ॥ २६ ॥ स्तुत्वा स्तुतिभिरीशानमभ्यर्च्य च यथाविधिः । निषसाद यथास्थानं धर्मामृतपिपासितः ॥२७॥ भक्त्या प्रणमतस्तस्य भगवत्पादपंकजे । विशुद्धिपरिणामांगमवधिज्ञानमुद्बभौ ॥ २८ ॥ पीत्वाऽथो धर्मपीयूष परां तृप्तिमवापिवान् । स्वमनोगतमित्युच्चैर्भगवंतं व्यजिज्ञपत् ॥ २९ ॥ मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारचंचवः । त्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गानुगामिनः ॥३०॥ एकाद्येकादशागानि दत्तान्येभ्यो मया विभो । व्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥ ३१॥

तदनंतर बहुत ऊंचे कोटके बडे दरवाजेके मार्गसे जहांपर गणधरदेव विराजमान हैं और जो श्रीमंडपसे सुशोभित है ऐसी उस भूमिपर जा पहुंचे ॥ २३ ॥ वहांपर तीन कटनिवाला जो पीठ है उसकी प्रथम कटनीपर पहुंचकर धर्मचक्रोंकी पूजा करते हुये प्रदिक्षणा दी ॥ २४ ॥ तथा दूसरी मेखलापर महाध्वजाओंकी पूजा की और फिर वह चक्रवर्ती तीनों जगतकी शोभाको तिरस्कार करनेवाली गंधकुटीके पास जा पहुंचा ॥ २५ ॥ वहांपर भक्तिसे भरपूर भरतने देव, राक्षस (व्यंतर), गंधर्व, सिद्ध और विद्याधर आदि सबके द्वारा पूज्य ऐसे भगवान वृषभदेवको देखकर नमस्कार किया ॥ २६ ॥ भरतने उन भगवानकी अनेक स्तोत्रोंसे स्तुति की, विधि पूर्वक पूजा की और धर्मरूपी अमृतके पीनेकी इच्छा करता हुआ वह अपने योग्य स्थानपर जा बैठा ॥ २७ ॥ भरतने भगवानके चरणकमलोंको बडी भक्तिसे नमस्कार किया था इसलिये उसके परिणाम बहुत ही विशुद्ध होगये थे और उसके परिणाम विशुद्ध होनेसे उसे अवधिज्ञान उत्पन्न होगया था ॥ २८ ॥ तदनंतर धर्मरूपी अमृतको पीकर वह बहुत ही तृप्त हुआ और ऊंचे स्वरसे अपने मनके अभिप्राय भगवानसे इसप्रकार निवेदन करने लगा ॥ २९ ॥ कि हे भगवन् ! मैंने आपके द्वारा कहे हुये उपासकाध्याय सूत्रके अनुसार चलने वाल और श्रावकोंके आचरण करनेमें निपुण ऐसे ब्राह्मण निर्मापण किये हैं ॥ ३० ॥ हे प्रभो इन्हें

विश्वस्य धर्मसर्गस्य त्वयि साक्षात्प्रणेतरि । स्थिते मयाऽतिबालिश्यादिदमाचरितं विभो ॥ ३२ ॥ दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतत्सांप्रतं न वा । दोलायमानमिति मे मनःस्थापय निश्चितौ ॥ ३३ ॥ अपि चाद्य मया स्वप्ना निशांते शोडशेक्षिताः । प्रायोऽनिष्टफलाश्चैते मया देवाभिलक्षिताः ॥ ३४ ॥ यथादृष्टमुपन्यस्ये तानिमान्परमेश्वर । यथास्व तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषय नय ॥ ३५ ॥ सिंहो मृगेंद्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत् । छागा वृक्षलतागुल्मशुष्कपत्रोपभोगिनः ॥ ३६ ॥ शाखामृगा द्विपस्कंधमारूढाः कौशिकाः खगैः । विहितोपद्रवा ध्वांक्षैः प्रमथाश्च प्रमोदिनः ॥ ३७ ॥ शुष्कमध्यं तडागं च पर्यंतप्रचुरोदकं । पांसुधूसरितो रत्नराशिः श्वाऽर्थमुगार्हितः ॥ ३८ ॥ तारुण्यशाली वृषभः शीतांशुः परिवेषयुक् । मिथोंगीकृतसांगात्यौ पुंगवौ संगल-

---

मैंने ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिन्ह रूप एकसे लेकर ग्यारहतक यज्ञोपवीत दिये हैं। भावार्थ–जिसके जितनी प्रतिमायें हैं उसे उतने ही यज्ञोपवीत दिये हैं॥ ३१ ॥ हे देव? समस्तधर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले ऐसे आपके होते हुये भी मैंने अपनी बडी मूर्खतासे यह काम किया है॥ ३२ ॥ हे नाथ इस ब्राह्मणोंकी रचनामें क्या दोष है और क्या गुण है तथा इनकी रचना योग्य हुई अथवा अयोग्य इस तरहके झूलेमें मेरा चित्त झूल रहा है. आप इसका निश्चयकर इस मेरे मनको स्थिर कर दीजिये ॥ ३३ ॥ इसके सिवाय आज सवेरे ही मैंने सोलह स्वप्न देखे हैं और हे देव! मुझे यह भी मालूम होता है कि प्रायःये स्वप्न अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥ ३४ ॥ हे परमेश्वर वे स्वप्न जिसतरह मैंने देखे हैं उसीतरह निवेदन करता हूं उनका जैसा कुछ फल हो वह मुझे निश्चय करा दीजिये ॥ ३५ ॥ प्रथम ही सिंह देखा था फिर सिंहका बच्चा, हाथीका बोझा लादे हुये घोडा, और वृक्ष लता तथा छोटे पौधोंके सूके पत्ते खाते हुये बकरे देखे थे ॥ ३६ ॥ हाथीके कंधेपर बैठे हुये बंदर, अनेक कौवा और पक्षी जिन्हें त्रास दे रहे हैं ऐसे उल्लू और नाचते हुये भूत देखे थे ॥ ३७ ॥ जिसके बीचकी जगह सूखी पडी है और किनारोंपर चारोंओर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाव देखा था तथा जो धूलसे मैली हो रही है ऐसी रत्नोंकी राशि और जिसकी पूजा

च्छ्रियौ ॥ ३९ ॥ रविराशावधूरत्नवतंसोऽब्दैस्तिरोहितः । संशुष्कस्तरुरच्छायो जीर्णपर्णसमुच्चयः ॥ ४० ॥ पोडशैतेऽद्य यामिन्यां दृष्टाः स्वप्ना विदांवर। फलविप्रतिपत्तिं मे तद्गता त्वमपाकुरु ॥ ४१ ॥ इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधिविपा । सभाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जिनं ॥ ४२ ॥ तत्प्रश्नावसितावित्थं व्याचष्टेऽस्म जगद्गुरुः । वचनामृतसंसेकैः प्रीणयन्निखिलं सदः ॥ ४३ ॥ भगवद्दिव्यवागर्थशुश्रूषावहितं तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्चित्रगतं नु वा ॥ ४४ ॥ साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनं । किंतु दोषानुपगोत्र कोऽप्यस्ति स निशम्यतां ॥ ४५ ॥ आयुष्मन् भवता सृष्टा-

की जा रही है ऐसा नैवेद्य खाता हुआ कुत्ता देखा था ॥ ३८ ॥ इसके वाद एक तरुण बैल देखा था, तथा जिसके चारोंओर परिवेश (मंडल—चारों ओर गोल सफेद रेखा) लग रहा है ऐसा चंद्रमा देखा था और जिन्होंने आपसमें मित्रता की है तथा जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल देखे थे ॥ ३९ ॥ दिशारूपी स्त्रीके रत्नोंके वने हुये कर्णभूषणके समान ऐसे सूर्यको मेघोंसे ढका हुआ देखा था, छायारहित सूखा वृक्ष देखा था और पुराने पत्तोंका समूह देखा था ॥ ४० ॥ हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! आज रातको मैने ये स्वप्न देखे हैं। हे नाथ! इनके फलमें मुझे जो संदेह है उसे आप दूर कर दीजिये ॥ ४१ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती अपने अवधिज्ञानसे उन स्वप्नोंके फल जान सकता था तथापि सभाके लोगोंको समझनेके लिये उसने भगवानसे इसप्रकार पूछा था ॥ ४२ ॥ जब भरतका प्रश्न समाप्त होगया तब अपने वचनरूपी अमृतके सींचनेसे (छिडकावसे) सब सभाको प्रसन्न करते हुये वे जगतगुरु भगवान इसप्रकार कहने लगे ॥ ४३ ॥ उससमय भगवानकी दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छासे सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पडती थी मानो वह ध्यानमें मग्न हो रही हो अथवा वह चित्रकी वनी हुई हो ॥ ४४ ॥ भगवान कहने लगे कि हे वत्स! तेने जो साधुओंके समान धर्मात्मा द्विजोंका पूजन किया है सो बहुत ही अच्छा किया है परंतु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥ ४५ ॥ हे चिरंजीव! तेने जो इन गृहस्थोंकी रचना की है सो जबतक चौथा

य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः ॥ ४६ ॥ ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः । भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ॥ ४७ ॥ तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति । पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति धनाशया ॥४८॥ सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ॥ ४९ ॥ त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः । धर्मद्रुहो भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ॥५०॥ सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ॥ ५१ ॥ अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयिष्यन्त्यमी बत ॥ ५२ ॥ पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः । वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥ ५३ ॥ द्विजातिसर्जनं तस्मान्नाद्य

काल है तबतक तो ये अपने योग्य आचरणोंका पालन करते रहेंगे ॥ ४६ ॥ परंतु जब कलियुग समीप आजायगा तब ये अपनी ब्राह्मण जातिके अभिमानसे अपने सदाचारसे भ्रष्ट होकर इस श्रेष्ठ मोक्षमार्गके विरोधी बन जायंगे ॥ ४७ ॥ पंचमकालमें ये लोग " हम सब लोगोंसे बडे हैं " इसप्रकार ब्राह्मण जातिके अभिमानमे फंसकर केवल धनकी इच्छासे मिथ्याशास्त्रोंके द्वारा सब लोगोंको मोहित करते रहेंगे ॥ ४८ ॥ आदर सत्कार प्राप्त होनेसे जिनका अभिमान बढ गया है ऐसे ये ब्राह्मण लोग मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर अपने आप ही मिथ्या शास्त्रोंको बना बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे ॥ ४९ ॥ ये मिथ्यात्वी लोग इतने काल पर्यंत विकार प्राप्त होनेसे जिनकी चेतना शक्ति पापकर्मसे मलिन हो गई है ऐसे होते हुये धर्मके शत्रु हो जायंगे ॥ ५० ॥ ये अधर्मी ब्राह्मण प्राणियोंकी हिंसा करनेमें तत्पर हो जायंगे, शहत और मांस खानेको अच्छा समझेंगे और वेदमें कहे हुये हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ॥ ५१ ॥ दुःख है कि दुष्ट आशयवाले ये ब्राह्मण लोग अहिंसारूप धर्ममें दोष दिखलाकर वेदमें कहे हुये हिंसारूप धर्मको पुष्ट करेंगे ॥ ५२ ॥ पापके चिन्हरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले और जीवोंके मारनेमें सदा तत्पर ऐसे ये धूर्त ब्राह्मण लोग आगामी कालमें इस श्रेष्ठ मार्गके विरोधी हो जायंगे ॥ ५३ ॥ इसलिये यह ब्राह्मणोंकी रचना

यद्यपि दोपकृत् । स्याद्दोषबीजमायत्या कुपाखडप्रवर्तनात् ॥ ५४ ॥ इति कालांतरे दोपबीजमप्येतदंजसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्टयनतिक्रमात् ॥५५॥ यथाऽन्नमुपयुक्त सत्कचित्कस्यापि दोपकृत् । तथाऽप्यपरिहार्यं तद्बुधैर्बहुगुणास्थया ॥ ५६ ॥ तथेदमपिमतव्यमद्यत्वे गुणवत्तया । पुसामाशयवैषम्यात्-श्चायद्यपि दोपकृत् ॥ ५७ ॥ इदमेवं गत हत यच्च ते स्वप्नदर्शन । तद्व्येष्यद्युगे धर्मस्थितिन्ह्रासस्य सूचन ॥ ५८ ॥ ते च स्वप्ना द्विधाऽऽम्नाता स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विपमैरितरे मताः ॥ ५९ ॥ तथ्याः स्युः स्वस्थसन्दृष्टा मिथ्या स्वप्ना विपर्यात् । जगत्प्रतीतमेतद्धि

यद्यपि आज इस कालमें कुछ दोप उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें खोटे पाखंड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोपका बीज रूप है ॥ ५४ ॥ इसप्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी रचना आगामी कालके लिये अवश्य ही दोपका बीजरूप है तथापि धर्मरूप सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिये अब इसे दूर करना ठीक नहीं है । भावार्थ–यदि अब यह रचना दूर की जायगी तो धर्मसृष्टिका उल्लंघन हो जायगा ॥ ५५ ॥ जिसप्रकार खाया हुआ अन्न कभी कभी किसीको दोप उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक तरह गुणकारी मानकर बुद्धिमान लोग उसे छोड नहीं सकते, उसीप्रकार यद्यपि ये मनुष्योंके अभिप्रायोंकी विपमता होनेसे अर्थात् लोगोंके अभिप्राय दुष्ट होनेसे आगामी कालमें दोप उत्पन्न करनेवाले हो जायंगे तथापि इस समय इन्हें गुणी ही मानना चाहिये ॥ ५६–५७ ॥ इसप्रकार तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो समाप्त हुआ । अब तेने जो स्वप्न देखे हैं दुःख है कि वे भी आगामी पंचमकालमें धर्मकी स्थितिकी हीनताको ही सूचित करनेवाले हैं ॥ ५८ ॥ स्वप्न दो प्रकारके होते हैं एक अपनी स्वास्थ्य अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वास्थ्य अवस्थामें दिखनेवाले । जो वात पित्त कफ इनके समान होते हुये दिखते हैं वे स्वास्थ्य अवस्थाके कहलाते हैं और बात पित्त कफ इनकी न्यूनाधिकता होते हुये जो दिखते हैं वे अस्वास्थ्य

विद्धि स्वप्नविमर्शन ॥ ६० ॥ स्वप्नाना द्वैतमस्त्यन्यद्दोपदैवसमुद्भव । दोषप्रकोपजा मिथ्या तथ्याः स्युर्दैवसंभवाः ॥ ६१ ॥ कल्याणांगस्त्वमेकाताद्देवताधिष्ठितश्च यत् । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेषा निबोध मे ॥ ६२ ॥ दृष्टाः स्वप्ने मृगाधीशा ये त्रयोविंशतिप्रमाः । निस्सपत्ना विहृत्येमा क्ष्मा क्ष्माभृत्कूटमाश्रिताः ॥ ६३ ॥ तत्फल सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये । दुर्नयानामनुद्भूतिख्यापनं लक्ष्यता स्फुट ॥ ६४ ॥ पुनरेकाकिनः सिंहपोतस्यान्वक् मृगेक्षणात् । भवेयु. सन्मतेस्तीर्थे सानुषगाः कुलिंगिन. ॥ ६५ ॥ करींद्रभारानिर्भुग्नपृष्ठस्याश्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढु नाल

अवस्थाके कहलाते हैं ॥ ५९ ॥ स्वास्थ्य अवस्थाके दिखनेवाले जो स्वप्न हैं वे सब सत्य होते हैं और अस्वास्थ्य अवस्थाके मिथ्या वा झूठ हुआ करते हैं । स्वप्नोंके फलोंका विचार करनेमें यह जगतप्रसिद्ध विश्वास है ऐसा तू समझ ॥ ६० ॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं, एक दोपसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे होनेवाले । जो दोषोंके प्रकोपसे होते हैं वे मिथ्या होते हैं और जो दैवसे उत्पन्न होते हैं वे सब सच्चे होते हैं ॥ ६१ ॥ हे कल्याणरूप? तू तो अवश्य ही देवताओंके द्वारा पूज्य है इसलिये तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं तू इनका फल मुझसे सुन ॥ ६२ ॥ तेने जो स्वप्नमें तेईस सिंह देखे हैं जो कि इस पृथ्वीपर अकेले ही विहारकर पर्वतके शिखरपर चढगये थे उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोडकर वाकी तेईस तीर्थंकरोंके समयमें दुष्ट नयोंकी अथवा मिथ्याशास्त्रोंकी उत्पत्ति नहीं होगी, यही वह स्वप्न दिखलाता है ॥ ६३--६४ ॥ दूसरे स्वप्नमें जो तेने अकेला सिंहका बच्चा देखा है और उसके पीछे पीछे चलते हुये हिरण देखे हैं उसका फल यह है कि श्रीमहावीरस्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले वहुतसे कुलिंगी वा भेषधारी हो जायंगे ॥६५॥ वडे हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ टूट गई है ऐसे घोडेके देखनेका यह फल है कि पंचम कालके साधु लोग तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होंगे ॥ ६६ ॥ मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर भी कोई, उनके पालन करनेमें आलस करने

दुष्षमसाधवः ॥ ६६ ॥ मूलोत्तरगुणेष्वात्तसंगराः केचनालसाः । भंक्ष्यंते मूलतः केचित्तेषु यास्यंति मंदता ॥ ६७ ॥ निध्यानादजयूथस्य शुष्कपत्राप॰ योगिन. । यास्यसद्वृत्तता त्यक्तसदाचारा. पुरा नरा ॥६८॥ करींद्रकंधरारूढशाखामृगविलोकनात् । आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्ष्मा पास्यंत्यकुलीनकाः ॥६९॥ काकैरुलूकसंबाधदर्शनाद्धर्मकाम्यया । मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्थानन्वियुर्जनाः ॥ ७० ॥ प्रनृत्यतां प्रभूतानां भूतानामीक्षणात्प्रजाः । भजेयुर्नामकर्मा-द्यैर्व्यंतरान्देवतास्थया ॥ ७१ ॥ शुष्कमध्यतडागस्य पर्यंतेऽम्बुस्थितीक्षणात् । प्रच्युत्यार्यनिवासात्स्याद्धर्मः प्रत्यंतवासिषु ॥ ७२ ॥ पांसुधूसररत्नौघनि-ध्यानादृद्धिसत्तमाः । नैव प्रादुर्भविष्यति मुनयः पंचमे युगे ॥ ७३ ॥ शुनोऽर्चितस्य सत्कारैश्चरुभोजनदर्शनात् । गुणवत्पात्रसत्कारमाप्स्यंत्यव्रतिनो

लगेंगे, कोई मूलसे सब गुणोंको ही नष्ट कर देंगे और कोई मंदता वा उदासीनता धारण करेंगे ॥६७॥ आगे जो बहुतसे बकरोंका समूह सूके पत्ते खाते देखा है उसका यह फल है कि आगेके लोग सदा-चारको छोडकर दुराचारी हो जांयगे ॥ ६८ ॥ जो स्वप्नमें हाथीके कंधेपर चढे हुये बंदर देखे हैं उसका यह फल है कि प्राचीन क्षत्रियोंके वंशका नाश हो जायगा और फिर नीचकुलवाले इस पृथ्वीका पालन करेंगे ॥ ६९ ॥ अनेक कौवोंने जो उल्लूको दुःख देते हुये देखा है उसका यह फल है कि लोग जैनी मुनियोंको छोडकर धर्मकी इच्छासे अन्य मतियोंके साधुओंके समीप जायंगे ॥ ७० ॥ इसके आगे जो बहुतसे भूतोंको नाचते हुये देखा है उसका यह फल है कि प्रजाके लोग नाम कर्म आदि कारणोंसे व्यंतरोंको देवता मानकर पूजा सेवा आदि करेंगे ॥ ७१ ॥ बीचमें सूका हुआ और किनारोंपर चारोंओर पानी भरा हुआ जो तालाब देखा है उसका यह फल है कि यह धर्म आर्यक्षे-त्रमें न रहकर म्लेच्छ देशके लोगोंमें रहेगा ॥ ७२ ॥ धूलिसे मलिन हुई जो रत्नोंकी राशी देखी है उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनि लोग शुक्लध्यान ऋद्धि आदिसे विभूषित उत्तम नहीं होंगे ॥ ७३ ॥ आदर सत्कारसे जिसकी पूजा की गई है और जो नैवेद्य खा रहा है ऐसे कुत्तेके देखनेसे यह सूचित होता है कि अव्रती ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान आदर सत्कार पावेंगे ॥ ७४ ॥

द्विजा' ॥ ७४ ॥ तरुणस्य वृषस्योच्चैर्नदतो विहृतीक्षणात् । तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यंति न दशान्तरे ॥ ७५ ॥ परिवेषोपरक्तस्य श्वेतभानोर्निशाम-नात् । नोत्पत्स्यते तपोभृत्सु समन पर्ययोऽवधिः ॥ ७६ ॥ अन्योऽन्य सह संभूय वृषयोर्गमनेक्षणात् । वत्स्यंति मुनय. साहचर्यान्नैकविहारिण' ॥ ७७॥ घनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलार्कोदय' प्रायो न भवेत्पचमे युगे ॥ ७८ ॥ पुंसां स्त्रीणां च चारित्रच्युति' शुष्कद्रुमेक्षणात् । महौषधिरसो च्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥ ७९ ॥ स्वप्नानेवफलानेतान्विद्धि दूरविपाकिनः । नाद्य दोषस्तत' कोऽपि फलमेषां युगांतरे ॥ ८० ॥ इति स्वप्नफलान्य स्मादवबुध्य वत्स यथातथा । धर्मे मतिं दृढं धत्स्व विश्वविघ्नोपशांतये ॥ ८१ ॥ इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालक. । संदेहकर्दमापायात्सुप्रसन्न-

---

शब्द करता हुआ तरुण बैल जो विहार करते हुये देखा है उसका यह फल है कि लोग तरुण अव-स्थामें ही मुनिपद धारण करेंगे वृद्धावस्थामें नहीं ॥ ७५ ॥ सफेद परिमंडलसे घिरा हुआ जो चंद्रमा देखा है उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनियोंके अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होगा ॥ ७६ ॥ परस्पर मिलकर जाते हुये जो दो बैल देखे हैं उसका यह फल है कि पंचमकालमें मुनिलोग साथ साथ रहेंगे एकाविहारी (अकेले विहार करनेवाले) नहीं होंगे ॥ ७७ ॥ बादलोंसे ढका हुआ जो सूर्य देखा है उसका यह फल है कि पंचमकालमें प्रायः केवलज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूका वृक्ष देखनेसे यह सूचित होता है कि पुरुष और स्त्रियोंके सदाचार प्रायः भ्रष्ट हो जायंगे और पुराने पत्तोंके देखनेका यह फल है कि महा औषधियोंका रस अर्थात् गुण नष्ट हो-जायगा ॥ ७९ ॥ इन स्वप्नोंको इसप्रकार फल देनेवाले और दूर अर्थात् आगामी पंचमकालमें फल देनेवाले जान । इन स्वप्नोंसे आज कोई दोष नहीं होगा, इसका फल आगे पचमकालमें होगा ॥८०॥ हे वत्स' इस प्रकार इन स्वप्नोंका यथार्थ फल मुझसे सुनकर तू समस्त विघ्नोंको शांत करनेकेलिये धर्ममें अपनी बुद्धिको दृढ कर ॥ ८१ ॥ वर्ण और आश्रमोंका पालन करनेवाले भरतने ऊपर लिखे अनुसार गुरु भगवान वृषभदेवके वाक्य सुने और संदेह रूपी कीचडके नाश होनेसे अपना चित्त

मधान्मनः ॥ ८२ ॥ भूयोभूयः प्रणम्येशं समापृच्छय पुनः पुनः । पुनरावृते कृच्छ्रात्स प्रीतो गुर्वनुग्रहात् ॥ ८३ ॥ ततः प्रविश्य साकेतपुरमाबद्धतोरण । केतुमालाकुलं पौरैः सानंदमभिनंदित. ॥ ८४ ॥ शांतिक्रियामतश्चक्रे दुःस्वप्नानिष्टशातये । जिनाभिषेकसत्पात्रदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥ ८५ ॥ गोदं हैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयीजन ॥ ८६ ॥ निर्मापितास्ततो घंटा जिनबिंबैरलंकृताः । परार्घ्यरत्ननिर्माणाः संबद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ८७ ॥ लंबिताश्च बहिर्द्वारे ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः । राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥ यदा किल

निर्मल किया ॥ ८२ ॥ उसने भगवानको बार बार नमस्कार किया, बार बार आज्ञा मांगी और गुरुके अनुग्रहसे अत्यंत प्रसन्न होकर बडी कठिनतासे वह वहांसे लौटा ॥ ८३ ॥ तदनंतर नगरके लोग आनंदके साथ जिसका आदर सत्कार कर रहे हैं ऐसे उस भरतने ध्वजाओंके समूहसे भरे हुए और सब जगह तोरणोंसे सुशोभित ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश किया और बुरे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शांति करनेके लिये भगवानका अभिषेक करना और सत्पात्रोंको दान देना आदि अनेक पुण्यरूप क्रियाओंसे शांतिकर्म करना प्रारंभ किया ॥ ८४–८५ ॥ उसने गायके दूधसे पृथ्वीका सिंचन किया, महर्षियोंकी पूजा की, बहुत बडे बडे दान दिये और अपने कुटुंबी लोगोंको सबतरह प्रसन्न किया ॥ ८६ ॥ तदनंतर उसने बहुमूल्य रत्नोंके बने हुये तथा सोनेकी बनी हुई रस्सीसे बंधे हुये और भगवानकी प्रतिमाओंसे सुशोभित ऐसे घंटा बनवाये तथा ऐसे ऐसे चौवीस घंटा बाहरके दरवाजेपर, राजमहलके महाद्वारपर और कोटके दरवाजेपर अनुक्रमसे टंगवा दिये ॥ ८७–८८ ॥ जब वह चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे निकला कर अथवा प्रवेश किया करे तब ही वे घंटा उसके मुकुटके अग्रभागपर लग जानेसे उसे चौवीस तीर्थंकर भगवानका स्मरण हो और उनका स्मरण हो आनेसे वह उनमें विराजमान अरहंत भगवानकी प्रतिमाकी भक्तिपूर्वक वंदना करे इसप्रकार जिसकी बुद्धि पुण्यरूप है ऐसा वह भरत उन दरवाजोंसे जब निकलता था और जब प्रवेश करता था तब ही वह

विनिर्याति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः । तदा मौल्यग्रन्थाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥ ८९ ॥ स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृ वाऽभिवंदनाम् । पूजयत्य-भिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ९० ॥ रेजुः सूत्रेषु सम्प्रोता घटास्ता. परमेष्ठिना । सदर्थघटिताष्टीका ग्रंथानामिव पेशलाः ॥ ९१ ॥ लोकचूडा मणेस्तस्य मौलिलग्ना विरेजिरे । पादच्छाया जिनस्येव घटास्ता लोकसंमताः ॥ ९२ ॥ रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना । दृष्ट्वाऽर्हद्वंदना हेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादरः ॥ ९३ ॥ पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु । यथाविभवमाबद्धा घंटास्ताः सपरिच्छदाः ॥ ९४ ॥ आदिराजकृता सृष्टिं प्रजास्ता बहु मेनिरे । प्रत्यगार यतोऽद्यापि लक्ष्या वंदनमालिकाः ॥ ९५ ॥ वदनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना । ततो वदनमालाख्या प्राप्य

उन प्रतिमाओंकी वंदनाकर पूजा किया करता था ॥ ८९–९० ॥ सोनेकी रस्सीमें टंगे हुये और परमेष्ठियोंकी प्रतिमाओंसे सुशोभित इसतरहके वे घंटा ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरी हुई ग्रंथोंकी सुंदर टीका ही हो ॥ ९१ ॥ भरत स्वयं तीनों लोकोंके चूडामणि थे उनके मुकुटमें लगे हुये संसारमें प्रशंसनीय वे घंटा ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों भगवानके चरणकम-लोंकी छाया ही हो ॥ ९२ ॥ निधियोंके स्वामी भरतने अरहंत भगवानकी वंदना करनेके लिये जो घंटा रत्नोंके तोरणोंकी रचनामें स्थापित किये थे, बांधे थे, उन्हें देख देखकर लोग भी उनका बांधना अच्छा समझने लगे थे ॥ ९३ ॥ इसलिये नगरवासी लोगोंने भी अपने अपने घरकी वंदनामालाओंमें अपनी अपनी विभूतिके अनुसार भगवानकी प्रतिमा आदि समग्रीसे सुशोभित ऐसे घंटा बांधे थे ॥ ९४ ॥ उससमय प्रथम चक्रवर्ती भरतकी बनाई हुई उस सृष्टिको अर्थात् वंदनमाला बांधनेको प्रजाके लोग बहुत कुछ मानने लगे थे । यही कारण है कि आजतक भी प्रत्येक घरपर वंदनमाला दिखाई पडती है ॥ ९५ ॥ चूंकि महाराज भरतने भगवानकी वंदना करनेके लिये ही वह माला बनाई थी इसलिये ही संसारमें उसका वंदनमाला ऐसा नाम प्रसिद्ध हो गया है ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा हो तो प्रजा भी धर्मात्मा हो जाती है और यदि राजा धर्मात्मा न हो तो प्रजा भी धर्मनिष्ठ नहीं रहती है। यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा हो जाती है ॥९७॥

रूढिं गताः क्षितौ ॥ ९६ ॥ धर्मशीले महीपाले याति तच्छीलतां प्रजा । अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ९७ ॥ तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः । साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिन्यासन् हिते रताः ॥ ९८ ॥ सुकालश्च सुराजा च समं सन्निहित द्वय । ततो धर्मप्रिया जाता. प्रजास्तदनुरोधतः ॥ ९९ ॥ एष धर्मप्रियः सम्राट् धर्मस्थानभिनदति । मत्वेति निखिलो लोकस्तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥ १०० ॥ स धर्मविजयी सम्राट् सद्वृत्तः शुचिरूर्जित । प्रकृतिष्वनुरक्तासु व्यधाद्धर्मक्रियादरं ॥ १०१ ॥ भरतो निरतो धर्मे वय तदनुजीविनः । इति तद्वृत्तमन्वीयुर्मौलिबद्धा महीक्षित. ॥ १०२ ॥ सोऽय स्वाधीनकामार्थश्चक्री चक्रानुभावतः । चरितार्थद्वये तस्मिन् भेजे धर्मैकतानता ॥ १०३ ॥ दान पूजा च शील च दिने

उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सब लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक है क्योंकि भरत ऐसे सदाचारी राजाके होते हुये सब ही लोग अपना कल्याण करनेमें तत्पर हो गये थे ॥ ९८ ॥ अच्छा समय और अच्छा राजा ये दोनों ही उससमय एक साथ मिल गये थे, इसलिये राजाके अनुरोधसे उस समयकी सब प्रजा धर्मप्रिय होगई थी ॥ ९९ ॥ यह सम्राट् धर्मप्रिय (धर्मको प्रिय माननेवाला) है धर्मात्मा लोगोंका खूब आदर सत्कार करता है यही देखकर उस समय सब लोग धर्ममें प्रेम करने लग गये थे ॥ १०० ॥ वह चक्रवर्ती धर्म विजयी था, सदाचारी था तथा पवित्र और पुण्यवान् था इसलिये ही उसने अपनेपर (भरतपर) प्रेम करनेवाली प्रजामें आदर सत्कार पूर्वक धर्मक्रियाओंके करनेका संचार कर दिया था अर्थात् भरतपर प्रेम करनेवाली प्रजा भी आदर पूर्वक धर्मक्रियायें करती थीं ॥ १०१ ॥ राजा भरत धर्ममें तल्लीन है और हम लोग उसके सेवक हैं यही समझकर सब मुकुटवद्ध राजा लोग भरतके आचरणोंके समान ही अपने आचरण करने लग जाते थे ॥ १०२ ॥ चक्रके प्रभावसे जिसके अर्थ और काम दोनों ही स्वाधीन हैं ऐसा वह भरत चक्रवर्ती अर्थ और काम दोनोंकी ही सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रतासे अपना चित्त लगाता था ॥ १०३ ॥ दान देना, पूजा करना शील पालन करना और पर्वके दिनोंमें उपवास करना यह

पर्वण्युपोषित । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाम्नातो गृहमेधिनां ॥ १०४ ॥ ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरं । समेतो नवभिः पुण्यैर्गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥ १०५ ॥ सोऽदाद्विशुद्धमाहार यथायोग च भेषज । प्राणिभ्योऽभयदान च दानस्यैतावती गतिः ॥ १०६ ॥ जिनेषु भक्तिमातन्वन् तत्पूजाया धृतिं दधौ । पूज्याना पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥ १०७ ॥ चैत्यचैत्यालयादीना निर्मापणपुरस्सरं । स चक्रे परमामिज्यां कल्पवृक्षपृथुप्रथा ॥ १०८ ॥ शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षित यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥ १०९ ॥ व्रतानुपालन शील व्रतान्युक्तान्यगारिणा । स्थूलहिंसाविरत्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥ ११० ॥ सभावनानि तान्येष यथायोग प्रपालयन् । प्रजाना पालकः सोऽभूद्धौरेयो गृहमेधि-

---

इसतरह चार प्रकारका धर्म गृहस्थोंकेलिये कहा गया है ॥ १०४ ॥ दाताके सात गुणोंसे विभूषित वह भरत नौ प्रकारकी भक्तिके साथ बडे आदरसे उत्तम मुनियोंको दान देता था ॥ १०५ ॥ वह शुद्ध आहार देता था, योग्यतानुसार औषधदान देता था और सब प्राणियोंको अभयदान देता था, दानकी ये तीन ही गति हैं अर्थात् आहार औषध और अभयदानके भेदसे तीन प्रकारका ही दान है ॥ १०६ ॥ संसारमें पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे स्वयं पूज्य हो जाता है इसतरह चिंतवन करता हुआ वह भरत भगवानमें अपनी भक्ति बढाता हुआ उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतुष्ट होता था ॥ १०७ ॥ उसने अनेक जिनबिंब और जिनमंदिर बनवाये थे और फिर कल्पवृक्ष नामका बहुत बडा महायज्ञ किया था ॥ १०८ ॥ उस प्रभुके मनमें शील पालन करनेका प्रयत्न (प्रवृत्ति) भी सदा रहता था सो ठीक ही है, क्योंकि प्रयत्न पूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी भी रक्षा करता है ॥ १०९ ॥ व्रतोंका पालन करना ही शील है स्थूल हिंसाका त्याग करना आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणपूर्वक पहिले कहे जा चुके हैं ॥ ११० ॥ उन व्रतोंको उनकी भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करता था और इस तरह प्रजाका पालन करता हुआ वह भरत सब गृहस्थियोंमें मुख्य गिना जाता था ॥१११॥ पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञाकर समाधि (ध्यान) धारणकर

यत् ॥१२५॥ कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान्। पारितोपिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥ ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरात्। स्वेच्छाविहारमकरोद्विनोदैः सुकुमारकैः ॥१२७॥ ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे कृतमज्जनसविधिः। तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निराविक्षत्प्रसाधनम् ॥१२८॥ चामरोत्क्षेपताबूलदानसवाहनादिभि. । परिचेरुरुपेत्यैन परिवारागना स्वतः ॥१२९॥ ततो भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः। सम विदग्धमडल्या विद्यागोष्ठीरभावयत् ॥ १३० ॥ तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च त । परिवव्रुरुपारूढतारुण्यमदकर्कशाः ॥ १३१ ॥ तासामालापसँल्लापपरिहासकथादिभि· । सुखासिकामसौ भेजे भोगाङ्गैश्च मुहूर्तक ॥ १३२ ॥ ततस्तुर्यविशेषेऽन्हि पर्यटन्माणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परा शोभामभितो राजवेश्मनः ॥ १३३ ॥ स

था ॥ १२५ ॥ गीत नृत्य आदि दिखानेके लिये आये हुये गीत नृत्य आदि कलाओंके जाननेवाले लोगोंका गीत नृत्य आदि देखकर उन्हें बडे बडे पारितोषक (इनाम) देकर संतुष्ट करता था ॥ १२६ ॥ तदनंतर वह सभाको विसर्जन करता था और सिंहासनसे उठकर कोमल क्रीडायें करता हुआ वह इच्छानुसार विहार करता था ॥ १२७ ॥ उसके बाद जब दोपहरका समय समीप आजाता था तब स्नान आदि क्रियाओंको पूराकर शरीरके साधन ऐसे भोजन आदिसे छुट्टी पाकर अलंकार धारण करता था ॥ १२८ ॥ उससमय परिवारकी स्त्रियां स्वयं आकर चमर ढुलाना, तांबूल देना, और पैर दाबना आदि आदि कामोंसे उसकी सेवा करती थीं ॥ १२९ ॥ तदनंतर भोजन करनेके बाद बैठने योग्य भवनम थोडेसे राजाओंके साथ बैठकर विद्वान लोगोंके साथ साथ विद्याकी चर्चाका विचार करता था ॥ १३० ॥ वहांपर आई हुई तारुण्यके (जवानीके) मदसे कुछ उद्धत हुई वेश्यायें और रानियां आकर उसके चारों ओर बैठ जाती थीं ॥ १३१ ॥ उनके गान, परस्परकी बातचीत और हंसी खुशीकी कथा आदि भोगोंके साधनोंसे वह कुछ देरतक सुखसे निवास करता था ॥ १३२ ॥ तदनंतर जब दिनका चौथाई भाग रह जाता था तब मणियोंसे जडी हुई भूमिपर इधर उधर टहलता हुआ वह चारों ओर राजभवनकी उत्तम शोभा देखता था ॥ १३३ ॥ कभी

नर्मसचिवं काचित्समालंब्यांसपीठके । परिक्रामन्नितश्चेतो रेजे सुरकुमारवत् ॥ १३४ ॥ रजन्यामपि यत्कृत्यमुचितं चक्रवर्तिनः । तदाचरन् सुखेनैष त्रियामामत्यवाहयत् ॥ १३५ ॥ कदाचिदुचिता वेला नियोग इति केवलं । मंत्रयामास मंत्रज्ञैः कृतकार्योऽपि चक्रभृत् ॥ १३६ ॥ तंत्रावपगता चिंता नास्यासीद्विजितक्षितेः । तंत्रचिंतैव नन्वस्य स्वतंत्रस्येह भारते ॥ १३७ ॥ तेन षाड्गुण्यमभ्यस्तमपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्यात्रिपक्षा क्ष्मां कृतं संध्यादिचर्चया ॥ १३८ ॥ राजविद्याश्चतस्रोऽमूः कदाचिच्च कृतक्षणः । व्याचख्यौ राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥ १३९ ॥ कदाचिन्निधिरत्नानाम-

---

कभी वह क्रीडामें सहायता करनेवाले [लोगोंके कंधेपर हाथ रखकर इधर उधर टहलता हुआ देवके कुमारोंके समान सुशोभित होता था ॥ १३४ ॥ रातमें भी जो चक्रवर्तीके योग्य कर्तव्य हैं उन्हें करता हुआ वह बडे आरामसे रात्रिको पूर्ण करता था ॥ १३५ ॥ यद्यपि वह चक्रवर्ती; अपने विजय आदिके सब काम; पूरे कर चुका था तथापि केवल नियोग समझकर; कभी कभी उचित समयपर मंत्रियोंके साथ बैठकर कुछ; विचार करता था ॥ १३६ ॥ जिसने समस्त पृथ्वी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमें सर्वथा स्वतंत्र है चक्रवर्ती है ऐसे उस भरतके अपने राज्य और परराज्यकी कुछ चिंता नहीं थी, यदि चिंता थी तो वह केवल शास्त्रोंकी चिंता थी भावार्थ—वह केवल शास्त्रोंका ही विचार करता था, राज्यका नहीं ॥ १३७ ॥ उसने केवल अपना अज्ञान दूर करनेके लिये ही संधि विग्रह आदि छह गुणोंका अभ्यास किया था, क्योंकि जब वह शत्रुरहित पृथ्वीका पालन करता था तब फिर उसे संधि विग्रह आदिकी चर्चासे क्या काम था ॥ १३८ ॥ वह बुद्धिमान केवल प्रसिद्ध करनेके लिये, कभी कभी राजपुत्रोंको बडे उत्साहके साथ आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति इन चारों राजविद्याओंका; व्याख्यान करता [था अर्थात् उन्हें समझाता था ॥ १३९ ॥ कभी कभी वह निधि और रत्नोंका निरीक्षण भी करता था क्योंकि निधि और रत्नोंमेंसे कुछ तो उसके भंडारमें थे और कुछ उसकी सेनामें थे ॥ १४० ॥ कभी कभी वह भगवान सर्वज्ञ-

करोत्स निरीक्षण । भाटागारपदे तानि तस्य तत्रपदेऽपि च ॥ १४० ॥ कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु या स्युर्विप्रतिपत्तयः । निराचकार ता कृत्स्ना स्थापय न्विश्वविन्मत ॥ १४१ ॥ आप्तोपज्ञेषु तत्त्वेषु कांश्चित्सजातसशयान् । ततोऽपाकृत्य सगीतिस्तत्त्वर निरणीनयत् ॥ १४२ ॥ तथाऽमार्थशास्त्रार्थे कामनीतौ च पुष्कल। प्रावीण्य प्रथयामास यथाऽत्र न पर कृती ॥ १४३ ॥ हास्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च दृष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितु. । मूलतन्त्रस्य कर्ताऽयमित्यास्था तद्विदामभूत् ॥ १४४ ॥ आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निरारेक श्लाघते स्म निधीशिन ॥ १४५ ॥ सोऽभीतीपदविद्याया स कृती वागलङ्कृतौ । स छदासा प्रतिच्छद इत्यासीत्सम्मत. सता ॥ १४६ ॥ तदुपज्ञानिमितानि शाकुन तदुपक्रम । त सर्गो ज्योतिष ज्ञान तन्मत

देवके मतको प्रगट करता हुआ धर्मशास्त्रमें जो कुछ शंकायें वा विवाद थे उन सबको दूर करता था ॥१४१॥ भगवान अरहंतदेवके कहे हुये तत्त्वोंमें जिन लोगोंको कुछ भी संदेह उत्पन्न होते थे उनके उन संदेहोंको दूर-कर वह उन तत्त्वोंका निर्णय करता था ॥१४२॥ इसीप्रकार वह नीतिशास्त्रोंके अर्थोंमें और कामनीतिमें अपनी ऐसी निपुणता प्रगट करता था कि फिर इस संसारमें वैसा निपुण अन्य कोई नहीं था ॥१४३॥ हाथियों के शास्त्र (जिसमें हाथियोंके गुण दोष और औषधि आदि का वर्णन हो) और घोडोंके शास्त्रोंमें महाराज भरतकी स्वतंत्रता वा निपुणता देखकर उन शास्त्रोंके जाननेवाले लोगोंको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूलशास्त्रोंका कर्ता यही है ॥ १४४ ॥ वैद्यक शास्त्रमें तो उस निधियोंके स्वामी भरतकी सब लोग विना किसी संदहके यही प्रशंसा करते थे कि वह चिरंजीव मूर्तिमान आयुर्वेद ही है, अर्थात् आयुर्वेदशास्त्रने ही साक्षात् मूर्ति धारण की है ॥ १४५ ॥ इसीतरह सज्जन लोग उसे यही मानते थे कि वह व्याकरणशास्त्रमें पंडित है, शब्दालंकारमें निपुण है और छंदशास्त्रका प्रतिनिधि ही है ॥ १४६ ॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहिले उसीने कहे थे, शकुनशास्त्र उसीके बनाये हुये हैं और ज्योतिःशास्त्र उसीकी सृष्टि है अर्थात् उसीका बनाया हुआ है, इसलिये इन तीनों शास्त्रोंको उसीका मत समझना चाहिये ॥ १४७ ॥ वह निमित्तशास्त्रोंका कारण वा उत्पन्न करनेवाला

तेन तत्त्रय ॥ १४७ ॥ स निमित्तं निमित्तानां तंत्रे मंत्रे स शाकुने । दैवज्ञाने परं दैवमित्यभूत्स गतोऽधिक ॥ ४८ ॥ तत्संभूतौ समुद्भूतमभूत्पुरुष-लक्षण । उदाहरणमन्यत्र लक्षितं येन तत्तनोः ॥ १४९ ॥ अन्येष्वपि कलाशास्त्रसंग्रहेषु कृतागमा' । तमेवादर्शमालोक्य सशयाशाद्व्यरंसिषुः ॥१५० ॥ येनास्य सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुषागिणी । तेनैषा विश्वविद्यासु जाता परिणति परा ॥ १५१ ॥ इत्थं सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स सम्मतिं प्राप्य तद्विदाना मतोऽभवत् ॥ १५२ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमितो मनु. । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारता ॥ १५३ ॥ राजसिद्धांततत्त्वज्ञो धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यातः कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्द्धि सुमेधसा ॥ १५४ ॥ इत्यादिराज तत्सम्राडहो राजर्षिनायक । तत्सार्व-

है और मंत्रशास्त्र, तंत्रशास्त्र, शकुनशास्त्र, तथा ज्योतिषशास्त्रमें वह उत्तम अधिष्ठाता देव है ' इस तरह वह लोगोंमें सबसे अधिक मान्य होगया था ॥ १४८ ॥ भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषोंके सब लक्षण उत्पन्न हुये थे इसलिये लोग दूसरी जगह उसके शरीरके ही उदाहरण देखते थे ॥ १४९॥ समस्त शास्त्रों को पूर्ण रीतिसे जाननेवाले अन्य लोग ऊपर कहे हुये शास्त्रोंके सिवाय अन्य कलाशास्त्रोंके समूहमें भी उसी भरतको दर्पणके समान प्रगट करनेवाला देखकर अपने सब संदेहोंको दूर कर देते थे ॥१५०॥ उसे देखकर यही कहना पडता था कि उसकी ऐसी स्वाभाविक बुद्धि अवश्य ही पहिले जन्मके संस्कार से प्राप्त हुई है यही कारण है कि वह बुद्धि सब विद्याओंमें उत्तम रीतिसे प्रवेश करती है अर्थात् सब विद्याओंको जानती है ॥ १५१ ॥ इसप्रकार संसारके सब शास्त्र और सब कलाओंमें प्रतिष्ठित होकर वह भरत उन सब विद्याओंके जाननेवालोंमें मान्य समझा जाता था ॥ १५२ ॥ यहांपर बहुत कहनेसे क्या लाभ है थोडेसेमें इतना ही समझ लेना चाहिये कि बुद्धिसे पारंगत हुआ वह भरत कुलकर समस्त लोकाचारोंका सूत्रधार बनगया था ॥ १५३ ॥ वह राजविद्याके सब तत्त्वोंको जानता था, धर्मशास्त्रोंके तत्वोंका जानकार था और कलाओंके ज्ञानमें वह प्रसिद्ध था, इस प्रकार वह बुद्धिमान लोगोंके मस्तकपर सुशोभित होता था अर्थात् सबमें मुख्य था ॥ १५४ ॥ अहा इसका प्रथम चक्रवर्तीपना कैसा है ? कैसा इसका साम्राज्य है, कैसा राजर्षियोंमें भी मुख्यपना है और कैसा सार्वभौमपद

भौमामित्यस्य दिशासूच्छलितं यश. ॥ १५५ ॥ इति सकलकलानामेकमोक: स चक्री कृतमतिभिरजर्यं संगतं संविवित्सन् । बुधसदसि सदस्यान्बोधयन्विश्वाविद्या व्यवृणुत बुधचक्रीत्युच्छलत्कीर्तिकेतुः ॥ १५६ ॥ जिनविहितमनून सस्मरन्धर्ममार्गं स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन्मार्गमन्यान् । कृतमतिरखिला क्ष्मा पालयन्निःसपत्ना चिरमरमत भोगैर्भूरिसारैः स सम्राट् ॥ १५७ ॥ लक्ष्मीवाग्वनितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधत् दूरोत्सारितदुर्णयप्रशमिनीं तेजस्वितामुद्वहन् । न्यायोपार्जितवित्तकामघटन. शस्त्रे च शास्त्रे कृती राजर्षि परमोदयो जिनजुषामग्रेसरः सोऽभवत् ॥ १५८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजस्वप्नदर्शनतत्फलोपवर्णन नाम एकचत्वारिंशत्तम पर्व ।

(सब पृथ्वीका स्वामीपना) है इसप्रकार उसका यश सब दिशाओंमें फैल रहा था ॥ १५५ ॥ इसप्रकार जो समस्त कलाओंका एक स्थान है और " यह चक्रवर्ती वडा विद्वान् है " इसप्रकार जिसकी कीर्तिरूपी ध्वजा फहरा रही है ऐसा वह भरत चक्रवर्ती अत्यंत बुद्धिमान् सज्जनोंके साथ अविनाशीक (जो कभी न छूटे) मित्रता करता हुआ और पंडितोंकी सभामें सभासदोंको उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान करता था ॥ १५६ ॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको स्वयं जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा वह सम्राट् चक्रवर्ती श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये और न्यूनता रहित अर्थात् पूर्ण ऐसे धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा उसी धर्ममार्गको अन्य लोगोंकेलिये समझाता हुआ और शत्रुरहित—निष्कंटक समस्त पृथ्वीका पालन करता हुआ जिनमें सारभाग अधिक है ऐसे भोगोंका उपभोग करता हुआ वहुत दिनतक क्रीडा करता रहा था ॥ १५७ ॥ जो लक्ष्मी और सरस्वती दोनों स्त्रियोंके समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखका एक ही स्वामी है, जिसने दुष्ट नीति सब दूर भगा दी है, जो अत्यंत शांत ऐसे तेजस्वीपनेको धारण करता है, जिसने अपने अर्थ और कामकी घटना न्याय पूर्वक उपार्जन की है, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंमे निपुण है, जो राजर्षि कहलाता है और जिसका उदय सर्वोत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेंद्रदेवकी सेवा करनेवाले भव्य लोगोंमें अग्रेसर वा सबके मुख्य गिना जाता था ॥ १५८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें महाराज भरतके स्वप्नोंका देखना और उनका वर्णन करनेवाला यह इकतालीसवा पर्व पूर्ण हुआ ।

द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व.

मध्येसभमथान्येद्युर्निविष्टो हरिविष्टरे । क्षात्र वृत्तमुपादिक्षत्सहितान् पार्थिवान्प्रति ॥ १ ॥ श्रूयतां भो महात्मानः सर्वक्षत्रियपुंगवाः । क्षतत्राणे नियुक्ताः स्थ यूयमाद्येन वेधसा ॥ २ ॥ तत्त्राणे च नियुक्ताना वृत्त वः पचधोदितं । तन्निशम्य यथाम्नाय प्रवर्तध्व प्रजाहिते ॥ ३ ॥ तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपालनं । समंजसत्व चेत्येवमुद्दिष्ट पचभेदभाक् ॥ ४ ॥ कुलानुपालन तत्र कुलाम्नायानुरक्षण । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणलक्षणं ॥ ५ ॥ क्षत्रियाणा कुलाम्नायः कीदृशश्चेन्निशम्यता । आद्येन वेधसा सृष्ट· सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः ॥ ६ ॥ स चैष भारत वर्षमवतीर्णो दिवोऽग्रतः । पुरा भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितं ॥ ७ ॥ द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्त्वोपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदर्का द्युलोकाग्रमधिष्ठितः ॥ ८ ॥ तेना-

---

ब्यालीसवां पर्व.

अथानंतर—किसी एक दिन सभाके मध्यभागमें सिंहासनपर विराजमान हुआ भरत वहांपर इकट्ठे हुये राजा लोगोंके लिये क्षत्रियोंके धर्मका उपदेश देने लगा ॥ १ ॥ वह कहने लगा कि हे सब क्षत्रियोंमें मुख्य मुख्य महात्मा लोगो ! सुनो, आदि ब्रह्मा श्रीवृषभदेवने आप लोगोंको प्रजाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया है ॥ २ ॥ प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुये आप लोगोंका धर्म पांच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोग प्रजाका हित करनेके लिये शास्त्रके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रक्खो ॥ ३ ॥ वह तुह्मारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाका पालन करना और समंजसपना इसतरह पांच प्रकारका कहा है ॥ ४॥ उनमेंसे अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना, अपने कुलके योग्य सदाचरणोंकी रक्षा करना ही कुलका पालन करना कहलाता है ॥ ५ ॥ अव क्षत्रियोंका कुलाम्नाय कैसा है सो मैं कहता हूं सुनो! आदि ब्रह्मा भगवान वृषभदेवने क्षत्र पूर्वक ही क्षत्रियोंकी रचना की है ॥ ६ ॥ भगवान वृषभदेवने पाहिले भवमें उत्तम रत्न त्रयका आराधन किया था, और शुभ फल देनेवाली तथा तीर्थंकर पद प्राप्त करानेवाली सोलह

स्मिंन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥ ९ ॥ तत्कथ कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितयी प्रजा । कर्तव्या रक्षणीयैका प्रजाऽन्या रक्षणोद्यता ॥ १० ॥ रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसतत्या बीजवृक्षवदिष्यते ॥ ११ ॥ विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया । तेषां समुचिताचारः प्रजार्थे न्यायवृत्तिता ॥ १२ ॥ स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनं । रक्षण वर्धन चास्य पात्रे च विनियोजन ॥ १३ ॥ सैषा चतुष्टयी वृत्तिर्न्यायः सद्भिरुदीरितः । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥ १४ ॥ दिव्यमूर्तेरुदुत्पद्य जिनादु-

---

भावनाओंका चिंतवन किया था, इसलिये ही स्वर्गमें सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिमें वे जा विराजमान हुये थे और उसी सर्वार्थसिद्धिसे आकर अब यहां अवतार लिया है ॥ ७-८ ॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें उस सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोंकी सृष्टिकी प्रवृत्ति की है ॥ ९ ॥ वह क्षत्रियोंकी सृष्टिकी प्रवृत्ति भी इस प्रकारकी है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजाके दो भाग करने चाहिये, एक वह कि जिसकी रक्षा करनी चाहिये और दूसरा वह कि जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजा रक्षा करनेमें उद्यत थी उसीकी वंश परंपराको क्षत्रिय नाम रक्खा । यद्यपि वह वंश अनादि कालकी संतान परंपरासे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि उसमें इतना विशेष है कि भरत आदि क्षेत्र और उत्सर्पिणी अवसर्पिणी आदि कालकी अपेक्षासे उनकी रचना होती है, तथा प्रजाके लिये न्यायरूपसे अपनी प्रवृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥ ११--१२ ॥ धर्मका उलंघन न करके द्रव्य संपादन करना, उस संपादन किये हुये (कमाये हुये) धनकी रक्षा करना, बढाना और उसे पात्रोंको दान देना ही वह उन क्षत्रियोंका न्याय कहलाता है ॥ १३ ॥ इसतरह चार प्रकारकी अपनी प्रवृत्ति रखना ही सज्जन लोगोंनें क्षत्रियोंका न्याय बतलाया है तथा जैन धर्मके अनुसार अपनी प्रवृत्ति रखना संसारमें सबसे उत्तम न्याय कहलाता है ॥ १४ ॥ दिव्य मूर्तिको धारण करने-वाले ऐसे जिनेंद्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थकरोंको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है वही उन क्षत्रियों-

त्पादयाज्जिनान् । रत्नत्रयं तु तद्योनिर्नृपास्तस्मादयोनिजाः ॥ १५ ॥ ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः । पथि स्थिताः स्वयं धर्म्ये स्थापयंतः परानपि ॥ १६ ॥ तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षण । तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनूच्यते ॥१७॥ स्वयं महान्वयत्वेन माहिम्नि क्षात्रियाः स्थिताः । धर्मास्थया न शेषादि ग्राह्यं तैः परलिंगिना ॥ १८ ॥ तच्छेशादिग्रहे दोषः कश्चेन्माहात्म्यविच्युतिः । अपाया बहवश्चास्मिन्नतस्तत्परिवर्जन ॥ १९ ॥ माहात्म्यप्रच्युतिस्तावत्कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिं । ततः शेषाद्युपादाने स्यान्निकृष्टत्वमात्मनः ॥ २० ॥ प्रद्विपन्परपाखंडी विषपुष्पाणि निक्षिपेत् । यद्यस्य

की योनि है अर्थात् वे रत्नत्रयसे ही उत्पन्न हुये हैं इसलिये ही राजा वा क्षत्रिय लोग बिना योनिके उत्पन्न हुये कहलाते हैं ॥ १५ ॥ इस लिये ही बडे बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये राजा लोग संसारमें सबसे उत्तम कहलाते हैं, ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थिर रहते हैं और अन्य लोगोंको भी स्थिर किया करते हैं ॥ १६ ॥ उन क्षात्रियोंको सबतरहके प्रयत्नोंसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिये, उन्हें अपने वंशकी रक्षा किसप्रकार करनी चाहिये यह मैं आगे कहता हूं ॥ १७॥ बडे बडे वंशोंमें उत्पन्न हुये क्षात्रिय लोग अपने आप ही महत्वके—बडप्पनके स्थानपर विद्यमान हैं इसलिये उन्हें अन्य मतियोंके धर्ममें श्रद्धा रखकर उनके दिये हुये शेषा (पूजाके बचे हुये अक्षत) और स्नानोदक (अभिषेकका जल) आदि कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ १८ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेमें क्या दोष है उसके लिये कहते हैं कि उनके शेषाक्षत आदि लेनेमें अपने महत्वका नाश होता है और अनेक अनिष्ट वा विघ्न आ उपस्थित होते हैं इसलिये उनके ग्रहण करनेका त्याग कर देना ही चाहिये ॥ १९ ॥ अन्य मतवालोंको नमस्कार करनेसे अपने महत्वका नाश हो जाता है, इसलिये अन्यमतके शेषा स्नानोदक आदि ग्रहण करनेसे अपनी निकृष्टता वा हीनता होती है ॥ २० ॥ कदाचित् कोई पाखंडी किसी तरहका द्वेषकर इस राजाके शिरपर विषपुष्प रखदे तो इसतरह भी राजाका नाश हो सकता है ॥ २१ ॥ कदाचित् कोई राजाको मोहित

मूर्ध्नि नेन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥ २१ ॥ वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने । ततोऽयं मूढवद्वृत्तिरुपेयादन्यवश्यतां ॥ २२ ॥ तच्छेषाशीर्वचः शांतिवचनाद्यन्यलिंगिना । पार्थिवैः परिहर्तव्य मवेन्न्यक्कुलताऽन्यथा ॥ २३ ॥ जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्पादोपसेविना । तच्छेषानुमतिर्न्याय्या ततः पापक्षयो भवेत् ॥ २४ ॥ रत्नत्रितयमूर्तीत्वादादिक्षत्रियवंशजाः । जिनाः सनाभयोऽमीषामतस्तच्छेषधारण ॥ २५ ॥ यथा हि कुलपुत्राणा माल्य गुरुशिरोधृतं । मान्यमेवं जिनेंद्रांघ्रिस्पर्शान्माल्यादि भूषितं ॥ २६ ॥ कथ मुनिजनादेषा शेषोपादानमित्यपि । नाशक्य तत्सजातीयास्ते राजपरमर्षयः ॥ २७ ॥ अक्षत्रियाश्च वृत्तस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः । यतो रत्नत्रयायत्तजन्मना तेऽपि तद्गुणाः ॥ २८ ॥ तत. स्थितमिदं जैनान्मताद्न्य-

---

करनेके लिये इसके शिरपर वशीकरणपुष्प (वशीकरण मंत्रसे मंत्रित किये हुये) रखदे तो फिर यह राजा पागलके समान अपने आचरण करता हुआ दूसरेके वश हो जायगा ॥ २२ ॥ इसलिये राजा लोगोंको अन्य मतवालोंके शेषा, आशीर्वाद, शांतिवचन, शांतिमंत्र, और पुण्याहवाचन आदि सबका त्याग कर देना चाहिये, यदि वह इन सबके ग्रहण करनेका त्याग नहीं करेगा तो फिर वह नीच कुलवाला हो जायगा ॥ २३ ॥ राजा लोग जैनी होते हैं इसलिये अरहंतदेवके चरणकमलोंकी सेवा करनेवाले उनके अरहंतदेवकी शेषा आदिका ग्रहण करना तो न्यायही है क्योंकि अरहंतदेवकी शेषा ग्रहण करनेसे उनके पापका नाश होता है ॥ २४ ॥ श्रीजिनेंद्रदेव रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय ऐसे श्रीवृषभदेवके वंशज हैं अतएव वे सब (क्षत्रिय और जिनेंद्र) एक ही गोत्रके भाईबंधु हैं इसलिये क्षत्रियोंको जिनेंद्रदेवकी शेषा आदि ग्रहण करना ही चाहिये ॥ २५ ॥ जिसप्रकार कुलपुत्रोंको गुरुके मस्तकपर धारण की हुई माला मान्य है उसी प्रकार उन्हें जिनेंद्रदेवके चरणकमलोंके स्पर्शसे पवित्र हुई माला आदि भी मान्य समझनी चाहिये ॥ २६ ॥ कदाचित् कोई यह कहे कि इन राजाओंको मुनि लोगोंसे शेषा आदि का ग्रहण किसप्रकार करना चाहिये परंतु उनकी यह शंका भी ठीक नहीं है क्योंकि मुनिराजभी राजऋषि हैं इसलिये वे भी राजाओंके सजातीय हैं ॥ २७ ॥

मतास्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिप्रदानेऽधिकृता इति ॥ २९ ॥ कुलानुपालने यत्नमतः कुर्वंतु पार्थिवाः । अन्यथाऽन्यैः प्रातार्येरन् पुराणाभासदेशनात् ॥ ३० ॥ कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्यनुपालनं । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुत्रिकार्थयोः ॥ ३१ ॥ तत्पालनं कथं स्याच्चेदविद्यापरिवर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्यादतत्त्वे तत्वभावना ॥ ३२ ॥ आप्तोपज्ञं भवेत्तत्त्वमाप्तो दोषावृतिक्षयात् । तस्मात्तन्मतमभ्यस्येन्मनोमलमपासितुं ॥ ३३ ॥ राज-

---

जो क्षत्रिय नहीं हैं (ब्राह्मण वा वैश्य हैं) वे भी दीक्षा लेकर और व्रतोंको धारणकर क्षत्रिय ही हो जाते हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति भी रत्नत्रयके आधीन है, इसलिये रत्नत्रयसे उत्पन्न होनेसे जैसे राजा लोग क्षत्रिय गिने जाते हैं उसीप्रकार मुनिराजभी रत्नत्रयसे उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय ही माने जाते हैं ॥ २८ ॥ इसलिये यह वात निश्चय हो चुकी कि जो जैनमतसे भिन्न मतवाले लोग हैं उन्हें राजा लोगोंको वा क्षत्रियोंको शेषा आदि देनेका कुछ भी अधिकार नहीं है ॥ २९ ॥ इसलिये राजा लोगोंको अपने कुलकी रक्षा करनेके लिये सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । यदि राजा लोग अपने कुलकी रक्षा न करेंगे तो अन्यमती लोग पुराणाभासका (झूठे पुराणोंका) उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥ ३० ॥ इसतरह 'क्षत्रियोंको अपने कुलकी रक्षा करनी चाहिये' यह पहिला धर्म कह चुके, अब दूसरे बुद्धिको पालन करनेरूप धर्मको कहते हैं । इस लोक संबंधी और परलोकसंबंधी पदार्थोंके हित अहितका ज्ञान होना ही बुद्धि कहलाती है ॥ ३१ ॥ उस बुद्धिका पालन किसतरह हो सकता है यह पूछना चाहो तो इसका उत्तर यह है कि अविद्याका नाश कर देनेसे ही उसका पालन होता है, मिथ्याज्ञानको ही अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोंमें तत्त्वश्रद्धान करना ही मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥ ३२ ॥ जो अरहंतदेवका कहा हुआ है उसे तत्त्व कहते हैं और अरहंतदेव वही हो सकता है जिसके ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय कर्म नष्ट हो गये हों । इसलिये अपने मनका मल दूर करनेके लिये दोषरहित ऐसे अरहंतदेवके मतका ही अभ्यास करना चाहिये ॥ ३३ ॥ राज-

विद्यापरिज्ञानादैहिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानान्मतिर्लोकद्वयाश्रिता ॥ ३४ ॥ क्षत्रियास्तीर्थमुत्पाद्य येऽभूवन्परमर्षयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥ ३५ ॥ आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महान्वयाः । महत्त्वानुगमात्तेऽपि महादेवप्रथा गताः ॥ ३६ ॥ तदेव्यश्च महादेव्यो महाभिजनयोगत. । महद्भिः परिणीतत्वात्प्रसूतेश्च महात्मना ॥ ३७ ॥ इत्येवमास्थिते पक्षे जैनैरन्यमताश्रयी । यदि कश्चित्प्रतिब्रूयान्मिथ्यात्वोपहताशयः ॥ ३८ ॥ वयमेव महादेवा जगन्निस्तारका वय । नास्मदाप्तात्परोऽस्त्याप्तो मत नास्मन्मतात्पर ॥ ३९ ॥ इत्यत्र ब्रूमहे नैतत्सार ससारवारिधेः । य समुत्तरणोपाय. स मार्गो जिनदेशितः ॥ ४० ॥ आप्तोऽर्हन्वीतदोषत्वादाप्तमन्यास्ततोऽपरे । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभावनात् ॥ ४१ ॥ वागाद्यतिशयो-

---

विद्याका अच्छा ज्ञान होनेसे इस लोक संबंधी पदार्थोंमें बुद्धि दृढ हो जाती है और धर्मशास्त्रका ज्ञान होनेसे इस लोक और परलोक दोनों लोक संबंधी पदार्थोंमें बुद्धि निश्चित हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय शास्त्रज्ञानका संपादनकर मुनि हो गये हैं वे अपने माहात्म्यके संबंधसे महादेव कहलाते हैं, भावार्थ–उन्हें महादेव कहना चाहिये ॥ ३५ ॥ वडे वडे वंशोंमें उत्पन्न हुये जो राजा लोग आदि क्षत्रिय अर्थात् भगवान वृषभदेवके चारित्रको धारण करते हैं उनमें भी महत्वका संबंध होनेसे वे भी महादेव कहलाते हैं ॥३६॥ ऐसे लोगोंकी जो स्त्रियां हैं वे वडे कुलके लोगोंके साथ संबंध होनेसे, वडे लोगोंके साथ उनका विवाह होनेसे और महात्मा लोगोंको उत्पन्न करनेसे महादेवी कहलाती हैं ॥ ३७ ॥ जैनियोंके इसप्रकार अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर भी यदि मिथ्यात्वके उदयसे जिसका हृदय नष्ट हो गया है ऐसा कोई अन्य मतावलंबी पुरुष कहे कि, "हमी महादेव हैं, संसारसे पार कर देनेवाले भी हमी हैं, हमारे देवको छोडकर संसारमें और कोई देव नहीं है और हमारे मतको छोडकर अन्य कोई मत नहीं है" ॥ ३८–३९ ॥ परंतु ऐसे कहनेवालोंके लिये हम यही कहते हैं कि उनके इस कहनेमें कुछ सार नहीं है, क्योंकि संसाररूपी समुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेंद्रदेवका कहा हुआ जिनमार्ग ही है ॥४०॥ संसारमें एक अरहंत देव ही आप्त है क्योंकि वही रागद्वेष आदि दोषोंसे

पेतः सार्वः सर्वार्थदृग्जिनः । स्यादाप्तः परमेष्ठी च परमात्मा सनातनः ॥ ४२ ॥ स वागतिशयो ज्ञेयो येनाय विभुरक्रमात् । वचसैकेन दिव्येन प्रीणयत्याखिला सभा ॥ ४३ ॥ तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसक्षयात् । अनंतज्ञानदृग्वीर्यसुखातिशयसन्निधिः ॥ ४४ ॥ प्रातिहार्यमयी भूतिरुद्भूतिश्च सभावनेः । गणाश्च द्वादशेत्येष स्याद्भाग्यातिशयोऽर्हतः ॥ ४५ ॥ वागाद्यतिशयै रेभिरन्वितोऽनन्यगोचरैः । भगवान्निष्ठितार्थोऽर्हन्परमेष्ठी जगद्गुरुः॥४६॥ न च तादृग्विधः कश्चित्पुमानस्ति मतांतरे । ततोऽन्ययोगव्यावृत्त्या सिद्धमाप्तत्वमर्हति ॥ ४७ ॥ इत्याप्तानुमत क्षात्रमिम धर्ममनुस्मरन् । मतांतरादना-

---

रहित है, अरहंतदेवके सिवाय बाकीके सब आप्तंमन्य अर्थात् आपको झूटमूठ आप्त माननेवाले हैं क्योंकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशयका कुछ भी निश्चय नहीं है ॥ ४१ ॥ भगवान जिनेंद्रदेवमें वाणी आत्मा और भाग्य इन तीनोंका अतिशय विद्यमान है, वे सबका हित करनेवाले हैं, सब पदार्थोंको साक्षात् देखनेवाले हैं परमेष्ठी हैं, परमात्मा हैं और सनातन हैं इसलिये वे ही आप्त कहलाते हैं ॥ ४२ ॥ भगवान अरहंतदेव अपनी एक ही दिव्य वाणीसे समस्त सभाको एकसाथ संतुष्ट करते हैं यही उनकी वाणीका अतिशय समझना चाहिये ॥ ४३ ॥ इसीप्रकार गुणोंको ढकनेवाले ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय इन घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे जो उन्हें अनंत ज्ञान अनंतदर्शन अनंतवीर्य और अनंत सुखरूप अतिशयोंकी प्राप्ति हुई है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥ ४४ ॥ तथा आठ प्रातिहार्योंकी विभूति प्राप्त होना समवसरणकी रचना होना और बारह सभाओंका होना यह सब अरहंतदेवके भाग्यका अतिशय समझा जाता है ॥ ४५ ॥ जो दूसरे किसीमें न पाये जायं ऐसे जो ऊपरकहे हुये वाणी आत्मा और भाग्यके अतिशय हैं उनकरके जो सहित है और जो समस्त पदार्थोंका निश्चय करनेवाला है ऐसा जो परमेष्ठी अरहंतदेव है वही जगतका गुरु है ॥ ४६ ॥ अन्य किसी मतमें भी ऐसा अरहंतके समान कोई पुरुष नहीं है । इसलिये अन्य योगकी व्यावृत्ति होनेसे अर्थात् अन्य किसीमें वाणी आदिके अतिशयका संयोग न होनेसे

सीयात्म्वान्वयं विनिवर्तयेत् ॥ ४८ ॥ वृत्तादनात्मनीनाद्धीः स्यादेवमनुरक्षिता । तद्रक्षणाच्च संरक्षेत्क्षत्रियः क्षितिमक्षतां ॥ ४९ ॥ उक्तस्यैवार्थतत्त्वस्य भूयोऽप्याविश्चिकीर्षया । निदर्शनानि त्रीण्यत्र वक्ष्यामस्तान्यनुक्रमात् ॥ ५० व्यक्तये पुरुषार्थस्य स्यात्पूरुषानिदर्शनं । तथा निगलदृष्टातः ससंसारिनिदर्शनः ॥ ५१ ॥ ज्ञेयः पुरुषदृष्टातो नाम मुक्तेतरात्मनो । यन्निदर्शनभावेन मुक्त्यमुक्त्योः समर्थन ॥ ५२ ॥ ससारींद्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखचारुताः तन्वावासौ च निर्वेष्टु यतते सुखलिप्सया ॥ ५३ ॥ मुक्तस्तु न तथा किंतु गुणैरुक्तैरतींद्रियैः । पर सौख्य स्वसाद्भूतमनुभुंक्ते निरतरं ॥ ५४ ॥

अरहंत भगवानमें ही आप्तपना सिद्ध होता है ॥ ४७ ॥ इसप्रकार आप्त अर्थात्. अरहंतदेवके कहे हुये इस क्षत्रियोंके धर्मको स्मरण करते हुये क्षत्रियोंको जो आप्त नहीं हैं ऐसे लोगोंके कहे हुये अन्य मतोंसे अपने वंशको अलग रखना चाहिये ॥ ४८ ॥ इसतरह जिनमें आत्माका हित नहीं है ऐसे आचरणोंसे अपनी बुद्धिकी रक्षा की जा सकती है, क्षत्रियोंको इसप्रकार अपनी बुद्धिकी रक्षा करते हुये इस अखंड पृथ्वीका पालन करना चाहिये ॥ ४९ ॥ ऊपर जो कुछ पदार्थका स्वरूप कहा है उसीको फिर स्पष्ट प्रगट करनेके लिये यहांपर अनुक्रमसे तीन उदाहरण कहते हैं ॥ ५० ॥ अपना पुरुषार्थ प्रगट करनेके लिये एक पुरुषका दृष्टांत, दूसरा निगल अर्थात् वेडीका दृष्टांत और तीसरा संसारी जीवका दृष्टांत इसतरह तीन उदाहरण हैं ॥ ५१ ॥ आगे पुरुषका उदाहरण कहते हैं–जिस उदाहरणसे मुक्त और कर्मवंधसहित आत्माका मोक्ष और वंध दोनोंका प्रतिपादन किया जाता है उसे पुरुषका उदाहरण समझना चाहिये । भावार्थ–पुरुष नाम जीवका है, जीवके दो भेद हैं संसारी और मुक्त, इन दोनोंके स्वरूपका दिखलाना ही पुरुषका उदाहरण है ॥ ५२ ॥ यह संसारी जीव सुखी होनेकी इच्छासे इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये ज्ञान दर्शन सुख वीर्य और मनोहरताको शरीररूपी घरमें ही अनुभव करनेका प्रयत्न करता है ॥ ५३ ॥ परंतु मुक्त जीव ऐसा नहीं करता वह तो ऊपर लिखे हुये अतींद्रिय गुणोंसे अपने आत्माके स्वाधीन हुये परम सुखका निरंतर अनुभव करता

तत्रैंद्रियकविज्ञानः स्वल्पज्ञानतया स्वयं। परं शास्त्रोपयोगाय श्रयति ज्ञानचिंतक ॥ ५५ ॥ तथैंद्रियकदृक्शक्तिरात्मार्वाग्भागदर्शनः । अर्थाना विप्रकृष्टानां भवेत्सदर्शनोत्सुकः ॥ ५६ ॥ तथैंद्रियकवीर्यश्च सहायापेक्षयेप्सित । कार्यं घटयितु वाञ्छेत्स्वय तत्साधनाक्षमः ॥ ५७ ॥ तथेंद्रियसुखी कामभोगैरत्यंत-मुन्मनाः । वाञ्छेत्सुखं पराधीनमिंद्रियार्थानुतर्षतः ॥५८॥ तथैंद्रियकसौंदर्यः स्नानमाल्यानुलेपनैः । विभूषणैश्च सौदर्यं. संस्कर्तुमभिलष्यति ॥५९॥ दोषधातु-मलस्थानं देहमैंद्रियक वहन् । पुमान्त्रिष्वाणभैपज्यतद्रक्षास्वाकुलो भवेत् ॥ ६० ॥ दोषानपश्यँश्च जात्यादीन्देहार्तस्तज्जिहासया । प्रेक्षाकारी तपः कर्तुं

रहता है ॥ ५४ ॥ इनमेंसे ऐंद्रियक ज्ञानवाला संसारी जीव अपनेमें थोडासा ज्ञान होनेसे शास्त्रोंका ज्ञान संपादन करनेके लिये ज्ञानका चिंतवन करनेवाले अन्य लोगोंका आश्रय लेता है ॥ ५५ ॥ इसीतरह जिसके इंद्रियोंसे देखनेकी शक्ति है ऐसा जीव अपने समीपवर्ती थोडेसे पदार्थोंको ही देख सकता है और फिर वह दूरवर्ती पदार्थोंको देखनेकेलिये उत्कंठितहोता है अर्थात् देखनेकी इच्छा करता है ॥ ५६ ॥ जिसके इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ वीर्य वा सामर्थ्य है ऐसा जीव अपने किसी इष्ट कार्यको स्वयं करनेमें असमर्थ होकर उसे दूसरेकी सहायताकी अपेक्षासे करना चाहता है ॥ ५७ ॥ तथा इंद्रियोंके सुखोंसे सुखी हुआ जीव काम भोगादिकोंसे अत्यंत उत्कंठित होकर इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छा करता हुआ पराधीन सुखको चाहता है ॥ ५८ ॥ इसी प्रकार इंद्रियोंसे उत्पन्न हुई मनोहरतासे सुंदर हुआ यह जीव स्नान, माला, चंदनादिका लेप और वस्त्र आभूषण आदिसे अपनी सुंदरता बढाना चाहता है ॥५९॥ वात, पित्त, कफ आदि दोष, हड्डी, मांस आदि धातु और मल मूत्रसे भरे हुये इस ऐंद्रियिक शरीरको धारण करता हुआ यह जीव आहार और औषधि आदिसे इस शरीरकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥ ६० ॥ जन्म मरण आदिके अनेक दोष देखता हुआ और शरीरसे दुखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसको छोड देनेकी इच्छासे तपश्चरण करनेका प्रयत्न करता है उससमय इंद्रिय संबंधी सुखोंका कारण ऐसा मकान तथा इंद्रिय संबंधी सुख और आयु आदिको

प्रयस्यति यदा तदा ॥ ६१ ॥ स्त्रीकुर्वन्निंद्रियावासं सुखमायुश्च तद्गतं । आवासांतरमन्विच्छेत्प्रेक्षमाणः प्रणश्वरं ॥ ६२ ॥ यस्त्वतींद्रियविज्ञानदृग्वीर्यसुखसततिः । शरीरावाससौंदर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥ तस्योक्तदोषसंस्पर्शो भवेन्नैव कदाचन । तद्वानाप्तस्ततो ज्ञेयः स्यादनाप्तस्त्वतद्गुणः ॥६४॥ स्फुटीकरणमस्यैव वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो नावबुध्यते ॥ ६५ ॥ तद्यथाऽतींद्रियज्ञानः शास्त्रार्थे न पर श्रयेत् । शास्ता स्वय त्रिकालज्ञः केवलामललोचनः ॥ ६६ ॥ तथाऽतींद्रियदृग्नार्थी स्यादपूर्वार्थदर्शने । तेनादृष्टं न वै किंचिद्युगपद्विश्वदृश्वना ॥ ६७ ॥ क्षायिकानंतवीर्यश्च नान्यसाचिव्यमीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्राप्तलोकाग्रशिखरालयः ॥ ६८ ॥ अतींद्रियसुखोऽप्यात्मा स्याद्भोगैरुत्सुको न वै । भोग्यवस्तुगता चिंता जायते

प्राप्त होता है और फिर उसे भी नाशवान् देखता हुआ दूसरे स्थानकी इच्छा करता है ॥ ६१-६२ ॥ परंतु जिसके अतींद्रिय ज्ञान है, अतींद्रिय दर्शन, अतींद्रिय वीर्य और अतींद्रिय सुखकी संतान है तथा जो अपने आत्मस्वरूप शरीर आवास (भवन) और सुंदरता आदिकर सहित है उसके ऊपर लिखे हुये दोषोंका स्पर्श कभी नहीं होता है। इसलिये जिसके अतींद्रिय ज्ञान दर्शन आदि है उसे ही आप्त समझना चाहिये और जिसमें अतींद्रिय ज्ञान दर्शन आदि गुण नहीं हैं वह अनाप्त कहलाता है अर्थात् वह कभी आप्त नहीं हो सकता ॥ ६३–६४ ॥ आगे ऊपर लिखे हुये वाक्यार्थोंका ही खुलासा लिखते हैं, क्योंकि जबतक किसी तत्त्वको साफ प्रगटकर न दिखाया जाय तबतक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता है ॥ ६५ ॥ उसीको दिखलाते हैं जिसके अतींद्रिय ज्ञान है ऐसा जीव अन्य किसी शास्त्रका वा शास्त्रके अर्थका आश्रय नहीं लेता, केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करने वाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वयं सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसीतरह जिसके अतींद्रिय दर्शन है वह कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि वह एक साथ ही संसारके समस्त पदार्थोंको देखता है फिर कोई ऐसा पदार्थ ही नहीं रहता जो उसका देखा हुआ न हो ॥ ६७ ॥ जिसके क्षायिक अनंत वीर्य है वह जीव अन्य किसीकी सहायता नहीं चाहता,

नास्य जात्वतः ॥ ६९ ॥ प्राप्तातींद्रियसौंदर्यो नेच्छेत्स्नानादिसत्क्रियां । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बाहिरंतर्मलक्षयात् ॥ ७० ॥ अतींद्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुद्व्याधिविषशस्त्रादिबाधातीततनुः स वै ॥ ७१ ॥ भवेच्च न तपःकामो वीतजातिजरामृतिः । नावासांतरमन्विच्छेदात्मावासे च सुस्थितः ॥ ७२ ॥ स एवमखिलैर्दोषैर्मुक्तो युक्तोऽखिलैर्गुणैः । परमात्मा परं ज्योतिः परमेष्ठीति गीयते ॥ ७३ ॥ कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न सांप्रतं । सरागः कामरूपी स्यादकृतार्थश्च सोंऽजसा ॥ ७४ ॥ प्रकृतिस्थेन रूपेण प्राप्तुं यो नालमीप्सितं । स वैकृतेन रूपेण कामरूपी कथं

क्योंकि वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके शिखरपर सिद्धालयमें जा विराजमान होता है ॥६८॥ इसी तरह जिसके अतींद्रिय सुख है ऐसा जीव भी विषय भोगोंके लिये कभी उत्कंठित नहीं होता है, क्योंकि उसके भोगोपभोग करने योग्य विषयोंकी चिंता ही कभी नहीं होती है ॥ ६९ ॥ तथा जिसके अतींद्रिय सौंदर्य प्राप्त हुआ है वह भी स्नान आदि संस्कारोंकी कभी इच्छा नहीं करता है, क्योंकि अंतरंग और बहिरंग सब मल नष्ट हो जानेसे वह स्नातक कहलाता है और फिर उसका आत्मा सदा शुद्ध रहता है ॥ ७० ॥ इसीतरह जिसके अतींद्रिय आत्मस्वरूप ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि उसका वह आत्मस्वरूपरूपी शरीर क्षुधा, व्याधि, विष, शस्त्र आदि सबकी बाधाओंसे रहित है ॥ ७१ ॥ तथा जो जन्ममरण बुढापा आदिसे रहित है वह कभी तपश्चरण करनेकी इच्छा नहीं करता और जो आत्मरूप घरमें ही सुखसे विराजमान है वह कभी अन्य स्थानकी इच्छा नहीं करता ॥ ७२ ॥ इसप्रकार जो सब दोषोंसे रहित है और समस्त गुणोंसे सुशोभित है ऐसा जो उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप परमात्मा है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥ ७३ ॥ कामरूपी होना अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करना यह आप्तका लक्षण कभी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही सरागी और निश्चयसे अकृतार्थ होता है ॥ ७४ ॥ जो स्वाभाविक रूपसे ही अपना इष्ट संपादन करनेको समर्थ नहीं है तो कामरूपी जीव अपने वि-

सुखी ॥ ७५ ॥ इति पुरुषनिदर्शन ॥ निगलस्थो यथा नेष्टं गतुं देशमलंतरां । कर्मबंधनबद्धोऽपि नेष्टं धाम तथेयृयात् ॥ ७६ ॥ यथेह बंधनान्मुक्त. परं स्वातंत्र्यमृच्छति । कर्मबंधनमुक्तोऽपि तथोपात्तस्वतंत्रता ॥ ७७ ॥ निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥ ७८ ॥ इति निगलनिदर्शन ॥ मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्यै द्वयमेतन्निदर्शन । तद्दृढीकरणायेष्ट सत्संसारिनिदर्शन ॥ ७९ ॥ यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्यतंत्रता । तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातंत्र्योपनिदर्शन ॥ ८० ॥ मतः संसारिदृष्टांत. सोयमाप्तीयदर्शने । मुक्तात्मनां भवेदेव स्वातंत्र्य प्रकटीकृत ॥ ८१ ॥ तद्यथा संसृतौ देही न स्वतंत्रः कथचन । कर्मबंधवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत् ॥ ८२ ॥ ततः परप्रधानत्वमस्यैतत्प्रतिपा-

---

कृत रूपसे (विकारसे उत्पन्न हुये रूपसे) कैसे सुखी हो सकता है ? ॥ ७५ ॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं। जैसे वेडीमें (खोडेमें) बंधा हुआ मनुष्य अपने इच्छानुसार देशमें जानेके लिये विलकुल असमर्थ होता है उसी प्रकार कर्मोंके बंधनोंसे बंधा हुआ यह जीव भी अपने इष्ट स्थानमें नहीं पहुंच सकता ॥ ७६ ॥ तथा जिसप्रकार बंधनसे छूटा हुआ यह मनुष्य अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है उसीप्रकार कर्मोंके बंधनोंसे छूटा हुआ यह जीव भी अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ जिसप्रकार वेडीमें बंधा हुआ और वेडीसे छूटा हुआ मनुष्य एकही है उसीप्रकार कर्मसे बंधा हुआ और कर्मसे छूटा हुआ आत्मा भी एक ही है। भावार्थ--जो आत्मा पहिले कर्मसे बंधा था वही कर्मसे छूटकर सिद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥ संसारी और मुक्त इन दोनों प्रकारके आत्माओंको प्रगट करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये दो उदाहरण कहे, अब पुरुषार्थको दृढ करनेके लिये संसारीका उदाहरण कहना चाहिये ॥ ७९ ॥ जो संसारी जीवोंको लेकर उनकी परतंत्रता कहना है उनकी उसी परतंत्रताके कहनेसे मुक्त जीवकी स्वतंत्रताका उदाहरण समझ लेना चाहिये॥८०॥ सर्वज्ञदेवके मतमें संसारीका उदाहरण वही बतलाया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतंत्रता प्रगट की जाय ॥ ८१ ॥ उसीको आगे दिखलाते हैं--चतुर्गतियोंके परिभ्रमणरूप इस संसारमें यह संसारी जीव

दितं । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः ॥ ८३ ॥ वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यता । क्षयवत्त्वं च देवादिभवे लब्धर्द्धिसंक्षयात् ॥ ८४ ॥ बाध्यत्व ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अतवच्चास्य विज्ञानमक्षबोधः परिक्षयी ॥ ८५ ॥ अंतवद्दर्शनं चास्य स्यादैद्रियकदर्शन । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पक ॥ ८६ ॥ स्यादस्य सुखमप्येवंप्रायमिंद्रियगोचरं । रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मांशैः कलंकन ॥ ८७ ॥ भवेत्कर्ममलावेशादतं एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणा द्विधाभावेन खंडनं ॥ ८८ ॥ मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद्विदारणं । जरावत्त्वं वयोहानिः

किसी तरह स्वतंत्र नहीं है क्योंकि कर्मबंधनके परवश होनेसे यह दूसरेके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥ ८२ ॥ इसलिये यह संसारी जीवकी परतंत्रता निरूपण की, इसीतरह सुख दुख आदि वेदनाओंके सहन करनेसे इस संसारी जीवको चंचलता भी है ॥ ८३ ॥ सुख दुख आदि वेदनाओंसे व्याकुल होना ही इसकी चंचलता कहलाती है तथा देव आदिकी पर्यायमें जो ऋद्धियां प्राप्त होती हैं आयुके अंतमें उनके क्षय होनेसे इस जीवका क्षयपना वा विनश्वरपना समझना चाहिये ॥ ८४ ॥ इस जीवको जो ताडना वा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी वाध्यता (दुःखकी प्राप्ति) है, और इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका ज्ञान भी क्षय होनेवाला है इसलिये ही वह नाशवान् है ॥ ८५ ॥ इसका दर्शन गुण भी इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी नाशवान् है और इसका वीर्य भी वैसा ही अर्थात् नाशवान् है क्योंकि इसके शरीरका बल बहुत ही थोडा है ॥ ८६ ॥ इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है अर्थात् वह भी नाशवान् है तथा इस संसारी जीवके कर्मोंके अंशका कलंक लग रहा है वही इसका मैलापन है ॥ ८७ ॥ कर्ममलके संबंध होनेसे यह जीव मैला भी है और इसके शरीरके दो दो टुकडे हो सकते हैं इसलिये इसमें छेद्यत्व अर्थात् टुकडे होनेकी योग्यता भी है ॥ ८८ ॥ मुद्गर आदिकी चोटसे इसका शरीर टूट फूट सकता है इसलिये इसमें भेद्यत्व (विदीर्ण होने वा टूटने फूटनेकी योग्यता) है, आयुका क्षय होते जाना बुढापा है और प्राणोंका नाश हो जाना मरण है ॥ ८९ ॥ परिमित (जिसे नाप सकते हैं) शरीरमें

सुखी ॥ ७५ ॥ इति पुरुषनिदर्शनं ॥ निगलस्थो यथा नेष्टं गंतुं देशमलतरा । कर्मबंधनबद्धोऽपि नेष्टं धाम तथेयूयात् ॥ ७६ ॥ यथेह वधनान्मुक्त. परं स्वातंत्र्यमृच्छति । कर्मबंधनमुक्तोऽपि तथोपान्छेत्स्वतंत्रता ॥ ७७ ॥ निगलस्थो विपाशश्च स एवैकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स एवात्मा मतस्तथा ॥ ७८ ॥ इति निगलनिदर्शनं ॥ मुक्तेतरात्मनोर्व्यक्त्यै द्वयमेतान्निदर्शनं । तद्दृढीकरणायेष्ट सत्संसारिनिदर्शनं ॥ ७९ ॥ यत्संसारिणमात्मानमूरीकृत्यान्यतंत्रता । तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातंत्र्योपनिदर्शनं ॥ ८० ॥ मतः संसारिदृष्टांत. सोयमाप्तीयदर्शने । मुक्तात्मनां भवेदेवं स्वातंत्र्यं प्रकटीकृत ॥ ८१ ॥ तद्यथा संसृतौ देही न स्वतंत्रः कथचन । कर्मबंधवशीभावाज्जीवत्यन्याश्रितश्च यत् ॥ ८२ ॥ ततः परप्रधानत्वमस्यैतत्प्रतिपा-

---

कृत रूपसे (विकारसे उत्पन्न हुये रूपसे) कैसे सुखी हो सकता है ? ॥ ७५ ॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं । जैसे वेडीमें (खोडेमें) वंधा हुआ मनुष्य अपने इच्छानुसार देशमें जानेके लिये विलकुल असमर्थ होता है उसी प्रकार कर्मोंके वंधनोंसे वंधा हुआ यह जीव भी अपने इष्ट स्थानमें नहीं पहुंच सकता ॥ ७६ ॥ तथा जिसप्रकार वंधनसे छूटा हुआ यह मनुष्य अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है उसीप्रकार कर्मोंके वंधनोंसे छूटा हुआ यह जीव भी अत्यंत स्वतंत्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ जिसप्रकार वेडीमें वंधा हुआ और वेडीसे छूटा हुआ मनुष्य एकही है उसीप्रकार कर्मसे वंधा हुआ और कर्मसे छूटा हुआ आत्मा भी एक ही है । भावार्थ--जो आत्मा पहिले कर्मसे वंधा था वही कर्मसे छूटकर सिद्ध हो जाता है ॥ ७८ ॥ संसारी और मुक्त इन दोनों प्रकारके आत्माओंको प्रगट करनेके लिये ये ऊपर लिखे हुये दो उदाहरण कहे, अव पुरुषार्थको दृढ करनेके लिये संसारीका उदाहरण कहना चाहिये ॥ ७९ ॥ जो संसारी जीवोंको लेकर उनकी परतंत्रता कहना है उनकी उसी परतंत्रताके कहनेसे मुक्त जीवकी स्वतंत्रताका उदाहरण समझ लेना चाहिये॥८०॥ सर्वज्ञदेवके मतमें संसारीका उदाहरण वही वतलाया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतंत्रता प्रगट की जाय ॥ ८१ ॥ उसीको आगे दिखलाते हैं--चतुर्गतियोंके परिभ्रमणरूप इस संसारमें यह संसारी जीव

दितं । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः ॥ ८३ ॥ वेदनाव्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यतां । क्षयवत्त्वं च देवादिभवे लब्धर्द्धिसंक्षयात् ॥ ८४ ॥ बाध्यत्व ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अतवत्त्वास्य विज्ञानमक्षबोधः परिक्षयी ॥ ८५ ॥ अतवद्दर्शनं चास्य स्यादैंद्रियकदर्शनं । वीर्यं च तद्विध तस्य शरीरबलमल्पक ॥ ८६ ॥ स्यादस्य सुखमप्येवंप्रायमिंद्रियगोचर । रजस्वलत्वमप्यस्य स्यात्कर्मांशैः कलंकन ॥ ८७ ॥ भवेत्कर्ममलावेशादत एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य गात्राणा द्विधाभावेन खडनं ॥ ८८ ॥ मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद्विदारणं । जरावत्त्वं वयोहानिः

किसी तरह स्वतंत्र नहीं है क्योंकि कर्मबंधनके परवश होनेसे यह दूसरेके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥ ८२ ॥ इसलिये यह संसारी जीवकी परतंत्रता निरूपण की, इसीतरह सुख दुख आदि वेदनाओंके सहन करनेसे इस संसारी जीवको चंचलता भी है ॥ ८३ ॥ सुख दुख आदि वेदनाओंसे व्याकुल होना ही इसकी चंचलता कहलाती है तथा देव आदिकी पर्यायमें जो ऋद्धियां प्राप्त होती हैं आयुके अंतमें उनके क्षय होनेसे इस जीवका क्षयपना वा विनश्वरपना समझना चाहिये ॥ ८४ ॥ इस जीवको जो ताडना वा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता (दुःखकी प्राप्ति) है, और इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका ज्ञान भी क्षय होनेवाला है इसलिये ही वह नाशवान् है ॥ ८५ ॥ इसका दर्शन गुण भी इंद्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिये वह भी नाशवान् है और इसका वीर्य भी वैसा ही अर्थात् नाशवान् है क्योंकि इसके शरीरका बल बहुत ही थोडा है ॥ ८६ ॥ इंद्रियोंसे उत्पन्न हुआ इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है अर्थात् वह भी नाशवान् है तथा इस संसारी जीवके कर्मोंके अंशका कलंक लग रहा है वही इसका मैलापन है ॥ ८७ ॥ कर्ममलके संबंध होनेसे यह जीव मैला भी है और इसके शरीरके दो दो टुकडे हो सकते हैं इसलिये इसमें छेद्यत्व अर्थात् टुकडे होनेकी योग्यता भी है ॥ ८८ ॥ मुद्गर आदिकी चोटसे इसका शरीर टूट फूट सकता है इसलिये इसमें भेद्यत्व (विदीर्ण होने वा टूटने फूटनेकी योग्यता) है, आयुका क्षय होते जाना बुढापा है और प्राणोंका नाश हो जाना मरण है ॥ ८९ ॥ परिमित (जिसे नाप सकते हैं) शरीरमें

प्राणत्यागो मृतिर्मता ॥ ८९ ॥ प्रमेयत्वं परिच्छिन्नदेहमात्रावरुद्धता । गर्भवासोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदुःस्थितिः ॥ ९० ॥ अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनं । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद्देहान्तरसंक्रमः ॥ ९१ ॥ क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्याविष्टचेतसः । भवेद्विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संक्रमः ॥ ९२ ॥ संसारावास एषोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनं । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामसिद्धता ॥ ९३ ॥ सुखासुखं बलाहारौ देहावासौ च देहिनां । विवर्तते तथा ज्ञानं दृक्शक्ती च रजोजुषां ॥ ९४ ॥ एवंप्रायास्तु ये भावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥ ९५ ॥

ही रुका रहनेसे इस जीवमें प्रमेयपना है और बालक होकर जो माताके पेटमें बडे कष्टसे रहता है वही इसका गर्भावास है ॥ ९० ॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है वही इसका गर्भावास है और एक शरीर छोडकर दूसरे शरीरमें जो भ्रमण करना है वह इसका विलीनपना कहलाता है ॥ ९१ ॥ जिसके चित्तमें क्रोधादिका आवेश हो रहा है ऐसे जीवका जो क्षुब्ध होना है वही इसका क्षुभितपना कहलाता है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करना ही इसका विविधयोग कहलाता है ॥ ९२ ॥ चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना ही इस जीवका संसारका निवास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंकी प्रतिकूलता होना अभाव होना ही असिद्धता कहलाती है ॥ ९३ ॥ कर्मरूपी मैलसे मैले ऐसे इन संसारी जीवोंके जैसे सुख, दुख, बल, आहार, शरीर और घर आदि बदलते रहते हैं उसीतरह ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुण भी बदलते रहते हैं ॥ ९४ ॥ इसप्रकार संसारी जीवोंके जितने भाव हैं वे सब विनश्वर हैं परंतु मुक्त जीवोंके भाव विनश्वर नहीं हैं उनके सब भाव अविनश्वर (कभी न नाश होनेवाले) हैं ॥ ९५ ॥ मुक्त जीवोंके जो भाव हैं उनमेंसे अपने आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित ऐसा जो सबसे श्रेष्ठ स्वतंत्रपना है वही सबसे पहिला भाव है ॥ ९६ ॥ वेदनासे उत्पन्न हुये पराभव वा तिरस्कारका नाश होनेसे जो इसकी चंचलताका अभाव है वही इसका निश्चलपना वा गंभीरता

मुक्तात्मना भवेद्भावः स्वप्रधानत्वमग्रिमं । प्रतिलब्धात्मलाभत्वात्परद्रव्यानपेक्षणं ॥ ९६ ॥ वेदनाभिभवाभावादचलत्वं गभीरता । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षायिकातिशयोदय. ॥ ९७ ॥ अव्याबाधत्वमस्येष्ट जीवाजीवैरबाध्यता । भवेदनतज्ञानत्व विश्वार्थाक्रमबोधन ॥ ९८ ॥ अनतदर्शनत्व च विश्वतत्वाक्रमेक्षण । योऽन्यैरप्रतिघातोस्य सा मताऽनतवीर्यता ॥९९॥ भोग्येष्वर्थेष्वनौत्सुक्यमनंतसुखता मता । नीरजस्त्वं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥ १०० ॥ निर्मलत्व तु तस्येष्ट बहिरतर्मलच्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥ १०१ ॥ योऽस्य जीवघनाकारपरिणामो मलक्षयात् । तदच्छेद्यत्वमाम्नातमभेद्यत्व च तत्कृत ॥ १०२ ॥ अक्षरत्व च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मत । अप्रमेयत्वमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धैरमेयता ॥ १०३ ॥ व हिरंतर्मलापायादग-

---

है तथा कर्मोंके क्षय होनेसे जो अतिशय उत्पन्न हुआ है वही इसका कभी न नाश होनेवाला अक्षयपना है ॥ ९७ ॥ जीव अजीव आदि किसीसे इसे बाधा नहीं पहुंचती यही इसका अव्याबाधपना है और जो इस मुक्त जीवके समस्त पदार्थोंका एक साथ ज्ञान होना है वही इसका अनंतज्ञानीपन है ॥ ९८ ॥ समस्त तत्त्वोंको एक साथ देखना ही इसका अनंतदर्शनपना है और अन्य कोई जीव इसका आघात नहीं कर सकता यही इसमें अनंतवीर्यपना है ॥ ९९ ॥ भोगोपभोग करने योग्य पदार्थोंमें जो इसकी उत्कंठा नहीं होती यही इसका अनंत सुख माना जाता है और पुण्यपापका नाश हो जाना ही इसका नीरजपना है ॥१००॥ अंतरंग बहिरंग मलका नाश होना ही इसका निर्मलपना है क्योंकि स्वभावसे ही निर्मल और अनादिकालसे सिद्ध हुआ ऐसा जीव संसारमें कोई नहीं है। भावार्थ-सब कर्मोंका नाश कर ही निर्मल और सिद्ध हुये हैं ॥१०१॥ कर्ममलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकर परिणमन है वही इसका अच्छेद्यपना (टुकडे न होनेकी योग्यता) है और उन्हीं कर्मोंके नाश होनेसे इसमें अभेद्यपना प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥ मुक्त आत्मा कभी च्युत नहीं होता इसलिये ही इसमें अक्षरपना वा अविनश्वरता है और आत्मासे उत्पन्न हुये प्रशंसनीय गुणोंसे आत्माका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिये ही इसमें अप्रमेयपना है ॥ १०३ ॥ अंतरंग और बहिरंग कर्मोंके नष्ट हो

र्भवसतीर्मता । कर्मनोकर्मविश्लेपात्स्यादगौरवलाघव ॥ १०४ ॥ तादवस्थ्यं गुणैरुद्धैरक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमात्मीयैर्गुणैरप्यत्रपृक्तता ॥ १०५ ॥ प्राग्देहाकारमूर्तित्व यदस्याहेयमक्षरं । साऽभीष्टा परमा काष्टा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥ लोकाग्रवासस्त्रैलोक्यशिखरे शाश्वती स्थितिः । अशेषपुरुषार्थाना निष्ठा परमसिद्धता ॥१०७॥ यः समग्रैर्गुणैरेभिर्ज्ञानादिभिरलङ्कृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥१०८॥ एप संसारिदृष्टातो व्यतिरेकेण साधयेत् । परमात्मानमात्मान प्रभुमप्रतिशासन ॥ १०९ ॥ त्रिभिर्निदर्शनैरेभिराविष्कृतमहोदयः । स आप्तस्तन्मते धीरैर्धिया मतिरात्मनः ॥११०॥

जानेसे इसका गर्भावास भी नहीं है और कर्म नोकर्मके नाश हो जानेसे इस मुक्त जीवमें गुरुता और लघुता भी नहीं है ॥ १०४ ॥ आत्मासे उत्पन्न हुये गुणोंसे जो अपने स्वरूपमें निमग्न रहना है वही इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे कभी अलग नहीं होना ही अविलीनपना है ॥ १०५ ॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नाश होने योग्य ऐसा जो पाहिलेके शरीरके आकारके समान इसका आकार है वही इस आत्माका रूप है और वही इसकी परम हद्द है॥१०६॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो सदा रहनेवाली इसकी स्थिति है वही इसके लोकके अग्रभागपरका निवास है और समस्त पुरुषार्थोंकी जो समाप्ति होना है वही इसकी परमसिद्धता है ॥ १०७ ॥ इसप्रकार जो ऊपर लिखे हुये ज्ञानादि समस्त गुणोंसे सुशोभित है ऐसे कृतकृत्य हुये परमात्माको पर द्रव्योंके प्राप्त होनेसे भला क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १०८ ॥ यह संसारी जीवका दृष्टांत व्यतिरेकरूपसे आत्माको जिसपर किसीका शासन नहीं चलता और जो सबका प्रभु है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है यह सिद्ध करता है ॥ १०९ ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे हुये तीनों उदाहरणोंसे जिसका महोदय प्रगट है वही आप्त है, उसी आप्तके कहे हुये मतमें धीरवीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि स्थापन करनी चाहिये ॥ ११० ॥ इसप्रकार ऊपर लिखे अनुसार जिसने सब परंपरा जान ली है और जो अन्यमतोंमें हेतु दृष्टांत आदि अनेक युक्तियोंसे दोषोंका चिंतवन करता

एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेद्दृष्टपरंपरः । मतांतरेषु दौःस्थित्यं भावयन्नुपपत्तिभिः ॥ १११ ॥ दिगंतरेभ्यो व्यावर्त्य प्रबुद्धां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेव कुर्यान्मत्यनुपालनं ॥ ११२ ॥ आत्रिकामुत्रिकापायात्परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तदिदानीं विवृण्महे ॥ ११३ ॥ आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमता । विषशस्त्राद्यपायानां परिरक्षणलक्षणा ॥ ११४ ॥ अत आमुत्रिकापायरक्षाविधिरनूद्यते । तद्रक्षणं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्प्रतिक्रिया ॥ ११५ ॥ धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः ॥ ११६ ॥ तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुर्यादेष्यत्प्रतिक्रियां । एवं हि रक्षितोऽपायाद्भवेदात्मा भवांतरे ॥ ११७ ॥ बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विना । यत्र पुत्राः ससोदर्या वैरायंते निरंतरं ॥११८॥

है उन्हें दुष्ट मानता है वही सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १११ ॥ क्षत्रियोंको अपनी जागृत हुई बुद्धिको अन्यमतोंके उपदेशोंसे हटाकर श्रेष्ठ जिनमार्गमें स्थापन करनी चाहिये और इसतरह अपनी बुद्धिका पालन करना चाहिये ॥ ११२ ॥ इस लोकसंबंधी और परलोकसंबंधी विनाशोंसे अपने आत्माकी रक्षा करना ही आत्माका पालन करना कहलाता है अब आगे इसी आत्माके पालनका व्याख्यान करते हैं ॥ ११३ ॥ विष शस्त्र आदिसे होनेवाले विनाशोंसे अपनी रक्षा करना यह जो इस लोक संबंधी विनाशोंसे अपनी रक्षा करना है वह तो बुद्धिमान लोगोंको प्रसिद्ध ही है ॥ ११४ ॥ इसलिये अब परलोक संबंधी विनाशोंसे होनेवाली रक्षा करनेकी विधि कहते हैं। परलोक संबंधी विनाशोंसे आत्माकी रक्षा धर्मसे ही हो सकती है क्योंकि सब विपत्तियोंसे बचनेका उपाय एक मात्र धर्म ही है ॥ ११५ ॥ धर्म ही सबतरहकी विपत्तियोंसे रक्षा करता है, धर्म ही इच्छानुसार फल देनेवाला है, परलोकमें कल्याण करनेवाला भी धर्म ही है और धर्मसे इस लोकमें भी आनंद प्राप्त होता है अर्थात् सुखी रहता है ॥ ११६ ॥ इसलिये धर्ममें एकाग्रचित्त (तल्लीन) होकर आगामीकालमें आनेवाली विपत्तियोंका उपाय करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही दूसरे भवमें भी सबतरहकी विपत्तियोंसे आत्माकी रक्षा हो जाती है ॥ ११७ ॥ जिस राज्यके लिये पुत्र भाई बंधु आदि सदा शत्रुता किया करते हैं और जो अनेक विपत्तियोंसे भरा हुआ है ऐसा यह राज्य

अपि चात्र मनःखेदबहुले का सुखासिका । मनसो निर्वृत्तिं सौख्यमुशंतीह विचक्षणाः ॥ ११९ ॥ राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरंते दुरितावहे । सर्वतः शकमानस्य प्रत्युतात्रासुखं महत् ॥ १२० ॥ ततो राज्यमिदं हेयमपथ्यमिव भेषजं । उपादेयं तु विद्वद्भिस्तपः पथ्यमिवाशनं ॥ १२१ ॥ इति प्रागेव निर्विद्य राज्ये भोगं त्यजेत्सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद्राज्यपरिच्छदं ॥ १२२ ॥ कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णीते स्वयमेव वा । जीवितांते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥ १२३ ॥ त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः । त्यागादिह यशोलाभः परत्राभ्युदयो महान् ॥ १२४ ॥ मत्वेति

बुद्धिमानोंको अवश्य छोड देना चाहिये ॥ ११८ ॥ दूसरी बात यह है कि इस राज्यमें मनको अत्यंत खेदखिन्नता रहती है इसलिये इसमें सुखी नहीं रह सकता क्योंकि इस संसारमें पंडित लोग मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥ ११९ ॥ इस राज्यका अंतिम परिणाम कुछ अच्छा नहीं है और इसमें सदा पाप उत्पन्न होते रहते हैं इसलिये इसमें सुखका अंशभी नहीं है। इतना ही नहीं किंतु राज्यमें सब ओर शंका बनी रहनेसे इस लोकमें उसे (राजाको) बडा भारी दुःख बना रहता है ॥ १२० ॥ इसलिये विद्वानोंको अपथ्य औषधियोंके समान इस राज्यका त्याग करदेना ही चाहिये और पथ्य भोजनके समान तपश्चरण ग्रहण करना चाहिये ॥ १२१ ॥ इसतरह विद्वान् लोगोंको पहिले ही विरक्त होकर राज्य संबंधी सब भोगोपभोगोंका त्याग कर देना चाहिये, यदि वे इसतरह अर्थात् पहिलेसे ही उसका त्याग न कर सकते हों तो उन्हें अंतमें अर्थात् मरनेके समय उन राज्य-संपदाओंका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥ १२२ ॥ इसलिये अपने जीवनका अंतिम समय अर्थात् मरनेका समय कोई कालज्ञानको जाननेवाला ज्योतिषी कह दे अथवा अपने आप उसका निर्णय हो जाय तो उससमय विद्वान क्षत्रियको अपना शरीर त्याग कर देनेके लिये अपनी बुद्धि अवश्य लगानी चाहिये ॥ १२३ ॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस संसारमें कीर्ति फैलती है और त्यागसे ही परलोकमें इंद्रादि पदके बडे बडे ऐश्वर्य प्राप्त होते

तनुमाहारं राज्य च सपरिच्छदं । त्यजेदायतने पुण्ये पूजाविधिपुरस्सरं ॥ १२५ ॥ गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीषहजयायत्ता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥ १२६ ॥ ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृती जेतु परीषहान् । विनाऽनुप्रेक्षणैश्चित्तसमाधानं हि दुर्लभं ॥ १२७ ॥ प्रागभावितमेवाह भावयामि न भावित । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनां ॥ १२८ ॥ समुत्सृजेदनात्मीय शरीरादिपरिग्रहं । आत्मीय तु स्वसात्कुर्याद्रत्नत्रयमनुत्तरं ॥ १२९॥ मनोव्याक्षेपरक्षार्थं ध्यायन्निति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदते संस्मरन्परमेष्ठिना ॥ १३० ॥ तथाविसर्जितप्राणः प्रणिधानपरायणः ।

हैं ॥ १२४ ॥ यही समझकर क्षत्रियोंको जीवनके अंतिम समयमें तीर्थक्षेत्र वा जिनालय आदि किसी पवित्रस्थानमें रहकर विधि पूर्वक पूजा आदि करके शरीर, आहार और चमर छत्र सहित यह राज्य अवश्य छोड देना चाहिये ॥ १२५ ॥ इसप्रकार विधिके अनुसार गुरुकी साक्षी पूर्वक जिस महात्माने शरीर और आहारका त्याग कर दिया है उसकी सिद्धि परीषहोंके विजय करनेके आधीन है अर्थात् उसे परीषह अवश्य सहन करनी चाहिये ॥ १२६ ॥ तथा उस प्रवीण पुरुषको परीषहोंके जीतनेके लिये अनुप्रेक्षाओंका ध्यान करना चाहिये, क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिंतवन करनेके विना चित्तका समाधान होना अत्यंत कठिन है ॥ १२७ ॥ " जिसका चिंतवन पहिले कभी नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका मैं चिंतवन करता हूं और जिसका चिंतवन पहिले किया था ऐसे मिथ्यात्व आदिका मैं चिंतवन नहीं करता " इसप्रकारके परिणामोंसे तत्वोंकी भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥ १२८ ॥ जो आत्मसंबंधी नहीं है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये और जो सर्वोत्तम रत्नत्रय आदि आत्माके परिणाम हैं उन्हें ग्रहण करना चाहिये ॥ १२९ ॥ निश्चलबुद्धिवालेको अपने मनकी चंचलता दूर करनेके लिये इसप्रकार चिंतवन करते हुये और पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करते हुये आयुके अंतमें अपने प्राणोंका त्याग कर देना चाहिये ॥ १३० ॥ जो इसप्रकार समाधि धारण कर अपने प्राणोंका त्याग करता है वह अपने कर्मबंधनोंको शिथिलकर

शिथिलीकृत्य कर्माणि शुभा गतिमुपाश्नुते ॥ १३१ ॥ तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयं । सिद्धिमाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥ ततश्च्युता परिप्राप्तमानुष्यः परम तपः । कृत्वाऽते निर्वृतिं याति निर्धूताखिलबंधनः ॥ १३३ ॥ क्षत्रियो यस्त्वनात्मज्ञः कुर्यान्नात्मानुपालनं । विषशस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मृतिर्ध्रुवभाविनी ॥ १३४ ॥ दुर्मृतश्च दुरतेऽस्मिन्भवावर्ते दुरुत्तरे । पतित्वाऽमुत्र दुःखाना दुर्गतौ भाजनं भवेत् ॥ १३५ ॥ ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन्महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥ १३६ ॥ कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत

शुभगतिको प्राप्त होता है ॥ १३१ ॥ जो समर्थ है वह तो उसी भवमें अपने समस्त कर्मोंको नष्टकर सिद्धगतिको (मोक्षको) प्राप्त होता है और जो मोक्ष जानेकोलिये असमर्थ है वह सर्वार्थसिद्धि आदि उत्तम स्वर्गोंमें उत्पन्न होता है ॥ १३२ ॥ वह वहांसे च्युत होकर मनुष्य जन्म धारणकर तथा परम तपश्चरणकर अंतमें समस्त कर्मबंधनोंको नष्टकर मुक्त होता है ॥ १३३ ॥ अपने आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी अपमृत्यु अवश्य ही विष शस्त्र आदिसे होती है ॥ १३४ ॥ तथा जिसकी अपमृत्यु होती है वह जिसका अंत अत्यंत भयानक है और जिसके पार जाना अत्यंत कठिन है ऐसे संसाररूपी समुद्रमें पडकर परलोकमें नरक आदि दुर्गतियोंके अनेक दुःखोंका पात्र होता है ॥ १३५ ॥ इसलिये बुद्धिमान क्षत्रियोंको दोनों लोकोंका हित करनेवाला और अनेक विघ्न दुर्गति आदिसे आत्माकी रक्षा करनेवाला ऐसा जो यह आत्माका परिपालन है इसमें अवश्य ही महा प्रयत्न करना चाहिये । भावार्थ—क्षत्रियोंको इस लोक और परलोक संबंधी अपायोंसे आत्माकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १३६ ॥ इस प्रकार जो अपने आत्माकी रक्षा करनेमें तत्पर है ऐसे राजाको अपनी प्रजाका पालन करनेकेलिये प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि राजाका यह (प्रजाका पालन करना) गुण सब गुणोंमें श्रेष्ठ है, मुकुटके समान है ॥ १३७ ॥ उस प्रजाका किसप्रकार पालन करना चाहिये यह सुननेकी इच्छा हो तो ग्वालियेका बहुत अच्छा उदाहरण लेकर उसे

राज्ञां मौलो ह्ययं गुणः ॥ १३७ ॥ कथं च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपंचनं । पुष्टं गोपालदृष्टांतमूरीकृत्य विवृणमहे ॥ १३८ ॥ गोपालको यथा यत्नाद्गाः संरक्षत्यतंद्रितः । क्षमापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेन्निजाः प्रजाः ॥ १३९ ॥ तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी स्वगोकुले । तमंगच्छेदनाद्युग्रदंडैस्तीव्रमयोजयन् ॥ १४० ॥ पालयेदनुरूपेण दंडेनैव नियत्रयन् । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत् ॥ १४१ ॥ तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीव्रमुद्वेजयेत्प्रजाः । ततो विरक्तप्रकृतिं जह्युरेनममूः प्रजाः ॥ १४२ ॥ यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोपयन्नेव पुष्टः स्याद्गोपोषं प्राज्यगोधनः ॥ १४३ ॥ तथैप नृपतिर्मौलं तंत्रमात्मीयमेकतः । पोपयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिंश्च मण्डले ॥ १४४ ॥ पुष्टो मौलेन तंत्रेण यो हि

विस्तारके साथ निरूपण करते हैं ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार ग्वाला (गाय चरानेवाला) बडे प्रयत्नसे सावधान होकर गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी बडे प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३९ ॥ आगे उसीको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं—कदाचित् अपने गायोंके समूहमें कोई गाय कुछ अपराध करे तो वह ग्वाला उस अपराधी गायका कोई अंग काट डालना आदि कठोर दंड देकर उसे कठिन शिक्षा नहीं देता है किंतु उसकी योग्यतानुसार दंड देकर उसे अपने वश कर उसकी रक्षा करता है, जिसप्रकार वह ग्वाला उन अपराधी गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये, भावार्थ—अपराधी प्रजाको कठिन दंड न देकर उसके योग्यतानुसार दंड देकर उसे वशकर उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १४०-१४१ ॥ यह निश्चय है कि जो राजा कठिन दंड देता है वह प्रजाको अत्यंत व्याकुल वा दुःखी कर देता है और फिर व्याकुलहुई वह प्रजा परिवार आदिके लोगोंने जिससे अनुराग करना छोड दिया है ऐसे उस राजाको अवश्य ही छोडदेती है ॥ १४२ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला अपने गायोंके समूहमें मुख्य मुख्य पशुओंका पालन करता हुआ ही पुष्ट वा समृद्धशाली होता है क्योंकि गायोंका पालन करनेसे ही वह बहुतसी गायोंवाला होता है ॥ १४३ ॥ उसीप्रकार राजा भी अपने मुख्य बलको एक जगह पालन पोषण

पार्थिवकुंजरः । स जयेत्पृथिवीमेना सागरातामयत्नतः ॥ १४५ ॥ प्रभग्नचरणं किंचिद्गोद्रव्यं चेत्प्रमादतः । गोपालस्तस्य संधानं कुर्याद्बंधाद्युपक्रमैः ॥ १४६ ॥ बद्धाय च तृणाद्यस्मै दत्वा दार्ढ्यं नियोजयेत् । उपद्रवांतरेऽप्येवमाशु कुर्यात्प्रतिक्रियां ॥ १४७ ॥ यथा तथा नरेंद्रोऽपि स्वबले व्रणितं भट । प्रतिकुर्याद्भिषग्वर्यान्नियोज्यौषधसंपदा ॥ १४८ ॥ दृढीकृतस्य चास्योद्धजीवनादि प्रार्चितयेत् । सत्येव भृत्यवर्गोऽस्यश श्वदाप्नोति नद्युं ॥ १४९॥ यथैव खलु गोपालो सध्यास्थिचलने गवा । तदस्थि स्थापयन्प्राग्वत्कुर्याद्योग्या प्रतिक्रिया ॥ १५० ॥ तथा नृपोऽपिसंग्रामे भृत्यमुख्ये व्यसौ सति । तत्पदे

करनेसे ही अपने और दूसरेके राज्यमें बलवान गिना जाता है ॥ १४४ ॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने मुख्य बलसे (सेना आदिसे) बलवान् है वह इस समुद्रपर्यंत समस्त पृथ्वीको विना किसी प्रयत्नके ही जीत लेता है ॥ १४५ ॥ तथा—कदाचित् प्रमादके कारण किसी गाय आदिका कोई पैर आदि टूट जाय तो ग्वाला उसे बांधना आदि उपायोंसे उस पैरको जोडता है, उस गायको बांधता है बांधी हुई उस गायको घास डालता है और जिसतरह उसका पैर मजबूत हो उसीतरहका प्रयत्न करता है तथा इसीतरह उन पशुओंपर कोई और भी उपद्रव वा आपत्ति आजाय तो वह शीघ्र ही उसका उपाय करता है ॥ १४६–१४७ ॥ जिसप्रकार ग्वाला ऊपर लिखे अनुसार उपाय करता है उसीप्रकार यदि अपनी सेनामें किसी वीर पुरुषके कुछ चोट लग गई हो घाव होगया हो तो किसी अच्छे वैद्यसे औषधि रूपी संपत्ति दिलाकर राजाको भी उसका शीघ्र उपाय वा इलाज करना चाहिये ॥ १४८ ॥ तथा जब वह वीर अच्छा हो जाय तब राजाको उसे अच्छी आजीविका देनेका विचार करना चाहिये, ऐसा करनेसे इस राजाके समस्त नौकर लोग सदा संतुष्ट बने रहेंगे ॥१४९॥ तथा जिसप्रकार यदि गायकी कोई हड्डी उसकी सांधिसे हट गई हो तो वह ग्वाला पाहिलेके समान ही उसकी हड्डीको जोडता हुआ यथायोग्य उपचार करता है उसीप्रकार किसी युद्धमें किसी मुख्य वीर वा सेनापति आदिके मर जानेपर राजाको भी उसके स्थानपर उसके पुत्र अथवा भाईको स्था-

पुत्रमेवास्य भ्रातरं वा नियोजयेत् ॥ १५१ ॥ सति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तता । उपैति भृत्यवर्गोस्मिन् भवेच्च ध्रुवयोधनः ॥ १५२ ॥ यथा खल्वपि गोपालः कृमिदष्टे गवां गणे । तद्योग्यमौषधं दत्वा करोत्यस्य प्रतिक्रियां ॥१५३॥ तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं स्वानुजीविन । विमनस्क विदित्वैनं सौचित्ये सन्नियोजयेत् ॥ १५४ ॥ विरक्तोऽस्यानुजीवी स्यादलब्धोचितजीवनः । प्रभोर्विमाननाच्चैव तस्मान्नेन विरूक्षयेत् ॥१५५॥ तद्दौर्गत्यं व्रणस्था-नकृमिसंभवसन्निभं । विदित्वा तत्प्रतीकारमाशु कुर्याद्विशांपतिः ॥ १५६ ॥ बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविना । उचितात्स्वामिसन्मानाद्यथैषा जायते धृतिः ॥ १५७ ॥ गोपालको यथा यूथे स्वे महोक्षं भरक्षमं । ज्ञात्वाऽस्य नस्यकर्मादि विदध्याद्गात्रपुष्टये ॥ १५८ ॥ तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे

पन करना चाहिये ॥ १५०–१५१ ॥ ऐसा करनेसे सब सेवक लोग ' यह राजा बडा ही कृतज्ञ है ' ऐसा मानकर इसपर प्रेम करने लगेंगे और फिर वे काम पडनेपर युद्धमें खूब लडनेवाले बन जायंगे ॥ १५२ ॥ तथा जिसप्रकार यदि उन गायोंको कोई कीडा काट ले तो वह ग्वाला उसकी योग्यतानुसार औषधि देकर शीघ्र ही उसका इलाज करता है उसीप्रकार राजाको भी अपने किसी दरिद्र सेवकको उदास वा खेदखिन्न जानकर अवश्य ही उसके चित्तको संतुष्ट करना चाहिये, ॥१५३-१५४॥ क्योंकि जिस सेवककी उचित आजीविका नहीं है और ऐसी अवस्थामें राजा भी उसका कुछ समाधान न करे तो अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे वह विरक्त वा उदास हो जायगा, इसलिये राजाको अपना सेवक कभी उदास अथवा प्रेमरहित नहीं करना चाहिये ॥ १५५ ॥ सेवककी जो दरिद्रता है वह घावमें कीडे उत्पन्न होनेके समान है उसे जानकर राजाको शीघ्र ही उसका इलाज करना चाहिये ॥ १५६ ॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित आदर सत्कार पानेपर जैसा संतोष होता है वैसा संतोष वा समाधान बहुतसा द्रव्य देनेपर भी नहीं होता है ॥ १५७ ॥ तथा–जिसप्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समुदायमें किसी बडे बैलको अधिक बोझा ढोने योग्य देखता है तो वह उसका शरीर पुष्ट करनेकेलिये उसे तेल आदि पौष्टिक पदार्थ देता है और उसकी नाकमें तेल डालता

योद्धारं भटसत्तमं, ज्ञात्वैनं जीवनं प्राज्यं दत्वा सम्मानयेत्कृती ॥ १५९ ॥ कृतापदानं तद्योग्यैः सत्कारैः प्रीणयन्प्रभुः । न मुच्यतेऽनुरक्तैः स्वैरनुजीविभिरन्वह ॥ १६० ॥ यथा च गोपो गोयूथ कटकोपलवर्जिते । शीतातपादिबाधाभिरुज्झिते चारयन्वने ॥ १६१ ॥ पोषयत्यतियत्नेन तथा भूपोऽप्यविप्लवे । देशे स्वानुगतं लोक स्थापयित्वाऽभिरक्षयेत् ॥ १६२ ॥ राज्यादिपरिवर्तेऽस्य जनोऽयं पीड्यतेऽन्यथा । चौरैर्डामरकैरन्यैरपि प्रत्यतनायकैः ॥ १६३ ॥ प्रसह्य च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कंटकोद्धरणेनैव प्रजाना क्षेमधारण ॥ १६४ ॥ यथैव गोपः सजात वत्सं मात्रासहानुग । दिनमेकमवस्थाप्य

है उसीप्रकार चतुर राजाको भी अपनी सेनामें सव योद्धाओंमें उत्तम ऐसे किसी वीरपुरुषको जानकर उसे अच्छी आजीविका देनी चाहिये और इसतरह उसका आदर सत्कार करना चाहिये ॥ १५८-१५९ ॥ जिसने अपना पराक्रम प्रगट किया है ऐसा जो वीर पुरुष है उसकी योग्यतानुसार आदर सत्कारकर राजाको उसे प्रसन्न करना चाहिये क्योंकि जो सेवक राजापर सदा प्रेम करते हैं वे उस राजाको कभी नहीं छोड सकते ॥ १६० ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको जिसमें कांटे पत्थर नहीं है और धूप सर्दी आदिकी कोई वाधा नहीं है ऐसे वनमें चराता हुआ वडे यत्नसे उनका पालन करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोंको किसी उपद्रव रहित देशमें स्थापन कर उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १६१--१६२ ॥ यदि इसतरह वह अपने सेवकोंकी रक्षा नहीं करेगा तो राज्यके उलट पलट होनेपर अर्थात् वदलनेपर चोर, डाकू वा लडाकू म्लेच्छ सेनापति तथा और भी कितने ही लोग उन सेवकोंको अवश्य ही पीडा देंगे ॥ १६३ ॥ राजाको ऐसे चोर डाकू आदि लोगोंकी जीविका जवरन तोड देनी चाहिये, क्योंकि ऐसे ऐसे कांटोंको उखाडकर दूर फेंक देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥ १६४ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला माताके साथ रहनेवाले हालके उत्पन्न हुये बच्चेको एक दिन उसीतरह अर्थात् माताके साथ ही रखता है, फिर दूसरे दिन अपने वडे दयालु परिणामोंसे बहुत धीरे धीरे उसके पैरमें रस्सी बांधकर खूंटेसे बांधता है, तथा उसकी जरायु

ततोऽन्येद्युर्दयार्द्रधीः ॥ १६५ ॥ विधाय चरणे तस्य शनैर्बंधनसंन्निधिं। नाभिनालं पुनर्गर्भनालेनापास्य यत्नतः ॥ १६६ ॥ जंतुसंभवशंकाया प्रतीकारं विधाय च । क्षीरोपयोगदानाद्यैर्वर्द्धयेत्प्रतिवासरं ॥१६७॥ भूपोऽप्येवमुपासन्न वृत्तये स्वमुपासितुं । यथाऽनुरूपैः सम्मानैः स्वीकुर्यादनुजीविनं ॥१६८॥ स्वीकृतस्य च तस्योद्धजीवनादिप्रचिंतया । योगक्षेम प्रयुंजीत कृतक्लेशस्य सादरं ॥१६९॥ यथैव खलु गोपालः पशून् क्रेतु समुद्यतः । क्षीरावलोकनाद्यैस्तान्परीक्ष्य गुणवत्तमान् ॥१७०॥ क्रीणाति शकुनादीनामवधारणतत्परः । कुलपुत्रान्नृपोऽप्येवं क्रीणीयात्सुपरीक्षितान् ॥ १७१ ॥ क्रीतांश्च वृत्तिमूल्येन तान्यथावसर प्रभुः । कृत्येषु विनियुजीत भृत्यैः साध्यं फल हि तत् ॥ १७२ ॥ यथैव प्रतिभूः कश्चिद्गोक्रये प्रतिगृह्यते । बलवान् प्रतिभूस्तद्वद्ग्राह्यो

(झिल्ली) और नाभिका नाल बडे यत्नसे दूर करता है, यदि उसमें कीडे पडनेकी शंका हो तो शीघ्र ही उसका इलाज करता है और दूध पिलाकर तथा चारा आदि देकर प्रति दिन उसे बढाता रहता है ॥ १६५-१६६-१६७ ॥ उसी प्रकार राजाओंको आजीविका करनेके लिये अपनी सेवा करनेको आये हुये सेवक लोगोंको उनकी योग्यतानुसार आदर सत्कारकर उन्हें स्वीकार करना चाहिये ॥ १६८ ॥ तथा जिन्हें स्वीकार कर लिया है और जो अपने लिये क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोंकी अच्छी आजीविकाका विचार कर योग (जो नहीं है वह देना) और क्षेम (दियेकी रक्षा करना) के साथ उन्हें रखना चाहिये ॥ १६९ ॥ तथा जिसप्रकार शकुन आदिके जाननेमें तत्पर वह ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिये तैयार होता है तब उनका दूध देखकर तथा और भी अनेक उपायोंसे उनकी परीक्षाकर उनमेंसे अच्छे अच्छे गुणी पशुओंको खरीदता है उसी प्रकार राजाओंको भी अच्छीतरह परीक्षाकर अच्छे अच्छे वंशमें उत्पन्न हुये पुत्रोंको खरीदना चाहिये ॥ १७० १७१ ॥ आजीविकाके मूल्यमें खरीदे हुये उन सेवकोंको योग्यसमयपर किसी कार्यमें नियुक्त कर देना चाहिये क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोंके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥ १७२ ॥ जिसप्रकार किसी पशुके खरीदनेमें किसी पुरुषको जामिनदार बनाते हैं उसीप्रकार राजाको भी सेवकोंका संग्रह

भृत्योपसंग्रहे ॥१७३॥ याममात्रावशिष्टायां रात्रावुत्थाय यत्नतः । चारयित्वोचिते देशे गाः प्रभूततृणोदके ॥ १७४ ॥ प्रातस्तरामथानीय वत्सपीतावशिष्टकं । पयो दोग्धि यथा गोपो नवनीतादिलिप्सया ॥ १७५ ॥ तथा भूपोऽप्यतद्राल्लुर्भक्तग्रामेषु कारयेत् । कृषिं कर्मांतिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥ देशेऽपि कारयेत्कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीवलैः । धान्यानां संग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो हरेत् ॥ १७७ ॥ सत्येव पुष्टतंत्रः स्याद्भांडागारादिसंपदा । पुष्टो देशश्च तस्यैव स्याद्धान्यैराशितंभवैः ॥ १७८ ॥ प्रदेशेवाक्षरम्लेच्छान्प्रजाबाधाविधायिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ १७९ ॥ विक्रिया

करते समय किसी बलवानको जामिनदार बनाना चाहिये ॥ १७३ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला जब रात्रिका पिछला पहर बाकी रह जाता है तभीसे उठकर जहां बहुतसा घास और पानी हो ऐसे किसी योग्य देशमें बडे प्रयत्नसे उन गायोंको चराता है तथा बडे सबेरे ही फिर उन्हें बापिस लाकर जो बछडेके पीनेसे बाकी बच रहता है उस दूधको मक्खन (लौनी) आदि निकालनेकी इच्छासे दुह लेता है ॥ १७४–१७५ ॥ उसीप्रकार राजाको भी अपना आलस छोडकर प्रथम ही अपने आधीन हुये गांवोंमें बीज देकर तथा और भी सहायता देकर वहांके किसानोंसे खेती करानी चाहिये ॥ १७६ ॥ राजाको अच्छे अच्छे किसानोंसे अपने समस्त देशमें खेती कराना चाहिये और धान्योंका संग्रह करनेके लिये उन किसानोंसे न्यायपूर्वक जितना होता हो उतना एक अंश ले लेना चाहिये ॥ १७७ ॥ ऐसा करनेसे उसके भंडार वा खजाने आदिमें बहुतसी संपत्ति आजानेसे उसका बल (सेना) बहुत ही मजबूत हो जायगा तथा संतोष व तृप्त करनेवाले (बहुतसे) उन धान्योंसे उस राजाका वह देश भी समृद्धशाली (धनवान) हो जायगा ॥ १७८ ॥ अपने आसपास प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ (वेदसे जीविका करनेवाले) हैं उन्हें उनका कुल शुद्ध करना (अर्थात् उन्हें जैनमतकी दीक्षा देना) आदि अनेक उपायोंसे अपने वश करना चाहिये ॥ १७९ ॥ अपने राजासे इस तरह आदर सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नहीं करेंगे यदि राजा

न भजत्येते प्रभुणा कृतसत्क्रियाः । प्रभोरलब्धसम्माना विक्रियंते हि तेन्वहं ॥ १८० ॥ ये केचिच्चाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्णवः । तेऽपि कर्षकसामान्यं कर्तव्याःकरदा नृपैः ॥१८१॥ तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छा येऽमी वेदोपजीविनः । अधर्माक्षरसम्पाठैर्लोकव्यामोहकारिणः ॥१८२॥ यतोऽक्षरकृतं गर्वमविद्यावलतस्तके । वहत्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥ १८३ ॥ म्लेच्छाचारो हि हिंसाया रतिर्मांसाशनेऽपि च । वलात्परस्वहरणं निर्धूर्तत्वमिति स्मृतं ॥ १८४ ॥ सोऽस्त्यमीषा च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तादृशं वहु मन्यते जातिवादावलेपतः ॥ १८५ ॥ प्रजासामान्यतैवैषा मता वा स्यान्निकृष्टता । ततो न मान्यताऽस्त्येषां द्विजा मान्याः स्युरार्हताः ॥ १८६ ॥ वय निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसम्मताः । धान्यभागमतो राज्ञे न दद्म इति

लोग उनका आदर सत्कार नहीं करेंगे तो वे अवश्य ही रात दिन कुछ न कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥ १८० ॥ तथा जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने देशमें ही संचार करते हों उनपर भी राजाओंको सामान्य किसानोंके समान कुछ न कुछ कर अवश्य लगाना चाहिये ॥ १८१ ॥ जो वेद पढकर अपनी जीविका किया करते हैं और अधर्म करनेवाले अक्षरोंका पाठ कर जो लोगोंको ठगा करते हैं उन्हें अक्षरम्लेच्छ कहते हैं ॥ १८२ ॥ क्योंकि वे नीच अपने अज्ञानके वलसे अक्षरोंसे (वेदके पढनेसे) उत्पन्न हुये अभिमानको धारण करते हैं इसलिये पापसूत्रोंसे जीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥ १८३ ॥ हिंसामें प्रेम मानना, मांस खानेमें प्रेम मानना, जबर्दस्ती दूसरेका धन हरण करना और भ्रष्ट होना यही म्लेच्छोंका आचार वा आचरण समझना चाहिये॥१८४॥ ये सव आचरण इनमें हैं और अपने ब्राह्मण जातिके अभिमानसे ये नीच ब्राह्मण हिंसा करना, मांस खाना आदिको पुष्ट करनेवाले वेदशास्त्रके अर्थको वहुत कुछ मानते हैं ॥१८५॥ इसलिये इन ब्राह्मणोंको सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिये अथवा सामान्य प्रजासे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिये और इसलिये ही संसारमें इन ब्राह्मणोंकी कुछ मान्यंता नहीं है जो ब्राह्मण अरहंतदेवके सेवक हैं संसारमें वे ही मान्य गिने जाते हैं ॥ १८६ ॥ "हम ही लोगोंको संसारसे पार करनेवाले हैं

चेन्मतं ॥ १८७ ॥ वैशिष्ट्यं किंकृतं शेषवर्णेभ्यो भवतामिह । न जातिमात्राद्वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥ १८८ ॥ गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यमस्ति वो नामधारकाः । व्रतिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥ १८९ ॥ निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः । म्लेछाचारपरा यूय न स्थाने धार्मिका द्विजाः ॥ १९० ॥ तस्मादतेऽकुरु म्लेच्छा इव तेऽमी महीभुजा । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविशेषिता. ॥ १९१ ॥ किमत्र बहुनोक्तेन जैनान्मुक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये मान्या नरेन्द्राणा प्रजासामान्यजीविकाः ॥ १९२ ॥ अन्यच्च गोधन गोपो व्याघ्रचोराद्युपद्रवात् । यथा रक्षत्यतद्रा-

हम ही देवब्राह्मण हैं और लोग सब हम हीको मानते हैं इसलिये हम राजाके लिये अपने धान्योंका एक अंश नहीं देंगे" इसप्रकार कदाचित् वे ब्राह्मण कहें तो उनसे पूछना चाहिये कि तुम लोगोंमें अन्य वर्णोंसे जो विशेषता हुई है वह क्यों हुई है अर्थात् तुम और लोगोंसे क्यों अधिक हो, कदाचित् कहो कि हम जातिमें सबसे अधिक हैं सो यह तुम्हारा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिमात्रसे भिन्नता कुछ दिखती नहीं है ॥१८७--१८८॥ कदाचित् यह कहो कि गुणोंसे हम सबसे अधिक हैं सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तुम लोग केवल नामके ब्राह्मण हो, जो व्रतोंको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वास्तवमें वे ही गुणोंसे अधिक हैं ॥ १८९ ॥ तुम लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य निर्लज्ज पशुओंकी हिंसा करनेवाले और म्लेच्छोंके आचरण करनेमें तत्पर हो, इसलिये तुम धर्मात्मा ब्राह्मण कभी नहीं हो सकते ॥ १९० ॥ इसलिये राजाओंको इन अक्षरम्लेच्छोंसे साधारण प्रजाके समान धान्यों का भाग लेकर इन्हें सबके समान मानना चाहिये ॥ १९१ ॥ बहुत करनेसे क्या लाभ है राजाओंको उत्तम जैन ब्राह्मणोंको छोडकर अन्य कोई पूज्य नहीं है, बाकी सब प्रजाके समान आजीविका करनेवाले हैं ॥ १९२ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला सावधान होकर वाघ चोर आदिके उपद्रवोंसे गायोंकी रक्षा करता है उसीप्रकार राजाको भी सब उपद्रवोंसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिये ॥ १९३ ॥ तथा जिसप्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेके लिये राजाके

लुर्भूपोऽप्येव निजाः प्रजाः ॥ १९३ ॥ यथा च गोकुल गोमत्यायाते संदिदृक्षया । सोपचारमुपेत्यैनं तोपयेद्धनसपदा ॥ १९४ ॥ भूपोऽप्येवं वली कश्चित्स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत् । तदा वृद्धैः समालोच्य संदध्यात्पणबंधतः ॥ १९५ ॥ जनक्षयाय संग्रामो बह्वपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः संधेयोऽरिर्बलाधिकः ॥ १९६ ॥ इति गोपालदृष्टांतमूरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजाना पालने यत्न विदध्यान्नयवर्त्मना ॥ १९७ ॥ प्रजानुपालन प्रोक्त पार्थिवस्य जितात्मनः । समजसत्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणातरं ॥ १९८ ॥ राजा चित्त समाधाय यत्कुर्याद्दुष्टनिग्रहं । शिष्टानुपालन चैव तत्सामंजस्यमुच्य-

---

स्वयं आनेपर भेट लेकर उसके सामने जाता है और घी दूधकी विक्रीसे प्राप्त हुआ कुछ धन देकर उसे संतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यमें आवे तो वृद्ध लोगोंके साथ विचारकर उसे कुछ कर देकर उसके साथ संधि करलेनी चाहिये ॥ १९४-१९५ ॥ युद्ध करनेसे बहुतसे लोगोंका नाश होजाता है तथा उससे बहुतसी हानियां होती हैं और अंतिम परिणाम बहुत ही बुरा होता है इसलिये बलवान शत्रुको उसकी योग्यतानुसार वस्तु या सवारी आदि देकर उसके साथ संधि करलेना ही ठीक है ॥१९६॥ राजाको इसप्रकार ग्वालाका दृष्टांत स्वीकार कर न्यायमार्गसे प्रजाके पालन करनेका सदा प्रयत्न करना चाहिये ॥ १९७ ॥ इसतरह इंद्रियोंको निग्रह करनेवाले राजाका प्रजानुपालन नामका गुण कहा, अब आगे समंजसत्व नामका जो उसका अंतिमगुण है उसे कहते हैं ॥ १९८ ॥ राजा अपने चित्तको समाधान पूर्वक रखकर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करता है और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥ १९९ ॥ जो राजा निग्रह करने योग्य चाहे अपना शत्रु हो या पुत्र हो उसे अवश्य दंड देता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है और चाहे दुष्ट हों वा मित्र हों सब निरपराधी होने चाहिये ' ऐसी जो सदा इच्छा करता रहता है, इसप्रकार जो मध्यस्थ भावसे रहता है वही समदर्शी अर्थात् सब प्रजाको एकसा देखनेवाला राजा समंजस कहलाता है, प्रजाको विषम दृष्टिसे नहीं देखना सबको समान देखना (किसीका पक्षपात

ते ॥ १९९ ॥ द्विषतमथवा पुत्र निगृह्णन्निग्रहोचितं । अपक्षपातितो दुष्टमिष्टं चेच्छन्ननागस ॥ २०० ॥ मध्यस्थवृत्तिरेव| य समदर्शी समजसः । समजसत्वसद्भावः प्रजास्वविषमेक्षिता ॥ २०१ ॥ गुणेनैतेन शिष्टाना पालन न्यायजीविनां । दुष्टाना निग्रह चैव नृप. कुर्यात्कृतागसां ॥ २०२ ॥ दुष्टा हिंसादिदोपेषु निरताः पापकारिण. । शिष्टास्तु क्षातिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नरा. ॥ २०३ ॥ इत्थ मनु सकलचक्रभृदादिराजस्तान्क्षात्रियान्नियम-यन्पथि सुप्रणीते । उच्चावचैर्गुरुमतैरुचितैर्वचोभिः शास्ति स्म वृत्तमखिल पृथिवीश्वराणा ॥ २०४ ॥ इत्युच्चैर्भरतेशिना नुकथित सर्वीयमुर्वीश्वराः क्षात्र धर्ममनुप्रपद्य मुदिताः स्वा वृत्तिमन्वैयरुः । योगक्षेमपयेपु तेपु सहिताः सर्वे च वर्णाश्रमा. स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता धृतिमधुर्धर्मोत्सवैः प्रत्यहम्॥२०५॥

नहीं करना) ही राजाका समंजसत्व गुण कहलाता है ॥ २००-२०१ ॥ इस समंजसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक जीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन करना चाहिये और अपराध करनेवाले दुष्ट जीवोंका निग्रह करना चाहिये ॥ २०२ ॥ जो हिंसा आदि दोषोंमें सदा तत्पर रहते हैं ऐसे पाप करनेवाले जीवोंको दुष्ट कहते हैं और जो क्षमा शौच आदि गुणोंसे धर्ममें तत्पर रहते हैं वे मनुष्य शिष्ट कहलाते हैं ॥ २०३ ॥ इसप्रकार सब चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा और सोलहवां मनु (कुलकर) ऐसे भरतने उन क्षत्रियोंको भगवानके कहे हुये मार्गमें नियुक्त किया तथा अपने पिता श्रीवृषभदेवको मान्य ऐसे यथायोग्य ऊंचे नीचे वचनोंसे राजाओंके समस्त आचरणोंका उपदेश दिया ॥ २०४ ॥ इसप्रकार महाराज भरतने जो सबका हित करनेवाला क्षत्रियोंका धर्म बहुत अच्छी तरह कहा था उसे स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हुये और सब अपने अपने आचरणोंके अनुसार चलने लगे तथा अपना हित करनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने मार्गमें (अपने अपने आश्रमके आचरणोंमें) स्थिर रहकर और प्रति दिन धर्मोत्सव करते हुये योग और क्षेमको धारण करनेवाले उन राजाओंमें बहुत ही संतुष्ट रहते थे ॥ २०५ ॥ प्रथम चक्रवर्ती महाराज भरतने जो अत्यंत उत्तम जाति क्षत्रियोंका चारित्र और रत्नत्रयसे प्रगट हुआ तीर्थ

जातिक्षत्रियवृत्तमूर्जिततरं रत्नत्रयाविष्कृतं तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः। तत्सर्वं मगधाधिपाय भगवान् वाचस्पतिर्गौतमो व्याचख्यावखिलार्थतत्त्वविषयां जैनीं श्रुतिं ख्यापयन् ॥२०६॥ वदारोभरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधसस्तस्यानुस्मरतो गुणान्प्रणमतस्तं देवमाद्यं जिनं। तस्यैवोपचितिं सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्वतः कालोऽनल्पतरः सुखाद्व्यतिगतो नित्योत्सवैः संभृतः ॥ २०७ ॥ जैनीमिज्या वितन्वन्नियतमनुदिनं प्रीणयन्नर्थिसार्थं शश्वद्विश्वभरेशैरवनिधृतलसन्मौलिभिः सेव्यमान'। क्ष्मा कृत्स्नामापयोधेरपि च हिमवतः पालयन्निस्सपत्ना रम्यैः स्वेच्छाविनोदैर्निरविशदधिराड्भोगसारं दशांगं ॥ २०८ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रतिपादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व।

क्षत्रियोंका चरित्र कहा था वह सब समस्त तत्त्वोंको प्रगट करनेवाले ऐसे जैन शास्त्रोंको प्रगट करते हुये भगवान् वाचस्पति गौतम गणधरने मगधदेशके राजा श्रेणिकके लिये निरूपण किया ॥ २०६ ॥ तीनों जगतके स्वामी ऐसे भगवान वृषभदेवको नमस्कार करनेवाले, जिन्होंने कर्मभूमिकी रचना की है ऐसे उन्हीं भगवानके गुणोंको प्रति दिन स्मरण करनेवाले तथा देवाधिदेव उन्हीं प्रथम जिनेंद्रको नमस्कार करनेवाले और सब देव व्यंतर आदिके गुरु ऐसे उन्हीं भगवानकी भक्तिपूर्वक बार बार पूजा करनेवाले ऐसे महाराज भरतका सदा होनेवाले उत्सवोंसे भरा हुआ वह बहुत बडा समय बडे सुखसे व्यतीत हो गया था ॥ २०७ ॥ पृथ्वीपर झुका हुआ जिनका मुकुट सुशोभित हो रहा है ऐसे संसारके समस्त राजा लोग जिसकी सदा सेवा करते रहते हैं, जो हिमवन पर्वतसे लेकर समुद्रपर्यंत इस समस्त पृथ्वीको शत्रुरहित पालन करता है, जो श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा करता रहता है और प्रति दिन नियमसे सब याचकोंको संतुष्ट करता रहता है ऐसा वह महाराजाधिराज भरत अपनी इच्छानुसार मनोहर क्रीडाओंके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ॥ २०८ ॥

इसप्रकार भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें राजर्षि महाराज भरतके द्वारा प्रजाके पालन करनेकी रीतिका वर्णन करनेवाला यह ब्यालीसवा पर्व समाप्त हुआ।

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्तये ॥ १ ॥ नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥ २ ॥ जयंति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदमदकंदाछिदः । सुरासुराशिरस्फुरितरागरत्नावली विलविकिरणोत्करारुणितचारुपादद्वयाः ॥ ३ ॥

कृतिर्महाकवेर्भगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेशिनश्चरितमत्र महापुराणे यद्वा कवींद्रजिनसेनमुखारविंदनिर्यद्वचांसि न हरंति मनासि केषाम् ॥ ४ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे आद्यं खण्ड समाप्तिमगमत् ।

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति तीनों कालमें रहनेवाले अनंत पदार्थोंको जानती है ऐसे वृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥ १ ॥ जो सबतरहके कल्याणोंके मार्गको चलानेमें कारण हैं और संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये जो पुलके समान हैं अर्थात् जिनका आश्रय लेनेसे ही संसारसे पार हो जाते हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवके लिये नमस्कार हो ॥ २ ॥ जिन्होंने मृत्यु जीत ली है, जो अनंत वीर्यको धारण करनेवाले हैं, संसारको आनंदके कारण हैं, आपत्तियोंकी बडी भारी जडको काटनेवाले हैं और कल्पवासी व्यंतर ज्योतिषी और भवनवासी देवोंके मस्तकपर दैदीप्यमान हुई पद्मरागमणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों चरणकमल कुछ कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेंद्रदेव सदा जयशील हों ॥ ३ ॥

इसप्रकार महाकवि भगवान् श्रीजिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई.

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्षस्थान अथवा मोक्षमार्गका निरूपण है, बढिया कविता है और तीर्थंकर देवका चरित्र है। अथवा यों समझलेना चाहिये कि सब कवियोंमें श्रेष्ठ ऐसे महाकवि श्रीजिनसेनाचार्यके मुखारविंदसे निकले हुये वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ?

इसप्रकार ऋषिप्रणीत महापुराणका प्रथम खड समाप्त हुआ.

श्रिय तनोतु स श्रीमान्वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य गतेर्मुक्तिमार्गश्चित्र महानभूत् ॥ १ ॥ विक्रम कर्मचक्रस्य यश्शक्राभ्यर्चितक्रमः । आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिता ॥ २ ॥ योऽस्मिंश्चतुर्थकालादौ दिनादौ वा दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्गभस्तिभिः ॥ ३ ॥ नष्टमष्टादशाभोधिकोटीकोटीषु कालयोः । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य येन सिद्धाश्च वर्द्धिताः ॥ ४ ॥ तीर्थकृत्सु स्वतः प्राग्यो नामादानपराभवः (सामदानपराभवः)।

अथ तेतालीसवां पर्व ।

अथानंतर—जिसकी ध्वजामें वृषभका (बैलका) चिन्ह है और सबसे बडा आश्चर्य यह है कि जिस एक ही के जाननेसे मोक्षमार्ग बहुतवडा बनगया ऐसे अंतरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव हम लोगोंका कल्याण करें। भावार्थ—एक मनुष्यके जानेसे कहीं भी मार्ग (पगडंडी वा रास्ता)नहीं बनता परंतु जिस वृषभदेवके अकेले ही जानेसे मोक्षमार्ग बनगया और वह भी समस्त जगतको मान्य ऐसा बडा बन गया ऐसे वे भगवान सबका कल्याण करें॥ १॥ जिसके चरणकमलकी इंद्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्म चक्रके प्रभावसे कर्म समूहके पराक्रमपर आक्रमणकर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है॥ २॥ जिसप्रकार दिनके प्रारंभमें सूर्य निकलकर अपनी किरणोंसे समस्त संसारको प्रकाशित करता है उसी प्रकार इस चतुर्थकालके प्रारंभमें प्रगट होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणी रूप किरणोंसे इस समस्त जगतको प्रकाशित किया अर्थात् समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया॥ ३ ॥ उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालके अठारह कोडा कोडी सागरतक जो मोक्षमार्ग नष्ट हो रहा था उसका उपदेश देकर जिन्होंने सिद्धोंकी संख्या बढाई॥ ४ ॥ जिसप्रकार इस युगमें अपना पुत्र भरत चक्रवर्ती सब

यमस्मिन्नस्पृशन्नासौ स्वमूर्तुमिव चक्रिपु ॥ ५ ॥ येन प्रकाशिते मुक्तेर्मार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत् । प्रकाशितप्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्स्वभूत् ॥ ६ ॥ युगभार वहन्नेकश्चिर धर्मस्य पृथु । व्रतशीलगुणापूर्णं चित्र वर्तयति स्म य' ॥ ७ ॥ तमेकमक्षर ध्यात्वा व्यक्तमेकमिवाक्षर । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि तत्पुराणस्य चूलिका ॥ ८ ॥ स्वोक्ति प्रयुक्ता' सर्वे नो रसा गुरुभिरेव ते । स्नेहादिह तदुत्सृष्टा-भक्त्या तानुपयुज्महे ॥ ९ ॥ रागादीन्दूरतस्त्यक्त्वा शृंगारादिरसोक्ति-

---

चक्रवर्तियोंमें पहिले हुआ था और इसलिये उसके पहिले किसीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार उसे छू नहीं सका था अर्थात् पहिले दूसरेका नाम लेनेसे अपना तिरस्कार समझा जाता है ऐसा तिरस्कार जिसे छू नहीं सका था उसीप्रकार तीर्थकरोंमें जो सबसे पहिले हुए थे, अपने पहिले अन्य किसी तीर्थंकरका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार जिन्हें छू नहीं सका था, अथवा अपने पुत्र भरतके समान साम दानसे उत्पन्न हुआ तिरस्कार जिन्हें छू नहीं सका था ॥ ५ ॥ तथा जिनके मोक्षमार्गका प्रकाश करनेपर अन्य तीर्थंकरोंमें जो " प्रकाशित कियेहुये मोक्षमार्गको ही प्रकाश किया " यह जो कहना है वह जिनमें व्यर्थ हुआ भावार्थ--इस युगमें जिन्होंने सबसे पहिले मोक्षमार्गका प्रकाश किया ॥ ६ ॥ तथा आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत दिनतक इस युगके बोझेको (अथवा जूआके बोझेको) धारण करते हुये व्रत शील और गुणोंसे भरे हुये ऐसे इस बडे भारी धर्मरथको चलाया था ॥ ७ ॥ ऐसे उन अविनाशीक भगवान वृषभदेवको प्रसिद्ध एक ' ओं ' अक्षरके समान ध्यानकर पहिलेके शास्त्रोंको विचारकर श्रीमज्जिनसेनाचार्य रचित पुराणके अवशेष भागको कहता हूं ॥ ८ ॥ हमारे गुरु भगवान जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिये उनकी भक्तिसे हम उनके द्वारा छोडे हुये (त्याग किये हुये) रसोंको ही अपने काममें लायंगे ॥ ९ ॥ रागादिकोंको दूरसे ही छोडकर शृंगार आदि रसोंका निरूपणकर पुराणोंकी रचना करनेवाले शुद्धज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा कर

भिः । पुराणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा मुमुक्षवः ॥१०॥ निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः । तच्छेषे यतमानाना प्रासादस्येव नः श्रमः ॥ ११ ॥ पुराणे प्रौढशब्दार्थे सत्पत्रफलशालिनि । वचासि पल्लवानीव कर्णे कुर्वंतु मे बुधाः ॥ १२ ॥ अर्धं गुरुभिरेवास्य पूर्वं निष्पादितं परैः । परं निष्पाद्यमानं सच्छंदोवन्नातिसुदर ॥ १३ ॥ इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावह । यथा तथाऽस्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥ १४ ॥ अनान्विष्य मयि प्रौढिं

नेवाले होते हैं ॥ १० ॥ इस पुराणका मुख्य सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण कर ही दिया है अब जो बाकी बचा है उसे पूरा करनेके लिये प्रयत्न करते हुये हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिये मानों किसी बने हुये मकानके थोडेसे बचे हुये भागको पूरा करनेके लिये थोडासा परिश्रम करना पडा हो ॥ ११ ॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थोंसे प्रौढ है और उत्तम उत्तम पत्ते तथा फलोंसे सुशोभित है इसमें जो मेरे वचन हैं वे नये पत्तोंके (कोंपलके) समान हैं इसलिये विद्वान लोग अवश्य ही उन्हें अपने कर्णोंपर धारण करेंगे । भावार्थ—जैसे नये पत्ते कानोंपर अच्छे लगते हैं उसीप्रकार मेरे वचनभी विद्वान लोगोंके कानोंको अच्छे लगेंगे ॥ १२ ॥ इस पुराणका पूर्वभाग गुरु (गुरु अर्थात् दीर्घ अक्षर अथवा गुरु जिनसेनाचार्य) के ही द्वारा बना हुआ है और उत्तरभाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न लघु अथवा शिष्य गुणभद्रके द्वारा बनाया जाता है इसलिये क्या वह छंदके समान अत्यंत सुंदर नहीं होगा ? किंतु अवश्य ही होगा, भावार्थ-जैसे छंद गुरु लघु दोनों प्रकारके अक्षरोंसे सुंदर होता है उसीप्रकार यह पुराण भी गुरु शिष्य दोनोंके द्वारा निर्मापित होनेसे अत्यंत सुंदर होगा ॥ १३ ॥ जिसप्रकार ईखका पूर्वार्द्ध (नीचेका भाग) ही रसीला होता है उसीप्रकार इस पुराणका पूर्वार्द्ध भाग ही रसीला है ऐसा ही लोगोंको विश्वास वा श्रद्धा हो इसलिये ही मैं इसका उत्तर भाग प्रारंभ करता हूं ॥ १४ ॥ मुझमें प्रौढता (विद्वत्ता वा योग्यता) है या नहीं इसका कुछ भी विचार न कर इसे केवल धर्म समझकर ग्रहण करना चाहिये क्योंकि

धर्मोऽयमिति गृह्यता । चाटुके स्वादुमिच्छंति न भोक्तारस्तु भोजनं ॥ १५ ॥ अथवाऽग्रं भवेदस्य विरसं नेति निश्चय. । धर्माग्र ननु केनापि नादार्शि विरसं क्वचित् ॥१६॥ गुरूणामेव माहात्म्य यदपि स्वादु मद्वचः । तरूणा हि प्रभावोसौ यत्फल स्वादु जायते ॥१७॥ निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः । ते तत्र संस्करिष्यते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥१८॥ इद शुश्रूषवो भव्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तस्याभिधायकाः शब्दास्तन्न निंदाऽत्र वर्तते ॥ १९ ॥ दोषान्गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषास्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशं ॥२०॥ गुणिना गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असद्दोषसमा-

भोजन करनेवाले प्रियवचन कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा करते हैं यह कुछ नियम नहीं है। भावार्थ—वे केवल स्वादिष्ट भोजनोंकी ही इच्छा करते हैं प्रिय वचनोंकी नहीं इसीप्रकार धार्मिक लोग धर्मका ही ग्रहण करेंगे मेरी योग्यतापर कुछ विचार नहीं करेंगे ॥ १५ ॥ अथवा यह निश्चित है कि इस पुराणके आगेका भाग भी कुछ नीरस नहीं होगा क्योंकि धर्मका अंतिम भाग कहीं किसी पुरुषने नीरस नहीं देखा है ॥१६॥ जो कदाचित् मेरे वचन स्वादिष्ट (रसीले) हों तो इसमें गुरुका ही माहात्म्य समझना चाहिये क्योंकि जो फल मीठे होते हैं वह वृक्षोंका ही प्रभाव समझना चाहिये ॥ १७ ॥ यह निश्चय है कि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमें गुरु विराजमान हैं वे गुरु अवश्य ही मेरे बचनोंमें संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हें सुधार लेंगे इसलिये इस ग्रंथके बनानेमें मुझे कुछ भी परिश्रम नहीं होगा ॥ १८ ॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ श्रीजिनेंद्रदेवने कहा है और उसको प्रगट करनेवाले शब्द हैं इसलिये इसमें निंदा कहीं नहीं हो सकती ॥ १९ ॥ गुणी लोग दोषोंको ही गुणरूपसे ग्रहण करते हैं और दोषी लोग गुणोंको ही दोष रूपसे ग्रहण करते हैं, इस संसारमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा माहात्म्य बडा ही विचित्र है ॥ २० ॥ सज्जन लोग गुणी लोगोंके गुणोंको ग्रहणकर गुणी हों परंतु यह आश्चर्य है कि दुष्ट लोग जो मौजूद नहीं है ऐसे दोषोंको ग्रहण कर दोषी हो जाते हैं ॥ २१ ॥ इस संसारमें दुष्ट लोग सज्जनोंपर इच्छा-

दर्नाद्दोषयान् दुर्जनोऽद्भुतं ॥२१॥ सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति। तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो यतः ॥२२॥ यथा स्वानुगमर्हंति सदा स्तोतुं कवीश्वराः। तथा निंदितुमस्वानुवृत्तं कुकवयोऽपि मा ॥२३॥ कविरेव कवेर्वेत्ति कामं काव्यपरिश्रमं। वंध्या स्तनंधयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः ॥२४॥ गृहाणेहाऽस्ति चेद्दोष स्व धनं न निषिध्यते। खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणान्न ममाग्रहीः ॥२५॥ गुणागुणानभिज्ञेन कृता निंदाऽथवा स्तुतिः। जात्यंधस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवल ॥ २६ ॥ अथवा सोऽनभिज्ञोऽपि निंदतु स्तौतु वा कृतिं। विदग्धपरिहासानामन्यथा क्वास्तु विश्रमः ॥ २७ ॥ गणयंति महातः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत्। दाह्यं तृणाग्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाम्भसा ॥ २८ ॥ काष्ठजो'पि दहत्यग्निः काष्ठं तं तच्च वर्द्धयेत्। प्रदीपायितमेर्ता-

---

नुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि इन सज्जनोंने उन दुष्टोंके शत्रु ऐसे अनाथ गुणोंको आश्रय दिया है ॥ २२ ॥ जिसप्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुसार चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कुकवि भी उनके अनुसार न चलनेवाले मेरी निंदा करें ॥ २३ ॥ जो कवि हैं वे ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको यथेष्ट जान सकते हैं, जिसप्रकार वांझ स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसीप्रकार जो कवि नहीं हैं वे कविके परिश्रमको कभी नहीं जान सकते ॥२४॥ हे दुष्ट यदि इस मेरी रचनामें दोष हों तो तू उन्हें ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिये मैं तुझे नहीं रोकता परंतु मैं तुझसे फिर भी प्रार्थना करता हूं कि तू मेरे गुणोंका ग्रहण मत कर॥२५॥ जिसप्रकार कोई जन्मका अंधा धृष्ट पुरुष किसीके रूपकी निंदा वा स्तुति करे तो वह केवल हँसी-का ही पात्र होता है उसीप्रकार जो गुण और दोषोंको नहीं जानता वह यदि किसीकी निंदा वा स्तुति करे तो वह भी केवल हँसीका ही पात्र होता है ॥ २६ ॥ अथवा गुण दोषोंको न जानता हुआ भी वह मेरे काव्यकी निंदा वा स्तुति करो क्योंकि यदि ऐसा न हो तो फिर विद्वान् लोगोंको हँसी करनेकी जगह कहां मिले ॥ २७ ॥ महात्मा लोग तुच्छ मनुष्योंके समान क्या कभी छोटे छोटे उपद्रवोंको गिना करते हैं ? कभी नहीं, तिनकोंके आगसे रुई जल सकती है परंतु समुद्र

भ्या सदसद्भावभासने ॥ २९ ॥ स्तुतिनिंदे कृतिं श्रुत्वा करोतु गुणदोषयोः । ते तस्य कुरुतः कीर्तिमकर्तुरपि सत्कृतेः ॥ ३० ॥ सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः । कर्णं दुस्संस्कृत प्राप्य तुदति हृदयं भृश ॥ ३१ ॥ प्रवृत्तेयं कृतिः कृत्वा गुरुन्पूर्व कवीश्वरान् । भाविनोद्यतनाश्चास्या विदध्युः शुध्यनुग्रह ॥ ३२ ॥ मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुता । धियस्ता वर्तयिष्यति धात्रीकल्पाः कवीशिना ॥ ३३ ॥ इदं बुधा गृहीष्यंति मा गृहीषु पृथग्जनाः । किममौल्यानि रत्नानि क्रीणंत्यकृतपुण्यका ॥ ३४ ॥ हृदि धर्ममहारत्नमागमाभोधिसंभव । कौस्तुभादधिक

को उससे कुछ भी संताप नहीं होता है ॥ २८ ॥ काठसे उत्पन्न हुई अग्नि उसी काठको जला देती है परंतु वही काठ उसी जलानेवाली अग्निको बढाता है ये दोनों ही उदाहरण सज्जनोंके अच्छे भाव और दुष्टोंके बुरे भावोंको प्रगट करनेके लिये साक्षात् दीपकके समान हैं ॥२९॥ दुष्ट लोग मेरे काव्यको सुनकर गुणोंकी स्तुति और दोषोंकी निंदा भलें ही करें क्योंकि यद्यपि वे अच्छा काव्य करना नहीं जानते हैं तथापि मेरे काव्यकी की हुई स्तुति निंदा ही उनकी कीर्ति करनेवाली होगी ॥३०॥ उत्तम कवियोंके वचन ठीक अर्जुनके वाणोंके समान होते हैं क्योंकि जिसप्रकार अर्जुन के वाण काममें लानेपर जिसके संस्कार बुरे हैं ऐसे कर्णको पाकर उसके हृदयको अच्छीतरह दुःख देते हैं उसीप्रकार अच्छे कविके वचन भी काममें लानेपर जिसके संस्कार बुरे हैं ऐसे कानोंको पाकर उसके हृदयको खूब दुःख देते हैं ॥३१॥ पहिलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही इस काव्यकी रचना की गई है इसलिये जो कवि आज विद्यमान हैं अथवा आगे होंगे वे इसे शुद्ध करनेकी कृपा करें ॥३२॥ जिसप्रकार रानीसे उत्तम राजकन्या होती है उसीप्रकार मेरी बुद्धिसे इस काव्यकी रचना हुई है इसलिये धायके समान अन्य कवियोंकी बुद्धि अवश्य ही इसका प्रतिपालन करेगी ॥ ३३ ॥ पंडित लोग इस मेरे काव्यको ग्रहण करेंगे, अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करें क्योंकि जिनका पुण्योदय नहीं है ऐसे दरिद्र लोग क्या अमूल्य रत्नोंको खरीद सकते हैं ? कभी नहीं ॥ ३४ ॥ पुरुषोत्तम (कृष्ण अथवा उत्तम मनुष्य) आगमरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुये इस धर्मरूपी

मत्वा दधातु पुरुषोत्तमः ॥ ३५ ॥ श्रोत्रपात्रांजलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनं। अजरामरतां प्राप्तुमुपयुंध्वमिदं बुधाः ॥ ३६ ॥ नूनं पुण्यं पुराणाब्धेर्मध्यमध्यासित मया । तत्सुभाषितरत्नानि संचितानीति निश्चितिः ॥ ३७ ॥ सुदूरपारगभीरमिति नात्र भय मम । पुरोगा गुरवः सति प्रष्ठाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥ ३८ ॥ पुराणस्यास्य संसिद्धिर्नाम्ना स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९। पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम् । भवाब्धेः पारमिच्छंति पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥ अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः सालकृतिस्तयोः। अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलवन ॥४१॥

महारत्नको कौस्तुभमणिसे भी अधिक समझकर अपने हृदयमें धारण करो ॥ ३५ ॥ पंडित लोगोंको कानरूपी पात्रकी अंजलि बनाकर इस धर्म रसायनको पीना चाहिये और पीकर अजर अमर होनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३६ ॥ अवश्य ही मैने इस पुराणरूपी समुद्रके पुण्यस्वरूप मध्यभागमें अवगाहन किया है और मुझे निश्चय है कि अवश्य ही मैने उसमेंसे सुभाषितरूपी रत्न इकट्ठे किये हैं ॥ ३७ ॥ यह पुराण अत्यंत गंभीर है इसका किनारा बहुत दूर है इत्यादि बातोंका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें मुख्य ऐसे मेरे गुरु श्रीजिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं। भावार्थ—मैं उन्हींके पीछे पीछे जा रहा हूं तब मुझे भय किसका ? ॥ ३८ ॥ इस पुराणकी सिद्धि इसके ' महापुराण ' इस नामसे ही सूचित होती है इसलिये मैं इसे कह सकूंगा या नहीं ऐसी आकुलता मुझे बिलकुल नहीं है ॥ ३९ ॥ श्रीजिनसेनाचार्यके अनुयायी शिष्य लोग इस पुराणमें कहे हुये मार्गका आश्रय लेकर अवश्य ही संसाररूपीसमुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर भला इस पुराणके पार होनेकी तो बात ही क्या है ॥४०॥ अर्थ सब मनमें है शब्द सब जिंव्हापर हैं और उन शब्द अर्थ दोनोंके अलंकार संसारमें प्रसिद्ध हैं, इसलिये इस पुराणकी रचना होनेमें देर होनेका कोई भी कारण नहीं है अर्थात् इसकी रचना बहुत शीघ्र पूरी होगी ॥ ४१ ॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोंकी कमी नहीं है उसीप्रकार मनमें तर्क वितर्कोंकी भी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक

आकरेष्विव रत्नानामूहाना नाशये क्षयः । विचित्रालंकृतेः कर्तुर्दौर्गत्यं किं कवेः कृतेः ॥ ४२ ॥ विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुंदरी । कृतिः सालंकृतिर्न स्यात्कस्येयं कामसिद्धये ॥ ४३ ॥ संचितस्यैनसो हत्री नियंत्री चागमिष्यतः । आमंत्रिणी च पुण्यानां ध्यातव्येयं कृतिः शुभा ॥ ४४ ॥ सत्कृताना हिते प्रीतिः प्राकृताना प्रियं प्रियं । एतद्धितं प्रिय चातः सर्वान्संतोषयत्यलं ॥ ४५ ॥ इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगांतर । इत्याविर्भावितोत्साहः प्रस्तुवे प्रस्तुता कथा ॥ ४६ ॥ इति पीठिका ॥ अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः सुचरितामृतं । आसिस्वादयिषुः शेषं हस्तालग्नमिवोत्सु-

---

तरहके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है ? ॥ ४२ ॥ यह काव्यकी रचना ठीक अत्यंत सुंदरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुंदरी स्त्री रसिक होती है उसी प्रकार यह काव्यकी रचना भी रसिक [रसीली] है, सुंदरी जिसप्रकार अलंकार सहित होती हैं उसीप्रकार यह रचना भी अलंकार सहित है और सुंदरी जिसप्रकार विचित्रपदविन्यासा अर्थात् अनेक तरहसे चरण रखनेवाली होती है उसीप्रकार यह रचना भी विचित्रपदविन्यासा अर्थात् अनेक तरहके पदोंकी रचनासे सुशोभित है, ऐसी यह सुंदर कविता सुंदरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथ सिद्ध न करेगी ? अर्थात् इससे सबके मनोरथ सिद्ध होंगे ॥ ४३ ॥ यह शुभ कविता पहिलेके इकट्ठे किये हुये पापोंको नाश करनेवाली है, आगामी आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है, इसलिये इसका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥ ४४ ॥ उत्तम मनुष्योंको अंतमें सुख देनेवाले हितमें प्रेम होता है और साधारण मनुष्योंको जो अपना इष्ट है वही प्रिय होता है । यह पुराण हितरूप अर्थात् अंतमें सुख देनेवालाभी है और प्रिय अर्थात् सबको इष्ट भी है इसलिये यह सबको ही अच्छीतरह संतुष्ट करता है ॥ ४५ ॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगांतरतक टिकनेवाला है, इसप्रकार जिसे उत्साह प्रगट हुआ है ऐसा मैं अब चलती हुई कथाका प्रारंभ करता हूं ॥ ४६ ॥

अथानंतर—राजा श्रेणिक भगवान वृषभदेवके उत्तम चरित्ररूपी अमृतको पीकर तथा उत्कं-

कः ॥ ४७ ॥ समुत्थाय सभामध्ये प्रांजलिः प्रणतो मनाक् । पुनर्विज्ञापयामास गौतम, गणनायकं ॥ ४८ ॥ त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यग्पुराणं परमं पुरोः। निवृत्तोऽसौ यथाऽस्यांते तथाऽहं चातिनिर्वृत्तः॥४९॥ किल तस्मिन् जयो नाम तीर्थेऽभूत्पार्थिवाग्रणीः। यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ॥५०॥ यस्य दिग्विजये मेघकुमारविजये स्वय । वीरपट्ट समुध्द्दत्य ववध भरतेश्वरः ॥५१॥ पुरस्तीर्थकृता पूर्वं श्चाक्रिणा भरतेश्वरः। दानतीर्थकृता श्रेयान् किलासौ च स्वयवरे ॥५२॥ अर्ककीर्तिं पुरोः पौत्रं सगरे कृतसगरः । जित्वा निगलयामास किलैकाकी स हेलया ॥५३॥ सेनातो वृषभः कुभो रथांतो दृढसंज्ञकः । धनुरंतः शतो देवशर्मा भावातदेवभाक् ॥ ५४ ॥ नंदनः सोमदत्ताह्वः सूरदत्तो गुणैर्गुरुः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेववाक् ॥ ५५ ॥ अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलभृत्स महीधरः । महेद्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुंधरः ॥ ५६ ॥ अचलो मेरुसज्ञश्च ततो मेरुधनाह्वयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रातसर्वाभिधानकौ ॥ ५७ ॥ सर्वगुप्तः प्रियप्रातसर्वो देवांतसर्ववाक् । सर्वादिविजयो गुप्तो विजयादिस्ततः परः ॥ ५८ ॥ विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितसंज्ञकः ।

ठित होकर हाथमें लगे हुये ऐसे बाकी बचे हुये कथामृतके आस्वादन करनेकी इच्छा करने लगा ॥ ४७ ॥ सभाके बीचमें खडे होकर उसने अपने हाथ जोडे, कुछ शिर झुकाकर नमस्कर किया और फिर गौतम गणधरसे निवेदन करने लगा ॥ ४८ ॥ कि हे भगवान । आपके प्रसादसे श्रीवृषभदेवका यह परम पुराण तो मैंने अच्छी तरह सुना । श्रीवृषभदेव जिसप्रकार इस पुराणके अंतमें मुक्त होकर सुखी हुए हैं उसीप्रकार मैं भी इसे सुनकर बहुत सुखी हुआ हूं ॥ ४९ ॥ श्रीवृषभदेव तीर्थंकरके समयमें सब राजाओंमें मुख्य ऐसा जो जयकुमार राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथ्वीपर प्रसिद्ध है ॥ ५० ॥ दिग्विजय करतेसमय मेघकुमारको जीत-लेनेपर महाराज भरतने स्वयं वीरपट्ट निकालकर जिसपर बांधा था ॥ ५१ ॥ जिसप्रकार तीर्थंकरोंमें वृषभदेव, चक्रवर्तियोंमें भरतेश्वर और दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमें राजा श्रेयान् सबसे पहिले हुये हैं उसीप्रकार जो स्वयंवरकी प्रवृत्ति करनेमें सबसे पहिले हुआ है ॥ ५२ ॥ जिसने युद्धमें प्रतिज्ञाकर भगवान वृषभदेवके पोते (भरतके पुत्र) अर्ककीर्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर

वसुमित्रः स विश्वादिसेनः सेनातसाधुवाक् ॥ ५९ ॥ देवांतसत्यः सत्यातदेवो गुप्तांतसत्यवाक् । सत्यमित्रः सतां ज्येष्ठः संमितो निर्मलो गुणैः ॥६० ॥ विनीतः सवरो गुप्तो मुन्यादिर्मुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिर्देवप्रांतो यज्ञातगुप्तवाक् ॥ ६१ ॥ मित्रयज्ञ स्वयंभूश्च देवदत्तातगौ भगौ । भगादिफल्गुः फल्गवंतगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥ ६२ ॥ प्रजापतिः सर्वसवो वरुणो धनपालकः । मघवान् राश्यंततेजो महावीरो महारथः ॥ ६३ ॥ विशालाक्षो महावालः शुचिसालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चद्रचूलसमाह्वयः ॥ ६४ ॥ जयो महारसः कच्छमहाकच्छावतुच्छकौ । नमिर्विनिमिरन्यौ च बलातिबलसज्ञकौ ॥ ६५ ॥ बलातभद्रो नदी च महाभागी परस्ततः । मित्रातनंदी देवांतकामोऽनुपमलक्षणः ॥ ६६ ॥ चतुर्भिरधिकाशीतिरिति सप्तर्गणाधिपाः । एते सप्तर्द्धिसयुक्ताः सर्वे वेद्यनुवादिनः ॥६७॥ स एवासीद्वृद्धत्यागादेतेष्वप्युदितोदितः । एकसततिसख्यानसप्रातगणनो गुणी॥६८॥

बांधा था ॥ ५३ ॥ तथा वृषभसेन १ कुंभ २ दृढरथ ३ शतधनु ४ देवशर्मा ५ देवभाव ६ नंदन ७ सोमदत्त ८ गुणोंसे पूज्य ऐसा सूरदत्त ९ वायुशर्मा १० यशोवाहु ११ देवाग्नि १२ अग्निदेव १३ अग्निगुप्त १४ मित्राग्नि १५ हलभृत १६ प्रसिद्ध महीश्वर १७ महेंद्र १८ वसुदेव १९ उसके वाद वसुंधर २० अचल २१ मेरु २२ तदनंतर मेरुधन २३ मेरुभूति २४ सर्वयश २५ और सर्वयज्ञ २६ सर्वगुप्त २७ सर्वप्रिय २८ सर्वदेव २९ सर्वविजय ३० विजयगुप्त ३१ उसके वाद विजयमित्र ३२ विजायिल ३३ अपराजित ३४ वसुमित्र ३५ प्रसिद्ध विश्वसेन ३६ साधुसेन ३७ सत्यदेव ३८ देवसत्य ३९ सत्यगुप्त ४० सज्जनोंमें श्रेष्ठ ऐसा सत्यमित्र ४१ गुणोंसे सुशोभित ऐसा निर्मल ४२ विनीत ४३ संवर ४४ मुनिगुप्त ४५ मुनिदत्त ४६ मुनियज्ञ ४७ मुनिदेव ४८ गुप्तयज्ञ ४९ मित्रयज्ञ ५० स्वयंभू ५१ भगदेव ५२ और भगदत्त ५३ भगफल्गु ५४ गुप्तफल्गु ५५ मित्रफल्गु ५६ प्रजापति ५७ सर्वसंग ५८ वरुण ५९ धनपालक ६० मघवान् ६१ तेजोराशि ६२ महावीर ६३ महारथ ६४ विशालाक्ष ६५ महावाल ६६ शुचिशाल ६७ उसके वाद वज्र ६८ वज्रसार ६९ चंद्रचूल ७० जय ७१ महारस ७२ वडे पूज्य कच्छ ७३ महाकक्ष ७४ तथा नमि ७५ विनमि ७६ वल ७७ और अतिबल ७८ भद्रवल ७९ नंदी ८० उसके वाद महाभागी ८१ नंदीमित्र ८२ कामदेव ८३ और

पुराणं तस्य मे ब्रूहि महत्तत्रास्ति कौतुकं । भव्यचातकवृंदस्य प्रघणो भगवानिति ॥ ६९ ॥ ततः स्वस्य समालक्ष्य गणाधीशादनुग्रहं । अलंचकार स्वस्थानमिंगितज्ञा हि धीधनाः ॥ ७० ॥ यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्ट त्वयैव तत् । चेतो जिह्वा त्वमस्माकमित्यस्तावीत्सभा च त ॥ ७१ ॥ गणी तेनेति संपृष्टः प्रवृत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुखान् संतः कुर्वंते तद्धि तद्व्रतं ॥ ७२ ॥ शृणु श्रेणिक संप्रश्नस्त्वयात्रावसरे कृतः । नाराधयति कान्वाते सतोऽवसरवेदिनः ॥ ७३ ॥ इह जंबूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुरुजांगलः ॥ ७४ ॥ धर्मार्थकाम

अनुपम ८४ । श्रीवृषभदेवके ये चौरासी गणधर थे, ये सबही गणधर सात ऋद्धियोंसे सुशोभित थे और सबही सर्वज्ञ देवके समान थे ॥ ५४–६७ ॥ इन चौरासी गणधरोंमेंसे जो घरका त्यागकर अत्यंत प्रभावशाली और गुणी इकहत्तरिवीं संख्याको समाप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरिवां गणधर हुआ था उसी जयकुमारका पुराण मुझे कहिये क्योंकि उनके पुराणमें वडा भारी कौतुक है ऐसा भव्यरूपी चातकपक्षियोंके समूहके लिये मेघके समान भगवानने कहा है ॥ ६८-६९ ॥ इतना कहकर और गणधर देवसे अपना अनुग्रह होना जानकर वह राजा श्रेणिक अपने स्थानपर जा विराजमान हुआ सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोग इशारोंको भी अच्छी तरह जानते हैं ॥ ७० ॥ उस समय सब सभा उसकी प्रशंसा करने लगी और कहने लगी कि हे शिष्ट जो विषय हमें पूछना चाहिये व ही तेने पूछा है इसलिये तूही हमारा मन है और तू ही हमारी जीभ है ॥ ७१ ॥ जिन्हें राजा श्रेणिकने ऊपर लिखे अनुसार पूछा है ऐसे गौतम गणधर भी श्रेणिकके अनुग्रह करनेमें प्रवृत्त हुये, सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन लोग याचकोंको कभी विमुख नहीं करते हैं, निश्चयसे उनका यही व्रत है ॥ ७२ ॥ गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक सुन तेने यह प्रश्न अच्छे समयपर किया, अथवा यह ठीक ही है क्योंकि अवसर जाननेवाले सज्जन लोग अंतमें किसको वश नहीं कर लेते हैं? भावार्थ--सबको वश कर लेते हैं ॥ ७३ ॥ इस जंबूद्वीपके दाक्षिण भरतक्षेत्रमें वर्ण और आश्रमोंसे भरा हुआ एक कुरुजांगल नामका बडा भारी देश है ॥ ७४ ॥ संसारमें यह देश धर्म अर्थ

मोक्षाणामेको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्ग इव स्वर्गे विमान वाऽमरेशितु. ॥ ७५ ॥ हस्तिनाख्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसंपदा । संभवं मृषयद्वार्द्धौ लक्ष्म्याः कुलगृहायित ॥ ७६ ॥ पतिः पतिर्वा ताराणामस्य सोमप्रभोऽभवत् । कुर्वन् कुवलयाह्लाद सत्करैः स्वैर्बुधाश्रयः ॥७७॥ तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य वक्षस्स्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरिय द्वितीयेति प्रेक्ष्या लक्ष्मीवती सती ॥ ७८ ॥ तयोर्जयोऽभवत्सूनुः प्रज्ञाविक्रमयोरिव । तन्वन्नाजन्मत. कीर्तिं लक्ष्मीमिव गुणार्जितां ॥ ७९ ॥ सुताश्चतुर्दशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादयः । गुणैर्मनून् व्यतिक्राताः सख्यया सदृशोऽपि ते ॥ ८० ॥ प्रवृद्धनिजतेजोभिस्तैः पंच-

---

काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंके लिये एक खानिके समान है तथा यह देश स्वर्गके समानअथवा स्वर्गमें भी इंद्रके विमानके समान शोभायमान है ॥ ७५ ॥ उस देशमें हस्तिनापुर नामका एक नगर है जो कि सबतरहकी संपत्तिसे बडा ही विचित्र है तथा जो लक्ष्मीकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई है इसबातको झूठा ठहराता है और जो लक्ष्मीका साक्षात् कुलगृहके समान जान पडता है ॥ ७६ ॥ जिसप्रकार ताराओंका स्वामी चंद्रमा अपनी किरणोंसे कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करता हुआ बुध नक्षत्रके आश्रय रहता है उसीप्रकार उस नगरका स्वामी राजा सोमप्रभ था जोकि अपने सुख देने वाले करसे पृथ्वीमंडलको आनंदित करता था और सदा विद्वान् लोगोंके आश्रय रहता था ॥ ७७ ॥ उस राजाकी लक्ष्मीको तिरस्कार न कर केवल वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली दूसरी लक्ष्मीके समान लक्ष्मीवती नामकी अत्यंत सुंदरी और पतिव्रता स्त्री थी ॥ ७८ ॥ बुद्धि और विक्रमके समान उन दोनों रानी लक्ष्मीवती और राजा सोमप्रभके जय नामका पुत्र हुआ था, जो कि जन्मसे ही गुणोंसे उपार्जन की हुई लक्ष्मीके समान कीर्तिको भी बढाता था ॥ ७९ ॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह राजपुत्र थे, जोकि संख्यामें कुलकरोंके समान होकर भी गुणोंसे उन्हें उल्लंघन करते थे अर्थात् गुणोंमें कुलकरोंसे अधिक थे ॥ ८० ॥ जिसप्रकार मनोहर विशेष कलाओंसे चंद्रमा सुशोभित होता है उसीप्रकार जिन्होंने अपना तेज बढाया है जो मनोहर हैं और विशेष विशेष कला-

दशभिर्भृशं । कातैः कलाविशेषैर्वा राजराजो रराज सः ॥ ८१ ॥ राजा राजप्रभो लक्ष्मीवती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् ज्यायान् जयः पुत्रस्तद्राज्य पूज्यते न कैः ॥ ८२ ॥ स पुत्रविटपाटोपः सोमकल्पाङ्घ्रिपश्चिर । भोग्यः सभृतपुण्याना स्वस्य चाभूत्तदद्भुतं ॥ ८३ ॥ अथान्यदा जगत्कायभोगबंधून्विधुप्रभः । अनित्याशुचिदुःखान्यान्मत्वा याथात्म्यवीक्षणः ॥ ८४ ॥ विरज्य राज्य सयोज्य धुर्ये शौर्योर्जिते जये । अजयौदार्यवीर्यादिप्राज्यराज्यसमु-

---

ओंको धारण करने वाले हैं ऐसे उन पंद्रह पुत्रोंसे वह महाराजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित होता था ॥ ८१ ॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ है, देवी लक्ष्मीवती है प्यारा छोटा भाई श्रेयान है और ज्येष्ठ राजपुत्र जयकुमार है वह राज्य भला किसके द्वारा पूजनीय नहीं होता अर्थात् सबके द्वारा पूज्य होता है ॥ ८२ ॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओंका घटाटोप है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष पुण्य संचय करनेवाले लोगोंको और खुदको भोग्य था भावार्थ—पुण्यवान लोग भी उसका उपभोग करते थे और वह स्वयं भी उपभोग करता था यह बडा आश्चर्य है। आश्चर्य यही है कि कल्पवृक्ष स्वयं उपभोग नहीं करता अन्य लोग उसका उपभोग किया करते हैं परंतु वह कल्पवृक्ष होकर भी स्वयं उपभोग किया करता था और अन्य लोग भी उसका उपभोग करते थे। सब लोग धन धान्य आदि संपदा पाकर प्रसन्न रहते थे ॥ ८३ ॥

अथानंतर—किसी एक दिन पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला राजा सोमप्रभ इस जगतको अनित्य, शरीरको अपवित्र, भोगोंको दुःखस्वरूप और भाई बंधुओंको अपनेसे भिन्नमानकर विरक्त हुआ तथा कभी न नाश होने वाले और अनंत ऐसे वीर्य आदि गुणोंसे भरे हुये मोक्ष रूपी राज्यकी इच्छा करता हुआ शूरता आदि गुणोंसे उत्कृष्टताको प्राप्त हुये और धुरंधर ऐसे जयकुमारको अपना राज्य सोंपकर श्री वृषभदेवके समीप गया, और वहांपर अपने भाई श्रेयांसके साथ दीक्षा लेकर मोक्ष

त्सुकः ॥ ८५ ॥ अभ्येत्य वृषभाभ्यास दीक्षित्वा मोक्षमन्वभूत् । श्रेयसा सह नार्पत्य मनुजेन यथा पुरा ॥ ८६ ॥ पितुः पदमधिष्ठाय जयोऽतायि महीं महान् । महतोऽनुभवन्भोगान् संविभज्यानुजैः सह ॥ ८७ ॥ एकदाऽय विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागतः । तत्रासीन समालोक्य शीलगुप्तमहामुनिं ॥ ८८ ॥ त्रि. परीत्य नमस्कृत्य नुत्वा भक्तिभरान्वितः । श्रुत्वा धर्मं तमापृच्छय प्रीत्या प्रत्याविशत्पुरीं ॥ ८९ ॥ तस्मिन्वने वसन्नागमिथुनं सह भूभुजा । श्रुत्वा धर्मं सुधां मत्वा पपौ प्रीत्या दयारसं ॥ ९० ॥ कदाचित्प्रावृडारंभे प्रचडाशनिताडितः । मृत्वाऽसौ शातिमादाय नागो नागामरोऽभवत् ॥ ९१ ॥ अन्येद्युरिभमारुह्य पुनस्तद्वनमापतत् । नागीं श्रुतवतीं धर्मं राजाऽत्रैव सहात्मना ॥ ९२ ॥ वीक्ष्य काकोदरेणामा जातकोपो विजा-

---

सुखका अनुभव करने लगा। जिस प्रकार वह पहिले यहां अपने भाईके साथ राज्यका सुख भोगता था उसीप्रकार मोक्षमें जाकर भी अपने भाईके साथ मोक्षरूपी राज्यका सुख भोगने लगा भावार्थ–दोनों भाई तपश्चरणकर मुक्त होगये ॥ ८४-८५-८६ ॥ इधर पूज्य जयकुमार अपने पिताके सिंहासनपर विराजमान होकर पृथ्वीका पालन करने लगा और अपने बडे भारी भोगोपभोगोंको अपने छोटे भाइयोंको बांटकर उनके साथ साथ अनुभव करने लगा ॥ ८७ ॥ किसी एक दिन वह जयकुमार क्रीडा करनेकेलिये नगरके बाहर किसी बगीचेमें गया और उसने वहांपर जो शीलगुप्त नामके महामुनि विराजमान थे उनके दर्शन किये ॥ ८८ ॥ उत्कट भक्तिके साथ साथ उसने मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणा दीं, नमस्कार किया, स्तुति की, बडे प्रेमसे धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर अपने नगरको वापिस लौटा ॥ ८९ ॥ उसी बनमें एक सर्पोंका जोडा रहता था उसने भी (सर्प सर्पिणी दोनोंने) राजाके साथ साथ उन मुनिराजसे धर्म श्रवण किया था और उस धर्मको अमृत मानकर बडे प्रेमसे दया रूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी एक दिन वर्षाऋतुके प्रारंभमें प्रचंड बिजलीके पडनेसे उस जोडेमेंका वह सर्प शांति पूर्वक मरकर नागकुमार जातिका देव हुआ ॥९१॥ किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर चढकर फिर उसी बनमें गया और वहांपर उसने देखा

तिना । लीलानीलोत्पलेनाहन्दपती तौ धिगित्यसौ ॥ ९३ ॥ पलायमानौ पापाणै' काष्ठैर्लोष्ठैः पदातयः । अघ्नन् सर्वे न को वाऽत्र दुश्चारित्राय कुप्यति ॥ ९४ ॥ पापः स नद्व्रणैर्मृत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गंगाया कालीति जलदेवता ॥ ९५ ॥ संजातानुशया साऽपि धृत्वा धर्मं हृदि स्थिरं । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य राज्ञा स्वमृतिमब्रवीत् ॥ ९६ ॥ नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेवममन्यत । दर्पात्तेन खलेनैषा वराकी हा हता वृथा ॥ ९७ ॥ विधवेति विवेदाधीर्नैदक्ष मामिम धव । तत्प्राणान्न हरे यावद्भुजंगः केन वाऽस्म्यहं ॥ ९८ ॥ इत्यतोऽसौ दिदक्षुस्तं जयं तद्गृहमास-

---

कि जिसने उसी बनमें अपने साथ साथ मुनिराजसे धर्मश्रवण किया था वही सर्पिणी काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पसे काम सेवन कर रही है, उसे देखकर राजाको बडा क्रोध हुआ, उसने उन दोनोंको धिक्कार दिया और लीला पूर्वक अपने हाथके नीलकमलसे उन दोनोंकी ताडना की ॥९२-९३॥ वे दोनों वहांसे भागे किंतु सब ही पैदल चलनेवाले सेनाके लोग भागते हुये उन दोनोंको पत्थर लकडी और ढेले आदिसे मारने लगे सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी लोगोंपर भला कौन क्रोध नहीं करता है ॥ ९४ ॥ उन घावोंके दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगानदीमें काली नामका जलदेवता हुआ ॥ ९५ ॥ वह सर्पिणी अपने किये हुए पापका पश्चात्ताप करने लगी और अपने हृदयमें धर्मको स्थिर रखकर तथा उसीसमय मरकर अपने पहिलेका पति सर्प जो नागकुमार जातिका देव हुआ था उसकी स्त्री हुई इस तरह उसने अपने पति नागकुमार देवसे राजाके द्वारा अपना मरण सूचित किया ॥९६॥ वह नागकुमारदेव भी उसे देखकर क्रोधसे अपने चित्तमें इसप्रकार मानने लगा कि उस दुष्ट राजाने अपने अभिमानसे यह विचारी सर्पिणी व्यर्थ ही मारी ॥९७॥ उस मूर्खने इसे विधवा समझा, यह न सोचा कि इसका मेरे ऐसा (सामर्थ्यवाला) पति है, इसलिये जबतक मैं उसका प्राणहरण न करूं तबतक भला सर्प कैसे कहला सकता हूं? ॥९८॥ इसप्रकार मनमें सोचता हुआ वह सर्प (नागकुमार जातिका देव) उस जयकुमारको काटनेके लिये तुरंत ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यंच लोग भी स्त्रियोंका तिरस्कार

दत् । न सहते ननु स्त्रीणा तिर्यंचोऽपि पराभवं ॥ ९९ ॥ वासगेहे जयो रात्रौ श्रीमत्याः कौतुकं प्रिये । श्रृण्वेकं दृष्टमित्याख्यत्तद्भुजगीविचेष्टितं ॥ १०० ॥ आभिजात्यं वयो रूप विद्यां वृत्त यशः श्रियं । विभुत्व विक्रम कांतिमैहिक पारलौकिकं ॥ १०१ ॥ प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेय कृपा त्रपा । हानिं वृद्धिं गुणान्दोषान् गणयति न योषितः ॥ १०२ ॥ धर्मः कामश्च सचेयो वित्तेनाय तु सत्पथः । क्रीणत्यर्थं स्त्रियस्ताभ्या धिक् तासा वृद्धगृध्नुता ॥ १०३ ॥ वृश्चिकस्य विषं पश्चात्पन्नगस्य विषं पुरः । योषिता दूषितेच्छाना विश्वतो विषम विष ॥ १०४ ॥ सत्याभासैर्नतैः स्त्रीणा वाञ्चिता ये न धीधनाः । दुःश्रुतीनामिवैताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवल्लभाः ॥ १०५ ॥ तासा किमुच्यते कोपः प्रसादोऽपि भयंकरः । हंत्यधीकान्प्रविश्यातर-

---

सहन नहीं कर सकते हैं ॥९९॥ जयकुमार रात्रिमें अपने शयनागारमें (सोनेके मकानमें) अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये आज एक तमाशा देखा है वह सुन ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टायें कहीं ॥१००॥ और फिर कहने लगा कि देखो स्त्रियां, उत्तम कुलमें उत्पन्न होना, वय (उम्र) रूप, विद्या, चारित्र, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कांति, यह लोक, परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करनेयोग्य, त्याग करने योग्य, कृपा लज्जा, हानि वृद्धि, गुण और दोष आदि कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥ १०१-१०२ ॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिये यह तो उत्तम मार्ग है परंतु स्त्रियां धर्म और कामसे धन खरीदती हैं उनकी बढी हुई इस लोलुपतापर (तृष्णापर) धिक्कार हो ॥१०३॥ विष वीछूकी पूंछपर रहता है और सर्पके मुंहमें रहता है परंतु जिनकी इच्छायें बुरी हैं दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके शरीरमें सब ओर विषम अर्थात् जो मंत्र तंत्र आदिसे भी न उतर सके ऐसा विष भरा रहता है ॥ १०४ ॥ खोटी श्रुतियोंके (कुशास्त्रोंके) समान इन स्त्रियोंके ऊपरसे सच्चे दिखनेवाले किंतु वास्तवमें झूठे ऐसे नमस्कारोंसे जो बुद्धिमान नहीं ठगे गये हैं, इन स्त्रियोंसे बिलकुल बच गये हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं। भावार्थ—जैसे कुशास्त्रसे जो ठगाये नहीं जाते बचे रहते हैं वेही मुक्त होते हैं इसीतरह जो इन स्त्रियोंसे ठगे नहीं जाते बचे रहते हैं वे ही बुद्धिमान् मुक्त होते हैं ॥ १०५ ॥

गाधसरितां यथा॥१०६॥जालकैरिंद्रजालेन वंच्या ग्राम्या हि मायया। ताभिः सेंद्रो गुरुर्वंच्यस्तन्मायामातरः स्त्रियः॥१०७॥ताः श्रयते गुणा नैव नाशभीत्या यदि श्रिताः। तिष्ठंति न चिरं प्रांते नश्यंत्यपि च ते स्थिताः॥१०८॥दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः। तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः॥१०९ निर्गुणान्गुणिनो मतु गुणिनः खलु निर्गुणान्। नाशक्तःपरमात्माऽपि मन्यंते ता हि हेलया ॥ ११० ॥ मोक्षो गुणमयो नित्यो दोषवत्यस्त्रियश्चलाः। तासां नेच्छंति निर्वाणमत एवाप्तसूक्तिषु ॥ १११ ॥ लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिर्मुक्तिस्त्वमिति विश्रुताः। दुर्लभाश्तासु वल्लीषु कल्पवल्ल्य इव प्रिये ॥११२॥

जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या पूछना है अर्थात् उनका क्रोध भयंकर है इसमें आश्चर्य ही क्या है। जैसे अत्यंत गहरी नदीकी प्रसन्नता वा निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर घुसाकर मारती है ॥ १०६ ॥ इंद्रजाल करनेवाले अपने इंद्रजालसे माया वा ठगविद्या उत्पन्नकर ग्रामीण वा मूर्ख देहाती लोगोंको ही ठगा करते हैं परंतु स्त्रियां इंद्र सहित उसके गुरु बृहस्पतिको भी ठग लेती हैं इसलिये कहना चाहिये कि स्त्रियां मायाचारकी मातायें हैं, मायाचार सब उन्हींसे उत्पन्न हुआ है ॥ १०७ ॥ उत्तम गुण कभी स्त्रियोंका आश्रय नहीं लेते, कदाचित् किसीका आश्रय न मिलनेसे अपना नाश होनेके भयसे उनका आश्रय लें तो वे बहुत दिनतक नहीं ठहरते, कदाचित् कुछ देरके लिये ठहर भी जायं तो अंतमें वे अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८ ॥ तथा दोषोंका तो पूछना ही क्या है वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा क्या दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा स्त्रियां ही दोषोंसे उत्पन्न होती हैं इसबातका निश्चय इस संसारमें किसीको भी नहीं हुआ है ॥ १०९ ॥ निर्गुणियोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिये परमात्मा भी समर्थ नहीं है परंतु वे स्त्रियां बहुत सहज रीतिसे ऐसा मान लेती हैं ॥ ११० ॥ मोक्ष गुणस्वरूप और नित्य है तथा स्त्रियां चंचल और दोषस्वरूप हैं इसलिये ही श्रीअरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रोंमें स्त्रियोंको मुक्त होना नहीं माना गया है ॥ १११ ॥ हे प्रिये ! जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसीप्रकार स्त्रियों-

इत्येतच्चाह तच्छ्रुत्वा तं जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिंतितं पापं मया पापपलापतः ॥ ११३ ॥ आर्याणामपि वाग्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिना का विचारणा ॥११४॥ भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽयं भविष्यति भवांतकः । तन्नास्य भयमन्येभ्यो भयमेतद्भयैषिणा ॥११५॥ अहं कुतः कुतो धर्मः संसर्गादस्य सोऽप्यभूत् । ममेह मुक्तिपर्यंतो नान्यत्सत्संगमाद्धितं ॥ ११६ ॥ इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदी जयं स्वयं । रत्नैरनर्घ्यैः संपूज्य स्वप्रपंचं निगद्य च ॥ ११७ ॥ मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ गतः । हंताऽप्यूर्जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयावहः ॥ ११८॥

में लक्ष्मी सरस्वती कीर्ति मुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियां बहुत ही दुर्लभ हैं ॥ ११२ ॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा उसे सुनकर उस जयकुमारको मारनेकी इच्छा करनेवाला वह सर्प उससमय अपने मनमें कहने लगा कि देखो उस स्त्रीने पाप छिपाया इसलिये मुझ पापीने यह पाप चिंतवन किया ॥ ११३ ॥ जो कार्यके जाननेवाले हैं वे सज्जनोंके वचनोंपर भी एकवार फिर विचार करते हैं फिर त्याग करनेयोग्य ऐसी स्त्रीके वचनोंकी तो बात ही क्या है उनपर तो अवश्य विचार करना चाहिये परंतु कामी पुरुषोंको यह विचार कहां ! ॥ ११४ ॥ यह भव्य जीव (जय कुमार) इसी भवमें संसारका नाशकर मुक्त होगा इसलिये इसे अन्य लोगोंसे कुछ भय होनेवाला नहीं है जो इसे भय देना चाहते हैं उन्हींको यह भय है ॥ ११५ ॥ मैं कहां ? और यह धर्म कहां ? वह धर्म भी मुझे इसके संबंधसे प्राप्त हुआ इसलिये इस संसारमें मुझे मोक्ष होनेतक सज्जनोंके समागमके सिवाय और कुछ कल्याण करनेवाला नहीं है ॥ ११६ ॥ इस प्रकार विचारकर वह शांत हुआ, जयकुमारके उपकारको जानकर बहुमूल्य रत्नोंसे स्वयं उसकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुये थे वे सब उससे कहे और अपने किसी कार्यमें मुझे स्मरण करना ऐसा कहकर वह अपने स्थानको लौट गया, सो ठीक ही है क्योंकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी उसका कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७-११८ ॥ जिसका पराक्रम व्यक्त है ऐसा वह जयकुमार चक्रवर्तीके

स चक्रिणा सहाक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तविक्रमः । क्रमान्नियम्य व्यायामं संयमीव शमं श्रितः ॥११९॥ ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि गुणाकरः । सुसर्वांगोऽप्यनंगाभः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥ १२० ॥ अथ देशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव विश्रुतः । पिंडीभूता भयात्कालल्टाकादिव भोगभूः ॥१२१॥ तदाऽपि खलु विद्यंते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । द्रुमाः कल्पद्रुमाभासाश्चित्रास्तत्र क्वचित्क्वचित् ॥ १२२ ॥ तत्रैवाभीष्टमावर्ज्य यत्तत्रैवानुभूयते । स तज्जेतेति निःशंकं शंके स्वर्गापवर्गयोः ॥ १२३ ॥ वाराणसी पुरी तत्र जित्वा तामामरीं पुरीं । अमानैस्तद्विमानानि स्वसौधैरिव साऽहसीत् ॥१२४ ॥

साथ साथ सब दिशाओंपर आक्रमणकर और अनुक्रमसे चारोंओरका फिरना बंद कर संयमीके समान शांतताका आश्रय करने लगा ॥ ११९ ॥ यद्यपि वह सौम्य वा शांत था तथापि उसका प्रताप प्रज्वलित हो रहा था, यद्यपि वह निर्गुण अर्थात् गौणतारहित वा सबमें मुख्य था तथापि वह गुणाकर अर्थात् गुणोंकी खानि था और सुसर्वांग अर्थात् जिसके सब अंग सुंदर हैं ऐसा होकर भी अनंगाभ (शरीर रहित) अर्थात् कामदेवके समान था, ऐसा वह राजा जयकुमार बडे सुखसे अपने नगरमें निवास करता था ॥ १२० ॥ अथानंतर—इसी भरत क्षेत्रमें एक प्रसिद्ध और वहुत बडा काशी नामका देश है जो कि ऐसा जान पडता है मानों कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह इकट्ठी हो गई हो ॥ १२१ ॥ वहांपर कहीं कहीं उस समय भी कल्पलताओंसे घिरे हुये ऐसे कल्पवृक्षोंके समान अनेक तरहके वृक्ष विद्यमान थे ॥ १२२ ॥ चूंकि अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर उन वस्तुओंका उसी देशमें अनुभव किया जाता था इसलिये मैं ऐसा मानता हूं कि वह काशी देश निःसंदेह स्वर्ग मोक्षका जीतनेवाला था भावार्थ—स्वर्गादिमें तो पहिले कियेका फल मिलता है परंतु वहांपर उसी देशमें किये हुयेका फल मिलता था ॥ १२३ ॥ उसी काशी देशमें एक वाराणसी नगरी थी जो कि ऐसी जान पडती थी मानों अपने अगणित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसी अमरपुरीके विमानोंकी ओर हंस रही हो ॥ १२४ ॥ जिसने पहिले जन्ममें पापकर्म किये हैं वह

प्राक् समुचितदुष्कर्मा न तत्रोत्पत्तुमर्हति । प्रमादादपि तज्जोऽपि स्यात्किं पापी मनस्यपि ॥ १२५ ॥ एवं भवत्रयश्रेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव साऽन्यस्थानप्यवीवृतत् ॥ १२६ ॥ नाम्नैव कंपितारातिस्तस्याः पतिरकंपनः । विनीत इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसंपदः ॥ १२७ ॥ पुरोपार्जितपुण्यस्य वर्द्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः किंतु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥ १२८ ॥ न हर्ता केवलं दाता न हंता पाति केवलं । सर्वास्ततपालयामास स धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥ पारमात्म्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरुः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि तौ तस्य कुलवृद्धता ॥ १३० ॥

उस नगरीमें कभी उत्पन्न होने योग्य नहीं हो सकता तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता है ? कभी नहीं ॥ १२५ ॥ इसप्रकार तीनों भवोंके कल्याणोंको सूचित करनेवाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्ममार्गमें प्रवृत्त कराती थी । भावार्थ—उसे देखकर अथवा वहां आकर दूसरी जगहके लोग भी धर्म सेवन करते थे ॥ १२६ ॥ जिसप्रकार विनयवान मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसीप्रकार जिसमें अपनी इच्छानुसार पदार्थ और संपदायें भरी हुई हैं ऐसी उस नगरीका स्वामी राजा अकंपन था जो कि अपने नामसे ही शत्रुओंको कंपित करनेवाला था ॥ १२७ ॥ जिसने पाहिले जन्ममें पुण्य उपार्जन किया है ऐसे उस राजाकी नीति केवल लक्ष्मीके बढाने अथवा उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किंतु वह धर्म और काममें भी काम आती थी ॥ १२८ ॥ वह राजा प्रजासे केवल कर वसूल करनेवाला ही नहीं था किंतु प्रजाको देता भी था, इसीतरह वह केवल दंड देनेवाला ही नहीं था किंतु प्रजाकी रक्षा भी करता था । इसतरह धर्मके प्रसादसे विजय पानेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥ १२९ ॥ महाराज भरत जिस प्रकार परमात्मपदमें-मोक्षमार्गमें श्रीवृषभदेवको पूज्य मानता था उसीप्रकार वह गृहस्थाश्रममें अकंपनको पूज्य मानता था यही उसके कुलका वडप्पन था ॥ १३० ॥ उस राजाके सुप्रभा नामकी देवी थी जो कि चंद्रमाकी प्रभाके

तस्यासीत्सुप्रभा देवी शीतांशोर्वा प्रभा तया। मुमुदे कुमुदाबोधं विदधत्स कलाश्रयः ॥१३१॥ न लक्ष्मीरपि तत्प्रीत्यै सती सा सुप्रजा यथा। सत्फला इव सद्वल्ल्यः पुत्रवत्यस्त्रियः प्रियाः ॥ १३२ ॥ तस्यां तन्नाथवंशाग्रगण्यस्येवाशवो रवेः। प्राच्या दीप्त्यात्तदिक्चक्राः सहस्रमभवन्सुताः ॥ १३३ ॥ हेमागदसुकेतुश्रीसुकाताद्याह्वयैः स तैः। वेष्टितः सन्यदीपिष्ट शक्रः सामानिकैरिव ॥ १३४ ॥ हिमवत्पद्मयोर्गंगासिन्धू इव ततस्तयोः। सुते सुलोचनालक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥ १३५ ॥ सुलोचनाऽसौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा। कलागुणैरभासिष्ट चंद्रिकेव प्रवर्द्धिता ॥ १३६॥ सुमत्याख्याऽ

समान थी। जिसप्रकार चंद्रमा अपनी प्रभाके साथ अनेक कलाओंके आश्रित होकर कुमुदाबोध अर्थात् कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करता हुआ प्रसन्न (स्वच्छ) रहता है उसीप्रकार वह राजा भी उस देवीके साथ अनेक कलाओंके आश्रित होकर अर्थात् अनेक कलाओंको जानता हुआ तथा कु-मुद्-आबोध अर्थात् पृथ्वीमें हर्ष और चारोंओर ज्ञानका विस्तार करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥ १३१ ॥ अच्छी संतान उत्पन्न करनेवाली वह सुप्रभा देवी जिसतरह राजाको आनंदित करती थी उसतरह लक्ष्मी भी उसे आनंदित नहीं कर सकती थी, और जिसप्रकार अच्छे फल लगनेवाली अच्छी वेल (लता) प्रिय होती है उसीतरह अनेक पुत्रोंवाली वह स्त्री भी बहुत ही प्रिय थी ॥१३२॥ जिसप्रकार पूर्वदिशासे सब दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसीप्रकार उस सुप्रभा देवीसे उस नाथवंशके शिरोमणि राजा अकंपनके अपनी कांति वा तेजसे ही सब दिशाओंको वश करनेवाले एक हजार पुत्र हुये थे ॥ १३३ ॥ जिसप्रकार सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इंद्र सुशोभित होता है उसीप्रकार हेमांगद सुकेतुश्री और सुकांत आदि उनपुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा अकंपन सुशोभित होता था ॥ १३४ ॥ जिसप्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म सरोवरसे गंगा और सिंधू दो नदियां निकलती हैं उसीप्रकार उन दोनों राजा रानियोंके सुलोचना और लक्ष्मीमती ये दो शुभ लक्षणोंवाली कन्यायें उत्पन्न हुई थीं ॥ १३५ ॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके

मला: शुक्लनिशेवावर्द्धयत्कलाः । धात्री शशाकरेखायास्तस्याः साऽतिमनोहराः ॥ १३७ ॥ अभूद्रागी स्वयं रागस्तत्क्रमाब्जं समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात्स्वोचितस्थानसंश्रयः ॥ १३८ ॥ नखेंदुचंद्रिका तस्याः शश्वत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादयच्चित्रमनुवृत्त्या क्रमाब्जयोः ॥ १३९ ॥ रेजुरंगुलयस्तस्याः क्रमयोर्नखरोचिषा । इयंत इति मद्वेगाः स्मरेणेव निवेशिताः ॥ १४० ॥ नताशेषो जयः स्नेहादनंसीत्ते ततस्तयोः । या श्रीः क्रमाब्ज-

---

समान सबतरह मनोहर थी और जिसप्रकार कलाओंके बढनेसे चांदनी बढती है उसीप्रकार कला और गुणोंसे बढती हुई वह बहुत ही अच्छी जान पडती थी ॥ १३६ ॥ जिस प्रकार शुक्लपक्षकी रात्रि चंद्रमाकी रेखाओंकी अत्यंत मनोहर किरणोंको बढाती है उसीप्रकार सुमति नामकी धाय अत्यंत मनोहर ऐसी उस सुलोचनाकी निर्मल कलाओंको बढाती थी ॥ १३७ ॥ राग (लालिमा) उस सुलोचनाके चरणकमलोंका आश्रय पाकर अपने आप रागी अर्थात् प्रेम करनेवाला अथवा लाल गुण सहित होगया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानकी प्राप्ति होना भला किसके लिये राग उत्पन्न करनेवाला नहीं होता ॥ १३८ ॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चंद्रमाकी चांदनी दोनों चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय, अर्थात् कमोदिनियोंको अथवा कु-वलय अर्थात् पृथ्वी मंडलको सदा प्रफुल्लित करती रहती थी । भावार्थ–चांदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं होती वह कमलोंको मुदा देती है परंतु उसके नखरूपी चंद्रमाकी चांदनी दोनों चरण कमलोंके अनुकूल रहकर भी कमोदिनियोंको प्रफुल्लित करती थी अथवा पृथ्वीमंडलको प्रसन्न करती थी यही आश्चर्य है ॥ १३९ ॥ उसके दोनों पैरोंकी दश उंगलियां नखोंकी कांतिसे बहुत ही सुशोभित होती थीं और ऐसी जान पडती थीं मानों मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने स्थापन की हों । भावार्थ–चिंता, एक दूसरेको देखनेकी इच्छा, दीर्घश्वास, ज्वर, शरीरदाह, अरुचि, मूर्च्छा, उन्मत्तपना, जीनेका संदेह और मृत्यु ये दश कामके वेग वा अवस्थायें हैं तथा उंगलियां भी दश हैं इसलिये वे ऐसी जान

योस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहे ॥ १४१ ॥ न स्थूले न कृशे नर्जू न वक्रे न च संकटे । विकटे न च तज्जंघे शोभाऽन्यैवैनयोरसौ ॥ १४२ ॥ कांचीस्थानं तदालोच्येवोरू स्थूले सुसगते । कामगर्भगृहद्वारस्तभयष्टयाकृती कृते ॥ १४३ ॥ वेदिकेव मनोजस्य शिरोवा स्मरदातिनः । सानुर्वाऽनंगशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटं ॥ १४४ ॥ कृत्वा कृशं भृशं मध्य बद्ध भंगभयादिव । रज्जुभिस्तिसृभिर्धात्रा वलिभिर्गाढमावभौ ॥ १४५ ॥ नाभिकूपप्रवृत्ताऽस्या रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाद्वलमालेव रोमराजिर्व्यराजत ॥ १४६॥ भिन्नौ युक्तौ मृदू स्तब्धावुष्णौ सतापहारिणौ । स्तनौ विरुद्धधर्माणौ

पडती थीं मानों कामदेवने अपनी दश अवस्थायें ही स्थापन की हों ॥ १४० ॥ जिनको सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी थोडे दिन बाद बडे प्रेमसे जिन्हें नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोंनो चरणकमलोंमें जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? कभी नहीं ॥ १४१ ॥ उसकी दोनों जंघायें न स्थूल थीं न कृश थीं, न सीधी थीं न टेडी थीं और न सटी हुई थीं न दूर दूर थीं, उसकी उन दोनों जंघाओंकी शोभा एक निराली ही थी ॥ १४२ ॥ उसके करधनी पहननेके स्थानको अर्थात् कमरको देखकर ही मानों दोनों आपसमें सटे हुये, स्थूल और कामदेवके गर्भगृहके दरवाजेके खंभोंकी लकडीके समान दोनों ऊरु (जंघाके ऊपरी भाग) बनाये गये थे ॥ १४३ ॥ उसका कटीतट वा नितंब भाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेव रूपी पर्वतका शिखर ही हो ॥ १४४ ॥ उसका मध्यभाग ऐसा अच्छा जान पडता था मानों विधाताने पहिले तो उसे अत्यंत कृश बनाया हो और फिर टूटनेके डरसे त्रिवली रूपी तीन रस्सियोंसे खूब कसकर बांधा हो ॥ १४५ ॥ नाभिरूपी कुए से निकली हुई उसकी रोमराजी ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों जलमार्गसे निकली हुई हरी हरी छोटी छोटी घासकी पंक्ति ही हो ॥ १४६ ॥ उसके स्तन भिन्न भिन्न होकर भी एक दूसरेसे मिले हुये थे, कोमल होकर भी कठिन थे और उष्ण होकर भी संतापको दूर करनेवाले थे, इसतरह

स्याद्वादयितिमूहतुः ॥ १४७ ॥ सह वक्षोनिवासिन्या समाश्लिष्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताभ्या वर्ण्येते तद्भुजौ कथं ॥ १४८ ॥ वीरलक्ष्मीपरिष्वक्तजयदक्षिणवाहुना । सवामेन परिष्वक्तस्तत्कण्ठस्तस्य कोपमा ॥ १४९ ॥ निःकृपौ पेशलौ श्लक्ष्णौ तत्कपोलौ विलेसतुः । कातौ कलभदंताभौ जयवक्त्राब्जदर्पणौ ॥ १५० ॥ वटार्विंवप्रवालादि नोपमेयमपीष्यते । अधरस्यातिदूरत्वाद्वर्णाकाररसादिभिः ॥ १५१ ॥ चिताः सिताः समाः स्निग्धा दताः काताः प्रभान्विताः । अंतःकरोति तद्वक्त्रं तानेव कथमन्यथा ॥ १५२ ॥ कुतः कृता समुत्तुगा स्वादमानाऽऽस्यसौरभं । मध्येवक्त्र किमथ्यास्ते

विरुद्ध धर्मोंको धारण करते हुये उसके स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण करते थे ॥ १४७ ॥ चूंकि उसकी दोनों भुजाओंने वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिंगनकर जयकुमारको स्वीकार किया है इसलिये उसकी दोनों भुजाओंका वर्णन भला कैसे किया जासकता है ॥१४८॥ उसका कंठ जयकुमारके बांये हाथके साथ साथ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित ऐसे उसके [जयके] दायें हाथसे आलिंगन किया गया था इसलिये उसकी उपमा संसारमें किसके साथ दी जा सकती है? भावार्थ—वह उपमा रहित था ॥ १४९ ॥ निर्दय अर्थात् लोगोंको संताप उत्पन्न करनेवाले, कोमल चिकने और मनोहर उसके दोनों कपोल ऐसे अच्छे जान पडते थे मानों हाथीके वचेके दांत ही हों, अथवा जयकुमारका मुख कमल देखनेके लिये दर्पण ही हों ॥ १५० ॥ बडकी नई कोंपल, बिंबीफल, और मूंगा आदि चीजें वर्ण, आकार, और रस आदिमें ओठोंसे बहुत दूर हैं अर्थात् उसके ओठोंके समान न तो इनका वर्ण है न रस है और न आकार है इसलिये ही उसके ओठोंको इनमेंसे किसीकी उपमा नहीं दी गई है ॥ १५१ ॥ अवश्य ही उसके दांत छिद्ररहित (बीच बीचमें अंतर रहित) थे, सफेद उज्वल थे, समान थे, कोमल थे, मनोहर थे और कांतिवाले थे, यदि वे ऐसे प्रशंसनीय न होते तो सुलोचनाका मुख उन्हें भीतर ही क्यों रखता ? ॥ १५२ ॥ मुखकी सुगंधिको सूंघती हुई उसकी नाक यदि अच्छी न होती तो वह इतनी ऊंची क्यों बनाई जाती, तथा मुखके बीचमें ही कैसे बनाई जाती ॥ १५३ ॥

न सती यदि नासिका ॥ १५३ ॥ कर्णांतगामिनी नेत्रे वृद्धे नरशरोपमे । सोमवशस्य कः क्षेपः पद्मोत्पलजये तयोः ॥ १५४ ॥ तत्कर्णावेव कर्णेषु कृतपुण्यौ प्रियाज्ञया । तत्प्रेमालापनीतानां पात्रं प्रागेव तौ यतः ॥ १५५ ॥ तद्भ्रूशरासनः कामस्तत्कटाक्षशरावलिः । स्वरूपेणाजितं मत्वा जयं मन्ये व्यजेष्ट सः ॥ १५६॥ तस्या लालाटिको नैकः कामो वीराग्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोन्नतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः॥ १५७॥ मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुंचिताः । कामिना केवलं कालबालव्यालाः शिरोरुहाः ॥ १५८ ॥ भाति तस्याः पुरोभागो भूषितो नयनादिभिः । सुरूप इव

अर्जुनके बाणके समान कर्णके (अर्जुनके शत्रु राजा कर्णके अथवा कानके) समीपतक जाने वाले उसके दोनों नेत्र बडे ही विशाल थे, उन्होंने नीलकमल और लाल कमल दोनों ही जीत लिये थे फिर भला सोमवंश अर्थात् चंद्रमापर कौनसा तिरस्कार करना बाकी रह गया था अथवा सोमवंश अर्थात् जयकुमार पर कौनसा क्षेप अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ॥ १५४ ॥ उसके दोनों ही कान सब कानोंमें पुण्यवान् थे क्योंकि वे पहिलेसे ही अपने प्रिय जयकुमारसे उसके प्रेम संभाषण और गीत सुननेके पात्र हो गये थे॥ १५५ ॥ मैं तो ऐसा मानता हूं कि कामदेव अपने रूपसे जयकुमारको नहीं जीत सका था इसलिये उसे अजीत जानकर सुलोचनाके भोंह रूपी धनुष और उसके कटाक्षरूपी बहुतसे बाणोंसे ही उसने जयकुमारको जीता था ॥ १५६ ॥ उस सुलोचनाका लालाटिक अर्थात् अभिप्रायोंको जाननेवाला सेवक अकेला कामदेव ही नहीं था किंतु सब वीरोंमें मुख्य ऐसा जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला अच्छी शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति ऊंचापन अथवा उत्तमता कैसे नहीं होसकती ? ॥ १५७ ॥ अत्यंत कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ टेडे ऐसे उसके शिरके बाल कामी लोगोंको केवल काले सापोंके बच्चोंके समान जान पडते थे ॥ १५८ ॥ उस सुलोचनाका आगेका भाग नेत्र आदिसे सुशोभित होकर सुंदर जान पडता था और पीछेका भाग किसी सुंदर वस्तुके समान अपने आप सुशोभित होता था॥ १५९ ॥

पाश्चात्यो वाभाति स्वयमेव सः ॥ १५९ ॥ ये तस्यास्तनुनिर्माणे वेधसा साधनीकृताः । अणवस्तृणवच्छेशास्त एव परमाणवः ॥ १६० ॥ अतिवृद्धः क्षयासन्नः स्पष्टलक्ष्माऽहिगोचरः । पूर्णः शेषोऽप्यसपूर्णो न तद्वक्त्रोपमो विधुः ॥ १६१ ॥ न पश्चान्न पुरा लक्ष्मीर्बोध्रो पद्मे क्षणे क्षणे । वक्त्यन्या गृह्णती शोभां सा स्याद्वादं तदानने ॥ १६२ ॥ चंद्रे तीव्रकरोत्सन्ना पद्मे शीतकराहता । लक्ष्मीःसाऽन्यैव तद्वक्त्रे जयलक्ष्मीकरग्रहात् ॥ १६३ ॥ रात्राविंदुर्दिवाऽम्भोजं क्षयींदुर्म्लानि वारिजं । पूर्णमेव विकास्येव तद्वक्त्रं भात्यहर्निशं ॥ १६४ ॥ लक्ष्मीस्तस्येक्षितुस्तेन वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं

नाम कर्मरूपी विधाता उस सुलोचनाका शरीर बनानेमें जिन परमाणुओंको काममें लाया था वे ही अणु वास्तवमें परमाणु अर्थात् उत्तम अणु थे, उनसे बाकी बचेहुये अणु सब तृणके समान व्यर्थ थे॥१६०॥ चंद्रमा वास्तवमें उसके मुखके समान अथवा मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि चंद्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत बडा है, तुरंत ही उसका क्षय होनेवाला है, कलंक उसका साफ दिखाई देता है और राहु उसे दबा सकता है, यदि बाकीके चंद्रमाकी उपमा दें तो अधूरा ही है। भावार्थ–उसका मुख पूर्ण निष्कलंक और सदा एकसा रहनेवाला सुंदर था, चंद्रमा किसी हालतमें ऐसा नहीं है इसलिये वह उसकी उपमाके योग्य भी नहीं है ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा देवें सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमें प्रफुलित होनेके पहिले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण क्षण में विकासित होती रहती है परंतु एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई उसके मुखकी लक्ष्मी उसके मुखपर स्याद्वादका स्वरूप प्रगट करती थी। भावार्थ–उसके मुखकी शोभा सदा एकसी रहकर भी क्षणक्षणमें विलक्षण शोभाको धारण करती थी इसलिये ही वह कमलकी शोभासे अच्छी थी और स्याद्वादका स्वरूप प्रगट करती थी ॥१६२॥ चंद्रमाकी शोभा सूर्यसे नष्ट होजाती है और कमलकी शोभा चंद्रमासे नष्ट होजाती है परंतु जयकुमारकी लक्ष्मीकी शोभाका हाथ पकड लेनेसे उसके मुखकी शोभा एक विलक्षण ही हो गई थी भावार्थ-उसके मुखकी शोभा चंद्रमा और कमलकी शोभासे भी बहुत बढी हुई थी ॥१६३॥ चंद्रमा रातमें ही रहता है और कमल दि-

पद्मे तादृशं येन तद्वक्त्रमुपमीयते ॥ १६५ ॥ कुमार्या त्रिजगज्जेता जितः पुष्पशरासनः । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्रतोऽनया ॥ १६६॥ कुमार्यैव जितः कामो वीरः पश्चाज्जयो जितः । स्त्रीसृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सह श्रिया ॥१६७॥ मृगाकस्य कलंकोऽयं मन्येऽह कन्ययाऽनया । स्वकांत्या निर्जितस्याभूद्रोगराजश्च चिंतया ॥ १६८ ॥ सार्धं कुवलयेनेंदुः सह लक्ष्म्या सरोरुहं । तद्वक्त्रेण जित व्यक्त किमन्यन्नेह जीयते ॥ १६९ ॥

नमें ही प्रफुल्लित रहता है तथा चंद्रमा क्षीण होता रहता है और कमल मुरझा जाता है, परंतु उसका मुख सदा पूर्ण ही था, सदा प्रफुल्लित ही रहता था और रात दिन सुशोभित रहता था ॥१६४॥ उस सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसके मुखकी शोभा भी बढ जाती थी अर्थात् उसे देखकर वह प्रसन्न हो जाता था और वह मुख जिसे देखता था निश्चयसे उसके मुखकी शोभा भी वढ जाती थी अर्थात् वह भी प्रसन्न हो जाता था । क्या कमलमें यह ऐसा गुण है जो उसके साथ सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥ १६५ ॥ इसने कुमारी अवस्थामें ही तीनों जगतको जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें दूसरा ऐसा कौनसा वीर था जिसे यह आगे युवावस्थामें न जीत सके ॥ १६६ ॥ इसने बालक अवस्थामें ही कामदेवको जीत लिया था और फिर तरुणावस्थामें वीर जयकुमारको जीता था, फिर भला इसके जीतनेके लिये लक्ष्मीके साथ स्त्रियोंकी सृष्टिमें कितनी बाकी थीं ? भावार्थ--लक्ष्मी आदि सब स्त्रियोंको उसने जीत लिया था ॥ १६७ ॥ चंद्रमामें जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूं मानों इस कन्याने अपनी कांतिसे चंद्रमाको जीत लिया है इसलिये उसे चिंताके कारण राजयक्ष्मा (क्षय) रोग ही हो गया हो ॥ १६८ ॥ उस सुलोचनाके मुखने कमोदिनियोंके साथ चंद्रमाको जीत लिया था और लक्ष्मी वा शोभाके साथ साथ कमलको प्रगट रीतिसे जीत लिया था, फिर भला इस संसारमें और कौनसा पदार्थ है जिसे वह जीत न सके ॥ १६९ ॥ मुझे तो यही विश्वास है कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके

जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तु तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यति ॥ १७० ॥ शनैर्बालेंदुरेखेव सा कलाभिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुभास्पर्धिनो गुणाः ॥ १७१ ॥ इति सपूर्णसर्वांगशोभा शुद्धान्ववायजा । स्मरो जयभयाद्वै तां न तदाऽप्यकरोत्करे ॥ १७२॥ कारयती जिनेंद्रार्चाश्चित्रा मणिमयीर्बह्वः । तासां हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥ १७३ ॥ तत्प्रतिष्ठाभिषेकाते महापूजाः प्रकुर्वती । मुहुस्तुतिभिरर्ध्याभिः स्तुवती भक्तितोऽर्हतः ॥ १७४ ॥ ददती पात्रदानानि मानयंती महामुनीन् । श्रृण्वती धर्ममाकर्ण्य भावयती मुहुर्मुहुः ॥ १७५ ॥

लिये जल कमल तो जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोंके द्वारा आजतक तपश्चरण करता है ॥ १७० ॥ द्वितियाके चंद्रमाकी रेखाके समान वह सुलोचना धीरे धीरे कलाओंके द्वारा बढती थी और ज्यों ज्यों बढती जाती थी त्यों त्यों चंद्रमाकी कांतिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके निर्मल गुण बढते जाते थे ॥ १७१ ॥ इसप्रकार जो शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुई है और जो समस्त अंगोंकी पूर्ण शोभासे सुशोभित है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे अथवा यह मुझे हरा देगी इसी भयसे तरुण अवस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर सका था ॥ १७२ ॥ उस सुलोचनाने श्रीजिनेंद्रदेवकी अनेक तरहकी और बहुतसी मणियोंकी प्रतिमायें बनवाई थीं तथा उन प्रतिमाओंके सब उपकरण भी सुवर्णके ही बनावाये थे ॥ १७३ ॥ उन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराई थी, प्रतिष्ठाके अभिषेकके अंतमें महा पूजा करती थी तथा उत्तम उत्तम अर्थोंसे भरेहुये स्तोत्रोंके द्वारा भक्ति पूर्वक बार बार अरहंत देवकी स्तुति करती थी ॥ १७४ ॥ पात्रोंको दान देती थी, महामुनियोंकी पूजा करती थी, धर्मको सुनती थी और धर्मको सुनकर तथा सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको पाकर आप्त आगम और पदार्थोंको बार बार चिंतवन करती थी ॥ १७५॥. ॥

अथानंतर—फाल्गुन महीनेकी अष्टान्हिकामें उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेंद्रदेवकी अष्टान्हिकाकी पूजा की, विधि पूर्वक प्रतिमाओंकी पूजा की, उपवास किया और फिर वह कृशांगी शेषा [पूजाके बचे हुये

आसांगमपदार्थाश्च प्राप्तसम्यक्त्वशुद्धिका । अथ फाल्गुननंदीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेशिनां ॥ १७६ ॥ विधायाष्टाह्निकीं पूजामभ्यर्च्यार्चां यथाविधि । कृतोपवासा तन्वंगी शेषान् दातुमुपागता ॥ १७७ ॥ नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताजलिः । तद्दत्तशेषानादाय निधाय शिरसि स्वयं ॥ १७८ ॥ उपवासपरिश्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि ते । शरणं पारणाकाल इति कन्यां विसर्जयत् ॥ १७९ ॥ तां विलोक्य महीपालो बालामापूर्णयौवनां । निर्विकारां सचिंतः सन् तस्याः परिणयोत्सवे ॥ १८० ॥ शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन् । कोष्ठादिमतिभेदान्वा दिने व्याहूय मंत्रिणः ॥ १८१ ॥ वृण्वते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुल जीवितं । ब्रूत कस्मै प्रदास्यामो विमृश्येमां सुलोचना ॥ १८२ ॥ इत्यप्राक्षीत्तदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सद्बंधुसबंधो जामाताऽत्र महान्वयः ॥ १८३ ॥ सर्वस्वस्य व्ययोऽत्राय जन्मराज्यफलं च नः ।

अक्षत] देनेके लिये सिंहासनपर विराजमान अपने पिता अकंपनके समीप गई, महाराजने भी उठकर और हाथ जोडकर उसके दिये हुये शेषाक्षत ग्रहण किये, उन्हें स्वयं अपने मस्तकपर रक्खा और कहा कि हे पुत्री तू उपवाससे कुछ खिन्न होगई है, अब तू घर जा, यह तेरे पारणाका समय है, इसप्रकार कह महाराजने कन्याको विदा किया ॥१७६-१७७-१७८-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनताको प्राप्त हुई और विकार रहित ऐसी उस कन्याको देखकर उसके विवाहका उत्सव करनेके लिये चिंता करने लगा॥१८० उसने किसी शुभदिन कोष्टबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारि और संभिन्नश्रोतृ इन चारों बुद्धियोंके समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मंत्रियोंको बुलाया ॥१८१॥ और कहा कि कुलके प्राणके समान इस मेरी कन्या सुलोचनाकेलिये सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इसलिये तुमलोग विचारकर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ॥ १८२ ॥ इसप्रकार पूछनेपर शास्त्रोंका समुद्र ऐसा श्रुतार्थ नामका मंत्री कहने लगा कि इस विवाहमें सज्जन भाइयोंका संबंध होना चाहिये जमाई बडे कुलका होना चाहिये ॥ १८३ ॥ इस विवाहमें बहुतसा धन खर्च होगा और हम लोगोंको अपने जन्म और राज्यका फल मिलेगा । इसलिये नयोंके जाननेमें विद्वान ऐसे लोगोंको यह कार्य बहुत विचारकर करना चा-

ततः संचिन्त्यमेवैतत्कार्यं नयविशारदैः ॥ १८४ ॥ बंधवः स्युर्नृपाः सर्वे संबंधश्चक्रवर्तिना । इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भवद्वंशश्च जायते ॥ १८५ ॥ कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकं । यद्वरेषु समन्वेष्यं सर्वं तत्तत्र पिंडितं ॥ १८६ ॥ ततो नान्यत्र नश्चर्च्यं दिगंतव्याप्तकीर्तये । जितार्कमूर्तये देया कन्यैषेत्यर्ककीर्तये ॥ १८७ ॥ सिद्धार्थोऽत्राह तत्सर्वमस्तु किंच पुराविदः । कनीयसोऽपि संबंधं नेच्छंति ज्यायसा सह ॥ १८८ ॥ ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रभंजनो रथवरो बलिर्वज्रायुधाह्वयः ॥ १८९ ॥ मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽन्येऽप्युदितोदिताः । कृतिनो बहवः संति तेषु यत्राशयोत्सवः ॥ १९० ॥ शिष्टान् पृष्ट्वा च दैवज्ञान्निरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः समसंबंधस्तस्मै कन्येति दीयतां ॥ १९१ ॥ श्रुत्वा सर्वार्थवित्स-

---

हिये ॥ १८४ ॥ यदि चक्रवर्तीके साथ संबंध किया जाय तो सब राजा लोग अपने बंधु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकुवंशके समान पूज्य हो सकता है ॥ १८५ ॥ कुल रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा, और पौरुष आदि जो जो गुण वरमें ढूंढने चाहिये वे सब चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिमें ही इकट्ठे हो गये हैं ॥ १८६ ॥ इसलिये इसमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है, जिसकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैल रही है और जो सूर्यके प्रतिबिंबको भी जीतता है ऐसे अर्ककीर्तिके लिये ही यह कन्या देनी चाहिये ॥ १८७ ॥ इसी अवसरपर सिद्धार्थ कहनेलगा कि यह आपका कहना सब ठीक है परंतु प्राचीन व्यवहारको जाननेवाले लोग छोटे लोगोंका बडेके साथ संबंध होनेको भी ठीक नहीं समझते हैं ॥ १८८ ॥ इसलिये जिनमें वरके योग्य गुण मौजूद हों ऐसे प्रभंजन, रथवर, वलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो कि एकसे एक बढकर ऐश्वर्यवाले हैं तथा चतुर हैं उनमें जिसकेलिये अपना चित्त प्रसन्न हो उस राजपुत्रके लिये शिष्ट तथा ज्योतिषियोंको पूछकर और सबतरहके सगुन देखकर अपनी कन्या देनी चाहिये । इसतरह बराबरीवालोंके साथ संबंध करनेसे ही अपना कल्याण हो सकता है॥ १८९-१९१॥ यह सब सुनकर सब विषयोंको जाननेवाला सर्वार्थ नामका मंत्री कहने लगा कि भूमिगोचरियोंके साथ

वं सर्वार्थः प्रत्युवाच तं । भूमिगोचरसंबंधः सः नः प्रागपि विद्यते ॥ १९२ ॥ अपूर्वः लाभः श्लाघ्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिद्देये-यमिति निश्चितं ॥ १९३ ॥ सुमतिस्तु निशम्यार्थं युक्तानामाह युक्तिवित् । न युक्तं वक्तुमप्येतत्सर्वं वैरानुबंधकृत् ॥ १९४ ॥ किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेतसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किंचिद्वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतेः ॥ १९५ ॥ दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविरोधकः । श्रुतः पूर्वपुराणेषु स्वयंवर विधिर्वरः ॥ १९६ ॥ संप्रत्यकंपनोपक्रमं तदस्त्वायुगावधि । पुरुतत्पुत्रवत्सृष्टिर्व्यातिरस्यापि जायता ॥ १९७ ॥ दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचित्कन्यका

तो हम लोगोंका संबंध पहिलेसे ही विद्यमान है परंतु विद्याधरोंके साथ संबंध करना प्रशंसनीय भी है और हमलोगोंके लिये एक अपूर्व लाभ भी है इसलिये विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिये यही मेरा निश्चित मत है ॥ १९२-१९३ ॥ तदनंतर वहांपर इकट्ठे हुये सब लोगोंका अ-भिप्राय सुनकर युक्तिको जाननेवाला सुमति नामका मंत्री कहने लगा कि इन सब बातोंका कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सब बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं ॥ १९४ ॥ (किसी विद्याधरको कन्या दी है) यह बात सुनकर चक्रवर्ती भी क्या भूमिगोचरियोंमें इसके योग्य कोई वर नहीं है, यही स-मझकर अपने चित्तमें कुछ बुरा मानने लगेगा ॥ १९५ ॥ इस काममें किसीसे विरोध न करने वाला ऐसा एक बहुत ही अच्छा उपाय सोचा है और वह यह है कि पहिलेके पुराणों-में स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है ॥ १९६ ॥ यदि इस समय महाराज अकंपनके द्वारा प्रथम ही यह स्वयंवरकी विधि प्रारंभ की जाय तो भगवान श्रीवृषभदेवके समान अथवा उनके पुत्र महाराज भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी इस युगके अंततक हो जाय ॥ १९७ ॥ इसलिये स्वयंवरमें यह कन्या जिसे स्वयं स्वीकार करे उसी किसी पुण्यवानके लिये दे देनी चाहिये, ऐसा करनेसे ब्रह्मा अर्थात् वृषभदेव अथवा भरतके साथ भी हमलोगोंका कोई विरोध नहीं होगा और न राजाओंमें किसीके साथ कुछ विरोध होगा ॥ १९८ ॥ इसप्रकार सुमति मंत्रीने कहा और वह राजाके साथ साथ

स्वयम् । वेधसा विप्रियं नोऽमा माभूद्भूभृत्सु केनचित् ॥ १९८ ॥ इत्येवमुक्त तत्सर्वैः सम्मत सह भूभुजा । न हि मत्सरिणः संतो न्यायमार्गानुसारिण. ॥ १९९ ॥ तान् सपूज्य विसर्ज्याभूद्भूभृत्तत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृह गत्वा सर्वं तत्साविधानकं ॥ २०० ॥ निवेद्य सुप्रभायाश्च हृष्टो हेमागदस्य च । वृद्धैः कुलक्रमायातैरालोच्य च सनाभिभिः ॥ २०१ ॥ अत्रैकेया निसृष्टार्थान् मितार्थानपरान्प्रति । परेषां प्राभृतांतःस्थपत्रशासनहारिणः ॥ २०२ ॥ स दानमानै. सपूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनं । समानेतुं महीपालान्सर्वदिक्ष समादिशत् ॥ २०३ ॥ ज्ञात्वा तदाशु तद्बंधुर्विचित्रागदसंज्ञक'। सौधर्मकल्पादागत्य देवोऽवधिविलोचनः ॥ २०४ ॥ अकंपनमहाराजमालोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः स्वयवरमवोक्षितु ॥ २०५ ॥

सब लोगोंने स्वीकार किया, सो ठीक ही है क्योंकि न्यायमार्गके अनुसार चलनेवाले सज्जन लोग कभी ईर्षा नहीं करते हैं ॥ १९९॥ तदनंतर राजाने उन सब मंत्रियोंको आदर सत्कारकर विदा किया और वह उसी स्वयंवरके कार्यमें तत्पर हुआ, वह स्वयं घर गया तथा वह सब समाचार उसने प्रसन्न होकर रानी सुप्रभा और बडे पुत्र हेमांगदको कह सुनाया, अपने कुलपरंपरामें जो वृद्ध पुरुष थे उनसे तथा अपने भाई बंधुओंसे इसका विचार किया ॥ २००–२०१ ॥ कितने ही राजाओंके पास अपने आप विचारकर काम करनेवाले दूतोंको भेजा, कितनों ही के पास कहे अनुसार उतना ही काम करनेवालोंको भेजा और कितनों ही के पास भेटके भीतर पत्र रखकर लेजानेवाले दूतोंको भेजा। राजाने उन सब दूतोंका दान सन्मानकर आदरसत्कार किया, यह स्वयंवरका अपना प्रयोजन कहा और सब राजाओंको बुलानेकेलिये उन्हें सब दिशाओंमें भेज दिया ॥ २०२–२०३ ॥ यह सब समाचार जानकर जिसे अवधिज्ञानरूपी नेत्र हैं ऐसा विचित्रांगद नामका महाराज अकंपनका भाई जो कि सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ था वह देव उस सौधर्मस्वर्गसे आया और महाराज अकंपनको देखकर उनसे कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिये आया हूं ॥ २०४–२०५ ॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप उत्तर दिशाकी ओर शांत विशाल

इत्युक्त्वोऽपपुरे योग्ये रम्ये राजाभिसम्मतः । ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे वरवास्तुनि ॥२०६॥ प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मंगलद्रव्यसभृतं । विवाहमंडपोपेतं प्रासादं बहुभूमिप ॥२०७॥ चित्रप्रतोलीप्राकारपरिकर्मगृहावृतं । भास्वरं मणिभर्मभ्यां विधाय विधिवत्सुधीः ॥ २०८ ॥ त परीत्य विशुद्धोरुसुविभक्तमहीतलं । चतुरस्र चतुर्द्वार शालगोपुरसयुत ॥ २०९ ॥ रत्नतोरणसकीर्णकेतुमालाविलासित । हटत्कूटाग्रनिर्भासिभर्मकुभाभिशोभित ॥ २१० ॥ स्थूलनीलोत्पलाबद्धस्फुरद्दीप्तिधरातलं । विचित्रनेत्रविस्तीर्णावितानातिविराजितं॥२११॥भोगोपभोगयोग्योरुसर्ववस्तुसमाचितं। यथास्थानगताशेषरत्नकाचन-

---

मनोहर और योग्य स्थानमें सर्वतोभद्र नामका एक राजभवन बनाया, जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मंगलद्रव्योंसे भरा हुआ था, विवाह मंडपसे शुशोभित था तथा कई मंजिला था ॥ २०६-२०७ ॥ वह राजभवन अनेक तरहकी गलियां, कोट और शृंगार करनेके घरोंसे घिरा हुआ था, अत्यंत दैदीप्यमान था, तथा सुवर्ण और मणियोंसे बना हुआ था, इसप्रकारका वह राज भवन उस बुद्धिमानने विधिपूर्वक बनाया था ॥ २०८ ॥ उस राजभवनके चारोंओर एक स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बडा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग अलग भागोंमें बंटा हुआ था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे और कोट तथा कोटके चार वडे दरवाजोंसे सुशोभित था ॥ २०९ ॥ वह स्वयंवरका महाभवन रत्नोंके बने हुये तोरण और उनसे मिली हुई ध्वजाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान था, ऊंचे शिखरोंके ऊपर चमकते हुये सुवर्णके कलशोंसे बहुत ही सुंदर दिखता था, वडे बडे नीलमणियोंसे बना हुआ, था उसका धरातल (आंगन) वहुत ही प्रकाशमान और दैदीप्यमान हो रहा था, अनेक तरहके नेत्र जातिके सुंदर वस्त्रोंसे बने हुये बडे बडे चंदोवोंसे बहुत ही सुशोभित था, भोगोपभोगके योग्य ऐसी समस्त वडी बडी वस्तुओंसे भरा हुआ था और अपने अपने योग्य स्थानपर जडे हुये सबतरहके रत्नोंसे तथा सुवर्णसे बना हुआ था, इस प्रकारका वह स्वयंवरका महाभवन उस देवने बडी प्रसन्नतासे बनाया था, सो ठीक ही है क्योंकि

निर्मितं ॥ २१२ ॥ मुदा निष्पादयामास स्वयंवरमहागृहं । न साधयंति केऽभीष्टं पुंनां शुभविपाकतः ॥ २१३ ॥ तं निरीक्ष्य क्षितेर्भर्त्ता लक्ष्मीलीलागृहायितं । नामास्वांगे स सतोषात्सन्मित्रात्किं न जायते ॥ २१४ ॥ अथ प्रादुरभूत्कान्तः सुरभिर्मत्तमन्मथः । मुदं मदं च संचिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥ २१५ ॥ ववौ मदं गजोद्घृष्टचन्दनद्रवसारभृत् । एलालवंगसंसर्गपिंगुलो मलयानिलः ॥ २१६ ॥ मलयानिलं माश्लेष्टुं संबन्धिनमुपागतं । लता द्रुमाः सुशाखाना प्रसारणमिवादधुः ॥ २१७ ॥ यममत्वधिदिक्त्याग रविर्भीत इवाकरोत् । मदेन कोकिलाः काले कूजंति स्म निरकुशं ॥ २१८ ॥

शुभ कर्मोंके उदयसे मनुष्योंको कौन कौनसे अभीष्ट (इच्छानुसार कार्य) सिद्ध नहीं होते हैं ? अर्थात् सभी होते हैं ॥ २१०-२१३ ॥ लक्ष्मीके लीलागृहके (खेलनेके घरके) समान उस स्वयंवरके महाभवनको देखकर राजा अकंपन संतोषसे अपने शरीरमें भी नहीं समाता था, सो ठीक ही है क्योंकि अच्छे मित्रसे कौनसा कार्य नहीं होता है ? अर्थात् सभी होते हैं ॥ २१४ ॥

अथानंतर—कामदेवको उन्मत्त करनेवाले और कामी लोगोंमें तथा भ्रमरोंमें हर्ष और मद उत्पन्न करनेवाले वसंत ऋतुका प्रारंभ हुआ ॥ २१५ ॥ हाथियोंकी रगडसे जो चंदन घिस जाता था उसके सारको ग्रहण करनेवाला तथा इलाइची और लोंगके संबंधसे कुछ कुछ पीला हुआ मलय पर्वतका सुगंधित वायु धीरे धीरे वह रहा था ॥ २१६ ॥ लता और वृक्षोंकी जो शाखायें वढ रही थीं वे ऐसी जान पडती थीं मानों लता और वृक्षोंने समीप आये हुये अपने संबंधी ऐसे मलय पर्वतकी वायुको आलिंगन करनेके लिये ही अपनी सुंदर शाखायें फैलाई हों ॥ २१७ ॥ सूर्यने मानों डरकर ही यम संबंधी दिशा अर्थात् दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था । भावार्थ—वह उत्तरायण हो गया था और उन्हीं दिनों कोइलें भी अपनी उन्मत्ततासे निरंकुश होकर (विना किसी रुकावटके) मधुर शब्द कर रहीं थीं ॥ २१८ ॥ 'ये पुष्प ऋतुसंबंधी हैं अर्थात् वसंतऋतुमें उत्पन्न हुये हैं, अथवा रजस्वलावस्थाके हैं और ये शाखायें हम लोगोंके पूज्य पुरुषोंमेंसे हैं इसलिये तुम लोग इन्हें मत

पुष्पमार्तवमाप्ता नः शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वासं निषिध्यंतश्चंपकाश्चलपल्लवैः ॥ २१९ ॥ वसंतश्रीवियोगो वा सशोकोऽशोकभूरुह' । सपुष्पपल्लवो नाम सार्थं तत्संगमाद्व्यधात् ॥ २२० ॥ मूलस्कंधाग्रमध्येषु चूतायैरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरभिश्च तदा दधे ॥ २२१ ॥ आकृष्टदिग्गजालीनि बकुलानि वने वने । हानौ गुणाधिकान्यासस्तुलितानि कुलोद्गतैः ॥ २२२ ॥ क्रीडनासक्तकाताभिर्वाध्यमानाः सगीतिभिः । आदोलाः स्तंभसंभूतैः समाक्रोशन्निव स्वनैः ॥ २२३ ॥ सुंदरेष्वपि कुंदेषु मधुपा मंदतृप्तयः । माधवीमधुपानेन मुदा मधुरमारुवन् ॥ २२४ ॥ भवेदन्यत्र

छूओ ' यही कहते हुये मानों चंपाके वृक्ष अपने हिलते हुये पत्तोंसे भ्रमरोंको वहांपर रहनेका निषेध कर रहे थे ॥ २१९ ॥ वसंतऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें मानों शोक ही कर रहा हो ऐसा यह अशोक वृक्ष उस वसंत ऋतुके संबंधसे फूल और पत्तोंको धारण करता हुआ अपने अशोक नामको सार्थक कर रहा था ॥ २२० ॥ उस समय चमेलीने आम आदिके वृक्षोंसे ईर्षा करके ही क्या मानों जडमें पींडपर मध्यमें और ऊपर इसतरह सबजगह सुगंधित फूल धारण किये थे ॥ २२१ ॥ जिन्होंने दिग्गजोंके भ्रमरोंको भी अपनी ओर खींच लिया है और जो शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुये बडे पुरुषोंके समान हैं ऐसे मौलसरीके वृक्ष प्रत्येक बनमें अपनी हानि होते हुये भी (भ्रमरोंके द्वारा रस खींचना ही उनकी हानि है) गुणोंकी अधिकता ही धारण करते थे ॥ २२२ ॥ जो गीत गा रही हैं और खेलनेमें लगी हुई हैं ऐसी सुंदरियां जो झूला (हिंडोला) हिला रही थीं (झूलरहीं थीं) और उनके झूलनेसे जो उनके खंभोंसे चूं चूं शब्द हो रहा था उससे वे झूले ऐसे जान पडते थे मानों वे चिल्ला रहे ही हों ॥ २२३ ॥ सुंदर कुंदके फूलोंपर जिन्हें अच्छी तृप्ति नहीं हुई है ऐसे भ्रमर वसंतलताका रस पीकर हर्षसे बडे ही मीठे शब्द कर रहे थे ॥ २२४ ॥ वसंतको छोडकर अन्य ऋतुओंमें अच्छा रूप होना आदि कामके साधन हो सकते हैं परंतु वसंतऋतुमे यह समय ही जिसकेलिये एक साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियोंतक फैल जाता है ॥ २२५ ॥ उस वसंतऋतुकी सहायतासे उन दूतोंनेसब भूमिगोचरी

कामस्य रूपवत्तादि साधन । कालैकसाधनः सोऽस्मिन्नावनस्पति जृंभते ॥ २२५ ॥ नराविद्याधराधीशान् गत्वा तत्कालसाधनात् । दूताः स्वयंवरालापं सर्वांस्तान् समबोधयन् ॥ २२६ ॥ ततो नानानकध्वानप्रोत्कर्णीकृतादिग्द्विपाः । निजागनाननाभोजपरिम्लानिविधायिनः ॥ २२७ ॥ वियद्विभूतिमाक्रम्य विमानैर्ततमानकैः । सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानादिगाननाः ॥ २२८ ॥ सुलोचनाभिधाकृष्टिविद्याकृष्टाः समापतन् । कामिनां न पराकृष्टिविद्या मुक्त्वेप्सितास्त्रियः ॥ २२९ ॥ अभिगम्य नृपः क्षिप्र स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतः सौलोचन वैतान्प्रातान् प्रावेशयत्पुरं ॥ २३० ॥ स्वगेहादिषु संप्रीत्या समुद्बद्धोत्सवध्वजः । आकपानिभिराविष्कृतादरैः परिवारितः ॥ २३१ ॥ सांशुमर्कमिवाधंतमर्ककीर्तिं सहानुजं । अकंपननृपोऽभ्येत्य भरतं वाऽनय

और विद्याधरोंके राजाओंके पास जाकर उन सबसे स्वयंवरके समाचार समझाकर कहे ॥ २२६ ॥ तदनंतर—अनेक नगाडोंके शब्दोंसे दिग्गजोंको भी उन्मत्त करनेवाले, अपनी स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको मलिन करनेवाले, सब दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्याके द्वारा खींचे गये ऐसे अनेक विद्याधरोंके स्वामी अपने अनेक विमानोंसे आकाशकी शोभा बढाते हुये बहुत शीघ्र जा पहुंचे, सो ठीक ही है क्योंकि कामी लोगोंको अपनी प्यारी स्त्रियोंको छोडकर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नहीं है ॥ २२७-२२९ ॥ राजा अकंपनने बहुत शीघ्र बडे उत्सवके साथ स्वयं उन राजाओंका अभिवादन किया और प्रसन्न हुये उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान ऐसे उस बनारस नगरमें प्रवेश कराया ॥ २३० ॥ तथा जिसने बडे प्रेमसे अपने घर नगर आदिमें उत्सवकी ध्वजायें बंधाई हैं और आदर सत्कारको प्रगट करनेवाले हेमांगद आदि राजपुत्र जिसके साथ हैं, ऐसे राजा अकंपनने किरणों सहित उदय होते हुये सूर्यके समान अपने छोटे भाइयों सहित आये हुये राजकुमार अर्ककीर्तिके सामने जाकर उसे महाराज भरतके समान अपने नगरमें प्रवेश कराया ॥ ३३१-२३२ ॥ अपने आदरसे ही मानों उसकी आगे होनेवाली सिद्धिको सूचित करता हुआ ऐसा नाथवंशका शिरोमणि राजा अकंपन मेघेश्वर-

त्पुरं ॥ २३२ ॥ स्वादरेणैव संसिद्धिं भगिनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशाग्रणीर्मेघस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥ २३३ ॥ ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रांतरस्थिताः । पूरा इव पयोराशिं प्रापुः स्फीतीकृतश्रियः ॥ २३४ ॥ स्वयमर्धपथं गत्वा केषांचित्सर्वसंपदा । केषांचिद्गमयित्वाऽन्यान् मान्यान् हेमांगदादिकान् ॥ २३५ ॥ ये ये यथायथा प्राप्ताः पुरींस्तांस्तांस्तथा तथा । आह्वयतीं पताकाभिर्वोच्छ्रिताभिरवीविशत् ॥ २३६ ॥ तदात्त राजगेहस्थ नरविद्याधराधिपैः । वृतं सुलोचनाऽकार्षीत् पितरं जितचक्रिणं ॥ २३७ ॥ वाराणसी जितायोध्या स्वनाम्नस्तां निराकरोत् । कन्यारत्नात्परं वान्यदित्यत्राद्यः प्रभृत्यतः ॥ २३८ ॥ तान् स्वयंवरशालायामर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेश्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥ २३९ ॥ पुरोपार्जितसद्धर्मोत्सर्व-

---

को लेनेके लिये उसके सामने गया ॥ २३३ ॥ तदनंतर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार पूर्व पश्चिम दक्षिण तीनों समुद्रोंके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढाते हुये बनारसमें आ पहुंचे ॥ २३४ ॥ राजा अकंपन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब संपत्ति लेकर आधी दूरतक स्वयं उनके सामने गया था और कितनोंके ही सामने मान्य हेमांगद आदि अपने पुत्रादिकोंको भेजा था ॥ २३५ ॥ जो राजा जिस जिस तरहसे आये थे उन्हें उसी उसी तरह जो अपनी ऊंची ध्वजाओंसे मानों बुला ही रही है ऐसी अपनी नगरीमें प्रवेश कराया ॥ २३६ ॥ उस समय उस सुलोचनाने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंसहित राजमहलमें विराजमान ऐसे अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था भावार्थ—अपने महलमें इकट्ठे हुये राजाओंसे राजा अकंपन चक्रवर्तीके समान जान पडता था ॥ २३७ ॥ उससमय अयोध्याको भी जीतनेवाली वह वाराणसी नगरी अपने अ-योध्या (युद्ध करने अयोग्य) इस नामसे ही उस अयोध्याको तिरस्कार करती थी क्योंकि उस स्वयंवरके समयसे ही लेकर इस संसारमें "कन्या रत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है" यह बात प्रसिद्ध हुई है ॥ २३८ ॥ आये हुये मिहमानोंका आदर सत्कार करनेवाले राजा अकंपनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओंको स्वयंवरशालामें

मेतत्ततः पुरा । धर्म एव समभ्यर्च्यं इति संचित्य विद्वरः ॥ २४० ॥ कृत्वा जैनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीपकान् । अनर्थिनः समर्थ्याशु सर्वत्यागोत्सवोद्यतः ॥ २४१ ॥ ता लक्ष्मीमक्षया मत्वा सफला चाप्तसद्व्यया । स तदाभूत्क्षितेरेकभोग्यः क्षितिरिवात्मनः ॥ २४२ ॥ एवं विहिततत्पूजः प्रकृतार्थं प्रचक्रमे । प्रारंभाः सिद्धिमायांति पूज्यपूजापुरस्सराः ॥ २४३ ॥ आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशासिनी । व्याप्तोत्प्रमोदः प्राक् चेतः

ठहराकर प्रसन्न किया ॥ २३९ ॥ यह सब पहिले उपार्जन किये हुये सद्धर्मसे ही होता है इसलिये सबसे पहिले धर्मकी ही पूजा करनी चाहिये यही सोचकर जानकारोंमें श्रेष्ठ ऐसे राजा अकंपनने श्री जिनेंद्रदेवकी पूजा की, जो दीन और अनाथ याचक थे उन्हें अयाचक किया अर्थात् उन्हें उनकी इच्छासे भी अधिक धन दिया, इसतरह सबका त्याग करने रूप उत्सवके लिये वहुत शीघ्र वह राजा तैयार होगया, अच्छे काममें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिसप्रकार वह अपनी पृथ्वीका उपभोग करता था उसीप्रकार उस समय वह स्वयं सब पृथ्वीका उपभोग करने योग्य बनगया था अर्थात् संसारके सब लोग उस राजाकी लक्ष्मीका उपभोग करने लगे थे ॥२४०-२४२॥ इसप्रकार उसने भगवानकी पूजाकर और याचकोंको दान देकर अपना प्रकृत कार्य (सुलोचनाका विवाहोत्सव) प्रारंभ किया सो ठीक ही है क्योंकि जिनमें सबसे पहिले पूज्य पुरुषोंकी पूजा की जाती है ऐसे सब प्रारंभ (प्रारंभ किये हुये कार्य) सिद्ध होजाते हैं ॥ २४३ ॥ उसी समय विवाहके उत्सव को सूचित करनेवाली भेरी वजने लगी, पहिले ही सब लोगोंके चित्तपर आनंद छागया और फिर सबके कानमें वह भेरीकी आवाज आने लगी ॥ २४४ ॥ उससमय वाराणसी नगरीकी पृथ्वी बिखरे हुये पुष्पोंसे सुंदर जान पडती थी, आकाशमार्ग नृत्य करती हुई ध्वजाओंसे सुशोभित था, समुद्रकी गर्जनाको भी जीतनेवाले वडे २ नगाडोंके शब्दोंसे उसने सब दिशायें शब्दरूप कर दी थीं, वडे वडे रास्तोंके प्रदेश सब शुद्ध किये गये थे तथा तोरण बांधे गये थे और नये चूनासे वहांके सब व-

पश्चात्कर्णेषु तद्ध्वनिः ॥ २४४ ॥ पुष्पोपहारिभूभागा नृत्यत्केतुनभस्तला । निर्जिताब्धिमहातूर्यध्वानाध्मातदिगन्तरा ॥ २४५ ॥ विशोधितमहावीथि-
देशा प्रोद्बद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका ॥ २४६ ॥ रंजिताजनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । सस्कृतभ्रूलतोपेता सविशेषललाटि-
का ॥ २४७ ॥ मणिकुंडलभारेण प्रलंबश्रवणोज्वला । सचित्रकराविन्यस्तपत्राचित्रकपोलिका ॥ २४८ ॥ ताबूलरससंसर्गाद्द्विगुणारुणिताधरा । मुक्ताभ
रणभाभारभासिबंधुरकंठिका ॥ २४९ ॥ सचंदनरसस्फारहारवक्षःकुचाचिता । महामणिमयूखाभाभास्वद्भुजलतातता ॥ २५० ॥ रशनारज्जुविभ्राजि-
सुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषभर्त्सिताब्जक्रमाब्जिका ॥ २५१ ॥ जितामरपुरीशोभा सौंदर्यात्सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं कायमाधितार्चिंत्यवै-

डे २ महल फिरसे सफेद किये गये थे ॥ २४५–२४६ ॥ वहांकी स्त्रियोंके उत्तम नेत्र अंजनसे (सुरमा वा कज्जलसे) सुशोभित थे, केश माला धारण करते थे, स्त्रियां सब संस्कार की हुई भोंहरूपी लताओंसे शोभायमान थीं और उनका ललाट चंदनसे सुशोभित था॥२४७॥मणियोंके बनेहुये कुंडलोंके बोझसे लटकते हुये उन स्त्रियोंके कान चमक रहे थे और उनके कपोलोंपर हाथसे बनाई हुई पत्ररचनाके अनेक चित्र बने हुये थे ॥ २४८ ॥ तांबूलके रसके संबंधसे उन स्त्रियोंके ओठोंकी ललाई दूनी होगई थी और मोतियोंके आभूषणोंकी कांतिके समूहसे उनके कंठ बहुत ही सुंदर और दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ २४९ ॥ उत्तम चंदनके रससे बडा हार, वक्षःस्थल और कुच सब सुशोभित हो रहे थे और बडी बडी मणियोंकी किरणोंकी कांतिसे उस नगरीकी भुजारूपी लताओंके समूह बहुत ही दैदीप्यमान हो रहे थे ॥ २५० ॥ करधनी रूपी रज्जूसे उन स्त्रियोंके बहुत बडे कमरके पिछाडीके भाग सुशोभित हो रहे थे और उनके चरण कमल मणियोंके बनेहुये बिछुओंके शब्दोंसे कमलोंको भी तिरस्कार कर रहे थे ॥ २५१ ॥ इसप्रकार अपनी सुंदरतासे स्वर्गकी शोभाको भी जीतने वाली वह नगरी उससमय जिसकी विभूतिका कोई चिंतवन भी नहीं कर सकता ऐसे अलंकारमय शरीरको धारण करती थी ॥ २५२ ॥ राजमहलका उत्सव तो वह नगर ही कह रहा था क्योंकि समुद्रके किनारेका

भव ॥ २५२ ॥ उत्सवो राजगेहस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यंतो मध्यमब्धौ किमुच्यते ॥ २५३ ॥ न चित्रं तत्र यच्चित्ती सोत्सवोऽन्तर्बहिश्च तत् । तद्वत्सवभूषया यस्मात्कुड्याद्यपि विचेतन ॥ २५४ ॥ भोक्तृशून्यं न भोगागं न भोक्ता भोगवर्जितः । तत्र सन्निहितोऽनंगो लक्ष्मीश्चाविष्कृतोदया ॥ २५५ ॥ पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति तदुत्सव । विलोक्य कृतधर्माण. पुरस्थान्बहु मेनिरे ॥ २५६॥ उद्वास्तन्वत्फल मत्वा धर्मस्य मुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात्स्वभावः स हि तादृशा ॥ २५७ ॥ कन्यागृहात्तदा कन्यामन्या वा कमलालयाम् । पुरो भूय पुरश्यस्तामांघल्ल-

---

भाग ही जब अगाध है तो फिर उसके बीचके भागका क्या पूछना है । भवार्थ—जब नगरमें ही अपार उत्सव था तो फिर राजमहलके उत्सवका क्या पूछना है ॥२५३॥ वहांके सचेतन प्राणी अंतरंग और बाहर सबजगह उत्सव मना रहे थे इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है क्योंकि उससमय प्राणियोंके समान वहांकी दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी अपने अपने अलंकारकर आनंद मना रहे थे ॥ २५४ ॥ वहांके भोगोपभोगोंके पदार्थ कोई ऐसे नहीं थे जो भोक्ताके विना हों तथा कोई भोक्ता ऐसा नहीं था जो भोगोपभोगोंके साधनोंसे रहित हो । वहांपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी सदा उदयरूप रहती थी ॥ २५५ ॥ इस जन्ममें ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुये बहुतसे धर्मात्मा लोग उस उत्सवको देखकर उस नगरमें रहनेवाले लोगोंको बडी आदरकी दृष्टिसे देखने लगे थे ॥२५६॥ पुण्यवान् मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुये थे सो ठीक ही है क्योंकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना पापी लोगोंका स्वभाव है ॥ २५७ ॥ उस समय विवाहकी विधिको जाननेवालीं सौभाग्यवती स्त्रियां जिसने उसी समय पूजा आदि सत्क्रियायें की हैं, थोडीसी लज्जासे जो कुछ भयभीत हो रही है जिसके आगे बडे बडे बाजे वज रहे हैं और जो दूसरी लक्ष्मीके समान ही जान पडती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने जाकर उसके घरसे ज्यो-

ज्जातसाध्वसां ॥ २५८ ॥ विवाहविधिवेदिन्यः कृततत्कालसत्क्रियां । समानीय सदैवज्ञां महातूर्यरवान्वितां ॥ २५९ ॥ सर्वमंगलसम्पूर्णे मुक्तालंभूषभू/षिते । चतुःकाचनसुस्तभे भूरिरत्नस्फुरत्त्विषि ॥ २६० ॥ प्रमोदात्सुप्रभादेशाद्विवाहोत्सवमंडपे । कलधौतमये पट्टे निवेश्य प्राङ्मुखीं सुखं ॥ २६१ ॥ कलशैर्मुखविन्यस्तविलसत्पल्लवाधरैः । अभिषिच्य विशुद्धाम्बुपूर्णैः स्वर्णमयैः शुभैः ॥ २६२ ॥ कृतमगलनेपथ्या नीत्वा नित्यमनोहरं । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥ २६३ ॥ सिद्धशेषं समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साशिष । स्थिताः प्रतीक्ष्य सल्लग्न तत्रावृत्त्याहितादरं ॥ २६४ ॥ इतो महीशसदेशात् नरखेचरनायकाः । स्वास्ते प्रसाधितान् कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥ २६५ ॥ निजोचितासनारूढाः प्ररूढश्रीसमुज्ज्वलाः । चलच्चा"

तिषशास्त्रको जाननेवाले विद्वान्के साथ साथ जो सबतरहके मंगल द्रव्योंसे भरा हुआ है, मोतियों-की मालाओंसे सुशोभित है, जिसमें सोनेके चार खंबे लगे हुये हैं, और जो लगे हुये अनेक रत्नोंकी कांतिसे दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे विवाहोत्सवके मंडपमें बडे हर्षसे रानी सुप्रभादेवीकी आज्ञानुसार ले आई और पूर्व दिशाकी ओर मुखकर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर विठा दिया ॥ २५८-२६१ ॥ तदनंतर जिनके मुखपर रक्खे हुये सुशोभित नये पत्ते ही अधर वा ओठ हैं और जिनमें विशुद्ध जल भरा हुआ है ऐसे शुभ सोनेके कलशोंसे अभिषेक किया, उसे सबतरहके मांगलिक वस्त्राभूषण पहनाये और फिर नित्य मनोहर नामके चैत्यालयमें लेजाकर बडी भक्तिसे सबतरहके कल्याण कर-नेवाले भगवान अरहंत देवकी पूजा कराई ॥ २६२-२६३ ॥ उसके बाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आ-शीर्वाद पूर्वक उस सुलोचनाके शिरपर रक्खे और फिर वे सब स्त्रियां उसका आदर सत्कार करती हुई उसे घेरकर शुभ लग्नकी प्रतीक्षा करती हुई वहीं ठहर गईं ॥ २६४ ॥ इधर महाराज अकंपनका संदेसा पाकर वस्त्र आभूषणोंसे सजावट करनेकी विधिको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और वि-द्याधरोंके स्वामी अपनी अपनी सजावट कर अपने अपने योग्य आसनोंपर आ विराजमान हुये। वे सब राजा लोग प्रसिद्ध प्रसिद्ध शोभासे दैदीप्यमान हो रहे थे, ढुरते हुये चमरोंकी शोभा और कांतिसे देवोंके समा

मरसंपत्या कात्या चामरसन्निभाः ॥ २६६ ॥ कुमार्या निर्जितः काम. प्राक् स्वमेवं विकृत्य किं । समागैस्त पुनर्जेतुमिति शंकाविधायिनः ॥ २६७ ॥ कंचिदेकं वृणीतेऽसाविति ज्ञात्वाऽप्यहंयवः । जेतु सर्वेऽपि तां तस्थुराशा हि महती नृणां ॥ २६८ ॥ केरलीकाठिनोत्तुंगकुचकोटीविलंघन । श्रमापनीतसामर्थ्यात्परिक्षीणपरिक्रमं ॥ २६९ ॥ माद्यन्मलयमातगकटकंडूविनोदनात् । क्षतचंदननिष्यदसान्द्रसौगध्यवंधुरं ॥ २७० ॥ कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाण्डजनिर्भरं । क्रीडोच्छलज्जलस्थूलकणमुक्तातिभूषणं ॥ २७१ ॥ दाक्षिणानिलमायल्लकोत्कटानलदीपनं । कोकिलालिकलालापैर्वा-

---

न जान पडते थे तथा लोगोंको ऐसी शंका उत्पन्न करते थे मानों इस कुमारी सुलोचनाने पहिले ही कामदेवको जीतलिया था इसलिये कामदेवही अपने बहुतसे रूप धारण कर इस सुलोचनाको जीतनेके लिये आया हो ॥ २६५-२६७ ॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी ऐसा जानते हुये भी वे सब राजा लोग बडा अहंकार करते हुये उसे जीतनेके लिये वहां विराजमान थे, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बडी होती है ॥ २६८ ॥ जो स्त्रियोंके मद्यके कुरलोंसे (उच्छिष्टसे) और विछुओंके शब्दोंसे सुशोभित ऐसे बायें पैरसे वृक्षोंको भी बहुत शीघ्र कामी बना देता है [स्त्रियोंके कुरलोंसे और बायें पैरकी लातसे बहुतसे वृक्ष फूला करते हैं ऐसा कवियोंका संप्रदाय है] जिसने बायें हाथमें फूलोंका धनुष ले रक्खा है और दूसरे (दायें) हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है, जिसने वसंतरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी समस्त शस्त्र मंगा लिये हैं ऐसा कामदेव जो केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊंचे करोडों कुचोंको उलंघन करता है तथा उनके उलंघन करनेसे जो परिश्रम हुआ है उससे सामर्थ्य नष्ट हो जानेसे जिसके चलनेकी शक्ति नष्ट हो गई है अर्थात् जो धीरे धीरे चल रहा है, तथा मलयाचल पर्वतके जो उन्मत्त हाथी हैं उनके दोनों गंडस्थलोंके खुजानेसे जो चंदनोंके वृक्ष टूट गये हैं और उनसे जो बहुत घनी सुगंधि निकल रही है उससे जो बहुत ही मनोहर जान पडता है, कावेरी नदीके कमलोंका स्वाद लेकर जो पक्षि-

ष्वालमनुकूलयन् ॥ २७२ ॥ योषितां मधुगंडूषैर्नूपुरारावरंजितैः । कुर्वन् वामांघ्रिभिश्चालमंघ्रिपानपि कामुकान् ॥ २७३ ॥ कासुमं धनुरादाय वामेनारूढविक्रमः । चूतसूनं करेणोच्चैः परेण परिवर्तयन् ॥ २७४ ॥ वसंतानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदाखिलान् देशानभ्यायात्कुसुमायुधः ॥ २७५ ॥ तदा पुरात्समागत्य कृती जितपुरंदरः । स मविर्भूतसाम्राज्योराज्यचिह्नपुरस्सरः ॥ २७६ ॥ स्वलक्ष्मीव्याप्तसर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः । स्वस्थात्स्वयंवरागारे स्वोचिते स्वजनैर्वृतः ॥ २७७ ॥ चित्रं महेंद्रदत्ताख्यो देवदत्तं रथं पृथुं । सज्जीकृतं समारोप्य कन्यामायात्तु कंचुकी ॥ २७८ ॥ समस्तबलसंदोहं सम्यक् सन्नाह्य सानुजः । हेमांगदो जितानंगः प्रीत्याऽयात्परितो रथं ॥ २७९ ॥ तूर्यध्वानाहतिप्रेंखदिक्कन्याकर्ण-

---

योंका समूह प्रसन्न होकर क्रीडा कर रहा था और उनकी क्रीडा करनेसे जो जलकी बडी बडी बूंदें उछल रही थीं वे बूंदें ही जिसके मोतियोंके अनेक आभूषण हैं जो विरहसे उत्पन्न हुई तीव्र अग्निको और बढानेवाला है और जो कोइल तथा भ्रमरोंके मधुर शब्दोंसे वाचालित हो रहा है ऐसे वायुको अपने अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर वहां आ पहुंचा था ॥ २६९-२७५ ॥ उसी समय जो शोभासे इंद्रको भी जीत रहा है, जिसमें साम्राज्यके सब चिन्ह प्रगट हो रहे हैं ऐसे ध्वजापताका आदि राज्यके चिन्ह जिसके आगे आगे चल रहे हैं, जिसने अपनी शोभासे सब दिशायें आच्छादन कर ली हैं, कुटुंबी लोग जिसके चारों ओर चल रहे हैं और रानी सुप्रभा जिसके साथ है ऐसा वह पुण्यवान राजा अकंपन नगरसे आकर उस स्वयंवरके भवनमें अपने योग्य आसनपर आ विराजमान हुआ ॥ २७६-२७७ ॥ उसी समय महेंद्रदत्त नामका कंचुकी चित्रांगद देवने दिये हुये, अच्छी तरह सजाये हुये ऐसे आश्चर्य करनेवाले बहुत बडे रथमें कन्याको विराजमानकर लाया ॥ २७८ ॥ कामको जीतनेवाला हेमांगद नामका बडा राजपुत्र अपनी सब सेनाके समूहको अच्छीतरह सजाकर सबभाइयोंके साथ साथ बडे प्रेमसे उस कन्याके रथको चारों ओरसे घेरकर आया ॥ २७९ ॥ जिसके आगे आगे बजनवाले नगाडोंके बाजोंसे समस्त दिशारूपी कन्याओंके कर्णपूर हिलरहे थे, जिसपर

पूरिका । संछन्नच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥ २८० ॥ लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्या चक्रिदिग्विजयागमे । शालां प्रविश्य राजन्यलोचनार्च्या सुलोचना ॥ २८१ ॥ सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकिप्रेरिता नृपान् । न्यषिंचल्लोचनैर्लोलैर्नीलोत्पलदलैरिव ॥ २८२ ॥ चातका वाऽब्दवृष्ट्या ते तद्दृष्ट्या तुष्टिमागमन् । आह्लादः कस्य वा न स्यादीप्सितार्थसमागमे ॥ २८३ ॥ स्वसौभाग्यवशात्सर्वान् साऽप्यालोक्यातुपत्तरां । श्लाघ्यं तयोपितां पुंसां शौर्यं वा निर्जितद्विषां ॥ २८४ ॥ ततः कञ्चुकिनिर्देशाद्बाला लीलाविलोकितैः । आकृष्य हृदयं तेषां तत्सौधात्समवातरत् ॥ २८५ ॥ यस्य यत्र गता स्याद्दृक् सा तत्रैवेव कीलिता । ते तस्यामवरूढायां खिन्ना वा तदनीक्षकाः ॥ २८६ ॥ किंकिणीकृतझंकारारावरम्यं रथं ततः । व्यूढं रूढैर्हयैः स्वर्णकर्णचामरशो-

---

लगे हुये वडे भारी छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढक गया था और जो पडते हुये समस्त राजाओंके नेत्रोंसे पूजी जा रही थी ऐसी उस सुलोचनाने जिसप्रकार चक्रवर्तीके दिग्विजय समाप्त होनेके दिन लक्ष्मी अयोध्या नगरीमें प्रवेश करती है उसीप्रकार उस स्वयंवरशालामें प्रवेश किया। वह वहांपर सर्वतोभद्र नामके महलपर चढी और कंचुकीकी प्रेरणासे नीलकमलके दलके समान अपने चंचल नेत्रोंसे सब राजाओंको सींचने लगी अर्थात् सबकी ओर देखने लगी ॥२८०-२८२॥ जिसप्रकार चातकपक्षी बादलोंके वरसनेसे संतुष्ट होते हैं उसीप्रकार वे सब राजा लोग उस सुलोचनाकी दृष्टिसे ही संतुष्ट होगये थे सो ठीक ही है क्योंकि अपनी इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेपर भला किसको प्रसन्नता नहीं होती है ? ॥२८३॥ उस सुलोचनाने अपने सौभाग्यके वशसे सब राजाओंको देखकर संतुष्ट किया सो ठीक ही है क्योंकि जिसप्रकार शत्रुओंको जीतनेवाले पुरुषकी शूरवीरता प्रशंसनीय है उसीप्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य ही प्रशंसनीय है ॥ २८४ ॥ तदनंतर वह सुलोचना लीलापूर्वक देखकर सबके हृदयको अपनी ओर खींचकर कंचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरी ॥ २८५ ॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहां पडगई थी वह वहीं मानों गढ सी गई थी। तथा जिस समय वह नीचे उतर रही थी उस समय वे राजा लोग वहां उसे न देखकर वडे ही खेदखिन्न हुये थे ॥२८६॥ तदनंतर मानों मनुष्योंके

भिर्भिः ॥ २८७ ॥ उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणां । साक्षादपन्हवाह्वाने कुर्वंतमिव संततं ॥ २८८ ॥ पुनरध्यास्य हृज्जन्मविद्येव हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीव तडिल्लता ॥ २८९ ॥ वीज्यमाना विधुस्पर्द्धिहंसांसामलचामरैः । जनानां दृष्टिदोषान्वा धुन्वद्भिर्दूरतो मुहुः ॥ २९० ॥ अवधूतः पुराऽनङ्गः सप्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात्प्राज्ञैः प्रास्तोऽपि परिगृह्यते ॥ २९१ ॥ अस्या ग्रह इवानगः सद्यः सर्वांगसंगतः । विकारमकरोत्स्वैरं भूयो भ्रूनेत्रवक्त्रजं ॥ २९२ ॥ सांगो यद्येतयाऽद्यैवमेकीभावं व्रजामि किं । इत्यनंगोऽप्यनंगत्वं स्वं मन्ये साध्वबुध्यत ॥ २९३ ॥

दृष्टि दोषको दूरसे ही दूर करते हुये तथा चंद्रमाकी समानता करते हुये और हंसोंके पंखोंके समान निर्मल ऐसे चमर जिसपर बार २ ढुराये जा रहे हैं, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है और मोतियोंके आभूषणोंकी कांतिके मध्यमें जो शरदऋतुकी बिजलीकी लताके समान जान पडती है ऐसी वह सुलोचना जो लगी हुई छोटी छोटी घंटियोंके रुणझुण शब्दोंसे मनोहर है, कानोंके समीप लगे हुये सोनेके चमरोंसे शोभायमान ऐसे ऊंचे घोडे जिसमें जुते हुये हैं, नीचे ऊपरको हिलती हुई ध्वजायें ही जिसकी भुजायें हैं और जो नीचे ऊपरको हिलती हुई ध्वजारूप भुजाओंसे ऐसा जान पडता है मानों कुरुपी लोगोंका निरंतर साक्षात् तिरस्कार ही कर रहा हो और रूपवान लोगोंको निरंतर साक्षात् बुला रहा ही हो, ऐसे रथपर फिर विराजमान हुई ॥ २८७-२९० ॥ उस सुलोचनाने पहिले तो कामदेवका तिरस्कार किया था परंतु अब फिर स्वीकार किया, सो ठीक ही है क्योंकि विद्वान लोग अपने मतलबके लिये हटाये हुयेको (दूर किये हुयेको) भी फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥ २९१ ॥ पिशाचके समान बहुत शीघ्र इस सुलोचनाके सब अंगोंमें घुसा हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार बार भौंह नेत्र और मुखसे प्रगट हुये विकारोंको उत्पन्न करता था ॥ २९२॥ ऐसा जान पडता है मानों यदि मैं शरीरसहित होता तो क्या मैं इस सुलोचनाके साथ एक रूप हो सकता था? अर्थात् क्या इसके शरीरमें प्रवेश कर सकता था? इसप्रकार सोचता हुआ कामदेव अपने

लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद्रतिर्व्यंगेन भुज्यते । जितानंगानिमानेषा न्यक्कृत्य जयमाप्स्यति ॥ २९४ ॥ करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्यान्न वा वारिधेर्भुवः । अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥ लावण्यमबुधौ पुंसु स्त्रीष्वस्यामेव संभृत। यत्प्राप्ताः सरितः सर्वास्तमेतां सर्वपार्थिवाः॥२९६॥ समस्तनेत्रसपीतमप्यस्या वर्धतेतरा ! लावण्यमबुधिस्त्यक्तः श्रिया वहतु तत्कथ ॥ २९७ ॥ रत्नाकरत्वदुर्गर्वमम्बुधिः श्रयते वृथा । कन्यारत्नमिद यत्र

शरीररहितपनेको ही बहुत अच्छा मानता था ॥ २९३ ॥ प्रसिद्ध जो लक्ष्मी है वह सबके द्वारा भोगी जाती है और रतिका भोग शरीररहित कामदेव करता है परंतु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सब राजा लोगोंका तिरस्कारकर जय अर्थात् जय कुमार अथवा विजयको प्राप्त होगी ॥ २९४ ॥ समुद्रपर्यंत इस पृथ्वीका कर ग्रह अर्थात् कर वसूल करनेसे लक्ष्मिवान हो अथवा न हो परंतु जो इस सुलोचनाका कर ग्रह अर्थात् पाणिग्रहण करेगा अर्थात् इसे विवाहेगा लक्ष्मी उसके हाथमें ही समझनी चाहिये ॥ २९५ ॥ पुरुषोंमें तो लावण्य अर्थात् लवणता, नमकीनपना वा खारापन समुद्रमें है और स्त्रियोंमें लावण्य अर्थात् सुंदरता इस सुलोचनामें भरी है, यही कारण है कि नादियां तो सब समुद्रमें जा मिली हैं और राजा लोग सब इसके समीप आ पहुंचे हैं ॥ २९६ ॥ यद्यपि इसके लावण्यको सब नेत्र पी रहे हैं तथापि वह बढता ही जाता है, परंतु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड रक्खा है इसलिये वह उस लावण्यको कैसे धारण कर सकता है? भावार्थ—समुद्रमें लावण्य अर्थात् सुंदरता नहीं है किंतु लावण्य अर्थात् खारापन ही है इसलिये ही उसे लक्ष्मीने छोड रक्खा है २९७ ॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका मिथ्या अभिमान व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्या रूपी रत्न है उन्हीं राजा अकंपन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है। भावार्थ—समुद्रसे निकले हुये रत्न तो किसी कामके नहीं हैं, सबसे उत्तम रत्न तो यह कन्या रत्न है ॥ २९८ ॥ इसप्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप

तयोरेतद्विराजते ॥ २९८ ॥ इति स्तुतात्मसौभाग्यभाग्यरूपादिसंभृता । जनैः स्वयंवरागारमागमद्वोमिनीव सा ॥ २९९ ॥ पराभूतिर्द्विधा सात्र भाविनी केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे केचिद्रस राजकमन्वभूत् ॥ ३०० ॥ स्थित्वा महेंद्रदत्तोऽपि रत्नमालाधरो धुरि । रथं प्रचोदयामास प्रति विद्याधराधिपान् ॥ ३०१ ॥ दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नमेश्च विनमेः सुतौ । पतिः सुनमिरेषोऽयमितः सुविनमिः श्रियः ॥ २ ॥ अन्येऽमी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं वृणीष्व त्वं चैषु स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥ ३०३ ॥ इति कंचुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकृत्यात्ययात्सर्वान् रुचि

आदिसे सुशोभित वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें आ पंहुची ॥ २९९ ॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है एक पराभूति अर्थात् संपदा और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव वा तिरस्कार, सो इन दोनोंमें से न जाने कौनसी पराभूती होनेवाली है यही सोचता हुआ वह राजा लोगोंका समूह उस समय प्रेम और शोक इन दोनोंके वीचमें होने वाले किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥ ३०० ॥ रत्नोंकी मालाको धारण करता हुआ ऐसा महेंद्रदत्त नामका कुंचकी भी रथके जूआ पर बैठकर विद्याधरोंके राजाओंकी ओर रथ हांकने लगा ॥ ३०१ ॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं; यह लक्ष्मीका स्वामी राजा सुनमि है और इधर यह राजा सुविनमि है ॥ ३०२ ॥ विद्या और पराक्रमसे सुशोभित ऐसे ये और भी अनेक विद्याधरोंके अधीश विराजमान हैं, इनमेंसे तू किसी एकको पति स्वीकार कर और एक ही जगह अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इसप्रकार कंचुकीने जो अलग अलग समझाकर सबके नाम कहे थे उन सबको कानमें डालकर (सुनकर) उसने सब पीछे छोडदियेअर्थात् वह सबको छोडकर आगे चली, सो ठीक ही है क्योंकि सब लोगोंकी रुचि अलग अलग तरहकी होती है॥२०४॥यह कन्या सबको देखकर पीछेसे किसी एकको स्वीकार करेगी यही समझकर वे विद्याधर लोग उसी तरह बैठे रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं करती है ! भावार्थ–आशा सब कुछ

श्वित्रा हि देहिना ॥ ३०४ ॥ पश्चात्सर्वान्निरीक्ष्यैषा काचित्तु विवर्तते । तथैवेति खगास्तस्थुः ।किं वाशा नावलंबते ॥ ३०५ ॥ पश्चाज्जग्लुर्मुखाब्जानि तद्रथादूर्ध्वकसन्पुरः । रवेरिवोदये राज्ञा संसृतेः स्थितिरीदृशी ॥ ३०६ ॥ उच्चाद्वाऽदुद्रुवन्निम्नमभिभूमि चरंरथः । कचुकी कथयामास नामाभिस्तान्नृपांस्तदा ॥ ३०७ ॥ निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेया जयमागमत् । हित्वाशेषान् द्रुमाश्चूतं मधौ मधुकरी यथा ॥ ३०८ ॥ प्रहीतप्रग्रहस्तत्र कंचुकी चित्तवित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्यावर्णनं प्रति ॥ ३०९ ॥ प्रदीपः स्वकुलस्यायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमानुत्साहभेदैर्वा जयोऽयमनुजैर्वृतः ॥ ३१० ॥ न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदेतदतिमन्मथं । स दर्पणोऽर्पणीयः किं करकंकणदर्शने ॥ ३११ ॥ जित्वा मेघकुमाराख्यानुत्तरे भरते

करा लेती है ॥ ३०५ ॥ जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल खिल जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसीप्रकार राजाओंके मुखरूपी कमल पाहिले रथके सामने आनेसे प्रफुल्लित हुये थे, वे ही रथके चले जानेपर पीछेसे मुरझा गये, सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारकी अवस्था ही ऐसी है ॥ ३०६ ॥ तदनंतर वह रथ विद्याधरोंकी ऊंची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा और वह कंचुकी उससमय नाम लेले कर उन सब राजाओंको कहने लगा ॥३०७॥ जिसप्रकार वसंतऋतुमें कोइल सब वृक्षोंको छोड कर केवल आमके वृक्षपर ही बैठती है उसीप्रकार जो किसीसे न जीती जा सके ऐसी वह सुलोचना अर्ककीर्ति आदि सब राजाओंको छोडकर जयकुमारके समीप जा पहुंची ॥ ३०८ ॥ जो घोडोंकी लगाम पकडे हुये है और चित्तकी बातको जानने वाला है ऐसे उस कंचुकीने वहां पहुंचकर उसीसमय जयकुमारका वर्णन करनेके लिये बचन कहना प्रारंभ किया॥३०९॥ वह कहने लगा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभका पुत्र है और उत्साहके भेदोंके समान अपने छोटे भाइयोंके साथ विराजमान है ॥ ३१० ॥ इसके रूपका वर्णन तो करना ही नहीं चाहिये क्योंकि वह कामदेवके रूपको भी तिरस्कार करने वाला है, क्या हाथका कंकण देखनेके लिये दर्पण दिया जाता है ! ॥ ३११ ॥ इसने उत्तर भरतक्षेत्रमें

सुरान् । सिंहनादः कृतोऽनेन जिततन्मेघनिस्स्वनः ॥३१२॥ वीरपट्टं प्रबुध्यास्य स्वभुजाभ्यां समुध्दृतं । न्यधायि निधिनाथेन हृष्टा मेघस्वराभिधा ॥ ३१३ ॥ आत्मसम्यग्गुणैर्युक्तः समेतश्चाभिगामिकैः । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च ततोऽयमुदितोदितः ॥ ३१४ ॥ चित्रं जगत्त्रयस्यास्य गुणाः सरज्य सांप्रत । न्यावृताः सर्वभावेन तवभावानुरजने ॥ ३१५ ॥ अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य चतस्रः सति योषित । श्रीः कीर्तिर्वीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिवल्लभाः ॥ ३१६ ॥ जितमेघकुमारोऽयमेकः प्राक् त्वजयेऽधुना । च्युतधैर्य इवालक्ष्ये यत्सहायीकृतः स्मरः ॥ ३१७ ॥ बलिनोर्युवयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः । द्वैधीभाव

मेघकुमार नामके देवोंको जीतकर मेघकुमारदेवोंके बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिंहनाद किया था ॥ ३१२ ॥ निधियोंके स्वामी महाराज भरतने यह समाचार जानकर प्रसन्न होकर इसका मेघस्वर नाम रक्खा और वीरपट्टको अपनी भुजाओंसे उठाकर इसके सिरपर रक्खा था ॥ ३१३ ॥ आत्माके उत्तम उत्तम गुण सब इसमें विराजमान हैं, और सदा आदरणीय पुरुषोंके साथ रहता है इसलिये बुद्धि और विशेष विशेष उत्साहोंके द्वारा यह सबसे श्रेष्ठ गिना जाता है ॥ ३१४ ॥ यहभी एक आश्चर्य है कि इसके गुण तीनों लोकोंको संतुष्टकर तेरे अंतःकरणको प्रसन्न करनेकेलिये पूर्णरूपसे अब लौटे हैं ॥ ३१५ ॥ परंतु इसमें यह एक दोष है कि इसके चार स्त्रियां हैं एक श्री, दूसरी कीर्ति, तीसरी वीरलक्ष्मी और चौथी अत्यंत प्रिय ऐसी सरस्वती देवी ॥ ३१६ ॥ पहिले इस अकेलेने ही मेघकुमारको जीत लिया था परंतु अब तुझे जीतनेके लिये इसका धैर्य छूटगयासा जान पडता है क्योंकि इसालिये ही इसने अब कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥ ३१७ ॥ परस्पर एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले और बलवान ऐसे तुम दोनोंके बीचमें पडा हुआ यह संधि विग्रह आदि छहों गुणोंमें निपुण कामदेव दो रूप धारण कर रहा है अर्थात् कभी उसकी सहायता करता है और कभी तेरी ॥ ३१८ ॥ इसकी कीर्ति तो कुवलय अर्थात् कमोदिनी वा रात्रिविकासि कमलको प्रफुल्लित करती है अथवा कुवलय अर्थात् समस्त पृथ्वीमंडलको प्रसन्न करती है और इसकी कांति कमलोंको

समापन्नः षाड्गुण्यनिपुणः स्मरः ॥ ३१८ ॥ कीर्तिः कुवलयाह्लादी पद्माह्लादी प्रभाऽस्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥ ३१९ ॥ कीर्तिर्बहिश्चरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णेतरापि शातेव लक्ष्यते क्षतविद्विषः ॥ ३२० ॥ ततस्त्वयि वयोरूपशीलादिगुणभाज्यलं । प्रीतिर्लतेव दृक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥ ३२१ ॥ युवाभ्यां निर्जितः कामः संप्रत्यभ्यंतरीकृतः । स वामवजयायाभूदरिर्विश्रमितोऽप्यरिः ॥ ३२२ ॥ निष्ठुरं जृंभतेऽमुष्मिन्नुभयारिरपि स्मरः । मत्वेव त्वा स्त्रियं भूयो भटेषु भटमत्सरः ॥ ३२३ ॥ विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण निर्जितः । त्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥ ३२४ ॥ प्राध्वंकृत्य गले रत्नमालया दृक्शरैर्जितं । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेनं करे कुरु ॥३२५॥

प्रसन्न करती है इसलिये इस राजकुमारने सूर्य और चंद्रमाकी शक्तिको भी नष्ट कर दिया है ॥३१९॥ जिसके सब शत्रु नष्ट हो गये हैं ऐसे इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है, लक्ष्मी अत्यंत वृद्ध है, सरस्वती जीर्ण है और वीरलक्ष्मी शांत सरीखी दिखती है ॥ ३२० ॥ इसलिये दृष्टिरूपी पुष्पोंसे सुशोभित और खूब बढी हुई ऐसी लताके समान इसकी प्रीति वय रूप और शील आदि गुणोंसे शोभायमान ऐसी तुझमें ही अच्छीतरह फलीभूत होगी ॥ ३२१ ॥ तुम दोनोंने कामदेवको जीतकर इस समय अपने भीतर (अंतःकरणमें) बिठा लिया है परंतु अब वही कामदेव तुम दोनोंका तिरस्कार करनेके लिये तैयार हुआ है सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुका कितना ही विश्वास किया जाय परंतु अंतमें वह शत्रु ही रहता है ॥ ३२२ ॥ यद्यपि वह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि वह तुझे स्त्री मानकर इस जयकुमारपर बडी निर्दयतासे अपना प्रभाव डाल रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्षा योद्धओंसे ही होती है ॥ ३२३ ॥ जिसका विजय संसारमें प्रसिद्ध है ऐसा यह श्रीमान् जयकुमार तूने आनेमात्रसे (आकर) ही जीत लिया इसलिये इस जगह न्यायसे तेरी ही जीत हुई है ॥ ३२४ ॥ इसलिये हे सुंदरी! तेरी दृष्टि रूपी बाणोंसे हारे हुये इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बांधकर अपने हाथमें कर और इसतरह जयलक्ष्मी तेरी ही हो ॥ ३२५ ॥ कामदेवके

इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरःषाड्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितव्रीडालोललीलावलोकना ॥ ३२६ ॥ तदा जन्मांतरस्नेहश्चाक्षुषी सुदराकृतिः । कुंदभासा गुणास्तस्य श्रावणाः पुष्पसायकः ॥ ३२७ ॥ इत्येभिः स्यंदनादेषा समुत्क्षिप्यावरोपिता । रत्नमाला समादाय कन्या कंचुकिनः करात् ॥ ३२८ ॥ अवधाद्बधुरां तस्य कंठेऽतिप्रेमनिर्भरा । सा वाचकात्समध्यास्य वक्षो लक्ष्मीरिवापरा ॥ ३२९ ॥ सहसा सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महाध्वनिः । श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामान्यमुत्सवं ॥ ३३० ॥ वक्त्रवारिजवासिन्या नरविद्याधरेशिनां । श्रिया जयमुखाम्भोजमाश्रितं वा तदालभात् ॥ ३३१ ॥ गताशा-

---

संधि विग्रह आदि षाड्गुण्य (छहगुणों) को जाननेवाले उस कंचुकीके इसप्रकार वचन सुनकर धीरे धीरे जिसकी लज्जा छूटती जाती है, जिसकी लीला पूर्वक दृष्टि बडी चंचल है तथा उस समय जन्मांतरका स्नेह, चक्षुसे ग्रहण की हुई जयकुमारकी सुंदर आकृति, कुंदके फूलके समान सुने हुये उसके निर्मल गुण और कामदेव इन सबने पकडकर जिसे रथसे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर और गाढ प्रेममें डूबकर वह सुंदर माला उस जयकुमारके गलेमें पहना दी, उससमय वह माला जयकुमारके वक्षःस्थलको पाकर दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥ ३२६–३२९ ॥ उससमय अकस्मात् सब वाजोंकी बडी भारी आवाज ऐसी प्रारंभ हुई थी मानों उस कन्याके असाधारण उत्सवको दिक्कन्याओंके लिये ही सुना रही हो ॥ ३३० ॥ उससमय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही सुशोभित होरहा था और ऐसा जान पडता था मानों विद्याधर और भूमिगोचरी सब राजाओंके मुख कमलपर रहनेवाली लक्ष्मी जयकुमारके मुखकमलपर ही आगई हो ॥ ३३१ ॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है तथा जिनके मुखरूपी कमल और नेत्र रूपी कमलोंकी शोभा मलिन हो गई है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजा लोग सूखे सरोवरके समान बडे ही दुःखी हो रहे थे ॥ ३३२ ॥ इच्छानुसार फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनंद बढ रहा है ऐसे नाथवंशका स्वामी राजा अकंपनने कल्पलता सहित कल्पवृक्षके समान अपनी पुत्री

वा"यो म्लानमुखाब्जाक्ष्युत्पलश्रियः । खभूचरनृपाः कष्टमानन् शुष्कसरस्समाः ॥ ३३२ ॥ अभिमतफलसिध्या वर्ध्दमानप्रमोदो निजदुहितृसमेतं द्राक् पुरोधाय पूज्य । जयममरतरु वा कल्पवल्लीसनाथ नगरमविशदुच्चैर्नाथवशाधिनाथः ॥ ३३३ ॥ आद्योऽय महिते स्वयंवरविधौ यद्भाग्यसौभाग्यभाग् यस्माद्राजखगेंद्रवक्त्रवनजश्रीवारयोषिद्वृतः । मालाऽम्लानगुणा यतोऽस्य शरणे मदारमालायते तत्कल्पावधि वीध्रमस्य विपुल विश्व यशो व्यश्नुते॥३३४॥ भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिबुद्धपद्मः प्राप्तोदयः प्रतिविधाय परप्रभावं । बंधुप्रजाकुमुदबंधुरचिंत्यकांतिर्भाति स्म भानुशशिनोर्विजयी जयोऽय ॥ ३३५ ॥ प्रियदुहितरमेना नाथवशांबरेंदोरयमुपनयाति स्म स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः । ज्वलितमहसमन्यां वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं कथयति नयतीति प्रातिभज्ञानमुच्चैः॥३३६॥

सुलोचनासहित पूज्य जयकुमारको आगे कर अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३३३ ॥ जिसकारणसे पुण्यसे प्राप्त हुये सौभाग्यको सेवन करनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी पूज्य विधिमें सबसे पहिले था, तथा जिस कारणसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलकी शोभा रूपी बारांगना-ओंसे वह घिरा था और जिसकारणसे जिसके गुण कभी मलिन नहीं होते ऐसी माला जिसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोंकी मालाके समान सुशोभित होती थी इन्हीं सब कारणोंसे उस जयकुमारका बहुत बडा निर्मल यश कल्पकालतक संसारमें व्याप्त रहेगा ॥ ३३४ ॥ जिसकी दैदीप्यमान कांतिके फैलावसे कमल खिल जाते हैं, शत्रुओंके प्रभावको अथवा नक्षत्र आदिके प्रभावको तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ है, जो प्रजा और भाई बंधु रूपी कमोदानियोंको प्रसन्न करनेवाला है और जिसकी कांति अचिंत्य है ऐसा सूर्य और चंद्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥ ३३५ ॥ जिसकी सौभाग्यरूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रगट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चंद्रमा ऐसे राजा अकंपनकी प्रिय सुलोचना कन्या ग्रहण की थी, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंका उत्तमज्ञान यही कहता है कि जिनका तेज दैदीप्यमान हो रहा है ऐसे जयकुमारको ही वीरलक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥ ३३६ ॥ उससमय जिन्हें आनंद प्राप्त हो रहा है ऐसे लोग

श्रीभृतामित्युक्तिर्जयभाग् जयंप्रति जनैर्जातोत्सवैर्जेल्पिता ॥ ३३७ ॥ कुवलयपरिबोध सदधानः समंतात् सततविततदीप्तिः सुप्रतिष्ठ. प्रसन्नः । परिणतनिजशौर्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या वर्द्धमानो जयः स्तात् ॥ ३३८ ॥ इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाज जिनपतिमतभाक्त्वात्पुण्यभाज जय त । तदुरुक्रमुपाध्व हे बुधाः श्रद्धानाः परमजिनपदाब्जद्वद्वमद्वद्ववृत्त्या ॥ ३३९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसग्रहे सुलोचनास्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

जयकुमारके विषयमें परस्पर उसके विजयको सूचित करनेवाली इसप्रकार बात चीत कर रहे थे कि इस संसारमें यही पुण्य है, यही सुंदरताकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिनकी यह संतान है संसारमें वे ही सच्चे माता पिता हैं, लक्ष्मीवान् लोगोंमें एक चूडामणी और संसारमें कल्याण करनेवाले एक रत्नके समान यह जयकुमार बडा ही पूज्य है ॥ ३३७ ॥ जो चारोंओरसे कुवलय अर्थात् कमोदनियोंको अथवा पृथ्वीमंडलको प्रफुल्लित वा प्रसन्न करता है, जिसकी कांति सदा फैली रहती है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह जयकुमार प्राप्त हुये अपने प्रतापसे सूर्यको भी आक्रमणकर सब दिशाओंमें फैली हुई बडी भारी कीर्तिसे सदा बढता रहे ॥३३८॥ श्रीजिनेंद्रदेवके मार्गको सेवन करनेसे जिसे बडाभारी पुण्य प्राप्त हुआ है और सबतरहके कल्याण जिसे प्राप्त हुये हैं ऐसे उस जयकुमारको ऊपर लिखे अनुसार लक्ष्मी प्राप्त हुई थी, इसलिये हे विद्वान् सम्यग्दृष्टी पुरुषो ! तुम लोग भी तल्लीन होकर जिनकी बडी भारी करुणा है ऐसे सर्वोत्तम श्रीजिनेंद्रदेवके दोनों चरणकमलोंको सेवन करो ॥ ३३९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमे सुलोचनाकी स्वयंवरमालाका पहनानेके कल्याणका वर्णन करनेवाला यह तेतालीसवा पर्व समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

अथ चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथ दुर्मषणो नाम दुष्टस्तस्यासहिष्णुकः । सर्वानुदीपयन् पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥ १ ॥ अकंपनः खलः क्षुद्रो वृथैश्वर्यमदोद्धतः । मृषा युष्मान् समाहूय श्लाघमानः स्वसंपदं ॥ २ ॥ पूर्वमेव समालोच्य मालामासंजयज्जये । पराभूतिं त्रिधित्सुर्वः स्थायिनीमायुगांतरं ॥ ३ ॥ इति ब्रुवाणः सप्राप्य सव्रीडं चक्रिणः सुतं । इह षट्खंडरत्नाना स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥ ४ ॥ रत्न रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव कन्यका । तत्त्वा स्वगृहमानीय दौष्ट्य पश्यास्य दुर्मतेः ॥ ५ ॥ जयो नामात्र कस्तस्मै दत्तवान् मृत्युचोदितः । तेनागतोऽस्मि दौर्वृत्त्यं तदेतत्सोढुमक्षमः ॥ ६ ॥ प्राकृतोऽपि न

अथ चवालीसवां पर्व.

अथानंतर—दुर्मषण नामका एक पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था, वह उस जयकुमारके गलेमें डाली हुई वरमालाको सहन नहीं कर सका था इसलिये उस पापीने इसप्रकार कह कर अन्य सब राजाओंको उत्तेजित किया ॥ १ ॥ वह कहने लगा कि अकंपन दुष्ट है, नीच है, और झूठ-मूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, उसने अपनी संपदाओंकी प्रशंसा करानेके लिये व्यर्थ ही तुम लोगोंको बुलाया है ॥ २ ॥ अकंपन तुम लोगोंका दूसरे युगतक रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसलिये ही उसने पहिलेसे सोच विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डाली है ॥ ३ ॥ इस-प्रकार कहता हुआ वह दुर्मषण लज्जित हुये चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके समीप आया और कहने लगा कि इस छहों खंड पृथ्वीमें उत्पन्न हुये रत्नोंके दो ही स्वामी है एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥ ४ ॥ सब रत्नोंमें कन्या ही रत्न है और कन्याओंमें भी वह सुलोचना ही अच्छा रत्न है। इसलिये ही तुझे अपने घर बुलाकर तेरा अपमान किया है, इस दुष्टकी दुष्टता तो देखो ॥ ५ ॥ भला सोचो तो जयकुमार कौन है जिसे बुलाकर मृत्युके द्वारा प्रेरणा किये हुये अकंपनने अपनी कन्या दी, यह दुराचार मुझे सहन नहीं हो सका इसलिये ही मैं आपके समीप आया हूं ॥ ६ ॥ नीच लोग भी छोटे छोटे अपमानोंको भी नहीं सह सकते हैं फिर भला तेरे ऐसा अभिमानी पुरुष

सोढव्यः प्राकृतैरपि किं पुनः । त्वादृशैः स्त्रीसमुद्भूतो मानभंगो मनस्विभिः ॥ ७ ॥ तदादिश दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदं । दिशाम्यादेशमात्रेण समाला तेऽपि कन्यका ॥ ८ ॥ इत्यसाध्वीं क्रुधं भर्तुः स्ववाचैवासृजत्खलः । सदसत्कार्यनिर्वृत्तौ शक्तिः सदसतोः समा ॥ ९ ॥ तद्वचःपवनप्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः । भ्रमद्दिलोचनागारः क्रुधाऽग्निसुरसन्निभ. ॥ १० ॥ उज्जगार ज्वलत्स्थूलविस्फुलिंगोपमागिरः । अर्ककीर्तिर्द्विपोऽशेषान् दिधक्षुरिव वाचया ॥ ११ ॥ मामधिक्षिप्य कन्येयं येन दत्ता दुरात्मना । तेन प्रागेव मूढेन दत्तः स्वस्मै जलांजलिः ॥ १२ ॥ अतिक्राते रथे तस्मिन्प्रोत्थितः क्रोधपावकः । तदैव किंतु को दाह्य इत्यजानन्नहं स्थितः ॥ १३ ॥ नाम्नाऽतिसंधितो मूढो मन्यते त्वमकंपनं । क्रुधे मयि न वेत्तीति कंपते सधरा

एक स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सह सकता है? ॥ ७ ॥ इसलिये मुझे आज्ञा दीजिये मैं आपकी आज्ञामात्रसे ही इस अकंपनको यमराजका स्थान दे सकता हूं अर्थात् उसे मार सकता हूं और माला सहित वह कन्या लाकर तुझे दे सकता हूं ॥ ८ ॥ इसप्रकार उस दुष्ट दुर्मर्षणने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामी अर्ककीर्तिको दुष्ट (बुरा वा भारी) क्रोध उत्पन्न किया, सो ठीक ही है क्योंकि अच्छे और बुरे काम करनेके लिये सज्जन और दुर्जनोंकी एकसी शक्ति होती है ॥ ९ ॥ दुर्मर्षणके वचन रूपी वायुसे भडकी हुई क्रोध रूपी अग्निसे जो लाल हो रहा है, जिसके नेत्र रूपी अंगारे चारोंओर घूम रहे हैं और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोंके समान ही जान पडता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने बचनोंसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही क्या मानों जलते हुये वडे वडे फुलिगोंके समान बचन उगलने लगा ॥ १०–११ ॥ वह कहने लगा कि जिस दुष्टने मेरा तिरस्कारकर वह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिये पाहिले ही जलांजलि दे डाली है ॥ १२ ॥ जिससमय उस कन्याका वह रथ मुझे छोडकर आगे निकल गया था उसीसमय मेरी क्रोध रूपी अग्नि भडक उठी थी परंतु 'जलेगा कौन' यही बात मुझे मालूम नहीं थी, इसलिये ही मैं अबतक ठहरा था ॥ १३ ॥ केवल नामसे ठगा हुआ वह मूर्ख आपको अकंपन (कभी न कंपनेवाला, निडर)

धरा ॥ १४ ॥ मत्खड्गवारिधाराभिरास्ता तावदगोचरः । सहरत्यखिलान् शत्रून् बलबेलैव हेलया ॥ १५ ॥ प्ररूढशुष्कनाथेंदुदुर्वंशविपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्वह्निभस्मिताऽस्मिन्न रोक्ष्यति ॥ १६ ॥ वीरपट्टस्तदा सोढो भुवो भर्तुर्भयान्मया । कथमद्य सहे माला सर्वसौभाग्यलोपिनीं ॥ १७ ॥ मद्यशःकुसुमाम्लानमालेवास्त्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहावैता हरेयं जयवक्षसः ॥१८॥ जलदान्पेलवान् जित्वा मरुन्मात्रविलायिनः । अद्य पश्यामि दृप्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥ १९ ॥ इति निर्भिन्नमर्यादः कार्याकार्यविमूढधीः । अनिवार्यो विनिर्जित्य कालातजलधिध्वानं ॥ २० ॥ अनलस्यानिलो वाऽस्य

मानता है परंतु उसे यह मालूम नहीं है कि मुझे क्रोध आजानेपर पर्वतोंके साथ साथ यह पृथ्वीभी कंपने लगती है ॥ १४ ॥ मेरी तलवार रूपी जलकी धाराकी बात तो दूर ही रहो (उसके सामने तो टिक ही नहीं सकता) मेरी सेना रूपी पानीकी लहर ही समस्त शत्रुओंको लीलामात्रमें ही नाशकर बहा देती है ॥ १५ ॥ बहुत बढे हुए और सूके ऐसे नाथवंश और सोमवंश ये दोनों दुष्ट वंशरूपी बडे भारी जंगल मेरी क्रोधरूपी जलती हुई अग्निसे भस्म हो जायंगे, जलजायंगे और फिर इस संसारमें कभी न उगेंगे ॥ १६ ॥ चक्रवर्ती महाराज भरतने इस जयकुमारके सिरपर पाहिले जो वीरपट्ट बांधा था वह तो मैंने अपने पिताके डरसे सह लिया था परंतु आज जो इसके गलेमें मेरे सब सौभाग्यको नाश करनेवाली वरमाला डाली गई है उसे मैं कैसे सह सकता हूं ॥ १७ ॥ वह माला मेरे यशरूपी फूलोंकी इस युगके अंततक कभी न मुरझानेवाली मालाके समान हो, आज मैं उस मालाको जयलक्ष्मीके साथ साथ जयकुमारके वक्षःस्थलसे हरण करूंगा ॥ १८ ॥ केवल वायुके चलनेमात्रसे नाश होनेवाले और अत्यंत कोमल ऐसे मेघोंको जीतकर अभिमानसे उन्मत्त हुये जयकुमारका विजय आज मैं युद्धमें देखूंगा ॥ १९ ॥ इसप्रकार जिसने अपनी मर्यादा तोड दी है कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे उस अर्ककीर्तिने उससमय अपनी आवाजसे प्रलयकालके समय होनेवाली समुद्रकी गर्जना भी

साहाय्यमगमॅस्तदा । केऽपि पापक्रियारंभे सुलभाः सामवायिका ॥ २१ ॥ तदा सर्वोपधाशुद्धो मत्री जनपदादिभिः । अनवद्यमतिर्नाम लक्षितो मंत्रिलक्षणैः ॥ २२ ॥ धर्म्यमर्थ्यं यशस्सार ससौष्ठवमनिष्ठुरं । सुविचार्य वचो न्याय्य पथ्य प्रोक्तु प्रचक्रमे ॥ २३ ॥ मही व्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । त्व त्वत्पिता घनाः कालो जगत्क्षेमविधायिनः ॥ २४ ॥ विपर्यासे विपर्येति भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा हि व्यक्तं युष्मासु तिष्ठते ॥ २५ ॥ गुणाः क्षमादयः सर्वे व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु । समस्तास्ते जगद्वृद्धौ चक्रिणि त्वयि च स्थिताः ॥ २६ ॥ च्यवंते स्वस्थितेः काले

जीत ली और जिसप्रकार अग्निको बढानेके लिये वायु सहायक हो जाता है उसीप्रकार दुर्मर्षण आदि कितने ही राजा उससमय उसके सहायक हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओंके प्रारंभ करनेमें सहायता देनेवाले कितने ही लोग सहजरीतिसे मिल जाते हैं ॥ २०–२१ ॥ उससमय धर्म अर्थ काम इन तीनोंमें जिसकी बुद्धि शुद्ध है और जो जनपद आदि मंत्रियोंमें होने वाले लक्षणोंसे सुशोभित है ऐसे अनवद्यमति (अनिंद्य बुद्धिको धारण कहनेवाला) नामके मंत्रीने खूब अच्छी तरह विचारकर धर्म और संपदाको बढानेवाले, यशके सारभूत अर्थात् यशको बढानेवाले, कठोरतारहित, सुंदर, सवका हित करनेवाले और न्याय पूर्वक वचन कहने प्रारंभ किये ॥ २२–२३ ॥ वह कहने लगा कि पृथ्वी, आकाश. चंद्रमा, सूर्य, समुद्र वायु. अग्नि, तू, तेरा पिता महाराज भरत, बादल और काल ये सब संसारमें कल्याण करनेवाले हैं ॥ २४ ॥ यदि इनमें उलटपलट होजाय तो संसारके कल्याणोंमें भी उलट पलट हो जाता है क्योंकि यह सृष्टि आपके अनुकूल ही चलती है सो ठीक ही है क्योंकि यह सृष्टि आपके ही आश्रय रहती है अथवा इसका आधार आप ही हैं ॥२५॥ क्षमा आदि सब गुण अलग अलग तो पृथ्वी आदिमें रहते ही हैं परंतु संसारको बढानेके लिये अर्थात् संसारका कल्याण करनेकेलिये वे सब गुण इकट्ठे होकर चक्रवर्तीमें और तुझमें ही रहते हैं ॥ २६ ॥ कदाचित् किसी कालमें वे क्षमादि गुण अपनी स्थितिसे छूट जाते हैं अर्थात् पृथ्वीसे

कांचित्तेऽपि क्षमादय॰ । न स कालोस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्युवयो॰ स्थितेः ॥२७॥ सृष्टिः॰ पितामहेनेयं सृष्टैता तत्समर्पिता । पाति सम्राट् पिता तेऽद्य तस्यास्त्वमनुपालकः ॥२८॥ दैवमानुषबाधाभ्य. क्षति कस्यापि या क्षितौ । ममैवेयमिति स्मृत्वा समाधेया त्वयैव सा॥२९॥क्षतात्त्रायत इत्यासीत्क्षत्त्रोऽय भरतेश्वरः। सुतस्तस्यौरसो ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्व तदादिम ॥३०॥ त्वत्तो न्यायाः प्रवर्तंते नूतना ये पुरातनाः। तेपि त्वत्पलिता एव भवत्यत्र पुरातनाः ॥३१॥ सनातनोऽस्ति मार्गोऽय श्रुतिस्मृतिषु भाषितः । विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयवरः ॥३२॥ यदि स्यात्सर्वसंप्रार्थ्या कन्यैका पुण्यभाजन । अविरोधो व्यधाय्यत्र

क्षमा, आकाशसे निर्मलता, चंद्रमासे शीतलता, समुद्रसे गंभीरता आदि गुण छूट जाते हैं परंतु ऐसा कोई समय नहीं है कि जो तुम दोनोंकी (चक्रवर्ती और तेरी) मर्यादाको नष्ट कर सके। भावार्थ-सबकी मर्यादा छूट सकती है परंतु तुम दोनोंकी मर्यादा कभी नहीं छूट सकती ॥ २७ ॥ तुम्हारे दादा श्री वृषभदेवने इस कर्मभूमि रूप सृष्टिकी रचना की है और रचनाकर तुम्हारे पिता भरतको सोंप दी है, अब तुम्हारे पिता चक्रवर्ती इसका पालन कर रहे हैं, उनके बाद इसकी रक्षा करनेवाले तुम ही हो ॥ २८ ॥ इस पृथ्वीमें यदि किसीको भी देव मनुष्योंके उपद्रवसे कुछ हानि होती हो तो " यह हानि मेरी ही है " यही समझकर तुमको ही उसका समाधान करना चाहिये ॥ २९ ॥ जो संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, महाराज भरत सबकी रक्षा करते हैं इसलिये वे क्षत्र हैं, और तुम उनके सबसे बडे औरस पुत्र हो इसलिये तुम इस संसारमें सबसे पहिले क्षत्रिय गिने जाते हो ॥ ३० ॥ इस संसारमें न्यायकी प्रवृत्ति तुमसे ही होती है, जो प्राचीन न्यायमार्ग है वह तुमसे ही नया होता है, तथा जो प्राचीन न्यायमार्ग हैं वे तुम्हारे पालन करनेसे ही इस संसारमें प्रसिद्ध होते हैं ॥ ३१ ॥ विवाहके जितने भेद हैं उन सबमें यह स्वयंवर ही श्रेष्ठ है और समस्त शास्त्र स्मृतियोंमें कहा हुआ यह स्वयंवर सनातन मार्ग है अर्थात् आज नया नहीं है अनादिकालसे चला आया है ॥ ३२ ॥ यदि पुण्यस्वरूप किसी एक ही कन्याको याचना करनेवाले सब ही मनुष्य हों तो परस्पर किसीमें

देवायत्तो विधिर्बुधैः ॥ ३३ ॥ मध्ये महाकुलीनेषु कंचिदेकं समीप्सितं ॥ सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणिनं गुणदुर्गतं ॥ ३४ ॥ विरूपं रूपिणं चापि वृणीतेऽसौ विधेर्वशात् । न तत्र मत्सरः कार्यः शेषैर्न्यायोऽयमीदृशः ॥ ३५ ॥ लंघ्यते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्त्वयैव सः । नेदं तवोचितं क्वापि पाता स्यात्पारिपंथिकः ॥ ३६ ॥ भवत्कुलाचलस्योभौ नाथसोमान्वयौ पुरा । मेरोर्निषधनीलौ वा सत्पक्षौ पुरुणा कृतौ ॥ ३७ ॥ सकलक्षत्रियज्येष्ठः पूज्योऽयं राजराजवत् । अकंपनमहाराजो राजेव ज्योतिषां गणैः ॥ ३८ ॥ निर्विशेषं पुरोरेनं मन्यते भरतेश्वरः । पूज्यातिलंघनं प्राहुरुभयत्राशुभाव-

---

विरोध न हो इसलिये ही केवल भाग्यके आधीन होनेवाली यह स्वयंवरकी विधि विद्वान् लोगोंने निरूपण की है ॥ ३३ ॥ बडे बडे कुलोंमें उत्पन्न हुये लोगोंमेंसे भाग्यके आधीन होकर वह कन्या अपनी इच्छानुसार किसी एकको अपना पति स्वीकार कर लेती है, चाहे वह धनी हो या दरिद्री हो, गुणवान् हो या निर्गुण (मूर्ख) हो, अथवा रूपवान हो या कुरूपी हो, इसमें अन्य लोगोंको कुछ भी ईर्षा या द्वेष नहीं करना चाहिये यह ऐसा ही न्याय है ॥ ३४-३५ ॥ यदि कोई इस न्यायका उल्लंघन करे तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिये, इसलिये इस स्वयंवरमें बाधा डालना तुम्हारेलिये उचित नहीं है, क्या रक्षा करनेवाला भी कभी चोर वा शत्रु होता है ? ॥ ३६ ॥ जिसप्रकार निषध और नील दोनोंपर्वत मेरु पर्वतके उत्तम पक्ष हैं उसीप्रकार श्रीवृषभदेवने पहिले नाथवंश और सोम वंश दोनों ही तुम्हारे कुलरूपी पर्वतके उत्तम सहायक बनाये थे ॥३७॥ जिसप्रकार समस्त ज्योतिषी देवोंका समूह चंद्रमाकी पूजा करता है उसीप्रकार सब क्षत्रियोंमें बडे ऐसे महाराज अकंपन भरत चक्रवर्तीके समान पूज्य हैं ॥ ३८ ॥ महाराज भरत इन महाराज अकंपनको श्रीवृषभदेवके समान मानते हैं इसलिये पूज्य पुरुषोंका उलंघन करना इस भव और परभव दोनों लोकोंमें अकल्याण कर-नेवाला है ॥ ३९ ॥ और देखो-यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही गिना जाता है क्योंकि जिस-प्रकार धर्मतीर्थकीप्रवृत्ति तुम्हारे वंशसे हुई है उसीप्रकार दानतीर्थकी प्रवृत्ति इस सोमवंशसे हुई

हं ॥ ३९ ॥ पश्य तादृश एवात्र सोमवंशोऽपि कथ्यते । धर्मतीर्थं भवद्वंशाद्दानतीर्थं ततो यत. ॥ ४० ॥ पुरस्सरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विशां विभोः । प्रायो दुस्साधससिद्धौ श्लाघते जयमेव सः ॥ ४१ ॥ एतस्य दिग्जये सर्वैर्दृष्टमेवेह पौरुष । अनेन यः कृतः प्रेषः स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥ ४२ ॥ ज्ञात्वा संभाव्यशौर्योऽपि स मान्यो भर्तृभिर्भटः । दृष्टसारः स्वसाध्येऽर्थे साधितार्थः किमुच्यते ॥ ४३ ॥ विना चक्राद्विना रत्नैर्भोग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयात्ते मानुषी सिद्धिर्दैवी पुण्योदयाद्यथा ॥ ४४ ॥ तृणकल्पोऽपि सवाह्यस्तव नीतिरियं कथं । नार्येदुवशावुच्छेद्यौ लक्ष्म्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥

है ॥ ४० ॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न तो आगे आगे चलनेमात्रसे ही प्रशंसानीय है परंतु वडी कठिनतासे सिद्ध होनेयोग्य कार्योंको सिद्ध करनेमें महाराज भरत वहुत करके जयकुमारकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ४१ ॥ दिग्विजयके समय इस संसारमें सवने ही इसका पुरुषार्थ देखा है, उससमय इसने जो पराक्रम दिखाया था वह भी तुम्हें स्मरण करना चाहिये ॥ ४२ ॥ जिसके शूरवीर होनेकी संभावना है ऐसे योद्धाको जानकर राजाओंको उसका भी आदरसत्कार करना चाहिये, फिर भला जिसने अपना पराक्रम दिखाया है और अत्यंत कठिनतासे सिद्ध होने योग्य कार्यको सिद्ध कर दिखाया है ऐसे शूरवीरकी तो वात ही क्या है अर्थात् ऐसे शूरवीरका तो वहुत ही आदर सत्कार करना चाहिये ॥ ४३ ॥ आगे विना चक्र और विना निधिरत्नोंके यह सव लक्ष्मी तुम्हारे ही उपभोग करने योग्य होगी, क्योंकि जिसप्रकार दैवी सिद्धि पुण्यकर्मके उदयसे होती है उसीप्रकार मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होती है ॥ ४४ ॥ जो तृणके समान है उसकी भी रक्षा करना चाहिये यही तुम्हारी नीति है फिर भला जो राजलक्ष्मीके साक्षात् भुजाओंके समान हैं ऐसे नाथवंश और सोमवंश इन दोनोंका नाश कैसे करना चाहिये ॥ ४५ ॥ ये दोनों ही तुम्हारे भाईके समान सेवक हैं इनका नाश होनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर क्रोध करेगा और युगके अंततक टिकनेवाला अधर्म तुम्हारे द्वारा चलाया सरीखा समझा जायगा ॥ ४६ ॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषा करनेका

वधुभृत्यक्षयाद्भूयस्तुभ्यं चक्र्यपि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्थायी त्वया स्यात्संप्रवर्तितः ॥ ४६ ॥ परदाराभिलाषस्य प्राथम्यं मा वृथा कृथाः । अवश्यमाहृताऽप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥ ४७ ॥ सप्रताप यशः स्थास्नु जयस्य स्यादहर्यथा । तव रात्रिरिवाकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥ ४८ ॥ सर्वमेतन्ममैवेति मा मॅस्थाः सावन युध्रः । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सति तत्पक्षपातिनः ॥ ४९ ॥ पुरुषार्थत्रयं पुम्भिर्दुष्प्राप तत्त्वयाऽर्जित । न्यायमार्गं समुलंघ्य वृथा तत्किं विनाशये ॥ ५० ॥ अकपनस्य सेनेशो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्म्यास्तुलारोहं मुधा त्वं किं विधास्यसि ॥ ५१ ॥ ननु न्यायेन बधोस्ते बधुपुत्री समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमाऽत्र पराभवः ॥ ५२ ॥ कन्यारत्नानि संत्येव बहून्यन्यानि भूभुजा । इह तानि सरत्नानि

प्रारंभ नहीं करना चाहिये क्योंकि यदि तुम उस कन्याको जबर्दस्ती हरण भी कर लाओगे तो भी वह कन्या तुम्हारी कभी नहीं होगी ॥ ४७ ॥ चिरकालतक टिकनेवाला और प्रताप वा पराक्रम सहित जयकुमारका यश दिनके समान होगा और मलिन ऐसी तुम्हारी अपकीर्ति इस संसारमें चिरकालतक टिकनेवाली रात्रिके समान होगी ॥ ४८ ॥ ये सब इकट्ठे हुये राजा लोग युद्धमें मेरे ही सहायक होंगे ऐसा भी तुम मत समझो क्योंकि इनमें उनका पक्ष करने वाले भी बहुतसे राजा लोग हैं ॥ ४९ ॥ मनुष्योंको बडी कठिनतासे मिलने योग्य धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ तुमने संपादन किये हैं अब न्यायमार्गका उलंघन कर क्यों व्यर्थ ही उनका विनाश कर रहे हो ॥५०॥ यह जयकुमार जिसप्रकार पहिले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसीप्रकार अब अकंपनका सेनापति बना है इसलिये तुम क्यों व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तौलना चाहते हो ॥ ५१ ॥ दूसरी यह बात है कि जयकुमार भी तुम्हारा हित करनेवाला भाई है और अकंपन भी तुम्हारा हित करनेवाला भाई है, एक भाईकी पुत्री न्याय पूर्वक दूसरे भाईके लिये समर्पण की है ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ? हां यदि तुम इसे सहन न कर सको, इसमें कुछ ईर्षा वा द्वेष करो तो यह तुम्हारा तिरस्कार हो सकता है ॥ ५२ ॥ इसके सिवाय राजाओंके और भी बहुतसे कन्यारत्न हैं, रत्नालंकार सहित उन

सर्वाण्यद्यानयामि ते ॥ ५३ ॥ इति नीतिलतावृद्धिविधाय्यपि वचःपयः । व्यावात्तचेतसः क्षोभं तप्ततैलस्य वा भृशं ॥ ५४ ॥ सर्वमेतत्समाकर्ण्य बुद्धिं कर्मानुसारिणीं । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीं ॥ ५५ ॥ अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतौ चिरंतनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकंपनः ॥ ५६ ॥ किंतु सोऽयं जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सौभाग्यप्रतीतिं प्रविधित्सुकः ॥ ५७ ॥ सर्वभूपालसंदोहसमाविर्भावितोदयात् । स्वयं चक्रीयितुं चैव व्यधत्त कपटं शठः ॥५८॥ प्राक्समर्थितमंत्रेण प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥

सबको आज मैं तुम्हारे लिये लादेता हूं ॥५३॥ इसप्रकार नीतिरूपी लताको वढानेवाले उस मंत्रीके बचन रूपी जलने गर्म तेलके समान उस अर्ककीर्तिके चित्तको और भी खूब क्षुब्ध कर दिया ॥ ५४॥ इन सब बातोंको सुनकर "बुद्धि कर्मोंके अनुसार ही होती है" इस बातको स्पष्ट प्रगट करता हुआ वह दुर्बुद्धि नीचे लिखे अनुसार बचन कहने लगा ॥ ५५ ॥ वह कहने लगा कि विवाहकी विधियोंमें यह स्वयंवर अनादिकालकी विधि है यह मैं मानता हूं और यह भी स्वीकार करता हूं कि अकंपन उम्रमें बडा है और हमारे दादा वृषभदेवके द्वारा आदर सत्कार पाया हुआ है ॥ ५६ ॥ परंतु जयकुमारके स्नेहसे उसीका उत्कर्ष वा वडप्पन चाहता है और सवपर अपनी पुत्रीके सौभाग्यका विश्वास दिलाना चाहता है, यह सब राजाओंके समूहको बुलाकर उससे प्रगट हुये अपने वडप्पनसे स्वयं चक्रवर्तीके समान होना चाहता है, इस मूर्खने यह एक छल किया है ॥५७–५८॥ "यह कन्या जयकुमारको ही देनी है" यह विचार इस अकंपनने पहिले ही अपने चित्तमें कर लिया था और ऐसा ही अपनी पुत्रीको समझा रक्खा था, इसलिये इस कन्याने उस संकेतके अनुसार झूठ मूठको जयकुमारके गलेमें माला डाली है ॥ ५९ ॥ युगके प्रारंभमें ही बडे कुलमें उत्पन्न हुये अकंपनने जो यह माया की है यदि आज मैं इसकी उपेक्षा करूंगा, रोकूंगा नहीं तो फिर कल्पकालके अंततक भी किसीसे निवारण नहीं हो सकेगी ॥ ६० ॥ मैं एक अन्याय को रोकता हूं इसलिये चक्रवर्ती महाराज.

युगादौ कुलवृद्धेन मायेयं संप्रवर्तिता । मयाऽद्य यद्युपेक्षेत कल्पांते नैव वार्यते ॥ ६० ॥ न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनं । प्रवर्तयत्यसौ दण्डमय्यप्यन्यायवर्तिनि ॥ ६१ ॥ जयोऽप्येनं समुत्सिक्तस्तत्पट्टेन च मालया । प्रति स्व लब्धरंध्रो मां करोत्यारंभकं पुरा ॥ ६२ ॥ समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषममु युधि । अनुरागं जनिष्यामि राजन्यानामयि स्थिरं ॥ ६३ ॥ द्विधा भवतु वा मा वा बलं तेन किमाशुगाः । माला प्रत्यानयिष्यति जयवक्षो विभिद्य मे ॥ ६४ ॥ नाहं सुलोचनार्थ्यस्मि मत्सरी मच्छरैरयं । परासुरधुनैव स्यात्किं मे विधवया तया ॥ ६५ ॥ दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥ व्ययो मे विक्रमस्यास्तां शरस्याप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद्दुष्टस्यांहः कुतो भवेत् ॥६७॥

भरत भी क्रोध नहीं कर सकते क्योंकि जब मैं कुछ अन्याय कर बैठता हूं तब वे मुझे भी दंड देते हैं ॥ ६१ ॥ यह जयकुमार भी पहिले वीरपट्टके बांधनेसे और गलेमें यह वरमाला पडजानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है, यह पहिलेसे ही समय पाकर मेरे लिये कुछ न कुछ व्यापार करता ही रहता है ॥ ६२ ॥ यह सबका शत्रु है इसलिये इसे मूलसाहित नाशकर सब राजाओंका स्थिर प्रेम अपनेमें ही उत्पन्न करूंगा ॥ ६३ ॥ इस सेनाके दो विभाग हों अथवा न हों इससे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल फोडकर उस वरमालाको ले आयेंगे ॥६४॥ मैं कुछ सुलोचनाको भी लेना नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्षा वा द्वेष करनेवाला यह जयकुमार अभी मेरे बाणोंसे प्राण रहित हो जायगा फिर मैं उस विधवाका क्या करूंगा ? ॥६५॥ दुराचारको दूर करनेसे धर्म अर्थ काम तीनों बढते हैं क्योंकि कारणके होते हुये क्या कभी कार्यकी हानि देखी जाती है ? अर्थात् कभी नहीं ॥६६ ॥ इस काममें मेरे पराक्रमका नाश होना तो दूर रहो मेरे बाण भी खर्च नहीं हो सकते, उलटा इस दुष्टके मारनेमें धर्म होगा क्योंके दुष्टके मर जाने पर फिर पाप कहांसे होगा ॥ ६७ ॥ ऐसा करनेसे जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध है ऐसे मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नहीं होगी किंतु यदि मैं इस अन्यायको न रोकूंगा तो जो किसीसे रोकी न जा सके ऐसी

कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्मे नार्ककीर्तेर्विनंक्ष्यति । अकीर्तिरनिवार्या स्यादन्यायस्यानिषेधनात् ॥ ६८ ॥ तस्य मेऽयशसः कीर्तेर्भवद्भिर्यदुदाहृतं । भवेत्तत्सत्यसवादि शीतकोऽस्म्यत्र यद्यहं ॥ ६९ ॥ यूयमाध्व ततस्तुष्णीमुष्णकोऽहमिदं प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च मा निषेधि हितैषिभिः ॥ ७० ॥ एवं मन्त्रिणमुल्लंघ्य कुधीर्वा दुर्ग्रहाहितः । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥ ७१ ॥ कथयित्वा महीशाना सर्वेषा रणनिश्चयं । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदा ॥ ७२ ॥ अनुभेरिरव सद्यः प्रत्यावासं महीभुजां । नटद्भटभुजास्फोटचटुलारावनिष्ठुरः ॥ ७३ ॥ करिकठस्फुटोद्घोषघटाटकारभैरवः । जितकंठीरवा-

---

मेरी अपकीर्ति जरूर होगी ॥ ६८ ॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और जयकुमारकी कीर्ति होनेका वर्णन किया है सो यदि मैं इस समय ठंडा हो जाऊं, कुछ न करूं तब यह समाचार सत्य हो सकता है ॥ ६९ ॥ इसलिये तुम लोग चुप रहो, मैं इस काममें ठंडा नहीं हूंगा, गर्म अर्थात् उत्तेजित ही बना रहूंगा, हित चाहनेवालोंको धर्म, अर्थ और यश बढानेवाले कार्यको कभी नहीं रोकना चाहिये ॥७०॥ जिसके नीचा देखनेका समय समीप आगया है और जो हठ कर रहा है ऐसे उस दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने इसप्रकार मंत्रियोंके वाक्योंका उलंघनकर और सेनापतिको बुलाकर सब राजाओंसे युद्ध करनेका निश्चय कहा और तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवाई॥७१-७२॥ जो राजाओंके प्रत्येक डेरेमें भेरीके (नगाडोंके) शब्दोंके साथ साथ बहुत शीघ्र नृत्य करते हुये योद्धाओंके भुजाओंकी ताडनासे उत्पन्न होनेवाली बडी बडी आवाजोंसे भयंकर है, जो हाथियोंके गलेमें पडे हुये और जोर जोरका शब्द करते हुये घंटोंकी आवाजसे भयानक है, जो सिंहोंकी गर्जनाको जीतनेवाले घोडोंके हींसनेसे भयंकर है, जो चलते हुये घोडोंके खुरोंसे उठे हुये कठोर शब्दोंसे भर रहा है, जो पैदल सेनाके चलनेसे उनके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुये पृथ्वीके बडे बडे शब्दोंसे भय उत्पन्न करनेवाला है, जो चलते हुये रथोंके पहियोंसे उत्पन्न हुये बडे बडे चीत्कार (चूं चूं) शब्दोंसे भयंकर है, जो धनुष तैयार करनेके लिये लगाई हुई डोरीके खींचनेसे कठोर हो रहा है, दिशारूप दीवालोंसे

रावहयहेषाविभीषणः ॥ ७४ ॥ चलद्वरिखुरोद्दृष्टकठोरध्वाननिर्भरः । पदातिपद्धतिप्रोद्यद्भूरिभूरवभीवहः ॥७५॥ स्पंदत्स्यंदनचक्रोत्थपृथुचीत्कारभीकरः । धनु.सज्जीक्रियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥ ७६ ॥ प्रतिध्वनितदिग्भित्तिस्सर्वानकभयानकः । बलकोलाहलः कालमिवाह्वातुं समुद्यतः ॥ ७७ ॥ शिक्षिता बलिनः शूराः शूरारूढाः सकेतवः । गजाः समंतात्सन्नाह्याः प्राक्चेलुरचलोपमाः ॥ ७८ ॥ तुरंगमास्तरंगाभाः सग्रामाब्धेः सवर्मकाः । अनुदंति नदतोऽऽयान् विक्रामंतः समततः ॥ ७९ ॥ सचक्र धेहि संयोज्य सधुरं प्राजवाजिनः । इति संभ्रमिणोऽपमन् रथास्तदनु सध्वजाः ॥ ८० ॥ चडाः कोदंडकुतासिप्रासचक्रादिभीकराः । याति स्मानुरथं क्रुद्धा रुद्धदिक्काः पदातयः ॥ ८१ ॥ गज गजस्तदोद्रव्य वाहो वाहं रथं रथः । पदातयश्च पादात

जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है और जो सबतरहके नगाडोंसे भयानक हो रहा है ऐसा वह सेनामें उत्पन्न हुआ कोलाहल ऐसा जान पडता था मानों कालको बुलानेके लिये ही तैयार हुआ हो ॥७३-७७॥ उससमय जो सिखाये हुये हैं, बलवान हैं, शूरवीर हैं, जिनपर योद्धा लोग चढे हुये हैं, ध्वजायें फहरा रही हैं, जो सबतरह तैयार हैं और पर्वतके समान ऊंचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे आगे चल रहे थे ॥ ७८ ॥ उन हाथियोंके पीछे पीछे चारोंओर युद्ध रूपी समुद्रकी तरंगोंके समान, कवच पहिने हुये हींसते और कूदते हुये घोडे जा रहे थे ॥ ७९ ॥ " हे वीरो ! रथोंमें जल्दी पहिये लगाओ धुराको जल्दी ठीक कर लगाओ " इसप्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें जल्दी जाने वाले तेज घोडे जुते हुये हैं और ध्वजायें फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोडोंके पीछे पीछे जा रहे थे ॥८०॥ उन रथोंके पीछे धनुष, बरछी, तलवार, सेल, चक्र आदि शस्त्रोंसे भयंकर तथा जिन्होंने फैलकर सब दिशायें रोक ली हैं और जो अत्यंत प्रचंड (बलवान) हैं ऐसे क्रोधसे भरे हुये पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥ ८१ ॥ उससमय हाथी हाथीको, घोडा घोडाको, रथ रथको और पियादा पियादाको धक्का देकर वा उससे टक्कर खाकर बडी जल्दीसे युद्धमें जा रहे थे ॥ ८२ ॥ तदनंतर हाथियोंपर चढेहुये अनेक राजा जिसके साथ हैं, जिसने नगाडोंके कठोर शब्दोंसे सब दिग्गज भयभीत कर

सम्भ्रमान्निर्ययुर्युधे ॥ ८२ ॥ आरूढानेकपानेकभूपालपरिवारितः । भेरीनिष्ठुरनिर्घोषभीषिताशेषदिग्द्विपः ॥८३॥ चक्रध्वजं समुत्थाप्य सम्यगाविष्कृतोन्नतिः । गज विजयघोषाख्यमारुह्याद्रिवरोत्तम ॥ ८४ ॥ अर्ककीर्तिर्बहिर्भास्वदस्युद्यतभटावृत. । ज्योतिःकुलाचलैर्वार्कश्चचालाभ्यचलाधिप ॥ ८५ ॥ किंवदंतीं विदित्वेता भूपो भूत्वाकुलाकुलः । स्वालोचित च कर्तव्य विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥ ८६ ॥ इति स्वसचिवैः सार्धमालोच्य च जयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्तिंयथादिक्षद्दूतं सप्राप्य सत्वर ॥ ८७ ॥ कुमार तव किं युक्तमेवं सीमातिलंघन । प्रसीद प्रलयो दूर तन्मा कार्षीर्मृषागमं ॥ ८८ ॥ इति सामादिभिःस्वोक्तैरशातमगवम्य तम् । प्रत्येत्य तत्तथा सर्वमाश्ववाजीगमन्नृपं ॥ ८९ ॥ काशीराजस्तदाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहग्रहितो

दिये हैं, चक्रके चिन्हवाली ध्वजाको ऊंचाकर जिसने अपना ऊंचापन बहुत अच्छीतरह प्रगट किया है और बाहरसे देदीप्यमान ऐसे हाथमें तलवार उठाये हुये योद्धाओंसे जो घिरा हुआ है ऐसा वह अर्ककीर्ति मेरुपर्वतके समान ऊंचे ऐसे विजयघोष नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर महाराज अकंपनकी ओर इसप्रकार चला मानों ग्रह नक्षत्र आदि ज्योतिर्मंडलके साथ साथ अथवा ज्योतिर्मंडल और कुलाचल पर्वतोंके साथ साथ सूर्य ही मेरु पर्वतकी ओर चला हो ॥ ८३–८५ ॥ इस बातको जानकर महाराज अकंपन बहुत ही व्याकुल हुये और सोचने लगे कि जो काम बहुत सोच विचारकर किया जाता है, दैव उसे भी उलटा कर देता है, इसप्रकार उन्होंने अपने मंत्री और जयकुमार आदि राजाओंके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके पास एक दूत भेजा और उस दूतके साथ ये समाचार कहला भेजे कि हे कुमार ! क्या तुमको इसप्रकार मर्यादाका उलंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है, इसलिये प्रसन्न हूजिये और शास्त्रोंको झूठा मत करिये अर्थात् लडकर अभी प्रलयकालका समय मत कर दीजिये ? ॥ ८६–८८ ॥ इसप्रकार दूतने बहुतसे शांत बचन कहे परंतु तौ भी उसे अशांत जानकर वह दूत लौट आया और उसने बहुत शीघ्र ज्योंके त्यों सब समाचार अपने महाराज अकंपनसे कह दिये ॥ ८९ ॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज महाराज अकंप-

वाऽसीद्दुष्कार्ये को न मुह्यति ॥ ९० ॥ अत्र चिंत्यं न वः किंचिन्न्यायस्तेनैव लंघितः । तिष्ठतैव संरक्ष्य सुनियुक्ताः सुलोचना ॥ ९१ ॥ इदानीमेव दुर्वृत्त शृंखलालिंगनोत्सुक । शाखामृगमिवानेष्ये बध्वा दाराततायिन ॥ ९२ ॥ इत्युदीर्य जयो मेघकुमारविजयार्जिता । मेघघोषाभिधा भेरीं प्रष्टेनास्फालयद्रुषा ॥ ९३ ॥ द्रोणादिप्रक्षयारंभघनाघनघनध्वनिं । तद्ध्वनिर्व्याप निर्जित्य निर्भिद्य हृदयं द्विषा ॥ ९४ ॥ तद्रवाकर्णनाद्घूर्णितार्णवप्रतिमे बले । अतिमालोत्सवोऽत्रासीदुत्सवो विजये यथा ॥ ९५ ॥ तदोद्भिन्नकटप्रांतप्रक्षरन्मदपायिनः । स्वमदेनेव मातंगाः प्रोत्तुंगाः प्रोन्मदिष्णवः ॥ ९६ ॥

नका चित्त कुछ विचलित (डवांडोल) हुआ और महा मोहसे वे मूर्छित हो गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें भला कौन मोहित (मूर्छित) नहीं होता ॥९०॥ जयकुमार महाराज अकंपनको चिंतित देखकर कहने लगे कि इसमें हम लोगोंको कुछ भी चिंता नहीं करनी चाहिये क्योंकि न्यायमार्गका उलंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचनाकी रक्षा करते हुये यहां ही विराजिये ॥ ९१ ॥ दुराचरण करनेवाले, स्त्रीको चुरानेकी इच्छा करनेवाले, और इसलिये ही सांकलोंमे आलिंगन करनेकी (सांकलोंसे बंधनेकी) इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको बंदरके समान बांधकर मैं अभी ले आता हूं ॥ ९२ ॥ इसप्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर युद्धमें सबसे आगे जानेवाले मनुष्योंके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी (नगाडा) बजवाई ॥९३॥ प्रलयकालके प्रारंभमें द्रोण, काल, पुष्करावर्त आदि बादलोंकी जो जबर्दस्त गर्जना होती है उसे भी जीतकर और शत्रुओंके हृदयको विदीर्णकर वह नगाडेकी आवाज सब जगह फैल गई थी ॥ ९४ ॥ जिसप्रकार किसीके विजय करनेपर उत्सव होता है उसीप्रकार उस भेरीकी आवाजको सुनकर क्षुब्ध हुये समुद्रके समान उस जयकुमारकी सेनामें वरमाला डालनेके आनंदसे भी अधिक आनंद होने लगा ॥ ९५ ॥ उससमय फटे हुये मस्तकके समीपसे (कपोलोंसे) जो मद झरता था उसको पीनेवाले और उसी अपने मदसे मानों उन्मत्त हुये ऊंचे ऊंचे हाथी युद्धके आनंदसे सुशोभित हो रहे थे

सुस्वनंतः खनतः ख वाजिनो वायुरंहसः । कृतोत्साहा रणोत्साहाद्रेजुस्तेजस्विता हि सा ॥ ९७ ॥ रथाः प्रागिव पर्यस्ताः पूर्णसर्वायुधा युधः । महावाहसमायुक्ताः प्रनृत्यत्केतुबाहवः ॥ ९८ ॥ योषितोऽप्यभटायंत पाटवात्सयुगं प्रति । ततः प्रतिबलात्तत्र भूयासो वा पदातयः ॥ ९९ ॥ वर्द्धमानो ध्वनिस्तूर्ये रणरंगे भविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रनृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयन्निव ॥ १०० ॥ वनान्वय वयःशिक्षालक्षणैर्वीक्ष्यविग्रह । सुधर्माण सुवर्ष्माणं कामवत क्षरन्मद ॥१०१॥ सामजं विजयार्द्धाख्य विजयार्द्धमिवापरं । वहुशो दृष्टसंग्राम गजध्वजविराजित ॥१०२॥ अधिष्ठाय जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जगाम

तथा वायुके समान जिनका वेग है, जो अच्छीतरह हींस रहे हैं, पैरोंसे आकाशको खोद रहे हैं और जिन्हें उत्साह बढ रहा है ऐसे घोडे भी युद्धके आनंदसे सुशोभित हो रहे थे, सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना भी यही है ॥ ९६–९७ ॥ जिनमें सबतरहके सब शस्त्र भरे हुये हैं, वडे वडे घोडे लगे हुये हैं और जिनकी ध्वजारूपी भुजायें नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ जिसप्रकार पहिले (मेघकुमारको जीतते समय) सजाये गये थे उसीप्रकार सजकर फैल रहे थे ॥ ९८ ॥ उस जयकुमारकी सेनामें युद्धमें अत्यंत निपुण होनेसे स्त्रियां भी योद्धाओंके समान काम करती थीं इसलिये सब राजाओंकी सेनासे इसकी सेनामें पैदल चलनेवाली सेनाकी संख्या सबसे अधिक थी ॥ ९९ ॥ उस समय सेनामें बाजोंके बजनेसे जो आवाज बढ रही थी वह ऐसी जान पडती थी मानों युद्धके मैदानमें वीरलक्ष्मीका जो अच्छा नृत्य होनेवाला है उसे बढाती हुई ही निकल रही हो ॥ १०० ॥ तदनंतर जो वनमें उत्पन्न हुआ है, उम्र, शिक्षा, और सुलक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीरका संगठन अच्छा है, जो स्वामीकी इच्छानुसार चलनेवाला है, जिससे मद झर रहा है, जिसने अनेक युद्ध देखे हैं और जिसपर हाथीके चिन्हवाली ध्वजायें सुशोभित हो रही हैं ऐसे दूसरे विजयार्द्ध पर्वतके समान विजयार्द्ध नामके हाथीपर चढकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोंके साथ साथ युगके अंतमें होनेवाली प्रलयकालकी लीलाको उलंघन

युगप्रातकालल्लीलां विलघयन् ॥ १०३ ॥ कुर्वंती शांतिपूजां त्वं तिष्ठ मात्रेति सादरं । प्रवेश्य चैत्यधामाग्र्यं सुतां नित्यमनोहरं ॥ १०४ ॥ समग्रबलसंपत्त्या चचाल चलयन्निलां । अकंपः कंपिताराति साकंपनिरकंपनः ॥ १०५ ॥ सूकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जय जग्मुरितिभूपाः ससाधनाः ॥ १०६ ॥ इमे मुकुटबद्धेषु पंच विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेंदुवशगृह्याः समाययुः ॥ १०७ ॥ मेघप्रभश्च चंडासिप्रभाव्याप्तवियत्तलः । विद्याबलोद्धतः सार्द्धमर्द्धैर्विद्याधरैरगात् ॥ १०८॥ बलं विभज्य भूभागे विशाले सकलं समे । प्रकृत्य मकरव्यूहं विरोधिवलघस्मरः ॥१०९॥ उच्चैरूर्जिततूर्यौघनिर्यन्निर्घोषभीषणः । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा॥११०॥चक्रव्यूहविभक्त्यात्मभूरिसाधनमध्यगः । अर्ककीर्तिश्च

करता हुआ निकला ॥ १०१-१०३ ॥ इधर महाराज अकंपनने भी अपनी पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमें पहुंचाया और कहा कि तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शांति पूजा (शांति करनेवाली पूजा अथवा शांतिनाथकी पूजा) करती हुई बैठ । इसप्रकार कहकर जिसने सब शत्रुओंको कंपादिया है और जो स्वयं निश्चल है कभी घबडाता नहीं, ऐसा वह महाराज अकंपन अपने सब पुत्रोंके साथ सेनारूपी सब संपत्ति लेकर पृथ्वीको कंपाता हुआ निकला ॥१०४-१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा, और देवकीर्ति ये सब राजा अपनी अपनी सेना लेकर जयकुमारके साथ निकले ॥ १०६ ॥ मुकुटवद्ध राजाओंमें इन पांचोंकी कीर्ति बहुत ही प्रसिद्ध है तथा इनके सिवाय नाथवंश और सोमवंशके आश्रित जो जो शूरवीर थे, वे सब इनमें आ मिले थे ॥ १०७ ॥ अपनी प्रचंड तलवारकी प्रभासे जिसने आकाशमंडलको भी व्याप्त कर दिया है और जो विद्याके बलसे उद्धत है ऐसा मेघप्रभनामका विद्याधर भी आधे विद्याधरोंके साथ इनके साथ निकला ॥ १०८ ॥ विशाल और सपाट पृथ्वीपर जिसने अपनी सब सेनाका विभाग कर तथा मकरव्यूहकी (मगरमच्छके समान) रचना कर शत्रुओंकी सेनाको नाश करनेवाला, अपनी आवाजसे वादलोंकी गर्जनाको भी जीतने वाला और बडे बडे बाजोंके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर ऐसा

भातिस्म परिवेषाहितार्कवत् ॥ १११ ॥ क्रुद्धाः खे खेचराधीशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडव्यूहमापाद्य तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥ ११२ ॥ अष्टचंद्रा खगाः ख्याताश्चक्रिणः परितः सुतं । शरीररक्षकत्वेन भेजुर्विद्यामदोद्धताः ॥ ११३ ॥ अकालप्रलयारंभजृंभिताम्भोदगर्जितं । निर्जित्य तूर्यं तूर्याणि दध्वनुः सेनयोः समं ॥ ११४ ॥ धनुष्कैर्मार्गणैर्मार्गः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारेभे घोरैरसौ मुखरीकृतः ॥ ११५ ॥ संग्रामनाटकारंभसूत्रधारा धनुर्धराः । रणरंगं विशंति स्म गर्जत्तूर्यपुरस्सरं ॥ ११६ ॥ आबध्य स्थानकं पूर्वं रणरंगे धनुर्धरैः । पुष्पांजलिरिव व्यस्तो मुक्तः शितशरोत्करः ॥ ११७ ॥ तीक्ष्णा

वह मेघस्वर (जयकुमार) उस समय गर्जता हुआ वहुत ही अच्छा जान पडता था ॥१०९—११०॥ उससमय अर्ककीर्ति भी चक्रव्यूहकी रचनासे खडी हुई अपनी वडी भारी सेनाके वीचमें था इसलिये वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानों अपने चारोंओरके गोल मंडलसे घिराहुआ सूर्य ही हो ॥१११॥ क्रोधित हुये सुनमि आदि विद्याधर भी गरुडव्यूहकी रचनाकर अर्ककीर्तिकी आज्ञासे आकाशमें अलग ही खडे थे ॥ ११२ ॥ विद्याके मदसे उद्धत हुये आठ चंद्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके शरीरकी रक्षा करते हुये चारोंओरसे उसकी सेवा कर रहे थे ॥ ११३ ॥ उन दोनों सेनाओंमें असमयमें ही होनेवाले प्रलयकालके प्रारंभमें वढती हुई वादलकी गर्जनाको जीतते हुये वहुत शीघ्र शीघ्र वाजे एकसाथ वज रहे थे ॥ ११४ ॥ युद्धके आगे आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले ऐसे धनुप धारण करनेवाले वीरोंने अपने वाणोंसे वह युद्धका मार्ग मुखर (गर्जना सहित) करना प्रारंभ कर दिया था ॥ ११५ ॥ धनुप धारण करनेवाले वीर पुरुष युद्धरूपी नाटकके प्रारंभमें सूत्रधारके समान जान पडते थे और इसलिये ही वे वजते हुये वाजोंको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥ ११६ ॥ धनुप धारण करनेवालोंने युद्धरूपी रंगभूमिमें जाकर और सवसे पाहिले आसन जमाकर जो तीक्ष्ण वाणोंका समूह छोडा था वह ऐसा जान पडता था मानों उन्होंने पुष्पांजलि ही वखेरी हो ॥ ११७ ॥ वे धनुपपर रहनेवाले वाण

मर्माण्यभिघ्नतः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः शश्वत्खलकल्पा धनुर्भृतः ॥ ११८ ॥ उभयोः पार्श्वयोर्बद्ध्वा वाणधीः कृतवल्गनाः । धन्विनः खचराकारा रेजुराजौ जितश्रमाः ॥ ११९ ॥ ऋजुत्वाद्दूरदर्शित्वात्सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वाच्छराः सुसचिवैः समाः ॥ १२० ॥ क्रव्यास्त्रपायिनः पत्रवाहिनो दूरपातिनः । लक्ष्येषूड्डीय तीक्ष्णास्याः खगाः पेतुः खगोपमाः ॥१२१ ॥ धर्मेण गुणयुक्तेन प्रेरिता हृदयं गता । शूरान् शुद्धिरि-

---

सदा दुष्टके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार दुष्ट तीक्ष्ण होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी तीक्ष्ण थे, दुष्ट जिसप्रकार पहिले ही मर्म भेदन करते हैं उसीप्रकार वे वाण भी पहिले मर्म भेदन करते थे, दुष्ट जैसे कलह करनेवाले होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी कलह करनेवाले थे और दुष्ट जेसे (मीठे बचन कहकर) पीछेसे भीतर घुस जाते हैं उसीप्रकार वे बाण भी पीछेसे भीतर घुस जाते थे ॥ ११८॥ उस युद्धमें अपने दोनों बगलोंमें तूणीर (जिसमें वाण रक्खे जाते हैं) बांधकर गर्जना करनेवाले और परिश्रमको जीतनेवाले अर्थात् परिश्रमी ऐसे धनुष धारण करनेवाले लोग ठीक पक्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ ११९ ॥ अथवा उस युद्धके वाण अच्छे मंत्रियोंके समान जान पडते थे क्योंकि जिसप्रकार मंत्री सरल होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी सरल सीधे थे, तथा मंत्री जिसप्रकार दूरदर्शी अर्थात् दूरकी बात सोचने वाले होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी दूरदर्शी अर्थात् दूरके निशानेको देखनेवाले थे, मंत्री जिसप्रकार शीघ्र ही स्वामीका कार्य सिद्ध कर लेते हैं उसीप्रकार वे वाण भी अपने स्वामीका कार्य शीघ्र ही सिद्ध करते थे और मंत्री जिसप्रकार शास्त्रमार्गके अनुसार चलते हैं उसीप्रकार वे बाण भी धनुर्विद्यामें कहे अनुसार ही चलते थे ॥ १२० ॥ अथवा वे वाण पक्षियोंके समान थे क्योंकि जिसप्रकार पक्षी मांस और रुधिर पीते हैं उसीप्रकार वे वाण भी मांस रुधिर पीते थे अर्थात् उनके मुंहपर मांस रुधिर लग जाता था तथा पक्षियोंके जिसप्रकार पंख होते हैं उसीप्रकार उन बाणोंके भी पंख थे (बाणोंके दोनों ओर लोहेकेही पंख सरीखे लगे रहते हैं) पक्षी जैसे दूर

वानैर्षीन्नतिं पत्रिपरपरा ॥ १२२ ॥ पुंसा सस्पर्शमात्रेण हृद्गता रक्तवाहिनी । क्षिप्रं न्यमीलयन्नेत्रे वेश्येव विशिखावली ॥ १२३ ॥ त्यक्त्वेशं खेचरास्त्रातिवृष्टौ गृध्रतमस्ततौ । परोऽन्विष्य शरावल्या जारयेव वशीकृतः ॥ १२४ ॥ प्रगुणा मुष्टिसवाह्या दूरं दृष्टगनुवर्तिनः । गत्वेष्टं साधयति स्म सद्भृत्या इव सायकाः ॥ १२५ ॥ प्रयोज्याभिमुखं तीक्ष्णान् बाणान् परशरान्प्रति । तत्रैव पातयतिस्म धानुष्काः सा हि धीर्द्विषा ॥ १२६ ॥ जाताश्वापधृता-

---

जाकर पडते हैं उसी प्रकार वे वाणभी बहुतदूर जाकर पडते थे और पक्षियोंकेमुह जैसे पैने होते हैं उसीप्रकार उन वाणोंके मुंह भी (नोक) वडे पैने थे इसप्रकारके वे वाण पक्षियोंके समान ही उडकर ठीक अपने निशाने पर ही पडते थे ॥१२१॥ जिसप्रकार गुणवान् धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि मोक्षको पहुंचा देती है उसीप्रकार जिसकी डोरी खिची हुई है ऐसे धनुषके द्वारा प्रेरणा किये हुये (भेजे हुये) और जाकर हृदयमें लगे हुये वाणोंके समूह शूरवीर लोगोंको परलोक पहुंचा रहे थे॥१२२॥जिसप्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और रक्त वहानेवाली (प्रेम दिखानेवाली अथवा वीर्य खींचनेवाली) वेश्या स्पर्श करनेमात्रसे (आनंदसे) मनुष्योंके नेत्र बंद कर देती है उसीप्रकार हृदयमें लगी हुई और रुधिर वहाने वाली वह वाणोंकी पंक्ति भी स्पर्श करने मात्रसे ही बहुत शीघ्र मनुष्योंके नेत्र बंद कर देती थी अर्थात् उन वाणोंसे वे मनुष्य मर जाते थे ॥ १२३ ॥ जिसप्रकार बहुत वर्षा होनेसे खूब अंधकार हो जानेपर कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने पतिको छोडकर किसी पर पुरुषको ढूंडकर वश कर लेती हैं उसीप्रकार विद्याधरोंके रुधिरकी खूब वर्षा होनेसे गीधरूपी अंधकार फैलजानेपर वाणोंकी पंक्ति अपने स्वामीको छोडकर ढूंढढूंढकर शत्रुओंको वश कर रही थी ॥ १२४ ॥ अथवा वे वाण अच्छे नौकरोंके समान जाकर अपने इष्टकार्योंको सिद्ध करते थे क्योंकि जिसप्रकार नौकर गुणवान होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी गुणवान् अर्थात् डोरी सहित थे, नौकर जैसे मुट्ठियोंसे दिये हुये अन्नपर निर्वाह करते हैं उसीप्रकार वे वाण भी मुठियोंसे अर्थात् हाथोंसे चलाये जाते थे और नौकर जैसे दृष्टिके अनुसार

केचिदन्योन्यशरखंडने । व्यापृताः श्लाघिताः पूर्वं रणे किंचित्करोपमाः ॥ १२७ ॥ हस्त्यश्वरथपत्यौघमुद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत् । शराः पेतुः स्वसंपातमेवास्ता दृढमुष्टिभिः ॥ १२८ ॥ पूर्वं विहितसधानाः स्थित्वा किंचिच्छरासने । यानमध्यास्य मध्यस्था द्वैधीभावमुपागताः ॥१२९॥ विग्रहे हतशक्तित्वादगत्या शत्रुसश्रयाः । बाणा गुणितषाड्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥ १३० ॥ धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतती सततं धैर्यादाश्वनूत्पाटिताशु-

---

दूरतक चले जाते हैं उसीप्रकार वे बाण भी दृष्टिके अनुसार दूरतक चले जाते थे ॥ १२५ ॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा जहां जहां शत्रुओंके बाण थे वहींपर देखकर अपने तेज बाण फेंकते थे सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंकी ऐसी बुद्धि होती ही है ॥१२६ ॥ अथवा जो बाण एक दूसरेके बाणोंके तोडनेके लिये चलाये गये थे अथवा धारण किये थे अथवा उस व्यापारमें लगाये थे वे बाण ठीक नौकरोंके समान जान पडते थे और युद्धमें उनकी सबसे पहिले प्रशंसा हुई थी ॥ १२७ ॥ जिनके हाथ मजबूत हैं ऐसे योद्धाओंने जो बाण चलाये थे वे वेगके कारण स्पष्ट न दिखनेवाली वस्तुके समान दिखाई नहीं पडते थे और हाथी, घोडे, रथ और पियादेके समूहोंको भेदकर अपने पडनेकी जगहपर ही जाकर पडते थे ॥ १२८ ॥ जिसप्रकार संधि विग्रह आदि छह गुणोंको पालन करनेवाला राजा सिद्धिको प्राप्त होता है उसीप्रकार वे बाण भी पहिले संधि करते थे अर्थात् अपना निशाना देखते थे, फिर कुछ देर तक धनुषपर ठहरते थे, फिर कुछ चलते थे, तदनंतर मध्यस्थ होकर अर्थात् बीचमें आकर द्वैधीभावको प्राप्त हो जाते थे अर्थात् बीचमें उनके दो टुकडे हो जाते थे। उसके बाद युद्धके लिये सामर्थ्य नष्ट होजानेसे लाचार होकर शत्रुओंका आश्रय लेते थे अर्थात् शत्रुओंके समूहमें पड जाते थे, इसप्रकार वे बाण छहों गुणोंका पालन करते हुये अपना इष्ट कार्य सिद्ध करते थे ॥ १२९–१३० ॥ निकाले हुये बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरंतर पडती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों वीररसकी धारा ही हो ॥ १३१ ॥

गं ॥ १३१ ॥ सायिकोद्भिन्नमालोक्य कांतस्य हृदयं प्रिया । परामुरासीच्चित्तेऽस्य वदतीवात्मन स्थितिं ॥ १३२ ॥ छिन्नदंडै. फलैः कश्चित्सर्वांगीणै-र्भटाग्रणीः । कीलितासुरिवाकंप्रस्तथैव युयुधे चिरं ॥ १३३ ॥ विलोक्य विलयज्वालिज्वालालोलाशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं छिन्नं स्वं विपक्षधनुर्धरैः ॥ १३४ ॥ गृहीत्वा वज्रकांडाख्यं सज्जीकृत्य शरासनं । स्वयं योद्धुं समारब्ध सक्रोधः सानुजो जयः ॥ १३५ ॥ कर्णाभ्यर्णीकृतास्तस्य गुणयुक्ताः

कोई स्त्री अपने पतिका हृदय वाणसे विदीर्ण हुआ देखकर और अपना निवास उसीके हृदयमें है यहि कहती हुई क्या मानो वह प्राण रहित होगई थी ॥ १३२ ॥ जिनके दंड टूट गये हैं और जो सब शरीरमें घुस गये हैं ऐसे वाणोंकी नोकोंसे मानों जिनके प्राण ही वांध दिये गये हों ऐसे कितने ही उत्तम योद्धा उसी तरह निश्चल होकर वहुत देरतक लडते रहे थे ॥ १३३ ॥ जयकुमारने देखा कि शत्रुओंके धनुष धारण करनेवाले योद्धाओंने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चचल शिखाके समान जो वाण चलाये थे उनसे अपनी सेना छिन्न भिन्न हो रही है यह देखकर क्रोध करता हुआ अपने सब छोटे भाइयोंके साथ साथ वज्रकांड नामका धनष लेकर और उसे सजाकर अर्थात् कानतक खींचकर उसने स्वयं (खुद) युद्ध करना प्रारंभ किया ॥ १३४–१३५ ॥ वे जयकुमारके चलाये हुये वाण ठीक दूतके समान थे क्योंकि जिसप्रकार दूत कानसे लगाकर स्वामीसे वात करता है उसीप्रकार वे वाण भी स्वामीके कानतक पहुंचगये थे, जिसप्रकार दूत गुणवान् होते हैं उसीप्रकार वे वाण भी गुण सहित अर्थात् धनुषकी डोरीपर रक्खे थे, दूतकी योजना जिसप्रकार अच्छीतरह की जाती है उसीप्रकार उन वाणोंकी योजना भी अच्छीतरह की गई थी अर्थात् वे अच्छीतरह चलाये गये थे, दूत जिसप्रकार पत्र लेकर वहुत शीघ्र निकलता है उसीप्रकार वे वाण भी पीछे लगे हुये पंखोंसे वडी शीघ्रतासे निकल रहे थे, दूत जिसप्रकार समयको व्यर्थ नहीं खोते उसीप्रकार वे बाण भी समयको व्यर्थ नहीं खोते थे, दूत जिसप्रकार रास्तेमें वडी शीघ्रतासे जाता

सुयोजिताः । पत्रैर्लघुसमुत्थानाः कालक्षेपाविधायिनः ॥ १३६ ॥ मार्गे प्रगुणसंचाराः प्रविश्य हृदयं द्विषां । कृच्छ्रार्थं साधयंति स्म निसृष्टार्थसमाः शराः ॥ १३७ ॥ पत्रवतः प्रतापोग्राः समग्रा विग्रहे द्रुताः । अज्ञातपातिनश्चक्रुः कूटयुद्ध शिलीमुखाः ॥ १३८ ॥ प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥ १३९ ॥ वादिनेव जयेनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगी-

है उसीप्रकार वे बाण भी रास्तेमें बडी शीघ्रतासे जा रहे थे और दूत जिसप्रकार शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कामको भी सिद्ध कर लेते हैं उसीप्रकार वे बाण भी शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कामको भी सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा वे बाण कपट युद्ध कर रहे थे क्योंकि कपट युद्ध करनेवाले विना जाने एकदम आ पडते हैं उसीप्रकार वे बाण भी बिना जाने एक साथ आ पडते थे, कपट युद्ध करनेवाले जिसप्रकार पत्रवंत अर्थात् सवारीसहित होते हैं तथा प्रतापसे भयंकर होते हैं उसीप्रकार वे बाण भी पत्र अर्थात् पीछे लगे हुये लोहेके पंखों सहित थे और अधिक संताप देनेसे भयंकर थे और कपटयुद्ध करनेवाले जिसप्रकार युद्धमें शीघ्र जाते हैं और समग्रा अर्थात् सब सामग्री सहित होते हैं उसीप्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्रतासे जाते थे और समग्रा अर्थात् सबसे आगे चलते थे ॥ १३८ ॥ जिसप्रकार बहुत शीघ्र कीर्ति संपादन करनेवाला और जीतनेकी इच्छा करनेवाला कोई वादी दैदीप्यमान, स्वर्ग मोक्ष आदि फल देनेवाले, सबको मान्य, अच्छी तरह रचना किये हुये, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे अपने प्रतिवादीको हराता है उसीप्रकार बहुत शीघ्र अर्ककीर्तिको पकडनेकी इच्छा तथा विजय करनेकी इच्छा करनेवाले, और शत्रुके साथ विरोध प्रगट करनेवाले जयकुमारने चमकते हुये, नोक सहित, प्रमाणसे बने हुये, अच्छी तरह चलाये हुये, संसारमें प्रसिद्ध और दिग्विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥ १३९-१४० ॥ जयकुमारने जो विद्याधरोंपर बाण चलाये थे वे आकाशको पारकर चले

षुणा ॥ १४० ॥ खगाः खगान्प्रति प्रास्ताः प्रोद्भिद्य गगनं गताः । निवर्तते न यावत्ते ते भियेवापतन्मृताः ॥ १४१ ॥ सुतीक्ष्णा वीक्षणाभीला: प्रज्वलत समततः । मूर्द्धस्वशनिवत्पेतुः खाद्विमुक्ताः खगैः शराः ॥ १४२ ॥ शरसंघातसच्छन्नान् गृध्रपक्षाधकारितान् । अदृष्टमुद्गरावातान् नभोगा नभसो व्यधुः ॥ १४३ ॥ चंडैरकाडमृत्युश्च काडैरापादितादिमः । युगेऽस्मिन् किं किमस्ताशुभासिभिर्नाशुभं भवेत् ॥ १४४ ॥ दूरपाताय नो किंतु दृढपाताय खेचरैः । खगाः कर्णांतमाकृष्य मुक्ता हन्युर्द्विपादिकान् ॥ १४५ ॥ अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात्पलाशनात् । पृषत्काः सांहसो वेयुर्नरक

गये थे और जबतक वे लौटे भी न थे तबतक ही वे विद्याधर डरसे मरकर गिर पडे थे ॥ १४१ ॥ विद्याधरोंने जो बाण आकाशसे छोडे थे वे बडे ही तीक्ष्ण थे, देखनेमें बडे भयंकर थे और तेजसे जल रहे थे ऐसे वे बाण योधाओंके मस्तकपर वज्रके समान चारोंओरसे आकर पड रहे थे ॥१४२॥ जो बाणोंके समूहसे ढक गये थे, गीधके पंखोंसे अंधकारमय हो गये थे और जिन्हें मुद्गरोंका आघाततक दिखाई नहीं पडता था ऐसे योद्धाओंको विद्याधर लोग आकाशमें जाकर घायल कर रहे थे ॥ १४३ ॥ इस युगके प्रारंभमें उन प्रचंड बाणोंने सबसे पहिले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम कर दिया है ऐसे लोगोंसे क्या क्या अशुभ नहीं होते हैं? अर्थात् ऐसे लोगोंसे सबतरहके अशुभ हो सकते हैं ॥ १४४ ॥ दूर जानेके लिये नहीं किंतु अच्छीतरह लगनेके लिये विद्याधरोंने कानतक खींचकर जो बाण छोडे थे उन्होंने बहुतसे हाथी घोडे मार दिये थे ॥ १४५ ॥ जिसप्रकार रुधिर पीने और मांस खानेसे पापी जीव नीचा मुखकर पृथ्वीके नीचे नरकमें जाते हैं उसीप्रकार जो बाण विद्याधरोंने छोडे थे वे शत्रुके शरीरमें आकर रुधिर पीने और मांस खानेसे पापी जीवके समान नीचेको मुख कर नीचे पृथ्वीपर आरहे थे ॥ १४६ ॥ इसीप्रकार भूमिगोचरियोंने बडी निर्दयतासे जो बाण छोडे थे वे शत्रुओंके शरीरको छेदकर दूरतक आकाशमें इसप्रकार जा रहे थे मानों देवांगनाओंकी दासियां

वाऽवनेरधः ॥ १४६ ॥ भूमिष्ठैर्निष्ठुरं क्षिप्ता द्विष्ठानुत्क्रम्य यध्द्यः । ययुर्दूरं दिव दूतिदेशीया दिव्ययोषितां ॥ १४७॥ चक्रिणश्चक्रमेकांतं न ततः कस्यचित्क्षतिः । चक्रैरकालचक्राभैर्बहवस्तत्र जघ्निरे ॥ १४८॥ समवेगैः सम मुक्तैः शरैः खेचरभूचरैः । व्योम्न्यन्योन्यमुखालग्नैः स्थित कतिपयक्षणान् ॥१४९॥ खभूचरशरैश्च्छन्ने खे परस्परोधिभिः । अन्योन्याचीक्षणात्तेषामभूद्रणनिषेधनं ॥ १५० ॥ स्वास्त्रैः शस्त्रैर्नभोगानां शरैश्चाबाधितं भृश ।; स्वसैन्यं वीक्ष्य खोत्क्षिप्तवीक्षणोग्राशुशुक्षणिः ॥ १५१ ॥ सद्यः संहारसक्रुद्धसमवर्तिसमो जयः । प्रारब्ध योध्दुं वज्रेण वज्रकाडेन वज्रिवत् ॥ १५२ ॥ निर्जिताशनिनिर्घोषजयज्याघोषभीलुकाः । चापसायकचेतांसि प्राक्षिपन्सह शत्रवः ॥ १५३ ॥ चापमाकर्णमाकृष्य ज्यानिवेशितसायकः । लघुसंधानमोक्षः सोऽवेक्ष्य-

---

ही हों॥१४७॥चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही है उससे किसीका विनाश नहीं होता है परंतु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुतसे सामान्य चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये थे ॥१४८॥ भूमिगोचरी और विद्याधरों ने समान वेगसे एक साथ जो बाण छोडे थे वे थोडी देरके लिये आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर अर्थात् परस्पर एक दूसरेकी नोक मिलाकर ठहर गये थे ॥ १४९ ॥ परस्पर एक दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और इसलिये ही एक दूसरेको न देख सकनेके कारण उन दोनोंका युद्ध बंद होगया था ॥ १५० ॥ अपने और शत्रुओंके शस्त्रोंसे तथा विद्याधरोंके बाणोंसे खूब मारी गई अपनी सेनाको देखकर आकाशकी ओर फेंकीहुई जिसकी दृष्टिसे तेज अग्नि निकल रही है अर्थात् क्रोधसे जलती हुई आंखोंसे जो आकाशकी ओर देख रहा है और जो संहार करनेकेलिये क्रोधित हुये यमके समान है ऐसा वह जयकुमार वज्रकांड नामका धनुष लेकर बहुत शीघ्र इसप्रकार युद्ध करने लगा मानों वज्र लेकर इंद्र ही युद्ध कर रहा हो ॥१५१–१५२॥ बिजलीकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके धनुष चढानेके (डोरी खींचनेके) शब्दोंसे भयभीत हुये कितने ही शत्रुओंने अपने धनुषबाण और मन दोनों एक साथ फेंक दिये थे अर्थात् उनका धनुषबाण भी गिर गया था और मन भी ठिकाने न रहा था ॥ १५३ ॥ कानतक धनुषको खींचकर

विष्यन्निव क्षणं ॥ १५४ ॥ न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तद्योजिताः शराः । दृष्टास्ते केवलं भूमौ सव्रणाः पतिताः परे ॥ १५५ ॥ निमीलयतश्चक्षूंषि ज्वलयंतः शिलीमुखाः । मुखानि ककुभा वव्रुः स्वादुल्कालीविभीषणाः ॥ १५६ ॥ तिर्यग्गोष्फणपाषाणैरदृष्ट्वाज्यजिराद्बहिः । पतितान् खचरानूचुः सतनून् स्वर्गतान् जडाः ॥ १५७ ॥ शरसंरुग्णविद्याधृन्मुकुटेभ्योऽगलन् सुरैः । मणयो गुणगृह्यैर्वा जयस्योपायनीकृताः ॥ १५८ ॥ पतन्मृतखगान्वीतप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा । वारिदानमिवाचर्य कृपामासादितो जयः ॥ १५९ ॥ अतकः समवर्तीति तद्वार्तैव न चेत्तथा । कथं चक्रिसुतस्यैव बले

जिसने डोरीपर बाण रक्खा है और जो वडी शीघ्रतासे बाण छोडता रखता है ऐसा वह जयकुमार क्षणभरके लिये ऐसा जान पडता था मानों बाणोंको छोडता ही न हो ॥ १५४ ॥ जयकुमारके चलाये हुये बाण न तो बीचमें ही दिखते थे और न शरीरमें लगे हुये ही दिखते थे, उससमय घावसहित पृथ्वीपर पडते हुये केवल वे शत्रु ही दिखते थे ॥ १५५ ॥ देखनेवालोंके नेत्रोंको बंद करते हुये, अत्यंत जलते हुये और आकाशसे पडती हुई उल्काके समूहके समान भयंकर ऐसे उन जयकुमारके बाणोंने सब दिशाओंके मुख ढक लिये थे ॥ १५६ ॥ तिरछे जानेवाले गोफनोंके पत्थरोंसे युद्धके मैदानसे वाहर पडते हुये विद्याधरोंको न देखकर ही मूर्ख लोग कहते थे कि यह देखो यह विद्याधर शरीर सहित स्वर्गको गया है ॥ १५७ ॥ बाणोंकी चोटसे अत्यंत दुखी हुये विद्याधरोंके मुकुटोंसे जो मणि निकल निकलकर पड रहे थे वे ऐसे जान पडते थे मानों गुणग्राही देवोंने जयकुमारकी भेट ही किये हों ॥१५८॥ विद्याधर मरकर पड रहे थे और उनके साथ ही साथ जो उनकी स्त्रियां आई थीं तथा आंखोंके आंसुओंसे उन्हें जलांजलि ही देती हुई सी जान पडती थीं उन्होंने जयकुमारके चित्तमें दया उत्पन्न कर दी थी ॥१५९॥ यम समवर्ती है अर्थात् सवको एकसी (समान) दृष्टिसे देखता है यह केवल एक कहावत है, यदि यह केवल कहावत न होती (यह बात सच होती) तो वह इस चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही प्रेतोंका राजा कैसे होता अर्थात् अर्ककीर्तिकी

प्रेताधिपो भवेत् ॥ १६० ॥ वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनां । यमस्तीक्ष्णोऽप्यभूद्धर्मस्तत्र दिव्यानलोपमः ॥ १६१ ॥ तावद्धेषितनिर्घोषैर्भीषयंतो द्विषो हयाः । बलमाश्वासयंतः स्वं स्वीचक्रुश्चक्रिसूनवः ॥ १६२ ॥ प्रासान्प्रस्फुरतस्तीक्ष्णानभीक्ष्ण वाहवाहिनः । आवर्तयंतः संप्रापन् यमस्येवाग्रगा भटाः ॥ १६३ ॥ जयोऽपि स्वयमारुह्य जयी जयतुरंगमं । क्रुद्धः प्रासान् समुध्दत्य योध्दुमश्वीयमादिशत् ॥ १६४ ॥ अभूत्प्रहतगभीरभंभादिध्वनिभीषणः । बलार्णवश्चलत्स्थूलकल्लोल इव वाजिभिः ॥ १६५ ॥ असिसंघट्टनिष्ठ्यूतविस्फुलिंगो रणेऽनलः । भीषणे शरसंघाते न्यदीपिष्ट धराचिते ॥ १६६ ॥ वाजिनः प्राक्कशाघातादधावताभिशायक । म्रियते न सहते हि परिभूतिं सतेजसः ॥ १६७ ॥ स्थिताः पश्चिमपादाभ्यां बद्धामर्षाः

ही सेना क्यों अधिक मारी जाती ? ॥ १६० ॥ जयकुमारके द्वारा अन्याय करनेवाले लोगोंकी न्यायपूर्वक हिंसा कराकर वह तीक्ष्ण यम भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप होगया था भावार्थ-जैसे दिव्य अग्नि तीक्ष्ण होकर भी धर्मस्वरूप होती है उसीप्रकार यम भी न्यायपूर्वक अन्यायी लोगोंकी हिंसा करनेसे धर्मस्वरूप होगया था ॥१६१॥ इतनेमें ही अपने हींसनेके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुये और अपनी सेनाको धैर्य बंधाते हुये चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके घोडे सामने आये ॥१६२॥ यमराजके मुख्य योद्धाओंके समान चमकते हुये और खूब पैने भालोंको बार बार फिराते हुये घुडसवार लोग भी सामने आये ॥ १६३ ॥ विजय करनेवाले और क्रोधित हुये उस जयकुमारने भी स्वयं जयतुरंगम नामके घोडेपर सवार होकर अपने घुडसवार योद्धाओंको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥ १६४ ॥ घोडोंके द्वारा जिसमें चलती हुई बडी बडी लहरें आ रही हैं ऐसा वह सेना रूपी समुद्र बजते हुये गंभीर नगाडे आदि बाजोंके शब्दोंसे भयंकर हो रहा था ॥ १६५ ॥ उस युद्धमें जो भयंकर बाणोंका समूह पृथ्वीपर पडा था उसमें तलवारोंकी परस्परकी चोटसे जो अग्निके कणा निकल रहे थे उनसे अग्नि लगगई थी । भावार्थ तलवारोंकी चोटसे निकलते हुये फुलिंगोंसे पृथ्वीपर पडे हुये सब बाण जल गये थे ॥ १६६ ॥ घोडे कोडोंकी चोट लगनेसे पहिले ही

परस्परं । पतिं केचिदिवावंतो युद्धंते स्म चिरं हयाः ॥ १६८ ॥ समुध्दृतास्त्रसंपृक्तलसल्लोलासिपत्रकैः । नभस्तरुरभाद्भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥ पतितान्यसिनिर्घातात्सुदूरं स्वामिना कचित् । शून्यासनः शिरांस्युच्चैरन्वेष्टु वा भ्रमन्हयाः ॥ १७० ॥ पशून् विशृगान्मत्वाऽश्वान् कृपया कोऽपि नावधीत् । ते च दतखुरैरेव क्रुद्धाः प्राघ्नन् परस्परं ॥ १७१ ॥ वशमात्रावशिष्टाग्रैर्मंडलाग्रैश्चिरं क्रुधा । लोहदंडैरिवाखंडैर्धीरा युयुधिरे धुरि ॥ १७२ ॥ शिरःप्रहरणेनान्योऽपरयन्नाध्य प्रकुर्वता । सर्वरोगशिराविद्धो दृष्ट्वा पश्चादयुद्ध सः ॥ १७३ ॥ हयान्प्रतिष्कशीकृत्य धनुस्तत्कापिशीर्षकं । अयुध्यत पुनः

आते हुये बाणोंके सामने दौड रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परंतु किसीका तिरस्कार नहीं सहते ॥ १६७ ॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोध करते हुये और पिछले दो पैरोंसे खडे हुये कितने ही घोडे बहुत देरतक इसप्रकार लड रहे थे मानों अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हों ॥ १६८ ॥ उससमय उठाकर ऊंचे किये हुये शस्त्रोंसे मिली हुई, चमकती हुई चंचल तलवार रूपी पत्तोंसे ऐसा जान पडता था मानों जिसपर फिरसे नये पत्ते लगे हैं ऐसा आकाशरूपी वृक्ष ही सुशोभित हो रहा हो ॥ १६९ ॥ कहीं कहींपर जिनके आसन खाली हैं अर्थात् जिनके सवार गिर गये हैं ऐसे घोडे इसप्रकार दौड रहे थे मानों तलवारकी चोटसे बहुत दूर जाकर पडे हुए अपने स्वामीके सिरोंको ढूंढनेके लिये ही दौड रहे हों ॥ १७० ॥ घोडोंको विना सींगके पशु समझकर दया उत्पन्न होनेके कारण कोई भी नहीं मारता था परंतु वे परस्पर क्रोधित होकर दांत और खुरोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥ १७१ ॥ उस युद्धमें कितने ही धीरवीर योद्धा क्रोधित होकर अखंड लोहे के डंडेके समान जिनमें केवल बांस ही रह गया है ऐसी तलवारोंसे बहुत देरतक लडते रहे थे ॥१७२॥ अन्य किसीके सिरमें ऐसी चोट लगी थी जो विचारा अंधा होगया था और उसे कुछ दिखाई नहीं पडता था तथापि गलेके पीछेकी नसोंसे जुडे हुये शिरको देखकर वह वीर फिर भी युद्ध करने लगा था ॥ १७३ ॥ उस समय कितने ही योद्धा कपिशीर्षक नामके धनुषको तथा घोड़ोंको सहायक बनाकर

बालार्कमजयज्जयः ॥ १८२ ॥ मडलाग्रसमुत्सृष्टदुष्टास्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वीय शत्रुशल्य समुद्धरन् ॥ १८३ ॥ ध्वजस्योपरि धूमो वातेनाकृष्टो नु सायकः । पपात तापमापाद्य सूचयन्नशुभ द्विषा ॥ १८४ ॥ ध्वजदंडान्समाखंड्य विद्विषो वीतपौरुषान् । कुर्वन्सर्वान् स निर्वंशान् सोमवशध्वजायते ॥ १८५ ॥ विच्छिन्नकेतवः केचित्क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः किंतु मानप्राणा हि मानिनः ॥ १८६ ॥ प्रज्वलंतं जयंतं ते

रको नाश कर रहा है और जिसके सामने जलते हुये तेज बाणोंकी किरणोंका समूह फैल रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ सूर्य भी जीत लिया था ॥ १८१–१८२ ॥ अथवा वह जयकुमार एक अच्छे वैद्यका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिसप्रकार वैद्य तलवारकी नोंकसे बिगडा हुआ रुधिर निकाललेता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोकसे दुष्ट शत्रुओंका रुधिर निकाल रहा था तथा वैद्य जिसप्रकार शस्त्र चलानेकी क्रियाओंको जानता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रियाओंको जानता था और वैद्य जिसप्रकार शल्यको निकाल लेता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्योंको निकाल रहा था ॥ १८३ ॥ जयकुमारके चलाये हुये बाण शत्रुओंको संताप उत्पन्नकर अशुभकी सूचना करते हुये धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओंपर पड रहे थे ॥ १८४ ॥ उससमय शत्रुओंकी ध्वजाओंके दंडोंके टुकडे टुकडे कर और उन सब शत्रुओंको वंशरहित और पौरुषरहित करता हुआ वह जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान फडक रहा था ॥ १८५ ॥ जिन लोगोंकी ध्वजायें छिन्न भिन्न हो गई थीं ऐसे कितने ही लोग क्षणभरके लिये मरे हुयेके समान खडे थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही कुछ प्राणी नहीं गिने जाते किंतु जो अभिमानी पुरुष हैं उनके अभिमान ही प्राण होते हैं ॥ १८६ ॥ अच्छीतरह चमकते हुये और सबको जीतते हुये उस जयकुमारको सहनेके लिये असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर एक साथ इसप्रकार टूटकर पडे थे मानों अग्निपर पतंगे ही पड रहे हों ॥ १८७ ॥ इतनेमें ही जिन्होंने अपने रथ तैयार

जयं तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि संपेतुरभ्यग्निं शलभा इव ॥ १८७ ॥ सन्नद्धस्यंदनाश्चंडास्तदा हेमागदादयः । कोदंडास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः क्रुधा ॥ १८८ ॥ ववर्षुर्वह्निवृष्टिं वा बाणवृष्टिं प्रति द्विषः । यावत्ते लक्ष्यतां नेयुस्तावदाविष्कृतोद्यमाः ॥ १८९ ॥ निरुध्यानतसेनादिशरजाल रणार्णवे । स्यदनाँश्चोदयामासुः पोतान्वा वातरहसः ॥ १९० ॥ बलद्वयास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिं । पेतुर्वाहाः परं तेजस्तेजस्वी सहते कथं ॥ १९१ ॥ अन्योन्यं खंडयंति स्म तेषां शस्त्राणि तद्रणे । नैकमप्यपरान्प्रापुश्चित्रमस्त्रेषु कौशलं ॥ १९२ ॥ न मृता व्रणिता नैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेष्वहो तेषु नाहवोऽप्याहवायते ॥ १९३ ॥ युद्ध्वाऽप्येवं चिरं शेकुर्न जेतुं ते परस्परं । जयः सेनाद्वये तस्मिन् जयादन्येन दुर्लभः ॥ १९४ ॥ अतर्हासो

किये हैं, जो बडे प्रचंड हैं, जिन्होंने क्रोधसे धनुषोंको खींचकर उनके शब्दोंसे सब दिशायें भर दी हैं और जबतक वे शत्रु जयकुमारतक पहुंचने भी न पाये थे तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रगट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि अकंपनके पुत्र उन शत्रुओंपर अग्निकी वर्षाके समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥ १८८–१८९ ॥ वे अनंतसेन आदि शत्रुओंके वाणसमूहोंको रोककर जिनका वेग वायुके समान है ऐसे रथोंको उस युद्धरूपी समुद्रमें जहाजोंके समान दौडाने लगे ॥१९०॥ दोनों सेनाओंके शस्त्रोंका संघट्टन होनेसे (एक दूसरेपर पडनेसे) जो अग्नि उत्पन्न हो रही थी उसी-पर वे रथके घोडे पड रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष भला दूसरेका तेज कैसे सह सकते हैं ? ॥१९१॥ उस युद्धमें दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको तोड देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुके शरीरतक नहीं पहुंचता था क्योंकि उनकी शस्त्रोंके चलानेकी निपुणता ही आश्चर्य करनेवाली थी ॥ १९२ ॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुये भी न तो कोई मरा था, न किसी के घाव लगा था न कोई जीता था और न कोई हारा था और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध सरीखा नहीं जान पडता था ॥१९३॥ इसप्रकार वे देरतक युद्ध करते हुये भी परस्पर एक दूसरेको जीत नहीं सके थे, सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों ही सेनाओंमें जयकुमारके सिवाय अन्य किसी दूसरेको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥ १९४ ॥ उस

जयः सर्वं तत्तदाऽऽलोक्य लीलया । शरैःसंच्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥ १९५ ॥ निष्पदीभूतमालोक्य चक्रिसूनुः स्वसाधनं । रक्तोत्पलदलच्छायामुच्छिद्य नयनत्विषा ॥ १९६ ॥ जयः परस्य नो मेऽद्य जयो जयमहं रणे । विध्वस्य भुवने शुद्धमाकल्पं स्थापये यश. ॥ १९७ ॥ विदधाम्यद्य नाथेंदुप्रसरद्वंशवर्द्धनं । जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुखं ॥ १९८ ॥ ब्रुवन् सकल्पनादुष्टमिति स्वानिष्टसूचनं । द्विपं प्रचोदयामास क्रुधेवाजयमात्मनः ॥ १९९ ॥ प्रतिवातसमुध्दूतपश्चाद्गतपताकिकाः । मंदमंद कणद्घटाः कुंठितस्वबलोत्सवाः ॥ २०० ॥ संशुष्यद्दानविष्यंदकटदीनाननश्रियः । निर्वाणालातनिर्भासनिःशेषास्त्रभराक्षमाः॥२०१॥आधोरणैः कृतोत्साहैः कृच्छ्रकृच्छ्रेण चोदिताः । आक्रंदमिव कुर्वंतः कुंठितैः कंठगर्जितैः॥२०२॥

सबको देखकर मनमें हंसते हुये उस जयकुमारने उससमय चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सब सेना लीला पूर्वक ही बाणोंसे ढक दी थी ॥ १९५ ॥ जिसकी सब हलन चलन क्रिया बंद होगई है ऐसी अपनी सेनाको देखकर अपने नेत्रोंकी कांतिसे लालकमलके दलकी कांतिको भी लज्जित कर अर्थात् अपनी लाल आंखें कर वह चक्रवर्तीका पुत्र अर्ककीर्ति कहने लगा कि " आज शत्रु नहीं जीत सकता, मैं ही जीतूंगा, आज मैं युद्धमें जयकुमारको मारकर संसारमें कल्पांतकालतक टिकनेवाले शुद्ध यशको स्थापन करूंगा तथा आज ही नाथवंश और सोमवंशकी बढती हुई संतानको समाप्त करूंगा और जयलक्ष्मी मुझे अभी वशकर सुखी करेगी " इसप्रकार जिनका अभिप्राय दुष्ट है और जो अपने अनिष्टको सूचित करनेवाले हैं ऐसे वचनोंको कहते हुए उस अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढाया ॥ १९६–१९९ ॥ उलटी वायु चलनेसे जिनकी ध्वजायें पीछेकी ओर उड रही हैं, जिनके घंटा धीरे धीरे बज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाका उत्साह कुछ कुंठित (मंद) कर दिया है, कपोलोंपरका वहकर आता हुआ मद सूख जानेसे जिनके मुखकी शोभा कुछ मलिन हो गई है, बुझे हुये आलातचक्रकी शोभाके समान जो सब शस्त्रोंके बोझको लेजानेमें असमर्थ हैं, उत्साह दिलाते हुये महावत लोग जिन्हें बडी कठिनतासे लेजा रहे हैं, जो कुंठित

भीतभीता युधोऽन्यैश्च चिह्नैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव जंगमाः ॥ २०३ ॥ मंदमंदं प्रकृत्यैव मंदा युद्धभयान्मृगाः । जग्मुर्निर्हेतुकं भद्रास्तदत्राशुभसूचनं ॥ २०४ ॥ विजिगीषोर्विपुण्यस्य वृथा प्रणिधयो यथा । तथाऽर्ककीर्तयेनूणा ते गजेषु नियोजिताः २०५ ॥ लचयन्नेत्रयोर्दीप्त्या पारिभद्रोद्गमच्छविं । प्रकटभ्रुकुटीवंधसधानितशरासनः ॥२०६॥ रिपु कुपितभोगींद्रस्फुटाटोपो भयंकरः । कुर्वन्विलोकनातप्ततीव्रनाराचगोचरं ॥२०७॥ गिरींद्रशिखराकारमारुह्य हरिविक्रमः । गजेंद्रं विजयार्द्धाख्यं गर्जन्मेघस्वरस्तदा ॥ २०८ ॥ अनुकूलानिलोत्क्षिप्तपुरःसर्पद्ध्वजांशुकैः । क्रांतद्विपारिविक्रां-

---

हुये कंठकी गर्जनासे रोते हुयेके समान जान पडते हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले और भी जिन्होंसे भयभीत हो रहे हैं और जिनकी तेज चाल नष्ट होगई है ऐसे हाथी चलते हुये पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥ २००–२०३ ॥ मंद जातिके हाथी स्वभावसे ही मद मंद जा रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी विना ही कारण धीरे धीरे चल रहे थे । परंतु युद्धमें उनका धीरे धीरे चलना अशुभको सूचित करने वाला था ॥ २०४ ॥ जिसप्रकार जीतनेकी इच्छा करनेवाले किंतु पुण्यरहित मनुष्यकी प्रार्थनायें अथवा सेवक लोग व्यर्थ हो जाते हैं उसीप्रकार अर्ककीर्तिके लिये उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनायें सब व्यर्थ हो रही थीं ॥ २०५ ॥ उधर जिसने दोनों नेत्रोंकी कांतिसे कल्पवृक्षके निकलते हुये फूलकी कांति जीत ली है, अपनी भौंहोंकी रचनाके समान ही स्पष्ट रीतिसे जिसने निशानेपर रक्खे हुये धनुषका आकार वनाया है, क्रोधित हुये महा सर्पके समान ही जिसका शरीर ऊपरको उठा हुआ है तथा इसलिये ही जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि और संताप देनेवाले तीव्र बाणोंका निशाना बना रहा है और सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा वह मेघस्वर जयकुमार उससमय गर्जता हुआ मेरुपर्वतके शिखरके आकारके समान विजयार्द्ध नामके सबसे उत्तम हाथीपर सवार हुआ, तथा पीछेकी ओरके अनुकूल वायुसे जिनकी ध्वजाओंके कपडे

तविख्याताख्ढयोधनैः ॥ २०९ ॥ प्रस्फुरच्छस्त्रसंघ.तदीतिदीपितदिङ्मुखैः । धूतदुन्दुभिसद्ध्वानबृहद्बृंहितभीषणैः ॥ २१० ॥ घंटामधुरनिर्घोषनिर्भिन्नभुवनत्रयैः । सद्य. समुत्सरद्दर्पैरपि सिंहान् जिगीषुभिः ॥ २११ ॥ प्रापयुद्धोत्सुक सार्द्धं गजैर्विजयसूचिभिः । क्षयवेलानिलोध्दूतसिंधुवेला विलंघयन् ॥२१२॥ महाहास्तिकविस्तारस्थूलनीलबलाहकः । समतात्सपतच्छंकुनमूहसहसानकः॥२१३॥प्रोत्खातासिलताविद्युत्समुल्लासितभासुरः । नानानकमहाध्वानगभीरघनगर्जितः ॥ २१४ ॥ नवलोहितपूराम्बुनिरुद्धधरणीतलः । नितातनिष्ठुरापानमुद्गराशनिसततिः ॥ ११५ ॥ चलत्सितपताकालिबलाकाच्छा

ऊंचेको उडकर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करतेहुये सिंहके पराक्रमके समान जिनका पराक्रम प्रसिद्ध है ऐसे योद्धा लोग जिनपर बैठे हैं, चमकते हुये शस्त्रोंके समूहकी कांतिसे जिन्होंने सब दिशाओंके मुंह प्रकाशित कर दिये हैं, बजते हुये नगाडोंके बडे बडे शब्दोंसे जो हाथियोंकी गर्जनायें बढ़ रहीं थीं उनसे जो भयंकर हैं, घंटाके मधुर शब्दोंसे जिन्होंने तीनों लोक व्याप्त कर दिया हैं, उसीसमय उठे हुये अहंकारसे जो सिंहोंको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयको सूचित करनेवाले हैं ऐसे हाथियोंको साथ लेकर जिसे युद्ध करनेकी उत्कंठा हुई है ऐसा वह जयकुमार प्रलयकालके वायुसे उठे हुये समुद्रकी लहरोंको भी उलंघन करता हुआ अर्थात् खूब प्रसन्न होता हुआ शत्रुपर जा पहुंचा ॥ २०६–२१२ ॥ उस समय वह युद्ध वर्षाऋतुकी पूर्ण शोभाको धारण कर रहा था क्योंकि बडे बडे हाथियोंके समूहका फैलाव ही उसमें बडे २ काले बादल थे, चारोंओरसे पडते हुये बाणोंके समूह ही मयूरोंकी शोभा धारण करते थे, म्यानसे बाहर निकालकर उठाई हुई तलवारें रूपी बिजलीकी चमकसे ही वह प्रकाशित हो रहा था, अनेक नगाडोंके बडे २ शब्द ही उसमें गंभीर बादलोंकी गर्जनायें थीं, शरीरोंसे निकले हुये ताजी रुधिरके समूहरूपी पानीसे सब पृथ्वी भर गई थी, बडी कठिनतासे वा निर्दयतासे पडते हुये मुद्गर ही उसमें पडती हुई बिजलीका समूह था और फहराती हुई सफेद ध्वजाकी पंक्तिरूपी बगुलाओंकी पंक्तियोंसे सब आकाश ढक गया

दिताबरः । संग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीमशेषामपुषत्तदा ॥ २१६ ॥ सुचिरं सर्वसंदोहसंवृत्तसमरांगणे । सेनेयोः सर्वशस्त्राणां व्यत्ययो बहुशोऽभवत् ॥ २१७॥ निरुद्धमूर्ध्वं गृध्रौघैर्मध्यमुद्यद्ध्वजांशुकैः । सेनाद्वयविनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्री च सा तदा ॥ २१८ ॥ जयलक्ष्मीं नवोढायाः सपत्नीमिच्छता नवां । तदाऽर्ककीर्तिमुद्दिश्य जयेनाचोद्यत द्विपः ॥ २१९ ॥ अष्टचंद्राः पुरोभूय भूयः प्राग्दृष्टशक्तयः । क्षपकं वाऽंहसा भेदा न्यरुधंस्त तिनक्षवः ॥ २२० ॥ जयोऽपि सुचिरात्प्राप्तप्रतिपक्षो व्यदीप्यलं । लब्धेवेद्धेधन वह्निरुत्साहाग्निसखोच्छ्रितः ॥ २२१ ॥ तदोभयबलख्यातगजाद्रिशिखरस्थिताः । योद्धुमारेभिरे राजरा-

था ॥ २१३–२१६ ॥ बहुत देरतक सब योद्धाओंके समूहसे चलाये हुये उस युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोंका बहुत ही नाश हुआ था ॥ २१७ ॥ उससमय ऊपरका आकाश गीधोंके समूहोंसे भर गया था, मध्यभाग पडती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे भरगया था और पृथ्वी दोनों सेनाओंके छोडे हुये शस्त्रोंसे भर गई थी ॥ २१८ ॥ उसीसमय जयलक्ष्मीको नई विवाहिता सुलोचनाकी नई सोत बनानेकी इच्छा करनेवाले जयकुमारने अपना हाथी अर्ककीर्तिके सामने चलाया ॥ २१९ ॥ जिन्होंने पहिले भी अपनी शक्ति दिखलाई थी ऐसे अष्ट चंद्र (जो कि अर्ककीर्तिके शरीररक्षक विद्याधर थे) जयकुमारके सामने हुये और जिसप्रकार कर्मोंके भेद क्षपकश्रेणीमें चढनेवाले जीवको रोकते हैं उसीप्रकार मरनेकी इच्छा करते हुये वे विद्याधर उस जयकुमारको रोकने लगे । भावार्थ-जैसे कर्म क्षपकश्रेणी वालेको रोक नहीं सकते उसीप्रकार वे विद्याधर भी उसे रोक नहीं सके थे॥२२० जिसप्रकार बहुतसे ईंधनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि बढती है उसीप्रकार उत्साह रूपी वायुसे बढा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरसे शत्रुको पाकर खूब ही दैदीप्यमान हो रहा था ॥ २२१ ॥ उससमय दोनों सेनाओंमें प्रसिद्ध ऐसे हाथी रूपी पर्वतके शिखरपर विराजमान और वडे २ राजाओंमें भी सिंहके समान पराक्रमी ऐसे राजा लोगोंने भी परस्पर युद्ध करना प्रारंभ कर दिया था ॥ २२२ ॥ उस युद्धमें परस्पर एक दूसरेकी दांतोंकी चोटसे जिनके शरीर फट गये हैं, तथा

जसिंहाः परस्परं ॥ २२२ ॥ अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौचिव्यसू गजौ । चिरं परस्परावारावास्थातां यमलाद्रिवत् ॥ २२३ ॥ समंततः शरैश्छन्ना-रेजुराजौ गजाधिपाः । क्षुद्रवेणुगणाकीर्णसंचलद्गिरिसन्निभाः ॥२२४॥ दानिनो मानिनस्तुंगाः कामवंतोऽतकोपमाः । महातः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्ध्यते कथ गजाः ॥ २२५ ॥ मृगैर्मृगैरिवापातमात्रभग्नैर्भयाद्द्विपैः । स्वसैन्यमेव संक्षुण्णं धिक् स्थौल्यं भीतचेतसा ॥ २२६ ॥ निःशक्तीन् शक्तिभिः शक्ता शक्तांश्चक्रुरशक्तकान् । शक्तियुक्तानशक्तांश्च निःशक्तीन् धिग्धिगूनतां ॥ २२७ ॥ शस्त्रनिर्भिन्नसर्वांगा निमीलितविलोचनाः । सम्यक् सह्रतसरभाः

जिनके प्राण भी निकल गये हैं ऐसे कोई दो हाथी मिले हुये दो पर्वतोंके समान एक दूसरेके आधारपर ही बहुत देरतक खडे रहे थे ॥ २२३ ॥ चारोंओरसे बाणोंसे ढके हुये बडे बडे हाथी उस युद्धमें छोटे छोटे बांसोंके समूहसे व्याप्त और चलते हुये ऐसे पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२४ ॥ भद्र जातिके हाथी दानी थे अर्थात् उनके कपोलोंसे मद झरता था, वे अभिमानी थे, सवार की इच्छानुसार चलते थे, यमके समान दिखते थे और सब जीवोंसे बडे थे ऐसे वे हाथी भला क्यों युद्ध न करेंगे अर्थात् अवश्य ही करेंगे ॥ २२५ ॥ जिसप्रकार हरिण भयभीत होकर उलटे भागते हैं उसीप्रकार मृग जातिके हाथी युद्धमें आते ही भयसे उलटे होकर (पीछेकी ओर) भागने लगे थे, इससे उन्होंने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था, इससे कहना पडता है कि भयभीत मनुष्योंके स्थूलपन अथवा बडप्पनको भी धिक्कार है ॥ २२६ ॥ उस युद्धमें शक्तिवाले योद्धा अपने शक्ति नामके हथियारसे जिनके पास शक्ति हथियार नहीं है ऐसे शक्तिवाले योद्धाओंको भी शक्ति रहित कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामका हथियार था परंतु वे स्वयं असमर्थ थे उन्हें भी शक्ति रहित कर रहे थे अर्थात् उनसे शक्ति नामका हथियार छुडा रहे थे इसलिये आचार्य कहते हैं कि कमी होना अर्थात् किसीप्रकारकी सामग्रीके अभाव होनेको भी बार बार धिक्कार हो २२७ ॥ शस्त्रोंके प्रहारोंसे जिनके सब शरीर छिद भिद गये हैं, नेत्र बंद होगये हैं, जिन्होंने युद्धका सब प्रारंभ

संभावितपराक्रमाः ॥ २२८ ॥ बुध्दैव बद्धपल्यंकास्त्यक्तसर्वपरिच्छदाः । समत्याक्षुरसूंच्छूरा निधाय हृदयेऽर्हतः ॥ २२९ ॥ कस्यचित् क्रोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । निष्ठायामायुषोऽत्रासीदभ्यासात्किं न साध्यते ॥ २३० ॥ हृदि नाराचनिर्भिन्ना वक्त्रात्स्रवदसृक्प्लवाः । शिवाकृष्टात्रतंत्रांताः पर्यंतव्यस्तपत्करा. ॥ २३१ ॥ गृध्रपक्षानिलेच्छिन्नमूर्च्छा. सप्राप्तसंज्ञकाः । समाधाय हि ते शुद्धा श्रद्धा शूरगतिं गता ॥ २३२ ॥ छिन्नैश्चक्रेण शूराणा शिरोंऽभोजैर्विकाशिभिः । रणरगोऽन्वितो वाभात् नृत्यै जयजयश्रियः ॥ २३३ ॥ स्वामिसन्मानदानादिमहोपकृतिनिर्भराः । प्राप्याधमर्णता प्राणै.

संकोच लिया है अपना पराक्रम भी जिन्होंने दिखाया है, बुद्धिसे ही जिन्होंने अपना पर्यंकासन बांध लिया है और सब परिग्रह छोड दिये हैं ऐसे कितने ही शूर बीरोंने हृदयमें श्रीअरहंतदेवको स्थापन कर अपने प्राण छोडे थे ॥ २२८–२२९ ॥ किसी योद्धाके मरनेके समय क्रोध शांत होगया था और वे पंच परमेष्ठियोंका स्मरण करने लगे थे, सो ठीक ही है क्योंकि अभ्याससे क्या क्या सिद्ध नहीं होता है ? अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो जाता है ॥ २३० ॥ जिनके हृदय बाण लगनेसे छिन्न भिन्न हो गये हैं हृदय फटजानेसे जिनके मुहमेंसे रुधिरका समूह निकल रहा है, गीदडोंने जिनकी अंतडियोंका अंतिम भाग सब खींच लिया है और जिनके हाथ पैर सब फट गये हैं ऐसे कितने ही शूरवीर पुरुष गीधोंके पंखोंकी हवा लगनेसे मूर्च्छा रहित होकर कुछ होशमें आगये थे और शुद्ध श्रद्धा धारणकर अर्थात् शुद्ध सम्यक्त्व पूर्वक समाधिमरणकर शूरगति अर्थात् स्वर्गगतिको प्राप्त हुये थे ॥२३१-२३२॥ चक्रनामके हथियारसे जो शूर बीरोंके प्रफुल्लितहुये (हँसते हुये) मस्तकरूपी कमल कट गये थे उनसे सुशोभित हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी अच्छी जान पडती थी मानों जयकुमारकी जयलक्ष्मीके लिये नृत्य ही करना चाहती हो ॥ २३३ ॥ स्वामीके द्वारा पाये हुये आदर सत्कार और पारितोषक आदि बडे बडे उपकारोंके बोझसे दबे हुये और इसलिये ही स्वामीके कर्जदार ऐसे कितने ही सेवक लोगोंने अपने प्राण देकर स्वामीकी सेवा की थी तथा कितने ही सेवकोंने शत्रु राजाओंके प्राण नाशकर,

सेवा सपाद्य सेवका. ॥ २३४ ॥ स्वप्राणव्ययसतुष्टेस्तद्भृत्यद्भिः स्वभूभृत. । लब्धपूजान् विधायान्ये धन्या नैर्ऋण्यमागमन् ॥ २३५ ॥ जयमुक्ता द्रुतं पेतुरविमुक्तजयाः शराः । अष्टचद्रान्प्रति प्रोच्चै. प्रदीप्योल्कोपमाः सम ॥ २३६ ॥ जयप्रहितशस्त्राली तैर्निषिद्धा च विद्यया । ज्वलती परितश्चंद्रान् परिवेषाकृतिर्बभौ ॥ २३७ ॥ विश्वविद्याधराधीशमादिराजात्मजस्तदा । द्विषो निःशेषयाशेषानित्याह सुनमिं रुषा ॥ २३८ ॥ सोऽपि सर्वैः खगैः सार्द्धं निर्धूताराति‌विक्रमः । वह्निवृष्टिमिवाकाशे ववर्ष शरसततिं ॥२३९॥ भीकराः किंकराकारा स्वनतोरुद्धदिङ्मुखाः । काँस्कान् श्रृणाम नेतीव सुतीक्ष्णा. शरवोऽपतन् ॥ २४० ॥ मेघप्रभो जयादेशादिभेंद्र वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमी शस्त्रैरौत्सीत्त विहायसि ॥ २४१ ॥ तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः

उन्हें संतुष्ट किया था तथा उनसे अपने स्वामीका आदर सत्कार कराया था और इसप्रकार वे धन्य पुरुष अपने कर्जसे छूट गये थे ॥ २३४-२३५ ॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोडा नहीं है और जो अपनी भडी भारी कांतिसे उल्कापातके समान जान पडते हैं ऐसे जयकुमारके छोडे हुये वाण अष्ट चंद्रोंके पास बहुत शीघ्र एक साथ जाकर पड रहे थे ॥ २३६ ॥ जयकुमारने जो शस्त्रोंकी पंक्तियां छोडी थीं वे उन अष्ट चंद्रोंने अपनी विद्यासे रोक दी थीं तथा रुकी हुई वे शस्त्रोंकी पंक्तियां उन अष्ट चंद्रोंके चारों ओर जलती हुई ऐसी अच्छी जान पडती थीं मानों चंद्रमाके चारों ओर गोल मंडल ही हो ॥ २३७ ॥ उसी समय आदिराज भरतके पुत्र अर्ककीर्तिने वडे क्रोधसे सब विद्याधरोंके स्वामी सुनमिसे कहा कि तुम सब शत्रुओंका नाश करो ॥ २३८ ॥ जिसने शत्रुओंका पराक्रम सब नष्ट कर दिया है ऐसा वह सुनमिकुमार भी सब विद्याधरोंके साथ साथ अग्निकी वर्षाके समान आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगा ॥ २३९ ॥ वडे भयानक, सेवकके समान काम करनेवाले, वेगसे जाते समय शब्द करनेवाले, और सब दिशाओंको रोकनेवाले ऐसे वे तीक्ष्ण बाण शत्रुओंमेंसे किस किसको नहीं मारना चाहिये अर्थात् सबको मारना चाहिये यही सोचकर शत्रुकी सेनापर पड रहे थे ॥ २४० ॥ जिसप्रकार सिंह हाथीपर पडता है उसीप्रकार खूब पराक्रमी ऐसे मेघप्रभ नामके विद्या-

सुनमियोजिताः। तुच्छीकृत्य स चिच्छेद सहसा भास्करादिभिः ॥ २४२ ॥ जयपुण्योदयात्सद्यो विजग्ये खचराधिपं । संग्रामेऽनुगुणे दैवे क्षोदिमा बंहिमेति न ॥ २४३ ॥ प्रवृद्धप्रावृडारंभसभृताभोधरावालिं । विलंघ्यानेकपानीकं कौमारं जयमारुणत् ॥ २४४ ॥ जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयार्द्धं गजाधिपं । धीरोद्धत रुषा प्राप्तं धीरोदात्तोऽब्रवीदिदं ॥ २४५ ॥ न्यायमार्गाः प्रवर्त्यंते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणा । तेषामेभिर्दुराचारैः कृतस्त्व पारिपंथिकः ॥ २४६ ॥ बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्यबुद्धित्वमपि दूषणं । कुमार नीयसे पापैस्तृतीयं तद्विगर्हितं ॥ २४७ ॥ अंतःकोपोऽप्ययं पापैर्महानुत्थापितो वृथा । सर्वतंत्रक्षयो भर्तुः सहसा येन तादृशः ॥ २४८ ॥ आहवः परिहार्योऽयं ममाद्य भवता सह । अकीर्ति-

---

धरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमणकर उसे शस्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥ २४१ ॥ सुनमिने तमोबाण, अग्निबाण, गजबाण और मेघबाण आदि अनेक विद्यामयी बाण चलाये परंतु मेघप्रभने सूर्यबाण, जलबाण, सिंहबाण और पवनबाण आदि अनेक बाणोंसे उन सबको न कुछ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥ २४२ ॥ मेघप्रभने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे बहुत शीघ्र सुनमिको जीत लिया, सो ठीक ही है जब दैव अनुकूल होता है तब छोटापन और बडप्पन कुछ काम नहीं आता है ॥ २४३ ॥ बढी हुई वर्षाऋतुके प्रारंभमें भरे हुये काले बादलोंकी पंक्तिके समान हाथियोंकी सेनाको उलंघनकर अर्ककीर्तिने जयकुमारको आकर रोक लिया ॥ २४४ ॥ जयकुमारने भी विजयार्द्ध नामका अपना उत्तम हाथी अर्ककीर्तिके सामने चलाया और क्रोधसे प्राप्त हुये तथा धीर और उद्धत ऐसे अर्ककीर्तिको धीर और उदात्त ऐसा वह जयकुमार इस प्रकार कहने लगा ॥ २४५ ॥ कि चक्रवर्तीने सब न्यायमार्ग अच्छीतरह चलाये हैं परंतु इन दुष्ट लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गका शत्रु बना दिया है ॥ २४६ ॥ हे कुमार तू बुद्धिमान है परंतु तेरी बुद्धि दूसरेके कहने अनुसार चलती है यह भी तुझमें एक दोष है, अब ये पापी लोग निंदित ऐसे तीसरे दोषको अर्थात् कामदेवके दोषको तुझसे कराना चाहते हैं ॥ २४७ ॥ इन पापियोंने व्यर्थ ही तेरे

श्चावयोरस्मिन्नाकल्पस्थायिनी ध्रुवं ॥ २४९ ॥ चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं त्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्यन्यायवर्तनात् ॥ २५० ॥ द्रोग्धुर्न्यायस्य भूभर्तुस्तव चैतांस्ततः क्षणात् । दुष्टान्सखेचरान् सर्वान् बध्वाऽद्य भवतोऽर्पये ॥ २५१ ॥ नागमारुह्य तिष्ठात्र काष्ठात प्रार्थितो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तत्यागो महीयसः ॥२५२॥ कुमार ! समरे हानिस्तवैव महती मया । हंत्यात्मानमनुन्मत्तः कः स तीक्ष्णासिना स्वय ॥ २५३॥ अभव्य इव सद्धर्ममपकर्ण्येत्युदीरित । आघातयितुमारेभे गजेन स गजाधिप ॥ २५४ ॥ तदा जयोऽप्यतिक्रुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयार्द्धेन

अंतःकरणमें बडा भारी क्रोध उत्पन्न किया है जिससे भरतकी सब सेनाका एकसाथ ऐसा नाश हो रहा है ॥ २४८ ॥ मेरा आपका जो यह युद्ध चल रहा है इसे आज बंद कर देना चाहिये क्योंकि इस युद्धसे अवश्य ही हम दोनोंकी कल्पकालतक टिकनेवाली अपकीर्ति होगी ॥ २४९ ॥ चक्रवर्ती अपने सब पुत्रोंमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्याय करनेसे उसके मनको दुख नहीं होगा ? अवश्य होगा ॥ २५० ॥ ये विद्याधर और कुछ दुष्ट लोग महाराज भरतके न्यायमार्गका नाश करना चाहते हैं इसलिये विद्याधरोंके साथ इन सब तुम्हारे दुष्ट लोगोंको बांधकर आज क्षण भरमें ही आपको सोंप देता हूं ॥ २५१ ॥ मैं प्रार्थना करता हूं कि आप हाथीपर चढे हुये क्षणभर यहां ठहरिये क्योंकि महात्मा लोगोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है उस अन्यायका त्याग करना कुछ तिरस्कार नहीं है ॥ २५२ ॥ हे कुमार ! मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बडी हानि है क्योंकि सावधान वा बुद्धिमान मनुष्योंमें ऐसा कौन है जो पैनी तलवारसे अपने आत्माका स्वयं घात करे ॥ २५३ ॥ जिसप्रकार अभव्य जीव सच्चे धर्मका स्वरूप नहीं सुनता उसीप्रकार जयकुमारके इसप्रकारके कहे हुये बचन अर्ककीर्तिने भी नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर चोट मारना प्रारंभ कर दिया ॥ २५४ ॥ उस समय गज युद्ध करनेमें अत्यंत चतुर ऐसे जयकुमारको भी बहुत क्रोध हुआ और उसने अपने विजयार्द्ध हाथीसे अष्ट चंद्र

दंतघातैरघातयत् ॥२५५॥ नवापि कुपितेभेद्रनवदंताहतिक्षताः । अष्टचंद्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हतदंतिनः ॥२५६ ॥ चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽयाद्युयुत्सया । तदा तदायुर्वा रक्षदहः क्षयमपद्यत ॥ २५७ ॥ सोढुमर्कः खलस्तेजो जयस्याशक्नुवन्निव । जयन् जयोद्गमच्छाया संहृताशेपदीधितिः ॥२५८॥ शरैरिवोस्त्रैरारक्तैर्विमुक्तैः खचरान्प्रति । जयीयैः स्वागसलग्नैः क्षरत्क्षतजरजितैः ॥ २५९ ॥ गतप्रतापः क्रूरात्मा सर्वनेत्राप्रियस्तदा । पपात कातरीभूय करालंबितभूधरः ॥ २६० ॥ अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं वा मत्वा रोषेण भास्करः । अस्तं जयजयस्यायात्कुर्वन्कालविलंबन ॥ २६१ ॥ स्फुटालोकोऽपि

और अर्ककीर्तिके नौ हाथियोंपर दांतोंकी चोटका प्रहार कराया ॥२५५॥ अष्ट चंद्र और अर्ककीर्ति इन नौ योद्धाओंके नौ हाथी क्रोधित हुये विजयार्द्ध हाथीके दांतोंके नौ प्रहारोंसे घायल होगये, उनके दांत टूट गये और वे पड गये ॥ २५६ ॥ जिससमय युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ जयकुमार अर्ककीर्तिकी सेनाको घेरता हुआ आया था उसीसमय मानों आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त होगया ॥ २५७ ॥ जो अपनी कांतिसे जपाकुसुमकी कांतिको जीतता है, जिसने अपनी सब किरणें संकोच ली हैं, विद्याधरों पर छोडे हुये व जिनकी चोटसे निकलते हुये रुधिरके लगजानेसे लाल लाल दिखते हुये तथा अपने शरीरमें लगे ऐसे जयकुमारके तेजकी किरणोंके समान जयकुमारके बाणोंसे जिसका सब पराक्रम नष्ट हो गया है, जो क्रूर है, सबके नेत्रोंको अप्रिय है ऐसा वह दुष्ट सूर्य मानों जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण ही कातर होकर और हाथोंसे (किरणोंसे) अस्तचलको पकडकर नीचे गिर पडा ॥ २५८--२६० ॥ अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति ही मानता हुआ वह सूर्य क्रोधसे जयकुमारके विजयमें देर करता हुआ अस्त होगया ॥ २६१ ॥ जिसका प्रकाश स्पष्ट है और जो सद्वृत्त अर्थात् सदाचारी वा गोल है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पडा सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यका सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो भावार्थ—जैसे मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी अधोगतिको जाता है

सद्वृत्तोऽप्यगादस्तमहर्पतिः । आश्रित्य वारुणीं रक्तः को न गच्छत्यधोगतिं ॥ २६२ ॥ उदये वर्धितच्छायो व्याप्य विश्वं प्रतापवान् । दिनेनैनोऽप्यनश्यत्कस्तिष्ठेत्तीव्रकरः परः ॥ २६३ ॥ इनं स्वच्छानि विच्छायं तापहारीणि वा भृशं । द्रष्टुं सरास्यनिच्छंति कंजाक्षीणि शुचा न्यधुः ॥ २६४॥ जयनिस्त्रिंशनिस्त्रिंशनिपातपतितान् खगान् । प्राविशन्निजनीडानि वीक्षितुं विक्षमाः खगाः ॥ २६५ ॥ स प्रतापः प्रभा साऽस्य सा हि सर्वैकपूज्यता । पातः प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्यः कर्कशो विधिः ॥ २६६ ॥ कीर्त्योपमानता यातो यातोऽर्कश्चेददृश्यता । उपमेयस्य का वार्तेत्यवादीद्विदुषां गणः ॥२६७॥

उसीप्रकार सूर्य भी गोल और प्रकाशमान् होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर नीचे जा रहा था ॥२६२॥ उदय होते समय जिसकी कांति बढती है और जो संसारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्र किरणवाला सूर्य एक ही दिनमें नष्ट होगया फिर भला तीव्र कर लगानेवाला और संताप देनेवाला अन्य कौन है जो इस संसारमें टिक जाय ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २६३ ॥ संतापको दूर करनेवाले और निर्मल सरोवर कांतिरहित सूर्यको देखना नहीं चाहते थे इसलिये ही मानों उन्होंने शोकसे अपने कमल रूपी नेत्रोंको बंद कर लिया था ॥ २६४ ॥ जो विद्याधर जयकुमारकी तीक्ष्ण तलवारोंकी चोटसे पडगये थे उनके देखनेमें असमर्थ होकर ही क्या मानों सब पक्षी अपने अपने घोंसलोंमें घुसगये थे ॥२६५॥ इस संसारमें सूर्यका असाधारण प्रताप है असाधारण कांति है और असाधारण रीतिसे ही सब लोग उसकी पूजा करते हैं तथापि सूर्यको प्रतिदिन गिरना पडता है इसलिये कहना पडता है कि इस निष्ठुर दैवमें किसीका तर्क वितर्क नहीं चल सकता ॥ २६६ ॥ अर्ककीर्तिके लिये उपमानताको प्राप्त हुआ सूर्य ही जब अदृश्य हो गया तब उपमेयकी तो बात ही क्या है ऐसा विद्वान लोगोंका कथन है भावार्थ—जिसकी उपमा देते हैं उसे उपमान कहते हैं और जिसके लिये उपमा दी जाती है उसे उपमेय कहते हैं, उपमेयसे उपमानमें सदा अधिक गुण रहते हैं, । यहांपर अर्ककीर्तिके लिये सूर्यकी उपमा दी है, परंतु जब सूर्य ही अस्त होगया तब अर्ककीर्ति की तो बात ही क्या है ॥२६७॥

दुर्निरीक्ष्यः करैस्तीक्ष्णः संतप्तनिजमंडलः । अलं कुवलयध्वंसी दुस्सुतो दुर्मतिस्तुतः ॥२६८॥ निस्सहायो निरालंबोऽप्यसोढा परतेजसां । सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहसोच्छ्रित्य मूर्द्धगः ॥ २६९ ॥ पापरोगी परप्रेर्यो रविर्विषममार्गगः । रक्तरुक् सकलद्वेषी वर्धिताशोऽक्रमाग्रगः ॥ २७० ॥ सता बुधेन

जो बडी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंसे तीक्ष्ण है, जिसने अपना मंडल भी संतप्त कर दिया है, जो कुवलय अर्थात् कमोदिनियोंको खूब नाश करता है, कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जो कष्ट देनेवाला है अथवा जिसका पुत्र शनि दुष्ट है, दुष्ट लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जिसका कोई सहायक नहीं है, कोई आधार नहीं है, जो चंद्र आदि दूसरे नक्षत्रोंका तेज सह नहीं सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, एक साथ उछलकर मस्तकपर चलता है, पापरोगी है अर्थात् वैदिक मतके अनुसार शनिके उत्पन्न होते ही जिसे कोढ रोग होगया है, जो दूसरेके सहारेसे (बाहक देवोंके सहारेसे) चलता है, विषम मार्ग अर्थात् आकाशमें चलता है, रक्तरुक् अर्थात् जिसकी किरणें लाल हैं, जो सकलद्वेषी अर्थात् कलावाले चंद्रमाका द्वेषी है, जिसने सब दिशायें बढाई हैं, अक्रम अर्थात् विना पैरवाला अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य बुध और गुरु नामके सज्जन मित्रोंके साथ होकर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे रोगीके समान बहुत दोषी (अनेक दोषवाला रात्रिवाला जिसके आगे पीछे रात्रि है) होनेसे अस्त होगया सो ठीक ही है क्योंकि क्रूरताके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता, जो तीव्र कर बिठानेसे तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारको भी संताप देनेवाला है कुवलय अर्थात् पृथ्वीके सब लोगोंका खूब नाश करता है, मूर्ख लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं वा मानते हैं, जिसका कोई सहायक नहीं है, कोई आधार नहीं है, जो दूसरेके तेजको सह नहीं सकता, सिंह राशिपर जिसका जन्म है, जो चंचल है, क्रूर है, अकस्मात् उठकर सबके मस्तकपर चलता है अर्थात्

मित्रेण गुरुणाऽप्यस्तमाश्रयत् । बहुदोषो भिषग्वर्यैर्दुश्चिकित्स्य इवातुरः ॥२७१॥ तदा बलद्वयामात्याः श्रित्वा बद्धरुषौ नृपौ । इत्यधर्म्यं निशायुद्धमनुबध्य न्यषेधयन् ॥ २७२ ॥ ताभ्यां तत्रैव सा रात्रिर्नेतुमिष्टा रणाङ्गणे । भटतीव्रव्रणासह्यवेदनारावभीषणे ॥ २७३ ॥ प्रतीची येन जातोऽहमगिलत्तमहस्करं इति सध्याच्छलेनाहस्तत्र कोपमिवागत ॥ २७४ ॥ लज्जे सपर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरे । इयं वेलेति वा संध्याऽप्यन्वगादात्तविग्रहा ॥ २७५ ॥ अगादहः पुरस्कृत्य मामको रात्रिगामिना । तेन पश्चात्कृतेतीव शोकात्संध्या व्यलीयत ॥ २७६ ॥ तमः सर्वं तदा व्यापत्क्वचिल्लीनं गुहादिषु । शत्रुशेषं

सबसे उद्धत है, जो बुरे रोगोंसे घिरा हुआ है' दूसरे के कहे अनुसार चलता है, विषममार्ग अर्थात् बुरे मार्गपर चलता है, रक्तरुक् अर्थात् जिसे खूनका विकार है. जो सबसे द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बढ रही है, जो बिना क्रमके चाहे जिसतरह अपना वर्ताव रखता है, और बुद्धिमान मित्र और सज्जन गुरुके साथ रहकर भी अच्छे अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे रोगीके समान जिसमें बहुत दोष हैं ऐसा पुरुष अस्त वा नष्ट होता ही है ॥ २६८–२७१ ॥ उससमय दोनों सेनाके मंत्रियोंने क्रोधित हुये उन अर्ककीर्ति और जयकुमार दोनों राजाओंके पास जाकर रात्रिमें युद्ध करना अधर्म है शास्त्रविरुद्ध है, ऐसा नियमकर वह युद्ध बंद कराया ॥ २७२ ॥ उन दोनोंने योद्धाओंके बडे बडे घावोंकी असह्य वेदनाके शब्दोंसे भयंकर ऐसे उसी युद्धके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा ॥ २७३ ॥ संध्या होगई, दिन लाल होगया, मानों जिससे मैं पैदा हुआ हूं ऐसे सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर संध्याके बहानेसे वह दिन वहांपर क्रोध ही कर रहा हो ॥ २७४ ॥ मैं सबके देखते हुये सूर्यके साथ स्पर्श करनेकेलिये लज्जित होती हूं यही समझकर मानों शरीरको धारण करती हुई वह संध्याकी वेला सूर्यके पीछे चली गई थी ॥ २७५ ॥ सूर्य दिनको आगे आगेकर मेरे पास आया था परंतु रात्रिके पास जाते समय मुझे पीछे कर गया इसी शोकसे मानों वह संध्या नष्ट होगई थी अर्थात् रहा सहा प्रकाश भी सब नष्ट हो गया ॥२७६॥

न कुर्वंति तत एव विचक्षणाः ॥ २७७ ॥ अवकाश प्रकाशस्य यथाऽऽत्मानमधात्पुरा । तथैव तमसः पश्चाद्धिग्महत्व विहायसः ॥ २७८ ॥ तमोत्रलात्प्रदीपादिप्रकाशा' प्रदिदीपिरे । जिनेनेव विनेनेन कलौ कष्टं कुलिंगिनः ॥ २७९ ॥ तमोविमोहितं विश्व प्रबोधयितुमुध्दतः । विधिनेव सुधाकुंभो दौर्वर्णो विधुरुद्ययौ ॥ २८० ॥ चद्रमा. करनालीभिरपिबद्बहल तम । वृद्धकास क्षय हतु धूमपानमिवाचरन् ॥ २८१ ॥ निःशेष नाशकद्ध्वंतु ध्वात हरिणलाच्छनः । अशुद्धमडलो हन्यान्निष्प्रतापः कथं रिपून् ॥ २८२ ॥ विधु तत्करसरपर्शाद्भृशमासन्विकासिभिः। सरस्यो ह्लादयंत्यो वा मुदा कुमुद-

---

उससमय गुफा आदि अंधेरी जगहोंमें छिपा हुआ अंधकार सब जगह फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिये ही शत्रुको कुछ भी बाकी नहीं छोडते हैं ॥ २७७ ॥ आकाशने जिसप्रकार पहिले प्रकाशको अपनेमें जगह दी थी उसीप्रकार पीछेसे अंधकारको भी जगह दे दी इसलिये आकाशके ऐसे बडप्पनको भी धिक्कार हो भावार्थ—प्रकाशको जगह देकर अंधकारको जगह देना अयोग्य है इसलिये ही आकाशको धिक्कार दिया गया है ॥ २७८ ॥ अंधकारके फैलनेसे दीपकोंके प्रकाश चमकने लगे, सो ठीक ही हे क्योंकि जिसप्रकार कलियुगमें सूर्यके समान श्रीजिनेंद्रदेवके विना कुलिंगी लोगोंको दुख होता है उसीप्रकार रात्रिमें सूर्यके विना दुःख ही होता है ॥ २७९ ॥ जो संसार अंधकारसे मोहित हो रहा था उसे प्रबोध करानेके लिये (जगाने वा प्रकाशित करनेके लिये) ही क्या मानों विधाताने अमृतके भरे हुये चांदीके घडेके समान चंद्रमाका उदय किया ॥ २८० ॥ उससमय चंद्रमा अपनी किरण रूपी नालियोंके द्वारा गाढ अंधकारको भी पी रहा था और ऐसा जान पडता था मानों जिसमें खांसी बढ रही है ऐसे क्षय रोगके नाश करनेकेलिये धूँआं ही पी रहा हो ॥ २८१ ॥ जिसके हिरणका चिन्ह है ऐसा चंद्रमा समस्त अंधकारको नाश नहीं कर सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मंडल (मांडलिक राजा अथवा गोलाई) अशुद्ध है और जो प्रताप रहित है वह शत्रुओंको कैसे नाश कर सकता है ॥ २८२॥ तालावोंमें चंद्रमाके किरणोंके स्पर्श होनेसे

लोचनै. ॥ २८३ ॥ उत्थितः पिटकोऽस्माकं विधुर्गंडस्य वोपरि । का जीविकेति निर्विण्णा प्रायः प्रोषितयोषित. ॥ २८४ ॥ लब्धचंद्रबलस्योच्चै स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेष साद्रश्चंद्रातपोऽतत ॥ २८५ ॥ रूढो रागांकुरश्चित्ते प्रम्लानो भानुभानुभि. । तदा चंद्रिकया प्राज्यवृष्ट्येवानर्द्ध-तागिनाम् ॥ २८६ ॥ खंडिताना तथा तापो नाभूद्भास्कररश्मिभिः । यथाऽशुभिस्तुषारांशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ २८७ ॥ खंडनादेव कांतानां ज्वलितो मदनानलः । जाज्वलीत्ययमेतेनेत्यत्यजन्मधु काश्चन ॥ २८८ ॥ वृथाभिमानविध्वंसी नापरं मधुना विना । कलहांतरिताः काश्चित्सखीभिरति-

---

जो कमोदनियां फूल रही थीं उनसे वे ऐसे जान पडते थे मानों प्रफुल्लित हुये अपने कमोदनी रूपी नेत्रोंके द्वारा आनंदसे चंद्रमाको प्रसन्न ही कर रहे हों ॥ २८३ ॥ जिनके पति परदेशमें थे ऐसी वियोगिनी स्त्रियां सोच रही थीं कि यह चंद्रमा हमारे गालपर फोडेके समान उठा है अर्थात् जैसे गालपरका फोडा बहुत दुख देता है उसीप्रकार यह चंद्रमा भी बहुत दुख देता है इसलिये अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है इसप्रकार प्रायः उन्हें बहुत ही वैराग्य हुआ था ॥ २८४ ॥ जिसे चंद्रमाके बलकी सहायता मिली है और जो बहुत आनंदी है ऐसे कामदेवकी जोरकी हँसीके समान चंद्रमाका गाढ प्रकाश सब संसारमें फैल गया था ॥ २८५ ॥ सब मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अंकूरा सूर्यकी किरणोंसे मुरझा गया था वही रागका अंकूरा जलकी भारी वर्षाके समान फैली हुई चांदनीसे उससमय खूब वढने लगा था ॥ २८६ ॥ जिनका पति किसी अन्य नायिकाके समीप जाता था ऐसी खंडिता स्त्रियोंको चंद्रमाकी किरणोंसे जैसा संताप हुआ था वैसा संताप उन्हें सूर्यकी किरणोंसे भी नहीं हुआ था. इसलिये ही कहना पडता है कि द्रव्योंमें वडी ही आश्चर्य करनेवाली शक्तियां हैं ॥ २८७ ॥ प्रिय पतिके वियोगसे ही जो कामदेव रूपी अग्नि जल रही थी वह 'इस मद्यके पीनेसे ही जल रही है' यही समझकर कितनी ही वियोगिनी स्त्रियोंने मद्यका पीना छोड दिया था ॥ २८८ ॥ बिना ही कारणके उत्पन्न हुये अभिमानको नाश करनेके लिये मद्यके सिवाय और

पायिताः ॥ २८९ ॥ प्रेम नः कृत्रिमं नैतत्किमनेनेति काश्चन । दूरादेवात्यजन् स्निग्धाः श्राविका वाऽऽसवादिकं ॥ २९० ॥ मधु द्विगुणितं स्वादु पीतं कांतकरार्पितं । कांताभिः कामदुर्वारमातङ्गमदवर्द्धनं ॥ २९१ ॥ इत्याविर्भावितानंगरसारसाः प्रियसंगमात् ।प्रीतिं वाग्गोचरातीतां स्वीचक्रुर्वक्रवीक्षणाः ॥ २९२ ॥ तत्र काचित्प्रियं वीक्ष्य कथाशेषं द्विषच्छरैः । स्वयं कामशरैरक्षतांगी चित्रमभूद्व्यसुः ॥२९३॥ क्षतैरनुपलक्ष्यांगं वीक्ष्य कांतमजानती । परा परासुतां प्राप ज्ञात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः ॥२९४॥ मया निवारितोऽप्यायाः वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कंठे रत्नव्रणैरेवं जातोऽसीति मृता परा ॥ २९५ ॥

कोई औषध नहीं हैं यही समझकर आये हुये पतिके साथ कलहकर उनके चले जानेसे वियोगिनी हुई कितनी ही स्त्रियोंको उनकी सखियां खूब मद्य पिला रही थीं ॥ २८९ ॥ पतिके साथ यह हमारा प्रेम कुछ बनावटी नहीं हैं इसलिये इस मद्यके पीनेसे क्या होता है यही समझकर पतिमें प्रेम करनेवालीं कितनी ही स्त्रियोंने श्राविकाओंके समान वह मद्य दूरसे ही छोड दिया था ॥ २९० ॥ कितनी ही स्त्रियां जो किसीसे निवारण न हो सके ऐसे कामदेव रूपी हाथीके मदको बढानेवाले और अपनी पतिके हाथसे दिये हुये स्वादिष्ट मद्यको दूना पी गई थीं ॥ २९१ ॥ इसप्रकार जिनके कामका रस प्रगट हुआ है और जिनकी चितवन वा दृष्टि कुछ तिरछी है ऐसी कितनी ही स्त्रियां अपने पतिके समागम होनेसे जो बचनसे कहा नहीं जा सकता ऐसे सुखका अनुभव कर रहीं थीं ॥ २९२ ॥ उन स्त्रियोंमेंसे कोई स्त्री शत्रुओंके बाणोंसे जिसकी कथा ही बाकी रह गई है अर्थात् जो प्राण रहित हो गया है ऐसे अपने पतिको देखकर आश्चर्य है कि वह कामके बाणोंसे बिना घावके ही स्वयं प्राण रहित हो गई थी भावार्थ–पतिको मरा हुआ देखकर कामके बाणोंसे व्याकुल होकर वह खुद भी मर गई थी ॥ २९३ ॥ अन्य कोई अजान स्त्री घावोंसे जिसके अंग उपांग साफ दिखाई नहीं देते ऐसे अपने प्रियको देखकर और उन्हें अपने नख दांतोंके ही घाव समझकर प्राण रहित हो गई थी ॥ २९४ ॥ हे वीरलक्ष्मीको प्रिय माननेवाले प्रिय ! मैंने तुम्हें रोका था तथापि तुम उसीके पास

मा निवार्य सहायांतीं कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः । निर्मलेति विपर्यस्तो जानन्नपि वहिश्चरीं ॥ २९६ ॥ स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं विदंति नरोऽतरं । इति सासूयमुक्त्वाऽन्या प्रायासीत्प्रियपद्धतिं ॥२९७॥ न किं निवारिताऽप्यायां त्वया सार्द्धं विचेतना । सन्निधौ मे किमेव त्वा नयति गणिकाधमाः ॥२९८॥ अस्तु किं यातमद्यापि तत्र त्वा न हराणि किं । विलप्यैवं कलालापा काचित्कांतानुगाऽभवत् ॥ २९९ ॥ शरनिर्भिन्नसर्वांगः कीलितासुरिवापरः । कातागमं प्रतीक्ष्यास्त लोचनास्थितजीवितः ॥३००॥ कोपदष्टविमुक्तौष्ठं कातमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुमत्यजत् ॥ ३०१ ॥

(वीर लक्ष्मीके पास) जा पहुंचे अव उसी वीर लक्ष्मीके कठोर घावोंसे तुम्हारी यह दशा हो गई है अर्थात् तुम मूर्छित होगये वा मर गये हो यही समझकर कोई अन्य स्त्री मर गई थी ॥ २९५ ॥ हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ आती थी परंतु तुमने मुझे तो साथ आनेसे रोक दिया और कीर्तिको अपनानेके लिये यहां आये थे, तुम यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर फिरनेवाली है तथापि वह शुद्ध है, निर्दोष है, ऐसा तुम्हें भ्रम हो गया था परंतु वह कीर्ति वहीं रहगई, हाय क्या मनुष्य विरहको जानते हैं ? इसप्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुंची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर खुद भी मर गई थी ॥ २९६–२९७ ॥ हे प्रिय ! यद्यपि तुमने रोका था तथापि मूर्खिणी नीच मैं तुम्हारे साथ क्यों न आई? क्या मेरे सामने यह नीच देवांगना वेश्या तुम्हें इस तरह स्वर्गको ले जाती ? अच्छा जाना है जाओ आज ही मैं वहां आकर क्या तुम्हें हरण नहीं करूंगी? अपने पास नहीं ले आऊंगी ? इसप्रकार विलापकर (रोकर) मीठे स्वरवाली कोई अन्य स्त्री अपने पतिके पीछे ही चली गई थी अर्थात् वह भी मर गई थी ॥ २९८–२९९ ॥ जिसका शरीर वाणोंसे छिद भिद गया है और इस लिये ही मानों जिसके प्राण कीलितसे हो गये हैं चारों ओरसे जकडे हुये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन ठहरा हुआ है ऐसा अन्य कोई योद्धा अपनी स्त्रीके आनेकी वाट देख रहा था ॥ ३०० ॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ चबाकर छोड दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर

हृदि निर्भिन्ननाराचो मत्वा कांतां हृदि स्थिता । हा मृतेयं वराकीति सद्यः प्राणान् व्यसर्जयत् ॥ ३०२ ॥ शस्त्रसंभिन्नसर्वांगमंतको नेतुमागतः । कांताचितापरं कतुस्तद्धस्तादहृतापरं ॥ ३०३ ॥ कंठेनालिंगितः प्रेमशोकाभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तां त्यक्तदेहोऽगान्निर्वाणं सव्रणस्तया ॥ ३०४ ॥ श्वः स्वर्गे किं किमत्रैव संगमो नौ न संशयः । तत्र त्वं बहुकांतोऽत्र रमेऽन्येत्याह सव्रत ॥ ३०५ ॥ अत्र वाऽमुत्र वासोस्तु किं तया चिंतयाऽवयोः । वियोगः क्वापि नास्तीति कांता कांतमतर्पयत् ॥३०६॥ सव्रतो वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं चैहि चिरायुषा। हंतु मामेव कामोऽयमिति कांताऽवदद्रुषा॥३०७॥

थोडी देरतक क्रोध करती हुई और वीर लक्ष्मीके साथ ईर्षा वा द्वेष करती हुई अन्य किसी स्त्रीने अपने प्राण छोड दिये थे ॥ ३०१ ॥ जिसके हृदयमें बाण घुस गया है ऐसे किसी वीर पुरुषने 'मेरी स्त्री मेरे ही हृदयमें है' यही मानकर तथा 'हाय यह विचारी इस बाणसे मरी' यही समझकर बहुत शीघ्र अपने प्राण छोड दिये थे ॥ ३०२ ॥ शस्त्रोंसे जिसका सब शरीर छिन्न भिन्न हो गया है ऐसे किसी वीर पुरुषको यह यमराज लेनेके लिये आया है परंतु इस कामदेवने स्त्रीकी चिंतामें लगे हुये उसे यमराजके हाथसे भी छुडा लिया था ॥ ३०३ ॥ प्रेम और शोकसे अपनी स्त्रीके द्वारा कंठ-तक आलिंगन किया हुआ तथा घावसहित कोई योद्धा उसी प्रियाका ध्यानकर और शरीरको छोड कर उसी प्रियाके साथ मरगया था ॥ ३०४ ॥ मरनेके सन्मुख हुये जिस किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे उससे उसकी स्त्री कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या क्या होगा, यहां तो हम दोनोंका समागम है ही इसमें संदेह नहीं है परंतु स्वर्गमें तो तुम्हें बहुत सी देवांगनायें मिल जायंगी इस लिये मैं तो आज ही क्रीडा करूंगी ॥ ३०५ ॥ हम दोनों चाहें यहां या परलोकमें रहें इसकी चिंता तो हम लोगोंको करनी ही नहीं चाहिये क्योंकि हम दोनों का वियोग तो कहीं भी नहीं हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको संतुष्ट कर रही थी ॥ ३०६ ॥ कोई स्त्री क्रोधमें आकर अपने पतिसे कह रही थी कि हे प्रिय! तुम तो व्रत धारणकर वीरलक्ष्मी और कीर्तिके

जयस्य विजयः प्राणैस्तवैवैतद्विनिश्चितं । सव्रतावद्य यास्यावो दिवमित्यन्त्रतीत्परा ॥ ३०८ ॥ गरा' पौष्पास्तत्र त्वं च सयुक्तेष्वतिशीतलः । तत्र विज्ञातसारोऽसि पुरुषेभ्यो भय तत्र ॥ ३०९ ॥ आयसाः सायकाः काम त्वमप्यस्माकमंतकः । इति काम समुद्दिश्य खंडिताः स्वगत जगुः ॥ ३१० ॥ सा रात्रिरिति सँल्लापैः प्रेमप्राणैरनीयत । तावत्संध्याऽऽगता रागाद्राक्षसीवेक्षितु रण ॥ ३११ ॥ प्राभातानककोटीनां नि:स्वनः सेनयो. सम । आक्रामति स्म दिक्चक्रमक्रमेणोच्चरॅस्तदा ॥३१२॥ प्रतीच्याऽपि युतश्चंद्रो मयैवोदेति भास्करः। इति स्नेहादिव प्राची प्रागभादुदयाद्रवे. ॥३१३॥ सरसा कमलाक्षिभ्यः

पास जाओ और वडी आयु होनेके कारण मुझे ही इस कामदेवके द्वारा मरने दो ॥ ३०७ ॥ अन्य कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी विजय तेरे ही प्राणोंसे होगी और व्रतोंको धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्गको चलेंगे ॥३०८॥ कोई खंडिता (जिसका पति किसी अन्य नायकाके पास जाता है) स्त्री कामदेवको उद्देशकर अपने ही मनमें कह रही थी कि अरे काम तेरे फूलके वाण हैं, एक जगह इकट्ठे हुये स्त्रीपुरुषोंमें तू ठंडा है, सुख देनेवाला है, एक जगह इकट्ठे हुये स्त्री पुरुषोंमें ही तेरा सार वा वल समझा जाता है परंतु तू पुरुषोंसे डरता है क्योंकि उनके लोहेके बाण हैं और हमारा तो तू यमराज ही है अर्थात् हमें तो मारनेवाला है ॥ ३०९–३१० ॥ जिनके प्रेम ही वाण है ऐसे स्त्री पुरुषोंने इसतरहकी वात चीत करते हुये वह रात पूरी की, इतनेमें ही क्रोधसे संग्राम देखनेके लिये आई हुई राक्षसीके समान संध्या (सवेरेकी लाली) आगई ॥३११॥ उसी समय दोनों सेनाओंमें एक साथ उत्पन्न हुये आकाशकी ओर जाते हुये सवेरे वजनेवाले करोडों नगाडोंके शब्दोंने सब दिशायें एक साथ दवा ली थीं अर्थात् वे शब्द सव दिशाओंमें भर गये थे ॥ ३१२ ॥ यदि चंद्रमा पश्चिम दिशाके साथ था तथापि सूर्य मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे ही क्या मानों पूर्व दिशा सूर्योदय होनेसे पहिले ही सुशोभित होने लगी थी ॥ ३१३ ॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति प्रबुद्ध हुये (सुशोभित हुये) तलावोंके कमलरूपी नेत्रोंसे अपना इष्ट पदार्थ (फूलका

प्रबुद्धानां तदा मुदा । निर्ययौ स्वार्थमादाय निद्रेव भ्रमरावली ॥ ३१४ ॥ गतायां स्वेन संकोचं पद्मिन्यां स्वोदये रविः । लक्ष्मीं निजकरेणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता ॥ ३१५॥ रक्तः करैः समाश्लिष्य संध्या सद्यो व्यरज्यत । वदन्निव रविर्भोगान्पर्यंतविरसान्स्फुट ॥३१६॥ पर्यष्वंजीत्पुरेवैता स्वां संध्यामिति वेर्ष्यया । रविं रक्तमपिस्थित्यै प्राच्यक्षमत न क्षण ॥३१७॥ शयित्वा वीरशय्यायां निशां नीत्वा नियामिनः । स्नात्वा सतर्पिताशेषदीनानाथवनीपकाः ॥३१८॥ अचित्वा विधिना

रस) लेकर और प्रसन्न होकर निद्राके समान निकल गई थी ॥ ३१४ ॥ कमलकी बेल मेरे अस्त होनेसे ही संकुचित होगई थी इसलिये ही सूर्यने अपने उदय होते ही अपने ही कर अर्थात् किरण-रूपी हाथोंसे बहुत अच्छी शोभा स्थापन की, सो ठीक ही है क्योंकि मित्रताका यही लक्षण है भावार्थ–सूर्यका नाम मित्र है और कमलकी सूर्यके साथ मित्रता भी है इसलिये ही सूर्यने कमलमें शोभा स्थापन की थी ॥ ३१५ ॥ ये भोग अंतमें नीरस ही होते हैं इसी बातको मानों स्पष्टरीतिसे कहता हुआ और रक्त अर्थात् प्रेम करनेवाला अथवा लाल सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे वा हाथोंसे संध्याका आलिंगनकर बहुत शीघ्र उससे विरक्त होगया था । भावार्थ–सूर्यने बहुत शीघ्र ललाई छोड दी थी ॥ ३१६ ॥ इस सूर्यने पहिलेके समान ही अपनी संध्या रूपी स्त्रीसे आलिंगन किया है उसी ईर्षासे ही क्या मानों पूर्व दिशाने रक्त अर्थात् अपनेमें प्रेम करनेवाले अथवा लाल ऐसे सूर्यकी स्थितिको क्षण भर भी क्षमा नहीं किया था अर्थात् पूर्व दिशाने सूर्यको अपने पास ठहरने नहीं दिया उसे बहुत शीघ्र ऊपरको रवाना कर दिया था ॥३१७॥ व्रत नियम पालन करनेवाले और युद्ध करनेके लिये उत्सुक हुये मुख्य मुख्य सब योद्धाओंने वीर शय्यापर सोकर रात्रि व्यतीत की, सबेरे ही स्नानकर सब दीन, अनाथ और याचक लोगोंको संतुष्ट किया तथा तीनों लोक जिन्हें नमस्कार करता है ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवकी विधि पूर्वक पूजा कर स्तुति की और फिर वे अपनी अपनी सेनाका विभागकर युद्धके लिये खडे रहे ॥३१८॥ बंदीजन और मागध लोगोंके समूह जिसके नाम

स्तुत्वा जिनेन्द्राँस्त्रिजगन्नतान् । अतिष्ठन्नायका' सर्वे परिच्छिद्य रणोन्मुखाः ॥ ३१९ ॥ अरिंजयाख्यमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितं । गृहीत्वा वज्रकांडं च दत्तं यच्चक्रिणा पुरा ॥ ३२० ॥ वंदिमागधवृंदेन वद्यमानाकमालिकः । गजध्वजं समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥ ३२१ ॥ जयो ज्यास्फालन कुर्वन् कृतांतविकृताकृतिः । द्विपाना भीषणस्तस्थौ दिशामप्याहरन्मदं ॥३२२॥ उपोदयायशस्कीर्तिरर्ककीर्तिरच्युतच्छविः । कारागारमिवाध्यास्य स्यदन मंदवाजिनं ॥ ३२३ ॥ अष्टचद्रान्सखीकुर्वन् नष्टचद्रोपमान् युधः । स्वोत्पातकेतुसंकाशचक्रकेतूपलक्षितः ॥ ३२४ ॥ प्रत्यायातमहावातविहतस्वजवैः शरैः ।

के अक्षरोंकी स्तुति करते हैं अर्थात् जिसकी स्तुति करते हैं, जो जयलक्ष्मीके लिये उत्कंठित है, यमराजके समान जिसका भयानक आकार है, जो दिग्गजोंके मदको भी हरण करनेवाला है और भयंकर है ऐसा वह जयकुमार जिसमें सफेद घोडे जुते हुये हैं ऐसे अरिंजय नामके रथपर सवार होकर तथा जो पहिले चक्रवर्तीने दिया था ऐसे वज्रकांड नामके धनुषको हाथमें लेकर और हाथीकी ध्वजा उडाता हुआ तथा धनुषकी डोरीको खींचकर शब्द करता हुआ खडा था ॥ ३१९–३२२ ॥ जिसकी अपकीर्ति फैल रही है, कांति सब नष्ट होगई है, युद्धके नष्ट चंद्रमाके समान अष्टचंद्रोंको ही जिसने अपना मित्र बनाया है, जिसपर अपने अनिष्टको सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिन्हवाली ध्वजा फहरा रही है, प्रतिकूल महावायुके द्वारा जिनका वेग सब नष्ट होगया है और जो देवताओं-पर चोट करनेके लिये छोडे गये हैं ऐसे बाणोंसे जो ऐसा जान पडता है मानों दोपहरके सूर्यको ही भेदन कर रहा हो, भावार्थ--जैसे सूर्यपर छोडे हुये बाण अपने शिरपर ही पडते हैं उसीप्रकार प्रतिकूल वायुके द्वारा जिसके बाण उसीकी सेनापर आकर पड रहे हैं और पापकर्मोंने ही जिसे आगे किया है ऐसा वह अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोडोंसे जुते हुये और जेलखानेके समान ऐसे अपने रथपर सवार होकर बडे घमंडसे शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुये तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर इसप्रकार आया मानों हाथीका बच्चा हाथी पकडनेके गढेमें ही

विध्यन्मध्यंदिनार्कं वा सुमनःक्षतहेतुभिः ॥ ३२५ ॥ जयं शत्रुदुरालोक ज्वलत्तेजोमयं स्मयात् । कलभो वाऽगमद्वारिं प्रेरितः खलकर्मणा ॥ ३२६ ॥ जयोऽपि शरसतानघनीकृत्यघनाघनः । सहार्ककीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहतप्रभ ॥ ३२७ ॥ प्रतीयायातरे छिंदन् रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो धावन् अर्कस्येवोदयेंऽशवः ॥ ३२८ ॥ अच्छैत्सीच्छत्रमस्त्राणि वैजयंती च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तेरौद्धत्य विहत्य विनिनीपया ॥ ३२९ ॥ अष्टचद्रास्तदाऽभेत्य विद्याबलविजृम्भणात् । न्यषेधयन् जयस्येषूनभोदा वा रवेः करान् ॥ ३३० ॥ भुजबल्यादयोऽभ्येयुर्योद्धु हेमागद क्रुधा । सानुजं सिंहसंघात सिंहसघ इवापरः ॥ ३३१ ॥ सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । आगकेयो यथा यूथः कालिंगजमतगजान् ॥ ३३२ ॥ अन्येऽप्यन्योंश्च

आ पडा हो ॥ ३२३–३२६ ॥ वह जयकुमार भी उसके सामने आया, उसने बाणोंसे बरसते हुये बादलोंको भी सघन कर दिया था, अर्ककीर्तिको सूर्यके साथ साथ प्रभा रहित कर दिया था, शत्रुके चलाये हुये बाण बीचमें ही छेद दिये थे और जिसप्रकार सूर्यके उदय होनेपर उसके किरण उसके साम्हने जाते हैं उसीप्रकार उसके चलाये हुये बाण ठीक उसके सामने जा रहे थे ॥ ३२७–३२८ ॥ जो बडी कठिनतासे जीता जाय ऐसे जयकुमारने उस अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना सब दूरकर उसका छत्र शस्त्र और ध्वजा सब छेद डाली ॥ ३२९ ॥ जिसप्रकार बादल सूर्यकी किरणोंको रोक लेते हैं उसीप्रकार उस समय अष्टचंद्रोंने आकर अपनी विद्या और बलकी बुद्धि होनेसे जयकुमारके सब बाण रोक लिये थे ॥ ३३० ॥ जिसप्रकार एक सिंहोंका समूह दूसरे सिंहके समूह पर पडता है उसीप्रकार भुजबली आदि बाहुबलिके पुत्र बडे क्रोधसे छोटे भाइयोंके साथ साथ खडे हुये हेमांगदसे लडनेको आये ॥३३१॥ अंगदेशमें उत्पन्न हुये हाथियोंका समूह जिसप्रकार कलिंग देशके हाथियोंके समूहपर पडता है उसीप्रकार अनंतसेन भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ जयकुमारके छोटे भाइयोंके साम्हने जा पहुंचा ॥३३२॥ उससमय और भी क्रोध करनेवाले राजा लोग दूसरे राजाओंपर इसप्रकार जा टूटे मानों चलते हुये कुलपर्वत कुलपर्वतोंपर जा पडे हों ॥ ३३३ ॥

भूपाला भूपालान्कोपिनस्तदा । अभिपेतु कुलाद्रीन्वा सचलतः कुलाद्रयः ॥ ३३३ ॥ नास्त्येषामीदृशी शक्तिर्विद्येयमिति विद्यया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा मित्रभुजगमः ॥ ३३४ ॥ विदित्वा विष्टराकंपाजय सप्राप्य सादरं । नागपाशं शरं चार्द्धचंद्रं दत्वा ययावसौ ॥ ३३५ ॥ तं सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरं । कौरवः शरमादाय वज्रकांडे प्रयोजयत् ॥३३६॥ हत एव सुतो भर्तुर्भुवोऽनेनेति सभ्रमं । नरविद्याधराधीशा महांतमुदपादयन् ॥३३७॥ रथान्नव तथा दुष्टानष्टचंद्रान् ससारथीन् । स शरो भस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशनिः ॥ ३३८ ॥ छिन्नदंतकरो दंतीवातको वा हतायुधः । भग्नमानः कुमारोऽस्थाद्धिक्कष्ट चेष्टितं विधेः ॥ ३३९ ॥ इति दंतग्रहं वीरं गजं वा पादपाशकैः । अपायुधैरुपायज्ञैर्विधिज्ञस्तमजीग्रहत् ॥ ३४० ॥ तच्छौर्यं

जयकुमारने देखा कि इन मेरे पक्षवालोंमें न तो ऐसी शक्ति ही है और न यह विद्या ही है यही सोचकर वह स्वयं युद्ध करनेके लिये तैयार हुआ, उसीसमय उसका मित्र जो सर्पका जीव देव हुआ था (जयकुमारके साथ धर्म सुनकर जो देव हुआ था) उसका आसन कंपित हुआ और उससे उसने जयकुमारका सब हाल जान लिया। तदनंतर वह वडे आदरके साथ जयकुमारके पास आया और एक नागपाश तथा अर्द्धचंद्र नामका वाण देकर अपने घर गया ॥ ३३४-३३५ ॥ हजार सूर्यकी दैदीप्यमान किरणोंके समान जिसकी कांति है ऐसे उस वाणको लेकर जयकुमारने अपने वज्रकांड नामके धनुषपर चढाया ॥३३६॥ भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजाओंको इस वाणसे समस्त पृथ्वीके स्वामी भरतका पुत्र अर्ककीर्ति अवश्य ही मारा जायगा, यह वडा भारी भ्रम पैदा हुआ था ॥३३७॥ जिसप्रकार वज्र सबको नष्ट कर देता है उसीप्रकार उस वाणने नौ रथ, सारथि सहित आठों दुष्ट अष्टचंद्र और सब शस्त्र भस्म कर दिये ॥ ३३८ ॥ जिसप्रकार दांत और सूंड टूट जानेसे हाथी चेष्टारहित खडा रहता है अथवा हथियार नष्ट हो जानेसे यमराज चेष्टा रहित हो जाता है उसीप्रकार जिसका मान भंग हो गया है ऐसा वह कुमार अर्ककीर्ति भी चेष्टा रहित खडा था, हाय दुःख के साथ कहना पडता है कि दैवकी इस चेष्टाको भी धिक्कार है ॥ ३३९ ॥ शस्त्ररहित परंतु उपायको

यत्पराभूतेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धार्ष्ट्यात् स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥ सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुन्मार्गः कं न पीडयेत् ॥३४२॥ वीरपट्टेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । व्रणपट्टपद नीतः पश्य कार्यविपर्ययं ॥ ३४३ ॥ पतत्पतगसंकाशमर्ककीर्तिमनायुधं । स्वरथे स्थापयित्वोच्चैरारुह्यानेकपं स्वय ॥३४४॥ विपक्षखगभूपालान् नागपाशेन पाशिवत् । निष्पदं निर्जितारातिर्न्यधसीत्सिंहविक्रमान् ॥३४५॥ इति सौलोचने युद्धे समिद्धे शमिते तदा । पपात पंचभूजेभ्यो वृष्टिः सुमनसा दिवः ॥३४६॥ जयश्रीदुर्जय स्वामित नूजविजयार्जिता । नोत्सेकायेति तस्यैन त्रपैव

जाननेवाले लोग जिसप्रकार जिसके दांत बंधेहुये हैं ऐसे वीर हाथीको पैरोंकी फांससे बांध लेते हैं उसीप्रकार वीरको पकडनेकी विधि जाननेवाले जयकुमारने उस अर्ककीर्तिको पकड लिया ॥ ३४० ॥ तिरस्कार होनेके पहिले पहिले जो लडना है उसे शूरवीरता कहते हैं और जिनका तिरस्कार हो चुका है ऐसे लोग जो पीछेसे धीठतासे लडनेका साहस करते हैं उसे उनका दूसरा तिरस्कार समझना चाहिये ॥ ३४१ ॥ अर्ककीर्तिका वही तो वंश है, वही भरत पिता है, वही युवराजका पद है और वही सेनाका समूह है तथापि उसकी यह दशा हुई, इससे कहना पडता है कि दुराचार किसको दुख नहीं देता है ! अर्थात् सबको ही देता है ॥ ३४२ ॥ चक्रवर्तीने इस जयकुमारको वीरपट्टसे बांधा था परंतु इसने उसी चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बनाया, कार्यके इस उलटपुलटनेको तो देखो ॥ ३४३ ॥ जिसने सब शत्रु जीत लिये हैं ऐसे जयकुमारने अग्नि पर पडते हुये पतंगेके समान तथा हथियार रहित ऐसे अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक वडे हाथीपर सवार होकर सिंहके समान पराक्रमी ऐसे शत्रुओंके विद्याधर राजाओंको वरुणके समान नागपाशसे इसप्रकार बांधा कि जिससे वे हलन चलनकी कुछ भी क्रिया न कर सकें ॥३४४–३४५॥ इसप्रकार जब वह वढा हुआ सुलोचना संबंधी युद्ध शांत हो गया तब आकाशके कल्पवृक्षोंसे फूलोंकी वर्षा हुई ॥ ३४६ ॥ जिसका जीतना अत्यंत कठिन है ऐसे अपने स्वामीके(भरतके) पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे जो जयश्री

प्रत्युताश्रयत् ॥ ३४७ ॥ जयेनास्थानसंग्रामजयायातेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्दिगंतमगमत्तदा ॥३४८॥ अकंपनमहीशस्य यूथेश वा वनद्विपैः । भूपैः संयमितैः सार्धमर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥ ३४९ ॥ विजयार्धमहागंधसिंधुरस्कंधसंधृतः । निर्भर्त्सितोदयक्ष्माभृन्मूर्धस्थब्रध्नमंडलः ॥३५०॥ रणभूमिं समालोक्य समताद्बहुविस्मयः । मृतानां प्रेतसंस्कारं जीवतां जीविकाक्रिया ॥ ३५१ ॥ कारयित्वा पुरीं सर्वसमदाविष्कृतोदया । प्राविशत्प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रभादिभिः ॥ ३५२ ॥ अकंपनोऽप्यनुप्राप्य वृतैरंतः समाकुलः । राजकंठीरवैर्वामा राजपुत्रशतैः पुरं ॥ ३५३ ॥ सरक्षान् धृतभूपालान् कुमार

उत्पन्न हुई थी उससे जयकुमारको कुछ घमंड नहीं हुआ था किंतु इसे उलटा लज्जाने आ घेरा था ॥३४७॥ अयोग्य समयमें किये हुये युद्धके जीतनेसे जयकुमारकी जो कीर्ति आई थी उसे जयकुमारने लज्जाके मारे दूर ही फेंक दी थी इसलिये वह कीर्ति उसीसमय सब दिशाओंकी ओर चली गई थी ॥ ३४८ ॥ जिसप्रकार बनके हाथियोंके साथ साथ झुंडके मालिक बडे हाथीको पकडकर राजाके सुपुर्द करते हैं उसीप्रकार जयकुमारने बंधे हुये अनेक राजाओंके साथ साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकंपनके सुपुर्द किया, तदनंतर उदयाचल पर्वतके मस्तक पर सुशोभित ऐसे सूर्य मंडलको भी लज्जित करता हुआ वह कुमार विजयार्द्ध नामके बडे भारी गंध हाथीके कंधेपर सवार होकर युद्धके मैदानको देखनेके लिये निकला, उस युद्धके मैदानको चारोंओरसे देखकर उसे बडा भारी आश्चर्य हुआ, जो लोग मर गये थे उनका दहन संस्कार (दाग लगाना) कराया और जो जीवित थे उनके अच्छे होनेका उपाय कराया, इसप्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रगट है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदि विद्याधरोंके साथ २ सबको आनंद मिलनेसे जिसकी शोभा खूब बढाई गई है ऐसे काशी नगरमें प्रवेश किया ॥ ३४९–३५२ ॥ महाराज अकंपन भी चारोंओर चलते हुये सैकडों राजपुत्रों और सिंहके समान अच्छे २ राजाओंके साथ साथ अपने नगरमें पहुंचे और रक्षा करनेवाले लोग जिनके साथ हैं ऐसे बंधे हुये अनेक राजाओंको तथा कुमार अर्ककीर्तिको आश्वासन देनेमें (सम-

च नियोगिभिः । आश्वास्याश्वासकुशलैर्यथास्थानमवापयत् ॥ ३५४ ॥ विचिंत्य विश्वविघ्नानां विनाशोऽर्हत्प्रसादतः । इति वंदितुमाजग्मुः सर्वे नित्यमनोहरं ॥ ३५५ ॥ दूरादेवावरुह्यात्मवाहेभ्यः शांतचेतसः । परीत्यार्थ्याभिरागत्य तुष्टुवुस्स्तुतिभिर्जिनान् ॥३५६॥ जयोऽपि जगदीशानमित्याप्तविजयोदयः । अस्तावीदस्तकर्माण भक्तिनिर्भरचेतसा ॥ ३५७ ॥ शमिताखिलविघ्नसस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छता । शुचिशुक्तिपुटेंबुसधृत ननु मुक्ताफलता प्रपद्यते ॥ ३५८ ॥ घटयाति न विघ्नकोटयो निकटे त्वत्क्रमयोर्निवासिना । पटवोऽपि फलं दवाग्निभिर्भयमस्त्यवुधिमध्यवार्तिना ॥ ३५९ ॥ हृदये त्वयि सन्निधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः । अमृताशिषु सत्सु संततं विषभेदार्पितविप्लवः कुतः ॥ ३६० ॥ उपयाति समस्तसंपदो विपदो विच्युति-

---

ज्ञानेमें) चतुर ऐसे नियुक्त किये हुये लोगोंके द्वारा समझा बुझाकर उन्हें उनके योग्य स्थानमें पहुंचाया ॥ ३५३–३५४ ॥ अरहंतदेवके प्रसादसे ही संसारके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं यही सोचकर सब लोग वंदना करनेके लिये नित्य मनोहर नामके चैत्यालयमें आये ॥ ३५५ ॥ वे लोग शांत चित्त होकर दूरसे ही अपनी अपनी सवारियोंसे उतरे, मंदिरमें आये, तीन प्रदक्षिणायें दीं और फिर अर्थोंसे भरी हुई स्तुतियोंसे श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति की ॥ ३५६ ॥ जिसे विजय मिलनेकी उत्कृष्टता प्राप्त हुई है ऐसा वह जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुये अतंःकरणसे समस्त कर्मोंको नाश करनेवाले और जगतके स्वामी ऐसे जिनेंद्रदेवकी स्तुति करने लगा ॥ ३५७ ॥ हे समस्त विघ्नोंको शांत करनेवाले ! आपके लिये जो स्तुति की जाती है वह थोडीसी होकर भी बडे महत्त्वको प्राप्त हो जाती है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके संपुटमें पडी हुई पानीकी एक बूंद भी मोतीका रूप धारण करती ही है ॥ ३५८ ॥ हे प्रभो ! दुख देनेमें चतुर ऐसे करोडों ही विघ्न क्यों न हों तथापि वे आपके चरणकमलोंके समीप रहनेवाले लोगोंको कुछ फल नहीं दे सकते; क्या समुद्रके बीचमें रहनेवाले लोगोंको दावानल अग्निसे कभी भय होता है ? ॥ ३५९ ॥ हे नाथ ! आपको हृदयमें धारण करनेपर फिर ऐसे कौन शत्रु हैं जो भय देनेकी इच्छा कर सकें, जो सदा अमृत पिया करते हैं उन्हें

माप्नुवत्सल । वृषभ वृषमार्गदेशिनं झषकेतुद्विपमाप्नुषा सता ॥ ३६१ ॥ इत्थ भवंतमतिभक्तिपथ निनीषोः प्रागेवबंधकलयः प्रलय व्रजंति । पश्चादन- श्वरमयाचितमप्यवश्यं सपत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्र भद्र ॥ ३६२ ॥ परिणतपरितापात्स्वेदधारी विलक्षो विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेता. । अधित विधिविधान चिंतयंश्चक्रिसूनुर्विरहविधुरवृत्तिं वीरलक्ष्मीवियोगे ॥ ३६३ ॥ येषामयं जितसुरः समरे सहायस्तानप्यहं कृतरति. समुपासयामि । धुर्योऽयमेव यदि कोऽत्र विलंबनेति मत्वेव मक्षु समियाय जयं जयश्रीः ॥ ३६४ ॥ स बहुतरमराजत्प्रोन्छ्रिनान् शत्रुपासून् द्रुतमिति शमयित्वा वृष्टिभिः सायकानां।

किसी तरहके विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव भला कैसे हो सकता है ? ॥ ३६० ॥ जो सज्जन पुरुष धर्मके मार्गका उपदेश देनेवाले और कामदेवके शत्रु ऐसे वृषभदेवकी शरण लेते हैं उन्हें समस्त संपत्तियां प्राप्त होती हैं और उनकी सब विपत्तियां अच्छीतरह नाश हो जाती हैं ॥३६१॥ अच्छीतरह सुशोभित हुये गुणोंसे कल्याण करनेवाले हे जिनेंद्र ! इसप्रकार जो आपको मर्यादा रहित भक्तिके मार्गको ले जाना चाहता है अर्थात् आपमें जो अटल भक्ति रखता है उसके कर्मबंधके सब दोष पहिले ही से नष्ट हो जाते हैं;और फिर पीछेसे विना मांगे ही कभी नाश न होनेवाला ऐसा मोक्ष रूप कल्याण अवश्य ही मिलता है ॥३६२॥ प्राप्त हुये संतापसे जिसे पसीना आ रहा है जिसका चित्त डवांडोल (चंचल) होरहा है, 'मैं सबका स्वामी हूं' यह अभिप्राय जिसने छोड दिया है, जिसका चित्त व्याकुल हो रहा है, और दैवकी गतिको जो विचार रहा है ऐसे उस अर्ककीर्तिने वीरलक्ष्मीके वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुरवृत्ति (रडुँआपन) धारण की अर्थात् वीरलक्ष्मीके वियोगसे उसे बहुत दुःख हुआ ॥३६३॥ " जिसने देवोंतक को जीत लिया है ऐसा यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है उनकी उपासना भी मैं बडे प्रेमसे करती हूं फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो फिर इसमें देर ही क्यों करनी चाहिये " यही मानकर मानों वह जयलक्ष्मी जयकुमारके पास बहुत शीघ्र आगई थी ॥ ३६४ ॥ जिसप्रकार सूर्य जब सिंहराशिपर रहकर कन्याराशिपर आना चाहता है तब बहुत ही प्रतापी होकर सुशोभित

उपगतहरिभूमिः प्राप्य भूरिप्रताप दिनकर इव कन्यासंप्रयोगाभिलापी ॥ ३६५ ॥ सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदेवापरं वीरो वीप्रमवार्य-वीर्यविभवो विभ्रस्य विश्वद्विषः । वीरश्रीविहित दधौ स शिरसाऽम्लान यश.शेखरं लक्ष्मीवान् विदधाति साहससखः किं वा न पुण्योदय' ॥ ३६६ ॥ जयोऽयात्सोऽयश्च प्रभवति गुणेभ्यो गुगगणः सदाचारात्सोऽपि तद्विहितवृत्तिः श्रुतमपि । प्रणीत सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिनास्ततस्तान् विद्वान् सँश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥ ३६७ ॥

इत्यार्षे त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

होता है उसीप्रकार उडती हुई शत्रुरूपी धूलको ऊपर लिखे अनुसार वाणोंकी वर्षासे वहुत शीघ्र शांत कर पराक्रमसे जिसे सिंहका स्थान प्राप्त हुआ है और अब जो कन्याके साथ संयोग होनेकी इच्छा कर रहा है अर्थात् जो वीररससे शृंगाररसपर आ रहा है ऐसा वह जयकुमार बडे भारी प्रतापको पाकर बहुत ही सुशोभित होने लगा था ॥ ३६५ ॥ अत्यंत शूरबीर और जो किसीसे निवारण न हो सके ऐसी पराक्रमरूपी संपत्तिको धारण करनेवाले उस जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वशसे अपने वक्षःस्थलपर (गलेमें) सुलोचनाकी डाली हुई माला धारण की थी उसीसमय सब शत्रुओंको नाशकर वीर लक्ष्मीका बना हुआ और जो कभी मुरझाता नहीं, सदा ही हरा वना रहता है ऐसा एक दूसरा यशरूपी फूलोंका मुकुट भी अपने मस्तकपर धारण किया था. सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीवान है साहस ही जिसका मित्र है और जिसके पुण्यका उदय है वह पुरुष क्या नहीं कर सकता है ? अर्थात् वह सब कुछ करसकता है अथवा उसे सब कुछ मिल सकता है ॥ ३६६ ॥ इस संसारमें विजय पुण्योदयसे मिलता है, वह पुण्य गुणोंसे उत्पन्न होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका भी निरूपण शास्त्रोंमें कहा है, वे शास्त्र परंपरासे सर्वज्ञदेवके कहे हुये हैं और सबको जाननेवाले सर्वज्ञ देव श्रीजिनेंद्रदेव ही हैं, इसलिये विजय मिलनेकी इच्छा करनेवाले विद्वान लोगोंको चाहिये कि वे जयकुमारके समान उन्हीं जिनेंद्रदेवोंका आश्रय करें अर्थात् उन्हीं अरहंतदेवकी सेवा करें ॥ ३६७ ॥

इसप्रकार गुणभद्राचार्यविरचित महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें जयकुमारके विजयका वर्णन करनेवाला यह चवालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ पंचचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

अथ मेघस्वरो गत्वा प्रथमानपराक्रमः । मथितागतिदुर्गर्वैः पृथु स्वावासमास्थितः ॥ १ ॥ स्वयं च सचितावानि हंतुं स्तुत्वा जिनेशिनः । अकंपनमहाराजः समालोक्य सुलोचनां ॥ २ ॥ कृताहारपरित्यागनियोगामायुधस्तदा । सुप्रभाकृतपर्युष्टिं कायोत्सर्गेण सुस्थिता ॥ ३ ॥ सर्वशांतिकरीं ध्यातिं ध्यायतीं स्थिरचेतसा । धर्म्यामेकाग्र्यनिष्पदा जिनेंद्राभिमुखीं मुदा ॥ ४ ॥ समभ्यर्च्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । भवन्माहात्म्यतः पुत्रि शांतं सर्वममंगलं ॥ ५ ॥ प्रतिध्वस्तानि पापानि नियाममुपसंहर । इत्युत्क्षिप्तकरामुक्त्वा पुरस्कृत्य सुतां सुतै ॥ ६ ॥ ष्टः सुप्रभया चामा राजगेहं

पैंतालीसवां पर्व ।

अथानंतर–जिसका पराक्रम सबजगह प्रसिद्ध है और जिसने शत्रुओंका मिथ्या अभिमान सब नष्ट कर दिया है ऐसा वह जयकुमार अपने रहनेके विशाल भवनमें (वडे भारी मकानमें) जाकर रहने लगा ॥ १ ॥ इधर महाराज अकंपनने जो स्वयं पापोंका संग्रह किया था उनको नाश करनेके-लिये श्रीजिनेंद्रदेवकी स्तुति की और फिर सुलोचनाको देखा । उससमय सुलोचनाने युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम कर रक्खा था, सुप्रभा माता उसकी रक्षा और पूजाकी सहायता कर रही थी, वह कायोत्सर्गसे खडी थी, स्थिर चित्तसे सब विघ्नोंको शांत करनेवाला ध्यान कर रही थी, धर्मध्यानमें लीन थी, एकाग्र मनसे निश्चल थी और प्रसन्न चित्त होकर श्रीजिनेंद्रदेवके सामने खडी थी ॥ २–४ ॥ इसप्रकार सुलोचनाको देखकर महाराज अकंपनने उसका आदरसत्कार कर उसे धीरज देकर उसके गुणोंकी बहुत सी प्रशंसा की और फिर कहा कि " हे पुत्रि ! तेरे माहात्म्यसे सब विघ्न शांत होगये और सब पाप नष्ट होगये, अब तू अपने नियमोंका संकोचकर अर्थात् छोड " इसप्रकार हाथ जोडे खडी हुई सुलोचनासे कहा और उस पुत्रीको आगे कर पुत्र तथा सुप्रभा रानीके साथ साथ प्रसन्न होकर राजभवनमे प्रवेश किया ' हे पुत्री तू अपने स्थानपर जा ' इसतरह

प्रविश्य सः। याहि पुत्रि निजागारं विसर्ज्येति सुलोचनां ॥ ७ ॥ अन्यथा चिंतितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा। इति कर्तव्यतामूढः सुश्रुतादिभिरिद्धधीः ॥ ८ ॥ औत्पत्तिक्यादिधीभेदैर्वाऽऽलोच्य सचिवोत्तमैः। विद्याधरधराधीशान् विपाशीकृत्य कृत्यवित् ॥ ९ ॥ विश्वानाश्वास्य तद्योग्यैः सामसारैरुदीरितैः। सम्यग्विहितसत्कारः स्नानवस्त्रासनादिभिः ॥ १० ॥ कुमार वंशौ युष्माभिर्विहितौ वर्धितौ च नः। तद्विषमयोऽप्येति यतोऽभून्न ततः क्षयं ॥ ११ ॥ पुत्रबंधुपदातीनामपराधशतान्यपि। क्षमते हि महात्मानस्तद्धि तेषा विभूषण ॥ १२ ॥ भवेद्दैवादपि स्वामिन्यपराधविधायिना। आकल्पमयशः पापं चानुबंधनिबंधन ॥ १३ ॥ अपराधः कृतोऽस्माभिरेकोऽयमविवेकिभिः। वय वो बंधुभृत्यास्तत्कुमार क्षंतुमर्हसि ॥ १४ ॥ एषाऽकीर्तिरियं चैतत्प्रसादात्ते

कहकर सुलोचनाको बिदा किया और फिर सोचने लगा कि यह कार्य किसतरह सोचा गया था और किसीतरह हो गया अब क्या करना चाहिये कुछ समझमें नहीं आता, इसप्रकार असमंजसमें पडकर उस बुद्धिमानने जन्म, व्रत, विनय औषध और तप आदिसे उत्पन्न हुये ज्ञानोंके भेदोंके समान सुश्रुत आदि अच्छे अच्छे मंत्रियोंके साथ विचार किया। तदनंतर करने योग्य कार्यको जाननेवाले अकंपनने नागपाशमें बंधे हुये सब विद्याधरोंके राजाओंको छोड दिया तथा बडी शांततासे वा प्रेमसे उनके योग्य कहे हुये वचनोंसे उन सबको धीरज बंधाया और स्नान वस्त्र आसन आदिके द्वारा उनका खूब आदर सत्कार किया ॥ ५-१० ॥ तथा अर्ककीर्तिसे कहने लगा कि हे कुमार ये हमारे नाथवंश और सोमवंश दोनों आपने ही वनाये हैं और आपसे ही बढ रहे हैं, विषका पेड भी जिससे पैदा होता है उससे फिर नाश नहीं हो सकता ॥ ११ ॥ महात्मा लोग पुत्र, भाई और पियादे लोगोंके सैकडों अपराध क्षमा कर देते हैं उनकी इसीमें शोभा है ॥ १२ ॥ जो लोग दैवके आधीन होकर भी स्वामीका अपराध करते हैं उनका अनेक दोषोंको उत्पन्न करनेवाला पाप और अपयश कल्पांतकालतक बना रहता है ॥ १३ ॥ हे कुमार हम मूर्खोंने यह एक अपराध किया है, हम लोग आपके भाई और सेवकोंमें से हैं इसलिये यह अपराध तो क्षमा कर देना ही चाहिये ॥ १४ ॥ यह हमारी अपकीर्ति

प्रशाम्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं वेधेहि नः ॥ १५ ॥ अर्केणालोकनारोधि हन्यते जगतस्तमः । अस्माक स भवानर्कस्तस्मादतस्तमो हरेत् ॥ १६ ॥ प्रातिकूल्यं तवास्मासु स्तन्यस्येव स्तनधये । अस्मज्जन्मान्तरादृष्टपरिपाकविशेषत ॥ १७ ॥ विश्वविश्वभराह्लादी यदि क्षिपति वारिदः । कदाऽप्यशनिमेकस्मिँस्तत्तस्यैवाशुभोदयः ॥ १८ ॥ हयेनेव दुरारोहाज्जयेनेहासि पातितः । स ते प्रेष्यः किमत्रास्ति वैमनस्यस्य कारण ॥१९ ॥ सुलोचनेति का वार्ता सर्वस्व नस्तवैव तत् । निषिद्धश्चेत्त्वया पूर्वं क्रियते किं स्वयंवरः ॥ २० ॥ लक्ष्मीवतीं गृहाणेमामक्षमालापराभिधा । निर्मला वा यशो-

---

और पाप आपके प्रसादसे शांत हो सकता है क्योंकि आप उपकार करने और शाप देने दोनोंमें समर्थ हैं इसलिये इस पापसे हम लोगोंको विशुद्ध कर लीजिये ॥ १५ ॥ संसारके प्रकाशको रोकनेवाले अंधकारको सूर्य ही नष्ट करता है और हमारे लिये तो आप ही अर्क अर्थात् सूर्य हैं इसलिये हमारे हृदयके अंधकारको आप ही दूर कीजिये ॥ १६ ॥ जिसप्रकार पुत्रके लिये माताके दूधका विरोध होता है उसीप्रकार हमलोगोंके पहिले जन्मके पापकर्मोंके विशेष उदयसे हम लोगोंके लिये आपका विरोध उत्पन्न हुआ है ॥ १७ ॥ बादल सब पृथ्वीको प्रसन्न करनेवाले हैं वे ही बादल जो कभी किसी पर बिजली पटक देते हैं परंतु इसमें बादलोंका कोई दोष नहीं है जिसपर वह बिजली पडी है उसी मनुष्यके अशुभ कर्मका उदय समझना चाहिये ॥ १८ ॥ जिसपर चढना कठिन है ऐसे घोडेके समान जयकुमारने आपको पटक दिया है परंतु वह आपका सेवक है इसमें बुरा माननेका क्या कारण है ॥ १९ ॥ सुलोचनाकी तो बात ही क्या है इस संसारमें जो कुछ हमारा है वह सब आपका ही है, यदि आप पहिलेसे मना कर देते तो स्वयंबर ही क्यों किया जाता ॥ २० ॥ आप जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी लक्ष्मीवती पुत्रीको स्वीकार कीजिये, वह यशकी मालाके समान निर्मल है, पाषाणके समान रत्नोंकी मालासे आपको क्या प्रयोजन है ॥ २१ ॥ आज यह आपका विकार भोजनके विकारके समान है, क्या आपके बिना हम लोगोंकी जीविका रह सकती है, इसलिये

माला किं ते पाषाणमालया ॥ २१ ॥ आहारस्य यथा तेऽद्य विकारोऽय विना त्वया । जीविकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु विभो भवान् ॥ २२ ॥ यद्वयं भिन्नमर्यादे त्वय्यवार्येऽम्बुधाविव । तत्तेवशिष्टाः पुण्येन भवत्प्रेषणकारिणः ॥२३॥ त्वं वह्निनेव केनापि पापिना विश्वजीवनः। उष्णीकृतोऽसि प्रत्यस्मान् शीतीभव हि वारि वा ॥ २४ ॥ न चेदिमान् सुतान् दारान् प्रतिग्राहय पालय । मम तावाश्रयौ यामि पुरूणा पादपादपौ ॥ २५ ॥ इति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपं । अर्ककीर्तिं पुरोधाय वृतं भूचरखेचरैः ॥ २६ ॥ शांतिपूजां विधायाष्टौ दिनानि विविधर्द्धिका । महाभिषेकपर्यंता सर्वपापोपशातये ॥ २७ ॥ जयमानीय संधाय संधानविधिवित्तदा । नितरां प्रीतिमुत्पाद्य कृत्वैकीभावमक्षरं ॥ २८ ॥ अक्षमाला महाभूल्या दत्वा सर्वार्थ-

---

हे प्रभो आप हमपर प्रसन्न हूजिये ॥ २२ ॥ हे देव ! हम तो आपके वाहर भेजने योग्य सेवक हैं और आप किसीसे निवारण न हो सकें ऐसे समुद्रके समान गंभीर हैं, जव आपने अपनी मर्यादा छोड दी और फिर भी हम लोग जीते बच रहे इसमें आपका पुण्य ही कारण है ॥ २३ ॥ आप पानीके समान सबको जीवन देनेवाले हैं अग्निके समान किसी भी पापीने हमारेलिये आपको गर्म अर्थात् क्रोधित किया है इसलिये अव पानीके समान ही शीतल हो जाइये ॥ २४ ॥ यदि आप शांत नहीं होना चाहते तो इन पुत्र और स्त्रियोंको संभालिये, इनका पालन कीजिये, मैं हम आप दोनोंके आश्रय ऐसे श्रीवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोंके समीप जाता हूं ॥ २५ ॥ इसप्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोंसे घिरे हुये अर्ककीर्तिको प्रसन्नकर संतुष्टकर और उत्तम हाथीपर सवार कराकर सबसे आगेकर जिनालयतक लाये और सबतरहके पाप शांत करनेकेलिये आठदिनतक बडी विभूतिके साथ महाभिषेक होनेतक शांति पूजा की ॥ २६–२७ ॥ मेल मिलाप करानेकी विधिको जाननेवाले अकंपनने जयकुमारको भी वहीं पर बुलाया, उसीसमय उन दोनोंका मेल मिलाप करा दिया, सदा रहनेवाला प्रेम उत्पन्न करा दिया और कभी न नाश होनेवाली एकता करा दी ॥२८ ॥ तदनंतर अर्ककीर्तिको बडे ठाठ बाट और सबतरहके धन संपदाओंके

संपदा । संपूज्य गमयित्वैनमनुगम्य यथोचितं ॥ २९ ॥ तथेतरांश्च सम्मान्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रत्नगजवाजिभिः ॥ ३० ॥ ते स्वदुर्नयलज्जास्तवैराः स्व स्वमगुः पुर । सा धीर्दैवापराधस्य प्रतिकर्त्री हि याऽचिरात् ॥ ३१ ॥ तदा पूर्वोदितो देवः समागत्य सुसंपदा । सुलोचना-विवाहोरुकल्याणं समपादयत् ॥ ३२ ॥ मेघप्रभसुकेत्वादिसत्सहायान् सहानुजान् । जयोऽप्यगमयत्सर्वान् संतर्प्यार्थैर्बहुप्रियः ॥ ३३ ॥ नाथवंशाग्रणी-श्चामा जामात्राऽऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः स्वगृहसाराणि बध्वा रत्नान्युपायनं ॥ ३४ ॥ विदितप्रस्तुतार्थोऽसि यथाऽसौ न. प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रेशं सुमुखाख्यमजीगमत् ॥ ३५ ॥ आशु गत्वा निवेद्यासौ दृष्ट्वेश धरणौ तनुं । क्षिप्त्वा प्रणम्य दत्वा च प्राभृतं निभृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥ देवस्या-

---

साथ साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, खूव आदर सत्कार किया और फिर उनकी योग्यताके अनुसार थोडी दूर तक साथ जाकर उन्हें विदा किया ॥ २९ ॥ इसीतरह अच्छे अच्छे रत्न हाथी घोडे आदि भेट देकर अन्य रहे हुये भूमिगोचरी और विद्याधरोंके राजाओंका आदर सत्कारकर बहुत शीघ्र उन्हें विदा कर दिया ॥ ३० ॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर विरोध सव शांत हो गया है ऐसे वे सव लोग अपने अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि वही कहलाती है जो भाग्य वश किये हुये अपराधका बहुत शीघ्र इलाज कर ले अर्थात् उस अपराधको शीघ्र ही दूर कर दे ॥ ३१ ॥ उसीसमय बडी विभूतिके साथ पहिले कहा हुआ देव आया और उसने वडे उत्सवसे सुलोचनाके विवाहकी विधि समाप्त की ॥ ३२ ॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने सब छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ और सुकेतु आदि अच्छे अच्छे सहायकोंको बहुतसा धन देकर संतुष्ट किया और सबको विदा किया ॥ ३३ ॥ तदनंतर नाथवंशके शिरोमणि अकंपनने बहुत शीघ्र ही अपने जंवाई जयकुमारसे सलाह की तथा सुमुख नामके दूतको बुलाकर अपने घरके अच्छे अच्छे रत्न भेटमें देनेके लिये बांधकर, देकर समझाया कि " तू बुद्धिमान है, वर्तमानके व्यवहारका जानकार है इसलिये चक्रवर्ती जिसतरह हम लोगोंपर प्रसन्न हो वही काम कर " इसतरह समझा

नुचरो देव प्रणम्याऽपनो भथात् । देवं विज्ञापयत्येवं प्रसादं कुरु तच्छृणु ॥ ३७ ॥ सुलोचनेति नः कन्यासारस्त्वद्विहितश्रिये। स्वयंवरविधानेन संप्रादाय जैयाय सा ॥ ३८ ॥ तत्रागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनुमत्य तत् । विद्याधरधराधीशैः सुप्रसन्नैः सह स्थितः ॥ ३९ ॥ पश्चात्कोपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह शुभग्रहम् । खलो बलाद्यथाऽस्मभ्यं वृथा कोपयति स्म त ॥ ४० ॥ विज्ञातमेव देवेन सर्वं तत्संविधानक । चारचक्षुश्च वेत्त्येतत्किं पुनः सावधिर्भवान् ॥ ४१ ॥ कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । तत्र तस्य सदोपाः स्मो वयमेव प्रमादिनः ॥ ४२ ॥ तस्मै कन्यां गृहाणेति

बुझाकर उसे चक्रवर्तीके समीप भेजा ॥ ३४–३५ ॥ वह दूत शीघ्र ही भरतके यहां जा पहुंचा, चोबदारके द्वारा खबर पहुंचाकर उनके साम्हने गया, स्वामी भरतको देखकर पृथ्वीपर अपना शरीर डालकर प्रणाम किया, हाथ जोडकर साथमें लाई हुई भेट समर्पण की और फिर कहने लगा कि हे देव अकंपन नामका राजा आपका एक अनुचर है उसने प्रणाम कर डरसे नीचे लिखे अनुसार आपसे कुछ प्रार्थना की है, हे देव प्रसन्न हूजिये और उसे सुन लीजिये ॥ ३६–३७ ॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक सबसे सुंदर कन्या थी वह मैंने स्वयंवर विधिसे आपने ही जिसका ऐश्वर्य और शोभा बढाई है ऐसे जयकुमारके लिये दी थी ॥ ३८ ॥ उस स्वयंवरमें कुमार अर्ककीर्ति भी पधारे थे, उन्होंने पहिले स्वयंवरकी सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुये विद्याधरोंके राजाओंके साथ साथ वहां विराजमान थे ॥ ३९ ॥ तदनंतर जिसप्रकार कोई दुष्ट ग्रह किसी शुभ ग्रहके साथ रहकर उसे दुष्ट कर देता है उसीप्रकार किसी दुष्टने जबर्दस्ती हम लोगोंपर व्यर्थ ही कुमारको क्रोधित कराया ॥ ४० ॥ इसके बाद जो कुछ वहां हुआ था वह सब समाचार आपको मालूम ही है, क्योंकि सेवकोंके द्वारा सब जगहके समाचार जाननेवाले साधारण राजा लोग भी ऐसे समाचारोंको जान लेते हैं फिर भला आप तो अवधिज्ञानी हैं ॥ ४१ ॥ कुमार अर्ककीर्ति तो कुमार (लडका) ही है उसमें उसका तो कुछ अपराध ही नहीं है प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग

नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोपोऽसौ यत्प्रकुप्यंति देवताः ॥ ४३ ॥ मयैव विहिताः सम्यक् वर्धिता वंशजोऽपि नः । स्निग्धाश्च कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहं ॥ ४४ ॥ इत्येतदेव मा मंस्थाः स्यात्सदोषो यदि त्वया । कुमरोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः ॥ ४५ ॥ तदादिश विधेयोऽत्र को दंडस्त्रिविधेऽपि नः । किं वध. किं परिक्लेशः किं वाऽर्थहरणं प्रभो ॥ ४६ ॥ तवादेशविधानेन नितरा कृतिनो वयं । इहामुत्र च तद्देव यथार्थं मनुशाधि नः ॥ ४७ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं निगद्य हृदयप्रिया । सुमुखो राजराजस्य व्यरसात्करसंज्ञया ॥ ४८ ॥ सता वचासि चेतासि हरंत्यपि हि

ही उसमें दोषी हैं॥४२॥ "तुम इस कन्याको स्वीकार करो" इसतरह कहकर तो हम लोगोंने जयकुमारके लिये वह दी नहीं थी तथापि देवता जो क्रोधित हो जाते हैं उसमें आराधना वा उपासना करनेवालेका ही दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! "वंश सब मेरे ही बनाये हुये हैं मैंने ही बढाये हैं, ये सब लोग हमारे ही भाई हैं और हमसे सदा प्रेम रखते हैं इसलिये इनको कैसे दंड दिया जाय" ऐसा भी आप मत मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी सदोषी हो तो आप उसको भी दंड देते हैं, यह न्याय ही आपसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४४-४५ ॥ इसलिये हे प्रभो आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनों तरहके दंडोंमेंसे कौनसा दंड मिलना चाहिये, क्या फांसी ? या शरीरका क्लेश ? अथवा धन हरण कर लेना ? ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक और परलोक दोनों जगह खुदको धन्य मानते हैं इसलिये हमारे अपराधके अनुसार हमें अवश्य दंड दीजिये ॥ ४७ ॥ इसप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले और नम्र बचन कहकर वह सुमुख दूत भरतके इशारे करनेमात्रसे ही चुप हो गया ॥४८॥ सज्जनोंके ऐसे बडे कोमल बचन राक्षसोंके चित्तको भी मोहित कर लेते हैं फिर भला सबको एकसी दृष्टिसे देखनेवाले भरत ऐसे महापुरुषोंकी तो बात ही क्या है ॥४९॥ जिसका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे उस चक्रवर्तीने बडे प्रसन्न बचनोंसे कहा कि "यहां समीप आओ" इसप्रकार कहकर अपने सिंहासनके समीप

रक्षसां । किं पुनः सामसाराणि तादृशा समतादृशां ॥ ४९ ॥ इहेहीति प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः । उपसिंहासनं चक्री निसृष्टार्थं निवेश्य तं॥५०॥ अकंपनैः किमित्येवमुदीर्य प्रहितो भवान् । गुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च सप्रति ॥ ५१ ॥ गृहाश्रमे त एवार्च्यास्तैरेवाहं च बंधुमान् । निषेद्धारः प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥ ५२ ॥ पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसंततेः । श्रेयाश्च चक्रिणां वृत्तेर्यथे हास्म्यहमग्रणीः ॥ ५३ ॥ तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकंपनाः। कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ५४ ॥ मार्गांश्चिरंतनान् येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वंति नूतनान्संतः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥ न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिस्तथा । बलेन न षडंगेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥ ५६ ॥ तदेतत्सार्वभौमत्वं जयेनैकेन

डाले हुये दूसरे आसनपर उसे बिठाया और फिर वे उससे कहने लगे कि महाराज अकंपनने इसतरहके बचन कहकर तुमको क्यों भेजा है वे तो हमारे पिता श्रीवृषभदेवके समान हैं और वर्तमानमें तो वे हम सबमें बडे हैं ॥ ५०–५१ ॥ गृहस्थाश्रममें तो हमारे वे ही पूज्य हैं और उन्हींसे हम भाई बंधुवाले (जिनपर कोई प्रेम करनेवाला हो) गिने जाते हैं, वे तो अन्यायमार्गमें यदि मैं प्रवृत्त हो जाऊं तो मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमें जैसे मोक्षमार्गको प्रगट करनेके लिये श्रीवृषभदेव गुरु हैं, दानकी परंपरा चलानेकेलिये राजा श्रेयान् गुरू है और चक्रवर्तियोंकी प्रवृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूं उसीप्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं । यदि महाराज अकंपन न होते तो दूसरा कौन इस मार्गको प्रगट करता ? और यह मार्ग अनादि कालका है (आजका नहीं है) ॥५३–५४ ॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुये अनादिकालके मार्गोंको जो नये कर दिखाते हैं अवश्य ही वे सज्जन इस संसारमें सज्जनोंके द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह सुप्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न और रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है न सब जगह फैली हुई छह प्रकारकी सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है किंतु केवल एक जयकुमारसे ही मिला है क्योंकि शूरबीरताके सब कामोंमें मेरा विजय उसीसे हुआ है॥५६-५७॥

नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽसौ यत्प्रकुप्यति देवताः ॥ ४३ ॥ मयैव विहिताः सम्यक् वर्धिता वधनोऽपि नः । स्निग्धाश्च कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहं ॥ ४४ ॥ इत्येतदेव मा मंस्थाः स्यात्सदोषो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः ॥ ४५ ॥ तदादिश विधेयोऽत्र को दण्डस्त्रिविधेऽपि नः । किं वध. किं परिक्लेशः । किं वाऽर्थहरण प्रभो ॥ ४६ ॥ तवादेशविधानेन नितरा कृतिनो वय । इहामुत्र च तद्देव यथार्थ-मनुशाधि नः ॥ ४७ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं निगद्य हृदयप्रिया । सुमुखो राजराजस्य व्यरमात्करसंज्ञया ॥ ४८ ॥ सतां वचासि चेतासि हरंत्यपि हि

ही उसमें दोषी हैं॥४२॥ "तुम इस कन्याको स्वीकार करो" इसतरह कहकर तो हम लोगोंने जयकुमारके लिये वह दी नहीं थी तथापि देवता जो क्रोधित हो जाते हैं उसमें आराधना वा उपासना करनेवालेका ही दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ हे देव ! "वंश सब मेरे ही बनाये हुये हैं मैंने ही बढाये हैं, ये सब लोग हमारे ही भाई हैं और हमसे सदा प्रेम रखते हैं इसलिये इनको कैसे दंड दिया जाय" ऐसा भी आप मत मानिये क्योंकि यदि आपका पुत्र भी सदोषी हो तो आप उसको भी दंड देते हैं, यह न्याय ही आपसे उत्पन्न हुआ है ॥ ४४-४५ ॥ इसलिये हे प्रभो आज्ञा दीजिये कि इस अपराधके लिये हम लोगोंको तीनों तरहके दंडोंमेंसे कौनसा दंड मिलना चाहिये, क्या फांसी ? या शरीरका क्लेश ? अथवा धन हरण कर लेना ? ॥ ४६ ॥ हे प्रभो ! आपकी आज्ञाका पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक और परलोक दोनों जगह खुदको धन्य मानते हैं इसलिये हमारे अपराधके अनुसार हमें अवश्य दंड दीजिये ॥ ४७ ॥ इसप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाले और नम्र वचन कहकर वह सुमुख दूत भरतके इशारे करनेमात्रसे ही चुप हो गया ॥४८॥ सज्जनोंके ऐसे बडे कोमल वचन राक्षसोंके चित्तको भी मोहित कर लेते हैं फिर भला सबको एकसी दृष्टिसे देखनेवाले भरत ऐसे महापुरुषोंकी तो बात ही क्या है ॥४९॥ जिसका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे उस चक्रवर्तीने बडे प्रसन्न बचनोंसे कहा कि "यहां समीप आओ" इसप्रकार कहकर अपने सिंहासनके समीप

रक्षसा । किं पुनः सामसाराणि तादृशा समतादृशां ॥ ४९ ॥ इहेहीति प्रसन्नोक्त्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः । उपसिंहासनं चक्री निसृष्टार्थं निवेश्य तं॥५०॥ अकंपनैः किमित्येवमुदीर्य प्रहितो भवान् । गुरुभ्यो निर्विशेषास्ते सर्वज्येष्ठाश्च संप्रति ॥ ५१ ॥ गृहाश्रमे त एवार्च्यास्तैरेवाहं च बंधुमान् । निषेद्धारः प्रवृत्तस्य ममाप्यन्यायवर्त्मनि ॥ ५२ ॥ पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरवो दानसततेः । श्रेयांश्च चक्रिणा वृत्तेर्यथे हास्यहमग्रणीः ॥ ५३ ॥ तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकंपनाः । कः प्रवर्तयिताऽन्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥ ५४ ॥ मार्गांश्चिरतनान् येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वंति नूतनान्संतः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥ न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिस्तथा । बलेन न षडंगेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥ ५६ ॥ तदेतत्सार्वभौमत्वं जयेनैकेन

डाले हुये दूसरे आसनपर उसे बिठाया और फिर वे उससे कहने लगे कि महाराज अकंपनने इसतरहके बचन कहकर तुमको क्यों भेजा है वे तो हमारे पिता श्रीवृषभदेवके समान हैं और वर्तमानमें तो वे हम सबमें बडे हैं ॥ ५०–५१ ॥ गृहस्थाश्रममें तो हमारे वे ही पूज्य हैं और उन्हींसे हम भाई बंधुवाले (जिनपर कोई प्रेम करनेवाला हो) गिने जाते हैं, वे तो अन्यायमार्गमें यदि मैं प्रवृत्त हो जाऊं तो मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमें जैसे मोक्षमार्गको प्रगट करनेके लिये श्रीवृषभदेव गुरु हैं, दानकी परंपरा चलानेकेलिये राजा श्रेयान् गुरू हैं और चक्रवर्तियोंकी प्रवृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूं उसीप्रकार स्वयंवरकी विधि चलानेके लिये वे ही गुरु हैं। यदि महाराज अकंपन न होते तो दूसरा कौन इस मार्गको प्रगट करता ? और यह मार्ग अनादि कालका है (आजका नहीं है) ॥५३–५४ ॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुये अनादिकालके मार्गोंको जो नये कर दिखाते हैं अवश्य ही वे सज्जन इस संसारमें सज्जनोंके द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह सुप्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न और रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है न सब जगह फैली हुई छह प्रकारकी सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है किंतु केवल एक जयकुमारसे ही मिला है क्योंकि शूरवीरताके सब कामोंमें मेरा विजय उसीसे हुआ है॥५६-५७॥

केवल । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम'॥५७॥ म्लेच्छराजान् विनिर्जित्य नाभिशैले यशोमय । मन्नाम स्थापितं तेन किम त्रान्येन केनाचित् ॥५८॥ अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाकमहाकार्पान्मषीमाषमलीमसा ॥ ५९ ॥ अमुनाऽन्यायवर्त्मैव प्रावर्तीति न केवल। इह स्वयं च दड्यानां प्रथम. परिकल्पितः ॥ ६० ॥ अभूदयशसो रूपं मत्प्रदीपादिवांजनं । नार्ककीर्तिरसौ स्पष्टमयश.कीर्तिरेव हि ॥ ६१ ॥ जय एव मदादेशाद्दशोऽन्यायवर्तिनः । समीकुर्यात्ततस्तेन स साधु दमितो युधि ॥ ६२ ॥ सदोषो यदि निग्राह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि, भूभुजा । इति मार्गमहं तस्मिन्नद्य वर्तयितुं स्थितः ॥ ६३ ॥ अक्षमाला किल प्रत्ता तस्मै कन्याऽवलेपिने । भवद्भिरविचार्यैतद्विरूपकमनुष्ठितं ॥ ६४ ॥ पुरस्कृत्येह तामेतां नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यता।

म्लेच्छ राजाओंको जीतकर नाभि पर्वतपर कीर्तिसे भरा हुआ मेरा नाम उसीने स्थापित किया, इसमें और किसीने कुछ भी नहीं किया है ॥५८॥ इस अर्ककीर्तिने तो अपकीर्तियोंमें गिनने योग्य अर्थात् मुख्य तथा शाही और उडदके समान काली और जबतक इस संसारमें चंद्रमा रहे तबतक टिकनेवाली ऐसी मेरी अपकीर्ति फैला दी है ॥ ५९ ॥ इसने अन्यायमार्गकी प्रवृत्ति की है, केवल इतना ही नहीं है किंतु इस संसारमें जिन्हें दंड देना चाहिये ऐसे लोगोंमें उसने आपको (खुदको) प्रथम वा मुख्य बना लिया है ॥ ६० ॥ दीपकके समान मुझसे यह काजलके समान अपकीर्तिरूप उत्पन्न हुआ है। यह अर्ककीर्ति नहीं है किंतु साक्षात् अयशःकीर्ति (अपकीर्तिको फैलानेवाला) ही है ॥ ६१ ॥ जयकुमार ही मेरी आज्ञासे इसतरहका अन्याय करनेवाले लोगोंको उचित दंड देता है इसलिये ही उसने, युद्धमें इसे (अर्ककीर्तिको) बहुत ही अच्छा दंड दिया है ॥ ६२ ॥ यदि अपराध करनेवला बडा ही पुत्र क्यों न हो तथापि राजाको उसेभी दंड देना चाहिये यही नीतिका मार्ग है, अर्ककीर्तिको यही मार्ग दिखानेके लिये अर्थात् अपराधी होनेसे उसे दंड देनेके लिये आज मैं बिलकुल तैयार हूं ॥ ६३ ॥ परंतु आप लोगोंने विचार किये विना ही अभिमान करनेवाले उसे अक्षमाला नामकी कन्या दी है, यही काम आप लोगोंने बुरा किया है ॥ ६४ ॥ उस अक्षमाला

सकलंकेति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्विधोः ॥ ६५ ॥ उपेक्षितः सदोषोऽपि स्वपुत्रश्चक्रवर्तिना । इतीदमयशः स्थायि न्यधायि तदकंपनैः ॥ ६६ ॥ इति संतोष्य विश्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं तुज तोकमकरोन्न्यायमौरसं ॥ ६७ ॥ सुमुखस्तदयाभारमिव वोढुं तदाक्षमः । सजयोऽकंपनो देव देवस्य नमति क्रमौ ॥ ६८ ॥ लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽगानि प्रणम्य तं । विकसद्वदनाभोजः समुत्थाय कृतांजलिः ॥ ६९ ॥ इत एवोन्मुखौ

कन्याको भेट देकर आप लोगोंने उसे पूज्य वनाया है सो ठीक ही है क्योंकि चंद्रमाकी मूर्ति कलंक सहित है यही समझकर क्या वह छोंडी जाती है ? ॥ ६५ ॥ परंतु " चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा की अर्थात् उसे कुछ दंड नहीं दिया " इसप्रकारके मेरे इस अपयशको महाराज अकंपनने चिरस्थायी बनादिया ॥ ६६ ॥ इसप्रकार समस्त भरतके अधिपति महाराज भरतने सौमुख्य नामके दूतको संतुष्टकर उसका मुख प्रसन्न किया और इसतरह अपने वडे पुत्र अर्ककीर्तिको छोडकर उसने न्यायको ही अपना औरस (खास) पुत्र वनाया, भावार्थ–न्यायके सामने उसने अपने वडे पुत्रका भी पक्ष नहीं किया ॥ ६७ ॥ उसीसमय चक्रवर्तीकी दिखाई हुई दयाके भारको न सह सकनेके कारण ही क्या मानों वह सुमुख कहने लगा कि " हे देव जिन्हें आपका प्रसाद मिल चुका है ऐसे महाराज अकंपन और जयकुमार दोनों ही आपके चरणकमलोंको नमस्कार करते हैं " इसतरह कहकर उस दूतने अपना शरीर जमीनपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और फिर जिसका मुखरूपी कमल प्रफुलित (प्रसन्न) हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड रक्खे हैं ऐसा वह दूत खडा होकर फिर कहने लगा कि " हे देव ! जिसप्रकार दो चातक पक्षी वर्षा ऋतुमें आये हुये पहिले बादलोंसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसीप्रकार जयकुमार और अकंपन दोनों ही आपके समीपसे मेरे पहुंचनेकी इच्छा करते हुये इसी दिशाको ऊपरकी ओर ही अपना मुख किये वैठे होंगे " इसतरहके निवेदन करनेपर चक्रवर्तीने उसे जानेकी आज्ञा दी, आज्ञा पाकर

तौ त्वत्प्रतीच्छंतौ मदागतिं । आस्थाता चातकौ वृष्टिं प्रावृषो वाऽदिवाभुंच: ॥७०॥ इति विज्ञाप्य चक्रेशात् कृतानुज्ञः कृतत्वरः । सप्राप्याकंपन नत्वा सजयं विहितादरं ॥ ७१ ॥ गोभिः प्रकाश्य रक्तस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा वासरारभस्तद्वक्त्राब्जं व्यकाशयत् ॥ ७२ ॥ साधुवादै. सदानैश्च सम्मानैस्तौ च त तदा । आनिन्यतुरतिप्रीतिं कृतज्ञा हि महीभृतः ॥ ७३ ॥ इत्यतर्क्योदयावाप्तिविभासितशुभोदयः । अनूषिवान् जयः श्रीमान् सुखेन श्वासुरं कुलं ॥ ७४ ॥ सुलोचनामुखाभोजषट्पदायितलोचनः । अनंगानणुबाणैकतूणीरायितविग्रहः ॥ ७५ ॥ तथा प्रवृत्ते संग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः । पेलवैः कुसुमैरेभिर्विचित्रा विधिवृत्तयः ॥ ७६ ॥ अस्मिता सस्मिता कुर्वन्नहसतीं सहासिका । सभया निर्भया बालामाकुलां तामनाकुला ॥ ७७ ॥

बडी शीघ्रतासे वह अपने स्थानपर जा पहुंचा और जयकुमारके साथ बैठे हुये महाराज अकंपनको नमस्कार किया, उन दोनोंने ही दूतका आदर सत्कार किया और फिर जैसे सबेरेका समय किरणोंसे लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रगटकर कमलोंको खिला देता है उसीप्रकार उस दूतने भी अपने बचनोंसे प्रेम करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रगटकर उन दोनोंके मुखकमल प्रफुल्लित कर दिये थे ॥ ६८-७२॥ उस समय उन दोनों राजाओंने उस दूतको शाबासी दी, बहुतसा दान दिया, खूब आदर सत्कार किया और इसतरह उसे बहुत ही संतुष्ट किया, सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग कृतज्ञ (किये हुयेका उपकार माननेवाले) होते ही हैं ॥ ७३ ॥ इसप्रकार जो विचारमें भी न आ सके ऐसे ऐश्वर्यकी प्राप्ति होनेसे जिसके शुभ कर्मोंका उदय प्रगट हो रहा है ऐसा वह श्रीमान जयकुमार सुखसे ससुरके घर रहने लगा ॥ ७४ ॥ उसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान सदा लगे रहते थे, जिसका शरीर कामदेवके बडे बडे बाणोंके लिये एक तरकसके समान था, वह इसतरहके घोर युद्धमें भी वाणोंसे घायल नहीं हुआ था परंतु बडे कोमल ऐसे इन कामदेवके पुष्पोंके बाणोंसे घायल हो गया था, सो ठीक ही है क्योंकि दैवकी लीला भी बडी ही आश्चर्य करनेवाली है॥७५-७६॥ वह जयकुमार धीरे धीरे न हँसनेवाली अर्थात् चुपचाप बैठी हुई सुलोचनाको धीरे धीरे हँसाता था,

अन्तालपंतीमालाप्य लोकमानो विलोकिनीं । अस्पृशंतीं समास्पृश्य व्यधाद् व्रीडाविलोपनं ॥ ७८ ॥ कृतो भवांतराबद्धतत्स्नेहबलशालिना । सुलोचनायाः कौरव्यः कामं कामेन कामुकः ॥ ७९ ॥ सुलोचनामनोवृत्ती रागामृतकरोध्दुरा । क्रमाच्चचाल वेलेव कामनाममहांबुधेः ॥ ८० ॥ मुकुले वा मुखे चक्रे विकासोऽस्याःक्रमात्पदं । आक्रांतशूर्पकारातिग्रहानक्षरसूचनः ॥ ८१ ॥ सखीमुखानि संवीक्ष्य जंजपित्वा दिशामसौ । स्वैरं हासितुमारब्ध गृहीतमदनग्रहा ॥ ८२ ॥ सितासितासितालोलकटाक्षेक्षणतोमरैः । जयतद्भ्र जितानंग कृत्वानग प्रतिष्कशं ॥ ८३ ॥ससाध्वसा सलज्जा सा विव्याध विविधै-

---

न हँसनपरे जोरसे हँसाता था, भयभीत होनेपर निर्भय करता था, व्याकुल होनेपर निराकुल करता था, बात चीत न करनेपर उसके साथ बात चीत करता था, अपनी ओर देखनेपर उसकी ओर देखता था और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श वा आलिंगन करता था, इसतरह वह कुमार उसकी लज्जा दूर कर रहा था ॥ ७७–७८ ॥ पहिले जन्मका बंधा हुआ स्नेह ही जिसका बल है ऐसे कामदेवने अपनी इच्छानुसार जयकुमारको सुलोचनाका कामुक (चाहनेवाला) बना दिया था ॥ ७९ ॥ अनुरागरूपी चंद्रमाके संबंधसे बढी हुई ऐसी कामदेव रूपी महासागरकी लहरके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति [भाव] क्रमक्रमसे बढ रही थी ॥ ८० ॥ सब शरीरमें घुसा हुआ कामदेव रूपी पिशाच विना बोले ही जिसकी सूचना कर रहा है ऐसी प्रसन्नताने इस सुलोचनाके प्रफुल्लित हुये मुखपर धीरे धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥ ८१ ॥ जिसके शरीरमें कामदेवरूपी पिशाच बैठा हुआ है ऐसी वह सुलोचना सखियोंके मुख देखकर कुछ निरर्थक बचन कहकर और दिशाओंकी ओर देखकर इच्छानुसार हँसने लगी थी ॥ ८२ ॥ उससमय भयभीत और लज्जित हुई वह सुलोचना जिसने अपनी सुंदरतासे कामदेवको भी जीत लिया है ऐसे जयकुमारको जो देखनेका समय नहीं है ऐसे समयमें भी उसे ठगने की इच्छासे कामदेवको अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुये तथा चंचल ऐसे कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी तोमर नामके अनेक तरहके हथियारोंसे

मेनाक्। अनालोकनवेलायामतिसंधित्सयेवं तं ॥ ८४ ॥ न भुजंगेन संदष्टा नापि संसेवितासवा। न श्रमेण समाक्रांता तथापि स्विद्यति स्म सा॥ ८५ ॥ स्खलंति स्म कलालापाश्चकंपे हृदयं भृशं। चलान्यालोकितान्यासन्नवशेवात्मनश्च सा ॥ ८६ ॥ प्रक्षालितेव लज्जाऽगात्सुदत्याः स्वेदवारिभिः। वागिंधनैर्व्यदीपिष्ट विचित्रश्चित्तजानलः ॥ ८७ ॥ तावत्त्रपा भय तावत्तावत्कृत्यविचारणा। तावदेव धृतिर्यावज्जृंभते न स्मरज्वरः ॥ ८८ ॥ विषयीकृत्य सर्वेषामिंद्रियाणा परस्परं। परामवापतुः प्रीतिं दंपती तौ पृथक् पृथक् ॥ ८९ ॥ अत्यासंगात्क्रमग्राहिकरणैस्तावतर्पितौ। आनिंदतामशेषैककरणाकारिणं

धीरे धीरे मार रही थी भावार्थ—बार बार तिरछी निगाहसे देख रही थी ॥ ८३–८४ ॥ उससमय न तो वह सर्पने काटी थी, न उसने मद्य ही पिया था और न कुछ परिश्रम हीं किया था तथापि वह पसीनेसे डूब रही थी ॥ ८५ ॥ उसके मधुर भाषण स्खलित हो रहे थे हृदय थर थर कंप रहा था, दृष्टि चंचल हो रही थी, और वह ऐसी जान पडती थी मानों अपने होशमें न हो ॥ ८६ ॥ सुंदर दांतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इसतरह चली गई थी मानों उसके पसीनेके जलसे धुल गई ही हो और अंतःकरणसे उत्पन्न हुई अद्भुत अग्नि अर्थात् कामदेवरूप अग्नि बचन रूपी ईंधनसे ही क्या मानों खूब जल रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेव रूपी ज्वर नहीं बढता है तबतक ही इस संसारमें लज्जा है, तबतक ही भय है, तबतक ही करने योग्य कामोंका विचार है और तबतक ही धीरज है ॥८८॥ वे दोनों ही स्त्रीपुरुष अर्थात् जयकुमार और सुलोचना परस्पर अलग अलग सब इंद्रियोंके विषयोंका सेवनकर बडे भारी सुखका अनुभव कर रहे थे ॥ ८९ ॥ अत्यंत निकट संबंध होनेपर भी एक एक विषयको अनुक्रमसे ग्रहण करनेवालीं इंद्रियोंसे वे तृप्त नहीं होते थे और इसलिये ही वे दोनों सब इंद्रियोंके बदले एक ही इंद्रियको न करनेवाले विधाताकी निंदा करते थे। भावार्थ—सब इंद्रियोंका अनुभव एक साथ नहीं हो सकता इसलिये जिस नाम कर्मरूपी विधाताने सब इंद्रियां अलग अलग बनाई हैं सबको मिलाकर एक नहीं बनाई यदि सबको मिलाकर एक इंद्रिय बनाता तो सबका अनुभव

विर्वि ॥ ९० ॥ अन्योन्यविषय सौख्य त्यक्त्वाऽशेपान्यगोचर । स्तोकेन सुखमप्रासं प्रापतुः परमात्मनः ॥ ९१ ॥ सप्राप्तभावपर्यंतौ विदतुर्न स्वयं च तौ । मुक्त्वैक 'श सहैवोद्यत्स्वक्रियोद्रेकसभवं ॥ ९२ ॥ रतावसाने निःशक्त्योर्गाढौत्सुक्यात् प्रपश्यतोः । तयोरन्योन्यमाभाता नेत्रयोरिव पुत्रिके ॥ ९३ ॥ अत्रापि या तया प्रीतिस्तस्मात्तेन च या ततः । तयोरन्योन्यमेवासीदुपमानोपमेयता ॥ ९४ ॥ भुक्तमात्मभरित्वेन यत्सुखं परमात्मना । ततोऽप्यधिकमासीद्वा सँविभागेऽपि तत्तयोः ॥ ९५ ॥ इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिस्फीतामृताभसि । कामाम्भोधौ निमग्नौ तौ स्वैरं चिक्रीडतुश्चिरं ॥ ९६ ॥ तदा स्वमन्त्रि-

---

एकसाथ होसकता था उस विधाताकी निंदा करते थे ॥ ९० ॥ उन दोनोंने परस्पर एक दूसरेके आधीन रहनेवाला और सब साधारण लोगोंको मिलनेवाला सुख छोड दिया था और जो छोटे छोटे साधारण लोगोंको न मिल सके ऐसा आत्माका उत्कृष्ट सुख प्राप्त कर लिया था ॥ ९१ ॥ जिनके अंतःकरणमें उत्पन्न हुये विकारोंका अंत आ चुका है ऐसे वे दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओंकी अधिकतासे उत्पन्न हुये एक सुखको छोडकर स्वयं और कुछ नहीं जानते थे ॥ ९२ ॥ सुरतक्रीडाके अंतमें अशक्त हुये तथा गाढ उत्कंठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुये वे दोनों ऐसे जान पडते थे मानों आंखकी पुतलीमें पडेहुये चित्र ही हों ॥ ९३ ॥ जो सुख सुलोचनाको जयकुमारसे मिला था और जयकुमारको सुलोचनासे मिला था उसका उपमान उपमेय भाव उन्हीं दोनोंमें था। भावार्थ—उन दोनोंके प्रेम और सुखके समान अन्य किसीका सुख और प्रेम नहीं था वह सुख और प्रेम उन्हींमें था ॥ ९४ ॥ यद्यपि उन दोनोंका सुख परस्पर एक दूसरेको बांट दिया गया था तथापि परमात्माने सबके स्वामी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उससे भी कहीं अधिक सुखको वे दोनों अनुभव करते थे ॥९५॥ इसप्रकार परस्पर एक दूसरेसे उत्पन्न हुये प्रेमरूपी निर्मल अमृत ही जिसमें जल भरा हुआ है ऐसे कामदेव रूपी समुद्रमें डूबकर वे दोनों ही इच्छानुसार बहुत देर तक क्रीडा करते रहते थे ॥ ९६ ॥ इतनेमें ही जयकुमारके मंत्रीका एक पत्र आया,

प्रहितगूढपत्रार्थचोदितः । जयो जिगमिपुस्तूर्णं स्वं स्थानीयं वियो वशः ॥ ९७ ॥ भवद्भिर्भावितैश्वर्यं मां मदीया दिदृक्षवः। इति मामं समभेत्य प्रस्थानार्थमबूबुधत् ॥ ९८ ॥ तद्बुध्वा नाथवंशेशः किंचिदासीत्ससंभ्रमः । जये जिगमिषौ स्वस्मान्न स्यात्कस्याकुलं मनः ॥ ९९ ॥ विचार्य कार्यपर्यायं तथास्त्वित्याह स नृप. । स्नेहानुवर्तिनी नैति दीपिका वा धिय सुधीः ॥ १०० ॥ प्रादात्प्रागेव सर्वस्व तस्मै दत्तसुलोचनः । तथापि लौकिकाचारं परिपालयितु प्रभु ॥ १०१ ॥ दत्वा कोशादि सर्वस्वं स्वीकृत्य प्रीतिमात्मन. । अनुगम्य स्वयं दूर शुभेऽहनि वधूवर ॥ १०२ ॥ कथं कथमपि त्यक्त्वा स

उसे देखते ही अपने मंत्रीके द्वारा भेजे हुये पत्रका गूढ अर्थ ही जिसे जानेके लिये प्रेरणा कर रहा है, जो अपनी बुद्धिके आधीन है और अपने स्थानपर बहुत जल्दी जाना चाहता है ऐसे उस जयकुमारने अपने मामाके (ससुर अकंपनके) पास पहुंच कर अपने जानेकी सूचना दी कि हे तात! आपने जिसका ऐश्वर्य प्रगट किया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है ॥ ९७–९८ ॥ इसबातको जानकर नाथवंशका स्वामी अकंपन कुछ घबडाया, सो ठीक ही है क्योंकि अपनेसे जयके (जयकुमार अथवा विजय) अलग होनेपर किसका मन व्याकुल नहीं होता है? ॥ ९९ ॥ आगे होनेवाले सब कार्यों-को सोचकर राजाने कहा "अच्छा ठीक है" सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान लोग दीपकके समान स्नेह अर्थात् तेल वा प्रेमके अनुसार अपनी बुद्धिको नहीं चलाते हैं भावार्थ--प्रेममें फंसकर अपनी बुद्धिको नहीं छोड देते हैं ॥ १०० ॥ यद्यपि महाराज अकंपन सुलोचनाको देकर उसके साथ साथ ही उस जयकुमारको पहिले ही सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिये अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर किसी शुभ दिनमें उनको बिदा किया, सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ और सबके स्वामी ऐसे वे महाराज अकंपन थोडी दूरतक तो स्वयं उन दोनों स्त्री पुरुषोंके (जयकुमारसुलोचनाके) साथ साथ गये, फिर उन्होंने जिसतिसतरह बडी कठिनतासे उन्हें छोडा और उनके छोडनेसे शोक करते हुये वे वापिस लौटे, सो ठीक ही है क्योंकि अपनी संतानका

सजानिर्जनाग्रणीः । व्यावर्तत ततः शोकी तुग्वियोगो हि दुःसहः॥ १०३ ॥ विजयार्द्धं समारुह्य जयोऽपि ससुलोचनः । आरूढसामजैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभि. ॥ १०४ ॥ हेमांगदकुमारेण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्याः परिहासमनोहराः ॥ १०५ ॥ वृतः शशीव नक्षत्रैरनुगंगं ययौ शनैः । इला सचालयन् प्राग्वा श्रीमान् स जयसाधनः ॥ १०६ ॥ स्कंधावारं यथास्थान पारेगंग न्यवीविशत् । वीक्ष्य कक्षपुटत्वेन प्रशास्ता शास्त्रवित्तदा ॥ १०७ ॥ हटत्पटकुटीकोटिनिकटाटोपानिर्गमः । वभासे शिविरावासः स्वर्गावास इवापरः ॥ १०८ ॥ तं प्राप्य सिंधुरं रुध्वा स राजद्वारि

वियोग होना असह्य होता ही है ॥ १०१–१०३ ॥ वह जयकुमार सुलोचनाके साथ साथ विजयार्द्ध नामके हाथीपर सवार हुआ, विजयकुमार आदि सब छोटे भाई भी दूसरे हाथियोंपर सवार हुये, अपने छोटे भाइयों सहित हेमांगदकुमार भी इनके साथ चला, जिसप्रकार सब नक्षत्रोंसे घिरकर चंद्रमा चलता है उसीप्रकार इन सब लोगोंसे घिरा हुआ वह श्रीमान जयकुमार सब सेनाके साथ साथ जिसप्रकार पहिले दिग्विजय करनेके लिये निकला था उसीप्रकार बडे उत्सवके साथ रास्तेमें कहने योग्य हँसी विनोदकी मनोहर कथायें कहता हुआ तथा पृथ्वीको हिलाता हुआ धीरे धीरे गंगाके किनारे किनारे चला ॥ १०४-१०६ ॥ सबतरहके शास्त्रोंको जाननेवाले और सबपर आज्ञा करनेवाले महाराज जयकुमारने गंगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर नदीका किनारा और घासवाली जगह देखकर अपनी सेनाके डेरे कराये अर्थात् सेनाका पडाव डाला ॥ १०७ ॥ बडे बडे कपडोंके करोडों तंबुओंके समीप ही जिसमें आने जानेका रास्ता बनाया गया है ऐसा वह सेनाका पडाव ठीक दूसरी स्वर्गभूमिके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १०८ ॥ महाराज जयकुमारने बडे तंबूके पास पहुंचकर बडे दरवाजेके पास ही अपने हाथीको रोका, वहीं सब राजाओंको बिदा किया, फिर तंबूके भीतर जाकर हाथीको बिठाकर अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको धीरेसे उतारा और वे अपने योग्य स्थानपर कोमल शय्यापर सुखसे विराजमान हुये । उसी समयके योग्य

राजकं । विसर्ज्योच्चैः प्रविश्यातरवतीर्य निपाद्य त ॥ १०९ ॥ राजा सुलोचनां चावरोप्य स्वभुजलंबिनीं । निविश्य स्वोचिते स्थाने मृदुशय्यातले सुख ॥ ११० ॥ तत्कालोचितवृत्तज्ञः प्रिया संतर्पयन् प्रियैः । स्नानभोजनवाग्वाद्यगीतनृत्यविनोदनै. ॥ १११ ॥ नीत्वा रात्रिं सुखं तत्र प्रत्याय्य प्रत्ययं स्थितेः । ता निवेश्य समाश्वास्य हेमागदपुरस्सरान् ॥ ११२ ॥ नियोज्य स्वानुजान् सर्वान् सम्यक्कटकरक्षणे । आप्तैः कतिपयैरेव प्रत्ययोध्यमियाय सः ॥ ११३ ॥ अर्ककीर्त्यादिभि· प्रष्ठैः प्रत्यागत्य प्रतीक्षित· । सस्नेह सादर भूयः कुमारेणालपन् पुरिं ॥ ११४ ॥ सानुरागान्स्वय रागात्प्राविशद्वा विशापति. । न पूजयति के वाऽन्ये पुरुष राजपूजितं ॥११५॥ इंद्रो वेभाद्वहिर्द्वाराज्जिनस्योत्तीर्य भूपतेः । सभागेहं समासाद्य मणिकुट्टिमभूतलं ॥११६॥

समाचारोंको जाननेवाले उन जयकुमारने स्नान, भोजन, वातचीत, वाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर विनोदोंसे प्रिया सुलोचनाको संतुष्ट किया, रात वहीं सुखसे विताई, और फिर वहां ठहरनेका कारण समझाया, उसे सवतरह समझा बुझाकर वहींपर रक्खा, हेमांगद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वहीं सुलोचनाके पास रक्खा, अपने सव छोटे भाइयोंको अच्छीतरह सेनाकी रक्षा करनेके लिये नियुक्त किया और फिर थोडेसे वडे पुरुषोंको साथ लेकर वह अयोध्याको निकला ॥ १०९-११३ ॥ जव वह अयोध्या पहुंचा तव अर्ककीर्ति आदि मुख्य मुख्य राजा उसे लेनेके लिये सामने आये थे, वह महाराज जयकुमार कुमार अर्ककीर्तिके साथ वडे प्रेम और आदरके साथ वात चीत कर रहे थे इसतरह वडे प्रेमसे प्रेम करनेवाले सव लोगोंके साथ साथ उन्होंने उस अयोध्या नगरमें प्रवेश किया, सो ठीक ही है क्योंकि राजाके सिवाय अन्य ऐसे कौन पुरुष हैं जो राजमान्य पुरुषका आदर सत्कार न करें ॥ ११४-११५ ॥ जिसप्रकार इंद्र समवसरणके दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरता है उसीप्रकार वह जयकुमार भी राजभवनके दरवाजेपर पहुंचकर हाथीसे उतरा और सभाभवनमें पहुंचा, उस सभाभवनका फर्श मणियोंका वना हुआ था, उसके वीचोंवीच एक रत्नमंडप था जोकि दैदीप्यमान रत्नोंके जडे हुये खंभों पर खडा किया गया था, अनेक तरहके रेशमी वस्त्रोंका उसपर चंदोवा ताना

मध्ये तस्य स्फुरद्ररत्नखचितस्तंभसभृते । विचित्रनेत्रविन्यस्तसद्वितानविराजिते ॥ ११७ ॥ मणिमुक्ताफलाप्रोतलंबलंबूषभूषणे । परार्ध्यरत्नभाजालजटिले रत्नमंडपे ॥ ११८ ॥ विधु ज्योतिर्गणेनेव राजकेन विराजित । स्वकीर्तिनिर्मलैर्वीज्यमानं चमरजन्मभिः ॥११९॥ वेष्टितं वेंद्रधनुषा नानाभरणरोचिषा । रोचिषेव कृताकारं पूज्य पुण्यैश्चतुर्विधैः ॥ १२० ॥ तुगसिंहासनासीनं भास्वत वोदयाद्रिगं । राजराजं समालोक्य बहुशो भक्तिनिर्भरः ॥ १२१ स वा प्रणम्य तीर्थेश स्पृष्ट्वाऽष्टांगैर्धरातलं । कर प्रसार्य संभाव्य राज्ञैवासन्नमासनं ॥१२२॥ निजहस्तेन निर्दिष्ट दृष्ट्याऽलङ्कृत्य तुष्टवान् । व्यभासिष्ट सभामध्ये स

गया था जिसमें उसकी शोभा और भी बढगई थी, माणि और मोतियोंसे गुंथी हुई तथा लटकती हुई झालरोंसे वह बहुत ही सुशोभित हो रहा था और बहुमूल्य रत्नोंकी कांतिके समूहसे भर रहा था। जिसप्रकार उदयाचल पर्वतपर सूर्य सुशोभित होता है उसीप्रकार उस रत्नमंडपमें एक ऊंचे सिंहासनपर महाराज भरत विराजमान थे, जिसप्रकार तारा नक्षत्र आदि ज्योतिर्मंडलसे चंद्रमा सुशोभित होता है उसीप्रकार वे भरत भी अनेक राजाओंसे सुशोभित थे, अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर उनपर ढुलाये जा रहे थे, इंद्रधनुषके समान अनेक तरहके आभूषणोंकी कांति उनके चारोंओर पड रही थी, उससे वे ऐसे जान पडते थे मानों कांतिसे ही उनका शरीर बनाया गया हो तथा शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र और सातावेदनीय इन चारोंतरहके पुण्यकर्मोंसे वे पूज्य थे, इसप्रकारके राजाधिराज महाराज भरतको देखकर बहुतसी भक्तिसे भरे हुये जयकुमारने तीर्थ-करके समान जमीनको छूकर अष्टांग नमस्कार किया। महाराज भरतने भी अपना हाथ फैलाकर उसे आगे लिया, क्षेम कुशल पूछी, तथा अपने हाथके इशारेसे बताये हुये अपने समीपके ही आस-नपर उसे बिठाया और अपनी प्रसन्न दृष्टिसे उसे सुशोभित किया। इसप्रकार संतुष्ट हुआ वह जयकुमार उससमय उस सभामें एक बडे ही विलक्षण तेजसे सुशोभित हो रहा था ॥ ११६-१२३ ॥ तदनंतर वह चक्रवर्ती प्रसन्न मुख रूपी चंद्रमासे उत्पन्न हुई और सबको प्रसन्न करनेवालीं अपने

तदाऽन्येन तेजसा ॥१२३॥ प्रसन्नवदनेंदूद्यदाह्लादिवचनांशुभिः। वधूः किमिति नानीता तां द्रष्टुं वय मुत्सुकाः॥१२४॥वय किमिति नाहूतास्तद्विवाहोत्सवे नवे। अकपनैरिदयुक्त सनाभिभ्यो वहिष्कृताः॥१२५॥ नन्वह त्वत्पितृस्थाने मा पुरस्कृत्य कन्यका। त्वयाऽसौ परिणेतव्या त्व तद्विस्मृतवानसि॥१२६॥इत्यकृत्रिमसामोक्त्वा तर्पितश्चक्रवर्तिना। तदा विभावयन् भक्तिं स्ववक्त्र मणिकुट्टिमे ॥ १२७ ॥ नत्वाऽपराधवमादीव प्रतिगृह्य प्रभोर्दया। जय· प्रांजलिरुत्थाय राजराजं व्यजिज्ञपत् ॥ १२८ ॥ काशीदेशेशिना देव देवस्याज्ञाविधायिना। विवाहविधिभेदेषु प्रागस्ति स्वयवरः ॥ १२९ ॥ इति सर्वैः समालोच्य सचिवैः शास्त्रवेदिभिः। कल्याणं तत्समारब्धं दैवेन कृतमन्यथा ॥ १३० ॥ शात तत्त्वत्प्रसादेन मन्मूलोच्छेद कारण । रणं शरणमायात इत्येप भवतः

बचनरूपी किरणोंसे सबको प्रसन्न करता हुआ कहने लगा कि क्यों जयकुमार ! तुम बहूको (अपनी स्त्रीको) क्यों नहीं लाये, हम तो उसके देखनेके लिये बडे उत्कंठित हो रहे थे, और यह तो कहो कि इस नये विवाहके उत्सवमें हमको क्यों नहीं बुलाया ?, महाराज अकंपनने अपने भाई बंधुओंसे हमको अलग कर दिया, क्या यह उचित किया है ॥१२४-१२५॥ भला मैं तो बिल्कुल तुम्हारे पिताके समान था, तुम्हें मुझे आगेकर उस कन्याके साथ विवाह करना चाहिये था, खेद है कि तुम इस बातको भूलगये ॥ १२६ ॥ इसप्रकार चक्रवर्तीने स्वाभाविक मधुर भाषणोंसे उसे संतुष्ट किया, तब अपनी भक्तिको प्रगट करता हुआ जयकुमार नमस्कारकर एक अपराधीके समान अपना मुंह मणियोंकी बनी हुई जमीनमें देखने लगा और फिर महाराज भरतसे दया संपादनकर हाथ जोडकर उठा तथा महाराज भरतसे नीचे लिखे अनुसार निवेदन करने लगा ॥ १२७-१२८॥ कि हे देव ! आपकी आज्ञाको पालन करनेवाले काशीनरेश महाराज अकंपनने शास्त्रोंके जाननेवाले सब विद्वान और सब मंत्रियोंसे पहिले ही इस बातका विचार कर लिया था कि विवाहकी जितनी विधियां हैं उनमें एक स्वयंवरकी विधि भी अनादिकालसे चली आ रही है, यही सोचविचारकर यह उत्सव प्रारंभ किया था परंतु दैवने उसे उलट ही दिया ॥ १२९-१३० ॥ मुझे मूलसहित नाश करनेवाला वह युद्ध आपकी

क्रमौ ॥ १३१ ॥ सुरखेचरभूपालास्त्वत्पदांभोरुहालिनः । चक्रेणाक्रांतदिक्चक्र किंकरास्तत्र कोऽस्म्यहं ॥ १३२ ॥ देवेनानन्यसामान्यमाननां मम कुर्वता । ऋणीकृतः क्वाऽऽनृण्य भवातरशतेष्वपि ॥ १३३ ॥ नाथेंदुवशसरोहौ पुरुणा विहितौ त्वया । वर्द्धितौ पालितौ स्थापितौ च यावद्धरातलम् ॥ १३४ ॥ इति प्रश्रयणीं वाणीं श्रुत्वा तस्य निधीश्वर. । तुष्ट्या सपूज्य पूजाविद्वस्त्राभरणवाहनै. ॥ १३५ ॥ दत्वा सुलोचनायै च तद्योग्य विससर्ज तं । महीं प्रियामिवालिंग्य त प्रणम्य ययौ जयः ॥ १३६ ॥ संपत्सपन्नपुण्यानामनुबध्नाति संपद । पौरैर्वनीपकानीकैः स्तूयमानस्वसाहसः ॥ १३७ ॥ पुराद्गजं

कृपा वा प्रसादसे शांत हो गया इसलिये ही यह सेवक आपके चरणोंकी शरण आया है ॥ १३१ ॥ हे देव ! आपने अपने चक्रसे सब दिशाओंका समूह जीत लिया है अनेक देव, विद्याधर और राजा आपके चरणकमलके भ्रमर बनकर आपके सेवक होकर रह रहे हैं उन सबमें मैं भला किस गिनती में हूं ॥ १३२ ॥ हे देव ! आपने मुझे जो दूसरे साधारण लोगोंको न मिलसके ऐसा बडा मान देकर ऋणी (आभारी) बनाया है सो क्या मैं सैकडों भवोंमें भी इस ऋणसे छूट सकता हूं ? ॥ १३३ ॥ हे प्रभो ! ये नाथवंश और सोमवंश दोनों ही श्रीआदिनाथने तो प्रगट किये हैं और आपने इनको बढाया है, पालन किया है, तथा जबतक यह पृथ्वी रहेगी तबतकके लिये मजबूत कर दिया है ॥ १३४ ॥ आदर सत्कार किसतरह करना चाहिये इस बातको जाननेवाला वह चक्रवर्ती इसतरहके विनयसे भरे हुये वचन सुनकर बहुत संतुष्ट हुआ, वस्त्र, आभूषण और सवारी आदि देकर जयकुमारका आदर सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिये भी उसकी योग्यतानुसार वस्त्र आभूषण देकर उसे बिदा किया। जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथ्वीका स्पर्श कर भरतको प्रणाम किया और फिर वह वहांसे रवाना हुआ। इससे सिद्ध है कि जिनका पुण्य संपत्तियोंसे भराहुआ है ऐसे मनुष्योंकी ही संपदायें दिनपरदिन बढती रहती हैं। नगर निवासी लोग तथा याचकोंके समूह जिसके साहसकी स्तुति कर रहे हैं, जिसके मनमें प्रियासे मिलने की इच्छा है ऐसा वह जयकुमार नगरसे ही हाथीपर सवार

समारुह्य निष्क्रम्येप्सुर्मनःप्रिया । सद्यो गंगा समासन्नः स्वमनोवेगचोदितः ॥ १३८ ॥ शुष्कभूरुहशाखाग्रे समुखीभूय भास्वतः । रुवंत ध्वाक्षमालोक्य कातायाश्चितयम्भय ॥ १३९ ॥ मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात्तादृशो धिक् सुखं रतेः । समाश्वास्य तदोपाये. सुखमास्ते सुलोचना ॥ १४० ॥ जलाद्भयं भवेत्किंचिदस्माकं शकुनादितः । इत्युदीर्येंगितज्ञेन शकुनज्ञेन सांत्वितः ॥ १४१ ॥ सुरदेवस्य तद्वाक्यं कृत्वा प्राणावलंबन । व्रजन्स सत्वरं मोहादतीर्थेऽचोदयद्गजं ॥ १४२ ॥ हेयोपेयविवेकः कः कामिना मुग्धचेतसा । उत्पुष्करं स्फुरद्दतं प्रोद्यत्तत्प्रतिमानकं ॥ १४३ ॥ तरंतं मकराकारं मध्येह्रदमिभाधिपं । देवी कालीति पूर्वोक्ता

होकर निकला और अपने मनके वेगकी प्रेरणासे बहुत शीघ्र गंगा नदीके किनारे आगया॥१३५-१३८॥ वहांपर सूके वृक्षकी डालीके ऊपरी भागपर सूर्यकी ओर मुह किये एक कौवा रो रहा था, उसे देखकर वह कुमार 'प्रियाको कुछ भय हुआ होगा' यही सोचकर अत्यंत धीरवीर होकर भी प्रेमके वशसे मूर्छित होगया, (गैतम स्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं) कि हे राजन् ! ऐसे प्रेमसे उत्पन्न हुये सुखको भी धिक्कार हो । इशारेसे ही बातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसीसमय अनेक उपायोंसे उसे सचेत किया, दिलासा दी और कहा कि " सुलोचना तो राजी खुशी है, इस शकुनका यही फल है कि हम लोगोंको जलसे कुछ भय होगा " इसप्रकार कहकर उस पुरोहितने जयकुमारको शांत किया ॥१३९-१४१॥ शकुनको जाननेवाले उस पुरोहितके वचनोंको प्रमाण मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और भूलसे उसने अघाटमें ही अपना हाथी चलाया ॥१४२॥ सो ठीक ही है क्योंकि विचार रहित कामी लोगोंको हेय और उपादेयकी बुद्धि कहां होती है । वह हाथी पानीमें चलने लगा उससमय उसकी सूंड ऊंची उठ रही थी, दांत दैदीप्यमान हो रहे थे, गंडस्थल पानीके ऊपर था, वह तैर रहा था, मगर सरीखा दिख रहा था और एक गढेके बीचमें पहुंच गया था । उसीसमय दूसरी सार्पिणीके साथ समागम करते समय जिस सर्पको पहिले जयकुमारकी सेनाके लोगोंने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धारणकर

सरय्वाः संगमेऽग्रहीत् ॥ १४४ ॥ नक्राकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महता बली । दृष्ट्वा गज निमज्जंतं प्रत्यागत्य तटे स्थिताः ॥ १४५ ॥ ससंभ्रमं सहापेतुः न्हदं हेमांगदादयः । सुलोचनाऽपि तान्वीक्ष्य कृतपचनमस्कृतिः ॥१४६॥ मत्रमूर्तीन् समाधाय हृदये भक्तितोऽर्हतः । उपसर्गापसर्गांतं त्यक्ताहारशरीरिका ॥ १४७ ॥ प्राविशद्बहुभिः सार्धं गगा गगेव देवता । गंगापातप्रतिष्ठानगगाकूटाधिदेवता ॥ १४८ ॥ विबुध्यासनकंपेन कृतज्ञाऽऽगत्य सत्वर । तानानयत्तट सर्वान् संतर्ज्य खलकालिका ॥१४९॥ स्वयमागत्य के नात्र रक्षति कृतपुण्यकान् । गंगातटे विकृत्याशु भवन सर्वसंपदा ॥१५०॥

उस हाथीको पकड लिया, सो ठीक ही है क्योंकि अपने देशमें रहनेवाला क्षुद्र भी वडेवडोंसे बलवान हो जाता है। जयकुमारके हाथीको डूबते हुये देखकर हेमांगद आदि सब लोग भी गंगाके किनारे आकर खडे हो गये और घवडाकर वे उसी गडेमें घुसने लगे, सुलोचनाने भी उन सबको घुसते हुये देख कर अपने मनमें पंच नमस्कार मंत्रका स्मरण किया, उसी मंत्रकी मूर्तिस्वरूप ऐसे अरहंत भगवानको वडी भक्तिसे हृदयमें स्थापन किया और उस उपसर्गके दूर होनेतक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥ १४३–१४७ ॥ इस तरह वह गंगा देवताके समान अनेक सखियोंके साथ साथ गंगामें घुस गई। इतनेमें ही जहां हिमवान् पर्वतसे गंगा नदी पडती है उस गंगाप्रपातकुंडमें गंगाकूटपर निवास करनेवाली गंगा देवीका आसन कंपायमान हुआ, इससे उसने सब समाचार जान लिया तथा किये हुये उपकारको माननेवाली वह वडी शीघ्रतासे आकर दुष्ट कालिका देवीको ललकारकर उन सब लोगोंको किनारेपर ले आई ॥ १४८–१४९ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें ऐसे कौन हैं जो पुण्यवान लोगोंकी स्वयं आकर रक्षा न करें। तदनंतर उस गंगा देवीने अपनी विक्रियासे बहुत शीघ्र सब संपदाओंसे सुशोभित एक राजभवन बनाया, तथा मणियोंके बने हुये सिंहासनपर सुलोचनाको विराजमानकर उसकी पूजा की और कहा कि " पहिले तेने मुझे नमस्कारमंत्र दिया था उसीके प्रसादसे मैं गंगाकी अधिष्ठात्री देवता हुई हूं और सौधर्म इंद्रकी नियोगिनी

मणिपीठे समारोप्य पूजयित्वा सुलोचनां । तत्र दत्तनमस्काराज्जाते गंगाविदेवता ॥ १५१ ॥ त्वत्प्रसादादिदं सर्वमयत्काशमेरेगिनः । तयेत्युक्ते जयोऽप्येतत्किमित्याह सुलोचना ॥ १५२ ॥ उपविंध्याद्रि विख्यातो विंध्यपुर्यामभूद्विभु । विंध्यकेतु. प्रिया तस्य प्रियंगुश्रीस्तयोः सुता ॥ १५३ ॥ विंध्यश्रीस्ता पिता तस्या. शिक्षितु सकलान् गुणान । मया सह मयि स्नेहान्महीशस्य समर्पयत् ॥ १५४ ॥ वसंततिलकोद्याने क्रीडंती नैकदा दिवा । दष्टा तत्र मया दत्तनमस्कारपदान्यल ॥ १५५ ॥ भावयंती मृताऽत्रैव भूत्वायात्स्नेहिनी मयि । इत्यत्रैवेदसौ सोऽपि ज्ञात्वा सतुष्टचेतना ॥ १५६ ॥ तत्कालोचितमामोक्त्वा गंगादेवीं विसर्ज्य ता । सवलाकं प्रकुर्वंत स्वं चलत्केतुमालया ॥ १५७ ॥ स्वावासं संप्रविश्योच्चै सप्रिय. सह बंधुभि. । सस्नेहं

हुई हूं यह सव तेरे ही प्रसादसे हुआ है " गंगा देवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने सुलोचनासे पूछा कि 'यह क्या वात है' ॥ १५०-१५२ ॥ तव सुलोचनाने कहा कि विंध्याचल पर्वतके समीप विंध्यपुरी नामकी एक नगरी है उसका स्वामी विंध्यकेतु नामका प्रसिद्ध राजा है, उसकी रानीका नाम प्रियंगुश्री है, उन दोनोंके विंध्यश्री नामकी कन्या थी, उसके पिताने मुझपर प्रेम होनेसे मेरे साथ सव गुण सीखनेकेलिये महाराज अकंपनको समर्पण की ॥१५३-१५४॥ वह किसी एक दिन वसंततिलक नामके वागमें खेल रही थी, वहीं पर उसे किसी सांपने काट लिया, उसीसमय मैंने उसे पंच नमस्कार मंत्र सुनाया, उसी मंत्रका चिंतवन करती हुई वह मर गई और मरकर यह देवी हुई है, मुझपर प्रेम होनेसे यह इससमय यहां आई है, इतना कहनेसे जयकुमारने भी सव समचार जान लिया और चित्तमें वहुत संतुष्ट होकर उसने उसीसमयके योग्य मधुर वचन कहकर उस गंगादेवीको विदा किया । तदनंतर उसने अपनी प्रिया सुलोचना और सव भाई वंधुओंके साथ साथ फहराती हुई ध्वजाओंसे जिसका आकाश ऐसा दिखाई दे रहा है मानों उसमें वगुलाओंकी पंक्तियां ही उड रही हों ऐसे अपने पडावमें जाकर प्रवेश किया । वडे प्रेमसे महाराज भरतके कहे हुये वचन सवको सुनाये, उनकी दी हुई भेट स्वयं सवको अलग अलग दी, प्रिय सुलोचनाको वहुत ही प्रसन्न किया,

राजराजोक्तमुक्त्वा तत्प्रहितं स्वयं ॥ १५८ ॥ पृथक् पृथक् प्रदायातिमुदमासाद्य वल्लभां । नीत्वा तत्रैव ता रात्रिं प्रातरुत्थाय भानुवत् ॥ १५९ ॥ विधातुमनुरक्तानां भुक्तिमुद्योतिताखिलः । अनुगंगं प्रयान् प्रेम्णा कामिन्याः कुरुवल्लभः॥ १६० ॥ कमनीयैरतिप्रीतिमालापैरतनोत्तरा। जान्हवी दर्शितावर्तनाभिः कूलनितंबिका ॥ १६१ ॥ चटुलोज्वलपाठीनलोचना रमणोन्मुखी । तरंगबाहुभिर्गाढमालिंगनसमुत्सुका ॥ १६२ ॥ स्वभावसुभगा दृष्टहृदया स्वच्छतागुणात् । तटद्वयवनोत्फुल्लसुमनोमालभारिणी ॥१६३॥ अभिवृद्धरसा वेगं संधर्तुमसहा द्रुतं। पश्य कांते प्रिय याति स्वानुरूप पयोनिधिं ॥१६४॥ रतेः कामाद्विना नेच्छा न नीचेषूत्तमस्पृहा । संगमे तन्मयी जाता प्रेम नामेदृशं मतं । साफल्यमेतया नित्यमेति लावण्यमंबुधेः ॥ १६५ ॥ उत्पत्तिर्भूभृता

वह रात्रि वहीं बिताई, अपनेमें अनुरक्त हुये लोगोंके उदर पोषण (जीविका) करनेकेलिये जिसने सब दिशायें प्रकाशित कर दी हैं ऐसे सूर्यके समान वह सवेरे ही उठा और कुरुवंशियोंमें सबको प्रिय ऐसे उस जयकुमारने प्रिया सुलोचनाके प्रेमसे गंगाके किनारे किनारे ही प्रयाण किया ॥१५५–१६० ॥ तथा मनोहर बचनोंसे सुलोचनाको बहुत ही प्रसन्न किया, और फिर वह कहने लगा कि हे प्रिये देखो यह गंगानदी है, यह अपनी भंवररूपी नाभि दिखला रही है, दोनों, किनारे ही इसके नितंव हैं, चंचल और सफेद मछलियां ही नेत्र हैं, यह अभी क्रीडा करनेके सन्मुख होरही है, लहरें रूपी भुजाओंसे गाढ आलिंगन करनेके लिये उत्कंठित है, स्वभावसेही सुंदर है, स्वछता गुणसे इसका हृदय (भीतरी भाग) भी साफ दिखाई देरहा है, दोनों किनारेके बनोंमें फूलेहुये फूलोंकी माला पहनेहुये हैं, इसका रस (पानी वा प्रेम) बढ रहा है, अपने वेगको संभाल नहीं सकती इसलिये ही अपने योग्य ऐसे समुद्र रूपी अपने पतिके समीप बडी शीघ्रतासे जा रही है ॥ १६१-१६४ ॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके विना रतिकी इच्छा किसी दूसरी जगह नहीं होती है, उत्तम पुरुषोंकी इच्छायें कभी नीच पदार्थपर नहीं होती हैं, यह नदी समद्रमें मिलकर समुद्ररूप ही होगई है सो ठीक ही है क्योंकि सच्चा प्रेम इसीको कहते हैं, समुद्रका लावण्य [सुंदरता वा खारापन] इसीके समागमसे सदा सफल

पत्युर्धरण्या वर्धिता सती । वार्धिरेव पतिस्तस्मादेषाऽभूत्पापनाशिनी ॥ १६६ ॥ धवला धार्मिकैर्मान्या सतीनामुपमानतां । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तूयते देवतेति च ॥ १६७ ॥ गुणिनश्चेन्न के कान्त्या संस्तुवंति गुणप्रियाः । इति गंगागतैः श्रव्यैरन्यैश्चातिमनोहरैः ॥ १६८ ॥ ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः कुरुजागल । प्राप्य तद्वर्णनान्याजान्मोदयन्काशिपात्मजा ॥१६९॥ आसजानपदानीतफलपुष्पादिमिश्च सः । विकसन्नीलनीरेजसरोजातिविराजितैः ॥१७०॥ प्रत्येत्येव प्रपश्यंतीं सरोनेत्रैर्वधूवर । सद्वप्रजवनाभोगां वापीकूपोरुनाभिका ॥ १७१ ॥ परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिसूत्रिकां । अलंकृतमहावीथिविलसद्वाहुवल्लरीं ॥ १७२ ॥ सौधोत्तुंगकुचा भास्वद्गोपुराननशोभिनीं । कुंकुमागुरुकर्पूरकर्दमाद्रितगात्रिका ॥ १७३ ॥ नानाप्रसवसंदृब्धमालाधम्मिल्लधारि-

होता है ॥ १६५-१६६ ॥ इस सती (बहुत अच्छी) गंगाकी उत्पत्ति वा निकास पर्वतोंके पति हिमवान पर्वतसे है, पृथ्वीपर आकर यह बढी है और समुद्र ही इसका पति है इसलिये ही यह संसारमें पापोंको नाश करनेवाली कही जाती है ॥ १६७ ॥ यह सफेद है, धर्मात्मा लोग इसे पूज्य समझते हैं, सती लोगोंको इसकी उपमा दी जाती है, सब कवीश्वर देवता कहकर इसकी स्तुति करते हैं, सो ठीकही है क्योंकि गुणोंको प्रिय माननेवाले पुरुष यदि गुणवालोंकी स्तुति न करें तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा । इसप्रकार सुनने योग्य गंगाकी महिमा तथा और भी मनोहर कथायें कहकर वह रास्ता तय किया ॥ १६८ ॥ तदनंतर कितनेही मुकाम चलकर वह जयकुमार अपने कुरु जांगल देशमें जा पहुंचा, उस देशमें जो हस्तनागपुरी नगरी थी वह मानों उससमय अपनी शोभाके वहानेसे तथा आये हुये देशके लोग महाराजके लिये जो फल पुष्प आदि भेटमें लाये थे उनके वहानेसे काशीके महाराज अकंपनकी कन्या सुलोचनाको ही प्रसन्न कर रही थी, खिले हुये नीलकमल और सफेद कमलोंसे बहुत ही सुशोभित ऐसे सरोवररूपी नेत्रोंसे कुछ आगे आकर ही क्या मानों जयकुमार और सुलोचनाकी जोडीको देख रही थी, ऊंचा सुंदर कोट ही उसका जघनभाग था, वावडी और कूए ही उसकी नाभि थी, चारों ओर खडाहुआ सुवर्णका ऊंचा परकोटा ही करधनी थी, वडी वडी सडकें जो सुशो-

णीं । तोरणाबद्धरत्नादिमालालंकृतविग्रहा ॥ १७४ ॥ आह्वयंतीमिवोर्ध्वाधःपतत्केत्वग्रहस्तकैः । द्वारासंवृतिविश्रंभनेत्रा वासातरुत्सुका ॥ १७५ ॥ पुरोहितैः पुरंध्रीभिर्मंत्रिभिर्वैश्यविश्रुतैः । दत्तशेषः पुरःस्थित्वा साशीर्वादैः समुत्सुकैः ॥ १७६ ॥ तूर्यमंगलनिर्घोषैः पुरंदर इवापरः । सुलोचनामिवान्यां स्वां प्रविश्य नगरीं जयः ॥ १७७ ॥ राजगेहं महानंदविधायि विविधर्धिभिः । आवसत्कांतया सार्द्धं नगर्या हृदयं मुदा ॥ १७८ ॥ तिथ्यादिपंचभिः शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवे । सर्वसंतोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरं ॥ १७९ ॥ विश्वमंगलसपर्यया स्वोचितासनसुस्थिता । हेमांगदादिसान्निध्ये राजा जातमहो-

---

भित हो रही थीं वे ही उसकी सुंदर भुजारुपी लतायें (भुजायें) थीं, बडे बडे राजभवन ही ऊंचे कुच थे, देदीप्यमान नगरका बडा दरवाजा ही सुंदर मुख था, कुंकुम अगरु कपूर आदिकी कीचड ही उसके शरीरका सुगंध लेप था, अनेक तरहके फूलों की गुंथी हुई मालायें ही उसके केश थे, अनेक तरहके रत्नोंकी मालाओंसे जो तोरण बांधे गये थे उनसे उसका शरीर बहुत ही सुशोभित हो रहा था, ऊपर नीचे उडती हुई ध्वजाओंके अग्रभाग रूपी हाथोंसे ऐसी जान पडती थी मानो बुला रही ही हो, खुले हुये दरवाजे ही उसके टिमिकार रहित नेत्र थे और घर घर होनेवाले उत्सवोंसे मानों वह उत्कंठित हो रही थी, इसप्रकार वह नगरी ठीक दूसरी सुलोचनाके समान जान पडती थी, ऐसी उस अपनी नगरीमें, महाराजके दर्शनके लिये उत्कंठित हुये और अनेक आशीर्वाद देते हुये ऐसे पुरोहित, स्त्रियां, मंत्री और प्रसिद्ध शेठोंने साम्हने आकर, खडे होकर जिसे शेषाक्षत दिये हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरई आदि मांगलिक बाजोंके शब्दोंके साथ साथ दूसरे इंद्रके समान प्रवेश किया और अनेक तरहकी भरी हुई संपदाओंसे बडे भारी आनंदको देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें अपनी प्रिया सुलोचनाके साथ साथ बडी प्रसन्नतासे निवास किया ॥ १६९–१७८ ॥ तदनंतर जिसका ऐश्वर्य बहुत बढ गया है ऐसे महाराज जयकुमारने, बडा भारी उत्सव कराया, सबको संतुष्ट किया, सबसे पाहिले भगवान जिनेंद्रदेवकी पूजा की और फिर पंचमी आदि शुद्ध तिथि नक्षत्र वार

दयः ॥ १८० ॥ सुलोचनां महादेवीं पट्टबंध व्यधान्मुदा । स्त्रीषु संचितपुण्यासु पत्युरेतावती रतिः ॥ १८१ ॥ हेमांगदं ससोदर्यमुपचर्य ससम्भ्रम । पुरोभूय स्वय सर्वैर्भोग्यै. प्राघूर्णकोचितैः ॥ १८२ ॥ नृत्यगीतसुखालापैर्वारणारोहणादिभिः । वनवापीसर.क्रीडाकन्दुकादिविनोदनैः ॥ १८३ ॥ अहानि स्थापयित्वैव सुखेन कतिचित्कृती । तदीप्सितगजाश्वास्त्रगणिकाभूषणादिकं ॥ १८४ ॥ प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचित । चतुर्विधेन कोशेन तत्पुरीं तमजीगमत् ॥ १८५ ॥ सुखप्रयाणैः सम्प्राप्य दृष्ट्वा भूपं ससुप्रभं । प्रगम्याह्लादयन्नस्थान वधूवरवार्तया ॥ १८६ ॥ सुखं काले गल-

योग आदिसे देखे हुये शुद्ध मुहूर्तमें सवतरहकी मंगल संपदाओंके साथ साथ हेमांगद आदि सुलोचनाके भाइयोंके साम्हने ही वडी प्रसन्नतासे अपने योग्य आसनपर विराजमान महादेवी सुलोचनाके पट्टबंध वांधा अर्थात् उसे पट्टरानी बनाया, सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने पुण्य संचय किया है ऐसी स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥ १७९–१८१ ॥ उसके बाद चतुर जयकुमारने स्वयं साम्हने होकर सवतरहके भोगोपभोगोंकी चीजोंसे, नृत्य गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी घोडे आदिकी सवारियोंसे, वन, बावडी सरोवर आदिकी क्रीडाओंसे गेंदके खेल आदि प्रसन्न करनेवाली चीजोंसे तथा और भी आये हुये पाहुनोंके योग्य खेल तमाशोंसे आनंदके साथ होनेवाली शीघ्रतासे हेमांगद और उसके सव छोटे भाइयोंकी सेवा की, थोडे दिनतक उन्हें वडे सुखसे रक्खा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी घोडे वस्त्र, गणिका (दासी) आभूषण आदि देकर अपनी योग्यतानुसार उनके सव परिवारको संतुष्ट किया तथा रत्न, सोना, चांदी और व्यवहारमें चलनेवाले रुपये पैसे आदि चारों तरहका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर वनारसको विदा कर दिया ॥ १८२–१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही मुकाम चलकर वे हेमांगद आदि सव भाई वनारस पहुंचे, माता सुप्रभाके साथ महाराज अकंपनको देखते ही प्रणाम किया, जयकुमार सुलोचनाकी कुछ वातचीतोंसे उन्हें प्रसन्न किया और इसतरह वे सव रहने लगे ॥ १८६ ॥ इसतरह उनका बहुतसा समय निकल गया

स्तेवमकंपनमहीपतिः । तदा संचिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥ १८७ ॥ अहो मया प्रमत्तेन विषयांधेन नेक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्सारता चिरं ॥ १८८ ॥ आदावशुच्युपादानमशुच्यवयवात्मकं । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुश्चेष्टितालयं ॥ १८९ ॥ निरंतरस्रवोत्कोथनवद्वारशरीरकं । कृमिपुंजचिताभस्माविष्ठानिष्ठं विनश्वरं ॥ १९० ॥ तदध्युष्य जडो जंतुस्ततः पंचेंद्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः कुलिंगीव भूयोऽयात्कुत्सितां गतिं ॥ १९१ ॥ साऽऽशाखनिः किलात्रैव यत्र विश्वमणूपमं । ता पुपूर्षुः किलायाहं धनैः सख्यातिबंधनैः ॥ १९२ ॥ यदादाय भवेज्जन्मी यन्मुक्त्वा मुक्तिभागयं । तद्याथात्म्यमिति ज्ञात्वा कथं पुष्णाति धीधनः ॥ १९३ ॥ हा हतोऽसि चिरं जंतो मोहेनाद्यापि ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तत्त्यागःकातिदुर्ल-

---

तब एक दिन महाराज अकंपन काम भोगोंसे विरक्त होकर सोचने लगे ॥ १८७ ॥ कि अरे ! विषयोंमें अंधे हुये और विचाररहित मैंने शरीर संसार और भोगोंकी असारता इतने दिन तक नहीं देखी? यह बडे ही दुखकी बात है ॥ १८८ ॥ पहिले तो यह शरीर जिनसे बना है ऐसे माता पिताके शुक्र शोणित ही अपवित्र हैं, फिर इसके अवयव सब अपवित्र हैं, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापस्वरूप है, तथा दुःख और बुरी बुरी क्रियाओंका घर है ॥ १८९ ॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र ही बहा करता है, अंतमें या तो इसमें कीडे पडजायंगे या चितामें जल जायगा अथवा गीदड आदि खाकर विष्ठा कर देंगे, इसके सिवाय यह शरीर क्षणक्षणमें नष्ट होनेवाला है ॥ १९० ॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह अज्ञानी जंतु संसारके विषयरुप ईंधनोंसे बढी हुई पांचों इंद्रियोंकी अग्नियोंसे तपाया जाता है और फिर भी कुलिंगी जीवके समान नीच गतियोंमें पहुंचता है ॥ १९१ ॥ जिसमें यह सब संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशा रूपी गढा इसी शरीरमें है, इसी आशाको आज मैं थोडेसे नियमित धनसे पूरा करना चाहता हूं ॥ १९२ ॥ जिस शरीरको ग्रहणकर यह जीव जन्म मरण धारण करता है और जिसे छोडकर यह मुक्त हो जाता है। इसतरह शरीरके यथार्थ स्वरूपको जानकर भी बुद्धिमान लोग न जाने कैसे इसका भरण पोषण करते हैं ॥ १९३ ॥ हां ! हे

भः ॥ १९४ ॥ दुःखी सुखी सुखी दुःखी दुःखी दुःख्येव केवलं । धन्यधन्योऽधनो धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥ १९५ ॥ एवं विधैस्त्रिभिर्जंतुरीप्सितानीप्सितैश्चिर । चतुर्थं भंगमप्राप्य बभ्रमीति भवार्णवे ॥१९६॥ या वष्टययमसौ वष्टि परं वष्टि स चापरां । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरंपरा॥१९७॥ यदिष्टं तदनिष्टं स्याद्यदनिष्टं तदिष्यते । इष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥ १९८ ॥ स सा सा तत्तदेवैषा सा स स्यात्सोऽपि तत्पुनः । तत्स स्यात्तत्तदेवात्र चक्रके वक्रसंक्रमः ॥ १९९ ॥ अतमस्य विधास्यामि चिंतयित्वा जिनोदित । सतत जन्मकातारभ्रांतौ भीतोऽहमंतकात् ॥२००॥

जीव ! इस मोहनीय कर्मसे तू वहुत दिनसे ठगा गया है क्योंकि इस शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान आजतक तुझे नहीं हुआ है, अत्यंत दुर्लभ ऐसा इस शरीरका त्याग भला कहां मिल सकता है? ॥१९४॥ इस संसारमें जो दुखी हैं वे सुखी हो जाते हैं, जो सुखी हैं वे दुखी हो जाते हैं, वहुतसे दुखी केवल दुखी ही रहते हैं, इसीतरह धनी निर्धन हो जाते हैं, निर्धन धनी हो जाते हैं और निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते हैं। इसप्रकार इस जीवको "जो धनी हैं वे धनी ही रहें, जो सुखी हैं वे सदा सुखी ही रहें" यह चौथा भंग तो कभी प्राप्त नहीं होता, केवल ऊपर लिखे हुये इष्ट अनिष्ट ऐसे तीनों तरहके भंगोंसे यह सदा संसारमें भ्रमण किया करता है ॥ १९५–१९६ ॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है, वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह पुरुष किसी अन्य स्त्रीको चाहता है और वह स्त्री भी किसी दूसरे पुरुषको चाहती है। इसतरह यह इष्ट और अनिष्टकी परंपरा बडी ही दुःखदायक है ॥ १९७ ॥ आज जो इष्ट है कल वही अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इसतरह इससंसारमें इष्ट और अनिष्टकी स्थिति कहीं नियमरूपसे एक जगह नहीं रहती ॥ १९८ ॥ आज जो पुरुष है वह आगिले जन्ममें स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाता है, नपुंसक स्त्री हो जाती है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी फिर नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इसप्रकारके

भोगोऽयं भोगिनो भोगो भोगिनो भोगिनामकृत् । तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेष्विति ध्रुवं ॥ २०१ ॥ भुज्यते यः स भोगः स्याद्भुक्तिर्वा भोग इष्यते । तद्द्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद्भोगेषु का रतिः ॥ २०२ ॥ भोगास्तृष्णाग्निसंवृध्यै दीपनायौषधोपमाः । एभिः प्रवृद्धतृष्णाग्नेः शांत्यै चिंत्यमिहापरं ॥ २०३ ॥ इत्यतो नु सुधीः सद्यो वाततृष्णाविषो भृशं । हेमागदं समाहूय पूज्यपूजापुरस्सरं ॥ २०४ ॥ अभिषिच्य चलां मत्वा वध्वा पट्टेन वाऽचलं। लक्ष्मीं समर्प्य गत्वोच्चैरभ्यासं वृषभेशितुः ॥२०५॥ प्रव्रज्य बहुभिः सार्धं मूर्धन्यैः स ससुप्रभः । क्रमाच्छ्रेणीं समारुह्य कैवल्यमुदपादयत् ॥२०६॥

इस चक्रमें बदलने की गति बडी ही टेडी है ॥ १९९ ॥ इसलिये श्रीजिनेंद्रदेवके कहे हुये बचनोंका चिंतवनकर मैं अवश्य इस संसारका नाश करूंगा, क्योंकि निरंतर जन्म मरणरूपी बनके परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूं ॥ २०० ॥ भोग करनेवालोंके ये भोग ठीक सर्पके फणाके समान भयंकर हैं और इस जीवको भोगी अर्थात् सर्प ऐसा नाम देनेवाले हैं तथा वे भोग ऐसे होकर भी हमारे नहीं है निश्चयसे विषयोंमें रहनेवाले हैं ॥ २०१ ॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग करनेको भोग कहते हैं, वे दोनों तरहके भोग नरकमें भी मौजूद हैं फिर भला इन भोगोंमें क्यों प्रेम करना चाहिये ॥ २०२ ॥ जिसप्रकार औषधसे पेटकी अग्नि बढ जाती है उसीप्रकार इन भोगोंसे भी तृष्णारूपी अग्नि बढती है, इन भोगोंसे जिन लोगोंकी तृष्णारूपी अग्नि बढ गई है ऐसे लोगोंको उस अग्निको शांत करनेके लिये कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिये ॥२०३॥ जिसने तृष्णारूपी विष उगल दिया है ऐसे उस बुद्धिमान अकंपनने इसप्रकार सोचविचारकर बहुत शीघ्र हेमांगदको बुलाया, सबसे पहिले पूज्य परमेष्ठियोंकी पूजा की और फिर हेमांगदका राज्याभिषेककर लक्ष्मीको चंचल समझकर उसे पट्टसे बांध दिया, इसतरह लक्ष्मीको अचल बनाकर हेमांगदके सुपुर्द की और स्वयं अनेक राजाओं तथा सुप्रभा रानीके साथ साथ भगवान वृषभदेवके समीप जाकर दीक्षा धारण की, उन्होंने अनुक्रमसे श्रेणी चढीं और केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥ २०४–२०६॥

अथ जन्मांतरायातमहास्नेहातिनिर्भरः । सुलोचनाननानंदनेंदुबिंबात्स्नुतां सुधां ॥ २०७ ॥ उन्मीलन्नीलनीरेजराजिभिर्लोचनैः पिबन् । पूरयन् श्रोत्रपात्राभ्यां तद्गीगीतरसायनं ॥ २०८ ॥ हरन् करिकराकारकरालिंगनसंगतः । तद्गात्रकूपिकातःस्थं रसं स्पर्शनवेदिनं ॥ २०९ ॥ तद्बिंबाधरसंभवामृतास्वादनोत्सुकः । तद्वक्त्रवारिजामोदान्मोदमानोऽनिशं भृशं ॥ २१० ॥ अत्रैव न पुनर्वेति मम वामासमागमः । स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥ २११ ॥ प्रमाणकालभावेभ्यो यद्रतेः समता तयोः । ततः संभोगशृंगारावारापारातगौ हि तौ ॥ ११२ ॥ अतिपरिणतरत्या लोपितालेपनादिः

अथानंतर–वह जयकुमार पहिले जन्मसे आये हुये महास्नेहसे खूब भर रहा था, खुले हुये नील कमलोंके समान सुशोभित नेत्रोंसे सुलोचनाके मुखरूपी आनंद देनेवाले चंद्रमाके प्रतिबिंबसे निकले हुये अमृतको पीता था, उस सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने दोनों कान रूपी पात्रोंसे भीतर भरता था, हाथीकी सूंडके समान हाथोंके आलिंगनसे स्पर्शन इंद्रियसे जानने योग्य ऐसे उसके शरीर रूपी कूएके भीतर रहनेवाले रसको हरण करता था, बिंबाफलके समान उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतके स्वाद लेनेके लिये वह सदा उत्कंठित बना रहता था, उसके मुखरूपी कमलकी सुगंधिसे सदा खूब आनंदित रहता था, " मुझे स्त्रीका समागम इसी जन्ममें है आगे नहीं होगा " यही समझकर वह सुलोचनाके द्वारा अपनी चक्षु आदि इंद्रियोंको खूब तृप्त करता था॥२०७-२११ ॥ अवयवोंका प्रमाण, उमर और भाव इन सबसे उन दोनोंका प्रेम समान था इसलिये ही वे दोनों संभोगसे उत्पन्न हुये शृंगार रूपी समुद्रके पार पहुंच गये थे ॥ २१२ ॥ जिसने खूब बढे हुये प्रेमसे सुगंधि द्रव्योंका लेप माला आदि सब छोड दिये हैं ऐसा वह जयकुमार उस सुलोचनाके सब इंद्रियोंका विषयभूत होता था अर्थात् उसकी सब इंद्रियोंको तृप्त करता था, तथा वह सुलोचनाभी उस जयकुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी । इसतरह ये दोनों ही समान प्रेम करना ही जिनमें सारभाग है ऐसे सुखोंका अनुभव करते थे ॥ २१३ ॥ अलग अलग उत्पन्न हुये परिणामोंसे

स सकलकरणानां गोचरीभूय तस्याः । हितपरविषयाणा साऽपि तस्यैवमेतौ समरतिकृतसाराण्यन्वभूतां सुखानि ॥ ११३ ॥ मनसि मनसिजस्यावापि सौख्यं न ताभ्यां पृथगनुगतभावैः संगताभ्यां नितातं । करणमुखसुखैस्तैस्तन्मनः प्रीतिमापत् भवति परमुखं च क्वापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥ २१४ ॥ शिशिरसुरभिमंदोच्छ्वासजैः स्वैः समीरैर्मृदुमधुरवचोभिः स्वादनीयप्रदेशैः । ललिततनुलताभ्या मार्दवैकाकराभ्यामखिलमनयता तौ सौख्यमात्मेंद्रियाणि ॥ २१५ हृतसरसिजसारैरिष्टचेटीयमानैः सततरतनिमित्तैर्जालमार्गं प्रवृत्तैः । मृदुशिशिरतरैः संप्रापतुस्तौ समीरैः सुरतविरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यं ॥ २१६ ॥ तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति स्म तस्याश्चैन तदेव रतितृप्तिनिमित्तमासीत् । प्रेमापदत्र निजभावमचिंत्यमंत्यसातोदयश्च भवभूतिफलं तदेव ॥ २१७ ॥

अथवा पदार्थोंसे खूब मिले हुये उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवके सुखका अनुभव नहीं किया था किंतु इंद्रियोंसे उत्पन्न हुये उन उन सुखोंसे उन दोनोंने एक दूसरेका मन संतुष्ट किया था, सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं किसीको तृप्त कर सकता है ? ॥ २१४ ॥ अपनी उच्छ्वाससे (उसाससे) उत्पन्न हुई शीतल मंद सुगंध वायुसे कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद लेनेयोग्य ऐसे ओठ आदि अंगोंसे, तथा कोमलताकी एक खानके समान सुंदर शरीररूपी लतासे वे दोनों ही अपनी इंद्रियोंको पूर्ण सुख पहुंचाते थे ॥ २१५ ॥ जिसने कमलका सारभाग (परागरज) हरण कर लिया है, जो प्यारे दासके समान काम करता है, सदा रतिसुखका साधन होता है, झरोखेके रास्तेसे आता है और जो अत्यंत मंद तथा शीतल है ऐसे वायुसे वे दोनों ही संभोग सुखके अंतमें उत्पन्न हुये पसीनेके सूखनेके सुखको अनुभव करते थे ॥ २१६ ॥ जयकुमारके मनकी वृत्ति सुलोचनाके अनुसार होती थी तथा सुलोचनाके मनकी वृत्ति जयकुमारके मनके अनुसार होती थी, उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके आधीन होना ही उनके प्रेमको तृप्त करनेका साधन था । जयकुमार और सुलोचनामें उत्पन्न हुआ प्रेम जो चिंतवनमें न आ सके ऐसे दंपतिके पूर्ण भावको पहुंच गया था, उनके साता वेदनीयका उदय अंतिम था अर्थात् सबसे अधिक था और

कामोऽगमत्सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्यभावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः । को गर्वमुद्वहति चेन्न वृथाभिमानी स्वेष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥ २१८ ॥
एवं सुखानि तनुजान्यनुभूय तौ च नैवेयतुश्चिररतेऽप्यभिलापकोटिं । धिकृष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय तद्वीतविश्वविषयाय बुधा यतध्वं ॥ २१९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचनासुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्त्वारिंशत्तम पर्व ।

यही उनका संसारमें जन्म लेनेका फल था ॥ २१७ ॥ कामदेव वडा ही चतुर था इसालिये ही वह संभोग करते समय जयकुमारका शिष्य वनगया था और रति सुलोचनाकी चेली बनगई थी, सो ठीक ही है क्योंकि यदि यह मनुष्य व्यर्थ अभिमान करनेवाला न हो तो फिर ऐसा कौन है जो जिससे अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धि हो सकती है और जो गुणोंमें भी वडा है ऐसे पुरुषके साथ अभिमान करे ? भावार्थ–रति कामदेव जयकुमार सुलोचनासे कुछ सीखनेके लिये ही अभिमान छोडकर उनके शिष्य बनगये थे ॥ २१८ ॥ इसप्रकार उन दोनोंने ही शरीरसे उत्पन्न हुये सुखोंका अनुभव किया था, वहुत दिनतक सुखोंका अनुभव करते हुये भी उन दोनोंकी इच्छा पूरी नहीं हुई थी, इसालिये दुखके साथ कहना पडता है कि इष्ट विषयोंसे उत्पन्न हुये सुखको भी बार वार धिक्कार हो, अतएव हे पंडितो ! जिसमें संसारके सव विषय नष्ट होगये हैं ऐसे मोक्षसुखके लिये प्रयत्न करो ॥ २१९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यविरचित महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें जयकुमार सुलोचनाके सुखोंके अनुभवका वर्णन करनेवाला यह पैंतालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

अथ षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ।

जयः प्रासादमध्यास्य दत्तावलगनो मुदा । यदृच्छयाऽन्यदाऽऽलोक्य गच्छंतौ खगदंपती ॥ १ ॥ हा मे प्रभावतीत्येतदालपन्नतिविह्वलः । रतिमेवाहितः सद्यः सहायीकृत्य मूर्च्छया ॥ २ ॥ तथा पारावतद्वंद्वं तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥ ३ ॥ दक्षचेटीजनाक्षिप्रकृतशीतक्रिया क्रमात् । सद्यः कुमुदिनीवाप प्रबोधं शीतदीधितेः ॥ ४ ॥ हिमचदनसंमिश्रवारिभिर्मंदमारुतैः । सोऽप्यमूर्च्छो दिशः पश्यन् मंदमंदं तनुत्रपः ॥ ५ ॥ यूयं सर्वेऽपि सायतनाभोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स नागरः ॥ ६ ॥ अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्खलनदुःखितां ।

अथ छ्यालीसवां पर्व ।

अथानंतर--किसी एक दिन जयकुमार अपने राजभवनके ऊपर आनंदसे गद्दीपर बैठा था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुये दंपती विद्याधर अर्थात् स्त्रीपुरुष ऐसे दो विद्याधर देखे उन्हें देखकर "हा मेरी प्रभावती" इसतरह कहता हुआ वह बहुत ही व्याकुल हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर बहुत शीघ्र प्रेममें डूब गया भावार्थ–जातिस्मरण (पूर्व भवकी याद) होनेसे वह मूर्छित होगया ॥१-२॥ इसीतरह वह सुलोचना भी उसी जगह कबूतरके जोडेको देखकर "हा मेरा रतिवर" ऐसा कहकर मूर्छित हो गई ॥ ३ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाकी किरणोंसे कमोदनी खिल जाती है उसीप्रकार चतुर दासी जनोंने बहुत शीघ्र जो शीतोपचार क्रिया की थी उससे वह सुलोचना भी सचेत हो गई थी ॥ ४ ॥ कपूर चंदन मिले हुये जलसे तथा मंदमंद वायुसे कुछ लज्जित होता हुआ और सब दिशाओं की ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी सावधान हुआ ॥ ५ ॥ यद्यपि वह जयकुमार चतुर था और सब कुछ जानता था तथापि पूछने लगा कि तुम सब लोगोंका मुंह शामके कमलके समान कांति रहित क्यों हो रहा है ? ॥ ६ ॥ जयकुमारके मुंहसे जो प्रभावती शब्द निकलगया था उसे सुनकर दुखी हुई सुलोचनाको जयकुमारने अनेक तरहके विनय और उपायोंसे समझाया, विश्वास दिलाया, तथा

सुलोचना समाश्वास्य स्मरन् जन्मांतरप्रिया ॥ ७ ॥ आकारसंवृतिं कृत्वा तामेवालपयन् स्थितः । वचनाचवचः सर्वे प्रायः कांतासु कामिनः ॥ ८ ॥ तयोर्जन्मांतरात्मीयवृत्तात्तस्मृत्यनंतर । स्वर्गादनुगतो बोधस्तृतीयो व्यक्तिमीयिवान् ॥ ९ ॥ तद्विलोक्य सपत्न्योऽस्या श्रीमती सशिवंकरा । पराश्च मत्सरोद्रेकादित्यन्योन्य तदाऽब्रुवन् ॥ १० ॥ स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्या तामद्य कुर्वति । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः प्रत्ययीकृत्य मायया ॥ ११ ॥ पश्य कृत्रिममूर्च्छात्तभावनाव्यक्तसंवृतिः । संततांतःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥ १२ ॥ कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पतिं रतिवरेत्युक्त्वाऽयान्मुर्च्छां कुलदूषिणी ॥ १३ ॥ इयं शीलवतीत्येव निस्त्वनन्वर्णयत्यय । प्रायो रक्तस्य दोषोऽपि गुणवत्प्रतिभासते ॥ १४ ॥ प्रभावतीति समुद्य कितवः कोपि-

---

सुलोचनाको दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुंहके उस आकारको समेटकर उसी सुलोचनाके साथ बात चीत करने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः सव कामी पुरुष स्त्रियोंके ठगनेमें चतुर होते ही हैं ॥७-८॥ इन दोनोंको जव जन्मांतरके सव समाचार स्मरण हो आये उसके वाद ही उनके पहिले स्वर्गमें जो अवधिज्ञान था वह भी प्रगट होगया ॥ ९ ॥ इन सव वातोंको देखकर श्रीमती शिवंकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौत थीं वे उससमय ईर्षाके बढ आनेसे परस्पर एक दूसरेसे कहने लगीं ॥ १० ॥ कि " स्त्रियोंमें वडी ही मायाचारी (छल कपट) होती है यह जो कहावत है सो बिल्कुल ठीक है, देखो वही मायाचारी आज सुलोचनाने की है, पतिको मूर्छित देखकर मायाचारीसे स्वयं मूर्छित होगई है और इसतरह पतिको विश्वास दिलाकर वनावटी मूर्च्छासे इसने अपने मनका प्रगट हुआ भाव साफ ढक लिया है, सदासे अंतःकरणमें बैठे हुये गाढ प्रेमके जोशमें आकर पहिले जो कन्याव्रतका (शीलव्रतका) भंग किया था उसीसे भूलकर पहिले पतिका नाम लेनेसे यह सदोष है तथा इसलिये ही कुलको दोष लगानेवाली यह पहिले पतिको रतिवर नामसे पुकारकर बनावटी मूर्च्छासे मूर्छित हो गई है ॥ ११-१३ ॥ यह जयकुमार इसे "यह वडी शीलवती है" इसतरह कहकर वर्णन करता है, सो ठीक ही है क्योंकि अनुराग करनेवाले पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके

नीमिमा । प्रसिसादयिषुः शोकं तत्प्रीत्या विदधाति नः ॥ १५ ॥ एनान् सर्वांस्तदालापान् जयोऽवधिविलोचनः । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः स्मेरमाननं ॥ १६ ॥ कान्ते जन्मान्तरावाप्तं विश्वं वृत्तान्तमावयोः । व्यावर्ण्येमां सभां तुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥ १७ ॥ इति प्रचोदयत्साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्राक्रंस्त कलभाषिणी ॥ १८ ॥ इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि पुष्कलावती विषयमध्यस्था नगरी पुंडरीकिणी ॥१९॥ तत्राभवत्प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्मार्थकामानां स्वीकुर्वन् कृतिनां वरः ॥ २० ॥ कुबेरमित्रस्तस्यासीद्राजश्रेष्ठी प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशत् धनवत्याद्या भार्यास्तस्य मनःप्रियाः ॥ २१ ॥ गृहे तस्य समुत्तुंगे नानाभवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान्पारावतोत्तमः ॥ २२ ॥ कदाचिद्रा-

---

समान ही जान पडते हैं ॥ १४ ॥ प्रभावतीका नाम लेकर मूर्छित हुआ और क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोंको शोक उत्पन्न कर रहा है " ॥ १५ ॥ अवधिज्ञान ही जिसका नेत्र है ऐसा वह जयकुमार अवधिज्ञानसे इन सब कही हुई बातोंको जानकर और कुछ हँसीके साथ हँसते हुये सुलोचनाके मुखको देखता हुआ कहने लगा कि " हे प्रिये तू हम दोनोंके पहिले जन्मके सब समाचारोंको कहकर इस सभाको संतुष्ट और संदेहरहित कर " यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली तथा मधुर भाषण करनेवाली उस सुलोचनाने भी पहिले जन्मकी सब कथा कहनी प्रारंभ की ॥ १६-१८ ॥ इस जंबूद्वीपके पूर्व विदेहक्षेत्रमें एक पुष्कलावती देश है और उसीमें एक पुंडरीकिणी नगरी है ॥ १९ ॥ उसी नगरीमें प्रजाका पालन करता हुआ प्रजापाल नामका राजा था जो कि धर्म अर्थ काम इन तीनोंके फल संपादनकर सब पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ था ॥ २० ॥ उसी राजाका कुबेरमित्र नामका एक प्रतिष्ठित राज शेठ था और उसके मनको अच्छी लगनेवाली धनवती आदि उसके बत्तीस स्त्रियां थीं ॥ २१ ॥ अनेक घरोंसे घिरे हुये उस शेठके बहुत ऊंचे मकानमें एक रतिवर नामका उत्तम और बुद्धिमान कबूतर रहता था ॥ २२ ॥ कभी तो राजभवनसे आये हुये शेठ कुबेरमित्र बडे प्रेमसे हँसहँसकर बात-

जगेहागतेन वैश्येशिना स्वयं । स्नेहेन सस्मितालपैः स्वहस्तेन समुद्धतः ॥ २३ ॥ कदाचित्कामिनीकांतकराब्जार्पितशर्करा- । संमिश्रितान् सुशालीयतंडुलानभिभक्षयन् ॥ २४ ॥ कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टहेतुदृष्टांतपूर्वकं । अहिंसालक्षणं धर्मं भावयन् प्राणिनेहितं ॥ २५ ॥ कदाचिद्भवनायातयतिपादसरोजज । रेणुजालं निराकुर्वन् पक्षाभ्यां प्रत्युपागतः ॥ २६ ॥ स कदाचिद्गतिः का स्यात्पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुंडेन निर्दिशन् ॥ २७ ॥ अधोभागमथोर्ध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यात्तिर्यंचोऽपि विवेकिनः ॥ २८ ॥ क्रीडन्नानाप्रकारेण कांतया रतिषेणया । सार्धमेवं चिरं तत्र सुख कालमजीगमत् ॥ २९ ॥ असौ रतिवरः कांतस्त्वमहं सा तत्र प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जंतुः किं किं न जायते ॥ ३० ॥

चीत करते हुये उसे स्वयं अपने हाथपर उठाकर रखते थे, कभी वह स्त्रियोंके मनोहर करकमलोंसे दिये हुये मिश्री मिले हुये शालीय चांवलोंको खाता था, कभी शेठ कुबेरमित्र हेतु दृष्टांत पूर्वक प्राणियों के हित करनेवाले अहिंसाधर्मका उपदेश देते थे उसका चिंतवन करता था, कभी अपने घरपर आहार लेनेके लिये मुनिराज आते थे उनके सपीप जाकर उनके चरणकमलोंपर लगी हुई धूलको अपने पंखोंसे हटाता था, जब कभी कोई कौतुकसे उसे पूछता कि पापी लोगोंकी क्या गति होती है, और पुण्यवान लोगोंकी कैसी गति होती है ! तो वह जिसप्रकार शास्त्रोंमें पारंगत हुआ (अच्छी तरह आगमको जाननेवाला) कोई मौनी इशारेसे बतलाता है उसीप्रकार वह भी अपनी चोंचसे नीचेका भाग दिखलाकर पापी लोगोंकी गति कहता था और आकाशकी ओर ऊपरका भाग (स्वर्ग) दिखलाकर पुण्यवान लोगोंकी गति कहता था, सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यंच भी विवेकी हो जाते हैं ॥ २३-२८ ॥ उस कबूतरकी रतिषेणा नामकी एक कबूतरी थी, उसीके साथ बहुत दिनतक अनेकतरहसे क्रीडा करता हुआ वह वहीं सुखसे काल बिताने लगा ॥ २९ ॥ सुलोचना कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूं, देखो इस संसारमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव भला कौन कौन नहीं होता है अर्थात् किस किस

सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकांताख्यः कुबेरो वा परः सुधीः ॥ ३१ ॥ द्वितीय इव तस्यासीत्प्राणः सोऽनुचराग्रणीः । प्रियसेना ह्वयो बाल्यादारभ्य कृतसंगतिः ॥ ३२ ॥ आजन्मनः कुमारस्य कामधेनुरनुत्तमा । मनोभिलषितं दुग्धे समस्तसुखसाधनं ॥ ३३ ॥ क्षेत्रं निष्पादयत्येक गधशालिमनारतं । इक्षूनमृतदेशीयानन्यत्स्थूलास्तनुत्वचः ॥ ३४ ॥ स्वय मनोहर वीणा दन्ध्वनीति निरंतर । तत्स्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापह ॥ ३५ ॥ सुगंधिसलिलं गागं गंभीरं मधुर ध्वनन् । अमोधरो नभोभागादासन्नादवमुचाति ॥ ३६ ॥ कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अन्नपानं ददात्यन्यद्द्वयं कल्पमहीरुहः ॥ ३७ ॥ एवमन्यच्च भोगागमशेषं देवनिर्मितं । शश्वन्निर्विशतस्तस्य पूर्णं प्राथमिकं वयः ॥ ३८ ॥ तद्वीक्ष्य

गतिमें उत्पन्न नहीं होता है?॥ ३०॥ उस कुबेरमित्र शेठके धनवती स्त्रीसे पुण्यवान, बुद्धिमान् और दूसरे कुबेरके समान एक कुबेरकांत नामका पुत्र हुआ था ॥ ३१ ॥ उस कुबेरकांतके दूसरे प्राणके समान बालकपनसे ही साथ रहनेवाला एक प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था ॥ ३२ ॥ एक अत्यंत उत्कृष्ट कामधेनु कुमार कुबेरकांतके जन्मसे ही लेकर उसकी इच्छानुसार सब सुखके साधनोंको पूरा करती थी ॥ ३३ ॥ वह कामधेनु प्रतिदिन एक खेत तो सुगंधित शालि चांवलोंका उत्पन्न करती थी और एक खेत जिनका छिलका पतला है ऐसे पतले छिलकेवाले अमृतके समान बडे बडे ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥ ३४ ॥ तथा वही कामधेनु प्रतिदिन उस कुमारके सामने मनोहर वीणा वजाती थी, जब वह कुमार स्नान करता था तब वादल (मेघकुमार देव) उसके समीप आकर मधुर और गंभीर शब्द करते हुये आकाशसे सब तरहके रोग पसीना और मलको दूर करनेवाला सुगंधित गंगाका जल वरसाते थे ॥ ३५–३६ ॥ उस कुमारके लिये एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था, और एक पीनेकी चीजें देता था ॥ ३७ ॥ इनके सिवाय और भी देवोंके दिये हुये सब तरके भोगोपभोगोंका निरंतर उपभोग करते हुये उस कुमारकी पहिली कुमार अवस्था पूर्ण होगई थी ॥ ३८ ॥ जब उसकी जवानी आई तब उसे देखकर माता पिताओंको चिंता हुई कि यह

पितरावेष किमेकामभिलाषुकः । किं बह्वीरिति चिंतेन सदिहानौ समाकुलौ ॥ ३९ ॥ प्रियसेनं समाहूय तत्प्रश्नात्तन्मनोगतं । अवादीधरतां, मैत्री सैव यात्वेकचित्तता ॥ ४० ॥ ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या सहाभवत् । स्वसा कुबेरमित्रस्य तन्नाभैवैतयोः सुता ॥ ४१ ॥ प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेटिका रतिकारिणी । कन्यकास्ता विधायादिं द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥ ४२ ॥ श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाविधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन प्रियदत्तां गुणान्विता ॥ ४३ ॥ अवधार्यास्य पुत्रस्य पचताराबलान्विते । दिने महाविभूत्यैना कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥ ४४ ॥ तन्निमित्तपरीक्षायामवलोकितुमा-

---

एक कन्याके साथ विवाह करना चाहता है या बहुतोंके साथ, उसी चिंतासे उनके चित्तमें कुछ संदेह हो रहा था और वे कुछ व्याकुल हो रहे थे, तब कुबेरकांतके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उससे उसके मनकी बात पूछी और कहनेपर उन्होंने 'इसके एक पत्नीव्रत है' ऐसा अपना पक्का विचार कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक चित्त हो जाना ही मित्रता कहलाती है ॥ ३९–४० ॥ तदनंतर उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीका भाई था। उसे कुबेरमित्रकी बहिन कुबेरमित्रा व्याही गई थी। इन दोनोंसे प्रियदत्ता नामकी एक कन्या हुई थी और रतिकारिणी नामकी एक उसकी सखी थी, उस समुद्रदत्तके प्रियदत्ताको आदि लेकर सुंदर आकारवाली सब बत्तीस कन्यायें थीं ॥ ४१–४२ ॥ किसी एक दिन उस विद्वान् शेठ कुबेरमित्रने एक बागमें यक्षकी पूजा करतेसमय अपने निमित्तसे उन बत्तीसों कन्याओंकी परीक्षा की और सबमें प्रियदत्ताको ही गुणवती समझा। फिर जिस दिन सूर्य चंद्र गुरू शुक्र और मंगळ ये पांचों नक्षत्र अपने इष्ट स्थानपर थे उसी दिन बडी विभूतिके साथ कल्याण करनेवाली शास्त्रोंमें कही हुई विधिसे अपने पुत्रके लिये वह कन्या स्वीकार की ॥ ४३–४४ ॥ (कुबेरमित्रने जो उन कन्याओंमेंसे प्रियदत्ताकी परीक्षा की थी वह यह थी कि बत्तीस पात्रोंमे अनेक तरहके घी दूधके भोजन परोसकर किसी एकमें एक बहुमूल्य रत्न डाल दिया था और इसतरह परोसे हुये वे सब पात्र यक्षके

गते । सुते गुणवती राज्ञो यशस्वत्यभिधा परा ॥ ४५ ॥ भाजनं भक्षसंपूर्णमदत्तवति मातुले । स्वाभ्या लज्जाभरानम्रवदने जातनिर्विदे ॥ ४६ ॥ अमितानतमत्यार्यिकाभ्याशे सयम पर । आददाते स्म यात्येव काले तस्मिन्महीपतौ ॥ ४७ ॥ लोकपालाय दत्वाऽऽत्मलक्ष्मीं संयममागते । शीलगुप्तगुरोः पार्श्वे शिवकरवनांतरे ॥ ४८ ॥ देव्यः कनकमालाद्याः पुरो चोपाययुस्तपः । दुर्गमं च व्रजंत्यल्पाः प्रभुर्यदि पुरस्सरः ॥ ४९ ॥ लोकपालोऽपि संप्राप्त-राज्यश्रीर्विश्रुतोदयः । कुबेरमित्रबुध्यैव धरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥ ५० ॥ मत्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचःप्रियः । सवयस्को नृपस्याज्ञः प्रकृत्या

सामने रख दिये थे, फिर उन बत्तीसों कन्याओंको एक एक पात्र देकर भोजन कराया था, सबके भोजन कर चुकनेपर उसने सबसे पूछा था कि वह रत्न किसको मिला है वह रत्न प्रियादत्ताको मिला था इसलिये उसीको अपने पुत्रके योग्य समझा था) राजा प्रजापालकी गुणवती और यशस्वती नामकी दो कन्यायें थीं वे भी उस नैमित्तिक परीक्षामें देखनेके लिये आईं थीं, वे दोनों कन्यायें शेठ कुबेरमित्रकी भानजी थीं, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुये पात्र उन्हें नहीं दिये तब अपने आप ही लज्जाके भारसे उनका मुह नीचा होगया और उन्हें उसीसमय वैराग्य उत्पन्न हुआ ॥४५-४६॥ उन दोनोंने उसीसमय अमितमती और अनंतमती आर्जिकाके समीप जाकर उत्तम संयम धारण किया। इसतरह कितना ही समय व्यतीत होजानेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब राज्यलक्ष्मी अपने पुत्र लोकपालको देकर शिवंकर नामके बनमें शीलगुप्त गुरुके समीप जाकर संयम धारण किया। इसीतरह कनकमाला रानी तथा नगरकी और भी अच्छी अच्छी (बडे घरोंकी) स्त्रियोंने कठिन तपश्चरण धारण किया, सो ठीक ही है क्योंकि जब अपना राजा ही सबसे आगे चलता है तो छोटे छोटे मनुष्य भी उसी कठिन रास्तेसे निकल जाते हैं ॥ ४७–४९ ॥ महाराज लोकपाल भी राज्यलक्ष्मी पाकर सब संसारमें प्रसिद्ध हुआ और कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथ्वीका पालन करने लगा ॥ ५० ॥ फल्गुमति नामका उस राजाका एक मंत्री था जो कि अज्ञानी था, झूठ बोलना

चपलः खलः ॥ ५१ ॥ तत्समीपे नृपेणामा यद्वातद्वा मुखागतं । शंकमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठ्यपायं विचिंत्य सः॥ ५२ ॥ स्वीकृत्य शयनाध्यक्षं सामदानैस्त्वया निशि । देवतावंत्तिरोभूय राजन् पितृसमं गुरुं ॥ ५३ ॥ विनयाद्विच्युत राजश्रेष्ठिनं तव सन्निधौ । विधाय सर्वदा मा स्थाः कार्यकाले स हूयता ॥ ५४ ॥ इति वक्तव्यमित्याख्यत्सोऽपि सर्वं तथाऽकरोत् । अर्थार्थिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किंचन ॥ ५५ ॥ श्रुत्वा तद्वचन राजा समीराहूय मातुलं । नागंतव्यमनाहूतैरित्यनालोच्य सोऽब्रवीत् ॥ ५६ ॥ पश्चाद्विषविपाकिन्यः प्रागनालोचितोक्तयः । श्रेष्ठी तद्वचनात्सद्यः सोद्वेगं स्वगृहं ययौ ॥५७॥

उसे पसंद था, उम्रमें राजा लोकपालके समान था, राजाकी आज्ञा माननेवाला था और स्वभावसे ही वह चंचल और दुष्ट था ॥ ५१ ॥ वह मंत्री कुबेरमित्रके साम्हने मुँहपर आये हुये यद्वा तद्वा बचन कहनेमें कुछ डरता था इसलिये उसने शेठका कुछ बुरा करना सोचा ॥ ५२ ॥ उसने समझा बुझाकर और कुछ धन देकर महाराजके सोनेके (शयन करनेके) मकानके मुख्य पहरेदारको (शय्याके अधिकारीको) अपने वश किया, उसे समझाया कि तू रातमें देवताके समान छिपकर महाराजसे कहना कि हे राजन् ! राजश्रेष्ठी कुबेरमित्र पिताके समान बडे हैं, उन्हें सदा अपने पास रखनेमें उनकी विनय नहीं हो सकती इसलिये उन्हें सदा अपने पास मत रखिये जब कभी काम हो तब बुला लिया कीजिये ॥ ५३–५४ ॥ इसप्रकार फल्गुमतिने शय्याके अधिकारीको समझा दिया, उस अधिकारीने भी उसके कहनेसे सब काम ज्योंका त्यों कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें धनके लोभी लोगोंके लिये न करनेयोग्य काम कुछ भी नहीं है ॥ ५५ ॥ शय्याके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा कुबेरमित्रको बुलाकर कह दिया कि अबसे आप बिना बुलाये न आवें ॥ ५६ ॥ जो बात पाहिले विचार किये बिना ही कही जाती है उसका फल पीछेसे बिषके समान बहुत ही बुरा मिलता है, राजाके बचन सुनकर शेठको कुछ दुःख हुआ और वह शीघ्र ही अपने घर लौट आया ॥ ५७ ॥ किसी एक दिन वह राजा ललितघट

राजा कदाचित्प्राव्राजीद्घटया ललिताख्यया । विहारार्थं वनं तत्र वाप्यामालोक्य विस्मयात् ॥ ५८ ॥ तटशुष्काद्रिपासन्नशाखाग्रस्थपरिस्फुरन् । परार्ध्यवायसानीतपद्मरागमणिप्रभा ॥ ५९ ॥ मणिं मत्वा प्रविश्यांतर्नैष्टु केनाप्यलंभ्यसौ । भ्रांत्या प्रवर्तमानाना कुतः क्लेशाद्विना फलं ॥ ६० ॥ चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णाः सर्वे ते पुरमागमन् । बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य न निर्बंधः फलत्यसौ ॥ ६१ ॥ कदाचिद्भूपतिः श्रेष्ठिसुतया रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावर्यामात्मसौभाग्यसूचिना ॥ ६२ ॥ क्रमेण कुकुमार्द्रेण ललाटे स्फुटमङ्कितः । कांताः किं किं न कुर्वंति स्वभागपतिते नरे ॥ ६३ ॥ पट्टबंधात्परं

नामके हाथीपर बैठकर बनमें विहार करनेकेलिये गया था, उस बनमें एक बावडी थी, उसके किनारेपर एक सूखा पेड था उसकी ऊंची शाखापर एक कौवेने दैदीप्यमान और वहुमूल्य पद्मराग मणि लाकर रखदी थी उस मणिकी कांति उस बावडीके पानीमें पड रही थी, राजाने तथा राजाके सब साथियोंने उस पानीमें पडती हुई कांतिको ही माणि समझा और उसे देखकर बडा आश्चर्य किया, उस मणिको लेनेके लिये वे सब पानीमें घुसे परंतु उन सबमेंसे वह माणि किसीको भी नहीं मिला सो ठीक ही है क्योंकि जो लोग भ्रांतिसे ही (निश्चय किये विना) हरएक काममें प्रवृत्त हो जाते हैं उन्हें क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥ ५८–६० ॥ उन लोगोंने वहुत देरतक वह मणि उस बावडीमें ढूंढा परंतु वह नहीं मिला तब लाचार होकर वे सब लोग अपने नगरको लौट आये, सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि मुख्य नहीं होती है वह प्रयत्न कभी नहीं फलता है ॥ ६१ ॥ राजा लोकपालको शेठ कुबेरमित्रकी पुत्री वसुमती व्याही गई थी, वह रानी वसुमती अपने पति राजासे बहुत ही अनुराग रखती थी । एक दिन रातको राजा वसुमतीके साथ लेटा था, इतनेमें ही रानीने अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले और कुंकुम लगनेसे गीले ऐसे अपने पैरका राजाके ललाटपर साफ दिखनेवाला चिन्ह कर दिया, सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य जब अपने वश हो जाता है तब फिर स्त्रियां क्या क्या नहीं करती हैं ॥ ६२--६३ ॥ राजाने उस पैरके चिन्हको

मत्वा तत्क्रमाकं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मत्र्यादीनित्यबूबुधत् ॥ ६४ ॥ ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः । कर्तव्य तस्य किं वाच्यं ततो मत्र्यब्रवीदिद ॥ ६५ ॥ पट्टात् ललाटो नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद्वध्यः स प्राणान्तामिति स्फुटं ॥ ६६ ॥ तदाकर्ण्यावधूयैनं स्मितेनाहूय मातुलं । नृपोऽप्राक्षीत्स चाहैतत्प्रस्तुत प्रस्तुतार्थवित् ॥ ६७ ॥ तस्य पूजा विधातव्या सर्वालंकारसंपदा । इतितद्वचनात्तुष्ट्वा मणिवार्तां न्यवेदयत् ॥ ६८ ॥ मणिर्न जलमध्येऽस्ति तटस्थतरुसंश्रितः । प्रभा वाप्यामिति प्राह तद्विचिंत्य वणिग्वरः ॥ ६९ ॥ तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्य च मंत्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापान्महीपतिः ॥ ७० ॥ पश्य धूर्तैरहं मूढो वंचितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं प्राप्तसन्मानं प्रत्यासन्न व्यधा-

---

पट्टबंधसे भी बढकर माना और सबेरा होते ही राजाने सभामें बैठकर मंत्री आदिकों से पूछा ॥६४॥ कि यदि कोई अपने पैरसे राजाके ललाटका ताडन करे तो उसका क्या करना चाहिये? यह सुनकर फल्गुमति मंत्री कहने लगा कि राजाके ललाटको पट्ट ही (राजाका मुकुट ही) छू सकता है दूसरा नहीं यदि उसपर किसीने पैरसे ताडना की है तो अवश्य ही प्राण निकलने तक मारना चाहिये ॥ ६५-६६॥ यह सुनकर राजाने उस मंत्रीका खूब तिरस्कार किया तथा कुछ हँसकर मामा कुबेरमित्रको बुलाया और उससे यह सब हाल पूछा, इन सब बातोंको जाननेवाला कुबेरमित्र भी कहने लगा " कि जिसने आपके ललाटपर ताडना की है उसकी सब तरहके अलंकार रूपी संपात्तियोंसे पूजा करनी चाहिये " इसतरहके मामाके बचनोंसे संतुष्ट होकर राजाने बावडीमें दिखनेवाली माणिकी बात भी पूछी ॥ ६७-६८ ॥ उसे सुनकर सब वैश्योंमें उत्तम ऐसे कुबेरमित्रने सोचकर कहा कि वह माणि जलके भीतर नहीं थी किंतु किनारेके पेड पर थी, बावडीमें तो उसकी कांति पड रही थी ॥ ६९ ॥ यह सुनकर राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमानी अपनी मूर्खता और मंत्रीकी दुष्टता जानकर पछताने लगा और कहने लगा कि देखो इन धूर्तोंने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा, यह कहकर शेठ कुबेरमित्रका खूब आदर सत्कार किया और वह बुद्धिमान उसे सदा अपने पास रखने लगा॥७०-७१॥

त्सुधीः ॥ ७१ ॥ तत्रावापमहाभारं ततः प्रभृति भूपतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्मं काममन्वभूत् ॥ ७२ ॥ कदाचित्कांतया दृष्टपलितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी ता सत्यमद्य त्वं धर्मपत्नीत्यभिष्टुवन् ॥ ७३ ॥ हृष्ट्वा विमोच्य राजान वरधर्मगुरोस्तपः । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैरादाय सुरभूधरे ॥ ७४ ॥ तावुभौ ब्रह्मलोकातेऽभूता लौकातिकौ सुरौ । किन्न साध्य यथाकालपरिस्थित्या मनीषिभिः ॥ ७५ ॥ अन्येद्युः प्रियदत्ताऽसौ दत्वा दानं मुनीशिने । भक्त्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचित ॥ ७६ ॥ संप्राप्य नवधा पुण्यं तपसः सन्निधिर्मम । किमस्तीत्यब्रवीद्व्यक्तविनया मुनिपुंगव ॥ ७७ ॥ पुत्रलाभार्थि

उस दिनसे उस राजाने तंत्र अर्थात् अपनी प्रजाकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् अन्य राजाओंके संबंधका विचार करना इन दोनोंका बडा भारी भार शेठ कुबेरमित्रको सोंप दिया और आप निराकुल होकर धर्म और काम इन दो पुरुषार्थोंका अनुभव करने लगा ॥ ७२ ॥ किसी एक दिन शेठ कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने शेठके शिरमें एक सफेद बाल देखकर शेठसे कहा, शेठने यह बात सुनकर उसकी बडी स्तुति की और कहा कि आज तू सचमुच धर्मपत्नी हुई है, वह शेठ बडा ही प्रसन्न हुआ तथा राजाको छोडकर और शेठ समुद्रदत्त आदिको साथ लेकर उसने देव नामके पर्वतपर बरधर्म गुरुके समीप दीक्षा धारण की, शेठ समुद्रदत्त और कुबेरमित्र दोनों ही तपकर ब्रह्मलोक स्वर्गमें लौकांतिक देव हुये, सो ठीक ही है क्योंकि समयपर उत्पन्न हुये ज्ञानसे बुद्धिमानोंको क्या क्या सिद्ध नहीं होता है ? ॥ ७३-७५ ॥ दूसरे किसी एक दिन विपुलमति नामके चारण महामुनि प्रियदत्ताके (समुद्रदत्ताकी पुत्री और कुबेरकांतकी स्त्री) घर पधारे थे, प्रियदत्ताने उन्हें नौ तरहकी भक्ति और यथोचित विधिसे दान दिया, बडा भारी पुण्य संपादन किया और फिर बडी विनयसे मुनि महाराजसे पूछा कि मेरे तपश्चरण धारण करनेका समय समीप है या नहीं ? ॥ ७६-७७ ॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले मुनिराजने देखा कि इसके चित्तमें पुत्र होनेकी इच्छा है तब उन बुद्धिमान मुनिराजने अपने दाहिने हाथकी पांच उंगली और बायें हाथकी सबसे छोटी

तच्चित्तं विदित्वाऽवधिलोचनः । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमंगुलिपंचकं ॥ ७८ ॥ कनिष्ठमंगुलिं वामहस्तेऽसौ समदर्शयत् । पुत्रान् कालांतरे पंच साऽऽचैकामात्मजामपि ॥ ७९ ॥ ते कदाचिज्जगत्पालचक्रेशस्य सुते सम । अमितानंतमत्याख्ये गुणिन्यौ गुणभूषणे ॥ ८० ॥ प्रजापालतनूजाभ्या यशस्वत्या तपोभृता । गुणवत्या च संप्राप्ते पुरं तत्परमर्द्धिक ॥ ८१ ॥ राजा सांतःपुरः श्रेष्ठी चानयोर्निकटे चिरं । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमाययौ ॥ ८२ ॥ कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहं जंघाचारणयोर्युग । प्राविशद्भक्तितो स्थापयता तौ दंपती मुदा ॥ ८३ ॥ तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्राग्भव तत्पदाबुजं । कपोतमिथुनं पक्षैः परिस्पृश्याभिनम्य तत् ॥ ८४ ॥ गलितान्योन्यसंप्रीति बभूवालोक्य तन्मुनी । जातसंसारनिर्वेगौ निर्गत्यापगतो गृहात् ॥ ८५ ॥ प्रियदत्तेंगितज्ञैतदव-

---

उंगुली दिखाई अर्थात् दिखलाया कि पांच पुत्र और एक पुत्री होगी तथा कालांतरमें उस प्रियदत्ताके भी पांच पुत्र और एक पुत्री हुई ॥ ७८-७९ ॥ किसी एक दिन जिनके गुण ही आभूषण हैं, जो गुणवती हैं तथा जगतपाल चक्रवर्तीकी पुत्री हैं ऐसी अमितमति और अनंतमति नामकी अर्जिकायें तपश्चरणको धारण करनेवालीं राजा प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ साथ अनेक तरहकी धन संपदाओंसे सुशोभित ऐसी उस पुंडरीकिणी नगरीमें आईं ॥ ८०-८१ ॥ सब रानियोंके साथ साथ राजा लोकपाल और शेठ कुबेरकांत उन अर्जिकाओंके समीप गये, वहुत देरतक सद्धर्मका अस्तित्व तथा स्वरूप सुना और फिर दान देना आदि कार्योंको स्वीकार किया ॥ ८२ ॥ किसी एक दिन शेठ कुबेरकांतके घर दो जंघाचारण मुनि पधारें, उन दोनों स्त्री पुरुषोंने बडी प्रसन्नतासे और बडी भक्तिसे उन मुनियोंका पडगाहन किया ॥ ८३ ॥ उन मुनियोंके दर्शन करनेमात्रसे कुबेरकांतके घर रहनेवाले रतिवर रतिषेणा नामके कबूतर कबूतरीको पहिले जन्मका सब हाल मालूम होगया, उन दोनोंने ही अपने पंख फैलाकर उन मुनियोंके चरण कमलोंको स्पर्श किया तथा नमस्कार किया और उन दोनोंने परस्परका प्रेम छोड दिया, यह देखकर उन मुनियोंको भी संसारसे और वैराग्य बढा तथा दोनों ही निराहार शेठके घरसे निकल कर बनको

गम्यान्यदा तु तां । रतिषेणामपृच्छत्ते नाम प्राग्जन्मनीति किं ॥ ८६ ॥ सा तुडेनालिखन्नाम रतिवेगेति वीक्ष्य तत् । ममैषा पूर्वभार्येति कपोतः प्रीतिमीयिवान् ॥ ८७ ॥ तथा रतिवरः पृष्टः स्वनाम प्रियदत्तया । सुकाताख्योऽहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद्भुवि ॥ ८८ ॥ तन्निरीक्ष्य ममैवार्य पतिरित्यभिलाषुका । रतिषेणाऽप्यगात्तेन संगमं विध्यनुग्रहात् ॥ ८९ ॥ तत्सभावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलं । पुनः शुश्रूषवश्चासन् कथाशेषं सकौतुकाः॥९०॥ अन्यच्चाकर्णितं दृष्टमावाभ्यां यदि चेत्त्वया । ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तवति कौरवे ॥ ९१ ॥ निजवागमृताम्भोभिः सिंचती तां सभां शुभां । सुलोचनाऽब्रवीत्सम्यग्ज्ञायते श्रूयतामिति ॥ ९२ ॥ तदा मुनेर्गृहाद्भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणं । अज्ञात्वा भूपतेः प्रश्नादाहामितमतिः श्रुतं ॥ ९३ ॥ विषयेऽस्मि-

---

चले गये ॥ ८४-८५ ॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने वह सब समाचार जानकर किसी एक दिन उस रतिषेणा कबूतरीसे पूछा कि पहिले जन्ममें तेरा क्या नाम था ॥ ८६ ॥ उसने भी अपनी चोंचसे रतिवेगा ऐसा नाम लिख दिया उसे देखकर 'यह पहिले जन्मकी मेरी स्त्री है' यह समझकर वह कबूतर बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ८७ ॥ इसीतरह प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी पहिले जन्मका उसका नाम पूछा तब उसने भी जमीनपर "पहिले मेरा नाम सुकांत था" ऐसे अक्षर लिख दिये ॥ ८८ ॥ उन अक्षरोंको देखकर और 'यह मेरा ही पति है' यह जानकर उसीके साथ रहनेकी इच्छा करती हुई वह रतिषेणा भी शुभ कर्मोंके उदयसे उसीके साथ रहने लगी ॥ ८९ ॥ सुलोचनाकी कही हुई ये सब बातें सुनकर उस सभामें बैठनेवाले सब लोग बहुत ही प्रसन्न हुये और बाकी बची हुई कथाको सुननेकी इच्छा करते हुये बडी उत्कंठासे बैठे ॥ ९० ॥ तब जयकुमारने कहा कि हम दोनोंने इसके सिवाय और जो कुछ देखा वा सुना है वह यदि तुम्हें मालूम हो तो कहो, यह सुनकर अपने बचनामृतरूपी जलसे उस समस्त शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी कि "हां अच्छी तरह जानती हूं आप लोग सुनो" ॥ ९१-९२ ॥ जब वे मुनि शेठके घरसे आहार छोडकर चले गये और राजा लोकपालको उनके इसतरह जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब उसने अमित-

न्खगक्ष्माभृत्प्रत्यासन्न वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्णे पुरं परं ॥९४॥ शोभानगरमस्येश प्रजापालमहीपतिः । देवश्रीस्तस्य देव्यासीत्सुखदा श्रीरिवापरा ॥ ९५ ॥ शक्तिषेणोऽस्य सामतस्तस्याभूत्प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः सत्यदेव. सूनुरिमे सम ॥ ९६ ॥ सर्वेऽप्यासन्नभव्यत्वादस्मत्पादसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणामा समापन्मद्यमासयोः ॥ ९७ ॥ त्यागं पर्वोपवास च शक्तिषेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिवेलात्यये भुक्तिमग्रहीत्स गृहिव्रतं॥९८॥ तत्पत्नी शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे पचसमास्त्यागमाहारस्य समग्रहीत् ॥ ९९ ॥ अनुप्रवृद्धकल्याणनामधेयमुपोषित । सत्यदेवश्च साधूनां स्तवनं प्रत्यपद्यत ॥ १०० ॥ इत्यभूवन्नमी श्रद्धाविहीनव्रतभूषणा । स मृणालवतीं नेतु कदाचिदटवीश्रियं ॥ १०१ ॥ पित्रोः पुरीं प्रवृत्तः सन् शक्तिषेणः

मति अर्जिकासे पूछा, अमितमतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥ कि इसी पुष्कलावती देशमें विजयार्द्ध पर्वतके समीप धान्यकमाल नामका एक बडा भारी वन है और उस वनके समीप ही शोभानगर नामका एक बडा नगर है । उस नगरका शासन राजा प्रजापाल करता था और उसकी पट्टरानीका नाम देवश्री था, वह पट्टरानी दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४-९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिषेण नामका शूरवीर था उसको सुख देनेवाली अटवीश्री नामकी उसकी स्त्री थी और उन दोनोंके सत्यदेव नामका पुत्र था, ये सब निकटभव्य थे, एक दिन सबने साथ आकर मुझसे कुछ धर्मोपदेश सुना, तथा राजा रानीने मद्य मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया, भक्ति करनेवाले शक्तिषेणने भी गृहस्थोंके व्रत धारण किये और नियम किया कि मैं मुनिके भोजन करनेके समयको टालकर भोजन करूंगा, ॥ ९६-९८ ॥ शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने पांच पर्वतक शुक्लपक्षकी पडवा और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका (उपवास करनेका) नियम लिया तथा अनुप्रवृद्धकल्याण नामका उपवास (व्रत) करना स्वीकार किया और सत्यदेवने पंच परमेष्ठियोंका स्तोत्र करना स्वीकार किया ॥ ९९–१०० ॥ इसतरह ये सब सम्यग्दर्शनके बिना ही व्रतोंके धारण करनेवाले होगये । किसी एक दिन अटवीश्री अपने

ससैन्यकः । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरं ॥ १०२ ॥ निविष्टवानिदं चान्यत्प्रकृतं तत्र कथ्यते । पतिर्मृणालवत्याख्यनगर्यां धरणीपतिः॥१०३॥ सुकेतुस्तत्र वैश्येशस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियः ॥ १०४ ॥ तत्रैव दुहिता जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रिया ख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥ १०५ ॥ सुकांतोऽशोकदेवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि । भवदेवस्य दुर्वृत्त्या दुर्मुखाख्योऽप्यजायत ॥ १०६ ॥ स एव द्रव्यमावर्ज्य रतिवेगां जिघृक्षुकः । वाणिज्यार्थं गतस्तस्मान्नायात इति सां तदा ॥ १०७ ॥ मातापितृभ्यां प्रादायि सुकांताय सुतेजसे । देशांतरात्समागत्य तद्वार्ताश्रवणाद्भृशं ॥ १०८ ॥ दुर्मुखे कुपिते भीत्वा तदानीं तद्वधूवरं । व्रजित्वा शक्तिषेणस्य शरण समुपागतं ॥ १०९ ॥ तद्दुर्मुखोऽपि निर्बंधादनु-

---

माता पिताके यहां मृणालवती नगरमें गई थी, उसे लेनेके लिये सेनापति शक्तिषेण अपनी सेनाके साथ गया, उसने वापिस आते समय धान्यकमाल नामके वनमें सर्प सरोवरके समीप डेरा डाले, इसी समय एक दूसरी कथा हुई थी, वह इस तरहसे है कि उस मृणालवती नगरका राजा धरणीपति था, उसी नगरमें सुकेतु नामका एक राजशेठ था जोकि शेठ रतिवर्माका पुत्र था, सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके भवदेव नामका एक पुण्यहीन पुत्र हुआ था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त शेठ थे उनकी स्त्रीका नाम विमलश्री था, उन दोनोंके बहुत प्यारी और सती रतिवेगा नामकी पुत्री हुई थी ॥ १०५ ॥ उसी नगरमें अशोकदेव नामके एक शेठके उसकी जिनदत्ता नामकी स्त्रीसे सुकांत नामका पुत्र हुआ था। सुकेतुका पुत्र भवदेव वडा ही दुराचारी था इसलिये दुर्मुख भी उसका नाम पड गया था ॥ १०६ ॥ वह दुर्मुख रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था परंतु उसके पास कुछ धन नहीं था इसलिये वह व्यापार करनेके लिये वाहर गया, जब वह समयपर लौटकर नहीं आया तो रतिवेगाके माता पिताने वह तेजस्वी सुकांतके लिये दे दी । जब वह दुर्मुख देशांतरसे लौटा और उसने यह बात सुनी तब वह वडा ही क्रोधित हुआ, उसके डरसे सुकांत और रतिवेगा दोनों ही स्त्रीपुरुष भागे और भागकर शक्तिषेणके शरणमें जा पडे ॥ १०७-१०९ ॥ दुर्मुख भी अपने हठसे उन

गत्य वधूवरं । शक्तिशेणभयाद्‌बद्धवैरो निववृते ततः ॥ ११० ॥ तत्रैकस्मै वियच्चारणद्वंद्वाय समीयुषे । शक्तिषेणो ददावन्नं पाथेयं परजन्मनः ॥१११॥ तत्रैवागत्य सार्थेशो निविष्टो बहुभिः सह । विभुर्मेरुकदत्ताख्यः श्रेष्ठी भार्यास्य धारिणी ॥११२॥ मंत्रिणस्तस्य भूतार्थः शकुनिः सबृहस्पतिः । धन्वंतरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥ ११३ ॥ एभिः परिवृतः श्रेष्ठी हीनांगं कंचिदागतं । समीक्ष्यैनं कुतो हेतोर्जातोऽयमिति तान् जगौ ॥ ११४ ॥ शकुनिः शकुनाद्‌दुष्टाद्‌ग्रहात्पापाद्‌बृहस्पतिः । धन्वतरिस्त्रिदोषेभ्यो जन्मनीति समादिशत् ॥ ११५ ॥ भूतार्थस्त्वस्तु तत्सर्वं कर्म हिंसाद्युपार्जितं ।

दोनोंके पीछे २ भागा परंतु शक्तिषेणके डरसे अपना बैर मनमें ही रखकर वहांसे लौट आया ॥ ११० ॥ किसी एक दिन दो चारणमुनि शक्तिषेणके डेरेमें पधारे थे, शक्तिषेणने दूसरे जन्मकेलिये रक्खे हुये खर्चके समान शुद्ध आहार दिया था ॥ १११ ॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके मालिक ऐसे मेरुदत्त नामके शेठने अनेक लोगोंके साथ आकर डेरे दिये थे, उस शेठकी स्त्रीका नाम धारिणी था ॥११२॥ उस शेठके चार मंत्री थे, भूतार्थ, शकुनि, बृहस्पति और धन्वंतरि, ये चारों ही अपने अपने शास्त्रोंमें बडे ही निपुण थे ॥ ११३ ॥ एक दिन मेरुदत्त इन सबके साथ बैठा था कि इतनेमें ही वहांपर कोई हीन शरीरवाला (जिसका कोई अंग या उपांग नहीं था) आया, उसे देखकर शेठने उन लोगोंसे पूछा कि किस कारणसे यह ऐसा होगया है?॥ ११४॥ इसके उत्तरमें शकुन जाननेवालेने कहा कि जन्मके समय इसे बुरे सगुन हुये थे इसलिये ही यह ऐसा हुआ है, ज्योतिषको जाननेवाले बृहस्पतिने कहा कि इसके जन्ममें बुरे ग्रह पडे हैं इसलिये ही यह ऐसा होगया है, और वैद्य धन्वंतरिने कहा कि जन्मके समय इसे वात पित्त कफका विकार था इस लिये ही यह ऐसा होगया है ॥११५॥ तब भूतार्थने एक अच्छी युक्तिके साथ कहा कि आप लोग अपने सब कारणोंको रहने दीजिये, इसके हीनांग होनेका कारण यही है कि इसने हिंसा झूठ चोरी आदि पापकर्म किये होंगे इसीसे यह हीनांग हुआ है ॥११६॥ इतनेमेंही शक्तिषेण सेनापतिने जिसे अपना पुत्र मानकर पालन पोषण किया था ऐसे उस सत्यदेवका पिता

प्रधानकारणं तेन हीनांग इति सूक्तवान् ॥ ११६ शक्तिशेणमहीपालप्रतिपन्नतुजः पिता । सत्यदेवस्य दृष्ट्वाऽस्मिंस्तमन्विष्यन्यदृच्छया ॥ ११७ ॥ तदा कृत्वा महद्दुःखं सभ्यैराकर्ण्यतामिदं । च्युतं पयोऽतिपाकेन भाजनात्तंडुलानपि ॥ ११८ ॥ भक्ष्यमाणान्कपोताद्यैः पश्यंस्तूष्णीमयं स्थितः । क्रोधान्मातुः कनीयस्या भर्त्सनादागतोऽसहः ॥ ११९ ॥ अधस्ताद्वक्त्रविवर घ्राणस्येति तदप्ययं । क्षमते नेति सर्वेषा तदकर्मण्यता ब्रुवन् ॥ १२० गंतुं सहात्मना तस्यानभिलाषाद्विषण्णवान् । परस्मिन्नपि भूयास भवे ते स्नेहगोचरः ॥ १२१ ॥ इति कृत्वा निदानं स द्रव्यसंयममाश्रितः । प्रपेदे लोकपालत्वं तद्गत-स्नेहमोहितः ॥ १२२ ॥ कदाचिच्छुक्लपक्षस्य दिनादौ भार्यया सह । कृतोपवासया शक्तिशेणो भक्तिपुरस्सरः ॥ १२३ ॥ मुनिभ्या दत्तदानेन पचाश्च-

---

अपनी इच्छानुसार उसे ढूंढता हुआ वहां आनिकला, उस हीनांग पुत्र सत्यदेवको देखकर उसे बहुत दुख हुआ और वह कहने लगा कि हे सभासदो ! सुनो "एकवार घरमें चांवल पक रहे थे सो पानीके उफानसे बटलोईसे चांवल नीचे गिर गये और वे गिरे हुये चांवल कबूतर आदि पक्षियोंने चुगालिये, यह उन पक्षियोंको देख रहा था तथापि चुपचाप खडा रहा, वे पक्षी भगाये नहीं, तब इसकी माकी छोटी बहिनको क्रोध आया, उसने इसे कुछ ताडना की उस ताडनाको न सह सकनेके कारण यह यहां चला आया है " तेरी नाकके नीचे मुंहका छेद है " इस बातको भी यह नहीं सह सकता है " इस तरह उसके पिताने सब सभासदोंसे उसकी कर्तव्यहीनता कही ॥ ११७-१२० ॥ तथा उससे साथ चलनेके लिये प्रार्थना की, परंतु वह नहीं जाना चाहता था इसालिये दुःखी होकर उसने निदान किया कि " दूसरे जन्ममें भी तेरे साथ मेरा बहुत स्नेह हो " ऐसा निदानकर वह द्रव्यलिंगी मुनि होगया और उस सत्यदेवके प्रेमसे मोहित होकर वह मरकर लोकपाल हुआ ॥ १२१-१२२ ॥ किसी एक समय शुक्लपक्षकी पडवाके दिन शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्रीने उपवास किया था, उसी दिन उसके घर दो मुनिराज पधारे थे, शक्तिषेणने बडी भक्तिसे अटवीश्रीके साथ २ उन दोनों मुनिराजोंको आहारदान दिया था, जिससे उसके घर पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई थी, उसे देखकर शेठ मेरुदत्त और

र्थमवाप्तवान् । दृष्ट्वा तच्छ्रेष्ठिधारिण्यावावयोरन्यजन्मनि ॥ १२४ ॥ एतावपत्ये भूयास्ता निदानं कुरुतामिति । मंत्रिणस्तस्य चत्वारोऽप्यस्तसर्वपरिग्रहाः ॥ १२५ ॥ तपो विधाय कालाते समापन् लोकपालता । वधूवर च दानानुमोदपुण्यमवाप्ततत् ॥ १२६ ॥ तदाकर्ण्य महीशस्य देवी वसुमती तदा । स्वजन्मातरसबोधमूर्च्छानंतरबोधिता ॥ १२७ ॥ अह पूर्वोक्तदेवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमा श्रियं । प्राप्ता तदातनो राजा वद क्वाद्य प्रवर्तते ॥ १२८ ॥ इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूपतिः । लोकपालोऽयमित्युक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजं ॥ १२९ ॥ जन्मावबुध्य वदित्वा साऽटवीश्रीरियं त्वह । शक्तिषेणो मम प्रेयानसौ क्वाद्य प्रवर्तते ॥ १३० ॥ इति पृष्टाऽवदच्छक्तिषेणस्तेऽय मनोरमः । कुबेरदयितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तव ॥ १३१ ॥ देवभूय गताः

शेठानी धारिणीने निदान किया कि "अगिले जन्ममें ये दोनों हमारे ही संतान हों अर्थात् शक्तिषेण पुत्र हो और अटवीश्री पतोहू हो" शेठ मेरुदत्तके चारों मंत्रियोंने सब तरहका परिग्रह छोडकर तपश्चरण धारण किया और आयुके अंतमें शरीर छोडकर लोकपाल हुये । इसीतरह सुकांत और रतिवेगा जो शक्तिषेणके शरण आये थे उन्होंने भी उस दानकी अनुमोदना की और वडा भारी पुण्य संपादन किया ॥१२३-१२६॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको जातिस्मरण होगया और पहिले जन्मकी सब बात यादकर वह मूर्छित होगई, जब वह सचेत हुई तो अमितमति अर्जिकासे कहने लगी कि मैं पहिले जन्ममें शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मुझे यह लक्ष्मी प्राप्त हुई है, कहिये तो मेरा पहिले जन्मका पति राजा प्रजापाल आज कहां है ? ॥ १२७-१२८ ॥ वसुमतीका यह प्रश्न समाप्त होते ही अमितमतिने कहा कि तेरा पति राजा प्रजापाल इस जन्ममें भी तेरा पति लोकपाल हुआ है, इतनेमें ही प्रियदत्ताको जातिस्मरण होगया वह भी पहिले जन्मकी सब बातें जानकर नमस्कार कर बोली कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो यह मैं हूं, कहिये मेरा पति शक्तिषेण आज कहां है!, इसके उत्तरमें अमितमतिने कहा वह शक्तिषेणका जीव तेरा पति कुबेरकांत हुआ है, और सत्यदेव यह तेरा कुबेरदयित नामका पुत्र हुआ

श्रेष्ठिसाचिवास्त्वत्पतेर्भृशं । आरभ्य जन्मनः स्नेहात्परिचर्यां प्रकुर्वते ॥ १३२ ॥ कुबेरदयितस्यापि पिता प्राच्यः स सत्यकः । पाता गत्यंतरस्थाश्च पुण्या त्स्निह्यति देहिनः ॥ १३३ ॥ भवदेवेन निर्दग्ध द्विजावेतौ वधूवरं । सार्येशो धारिणी चेह पत्युस्ते पितराविमौ ॥ १३४ ॥ इत्युक्त्वा सेदमप्याह खगाचलसमीपगे । वसंतौ चारणावद्रौ मुनी मलयऽकाचने ॥१३५॥ पूर्वं वननिवेशे तौ भिक्षार्थं समुपागतौ । तत्र पुत्रसमुत्पत्तिमुपदिश्य गतौ ततः॥१३६॥ अन्येद्युर्वसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षामनादाय वन गतौ ॥ १३७ ॥ गुर्वोगुरुत्व युवयोरुपयातौ तयोरिदं । उपदेशात्समाकर्ण्य

है ॥ १२९-१३१ ॥ शेठ मेरुदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मंत्री थे और तपश्चरणकर लोकपल हुये थे वे अब प्रेमके कारण जन्मसे लेकर ही तेरे पतिकी सेवा कर रहे हैं (कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर वे लोकपाल ही सेवा कर रहे हैं) ॥ १३२ ॥ कुबेरदयितका पहिले जन्मका पिता जो सत्यक था वह तपश्चरण धारण करनेके कारण देव हुआ था वह अब कुबेरदयितकी रक्षा करता है, सो ठीक ही है क्योंकि पुण्य कर्मके उदयसे दूसरी गतिमें रहनेवाले जीव भी प्रेम करने लग जाते हैं ॥१३३॥ भवदेवने (दुर्मुखने) रतिवेगा और सुकांत उन स्त्रीपुरुषोंको जलादिया था इसलिये वे दोनों ही मरकर ये कबूतर कबूतरी हुये हैं, शेठ मेरुदत्त और धारिणी तेरे पति कुबेरकांतके माता पिता हुये हैं ॥ १३४ ॥ इतना कहकर वह अमितमति फिर कहने लगी कि विजयार्द्ध पर्वतके समीप मलयकांचन नामके पर्वतपर दो मुनिराज निवास करते हैं, जब पहिले जन्ममें शक्तिषेणने सर्प सरोवरके समीप डेरा डाले थे तब वे आहारके लिये तेरे यहां आये थे और तेरे पांच पुत्र और एक पुत्री होगी ऐसा कहकर चले गये थे, तदनंतर किसी दूसरे दिन इस जन्ममें तेरे घर पधारे थे उस समय तेरे पंचाश्चर्योंकी वर्षा हुई थी, परंतु वे कबूतर कबूतरीको देखकर पहिले जन्मकी बात सोचकर करुणा आजानेसे आहार किये बिना ही वनको लौट गये थे, वे ही दोनों तेरे पिता और तेरे पतिके (कुबेरमित्र और समुद्रदत्तके) गुरु हुये हैं, उन्हींके उपदेशसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं, जोकि

सर्वमुक्तं यथाक्रमं ॥ १३८ ॥ इति तेऽमितमत्युक्तकथावगमतत्पराः । स्वरूपं संसृतेः सम्यक् मुहुर्मुहुरभावयन् ॥ १३९ ॥ एवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसगतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाभ्या केन हेतुना ॥ १४० ॥ इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । ते च तत्कारण स्पष्ट यथावृत्तमवोचता ॥ १४१ ॥ ततो धनवती दीक्षा गणिन्याः सन्निधौ ययौ । माता कुबेरसेना च तयोरार्यिकयोर्द्वयोः ॥ १४२ ॥ तावन्येद्युः कपोतौ च ग्रामांतरमुपाश्रितौ । तंडुला पयोगाय समवर्तिप्रचोदितौ ॥ १४३ ॥ भवदेवचरेणानुबद्धवैरेण पापिना । दृष्टमात्रोत्थपापेन मारितौ पुन्दंशसा ॥ १४४ ॥ तद्राष्ट्रविजयार्द्धस्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते । गंधारविषयोशीरवत्याख्यनगरेऽधिपः ॥ १४५ ॥ आदित्यगतिरस्यासीन्महा देवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्माख्यः

अनुक्रमसे आप लोगोंको कहीं हैं ॥ १३५-१३८ ॥ इसप्रकार जब अमितमतिने यह सब कथा कही तब कथाके सुननेमें तल्लीन हुये सब लोग संसारका यथार्थ स्वरूप बार बार चिंतवन करने लगे ॥१३९॥ इसप्रकार कितना ही समय व्यतीत हो जानेपर एक दिन प्रियदत्ताने प्रसंग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है ? तब उन दोनोंने साफ साफ अपनी दीक्षाका सच्चा कारण बतला दिया ॥ १४०-१४१ ॥ तदनंतर संघकी अधिकारिणी अमितमतिके समीप कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने भी दीक्षा धारण की और अमितमती अनंतमती दोनों अर्जिकाओंकी माता चक्रवर्तीकी रानी कुबेरसेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥१४२॥ किसी एक दिन यमराजके भेजे हुये ही क्या मानों वे दोनों ही कबूतर चांवल चुगनेके लिये किसी दूसरे जंबू नामके गांवमें पहुंचे । वहांपर एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव मरकर हुआ था, उस पापीको पहिले जन्मके बंधे हुये वैरके कारण उन दोनों कबूतर कबूतरीको देखते ही क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने उन दोनोंको मार डाला ॥ १४३-१४४ ॥ उसी पुष्कलावती देशके विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गांधार नामका देश है और उसमें उशीरवती नामकी एक नगरी है, आदित्यगति नामका राजा उसका राज्य करता था और उसकी पट्टरानीका नाम शशिप्रभा था, रतिवर कबूतरका जीव मरकर उन

सुतो रतिवरोऽभवत् ॥ १४६ ॥ तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीविषयविश्रुते । पुरे भोगपुरे वायुरथो विद्याधराधिपः ॥ १४७ ॥ तस्य स्वयंप्रभादेव्यां रतिषेणा प्रभावती । बभूव जैनधर्मांशोऽप्यभ्युद्धरति देहिनः ॥ १४८ ॥ माता पिताऽपि या यश्च सुकातरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन्किलाभूतां चित्रं तावेव संसृतिः ॥ १४९ ॥ हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चेत्ससुलोचनः । रूपादिवर्णन तस्याः किं पुनः क्रियते पृथक् ॥ १५० ॥ यौवनेन समाक्रातां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीं । कस्मै देयेयामित्याह खगशो मंत्रिणस्ततः ॥ १५१ ॥ शशिप्रभा स्वसा देव्या भ्रातादित्यगतिस्तथा । परे च खचराधीशाः प्रीत्या

दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥ १४५-१४६ ॥ उसी विजयार्द्धकी उत्तरश्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके नगरमें विद्याधरोंका स्वामी वायुरथ नामका राजा राज्य करता था, उसकी पट्टरानीका नाम स्वयंप्रभा था, रतिषेणा कबूतरीका जीव मरकर उन दोनोंके प्रभावती नामकी कन्या हुई, सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी जीवोंका उद्धार कर देता है ॥ १४७-१४८ ॥ सुकांत और रतिवेगाके जो पहिले माता पिता थे वे ही इस जन्ममें भी माता पिता हुये हैं अर्थात् सुकांतके माता पिता अशोक और जिनदत्ता तो आदित्यगति और शशिप्रभा हुये हैं तथा रतिवेगा के माता पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस जन्ममें स्वयंप्रभा और वायुरथ हुये हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बडा ही आश्चर्य करनेवाला है ॥ १४९ ॥ जब जयकुमारने सुलोचना ऐसी सुंदरी स्त्रीके साथ बैठकर भी " हा मेरी प्रभावती " कहा तब फिर उसके रूपका अलग वर्णन करना व्यर्थ है, भावार्थ—वह बहुत ही सुंदरी थी ॥ १५० ॥ जब वह प्रभावती कन्या युवावस्थाको प्राप्त हुई तब उसे देखकर वायुरथ विद्याधरने मंत्रियोंसे विचार किया कि यह कन्या किसको देनी चाहिये ? ॥ १५१ ॥ मंत्रियोंने आपसमें निश्चयकर कहा कि " शशिप्रभा आपकी बहिन है और आदित्यगति आपकी पट्टरानीका भाई है। ये दोनों ही अपने पुत्र हिरण्यवर्माके लिये इस कन्याको मांग रहे हैं, इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर बडे प्रेमसे इसे मांग रहे हैं इसलिये

याचंत कन्यकां ॥ १५२ ॥ ततः स्वयवरो युक्तो विरोधस्तन्न केनचित् । इत्यभाषंत निश्चित्य तद्भूपोऽप्यभ्युपागमत् ॥ १५३ ॥ ततः सर्वेऽपि तद्वार्ताकर्णनादागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहीद्रत्नमालया ॥ १५४ ॥ मातापितृभ्या तद्दृष्ट्वा सपृष्टा प्रियकारिणी । यो जयेद्गतियुद्धे मा माला संयोजयाम्यह ॥ १५५ ॥ कठे तस्येति वक्त्येषा प्रागित्याह सखी तयोः । श्रुत्वा तत्रदिने सर्वानुचितोक्त्या व्यसर्जयत् ॥ १५६ ॥ अन्येद्युः खचराधीशो घोषयित्वा स्वयंवरं । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य माला पुरः स्थिता ॥ १५७ ॥ अपातयन्महामेरोस्त्रिःपरीत्य महीतलं । अस्पृष्टां खेचराः केचित्ता ग्रहीतुमनीश्वराः ॥ १५८ ॥ त्रपां गताः समादाय प्रभावत्या विनिर्जिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानभंगेन मानिनां ॥ १५९ ॥ ततो हिरण्यवर्माऽया-

---

स्वयंवर करना ठीक है इसमें किसीका विरोध नहीं है “ यह सुनकर राजाने भी यह बात स्वीकार की ॥ १५२-१५३ ॥ तदनंतर स्वयंवरकी बात सुनकर बहुतसे राजकुमार आये, परंतु प्रभावतीने इन सबमेंसे किसीको भी गलेमें रत्नमाला डालकर स्वीकार नहीं किया ॥ १५४ ॥ यह देखकर माता पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इसका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि इस कुमारीने पहिले ऐसा कहा था कि “ जो कोई मुझे गतियुद्धमें जीतेगा उसीके गलेमें मैं रत्नमाला डालूंगी ” यह सुनकर राजा वायुरथने यथायोग्य बातचीतकर उस दिन सबको बिदा कर दिया ॥१५५-१५६॥ दूसरे दिन विद्याधरोंके स्वामी वायुरथने फिर स्वयंवरकी घोषणा की और कहा कि “ सिद्धकूट नामके चैत्यालयके द्वारसे यह माला नीचे छोडी जायगी, जो कोई विद्याधर माला छोडे बाद मेरुपर्वतकी तीन प्रदक्षिणा देकर प्रभावतीके पहिले उसे अधर (जमीनपर न लगनेके पहिले) ले लेगा वही इसका पति होगा ” यह सुनकर बहुतसे विद्याधरोंने ऐसा किया परंतु प्रभावतीके पहिले उसे न ले सके इसलिये प्रभावतीसे हारकर वे बहुत ही लज्जित हुये, सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोंके मानभंगकी बराबरी नहीं कर सकती है ॥ १५७-१५९ ॥ तदनंतर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उसने प्रभावतीके पहिले वह माला ले ली तब प्रभावतीने हारकर

द्वतियुद्धविशारदः । मालामासंजयामास तत्कंठे तेन निर्जिता ॥ १६० ॥ तयोः जन्मातरस्नेहसमृद्धसुखसंपदा । काले गच्छति कस्मिंश्चित्कपोतद्वयदर्शनात् ॥ १६१ ॥ ज्ञातप्राग्भवसबंधा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिता शोकाकुलेकैव चिंतयती किमप्यसौ ॥ १६२ ॥ हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटं । पट्टकं प्रियकारिण्या हस्ते समवलोक्य तं ॥ १६३ ॥ क्व लब्धमिदमित्याख्यत् प्राह साऽपि प्रियेण ते । लिखितं चेटकस्तस्य सुकांतो मे समर्पयत् ॥ १६४ ॥ इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकं । प्राक्तनं पट्टके तस्या लिखित्वाऽसौ करे ददौ ॥ १६५ ॥ तद्विलोक्य कुमारोऽभूत्प्रभावत्यां प्रसक्तधीः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या द्विगुणाऽभवत् ॥ १६६ ॥ संभूय बांधवाः सर्वे कल्याणाभिषवं तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं

वह माला उसीके गलेमें डाल दी ॥ १६० ॥ उन दोनोंका पहिले जन्मका प्रेम था इसलिये उस स्नेहसे उन दोनोंकी सुख संपत्ति खूब ही बढ गई थी, इसतरह उनका बहुतसा काल व्यतीत हो गया, तब एक दिन एक कबूतर कबूतरीके जोडेको देखकर प्रभावतीको जातिस्मरण हुआ, पहिले जन्मका संबंध जानकर उदास और शोकसे व्याकुल होकर अकेली ही बैठी बैठी वह कुछ सोच रही थी ॥१६१-१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जातिस्मरण हुआ था, इसने एक कपडेपर पहिले जन्मका सब हाल साफ साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह चित्र देखकर उसे पूछा कि "यह चित्र तुझे कहांसे मिला है?" सखीने कहा कि "यह चित्र तेरे पतिने लिखा है और उसके नौकर सुकांतने मुझे दिया है" सखीकी यह बात सुनकर प्रभावतीने भी एक कपडेपर अपने पहिले जन्मका सब हाल लिखा और लिखकर कुमार हिरण्यवर्माको देनेके लिये सखीके हाथमें दिया ॥ १६३-१६५ ॥ उस चित्रको देखकर हिरण्यवर्मा भी प्रभावतीसे बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मासे बहुत अनुराग करने लगी, पहिले जन्मके स्नेहसे उन दोनोंका प्रेम परस्पर दूना होगया था ॥ १६६ ॥ कुटंबके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगलाभिषेक किया मानों उन्होंने दूसरा कल्याण ही करना विचारा हो॥१६७॥किसी एक दशमीके दिन ये दोनों

ते चिकीर्षवः ॥ १६७ ॥ दशम्या सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ क्वचित् । हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणः ॥ १६८ ॥ प्रभावत्या च पृष्टोऽसौ स्वपूर्वभववृत्तक । अभाषत मुनिश्चैवमनुग्रहधिया तयोः ॥ १६९ ॥ तृतीयजन्मनीतोऽत्र संभूतौ वाणीजा कुले । रतिवेगा सुकांतश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥ १७० ॥ भर्तृभार्याभिसंवंधं संप्राप्यारिभयाद्गतौ । कृत्वाऽनुमोदन शक्तिशेणदाने सपुण्यकौ ॥ १७१ ॥ पारावतभवे चाप्य धर्म जातौ युवामिति । विधाय पितरौ वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥ १७२ ॥ तृतीयजन्मनो युष्मद्गुरवोऽह च सगताः । रतिषेणगुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरं ॥ १७३ ॥ जिनेंद्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा । विधाय पूजा समजायामहीह खगाधिपाः ॥ १७४ ॥ पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा श्रीध-

---

ही स्त्री पुरुष सिद्धकूट पर्वतपर गये थे वहां स्नान पूजा आदि करते समय हिरण्यवर्माने परम अवधिज्ञानको धारण करनेवाले चारण मुनि देखे तव प्रभावतीने अपने पहिले भवका वृतांत पूछा, मुनिराजभी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोंके पहिले भवका वृतांत इसप्रकार कहने लगे ॥ १६८-१६९ ॥ कि तुम इस जन्मसे तीसरे भवमें मृणालवती नगरमें वैश्यकुलमें रतिवेगा और सुकांत हुये थे ॥१७०॥ तुम दोनोंका स्त्रीपुरुषका संवंध हुआ था, शत्रुके भयसे तुम दोनों ही भागकर शक्तिषेणके यहां गये थे, वहांपर शक्तिषेणने जो मुनिराजको दान दिया था उसकी अनुमोदनाकर तुम दोनोंने पुण्य उपार्जन किया था, फिर मरकर तुम दोनों कबूतर कबूतरी हुये थे, वहां तुम्हें धर्मकी प्राप्ति हुई थी और वहांसे आकर तुम विद्याधर विद्याधरी हुये हो, तुम दोनोंके वैश्यजन्मके जो माता पिता थे वे ही इस जन्ममें भी तुम्हारे माता पिता हुये हैं तीसरे जन्मके तुम्हारे माता पिता और मैं इन सवने एकसाथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषधोपवास धारण किया था, हम सवने उसे वहुत दिनतक पालन किया, श्रीजिनेंद्रदेवके चैत्यालयमें भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोंसे सदा पूजा की थी, इसलिये ही हम सव इस जन्ममें विद्याधर हुये हैं, मैं पहिले जन्ममें भवदेवका पिता रतिवर्मा था, सो अव इस जन्ममें श्रीवर्मा नामका विद्याधर हुआ हूं, मैंने शुद्ध चित्तसे संयम धारण किया है और इसलिये ही मुझे

मेनामाऽतः संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥ १७५ ॥ चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतांतरां च तौ ॥ १७६ ॥ एवं सुखेन यात्येषा काले वायुरथः पृथु । विशरारुं समालोक्य स्तनयित्नुं प्रतिक्षणं ॥ १७७ ॥ विश्व विनश्वरं पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकीं मतिं । जनः करोति-सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः ॥ १७८ ॥ इति याथात्म्यमासाद्य दत्वा राज्यं विरज्य सः । मनोरथाय नैस्संग्यं प्रपित्सुरभवत्तदा ॥ १७९ ॥ आदित्यगति-मभ्येत्य प्रीत्या सर्वेऽपि बाधवाः । प्रभावतीसुता देया भवतेयं रतिप्रभा ॥ १८० ॥ मनोरथस्य पुत्राय कन्या- चित्ररथाय सा । इत्याहुः सोऽप्यनुज्ञाय कृत्वा बंधुविसर्जनं ॥ १८१ ॥ हिरण्यवर्मणः सर्वखगराज्याभिषेचनं । विधाय बहुभिः सार्द्धं संप्राप्य मुनिपुगवं ॥ १८२ ॥ सँयमं प्रतिपन्नः सन्

चारण ऋद्धि और तीसरा ज्ञान (अवधिज्ञान) प्राप्त हुआ है " इसप्रकार वचनोंको सुनकर हिरण्य-वर्मा और प्रभावती दोनों ही बडे संतुष्ट हुये ॥ १७१-१७६ ॥ इसतरह इन सब लोगोंका बहुतसा समय सुखसे निकल गया। किसी एक दिन प्रभावतीके पिता वायुरथने प्रत्येक क्षणमें नष्ट होता हुआ एक बडा बादल देखा, उसे देखकर वे सोचने लगे कि " यह सब संसार इसीतरह विनश्वर है, नष्ट होनेवाला है फिर लोग इसे सदा एकसा रहनेवाला मानते हैं, सब पदार्थोंमें ऐसी ही बुद्धि कर लेते हैं यह कितना बडा भारी अज्ञान है " इसतरह संसारके यथार्थ स्वरूपका विचारकर, और संसारसे विरक्त होकर उन्होंने अपने पुत्र मनोरथके लिये राज्य दिया और उसीसमय वे परिग्रहरहित होकर मुनिव्रत धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥ १७७-१७९ ॥ वायुरथ और उनके सब भाई बंधु बडे प्रेमसे हिरण्यवर्माके पिता आदित्यगतिके समीप आये, वायुरथने आदित्यगतिसे प्रार्थना की कि "प्रभा-वतीकी पुत्री इस रतिप्रभा कन्याको आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथको दे दीजिये " आदित्यगतिने भी उनकी यह प्रार्थना स्वीकार की और आये हुये सब भाई बंधुओंको बिदा किया ॥ १८०--१८१॥ महाराज आदित्यगतिने सब विद्याधरोंके राज्यपर हिरण्यवर्माका राज्याभिषेक किया, अनेक लोगोंके साथ एक मुनिराजके समीप पहुंचे, वायुरथके साथ साथ उन्होंने स्वयं दीक्षा धारण की और वे सब

सहवायुरथः स्वयं । तपो द्वादशधा प्रोक्तं यथाविधि समाचरत् ॥ १८३ ॥ इत्युक्त्वा रतिवेगाऽहं रतिषेणा प्रभावती । चाहमेवेति सभ्यानां निजगाद सुलोचना ॥ १८४ ॥ तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं क्रमात् । जाये स्म तत्र तत्रेति विश्वविस्मयकृद्वचः ॥ १८५ ॥ पुनः प्रिया जयः प्राह प्रकृतं किंचिदस्त्यतः । अवशिष्टं तदप्युच्चैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥ १८६ ॥ इति पत्युः परिप्रश्नाद्दशनज्योत्स्नया सभाम् । मूर्तिः कुमुद्वतीं चेन्दोर्विकाशमुपनीय ता ॥ १८७ ॥ साऽब्रवीदिति तद्वृत्तं स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुखं राज्यसमुद्भूतं यथेष्टमपि निर्विशन् ॥ १८८ ॥ परेद्युः कान्तया सार्धं स्वेच्छया विहरन्वने । सरो धान्यकमालाख्ये वीक्ष्यादित्यगतेः सुतः ॥ १८९ ॥ स्वप्राच्यभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिबलाल्लब्धनिर्वेदो विदुषां-

---

विधिपूर्वक शास्त्रोंमें कहे हुये बारह तरहके तपश्चरणको करने लगे ॥ १८२-१८३॥ यह सब कहकर सुलोचना सब सभासदोंसे कहने लगी कि वह रतिवेगाभी मैं हूं, रतिषेणा कबूतरी भी मैं हूं और प्रभावती विद्याधरी भी मैं हूं ॥ १८४ ॥ यह सुनकर जयकुमार भी संसारको आश्चर्य करनेवाले इसतरहके वचन कहने लगा कि "उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही तेरा पति हुआ था " ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये ! इस कही हुई बातमें कुछ बात बाकी रह गई है उसे भी तू अच्छीतरह कह दे ॥ १८६ ॥ जिसप्रकार चंद्रमाका प्रतिबिंब कमोदिनीको प्रफुल्लित कर देता है उसीप्रकार वह सुलोचना भी इसतरह अपने पतिके प्रश्न करनेपर अपने दांतोंकी कांतिसे उस सभाको प्रफुल्लित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोंको इसतरह कहने लगी कि " वह हिरण्यवर्मा विद्याधर अपनी इच्छानुसार राज्यसे उत्पन्न हुये सुखको भोगने लगा ॥ १८७-१८८ ॥ किसी एक दिन अपनी रानीके साथ इच्छानुसार विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें पहुंचा, वहांपर सर्प सरोवरको देखकर उसे जातिस्मरण हुआ और पहिले भवके सब संबंध उसने प्रत्यक्षके समान जान लिये। विद्वानोंमें श्रेष्ठ ऐसे उस राजाको काल लब्धिके निमित्तसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह सोचने लगा कि " ये संसारी जीव रात दिन जिसकी अभिलाषा

वरः ॥ १९० ॥ भंगुरः सगमः सर्वोऽप्यंगिनामभिवांच्छितः । किं नाम सुखमत्रेदमल्पसंकल्पसंभव ॥ १९१ ॥ आयुर्वायुचलं कायो हेय एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते लोलैर्बालिशैर्बहुदोषलं ॥ १९२ ॥ अदूरपारः कायोऽयमसारो दुरिताश्रयः । तादात्म्यमात्मनोऽनेन धिगेनमशुचिप्रिय ॥ १९३ ॥ देहवासो भय नास्य यानमस्मान्महद्भयं । देहिनः किल मार्गस्य विपर्यासोऽत्र निर्वृतेः ॥ १९४ ॥ नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैररूपता । निर्वाणामितरतो हेयो देह एव यथा तथा ॥ १९५ ॥ बधः सर्वोऽपि संबंधो भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासयत्यायुस्तृष्णाग्नेरिंधन धन ॥ १९६ ॥ आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽतेऽप्यंतकः खलः । इति चक्रकसभ्रांतिर्जंतोर्मध्ये भवार्णवे ॥ १९७ ॥ भोगिनो भोगवद्रोगा भोगा नाम न भोग्यकाः । एव भावयतो

करते रहते हैं ऐसा यह विषयोंका समागम क्षणभंगुर है, इस संसारमें थोडेसे संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या चीज है अर्थात् कुछ भी नहीं है, यह आयु वायुके समान चंचल है, अनेक रोगोंसे भरा हुआ यह शरीर अवश्य ही त्याग करने योग्य है, अनेक दोषोंसे भरे हुये इस साम्राज्यको चंचल हुये मूर्ख लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अंत अत्यंत पास है, यह असार है और मल मूत्र आदि बुरी चीजोंके आश्रय है, इसी शरीरके साथ आत्माका संबंध हो रहा है इसलिये अपवित्र पदार्थको प्रिय माननेवाले इस आत्माको शरीरमें रहनेसे तो कुछ भय नहीं लगता है परंतु शरीरमेंसे निकलनेमें बडा भारी भय लगता है, निश्चयसे इस संसारमें ये जीव मोक्षमार्गसे विल्कुल उलटे चलने लगे हैं ॥ १८९-१९४ ॥ यह जीव वास्तविक स्वरूपसे रूपरहित है परंतु शरीरके संबंधसे रूपी हो रहा है और रूप रहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति होना है, इसलिये जिसतरह बने उसतरहसे यह शरीर ही त्याग करने योग्य है ॥ १९५ ॥ इस संसारमें स्त्री पुत्र आदिका संबंध ही बंध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लंबी आयु ही दुःख देती है और तृष्णा रूपी अग्निके लिये यह धन ईंधन है ॥ १९६ ॥ इस जीवको प्रथम तो जन्म लेना पडता है, मध्यमें जरा तथा अनेक रोग हैं और अंतमें दुष्ट मरण है इसतरह इस जीवको इस संसाररूपी समुद्रमें चक्रके समान फिरना पडता

भोगान् भूयोऽभूवन् भयावहाः ॥ १९८ ॥ निषेव्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदीप्यते बुभुक्षाभिर्दीपनीयैरिवौषधैः ॥ १९९ ॥ न तृप्तिरेभिरित्येष एव दोषो न पोषकाः । तृषश्च विषवल्ल्याः ससृतेश्चावलंबनं ॥ २०० ॥ वनि तातनुसंभूतकामाग्निःस्नेहदीपनैः । कामिन भस्मसाद्भावमनीत्वा न निवर्तते ॥ २०१ ॥ जतोभेंगेषु भोगाते सर्वत्र विरतिर्ध्रुवा । स्थैर्ये तस्याः प्रयत्नोऽस्य क्रियाशेषो मनीषिणः ॥ २०२ ॥ प्रापितोऽप्यसकृद्दुखं भोगैस्तानेव याचते । धत्तेऽवताडितोऽप्यंघ्रि मात्राऽस्या एव बालकः ॥ २०३ ॥ अध्रुवत्वं गुणं मन्ये भोगायुःकाल संपदां । ध्रुवेष्वेषु कुतो मुक्तिर्विना

है ॥ १९७ ॥ भोगोपभोग करनेवालोंके ये भोग ठीक सर्पकी फणाके समान हैं इसलिये ये भोग करने योग्य नहीं है इसतरह इन भोगोंके लिये जो वार वार विचार किया जाय तो ये बडे ही भयंकर जान पडते हैं ॥ १९८ ॥ ये सेवन किये हुये विषय विषके समान विषम हैं जिसप्रकार पेटकी अग्निको बढानेवाली औषधियोंसे पेटकी अग्नि भडक उठती है उसीप्रकार ज्यों ज्यों इन भोगोंके भोगनेकी इच्छा होती है त्यों त्यों ही ये तेज होते जाते हैं ॥ १९९ ॥ 'इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती' इनमें केवल इतना ही दोष नहीं है किंतु इनसे तृष्णा और बढती है, विषकी लताके समान इस संसारको सहारा देनेवाले ये विषय ही हैं ॥ २०० ॥ स्त्रीके शरीरसे उत्पन्न हुई और स्नेह (प्रेम वा तेल) से बढी हुई यह कामरूप अग्नि कामी लोगोंको भस्म किये बिना कभी वापिस नहीं लौटती है ॥ २०१ ॥ इन सब भोगोंमें इस जीवको भोग करनेके अंतमें अवश्य ही वैराग्य होता है, बुद्धिमान लोगोंको और जो तपश्चरण आदि क्रियायें करनी पडती हैं वे केवल उस वैराग्यके स्थिर करनेके लिये एक उपाय है ॥ २०२ ॥ यद्यपि यह जीव इन भोगोंसे अनेकवार दुखी हुआ है तथापि यह फिर भी उन्हीं भोगोंकी याचना करता है सो ठीक ही है क्योंकि माता जिस पांवसे बालकको मारती है वह बालक फिर भी उस माताके उसी पांवको पकडता है ॥ २०३ ॥ मुझे तो निश्चय है कि भोग, आयु, शरीर और संपदाओंमें जो अस्थिरपना है वह एक बडा भारी गुण है क्योंकि यदि ये सब स्थिर

मुक्तेः कुतः सुखः॥२०४॥ विस्रंभजननैः पूर्वं पश्चात्प्राणार्थहारिभिः । पारिपंथिकसंकाशैर्विषयैः कस्य नापदः ॥ २०५ ॥ तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात्सुखं विषयैश्च यत् । यत्कारवेल्लकं स्वादु प्राभवं ननु तत्क्षुधः ॥ २०६ ॥ संकल्पसुखसंतोषाद्विमुखश्चात्मजात्सुखात् । गुंजाग्नितापसंतुष्टशाखामृगसमो जनः ॥ २०७ ॥ सदाऽस्ति निर्जरा नासौ मुक्त्यै बंधच्युतेर्विना । तच्च्युतिश्च हतेर्बंधहेतोस्तत्तद्धतौ यतं ॥ २०८ ॥ केन मोक्षः कथं जीव्य कुतः सौख्यं क्व वा मतिः । परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥ २०९ ॥ किं भव्य. किमभव्योऽयमिति सगेरते बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यता लक्ष्मीकटाक्ष-

---

होते तो इस जीवको मोक्ष कैसे मिलती ? और बिना मोक्षके इसे सुख कहांसे मिलता ? ॥ २०४ ॥ ये विषय ठीक शत्रुके समान हैं क्योंकि शत्रु जैसे पहिले विश्वास दिलाकर पीछेसे प्राण और धन हरण कर लेते हैं उसीप्रकार ये विषय भी पहिले तो विश्वास उत्पन्न कराते हैं और फिर प्राण और धन हरण कर लेते हैं ऐसे इन विषयोंसे भला किसको दुःख नहीं होगा ! ॥ २०५ ॥ यह प्राणी इन विषयोंसे सुख मान लेता है यह उन विषयोंसे होनेवाले दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि इस जीवको ये कच्चे करेले जो अच्छे लगते हैं वह पहिले लगी हुई भूखका ही प्रभाव है ॥ २०६ ॥ यह जीव कल्पना किये हुये झूठे सुखोंसे संतुष्ट होकर ही आत्मासे उत्पन्न हुये सुखसे विमुख हो रहा है, इसलिये यह जीव गोंगचीकी ललाईको अग्नि समझकर उसके तापनेसे संतुष्ट हुये बंदरके समान है भावार्थ—जैसे उस अग्निसे बंदरका जाडा नहीं जाता उसीप्रकार झूठे सुखोंमें ही संतोष मान लेनेसे इस जीवको वास्तविक सुख नहीं मिलता ॥ २०७ ॥ इस जीवके कर्मोंकी निर्जरा तो सदा होती रहती है परंतु वह बंधके नाश हुये बिना मोक्षका कारण नहीं होती, तथा उस बंधका नाश मिथ्यात्व अविरत प्रमाद कषाय योग आदि जो बंधके कारण हैं उनके नाश करनेसे होता है, इसलिये सबसे पहिले मिथ्यात्व आदि बंधके कारणोंके नाश करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ २०८ ॥ इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करनेरूप पिशाच लगा है उन्हें भला मोक्ष किसतरह मिल सकती है

शरशायित ॥ २१० ॥ अयं कायद्रुमः कांताव्रततीततिवेष्टितः । जरित्वा जन्मकांतारे कालाग्निग्रासमाप्स्यति ॥ २११ ॥ यदि धर्मकणादित्थं निदानविषदूषितात् । सुख धर्मामृताभोधिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥ अबोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः । मोक्षश्चेद्वीक्षितो सिद्धिः कः क्षेपो मोक्षसाधने ॥२१३॥ यदि देशादिसाकल्ये न तपस्तत्पुनः कुतः । मध्येऽर्णव यतो वेगात्कराग्रच्युतरत्नवत् ॥ २१४ ॥ आत्मन् स्वं परमात्मानमात्मन्यात्मानमात्मना । हित्वा

उनका जीवन कैसे निभ सकता है उन्हें सुख कहांसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि ही कहां उत्पन्न हो सकती है ॥ २०९ ॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी बाणोंसे घायल हुये विद्वान् लोग यद्यपि जानते हैं कि यह लक्ष्मी वा संसार अनित्य है तथापि " क्या यह भव्य है अथवा अभव्य है इस संशयमें पड ही जाते हैं ॥ २१० ॥ यह शरीर रूपी वृक्ष स्त्री रूपी अनेक वेलोंसे घिरा हुआ है सो संसाररूपी बनमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निसे भस्म हो जायगा ॥ २११ ॥ देखो *निदानरूपी विषसे दूषित ऐसे धर्मके एक अंशसे जो मुझे ऐसा सुख मिला है तो फिर धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें डूबनेसे तो कहना ही क्या है ? (उससे तो अवश्य ही अनंत सुख मिलेगा) ॥ २१२ ॥ " यह संसार अज्ञान द्वेष तथा रागस्वरूप है और मोक्ष इससे विपरीत है " इसप्रकार यदि विद्वान् लोग सदा देखते रहें तो फिर मोक्ष प्राप्त होनेमें देर ही क्या लगे ॥ २१३ ॥ जिसप्रकार वेगसे जाते हुये पुरुषके हाथसे बीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिलता उसीप्रकार आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तपश्चरण धारण नहीं किया तो वह तपश्चरण भला फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू आत्माका हित करनेवाले रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोडकर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें जो अपना ही आत्मा परमात्मा है उसे स्वीकार कर ॥ २१५ ॥

---

* मरते समय कबूतर कबूतरी दोनोंने एक विद्याधरका विमान देखकर निदान किया था कि हम लोगोंने जो कुछ पुण्योपार्जन किया है उससे अगिले जन्ममें हम विद्याधर विद्याधरी हों । उसी निदानके कारण ये विद्याधर विद्याधरी हुये थे

दुरात्मतामात्मनीनेऽध्वनि वरं कुरु ॥ २१५ ॥ इति संचिंतयन् गत्वा पुरं परमतत्त्ववित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिषेकं वितीर्य सः ॥२१६ ॥ अवतीर्य महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनं । दीक्षां जैनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुसन्निधौ ॥ २१७ ॥ परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोंऽशुभिः । हिरण्यवर्मा घर्मांशु-निर्मलो व्यद्युतत्तरां ॥ २१८ ॥ प्रभावती च तन्मात्रा गुणवत्यास्तपोऽगमत् । कुतश्चंद्रमसं मुक्त्वा चंद्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥ २१९ ॥ सद्वृत्तस्त-पसा दीप्तो दिगंबरविभूषणः । निस्संगो व्योमगाम्येकविहारी विश्ववंदितः ॥ २२० ॥ नित्योदयो बुधाधीशो विश्वदृश्वा विरोचनः । स कदाचित्समाग-

---

इसप्रकार चिंतवन करता हुआ आत्माके परम तत्त्वको जाननेवाला वह राजा हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनसे अपने नगरमें गया और अपने पुत्र सुवर्णवर्माका राज्याभिषेक कर उसे सव राज्य सौंप दिया, तदनंतर वह विजयार्द्ध पर्वतसे नीचे पृथ्वीपर उतरा और लक्ष्मीके नगरके समान श्री-निकेतपुरमें जाकर श्रीपाल गुरुके समीप उसने श्री जैनेश्वरी दीक्षा धारण की ॥ २१६-२१७ ॥ परि-ग्रहरूपी पिशाचसे छूटकर और दीक्षा धारणकर सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल हुआ वह हिरण्यवर्मा तप-श्चरणकी किरणोंसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥ २१८ ॥ हिरण्यवर्माकी रानी प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता शशिप्रभाके साथ साथ गुणवती अर्जिकाके समीप दीक्षा धारण की, सो ठीक ही है क्योंकि चंद्रमाको छोडकर चांदनी भला अलग कहां रह सकती है ॥ २१९ ॥ वे हिरण्यवर्मा मुनि तपश्चरण करते हुये सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे क्योंकि जिसप्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है आतपसे देदीप्यमान है और दिशा तथा आकाशको सुशोभित करनेवाला है उसीप्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् सम्यक्चारित्रको धारण करनेवाले थे, तपश्चरणसे देदीप्यमान थे और दिगम्बर अवस्थारूप आभूषणको धारण करनेवाले थे, सूर्य जिसप्रकार सहायता रहित, अकेला ही आकाशमें गमन करता है उसीप्रकार वे मुनिराज भी परिग्रहरहित थे, एकाविहारी थे और चारण ऋद्धि होनेसे आकाशमें गमन करते थे, सूर्यको जिसप्रकार सव लोग नमस्कार करते हैं उसीप्रकार

च्छन्मोदयन् पुंडरीकिणीं ॥ २२१ ॥ सप्रभा चंद्रलेखेव सह तत्र प्रभावती । गुणवत्या समागँस्त संगतिः स्याद्यदृच्छया ॥ २२२ ॥ गुणवत्यार्यिका दृष्ट्वा नत्वोक्ता प्रियदत्तया । कुतोऽसौ गणिनीत्याख्यत्स्वर्गतेति प्रभावती ॥ २२३ ॥ तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता नौ सैवेति शुचमागता । कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽब्रवीत्प्रियदत्तया ॥२२४॥ न स्मरिष्यासि किं पारावतद्वंद्वं भवद्गृहे । तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽवदत् ॥ २२५ ॥ क्वासौ रतिवरोऽद्येति

उनको भी सब लोग नमस्कार करते थे, सूर्य जिसप्रकार नित्य उदय होता है उसीप्रकार उनका ज्ञान भी नित्य ही प्रगट होता रहता था, सूर्य जिसप्रकार बुध नक्षत्रका स्वामी है और संसारका नेत्र है उसीप्रकार वे भी बुध अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे और संसारके नेत्र अर्थात् सबको देखने वा जानने वाले थे और सूर्यका दूसरा नाम जिसप्रकार विरोचन है उसीप्रकार वे मुनिराज भी विरोचन अर्थात् रुचिरहित उदासीन वा विरक्त थे। जिसप्रकार सूर्य पुंडरीकिणी अर्थात् कमलकी बेलको प्रफुल्लित करता हुआ चलता है उसीप्रकार किसी एक समय विहार करते हुये वे मुनिराज पुंडरीकिणी नगरीको प्रसन्न करते हुये वहीं आ विराजमान हुये ॥ २२०-२२१ ॥ कांतिसहित चंद्रमाकी कलाके समान अर्जिका प्रभावती भी वहां आ पहुंची और गुणवतीके साथ रहने लगी। इसतरह इच्छानुसार विहार करते हुये वे दोनों एक ही नगरमें आ इकट्ठे हुये ॥ २२२ ॥ गुणवती अर्जिकाको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार किया और पूछा कि संघाधिकारिणी अमितमति कहां है ? तब उसने कहा कि उसका तो स्वर्गवास होगया, यह सुनकर प्रभावती कुछ सोच करने लगी और कहने लगी कि " हम दोनोंकी आंखें (मार्ग दिखानेवाली) वही थी " तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ तब प्रभावती कहने लगी कि ॥ २२३-२२४ ॥ " क्या आपको याद नहीं है आपके घरमें हम दोनों कबूतर कबूतरी थे, उनमेंसे मैं रतिषेणा कबूतरी हूं " यह सुनकर प्रियदत्ताको बडा ही आश्चर्य हुआ और वह कहने लगी कि " आज रतिवर कबूतर कहां पैदा हुआ है "

सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा कर्मारिर्घातिरित्रेति सोऽब्रवीत् ॥ २२६ ॥ प्रियदत्ताऽपि त गत्वा वादित्वैत्य महामुनिं । प्रभावतीपरिप्रश्नात्पत्युरित्याह वृत्तक ॥ २२७ ॥ विजयार्द्धगिरेरस्य गाधारनगरादिह । विहर्तुं रतिषेणोऽमा गांधार्या प्रिययाऽगमत् ॥ २२८ ॥ गांधारी सर्पदष्टाऽहमिति तत्र मृषा स्थिता । मन्त्रौषधीः प्रयोज्यास्याः श्रेष्ठी विद्याधरश्च सः ॥ २२९ ॥ मायया नास्मि शातेति तद्वाक्यात्खेदमागते । आहर्तुं स्वपतौ याते वनं शक्तिमदौपध ॥ २३० ॥ गाधारी बधकीभावमुपेत्य स्मरविक्रिया । दर्शयती निरीक्ष्याह वणिग्वर्यो दृढव्रत. ॥ २३१ ॥ अह वर्षधरो वेत्सि न किं मामित्युपाय-

---

तब प्रभावतीने कहा कि " वह भी हिरण्यवर्मा नामका विद्याधरोंका राजा हुआ है और कर्मरूप शत्रुओंको नाश करता हुआ आज यहां ही विराजमान है ॥ २२५-२२६ ॥ प्रियदत्ताने भी वहां जाकर महामुनिराजकी बंदना की और फिर वह प्रभावतीके पूछनेपर इसतरह अपने पतिका वृतांत कहने लगी ॥ २२७ ॥ कि रतिषेण नामका एक विद्याधर अपनी स्त्री गांधारीके साथ साथ इसी देशके विजयार्द्ध पर्वतके गांधार नगरसे यहां विहार करनेकेलिये आया था ॥ २२८ ॥ यहां गांधारीने आकर झूठमूठको कह दिया कि मैं सर्पने काट खाई " यह कहकर वहाना वनाकर वह पडगई, शेठ कुवेरकांत और विद्याधरने वहुतसे मंत्र और औषधियोंका प्रयोग किया परंतु गांधारीने मायाचारीसे कह दिया कि " मेरा दुख कुछ शांत नहीं हुआ है " यह सुनकर रतिषेणको वहुत दुख हुआ और वह अधिक शक्तिवाली औषधि लेनेके लिये विजयार्द्ध पर्वतके वनमें चलागया, उसके चलेजानेपर गंधारीने अपना कुलटापन प्रगट किया और कामदेवके सब विकार दिखलाए, यह देखकर उपायोंको जाननेवाले और अपने व्रतोंमें दृढ रहनेवाले वैश्यवर कुवेरकांतने कहा कि " क्या तुझे मालूम नहीं है मैं तो नपुंसक हूं " इस तरह कहकर शेठने अपनी ओरसे उस गांधारीका चित्त विरक्त करादिया (वह गांधारी झक मारकर रह गई) सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही कहलाता है ॥ २२९-२३२ ॥ इसके बाद ही उसका पति औषधि लेकर आगया तव गंधारीने उससे कहदिया

वित् । व्यधाद्विरक्तचित्तां तां तदेव हि धियः फलं ॥२३२॥ तदानीमागते पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वापथप्रयोगेत्युक्त्वाऽगात्सपतिः पुरं ॥२३३॥ दयितातकुबेराद्यो मित्रातश्च कुबेरवाक् । परः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चांतदेववाक् ॥ २३४ ॥ कुबेरादिप्रियश्चान्यः पचैते सचितश्रुताः । कलाकौशलमापन्नाः संपन्ननवयौवनाः ॥ २३५ ॥ एतैः स्वसूनुभिः सार्धमारुह्य शिबिका वनं । धृत्वा कुबेरश्रीगर्भं मा विहर्तुं समागता ॥ २३६ ॥ दृष्ट्वा कदाचिद्गांधारी पृथक् पृष्टवती पुमान् । त्वच्छ्रेष्ठी नेति तत्सत्यमुत नेत्यन्ववादिशं ॥ २३७ ॥ तत्सत्यमेव मत्तोऽन्या प्रत्यसौ न पुमानिति । तदाकर्ण्य विरज्यासौ सपतिः सयमं श्रिता ॥ २३८ ॥ पुनस्तत्रागता दृष्ट्वा दीक्षेय केन हेतुना । तवेति सा मया पृष्टा प्रणम्य प्रियोक्तिभि. ॥ २३९ ॥ श्रेष्ठयेव ते तपो-

---

कि " पहिली दी हुई औषधिसे ही मेरी तवियत ठीक हो गई है " इसके वाद वह पतिके साथ अपने नगरको चली गई ॥ २३३ ॥ कुबेरदायित, कुबेरमित्र कुबेरदत्त कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पांच मेरे पुत्र थे, ये पांचों ही पुत्र सब शास्त्रोंके जानकार थे, कला कौशलमें निपुण थे और नई जवानीसे सुशोभित थे। किसी एक दिन जब कुबेरश्री नामकी कन्या मेरे गर्भमें थी तब मैं अपने पांचों पुत्रोंके साथ साथ पालकीमें बैठकर वनमें विहार करनेके लिये गई थी, उसीसमय वहां गांधारीने मुझे देखकर और अलग लेजाकर पूछा कि एकवार तुम्हारे शेठने कहा था कि " मैं पुरुष नहीं हूं नपुंसक हूं " यह बात सत्य है या झूठ है, तब मैंने कहा कि " यह वात बिलकुल ठीक है क्योंकि मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके लिये वह नपुंसक ही है " यह सुनकर वह विरक्त हुई और अपने पतिके साथ उसने संयम धारण कर लिया ॥ २३४-२३८ ॥ किसी एक दिन वह गांधारी आर्जिका फिर यहां आई थी तब मैंने नमस्कारकर मीठे वचनोंसे पूछा था कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है, इसके उत्तरमें इसने कहा था कि मेरे तपश्चरणका कारण तेरा शेठ ही है " शेठने भी यह बात छिपकर सुन ली थी, सुनकर वे बाहर साम्हने आये और पूछने लगे कि जिसने तपश्चरण धारणकर मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहां है ? इसके उत्तरमें गांधारी आर्जिकाने कहा

हेतुरिति प्रत्यब्रवीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठी श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥ २४० ॥ मामजैषीत्सखाऽसौ मे क्वाचेति परिपृष्टवान् । सोऽपि मत्कारणेनैव गृहीत्वेहागतस्तपः ॥ ॥ २४१ ॥ इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठी नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिं । वदित्वा धर्ममापृच्छ्य काललब्ध्या महीपतिः ॥ २४२ ॥ गुणपालाय तद्राज्यं दत्वा सँयममाददौ । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशिनः ॥ २४३ ॥ पंचमं स्वपदे सूनु नियोज्यान्यैः सहात्मजैः । ययौ श्रेष्ठी च तत्रैव दीक्षां मोक्षाभिलाषुकः ॥ २४४ ॥ तथोक्त्वा कातवृत्तांतं सा समुत्पन्नसँविदा । विरज्य गृहसँवासात्कुबेरादिश्रियं सती ॥ २४५ ॥ गुणपालाय दत्वा स्वां सुतां गुणवतीं श्रिता । प्रभावत्युपदेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत ॥ २४६ ॥ मुनिं हिरण्यवर्माणं कदाचित्प्रेतभूतले । दिनानि सप्त संगीर्य प्रतिमायोगधा-

---

कि ” वे भी मेरे ही कारणसे तपश्चरण धारणकर यहां पधारे हैं ॥ २३९-२४१ ॥ आर्जिकाकी यह बात सुनकर शेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये, उनकी वंदना की और धर्मका स्वरूप पूछा, काल लब्धिके निमित्तसे राजा लोकपालने पुत्र गुणपालको अपना राज्य देकर विद्याधर मुनि-राज रतिषेणके समीप संयम धारण किया ॥ २४२-२४३ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले शेठने भी अपने राजशेठके पदपर अपने पांचवें पुत्र कुबेरप्रियको नियुक्त किया और अन्य चारों पुत्रोंके साथ साथ उन्हीं रतिषेण मुनिके समीप दीक्षा धारण की ॥ २४४ ॥ प्रियदत्ताने इसप्रकार अपने पतिके समाचार कहे उस समय उसे आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया था और वह गृहस्थीके निवाससे विरक्त हो गई थी, उस सतीने अपनी पुत्री कुबेरश्री राजा गुणपालके लिये दी और स्वयं प्रभावतीके उपदेशसे गुणवतीके समीप जाकर दीक्षा धारण की ॥ २४५-२४६ ॥ किसी एक समय मुनिराज हिरण्यवर्माने किसी स्मशानमें सात दिनका नियमकर प्रतिमायोग धारण किया था, नगरके सब लोग उनकी वंदना करनेको गये थे, वंदना कर उनके पहिले भवकी कथायें कहते हुये सब लोग नगरको आ रहे थे, एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी सखीसे उनकी सब कथायें सुनी, सुनकर उसे उन मुनिके लिये एक तरहका क्रोध उत्पन्न हुआ और उस क्रोधके होनेसे उसीसमय उसके मिथ्या अवधिज्ञान होगया, उस विभंगावधिसे

रिण ॥ २४७ ॥ वंदित्वा नागराः सर्वे तत्पूर्वभव संकथां । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरित ॥ २४८ ॥ चेटक्याः प्रियदत्तायास्तन्मुनेः प्राक्तन भव । विदित्वा तद्गतक्रोधात्तदोत्पन्नविभंगतः ॥ २४९ ॥ मुनिं पृथक्प्रदेशस्थ प्रतिमायोगमास्थित । प्रभावतीं च सयोज्य चितिकाया दुराशयः ॥ २५० ॥ एकस्यामेव निक्षिप्याधाक्षीदघाजिघृक्षया । सोढ्वा तदुपसर्गं तो विशुद्धपरिणामतः ॥ २५१ ॥ स्वर्गं समुदपद्येतां क्षमया किं न जायते । सुवर्णवर्मा तद्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहं ॥२५२॥ करिष्यामीति कोपेन पापिनः संगरं व्यधात् । विदित्वाऽवधिबोधेन तत्तौ स्वर्गनिवासिनौ॥२५३॥ प्राप्य सयमरूपेण सुत धर्मकथादिभिः । तत्त्वं श्रद्धाप्य तं कोपादपास्य कृपयाऽऽहितौ ॥ २५४ ॥ दिव्यं रूपं समादाय निगद्य निजवृत्तकं । प्रदायाभरण तस्मै परार्ध्यं स्वपदं गतौ ॥ २५५ ॥ कदाचिद्वत्सविषये सुसीमानगरे मुने. । शिवघोपस्य कैवल्यमुदपादघस्तघातिनः ॥ २५६ ॥ शक्रप्रिये

उसने उन मुनिके पहिले भवके सब समाचार जान लिये ॥२४७-२४९॥ मुनिराज प्रतिमायोग धारण किये हुये अलग विराजमान थे और प्रभावती अलग थी उस दुष्टने पाप संचय करनेकी इच्छासे ही दोनोंको एक जगहकर और एक ही चितामें रखकर जला दिया, उन दोनोंने विशुद्ध परिणामोंसे वह उपसर्ग सहन किया और शरीर छोडकर स्वर्गमें उत्पन्न हुये' सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या क्या नहीं मिलता है । जब यह बात राजा सुवर्णवर्माने सुनी तो उसने क्रोधमें आकर प्रतिज्ञा की " कि मैं पापी विद्युच्चोरको जरूर मारूंगा " इस प्रतिज्ञाको स्वर्गमें रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव दोनों देवदेवियोंने अवधिज्ञानसे जान लिया, तुरंत ही वे आये और धर्मकथायें आदि कहकर पुत्र सुवर्णवर्माको संयमी बनाया, उसे तत्त्वोंका श्रद्धान कराया, और दयासे जिनका चित्त भीग रहा है ऐसे उन दोनोंने उसका क्रोध दूर किया ॥ २५०-२५४ फिर उन दोनोंने अपना दिव्य रूप प्रगट किया, अपना सब हाल कहा और उसे बहुमूल्य आभूषण देकर वे दोनों ही अपने स्थान पर चले गये ॥ २५५ ॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमा नगरके समीप घातिया कर्मोंको नाश करनेवाले शिवघोष मुनिको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥ २५६ ॥ वहांपर शची और मेनका नामकी दो

शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरं । समाश्रित्य सुराधीश स्थिते प्रश्नात्सुरेशितुः ॥ २५७ ॥ अत्रैव सप्तमेऽह्नि प्राक् समात्तश्रावकव्रते । नाम्ना पुष्पवती साऽन्या प्रथमा पुष्पपालिता ॥ २५८ ॥ कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना । मृते देव्यावजायेतामित्याहासौ स्म तीर्थकृत् ॥ २५९ ॥ प्रभावतीचरी देवी श्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसंबंधं तत्रागाता सभावनेः ॥ २६० ॥ निजान्यजन्मसौख्यानुभूतदेशान्निजेच्छया । आलोकयतौ तत्सर्पसरोवण-समीपगौ ॥ २६१ ॥ सह सार्थेन भीमाख्य साधु दृष्ट्वा समागतं । विनयेनाभिवद्यैन धर्मं तौ समपृच्छताम् ॥ २६२ ॥ मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मो-पदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्येऽसमर्थो नवसयतः ॥ २६३ ॥ प्ररूपयिष्यते किंचित्स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्य यथाशक्त्यवधानवत् ॥२६४॥

इंद्रकी देवांगनायें इंद्रके साथ साथ आईं और भगवानको नमस्कारकर अपने स्थानपर जा बैठीं, इंद्रने भगवानसे पूछा कि ये दोनों ही किस कारणसे देवांगनायें हुई हैं? तब तीर्थकर भगवान कहने लगे कि ये दोनों ही पहिले भवमें मालिनकी लडकी थीं, पहिलीका नाम पुष्पपालिता और दूसरीका पुष्पवती था, इन दोनोंने आजसे सातवें दिन (सात दिन पहिले) श्रावकके व्रत धारण किये थे, एक दिन ये एक बनमें फूल तोड रही थीं इतनेमें ही एक सर्पकी विषरूपी अग्निसे अर्थात् सर्पके काटनेसे मरगईं और मरकर ये दोनों देवियां हुई हैं ॥२५७-२५९॥ प्रभावती और हिरण्यवर्माके जीव जो देव देवी हुये थे उन्होंने भी उसी समवसरणमें आकर अपने पहिले भवोंका संबंध सुना और फिर वहांसे निकलकर अपनी इच्छानुसार जहां जहां अपने पहिले जन्ममें सुखोंका अनुभव किया था उन देशोंको देखते हुये सर्प सरोवरके समीपवाले वनमें आये ॥ २६०-२६१ ॥ वहांपर एक संघके साथ भीम नामके मुनिराज विराजमान थे उन्हें देखकर वे दोनों ही उनके समीप आये और विनयसे नमस्कार कर धर्मका स्वरूप पूछने लगे ॥ २६२ ॥ उनकी बात सुनकर वे मुनिराज कहने लगे, कि मुझे दीक्षा लिये अभी थोडे ही दिन हुये हैं, मैं सब शास्त्रोंको नहीं जानता, इसलिये मुझमें धर्मोपदेश देनेकी सामर्थ्य भी नहीं है तथापि तुम्हारे अनुरोधसे मैं अपनी शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूं तुम

इति सम्यक्त्वसत्पात्रदानादिश्रावकाश्रय । यमादियतिसबध धर्मं गतिचतुष्टयं ॥ २६५ ॥ तद्धेतुफलपर्यंतं भुक्तिमुक्तिनिबंधन । जीवादिद्रव्यतत्त्वं च यथावत्प्रत्यपादयत् ॥ २६६ ॥ तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्या भवता केन हेतुना । प्रव्रज्येत्यनुयुक्तोऽसौ वक्तुं प्रक्रांतवान्मुनिः ॥ २६७ ॥ विदेहे पुष्कलावत्या नगरी पुंडरीकिणी । तत्राहं भीमनामाऽऽस स्वपापाद्दुर्गते कुले ॥ २६८ ॥ अन्येद्युर्यतिमासाद्य किंचित्कालादिलब्धितः । श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकं ॥ २६९ ॥ तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्दुष्करैर्वृथा । दारिद्र्यकर्दमालिप्तदेहानां निष्फलैरिह ॥ २७० ॥ व्रतान्येतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्लोककांक्षिणे । ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥ व्रत दत्तवतः स्थान तस्य मे दर्शयेत्यसौ । मामवादीद्गृहीत्वैनमात्रजन्नहमतरे ॥२७२॥

लोग सावधान होकर सुनो ॥ २६३-२६४ ॥ यह कहकर उन्होंने सम्यग्दर्शन, सत्पात्रोंको दान देना आदि श्रावकधर्मका स्वरूप कहा, संयम आदि मुनियोंके धर्मका स्वरूप कहा, चारों गतियोंका निरूपण किया, चारों गतियोंके कारण और उनके फल सब कहे, स्वर्गमोक्षके कारण कहे और जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वोंका वास्तविक स्वरूप कहा, ॥ २६५-२६६ ॥ यह सब सुनकर वे दोनों ही देव देवी फिर पूछने लगे कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है ? तब वे मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥ कि विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुंडरीकिणी नगरी है, वहांपर मैं अपने पापकर्मोंके उदयसे एक दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, भीम मेरा नाम है ॥ २६८ ॥ किसी एक दिन थोडीसी काल आदि लब्धियोंके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके समीप पहुंचा और उनसे धर्मका स्वरूप सुनकर मैंने गृहस्थियोंके आठ मूलगुण धारण किये ॥ २६९ ॥ मेरे पिताने यह हाल जानकर मुझसे कहा कि "हे पुत्र! हम लोग दरिद्रताकी कीचडमें फंसे हुये हैं हमें इन निष्फल और कठिनाईसे पलनेवाले व्रतोंसे क्या लाभ है, हमारे लिये तो ये व्यर्थ हैं, इसलिये स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उन्हीं मुनिराजके लिये ये व्रत दे आवें, हमें तो इस संसारसंबंधी फलोंकी आवश्यकता है जिससे कि कुछ जीविका चले॥२७०-२७१ ॥ इसलिये जहां ये व्रत लिये हैं वह स्थान मुझे दिखा" ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब उनको

वज्रकेतोर्महावीथ्या देवतागृहकुक्कुटं । भास्वत्किरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनं ॥ २७३ ॥ पुसो हतवतो दडं जिनदेवार्पितं धन । लोभादपन्हुवानस्य धनदेवस्य दुर्मतेः ॥ २७४ ॥ रसनोत्पाटनं हारमनर्घ्यमणिनिर्मित । श्रेष्ठिनः प्राप्य चौर्येण गणिकायै समर्पणात् ॥ २७५ ॥ रतिपिंगलसञ्ज्ञस्य शूले तलवरार्पण । निशि मातु' कनीयस्याः कामनिर्लुमसंविदः ॥ २७६ ॥ पुत्र्या गेह गतस्यांगच्छेदन पुररक्षिण. । क्षेत्रलोभान्निजे ज्येष्ठे मृते दंडहते सति ॥ २७७ ॥ लोलस्यान्वर्थसञ्ज्ञस्य विलाप देशनिर्गमे । कृते सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥ २७८ ॥ दातु समुद्रदत्तस्य निशक्तरातपे क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गंधधूमातवर्तिनश्चिर ॥ २७९ ॥ निरोधमभयोद्घोपणायामानददेशनात् । अंगकस्य नृपोरभ्रघातिनः करखडन ॥ २८० ॥ आनदराजपुत्रस्य

लेकर मैं चला, रास्तेमें एक वज्रकेतु नामके पुरुषको राज्यके कुछ सिपाही मार रहे थे, मैंने पिताजीसे इसका कारण पूछा, पिताजीने कहा कि "यह सूर्यकी धूपमें अपना कुछ अनाज सुखा रहा था और किसी मंदिरका मुर्गा उसे खा रहा था, उसे इसने इतना मारा कि वह मर गया, इसलिये ही लोग इसे मार रहे हैं। " दूसरी जगह मैने देखा कि,, जिनदेवने धनदेवके पास कुछ धन धरोहर रख दिया था, दुष्ट धनदेवने लोभमें आकर वह धन उसे देनेसे इनकार कर दिया, इसलिये कुछ राज्यके कर्मचारी उसकी जीभ निकाल रहे थे" तीसरी जगह एक चोरने रतिपिंगल नामके शेठके घर जाकर मणियोंका बना हुआ एक बहुमूल्य हार चुराकर एक वेश्याको दिया था इसलिये कोतवाल उसे शूलीपर चढा रहा था, चौथी जगह कामकी उन्मत्ततासे जिसका सब ज्ञान नष्ट होगया है ऐसा एक कोतवाल रातमें माताकी छोटी,,बहिनकी पुत्रीके घर गया था, इसलिये राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे थे, पांचवीं जगह सार्थक नामको धारण करनेवाला एक लोल नामका किसान था उसने खेतके लोभसे अपने वडे बेटेको डंडोंसे मारते मारते मार डाला था इसलिये उसे देशनिकालेकी भारी सजा दी जा रही थी और वह रो रहा था, छठी जगह सागरदत्तने जूआमें समुद्रदत्तका बहुतसा धन

तद्भुक्त्वाऽवस्कराशनं । मद्यविक्रयणे बालं कंचिदाभरणेच्छया ॥ २८१ ॥ हत्वा भूमौ विनिक्षिप्तवत्यास्तत्संविधानकं । प्रकाशितवती स्वात्मजं शुंडायाश्च निग्रहं ॥ २८२ ॥ पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाक दुरुत्तर ॥ १८३ ॥ अवधार्यानभिप्रेतव्रतत्यागो भवाद्भयात् । रोपमोपमृपायोपाहिंसाश्लेत्रादिदूपिताः ॥ २८४ ॥ नात्रैव किंत्वमुत्रापि ततश्चित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दौर्गत्य प्राक्तनात्पापकर्मणः ॥२८५॥ इद तस्मात्समुचेय पुण्य सच्चेष्टितैः पुरुः । इति त मोचयित्वाऽग्रहीप दीक्षा मुमुक्षया ॥ २८६॥ सद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्धिपारगः । विशुद्धमति-

---

जीत लिया था परंतु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था, इसलिये क्रोधसे उसे धूपमें बिठाल रक्खा था और जिसके भीतर दुर्गंधका धूंआ खूब भरगया था ऐसी एक कोठरीमें उसे रोक रक्खा था, सातवीं जगह एकवार आनंद महाराजकी आज्ञासे सब जीवोंके लिये अभयघोषणा दी गई थी अर्थात् किसी जीवको न मारनेकी आज्ञा दी गई थी परंतु आनंदराजके पुत्र अंगकने एक मेडा मारा था और उसका मांस खाया था, इसलिये उसके हाथ काटे जा रहे थे और उसके मुंहमें विष्ठा दिया जा रहा था, आठवीं जगह एक मद्य पीनेवाली औरतने मद्य खरीदनेके लिये आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें गाड दिया था और यह समाचार वह अपने पुत्रसे कह रही थी, किसी राजकर्मचारीने उसे सुनलिया था इसलिये पकडकर उसे दंड दिया जा रहा था ॥२७२-२८२॥ हिंसादि दोषोंसे उत्पन्न हुये इन पापकार्योंको देखकर मैंने निश्चय किया कि इस लोक और परलोक दोनों जगह पापका फल बहुत ही बुरा होता है, मैंने संसारके भयसे व्रतोंका त्याग करना अनुचित समझा मैं सोचने लगा कि "हिंसा झूठ चोरी परस्त्रीसेवन और परिग्रह इन पांचों पापोंसे दूषित हुये जीवोंको इसी लोकमें अनेक तरहका बध वंधन भोगना पडता हो इतना ही नहीं है किंतु इनके साथ साथ परलोकमें भी नरकादिके अनेक दुख भोगने पडते हैं, हम लोगोंको यह दरिद्रता भी पहिले जन्मके पापकर्मोंके उदयसे ही मिली है, इसलिये सदाचारी लोगोंको इस पुण्यका खूब अच्छीतरह संचय

रन्येद्यु॰ समीपे सर्ववेदिनः ॥ २८७ ॥ मद्दुष्टपूर्वजन्मानि समश्रौप यथाश्रुतं । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वा कौतुकं महत् ॥ २८८ ॥ इहैव पुष्कलावत्या विषये पुंडरीकिणी । परिपालयति प्रीत्या वसुपालमहीभुजि ॥ २८९ ॥ विद्युद्वेगाह्वयं चोरमवष्टभ्य करस्थितं । धन स्वीकृत्य शेष च भवता दीयतामिति ॥ २९० ॥ आरक्षिणो निगृह्णीयुर्दत्त विमतये धन । इत्यब्रवीत्स सोऽप्याह गृहीत न मयेति तत् ॥ २९१ ॥ विमतेरेव तद्गेहे दृष्ट्वोपायेन केनचित् । दडकारणिकैः प्रोक्त मृत्स्ना पात्रीत्रयोन्मित ॥ २९२ ॥ शकृतो भक्षगं मल्लैस्त्रिंशन्मुष्ट्यभिताडन । सर्वस्वहरण चैतत्त्रय जीवितवांछि-

करना चाहिये " यही सोचकर मैंने अपने पिताजीको छोड दिया और मोक्ष प्राप्त होनेकी इच्छासे दीक्षा धारण करली ॥ २८३-२८६ ॥ गुरुके प्रसादसे शीघ्र ही मैं सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया और मेरी बुद्धि विशुद्ध होगई, किसी एक दिन मैंने सर्वज्ञदेवके समीप अपने पहिले दुष्ट भव सुने थे, जिसतरह मैंने वे पहिले जन्म सुने थे उसीतरह मैं तुम लोगोंको वडा भारी कौतुक उत्पन्न करनेके लिये कहता हूं ॥ २८७-२८८ ॥ इसी पुष्कलावती देशकी पुंडरीकिणी नगरीको वडे प्रेमसे राजा वसुपाल पालन करता था ॥ २८९ ॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्वेग नामके चोरको पकडा, उसके हाथ जो कुछ चुराया हुआ धन था वह तो उससे लेलिया और फिर कहा कि वाकीका धन दो, धन न देनेपर कोतवालने उसे दंड दिया तब कहीं उसने कहा कि मैंने वह धन विमतिको देदिया है, विमतिने पूछनेपर कहा कि " मैंने नहीं लिया है " इसके वाद कोतवालने किसी उपायसे विमतिके घरमें ही वह धन ढूंढ निकाला तव दंड देनेवालेने कहा कि " या तो मिट्टीकी तीन थाली भरकर विष्ठा खाओ या मलके तीस मुकोंकी चोट सहो अथवा अपना घर धन आदि सब दे दो तुम्हारे लिये ये तीन तरहके दंड हैं " यह सुनकर जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पहिले तो विष्ठा खाना स्वीकार किया, जब नहीं खा सका तब मुकोंकी चोट सही, जब वे भी सब नहीं सहे गये तब अपना सर्वस्व देदिया, इसतरह सबका अनुभव कर वह मरगया और मरकर नरकमें पहुंचा, इधर

या ॥ २९३ ॥ स सर्वमनुभूयायात्प्राणाते नारकी गतिं । विद्युच्चोरस्त्वया हन्यतामित्यारक्षको नृपात् ॥ २९४ ॥ लब्धादेशोऽप्यहं हन्मि नैनं हिंसादिवर्जनं । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां नाकरोदसौ ॥ २९५ ॥ गृहीतोत्कोच इत्येष चोरारक्षकयोर्नृपः । शृंखलाबंधनं रुष्ट्वा कारयामास निर्घृण॥२९६॥ त्वयाऽहं हेतुना केन हतो नेत्यनुयुक्तवान् । प्रत्युष्यारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत् ॥ २९७ ॥ एतत्पुरममुष्यैव राज्ञः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसंज्ञया ॥ २९८ ॥ अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । आस्थायिकायां भावेन स्थायिनानृत्यदुद्रम ॥ २९९ ॥ तदालोक्य महीपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥ ३०० ॥ श्रेष्ठिनःशमिनोऽन्येद्युः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य

राजाने एक चांडालको आज्ञा दी कि " तू इस विद्युच्चोरको मार डाल " परंतु राजासे इसतरहकी आज्ञा मिलनेपर भी चांडालने कहा कि " मैं इसको नहीं मार सकता क्योंकि मैंने साधुके समीप हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा ली है " इसतरह उसने राजाकी आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ २९०-२९५ ॥ राजाने समझा कि इसने कुछ रिशवत ली है इसलिये उसने क्रोधित होकर चोर और चांडाल दोनोंको बडी निर्दयतासे एक सांकलमें बंधवा दिया ॥ २९६ ॥ चोरने संतुष्ट होकर उस चांडालसे पूछा कि किस कारणसे तूने मुझे नहीं मारा, तब चांडाल कहने लगा ॥ २९७ ॥ कि पहिले इसीनगरमें इसी राजाका पिता गुणपाल राज्य करता था और उसके पास कुबेरप्रिय नामका एक महा शेठ रहता था ॥ २९८ ॥ इसी नगरमें एक नाट्यमाला नामकी नाटकाचार्यकी लडकी थी एक दिन उसने राजाकी सभामें रति, हास, शोक, क्रोध उत्साह, भय जुगुप्सा और विस्मय ये आठों शृंगार रसके स्थायी भाव दिखलाकर बहुत ही रसीला नृत्य किया ॥ २९९ ॥ उस नृत्यको देखकर राजाको बहुत ही आश्चर्य हुआ, यह देखकर उत्पलमाला नामकी वेश्याने कहा कि " हे देव ! इसमें क्या आश्चर्य है (नृत्य करनेवाली नृत्य करती ही है) एक आश्चर्य मैंने देखा है उसे सुनिये । किसी एकदिन अत्यंत शांत और पूज्य कुबेरप्रिय शेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उसीदिन मैं

गत्वा चालयितुं मनः ॥ ३०१ ॥ नाशकं तदिहाश्चर्यमित्याख्यद्भूभुजाऽपि सा । गुणप्रिये वृणीष्वेति प्रोक्ता शीलाभिरक्षणम् ॥ ३०२ ॥ अभीष्टं मम देहीति तद्दत्त व्रतमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृह सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥ ३०३ ॥ रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा त बाह्याऽस्मीति तेन तत् । प्रतिपादनवेलायामेवायान्मन्त्रिण. सुतः ॥ ३०४ ॥ नृपतेर्मैथुनो नाम्ना पृथुधीस्त निरीक्ष्य सा । मजूषाया विनिक्षिप्य गणिका सर्वरक्षित ॥ ३०५ ॥ त्वया मदीयाभरण सत्यवत्यै समर्पित । त्वद्भगिन्यै तदानेयमित्याह नृपमैथुन ॥३०६॥ सोऽपि प्राक् प्रतिपाद्यैतद्व्रतग्रहणसश्रुतेः । प्रातिकूल्यमगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुन. ॥ ३०७ ॥ साक्षिण परिकल्प्यैन मजूषास्थ महीपतेः । सन्निधौ याचितो वित्तमसावुत्पलमालया ॥ ३०८ ॥ न गृहीत मयेत्यस्मिन्मिथ्या-

---

उनका मन डिगानेके लिये गई थी परंतु मैं उनके मनको नहीं चला सकी, इस संसारमें यह बडे आश्चर्यकी बात है " यह सुनकर राजाने कहा कि " तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिये तू जो चाहे सो वर मांग " तब उस वेश्याने कहा कि " अब शील पालन करनेकी मेरी इच्छा है आप कृपाकर मुझे यही वरदान दीजिये " राजाने वह वरदान उसे दिया और इस तरह उसने शीलव्रत स्वीकार किया। किसी एक दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातमें उसके घर गया उसे देखकर उत्पलमालाने कहा कि " आज मैं रजस्वला हुई हूं " इन दोनोंकी इसतरह बात चीत हो रही थी इतनेमें ही पृथुधी नामका राजाका साला और मंत्रीका पुत्र आया, उसे आता देखकर उस वेश्याने कोतवालको एक संदूकमें छिपा दिया और वह उस राजाके सालेसे कहने लगी कि " आपने मेरे सब आभूषण जो अपनी बहिन सत्यवतीके लिये दिये थे वे लाओ " पृथुधीने कहा " हां अभी लाता हूं " परंतु जब पीछेसे उसे यह मालूम हुआ कि इसने शीलव्रत ले लिया है तब ईर्ष्यामें आकर वह प्रतिकूल होगया अर्थात् उसने कह दिया कि मैं नहीं लाया हूं । दूसरे दिन वह उत्पलमाला वेश्या संदूकमें बैठे हुये कोतवालको गवाही बनाकर राजाके पास गई और उसने राजाके साम्हने ही उस राजाके सालेसे अपने आभूषण मांगे ॥ ३००-३०८ ॥ पृथुधीने राजाके साम्हने भी झूठमूठ ही

वादिनि भूभुजा । पृष्टा सत्यवती तस्य पुरस्तान्यक्षिपद्धनं ॥ ३०९ ॥ मैथुनाय नृपः क्रुध्वा खलोऽयं हन्यतामिति । आज्ञापयत्पदातीन् स्वान् युक्तं तन्न्यायवर्तिनः ॥ ३१० ॥ पठन्मुनींद्रसद्धर्मशास्त्रसश्रवणात्द्रुत । अन्येद्युः प्राक्तन जन्म विदित्वा शममागते ॥ ३११ ॥ यागहस्तिनि मासस्य पिंडदानमनिच्छति। तद्वक्रियोपायविच्छ्रेष्ठी विबुध्यानेकपोगित ॥३१२॥ सर्पिर्गुडपयोमिश्रशाल्योदनसमर्पित । पिंडं प्रयोजयत्सोऽपि द्विरदस्तमुपाहरत् ॥३१३॥ तदा तुष्ट्वा महीनाथो वृणीष्वेष्ट तवेति त । प्राह पश्चाद्गृहीष्यामीत्यभ्युपेत्य स्थितः स त ॥ ३१४ ॥ सचिवस्य सुतं दृष्ट्वा नीयमान शुचा नृपात् । वरमादाय तद्दातात् दुर्वृत्त त व्यमोचयत् ॥ ३१५ ॥ श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं ममाकारीत्यमँस्त सः । पापिनामुपकारोऽपि स भुजंगपयायते ॥ ३१६ ॥

कह दिया कि "मैने नहीं लिये हैं" तब राजाने अपनी रानी सत्यवतीसे पूछा, सत्यवतीने राजाके साम्हने ही सब धन लाकर रख दिया ॥ ३०९ ॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर बहुत क्रोधित हुआ और अपने सिपाहियोंको आज्ञा दी कि "इस दुष्टको मारो" सो ठीक ही है क्योंकि न्याय करनेवाले राजाको ऐसा करना उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिनकी बात है कि एक मुनिराज किसी धर्मशास्त्रका पाठ कर रहे थे उसे सुनकर राजाके पट्ट हाथीको (मुख्य हाथीको) जातिस्मरण होगया वह पहिले जन्मकी सब बातें जानकर शांत होगया और उसने मांसका भोजन लेना भी छोड दिया, यह देखकर अनेक उपायोंको जाननेवाले शेठ कुबेरप्रियने भी हाथीके सब इशारे समझ लिये और घी गुड दूध मिलाकर शालि चांवलोंका भात उसे खानेको दिया, हाथीने भी वह दिया हुआ शुद्ध आहार खा लिया ॥ ३११-३१३ ॥ उससमय संतुष्ट होकर राजाने शेठसे कहा कि "तुम अपनी इच्छानुसार चाहे सो वर मांग लो" शेठने कहा कि "अच्छा इस वचनको अभी आप अपने ही पास रखिये मैं पीछे कभी ले लूंगा" यह कहकर शेठ आनंदसे रहने लगा ॥ ३१४ ॥ इससमय मंत्रीके पुत्रको मारनेके लिये ले जाते हुये देखकर उसे शोक हुआ और उसने राजासे अपना रक्खा हुआ वर मांगकर उस दुराचारी मंत्रीके पुत्रको मरनेसे बचाया ॥ ३१५ ॥ परंतु मंत्रीके पुत्रने अपने मनमें यही समझा कि यह मेरा तिरस्कार शेठने ही

अन्येद्युर्मैथुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन्वने । खेचरान्मुद्रिकामापकामरूपविधायिनीं ॥ ३१७ ॥ करांगुलौ विनिक्षिप्य तां वसोः स्वकनीयसः । संकल्प्य श्रेष्ठिनो रूपं सत्यवत्या निकेतनं ॥ ३१८ ॥ प्रविश्य पापधीः राजसमीपं स्वयमास्थितः । वसुं गृहीतश्रेष्ठीस्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥ ३१९ ॥ श्रेष्ठी किमर्थमायातोऽकाल इत्यवदत्तदा । अनात्मज्ञोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥ ३२० ॥ मदनानलसंतप्त इति मैथुनिकोऽब्रवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहन्यताम् ॥ ३२१ ॥ श्रेष्ठी त्वयेति श्रेष्ठी च तस्मिन्नेव दिने निशि । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥ ३२२ ॥ पृथुधीस्तमवष्टभ्य गृहीत्वा घोपयन् जने । अपराधमसत च नीत्वा प्रेतमहीतल ॥ ३२३ ॥ आरक्षक्रूरे हतुमर्पयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्यहन्नसिना

किया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी लोगोंका उपकार करना भी सर्पको दूध पिलानेके समान है ॥ ३१६ ॥ किसी एक दिन, वह राजाका साला अपनी इच्छानुसार वनमें विहार कर रहा था, वहां उसे एक विद्याधरसे अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना देनेवाली एक अंगूठी मिली ॥३१७॥ पृथुधीने वह अंगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी उंगलीमें पहना दी तथा शेठका रूप बनाकर उसे (अपनी बहिन रानी) सत्यवतीके घर भेज दिया और वह पापी स्वयं राजाके समीप जाकर बैठ गया । राजाने वसुको शेठके रूपमें देखकर उसीसमय पूछा कि 'शेठ इस असमयमें तुम यहां क्यों आये ?' तब समय देखकर राजाके सालेने कहा कि " इस समय इसे अपने परायेका कुछ ज्ञान नहीं है, काम रूप अग्निसे संतप्त होकर यह पापी सत्यवतीके पास आया है " सालेकी यह बात सुनकर बिना परीक्षा किये ही राजाने उसी मंत्रीके पुत्र पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम शेठको मार दो " । शेठ उस दिन रातमें अपने घर पर ही प्रतिमायोग धारण कर ध्यान कर रहा था ॥ ३१८-३२२ ॥ मंत्रीके पुत्र पृथुधीने उसे वहीं जाकर बांध लिया और जो अपराध उसने कभी नहीं किया था उसे भी लोगोंको प्रगट करता हुआ वह साला शेठको स्मशानमें ले गया ॥ ३२३ ॥ वहांपर उस पापीने मारनेके लिये चांडालको सौंप दिया, चांडालने भी उसे राजाकी आज्ञा समझकर

दढ ॥ ३२४ ॥ तस्य वक्षस्स्थले तत्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलवतो भक्तस्यार्हत्परमदैवते ॥ ३२५ ॥ दण्डनादपरीक्ष्यस्य महोत्पातः पुरेऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादुष्टवधाद्भवेत् ॥ ३२६ ॥ नरेशो नागराश्चैनदालोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं स्मशानाभिमुखं ययुः ॥ ३२७ ॥ तदोपसर्गनिर्णाशे विस्मयान्नाकवासिनः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वर्यमपूजयन् ॥ ३२८ ॥ अपरीक्षितकार्याणामस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयत्रस्तमानसेषु नृपादिषु ॥ ३२९ ॥ अस्मदर्जितदुष्कर्मपरिपाकादभूदिदं । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवं ॥ ३३० ॥ वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्ठः क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत्पुरीं ॥ ३३१ ॥ एवं प्रयाति कालेऽस्य वारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त

उसपर तलवारका भारी प्रहार किया ॥ ३२४ ॥ श्रीअरहंत परमदेवकी भक्ति करनेवाले और शील व्रतको पालन करनेवाले उस शेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार एक मणियोंका हार बन गया ॥ ३२५ ॥ बिना परीक्षा किये ही उस शेठको दंड देनेसे नगरमें ऐसा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सब लोगोंका क्षय हो सकता था, सो ठीक ही है क्योंकि सज्जनोंको वध करनेसे क्या नहीं होता है ॥ ३२६ ॥ राजा और नगरके सब लोग उस उपद्रवको देखकर भयसे घबडाये और उसी शेठकी शरणमें जानेके लिये स्मशानकी ओर दौडे ॥ ३२७ ॥ तब कहीं जाकर वह उपसर्ग शांत हुआ, स्वर्गके रहनेवाले देवोंने बडे आश्चर्यसे उस शेठके शीलव्रतका प्रभाव वर्णन किया और उसकी पूजा की ॥ ३२८ ॥ जिनका मन भयसे कुछ घबडा गया है ऐसे राजा आदि सब लोग उस शेठसे प्रार्थना करने लगे कि हम लोग विचार कर काम नहीं करते इसलिये आप हमें क्षमा कर दीजिये, इसप्रकार कहनेपर क्षमा करनेवालोंमें मुख्य ऐसे शेठने कहा कि " मेरे कमाये हुये अशुभ कर्मके उदयसे ही यह सब हुआ है निश्चयसे इसमें आप लोगोंको कुछ विषाद नहीं करना चाहिये " इसतरह कह कर उसने सबकी उदासी दूर की तब सब लोगोंने उस पूज्य शेठको आगेकर बडी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश कराया ॥ ३२९-३३१ ॥ इसतरह कितना ही समय व्यतीत होनेपर इस ऐश्वर्यशाली राजाने

विभूतिमान् ॥ ३३२ ॥ अथान्येद्यः समामध्ये पृष्ठवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽन्योन्य धर्मादीति चतुष्टय ॥३३३ ॥ परस्परानुकूलास्ते सम्यग्दृष्टिषु साधुषु । न मिथ्यादृक्ष्विति प्राह श्रेष्ठी धर्मादितत्त्ववित् ॥ ३३४ ॥ इति तद्वचनाद्राजा तुष्टोऽभीष्ट त्वयोच्यता । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविति ॥ ३३५ ॥ न मया तद्द्वयं साध्यमिति प्रत्याह भूपतिः । मां मुच साधयामीति तमवोचद्वणिग्वर. ॥ ३३६ ॥ तदाकर्ण्य गृहत्यागमह च सह तेऽधुना । करोमि किंतु मे पुत्रा बालका इति चिंतयन् ॥ ३३७ ॥ सद्यो भिन्नाडकोद्भूतान् मक्षिकादानतत्परान् । क्षुधापीडाहतान्वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥ ३३८ ॥ सर्वेऽपि जीवनोपायं जतवो जानते तरा । स्वेपा विनोपदेशेन तत्किं मे बालचिंतया ॥ ३३९ ॥ इत्यसौ वसुपालाय दत्वा-

---

वारिषेणा नामकी इसी शेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिये ली ॥ ३३२ ॥ किसी एक दिन राजाने सभामें बैठकर शेठसे पूछा कि धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ परस्पर विरुद्ध हैं या नहीं है ॥ ३३३ ॥ तब धर्म आदि चारों पदार्थों के यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले शेठने उत्तर दिया कि सम्यग्दृष्टी सज्जनोंके लिये तो ये चारों ही पदार्थ परस्पर अनुकूल हैं और मिथ्यादृष्टियोंके लिये ये चारों ही प्रतिकूल वा विरुद्ध हैं ॥ ३३४ ॥ शेठके इन बचनोंसे राजाको बहुत ही संतोष हुआ उसने शेठसे कहा कि जो तुमको अच्छा लगे वही वर मांग लो, मैं दूंगा, तब शेठने कहा कि मैं अपने जन्म मरणको नाश करना चाहता हूं ॥ ३३५ ॥ इसपर राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे वश नहीं हैं अर्थात् मैं इन्हें नहीं दे सकता " तब शेठने कहा कि " अच्छा आप मुझे छोड दीजिये मैं इन दोनोंको सिद्ध कर लूंगा ॥ ३३६ ॥ यह सुनकर राजाने कहा कि " अब तेरे साथ मैं भी घर छोडूंगा, परंतु मेरे पुत्र अभी बालक हैं इस तरह वह राजा विचार कर ही रहा था कि इतनेमें ही अकस्मात् उसकी दृष्टि एक छिपकलीके बच्चेपर पडी वह बच्चा उसीसमय अंडेसे निकला था, भूखसे पीडित हो रहा था और इसलिये ही वह मक्खियोंको पकडनेमें तत्पर हो रहा था। यह देखकर राजा सोचने लगा कि " संसारके सब जीव जीविकाके उपायोंको तो बिना किसीके उपदेशके अपने

राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकं ॥ ३४० ॥ गुणपालमहाराजः सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भूभुजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥ ३४१ ॥ श्रेष्ठ्यहिंसाफलालोकान्मयाऽप्यग्राहि तद्व्रतं । तस्मात्त्वं न हतोऽसीति ततस्तुष्टाव सोऽपि तं ॥ ३४२ ॥ इत्युक्त्वा सोऽब्रवीदेव प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं भवदेवाख्यो रतिवेगासुकान्तयोः ॥ ३४३ ॥ बद्धवैरो निहताऽभू पारावतभवेऽप्यनु । मार्जारः सन्मृतिं कृत्वा पुनः खचरजन्मनि ॥ ३४४ ॥ विद्युचोरत्वमासाद्य सोपसर्गां मृतिं व्यधाः । तत्पापान्नरके दुःखमनुभूयागतस्ततः ॥३४५॥ अत्रेत्याखिलविद्युक्त व्यक्तवाग्विसरः स्फुट । व्यधात्सुधीः स्ववृत्तांतं भीमसाधुः सुधाशिनोः ॥ ३४६ ॥ त्रिःप्राक् त्वन्मारितावावामिति शुद्धित्रयान्वितौ । जातसद्धर्मसद्भावावभिवद्य मुनिं

आप ही बहुत अच्छीतरह जान लेते हैं, इसलिये मुझे पुत्रोंकी चिंता करनेसे क्या लाभ है ?" यही सोचकर उसने विधिपूर्वक वसुपालको राज्य दिया और श्रीपालको पट्टसहित युवराज पद दिया इसतरह महाराज गुणपालने शेठ कुबेरप्रिय और अनेक राजाओंके साथ साथ मुनिराजके समीप जाकर तपश्चरण धारण किया ॥ ३३७-३४१ ॥ वह चांडाल कहने लगा कि "शेठके अहिंसा फलको देखकर मैंने भी अहिंसाव्रत धारण किया है और इसलिये ही मैंने तेरा वध नहीं किया है" यह सुनकर विद्युच्चोर भी बहुत संतुष्ट हुआ ॥ ३४२ ॥ यह सब समाचार कहकर वह भीम मुनि फिर कहने लगा कि श्रीसर्वज्ञदेवने मुझसे प्रगट अक्षरोंमें साफ कहा है कि "तू पहिले मृणालवती नगरमें भवदेव नामका एक वैश्य हुआ था, वहां तूने रतिवेगा और सुकांतसे बैर बांधा था और उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर कबूतरी हुये थे और तू बिलाव हुआ था, बिलावके भवमें भी तूने उन दोनों कबूतर कबूतरीको मारा था, वे मरकर विद्याधर विद्याधरी हुये और तू विद्युच्चोर हुआ था उस भवमें भी तूने मुनि और अर्जिका अवस्थामें विराजमान उन दोनों विद्याधर विद्याधरीको उपसर्ग देकर मारा था, उसी पापके फलसे तू नरक गया था और वहांके दुःखोंका अनुभव कर वहांसे निकलकर यहां भीम हुआ है" इसतरह उस बुद्धिमान भीम साधुने उन देव देवियोंके लिये अपना

गतौ ॥ ३४७॥ इति व्याहृत्य हेमांगदानुजेदं च साऽब्रवीत् । भीमः साधुः पुरे पुंडरीकिण्यां घातिघातनात् ॥ ३४८ ॥ रम्ये शिवकरोद्याने पचमज्ञानपूजितः । तस्थिवाँस्तं समागत्य चतस्रो देवयोषितः ॥ ३४९ ॥ वंदित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मत्पतिर्मृतः । त्रिलोकेश वदास्माक पतिः कोऽन्यो भविष्यति ॥ ३५० ॥ इत्यपृच्छन्नसौ चाह पुरेऽस्मिन्नेव भोजकः । सुरदेवाह्वयस्तस्य वसुषेणा वसुंधरा ॥३५१॥ धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योषितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सवसतिका ॥ ३५२ ॥ चतस्रश्चेटिकास्तासामन्येद्युस्ता वनातरे । सर्वा यतिवराभ्यासे धर्मं दानादिनाऽऽददुः ॥३५३॥ तत्फलेनाच्युते कल्पे प्रतींद्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिषेणा सुसीमाख्या मुख्याऽन्या च सुखावती ॥ ३५४ ॥ सुभगेति च देव्यस्ता यूयं ताश्चेटिकाः

सब वृतांत कहा ॥३४३-३४६॥ उसे सुनकर उन दोनो देव देवियोंने कहा कि " आपने जिन्हें पहिले तीन बार मारा है ऐसे वे हमी हैं " यह कह कर जिनके मन बचन काय तीनों शुद्ध हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों ही देव देवी उन मुनिकी बंदनाकर अपने स्थानको चले गये ॥ ३४७ ॥ यह सब कहकर हेमांगदकी बहिन सुलोचना फिर कहने लगी कि पुंडरीकिणी नगरके शिवंकर नामके मनोहर उद्यानमें मुनिराज भीमको घातिया कर्मोंके नष्ट होनेसे पांचवां केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, सबने उनकी पूजा की, वे वहींपर विराजमान थे, वहीं चार देवांगनाओंने आकर उनकी बंदना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी ! हम लोगोंके पापके उदयसे हमारा पति मर गया है, कृपाकर आप कहिये कि अब कौन दूसरा हमारा पति होगा ? तब सर्वज्ञदेव भीम कहने लगे कि इसी नगरके राजा सुरदेवके वसुषेण, वसुंधरा, धारिणी और पृथिवी ये चार प्यारी रानिया थीं तथा श्रीमती, वीतशोका विमला और वसंतिका ये चार दासियां थीं। किसी एक दिन वे सब किसी बनमें मुनिराजके समीप गईं थीं और वहां उन्होंने दान आदि धर्म करना स्वीकार किया था ॥ ३४८-३५३ ॥ उस धर्मके प्रसादसे वे चारों ही रानियां सोलहवें अच्युत स्वर्गमें प्रतींद्रकी तुम प्रिय देवांगनायें हुई हों, रतिषेणा, सुसीमा, मुख्य सुखावती, और सुभगा तुम्हारे

पुनः । चित्रषेणा क्रमाचित्रवेगा धनवती सती ॥ ३५५ ॥ धनश्रीरित्यमायं वनदेवेषु कन्यकाः । सुरदेवोऽप्यभूत् [illegible] पिङ्गलः [illegible] ॥ ३५६ ॥ स तत्र निजदोषेण प्रापन्निगलबन्धन । मातुस्तनुजदेवस्य प्राता [illegible] राजतनुजा ॥ ३५७ ॥ श्रीपाल[illegible] [illegible] । [illegible] पिङ्गल-ख्योऽपि मुक्तःसंन्यस्य सम्प्रति ॥ ३५८ ॥ भूत्वाऽच्युतविमानेऽसौ [illegible] । [illegible] ॥ ३५९ ॥ [illegible] कृतं तेन तत्राऽगत्य मुनेर्वचः । पृष्टाऽनुकन्यकाभिः [illegible] पतिं ॥ ३६० ॥ [illegible] पिङ्गल[illegible] । सोऽपि संन्यस्य युष्माकं रतिदायी भविष्यति ॥ ३६१ ॥ [illegible] । [illegible] ॥ ३६२ ॥ [illegible]

नाम हैं, तथा वे चारों दासियां चित्रषेणा चित्रवेगा, सती धनवती और धनश्री नामकी वनदेवकी कन्या हुई हैं । राजा सुरदेव मरकर पिंगल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही किसी दोपसे जेलखानेमें पडगया है । सुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और वह श्रीपाल कुमारको व्याही गई है, उसके विवाहके उत्सवमें जब सब कैदी छोडे गये थे तब उनमें पिंगल भी छूट गया था । अब वह सन्यास धारण कर अच्युत विमानमें उत्पन्न होगा और वही तुम्हारा स्वामी होगा । सुलोचना कहने लगी कि वह पिंगल वहीं आकर उत्पन्न हुआ और इसतरह मुनिराजके मनोहर वचन उसने सत्य कर दिखाये । इतनेमें ही वे चारों वनदेवकी कन्यायें आईं और सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगीं ॥ ३५९-३६० ॥ तब वे मुनिराज कहने लगे कि जिस पिंगल कोतवालकी वात ऊपर कही है उसीके पुत्रका नाम अतिपिंगल है, वही सन्यास धारणकर मरकर तुम्हारा पति होगा ॥ ३६१ ॥ केवलीके ये वचन सुनकर वे चारों ही व्यंतरी देवियां अतिपिंगलकी सेवा करनेके लिये गईं, उसे देखकर उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ ॥ ३६२ ॥ सुलोचना फिर कहने लगी कि उन देवियोंने रतिकूल नामके मुनिका सब चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना, सुकेतुका चरित्र सुना और सबको सत्य पाया, तब वे सब देवांगनायें संतुष्ट होकर तथा उन

धानस्य संविधान मुनेः श्रुतं । तत्पितुर्भणिनागादिदत्तस्य प्रकृतं तथा ॥ ३६३ ॥ सुकेतोश्चाखिले तस्मिन्सत्यीभूते मुनीश्वरं । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवंद्य तं ॥ ३६४ ॥ आवामपि तदा वदनाय तत्र गताविद । श्रुत्वा दृष्ट्वा गतौ प्रीतिपरीतहृदयौ दिव ॥ ३६५ ॥ इत्यात्मीयभवावली-मनुगतैर्मान्यैर्मनोरजनैः स्पष्टैरस्खलितैः कलैरविरलैरव्याकुलैर्जल्पितैः । आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोच्चनीचस्थिति. संसर्पद्दशनांशुभूपितसभासन्धान-सावम्यधात् ॥ ३६६ ॥ त्वा ता हृदयप्रियोक्तिमतुषत्कांतो रताते यथा संसच्च व्यकसत्तरा शरदि वा लक्ष्मीः सरःसश्रया । कांताना वदनेंदुकांतिरगल-त्तद्वाग्दिनेशोद्गतेरस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्त्याज्यस्ततोऽसौ बुधैः ॥३६७॥ कांतोऽभूद्रतिवेगया वणिगसौ पूर्वं सुकांतस्ततः संजातो रतिषेणया रतिवरो

मुनिराजकी वंदना कर अपने स्थानको चली गई ॥ ३६३-३६४ ॥ सुलोचना कह रही है कि हम दोनों देव देवी (कनकप्रभ कनकप्रभा) भी उनकी वंदना करनेके लिये गये थे वहांपर यह सब सुनकर देखकर और प्रेमसे अपने अपने हृदयमें संतुष्ट होकर स्वर्गको चले गये थे ॥ ३६५ ॥ इस प्रकार अपने किये हुये शुभ अशुभ कर्मके उदयसे जिसे ऊंची तथा नीची स्थिति प्राप्त हुई है, निक-लती हुई अपनी दांतोंकी किरणोंसे जिसने सब सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी उस सुलोचनाने वहां पर बैठे हुये सभासदोंको मान्य, मनोहर, स्पष्ट, मधुर, अस्खलित, जिनमें किसीतरह रुकावट नहीं, घबडाहट नहीं, ऐसे अनुक्रमसे कहे हुये वचनोंसे अपने पहिले भवकी सब कथायें सुनाईं ॥३६६॥ वह जयकुमार जिसप्रकार संभोगके अंतमें संतुष्ट होता था उसीप्रकार हृदयको प्रिय लगनेवाली सुलोचनाकी इन बातोंको सुनकर बहुत संतुष्ट हुआ, तथा शरदऋतुमें जिसप्रकार सरोवरकी शोभा विकसित हो जाती है उसीप्रकार वह सभा भी उसे सुनकर प्रसन्न हुई, और सुलोचनाके वचनरूपी सूर्यके उदय होनेपर अन्य स्त्रियोंके (सुलोचनाकी सौतोंके) मुखरूपी चंद्रमाकी कांति बिलकुल नष्ट हो गई, सो ठीक ही है क्योंकि जो ईर्षा अयोग्य जगहपर की जाती है वह दुःख देनेवाली होती है इसलिये बुद्धिमानोंको ऐसी ईर्षाको त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ३६७ ॥ सुलोचना जयकुमारसे

गेहे कपोतो विशां। वत्यंतप्रभयाऽभवत्खगपतिर्वर्मा हिरण्यादिवाक् देवः कल्पगतो मया सह महादेव्याऽजनीड्यो भवान्॥ ३६८ ॥ सकलमविकलं तत्सप्रपंच रमण्या मुखकमलरसाक्तं श्रोत्रपात्रे निधाय। तदुदितमपरं च श्रोतुकामो जयोऽभून्न रसिकदयितोक्तैः कामुकास्तृप्नुवंति ॥ ३६९ ॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचनाभवांतरवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व।

कहने लगी कि आप पहिले तो मेरे जीव रतिवेगाके साथ (मेरे ही जीवके पति) सुकांत नामके वैश्य हुये थे, फिर शेठके घर रतिषेणा कबूतरीके साथ रतिवर नामके कबूतर हुये थे, उसके बाद मेरे जीव प्रभावतीके साथ हिरण्यवर्मा नामके विद्याधरोंके राजा हुये थे और फिर मेरे जीव महादेवी के ही साथ साथ पूज्य कल्पवासी देव हुये थे ॥ ३६८ ॥ जयकुमारने प्रियाके मुखकमलके रससे भरे हुये, मनोहर, पूर्ण और सविस्तर सुलोचनाके वचनोंको अपने कान रूपी पात्रोंमें रक्खा अर्थात् उसे अच्छीतरह सुना और फिर वह और भी उसके कहे हुये वचनोंको सुननेकी इच्छा करने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुष स्त्रीके कहे हुये रसीले वचनोंसे कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥ ३६९ ॥

इसप्रकार भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत महापुराणके नवीन हिंदीभाषानुवादमें जयकुमार सुलोचनाके पूर्व भवोंका वर्णन करनेवाला यह छयालीसवा पर्व समाप्त हुआ।



अथ सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व ।

काते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसंबधमित्यप्राक्षीत्स तां पुनः ॥ १ ॥ बाढं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकं । यथैवाध्येक्षितं वेति सा प्रवक्तु प्रचक्रमे ॥ २ ॥ जंबूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुंडरीकिणी । नगरी नगरीवासौ वासवस्यातिविश्रुता ॥ ३ ॥ श्रीपालवसुपालाख्यौ सूर्याचंद्रमसौ च तौ । जित्वा महीं सहैवावतः स्मेव नयविक्रमौ ॥ ४ ॥ जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽन्यदा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥ ५ ॥ गुणपालमुनीशोऽस्मत्पतेः सुरगिराविति । निवेदितवति ज्ञात्वा पुरः सप्तपदांतर ॥ ६ ॥ प्रणम्य वनपालाय दत्वाऽसौ पारितोषिकं । पौराः सपर्यया सर्वेऽप्यायपुरिति घोषणा ॥ ७ ॥ विधाय प्राक् स्वय प्राप्य भगवंतमवदत । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुदौ गतौ ॥ ८ ॥ प्रमदाख्य

अथ सैंतालीसवां पर्व ।

यह सुनकर जयकुमार सुलोचनासे फिर पूछने लगा कि हे प्रिये! इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे संबंध रखनेवाली एक कथा और है वह तुझे याद है या नहीं ॥ १ ॥ तब सुलोचनाने कहा कि हां खूब याद है, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानों मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उस कथाको कहने लगी ॥ २ ॥ इसी जंबूद्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें इंद्रकी नगरी अमरावतीके समान एक प्रसिद्ध पुंडरीकिणी नगरी है ॥ ३ ॥ नीति और पराक्रमको धारण करनेवाले सूर्य और चंद्रमाके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई सब पृथ्वीको जीतकर उसका राज्य करते थे ॥ ४ ॥ किसी एक दिन एक माली आया उसने राजा वसुपालकी माता कुबेरश्रीको समाचार सुनाया कि सुरगिर पर्वतपर आपके स्वामी मुनिराज महाराज गुणपालको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने साम्हने ही सात पेंड चलकर नमस्कार किया, उस मालीको बहुतसा पारितोषक दिया, नगरमें घोषणा कराई कि सब लोग पूजाकी सामग्री ले लेकर भगवानके दर्शन करनेके लिये चलो ?, वह स्वयं सबसे पहिले वहां पहुंची और भगवानकी बंदना की । माताके पीछे ही राजा वसुपाल और श्रीपाल दोनों ही भाई बडी प्रसन्नतासे चले ॥५-८॥

वन प्राप्य सद्द्रुमे रम्यमंतरे । प्राग्जगत्पालचक्रेशो यस्मिन्न्यग्रोधपादपे ॥ ९ ॥ देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमं । तस्याधस्तात्समीक्ष्येक्ष्यं प्रवृत्त नृत्तमादरात् ॥ १० ॥ तयोः कुमारः श्रीपालःपुरुषो नर्तयत्ययं । अस्तु स्त्रीवेषधार्यत्र स्त्री चेत्पुरुषधारिणी ॥ ११ ॥ स्यादेवं स्त्री प्रनृत्यती नृत्त युक्तमिद भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटीमूर्च्छामुपागता ॥ १२ ॥ उपायैः प्रतिबोध्यैना तदा प्रश्रयपूर्वकं । इति विज्ञापयामास काचित्त भाविचक्रिणं ॥ १३ ॥ सुरम्यविषये श्रीपुराधिपः श्रीधराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीत्यभूत् ॥ १४ ॥ तज्जातो चक्रिणो देवी भाविनीत्यादिशन्विदः । अभिज्ञानं च तस्यैतत् नटनट्योर्विवेक्ति यः ॥ १५ ॥ भेद स चक्रवर्तीति तत्परीक्षितुमागताः । पुण्याद्दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिकल्पो यदृच्छया ॥ १६ ॥ अहं प्रिय-

---

रास्तेमें प्रमद नामके बनमें पहुंचे, वह बन अच्छे अच्छे वृक्षोंसे मनोहर था उसी बनमें जिसके नीचे किसी देवताकी प्रतिमा रक्खी हुई है ऐसे एक बडके वृक्षके नीचे महाराज जगतपाल चक्रवर्तीने खडे होकर संयम धारण किया था। उसी वृक्षके नीचे एक देखने योग्य नृत्य हो रहा था उसे दोनों भाई वडे आदरसे देखने लगे ॥ ९-१० ॥ देखते देखते कुमार श्रीपालने कहा कि " यह स्त्रीका भेष बनाकर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका भेष बनाकर यह स्त्री नाच रही है, यदि यह स्त्री स्त्रीकेही भेषमें नाचती तो यह नाच बहुत ही अच्छा होता " श्रीपालकी इस बातको सुनकर उस नाचनेवाली नटीको मूर्छा आगई ॥ ११-१२ ॥ कितने ही उपायोंसे जब उसे सचेत किया तब उनमेंसे एक स्त्री होनहार चक्रवर्ती कुमार श्रीपालसे बडी नम्रताके साथ कहने लगी ॥ १३ ॥ कि सुरम्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी देवीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी एक पुत्री है ॥ १४ ॥ उसके जन्म होते ही ज्योतिषियोंने कहा था कि " यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी तथा उस चक्रवर्तीकी पहिचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है हे देव ! हम लोग उसकी परीक्षा करनेके लिये ही आये हैं, पुण्यकर्मके उदयसे हम लोगोंको अपनी इच्छानुसार निधिके समान आपके दर्शन हुये हैं ॥ १५-१६ ॥ हे प्रभो ! मेरा नाम प्रियरति है, यह

रतिर्नाम्ना सुतेयं नर्तकी मम । ज्ञेया मदनवगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥ १७ ॥ नटोऽय वासवो नाम ख्यांतः स्त्रीवेषधारकः । तच्छ्रुत्वा नृपातिस्तुष्ट्वा तां संतर्प्य यथोचितं ॥ १८ ॥ गुरु वदितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः । अश्व केनचिदानीतमारुह्यासक्तचेतसा ॥ १९ ॥ अधावयदसौ किंचिदतरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तीकृतखगाकृतिः ॥२०॥ न्यग्रोधपादपाध.स्थप्रतिमावासिना भृश । देवेन तर्जितो भीत्वाऽशनिवेगोऽमुचत् खग. ॥२१॥ कुमारं पर्णलघ्वाख्यविद्यया स्वनियुक्तया । रत्नावर्तगिरेर्मूर्ध्नि स्थित त सति भाविनः ॥ २२ ॥ बहवोऽप्यस्य लभा इत्यग्रहीत्वा निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिँश्चित्स्नानादिविधिना श्रमं ॥ २३ ॥ मार्गज स्थितमुध्दूय तमेकस्मात्सुधागृहात् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितं ॥ २४ ॥ दृष्ट्वा

पुरुषका भेष बनाकर नृत्य करनेवाली मदनवेगा नामकी मेरी लडकी है और स्त्रीका भेष बनाकर नृत्य करनेवाला यह वासव नामका नट है" यह सुनकर राजाने संतुष्ट होकर योग्यतानुसार उन लोगोंको संतुष्ट किया और आप अपने पिताकी वंदना करनेके लिये सुरगिर पर्वतपर चला। रास्तेमें कोई पुरुष एक घोडा लाया था उसपर मोहित होकर श्रीपालने सवारी की और दौडाया, थोडी दूरतक तो वह पृथ्वीपर दौडा परंतु फिर अपना विद्याधरका रूप प्रगटकर उसे आकाशमें ले उडा ॥ १७-२० ॥ उस पहिले कहे हुये वडके वृक्षके नीचेकी प्रतिमापर निवास करनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा तब उस देवसे डरकर उस अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजी हुई पर्णलघु नामकी विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पहाडके शिखरपर छोड दिया। देवने यह देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुतसे लाभ होनेवाले हैं इसलिये यह कुमारको वहीं छोड-कर लौट आया। कुमारने भी वहां किसी एक तालावमें स्नान किया और मार्गमें उत्पन्न हुआ सब परिश्रम दूर किया। इतनेमें ही एक सफेद भवनमेंसे छह राजकन्यायें निकलकर आईं और उस कुमारको राजपुत्र समझकर और यथायोग्य रीतिसे देखकर अपने समाचार निवेदन करने लगीं, पहिले तो उन्होंने अपने गोत्र तथा कुलका नाम बतलाया और फिर कहा कि " एक अशनिवेग

षड्राजकन्यास्ताः स्ववृत्तांतं न्यवेदयन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य खचरेशिना ॥ २५ ॥ बलादशनिवेगेन वयमस्मिन्निवेशिताः । इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकंपितः ॥ २६ ॥ निजागमनवृत्तांतकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥ २७ ॥ पापिनाऽशनिवेगेन हंतुमेन प्रयोजिता । समीक्ष्य मदनाक्रांताऽभूच्चित्राश्चित्तवृत्तयः ॥ २८ ॥ सूनुस्तनितवेगस्य राज्ञो गजपुरेशिनः । खगेशोऽशनिवेगाख्यो ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥ त्वमत्र तेन सौहार्दादानीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मैथुनः ॥ ३० ॥ रत्नावर्तगिरिं याहि स्थितस्तत्रेति सादरं । भवत्समीपं प्राप्तैवमिति रक्तविचेष्टितं ॥ ३१ ॥ दर्शयंती समीपस्थ यावत्सौधगृहांतरं । इत्युक्त्वाऽनभिलाषं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥ तत्रैव विद्यया सौधगेहं

नामके विद्याधरने जबर्दस्ती लाकर हमको यहां पटक दिया है" कन्याओंकी यह बात सुनकर कुमारको दया आई और उसने अपने आनेका भी समाचार कहा। वह कुमार अपना समाचार कह ही रहा था कि इतनेमें एक दूसरी विद्युद्वेगा नामकी विद्याधरी वहां आई ॥ २१-२७ ॥ पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिये उसे यहां भेजा था परंतु वह उस कुमारको देखकर कामदेवके वश होगई, सो ठीक ही है क्योंकि चित्तकी वृत्ति बडी ही विचित्र होती है ॥ २८ ॥ वह कहने लगी कि राजा अशनिवेग विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है, ॥ २९ ॥ वह अशनिवेग अपने मित्रपनेके नातेसे आपको यहां लाया है वह मेरा बडा भाई है, विद्युद्वेगा नामकी मैं उसकी छोटी बहिन हूं मुझे उसीने आपके पास भेजा है क्योंकि अब वह आपका साला है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि आप रत्नावर्त पर्वतपर सादर विराजमान हैं तू वहीं जा, इसलिये मैं आपके पास आई हूं, इसतरह कहकर उसने बहुतसी रागरूप चेष्टायें दिखलाई और कहा कि हे स्वामिन् चलिये यह पास ही सफेद भवन है" परंतु इतना करने और कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा न देखी तब उसने विद्याके जोरसे वहींपर एक बडा भवन बना लिया और वह निर्लज्ज होकर वहींपर उन छह राजकन्याओंके साथ साथ बैठ गई सो

निर्माप्य निस्त्रपा । स्थिता तद्राजकन्याभिः सह का कामिनां त्रपा ॥ ३२ ॥ एत्यानंगपताकाऽस्यास्तं सखीत्थमवोचत । त्वत्पितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशिनः ॥ ३४ ॥ ज्योतिर्वेगागुरु प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं क्वापि श्रीपालस्वामिनं मम॥ ३५ ॥ स्वय स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेष· येदिति । प्रतिपन्नः स तत्प्रोक्त भवत मैथुनस्तत्र ॥ ३६ ॥ आनीतवानिहेत्येतदवबुध्यात्मना द्विषं । पतिं मत्वोत्तरःश्रेणेराशक्यानलवेगकं ॥ ३७ ॥ स्वय तदा समालोच्य निवार्य खचराधिप । उदीर्यान्वेषणोपायं त्वत्स्नेहाहितचेतसः ॥ ३८ ॥ आनीयता प्रयत्नेन कुमार इति बाधवाः । आवां प्रिय सकाश ते प्रहैषुस्तादिहागते ॥ ३९ ॥ विद्युद्वेगाऽवलोक्य त्वामनुरक्ताऽभवत्त्वया । न त्याज्येति तदाकर्ण्य सविचिंत्योचित वचः ॥ ४० ॥ मयोपनयनेऽग्राहि

ठीक ही है क्योंकि कामी लोगोंके भला लज्जा कहां रह सकती है ॥ ३१-३२ ॥ इतनेमें अनंगपताका नामकी विद्युद्वेगाकी सखी आई और कुमारसे कहने लगी कि " आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेंद्रदेवके दर्शन करनेके लिये गई थी, वहां उसने बडे प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा था (कि मेरा पुत्र श्रीपाल तुम्हारे यहां गया है उसे ले आओ) ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जंवाई स्तनितवेगसे कहा कि हमारा स्वामी कुमार श्रीपाल तुम्हारे यहां आया है उसे ले आओ ॥३४-३५ ॥ स्तनितवेगने अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहां लाया है वह आपका साला है ! उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है वह इस विद्युद्वेगाको मागना चाहता है, जिनके चित्तमें आपका स्नेह भर रहा है ऐसे सब भाइयोंने मिलकर आपके लानेका उपाय बतलाया, अशनिवेगसे कहा कि तुम बडे प्रयत्नसे कुमारको लाकर यहां रखना, वे सब भाई अगलवेगको रोकनेके लिये गये हैं और हमको यहां आपके पास भेजा है, यहां आनेपर यह विद्युद्वेगा आपको देखकर आपपर मोहित होगई है इसलिये अब आपको यह छोडनी नहीं चाहिये " कुमारने ये सब बातें सुनी और सोचाविचार कर उचित उत्तर दिया कि "जब मेरा यज्ञोपवीत हुआ था तब गुरुजनोंने मुझे एक व्रत दिया था कि " गुरुजनोंकी साक्षी पूर्वक जो विवाह

व्रत गुरुगिरार्पितं । मुक्त्वा गुरुजनानीता स्वीकरोमि न चापरा ॥ ४१ ॥ इत्यवोचत्ततस्ताश्च शृंगाररसचेष्टितैः । नानाविधै रंजयितु प्रवृत्ता नाशकं-स्तदा ॥ ४२ ॥ विद्युद्वेगा ततोऽगच्छत्स्वमातृपितृसन्निधौ । पिधाय द्वारमारोप्य सौधाग्र प्राणवल्लभ ॥ ४३ ॥ तावानेतु कुमारोऽपि सुप्तवान् रक्तकंबल । प्रावृत्य त समालोक्य भेरुडः पिशितोच्चय ॥ ४४ ॥ मत्वा नीत्वा द्विज. सिद्धकूटाग्रे खादितु स्थितः । चलत वीक्ष्य सोऽस्याक्षीत्स तेषा जातिजो गुणः ॥ ४५ ॥ ततोऽवतीर्य श्रीपालः स्नात्वा सरसि भक्तिमान् । सुपुष्पाणि सुगंधीनि समादाय जिनालय ॥ ४६ ॥ परीत्य स्तोतुमारेभे विवृत्तं द्वारस्तदा स्वय । तन्निरीक्ष्य प्रसन्नस्सन्नभ्यर्च्य जिनपुगवान् ॥ ४७ ॥ अभिवद्य यथाकाम विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य खगः काश्चित्समुद्धत्य नभःपथे ॥ ४८ ॥

किया जाता है उसे छोडकर मैं और किसीको स्वीकार नहीं करूंगा" यह व्रत मैंने उससमय स्वीकार किया था ॥ ३६-४१ ॥ जब कुमारने यह सूखा उत्तर दिया तब वे सब कन्यायें अनेक तरहकी शृंगारसे भरी हुई चेष्टायें कर उसे रिझाने लगीं, जब वे उसे अपने वश न कर सकीं तब विद्युद्वेगा अपने पति कुमार श्रीपालको मकानकी छतपर छोडकर और बाहरसे दरवाजा बंदकर अपने माता पिताको बुलानेके लिये उनके पास चली गई, कुमार श्रीपाल भी उसी छतपर लाल कंबल ओढकर सोगया । उधर कहींसे भेरुड पक्षी जा रहा था, उसने लौटकर देखा और उसे ऊपरसे मांसका पिंड समझकर उठाकर लेगया, जाकर उसने सिद्धकूट चैत्यालयके सामने रक्खा और उसे खानेके लिये तैयार हुआ, जब उसने उन्हें हलते चलते देखा तब वह छोडकर भाग गया, सो ठीक ही है क्योंकि उन पक्षियोंका यह स्वाभाविक गुण है अर्थात् वे मरे हुयेको ही खाते हैं जीतेहुयेको नहीं ॥ ४२-४५ ॥ तदनंतर वह श्रीपालकुमार उस कंबलमेंसे निकला, सरोवरमें स्नान किया और बडी भक्तिसे सुगंधित पुष्पोंको लेकर श्रीजिनालयमें गया ॥ ४६ ॥ वहां जाकर पहिले प्रदक्षिणा दी और फिर स्तुति करना प्रारंभ किया, उसीसमय चैत्यालयका दरवाजा अपने आप खुल गया, उसे देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ अपनी इच्छानुसार उसने विधिपूर्वक श्रीजिनेंद्रदेवकी पूजा की, वंदना की

गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्यानिलवेगस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥ ४९ ॥ तयोः सुता भोगवतीमाकाशस्फटिकालये । मृदुशय्यातले सुप्तां का कुमारीयमित्यसौ ॥ ५० ॥ अपृच्छत्सोऽब्रवीदेषा भुजगी विषमेति च । तदुक्ते स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपग ॥ ५१ ॥ तमस्मत्कन्यकामेष भुजगीति खलोऽब्रवीत् । इत्युवाच ततः क्रुध्वा दुष्टो निक्षिप्यतामयं । ५२ ॥ दुर्द्धरोरुतपोभारधारियोग्ये घने वने । इत्यभ्यधान्नृपस्तस्य वचनानुगमादसौ ॥ ५३ ॥ विजयार्द्धोत्तरश्रेणिमनोहरपुरान्तिके । स्मशाने शीतवैतालीविद्यया तं शुभाकृतिं ॥ ५४ ॥ कृत्वा व्यत्यक्षिपत्पापी जरतीरूपधारिणं । तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयं ॥ ५५ ॥ स्वं ग्राममृगरूपेण स्वसुताचरणद्वये । समताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य भृशं ततः ॥ ५६ ॥

और फिर वह कुछ विश्राम लेनेके लिये वहां बैठ गया । इतनेमें ही एक विद्याधर आकर उसे उठाकर आकाशमें लेगया, जाते जाते वे मनोहर राज्यके शिवंकर नगरमें पहुंचे, वहांके राजा अनिलवेगकी रानी कांतिवतीकी पुत्री भोगवती ऊपर आकाशमें एक स्फटिकके भवनमें कोमल शय्यापर सो रही थी, उसे दिखाकर उस विद्याधरने कुमार श्रीपालसे पूछा कि यह कुमारी कौन है ? यह सुनकर श्रीपालने उत्तर दिया कि " यह विषम सर्पिणी है " श्रीपालके इस उत्तरसे उस विद्याधरको बडा क्रोध आया, वह उसे उस कन्याके बापके पास ले गया और कहा कि " यह दुष्ट आपकी कन्याको सर्पिणी बतलाता है " यह सुनकर राजा अनिलवेग भी क्रोधित हुआ और आज्ञा दी कि " जिसमें कठिन और भारी तपश्चरणका भार धारण किया जाता है ऐसे किसी घने वनमें इसे ले जाकर डाल दो " राजाकी इस बातको सुनकर उस पापी विद्याधरने भी शीतवैताली नामकी विद्यासे उसके सुंदर स्वरूपको बूढेका रूप बनाकर विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीके मनोहर नामके नगरके समीप वाले स्मशानमें पटक दिया । वहांपर एक चांडालिनीने अपने जंवाईको कुत्ताका रूप बनाकर अपनी लडकीके दोनों पैरोंपर खूब लिटाया और इसतरह अपनी लडकीको अच्छीतरह प्रसन्न किया तदनंतर ॥ ४७-५६ ॥ उस दुष्ट चांडालिनीने फिर उसका पुराना रूप बना दिया । यह देखकर

तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत्खला । तद्विलोक्य कुमारोसौ खगाः स्वाभिमताकृतिं ॥ ५७ ॥ विनिवर्तयितुं शक्ता इत्याशंक्य विचिंतयन् । यमाग्रयायिशंकाशकाशप्रसवहारिभिः ॥ ५८ ॥ शिरोरुहैर्जराभोधितरंगाभतनुत्वचा । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितं ॥ ५९ ॥ लज्जाशोकाभिभूतः सन्मक्षु गच्छँस्ततः पर । तत्र भोगवतीभ्रातु र्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥ विद्यया शवरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य समुद्रम्य निर्वांतमविचारयन्॥६१॥ उध्दत्येद विशकस्त्व पिबेत्युक्त प्रपीतवान् । तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वा सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ ६२ ॥ विद्या श्रितेति सप्रीतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः कुमारो वटभूरुह ॥ ६३ ॥ गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कांचिन्नभश्चरं । प्रदेशः कोऽयमित्येवमपृच्छत्सोऽब्रवीदिद ॥ ६४ ॥ खगाद्रेः

कुमारको कुछ शंका हुई और वह सोचने लगा कि " विद्याधर लोग अपनी इच्छानुसार चाहे जैसा रूप बना सकते हैं " उससमय वह यमराजके साम्हने ही जाने योग्य अर्थात् बिल्कुल वृद्धके समान था, फूले हुये कांसोंकी ओर भी हँसनेवाले उसके बाल थे, और बुढापेरूपी समुद्रकी तरंगोंके समान उसके शरीरका चमडा था, इसतरह उस दुष्ट विद्याधरके द्वारा किये हुये अपने रूपको देखकर लज्जा और शोकसे उसका सिर कुछ नीचा हुआ, वह शीघ्र ही आगे चला। वहां थोडी ही दूरपर उसी भोगवतीकन्याके भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे प्रार्थना की' तब उसने मुरदेका रूप धारणकर कुमार श्रीपालके हाथपर कुछ उगलकर रख दिया और कहा कि तू बिना किसी विचार और शंकाके इसको उठाकर पीजा, कुमार भी शीघ्र ही उसे पी गया, यह देखकर उसने कुमारसे कहा कि " तुझे सर्वव्याधिविनाशनी (सब रोगोंको दूर करनेवाली) विद्या सिद्ध हुई ", यह कहकर उसे विद्या देकर और प्रसन्न होकर वह चलागया, इधर कुमारका असली रूप प्रगट होगया तब वह आगे चला, चलते चलते उसने एक बडके पेडके नीचे बैठे हुये एक विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौनसा देश है, तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥ ५७-६४ ॥ यह विजयार्द्ध पर्वतके पूर्व दिशाका भाग है, यह नील पर्वतके पश्चिमकी ओर सुसीमा नामका देश है, इसमें यह

पूर्वविदेहभागे नीलाद्रेरपि पश्चिमे । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमध्यदः ॥ ६५ ॥ तद्भूतवनमेतत्त्वं सम्यक् चित्तेवधारय । अस्मिन्नेता. शिला: सप्त परस्परधृता: कृता: ॥ ६६ ॥ येनासौ चक्रवर्तित्व प्राप्तेत्यादेश ईदृशः । इति तद्वचनादेष तास्तथा कृतवांस्तदा ॥ ६७ ॥ दृष्ट्वा तत्साहस वक्तु सोऽगमन्नगरेशितुः । कुमारोऽपि विनिर्गत्य ततो निर्विण्णचेतसा ॥ ६८ ॥ काचिज्जरावतीं कुत्स्यशरीरा कस्यचित्तरो । अध स्थितामधोभागे विषय पुष्कलावतीं ॥ ६९ ॥ वद प्रयाति कः पथा इत्यप्राक्षीत्प्रियवदः । विना गगनमार्गेण प्रयातु नैव शक्यते ॥ ७० ॥ सगव्यूतिशतोत्सेधविजयार्द्धगिरेरपि । परिस्मिन्नित्यसावाह तदाकर्ण्य नृपात्मज. ॥ ७१ ॥ ब्रूहि तत्प्रापणोपायमिति ता प्रत्यभापत । इह जबूमति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥ ७२ ॥

महानगर नामका नगर है और यह इस नगरका बन है, इस बातको तू अपने मनमें अच्छीतरह रख ले, दूसरी बात यह है कि इस बनमें ये सात शिलायें पडी हैं जो कोई इन्हें एकके ऊपर एक इसतरह रख देगा उसे चक्रवर्तीका पद मिलेगा ऐसी सर्वज्ञदेवकी आज्ञा है, इस बातको सुनकर कुमारने उसी समय उन शिलाओंको एकके ऊपर एक करके रख दिया, ॥ ६५-६७ ॥ उसके इस साहसको देखकर वह विद्याधर उस नगरके राजाको खबर देनेके लिये चला गया और वह कुमार कुछ विरक्त होकर वहांसे आगे चला, आगे किसी वृक्षके नीचे बुढियाका रूप धारण किये बुरे शरीरकी एक स्त्री बैठी थी उससे मीठा बोलनेवाले उस कुमारने पूछा कि पुष्कलावती देशको कौनसा रास्ता जाता है, यह सुनकर उस स्त्रीने कहा कि " आकाशमार्गके विना वहां कोई नहीं जा सकता ॥ ६८-७० ॥ क्योंकि पच्चीस योजन ऊंचा तो यह विजयार्द्ध पर्वत है इसके दूसरी ओर वह देश है " यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने कहा कि वहांपर पहुंचनेका उपाय वतला, तब वह कहने लगी कि " इसी जंबूद्वीपमें एक वत्सकावती देश है ॥ ७१-७२ ॥ उसके विजयार्द्ध पर्वतपर एक राजपुर नगर है वहांके विद्याधरोंका चक्रवर्ती राजा धरणीकंप है, चंद्रमाकी चांदनीके समान उसकी रानीका नाम प्रभावती है, ॥ ७३ ॥ उन दोनोंकी सुखावती नामकी मैं प्रसिद्ध पुत्री हूं मुझे

तत्खेचरगिरौ राजपुरे खेचरचक्रिणः । देवी धरणिकंपस्य सुप्रभा वा प्रभाकरी ॥ ७३ ॥ तयोरह तनुजाऽस्मि विख्याताख्या सुखावती । त्रिप्रकारोरुविद्याना पारगाऽन्येद्युरागता ॥ ७४ ॥ विषये वत्सकावत्या विजयार्धमहीतले । अकंपनसुता पिप्पलाख्या प्राणसमा सखी ॥ ७५ ॥ ममाभिवीक्षितु तत्र चित्रमालोक्य कवलं । कथयाय कुतस्त्यस्ते तन्वीति प्रश्नतो मम ॥ ७६ ॥ जगाद साऽपि मामेप प्रापादेशवशादिति । कम्बलप्रापितस्तद्गत समाध्याय विह्वला ॥ ७७ ॥ एता तस्याः सखी श्रुत्वा समन्वेष्टु समागता । काचनाख्यपुरान्नाम्ना मदनादिवती तदा ॥ ७८ ॥ दृष्ट्वा तत्कवलस्याते निबद्धा रत्नमुद्रिका । तत्र श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसस्मृते. ॥ ७९ ॥ अकायसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूदह ततः । कथ वैद्याधर लोकमिम श्रीपालनामभृत् ॥८०॥ समागतः स इत्येतन्निश्चेतु पुडरिकिणी । उपगत्य जिनागारे वदित्वा समुपास्थिना ॥ ८१ ॥ त्वत्प्रवासकथा सर्वां तव मातुः प्रजल्पनात् । विदित्वा

जाति विद्या (माताके वंशकी विद्यायें) कुलविद्या (पिताके वंशकी विद्यायें) और सिद्ध की हुई अनेक विद्यायें आती हैं । किसी एक दिन मैं वत्सकावती देशके विजयार्द्ध पर्वतपर मेरे प्राणोंके समान प्यारी सखी राजा अकंपनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिये गई थी, वहां मैंने एक विचित्र कंबल देखा, उसे देखकर मैंने पूछा कि यह कंबल कहांसे आया तब वह तन्वी मेरे प्रश्नके उत्तरमें कहने लगी कि " मेरी आज्ञासे ही यह कंबल यहां आया है । जबसे उसे वह कंबल मिला था तभीसे वह कंबलवालेका ध्यान करती हुई विह्वल हो रही थी ॥ ७४-७७ ॥ उसकी ऐसी बुरी हालत सुनकर मदनावती नामकी उसकी सखी उसी समय उसे देखनेके लिये कांचनपुर नामके नगरसे आई उसने वह कंबल देखा उसके ठोकमें बंधी हुई रत्नोंकी अंगूठी देखी, उसमें श्रीपालका नाम खुदा हुआ था उसे देखकर मुझे (गुरुकी) आज्ञाका स्मरण हुआ ॥ ७८-७९ ॥ उसके स्मरण होनेसे ही मेरा हृदय कामदेवके बाणोंसे भिद गया और मैं सोचने लगी कि श्रीपाल नामका भूमिगोचरी मनुष्य इस विद्याधर लोकमें कैसे आया ? इसीके निश्चय करनेके लिये मैं पुंडरीकिणी नगरमें पहुंची वहांपर जिनालयमें जाकर भगवानकी वंदनाकर बैठी थी कि इतनेमें ही आपकी माता वहां आई,

विस्तरेण त्वामानेष्यामीति निश्चयात् ॥ ८२ ॥ आगच्छंती भवद्वार्तां विद्युद्वेगामुखोद्गतां । अवगत्य त्वया सार्द्धं योजयिष्यामि ते प्रियं ॥ ८३ ॥ न विवाहो विधातव्य इत्याश्वास्य भवत्प्रिया । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालय ॥ ८४ ॥ अभिवंद्यागताऽस्म्येहि मयाऽमा पुंडरीकिणी । मातर भ्रातरं चान्यॉस्त्वद्बधूश्च समीक्षितु ॥ ८५ ॥ यदिच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुवा पुनः कुतः । त्वमेव जरती जातेत्यब्रवीत्स सुखावतीं ॥ ८६ ॥ कुमारवचनाकर्ण्यमेतद्वार्द्धक्यमागत । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदित ॥ ८७ ॥ जराभिभूतमालोक्य स्वशरीरमिदं त्वया । कृतमेवविध केन हेतुनेत्यनुयुक्तवान् ॥ ८८ ॥ तच्छ्रुत्वा साऽब्रवीदेवं पिप्पलेत्याख्ययोदिता । मदनादिवती या च मैथुनौ विश्रुतौ तयो ॥ ८९ ॥ बलवान् धूमवेगाख्य-

---

उनके कहनेसे विस्तार पूर्वक आपके प्रवासकी (परदेश जानेकी) सब कथा सुनी, तब मैंने आपकी माताको विश्वास दिलाया कि मैं आपके पुत्रको (श्रीपालको) अवश्य लेकर आऊंगी ॥८०-८२॥ तदनंतर आपको ढूंडनेके लिये मैं वहांसे निकली, रास्तेमे विद्युद्वेगाके मुखसे आपकी सब बातें मालूम हुई, तब मैंने आपकी प्रियाको भी विश्वास दिलाया कि" तू विवाह मतकर, मैं तेरे इष्ट पतिको तुझसे अवश्य मिला दूंगी" उसे विश्वास दिलाकर फिर मैं वहांसे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुंची ॥ ८३-८४ ॥ वहांकी बंदना कर मैं यहां आई हूं, यदि माता, भाई तथा और भी भाई बंधुओंको देखनेकी आपकी इच्छा है तो आप मेरे साथ पुंडरीकिणी नगरीको चलिये " इसतरह उस सुखावतीकी कही हुई बातोंको सुनकर कुमारने फिर उससे पूछा कि तू इसतरहकी बूढी क्यों होगई है ? ॥ ८५-८६ ॥ कुमारकी इस बातको सुनकर उस स्त्रीने हँसीके साथ कहा कि " क्या आप अपने शरीरमें आये हुये बुढापेको नहीं जानते हैं ? " इसतरह उसके कहनेपर जब कुमारने अपना शरीर देखा तो उसे खूब ही बूढा पाया, तब कुमारने उस सुखावतीसे पूछा कि तूने मेरे शरीरको इसतरहका बूढा क्यों बना दिया है ! ॥ ८७-८८ ॥ कुमारकी इस बातको सुनकर वह कहने लगी, कि " पहिले कही हुई जो पिप्पला और मदनावती नामकी कन्यायें हैं उनके चाहनेवाले दो विद्याधर बडे ही प्रसिद्ध

स्ताद्दग्घरिवरोऽपि च । तद्भयात्त्वां निरोधाय पुरं प्रापयितुं मया ॥९०॥मायारूपद्वयं विद्याप्रभावात्प्रकटीकृतं । कुमारमत्करस्थामृतास्वादफलभक्षणात्॥९१॥ विगतक्षुच्छ्रमः शीघ्रं मामारुह्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपममामकं ॥ ९२ ॥ न स्पृशामि कथं चाहमारोहामि पुरा गुरोः । सन्निधावाददामीदृग्व्रतमित्यब्रवीदिदं ॥ ९३ ॥ सा तदाकर्ण्य संचिंत्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारमुद्वहती तामित्वरी ॥ ९४ ॥ वदित्वा सिद्धकूटाख्य तत्र विश्रांतये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती शशिनमात्मनः ॥ ९५ ॥ प्रविश्य भवनं कांत्या कलाभिश्चाभिवर्द्धितं । निवर्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमांगल्यशांतये ॥९६॥ तत्सिद्धकूटपूजार्थं कांता कांतवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकांतया ॥९७॥ सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला मदनावती ।

हैं और दोनों ही बलवान हैं, उनमेंसे एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर है, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुंचानेकेलिये विद्याके बलसे मायामयी दो रूप बनाये हैं, हे कुमार मेरे हाथमें यह स्वादिष्ट अमृतफल है इसे खाकर आप अपनी भूख और परिश्रम दूर कीजिये और फिर मुझपर सवार होकर नगरको चलिये, यह सुनकर कुमारने कहा कि " मेरे चढनेके लिये स्त्रीका रूप मेरे योग्य नहीं है, मैं उसे स्पर्श भी नहीं करूंगा फिर भला उसपर सवार कैसे हो सकूंगा क्योंकि मैंने अपने गुरुके समीप इसतरहका व्रत स्वीकार किया है " यह सुनकर उसने सोचा कि इसमें क्या हुआ, तब फिर उसने विद्याके बलसे पुरुषका रूप धारण किया और श्रीपालको लेकर बडी शीघ्रतासे चली, चलते चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुंची, चैत्यालयकी बंदनाकर वह वहीं विश्राम लेनेके लिये बैठ गई। उसी दिन भोगवतीने एक स्वप्न देखा था कि " कांति और कलाओंसे खूब बढा हुआ चंद्रमा अपने मकानमें आया था परंतु वह वापिस लौट गया " इस स्वप्नको देखकर अमंगलकी शांति करनेके लिये वह सिद्धकूट चैत्यालयकी पूजा करनेके लिये आई थी, उसके साथमें सुंदरी कांतवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा अमितमती, रतिकांता, चित्तवेगा पिप्पला मदनावती विद्युद्वेगा तथा और भी अनेक राजकन्यायें आई थीं ॥ ८९-९८ ॥ उन सबोंने

विशुद्वेगा तथैवान्यास्ताभिः सा परिवारता ॥ ९८ ॥ समागत्य महाभक्त्या परीत्य जिनमंदिरं । यथाविधि प्रणम्येशं संपूज्य स्तोतुमुद्यता ॥ ९९ ॥ ताश्च तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य वक्रताक्रातमाननं ॥ १०० ॥ आदिष्टसन्निधानेन विलोक्य प्रकृतिं गतं । सुखावती तदुद्देशादपनीय कुमारकं ॥ १०१ ॥ स्थानेऽन्यस्मिन्न्यधादेनं तत्राप्यंबुनि मुद्रया । स्वरूप कामरूपिण्या प्रेक्षमाणं यदृच्छया ॥ १०२ ॥ दृष्ट्वा हरिवरस्तस्मान्नीत्वा कोपात्स पापभाक् । निचिक्षेप महाकालगुहाया विहितायक ॥ १०३ ॥ वसस्तत्र महाकालस्त गृहीतुमुपागतः । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिंचित्करो गतः ॥ १०४ ॥ तत्र शय्यातले सुप्त्वा शुचौ मृदुनि विस्तृते । परेद्युर्निर्गतं तस्याः सुप्रयुक्तैः परीक्षितु ॥ १०५ ॥ आदिष्टपुरुष

आकर बडी भक्तिसे जिनमंदिरकी प्रदक्षिणा दी विधिपूवर्क भगवान अरहंत देवको नमस्कार किया, पूजा की और फिर वे सब स्तुति करने लगीं ॥ ९९ ॥ स्तुति करते समय भी उन सब राजकन्याओंका चित्त व्याकुल हो रहा था। उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राजपुत्र आया, था उसका मुँह टेडा था परंतु श्रीपालको देखनेसे ही वह सीधा हो गया था, यह देखकर सुखावतीने उस कुमारको उस जगहसे हटाकर किसी दूसरी जगहपर रख दिया। वहांपर वह कुमार अपनी कामरूपिणी मुद्राके द्वारा अपनी इच्छानुसार जलमें अपना खास रूप देख रहा था ॥ १००-१०२ ॥ उसीसमय पापी हरिवरने भी उसे देख लिया और पहिले जन्ममें पुण्य करनेवाले उस कुमारको क्रोधसे उस जगहसे उठाकर महाकाल नामकी गुफामें पटक दिया ॥१०३॥ उस गुफामें एक महाकाल नामका व्यंतर रहता था, वह उसे पकडनेके लिये आया परंतु उस कुमारके पुण्यके प्रभावसे वह कुछ कर नहीं सका ऐसे ही वापिस चलागया ॥ १०४ ॥ वह कुमार उस दिन वहींपर पवित्र कोमल और बडी शय्यापर सोया, दूसरे दिन उस गुफासे निकला, उससमय उसने अपना बूढेका रूप बना लिया था, परंतु धूमवेगने उसकी परीक्षा करनेके लिये बहुतसे सेवक नियुक्त किये थे, उन्होंने उसे पहिचान लिया, वे उसे पकडकर अपने स्वामीके पास ले गये और कुमार श्रीपालके लानेका सब

भृत्यैर्ज्ञात्वाऽभ्येत्य निवेदितं । गृही वा स्थविराकार कोपपावकदीपित: ॥ १०६॥ त वीक्ष्य धूमवेगाख्य: खगश्चंद्रपुराद्बहि । स्मशानमध्ये पाषाणनिशात-विविधायुधै: ॥ १०७॥ न्यगृह्णत्तानि चास्यामन् पतति कुसुमानिगा । परोऽपि खेचरस्तत्र नरेशोऽतिव्रलाह्वय ॥ १०८ ॥ स्वदेव्या चित्रसेनाया भृत्ये दुष्टतरे सति । त निहत्यादहत्तस्मिन् धूमवेगो निधाय त ॥ १०९॥ कुमार चागमत्तत्र महौषधजशक्तित: । निराकृतज्वलद्वह्निशक्तिस्तस्मात्स निर्गत: ॥११०॥ हतानुचरभार्याऽत्र काचिन्निरपराधक: । हतो नृपेण मद्भर्तेत्यस्य शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥ तत्कुमारस्य संस्पर्शान्निशक्तिं सा हुताशन । विदित्वा प्राविशद्दृष्ट्वा कुमारस्ता सकौतुक: ॥ ११२ ॥ अभेद्यमपि वज्रेण स्त्रीणा मायाविनिर्मि । कवच दिविजेशा च नीरध्रमिति निर्भय. ॥ ११३ ॥ स्थितस्तत्र

समाचार कह सुनाया, जिसकी क्रोधरूपी अग्नि बढ रही है ऐसे उस धूमवेग नामके विद्याधरने कुमारको देखकर आज्ञा दी कि इसे चंद्रपुर नगरके बाहर स्मशानमें पत्थरपर घिसे हुये अनेक तरहके शस्त्रोंसे मार डालो, सेवक लोग मारने लगे परंतु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पडते थे। इसी समयसे संबंध रखनेवाली एक कथा और है वह इसतरह है कि अतिबल नामका एक कोई दूसरा विद्याधरोंका राजा था ॥ १०५-१०८ ॥ उसकी रानीका नाम चित्रसेना था, उस रानीसे कोई दुष्ट नौकर फँसगया था इसलिये राजाने उसे मारकर जलानेकी आज्ञा दी थी, उसकी जो चिता जल रही थी उसीमें वह धूमवेग उस कुमारको पटककर चला गया था, कुमारकी महौषधिकी शक्तिसे उस जलती हुई अग्निकी शक्ति नष्ट होगई थी, इसलिये वह उससे बाहर निकल आया था ॥१०९-११०॥ उसे देखकर जो सेवक मारकर जलादिया गया था उसकी स्त्रीको यह बात मालूम होगई कि इसके स्पर्शसे ही इस अग्निकी शक्ति नष्ट होगई है, तब वह स्वयं उस अग्निमें घुस गई और फिर उसमेंसे निकलकर चिल्लाचिल्लाकर यह कहती हुई अपने पतिकी शुद्धता प्रगट करने लगी कि "देखो मेरा पति निरपराध था, राजाने व्यर्थ ही उसे मरवा डाला है, वह निरपराध था इसलिये ही मैं उसकी चितामें जाकर भी साफ बच आई हूं" कुमार भी यह सब चरित्र देख रहा था, देखकर

स्मरन्नेव सुता तन्नगरेशिनः । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यतकमकाह्वया ॥ ११४ ॥ कामग्रहाहिता तस्यास्तद्ग्रहापजिहीर्षया । जने समुदिते सद्यः कुमारस्तमपाहरत् ॥ ११५ ॥ सत्योऽभूत्प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपति. । तुष्ट्वा ता कन्यका दित्सुस्तस्यानिच्छा विबुध्य सः ॥ ११६ ॥ अभ्यर्णं बंधुवर्गस्य नेयोऽयं भवता द्रुत । यत्नेनेत्यात्मज स्वस्य वरसेन समादिशत् ॥ ११७ ॥ नीत्वा सोऽपि कुमार तं विमलादिपुरो बहिः । वने तृष्णोपसतस्त स्थापयित्वा गतोंबुने ॥ ११८ ॥ तदा सुखावती कुब्जा भूत्वा कुसुममालया । परिस्पृश्य तृपा नीत्वा कन्यका त चकार सा ॥ ११९ ॥ धूमवेगो हरिवरश्चैता

उसे बडा आश्चर्य हुआ, वह सोचने लगा कि स्त्रियोंकी मायासे बने हुये इस कवचको इंद्र भी नहीं भेद सकता यह विलकुल ही छिद्र रहित है " यही सोचता हुआ वह निडर होकर बैठा था। इधर उसी चंद्रनगरके राजाका नाम विमलसेन था और उसकी कन्याका नाम कमलावती था ॥१११-११४॥ उसे काम रूपी पिशाचने पकड रक्खा था, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छासे सब लोग वहां इकट्ठे हुये थे, उनमें कुमार श्रीपाल भी गया था और उसने बहुत शीघ्र उस पिशाशको दूर भगा दिया था, राजाने पहिले निमित्तज्ञानीसे सुने हुये बचनोंको सच माना (राजाने किसी निमित्तज्ञानीसे पूछा था मेरी पुत्रीका वर कौन होगा तब उसने कहा था कि जिसे देखकर यह पुत्री नीरोग हो जाय वही इसका पति होगा) संतुष्ट होकर राजाने वह कन्या उसी कुमारको देनी चाही परंतु जब कुमारने अपनी अनिच्छा प्रगट की तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि " तुम इसे बडे प्रयत्नसे इसके भाई बंधुओंके समीप ले जाओ ॥ ११५-११७ ॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला, विमलपुर नामके नगरके वाहर जाकर कुमारको प्यास लगी तब वरसेनने उसे वहीं विठाया और आप उसके लिये पानी लेनेको गया ॥ ११८ ॥ उसीसमय कूबडीका रूप बनाकर सुखावती वहां आगई उसने अपनी मायामयी फूलोंकी मालाका स्पर्शकराकर उसकी प्यास दूर की और उसे कन्याके रूपमें बना दिया ॥ ११९ ॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी

वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूतां बद्धमात्सर्यौ तस्याः स्त्रीकरणं प्रति ॥ १२० ॥ द्वेपवंतौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विग्रहो वृथा । पतिर्भवत्वसावस्या यमेषाऽभिलषिष्यति ॥ १२१ ॥ इति बधुजनैर्वार्यमाणौ वैराद्विरेमतुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न स्यात्प्रीतिविघातः परस्पर ॥ १२२ ॥ कन्याकृत्यैव गत्वाऽतः कातया स सुकातया । रतिकाताख्यया कातवत्याच सहितः पुनः ॥१२३ ॥ स्थितं प्राक्तनरूपेण काचित्तं वीक्ष्य लाज्जिता । रतिं समागमत्काचिन्नैकभावा हि योषितः ॥१२४॥ प्रसुप्तवंतं तं तत्र प्रत्यूषे च सुखावती । यत्नेनोध्द्दृत्य गच्छंती तेनोन्मीलितचक्षुषा ॥१२५॥ विहाय मामिहैकाकिनं त्व क्व प्रस्थितेति सा । पृष्टा न क्वापि याताऽहं त्वत्समीपगता सदा ॥ १२६ ॥ आदिष्टोत्रनितारत्नलाभो नैवात्र ते भयं । इत्यर्तीहितरूपाऽय स्वरूपेण समा-

---

इच्छा करने लगे, उसके साथ विवाह करनेके लिये दोनोंमें ही परस्पर ईर्षा बढ गई और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे, यह देखकर उनके भाई बंधुओंने उन्हें लडनेसे रोका और कहा कि " तुम दोनोंका लडना व्यर्थ है, तुम दोनोंमेंसे जिसको यह कन्या चाहे वही इसका पति होगा " इसतरह रोकनेपर उन दोनोंने अपना अपना वैर छोड दिया । देखो ! इस स्त्रीके लिये परस्पर किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है अर्थात् स्त्रीके पीछे सबका प्रेम छूट जाता है ॥ १२०-१२२ ॥ उस कन्याने किसीकी इच्छा न की तब सुखावती उसे कन्याके रूपमें ही उठाकर ले चली और जहां सुकांता रतिकांता, कांतवती आदि उसको चाहनेवालीं कन्यायें थीं वहां लेगई, वहां जाकर उसने कुमारका असली रूप प्रगट कर दिया, उसे देखकर कोई लज्जित हो गई और कोई उसके साथ प्रेम करनेकी इच्छा करने लगी, सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके परिणाम अनेक तरहके होते हैं ॥ १२३-१२४ ॥ श्रीपाल सो रहा था सोते ही सोते सवेरेके समय सुखावती बडे प्रयत्नसे उठाकर ले चली, रास्तेमें कुमारकी आंख खुल गई तब उसने पूछा कि तू मुझे यहां अकेला छोडकर कहां चली गई थी ? इसके उत्तरमें सुखावतीने कहा कि " मैं कहीं नहीं गई, मैं तो सदा आपके पास ही रही हूं, यहां आपको स्त्री रत्न मिलेगा आपको यहां, किसी तरहका भय नहीं है आजतक तो मैं छिपी हुई रहती थी परंतु

गमः ॥ १२७ ॥ इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रमुदैत्य खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्थं गजादिं तत्समीपगं ॥ १२८ ॥ कांचिद्गजपतिं स्तंभमुन्मूल्यारूढदर्पकं । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडाभिः क्रीडित्वा वशमानयत् ॥ १२९ ॥ ततः समुदिते चंडदीधितौ निर्जिताद्गजात् । कुमारागमनं पौरा बुध्वा संतुष्टचेतसः ॥ १३० ॥ प्रतिकेतनमुद्बद्धचलत्केतुपताककाः । प्रत्युद्गमकुर्वंस्ते तत्पुण्योदयचोदिताः ॥ १३१ ॥ ततोनभस्यसौ गच्छन् कचिद्धयपुरे हय । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य स्वयं पश्यन्नविस्मयः ॥ १३२ ॥ तत्रापि विदितादेशैर्नागरैः प्राप्तपूजनः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥ १३३ ॥ चतुर्जनपदाभ्यंतरस्थसीममहाचले । जने महति संभूय स्थिते केनापि हेतुना ॥ १३४ ॥ कस्यचित्कोशतः खड्गं कस्मिंश्चिदपि यत्नतः । सत्यशक्ते

आज आपसे असली रूपमें मिली हूं ॥ १२५-१२७ ॥ सुखावतीकी इस बातको सुनकर श्रीपाल बहुत ही प्रसन्न हुआ और वहांसे चलकर विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीके गजपुर नगरके समीप जा पहुंचा ॥ १२८ ॥ वहांपर एक गजराज किसी खंभेको उखाडकर मदोन्मत्त हो रहा था उसे कुमारने शास्त्रमें कही हुई बत्तीस तरहकी क्रीडाओंसे क्रीडा कराकर वश किया ॥ १२९ ॥ तदनंतर सूर्योदय होते ही नगरके सब लोगोंने हाथीको जीतनेसे कुमारका आना जान लिया, मनमें संतुष्ट होकर सबने अपने अपने घर ध्वजायें फहराईं और कुमारके पुण्योदयके द्वारा प्रेरणा किये हुये वे सब लोग आदर सत्कार करनेके लिये उसके साम्हने आये ॥ १३०-१३१ ॥ कुमार वहांसे भी आकाशमार्गसे चला और हयपुर नगरमें आया, वहांपर एक घोडा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर आ खडा हुआ, उसे देखकर भी कुमारको कुछ आश्चर्य नहीं हुआ ॥ १३२ ॥ तब निमित्त ज्ञानियोंके कहनेसे वहांके नगर निवासियोंने भी इसका आना जान लिया और इसकी पूजा की। कुमार वहांसे भी निकलकर अपनी इच्छानुसार चलने लगा, ॥ १३३ ॥ चलते चलते चार देशोंके बीचमें पडे हुये एक सीमा नामके पर्वतपर आया, वहांपर किसी कारणसे बहुतसे लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे लोग बडे प्रयत्नसे एक तलवारको एक म्यानमेंसे निकाल रहे थे परंतु उसे उनमेंसे कोई नहीं

समुत्खातुं तं समुद्दीर्थ हेलया ॥ १३५ ॥ कुमारः प्राहरद्वशस्तंत्र सभृतवंशकं । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादादरं व्यधात् ॥ १३६ ॥ तत्र कश्चित्समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयशब्दपुरस्सर ॥ १३७ ॥ कुणिश्च कश्चिदगुल्या प्रसारितकराङ्गुलिः । अञ्जलिं मुकुलीकृत्य समीपे समुपस्थितः ॥ १३८ ॥ यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुदा । तेषा पाके व्यलोकिष्ट कुमारं विनयेन स· ॥ १३९ ॥ प्रागुक्तकरवालेशः पुरेऽभूद्विजयाह्वये । सोऽस्य सेनापतिर्भावी भविष्यच्चक्रवर्तिनः ॥ १४० ॥ तत्पुरे वरकीर्तिष्टकीर्तिमत्यात्मजायने । खड्गोत्पाटनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥ १४१ ॥ मूकः श्रेयःपुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवशेनमहीपालः श्रीमास्तन्नगरेश्वरः ॥ १४२ ॥ वीतशोकाह्वया तस्य तनूजा वनजेक्षणा । मूकभाषणमादेश·

निकाल सका था, तब कुमारने लीलामात्रमें ही उसे निकाल लिया और उसे जिसमें बहुतसे बांस खडे हुये हैं ऐसे एक बांसके बिडेपर चलाया, यह देखकर वे सब लोग प्रसन्न हुए और सबने कुमारका खूब आदर सत्कार किया ॥ १३४-१३६ ॥ इतनेमें ही वहां एक गूंगा मनुष्य आया और कुमारको देखते ही उसने जय जय शब्द करते हुये प्रणाम किया, भावार्थ—कुमारको देख कर वह गूंगा बोलने लगा ॥ १३७ ॥ वहींपर एक बिना उंगलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी उंगली पूरी होगई उसने हाथकी उंगली फैलाकर हाथ जोडे, नमस्कार किया और वह पास ही आ खडा हुआ ॥ १३८ ॥ वहींपर एक हीराओंकी भस्म बना रहा था, वह बनती नहीं थी परंतु कुमारके वहां पहुंचनेसे वह बन गई, इसलिये उसने भी बडी विनयसे आकर कुमारके दर्शन किये ॥ १३९ ॥ श्रीपालने जिसकी तलवार म्यानमेंसे निकाली थी वह विजयपुरका रहनेवाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका सेनापति होनेवाला था॥१४०॥उसी विजयपुरके राजा वरकीर्तिकी रानी कीर्तिमतीकी पुत्रीके लिये राजाने किसी निमित्तज्ञानीसे वर पूछा था तब उसने कहा था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और वह म्यानमेंसे तलवारको निकाललेनेसे पहिचाना जायगा ॥१४१॥ वह गूंगा श्रेयस्पुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुरका स्वामी श्रीमान राजा शिवसेन था और उसके

कुमारस्य तदायने ॥ १४३ ॥ कुणिः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाव्यसौ । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥ १४४ ॥ रत्यादिविमला सार्द्धं तयैतस्य समागमः । अंगुलिप्रसर दिशात्स्मरव्ययदया चिर ॥ १४५ ॥ स वज्रमणिपाक्यस्य प्रधानपुरुषो भवेत् । तस्य धान्यपुरे जातिर्विशालस्तत्पुराधिपः ॥ १४६ ॥ सुता विमलसेनाऽस्य श्रीपालस्य तदाप्तये । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥ १४७ ॥ इत्यादेशनरं ज्ञात्वा सर्वे स्व स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमूढ्वाऽयान्नभोभागे सुखावती ॥ १४८ ॥ धूमवेगो विलोक्यैन विद्विषो भीषणारवः । अभितर्ज्य स्थितो रुध्वा खे खेटकयुतासि-

---

कमलकेसे नेत्रवाली वीतशोका नामकी कन्या थी, एक दिन राजाने निमित्तज्ञानीसे पूछा था कि इसका वर कौन होगा तब निमित्तज्ञानीने कहा था कि " जिसे देखकर यह गूंगा बोलने लगे वही इसका वर होगा ॥ १४२-१४३ ॥ जिसके उंगली नहीं थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार शिलावट रत्न था, उसी शिल्पपुरके राजाका नाम नरपति था और उसकी कन्याका नाम रतिविमला था । उसके वरके लिये भी निमित्तज्ञानीने कहा था कि जिसको देखकर इस टोंटेकी उंगली ठीक हो जाय उसीके साथ कामदेवकी अनेक क्रीडायें करनेवाली इस कन्याका बहुतादिनतक समागम रहेगा ॥ १४४-१४५ ॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा था वह धान्यपुरमें उत्पन्न हुआ था और इस कुमारका होनहार मंत्री था, उसी धान्यपुरके राजाका नाम विशाल था और उसकी कन्याका नाम विमलसेना था, उसके वरके लिये भी निमित्तज्ञानीने कहा था कि जिसके आनेपर हीराओंकी भस्म बन जाय वही महा तेजस्वी राजा श्रीपाल इसका पति होगा ॥ १४६-१४७ ॥ इसतरह निमित्तज्ञानियोंके कहे अनुसार उसी पुरुषको (महाराज श्रीपालको) पहिचानकर वे सब लोग अपने नगरको चले गये । इधर सुखावती भी कुमारको लेकर आकाशमार्गसे चली ॥ १४८ ॥ चलते चलते रास्तेमें इसे कुमारका शत्रु धूमवेग मिल गया, वह कुमारको देखकर भयंकर शब्द करने लगा, खेटक और तलवार ये दोनों ही शस्त्र उसके हाथमें थे । इसतरह कुमारको ललकारता हुआ वह उसे रोककर

भूत ॥ १४९ ॥ तदा पूर्वोदिताचार्यो देवता याऽस्य पालिका । सा विद्याधररूपेण समुपेत्य सुखावतीं ॥ १५० ॥ मुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीर्विद्याधराधमं । नियुध्य विजयस्वेति निजगाद निराकुल ॥ १५१ ॥ साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणागणे । चिरं युध्वा स्वविद्याभिर्न्यरौत्सीच्छौर्यशालिनी ॥ १५२ ॥ कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणीधरे । शनैः समापतत्तस्य देवश्रीजननी पुरा ॥ १५३ ॥ यक्षीभूता तदाऽऽगत्य संस्पृशंती करेण तं । अपास्यास्य श्रमं मक्षु कुमार प्रविश ह्रद ॥ १५४ ॥ जगादैनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं शिलास्तंभस्योपरि स्थितवान्निशि ॥ १५५ ॥ कुर्वन्पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनं । प्रभाते तदुदग्भागे जिनेन्द्रप्रतिबिंबकं ॥ १५६॥ विलोक्य कृतपुष्पादिसंपूजननमस्क्रियः।

आकाशमें खडा हो गया ॥ १४९ ॥ उसीसमय प्रमदवनमें प्रतिमापर जो श्रीपालकी रक्षा करनेवाला देव रहता था वह विद्याधरका रूप धरकर आया और सुखावतीको छोडकर कुमारको उठाकर ले गया तथा सुखावतीसे कह गया कि तू निर्भय और निराकुल होकर इस नीच विद्याधरके साथ लडना और इसे जीतना ॥ १५०-१५१ ॥ सुखावतीने भी कुमारको तो छोड दिया और शूरवीरताको धारण करनेवाली वह धूमवेगसे लडने लगी, उसने बहुत देरतक उसके साथ युद्ध किया और अपनी विद्याओंसे उसे रोक लिया ॥ १५२ ॥ श्रीपाल कुमार भी पास ही एक पर्वतका शिलापर धीरे धीरे जा पडा, वहांपर उसके पहिले जन्मकी माता देवश्री जो मरकर यक्षिणी हुई थी वह आई, उसे हाथसे स्पर्श करने लगी, उसका सब परिश्रम दूर किया और उससे कहा कि तू शीघ्र ही इस तालावमें घुस जा, यह सुनकर श्रीपालने भी उसकी बातका विश्वास कर, उस तालावमें घुसकर एक पत्थरके खंभेपर सब रात बिताई ॥ १५३-१५५ ॥ पंचनमस्कार मंत्रका बार बार स्मरण करता हुआ वह सबेरे ही उठा, तालावके उत्तर ओर श्रीजिनेंद्रदेवकी प्रतिमा देखी, पुष्प आदि सामग्रीसे पूजा की और नमस्कार किया । तदनंतर उसी यक्षिणीके उपदेशसे उस पुण्यवानने एक हजार दलवाले कमलको चक्ररत्न रूप देखा, जिसकी हजार फणायें उठ रहीं हैं ऐसे नागराजको दंडरत्नके रूपमें

सहस्रपत्रमंभोजं चक्ररत्नं सकूर्मकं ॥ १५७ ॥ आतपत्रं सहस्रोरुफणं च फणिनां पतिं । दंडरत्नं समंडूकं नक्रं चूडामणिं तथा ॥ १५८ ॥ चर्मरत्नं स्फुरद्रक्तवृश्चिकं काकिणीमणिं । ईक्षाचक्रे स पुण्यात्मा तत्र यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥ तदा मुदितचित्तः सन् छत्रमुद्यम्य दंडभृत् । प्रद्योतमानरत्नोपानत्को यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥ सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूपाभेदैर्विभूषित । निर्जगाम गुहानोऽसौ तदैवैत्य सुखावती ॥ १६१॥ धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा हिमद्युतिं । वृध्यै कुमारमापन्ना सकलाऽसिलतान्विता ॥१६२॥ एतया सह गत्वातः संप्राप्त सुरभूधरं । गुणपालजिनाधीशसभामडलमाप्तवान् ॥ १६३ ॥ तत्र त सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्कायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो विलोक्य तौ ॥ १६४ ॥ तदाशीर्वादसतुष्टः सविष्टो मातृसन्निधौ । सुखावतीप्रभावेण युष्मदतिक्रमाप्तवान् ॥ १६५ ॥ क्षेमेणेति तयोरग्रे प्राशसत्ता नृपानुजः । सता स सहजो भावो यत्स्तुवत्युपकारिणः ॥ १६६ ॥ वसुपालमहीपाल

देखा एक कछूएको छत्ररूप देखा, एक मेडकको चूडामणि रत्नके रूपमें देखा, नाकू वा घडियालको चर्मरत्नके रूपमें देखा और दैदीप्यमान लाल बिच्छूको काकिणी रत्नके रूपमें देखा ॥ १५६-१५९ ॥ तब उसने प्रसन्न चित्त होकर छत्र धारण किया, हाथमें दंड लिया, पैरोंमें देदीप्यमान रत्नोंक जूते पहने, और यक्षीके दिये हुये तथा सब रत्नोंके बने हुये अनेक तरहके दिव्य आभूषण पहिने और फिर वह वहांसे निकला । उसीसमय जिसप्रकार चंद्रमाकी वृद्धिके लिये शुक्लपक्षकी पडिवा आती है उसीप्रकार धूमवेगको जीतकर हाथमें तलवार लिये हुये सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिये उसके पास आगई । महाराज श्रीपालकुमार उसके साथ साथ चला, सुरगिरि नामके पर्वतपर जाकर श्रीगुणपाल जिनेंद्रदेवके समवसरणमें जा पहुंचा ॥ १६०-१६३ ॥ वहांपर बहुत देरतक शुद्ध मन बचन कायसे भगवानकी स्तुति की, माता तथा भाईको देखकर उनका यथायोग्य आदर सत्कार किया, माता भाईके दिये हुये आशीर्वादसे संतुष्ट हुआ, माताके पास बैठ गया और फिर उस राजपुत्रने अपने माता भाई दोनोंके साम्हने सुखावतीकी प्रशंसा की कि "मैं इसीके प्रभावसे क्षेम कुशल पूर्वक आपके पास पहुंचा हूं" सो ठीक ही है क्योंकि "उपकार करनेवालेकी स्तुति करना" यह सज्जन

प्रश्नाद्भगवतोदितैः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलंभान् समापिवान् ॥ १६७ ॥ ततः सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशत्पुरं । संचितोर्जितपुण्यानां भवेदापच्च संपदे ॥ १६८ ॥ वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समं । कन्याभिरभवत्कल्याणंविविधैर्विविधर्द्धिकः ॥ १६९ ॥ सं श्रीपालकुमारश्च जयावत्यादिभिः कृती । तदा चतुरशीतीष्टकन्यकाभिरलंकृतः ॥ १७० ॥ सूर्याचद्रमसौ वा तौ स्वप्रभाव्याप्तदिक्तटौ । पालयतौ धराचक्र चिर निर्विशतः स्म शं॥१७१॥ जयावत्या समुत्पन्नो गुणपालो गुणोज्वलः । श्रीपालस्यायुधागारे चक्र च समजायत ॥ १७२ ॥ स सर्वांश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भृशं । शक्रलीलां व्यलंघीष्टलक्ष्मीलक्षितविग्रहः ॥ १७३ ॥ अभूज्जयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्त्या सा सेनेव विजित्वरी ॥ १७४ ॥ मनोवेगोऽश-

लोगोंका सहज स्वभाव होता है ॥ १६४-१६६ ॥ इधर महाराज वसुपालने भगवानसे श्रीपालके चले जानेका सब हाल पूछा था तब भगवानने उसका सब हाल कहा था, उनके कहे अनुसार ही उस कुमारको विद्याधरोंकी श्रेणीमें रहनेसे अनेक तरहके लाभ प्राप्त हुये थे। तदनंतर सात दिनमें ही वह सुखसे अपने नगरमें चला गया था, देखो जिन्होंने बहुतसा पुण्य संचय किया है उनके लिये आपत्तियां भी अनेक तरहकी संपदायें देनेवाली हो जाती हैं ॥ १६७-१६८ ॥ नगरमें जाकर अनेक तरहकी विभूतियोंसे वारिषेणा आदि अनेक कन्याओंके साथ महाराज वसुपालका विवाहोत्सव हुआ ॥ १६९ ॥ तथा जयावती (जो बडके वृक्षके नीचे नटका रूप रखकर नाच रही थी) आदि चौरासी इष्ट कन्याओंके साथ चतुर श्रीपालका विवाहोत्सव हुआ ॥ १७० ॥ जिन्होंने अपनी कांतिसे सब दिशाओंके किनारे ढक दिये हैं ऐसे सूर्य और चंद्रमाके समान दोनों भाइयोंने पृथ्वीका पालन करते हुये बहुत दिनतक सुखका अनुभव किया ॥ १७१ ॥ कुछ दिन बाद रानी जयावतीके गुणोंसे उज्वल ऐसा गुणपाल नामका पुत्र हुआ और श्रीपालकी आयुधशालामें चक्ररत्न हुआ ॥ १७२ ॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुये सब तरहके भोगोंका खूब अनुभव करता हुआ इंद्रकी लीलाको भी उलंघन कर रहा था ॥ १७३ ॥ श्रीपालकी रानी जया-

निवरः शिवाख्योऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः क्षमाभुजः खगनायकाः ॥ १७५ ॥ जयसेनाद्यमुख्याभिस्तेषां तुग्भिः सहाभवत् । विवाहो गुणपालस्य स ताभिः प्राप्तसंमदः ॥ १७६ ॥ कदाचित्कालळब्ध्यादिचोदितोभ्यर्णनिर्वृतिः । विलोकयन्नभोभागमकस्मादंधकारितं ॥ १७७॥ चंद्रग्रहण-मालोक्य धिगेतस्यापि चेदियं । अवस्था ससृतौ पापग्रस्तस्यान्यस्य का गतिः ॥ १७८ ॥ इति निर्विद्य संजातजातिस्मृतिरुदारधीः । स्वपूर्वभवसंबंधं प्रत्यक्षमिव संस्मरन् ॥ १७९ ॥ पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाह्वये । विषये विश्रुते कातपुराधीशोऽवनीश्वरः ॥ १८० ॥ रथांतकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तयोर्भूत्वा प्रभापास्तभास्करः कनकप्रभः ॥ १८१ ॥ तस्मिन्नन्येद्युरुद्याने दष्टा सर्पेण मत्प्रिया । विद्युत्प्रभाह्वया तस्या वियोगेन विपण्ण-

---

वतीके भाई जयवर्माकी पुत्री जयसेना थी जो कि सेनाके समान अपनी कांतिसे सबको जीतनेवाली थी ॥ १७४ ॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिवघोप, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अच्छे अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर उन सब राजाओंकी पुत्रियोंके साथ गुणपालका विवाह हुआ, उन सब कन्याओंके मिलनेसे गुणपाल भी वहुत प्रसन्न हुआ ॥ १७५-१७६ ॥

अथानंतर—किसी एक दिन शीघ्र ही मुक्त होनेवाला वह गुणपाल काललब्धिके वशसे आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें ही उसे अकस्मात् अंधकार दिखाई दिया ॥१७७॥ चंद्रग्रहणको देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार है जिसमें इस चंद्रमाकी भी यह अवस्था हो जाती है फिर भला अन्य पापी लोगोंकी तो न जाने कैसी बुरी दशा होती होगी ? ॥ १७८ ॥ इसतरह वह विरक्त हुआ और उदार बुद्धिवाले उसको उसी समय जातिस्मरण हुआ तथा उसने अपने पहिले भवके सब संबंध प्रत्यक्षके समान जान लिये, वह सोचने लगा कि ॥१७९॥ पुष्करार्द्ध द्वीपके पश्चिम विदेहक्षेत्रमें पद्मक नामका प्रसिद्ध देश है उसके कांतपुर नगरका स्वामी राजा कनकरथ था, उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोंके मैं अपनी कांतिसे सूर्यको भी जीतनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था ॥१८०-१८१॥ किसी एक दिन किसी वगीचेमें विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको

यान् ॥ १८२ ॥ सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परं । संप्राप्तवानतिस्निग्धैः पितृमातृसनाभिभिः ॥ १८३ ॥ तत्र सम्यक्त्वशुद्ध्यादिषोडश प्रत्ययान् भृशं । भावयित्वा भवस्यान्ते जयताख्यविमानजः ॥ १८४ ॥ प्रान्ते ततोऽहमागत्य जातोऽत्रैवमिति स्फुटं । समुद्रदत्तेनादित्यगतिर्वायुरथाह्वय. ॥१८५॥ श्रेष्ठी कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । बोधितस्तैः समागत्य गुणपालः प्रबुद्धवान् ॥ १८६ ॥ मोहपाशं समुच्छिद्य तत्त्वाश्च तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदमागमत् ॥ १८७ ॥ यश.पालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमं । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥ १८८ ॥ राजराजस्तदा भूरिविभूत्याऽभ्येत्य तं मुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु श्रुत्वा धर्मं द्वयात्मकं ॥ १८९ ॥ ततः स्वभवसंबंधमप्राक्षीत्प्रश्रयाश्रयः । भगवांश्चेत्युवाचेति

सर्पने काट खाया था, उसके वियोगसे मैं विरक्त हुआ था और मुझपर वहुत प्रेम करनेवाले माता पिता तथा भाई बंधुओंके साथ साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिके पास उत्कृष्ट संयम धारण किया था ॥ १८२-१८३ ॥ वहांपर मैंने दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओंका खूब चिंतवन किया था और आयुके अंतमें मैं जयंत नामके विमानमें अहमिंद्र उत्पन्न हुआ था ॥ १८४ ॥ वहांकी आयु पूरीकर मैं यहां श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूं। इसप्रकार वह विचार कर रहा था कि इतनेमें ही प्रियदत्ताका पिता शेठ समुद्रदत्त, हिरण्यवर्माका पिता आदित्यगति, प्रभावतीका पिता वायुरथ और कुबेरमित्रका पिता कुबेरकांत ये सब जो दीक्षा धारणकर लौकांतिक देव हुये थे उन्होंने आकर समझाया। इसतरह गुणपालको आत्मज्ञान हुआ उसीसमय उन्होंने मोहजालको काटकर तपश्चरण धारण किया और घातिया कर्मोंको नाशकर केवलज्ञान प्राप्तकर तेरहवें सयोगी गुणस्थानमें जा विराजमान हुये १८५-१८७ ॥ सुखावतीके पुत्र यशपालने भी उन्हीं गुणपालसे दीक्षा धारण की ओर वह उनका प्रथम गणधर हुआ ॥ १८८ ॥ उसीसमय राजाधिराज महाराज श्रीपालने वडी विभूतिसे आकर वडी प्रसन्नतासे गुणपाल तीर्थंकरकी पूजा की और उनसे गृहस्थ तथा यतिका धर्म सुना ॥ १८९ ॥ तदनंतर उसने वडी नम्रतासे अपने पहिले भवका संबंध पूछा तब भगवान नीचे लिखे अनुसार कहने

कुरुराज सुलोचना ॥ १९० ॥ निवेदितवती पृष्टा मृष्टवाक्सौष्ठवान्विता । विदेहे पुंडरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥ १९१ ॥ तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनजयानुजाताऽसौ धनश्रीर्धनवर्द्धिनी ॥ १९२ ॥ तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठी तद्भगिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥ १९३ ॥ सुता सागरसेनस्य जयसेनासमाह्वया । धनंजयवणीशस्य जयदत्ताभिधाऽपरा ॥ १९४ ॥ देवश्रीरनुजा श्रेष्ठिपितुस्तस्या तनूद्भवौ । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्परः ॥ १९५ ॥ ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ सागरसेनानुजाया जातमहोदयौ ॥ १९६ ॥ जातौ सागरसेनायां दत्ता वैश्रणादिवाक् । दत्तो वैश्रवणादिश्च दायादः श्रेष्ठिनः स तु ॥ १९७ ॥ भार्या सागरदत्तस्य दत्ता वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य सा सर्वदयिता प्रिया ॥ १९८ ॥ सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्ताता सागराह्वया । तेषां सुखसुखेनैव काले गच्छति सततं ॥ १९९ ॥ यशःपालमहीपाल

लगे । यह सब वातें महाराज जयकुमारके पूछनेपर मधुर भाषण करनेवाली सुंदरी सुलोचना जयकुमारसे कह रही थी, वह श्रीपालके पूर्व भव इसतरह कहने लगी कि विदेहक्षेत्रकी पुंडरीकिणी नगरीमें राजा यशपाल राज्य करता था ॥ १९०-१९१ ॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य था और उसकी स्त्री धनको वढानेवाली और धनंजयकी छोटी बहिन धनश्री थी ॥ १९२ ॥ उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित नामका शेठ था, उसकी बहिनका नाम सती सर्वदायिता था और उसके दो स्त्रियां थीं एक सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनंजयशेठकी पुत्री यमदत्ता ॥ १९३-१९४ ॥ शेठ सर्वदयितके पिताकी छोटी बहिनका नाम देवश्री था, वह शेठ सागरसेनको व्याही गई थी, उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र हुये थे और सागरदत्ता नामकी पुत्री हुई थी । सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके बडी ऋद्धिको धारण करनेवाली दो संतानें हुईं थीं, एक वैश्रवणदत्त नामका पुत्र और दूसरी वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री । वह वैश्रवणदत्त शेठ सर्वदायितका कुछ उत्तराधिकारी था ॥ १९५-१९७ ॥ वैश्रवणदत्ता शेठ सागरदत्तकी स्त्री थी, सती सर्वदायिता शेठ समुद्रदत्तकी स्त्री थी और सागरदत्ता वैश्रवणदत्तको व्याही गई थी । इसतरह उन सबका समय निरंतर बडे

मावर्जितमहाधनः । वणिग्धनंजयोऽन्येद्युः सद्रत्नैर्दर्शनीकृतैः ॥ २०० ॥ व्यलोकिष्ट स भूपोऽपि तस्मै सन्मानपूर्वकं । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभूतमदितोचितं ॥ २०१ ॥ विलोक्य त वणिक्पुत्राः सर्वेऽपि धनमर्जितु । ग्रामे पुरोपकंठस्थे संभूय विनिवेशिरे ॥ २०२ ॥ तन्निवेशादथान्येद्युः स समुद्रादिदत्तकः । रात्रौ स्वगृहमागत्य भार्यासंपर्कपूर्वक ॥२०३॥ केनाप्यविदितो रात्रावेव सार्थमुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्याः पापो दुश्चरितोऽभवत्॥२०४॥ इति सागरदत्ताख्यस्तया भर्तृसमागमं । बोधितोऽप्यपरीक्ष्यासौ स्वगेहात्तामपाकरोत् ॥ २०५ ॥ ततः श्रेष्ठिगृह याता तेनापि त्व दुराचरा । नास्मद्गृहं

सुखसे व्यतीत हो रहा था ॥ १९८-१९९ ॥ किसी एक दिन जो वहुतसा धन कमाकर लाया है ऐसे शेठ धनंजयने वहुतसे अच्छे अच्छे रत्न भेटकर महाराज यशपालके दर्शन किये, राजाने भी उसका आदर सत्कार किया और वडे प्रेमसे यथायोग्य वहुतसा सुवर्ण आदि धन उसे वापिस दिया ॥२००-२०१ ॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्रोंने धन कमानेके लिये बाहर जानेका निश्चय किया, सब निकले और सबने मिलकर नगरके समीप ही एक गांवमें जाकर डेरे डाले ॥ २०२ ॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोंसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग किया ॥ २०३ ॥ वह विना किसीको मालूम किये ही रात्रिमें ही अपने डेरोंमें चलागया । समयानुसार उसका गर्भ वढा और वह समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तको मालूम हुआ, तव वह सोचने लगा कि अवश्य ही यह इसका दुराचरण वा पाप है ? समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने उसे समझाया भी " कि पति छिपकर रातमें ही आये थे और रातमें ही चले गये थे " परंतु सागरदत्तने इसकी कुछ परीक्षा नहीं की और उसे अपने घरसे निकाल दिया ॥ २०४-२०५ ॥ तव वह सर्वदयिता अपने भाई शेठ सर्वदयितके घर पहुंची, परंतु उसने भी यही कहा कि तू दुराचारिणी है इसलिये हमारे घरमें मत आ, इसतरह अपनी अज्ञानतासे उसने भी वह अपने घरसे निकाल दी ॥२०६॥ तब वह पासके ही किसी एक घरमें रहने लगी, नौ महिने पूरे होनेपर उसके एक बडा ही पुण्यावान पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ २०७ ॥ शेठ सर्वदयितको भी

समागच्छेत्यज्ञानात्सा निवारिता ॥ २०६ ॥ समीपवर्तिन्येकस्मिन्केतने विहितस्थितिः । नवमासावधौ पुत्रमलब्धानल्पपुण्यकं ॥ २०७ ॥ तद्विदित्वा कुलस्यैष समुत्पन्नःपराभवः । यत्र क्वचन नीत्वैनं निक्षिपेत्यनुजीविकः ॥ २०८ ॥ प्रत्येयः श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । स्मशाने साधितुं विद्यामागतस्य खयायिनः ॥ २०९ ॥ बाल समर्पयामास विचित्रो दुरितोदयः । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामाऽस्य वल्लभा ॥ २१० ॥ तौ भोगपुरवास्तव्यौ जितशत्रुसमाह्वयं । कृत्वा वर्धयता पुत्रमिव मत्वौरसं मुदा ॥ २११ ॥ तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽचिरात् । स्त्रीवेदनिंदनान्मृत्वा संप्रापज्जन्म पौरुष ॥ २१२ ॥ ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्थेनामा समागतः । श्रुत्वा स्वभार्यावृत्तांत निंदित्वा भ्रातर निज ॥ २१३ ॥ श्रेष्ठिनेऽनपराधाया

यह खबर लगी, उसने सोचा कि इस लडकेसे हमारे कुलको बट्टा लगेगा, नीचा देखना पडेगा इसलिये उसने एक सेवकको यह कह कर भेजा कि इस बालकको कहीं दूसरी जगह रख आ। वह सेवक बुद्धिमान् था, वह उस बालकको ले गया और एक शेठका मित्र जयधाम विद्याधर स्मशानमें विद्या सिद्ध करनेके लिये आया था उसे वह बालक सोंपादिया, सो ठीक ही है क्योंकि पापकर्मका उदय वडा ही विचित्र होता है। वह जयधाम नामका विद्याधर भोगपुर नगरका रहनेवाला था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था। उन दोनोंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रक्खा और उसे औरस पुत्रके समान मानकर बडी प्रसन्नतासे वे उसका पालन पोषण करने लगे ॥ २०८-२११ ॥ उस समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने अपने पुत्रके वियोगसे बहुत दिनतक स्त्रीवेदकी निंदा की और मरकर पुरुषका जन्म पाया ॥ २१२ ॥ तदनंतर समुद्रदत्त भी अपने समूहके साथ आगया और अपनी स्त्रीका हाल सुनकर अपने भाईकी निंदा करने लगा ॥ २१३ ॥ शेठने उसकी स्त्रीको बिना अपराधके भी घरमें नहीं रहने दिया था इसलिये वह शेठपर सदा क्रोधित रहने लगा, सो ठीक ही है क्योंकि बिना विचारे किये हुये कामको भला कौन सहन कर सकता है ॥ २१४ ॥ कुछ दिन बाद वैश्रवणदत्त शेठ सर्वदयितसे क्रोध करने लगा और कहने लगा कि "मैं वडा हूं न्यायसे मुझे पद मिलना चाहिये, मेरे

गृहवेशनिवारणात् । अकुप्यन्नितरां कृत्यं कः सहेताविचारितं ॥ २१४ ॥ ज्येष्ठे न्यायागतं योग्ये मयि स्थितवति स्वयं । श्रेष्ठित्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि कोपवान् ॥ २१५ ॥ स वैश्रवणदत्तोऽपि स ससागरदत्तकः । सार्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनः स्थिताः ॥२१६॥ दुस्सहे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि क्वचित्तृणां । अन्येद्युर्जितशत्रु तं दृष्ट्वा श्रेष्ठी कुतो भवान् ॥ २१७ ॥ समुद्रदत्तसारूप्य दधत्संसदमागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥ २१८ ॥ नान्यो मद्भागिनेयोऽयमिति तद्धस्तसंस्थिता । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चित्य निःपरीक्षकता निजा ॥ २१९ ॥ मैथुनस्य च संस्मृत्य तस्मै सर्वश्रियं सुतां । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ दत्वा निर्विण्णमानसः ॥ २२० ॥ जयधामा जयभामा जयसेना तथाऽपरा । जयदत्ताभिधाना च परा सागरदत्तिका ॥ २२१ ॥ सा वैश्रवणदत्ता च परे चोत्पन्नबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठि संयम प्रत्यपद्यत ॥ २२२ ॥ मुनिं रतिवरं प्राप्य चिरं

रहते हुये भी यह क्यों शेठ बन गया है" इसीतरह सागरदत्त और समुद्रदत्त ये भी शेठके साथ ईर्षा करने लगे ॥२१५-२१६॥ परंतु यह ईर्षा मनुष्योंको कहीं कहीं कठिन तपश्चरण करनेमें अच्छी लगती है दूसरी जगह नहीं। किसी एक दिन शेठ सर्वदयितने जितशत्रुको देखकर पूछा कि "तू समुद्रदत्तके समान क्यों दिखाई देता है और इस सभामें तू क्यों आया है ?" तब उस जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब कारण कह दिया ॥ २१७-२१८ ॥ तब शेठने उसके हाथमें पहिनी हुई अंगूठीको देखकर निश्चय कर लिया कि " यह मेरा भानजा ही है दूसरा कोई नहीं है " उसे अपनी और बहनोई समुद्रदत्तके बडे भाई सागरदत्तकी भूल याद आई और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुतसा धन और अपना शेठ पद देदिया । उस समय उसका चित्त संसारके भोगोंसे विरक्त होगया, उसी समय जितशत्रुको पालनेवाला जयधाम नामका विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी दोनों स्त्रियां, वैश्रवणदत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहिन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ अर्थात् सब संसारसे विरक्त हो गये, उन सबके साथ साथ शेठ सर्वदयितने रतिवर मुनिके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने

विहितसयमाः । एते सर्वेऽपि कालांते स्वर्गलोकं समागमन् ॥ २२३ ॥ प्राते स्वर्गादिहागत्य जयधामा तदातनः । वसुपालोऽत्र संजातो जयभामाऽप्यजायत ॥ २२४ ॥ जयवत्याप्तसौंदर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पली जयदत्ता तु वत्यतमदनाऽभवत् ॥ २२५ ॥ विद्युद्वेगाऽभवद्वैश्रवणदत्ता कलाखिला । जाता सागरदत्ताऽपि स्वर्गादेत्य सुखावती ॥ २२६ ॥ तदा सागरदत्ताख्य स्वर्गलोकात्समागत. । पुत्रो हरिवरो जातः स पुरूरवसः प्रियः ॥ २२७ ॥ समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तनूजो धूमवेगाख्यो विद्याविहितपौरुषः ॥ २२८ ॥ स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनिवेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्त्वमिहाभवः ॥ २२९ ॥ त्व जामातुर्निराकृत्या सनाभिभ्यो वियोजित. । तदात्वद्द्वेषिणोऽस्मिँश्च तत्र द्वेषिण एव ते ॥ २३० ॥ तदा प्रियास्तवात्रापि संजाता नितराप्रियाः । अहिंसयाऽर्भकस्यासीद्बंधुभिस्तत्र सगमः ॥ २३१ ॥ तत्तपःफलतो जातं चक्रित्वं

बहुत दिनतक तपश्चरण किया और आयु पूरी कर वे सब लोग स्वर्गमें देव उत्पन्न हुये ॥२१९-२२३॥ वहांकी आयु पूरीकर स्वर्गसे आकर पहिलेके जयधामाका जीव राजा वसुपाल हुआ है, जयभामाका जीव वसुपालकी बहुत सुंदरी रानी जयावती हुई है, जयसेनाका जीव पिप्पली हुई है, जयदत्ताका जीव मदनावती हुई है ॥ २२४-२२५ ॥ वैश्रवणदत्ताका जीव सब कलाओंमें निपुण ऐसी विद्युद्वेगा हुई है और सागरदत्ताका जीव स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है ॥ २२६ ॥ उससमय जो सागरदत्त था वह स्वर्गसे आकर पुरुरवाका प्रिय पुत्र हरिवर हुआ है ॥२२७॥ समुद्रदत्तका जीव ज्वलननेगका प्रसिद्ध पुत्र और विद्यासे ही अपना पराक्रम दिखानेवाला ऐसा धूमवेग नामका विद्याधर हुआ है ॥ २२८ ॥ वैश्रवणदत्तका जीव इस भवमें आकर अशनिवेग विद्याधर हुआ है और सर्वदयित शेठका जीव तू श्रीपाल हुआ है ॥ २२९ ॥ भगवान गुणपालने श्रीपालसे कहा था कि तूने अपने जंवाईको (जितशत्रु नामके भानेजको) पैदा होते ही उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिये तुझे भी इस भवमें अपने भाई बंधुओंका वियोग सहना पडा था, पहिले भवमें जो (वैश्रवणदत्त, सागरदत्त समुद्रदत्त) तेरे द्वेषी थे वे इस भवमें भी द्वेष करनेवाले (धूमवेग अशनिवेग हरिवर)

सकलक्षितेः । सर्वसंगपरित्यागान्मंक्षु मोक्ष गमिष्यसि ॥ २३२ ॥ अथोदीरिततीर्थेशवचनाकर्णनेन ते । सर्वे परस्परद्वेषाद्विरमंति स्म विस्मयात् ॥२३३ ॥ जन्मरोगजरामृत्यूनिहतु सततानुगान् । सन्निधाय धिय धन्योऽवात्सीद्धर्मामृत ततः ॥ २३४ ॥ धिगिद चक्रिसाम्राज्य कुलालस्येव जीवितं । भुक्तिश्चक्र परिभ्राम्य मृदुत्पन्नफलाशितः ॥ २३५ ॥ आयुर्वायुरयं मेघो भोगो भंगी हि संगमः । वपुः पापस्य दुष्पात्र विद्युल्लोला विभूतयः ॥ २३६ ॥ मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद्यौवन गहन वन । या रतिर्विषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिं ॥ २३७ ॥ सर्वमेतत्सुखाय स्याद्यावन्मतिविपर्ययः ।

हुये हैं ॥ २३० ॥ जो उसभवमें तेरी स्त्रियां थीं वे इस भवमें भी तेरी स्त्रियां हुई हैं, तूने जितशत्रु नामके भानेजकी हिंसा नहीं की थी इसलिये ही तुझे फिर भाई बंधुओंका समागम हुआ है॥ २३१॥ तपश्चरणके फलसे ही तू सब पृथ्वीका चक्रवर्ती राजा हुआ है और अंतमें सब परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे ही तू शीघ्र मोक्ष जायगा ! ॥ २३२ ॥ इसप्रकार तीर्थंकर भगवानके कहे हुये वचनोंको सुनकर सब लोगोंको आश्चर्य हुआ और सबने अपना अपना द्वेष छोड दिया ॥ २३३ ॥ जिसका जन्म धन्य है ऐसे श्रीपालने सदासे इस जीवके पीछे चले आये ऐसे जन्म, रोग, जरा, और मृत्युको नाश करनेके लिये ही अपनी बुद्धि स्थिर की और धर्मामृतका पान किया ॥ २३४ ॥ वह विचार करने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुंभारकी जीविकाके समान है क्योंकि जिसप्रकार कुंभार चाक फिराकर मिट्टीसे बनाये हुये घडे आदि वर्तनोंसे ही अपनी जीविका करता है उसीप्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र फिराकर मिट्टी वा पृथ्वीसे उत्पन्न हुये रत्न वा कर आदि से ही अपने भोगोपभोगकी सामिग्री इकट्ठी करता है इसलिये ऐसे इस चक्रवर्तीके साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, भाई बंधुओंका समागम सब नाश होनेवाला है. शरीर पापोंका निंद्य पात्र है, और ये संपदायें सब बिजलीके समान चंचल हैं ॥ २३६ ॥ यह यौवन श्रेष्ठ मार्गसे भ्रष्ट करनेवाला है इसलिये गहन वनके समान है और यह विषयोंमें प्रेम करना द्वेषका

प्रगुणाया मतौ सत्या किं तत्त्याज्यमतः परं ॥ २३८ ॥ चित्तद्रुमस्य चेद्वृद्धिरभिलाषविषांकुरैः । कथं दुःखफलानि स्युः सभोगविटपेषु न ॥ २३९ ॥ भुक्तो भोगो दशागोऽपि यथेष्टं सुचिरं मया । मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तृप्तिस्तृष्णाविघातिनी ॥ २४० ॥ अस्तु वस्तु समस्तं च संकल्पविषयीकृतं । इष्टमेव तथाप्यस्मान्नास्ति व्यस्ताऽपि निर्वृतिः ॥ २४१ ॥ किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुषं किमतःपरं । दैन्यमात्मनि सभाव्य सौख्यं स्यां परमः पुमान् ॥ २४२ ॥ इति श्रीपालचक्रेशः संत्यजन् वक्रतां धियः । अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सचक्रं मतिमातनोत् ॥ २४३ ॥ ततः सुखावतीपुत्रं नरपा-

---

उत्पन्न करनेवाला है ॥ २३७ ॥ जबतक यह बुद्धि उलटी रहती है तबतक इनसब चीजोंसे सुख जान पडता है परंतु जब यह बुद्धि सीधी होजाती है अर्थात् अपना भ्रम छोडदेती है तब यह जानपडता है कि संसारमें इनके सिवाय छोडने योग्य और क्या होगा ? अर्थात् सबसे अधिक छोडने योग्य येही पदार्थ हैं ॥२३८॥ इस चित्त रूप वृक्षकी वृद्धि इच्छा रूपी विषके अंकूरोंसे ही होती है फिर भला संभोगरूपी शाखाओंपर दुःखरूपी फल क्यों न लगेंगे, भावार्थ–इच्छा करना विषके अंकूरोंके समान है, इनसे ही मन रूपी पेड बढता है तथा उस पेडकी भोगोपभोग रूपी शाखायें फैलती हैं और फिर उनपर दुःखरूपी फल लगते हैं॥२३९॥ मैंने अपनी इच्छानुसार बहुत दिन तक दशतरहके भी भोगोपभोगोंका सेवन किया तथापि मुझे इसभवमें तृष्णाको नाश करनेवाली तृप्ति एक क्षणमात्रभी नहीं हुई॥२४०॥जिन जिन चीजोंकी हम इच्छा करते हैं वे सब चीजें यदि अपनी इच्छानुसार ही मिल जायं तो भी उनसे थोडा सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ " स्त्रियोंसे सुखकी प्राप्ति होना ही पौरुष है " यह बात प्रसिद्ध है परंतु इसके सिवाय दीनता ही क्या होगी ? इसलिये " अपना असली सुख आत्मामें ही है " यही निश्चयकर अवश्य ही मैं परम पुरुष हूंगा ॥ २४२ ॥ इसतरह श्रीपाल चक्रवर्तीने अपनी बुद्धिकी सब वक्रता (टिढाई) छोड दी और उसने चक्रसहित सब परिग्रहोंका त्याग करना सोच लिया ॥ २४३ ॥ तदनंतर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेककर उसे अपना बहुत बडा सिंहासन

लाभिधानकं । कृताभिषेकमारोप्य समुत्तुंगं निजासनं ॥ २४४ ॥ जयवत्यादिभि· स्वाभिर्देवीभिर्धरणीश्वरै । वसुपालादिभिश्चामा संयमं प्रत्यपद्यत ॥ २४५ ॥ स वाह्यमंतरंगं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिमारुह्य मोहारातिजयार्जित ॥ २४६ ॥ यथाख्यानमवाप्योरुचारित्र निष्कषायकं । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन वीचाररहितात्मना ॥ २४७ ॥ घातिकर्मत्रय हत्वा सप्रातनवकेवलः । सयोगस्थानमाक्रम्य त्रियोगो वीतकल्मष· ॥ २४८ ॥ शरीरत्रितयापायादाविष्कृतगुणोत्करः । अनंतं शांतमप्राप्तमवाप्तः सुखमुत्तमं ॥ २४९ ॥ तस्य राज्ञश्च ता· सर्वा विधाय विविध तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योरुविमानेष्वभवन् सुराः ॥ २५० ॥ आवा चाकर्ण्य त नत्वा गत्वा नाक यथोचित । अनुभूय सुख प्रान्ते शेषपुण्यविशेषतः ॥ २५१ ॥

दिया और आप जयावती आदि अनेक देवियोंके साथ तथा, वसुपाल आदि अनेक राजाओंके साथ दीक्षा धारण की ॥ २४४-२४५ ॥ उन्होंने विधि पूर्वक वाह्य और अंतरंग तपश्चरण किया, क्षपकश्रेणी चढे, मोह रूप शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त हुआ तथा कषाय रहित ऐसा यथाख्यात चारित्र धारण किया, वीचाररहित दूसरे एकत्ववितर्क शुक्लध्यानका ध्यानकर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मोंका नाशकर नौ केवल लब्धियां प्राप्त कीं, वे सयोगी (तेरहवें) गुणस्थानमें पहुंचकर चौदहवें अयोगी गुणस्थानमें पहुंचे, वहांपर उन्होंने सब कर्मोंका नाश किया तथा औदारिक तैजस कार्मण तीनों शरीरोंके नाश होनेसे उनके आत्माके सब गुणोंके समूह प्रगट होगये और वे अनंत शांत तथा जो पहिले कभी नहीं प्राप्त हुआ था ऐसे उत्तम सुखको प्राप्त होगये अर्थात् सिद्ध होगये ॥ २४६-२४९ ॥ श्रीपालचक्रवर्त्तीकी रानियोंने भी अनेक तरहका तपश्चरण किया और वे स्वर्गलोकमें जाकर सब अपनी २ योग्यतानुसार वडे २ विमानोंमें देव हुये ॥ २५० ॥ सती सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों ही ये सब कथायें सुनकर और गुणपाल तीर्थंकरको नमस्कारकर स्वर्गमें चले गये, वहांपर यथायोग्य रीतिसे सुखोंका अनुभव किया और आयुके अंतमें व हुये पुण्यविशेषसे हम दोनों ही यहां आकर उत्पन्न हुये हैं, ये सब कथायें सुलो-

इहागताविति व्यक्तं व्याजहार सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रभावादतुपत्तदा ॥ २५२ ॥ तदा सदस्सदः सर्वे प्रतीयुस्तदुदाहृतं । कः प्रत्येति न दुष्टश्चेत्सद्भिर्निगदितं वचः ॥ २५३ ॥ एवं सुखेन साम्राज्यभोगसारं निरंतर । भुंजानौ रंजितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥ २५४ ॥ तदा खगभवावाप्तप्रज्ञप्तिप्रमुखाः श्रिताः । विद्यास्ता च महीशं च सप्रीत्या वर्द्धितश्रियः ॥ २५५ ॥ तद्बलात्कातया सार्धं विहर्तुं सुरगोचरान् । वाछन् देशान् निज राज्य नियोज्य विजयेऽनुजे ॥ २५६ ॥ यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरिता पतिं । कुलशैलान्नदीरम्यवनानि विविधान्यपि ॥२५७॥ विहरन्नन्यदा मेघस्वरः कैलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णादसौ किंचिदपासरत् ॥ २५८ ॥ अमरेंद्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यशंसन । जयस्य तत्प्रियायाश्च प्रकु-

---

चनाने साफ २ कहीं और उन्हें सुनकर अपनी प्यारी रानीकी बुद्धिके प्रभावसे जयकुमार भी उस समय बहुत संतुष्ट हुआ ॥ २५२ ॥ उससमय उससभामें बैठे हुये सब लोगोंने उसके कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है क्योंकि जो दुष्ट नहीं है सज्जन है वह ऐसा कौन है जो सज्जनोंके कहे हुये बचनोंपर विश्वास न करे ? ॥२५३॥ इसतरह सुखपूर्वक साम्राज्य और उत्तम भोगोपभोगोंका निरंतर सेवन करते हुये तथा परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुये वे दोनों ही सुखसे काल विताने लगे ॥२५४॥ उन्हीं दिनोंमें पहिले विद्याधरके भवमें जो लक्ष्मीको बढानेवालीं प्रज्ञप्ति आदि विद्यायें थीं वे भी बडे प्रेमसे आकर जयकुमार और सुलोचना दोनोंको प्राप्त होगईं ॥ २५५॥ तब महाराज जयकुमारने उन विद्याओंके बलसे अपनी रानी सुलोचनाके साथ साथ देवोंके विहार करने योग्य देशोंमें घूमनेकी इच्छा की और इसलिये ही उसने अपने छोटे भाई विजयकुमारको अपना राज्य दे दिया ॥ २५६ ॥ तदनंतर वह सुलोचनाके साथ साथ विद्याकी बनी हुई सवारियोंपर चढकर समुद्र, कुलपर्वत, नदियां और अनेक तरहके मनोहर बनोंमें विहार करने लगा, विहार करते करते किसी एक दिन वह जयकुमार कैलास पर्वतके बनमें पहुंचा, वह वहांपर किसी कारणसे सुलोचनासे कुछ दूर हो गया था ॥ २५७-२५८ ॥ उन्हीं दिनोंमें किसी समय इंद्रने अपनी सभामें जयकुमार और सुलोचनाके

वंति कदाचन ॥ २५९ ॥ श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः । श्रीशो रविप्रभाख्येन तच्छीलान्वेषणं प्रति ॥ २६० ॥ प्रेषिता कांचना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन्भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्तटे ॥ २६१ ॥ मनोहराख्यविषये राजा रत्नपुराधिपः । अभूत्पिंगलगांधारः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥ २६२ ॥ तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमेर्भार्या यदृच्छया । त्वां नंदने महामेरौ क्रीडंतं वीक्ष्य सोत्सुका ॥ २६३ ॥ तदाप्रभृति मच्चित्तेऽभवस्त्वं लिखिताकृतिः । त्वत्समागममेवाहं ध्यायती दैवयोगतः ॥ २६४ ॥ दृष्टवत्यस्मि कांताऽस्मिन्विरहं सोढुमक्षमा । इत्यपास्योपकंठस्थानस्वकीयान्स्मरवि ह्वला ॥ २६५ ॥ स्वानुरागं जये व्यक्तमकरोद्वक्रितेक्षणा । तद्दुष्टचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापमीदृशं ॥ २६६ ॥ सोदर्या त्वं ममादायि मया मुनि-

शीलकी महिमा वर्णन की थी ॥ २५९ ॥ उसे सुनकर पहिले स्वर्गके रविप्रभ नामके विमानमें उत्पन्न हुये और वडी ऋद्धिको धारण करनेवाले रविप्रभ नामके देवने उनकी परीक्षा करनेके लिये कांचना नामकी देवी भेजी । वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आई और कहने लगी कि " इसी भरत क्षेत्रमें विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है और उसके रत्नपुर नगरमें महाराज पिंगलगांधार नामका राजा राज्य करता है, उसको सुख देनेवाली सुप्रभा नामकी उसकी रानी है उसकी मैं पुत्री हूं, विद्युत्प्रभा मेरा नाम है और मैं राजा नमिकी रानी हूं, महा मेरुपर्वतके नंदनवनमें अपनी इच्छानुसार क्रीडा करते हुये आपको देखकर मैं उत्कंठित हुई हूं ॥२६०-२६३ ॥ हे कांत ! उसीसमयसे मेरे चित्तमें आपका आकार लिखा हुआसा जान पडता है और मैं सदा आपके समागमका ही ध्यान करती रहती हूं, दैवयोगसे आज आपको देख पाया है, हे नाथ, अब मैं आपके वियोगको सह नहीं सकती हूं " यह कहकर उसने समीपके अपने सब लोगोंको हटा दिया और कामदेवसे विह्वल होकर तथा तिरछी दृष्टि फेंकती हुई वह देवी जयकुमारमें अपना अनुराग साफ साफ प्रगट करने लगी । जयकुमार उसकी इस दुष्ट चेष्टाको देखकर कहने लगा कि " तू ऐसे पाप करनेका विचार मतकर, तू मेरी बाहनिके समान है मैने मुनिराजसे यह व्रत लिया है कि

बराद्व्रतं । परांगनागसंसर्गसुखं मे विषभक्षणं ॥ २६७ ॥ महीशेनेति संप्रोक्त मिथ्या सा कोपवेपिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं समुध्दृत्य गत्वरी ॥ २६८ ॥ पुष्पावचयसंसक्तनृपकाताभितर्जिता । भीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात्काचनाऽदृश्यता गता ॥२६९ ॥ अबिभ्यद्देवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्य गत्वा स्वस्वामिन प्रति ॥ २७० ॥ प्राशंसत्सा तयोस्ताद्दङ्माहात्म्य सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभ· समागत्य तावुभौ तद्गुण-प्रियः ॥ २७१ ॥ स्ववृत्तांत समाख्याय युवाभ्या क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्नाकलोकं समीयिवान् ॥ २७२ ॥ तया चिर विहृत्यात्तसंप्रीतिः कातया समं । निवृत्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥ २७३ ॥ अथान्यदा समुत्पन्नबोधिर्मेघस्वराधिपः । तीर्थादिनाथमासाद्य वंदित्वाऽऽनंदभाजनं

परस्त्रीके संबंधसे उत्पन्न हुआ सुख मेरे लिये विष खानेके समान है" ॥ २६४-२६७ ॥ जयकुमारके इसप्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे ही कांपने लगी और राक्षसीका भेष धारणकर जय-कुमारको उठाकर ले चली ॥२६८॥ पासमें ही सुलोचना फूल तोड रही थी, उसने देखकर उस कांच-नादेवीको ललकार लगाई, तब वह देवी उसके शीलके माहात्म्यसे डरगई और अदृश्य होगई ॥२६९॥ देखो देवता भी शीलवती स्त्रीसे डर जाते हैं फिर भला औरोंकी तो बात ही क्या है? वह कांचना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामी रविप्रभ देवके पास गई ॥ २७० ॥ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर उस रविप्रभ देवको भी आश्चर्य हुआ और उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ वह उनके पास आया ॥ २७१ ॥ उसनें अपना सब हाल कहा, उन दोनोंसे क्षमा मांगी बडे बडे रत्नोंसे उन दोनोंकी पूजा की और फिर वह अपने स्वर्गलोकमें चलागया ॥ २७२ ॥ इधर जयकुमारने संतुष्ट होकर बहुत दिनतक रानी सुलोचनाके साथ विहार किया और फिर वह लौटकर अपने नगरमें आकर उत्तम उत्तम सुखोंका अनुभव करने लगा ॥ २७३ ॥

अथानंतर–जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसा जयकुमार किसी एक दिन साक्षात् आनंदके पात्र ऐसे श्रीआदिनाथ तीर्थकरके दर्शनके लिये गया, वहां उसने उनकी वंदना की, धर्मके प्रश्न पूछे

॥ २७४ ॥ कृत्वा धर्मपरिप्रश्नं श्रुत्वा तस्माद्यथोचितं । आक्षेपिण्यादिकाः कृत्वा कथा बंधोदयादिकाः ॥२७५ ॥ कर्मनिर्मुक्तसंप्राप्यशर्मसारंप्रवुद्धधीः । शिवंकरमहादेव्यास्तनूजो जनताप्रियः ॥ २७६ ॥ अवार्योऽनतवीर्याख्यः शत्रुभिः शस्त्रशास्त्रवित् । आकुमारं यशस्तस्य शौर्यं शत्रुजयावधि ॥ २७७ ॥ त्यागः सर्वार्थिसंतर्पी सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लुतं । विधायाभिषवं तस्मै प्रदायात्मीयसंपद ॥ २७८ ॥ पदं परं परिप्राप्तुमव्यग्रमभिलाषुकः । विसर्जितसगोत्रादिर्विनिर्जितनिजेंद्रियः ॥ २७९ ॥ वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभास्रवः । विजयेन जयतेन संजयतेन सानुजैः ॥ २८० ॥ अन्यैश्च निश्चितत्यागै रागद्वेषाविदूषितैः । रविकीर्ती रविजयोऽरिंदमोऽरिंजयाह्वयः ॥ २८१ ॥ सुजयश्च सुकातश्च सप्तमश्चाजितंजयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च वरंजयसमाह्वयः

और यथायोग्य उनका उत्तर सुना । इसके सिवाय उसने आक्षेपिणी, विक्षेपिणी, संवेजिनी, और निर्वेजिनी कथायें कहीं और कर्मोंके वंध उदय आदि होनेकी कथायें कहीं ॥ २७४-२७५ ॥ तदनंतर जिसकी बुद्धि जग उठी है, प्रगट हुई है ऐसा वह जयकुमार कर्मोंके नाश होनेपर प्राप्त होने योग्य उत्तम सुखको अर्थात् शांत परिणामोंको प्राप्त हुआ । उसने अपनी शिवंकर नामकी महादेवीका जो अनंतवीर्य नामका पुत्र था, जो कि लोगोंको बहुतही प्रिय था, शत्रु जिसे नहीं रोक सकते थे, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंका जानकार था, कुमार अवस्थामें ही जिसकी कीर्ति प्रसिद्ध थी, जिसकी शूरवीरता शत्रुको जीतने तक ही थी, जिसका दान सबको संतुष्ट करनेवाला था और जिसका सत्य स्वप्नमें भी कभी खंडित नहीं हुआ था, उसका राज्याभिषेक किया और उसे अपनी सब राज्यसंपदा दे दी ॥२७६-२७८ ॥ तदनंतर उसने जिसमें कभी व्याकुलता नहीं होती ऐसे उत्कृष्ट सिद्धपदके प्राप्त होनेकी इच्छा की, अपने सब कुटंब परिवारका त्याग किया, अपनी इंद्रियोंको वश किया, महामोहको ललकारा, और शुभास्रवका संचय किया । तदनंतर चरम शरीरको और विशुद्ध परिणामोंको धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयंत, संजयंत तथा जिन्होंने सब परिग्रहके त्याग करनेका निश्चय करलिया है और जो राग द्वेषके द्वेषसे रहित हैं ऐसे अन्य छोटे भाइयोंके साथ २ दीक्षा धारण की । रविकीर्ति, रविजय,

॥ २८२ ॥ रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च सार्धं सुनिर्विण्गैश्चरमाङ्गो विशुद्धिभाक् ॥ २८३ ॥ एष पात्रविशेषस्ते संवोढुं शासनं महत् । इति विश्वमहीशेन देवदेवस्य सोऽर्पितः ॥ २८४ ॥ कृतग्रंथपरित्यागः प्राप्तग्रथार्थसंग्रहः । प्रकृष्ट संयमं प्राप्य सिद्धसप्तर्द्धिवर्द्धितः ॥ २८५ ॥ चतुर्ज्ञानामलज्योतिर्हताततमनस्तमाः । अभूद्गणधरो भर्तुरेकसप्ततिपूरकः ॥ २८६ ॥ सुलोचनाप्यसंहार्यशोका पतिवियोगतः । गलिता कल्पवल्लीव भ्रष्टादमरभूरुहात् ॥ २८७ ॥ शमिता चक्रवर्तीष्टकांतयाऽशु सुभद्रया । ब्राह्मीसमीपे प्रव्रज्य भाविसिद्धिश्चिर तपः ॥ २८८ ॥ कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत्कल्पेऽच्युतेमरः । आदितीर्थाधिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥ २८९ ॥ चतुरुत्तरयाऽशीत्या विविधर्द्धिविभूषितैः । चिरं वृषभसेनादिगणेशैः

अरिंदम, अरिंजय, सुजय, सुकांत, सातवां अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय रविवीर्य तथा और भी जो चक्रवर्तीके पुत्र विरक्त हुये थे उन्होंने भी जयकुमारके साथ ही दीक्षा धारण की ॥ २७१-२८३ ॥ उस समय जयकुमारने भगवान ऋषभदेवसे इसप्रकार दीक्षा धारण की थी मानों' आपके वडे भारी शासनको धारण करनेके लिये यह एक अच्छा पात्र है " यही समझकर राजाधिराज भरतने उसे भगवानको समर्पण किया हो ॥ २८४ ॥ जयकुमारने सब परिग्रहोंका त्याग किया, पूर्ण श्रुतज्ञानका अध्ययन किया, उत्कृष्ट संयम पालन किया और इसलिये ही उसे सात ऋद्धियां प्राप्त हुईं ॥ २८५ ॥ उसे मनःपर्ययज्ञानकी निर्मल ज्योति प्रगट हुई, मनके अंधकारका सब समूह नष्ट हो गया और वह श्रीआदिनाथका इकहत्तरिवां गणधर हुआ ॥ २८६ ॥ सुलोचनाको पतिके वियोगसे बडा भारी शोक हुआ, जिसप्रकार कल्पवृक्षके नाश हो जानेसे कल्पलता मुरझा जाती है उसी प्रकार वह सुलोचना पतिके वियोगसे मुरझा गई ॥ २८७ ॥ चक्रवर्तीकी प्यारी रानी सुभद्राने उसे शांत किया, तब ब्राह्मी अर्जिकाके समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली । जिसे आगेके भवमें मोक्ष होनेवाली है ऐसी सुलोचनाने बहुत दिनतक तपश्चरण किया और आयुके अंतमें वह सोलहवें अच्युत स्वर्गके अनुत्तर नामके विमानमें देव हुआ। इधर प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेव भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति करने लगे॥२८८-

परिवेष्टितः ॥ २९० ॥ खपंचसप्तवार्राशिमितपूर्वधरान्वितः । खपंचैकचतुर्मेयशिक्षकैर्मुनिभिर्वृतः ॥ २९१ ॥ तृतीयज्ञानसन्नेत्रैः सहस्रैर्नवभिर्युतः । केवलावगमैर्विंशतिसहस्रैः समन्वितः ॥ २९२ ॥ खद्वयर्तुखपक्षोरुविक्रियर्द्धिविवर्द्धितः । खपंचसप्तपक्षैकमितुर्यकन्वितः ॥ २९३ ॥ तावद्भिर्वादिभिर्वंद्यो निरस्तपरवादिभिः । चतुरष्टखवार्ध्युक्तैः संख्यैश्च पिंडितैः ॥ २९४ ॥ संप्राप्तसपद्भिस्सद्भिरर्चितः । खचतुष्कोद्रिगान्युक्तब्राह्म्यार्यिकादिभिः ॥ २९५ ॥ आर्यिकाभिरभिष्टूयमाननानागुणोदयः । दृढव्रतादिभिर्लक्षत्रयोक्तैः श्रावकैः श्रितः ॥ २९६ ॥ श्राविकाभिः स्तुतः पंचलक्षाभिः सुव्रतादिभिः । भावनादिचतुर्भेददेवदेवीडितक्रम ॥२९७॥ चतुष्पदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चाभिसेवितः । चतुस्त्रिंशदतीशयविशेषैर्लक्षितोदयः ॥२९८॥

---

२८९ ॥ उनके साथ साथ अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित ऐसे वृषभसेन आदि चौरासी गणधर थे ॥२९०॥ चारहजार सातसौ पचास मुनिराज ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके जानकार थे, चारहजार एकसौ पचास मुनिराज उनके शिक्षक थे, नौ हजार मुनि अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले थे, वीस हजार केवलज्ञानी थे, वीस हजार छहसौ मुनि विक्रिया ऋद्धिको धारण करनेवाले थे, बारह हजार सातसौ पचास मुनि मनःपर्ययज्ञानी थे ॥२९१-२९३॥ परवादियोंको हटानेवाले बारह हजार सातसौ पचास मुनि उनकी वंदना करते थे। इसतरह जिन्हें तपश्चरणरूपी उत्तम संपदायें प्राप्त हुई हैं ऐसे सब मिलकर चौरासी हजार चौरासी उत्तम मुनिराज उनकी पूजा करते थे। ब्राह्मी आदिको मुख्य लेकर तीन लाख पचास हजार अर्जिकायें उनके अनेक गुणोंकी स्तुति करती थीं और दृढ व्रतोंको धारण करनेवाले दृढव्रतको आदिलेकर तीन लाख श्रावक उनकी सेवा करते थे ॥ २९४-२९६ ॥ सुव्रताको आदि लेकर पांच लाख श्राविकायें उनकी स्तुति करती थीं और भवनवासी व्यंतर ज्योतिष्क तथा कल्पवासी चारोंप्रकारके देव देवियां उनके चरण कमलोंकी पूजा करती थीं ॥ २९७ ॥ पशुपक्षी आदि अनेक तरहके तिर्यंच उनकी सेवा करते थे, और चौंतीस अतिशयोंसे उनका उदय प्रगट होता था ॥ २९८ ॥ केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ केवलज्ञान केवलदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य उनका

आत्मोपाधिविशिष्टावबोधदृक् सुखवीर्यगः । देहसौदर्यवान् स्वोक्तसप्तसंस्थानसंगतः ॥ २९९ ॥ प्रातिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टघातिचतुष्टयः । वृषभाद्यन्विताथैष्टसहस्राह्वयभाषितः ॥ ३०० ॥ विकासितविनेयाब्जावलिर्वचनांशुभिः । संवृताजलिपकेजमुकुलेनाखिलेशिना ॥ ३०१ ॥ भरतेन समभ्यर्च्य पृष्टो धर्ममभाषत । ध्रियते धारयत्युच्चैर्विनेयान् कुगतेस्ततः ॥ ३०२ ॥ धर्म इत्युच्यते सद्भिश्चतुर्भेदं समाश्रितः । सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रतपोरूपः क्रियापरः ॥ ३०३ ॥ जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धानं यत्स्वतोऽजसा । परप्रणयनाद्वा तत्सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥ ३०४ ॥ शंकादिदोषनिर्मुक्तं भावत्रयविवेचितं । तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिविसर्जनात् ॥ ३०५ ॥ याथात्म्येन परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथा कर्मास्त्रवो न स्याच्चारित्रं संयमस्तथा

प्रगट हो रहा था, शरीर अत्यंत प्रशंसनीय अर्थात् परमौदारिक हो गया था, और सज्जाति आदि सातों परमस्थान उन्हें प्राप्त हो गये थे ॥ २९९ ॥ उनके आठ प्रातिहार्य प्रगट हो गये थे, चारों घातिया कर्म नष्ट होगये थे और नामके अनुसार ही अर्थको धारण करनेवाले वृषभआदि एक हजार आठ नामोंसे वे कहे जाते थे अर्थात् उनके एकहजार आठ नाम थे ॥ ३०० ॥ तथा अपने वचनरूपी किरणोंसे शिष्यरूपी कमलसमूहोंको सदा प्रफुल्लित करते रहते थे।

अथानंतर—मुकुलित कमलके समान हाथ जोडे हुये सब पृथ्वीके स्वामी भरतने भगवानकी पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा। तब भगवान कहने लगे कि जो शिष्योंको कुगतिसे निकालकर उत्तम स्थानमें पहुंचा दे अथवा जिससे शिष्य कुगतिसे निकलकर उत्तम स्थानमें पहुंचजायं उसे सज्जन लोग धर्म कहते हैं तथा उस धर्मके चार भेद हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपश्चरणरूप क्रियाओंमें तत्पर रहना अर्थात् तपश्चरण धारण करना ॥ ३०१-३०३ ॥ जो अपने आप अथवा किसी गुरुके उपदेशसे (निसर्ग अथवा अधिगमसे) जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंमें श्रद्धान हो जाना है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥ ३०४ ॥ यह सम्यग्दर्शन शंका कांक्षा आदि आठों दोषोंसे रहित होता है और औपशामिक, क्षायिक, क्षायोपशामिक इन तीनों भावोंमेंसे किसी एक

॥ ३०६ ॥ निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो मतं । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥ ३०७ ॥ निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च हितैषिणा । चतुष्टयमिदं वर्त्म मुक्तेर्दुष्प्रापमगिभिः ॥ ३०८ ॥ मिथ्यात्वमव्रताचारः प्रमादाः सकषायता । योगा. शुभाशुभा जतोः कर्मणा बंधहेतवः ॥ ३०९ ॥ मिथ्यात्वं पंचधा चाष्टशतधाऽविरतिर्मता । प्रमादाः पचदश च कषायास्ते चतुर्विधाः ॥ ३१० ॥ योगाः पचदश ज्ञेयाः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः । समूलोत्तरभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः ॥ ३११ ॥ वधश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युदयसंप्राप्त्या हेतवः फलबंधयोः

भावरूप होता है। संशय विमोह विभ्रम रहित उन्हीं जीवादि सातों तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना, उनका यथार्थ स्वरूप जान लेना सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिससे कर्मोंका आस्रव न हो ऐसे संयमका पालन करना चारित्र है और जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी अपनी वृत्ति धारण करना ही तप कहलाता है। ये चारों ही आराधनायें यदि कषाय सहित हों तो ये स्वर्गकी कारण हैं और यदि ये ही चारों आराधनायें कषाय रहित हों तो आत्माका हित चाहनेवाले लोगोंको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण हैं अर्थात् कषायरहित आराधनाओंसे स्वर्गादिके सुख मिलकर मोक्ष प्राप्त होती है। ये चारों ही मोक्षके मार्ग हैं और जीवोंको बडी कठिनतासे प्राप्त होते हैं ॥३०५-३०८॥ मिथ्यात्त्व, अव्रतरूप आचरण, प्रमाद, कषाय, और शुभाशुभ योग ये जीवोंके कर्मबंधके कारण हैं ॥ ३०९ ॥ मिथ्यात्वके पांच भेद हैं, अविरति एकसौ आठ तरहकी है, प्रमाद पंद्रह हैं और कषाय चार तरहके हैं ॥ ३१० ॥ सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले मुनिराज योगोंको पंद्रह तरहके बतलाते हैं तथा विद्वान लोग कर्मोंके मूल आठ और उत्तर भेद एकसौ अडतालीस कहते हैं॥ ३११॥ प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशके भेदसे चारतरहका बंध है तथा कर्म उदय होकर फल और बंधके कारण होते हैं अर्थात् कर्म उदय होकर सुख दुख आदि फल देते हैं और नवीन कर्मबंधके कारण होते हैं ॥ ३१२ ॥ इसलिये हे सभासदो ! तुम लोग जो संसारके परिभ्रमणका कारण है, जिसमें दोष,

॥ ३१२ ॥ तद्यूयं संसृतेर्हेतुं परित्यज्य गृहाश्रम । दोषदुःखजरामृत्युपापप्रायं भयावह ॥ ३१३ ॥ भक्तिमंतस्समासन्नविनेया विदितागमाः । गुह्यादिष-ड्विध सम्यगनुगत्य यथोचितं ॥ ३१४ ॥ प्रोक्तोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु व्यपेनागारकादिषु ॥ ३१५ ॥ प्रमत्तादिगुण-स्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तमुपाध्व मोक्षमुत्तम ॥ ३१६ ॥ तथा गृहाश्रमस्याश्च सम्यग्दर्शनपूर्वक । दानशीलोपवासार्हदादिपूजो-पलक्षिताः ॥ ३१७ ॥ आश्रितैकादशोपासकव्रताः सुशुभाशयाः । सप्राप्तपरमस्थानसप्तकाः संतु धीधनाः ॥ ३१८ ॥ इति सत्तत्त्वसदर्भगर्भवाग्विभवा-

---

दुःख, बुढापा मरण और अनेक पाप भरे हुये हैं और जो भयानक है ऐसे इस गृहस्थाश्रमको,छोडो ॥ ३१३ ॥ तुम लोग भक्तिमान हो, निकट भव्य हो और आगम वा शास्त्रोंको अच्छीतरह जानते हो इसलिये अपनी अपनी योग्यतानुसार गुप्ति, समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन छहोंको अच्छीतरह पालन करो ॥३१४॥ उपेक्षा संयम और वीतरागसंयमको पालन करनेवाले जो मुनि हैं तथा पुलाक, वकुश,कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक आदि जो मुनियोंके भेद हैं, उनमेंसे किसी एक अवस्थाको धारण करो ॥ ३१५ ॥ तथा प्रमत्त आदि जो ऊंचेके गुणस्थान हैं उनमें अनुक्रमसे निवास करो और इसतरह निश्चय तथा व्यवहार दोप्रकारके कहे हुये मोक्षका सेवन करो अर्थात् दोनोंतरहकी मोक्ष प्राप्त करो ॥ ३१६ ॥ इसीतरह जो गृहस्थाश्रममें रहनेवाले हैं वे दान शील, उपवास, और अरहंतादि परमेष्ठियोंकी पूजा करें ॥३१७॥ शुभ परिणामोंसे श्रावकोंकी कही हुई ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करें और वे ही बुद्धिमान सातों परमस्थानोंको प्राप्त हों ॥ ३१८ ॥ इसतरह भरतेश्वरने तत्त्वोंकी रचनासे भरी हुई भगवानकी वचन रूपी विभूति सुनी और उसे सुनकर सब सभाके साथ साथ ज्योंका त्यों माना अर्थात् उनपर पूर्ण श्रद्धान किया ॥ ३१९ ॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रोंको तथा सम्यग्दर्श-नकी विशुद्धिको धारण करनेवाला और देशसंयमी महाराज भरत आदिब्रह्मा श्रीवृषभदेवकी वंदना

द्विभोः । ससभो भरताधीशः सर्वमेवममन्यत ॥ ३१९ ॥ त्रिज्ञाननेत्रसम्यक्त्वशुद्धिभाग्देशसयतः । स्रष्टारमभिवंद्यायात्कैलासान्नगरोत्तमं ॥ ३२० ॥ जगत्त्रितयनाथोऽपि धर्मक्षेत्रेष्वनारत । उप्त्वा सद्धर्मबीजानि न्यापिंचद्धर्मवृष्टिभिः ॥ ३२१ ॥ सतां सत्फलसप्राप्त्यै विहरन्स्वगणै· समं । चतुर्दशदिनोपेतसहस्राब्दोनपूर्वकं ॥ ३२२ ॥ लक्ष कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखरांतरे । पौर्णमासीदिने पौषे निरिच्छः समुपाविशत् ॥ ३२३ ॥ तदा भरतराजेंद्रो महामंदरभूधर । आप्राभार व्यलोकिष्ट स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितं ॥ ३२४ ॥ तदैव युवराजोऽपि स्वर्गादेत्य महौषधिः । द्रुमश्छित्वा नृणा जन्मरोग स्वर्यांतमैक्षत ॥ ३२५ ॥ कल्पद्रुममभीष्टार्थं दत्वा नृभ्यो निरंतरं । गृहेट् निशामयामास स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतं ॥ ३२६ ॥ रत्नद्वीपं जिघृक्षुभ्यो नानारत्न-

---

कर कैलासपर्वतसे अपने उत्तम अयोध्या नगरको आया ॥ ३२० ॥ इधर तीनों लोकोंके स्वामी भगवन वृषभदेवने निरंतर ही धर्मक्षेत्रमें सद्धर्मका वीज बोया और धर्मवृष्टिके द्वारा उसे सींचा ॥३२१॥ सज्जनोंको मोक्षरूप उत्तम फल मिलनेके लिये उन्होंने अपने गणधरोंके साथ साथ एकहजारवर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । (उनकी चौरासी लाख पूर्वकी आयु थी उसमेंसे बीस लाख पूर्व कुमार कालके, तिरेसठलाख पूर्व राज्य अवस्थाके, एक हजार वर्ष तपश्चरणके, एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहारके और चौदह दिन योगनिरोधके थे) जब आयुके चौदह दिन बाकी रहे तब योगोंका निरोधकर पौष शुक्ला पौर्णमासीके दिन श्रीक्षिखर और सिद्ध शिखरके बीचमें कैलास पर्वतपर पद्मासनसे विराजमान हुये ॥ ३२२-३२३ ॥ जिस दिन भगवान योग निरोधकर कैलासपर विराजमान हुये उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि सुमेरुपर्वत लंवा होकर सिद्धक्षेत्रतक पहुंच गया है ॥ ३२४ ॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका पेड स्वर्गसे आया था और मनुष्योंका जन्म रोग नष्टकर फिर स्वर्गमें चला गया ॥ ३२५ ॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगोंको सदा उनकी इच्छानुसार पदार्थ देता था परंतु अब वह स्वर्ग जानेके लिये तैयार हुआ है ॥ ३२६ ॥ मुख्य मंत्रीने स्वप्नमें देखा कि

कदंबकं । प्रादायाभ्रगमोद्युक्तमद्राक्षीत्साचिवाग्रिमः ॥ ३२७ ॥ वज्रपंजरमुद्भिद्य कैलास गजवैरिणं । उल्लंघयितुमुद्यंतं सेनापतिरपश्यत ॥ ३२८ ॥ आलुलोके बुधोऽनतवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यात त्रैलोक्यमाभास्य सतारं तारकेश्वर ॥ ३२९ ॥ यशस्वतीसुनदाभ्यां सार्द्धं शक्रमनःप्रिया । शोचंतीश्चिरमद्राक्षीत्सुभद्रा स्वप्नगोचरा ॥ ३३० ॥ वाराणसीपतिश्चित्रागदोऽप्यालोकताकुलः । खमुत्पततं भास्वत प्रकाश्य धरणीतलं ॥ ३३१ ॥ एवं विलोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधस फल तेषामपृच्छन्नर्यमोदये ॥ ३३२ ॥ कर्माणि हत्वा निर्मूल मुनिभिर्बहुभिः समं । पुरोः सर्वेऽपि शंसंति स्वप्नाः स्वर्गाग्रगामिता ॥ ३३३ ॥ इति स्वप्नफल तेषा भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानंदनामैत्य भर्तुः स्थितिमवेदयत् ॥ ३३४ ॥ ध्वनौ भगवता दिव्ये

एक रत्नद्वीप चाहनेवाले लोगोंके लिये अनेक तरहके रत्नसमूह देकर अब आकाशमें जानेके लिये तैयार हआ है ॥ ३२७ ॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजडेको तोडकर कैलास पर्वतको उलंघन करनेके लिये तैयार हुआ है ॥ ३२८ ॥ जयकुमारके पुत्र श्रीमान् बुद्धिमान अनंतवीर्यने स्वप्नमें देखा कि चंद्रमा तीनों लोकोंको प्रकाशकर ताराओंसहित जा रहा है ॥ ३२९ ॥ चक्रवर्तीकी रानी सुभद्राने स्वप्नमें देखा कि श्रीऋषभदेवकी रानी यशस्वती और सुनंदाके साथ साथ वैठी हुई इंद्रानी बहुत देरतक शोक कर रही है ॥ ३३० ॥ बनारसके राजा चित्रांगदने भी व्याकुल होकर यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथ्वीका प्रकाशकर आकाशकी ओर उडा जा रहा है ॥ ३३१ ॥ इसतरह भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही पुरोहितसे उनके फल पूछे ॥ ३३२ ॥ पुरोहितने कहा कि ये सब स्वप्न यही सूचित करते हैं कि भगवान वृषभदेव सब कर्मोंको विल्कुल नाशकर अनेक मुनियोंके साथ साथ मोक्ष पधारेंगे ३३३ ॥ पुरोहित यह सब स्वप्नोंका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनंद नामका एक मनुष्य आया और उसने भगवान वृषभदेवकी सब हालत कही ॥ ३३४ ॥ उसने कहा कि जिसप्रकार सूर्यके अस्त हो जानेपर सरोवरके कमल सब मुकुलित हो जाते हैं उसीप्रकार भगवानकी दिव्यध्वनि वंद हो जानेपर सब सभा हाथ जोडे हुये मुकुलित

संहृते मुकुलीभवत् ! करांबुजा सभा जाता पूष्णीव सरसीत्यसौ ॥ ३३५ ॥ तदाकर्णनमात्रेण सत्वरः सर्वसंगतः । चक्रवर्ती तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥ ३३६ ॥ महामहमहापूजा भक्त्या निर्वर्तयन्स्वयं । चतुर्दश दिनान्येवं भगवंतमसेवत ॥ ३३७ ॥ माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्राप्तपल्यंको मुनिभिः समं ॥ ३३८ ॥ प्राग्दिङ्मुखस्तृतीयेन शुक्लध्यानेन रुद्धवान् । योगत्रितयमंत्येन ध्यानेनाघातिकर्मणा ॥ ३३९ ॥ पंचह्रस्वस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयं । कालेन विदधत्प्रातगुणस्थानमधिष्ठितः ॥ ३४० ॥ शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययं । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणाप्ततनुवातकः ॥ ३४१ ॥ नित्योनिरंजनः किंचिदूनो देहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाद्भूतः पश्यन्विश्वमनारतं ॥ ३४२ ॥

हो रही है ॥ ३३५ ॥ यह समाचार सुनकर वह चक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ साथ कैलास पर्वतपर पहुंचा, उसने जाकर भगवानकी तीन प्रदाक्षिणायें दीं, स्तुति की, भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी महापूजा की और इसीतरह चौदह दिनतक भगवानकी सेवा की ॥३३६-३३७॥ माघकृष्णा चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् नक्षत्रमें भगवान् वृषभदेवने पूर्व दिशाकी ओर मुहकर अनेक मुनियोंके साथ साथ पर्यंकासन विराजमान हुये, उन्होंने तीसरे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्लध्यानसे मन वचन काय तीनों योगोंका निरोध किया और फिर अंतके चौदहवें गुणस्थानमें ठहरकर जितनी देरमें अ, इ, उ, ऋ, ऌ, इन पांच ह्रस्व अक्षरोंका उच्चारण होता है उतने ही समयमें चौथे व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामके शुक्लध्यानसे वेदनीय आयु नाम गोत्र इन चारों अघातिया कर्मोंका नाश किया ॥ ३३८-३४० ॥ औदारिक तैजस कार्मण इन तीनों शरीरोंके नाश होनेसे उन्हें सिद्ध पर्याय प्राप्त हुई, सम्यक्त्व ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अवगाहनत्व ये निजके आठ गुण पूरे पूरे प्रगट होगये, क्षणभरमें ही (उसी समयमें) तनुवातवलयमें जा पहुंचे तथा वहांपर नित्य, निरंजन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त्त, आत्मासे उत्पन्न हुये सुखमें तल्लीन और निरंतर संसारको देखते हुये विराजमान हुये ॥ ३४१-३४२ ॥ उसीसमय

तदाऽऽगत्य सुरा. सर्वे प्रांतपूजाचिकीर्षया । पवित्रं परमं मोक्षसाधन शुचि निर्मलं ॥ ३४३ ॥ शरीरं भर्तुरस्येति परार्घ्यशिबिकार्पितं । अग्नींद्ररत्नभोभासिप्रोत्तुगमुकुटोद्भुवा ॥ ३४४ ॥ चंदनागरुकर्पूरपारीकाश्मीरजादिभिः । घृतक्षीरादिभिश्चाप्तवृद्धिना हुतभोजिना ॥ ३४५ ॥ जगद्गृहस्य सौगंध्यं संपाद्याभूतपूर्वकं । तदाकारोपमर्देन पर्यायातरमानयन् ॥ ३४६ ॥ अभ्यर्चिताग्निकुंडस्य गंधपुष्पादिभिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद्गणभृत्संस्क्रियानलः ॥ ३४७ ॥ तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एवं वन्हित्रयं भूमाववस्थाप्यामरेश्वराः ॥ ३४८ ॥ ततो भस्म समादाय पंचकल्याणभागिनः । वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥ ३४९ ॥ कंठे हृदयदेशे च तेन संस्पृश्य भक्तितः । तत्पवित्रतमं मत्वा धर्मरागरसाहिताः ॥ ३५० ॥

मोक्षकल्याणकी पूजा करनेकी इच्छा करते हुये सब देव आये, उन्होंने पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल ऐसे भगवानके शरीरको बहुमूल्य पालकीमें विराजमान किया । तदनंतर जो अग्निकुमार जातिके देवोंके इंद्रके रत्नोंकी कांतिसे देदीप्यमान ऐसे बडे भारी मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चंदन अगर कपूर केशर आदि सुगंधित पदार्थोंसे और घी दूध आदिसे बढाई गई है ऐसी अग्निसे जो पहिले कभी देखने सुननेमें नहीं आई ऐसी जगतरूपी घरकी सुगंधि प्रगटकर उस शरीरका पहिला आकार नष्टकर दूसरा आकार बना दिया अर्थात् उसे भस्म कर दिया॥३४३-३४६॥गंध पुष्प आदि द्रव्योंसे उस अग्निकुंडकी पूजा की तथा उसके दांईं ओर गणधर देवोंके शरीरका अग्निसंस्कार किया और बाईं ओर तीर्थंकर तथा गणधरोंको छोडकर बाकी बचे हुये केवलज्ञानियोंके शरीरका अग्निसंस्कार किया। इसतरह इंद्रने पृथ्वीपर तीन तरहकी वन्हि स्थापन की ॥ ३४७-३४८ ॥ तदनंतर सब देव और इंद्रोंने बडी भक्तिसे जिनके पांचों कल्याणक हुये हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान वृषभदेवके शरीरकी भस्म उठाई और " हम भी ऐसे हों " यही सोचकर अपने माथेपर, दोनों भुजाओंमें, गलेमें और छातीपर लगाई । उन्होंने वह भस्म बडी ही पवित्र मानी और उसे लगाकर, वे धर्मके रसमें डूब गये ॥ ३४९-३५० ॥ संतुष्ट होकर सबने मिलकर आनंद नाटक किया और फिर उन्होंने श्रावकोंको

तोषात्संपादयामासुः संभूयानंदनाटकं । सप्तमोपासकाद्यास्ते सर्वेऽपि ब्रह्मचारिणः ॥ ३५१ ॥ गार्हपत्याभिधं पूर्वं परमाहवनीयकं । दक्षिणाग्निं ततो न्यस्य संध्यासु तिसृषु स्वय ॥ ३५२ ॥ तच्छिखित्रयसान्निध्ये चक्रमातपवारणं । जिनेंद्रप्रतिमाश्चावस्थाप्य मंत्रपुरस्सरं ॥ ३५३ ॥ तास्त्रिकालं समभ्यर्च्य गृहस्थैर्विहितादराः । भवतातिथयो यूयमित्याचख्युरुपासकान् ॥ ३५४ ॥ स्नेहेनेष्टवियोगोत्थः प्रदीप्तः शोकपावकः । तदा प्रबुद्धमप्यस्य चेतोऽधाक्षीदधीशितुः ॥ ३५५ ॥ गणी वृषभसेनाख्यस्तच्छोकापनिनीषया । प्राक्रंस्त वक्तुं सर्वेषां स्वेषां व्यक्तां भवावलीं ॥ ३५६ ॥ जयवर्मा भवे पूर्वे द्वितीयेऽभून्महाबलः । तृतीये ललिताङ्गाख्यो वज्रजंघश्चतुर्थके ॥ ३५७ ॥ पचमे भोगभूजोऽभूत् षष्टेऽयं श्रीधरोऽमरः । सप्तमे सुविधिःक्षमाभृदष्टमेऽच्युतनाय-

उपदेश दिया कि " तुम लोगोंमेंसे सातवें उपासकाध्ययनको पढनेवाले जो सात आठ नौ दश ग्यारहवीं प्रतिमाके ब्रह्मचारी हैं उन्हें वे गार्हपत्य परमाहवनीयक और दक्षिणाग्नि ये तीन अग्निकुंड बनाना चाहिये और उनमें सवेरे दुपहर तथा शाम इन तीनों संध्याओंमें स्वयं इन तीनों अग्नियोंकी स्थापना करनी चाहिये । उन तीनों अग्नियोंके समीप ही चक्र छत्र तथा श्रीजिनेंद्रदेवकी स्थापना करनी चाहिये और तीनों समय मंत्र पूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये । इसतरह गृहस्थोंके द्वारा आदर सत्कार पाते हुये तुम लोग अतिथि बनो । यह सब उपदेश इंद्रने ब्रह्मचारियोंको दिया ॥३५१-३५४ ॥ उससमय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे बढी हुई भरतकी शोकरूपी अग्नि जग उठी थी और वह उनके प्रबुद्ध हुए चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ तब श्रीवृषभसेन गणधर भरतके शोकको दूर करनेकी इच्छासे अपने सब लोगोंके पहिले भव स्पष्ट रीतिसे कहने लगे ॥ ३५६ ॥ कि श्रीवृषभदेवका जीव पहिले जयवर्मा था, दूसरे जन्ममें राजा महाबल हुआ, तीसरेभवमें ललितांग देव हुआ और चौथे भवमें राजा वज्रजंघ हुआ ॥ ३५७ ॥ पांचवें भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, छठेमें श्रीधर देव हुआ, सातवेंमें राजा सुविधि हुआ, और आठवें भवमें अच्युतस्वर्गका इंद्र हुआ ॥ ३५८ ॥ नौवें भवमें राजा वज्रनाभि हुआ, दशवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर सब इंद्रोंके

कः ॥ ३५८ ॥ नवमे वज्रनाभीशो दशमेऽनुत्तरांत्यजः । ततोऽवतीर्य सर्वेंद्रवंदितो वृषभोऽभवत् ॥३५९॥ धनश्रीरादिमे जन्मन्यतो निर्णामिका ततः । स्वयप्रभा ततस्तस्माच्छ्रीमत्यार्या ततोऽभवत् ॥ ३६० ॥ स्वयंप्रभः सुरस्तस्मादस्मादपि च केशवः । ततः प्रतींद्रस्तस्माच्च धनदत्तोऽहमिंद्रता ॥ ३६१॥ गतस्ततस्ततः श्रेयान् दानतीर्थस्य नायकः । आश्चर्यपंचकस्यापि प्रथमोऽभूत्प्रवर्तकः ॥३६२ अतिगृद्धः पुरा पश्चान्नारकोऽनु चमूरकः । दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥ ३६३ ॥ ततोऽहमिंद्रस्तस्माच्च सुबाहुरहमिंद्रतां । प्राप्य त्व भरतो जातः पट्खंडाखडपालकः ॥ ३६४ ॥ आद्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभंकरः । ततोऽकंपनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥ महाबाहुस्ततश्चाभूदहमिंद्रस्ततश्च्युतः । एवबाहुबली जातो जातापूर्वमहोद-

---

द्वारा पूज्य ऐसा श्रीवृषभदेव हुआ है ॥ ३५९ ॥ श्रेयान्का जीव पहिले जन्ममें धनश्री था, दूसरे जन्ममें निर्नामिका, तीसरे भवमें स्वयंप्रभा देवी, चौथे भवमें वज्रजंघकी रानी श्रीमती, पांचवें भवमें भोगभूमिमें आर्या, छट्ठे भवमें स्वयंप्रभदेव, वहांसे आकर सातवें भवमें राजा सुविधिका पुत्र केशव, आठवें भवमें सोलहवें स्वर्गमें प्रतींद्र, नौवें भवमें वज्रनाभिचक्रवर्तीका गृहपति रत्न धनदत्त और फिर दशवें भवमें अहमिंद्र हुआ ॥ ३६०-३६१ ॥ वहांसे आकर दानतीर्थकी प्रवृत्ति करनेवाला और पंचाश्चर्यका स्वामी यह राजा श्रेयान् हुआ है ॥ ३६२ ॥ तेरा जीव पहिले राजा अतिगृद्ध था दूसरे जन्ममें नरक गया, तीसरे भवमें सिंह,, चौथेमें दिवाकरप्रभ नामका देव और पांचवें भवमें राजा वज्रजंघका मतिवर नामका मंत्री हुआ था ॥ ३६३ ॥ छट्ठे भवमें अहमिंद्र, सातवें भवमें वज्रनाभि चक्रवर्तीका छोटा भाई सुवाहु हुआ । आठवें भवमें अहमिंद्र पद पाकर नौवें भवमें तू छहों खंड पृथ्वी का पालन करनेवाला राजा भरत हुआ है ॥ ३६४ ॥ बाहुवलिका जीव पहिले जन्ममें सेनापति था, दूसरे जन्ममें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, तीसरे जन्ममें प्रभंकर देव हुआ, चौथे भवमें राजा वज्रजंघका अकंपन नामका सेनापति हुआ, पांचवें भवमें ग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ, छट्ठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई महावाहु हुआ, वहांसे जाकर सातवें भवमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर अपूर्व महा

यः ॥ ३६६ ॥ मंत्री प्राग्भोगभूजोऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः । आनंदोऽन्वहमिंद्रोऽनु तत' पीठाह्वयस्ततः ॥ ३६७ ॥ अहमिंद्रोऽग्रिमोऽभूवमहमद्य गणाधिपः । पुरोहितस्ततश्चार्यो बभूवास्मात्प्रभजनः ॥ ३६८ ॥ धनमित्रस्ततस्तस्मादहमिंद्रस्ततश्च्युतः । महापीठोऽहमिंद्रोऽस्मादनतविजयो भवत् ॥३६९॥ उग्रसेनश्चमूरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः । ततश्चित्रांगदस्तस्माद्वरदत्तः सुरो जयः ॥ ३७० ॥ ततो गत्वाऽहमिंद्रोऽभूत्तस्माच्चागत्य भूतल । महासेनोऽभवत्कर्ममहासेनाजयोर्जितः ॥ ३७१ ॥ हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत् । मणिकुंडल्यतस्तस्माद्वरसेनःसुरोत्तमः ॥ ३७२ ॥ ततोऽस्माद्विजयस्तस्मादहं-

---

उदयको धारण करनेवाला यह बाहुबलि-हुआ है ॥ ३६५-३६६ ॥ मैं पहिले भवमें राजा प्रीतिवर्द्धनका मंत्री था, दूसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, तीसरे भवमें कनकप्रभ नामका देव हुआ, चौथे भवमें वज्रजंघका आनंद पुरोहित हुआ, पांचवें भवमें ग्रैवेयकमें अहमिंद्र हुआ, और वहांसे आकर छट्ठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई पीठ हुआ, ॥ ३६७ ॥ फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर तेरा छोटा भाई और प्रथम तीर्थंकर श्रीवृषभदेवका पहिला गणधर हुआ हूं। अनंतविजयका जीव पहिले भवमें राजा प्रीतिवर्द्धनका पुरोहित था, दूसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ और फिर वह प्रभंजन नामका देव हुआ ॥ ३६८ ॥ वहांसे आकर चौथे भवमें धनमित्र नामका राजा वज्रजंघका राजशेठ हुआ, पांचवें भवमें अहमिंद्र, वहांसेच्युत होकर छठे भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई महापीठ तथा वहांसे फिर सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर यह मेरा छोटा भाई अनंतविजय गणधर हुआ है ॥ ३६९ ॥ महासेनका जीव पहिले भवमें उग्रसेन था, दूसरे भवमें सिंह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें चित्रांगद नामका देव हुआ, पांचवें भवमें वरदत्त नामका राजा हुआ, फिर देव हुआ, सातवें भवमें वज्रनाभि चक्रवर्तीका भाई विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे पृथ्वीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अत्यंत बलवान् ऐसा यह महासेन हुआ है ॥ ३७०-३७१ ॥ श्रीषेणका जीव पहिले हरिवाहन था,

मिंद्रो दिवश्च्युतः । अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥ ३७३ ॥ नागदत्तस्ततो वानरार्योऽस्माच्च मनोहरः । देवाश्चित्रांगदस्तस्मादभूत्सामानिकः सुरः ॥ ३७४ ॥ ततश्च्युतो जयंतोऽभूदहमिंद्रस्ततस्ततः । महीतलं समासाद्य गुणसेनोभवद्गणी ॥ ३७५ ॥ लोलुपो नकुलार्योऽस्मादेतस्मात्स मनोरथः । ततोऽपि शातमदनस्ततः सामानिकामरः ॥ ३७६ ॥ राजाऽपराजितस्तस्मादहमिंद्रस्ततोऽजनि । ततो ममानुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥ ३७७ ॥ इत्यस्मिन्भवसंकटे भवभृतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशं । त्वं जानन्नपि किं विपण्णहृदयो विश्लिष्टकर्माष्टको निर्वाण

फिर सूअर हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें माणिकुंडल देव हुआ, पांचवें भवमें वरसेन राजा और छठे भवमें उत्तम देव हुआ ॥ ३७२ ॥ सातवें भवमें वज्रनाभिका छोटा भाई वैजयंत हुआ फिर अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर जिसकी लक्ष्मी पूजा सेवा करती है और जो सबसे पूज्य है ऐसा यह भाई श्रीषेण हुआ है ॥ ३७३ ॥ गुणसेनका जीव पहिले नागदत्त था, फिर बंदर हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, पांचवें भवमें राजा चित्रांगद हुआ, छठे भवमें सामानिक देव हुआ, वहांसे आकर वज्रनाभिका भाई जयंत हुआ, फिर आठवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे पृथ्वीपर आकर गुणसेन गणधर हुआ है ॥ ३७४-३७५ ॥ जयसेनका जीव पहिले लोलुप नामका छोटा हलवाई था, फिर दूसरे भवमें न्योला हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ, चौथे भवमें मनोरथ नामका देव हुआ, पांचवें भवमें राजा शांतमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, सातवें भवमें वज्रनाभिका भाई अपराजित हुआ, वहांसे जाकर आठवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिंद्र हुआ और वहांसे आकर यह मेरा छोटा भाई भाग्यशाली जयसेन हुआ है ॥ ३७६-३७७ ॥ श्रीवृषभसेन गणधर महाराज भरतसे कह रहे हैं कि इसतरह इस संसाररूपी संकटमें सब प्राणियोंको इसीतरह इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंका संयोग होता है और वह अंतमें अकस्मात् ही नाश हो जाता है, तू इस बातको जानता हुआ भी अपने

भगवानवापदतुलं तांबे विषादः कुतः ॥ ३७८ ॥ वयमपि चरमांगाः संगमाच्छुद्धबुद्धेः सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपाः । निरुपमसुखसारं चक्रवर्ती स्तदीयं पदमचिरतरेण प्राप्नुमो नाप्यमन्यैः ॥ ३७९ ॥ भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिर्भवति हि स चेत्तेषामस्मिन्पुनर्जननावहः । विनिहतभवे प्रार्थ्ये तस्मिन्स्वयं समुपागते कथमयमहो धीमान्कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥ ३८० ॥ अद्यापि दुष्टरिपवोऽस्य समूलतूलं नष्टा गुणैर्गुरुभिरष्टभिरेष जुष्टः । किं नष्टमत्र निधिनाथ जहीहि मोहं संधेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धां ॥ ३८१ ॥ देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरु शोचसि त्वं तं भस्मसात्कृतिम-

हृदयमें क्यों विषाद करता है ? भगवान वृषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्ट कर संसारमें जिसकी कोई उपमा नहीं ऐसे मोक्ष स्थानको पधारे हैं फिर भला ऐसी संतोषकी बातमें विषाद क्यों करता है ? ॥ ३७८ ॥ हे चक्रवर्ती भरत ! हम सब लोग भी चरमशरीरी हैं, शुद्ध केवलज्ञानको धारण करनेवाले भगवान वृषभदेवके संबंधसे हमारे भी सब पाप कर्म नष्ट हो गये हैं, हमें आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो गई है और जिसमें उपमारहित सुखका सार भरा हुआ है तथा जिसे अन्य मिथ्यादृष्टि लोग प्राप्त नहीं कर सकते ऐसे भगवानके सिद्धपदको बहुत ही शीघ्र प्राप्त होंगे ॥ ३७९ ॥ यदि अपने इष्ट लोगोंके मरनेपर शोक हो तो हो, क्योंकि उनका वह मरना शुभाशुभ कर्मोंके उदयसे होता है और वह फिर उन जीवोंको इस संसारमें जन्म दिलाता है । परंतु जिसने संसारको नाश कर दिया है और जिसके लिये सदा प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वयं प्राप्त हो जाय तो इस बुद्धिमान जीवको यदि वह शत्रु न हो तो कैसे शोक करना चाहिये ? भावार्थ—सिद्धपद पानेपर उसके शत्रु भले ही शोक करें परंतु उसके बुद्धिमान् हितैषीको कभी शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३८० ॥ हे निधियोंके स्वामी भरत ! भगवान वृषभदेवके कर्मरूपी आठों ही दुष्ट शत्रु शाखा जड आदि सहित (बिल्कुल] नष्ट होगये हैं और सम्यक्त्व आदि बडे बडे आत्माके आठों गुणोंसे वे सुशोभित हो गये हैं । भरत ! इसमें हानि क्या हो गई ? इसलिये तू मोह छोड

वाप्य विवृद्धरागाः। प्राग्जन्मनोऽपि परिकर्मकृतोऽस्य कस्मादानंदनृत्तमधिकं विदधुर्गुनाथाः ॥ ३८२ ॥ नेक्षे विश्वदृशं शृणोमि न वचो दिव्यं तदंघ्रिद्वये नम्रस्तन्नखभाविभासिमुकुटं कर्तुं लभे नाधुना। तस्मात्स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतर शोकीति चेदस्त्विदं किंतु भ्रांतिरियं व्य तीतविषयप्राप्त्यै भवत्प्रार्थना ॥८३॥ त्रिज्ञानधृक् त्रिभुवनैकगुरुर्गुरुस्ते स्नेहेन मोहविहितेन विनाशयेः किम्। स्वौदात्ततां शतमखस्य न लज्जसे किं तस्मात्तव प्रथममुक्तिगतिं न वेत्सि ॥ ३८४ ॥ इष्टं किं किमनिष्टमत्र वितथं संकल्प्य जतुर्जडः किंचिद्द्वेष्ट्यपि वष्टि किंचिदनयोः कुर्यादपि व्ययं। तेनैनोऽनुगतिस्ततो भववने भव्योऽप्यभव्योपमो

और शोकको जीतनेके लिये विशुद्ध बुद्धि धारण कर ॥ ३८१ ॥ पूज्य पिताका शरीर छूट जानेपर तू भी इतना बडा शोक करता है, भला देख तो भगवानके जन्मके पाहिलेसे ही जो भगवानकी सेवा कर रहे हैं और इसलिये ही जिनका प्रेम खूब वढा हुआ है ऐसे ये इंद्रादि देव उन्हीं भगवानके शरीरको भस्मकर कैसा वडा आनंद नृत्य कर रहे हैं! भावार्थ—आज तो आनंद माननेका दिन है शोकका नहीं ॥ ३८२ ॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि "अब मुझे सर्वज्ञदेवके दर्शन नहीं होते? उनकी दिव्यध्वनि सुनाई नहीं पडती और उनके दोनों चरणकमलोंमें नम्र होकर मैं उनके नखोंकी कांतिसे अपने मुकुटको दैदीप्यमान नहीं कर सकता, इसलिये ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है" परंतु यह तेरा कहना तो एक ओर रहा, जो वस्तु वीत चुकी है उसकी प्राप्तिके लिये जो तू यह प्रार्थना कर रहा है सो तेरी यह बडी भारी भूल है ॥ ३८३ ॥ हे भरत तेरे पिता श्रीजिनेंद्रदेव तो तीनों लोकोंके सबसे बडे गुरु हैं और तू मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान तीनों ज्ञानोंको धारण करनेवाला है इसलिये इस मोहनीय कर्मसे उत्पन्न हुये प्रेमसे तू अपनी उत्तमताका क्यों नाश करता है? क्या तुझे इस इंद्रकी भी लाज नहीं आती? अथवा तू "इस इंद्रसे पहिले ही मुक्त हो जायगा" इस बातको नहीं जानता है? ॥ ३८४ ॥ हे भरत! इस संसारमें यह अज्ञानी जीव अपना सुख देनेवाला इष्ट क्या है और दुख देनेवाला अनिष्ट क्या है इसमें झूठा ही संकल्पकर

भ्राम्यत्येष कुमार्गवृत्तिरधनो वाऽऽतंकभीर्दुःखितः ॥ ३८५ ॥ भव्यस्यापि भवोऽभवद्भगवतः कालादिलब्धेर्विना कालोऽनादिरचिंत्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थितिं संसृतेः । इत्येतद्विदुषाऽत्र शोच्यमथवा नैतच्च यद्देहिना । भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥ ३८६ ॥ गतानि संबन्धशतानि जंतो रनंतकालं परिवर्तनेन । नावैहि किं त्वं हि विबुद्धविश्वो वृथैव मुह्येः किमिहेतरो वा ॥ ३८७ ॥ कर्मभिः कृतमस्यापि न स्थास्नु त्रिजगत्पतेः । शरीरादि ततस्त्याज्यं मन्वते तन्मनीषिणः ॥ ३८८ ॥ प्रागक्षिगोचर' संप्रत्येष चेतसि वर्तते । भगवाँस्तत्र कः

किसी वस्तुमें तो द्वेष करता है और किसीमें प्रेम करता है तथा इन दोनोंको उलटी रीतिसे भी मान लेता है अर्थात् सुख देनेवाली चीजोंको बुरी समझलेता है और दुःख देनेवाली चीजोंको अच्छी समझलेता है । इललिये ही भव्य होकर भी यह जीव अभव्यके समान अपने पाप कर्मोंके अनुसार दुखी, दरिद्री, कुमार्गको सेवन करनेवाला और अनेक रोगोंसे भयभीत होकर उन राग द्वेषके वशसे ही इस संसाररूपी बनमें भ्रमण किया करता है ॥ ३८५ ॥ काल लब्धिके बिना पूज्य भव्यको भी अनेक भव धारण करने पडते हैं और यह काल अनादिकालसे चला आ रहा है कोई इसका चिंतवन भी नहीं कर सकता और अनेक दुखोंसे भरा हुआ है इसलिये संसारकी इस ऐसी स्थितिको भी बार बार धिक्कार है । यही समझकर इस संसारमें विद्वानोंको कुछ शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जीवोंका यह भव्यपना भी तो दूरानुदूर भव्य, दूरभव्य, और आसन्नभव्य आदि अनेक तरहका है । हे राजन् ! यह पदार्थोंकी स्थिति स्वभावसे ही ऐसी है ॥ ३८६ ॥ हे संसारका स्वरूप जाननेवाले भरत ! क्या तू नहीं जानता कि अनंत कालसे परिभ्रमण करते हुये इस जीवको पिता माता आदिके सैकडों संबंध प्राप्त हो चुके हैं ! फिर अज्ञानी जीवोंके समान तू व्यर्थ ही क्यों मोहित होता है ॥ ३८७ ॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान वृषभदेवका शरीर आदि भी कर्मके उदयसे बना है, इसलिये वह सदा रहनेवाला नहीं है, इसलिये ही बुद्धिमान लोग उसे भी त्याज्य ही

शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥ ३८९ ॥ इति मनसि यथार्थं चिंतयन् शोकवह्निं शमय विमलबोधांभोभिरित्याबभाषे । गणभृदथ स चक्री दावदग्धो महीध्रो । नवजलदजलैर्वा तद्वचोभिः प्रशातः ॥ ३९० ॥ चिंता व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेशमानम्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः । निंदन्नितातविसरां निजभोगतृष्णां मोक्षोत्सुकः स्वनगरं व्यविशद्विभूत्या ॥ ३९१ ॥ अथ कदाचिदसौ वदनांबुजं समभिवीक्ष्य समुज्वलदर्पणे । पलितमैक्षत दूतमिवागतं परमसौख्यपदात्पुरुसान्निधेः ॥ ३९२ ॥ आलोक्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं मत्वा जरत्तृणमिवोद्गतबोधिरुद्यन् । आदातुमात्महि-

---

समझते हैं ॥ ३८८ ॥ हां भगवान जो पहिले आंखोंसे दिखाई देते थे वे अब चित्तमें साक्षात् विराजमान हैं फिर भला इसमें शोक करनेकी क्या बात है तू अपने चित्तमें उन्हें सदा देखता रह ॥३८९॥ इसतरह अपने मनमें यथार्थ वस्तुका चिंतवन करता हुआ तू अपने निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोकरूपी अग्निको शांत कर। इसप्रकार गणधर वृषभसेनने कहा तव चक्रवर्ती भी जिसप्रकार दावानल अग्निसे जला हुआ पर्वत नये बादलोंके जलसे शांत हो जाता है उसीप्रकार उनके बचनोंसे शांत हो गया ॥ ३९० ॥ जिसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नवा हुआ है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिंता छोड दी और गणधरदेवको नमस्कार किया तथा खूब बढी हुई अपनी भोगोंकी तृष्णाकी निंदा करते हुये तथा मोक्षके लिये उत्कंठित हुये उसने बडी विभूतिके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥ ३९१ ॥

अथानंतर—भरतने किसी एक दिन एक निर्मल दर्पणमें अपना मुख देखा और उसमें परम सुखके स्थान ऐसे मोक्षसे भगवान वृषभदेवके समीपसे ही आये हुये एक दूतके समान एक सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर उनके मोहका सब रस नष्ट हो गया, उसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान प्रगट हो गया, बडी भारी इच्छा करता हुआ वह अपने आत्माका हित ग्रहण करनेके लिये तैयार हुआ और अपने राज्यको पुराने तिनकेके समान मानकर उसने अपनी सब राज्य लक्ष्मी

तमात्मजमर्ककीर्तिं लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदूर्जितेच्छः ॥ ३९३ ॥ विदितसकलतत्त्व सोऽपवर्गस्य मार्गं जिगमिषुरपसत्त्वैर्दुर्गमं निष्प्रयासं । यमसमितिसमग्रं संयमं शंबलं वाऽदित विदितसमर्थाः किं परं प्रार्थयते ॥ ३९४ ॥ मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः समुत्पन्नवत् केवलं चानु तस्मात् । तदैवाभवद्भव्यता तादृशी सा विचित्रांऽगिना निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥ ३९५ ॥ स्वदेशोद्भवैरेव संपूजितोऽसौ सुरेंद्रादिभिः सांप्रतं वंद्यमानः । त्रिलोकाधिनाथोऽभवत्किं न साध्यं तपो दुष्करं चेत्समादातुमीशः ॥ ३९६ ॥ परिचितयतिहंसो धर्मवृष्टिं निषिंचन् नभसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुंगवृत्तिः । फलमविकलमग्र्यं भव्यसस्येषु कुर्वन् व्यहरदखिलदेशान् शारदो वा स मेघः ॥ ३९७ ॥ विहृत्य सुचिरं विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो मुहूर्तपरिमास्थितौ

स्वयं बडे पुत्र अर्ककीर्तिको दे डाली ॥ ३९३ ॥ जो समस्त तत्त्वोंका जानकार है और थोडी शक्ति वाले जीव जिसे धारण नहीं कर सकते ऐसे मोक्षके मार्गमें जाना चाहता है ऐसे उस भरतने रास्तेमें खाने योग्य भोजनके समान बिना परिश्रम ही मूलगुण समिति आदि पूर्ण संयम धारण किया, सो ठीक ही है क्योंकि जो पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानते हैं वे संयमके सिवाय और किसकी प्रार्थना करते हैं ? ॥ ३९४ ॥ भरतको दीक्षा लेनेके बाद बहुत ही शीघ्र मनःपर्यय ज्ञान होगया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट होगया । भरतका भव्यपना उसीसमय ऐसा प्रगट हुआ इससे जान पडता है कि इस संसारमें जीवोंका मोक्ष होना भी बडा ही विचित्र है ॥ ३९५ ॥ जो भरत पहिले अपने देशके राजा महाराजाओंसे पूज्य था वही भरत अब इंद्रादिकोंसे पूज्य हुआ, तीनों लोकोंका स्वामी हुआ, सो ठीक ही है क्योंकि जो दुष्कर तपश्चरण धारण करनेमें समर्थ है उसे क्या क्या सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् वह सब कुछ सिद्ध कर सकता है ॥ ३९६ ॥ मुनिरूपी राजहंस जिनसे सदा परिचित रहते हैं, जो सदा धर्मकी वर्षा करते रहते हैं, आकाशमें निवास करते हैं, जिनकी वृत्ति उत्तम है, और जो भव्यरूपी धानोंमें पूर्णरूपसे मोक्षरूप प्रधान फल लगाते रहते हैं ऐसे ठीक शरद्-ऋतुके मेघके समान भरतने सब देशोंमें विहार किया ॥ ३९७ ॥ सब लोगोंका उपकार करनेवाले भरतने बहुत दिन तक विहार किया और जब आयुका अंतमुहूर्त बाकी रह गया तब योगनिरोधकर

विहितसक्रियो विच्युतौ । तनुत्रितयबंधनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन् जगत्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥ ३९८ ॥ सर्वेऽपि ते। वृषभसेन-मुनीशमुख्याः सख्यं गताः सकलजंतुषु शांतचित्ताः । कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणींद्राः ॥ ३९९ ॥ यो नेतेव पृथु जघान दुरितारातिं चतुस्साधनो येनात्तं कनकाश्मनेव विमलं रूपं स्वमाभास्वरं । आभेजुश्चरणौ सरोजजयिनौ यस्यालिनो वाऽमरास्त त्रैलोक्यगुरु पुरु श्रितवता श्रेयांसि वः स क्रियात् ॥ ४०० ॥ योऽभूत्पंचदशो विभुः कुलभृतां तीर्थेशिना चाग्रिमो दृष्टो येन मनुष्यजीवनविधिर्मुक्तेश्च मार्गो महान् । बोधो रोधविमुक्तवृत्तिरखिलो यस्योदपाद्यंतिमः स श्रीमान् जनकोऽखिलावनिपतेराद्यः स दद्याच्छ्रियं ॥ ४०१ ॥ साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः सद्धर्म-

---

सब कर्म और औदारिक तैजस कार्मण तीनों शरीरोंको नष्ट किया। सम्यक्त्व आदि सार गुणरूप ही जिसकी मूर्ति है, जो दैदीप्यमान है तीनों लोकोंका शिखामणि है और सुखका खजाना है ऐसा उनका आत्मा अपने मुक्तरूप आत्मामें ही तल्लीन होगया ॥ ३९८ ॥ जिनका चित्त शांत है, जो सब प्राणियोंमें मित्रता धारण करते हैं, जिन्होंने मूलगुण शीलव्रत और उत्तरगुण पूर्ण रीतिसे पालन किये हैं तथा पूर्ण गुणवान हैं ऐसे मुनियोंमें मुख्य वृषभसेन आदि सब गणधर अपने अपने समयके अनुसार जिसका कभी अंत नहीं होता ऐसे निर्वाणको प्राप्त हुये ॥ ३९९ ॥ जिन्होंने सेनापतिके समान चार आराधनारूपी शस्त्रोंको लेकर कर्मरूपी बडे बलवान शत्रुको नाश किया, कनक पाषाणके समान जिन्होंने अपने आत्माके रूपको निर्मल और दैदीप्यमान बनाया, भ्रमरोंके समान सब देवलोग कमलको जीतनेवाले जिनके चरणकमलोंकी सेवा करते हैं और जो तीनों लोकोंके गुरु हैं ऐसे भगवान वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम लोगोंको वे ही ऋषभदेव भगवान अनेक कल्याण करनेवाले हों ॥४००॥ जो कुलकरोंमें पंद्रहवें कुलकर थे, तीर्थंकरोंमें प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्योंके जीविकाकी विधि और मोक्षका बडाभारी मार्ग प्रत्यक्ष देखा, और जिन्हें ज्ञानावरण कर्मके नष्ट होनेसे पूर्ण अंतिम केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ऐसे वे भरत चक्रवर्तीके पिता प्रथम तीर्थंकर श्रीमान् भगवान वृषभदेव तुम लोगोंको सबतरहकी लक्ष्मी देनेवाले हों ॥ ४०१ ॥ जिन्होंने प्रसिद्ध जीवादि पदार्थोंका समूह साक्षात् देखा

तीर्थपथपालनमूलहेतुः। भव्यात्मनां भवभृतां स्वपरार्थसिद्धिमिक्ष्वाकुवंशवृषभो वृषभो विदध्यात् ॥४०२॥ यो नाभेस्तनयोऽपि विश्वविदुषां पूज्यः स्वयंभूरिति त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधिया स्वामीति यः शब्द्यते। मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो निर्दानोऽपि बुधैरुपास्यचरणो यः सोऽस्तु वः शांतये॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्ठिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे प्रथमतीर्थंकरचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्वं परिसमाप्तम्।

है, जो उत्तम धर्मरूपी तीर्थके मार्गको पालन करनेमें मुख्य कारण हैं और जो इक्ष्वाकुवंशमें मुख्य हैं ऐसे भगवान वृषभदेव संसारी भव्य जीवोंको मोक्ष रूप परमार्थ सिद्धि देवें ॥ ४०२ ॥ जो श्रीनाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न हुये कहलाते हैं और इसलिये ही संसारके सब विद्वान् जिनकी पूजा करते हैं, जो सब तरहके परिग्रहोंसे रहित होकर भी सब बुद्धिमानोंके स्वामी कहे जाते हैं, जो मध्यस्थ अर्थात् राग द्वेष रहित होकर भी भव्यजीवोंके समूहका ही उपकार करनेवाले माने जाते हैं और जो दाता नहीं हैं किसीको कुछ नहीं देते तथापि विद्वान् लोग जिनके चरण कमलोंकी सेवा करते हैं ऐसे वे भगवान वृषभदेव तुम लोगोंको शांति देनेवाले हों ॥ ४०३ ॥

इसप्रकार भगवान् गुणभद्राचार्य प्रणीत महापुराणके नवीन हिंदी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीके पुराणको पूर्ण करनेवाला यह सैंतालीसवां पर्व समाप्त हुआ।

आदिपुराण समाप्त।

आदिपुराण समाप्त ।